॥ श्रीहरिः ॥

573

कल्याण

बालक-अङ्क

[सत्ताईसवें वर्षका विशेषाङ्क]

'कल्याण'—कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस,
गोरखपुर—२७३००५

जगावनी

प्रात भयौ जागौ गोपाल (पृष्ठ-संख्या ३७)

श्रीरामकी बालछबि

काम कोटि छबि स्याम सरीरा (पृष्ठ-संख्या १०८)

श्रीकृष्णके बालचरित्र—संख्या १—८ चित्र (पृष्ठ-संख्या १८०)

सरयू-तीरपर खेल

सरजू बर तीरहिं तीर फिरैं रघुबीर सखा अरु बीर सजै (पृष्ठ-संख्या २६९)

श्रीरामके बालचरित्र— ६ चित्र (पृष्ठ-संख्या ४९२)

श्रीकृष्णके बालचरित्र—संख्या ३—६ चित्र (पृष्ठ-संख्या ५२४)

श्रीकृष्णके बालचरित्र—संख्या ४—६ चित्र (पृष्ठ-संख्या ७२४)

बालक-अङ्ककी विषय-सूची

चरित्र

अवतारोंका बालचरित्र

ज्ञानी-भक्त बालक

सती बालिकाएँ

भक्त बालक

ख—

परोपकारी तथा दयालु बालक-बालिकाएँ—

भाई-बहिन-प्रेमी बालक-बालिकाएँ—

गुणवान् बालक

कहानी

कविता

संकलित (पद्य)

संकलित (गद्य)

चित्र-सूची

सादे चित्र

रेखाचित्र

उपासतामात्मविदः पुराणाः परं पुमांसं निहितं गुहायाम् ।
वयं यशोदाशिशुबाललीलाकथासुधासिन्धुषु लीलयामः ॥

वर्ष २७ } गोरखपुर, सौर माघ २००९, जनवरी १९५३ { संख्या १
पूर्ण संख्या ३१४

स्यामकी पैंजनी

झुनक स्याम की पैंजनियाँ ।
जसुमति सुत कौं चलन सिखावति अँगुरी गहि गहि दोउ जनियाँ ॥
स्याम बदन पर पीत झँगुलिया, सीस कुलहिया चौतनियाँ ।
जाकौ ब्रह्मा पार न पावत, ताहि खिलावति ग्वालिनियाँ ॥
दूरि न जाहु निकटही खेलौ, मैं बलिहारी रेंगनियाँ ।
सूरदास जसुमति बलिहारी, सुतहि खिलावति लै कनियाँ ॥

बालक श्रीरामका स्तवन

मातुः पार्श्वे चरन्तं मणिमयशयने मञ्जुभूषाञ्चिताङ्गं
मन्दं मन्दं पिबन्तं मुकुलितनयनं स्तन्यमन्यस्तनाग्रम् ।
अङ्गुल्यग्रैः स्पृशन्तं सुखपरवशया सस्मितालिङ्गिताङ्गं
गाढं गाढं जनन्या कलयतु हृदयं मामकं रामबालम् ॥

मेरा हृदय बालकरूपमें श्रीरामकी झाँकी करे । वे मणिमयी शय्यापर माताके पास इधर-उधर सरक रहे हैं, उनका प्रत्येक अङ्ग सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित है, वे अधखुले नेत्रोंसे देखते हुए माताके एक स्तनका दूध धीरे-धीरे पी रहे हैं और दूसरे स्तनके अग्रभागका अँगुलियोंसे स्पर्श कर रहे हैं, माता कौसल्या आनन्द-विभोर होकर मन्द-मन्द मुसकराती हुई अपने लाड़ले लालको खूब कसकर छातीसे चिपका लेती हैं ।

शुद्धान्ते मातृमध्ये दशरथपुरतः संचरन्तं परं तं
काञ्चीदामानुविद्धप्रतिमणिविलसत्किङ्किणीनिक्वणाङ्गम् ।
फाले मुक्ताललामं पदयुगनिनदन्नूपुरं चारुहासं
बालं रामं भजेऽहं प्रणतजनमनःखेदविच्छेददक्षम् ॥

जो अन्तःपुरमें राजा दशरथके आगे माताओंके बीच इधर-उधर संचरण कर रहे हैं, करधनीकी लड़में पिरोयी हुई रत्नजटित क्षुद्रघण्टिकाओंके रवसे जिनका प्रत्येक अङ्ग झङ्कृत हो रहा है, जिनके वक्षमें बहुमूल्य मोती टँके हैं, जिनके दोनों चरणोंमें नूपुर निनादित हैं, जो अपनी सुन्दर हँसीसे शरणागत भक्तोंके हार्दिक क्लेशका विनाश करनेमें कुशल हैं, उन बालरूपधारी परमपुरुष श्रीरामजीकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ ।

ललाटदेशोज्ज्वलबालभूषणं
सताण्डवं व्याघ्रनखाङ्ककन्धरम् ।
दिगम्बरं शोभितबर्बरालकं
श्रीबालरामं शिरसा नमामि ॥

जिन्होंने ललाटमें परम उज्ज्वल बालोचित आभूषण पहन रक्खे हैं, गलेमें बघनखा धारण किया है, जिनके सिरपर कुटिल अलकावली सुशोभित है, जो नंग-धड़ंग शरीरसे नाच-कूद रहे हैं, उन बालरूपधारी श्रीरामको सिर झुकाकर नमस्कार करता हूँ ।

बालक श्रीकृष्णका स्तवन

अत्यन्तबालमतसीकुसुमप्रकाशं
दिग्वाससं कनकभूषणभूषिताङ्गम् ।
विस्रस्तकेशमरुणाधरमायताक्षं
कृष्णं नमामि शिरसा वसुदेवसूनुम् ॥

भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त छोटे नंग-धड़ंग बालकके रूपमें हैं। अलसीके फूल-जैसी उनके शरीरकी आभा है। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सोनेके आभूषणोंसे विभूषित हैं, बाल बिखरे हुए हैं, लाल-लाल ओठ हैं, बड़ी-बड़ी आँखें हैं। उन वसुदेवनन्दनको मैं मस्तक नवाकर प्रणाम करता हूँ।

हस्ताङ्घ्रिनिक्वणितकङ्कणकिङ्किणीकं
मध्येनितम्बमवलम्बितहेमसूत्रम् ।
मुक्ताकलापमुकुलीकृतकाकपक्षं
वन्दामहे व्रजचरं वसुदेवभाग्यम् ॥

उनके हाथोंमें कंगन और चरणोंमें नूपुर खन-खन कर रहे हैं। नितम्बभागमें सोनेकी करधनी सुशोभित है। सिरके बालोंमें मोतीकी लड़ियाँ गुँथी हुई हैं। श्रीकृष्ण क्या हैं—मानो वसुदेवका भाग्य ही मूर्तिमान् होकर व्रजमें क्रीडा कर रहा है। उन व्रजविहारीकी मैं वन्दना करता हूँ।

सव्ये पायसभक्तमाहितरसं बिभ्रन् मुदा दक्षिणे
पाणौ शारदचन्द्रमण्डलनिभं हैयङ्गवीनं वहन् ।
कण्ठे कल्पितपुण्डरीकनखमप्युद्दामदीप्तं दधद्
देवो दिव्यदिगम्बरो दिशतु नः सौख्यं यशोदाशिशुः ॥

उन्होंने बायें हाथमें उल्लासपूर्वक परम मधुर दूधमें उबाले हुए भातका कौर ले रक्खा है और दहिने हाथमें शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमण्डलके समान गोल-गोल ताजे मक्खनका लौंदा रख छोड़ा है। गलेमें चम-चम करता हुआ सोनेसे मँढा बघनखा धारण किये हुए हैं। वे यशोदाके दिव्य शिशु दिगम्बर भगवान् श्रीकृष्ण हमें आनन्दित करें।

वैदिक बाल-विनय

(अनुवादक—डा० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद् भद्रं तन्न आसुव ॥
(यजु० ३० । ३)

दिव्य-गुण-धारी जगके जनक, दुरित-दल सकल भगा दो दूर ।
किंतु जो करे आत्म-कल्याण, उसीको भर दो प्रभु ! भरपूर ॥

ॐ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ (यजु० ४० । १६)

सुपथपर प्रभु ! हमको ले चलो, प्राप्त हो संतत ध्रुव कल्याण ।
सकल कृतियाँ हैं तुमको विदित, पाप-दलको कर दो म्रियमाण ॥
पुण्यकी प्रभा चमकने लगे, पापका हो न लेश भी शेष ।
भक्तिमें भरकर तुमको नमें, सहस्रों बार परम प्राणेश ॥

ॐ असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्मामृतं गमय ॥
(शत० १४ । ३ । १ । ३०)

असतसे सत, तमसे नव ज्योति, मृत्युसे अमृत तत्त्वकी ओर ।
हमें प्रतिपल प्रभुवर ! ले चलो, दिखाओ अरुणा करुणा-कोर ॥

ॐ उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धियाम् वयम् । नमो भरन्त एमसि ॥
(ऋ० १ । १ । ७)

दिवसके प्रथम, रात्रिसे पूर्व, भक्तिसे स्वार्थ-त्यागके साथ ।
आ रहे हैं प्रतिदिन ले भेंट, तुम्हारी चरण-शरणमें नाथ ॥

ॐ त्वं हि नो पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ । अथाते सुम्नमीमहे ॥ (ऋ० ८ । ९८ । ११)

हमारे जनक, हमारी जननि तुम्हीं हो, हे सुरेन्द्र सुख-धाम !
तुम्हारी स्तुतिमें रत करबद्ध, करें हम बाल विनीत प्रणाम ॥

ॐ मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः । मान्तः स्थुर्नो अरातयः ॥
(ऋ० १० । ५७ । १)

चलें हम कभी न सत्पथ छोड़, विभवयुत होकर तजें न त्याग ।
हमारे अंदर रहें न शत्रु, सुकृतमें रहे हमारा भाग ॥

ॐ इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् । जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥
(ऋ० २ । ४१ । १२)

सर्वदर्शक प्रभु खल-बल-दलन, विभव-सम्पन्न इन्द्र अधिराज ।
दिशा-विदिशाओंमें सर्वत्र, हमें कर दो निर्भय निर्व्याज ॥

ॐ आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते । उश्मसि त्वा सधस्थ आ ॥
(ऋ० ८ । ४५ । २०)

निखिल बल अधिपति ! मैंने आज, वृद्धकी आश्रय, लकुटि समान ।
तुम्हारा अवलम्बन है लिया, शरणमें रक्खो, हे भगवान ॥

ॐ सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा मर्य इव स्व ओक्ये ।
(ऋ० १ । ९१ । १३)

मनुज अपने घरमें ज्यों रहें, चरें गौएँ ज्यों जौका खेत ।
हृदयमें रम जाओ त्यों नाथ, बना लो अपना इसे निकेत ॥

ॐ यच्चिद्धि ते विशो यथा, प्र देव वरुण व्रतम् । मिनीमसि द्यवि द्यवि ॥
(ऋ० १ । २५ । १)

वरुण ! हम अविवेकी दिन-रात किया करते हैं जो व्रत-भङ्ग ।
समझकर अपनी संतति पिता ! उबारो हमें क्षमाके संग ॥

ॐ यद् वीडाविन्द्र यत् स्थिरे यत् पर्शाने पराभृतम् । वसु स्पार्हं तदाभर ॥
(ऋ० ८ । ४५ । ४१)

परम ऐश्वर्ययुक्त हे इन्द्र ! हमें दो ऐसा धन स्पृहणीय ।
वीर दृढ़ स्थिर जन चिन्तनशील बना लेते हैं जिसे स्वकीय ॥

ॐ आ ते वत्सो मनो यमत्, परमाच्चित्सधस्थात् । अग्ने त्वां कामये गिरा ॥
(ऋ० ८ । ११ । ७)

उठ रही मेरी वाणी आज, पिता ! पानेको तेरा धाम ।
अरे वह ऊँचा-ऊँचा धाम, जहाँ है जीवनका विश्राम ॥
तुम्हारे वत्सल रससे भीग, हृदयकी करुण कामना कान्त ।
खोजने चली विवश हो तुम्हें, रहेगी कबतक भवमें भ्रान्त ॥
दूर-से-दूर भले तुम रहो, खींच लायेगी किंतु समीप ।
विरत कबतक चातकसे जलद, स्वातिसे मुक्ता-भरिता सीप ?

कुछ उत्तम उक्तियाँ

पापानां वाशुभानां वा वधार्हाणामथापि वा ।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति ॥
लोकहिंसाविहाराणां क्रूराणां पापकर्मणाम् ।
कुर्वतामपि पापानि नैव कार्यमशोभनम् ॥

(वा० रा०, यु० का० ११५ । ४३-४४)

आर्य (श्रेष्ठ) पुरुषको चाहिये कि वह पापियोंपर, दुष्टोंपर अथवा जो मार डालने योग्य हैं—ऐसे लोगोंपर भी दया ही करे; क्योंकि अपराध किससे नहीं बनते ? जो लोगोंकी हिंसा करनेमें ही प्रसन्नताका अनुभव करते हैं, जो अत्यन्त निर्दय एवं पापाचारी हैं तथा जो अभी-अभी पाप करनेमें लगे हैं—ऐसे लोगोंका भी अनिष्ट न करे ।

यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम् ।
तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेत धीरः ॥

(श्रीमद्भा० ७ । ९ । ४५)

स्त्री-सम्भोगादि जो गृहस्थके सुख हैं, वे अत्यन्त तुच्छ ही नहीं, अपितु हाथोंको परस्पर खुजलानेके समान परिणाम-में अत्यन्त दुःखरूप हैं; परंतु बहुत दुःख पानेपर भी अज्ञानी जीव इन विषय-सुखोंसे अघाते नहीं । कोई विवेकी पुरुष ही खुजलाहटकी भाँति कामादिके वेगको भी सह लेता है ।

अहर्निशं श्रुतेर्जाप्याच्छौचाचारनिषेवणात् ।
अद्रोहवत्या बुद्ध्या च पूर्वं जन्म स्मरेद् बुधः ॥

(स्क० पु०, का० ख० ३८ । ८९)

रात-दिन वेदोंका पाठ करनेसे, बाहर-भीतरकी पवित्रता और सदाचारके सेवनसे और द्रोहशून्य बुद्धिसे बुद्धिमान् मनुष्य पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण कर सकता है ।

दयालुरमदस्पर्श उपकारी जितेन्द्रियः ।
एतैश्च पुण्यस्तम्भैश्च चतुर्भिर्धार्यते मही ॥

(शि० पु०, कोटिरु० सं० २४ । २६)

दयालु मनुष्य, अभिमानशून्य व्यक्ति, परोपकारी और जितेन्द्रिय—ये चार ऐसे पवित्र खंभे हैं, जो पृथ्वीको थामे हुए हैं ।

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥

(बृहन्ना० पु० ६० । ४३)

विद्याके समान दूसरा नेत्र नहीं है, सत्यके समान कोई तप नहीं है, रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है ।

धर्मः कामदुघा धेनुः संतोषो नन्दनं वनम् ।
विद्या मोक्षकरी प्रोक्ता तृष्णा वैतरणी नदी ॥

(बृहन्ना० पु० २७ । ७२)

धर्म ही कामधेनुके समान सारी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाला है, संतोष ही स्वर्गका नन्दन-कानन है, विद्या (ज्ञान) ही मोक्षकी जननी है और तृष्णा वैतरणी नदीके समान नरकमें ले जानेवाली है ।

अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया तपः ।
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशः क्षमा धृतिः ।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद् दुरासदम् ॥

(वायुपु० ५७ । ११७)

किसी भी प्राणीके साथ द्रोह न करना, लोभसे दूर रहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, प्राणिमात्रके प्रति दयाका भाव रखना, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, सच बोलना, दुखियोंसे सहानुभूति रखना, अपराधीको क्षमा कर देना और कष्ट पड़नेपर धैर्य धारण करना—सनातन धर्मकी जड़ यही है, जो अन्यत्र दुर्लभ है ।

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

(अग्नि० ४३ । २३)

अच्युत, अनन्त एवं गोविन्द—इन नामोंका उच्चारण ही एक ऐसी दवा है, जिससे सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं । मैं दावेके साथ यह कह रहा हूँ ।

यत् क्रोधनो यजति यच्च ददाति नित्यं
यद् वा तपस्तपति यच्च जुहोति तस्य ।
प्राप्नोति नैव किमपीह फलं हि लोके
मोघं फलं भवति तस्य हि कोपनस्य ॥

(वामनपु० ४३ । ८९)

क्रोधी मनुष्य जो कुछ भी यजन-पूजन करता है, जो कुछ नित्यप्रति दान करता है, जो कुछ तपश्चर्या करता है और जो कुछ भी हवन करता है, उसका इस लोकमें उसे कोई फल नहीं मिलता; उस क्रोधीका सब कुछ किया-कराया व्यर्थ होता है।

वरं प्राणास्त्याज्या न बत परहिंसा स्वभिमता
वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतम्।
वरं क्लीबैर्भाव्यं न च परकलत्राभिगमनं
वरं भिक्षार्थित्वं न च परधनानां हि हरणम्॥

(वामनपु० ५९। २९)

स्वयं मर जाना अच्छा है, किंतु किसी दूसरे जीवकी हिंसा कदापि मान्य नहीं होनी चाहिये। चुप हो रहना अच्छा है, पर झूठ बोलना किसी भी हालतमें ठीक नहीं। नपुंसक होकर रहना अच्छा है, किंतु परस्त्रीगमन कदापि वाञ्छनीय नहीं। इसी प्रकार भीख माँगकर जीवन बिताना दूसरेके धनको हड़पनेकी अपेक्षा कहीं उत्तम है।

नाश्चर्यं यत्र पश्यन्ति चत्वारोऽमी सदैव हि।
न पश्यतीह जात्यन्धो रागान्धोऽपि न पश्यति।
न पश्यति मदोन्मत्तो लोभाक्रान्तो न पश्यति॥

नीचे लिखे चार व्यक्ति सदा ही अन्धे बने रहते हैं— इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जैसे जन्मके अंधेको नहीं सूझता, उसी प्रकार रागान्ध व्यक्ति भी देख नहीं पाता। इसी प्रकार घमंडमें चूर व्यक्ति भी अंधा होता है और लोभी मनुष्यको भी आँख नहीं होती।

भवजलधिगतानां द्वन्द्ववाताहतानां
सुतदुहितृकलत्रत्राणभारार्दितानाम्।
विषमविषयतोये मज्जतामप्लवानां
भवति शरणमेको विष्णुपोतो नराणाम्॥

(वामनपु० ९४। २९)

जो मनुष्य संसाररूपी समुद्रमें पड़कर सुख-दुःख, हर्ष-शोक, गर्मी-सर्दी आदि पवनके झकोरोंसे पीड़ित रहते हैं, लड़के-लड़की, पत्नी आदिकी रक्षाके बोझसे दबे रहकर तथा तैरनेका कोई साधन न पाकर विषयरूपी अगाध जलमें डूबते-उतराते हैं, ऐसे लोगोंकी भगवान् विष्णु ही नौका बनकर रक्षा करते हैं।

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्।
यस्य ते हितमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम्॥

(महा० उद्यो० ३५। ४४)

देवतालोग चरवाहेकी भाँति डंडा लेकर हमारी रक्षा थोड़े करते हैं। वे तो जिसका भला करना चाहते हैं, उसे उत्तम बुद्धि (समझ) दे देते हैं।

न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित्।
कालस्य बलमेतावद् विपरीतार्थदर्शनम्॥

(महा० स० ८१। ११)

कालभगवान् डंडा उठाकर किसीका सिर थोड़े ही तोड़ देते हैं। कालका बल तो इसीमें है कि वह वस्तुके स्वरूपको विपरीत करके दिखा देता है (और यही उसके विनाशका कारण होता है)।

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत्।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥

(महा० वनपर्व १३१। ११)

जो धर्म किसी दूसरे धर्मका विरोधी होता है, वह धर्म नहीं, कुमार्ग है; धर्म वही है, जिसका किसी भी दूसरे धर्मसे विरोध नहीं होता।

नरस्य बन्धनार्थाय शृङ्खला स्त्री प्रकीर्तिता।
लोहबद्धोऽपि मुच्येत स्त्रीबद्धो नैव मुच्यते॥

(दे० भा० ५ १६। ४९)

मनुष्यको मोहरूपी बन्धनमें डालनेके लिये स्त्रीको ही साँकल कहा गया है। लोहेकी बेड़ीसे जकड़ा हुआ मनुष्य तो छूट भी सकता है, पर स्त्रीके मोहजालमें फँसे हुए मनुष्यका छुटकारा नहीं है।

अधीत्य वेदशास्त्राणि संसारे रागिणश्च ये।
तेभ्यः परो न मूर्खोऽस्ति सधर्माः श्वाश्वसूकरैः॥

(१। १४। ४)

वेद-शास्त्रोंका अध्ययन कर लेनेपर भी जिनका सांसारिक सुखोंमें राग (प्रेम) बना हुआ है, उनसे बढ़कर मूर्ख कोई नहीं है। वे तो कुत्ते, घोड़े और सूअर-जैसे ही हैं।

द्रोहार्जितेन द्रव्येण यत् करोति शुभं नरः।
विपरीतं भवेत् तत् तु फलकाले नृपोत्तम॥
देशकालक्रियाद्रव्यकर्तॄणां शुद्धता यदि।
मन्त्राणां च तदा पूर्णं कर्मणां फलमश्नुते॥

दूसरोंसे द्रोह करके कमाये हुए धनसे मनुष्य जो यश, दान आदि शुभ कर्म करता है, फलका समय आनेपर उसका परिणाम विपरीत अर्थात् अशुभ होता है। स्थान, समय, क्रिया, द्रव्य, कर्ता और मन्त्र—इन सबके शुद्ध होनेपर ही किसी सकाम अनुष्ठानका पूरा-पूरा फल मिलता है।

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥
कामः सर्वात्मना हेयो हातुं चेच्छक्यते न सः ।
मुमुक्षां प्रति कर्तव्यः सैव तस्यापि भेषजम् ॥

(मार्क० पु० ३७ । २४-२५)

आसक्तिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये; परंतु यदि वह न छूट सके तो संत-महात्माओंके प्रति करे। सत्पुरुषोंके प्रति किया हुआ प्रेम ही संसारासक्तिकी एकमात्र औषध है। इसी प्रकार कामना भी सब प्रकारसे हेय है; परंतु यदि कामना न छूटे तो मोक्षकी इच्छा जाग्रत् होनेकी कामना करे; क्योंकि मोक्षकी कामना ही अन्य सारी कामनाओंसे छूटनेकी एकमात्र दवा है।

धिक् तस्य जीवितं पुंसः शरणार्थिनमागतम् ।
यो नार्तमनुगृह्णाति वैरिपक्षमपि ध्रुवम् ॥

(मार्क० पु० १३१ । २५)

जो मनुष्य शरण चाहनेवाले दुखियाको निश्चितरूपसे आश्रय नहीं देता, चाहे वह शत्रुपक्षका ही क्यों न हो, उसके जीवनको धिक्कार है।

न तथा शीतलसलिलं न चन्दनरसो न शीतला छाया ।
प्रह्लादयति च पुरुषं यथा मधुरभाषिणी वाणी ॥

(भवि० पु० ब्राह्मपर्व ७३ । ४८)

ठंडा जल, चन्दनका रस अथवा ठंडी छाया भी मनुष्यको उतनी आह्लादजनक नहीं होती, जितनी मीठी वाणी।

अन्धं तमो विशेयुस्ते ये चैवात्महनो जनाः ।
भुक्त्वा निरयसाहस्रं ते च स्युर्ग्रामसूकराः ॥
आत्मघातो न कर्तव्यस्तस्मात् क्वापि विपश्चिता ।
इहापि च परत्रापि न शुभान्यात्मघातिनाम् ॥

(स्क० पु० काशीख० १२ । १३)

आत्महत्यारे लोग घोर नरकोंमें जाते हैं और हजारों नरकयातनाएँ भोगकर फिर देहाती सूअरोंकी योनिमें जन्म लेते हैं। इसलिये समझदार मनुष्यको कभी भूलकर भी आत्महत्या नहीं करनी चाहिये। आत्मघातियोंका न इस लोकमें और न परलोकमें ही कल्याण होता है।

परस्वानां च हरणं परदाराभिमर्शनम् ।
सुहृदामतिशङ्का च त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥

(वा० रा० यु० का० ८७ । २३)

परायेका हक छीन लेना, परस्त्री-संसर्ग और अपने हित-मित्रोंसे अत्यधिक सशङ्कित रहना—ये तीन दोष सर्वनाश करनेवाले हैं।

पितुरर्थे हता ये तु मातुरर्थे हतास्तथा ।
गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा प्रमदार्थे महीपते ॥
भूम्यर्थे पार्थिवार्थे वा देवतार्थे तथैव च ।
बालार्थे विकलार्थे च यान्ति लोकान् सुभास्वरान् ॥

(बृहन्ना० महापु० उत्तरभा० ३३ । ६३-६४)

जो लोग पिताके लिये, माताके लिये, गायके लिये, ब्राह्मणके लिये, युवती स्त्रीकी रक्षाके लिये, अपनी जन्मभूमिके लिये, राजाके लिये, देवताके लिये, बालकके लिये अथवा अङ्गहीनके लिये प्राण गँवा देते हैं, उन्हें अत्यन्त प्रकाशयुक्त (स्वर्गादि) लोकोंकी प्राप्ति होती है।

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य-
स्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया बाधितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥

(म० भा०, शा० प० १०९ । ३०)

जो मनुष्य जिसके साथ जैसा बर्ताव करता है, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करे—यही धर्मसंगत है। कपटीको कपटके द्वारा परास्त करे और सच्चरित्रके साथ साधुताका व्यवहार करना चाहिये।

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ । सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ॥

चाहे वह पुरुष हो, नपुंसक हो, स्त्री हो अथवा चर-अचर कोई भी जीव हो कपट छोड़कर जो भी सर्वभावसे मुझे भजता है, वही मुझे परम प्रिय है।

जातकर्म-संस्कारका महत्त्व

(अनन्तश्रीविभूषित धर्मसम्राट् जगद्गुरु शङ्कराचार्य पूज्यपाद स्वामी श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज ज्योतिर्मठ, बदरिकाश्रमका धर्मोपदेश)

शास्त्रानभिज्ञता और पाश्चात्त्य आचार-विचारके अन्धानुकरणका भयंकर परिणाम यह हुआ है कि हिंदू-समाज अपनी उन उज्ज्वल परम्पराओंको भी हेय समझने लगा, जो मनुष्यको देवत्वकोटिमें पहुँचा सकती हैं। आधुनिक शिक्षितवर्ग प्रायः सम्यक् परीक्षण किये बिना ही धार्मिक प्रथाओंका उपहास करनेमें प्रगतिशीलता मानने लगा है।

हिंदुओंकी 'संस्कार' प्रथा भी इन आधुनिकोंकी उक्त अवैज्ञानिक वृत्तिका शिकार बन गयी है। संतानके विधिवत् संस्कार करवानेका महत्त्व लोग भूलते जा रहे हैं। फलस्वरूप जातीय ह्रास भी तीव्र गतिसे हो रहा है। नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नतिके साथ-साथ बल, वीर्य, प्रज्ञा और दैवी गुणोंके प्रस्फुटनके लिये शास्त्रोक्त संस्कार-विधिसे बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं हो सकता। शास्त्रमें इसके महत्त्वके सम्बन्धमें लिखा है—

चित्रं क्रमाद् यथानेकै रङ्गैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

'तूलिकाके बार-बार फेरनेसे शनैः-शनैः जैसे चित्र अनेक रंगोंसे निखर उठता है, वैसे ही विधिपूर्वक संस्कारोंके अनुष्ठानसे ब्राह्मणताका विकास होता है।' यहाँ 'ब्राह्मणत्व'-शब्द ब्रह्म-वेदनके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

'संस्कार' शब्दका अर्थ ही है दोषोंका परिमार्जन करना। जीवके दोषों और कमियोंको दूरकर उसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन पुरुषार्थ-चतुष्टयके योग्य बनाना ही संस्कार करनेका उद्देश्य है। संस्कार किस प्रकार दोषोंका परिमार्जन करता है, कैसे किस रूपमें उनकी प्रतिक्रिया होती है—इसका विश्लेषण करना कठिन है; परंतु प्रक्रियाका विश्लेषण न भी किया जा सके, तो भी उसके परिणामको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आमलकके चूर्णमें आमलकके रसकी भावना देनेसे वह कईगुना शक्तिशाली बन जाता है, यह प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। संस्कारोंके प्रभावके सम्बन्धमें यही समझना चाहिये। अदृष्ट बातोंके सम्बन्धमें त्रिकालज्ञ महर्षियोंके शब्द प्रमाण हैं। श्रद्धापूर्वक उनका पालन करनेसे विहित फल प्राप्त किया जा सकता है। भगवान् मनुका कथन है—

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च॥

'वेदोक्त गर्भाधानादि पुण्यकर्मोंद्वारा द्विजगणका शरीर-संस्कार करना चाहिये। यह इस लोक और परलोक दोनोंमें पवित्रकारी है।'

सामान्यरूपसे संस्कारके महत्त्वके सम्बन्धमें अङ्गुलिनिर्देश करके जातकर्म-संस्कारके महत्त्वपर किंचित् प्रकाश डालना है। अधिकारानुसार कर्म करनेसे सम्यक् फलकी प्राप्ति होती है। संस्कार-कर्ममें भी किसका अधिकार है, इसे समझ लेना चाहिये। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।
निषेकादिश्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः॥

'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इनमें प्रथम तीन वर्ण द्विज कहलाते हैं। गर्भाधानसे लेकर मृत्युपर्यन्त इनकी समस्त क्रियाएँ वैदिक मन्त्रोंके द्वारा होती हैं।' उपनयनादि संस्कारोंको छोड़कर शेष संस्कार शूद्रवर्ण बिना मन्त्रके करे। यमसंहितामें कहा है—

शूद्रोऽप्येवंविधः कार्यो विना मन्त्रेण संस्कृतः॥

'शूद्रवर्णके भी ये सब संस्कार बिना मन्त्रके होने चाहिये।' जातकर्म-संस्कार शूद्रवर्णको भी करना चाहिये।

संतानके भूमिष्ठ होते ही जातकर्म-संस्कार किया जाता है। इस संस्कारके कृत्य नाड़ीछेदनके पहले ही हो जाने चाहिये, क्योंकि नाड़ी-छेदनके बाद आशौच लग जाता है। जातकर्म-संस्कारमें वैदिक मन्त्रोंद्वारा संतानके दीर्घजीवी और मेधावी होनेकी मङ्गल-कामना की जाती है। मनुष्य-शरीर पाकर जीव उचित पुरुषार्थद्वारा साक्षात् ब्रह्म हो सकता है, लौकिक अभ्युदयकी तो बात ही क्या। अतः दीर्घ जीवन और प्रखर प्रज्ञा प्राप्त होनेका उपाय करना ही चाहिये।

मन्त्रमें अचिन्त्य शक्ति होती है। हमारे पूर्वज ऋषि-मुनियोंने प्रत्यक्ष उनका अनुभव करके जीवके कल्याणके लिये उनका अनुष्ठान करनेका आदेश दिया है। जातकर्म-संस्कारान्तर्गत आयुष्यकरण-क्रियाके मन्त्र इस प्रकार हैं—

'बालक खेल-कूदमें मस्त रहते हैं, युवक युवतीके रागमें अंधे हुए रहते हैं और बुड्ढे चिन्तामें डूबे रहते हैं; भगवान्‌के मार्गमें कोई भी नहीं लगता ।'

तुम्हारी विवेकशक्तिकी परीक्षाके लिये ही सृष्ट हुए प्रकृति-देवीके इन मायिक भोगोंपर लट्टू न हो जाओ । स्वाभाविक आकर्षणके वश होकर उनका दुरुपयोग न करके सदुपयोग करनेकी रीति जानकारोंसे सीख लो ।

पहले शरीरको विषय-सुख-भोग देकर क्या पीछे उसके द्वारा धर्मसाधना करनेके लिये मनके लड्डू खा रहे हैं ! अपने पुत्र पूरुसे यौवन पाकर हजारों वर्षतक वैषयिक सुख-भोग करनेवाले ययाति राजाके इस अनुभव-वाक्यका स्मरण करो—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

भोगोंसे कभी भोगकामनाका नाश नहीं होगा । इससे तो वह उसी प्रकार बढ़ेगी, जिस प्रकार अग्नि घीकी आहुति डालनेसे बढ़ती है । अन्यच्च, पहलेसे शरीरपर जैसे संस्कारोंका अभ्यास डालोगे, वे ही संस्कार अन्ततक दृढ़ रहेंगे । भोगसाधनमें लगाये हुए शरीरसे धर्मसाधनकी आशा रखना विवेककी बात नहीं हो सकती ।

अतएव अब 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' इस उपर्युक्त वचनके गूढ़ अर्थका विचार करें । यद्यपि शरीर ही धर्मका साधन है, तथापि विषयलालसासे दूषित शरीर उसका साधन नहीं हो सकता । शक्तिहीन, अनिश्चित आयुकी अन्तिम घड़ियोंकी प्रतीक्षा करनेवाला बुढ़ापेका शरीर भी धर्म-साधनाका साधन नहीं हो सकता । इतना ही नहीं, प्रथमावस्थामें जिसमें धर्मका बीज नहीं बोया गया है, ऐसे एवं स्वाभाविक क्षणिक सुखके रास्तेपर ही चलाये हुए सबल यौवनकालिक शरीरसे भी धर्मसंग्रह करनेकी आशा दुराशा ही है । अन्ततः यही निश्चय होता है कि बाल्यकालका, किशोरावस्थाका, कौमार-वयका, जैसे चाहे सुधारा जा सकनेवाला निष्कल्मष मृदु शरीर ही धर्मसाधनाके लिये मुख्य साधन है; क्योंकि बचपनमें डाले हुए धार्मिक संस्कारसे ही मनुष्य जीवनभर धार्मिक कार्य कर सकता है और उससे अपना श्रेय प्राप्त कर सकता है । इसीलिये भागवतशिरोमणि भक्तवर प्रह्लादके मुँहसे बालयोगी शुकमुनीन्द्रजीने कहलाया है—

कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह ।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ॥

उनका उपदेश है कि इन्द्रियसुखके लिये भी प्रयत्न नहीं करना चाहिये, वे तो प्रारब्धानुसार दुःखकी भाँति सभी योनियोंमें अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं—

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम् ।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद् यथा दुःखमयत्नतः ॥
तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम् ।

इसलिये क्या करना चाहिये—

ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः ।
शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम् ॥

'इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि जबतक शरीरकी शक्ति क्षीण न हो, तभीतक मृत्युसे डरता हुआ आत्मकल्याणके लिये यत्न कर ले ।'

एतावता 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' इस वाक्यका ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है कि आद्यं=प्राथमिकं= प्रथमावस्थापन्नं शरीरं धर्मसाधनं खलु !

इसलिये जानने-समझनेकी शक्ति आते ही उदीयमान बालकोंका कर्तव्य है कि वे तभीसे अपने श्रेयोमार्ग—धर्म-साधनामें लग जायँ और उनके अभिभावकोंका भी अवश्य कर्तव्य है कि वे बचपनमें ही अपने बालक-बालिकाओंमें धार्मिक संस्कारका बीज बो दें, जिससे अपना, उनका और सारे विश्वका कल्याण सिद्ध हो ।

अन्तमें आशीर्वाद है कि श्रीद्वारकाधीश भगवान् तथा श्रीचन्द्रमौलीश्वर भगवान् भावी प्रजा बालवर्गको सद्बुद्धि प्रदान करें ।

तुलसी देखि सुबेषु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर । सुंदर केकिहि पेखु बचन सुधा सम असन अहि ॥

तुलसीदासजी कहते हैं—सुन्दर वेष देखकर मूढ़ नहीं, [मूढ़ तो मूढ़ हैं ही] चतुर मनुष्य भी धोखा खा जाते हैं । सुन्दर मोरको देखो, उसका वचन तो अमृतके समान है और आहार उसका साँप है ।

राम-राज्य और बालक

(लेखक—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

धर्मनियन्त्रित, धर्मसापेक्ष, पक्षपातविहीन राज्य ही राम-राज्य है। भगवान् राम-जैसे धर्म-नियन्त्रित, जितेन्द्रिय, सदाचारी शासक और वैसी ही शिष्ट राष्ट्रिय जनता हो, तभी राम-राज्य सम्पन्न हो सकता है। सुतरां ऐसे राज्यमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक—सर्वप्रकारकी सुख-समृद्धि हो सकती है। सत्यनिष्ठ, धर्मनियन्त्रित जनताके लिये बाह्य शासक, शासनादिकी अपेक्षा भी नहीं; क्योंकि वह तो धर्मनियन्त्रित होनेसे आपसमें ही सब व्यवस्था कर लेती है। किसी समय हमारे यहाँ ऐसा ही था। तब राज्य, राजा, दण्ड्य, दाण्डिक आदि कुछ भी नहीं थे; केवल धर्मसे ही प्रजा सुरक्षित थी—

न राज्यं न च राजाऽऽसीन्न दण्ड्यो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ते स्म परस्परम्॥

परंतु रजोगुण, तमोगुणका थोड़ा भी विस्तार होनेपर प्रजामें मात्स्यन्यायसे भक्ष्य-भक्षकभाव पैदा हो गया। तब उद्विग्न प्रजाकी प्रार्थनापर परमेश्वरने स्वशक्ति-उपबृंहित लोकपालकोंके अंशसे क्रान्तदर्शी, मनीषी, परिभू, अप्रधृष्य, तेजस्वी शासकोंका दुष्ट-निग्रहार्थ, शिष्ट-पालनार्थ एवं प्रजा-रक्षणार्थ आविर्भाव किया। प्रजातन्त्रमें, प्रजाप्रतिनिधियों एवं प्रजामें भी उक्त गुण होनेपर ही सफलता हो सकती है। तभी मात्स्यन्याय या अराजकताका निवारण हो सकता है। धर्मनियन्त्रित नियम्य-नियामकोंके होनेपर ही भारतीय शासकोंने महर्षियोंके सामने घोषित किया था कि 'हमारे देशमें कोई चोर नहीं, कोई कदर्य, मक्खीचूस, कंजूस नहीं। कोई मद्यप नहीं, कोई अग्न्याधान एवं यज्ञ-यागादि-शून्य व्यक्ति नहीं। जब व्यभिचारी पुरुष ही नहीं, तब व्यभिचारिणी स्त्री कहाँ ?'

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नायज्वा न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

ऐसे ही राम-राज्य, धर्म-राज्यमें प्रशस्त माता-पिता एवं आचार्य सुलभ हो सकते हैं। तभी मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् संतति हो सकती है। वही माता, पिता, आचार्यका देववत् सम्मान करती हुई सन्मार्गगामी होकर उन्नतिके उच्च शिखरपर आरूढ़ हो सकती है। वह न केवल ऐहिक, आमुष्मिक अभ्युदय अपितु परम निःश्रेयस भगवान्को भी प्राप्त कर सकती है।

'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'—इस श्रुतिसे अवगत होता है कि प्रशस्त सर्वगुणसम्पन्न, धार्मिक, सदाचारी माता, पिता एवं आचार्यसे ही सत्पुत्र और सच्छिष्य होते हैं और वे ही धर्म-ब्रह्मके ज्ञाता हो सकते हैं। वस्तुतः ब्रह्म-साक्षात्कार ही जीवनका परम ध्येय है। उसीके लिये दिव्य विविध धर्मानुष्ठानों, यज्ञ-यागादि सत्कर्मोंसे अन्तःकरणको संस्कृत करनेका प्रयत्न किया जाता है।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मी यं क्रियते तनुः।

देव-यज्ञ, भूत-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, ब्रह्म-यज्ञ, नृ-यज्ञरूपी महायज्ञों तथा ज्योतिष्टोमादि यज्ञोंद्वारा देहादि कार्य-कारण-संघातको ब्रह्मज्ञानोपयोगी बनाया जाता है। गर्भाधानादि षोडश संस्कारोंका भी मलापनयन, अतिशयाधानद्वारा ब्रह्मसाक्षात्कारोपयोगी अन्तःकरणादिको संस्कृत बनानेमें ही उपयोग है। मुख्य पक्ष यही है कि अनवच्छिन्न पारम्पर्यक्रमेण संस्कृत, धर्म-ब्रह्मनिष्ठ, सत्कुलप्रसूत, ब्राह्मादि शास्त्रीय विवाहोंसे उद्वाहित माता-पिता ही शुभ पुण्य तिथि-नक्षत्रादिमें तत्तदावश्यक कृत्यानुष्ठानादिपुरस्सर गर्भाधान करके तत्संस्कारोंसे संस्कृत विशिष्ट संतान उत्पन्न करते हैं। संस्कारोंसे बैजिक और गार्भिक दोषोंका निराकरण किया जाता है। माता-पिता प्रशस्त हों, तभी योग्य संतान होती है। आशय यह कि जब संतान पिताके शुक्रमें आता है, तब पिताके आचार-विचार, रहन-सहनका प्रभाव पड़ता है और माताके गर्भमें आनेपर उसके आचार-विचार, रहन-सहनका। प्रसिद्ध है कि गर्भिणीकी इच्छाओं तथा वासनाओंके अनुसार संतानका स्वरूप समझ लिया जाता है। पतिव्रताशिरोमणि महारानी सीताके भावानुसार लव-कुशका जन्म हुआ। अमेरिकामें गोरे दम्पतिसे काले पुरुषका अनुसंधान करनेमात्रसे काले संतानका जन्म हुआ। प्रह्लादके माता और पिता दोनों ही उस संस्कारसे संस्कृत नहीं थे, जिससे प्रह्लाद संस्कृत हुए; किंतु देवर्षि नारदकी कृपा, उनके वातावरणमें रहने, तादृश कथा-वार्ताके प्रभावसे माता प्रभावित हुई। उससे अधिक प्रह्लाद प्रभावित हुआ। अभिमन्युने गर्भमें

ही चक्रव्यूह-भेदन करनेका ज्ञान प्राप्त किया, जो बड़े-बड़े महारथियोंको भी नहीं था। फिर माता-पिताके अङ्कमें रहता हुआ बालक उन्हींके प्रभावोंसे प्रभावित होता है। धात्री, अन्य परिजन, पुरजनों, वृद्ध, बालक, युवकोंका भी प्रभाव पड़ता ही है। टोला, पड़ोस, संगी, साथी, वयस्कोंके आचार-विचारोंसे भी वह प्रभावित होता है। गुरुकुल, विद्यालयोंमें जानेपर वहाँके वातावरणका उसपर प्रभाव पड़ता है। तामस-राजस भोजनों, अभक्ष्य-भक्षण, अपेय-पानका बालकोंपर प्रभाव तो सर्व-सिद्ध ही है। स्थायी, अस्थायी साहित्य, चित्र, कलाओं, दृश्य-श्रव्य नाटकोंका प्रभाव सभी-पर पड़ता है। फिर मृदुमति बालकोंकी तो बात ही क्या।

बालक ही राष्ट्रकी आधारभित्ति हैं। उनके विकृत हो जानेसे राष्ट्र-का-राष्ट्र विकृत एवं निकम्मा बन जाता है। आजकल तो गंदे साहित्य, उपन्यास, नाटकों, कहानियों, मासिक-साप्ताहिक-दैनिक पत्रों, उनके अश्लील चित्रों, विज्ञापनों तथा चलचित्रों आदिद्वारा अधिकांश चारित्रिक पतन बढ़ते जा रहे हैं। कहना न होगा कि बालकोंपर उनके माता-पिताद्वारा भी उपर्युक्त वस्तुओंके उपयोगका प्रभाव पड़ता है। बालक ही राष्ट्रकी निधि हैं। उन्हींमेंसे ही विद्वान्, बलवान्, धर्मनिष्ठ, ब्रह्मनिष्ठ, योगी, सिद्ध तथा स्व-पर-कल्याणकारी बननेवाले हैं। अतः उनके निर्माण और रक्षणमें अधिक दत्तावधान होना आवश्यक है। सर्वप्रथम माता, पिता, समाज एवं राष्ट्रका अपना आचार, विचार, वातावरण शुद्ध बनाना आवश्यक है। साहित्य, नाटक, सिनेमा, विज्ञापनादिमें क्रान्तिकारी परिवर्तन करना होगा। शिक्षा और शिक्षकोंका परिष्कार तो सर्व-प्रथम आवश्यक है। सत्-शिक्षासे ही सद्बुद्धि, सद्बुद्धिसे ही सदिच्छा और तदनन्तर ही सत्प्रयत्न और सत्-फल सम्भव होगा। भारतीय शास्त्र-पद्धतिसे ही वेदों एवं तदनुसारी आर्ष धर्म-ग्रन्थोंका पठन-पाठन तदनुकूल पद्धतिसे होना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य-व्रत, संध्या, सूर्यार्घ्य, अग्नि-गुरु-शुश्रूषा, शान्ति-पाठपूर्वक अध्ययनाध्यापनादिद्वारा ही अयातयाम तेजस्वी ज्ञान-विज्ञान प्राप्त होते हैं। यथाकथंचित् अनियमित भोजन-पान-व्यवहारद्वारा ज्ञान हो भी जाय तो भी वह निस्तेज ही रहता है—जैसे श्मशानकी अग्नि दाहक, प्रकाशक रहनेपर भी अशुद्ध समझी जाती है। आहवनीय-गार्हपत्यादि अग्नि संस्कारसंस्कृत शुद्ध मानी जाती हैं। श्मशान-पक्वान्न अग्राह्य समझा जाता है। वैसे ही अवैध अध्ययन, अयोग्य-अशुद्ध आचार्यसे अध्ययन, अभक्ष्य-भक्षण, अब्रह्मचर्यपूर्वक पत्रों, रेडियो आदि-से प्राप्त ज्ञान भी निर्वीर्य होता है। अतएव स्वधर्मानुष्ठानद्वारा भगवदाराधनाको परम लक्ष्य बनाकर तदङ्गत्वेन अर्थ, कामका भी सेवन करना अनुचित नहीं। वस्तुतः अर्थ-कामकी शिक्षा परिस्थितियोंके क्रमसे प्राणीको अपने-आप मिल जाती है। इसीलिये अर्थशास्त्र एवं कामशास्त्रमें बहुत-सी बातें पशु-पक्षियोंसे ही सीखी जाती हैं। पिपीलिका (चींटियों) से धनसंग्रह, मधु-मक्षिकाओंसे पुष्पको विनष्ट किये बिना ही रस-संग्रह, भेड़ियासे यान, आसन आदिकी शिक्षा ली जा सकती है। पञ्चतन्त्र आदिमें मूषक, मार्जार, कपोत, शृगाल आदि अनेक राजनीतिक पात्र हैं। अतः मनुष्योंको वर्णाश्रमानुसार, शास्त्रोंके अनुसार शिक्षा-दीक्षा ग्रहण कराकर धर्म-ब्रह्मज्ञानकी ओर अग्रसर करना उचित है।

यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः॥

अर्थात् जैसे लोगोंका सहवास हो, जैसे लोगोंका सेवन एवं समागम हो, जैसा बननेकी उत्कट कामना हो, प्राणी ठीक वैसा ही बन जाता है। इसी क्रमसे वह ऐन्द्रपद, ब्राह्मपद प्राप्त कर सकता है। जन्मान्तरीय अदृष्ट एवं भगवदनुग्रहसे कहीं-कहीं माता-पिताके संस्कार अनुकूल न होनेपर भी अथच वाता-वरण तथा संगी-साथियोंके विपरीत होनेपर भी सन्मार्गमें प्रवृत्ति होती है। अजामिल आदि इसीके उदाहरण हैं। कहीं-कहीं प्राणी परिस्थितिवश टकराकर सावधान होता और स्वयं सत्सङ्गान्वेषण, सच्छास्त्र-सम्बन्ध स्थापित करके कल्याणार्थ प्रयत्नशील होता है; फिर भी राजमार्ग यही है कि समीचीन वातावरणमें प्रशस्त माता, पिता एवं आचार्यद्वारा बालकके निर्मल, कोमल, पवित्र अन्तःकरणमें धर्म-ब्रह्मका संनिवेश करना चाहिये। नवभाजन-लग्न संस्कार बड़े ही लाभदायक होते हैं।

वर्णाश्रमी लोगोंसे भिन्न भी मानव मात्रको अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोषादिका पालन करते हुए अपने विश्वासानुसार ईश्वरकी आराधनामें संलग्न कराना चाहिये। व्यष्टि-उन्नतिके लिये तत्परतासे प्रयत्न करते हुए भी समष्टि-हितका ध्यान रखनेकी शिक्षा अति आवश्यक है। व्यक्तिको समाजका, समाजको राष्ट्रका और राष्ट्रको विश्वका हित सदा ही ध्यानमें रखते हुए अपने हितका प्रयत्न करना चाहिये। समष्टिका अहित करके व्यक्तिगत या अल्प समुदायके हितकी भावना हेय है—ऐसी धारणा उत्पन्न करानी आवश्यक है। व्यष्टि-समष्टिका निर्माता तो समष्टि-व्यक्तिका उपोद्बलक होता है, व्यष्टि-समष्टिका समन्वय पोष्य-पोषक-भाव ही रामराज्यका स्वरूप है।

साम्यवाद, समाजवाद या सेक्यूलरवादके समान इसमें समष्टिके नामपर व्यष्टियोंकी निर्मम हत्या नहीं होती। राष्ट्रिय-

करणके नामपर सरकारीकरण, दलीकरण या हिटलरीकरणकी दुर्व्यवस्था भी नहीं होती और न साम्राज्यवादके नामपर समष्टि-जीवनके साथ खिलवाड़ ही किया जा सकता है। सम्पत्ति एवं शक्तिका विकेन्द्रीकरण ही आर्थिक असन्तुलनके निराकरणका प्रशस्त मार्ग है। अतिसमता और अतिविषमता—दोनों ही राष्ट्रके लिये घातक हैं। योग्यता, आवश्यकताको ध्यानमें रखते हुए 'चींटीको कणभर, हाथीको मनभर'की व्यवस्था ही व्यावहारिक है।

रामराज्यसे ही बालकोंका सुधार और उनकी समुन्नति हो सकती है; और बालकोंके सुधार तथा समुन्नतिसे ही रामराज्य हो सकता है। वर्तमान शासननीतिके अनुसार जो शिक्षा तथा साहित्य प्रचलित हैं, विज्ञापनों-सिनेमाओंकी जो अवस्था है, उसमें बालकोंका सुधार तथा उत्थान कभी हो ही नहीं सकता। गोवध चलते रहनेके कारण हमारा देश-काल ही अशुद्ध हो रहा है। शुद्ध घृत, दूध-दधिके अभावमें न कोई संस्कार हो सकते हैं और न यज्ञ-यागादि ही। शुद्ध संतानोत्पत्तिके अनुगुण विशिष्ट विधियाँ भी पूरी नहीं हो सकतीं। कोटोजम, कोकोजम, डालडा, वनस्पति, मिल्क-पाउडर आदिके द्वारा बुद्धि, मस्तिष्क तथा स्वास्थ्य नष्ट होते जा रहे हैं। धर्महीन राज्यकी कल्पनासे चारित्रिक स्तर गिर रहा है। चोरबाजारी, घूसखोरी बढ़ती जा रही है। अन्न-वस्त्रका संकट और भुखमरी सर्वत्र व्याप्त हैं। महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, शलभ, मूषक आदि ईति, भीति—सब कुशासनके ही परिणामसे होती है। इनका अन्त सुशासनसे ही सम्भव है। हिंदूकोड, 'विशेष विवाह आदि कानून बन जानेपर न केवल हिंदुओंमें ही किंतु हिंदू, मुसल्मान, ईसाई—सभीमें परस्पर विवाह, तलाक आदि चल पड़ेंगे। दुराचार, व्यभिचार आदि भी कानूनद्वारा वैध हो जायँगे। ब्राह्मविवाह, पातिव्रत धर्म आदि समाप्तप्राय हो जायँगे; फिर योग्य संतानोंकी उत्पत्ति ही कैसे सम्भव होगी।

इसीलिये 'रामराज्य परिषद्'का आन्दोलन है कि 'देशमें गो-हत्या बंद हो, धर्मविरोधी हिंदूकोड, विशेष विवाह आदि कानून रद्द हों। ईमानदारीका विस्तार हो। चारित्रिक स्तर ऊँचा हो, शास्त्रानुसार कर्म-कलाप बढ़े, दैवी बल बढ़े। संक्षेपमें, धर्मराज्य—रामराज्य स्थापित हो। तभी देश बलवान्, विद्वान्, धनवान्, संघटित, स्वधर्मनिष्ठ, ईश्वरपरायण तथा अखण्ड बनेगा। तभी अनिष्ट वस्तुओंपर प्रतिबन्ध और अभीष्ट वस्तुओंका विस्तार हो सकेगा। अतः 'रामराज्य-परिषद्'का सहयोग करके रामराज्यके लिये प्रयत्न ही पूर्ण रूपसे बालकोंके उत्थानका मार्ग है।'

बालकोंकी सच्ची उन्नतिका उपाय

(लेखक—अनन्तश्री स्वामीजी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

करारविन्देन पदारविन्दं
मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं
बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥

परमात्माकी सृष्टिमें दैव और आसुर भावको प्राप्त—दो प्रकारके जीव मिलते हैं।

उभे प्राजापत्या देवाश्चासुराश्चेति। ते पस्पर्धिरे दैत्या ज्यायांसो देवाश्च महीयन्त।

इस दैव और आसुर सृष्टिमें अनादि कालसे द्वेष-भावना, स्पर्धा अक्षुण्ण चली आ रही है। दैत्योंकी विजय और देवताओंकी हार बहुत बार होती देखी गयी है। सत्त्वप्रधान जीव देव और तमःप्रधान जीव असुर माने जाते हैं। गीतामें लिखा है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥
(१६। १–३)

अर्थात् दैवी सम्पत्तिमें उत्पन्न होनेवाले प्राणियोंमें अभय, सत्त्व-संशुद्धि, दान, योग, ज्ञान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, पिशुनताका अभाव, प्राणियोंके प्रति दया, मृदुता, लज्जा, अचापल्य, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, अभिमानाभाव आदि सद्गुण स्वभावसे रहते हैं। इसके विपरीत आसुरी सृष्टिवाले जीवोंमें—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥
(गीता १६। ७)

प्रवृत्ति और निवृत्तिका तात्त्विक ज्ञान न होना, शौचा-

भाव, आचाराभाव, सत्याभाव आदि असद्गुणोंका बाहुल्य दीख पड़ता है। आजके बालकका गर्भाधानमें आनेके क्षणसे ही माता-पिताके अशास्त्रीय व्यवहारोंके कारण दैवी सृष्टिमें जन्म कठिन ही नहीं, प्रायः असम्भव-सा प्रतीत होता है; क्योंकि गार्भिक संस्कारोंका प्रायः अभाव ही रहता है। गर्भाधान, सीमन्तोन्नयन एवं पुंसवन संस्कारोंके न होनेसे माता-पिता तत्कालीन शिक्षा और तदनुकूल आचरणसे वञ्चित रह जाते हैं। लिखा है—

हरिद्रां कुङ्कुमं चैव सिन्दूरं कज्जलं तथा।
कूर्पासकं च ताम्बूलं मङ्गलाभरणं शुभम्॥
केशसंस्कारकबरीकण्ठकर्णविभूषणम् ।
भर्तुरायुष्यमिच्छन्ती दूरयेद् गर्भिणी न हि॥
चतुर्थे मासि षष्ठे वाप्यष्टमे गर्भिणी यदा।
यात्रा नित्यं विवर्ज्या स्यादाषाढे तु विशेषतः॥

(बृहस्पति)

अर्थात् गर्भिणी स्त्रीको चौथे, छठे, आठवें मासमें यात्रा कभी नहीं करनी चाहिये। पतिकी आयु चाहनेवाली स्त्रीको माङ्गलिक शृङ्गार, केश-संस्कार, कर्ण-विभूषणका त्याग नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार गर्भिणीके पतिको भी—

वपनं मैथुनं तीर्थं वर्जयेद् गर्भिणीपतिः।
नौकारोहणं चैव तथा च गिरिरोहणम्॥

(रत्नसंग्रह)

अर्थात् गर्भिणीपति मुण्डन, मैथुन, तीर्थसेवन, नावकी सवारी और पर्वत आदिका आरोहण न करे। इस प्रकार धर्मशास्त्रानुकूल सदाचरणोंद्वारा उत्तम संतति उत्पन्न की जा सकती है। इसके विपरीत आजके पुरुष और स्त्री नियमपूर्वक नहीं रहते, जिसके कारण उत्तम संतान उत्पन्न ही नहीं होती।

जातकर्म

उत्पत्तिके समय पिताको बालकका नालच्छेदनसे पूर्व जातकर्म-संस्कार करना चाहिये। जातकर्म-संस्कारके प्रमाणसे बालक गुणवान् और दीर्घायु होता है—

स यदि कामयेत सर्वमायुरियादिति वात्सप्रेणैनमभिमृशेत। (पा० गृ०सूत्र जातकर्म सू० ८)

'यदि पिता चाहे कि इस बालककी पूर्ण आयु हो तो वात्सप्रेय अनुवाकसे बच्चेपर हाथ फिराये।' इससे वह दीर्घजीवी होता है। जातकर्म-संस्कारके समय बालककी दीर्घायुके लिये सुवर्ण-भूमि-गोदानादि करना चाहिये—

आयान्ति पितरो देवा जाते पुत्रे गृहं प्रति।
तस्मात् पुण्यमहः प्रोक्तं भारते चादिपर्वणि॥

'पुत्रकी उत्पत्तिके साथ-साथ देव और पितर जनिताके घर आते हैं। अतएव उनकी तृप्तिके लिये पिताको दान-पुण्य करना आवश्यक है।' इसके पश्चात् 'दशम्यां पुत्रस्य' के अनुसार बालकका नामकरण-संस्कार, अन्नप्राशन, बहिर्निष्क्रमण, चूडाकरण-संस्कार शास्त्रविधिसे यथाकाल करने चाहिये।

माताका अधिकार

पूर्व कथनानुसार गर्भगत बालक मातासे अधिकृत रहता है। उत्पत्तिके पश्चात् भी जबतक बालकका निष्क्रमण-संस्कार नहीं होता, तबतक वह माताके ही अधिकारमें रहता है। इस अवस्थामें बालकको भय दिखाना, अपवित्र रखना, उसके सामने काम-जन्य चेष्टाएँ करना, नींद आदिके लिये मादक द्रव्य देना, रोते हुए बच्चेको नशा खिलाना आदि बातें बालकके भविष्यमें महान् खाईं बन जाती हैं। जैसी आदत बालककी हो जाती है, वैसी ही अन्ततक चलती है। इसके पश्चात् पिताका अधिकार आता है।

पिताका अधिकार

पिताको चाहिये कि बालकका लालन-पालन प्रेमसे करे और उसे शिक्षाकी उत्तम-उत्तम बातोंका उपदेश करे। अपशब्द, गंदी बातें, गाली आदिका प्रयोग भूलकर भी बालकके सामने न करे। जब बालक बोलना शुरू करे, तब उसे राम-कृष्णके सुन्दर नामोंका उच्चारण कराये और उत्तम-उत्तम बातोंका उपदेश करता रहे। इसके पश्चात् जब बालककी आयु पाँच वर्षकी हो जाय, तब उसका उपनयन-संस्कार कराकर गुरुको सौंप देना चाहिये।

उपनयन-संस्कार

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥

अर्थात् 'ब्रह्मतेजको धारण करनेवाले ब्राह्मण-बालकका पाँचवें, बलार्थी क्षत्रिय-बालकका छठे, धनार्थी वैश्य-बालकका आठवें वर्षमें उपनयन करे।' आपस्तम्बसूत्रकार भी लिखते हैं—

अथ काम्यानि सप्तमे ब्रह्मवर्चस्कामम्, अष्टमे आयुष्कामम्, नवमे तेजस्कामम्, दशमे ज्ञानादिकामम्, एकादशे इन्द्रियकामम्, द्वादशे पशुकाममुपनयेत्॥

इत्यादि उपनयन-संस्कारका मुख्य उपदेश कामचार, कामवाद और कामभक्षणका परित्याग करके अपनेको ब्रह्मबल-क्षात्रबल-प्राप्तिके योग्य बनाना है।

कामचार

उपनयन-संस्कारके पूर्व बालक इच्छित स्थानपर बैठना-उठना, आना-जाना आदि करता रहता है। स्वेच्छापूर्वक कहीं चले जाना, शुद्ध या अशुद्धका विचार न करना, शौचाचारका ध्यान न रखना आदि कामचारके अन्तर्गत हैं। इसीलिये उपनयनके पश्चात् आचार्यको शौचाचार सिखानेके लिये शास्त्र आज्ञा देता है।

कामवाद

उपनयनके पूर्व बालक स्वेच्छानुसार चाहे जैसे बोलता और कहता रहता है; उसपर आक्षेप तथा किसी प्रकारका दबाव नहीं दिया जाता—परंतु उपनयनके पश्चात् गुरु उपदेश देता है। 'सत्यं वद' 'प्रियं वद' 'सत्यमप्रियं मा वद' 'प्रियं चासत्यं मा ब्रूहि' इत्यादि। अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो, अप्रिय सत्य मत बोलो, प्रिय असत्य मत बोलो आदि। अतएव श्रीमद्भगवद्गीतामें 'वाङ्मय तप'के प्रसङ्गमें कहा है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

(१७। १५)

यही वाणीका सदुपयोग है। इसके विपरीत—

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चैव सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाचिकं त्रिविधं मतम्॥

कठोर वचन, मिथ्या भाषण, चुगलखोरी, बेसुकी बातें कहना—जिससे कहनेवाले और सुननेवालेका कोई लाभ न हो, इसमें वाणीका दुरुपयोग होता है तथा परलोकमें पशु-पक्षियोंकी योनि प्राप्त होती है—

वाचिकै पक्षिमृगता दुर्योनिः प्राप्तिः साम्प्रतम्।

आजकल शिक्षित समुदायमें बहुधा देखा जाता है कि कोई बात कहकर उसके पालनमें थोड़ी-सी आपत्ति होनेपर कह देते हैं कि हम अपना वचन वापस लेते हैं। ऐसा कहना अपने भारतीय आदर्शको भूल जाना है। 'रामो द्विर्नाभिभाषते'। 'चंद टरै, सूरज टरै, टरै जगत ब्यौहार।' इसलिये जो व्यक्ति कामवादको छोड़कर 'हित, मित, सत्य' बोलता है, उसकी वाणीमें 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'—इस प्रमाणके अनुसार जो बात निकलती है, वह तत्क्षण फलदायिनी हो जाती है। इसलिये गुरुकुलमें आचार्यद्वारा स्वयं अनुद्वेगकर, सत्य, प्रिय, हितवाक्य बोलते हुए बालकोंको प्रारम्भसे ही वैसा ही बोलनेका अभ्यास कराना चाहिये।

कामभक्षण

उपनयनसे पहले शिशु इच्छानुसार अनेक बार खाता-पीता रहता है, परंतु उपनयनके अनन्तर आचार्य कामभक्षणपर नियन्त्रण रखता हुआ आदेश देता है—

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं श्रुतिचोदितम्।
नान्तरा भोजनं कार्यमग्निहोत्रसमो विधिः॥
द्विर्भोजनं न कर्तव्यं स्थिते सूर्ये द्विजातिभिः।

अर्थात् 'सायं प्रातर्वा भोजनम्' इस वेद-प्रमाणसे एक बार दिनमें, एक बार रात्रिमें भोजन करना ही द्विजातिके लिये विहित है। बीचमें भोजन नहीं करना चाहिये। सूर्यके रहते दो बार भोजन करना उचित नहीं।' प्रायः आजके शिक्षित समाजकी यह धारणा बन गयी है कि खाने-पीनेसे धर्म और शिक्षाका कोई सम्बन्ध नहीं है।

परंतु यदि विचारदृष्टिसे देखा जाय तो यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। दीपक अन्धकारको खाता है और परिणामतः कज्जलको उगलता है। श्रुति अन्वय-व्यतिरेकरूप तर्कसे इस सिद्धान्तको दिखाती है—

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः। आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते। तासां यो स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः। तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः सा मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक्।

अर्थात् खाया हुआ अन्न शरीरमें जाकर मल, मांस तथा मनरूप परिणामको प्राप्त होता है। उसी प्रकार पीया हुआ जल मूत्र-रक्त-प्राणरूप एवं तेजोमय घृतादिक पदार्थ खाये हुए अस्थि-मज्जा-वाणीरूप हो जाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि अन्नका सूक्ष्मतम परिणाम मन हुआ, जलका प्राण और घृतादिकोंका वाणी।

इसलिये जो लोग अन्न, जल और घृत आदिका, शुद्धि-अशुद्धि, भक्ष्य-अभक्ष्यका विचार न करते हुए, मनमाना उपयोग करते हैं, उनके मन, प्राण, वाणी किस रूपमें परिणत

होते हैं—यह बात आज प्रत्यक्ष देखनेमें आ रही है। आजका शिक्षित समुदाय करोड़ोंकी संख्यामें अपने भारतीय आदर्शसे विमुख होकर पशुओंके समान उच्छृङ्खल होता जा रहा है। किसी व्यक्ति और समाज तथा राष्ट्रके पतनके हेतु—विहित कर्मोंका त्याग, निन्दित कर्मोंका आचरण और विषयासक्ति ही होते हैं—

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसजंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति ॥
न कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

कोई लौकिक प्राणी क्षणमात्र भी वाचिक-मानस चेष्टाओंके बिना नहीं रह सकता। इसलिये शास्त्र-विहित कर्मोंका परित्याग करनेसे लक्षित होता है कि निन्दित आचरण अर्थात् कामचार, कामवाद, कामभक्षण हो रहा है। इन्द्रियोंके विषय शब्द, रूप, स्पर्श, रस, गन्धमें फँसा हुआ मनुष्य मारा जाता है—

कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीन-
भृङ्गा हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥

वीणाके शब्दसे मृग, स्पर्शदोषसे हस्ती, रूपसे पतङ्ग, रससे मत्स्य, गन्धसे लोलुप भृङ्ग मृत्युके मुखमें चले जाते हैं। इसी प्रकार व्यक्ति और समाज तथा राष्ट्रका पतन होता है। विशेषकर बालकोंके कोमल स्वच्छ अन्तःकरणपर शिक्षाके द्वारा जो छाप पड़ती है, वह तो आमरण अमिट हो जाती है—

यन्नवे भाजने लग्नं तत् क्वचिन्नान्यथा भवेत्।

मनुजी कहते हैं—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ॥

अर्थात् 'अन्नके दोषसे धर्मसे विमुखतारूप आलस्य, आलस्यसे सदाचारका त्याग, सदाचारके त्यागसे वेदादि सच्छास्त्रोंका अनभ्यास और वेदादि सच्छास्त्रोंके अनभ्याससे ब्राह्मणोपलक्षित द्विजातियोंके बालक अविद्या-काम-कर्मरूप मृत्युके मुखमें चले जाते हैं।' बालक ही भविष्यमें राष्ट्रके संचालक तथा नागरिक बनते हैं। जिस देशके बालक शिक्षा-द्वारा कामचार, कामवाद, कामभक्षणकी पराकाष्ठापर पहुँचाये जा रहे हैं, क्या वह राष्ट्र भी कभी ऐहिक, आमुष्मिक अभ्युदयका भागी होगा—ऐसा कोई विचारशील माननेको तैयार नहीं हो सकता। आजकल बालक-बालिकाओंका सहशिक्षण चल रहा है, इसका दुष्परिणाम भी किसी विचार-शीलसे छिपा नहीं है। प्रायः गृहस्थ-आश्रममें आनेसे पहले ही बालक-बालिकाएँ अनाचारका शिकार बन जाते हैं। इसीलिये मनुजी लिखते हैं—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

'माता, बहिन और बेटीके साथ भी एकान्तमें (एक आसनपर) न बैठे। इन्द्रियोंका प्राबल्य विद्वान्‌को भी विषयोंमें खींच लेता है!' इसलिये हमारी शिक्षाके आदर्शानुसार बालकों-को आचार्यकुलमें जाते ही अखण्ड ब्रह्मचर्यका व्रत धारण कराया जाता था—

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।'
स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

अर्थात् 'ब्रह्मचर्य-अवस्थामें कामबुद्धिसे स्मरण, कीर्तन, केलि (हास्य), अङ्गप्रेक्षण, एकान्त भाषण, संकल्प, बुद्धिका निश्चय तथा समागमरूप—ये अष्टविध मैथुन ब्रह्मचारीके लिये विवर्जित हैं।' तद्विपरीत अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना शास्त्रविहित है। पाँच यमोंमें ब्रह्मचर्यका चतुर्थ स्थान है और पाँच नियमोंमें स्वाध्यायका चतुर्थ स्थान है। इससे सिद्ध हुआ कि वेदादि सच्छास्त्रोंके अध्ययन तथा संध्यापूर्वक गायत्री आदि पवित्र मन्त्रोंके जपरूप स्वाध्यायसे ब्रह्मचर्यकी अखण्डता अक्षुण्ण रहती है। और भी—

'सत्सङ्गसंनिधित्यागदोषदर्शनतो भवेत्।'
'भवेद् ब्रह्मचर्यम्।'

अर्थात् विषयोंमें शास्त्र-प्रतिपादित दोष देखते हुए, ब्रह्मचर्यके विघातक गंदे साहित्य और सिनेमा आदिसे बचते हुए तथा मादक द्रव्यसेवी एवं विषयी पुरुषोंकी संनिधिके त्यागपूर्वक सत्-शास्त्र एवं सत्पुरुषोंका समागम भी ब्रह्मचर्यरक्षाका अमोघ उपाय है। बालकोंको वेदकी आज्ञा है—'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।' अतः माता-पिता जिस प्रकार लालायित रहते हैं कि हमारे घरमें पुत्र-जन्म हो तथा गुरुजन आशा करते हैं कि हमारे यहाँ अधिक संख्यामें

विद्यार्थी अध्ययनार्थ प्रविष्ट हों, उससे भी अधिक उनका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि जो बालक हमारे प्रभुकी कृपासे पुत्र तथा शिष्यरूपसे प्राप्त हुए हैं, उन्हें सच्चरित्र एवं आदर्श बनायें। बालककी सबसे प्रथम आदर्श माता है। माता यदि चाहे तो बालकको मदालसाकी तरह शैशवकालमें ही ब्रह्मनिष्ठ अथवा धर्मनिष्ठ बना सकती है। मदालसोपाख्यानमें मदालसाका उल्लापन (लोरी) ही तीन पुत्रोंको ब्रह्मनिष्ठ बनानेमें कृतकार्य हुआ था—

> शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
> संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।
> संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
> मदालसावाक्यमवेहि पुत्र ॥

चतुर्थ बालकके पतिकी आज्ञासे प्रवृत्तिनिष्ठ गृहस्थाश्रममें रहते हुए वंशवृद्धिके लिये उल्लापन प्रसिद्ध है—

> धरामरान् पर्वसु तर्पयेथाः
> समीहितं बन्धुषु पूरयेथाः ।
> हितं परस्मै हृदि चिन्तयेथा
> मनः परस्त्रीसु निवर्तयेथाः ॥
> सदा मुरारिं हृदि चिन्तयेथा-
> स्तद्ध्यानतोऽन्तः षडरीञ्जयेथाः ।
> मायां प्रबोधेन निवारयेथा
> ह्यनित्यतामेव विचिन्तयेथाः ॥

अर्थात् संक्रान्ति आदि पर्वोंपर ब्राह्मणोंकी भोजनादिसे तृप्ति, अपने बन्धुवर्गोंकी समीहित वस्तुसे पूर्ति, अन्य पुरुषोंका हितचिन्तन, परस्त्रियोंसे मनका नियन्त्रण, श्रीमुरारिका सदा हृदयमें चिन्तन तथा उसके ध्यानसे काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्यरूप षट् शत्रुओंपर विजय, सद्गुरुके ज्ञानोपदेशसे मायापर विजय तथा वैभवका उपभोग करते हुए भी उसमें क्षणभङ्गुरत्व-दृष्टि।—यही गृहस्थधर्मका आदर्श है।

माताके पश्चात् बालकका सम्पर्क पिता और आचार्यसे होता है। वे भी यदि अपने कर्त्तव्यका समुचित पालन करें तो बालकोंके सच्चरित्र और आदर्शवादी होनेमें कोई शङ्काका अवकाश नहीं है। अतएव वेदमें शिष्यके प्रति गुरुका अनुशासन है—

सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, आचार्याय प्रियधनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः, देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव, यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया अदेयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्, संविदा देयम् इत्यादि-इत्यादि

अर्थात् जैसा देखा, जैसा सुना और जैसा अनुभव किया हो, ठीक वैसा-का-वैसा ही वाणीके द्वारा अन्यके हृदयमें बोध कराना तथा श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित कायिक, वाचिक, मानसिक चेष्टारूप धर्मका पालन; अध्ययन-विधिसे गृहीत वेदादि सच्छास्त्रके स्वाध्यायमें प्रमाद न करना; आचार्यके लिये गो-सुवर्ण-वस्त्रादिरूप धन विद्याकी दक्षिणारूपसे देना, पुत्र-पौत्रादिरूप संततिका उच्छेद न होने देना; देवकर्म-पितृकर्ममें कभी आलस्यको स्थान न देना; माता-पिता, आचार्य, अतिथिको देववत् पूजना; शास्त्रविहित कार्योंका सेवन करना, शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका परित्याग करना, श्रद्धासे दान करना, अश्रद्धासे न देना, विभव होनेपर देना, लोकलजासे देना, शास्त्रभयसे देना, देशविशेष, कालविशेष, पात्रविशेषको जानकर देना इत्यादि। इस प्रकार बालकोंके लिये यह लेख उपयुक्त हो एवं तदनुसार हमारे राष्ट्रके बालक सच्चरित्र और आदर्शवादी बनते हुए भारतके मस्तकको ऊँचा करते हुए भारतको जगद्गुरुपदपर समासीन करनेमें सफल हों—यही हमारा शुभाशीर्वाद है।

संतोंकी समता

बंदउँ संत समान चित हित-अनहित नहिं कोइ ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम-सुगंध कर दोइ ॥

मैं संतोंको प्रणाम करता हूँ, जिनके चित्तमें समता है, जिनका न कोई मित्र है और न शत्रु। जैसे अञ्जलिमें रक्खे हुए सुंदर फूल [जिस हाथने फूलोंको तोड़ा और जिसने उनको रक्खा उन] दोनों हाथोंको समानरूपसे सुगंधित करते हैं [वैसे ही संत शत्रु और मित्र दोनोंका ही समानरूपसे कल्याण करते हैं]।

डा० मॉण्टेसरीकी भगवान्‌से प्रार्थना

प्रभो! बाल-जीवनके रहस्योंको समझनेमें हमारी सहायता करो—
जिससे कि
हम बालकके स्वरूपको जान सकें,
उसे प्यार कर सकें और
तुम्हारे नीति-नियमोंके अनुसार और तुम्हारे दिव्य संकल्पके अनुकूल उसकी सेवा कर सकें।

(Help us, O Lord, to penetrate into the secrets of the CHILD, so that we may know him, love him, and serve him according to Your Laws of Justice, and following Your Divine Will.)

संत श्रीविनोबा भावेजीका सन्देश

बालकोंके लिये 'कल्याण'का विशेषाङ्क निकलने जा रहा है, यह अच्छी बात है। 'कल्याण'के विशेषाङ्क बहुत बड़े-बड़े होते हैं। मैं उमीद करूँगा कि यह बालक-अङ्क तो भी छोटा हो।

धन्य होंगे वे, जो जीवनभर बाल-वृत्तिसे रह सकेंगे। श्रद्धा, सरलता, निष्कपटता,—ये ही बाल-भाव हैं। जिनके जीवनमें यह बालभाव चिरस्थायी होता है, वे ही सनत्कुमार कहलाते हैं। ऐसोंके सामने हम नतमस्तक हैं।

बालकोंके लिये कुछ चिरस्मरणीय बातें

(श्रीअरविन्दाश्रम, पाण्डिचेरी)

बालकोंको कौन-कौन-सी बातें सदा याद रखनी चाहिये?

पूरी सच्चाईकी आवश्यकता।

सत्यकी अन्तिम विजयकी निश्चितता।

सिद्धिका संकल्प रहनेपर निरन्तर उन्नति होनेकी सम्भावना।

आदर्श बालक

शान्तस्वभाव होता है।

जब सारी बातें उसके प्रतिकूल जाती हुई मालूम होती हैं या सभी निर्णय उसके विपक्षमें होते हैं, तब भी वह क्रोधित नहीं होता।

उत्साही होता है।

जो कुछ वह करता है, उसे वह अपनी योग्यताके अनुसार उत्तम-से-उत्तम रूपमें करता है और प्रायः यह निश्चित रहनेपर भी कि असफलता मिलेगी, वह उसे निरन्तर करता ही रहता है। वह सदा सीधे ढंगपर विचार करता है और सीधे ढंगपर ही कार्य करता है।

सत्यनिष्ठ होता है।

वह सत्य बोलनेमें कभी भी भय नहीं करता, परिणाम चाहे कुछ भी क्यों न हो।

धैर्यशील होता है।

अपने प्रयासोंका फल देखनेके लिये यदि उसे लंबे कालतक प्रतीक्षा भी करनी पड़े तो भी वह निरुत्साह नहीं होता।

सहनशील होता है।

वह सभी अनिवार्य कठिनाइयों और दुःखोंका

सामना करता है, उसके लिये मनमें जरा भी नहीं कुढ़ता ।

अध्यवसायी होता है ।

अपना उद्योग वह कभी ढीला नहीं होने देता, चाहे कितने लंबे समयतक उसे क्यों न जारी रखना पड़े ।

समचित्त होता है ।

वह सफलता और विफलता दोनों अवस्थाओंमें समता बनाये रखता है ।

साहसी होता है ।

वह लगातार अन्तिम विजयके लिये संग्राम करता रहता है, चाहे उसे बहुत-सी हारें ही क्यों न प्राप्त हों ।

आनन्दी होता है ।

वह जानता है कि सब प्रकारकी परिस्थितियोंमें किस तरह हँसते रहा जाय और हृदयको प्रसन्न रक्खा जाय ।

विनयी होता है ।

वह अपनी सफलतापर गर्व नहीं करता और न अपने साथियोंसे अपनेको बड़ा ही समझता है ।

उदार होता है ।

वह दूसरोंके गुणोंकी प्रशंसा करता है और दूसरोंकी सफलता प्राप्त करनेमें सहायता देनेके लिये बराबर तत्पर रहता है ।

ईमानदार और आज्ञाकारी होता है ।

वह सब प्रकारके अनुशासनोंको मानता है और बराबर ही ईमानदारीसे काम लेता है ।

(प्रेषक—श्रीश्यामसुन्दर झुंझनूवाला)

बालकोंके प्रति उनके बड़ोंका कर्तव्य

(लेखक—आदरणीय डा० श्रीभगवानदासजी)

बालकोंके प्रति उनके वृद्धजनोंका क्या कर्तव्य है, यह, भगवान् मनुके कुछ थोड़ेसे श्लोकोंकी उचित व्याख्या करनेसे विदित हो जाता है ।

> उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेत् शौचं, आदितः,
> आचारं, अग्निकार्यं च, संध्योपासनं एव च ।
>
> (२ । ६९)

बालकका उपनयन, यज्ञोपवीत संस्कार, करके, आदिमें, सबसे पहिले, वर्णमाला सिखानेसे पहिले, गुरुको चाहिये कि उसको (१) शौचकी विधि सिखावे । सबेरे सूर्योदयसे पहिले उठकर, मल-मूत्र विसर्जन करने और उन अंगोको धोकर स्वच्छ करने, दतवनसे दाँत साफ़ करने, आँख, नाक, कान, मुखको धोनेका, अभ्यास बालकको करा देना, यह तो माता पिताका ही कर्तव्य है; उसमें जो कुछ कमी रह गई हो वह गुरुको पूरी करनी चाहिये । तत्पश्चात् (२) सत् आचारकी शिक्षा; बड़ोंसे, बराबरों (तुल्यों, समानों) से, छोटोंसे कैसा व्यवहार करना चाहिये, किसका चरणस्पर्श, किसको हाथ जोड़कर सिर झुकाकर प्रणाम, किसको सीधा नमस्कार, नमस्ते, किसको आशीर्वाद, करना कहना चाहिये, यह सिखावे । पुराणोंमें कथा है, देवोंकी सभामें, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इंद्र, देवर्षि आदि बैठे थे; दक्ष प्रजापति पीछेसे आये; ब्रह्मा, विष्णु, तथा शिवजी भी बैठे रहे; औरोंने उठकर दक्षका प्रत्युत्थान अभिवादन किया; दक्षकी पुत्री सती शिवजीको ब्याही थीं; अतः दक्षको बड़ा क्रोध हुआ, कि मेरे जामाता होकर मेरा आदर नहीं किया; शिवजीको शाप दिया; फिर बड़े-बड़े उपद्रव हुए; सारा क्रम ही सृष्टिका बदल गया । अतः बचपनमें ही सदाचार शिष्टाचार सिखा देना आवश्यक है; इससे, संसारके सब व्यवहारोंमें, मनुष्योंमें परस्पर प्रेम और मैत्री और एक दूसरेकी सहायता, होती है । (३) अग्निकार्यकी शिक्षा; अब तो घर-घरमें दियासलाई रहती है; सौ वर्ष पहिले, जब भारतमें, विदेशोंसे, दियासलाई नहीं आयी थी, तब प्रत्येक गृहमें स्त्रियाँ, बड़े यत्नसे, कुछ-न-कुछ अग्नि, मिट्टीकी बोरसीमें, चौबीसों घंटे बनाये रहती थीं; यदि बुत गयी, तो पड़ोसिनसे प्रार्थना करना पड़ता था । अग्निहोत्रकी वैदिक विधिका एक कारण यह भी रहा होगा; अन्य कारण जो कुछ हों । चकमक पत्थर और लोहेसे, तथा शमी काष्ठोंके टुकड़ोंकी रगड़से, पहिले आग बाली जाती थी;

अब भी, जंगलोंमे रहनेवाले मनुष्य, जिनको दियासलाई दुर्लभ है, उन्हीं उपायोंसे काम लेते हैं । (४) इन सबके साथ, संध्योपासन सिखाना चाहिये; सविता सूर्यरूपी परमात्माका सम्यक् ध्यान करना, 'सं-ध्या'; तथा दिन और रातकी जब 'सं-धि', मेल, हो, सूर्योदय और सूर्यास्तका समय भी 'संध्या' शरीरको पवित्र करके, बनेतक नहा धोकर, दोनो समय, नहीं तो सबेरे अवश्य ही, मनको चारो ओरसे खींचकर, जगत्को प्राण और प्रकाश देनेवाले आदित्यनारायणका ध्यान करना, और गायत्री मंत्रके जपके द्वारा प्रार्थना करना कि हम सब मनुष्योंको सद्बुद्धि दीजिये ।

इन चार शिक्षाओंकी पहुँच बहुत दूरतक है। शौचकी, सदाचारकी, (ज्ञान-)अग्नि-कार्यकी, परमात्मोपासनाकी, पराकाष्ठा योगशास्त्रमें दिखाई है। ब्रह्मचारी अवस्थामे सीखे हुए इन कार्योंसे, गृहस्थ और वनस्थ आश्रमोमें बहुत लाभ होता है, और सन्यासाश्रममें इनका पूरा विकास और फल ।

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्य उपनायनं,
गर्भाद् एकादशे राज्ञो, गर्भात् तु द्वादशे विशः ।
ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे,
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे, वैश्यस्य ईहार्थिनेऽष्टमे ।
(२ । ३६-३७)

विशिष्ट बुद्धिमान् ज्ञानप्रधान बालकका उपनयन, पाँचसे आठ वर्षतककी अवस्थामे करना चाहिये; शूरवीर बलवान् क्रियाप्रधानका छः से ग्यारहतक; संग्रहशील, रुपये पैसाका लेखा रखनेमे, गणितमे, चतुर, इच्छाप्रधानका आठसे बारहतक ।

क्या खानापीना चाहिये, तथा कितना और कैसे, यह भी सिखाना, माता, पिता, आचार्यका आवश्यक कर्तव्य है । शुद्ध अन्न, जल, वायुके सेवनसे शरीर भी और चित्त भी स्वस्थ और प्रसन्न रहता है। गीतामे तीन प्रकारके आहार, सात्त्विक, राजस, तामस, और उनके गुण और दोष बताये हैं। आयुर्वेदमे दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्यापर बहुत उपदेश किया है। ज्यों-ज्यों शिष्यका वयस् और बुद्धि बढ़े त्यों-त्यों इस सबका उपदेश उसको देना उचित है; विशेषकर ब्रह्मचर्य-के नियमोंका ।

गुरुको चाहिये कि शिष्यकी स्वाभाविक प्रकृति और रुचिको जाँचता रहे; यदि ज्ञानप्रधान है तो विद्योपजीवी ब्राह्मणकर्मोपयोगी शिक्षा; यदि क्रियाप्रधान, तो क्षत्र-वृत्त्युपयोगी; यदि इच्छाप्रधान, तो वैश्यव्यापारोपयोगी । समावर्तन कर्मके समय, विद्यार्थीके वर्णका निर्णय आचार्य कर दे । इस प्रकारसे बालकों और युवाओंको शिक्षा देनेसे आजकालकी जीविकासंबंधी जो घोर समस्याएँ हैं, वे सब उत्तीर्ण हो सकती हैं ।

इस विषयपर, तथा इससे सम्बद्ध अन्य बहुतेरे विषयोंपर, अपने हिंदी, अंग्रेजी, संस्कृत ग्रंथोंमें बहुत विस्तारसे लिखा है, और यह दिखानेका यत्न किया है कि भगवान् मनुके सिद्धांतोंके अनुसार, ("कर्मणा वर्णः, वयसा आश्रमः") अतिविकृत हिंदूसमाजकी व्यवस्थाका पुनः संस्करण और जीर्णोद्धार करनेसे, आजकालकी बहुपरिवर्तित दशामे भी, हमारी कठिनाइयाँ और दुःख बहुत कुछ दूर किये जा सकते हैं। ॐ

ॐ सर्वस्तरतु दुर्गाणि, सर्वो भद्राणि पश्यतु, ।
सर्वः सद्बुद्धि आप्नोतु, सर्वः सर्वत्र नंदतु । ॐ

कपटसे मित्रता टूट जाती है

जलु पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भलि ।
बिलग होइ रसु जाइ कपट खटाई परत पुनि ॥

प्रीतिकी सुंदर रीति देखिये कि जल भी [दूधके साथ मिलकर] दूधके समान भाव बिकता है, परंतु फिर वह कपटरूपी खटाई पड़ते ही पानी अलग हो जाता है (दूध फट जाता है) और स्वाद (प्रेम) जाता रहता है ।

बच्चोंके चरित्र-गठनपर महामाननीय राष्ट्रपतिजीका विचार

इस समय देशके अंदर शिक्षासम्बन्धी कई प्रकारकी विचारधाराएँ चल रही हैं। अभी हालमें ही हम आज़ाद हुए हैं और यह स्वाभाविक है कि शिक्षाके सम्बन्धमें कई प्रकारके प्रयोग किये जायँ, कई विचारधाराएँ चलें। इस बातका निश्चय कर लेनेके पहले कि हमको किस रास्तेपर चलना है, हमको चाहिये कि हर तरहकी संस्थाओंको हम देखें और देख-सुनकर अपना निश्चय करें। मैं समझता हूँ कि अधिकाश विद्यालय, जो पहलेसे चलते आ रहे थे, वह अपने ही रास्तेसे चल रहे हैं। उनमें अभी बहुत कुछ परिवर्तन नहीं हो पाया है। एक दूसरा ढंग है, जिसके अनुसार गांधीजीके बताये रास्तेसे आज विद्यालय बुनियादी तालीमके नामसे चलते हैं और चलाये जा रहे हैं। मैं तो यह मानता हूँ कि चाहे जिस तरीकेसे हो, जो कुछ थोड़ी-बहुत विद्या हमारे बच्चे और बच्चियोंको इन अनेक प्रकारकी संस्थाओंद्वारा मिल रही है, वह उनके लाभके लिये ही हैं और उससे देश-का भी लाभ ही होगा। कोई एक ही तरीका अख्तियार कर लेना शायद हमारे देशके लिये अच्छा भी नहीं है। इतने प्रकारके प्रयोग होते रहे हैं। हम देखें कि किससे कितना लाभ हमको पहुँच रहा है। इसलिये मैं जहाँ जाता हूँ और जिन संस्थाओंको देख सकता हूँ, चाहे उनमें किसी भी पद्धति-से काम हो रहा हो, मैं उनको अपनी ओरसे प्रोत्साहन ही देता हूँ और मैं चाहता हूँ कि हमारी शिक्षापद्धति ऐसे ढंगसे बनायी जाय, जिसमें देशका कल्याण हो। देशका कल्याण तभी हो सकता है, जब हमारे यहाँके लोगोंका चरित्र ठीक हो जाय। जिन संस्थाओंमें बच्चोंके चरित्रकी ओर ध्यान दिया जाता है, उन संस्थाओंका मैं बहुत आदर करता हूँ। पहले जो शिक्षा-संस्थाएँ देशमें हजारोंकी तायदादमें कायम हो गयीं और जो आज भी चल रही हैं, उनमें एक बड़ी त्रुटि यही है, उनको कुछ इस तरीकेसे चलाया जाता है, जिसमें लड़कोंकी बौद्धिक उन्नति तो होती है, उनका दिमाग तेज होता है, उनको विद्या भी मिल जाती है, मगर उनका शरीर कमज़ोर पड़ जाता है और उनके चरित्रकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता। ऐसा समझा जाता है कि चरित्र खुद-ब-खुद बन जाता है। यह तो हमारी संस्कृतिका और हमारे घरोंमें जो शिक्षा मिलती है, उसका फल है कि कुछ-न-कुछ चरित्र देशके लोगोंमें आज भी है और हम यह कह सकते हैं कि हम बिल्कुल चरित्रसे खाली नहीं हैं। मगर शिक्षालयोंमें यदि चरित्रकी ओर अधिक ध्यान दिया जाय तो इसमें कोई शक नहीं है कि देश-की और भी अधिक तरक्की हो। आज हमारी सबसे बड़ी कमज़ोरी यही देखनेमें आती है कि हम चरित्रसे गिरे हैं और आज जितनी शिकायतें आप स्वराज्यप्राप्तिके बाद सुनते हैं, उनपर कुछ विचार करके देखा जाय तो चरित्रकी कमी ही उनकी जड़में है और चरित्रकी कमज़ोरीके कारण ही ये शिकायतें सुननेमें आती हैं। इसलिये मैं चाहता हूँ और मेरी ऐसी इच्छा और आशा है कि सभी शिक्षालयोंमें चरित्रपर अधिक-से-अधिक ध्यान दिया जाय, जिसमें वहाँ विद्याभ्यास-का काम भी हो और चरित्र-निर्माणका भी और इस तरह शिक्षालय देशके अंदर विद्वान् और चरित्रवान् स्त्री और पुरुष तैयार करें।

मैंने यह भी देखा कि सभी जगहोंपर—न केवल शिक्षालयोंमें—बल्कि अन्य संस्थाओंमें भी, खेलपर आज बहुत ज़ोर दिया जाता है और उनके प्रोत्साहनके लिये बहुत आयोजन किये जाते हैं। यह अच्छी चीज़ है और मैं इसकी शिकायत नहीं करता हूँ। इन खेलोंसे कुछ शरीर अच्छा रहता है और लोगोंमें एक साथ मिलकर काम करनेकी आदत पड़ती है तथा उनके मनपर और चरित्रपर भी असर पड़ता है। इसलिये वह ठीक है। मगर हम चाहते हैं कि इसपर ध्यान रक्खा जाय कि इन खेलोंमें कई खेल ऐसे हैं, जिनको पीछे लोग छोड़ देते हैं तो शरीरपर उसका बुरा असर पड़ता है। इसलिये कुछ ऐसी भी चीज़ बच्चोंको देनी चाहिये, जिससे उनके शरीरपर उनके जीवनके अन्तिम समयतक बुरा असर नहीं पड़े और जिससे वे अपना स्वास्थ्य ठीक रख सकें। मैंने जहाँतक सोचा है और देखा है, मैं समझता हूँ कि आसनकी पद्धति, जो हमारे देशमें प्रचलित थी, उससे शरीर और स्वास्थ्य बना रहता है और साथ-ही-साथ उसमें खर्च भी नहीं है। उसमें कोई ज्यादा आयोजनकी ज़रूरत नहीं है और उससे चरित्रपर और विशेष करके अपने मनको संयमित रखनेमें बहुत असर पड़ता है। इसलिये मैं चाहूँगा कि बच्चोंको खेल-कूदमें प्रोत्साहन दिया जाय, मगर ऐसा भी कुछ प्रबन्ध कर लिया जाय कि प्रतिदिन सबेरे दस मिनट, पंद्रह मिनट इनसे आसन करा लिया करें तो मैं समझता हूँ कि उससे उनका शरीर और स्वास्थ्य ठीक रहेगा और उनका मन भी

काबूमें आ जायगा और जो मनकी चञ्चलता रहती है, वे उसे बहुत कुछ वशमें कर लेंगे। इसलिये मैं चाहता हूँ, विद्यालयोंमें जितने आयोजन होते हैं, उनमें आसनको भी सम्मिलित करनेका प्रयत्न करें और उसमें अगर प्रोत्साहनकी ज़रूरत हो तो प्रोत्साहन भी दें। जिस तरह अन्य विषयोंके लिये इनाम बाँटे जाते हैं और बच्चोंको प्रोत्साहन दिया जाता है, उनमें अगर हम आसनको भी शरीक करेंगे तो हम देखेंगे कि इसका कितना अच्छा असर शरीरपर होता है। यह ऐसी चीज़ है जो करने योग्य है। इसलिये मैंने देशके सामने इसे रख दिया है।

समाजसेवाका आध्यात्मिक साधनामय स्वरूप

(लेखक—माननीय श्रीरंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर, राज्यपाल, बिहार-प्रदेश)

आध्यात्मिक साधनाका सनातन उद्देश्य है—आभ्यन्तरिक उस परमोच्च निर्विकार स्थितिको प्राप्त करना, जहाँ व्यष्टिगत चेतना समष्टि-चेतनामें लीन हो जाती है। यह स्थिति हमारी साधनाका वाञ्छित फल है। यह एक प्रकारका शाश्वत आत्यन्तिक परमानन्द है एवं परमा शान्तिकी स्थिति है, जिसमें शरीर एवं जीवको स्पर्श करनेवाली घटनाओं तथा प्रभावोंसे विकार नहीं उत्पन्न होता। यही 'समाधि' अथवा परमानन्दकी प्राप्ति है। ऐसी स्थिति केवल कभी-कभी न प्राप्त होकर यदि लगातार बनी रहे तो उसे 'सहज समाधि' कहते हैं। इस दशामें व्यक्ति एक प्रकारसे उभयमुख चेतना-शील हो जाता है। आभ्यन्तर शान्तिके निरन्तर स्थिर रहते हुए व्यक्तिको अपने शरीर और मनकी क्रियाओंका भी ज्ञान बना रहता है; किंतु इनसे विचलित हुए बिना वह केवल द्रष्टारूपसे इन्हें केवल दर्पणस्थित प्रतिबिम्बके समान देखता है।

इसे मनुष्य के द्वारा लभ्य मानव-चेतनाकी सबसे ऊँची स्थिति कह सकते हैं। इसे चरम चेतन अवस्था भी कह सकते हैं, जहाँ पहुँचकर मनुष्य मार्गमें मिले हुए चेतनाके विभिन्न स्तरोंपर एक प्रकारका अधिकार-सा पा जाता है।

अनादिकालसे चेतनाकी इस स्थितिको पानेके लिये उपासना या साधना नामके जो उपाय काममें लाये गये हैं, वे सुविख्यात मार्ग, जिनकी स्पष्ट व्याख्या तथा निरूपण हुआ है, योगके हठ, राज, कर्म, भक्ति और ज्ञान—ये पाँच प्रकार हैं। यहाँ मैं यह देखनेकी चेष्टा करूँगा कि किस रूपमें, किन परिस्थितियोंमें और कितनी दूरतक समाजसेवा मनुष्यकी इस सर्वोच्च स्थितिको प्राप्त करनेमें सहायक बन सकती है।

उपर्युक्त प्रश्नके अन्तरमें प्रवेश करनेसे पहले, मैं यह कह देना चाहता हूँ कि किसी भी व्यक्तिके द्वारा प्राप्त की जा सकनेवाली पूर्वकथित सर्वोच्च स्थितिके दो स्वरूप हैं—एक तो व्यक्तिगत और दूसरा सामाजिक। व्यक्तिगत स्वरूप तो इस नाते स्पष्ट ही है कि मनुष्यको प्राप्त हो सकनेवाली वही सर्वोच्च स्थिति है। अतएव हममेंसे सर्वाधिक महत्त्वाकाङ्क्षी व्यक्तिके लिये भी वह संतोषकी वस्तु है; किंतु ऐसा व्यक्ति जहाँ जन्म लेकर बड़ा होता है और जो उपर्युक्त वातावरणसे उसकी साधनामें सहयोग प्रदान करता है, उस समाजका भी उसपर कुछ अधिकार है। समाजको यह कहनेका पूरा अधिकार है कि उस व्यक्तिको चाहिये कि उसने जिससे जो पाया है, उसको वह भर दे। समाज अथवा मानवजाति उससे न्यायपूर्वक यह माँग कर सकती है कि उस व्यक्तिको दो रूपसे सेवा करनेमें समर्थ होना चाहिये, चाहे तो जहाँतक वह स्वयं पहुँचा है, उसी ध्येयतक दूसरे अधिकारी व्यक्तियों-को ले चले; अथवा साधारण मनुष्यकी दृष्टिसे नहीं, वरं सिद्ध पुरुषोंकी दृष्टिसे जो सामाजिक भार उसपर आता है, उसको वहन करे। सिद्धको उसके कर्तव्य बताना कुछ अटपटी-सी बात लगती है; क्योंकि वह स्वयं ही नियमोंका मूर्तिमान् स्वरूप होता है; फिर भी इस प्रकारकी स्थितिका दिग्दर्शन करा देना आवश्यक है; क्योंकि यहाँ एक प्रकारका यह भ्रम फैल रहा है कि सिद्धिका कोई सामाजिक स्वरूप है ही नहीं। समाज कह सकता है कि 'यदि कोई व्यक्ति आभ्यन्तरिक एकतानताका आनन्द लेता है, परंतु जिस समाजने उसके लिये यह आनन्द प्राप्त करना सम्भव किया है, उसकी सुधि वह नहीं लेता तो समाजको उससे क्या लाभ। वह तो अपनी समस्त पूँजीका स्वयं उपयोग करनेवाले धनीके समान है अथवा वह एक अफीम-खानेवालेके तुल्य है, जो अपनी पिनकमें पड़ा हुआ

इस कल्पनामें ही मस्त रहता है कि वह दिव्य आनन्द लूट रहा है।' जो कुछ भी हो, मनुष्य है एक सामाजिक प्राणी और वह जो कुछ करता है या नहीं करता, उसके सामाजिक स्वरूपका विधि-निषेधकी नीतिपर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टिकोणसे देखनेपर व्यक्ति और समाज दोनोंके लिये आध्यात्मिक साधनाके रूपमें समाज-सेवाका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। इसीसे लोकसंग्रहके लिये भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं कर्तव्यके प्रति सावधान रहनेकी बात गीताके तीसरे अध्यायमें कही है। (देखिये गीता ३। २०—२५)

'समाजसेवा'पदका बड़ा व्यापक अर्थ है। सम्बन्धित व्यक्ति और व्यक्तियोंको शारीरिक, मानसिक, नैतिक या आध्यात्मिक लाभ पहुँचानेकी दृष्टिसे एवं अर्थोपार्जनकी भावनासे शून्य, समाजके लोगोंके प्रति की गयी किसी भी सेवाको हम इसमें गिन सकते हैं। शुद्ध प्रेमसे ही ऐसी सेवाकी प्रेरणा मिलती है और बिना किसी बदलेकी आशाके यह सेवा केवल सेवाके लिये ही होती है। समाजसेवाके उच्चतम रूपकी तुलना उस सेवासे की जा सकती है, जो माता शिशुको प्रदान करती है। ऐसा हो सकता है कि ऐसे व्यक्तियोंको कभी कुछ दिया भी जाता हो; किंतु उनका उद्देश्य तो केवल सेवा ही करना होता है, पारिश्रमिक लेना नहीं। श्रमिक अपनी मजदूरीका सदा ही अधिकारी है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि सेवाके लिये उसे जीवित तो रहना है। अतः व्यक्तिको कुछ पारिश्रमिक मिलता है या नहीं, इसकी अपेक्षा इस प्रसङ्गमें अधिक महत्त्वकी बात यह है कि वह किस भावना या वृत्तिसे समाजसेवा करता है। निस्संदेह यदि कोई व्यक्ति ऐसी स्थितिमें है कि वह बिना पारिश्रमिक लिये समाजसेवा कर सकता है तो काम बहुत सरल हो जाता है और असंदिग्धरूपसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि वह व्यक्ति बदलेमें धन पानेका इच्छुक नहीं है।

किंतु यह भी सम्भव है कि कोई व्यक्ति धनके अतिरिक्त अन्य उद्देश्योंसे सेवा करता हो। कुछ 'नाम' और 'यश'के लिये कर सकते हैं, कुछ 'अधिकारप्राप्ति'के लिये और कुछ दूसरे अन्य बाह्य उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये। कुछ लोग चलन या प्रथाके प्रवाहमें पड़कर भी सेवामें लग सकते हैं या कुछ समाजका ऋण उतारनेके लिये। कहना नहीं होगा कि ऐसी कोई भी सकाम सेवा आध्यात्मिक साधनाकी सहायक नहीं हो सकती।

यदि समाजसेवाको सेवा करनेवालेकी आध्यात्मिक उन्नतिका एक द्वार बनाना है तो यह नितान्त आवश्यक है कि उसमें कोई और सूत्र न नँधे हों। ऐसी सेवाका प्रवाह समग्र मानवताके साथ एकात्मताके बोध और प्रेमसे होना चाहिये। वास्तवमें ऐसी स्थितिमें तो प्रेम एकात्मतासे भी बहुत कुछ अधिक है। उदाहरणार्थ माता शिशुके लिये अपनेको सोलहों आने बलिदान कर सकती है; किंतु अपने लिये नहीं। मनुष्य अपने ही लिये अपना जीवन उत्सर्ग नहीं कर सकता; क्योंकि फिर तो बलिदानके उद्देश्यपर ही पानी फिर जाता है। किंतु प्रेमप्रेरित सेवामें मनुष्य दूसरे व्यक्ति या व्यक्तियोंके लिये अपना जीवनतक दे सकता है। अतः ऐसी स्थितियोंमें एकात्मताके बोधसे भी कुछ अधिक विशेषता रहती है। जो हो, इतना स्पष्ट है कि उच्चतम प्रकारकी समाजसेवा प्रेम-प्रेरित होती है और इसकी दृष्टिमें कोई भी मूल्य चुकाना महँगा नहीं, चाहे वह पूर्णोत्सर्ग हो—सब कुछ स्वाहा कर देना ही क्यों न हो।

माके सम्बन्धमें शिशुके लिये एकात्मताकी भावना स्वाभाविक होती है, वह किसी साधनाकी अपेक्षा नहीं रखती; पर किसी औरको तो दूसरेके प्रति प्रेम जागरित करना पड़ता है और धीरे-धीरे इस बातको सीखना और हृदयङ्गम करना होता है कि सभी जीव एक हैं। मानवताके साथ एकात्मताका बोध केवल ऐसी ही साधनाका परिणाम हो सकता है। बस, इसी अवस्थामें मनुष्यका समाजके साथ एकीकरण हो जाता है तथा वह यह अनुभव करने लगता है कि समाज और वह दो भिन्न सत्ता नहीं हैं। यह स्थिति फिर स्वार्थकी एकताको जन्म देती है और इस ऊँची अवस्थाको प्राप्त पुरुष जो कुछ भी करता है, वह स्वयमेव उच्चतम दृष्टिसे आध्यात्मिक होता है।

गीता ऐसे व्यक्तिको सब प्राणियोंका, सारे संसारका भला करनेवाला बतलाती है—'सर्वभूतहिते रतः'। इस प्रकार सबके साथ अपनी एकता स्थापित करनेवाले व्यक्तिकी दो अवस्थाओंका वर्णन ईशावास्योपनिषद् करता है। 'जो पुरुष सब प्राणियोंको आत्मामें देखता है और आत्माको सब प्राणियोंमें देखता है, वह निर्भय हो जाता है और अपनी रक्षा करनेकी कोई भी चिन्ता नहीं करता।'[1] दूसरी अवस्था उस

१. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
(ई० उ० ६)

व्यक्तिकी है, जिसने पूर्ण एकता स्थापित कर ली है। 'जिस महापुरुषकी दृष्टिमें सब भूत-प्राणी उसीके अपने स्वरूप हो चुकते हैं और जो केवल एकको ही देखता है, उसके लिये कौन-सा मोह और शोक रह जाता है। अर्थात् वह समस्त भ्रमों तथा दुःखोंसे परे पहुँच गया है।'[1]

यह वास्तवमें आध्यात्मिक अनुभूतिकी चरम सीमा है। दूसरेकी प्रेमजन्य निःस्वार्थ सेवासे आरम्भ करके यह स्थिति क्रमशः प्राप्त की जा सकती है। निःस्वार्थ समाज-सेवाके मार्गमें मनुष्य जितना ही आगे बढ़ता है, उतनी ही समस्त मानवसमाजके साथ एकताकी अनुभूति भी उसके निकट होती जाती है।

क्रमशः व्यक्तित्वका लोप होकर विश्वैकात्मताकी झलक मिलने लगती है। फिर तो जो कुछ किया जाता है, वह हमें एक पग उस ओर ले चलता है, जहाँ सर्वव्यापीकी सर्वकालीन उपस्थितिका भान होता रहता है तथा उसके प्रति समर्पण होता रहता है। मानवताको परमात्माके प्रतिबिम्बके रूपमें देखकर इसी क्रमसे कोई भी उस उच्चतम स्थितिको प्राप्त कर सकता है। परमात्मा हमसे इस बातकी अपेक्षा रखता है कि प्रीति-युक्त सेवा तथा पूर्ण बलिदान करते-करते हम अपनेको मिटा दें। तब हमारा अपना अस्तित्व एकदम विलीन हो जायगा; पर हम सच्चिदानन्दमय परमात्माके रूपमें अपनेको पायेंगे। साधारण समाजसेवाके कार्योंसे आरम्भ होकर उचित पथप्रदर्शन मिलनेपर ऐसी वस्तु बन सकती है, जो मनुष्यको ऊँचा चढ़ाते-चढ़ाते उस स्तरतक ले जा सके, जो मनुष्यद्वारा प्राप्य ऊँची-से-ऊँची आध्यात्मिक स्थिति है।

रामायण और महाभारतकी कथाओंमें पोषण देनेकी अटूट सामर्थ्य

(लेखक—माननीय श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी, राज्यपाल, उत्तरप्रदेश)

जैसे सिंह-शावक जंगलमें विचरता है, वैसे ही—उसी निर्भयतासे बालकको घरमें विचरने देना चाहिये। उसके उभरते हुए जोशको दबा देना तो बड़ा पाप है। उसको समझनेकी कला माता-पिताको हस्तगत करनी चाहिये।

बालकोंको कोई दूसरा गढ़ नहीं सकता। उनको तो उनकी कल्पना गढ़ सकती है। इस कल्पनाको उत्तेजित करना मा-बाप और गुरुका काम है। और उनको उत्तेजना मिलती है केवल कहानियोंके कहनेसे। उनको कहानी कहनेसे ही खरी शिक्षा मिल सकती है।

इसी कारणसे हमारे माता-पिता बालकपनसे ही कथा-वार्ता कहते आये हैं। रामायण और महाभारतकी कथाका यही माहात्म्य है। जिस बालकको माताने ये कथाएँ सुनायी होंगी, वही संस्कारी बालक होगा।

किंतु आज माताओंको इन कथाओंके कहनेकी फुरसत नहीं है। किसीको फुरसत है तो उसे कहानी कहनेकी कला सीखनेकी परवा नहीं है; और यदि परवा भी हो तो महाभारतकी कथा जाननेकी और कहनेकी शक्ति नहीं है।

मैं अपना अनुभव आपसे कहता हूँ। महाभारत और रामायणकी कहानियोंके सुननेसे बालकको जो मनुष्यत्व प्राप्त होता है, उसे देनेकी सामर्थ्य अर्वाचीन शिक्षा-पद्धतिमें नहीं है; क्योंकि इन कथाओंमें मनुष्य-हृदयको पोषण देनेकी अटूट सामर्थ्य है—सभी कालमें और सभी वयमें।

होनहार

तुलसी जसि भवतब्यता तैसी मिलइ सहाइ। आपुनु आवइ ताहि पहिं ताहि तहाँ लै जाइ॥

तुलसीदासजी कहते हैं—जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है, वैसी ही सहायता मिल जाती है। या तो वह आप ही उसके पास आती है, या उसको वहाँ ले जाती है।

[1] यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ (ई० उ० ७)

हमारा घर

(लेखक—माननीय बाबू श्रीप्रकाशजी, राज्यपाल, मद्रासप्रदेश)

मन्थराने यह कहकर अपनी परोपकारिता और निःस्वार्थता-का प्रमाण उपस्थित किया कि 'चेरी छाड़ि कि होउब रानी', और अपनेको स्वामिनीभक्तिपरायण एवं भरतके सम्बन्धमें अत्यन्त परोपकारी बतलाते हुए भी इसमें संदेह नहीं कि उसने बड़ा भीषण काण्ड संसारमें रच दिया और साथ ही अपनेको सदाके लिये कुविख्यात कर दिया। सर्वाधिकारी लोकतन्त्रात्मक गणराज्यके सदस्य होते हुए, हममें कोई भी अपने सम्बन्धमें मन्थराकी तरह यह नहीं कह सकता कि हम जिस अवस्थामें उत्पन्न हुए हैं, उसी अवस्थामें जीवन व्यतीत करके मृत्युको प्राप्त करेंगे। गणतन्त्रकी यह विशेषता है कि कोई भी किसी भी कामके लिये किसी समय आमन्त्रित किया जा सकता है और वह इस कामको करनेसे इनकार भी नहीं कर सकता।

यदि हमारे किसी कामका परिणाम अनर्थ हुआ तो मन्थराकी तरह हम निर्दोष, स्वार्थरहित भी अपनेको ठहरा नहीं सकेंगे। आजके समाज-संघटनके मूल सिद्धान्तोंमें और पुराने विचारोंमें यह बड़ा भारी अन्तर है। इस कारण हम सब बातोंके लिये स्वयं उत्तरदायी हो जाते हैं। अब हम दूसरोंको दोष नहीं ही दे सकते। उल्टे दूसरोंके दोष अपने ऊपर ले लेना पड़ता है। हम सबका यह अभ्यास हो गया था कि अपने दोषोंके लिये भी दूसरोंको उत्तरदायी बतला दें और कोई दूसरा न मिले तो शासनको ही बुरा कहें और उसीको सब बुराइयोंका कारण सिद्ध करें।

अब हम—हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति—शासनमें बराबर अधिकारी हैं। हाँ, हम अधिकारका दुरुपयोग करें और दल-बंदियोंमें फँसें अथवा किसी कारण अपनेको विवश मानकर सार्व-जनिक कार्योंमें रस न लें और अपने समाजका काम बिगड़ता हुआ चुपचाप देखते रहें, तो भी दोष अपना ही है, दूसरोंका नहीं। ऐसी अवस्थामें हम सबको कुछ सोचना होगा, समझना होगा, अपनेको सम्हालना होगा, हर पगपर अपना समुचित कर्तव्य विचारना होगा और अपनेको सचाईके साथ विश्वास दिलाना होगा कि हम ठीक मार्गपर ही चल रहे हैं, कोई अनुचित कार्य नहीं कर रहे हैं।

पर शताब्दियोंकी दुर्व्यवस्थाके फलस्वरूप, अपने स्वराज्य-को खो देनेके कारण, आध्यात्मिक और लौकिक—हर प्रकारसे दूसरोंके अधीन हो जानेके कारण, हममें वह आत्मसम्मान नहीं रह गया जो कि हमें अपने दोषोंको देखकर उन्हें दूर करनेके लिये प्रवृत्त कर सकता। यदि आज भी इसी कुत्सित विचारधारासे हम काम करेंगे तो हम अपने ऊपर बड़ा भारी संकट बुलायेंगे। हमें अब सतर्क हो जाना है।

हमारी खराबीका स्रोत कहाँ है, इसका हमें पता लगाना चाहिये और वहींसे उसे ठीक करनेका भी प्रयत्न करना चाहिये। स्रोत यहीं हो सकता है, जहाँसे हमारा जीवन आरम्भ होता है और वह है हमारा घर। चाहे मिस मेयो आदि विदेशी समालोचकोंसे हम कितना ही बुरा क्यों न मानें, सच बात तो यही है कि हमारे घरकी इस समय बड़ी दुर्व्यवस्था है। अवश्य ही यदि कोई हमारा दोष निकालता है तो हमें बुरा लगता है। बुरा लगना पहले ठीक था; क्योंकि जबतक हमारे देशमें स्वराज्य नहीं था, हम यह अवश्य समझते थे कि समालोचक हमारा उपहास कर रहे हैं; पर अब हम स्वतन्त्र हैं, हमें समालोचकोंकी नीयतकी कोई चिन्ता नहीं करनी है। हमें तो अपनेको ठीक करना है।

बालक-बालिकाओंसे मुझे एक-दो बात कहनी है और वही मैं यहाँपर कहना चाहता हूँ। अवश्य ही आपलोगोंको अपने घरसे असंतोष होगा। सभी बालक-बालिकाओंको असंतोष रहता है। अगर आपको भी हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। असंतोष इसी कारण हो सकता है कि अपने घरमें कुछ दोष आप पाते हैं। अब आप सोचिये कि दोषकी कुछ जिम्मेदारी आपके ऊपर भी तो है। क्या आप पूर्णतया निर्दोष हैं? प्रश्न पूछते ही आपको ठीक उत्तर मिल जायगा; क्योंकि अपनेसे अपनी निजकी कोई बात छिपी नहीं रहती। आपको अपने दोष मालूम हो जायँगे और आप अनुभव करेंगे कि उन्हींके कारण वह स्थिति पैदा हो गयी है, जिसकी आपको शिकायत है।

ऐसी दशामें आपका फौरन यह कर्तव्य हो जाता है कि ऐसे दोषोंसे अपनेको आप मुक्त करें और साथ ही और लोगोंको भी अपने-अपने दोषोंसे मुक्त होनेमें सहायता दें। पहली बात तो यह है कि आपको सबसे सहानुभूति रखनी होगी। सबके भावोंका आदर करते हुए ऐसा प्रयत्न करना होगा कि आपसे किसी दूसरेको कोई ऐसा कष्ट न

हो, जिससे परहेज़ किया जा सकता है। जहाँ हमने अपने घरवालोंके भावोंका आदर करना शुरू किया, वहीं हम देखेंगे कि बाहरके सब लोगोंका भी हम आदर करने लगे हैं। जब हम घरपर एक दूसरेकी सहायता करनेका सद्भाव रक्खेंगे, तब हम बाहर भी ऐसे ही सद्भावोंसे सब कार्य करेंगे।

आप अपने घरको देखिये। आप पायेंगे कि वहाँ बड़ी दुर्व्यवस्था रहती है। सब चीजें सब जगह बिखरी पड़ी रहती हैं। सब कोई सबको दोष देता है, पर अपनेको नहीं देता। वह यह नहीं देखता कि इस दुर्व्यवस्थामें वह स्वयं भी बड़ा सहायक है। सब बालक-बालिकाओंसे मेरा आग्रह है कि घरपर वे सब चीजें कायदेसे सँवारकर रक्खा करें। वे चाहेंगे तो सारा घर स्वच्छ और सुन्दर बना रहेगा। यह मामला कोई गरीब-अमीरका नहीं है। बड़े-बड़े अमीरोंके घर दुर्व्यवस्थित रह सकते हैं और रहते हैं। कितने ही गरीबोंके घर स्वच्छ और सुव्यवस्थित रह सकते हैं और हैं।

हमारे घरोंमें झूठ बहुत चलता है। मुझे यह कहनेमें कोई भी संकोच नहीं है। प्रायः हम एक दूसरेसे गलत बातें कहते रहते हैं। चालाकीसे व्यवहार करनेकी फिक्रमें रहते हैं। ठीक बातें हम दूसरोंसे छिपाते रहते हैं। हम मक्कार हो गये हैं। इसीसे संसारमें हमारा आदर नहीं रह गया। हमारी बात कोई नहीं मानता। हम कहते हैं कुछ और करते हैं कुछ और। वादा करते हैं और उसे पूरा नहीं करते। नमूनेके लिये एक किस्मकी वस्तु दिखलाते हैं और पीछे माल दूसरी किस्मका भेज देते हैं। संसारमें ऐसी अवस्थामें हममेंसे न किसी व्यक्तिका न किसी समुदायका मान हो सकता है। हम बाहरकी दुनियामें ऐसा व्यवहार इस कारण करते हैं कि हम घरमें भी ऐसा करते हैं और बाहर हम ऐसा करनेके लिये सिखलाये भी जाते हैं। बालक-बालिकाएँ इससे परहेज करें। आप देखिये कि सारा संसार ही बदल जाता है, जब हमारा व्यवहार शुद्ध और सरल होता है।

नियन्त्रण, नियमन, संयम आदिकी कमी चारों तरफ हो रही है। इसकी शिकायत सबको है। कोई अपनेको दोष नहीं देता। सब कोई दूसरोंको दोष देते हैं, पर दोष तो अपना ही है। हम घरपर किसी प्रकारके नियन्त्रणसे अपनेको बद्ध रखना पसंद नहीं करते। यदि वहाँपर इसे रखने लगेंगे तो सब जगह उसका पालन करेंगे। अगर घरमें झगड़ा नहीं करेंगे तो बाहर झगड़ा करनेकी प्रवृत्ति हमारी कभी न होगी। पुलिस और विद्यार्थीकी यदि मुठभेड़ होती है तो कारण यही है कि घरपर हम सब सदा एक-दूसरेपर आघात करते रहते हैं। अपना दोष न देखकर दूसरोंके ही दोष देखते रहते हैं। अपने ही लिये अच्छा स्थान खोजते हैं। दूसरोंसे कोई सहानुभूति नहीं रखते। भोजनके लिये हम समयका पालन नहीं करते। यह विचार ही नहीं करते कि माता भोजन लेकर बैठी होगी और हमारे ठीक समयसे न पहुँचनेके कारण चिन्तित होगी। अगर हम भोजन बँधे समयसे करने लगें तो हम सब काम ठीक समयसे करने लगेंगे। इस सम्बन्धमें बड़े-बड़े व्याख्यान देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आप सब लोग यह तय कर लीजिये कि हम भोजनका समय निर्धारित कर उसका सदा पालन करेंगे। देखिये, संसारमें व्यवस्था-ही-व्यवस्था हो जायगी। कहीं कुछ गड़बड़ी ही न रह जायगी। इसे आप दिल्लगीकी बात मत समझियेगा। चाहें तो प्रयोग करके देख लीजिये।

सबको इस बातकी शिकायत रहती है कि खर्चा नहीं चलता। थोड़ा सोचिये कि खर्चा क्यों नहीं चलता। कैसी चीजोंपर खर्चा होता है? भोजन-वसनपर विशेषकर खर्चा होता है। क्या आप सब लोग अपने घरकी इस बातमें सहायता करते हैं कि खर्च कम हो—जितनी घरकी आमदनी हो, उससे काम चल सके? मैं बालक-बालिकाओंसे यही कहूँगा कि यदि आप सब भोजन ठीक समयसे करेंगे तो जो दिनभर लकड़ी चूल्हेमें जलती रहती है, वह कम हो जायगी। भोजन भी ठीक तरह बना हुआ मिलेगा और भोजन बनानेकी जिम्मेदारी जिनकी है, उन्हें भी समय मिलेगा कि सीना-पिरोना आदि जरूरी काम करके घरका खर्च बचा सकें। साथ ही अगर आप सब इस बातकी फिक्र रखियेगा कि कपड़ोंको ठीक तरह तह करके बराबर रक्खें और लुड़ियाकर इधर-उधर न फेंकते रहें तो आप देखेंगे कि कपड़ा बहुत दिन चलेगा और इससे भी खर्च बचेगा। खानेमें और कपड़ोंमें जो अधिक खर्च होता है, जिसके कारण परेशानी रहती है, वह सब कम हो जायगा।

सच्ची बात तो यह है कि सारी खराबी हमारे घरमें ही है। घरसे ही वह शुरू होती है और चारों तरफ फैलकर समाजको बिगाड़ती है। बालक-बालिकाओ! आजके संसारमें आपकी बड़ी जिम्मेदारी है। आगेका भारत वैसा ही होगा, जैसा आपलोग अपने जीवनसे उसे बनायेंगे। बकवाद करना छोड़ दीजिये। एक-दूसरेकी बुराई करना छोड़ दीजिये। अपने-अपने कामसे मतलब रखिये। इसकी फिक्र

रखिये कि दूसरोंको अपनेसे यथासम्भव आराम मिले, अथवा कम-से-कम कष्ट पहुँचे। सभीकी सहायता करनेको उद्यत रहिये। दूसरोंको अच्छा समझिये, बुरा नहीं। माता-पिताके सच्चे सहायक होइये, उनके निन्दक नहीं। यदि उनमें कोई कमी पाइये तो अपने कामसे उसे पूरा कर दीजिये।

यदि आप अपना काम ठीक तरह करते हैं तो आप सब देशभक्त हैं। यदि अपने कामकी तरफ़से आप उदासीन हैं तो आप सब देश-द्रोही हैं। देखनेमें आप बहुत छोटे हैं, पर वास्तवमें आप बहुत बड़े हैं। जो लोग देशभक्तके नामसे प्रसिद्ध हैं, वे ही देश-भक्त नहीं हैं, आप सब देश-भक्त हैं। हाँ, शर्त यह है कि अपने संकुचित अथवा विस्तृत क्षेत्रमें आप अपने कर्तव्यका पालन करते रहें। सब लोग किसी तथाकथित बड़े पदपर नहीं पहुँच सकते। पाँच वर्षोंमें ३६ करोड़की जनसंख्यामें केवल एक ही व्यक्ति राष्ट्रपति हो सकता है। हमें अपने दिलको तोड़नेकी आवश्यकता नहीं, यदि हम राष्ट्रपति नहीं बनाये जा रहे हैं। हमें अपने कामको छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है, यदि हमारी व्यर्थकी महत्त्वाकाङ्क्षा पूरी नहीं होती। यदि हम अपने क्षेत्रमें ठीक तरह काम करेंगे तो वहाँपर हम राष्ट्रपतिके ही तुल्य होंगे और जिन लोगोंसे हमारा सम्पर्क है, उनके आदरके उतने ही अधिकारी होंगे जितने कि सारे देशमें हमारे राष्ट्रपति हैं।

अपने कामपर हमें गर्व रखना होगा। अपने माता-पिता, अपने मित्र-अध्यापक, अपने भाई-बहिन—सबका हमें गर्व होना चाहिये और स्वतन्त्र लोक-तन्त्रात्मक गणराज्यके भावी नागरिककी हैसियतसे हमें अपने काममें यथाशक्ति प्रवीणता पानी होगी, चाहे वह काम किसी भंगी-भिश्तीका हो अथवा किसी राज्याधिकारीका हो। हमें सदा अनुभव करना होगा कि सब कार्योंका महत्त्व बराबर है। संसारके चलानेमें सभीकी आवश्यकता है। अपना काम करते हुए और उसपर गर्व रखते हुए और उसके द्वारा उन सबका सम्मान प्राप्त करते हुए, जिनसे कि उसके कारण हमारा सम्पर्क होता है, हमें सदा इसके लिये भी प्रस्तुत रहना होगा कि यदि लोगोंका आमन्त्रण हो तो हम किसी भी प्रकारकी सार्वजनिक सेवाके लिये अपनेको प्रस्तुत रक्खेंगे और साहसके साथ यथाशक्ति, यथाबुद्धि उसका काम निबाहेंगे। आज सब बालक-बालिकाओंका ध्यान मैं इधर दिलाना चाहता हूँ। ध्यान देनेमें कल्याण है। इससे विमुख होनेमें भय-ही-भय है।

बच्चोंके जीवननिर्माणमें माता-पिताका दायित्व

(लेखक—माननीय डा० बी० पट्टाभि सीतारामैया, राज्यपाल, मध्यप्रदेश)

शैशव यौवनका जनक है। दूसरे शब्दोंमें, जो तुम बचपनमें बोओगे, वही तुम जवानीमें काटोगे। हमारे बच्चोंको जो अवसर आज सुलभ है, वह हमें अपने बचपनमें सपनेमें भी दुर्लभ था। आज चार वर्षका बच्चा मोटर स्टार्ट करना जानता है और बता सकता है। वह कहने लगता है, 'बटन दबाओ', 'ब्रेक छोड़ दो', 'मूठ दबाओ', 'गियर लगाओ' और 'गतिवर्द्धक दबाते समय इसे छोड़ दो।' यहाँतक कि वह यह सब करके दिखा भी देता है और गाड़ी चल पड़ती है, जिसे देखकर मा-बाप स्तम्भित हो जाते हैं। मद्रासमें मैरीनापर तीन और चार वर्षके बच्चे तीस मीलकी रफ्तारसे चलनेवाली मोटरगाड़ियोंको दूरसे पहचान लेते हैं और अपने समवयस्कोंमें इस बातके लिये लड़ने लगते हैं कि अमुक गाड़ी पांटियक है या शेवरलेट है, ऑस्टिन है या हिंदुस्तान है, वाग्ज़ाल है या सिट्रोएन है। मेरा तीन वर्षका पौत्र मोटरगाड़ियोंकी दस किस्में तो अच्छी तरह पहचानता है और उनमेंसे एक दूसरेसे भेद भी ठीक तरह जानता है। इसके अलावा कम-से-कम दस और किस्मोंके नाम भी वह जानता है, जब कि मैं स्वयं तो नहीं ही जानता—मैं तो यह भी नहीं जानता कि लोग एक गाड़ीसे दूसरी गाड़ीका भेद कैसे पहचान लेते हैं। इस प्रकार ज्ञानका परिधि-क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है। हमारे बच्चे कौन-सा वायुयान सिखानेवाला है और कौन-सा सवारीवाला है—यह ठीक-ठीक बतला सकते हैं। बच्चोंका मस्तिष्क या इसका विकास उसके युगपर आलम्बित है और अपने युगके प्रभावोंके ही अनुसार वे विचार भी ग्रहण करते हैं। हमारे बचपनमें जो हमारे लिये हितकर था, वह शायद आजके बच्चोंके लिये हितकर न हो। उदाहरणार्थ आज नहीं जँचेगा कि मैं अपनी डाकटरी बैल-गाड़ीमें बैठकर चलाऊँ और इसलिये अब हमारे बच्चोंको वहाँसे प्रारम्भ करना है, जहाँ हमने समाप्त किया है। मेरे पास मोटरगाड़ी नहीं थी और मैं रख भी नहीं सकता था; पर सम्भवतः हमारे बच्चोंका काम बिना उसके चल नहीं सकता। यहाँ मैंने केवल मोटरगाड़ीवाली मनोवृत्तिका

विश्लेषण विस्तारपूर्वक किया है, पर यह तो दिङ्मात्र हुआ। जीवनके विविध क्षेत्रोंमें इसी प्रकारके दूसरे विकास हुए हैं।

बच्चेकी रुचि उसके परिसर, परिवार और परम्पराके दायके अनुसार बनती है। शाकाहारी बच्चा मछली-मांस खानेकी निन्दनीयता कैसे समझेगा; पर यदि उसके मा-बाप नहीं खाते तो बच्चा भी इन चीजोंसे हिकारत दिखलायेगा।

बच्चेको कभी भी न तंग करना चाहिये, न खिझाना चाहिये और न धोखा देना चाहिये। बच्चे, पागल और स्त्रियाँ एक ऐसी श्रेणीमें बाँधी गयी हैं, जिसे कभी गुमराह नहीं करना चाहिये। अगर कोई दवा कड़वी है तो उसे कभी मीठा न बतलाया जाय; नहीं तो वे बादमें मीठी दवा लेनेसे भी इनकार कर देंगे। अगर किसी पागलको पागलखानेमें आप ले जा रहे हैं तो उससे कभी मत कहिये कि तुम्हें रिश्तेदारके घर ले जा रहे हैं। गन्तव्य स्थानका सीधा उल्लेख करनेसे वह अपने भाग्यसे समझौता कर लेता है और उसे अच्छा होनेमें और सुभीता तथा जल्दी होती है। बादके जीवनकी रुचियोंकी सृष्टि शैशवमें ही होती है। अगर मा-बाप हमेशा चिढ़ते रहते हैं तो बच्चे भी चिड़चिड़े हो जाते हैं। बच्चोंको कभी भी भयसे अभिभूत न होने देना चाहिये। उनके मनमें पूर्ण विश्वास जगाना चाहिये, जिससे वे अपने मा-बापके सामने आत्मविश्वासके साथ आयें। मेरी पौत्री चौथे वर्षमें गयी, तभीसे पाठशाला जानेके लिये विकल करती रही है। एक वर्ष तो किसी तरह टालनेमें गया, पर बादमें वह नियमित रूपसे पाठशाला जाने लगी। एक दिन उसने जानेसे एकदम इनकार कर दिया; क्योंकि उसके शिक्षकने उससे ऐसा प्रश्न पूछा, जिसका उत्तर उसे सिखाया नहीं गया था। पूरी कक्षासे वही प्रश्न पूछा गया और सभी बच्चोंने लाचारी दिखलायी और पाँच मिनटतक सभीको खड़ा किया गया। मेरी बच्ची मेरे पास आयी और उसने मुझसे पूछा कि जो चीज़ मुझे सिखायी ही नहीं गयी, उसका जवाब पानेकी मुझसे आशा क्यों की जाय। अब इसके बाद उसके मनमें पाठशालाके प्रति फिरसे विश्वास जगानेके लिये मुझे काफी प्रयत्न करना पड़ा; तब वह फिर पाठशाला गयी। कड़ाई और कठोरता दिखलानेवाले शिक्षक तो केवल मूर्ख होते हैं; पर जो अपनी शिक्षक-मर्यादाका भी अतिक्रमण कर जाते हैं, वे तो निश्चित ही दुष्ट भी होते हैं। यदि भयके स्थानपर प्रेमसे और शासनके स्थानपर अनुरोध और युक्तिसे काम लिया जाय तो बच्चेका विकास अधिक अच्छी तरह किया जा सकता है।

केवल शिक्षकोंको ही बच्चोंकी शिक्षाके लिये दोषका भागी बनाना उचित नहीं है। घरमें माताएँ अपनी घरेलू झंझटोंमें, जब कि एक ओर पति जल्दी भोजन माँग रहा हो और दूसरी ओर बच्चा स्तनपानके लिये मचल रहा हो, कभी-कभी सम्भवतः पाठशाला जानेवाले बच्चोंकी आवश्यकताओंकी पूर्ति तुरंत नहीं कर पातीं; और पेंसिल, कागज, रबर, दुअन्नी या कापी देनेकी बजाय मा जब बच्चेके ऊपर बिगड़ खड़ी होती है, तब वह एकदम हतप्रभ हो जाता है और उसमें चिड़चिड़ापन आने लगता है, जिससे बढ़कर किसी दुर्गुणकी जीवनमें कल्पना नहीं की जा सकती। तब मा बच्चेको पीटना शुरू करती है। मजा तब आता है, जब बाप माको डाँटता है, मा बच्चेको डाँटती है और बच्चा रो-रोकर बापको खिझाता है और इस प्रकार एक विचित्र बुराइयोंका चक्र बन जाता है। जब आप बच्चेके मनमें भय पैदा करते हैं, तब वह घबरा उठता है और लड़कियोंको तो इससे आगे चलकर हिस्टीरिया हो जाता है और लड़के दुर्विनीतता और जड़ता सीख जाते हैं। माताओंके लिये शिशुपालनकी शिक्षाका पाठ्यक्रम होना चाहिये। इसका यह अर्थ नहीं है कि पितालोग उनसे कुछ अच्छे हैं, वे भी उतने ही खराब हैं; लेकिन माताको तो पति और संतान—दोनों चक्कियोंके बीच पिसना है, इसलिये उसका दायित्व अधिक है। बच्चेके अविश्वासका कारण जाँचते समय हर एक स्थितिकी देखभाल अधिकतम सावधानीसे करनी चाहिये। कभी-कभी बच्चे इसलिये पीटे जाते हैं कि वे चिल्लाना बंद करें; पर पीटनेसे चिल्लाना अनिवार्यतः और दूने वेगसे बढ़ता है और जितना ही बाप चिल्लाता है 'मत रोओ' उतना ही बच्चा और गला फाड़कर उत्क्रोश करने लगता है। इससे मा-बाप और खीझ उठते हैं, उसे बाँह पकड़कर झकझोरते हैं, दीवालपर उसका सिर दे मारते हैं, माके पाससे खींचकर उसे जोरसे दबाते हैं। कभी-कभी बच्चा मर भी जाता है और तब करुणार्त कहानी पूर्ण हो जाती है और सारा रोना-धोना विफल हो जाता है। इसलिये संलक्षित होते ही अपने आवेगके ऊपर नियन्त्रण लगा देना चाहिये। अपना क्रोध अपनेको ही खाता है। यदि मा-बाप और शिक्षक इन प्रारम्भिक तथ्योंको भलीभाँति जान लें तो हमारे बच्चोंका पालन और अच्छी तरह होने लगे।

उच्च परम्पराका अपनाना आवश्यक

(लेखक—माननीय पण्डित श्रीगोविन्दवल्लभजी पंत, मुख्य मन्त्री, उत्तरप्रदेश)

पिछले कई वर्षोंसे 'कल्याण'ने वार्षिक विशेषाङ्कोंकी उपयोगी परम्परा चला रक्खी है। इस वर्ष यह विशेषाङ्क 'बालक-अङ्क'के रूपमें निकलने जा रहा है। यह सर्वथा समयानुकूल है। आजके बालक ही देशके भावी नागरिक हैं और देशकी स्वतन्त्रताकी रक्षा और उसकी परिपुष्टिका भार उन्हींके कंधोंपर पड़ेगा। अतएव यह आवश्यक है कि हमारे बालकोंके जीवनका विकास इस ढंगसे हो कि समय आनेपर अपने राष्ट्रके प्रति कर्तव्यका निर्वाह वे उचित रीतिसे कर सकें।

हमारे आजके बालकोंका विशेष सौभाग्य है कि विदेशी दासताके बन्धनसे देश निकल चुका है और हम सब स्वतन्त्र तथा मुक्त वातावरणमें आजादीकी साँस ले रहे हैं। युग-पुरुष गाँधीके पवित्र नेतृत्वने हमारी यह स्वतन्त्रता सत्यके आधारपर आधारित अहिंसात्मक उपायोंद्वारा सम्भव की। उनके स्वतन्त्रता-संग्राममें जनताके अन्य अङ्गोंके समान ही नवयुवकों और विद्यार्थियोंने भी पूरी तरह हाथ बँटाया और अनेक कुर्बानियाँ कीं; परंतु बालकों और विद्यार्थियोंके दायित्वका अन्त देशके स्वतन्त्र होनेमात्रसे नहीं हो जाता। उन्हें तो अब और भी बड़ी मात्रामें अपने दायित्वको समझना और निबाहना है।

बालकोंको यह समझना है कि स्वतन्त्रताकी प्राप्तिका महत्त्व एक और ऊँचे उद्देश्यकी पूर्तिके साधनके ही रूपमें है। यह उद्देश्य है देशको सुखी, सम्पन्न, समृद्ध और सबल बनाना—जिससे प्रत्येक भारतवासीको खाना, कपड़ा और रहनेकी सुविधा मिल सके, प्रत्येकको अपने पूर्ण विकास, नैतिक और सांस्कृतिक उन्नतिका भरपूर अवसर मिले।

प्राकृतिक साधनोंकी हमारे देशमें कोई कमी नहीं है। निर्माण-कार्यके लिये दूसरी आवश्यकता, श्रमबलकी अमूल्य निधि भी हमारे पास पर्याप्त मात्रामें है। आवश्यकता केवल इस बातकी है कि नियोजनद्वारा इन दोनों साधनोंका अच्छे-से-अच्छा और अधिक-से-अधिक लाभदायक उपयोग किया जाय। यह नियोजन-कार्य तभी सफलतापूर्वक सम्भव किया जा सकता है जब जन-जीवन स्वयं नियोजित और अनुशासित हो। अनुशासनकी यह भावना हमारे भीतर स्वतः उत्पन्न होती है, यदि हम कर्तव्यकी महत्ता और समाजके प्रति अपने उत्तरदायित्वको परख लें। ऐसा अनुशासन ऊपरसे किसी दूसरेद्वारा लादा गया नहीं, बल्कि स्वेच्छापूर्ण होता है। यदि हमारे बालक और नवयुवक देशकी आवश्यकताओंको समझनेका प्रयत्न अभीसे करें और उनकी पूर्तिके लिये कटिबद्ध हों तो उनमें अनुशासन-की भावना जाग उठेगी।

हमारी सम्पूर्ण सांस्कृतिक परम्परा न्याय, विवेक और लोक-कल्याणकी भावनासे ओत-प्रोत रही है। पिछले स्वातन्त्र्य-आन्दोलनमें हमने लक्ष्य और साधन—दोनोंकी पवित्रतापर सदैव अपनी दृष्टि रक्खी। सत्य और अहिंसा ही उसमें हमारे मुख्य साधन रहे और विपक्षीके प्रति भी हीन भावनाओंको दूर रखनेका हमने सदैव प्रयत्न किया। इन्हीं उच्च परम्पराओंको अपनाकर बालकोंको अपने जीवनमें आगे बढ़ना है। हमारे युवकोंकी भावनाओंका मूल स्रोत हमारी परम्परागत उच्च विचारधाराएँ ही होना चाहिये। यह तभी सम्भव है, जब हम अपने अति प्राचीन और गौरवपूर्ण इतिहास-का भलीभाँति अध्ययन और मूल्याङ्कन करें। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि हमारा युवक-समाज और विद्यार्थि-वर्ग ज्ञान-विज्ञानके अन्य क्षेत्रोंमें संसारके किसी भी देशसे पिछड़ा न रहे। कूपमण्डूक बननेसे उसे अपनेको सदैव बचाना है। नये शोध और अनुसंधानोंसे उसे पूरा लाभ उठाना है और अपने जीवनमें ऐसी पूर्णता लानी है कि जिसमें किसी भी प्रकारका अभाव या कमी न दिखायी दे।

वह कुल धन्य है

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीरपरायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

हे उमा! सुनो, वह कुल धन्य है, संसारभरके लिये पूज्य है और परम पवित्र है, जिसमें श्रीरघुवीरपरायण (अनन्य रामभक्त) विनम्र पुरुष उत्पन्न हों।

बच्चोंके साथ न्याय

(लेखक—श्रीसम्पूर्णानन्दजी, गृह और श्रममन्त्री, उत्तरप्रदेश)

ऐसे करोड़ों प्राणी हैं, जिनके साथ अन्याय होता है, जिनका शोषण होता है। इन सताये हुए प्राणियोंमें मनुष्य भी हैं, इतर जीव भी हैं। किसीको यथाप्रकृति विकासका अवसर न देना या उसकी बौद्धिक या शारीरिक शक्तियोंका अपने स्वार्थके लिये उपयोग करना, किसी दूसरेके हितको वहींतक साध्य मानना, जहाँतक उससे अपने हितका साधन हो—इसीका नाम 'अन्याय' या 'शोषण' है। शोषणके विभिन्न प्रकारोंपर बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं और शोषकको परास्त करनेके उपाय भी नित्य ही सोचे जाते हैं।

ऐसे विचारोंका प्रत्यक्ष सम्बन्ध राजनीति और अर्थनीतिसे है, यों इनका प्रभाव समाजके समूचे संव्यूहनपर पड़ता है; परंतु अन्याय या शोषणके शिकारोंका एक ऐसा समुदाय है, जिसकी ओर बहुत कम ध्यान जाता है। इस समुदायका अस्तित्व सार्वभौम है, इसके साथ अन्याय भी सार्वभौम होता है। जो राजनीति और अर्थनीतिके क्षेत्रोंमें स्वयं उत्पीड़ित होनेकी दुहाई देता है, वह भी इस समुदायका उत्पीडक बन जाता है। यह समुदाय बच्चोंका है। दूसरोंकी कौन कहे, माता-पिता और दूसरे गुरुजन सबसे बड़े अन्यायकारी और शोषक होते हैं। यह बात सुननेमें कुछ-कुछ क्या, बहुत आश्चर्य उत्पन्न करती है, पर है सत्य।

यहाँ मैं उन बच्चोंकी बात नहीं कर रहा हूँ, जिनको छोटे वयमें ही पैसा कमानेके लिये किसी काममें लगा दिया जाता है। खाने-खेलनेके दिनोंमें इन अभागोंको अपनी हड्डियाँ तोड़नी पड़ती हैं। कली खिलने भी नहीं पाती कि 'हा! हन्त!! हन्त!!! नलिनीं गज उज्जहार' वाली उक्ति चरितार्थ हो जाती है। बच्चा समवयस्कोंको अच्छा खाना खाते, अच्छा कपड़ा पहिनते, खिलौनों और गुड़ियोंसे खेलते देखता है और जी मसोसकर रह जाता है। मुँह खोलता है तो डाँट पड़ती है, पिटता है। बच्चा क्या है? नैराश्यकी और समाजके प्रति विद्रोहकी जीती-जागती प्रतिमा है। ऐसे बच्चोंके मा-बाप निष्ठुर नहीं होते, दारिद्र्य उन्हें अपने बच्चोंका गला घोंटनेपर विवश करता है। वे चुपकेसे रक्तके आँसू बहा लेते हैं और प्रत्येक साँससे समाजको कोसते हैं। वस्तुतः दोष भी समाजका है। जो समाज इस बातको स्वीकार नहीं करता कि हर बच्चेको खाने-खेलनेका, अपनी योग्यताके अनुरूप शिक्षा पानेका, अपने शरीर और अन्तःकरणको विकसित करनेका सहज अधिकार है, जो समाज अपनी व्यवस्था इस आधारपर न करके बच्चोंको हठात् नीरस जीवन बितानेके लिये विवश करता है, जिस समाजमें मा-बापकी निर्धनता बच्चेके लिये अभिशाप बन जाती है, वह राक्षसोंका समाज है। बच्चे राष्ट्रकी सम्पत्ति हैं, उनका दायित्व पितृ-कुलपर ही नहीं, सारे समाजपर होना चाहिये। बच्चोंको पूर्ण विकासका अवसर न देकर समाज न जाने कितने मेधावियों-की प्रतिभाकी हत्या करता है और अपनेको उन्नत बनानेके साधनोंसे वञ्चित करता है।

पर मैं इन अभागे बालकोंकी बात नहीं करता। अन्याय उन बच्चोंके साथ भी होता है, जो सम्पन्न घरोंमें जन्म लेते हैं। यह अन्याय दो प्रकारसे होता है। पहले—शैशवावस्थामें बच्चे घरके बड़ोंके लिये खिलौनोंका काम देते हैं। उनसे ऐसी बातें की जाती हैं, जिनसे वे हँसें और हँसायें, न हँसें, तब भी हँसायें। यह नहीं सोचा जाता कि इसका बच्चेपर क्या प्रभाव पड़ रहा है। कभी-कभी तो अश्लील बातें भी उनसे कहलायी जाती हैं। गुरुजन चाहे जो समझें, पर उनका मनोविज्ञान-सम्बन्धी अज्ञान प्रकृतिकी गतिको तो रोक नहीं सकता। ढाई-तीन वर्षका होते-होते बच्चेकी बुद्धि प्रस्फुटित होने लगती है। चार-पाँच सालमें तो वह बहुत कुछ समझने लगता है और जो नहीं समझता, उसको कल्पनासे बैठाने लगता है। वह जान लेता है कि कुछ बातोंका कहना, विशेष प्रकारसे व्यवहार करना, बड़ोंको अच्छा लगता है और इससे उसका काम बनता है। बस, वह उनको प्रसन्न करनेका यत्न करता है, चाटुकारिता बरतता है। दम्भ और कपटका अङ्कुर फूलने लगता है। लाड़-प्यार बच्चेके जीवनको दूषित कर देता है।

दूसरे प्रकारका भी अन्याय होता है। चार-पाँच वर्ष या इससे कुछ अधिक वयके बच्चेके साथ बड़ी ही भ्रान्त धारणाके आधारपर व्यवहार होता है। ऐसा मान लिया जाता है कि बच्चा छोटा प्रौढ़ है। यह बात है नहीं। बच्चा पशु और मनुष्यके बीचकी अवस्थामें होता है, धीरे-धीरे पशुत्वको छोड़ता हुआ मनुष्यत्वमें प्रवेश करता है। वह प्रौढ़की नैतिकताको समझनेमें असमर्थ है। नये-नये शब्द

सीखता है, उन शब्दोंको भाँति-भाँतिसे विन्यस्त करके बोलता है। 'हाथी', 'मनुष्य' तथा 'चलता' को मिलानेसे 'मनुष्य हाथीपर चलता है' और 'हाथी मनुष्यपर चलता है' दोनों वाक्य बनते हैं। बच्चा दोनोंका प्रयोग करता है और उसके लिये दोनों यथार्थ हैं। वह दोनों अर्थोंके चित्र आँखें बंद करके देख लेता है। हम जानते हैं कि हाथी मनुष्यपर नहीं चलता; पर बच्चेका अनुभव अभी यहाँतक नहीं पहुँचा है। ऐसी दशामें उसे झूठा कहकर डाँटना अन्याय है। वह झूठ-सचका भेद नहीं जानता। जो शब्दयोजना उत्सुकताको बढ़ा दे, वही उसके लिये सत्य है। उसको झूठा कहना उसको पहले तो चक्करमें डाल देता है, फिर झूठ बोलनेकी शिक्षा देता है। यही बात अन्य आचरणके सम्बन्धमें भी है। उसको बड़ोंकी कसौटीपर नहीं कसा जा सकता। उससे वैसे आचरणकी आशा करना, जो हम बड़ोंसे चाहते हैं, घोर अन्याय है; क्योंकि उसकी बुद्धि अभी वैसी नहीं बनी है। समाजमें उचित-अनुचितका बहुत-सा भेद कृत्रिम है। किसी देश-काल-विशेषमें जो चलन पड़ जाता है, वह तद्देश और तत्कालके लिये उचित माना जाता है। वही बात दूसरे देश-कालमें अनुचित मानी जाती है। इसी भारतके हिंदू कहलानेवालोंमें कहीं मातुली कन्या—ममेरी बहिनसे विवाह करना ठीक है, कहीं घोर अनर्थ है। बच्चा इन बारीकियोंको नहीं समझता। वह तो अपनी सहज प्रवृत्तियोंसे प्रेरित होता है। सीखते-सीखते समाजके दस्तूरोंको जान जायगा और इस शिक्षाकालमें दम्भ और कपटका भी अभ्यास कर लेगा। बड़ोंकी गति-विधिपर दृष्टि डालनेसे उसको इस बातका ज्ञान हो जायगा कि यथार्थ, यथाज्ञान बात न कहना—सामने कुछ, पीछे कुछ कहना—आचारका मूलमन्त्र है। वह जान जायगा कि जीवनका लक्ष्य सफलता है और सफलताका अर्थ है दूसरोंको गिराना और पकड़े न जाना। उसकी सहज प्रवृत्ति समाजके अन्यायोंको समझ न सकेगी, पर इस नासमझीके लिये उसे दण्ड मिलेगा। प्रकृति उसे व्यापक सहानुभूति, सह-अनुभूतिका पाठ पढ़ाती है; परंतु गुरुजन इस भावनाको नियन्त्रित और संकुचित बनायेंगे। वह समवयस्कोंके साथ खेलना चाहेगा, जलपान बाँटकर खाना चाहेगा, कुत्तेसे भी भाईचारा करना चाहेगा, परंतु यह सब कर न पायेगा। वह इन बातोंके लिये पिटेगा, ऊँच-नीच, काला-गोरा, धनी-निर्धनका भेद उसको सीखना ही पड़ेगा और जहाँतक अपने व्यक्तित्वके इस प्रकार दबाये जानेके प्रति वह विद्रोह करेगा, वहाँतक उसको दण्ड भोगना होगा। समवेदनाका क्षेत्र बढ़ते-बढ़ते विश्वव्यापी होना चाहिये, यही व्यावहारिक वेदान्त है; परंतु समाजको यह असह्य है। प्रकृतिकी देनको तोड़-मरोड़कर स्वार्थकी ओर ले जाना बड़ोंका साध्य है और इस अन्यायका नाम 'सामाजिक शिक्षा' है। सबको एक साँचेमें ढाल देना—ताकि वे मशीनसे चलनेवाले खिलौनों-जैसा काम करें—शिक्षककी सफलताकी परख है।

एक ओर तो बच्चोंसे प्रौढ़ों-जैसे कृत्रिम आचरणकी आशा करके उन्हें सताते हैं, दूसरी ओर उनको निरा नासमझ मान बैठनेकी भूल करते हैं। पशुके सामने चाहे जैसा आचरण करिये, वह प्रायः अक्षुब्ध रहता है। लोग बच्चोंको भी वैसा ही समझते हैं। गुरुजन बच्चोंके सामने उठने-बैठनेमें, बात करनेमें, वस्त्र पहिनने, न पहिननेमें लापरवाही बरतते हैं; पर बच्चा पशु नहीं है। वह कहता कम, पर देखता बहुत है। इतना समझता है कि मुँह खोलना दण्डको बुलाना होगा; परंतु जो कुछ देखता-सुनता है, उसका अपनी बुद्धिके अनुसार उल्टा-सीधा अर्थ तो लगा ही लेता है। पुरानी पुस्तकोंमें इस बातकी बहुत चर्चा है कि बचपनमें पड़े संस्कार यावज्जीवन रहते हैं और उनका प्रभाव जन्मान्तर-तक जाता है। आजकी मनोवैज्ञानिक खोजोंसे संस्कारोंके ऊपर बहुत प्रकाश पड़ता है। छोटे बच्चेपर बड़ोंके आचरणों और वाक्योंका, उनकी मुद्राओं और भ्रूभङ्गियोंका, उनके कलह और राग-द्वेषका अमिट प्रभाव पड़ता है। उसकी सहज प्रवृत्तियोंको अकारण दबानेसे उसमें जो क्रोध और विद्रोहकी ज्वाला भड़कती है, वह कभी बुझती नहीं; लुक-छिपकर बड़ोंकी गतिविधिको देखने और उनके सामने भोलेपनका अभिनय करनेका अभ्यास कभी छूटता नहीं। बड़ोंकी अदूरदर्शिता और नासमझी जीवनके स्रोतको कलुषित कर देती है। यह बच्चेके प्रति घोर अन्याय है। इसको मैं शोषण इसलिये कहता हूँ कि मा-बाप और दूसरे गुरुजन बच्चेको अपने ढंगसे ले चलना चाहते हैं, उसको ऐसा बनाना चाहते हैं कि आगे चलकर वह उनके काम आये।

सच बात तो यह है कि हम पितृत्व और मातृत्वके अर्थको, उसके दायित्वको समझते ही नहीं। विवाह यौन-सम्बन्धको वैध बनानेका साधनमात्र नहीं है, वह पवित्र संस्कार है। उसके द्वारा स्त्री-पुरुष केवल पति-पत्नी नहीं बनते, वरं सहधर्मी बनते हैं। धर्मके जहाँ बहुत-से अङ्ग हैं, वहाँ यह

भी है—'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' प्रजातन्तुका व्यवच्छेद मत करो, संतान उत्पन्न करो। यह आदेश इसलिये नहीं है कि राष्ट्रको लड़नेके लिये सिपाही और मिलमें कोयला झोंकनेके लिये श्रमिक मिलते रहें। उद्देश्य यह है कि ज्ञानका दीपक बुझने न पाये, ऋषियों और विद्वानोंने जिन बातोंका आविष्कार घोर तपस्यासे किया है, उनका लोप न होने पाये, पुश्त-दर-पुश्त उनकी उपलब्धि और वृद्धि होती रहे। संतान होनी चाहिये और उसको ऐसी शिक्षा देनी चाहिये कि वह ज्ञान और धर्मके, अभ्युदय और निःश्रेयसके, तत्त्वोंके प्रसारका काम कर सके। एक और बहुत बड़ा उद्देश्य है। न जाने कितनी योनियोंमें भटकता हुआ कोई जीव मनुष्य-शरीरका अधिकारी होता है। उसका यह अधिकार है कि उसको विकासके लिये उपयुक्त वातावरण मिले। माता-पिताको यह समझना चाहिये कि हमारे ऊपर बहुत बड़ा दायित्व डाला गया है, एक जीवको सँवारनेका भार हमको सौंपा गया है। हमें इसको ऐसा बनाना है कि इसका यह जन्म सुधरे, यह दैवीज्ञान-प्रसारका माध्यम बन सके और प्रेयके साथ-साथ इसको श्रेयकी भी प्राप्ति हो। ऐसा समझनेवाले गुरुजन ही बच्चेके साथ न्याय कर सकते हैं। वे उसको सम्पत्ति न समझकर थाती समझेंगे और सतत उसके हितको अपने सामने रख सकेंगे। बच्चेके उदात्त भावोंको जगाना, उसको कृत्रिम मनुष्यकृत भेदभावोंसे ऊपर उठाना और उसमें सार्वभौम सहानुभूतिको पल्लवित करना ही न्याय और सत्-शिक्षा है।

बालकों और उनके अभिभावकोंसे

(लेखक—श्रीहरगोविन्दसिंहजी, शिक्षा-मन्त्री, उत्तरप्रदेश)

'कल्याण' के 'बालक-अङ्क' के लिये जब मुझसे लेख माँगा गया और जब मैंने उनके शीर्षकोंकी सूची देखी, तब पहले कुछ संकोच हो आया। वस्तुतः बालकोंके लिये इतना कहा जाता है और इतने उपदेश दिये गये हैं कि स्यात् इसीलिये उन्हें अपनेसे करनेके लिये कुछ नहीं बचा है। मैं समझता हूँ कि आजकी जैसी परिस्थिति है, उसमें वे विकल हो उठे हैं। वे क्या करें और क्या न करें, इसका विवेक उनसे छीन लिया गया है। ऐसा लगता है कि उन्हें जलके समान निर्मल माननेके लिये कोई प्रस्तुत नहीं है। जिस प्रकार जल भिन्न-भिन्न परिस्थितियों और पात्रोंमें पड़कर पात्रका रूप और रंग धारण कर लेता है, उसी प्रकार हमारे ये बालक भी हमारी सामाजिक परिस्थितियोंके शिकार होते रहते हैं। जब हम उन्हें उपदेश देते हैं, तब हम यह भूल जाते हैं कि उनके आचरणपर, उनके चरित्रपर हमारे आचरणका और हमारे चरित्रका प्रभाव भी है। मैं इसी दृष्टिसे अपने विचार यहाँ प्रकट कर रहा हूँ। सम्भव है हमारे विद्यार्थी और उनके अभिभावक उन्हें सहानुभूतिकी आँखोंसे देखें और अपने विवेकको जगा सकें।

आजकी सामाजिक परिस्थिति, उसकी आर्थिक विषमताएँ और उसके प्रहार हमारे विद्यार्थि-समुदायको सबसे अधिक कष्ट दे रहे हैं। जो कुछ उनके चारों ओर हो रहा है, जो उनके भावी जीवनको, उनके विचारोंको प्रभावित कर रहा है, जो उनसे कुछ अपेक्षा कर रहा है, उन सबको वे समझानेकी कोशिश कर रहे हैं और अपनी अवस्था और बुद्धिके अनुसार समझ भी रहे हैं। हम उनसे आँख-कान मूँदकर काम करनेको नहीं कह सकते। देश स्वतन्त्र हुआ, किंतु इसके साथ ही लोगोंके अरमान भी बढ़े, आशाएँ जगीं और लोगोंका यह सोचना कि स्वतन्त्र भारतमें शोषण और इच्छाभिघातके लिये स्थान न रह जायगा अस्वाभाविक नहीं है; किंतु जो आदर्श हमने अपने लिये अपने विधानमें निहित कर लिया और जिसके प्रति इस देशका प्रत्येक नागरिक प्रतिज्ञाबद्ध है, वह सदा चरितार्थ तो नहीं हो सकता। उसके लिये तो प्रयत्न करना होगा, तैयारी करनी होगी और कठिनाइयोंका सामना भी करना होगा। यह सब हो रहा है। लोग इस बातको समझते भी हैं। विद्यार्थि-समाज भी समझता है। लेकिन जो कुछ हो रहा है, जो शताब्दियोंकी पराधीनताकी देनके रूपमें अब भी चला जा रहा है, उसमें शोषण है, उसमें इच्छाभिघातके लिये भी पर्याप्त स्थान है। यह सब प्रत्यक्ष और बहुतोंको स्वयं अनुभूत हो रहा है। वह जमाना चला गया, जब आर्थिक शोषण और उसके ढाँचेके आदर्शोंका ज्ञान समाजशास्त्रकी पोथियोंको पढ़कर हुआ करता था। आज तो जो भी जिंदा है, उसे उसका समाज

और उसकी परिस्थितियाँ उसके आर्थिक व्यूहकी कमजोरियोंका ज्ञान कराती रहती हैं। जिस वयके बालकोंको इन विषमताओंका संदेह होता है, वह वय ऐसी है जब उनकी कारयित्री प्रतिभा प्रतिपल कार्यरूपमें परिणत होनेके लिये आग्रह करती रहती है। उनका जीवन कार्य और कार्यक्षमतासे आपूर्ण होता है; किंतु सम्प्रति स्कूलों और कालिजोंका जो कार्यक्रम है, वह उनके लिये अधिकांशतः निष्प्राण मालूम होता है। लोग कहते हैं—स्कूलोंमें पढ़ाई अच्छी नहीं होती, स्कूलोंकी इमारतें अच्छी नहीं हैं, मास्टर अच्छे नहीं हैं और पढ़ानेका सामान अच्छा नहीं है; पर ध्यानसे देखा जाय तो इन खराबियोंके होते हुए भी सामान्यतः हमारे समाजकी आर्थिक दशा इनसे भी खराब है। फलतः स्कूल और घरका वातावरण एक नहीं है। बालक एक ही दिनमें दो वायुमण्डलोंमें साँस लेता है। वह दो भिन्न परिस्थितियोंमें पलता है। कहनेका तात्पर्य यह कि उसके लिये उसका घर-बाहर एक नहीं है। उसकी दिनचर्या किसी एक सूत्रमें गठी नहीं है, अर्थात् उसकी दिनचर्याका आदर्श स्कूलमें अलग और घरमें अलग हो गया है। वह किसी एक आदर्शसे समन्वित, अपनेमें पूर्ण नहीं। ऐसी दशामें हमारे बालकोंको कोई ऐसी प्रेरक शक्तिके दर्शन नहीं होते, जो उन्हें अपनी बाह्य परिस्थितियों, आर्थिक विषमताओं और तज्जन्य अन्तर्द्वन्द्वको भूलकर उस आदर्शको प्राप्त करनेके लिये पागल बना दे। अथसे इतितक इन्हीं बाह्य परिस्थितियोंके थपेड़ोंकी चोट उनमें मानसिक प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है और उसका प्रभाव उनके मनपर भी बुरा पड़ता है। उनकी चिन्तनशीलताको धक्का लगता है। उनमें दृढ़ इच्छा-शक्तिका उत्तरोत्तर अभाव होने लगता है और जब इस प्रतिक्रियाकी कार्यरूपमें अभिव्यक्ति होती है, तब उसे हम अनुचित, अनाचरण, अनुशासनहीनता आदि नामोंसे अभिहित करते हैं। वस्तुतः इन सबकी जिम्मेदारी केवल बालकोंपर ही नहीं है, वरं उनके अभिभावकोंपर, उनपर जो समाजकी रचनामें सक्रिय और साधिकार योग दे रहे हैं तथा उनके अध्यापकोंपर भी है, जो उनके आदरके पात्र हैं। मैं यह नहीं कहता कि बालकोंका उत्तरदायित्व कुछ भी नहीं है, पर हर चीजकी समष्टिमें विभिन्न तत्त्वोंका आनुपातिक योग हुआ करता है, इस दृष्टिसे मैं बालकोंके अंशदानको सबके पीछे पाता हूँ; किंतु यहाँ यह मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि केवल इसी कारणसे तो विद्यार्थी अपने उत्तरदायित्वसे मुक्त नहीं किये जा सकते और न उनको क्षम्य ही माना जा सकता है।

इसी बातको दूसरे रूपमें भी देखा जाय। प्रत्येक व्यक्ति आज यह कहते सुन पड़ता है कि सिनेमा और उनमें दिखायी जानेवाली अधिकांश तस्वीरोंका हमारे बालकोंपर बुरा प्रभाव पड़ता है। मुझे इसमें संदेह करनेका कारण नहीं देख पड़ता, पर आश्चर्य तो तब होता है, जब ये ही लोग विवेकहीन होकर अपने साथ अपने कोमलचित्त बालकोंको बड़े शौकसे सिनेमाघरोंमें ले जाते देख पड़ते हैं। चित्रोंका वर्गीकरण 'ए' और 'यू' कोटिमें किया जाता है। 'ए' वर्गकी तस्वीरें केवल ऐसे लोगोंके लिये होती हैं, जो प्रौढ़ माने जाते हैं। 'यू' तस्वीरें सर्वसाधारणके लिये होती हैं, जिन्हें आबाल-वृद्ध सभी देख सकते हैं। आजकल हिंदुस्तानमें बननेवाली तस्वीरें जो 'यू' वर्गमें आती हैं, उनमें भी बहुत-सी ऐसी होती हैं, जो बालकोंके मनपर कुप्रभाव डालती हैं और ऐसा बहुत-से लोग कहते भी हैं। फिर भी यह कितनी लज्जाकी बात है कि कुछ लोग अपने साथ अपने बालकोंको 'ए' वर्गकी तस्वीरें भी देखने ले जाते हैं! इसमें किसका दोष है? बालकोंका या बालकोंके अभिभावकोंका? दूसरा उदाहरण और देना चाहता हूँ। बहुधा स्कूलोंसे बालकोंकी पढ़ाई आदिके सम्बन्धमें प्रगति-सूचक विवरण अभिभावकोंके पास भेजे जाते हैं। उनमें जो कुछ लिखा रहता है, उसके आधारपर यह आशा की जाती है कि अभिभावक अपने बालकोंके विषयमें सचेत हो जायँगे; किंतु अभिभावक उनकी इस प्रकार अवहेलना करते हैं और उनकी ऐसी उपेक्षा होती है कि उसके दृष्टान्त भरे पड़े हैं, पर जब परीक्षा होती है और विद्यार्थी अनुत्तीर्ण हो जाता है, तब अभिभावक महोदय उसके साथ उसके परीक्षकोंके पास नम्बर बढ़ानेके प्रयत्नमें दर-दर भटकते दिखायी पड़ते हैं। इसके लिये कितने प्रकारके हथकंडे प्रयोगमें लाये जाते हैं, उन्हें न गिनाना ही अच्छा है। इसका बालकोंपर क्या प्रभाव पड़ता होगा, इसका स्वयं आप अनुमान लगा लें। फिर ऐसे विद्यार्थी, जिनके अभिभावक नहीं हैं, अपने भाइयोंका अनुकरण करें तो क्या अस्वाभाविक है? अस्वाभाविक तो उन विद्यार्थियोंका आचरण होगा, जो इस कृत्यसे अप्रभावित रहते हैं। इस प्रकारके एक नहीं, अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जहाँ माता-पिता अपनी दूरदर्शितासे—जिसे मैं तो अदूरदर्शिता ही कहूँगा—गलत वय लिखाते हैं। गलत यह कहते हैं कि मेरे लड़केने इसके पहले कहीं

नहीं पढ़ा और जाने कितने ऐसे गलत वक्तव्य देते हैं, जिनकी जानकारी उनके बालकोंको होती रहती है। इन अबोध बालकोंके चरित्रपर उनके इस दुराचरणका अप्रतिहत प्रभाव पड़ता रहता है। अध्यापकोंका उत्तरदायित्व भी इस दृष्टिसे कम नहीं है। और ये सब मिलकर पीछेसे जिस समाजकी रचना करते हैं, उसमें विद्यार्थी-ही-विद्यार्थी दिखायी पड़ते हैं।

अतः मैं यहाँ यही कहना चाहता था कि हमारे बालकोंको जो सचेत हैं, जो वयस्क हैं, जो समझ और सोच सकते हैं, उन्हें चाहिये कि अपना नेतृत्व स्वयं करें। वे अपने छोटे भाइयोंको कुपथसे बचानेके लिये स्वयं कटिबद्ध हों। वे इस बातको स्मरण रक्खें कि जबतक वे अध्ययन कर रहे हैं, तबतक वे एक ऐसे यज्ञमें लगे हैं, जहाँ कष्ट और संयमसे ही सफलता मिल सकती है, जहाँसे वे समाजके ऋणको हलका करने और इस प्रकार स्वयं सुखी होने और भावी समाजमें सुखकी नींव डालने जा रहे हैं। समाज-सेवाके जितने अवसर बालकोंको मिलते हैं, उतने दूसरे लोगोंको नहीं। और समाजसेवा ही एक ऐसा साधन है, जो विद्यार्थियोंके लिये सुलभ भी है और साध्य भी। उनकी सामूहिक शक्ति अपरिमेय है। उसके बलपर वे कठिन कार्य भी सरलतासे कर सकते हैं। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, 'उन्हें अपने सामाजिक ऋणको चुकानेका सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये और इसका एकमात्र सरल उपाय समाजसेवा ही है।' बालक पूछ सकते हैं कि यह समाजसेवी विद्यार्थि-समुदाय अध्ययन ही करता जाय—क्या यही इनके जीवनका उद्देश्य है? आज उनका ऐसा पूछना ठीक भी है। मैं यहाँ इस प्रश्नका विस्तारसे उत्तर नहीं दूँगा; किंतु इतना अवश्य कहूँगा कि जो विद्या और उसकी जो प्रणाली आज उनके लिये उपादेय मानी गयी है, उसमें उनकी निष्ठा होनी चाहिये। हम अधिकाधिक इस बातका प्रयत्न कर रहे हैं कि जो विद्या वे प्राप्त कर रहे हैं, वह उनके लिये अर्थकरी हो; पर सच पूछा जाय तो उनके अध्ययनका एकमात्र उद्देश्य अपने देशके उस प्रजातान्त्रिक ढाँचेको सुदृढ़ बनाना है, जो उनके विधानमें निहित है; किंतु इसके लिये उन्हें थोड़ी-सी साधना करनी पड़ेगी। उन्हें विद्याके प्रति अनुराग उत्पन्न करना होगा, जो विद्या प्रत्येक वस्तुमें सौन्दर्य देखती है, जो उसकी सत्यताका दर्शन कराती है और जो समाजमें मङ्गलकी स्थापना करती है।

राष्ट्रकी सबसे बड़ी सम्पत्ति

(लेखिका—श्रीराजकुमारी अमृतकौर, स्वास्थ्यमन्त्रिणी, भारतसरकार)

राष्ट्रकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है—उसके बच्चे। आजके बच्चे ही कलके नागरिक हैं। वे भविष्यकी आशा हैं और उन्हें ही आगे चलकर राष्ट्रका निर्माण करना है।

बच्चे मज़बूत और पुष्ट बनें, इसके लिये उनके स्वास्थ्यपर विशेष ध्यान देनेकी ज़रूरत है। माता-पिताको चाहिये कि वे अपने बच्चोंको स्वस्थ, नौजवान बनायें। न सिर्फ माता-पिताको, बल्कि राष्ट्रको भी स्वस्थ बच्चोंपर गर्व होता है; लेकिन हम देखते हैं कि अधिकतर बच्चोंकी सेहत असावधानीके कारण गिर जाती है और उनमेंसे कई नीरोग नहीं होने पाते।

ज्यादातर बच्चोंकी मृत्यु चेचक, कुक्कुर-खाँसी, खसरा, कण्ठरोग, मियादी बुखार, क्षय और मलेरिया वगैरह रोगोंसे होती है। ये बड़ी भयंकर बीमारियाँ हैं, लेकिन अगर सावधानी बरती जाय तो इसमें संदेह नहीं कि हम इन बीमारियोंसे बच्चोंकी रक्षा कर सकेंगे।

सफाई सबसे जरूरी चीज है। बच्चोंमें स्वच्छ रहनेकी आदत डलवानी चाहिये। उनका आचार-व्यवहार सुन्दर होना चाहिये। वे रोज़ दाँतोंको साफ करें, स्नान करें, बालोंको कंघी करें, नाखून साफ रक्खें, साफ कपड़े पहनें और अपने पास रूमाल रक्खें। उन्हें सिखाया जाय कि शौचके लिये नियत स्थान ही इस्तेमाल करें। भोजन करनेसे पहले हाथ धोयें। खानेकी चीजोंपर मक्खियाँ न बैठने दें और जिन वस्तुओंपर मक्खियाँ बैठी हों, उन्हें न खायें। व्यायाम जरूर करें। माता-पिताको चाहिये कि बच्चोंको पौष्टिक तत्त्ववाला भोजन दें, उनके स्वास्थ्यके प्रति जागरूक रहें और बीमार होनेपर तुरंत डॉक्टरसे सलाह लें।

कहनेका अभिप्राय यह है कि बीमारीके प्रति सजग रहने और बच्चोंको साफ रखनेसे बीमारीसे बहुत कुछ रक्षा हो सकती है। न सिर्फ यही, बल्कि शरीर स्वस्थ रहनेसे मानसिक उन्नति भी होती है। मन स्वस्थ होता है, अगर शरीर स्वस्थ रहे।

'कल्याण' एक अति सुन्दर आध्यात्मिक पत्रिका है। अपने क्षेत्रमें इसने एक बहुत बड़ी आवश्यकताकी पूर्ति की है। मुझे खुशी है कि बच्चोंकी समस्याओंको ध्यानमें रखते हुए 'कल्याण'का बालक-अङ्क प्रकाशित हो रहा है।

मैं इस विशेषाङ्ककी सफलताके लिये अपने आशीर्वाद भेजती हूँ।

धार्मिक सिद्धान्तोंको जगानेकी आवश्यकता

(लेखक—डा० श्रीनारायण भास्कर खरे, एम्० पी० महोदय)

'कल्याण'का बालकाङ्क निकाला जा रहा है, यह जानकर प्रसन्नता हुई। यह सबको विदित है कि आज हमारे समाजमें सर्वत्र अनुशासनका अभाव है। बच्चे भी इससे नहीं बचे हैं। हमने बहुत-सी बातोंमें पश्चिमी ढंगकी नकल की है, जिसके परिणामस्वरूप बालकोंमें अपने गुरुजनों एवं अध्यापकवर्गके प्रति असम्मानकी भावना उत्पन्न हो गयी है। यह अवस्था अत्यन्त शोचनीय है; क्योंकि देशके भावी नागरिक होनेके नाते बालकगण ही हमारी सच्ची सम्पत्ति हैं। अनुशासन-हीनता तथा अविनयके भयङ्कर परिणामोंसे उनकी अवश्य रक्षा करनी चाहिये। धर्म-निरपेक्षताका समयके अनुकूल या प्रतिकूल सदा गला फाड़कर राग अलापना भी ऐसी स्थिति उत्पन्न करनेका एक प्रबल कारण है। हमारे सिनेमाघरोंपर भी इसका बड़ा उत्तरदायित्व है और शिक्षालयोंमें किसी धार्मिक अथवा नैतिक शिक्षाके नितान्त अभावसे कोई भी उन्नति असम्भव हो रही है। इसलिये मेरा तो यह दृढ़ विचार है कि इस दोषको दूर करनेके लिये अपनी संस्कृति एवं अपने उज्ज्वल भूतके प्रति आदर जगानेवाले धर्मके मोटे-मोटे सिद्धान्तोंकी शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है।

हिंदूजाति और भारतका भविष्य

(लेखक—श्रीयुत एन्० सी० चटर्जी, एम्० पी० महोदय)

ख्यातनामा अन्तारराष्ट्रिय लेखक (पत्रकार) डा० तारकनाथ दासने हिंदुओंसे एक मर्मभेदी प्रश्न किया है। उन्होंने प्रश्नको ठीक-ठीक उपस्थित किया है। हिंदुस्थानका भविष्य हिंदुओंपर ही निर्भर है। उन्होंने भारतमें हिंदुओंके पतनके कारणोंकी जिज्ञासा की है। उन्होंने हिंदूजातिसे निवेदन किया है कि उन कारणोंपर विचार करके इतिहाससे शिक्षा ले। उनका यह संकेत बिल्कुल ठीक है कि यदि अपनी वर्तमान अवस्थाके प्रति संतोषकी वृत्तिमें सोयी हुई हिंदूजातिको उठाया नहीं गया तो उसका भविष्य अन्धकारमय है।

भारतीय प्रजातन्त्रके तथाकथित धर्मनिरपेक्ष कहे जानेवाले जनतन्त्र शासनके होते हुए भी स्पष्ट बात तो यही है कि हिंदुस्थानका भविष्य—हिंदुओंकी कुशल संहति और इस प्राचीन देशकी सहजवृत्ति तथा परम्पराके अनुरूप एवं इस विशाल राष्ट्रके योग्य सबल, उन्नतिशील और प्रगतिपूर्ण शासन स्थापित करनेकी क्षमतापर ही निर्भर करती है।

बहिन निवेदिताने उचित ही कहा था कि प्रत्येक धर्म किसी विशिष्ट विचारके चतुर्दिक् केन्द्रित होता है। प्राचीन मिस्रका धर्म मृत्युके चारों ओर, फारस देशका शुभाशुभ-रहस्यके चारों ओर तथा ईसाई धर्म एक दैवी अवतारके उद्धारकारी प्रेमके चतुर्दिक् केन्द्रित है। केवल हिंदूधर्मका ही लक्ष्य वैराग्य और मुक्तिके उच्चतम शिखरपर स्थिर है; यहाँ किसी ऐहिक आदर्शको स्थान नहीं है।

समय आ गया है जब हम समझें कि यह भी हिंदुत्वका एक कमजोर रूप बन गया है। समाज अथवा राष्ट्रको संगठन प्रदान करनेकी प्रेरणा देनेवाले किसी विशेष उद्देश्यकी प्राप्तिके आधारपर समाज या राष्ट्रका निर्माण करनेके लिये जीवनके प्रति हिंदू-दृष्टिकोण वास्तवमें संयोगात्मक, सार्वभौम और अतीव व्यापक है। सम्पर्कमें आनेवाले प्रत्येक धार्मिक विचारसे गठबन्धन कर लेनेकी हिंदुओंकी क्षमतापर कोई संदेह नहीं करेगा, किंतु एक महान् विचारकद्वारा अत्यन्त औचित्यपूर्वक उपस्थित किये हुए प्रस्तुत प्रश्नका समाधान भारतीय इतिहास, धर्म, संस्कृति एवं सभ्यताके वास्तविक ज्ञानद्वारा करना चाहिये। धर्मकी दृष्टिसे हिंदुत्वमें आत्मसात् करनेकी प्रबल क्षमता है। उधर सभ्यताकी दृष्टिसे हिंदुत्वमें अपना रूप अक्षुण्ण बनाये रखनेकी भी महान् शक्ति है। मानव-इतिहासकी यह एक अजब पहेली है, पर क्या अब वह समय नहीं आ गया है जब कि हम लोगोंको मिला लेनेवाली, एकीकरण करनेवाली और आत्मसात् कर लेनेवाली शक्तियोंपर ही जोर न देकर सभ्यता या संस्कृतिकी दृष्टिसे हिंदुत्वकी अक्षुण्ण बने रहनेवाली शक्तिको और भी दृढ़ करना चाहिये।

प्रपञ्चात्मक और ऐहिक जीवनकी आवश्यकताको हिंदूधर्मने कभी अस्वीकार नहीं किया; किंतु जिसकी महत्ताका चित्र हम खींच रहे हैं, उस भावी राष्ट्रके सच्चे विकास और वृद्धिके लिये आवश्यक शक्ति हमें हिंदूधर्मसे ही लेनी पड़ेगी।

कुछ दिनों पूर्व संसद्के एक विवादमें मेरे यह पूछनेपर कि पाकिस्तानके कारागृहोंमें सड़ रहे हिंदू-नेताओंके छुटकारेके लिये सरकार क्या कर रही है, अल्पसंख्यकोंके मन्त्री महोदयने कातर शब्दोंमें अपनी असमर्थता प्रकट की और कहा कि 'पाकिस्तान सरकारमें उसी पदपर आसीन सदस्य महोदयको शिष्टभाषामें नम्रतापूर्वक पत्र-पर-पत्र लिखनेके अतिरिक्त वे कुछ नहीं कर सकते।' हिंदूमहासभाके सभापति डा० नारायण भास्कर खरेने, जो ग्वालियर निर्वाचन-क्षेत्रसे जनसंसद्के सदस्य चुन लिये गये थे, अपना उग्र विरोध प्रदर्शित किया। तब तो भारतवर्षके प्रधानमन्त्री महोदय एवं ट्रेजरी बेंचोंको सुशोभित करनेवाले उनके अनुगत सहकारी लोग बगलें झाँकने लगे।

हिंदुत्वकी शक्तिको न तो ठीक समझा जाता है और न उसका ठीक उपयोग ही होता है। हिंदू-सभ्यताने जिस त्यागकी शिक्षा दी है, उसका स्वरूप क्या है? हमें महान्के लिये लघुका त्याग करना चाहिये। लघुको प्राप्त करनेके लिये महान्का त्याग नहीं करना चाहिये। त्याग वास्तवमें नये कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वोंकी प्रस्तावना करता है। यह कभी 'इदमलम्'की अथवा कायरतापूर्ण संतोषकी वृत्तिको सहन नहीं करता।

श्रीरामकृष्ण परमहंसने कहा था कि एक साँपने महात्माके उपदेशसे क्रोध करना तथा किसीको भी डराना बंद कर दिया। तब लोग उसे तंग करने लगे, मारने लगे, यहाँतक कि रस्सीकी तरह उससे लकड़ियोंका बोझा बाँधने लगे। साँप अत्यन्त दुखी हो गया। वह महात्माके पास गया। महात्माने उससे कहा कि 'काटो मत, पर फन उठाकर फुफकार जरूर मारो।' इस कथाको याद रक्खे बिना हिंदुओंका अपने ही देशमें कोई भविष्य नहीं है।

प्रायः कायरताको छिपानेके लिये धर्मनिरपेक्षताकी आड़ लेनेवाले हमारे धर्म-निरपेक्ष शासनके नेताओंको उस बेचारे साँपकी इस अद्भुत कथाको याद रखना चाहिये। यह अपनी दुर्बलताको जनतन्त्रवाद अथवा धर्मनिरपेक्षताके नारोंसे ढकनेवाले केवल शासनान्तर्गत व्यक्तियोंके ही लिये शिक्षाकी वस्तु नहीं है, हमें जरा भीतरकी ओर भी प्रकाश डालना चाहिये। हिंदू-नेताओंको इस सिद्धान्तका साहसके साथ प्रचार करना चाहिये और भारतके शासकोंको बता देना चाहिये कि काश्मीर, भारत-पाकिस्तानके पारस्परिक सम्बन्ध अथवा पूर्वीय पाकिस्तानमें हिंदू-अल्पसंख्यकोंको उत्तरोत्तर असह्य होती जानेवाली अवस्थाके प्रश्नोंको भी हल करनेमें रामकृष्ण परमहंसकी उपदेशप्रद यह कथा शक्ति, न्याय और वास्तविक त्यागकी शिक्षा देती है। यदि जीवनकी शालीनता-सभ्यतापर आघात होगा तो भारतकी शिष्टता और सौम्यता उसे एक परिवर्तित अर्थात् विद्रोहपूर्ण सातङ्क तथा रिपुतुल्य रूप धारण करनेसे नहीं रोकेगी। जबतक भारतीय शासन यह नहीं समझ लेता, तबतक उससे संसारका कोई देश सत्सम्बन्ध नहीं स्थापित करेगा। संधिपत्रों, संधियों और वक्तव्योंके उपरान्त भी पाकिस्तान असहाय हिंदुओंको सतानेकी अपनी नीति जीवित रखनेकी धृष्टता किये ही जा रहा है; क्योंकि उसे मालूम है कि भारतीय सर्प कभी अपना फन नहीं उठायेगा। वह यह भी जानता है कि हिंदुस्थानके हिंदू भी अपना कर्तव्य नहीं पालेंगे और सरकारको अपनी दुर्बल एवं ढुलमुल नीतिको छोड़ देनेके लिये बाध्य नहीं करेंगे।

एशियाका आर्थिक और बौद्धिक पतन ही यूरोपके उत्थान-का कारण था। स्वतन्त्र भारतमें हम आर्थिक तथा सामाजिक उन्नतिके साथ-साथ भारतकी निधि—जिसकी वह शताब्दियोंसे चावके साथ रक्षा करता आया है—उन आध्यात्मिक तथ्योंका भी निर्विरोध प्रचार करना चाहते हैं। सबसे बड़ी दुःखद बात तो है विशिष्ट वर्गके लोगों एवं साधारण जनता—दोनोंकी अभिलाषाओंपर तुषारपात तथा उनकी बढ़ती हुई निराशा। भारतका भविष्य न तो साम्यवादसे बनेगा न मार्क्सवादसे और न उस आजकलके तथाकथित गाँधीवादसे, जिसका अनुगमन उसके अनुयायी कहलानेवाले लोग आज कर रहे हैं। हमें भौतिक सम्पत्तिको अवश्य प्राप्त करना चाहिये; पर जनताको दरिद्र और दुखी बनाकर नहीं, वरं हिंदू-भारतको निष्काम कर्म सिखानेवाली महान् गीताके सिद्धान्तोंके आधारपर देशको पुनरुज्जीवित करके। चोरबाजारी और घूसखोरीको रोकनेका यही उपाय है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि हिंदुस्थानके हिंदू मानव-सभ्यतामें अपने पुनरुत्थान और सशक्त अङ्गके रूपमें निरन्तर-सत्ताके लिये इस महान् प्रश्नको वास्तवमें हल करना चाहते हैं तो उनके सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टिकोणका सम्पूर्ण परिवर्तन आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्तिका पुनःसमर्पण होना चाहिये अहंकारकी सेवाके लिये नहीं, वरं देश तथा राष्ट्रके प्रति सच्चे समर्पण और सच्ची सेवाके लिये। भारतका यही धर्म है। सोती हुई आत्माएँ तब जाग उठेंगी और भगवान् श्रीकृष्णकी शिक्षा लोगोंके अनुत्साहको भगा देगी। दैववाद हिंदुओंका सिद्धान्त नहीं केवल इतनी ही बात

नहीं है, हिंदूधर्मके विरुद्ध भी है। प्रगतिपूर्ण सामाजिक चेतना महत्त्वाकाङ्क्षा, स्वार्थपरता अथवा यशोलिप्सासे नहीं प्राप्त होगी, बल्कि कर्तव्यपालनकी विशुद्ध भावना ही वास्तविक परिवर्तन लायेगी। भारतीय अध्यात्मवादको विकृत रूपमें उपस्थित किया गया है। हिंदुत्वकी शिक्षा है कि चरित्र ही अध्यात्म है। अकर्मण्यता, अवसाद, मिथ्या संतोष और दुर्बलताका नाम 'त्याग' नहीं है। सच्चे संन्यासका सर्वोच्च स्वरूप ही वास्तविक विजय है। हिंदुत्वको वीर, उन्नतिपथारूढ़ और आवश्यकता हो तो विद्रोहशील बनना है। नयी भेरी बज चुकी है और अशुभकी शक्तियोंसे लड़नेके लिये जो कुछ भी हमारे अंदर उत्कृष्ट, सुन्दर, विशुद्ध, अध्यवसायी और शौर्ययुक्त है, उसका आवाहन कर रही है; किंतु हमें ऐसी चेष्टा करनी चाहिये कि जिसमें पीछे हटनेका बाजा कभी न बजे।

चार बातें

(लेखक—डा० श्रीअमरनाथजी झा एम्० ए०, डी० लिट्०)

जीवनकी यात्रामें कई वस्तुओंकी आवश्यकता है। सबसे पहले तो शरीरको स्वस्थ रखना है। बिना स्वस्थ शरीरके कोई प्रसन्न नहीं रह सकता। इसलिये बालकोंको व्यायाम करना चाहिये, जिससे उनके शरीरका अङ्ग-प्रत्यङ्ग दृढ़ हो जाय। उनको सामूहिक खेल-कूदमें भाग लेना चाहिये, जिससे वे औरोंके साथ और अपने दलके हितके लिये काम करना सीखें।

दूसरा काम है विद्याध्ययन। विद्या अनेक प्रकारकी है। सब विद्याओंका ज्ञान कोई एक व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता; परंतु जिस किसी भी विषयका अध्ययन करना हो, उसमें यथासाध्य परिश्रम करना चाहिये। अपने विषयविशेषमें जहाँसे भी हो, जिस किसीसे भी हो, ज्ञान-लाभ करना चाहिये। जिस सुलभतासे युवावस्थामें ज्ञान मस्तिष्कमें प्रवेश करता है और वहाँ चिरस्थायी होकर रहता है, वह आगे चलकर सम्भव नहीं।

तीसरा काम है अपनेको समाजसेवाके योग्य बनाना। मुनि अरण्यके एकान्तमें तपस्या करते हुए समाजकी उपेक्षा कर सकता है, परंतु साधारण मनुष्यको तो समाजमें रहना है। औरोंके साथ रहना, औरोंके सुख-दुःखमें भाग लेना, चिकित्सा करना, धन उपार्जन करना और उसका उचित व्यय करना, भूमिसे अन्न उत्पन्न करना, माता-पिता और गुरुजनोंकी शुश्रूषा, बच्चों और पीड़ितोंकी सहायता करना, परोपकार करना—यह सब समाजमें रहकर करना चाहिये और इस सबकी योग्यता पाठावस्थामें ही प्राप्त हो सकती है।

मनुष्यकी अन्य जन्तुओंसे विशेषता इस अंशमें है कि उसको अपने आत्माका ज्ञान है। यह आत्मा अजर है, अमर है। शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता। इस आत्मासे ही मनुष्यका ईश्वरसे सम्बन्ध स्थापित होता है। ईश्वरकी उपासनासे चित्तको शान्ति मिलती है। नीच प्रवृत्ति-से मनुष्य बचता है। सन्मार्गकी ओर आकृष्ट होता है।

इन चार बातोंका यदि बालक ध्यान रक्खें तो अपना और विश्वका कल्याण सम्भव है।

बालकोंके लिये नैतिक और आध्यात्मिक आदर्श आवश्यक

(लेखक—श्रीअमियकुमार दास, शिक्षा-मन्त्री, आसामसरकार)

मुझे यह जानकर प्रसन्नता होती है कि विश्व-प्रेम, नैतिकता तथा आध्यात्मिक उन्नतिकी दिशामें 'कल्याण' पत्र गत सत्ताईस वर्षोंसे सेवा कर रहा है। एक राष्ट्रकी शक्ति केवल उसकी जन-संख्यापर ही निर्भर नहीं है, वास्तवमें नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति ही मुख्य है। बिना इसके संख्याकी शक्तिका कोई मूल्य नहीं रह जायगा।

मुझे यह जानकर भी प्रसन्नता है कि यह पत्र 'बालकाङ्क' प्रकाशित करने जा रहा है। हमने प्रजातन्त्रवाद-को अपने नागरिक और राजनीतिक विकासका आदर्श मान लिया है। इसके लिये यह आवश्यक है कि प्रजातन्त्रवादके आदर्शकी जड़ें जनताके मनमें जमा दी जायँ। यह उद्देश्य तभी सिद्ध होगा, जब हम अपने बालकोंको इस आदर्शके मार्गपर ले चलनेका प्रयत्न करें और उनके सम्मुख नैतिक एवं आध्यात्मिक आदर्शोंको भी रक्खें, जिससे वे बचपनसे ही उनके अनुरूप आचरण करने लगें। मैं इस पत्रकी सफलता चाहता हूँ।

विद्यार्थियोंको आशीर्वाद

(राजर्षि श्रीपुरुषोत्तमदासजी टण्डनके व्याख्यानसे)

'मेरे सामने आदर्श अवश्य है और उसके अनुसार अपनेको बनानेका अवश्य प्रयत्न करता हूँ, अब भी प्रयत्न करता हूँ। छात्रोंसे मुझे यही कहना है कि जो शिक्षा मिल रही है, उससे अपनेको बनायें। सुकरात और साक्रेटीजने अपने शिष्योंको यही बताया था कि अपनेको पहचानो। यदि हम अपनेको पहचानें, अपनी त्रुटियोंको अंदर घुसकर देखें तो हम अपना ही शुद्धिकरण करते हैं। किंतु हम प्रायः अपनेको जाननेका यत्न नहीं करते; क्योंकि हमें अपने प्रति मोह है, पक्षपात है और बुद्धिकी आँखोंपर पट्टी बँधी रहती है, जिससे हम देख नहीं पाते। सच तो यह है कि हम अपने नग्नरूपको देखकर घबराते हैं और इसलिये चाहते हैं कि उसे वस्त्रोंसे आच्छादित करके देखें। पुरुषत्व इसमें है कि हम अपनी दुर्बलताओंपर अधिकार करें।

'विद्यार्थियो! यह समय आपके लिये अपनेको बनानेका है। आप कालेजमें शिक्षा पा रहे हैं। आज शिक्षाका जो क्रम चल रहा है, उसमें काफी कमियाँ दीख रही हैं। शिक्षाका मुख्य अभिप्राय यह होना चाहिये कि वह ऊँचे स्तरपर ले जाय, दुर्बलताओंसे मुक्त कर दे, चारित्रिक और मानसिक शक्ति प्रदान करे। आज हमारे कालेजोंमें जो चारित्रिक वातावरण चाहिये था, वह नहीं है। हम जब ऊँचे चरित्रवान् बनना चाहते हैं, तब देशके नेताओंको भी उदार बनना चाहिये। विद्यार्थी, जिनमें युवक एवं युवतियाँ दोनों हैं, बौद्धिक और चारित्रिक सुविधाएँ सामने रक्खें, अपने सामने आदर्श उदाहरण रक्खें। स्वतन्त्रताके इस युगमें हमें शिक्षा आदिके क्रमको बदलना होगा। हम परिवर्तन-कालमें रह रहे हैं। हम स्वतन्त्र तो हुए अवश्य; किंतु हमारी बौद्धिक दासताके जानेका समय अभी नहीं आया। बौद्धिक दासता हमारे लिये बहुत बड़ा अभिशाप है।

'राष्ट्रभाषा हिंदीके द्वारा ही भारतीय संस्कृतिकी रक्षा हो सकती है। मेरा जितना काम हिंदीको राष्ट्रभाषा बनानेका था या है, वह मैंने किया और अब भी कर रहा हूँ। जिस प्रकार प्राचीन युगमें संस्कृत भाषाने देशके भिन्न-भिन्न भागोंको बाँधनेका कार्य किया, उसी प्रकार यह कार्य हिंदीको करना है। विद्यार्थी इस कामको अपने हाथमें लें। यह समय तो अपनेको बनानेका है। आपसे यही आशा करता हूँ कि आप अपनेमें शक्ति और गुण भरनेमें लगें। आपलोगोंको मैं आन्दोलनमें भाग लेनेकी सलाह नहीं देता। पुरानी पीढ़ीके बोझको सँभालनेके लिये आपको अपनेको तैयार करना है।

'युवावस्था उत्साहकी अवस्था है, पर उसे नियन्त्रणमें रक्खें। आपको शक्तिका संचार करना है और उसे इंजिनकी तरह चलाना है। अपने व्यक्तित्वका विकास विद्यार्थियोंका मुख्य कर्तव्य है। विकास बौद्धिक और चारित्रिक दोनों प्रकारका होना चाहिये। बुद्धि कितनी भी तीव्र क्यों न हो, वह चरित्रका विकास नहीं करती जबतक कि हममें चारित्रिक बल न आ जाय।

'शिक्षाका परिणाम यह होना चाहिये कि हमारा बौद्धिक विकास हो। बौद्धिक विकासको मैं दूसरे शब्दोंमें बौद्धिक स्वास्थ्य कहता हूँ। मैंने कई पहलवानोंको देखा है, जिनमें शारीरिक शक्ति होते हुए भी जिनका शारीरिक स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। शारीरिक स्वास्थ्य और शारीरिक शक्तिमें अन्तर है। मैंने सभी क्षेत्रोंके बुद्धिजीवियोंको देखा, पर उनमें बुद्धिके स्वास्थ्यकी कमजोरी पायी। स्वास्थ्य अपनेमें ही आनन्ददायक वस्तु है, इसमें स्फूर्ति रहती है।

'गीतामें श्रीकृष्णने कितनी सुन्दर उक्ति दी है कि इन्द्रियोंपर मन, मनपर बुद्धि और बुद्धिपर एक ईश्वर है। बुद्धिमें शुद्धता है, दृढ़ता है। उसमें अभिमान नहीं, विनय है। जिसका ऊँचा चरित्र है, वह बुद्धिका ही अङ्ग हो जाता है। जिसमें चरित्र-बल नहीं, उसमें बुद्धि नहीं।

'विद्यार्थियोंसे मेरा यही अनुरोध है कि युवावस्था बड़ी भयावह है, उसको सँभाल लें। मनुष्य वही बनता है, जो कठिनाइयोंका सामना करता है। भविष्य आपको बनाना है, इसलिये ईश्वर आपको शक्ति दे—यह मेरा आशीर्वाद है।'

मानव-जीवनका उद्देश्य और छात्रों तथा सरकारसे प्रार्थना

मनुष्य-जीवनका प्रधान और एकमात्र उद्देश्य है—'भगवत्प्राप्ति'। इसीको 'मोक्ष', 'मुक्ति' या 'आत्म-साक्षात्कार' कहते हैं। अन्यान्य योनियोंमें इस उद्देश्यकी सिद्धि नहीं होती, इसीलिये इस मानव-योनिकी विशेष महत्ता है और इसीलिये अनुभवी, ज्ञानी, सर्वभूतोंके हितमें रत महात्मा ऋषियों-मुनियोंने जीवनके आरम्भसे ही नहीं, गर्भाधान-कालसे ही, गर्भाधानको भी एक पवित्र संस्कारका रूप देकर मानव-जीवनको ब्रह्म-प्राप्ति या भगवत्प्राप्तिका साधन बनानेका प्रयत्न किया है। इसीसे हमारे यहाँ चार वर्ण और चार आश्रमोंका विधान है और इसीलिये कठोर संयम तथा त्याग-तपस्या एवं कर्तव्य-पालनको मुख्य बनाकर जीवनयापन करनेकी विधियोंका निर्माण हुआ है। इसीलिये हमारा पुरुषार्थ—जीवनका ध्येयोपयोगी साधन कामोपभोग-परक नहीं है—वरं धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके रूपमें चार तत्त्वोंसे ग्रथित है। जगत्‌में अर्थ, काम (भोग) की आवश्यकता है, इसलिये उसकी अवहेलना नहीं है। परंतु वह अर्थ-काम (भोग) स्वच्छन्द नहीं है—इन्द्रिय-तृप्तिके लिये नहीं है, मनमाना नहीं है; वह है धर्मके द्वारा अर्जित और संयमित-नियमित। इसीलिये उसका परिणाम 'मोक्ष' है। धर्मसे अनियन्त्रित यथेच्छ 'अर्थ' और 'काम' तो महान् अनर्थकारी, दुःखोत्पादक (गीताकी भाषामें 'दुःखयोनि'), जीवनको पतनके गम्भीर गर्तमें गिरानेवाला होता है। वह मानवको मानवतासे गिराकर क्रूर, पिशाच और भोग-प्रमत्त असुरके रूपमें परिणत कर मानव जगत्‌को हिंसामयी क्रूर वधस्थली बना देता है। आज सर्वत्र यही हो रहा है और यह मोक्षकामनाशून्य तथा धर्मसे अनियन्त्रित स्वच्छन्द अर्थ-कामकी अभिलाषाका ही अवश्यम्भावी दुष्परिणाम है। इसलिये मानवको अपने जीवनके प्रधान लक्ष्यको तो कभी भूलना ही नहीं चाहिये। श्रीमद्भागवतमें अवधूतके वाक्य हैं—

> लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
> मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
> तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
> न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥
> (११।९।२९)

'अर्थात् यह मनुष्यशरीर यद्यपि अनित्य है, मृत्यु सदा इसके पीछे लगी रहती है, तथापि यह है इतने महत्त्वका कि परम पुरुषार्थ—मोक्षकी प्राप्ति इसी शरीरसे हो सकती है। इसलिये अनेक जन्मोंके बाद इस अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह शीघ्र-से-शीघ्र मृत्युके पहले ही मोक्ष-प्राप्तिका प्रयत्न कर ले। इस जीवनका मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है। विषय-भोग तो सभी योनियोंमें प्राप्त हो सकते हैं, इसलिये उनके संग्रहमें यह अमूल्य जीवन नहीं खोना चाहिये।'

संसारके अर्थ-भोगकी उपेक्षा नहीं, परंतु वही जीवनका लक्ष्य नहीं है। उसकी वहाँतक आवश्यकता है, जहाँतक वह धर्म-सेवा, लोक-सेवाका हेतुभूत, सबके दुःखका नाशक और सब जीवोंके सुखका साधन, तथा धर्म-न्याय एवं अपने वर्णाश्रमानुकूल जीवन-निर्वाहके अनुरूप हो; ऐसा अर्थ-भोग भी हो, केवल इन माध्यमोंके द्वारा हो, और भगवत्पूजाके लिये ही—भगवत्प्रीत्यर्थ ही, भगवान्‌की प्रसन्नताके हेतु हो। फिर यदि वह प्रारब्धवश प्रचुर-मात्रामें हो तो आपत्ति नहीं और अल्पमात्रामें हो तो भी क्षोभका कारण नहीं। क्योंकि उसका उपयोग यथेच्छ भोगमें तो करना ही नहीं है; उसका उपयोग होगा भगवत्-सेवामें, और होगा उपर्युक्त धर्म-सेवा, लोक-सेवा आदि शुभ तरीकोंसे ही। इसीलिये ऐसे धनमें किसीके अर्थापहरणका, चोरी-डकैतीका, चोर-बाजारी, घूसखोरी, अनाचार, भ्रष्टाचार-का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता; क्योंकि यहाँ तो प्रत्येक क्रिया ही धर्मार्थ, यज्ञार्थ, भगवत्-सेवार्थ करनी है। और जबतक ऐसा नहीं होगा, जबतक स्वच्छन्द कामोपभोगके लिये, इन्द्रिय-तृप्तिके लिये, प्रबल-भोगवासनाकी पूर्तिके लिये अज्ञानान्ध होकर अर्थ-भोगका किसी भी प्रकारसे अर्जन और संग्रह-सञ्चय होता रहेगा, तबतक यह पाप बंद नहीं हो सकता, चाहे उसका रूप कैसा ही क्यों न रहे। परस्वापहरण होगा ही—चाहे वह गैर-कानूनी हो, कानूनी हो, व्यक्तिके नामपर हो, राष्ट्रके नामपर हो, विश्वहितके नामपर हो, साम्यवादके सिद्धान्तसे हो, मार्क्सवादके मतसे हो या अन्य किसी भी उच्च या अत्यन्त नीच भावनासे हो। भावनाके अनुसार उसके स्वरूपमें कुछ तारतम्य अवश्य होगा; परंतु भोगवासनाजनित कार्य विशुद्ध भगवत्सेवा या लोक-सेवाका कभी नहीं हो सकता, यह सिद्धान्त अटलरूपसे स्वीकार करना पड़ेगा। इसीसे हमारे यहाँ भोग-वासनाके बदले मोक्षको जीवनकी कामना माना

गया, इसीलिये प्रत्येक क्रियाके साथ 'धर्म'का सम्बन्ध जोड़ा गया और इसीलिये 'अधिकार'के बदले 'कर्तव्य' को प्रधानता दी गयी है एवं इसीलिये धर्मका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया —

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

(वैशेषिकदर्शन सू० २)

'जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है।' अभ्युदयका अभिप्राय है—ऐहिक उन्नति—अर्थात् ऐसा 'भौतिक अभ्युदय' जिससे सबके दुःखोंका नाश हो, सबको सुख मिले, जीव-जगत्के सभी प्राणी सुविधा प्राप्त करें; किसीके साथ अन्याय, पक्षपात न हो और किसीके भी किसी प्रकारके भी न्याय्य स्वत्वपर आघात न पहुँचे तथा सबके सुख-सम्पादनके साथ ही इस 'धर्म' का सेवन करनेवाला भी सुखी हो, वह भी जीवनमें सुख-सुविधाका उपभोग करे। पर यही धर्म नहीं है। जिसका फल परम कल्याण या मोक्षकी सिद्धि हो, जो जीव-जीवनकी अनादिकालीन साधको पूरीकर उसे आत्यन्तिक सुख-शान्तिकी स्थितिमें—आत्माके निर्मल शुद्ध सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें पहुँचा दे, वह धर्म है। तभी मानव-जीवनकी सफलता है और तभी धर्मका यथार्थ पालन हुआ तथा उसके महान् फलकी प्राप्ति हुई। बस, इसी उद्देश्यसे मानव-जीवनका आरम्भ है और इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये जन्म तथा शिशुपनसे लेकर मरणपर्यन्त उसकी सारी चेष्टा और क्रियाओंका होना आवश्यक है। आर्य-संस्कृतिके इसी महान् लक्ष्यको लेकर मानवको तन-मन-वचनसे सावधान होकर धर्ममय जीवन बिताना है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

धर्म आचरितः पुंसां वाङ्मनःकायबुद्धिभिः।
लोकान् विशोकान् वितरत्यथानन्त्यमसङ्गिनाम्॥

(श्रीमद्भा० ४। १४। १५)

'मनुष्य यदि मन, वाणी, शरीर और बुद्धिसे धर्मका आचरण करता है तो वह धर्म उसे शोकरहित दिव्य लोकोंकी प्राप्ति कराता है और यदि धर्म करनेवाले पुरुष स्वर्गादि लोकोंके भोगोंमें आसक्त नहीं होते तो उन्हें वही धर्म मोक्षकी प्राप्ति करवा देता है।'

धर्म वही है, जो जगत्के परम कल्याणके साथ ही अपना कल्याण करनेवाला हो; वही धर्म भगवान्‌की पूजा बनता है और उसीसे परम सिद्धि—मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतएव बालकपनसे ही धर्मपालनका अभ्यास करना चाहिये। इसीलिये हमारे यहाँ गुरुकुल-निवास तथा ब्रह्मचर्याश्रमकी सुन्दर व्यवस्था है। ब्रह्मचर्याश्रमका अभिप्राय ही है—विद्याध्ययनके साथ-ही-साथ इन्द्रिय और मनके संयमकी क्रियात्मक शिक्षा प्राप्त करना और फिर अपने वर्णाश्रमोचित सत्कर्मके द्वारा विश्वव्यापी प्रभुकी सेवाके लिये योग्यता प्राप्त करना एवं सेवामें संलग्न हो जाना। भगवान्‌ने कहा है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(१८। ४६)

'जिस परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मके द्वारा पूजकर मनुष्य सिद्धिको—मोक्षको प्राप्त होता है।' इसी स्वकर्मद्वारा भगवान्‌की पूजाके लिये—ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये बालकको ब्रह्मचर्याश्रममें तैयार होना—ब्रह्मचर्यके कठोर नियमोंका बड़ी श्रद्धा तथा आदर बुद्धिसे पालन करना पड़ता है। वहाँके कुछ बड़े ही सुन्दर नियम मनु महाराज बतलाते हैं—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥
वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥

(मनु० २। १७६—१७९)

'ब्रह्मचारी प्रतिदिन स्नान करके शुद्ध होकर देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करे, देवताओंकी भलीभाँति पूजा करे और सुबह-शाम समिधाके द्वारा हवन करे। ब्रह्मचारी मधु (मदिरा) और मांसका त्याग करे, इत्रादि सुगन्ध द्रव्य, पुष्पोंकी मालाएँ, शर्करा आदि रस तथा स्त्रीका सर्वप्रकारसे परित्याग करे। जो वस्तुएँ सहज मधुर होनेपर भी किसी दूसरे संयोगसे विकृत हो जाती हैं, ऐसी शुक्त वस्तुओं—दही इत्यादिका त्याग करे और प्राणियोंकी कभी किसी प्रकार हिंसा न करे। तेल लगाना, आँखोंमें काजल या सुर्मा डालना, जूते पहनना, छाता लगाना, काम-क्रोध-लोभके वश होना, नाचना, गाना, बजाना, जुआ आदि खेलना, परचर्चा करना, कलह करना, असत्य बोलना, स्त्रियोंकी ओर देखना, उनका आलिङ्गन करना, दूसरेकी बुराई करना—इन सबसे ब्रह्मचारी सदा दूर रहे।' इस प्रकार इन्द्रिय-संयमका अभ्यास करके बुद्धिको स्थिर

करे। भगवान्ने कहा है कि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर होती है—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

(गीता २ । ६१)

हमारे शास्त्रकारोंने कहा है—

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

'इन्द्रियोंके असंयमको विपत्तिका तथा उनपर विजय प्राप्त कर लेनेको ही सम्पत्तिका मार्ग कहा गया है। इन दोनों पथोंपर विचार करके ही मनुष्यको लाभदायक मार्गपर चलना चाहिये।'

प्राचीन युगके इस ब्रह्मचर्याश्रमके संयमित छात्रजीवनके साथ आजके विश्वविद्यालय और महाविद्यालयोंसे सम्पर्कित छात्रावासोंके छात्र-जीवनकी तुलना कीजिये। शरीरकी शुद्धि तथा देव-ऋषि-पितृतर्पण एवं हवनकी तो कल्पना ही नहीं, शरीरकी सफाई अपवित्र वस्तुओंके द्वारा अवश्य की जाती है; मद्य, अंडे और मांस-सेवनका शौक बढ़ाया जाता है; इत्र नहीं, परंतु शराब मिले अन्यान्य सुगन्धि-द्रव तथा शुष्क पदार्थोंका सिञ्चन-लेपन आवश्यक है; शर्करादि रसकी बात दूर रही, अपवित्र और स्वास्थ्यनाशक रसोंका सेवन किया जाता है। किसीकी भी जूँठन खानेमें कोई हानि नहीं मानी जाती; प्राणियोंकी हिंसा तो शौकसे की जाती है और शिक्षालयोंकी अनुसन्धान तथा प्रयोगशालाओंमें भी अबाध प्राणिहिंसा होती है। काजल-सुर्मा तो असभ्यताके भयसे नहीं डाला जाता, पर तैलाभ्यङ्ग तथा अन्यान्य बुरी चीजोंका इस्तैमाल होता है। जूते तो समय-समयके लिये कई रक्खे जाते हैं। छातेके साथ ही पानीसे बचानेवाले कोट तथा हैट आदिका व्यवहार होता है। काम-क्रोध-लोभको तो प्रकारान्तरसे जागृतिके, विकासके या उन्नतिके लक्षण ही स्वीकार कर लिया गया है। नाचना, गाना, बजाना शिक्षा-क्रममें आ गया है, जुए भी कई प्रकारके चलते हैं; परचर्चा, परनिन्दा तो अखबारी अध्ययनका प्राण ही है; असत्य-भाषण चातुरी है। परायी बुराई भी व्यक्तिगत या दलगत लाभके लिये आवश्यक है। सिनेमा देखनेवाले तथा सहशिक्षा प्राप्त करनेवाले स्त्री-दर्शनादिसे कैसे बच सकते हैं।—यों इन्द्रिय-संयमके स्थानपर इन्द्रिय-असंयमकी मानो बाढ़-सी आ गयी है। यह बड़े ही खेदका विषय है और ऐसे छात्र-जीवनसे कैसे संयमकी आशा की जाय?

परंतु केवल स्थितिपर खेद प्रकट करनेसे या निराश होनेसे काम नहीं चलेगा। बहुत बुरे दोष आ गये हैं, वे चाहे किसी भी कारणसे आये हों। इसके लिये भी किसीपर दोषारोपणकी प्रयोजनीयता नहीं है—आवश्यकता है दोषोंके सुधारकी। आज छात्र-छात्राओंमें प्रायः निम्नलिखित दोष विचारों तथा क्रियाओंके द्वारा न्यूनाधिक रूपमें आये और आते हुए बताये जाते हैं—

(१) ईश्वरपर अविश्वास, अतएव ईश्वरभजनकी अनावश्यकता।

(२) कर्मफल, पुनर्जन्म, परलोकपर अविश्वास।

(३) देवपूजन, श्राद्ध, तर्पण, धार्मिक क्रिया, अनुष्ठान, नित्य-नैमित्तिक शास्त्रीय कर्मोंपर अविश्वास।

(४) प्राचीन कालकी सभ्यता तथा संस्कृतिकी उच्चता-पर अविश्वास। अबसे पूर्वकी सभ्यता-संस्कृति पूर्व-से-पूर्व निम्नश्रेणीकी तथा अविकसित थी—ऐसी धारणा।

(५) संसार उत्तरोत्तर सभी विषयोंमें उन्नत हो रहा है, ऐसी धारणा।

(६) चार हजार वर्षके पूर्वका इतिहास नहीं है। वेद, दर्शन, उपनिषद्, स्मृतियाँ, पुराण, महाभारत, रामायण आदि सभी आधुनिक हैं—ऐसी धारणा।

(७) आर्यजाति भारतमें मूलतः नहीं रहती थी, बाहरसे आयी है—ऐसी धारणा।

(८) माता-पिताकी भक्ति, सेवा तथा उनके आज्ञा-पालनमें अरुचि।

(९) शास्त्र, वर्णाश्रम, समाज, कुल, शिक्षा-संस्था तथा अन्य सम्बन्धित संस्थाओंका अनुशासन माननेमें आपत्ति।

(१०) आचार्य, अध्यापक, गुरुका अपमान तथा उनके साथ दुर्व्यवहार।

(११) खान-पानमें असंयम, तामसी (मद्य, मांस, अपवित्र, जूठन आदि) आहारमें रुचि।

(१२) यौन-सम्बन्धमें स्वेच्छाचारिता।

(१३) सिनेमा आदि असंयम बढ़ानेवाले खेलोंके देखनेमें, उनमें क्रियात्मक भाग लेने तथा अशुभ सदाचार-नाशक साहित्यके लेखन, वाचन तथा प्रचारमें उत्साह और प्रवृत्ति।

(१४) विलासिताकी सामग्रियोंका अबाध और अमर्याद सेवन तथा अत्यन्त खर्चीला जीवन।

(१५) हिंसात्मक तथा मिथ्यापूर्ण कार्योंमें उत्साह तथा प्रवृत्ति।

(१६) प्राचीनमात्रके विरोध तथा नवीनमात्रके ग्रहणमें विचारशून्य प्रवृत्ति।

(१७) प्राचीन सांस्कृतिक कार्योंमें, व्यवहारोंमें तथा सदाचारमें अरुचि तथा उनका विरोध।

(१८) वैदिक, महाभारत तथा रामायणके गौरवपूर्ण इतिहास तथा महापुरुषोंसे अपरिचय।

संक्षेपमें सूत्ररूपसे दोषोंकी बात कही गयी है, इनके अतिरिक्त अन्य बहुत-से दोष भी हैं; किंतु ये दोष सभीमें हों, ऐसी बात भी नहीं है। साथ ही यह बात भी नहीं माननी चाहिये कि ऊपर अपने दृष्टिकोणसे जो दोष बतलाये गये हैं, वे सभीकी दृष्टिमें दोष ही हों। जो कुछ भी हो, कुछ दोष तो ऐसे हैं, जिनको प्रायः सभी अथवा अधिकांश विचारशील लोग दोष मानते हैं और छात्र-छात्रागण भी उन्हें दोषरूपमें स्वीकार करते हैं। इन दोषोंके आनेके अनेकों कारण हैं; पर प्रधान कारण है उनके सामने इसी प्रकारके दोषपूर्ण आदर्शोंका रक्खा जाना और उनको ऊपरसे रोकनेकी बात कहते हुए भी इन्हीं आदर्शोंका अनुकरण करनेके लिये बाध्य करना।

बालक तो निर्दोष होते हैं। यद्यपि पूर्व-संस्कारानुसार उनमें रुचिभेद तथा स्वभावभेद अवश्य होता है, फिर भी वे बनते हैं उनके बीचके और आसपासके वातावरणके अनुसार ही। इसलिये इसका दायित्व बालकोंके अभिभावकोंपर है और इसके लिये प्रधान दायी तो हैं समाज तथा राष्ट्रके वे अगुआ पुरुष, जिनके हाथोंमें विधि-निर्माणकी सत्ता है तथा जिनके आदर्श तथा आदेशपर लोग चलते हैं। बालक तो अनुकरणपरायण होता है। उसके सामने जैसी चीज आती है, वह उसीकी नकल करता है। अवाञ्छनीय शिक्षा देनेवाले विश्वविद्यालय, महाविद्यालय, विद्यालय किसने बनाये? उनका संचालन कौन करते हैं? पाठ्यक्रमका निर्माण किसने किया? ईश्वरका खण्डन, शास्त्रका विरोध, पुनर्जन्म और परलोकपर अविश्वास पैदा करनेवाले साहित्यका प्रणयन किसने किया? प्राचीन शास्त्रोंको आधुनिक किसने बतलाया? माता, पिता तथा गुरुकी आज्ञा न मानकर अनुशासन भङ्ग करनेकी शिक्षा किसने दी? आहार-विहारमें उच्छृङ्खलता, यौन सम्बन्धमें स्वेच्छाचारिता और हिंसात्मक कार्योंमें प्रवृत्तिका आदर्श किसने उपस्थित किया? चलचित्रोंका निर्माण, प्रचलन किसने किया? किसने गंदे चित्रोंको चलानेकी अनुमति दी? चोरबाजारी, घूसखोरी, मिथ्यापूर्ण कार्योंमें उत्साहपूर्ण प्रवृत्ति किसने की? और सहशिक्षाकी बुरी चाल किसने चलायी? ऐसी ही अन्यान्य बातें हैं। रिम्थितिवश विदेशी शिक्षा तथा संस्कृतिके प्रभावमें आकर, जोशमें होशको खोकर, इन्द्रियोंके वेगको रोकनेमें असमर्थ होकर या अन्य किसी भी कारणसे हो,—इन सब प्रवृत्तियोंके प्रेरक, प्रवर्तक, पोषक, प्रचारक प्रायः बड़े लोग ही हैं। यह सत्य है और इसे सभीको समझना चाहिये। बालकको तो जैसे साँचेमें आप ढालेंगे, उसीमें वह ढलेगा। अतएव विद्यालयों, महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयोंके छात्र-छात्राओंको दोष देना व्यर्थ तथा अनुचित है। उनको सुधारना है तो पहले अपनेको सुधारना होगा। आजकल शिक्षाप्रणाली तथा शिक्षा-संस्थाओंके दोष प्रायः सभी बतलाते हैं, पर उनमें सुधारका कार्य नहींके बराबर ही हो रहा है। इस ओर देशके सभी मनीषियोंको विशेष ध्यान देकर इस विषयपर विचार करना चाहिये।

यहाँ मैं अपने देशके भावी आशास्थल और भावी मानवजातिके आदर्श पूर्वपुरुष छात्र-छात्राओंकी सेवामें नम्रताके साथ कुछ निवेदन करना चाहता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरे विनीत निवेदनपर कृपया ध्यान दें। मेरा बहुत-से छात्रोंसे परिचय और पत्र-व्यवहार है, बहुत-से ऐसे अध्यापकों तथा आचार्योंसे मेरा बड़ा स्नेहका सम्बन्ध है, जो कुछ ही दिनों पहले छात्रावस्थामें थे। उनमें बहुत-से बड़े ही भले, सात्त्विक स्वभावके और दोषों तथा पापोंसे डरनेवाले सदाचारी तथा सुशील व्यक्ति हैं। ऐसे लाखों और भी होंगे। इसलिये छात्रसमाज बुरा नहीं है। छात्रोंमें जो बुराइयाँ आ रही हैं, उसे वे समझ जायँ और उन्हें दूर करनेमें उनकी शक्ति आने लगे तो बहुत शीघ्र बहुत कुछ सच्चा लाभ होना सम्भव है।

ईश्वर है, अवश्य है, प्रकृतिका प्रत्येक कार्य ईश्वरकी सत्ताका प्रमाण दे रहा है। ईश्वरकी सच्ची सत्ताको माननेमें बड़ा लाभ है। यह संत-महात्माओंका अनुभव है।

धर्म है, धर्म ही जीवनका प्रधान अवलम्बन है। धर्महीन जीवन पशुजीवन है।

श्राद्ध-तर्पणसे मृत पितरोंकी तृप्ति होती है, इसमें अनेकों प्रमाण हैं और यह सर्वथा अनुभवसिद्ध तथ्य है।

हमारी सभ्यता तथा धर्म बहुत प्राचीन हैं। हमारा प्राचीन इतिहास अनन्त गौरव-गाथाओंसे युक्त है, सच्चा है। हमारे बहुत-से पूर्वपुरुष महापुरुष, ज्ञानी, योगी, तपस्वी, सिद्ध तथा महान् ऐश्वर्यवान् थे।

आर्यजातिका मूल देश आर्यावर्त या भारतवर्ष ही है और हमारी सभ्यता करोड़ों वर्ष पुरानी है।

महाभारत-रामायण इतिहास हैं, पुराणोंमें प्राचीन ऐतिहासिक तथा धार्मिक महत्त्वके प्रसङ्ग हैं। इनमें न्यूना-

धिकता समय-समयपर की गयी है, ऐसा अनुमान होता है; पर मूल वस्तुतत्त्व सर्वथा यथार्थ है।

यह तो विजेता जातिका एक महान् कूटनैतिक प्रचार था कि आर्यजातिका मूलनिवास भारतवर्ष न माना जाय, जिससे उनकी इस देशपर भक्ति न रहे। विकासका सिद्धान्त माना जाय तो इनकी अपने पूर्वपुरुषों तथा अपनी प्राचीन संस्कृतिपर अनास्था हो जाय। एवं पुराना इतिहास न माना जाय तो इन्हें अपनी गौरवगाथाका ज्ञान ही न हो।

वस्तुतः हमारा अतीत अत्यन्त गौरवमय था। तप, योग, ज्ञान, सिद्धि आदिके साथ ही मन्त्रविज्ञान बड़े उच्च स्तरपर था। विज्ञान तथा ऐश्वर्य भी बहुत ऊँची स्थितिमें था। हमारे यहाँके शस्त्रोंके समान शस्त्रोंका निर्माण जगत्‌में अभीतक नहीं हो सका है। मन्त्रात्मक, चेतन, इच्छारूप शस्त्रास्त्र थे। उन्हें लौटाया भी जा सकता था। जिस प्रकारके अस्त्रोंका वर्णन रामायण तथा महाभारतादिमें मिलता है, उनके सामने आजका अणुबम सर्वथा नगण्य तथा दोषयुक्त है।

प्राचीनकालमें विमानविज्ञान भी बड़ा अद्भुत था। रामायणमें चेतनकी भाँति कार्य करनेवाले तथा हजारों व्यक्तियोंको लेकर उड़नेवाले पुष्पक विमानका वर्णन है। कर्दमजीके विमानका वर्णन श्रीमद्भागवतमें मिलता है। वह विमान कान्तिमान् था और इच्छानुसार चलनेवाला तथा चाहे जिस लोकमें जानेवाला था। उसमें सब प्रकारकी सामग्रियाँ थीं। लिखा है 'वे उस महान् विमानमें बैठकर वायुके समान सभी लोकोंमें विचरते हुए विमानचारी देवताओंसे भी आगे बढ़ गये।' शाल्व राजाके 'सौभ' विमानके सम्बन्धमें वर्णन है कि वह इतना विचित्र था कि कभी अनेक रूपोंमें दीखता, कभी एक रूपमें, कभी दीखता तो कभी न दीखता; कभी पृथ्वीपर आ जाता, कभी आकाशमें उड़ने लगता, कभी पहाड़की चोटीपर चढ़ जाता तो कभी जलमें तैरने लगता, वह अलातचक्रके समान घूमता रहता।* वह विमान आकारमें नगरके समान था। विमानसम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थोंमें लिखा है कि (१) मार्गकी यासा, वियासा, प्रयासा आदि वायुशक्तियोंके द्वारा सूर्यकिरणोंमें रहनेवाली अन्धकारशक्तिका आकर्षण करनेसे विमान छिप जाता है। (२) रोहिणी विद्युत्‌के फैलानेसे विमानके सामने आनेवाली प्रत्येक वस्तुको प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। (३) शब्दग्राहक यन्त्रके द्वारा दूसरे विमानपरके लोगोंकी बातचीत आदि सुनी जा सकती है। (४) रूपाकर्षण-यन्त्रद्वारा दूसरे विमानोंकी वस्तुओंका रूप देखा जा सकता है। (५) दिशाम्पति नामक यन्त्र (की सुई) के द्वारा विमानके आनेकी दिशा जानी जा सकती है। (६) 'सन्धिमुख' नामक नलीके द्वारा 'अपस्मार' नामक धूमको एकत्र करके स्तम्भन-यन्त्रके द्वारा दूसरे विमानपर फेंकनेसे उस विमानपर रहनेवाले सम्पूर्ण व्यक्ति स्तब्ध हो जाते हैं। और भी बहुत-सी बातें हैं। इससे विमान-विज्ञानका अनुमान होता है। पिछले दिनों समाचार-पत्रोंमें आया था कि महाराष्ट्रके एक सज्जनने प्रायः गत सौ वर्ष पूर्व एक विमान प्राचीन पद्धतिके अनुसार बनाया था और वह बहुत ऊँचेपर उड़ा भी था, परंतु प्रोत्साहन न मिलनेसे कार्य रुक गया और उसका बचा हुआ सारा सामान रेली ब्रदर्सको बेच दिया गया।

प्राचीनकालका मन्त्रविज्ञान भी बड़ा चमत्कारिक था। मन्त्रशक्तिसे चाहे जिस वस्तुका निर्माण हो सकता था। पिछले दिनों स्वामी विशुद्धानन्दजीके द्वारा काशीमें सूर्यविज्ञान-के द्वारा वस्तुनिर्माणकी बहुत-सी घटनाएँ लोगोंने प्रत्यक्ष देखी थीं।

हमारे शास्त्र ऋषि-प्रणीत तथा सत्य तत्त्वोंसे भरे हैं। वेद अपौरुषेय है।

हमारा सदाचार,* मातृ-पितृ-भक्ति, गुरु-भक्ति अत्यन्त लाभदायक हैं। उनके पालनसे आयु, विद्या, आरोग्य, यश, बल, धर्म और मोक्षसाधनकी वृद्धि होती है।

बाजारकी, होटलोंकी, प्रमोद-गृहोंकी बनी हरेक चीज, बाजारू सोडा-लेमन, बर्फका पानी, हर-किसीकी जूँठन कभी नहीं खानी चाहिये। खराब चीजोंसे तथा गंदगीमें बनी होनेके कारण उनसे स्वास्थ्यनाश होता है, बीमारियाँ फैलती हैं, व्यर्थ व्यय होता है और आचार तथा धर्मका नाश होता है।

विलासिताके प्रसार-प्रचारसे बड़ी हानि हो रही है। गंदे साहित्यसे लोकहानि बहुत बड़ी मात्रामें होती है। **चरित्र ही महान् निधि है और विलासिताकी सामग्री, विलासी जीवन तथा गंदे साहित्यसे चरित्रका नाश निश्चित होता है। चलचित्र इनमें बहुत बड़ी हानिकारक चीज है। मेरी छात्र-छात्राओंसे प्रार्थना है कि वे विलासिता-प्रसार, गंदे साहित्य तथा चल-**

---

* बहुरूपैकरूपं तद् दृश्यते न च दृश्यते।
× × × ×
क्वचिद् भूमौ क्वचिद् व्योम्नि गिरेर्मूर्ध्नि जले क्वचित्।
अलातचक्रवद् भ्राम्यन् सौभं………………॥
(श्रीमद्भा० १० । ७६ । २१-२२)

* सदाचारसम्बन्धी कई सुन्दर लेख इस विशेषाङ्क तथा इसके परिशिष्टाङ्कमें जानेवाले हैं, उन्हें अवश्य पढ़ें।

चित्रोंके विरुद्ध जोरकी आवाज उठायें। रुपयोंके लोभसे जो व्यापारी, साहित्यिक, चल-चित्र-निर्माता तथा सरकारी अफसर छात्र-छात्राओंके तथा समाजके नैतिक स्तरको बुरी तरहसे गिरानेका पाप-प्रयत्न कर रहे हैं, उन्हें ऐसा करनेका क्या अधिकार है? छात्र-गण प्रबल आन्दोलन करके जगह-जगह अपना विरोध करें और प्रतिज्ञाएँ करायें। सरकारको बाध्य करें, जिसमें विलासिताकी सामग्रियोंका प्रचार रुके, गंदा साहित्य बंद हो और कम-से-कम गंदे चलचित्रोंका प्रणयन और प्रचार सर्वथा रुक जाय। छात्रोंको याद रखना चाहिये कि उनके निर्मल तथा निर्दोष मनमें मनोरञ्जनके तथा कलाके नामपर मीठा जहर भरा जा रहा है और कुप्रवृत्ति, कदाचार, कुसङ्ग, कुकर्मके प्रति उनके मनमें आसक्ति तथा मोह उत्पन्न करके उन्हें पतनके गहरे गर्तमें गिराया जा रहा है; उनके साथ यह बहुत ही जघन्य छलपूर्ण बर्ताव हो रहा है। नहीं तो भला, अच्छे-भले घरकी युवतियों और युवकोंके मनोंमें पापवासना क्यों पैदा होती? क्यों वे कुल-कुमारियाँ कलाके नामपर पर-पुरुषोंका नीच स्पर्श और उनके साथ शृङ्गार-आलापका अभिनय करने तथा लाखों-करोड़ों पुरुषोंकी पापदृष्टि अपने ऊपर गिरानेके लिये जगह-जगह, गली-गलीमें अपने शृङ्गार-रूपके पोस्टर छपकर चिपके देखनेमें सुख और गौरव समझतीं? क्यों सात्त्विक घरके, कुलका नाम ऊँचा करनेके लिये उत्पन्न नवयुवक इस पाप-पङ्कमें फँसते और उस कीचड़में सने रहनेमें निन्द्य गौरवका अनुभव करते? और क्यों किसी स्टेशनपर, किसी रेलके डिब्बेमें, किसी मकानके बरामदेमें या किसी मैदानमें चल-चित्रोंमें अभिनय करनेवाले उच्छृङ्खल तथा आदर्शहीन तरुण नट-नटियोंको महात्मा तथा पुण्यपुरुषोंकी भाँति देखने, देखकर आनन्दध्वनि करने, उनके नामपर नारे लगाने तथा उनपर फूल बरसानेका अनैतिक तथा अनाचारपूर्ण कार्य करते? क्यों उन नट-नटियोंके नामोंको अपने पवित्र नामों और कामोंके साथ जोड़ते और क्यों उनके नामके बुश-शर्ट और साड़ी पहननेमें गौरव मानते?? इस सबका कारण यही है कि धन-लोलुप तथा विषय-लोलुप बड़ी उम्रके व्यापारियों तथा अन्य लोगोंने निर्दोष छात्र-छात्राओं तथा समाजके तरुण-तरुणियोंको मोह-मदिरा पिलाकर उन्हें पागल बना दिया है! वे अपने ऊपर होनेवाले इस सभ्यताभरे जुल्म—इस मीठे अत्याचारको देखें, अपनी स्थिति समझें, समाजकी स्थिति समझें और इस मायाजालसे मुक्त होकर सबको अपने चेतमें आ जानेकी चेतावनी दे दें और आगेसे इस पापको असम्भव बना दें।

सहशिक्षा हानिकर है और लड़के-लड़कियोंका अबाध मिलना-जुलना अत्यन्त बुरा है, इसका कुफल प्रत्यक्ष है। आये दिन ऐसी अवाञ्छनीय घटनाएँ होती रहती हैं, जो समाज तथा कुलके लिये कलंकरूप हैं तथा अधर्म तो हैं ही। इससे दूर रहना तथा भले लड़के-लड़कियोंको इसके विरुद्ध भी जोरोंसे आवाज उठानी चाहिये।

दलबंदियोंसे तथा गुटोंसे बड़ी हानि है, उनसे छात्र-समाज यथासाध्य अलग रहे। जहाँतक हो, भगवान्‌को मानें और रोज याद करें। कुल-धर्मका मान करें, माता-पिता, गुरु तथा श्रेष्ठोंका सम्मान करें। पातिव्रत्यके आदर्शकी पूजा करें। इन्द्रियसंयम तथा मनोनिग्रह करना सीखें, अनुशासन तथा सदाचारका पालन करें, जहाँतक बने सबके साथ सम्मान, प्रेम, हित तथा सत्यसे पूर्ण व्यवहार करें। सबका भला चाहें, भला करें और भला होते देखकर प्रसन्न हों।

दो महामन्त्र तथा उनका भाव सब लोग अपने हृदयोंमें भर लें तथा उनके अनुसार भावना तथा क्रिया करें—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

'धर्मका सार-सर्वस्व सुनो और उसे धारण करो। जो कुछ भी अपनेसे प्रतिकूल हो, दूसरोंके साथ वैसा बर्ताव कभी न करो।'

यही मनाओ कि 'सब जीव सुखी हों, सब तन-मनसे नीरोग हों, सब कल्याणों (मङ्गलका—भगवान्)का दर्शन करें और दुःखका भाग किसीको न मिले।'

इस प्रकार अपने जीवनको संयमपूर्ण, मङ्गलमय और सदाचारपरायण बनाकर इस लोकमें उपर्युक्त 'अभ्युदय'को प्राप्त करें और मानव-जीवनके चरम लक्ष्य 'निःश्रेयस' या मोक्षको प्राप्त करके—भगवत्प्राप्ति करके जीवनकी चरम सफलताको प्राप्त हों। यही पवित्र धर्मसम्पादन है बालकों, तरुणों तथा उनके अभिभावकों एवं राज्यके अधिकारी पुरुषोंको यही करना चाहिये। यही सबसे सादर प्रार्थना है।

साथ ही सरकारसे भी प्रार्थना है कि वह विशेष विचार करके भारतकी प्राचीन अध्यात्मप्रधान संस्कृतिकी रक्षा

करे। संस्कृतिका विनाश, 'स्व'पर अनास्था—यह बहुत बड़ी हानि है। 'स्वराज्य' प्राप्त करके भी यदि हमने 'स्व'को भुला दिया और खो दिया तो वस्तुतः हम हानिमें ही रहेंगे। अतएव अपनी पवित्र संस्कृतिकी रक्षाके लिये पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। सरकारके एक बहुत बड़े उच्चपदस्थ महानुभावने मुझसे कहा था कि 'आजकल पढ़े-लिखे लोगोंमें ऐसे पुरुष बहुत मिलते हैं, जो रामकी माता, भ्राता तथा पत्नीका नाम नहीं जानते, पाण्डवोंका नाम नहीं बता सकते आदि।' यह बड़ी दुःखद स्थिति है। जब अपने गौरव-जीवन पूर्वजोंका ही परिचय नहीं रहेगा, तब उनकी संस्कृतिसे तो सरोकार ही कैसे रहेगा। इस दिशामें सरकारके सम्मानित पुरुषोंको, साथ ही देशके प्रत्येक विचारशील नर-नारीको विचार तथा कर्तव्यका निश्चय करना चाहिये।

शिक्षा-सुधारकी भी बड़ी ही आवश्यकता है। शिक्षाके वास्तविक उद्देश्यका निर्धारण, शिक्षा-पद्धति* तथा परीक्षा-पद्धतिमें आमूल परिवर्तन तथा उसे अर्थकरी बनानेके साथ ही अध्यात्मपरक बनानेकी व्यवस्था, अध्यापकों, आचार्योंके पवित्र उच्च चरित्रका निर्माण, समस्त संस्थाओंमें मानव-धर्मकी अनिवार्य शिक्षा, संस्कृत भाषाके प्रचार-प्रसारकी व्यवस्था आदि ऐसे कार्य हैं, जिनपर अविलम्ब ध्यान देना तथा प्रयत्न करना चाहिये। दुःख है कि संस्कृतके जो विद्वान् पण्डित चले आ रहे हैं, उनके स्थानकी पूर्ति असम्भव हो गयी है। यही क्रम रहा तो कुछ वर्षों बाद दर्शनशास्त्रके तथा व्याकरणके ग्रन्थोंको लगानेवाले भी मिलेंगे या नहीं, इसमें सन्देह है। परीक्षा-पद्धतिके दोषसे यही दशा अंग्रेजीमें भी है। प्राचीन एण्ट्रेंस पास लोगोंमें जो योग्यता थी, वैसी आजके ग्रेजुएटमें नहीं मिलती। परीक्षाका व्यय भी घटना आवश्यक है। छुट्टियोंका कम किया जाना तथा पढ़ाईकी उम्रका घटाया जाना बड़ा ही आवश्यक है, इसमें धन तथा समयका बड़ा ही दुरुपयोग तथा व्यर्थ-व्यय होता है। धर्म-शिक्षापर भी विशेष ध्यान देना उचित है। 'सेक्यूलर'का अर्थ 'धर्मनिरपेक्ष' होना चाहिये, धर्महीन नहीं। व्यावहारिक क्षेत्रमें तो सरकारको ऐसी प्रजाके निर्माणकी आवश्यकता है, जो धर्म-सहिष्णु अवश्य हो, पर साथ ही धर्मपरायण भी हो। तभी मानव मानव रह सकेगा। इसके साथ ही गंदे चल-चित्रोंको रोकनेकी तुरंत व्यवस्था होनी चाहिये। इससे बहुत बड़ी नैतिक और आर्थिक हानि हो रही है। मेरी प्रार्थनापर ध्यान दिया जायगा तो मैं कृतज्ञ होऊँगा।

शिशुकी उन्नति राष्ट्रकी उन्नति है

(लेखक—श्री वाइ० एन० सुखथनकर महोदय)

कोई भी राष्ट्र, जो अपने बच्चोंके मानसिक, चारित्रिक और शारीरिक विकासकी उपेक्षा करता है, महान् होनेकी आशा नहीं कर सकता। बालक देशकी सम्पत्ति हैं। वे ही इसके भावी नागरिक हैं। यदि उनकी प्रगति ठीक रास्तेपर की जाती है तो देशकी प्रगति भी निश्चित है। स्वतन्त्र होनेके बाद भारतको आत्मविकासके लिये भव्य अवसर प्राप्त हुआ है। अब हमारा भाग्य हमारे हाथोंमें है। हमें अब विदेशी सत्ताके दबाव या परवशतासे भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं रह गयी है। इसलिये हमें इन अवसरोंसे अधिक से-अधिक लाभ उठाना चाहिये, क्योंकि ऐसे अवसर बराबर नहीं रहते।

भारतकी स्वतन्त्रता-प्राप्तिके कारणोंकी मीमांसासे यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांशतः यह स्वतन्त्र हुआ है असाधारण गुण तथा योग्यतावाले इने-गिने महापुरुषोंकी बदौलत। यह सत्य है कि उनके पीछे समस्त देश था और उन्होंने प्रेरणा देनेवाले महान् सिद्धान्तोंको सर्वसाधारण-तक पहुँचाने और हृदयंगम करानेमें कोई प्रयत्न बाकी नहीं छोड़ा। परंतु देशके कुछ क्षेत्रोंमें जो ह्रास हुआ है, आपसमें जो गहरी फूट बढ़ी है और जन-साधारण उन उच्च आदर्शोंको अपने दैनिक जीवनमें लानेमें जो अपेक्षाकृत

* पाठ्य-पुस्तकोंमें साम्प्रदायिक वैर बढ़ानेवाले, विलासिताके तथा खर्चीले जीवनके लिये उत्साहित करनेवाले, खुले शृङ्गारके, सदाचारविरुद्ध, माता-पिता-गुरुके प्रति अवज्ञा पैदा करनेवाले, मद्य-मांस खानेके लिये प्रोत्साहित करनेवाले तथा नास्तिकताका प्रसार करनेवाले प्रसङ्ग कदापि नहीं होने चाहिये।

विफल सिद्ध हुआ है, उससे यही प्रमाणित होता है कि ये आदर्श देशमें मिल नहीं सके थे ।

इसलिये यह नितान्त आवश्यक है कि हम सच्ची लगनके साथ आत्मसुधारकी ओर प्रवृत्त हों । सीखनेका सर्वोत्कृष्ट समय है बचपन और सर्वोत्कृष्ट स्थान है अपना घर या पाठशाला । मा-बाप, अभिभावक और शिक्षकके जीवनके दृष्टान्त ही सबसे बड़े शिक्षक हैं । इसलिये यदि हम इसके लिये तत्पर हैं कि हमारे शिशु और बालक-बालिकाएँ कुछ गुण सीखें और अपनायें तो गुरुजनोंद्वारा केवल उन गुणोंकी शिक्षा देनेसे काम न चलेगा, बल्कि उन्हें उन गुणोंका महत्त्व अपने जीवनमें उतारकर दिखाना पड़ेगा और तब वे बच्चोंके मनमें उनका प्रभाव डाल सकेंगे । इसी प्रकार तो राष्ट्र तरुणोंकी शिक्षा और सुधार करते समय अपनेमें भी पुनर्जीवन ला देता है ।

वे कौनसे गुण हैं, जो राष्ट्रकी उन्नतिके लिये नितान्त आवश्यक हैं ? उनका चुनाव बहुत सावधानीसे होना चाहिये। यह स्पष्ट है कि पश्चिमी देशोंमें आश्चर्यजनक भौतिक उन्नतिके होनेपर भी कुछ दोष या कमी कहीं जरूर है । नहीं तो अपना मतभेद सुलझानेके लिये उन्हें दो-दो बार महायुद्ध नहीं छेड़ना पड़ता, जिन महायुद्धोंने उनकी जन-संख्या घटा दी, उन्हें दरिद्र बना दिया और जिन्होंने विजेता देशोंको भी कोई शान्ति और सुख नहीं दिया । पूर्वके कुछ देशोंकी भी वही दुर्गति हुई, जिन्होंने उनके भौतिक-वादी दृष्टिकोणका अनुकरण करनेका प्रयत्न किया । इसलिये उनके दृष्टिकोण और तरीके समग्रतया ग्रहण करना हमारे लिये निरापद न होगा ।

अधिक अच्छा तो यह होगा कि हम अपने शास्त्रोंसे इस विषयमें पथनिर्देश प्राप्त करें । श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायके प्रारम्भिक तीन श्लोकोंमें २६ सद्गुणोंकी एक सूची दी गयी है, जिन्हें श्रीकृष्णने 'दैवीसम्पद्' कहा है । पाँचवें श्लोकमें आसुरी गुण गिनाये गये हैं । इन तामस गुणोंको उन्मूल करना चाहिये । ये कौन-से आसुरी गुण हैं ? दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, परुषता और अज्ञान । सात्त्विक गुण कौन-से हैं ? अभय, सत्त्व-संशुद्धि, ज्ञानयोगव्यवस्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, दया, अनासक्ति, मृदुता, ह्री, अचपलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह और अतिमानिताका अभाव ।

हम सभीको इस दैवी सम्पद्को अपनेमें बढ़ानेका यत्न करना चाहिये और हमारे बच्चोंको भी प्रारम्भसे ही इसे आत्मसात् करनेकी शिक्षा दी जानी चाहिये । यह कोई सरल कार्य नहीं है, न इन उपरिगणित आसुरी गुणोंको छोड़ देना ही बहुत सरल है । इसमें कठिन संघर्ष, निरन्तर अभ्यास, जागरूकता, साहस और धैर्य अपेक्षित हैं ।

कठिनाई होते हुए भी बच्चोंको इन दैवी गुणोंको अपनेमें धारण करनेकी शिक्षा देनी चाहिये, जिससे कि वे अपने-आप उनका अभ्यास कर सकें । केवल दिखानेके लिये उनका ग्रहण या अभ्यास न होना चाहिये । अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्थासे ही बच्चोंको उपर्युक्त श्लोक कण्ठस्थ करा देने चाहिये जिससे कि बार-बार दुहरानेसे उनके मनमें इन गुणों और इन गुणोंवाले व्यक्तियोंके प्रति आस्था गहरी होती जाय । कई-कई दिनोंतक लगातार इन गुणोंमेंसे अलग-अलग एक-एकका क्रमशः उनसे अभ्यास कराना चाहिये । निरन्तर अभ्यासका सुपरिणाम निश्चित है । इससे हमारे दैनिक जीवन, परस्पर व्यवहार और मानसिक दृष्टिकोणमें सत्परिवर्तन होना अवश्यम्भावी है । प्रवञ्चना, कलह और कायरता देशसे लुप्त हो जायँगी और उनके स्थानपर सत्य, सहिष्णुता और साहस अधिष्ठित होंगे । यह केवल व्यक्तियोंको ही यश और प्रतिष्ठा नहीं दिलायेगा, बल्कि समूचे देशको इससे यश और प्रतिष्ठा मिलेगी तथा भारतवर्ष विश्वमें अपने आर्जव और सत्यनिष्ठाके लिये प्रख्यात हो सकेगा ।

राम कहते ही पवित्र हो जाते हैं

स्वपच सबर खस जनम जड़ पाँवर कोल किरात । रामु कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात ॥

मूर्ख और पामर चाण्डाल, शबर, खस, यवन, कोल और किरात भी राम-राम कहते ही परम पवित्र और त्रिभुवनमें विख्यात हो जाते हैं ।

मानव-बालकका जन्म भगवत्प्राप्तिके लिये ही है

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी महाराज)

श्रीमद्भागवतमें भगवद्वचन हैं—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । १७)

यह मानवशरीर ईश्वरकी प्राप्तिका सर्वप्रथम साधन है । (शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्) जिस मनुष्यके खूब पुण्यकर्म किये हुए हों, उसीको यह शरीर सुगमतासे मिलता है; परंतु जिसके पुण्य नहीं किये हुए हैं और जिसके प्रतिबन्धकरूप पापोंका नाश नहीं हो गया, उसको यह शरीर कठिनतासे भी नहीं मिलता । जन्म-मरणरूपी संसारसागरसे तरनेके लिये यह एक अति अद्भुत नौका है । सद्गुरुके शरण होनेपर सद्गुरु स्वयं ही नौकाके केवट बन जाते हैं । और मैं (भगवान्) स्वयं अनुकूल पवन बनकर उस नौकाको शीघ्र ही पार पहुँचा देता हूँ । भगवान् कहते हैं कि मैं इतनी सब सुविधाएँ कर देता हूँ; इसपर भी जो मूर्ख मनुष्य विषयभोगोंमें ही रमता रहता है और मेरी प्राप्ति नहीं कर लेता, वह अपने ही हाथों अपना विनाश करता है—वह आत्महत्या करता है और इससे उसको अन्धतामिस्र लोककी ही प्राप्ति होती है । *

अतएव मानव-शिशुकी उत्पत्ति ही इस शरीरसे भगवान्की प्राप्तिके लिये ही होती है । भगवान्ने यदि मनुष्यशरीरको केवल भोग भोगनेके लिये ही बनाया होता तो वे इसमें बुद्धि देते ही नहीं; क्योंकि विषयभोगोंके भोगनेमें बुद्धिकी जरूरत नहीं होती । पशु बिना बुद्धिवाले होनेपर भी विषयभोग तो भोगते ही हैं, सो भी मनुष्यकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरहसे । मनुष्यको तो 'कल क्या खाऊँगा' इसकी चिन्ता है, जो है उससे अधिक प्राप्त करनेकी चिन्ता है, 'कहीं भोगोंका नाश हो गया तो फिर क्या होगा'—यह चिन्ता भी है; परंतु पशु तो निश्चिन्त होकर शरीरका निर्वाह करते हैं । अतएव मनुष्यशरीर विषयभोगोंके भोगनेके लिये कदापि नहीं है ।

ईश्वरने मनुष्यको बुद्धि इसीलिये दी है कि उससे वह सत्-असत्का, आत्मा-अनात्माका और नित्य-अनित्यका विवेक करके असत्, अनात्म और अनित्यका त्यागकर नित्य और सत् आत्मस्वरूपको प्राप्त कर सके । इस प्रकार बुद्धिका सदुपयोग करके मनुष्य नरसे नारायण हो सकता है । और वही मनुष्य बुद्धिका दुरुपयोग करनेपर दानव, पिशाच या राक्षस भी हो सकता है ।

जिस बुद्धिके द्वारा ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती थी (मनुष्यको बुद्धि मिली ही है ईश्वरकी प्राप्तिके लिये ही), उसी बुद्धिका विपरीत उपयोग करके वैज्ञानिकोंने 'अणु-बम'का निर्माण किया और असंख्य निरीह मनुष्योंकी हत्या कर डाली । अब भी अणु-बम अथवा उससे भी अधिक घातक बमका भय मनुष्यजातिके सिरपर मँडरा रहा है । वे इस बातका गर्व करते हैं कि ऐसे दस-बारह बमोंसे हम सारी पृथ्वीका नाश कर सकते हैं । अब बताइये, क्या ऐसे मनुष्योंको मानव कहा जा सकता है ? वे तो दानव या राक्षस ही नहीं, उससे भी अधिक किसी निकृष्ट नामके योग्य हैं । इस शरीरके छूटनेपर उन्हें नरककी घोर यन्त्रणा भोगनी पड़ेगी !

फिर, विषय-पदार्थोंकी प्राप्ति तो चौरासी लाख योनियोंमें बिना परिश्रम ही होती है और शरीरका निर्माण होनेके पहले ही उनका निर्माण हो चुकता है ।

मनुष्य-शरीरको 'पुरुष' कहा जाता है, और उसकी सार्थकता तो इन चारों पुरुषार्थोंको साध लेनेमें ही है । वे चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । इनमें बीचके दो—अर्थ और काम—तो जन्मके साथ ही प्रारब्धके

---

* असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥
(ईश० ३)

ऐसे देवदुर्लभ मानवशरीरको प्राप्त करके भी जो कामभोग-परायण लोग विषयोंका ही सेवन करते हैं और परमात्माकी प्राप्ति नहीं कर लेते, वे वास्तवमें आत्माकी हत्या करनेवाले हैं; इसलिये मृत्युके अनन्तर उनको कूकर-शूकर, कीट-पतंग या वृक्ष-पाषाण आदि शोक-संतापपूर्ण आसुरी योनियोंमें और भयानक नरकोंमें भटकना पड़ता है ।

अनुसार निश्चित हो जाते हैं। इनके लिये किसी प्रबल पुरुष-प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है ।

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः ॥

अवधूत दत्तात्रेयजी राजा यदुसे कहते हैं—'राजन् ! स्वर्ग और नरकमें विषय-सुख समान है। उसी प्रकार मनुष्ययोनि और इतर योनियोंमें भी समान है। इन्द्रको इन्द्राणीका सुख और शूकरको शूकरीका सुख, दोनों समान हैं। यह समझकर चतुर मनुष्य विषयभोग नहीं करता। किसी भी देहधारीको दुःखकी इच्छा नहीं होती, तो भी प्रारब्धानुसार सुख-दुःख दोनों प्राप्त होते ही हैं। अतः सुखके लिये उद्यम करना व्यर्थ है। इसलिये विषय-लालसा छोड़कर परमार्थकी प्राप्ति कर लेनी चाहिये।

पुरुषार्थ करना तो है विषयोंका प्रलोभन छोड़कर, धर्मके आचरणद्वारा, चरम पुरुषार्थ मोक्षको प्राप्त करनेके लिये; परंतु मनुष्य मोहवश चलता है—उलटे ही रास्ते। जिनके लिये श्रमकी आवश्यकता नहीं है, उन विषयोंके भोगके लिये तो जीवनभर मेहनत करता रहता है, पर मिलता है उतना ही, जितना प्रारब्धमें होता है। और ईश्वरका भजन करके ईश्वरकी प्राप्ति कर लेनेके लिये ही मनुष्यशरीर मिला है; परंतु उसकी ओर मनुष्यका लक्ष्य ही नहीं है। यह मनुष्यका घोर अज्ञान नहीं तो और क्या है ?

मानव-शिशु जब माताके उदरमें रहता है, तब उसे अपने स्वरूपका ज्ञान होता है। इससे वह निश्चय करता है और प्रभुको वचन भी देता है कि 'हे भगवन् ! अब इस कैदखानेसे छूटनेपर तो मैं जीवनभर तुम्हारे भजनके सिवा और कुछ भी नहीं करूँगा, जिससे फिर यह गर्भका दुःख न भोगना पड़े; परंतु बाहर आते ही स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है। अतएव वह ईश्वरकी मायामें डूबा जाता है। इन त्रिगुणात्मक जगत्के भोग-पदार्थोंको देखकर जीव उनमें उलझा जाता है और अनेक जन्मोंकी वासनाके कारण विषयभोगमें ही रमा रहता है। इसीसे भगवान्, जो तीनों गुणोंसे अतीत हैं, उनकी प्राप्ति कर लेनेकी बात उसको दीखती ही नहीं। भगवान् अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
(गीता ७। १३)

'गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस, तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सारा जगत् मोहित हो रहा है। इसीलिये इन तीन गुणोंसे परे मुझ अविनाशीको वह नहीं जानता।'

अब गर्भोपनिषद्का संक्षेपमें सार समझकर लेख समाप्त करेंगे।

अथ नवमे मासि सर्वलक्षणज्ञानकरणसम्पूर्णो भवति। पूर्वजातीः स्मरति। शुभाशुभं च कर्म विन्दति।

अब नवें महीनेमें वह ज्ञानेन्द्रिय आदि सभी लक्षणोंसे पूर्ण हो जाता है। तब वह पूर्वजन्मका स्मरण करता है। उसके शुभाशुभ कर्म भी उसके सामने आ जाते हैं।

गत जन्मोंकी बातें याद करके वह कभी पश्चात्ताप करता है तो कभी प्रभुसे प्रार्थना करता है—

नाना योनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया।
आहारा विविधा भुक्ताः पीताश्च विविधाः स्तनाः॥

मैंने सहस्रों पूर्वजन्मोंको देखा, उनमें नाना प्रकारके भोजन किये, नाना प्रकारके—नाना योनियोंके स्तनोंको पान किया।

जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः।
अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम् ॥
यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्।
एकाकी तेन दह्यामि गतास्ते फलभोगिनः ॥

मैं बारंबार जन्मा, मृत्युको प्राप्त हुआ। अपने परिवार-वालोंके लिये मैंने जो शुभाशुभ कर्म किये, उनको सोचकर आज मैं यहाँ अकेला ही दग्ध हो रहा हूँ। उनके भोगोंको भोगनेवाले तो चले गये। मैं यहाँ दुःखके समुद्रमें पड़ा कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ।

यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत् प्रपद्ये महेश्वरम्।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम् ॥

यदि माताकी योनिसे मैं छूट जाऊँगा—इस गर्भसे बाहर निकल जाऊँगा तो फिर मैं समस्त अशुभका नाश करनेवाले और मुक्तिरूप फलको प्रदान करनेवाले महेश्वर भगवान्के चरणोंका ही आश्रय लूँगा—उन्हींके शरण हो जाऊँगा।

अथ योनिद्वारं सम्प्राप्तो यन्त्रेणापीड्यमानो महता दुःखेन जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्टः। तदा न स्मरति जन्ममरणानि न च कर्म शुभाशुभम्।

पश्चात् योनिद्वारको प्राप्त होकर योनिरूप यन्त्रमें दबाया जाकर वह बड़े कष्टसे जन्म ग्रहण करता है। बाहर निकलते ही वैष्णवी वायु (माया) के स्पर्शसे वह अपने

पिछले जन्म और मृत्युओंको भूल जाता है और शुभाशुभ कर्म भी उसके सामनेसे हट जाते हैं।

इस प्रकार जीव ईश्वरको जो वचन देकर आया था, उसे भी भूल जाता है और अनेक जन्मोंकी वासनाकी प्रेरणाके वशमें होकर विषयोंके लालचमें फँस जाता है। यों ईश्वरका भजन करनेके लिये ही मानवशिशुका जन्म होता है, इस बातको वह भूल जाता है और फिरसे 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्'के संसृति-चक्रमें चढ़ जाता है।

इस प्रसङ्गपर श्रुति भगवती कहती है—

लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यस्त्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥

महान् पुण्यके प्रतापसे देवदुर्लभ मनुष्य-जन्म मिला, उसमें फिर श्रुतियोंके रहस्यको समझनेके अधिकारवाला पुरुषशरीर प्राप्त हुआ। इतनेपर भी जो मूर्खबुद्धि अपनी मुक्तिके लिये यत्न नहीं करता, वह आत्महत्यारा है। जिस शरीरसे परमपदकी प्राप्ति करनी चाहिये थी, उसका विषय-भोगमें उपयोग किया। यह अपनी मूर्खतासे अपने ही लिये कब्र खोदना है।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने भी कहा है—

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंद मति आत्माहन गति जाइ॥

प्रभु सबको सन्मति और सामर्थ्य प्रदान करें, यही प्रार्थना है।

मानव-जीवनका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीउमेशजी मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०, काव्यतीर्थ)

यह संसार अनादि है ऐसा स्वीकार करना ही पड़ता है। अन्यथा संसारकी अनेक जटिल समस्याएँ उलझन ही-में पड़ी रह जायँगी और जीवनके पहलू अन्धकारके गर्तमें छिपे रहेंगे। इस अनादित्वसे कर्मवादका सम्बन्ध भी अनादि है। यह कर्मचक्रका ही निरवच्छिन्न फल है कि प्रत्येक जीवको अपने-अपने कर्मके अनुसार एक योनिसे दूसरी योनिमें भ्रमण करते रहना पड़ता है और जन्म तथा मरणके क्लेशोंसे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि जीवोंका जीवन दुःखमय है। जीवात्मा जबतक अपने औपाधिक रूपको छोड़कर 'स्वरूप' का ग्रहण नहीं करता है, तबतक उसे दुःखसे छुटकारा नहीं मिलता है।

दुःखसे साधारणतया छुटकारा न मिले, किंतु यह तो मानी हुई बात है कि किसी भी प्राणीको दुःख प्रिय नहीं है। यदि जीव किसी वस्तुसे घृणा करता है और भय पाता है तो वह एकमात्र वस्तु है 'दुःख'। ऐसे तो सभी प्रकारके दुःख क्लेशप्रद हैं और उससे छुटकारा पाना सभीका परम उद्देश्य है, किंतु सबसे विशेष दुःख है 'मरण' में। यही कारण है कि दैत्य, दानव, राक्षस आदि भयंकर जीव भी इस 'मरणत्रास'से दुखी रहते हैं और प्रत्येक इससे बचनेके लिये चेष्टा करता है; परंतु इससे कोई भी जीव बच नहीं सकता।

संसारमें जो कोई क्रिया होती है, सभी दुःखसे छुटकारा पानेके लिये ही की जाती है। यदि संसारमें दुःख न होता तो प्रायः किसी प्रकारकी क्रिया इस संसारमें देखनेको नहीं आती। माताके गर्भसे निकलते ही शिशुकी क्रन्दनरूप क्रिया बाह्यजगत्‌के दुःखोंसे प्रतिहत होनेके कारण ही होती है। बाह्यजगत्‌के तीक्ष्ण प्रकाश, तीव्र वायु, कठोर स्पर्श आदिको उस कोमल शिशुकी इन्द्रियाँ सहन नहीं कर सकतीं, अतएव उनसे आघात पाकर शिशु क्रन्दन करता है। अपने माता या धात्रीकी अँगुलियोंका कठोर स्पर्श भी उसे दुःख देता है। अतः उससे भी वह छुटकारा चाहता है। शिशुको भूखसे दुःख होता है, अतः भूखरूपी दुःखसे विमुक्तिके लिये उसमें रोदन-क्रिया देख पड़ती है। किसी प्रकार बालकोंकी इच्छाका जब प्रतिघात होता है, तब वे उस दुःखसे बचनेके लिये रोते हैं या उपद्रव करते हैं अथवा किसी अन्य प्रकारके कार्य करते हैं, जिसके करनेसे उनके इच्छाप्रतिघातरूप दुःखका नाश हो। माता या अपने प्रिय लोगोंको अपने समीप देखकर, जब वे उन्हें गोदमें नहीं उठा लेते हैं और न उचित प्यार करते

हैं, तब वे बालक अपना अपमान समझते हैं या उनके प्रेमकी मात्रामें कुछ ह्रास जानकर दुखी होकर रोने लगते हैं। ये सब क्रियाएँ केवल दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये की जाती हैं।

मस्तकमें वेदनाका अनुभव करनेसे उससे मुक्ति पानेकी लोग चेष्टा करते हैं, वैद्यके पास जाते हैं और ओषधियोंके प्रयोगसे दुःखनाश होनेपर उस प्रयत्नसे निवृत्त होते हैं; किंतु इन प्रयत्नोंसे शारीरिक दुःखोंका नाश सदाके लिये तो होता ही नहीं। वही दुःख पुनः-पुनः उसी जीवको होता है और उसके नाशके लिये पुनः-पुनः उपाय किये जाते हैं। इस प्रकारकी चेष्टाएँ जीवनभर चलती ही रहती हैं और जबतक जीव अपने औपाधिक आवरणोंसे सदाके लिये मुक्त नहीं होता, तबतक वह दुःखसे छुटकारा नहीं पाता, अतएव तबतक वह दुःखनाशके लिये की जानेवाली क्रियाओंसे भी विरत नहीं हो सकता। इस प्रकार जीवको तबतक जीवन-मरणरूप भवचक्रसे छुटकारा नहीं मिलता, जबतक वह दुःख-नाशकी, आत्यन्तिक सुखकी स्थितिको सदाके लिये नहीं पा लेता।

उपर्युक्त बातोंसे यह स्पष्ट है कि दुःखका आत्यन्तिक विनाश ही जीवनका चरम उद्देश्य है। अब यह विचार करना आवश्यक है कि दुःखका आत्यन्तिक विनाश किस प्रकार होता है। ऋषि-मुनियोंका साक्षात् अनुभव है, शास्त्रका कथन है तथा तर्कद्वारा सिद्ध है कि एकमात्र भगवान् ही आनन्दमय या आनन्दस्वरूप हैं। वास्तवमें भगवान् और आनन्द दो वस्तु नहीं हैं। एक ही सत्यस्वरूपके दो नाममात्र हैं। इसी आनन्दको हम चरम सुख, आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति, ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर आदि विभिन्न शब्दोंसे समय-समयपर व्यक्त करते हैं। जगत्में जो कुछ भी कहीं आनन्द, मधुर, प्रकाश, सुख, सौन्दर्य, लावण्य आदि देख पड़ते हैं, वे सब उसी एकमात्र आनन्दका आभास है। जीवके अन्तःकरणमें भी जो कभी कुछ आनन्दका, संतोषका, शान्तिका भान होता है, वह वास्तवमें उसी आनन्दरूप भगवान्का आभास है। सुषुप्तिकी अवस्थामें प्रतिदिन जीवात्माको उस आनन्दके साक्षात् अनुभव करनेका अवसर मिलता है; किंतु अज्ञानका आवरण उस आनन्दके साथ जीवका साक्षात्कार होने नहीं देता और जीव पुनः दुःखमय जीवनमें भ्रमण करने लगता है। इसी आनन्दका साक्षात्कार करनेसे दुःखका विनाश होता है, अन्यथा नहीं।

जीवमात्रका उद्देश्य है उस आनन्दमें अपनेको सदाके लिये लीन कर देना, जिससे पुनः इस दुःखमय संसारमें आना न पड़े। अब यहाँ विचार करना है कि इसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? भारतीय संस्कृति और भारतवासियोंका जीवन एकमात्र उपर्युक्त भावनासे आविष्ट होकर कर्मक्षेत्रमें अग्रसर होता है। दुःखका होना भी जीवके कर्मोंका ही फल है। और जबतक उन कर्मोंके फलका भोग नहीं सम्पन्न होगा, तबतक दुःखसे छुटकारा भी नहीं मिल सकता। अतएव इस कर्मक्षेत्र संसारमें आकर मनुष्यको भोगके द्वारा कर्मक्षय तथा वर्णाश्रमानुसार शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना और सब कर्मोंको भगवान्के अर्पण करते हुए जीवनके चरम लक्ष्य परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें सदैव अग्रसर होते रहना अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकारके जीवनके लिये बालकोंको ब्रह्मचर्यके पालन करनेका तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शील, संतोष, त्याग आदि सद्गुणोंका अभ्यास जीवनके आरम्भसे ही करना परम आवश्यक माना गया है ('यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति')। सत्य आदि सद्गुणोंका वास्तविक स्वरूप तो भगवान् ही हैं। अतएव जो जितना ही इन सद्गुणोंके साथ तादात्म्य भाव बना लेता है, वह उतना ही अधिक भगवत्साक्षात्कारमें अग्रसर हो जाता है। भगवान्के किसी भी दिव्य गुणके साथ यदि तादात्म्य हो जाय तो उसे शीघ्र भगवत्प्राप्ति हो जायगी। यही जीवनका चरम लक्ष्य है, परंतु हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि भगवान्के साक्षात्कारके लिये हमें उसके योग्य अवश्य बनना पड़ेगा। अन्यथा बाहरी प्रयत्नोंसे भगवत्प्राप्ति नहीं होगी। अतएव उस परम पवित्र भगवत्स्वरूपकी उपलब्धिके लिये पहले शरीरशुद्धि, इन्द्रियशुद्धि, अन्तःकरणशुद्धिके द्वारा समस्त अङ्गोंको पवित्र, भगवान्के मिलनेके योग्य बना लेना होगा। भारतवासियोंको सत्य आदिका जो सदुपदेश आरम्भसे ही गुरुजन देते हैं, वे इसी लक्ष्यको सामने रखकर देते हैं। उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट है कि इस संसारमें प्रवेश करनेके साथ-साथ जीवपर दुःखका आक्रमण होता है और उस दुःखसे प्रत्येक प्राणी, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, सभी घृणा करते हैं और उससे छुटकारा पानेके लिये ही दिन-रात अनवच्छिन्नरूपमें चेष्टा करते रहते हैं। इन चेष्टाओंके लिये कोई भी किसी प्रकारका उपदेश नहीं देता और न साधारण रूपमें कोई किसीसे पूछता ही है; परंतु दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्तिकी ये चेष्टाएँ एक प्रकारसे जीवका स्वाभाविक धर्म है। इसलिये अपनी-अपनी समझके अनुसार सभी इसमें

बाल-आग्रह
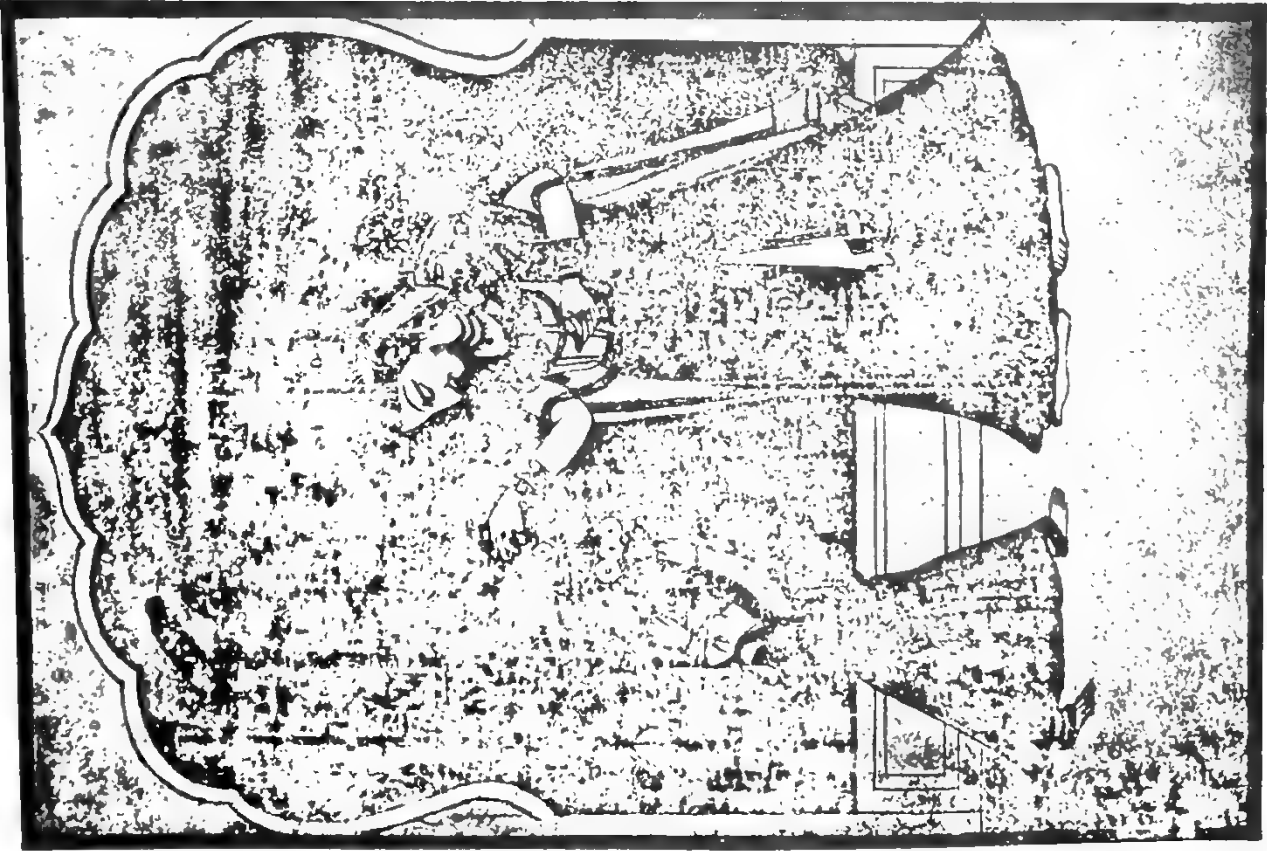
पहाड़ी १८वीं शती] [भारत-कला-भवन

ऊखल-बन्धन
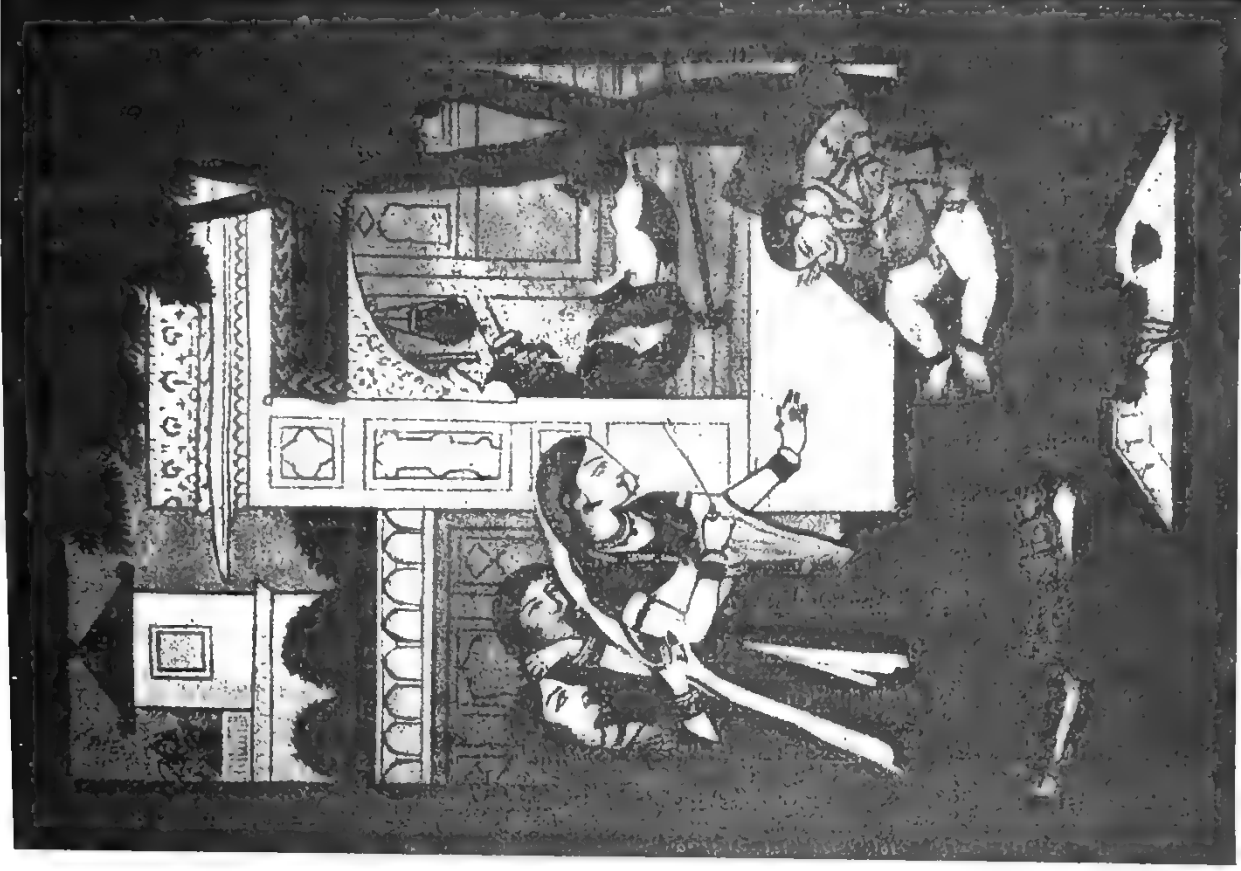
पहाड़ी १८वीं शती] [भारत-कला-भवन

लगे रहते हैं; परंतु शास्त्र तथा महात्माओंके सदुपदेशके बिना जीवको इसके लिये उचित तथा सरल मार्गकी प्राप्ति नहीं होती और वह भूले-भटकेकी तरह एक जन्मसे दूसरे जन्मकी ओर अग्रसर होता रहता है। इसलिये महात्माओंके, गुरुजनों-के उपदेश आवश्यक होते हैं और इन उपदेशोंको ग्रहण करनेके लिये जीवमें श्रद्धा, विश्वास तथा भक्तिकी अत्यन्त आवश्यकता है। श्रद्धा, विश्वास तथा भक्तिके बिना न तो सच्चे गुरुजन ही मिलते हैं, न सदुपदेशकी ही प्राप्ति होती है और न भगवत्प्राप्तिका यथार्थ मार्ग ही मिलता है।

प्राचीन कालमें भारतवर्षमें उक्त प्रकारके सदुपदेशके लिये अनेकों साधन थे, गाँव-गाँवमें सद्विद्वानोंके द्वारा पुराणोंकी कथा होती थी, संस्कृतविद्याका प्रचार किया जाता था और हमारे बालक संस्कृतविद्याको ही यथार्थ विद्या समझते थे। उसके प्रति उनकी पूर्ण श्रद्धा थी तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पुराणोंको सुनकर प्राचीन कथाओंसे वे सदुपदेश ग्रहणकर अपने जीवनको लक्ष्यकी ओर अनायास अग्रसर करनेमें समर्थ होते थे। उनपर पाश्चात्य जीवनका प्रभाव नहीं था और न उनका जीवन आजकलके समान दुविधामय और दुःखमय ही था। इस समय इन साधनोंका सर्वथा लोप-सा हो गया है। यही कारण है कि आजकलके दुःखमें फँसे हुए तरुण उससे छुटकारा पानेकी चेष्टा करते रहनेपर भी समुचित मार्गको न जानकर भटकते ही रह जाते हैं और जीवनके चरम लक्ष्यसे और भी अधिक दूर चले जाते हैं!

भगवान् तो सभीके हृदयमें हैं। जो जितना उनके अधिक निकट होता है, वह उतना ही अधिक सुखी होता है, हमें अन्तर्दृष्टि करनी चाहिये। इन्द्रियोंको वशमें कर उन्हें हृदयमें स्थित उन भगवान्के साथ सम्बन्ध स्थापित करनेमें लगाना आवश्यक है, जिनकी प्राप्तिसे जीवनके चरम लक्ष्यकी प्राप्ति होती है। फिर न तो कोई गन्तव्य स्थान रह जाता है और न कोई प्राप्ति-योग्य कल्याणप्रद वस्तु ही। वस्तुतः उसी आनन्दसन्दोहमें सदाके लिये लीन होकर मानव-जीवनको सफल बनाना ही जीवनका चरम उद्देश्य है।

हमारे बालकोंके हृदय अत्यन्त कोमल हैं। वे भारतवर्ष-के जलवायुसे बने हुए हैं। यहींकी सद्भावनाओंसे स्वाभाविक रूपमें उनके हृदय अनुप्राणित हैं। बाह्य भोगभूमिके विलासोंके आघातसे वे अभी भी सर्वथा कठोर नहीं हो गये हैं। उनमें ऋषि-मुनियोंका परिशुद्ध रक्त निरवच्छिन्न धारामें बह रहा है। उनमें सन्मार्ग प्राप्त करनेकी स्वाभाविक इच्छा सदा रहती है। ऐसी स्थितिमें गुरुजनोंका प्रधान कर्तव्य है कि वे उन्हें जीवनके चरम लक्ष्यको बतलाने तथा उसकी ओर अग्रसर करानेकी चेष्टा करें, भगवत्साक्षात्कारका सरल और सुनिश्चित मार्ग उन्हें बतावें तथा उनके साथ-साथ ही अपने जीवनको भी सफल करें। यही एक साधन है जिसके द्वारा शान्ति, सुख और आनन्दकी प्राप्ति हो सकती है, जिसके बिना जीव सन्मार्गसे भ्रष्ट होकर उन्मत्तकी भाँति एक योनिसे दूसरी योनिमें भ्रमण करता हुआ सदा दुःखमें निमग्न रहता है। बालक-अवस्थाके संस्कार ही आगे चलकर जीवनका स्वरूप बन जाते हैं। बालकोंके हृदयमें सहज ही किसी उपदेश-का असर होता है अतएव सदुपदेश देनेके लिये, सन्मार्गमें प्रवेश करानेके लिये, सफलताके मार्गमें अग्रसर करानेके लिये, भगवान्की कृपा प्राप्त करानेके लिये एवं सच्चे आनन्दका साक्षात्कार सुगम रीतिसे करानेके लिये अधिकारी गुरुजनोंको चाहिये कि अपने पुत्रों, शिष्यों तथा देशके अन्य बालकोंको तैयार करें और अपने उज्ज्वलतम आचरणों, जीवनके सच्चे आदर्शों, क्रियात्मक सदुपदेशों, भक्तिके मूर्तिमान् उदाहरणोंसे उनमें ऐसी शक्ति भर दें कि उनका जीवन पवित्र, संयमी तथा श्रद्धा-भक्तिसे पूर्ण होकर लड़कपनसे ही भगवान्की ओर मुड़ जाय। बालक-अवस्था ही ऐसी अवस्था है जिसमें विशेष परिश्रमके बिना ही वस्तुका ग्रहण हो सकता है; इस अवस्थामें न अश्रद्धा है, न कुतर्क है और न किसी मतका आग्रह ही है। अतएव इसी अवस्थाको सुरक्षित समझकर बालकोंको मानव-जीवनके लक्ष्य परम और चरम आनन्दकी प्राप्तिके सन्मार्गमें लगानेका प्रयत्न प्रत्येक मनुष्यको करना चाहिये। इस अवस्थाके संस्कार और अभ्यास आगे आनेवाले दुर्गुणोंसे बालकको स्वयं सुरक्षित रक्खेंगे और अनायास ही उन्हें भगवत्प्राप्तिके योग्य बना देंगे।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

विश्वाससे ही शान्ति

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु। रामकृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥

बिना विश्वासके भक्ति नहीं होती, भक्तिके बिना श्रीरामजी पिघलते नहीं और श्रीरामजीकी कृपा बिना जीव स्वप्नमें भी शान्ति नहीं पाता।

बालक भगवत्स्वरूप हैं

(एक महात्माका प्रसाद)

बालक मानव-समाजकी सम्पत्ति हैं। उनके सुरक्षित तथा विकसित होनेसे ही समाजका विकास हो सकता है। उनके सुधारके लिये अभिभावकों तथा अध्यापकोंके सुधारकी अत्यन्त आवश्यकता है; क्योंकि बालक जैसा देखते हैं, वैसा ही बन जाते हैं। बड़े ही खेदकी बात तो यह है कि आज इस बातपर यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि वर्तमान युवक और युवतियाँ मनमानी करने लगे हैं; क्योंकि उन्हें बाल्यकालमें जो देखनेको मिलना चाहिये वह नहीं मिला। बालक समझानेसे नहीं बदलते। वे तो जैसा देखते हैं, वैसे ही बन जाते हैं। बालकोंमें स्वभावसे ही सचाईकी खोज तथा क्रियाशीलता होती है। यदि उन्हें बुराई देखनेको न मिले और उनकी प्राप्त शक्तिको सुरक्षित रक्खा जाय तो वे बड़ी ही सुगमता-पूर्वक अपने लक्ष्यतक पहुँच सकते हैं।

प्रकृतिकी गोदमें तो बालक स्वभावसे ही सरल, ईमानदार, निर्भय एवं सहृदय होता है, पर उस बेचारेके कोमल चित्तपर अनेक प्रकारके लालच तथा भयका बोझा अभिभावकों तथा अध्यापकोंद्वारा लाद दिया जाता है। बालकोंमें उत्पन्न हुए प्रश्नोंका उत्तर न देकर उनकी समझको दबा दिया जाता है। इतना ही नहीं, अपने दूषित स्वभावसे उनको ऐसा दृश्य दिखा देते हैं जिससे उनमें झूठ, कपट तथा दम्भ आ जाता है। उदाहरणार्थ—एक बालिका जिसकी आयु लगभग दो वर्षकी थी, उसके अभिभावकने उसकी रुचिके विपरीत बलपूर्वक गोदीमें लेकर ठंडे पानीसे स्नान करा दिया। बालिका उस समय तो थोड़ी देर रोकर चुप हो गयी, पर उस घटनाका प्रभाव उसके मनपर ऐसा पड़ा कि लगभग दो वर्षके बाद वही व्यक्ति, जिसने उसे उसकी रुचिके विरुद्ध ठंडे पानीसे स्नान करा दिया था, जब उसे मिला तो उस व्यक्तिको देखते ही उसने सबसे प्रथम यह झूठी बात अपनी तोतली भाषामें कही कि 'मैं इन्नू (स्नान) कर आयी हूँ' यद्यपि बालिकाने उस समय स्नान नहीं किया था। इस झूठको उसे उसी भयने सिखाया जो उसे दो वर्षकी आयुमें मिला था। उस बालिकाके मनसे भय निकालनेके लिये उसे एक योग्य शिक्षककी देख-भालमें रख दिया गया। शिक्षक महोदयने उसे बड़े ही स्नेहपूर्वक तैरना सिखाया। बालिकाने लगभग दस वर्षकी आयुमें काशी नगरकी गङ्गा भी तैरकर पार की। पर इतने प्रयत्नके होते हुए भी उसका भय पूर्णरूपसे नहीं निकला। अब भी वह तैरते समय कुछ-न-कुछ भयभीत हो ही जाती है। यह घटना जिसके द्वारा हुई, उसीके कथनानुसार लिखायी गयी है। अब पाठक ही सोचें कि बालिकाके भीतरसे थोड़ा-सा भय निकालनेके लिये उसके अभिभावकोंको कितना प्रयत्न करना पड़ रहा है। अतएव अभिभावकोंको इस बातका विशेष ध्यान रखना चाहिये कि बालकोंके मनपर भयका प्रभाव न हो। ऐसा होनेपर भयके कारण जो बुराइयाँ आ जाती हैं, उनसे उनकी रक्षा हो सकती है।

बालकका सुधार वही कर सकता है, जो मनका सुधार कर सकता है। इसी कारण प्राचीन कालमें बालकोंको उन्हीं लोगोंकी देखभालमें रक्खा जाता था, जो मन-इन्द्रियोंको जीत-कर सेवा तथा सत्यकी खोजमें एवं भगवत्-चिन्तनमें लगे रहते थे; किंतु आज तो दुर्भाग्यवश बालकोंको मोहयुक्त माता-पिताकी गोदमें अथवा बिगड़े हुए नौकरोंकी गोदमें ही पोषण तथा शिक्षण मिलता है। मोहकी गोदमें न्याय और नौकरोंकी गोदमें यथेष्ट स्नेह नहीं मिलता; न्याय न मिलनेसे बालकमें बेईमानी और स्नेह न मिलनेके कारण हृदयहीनता आ जाती है जो सभी दोषोंका मूल है। जबतक बाल-मन्दिरद्वारा बच्चोंको मोहयुक्त माता-पिता तथा नौकरोंकी गोदसे मुक्त न कर दिया जायगा, तबतक वे ईमानदार एवं हृदयशील न हो सकेंगे।

मन और बालक दोनोंके स्वभावमें समानता है। अतः जो लोग मनको शुद्ध करनेके लिये प्रयत्नशील हैं, वे ही बालकोंका यथेष्ट पोषण तथा शिक्षण कर सकते हैं। इसी सिद्धान्तके आधारपर हिंदू-संस्कृतिमें वनस्थोंके द्वारा ही बालशिक्षाका विधान बना दिया गया था, पर अब तो वह प्रथा ही मिट गयी है। आज तो बालकोंका पोषण तथा शिक्षण सिक्केपर ही निर्भर है, जिससे शिक्षित होनेपर भी प्राणी अर्थके पीछे दौड़ता है। ऐसी दशामें भौतिकवादके आक्रमणों एवं छल-कपटसे प्राणी बचा रहे, यह असम्भव-सा हो गया है। मनके सुधारके साथ-साथ ही बालकोंका सुधार करना होगा अर्थात् स्वयं साधक बनकर ही बालकोंकी यथेष्ट

सेवा की जा सकती है। बालकोंकी सेवा ही मानव-समाजकी सच्ची सेवा है। जिस देश, जाति एवं समाजके बालकोंका पोषण तथा शिक्षण विधिवत् नहीं किया जाता, वह देश, जाति तथा समाज कभी ऊँचा नहीं उठ सकता। यही कारण है कि आज अनेक प्रकारके सुधार किये जाते हैं, पर परिणाम विपरीत ही देखनेमें आता है।

बालकोंका शिक्षण तथा पोषण विधिवत् हो, इसके लिये जन्म देनेवाले माता-पिताकी अपेक्षा अर्थ तथा कामसे रहित धर्मके माता-पिताओंकी परम आवश्यकता है; क्योंकि जितेन्द्रियता तथा संयमपूर्वक ही बच्चोंका यथेष्ट शिक्षण तथा पोषण हो सकता है। जबसे बालकोंकी शिक्षाका दायित्व केवल जन्म देनेवाले माता-पितापर ही निर्भर हो गया है, तबसे अर्थका महत्त्व बढ़ गया है, जिसके कारण प्राणीका मन अर्थलोलुपता तथा जडतामें आबद्ध हो गया है। प्रत्येक माता-पिताके मनमें बहुधा यही इच्छा बनी रहती है कि संतानके पोषण तथा शिक्षणके लिये अधिक-से-अधिक सम्पत्ति एकत्रित कर ली जाय। उसके लिये जो नहीं करना चाहिये, वह भी वे करने लगते हैं। यद्यपि बालक समाजकी विभूति है, उसके शिक्षण और पोषणका दायित्व समाजपर है; पर श्रम, संयम, सदाचार तथा विवेकके द्वारा बालकोंकी सेवा करनेके लिये मानव अपने जीवनका विभाजन नहीं करता। केवल दानवीर बनकर बड़े-बड़े विद्यालय खोलता है। उसका परिणाम बालकोंके मनपर केवल धनकी महत्ताका स्थापन ही होता है। अतः विद्यालयसे निकलते ही बालक धन कमानेमें लग जाता है। उसे यह कभी देखनेको ही नहीं मिला कि सच्चरित्रता, श्रम एवं विवेकके द्वारा भी किसीने सेवा की है। वह तो समझता है कि सम्पत्ति ही पोषण और शिक्षणकी जननी है। इसी प्रमादका फल यह हुआ है कि आज बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ता, इंजीनियर, राजनीतिज्ञ एवं लेखक अपनेको अर्थके बदलेमें बेचकर अपना और समाजका ह्रास ही कर रहे हैं।

अच्छे बालक ही अच्छे मानव हो सकते हैं। अतः बालकोंकी उचित सेवा करनेके लिये जनता तथा राष्ट्र एवं सुधारकोंको विशेष ध्यान देना चाहिये। जनताको चाहिये कि जहाँ-जहाँ सरकार स्कूल खोले, वहाँ-वहाँ वह बाल-मन्दिर बनाये, जिनमें शरीरद्वारा चरित्रबलसे एवं मनोविज्ञानके द्वारा बालकोंकी यथेष्ट सेवासे जीवन देनेवाले ऐसे साधक हों, जो अर्थ-कामसे रहित निष्काम सेवा एवं भगवत्-चिन्तनमें तत्पर हों। जब बालक समता, न्याय, प्रेम एवं आस्तिक जीवन देखेंगे, तब वे स्वयं वैसे ही बन जायँगे। लगभग छः घंटे स्कूलमें विज्ञान एवं भाषा आदिकी शिक्षा प्राप्तकर लगभग अठारह घंटे ऐसे साधकोंकी देख-रेखमें, जिन्होंने अपना निर्माण किया है,—रहकर सदाचार, संयम, विवेक एवं चरित्रबल प्राप्त करेंगे। फिर वे किसी पूँजीवादी एवं राष्ट्रके हाथमें अपनेको बेचकर, जो नहीं करना चाहिये, उसमें प्रवृत्त कदापि न होंगे। जैसा कि उदाहरणार्थ—अणुबम बनानेवाले विज्ञानवेत्ताने अपनेको अमेरिकाके हाथ बेचकर उसका दुरुपयोग कराया। इतना ही नहीं, अनेकों विज्ञानवेत्ताओंने पूँजीवादियोंके हाथके खिलौने बनकर अर्थलोलुपताके कारण अनेक वस्तुएँ ऐसी बनायीं, जिनसे विलासिता तथा अनेक प्रकारके रोगोंकी वृद्धि हुई, जो समाजके लिये सर्वथा अहितकर है। यह भूल उन बेचारोंसे इसी कारण हुई कि शिक्षाकालमें उन्हें संयम, सदाचार तथा विवेक देखनेको नहीं मिला था, जो वास्तवमें मानवका सर्वस्व है। यह सभी जानते हैं कि विवेकके बिना निर्मोहता, अनुराग एवं निर्लोभता आदि दिव्य गुण उत्पन्न ही नहीं होते, जो लक्ष्य-प्राप्तिके मुख्य साधन हैं और संयम-सदाचारके बिना व्यवहार-शुद्धि सम्भव नहीं है, जो समाजके विकासमें मुख्य हेतु है। अतः लक्ष्य-प्राप्ति तथा सुन्दर समाजके निर्माणके लिये विवेक एवं संयमयुक्त मानवकी परम आवश्यकता है।

भगवद्बुद्धिसे बालकोंकी सेवा करनेपर भक्तोंको 'भगवान्' और विवेकके द्वारा बालकोंकी सेवा करनेसे जिज्ञासुओंको 'तत्त्वज्ञान' स्वतः प्राप्त होता है। कारण कि, मन और बालक दोनोंमें स्वभावकी एकता है। अतः संयम, सदाचार एवं विवेकके द्वारा बालकोंकी सेवा करनेसे ही अपना तथा समाजका हित हो सकता है। इस दृष्टिसे बालकोंकी सेवा ही समाजकी तथा अपनी सेवा है। बालकोंकी सेवाके द्वारा जितनी सुगमतापूर्वक सरलता आदि गुण आ जाते हैं और किसी साधनद्वारा नहीं आ सकते। बालक वास्तवमें भगवत्-स्वरूप हैं एवं राजनीतिक दृष्टिसे राष्ट्रकी विभूति हैं। उनकी यथेष्ट सेवा ही भगवत्-पूजा तथा मानव-सेवा है। अतः बालकके स्वरूपमें भगवान्की सेवा करनेसे आस्तिकोंको भगवत्-प्राप्ति बड़ी ही सुगमतापूर्वक हो सकती है, जो मानव-जीवनका परम तथा चरम लक्ष्य है।

उत्तम संतानके लिये माता-पिताके शुद्धाचरणकी आवश्यकता

(लेखक—मानसराजहंस पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी)

भगवान् वासुदेवने कहा है कि—

'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।'

'यज्ञरहित पुरुषके लिये यह लोक ही सुखदायक नहीं है, फिर परलोककी चर्चा ही क्या है ?' तथा—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

'यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि करके प्रजापतिने पहले कहा कि इसीसे तुमलोग बढ़ो और यह तुमलोगोंके लिये कामधेनु हो।'

उस यज्ञरूपी कामधेनुके चरणोंके त्यागसे ही संसार विपत्तिके गर्तमें पड़ा हुआ है और हजार प्रयत्न करनेपर भी उसके कल्याणका मार्ग निरर्गल नहीं हो रहा है। जिस संतानके लिये पूर्वपुरुषोंने बड़ी-बड़ी तपस्याएँ की हैं, उन्हीं संतानकी वृद्धिसे संसार ऊब उठा है, संतानोंके आचरणसे अत्यन्त असंतुष्ट है, यहाँतक कि गर्भनिरोधके लिये नयी-नयी ओषधियोंका तथा उपचारोंका आविष्कार किया जा रहा है और उनके प्रचारके लिये सब ओरसे प्रोत्साहन भी मिल रहा है। अब प्रश्न यह है कि क्या इस उपायसे अभीष्टकी प्राप्ति सम्भव है ? क्या इस कृत्रिम उपायसे गर्भनिरोध गर्भपातनके समकक्षका पाप नहीं है (शुक्रका व्यर्थीकार भी तो सामान्य पाप नहीं है*) क्या इससे कुसंतान और सुसंतानकी समस्या हल हो सकती है ?

कहना होगा कि कदापि नहीं। संतान-बाहुल्य शास्त्र-सम्मत है। कुसंतानका होना ही दोषावह है और यह रोका जा सकता है। भगवान् देवकीनन्दनने कहा है कि—

'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।'

अर्थात् यज्ञके लिये ही कर्म होना चाहिये। जितने कर्म हैं, उनका अनुष्ठान यज्ञरूपसे ही होना चाहिये। इसीसे हिंदूके धर्ममें नहाना, खाना, सोना सब यज्ञरूप है।

छान्दोग्य श्रुति कहती है—

'पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः सम्भवति।

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति।'

'हे गौतम ! पुरुष अग्नि है, उसकी वाणी ही समित् है, प्राण धूम है, जिह्वा ज्वाला है, आँख अङ्गारे हैं, कान चिनगारियाँ हैं, उसी अग्निमें देवता अन्नका होम करते हैं, उस आहुतिसे वीर्य होता है।

'हे गौतम ! स्त्री अग्नि है, उसका उपस्थ समित् है, जो उस समय बात करता है वह धूम है, योनि ज्वाला है, प्रसङ्ग अङ्गारा है, सुख चिनगारी है, उसी अग्निमें देवता लोग वीर्यका होम करते हैं। उस आहुतिसे गर्भ होता है।'

इस भाँति भोजन भी यज्ञ है, इसका अनुष्ठान विहित देश-कालमें होना चाहिये, केवल शुद्ध अन्नकी आहुति देनी चाहिये, इससे शुद्ध वीर्य उत्पन्न होता है। जहाँ जो मिला, उसे खा लेनेसे यज्ञ नष्ट हो जाता है और 'न हि यज्ञसमो रिपुः' वही यज्ञ अपना शत्रु हो जाता है और नाना प्रकारके अनर्थका कारण होता है। एवं स्त्रीप्रसङ्ग अथवा गर्भाधान भी यज्ञ है, यह विहित देश-काल तथा पात्र पाकर ही करना चाहिये, नहीं तो, इसका परिणाम अतीव भयंकर होता है, शरीरमें दारुण व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, कुसंतानकी उत्पत्तिसे कुल कलंकित होता है और यावज्जीवन अत्युग्र यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

संतानकी कुण्डलीकी बड़ी चिन्ता माता-पिताको होती है, परंतु कुण्डलीके मूलाधार गर्भाधानकालकी कोई चिन्ता ही नहीं होती। बच्चोंके आठ संस्कार गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल और उपनयन—माता-पिताको करने पड़ते हैं। इन सबके लिये उत्तम-से-उत्तम मुहूर्त बड़े-से-बड़े ज्योतिषीसे दिखलाया जाता है, परंतु सबसे मुख्य और प्रथम संस्कार, जिसे गर्भाधान कहते हैं, हँसी-खेलकी वस्तु समझा जाता है। सभ्य समाजमें

* व्यर्थीकारेण शुक्रस्य ब्रह्महत्यामवाप्नुयात्।
(आश्वलायनोक्तिः)

उसकी चर्चा भी उठायी नहीं जा सकती, उसका नाम लेना अश्लीलता है। उचित तो यह था कि उसके नियम मनुष्य-मात्रको हस्तामलक होते, स्त्री-पुरुष सब उनसे परिचित होते और उनके उल्लङ्घन करनेमें सौ बार विचार करना पड़ता।

किस कार्यके लिये कौन मुहूर्त शुभ है और कौन अशुभ है, इसका विज्ञान ही पृथक् है, जिसे फलित शास्त्र कहते हैं। आजकल फलित शास्त्रकी खिल्ली उड़ानेवाले भी कम नहीं हैं, पर काम पड़नेपर मुहूर्त दिखलाकर ही सब लोग कार्य करते हैं। औरंगजेब-जैसे मुतअस्सिब बादशाह भी मुहूर्त दिखलाकर ही सिंहासनारूढ हुए। फलाफलके तारतम्यके विचारमें भले ही कभी चूक हो जाय, पर ग्रह-नक्षत्रगणका प्रभाव तो पृथ्वीपर स्थूल दृष्टिसे भी उपलक्षित होता है। शिशुके भूमिष्ठ होनेके समय जैसी ग्रहस्थिति होती है, उसका जैसा प्रभाव नवजात शिशुपर पड़ता है, वह यावज्जीवनके लिये उसका साथी हो जाता है; पर इसका भी मूल कारण गर्भाधानका समय है। अतः गर्भाधान भूलकर भी अविहित समयमें नहीं होना चाहिये। गर्भाधान-कालके दोषसे ही कश्यपजीके द्वारा दिति देवीके गर्भसे हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु-सरीखे क्रूरकर्मा राक्षस उत्पन्न हुए थे।

बहुत कालसे यह भावना नष्ट हो गयी है। इसको जाग्रत् करनेके लिये बहुत समय और आयासकी अपेक्षा है, पर यदि संसारमें सुख-शान्ति लानी है तो इसे जाग्रत् करना ही पड़ेगा। पारस्कर-गृह्यसूत्र तथा निर्णयसिन्धु आदि धर्मग्रन्थोंमें इसका बड़ा विस्तार है, पर मुहूर्तचिन्तामणिके दो श्लोकोंमें संक्षेपरूपसे सभी कुछ कह दिया गया है।

गण्डान्तं त्रिविधं त्यजेन्निधनजन्मर्क्षे च मूलान्तकं
दास्रं पौष्णमथोपरागदिवसान् पातं तथा वैधृतिम्।
पित्रोः श्राद्धदिनं दिवा च परिघाद्यर्धं स्वपत्नीगमे
भान्युत्पातहतानि मृत्युभवनं जन्मर्क्षतः पापभम्॥
भद्रा षष्ठी पर्वरिक्ताश्च सन्ध्या
भौमार्कार्की नाद्यरात्रीश्चतस्रः।
गर्भाधानं त्र्युत्तरेन्द्वर्कमैत्र-
ब्रह्मस्वातीविष्णुवस्वम्बुभे सत्॥

'नक्षत्र, तिथि तथा लग्नके गण्डान्त, निधन-तारा, जन्म-तारा, मूल, भरणी, अश्विनी, रेवती, ग्रहण-दिन, व्यतीपात, वैधृति, माता-पिताका श्राद्ध-दिन, दिनके समय, परिघयोगके आदिका आधा भाग, उत्पातसे दूषित नक्षत्र, जन्मराशि या जन्मनक्षत्रसे आठवाँ लग्न, पापयुक्त नक्षत्र या लग्न, भद्रा, षष्ठी, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, सन्ध्याके दोनों समय, मङ्गलवार, रविवार और शनिवार, रजोदर्शनसे आरम्भ करके चार दिन—ये सब पत्नी-गमनमें वर्जित हैं। शेष तिथियाँ, सोमवार, बृहस्पति, शुक्र, बुधवार, तीनों उत्तरा, मृगशिरा, हस्त, अनुराधा, रोहिणी, स्वाती, श्रवण, धनिष्ठा और शततारका—ये गर्भाधानके लिये शुभ हैं।'

इसमें सन्देह नहीं कि ऋतुदानके समय-निर्णयके लिये थोड़ेसे ज्योतिषज्ञान या किसी ज्योतिषीकी सहायताकी अपेक्षा है, परंतु इससे जितना बड़ा अपना हित, वंशका हित, राष्ट्रका हित सम्भव है, उतना हित अन्य किसी उपायसे सम्भव नहीं है। गर्भनिरोधके प्रचारसे व्यभिचारके मार्गको निरर्गल करनेके इच्छुकोंको, विषयके गीधोंको निःसन्देह यह सुझाव निःसार, अश्लील और अव्यवहार्य मालूम पड़ेगा, परंतु उन लोगोंको मालूम होना चाहिये कि यह लाभदायक प्रथा किसी समय भारतमें प्रचलित थी और इसीके लोपसे देशका जगद्गुरुके पदसे पतन हो गया! बड़े-बड़े असम्भव कार्योंको सम्भव कर दिखलानेवाले देशके कर्णधार इस ओर ध्यान दें, बड़े-बड़े ब्रह्मचर्याश्रम खोलनेवाले देशके महोपदेशक इसका प्रचार करें, कम-से-कम 'कल्याण'के पाठकोंमेंसे ही कुछ लोगोंके हृदयमें यदि इस विषयकी उपादेयता जम जाय, तो भी बहुत कुछ कल्याण हो सकता है।

भगवद्गीताका प्रचार भगवत्प्रेरणासे इस समय बढ़ रहा है, उसी भगवद्गीताको आँख खोलकर देखनेकी आवश्यकता है। यदि गीताध्यायी अपने कर्मोंको यज्ञरूपमें परिणत नहीं कर सका, अपने भोजन-शयनादि व्यवहारको यज्ञका रूप नहीं दे सका तो उसका गीताध्ययन ही व्यर्थ है। गीताके कारण तो युद्ध भी यज्ञरूपमें परिणत हो गया। 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ' कहकर भगवान्ने तो सीधे-सीधे गर्भाधानको 'यज्ञ'का रूप दिया है, नहीं तो 'काम'को शत्रु बतलाया है और उससे सावधान रहनेके लिये आदेश है, यथा 'विद्ध्येनमिह वैरिणम्' यह वैरी सर्वनाश करता है, कुसंतानकी बाढ़से जगत् व्याकुल हो उठता है।

शास्त्रविहित देश, काल और पात्रका विचार रखनेसे ही काम ईश्वरकी विभूति हो जाता है, उसमें अचिन्त्य

कल्याण होता है, लोक-परलोक सब बन जाता है, सदाचारी होकर यश प्राप्त करता है, सुसंतान उत्पन्न करके आत्महित, वंशहित तथा राष्ट्रहित करता है । अतः माता-पिताका सदाचार ही उत्तम संतानोत्पत्तिका कारण होता है ।

उत्तम संतानकी उत्पत्तिके लिये माता-पिताके शुद्धाचरणकी आवश्यकता

(लेखक—पं० श्रीश्रीरामजी शर्मा आचार्य)

बालकके शरीरकी उत्पत्ति माता-पिताके शरीरसे होती है । जैसी खरी-खोटी धातु लगायी जायगी, वैसा ही बर्तन बनेगा । जैसे ईंट-चूनेका प्रयोग होगा, वैसा ही मकान बनेगा । यदि माता-पिताके शरीर स्थूल अथवा सूक्ष्म रोगोंसे ग्रसित हैं तो संतानपर भी उसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा ।

शरीर-शास्त्रके ज्ञाता यह भलीभाँति जानते हैं कि कितने ही रोग ऐसे हैं जो पीढ़ियोंतक चलते हैं । उपदंश, मृगी, उन्माद, अर्श, क्षय आदिके कीटाणु माता-पिताके शरीरमें विद्यमान हों तो बहुधा उनका प्रभाव संतानमें भी देखा जाता है । माता-पिताके रंग-रूपकी छाया भी बालकों-पर रहती है । गोरे या काले माता-पिताकी संतान प्रायः वैसे ही रंगकी होती है । मा-बापके शरीरकी कृशता या स्थूलता भी बालकोंपर प्रकट होती देखी गयी है ।

वेष-भाषा, भाव-संस्कृति, रुचि, आहार-विहार, आचार-विचार आदि बातोंमें भी बच्चे अपने मा-बापका अनुसरण करते हैं । छोटा बालक माताके उदरमें उन बातोंके बहुत कुछ संस्कार ग्रहण कर लेता है और जन्म-धारणके पश्चात् उन बातोंको सहज ही अपनाने लगता है । इस प्रकार शारीरिक और सामाजिक दृष्टिसे बालक सत्तर प्रतिशत अपने जन्मदाता शरीरोंकी प्रतिमूर्ति होता है । वंश, जाति, नस्ल, वर्ण आदिके विभागोंके मूलमें यही तत्त्व कार्य करता है । यदि माता-पिताका प्रभाव संतानपर न आता तो इस प्रकारका वर्गीकरण दृष्टिगोचर न होता और नीग्रो, चीनी, पंजाबी, बंगाली, मद्रासी, यूरोपियन आदि जातियोंमें जो आकृति, रंग, स्वभाव आदिका अन्तर दिखायी पड़ता है वह भी न दीखता ।

माता-पिताके शरीर, स्वभाव और प्रवृत्तियोंका अनुसरण प्रायः अन्य जीव-जन्तुओंकी भाँति मनुष्य-जातिमें भी होता है । साथ ही मनुष्यकी मानसिक और आध्यात्मिक सम्पत्तियोंका उत्तराधिकार भी उसके आत्मजोंको मिलता है । हम माता-पिताके धन-सम्पत्ति एवं यश-अपयशके ही नहीं, उनकी आन्तरिक विशेषताओं और आध्यात्मिक सम्पदाओंके भी उत्तराधिकारी होते हैं । उत्तम ब्राह्मण-कुलमें बहुधा सात्त्विक गुणोंके बालक जन्मते हैं और वधिक, म्लेच्छ एवं कसाइयोंके घरोंमें प्रायः वैसी ही प्रकृतिके बच्चे जन्मते और बनते हैं ।

यों हर जीव अपने पूर्वजन्मोंके स्वतन्त्र संस्कार और प्रारब्धको साथ लाता है, इसलिये कभी-कभी माता-पितासे भिन्न स्वभावकी संतान भी होती देखी गयी है; पर ऐसा होता अपवादस्वरूप ही है । अधिकांश बच्चे अपने जन्म-दाताओंके गुण-कर्म-स्वभावके होते हैं । भारतीय वर्णव्यवस्थामें इस तत्त्वको प्रमुख आधार मानकर जन्म एवं वंशको प्रधानता दी गयी है । एक शरीर त्यागकर जीव जब दूसरे शरीरमें जानेको होता है, तब वह अपनी संचित रुचि और प्रवृत्तिके अनुकूल स्थानको ढूँढ़ता है । रेलगाड़ीके प्रथम श्रेणीके डिब्बेमें यात्रा करनेवाले लोग स्टेशनपर उतरकर प्रथम श्रेणीके यात्रियोंके लिये बने हुए विशेष आरामघरोंमें चले जाते हैं और तीसरे दर्जेमें यात्रा करनेवाले उसी दर्जेके बने हुए मुसाफिरखानोंमें जा बैठते हैं । वैसे ही जीव भी अगले जन्मके लिये अपने उपयुक्त वंशमें जा पहुँचता है । आकाशमें उड़ते हुए पक्षी तथा कीट-पतंग अपनी रुचिकर वस्तुओंको ढूँढ़ते फिरते हैं और जब अनुकूल-अभीष्ट वस्तु मिल जाती है, तब उसे प्राप्त करनेके लिये नीचे उतर आते हैं । गिद्ध मृतकके मांसको, कौआ विष्ठाको, भौंरा फूलोंको, बाज चिड़ियोंको ढूँढ़ते फिरते हैं । जहाँ उनकी मनचाही वस्तु दीखती है, वहींपर वे उतर पड़ते हैं । जीवोंको प्रारब्धके भोग तो अपने कर्मानुसार ही भुगतने पड़ते हैं, जो हर कुल और वंशमें भुगते जाने सम्भव हैं—पर जन्म लेनेके लिये वे अपनी पूर्वसंचित रुचिके अनुकूल स्थिति ही ढूँढ़ते हैं और दयामय प्रभु उन्हें इच्छित वातावरणमें ही जन्मनेका अवसर प्रदान करते हैं ।

माता-पिताकी जैसी आध्यात्मिक भूमिका होती है, उसीके अनुरूप प्रारब्ध-संस्कारवाले जीव उनके शरीरोंमें प्रवेश करके उस वातावरणमें जन्म धारण करते हैं ।

इसलिये यदि अपने घरमें उत्तम संतानका जन्म देना है तो उसके लिये अपने-आपको उत्तम बनानेका प्रयत्न करना चाहिये। जो लोग स्वयं पतित दशामें हैं, जिनकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्थिति गिरी हुई है, उनकी संतान भी दीन-हीन ही रहेगी।

संतानोत्पादन एक महान् उत्तरदायित्व है, जिसे उठानेके लिये बहुत समय पूर्व तैयारी करनेकी आवश्यकता है। किसी महत्त्वपूर्ण कार्यको सफलतापूर्वक पूर्ण करनेके लिये जिस प्रकार उसके लिये सभी आवश्यक उपकरण एकत्रित करने पड़ते हैं, उसी प्रकार उत्तम संतान प्राप्त करनेके लिये जहाँ बालकको उत्तम शिक्षा-दीक्षाकी आवश्यकता है, वहाँ उसके जन्मसे पूर्व वे परिस्थितियाँ उत्पन्न कर लेनी भी आवश्यक हैं, जिनमें कोई उत्तम जीव स्थान ग्रहण करता है। उत्तम फसल प्राप्त करनेके लिये एक कृषक पौधोंको सींचने और उनकी रखवालीकी व्यवस्था करता है; किंतु यदि उत्तम भूमि, अच्छी जुताई, परिपुष्ट बीज आदिकी पूर्व तैयारियाँ ठीक प्रकार न हों तो सिंचाई और रखवालीकी अच्छी व्यवस्था भी निष्फल चली जाती है और किसान वैसी फसल प्राप्त नहीं कर पाता, जैसी कि वह चाहता है।

कहा गया है कि पतित संतानोंके कारण उनके पितरोंको नरकगामी होना पड़ता है। कारण स्पष्ट है। समुचित पूर्व तैयारीके बिना ही संतानको उत्पन्न कर डालना एक भारी अपराध है, जिसका दण्ड उसके लौकिक जीवनमें तो मिलता ही है, पारलौकिक जीवनमें भी उसकी कम दुर्गति नहीं होती। संतानकी हीनता और नीचतासे जो अनुचित कार्य होते हैं, उनमें माता-पिताकी भी निन्दा होती है; क्योंकि वे सुयोग्य संतान उत्पन्न करनेका अपना उत्तरदायित्व पूरा करनेमें सफल न हो सके। जो व्यक्ति अनधिकार चेष्टा करते हैं, वे निन्दाके पात्र होते हैं। मनुष्योचित गुण जिसमें न हों, वह तो पशु-तुल्य ही है। पशुओंकी भाँति केवल काम-प्रेरणासे ही गर्भाधानमें प्रवृत्त हो जाना और एक असंस्कृत जीव उत्पन्न कर देना—पशु-प्रकृति है। वह मनुष्यताके प्रति, देश और जातिके प्रति एक अपराध भी है; क्योंकि उनके पाशविक उद्देश्यके फलस्वरूप जो बालक उपजते हैं, वे संसारके प्रति अहितकर और अवाञ्छनीय कार्य करते हैं, उनसे पृथ्वीका बोझ और संसारमें अनीति तथा अशान्तिकी वृद्धि होती है। इस गड़बड़ीकी जिम्मेदारी उन माता-पिताओंपर है, जो संतानोत्पत्ति-जैसे महान् उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करनेसे पूर्व उसकी भावी सम्भावनाओंपर विचार नहीं करते। ऐसी गैर-जिम्मेदारी किसी व्यक्तिकी लौकिक और पारलौकिक दुर्गतिका ही कारण हो सकती है। ऐसे पितर नरकगामी नहीं होंगे तो क्या स्वर्गगामी होंगे?

आज हमारे परिवार क्लेश और कलहसे भरे हैं। इसमें प्रधान कारण असंस्कृत संतानका होना ही है। घरके मुखिया एवं बड़े-बूढ़े छोटोंकी उद्दण्डता, उच्छृङ्खलता, अनुशासनहीनता, चोरी, स्वार्थपरता एवं अशिष्टतासे परेशान देखे जाते हैं। स्कूलोंमें अध्यापक सिर धुनते हैं, घरमें अभिभावकोंका जी जलता है, क्या लड़के और क्या लड़कियाँ—सभीकी चाल बेढंगी है। जबतक बचपन रहता है, तबतक उद्दण्डता करते हैं; कुछ समझदार होते हैं तो वासना और विलासिताकी ओर झुक पड़ते हैं, बड़े होनेपर उनकी कार्य-पद्धति स्वार्थपरतासे ओतप्रोत हो जाती है। माता-पिताके लिये, परिवारके लिये, देशके लिये, संस्कृतिके लिये, मनुष्यताके लिये—वे अभिशाप ही सिद्ध होते हैं। हमारी नयी पीढ़ियाँ प्रायः इसी मार्गका अनुसरण कर रही हैं। कोई विरले ही भाग्यशाली घर ऐसे होंगे, जिनमें कर्तव्यपालन, शिष्टाचार, सद्भावना, सेवा, त्याग, आत्मीयता एवं सदाशयताका अमृत बरसता हो। प्राचीन कालमें जो स्थिति घर-घर थी, वह आज कहीं दिखायी नहीं पड़ती। जो बातें पूर्वकालमें कहीं नहीं देखी जाती थीं, वे अब घर-घरमें मौजूद हैं। परिस्थितियोंमें इतना भारी परिवर्तन हो जानेके कारणोंमें सबसे बड़ा कारण माता-पिताकी गैर-जिम्मेदारी है, जो सुयोग्य संतानोत्पत्तिके लिये आवश्यक योग्यता प्राप्त किये बिना इस भारी उत्तरदायित्वको कंधेपर उठानेका दुःसाहस कर बैठते हैं। इन्हीं भूलोंके कारण आज हमारा पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन विषाक्त बनता चला जा रहा है।

यह सभी जानते हैं कि माता-पिताको अपने शरीरका पूर्ण विकास कर लेनेतक—युवावस्थातक—ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। वासनापूर्तिके लिये नहीं, संतानोत्पत्तिके लिये ही काम-सेवन करना चाहिये। गृहस्थ-जीवनमें भी पूर्ण संयमका पालन करनेसे बलवान्, नीरोग, बुद्धिमान् और दीर्घजीवी संतान उत्पन्न होती है; परंतु इस तथ्यको बहुत कम लोग जानते हैं कि माता-

पिताके आचरणका बच्चेपर क्या प्रभाव पड़ता है ? बालक केवल हाड़-मांसका ही नहीं होता, उसमें अन्तश्चेतनाका भी प्रमुख भाग रहता है और उस चेतनामें भी माता-पिताकी बौद्धिक चेतनाका भाग रहता है । यदि माता-पिताके मनमें, मस्तिष्कमें, अन्तःकरणमें कुविचार, स्वार्थपरता, वासना, असंयम और अनुदारताकी वृत्तियाँ भरी हुई हैं तो वे उसी रूपमें या थोड़े-बहुत परिवर्तितरूपमें बालकमें भी प्रकट होंगी । जैसे उपदंश-रोग-ग्रस्त स्त्री-पुरुषोंके रज-वीर्यसे दूषित रक्तवाले बालक जन्मते हैं, वैसे ही बौद्धिक एवं नैतिक दृष्टिसे रोगी लोगोंकी संतान भी पतित मनोभूमिवाली होती है ।

व्यभिचारजन्य, जारज और वर्णसंकर संतान आमतौरसे दुष्ट, दुराचारी एवं कुसंस्कारोंसे भरी हुई होती है; क्योंकि उनके माता-पितामें पापवृत्तियोंकी प्रधानता रहती है । जिन स्त्री-पुरुषोंमें परस्पर द्वेष, घृणा एवं मनोमालिन्य रहता है, उनके बच्चे प्रायः कुरूप और बुद्धिहीन होते हैं । डाक्टर फाउलरने इस सम्बन्धमें बहुत कुछ खोज-बीन की है । उन्होंने बहुत-से बालकोंकी विशेषताओंका कारण उनके माता-पिताकी मानसिक स्थितियोंको पाया है, शारीरिक दृष्टिसे गिरे हुए माता-पिताके द्वारा उन्होंने उत्तम स्वास्थ्यके बालकोंकी उत्पत्तिका कारण उस दम्पतिका पारस्परिक सच्चा प्रेम पाया । इसी प्रकार उन्हें इस बातके भी प्रमाण मिले कि उद्विग्न मनोदशाके दम्पति शारीरिक और सांसारिक दृष्टिसे अच्छी स्थितिके होनेपर भी बीमार और बुद्धिहीन संतानके जनक बने ।

डाक्टर जान केननने मनोविज्ञानकी दृष्टिसे इस सम्बन्धमें विशेष शोध की है और वे अनेक उदाहरणों एवं प्रमाणोंके आधारपर इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि यदि माता-पिता सद्गुणी, अच्छे स्वभावके, कर्तव्यनिष्ठ और धर्मात्मा हैं तो उनकी शारीरिक अपूर्णताओं और विकासकी अन्य सुविधाओंके अभावमें भी बालक उत्तम शरीर और मनवाले उत्पन्न होते हैं । कभी-कभी जो प्रतिकूल अपवाद देखे जाते हैं । उनमें भी मानसिक प्रतिकूलताओंको ही उन्होंने निमित्त कारण पाया है । धर्मात्मा लोग भी जब किसी अनीतिसे पीड़ित होते हैं और उनके मनमें पीड़ा, उद्वेग एवं प्रतिहिंसाकी अग्नि जलती है तो उसके बुरे संस्कारोंसे बालककी मनोभूमि भर जाती है । इसी प्रकार कभी-कभी बुरे आदमी भी परिस्थितिवश उच्च विचारधाराओंसे भरे होते हैं तो उसकी उत्तम छाया भी बच्चोंपर आती है । पुलस्त्य ऋषिके घर रावणका और हिरण्यकशिपुके घर प्रह्लादका जन्म होने-जैसी घटनाओंमें उन्होंने माता-पिताकी मनोदशाके परिवर्तनोंको ही कारण माना है ।

हमें नीतिमान् एवं पवित्र चरित्रवान् होना चाहिये; क्योंकि यह जीवन-यापनकी सर्वोत्तम नीति है । हमें अपने गुण-कर्म-स्वभावको उत्तम बनाना चाहिये; क्योंकि यह सफलता और उन्नतिका सुपरिचित मार्ग है । हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी मनोभूमिको, अपने दृष्टिकोणको, अपनी विचारधाराको, अपनी कार्य-पद्धतिको उच्चकोटिके आदर्शोंसे ओतप्रोत करें; क्योंकि इसी मार्गपर चलकर लौकिक और पारलौकिक सुख-शान्ति सम्भव है, संतानोत्पत्तिकी दृष्टिसे भी प्रत्येक गृहस्थका यह आवश्यक उत्तरदायित्व है; क्योंकि आत्मनिर्माण करनेसे ही कोई माता-पिता सुयोग्य संतान उत्पन्न कर सकते हैं । आज कुपात्र संतानकी बाढ़ आयी हुई है और सत्पात्र संततिके दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं । इस विपन्न परिस्थितिको बदलनेका सर्वोपरि उपाय यह है कि हमारे जीवनमें नीति, धर्म, त्याग, तप, सेवा, संयम, पवित्रता, सचाई आदि धार्मिक प्रवृत्तियोंकी स्थापना हो । स्वयं उत्तम बननेसे ही उत्तम संतानकी आशा की जा सकती है ।

सत्संग मोक्षका मार्ग है

संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ । कहहिं संत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ ॥

संतका संग मोक्ष (भव-बन्धनसे छूटने) का और कामीका संग जन्म-मृत्युके बन्धनमें पड़नेका मार्ग है । संत, कवि और पण्डित तथा वेद, पुराण [आदि] सभी सद्ग्रन्थ ऐसा कहते हैं ।

कामवासनारहित गर्भाधानसे उत्तम संतानकी प्राप्ति

(लेखक—शास्त्रार्थ-महारथी पण्डित श्रीमाधवाचार्यजी शास्त्री)

संसारकी प्रत्येक वस्तु जिस रूपमें उत्पन्न होती है, वह उसी रूपमें काममें आने योग्य नहीं होती; किंतु दोष-परिमार्जन, गुणाधान और हीनाङ्गपूर्ति—इन त्रिविध संस्कारोंद्वारा संस्कृत हो जानेपर ही वह कार्योपयोगी बन पाती है। खेतमें उत्पन्न हुए जौ, गेहूँ और धान आदि धान्योंको प्रथम संस्कारसे भूसी-छिलका आदि दूर करके, दूसरेसे पीस-कूटकर आटा बनाकर और तीसरेसे घृत, नमक आदि सम्मिलित करके भोजनोपयोगी बनाया जाता है। कपासका बिनौला निकालकर धुनने-कातने और बुननेपर वस्त्र बनता है, उसे रंग, गोटा, किनारीसे सजाकर पहनने योग्य बनाया जाता है। खानसे निकले सोनेके अनपेक्षित मलिन अंशको फूँक जलाकर, काट-छाँटकर, कूट-छेदकर भूषण बनता है, फिर उसमें मोती-हीरे आदिको जड़कर पहनने लायक बनाते हैं। ठीक इसी प्रकार मनुष्यमें भी मातृ-पितृ-दोषजन्य अनेक कमियाँ स्वभावतः होती हैं, उनकी निवृत्तिके लिये और अनेक शिक्षाओंद्वारा उसे सुशिक्षित करके विवाहद्वारा अर्धाङ्गकी पूर्ति करके ब्रह्म-सायुज्य-प्राप्तिके योग्य बनाया जाता है। इन्हीं सब क्रियाओंका पारिभाषिक नाम भारतीय-संस्कृतिमें 'संस्कार' है।

जगद्गुरु भारतने न केवल लोहा-लक्कड़ आदि जड़ पदार्थोंके ठीक-ठाक करनेमात्रके कारखाने खोलनेमें ही कर्तव्यता समझी थी; बल्कि जहाँ वह मनोवेगसे चलनेवाले महामहिम पुष्पक-जैसे विमान बनानेमें, शतयोजन विस्तीर्ण समुद्रोंके सेतु बाँध डालनेमें और वीर्य-कीटाणुओंको गर्भकी भाँति सुरक्षित रखकर सौ कौरवों, साठ हजार सगर-पुत्रोंको जन्म दे सकनेके योग्य 'घृत-कुम्भ' नामक महायन्त्रोंको बनानेमें सिद्धहस्त था, वहाँ 'नर' को 'नारायण' बन सकने योग्य बनानेके लिये भी 'संस्कार' नामक तत्तद् धर्मानुष्ठानोंसे लाभान्वित होता था।

आज पाश्चात्त्य देशोंको अपने कल-कारखानोंपर गर्व हो सकता है, एटम बम और हाईड्रोजन बमोंपर अभिमान हो सकता है; परंतु ये सब आविष्कार जिन अनुसंधायकोंके मस्तिष्कोंने किये हैं, उन मस्तिष्कोंके निर्माणकर्ता नारायणके सारूप्यको प्राप्त हो जानेयोग्य मानवोंको बनानेकी—आध्यात्मिक विज्ञानशालाएँ यदि किसी देशमें खुली तो वह देश एकमात्र भारतवर्ष है। हमें गर्व है कि भारतमें आज भी तादृश नरनिर्माणके अमोघ रचनात्मक प्रयोग विद्यमान हैं, जिनसे कि ध्रुव, प्रह्लाद, अभिमन्यु, जुझावर, जोरावर और हकीकतराय-जैसे बालक उत्पन्न किये जा सकते हैं।

हिंदूजातिका यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि हमारा दाम्पत्य-सम्बन्ध विषयवासना-पूर्तिके लिये नहीं, किंतु पदे-पदे कटु अनुभव प्राप्तिके क्षेत्रभूत गृहस्थमें सहेतुक निर्वेदद्वारा विषय-वैराग्य प्राप्त करके 'कञ्चनकामिनी' रूप दोनों घाटियोंको लाँघकर सायुज्यका निष्कण्टक मार्ग प्रस्तुत करनेके लिये है। 'पुं' नामक नरकसे 'त्र'=त्राण करनेमें सक्षम होनेके कारण ही पुत्र-उत्पादन भी उक्त साधनाका ही अन्यतम अङ्ग है। आज भले ही विषयासक्त माता-पिताओंको स्वप्नमें भी यह ध्यान नहीं होता कि हम क्या करने चले हैं, केवल विषयानन्दकी सीमातक ही उनका यह प्रयास होता है, यदि न इच्छा रहते भी अतर्कित संतान बीचमें कूद पड़ती है तो यह केवल विधि-विधान ही कहा जा सकता है। जैसे इधरसे मोटर, उधरसे ताँगा न चाहते हुए भी टकरा गये। इधर-उधर घूमता-फिरता एक कुत्तेका पिल्ला भी इस संघटमें अचानक आ पहुँचा और जान बचाकर काँय-काँय करता भाग निकला। ठीक इसी प्रकार आजका सहवास भी उद्देश्यशून्य है और उससे समुत्पन्न संतान भी आजकी भाषामें 'ऐक्सिडैंटल' संतान ही कही जा सकती है।

व्यापारी अपनी रोकड़में बड़ी सावधानीसे जमा-खर्च लिखते हैं, यदि कोई रकम रह जाय और सौ बार स्मरण करनेपर भी याद न आये तो उसे बट्टे-खातेमें लिखते हैं। ठीक इसी प्रकार आजकी संतान भी माता-पिता दोनोंको जिसका स्मरण नहीं होता, बट्टे-खातेकी रकमके बराबर ही है। ऐसी संतानसे माता-पिता, जाति या देशका कुछ भला हो सकेगा—यह आशा रखना व्यर्थ है। इसीलिये हमारे यहाँ योग्य संतान-निर्माणके लिये माता-पिताको संयमी रहकर तत्तद्धर्मानुष्ठान करनेका आदेश है।

पुराणोंमें एक कथा आती है कि जब सत्यभामाने भी 'प्रद्युम्न'-जैसी संतान उत्पन्न होनेकी अपनी अभिलाषा

भगवान् श्रीकृष्णके सामने प्रकट की तो भगवान्‌ने कहा कि प्रद्युम्नके निमित्त मुझे और रुक्मिणीजीको द्वादश वर्षपर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचर्यपूर्वक अमुक-अमुक धर्मानुष्ठान करने पड़े हैं। अतः यदि तुम भी ऐसा करो तो तादृश पुत्रकी माता बन सकती हो ! वैसा ही किया गया तभी 'साम्ब' की उत्पत्ति हुई।

हिंदूशास्त्रोंमें 'गर्भाधान' संस्कारका विधान इसी उद्देश्यसे किया गया है कि माता-पिता दोनों सावधान होकर धर्मानुष्ठानपूर्वक गुरुजनोंकी अनुमतिसे योग्य संतान उत्पन्न करनेमें समर्थ हों। यह बात प्रायः सिद्ध हो चुकी है कि गर्भाधानके समय पति-पत्नीके हृदयमें जिस प्रकारके विचार होते हैं—उनके हृदय और अन्तश्चक्षुके सम्मुख जो चित्र होता है, भावी शिशु उन्हीं सबके प्रतिबिम्बको लेकर जन्म लेता है। यह बात बहुत प्रसिद्ध है कि जब एक अमेरिकन दम्पतिसे हब्शी संतान उत्पन्न हुई तो पतिको पत्नीके चरित्रपर आशङ्का हुई। तलाकके मुकदमेके दौरानमें दोनोंका रक्त जाँच करके जब प्रसूत बालकके रक्तसे मिलाया गया तो वह हब्शी शकलका बालक उक्त दम्पति-द्वारा प्रसूत ही निश्चित हुआ। वैज्ञानिक बहुत विचारमें पड़े। अन्तमें बहुत अनुसंधान करनेके बाद मालूम हुआ कि उक्त दम्पति जिस कमरेमें सोते हैं, उसमें सामने ही एक रेड-इंडियन नस्लके हब्शीका चित्र लटका है। यह महिला उसे बड़े मनोयोगसे अक्सर देखा करती थी। निश्चित हुआ कि इसीका परिणाम यह विरूप बालक है।

गर्भाधानविषयक मन्त्रोंकी विशद व्याख्या करनेका इस लघुकाय लेखमें अवकाश नहीं है। वह तो हमारे 'क्यों?' नामक ग्रन्थमें देखी जा सकती है, परंतु यहाँ इतना अधिक और समझ लेना चाहिये कि गर्भाधानसे लेकर समावर्तन संस्कारपर्यन्तकी सब क्रियाएँ बालकके मातृ-पितृ-रजोवीर्य-दोषपरिमार्जनमें और गुणाधानमें उपयुक्त होती हैं, इसके बादमें होनेवाली अन्त्येष्टिपर्यन्त समस्त क्रियाएँ हीनाङ्गपूर्तिकारिणी मानी जाती हैं। क्या हम आशा करें कि भारतीय जनता अपने विलुप्तप्राय संस्कारोंका पुनरुद्धार करके पुनरपि संस्कारी बालक उत्पन्न करनेका मार्ग परिष्कृत करनेको समुद्यत होगी ?

कौमारावस्था और भागवत-धर्म

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

वस्तुतः यह संसार अत्यन्त भयानक है, बिना विचारे ही इसकी आपातरमणीयता प्रतीत होती है। अन्यथा इसकी कोई भी वस्तु तत्त्वतः वैसी नहीं—

'अनबिचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी।'

यदि ध्यानसे देखा जाय तो यहाँ प्रतीत होनेवाले हम सभी हितैषी, इष्ट-मित्र, स्त्री-परिजन, बन्धु-बान्धवादि भी किसीके तत्त्वतः हितचिन्तक नहीं हैं। जो भुक्तभोगी हैं, वे भलीभाँति जानते हैं कि हम सबका प्रेम केवल स्वार्थसिद्धिके लिये ही होता है। जिससे किसी प्रकारकी स्वार्थसिद्धिकी सम्भावना नहीं, उसकी ओर कोई स्निग्धदृष्टि भी नहीं डालता। देखा तो यहाँतक गया है कि स्वार्थ-पूर्तिके बाद प्राणी भले सज्जनोंतकका परित्याग कर डालते हैं। इसीलिये संतोंने अत्यन्त मार्मिक शब्दोंमें हमें उपदेश दिया—

'सुत बनितादि जानि स्वारथरत न करु नेह सबही ते।
अंतहु तोहिं तजेंगे पामर तू न तजै अबहीं ते॥'
स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

सचमुच हमारे परम हितैषी, एकमात्र सच्चे सहायक, सर्वत्र तत्पर, परम कृपामय, अकारणकरुण, अशरणशरण, दारुण भव-भयहारी, सर्वशक्तिमान् प्रभु परमात्मा ही हैं। उनके एक-एक उपकारोंका हम करोड़ों मुखोंसे भी वर्णन नहीं कर सकते। घनघोर बीहड़ जंगलोंमें, बड़े भारी घोर अपार पारावार महासमुद्रके बीच, विष, असाध्य बीमारियोंमें, प्रबल राक्षसादि शत्रुओंके बीच तो हमारे साधारण इष्ट-मित्रादि काम नहीं आ सकते, पर प्रभु तो हमें इन स्थलोंपर भी स्मरणमात्र करते ही हमारा उद्धार कर लेते हैं, फिर ऐसे दयाधाम कृपालुको छोड़ हम किसकी शरण जायँ—'कं वा दयालुं शरणं व्रजेम'। पूज्यपाद गोस्वामीजी बड़े मार्मिक शब्दोंमें इस गुह्यातिगुह्य तत्त्वका वर्णन करते हुए कहते हैं—

'कानन, भूधर, बारि, बयारि, महाविष, ब्याधि, दवा, अरि घेरे।
संकट कोटि जहाँ तुलसी, सुत मातु पिता हित बंधु न नेरे॥
राखिहैं राम कृपालु तहाँ, हनुमान-से सेवक हैं जेहि केरे।
नरक, रसातल, भूतलमें रघुनायक एक सहायक मेरे॥'

'तुलसी जहँ मातु पिता न सखा, नहिं कोउ कहँ अवलंब देवैया ।
तहाँ बिनु कारन राम कृपालु बिसाल भुजा गहि काढ़ि खेवैया ॥'

रक्षांसि यत्रोग्रविषाश्च नागा
यत्रारयो दस्युबलानि यत्र ।
दावानलो यत्र तथाब्धिमध्ये
तत्र स्थिता त्वं परिपासि विश्वम् ॥

हम अपने महामोह तथा प्रभुकी 'जासु कृपा नहिं कृपाँ अघाती' आदि विशेषणोंसे विभूषित 'करुणा-वरुणालयता' को किन शब्दोंमें कहें। परम कृपामय प्रभुने अपनी कृपा-शक्तिसे हमें इन विषमय प्रलोभनोंके भण्डार इस संसारका ज्ञान कराया, अपनी अपूर्व कृपाशक्तिका परिचय दिया, फिर भी हम इतने मोहान्ध रहे कि प्रभुमें प्रेम न कर इन विषम विषमय विषयोंमें ही आसक्त रहे। संतोंने बड़े मार्मिक शब्दोंमें इस स्थितिका परिचय दिया—

अजानन्माहात्म्यं पततु शलभो दीपदहने
स मीनोऽप्यज्ञानाद् बडिशयुतमश्नातु पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान्
न मुञ्चामो कामानहह गहनो मोहमहिमा ॥
(भर्तृहरेः वैराग्यशतकम् २१)

अर्थात् पतंग यदि प्रचण्ड ज्वाला-मालाकुलित दीपाग्निमें जल मरे तो उसका कोई दोष नहीं; क्योंकि वह उसके माहात्म्यको नहीं जानता। इसी प्रकार मछली भी लोहमय बडिश (बंसीका काँटा)को न जानकर चारेको खाती है तो उसका दोष कितना है? किंतु हन्त! हम तो इन भयंकर जटिल विपद्-जाल-विषयोंको जानकर भी नहीं छोड़ते। हाय! हाय! हमारे मोहकी महिमा अत्यन्त गहन और दुर्ज्ञेय है।

पूज्यपाद गोस्वामीजीने तो इसका रूप और भी हृदयस्पर्शी कर दिया। वे कहने लगे—

माधव जू मो सम मंद न कोऊ।
जद्यपि मीन-पतंग हीन मति मोहि नहिं पूजें कोऊ ॥
रुचिर रूप-आहार-बस्य उन्ह, पावक लोह न जान्यो।
देखत बिपति बिषय न तजत हौं, ताते अधिक अयान्यो ॥
महामोह-सरिता अपार महँ, संतत फिरत बह्यो।
श्रीहरि-चरन-कमल-नौका तजि, फिरि फिरि फेन गह्यो ॥
अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यों भरि मुख पकरै।
निज तालूगत रुधिर पान करि, मन संतोष धरै ॥
परम कठिन भव-ब्याल-ग्रसित हौं त्रसित भयो अति भारी।
चाहत अभय भेक सरनागति, खगपति-नाथ बिसारी ॥
जलचर-बृंद जाल-अंतरगत होत सिमिटि इक पासा।
एकहि एक खात लालच-बस, नहिं देखत निज नासा ॥
मेरे अघ सारद अनेक जुग, गनत पार नहिं पावै।
तुलसीदास पतित-पावन प्रभु यह भरोस जिय आवै ॥
'बिषयहीन दुख मिलै बिपति अति सुख सपनेहुँ नहिं पायो।
उभय प्रकार प्रेत-पावक ज्यों धन (बिषय) दुखप्रद स्रुति गायो ॥
छिन छिन छीन होत जीवन दुर्लभ तन बृथा गँवायो।
तुलसिदास हरि भजहिं आस तजि काल उरग जग खायो ॥'

सचमुच जन्म-जन्मान्तरोंसे हमने कितनी स्त्रियोंसे विवाह किया, कितने लड़के उत्पन्न किये, हमारे कितने माता-पिता हुए, पर वे सब आज कहाँ?

कति नाम सुता न लालिताः कति वा नेह वधूरभुञ्ज्महि।
क नु ते क नु ताः क वा वयं भवसङ्गः खलु पान्थसङ्गमः ॥
मातृपितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥
(महा० शा० २८। २८, वाराहपु० १८८। ९८)

'त्रिजग, देव, नर, असुर, अपर जग जोनि सकल भ्रमि आयो।
गृह, बनिता, सुत, बंधु भये, बहु मातु पिता जिन जायो ॥

सच्ची बात तो यह है कि इन आपात-प्रतीयमान क्षणिक विषयोंकी उपलब्धि भी हमें जगदीश्वरकी ही दयासे होती है, पर हम इतने कृतघ्न और नीच हैं कि इनके सामने प्रभुका बराबर तिरस्कार करते हैं। यह महामोह नहीं तो और क्या है? इस मोहका कारण हमारा दुरभ्यास है। जन्म-जन्मसे हमने ऐसा ही दुराचरण किया। फिर तो यह छोड़नेकी इच्छा रखनेपर भी नहीं छोड़ता। भर्तृहरि कहते हैं कि 'हमारा भिक्षाका शुष्क अन्न ही आहार है और वह भी चौबीस घंटेमें केवल एक बार। शय्या हमारी रूखड़ी पृथ्वी है और परिवार यह अपना शरीरमात्र ही। हमारे पास वस्त्र बस, नाममात्रके शतखण्ड विदीर्ण अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण एवं मलिन यह लँगोटीमात्र है, फिर भी हाय! ये विषय हमारी जान नहीं छोड़ते—

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम्।
वस्त्रं विशीर्णशतखण्डमयी च कन्था
हा! हा! तथापि विषया न परित्यजन्ति ॥
(वैराग्य० १९)

संतोंने हमें इसीलिये इन कुटेवोंसे बचने तथा कालचक्रकी दुर्ज्ञेयता एवं अनिश्चयताके कारण बाल्यकालसे ही भगवत्परायण

क्वचिद् दिव्यं शौर्यं क्वचिदपि रणे कापुरुषता
क्वचित् मुक्त्याशित्वं क्वचिदपि च वैकुण्ठविभवः ।
क्वचिद् गीताज्ञानं क्वचिदपि परस्त्रीविहरणं
चरित्रं ते नूनं शरणद विमोहाय कुधियाम् ॥

मतलब यह कि जिस खेलसे बालकका गूढ विकास नहीं होता, अर्थात् उसकी सांस्कृतिक उन्नति नहीं होती, वह खेल प्रशस्त नहीं है। खेल भी बालकके मनपर कुछ सामाजिक संस्कार करनेके लिये होते हैं। मनोविनोदमें भी अभिरुचिका विकास होता है। सारी कल्याणकारी क्रियाएँ सहजभावसे और आनन्दपूर्वक करनेकी वृत्तिका निर्माण करना ही खेलका उद्देश्य होना चाहिये। हम अपने सब कर्तव्य राग-द्वेषसे मुक्त होकर उत्साहपूर्वक और शौकसे करें, यही खेलका प्रयोजन होना चाहिये। अन्यथा खेलमेंसे निष्पापता और ऋजुताके बदले उत्पात और ओछापन पैदा होगा।

यह सृष्टि भी तो भगवान्की लीला ही कहलायी है। क्या उसकी तबीअत नहीं लगती थी? वह उकता गया था? अतएव अपना दिल बहलानेके लिये उसने यह भूल-भुलैया बनायी। जिस व्यापारमें तबीअत बहलती है, उसे खेल कहते हैं। गुजरातीमें तो खेलनेके लिये 'रमवुं' शब्द है। जिसमें आदमी रमता है, वह खेल है। ईश्वरकी लीलाका अगर यही अर्थ किया जाय तो वह बेचारा 'वैषम्य-नैर्घृण्य' दोषसे नहीं बच सकेगा, इसीलिये वेदान्तसूत्रमें 'लोकवत्तु लीला-कैवल्यम्' की व्याख्या करते हुए भाष्यकारने कहा है कि कृतकृत्य मुक्तपुरुष जिस प्रकार अपने लिये या अपने संकल्पकी पूर्तिके लिये कुछ नहीं करता; उसकी जो क्रियाएँ होती हैं, वे सहजभावसे अपने-आप होती हैं; परंतु सिद्धावस्थाके कारण उन क्रियाओंमें सहज शुचिता और चारुता होती है। उसी प्रकार भगवान्के लिये सृष्टिका निर्माण लीलामात्र है; मनुष्य भी जब जीवनसिद्ध हो जाता है, तब उसके जीवनमें सहज सुन्दरता और सहज पवित्रता होती है। सिद्धहस्त कलाकारके लिये कला ही खेल हो जाती है।

इस अनूठे अर्थमें हम इस जगत्को अपना क्रीडाङ्गण बनाना चाहते हैं, जिसमें मनुष्यकी वृत्ति अकलुषित तो रहेगी, लेकिन अशिक्षित नहीं रहेगी। उसकी संस्कृति ही उसका स्वभाव होगा। उसके आचरणमें कृत्रिमता नहीं होगी, लेकिन वह प्राकृत भी नहीं होगा। प्राञ्जलताके साथ-साथ उसमें सभ्यता भी होगी। वह बिना परिश्रमके फलकी आकाङ्क्षा नहीं रक्खेगा, बल्कि अपने परिश्रमको ही अपनी लीला मानेगा। जिम्मेवारीसे छुटकारा नहीं चाहेगा। अपनी जिम्मेवारीको दूसरोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेकी कड़ी समझेगा।

रवि ठाकुरने अपनी एक कवितामें बालवृत्तिका दिग्दर्शन किया है। बाप बालकसे कहता है—'यह चमकीले सफेद-सफेद कंकड़, कौड़ियाँ, छीपें और शङ्ख जुटा-जुटाकर घरमें कचरेका ढेर क्यों लगा रहा है?' बालक पूछता है—'आप भी तो चमकीली गोल-गोल चकतियाँ जुटा-जुटाकर अपनी संदूकमें रखते हैं। अगर वह कचरा नहीं है तो यह कचरा कैसे है?'

हम जीवनमें बालकोंकी निष्कपटता और स्वाभाविक सख्य-भावनाका विकास तो करना चाहते हैं, लेकिन उनकी प्राकृतता और अबोधताका सम्पादन नहीं करना चाहते। बालवृत्तिका अर्थ है—निर्वैरताकी मनोवृत्ति। एक ही चमूके खिलाड़ियोंकी सहज स्नेहशीलता। इसे चाहे चमूवृत्ति कह लीजिये। बालकके लिये सभी गोईं-गुँय्या हैं। उसका कोई प्रतिपक्षी नहीं। जो दूसरे दलके खिलाड़ी हैं, वे भी तो सहयोगी ही हैं। संसद्की राजनीतिमें विरोधी पक्ष भी सहयोगी माना जाता है। उसी प्रकार हमारे लिये यह संसार एक बालवाटिका होगी, जिसमें कर्तव्य, परिश्रम और परस्परदायित्व—ये सभी भाव खेलकी तरह आनन्ददायक और सहजसाध्य होंगे। उनमें किसी तरहके प्रयास या क्लेशका भान नहीं रहेगा। हमारा जीवन हमारी लीला होगी और सारा जगत् एक स्वरसे एक ही वृन्दसङ्गीत गायेगा 'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्।' उस सङ्गीतकी प्रतिध्वनिसे आसमान भी गूँजने लगेगा।

प्रार्थना

नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जन्म-जन्म प्रभु-पद-कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥

हे नाथ! हे श्रीरामजी! मैं आपसे एक वर माँगता हूँ, कृपा करके दीजिये। प्रभु (आप) के चरण-कमलोंमें मेरा प्रेम जन्म-जन्मान्तरमें भी कभी न घटे।

बालककी शील-सम्पत्ति

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

बालक राष्ट्रकी सम्पत्ति है। राष्ट्रका विकास, विश्वकी जातियों तथा देशोंकी श्रेणीमें उसकी महनीय गणना बालकोंके ही ऊपर आश्रित मानी जाती है। आजका बालक बनता है कलका प्रौढ़ युवक, जिसके समर्थ कंधोंके ऊपर राष्ट्रका भार रक्खा जाता है। अपने राष्ट्रकी संस्कृतिका वह होता है—यथार्थ प्रतीक। नाना देशोंमें वह अपनी संस्कृतिको जलते हुए मशालकी तरह अपने समर्थ हाथोंमें लेकर फैलाता है। अतएव बालककी शिक्षा-दीक्षा, आचार-व्यवहारके ऊपर प्राचीन कालसे ही राष्ट्रनिर्माताओंकी दृष्टि गड़ी हुई है। वे लोग इस दुर्बल हाड़-मांसके पुतलेके भीतर अलौकिक शक्ति, अदम्य उत्साह तथा अश्रान्त परिश्रमका एक अक्षय भण्डार देखते हैं और इसीलिये उसे सुगढ़ बनानेकी सुन्दर व्यवस्था उन्होंने बनायी है।

प्राचीन पाश्चात्त्य देशोंमें बालकका सर्वतोभावेन 'राष्ट्रीकरण' किया गया था। बालक व्यक्तिविशेषका सम्बन्धी न होकर समस्त समाजका, समग्र देशका, सम्पूर्ण राष्ट्रका निजस्व समझा जाता था। ग्रीस देशके 'स्पार्टा' नामक नगर-राष्ट्रमें इस भावनाका नितान्त उत्कर्ष देखा जाता है। स्पार्टा लोगोंकी दृष्टिमें शारीरिक सम्पत्ति ही विशेष महत्त्व रखती थी। राष्ट्रका नागरिक वही व्यक्ति हो सकता था, जो शरीरके द्वारा पुष्ट तथा शीतोष्ण-जैसे द्वन्द्वोंकी सहिष्णुतासे सर्वथा सम्पन्न होता था। अतः स्पार्टन शिक्षाका मुख्य लक्ष्य रहता था—व्यायामके सेवनसे उत्पन्न शोभन बल-संवलित संगठित शरीर और इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये उत्पन्न होते ही बालक अपनी माताकी प्रेमभरी गोदीसे छीन लिया जाता था और नगरपिताओंकी देख-रेखमें वह रक्खा जाता था। यदि वह रोगका शिकार या दुबला-पतला जान पड़ता तो वह तुरंत बिना किसी मीन-मेषके, नितान्त निर्दयतापूर्वक भेड़ियोंका भक्ष्य बननेके लिये छोड़ दिया जाता था अथवा जीते-जी किसी नदीमें फेंक दिया जाता। जो इस परीक्षामें बच रहते थे, वे राष्ट्रकी ओरसे पाले जाते थे तथा नाना प्रकारके खेल-कूद तथा व्यायाम उन्हें सिखलाये जाते थे, जिनसे उनका शरीर कठिनाइयोंके थपेड़ोंको सहन करनेके योग्य बन जाता था। वे सम्पूर्णरूपेण राष्ट्रकी सम्पत्ति माने जाते थे। माता-पिताका अधिकार भी ऐसे बालकोंके ऊपर नाममात्रका ही होता था। ऐसी शिक्षाका समुचित फल भी दीखता था। यूनानके समस्त नगर-राष्ट्रोंमें स्पार्टाकी महनीयता तथा प्रतिष्ठाका रहस्य इस बलिष्ठ कल्पना तथा इस विशिष्ट शिक्षणपर ही आश्रित था।

बालकोंकी राष्ट्रीकरण-प्रथाका यह चरम उदाहरण यूरोपमें भी मान्य न हो सका, भारतकी तो कथा ही न्यारी है। भारतवर्ष बालकोंके भविष्य सुधारनेमें, उन्हें राष्ट्रका उत्तम नागरिक बनानेमें, जीवन-संग्राममें सफल सैनिक निर्माण करनेमें सदासे कटिबद्ध रहा है, परंतु वह बालकोंका राष्ट्रीकरण नहीं चाहता। वह चाहता है कि बालक अपने देशका उत्तम नागरिक होनेके साथ विश्वका भी उपयोगी तथा उपादेय प्राणी बने। आजकल राजनीतिक संसारमें एक नव्य भावनाका भव्य उदय हो रहा है, जिसका अंग्रेजी नाम है—One world idea विश्वैक्यकी कल्पना। यह विशाल विश्व नाना देशों तथा नाना जातियोंकी समष्टिका एक उज्ज्वल उदाहरण है, जिसमें ये जातियाँ अपनी योग्यताके अनुसार भिन्न-भिन्न कार्योंका सम्पादन करती हुई अपना विशिष्ट मार्ग अपनाये रहती हैं; परंतु तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर जगत्का नानात्व भ्रामक है, एकत्व ही सत्य है। कोई भी राष्ट्र अन्य राष्ट्रकी सहायता तथा सहयोगके बिना कभी पनप नहीं सकता। आधुनिक नवीनतम वैज्ञानिक आविष्कारोंने—नवीन रेडर तथा रेडियो यन्त्रोंने इस विशाल संसारको एक क्षुद्र अल्पकाय द्वीपके रूपमें परिवर्तित कर दिया है, जिसमें देश-कालका व्यवधान अपना कोई मूल्य ही नहीं रखता। देशों तथा जातियोंके अन्योन्याश्रित होनेके कारण यह संसार परस्परसम्बद्ध तथा अनुस्यूत राष्ट्रोंका एक समष्टिमात्र है। अतः हमें केवल अपने राष्ट्रके मङ्गलकी चिन्ता न कर समस्त संसारके हितचिन्तनकी भावनासे कार्य करनेकी आवश्यकता है।

पाश्चात्त्यमें इस भावनाका नवीन होनेके नाते विशेष आदर तथा स्वागत किया जा रहा है; परंतु भारत इस सिद्धान्तका उद्भावक ही नहीं, प्रत्युत व्यवहारक्षेत्रमें निर्वाहक भी था। इसी सिद्धान्तके आधारपर बालकोंको शिक्षा देनेकी सुन्दर व्यवस्था हमारे प्राचीन आश्रमोंमें की जाती

थी । अन्य देशोंमें जहाँ शिक्षा शिशुके भूतलपर अवतीर्ण होनेके अनन्तर आरम्भ होती है, वहाँ भारतवर्षमें शिक्षणके आरम्भका काल उसे गर्भस्थ होते ही शुरू हो जाता है । हमारे संस्कारोंके महत्त्वका रहस्य इस विलक्षण घटना तथा कल्पनाके भीतर छिपा हुआ है । बालकोंकी देख-रेखकी व्यवस्था जितने सुचारुरूपसे भारतवर्षमें की गयी थी उतनी अन्य देशोंमें नितान्त दुर्लभ है । भारतीय संस्कृति आध्यात्मिकताके ऊपर आश्रित होते हुए भी भौतिक कल्याणकी कभी उपेक्षा नहीं करती । ऐहिक कल्याण—'अभ्युदय' तथा पारलौकिक मङ्गल—'निःश्रेयस'का सम्पादन जिस भारतीय संस्कृतिका प्रधान लक्ष्य रहा है, वह मानवोंके व्यावहारिक जीवनकी उपेक्षा करेगी, यह मानना किसी दुर्बुद्धिका ही कार्य है । आश्रमके वातावरणमें गुरु इसी संस्कृतिके व्यावहारिक रूपोंका ज्ञान बालकोंको इतने अच्छे ढंगसे करा देता था कि वह गृहस्थाश्रममें दीक्षित होनेपर राष्ट्रका सच्चा सेवक तथा देशका सच्चा नागरिक होता था । 'सभेयो युवा' के वैदिक आदर्शसे कौन विज्ञ पुरुष अपरिचित होगा । वेद युवकोंको सदा सभामें बैठने योग्य शिष्ट तथा सभ्य बननेका उपदेश देता है । वेद हमारे व्यवहारकी मधुरिमाका उतना ही पोषक है जितना अध्यात्मकी गरिमाका ।

आजकलकी धर्महीन शिक्षा हमारे बालकोंके ऊपर इतना बुरा प्रभाव डालती जा रही है कि वह आचारसे रहित होकर पश्चिमी रँगीली सभ्यतामें रँगता चला जा रहा है । नवीन वातावरणकी इस कार्यमें कम सहायता नहीं । उच्छृङ्खलता, संयम-नियमकी सर्वतोभावेन अस्वीकृति, गुरुजनोंके सदुपदेशोंकी निर्मम अवहेलना, चरित्ररक्षाकी ओरसे घोर उपेक्षा, भौतिक जीवनके प्रति गहरी आसक्ति—आधुनिक भारतीय युवकोंके जीवनका कच्चा चिट्ठा यही है । इन दुर्गुणोंसे अपने बालकोंको मुक्त करना हमारा परम कर्तव्य है ! अभी रोग विशेष घर किये नहीं है । उचित चिकित्सा करनेपर वह भावी राष्ट्रनिर्माताओंसे शीघ्र हटाया भी जा सकता है । अतएव हमारा पवित्र कर्तव्य होना चाहिये बालकोंकी शिक्षाका समुचित सुधार । यदि हमारे बालकोंमें हम एक ही गुणके उत्पादनमें समर्थ हो जायँ, तो उनके चरित्रको सुधरते देर न लगेगी । इस व्यापक तथा श्लाघ्य गुणका नाम है—शील । शीलकी सम्पत्ति ही मानवोंको भौतिक तथा आध्यात्मिक उभय दृष्टियोंसे समृद्धिशाली बनाती है । भारतीय संस्कृतिका यही प्राण है—शील । बौद्धोंके रत्नत्रयमें प्रथम रत्न है—यही शील । शीलके सम्पादन करनेपर ही दूसरे रत्नों—समाधि तथा प्रज्ञाका जन्म होता है ।

शीलका व्यापक लक्षण हमें महाभारत (शान्तिपर्व, अध्याय १२४)में उपलब्ध होता है । शीलकी कसौटी क्या है ? शीलके रूप जाननेका हमारे पास साधन क्या है ? इस प्रश्नकी सुन्दर मीमांसा करता है महिमामय महाभारत ।

> यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम् ।
> अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथंचन ॥
> तत्तु कर्म तथा कुर्याद् येन श्लाघ्येत संसदि ।
> शीलं समासेनैतत् ते कथितं कुरुसत्तम ॥
>
> (अध्याय १२४ । ६७-६८)

'अपना जो काम तथा पुरुषार्थ दूसरेके लिये हितकारक न हो तथा जिसके करनेसे स्वयं लज्जाका बोध होता हो, उस कार्यको कभी किसी प्रकार भी न करना चाहिये । वही कर्म, उसी रूपमें करना चाहिये जिससे कर्ता पुरुष संसद्में, सभामें, समाजमें प्रशंसाका पात्र बनता है । संक्षेपमें शीलका यही रूप है ।' शीलका यह भव्य रूप बड़ा ही उदात्त, कमनीय तथा विशाल है । परहितकी भावना शीलमें उतनी ही आवश्यक है जितना निन्दनीय कर्म करनेमें लज्जाका बोध । समाजमें श्लाघा, चित्तमें प्रसाद, हृदयमें संतोष, मनमें शान्ति—शीलके व्यापक प्रभावके सूचक होते हैं । अपने हृदयपर हाथ रखकर देखिये, जिस कार्यके सम्पादनसे हृदयमें लाज लगती है, दूसरोंके सामने अपनेको दिखलानेसे जी भागता है, समझ रखिये वह शील नहीं है, वह पाप है जो आपको तथा समाजको विपत्तिके गड्ढेमें गिरा देगा ।

विश्वबन्धुत्वके ऊपर आश्रित भारतीय संस्कृतिके अनुसार प्राणियोंको मनसे, वचनसे, कर्मसे कथमपि द्रोह न करने, प्रत्युत अनुग्रह करने तथा दान देकर उन्हें सहायता पहुँचानेसे बढ़कर महत्त्वशाली कार्य कोई हो ही नहीं सकता । इसलिये शीलके व्यावहारिक रूपका संकेत इस पद्यमें भलीभाँति किया गया है—

> अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
> अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते ॥
>
> (अ० १२४ । ६६)

इस शीलकी उपासना भारतीय बालकोंमें जिस दिनसे आरम्भ होगी, उसी दिनसे यह देश जीवनकी सच्ची होड़में

निश्चय ही सबसे आगे बढ़ता जायगा। याद रखिये, यही शील धर्म, सत्य, वृत्त, बल तथा लक्ष्मीका निकेतन होता है। शीलके सम्पादकके पास ये पाँचों पदार्थ अनाहूत अतिथिके समान स्वयं उपस्थित होकर उसके कल्याण तथा मङ्गल-साधनमें लग जाते हैं। अतः हम बालकोंको शीलकी सेवाकी ओर सर्वदा अग्रसर करें। यह तभी साध्य है जब हम स्वयं ही शीलके महत्त्वसे परिचित होकर शीलकी सम्पत्ति कमावें।

धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथा रमा।
शीलमूला महाप्राज्ञ ! सदा नास्त्यत्र संशयः॥

बालक—भगवान्‌का रूप

(लेखक—पं० श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय)

बालक भगवान्‌के जीते-जागते खिलौने हैं। बालकोंमें भगवान्‌का दर्शन जितनी जल्दी हो सकता है, उतना शायद ही किसीमें हो। मनुष्य कितना ही पण्डित और ज्ञानी हो लेकिन जबतक उसमें बालोचित सरलता और निष्पापता नहीं आ जाती, तबतक उसका पाण्डित्य और ज्ञान सफल नहीं कहा जा सकता। दूसरे शब्दोंमें मनुष्यको अपने जीवनकी परिणत अवस्थामें बालक हो जाना पड़ता है। यह अवस्था भगवान्‌की समीपताकी अवस्था है।

बालक भगवान्‌के ही तो अंश या रूप हैं। यदि हम यह समझ लें कि हमारे घरका बालक क्या है, भगवान्‌का ही बाल्यरूप है, तो हम दशरथ-कौसल्या या वसुदेव-देवकी अथवा नन्द-यशोदाकी तरह कितने भाग्यवान् अपनेको मानेंगे !

सच तो यह है कि सारा जगत् ही भगवान्‌का प्रतिरूप है। भगवान्‌ने जगत्‌के रूपमें ही आकार धारण किया है। जगत् भगवान्‌का अवतार ही है। लेकिन यह तो ज्ञानकी परिपूर्ण अवस्था हुई। बालकमें भगवान्‌के दर्शन करना भागवत-जीवनकी प्रथमावस्था है। परिणत अवस्थामें मनुष्यको स्वयं बालक बन जाना पड़ता है। बालककी अभेद-दशाको पहुँच जाना होता है। इस तरह प्रारम्भ और अन्त दोनोंमें बालक हमारा साथी और सहारा है। जिस घरमें बालक नहीं, जिसके जीवनमें बालक नहीं, जो स्वयं जीवनमें बालक नहीं, वह अभागा है, भगवान्‌की कृपासे वञ्चित है।

मेरे इन विचारोंने मुझे प्रेरित किया है कि मैं आपका अभिनन्दन करूँ, इस बातके लिये कि आपने 'कल्याण'का 'बालक-अङ्क' निकालनेका आयोजन किया है। यह बालक 'कल्याण'के अङ्कको सुशोभित करे और हमारे जीवनको कल्याण-पथकी ओर अग्रसर करे।

शिशु रामकी झाँकी

अवधेसके द्वारें सकारें गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच बिमोचनको ठगि-सी रही, जे न ठगे धिक-से॥
तुलसी मन-रंजन रंजित-अंजन नैन सुखंजन-जातक-से।
सजनी ससिमें समसील उभै नवनील सरोरुह-से बिकसे॥

[एक सखी किसी दूसरी सखीसे कहती है—] मैं सबेरे अयोध्यापति महाराज दशरथके द्वारपर गयी थी। उसी समय महाराज पुत्रको गोदमें लिये बाहर निकले। मैं तो उस सकल-शोकहारी शिशुको देखकर ठगी-सी रह गयी; उसे देखकर जो मोहित न हों उन्हें धिक्कार है। उस बालकके अञ्जन-रञ्जित मनोहर नेत्र खञ्जनपक्षीके बच्चेके समान थे। हे सखि ! वे ऐसे जान पड़ते थे मानो चन्द्रमाके भीतर दो समान रूपवाले नील-कमल खिले हुए हों।

बालकपनमें भगवान्‌का बोध

(लेखक—श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

भारतवर्षमें अनादिकालसे बालकोंको भगवान्‌का बोध करानेके लिये अधिक-से-अधिक प्रयत्न होता आया है। संस्कारवान् माता-पिता ही अपने नौनिहालोंको प्रभुके नाम-रूपोंमें आसक्ति उत्पन्न करनेके लिये समर्थ हैं। वे अपने बच्चोंके नाम प्रभुके कल्याणकारी पवित्र नामोंमेंसे ही चुनते हैं और बच्चियोंके नाम भी महासती साध्वी महिलाओंके नामपर रक्खे जाते हैं। इतना ही नहीं, उन्हें ऐसा शिक्षण दिया जाता है कि 'बेटा! कोई तुम्हें पूछे—तुम्हारा नाम क्या? तो उत्तर इस प्रकार देना कि—'नाम तो है भगवान्‌का, इस शरीरको 'रामप्रसाद' या 'कृष्णदत्त' कहते हैं।' इस प्रकार बचपनसे ही हमारे अध्यात्म-विद्या-रसिक भारतीय बन्धु बच्चोंको आत्मा और शरीरकी भिन्नता-का शिष्टाचार सिखा देते हैं और विश्वरूप भगवान्‌के अनन्त नाम-रूपोंकी लीलाका आनन्द देने लगते हैं।

शिक्षण-क्रमके प्रारम्भमें 'श्रीगणेशाय नमः' और 'ॐ नमः सिद्धं' सिखाते हैं, जिसका अर्थ है कि साधु और ब्राह्मणोंके प्रति आदर सीखो। ब्राह्मणोंके आदरसे और गणपतिकी पूजासे तुम्हारा प्रपञ्च व्यवस्थित चलेगा तथा संतोंके आदर और सिद्धोंकी पूजासे तुम राग-द्वेषसे मुक्त होकर उत्तम स्थिति प्राप्त कर सकोगे। श्रमण-संस्कृतिकी वेदान्तविद्या और ब्राह्मण-संस्कृतिकी वेद-विद्याके दान करनेवाले साधु-ब्राह्मणोंके प्रति विनय सिखाना ही भारतीय संस्कारोंका महान् वैशिष्ट्य है। धनवान् भव, पुत्रवान् भव, लक्ष्मीवान् भव, आयुष्मान् भव आदिका ब्राह्मणी आशीर्वाद और क्षमावान् भव, तितिक्षावान् भव, शान्तिमान् भ आदिका श्रमणीय आशीर्वाद भारतीय जीवनका प्रेय-श्रेय सिद्ध करनेमें सर्वथा समर्थ है।

लिखते हुए दुःख होता है कि जबसे हम ए, बी, सी, डी पढ़ना सीखे, तभीसे समझो ऐबी सीढ़ीपर पैर दिया! अंग्रेजी-भाषासे हमें द्वेष नहीं, पर हमें उस भाषामें भी सबसे पहले डी, ओ, जी, डॉग—डॉग यानी कुत्ता; सी, ए, टी, कैट—कैट यानी बिल्ली सिखलाया गया। अब कहो, हमारे दिमाग कुत्ते-बिल्लीके समान लड़नेवाले नहीं बनें, तो क्या बनें? 'डी, ओ, जी' 'डॉग' न सिखाकर जी, ओ, डी, गॉड सिखाते तो भी ठीक था। अस्तु।

तात्पर्य कहनेका यह है कि हमें बचपनसे ही परमात्माका बोध मिले तो आगे चलकर देशमें सदाचार-सम्पन्न नागरिकों-की खेती फले, जिसके मधुर रससे सारे विश्वको पहलेकी तरह समाधान मिले।

बालकोंको परमात्माका बोध करानेके लिये हम अपनी मातेश्वरीजीके संस्मरण पाठकोंके सामने रखनेकी आज्ञा माँगते हैं। वे जब हमें खेल खिलाती थीं, तब कहतीं, 'लल्लू हमें पकड़ो तो'; तब हम उनके हाथको छू लेते थे तो कहतीं 'लल्लू, हमने क्या कहा? तुम 'हमें' पकड़ो, यह तो तुमने हमारे हाथको पकड़ा।' जब हम किसी दूसरे अङ्ग-प्रत्यङ्गको छूते तो वह कहतीं यह तो हमारे शरीरके एक प्रत्यङ्गको पकड़ा। हम तो चाहती हैं—तुम 'हमें' पकड़ो। तब हम हार जाते और पूछते। मा, तुम्हें कैसे पकड़ें। तब मा कहतीं, 'बेटा 'हम'को कोई पकड़ नहीं सकता—परमात्मा पकड़नेकी शक्ति देनेवाला है, उसे कोई नहीं पकड़ सकता।' हम कहते—'बताओ न मा, कहाँ है परमात्मा। दिखाओ तो उसे।' तब मा कहतीं, 'बेटा, वह देखनेकी शक्ति देनेवाला है, हम उसे नहीं देख सकते। देखो तुमको अपने सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग दिखायी दे रहे हैं, पर आँख जो सबको देख रही है, उसको तुम कैसे देख सकते हो, उसी प्रकार सबकी आँखोंको देखनेकी ताकत देनेवाला वह प्रभु किस तरह दिखायी दे? जो-जो वस्तु दिखायी देती है वह सब बदलती है—नाश होती है और प्रभु कभी बदलते नहीं, अविनाशी हैं, इसलिये उनको कैसे देखें? क्या हम लालटेनसे सूरज देख सकते हैं?' तब हम पूरा-पूरा तो नहीं समझते; परंतु माताजी जब ऐसा कहते-कहते तन्मय हो जातीं, आँखें मींच लेतीं, हमें अपनी छातीमें चिपटा लेतीं, तब हमें ऐसा मालूम होता था कि माताजीके उस नहीं दिखनेवाले परमात्मासे माताजीके ये दिखनेवाले दो हाथ ही अधिक दयावान् हैं, जो हमें छातीकी तरफ खींचकर परम आनन्द देते हैं।

थोड़ी देर तो हम उनकी ध्यानस्था आँखोंकी ओर

देखते रहते और जब माताजीकी आँखें खुलतीं, तब हम कहते, 'मा, पिताजी जिन चतुर्भुज परमात्माकी पूजा करते हैं, वे तो नजर आते हैं। क्या वे भी नष्ट हो जायँगे 'मा चुप हो जातीं और बोलतीं—'मुझे कुछ भी मालूम नहीं, जाओ, यह प्रश्न तुम अपने पिताजीसे पूछो।'

जब मैं सगुण-साकार विष्णुभगवान्की पूजा करनेवाले अपने पिताजीसे पूछता, 'काका! (मैं अपने पिताको इसी प्रकार सम्बोधित करता था) मा कहती है जो दिखायी देता है वह तो नष्ट हो जाता है—परमात्मा तो देखनेवाला अविनाशी तत्त्व है और आपके ये चार भुजावाले भगवान् तो दिखायी देते हैं। क्या ये नष्ट हो जायँगे ?'

तब पिताजी मुझे प्यार करके कहते—'बेटा, तुम ज्यों-ज्यों बड़े होते जाओगे त्यों-त्यों सब समझमें आता जायगा।' तुम्हारी माका कहना तो ठीक है कि 'परमात्मा नहीं दिखते, पर उसके चार हाथ जो तुमको पूजा-स्थानपर नजर आ रहे हैं, वे उन्हीं नहीं दीखनेवाले प्रभुके हाथ हैं, जो सबको गोदमें उठानेके लिये प्रभुने फैला रक्खे हैं। तुम्हारी माका प्रेम तुम्हें नहीं दिखता, मेरा वात्सल्य तुम्हें नज़र नहीं आता; पर बेटा! जब मा तुम्हें छातीसे चिपटाती है—मैं सिर सूँघता हूँ, तब तुम्हें वह प्रेम माके दोनों हाथोंमें—छातीपर और मेरी नासिकामें नज़र आता है कि नहीं। बेटा, वह कभी नष्ट नहीं होगा। आओ, प्रभुको नमस्कार करो, चरणामृत पीओ, धन्य हो जाओ। सगुण-साकार भगवान्को—बेटा, ज्यों-ज्यों बड़े दिलके बनोगे त्यों-त्यों अधिक-से-अधिक समझने लगोगे।' सचमुच आज मुझे अपने पिताजीके वचनोंकी प्रतीति होती जा रही है और प्रभु सगुण-साकाररूपमें अधिक-से-अधिक व्यक्त होते जा रहे हैं। आज मैं समझ रहा हूँ कि पूज्य पिताजी जिन विष्णुभगवान्की उपासना करते हैं, उनके पहले हाथमें जो शङ्ख है, वह यही घोषणा कर रहा है कि सब प्राणियोंके वे एक ही पिता हैं। इससे किसीको पराया मत समझो। दूसरे हाथवाला चक्र यह बतला रहा है कि उस सब प्राणियोंके एकमात्र पिता प्रभुको समर्पित होकर ही कर्मोंका चक्र चलाओ। गदा सिखाती है, शक्तिसम्पन्न हुए बिना कोई कर्म सफल नहीं होता और अन्तिम पद्म निर्लिप्तभावसे सफल शक्तियोंका सदुपयोग करनेकी तरफ इंगित कर रहा है।

इस प्रकार धीरे-धीरे यह प्रतीत हो रहा है कि यह चतुर्भुज मूर्तिका दर्शन उसी सर्वव्यापक अमूर्तिक परमात्माके तत्त्वकी अभिव्यक्तिके लिये संतोंके हृदयमें आविर्भूत होता है। धीरे-धीरे आज यह भी मालूम हो रहा है कि उस विष्णुपरमात्माके मनुष्यावतार राम-कृष्णादि भी पूर्णतम प्रभु ही थे—

(साकार) वही राम दशरथ का बेटा,
(सगुण) वही राम घट घटमें लेटा।
(विराट्) उसी राम का सकल पसारा,
(निर्गुणपरब्रह्म) वही राम इन सबसे न्यारा ॥

अहा! अहा!! देखो बचपनके संस्कार किस प्रकार फलीभूत हो रहे हैं। आज प्रतीत हो रहा है कि कुशलता (कौशल्या) से अपने दश इन्द्रियोंके रथ (दशरथ) को संचालित करें तो हमारे हृदयमें भी रम्यता (राम) का जन्म हो सकता है। पवित्र मैत्री (सुमित्रा) का आशीर्वाद हो तो हमारा मन भी लक्ष्यकी प्राप्ति कर सकता है (लक्ष्मण बनकर)। अगर मन लक्ष्यमें स्थिर न हो और चित्तमें रम्यता (राम) न हो, हराम हो तो कृष्णलीला गानेका अधिकार नहीं—शुकदेव-सरीखे परमहंस ही कृष्णकीर्तनका मर्म समझा सकते हैं। अब तो ऐसा मालूम होता है कि—'घटमें राम, बाहर राम, घरमें राम, जगमें राम, जहँ देखूँ तहँ राम ही राम। अंदर निराकार आनन्द। चेहरेपर साकार आनन्द। जहँ देखूँ तहँ नन्दका नन्द। चिदानन्द गोविंद मुकुन्द, नन्द-नन्द, वृन्दावनचन्द ॥'

औषध भी रामबाण। ताकत निकल गयी तो भी राम निकल गया। ईमान गया तो भी हम यही कहेंगे—हमारे दिलमें राम न रहा। राम! राम!! कहाँ इस राम शब्दका प्रयोग नहीं होता। अब तो अपने भक्त माता-पिताकी दयासे मैं यह चाहता हूँ कि मृत्युके समय भी राम-नाम सत्य हो जाय। क्या सुन्दर सत्य और शिव हमारे भारतीय संस्कार हैं जो जन्मसे लगाकर मृत्युपर्यन्त भगवान्की ओर ले जानेवाले हैं। वह दिन धन्य होगा जब हम पुनः उनकी प्रतिष्ठा सबके जीवनमें देखेंगे।

भगवान्‌रूप बालक और उसका तिरस्कार

(लेखक—श्रीभगवानदासजी केला)

'बालक प्रकृतिकी अनमोल देन है, सुन्दरतम कृति है, सबसे निर्दोष वस्तु है। बालक मनोविज्ञानका मूल है, शिक्षककी प्रयोगशाला है। बालक मानव-जगत्‌का निर्माता है। बालकके विकासपर दुनियाका विकास निर्भर है। बालककी सेवा ही विश्वकी सेवा है।' —वंशीधर

भगवान्‌की विविध विभूतियाँ—इस सृष्टिमें लहलहाते पौधे, रंग-बिरंगे फूल, पत्ते और फल, बहती हुई नदियाँ, पहाड़ी झरनेका प्रपात, आकाशसे बातें करनेवाले पर्वत, रात्रिमें आसमानी चादरमें टिमटिमाते तारे और उनके बीचमें शीतल चाँदनीवाला चन्द्रमा, प्रातःकाल उदय होनेवाला प्रकाश-पुञ्ज सूर्यदेव—सभी मनुष्यको अपने निर्माताकी याद दिलाते हैं, सब अपनी-अपनी भाषामें भगवान्‌का गुण-गान करते हैं और दर्शकके चित्तको सात्त्विक आनन्द प्रदान करते हैं। आदमी सभीमें भगवान्‌की विभूति देखता है, मुग्ध होता है और जगत्पिताकी वन्दनाकी प्रेरणा पाता है। तथापि इसके लिये कुछ कवि-हृदयकी आवश्यकता है, जो हर किसीमें नहीं होता।

बालककी महिमा—पर बालककी बात निराली है, उससे मिलनेवाला आनन्द हर-किसीको सुलभ है। उसकी मुसकराहटमें संसार मुसकराता है। उसकी अस्पष्ट तोतली बोलीमें प्रकृति अपनी प्रारम्भिक अवस्थाका स्मरण कराती है। उसका निष्कपट व्यवहार अच्छे-अच्छेके लिये आदर्शरूप है। उसकी अहिंसा अर्थात् बदला न लेनेका भाव अहिंसाके आचार्योंके लिये भी शिक्षाप्रद है। सत्यका तो वह अवतार ही ठहरा, असत्यकी गन्ध उसके आसपास होती ही नहीं। वह ऊँच-नीचका भेद नहीं मानता, गरीब-अमीरमें, राजा और रंकमें कोई अन्तर नहीं जानता। छुआछूतकी—अस्पृश्यताकी बात वह क्यों करे, वह तो समताका क्रियाशील उपदेशक ठहरा। उसके लिये जातिभेद, रंग-भेद, राष्ट्र-भेद, धर्म-भेद नहीं है। वह भगवान्‌का सच्चा भक्त है, उसके लिये हिंदू, मुसल्मान, ईसाई, पारसी आदि भेद कृत्रिम और अज्ञानमूलक हैं। उसके लिये ईश्वर एक है; खुदा, परमात्मा या गॉड जुदा-जुदा नहीं। ईश्वरकी सब संतान एक-सी हैं, चाहे कोई हिंदुस्थानमें रहे या पाकिस्तानमें, चाहे एशियामें रहे या यूरोप-अमरीकामें। संतानमें काले-गोरेका भेद माननेवाला पिता अपने कर्तव्यसे पतित होता है और इसी तरह मनुष्य-मनुष्यमें भेद करनेवाला भक्त सच्चा भक्त नहीं। बालक तो भगवान्‌का सच्चा भक्त है, वह तो भगवान्‌का रूप ही है; उसे मनुष्य-मनुष्यका भेद कैसे मान्य हो सकता है। बालक समाजवाद और साम्यवादका ऊँचे-से-ऊँचा प्रतीक है। दार्शनिकों और चिन्तकोंके लिये वह शीर्षस्थान है। सर्वोदयकी भावना उससे अधिक और किसमें मिल सकती है। बालकमें हमारा भूतकाल मूर्तिमान् है, सृष्टिके अबतकके सम्पूर्ण इतिहासका सार है। बालक हमारे वर्तमानका चित्र है। वह हमारे भविष्यका भी सूचक है; भावी संसार कैसा होगा, यह वर्तमान बालकोंपर निर्भर है, उनके भरण-पोषण, शिक्षा-दीक्षा आदिपर निर्भर है।

मानव-जगत्‌के निर्माताका तिरस्कार—ऐसा महिमावान् है बालक, मानव-जगत्‌का निर्माता। तिसपर भी उसकी कितनी उपेक्षा, कितना अपमान और कितना तिरस्कार! हम अपने घरपर नजर डालें या बाहर, पाठशालामें या अन्य शालाओंमें, समाजमें या राज्यमें—कहीं भी उसे उसके योग्य मान नहीं, वह हर जगह कुछ अवाञ्छनीय-सा, कुछ भाररूप-सा बना हुआ है। अच्छी फसलके लिये बीजकी सार-सँभालका महत्त्व हम कुछ समझते हैं, पर भावी जगत्‌के सुन्दर निर्माणके लिये बालककी सार-सँभाल करनेकी हमें चिन्ता नहीं।

माता-पिताद्वारा—अनेक स्थानोंमें बिना यथेष्ट व्यवस्थाके ही भगवान्‌की मूर्तिकी प्रतिष्ठा कर दी जाती है, और कई-कई मन्दिरोंके ऐसे खंडहर होनेपर भी जिनमें कोई झाड़-बुहारी नहीं करता और चमगादड़ोंका राज्य होता है, नये-नये मन्दिरोंके निर्माणका शौक पूरा किया जाता है। इसी तरह अनेक परिवारोंमें बालकको निमन्त्रित तो कर दिया जाता है, पर उसके स्वागत-सत्कारकी यथेष्ट तैयारी नहीं की जाती। कितने माता-पिता हैं, जो इस विषयमें दोषी नहीं होते? जो अपने आहार-व्यवहार, वाणी और चरित्रपर बालकके हितकी दृष्टिसे समुचित संयम रखते हैं? गरीबोंको अपना ही निर्वाह करते नहीं बनता, फिर वे बालकका अतिथि-सत्कार क्या करें। धनवानोंको अपने

मौज-शौकसे छुट्टी नहीं, उन्हें बालकोंके पालन-पोषणका अवकाश कहाँसे मिले। वे तो धाय या नौकरके ऊपर यह भार डाल देते हैं और अपने कर्तव्यसे मुक्ति पाते हैं।

मा-बाप चाहते हैं कि बालक हर बातमें उनके इच्छानुसार चले; जब जो चीज जितनी मात्रामें वे खिलाना चाहें, बालक उसी समय वह चीज उतनी ही मात्रामें खा ले। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसे खासकर माके क्रोधका शिकार बनना पड़ता है। मा चाहती है कि बालक सो जाय। बालकको उस समय नींद नहीं आती तो माकी नाराजी उसे सहनी पड़ती है। कितनी ही माताएँ तो बालकको अफीम आदि खिलाकर ही अपनी होशियारीका परिचय देती हैं। बालकसे कोई कीमती चीज टूट-फूट जाय तो कितनी माताएँ हैं, जो अपने क्रोधको काबूमें रक्खेंगी। बहुत कम माता-पिता यह जानते हैं कि वे बालककी मनोभूमिमें क्रोध और हिंसाका बीज बोकर भावी समाजके लिये एक बड़ा विष-वृक्ष लगा रहे हैं। यही नहीं, झूठकी शिक्षा भी बालकको पहले माता-पिता ही देते हैं। प्रत्यक्षमें नहीं तो परोक्षमें, अर्थात् वाणीसे नहीं तो व्यवहारसे। अन्यथा बालक तो निष्कपट होता है, वह सत्यका और पूर्ण सत्यका स्वभावसे अनुयायी होता है।

अध्यापकोंद्वारा—बालक कुछ बड़ा हुआ। पाठशालामें जाने लगा। मा-बापने उसे क्रोध, हिंसा और असत्यकी शिक्षा दी थी, उसे आगे बढ़ानेका काम अध्यापक करते हैं। बालकको बात-बातमें डराना, धमकाना, मारना-पीटना और उसे झूठ बोलनेपर मजबूर करना उनका नित्यका काम है। वह अध्यापक ही क्या, जिसकी बालकोंपर धाक जमी हुई न हो। क्लासमें अनुशासन न रहनेसे अध्यापककी अयोग्यता समझी जाती है और कौन ऐसा अध्यापक है जो अपनी इस अयोग्यताका परिचय दे। मनोविज्ञान आगे बढ़ रहा है, पर अध्यापकोंको यह सूत्र भुलाये नहीं भूलता कि 'छड़ीको विश्राम देना बालकको बिगाड़ना है।' जब अध्यापक किसी बातको अच्छी तरह नहीं समझा पाता, तब उसका अचूक अस्त्र छड़ी (या अन्य तरह-तरहके आविष्कृत दण्ड) है। ये अध्यापक बालकको मानवतासे दूर रखनेमें कितने सहायक होते हैं।

समाजद्वारा—समाजमें हमें अपने बड़ोंका आदर-मान करना सिखाया जाता है। अपने मतलबके लिये कुछ ऐसे लोगोंके सामने भी हम नत-मस्तक होते रहते हैं, जो हमसे बड़े नहीं होते; पर बालकोंसे तू-तड़ाकसे बात करना तो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार ही ठहरा। दूसरोंके लिये श्रीमान्, महाशय, महोदय, हजूर आदि अनेक सम्मानसूचक सम्बोधन शब्द हैं; पर बालकके लिये तो अच्छे शब्दोंका दिवाला ही है। कितने स्थानोंमें बालकोंको 'आप' कहा जाता है। मालूम होता है, हमारा सब शिष्टाचार कृत्रिम या स्वार्थवश है। उसकी असली कसौटी तो यही है कि हम बालकसे—अपनेसे छोटोंसे—कैसा व्यवहार करते हैं।

राज्यद्वारा—आदमियोंकी सबसे बड़ी और व्यापक संस्था राज्य है। इसमें सबके अधिकारोंकी बात होती है और जो कोई किसीके अधिकारोंपर आघात पहुँचाता है उसे दण्ड दिया जाता है, पर बालक यहाँ भी उपेक्षित ही रहता है। कौन-सा सभ्य राज्य है, जिसने बालकोंके अधिकारोंकी घोषणा की हो और उन अधिकारोंकी रक्षाकी व्यवस्था की हो? मानवसृष्टिमें बालक एक अधिकारहीन प्राणी है, उससे मीठा बोलना, उसके साथ सद्व्यवहार करना एक दया और उदारताका काम समझा जाता है। ऐसा करके उसपर अहसान जताया जाता है; क्योंकि उसका ऐसा कुछ अधिकार तो है ही नहीं, जो कानूनद्वारा मान्य हो।

मानव-जगत्‌का भविष्य—ऐसी चौमुखी उपेक्षाके वातावरणमें बालकका सद्विकास कैसे हो? और संसारका ही क्या भला होनेवाला है। कुम्हार अपने मनमें सोच लेता है कि मिट्टीसे राम और कृष्ण बनाने हैं या रावण और दुर्योधन। बालकका निर्माण करनेवाले हैं—माता-पिता, अध्यापक, समाज और राज्य। ये भी सोचें कि हमें बालकका कैसा निर्माण करना है। क्या हमें गाँधी, विनोबा, सुभाष, रवीन्द्र, अरविन्द, तिलक, कबीर, तुलसी, अहल्या, लक्ष्मीबाई, अकबर और अशोककी आवश्यकता है? क्या हम टाल्स्टाय, रस्किन, पर्लबक, इमर्सन, गोर्की, रोमा-रोलाँ, लुई फिशर, वाशिंगटन, लिंकन, मेजिनी और सुकरात-जैसे महानुभावोंकी आवश्यकता अनुभव करते हैं? ऐसी विभूतियाँ एकदम आसमानसे बनी-बनायी नहीं आ जातीं। ऐसा कोई यन्त्र नहीं है, जहाँ बटन दबानेमात्रसे ये तैयार मिल जायँ। बालरूपसे विकसित होकर ये धीरे-धीरे बनती हैं। इनके निर्माणमें जिन-जिन व्यक्तियोंका हाथ होता है, वे सब गम्भीरतासे अपने कर्तव्यका निश्चय करें। तभी संसारके सुन्दर भविष्यकी आशा कार्यरूपमें परिणत होगी। आओ, सब मिलकर भगवान्‌रूप बालककी श्रद्धा-भक्तिसे आराधना करें; भगवान् हमारा भला करेगा।

अचिन्त्यशक्ति बालक

(लेखक—आयुर्वेदाचार्या श्रीशान्ता देवीजी वैद्या)

अवधूतवेशधारी दुग्धाहारी मुदा विहारी च ।
रागद्वेषवशित्वं तावन्नाप्तः शिशुः सतां गेहे ॥*

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक परम पिता परमात्माकी सृष्टि-का सर्वोच्च सौन्दर्य बालक ही है । ब्रह्मवेत्ता महर्षियोंने बालक-को 'ब्रह्मरूप' माना है । भारतीय तत्त्ववेत्ताओंने बालकको अद्भुत शक्तिसम्पन्न निसर्ग-कृतिका पूर्ण रूप माना है । पौराणिकोंने सृष्टिके आदिमें और अन्तमें भी बालकके ही दर्शन करके अथ-इतिपूर्वक सृष्टिका आविर्भाव, तिरोभाव माना है । महाप्रलयके बाद जब सृष्टिमें कुछ भी नहीं रहा, तब भी एकमात्र अवशिष्ट ब्रह्मरूप बालकके ही दर्शन किये हैं—

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् ।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं शिरसा नमामि ॥

'भगवान् बालमुकुन्द वटके पत्रपर शयन कर रहे हैं और अपने कर-कमलसे एक चरणारविन्दको पकड़कर मुखारविन्दमें डाल रहे हैं (मानो अपने चरणारविन्द-रसका स्वयं समास्वादन करना चाहते हों)। ऐसे शिशुरूपधारी मुकुन्दको मैं मस्तक झुकाकर नमस्कार करता हूँ ।'

भारतीय विज्ञान

आजका उत्पन्न हुआ बालक आजका नहीं, वह तो पूर्वजोंका भी पूर्वज है । अपने उच्चतम उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये कर्म-मार्गमें जन्मान्तरार्जित पुण्य-पुञ्जस्वरूप बालक पुनर्जन्म लेकर आविर्भूत होता है । वैदिक साहित्यमें बालकके आविर्भावको 'अमृतस्य पुत्राः' माना है । वह तो आदिमें धर्मसमुद्भूत पूर्ण पुरुष है और अपने अन्तिम पुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्तिमें प्रयत्नशील है । कर्मयोगके मार्गमें पूर्वजन्मकी सम्पत्तिके साथ यात्रा करता हुआ संसार-सरणिके शिविर (पड़ाव) रूपमें अभिनव शक्तिसम्पन्न होकर शेष कार्यकी पूर्तिके लिये बालकरूपसे उत्पन्न होता है, उसका जन्म उत्तरोत्तर अभ्युन्नतिका प्रतीक है । इस मार्गमें यदि कभी स्खलित भी हुआ तो पूर्व शुभसम्पत्तिके कारण—

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।

'योगभ्रष्ट साधक पवित्र आचार-विचारवाले धनवानोंके यहाँ जन्म लेता है अथवा वह बुद्धिमान् योगियोंके ही कुलमें उत्पन्न होता है ।'

न्यूनाधिक पूर्वार्जित शुभाशुभ सम्पत्तिके कारण ही विभिन्न परिस्थितियोंमें उसकी उत्पत्ति होती है । दुःख-सुख भी होते हैं, किंतु बालक बालक ही है—

बालः—बल प्राणने ···ज्वलतीति णः, यद्वा बल्यते ······बल संवरणे ।

वह स्वतः शक्तिसम्पन्न होकर संसार-यात्रामें अग्रसर होता है । बालक ज्ञानरूप होता है, वह अज्ञानी या अपूर्ण नहीं; वह तो 'ग्रहणधारणपटुः' कहा गया है । (त० दी० १ पृ० २) तथा च ग्रहणपूर्वधारणयोग्यः इत्यर्थः ।

'आषोडशाद् भवेद् बालस्तरुणस्तत उच्यते ॥'

इसी सोलह सालके बाल्यकालमें अपनी पूर्वार्जित ज्ञान-सम्पत्तिको स्मृतिरूपसे ग्रहण कर लेता है । वह किसीसे कुछ लेता-देता नहीं । अनन्तशक्तिसम्पन्न चेतन ब्रह्मका अंश जीवरूप बालक स्व-संकल्पसे ही अपने ज्ञानरूपी अक्षय-भण्डार जीव-सम्पत्तिके साथ प्रकट होता है—

स्वसंकल्पेन चेत्युक्तं चिदित्यपरनामकम् ।
अनन्तचेतनाकाशं बालशब्देन कथ्यते ॥

बालक ज्ञानका भण्डार होनेसे किसीका मुहताज नहीं ।

स्मरण या शिक्षा

गुरु-परम्पराकी एक प्रतिष्ठा है । वह पवित्र भी है । गुरु-शिष्यमें कोई आदान-प्रदान नहीं होता है । ज्ञान देय है भी नहीं ।

ज्ञान प्रदानार्थक वस्तु है क्या ?
होता स्वयं तो गुरु रिक्त होता ।
दीपेन दीपज्वलतिर्हि न्यायः
प्रकाश नो भी नभयार्थ होता ॥

* सत्पुरुषोंके घरमें बालक जबतक नंग-धड़ंग अवधूतका-सा वेश धारण किये केवल दुग्धका आहार करता और सानन्द बालोचित क्रीडा-विहारमें मग्न रहता है, तबतक वह राग-द्वेषके वशीभूत नहीं होता ।

गुरु-कृपा या गुरु-चरणोंका सांनिध्य तो केवल निमित्त-कारणमात्र होता है। पूर्व-जन्मान्तरार्जित ज्ञानपुञ्ज शिशु अपनी अर्जित सम्पत्तिका स्मरण करता है। जैसा उसका अर्जन होगा, वैसा ही ज्ञानोदय होता जायगा।

करुणामय गुरुका उपदेश तो सबके लिये बराबर होता है, किंतु शिष्यका न्यूनाधिक ग्रहण अपने अर्जनपर ही होता है। अन्यथा एक ही गुरुके सभी शिष्य समान विद्वान् होते।

उपदेश-अध्यापन तो दीपसे दीपका प्रकाश-ग्रहणमात्र ही होता है। कोई आदान-प्रदान नहीं। प्रकाशित दीपसे प्रकाश्य दीप उतना ही प्रकाश नहीं ग्रहण करता, जितना कि वह 'प्रकाशित दीपमें' है। प्रकाश्य दीप तो अपनी संचित तेल-बत्तीके अनुरूप ही प्रकाशित होता है—

ज्ञानकी न्यूनाधिकताका कारण स्वयं बालक ही होता है। वह उसकी चिरानुभूता स्मरण-शक्ति, स्मृति है। इसीलिये स्मृतिको—

'उद्भूतसंस्कारमात्रजन्यं ज्ञानम्।'

—कहा है। संस्कार-ध्वंस-सम्बन्धी अतिव्याप्ति, अनुभव-सम्बन्धी व्याप्ति, असम्भव-वारणके लिये, उद्भूत और प्रत्यभिज्ञामें अतिव्याप्ति-वारणके लिये ही मात्र पद है—

स्मरणाद् वै निमित्तानां धर्माधर्मनिरूपणात्।
तिमिरोत्पाटनाद् देवि स्मृतिरित्यभिधीयते॥

'निमित्तकारणोंकी याद दिलानेसे, धर्म-अधर्मका निरूपण होनेसे तथा अज्ञानान्धकारका निवारण करनेसे अध्ययनको 'स्मृति' नाम दिया गया है।'

इस भाँति गुरु-सम्बन्धी अध्ययन एक स्मरण-विधि है।

पूर्वार्जित संस्कार-जनित स्मृति जितनी ही मन्द, मध्य, तीव्र होगी, बालक उसी अनुपातसे अपना पूर्वार्जित ज्ञान या स्मरण प्राप्त कर लेगा। यहाँतक कि चतुर्दश विद्याओंकी स्मृति-प्राप्ति भी चतुर्दश दिनमें ही हो जानेके हमारे यहाँके उदाहरण भी हैं।

जगद्गुरु भारतको छोड़कर विश्वमें जितने भी देश हैं, उनकी अध्ययन-विधिमें, शिक्षामें, 'बाल-ताड़न' एक नियमितरूपसे माना गया था। पाश्चात्त्य गुरु मूसा आंग्ल-मुसलिम सम्प्रदायके व्यवस्थापक गुरु थे, उनकी व्यवस्थामें व्यवस्थाके अनुसार बालकोंको बड़ी ताड़नासे पालन करना पड़ता था। जो बालक माता-पिताकी आज्ञा न माने उसके लिये ईसाइयोंकी पुरानी व्यवस्थामें बालक-सम्बन्धी पालन-शिक्षादिके अनुचित कठोर नियम थे, उनको महात्मा ईसाने सँभाला।

शिशुविषयिणी शिक्षा

ततः परं शिशवः केचित् तस्यान्तिकमानीयन्त यत् स तान् स्पृशेत्। शिष्यास्तु तदानेतॄनभर्त्सयन्, तद् दृष्ट्वा ईशुः क्रुद्धस्तान् जगाद। मत्समीपमागमिष्यतः शिशूननुमन्यध्वं मा वारयत। यतः स्वर्गराज्यमीदृशानामेव।

(संस्कृत न्यू टेस्टामेन्ट, मार्कलिखित सुसंवाद १०—१३-१४-१५)

एक बार उनके पास कुछ बालक लाये गये, इसलिये कि महात्मा ईसा उनका स्पर्श करें; परंतु उनके शिष्योंने उन बालकोंके लानेवाले अभिभावकोंको डाँटा। यह देखकर ईसाने कुपित हो अपने शिष्योंसे कहा—'तुमलोग मेरे पास आनेवाले शिशुओंको आने दो, उन्हें रोको मत; क्योंकि स्वर्गका राज्य ऐसे बालकोंका ही है।'

विभिन्न देशोंके वैज्ञानिकोंने भी बालकको अज्ञानी, अबोध, नासमझ और मूर्ख माना है। वे बालकमें नैसर्गिक ज्ञान भी नहीं मानते। अर्थात् मानवेतर प्राणियोंमें ज्ञान सहज होता है, किंतु मानव-बालकमें वैसा कुछ नहीं मानते।

आध्या-स्मृति और ज्ञान

मानवेतर प्राणियोंमें मानव-जन्मकी प्राप्तिके लिये संसार-चक्रमें भ्रमती हुई निम्नकोटिकी योनियोंमें उत्पन्न होनेवाले सभी प्राणियोंमें एक सहज ज्ञान होता है, वह जन्म लेते ही क्रियाशील सहज मतिके रूपमें प्रकट हो जाता है, वह है उनकी आध्या-स्मृति।

आध्या जन्मकालमें ही पूर्ण विकासयुक्त होती है और जन्मके बाद जीवनभर वह वैसी ही बनी रहती है, बढ़ती नहीं। आध्यामें इन्द्रिय-गुणोंकी क्रियाशीलता, वाणी, भाषा, रुचि, ग्राह्याग्राह्य-विवेक, स्वरक्षणके नियम, भक्ष्य, शत्रु-मित्रका भान आदि अनेक गुण स्वतः आ जाते हैं। उनको कोई सिखाता नहीं, वे जन्मान्तरीय आध्या स्मृतिके विकासमात्र हैं। उनमें किसीके उद्बोधनकी आवश्यकता नहीं। उदाहरणार्थ—वानर-बालकको ले लीजिये। जन्म लेते ही उसमें इन्द्रिय-सम्बन्धी अद्भुत चेतना दिखायी पड़ती है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंकी भी संज्ञावाहक स्नायु या ज्ञानतन्तु 'नर्वस' क्रियाशील हो जाते हैं।

वह जन्मसे ही पूरी वानरी भाषा समझने और बोलने लगता है। एक नवजात शिशुको मैंने ध्यानसे देखा। उसी दिनका उत्पन्न हुआ बच्चा था। एक कुत्तेको दूरसे ही वानरीने देखकर एक कुर्र शब्द किया, उस शब्दके सुनते ही उस नवजात बच्चेने माके पेटको पकड़ लिया। उसके पंजेकी अँगुलियाँ माके पेटकी खालको समेटे पकड़े थीं। उसकी दोनों मुट्ठियोंमें माके पेटकी खाल थी। यदि वानरीको अकस्मात् भागना पड़ता तो वह अभिनव शिशु लटका हुआ माके साथ ही जाता। पेट और पीठपर लिपटनेवाली क्रिया सब उसकी अनुभूत-जैसी थी। वानरोंकी भाषामें कुर्र, किर्रा, कूँ, की, ऊँ, खिर्र, खौं आदि समीप २८ ही शब्द होते हैं, जिनसे वे अपना सारा क्रिया-कलाप और दैनिक व्यवहार चलाते हैं। यह भाषा उनकी जन्मजात होती है। इसे सिखानेकी आवश्यकता नहीं होती। इसी भाँति अन्य पशु-पक्षियोंकी भी हालत है। उन्हें जन्मतः सहज ज्ञान आध्या स्मृतिके रूपमें होता है और जन्मसे मृत्युपर्यन्त वैसा ही बना रहता है। उसमें कोई परिवर्तन या परिवर्द्धन नहीं होता। मानवेतर जीवोंमें मस्तिष्कके स्मृति खात, जैसे जन्मके समयमें होते हैं, मृत्यु-पर्यन्त वे वैसे ही बने रहते हैं। इस आध्या-स्मृतिसम्बन्धी अल्प ज्ञानसे ही वे तुष्ट और प्रसन्न रहते हैं। यदि प्रयत्नपूर्वक इन्हें कुछ बातें परिश्रमसे सिखायी भी जायँ तो अभ्यासवश वे सीख लेते हैं, किंतु कुछ दिनके अनभ्याससे वे फिर भूल जाते हैं। यह अभ्यास-क्रिया उनके सहज ज्ञानकी भाँति स्थिर नहीं रहती।

राजर्षि भरतने तपस्या करते हुए बाघकी गर्जनासे डरी हुई मृगीके गर्भसे गिरे हुए हिरन-बच्चेको गंडकी नदीमें बहते देख उसका उद्धार किया। आश्रममें लाये, बड़े प्रेमसे उसका पोषण-प्रीणन, लालन-पालन करते हुए शिक्षा देना भी प्रारम्भ किया। कई बातोंका अभ्यास कराया। वह मृग-शिशु ऋषिके कार्यमें सहायता भी करने लगा। उसकी आध्याके साथ अचाञ्चल्य, निग्रह, सामग्री-संरक्षण आदिका ज्ञान दिया। उसने अपनाया भी; किंतु एक दिन मृग-झुंडको देख सारा ऋषि-शिक्षण, आश्रमप्रेम, अस्वाभाविक क्रियाकलाप और राजर्षिके अद्भुत वात्सल्यको भूलकर वह मृग-झुंडके साथ भाग गया। वह फिर न लौटा। कहनेका तात्पर्य यह है कि मानवेतर जीवोंमें अध्यारोपित ज्ञान टिकता नहीं। उनकी आध्या-स्मृतिका सामान्य ज्ञान ही आजन्म स्थिर रहता है।

यह आध्या-स्मृतिजन्य अल्प ज्ञान तो जीवोंमें कृपणकी पूँजीकी भाँति बना रहता है; किंतु मानव-बालक ऐसा नहीं, वह तो ब्रह्मरूप ही माना गया है। उसके पास ज्ञानका अक्षय भण्डार है। उसका मस्तिष्क संसारके सभी प्राणियोंसे विशाल होता है। विश्वकी कोई वस्तु नहीं, जो उसके ज्ञानगम्य न हो। इसलिये भारतीय विज्ञान मानव-बालकको शुद्ध-बुद्ध पूर्ण मानता है। प्रारम्भमें ही मेधायुष्यकरणमें 'मेधापत्वे भूस्त्वयि दधामि, भुवस्त्वयि दधामि, स्वस्त्वयि दधामि, भूर्भुवः स्वः—सर्वं त्वयि दधामि।' मेधाकरणके बाद ही आयुष्यकरणमें, नाभि वा दक्षिण कर्ण-सम्बन्धी जपवाक्य, जो अष्टायुष्य कहलाते हैं, उनमें १ अग्नि, २ सोम, ३ ब्रह्म, ४ देवाः ५ ऋषयः, ६ पितर, ७ यज्ञ, ८ समुद्र—आदि स्व-मूर्तिक आयुष्य माने गये हैं। 'सर्वमायुरिति' इसके बाद 'अथैनं कुमारं पिता अभिमृशति, हस्तेन स्पृशति 'अश्मा भव, परशुर्भव, हिरण्यमयुतं भवेति'—अर्थात् अश्मा पाषाण इव दृढः स्थिरश्च, परशुरिव वज्र इवापकर्तृनाशकश्च, किं च 'अयुतमनभिभूतं, अप्रच्युतस्वरूपमिति यावद् हिरण्य-वत्तेजोयुक्तश्च, यतस्त्वं पुत्रनामा 'आत्मासि'। इन पंक्तियोंका भाव यह है कि तत्पश्चात् पिता इस कुमारका हाथसे स्पर्श करता है और कहता है—'हे कुमार! तू पत्थरकी भाँति दृढ़ रह। परशु अर्थात् वज्रकी भाँति अपने अपकारी शत्रुओंका नाश करनेवाला हो। इसी प्रकार तू सुवर्णकी भाँति कभी च्युत न होनेवाले दिव्य तेजसे युक्त हो; क्योंकि तू पुत्र-नामधारी मेरा आत्मा है।' भारतीय बाल-विज्ञानके ये उद्बोधक वाक्य बालकके स्वरूपो-द्बोधक वाक्य ही हैं।

> शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि
> संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।
> संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
> हे तात त्वं रोदिषि कस्य हेतोः ॥

'बेटा! तू किसलिये रोता है। अरे! तू तो शुद्ध है, बुद्ध है, निरञ्जन है, संसारकी मायासे परे है। बेटा! यह मोहकी निद्रा त्याग दे और संसारका सपना छोड़ दे।'

> विकल्प्यमाना विविधा गुणास्ते-
> ऽगुणाश्च भौताः सकलेन्द्रियेषु ॥
> भूतानि भूतैः परिदुर्बलानि
> वृद्धिं समायान्ति यथेह पुंसः।
> अन्नाम्बुदानादिभिरेव कस्य
> न तेऽस्ति वृद्धिर्न च तेऽस्ति हानिः ॥

'तेरी सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें जो भाँति-भाँतिके गुण-अवगुणों-की कल्पना होती है, वे भी पाञ्चभौतिक ही हैं। जैसे इस लोकमें अत्यन्त दुर्बल भूत अन्य भूतोंके सहयोगसे वृद्धिको प्राप्त

श्रीकृष्णकी बाल-लीला—१

कर ले तनिक कलेऊ लाल। आ जा, ओ प्यारे गोपाल॥
बुला रही हैं दोनों मैया। भगा खेलने कुँवर कन्हैया॥

बुला रही है जसुदा मैया। रूठ गया है कुँवर कन्हैया॥
बैठे बाबा लेकर थाल। आ जा, कुछ तो खा ले लाल॥

उछल रहे मेंढक के संग। दिखा रहे बंदरका ढंग॥
चिड़िया-फुदक, मोर-सा नृत्य। कृष्ण कर रहे बालक कृत्य॥

श्रीकृष्णकी बाल-लीला—२

वनमें बछड़े श्याम चराते । ग्वाल सखा सब सँगमें जाते ॥
हँसते करते खेल अनेक । सब आनन्दित वनको देख ॥

चुन चुन फूल बनाते हार । जिन्हें पहिनता नन्दकुमार ॥
कौन कह सके इनका भाग । जिनका हरिमें यह अनुराग ॥

वनमें भोजन कैसा सुंदर । ग्वाल सखा सँग बैठे नटवर ॥
पत्ते फूल बनाये बर्तन । खायँ खिलायें सभी मगन मन ॥

होते हैं, उसी प्रकार अन्न और जल आदि भौतिक पदार्थोंके देनेसे पुरुषके पाञ्चभौतिक शरीरकी पुष्टि होती है। इससे तुझ शुद्ध आत्माकी न तो वृद्धि होती है और न हानि ही होती है।'

यह है बालकका वैज्ञानिक स्वरूप। इसे आध्यात्मिक स्वरूप भी कहते हैं। बालकका आधिदैविक स्वरूप उपर्युक्त मेधायुष्य-में आ ही चुका है। अब आधिभौतिक स्वरूपको लीजिये। बालक सब कुछ हो सकता है। वह सर्वाधिकारी है। अधिभूत-सम्बन्धी भौतिक तत्त्वोंपर पूर्ण अधिकार कर लेना भौतिक स्वरूप है, किंतु चेतनका भौतिक स्वरूप अध्यात्म, अधिदैव-मिश्रित ही होता है। भेदशून्य—(सेक्यूलर) नहीं।

इस भाँति बालककी भौतिक उत्कृष्टता बताते हुए कहा है—

धन्योऽसि रे यो वसुधामशत्रु-
रेकश्चिरं पालयितासि पुत्र।
तत्पालनादस्तु सुखोपभोगो
धर्मात् फलं प्राप्स्यसि चामरत्वम्॥

'बेटा! तू धन्य है, जो शत्रुरहित होकर अकेला ही चिरकालतक इस पृथ्वीका पालन करता रहेगा। पृथ्वीके पालनसे तुझे सुखभोगकी प्राप्ति होगी और धर्मके फलस्वरूप तुझे अमरत्व मिलेगा।'

यज्ञैरनेकैर्विबुधानजस्र-
मथ द्विजान् प्रीणय संश्रितांश्च।
स्त्रियश्च कामैरतुलैश्चिराय
युद्धैश्चारींस्तोषयितासि वीर॥

'वीर! तू अनेक प्रकारके यज्ञोंद्वारा सदा देवताओंको तृप्त कर। ब्राह्मणों तथा शरणागतोंको भी संतुष्ट रख। अनुपम कामभोगद्वारा अपनी स्त्रीको भी दीर्घकालतक प्रसन्न रख तथा युद्धकौशलद्वारा सदा अपने शत्रुओंको भी संतुष्ट रक्खेगा।'

बालो मनो नन्दय बान्धवानां
गुरोस्तथाज्ञाकरणे कुमारः।
स्त्रीणां युवा सत्कुलभूषणानां
वृद्धो वने वत्स वनेचराणाम्॥

'तू बाल्यावस्थामें भाई-बन्धुओंके मनको आनन्द देना। कुमारावस्थामें आज्ञापालनद्वारा गुरुजनोंके मनको आनन्दित करते रहना, युवावस्थामें उत्तम कुलकी भूषणरूपा अपनी पत्नीके मनको संतुष्ट रखना और वृद्धावस्थामें वनमें निवास करके वनवासियोंके चित्तको प्रसन्न रखना।'

राज्यं कुर्वन् सुहृदो नन्दयेथाः
साधून् रक्षंस्तात यज्ञैर्यजेथाः।
दुष्टान् निघ्नन् वैरिणश्चाजिमध्ये
गोविप्रार्थं वत्स मृत्युं व्रजेथाः॥

'तात! राज्य करते हुए अपने सुहृदोंको प्रसन्न रखना। साधु पुरुषोंकी रक्षा करते हुए यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का पूजन करना। संग्राममें दुष्ट शत्रुओंका संहार करते हुए गौ और ब्राह्मणोंकी रक्षाके लिये अपने प्राण निछावर कर देना।'

इस भारतीय बालविज्ञानको भारतकी विदुषी माताएँ बालकको पालनेमें झुलाते हुए, लोरी देते समय उद्बोधक वाक्योंमें कहा करती थीं।

ज्ञानका प्रकाश या विकाश

बालकमें ज्ञानका प्रकाश होता है या विकाश। यद्यपि प्रकर्ष या विशेष अर्थमें अव्ययोंके भेदसे सूक्ष्म अर्थ-भिन्नता होती है; किंतु साधारणतः ज्ञान शब्दके साथ दोनों शब्द एक ही भावके द्योतक हो जाते हैं; परंतु पुराने डार्विन-वादी या वर्तमान सेक्युलरवादी सज्जनोंने विकाश शब्दको ही भावात्मक करके भ्रष्ट कर डाला है। वे विकाशकी परिभाषा इस भाँति करते हैं—'कुदरत अपनी खसूसियतसे जो इनकिलाब पैदा करती है, उसको विकाश कहते हैं। अर्थात् परिवर्तन-शील निसर्ग-नियमद्वारा उत्पन्न परिणाम ही विकासवाद है।'

नेचरकी तब्दीली होनेवाली हरकतसे वाष्पसमुद्भूत अण्ड, पिण्ड, जल, वनस्पति, मत्स्यादि जीव-जन्तु बनते-बनते विकसित रूप वानर बना और वानरकी पूँछ घिसते-घिसते वानरका नर बन गया। उसकी माध्यमिक अवस्था अधघिसी पूँछका एक और जन्तु विकाशवादी मानते हैं, वह है वन-मानुष। उसकी पूँछ घिस जानेपर वनमानुषका मानुष बन गया। यह है आजकलका विकाशवाद या विज्ञानवाद। किंतु भारतके तत्त्ववेत्ता बालकको इस विकाशवादका रूप नहीं मानते। वे तो बालकको प्रकाशवादके पूर्ण पुरुषका शुद्ध-बुद्धरूप मानते हैं और प्रकाश ज्ञानका पर्याय ही है।

ज्ञान नाम बोधके न्यूनाधिकराहित्यका है। बालकमें पूर्ण ज्ञान होता है, उसमें अधूरा शब्द भी नहीं जोड़ा जा सकता। इस भाँति बालक ज्ञानरूप होता है। हाँ, पूर्वकर्मजन्य मल-विक्षेप-आवरण उसके प्रकाशमें बाधक होते हैं। इन्हीं मल-विक्षेपावरणोंके निरावरण या निराकरण करनेका अथवा होनेका नाम विकाश है। भारतीयोंका यह विकाशवाद डार्विन साहबका विकासवाद नहीं।

डार्विन साहबके विकासवादका खण्डन खुद उन्हींके तर्कद्वारा हो जाता है। चेतन अर्थात् विकसित जीव-जन्तुओंमें ज्ञान पूर्व-पूर्वान्वयी होता है, प्रत्येक विकास प्राप्त हुए जीवमें उनकी ज्ञानधारा सहज होती है। उत्पन्न

होते ही उसमें उसका पूरा सहज ज्ञान प्रकट हो जाता है। यही आध्या स्मृति है, उसे किसीके शिक्षण या कालकी अपेक्षा नहीं होती।

यदि यह ठीक है तो वानरके विकसित रूप नरमें वह सहज ज्ञान कहाँ गया। वानरसुत नरमें उसका सहज ज्ञान या आध्या-स्मृति दिखायी ही नहीं देती। उसका अभाव ही नर-वानरकी सुत-पितृ-श्रृङ्खलाको तोड़ देता है।

इस भाँति भारतीय बालक डार्विन सृष्टि-श्रृङ्खलाका अभूतपूर्व डेवलपमेन्ट नहीं, वह तो सृष्टि-स्रष्टाका सर्वोच्च कौशल 'तदंश तद्रूप' है और वह आदिसर्गमें ही उत्पन्न हुआ है।

पुनर्जन्म

व्यष्टि-मुक्तिको छोड़कर सामूहिक जीवोंके आवागमनका नाम ही जन्म-मृत्यु है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

(गीता २।२२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्र ग्रहण करता है, उसी प्रकार देहधारी जीवात्मा पुराने जीर्ण-शीर्ण शरीरको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

इस सिद्धान्तको समझा देनेके बाद भी अर्जुनका व्यामोह जब दूर न हुआ, तब श्रीकृष्ण भगवान्ने कहा—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥

'अर्जुन! मेरे और तुम्हारे बहुत-से जन्म बीत चुके हैं। परंतप! उन सबको मैं तो जानता हूँ, किंतु तुम नहीं जानते।'

आवागमनके इस चक्रमें पिता-पुत्रकी मान्यता व्यावहारिक रूपमें थोड़े दिनोंकी है। कम-से-कम एक पीढ़ी और ज्यादा-से-ज्यादा तीन पीढ़ीतक। पितृत्वसे मुक्त होनेपर विश्वेदेवास्वरूप अपनी आत्मसम्पत्तिसे युक्त होता है।

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भावः तस्मादात्मेति कथ्यते॥

'यह जो अपनाता है, आदान (ग्रहण) करता है, विषयोंका अदन (आस्वादन) करता है तथा जो इसकी सत्ता सब ओर व्याप्त है, इसीलिये इसे आत्मा कहते हैं।'

अथ सम्पद उच्यन्ते स्वल्पे कर्मणि कर्मणः।
महतश्चिन्तनं सम्पत् तया प्राप्तं महाफलम्॥

'अब सम्पत्तियाँ कही जाती हैं। स्वल्प कर्ममें महान् कर्मका चिन्तन ही सम्पत्ति है; इससे महान् फल प्राप्त होता है।'

अत्र सम्पत्तिस्त्वनुरूपात्मभावे यस्य यद्रूपोचिता तस्य तथा भवनम्।

इस भाँति जीव ग्रहण, धारण, उत्पादन, संरक्षण तथा अनुप्रवेशपूर्वक, दिक्काल सम्मित होकर अपने प्रारब्धकी अवशिष्ट क्रियाकी पूर्तिके लिये पुनर्जन्म ग्रहण करनेको तैयार होता है। पुरुष-गुण—सुख-दुःख,इच्छा-द्वेष,प्रयत्न, प्राण, अपान, उन्मेष, बुद्धि, मनःसंकल्प, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धिसे युक्त होकर आविर्भूत होता है। बालक इन २१ गुणोंका पुञ्ज है। भ्रूणकालसे ही बालक अपनी गुण-सम्पत्ति-सत्ता-युक्त स्वतन्त्र होता है। माता-पितादि तो बालकके निमित्तकारण मात्र होते हैं। गर्भमें उस आत्माका अनुप्रवेश 'निच्चयो ह्येकविंशतिः' के साथ होता है।

आत्माके पर्याय और गर्भाशय

आत्मा क्षेत्रज्ञ, वेदयिता, स्प्रष्टा, घ्राता,द्रष्टा, श्रोता, रसयिता, पुरुष, स्रष्टा, गन्ता, साक्षी, धाता, वक्ता इत्यादिके पर्याय-वाला है। वह स्वयं अक्षय, अचिन्त्य और अव्यय होते हुए भी देवसङ्गसे सूक्ष्मभूत सत्त्व, रज, तम, देव, आसुर अथवा अन्य भावोंसे युक्त वायुसे प्रेरित हुआ शुक्रार्तव-संयोगसे गर्भाशयमें अवतीर्ण होता है।

बालकका स्वतन्त्र ब्रह्माण्ड

शुक्र, शोणित और आत्माका सम्बन्ध होते ही भ्रूणका ब्रह्माण्ड बन जाता है। यह गर्भाशयरूपी बालमन्दिर 'जरायु-गर्भमन्दिरम्' क्षुद्र तुम्बीके समान चपटा, तीन इञ्च लंबा, दो इञ्च चौड़ा तथा एक इञ्च मोटा और तौलमें समीप साढ़े तीन तोलामात्र भ्रूण-ब्रह्माण्ड है। इसमें अपरा जरायु एक अद्भुत आवरण है। आवर्तत्रयसहित भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धि अहंकाररूपी अपराप्रकृतिसमुद्भूत क्षेत्र है। जिसमें जीवभूता परा-प्रकृति-सम्पन्न भ्रूण अवतरित होता है। इस भ्रूण-ब्रह्माण्डमें भ्रूण-पोषणकी पूरी सामग्री होती है।

तत्त्वदृष्टिसे भ्रूण-ब्रह्माण्ड मातृशरीरसे बिल्कुल पृथक् होता है। उसका अपना यह निजी ब्रह्माण्ड है। मातृशरीरसे उसका नैमित्तिक सांनिध्यसम्बन्ध अवश्य है; किंतु वह ऐसा

ही है जैसे 'आद्या पराम्बा महामाया'के उदराकाशमें चेतन आत्माका स्वकल्पित ब्रह्माण्ड है।

इस 'भ्रूण-भुवनकोष' या 'बाल-विश्वगोलक' की रचना भी चतुर्दश भुवनकोषवाले ब्रह्माण्डकी भाँति ही है।

'चतुर्दश लोकाः स्वावरणभूतलोकालोकपर्वततद्बाह्य-पृथ्वीतद्बाह्यसमुद्रैः सहिता ब्रह्माण्डमित्युच्यते।'

'शङ्खनाभ्याकृति भ्यावर्तं गर्भगोलकम्।'

अथ ऊर्ध्व चतुर्दश भुवनोंकी सामग्रीसे युक्त होता है।

भूभूधरत्रिदशदानवमानवाद्या
ये चाश्र धिष्ण्यगगनेचरचक्रकक्षाः।
लोकव्यवस्थितिरुपर्युपरि प्रदिष्टा
ब्रह्माण्डभाण्डजठरे तदिदं समस्तम्॥
(सिद्धान्तशिरोमणि)

'भू, भूधर, देव, दैत्य, मनुष्य आदि, ग्रह-नक्षत्रोंके मार्ग, लोकोंकी अवस्थिति, पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाशादि—उपर्युपरिक्रमसे सब इस जठर-ब्रह्माण्डके अंदर है।'

भ्रूण-ब्रह्माण्डमें पहले कूटस्थरूप भ्रूण (गर्भ) मध्य विन्दु होकर उसके चारों ओर जलका आवरण रहता है। वह गर्भ-जल तेजसावेष्टित होकर गर्भवायुसे घिरा हुआ स्व-क्रियार्थ (अवकाश) आकाशसे परिवेष्टित होता है। यह सब गर्भ ब्रह्माण्डकी स्वतन्त्र गर्भसम्पत्ति है। गर्भस्थ बालक इसी अपनी निजी सम्पत्तिद्वारा बढ़ता है।

जिस भाँति जरायुज मानव या अन्य जरायुज जन्तुओंके बालकरूपी भ्रूण अपनी ही सम्पत्तिसे बढ़ते हैं, उसी भाँति अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज प्राणियोंके भ्रूण भी बढ़ते हैं। अण्डज ये हैं—

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च॥

अण्डज सृष्टिके जन्तुओंमें पक्षी, साँप, मगर, मछलियाँ, कछुए आदि जो भी स्थल, जल और आकाशमें विचरण करनेवाले प्राणी हैं, उनसे चतुर्थांश सृष्टि ओत-प्रोत—व्याप्त है। वे भी स्वतन्त्र सत्तायुक्त अपने अण्डरूपी ब्रह्माण्डमें पोषणपरिवर्द्धनसम्पत्सहित ही अवतरित होते हैं। उनके माता-पिता तो निमित्तोपादानमात्र होते हैं, उनकी देख रेखका कोई खास प्रबन्ध भी नहीं होता। पक्षी तो कुछ परवा करते हैं, किंतु अन्य जल-स्थलवाले जन्तुओंके अण्डे तो इधर-उधर लुढ़कते ही रहते हैं। उनकी कोई परवा नहीं करता। फिर भी असंख्य अण्डज-सृष्टि यथावत् वंशानुक्रमसे बराबर चलती आ रही है, स्वेदज और उद्भिज्जोंकी सृष्टि तो और भी विचित्र एवं रहस्यपूर्ण है। आजका वैज्ञानिक उसे समझ भी नहीं सकता। जीवसत्ताके विज्ञान बिना चेतन सृष्टिका रहस्य समझमें नहीं आ सकता।

गर्भावक्रान्ति

अवतरण, पोषण और परिवर्द्धन

सत्तासम्पन्न जीवका अवतरण, पोषण, परिवर्द्धन उसकी जन्म-जन्मान्तरीय अभ्यस्त क्रिया है। पुनर्जन्ममें वे सिखानी नहीं पड़तीं, वे तो उसकी अनुभूत क्रिया हैं। वह स्प्रष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता आदि पञ्चभूतोंके विषयोंका ज्ञाता तथा स्रष्टा, गन्ता, साक्षी, धाता, वक्तादि कर्तृगुणोंका वेदयिता स्वतन्त्र पुरुष क्षेत्रज्ञ कहलाता है।

'क्षेत्रं शरीरमात्मत्वेन जानातीति क्षेत्रज्ञ इति व्युत्पत्तिः।'

क्षेत्राख्यानि शरीराणि तेषां चैव यथासुखम्।
आत्मानं वेत्ति संयोगात् ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते॥
(ब्रह्मपुराण)

'क्षेत्र नाम है शरीरका; उसके साथ संयोग होनेसे जो शरीरको तथा अपनेको भी जानता है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है।' यही क्षेत्रज्ञ जब भोगायतन क्षेत्रको—

इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता)

—अधिष्ठान बनाकर अपनी अवशिष्ट संसार-यात्रा पूरी करनेके लिये क्रियाशील होता है, तब उसका पहला काम है गर्भमें अवतरण या प्रवेश।

चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते।

'क्योंकि आत्मा चेतन है, अतः वही कर्ता कहलाता है।'

क्षेत्रका यह कार्य अवतरण और अनुप्रवेश—द्विधा होता है। गर्भाशयमें अवतरणात्मक और भ्रूणमें अनुप्रवेशात्मक। इस अवतरणात्मक और अनुप्रवेशात्मक कार्योंके बाद जन्मात्मक तीसरा सर्ग उसका इस बाह्य संसारमें आने या उत्पन्न होनेका है।

इस भाँति अवतरण, अनुप्रवेश और जन्मके बाद विशिष्ट अर्थमें वह बालक कहलाता है; किंतु सामान्य अर्थसे अवतरण-क्रियाके बादसे ही बालक शब्द सार्थक होता है; क्योंकि 'बाल' शब्दकी व्युत्पत्ति 'बल प्राणने' और 'बल संवरणे' इस अवतरणसे ही चरितार्थ होती है ।

यह बालक कौन ?

गर्भावक्रान्ति—अवक्रान्ति नाम अवतरणका है । गर्भाशयमें अवतरण या प्राप्त होनेका नाम ही गर्भावक्रान्ति है । उस समयसे ही यह प्रश्न उठता है कि 'यह कौन है ?'

'यः कोऽसावित्यादि' 'यः कः असौ' इत्यादि पर्यायवाचक शब्दोंसे मुनीश्वरोंने भी कहा है ।

यहाँ 'यः' 'कः' ये दो पद सर्वनामबोधक कहे गये हैं । इनसे यह सूचित किया है कि क्षेत्रज्ञ परम दुर्बोध्य है । तीसरा पद 'असौ' समाधानकारक है ।

यह बालक कौन है ? वही आत्मा जिसे क्षेत्रज्ञ या कर्ता कहते हैं ।

चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते ॥

क्षेत्रज्ञरूप यही आत्मा चेतनायुक्त होता है । इसीसे इसको 'कर्ता' कहते हैं । इस क्षेत्रज्ञके अनुरूप ही 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' रूपी इसके विशाल क्षेत्र भी होते हैं । अण्ड, पिण्ड, ब्रह्माण्डरूपी त्रिविध क्षेत्र वैज्ञानिक या आध्यात्मिक दृष्टिसे एक ही प्रकारके होते हैं, किंतु आधिदैविक और आधिभौतिक दृष्टिसे इनकी रचना और क्रिया-कलाप भिन्न होते हैं । यथा—शुक्रार्तवाणु 'स्परमेटोयुवा' और 'ओवम्' ये दोनों उत्पादक क्षेत्रद्रष्टा, चिन्त्य-शक्ति या सीमित होते हैं; किंतु क्षेत्रज्ञ अचिन्त्य शक्ति या असीमित होता है । यों तो 'शुक्राणवस्त्वपरिसंख्येयाः' 'परार्द्धसंख्या इति केचित्' शुक्राणु असंख्य होते हैं । किसी-किसीके मतसे शुक्राणुओंकी संख्या परार्द्ध है, किंतु परार्द्ध संख्या तो अन्तिम संख्या है और वह असंख्यके रूपमें व्यवहृत होती है । इसके बादकी संख्याका कोई नाम-निर्देश नहीं; इसलिये शुक्राणुओंकी संख्या अपरिमेय है ।

व्यष्टिमें वही शुक्राणु संकल्प कोष, सारात्मा या परमामृत कहलाता है ।

शशाङ्कमण्डलं जीवः श्लेष्मा शुक्रं सितं बलम् ।

आदि सम्पत्तियुक्त—

मूलं शरीरवृक्षस्य बीजं कर्मद्रुमस्य च ।
प्रसवात् सर्वभावानामिन्दुरानन्दकारणम् ॥

(योगवाशिष्ठ)

चन्द्रमण्डल ही शरीररूपी वृक्षका मूल तथा कर्ममय वृक्षका बीज है । वह समस्त भावोंका प्रसव (उत्पादन) करनेके कारण आनन्दका हेतु है ।

उत्पादक शुक्रार्तवाणु-संख्या और वंशकोष साधारणतः पुं-स्त्रीकी एकावृत्तिक—एक बारका शुक्रार्तवाणु-संख्या साठ हजार होती है । अर्थात् एक बारमें साठ हजार पुत्रोत्पादन-क्षमता होती है और इतने ही वंशाणु या वंशकोष अर्थात् साठ हजार वंशकोष भी होते हैं । शुक्रार्तवाणुओंकी इतनी विशाल संख्या होते हुए भी गर्भवायु अपनी चङ्क्रमण-गतिसे एक ही बीजकोषको केन्द्र बनाकर उसे ही सुरक्षित रखता है । अन्योंको निष्फल या नष्ट कर देता है । कभी-कभी वही गर्भवायु एकाधिक केन्द्र बनाकर उतने ही आवर्तोंसे गति करता है, तब उतने ही गर्भ उत्पन्न होकर बढ़ते और जन्म लेते हैं ।

यमल-गर्भ

बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वे बीजे कुक्षिमाश्रिते ।
यमावित्यभिधीयेते धर्मेतरपुरःसरौ ॥

'भीतरकी वायुद्वारा बीजके दो विभाग कर दिये जानेपर कुक्षिमें स्थित हुए वे दो बीज पाप-पुण्यसे युक्त यमल कहलाते हैं ।'

बहु-गर्भ

भिनत्ति यावद् बहुधा प्रपन्नः
शुक्रार्तवं वायुरतिप्रवृद्धः ।
तावन्त्यपत्यानि यथाविभागं
कर्मात्मकान्यस्ववशात् प्रसूते ॥

यदि गर्भवायु पूरी शुक्रार्तवाणु-सम्पत्तिका विभाजन कर दे तो एक बारमें ही साठ हजार संतान उत्पन्न हो सकती है, किंतु एक गर्भाशयमें इतनी क्षमता नहीं होती ।

सगरके साठ हजार पुत्र

राजा सगरकी तपस्यासे और्व ऋषिने प्रसन्न होकर उन्हें वरदान दिया । राजाके दो रानियाँ थीं । एक केशिनी और दूसरी सुमति । केशिनीको वंशधारक एक पुत्रका वरदान देनेपर

भी सगरकी संतोष-सम्पत्ति पूर्ण न देखकर दूसरी रानी सुमतिको पूर्ण संतति यानी साठ हजार पुत्रोंके उत्पन्न होनेका वरदान दिया।

केशिनीके एक पुत्र (असमंजस) हुआ और सुमतिके एक तूँबी, जिसमें साठ हजार भ्रूणगर्भ थे। गर्भाशयमें इतना अधिक अवकाश न होनेके कारण भ्रूण बढ़ न सके। सुमति रानी इतना भार भी न सह सकी। जरायुके सहित अपरिवर्द्धित भ्रूण-निचय (तूँबी) को प्रसव किया। राजा उसे देखकर हतबुद्धि हो गये और तूँबीको त्यागनेका विचार किया।

सुमतिश्चापि तत्काले गर्भालाबुमसूयत।
सम्प्रसूतं तु तं त्यक्तुं दृष्ट्वा राजाकरोन्मनः॥

इतनेमें ही—तत्काल और्व महर्षिने समझाया—

गर्भालाबुरयं राजन्न भवांस्त्यक्तुमर्हति।
पुत्राणां षष्टिसाहस्रबीजभूतो यतस्तव॥

'राजन्! यह गर्भतूँबी है, इसे आपको त्यागना नहीं चाहिये। इसमें तुम्हारे साठ हजार पुत्र हैं; क्योंकि यह तूँबी तुम्हारे पुत्रोंका बीज है।'

तस्मात् तच्छकलीकृत्य घृतकुम्भेषु यत्नतः।
निक्षिप्य सपिधानेषु रक्षणीयं पृथक् पृथक्॥

'अतः इसके टुकड़े-टुकड़े करके पृथक्-पृथक् एक-एक टुकड़ेको यत्नपूर्वक घीके घड़ेमें रखकर ऊपरसे ढक्कन लगा देना चाहिये और इन सबकी अलग-अलग रक्षा करनी चाहिये।'

सम्यगेवं कृते राजन् भवतो मत्प्रसादतः।
यथोक्तसंख्या पुत्राणां भविष्यति न संशयः॥

'राजन्! इस प्रकार उत्तम व्यवस्था हो जानेपर मेरे प्रसादसे तुम्हें पूर्वोक्त संख्यावाले पुत्र प्राप्त होंगे।'

काले पूर्णे ततः कुम्भान् भित्त्वा निर्यान्ति ते पृथक्।
एवं ते षष्टिसाहस्रं पुत्राणां जायते नृप॥

'समय पूरा होनेपर वे सब पुत्र अलग-अलग घड़ा फोड़कर बाहर निकल आयेंगे। इस प्रकार तुम्हें साठ हजार पुत्र प्राप्त होंगे।'

महाराजा सगरने तुरंत ही साठ हजार ओषधि-घृत-कुम्भोंमें उन भ्रूणोंको एक-एक करके स्थापित करवाया। 'गर्भोष्मणा विपाकेन' गर्भाशयमें जितनी ऊष्मा होती है या होनी चाहिये, उतनी ही ऊष्मा उन कुम्भोंद्वारा बराबर गर्भ पूर्ण पुष्ट होनेतक दी जाती रही। समयपर वे साठों हजार बच्चे कुम्भोंसे उत्पन्न हुए। यद्यपि शुक्राणु असंख्य या परार्द्ध-संख्यक होते हैं, किंतु क्षेत्रसम्पद्द्वारा एक बारमें कितने उत्पन्न होते या हो सकते देखे गये हैं, यही इस आख्यायिकाका तात्पर्य है।

वंशकोष

वंशानुक्रमके रक्षार्थ ही वंशकोष होते हैं और नारीके शरीरमें भी आर्तवाणु और वंशकोष उसी प्रकार होते हैं, जैसे नरमें। क्षेत्र-दृष्टिसे उनका भी वैसा ही महत्त्व है। वे वंशकोष स्त्री-पुरुष एक जातीय मानकर ही उनका विवाह-सम्बन्धमें निषेध किया गया है। गोत्र-दृष्टिसे उनकी तुल्यता अनिष्टकर होनेसे ही 'सगोत्र-विवाह' त्याज्य माना गया है। आयुर्विज्ञानाचार्य महर्षि चरकने '''अतुल्यगोत्रस्य रजः क्षयान्ते' कहा है कि 'अतुल्य गोत्रमें ही विवाह होना चाहिये।' और इन वंशकोषोंकी क्षेत्रदृष्टिसे सपिण्डता भी त्याज्य है। इसीलिये १ सपिण्डा, २ समानगोत्रा, ३ समानप्रवरा—इन त्रिविध भार्याओंका निषेध माना गया है।

माताके वंशमें मातासे पाँचवीं पीढ़ीसे और पिताके वंशमें पिताकी पीढ़ीसे सातवीं पीढ़ीसे ऊपर सपिण्डता नहीं रहती।

सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।

यह सपिण्डता नर-नारी-शरीरोंके वंशकोषोंसे ही मानी गयी है। षाट्कौशिक शरीरके तीन-तीन कोष वंशकोषोंसे समुद्भूत कोष ही होते हैं। जैसा कि गर्भोपनिषद्में लिखा है—

'एतत् षाट्कौशिकं शरीरं त्रीणि पितृतः, त्रीणि मातृतः, अस्थिस्नायुमज्जानः पितृतः, त्वङ्मांसरुधिराणि मातृतः' इति।

पिताके अस्थिकोष, स्नायुकोष और मज्जाकोष तथा माताके त्वक्कोष, मांसकोष और रुधिरकोष समक्रिय होनेके कारण मनःसम्पत् या सत्-प्रवृत्तिसम्बन्धी अभ्युदयके व्याघातक होंगे।

एक शरीरके अवयवोंसे सपिण्डता कही गयी है। 'आत्मा हि जज्ञे आत्मनः'; 'प्रजामनु प्रजायते।' आत्मा ही आत्मासे पैदा हुआ है और संतानके अनुरूपमें पिता ही पैदा होता है। आपस्तम्ब भी कहते हैं—

स एवायं विरूढः सन् प्रत्यक्षेणोपलभ्यते।

'वही पिता आदिसे पैदा होकर प्रत्यक्ष दिखायी देता है।'

इस वंशकोष-वंशानुक्रमविज्ञानद्वारा सपिण्ड, सगोत्र या समप्रवरवाला विवाह निषिद्ध है ।

'वीर्यसम्पद् द्विधा प्रोक्ता ।' निर्माण और उत्पत्ति भेदसे जीव-सम्पत्ति दो प्रकारकी होती है—

जगज्जृम्भिकया जीवः स्वमैक्यं द्वित्वमास्थितः ।
(योगवाशिष्ठ)

जीवो जीवत्वमेव स्वजीवत्वादेव च स्वतः ।
अन्तस्त्वेन बहिष्ट्वेन दृश्यते न च वायुवत् ॥

शुक्राणु और वंशाणु कार्यभेदसे दो प्रकारके होते हैं, किंतु जीवके ये दोनों स्वकल्पित भेद ही हैं ।

मनश्चन्द्रमसो जातं मनसश्चन्द्र उत्थितः ।
जीवाज्जीवोऽथवैकैषा सत्ता द्रवजलाङ्कवत् ॥
शुक्रसारं विदुर्जीवं प्रालेयकणसंनिभम् ।
आनन्दाचलसंदोहस्तत एव प्रवर्तते ॥
तं चेतति तदा भासं पूर्णमात्मस्थमात्मना ।
तत्र तन्मयतां धत्ते तेन तन्मयरूपिणी ॥

'मन चन्द्रमासे उत्पन्न हुआ है और चन्द्रमा मनसे प्रकट हुआ है । इसी प्रकार जीवसे जीव उत्पन्न होता है । अथवा यह एक ही सत्ता है, जैसे जल और उसका प्रवाह अभिन्न हैं । शुक्रके सार-तत्त्वको जीव मानते हैं । वह हिमबिन्दुके समान है । उसीसे अविचल आनन्दसंदोहकी प्रवृत्ति होती है । वह उस आनन्द या आनन्दाभासका स्वयं अपने मनसे अनुभव करता है और उसीमें तन्मय हो जाता है ।'

जीवसंविदियेषातर्यदुपायाति पञ्चताम् ।
न तत्र कारणं किंचिद् विद्यते न च कार्यता ॥

'यही जीव-संवित् है । यह जब नष्ट होती है, तब उसमें कारण या कार्य कुछ भी नहीं रहता ।'

फिर भी व्यावहारिक दृष्टिसे ये दोनों अलग-अलग हैं ही । भ्रूण-गर्भमें ये वंशकोष बिल्कुल निष्क्रिय वंशसम्पत्तिरूपसे सुरक्षित रहते हैं । बालकपनमें भी इनका कोई कार्य नहीं होता, किंतु तारुण्य आते ही ये क्रियाशील होकर वंशोत्पत्ति करते हैं । ये वंशकोष पीढ़ी-दर-पीढ़ी बराबर चले आते हैं । पितासे पुत्रमें और पुत्रसे पौत्रमें तथा पौत्रसे प्रपौत्रमें परम्परासे आते हैं । इसी परम्पराका नाम 'संतति' या 'संतान' है ।

संततिः अविच्छिन्नधारा, गोत्रं वंशपरम्परा, 'वंशः संतानम्' संतन्यते—तनु विस्तारे ।

आजकलका वैज्ञानिक इन द्विविध भेदोंको क्षेत्रपरत्व तो मान लेता है, किंतु क्षेत्रज्ञके ज्ञान बिना वंशकोषकी सत्ताजन्य विविध क्रियाओंका कोई समाधान उसकी समझमें नहीं आता । केवल 'नेचरकी नियामत' कहकर ही वह संतोष कर लेता है । अबतक उसे यह भी नहीं मालूम कि संसार सत्ता, गुण, धर्म, वासना आदि जीव सम्पत्के ज्ञात पदार्थ हैं क्या ? पञ्चविंशति तत्त्व तो उसके लिये 'दामव्याल-कटन्याय' हैं । जीवकी स्वतन्त्र सत्ता समझे बिना इनका ज्ञान हो भी नहीं सकता । यह विस्तृत प्रकरण है; किंतु अचिन्त्यशक्ति बालककी अद्भुत सत्ताके सम्बन्धमें कुछ सांकेतिक वर्णन अभीष्ट भी है ।

वंशकोषोंमें संस्कार

उपर्युक्त जीवसम्पत्तिमें अन्य भावोंकी भाँति संस्कारोंका भी महत्त्व है । यह वंशकोषके साथ पार्श्वाधिष्ठानी होकर वासनारूपसे लगे रहते हैं । कारण शरीरकी वासनाकी भाँति ये भी (संस्कार-कोष भी) निष्क्रिय प्रसुप्त-जैसे बने रहते हैं । अनुकूल समय पाकर ये संस्कारकोष युगपत् (एकदम) सत्वर क्रियाशील हो जाते हैं । इनकी क्रियाशीलता पूर्ण अभ्यस्त स्थितिकी पूर्वानुभूत होती है । उसका पाठ या ज्ञान किसीको पढ़ाना या समझाना नहीं पड़ता ।

ये संस्कारकोष भी जीव-सम्पत्तिमें उसी भाँति स्थित रहते हैं, जैसे वंशकोषादि अन्य जीवसम्पत्ति । कालापेक्षी यह भी होते हैं । अनुकूल समय पाकर सत्वर क्रियाशील होकर जन्मान्तरीय अभ्यासद्वारा सुचारु कार्य करने लगते हैं । उदाहरणार्थ—हम एक आजके ही उत्पन्न हुए अभिनव शिशुको ले लें । वह तुरंत जन्मा हुआ बालक, जिसने अभी पूर्णरूपसे आँखें भी नहीं खोली हैं, माता-पिताका मुख भी नहीं देख सका है, किंतु माताकी गोदमें चुपचाप पड़े हुए मातृस्तनके मुखमें लगते ही कितने अद्भुत कौशलयुक्त होकर दुग्ध-पान करने लगता है । यह बात भौतिक दृष्टिसे कितने महान् आश्चर्यकी है । स्तनवृन्तको मुखमें पाते ही वह अभिनव शिशु दुग्ध-पानकी सप्तविध क्रियाओंको कितनी पटुतासे सम्पादित करता है । यह एक पूर्वजन्म या जीव-सत्ता न माननेवालोंके लिये आश्चर्यकी बात है ।

दुग्ध-पान-क्रिया सप्ताङ्गोंद्वारा सप्त-विधियुक्त होती है । सृक्किणी, ओष्ठ, तालु, जिह्वा, कण्ठ, आहार-नलिका,

आमाशय—इन सप्त स्थानोंमें यथाक्रम आकुञ्चन, आकर्षण, आगिरण, रसन, ग्रहण, संसरण, आदान—ये क्रियाएँ कितने सुचारु रूपसे वह बालक करने लगता है । सृक्किणी अर्थात् होठोंके प्रान्तोंद्वारा आकुञ्चन-क्रिया तथा होठोंद्वारा आकर्षण, यानी दबाव डालकर या दाबकर तालुसे निगलनेवाली क्रिया, जिह्वा-तन्तुओंसे रस लेकर, रसनकार्य करके कृकल वायुद्वारा यह कार्य-चतुष्टय पूरा करता है । इसके बाद उदान वायुद्वारा कण्ठमें ग्रहण करते हुए श्वासनलिकाको बंद करके आहारनलिकामें संसरणरूपी क्रियाको करते हुए वह अभिनव बालक दूधको आमाशयमें ले जाता है। यहाँपर उसकी आदान-क्रिया पूरी होती है। यह सम्पूर्ण क्रिया-कुशलता जन्मान्तरीय अभ्यासका संस्कारमात्र है, जिसे वह सीखा-सिखाया है ही । अतः वह सरलतापूर्वक इस आश्चर्यजनक क्रियाको बड़ी ही आसानीसे कर लेता है । इसके लिये उसे समझाने-बुझाने, सिखाने-पढ़ाने या नवाभ्यास करानेकी आवश्यकता ही नहीं होती । यह उसका जन्मान्तरीय अनुभूत संस्कार है । संचित संस्कार-कोषोंके कारण इसका लोप नहीं होने पाता ।

संस्कारो न विलुप्यतेऽनुभवजो जन्मान्तरेष्वप्यमुं
सिद्धान्तं स्फुटयन् विभात्यभिनवोत्पन्नः शिशुः शोभनः ।
आच्छन्नाक्षिपुटं निशं प्रजनयन् पित्रोरनुच्चं सुखं
क्रोडे मातुरयं स्तनावृतमुखः तत्क्षीरधाराधरः ॥

संस्कार-कोषोंकी भाँति ही वासनाकोष भी होते हैं। वस्तुतः संस्कारकोष और वासनाकोष एक ही है । भ्रूणके पञ्चम मासमें मनोमय कोषका प्रादुर्भाव होता है ।

'पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति ।'

इसमें संस्कारकोष ही द्विधा विभक्त होकर वासनाकोष और संस्कारकोष—दो हो जाते हैं। संस्कारकोष भौतिक तत्त्वोंके सांनिध्यसे ही क्रियाशील हो जाते हैं और सम्बन्धित अङ्गोपाङ्गोंमें पूर्वानुभूत गति पैदा कर देते हैं—जैसे बालकका श्वास-प्रश्वास और दुग्धपान-क्रिया आदि और वासना—

'धर्माधर्मरूपिणौ जीवगतसंस्कारविशेषौ ।'
वसत्यदृष्टा सर्वेषु भूतेष्वन्तर्हितापि च ।
धातुर्वस निवासेऽतो वासना तेन सा स्मृता ॥

लोक, शास्त्र, देह-भेदसे उनमें चेतना उत्पन्न हुआ करती है। वह वासना, चेतना शुद्धा और मलिना—दो प्रकारकी होती है । संस्कार कोष भोगसे क्षीण होते हैं और वासना-कोष ज्ञानसे ।

'तत्त्वज्ञाने समुत्पन्ने वासना क्षीयते'

इसके अतिरिक्त अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष हैं, जो भौतिक शरीरको आपादमस्तक घेरे हुए आत्माको आवृत करते हैं ।

'कोषा इवात्माच्छादकत्वात् कोषाः' महर्षि विद्यारण्यजीने इनका विस्तृत विवेचन किया है । यहाँपर जीव-सम्पत्तिका यह सांकेतिक विवेचन किया गया है। यों तो—

शतिका जीवसम्पत्तिः । शतस्य विकारोऽवयवो वा शतस्य निमित्तसंयोगोत्पादको हेतुर्वा ।

बालक शत-सम्पत्तियुक्त होकर ही खुड्डीकावक्रान्तिके रूपमें गर्भाशयमें अवतरित होता है । खुड्डीक नाम सूक्ष्मका है । इस सूक्ष्मावक्रान्तिके बाद ही महती गर्भावक्रान्तिका वर्णन किया है । प्राचीन विज्ञानमें इस भाँति बालकका सम्पूर्ण वर्णन किया गया है । वर्तमान वैज्ञानिकोंका परिज्ञान कितना अधूरा है, बालकको वे क्या समझते हैं, यह भी थोड़ा यहाँ दिखला देना आवश्यक है ।

भौतिक वैज्ञानिकोंका बालक

भौतिक शरीरविज्ञानवेत्ता मानव-बालकको ४८ तत्त्वोंका पुञ्ज मानते हैं । वह तत्त्व है इनके 'क्रोमोसोम' । वस्तुतः क्रोमोसोम भी चौबीस ही होते हैं। 'क्रोमेटिन' के संहत गुच्छ या लड़ीके टूटनेसे ही 'क्रोमोसोम' की उत्पत्ति होती है । इस भाँति 'क्रोमोसोमों'की संख्या २४ से ४८ हो जाती है । इन्हीं क्रोमोसोमोंके द्वारा माता-पिताके गुणोंका संतानमें अवतीर्ण होना मानते हैं । वे यह भी मानते हैं कि प्रत्येक जातिके जन्तुमें इनकी (क्रोमोसोम) की एक विशिष्ट संख्या होती है और विभिन्न जातिके वृक्षोंमें भी इनकी एक निर्दिष्ट संख्या पायी जाती है । उसीपर उन-उन जातियोंके जन्तुओंके स्वरूप और गुण हैं ।

इनकी जीवन-सृष्टिके दो विभाग हैं—

१—एककोषाणुधारी जीव—जैसे 'अमीवा' 'पेरेमीशियन' 'एल्गा' आदि ।

२—बहुकोषाणुधारी जीव—जैसे मनुष्य, गौ, घोड़ा और बड़े आकारवाले वृक्ष आदि ।

इन दोनों भाँतिके जीवोंमें जीवनकी सब क्रियाएँ एक समान होती हैं। भोजन-ग्रहण, आक्सीजन-पान, भक्ष्यका आत्मीयकरण और क्रियावशेषका मलोत्सर्ग तथा उत्पत्तिकार्य सभी बराबर करते हैं। भेद केवल इतना है कि जहाँ बहुकोषाणुधारी जीवमें प्रत्येक कार्यके लिये एक समूह या अङ्ग निर्दिष्ट है, वहाँ एककोषाणुधारी जीवके शरीरमें एक ही कोषाणु इन सब कार्योंको सम्पादन करता है। 'अमीवा' जिसका शरीर केवल एक कोषका बना हुआ है, जीवनके सब कार्य मनुष्यकी ही भाँति करता है।

४८ क्रोमोसोमोंके कार्योंके पुञ्जका नाम ही 'मानव-बालक' है। यदि भ्रूण-कालमें कुछ क्रोमोसोम कम पड़ जाय तो वह मानव-बालक न होकर कुछ और ही होगा।

वर्तमान वैज्ञानिक 'अमीवा' ज्ञानसे 'अथ श्री' करके मानव-ज्ञानके ४८ क्रोमोसोमोंका वर्णन करते हुए जीव-विज्ञानकी 'इति श्री' कर देते हैं।

महर्षि कपिलके **'एवमेषा तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता। अव्यक्तम्, महान्, अहङ्कारः, पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः, शेषाः षोडश विकाराः, यथा पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः, पञ्च महाभूतानि, एष षोडशको गणो विकृतिरेव विकारः।'**

इन चतुर्विंशति तत्त्वोंके (प्रकृत रूप आठ तत्त्वोंको छोड़कर षोडश विकारोंके तत्त्वोंके कारण, कार्य और परिणामभेदसे) ही ४८ तत्त्व बन जाते हैं। इन वैकारिक और दृष्ट ४८ क्रोमोसोमोंको तो मान लेते हैं और (शतिका जीवसम्पत्तिः) के ५२ तत्त्वोंको वर्तमान वैज्ञानिक समझ ही नहीं सके हैं।

वस्तुतः चतुर्विंशति तत्त्वोंके साथ 'पुरुष' पच्चीसवाँ है, इन पच्चीसोंके चतुर्व्यूहका नाम ही 'शतिका जीवसम्पत्तिः' है। इस प्राच्यविज्ञानकी जीव-सम्पत्तिके कारण ही बालक 'अचिन्त्यशक्ति' माना गया है। इसी 'अचिन्त्यशक्ति' का नाम है—पुरुषार्थ।

बालकमें अपूर्व दिव्य भावका दर्शन

(लेखक—पं० श्रीश्रीपाद दामोदर सातवलेकर, स्वाध्यायमण्डल)

'बाल' छोटे लड़केको कहते हैं, उससे छोटेको 'बालक' कहते हैं। बालक यद्यपि शरीरसे छोटा-सा होता है, परंतु अध्यात्मशास्त्रकी दृष्टिसे उसमें बड़ी दिव्य शक्ति रहती है। इस दिव्य शक्तिको देखना आवश्यक है।

आकर्षक शक्ति

बालक घरमें सोता है, माता बाहर अपने अनेक कार्योंको करती रहती है, पर माताका सारा लक्ष्य बालककी ओर रहता है। बालक रोने लगा तो माता अपने हाथके कार्यको वहीं छोड़कर तुरंत उठती है और बालकके पास जा पहुँचती है तथा उसकी सेवामें तत्पर हो जाती है। इसका कारण यही है कि बालकमें एक अपूर्व शक्ति रहती है, उसीका यह आकर्षण है, जो माताको खींच लाता है।

सहजावस्था

योगीलोग 'सहज-स्थिति' प्राप्त करनेके लिये नाना प्रकारके योग-साधन करते हैं और बड़े प्रयत्नसे 'सहजावस्था'-को प्राप्त करते हैं, इस अवस्थाको प्राप्त करनेपर वे अपने-आपको धन्य तथा कृतकृत्य मानते हैं; पर यह 'सहजावस्था' बालकको बालक-अवस्था रहनेतक स्वयं बिना किसी अनुष्ठानके प्राप्त रहती है। जो 'सहजावस्था' बालकको बालक-अवस्थामें बिना किसी साधन किये ही प्राप्त रहती है, वही बड़ी आयुवाले लोगोंको विशेष योगके अनुष्ठानसे साध्य होती है। इसलिये बालक-अवस्था श्रेष्ठ है।

'सहजावस्था'का अर्थ ही यह है कि 'जन्मना सह जाता अवस्था सहजावस्था' जन्मके साथ प्राप्त अवस्था। यह बिना आयास प्राप्त होती है और तबतक रहती है कि जबतक इसमें बालभाव रहता है। प्रौढभावके अभावका नाम बालभाव है। प्रौढभावमें एक प्रकारका ज्ञान उद्भूत होता है, जिससे उसको पता चलता है कि यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह स्वकीय है और यह परकीय है। इस प्रकारका द्वन्द्वका ज्ञान होते ही वह सहजावस्था दूर हो जाती है।

बाबा आदम

'बाबा आदम और हव्वा' स्वर्गीय उद्यानमें रहते थे।

ज्ञानवृक्षका फल खानेसे वे स्वर्गसे भ्रष्ट हो गये। यह कथा बाइबल और कुरानमें है। वे बाबा आदम यही बालक हैं। ये बालकावस्थामें स्वर्गीय उद्यानमें ही रहते हैं और द्वन्द्वका ज्ञान प्राप्त करनेपर इन्हें अपने नंगेपनका पता लगता है तथा इसी कारण ये स्वर्गीय आनन्दसे वञ्चित हो जाते हैं। यह 'बालक' ही 'बाबा आदम' है, पर इसका पता ईसाई और मोहम्मदीय भाइयोंको नहीं है। सब बालक बालभाव रहनेतक स्वर्गीय आनन्दका अनुभव करते ही हैं। बालभाव दूर होते ही उनसे वह अलौकिक आनन्द भी दूर हो जाता है।

इस बालभावमें यह अद्भुत सामर्थ्य कहाँसे आया? इसमें ऐसी कौन-सी अपूर्व शक्ति होती है, इसका विचार करना चाहिये। बालकके जन्मका वृत्तान्त इस कार्यके लिये जानना चाहिये, जिसके ज्ञानसे हमें उस अपूर्व शक्तिका पता लग जायगा।

अग्निकी चिनगारी

बालकके जन्मके पूर्व एक विशेष तैयारी होती है, जिसका सम्बन्ध विश्वात्माके साथ रहता है। माता-पिताके सम्बन्धसे बालकका जन्म होता है, यह एक अति स्थूल ज्ञानकी बात है, पर माता-पिताओंका सम्बन्ध कितना भी होता रहे, यदि विश्वात्माकी योजना उस सम्बन्धके समय अनुकूल न रही तो बालकका जन्म ही नहीं होगा। इस कारण यह जानना चाहिये कि वह विश्वात्माकी योजना क्या है और वह माता-पिताके सम्बन्धके समय किस तरह अनुकूल होती है और क्यों प्रतिकूल हो सकती है।

उपनिषद्में कहा है—

यथा अग्नेः ज्वलतः विस्फुलिङ्गाः विप्रतिष्ठेरन्।

(कौ० उ० ३। ३; ४। १९)

यथा अग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेव अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः··· व्युच्चरन्ति।

(बृ० उ० २। १। २०)

वह्नेश्च यद्वत् खलु विस्फुलिङ्गाः।

(मैत्री उ० ६। २६)

यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते।

(मुण्डक उ० २। १। १)

'प्रदीप्त अग्निसे चारों ओर अनेक चिनगारियाँ बाहर आती हैं, इसी तरह सर्वव्यापक परमात्मासे जीवरूपी अनेक चिनगारियाँ बाहर आती हैं।' जैसे चिनगारी अग्निरूप होती है, वैसे ही यह जीवरूप चिनगारी भी आत्मरूप होती है। श्रीमद्भगवद्गीतामें यही बात अधिक स्पष्ट शब्दोंमें कही है—

मम एव अंशः जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(१५। ७)

'मेरा अर्थात् परमात्माका सनातन अंश जीवलोकमें जीव हुआ है।' अर्थात् यह परमात्मारूप विशाल प्रदीप्त अग्निकी जीवरूप एक छोटी-सी चिनगारी ही है। अनन्त
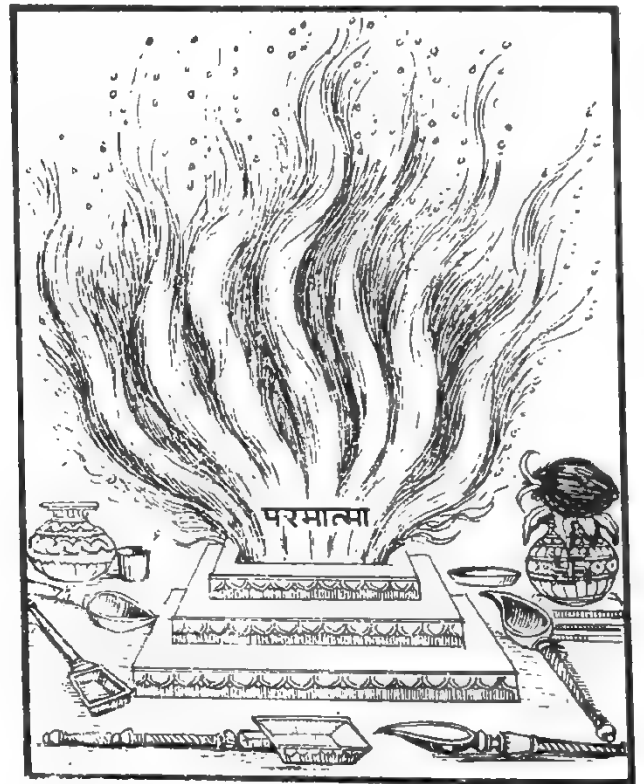
परमात्माके सतार्चियुक्त शाश्वत अग्निसे शाश्वत (सनातन) चिनगारियाँ बाहर आ रही हैं। अनन्त अग्निसे अनन्त चिनगारियाँ बाहर आ रही हैं। यह सनातन अग्निका शाश्वत कार्य चल ही रहा है।

परमात्मारूप इस अग्निके साथ तैंतीस विभिन्न शक्तियाँ रहती हैं। अग्निके रथपर ये ३३ शक्तियाँ रहती हैं। वेदमें 'सरथम् आवह देवान्' देवोंको अपने रथपर बिठलाकर ले आओ, ऐसे सैकड़ों वचन हैं, जो बताते हैं कि इस एक चिनगारीके साथ ३३ छोटी-छोटी चिनगारियाँ इकट्ठी होकर रहती हैं। यह बात समझमें आ गयी, तो बालक-

की-शक्तिका ठीक-ठीक पता लग सकता है । 'त्रयस्त्रिंशतं देवान् आवह हविषे अत्तवे ।' इस तरह स्पष्ट वचन भी वेदमें सैकड़ों हैं । यज्ञका हवि भक्षण करनेके लिये ३३ देवोंको यहाँ ले आओ । इस रीतिसे परमात्म-अग्निकी एक चिनगारी अपने साथ ३३ देवताओंकी छोटी-छोटी चिनगारियोंको लाती है । इसका उद्देश्य यहाँ आकर 'यज्ञ करना और यज्ञशेष भक्षण करके कृतार्थ होना' होता है ।

मधुकर राजा

इसीको 'मधुकर राजा और मधुमक्खियोंका सङ्घ' कहा है । परमात्माकी मुख्य चिनगारी है और उसके साथ रहनेवाली ३३ छोटी चिनगारियाँ हैं । परमात्मा सबमें मुख्य है, इसलिये वह 'मधुकर राजा' है । इसकी चिनगारीका नाम 'मधुकर-राज-पुत्र' है । परमात्माके साथ ३३ देवताएँ रहती हैं, उसी तरह उसके पुत्रके साथ भी ३३ देवतांश रहते हैं । यह सब 'मधुमक्खियाँ और मधुकर राजा' की उपमासे उपनिषदोंमें समझा दिया गया है—

तस्मिन् उत्क्रामति अथ इतरे सर्व एव उत्क्रामन्ते। तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्ते । तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानं उत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते, एवमस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्ते ।

(प्र० उ० २ । ४)

'जिस तरह मधुमक्खियोंका राजा ऊपर उठने लगा तो सब मक्खियाँ उसके साथ ऊपर उठती हैं और वह बैठने लगा तो वहीं सब मक्खियाँ बैठ जाती हैं ।' इसी तरह मुख्य परमात्माका अंश उठने लगा तो शेष देवताओंके अंश उसके साथ उठने लगते हैं और वह जहाँ बैठने लगता है, वहीं शेष देवतांश उसके साथ बैठ जाते हैं । मधुमक्खियोंका राजा और अन्य मधुमक्खियाँ जैसे रहती हैं, वैसे ही यहाँ स्थिति है । परमात्माका अंश परमात्माका अमृत पुत्र है, वह जहाँ जाता है, वहीं उसके साथ अन्य ३३ देवताओंके अंश जाते हैं और उसके साथ ही वे सब रहते हैं ।

जिस तरह राजाके साथ सब मन्त्री और सरदार रहते हैं, उसी तरह राजपुत्रके साथ मन्त्रियों और सरदारोंके पुत्र रहते हैं । ऐसे ही परमात्माके साथ जैसे ३३ देवताएँ रहती हैं, वैसे ही परमात्माके अमृत पुत्रके साथ ३३ देवतांश
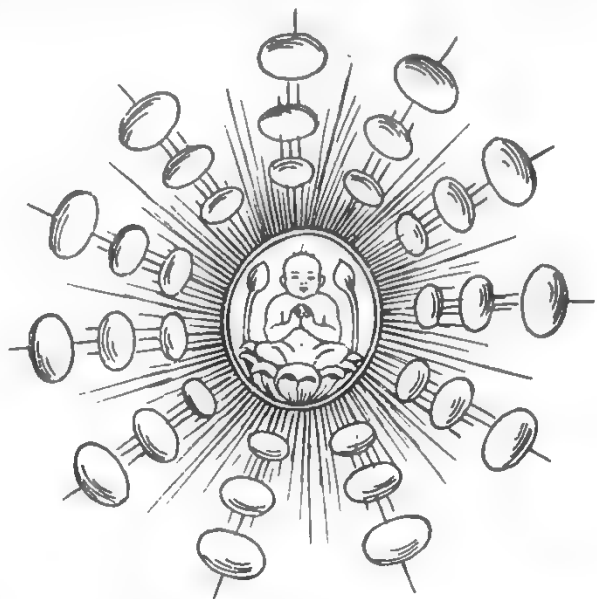
रहते हैं । इस तरहका यह जीवात्माके साथ ३३ देवतांशोंका चक्र सदा रहता है । जहाँ जीव गर्भमें प्रवेश करता है, वहाँ वह इन देवताओंके साथ प्रवेश करता है और जिस शरीरसे विमुक्त होता है, उस शरीरसे यह बाहर निकलनेके समय इन सब ३३ देवताओंके साथ बाहर निकल आता है । इसका शरीरमें प्रवेश होनेसे वहाँ जीवनका उदय होता है और इसके शरीरसे बाहर निकलनेसे मृत्यु हो जाती है ।

इन ३३ देवांशोंमें भूस्थानीय ११, अन्तरिक्ष-स्थानीय ११ और द्युस्थानीय ११—सब मिलकर ये ३३ देवताओंके ३३ अंश हैं और उनका अधिष्ठाता परमात्माका अंश होता है । भूस्थानीय देवता स्थूल, भुवःस्थानीय सूक्ष्मतर और द्युस्थानीय सूक्ष्मतम होती हैं । इसलिये ऐसा कह सकते हैं कि परमात्माके अमृत पुत्रके गलेमें ये तीन रत्नमालाएँ हैं । इसलिये इसका नाम वेदोंमें 'रत्न-धा तम' कहा है । उत्तम-से-उत्तम रत्नोंका धारण करनेवाला यह है ।

देवतांशोंके शरीरमें आने और रहनेके विषयमें उपनिषदोंमें इस तरह कहा गया है—

अग्निः वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदित्यः चक्षुः भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन् । ओषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशन्, चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत् । मृत्युः अपानो भूत्वा नाभिं प्राविशत्, आपो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् । (ऐ० उ० १ । २ । ४)

'अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा, ओषधियाँ, चन्द्रमा, मृत्यु, जल—ये देवताएँ वाचा, प्राण, नेत्र, कान, केश, मन, अपान और रेतका रूप धारण करके शरीरमें अपने-अपने स्थानमें जाकर रहीं।' अर्थात् इन देवताओंके अंश इन्द्रियोंका रूप धारण करके अपने-अपने स्थानमें रहने लगे। इससे हमें पता लगता है कि शरीरके किस भागमें किस इन्द्रियके रूपमें कौन-सी देवताका अंश आकर रहा है। इनके मध्यमें परमात्माका अंश हृदयस्थानमें रहा है। यही इस शरीरका अधिष्ठाता है।

शरीरमें त्रिलोकी

जैसे विश्वमें भूलोक, अन्तरिक्षलोक और द्युलोक—यह त्रिलोकी है, उसी तरह शरीरमें भी त्रिलोकी है, बाहरकी त्रिलोकीकी छोटी प्रतिमा ही यह शरीरकी त्रिलोकी है।

शरीरमें त्रिलोकी
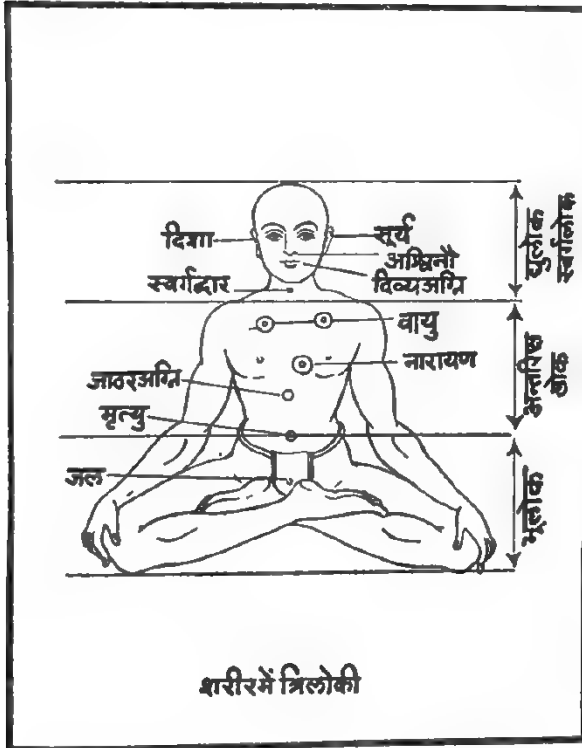
बाहरकी त्रिलोकीके सब-के-सब ३३ देवताओंके ३३ अंश यहाँ आकर रहे हैं।

बाहरकी त्रिलोकीमें तीनों लोकोंमें मिलकर ३३ देवता हैं। प्रत्येक लोकमें ११-११ देवता हैं और उन सबके अंश इन्द्रियस्थानोंमें आकर रहे हैं। यह शरीर मानो छोटी त्रिलोकी है और सम्पूर्ण विश्व एक विशाल शरीर ही है। त्रिलोकीका अंश मानव-शरीर है, जिसमें परमात्माके अंशके साथ ३३ देवताओंके अंश विराजते हैं।
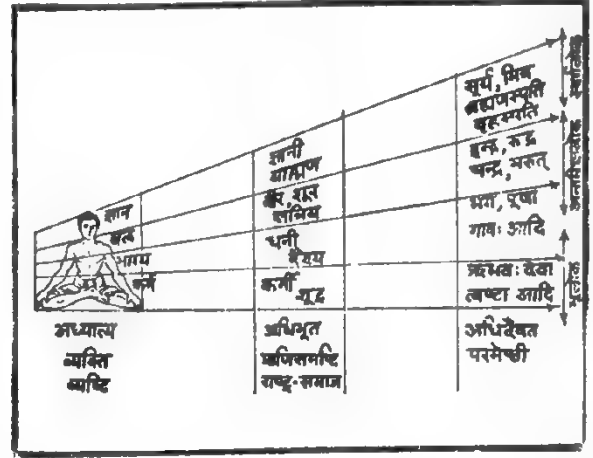
मानव-शरीरमें विद्दतिद्वार मस्तकमें है। बालकका जन्म होनेके पश्चात् यह पाँच-छः महीनेके बाद बंद होता है। इस द्वारसे इन सब तैंतीस देवताओंके अंश मानवीय शरीरमें प्रविष्ट होते हैं और पृष्ठवंशके अपने-अपने स्थानमें जाकर अपने-अपने स्थानमें रहते हैं। पृष्ठवंशमें ३३ मांस-ग्रन्थियाँ हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, सूर्य, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, सहस्रार—ऐसे थोड़े-से चक्र
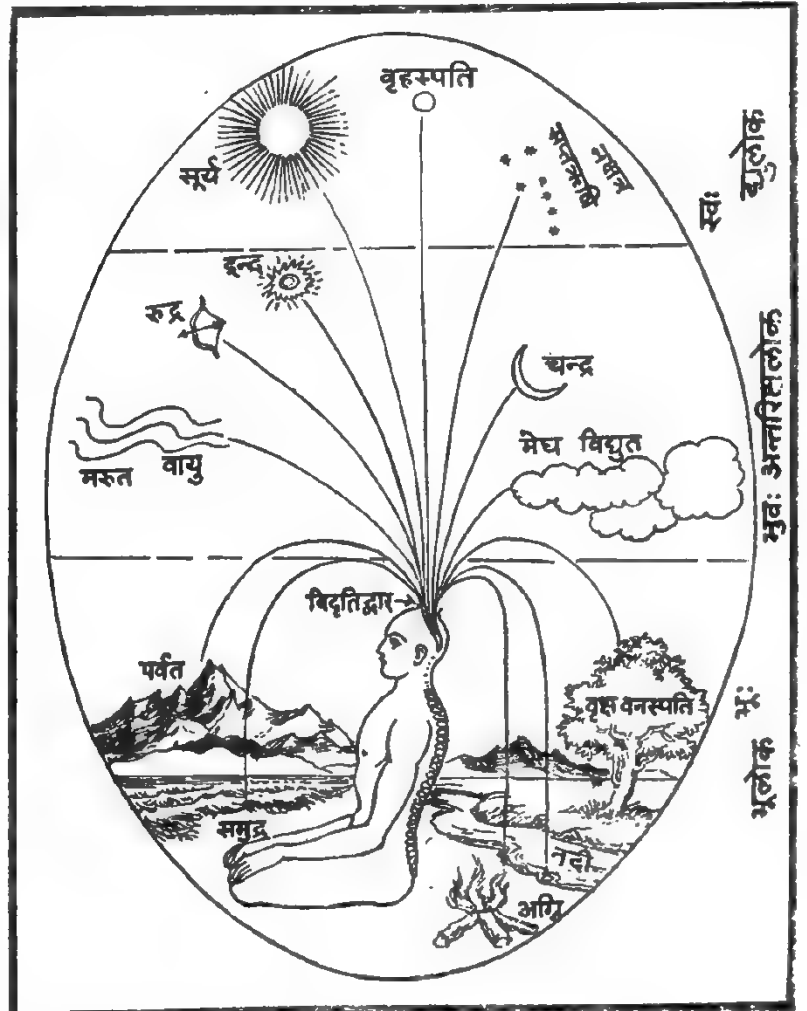
योगसाधनके ग्रन्थोंमें गिनाये हैं; पर वस्तुतः पृष्ठवंशमें ३३ चक्र हैं और प्रत्येक चक्रमें एक-एक देवताकी शक्ति है। मुख्य आठ चक्रोंको स्वाधीन करके वहाँकी शक्तिको प्रज्वलित करनेके साधनोंका योगके ग्रन्थोंमें वर्णन है। अपने मनकी प्रेरणासे यहाँके प्रत्येक देवताके साथ अपना सम्बन्ध जो स्वभावतः है, वही उद्दीपित किया जा सकता है।

देवताओंका मन्दिर

इतने वर्णनसे पाठकोंको पता लग सकता है कि बालकका शरीर तुच्छ नहीं है। वह जीवित और जाग्रत् देवताओंका मन्दिर है। जिस समय हम बालकको देखते हैं, उस समय हम अबोध, अज्ञान जीवको नहीं देखते हैं, परंतु जहाँ तैंतीस देवताओंके साथ परमात्माका अमृत अंश आकर विराज रहा है, उस देवताओंके नव-मन्दिरको हम देखते हैं। वहाँ इतनी दैवी शक्तियाँ शुद्ध अवस्थामें विराजमान हैं। इसीलिये बालकके दर्शनसे सर्वदुःखका परिहार हो जाता है।

बालकका मुख चन्द्रमा

दस-पाँच दिन प्रसूतिवेदनासे अत्यन्त दुःखित हुई माता जब प्रसूत हुए अपने बालकका मुख देखती है, तब उसके सारे कष्ट उसी क्षण दूर हो जाते हैं। प्रसूत हुई सभी स्त्रियोंका यही अनुभव है। बालककी यह शक्ति उसकी दैवी शक्तियोंको प्रकट करती है। बालकमें जो इतनी दैवी शक्तियाँ शुद्ध रूपमें रहती हैं, उन्हींका यह प्रभाव है।

मार्गमें छोटा बालक पड़ा हो और सुदूर देशसे मदमत्त हाथी आता हो, तो वह हाथी बड़े मनुष्यको तो मारेगा, पर छोटे बालकको कुछ भी दुःख नहीं देगा। इसका कारण भी वही है कि उसके अंदरकी दिव्य शक्तियाँ अत्यन्त शुद्ध अवस्थामें वहाँ रहती हैं।

बालककी शुद्धता

लोग साधारणतः यह मानते हैं कि जो जीव जन्म-धारण करता है, वह पूर्वजन्मके कर्मानुसार भोग लेने योग्य शरीर प्राप्त करता है। यह धारणा सत्य है, परंतु इसमें एक बात विशेष गुह्य है, उसकी ओर किसीका ध्यान नहीं जाता। परमात्माकी दयाकी सीमा नहीं है। इसलिये उन्होंने बीच-बीचमें ऐसे अवसर दिये हैं या रक्खे हैं कि जिन अवसरोंमें जीवको अप्रतिम आनन्दकी प्राप्ति होती रहती है। इसी कारण जीव यहाँ आनन्दसे रहते हैं। एक अवसर सुषुप्तिका अथवा गाढ़ निद्राका है, जिसमें जीवको ब्रह्मरूपता प्राप्त होती है।

सुषुप्ति-समाधि-मुक्तिषु ब्रह्मरूपता ॥

तथा—

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसावृते ।
स्वरूपं महदानन्दं भुङ्क्ते विश्वविवर्जितः ॥

(वराह उ० २ । ६२)

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ।

(कैवल्य उ० १ । १३)

"सुषुप्ति समाधि मुक्तिमें ब्रह्मरूपता होती है। 'सुषुप्तिकालमें' सकल विश्व विलीन होता है। वह तमसे आवृत अवस्था है। इस अवस्थामें विश्वको यह जीव छोड़ता है और 'महत् आनन्दका भोग करता है।"

सुषुप्तिकालमें भूमावस्था प्राप्त होती है। यद्यपि उसमें तमोगुण रहता है तथापि वह परमानन्दकी अवस्था है। परमात्माने सब जीवोंको यह अनायास-प्राप्त अवस्था दी है। सज्जन-दुर्जन, मालिक-मजदूर, स्वामी-सेवक, धनी-निधन, ज्ञानी-अज्ञानी, मानव-पशु, कुत्ता-बिल्ली, कृमि-कीट जो भी सुषुप्तिका अनुभव करता है, वह इस भूमावस्थाके ब्रह्मानन्दको भोगता है। राजा और प्रजा, ज्ञानी और अज्ञानी, धनी और गरीब इस अवस्थामें एकरूप हो जाते हैं। प्रत्येक प्राणीको यह सुषुप्ति अवस्था अनायास प्राप्त है। समाधि और मुक्तिमें ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है, पर वह कष्टसाध्य है। सुषुप्तिमें जो महदानन्द मिलता है, वह अनायास प्राप्त होता है। प्रत्येक प्राणीको सुषुप्ति प्राप्त हो, यह अपूर्व योजना परमकृपालु परमेश्वरने की है। यदि यह सुषुप्ति न प्राप्त होती, तो प्राणियोंके दुःखोंका पारावार नहीं होता। बालकको तो दिनके बहुत-से भागमें गाढ़ निद्रा मिलती है।

सुषुप्तिसमाध्योर्मनोलयाविशेषः ।

(मं० ब्रा० २ । ६)

'सुषुप्तिमें तथा समाधिमें दोनोंमें समानतया मनोलय होता है।' भले ही अन्य रीतिका इन अवस्थाओंमें भेद हो, पर दोनों अवस्थाओंमें मनोलय समान है। बालकको प्रायः दिनभर यह मनोलयकी स्थिति प्राप्त रहती है। सुषुप्तिका

परम आनन्द प्राप्त होता है। जो योगसाधन करते हैं और अपना मनोलय करनेका यत्न करते हैं, उनको पता है कि मनोलय करना कितना कठिन है; पर वह मनोलय बालकके लिये सहज प्राप्त है।

जिस तरह सुषुप्तिमें मनोलय सहजसाध्य है, उसी तरह बालक-अवस्थामें सुषुप्ति और मनोलय सहजसाध्य हैं। परमात्माकी असीम कृपाकी ये दोनों अवस्थाएँ हैं, एक सुषुप्तावस्था और दूसरी बालकावस्था! यहाँ वह बालकावस्था अभिप्रेत है कि जिस अवस्थामें उसका मन संकल्प-विकल्प नहीं कर सकता। एक वर्षतक प्रायः यह अवस्था रहती है। मन किसीपर आसक्त भी नहीं होता, किसीसे सङ्ग भी नहीं करता और किसीके दूर होनेसे भी उसको कुछ नहीं होता।

एक ही, उसको क्षुधा लगी तो वह व्याकुल होता है। यदि माता उसकी क्षुधाका प्रबन्ध समयपर करे, तो शेष वह नित्यानन्दमें तल्लीन रहता है। योगियोंके लिये यही अवस्था प्राप्त करनेकी अभिलाषा रहती है। वे इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिये अनन्त अनुष्ठान करते रहते हैं। यह अवस्था बालकपनमें सहजसाध्य होती है। यह है बालकपनका माहात्म्य।

योगी बालककी ओर देखकर चकित होते हैं, अपना मनोलय बालक-जैसा हो, ऐसी इच्छा उनके मनमें सदा रहती है। योगीके सामने 'बालक'का ही आदर्श रहता है। वह बालकावस्था प्राप्त करना प्रौढ़ोंके लिये बड़ा कठिन कार्य है।

हमारा मन जाग्रत् अवस्थामें नाना प्रकारके कार्य करता है। हमारे मनमें संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं। हमारा मन द्वन्द्वोंके आन्दोलनोंमें उच्च-नीच गति प्राप्त करता रहता है। इसीको रोकनेके लिये योगी योगसाधन करता है और दिन-रात मनोलय करनेके यत्नमें लगा रहता है।

मनकी साम्यावस्था

कहते हैं कि ऋषि विश्वामित्रने सहस्रों वर्ष तपस्या की, पर अप्सरा मेनकाके सामने आते ही उनका मन अपने अधीन नहीं रहा। पर बालकके सामने चाहे सहस्रों अप्सराएँ आ जायँ, उसका मन सम रहेगा, कभी विचलित नहीं होगा। मनका 'सम' रहना ही 'ब्रह्मरूप' रहना है। मानवमें कामकी उत्पत्ति १०वें वर्षके पश्चात् होती है। उस समयतक बालकको अप्सराका सौन्दर्य प्रलोभनमें फँसा नहीं सकता। इसी तरह अन्यान्य इन्द्रियोंके प्रलोभन उस बालक-अवस्थामें उसको विचलित नहीं कर सकते। दो-तीन वर्षके बालककी यह साम्यावस्था योगियोंके लिये भी प्रलोभनीय है।

जिस तरह सुषुप्ति सज्जन-दुर्जनके लिये समान है, उसी तरह बालकावस्थाकी शुद्धता भी सज्जन-दुर्जनके लिये समान ही है। अर्थात् छः मासकी आयुमें राम और रावण दोनों, धर्मराज और दुर्योधन दोनों, तथा छत्रपति शिवाजी महाराज और अफजलखाँ—ये दोनों एक प्रकारकी मनोलीन होनेकी अवस्थामें समान ही थे। जिस तरह इनकी सुषुप्ति-अवस्था समान होती है, उसी तरह बालकावस्था भी समान ही होती है।

परिशुद्ध अवस्था

सज्जन और दुर्जन दोनों बालकावस्थामें परिशुद्ध रहते हैं। सुषुप्ति-अवस्थामें कोई पाप नहीं करता, उसी तरह बालक-अवस्थामें भी कोई पाप नहीं करता। रावण तारुण्यमें भले ही कामी हुआ होगा, पर बालकावस्थामें उसमें कामुकताकी सम्भावना ही नहीं थी।

जिस अवस्थामें कामी कामी नहीं होता, क्रोधी क्रोधी नहीं होता, चोर चोर नहीं होता, इसी तरह अन्य अपराध करनेकी वृत्ति ही जिसमें उद्भूत नहीं होती, ऐसी परिशुद्ध अवस्था यह बालक-अवस्था है।

जिस समय मन सहज ही विलीन हो सकता है, जिसमें सङ्गवर्जन सहजहीसे होता है, आसक्ति जिसमें होती ही नहीं, वह परिशुद्ध अवस्था बालककी अवस्था है।

इस बालकावस्थामें परमात्माका अंश आत्माके स्वरूपमें रहता है; अन्य ३३ देवताओंके अंश आत्माकी निजानन्दमय स्वरूपावस्थाके सहभागी होते हैं, इसी कारण सब इन्द्रियाँ और सब अवयव सत्प्रवृत्त होते हैं, अतः वह बालकावस्था परिशुद्ध अवस्था है। यह परिशुद्धता प्रौढ़ आयुमें प्राप्त करना अत्यन्त ही कठिन है।

इस समय ३३ की ३३ सब देवताएँ तथा उनका अधिष्ठाता आत्मा ये सब अपनी स्वाभाविक दिव्य स्थितिमें रहती हैं। यह 'बालकमें अपूर्व दिव्य शक्तियोंका आविर्भाव दर्शन करनेयोग्य है।' इसका जो साक्षात्कार करेगा, उसीको यहाँकी अपूर्वता दीखेगी।

हमारे ज्ञानमें अज्ञान

हम अपना ज्ञान बालकको देते हैं और घमंड करते हैं

कि हम उसको सिखा रहे हैं; पर इसी ज्ञानवृक्षका फल खानेसे 'बाबा आदम और हव्वा' का अधःपतन हुआ। आकाशस्थ ईश्वरने बाबा आदमको इसी ज्ञानवृक्षका फल खानेसे रोका था। हम यही ज्ञान बालकोंको देते हैं और उनकी समवृत्तिमें विकारका निर्माण करते हैं। हम उनके मनको विकारी बनाते हैं, पश्चात् योगियोंको इसी मनको धोकर स्वच्छ करना पड़ता है। हमने जो सिखाया है, उसको भूलना पड़ता है। पाठको! सोचिये तो सही कि हमने क्या सिखाया और बालकने हमसे क्या सीखा!

दशरथ राजाके घरमें एक बालक हुआ, उसको उसके घरवालोंने तथा ऋषि वसिष्ठने शिक्षा दी। उस बालकका 'राम' बन गया, जिसके नामसे आजतक लोगोंका तारण हो रहा है और भविष्यमें भी होगा, इसका नाम 'शिक्षा' है।

दूसरा बालक केकसीके उदरमें हुआ, बालक-अवस्थामें दोनों समान ही थे, पर इसको शिक्षा ऐसी मिली कि जिसका नाम भी कोई नहीं लेता। यही 'रावण' है, जिसके नसीबमें 'रोना ही रोना' है।

सभी बालक शुद्ध होते हैं, योग-सिद्ध अवस्था उनको सहज ही सिद्ध रहती है। सभीमें दिव्य भाव प्रारम्भमें बाल्पनमें रहता है, पर जैसी जिसको शिक्षा मिलती है, वैसा ही वह आगे बन जाता है। यह सबको स्मरण रखना चाहिये और अपनेसे जितनी उत्तम शिक्षा देना सम्भव हो, उतनी उत्तम शिक्षा बालकोंको देनी चाहिये।

बालकके अंदर स्वाभाविक ही उत्पन्न 'दिव्य भाव' को बढ़ाना चाहिये। इसके लिये जैसे घर और समाज होने चाहिये क्या वैसे हमारे घर हैं और क्या वैसा हमारा समाज है? इसीका विचार करना चाहिये। बालक उत्पन्न करना सहज होनेवाली बात है, पर उसको सुशिक्षा देना अत्यन्त कठिन कार्य है।

अनन्य सम्बन्ध

इस दिव्य भावका स्मरण सतत रहना चाहिये। मेरी आँख सूर्यका अंश है, मेरी आँखसे मेरा सम्बन्ध सूर्यके साथ है। मेरा प्राण वायुका अंश है, मेरे प्राणसे मेरा सम्बन्ध विश्वप्राण-वायुके साथ है। इसी तरह अपने अंदरके ३३ देवोंके अंशोंसे मेरा सम्बन्ध विश्वशरीरसे है, मेरा आत्मा परमात्माका अंश है, इस मेरे जीवात्मासे मेरा सम्बन्ध परमात्माके साथ है, इस रीतिसे मैं विश्वात्मासे पूर्णतया सम्बन्धित हूँ, इस तरह देखकर 'मैं विश्वात्मासे पृथक् नहीं हूँ' यह जानना, समझना और अनुभवमें स्थिर करना चाहिये। इस तरह अपना परमात्मासे अनन्यभाव जानना और उसको अनुभवसे स्थिर करना ही आत्मोन्नतिका सर्वोत्तम साधन है। यह बालकके दिव्य भावको देखनेसे अनुभवमें आ सकता है।

घर-घरमें बालक हैं, पर कौन उनके अंदरके दिव्य भावका साक्षात्कार करता है? किसको पता है कि उसमें दिव्य तेज रहता है? बालकमें प्रत्यक्ष परमात्माके और ३३ देवोंके अंशोंका साक्षात्कार कीजिये, यहीं आपको मनोलयका परम श्रेष्ठ साधन प्राप्त होगा! धन्य हैं वे, जिन्होंने बालकको सत्यस्वरूपमें पहचाना है।

दोमेंसे एक कर

कै तोहि लागहिं राम प्रिय कै तू प्रभु प्रिय होहि।
दुइ में रुचै जो सुगम सो कीबे तुलसी तोहि ॥
तुलसी दुइ महँ एक ही खेल छाँडि छल खेलु।
कै करु ममता राम सों कै ममता परहेलु ॥

(दोहावली—तुलसीदासजी)

या तो तुझे राम प्रिय लगने लगें या प्रभु श्रीरामका तू प्रिय बन जा। दोनोंमेंसे जो तुझे सुगम जान पड़े तथा प्रिय लगे, तुलसीदासजी कहते हैं कि तू वही कर।

तुलसीदासजी कहते हैं कि छल छोड़कर तू दोनोंमेंसे एक ही खेल खेल—या तो केवल रामसे ही ममता कर या ममताका सर्वथा त्याग कर दे।

बालकोंके आदर्श भगवान् राम

(लेखक—पण्डित श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी)

आजकलका हमारा समाज किधर जा रहा है, यह तो कोई भविष्यदर्शी ही बता सकता है; पर यह स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है कि उसने अपने पूर्वजोंकी राह छोड़ दी है। उनमें जो छोड़ना नहीं चाहते हैं, वे भी बढ़ते हुए बहुमतके आगे झुक रहे हैं। यह कोई शुभ लक्षण नहीं है।

मुसल्मानी शासनकालमें हमारा सामाजिक अधःपतन इस दर्जेतक नहीं पहुँचा था, बल्कि कह सकते हैं कि शुरू ही नहीं होने पाया था। मुसल्मानी हुकूमत आनेके बाद, दो ही तीन सौ वर्षोंके भीतर इतने अधिक ज्ञानी, मुनि, महात्मा, साधु, संन्यासी, आचार्य और संत उत्पन्न हो गये थे कि समाजमें ज्ञान, उपदेश और शिक्षाकी एक बाढ़-सी आ गयी थी। उस समय उन लोगोंके प्रचारसे हिंदू-मुसल्मान दोनों समाजोंके बीच आचारसम्बन्धी कुछ ऐसे भाव भर गये थे कि जिससे समाजकी रचनामें कोई अवाञ्छित पदार्थ नहीं आने पाया। उस समय जो लोग दूसरे समाजमें गये या जबरदस्ती घसीट लिये गये, वे न फिर लौटे और न लौटने ही पाये। इससे समाज निर्दोष बना रहा। यह उन संत-महात्माओंके प्रयोगोंका ही परिणाम है कि आज जनतन्त्रमें जब गिनतीद्वारा राजकाज चलाया जा रहा है, हमारा संख्याबल ही हमारी रक्षा कर रहा है।

मुसल्मानोंका हमारी सामाजिक रहन-सहनपर बहुत ही कम प्रभाव पड़ा, बल्कि लगातार संघर्ष होते रहनेके कारण हमारा सामाजिक संगठन दृढ़ ही होता रहा। हमारा पतन तो वास्तवमें अंग्रेजोंके शासनसे शुरू हुआ है।

वे स्वयं तो इससे अलग रहे, पर अपनी पाश्चात्य शिक्षाको उन्होंने हमारे अंदर एक नशेकी तरह पहुँचा दिया, जिससे समाजमें ही ऐसे लोग उत्पन्न हो गये जो उसे छिन्न-भिन्न करने लगे! पाश्चात्य शिक्षाने व्यक्तिको भीतरसे खोखला बना दिया। अब न उसमें धर्म-बल रह गया, न नैतिक दृढ़ता। कोई शक्ति हृदयके अंदर नहीं रह गयी है, जो मनुष्यको किसी भी पाप-कर्मसे रोके। अनैतिक कार्योंमें मनुष्यने इतनी उन्नति जरूर कर ली है कि आजकल वह चोरी करना, झूठ बोलना, व्यभिचार करना, विश्वासघात करना और हत्या करना भी अपराध नहीं गिनता; बल्कि करके पकड़ा जाना अपराध मानता है। अर्थात् जिसे शास्त्र 'अपराध' कहता है, उसे वह 'बुद्धिमत्ता' कहता है, और पकड़े जानेको 'मूर्खता' समझता है। अपराधोंकी वृद्धिमें मनुष्यकी यह सफलता समाजके लिये कितनी घातक है, यह विचार करनेकी बात है!

हमारी गृह-व्यवस्थाका निर्माण पूर्वकालमें जिसने किया है, उसने उसे एक छोटे राष्ट्रका रूप दे दिया; जिसमें पिता राष्ट्रपति है और माता राष्ट्रलक्ष्मी है, बड़ा पुत्र प्रधान मन्त्री है, छोटे लड़के-लड़कियाँ, नौकर-चाकर, हलवाहे, बैल, गाय, भैंस, चरवाहे और खेतीसे सम्बन्ध रखनेवाले पेशेवर लोहार, कुम्हार, नाई, धोबी आदि प्रजा हैं। इस छोटे राष्ट्रको सुचारुरूपसे चलाकर गृहस्थ बड़ा राष्ट्र चलानेकी शिक्षा पाता रहता है। पर पाश्चात्य ढंगकी शिक्षा इस गृह-राष्ट्रको भीतर-ही-भीतर तोड़ रही है, और तोड़नेवाले हैं गृहस्थके लड़के ही!

सामाजिक नियमोंको तोड़ने, उनका उपहास करने और भरसक उनके विपरीत करनेमें लड़के इतने उच्छृङ्खल हो रहे हैं कि अब उसे उनका लड़कपन न कहकर उनकी घोर मूर्खता ही कहना चाहिये।

अभी कुछ दिन पहलेकी बात है, एक नवयुवक, जो युनिवर्सिटीसे पढ़कर निकले हैं, अपने सीधे-सादे और वत्सल पिताकी शिकायतें सुना रहे थे। उनकी मुख्य दलील तो यह थी कि क्या पिताने उनसे पूछकर उनको जन्म दिया था? फिर पिताका उनको शासनमें रखनेका क्या अधिकार है? उन्होंने पिताको उक्त दलीलके साथ उपदेश देते हुए एक पत्र भी लिखा था जिसमें यह श्लोक भी था—

लालयेत् पञ्च वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्॥

मैंने कहा—'मित्र' शब्दके स्थानपर 'पितृ' शब्द लिख दिये होते, तो ज्यादा अच्छा होता। इसपर वे कुढ़कर यह कहते हुए उठ गये कि पिता-पिता सब एक ही साँचेमें ढले होते हैं। यह है वर्तमान शिक्षाका एक अजीब-सा परिणाम।

सिनेमा इस प्रकारकी शिक्षाको और भी अधिक प्रोत्साहन दे रहा है । फिल्मोंपर सरकारका कड़ा नियन्त्रण नहीं । पैसेके लिये पैसेके बलपर गंदे-से-गंदे फिल्म जनताके सामने चले आ रहे हैं और वातावरणको विषाक्त बना रहे हैं । अनुभवहीन कहानी-लेखक प्रायः वैसी ही कहानियाँ गढ़ देते हैं, जिनसे समाजका बन्धन टूट जाय और वह बिखर जाय ।

ऐसी स्थितिमें हमें क्या करना चाहिये ? हमें शिक्षाके सुधारके बारेमें जोरदार लोकमत तैयार करना चाहिये । जब तलवारका राज्य नहीं, तपका राज्य नहीं, सिर्फ संख्याका राज्य है, तब हमें संख्याको अपने अधिकारमें करना चाहिये । जो शिक्षा अमृत-फल देनेवाली हो, विषवत्, वारुणीवत् न हो, उसीको श्रेय देना चाहिये । 'संघे शक्तिः कलौ युगे ।'

रामचरितमानसमें हमारे अमर कवि गोस्वामी तुलसीदास-जीने रामको आगे करके गुरु वशिष्ठजीकी शिक्षा और उसके परिणामका जो पवित्र चित्रण किया है; वह यद्यपि तीन सौ वर्ष पुराना हो गया है, पर आज भी वह हमारे लिये आदर्श और समाजकी जीवनी शक्तिको बढ़ानेवाला है । कुछ उदाहरण लीजिये—

राम यद्यपि राजाके पुत्र थे, स्वयं भी राजा थे । उनके रामराज्यकी महिमा अबतक लोक-प्रसिद्ध है; पर तुलसीदास-जीने उनके बालचरित्रका जो चित्रण किया है, वह एक साधारण गृहस्थके बालकोंके लिये भी उपयोगी हो, यह ध्यानमें रखकर ही किया है । वे लिखते हैं—

गुरगृहँ गए पढ़न रघुराई । अलप काल बिद्या सब आई ॥
× × × ×
बिद्या बिनय निपुन गुन सीला । खेलहिं खेल सकल नृप लीला ॥
× × × ×
बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई । बन मृगया नित खेलहिं जाई ॥

आजकल भी लड़के यदि विद्या-विनय-निपुण और गुण-शील हों तो मृगया न सही, क्रिकेट खेलें, फुटबाल और हाकी खेलें, समाजकी कोई हानि नहीं हो सकती ।

रामकी दिनचर्या सुनिये—

अनुज सखा सँग भोजन करहीं । मातु पिता अग्या अनुसरहीं ॥
जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा । करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा ॥
बेद पुरान सुनहिं मन लाई । आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई ॥
प्रातकाल उठि कै रघुनाथा । मातु पिता गुरु नावहिं माथा ॥
आयसु मागि करहिं पुर काजा । देखि चरित हरषइ मन राजा ॥

इस तरह राम साधारण बालकोंकी तरह खेलते-कूदते भी थे और स्वाध्याय भी जारी रखते थे । माता, पिता और गुरुके आज्ञानुगामी रहकर नगरके लोगोंको सुखी करनेके प्रसंग भी सोचते और लाते रहते थे । अपने विनय, नम्रता, सुशीलता और सहज स्नेहसे राम बालपनहीसे लोकप्रिय हो चले थे ।

इसके बाद वे मुनि विश्वामित्रके साथ जनकपुर जाते हैं । वहाँ नगर देखने निकलते हैं, तब नगरके बच्चे उनको घेर लेते हैं । राम उनमें ऐसा हिलमिल जाते हैं कि बच्चे उनको बुला लेते हैं और वे उनके साथ उनके घर भी चले जाते हैं—

पुर बालक कहि कहि मृदु बचना । सादर प्रभुहि देखावहिं रचना ॥
× × × ×
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई । सहित सनेह जाहिं दोउ भाई ॥

बच्चोंके साथ घूमने-फिरनेमें देरी हो गयी, तब उन्हें डर भी लग आया कि कहीं गुरुजी नाराज न हो जायँ । उन्होंने मधुर बातें कहकर बच्चोंको जबरदस्ती लौटाया ।

कौतुक देखि चले गुरु पाहीं । जानि बिलंबु त्रास मन माहीं ॥
कहि बातें मृदु मधुर सुहाईं । किए बिदा बालक बरिआईं ॥

एक प्रसंग और लीजिये—

रातमें गुरुजी सोने लगे, तब राम-लक्ष्मण दोनों भाई उनके पैर दबाने लगे । उन्हें इस बातका अभिमान नहीं था कि वे राजाके लड़के हैं, किसीका पैर क्यों छुयें । शिष्यका जो धर्म है, वे निरभिमान होकर उसे ही पालते थे ।

मुनिने बार-बार कहा, तब राम सोने गये । लक्ष्मण तब रामके पैर दबाने लगे । रामने उन्हें फिर-फिर कहा, तब वे भी उठे ।

मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई । लगे चरन चापन दोउ भाई ॥
× × × ×
बार बार मुनि अग्या दीन्ही । रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही ॥
चापत चरन लखनु उर लाएँ । सभय सप्रेम परम सचु पाएँ ॥
पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता । पौढ़े धरि उर पद जलजाता ॥

यह सत्कुलाचरण है। जो सबसे छोटा, वह अपने-से बड़ेके पीछे ही सेवासे निवृत्त होगा। पहले मुनि सोये, फिर राम और फिर लक्ष्मण, किंतु जागनेमें यह क्रम बदल गया। लक्ष्मण पहले जागे, ताकि अपनेसे बड़ोंकी सेवाके लिये वे तैयार मिलें। उनके बाद राम जागे और फिर मुनि जागे। लक्ष्मणको सोनेका समय कम मिला, पर शिष्टाचारके पालनमें उन्होंने शिथिलता नहीं दिखायी।

उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान।
गुर तें पहिलेहिं जगतपति जागे रामु सुजान॥

भाइयोंके प्रति रामके हृदयमें कैसा प्रेम था, इसकी कुछ झलक चित्रकूटमें हमें भरतके शब्दोंमें देखनेको मिलती है। भरतको स्मरण आ रहा है कि खेलमें हारें या जीतें, कभी रामको क्रोध नहीं आता था। उनका स्वभाव ही ऐसा था कि वे अपराधीपर भी क्रोध नहीं करते और भरतको तो हारा हुआ खेल भी जिता देते थे। हारनेसे भरतके मनको कुछ चोट न लग जाय, यहाँतक ध्यान वे रखते थे।

मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मो पर कृपा सनेह बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥

रामके विनम्र स्वभाव और बड़ोंके प्रति आदरभावका एक शाब्दिक चित्र हमें उस समय भी देखनेको मिलता है, जब राज्याभिषेककी सूचना देनेके लिये गुरु वशिष्ठजी रामके भवनमें जाते हैं। उस समय शिष्टाचारके पालनमें रामने जराभर भी त्रुटि नहीं होने दी। वर्णन यह है—

गुर आगमनु सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा॥
सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥
गहे चरन सिय सहित बहोरी। बोले रामु कमल कर जोरी॥
सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू॥
तदपि उचित जनु बोलि सप्रीती। पठइअ काज नाथ असि नीती॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयउ पुनीत आजु यहु गेहू॥
आयसु होइ सो करौं गोसाईं। सेवकु लहइ स्वामि सेवकाईं॥

गुरुजीकी सिखायी नीतिका प्रयोग रामने उलटे गुरुजीहीपर किया। पर ऐसी मधुर उक्तिके साथ कि गुरुजीको अपमान नहीं लगा, बल्कि उसमें उनका अति सम्मान लक्षित हुआ। यह उत्तम कोटिके वाचिक शिष्टाचारका एक बहुत ही सुन्दर नमूना है।

पितामें रामकी कैसी भक्ति थी, यह उनके ही शब्दोंमें सुनिये। चित्रकूट पहुँचकर भरतने बहुत चाहा कि राम वापस चलकर अयोध्याका राज करें।

इसपर रामने कहा—

निज कर खाल खैंचि या तनु तें
जौ पितु पग पानहीं करावौं।
होउँ न उरिन पिता दसरथ तें
कैसे ताके बचन मेटि पतियावौं॥

इससे अधिक कोई क्या कह सकता है। महाराज दशरथके मनमें जो प्रेम पुत्रके लिये था, उससे अधिक पिताके वचनका मान पुत्रके मनमें था। आज हमारे युवकोंके मनमें भी रामके सब गुण बस जाते तो हम घर-घरमें राम पाते, देशमें सच्चा रामराज्य कायम हो जाता और तब तुलसीदासजीका यह प्रणाम कैसा सार्थक होता?—

सीयराम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

नन्दलाल

(रचयिता—श्रीदिवाकर सिंहजी उपनाम बच्चा बाबा)

स्वर्णहार चन्द्रहार मुक्ता-गजमुक्ता-हार, जगमग होते निज ज्योतिके उभारसे।
पन्ना-पुखराजोंकी कथाएँ कवि कौन कहै, हीरकके हार वह धारे अति प्यारसे॥
लोचनोंने भी हैं पहनाये उसे बार-बार, गूँथ कर हार निज प्रेम-अश्रुधारसे।
किन्तु जब नन्दलाल झूलै गल बाँह डाल, हार सब हार जाते एक उस हारसे॥

राष्ट्रकी आत्मा आज मूर्च्छित है

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

मैं बच्चोंको 'राष्ट्रकी आत्मा' कहता हूँ; क्योंकि यही हैं, जिनको लेकर राष्ट्र पल्लवित हो सकता है; यही हैं, जिनमें अतीत सोया हुआ है, वर्तमान करवटें ले रहा है और भविष्यके अदृश्य बीज बोये जा रहे हैं। बालक हमारे राष्ट्रके अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनोंका समाहार है। और वही बालक आज मूर्च्छित है, अचेत है। न उसे पता है, न उसके अभिभावक जानते हैं और न राष्ट्रके नेताओंको ज्ञान है कि उसे कहाँ जाना है, क्या बनना है, कैसे और क्या ढलना है। इसीलिये हलचलों और आन्दोलनोंके इस तूफानमें भी, जहाँ वाणी आज सबसे सस्ती हो गयी है, कुछ हो नहीं पाता है। राष्ट्रका रथ आगे बढ़ नहीं पा रहा है—क्योंकि राष्ट्रकी आत्मा आज सो गयी है; मूर्च्छित है।

देश स्वतन्त्र हो गया। हमें इसका अभिमान भी है कि हजारों वर्षों बाद हमने स्वतन्त्रतासे सिर उठाकर अपना चेहरा देखा; पर अपना चेहरा देखकर हमें ग्लानि होती है और हृदय एक अननुभूत व्यथासे भर जाता है। क्या इसी रूपकी उपलब्धिके लिये गाँधीजीने हमारी सत्प्रवृत्तियोंका युद्धमें आवाहन किया था ? क्या है आज हमारे चारों ओर जिसमें हम अनुभव करें कि हम भारतीय हैं—हमारे जीवनमें, हमारे राष्ट्रके जीवनमें विश्वके लिये एक सन्देश है। विश्वकी विकास-क्रियामें हमारा एक नियुक्त कार्य है। अंग्रेज चले गये, पर अंग्रेजी न गयी, 'अंग्रेजियत' और भी न गयी। हमारे बच्चे हमारे सामने 'विदेशी' होते जा रहे हैं। उनके चारों ओरका वातावरण विदेशी है, विजातीय है; उनका शिक्षण विजातीय है। उनको शासनने विजातीयताकी ओर प्रेरित किया है। जो अंग्रेजोंके जमानेमें होता था, वही आज है। वही शिक्षण, वही जीवनशैली, वही वातावरण। तब कैसे ये बच्चे राष्ट्रके भविष्यका निर्माण करेंगे !

योजनाओंकी बात बहुत सुननेमें आती है। पञ्चवर्षीय, सप्तवर्षीय योजनाएँ बन रही हैं, पर इन्हें बनानेवाले वही हैं जिनपर पश्चिमीय सभ्यतासे प्रेरित अर्थविज्ञानका प्रभाव है; जिनका शिक्षण और जीवन केम्ब्रिज और आक्सफोर्डके साँचेमें ढला है। जिनके सामने कोई स्पष्ट चित्र नहीं कि वे अपने बच्चोंको क्या बनाना चाहते हैं ! यह तो सभी कहते हैं कि वर्तमान शिक्षा-पद्धति दूषित है; पर यत्न उसीके विस्तारका हो रहा है। यहाँ-वहाँ पैबन्द लगाने या मुलम्मा कर देनेका कभी-कभी यत्न किया जाता है, पर वह सफल नहीं होता—हो भी नहीं सकता।

सबसे पहली आवश्यकता इस बातकी है कि हम समझें कि भारत क्या है, भारतीय सभ्यता क्या है, भारतीय संस्कृति क्या है और कौन-सी आन्तरिक शक्ति और प्रेरणा थी, जिससे शताब्दियोंके संघर्षयुक्त लंबे व्यवधानको पारकर भारतीय संस्कृति बच रही। तब यह सोचें कि वर्तमान विश्वमें उसे आगे बढ़ानेके लिये किन नूतन संस्कारोंकी आवश्यकता है और हम उसकी मूल प्रेरणाओंको बदलते हुए एवं तेजीसे बदलते हुए विश्वमें कैसे सुरक्षित और पल्लवित रख सकते हैं। उसी भूमिकापर बच्चोंका, नयी पीढ़ीका जीवन गढ़ना होगा। स्वतन्त्रता एवं क्रान्ति हमें नवीन जीवन-दृष्टि देती है, पर आज हमारी जीवन-दृष्टि वही बनी हुई है जो ब्रिटिश शासनमें थी। इसीलिये भूलसे, साक्षरताको विद्याका, शिक्षाका पर्याय मान लिया गया है। वस्तुतः विद्या वह है जो प्रेयसे श्रेयकी ओर ले जाती है और शिक्षा इसी शक्तिके अर्जनकी साधना है।

पाश्चात्त्य-सभ्यताने हमपर संख्या-बलका जादू चला रक्खा है। उन्नतिका अर्थ आँकड़ोंकी भाषामें ही हम समझते हैं। 'फैक्टरी मेंटिलिटी' हर जगह व्याप्त हो गयी है। कपड़ेकी मिलोंकी तरह शिक्षाकी भी फैक्टरियाँ खुल गयी हैं और खुल रही हैं। और उनकी सफलता एवं महत्ता दिन-दिन वृद्धिमान् आँकड़ोंसे कूती जाती है। कितना कपड़ा या लोहा इस वर्ष बना, इसी तरह कितने स्नातक इस वर्ष किस युनिवर्सिटीसे निकले, इसीपर शिक्षण-सफलताका अङ्कगणित चलता है। गुणप्रधान (क्वालिटेटिव)की जगह संख्याप्रधान (क्वांटिटेटिव) दृष्टिकी स्थापनाने भारतीय संस्कृतिकी मूल प्रेरणाओंपर सबसे अधिक आघात किया है।

युनिवर्सिटियाँ ज्ञानके साधनास्थल नहीं, विक्रयस्थल बन गयी हैं। बच्चोंको देखिये—उच्छृङ्खल, अनियन्त्रित, जीवनकी बाह्य सुविधाओं एवं भोगोंके प्रति आसक्त, सिनेमा ही जिनका तीर्थ है, और सिनेमा-स्टार जिनके आदर्श हैं, अनुशासनविहीन, आत्म-नियन्त्रणसे स्खलित, जीवनसे गेंदकी भाँति खिलवाड़ करनेवाले—क्या ये राष्ट्रका भविष्य बनायेंगे ?

पर उनका दोष क्या है ? हमने उन्हें ऐसे शिक्षक दिये, ऐसा वातावरण दिया। ज्ञानकी साधना ही जिनके लिये सब कुछ है ऐसे आचार्योंकी जगह विद्यादानको एक पेशा और 'कैरियर' मानकर चलनेवाले शिक्षकोंसे हमारी युनिवर्सिटियाँ भरी हुई हैं। ब्रह्मबल, तेज, तप एवं ज्ञानार्जनका स्थान धन-की वितृष्णाने ले लिया है। जैसे दुकानोंमें वस्तुओंकी बिक्री होती है, वैसे ही इनके यहाँ विद्या बिकती है। विद्या एवं ज्ञानका मापदण्ड चरित्र एवं जीवन नहीं, कागजोंपर छपे उपाधिपत्र हैं। कोई युग ऐसा भी था जब स्नातक केवल यह कहकर अपना परिचय देता था कि मैं अमुकका शिष्य हूँ। अमुकका शिष्य होना ही सबसे बड़ा प्रमाण-पत्र था, क्योंकि विद्या पुस्तकोंके माध्यमसे नहीं, आचार्यके जीवनके माध्यमसे प्राप्त होती थी—एक जीवनके सम्पूर्ण संस्कार दूसरे जीवनको प्राप्त होते थे। गुरु या आचार्य अपना जीवन ही शिष्यको देता था। विद्या जीवनमें उतर आती थी, जीवनमें, उसके आचरणमें बोलती थी।

जिज्ञासा मानवकी पहली वृत्ति है। शिशुमें जिज्ञासा पहले होती है, वाणी बादमें फूटती है। इसी जिज्ञासाके कारण उसका मानसिक विकास होता है, यह जिज्ञासा परिस्थिति एवं संस्कारके अनुरूप होती है। ज्यों-ज्यों बच्चेकी दुनिया बढ़ती जाती है और उसके संस्कार बनते हैं त्यों-त्यों जिज्ञासाका क्षेत्र भी विस्तृत होता जाता है।

जिज्ञासाके मूलमें तीन तत्त्व होते हैं—१. यह क्या है, २. क्यों है ? और ३. कैसे है ? जिज्ञासा ज्ञानका बीज है। इस जिज्ञासा-वृत्तिको विकसित करने और उसमें अच्छे संस्कार डालनेमें ही शिक्षाका उपयोग है। इसलिये जो शिक्षा मानवमें सद्वृत्तियोंको जागरित नहीं करती, जो उसे प्रेयसे श्रेयकी ओर नहीं ले जाती, जो उसके हृदयमें प्रविष्ट होकर उसे एक श्रेष्ठ जीवन-स्वप्नसे भर नहीं देती, वह शिक्षा नहीं है, केवल साक्षरता है और आज ऐसे साक्षर मूर्खोंकी बढ़ती हुई संख्या ही जगत्की अनेक समस्याओंका कारण है!

इसलिये शिक्षाकी पहली समस्या है—भारतीय संस्कृतिके मूलाधारको समझकर उसके अनुरूप नवीन जीवन-निर्माणकी एक व्यापक योजना बनानेकी। दूसरी समस्या है, आचारवान्, ब्रह्मनिष्ठ, आत्मनिष्ठ, पैसा नहीं, बल्कि ज्ञानकी सिद्धि ही जिनके जीवनका लक्ष्य है, ऐसे शिक्षकोंको प्राप्त या तैयार करनेकी। तभी हमारे विद्यामन्दिर शक्ति एवं प्रकाश-के प्रतीक बन सकते हैं।

परंतु इतना ही बस नहीं। यह मान लेना कि शिक्षार्थी पाठशालामें ही सीखता है, एक बड़ी भूल है। वह कुटुम्बमें, मार्गमें चलते हुए, अपने साथियोंके सम्पर्कमें, सर्वत्र कुछ-न-कुछ सीखता रहता है। वह अपने प्रति माता-पिता, कुटुम्बियों, मित्रों, साथियों और परिचितों-अपरिचितोंके व्यवहारसे भी बहुत कुछ सीखता है। इसलिये आवश्यकता है कि समाजका वातावरण आजकी भाँति दूषित न हो। उसका परिष्कार किया जाय। अर्थप्रधान जीवनदृष्टिकी जगह धर्मप्रधान या कर्तव्यप्रधान जीवनदृष्टिकी स्थापना, इसके लिये अत्यन्त आवश्यक है। उपयुक्त एवं पवित्र वातावरणके निर्माणके लिये आजकलके चलचित्रोंपर कड़ी देख-रेखकी आवश्यकता है। अश्लील चित्रोंका निर्माण एकदम रोक दिया जाना चाहिये।

इस तरहकी अनेक बातें सामने रक्खी जा सकती हैं; परंतु मूल बात यही है कि जबतक हमारे शिक्षणका पूरा ढाँचा नहीं बदलता और हमारी जीवनदृष्टि भारतीय संस्कृतिके अनुरूप नहीं बनती, जबतक हम श्रेयस्करी जीवनदृष्टिको नहीं अपनाते और जबतक हमारी शिक्षण-शालाएँ साक्षरता एवं पुस्तकीय ज्ञानके बिक्री-केन्द्र नहीं बल्कि जीवनके मर्ममें प्रवेश करनेवाले स्वप्नों एवं आदर्शों, चरित्र एवं ज्ञानके साधना-केन्द्र, तपस्या-भूमि नहीं बनते, तबतक सब निरर्थक है—तब-तक राष्ट्रकी आत्मा सोती रहेगी; तबतक लाख स्थूल योजनाएँ हमारे जीवनके क्षितिजको प्रकाशपूर्ण नहीं कर सकतीं।

भक्तिका स्वरूप

प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति॥

—तुलसीदासजी

पिताका पिता बालक

(लेखक—डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, डी० लिट्०)

सृष्टिकी रहस्यभरी महान् प्रक्रियामें बालक नित्य-नूतनका रूप है। नूतन बालकका और पुरातन पिताका रूप है। बालक पिताका जनयिता है, वह पिताका पिता है। भविष्यमें जो कुछ आनेवाला है, उसके जन्मका द्वार बालक है। वैदिक मनीषियोंका यह साक्षात् दर्शन अत्यन्त प्रिय लगता है जो बालकके सम्बन्धमें उनका दृष्टिकोण है—

नवो नवो भवति जायमानः।

अनादि अनन्त मूलतत्त्व प्रतिक्षण जन्मके द्वारा नवीन बन रहा है। यही उसका सनातन शाश्वत अमर भाव है। बालक उस नवीन जन्मका सबसे सुन्दर और कलात्मक रूप है। सृष्टिकी दुर्धर्ष सनातनी शक्तिका साक्षात् दर्शन करना चाहें तो बालरूपमें उसे मूर्तिमन्त देखें। स्वर्गकी आर्यज्योतिको अपने इस मर्त्यलोकमें देखना चाहें तो बालकके ब्रह्मचर्यप्रोक्षित निर्विकार मुखपर उसे देख सकते हैं। ईश्वरकी दैवीसम्पत्ति या स्थितप्रज्ञकी ब्राह्मी स्थितिका साक्षात् परिचय करना चाहें तो अपने चारों ओर किलकारी मारते हुए बाल-नारायणका दर्शन करें।

प्रकृति अपना जीर्णभाव पीछे छोड़कर बालकके रूपमें पुनः नवीन होती है। कालके जरा-जीर्ण जड बोझेसे मुक्ति पानेका अत्यन्त रहस्यमय प्रयोग बालकका प्रादुर्भाव है। बाल-तृण, बाल-पादप, बाल-लता, बाल-पुष्प, बाल-मृग, बाल-सहकार, बाल-कुन्द, बाल-कदली, बाल-मृणाल, बाल-चन्द्रमा, बाल-रवि, बालक—ये सब प्रकृतिकी बाललीलाके अमर केतु हैं। इनके प्रतीकपर देवोंकी सनातन ब्राह्मी लिपिके अङ्क लिखे हैं, जिनमें नित-नूतनका अमृत-झरना झर रहा है और सृष्टिके अखण्ड जीवन-प्रवाहको देश और कालमें सर्वत्र-सर्वदा आगे बढ़ा रहा है। इस भागवती बाललीलामें कितना आनन्द है, यह बालचर्या कितनी आवश्यक है, यह बाल-भाव नारायणीय-धर्मका कितना मनोहर रूप है! सृष्टिकी निरुपम सत्ता, चैतन्य और आनन्दका एकत्र निवास मूर्तिमन्त बालक है, जिसके प्रादुर्भावकी सामाजिक प्रयोगशाला गृहस्थ है। इसीलिये भगवान् वेदव्यासने कहा कि सब आश्रमोंमें अधिक चमकीला और सशक्त संकल्प या कर्मका निर्णय जिस आश्रममें है, वह गृहस्थ है, वह अत्यन्त पावन है—

सर्वाश्रमपदेऽप्याहुर्गार्हस्थ्यं दीप्तनिर्णयम्।
पावनं पुरुषव्याघ्र यद्धर्मं पर्युपासते॥
(शान्ति० ६६। ३५)

गृहस्थकी पावनभूमि और पावन-आकाश माता-पिता हैं। माता-पिताका युग्म सृष्टिकी आवश्यकता है। थलचर, जलचर, नभचर सबमें पार्वती-परमेश्वररूप पितरोंके प्रतीक माता-पिता बालकको जन्म दे रहे हैं। उनके सत्य-शिव-सुन्दर प्रयत्नसे स्वर्गकी आर्यज्योति मानवके लिये भूतलपर आ रही है—

विदत् स्वर्मनवे ज्योतिरार्यम्।
(ऋ० १०। ४३। ४)

वही पावन ज्योति बालक है। मानवको बालकमें अपने ही सनातन रूपका नूतन दर्शन मिल रहा है।

बालकका मन विश्वात्माके साथ मिला है। बालककी भाषा विश्वभाषा है। भाषाओंके भेद, मानवोंको पृथक् करनेवाली सीमाएँ बालकके विश्वचैतन्यका स्पर्श नहीं करतीं। बालक विश्वकी एकताका बलवान् प्रमाण है। वह सदासे हमारे मध्यमें है और सदा रहेगा। उसकी सत्ता हमारे भेदग्रस्त मनको स्वास्थ्य देनेके लिये आवश्यक है।

बालक प्रजापतिका विश्वतोमुखी रूप है। जीर्ण वृद्ध, तरुण स्त्री-पुरुष, कुमार-कुमारी और विश्वतोमुखी बाल—ये प्रजापतिकी चार अवस्थाएँ हैं—

त्वं स्त्री त्वं पुमान् त्वं कुमार उत वा कुमारी
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः।

बालरूपमें जन्म लेता हुआ प्राणका नवीन अङ्कुर सचमुच विश्वमुखी है। उसके विकासके सहस्रों द्वार खुले हैं। उसके मुख अर्थात् प्राण और रसग्रहणके तन्तु एवं विकासके पथ—सब ओर फैले हुए हैं।

नये शब्दोंमें कहें तो बालकके भीतर अनन्त सम्भावनाओंके बीज हैं; विश्वमें ऐसा कुछ नहीं जो बीजरूपमें बालकके भीतर न हो, समय पाकर वे ही बीज विकसित और संवर्धित होते हैं। बालकके मुखमें पड़नेवाला घुग्गा विश्वकी हवि है। अतएव विश्व-सम्प्राप्तिके लिये बालककी उपासना करनी आवश्यक है। मानवजाति अपने बालकोंकी रक्षाके

द्वारा विश्वकी प्राप्तिका विधान रचती है। मानवकी अखण्ड परम्परामें एक-एक पीढ़ी एक कड़ी है। मानवका समस्त ज्ञान-विज्ञान और कर्म प्रत्येक पीढ़ीको पुनः धारण करना होता है। पूर्वजोंने जो किया और जो जाना, उसे बालकके कर्म और ज्ञानमें नवीन अवतार लेना पड़ेगा। इस प्रकार प्रयत्नसे जो नयी पीढ़ी तैयार होती है, वह उस श्रृङ्खलामें एक कड़ी है जो मानव-जातिका गौरवमय अतीत और आशामय भविष्य है।

बालककी शक्तियाँ अकुण्ठित हैं। उसके ज्ञान और कर्मकी इयत्ता नहीं। जो पूर्वजोंने नहीं किया, उसे आनेवाले पुत्र करेंगे, यही मानवकी सत्यात्मक शुद्ध निष्ठा होनी चाहिये—

राज्ञामृषीणां चरितानि तानि
कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः।
(अश्वघोष, बुद्धचरित १। ४६)

'राजाओं तथा ऋषियोंके पुत्रोंने वे-वे कर्म किये हैं, जिन्हें उनके पूर्वजोंने नहीं किया।'

जो पूर्वजोंने किया उसका उत्तरदायित्व वर्तमान पीढ़ी धारण करती है और उससे भी आगे बढ़ जानेका उसका जन्मप्राप्त कर्तव्य है। बड़े-बड़ेरे जो कर गये, वह उनके ही पुत्रोंसे न होगा—इस प्रकार झंखनेवालोंके लिये शोक है। अपने-आपमें ही विश्वास खो देनेसे क्या लाभ ? अश्वघोषने महायान-युगके आशावादी दृष्टिकोणका सूत्र उदात्त शब्दोंमें रक्खा है—

'कृतानि पुत्रैः अकृतानि पूर्वैः'

जो पिता-पितामहने अधूरा छोड़ा, उसे पुत्र पूरा करेंगे। महाकालके साथ मिलकर जीवित रहनेका दृष्टिकोण यही है। कालका जो जीर्ण भाग है, जो जराग्रस्त है, जो पुरातन है, वह हो बीता, वह मृत हो गया, उसे आगे आनेवाले पुत्र ही नया जीवन प्रदान करेंगे। यह सोचना कि पहली पीढ़ियाँ अपने साथ बुद्धिका सारा चमत्कार बटोरकर ले गयीं और अब बुद्धिका दिवाला ही शेष बचा है, आचार्य सिद्धसेन दिवाकरके शब्दोंमें आत्मघात है—

अवन्ध्यवाक्या गुरवोऽहमल्पधी-
रिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति।
(पूर्व-नूतन द्वात्रिंशिका श्लोक ६)

संसारके अपार विस्तारमें बालक प्राणका व्यक्त केन्द्र है। पुराणोंकी अत्यन्त मनोहर कल्पनाके अनुसार प्रलय-समुद्रमें विश्वरूपी वट-वृक्षके तैरते हुए एक पर्णपर नारायण बालरूपमें प्रकट होते हैं। वैज्ञानिककी भाषामें अजन्तुक युगके प्रलयात्मक विस्तारमें अव्यक्त-अचिन्त्य-तत्त्व चैतन्यके प्रथम बिन्दुके रूपमें व्यक्त होता है। वही विश्वका आरम्भिक बालक है, जिसकी चर्या या लीलासे मूर्त जीवन अस्तित्वमें आता है। क्षीरसागरके वटपत्र-नारायणकी परिभाषा भारतीय दर्शन और पुराणकी नितान्त सुन्दर कल्पना है।

बालक अमृतका सेतु और अजर प्राणका केतु है। बालकके मनमें मृत्युकी कल्पना नहीं होती। बालकके चैतन्यमें मृत्युका अनुभव नहीं होता। प्राण और जीवनकी ओजायमान ऊर्जस्वी धारा बालकमें बहती है। बालकका मन अमृतका ऐसा उत्स है, जो कभी विषाक्त या विकृत नहीं होता। यही सृष्टिकी बड़ी आशा है। प्रत्येक शतीमें मानव-जाति पुनः बाल, पुनः युवा और पुनः वृद्ध बनती है। कालके जराजीर्ण अंशसे मुक्त होनेके लिये वह पुनः-पुनः बालभावमें आती रहेगी, यही जीवनका स्वर्णविधान है। व्यक्ति और राष्ट्रको चाहिये कि अपने ही कल्याणके लिये उमँगकर बालभावकी उपासना करें।

भगवत्प्रेमके साधक और बाधक

सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूति। तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर प्रेम प्रसूति॥
बेष बिसद बोलनि मधुर मन कटु करम मलीन। तुलसी राम न पाइऐ भएँ बिषय जल मीन॥

(दोहावली १५२-१५३)

'जिसका मन सरल है, वाणी सरल है और समस्त क्रियाएँ सरल हैं, उसके लिये भगवान् श्रीरघुनाथजीके प्रेमको उत्पन्न करनेवाली सभी विधियाँ सरल हैं। अर्थात् निष्कपट दम्भरहित मन, वाणी और कर्मसे भगवान्‌का प्रेम अत्यन्त सरलतासे प्राप्त हो सकता है। तुलसीदासजी कहते हैं कि ऊपरका वेष साधुओंका-सा हो और बोली भी मीठी हो, परंतु मन कठोर हो और कर्म भी मलिन हो—इस प्रकार विषयरूपी जलकी मछली बने रहनेसे श्रीरामजीकी प्राप्ति नहीं होती। (श्रीरामजी तो सरल मनवालेको ही मिलते हैं)।'

सांस्कृतिक शिक्षणकी वर्तमान कठिनाइयाँ

(देशके विचारशील विद्वानोंके सामने विचारणीय विषय)

महापुरुषोंने बहुत पहले ही पाश्चात्य शिक्षा-प्रणालीके दोषोंको पहचान लिया था । इस प्रणालीके प्रारम्भसे ही भारतमें इसका विरोध करनेवाला एक प्रबल समुदाय रहा है; किंतु शासकवर्गका आश्रय पाकर यह प्रणाली विस्तृत ही होती गयी । विदेशी शासकोंने भारतकी संस्कृतिको विकृत एवं च्युत करनेके जिस कूट उद्देश्यसे इसका विस्तार किया था, वह उद्देश्य बहुत कुछ सफल हुआ । देशकी शिक्षा-संस्थाएँ ऐसे विद्वान् बनाने लगीं और बनाती जा रही हैं, जो बुद्धि और विचारसे सर्वथा पाश्चात्य हैं । उनका शरीर और कभी-कभी बाहरी वेशमात्र भारतीय रह जाता है ।

इस दुरवस्थासे कैसे छूटा जाय; देशके बालकोंको विदेशी संस्कृतिके प्रभावमें बाल्यकालसे ही दीक्षित होनेसे कैसे बचाया जाय ? अनेक महापुरुषोंके मनको इस प्रश्नने चञ्चल किया । सामान्यतः तो बहुत बड़े समाजके मनमें यह प्रश्न सदासे उठता रहा है और इसे सुलझानेके प्रयत्न भी कम नहीं हुए हैं । देशमें जो गुरुकुल, ऋषिकुल आदि धार्मिक शिक्षण-संस्थाएँ हैं, वे इसी प्रश्नको सुलझानेके उद्योगमें की गयी हैं; किंतु अनेक कारणोंसे ये उद्योग अबतक सफल नहीं हो सके । इन संस्थाओंको भी घूम-फिरकर उसी पाश्चात्य प्रणालीके विश्वविद्यालयोंका पाठ्यक्रम अपनाना पड़ता है । वही परीक्षा और वही अध्ययन । कुछ सन्ध्या, पाठ, हवनादि विशेष जीवनक्रम और कुछ धार्मिक ग्रन्थोंका अतिरिक्त अध्ययन रखकर संतोष करना पड़ता है । वैसे इन संस्थाओंके संचालक भी जानते हैं कि उनके स्नातकोंमेंसे कितने प्रतिशतके जीवनमें यह प्रतिबन्ध द्वारा दी गयी विशेषता टिक पाती है ।

सांस्कृतिक शिक्षणकी समस्या कैसे सुलझे, यह विचार तो शिक्षाशास्त्रके मर्मज्ञ ही कर सकते हैं । शिक्षणकी जो कठिनाइयाँ हैं, जिनके कारण सांस्कृतिक शिक्षणके लिये अपना पूरा जीवन दे देनेवाले महापुरुषोंके उद्योग भी सफल नहीं हो पा रहे हैं, उन कठिनाइयोंको ही हम यहाँ देख लेना चाहते हैं ।

१—जब एक परिस्थितिमें होनेवाला कार्य किसी दूसरी परिस्थितिमें किया जाता है, तब वह ज्यों-का-त्यों नहीं हो पाता । उसमें नयी परिस्थितिके अनुकूल परिवर्तन यदि सोच-समझकर न कर दिये जायँ तो उसमें जो अनिवार्य परिवर्तन अपने-आप होंगे, सम्भव है कि वे उसे विकृत कर डालें । भारतीय शिक्षणकी प्राचीन प्रणाली जिस वातावरणमें चलती थी, वह बहुत ही सात्त्विक वातावरण था । बालकोंका घर, उनके माता-पिता, उनका समाज सभी उसके अनुकूल थे । शिक्षा-आश्रमोंके लिये समाजमें सम्मान था । उन्मुक्त वन थे और आर्थिक जीवन तथा उच्छृङ्खल भोगका कहीं नाम नहीं था । उन शिक्षा-आश्रमोंकी शिक्षा ही जीवनमें काम आती थी । आज सर्वथा भिन्न परिस्थिति है । समाज अर्थ एवं भोग-प्रधान हो गया है । आश्रमोंके लिये ही अर्थका मुँह देखना अनिवार्य हो चुका है । घरमें और बाहर सर्वत्र बालकको भोगकी प्रेरणा मिलती है और उसे अपना पूरा जीवन जिस आर्थिक संघर्षमें व्यतीत करना है, उसमें आश्रमोंकी शिक्षा पर्याप्त सहयोग नहीं देती ।

आश्रमोंकी ऐसी कोई रूप-रेखा होनी चाहिये जो आर्थिकताके इस संघर्षमें छात्रको प्रोत्साहित तो न करे सम्मिलित होनेके लिये; किंतु जीवन-निर्वाहके विषयमें उसे पङ्गु तथा कंगाल भी न बना दे । उसमें क्षमता हो उपार्जनकी और साथ ही संग्रहकी अप्रवृत्ति भी बनी रहे । आर्थिक परिस्थितिसे सामञ्जस्य किये बिना आज कोई शिक्षा सफल नहीं हो सकती ।

२—शिशुमें माता-पिताके रज-वीर्यसे पर्याप्त संस्कार आते हैं । बालक माताकी गोदमें और शैशवके साथमें जितना जो कुछ सीखता है, उसका प्रभाव उसके पूरे जीवनपर पड़ता है । उसके जीवनकी नींव पड़ चुकी होती है, जब वह पाठशालामें जाने योग्य होता है । जब संतानोत्पादनके निमित्त बड़े पवित्र एवं निर्विकारभावसे पुरुष पत्नीके पास जाता था, उस समयकी बात तो आज करने ही योग्य नहीं है । अब तो वह एक भव्य स्वप्न बन गया है । अब अच्छे धार्मिक एवं संयमी कहे जानेवाले परिवारोंमें भी शिशुको माता-पिता, परिवारके लोग, सेवक आदिसे जो प्रेरणा, जो सङ्ग मिलता है, वह बहुधा उसके जीवनको असंयमकी ओर ही ले जानेवाला होता है । इसके साथ ही

शिशुका लालन-पालन अत्यन्त कृत्रिम वातावरणमें भोग-प्रधान सामग्रीसे होता है। ऐसे बालक प्राचीन शिक्षा-आश्रमोंका संयम, त्याग, तितिक्षापूर्ण जीवन व्यतीत कर लेंगे, ऐसी आशा दुराशा ही है। यदि ऋषिकुलके नियमोंसे विवश होकर, गुरुजनोंके भयसे बालकोंको विवशतापूर्वक त्याग-तितिक्षाका जीवन व्यतीत करना पड़ता है तो उनके चित्तपर उसका विरोधी प्रभाव पड़ता है। उनका मन बराबर असंयमके लिये उत्सुक रहता है और नियमोंके प्रति विद्रोही बन जाता है। वे छिपे-चोरी नियमोंको भङ्ग करते रहते हैं और अवसर मिलनेपर भोगकी ओर इतने वेगसे टूटते हैं कि आश्चर्य होता है। जेलसे छूटा बंदी मिठाइयों-की ओर जैसे टूटता है, वैसी ही प्रवृत्ति उनकी होती है।

संयम कुछ नियन्त्रणकी अपेक्षा तो करता है; किंतु विवशतासे उसका पालन लाभकारी कदाचित् ही होता है। संयम, सदाचार, त्यागके प्रति बालकमें सहज श्रद्धा हो, उसकी इधर सहज रुचि हो, तभी नियन्त्रण ठीक फल दे सकते हैं। यदि शिक्षाके प्रारम्भसे, अत्यल्प वयसे बालकोंको आश्रमोंमें लेनेका आग्रह छोड़ दिया जाय और उनको पारम्भिक पाठशालाओंसे छाँटकर लिया जाय तो कदाचित् कुछ सफलता हो। यह कार्य बहुत कठिन है और सम्भव है कि व्यावहारिक न भी सिद्ध हो; किंतु यह तो सत्य है ही कि प्रारम्भिक पाठशालाओंमें दो तीन वर्षोंमें यह निश्चित हो जाता है कि किस बालककी प्रवृत्ति कैसी है। प्रायः पाठशालाओंमें एक-दो बालक सहज संयमी, सुशील पाये जाते हैं। ऐसे चुने हुए थोड़े-से भी बालकोंको कोई आश्रम सांस्कृतिक शिक्षा दे सके तो उससे बहुत अधिक सफलता सम्भव है।

३–छात्रों-ब्रह्मचारियोंके विषयमें जो कठिनाई है, अध्यापकोंके विषयमें भी लगभग वैसी ही कठिनाई है; क्योंकि अध्यापक थोड़े आवश्यक होते हैं, इससे वे सदाचारी, नियमनिष्ठ, सुशील और विद्वान् प्रायः मिल जाते हैं। यदि संरक्षक सतर्क हों तो शिक्षकोंके सम्बन्धमें यह कठिनाई नहीं होती। यहाँ दूसरे प्रकारकी कठिनाई होती है। शिक्षक या तो संस्कृतके पुराने ढंगके विद्वान् होते हैं या आधुनिक शिक्षासे शिक्षित और वे बालकोंको अपने ही ढर्रेपर चलाना चाहते हैं। आधुनिक शिक्षासे शिक्षित विद्वान् प्राचीनताका आदर चाहे जितना करें, शिक्षाके जो संस्कार उनपर पड़े हैं, वे कहाँ जायँ! भारतके बहुत बड़े लोकसम्मान्य विद्वान् ऐसे हैं कि उनकी प्राचीनतामें—कहना चाहिये कि भारतीयतामें पूरी आस्था है और इस आस्थाके फलस्वरूप वे प्राचीन परम्पराओं तथा शास्त्रोंकी वैज्ञानिक व्याख्या करते हैं। पाश्चात्त्य श्रेष्ठ मान्यताएँ शास्त्रोंमें हैं, यह सिद्ध करना चाहते हैं। उनका भाव सच्चा होता है, यह असन्दिग्ध है; पर उनके प्रयत्नसे भी भ्रान्ति ही बढ़ती है। उनकी शिक्षाने उनको पाश्चात्त्य धारणाको श्रेष्ठ मानना सिखाया है। वे नहीं समझते कि हमारी संस्कृति इन भ्रान्त धारणाओंकी पोषिका नहीं है। इसके अतिरिक्त शिक्षणका जो क्रम ऐसे लोगोंने सीखा है, जो शिक्षा उन्हें मिली है, उसको छोड़कर चलनेका उनके पास कोई मार्ग नहीं है। दूसरी ओर संस्कृतके विद्वान् वर्तमान युगके प्रभावको समझते ही नहीं। वे ऐसी शिक्षा तो देते हैं जो भ्रान्तिहीन है, पर वह ऐसी सबल नहीं होती कि वर्तमान युगके प्रभावमें टिक सके। उस शिक्षाकी प्रणाली पुष्ट नहीं है। फलतः उनकी शिक्षासे शिक्षित बालक जब वर्तमान समाजके समुद्रमें पड़ता है, उसे पश्चिमके तर्क अस्तव्यस्त कर देते हैं। बहुधा वह अपनी पूरी शिक्षाको ही भ्रमपूर्ण मानने लगता है।

जिनकी शास्त्रोंमें श्रद्धा हो, प्राचीन परम्पराओंमें आस्था हो और साथ ही जिन्होंने पहले अपने धर्मग्रन्थोंका, अपनी भाषाका अध्ययन किया हो और तब पीछे आलोचनात्मकभावसे पाश्चात्त्य मान्यताओंका भी जिन्होंने अध्ययन कर लिया हो, पश्चिमके वैज्ञानिक कहे जानेवाले प्रयोगोंसे जो अनभिज्ञ न हों, ऐसे ही शिक्षक वर्तमान समयमें ठीक सांस्कृतिक शिक्षा दे सकते हैं। ऐसे शिक्षक कठिनाईसे मिलेंगे, यह तो सच्ची बात है ही।

४–पाठ्यग्रन्थोंकी कठिनाई भी कोई छोटी समस्या नहीं है। आजकी पाठ्य-पुस्तकोंसे तो 'धर्म' और 'ईश्वर' सर्वथा बहिष्कृत कर दिये गये हैं। शिशुको 'ग' पढ़ानेके लिये 'गणेशजी'का चित्र दिखलाना तो दूरकी बात, उसे गहना भी नहीं दिखाया जाता। उसे दिखाया जाता है 'गधा।' इतिहासका प्रारम्भ होते ही उसे पहला पाठ मिलता है—'आर्य भारतमें मंगोलियासे आये।' जैसे-जैसे अध्ययनकी कक्षाएँ बढ़ती जाती हैं, ये झूठे सिद्धान्त भी बढ़ते जाते हैं। शिक्षा अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले जानेके बदले प्रकाशसे अन्धकारकी ओर ले जाती है। मैंने चित्रकला, मूर्तिकला, भूगर्भ-शास्त्रकी थोड़ी पुस्तकोंको यदा-कदा देखा है; जो प्राचीनतामें पूरी आस्था रखते हैं, वे सम्मान्य विद्वान् भी

इन विषयोंमें जब ग्रन्थ लिखने लगते हैं, तब वही डार्विनका 'विकासवाद' उनका लक्ष्य बन जाता है । मनुष्य पहले असभ्य था, धीरे-धीरे उसने सभी क्षेत्रोंमें विकास किया । यह भ्रान्त सिद्धान्त ही सभी दिशाओंमें एक ओरसे प्रतिपादित हुआ दिखायी पड़ता है । शब्दका अर्थ वृद्ध-परम्परासे ही प्राप्त होता है, यह व्याकरण-शास्त्रका मान्य सिद्धान्त है; किंतु भाषाशास्त्रपर संस्कृतके प्रतिष्ठित विद्वानोंने जिन्हें अपनी संस्कृतिका पूरा गर्व है, जब ग्रन्थ लिखे तो उसमें भी भाषाके विकासका ही प्रतिपादन हुआ । इसी प्रकार मनोविज्ञान-सम्बन्धी सभी प्रतिपादन फ्रायडके मनोविज्ञानको लेकर किये जाते हैं, भले मुखसे डार्विन और फ्रायडको वे ही विद्वान् भ्रान्त कहते हों ।

सम्पूर्ण ज्ञान सम्यक्‌रूपसे भगवान्‌से सृष्टिके आदिमें महर्षियोंको प्राप्त हुआ । ऋषियोंका ज्ञान भ्रान्तिहीन एवं पूर्ण था; क्योंकि प्रकृति अधोगामिनी है और बुद्धिका स्वभाव विस्मरण है, अतः वह प्रारम्भिक निर्मल ज्ञान मनुष्यके प्रमाद एवं परिस्थितिसे बराबर विकृत एवं विस्मृत होता गया । यह भारतीय मान्यता है और सत्य है; लेकिन इस मान्यताके आधारपर इतिहास, भूगोल, गणित, पुरातत्त्व, शब्दशास्त्र आदि किसी विषयका अध्ययन करनेके लिये दो-चार ग्रन्थ भी उपलब्ध नहीं हैं । जहाँ विकास दीखता है, वहाँ क्यों ऐसा दीखता है ? वहाँ ज्ञानकी परम्परा कब लुप्त हुई ? यह विकास कही जानेवाली परम्परा किधरसे आ रही है ? आदि बातोंका अन्वेषण भला करे कौन ? इसी प्रकार हमारी शास्त्रीय मान्यता है कि मन मूलतः सात्त्विक है । दया, क्षमा, उदारता, सत्य आदि ही मनके सहज धर्म हैं; लेकिन आजका मनोविज्ञान ठीक उल्टी बात पढ़ाता है । उच्च शिक्षाके लिये जैसे ग्रन्थ होते हैं, उच्च शिक्षाका जो क्रम होता है, उसका प्रभाव शिशुकक्षातक पड़े बिना रह नहीं सकता । एक तो उच्च शिक्षाका जो आदर्श हो, प्रारम्भसे शिक्षाक्रमको उसी ओर चलाना पड़ता है । बालकको छोटी कक्षासे ही उस आदर्शसे धीरे-धीरे परिचित कराया जाता है । दूसरे उच्च शिक्षा शिक्षकों-को प्रभावित करती है और उसका प्रभाव बालकोंके शिक्षणपर व्यावहारिक एवं मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकारसे पड़ता है ।

जहाँतक पाठ्यक्रम एवं ग्रन्थोंका प्रश्न है, कुएँमें ही भाँग पड़ गयी है । शिशुकक्षासे लेकर शिक्षणकी सभी दिशाओंमें पूरे-के-पूरे पाठ्यक्रमको आमूल परिवर्तित करने-जैसा भारी काम है और यह ऐसा काम नहीं है कि इसे कुछ दिनोंको टालकर सांस्कृतिक शिक्षाकी गाड़ी आगे चलायी जा सके । वर्तमान परीक्षाओंमें आश्रमोंके छात्रोंको बैठाना आज जीवनके आर्थिक दृष्टिकोणसे आवश्यक भले जान पड़े, पर इससे शिक्षणका उद्देश्य व्यर्थ हो जाता है, यह क्या स्पष्ट नहीं है ?

५–इन सब समस्याओंके साथ लगी समस्या है—सङ्गका प्रभाव । आज ऐसे तपोवन तो हैं नहीं कि वहाँ भोगप्रधान समाजकी वायु प्रवेश न कर सके । बालक अन्ततः बालक ही होता है । चाट और मिठाइयोंकी दुकानें, सिनेमाओंके गली-गली चित्रके विज्ञापन और आजकी पत्र-पत्रिकाएँ—बालक इसी समाजसे आता है । माता-पिताके संस्कार एवं शैशवका सङ्ग उसका जैसा होता है, सभी जानते हैं । अब इन वस्तुओंसे हम उसे बलपूर्वक दूर तो रख सकते हैं; किंतु उसके मनमें जो लालसा जगती है और उसे दबानेका जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव जीवन एवं आचरणपर पड़ता है, उससे कैसे बचा जाय ? बालकमें प्रतिक्रिया न जागे, इसकी रोक-थाम क्या है ? सांस्कृतिक शिक्षण पाश्चात्त्य प्रणालीका केवल बौद्धिक ज्ञान तो है नहीं, वह है आचरणका निर्माण, अतः आचार छोड़कर वह पूरा कैसे होगा ?

छात्रावासोंका रहन-सहन और वातावरण भी कम दूषित नहीं है । जहाँ संयमकी प्रधानता होनी चाहिये, वहाँ छात्रावासोंमें सब प्रकारके असंयमका ही बोलबाला रहता है ।

परीक्षाओंकी वर्तमान परिपाटी तो दूषित है ही, परीक्षाओंमें बैठनेके लोभसे सांस्कृतिक शिक्षण-संस्थाओंके बालकोंकी शिक्षा भी अपने-आप परीक्षाके अनुकूल पाश्चात्त्य प्रणालीकी हो जाती है और उसमें जो साहित्य प्राप्त होता है, उसका सङ्ग कम हानिकर नहीं होता । अनेक अपवाद परीक्षाके लोभसे स्वीकार करने पड़ते हैं ।

बालकोंको अपनी गौरवमय संस्कृतिके अनुरूप उचित शिक्षणके द्वारा ही बनाया जा सकता है । वर्तमान समयमें, समाजकी वर्तमान परिस्थितिमें, विश्वके संघर्षमय वर्तमान वातावरणमें, शिक्षणकी ऐसी क्या रूप-रेखा हो, जो भारतके सांस्कृतिक गौरवको उज्ज्वल करे और राष्ट्रको विश्वमें सबल, समर्थ एवं महिमान्वित भी बनावे, यह देशके विचारशील विद्वानोंके लिये विचारणीय विषय है । सु०

बालकोंका प्रश्न

(लेखक—माननीय श्रीयादवजी के० मोदी, शिक्षामन्त्री, सौराष्ट्र-सरकार)

बालकके सम्बन्धमें मैं आज एक ही विचार रखना चाहता हूँ और वह यह है कि माता-पिता या अभिभावकों तथा शिक्षकोंको यह ख्याल छोड़ देना चाहिये कि उन्हें बालकोंको कुछ सिखाना है। बालकमें अमुक शक्ति भरी हुई ही है। शक्तिको साथ लेकर ही बालक जन्म लेता है। उस शक्तिका पूर्णरूपसे तथा उचित रीतिसे विकास हो सके, इसीके लिये उसके अनुकूल वातावरण निर्माण कर देना हमारा कर्तव्य है।

वटके एक बीजके अंदर वटका महान् वृक्ष समाया है। उसको आवश्यकता है केवल मिट्टी, जल, खाद, हवा, प्रकाश और सँभाल आदि बाह्य वातावरणकी। अनुकूल परिस्थितिमें एक बीज महान् वृक्ष बन जाता है और प्रतिकूल परिस्थितिमें उस बीजका विकास कुण्ठित हो जाता है या उसका विकास होता ही नहीं। ऐसी ही स्थिति बालककी है। बालकको यदि अनुकूल वातावरण प्राप्त हो, तो 'स्वातन्त्र्य और स्वयंस्फूर्ति'के सिद्धान्तानुसार बालकका उचित विकास होता है और उसी बालकको यदि विषम (प्रतिकूल) वातावरणमें रहना पड़े तो उसका विकास रुक जाता है अथवा कुण्ठित विकास होता है या विकृत मानस उत्पन्न होता है।

पूर्वजन्मका सिद्धान्त या कर्मका नियम किसीको मान्य हो या अमान्य, परंतु शिक्षाकी दृष्टिसे उपर्युक्त अनुकूल वातावरणका सिद्धान्त समस्त बाल-प्रेमियोंको मान्य होना चाहिये और भविष्यके नागरिकोंके विकासमें आरम्भसे ही रस लेना चाहिये।

बालक देशकी दौलत है, परंतु उस दौलतको सुरक्षित रखनेकी सँभाल कितने माता-पिता रखते हैं? कितने बालकोंको उनके विकासके अनुरूप हमारे देशमें खुराक मिलती है? निवासस्थान मिलता है? शुद्ध हवा मिलती है? कपड़े मिलते हैं? और बाहर घूमने-फिरने या खेलनेको मिलता है?

अपने देशकी गरीबीको लक्ष्यमें रखते हुए और अपने राज्यकी आर्थिक परिस्थितिको ध्यानमें रखते हुए अभिभावकों और कार्य-कर्ताओंको चाहिये कि वे इस प्रश्नको मुख्य प्रश्न समझें।

मैं चाहता हूँ कि बालकोंके प्रश्नके लिये माता-पिता और कार्यकर्ता गहरा विचार करें, उनके प्रश्नोंपर सोचें और कुण्ठित होते तथा मुरझाते हुए हजारों-लाखों कोमल पुष्पोंके उचित विकासके लिये उचितरूपसे पैर बढ़ावें।

आदर्श अभिलाषा

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपातें संत-सुभाव गहौंगो ॥ १ ॥
जथालाभसंतोष सदा, काहूसों कछु न चहौंगो।
पर-हित-निरत-निरंतर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥ २ ॥
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो ॥ ३ ॥
परिहरि देह-जनित चिंता, दुख-सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अबिचल हरि-भगति लहौंगो ॥ ४ ॥

(विनयपत्रिका)

बालकका कल्याण

(लेखक—श्रीजयेन्द्रराय भगवानदास दूरकाल एम्० ए०, डी० ओ० सी०, विद्यावारिधि, भारतभूषण)

भगवान् शङ्करका एक मनोहर प्रतीक है—बालक। उनका एक पुण्य नाम है—'सद्योजात' और उत्पन्न होनेके बाद 'रुदन करना' यह उनका एक अद्भुत कर्म है। बालक जब माताके उदरमें होता है, तब उपनिषद्में कहा है कि वह भगवान्से प्रार्थना करता है कि 'हे प्रभो ! यदि इस बन्धनसे मुक्त हो जाऊँगा तो फिर हे नारायण ! मैं तुम्हींको भजूँगा, योगकी उपासना करूँगा और तुम्हारा ध्यान करूँगा।' परंतु इस मायावी जगत्का वातावरण देखते ही वह रोने लगता है। एक अंग्रेज विद्वान् कहते हैं कि 'हम दुनियामें आये थे, तब रोने लगे थे और हमारा अनुभव हमें बतलाता है कि हम किसलिये रोये थे।' अंग्रेज कवि टेनिसन तो जीवनभरकी प्रक्रियाको एक महारुदनका रूप देते हैं—

What am I ?
An Infant crying in the night.
An Infant crying for the light.
And with no language but a cry.
—Tennyson

'मैं क्या हूँ ! मैं रात्रिमें रोनेवाला बालक हूँ, मैं जीवनप्रकाशके लिये रोनेवाला बालक हूँ और रोने-चिल्लानेके सिवा मेरे पास कोई भाषा नहीं है।'

बालक शब्दका सम्बन्ध बल धातुके साथ स्पष्ट दीख पड़ता है। इस धातुका अर्थ है—श्वास लेना अथवा जीना। ऐसा अर्थ होता है और प्रेरक भेदसे जिलाना या पोषण करना भी अर्थ होता है। अतएव जो जीवित है और जिसका पोषण किया जाता है, उसे हमलोग 'बालक' कहते हैं। भगवान् नारदके कथनानुसार सोलह वर्षकी उम्रतक बालक कहा जा सकता है। इसी प्रकार सोलह वर्षतककी कन्या, जिसको 'बाला' कहा जाता है, उसका भी शारीरिक तथा मानसिक पोषण दूसरेसे हुआ करता है। फिर सुभाषितमें कहा है कि 'सोलह वर्षका होनेपर पुत्रको मित्रके समान मानना चाहिये।' यह वाक्य भी इसी अर्थकी पुष्टि करता है। अतएव 'सद्योजात' तुरंतके जनमे हुएसे लेकर सोलह वर्षकी उम्रवाले तकको 'बालक' कह सकते हैं; परंतु आजकल विशेषतापर ध्यान न देकर सामूहिक हिसाबमें कूद पड़नेकी परिपाटी चली है, इससे हमें संकोचमें नहीं पड़ना है। इस सोलह वर्षतकके बालकमें शिशु, किशोर आदि उम्रके अनुसार भेद होते हैं और स्त्री-पुरुषका जाति-भेद होता है, इसीके साथ-साथ शारीरिक संगठनमें, सौन्दर्यका, वर्णका, गूढ शक्तियोंका और अव्यक्त गुणोंका भी भेद होता है और इन सारे भेदोंके अनुरूप व्यवस्था होती है तो वह व्यक्ति तथा समाज—दोनोंके लिये हितकर होता है, नहीं तो, गड़बड़ीमें बहुत हानियाँ हो जाती हैं, इसको भी हम देखते हैं। ये भेद गर्भाधानसे ही आरम्भ हो जाते हैं। माता-पिताके स्वभावका असर होता है, इतना ही नहीं, वृत्ति, विचार, समय और दृष्टि आदिके अनेकों असर इन भेदोंकी उत्पत्तिमें कारण होते हैं। 'सन्ध्या'के समयके कारण हिरण्याक्ष-जैसा असुर उत्पन्न हुआ और नारदजीके बोधके कारण प्रह्लाद-जैसे भक्तका आविर्भाव हुआ। ऐसे अनेकों दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। फिर सिंह-सिंहनीके बच्चे सिंह ही होते हैं और बकरा-बकरीके बकरा-बकरी ही होते हैं, यह भी प्रकृतिका नियम है। इसी प्रकार धार्मिक माता-पिताकी संतान धार्मिक, शूरवीर माता-पिताकी शूरवीर, बुद्धिमान्की बुद्धिमान् और डरपोककी डरपोक होती है और इस प्रकृतिसिद्ध नियमके कारण ही मानव-जातिके समस्त हितैषियोंने आनुवंशिक इतिहासको, विवाहकी योग्यताको तथा गर्भाधानकी संस्कारशुद्धिको मानव-जातिके उन्नति-विचारमें प्रधान स्थान दिया है।

आधुनिक समयका सबका उदय करनेकी जो भावना विशेषरूपमें दिखायी देती है, उसके सिद्ध करनेके प्रयत्नोंमें कितने ही कारण मुख्यरूपसे बाधक हैं। एक तो हमने देखा कि सब बच्चोंको समान मानकर उनको एक ही लकड़ीसे हाँकनेकी परिपाटी है, उसमें भी उनके खाने-पीने और पुष्ट करनेकी ओर ही ध्यान रक्खा जाता है। दूसरी खास आवश्यकता यह है कि बालकोंको पढ़ानेपर ही नहीं, उनको अच्छा बनानेपर लक्ष्य रखना चाहिये। कहा जाता है कि शिक्षाका मुख्य हेतु यह है कि—'बालकमें जो प्राकृतिक संस्कार रहते हैं उनका पूर्ण विकास करना।' पर यह सिद्धान्त ठीक नहीं है। क्या बालकोंमें—किसीमें यदि दुष्टताके, वैरके, द्वेषके या दूसरे कोई अनिष्ट संस्कार

होंगे तो हम शिक्षाके द्वारा उनकी पुष्टि करेंगे या उनका विकास करेंगे ? आजकल धार्मिक शिक्षाको बिलकुल हटा दिया गया है और नीति-अनीतिके स्पष्ट सिद्धान्त भी बालकको नहीं जनाये जाते। सत्य, दया, संयम, पवित्रता, ईश्वरभक्ति, धर्म और ईश्वरमें श्रद्धा—इन सबमें दृढ़ता नहीं करायी जाती, परंतु 'चरित्र-निर्माण'का गोलमटोल आदर्श रक्खा जाता है। इस परिस्थितिका एक कारण यह भी है, इन सारी चीजोंके निर्माणका काम ऐसे मनुष्योंके हाथोंमें आ पड़ा है कि जो स्वयं रजःप्रधान हैं, जो सकामतामें, उपभोगमें, सत्ताके लोभमें और धनके लोभमें सराबोर हो रहे हैं। अतएव इनको स्वयं ही धर्म या सदाचारकी विशेष प्रेरणा नहीं मिलती, तब ये दूसरोंको कहाँसे देंगे ?

बालककी शिक्षाके विषयपर विचार करते समय यह मौलिक विचार उपस्थित करना आवश्यक प्रतीत होता है कि आजकल मौलिक शिक्षामें हस्त-उद्योगको प्रधानता दी जाती है, परंतु यह स्वभावसिद्ध है कि मानवको स्वभावसे ही जो प्राप्त होता है, उसकी शिक्षाकी खास आवश्यकता नहीं है। खास आवश्यकता है सदाचारी जीवनके शिक्षणकी; क्योंकि उसीके द्वारा दुनियाके सब मनुष्य हिलमिलकर अथवा कम-से-कम विसंवादसे रह सकते हैं। टेकनिकल अथवा विशिष्ट शिक्षा तो मनुष्योंको एक प्रकारसे अधिक असमान बनाती है। बालकमें उसके कौटुम्बिक धर्मके अनुसार आदर्शोंकी समानता पहले जगनी चाहिये। यदि नीति और धर्मके विचारोंमें ही बड़ा भेद होगा तो फिर मनुष्योंमें तालबद्धता आवेगी ही कैसे ? एक समूह स्वच्छन्द (मनमाने) आचारको मानता हो और दूसरा संयमित आचारको मानता हो तो दोनोंमें मेल कैसे हो सकेगा ? खास करके, इसी कारणसे आजकलकी दुनियामें नास्तिक स्वच्छन्दवादी और थोड़े-बहुत आस्तिक परम्परा-वादियोंके दो बड़े विभाग हो गये हैं और इसीलिये भिन्न-भिन्न धर्मोंकी जातियाँ अपने लिये अलग-अलग स्वतन्त्र देशोंकी माँग करती हैं। इनमें मुसल्मानों और यहूदियोंके उदाहरण प्रत्यक्ष हैं और इसी कारणसे जिस देशमें धर्म-परिनिष्ठित राज्य नहीं होता, वहाँ प्रजाके धर्मका धीरे-धीरे अथवा जल्दीसे क्षय होकर नाश हो जाता है। इस विषयमें सब स्वीकार करें उसको मानना और सब न मानें उसको उड़ा देना—इस परिपाटीका आश्रय लेकर धर्मको उड़ा दिया जाता है और परिणाममें पुण्य और पारदर्शी आदर्शोंसे विहीन प्रजा बढ़ती जाती है !

बालकोंकी शिक्षाके अङ्गस्वरूप एक दूसरा प्रश्न भी बहुत मार्मिक है—वह है—बालक और बालाओंके सह-शिक्षणका। इस विषयमें यूरोप और अमेरिकाका अनुकरण करना ठीक नहीं मालूम होता। यह स्वयं वहाँ भी सदाचारके लिये बहुत ही हानिकारक सिद्ध हुआ है; ऐसे वहाँके प्रमाण हैं और भारतमें भी हाईस्कूलों और कालेजोंमें इसके दुष्परिणाम दीख चुके हैं। अतएव इस प्रथाको तो त्याज्य ही समझना चाहिये। ऐसा कहा जाता है कि अमुक उम्रतक सहशिक्षणमें हर्ज नहीं है और इसमें कुछ तथ्यांश भी कदाचित् हो, तथापि दूषित भावनाके बीज फैले, ऐसे प्रसंगोंको पहलेसे ही क्यों उठाना चाहिये ? इस प्रकार विचार करके प्राथमिक शिक्षासे ही लड़के तथा लड़कियोंके अलग-अलग शिक्षणकी पुरानी प्रणालीको ही जारी रखना चाहिये। जिन देशोंमें लड़के-लड़की साथ-साथ घूम-फिरकर, एक दूसरेके सम्पर्कमें आकर, साथ-साथ नाच आदि करके विवाह करते हों, उन देशोंमें चाहे यह प्रथा चल सकती है; परंतु हमारे देशमें तो भारतीय सतीत्वका आदर्श—आदर्शकी दृष्टिसे भी—कायम रखना हो तो हमें सहशिक्षण-के आपातरमणीय लाभोंको तिलाञ्जलि देनी ही पड़ेगी। सतीत्वकी भावना समस्त देशको उन्नत करती है और स्वच्छन्दाचार समस्त देशको ऐन मौकेपर दगा देता है। यूरोप आदिकी प्रजाकी प्रयोगशालाएँ हमें यही बतला रही हैं। धर्महीन प्रजा जैसे राज्यके प्रति बलवा करनेका अपना हक जाहिर कर देती है, ऐसे ही सतीत्वके आदर्शसे हीन प्रजा भी खुले तौरपर दुराचारमें लग जाती है। आदर्शोंकी रक्षाके लिये सहशिक्षणको बंद करना आवश्यक है। फिर लड़के-लड़कियोंके स्कूल अलग होनेपर उनको योग्यतानुसार शिक्षा देनेका काम भी सुगम हो जाता है।

अवश्य ही शिक्षामें व्यायाम, हस्त-उद्योग, विविधता आदिकी उपयोगिता दिखायी जाती है, वह लगभग सर्व-सम्मत मानी जाती है। अतएव उस विषयपर यहाँ पिष्टपेषण नहीं करना है। अभी तो जिस वस्तुकी खास आवश्यकता होनेपर जिसपर ध्यान नहीं दिया जाता, ऐसी बातोंपर ही ध्यान खींचा गया है। बालककी शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति हो और उस उन्नतिकी व्यवस्था उसकी योग्यता देखकर की जाय, इसीको मुख्यतया ध्यानमें रखना चाहिये, सबकी एक-सी और एक ही प्रकारकी प्रगति करनेकी ओर नहीं ! परंतु समस्त समाजके सम्पूर्ण

अङ्ग पुष्ट हों और एक दूसरेके साथ एक ही शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंकी भाँति सहकारितासे तथापि अपने-अपने वर्तुलके काम करें, यही इष्ट आदर्श है। ऐसी समाजकी सर्वाङ्गीण एकताका आदर्श राज्यके दबावसे, मनुष्यके हुक्मसे या जहाँगीरीसे नहीं आ सकता, नहीं चल सकता। ऐसे आदर्शके लिये वेदधर्म-जैसे पूजनीय, पूर्ण और पुण्यधर्मकी भूमिका ही आवश्यक है।

उपसंहारमें हमें यह कहना है कि बालक पुरुषका पुरोगामी है, इसलिये वही मानव-समाजका बीज है। उसे विशुद्ध और व्यवस्थित रखना चाहिये। उसे योग्य भूमिकामें योग्य खाद तथा पानीसे पालना चाहिये और वह दूसरेको पोषण देनेयोग्य बन जाय, तबतक उसकी सँभाल उचित-रूपमें रखनी तथा उसकी ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और द्रव्यशक्तिको सुमार्गपर प्रेरित करके सुपुष्ट करनी चाहिये। मानव-जीवन और समाज-समतुला यह अमूल्य विरासत है, यह व्यर्थ उड़ा देनेके लिये नहीं है। अथवा मनमौजी प्रयोगोंमें खो देनेके लिये भी नहीं है। इसके पीछे मानवके सुख-दुःखका इतिहास है और इसके सामने मानवका भविष्य विराजमान है। यदि दुनियाकी शान्ति, पुष्टि और तुष्टि साधारणरूपमें भी साधनी हो तो धर्म, ब्रह्मचर्य, ईश्वर-श्रद्धा और पराविद्याके ज्ञानके आदर्शोंको मानवका नेतृत्व करनेवाली प्रजाको अङ्गीकार करना ही पड़ेगा—क्या बालककी जीवन-योजनामें, क्या बालिकाओंकी जीवन-योजनामें, क्या युवकों और युवतियोंकी जीवन-योजनामें और क्या प्रौढ़ोंकी जीवन-योजनामें—सर्वत्र यही प्रेरकशक्ति सिद्धि प्रदान कर सकती है ?

प्राचीन अध्यात्मशिक्षा तथा आर्थिकदृष्टिसे भी उपयोगी शिक्षाका स्वरूप

(लेखक—श्रीनारायणजी पुरुषोत्तम सांगाणी)

प्रातःस्मरणीय ऋषि-मुनिप्रणीत भारतवर्षका प्राचीन इतिहास देखनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूर्वकालमें भारत सब प्रकारसे उन्नति-अभ्युदयके शिखरपर पहुँचा हुआ राष्ट्र था। ज्ञान-विज्ञान, बल-बुद्धि, धन-धान्य, सुख-सम्पत्ति, ऐश्वर्य-वैभव, प्रेम-परोपकार, शील-सदाचार, व्यापार-वाणिज्य, हुनर-उद्योग और कला-कौशल आदि प्रत्येक विषयमें हिंदुस्थानके हिंदुओंने अत्यधिक विकास करके कल्पनातीत सामर्थ्य प्राप्त किया था।

प्राचीन कालमें हिंदुओंको ऐसे अनुपम अद्भुत शक्ति-सामर्थ्यके प्राप्त होनेका कारण यह था कि हिंदू अध्यात्मवादी थे। ईश्वर और ईश्वरस्वरूप धर्मको अपना सर्वस्व मानते थे। ईश्वरके द्वारा जगत्के कल्याण और व्यवस्थाके लिये निर्माण किये हुए वेद-शास्त्र और वर्णाश्रमधर्ममें हिंदुओंकी अचल और अटल श्रद्धा थी और तदनुसार बरतनेके लिये वे सदैव प्राणोंकी बाजी लगाकर भी कटिबद्ध रहते थे।

वेद-शास्त्र और वर्णाश्रमधर्मके विधानमें मनुष्यके लिये बालक-अवस्थामें ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए गुरुके घर रहकर विद्याभ्यास करनेका निर्देश किया हुआ है। प्राचीन कालमें ब्राह्मणोंके आश्रम—घर विद्यार्थियोंके लिये सर्वथा निःशुल्क शिक्षा (free education) प्राप्त करनेके स्थान थे। वेदव्यास, भृगु, भरद्वाज, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, अङ्गिरा-जैसे महानुभाव महर्षियोंके आश्रमोंमें दस-दस हजार बालक ब्रह्मचर्यसे रहकर संयम-नियमका पालन, सत्य-सदाचारका सेवन और गुरु तथा गायोंकी सेवा-शुश्रूषा करते हुए यथाधिकार उपनयन-संस्कार करवाकर विद्याज्ञानका उपार्जन करते थे।

आजकलके स्कूल-कॉलेजोंमें जहाँ अपनी शक्तिसे बाहर फीस भरकर, आत्माको कुचलकर और पुस्तकोंपर काफी पैसे खर्च करके भी बालक केवल 'भाषाज्ञान' ही सीखते हैं और धर्म-कर्म तथा शौर्य-वीर्यसे वञ्चित होकर स्वच्छन्दाचारी बनकर केवल नौकरी-गुलामीके लिये ही तैयार होते हैं, वहाँ प्राचीन शिक्षणप्रथा इससे सर्वथा विलक्षण थी। प्राचीन शिक्षामें चौदह विद्या ही विद्या मानी जाती थी और उन्हींका शिक्षण फल-फूलोंसे लदे हुए पवित्र वन-जंगलोंके एकान्त रमणीय प्रदेशोंमें, गङ्गा, यमुना, नर्मदा, कावेरी, तुङ्गभद्रा, गोदावरी-जैसी पवित्र नदियोंके तटपर प्रतिष्ठित ऋषियोंके गुरुकुलोंमें अथवा ब्रह्मचर्याश्रमोंमें दिया जाता था। इन चौदह विद्याओंका स्वरूप महर्षि याज्ञवल्क्यने इस प्रकार बतलाया है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

श्रीमद्भागवत, स्कन्द, पद्म, ब्रह्म आदि पुराण, न्याय-शास्त्र, पूर्व और उत्तरमीमांसा आदि दर्शन-शास्त्र, मनु-

याज्ञवल्क्य-पाराशर-यम-आपस्तम्बादि धर्मशास्त्र, शिक्षा, व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, छन्द, निरुक्त--ये छः वेदके अङ्ग तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद--ये चारों वेद और आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद और शिल्पादि वेद ये चार उपवेद--यों सब मिलकर चौदह विद्याओंका बालक गुरुकी आज्ञामें रहकर तप-योग-अनुष्ठान-भक्तिपूर्वक अभ्यास करके सम्पादन करते थे। जिससे वे प्रौढावस्थामें सहज ही सर्वज्ञ महापुरुष बन जाते थे।

पुराण-विद्यामें वेदोंका गूढ़ ज्ञान--मनुष्य अपने चारों पुरुषार्थ--धर्म, अर्थ, काम, मोक्षको सरलतासे सिद्ध कर सके, ऐसी पद्धतिसे, महापुरुषोंके दिव्य चरित्रोंके द्वारा निरूपण किया गया है।

न्याय-शास्त्रकी विद्यासे तर्कबुद्धिके विकासद्वारा वेदके सत्य अर्थका तात्पर्य समझमें आता है।

पूर्वमीमांसा-शास्त्रकी विद्यामें यज्ञ-याग, होम-हवनके द्वारा यज्ञस्वरूप विष्णु तथा इन्द्रादि देवताओंको प्रसन्न करके पर्जन्य, ऐश्वर्य, संतति, विश्वके लोगोंकी सुख-शान्ति तथा स्वर्गप्राप्तिका साधन समझाया गया है और उत्तरमीमांसा--ब्रह्मसूत्रमें समस्त मतों तथा वादोंका निरसन करके ब्रह्मके विशुद्ध स्वरूपका निर्देश किया गया है।

मनु, याज्ञवल्क्य, पाराशर आदि स्मृति-धर्मशास्त्रोंकी विद्यामें मनुष्यके जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त और प्रातःकालसे लेकर सायंकालतक किये जानेवाले तमाम कर्तव्योंका निर्देश तथा जीवन-व्यवहार और राजनीतिसम्बन्धी सर्वोत्तम उपदेश दिया गया है।

शिक्षा-व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, छन्द, निरुक्त आदि वेदाङ्गोंकी विद्यामें शुद्ध संस्कारी भाषाके पूर्ण ज्ञानके साथ वेदोंके कठिन अर्थोंको कैसे बैठाना चाहिये, इस बातको तथा भूत, भविष्य और वर्तमान कालकी गतिका सूक्ष्म ज्ञान बहुत ही अच्छी रीतिसे समझाया गया है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेदमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा ज्ञानकाण्डके द्वारा निष्काम कर्म, भक्ति तथा तत्त्वज्ञानसे प्रभुसाक्षात्कार किंवा मोक्षके साधन बताये गये हैं और आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्ववेद, शिल्पादि वेदोंके द्वारा लोगोंकी नीरोगता, अस्त्र-शस्त्रादि विद्यामें निपुणता, चौंसठ कलाओंका ज्ञान तथा गानके द्वारा प्रत्यक्ष भगवद्दर्शन-का अद्वितीय मार्ग आदि बतलाये गये हैं, जो मनुष्यमात्रके लिये इहलोक-परलोकको सफल बनानेवाले अमोघ साधन समझे जाते हैं।

यूरोपके विचक्षण-बुद्धि विद्वानोंने जहाँ भारतीय संस्कृतिके मौलिक ग्रन्थोंको येन-केन-प्रकारसे उपलब्धकर, उनके मनन-चिन्तन-अभ्यास-अन्वेषणसे विज्ञान (Science) का (अनेक प्रकारकी वैज्ञानिक वस्तुओंका आविष्कार) निर्माण करके दुनियाके लोगोंको आश्चर्यचकित कर दिया, वहाँ हमारे यहाँ अपनी संस्कृति और अपनी विद्याके स्वरूपको भूलकर जडवादी यूरोप-अमेरिकाका अन्धानुकरण करके भारतका घोर पतन करनेके लिये प्रस्तुत भारतके अग्रगण्य पुरुष केवल स्वाधीनता प्राप्त करनेकी डींग हाँक रहे हैं; परंतु कोमल अन्तःकरणके बालकोंके लिये अभीतक वही अंग्रेज मेकाले साहबका बोया हुआ विषवृक्षरूपी स्कूल-कॉलेजोंका शिक्षण ही ज्यों-का-त्यों चालू है।

स्कूल-कॉलेजोंमें हमारे निर्मल अन्तःकरणके बालकोंके अंदर कैसे-कैसे अनिष्टकारक विचार ठूँसे जाते हैं, इसका नमूना देखिये--'हिंदू--आर्य भारतके मूल निवासी नहीं थे, वे उत्तर ध्रुवके मेसिडोनिया-ग्रीक आदि प्रदेशोंसे आये थे और यहाँके मूल निवासी अनार्योंको लूट-मारकर हिंदुस्थानको पचा गये थे। हिंदुओंके पूर्वज जंगली थे। वेद, शास्त्र, पुराण गपोड़ोंसे भरे हैं और उनमें कही हुई बातें स्वार्थियोंने लिख मारी हैं। हिंदुओंमें जाति-पाँति और वर्णाश्रममें ऊँच-नीचके भेद और निम्न जातियोंके प्रति तिरस्कारकी भावना भरी है, जो प्रगतिमें बाधक हैं। तीन हजार वर्ष पूर्व यह दुनिया जंगली हालतमें थी। तीन हजार वर्षके पहलेका कोई इतिहास नहीं है। यूरोपियन लोगोंने पुरुषार्थ तथा अनुसन्धान करके संस्कृति और विज्ञान (Civilization and Science) का उद्भव और विकास कर जगत्के लोगोंकी उन्नति की है।' आदि-आदि।

यूरोपीय इतिहासलेखकोंके घोर अज्ञान, पक्षपात तथा इस प्रकारके अति भयानक भ्रामक विचारोंको हिंदू-संस्कृतिसे सर्वथा अनभिज्ञ केवल अंग्रेजी पढ़े-लिखे हमारे भाइयोंने सत्य मान लिया और जिन निन्दनीय कार्योंके करनेमें विदेशी विधर्मी भी लज्जा और संकोचसे हिचक जाते थे, उन्हीं कार्योंको हमारे नामधारी नेताओंने जनताका प्रचण्ड विरोध होनेपर भी निर्भीकतासे करना शुरू कर दिया। हिंदूकोडबिल-जैसे हिंदुत्वनाशक बिल स्वीकार करानेका प्रयत्न इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है!

इस समय भारतमें तथा दुनियाके प्रायः सभी राष्ट्रोंमें घोर अशान्ति, कलह, भुखमरी, रोग, भूकम्प, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, बाढ़, भयानक महँगी, आकस्मिक दुर्घटना, बेकारी तथा युद्ध आदि विपत्तियाँ पूरे वेगसे आ रही हैं और लोग बल-बुद्धि तथा साधनरहित होकर दरिद्र, कंगाल, पराधीन बनकर चोरी, डकैती, लूट, खून तथा असहनीय करोंके बोझसे चिथकर हाहाकार मचा रहे हैं। इसका कारण अध्यात्मवाद अथवा ईश्वर और धर्मके प्रति विमुख जड-वादिता ही है। ऐसी जडवादी नास्तिक नीतिको धर्मनिरपेक्ष बतलाकर चाहे कुछ लोग अपना बचाव कर लें, परंतु संस्कृति और देशके शुभचिन्तकोंको समय रहते ही चेतकर लोगोंको सर्वनाशसे सत्वर बचाना चाहिये।

ऐसे दुर्घट समयमें देश तथा दुनियाका कल्याण चाहने-वाले बुद्धिमान् सत्पुरुषोंका यह अनिवार्य कर्तव्य है कि बड़ी उम्रके पुरुषोंपर उपदेश चाहे असर न करे, परंतु कोमलमति बालकोंको तो उनके माता-पिता घरमें ही उपदेश करें और रहस्य समझाकर कर्तव्य-ज्ञान करावें तथा वैसे ही सार्वजनिक विद्यालयों, पाठशालाओं एवं गुरुकुल-ब्रह्मचर्याश्रमोंकी स्थापना करें और खास पाठ्य-पुस्तकोंको हिंदू-संस्कृतिके अनुरूप निर्माण करावें तथा बालकोंको सिखावें कि—

(१) अनन्त प्रकारकी सृष्टिका सृजन, नियन्त्रण, पालन, पोषण तथा रक्षण करनेवाले श्रीहरि केवल क्षीरसागर, वैकुण्ठ, गोलोक अथवा श्वेतद्वीपमें विराजते हैं, इतना ही नहीं है, वे सर्वशक्तिमान् प्रभु प्राणिमात्रके अन्तःकरणमें विराजमान हैं। उन्होंने ही लोक-व्यवस्था तथा कल्याणके लिये वेद, शास्त्र और वर्णाश्रमकी रचना की है। जब कोई अनजानमें या जान-बूझकर उनकी अवहेलना करता है और जब धर्मज्ञ, पतिव्रता स्त्री और गायोंकी पुकार मचती है, तब वे प्रभु अवश्य अवतार धारण करके धर्म और धर्मज्ञोंकी रक्षा करते हैं और दुष्टोंको दण्ड देते हैं। अतएव दुःख-कष्ट पड़नेपर किसीको भी स्वधर्म और संस्कृतिसे कभी विचलित नहीं होना चाहिये।

(२) हम हिंदू—आर्य हिंदुस्थान—आर्यावर्त अथवा भारतके ही मूल निवासी हैं। विदेशियोंके कथनानुसार बाहरसे नहीं आये हैं। लाखों वर्षों पहले प्रकट हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी तथा पाँच हजार वर्ष पहले प्रकट होनेवाले श्रीकृष्ण परमात्मा भारतवर्षमें ही मथुरा और अयोध्याकी पवित्र-भूमिमें अवतरित हुए थे। सगर राजाके दुर्गति-प्राप्त पुत्रोंके उद्धारके लिये राजा भगीरथ कितने हजारों वर्ष पूर्व तप करके पतित-पावनी गङ्गाजीको हिमालय—गङ्गोत्री नामक स्थानमें प्रकट करवाकर प्रयाग, कानपुर, काशी और कलकत्ते होकर गङ्गासागरपर्यन्त ले गये थे और सूर्यपुत्री यमुनाजी भी भगवान् श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिये हिमालय—यमुनोत्री नामक स्थानमें प्रकट होकर मथुरा-दिल्लीके लोगोंको पवित्र करती हुई बह रही हैं। वही यह हिंदुओंकी मूल भूमि हिंदुस्थान है।

फिर आर्योंके आर्यावर्तके सम्बन्धमें एक सबल प्रमाण यह है कि भगवान् नारायणके नाभिकमलसे सृष्टिकर्ता पितामह ब्रह्मा प्रथम प्रकट हुए। इन पितामह ब्रह्माजीके पुत्र प्रजापति मनु महाराज कहते हैं—

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥

पूर्वके समुद्रसे पश्चिमके समुद्रतक और उत्तरके हिमालय पर्वतसे लेकर दक्षिणके विन्ध्याचल पर्वततकके प्रदेशको जानकार लोग 'आर्यावर्त' कहते हैं। यही पीछे भरत राजाके उत्कर्षसे 'भरतखण्ड' या 'भारतवर्ष' कहलाया। अज राजाके यशसे इसीका 'अजनाभ-खण्ड' नाम हुआ, हिंदुओंका निवास-स्थान होनेसे 'हिंदुस्थान' कहा गया और अंग्रेजोंने इसका नाम 'इंडिया' रक्खा, यह वही हिंदुओंका मूल निवासस्थान हिंदुस्थान है।

(३) वेद-शास्त्र ईश्वरके निःश्वासरूप होनेसे ईश्वर-स्वरूप ही हैं। इसमें लेशमात्र भी असत्य नहीं है। वह प्राणिमात्र-का उत्कर्ष करनेवाली दिव्य वाणी है। वेद-उपनिषद्में जैसा सर्वोत्कृष्ट कोटिका तत्त्वज्ञान देखा जाता है, वैसा अन्यत्र किसी भी धर्ममें नहीं है। हिंदुओंके पूर्वज ऋषि-मुनियोंने लाखों वर्षोंतक तपश्चर्या और योगसाधना करके दिव्य ज्ञानको प्राप्त किया और फिर उसे जगत्के लोगोंके कल्याण-के लिये पात्रानुसार वितरण किया। आज पृथ्वीपर जो कुछ भी ज्ञान-विज्ञानकी छाया दृष्टिगोचर होती है, सब उन्हींका प्रताप है, अतएव श्रद्धा-भक्तिके साथ उस ज्ञानका सम्पादन करना चाहिये।

(४) महर्षि वाल्मीकि-प्रणीत रामायण और महर्षि वेदव्यास-प्रणीत महाभारत तथा पुराण—ये हिंदुओंके प्राचीन इतिहास-ग्रन्थ हैं। इनमें सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञानके साथ हिंदुओंका शृङ्खलाबद्ध इतिहास—सूर्यवंश और चन्द्र-

वंशके द्वारा अबतकका प्राप्त होता है। जैसे महर्षियोंने जगत्-कल्याणके लिये ज्ञान-विज्ञानका महान् हिस्सा अर्पण किया है, वैसे ही मान्धाता, रघु, दिलीप, अम्बरीष, भीष्म, अर्जुन-जैसे राजर्षियोंने भी चक्रवर्ती-पदका उपभोग कर समस्त भूमण्डलपर दिग्विजयकर जगत्के लोगोंका योग-क्षेम किया है। उनको जंगली कहना मूर्खताकी परिसीमा है और इतिहासके रूपमें स्वीकार न करना बुद्धिका दिवालियापन है।

(५) धनुर्वेदके अभ्याससे हिंदुओंने अणुबम और हाइड्रोजन बमसे भी करोड़ों गुने अधिक उत्कृष्ट और शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र, नारायणास्त्र, वायव्यास्त्र, आग्नेयास्त्र, इन्द्रास्त्र, पाशुपतास्त्र आदिका महान् ज्ञान मन्त्र-विद्याके साथ प्राप्त किया था; पर उन्होंने कभी भी किसी निर्बल, अशक्त, न लड़नेवाले लोगोंपर उनका उपयोग नहीं किया। यह क्या उनकी कम योग्यता थी ?

(६) ईश्वरके द्वारा रचित सृष्टिके लोगोंको शुभाशुभ कर्मका फल तो अवश्य भोगना ही पड़ता है। कोई जीवात्मा उच्च योनिमें जन्म लेकर सुख भोगता है, तो कोई निकृष्ट योनिमें जन्म लेकर दुःख भोगता है। इसका कारण उसके पूर्वजन्मके अच्छे-बुरे कर्म ही हैं। जीवात्माकी शुद्धि तथा अभ्युदयके लिये ही शास्त्रकारोंने स्पृश्यास्पृश्य-विवेक, विवाह-मर्यादा, पवित्र खान-पान और जाति-पाँति, वर्ण-आश्रमकी मर्यादा स्थिर की है। कोई यदि उसका अतिक्रमण करके स्वेच्छाचार फैलाता है तो वर्णसंकरताद्वारा पाप-अनाचारकी ही वृद्धि होती है और लोगोंको नारकीय दुःख सहने पड़ते हैं। अतएव अल्प-बुद्धिके अज्ञानी लोग धर्मके स्वरूपको समझे बिना यदि धर्ममर्यादाको मिटानेकी चेष्टा करें तो धर्मज्ञोंको चाहिये कि वे उसका प्रबल विरोध करके धर्म और संस्कृतिको सुरक्षित रक्खें, इससे धर्म ही उनकी रक्षा करेगा।

इस प्रकार बालकोंके शङ्का-भ्रमको मिटाकर, हितकारी उपदेश देकर आधुनिक लाक्षागृहोंके सदृश स्कूल-कॉलेजोंकी विषैली शिक्षासे पिण्ड छुड़ाकर गुरुकुल-ब्रह्मचर्याश्रमोंमें चौदह विद्याओंके साथ देशके लिये प्रयोजनीय तमाम आवश्यक वस्तुओंके निर्माणका स्थान-स्थानपर, गाँव-गाँवमें सुप्रबन्ध किया जाय तो देशमेंसे चले जानेवाले करोड़ों-अरबों रुपये देशमें ही रह जायँ और सहज ही लोगोंकी बेकारीका अन्त आ जाय।

आजकलके स्कूल-कालेजोंमें संस्कृति और मनुष्यत्वको नाश करनेवाले अभ्यास-क्रमके सम्बन्धमें ऊपर संक्षेपमें कहा जा चुका है। इनमें सब दोषोंसे बढ़कर एक दोष और है—वह है बालक और बालिकाओंकी सहशिक्षा।

प्रथम तो बालकोंको जो शिक्षा दी जाती है, वह सर्वथा निकम्मी है तथा बल, बुद्धि, संस्कृति और धर्मको नष्ट करनेवाली है और कन्याओंके लिये तो बिल्कुल ही निरुपयोगी है; क्योंकि कन्याको भविष्यमें 'गृहिणी' बनना है। बालक-बालिकाओंका साथ-साथ बैठकर इस प्रकारकी संयम-नियम-धर्म-चारित्र्यहीन शिक्षाका सम्पादन करना अत्यन्त हानिकारक है, इससे दोनोंके हृदयमें विकार ही उत्पन्न होता है और पढ़ना छोड़कर वे जहाँ-तहाँ भटकते हुए स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त हो जाते हैं और अन्तमें खुल्लमखुल्ला विषय-भोगमें फँसकर, शेषमें 'सिविलमैरैज' कर लेते हैं अथवा परस्पर संकेत करके घरसे भाग जाते हैं और माता-पिताकी इज्जतपर पानी फेरकर उन्हें दुःखमें डाल देते हैं; अतएव कन्या-बालिकाओंके लिये, कन्या-पाठशालाओंमें पढ़कर वे आदर्श गृहिणी बनें, ऐसे अभ्यासक्रमकी योजना करके सच्चरित्रा स्त्री-शिक्षिकाओंके द्वारा ही उनके शिक्षणकी व्यवस्था होनी चाहिये।

समाज, संस्कृति, धर्म और राष्ट्रकी उन्नति-उद्धारका प्रश्न बड़ा विकट है। खास करके वर्तमान स्थितिमें तो वह प्रायः अशक्य या असम्भव-सा दीख पड़ता है; क्योंकि प्रतिकूल संयोगोंके कारण अथवा लोभ-लालच, भय-प्रलोभनको लेकर लोग न तो सत्य बोल सकते हैं और न सत्यका आचरण ही कर सकते हैं।

लोगोंको ठगनेके लिये सभामञ्चोंपर चाहे कितना गला फाड़-फाड़कर कहा जाय या समाचार-पत्रोंमें लिखा जाय कि स्वराज्य या स्वाधीनता प्राप्त हो चुकी है, परंतु सत्य और यथार्थ बात तो यह है कि जबतक उपर्युक्त विवेचनके अनुसार बालकोंके लिये प्राचीन गुरुकुल-आश्रमों-जैसे विद्यालयोंमें चौदह विद्या और हुनर-उद्योगकी शिक्षा नहीं दी जायगी और देशकी जनता स्वराज्यका यथार्थ अर्थ समझकर 'स्व' को अपनाकर स्व-भाषा, स्व-वेश, स्व-रहनी-करनी, स्व-जाति, स्व-संस्कृति, स्व-इतिहास, स्व-धर्म और स्वदेशीको आदर्श मानकर उसे क्रियामें न उतार लेगी, तबतक सच्चा सुख और स्वाधीनताकी प्राप्ति होगी ही नहीं,

और यह केवल वाणीका विलास या प्रलाप ही समझा जायगा ।

अतएव संस्कृति और देशके हितचिन्तक साधन-सम्पन्न सज्जनोंको चाहिये कि वे खुले हाथों धन खर्च करके संस्कृतिके अनुरूप चौदह विद्या और हुनर-उद्योगसे युक्त पाठ्यपुस्तकें तुरंत तैयार करावें और गुरुकुल-ब्रह्मचर्याश्रम तथा प्रयोगशालाओंमें बालकोंको सत्वर ऐसी शिक्षा मिलने लगे, इसकी व्यवस्था करें । हरिः ॐ तत्सत् ।

सत्सङ्गसे शिशुओंका विकास

(लेखक—वेदान्ताचार्य श्रीस्वामी सन्तसिंहजी परिव्राजकाचार्य)

यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि 'कल्याण'का 'बालकाङ्क' निकलने जा रहा है । मैं यदा-कदा सोचा करता था कि भावी पीढ़ीके मूलाधार—बालकोंके सुधारकी ओर जबतक ध्यान नहीं दिया जायगा, तबतक देशका सांस्कृतिक उत्थान असम्भव है । मानव-समाजके सम्यक् निर्माणका आधार-पृष्ठ हमारे बालक ही हैं । इनके निर्माणके सभी उपकरणों और साधनोंपर विचार करना बहुत ही जरूरी है । अब तो और भी अधिक आवश्यकता है, इसलिये कि देश स्वतन्त्र हो गया है । देशका राजनीतिक, सांस्कृतिक भावी भार इन बालकोंपर ही आयेगा । अतः यदि इन्हें हम बना पाये तो इस स्वतन्त्र देशका महान् गौरव स्थापित कर सकते हैं—जैसे किसी कई मंजिले मकानके लिये उसकी नींवकी मजबूती बहुत जरूरी है—नींवके मजबूत होनेपर ही प्रासाद भी दृढ़ और मजबूत हो सकता है । आधारकी सबलतासे ही आधेयकी दृढ़ता होती है । आधारहीन आधेयकी स्थिति ही असम्भव है । अतः मानव-समाजका आधार हमारे शिशुगण ही हैं । शिशुओंका मानसिक धरातल प्रौढ़ तथा सबल नहीं होता है, इसलिये ये स्वयं अपना निर्माण नहीं कर सकते, इनके निर्माणका सारा उत्तरदायित्व इनके अभिभावकों—माता-पिताओंके ऊपर है । इसे प्रत्येक मनुष्य समझ सकता है । इसीलिये हमारे शास्त्रकारोंने निम्नलिखित पद्यमें लिखा है—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥

'जिसने अपने बालकको नहीं पढ़ाया, वह माता शत्रु और पिता वैरीके तुल्य है । उनका वह मूर्ख पुत्र विद्वानोंकी सभामें शोभा नहीं पाता, ठीक वैसे ही, जैसे हंस-मण्डलीमें बगुला शोभित नहीं होता ।'

उपर्युक्त श्लोकमें माता-पिताको 'शत्रु' कहा है, इसलिये कि इसका उत्तरदायित्व माता-पितापर ही है—उपर्युक्त श्लोकमें 'पाठितः' क्रियाका प्रयोग है, यह प्रयोग 'पाठितः' शब्द-अक्षर-ज्ञानमात्रका बोधक नहीं; बल्कि विद्या, नैतिक सद्गुण, सदाचार, सत्यव्यवहार, अनुशासन-प्रियता, नम्रता, मधुरता, मर्यादा आदि नैतिक सद्गुणोंका उपलक्षण है । पढ़ा-लिखा तो है, पर यदि उसमें सदाचारिता-प्रभृति सांस्कृतिक गुणोंका विकास नहीं हो पाया है तो पठनमात्रसे क्या लाभ ? अतः माता-पिताका कर्तव्य है कि प्रारम्भ-कालसे ही बालकोंकी सङ्गतिपर अवश्य ध्यान दें । सङ्गतिका प्रभाव बालकोंपर अधिक पड़ता है । माता-पिताका प्रभाव, घरका वातावरण, मुहल्ले तथा गाँवका वातावरण तथा सङ्गमें खेलनेवाले लड़कोंकी सङ्गति आदि क्षेत्रोंका प्रभाव ही बालकोंके निर्माणमें काम करता है । अतएव कुसङ्ग और सत्सङ्गका विचार अवश्य करना चाहिये । बालकोंको कुसङ्गसे बचानेका हमेशा प्रयत्न करना चाहिये । रोनेवाले बालकों, रूठनेवाले बालकों, फैशनदार बालकों, गहने-कपड़े तथा साज-सजावटके प्रेमी बालकों, बहुत बकनेवाले बालकों, गाली निकालनेवाले बालकों, बुरी आदतवाले बच्चों और सिनेमा-प्रेमी बालकोंके सम्पर्कमें अपने शिशुओं, बालकोंको न आने दें ।

नौकरों एवं धाइयोंके वातावरणसे इन बच्चोंको बचायें । बच्चोंके विकासमें ये रोड़े हैं । नौकरों और धायोंकी कुसङ्गतिके कारण बालकोंमें भयानक कुटेव पड़ जाती है और उनका सत्यानाश हो जाता है । बच्चोंके बिगड़नेमें ये प्रधान कारण हैं । सत्सङ्गति ही एकमात्र उन्नतिका कारण है । कुसङ्गतिमें पड़े बालकोंपर तो अच्छी बातोंका उपदेश भी काम नहीं करता, जैसे जलते हुए लौहपिण्डपर जलकी बूँदें जल जाती हैं, उनका कोई असर नहीं पड़ता, बल्कि जल-बूँदोंका अस्तित्व ही मिट जाता है, उसी तरह कुसङ्गमें पालित बच्चोंपर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता । वही जल-बूँदें कमल-पत्रोंके सुसङ्गसे मुक्ता-जैसी शोभा प्राप्त कर लेती हैं । स्वाती नक्षत्रकी जल-बूँदें सागरके शुक्तियोंके मुखोंमें पड़

जानेपर मूल्यवान् मोती बन जाती हैं। इससे इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि संसर्गसे ही उत्तम, मध्यम, अधमकोटिके गुणोंका आधान होता है। इससे निश्चय होता है कि उत्तम गुण अच्छे संसर्गसे ही उत्पन्न होते हैं और वही उन्नतिका कारण होता है।

महानुभावसंसर्गः कस्य नोन्नतिकारकः।
पद्मपत्रस्थितं वारि धत्ते मुक्ताफलश्रियम्॥

'महापुरुषोंका सङ्ग किसके लिये उन्नतिकारक नहीं होता? कमलके पत्तेपर स्थित हुआ जल मुक्ताफलकी शोभा धारण करता है।'

मनुजी महाराज लिखते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥
(२।१२१)

'जो गुरुजनोंको प्रणाम और बड़े-बूढ़ोंकी सेवा करनेवाला है, उसकी चार चीजें बढ़ती हैं—आयु, विद्या, यश और बल।'

बालकोंको कुछ विशेष आदतें डालनी चाहिये, जिसमे संस्कार पवित्र होता है और मर्यादा स्थापित होती है। बालकोंको अभिवादन (प्रणाम) करनेकी शिक्षा प्रारम्भसे ही होनी चाहिये। इस व्यवहारसे ही नम्रता आदि गुण बच्चोंमें आते हैं और उनके आयु, विद्या, यश, बलकी वृद्धि होती है। वर्तमान युगमें विद्यालयीय शिक्षा भी कुछ विचित्र ढंगकी है। देखा तो यहाँतक जाता है कि माता-पिता बच्चोंको नाच-तमाशा-सिनेमा, नौटंकीमें जानेकी इजाजत दे देते हैं; पर सत्सङ्गमें या महापुरुषोंके उपदेशमें, ईश्वर-चिन्तनसम्बन्धी आयोजनोंमें सम्मिलित ही नहीं होने देते। घरमें आदर्श पौराणिक कथाओंकी प्रथा बंद-सी हो गयी है। फिर बच्चोंके कोरे मन-मस्तिष्कपर तो वही सिनेमा-वाली महान् विनाशकारिणी विलासमयी रँगरेलियोंका ही चित्र खिंचता है; ऐसी स्थितिमें उन बच्चोंमें सांस्कृतिक गुणोंका वर्द्धमान रूप कहाँ पायेंगे? अरे भाई! समाजमें तो यहाँतक देखा जाता है कि माता-पिता बालकोंको अपशब्द (गाली) प्रभृति बोल-बोलकर प्यार करते हैं। बुरी आदतोंको करते देखकर प्रसन्नता प्रकट करते हैं, पर इसके बुरे नतीजेकी ओर नहीं देखते। यही कारण है कि लड़के माता-पिताकी आज्ञा नहीं मानते, सेवा नहीं करते, उच्छृङ्खल, अनम्र, अविनयी, चोरी आदि दुर्गुणोंके आगार बन जाते हैं। वही युवावस्थामें अत्यन्त निन्दनीय प्रवृत्तिके हो जाते हैं, जो समाजके लिये अशान्तिके कारण बनते हैं और उनसे मानव-समाज विकलित हो उठता है। ऐसे व्यक्तियोंको जीते रहनेपर अपयश और मरनेपर नरककी प्राप्ति होती है। यदि ध्यानसे देखें तो मालूम होगा कि इन दोषोंका खास कारण माता-पिता ही हैं। इसके उदाहरणमें एक चोरकी वह बात याद आती है—

एक चोर चोरीमें पकड़ा गया। उसे उसके अपराधोंके कारण फाँसीकी सजा हुई। फाँसीपर चढ़नेके समय अधिकारियोंने पूछा, 'तुम्हारा अन्तिम समय है; जो आखिरी इच्छा हो, कहो।' चोरने कहा—'मुझे और कोई इच्छा नहीं केवल एक इच्छा है, वह यह कि मुझे मेरी मातासे मिला दो।' अधिकारियोंकी आज्ञासे चोरकी माता बुलायी गयी और चोरके सामने उपस्थित की गयी। अपराधी चोरने माताको सामने देखकर दौड़कर माताका 'नाक' मुँहमें लेकर दाँतोंसे काट फेंका। उसकी माता चिल्लाने लगी, खूनकी धारा बहने लगी। राजपुरुषोंने चोरको पकड़कर पूछा कि 'यह तुमने क्या किया?' अपराधीने कहा—'आज जो मैं फाँसीपर लटकाया जा रहा हूँ, इसका कारण यही माता है। बाल्यकालमें जब कोई वस्तु मैं किसीकी चुरा लाता और इस कुमाताको दे देता तो यह बहुत खुश होती थी और चोरीका अनुमोदन करती थी। इसीसे मेरा स्वभाव बिगड़ गया और मैं युवावस्थामें घोरसे घोरतम घृणित अपराध करने लगा, उसीका यह फल है कि आज फाँसीपर चढ़ रहा हूँ। यदि माता बाल्यकालमें ही चोरीकी वस्तुओंको देखकर मुझे फटकार दिया करती तो आज ऐसी स्थिति क्यों होती। यदि मुझे शुरूसे अच्छी शिक्षा मिलती तो आज इस मृत्युका मुझे क्यों शिकार बनना पड़ता।' अपराधीके इन निश्छल विचारोंको सुनकर अधिकारीवर्गने उसे मुक्त कर दिया। इस कहानीसे तात्पर्य यही निकला कि बच्चोंके निर्माणका प्रधान उत्तरदायित्व माता-पितापर है। पहले प्रारम्भिक कालमें ही शुद्ध वातावरणमें बच्चोंको रखकर ब्रह्मचर्य, सदाचारादि सद्गुणोंकी शिक्षा मिलती थी और लड़के सदाचारी, धार्मिक, दयालु, अभ्युदयशील होते थे। आज भौतिकवादी शिक्षा, नये आविष्कारोंका आकर्षक चाकचिक्य, सिनेमा-संसारके प्रभावका—कुसङ्गतिका भयानक फल, घरेलू शुभ-शिक्षाओंका अभाव आदि कारणोंसे आजके बच्चे भारतीय संस्कृतिके अनुकूल बन नहीं पाते। बालकोंकी उन्नतिके लिये अमत्य

बोलनेसे निवृत्त करना, सत्यकी ओर प्रवृत्त करना, माता-पिताकी आज्ञाओंका पालन करनेकी आदत डलवाना, अतिथि-सत्कार करना, गो, ब्राह्मण, विद्वान्, साधुका सम्मान करना—इत्यादि सद्गुण आवश्यक हैं, जिनके आधानसे ही बालक महान् होते हैं और उच्च पदकी प्राप्ति कर पाते हैं। इसके उदाहरण हमारे इतिहासमें भरे पड़े हैं। अतएव मैं तो यही कहूँगा कि यदि अपने बच्चोंको अपने राष्ट्रकी विभूति बनाना चाहते हैं तो उनकी सङ्गतिपर विशेषरूपसे ध्यान दें। घरसे लेकर नगर, स्कूल तथा कालेजके वातावरणोंको पवित्र बनायें, आदर्श बनायें, पापाचारों-अनाचारोंको मिटायें; फिर उस समाजसे महापुरुषों, मनीषियों, नेताओं और सच्चे समाजनायकोंका प्रादुर्भाव स्वाभाविक होगा, राष्ट्रकी कीर्ति देशान्तरोंमें फैलेगी और वह महान् माना जाने लगेगा।

बालकोंके संस्कार और उनका वैज्ञानिक रहस्य

(लेखक—याज्ञिक पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

विभिन्न जातियोंमें विभिन्न तरहके संस्कार प्रचलित हैं; किंतु हिंदूजातिमें संस्कारोंको जो यौक्तिक एवं व्यवस्थित रूप मिला है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं दीख पड़ता। संस्कार और संस्कारोंके वैज्ञानिक तत्त्व आज अज्ञात-से हो गये हैं, इसीलिये इनका प्रचलन दिनोंदिन कम होता जा रहा है। यह घोर भयकी सूचना है। अतः हमें संस्कारोंका सविशेष अनुशीलन कर उन्हें पुनः व्यावहारिक रूप देना चाहिये। यहाँ हम केवल बालकोंके संस्कारोंपर कुछ प्रकाश डाल रहे हैं। आशा है, इससे 'बालक-अङ्क'के पाठकोंको अवश्य लाभ होगा।

संस्कारोंकी आवश्यकता

मानव-जीवनको पवित्र, चमत्कारपूर्ण एवं उत्कृष्ट बनानेवाले शास्त्रविहित कुछ अनुष्ठानोंको 'संस्कार' कहा जाता है—

'आत्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशयविशेषः संस्कारः।' (वीरमित्रोदय, संस्कारप्रकाश, १ भाग)

संस्कारमें शारीरिक एवं मानसिक मलोंका अपाकरण होता है तथा आध्यात्मिक पूर्णताकी, जो जीवनका चरम लक्ष्य है, सहज ही प्राप्ति होती है।

सम् उपसर्ग और कृ धातुसे 'घञ्' प्रत्यय एवं 'सुट्'का आगम करनेसे 'संस्कार' शब्द निष्पन्न होता है। जिससे किसी वस्तुको भूषित किया जाय उसे 'संस्कार' कहते हैं। महर्षि पाणिनिने इसी अर्थमें सुट्-आगमका विधान किया है—'सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे सुट् च।' इसी व्युत्पत्तिलभ्य अर्थको महर्षि आश्वलायनने एक दृष्टान्तसे समझानेकी चेष्टा की है। उन्होंने लिखा है कि जिस तरह रेखा-चित्रपर विभिन्न रंगोंसे बार-बार तूलिका फेरते रहनेसे उसमें एक विचित्र चमक एवं सजीवता-सी आ जाती है, ठीक उसी तरह संस्कारोंके द्वारा द्विजोंमें विशेष गुणोंका आधान होता है—

चित्रं क्रमाद् यथानेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकैः॥

खानसे निकलनेपर रत्नोंपर गर्दकी परतें जमी रहती हैं, जिनसे उनकी चमक छिपी रहती है। जब सानपर रखकर वे खरादे जाते हैं, तब उनकी वह चमक निखर उठती है। उसी तरह मानव-शिशुमें भी गर्भ एवं बीज-सम्बन्धी तथा प्राक्तन कर्मजनित मलिनता आदि दोष विद्यमान रहते हैं। संस्कारोंका काम यह है कि उन दोषोंको दूरकर उसकी चमकको निखार दें। भगवान् मनुजीने लिखा है कि 'जातकर्म, चूड़ाकरण और उपनयन आदि संस्कारोंमें होनेवाले हवनकर्मसे बीज तथा गर्भसम्बन्धी सभी मलिनताएँ नष्ट हो जाती हैं'—

गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥
(२।२७)

खराद जिस प्रकार रत्नोंका संस्कार है, उसी तरह पुंसवन आदि बालकोंके संस्कार हैं। बिना संस्कारके जिस तरह रत्नोंकी विशेषताएँ तिरोहित रहती हैं, उसी तरह बिना संस्कारके बालकोंका मलापनोदन एवं देवों और पितरोंके कर्मोंमें अनर्हता स्पष्ट है। जबतक बीज एवं गर्भसम्बन्धी दोषोंका अपाहरण नहीं किया जाता, तबतक मानव आर्षेय नहीं बन पाता और जबतक आर्षेय नहीं बन पाता है, तबतक वह हव्य-कव्य देनेका अधिकारी नहीं रहता—

'न वा अनार्षेयस्य देवा हविरश्नन्ति।'
(कौषीतकि ब्रा० ३।२६)

'न ह वा अव्रतस्य देवारश्नन्ति।'
(ऐतरेय ब्रा० ७।१२)

अतः संस्कारोंका करना नितान्त अपेक्षित है। सबसे पहला संस्कार तो है—गर्भाधान-संस्कार। यह संस्कार पितृ-ऋणकी पूर्तिके लिये धर्मानुकूल श्रेष्ठ पवित्रभावापन्न धर्म-कुल-जातिको उज्ज्वल करनेवाले संतानके उत्पादनार्थ किया जाता है। यहाँ हम इसके विषयमें कुछ नहीं लिख रहे हैं।

गर्भके संस्कार—पुंसवन और सीमन्तोन्नयन

पुंसवन-संस्कार

बालकोंका संस्कार पुंसवनसे प्रारम्भ होता है। पुंसवन-संस्कार बालकके गर्भावस्थाका है। पुंसवन गर्भका संस्कार है, यह सभी आचार्योंका मत है। अतः गर्भस्थ संस्कार होनेके कारण इसको प्रत्येक गर्भावसरपर करना चाहिये, यह धर्मसिन्धुका मत है। 'पुंसवन' शब्दका अर्थ है—पुरुष-संतानकी उत्पत्ति।

गर्भधारणसे दूसरे, तीसरे महीनेमें अथवा गर्भके प्रतीत होनेपर पुंसवन-संस्कार करना चाहिये। यदि पुंसवन-संस्कार उचित समयपर न हो सके तो सीमन्तोन्नयन-संस्कारके साथ भी किया जा सकता है। पुंसवन-संस्कारमें गुरु और शुक्रके अस्तका एवं मलमासादिका दोष नहीं माना जाता है।

यह पुंसवन-संस्कार शूद्र भी वेद-मन्त्ररहित कर सकते हैं। यथा—

वर्धिष्णूनां चतुर्थानामपि कर्तव्यतां गतम्।
अमन्त्रकं तु कर्तव्यं पुंकर्म तु शुभार्थिनाम्॥

(बृहस्पतिः)

पुंसवन-संस्कारको सुसम्पन्न करनेके लिये पुनर्वसु, पुष्य, श्रवण, मृगशिरा, हस्त, और मूल—इन नक्षत्रोंमेंसे किसी भी नक्षत्रसे युक्त चन्द्रमा हो तथा रवि, मङ्गल अथवा गुरुवार हो तो उस दिन गर्भिणी पत्नीको उपवासपूर्वक स्नान कराकर नूतन वस्त्रद्वय धारण कराकर पूर्वाभिमुख बैठावे। पति भी स्नानादिसे निवृत्त होकर स्वयं बैठे। पश्चात् आचमन, प्राणायाम, स्वस्तिवाचन करके प्रधान संकल्प करे—

'अद्येहामुकोऽहं ममास्यां भार्यायामुत्पत्स्यमानापत्यगर्भस्य बीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हण-पुंरूपताज्ञानोदयप्रतिरोधकर्म-निरसनद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं पुंसवनाख्यं कर्म करिष्ये।'

अनन्तर उस कर्मके निर्विघ्नतासिद्ध्यर्थ गणेश और अम्बिकाका पूजन करके पञ्चाङ्ग (पुण्याहवाचन, मातृका-पूजन, वसोर्धारापूजन, आयुष्यमन्त्र-जप, नान्दीश्राद्ध) करे। पश्चात् रात्रिमें गर्भिणीका पति वटवृक्षकी जटा और वटकी शाखाके अङ्कुर—इन दोनोंको जलके साथ पीसकर और महीन वस्त्रसे छानकर उस रसको गर्भिणी पत्नीके दाहिने नासिकाके छिद्रमें उसका पति 'ॐ हिरण्यगर्भः' (शु० य० २३। १) और 'ॐ अद्भ्यः सम्भृतः' (शु० य० ३१। १७) इन दोनों मन्त्रोंको कहकर छोड़ दे। पश्चात् नवीन मृत्तिकाके कलशको जलसे भरकर गर्भिणीकी गोदमें रखकर पति अपनी अनामिका अंगुलीके अग्रभागसे पत्नीके पेटका स्पर्श करता हुआ 'ॐ सुपर्णोऽसि गरुत्मान्' (शु० य० १२। ४) इस मन्त्रसे गर्भको अभिमन्त्रित करे। अनन्तर किये हुए कर्मकी साङ्गतासिद्धिके लिये दस अथवा अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उन्हें दक्षिणा दे और उनसे आशीर्वाद लेकर आवाहित देवताओंका विसर्जन कर दे।

सीमन्तोन्नयन-संस्कार

सीमन्तोन्नयन-संस्कारके सम्बन्धमें आचार्योंके भिन्न-भिन्न मत हैं। कर्क आदि कुछ आचार्य इसको गर्भस्थ बालकका संस्कार मानते हैं और पारस्कर आदि कुछ आचार्य इसको स्त्रीका संस्कार मानते हैं। जो आचार्य सीमन्तोन्नयनको गर्भका संस्कार मानते हैं उनके मतानुसार प्रत्येक गर्भके समय सीमन्तोन्नयन-संस्कार होना चाहिये और जो आचार्य पत्नीका संस्कार मानते हैं उनके मतके अनुसार केवल प्रथम गर्भमें ही होना चाहिये। महर्षि पारस्कराचार्यने सीमन्तोन्नयनको पत्नीका ही संस्कार माना है और इसको केवल प्रथम गर्भमें ही करना विधेय कहा है—'प्रथमगर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा' (पार० गृ० सू० १। १५। ३)। पारस्कराचार्यके मतकी पुष्टि महर्षि हारीत और देवलने भी की है। वर्तमान समयमें महर्षि पारस्कराचार्यके मतका ही सर्वत्र अधिक प्रचार है।

गर्भधारणसे छठे या आठवें मासमें सीमन्तोन्नयन-संस्कार करना चाहिये। महर्षि शङ्खका कहना है कि यदि किसी कारण छठे अथवा आठवें मासमें सीमन्तोन्नयन न हो सके तो संतानोत्पत्तिके पूर्व किसी भी दिन इसको कर लेना चाहिये। एक दूसरे आचार्यका मत है कि यदि सीमन्तोन्नयन हुए बिना ही संतान उत्पन्न हो जाय, तो उस पुत्रको उसकी माता अपनी गोदमें लेकर प्रथम सीमन्तोन्नयन करके पश्चात् 'जातकर्म-संस्कार' करे।

यदि किसी स्त्रीका सीमन्तोन्नयन न होकर ही उसका गर्भ नष्ट हो जाय, तो पुनः उसको जब गर्भ हो, तब यह

संस्कार करना चाहिये। इसमें सीमन्तोन्नयनके कालादिके नियम अनावश्यक हैं।

यदि 'पुंसवन-संस्कार' किसी कारण न किया हो तो यह संस्कार सीमन्तोन्नयनके साथ किया जा सकता है—'सीमन्तेन सहाथवा।' (जातूकर्ण्यः)

सीमन्तोन्नयनके साथ यदि पुंसवन-संस्कार करना हो तो महाव्याहृति होमरूप प्रायश्चित्त करके प्रथम पुंसवन-संस्कार करके पश्चात् सीमन्तोन्नयन करना चाहिये, ऐसी शास्त्राज्ञा है।

सीमन्तोन्नयन-संस्कारको करनेके लिये पुंसवन-संस्कारकी तरह स्वस्तिवाचनादि करके प्रधान संकल्प करे—

'अद्येहामुकोऽहं ममास्यां भार्यायां गर्भाभिवृद्धिपरिपन्थि-पिशितप्रियाऽलक्ष्मी-भूतराक्षसगणनिरसनक्षम—सकलसौभाग्य-निदानभूत-महालक्ष्मीसमावेशनद्वारा प्रतिगर्भं बीजगर्भ-समुद्भवैनोनिबर्हणद्वारा च श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं स्त्रीसंस्काररूपं सीमन्तोन्नयनाख्यं कर्म करिष्ये।'

इस प्रकार संकल्प करनेके अनन्तर निर्विघ्नतासिद्ध्यर्थ गणपत्यादि देवताओंका पूजन करके पूर्ववत् पञ्चाङ्ग करे। पश्चात् बहिःशालामें स्थण्डिल बनाकर उसमें पञ्चभू-संस्कार-पूर्वक अग्निका स्थापन करे और आघारावाज्यभागकी आहुति तथा स्विष्टकृदादि करके अग्निके पश्चात् भद्रपीठ (देवदारुके काष्ठका पीढ़ा) के ऊपर गर्भवती पत्नीको बैठावे। अनन्तर दो फल और सुवर्णयुक्त गूलरके वृक्षकी शाखा, तेरह तेरह कुशाओंकी तीन पिंजुली तीन स्थानोंमें, सफेद साहीका एक काँटा, पीत सूतसे लपेटा हुआ एक लोहेका तकुवा और प्रादेशमात्र एक तीक्ष्ण पीपलकी खूँटी—इन सब वस्तुओंको एकत्रित करके पति अपनी पत्नीके सिरके केशों (बालों) का विनयन करे अर्थात् केशोंको दाहिने और बाएँ दोनों ओर दो भागोंमें करके 'ॐ भूर्विनयामि' इत्यादि तीन मन्त्रोंसे माँग निकाले। पश्चात् 'ॐ अयमूर्जावतो' (पार० गृ० सू० १।१५।६) इस मन्त्रको कहकर औदुम्बरादि पाँचों वस्तुओंको अपनी पत्नीकी वेणी (चोटी) में बाँध दे। अनन्तर पति वीणापर गानेवाले दो पुरुषोंको ले आवे। वीणापर गायन करनेवाले दोनों पुरुष उत्साहके साथ 'ॐ सोमऽएव' (पार० गृ० सू० १।१५।८) इस मन्त्रका गायन करें। 'ॐ सोमऽएव' इस मन्त्रके अन्तमें आये हुए 'असौ' पदके स्थानमें पवित्र गङ्गा आदि उस नदीका नाम लें, जो वहाँ हो। यह हरिहराचार्यका मत है।

सीमन्तोन्नयन कर्मके साङ्गतासिद्ध्यर्थ दस अथवा स्वशक्त्यनुसार ब्राह्मणोंको भोजन करानेका संकल्प कराकर उन्हें यथोचित दक्षिणा देकर आवाहित देवताओंका विसर्जन करे और ब्राह्मणोंको भोजन कराकर स्वयं भी भोजन करे।

पुंसवन और सीमन्तोन्नयन—इन दोनों संस्कारोंकी उपयोगिता उतनी ही है जितनी कि किसी गृह-निर्माणमें नींवकी होती है। ये दोनों संस्कार उस समय होते हैं, जब शिशु गर्भमें रहकर बढ़ता रहता है। आजके प्रजननशास्त्रके विद्वान् भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि शिशुके बाह्य और आभ्यन्तर घटकों (अणुओं) का निर्माण गर्भमें ही प्रारम्भ हो जाता है। प्राचीन तत्त्ववेत्ताओंने इस तथ्यको सर्वाङ्गीणरूपसे परखा था। वे जानते थे कि शिशुके शारीरिक एवं मानसिक घटकों (अणुओं) का निर्माण गर्भमें तो प्रारम्भ होता ही है, साथ-साथ माताके ही तत्तत् उपादानोंसे होता है, यह भी वे जानते थे। यदि माताके उपादान पवित्र एवं बलिष्ठ होंगे, तो उनसे निर्मित बालक भी पवित्र एवं बलिष्ठ ही होगा। इसी तरह यदि माताके वे उपादान अपवित्र और दुर्बल होंगे, तो बालक तामस प्रकृतिका एवं दुर्बल होगा—'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' (कणाद)।

कयाधू दैत्यपत्नी थी, वह दिन-रात दैत्योंके संसर्गमें रहती थी। उसका पति हिरण्यकशिपु ईश्वरतकको नहीं मानता था। फिर भी उसकी संतान 'प्रह्लाद' जो इतने महाभागवत हुए, उसका एकमात्र कारण यही था कि कयाधू गर्भावस्थामें महर्षि नारदके आश्रम रही थी।

महर्षि नारदने अपने दिव्य उपदेशोंसे उसके मनको अभिभूत कर रक्खा था। माताके उसी सत्त्वाविष्ट मनसे निर्मित प्रह्लादका मन सर्वदाके लिये सत्त्वाविष्ट ही रहा। अभिमन्युने अपनी माताके गर्भमें ही चक्रव्यूहके भेदनका तरीका जान लिया था। गर्भावस्थामें माताकी हरकतोंका कितना अधिक प्रभाव बालकोंपर पड़ता है, यह इन दो दृष्टान्तोंसे समझा जा सकता है। ऋषियोंकी ऋतम्भरा प्रज्ञाने इसी अन्तरित तत्त्वका साक्षात्कार कर गर्भावस्थाके इन संस्कारोंकी योजना की है।

पुंसवन और सीमन्तोन्नयनमें जितने कृत्य विहित हैं और जिन मन्त्रोंसे वे किये जाते हैं, इन दोनोंकी ओर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट समझमें आ जाता है कि इनसे

माताका मन कितनी दिव्यशक्तियोंसे अभिभूत हो जाता है और तब बालकको दिव्य बननेमें क्या सन्देह रह सकता है।

जातकर्म-संस्कार

जन्म लेनेके बाद बालकोंके जो अनेक संस्कार किये जाते हैं, उनमें सबसे पहला संस्कार 'जातकर्म' है। यह जातकर्म केवल पुत्रके उत्पन्न होनेपर ही होता है, कन्याके जन्ममें नहीं। महर्षि पारस्करके—

'जातस्य कुमारस्याच्छिन्नायां नाड्यां मेधाजननायुष्ये करोति' (पार० गृ० सू० १। १६। ३)

—इस सूत्रमें 'कुमार' पदसे मालूम होता है कि यहाँसे आगे जितने कर्म हैं वे सब बालकोंके ही हैं, न कि पत्नीके।

भगवान् मनुके—

'प्राक् नाभिवर्द्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते।'

—इस प्रमाणके अनुसार जातकर्म-संस्कार नालच्छेदनके पूर्व ही करना चाहिये; क्योंकि नालच्छेदन हो जानेपर सूतक लग जाता है। अतः सूतकमें जातकर्म करना सर्वथा निषिद्ध है।

नालच्छेदन पुत्रोत्पत्तिके बारह घड़ी अथवा सोलह घड़ीके अनन्तर करना चाहिये। इतने समयमें जातकर्म-संस्कार-सम्बन्धी समस्त कर्म पूर्ण किये जा सकते हैं।

पुत्रजन्मके समय यदि अन्य किसी प्रकारका अशौच हो, तो भी पुत्रका पिता 'जातकर्म-संस्कार' कर सकता है*।

श्रुतिमें जातकर्म-संस्कारका विशेष महत्त्व लिखा है—

ऋणमस्मिन् संनयत्यमृतत्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्॥

(ऐतरेय ब्राह्मण ३। १)

'पिता यदि जीवित पुत्रका मुख देखे तो उसमें तीन ऋणों (देव-ऋण, पितृ-ऋण, ऋषि-ऋण) को स्थापित करता है और वह स्वयं अमृतत्व (मोक्ष) को प्राप्त करता है।' महर्षि बौधायनके अनुसार जातकर्मसे मनुष्य इस लोकको जीतता है—'जातसंस्कारेणेमं लोकमभिजयति।' (बौधायन—पितृमेधसूत्र ३। १। ४)

बालकका पिता पुत्रोत्पत्तिका शुभ समाचार सुनते ही अपने कुलदेवता और अपने मान्य वृद्ध पुरुषोंको अभिवादन करे। पश्चात् अपने पुत्रका मुखावलोकन करके गङ्गा आदिमें स्नान करे। नदीके अभावमें तालाबमें और तालाबके अभावमें कूपपर स्नान किया जा सकता है।

यदि पुत्र मूल, ज्येष्ठा अथवा व्यतीपात आदि अशुभ समयमें उत्पन्न हुआ हो, तो उसका मुख देखे बगैर ही पिताको स्नान करना चाहिये। जातकर्म-संस्कारार्थ बालकका पिता अपनी पत्नीकी गोदमें बालकको बैठाकर पूर्वाभिमुख होकर बैठे और पुंसवन-संस्कारकी तरह स्वस्तिवाचनादि करके प्रधान संकल्प करे—

'अद्येहामुकोऽहमस्य कुमारस्य गर्भाम्बुपानजनित-सकलदोषनिबर्हणायुर्मेधाभिवृद्धिद्वारा बीजगर्भसमुद्भवैनो-निबर्हणद्वारा च श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं जातकर्माख्यसंस्कारं करिष्ये।'

इस प्रकार संकल्प करके निर्विघ्नतासिद्ध्यर्थ गणेशपूजन-पूर्वक पञ्चाङ्ग करे। अनन्तर नाल काटनेके पूर्व 'मेधाजनन-संस्कार' करे।

सुवर्णादि तैजस पात्रमें मधु और घृतको मिलाकर अथवा केवल घृतको लेकर दाहिने हाथकी अनामिका अँगुलीके अग्र भागमें सुवर्ण रखकर सुवर्णसहित अँगुलीसे मधु (शहद) और घृतको मिलाकर 'ॐ भूस्त्वयि दधामि' (पार० गृ० सू० १। १६। ४) इत्यादि चार मन्त्रोंसे बालकको देशाचारानुसार एक बार अथवा चार बार मधु, घृत अथवा केवल घृत थोड़ा-थोड़ा चटा देवे। इसको 'मेधाजनन' कहते हैं।

अनन्तर बालकके दाहिने कानमें अथवा नाभिके समीप अपना मुख करके 'ॐ अग्निरायुष्मान्' (पार० गृ० सू० १। १६। ५) इत्यादि आठ मन्त्रोंको तीन बार अथवा एक बार पढ़कर

---

* अशौचे तु समुत्पन्ने पुत्रजन्म यदा भवेत्।
कर्तव्या कौलिकी शुद्धिरशुद्धः पुनरेव सः॥
(संस्कारतत्त्व)

सूतके तु समुत्पन्ने पुत्रजन्म यदा भवेत्।
कर्तुस्तात्कालिकी शुद्धिः पूर्वाशौचेन शुद्ध्यति॥
(प्रजापतिः)

जाताशौचस्य मध्ये तु पुत्रजन्म यदा भवेत्।
जननानन्तरं कुर्याज्जातकर्म यथाविधि॥
जातेष्टिः सूतकान्ते तु कर्तव्येति विनिश्चयः॥
मृताशौचस्य मध्ये तु पुत्रजन्म यदा भवेत्।
अशौचापगमे कार्यं जातकर्म यथाविधि॥
(जातूकर्ण्यः)

बालकका आयुष्यकरण करे । पश्चात् 'ॐ त्र्यायुषम्' (शु० य० ३ । ६२) इस मन्त्रको तीन बार बालकका पिता अपने पुत्रकी पूर्णायुकी कामना करता हुआ पढ़े तथा पुत्रके हृदयका स्पर्श करता हुआ 'ॐ दिवस्परि प्रथमं जज्ञे' (शु० य० १२ । १८-२८) इत्यादि 'वात्सप्र' संज्ञक ग्यारह मन्त्रोंका उच्चारण करे । तदनन्तर बालकके चारों ओर अर्थात् पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर इन चारों दिशाओंमें चार ब्राह्मणोंको बैठावे और मध्यमें पाँचवें ब्राह्मणको बैठा दे और जब कि मध्यमें बैठा हुआ ब्राह्मण ऊपरकी ओर देख रहा हो, तब बालकका पिता 'इममनुप्राणित' (पार० गृ० सू० १ । १६ । ९) यह प्रैष कहे । पश्चात् पूर्वमें स्थित ब्राह्मण प्राण, दक्षिणमें स्थित ब्राह्मण व्यान, पश्चिममें स्थित ब्राह्मण अपान, उत्तरमें स्थित ब्राह्मण उदान और मध्यमें स्थित ब्राह्मण ऊपरकी ओर देखता हुआ 'समान' कहे । यदि दैवात् उस समय पाँच ब्राह्मण उपस्थित न हों तो बालकका पिता स्वयं पूर्वोक्त दिशाओंमें यथाक्रम बैठकर 'प्राण' आदि शब्दोंका उच्चारण करे । इसके बाद 'ॐ अश्मा भव' (पार० गृ० सू० १ । १६ । १३) इस मन्त्रसे बालकका स्पर्श करे । पश्चात् बालककी माताकी ओर देखता हुआ 'ॐ इडासि मैत्रावरुणी' (पार० गृ० सू० १ । १६ । १४) इस मन्त्रको पढ़े । अनन्तर अपनी पत्नीके दाहिने स्तनका प्रक्षालन कर 'ॐ इमᳲस्तनम्' इस मन्त्रको कहकर बालकके मुखमें प्रथम माताका दाहिना स्तन दे । फिर बाएँ स्तनका प्रक्षालन कर 'ॐ इमᳲस्तनम्' (शु० य० १७ । ८७) और 'ॐ यस्ते स्तनः' (शु० य० ३८ । ५) इन दोनों मन्त्रोंको पढ़कर बालकके मुखमें बाएँ स्तनको दे । पश्चात् सूतिका पत्नीके सिरकी तरफ पलंगके नीचे भूमिमें एक जलपूर्ण कलशको 'ॐ आपो देवेषु' (पार० गृ० सू० १ । १६ । १७) इस मन्त्रको कहकर रख दे । यह कलश सूतिका स्त्रीके उठने पर्यन्त दस दिनोंतक वहीं रहता है । अनन्तर सूतिकागृहके द्वारपर वेदीका निर्माणकर उसमें पञ्चभू-संस्कार करके अग्निस्थापन करे । वह अग्नि निरन्तर दस दिनतक वहीं रहे और बुझने न पावे । उस अग्निमें प्रतिदिन सायं और प्रातः भूसी, चावलके कण और पीली सरसोंसे बालकका पिता स्वयं अथवा ब्राह्मणद्वारा 'ॐ शण्डामर्का' (पार० गृ० सू० १ । १६ । १८) इस मन्त्रसे दस दिनतक आहुति दे । यदि कुमारनामक बालग्रह बालकको कुछ विघ्न पहुँचावे तो उसके शान्त्यर्थ उस बालकको जालसे अथवा उत्तरीय वस्त्रसे ढककर पिता बालकको अपनी गोदमें लेकर 'ॐ कूर्कुरः सुकूर्कुरः' (पार० गृ० सू० १ । १६ । १९) इत्यादि तीन मन्त्रोंको पढ़े । पश्चात् 'ॐ न नामयति' (पार० गृ० सू० १ । १६ । २०) इस मन्त्रको पढ़ता हुआ बालकके सर्वाङ्गमें हाथ फेरे । अनन्तर साङ्गतासिद्ध्यर्थ दस ब्राह्मणोंका अथवा स्वशक्त्यनुसार ब्राह्मण-भोजनका संकल्प करे और उपस्थित ब्राह्मणोंका सविधि पूजन कर उनको दक्षिणा दे । अनन्तर आवाहित देवताओंका विसर्जन करके सूतकान्तमें ब्राह्मण-भोजन करा दे ।

धर्मशास्त्रकारोंका कहना है कि जातकर्म-संस्कारका प्रधान उद्देश्य यह है कि गर्भस्थ शिशु, जो माताके आहार-रससे अपना पोषण करता है, उस दोषका इससे शमन होता है—

'गर्भाम्बुपानजो दोषो जातात् सर्वोऽपि नश्यति ।'
(स्मृति-संग्रह)

इसके अतिरिक्त इस संस्कारके दो प्रयोजन और हैं— एक मेधाजनन और दूसरा आयुष्यकरण । यदि बालक दीर्घजीवी हो और मेधावी न हो, तो उससे जगत्का कल्याण नहीं हो सकता और यदि वह मेधावी हो किंतु दीर्घजीवी न हो, तो भी उससे उसका या देशका कल्याण असम्भव है । इसलिये जातकर्मके कृत्योंसे उसमें इन दो आवश्यक तत्त्वोंका उन्मेष कराया जाता है । मेधाजननके लिये घृत और मधुको सुवर्णसे घिसकर बालकको चटाना पड़ता है । घृत, मधु और सुवर्ण—ये तीनों ही दुनियाके अमृत हैं, इनके योगमें अद्भुत शक्ति है । सुवर्ण महान् मेधाप्रद और स्वास्थ्य-विरोधी समस्त कीटाणुओंके लिये ब्रह्मास्त्र है । टी० बी० के कीटाणुओंको तो इसके अतिरिक्त दूसरी दवा नष्ट ही नहीं कर पाती । मधु त्रिदोषजित् एवं मेधाप्रद है । पचनेके लिये इसे आँतोंमें नहीं जाना पड़ता, यह तो आमाशयमें ही पच जाता है । इस तरह सुवर्णके कणोंको तुरंत ही यह रक्त (खून) में मिलाकर रोगके बाहरी आक्रमणसे बालकको बचा लेता है । घृतको तो आयु देनेवाली दवाओंमें प्रमुख माना गया है । वेदने इसे 'आयु' ही कहा है—'आयुर्वै घृतम् ।' यह बृंहण तो है, साथ ही रेचक होनेके कारण एक साफ खुलासा दस्त लाकर बालकमें प्रफुल्लता ला देता है । वैज्ञानिक भी तुरंत उत्पन्न बालकोंके लिये मधु-मिश्रित रेंडीके तेलका प्रयोग बतलाते हैं ।

षष्ठी-संस्कार और राहुवेध

षष्ठी-संस्कार-सम्बन्धी समस्त कर्म जातकर्म-संस्कारके ही अङ्ग हैं। यह संतति उत्पन्न होनेके छठे दिन किया जाता है। कहीं-कहीं इक्कीसवें दिन अथवा एकतीसवें दिन सूतिकाकी शुद्धि होनेपर अर्थात् अशौचके बाद षष्ठीदेवीकी पूजा होती है। इसको 'सूतिका षष्ठी-पूजा' भी कहते हैं। शालग्राम-शिला, कलश, वटवृक्ष अथवा घरकी दीवारपर पुत्तलिका बनाकर षष्ठी-देवीकी पूजा की जाती है। षष्ठी-देवीके पूजनमें वैदिक मन्त्रोंके उच्चारणका दोष नहीं होता है। अतः विशेषकर काशीमें बालकके षष्ठी-महोत्सवमें चारों वेदोंके ज्ञाताओंसे 'वसन्तपूजा' करानेकी प्रथा है। वसन्त-पूजामें वेदचतुष्टयके त्रिपद तथा जटादि अष्टविकृतियोंके मन्त्र कहे जाते हैं। षष्ठीदेवीके पूजनार्थ छठे दिन अथवा दसवें दिन सूतकजन्य अशुद्धि नहीं मानी जाती। अतः सूतक-सम्बन्धी अशौचमें छठे दिन और दसवें दिन दान देने और लेनेमें कोई दोष नहीं है, किंतु भोजन करना उचित नहीं है।

षष्ठी-देवीका महोत्सव विशेषकर स्त्रियाँ ही मनाया करती हैं।

षष्ठीदेवीके सम्बन्धमें ब्रह्मवैवर्तपुराणके प्रकृतिखण्डमें लिखा है कि "षष्ठीदेवी छोटे-छोटे बालकोंका लालन-पालन और रक्षा करनेवाली हैं तथा प्रकृतिकी षष्ठांश-स्वरूपिणी अर्थात् प्रकृतिके छठे अंशसे उत्पन्न हुई हैं। इसीसे इनका नाम 'षष्ठी' पड़ा है। यह भगवान् कार्तिकेयकी पत्नी हैं। इनकी प्रसन्नता और कृपासे पुत्र-पौत्रादिकी प्राप्ति होती है। शिशुओंका लालन-पालन और रक्षा करनेके कारण ही बालकके जन्म होनेके छठे दिन सूतिकागृहमें रात्रिके समय षष्ठीदेवीकी पूजा की जाती है। अतः संतानकामीको विधि-पूर्वक षष्ठीदेवीकी पूजा करनी चाहिये।

बालकके जन्मसे छठे दिन बालकका पिता प्रातःकाल उठकर स्नानादिसे निवृत्त होकर किसी श्रेष्ठ श्रौत-स्मार्त-कर्मनिष्ठ सपत्नीक ब्राह्मणको अपने घरमें आनेके लिये षष्ठीमहोत्सवार्थ निमन्त्रित कर दे। यदि बालकका पिता विशिष्ट दक्षिणा-दानादिमें अशक्त हो तो स्वयं ही उपवास रहकर षष्ठी-महोत्सव करे।

षष्ठीमहोत्सवार्थ अपराह्न समयमें गोमयके द्वारा काष्ठपीठमें स्कन्द और प्रद्युम्नकी और मध्यमें षष्ठीदेवीकी—इस प्रकार तीनों देवताओंकी तीन प्रतिमा बनाकर सफेद चावल अथवा यवसे उनकी पूर्ति करके षष्ठीदेवीके कानकी ओर दूर्वा और पत्रोंसे कुण्डलमें और सर्वाङ्गमें सोलह कौड़ी रक्खे। पश्चात् प्रदोषके समयमें बालकका पिता स्नान-सन्ध्यादिसे निवृत्त होकर सूतिकागृहके द्वारपर आकर द्वार-मातृकाओंका पूजन करे। पश्चात् स्वस्तिवाचनादिके अनन्तर वह सूतिकागृहमें प्रवेश करे। सूतिकागृहमें जाकर वहाँ सर्वप्रथम गोघृत, पीली सरसों, सेंधा नमक, नीमपत्र और सर्पकी त्वचाकी धूप दे। पश्चात् गौरी-गणेशकी पूजा करे। अनन्तर प्रधान संकल्प करे—

'अद्य मम बालकस्य सर्वोपद्रवशान्तिपूर्वकदीर्घायुरारोग्यताप्राप्तिसिद्धिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं षष्ठीमहोत्सवं करिष्ये।'

इस प्रकार संकल्प करनेके बाद पञ्चाङ्गादि कृत्य करे। पश्चात् स्कन्द, प्रद्युम्न और जन्मदा षष्ठीदेवीका षोडशोपचार-पूर्वक पूजन करे। अनन्तर षट्कृत्तिकाका पूजन करे। पश्चात् कार्तिकेयकी पूजा करके खड्गादि आयुधोंकी पूजा करे। फिर स्कन्दादि देवताओंकी पूजाके साद्गुण्यार्थ और उनकी प्रसन्नताके लिये ब्राह्मणोंको यथाशक्ति सुवर्णादि दक्षिणा दे। पश्चात् षष्ठीदेवीकी पूजा करे।

षष्ठीदेवीके पूजनार्थ बालकका पिता आचमन, प्राणायामादि करके इस प्रकार संकल्प करे—

'अद्य मम जातस्य पुत्रस्य दीर्घायुरारोग्यतासिद्धये सर्वोपद्रवशान्त्यर्थं च गोमयनिर्मितप्रतिमायां षष्ठीदेव्याः पूजनमहं करिष्ये।'

अनन्तर षष्ठीदेवीकी गोमयकी प्रतिमा बनाकर उसमें षष्ठीदेवीकी प्रतिष्ठा करे। पश्चात् न्यास, ध्यान, आवाहनादि करके बालकके रक्षार्थ 'षष्ठीदेवि नमस्तुभ्यम्' इत्यादि पौराणिक मन्त्रोंद्वारा षष्ठीदेवीसे प्रार्थना करे। अनन्तर माताके पाससे बालकको लाकर उसका गोबर और जलादिसे अभिषिञ्चन करके उसको प्रयत्नपूर्वक भूमिमें बैठाकर उसका हाथसे स्पर्श करके बालरक्षासूक्तका पाठ करे। पश्चात् हाथ जोड़कर बालकके रक्षार्थ देवप्रार्थना करे। पश्चात् बालकको कङ्कणादिसे विभूषित कर अपनी गोदमें लेकर सपत्नीक आचार्यकी वस्त्रालङ्कारादिसे पूजा करके उनको दक्षिणा दे और ब्राह्मणोंसे आशीर्वाद ले और देवीका विसर्जनादि करे।

बालकके षष्ठी-महोत्सव कर्मका उत्तराङ्गस्वरूप राहुवेधन कर्म है। इसके करनेसे सर्व प्रकारके उपद्रवोंसे बालककी

रक्षा और आयुकी वृद्धि होती है । यह राहुवेधन कर्म कुलाचार अथवा देशाचारानुसार कहीं-कहीं होता है, सर्वत्र नहीं होता है ।

कुलाचारानुसार शुभ-मुहूर्तमें अर्धरात्रिके समय राहुवेधन करे । राहुवेधनार्थ आचमन, प्राणायामादि करके इस प्रकार संकल्प करे—

'अद्यामुकोऽहं ममास्य पुत्रस्य षष्ठीमहोत्सवकर्मण उत्तराङ्गत्वेन एतस्य बालकस्य परिरक्षार्थं आयुर्वृद्धये सर्वोपद्रवशान्त्यर्थं च राहोर्वेधनं करिष्ये, तदङ्गत्वेन धनुर्बाणयोः पूजनं करिष्ये ।'

संकल्पके बाद द्रव्य, हल्दी, सुपारी, पीली सरसों और मङ्गल-द्रव्योंको एक मजबूत पोटली वस्त्रकी बनाकर उसमें रख दे । पश्चात् घरकी काष्ठकी धरनमें लोहेकी कँटिया गाड़कर उसमें पोटलीको बाँध दे और उसकी प्रतिष्ठा करे । पश्चात् धनुष और बाणकी प्रतिष्ठा और उनकी पूजा करके बालकको गोदमें लेकर स्वस्तिवाचन-मन्त्रोंको पढ़ता हुआ हाथमें धनुष लेकर बाणसे मिला दे और घण्टा तथा शङ्खको बजाता हुआ ऊपरकी ओर धरनमें बँधी हुई पोटलीका बाणसे छेदन कर दे । (पोटलीका बाणसे वेधन करना ही 'राहुवेध' कहलाता है) अनन्तर राहुवेधन-कर्मकी साङ्गता-सिद्धिके लिये ब्राह्मणोंको दक्षिणा दे । पश्चात् गोघृत, पीली सरसों, सेंधा नमक और नीमके पत्तोंसे सूतिकागृहमें धूप देना चाहिये । इसके बाद सुवासिनियोंका पूजन कर उन्हें दक्षिणा दे, अनन्तर बालकका महानीराजन कर उसको माताके हाथमें सौंप दे ।

षष्ठीपूजन और राहुवेधन—ये दोनों कर्म बालकके लिये अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण हैं । इन दोनों कृत्योंसे बालकके भाग्यका निर्माण, दीर्घायुका निर्माण और संततिके निर्माण आदि कार्य होते हैं । अतः जो लोग इस कर्मद्वयके तत्त्व एवं महत्त्वको जानकर करते हैं, वे सर्वदा (जन्म-जन्मान्तरमें भी) भाग्यशाली, दीर्घायुवाले और संततियुक्त होते हैं और जो इस कर्मद्वयको नहीं करते, वे सर्वदा भाग्यहीन, अल्पायुवाले और संततिसे शून्य रहते हैं ।

नामकरण-संस्कार

बालकके जन्मसे दसवीं रात्रि व्यतीत हो जानेपर ग्यारहवें दिन बालकका पिता अपने पुत्रका नामकरण करे—'एकादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात् ।' यदि किसी कारण नामकरणका नियत समय बीत जाय तो अठारहवें दिन, उन्नीसवें दिन, सौवें दिन अथवा अयन (यदि बालक दक्षिणायनमें पैदा हुआ हो तो उसके बीतनेपर और उत्तरायणमें पैदा हुआ हो तो उसके बीतनेपर) के बीतनेपर बालकका नामकरण-संस्कार किया जा सकता है । अथवा अपने कुलाचार एवं देशाचारानुसार शुभ-मुहूर्तमें बालकका नामकरण-संस्कार कर लेना चाहिये । कुलाचारानुसार नामकरणका नियत समय होनेपर भी भद्रा, वैधृति, व्यतीपात, ग्रहण, संक्रान्ति, अमावास्या और श्राद्धके दिन बालकका नामकरण करना निषिद्ध है; परंतु नियत समयमें नामकरण करनेमें गुरु तथा शुक्रके अस्तका एवं मलमासादिका निषेध नहीं है ।

महर्षि शङ्खका कहना है कि सूतकान्तमें नामकरण-संस्कार करना चाहिये । वह सूतक ब्राह्मणको दस दिनका, क्षत्रियको बारह दिनका, वैश्यको पंद्रह दिनका और शूद्रको एक मासका होता है । इस दृष्टिसे वर्णक्रमानुसार ब्राह्मणका ग्यारहवें दिन, क्षत्रियका तेरहवें दिन, वैश्यका सोलहवें दिन और शूद्रका एकतीसवें दिन नामकरण करना चाहिये; किंतु महर्षि प्रचेताका कथन है —

'सूतिका सर्ववर्णानां दशाहेन विशुद्ध्यति ।'

अर्थात् समस्त वर्णोंकी सूतिका-सम्बन्धी शुद्धि दसवें दिन हो जाती है । आजकल यही मत सर्वत्र अधिकरूपमें प्रचलित है ।

महर्षि पारस्करने नामकरण-संस्कार-प्रकरणमें 'दशम्या-मुत्थाप्य ब्राह्मणान् भोजयित्वा पिता नाम करोति ।' (पार० गृ० सू० १ । १७) यह सूत्र लिखा है । उक्त सूत्रमें 'पिता' शब्द देनेसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नामकरणके अतिरिक्त अन्य संस्कारोंको भी स्वयं पिता ही करे । यदि किसी कारणवश पिता संस्कार-विशेषमें उपस्थित न हो तो बालकके पितामह, पितृव्यादि भी बालकका नामकरणादि संस्कार कर सकते हैं । नामकरण-संस्कारसे आयु, तेजकी अभिवृद्धि तथा व्यवहारकी सिद्धि होती है—

आयुर्वर्चोऽभिवृद्धिश्च सिद्धिर्व्यवहृतेस्तथा ।
नामकर्मफलं त्वेतत् समुद्दिष्टं मनीषिभिः ॥

(स्मृतिसंग्रह)

नामकरण-संस्कारार्थ बालकके जन्मके ग्यारहवें दिन प्रातःकाल बालकके सहित सूतिकाको स्नान कराकर बालकका पिता सपत्नीक शुभासनपर बैठकर पुंसवन-संस्कारकी तरह स्वस्तिवाचनादि करके प्रधान संकल्प करे—

'अद्य ममास्य बालकस्यायुर्वृद्धिव्यवहारसिद्धिबीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं नामकरणसंस्कारं करिष्ये ।'

इस प्रकार संकल्प करके निर्विघ्नतासिद्ध्यर्थ गणेशाम्बिकाका पूजन करके पञ्चाङ्गादि करे । पश्चात् नामकरण-संस्कारके अधिकारसिद्ध्यर्थ तीन ब्राह्मणोंको भोजन करानेका संकल्प करके शिष्टाचारप्राप्त सर्वप्रथम कुलदेवताका पूजन करे । अनन्तर मास-नाम, नक्षत्र-नाम और व्यवहार-नामका क्रमसे षोडशोपचारपूर्वक पूजन करे । तदनन्तर अपनी पत्नीकी गोदमें लिये हुए बालकके दाहिने कानमें बालकका पिता अपना मुख करके 'अमुकशर्माऽसि दीर्घायुर्भव' (क्षत्रिय हो तो वर्मा, वैश्य हो तो गुप्त और शूद्र हो तो दास कहे) इस प्रकार कहे । अनन्तर पुनः 'हे कुमार ! त्वममुककुलदेवतायां भक्तोऽसि' इत्यादि चारों प्रकारके नामवाले वाक्योंको कहे । पश्चात् ब्राह्मणगण 'ॐ मनो जूतिः' (शु० य०) इस मन्त्रका उच्चारण करके कहें कि 'बालकका नाम सुप्रतिष्ठित हो ।' अनन्तर बालकका पिता अपने पुत्रसे उपस्थित ब्राह्मणोंको अभिवादन करावे । पश्चात् ब्राह्मणगण 'ॐ वेदोऽसि' (शु० य०) इस मन्त्रको पढ़कर बालकको शुभाशीर्वाद दें । तदनन्तर नामकर्ता (बालकका पिता) देवता और ब्राह्मणोंको प्रणाम करके दस अथवा स्वशक्त्यनुसार ब्राह्मणोंको भोजन करा-कराकर उन्हें यथोचित दक्षिणा देकर उनसे आशीर्वाद ले और आवाहित देवताओंका विसर्जन कर दे ।

यदि कन्याका तथा शूद्रका नामकरण हो तो उसका नामकरण उपर्युक्त विधिसे ही करना चाहिये, किंतु वेदमन्त्रके स्थानमें नाममन्त्रसे अथवा पौराणिक मन्त्रोंके द्वारा करना चाहिये ।

नामकरण-संस्कारकी भी कम उपयोगिता नहीं है । संस्कृतकी एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है—'यथा नाम तथा गुणः ।' मनुष्यका जैसा नाम होता है उसमें गुण भी वैसे ही होते हैं, यह लोकोक्ति प्रायः सत्य पायी जाती है । यद्यपि इसका अपवाद भी मिलता है, किंतु अपवादसे उत्सर्गका खण्डन तो नहीं हो सकता । 'आँखका अन्धा नाम नयनसुख' आदि नाम अपवादकोटिके हैं । बालकोंका नाम लेकर पुकारनेसे उनके मनपर उस नामका असर पड़ता है और प्रायः उसीके अनुरूप उनके चलनेका प्रयास भी होने लगता है । इसलिये यदि नाममें उदात्त भावना होती है तो बालकोंमें यश एवं भाग्यका अवश्य ही उदय सम्भव है । इसी अन्तरित तत्त्वको बृहस्पतिजीने निम्नलिखित शब्दोंमें व्यक्त किया है—

नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः
शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः ।
नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्य-
स्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म ॥

अजामिल उच्चकोटिका पापी था, फिर भी वह अपनी मृत्युके समय अपने 'नारायण' नामके पुत्रके उच्चारणके प्रभावसे सद्गतिको प्राप्त हो गया ।

निष्क्रमण-संस्कार

निष्क्रमण-शब्दका अर्थ है—जन्म होनेके बाद बालकको सर्वप्रथम घरसे बाहर निकालना—

'अथ निष्क्रमणं नाम गृहात्प्रथमनिर्गमः ।'

(बृहस्पतिः)

बालकके निष्क्रमणके लिये महर्षि पारस्करने चतुर्थ मास कहा है । शौनकाचार्यने चतुर्थ और षष्ठ मास कहा है—

'मासे चतुर्थे षष्ठे वा शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।'

भविष्यपुराणमें बारहवें दिन निष्क्रमणके लिये आदेश किया है—

'द्वादशेऽहनि राजेन्द्र शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।'

मुहूर्तसंग्रहमें 'अन्नप्राशन-संस्कार'के समयमें निष्क्रमण करनेके लिये लिखा है—

'अन्नप्राशनकाले वा कुर्यान्निष्क्रमणक्रियाम् ।'

उपर्युक्त अनेक आचार्योंके मतोंमें महर्षि पारस्कराचार्यका मत ही विशेष मान्य है । यदि बालकको घरसे बाहर ले जानेकी विशेष आवश्यकता प्रतीत हो तो भविष्यपुराणके 'द्वादशेऽहनि राजेन्द्र शिशोर्निष्क्रमणं गृहात्' इस वचनके अनुसार बारहवें दिन भी बालकको घरसे बाहर ले जाया जा सकता है । आजकल अधिक लोग अपने व्यवहार-सौकर्यार्थ नामकरण-संस्कारके साथ निष्क्रमण-संस्कारको भी कर लेते हैं ।

निष्क्रमण-संस्कारका महत्त्व यों लिखा है—

सूर्यावलोकनादायुरभिवृद्धिर्भवेद् ध्रुवा ।
निष्क्रमादायुःश्रीवृद्धिरप्युद्दिष्टा मनीषिभिः ॥

'निष्क्रमणमें बालकको सूर्यदेव भगवान्का समन्त्रक दर्शन करानेसे निश्चित ही उसकी आयुकी वृद्धि होती है और इस संस्कारद्वारा आयु तथा लक्ष्मीकी वृद्धि विद्वानोंने कही है ।'

महर्षि बृहस्पतिजीने भी कहा है—

अकृतायां कृतायां स्यादायुःश्रीनाशनं शिशोः।
कृते सम्पद्विवृद्धिः स्यादायुर्वर्द्धनमेव च ॥

निष्क्रमण-संस्कारार्थ बालकका पिता बालक और पत्नीके सहित स्नानादिसे निवृत्त होकर पवित्र वस्त्र धारणकर शुभासनपर बैठे। पश्चात् आचमन, प्राणायामादि करके देश-कालादिका स्मरण करता हुआ इस प्रकार संकल्प करे—

'ममास्य शिशोरायुरारोग्यतासिद्धिद्वारा श्रीपरमेश्वर-प्रीत्यर्थं गृहान्निष्क्रमणं करिष्ये।'

पश्चात् विघ्नविनाशार्थ गणेशाम्बिकाका पूजन करके पञ्चाङ्गादि कर्म करे। अनन्तर बालकको सुन्दर नूतन वस्त्र और आभूषण पहनाकर बालकका पिता बालककी माताकी गोदसे बालकको लेकर शुभ-मुहूर्तमें बालकको घरसे बाहर निकाल करके 'ॐ तच्चक्षुर्देवहितम्' (शु० य० ३६। २४) इस मन्त्रका उच्चारण करता हुआ भगवान् सूर्यनारायणका दर्शन करा दे। पश्चात् स्थानीय मुख्य देवमन्दिरमें बालकको ले जाकर देवदर्शन करा दे और साष्टाङ्ग प्रणाम करा दे। फिर घरमें वापस आकर सुवासिनी सौभाग्यवती स्त्रियोंके द्वारा आर्ति कराकर दस या स्वशक्त्यनुसार ब्राह्मणोंको भोजन और दक्षिणा दे तथा उनसे आशीर्वाद ले। अनन्तर आवाहित देवताओंका विसर्जन करे और उसी दिन रात्रिमें शुभ समयमें 'चन्द्रार्कयोर्दिगीशानाम्' इत्यादि दो पौराणिक मन्त्रोंको कहकर बालकको चन्द्रदेवका दर्शन करा दे।

शिशु जब अपनी माताकी कुक्षिमें रहता है, तब उसकी दुनिया सिमटी-सी अत्यन्त छोटी होती है। जन्म लेनेके बाद परिवार और घरकी ओर उसकी दृष्टि जाती है और इस तरह उसकी उस दुनियाका कुछ विस्तार होने लग जाता है। निष्क्रमण-संस्कार इस विस्तृतिद्वयको जारी रखता है। वह शिशुके हृदयपर ईश्वरकी विश्व-विभूतिकी विशालताको अङ्कित कर देता है और इस तरह उसमें ईश्वरोन्मुखताका वह सद्भाव, जो मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है, पैठने लग जाता है।

भूम्युपवेशन-संस्कार

भूम्युपवेशन संस्कारका अर्थ है—बालकको सर्वप्रथम भूमिपर बैठाना। भूम्युपवेशन-संस्कार बालकके जन्म लेनेके पाँचवें मासमें किया जाता है—

'पञ्चमे च तथा मासि भूमौ तमुपवेशयेत्।'

(विष्णुधर्मोत्तर)

यह भूम्युपवेशन-संस्कार शुभ मुहूर्तमें, जब कि समस्त ग्रह शुभ हों, विशेषतः मङ्गल ग्रह बालकको शुभ हो एवं ध्रुव, मृदु, लघु नक्षत्रादि शुभ हों, उस दिन करना चाहिये।

भूम्युपवेशन-संस्कारको सुसम्पन्न करनेके लिये यथासमय शुभ मुहूर्तमें प्रातःकाल बालकके सहित पति-पत्नी स्नानादिसे निवृत्त होकर शुभासनपर बैठे। पश्चात् निर्विघ्नतासिद्ध्यर्थ गणेशाम्बिकाका पूजन करके स्वस्तिवाचनादि करे। पश्चात् वराह, कूर्म तथा अनन्त भगवान्का एवं पृथ्वीदेवताका पूजन करे। अनन्तर गोबरसे लीपी हुई पवित्र भूमिपर रंगसे मण्डल बनाकर उसपर दस सेर गेहूँकी ढेरी रखकर उसपर बालकको मङ्गल-गीत एवं वाद्यके घोषके साथ बैठावे और बालकको हाथसे पकड़े हुए 'रक्षैनम्' इत्यादि पौराणिक मन्त्रचतुष्टयके द्वारा बालकके कल्याणार्थ भूमि-मातासे प्रार्थना करे, पश्चात् सौभाग्यवती स्त्रियोंके द्वारा आर्तिक कराकर ब्राह्मणोंको भोजन, दक्षिणादि देकर उनसे आशीर्वाद ग्रहण करे और दस सेर गेहूँकी ढेरीको अपने गुरु या पुरोहितको दे दे। अनन्तर आवाहित देवताओंका विसर्जन कर दे।

बालकके लिये भूम्युपवेशन-संस्कार अत्यन्त महत्त्वका है। इसको करनेसे बालककी जीवन-पर्यन्त सर्वदा सर्व-प्रकारसे पृथ्वी-माता रक्षा करती हैं और मरनेके बाद भी वह मनुष्यको अपनी गोदमें धारण करती हैं। शास्त्रोंमें मनुष्यका पृथ्वी-माताकी गोदमें मरनेका विशेष महत्त्व लिखा है। इसीलिये मनुष्यको वह चाहे राजा, महाराजा, चक्रवर्ती सम्राट् ही क्यों न हो, उसे भी मरते समय सुवर्णादिके बहुमूल्य पलंग आदिका मोह त्यागकर पृथ्वी माताकी ही शरण लेनी पड़ती है; क्योंकि पृथ्वीपर मरनेसे मनुष्यकी सद्गति होती है और पृथ्वीके अतिरिक्त पलंग आदिमें मरनेसे असद्गति होती है। दुर्भाग्यवश जो लोग उक्त संस्कारके तत्त्वको न समझकर इसको नहीं करते, वे पृथ्वी माताके कोप-भाजन बनते हैं और जीवनपर्यन्त पृथ्वीपर रेंगनेवाले सर्प आदि एवं सिंह आदि हिंसक जीव-जन्तुओंसे भयभीत रहते हैं। ऐसे लोगोंको मरणसमयमें पृथ्वी माताकी शरण भी नहीं मिलती और वे अचेतनावस्थामें पलंगादिपर ही मर जाते हैं, जिस कारण उनकी सद्गति भी नहीं हो पाती।

अन्नप्राशन-संस्कार

बालकके जन्मसे छठे मासमें अन्नप्राशन-संस्कार करनेके लिये महर्षि पारस्करकी आज्ञा है—

'षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम्' (पार० गृ० सू० १ । १९ । १)

बालिकाके लिये भी अन्नप्राशनका यही समय कहा गया है।

एक दूसरे आचार्यका कहना है कि बालकका अन्नप्राशन छठे और बारहवें मासमें तथा बालिकाका पाँचवें, सातवें, नवें, ग्यारहवें अथवा संवत्सर पूर्ण होनेपर करना चाहिये; किंतु सम्प्रति महर्षि पारस्कराचार्यका मत अधिक प्रचलित और मान्य है। यदि बालक या बालिकाका किसी कारण छठे मासमें अन्नप्राशन न हो सके तो, दूसरे आचार्यके निर्धारित समयकी शरण ली जा सकती है।

अन्नप्राशन-संस्कारका महत्त्व लिखा है कि—

'अन्नप्राशनान्मातृगर्भमलाशादपि शुद्ध्यति ।'

(स्मृतिसंग्रह)

'अन्नप्राशन—संस्कारसे गर्भमें मलिनता-भक्षणका जो दोष है, वह निराकृत होता है।'

अन्नप्राशन-संस्कारार्थ शुभ मुहूर्तमें बालकके पिता और माता स्नानादिसे निवृत्त होकर बालकको माता गोदमें लेकर शुभासनपर बैठे। पश्चात् आचमन, प्राणायामादि करके स्वस्तिवाचनपूर्वक प्रधान संकल्प करे—

'ममास्य शिशोर्मातृगर्भमलप्राशनशुद्ध्यर्थमन्नाद्यब्रह्मवर्चसतेजइन्द्रियायुर्बललक्षणसिद्धिबीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थमन्नप्राशनाख्यं कर्म करिष्ये ।'

संकल्प करनेके बाद निर्विघ्नतासिद्ध्यर्थ गणेशाम्बिकाका पूजन करके पञ्चाङ्ग करे। अनन्तर पञ्चभूसंस्कारपूर्वक अग्निस्थापन करे। ब्रह्माका वरण करे। कुशकण्डिका करे। पश्चात् आघारावाज्यभागादिकी आहुति देकर संस्रवप्राशनादि करे। तदनन्तर मधु-घृतके सहित भोजनयोग्य समस्त रसोंको और अन्नोंको, सुवर्ण अथवा रजतादिको किसी विशिष्ट पात्रमें रखकर, माताकी गोदमें बैठे हुए बालकको देवताके आगे करके मन्त्ररहित अथवा 'हन्त' (पार० गृ० सू० १ । १९ । ६) इस मन्त्रसे समन्त्रक अन्नका प्राशन करावे। किसी दूसरे आचार्यका मत है कि समन्त्रक अन्नप्राशन करानेके बाद पाँच बार मौनपूर्वक प्राशन कराना चाहिये। कन्याके अन्नप्राशनमें अमन्त्रक ही प्राशन कराना चाहिये। अन्नप्राशनके अनन्तर बालकका तीन बार मुख धोना चाहिये।

अन्न-प्राशनके बाद बालकके आगे पुस्तक, शस्त्र, वस्त्र, अन्न तथा शिल्पकी वस्तुएँ रख दे। इन वस्तुओंमें बालक अपनी स्वेच्छासे जिस वस्तुको ग्रहण करे, उसीसे उसकी जीविका चलेगी, यह समझ लेना चाहिये। अनन्तर पिता आवाहित देवताओंका विसर्जन कर ब्राह्मणोंको यथोचित दक्षिणा देकर उन्हें भोजन कराकर स्वयं भी भोजन करे।

दाँत निकलनेके बाद उसकी उपयोगिता और बचावके साथ-साथ उदर-विकारसे रक्षाके लिये अन्नप्राशन-संस्कारकी कम उपयोगिता नहीं है। 'दाँतका काम आँतको मत करने दो' वाले स्वास्थ्य-सूत्रकी शिक्षा यहींसे प्रयोगात्मकरूपसे प्रारम्भ होती है।

अन्नप्राशनमें बालकोंको 'परमान्नं तु पायसम्' के अनुसार पायसादि उत्तम हविष्य-पदार्थ खिलानेकी प्रथा है। इस प्रथाका अभिप्राय यही है कि बालकको मन्त्रोंसे संस्कृत कर जैसा अन्न दिया जायगा, ठीक वैसी ही उसकी बुद्धि होगी और जीवन-पर्यन्त वह बालक अन्नादिसे परिपूर्ण रहेगा।

चूडाकरण-संस्कार

बालकके जन्म होनेके बाद पहले अथवा तीसरे वर्षमें चूडाकरण-संस्कार करे, यह महर्षि पारस्करका मत है। महर्षि आश्वलायन, बृहस्पति एवं नारद आदिका मत है कि बालकका चूडाकरण तीसरे, पाँचवें, सातवें, दसवें और ग्यारहवें वर्षमें भी हो सकता है; किंतु सभी आचार्योंने प्रथम वर्षको उत्तम, तृतीय, पञ्चम और सप्तम वर्षको मध्यम तथा दशम एवं एकादशको अधम कहा है। महर्षि याज्ञवल्क्यका कहना है कि जिसके यहाँ जैसी कुलप्रथा हो तदनुसार चूडाकरण करे—'चूडा कार्या यथाकुलम् ।' कुलाचारके अनुसार कहीं-कहीं पाँचवें वर्षमें अथवा यज्ञोपवीत-संस्कारके साथ भी चूडाकरण करनेकी प्रथा है। बालककी माता यदि गर्भवती हो तो उसका पाँच वर्षके पूर्व चूडाकरण न करे किंतु पाचवें वर्षके, माताके गर्भिणी होनेपर भी, चूडाकरणको करनेमें कोई दोष नहीं है। उपनयनके साथ यदि चूडाकरण किया जाय तो भी माताके गर्भिणी होनेका दोष नहीं होता है—

सूनोर्मातरि गर्भिण्यां चूडाकर्म न कारयेत् ।
पञ्चाब्दात् प्रागथोर्ध्वं तु गर्भिण्यामपि कारयेत् ॥
सहोपनीत्या कुर्याच्चेत्तदा दोषो न विद्यते ॥

(नारदः)

चूडाकरणके समय बालककी माता यदि रजस्वला हो जाय तो उसके शुद्ध होनेपर ही बालकका चूडाकरण करना चाहिये—

विवाहव्रतचूडासु माता यदि रजस्वला ।
तस्याः शुद्धेः परं कार्यं माङ्गल्यं मनुरब्रवीत् ॥

(वृद्धगार्ग्यः)

चूडाकरण प्रारम्भ होनेके बाद यदि सूतक लग जाय, तो 'कूष्माण्डी' ऋचाओंसे घृतका हवन करके एक प्रत्यक्ष गोदान अथवा उसका निष्क्रय देकर चूडाकरण-संस्कार करे।

एक मातासे उत्पन्न दो सहोदर भाइयोंका एक संवत्सर अर्थात् एक वर्षके भीतर चूडाकरण-संस्कार नहीं करना चाहिये।

कन्याके चूडाकरणमें वेद-मन्त्रोंका उच्चारण न करके स्मार्त्त अथवा नाम-मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये; किंतु हवनमें वेदमन्त्रोंका उच्चारण अत्यावश्यक है।

चूडाकरण-संस्कारमें बहुत लोग बालकोंके केश कटानेके साथ ही उनकी शिखा भी कटा देते हैं, यह उनकी भूल है। चूडाकरण-संस्कारमें शिखाधारण होती है, न कि शिखाका कर्त्तन।

चूडाकरणमें शिखा रखनी चाहिये या नहीं, इस विषयका सप्रमाण विस्तृत निर्णय जाननेके लिये हमारी 'लिखित पारस्कर-गृह्यसूत्रकी विवृत्ति नामकी टीका (पृ० ७८, काण्ड २) में 'चौलोपनयनयोः शिखास्थापनविचारः' शीर्षक लेख पढ़ना चाहिये।

चूडाकरणका महत्त्व लिखा है कि चूडाकरणसे बल, आयु और तेजकी वृद्धि होती है—

'बलायुर्वर्चोवृद्धिश्च चूडाकर्मफलं स्मृतम् ।'

(स्मृतिसंग्रह)

चूडाकर्म-संस्कारार्थ बालकके सहित पिता और माता दोनों स्नानादिसे निवृत्त होकर पवित्र आसनपर पूर्वाभिमुख होकर बैठें। अनन्तर स्वस्तिवाचनादि करके प्रधान संकल्प करें—

'ममास्य कुमारस्य बीजगर्भसमुद्भवकल्मषनिराकरणेन बलायुर्वर्चोऽभिवृद्धिव्यवहारसिद्धिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं चूडाकर्मसंस्कारं करिष्ये।'

पश्चात् निर्विघ्नतासिद्ध्यर्थं गणेशाम्बिकाका पूजन करके पञ्चाङ्ग करे। अनन्तर पञ्चभूसंस्कारपूर्वक अग्निस्थापन, कुशकण्डिकादि करके आघाराज्यभागादिकी आहुति दे। तदनन्तर पूर्वाभिमुख बैठे हुए बालकके सिरके दक्षिण, पश्चिम और उत्तरमें तीनों ओर बालोंके तीन जूड़ा बाँध दे और उनमेंसे सर्वप्रथम दाहिनी ओरके जूड़ाको 'ॐ सवित्रा प्रसूता' (पार० गृ० सू० २ । १ । ९) इस मन्त्रको पढ़कर घृत और जलसे बालकके बालोंको भिगो दे। पश्चात् श्वेत शल्लकी (सेही)के काँटेसे बालोंको अलग-अलग करके उनके तीन भाग करे।

पश्चात् क्रमशः उनके एक-एक भागमें तीन-तीन कुशाओंको लेकर उन कुशाओंके अग्रभागको दाहिने केशोंके पूर्वोक्त तीनों भागोंमेंसे पहले भागके मूलमें 'ॐ ओषधे त्रायस्व' (शु० य० ५ । ४२) इस मन्त्रको पढ़कर लगा दे। अनन्तर 'ॐ शिवो नाम' (शु० य० ३ । ६३) इस मन्त्रको पढ़कर लोहेका छुरा हाथमें ले और 'ॐ निवर्तयाम्यायुषे' (शु० य० ३ । ६३) इस मन्त्रको कहकर बालकके बालोंमें छुरेका स्पर्श करा दे। पश्चात् 'ॐ येनावपत्सविता' (पार० गृ० सू० २ । १ । ११) इस मन्त्रको पढ़कर बालकके क्रमशः दक्षिण, पश्चिम और उत्तरके भागके केशोंको काटे और कटे हुए केशोंको बैलके गोबरके ऊपर उत्तरकी ओर रख दे। अनन्तर बालकके समस्त सिरको जलसे भिगोकर 'ॐ यत्क्षुरेण' (पार० गृ० सू० २ । १ । १८) इस मन्त्रसे छूरेको समस्त सिरपर घुमावे। छूराको एक बार समन्त्रक घुमावे और दो बार मौनपूर्वक घुमावे। फिर 'ॐ अक्षिण्वन् परिवप' (पार० गृ० सू० २ । १ । २०) इस मन्त्रको कहकर छुरा नापितको दे। नापित (नाई) बालकके कुल-परम्परानुसार शिखा रखकर बालकके समस्त सिरका मुण्डन कर दे। कटे हुए समस्त केशोंको गोमय-पिण्डमें रखकर उस पिण्डको वस्त्रसे ढककर गोशालामें अथवा स्वल्प जलवाले तालाबमें गाड़ दे। पश्चात् उपस्थित ब्राह्मणोंको गोदान, द्रव्य-दक्षिणा आदि देकर आवाहित देवताओंका विसर्जन करे। अनन्तर दस अथवा स्वशक्त्यनुसार ब्राह्मणोंको भोजन कराकर स्वयं भी भोजन करे।

चूडाकरण-संस्कार हिंदू-बालकोंके लिये अनिवार्य है। सूत्र (यज्ञोपवीत) के बिना शूद्रोंका सब काम चल जाता है, किंतु शिखाके बिना उनका कार्य भी विकलाङ्ग माना जाता है। सच तो यह है कि शिखाके बिना हिंदुत्वकी ही पहचान नहीं हो सकती। कुछ वैज्ञानिकोंका कहना है कि शिखा रखनेका स्थान बहुत नाजुक होता है, अतः उसे छुरों (शस्त्रों) के आघातसे सर्वदा बचाना ही चाहिये। यह काम चूडाकरण-से अनायास ही निष्पन्न हो जाता है। योगियोंको भी ब्रह्म-साक्षात्कारके समय इसी शिखास्थलीय रन्ध्रोंसे आती हुई ज्योतियोंका अनुभव होता है।

कर्णवेध-संस्कार

बालकके जन्म होनेके बाद तीसरे अथवा पाँचवें वर्षमें कर्णवेध करनेकी आज्ञा है। कर्णवेधका महत्त्व लिखा है कि—

'कर्णवेधं प्रशंसन्ति पुष्ट्यायुःश्रीविवृद्धये।'

(गर्गः)

अर्थात् 'दीर्घायु और श्रीकी वृद्धिके लिये कर्णवेध-संस्कारकी शास्त्रोंमें विशेष प्रशंसा की गयी है।'

कर्णवेध-संस्कारको सुसम्पन्न करनेके लिये बालकका पिता अपनी पत्नी और पुत्रके सहित शुभ मुहूर्तमें स्नानादिसे निवृत्त होकर प्रातःकाल पुंसवनकी तरह स्वस्तिवाचनादिसे निवृत्त होकर इस प्रकार संकल्प करे—

'ममास्य बालकस्य बीजगर्भसमुद्भवैनोनिबर्हणपुष्ट्यायुः-श्रीवृद्धिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीतये कर्णवेधसंस्कारं करिष्ये।'

पश्चात् निर्विघ्नतासिद्ध्यर्थ गणेशाम्बिकाका पूजन करके पञ्चाङ्ग करे। अनन्तर सरस्वती, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, नवग्रह, लोकपाल और कुलदेवता एवं ब्राह्मणोंका पूजन करे। पश्चात् बालकको वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित कर उसको शुभासनपर पूर्वाभिमुख बैठा दे। तदनन्तर बालकके हाथमें भोजनार्थ कुछ मिष्टान्न देकर 'ॐ भद्रं कर्णेभिः' (शु० य० २५। २१) इस मन्त्रको पढ़कर बालकके दाहिने कानका और 'ॐ वक्ष्यन्ती वेदागनी गन्ति' (शु० य० २९। ४०) इस मन्त्रको पढ़कर उसके बायें कानका अभिमन्त्रण करे। पश्चात् सूतके डोरेसहित सुवर्ण और रजतकी बनवायी हुई सूईसे किसी सुलक्षणा सधवा स्त्रीके द्वारा बालकके कानमें* छिद्र करा दे। अनन्तर ब्राह्मणोंको भोजन और दक्षिणा देकर आवाहित देवताओंका विसर्जन करे।

कर्णवेध-संस्कारका लौकिक लाभ यह है कि इससे 'हार्निया' (अन्त्रवृद्धि) रोगकी जड़ ही कट जाती है। हार्निया बहुत बुरा रोग है। एक वर्षके भीतर खानेकी दवासे कभी-कभी यह रोग निर्मूल भी हो जाता है। इसके बाद तो यह शल्य-क्रियासे ही साध्य होता है और इसका ऑपरेशन खतरेसे खाली नहीं है। महान् सर्जन सुश्रुतने लिखा है कि कर्णवेध-संस्कार-से अन्त्रवृद्धि रोगका निवारण हो जाता है।

शङ्खोपरि च कर्णान्ते त्यक्त्वा यत्नेन सेवनीयम्।
व्यत्यासाद्वा शिरां विध्येदन्त्रवृद्धिनिवृत्तये॥

(चिकित्सास्थान, १९। २१)

जिस तरह अण्डवृद्धिमें पैरके अँगूठेकी नसोंको बाँध देनेसे लाभ होता है, उसी तरह कर्णवेधसे अन्त्रवृद्धिका निवारण शक्य है।

कर्णवेध-संस्कारके यथासमय करनेसे बालकोंको नपुंसकत्व और बालिकाओंका वन्ध्यात्व दोष नहीं होता। इसी प्रकार उन्माद, मृगी और मानसिक रोगोंकी उत्पत्ति भी नहीं होती।

द्विजाति बालकोंका उपनयन-संस्कार

'उपनयन' शब्द उपपूर्वक 'नी' धातुसे 'ल्युट्' प्रत्यय करनेपर निष्पन्न होता है। उप—अर्थात् आचार्यके समीप, नयन—अर्थात् बालकको विद्यार्थ ले जानेको 'उपनयन' कहते हैं। अतएव बालकके पिता आदि अपने पुत्रादिकोंको विद्याध्ययनार्थ आचार्यके पास ले जायँ, यही उपनयन-शब्दका अर्थ है। यद्यपि शब्दतः उपनयन-शब्दका यही अर्थ है तथापि उपनयनके पूर्व और उत्तरमें कुछ आवश्यक कर्म-विशेष होनेके कारण शास्त्रकारोंने उपनयनार्थ विशेषरूपसे अनेकों पदार्थोंका उल्लेख किया है। उपनयनमें जिन पदार्थोंको कहा गया है, उन सभी पदार्थोंके सहित किये जाने-वाले कर्म-विशेषको 'उपनयन' कहते हैं।

उपनयनका अधिकार केवल* द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) को है।

---

* कर्णवेध-संस्कारमें बालकके प्रथम दाहिने कानमें छेद करके फिर बायें कानमें छिद्र करना चाहिये और कन्याके प्रथम बायें कानमें छिद्र करके फिर दाहिने कानमें छिद्र करना चाहिये। कन्या-के कानमें छिद्र करते समय मन्त्रोच्चारण नहीं करना चाहिये। बालक-के कानमें सूर्यकी किरणके प्रवेशके योग्य और कन्याके कानमें आभूषण पहननेके योग्य छिद्र कराना चाहिये।

* मातुरग्रे विजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धनात्।
ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तस्मादेते द्विजाः स्मृताः॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके लिये क्रमसे आठ, ग्यारह और बारह वर्ष उपनयनका मुख्यकाल कहा गया है (पार० गृ० सू० २ । २ । १–३) और सोलह, बाईस तथा चौबीस वर्षतक उपनयनका गौणकाल अर्थात् उपनयनकालका चरमावधि कहा गया है (पार० गृ० सू० २।५।३६–३८)। यदि किसीके यहाँ कुलाचारानुकूल उपर्युक्त उपनयनकालकी सीमाके अंदर नवें, दसवें, ग्यारहवें, बारहवें, तेरहवें, चौदहवें और पंद्रहवें वर्षमें उपनयन करनेकी प्रथा हो तो वह उपनयन-संस्कार कर सकता है—'यथामङ्गलं वा सर्वेषाम्' (पार० गृ० सू० २ । १ । ४) । अर्थात् द्विजातियोंको शास्त्रविहित उपनयनकालके भीतर जब चाहें तब उपनयन कर लेना चाहिये ।

उपनयनके मुख्य और गौणकालके अतिक्रमण होनेसे* 'अनादिष्ट प्रायश्चित्त' करके उपनयन-संस्कार होता है। गौणकालातिक्रम होनेपर 'व्रात्यस्तोम' प्रायश्चित्त करके उपनयन-संस्कार करना लिखा है । पतितसावित्रीकको 'व्रात्य' कहते हैं। व्रात्यकर्तृक यज्ञको 'व्रात्यस्तोम' कहते हैं। यह व्रात्यस्तोम लौकिक अग्निमें होता है (कात्यायन श्रौ० सू० १ । १ । १४) । व्रात्यस्तोम यज्ञकी विधि कात्यायन श्रौतसूत्र (२२ । ४) में देखनी चाहिये ।

संस्कारोंमें† षोडश संस्कार मुख्य माने जाते हैं, किंतु इनमें भी 'उपनयन' की ही समस्त धर्मशास्त्रकारोंने प्रधानता और महत्ता स्वीकार की है । उपनयन-संस्कारके ही आश्रयसे श्रौत-स्मार्त्त सभी कर्म प्रवृत्त होते हैं । अतः उपनयन-संस्कारको यथाविधि करनेसे ही मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जातिकी शब्दव्यवहार-श्रेणीमें आता है, पश्चात् वह स्वजातिविहित कर्म करनेका वास्तविक अधिकारी बन पाता है । अन्यथा मनुष्य पतित होकर इहलोक और परलोकके किसी भी कर्मके योग्य नहीं रहता । अतः द्विजातियोंके लिये उपनयन-संस्कार अत्यन्त आवश्यक है । उपनयनके बिना वे देवकार्य और पितृकार्यके अनर्ह रहते हैं। उपनयनके बिना मनुष्यका विवाह, सन्ध्या एवं तर्पण आदि श्रौत-स्मार्त्त किसी भी कर्ममें अधिकार नहीं है । केवल इतना ही नहीं, उपनयनरहित व्यक्तिका स्वजातिके साथ एक पङ्क्तिमें बैठकर भोजनादि करनेमें तथा समस्त द्विज-कर्म करनेमें भी अधिकार नहीं रहता है । अतः उपनयन द्विजत्वका साधक और उत्तेजक है । इसलिये समस्त त्रैवर्णिकोंको अपने-अपने वर्णके उपनयनकालानुसार अपने-अपने बालकोंका यथासमय अवश्य ही 'उपनयन-संस्कार' करना चाहिये ।

यदि मनुष्य गर्भाधान-पुंसवनादि संस्कारोंको यथासमय यथाविधि न कर सके, तो भी समस्त संस्कारोंके मूलभूत 'उपनयन-संस्कार'को अवश्य ही करे; क्योंकि अन्य संस्कार गृह्यसूत्रादिमें कहे जानेके कारण परम्परासे श्रुतिमूलक हैं, किंतु 'उपनयन-संस्कार' तो साक्षात् श्रुतिमें ही कथित है—

'उपनयनार्थं विद्यार्थः श्रुतितः संस्कारः ।'

(आपस्तम्बः)

अथर्ववेद (काण्ड ११, सू० ५) में भी उपनयनका श्रुतिपरत्व स्पष्ट सिद्ध है ।

उपनयन-संस्कारमें केवल यज्ञोपवीतके धारणसे और गायत्र्युपदेशमात्रसे 'उपनयन' सिद्ध नहीं होता, किंतु साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करनेसे ही उपनयन-संस्कार सिद्ध होता है । उपनयनमें समन्त्रक बालकका उपनयन और गायत्री-मन्त्रका उपदेश—ये दो प्रधान कार्य हैं, और समस्त कार्य अङ्ग हैं ।

माध्यन्दिन शाखावाले उपनयन-संस्कारके ही दिन वेदारम्भ और समावर्त्तन कर लेते हैं । माध्यन्दिन शाखावालोंको उपनयन-संस्कारके दिन वेदारम्भ और समावर्त्तन कर लेनेमें कोई दोष दिखायी नहीं देता; क्योंकि हरिहराचार्य प्रभृतिने उपनयन-संस्कारके अनन्तर उपनयन-संस्कारके ही दिन 'वेदारम्भ' करनेके लिये कहा है । यद्यपि उपनयन-संस्कारके ही दिन 'समावर्तन-संस्कार' करना उचित नहीं है, किंतु स्मृत्युक्त ब्रह्मचारीके जो नियम हैं, उनके परिपालनमें कठिनता है और उनके अपरिपालनमें पातित्यका दोष है, इन बातोंको देखकर हमारे प्राचीन ऋषियोंने उपनयनके ही दिन 'समावर्त्तन-संस्कार' करना भी विधेय कहा है । वही आचार-परम्परा आजतक भी प्रतिष्ठित और प्रचलित है ।

'ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका प्रथम जन्म मातृगर्भसे और द्वितीय जन्म उपनयन-संस्कारके द्वारा होता है, अतः वे द्विज कहलाते हैं ।'

* देखिये—हमारी लिखित पारस्करगृह्यसूत्र (२ । ५ । ४१) की 'विवृत्ति' टीकाकी टिप्पणीमें 'अनादिष्ट प्रायश्चित्तप्रयोगविधि ।'

† आधानपुंससीमन्तजातनामान्नचौलकाः ।
मौञ्जीव्रतानि गोदानसमावर्तविवाहकाः ॥
अन्त्यं चैतानि कर्माणि प्रोच्यन्ते षोडशैव वै ।

(जातूकर्ण्यः)

इसीलिये माध्यन्दिन शाखावाले उपनयन, वेदारम्भ और समावर्तन—ये तीनों संस्कार एक ही दिन कर लेते हैं।

माध्यन्दिन शाखाके अतिरिक्त शाखावालोंकी पद्धतिमें उपनयनके दिन वेदारम्भ अनुक्त है और उपाकर्मके दिन वेदारम्भ उक्त है। अतः वे लोग उपाकर्मके ही दिन वेदारम्भ करते हैं, न कि उपनयनके दिन। जो लोग उपाकर्मपर्यन्त वेदाध्ययन नहीं करते, वे गायत्रीसे 'ब्रह्मयज्ञ'का अनुष्ठान करते हैं; परंतु इन लोगोंको विचार कर लेना चाहिये कि वेदारम्भके पूर्व समावर्त्तन करना युक्त है या अयुक्त; क्योंकि उनके सूत्रग्रन्थमें उपाकर्मके बाद ही समावर्त्तन करनेका विधान है। अतः उन्हें भी कालापकर्ष करके यथाकथञ्चित् उपनयनके ही दिन वेदारम्भ करके समावर्तन कर लेना चाहिये, यही समीचीन मार्ग है।

उपनयन-संस्कारका दूसरा नाम है—'व्रतबन्ध।' इससे पता चलता है कि इस संस्कारके द्वारा बालकको एक दीर्घ व्रतमें बाँध दिया जाता है, जो कि संन्यासाश्रमके पहलेतक चलता है। द्विजोंका जीवन व्रतमय होता है, जिसका प्रारम्भ इसी व्रतबन्ध-संस्कारसे होता है। इस व्रतबन्धसे बालक दीर्घायु, बली और तेजस्वी होता है—

'यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे॥'

(कौषीतकि ब्राह्मण)

वेदमें एक लक्ष मन्त्र हैं, जिनमें चार हजार तो ज्ञानकाण्डके और छियानबे हजार कर्मकाण्डके हैं। यज्ञोपवीतके ९६ चौओंसे इन्हीं ९६ हजार वेदमन्त्रोंके भारवहनकी प्रतिज्ञा जतलायी जाती है। उपनयनके प्रारम्भमें यज्ञोपवीत पहनकर ब्रह्मचर्यकी साधना करनी पड़ती है, साथ ही वेदमन्त्रोंका अध्ययन करना पड़ता है। ब्रह्मचर्यकी यह साधना कितनी शक्तिशालिनी होती है, यह दुनियासे अविदित नहीं है। इस तरह वानप्रस्थाश्रमपर्यन्त इस महान् सत्रको पूरा करना पड़ता है; किंतु इस कर्मसत्रमें लगकर मनुष्य कहीं अपना परम लक्ष्य भूल न जाय, इसलिये यज्ञोपवीतका प्रत्येक तार सदा उसकी याद दिलाता रहता है। एक ही सूत्रसे यज्ञोपवीत बनता है। पहले उसे तीन, फिर नव और अन्तमें एक ब्रह्मग्रन्थिमें उसे समाप्त किया जाता है। इस प्रक्रियासे यज्ञोपवीत प्रत्येक व्रतीको सूचित करता रहता है कि एक ही ईश्वरसे त्रिगुणमयी माया निकलती है, जो कि अनेक संख्याओंमें विकसित होकर फिर उसी एकमें लीन हो जाती है। इसलिये प्रत्येक द्विजको चाहिये कि संसारदशामें समस्त व्यवहार करता हुआ भी लक्ष्यकी याद कभी न खो बैठे।

कुछ लोग उपनयनके समस्त समयको व्यतीतकर विवाहके साथ ही अपने पुत्रका उपनयन कर देते हैं। और कुछ यज्ञोपवीतधारणको ही उपनयन मानकर विन्ध्य-पर्वतादिमें जाकर उचितरूपसे उपनयन-संस्कारको न करके केवल यज्ञोपवीत अपने बालकको पहना देते हैं। कुछ लोग अपने बालकोंका उपनयन ही नहीं करते। इस प्रकार अपने देशमें रहनेवाले द्विजातियोंमें उपनयनका सर्वथा अभाव (लोप) देखकर चित्त काँप उठता है। आज द्विजातिवर्गमें अनेक प्रकारके अनर्थों और दुःखोंकी जो परम्परा दिखायी दे रही है, उसका एक प्रधान कारण उपनयन-संस्कारका अभाव है। अतः अपने-आपको त्रैवर्णिक कहनेवाले समस्त आस्तिकोंको अपने-अपने बालकोंका शास्त्रोक्त समयपर अवश्य उपनयन करना चाहिये, जिससे अपने कुलकी, जातिकी और ब्रह्मतेजकी पुनः उन्नति हो और जिससे हमारा यह भारतवर्ष अपने वास्तविक तेजको प्राप्तकर विशिष्ट बन सके।

जिस प्रकार अन्य संस्कारोंमें वैज्ञानिकताका उल्लेख किया गया है, उस प्रकार ज्ञानपूर्वक उपनयन-संस्कारमें वैज्ञानिकताका उल्लेख नहीं किया गया है; क्योंकि उपनयन-संस्कारमें जो गृह्यसूत्रके और शुक्लयजुर्वेदादिके मन्त्र आते हैं, उन सभीमें कूट-कूटकर विज्ञान भरा पड़ा है। अतः विज्ञान-प्रेमियोंको तत्तन्मन्त्रोंके भाष्य पढ़ने चाहिये। इसी प्रकार उपनयनकी विधि भी नहीं दी गयी है। उपनयन-संस्कारकी विधि बहुत विस्तृत है। अतः उपनयनकी विधिके परिज्ञानार्थ 'उपनयन-पद्धति' का देखना आवश्यक है।

वेदारम्भ या विद्यारम्भ

उपनयन संस्कारके अनन्तर गुरुके द्वारा शिष्यको 'वेदारम्भ' कराया जाता है। वेदारम्भ उपनयनके बाद ही लिखा है—

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्॥

(योगियाज्ञवल्क्यः)

वेदारम्भ सर्वप्रथम अपनी परम्परागत शाखाका ही होना चाहिये। अन्यथा दूसरी शाखाके अध्ययनसे मनुष्य पतित हो जाता है। अतः सर्वप्रथम अपनी शाखाके वेदका

पूर्णाध्ययन करके दूसरी शाखाके वेदका अध्ययन किया जा सकता है। जो नियमानुसार वेदाध्ययन करता है, वह ब्रह्म-सायुज्यकी प्राप्ति करता है। लिखा भी है—

यच्छाखीयैस्तु संस्कारैः संस्कृतो ब्राह्मणो भवेत्।
तच्छाखाध्ययनं कार्यमन्यथा पतितो भवेत्॥
अधीत्य शाखामात्मीयां परशाखां ततः पठेत्।
पारम्पर्यगतो येषां वेदः सपरिबृंहणः॥
तच्छाखं कर्म कुर्वीत तच्छाखाध्ययनं तथा।
एवमध्ययनं कुर्वन् ब्रह्मसायुज्यमाप्नुयात्॥

(संस्कारप्रकाश)

उपनयनके बाद द्विजको सर्वप्रथम वेदारम्भ करानेके कारण वह वेद द्विजके लिये सर्वदाके लिये उपास्य हो जाता है। अतः द्विजका परम कर्तव्य है कि वह सर्वदा वेदका अभ्यास करता रहे। द्विजके लिये, विशेषतः ब्राह्मणके लिये वेदाभ्यासको परम तप कहा है—

'वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते।'

उपनयनान्तर आचार्य (गुरु) वेदारम्भ वेदीके समीप आकर बैठ जाय। अनन्तर आचमन, प्राणायामादि करके गणपत्यादि देवताओंका स्मरण कर पञ्चभू-संस्कारपूर्वक अग्निस्थापन करे। अनन्तर देशकालादिका उच्चारण कर 'अस्य वटोर्यजुर्वेदादिक्रमेण वेदारम्भं करिष्ये।' इस प्रकार संकल्प करे। पश्चात् वेदारम्भ-हवन, स्विष्टकृदादि हवन और संस्रवप्राशनादि करके ब्रह्मा आदिको पूर्णपात्र प्रदान करे और उनसे आशीर्वाद ले। पश्चात् ब्रह्मचारी गणपत्यादि देवताओंका तथा गुरुदेवका पूजन करके वेद-विद्याका अध्ययन प्रारम्भ करे। गुरु ब्रह्मचारीको उत्तरा-भिमुख अथवा पूर्वाभिमुख प्रागग्र कुशाओंपर बैठाकर स्मार्ताचमन, प्राणायाम एवं ब्रह्माञ्जलि कराकर प्रणव-व्याहृतिपूर्वक समस्त गायत्रीको पढ़ाकर सर्वप्रथम परम्परागत स्व-वेदारम्भ करावे। अनन्तर अन्य वेदोंको पढ़ावे। वेदारम्भ करानेके बाद पुनः पूर्ववत् प्रणवव्याहृतिपूर्वक समस्त गायत्रीको पढ़कर 'ॐ' विरामोऽस्तु' ऐसा कहता हुआ शिष्य गुरुको चरणस्पर्शपूर्वक प्रणाम करे। पश्चात् वेदारम्भ कर्मके साङ्गतासिद्ध्यर्थ आचार्यको यथाशक्ति दक्षिणा दे और आचार्य शिष्यको आशीर्वाद दें। अनन्तर ब्रह्मचारी शिष्यके पिता दस अथवा यथाशक्ति ब्राह्मणोंको भोजन करावें और स्वयं भी भोजन करें।

इस प्रकार संक्षिप्तरूपसे बालकोंके संस्कारोंका विवरण है। हमने लेखवृद्धिके भयसे संस्कारोंकी विधिमें आये हुए मन्त्रोंको पूर्ण न लिखकर केवल मन्त्रोंके प्रतीक दिये हैं और मन्त्रोंके अर्थ भी नहीं लिखे हैं। अतः पूर्ण मन्त्र जाननेके लिये पारस्कर-गृह्यसूत्र और शुक्लयजुर्वेदसंहिताके निर्दिष्ट संकेतानुसार तत्तन्मन्त्रोंको देखना चाहिये एवं मन्त्रोंके अर्थज्ञानके लिये पारस्कर-गृह्यसूत्रका 'हरिहर-भाष्य' और शुक्लयजुर्वेदका 'महीधर-भाष्य' देखना चाहिये।

भगवच्चरणकमलोंको कभी मत भूलो

मन! माधवको नेकु निहारहि।
सुनु सठ, सदा रंकके धन ज्यों, छिन-छिन प्रभुहिं सँभारहि॥
सोभा-सील-ग्यान-गुन-मंदिर, सुंदर परम उदारहि।
रंजन संत, अखिल अघ-गंजन, भंजन बिषय-बिकारहि॥
जो बिनु जोग-जग्य-ब्रत-संयम गयो चहै भव-पारहि।
तौ जनि तुलसिदास निसि-बासर हरि-पद-कमल बिसारहि॥

(विनयपत्रिका)

हे मन! माधवकी ओर नेक तो देख। अरे शठ! सुन, जैसे कंगाल क्षण-क्षणमें अपना धन सँभालता है, वैसे ही तू अपने स्वामी श्रीरामजीका स्मरण किया कर। वे प्रभु शोभा, शील, ज्ञान और गुणोंके धाम हैं, वे सुन्दर और बड़े ही उदार हैं। संतोंको प्रसन्न करनेवाले, समस्त पापोंका नाश करनेवाले और विषयोंके विकारको मिटानेवाले हैं। यदि तू बिना ही योग, यज्ञ, व्रत और संयमके भवसागरसे तरना चाहता है तो हे तुलसीदास! रात-दिन श्रीहरिके चरणकमलको कभी मत भूल।

आँख-मिचौनी
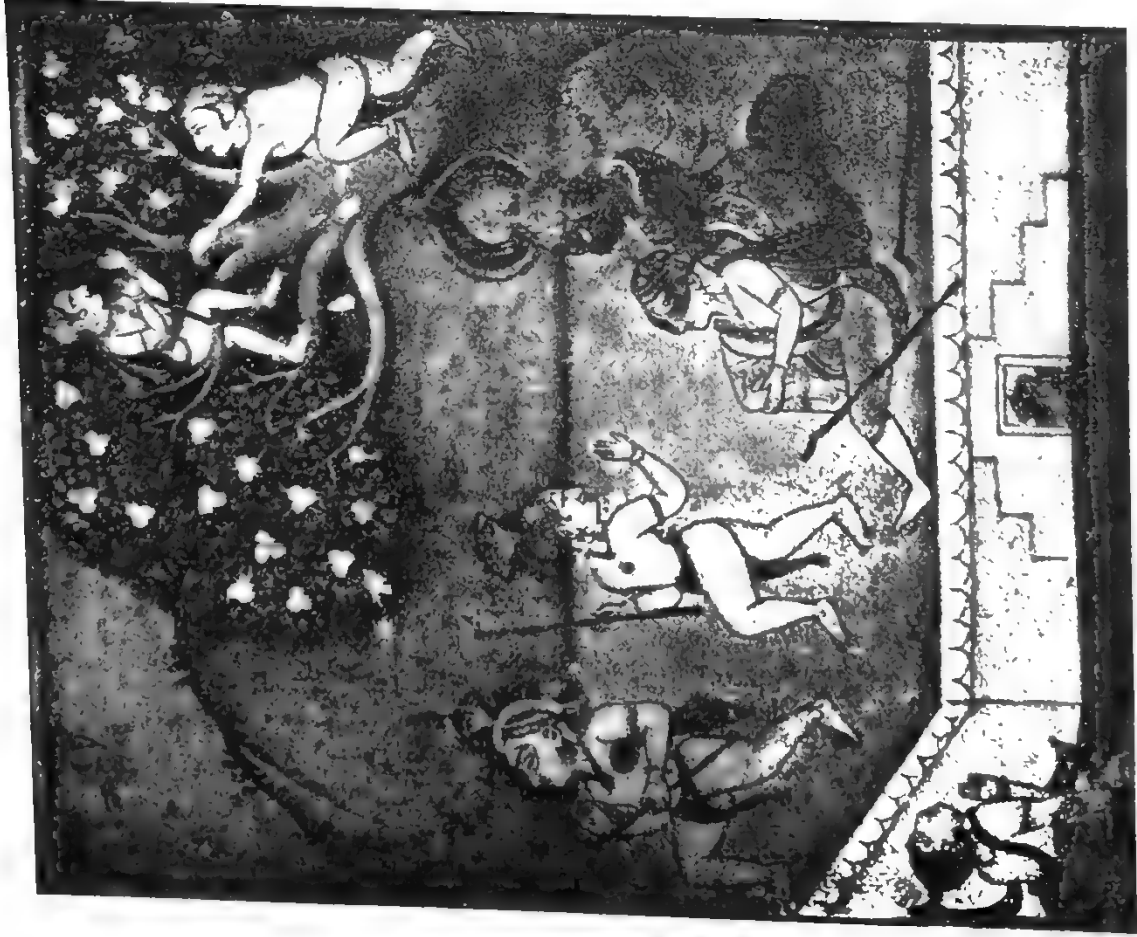
राजस्थानी १८वीं शती] [भारत-कला-भवन

माखन-चोरी

पहाड़ी १८वीं शती] [भारत-कला-भवन

प्राचीन विद्यालयोंकी रूप-रेखा

(लेखक—डा० श्रीरामजी उपाध्याय, एम्०ए०, डी०फिल०)

सुदूर प्राचीन कालसे लेकर आजतक भारतमें अध्यापन पुण्यका कार्य माना गया है। गृहस्थ ब्राह्मणके पाँच महायज्ञों-में ब्रह्मयज्ञका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ब्रह्मयज्ञमें विद्यार्थियोंको शिक्षा देना प्रधान है*। इस यज्ञका सम्पादन करनेके लिये प्रत्येक विद्वान् गृहस्थके साथ कुछ शिष्योंका होना आवश्यक था। इन्हीं शिष्योंमें आचार्यके पुत्र भी होते थे। आचार्यका घर ही विद्यालय था। इस प्रकारके विद्यालयोंका प्रचलन वैदिककालमें विशेष रूपसे था।

उपर्युक्त वैदिक विद्यालयोंके सम्बन्धमें इतना तो निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि वे बड़े नगरोंमें नहीं होते थे। विद्यालयोंकी स्थिति साधारणतः नगरोंसे दूर वनोंमें होती थी। कभी-कभी विद्यालयोंके आसपास छोटे गाँव भी बस जाते थे। विद्यालय तो वैदिककालमें वहीं हो सकते थे, जहाँ आचार्यकी गौओंको चरनेके लिये घासका विस्तृत भूभाग हो, हवनकी समिधा वनके वृक्षोंसे मिल जाती हो और स्नान करनेके लिये निकट ही कोई सरोवर या सरिता हो। तत्कालीन विद्यार्थी-जीवनमें ब्रह्मचर्य और तपका सर्वाधिक महत्त्व था। ब्रह्मचर्य और तपके लिये नगर और ग्रामसे दूर रहना अधिक समीचीन है। उपनिषदोंमें ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा देनेवाले ऋषियोंकी आवासभूमि अरण्यको ही बताया गया है। इन्हीं ब्रह्म-ज्ञानियोंके समीप तत्कालीन सर्वोच्च ज्ञानके अधिकारी पहुँचते थे। अरण्यमें रहना ब्रह्मचर्यका एक पर्याय समझा जाने लगा था।†

महाभारतके अनुसार आचार्य भरद्वाजका आश्रम गङ्गा-द्वार (हरिद्वार)में था। इस विद्यालयमें वेद-वेदाङ्गोंके साथ अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षा भी दी जाती थी। अग्निवेश्य और द्रोणाचार्यको इसी आश्रममें आग्नेयास्त्रकी शिक्षा मिली थी। राजकुमार भी इस आश्रममें धनुर्वेदकी शिक्षा लेते थे। राजा द्रुपदने इसी आश्रममें द्रोणके साथ धनुर्वेदकी शिक्षा पायी थी। महेन्द्र पर्वतपर परशुरामके आश्रममें भी द्रोणने अध्ययन किया था। परशुरामने प्रयोग, रहस्य और उपसंहारविधिके साथ सभी अस्त्र-शस्त्रोंकी शिक्षा द्रोणाचार्यको दी थी।

महर्षि व्यासका आश्रम हिमालय पर्वतपर था। आश्रम रमणीय था। इस आश्रममें व्यास वेदाध्यापन करते थे। पर्वत-पर अनेकों देवर्षि रहा करते थे। इसी आश्रममें सुमन्तु, वैशम्पायन, जैमिनि तथा पैल वेद पढ़ते थे।

जिस वनमें महर्षि कण्वका आश्रम था, उसकी चारुता मनोहारिणी थी। इसमें सुखप्रद और सुगन्धित शीतल वायु-का संचार होता था। वायुमें पुष्परेणु मिश्रित होती थी। ऊँचे वृक्षोंकी छाया सुखदायिनी थी। वनके वृक्षोंमें कण्टक नहीं होते थे और वे सदैव फल देते थे। सभी ऋतुओंमें वृक्षों और लताओंके कुसुमोंकी शोभा मनोहारिणी रहती थी। पथिकोंके ऊपर वृक्षोंकी अनायास पुष्पवृष्टि वायुके संचारके साथ-साथ होती रहती थी।

कण्वके आश्रममें न्याय-तत्त्व, आत्मविज्ञान, मोक्ष-शास्त्र, तर्क, व्याकरण, छंद, निरुक्त, द्रव्य, कर्म, गुण, कार्य-कारण आदि विषयोंके प्रसिद्ध आचार्य थे। लोकायतिक भी वहाँ अपना व्याख्यान देते थे। आश्रममें जो यज्ञ होते थे, उसके सभी विधानों और कर्म-कलापोंके लिये आचार्य नियत थे।

महर्षि कण्वका आश्रम मालिनी नदीके तटपर था। आश्रम रम्य था, अनेक महर्षि विभिन्न आश्रमोंमें आस-पास रहते थे। चारों ओर पुष्पित पादप थे, घास पथिकोंके लिये सुखदायिनी थी। पक्षियोंका मधुर कलकल निनाद होता था। नदीके तटपर ही आश्रम ध्वजाकी भाँति उठा हुआ था। हवनकी अग्नि प्रज्वलित थी, पुण्यात्मक वैदिक मन्त्रोंके पाठ हो रहे थे। तपस्वियोंसे आश्रमकी शोभा और अधिक बढ़ गयी थी।

रामायणके अनुसार प्रयागमें भरद्वाजके रम्य आश्रमके समीप विविध प्रकारके वृक्ष कुसुमित थे, चारों ओर होमका धूम छाया हुआ था। यह आश्रम गङ्गा-यमुनाके संगमके सन्निकट था, दोनों नदियोंके मिलनेसे जलके घर्षणकी ध्वनि सुनायी पड़ती थी। विविध प्रकारके सरस वन्य अन्न, मूल और फल वहाँ मिलते थे। मुनियोंके साथ मृग और पक्षी आश्रम-प्रदेशमें निर्त्रास करते थे। आचार्य भरद्वाज चारों ओर शिष्योंसे घिरे रहते थे। अध्ययन-अध्यापन और आवास-के लिये पर्णशालाएँ बनी थीं।

---

* अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः। (मनुस्मृतिः ३। ७०)

† यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव। (छान्दोग्योपनिषद् ८। ५। ३)

दण्डकारण्यमें महर्षि अगस्त्यका आश्रम था । आश्रमके समीप पुष्पित लताओंसे फूले-फले वृक्ष आच्छादित थे । वृक्षों-के पत्ते स्निग्ध थे । इन्हीं लक्षणोंसे ज्ञात हो सकता था कि आश्रम समीप ही है । आश्रमका वन समीपवर्ती होमके धूम-से व्याप्त था । मृगोंका समूह प्रशान्त था, अनेक पक्षियोंका कलरव हो रहा था । आश्रममें आचार्य अगस्त्य शिष्योंसे परिवृत थे ।

अगस्त्यके आश्रममें ब्रह्म, अग्नि, विष्णु, महेन्द्र, विवस्वान् (सूर्य), सोम, भग, कुबेर, धाता, विधाता, वायु, वरुण, गायत्री, वसुगण, नागराज, गरुड, कार्तिकेय और धर्मके स्थान बने हुए थे ।

तक्षशिलाका विद्यालय महाभारतकालसे ही सारे उत्तर भारतमें प्रख्यात था । यहींपर आचार्य धौम्यके शिष्य उपमन्यु, आरुणि और वेदने शिक्षा पायी थी । जातक कथाओंके अनुसार तक्षशिलामें शिक्षा पानेके लिये काशी, राजगृह, पञ्चाल, मिथिला और उज्जयिनीसे विद्यार्थी जाते थे । गौतमबुद्धके समकालीन वैद्यराज जीवकने तक्षशिलामें सात वर्षोंतक आयुर्वेदकी शिक्षा पायी थी । आचार्य पाणिनि और कौटिल्यको भी सम्भवतः तक्षशिलामें ही शिक्षा मिली थी । सिकन्दरके समयमें तक्षशिला उच्चकोटिके दर्शनके विद्वानोंके लिये प्रसिद्ध थी । तक्षशिलामें वेदोंकी शिक्षा प्रधान रूपसे दी जाती थी, पर साथ ही प्रायः सभी विद्यार्थियोंको कुछ शिल्पोंमें विशेष योग्यता प्राप्त करनी पड़ती थी । विद्यालयमें जिन १८ शिल्पोंकी शिक्षा दी जाती थी, उनकी गणना इस प्रकार है— चिकित्सा (आयुर्वेद), शल्य, धनुर्वेद, युद्ध-विज्ञान, हस्ति-सूत्र, ज्योतिष, व्यापार, कृषि, संगीत, नृत्यकला, चित्रकला, इन्द्रजाल, गुप्तकोशज्ञान, मृगया, अंग-विद्या, पशु-पक्षीकी बोली समझना, निमित्त-ज्ञान, विषोपचार ।

जातकयुगमें नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंकी प्रचुर संख्या थी । नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका परिपालन करनेके लिये वेद और शिल्पमें निष्णात होकर विद्वान् ऋषि-प्रव्रज्या लेकर हिमालयपर रहने लगते थे । महर्षियोंके साथ रहनेवाले तपस्वी शिष्योंकी संख्या कभी-कभी ५०० तक जा पहुँचती थी।

उपर्युक्त युगमें काशी भी भारतीय विद्याओंकी शिक्षाके लिये प्रसिद्ध थी । जातक कथाओंके अनुसार बोधिसत्त्वके आचार्य होनेपर उनके ५०० विद्यार्थी थे, जो वैदिक साहित्य-का अध्ययन करते थे । बोधिसत्त्वके विद्यालयमें १०० राज्यों-से आये हुए क्षत्रिय और ब्राह्मणकुमार शिक्षा पाते थे । काशीके समीप परवर्ती कालमें सारनाथमें बौद्ध-दर्शनका महान् विद्यालय प्रतिष्ठित हुआ । इसमें १५०० बौद्ध भिक्षु शिक्षा पाते थे ।

गुप्तकालीन विद्यालयोंकी रूप-रेखाकी कल्पना कालिदास-की रचनाओंसे की जा सकती है । कालिदासके अनुसार वसिष्ठका आश्रम हिमालयपर था । निकटवर्ती वनोंमें तपस्वियों-के लिये समिधा, कुश और फल मिलते थे । पर्णशालाओंके द्वारपर नीवारसे भाग पानेके लिये मृग खड़े रहते थे । आश्रम-के चारों ओर उपवन लगाये गये थे । उपवनके नववृक्षोंके थालोंमें मुनि-कन्याएँ जल डालती थीं । पर्णशालाओंके आँगन विस्तृत होते थे, आँगनमें नीवार सूखनेके लिये फैलाया जाता था । धूप चले जानेके पश्चात् नीवारके एकत्र कर लिये जानेपर आँगनमें बैठकर मृग रोमन्थ किया करते थे । आश्रममें अग्निहोत्रका सुगन्धित धूम बहुत ऊँचाईतक उठता था । आश्रममें सोनेके लिये कुशशयन प्रयुक्त होता था । कालिदासकी कल्पनाके अनुसार वरतन्तुके आश्रममें जो वृक्ष लगाये गये थे, उनको पुत्रकी भाँति मानकर प्रयत्नपूर्वक बढ़ाया जाता था । श्रान्त पथिक इन्हींके नीचे बैठकर अपनी थकावट मिटाते थे । स्नानके लिये आश्रमसे सम्बद्ध जलाशय होते थे । इस आश्रममें चौदह विद्याएँ पढ़ायी जाती थीं ।

सातवीं शतीकी रचनाओंसे भी विद्यालयोंकी रूप-रेखा प्रायः ऊपर-जैसी ही मिलती है । बाणने कादम्बरीमें महर्षि जाबालिके आश्रमका वर्णन किया है । विद्यालयमें वटुसमूहके अध्ययनसे सारा आश्रम गूँज रहा था । इस आश्रममें सदा पुष्पित और फलवान् वृक्षों और लताओंकी रमणीयता मनोहारिणी थी । ताल, तमाल, हिन्ताल, बकुल, नालिकेर, सहकार आदिके वृक्ष; एला, पूगी आदिकी लताएँ; लोध, लवली, लवंग आदिके पल्लव; आम्रमञ्जरी तथा केतकीका पराग; निर्भय मृग; मुनियोंके साथ समिधा, कुश, कुसुम, मिट्टी आदि लिये हुए मुखर शिष्य; मयूर, दीर्घिकाएँ, पर्णशालाओंके आँगनमें सूखता हुआ श्यामाक; आमलक, लवली, कर्कन्धू, कदली, लकुच, पनस, आम और तालके फलोंकी राशि आदि इस विद्यालयके प्राकृतिक सौन्दर्यको बढ़ा रहे थे । आश्रममें ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी पूजा होती थी, यज्ञविद्यापर व्याख्यान होते थे, धर्मशास्त्रकी आलोचना होती थी, पुस्तकें पढ़ी जाती थीं, सभी शास्त्रोंके अर्थका विचार होता था । कुछ मुनि योगाभ्यास करते थे, समाधि लगाते थे

और मन्त्रोंकी साधना करते थे। आश्रममें पर्णशालाएँ बनी हुई थीं, सारा आश्रम अतिशय पवित्र और रमणीय था। बाणके शब्दोंमें वह दूसरा ब्रह्मलोक ही था।

प्राचीन विद्यालयोंकी जो रूप-रेखा ऊपर प्रस्तुत की गयी है, उससे ज्ञात होता है कि सदा ही विद्याओंके सर्वोच्च केन्द्र महर्षियोंके आश्रम थे। इन आश्रमोंमें सबसे अधिक महिमा तपोमय जीवन बितानेवाले आचार्यके व्यक्तित्वकी थी। आश्रमोंमें वैदिक साहित्य, दर्शन और याज्ञिक विधानोंकी शिक्षा प्रमुखरूपसे दी जाती थी। आश्रमोंसे जो आध्यात्मिक ज्योति दिग्दिगन्तमें परिव्याप्त होती थी, उससे कृतज्ञ होकर सारा राष्ट्र उसके प्रति नतमस्तक था। आश्रमोंकी तीर्थरूपमें प्रतिष्ठा रामायण और महाभारतकालसे हुई। उसी समयसे आश्रमों और तीर्थोंके लिये 'आयतन' और 'पुण्यायतन' शब्दोंका प्रयोग मिलता है। आयतन और पुण्यायतन 'पवित्र करनेकी शक्ति रखनेवाले स्थान'के अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं।

ऋषियों और आचार्योंके आश्रमोंकी पुण्यदायिनी शक्तिसे रामायण और महाभारत कालसे ही लोग प्रभावित रहे हैं। आश्रमोंमें यज्ञ होते थे और वहाँ देवताओंकी प्रतिष्ठा की गयी थी। पौराणिक युगमें जब यज्ञोंका स्थान बहुत कुछ देवपूजाने ले लिया, तब देवप्रतिष्ठाकी प्रधानता सर्वमान्य हुई और पूर्वयुगके पुण्यायतन ही आगे चलकर मन्दिररूपमें प्रतिष्ठित हुए। आचार्योंके विद्यालय-आश्रमके स्थानपर मन्दिर बन गये। उन मन्दिरोंकी रूपरेखा और वातावरण आधुनिक मन्दिरोंसे भिन्न थी। उनको यदि विद्या-मन्दिर कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। मन्दिरोंमें पूर्ववर्ती आश्रम-जीवनका आदर्श ही प्रतिष्ठित हुआ था। मन्दिर पौराणिक युगमें धर्मसम्बन्धी अभ्युदयके प्रमुख प्रतीक रहे हैं। यहींसे धार्मिक भावनाओंकी सरिताका सर्वत्र प्रवाह होता था। इस युगमें भारतीय धर्मके उन्नायक मन्दिरोंमें प्रतिष्ठित हुए। मन्दिरोंमें अध्यापन करना पुण्यावह माना गया।

स्कन्दपुराणके अनुसार सरस्वतीके मन्दिरमें विद्यादान करना पुण्यका काम माना गया। ऐसे मन्दिरोंमें धर्मशास्त्रकी पुस्तकोंका दान किया जाता था। प्राचीन युगके महर्षियों और तपस्वियोंके आश्रम ही साधारणतः तीर्थ बने। तीर्थोंको उन महर्षियों और तपस्वियोंका स्मारक कहा जा सकता है।

मन्दिरोंमें शिक्षाके ऐतिहासिक उल्लेख दसवीं शतीसे मिलते हैं। बम्बई प्रान्तके बीजापुर जिलेमें सलोत्गीके मन्दिरमें त्रयीपुरुषकी मूर्त्तिकी स्थापना राष्ट्रकूट राजा कृष्ण तृतीयके मन्त्री नारायणके द्वारा की गयी थी। इसके प्रधान कक्षमें, जो ९४५ ई० में बनवाया गया था, विद्यालयकी प्रतिष्ठा की गयी थी। इस विद्यालयमें अनेक जनपदोंसे विद्यार्थी आते थे और उनके रहनेके लिये सत्ताईस छात्रालय बने हुए थे। इस विद्यालयमें लगभग पाँच सौ विद्यार्थी रहे होंगे। विद्यालयको सार्वजनिक सहयोगसे तथा विशेष उत्सवोंके अवसरपर दान प्राप्त हुआ करता था।

एन्नारियमके वैदिक विद्यालयकी प्रतिष्ठा ११ वीं शतीके आरम्भिक भागमें हुई थी। यह दक्षिणी अर्काट प्रदेशमें था। इसमें ३४० विद्यार्थियोंके अध्यापनकी व्यवस्था की गयी थी, जिनमेंसे ७५ ऋग्वेद, ७५ कृष्णयजुर्वेद, ४० सामवेद, २० शुक्लयजुर्वेद, १० अथर्ववेद, १० बौधायन धर्मसूत्र, ४० रूपावतार, २५ व्याकरण, ३५ प्रभाकर मीमांसा और १० वेदान्त पढ़ते थे। इसमें १६ अध्यापक थे। इस विद्यालयको आसपासकी ग्रामीण जनता चलाती थी।

चिंगलीपुट जिलेमें तिरुमुक्कुदलके विद्यालयकी स्थापना ११ वीं शतीमें वेङ्कटेशके मन्दिरमें हुई थी। इस विद्यालयमें ६० विद्यार्थियोंके रहने और भोजनका प्रबन्ध किया गया था, जिनमेंसे १० ऋग्वेद, १० यजुर्वेद, २० व्याकरण, १० पञ्चरात्रदर्शन, ३ शैवागमके विद्यार्थी तथा ७ वानप्रस्थ और संन्यासी थे।

तिरुवोरियुर और मल्कापुरम्में उपर्युक्त कोटिके अन्य विद्यामन्दिर थे। इनकी स्थापना १४ वीं शतीमें हुई थी। तिरुवोरियुरके विद्यामन्दिरमें व्याकरणकी ऊँची शिक्षाका विशेष प्रबन्ध किया गया था। इसमें लगभग ५०० विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। मल्कापुरम्के विद्यामन्दिरमें आठ अध्यापक थे। वे वैदिक साहित्य और व्याकरण, साहित्य, तर्कशास्त्र तथा आगमकी शिक्षा देते थे।

११ वीं शतीमें हैदराबाद राज्यके नगाई नगरमें जो विद्यामन्दिर था, उसमें वेद पढ़नेवाले २००, स्मृति पढ़नेवाले २००, पुराण पढ़नेवाले १०० तथा दर्शन पढ़नेवाले ५२ विद्यार्थी थे। विद्यामन्दिरके पुस्तकालयमें ६ अध्यक्ष थे। १०७५ ई०में बीजापुरके एक मन्दिरमें योगेश्वर नामक आचार्य मीमांसा-दर्शनकी उच्च शिक्षा देते थे। ऐसे

ही अनेकों विद्यामन्दिर १० वीं शतीसे लेकर १४ वीं शतीतक बीजापुर जिलेमें मनगोली, कर्नाटक जिलेमें बेलगमवे, शिमोग जिलेमें तालगुण्ड, तंजोर जिलेमें पुन्नवयिल आदि स्थानोंमें थे।

विद्वान् ब्राह्मणोंका भरण-पोषण करनेका उत्तरदायित्व प्रायः राजाओंपर रहा है। ऐसे ब्राह्मणोंके उपभोगके लिये राजा या धनी लोगोंकी ओरसे जो क्षेत्र या अन्न दानरूपमें दे दिया जाता था, उसे अग्रहार कहा जाता था। गुरुकुलोंसे लौटे हुए स्नातकोंको इस प्रकारके अग्रहार प्रायः मिल जाते थे। ऐसे अग्रहारोंका उपभोग करनेवाले ब्राह्मण स्वाध्याय और अध्यापनमें अपना समय निश्चिन्त होकर लगा सकते थे। इस प्रकार अग्रहारोंमें विद्यालयकी प्रतिष्ठा होते देर नहीं लगती थी। अग्रहारोंकी कोटिकी अन्य संस्थाएँ घटिका और ब्रह्मपुरी रही हैं। इस प्रकारकी संस्थाओंकी संख्या दक्षिण-भारतमें बहुत अधिक थी।

अग्रहार संस्थाका आरम्भ वैदिक युगके बाद हुआ। उस समयतक देशमें जनसंख्या इतनी बढ़ गयी कि आचार्यों-को अपने भरण-पोषण तथा विद्यालय चलानेके लिये राजकीय सहायताकी आवश्यकता विशेषरूपसे हो गयी। इसके पहले तो किसी भी व्यक्तिके लिये वनके किसी भूभागको आश्रम-रूपमें परिणत कर लेना सरल था। अग्रहार-संस्था इस बातको सूचित करती है कि तत्कालीन आचार्योंमेंसे कुछ लोग प्राचीन प्रतिष्ठित तपोमय जीवनकी कठिनाइयोंको अपनानेके लिये तैयार नहीं थे और उन्होंने अपने विद्याभ्यासके लिये वनके स्थानपर नगर या गाँवोंको चुना।

अग्रहारोंकी रूप-रेखाका परिचय उनके नीचे लिखे विवरणसे ज्ञात हो सकता है। राष्ट्रकूट राजवंशकी ओरसे १० वीं शतीमें कर्नाटकके धारवाड़ जिलेमें कटिपुर अग्रहार २०० ब्राह्मणोंके लिये दिया गया था। इसमें वैदिकसाहित्य, काव्यशास्त्र, व्याकरण, तर्क, पुराण तथा राजनीतिकी शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थियोंके निःशुल्क भोजनका प्रबन्ध अग्रहारकी आयसे होता था। सर्वज्ञपुर अग्रहार मैसूरके हस्सन जिलेमें प्रतिष्ठित था। इस अग्रहारके प्रायः सभी ब्राह्मण सर्वज्ञ ही थे और वे अध्ययन-अध्यापन तथा धार्मिक कृत्योंमें तल्लीन रहते थे। मैसूर राज्यमें बनवासीकी राजधानी बेलगाँवसे सम्बद्ध तीन पुर, पाँच मठ, सात ब्रह्मपुरी, बीसों अग्रहार, मन्दिर और जैन एवं बौद्ध विहार थे। यहाँपर वेद, वेदाङ्ग, सर्वदर्शन, स्मृति, पुराण, काव्य आदिकी शिक्षा दी जाती थी।

अग्रहारकी भाँति 'टोल' नामक शिक्षण-संस्थाका प्रचलन उत्तर-प्रदेश, विहार और बंगालमें रहा है। यह संस्था नागरिकोंकी आर्थिक सहायता और भूदानसे चलती थी। टोल गाँवोंसे सम्बद्ध होते थे। गाँवोंके पण्डित आसपासके विद्यार्थियोंके लिये भोजन और वस्त्रका प्रबन्ध करते थे और साथ ही विद्यादान देते थे। विद्यार्थियोंके लिये छात्रावास विद्यालयके समीप चारों ओर बने होते थे। टोलोंका अस्तित्व छोटी पाठशालाओंके रूपमें बहुत प्राचीनकालसे रहा है।

गौतमबुद्धके समयसे ही बौद्धदर्शन और धर्मके अध्ययन और अध्यापनके लिये भारतके प्रत्येक भागमें असंख्य विहार बने। विहारोंमें बौद्धदर्शन और धर्मके अतिरिक्त अन्य मतावलम्बियोंके दर्शन तथा धर्मके शिक्षणका प्रबन्ध किया गया था और साथ ही लौकिक उपयोगिताके विषय भी इनमें पढ़ाये जाते थे। ह्वेनसांगके लेखानुसार भारतमें सातवीं शतीमें लगभग ५००० विहार थे और इनमें सब मिलाकर दो लाख भिक्षु शिक्षा पाते थे।

विहारोंमें भिक्षु आजीवन रहते थे और वे अध्ययन-अध्यापन तथा चिन्तन एवं समाधिमें अपना सारा समय लगा देते थे। नालन्दा, वलभी तथा विक्रमशिलाके बौद्ध विश्वविद्यालय सारे एशिया महाद्वीपमें अपनी उच्च शिक्षाके लिये प्रख्यात थे।

मठोंका सर्वप्रथम उल्लेख महाभारतमें मिलता है। बौद्ध विहारोंके आदर्शपर शंकराचार्यने मठोंको प्रतिष्ठित किया। शंकराचार्यने पुरी, काञ्ची, द्वारिका तथा बदरीमें उच्च कोटिके मठीय विद्यालयोंकी स्थापना की। हिरण्यमठ, पञ्चमठ, कोडियमठ आदि अन्य प्रसिद्ध संस्थाएँ इस कोटिकी हैं। धीरे-धीरे सारे भारतमें छोटे-बड़े मठीय विद्यालयोंकी स्थापना हो गयी। यह संस्था आजतक विद्यमान है, परंतु प्राचीन आदर्शोंको महाध्यक्ष भूल-से गये थे।

प्राचीन आश्रमोंकी बाल-शिक्षा

(लेखक—पं० श्रीतिलकधारीजी पाण्डेय, साहित्याचार्य)

विश्वकवि कालिदासने सर्वदमनके 'चापल्य'में उसका जो आदर्श चित्र अङ्कित किया है, उससे उसके भावी जीवनका बहुत-कुछ आभास मिल जाता है। आभासका मिलना तो स्वाभाविक है; किंतु यदि बालकोंको उसके रूप-सुधाका पान कराया जाय तो उनमेंसे कोई भी बालक भविष्यमें गर्वसे अपने मस्तकको ऊँचा किये बिना न रहेगा। केवल ऊँचा ही न करेगा, अपितु बहुत-कुछ तदनुकूल आचरण-द्वारा अपने जीवनका भी विकास करेगा; किंतु यह सम्भव कहाँ ? आज कितने बालक ऐसे हैं, जिन्हें सर्वदमनके आदर्शकी शिक्षा दी जाती है अथवा उन्हें उस प्रकारके आदर्श आश्रममें विचरण करनेका सुअवसर प्राप्त होता है। बड़े-बड़े महापुरुषों एवं धर्मनिष्ठ राजाओंके चरित तो विद्यालयोंमें उनके सामने अवश्य रक्खे जाते हैं; पर क्या यह भी कहीं होता है कि उनके बालजीवनके अध्ययनमें सर्वदमन-जैसे आदर्श बालचरितकी भी कुछ शिक्षा दी जाती हो जिससे उनका भविष्य बने ?

जो हो, कालिदासने बड़े ही सुन्दर बाल-सुलभ आदर्शको आश्रमवासी सर्वदमनमें दिखाया है, जो उसकी भविष्णुताकी ओर भी बहुत-कुछ संकेत करता है। उसके शैशव-कालमें ही उसकी सारी विलक्षण क्रियाशीलताका ऐसा मनोरम रूप खड़ा कर दिया है जो देखते ही बनता है। विश्वास न हो तो कविकी लेखनीका चमत्कार देखिये कि कितने थोड़ेमें उसके विकसित जीवनकी झाँकी दिखायी देती है—

मारीचः—वत्स ! कच्चिदभिनन्दितस्त्वया विधिवदस्माभिरनुष्ठितजातकर्मा पुत्र एष शाकुन्तलेयः।

मारीच—वत्स ! अपने इस पुत्र शकुन्तलाकुमारको क्या आपने प्यार किया है ? हमने स्वयं विधिपूर्वक इसका जातकर्म-संस्कार सम्पन्न किया है।

राजा—भगवन् ! अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा।

(इति बालं हस्तेन गृह्णाति)

राजा—भगवन् ! इस पुत्रपर ही तो मेरे वंशकी प्रतिष्ठा है।

मारीचः—तथा भाविनमेनं चक्रवर्तिनमवगच्छतु भवान्। पश्य,

रथेनानुद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः।
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात्॥

मारीच—आप जान लें, यह भविष्यमें चक्रवर्ती सम्राट् होगा। देखिये,

बाधारहित स्थिर गतिवाले रथपर बैठकर यह समुद्रके पारतक जायगा, कोई महारथी इसका सामना नहीं कर सकेगा; अतः यह पहले सात द्वीपोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीको जीतेगा। इसके कारण यह अप्रतिरथी वीर कहलायेगा। यहाँ सभी हिंस्र जीवोंका इसने बलपूर्वक दमन किया है, इसलिये इसका एक नाम 'सर्वदमन' भी होगा। फिर सम्पूर्ण लोकका भरण-पोषण करनेसे यह भूतलपर 'भरत'-नामसे प्रसिद्ध होगा।

राजा—भगवता कृतसंस्कारे सर्वमस्मिन् वयमाशास्महे।

राजा—जब स्वयं भगवान् (आप) ने इसका संस्कार किया है, तब इससे हम सब प्रकारकी शुभाशाएँ रख सकते हैं।

(शाकुन्तल, सप्तम अङ्कका अन्त)

यह है महर्षि मारीच और राजर्षि दुष्यन्तकी बात-चीत और है महर्षिकी शुभकामना, जो आज तो हमें 'प्रसभदमनात् सर्वदमनः'के रूपमें देखनेको मिली है और यही आगे चलकर 'लोकस्य भरणाद् भरतः'के रूपमें फलती है, जिससे इस देशका 'भारत' नाम भी पड़ा और ऐसा जगा कि आज भी देशमें सर्वत्र 'भरतखण्डे'की पुकार होती है।

इस सबका मूलभूत तो उसकी वह शिक्षा है जो उसे ऐसा करनेको विवश करती है। निदान, हम देखते हैं कि उसे आश्रममें अव्याहत विचरने और स्वच्छन्दता-पूर्वक खिलौनोंके साथ खेलनेका अवसर मिलता है। न कि आजके शिशुओंकी भाँति उसे 'धाय वा माता' के अङ्कमें ही चिपटे रहनेका अवसर दिया जाता है। यही नहीं, किसी भी अवस्थामें कभी भी उसे किसी प्रकारका भय भी नहीं दिखाया जाता, जिससे उसके कोमल हृदयमें डर घर कर ले, जैसा कि आज हमारे घरोंमें प्रायः हो रहा है।

फलतः 'सर्वदमन' शक्तिसम्पन्न होता है, उसमें पुष्टता और बलवत्ताका संचार होता है और इसीके साथ ही वह हठात् सिंह-शिशुओंके साथ क्रीडा करनेमें समर्थ हो जाता है। यद्यपि सिंह-शिशुके साथ क्रीडा करनेकी शिक्षा उसे नहीं मिलती है; फिर भी उसकी प्रौढ़ता ही इसमें मुख्य कारण है और है उसकी चञ्चल प्रकृति इसमें संवर्धनशील भी, जो बाल-जीवनका नैसर्गिक धर्म है और जिसका होना भी उल्लासमय जीवनका प्रधान अङ्ग है।

'मा खलु चापलं कुरु। कथं गत एवात्मनः प्रकृतिम्।'

'अरे! चापलता न करो। आखिर अपने स्वभावपर ही उतर आया।' में इसीकी तो पुट है। फिर इसमें दोषकी सम्भावना कैसी। उससे तो उसके शीलकी ही रक्षा हो रही है और तभी तो वह बालमृगेन्द्रोंके साथ क्रीडा करता हुआ कहता भी है—

'जृम्भस्व सिंह दन्तांस्ते गणयिष्ये।'

'अरे सिंह! मुँह बा, मैं तेरे दाँत गिनूँगा।'

अवश्य ही यह 'चापल्य' ही उसके 'सर्वदमन' इस नामका द्योतक है और यही उसके उल्लसित जीवनका सर्वस्व भी है। इसीसे तो तापसी भी इतना कह जाती है—

अविनीत किं नोऽपत्यनिर्विशेषाणि सत्त्वानि विप्रकरोषि। हन्त वर्धते ते संरम्भः। स्थाने खलु ऋषिजनेन सर्वदमन इति कृतनामधेयोऽसि।

'अरे ढीठ! हमारी औरस संतानकी भाँति प्रिय यहाँके जीवोंको क्यों सता रहा है! हाय! इनके प्रति तेरा रोष तो बढ़ता जा रहा है। ऋषियोंने तुम्हारा 'सर्वदमन' नाम उचित ही रक्खा है।'

फलस्वरूप उसकी 'अबालसत्त्वता'पर मुग्ध होकर राजाधिराज दुष्यन्तको भी कुछ कहनेका अवसर मिला और विस्मयकी उपेक्षा भी न हो सकी—

अये को नु खल्वयमनुबध्यमानस्तपस्विनीभ्यामबालसत्त्वो बालः।

अर्धपीतस्तनं मातुरामर्दक्लिष्टकेसरम्।
प्रक्रीडितुं सिंहशिशुं बलात्कारेण कर्षति॥

'अरे! यह कौन बालक है, जिसके पीछे दो तपस्विनियाँ आकर इसे मना कर रही हैं। इसका धैर्य और पराक्रम तो बालकों-जैसा नहीं है।

'यह अपने साथ खेलनेके लिये उस सिंहके बच्चेको जबर्दस्ती खींच रहा है, जिसने अपनी माताके स्तनसे आधा ही दूध पीया है। इसके खींचने और रौंदनेसे सिंह-शिशुके अयाल अस्तव्यस्त हो गये हैं।'

विस्मयकी उपेक्षा तो न हुई; पर इतना अवश्य हुआ कि उसकी तेजस्वितासे पिघलकर उनके हृदयकी ग्रन्थि भी सहसा खुल गयी—

महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे।
स्फुलिङ्गावस्थया वह्निरेधापेक्ष इव स्थितः॥

'ईंधनकी अपेक्षा रखनेवाली आगकी चिनगारीकी भाँति यह बालक मुझे महान् तेजके बीजरूपमें स्थित जान पड़ता है।'

और परिणाम हुआ यह—

'भगवन् अत्र खलु मे वंशप्रतिष्ठा।'

अबतक जो कुछ कहा गया है उसका निष्कर्ष यह कि 'गर्भाधान'से लेकर 'पुंसवन', 'जातकर्म' और 'नामकरण' संस्कारतककी उसकी सारी क्रिया तथा शिक्षा-दीक्षा आश्रममें सम्पन्न होती है। यहाँतक कि समुचित लालन-पालन भी उसका वहीं होता है, वहाँ उसे सतत कुछ-न-कुछ धर्म-सम्बन्धी कथा भी सुननेको मिलती है। देखिये न! इन्द्र-सूत मातलिका संकेत इस कथाकी ओर ही तो है—

अये वृद्धशाकल्य किमनुतिष्ठति भगवान्मारीचः। किं ब्रवीषि। दाक्षायण्या पतिव्रताधर्ममधिकृत्य पृष्टस्तस्यै महर्षिपत्नीसहितायै कथयतीति।

'ओ वृद्धशाकल्य! भगवान् मारीच क्या कर रहे हैं? क्या कहा? दक्षकन्या अदितिके पूछनेपर अपनी पत्नी तथा अदितिको पतिव्रताधर्मका उपदेश कर रहे हैं।'

फलतः कथाका प्रभाव भी बालकपर स्पष्ट दीख पड़ता है। एक ओर जहाँ वह बलात् सिंह-शिशुके साथ सम्मर्दनपूर्वक खेल करनेमें समर्थ है, वहीं दूसरी ओर उसका मन 'मृत्तिकामयूर' (मिट्टीके बने मोर) से भी रम जाता है—

मातः रोचते म एष भद्रमयूरः।

(इति क्रीडनकमादत्ते)

'मा! मुझे यह सुन्दर मोर अच्छा लगता है।'

प्रसङ्गतः यहीं इतना और भी जान लें कि खिलौने भी बालकोंको हृष्ट, कर्मठ तथा भव्य बनानेमें आवश्यक होते हैं। आवश्यक ही नहीं होते, अपितु वे बहुत-कुछ उनके उल्लास-

मय जीवनके प्रधान अङ्ग भी तो हैं। तभी तो आश्रममें भी सर्वदमनको खेलनेके लिये मृत्तिकामयूर दिया जाता है। जिससे उसका जीवन 'उल्लास' और 'उमंग' का जीवन होता है और शिक्षाका प्रभाव भी यह होता है कि यही सर्वदमन आगे चलकर 'भरत' के रूपमें पृथिवीका सार्वभौम शासक होता है और ऐसा प्रकाशमान होता है कि जिसके बारेमें कभी भगवान् वेदव्यासको भी कहना पड़ा था—

भरतस्य महत्कर्म न पूर्वे नापरे नृपाः।
नैवापुर्नैव प्राप्स्यन्ति बाहुभ्यां त्रिदिवं यथा॥
(श्रीमद्भा० ९। २०। २९)

'भरतके महान् कर्मको न तो पहलेके राजा पा सके हैं और न भविष्यमें कोई पा सकेंगे। ठीक उसी तरह, जैसे दोनों भुजाओंसे स्वर्गको छू लेना असम्भव है।'

ऐसे ही आदर्श बालचरितकी शिक्षासे आदर्श बालकका निर्माण हो सकता है।

बच्चोंकी शिक्षा

(लेखक—आचार्य श्रीनरेन्द्रदेवजी, वाइस-चान्सलर हिंदूविश्वविद्यालय, काशी)

बच्चोंकी शिक्षाका महत्त्व इस देशमें लोग प्रायः नहीं समझते। उनका विचार है कि कोई भी साधारण शिक्षक इस कार्यको सफलतासे कर सकता है, पर बात ऐसी नहीं है। बच्चोंका सफल शिक्षक बनना बड़ा कठिन काम है। प्रत्येक बच्चेका अपना एक व्यक्तित्व होता है। उसका आदर करना शिक्षकका काम है। बच्चे क्रियाशील होते हैं और इसीलिये उनकी शिक्षा भी क्रियाद्वारा होनी चाहिये। कोई एक नियत पाठ्य-क्रम सब बच्चोंके लिये समानरूपसे काम नहीं देगा। प्रत्येक बच्चेकी अभिरुचि देखकर उसके लिये विशेष पाठ तैयार करना चाहिये। शिक्षकका कार्य बच्चेकी अन्तर्हित शक्तियोंको पहचानना और उन्हें विकसित होनेका पूरा अवकाश देना है। इसी कारण बच्चोंकी शिक्षाके लिये बच्चोंसे प्रेम रखनेवाले और अनुभवी शिक्षकोंकी आवश्यकता है।

अब राष्ट्र समझने लगे हैं कि बच्चे ही राष्ट्रकी वास्तविक सम्पत्ति हैं। इसीलिये उन्नतिशील देशोंमें बच्चोंपर विशेष ध्यान दिया जाता है। उनके लिये 'नर्सरी स्कूल' और 'चिल्ड्रन्स पार्क' खोले जाते हैं। उनकी सर्वाङ्गीण उन्नति करना ही शिक्षाका उद्देश्य है। इंगलैंडमें इस समय बच्चोंपर बड़ा ध्यान दिया जा रहा है और उनपर काफी व्यय राज्यकी ओरसे होता है। बच्चोंके स्वास्थ्यकी दृष्टिसे राज्यकी ओरसे प्रति सप्ताह पौष्टिक पेय और सन्तरेका रस प्रत्येक बच्चेको मुफ्त मिलता है। चौदह वर्षतकके बालकोंकी शिक्षा मुफ्त और अनिवार्य है। स्कूलकी ओरसे दूध भी मुफ्त दिया जाता है। मजदूर सरकारने इस ओर विशेष ध्यान दिया है।

हमारे समाजमें बालकोंका कोई स्थान नहीं है। माता-पिता उनसे अपना पिण्ड छुड़ानेके लिये स्कूल भेज देते हैं और समझते हैं कि स्कूल भेजकर हमने अपने कर्तव्यका पालन किया है। उठना-बैठना, शिष्टाचार तो घरपर ही सिखाया जाता है। बच्चेके चरित्रकी रूप-रेखा बहुत छोटी अवस्थामें ही बन जाती है; केवल रंग भरना रह जाता है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि माता-पिताका बहुत बड़ा कर्तव्य है। 'नर्सरी-स्कूल' भी नहींके बराबर हैं। अन्यथा वह भी इस कार्यमें सहायक हो सकते हैं। बच्चोंके लिये केवल पुस्तक-ज्ञान हानिकर है। इससे पाठ रोचक नहीं हो सकते। खेलद्वारा ही बच्चोंकी शिक्षा होनी चाहिये। आज तो विज्ञानद्वारा अनेक नये साधन उपलब्ध हैं, जिनका उपयोग शिक्षा-कार्यके लिये होना चाहिये। बच्चेको क्रियात्मक रूपसे यह भी बताना चाहिये कि समाजके साथ उसका क्या सम्बन्ध है, जिसमें आगे चलकर उसकी प्रवृत्ति समाजके विरुद्ध न बन पावे। बालकोंको अपने देशका ज्ञान करानेके लिये स्कूलकी ओरसे पर्यटनकी व्यवस्था होनी चाहिये। प्रत्येक स्वतन्त्र देशमें युवक-आन्दोलनपर बड़ा जोर दिया जाता है और राज्यकी ओरसे उसको प्रोत्साहन मिलता है। हर तरहकी रिआयतें दी जाती हैं, जिसमें अधिक से-अधिक संख्यामें बालक घूम-फिर सकें और अपने देशके ऐतिहासिक स्थान और प्राकृतिक दृश्य देख सकें।

शिक्षाकी जो व्यवस्था की जाय, उसमें बालकोंका मुख्य स्थान होना चाहिये।

शिक्षाकी समस्या

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, एम्० ए०)

इसी अङ्कमें कई विद्वानोंके लेख निकले हैं, जिनमें वर्तमान शिक्षाके दोष दिखलाये गये हैं और यह बतलाया गया है कि प्राचीन समयमें बालकोंकी शिक्षा किस प्रकारकी होती थी; पर प्रश्न यह है कि वर्तमान परिस्थितिमें शिक्षा किस प्रकारकी होनी चाहिये और उसका आरम्भ कैसे किया जाय ? बालकोंकी शिक्षाके तीन क्षेत्र हैं—घर, विद्यालय और इन दोनोंके बाहर। प्राचीन समयमें इन तीनोंमें सामञ्जस्य था। वर्णाश्रम-व्यवस्थाके आधारपर समाजकी रचना थी, साक्षरता शिक्षाका आवश्यक अङ्ग न थी। अपने माता-पिताके आचार-विचारों और व्यवसायकी बहुत कुछ शिक्षा बालकोंको अपने घरमें ही मिल जाती थी। जो साक्षर होकर गुरुकुलमें जाते थे, उन्हें शास्त्रोंका अध्ययन करना पड़ता था। वे बाहर समाजमें वे ही आचार-विचार देखते थे, जिनकी उन्हें घर तथा गुरुकुलोंमें शिक्षा मिलती थी। इस तरह शिक्षा और व्यावहारिक जीवनमें सामञ्जस्य बना रहता था।

प्रतिकूल परिस्थिति

पर आजकी स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। घरमें बालक कुछ और ही देखता है, स्कूलमें कुछ दूसरा ही पढ़ता है और बाहरी संसारका अनुभव कुछ भिन्न ही होता है—इस तरह तीनोंमें कोई मेल ही नहीं बैठता; फिर हमारे जीवनके जो प्राचीन आदर्श रहे, आजकलके आदर्श उनसे सर्वथा भिन्न हैं। वर्णव्यवस्था समाजके लिये अभिशाप मानी जा रही है। सर्वभेद-विहीन समाज लक्ष्य माना जा रहा है। आधुनिक विज्ञानने धार्मिक विश्वासकी जड़ें हिला दीं। सर्वत्र समानता और स्वतन्त्रताकी आवाज सुननेमें आ रही है। उनकी अनुभूति किसमें होती है, इससे मतलब नहीं। शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो जीवनका लक्ष्य और उसकी प्राप्तिका मार्ग बतलाये। आजकल जीवनके लक्ष्यकी कुछ चिन्ता ही नहीं। शिक्षाका उद्देश्य हो रहा है—धन कमाना। अर्थकाम-प्रधान आधुनिक सभ्यता है और उसके अनुरूप ही शिक्षा; धर्म और मोक्षके लिये उसमें कोई स्थान ही नहीं।

प्राचीन समयमें शास्त्रीय शिक्षा गुरुकुलों, आश्रमों, विद्यापीठोंमें हुआ करती थी। अब ठीक वही व्यवस्था चल नहीं सकती। आजकलके छात्रोंको आधुनिक जगत्का सामना करना है। इतिहास, भूगोल, कला, विज्ञान आदि आधुनिक विषयोंसे अनभिज्ञ रहकर काम नहीं चलाया जा सकता। प्राचीन और नवीनको मिलानेके कई प्रयोग हुए, पर वे सब विफल रहे। संस्कृत-विद्यालयोंमें प्राचीन शैलीका पठन-पाठन चलता रहा, पर अब उसे बदलनेके लिये बाध्य होना पड़ रहा है। आर्यसमाजने गुरुकुल चलाये। ऐंग्लो वैदिक स्कूल तथा कालेज खोले। उनकी देखा-देखी सनातनधर्मियोंने भी अपने सिद्धान्तानुसार वैसी ही संस्थाएँ चलायीं; पर वे सब-की-सब नवीनताके प्रवाहमें बह गयीं। उनमें प्राचीनताकी कोई बात ही नहीं रही। अब तो प्रायः सभी शिक्षा-संस्थाओंपर सरकारका नियन्त्रण है और उसीके बताये मार्ग-पर उन्हें जाना पड़ेगा।

आदर्श तो वही होना चाहिये जो हमारे शास्त्रोंमें बतलाया है, पर बीता हुआ युग पुनः सहसा नहीं लाया जा सकता। वर्तमान परिस्थितिको ध्यानमें रखकर ही आगे बढ़ना होगा। पिछले प्रयत्न विफल होते हुए भी कोई ऐसा ही मार्ग ढूँढ़ना होगा, जिसमें प्राचीन और नवीनका कुछ समन्वय हो सके। यद्यपि दोनों एक-दूसरेके विरोधी जान पड़ते हैं, तब भी बीचका कोई मार्ग निकलना असम्भव नहीं। यदि वृक्षकी जड़ मजबूत है तो वह प्रचण्ड वायुके झँकोरे सह सकता है। यदि ऐसा नहीं तो वायु उसे उखाड़ फेंकेगा। आवश्यकता इस बातकी है कि बालकोंमें प्राचीन आदर्शोंपर आस्था तथा श्रद्धा इतनी दृढ़ बनायी जाय कि वे आधुनिक जगत्के चाकचिक्यसे परिभ्रष्ट न हो सकें, पर यह सहज नहीं। इसमें अनेक कठिनाइयाँ हैं। बच्चोंसे पहले तो उनके माता-पिताका सुधार करना है, क्योंकि बच्चे बहुत कुछ उन्हींका अनुकरण करते हैं। इस समय समाज दो श्रेणियोंमें विभक्त है—एक तो जो शिक्षित कहे जाते हैं, उनकी श्रेणी है और दूसरी अशिक्षित कहे जानेवालोंकी। शिक्षित वर्ग ही समाजका नेतृत्व करता है। अशिक्षितोंमें उनकी नकल करना स्वाभाविक होता है। शिक्षित वर्गमें भी इस समय दो विभाग हैं—एक तो प्राचीन शैलीके कुछ इने-गिने विद्वान् और दूसरे आधुनिक शिक्षा-प्राप्त। दूसरे वर्गके लोगोंका कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं, कुछ बचे-बचाये प्राचीन

संस्कार यदि उन्हें एक ओर खींचते हैं तो आधुनिक आदर्श दूसरी ओर। बेचारे पण्डितोंकी कोई सुनवाई ही नहीं, उनमें भी अधिकांश नये विचारोंसे प्रभावित हो उठे हैं और वे भी अपने बच्चोंको आधुनिक शिक्षा देते हैं। ऐसे लोगोंके बच्चोंमें प्राचीन आदर्शोंपर आस्था तथा दृढ़ता कैसे आ सकती है? स्कूलोंके अध्यापकोंने जैसी शिक्षा पायी है, बच्चोंको वे वैसी ही शिक्षा दे सकते हैं। जिन आदर्शोंमें उन्हें स्वयं विश्वास नहीं, वे अपने शिष्योंमें उनपर विश्वास कैसे उत्पन्न करा सकते हैं। इसलिये जैसी शिक्षा हम देना चाहते हैं, पहले उसे देने योग्य शिक्षक चाहिये। फिर पढ़ाने योग्य वैसी पुस्तकें भी होनी चाहिये। आजकल इतिहासकी जो पुस्तकें पढ़ायी जाती हैं, उन्हें पढ़ाकर क्या बालकोंको अपनी प्राचीन सभ्यता-संस्कृतिका यथावत् ज्ञान हो सकता है? केवल इतिहास ही नहीं, सभी विषयोंपर ऐसी पाठ्य-पुस्तकें होनी चाहिये, जिनके पढ़नेसे बालकोंके मूल विश्वासोंको आघात न पहुँचे। देशको आज वैज्ञानिकों, इंजीनियरों, उद्योगियों, विमान-संचालकों, सैनिकों, राजनीतिज्ञों—सभीकी आवश्यकता है। इन विषयोंको छोड़ा नहीं जा सकता, पर इनके अध्ययनमें ही कितने ही सिद्धान्त ऐसे आते हैं, जिनका अपने यहाँके सिद्धान्तोंसे विरोध पड़ता है। इन सब विषयोंपर अपने दृष्टिकोणसे लिखे हुए ग्रन्थ होने चाहिये और उन्हें पढ़ानेकी अध्यापकोंमें योग्यता तथा क्षमता होनी चाहिये। बालक स्वभावसे ही जिज्ञासु होते हैं, वे बड़े तर्क-वितर्क करते हैं। अपने पथपर दृढ़ बनाये रखनेके लिये उनके तर्कोंका समुचित समाधान होना चाहिये।

अपनी शिक्षायोजना हो, उसीके अनुसार पाठ्य-पुस्तकें हों, उन्हें पढ़ाने योग्य अध्यापक भी हों, तब भी उसमें सरकारें टाँग अड़ाती हैं। वे ऐसी शिक्षा-संस्थाओंको मान्यता प्रदान करनेके लिये तैयार नहीं। बिना सरकारी मान्यताके सरकारी नौकरियाँ नहीं मिलतीं। जितने लोग शिक्षा प्राप्त करते हैं, उनमेंसे बहुत थोड़े लोगोंको ही नौकरियाँ मिलती हैं। तब भी उनका बड़ा प्रलोभन है। छात्र कोई-न-कोई सरकारी नौकरी प्राप्त करनेकी ही आकाङ्क्षा रखते हैं। उद्योग-धंधोंमें भी सरकारी मान्यता-प्राप्त परीक्षाओंकी ही पूछ होती है, किसी कलामें कोई कितना ही कुशल क्यों न हो, बिना परीक्षा-प्रमाणपत्रके कारखानोंमें उसका प्रवेश नहीं होता। शिक्षाको शासनके अधीन बना देना बड़ी भूल है। आजकल लोकतन्त्र चल रहा है, पर वास्तवमें वह है दलतन्त्र। किसी-न-किसी राजनीतिक दलका ही शासन चलता है और वह शिक्षाको अपने प्रचारका साधन बनाता है। अपनी स्वतन्त्रता नष्ट हो जानेसे शिक्षा शासनकी चेरी बन गयी। आज कोई भी शिक्षा-संस्था, जिसे सरकारी संरक्षण प्राप्त नहीं, पनप नहीं सकती।

घर और स्कूलके बाहर आजकल शिक्षाके साधन प्रेस, रेडियो, सिनेमा, रङ्गमञ्च, सभा, समाज, आमोद-प्रमोद आदि हैं। वे सभी विपरीत दिशामें बह रहे हैं, जिनसे समस्त वातावरण विषाक्त हो रहा है। जिनके हाथमें वे साधन हैं, उनका ध्येय है धन-प्राप्ति! धन कमानेके लिये वे तरह-तरहकी वासनाएँ उत्तेजित करते हैं। जब वयस्क उनके प्रभावसे अछूते नहीं बचते, तब कोमलहृदय बालकोंसे इसकी आशा कैसे की जा सकती है?

फिर सबसे बड़ी बात यह है कि हमें अपने आदर्शोंमें स्वयं दृढ़ विश्वास नहीं। यदि ऐसा न होता तो क्या हमारी वही दुर्गति होती जो आज हो रही है? जो कुछ हुआ और हो रहा है, उसकी जिम्मेदारी हमींपर है। आधुनिक शिक्षाकी तो हम आलोचना करते हैं, पर हमारे ही धनसे अंग्रेजी स्कूल तथा कालेज चल रहे हैं और उनकी संख्या बढ़ती जाती है। यदि हम संस्कृत-विद्यालय खोलते भी हैं तो हम स्वयं अपने बच्चोंको उनमें पढ़नेके लिये नहीं भेजते। न उन विद्यालयोंके अध्यापक ही अपने बच्चे उनमें पढ़ाते हैं। धनी और पण्डित दोनों ही अपने बच्चोंको अंग्रेजी स्कूलमें भेजते हैं, जिन विद्यार्थियोंको कहीं भी ठिकाना नहीं, जिनके माता-पिता उन्हें अंग्रेजी स्कूलमें शिक्षा देनेमें असमर्थ हैं, वही कुछ वृत्तिके लोभसे संस्कृत-विद्यालयोंमें पढ़ने जाते हैं। उनकी संख्या भी धीरे-धीरे कम होती जा रही है। नरेशों, जमींदारोंसे संस्कृत-विद्यालयोंको जो आर्थिक सहायता मिलती थी, वह उनकी सम्पत्ति छिन जानेसे अब बंद हो गयी। इस कारणसे भी संस्कृत-विद्यालय टूट रहे हैं। जो बचे हैं, उनमें सरकारी पाठ्यक्रम चलाया जा रहा है, जो प्राचीन आदर्शोंके सर्वथा विपरीत पड़ता है। अधिकांश साहित्य ऐसा निकल रहा है कि जो हमारे विश्वासों, सिद्धान्तों तथा आचरणोंके लिये घातक है। इसके प्रकाशनमें भी अधिकांश उन्हीं लोगोंका धन लगा हुआ है जो धार्मिक होनेका दावा करते हैं। विशुद्ध प्राचीन आदर्शोंकी पोषक पत्र-पत्रिकाएँ इनी-गिनी हैं। वे धनाभावके कारण धीरे-धीरे दम तोड़ रही

हैं । नये विचारवाली पत्र-पत्रिकाओं और पुस्तकोंकी भरमार हो रही है । सर्वत्र उन्हींका ही प्रचार है; यही स्थिति अन्य क्षेत्रोंमें भी है ।

कुछ सुझाव

जब चतुर्दिक् आक्रमण होता है, तब सभी ओर उसके रोक-थामका प्रयत्न करना पड़ता है । ऐसा न करके यदि किसी एक ही मोर्चेकी रक्षा की जाती है, तो शत्रु दूसरे मोर्चेसे घुसकर किया-कराया सब ध्वस्त कर देता है । आज हमारी प्राचीन सभ्यता-संस्कृतिपर चतुर्दिक् आक्रमण हो रहा है, हम यदि चाहें कि इससे केवल बालकोंकी शिक्षा सुधार लें तो यह असम्भव है । इसके लिये समस्त वातावरण बदलना होगा । इसी दृष्टिसे यहाँ कुछ सुझावोंपर विचार करना है ।

१. अनुसन्धान—यदि किसी मनुष्यका दिमाग या मस्तिष्क ठिकाने नहीं तो उसका कोई भी काम ठिकानेका नहीं हो सकता । इसलिये पहले राष्ट्रका दिमाग ठिकाने लाना होगा, यह कार्य विद्वान् ही कर सकते हैं; पर हमारे यहाँ एक बड़ी कठिनाई यह है कि 'जिन लोगोंको हमारे शास्त्रोंका ज्ञान है, उन्हें आधुनिक लेखनशैलीका अभ्यास नहीं और जिन्हें इसका अभ्यास है, उन्हें शास्त्रोंका वास्तविक ज्ञान नहीं । पहले तो प्राचीन-शैलीके विद्वान् आजकल कुछ लिखते ही नहीं और यदि कुछ लिखते भी हैं तो ऐसे ढंगसे, जिसका आधुनिकोंपर प्रभाव नहीं पड़ता । आवश्यकता है प्राचीन तथा नवीन शैलीके कुछ चुने हुए विद्वानोंकी । किसी एक संस्थामें एकत्र करनेकी, अन्धे-लँगड़ेकी मैत्रीकी तरह वे एक-दूसरेके प्रयत्नसे लाभ उठायें । विभिन्न विषयोंपर उसमें अनुसन्धान चले और ऐसे उच्चकोटिके ग्रन्थ निकाले जायँ, जिनकी धाक आधुनिक विद्वानोंको भी माननी पड़े । वे ग्रन्थ विदेशी भाषाओंमें भी निकाले जायँ । हमारी 'मानसिक-गुलामी' इतनी बढ़ गयी है कि विदेशोंके विद्वान् जिसकी प्रशंसा करते हैं, वही हमें जँचती है, स्वयं अच्छे-बुरेके निर्णय करनेकी शक्ति ही हममें नहीं रह गयी । किसी विदेशी भाषामें ग्रन्थ निकलनेसे यदि विदेशी विद्वानोंमें उसका आदर हुआ तो अपने यहाँके नव-शिक्षितोंमें भी उसका आदर होगा । आजकल विभिन्न क्षेत्रोंमें 'ब्रेन-ट्रस्ट' बनानेकी प्रथा चल गयी है, हमें भी अपने सांस्कृतिक पुनरुत्थानके लिये अनुसन्धान-विभागके रूपमें एक 'ब्रेन-ट्रस्ट' बनाना होगा । पाश्चात्त्य देशोंमें भारतीय ज्ञान प्राप्त करनेकी कितनी उत्कट इच्छा है, इसका एक उदाहरण हमारे सामने है । थोड़े ही दिनों पहले अमेरिकाके किसी विश्वविद्यालय सम्भवतः 'येल विश्वविद्यालय'ने एक अध्यापकको बहुत-सा धन देकर भारत भेजा । उससे कहा गया कि पुष्कल पुरस्कार देकर भारतीय विद्वानोंसे ही भारतीय विषयोंपर उच्चकोटिके लेख लिखवाये जायँ । उस अध्यापकको भारतसे निराश होकर लौटना पड़ा । उसने देखा कि आधुनिक विद्वानोंको उन विषयोंका समुचित ज्ञान नहीं और जिन्हें ज्ञान है, वे कुछ लिखनेमें असमर्थ हैं । देशके लिये यह कितनी लज्जाकी बात है । प्रस्तावित अनुसन्धान-विभागमें ऐसे ही लोग होने चाहिये, जो निर्वाह मात्रके लिये कुछ द्रव्य लेकर अपना जीवन ज्ञानकी सेवामें अर्पण करनेके लिये उद्यत हों ।

२. पाठ्य-पुस्तकें—अनुसन्धानके आधारपर ही विभिन्न विषयोंपर पाठ्य-पुस्तकें लिखी जा सकती हैं, इतिहासको कितना भ्रष्ट किया गया है, इसका कोई ठिकाना नहीं । किसी भी बालकके हाथमें आधुनिकोंद्वारा लिखे हुए इतिहासकी पुस्तक देकर उससे यह आशा ही करना व्यर्थ है कि उससे अपने देशकी प्राचीन सभ्यता, संस्कृतिमें श्रद्धा तथा विश्वास रह जायगा । यही इतिहास अब संस्कृत विद्यालयोंमें भी अनिवार्य बनाया जा रहा है* । केवल इतिहास ही नहीं, सभी विषयोंकी पुस्तकोंमें आधुनिक विचारधाराका ही समर्थन किया गया है, देशी भाषाओंके भी गद्य-पद्य-संग्रह ऐसे रक्खे जाते हैं जिनमें आधुनिक विचारवालोंकी ही कृतियाँ होती हैं, इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि 'जैसी हम शिक्षा देना चाहते हैं, उसके उपयुक्त पाठ्यपुस्तकें हों ।' यदि ऐसा नहीं तो फिर बालकोंको पढ़ाया ही क्या जायगा ?

३. अध्यापक—यदि उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकें भी हों, पर उन्हें पढ़ाने योग्य अध्यापक न मिले तो वे बेकार हैं । जिन आदर्शोंकी शिक्षा देनी है, पहले अध्यापकोंको स्वयं उनमें विश्वास होना चाहिये । साथ ही अपने विषयका समुचित ज्ञान, उसमें ऐसी योग्यता तथा क्षमता होनी

* सम्मान्य पं० श्रीगंगाशंकरजी मिश्र बड़े ही विचारशील, अध्ययनपरायण, उच्च विचारोंसे सम्पन्न और सत्यान्वेषी पुरुष हैं । इन्होंने बड़े परिश्रमसे बहुत सुन्दर और सच्चा 'भारतका इतिहास' लिखा है । जिनको भारतका सच्चा इतिहास देखना, जानना और पढ़ाना हो, उनके लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है । शिक्षाक्रममें रखने योग्य है । मूल्य ५) है । मिलनेका पता—धर्मसंघ शिक्षामण्डल-ग्रन्थमाला, सन्मार्ग-भवन, बनारस ।

सम्पादक—'कल्याण'

चाहिये कि वह छात्रोंकी जिज्ञासा शान्त कर सके और उनके तर्क-वितर्कोंका संतोषजनक उत्तर दे सके। पुस्तक-पाण्डित्यके साथ उसका आचरण भी ऐसा होना चाहिये, जिसका छात्रोंपर प्रभाव पड़ सके। जबतक योग्य अध्यापक न होंगे, कोई भी विद्यालय ठीक नहीं चल सकता। अध्यापकोंकी शिक्षाके लिये एक अध्यापकविद्यालय भी खोलना पड़ेगा।

४. प्रेस—प्रचारका आज भी सबसे बड़ा साधन प्रेस है। विद्यालयोंमें आदर्श शिक्षा प्राप्त करके निकले हुए छात्रोंका विश्वास भी हिल उठेगा, जब वे नयी पत्र-पत्रिकाएँ और पुस्तकें पढ़ेंगे। इसलिये 'स्वस्थ-साहित्य' के प्रकाशनकी बड़ी आवश्यकता है। आधुनिक विचारोंकी जो पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं, वे बड़ी आकर्षक होती हैं, उनमें विषय इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि उसे पढ़नेमें मन लगता है और इच्छा न होते भी उसका प्रभाव विचारोंपर पड़ता है, उनका रूप-रंग भी मोहक होता है। शत्रु जैसे शस्त्रोंका प्रयोग करता है, उन्हें विफल बनानेके लिये वैसे ही शस्त्र अपनाने पड़ते हैं। विपरीत विचारवाली पत्र-पत्रिकाओंका मुख बंद नहीं किया जा सकता, आज विचार व्यक्त करनेकी सबको स्वतन्त्रता है, यदि उनका प्रभाव कम करना है तो उनसे टक्कर लेने योग्य हमें अपनी पत्र-पत्रिकाएँ निकालनी होंगी, जैसे रोगीको कड़वी कुनैनकी गोली चीनीमें लपेटकर दी जाती है, वैसे ही हमें अपनी बात भी रोचक बनानी पड़ेगी। कुनैनकी गोली पेटमें पहुँचनेपर अपना फल दिखाये बिना नहीं रहती, उसी तरह यदि हमारी बात भी किसीके मस्तिष्कमें पहुँच जायगी तो वह कुछ-न-कुछ अपना गुण अवश्य दिखलायेगी।

५. मनोरञ्जन—मनोरञ्जन सदा प्रचारके साधन रहे हैं। अपने यहाँ लीलाओं, चित्रों तथा विभिन्न कलाओंद्वारा मनोरञ्जनके साथ शिक्षण भी होता था, आज भी वही हो रहा है। पर जैसे विचार हैं, उनके द्वारा वैसी ही शिक्षा मिल रही है, इसलिये मनोरञ्जनके साधन भी सुधारने होंगे। आजकल कुछ लोग छात्रोंको उपदेश देने लगे हैं कि 'वे सिनेमा न देखें' पर क्या यह कभी सम्भव है? जब माता-पिता सिनेमा देखते हैं, तब छात्र क्यों न देखें? सिनेमा मिटाये नहीं जा सकते। आधुनिक विज्ञानने जो यन्त्र तथा साधन प्रस्तुत किये हैं, वे सब नष्ट नहीं किये जा सकते। आधुनिक युग जैसा है, उसीमें हमें रहना पड़ेगा। इसलिये सोचना यह चाहिये कि 'आधुनिक साधनों'का सदुपयोग किस प्रकार किया जाय। यदि हम अपने यहाँ कुछ सुधार कर पाये तो उसका प्रभाव दूसरोंपर भी पड़ेगा। इस तरह शनैः-शनैः युगमें भी परिवर्तन हो सकता है।

६. शासन—फिर सबसे बड़ी बात यह है कि 'आधुनिक राजनीति' सर्वव्यापक है। आज शिक्षा भी उसीका अङ्ग है। जबतक शासन हमारे हाथमें न होगा, हमारी कोई भी योजना पूरी न होगी। आज जिनके हाथमें शासन है, वे उसी शिक्षाकी देन हैं, जो हमारे सांस्कृतिक जीवनके लिये घातक हो रही है। वे एक भी ऐसी शिक्षा-योजना न चलने देंगे, जो उनके विचारोंके विरुद्ध जाती है। इसलिये यदि बालकोंको सुधारना है, उन्हें उचित शिक्षा देनी है, समस्त वातावरण बदलना है, तो राजनीतिसे पृथक् नहीं रहा जा सकता, उसमें कूदना होगा और सभी दाव-पेचोंसे शासन अपने हाथमें लेना होगा। 'राजा कालस्य कारणम्'का सिद्धान्त जैसा पहले ठीक था, वैसा ही आज भी है। इस समय तो वह पहलेसे भी अधिक उपयुक्त है; क्योंकि सरकारोंने जनताके समस्त जीवनका भार अपने ऊपर ले लिया है।

एक ही मार्ग

शिक्षामें एक प्रकारका कुचक्र चल गया है। जब शिक्षा ही बिगड़ी है, तब सुयोग्य शिक्षक या संचालक और शिक्षाके उपयुक्त साधन कहाँसे आये और बिना उनके शिक्षा कैसे सुधरे। बिना उपयुक्त शिक्षाके बालकोंमें सुधार कैसे हो, वे ही किसी दिन देशके नागरिक होंगे और देशका भविष्य उन्हींके हाथमें रहेगा। इसलिये शिक्षा-सुधारका प्रश्न टाला नहीं जा सकता। सब कुछ शिक्षापर ही निर्भर रहता है। उसे बिना अपने अनुकूल बनाये अपनी ध्येय-प्राप्तिके लिये हम किसी ओर कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। संसारकी वर्तमान परिस्थिति और प्राचीन सिद्धान्त ध्यानमें रखते हुए शिक्षाके सभी अङ्गोंपर विचार करनेकी आवश्यकता है। जिन विद्वानोंने आधुनिक शिक्षाकी निस्सारता तथा उसके हानिकर प्रभावोंका अनुभव कर लिया है, उन्हें किसी एक स्थानपर मिलकर पहले आधारभूत सिद्धान्त निश्चित कर लेने चाहिये। फिर एक स्थायी समितिद्वारा विभिन्न विषयोंके विशेषज्ञोंकी सहायतासे प्रत्येक अङ्गपर निष्पक्षभावसे पूर्ण विचार करके व्यावहारिक योजना तैयार करनी चाहिये। यह योजना व्यापक होनी चाहिये, जिसमें अवसर आनेपर वह सर्वत्र लागू की जा सके। आज भारतमें सभी सम्प्रदायों तथा सभी जातियोंके लोग बसे हुए हैं। उन सबको अपने धर्म तथा संस्कृतिको विकसित करनेका अवसर मिलना चाहिये।

यह भी ध्यान रखना है कि सबकी शिक्षा एक ही प्रकारकी नहीं हो सकती । बालकोंकी स्वाभाविक रुचि और योग्यताके अनुसार उनकी शिक्षा होनी चाहिये । कुचक्रसे निकलनेका एक ही उपाय होता है और वह है किसी प्रकार पहले उसकी गति रोक देना, चाहे उससे तात्कालिक हानि ही क्यों न हो। ऐसा होनेपर ही एक निश्चित स्थानसे आगे बढ़ा जा सकता है । जो संस्थाएँ सरकारी आर्थिक सहायताके आश्रित नहीं, यदि उनमें दो-चार भी संघटित होकर वर्तमान पद्धतिका बहिष्कार करके निश्चित योजना अपना लें तो आगे कदम उठाया जा सकता है । इस योजनामें शामिल होनेवाले सभी लोगोंको यह प्रतिज्ञा करनी होगी कि 'वे अपने बालकोंको उस योजनाके अन्तर्गत चलनेवाली संस्थाओंमें ही शिक्षा देंगे और उन्हीं संस्थाओंसे निकले हुए छात्रोंको अपने यहाँ कामपर लायेंगे।' यदि ऐसा होने लगे तो लोगोंका उत्साह बढ़ेगा और ऐसी संस्थाओंमें पढ़नेवालोंके सामने बेकारीका भूत भी न होगा । इसी तरह स्वतन्त्र शिक्षाकी नींव पड़ जायगी, इसमें कुछ सफलता होनेपर दूसरे उसका अनुसरण करेंगे और इस तरह क्षेत्र बराबर विस्तृत होता जायगा । किसी कार्यमें कुछ सफलता मिलनेपर अगला मार्ग आप ही सुस्पष्ट होता जाता है । साथ ही जो क्षेत्र ऊपर बतलाये गये हैं, उनमें भी कार्य प्रारम्भ करना होगा । बिना चारों ओर मोर्चाबन्दी किये सफलता नहीं मिल सकती । 'कल्याण'का यह अङ्क पढ़कर यदि लोगोंको इसकी प्रेरणा नहीं मिलती तो वह केवल पुस्तकोंकी अलमारीकी ही शोभा बढ़ायेगा ।

बालोपयोगी शिक्षा

(लेखक—डा० श्रीमुंशीरामजी शर्मा, एम० ए०, पी-एच्०डी०)

बालकका सीधा सम्बन्ध अपने माता-पितासे होता है। माता-पिताके अतिरिक्त परिवारमें भाई-बहिन भी होते हैं। इन सबके साथ बालकोंका व्यवहार कैसा होना चाहिये, इसे हम वेद-मन्त्रोंके आधारपर नीचे लिखते हैं—

'अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ॥
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।
ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट
संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त
एतसध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥
समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ।
(अथर्व० काण्ड ३, अ० ६, सू० ३०-३१ मन्त्र २-३ तथा ५-६)

परिवारके अंदर पुत्रको पिताके अनुकूल व्रतवाला होना चाहिये । उसका आचरण पिताके समान हो । उसका मन माताके साथ प्रीतियुक्त हो । माताके मनको कष्ट पहुँचाना पुत्रके लिये किसी भी प्रकार उचित नहीं है । शास्त्रोंमें माताका स्थान सौ गुरुओंके समान है । यदि किसी स्थानपर माता-पिता तथा अन्य गुरुजन बैठे हों, तो सबसे पहले पुत्रको माताके चरण-स्पर्श करने चाहिये । प्रत्येक बालक अपनी माके अङ्ग-अङ्गसे उत्पन्न होता है । अतः उसका परम पावन कर्तव्य माताके साथ 'संमनाः' होकर रहना है । माताके मनके अनुकूल आचरण करना और उसे प्रसन्न रखना पुत्रके लिये परम आवश्यक है । जो पुत्र माताके हृदयको प्रसन्न करनेवाला है और पिताके अनुकूल अपना आचरण बनाता है अर्थात् सदाचारके सम्बन्धमें पिताका अनुकरण करता है, उसकी आयु, विद्या, बल और यश बराबर बढ़ते रहते हैं । माता-पिताके पश्चात् परिवारमें भाई और बहिनका सम्बन्ध है । बालकको अपने भाई और बहिनोंमेंसे किसीके साथ किसी भी अवस्थामें द्वेष नहीं करना चाहिये । उनमें पारस्परिक प्रेम इतनी अधिक मात्रामें होना चाहिये कि कोई भी व्यक्ति उन्हें देखकर उनके समान गुण-शील आदिसे प्रभावित हो । सव्रत बनना बालकोंके जीवनमें समान गुण-कर्म-स्वभाववाला बनना है । ऐसे ही बालकोंके मण्डलको देखकर एक अपरिचित व्यक्ति भी उनकी कुलीनतासे स्वतः परिचित हो जाता है । गोस्वामी तुलसीदासने राम और उनके बन्धुओंके शील-स्वभावका ऐसा ही आकर्षक वर्णन किया है । बालक जब एक दूसरेके साथ मिलें, उस समय उन्हें अत्यन्त भद्रभावपूर्वक सुखदायिनी वाणी बोलनी चाहिये । वाणीमें अमृत और विष दोनों भरे पड़े हैं । हम चाहें तो उससे अमृतकी वर्षा कर सकते हैं और यदि

इच्छा हो तो वाणीसे विष भी उगला जा सकता है। एक कुलीन बालक अमृतमयी वाणीका प्रयोग करता है, परंतु संस्कार और व्रतसे विहीन बालक अमृतके स्थानपर अपनी जिह्वासे विषको उगलता है। अमृतकी वर्षा करनेवाले बालकका सम्मान होता है; परंतु जो विषाक्त कटूक्तियाँ और गाली-गलौज बकता है, उसकी ओर कोई भी अच्छी दृष्टिसे नहीं देखता।

बालकोंको चाहिये कि वे श्रेष्ठ विद्यादि गुणोंको धारण करनेवाले बनें। वे चेतनायुक्त हों। प्रमाद और आलस्यसे हटकर सज्ञान बनें। जिस कार्यको हाथमें लें उसे करके छोड़ें और सब परस्पर मिलकर एक समान कर्तव्यनिष्ठाकी भावनासे युक्त हों। उनमें विरोध और वैमनस्यका भाव घर न कर सके। एक-दूसरेके लिये मधुर और प्रेमयुक्त भाषण करते हुए आगे बढ़ें। एक-दूसरेके सुखमें सुखी और दुःखमें दुखी होते हुए समान मनवाले बननेका प्रयत्न करें। जिनके मन एक-से होते हैं, जिनका चिन्तन और विचार समान होता है, उनकी शक्ति बढ़ती है। एक व्यक्तिके विचारमें और कई व्यक्तियोंके एक-जैसे विचारमें महान् अन्तर है। जो विचार एक व्यक्तिमें ही केन्द्रित है, वह अपने विरोधी विचारोंकी प्रबलतामें हीन और असमर्थ हो जाता है; परंतु कई व्यक्तियोंके हृदयोंसे उद्भूत समान विचारधारा बलवती होती है और अपने विपक्षियोंकी विचारधारासे डटकर मोर्चा लेती है। संगठनमें बल है। अतः बालकोंको चाहिये कि वे समान विचारवाले बनें। तभी उनके विचारोंका महत्त्व प्रकट होगा।

वेद कहता है कि सब बच्चोंको एक साथ और एक-जैसा भोजन करना चाहिये। उनके पानी पीनेका स्थान भी समान हो। इस सम्बन्धमें स्वास्थ्यकी अवस्था-विशेषमें अपवाद किया जा सकता है, परंतु सामान्यतः भोजन और पानी सब बालकोंका एक-जैसा ही होना चाहिये। एक सत्तू खानेवाला हो और दूसरा हलुआ-पूड़ीका विलासमय भोजन करता हो, तो स्वभावतः दोनोंके रहन-सहन, चिन्तन और संस्कार भिन्न-भिन्न होंगे। यह भी सम्भव है कि दोनों विपरीत दिशाओंमें जाते हुए एक-दूसरेके घोर शत्रु बन बैठें। अतः वेदकी शिक्षाके अनुकूल सभी बालकोंको समान भोजन-पानकी सुविधा मिलनी चाहिये।

किसी भी देशके बालक समान परिस्थितियोंमें समान उत्तरदायित्वके बोझको वहन करनेवाले तभी बन सकेंगे। बालकोंको एक साथ मिलकर भगवान्‌की पूजा भी करनी चाहिये। प्रभुके वन्दन और कीर्तनमें एक स्वरसे उठी हुई समवेत ध्वनियाँ अत्यन्त मङ्गलमयी होती हैं। वातावरणमें एक साथ गूँजकर वे अन्तरिक्षकी विचारतरंगोंमें पवित्र लहरियाँ उत्पन्न करनेमें समर्थ होती हैं। सम्मिलित स्वरसे किया हुआ कीर्तन पवित्र वायुमण्डलको जन्म देकर ऐसा प्रभाव उत्पन्न करता है, जो मानवताके लिये अत्यन्त कल्याणकारी है। वेदने इसीलिये प्रभुकी सम्मिलित प्रार्थनापर इतना अधिक बल दिया है।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु॥ (यजु० ३२। १४)

इस वेदमन्त्रमें प्रभुसे मेधा—बुद्धिकी याचना की गयी है। हमारे पूर्वज इसी मेधाकी उपासना करते थे। प्रत्येक बालकको अपने पूर्वजोंके पद-चिह्नोंपर चलते हुए मेधावी बननेका प्रयत्न करना चाहिये। बुद्धिको विकसित करनेमें विद्याका बड़ा हाथ है। जहाँसे भी हो, हमें विद्या ग्रहण करनी चाहिये। शिक्षित होना मानवके लिये मेधाके द्वारका खुलना है। अतः उपयोगी तथा आन्तरिक शक्तियोंका विकास करनेवाली विद्यासे सम्पन्न होकर बालक अपने अंदर सोयी हुई मेधाको जाग्रत् करें। वेदने एक अन्य स्थानपर लिखा है कि जब मेधा जाग्रत् हो जाती है, तब वाणीका कोई भी विषय, वाङ्मयका कोई भी विभाग आँखसे ओझल नहीं रह सकता। प्रत्येक विषयका ज्ञान हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो उठता है।

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रमादम् अतन्द्राः॥ (ऋ० ८। २। १८)

प्रभु परम जागरूक है। उसके साथ देव भी जाग्रत् रहते हुए प्रमादी, आलसी एवं सोनेवाले प्राणियोंको दण्ड दिया करते हैं। वे क्रियाशील, कर्मठ, कर्तव्य-पालनमें तत्पर व्यक्तिकी कामना करते हैं, परंतु निद्रा-ग्रस्त व्यक्तिको कभी नहीं चाहते।

प्रत्येक बालकको इन देवताओंकी सङ्गतिमें रहकर सदैव जाग्रत् रहनेका व्रत लेना चाहिये। प्रमाद और आलस्य जीवन-धाराको कुण्ठित करनेवाले हैं। चेतनाका स्फुरण सतत क्रियाशील रहनेपर ही होता है। मानवका महत्त्व उसकी चेतनामें निहित है। जो सोता है, उसकी चेतना सोती है; परंतु जो जागता है, उसकी चेतना भी जगमगाती रहती है। वेदमें एक अन्य स्थानपर कहा गया है कि जो

जागता है, ऋचाएँ उसकी कामना करती हैं, सामगीतियाँ स्तुति करती हुई उसके पास पहुँचती हैं और परम पावन सोमरूप प्रभु उसके अंदर अपना घर कर लेते हैं । अतः प्रत्येक बालकको जागरूक बनना चाहिये । गीतामें कहा गया है कि युक्त आहार और विहार तथा युक्त स्वप्न और जागरण योगकी सिद्धि करानेवाले हैं । अतएव अयुक्त, अनुचित एवं अनावश्यक सोनेकी ओर किसी भी बालकको नहीं जाना है ।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

(ऋ० १ । ८९ । ८)

कानोंसे भद्र अर्थात् भली बातें सुनना और आँखोंसे भद्र अर्थात् शुभ दृश्योंका देखना जीवनके विकासके लिये आवश्यक उपादान हैं । हमारी ज्ञानेन्द्रियोंमें आँख और कान दोनों ही मुख्य हैं । हमारे जीवनका अधिकांश व्यापार इन्हीं दोके सहारे चलता है । यदि इन दोनोंके द्वारा हमने भद्रका सेवन कर लिया, शुभ एवं कल्याणकारी तथ्योंका उपार्जन कर लिया, तो हमारा जीवन सुदृढ़ भूमिपर खड़ा होकर सत् और प्रकाशकी ओर जा सकता है । यदि ऐसा न हुआ तो कल्याणकी प्राप्ति असम्भव है । ज्ञानेन्द्रियोंके साथ हमें अपने शरीरके अन्य अङ्गोंको भी दृढ़ करना चाहिये । रोगोंका अड्डा बना हुआ शरीर किसी कामका नहीं होता । अङ्गोंकी दुर्बलता किसी भी समय जवाब दे सकती है । अतः सुदृढ़ और सबल अङ्गोंके द्वारा ही हमें अपनी जीवनयात्रामें पग-पगपर सहायता मिलती है । उपनिषदोंके ऋषियोंने कई बार इस बातको दुहराया है कि हमारे शरीरके अङ्ग-अङ्गमें अवतरित होकर देवोंने अपना स्थान बना लिया है । अतः हमारी आयु भी इन्हीं दैवी विभूतियोंने निश्चित कर रक्खी है । इसलिये हममेंसे प्रत्येक व्यक्तिको चाहिये कि वह इन अङ्गोंको शक्तिशाली बनावे और भद्र श्रवण एवं दर्शनके द्वारा इन अङ्गोंसे काम लेता हुआ कल्याणकी ओर अग्रसर हो ।

बालको ! तुम्हें अपने अन्तः एवं बाह्य—दोनोंकी शुद्धि करनी है । अतः तुम्हें अपने अङ्गोंको, इन्द्रियोंको, वाणीको बलवान् बनाते हुए, मानसिक सहनशक्तिसे संयुक्त होते हुए, बुद्धिके तेज और ओजसे मण्डित होना चाहिये । इसीमें तुम्हारी श्री है, शोभा है और धर्म है । परम प्रभु तुम्हें शुद्ध, पूर्त और यशिय बनावें ।

वर्तमान शिक्षण-पद्धतिमें सुधारकी अत्यावश्यकता

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

मानवके जीवन-निर्माणमें शिक्षण-पद्धति एवं पाठ्य-पुस्तकोंका भी बड़े महत्त्वका स्थान है । शिक्षणका उद्देश्य सुसंस्कृत होना है । भारतीय मनीषियोंने संस्कारोंको बहुत अधिक महत्त्व दिया है । उन संस्कारोंका निर्माण बाल्यावस्था-से होना प्रारम्भ होता है और उस समयके वे संस्कार सारे जीवनको प्रभावित करते रहते हैं । जन्मसे मृत्युपर्यन्त सोलह संस्कारोंद्वारा मानवको सुसंस्कृत करनेका विधान हमारे ऋषि-प्रणीत ग्रन्थोंमें विस्तारपूर्वक पाया जाता है । संस्कार वास्तवमें मानव-जीवनकी सीढ़ियाँ हैं । प्रत्येक प्राणीमें कुछ संस्कार पूर्वजन्मके यानी जन्मजात होते हैं और बहुत-से संस्कार आस-पासके वातावरण और शिक्षाके द्वारा, ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता जाता है, विकसित एवं दृढ़ होते रहते हैं । कई कच्चे संस्कार परवर्ती वातावरण एवं शिक्षण आदिके प्रभावसे विलीन भी हो जाते हैं एवं सङ्गतिके प्रभावसे कई नये-नये संस्कार जीवनमें अपना घर बनाते रहते हैं । शिक्षाके द्वारा जीवन सुसंस्कारोंमें ढलता जाता है ।

बाल्यावस्था स्वच्छ एवं शुद्ध भूमि-सदृश है । उसमें जैसे संस्कारोंके बीज बोये जायँगे, तदनुरूप जीवनरूपी वृक्ष फल-फूलोंसे समन्वित होता चला जायगा । खेतमें भूमि-शुद्धि करके जिस वस्तुके बीज डाले जाते हैं, वे प्रस्फुटित एवं पल्लवित होकर लहरा उठते हैं । बाल्यावस्था कच्ची मिट्टीका पिंड है, जिसे जैसा चाहे आकार-प्रकार दिया जा सकता है । इसीलिये इस अवस्थाको शिक्षणके लिये बहुत उपयुक्त समझकर महत्त्व दिया गया है । परवर्ती सारे जीवनका दारोमदार इसी अवस्था एवं इसकी शिक्षण-पद्धतिपर आधारित है ।

शिक्षाका उद्देश्य बुद्धिका विकास, सुसंस्कारोंकी वृद्धि एवं कुसंस्कारोंका परिहार होना ही है । यदि शिक्षणके द्वारा यह उद्देश्य सफल नहीं होता तो अवश्य ही उस पद्धतिमें कहीं कुछ दोष घुस गये हैं और उसमें सुधारकी नितान्त आवश्यकता है, यह प्रत्येक विचारशील व्यक्तिको मानना ही पड़ेगा । वर्तमान शिक्षण-पद्धति सदाचार और चरित्र-

निर्माणकी ओर नहीं ले जा रही है, इसका हम सब प्रतिपल अनुभव कर रहे हैं। पाश्चात्त्य शिक्षण-पद्धतिसे कई लाभ होनेके साथ-साथ कितने ही अधिक दोष हमारेमें आ गये हैं—यह सर्वविदित है। अब हम स्वतन्त्र हुए हैं, अतः अपने देशके अनुकूल शिक्षण-पद्धतिमें परिवर्तन करने या सुधार करनेमें पूर्णतः समर्थ हैं; पर नहीं कर रहे हैं तो यह दोष हमारा ही है। मुझे यह देखकर बड़ा ही दुःख होता है कि अंग्रेजोंके शासनकालमें तत्कालीन शिक्षण-पद्धतिके प्रति जैसा असंतोष प्रकट किया जा रहा था, स्वतन्त्र होनेके बाद वह और भी बढ़कर तत्काल सुधार हो जाने अपेक्षित थे, पर पाँच वर्ष विगत होने आये, अभीतक इस ओर कोई सक्रिय कदम उठाया जाननेमें नहीं आया, इसीलिये मुझे अपने विचार देशके कर्णधारों, शिक्षाशास्त्रियों और देशकी भावी उन्नतिके सम्बन्धमें सोचनेवाले हर नागरिकके सम्मुख उपस्थित करने पड़ रहे हैं। यद्यपि इस सम्बन्धमें अधिकृत रूपसे कहनेका अधिकार शिक्षणशास्त्रियों और अनुभवी विद्वानोंको ही है। मेरा अनुभव इस सम्बन्धमें जैसा चाहिये, नहीं है; पर जब अनुभवी विद्वान् मौन धारण किये बैठे हैं, तब देशकी इस महत्त्वपूर्ण समस्यापर मेरे हृदयमें जो आन्दोलन चल रहा है, उसे व्यक्त कर देना मैं अपना आवश्यक कर्तव्य समझता हूँ। मेरे समस्त सुझावोंको उसी रूपमें स्वीकृत कर लिया जाय, ऐसा मेरा आग्रह नहीं है; पर मुझे जो अनुभव हो रहा है, उसमेंसे जितनी भी बातें उपादेय प्रतीत हों, तुरंत अमलमें लायी जानेका नम्र अनुरोध अवश्य करूँगा। शिक्षणके सम्बन्धमें जिनका अधिक अनुभव हो, वे अपने विचार विस्तारसे प्रकाशित करें और हर पत्रकार शिक्षा-सुधार-सम्बन्धित इस आन्दोलनमें भाग लेकर देशके इस आवश्यक प्रश्नपर तत्काल विचार हो, ऐसा वातावरण पैदा करें—यह भी मेरी सादर विज्ञप्ति है।

आजकलके विद्यार्थियोंके सम्बन्धमें आम शिकायतें सुननेको मिलती हैं कि वे अनुशासनहीन एवं उच्छृङ्खल होते चले जा रहे हैं, माता-पिता एवं गुरुजनोंका जैसे चाहिये आदर नहीं करते, उनका कहना नहीं मानते, उनमें अहंभाव इतना बढ़ गया है कि वे अपने बड़े-बूढ़ोंको मूर्ख, रूढ़ीके गुलाम, अन्धश्रद्धावाले कहते हुए नहीं हिचकिचाते। नैतिक एवं धार्मिक संस्कारोंका उनमें विशेषरूपसे ह्रास नजर आ रहा है। उनके जीवनमें विलासिता, कुव्यसन, स्वच्छन्दता और चारित्र-पतन दिनोंदिन बढ़ रहा है। वे विचारोंमें बड़े उग्रवादी बनकर सामाजिक मर्यादाओं एवं धार्मिक नियमोंका लोप एवं भङ्ग कर रहे हैं। धर्मको वे ढकोसला एवं मर्यादाओंको रूढ़ियाँ कहकर उनको सर्वथा हटा देनेके लिये तुले बैठे हैं। उनका जीवन विलासी और बहुत ही खर्चीला बनता जा रहा है। और भी ऐसी ही अनेकों खराबियाँ दिनों-दिन बढ़ रही हैं। जीवनमें श्रमकी प्रतिष्ठा कम होती चली जा रही है, उनसे देशका विशेष भला होता हुआ नजर नहीं आता। सेवाका स्थान स्वार्थने ले लिया है। देशकी समृद्धि और गौरवका ह्रास हो रहा है, जो उन्हें चुभता नजर नहीं आता। अब ऐसे शिक्षणद्वारा हम अपने हाथसे अपने ही पैरोंपर कुल्हाड़ी मार रहे हैं, ऐसा अनुभव हो रहा है; पर केवल इतने अनुभव हो जानेसे ही समस्याका हल नहीं हो जाता। हमें इन खराबियोंके आने और बढ़नेके कारणोंपर गम्भीर विचार करना होगा। साथ ही उनको निर्मूल करनेके लिये आवश्यक कदम उठाना होगा। अभीतक इस दिशामें जैसा चाहिये, कुछ भी विचार हुआ प्रतीत नहीं होता। शिक्षण-पद्धति शीघ्र ही हमारे आदर्शके अनुरूप हो और देशको हम जैसा बनाना चाहते हैं, उसमें सहायक हो, इसपर शीघ्रातिशीघ्र विचार होकर उपयोगी साधनोंका अवलम्बन अर्थात् विचारोंको कार्यान्वित करनेकी परमावश्यकता है।

अब मेरी रायमें वर्तमान शिक्षण-पद्धतिमें शीघ्रातिशीघ्र जो सुधार करना चाहिये, उसे मैं विद्वानोंके समक्ष उपस्थित कर रहा हूँ—

(१) हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धतिमें सबसे पहले हमें ऐसे सुधार करने चाहिये जिनसे बहुसंख्यक अशिक्षित जनता शीघ्र ही कामचलाऊ शिक्षा प्राप्त कर सके। अभी-तक गाँवोंमें शिक्षाका प्रचार बहुत ही कम हुआ है और भारतकी अधिकांश जनता गाँवोंमें ही निवास करती है। इसलिये शिक्षणके क्षेत्रमें जो शहरोंमें बहुत अधिक खर्च हो रहा है, उसे कम करके गाँवोंमें ग्रामीण लोगोंको जल्दी-से-जल्दी अक्षरज्ञान एवं आवश्यक जानकारी हो जाय, इसका समुचित प्रबन्ध शीघ्र ही किया जाना चाहिये। देशको आगे बढ़ानेके लिये हम जो लंबी-लंबी योजनाएँ बना रहे हैं, जहाँ-तक अधिकांश जनता उन सबसे अपरिचित रहेगी, वे योजनाएँ कैसे सफल हो सकेंगी? मान लीजिये हम कृषिमें अमुक सुधार करना चाहते हैं, पर खेती करनेवाले किसान जबतक उनसे अपरिचित रहेंगे या समझकर कार्यान्वित न कर सकेंगे, तबतक थोड़ेसे जानकारोंके बलपर (जिनको

केवल पुस्तकीय ज्ञान है, प्रयोगोंका अनुभव नहीं है) वे योजनाएँ कभी भी सफल नहीं हो सकेंगी । अतः यदि हमें देशकी जनताको तैयार करना है तो गाँवोंकी ओर विशेष रूपसे लक्ष्य देना आवश्यक है ।

(२) गाँवोंमें शिक्षण-वृद्धि करते समय हमें यह ध्यान रखना होगा कि वे शहरवाले व्यक्तियोंकी भाँति पैसेवाले नहीं हैं । अतः वे पाटी, बर्ते, कागज, पेन्सिल, होल्डर, दवात और किताबोंके लंबे खर्चको नहीं उठा सकेंगे । बहुत-से व्यक्ति तो इन खर्चोंसे घबराकर शिक्षण पानेका प्रयत्न ही नहीं करेंगे । अतः हमें कम-से-कम खर्चमें उन्हें शिक्षित किया जा सके, ऐसे उपाय सोचने होंगे । पुराने जमानेमें शिक्षण बहुत साधारण खर्चसे दिया जाता था । प्रारम्भिक अक्षर-ज्ञानके लिये उस समय बालुकापर अंगुलियोंद्वारा अक्षर और अङ्क लिखकर सिखाये जाते थे । अक्षरोंको जमानेके लिये लकड़ीकी पट्टीपर पक्के रङ्गसे वर्णमाला लिख दी जाती थी, जिसपर पैसे-दो-पैसेकी खड़िया मिट्टीसे अक्षर जमानेका काम हो जाता था । उस समय पुस्तकोंका बोझा प्रायः नहीं था, फिर भी शिक्षामें कोई कमी नहीं रहती थी । अतः प्राचीन पद्धतिसे वर्तमान समयके अनुरूप आवश्यक बातें हमें अवश्य ग्रहण करनी चाहिये । अन्यथा सरकारके पास भी इतना पैसा नहीं कि वह थोड़े ही वर्षोंमें सारी जनताको शिक्षित कर सके । प्रारम्भिक शिक्षण प्रान्तीय भाषाओंमें ही होना चाहिये । इससे वे सहज एवं शीघ्र शिक्षित किये जा सकेंगे ।

दूसरी बात हमें ध्यानमें रखनी आवश्यक है—वह यह है कि गाँवोंमें भेजे जानेवाले शिक्षक फैशनेबल—शौकीन न हों, अन्यथा वे गाँववालोंमें घुल-मिल नहीं सकेंगे और उनके सादे एवं स्वच्छ जीवनपर शिक्षककी विलासिताका कुप्रभाव पड़ेगा । वह गाँववालोंके लिये भारभूत, घातक तथा अजनबी-सा होगा ।

(३) वर्तमान शिक्षणमें बहुत लंबा समय लग जाता है और वह बहुत ही खर्चीला है । हमारे देशके लिये वह सह्य एवं अनुकूल नहीं है । आज १०–१५ वर्ष तो किताबी ज्ञानमें ही पूरे हो जाते हैं । साधारण और मध्यम स्थितिवाले व्यक्तियोंके लिये इतने लंबे समयतक फीस और पुस्तकोंका खर्च करते रहना कितना कष्टप्रद है, यह तो वह भुक्तभोगी ही जान सकता है । इतने समयतक लड़का एक भी पैसा नहीं कमाता, जिससे पिता एवं परिवारको घर-खर्चमें सहायता मिले, उल्टा वह उनके लिये भार-रूप हो उठता है । शिक्षणके पीछे पैसे देते-देते वे परेशान हो जाते हैं । शिक्षण समाप्त कर लेनेके बाद भी लड़केको व्यावहारिक अनुभव बहुत ही कम होता है । अब उसके सामने नौकरीको छोड़कर अन्य कोई चारा नहीं, काम-काज करके जीवन-निर्वाह करनेका तरीका उसे ज्ञात नहीं है । नौकरियोंके लिये आजकल जगह नहीं है । हमारे स्कूलों और कालेजोंसे प्रतिवर्ष लाखों लड़के शिक्षण समाप्त कर बाहर निकलते हैं तो उनके सामने जीवन-निर्वाहकी समस्या बड़े विकटरूपसे उपस्थित होती है । अपने घरके काम-काज या पेशे तो उन्हें तुच्छ और हीन मालूम पड़ते हैं, इसलिये घरवालोंसे उनका सम्बन्ध अच्छा नहीं रहता । वे दूसरोंकी सेवा तो क्या करें, दूसरोंको उनकी सेवा करनी पड़ती है । वे अपने पिता एवं कुटुम्बीजनोंको अशिक्षित एवं मूर्ख समझते हैं और अपनेको बहुत कुछ आगे बढ़े हुए । अतः उनकी और घरवालोंकी दुनिया अलग-अलग हो जाती है । उनके विचार एवं कार्य-प्रणालीमें परस्पर सामञ्जस्य नहीं बैठता । वास्तवमें शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जिससे कोई अपने परम्परागत पेशेके प्रति उदासीन न हो, उसे हीन न समझे और अपने बुद्धि-बलसे उस व्यवसायकी त्रुटियों और खराबियोंको दूर कर उसे अच्छे-से-अच्छे रूपमें ला सके । इससे आज जो बेकारी बढ़ रही है, वह न बढ़ेगी और प्रत्येक उद्योग अच्छे एवं अधिकाधिक रूपसे विकसित हो सकेंगे ।

वर्तमानकी बढ़ती हुई बेकारी देशके लिये बहुत घातक सिद्ध होगी । निकम्मा व्यक्ति खुराफातोंका घर होता है । जिसके पास कोई रचनात्मक कार्य-क्रम नहीं होगा, वह विध्वंसात्मक कार्योंको अपनायेगा ही । अतः शिक्षणके द्वारा बेकारी बढ़े, यह सर्वथा अक्षम्य है । वर्तमान शिक्षण-पद्धतिमें औद्योगिक शिक्षणको अधिकाधिक महत्त्व देना चाहिये । देशमें उद्योगोंकी बड़ी आवश्यकता है । अन्य देशोंके मुकाबलेमें हमारे यहाँका उत्पादन बहुत ही कम है । यद्यपि हमारे यहाँ कच्चे माल और खनिज पदार्थों आदि साधनोंकी कमी नहीं है; पर वैज्ञानिक तरीकोंसे उनके उपयोग करनेके ज्ञानका नितान्त अभाव है । बड़े-बड़े उद्योगोंके साथ घरेलू छोटे-छोटे उद्योग तो शीघ्र ही चालू किये जाने चाहिये । शिक्षणमें हमारे नित्य जीवनमें काम आनेवाली चीजोंके उत्पादनके उद्योग तो अवश्य ही सिखाये जाने चाहिये, जिससे विद्यार्थी अपनी एवं परिवारकी आवश्यक वस्तुओंका

स्वयं उत्पादन कर घर-खर्चमें कमी कर सकें। अधिक उत्पादन करनेसे आर्थिक लाभ भी उठाया जा सकता है। औद्योगिक शिक्षणसे शिक्षाका खर्च भी निकल सकता है। देशकी समृद्धि बढ़ेगी, शिक्षणान्तर बेकार न रह विद्यार्थी उद्योगोंमें लग जायँगे। केवल विचारोंकी दुनियासे ही जीवन-निर्माण नहीं होता। उसके लिये श्रम एवं अभ्यासकी आवश्यकता होती है। प्राचीन शिक्षण-पद्धतिमें श्रमके प्रति हेयबुद्धि तथा उदासीनता नहीं थी; बल्कि विद्यार्थीका जीवन श्रम-प्रधान होता था। आज श्रमके प्रति विद्यार्थियोंकी बड़ी उदासीनता नजर आती है, वे मेहनत-मजदूरीका काम कतई पसंद नहीं करते। लंबी-लंबी बातें बघारते रहते हैं और श्रमके कामोंसे जी चुराते हैं। यह स्थिति बहुत ही खतरनाक है। अपने प्रत्येक कामको स्वयं कर लेनेकी प्रवृत्ति विद्यार्थियोंमें अवश्य ही होनी चाहिये। समय हो तो दूसरोंके कामोंमें हाथ बँटाकर उन्हें सेवाकी भावना और प्रवृत्तिका परिचय देना चाहिये। वे अपनेतक ही सीमित न होकर देशमें, परिवारमें, ग्राम-नगरमें आयी हुई विपत्तियोंको दूर करनेमें सक्रिय भाग लें, ऐसे संस्कार प्रारम्भसे डाले जायँ, तभी वे आगे जाकर राष्ट्रकी सेवा करनेमें समर्थ हो सकेंगे।

(४) हमारे शिक्षणमें औद्योगिक शिक्षाको विशेष स्थान देनेके साथ-साथ उन्हें नैतिक एवं धार्मिक शिक्षण भी दिया जाना चाहिये। आज ऐसे शिक्षणके अभावसे ही देशमें अनैतिकताका बोलबाला हो रहा है। प्राचीनकालमें चाणक्यनीति आदि ग्रन्थोंको एवं गीता, भागवत आदि धार्मिक ग्रन्थोंको प्रारम्भमें ही सिखाया जाता था। अतः चाणक्यनीति आदि नैतिक एवं धार्मिक ग्रन्थोंका प्रभाव उसके सारे जीवनमें व्याप्त हो जाता था। जिससे गुरुजनोंके प्रति आदर, धार्मिक क्रियाओंमें रुचि, सदाचारकी जीवनमें प्रतिष्ठा सहज रूपमें पायी जाती थी। आज विद्यार्थियोंको जीवनभरमें काम न आनेवाले अनेक विषयोंका अध्ययन करना तो आवश्यक होता है, पर उद्योगी एवं जीवन-निर्माण करनेवाली शिक्षाओंसे उन्हें वञ्चित-सा रक्खा जाता है। हमें अनावश्यक विषयोंका बोझ हटाकर जीवनोपयोगी आवश्यक विषयोंकी शिक्षा दी जानेकी ओर ध्यान देना चाहिये।

(५) आज अनेक विषयोंकी पुस्तकोंका ढेर विद्यार्थियोंके सामने लगा रहता है, वे उनके अध्ययन करनेमें इतने व्यस्त रहते हैं कि उन्हें गृहकार्योंमें कुटुम्बियोंको सहायता पहुँचाने और अपने धार्मिक अनुष्ठानों, उत्सवों आदिमें भाग लेनेका अवकाश ही नहीं मिलता। अधिकाधिक विषयोंको एक साथ रखनेसे वे किसी भी विषयका पूरा ज्ञान नहीं पा सकते और साधारण-से छिछले ज्ञानके बलपर अपनेको बड़ा विद्वान् मानने लगते हैं। उनके सामने परीक्षा पास कर लेनेका ही लक्ष्य बना रहता है। इसलिये वे पाठ्य-पुस्तकोंको भी पूरा नहीं कर पाते। केवल परीक्षामें आनेवाले प्रश्नोंके उत्तर दिये जा सकें, इस दृष्टिसे इधर-उधरकी कुछ बातें देख या रट लेते हैं, जिससे किसी भी विषयका साङ्गोपाङ्ग और गम्भीर अध्ययन नहीं हो पाता। आज तो संस्कृतके विद्यार्थियोंमें भी यह रोग घुस गया है। इसलिये शास्त्री एवं आचार्यतककी परीक्षा पास कर लेनेवालोंकी योग्यता भी साधारण-सी होती है। पुराने शास्त्री एवं आचार्योंकी तुलनामें उनका ज्ञान बहुत छिछला होता है। शिक्षणका स्टैंडर्ड दिनों-दिन गिर रहा है, अतः शिक्षणमें अधिकाधिक विषयोंके एक साथ ज्ञान करानेका मोह छोड़कर आवश्यक विषयोंकी जानकारी गम्भीर एवं ठोस हो, ऐसी व्यवस्था की जानी आवश्यक है।

(६) जैसा कि पूर्व कहा जा चुका है, वर्तमानमें शिक्षणके पीछे बहुत लंबा समय बर्बाद हो जाता है, इस अवधिको भी कम करनेके लिये सबसे पहले, जो आजकल छुट्टियोंकी बहुत प्रचुरता हो गयी है, उनमें कमी कर देना बहुत ही आवश्यक है। थोड़े वर्षों पूर्वतक महीनेमें प्रतिपदाकी दो ही छुट्टियाँ हुआ करती थीं, उसके बाद अंग्रेजोंके शासन-प्रभावसे उनका स्थान रविवारने ले लिया, फलतः छुट्टियाँ दोके स्थानपर चार हो गयीं। अब तो शनिवारको फिर आधी छुट्टी करके दो दिन और बढ़ा दिये गये हैं। गर्मीकी छुट्टियाँ तो १॥–२ महीनेकी लंबी होती हैं। इनके अतिरिक्त विजयादशमी, दिवाली, दुर्गापूजा आदिकी छुट्टियाँ भी १०–१५ दिनोंकी लंबी दी जाती हैं। अन्य प्रासङ्गिक त्यौहारों आदिकी छुट्टियाँ मिलाकर वर्षभरमें प्रायः छः महीने तो छुट्टियोंमें बीत जाते हैं। विद्यार्थी-जीवनकी इस तरह बर्बादी करना कहाँतक उचित है, यह हरेक विचारक समझ सकता है। पता नहीं, लंबी-लंबी वेतन पानेवाले हमारे शिक्षा-मन्त्री, डाइरेक्टर, प्रिन्सिपल आदि इसपर तनिक भी विचार क्यों नहीं करते। वास्तवमें उन्हें स्वयं इससे आराम मिलता है, अतः छुट्टियाँ बढ़ानेके प्रयत्नमें ही वे लगे रहते हैं। विद्यार्थियोंका हित उनकी दृष्टिसे ओझल रहता है। मेरा

निजी अनुभव है और मेरे ख्यालसे दूसरोंका भी करीब-करीब यही अनुभव होगा कि छुट्टियोंके दिनोंका विद्यार्थी लोग बड़ा ही दुरुपयोग करते हैं। गरमीकी लंबी छुट्टियोंमें वे इधर-उधर भटकते फिरते हैं, बुरे-बुरे काम सीखते हैं, सिनेमा देखना, ताश खेलना, आलस्यमें पड़े रहना या व्यर्थकी गप्पें हाँकना—यही उनका कार्यक्रम होता है। यदि इन छः महीनेकी छुट्टियोंका सदुपयोग होता: वे अपना समय गम्भीर अध्ययनमें लगाते, देशकी उत्पादन-वृद्धि एवं सेवाके कार्यमें लगते तो मुझे कुछ कहना न होता; पर वैसा होता नहीं है अतः मुझे अपना कटु अनुभव व्यक्त करना आवश्यक हो गया है। मेरी रायमें यदि १०–१५ वर्षकी पढ़ाईमें छुट्टियोंके दिन साढ़े सात वर्ष यों ही बर्बाद कर दिये जाते हैं तो विद्यार्थियोंके जीवनके साथ बड़ा ही अन्याय हो रहा है—कहना पड़ेगा। इससे तो कुछ आवश्यक छुट्टियाँ रखकर अवशेष पाँच वर्षकी अवधि उतने अध्ययनके लिये कम कर दी जाती तो विद्यार्थियों, परिवार और देशका कितना बड़ा लाभ होता। पाँच वर्षोंमें वे अपनी योग्यता बढ़ाकर धनोपार्जन करके अपने घरवालोंकी सहायता करते, अपनी आर्थिक स्थितिको मजबूत बनाते। अतः सरकार एवं शिक्षाप्रेमी सज्जनोंसे मेरा नम्र अनुरोध है कि मानव-जीवनके इस अमूल्य समयकी बर्बादीको रोकनेके लिये शीघ्र ही सक्रिय कदम उठावें। शिक्षकों एवं विद्यार्थियोंको आराम एवं सुविधाएँ मिल चुकी हैं; इसलिये छुट्टियोंकी कमी करनेमें वे बड़ी आपत्ति उठायेंगे, लेकिन हमें इस विरोधसे डरने एवं घबरानेकी कोई जरूरत नहीं, विद्यार्थियोंका वास्तविक हित ही हमारा लक्ष्य होना चाहिये।

(७) शिक्षा बालककी योग्यता और रुचिके अनुकूल होनी आवश्यक है। कई बार मैंने यह अनुभव किया है कि कुशाग्र बुद्धिवाला बालक अपनी पाठ्य-पुस्तकोंको छः महीनेमें पढ़कर समाप्त कर देता है, पर नियमानुसार दूसरोंके साथ व्यर्थ ही उसे छः महीने उसी कक्षामें और बिताने पड़ते हैं। इससे उसकी बुद्धि कुण्ठित-सी हो जाती है। अतः मेरी रायमें षाण्मासिक परीक्षाके समय ऐसे बालकोंको आगेकी कक्षामें सम्मिलित कर लिया जाना चाहिये। इससे समय बचेगा और ऐसे बालकोंमें उत्साह बढ़ेगा। इसी प्रकार कई बार बालकोंको रुचिके प्रतिकूल विषयोंका शिक्षण मिलनेके कारण उन्हें उसमें रस नहीं मिलता, पढ़नेमें मन नहीं लगता, अतएव सफलता नहीं मिल सकती। अतः शिक्षणके विषयमें बालककी योग्यता और रुचिका ध्यान रक्खा जाना आवश्यक हो जाता है।

(८) शिक्षण-पद्धतिके साथ-साथ पाठ्यक्रमके सुधारका भी गहरा सम्बन्ध है। इस सम्बन्धमें सबसे पहले तो यह विचारणीय है कि पाठ्यक्रममें किस कक्षामें कौन-कौन-से विषय रक्खे जायँ? क्योंकि आजकल विषय छोटी-छोटी कक्षाओंमें बहुत-से रख दिये जाते हैं। उनमेंसे कई विषय तो बहुत कुछ निरुपयोगी-से होते हैं। अतः मेरी रायमें जिन विषयोंकी शिक्षा सबके लिये समान रूपसे आवश्यक हो, ऐसे थोड़े विषय तो सब क्लासोंमें रक्खे जायँ, अन्य विषयोंका शिक्षण ऐच्छिक रक्खा जाय। अधिक विद्यार्थी होनेपर उस विषयकी शिक्षा अलग कक्षा खोलकर स्वतन्त्र दी जा सकती है, जिससे सब विद्यार्थियोंपर अधिक अनावश्यक रुचिके प्रतिकूल विषयोंका व्यर्थ बोझ न पड़े। शिक्षणद्वारा हमें अब क्लर्क ही तैयार करते नहीं रहना है।

(९) पाठ्यक्रममें अनेक बार मैंने यह देखा है कि बहुत-से अनावश्यक और भद्दे पाठ रहते हैं। जिनसे विद्यार्थियोंके जीवनपर बड़ा ही बुरा प्रभाव पड़ता है, जैसे कई पाठोंमें मछली, अण्डे, मांसकी महिमा और उनको खानेके तरीके तथा लाभ बतलाये जाते हैं। इससे अहिंसा-प्रधान भारतमें अखाद्य वस्तुओंका प्रचार दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। कई पुस्तकोंमें ऐसे अश्लील पाठ होते हैं, जिनको भला अध्यापक लड़के तथा लड़कियोंके सामने पढ़ा नहीं सकता। ऐसे सब पाठ शीघ्र ही निकाल दिये जाने चाहिये, जिनका जीवनमें बुरा असर हो। उनके स्थानपर सदाचारको प्रोत्साहित करनेवाले, नैतिक एवं धार्मिक दृष्टान्त एवं दैनन्दिन जीवनमें उपयोगी होनेवाले, रोगोंके इलाज, सेवा एवं परोपकारकी भावनाकी वृद्धि करनेवाले पाठ दिये जाने चाहिये। ऐसे ही और भी ज्ञानवर्द्धक उद्योगधंधोंकी जानकारीसे सम्बन्धित पाठ दे सकते हैं।

(१०) हमारी पाठ्य-क्रमकी पुस्तकोंका चुनाव आजकल ठीक नहीं हो पाता। उनके चुनावमें सिफारिशों एवं घूस-खोरीका बोलबाला है। ग्रन्थप्रकाशक लोग बुरे हथकंडोंका आश्रय लेकर बहुत गंदी एवं रद्दी पुस्तकें पाठ्यक्रममें रखवा देते हैं, जिससे बालकोंका भविष्य अन्धकारमय हो जाता है। मैंने अनेकों बार देखा है कि पक्षपात एवं स्वार्थके कारण नये एवं अच्छे पाठ्यक्रम रखनेके बहाने, पूर्वप्रचलित अच्छी पुस्तकोंको हटाकर उनके स्थानपर उनसे हीन कोटिकी

पुस्तकें रख दी जाती हैं। राष्ट्रके भावी कर्णधार बालकोंके जीवनके साथ ऐसा खिलवाड़ बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। पाठ्यक्रमको नियुक्त करनेवाले सदस्यगण निष्पक्ष योग्य एवं ईमानदार होने चाहिये। पाठ्यक्रमकी पुस्तकें जल्दी-जल्दी बदलते रहना भी हानिकारक है। इससे बालकोंको नित्य नयी पुस्तकें खरीदनेमें बहुत द्रव्य-व्यय एवं असुविधाएँ भोगनी पड़ती हैं। अन्यथा एक कक्षासे उत्तीर्ण हो जानेवाले विद्यार्थीकी पुस्तकोंको उस कक्षामें आनेवाले नये अन्य विद्यार्थीको आधे मूल्यमें या पारिवारिक सम्बन्ध हो तो बिना खर्च किये ही प्राप्त हो सकती हैं। इसलिये पाठ्यक्रमकी पुस्तकोंका चुनाव करते समय बहुत सतर्कतासे काम लेना चाहिये। उनका मूल्य भी उचित रक्खे जानेकी ओर कमेटीके सदस्योंका ध्यान सब समय रहना आवश्यक है। पृष्ठसंख्या आदिको देखकर जितना कम-से-कम मूल्य रक्खा जा सके, कमेटी ही तय करे। विद्यार्थियोंका हित ही प्रधान लक्ष्य होना चाहिये। इने-गिने प्रकाशकों एवं लेखकोंका स्वार्थ सिद्ध हो एवं लाखों विद्यार्थियोंको आर्थिक नुकसान हो, यह सर्वथा अनुचित है।

शिक्षण-पद्धतिका प्राचीन आदर्श एवं तरीका हमारे सामने है ही। नूतन शिक्षण-प्रणालियाँ भी हमसे अविदित नहीं हैं। विदेशोंकी शिक्षण-प्रणालियोंका परिपूर्ण अनुभव प्राप्त करनेके लिये सरकारकी ओरसे प्रयत्न किया जा सकता है; फिर इन समस्त शिक्षण-पद्धतियोंमेंसे जो-जो बातें जहाँ अच्छी हों, उन्हें अपनाकर भारतके अनुकूल शिक्षण-प्रणालीका निर्धारित करना शीघ्र आवश्यक है। स्वतन्त्रता मिले पाँच वर्ष हो गये, पर राष्ट्रकी शिक्षण-पद्धतिके महत्त्वपूर्ण प्रश्नपर अभीतक गम्भीर विचार नहीं किया गया। अबतक अधिकारी शिक्षण-शास्त्रियोंद्वारा अपने अनुभव प्रकाशित किये जाने चाहिये थे, संसारभरकी प्राचीन और अर्वाचीन समस्त शिक्षण-पद्धतियोंकी विशेषताओं एवं कमियोंपर आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होने चाहिये थे, पर हुआ कुछ नहीं। अतः सभी विचारकोंके अपने अनुभव एवं विचार निरन्तर पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित होते रहना आवश्यक है। बालशिक्षण-के लिये मान्टसेरी आदि पद्धति उपयोगी प्रतीत होती है, केवल उनमें खर्चकी कमीका ध्यान रक्खा जाना आवश्यक है। राष्ट्रके प्राण महात्मा गाँधी एवं श्रीविनोबा भावे आदिने 'सर्वोदय शिक्षण-पद्धति' पर जो अपने विचार व्यक्त किये हैं, उनपर भी विचार करना आवश्यक है। महामना विनोबाजीने तो शिक्षण-पद्धतिके-सुधारके सम्बन्धमें यहाँतक जोर दिया था कि कुशिक्षणके बदलेमें तो अशिक्षण ही भला है। उन्होंने कहा था कि जीवनको ऊँचा उठानेवाली शिक्षण-पद्धतिको तय करनेमें यदि हमें कुछ समय लगता है तो हर्ज नहीं, उतने समयतक दूषित शिक्षणको चालू रखनेकी अपेक्षा शिक्षण-संस्थाएँ कुछ समयतक बंद रखना भी बुरा न होगा। समस्त शिक्षण-शास्त्री और देशके विचारक मिलकर गम्भीरतासे इस समस्यापर विचार करें एवं अपना अहं और पक्षपात छोड़कर, जो देशके लिये अनुकूल हो, विद्यार्थियोंके लिये लाभदायक हो, उनके जीवनमें ज्ञानके साथ-साथ सदाचार प्रतिष्ठित करनेवाली हो, ऐसी शिक्षा-पद्धतिका निश्चय कर उसे कार्यान्वित करना चाहिये।

प्रार्थना

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥

मैं आपसे बार-बार यही वरदान माँगता हूँ कि मुझे आपके चरणकमलोंकी अचल भक्ति और आपके भक्तोंका सत्सङ्ग सदा प्राप्त हो। हे लक्ष्मीपते! हर्षित होकर मुझे यही दीजिये।

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम॥

आप परमानन्दस्वरूप, कृपाके धाम और मनकी कामनाओंको परिपूर्ण करनेवाले हैं। हे श्रीरामजी! हमको अपनी अविचल प्रेमा-भक्ति दीजिये।

हमारे बालक और आजकी शिक्षा

(लेखक—श्रीव्यथितहृदय)

मानव-जीवनके लिये शिक्षाकी मुख्यरूपसे आवश्यकता होती है। जिस प्रकार मानव-जीवनके भीतर भोजन और वस्त्रके लिये आकुलता तथा उत्कण्ठा रहती है, उसी तरह उसके भीतर शिक्षाके लिये भी अतृप्त पिपासा छिपी रहती है। मानव-जीवनका अबतकका इतिहास यही बताता है। उस दिन भी मानव-जीवन शिक्षाके लिये व्याकुल था, जब उसने विकासके मार्गपर अपना प्रथम चरण रक्खा था और उस दिन भी उसके हृदयमें शिक्षाके लिये प्यास थी, जब उसने अपनी आध्यात्मिक शक्तियोंके द्वारा भौतिक पदार्थोंपर पूर्णरूपसे विजय प्राप्त कर ली थी। आज भी जब वह विज्ञानके द्वारा भौतिकताको पराजित करनेके लिये अग्रसर हो रहा है, शिक्षाके लिये समाकुल है।

आखिर क्यों, क्यों मानव-जीवनके भीतर शिक्षाके लिये अतृप्त प्यास रहती है? अवश्य मानव-शरीरके भीतर कोई रहस्यवेत्ता निवास करता है, जो 'शिक्षा'के रहस्यको जानता है। वह रहस्यवेत्ता कौन है, इस प्रश्नका उत्तर देना यहाँ इष्ट नहीं, यहाँ तो शिक्षाके रहस्यका उद्घाटन करना ही ध्येय है। शिक्षासे ज्ञानकी प्राप्ति होती है, मानव-जीवन ज्ञान चाहता है। अपनी पूर्णताके लिये, अपने विकासके लिये ही वह शिक्षाकी शरण लेता है। वह जानना चाहता है कि वह क्या है, उसका उद्देश्य क्या है, उसका सम्पूर्ण विश्वसे क्या सम्बन्ध है तथा वह किस प्रकार पूर्णताकी मंजिलपर पहुँच सकता है?

'पूर्णता' ही मानव-जीवनका परम ध्येय है। वह अपने जन्मसे लेकर मृत्युतक पूर्णताके लिये ही अथक प्रयत्नशील रहता है। इतना ही नहीं, वह उसके निमित्त दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवाँ जन्म भी धारण करता है। जबतक वह विभिन्न क्षेत्रोंसे होता हुआ उसतक नहीं पहुँच जाता, तबतक उसके प्रयत्नोंकी डोर नहीं कटती। शिक्षा उसके प्रयत्नोंको सुदृढ़ और उसके मार्गको सरल बनाती है। वह उसके भीतर एक नेत्रका—एक प्रकाशका-सा काम करती है। वह अन्धकारमें भी, कँटीली झाड़ियोंमें भी शिक्षाके द्वारा अपने लिये मार्ग खोज लेता है। अतः उसके लिये वही शिक्षा उपयोगी है, जो उसे पूर्णताकी ओर ले जाय, जो उसे यह बताये कि वह क्या है, उसका उद्देश्य क्या है, उसका विश्वसे क्या सम्बन्ध है? जो सचमुच उसके भीतर नेत्र और प्रकाशका काम करे।

अब देखना यह है कि क्या हमारी आजकी शिक्षा इस प्रकारकी है? आजके मानव-जीवनपर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तब हम उसके भीतर अशान्ति, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या और लंपटताके अतिरिक्त कुछ नहीं पाते। चाहे विश्वका कोई भी देश क्यों न हो, आज वह अशान्तिके ही पङ्कमें सना हुआ दृष्टिगोचर हो रहा है। विश्वके कोने-कोनेसे आज मानव-जीवनका चीत्कार—उसकी सिसकियाँ सुनायी दे रही हैं! आखिर क्यों? आज जब मानव-जीवन सभ्यताकी राहपर तीव्रतासे दौड़ रहा है, आज जब शिक्षाके लिये विश्वके प्रत्येक देशमें बड़े-बड़े विश्वविद्यालय स्थापित हैं और आज जब विश्वकी सरकारें अपने-अपने देशमें शिक्षापर पर्याप्त धन खर्च कर रही हैं, तब आजके मनुष्योंमें इतनी आकुलता क्यों, इतनी अशान्ति क्यों और इतनी पारस्परिक पृथक्ता क्यों? अवश्य आजकी शिक्षामें दोष है, अवश्य आजके मानवको ऐसी शिक्षा नहीं दी जा रही है, जिससे वह अपने-आपको समझ सकता हो! अपने-आपको न समझनेके कारण ही वह आज अन्धकारमें भटक रहा है, रो रहा है, बिलबिला रहा है और परस्पर एक-दूसरेकी टक्करें हो रही हैं!

जाने दीजिये विश्वको, अपने ही देशकी शिक्षा-व्यवस्थापर विचार कीजिये। हमारे देशके बालकोंको आज जिस प्रकारसे शिक्षा दी जा रही है, उसके जीते-जागते दृष्टान्त हम सबके सामने हैं। सिनेमाघरोंमें जाइये, आज आपको छात्रोंकी ही अधिक संख्या दिखायी पड़ेगी। सड़कोंपर ध्यानसे सुनिये, अधिकांश छात्र ही सिनेमाके गानोंका 'स्तव' करते हुए दिखायी पड़ेंगे। अनुशासनहीनताके क्षेत्रमें—हुरदंगईके मैदानमें आज छात्र ही सबसे अग्रसर हैं। इतना ही नहीं, अपने अध्यापकों—अपने गुरुओंपर आक्रमण करनेमें भी हमारे भारतीय छात्रको आज सबसे अधिक अंक प्राप्त हो रहे हैं। यही है हमारी आजकी शिक्षाका परिणाम! हम आज अपनी जिस शिक्षापर गर्व कर रहे हैं, वह आज ऐसे ही छात्र उत्पन्न कर रही है, जिनका संकेतमात्र ऊपर किया गया है। यदि दस वर्षतक शिक्षाकी यही व्यवस्था हमारे देशमें जारी रही, तो भले ही देश यूरोप और अमेरिका बन जाय, पर उसके

भीतरसे मानवता निकल जायगी और वह एक उस दानव-की भाँति बन जायगा, जो दोनों हाथोंसे पीड़ितोंका गला दबाकर उसका रक्त शोषण करनेमें ही अपने पुरुषार्थकी सार्थकता समझता है ।

हमारी आजकी शिक्षा अधूरी है—निःसार है । हमारी आजकी शिक्षा भले ही छल-छिद्रोंसे युक्त नागरिक उत्पन्न कर सकती है, पर वह उस मानवकी सृष्टि करनेमें पूर्णरूपसे असमर्थ है, जो अपनेको पहचानकर विश्वके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर सकता है । इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि हमारी आजकी शिक्षामें धर्मके लिये कोई स्थान नहीं है । चाहे जिस शिक्षणालयमें जाइये, आपको धार्मिक शिक्षा-का पूर्णरूपसे अभाव ही दृष्टिगोचर होगा । एक छोटे-से बालक-को भूगोल, इतिहास और नागरिक-शास्त्र तो पढ़ाया जायगा, पर उसे यह न बताया जायगा कि ईश्वर क्या है, दया क्या है, सत्य क्या है, अहिंसा क्या है, शिष्टाचार क्या है और सदाचार क्या है ? सोलह-सोलह वर्षकी अवस्थाके किशोर-बालकको इंगलैंडके इतिहासके पन्ने तो रटा दिये जायँगे, पर उसे यह बताया ही नहीं जायगा कि उसका धर्म क्या है और मानव-जीवन तथा धर्मका आपसमें क्या सम्बन्ध है ?

हमारी आजकी शिक्षामें धर्म और ईश्वरके लिये कोई स्थान नहीं है । धर्म और ईश्वरके लिये स्थान न होनेके कारण बालकों-के मनमें दया, अहिंसा, बन्धुभावना, प्रेम, परोपकार और चरित्र आदि सद्वृत्तियोंकी ओर भी ध्यान नहीं दिया जाता । छोटी-छोटी पाठशालाओंसे लेकर बड़े-बड़े विश्वविद्यालयोंतक—कहीं भी बालकोंको ऐसी शिक्षा नहीं दी जाती, जिससे उनकी मनोवृत्तियों-का झुकाव चरित्र, संयम, नैतिकता, संस्कृति और धर्मकी ओर हो सके । परिणामतः आजके बालकोंमें उच्छृङ्खलता और अनैतिकता बढ़ती जा रही हैं । यह बढ़ती हुई उच्छृङ्खलता और अनैतिकता उन्हें खींचकर कहाँ ले जायगी, भगवान् ही जानें !

हमारी आजकी बाल-शिक्षा कितनी अधूरी, कितनी अपर्याप्त और कितनी अनुपयुक्त है, उसका एक चित्र हम आपके सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं । हमने जबसे होश सँभाला है, शिक्षा-जगत्‌से ही हमारा सम्बन्ध है । अबतक अनेक छात्रों और छात्राओंसे बातचीत करनेका हमें अवसर प्राप्त हुआ है । मैं जब कभी छात्रोंकी ज्ञान-परीक्षा करता हूँ, तब उनसे धार्मिक प्रश्न ही किया करता हूँ । इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि मैं उन प्रश्नोंके द्वारा यह जानना चाहता हूँ कि आजकी शिक्षा उन्हें किस ओर ले जा रही है ? धर्मकी ओर या अधर्मकी ओर । सुनिये मेरे प्रश्न और छात्र-छात्राओंके उत्तर—

प्रश्न—बाइबिल और कुरानकी भाँति हिंदुओंके धार्मिक ग्रन्थ बताओ ?

उत्तर—रामायण, महाभारत, गीता ।

प्रश्न—पाण्डवोंके नाम बताओ ?

उत्तर—श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण, भीम ।

प्रश्न—सीता कौन थीं ?

उत्तर—श्रीरामचन्द्रजीकी मा थीं ।

प्रश्न—हमारे देशमें कितनी ऋतुएँ होती हैं ?

उत्तर—जाड़ा, गर्मी और बरसात ।

प्रश्न—चित्रकूट कहाँ है ?

उत्तर—पंजाबमें, बिहारमें, मद्रासमें ।

इसी प्रकारके अनेक प्रश्न और विद्यार्थियोंके उत्तर हमारे पास हैं । कोई भी विचारशील मनुष्य विद्यार्थियोंके इन उत्तरोंको सुनकर अपना मस्तक पकड़ सकता है । सम्पूर्ण देशमें विद्यार्थियोंकी आज यही अवस्था है । इसमें विद्यार्थियोंका दोष नहीं, दोष उस शिक्षा-प्रणालीका है, जो आज धर्म और संस्कृतिसे एक प्रकारसे विद्रोह करनेपर तुली हुई है । यदि शीघ्र ही शिक्षा-प्रणालीमें धर्म और संस्कृतिको स्थान नहीं दिया गया तो यह निश्चय है कि हमारे देशके भीतरसे मानवता उठ जायगी और उसके सिंहासनपर अनैतिकता, भ्रष्टता और स्वेच्छाचारिता आसन जमाकर बैठ जायगी । अच्छा होता, यदि शिक्षाके कर्णधार अपनी इस भूलको शीघ्र ही समझ जाते ।

अभिमान छोड़कर भगवान्‌को भजो

मोहमूल बहु सूल प्रद त्यागहु तम अभिमान । भजहु राम रघुनायक कृपा सिंधु भगवान ॥

मोह ही जिसका मूल है ऐसे (अज्ञानजनित), बहुत पीड़ा देनेवाले, तमरूप अभिमानका त्याग कर दो और रघुकुलके स्वामी, कृपाके समुद्र भगवान् श्रीरामचन्द्रजीका भजन करो ।

भावी नागरिकोंकी प्रारम्भिक शिक्षा

(लेखक—पं० श्रीललीप्रसादजी पाण्डेय)

जो आज बालक हैं, वे कल भारतके स्वाधीन नागरिक होकर देशका मुख उज्ज्वल करेंगे । इस बातको प्रायः सभी लोग जानते हैं; परंतु उन नागरिकोंके निर्माणके लिये जिस प्रयत्न और लगनकी आवश्यकता है, उस ओर कितने लोगोंका ध्यान रहता है ? भवन-निर्माणमें स्थानका चुनाव और नक्शा मुख्य होता है । यदि अच्छा उपयुक्त स्थान न मिले तो काफी रकम खर्च करके अच्छी-से-अच्छी बनायी गयी इमारत-का महत्त्व कम हो जाता है । जिस इमारतकी नींव कमजोर होती है, वह किसी भी समय भरभराकर भूमिसात् हो सकती है ।

बाल्यावस्था जीवन-सौधकी आधार-शिला है । इसलिये गर्भावस्थासे ही हमें अपने कर्तव्यकी ओर सावधान रहना परमावश्यक है । गर्भिणीके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये जिससे उसकी मनोदशा उन्नत और पवित्र रहे । इसका प्रभाव गर्भस्थ अर्भकपर सबसे अधिक पड़ेगा । अभिमन्युने माताके गर्भमें ही चक्रव्यूहमें प्रवेश करनेकी विधि सुन रक्खी थी और भक्तप्रवर प्रह्लादने भी माताके गर्भमें ही नारदजीके उपदेशोंको हृदयङ्गम किया था । इसलिये गर्भिणीके प्रति हमारा व्यवहार बहुत ही संयमित हो । यदि हमारे दुर्व्यवहार-से वह क्रुद्ध होगी, कुड़मुड़ायेगी या उसके विचारोंमें किसी प्रकारका कलुष आ जायगा तो उसके गर्भस्थ अर्भकपर इन सबका सोलहों आने प्रभाव पड़ेगा । उस बालकके हृदयपरसे उस कालुष्यकी छाया हजार प्रयत्न करनेपर भी फिर नहीं हट सकती । जो माता-पिता क्रोधी हैं या अन्य दोषोंसे दूषित हैं, उनकी संतान निर्दोष कैसे हो सकती है ? यदि अपने अभ्युदयकी चिन्ता न हो तो कम-से-कम हमें अपनी संतानकी कल्याण-कामनासे ही दोषों और विकारोंसे बचनेका प्रयत्न करना चाहिये ।

संतानका जन्म होनेके पश्चात् जो जातकर्म आदि संस्कार हिंदुओंके यहाँ किये जाते हैं, उनका उद्देश्य शिशुके भविष्य-जीवनको सुधारना ही तो है । इससे माता-पिताको शिक्षा लेनी चाहिये । वे ऐसा बर्ताव न करें, जिससे शिशु खीझे, चिड़चिड़ा हो जाय, क्रोध करे, मचले और रोनेका अभ्यस्त हो जाय । ऐसे थोड़े ही शिशु पाये जाते हैं जो बहुत कम रोते-चिल्लाते हैं, मल-मूत्रकी हाजतकी सूचना देते हैं, समयपर सोते और जागते हैं तथा जिनको गोदमें लेनेके लिये प्रत्येक व्यक्ति उत्कण्ठित रहता है । बच्चेमें अच्छी आदतें डालनेकी एक कला है, जिसे हर माता-पिता नहीं जानता । जो जानता है वह उस ओर ध्यान नहीं देता । शिशु-संगोपन पूरी तपश्चर्या है । जिसको इस तपस्याकी सिद्धि मिल जाती है, वह स्वयं सुखी रहता है । उसके घरमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सदेह क्रीड़ा करते हैं और उसकी संतान देशका और अपना कल्याण करनेमें सक्षम होती है ।

हमारा जीवन क्या है—जंजाल है । बच्चेका जन्म हमारे लिये एक संकट है । ऐसी मनोदशा रखकर हम माता-पिताके दायित्वको भलीभाँति अनुभव नहीं करते । तपस्याके कष्टको झेलनेकी हममें क्षमता ही नहीं । यदि हम मालदार व्यापारी या कर्मचारी हैं तो हमारे बच्चोंका दायित्व नौकरोंपर है । नौकर भला, इतना उच्च आशय कहाँसे लायेगा ? अवश्य ही कुछ भृत्य उच्च मनोदशाके मिल जाते हैं, पर वे सबको सुलभ नहीं हैं । हम चाहते हैं कि बच्चेके कारण हमारे कार्यक्रममें तिलभर भी अन्तर न पड़े, समयपर हमारे सब काम होते रहें, समयपर भोजन मिल जाय, समयपर हम दफ्तर या दूकानपर चले जायँ, सिनेमा देख आयें और सो जायँ । यह तो एक असम्भव कार्य है । संतान सबके नहीं होती, इस महत्त्वको हम समझें और ध्यान दें कि हमारा निर्माण हमारे जनक-जननीकी तपस्याका फल है, हमें अपनी संतानके प्रति उसी परम्पराका पालन करना चाहिये । यही तो पितृ-ऋणसे उऋण होनेका मार्ग है ।

जब बालक शिक्षा पाने योग्य हो जाय तो उसे घरपर पढ़ाने-लिखानेके लिये हमें समय निकालना चाहिये । हम अपनी संतानको जितनी सहानुभूतिसे और मन लगाकर लिखायें-पढ़ायेंगे, वह बात रुपयेके लोभसे पढ़ानेको आनेवाले सज्जन नहीं कर सकते । अपवादकी बात दूसरी है । जिस शिक्षाको देनेकी योग्यता हममें न हो उसके लिये तो शिक्षक रखना अनिवार्य है; परंतु अवेक्षण हमें करना ही चाहिये । इससे बालकको बल मिलता है । वह निर्द्वन्द्व नहीं हो जाता ।

बहुत-से बालक स्कूलमें जानेसे पहले बहुत ही सीधे और भोले-भाले होते हैं; परंतु स्कूलमें भर्ती हो जानेपर

साथियोंकी कृपासे उनमें अनेक दुर्गुण पनपने लगते हैं। स्कूलमें विद्याके साथ-साथ उनमें बुरी आदतें घर करने लगती हैं। इससे रक्षा माता-पिता उनपर दृष्टि रखकर और उनसे सहानुभूतिका बर्ताव करते हुए कर सकते हैं। जो माता-पिता यह सोचते हैं कि हमने तो बच्चेको स्कूलमें भर्ती करा दिया, समयपर फीस देते जाते, पुस्तकें ले देते, कपड़े बनवा देते और दूसरा बोझ सम्हालते हैं, अब वह जाने और उसका काम जाने, वे अपने कर्तव्यसे बचते हैं। यह सब जो उन्होंने किया सो तो ठीक किया, पर इससे भी बड़ा जो उनका कर्तव्य है, उसकी उनको अधिक-से-अधिक चिन्ता करनी चाहिये। वे देखें कि लड़केकी उन्नति ठीक-ठीक हो रही है या नहीं, उसका स्वास्थ्य कैसा है, वह किसी कुसङ्गतिमें तो नहीं पड़ गया, वह निषिद्ध पुस्तकें पढ़नेका शौकीन तो नहीं हो गया।

बच्चेपर माता-पिताके आचरणका अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। अनेक पुस्तकें पढ़ने और उपदेश सुननेपर भी वह प्रभाव बालकके मनपर नहीं पड़ता जो माता-पिताके प्रत्यक्ष आचरणका पड़ता है। यदि कोई आपसे मिलने आया है और आपने अपने बालकसे अथवा सेवकसे कहला दिया, 'कह दो, बाबू घरमें नहीं हैं' तो आपका बालक मिथ्या भाषणको अनाचार नहीं मानेगा। झूठ बोलना उसके लिये साधारण काम हो जायगा। एक छात्रने विश्वविद्यालयसे उच्च श्रेणीमें एम्० ए० पास किया, संस्कृतमें भी उसकी अच्छी गति है; पर मिथ्याचार उसके लिये खेल है। उसके इस दुर्गुणने उसकी लुटिया डुबो दी। यदि वह मिथ्याचारी न होता तो आज उसका व्यक्तित्व बहुत ही उच्च होता। एक महाशयको शिक्षा नाममात्रकी मिली है, पर वे कविता करते, कहानियाँ लिखते और अपनेको उच्चकोटिका कलाकार प्रमाणित करनेके लिये स्वयं अपना प्रचार विविध रूपोंसे करते हैं। अपनी धौंस जमानेके लिये कई बार चाय पीते और सिगरेटके धूएँमें आत्म-विज्ञापन किया करते हैं। इसका फल उनके पुत्रके ऊपर पड़े तो कोई बड़ी बात नहीं। वह विश्वविद्यालयका स्नातक हो जानेपर, पिताके हथकंडोंसे ऊबकर यदि उनकी आज्ञाकी अवहेलना करने लगे तो दोष किसका? ऐसे पिता आत्मनिरीक्षण करनेके बदले संतानसे खीझें और उसकी भर्त्सना करके तृप्त होना चाहें तो यह विपरीत क्रिया है। स्वयं संतुष्ट रहकर संतानको उन्नत देखनेके लिये पिताको छक्के-पंजे छोड़कर संयमसे रहना पड़ेगा—तपस्या करनी पड़ेगी।

संतानको साक्षर बनाइये मनुष्य बननेके लिये। शिक्षाका उद्देश्य नौकरी न हो। संतानको इसलिये शिक्षा दीजिये कि उसका मस्तिष्क विकसित हो—उसे भले और बुरेकी परख हो जाय। वह कर्तव्य और अकर्तव्यको समझने लगे। यही तो शिक्षाका फल है। सन् १९४७ तक हमारे ऊपर अंग्रेजोंकी प्रभुता थी। उन्होंने ऐसी शिक्षा-विधि चलायी जिससे उनका काम-काज करनेके लिये उनकी आज्ञा मानने-वाले सेवक तैयार हों। वह तो कुशिक्षा थी। उसने हमारे मस्तिष्ककी मशीन ही उलटी कर दी। हमने वह चश्मा लगा लिया जिससे भला तो बुरा और बुरा ही भला दीखने लगा। यह ठीक है कि वही शिक्षा रानडे, तिलक, गोखले, मालवीय, गांधी और सुभाषको मिली थी; परंतु उस शिक्षाके विषको हजम करना क्या सबका काम था। हमारी दूषित शिक्षा-प्रणालीमें सुधारकी अत्यन्त आवश्यकता है और यह काम कोई अधिनायक ही कर सकेगा जो ईश्वरी-विभूतिसे सम्पन्न होगा। परंतु तबतक हमें हाथपर हाथ रक्खे नहीं बैठ रहना है। स्कूली शिक्षाके साथ हमें अपनी संतानमें ज्ञानकी ज्योति जगानी है।

जिनके केश परिपक्व हो चुके हैं, शरीर शीर्ण हो रहा है और शक्तियाँ क्षीण हो रही हैं, उन्हींके तन्त्रसे अबतक देशका कामकाज होता आया है। यह ठीक है कि किसी समय वे बालक थे, फिर युवा हुए और देशनायकोंके नेतृत्वमें उन्होंने राष्ट्रकी सेवा की है, पर बाल्यकालमें वे उन कठिनाइयोंसे पूर्णतया नहीं बच सके जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है। इस दौर्बल्यने ही आज हमारे राष्ट्रमें विविध अनाचारोंके लिये गुंजाइश रहने दी है। आज हमपर यह दायित्व है कि देशके भावी नेताओंको ऐसी शिक्षा दें, उनके आगे ऐसा सजीव आदर्श रक्खें कि वे चरित्रगत दुर्बलतासे बचकर राष्ट्रके लिये जीवन अर्पण कर देनेकी स्फूर्तिसे ओजस्वी-से बनें। ऐसा होनेपर ही हमारा राष्ट्र सबल बना रहकर संसारमें स्थायी शान्ति लानेके प्रयत्नोंमें पूर्णतया योग दे सकेगा। कार्य कठिन है। इसको करनेका हमें ठीक अभ्यास नहीं है; परंतु उद्योगके आगे नैष्कर्म्य नहीं ठहर सकता।

इस समय हमें एक काम और करना है। वह है बालकों-का देशव्यापी संगठन। यह संगठन ऐसा हो जिसमें सभी बालक एक-दूसरेसे हिलें-मिलें और अच्छी बातें सीखें।

उनमें कोई दुर्गुण हों तो उनसे बचें। शरीरको स्वस्थ बनावें। जनताकी सेवा करनेकी रीति सीखें और इस प्रकार अपना भविष्य निर्माण करनेके लिये स्वयं सचेष्ट रहें। बड़ी उम्रवालोंसे इस संगठनको प्रोत्साहन मिलता रहे और ऐसी सलाह, जिससे संगठित बालक भूल-चूकसे गलत कदम न उठावें।

यहाँपर जो कुछ बालकोंके लिये कहा गया है वही सब बालिकाओंके लिये भी है। राष्ट्रमें जितना महत्त्व बालकोंका है उससे रत्तीभर भी कम बालिकाओंका नहीं है। अतः बालिकाओंको भी शिक्षा, दीक्षा और संगठन आदिकी पूरी आवश्यकता है। इसमें थोड़ा-सा परिवर्तन अवश्य अपेक्षित है। इस ओर देश-सेविकाएँ ध्यान देंगी। एक ओर सभ्य और सुरुचि-सम्पन्न बालक होंगे और दूसरी ओर इन्हीं गुणोंसे सम्पन्न बालिकाएँ होंगी। तभी हमारा राष्ट्र सुसंस्कृत होगा, धर्मका अभ्युदय और मनुष्यकी उदात्त वृत्तियाँ भी विकसित होंगी।

बालकोंकी शिक्षा कैसी हो ?

(लेखक—श्री एन्० चन्द्रशेखर अय्यर, जज सुप्रीम कोर्ट)

जिस प्रणालीसे हमारे बालक बढ़ रहे हैं, उसमें कोई मूलतः दोष अवश्य है। मेरी दृष्टिसे प्रारम्भिक पाठशालाओं-तकमें भी समयका उचित अंश अपनी संस्कृति एवं अन्तरात्माके अनुकूल नैतिक मान्यताओं या सूक्तियों तथा सदाचरणके उज्ज्वल आदर्शोंके प्रसारमें लगाना चाहिये। जीवनके महान् सत्य एवं अपने धर्मको निदर्शित करनेवाली छोटी-छोटी कथाएँ पढ़ायी जानी चाहिये और इस कार्यके लिये हमारे इतिहास-पुराणोंसे अधिक समृद्ध राशि कहीं अन्यत्र नहीं मिल सकेगी, जिनमें कि रोचक और हृदयग्राही ढंगसे कही गयी उपदेशात्मक कथाएँ प्रचुर मात्रामें मिलती हैं। विदेशी मालकी ओर बच्चोंका ध्यान ले जानेके बजाय, उनको प्राचीन एवं अर्वाचीन महापुरुषों एवं देवियोंके प्रति आदर एवं सम्मानकी शिक्षा अनवरत देनी चाहिये। यह शिक्षा तो उन्हें घरपर भी दी जानी चाहिये और दशकों पूर्व यह बात थी भी, जब कि हमारी माताएँ, नानियाँ, दादियाँ और बड़ी बहनें हमारे श्रेष्ठ पूर्वपुरुषोंकी वीरगाथाएँ गाकर या यों ही सुनानेको अपना कर्तव्य मानती थीं। दुर्भाग्यवश, अब अधिकांश मा-बहनें पश्चिमी पद्धतिके रहन सहनके वशीभूत हो गयी हैं, जिसका परिणाम यह हुआ है कि बच्चोंकी शिक्षाका भार ऐसी आयाओं और शिक्षकोंपर आ पड़ा है, जो हिंदू-संस्कृतिके सच्चे स्वरूपसे एकदम अनभिज्ञ हैं।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि हमारे किशोर-किशोरियों-को यह शिक्षा देनी है कि 'तुम्हारा धर्म महान् है और वह तुम्हारे जीवनका मूल आधार है। तुम धर्मको इसी दृष्टिसे देखो।' समस्त देशमें इस शिक्षाका अभाव है, जिसके कारण बच्चे अधार्मिकता एवं अनादरके वातावरणमें बढ़ रहे हैं और उनमें किसी ध्येय या सिद्धान्तकी दृढ़ता नहीं है। यदि हम द्वेषियों तथा कुचक्रियोंसे गुमराह न होकर शुद्ध भावसे अपने इतिहासको पढ़ें, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि हमें अपने अतीतपर गर्व करनेका सर्वथा अधिकार है और इसी महान् अतीतके बलपर ही हम उज्ज्वल भविष्यका निर्माण भी कर सकते हैं। ज्ञानमात्र प्राप्त कर लेना यथेष्ट नहीं है, हमारे बच्चोंको ज्ञानके साधनोंका साक्षात्कार भी कराना आवश्यक है। विज्ञानमात्र पर्याप्त नहीं है, अविचल धार्मिक श्रद्धा भी अपेक्षित है। दूसरी सभ्यताओंके अन्धा-नुकरणमें हमने जो विदेशी वातावरण या परिसर अपने चारों ओर बना लिया है, उसे हटाना या बदलना होगा और हमें अपनी मूल धरतीको फिरसे पाना होगा। इसके लिये बच्चोंकी उचित शिक्षा अनिवार्य है और घर तथा पाठशाला दोनों जगह सक्षम शिक्षकोंकी सेना इसके लिये हमें खड़ी करनी है, जो किशोर-मस्तिष्कोंको सत्पथपर शिक्षित कर सकें।

वृद्ध बालक

जीवनका दीर्घपथ पारकर वृद्ध एक,
दोनों कर भूमि टेक—
क्लान्त थका बैठा है।
अस्त व्यस्त रजत केश,
वलीपलित क्षीणकाय,
दीर्घश्वास, शून्यनेत्र।
नष्ट हुई आशाएँ,
छूट चुके संग-साथ।
भग्नहृदय, भग्नप्राण,
एकाकी—असहाय,
जीर्ण शीर्ण अबलकाय।
घोरतर अन्धकार,
दुर्गम अनन्त पार,
आगे अपरिचित देश।
अश्रुतक शेष नहीं, पथिक हताश हाय!
जीवित नहीं, मृत नहीं,
भाग्यकी विडम्बना—
ओह, यह वृद्ध पथिक!
जीवन संग्रामका—
हारा हुआ, मारा हुआ,
भटका-सा प्राण एक।
एक शिशु—
पूर्णचन्द्र मोहक मुखारविन्द,
कुञ्चित मृदु अलकजाल,
कज्जल सुबिन्दु भाल,
अंग अंग पुष्ट स्वच्छ,
शीशधृत मयूरपिच्छ।
(देखा नहीं दिनकरने रजनीका अन्धकार)
क्लान्ति-श्रान्ति, खेद-शोक—
सर्वथा अपरिचित यह,
उन्मद आनन्द रूप।

राशि-राशि ज्योत्स्नाघन—
जगमग कर नख चरण,
दौड़ता ही आया है—
हँसता हुआ, खिलता-सा,
करुणासे सराबोर।
'अरे, तू थक गया?
उठ तो! चल मेरे साथ!'
नन्हे करपल्लव मृदु-
चिबुक धर बूढ़ेका
आया, सटा बैठा यह—
ऊपर सुमुख किये,
भाव भरे दीर्घदृग।
वृद्धके नेत्रोंका—
अनवरुद्ध वारिपूर,
रुद्धकण्ठ, पुलक-पूर—
फूल रहा क्षीण काय।
शक्तिका असीम स्रोत.........
करबद्ध तारुण्य—
आया, चला गया।
युवक बना—शिशु बना सुघर सुकोमल तन।
'मुझको छकाया तूने?
दादा! तू बाबा बना, बूढ़ा बना बैठा था?'
आस पास चारों ओर-
नाचता फुदकता,
घूम-घूम हँसता यह
शैशवका देवता।
किसने छकाया किसे?
छका यहाँ आज कौन?
वृद्ध शिशु निरुपाय—
भावरुद्ध मूककण्ठ।

—सुदर्शन

आधुनिक सभ्यता और बाल-शिक्षा

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम्० ए०)

पाश्चात्त्य सभ्यताके सम्पर्कसे तथा अनेकानेक वैज्ञानिक आविष्कारोंसे इस समय प्राचीन भारतीय सभ्यताको बड़ा धक्का लगा है। इसमें हमारे नवयुवक, विद्यार्थी तथा बालक भी अधिक उच्छृङ्खल हो गये हैं। यथार्थमें हमारी सभ्यता ऐसी निर्बल नहीं है कि सामयिक स्थितिके अनुकूल अपनेको बनाकर अपनी यथार्थ सत्ताको अक्षुण्ण न रख सके। आजकल हमलोगोंमें आलस्यकी मात्रा बहुत बढ़ गयी है और इसका कारण भी है। रेलके द्वारा हम सुगमतासे आ-जा सकते हैं, अतः पैदल चलनेका कष्ट नहीं करते। प्रेसोंके कारण शुद्ध-अशुद्ध, भली-बुरी तरह-तरहकी पुस्तकें सरलतासे छपकर बहुत कम दामोंमें मिलती हैं, अतः कदाचित् ही कोई मन्त्रादिकोंकी पुस्तकोंको शुद्धतासे हाथसे लिखता है। तारके कारण चित्तचाञ्चल्य बहुत बढ़ गया है और यही बात अखबारोंके कारण भी हुई है। विद्युत्के प्रचारसे अनेकानेक काम तो होते ही हैं, पर मनुष्य स्थान-स्थानपर रातको दिन बनाकर निरन्तर काम करनेका अभ्यासी होने लगा है। यह कोई अच्छी बात नहीं है। जीवनका लक्ष्य कुछ दूसरा ही है। यथार्थमें वस्तुएँ मनुष्यके लिये बनती हैं, न कि मनुष्य वस्तुओंको बनानेके लिये पैदा होते हैं। ग्रामोफोन, रेडियो तथा टेलीविजनके कारण अनेकानेक ललित कलाएँ नष्ट हो गयी हैं। बाइसिकिलके कारण साधारण जनता भी इधर-उधर बहुत घूमने लगी है। पाइपके कारण सुगमतासे जलकी प्राप्ति हो जाती है, पर इससे पौष्टिक कूप-जलके सेवनका बड़ा ह्रास हो रहा है। दवाइयाँ भी आजकल बनी-बनायी शीशियोंमें भरी अधिकतर सेवित होती हैं। इसके कारण शुद्ध और ताजी काष्ठ-औषधका सेवन नष्ट-सा हो गया है। मैंने कुछ ही बातें गिनायी हैं। इन वस्तुओंका त्याग करना सम्भव नहीं। आवश्यकता इस बातकी है कि इन वस्तुओंका कम-से-कम मात्रामें सेवन किया जाय, जिसमें हानि बहुत कम हो।

इसी प्रकार हमलोग अपने बालकोंकी शिक्षाके सम्बन्धमें भी उदासीन हो गये हैं। माता-पिताको समय ही नहीं मिलता (अथवा ऐसा समझते हैं) कि बालकोंकी शिक्षा तथा उनके आचार-विचारके विकासकी ओर समुचित ध्यान दें। वे चाहते हैं कि बालकको पाठशालामें भर्ती करा दें और आगेका सब काम गुरु ही कर लें; पर आजके गुरुको कोई परवा ही नहीं। यह एक कारण है, जिससे बालकोंकी शिक्षा दूषित होती है। शिक्षाका वर्तमान क्रम तो दूषित है ही। हमलोगोंके यहाँ चौदह वर्षकी अवस्थातक बालकोंकी शिक्षा तथा सदाचारका दायित्व माता-पितापर ही रक्खा गया है। महाभारतमें ऋषि अणीमाण्डव्यकी कथा देखिये। माण्डव्य ऋषिने धर्मराजको शाप दिया था कि 'जाओ तुम शूद्र हो जाओ।' और इसी कारण उनको विदुरके रूपमें जन्म लेना पड़ा था। ऋषिने यह भी कहा था कि 'आज मैं संसारमें कर्मफलकी मर्यादा स्थापित करता हूँ। चौदह वर्षकी अवस्थातक किये गये कर्मोंका पाप बालकको नहीं लगेगा, उसके बाद किये हुए कर्मोंका फल उसको अवश्य मिलेगा।' अतः बालकोंकी शिक्षा और सदाचारकी उपेक्षा करनेमें हमलोग बालकोंके बिगड़नेसे केवल दुःख ही नहीं उठाते, पर उनके पापके भागी भी होते हैं।

बालकोंकी शिक्षा और सदाचारके विषयमें यह परम आवश्यक है कि माता और पिता स्वयं उसी प्रकारसे रहें, जिस प्रकारसे वे बालकको बनाना चाहते हैं। बालक सर्वप्रथम उन्हींको देखकर उनका अनुकरण करता है। इस समय यह नितान्त असम्भव है कि वर्तमान आविष्कारोंसे बचकर रहा जाय। अतः इनका जहाँतक कम सेवन माता-पिता करेंगे, उतना ही बालक भी कम करेगा। वस्तुतः बालकके गर्भमें आते ही माता-पितापर बड़ा भारी दायित्व आ जाता है। पाँचवें महीनेके बाद गर्भको यथारुचि बनानेके लिये अपने यहाँ माताकी रुचिके अनुसार उसकी शिक्षा-दीक्षा आवश्यक है। स्त्रियाँ अत्यन्त कोमल होती हैं और यथार्थमें पुरुष ही उसको भला अथवा बुरा बनाता है। इस प्रकार पूरा दायित्व पितापर ही आ पड़ता है।

मनुष्यको स्वयं ईश्वरकी सत्तामें अनन्य विश्वास रखना चाहिये और भक्तिपूर्वक उसके अनुग्रहसे दी हुई वस्तुओंका सेवन करना चाहिये। कलियुगमें यही प्रधान उपासना रह गयी है। ऐसा न करनेसे हमारे दुःखोंका अन्त होना बड़ा कठिन है। भक्ति तो परमावश्यक है ही। एक प्रकारसे शुष्क ज्ञान अहङ्कारकी मात्रा पैदा करता है। सच्ची विद्या वही है, जो विनय सिखाती है और विनयसे ही भक्ति आती है।

हमारे यहाँ कर्मकी गतिके नियमोंपर बड़ी ही सूक्ष्मतासे विचार किया गया है। अन्नदोष अर्थात् कुधान्यका सेवन मनुष्यको निरन्तर अधोगतिकी ओर ही ले जाता है और कुधान्य सेवन करनेवाले पुरुषोंके घरमें सती तथा साधु प्रायः कभी नहीं जन्म लेते। रिश्वत लेनेवालोंकी संतान ऐसी निकृष्ट होती है जो कुलमें कलङ्क लगाती है। ऐसी संतान जुआ, चोरी, मद्य, मांस, व्यभिचार, मुकदमेबाजीसे प्रेम रखनेवाली तथा धोखा देनेवाली ही होती है। अतः अपनी कमाईका शुद्ध अन्न ही सेवन करना चाहिये। वही सुधान्य है।

माताके द्वारा बालकोंकी शिक्षाके विषयमें महाराज ऋतध्वजकी रानी मदालसाका उपाख्यान, मार्कण्डेय-पुराणमें पढ़ने योग्य है ('कल्याण'के २१ वें वर्षके पहले अङ्कमें संक्षिप्त मार्कण्डेयपुराण निकल चुका है)। महारानी मदालसाके चार पुत्र हुए। उनमेंसे तीन तो माताके द्वारा ब्रह्मज्ञानकी शिक्षाके कारण विरक्त हो गये और चौथे अलर्कने माताकी शिक्षा और दत्तात्रेयजीकी कृपासे बड़ी खूबीसे राज्य किया। इसी प्रसङ्गमें महाभारतका एक बहुत सुन्दर उपाख्यान आता है। जिस समय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कौरव-सभासे अपना विश्वरूप दर्शन करानेके उपरान्त अपनी बुआ कुन्तीके पास आये थे और उनसे पूछा था कि 'बताओ तुम्हारी ओरसे मैं पाण्डवोंसे क्या कह दूँ?' तो कुन्तीने भगवान्के द्वारा यह सन्देश भिजवाया था कि 'पाण्डवो! क्षात्रधर्मके अनुसार तुम युद्ध करो।' और इसी प्रसङ्गमें 'विदुला' नामकी क्षत्राणीकी कथा कही थी। विदुलाका अपने पुत्रको उपदेश एक-एक अक्षर पठनीय है और महाभारतमें ठीक ही कहा है कि 'यह आख्यान बड़ा उत्साहवर्धक और तेजकी वृद्धि करनेवाला है। जब कोई राजा शत्रुसे पीड़ित होकर कष्ट पा रहा हो, उस समय मन्त्री उसे यह प्रसङ्ग सुनाये। इस इतिहासको सुननेसे गर्भवती स्त्री निश्चय ही वीर पुत्र उत्पन्न करती है। यदि क्षत्राणी इसे सुनती है तो उसकी कोखसे विद्याशूर, तपःशूर, दानशूर, तेजस्वी, बलवान्, धैर्यवान्, अजेय, दुष्टोंको दमन करनेवाला, साधुओंका रक्षक, धर्मात्मा और सच्चा शूरवीर पुत्र उत्पन्न होता है।' ('कल्याण'के १७ वें वर्षमें संक्षिप्त महाभारत निकला था, उसमें यह प्रसङ्ग मिलेगा।)

बालकोंको सदा शूरों तथा महात्माओंकी कथाएँ सुनानी चाहिये। इसका जीवनपर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। उनमें भगवत्प्रेमको बढ़ाना चाहिये, जिसमें वे निर्भय होकर सब जगह जा सकें। सत्यवादितामें प्रेम पैदा कराना चाहिये और व्यायाम विशेषरूपसे कराना चाहिये; क्योंकि स्वस्थ शरीरमें काम-क्रोधादि बहुत कम पाये जाते हैं। हमारे बालक महर्षियोंहीकी संतान हैं। यह उनका दोष नहीं, जो ये कुमार्गमें पड़ गये हैं। भगवान्के अनुग्रहसे उनका उद्धार बड़ी जल्दी हो सकता है।

गर्भाधानके विषयमें कामशास्त्रमें बड़े ही सुन्दर नियम बताये गये हैं। किस दिन अथवा किस अवसरपर माताके गर्भमें कैसे विचारका बालक आवे, यह भी निश्चित है। केवल इन बातोंको जानने और तदनुसार आचरण करनेकी आवश्यकता है। प्रेमसागर नामक सुप्रसिद्ध पुस्तकमें लिखा है कि 'महाराज उग्रसेनकी रानी पवनरेखा ऋतुस्नान करके वनमें खेलनेको गयीं। वनमें द्रुमलिक नामक एक राक्षस महाराज उग्रसेनका रूप धरकर उनसे मिला और इसी संयोगसे कंसका जन्म हुआ।' श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धके चौदहवें अध्यायमें दितिके गर्भधारणकी कथा दी हुई है। दितिने कामके वश होकर कश्यप ऋषिको सन्ध्याके समय उनके मना करनेपर भी कामवासनामें प्रवृत्त होनेके लिये बाध्य किया था और इस सम्बन्धसे हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु-जैसे क्रूर दैत्योंका जन्म हुआ था। पशु तथा पक्षी भी समयपर स्त्रीसङ्ग करते हैं, पर मनुष्य कामशास्त्रके नियमोंका बिना विचार किये ही ऐसा करता है। इसीके कारण दुस्संतान पैदा होती है।

यथार्थमें हमारी संतान हमारे ही कर्मोंके अनुसार पैदा होती है। भगवान्की भक्तिसे कभी-कभी अत्यन्त उद्दण्ड बालक भी बड़े सौम्य हो जाते हैं। बालकोंकी उत्सुकताको बढ़ाना चाहिये और उनके द्वारा पूछे गये जटिल लगनेवाले प्रश्नोंका भी उत्तर देना चाहिये। उनको प्रेमसे बतलाना चाहिये कि ऐसा करो। डाँट-डपट करनेसे बालकका कोमल हृदय दहल जाता है। प्रेमसे आप जो चाहिये, बालकसे करवा लीजिये। बालकोंको सदा संतुष्ट रखनेका प्रयत्न करना चाहिये। देखा गया है कि कहीं-कहीं लोग स्वयं तो सुस्वादु वस्तुएँ खा-पी लेते हैं और बालक खड़ा देखता ही रहता है। यह सर्वथा अनुचित है। इससे बालकको बड़ा कष्ट होता है और वह भी ऐसा ही बनता है। बालकोंको ऐसी कथाएँ सुनानी चाहिये, जिसमें उनको अपने धर्म, अपनी सभ्यता, अपने देश, अपने पूर्वज तथा स्वदेशी वस्तुओंके

अनुराग पैदा हो। आजकल देखा जाता है कि भारतीय अपनी चीजोंसे ही घृणा करते हैं और बाहरी चीजोंको ग्रहण करते हैं। बड़े आश्चर्यकी बात है कि पाश्चात्त्य देशोंमें इस समय लोग भारतीय कुटुम्ब-पद्धतिकी तरहकी परिपाटी अपने यहाँ लाना चाहते हैं। उनका कौटुम्बिक सुख बिलकुल नष्ट हो गया है। इस सम्बन्धमें अंग्रेजी कवि Goldsmith (गोल्डस्मिथ) द्वारा लिखित 'Tra veller' (ट्रैवेलर)' तथा 'Deserted Village' (डेजरटेड विलेज़) नामक कविताएँ पठनीय हैं। पाश्चात्त्य सभ्यतामें केवल धनवान्ही-का गुजर हो सकता है। निर्धनके लिये उसमें कोई स्थान नहीं। वह प्रायः नष्ट ही हो जाता है। कुल्ला करना तो कोई जानते ही नहीं और इसी कारण इनके दाँत इतने खराब होते हैं कि जिस प्रकार अपने देशमें तमोलियोंकी दुकानें होती हैं, उसी प्रकार पाश्चात्त्य देशोंमें दाँत बनाने-वालोंकी दुकानें हैं। प्रातःकाल उठते ही बिस्तरपर ही चाय पीते हैं। दाँत, मुँह तथा जीभकी सब गंदगी पेटमें चली जाती है। अक्सर दिशा भी दिन तथा सन्ध्याको जाते हैं। ईश्वरके अस्तित्वमें संदेह होनेके कारण उनमें सदाचारकी मात्रा भी बहुत कम हो गयी है।

ऐसी स्थितिमें जब कि आसुरी पाश्चात्त्य-सभ्यता आर्य-सभ्यता तथा उसके सिद्धान्तोंको देखकर उनको अपनानेके लिये लालायित हो रही है, उस समय बड़े खेदके साथ कहना पड़ता है कि उन्नतिका नाम लेते हुए अपने देशके लोग दूषित पाश्चात्त्य सभ्यताका अनुकरण करने जा रहे हैं! दयामय भगवान्की लीला अपरम्पार है। जिस समय मनुष्य अत्यन्त घबराकर चारों ओर अँधेरा-ही-अँधेरा देखता है, उस समय भगवान्की दयासे एकदम प्रकाशका उदय होता है और सारी विभीषिकाएँ दूर भाग जाती हैं। भगवान् हमारी आस्थाकी परीक्षा लेते हैं। कालकी गतिके अनुसार उच्च अथवा नीच आत्माएँ भी संसारमें आती हैं और उनके कारण जनताको क्षोभ अथवा हर्ष होता है।

भगवान्का ध्यान सब धर्मोंमें एक ही है। देश-कालके अनुसार और मनुष्योंकी प्रकृति-भेदसे उपासनाका क्रम भिन्न-भिन्न होता है; पर मूल सिद्धान्त तो एक ही है। उसी एक आदिपुरुषकी सब धर्म उपासना करते हैं। यथा—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः॥

धार्मिक शिक्षा और उसकी आवश्यकता

(लेखक—प्रो० पण्डित श्रीशिवकण्ठलालजी शुक्ल 'सरस' एम० ए०)

स्वतन्त्रताके स्वर्णिम प्रभातमें जिन मधुर स्वप्नोंकी कल्पना की गयी, वह सत्य न हो सकी। भारतीय-जीवन आशा और निराशाके झूलेपर झूलने लगा। चारों ओर आपत्तियोंके बादल छा गये। न जाने कितनी ही जटिल समस्याएँ जीवनको झकझोर देनेके लिये उत्पन्न हो गयी। भारतमें ही नहीं—सारे विश्वमें अशान्ति, असंतोष और दुःखकी बाढ़-सी आ गयी है। विश्वप्राङ्गणमें पशुताके नग्न-नृत्यको देखकर मानवता कराह रही है। हमारे देशकी दशा प्रतिदिन शोचनीय होती जा रही है। विषमताका विषम रोग सारे भारतीय समाजको निस्तेज और निष्प्राण किये डालता है। प्रत्येक क्षेत्रमें भ्रष्टाचार, पक्षपात, गुटबंदी तथा नोच-खसोट खुलकर जनताका शोषण कर रहे हैं। भारत-जैसे देशमें इस प्रकारका पतन वास्तवमें बड़ी लज्जा और दुःखकी बात है। प्रश्न उठता है कि हमारा ऐसा पतन क्यों हुआ?

पतनका कारण स्पष्ट है। नैतिक पतनके कारण हमारी यह दशा हुई। नैतिक उत्थानके साथ भारत उन्नतिके शिखरपर चढ़ा और नैतिक पतनके साथ भारत अवनतिके गर्तमें गिरा। सारी विषमता, असंतोष तथा भ्रष्टाचारका मूल कारण नैतिकताका अभाव है। भौतिकताका प्रचार भी हमारे मार्गमें बाधक सिद्ध हुआ। आध्यात्मिकताका अभाव हमारे जीवनका बहुत बड़ा अभाव है। सच्चा सुख और आनन्द बिना आध्यात्मिकताके प्राप्त नहीं हो सकता। मानवताको भी भुला दिया गया। विश्व-बन्धुत्वकी भावना कहीं दीख नहीं पड़ती। विषय-वासना तथा व्यक्तिगत स्वार्थोंकी ओर जन-साधारणका झुकाव हो रहा है। अतः हमें विचार करना है कि वह कौन-सा उपाय है, जिसके द्वारा हम पतनके गर्तसे उठकर उत्थानके शिखर-पर पहुँचें और सारे विश्वको एक अमर सन्देश दे सकें। किस प्रकार ज्ञानकी अखण्ड ज्योति लेकर सारे विश्वमें प्रकाश कर सकें। किस प्रकार जर्जर मानवतामें फिर एक बार शक्ति भर सकें। इसका एकमात्र उपाय धर्म है। धर्मके द्वारा ही मानवताकी यथार्थ उन्नति हो सकती है। तथा

दैनिक जीवनमें इसके अनुसार कार्य करनेके लिये यह परम आवश्यक है कि धार्मिक शिक्षाका प्रबन्ध सभी विद्यार्थियोंके लिये अनिवार्य किया जाय। जिस देशमें जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें धर्मका स्थान सर्वोच्च था, प्रत्येक वस्तु और क्रियाका धर्मके साथ सम्बन्ध था, उसी देशमें सरस्वती-मन्दिरोंके कपाट धार्मिक शिक्षाके लिये बंद कर दिये गये। इसीके फलस्वरूप समाजका नैतिक पतन हो रहा है। वास्तवमें धर्महीन शिक्षा व्यक्ति और राष्ट्र—दोनोंके लिये भयङ्कर है। शिक्षाका कार्य शरीरको सशक्त, मस्तिष्कको उर्वर, मनको पवित्र बनाना तथा आत्माका विकास करना है; पर इसके अभावमें भारतकी शिक्षा जीवनको उच्च बनानेमें असमर्थ-सी हो गयी। इसीसे हमारा आदर्श गिरा, चरित्रका पतन हुआ तथा इच्छा-शक्तिका ह्रास हुआ।

धार्मिक शिक्षा देनेके तीन प्रकारके विरोधी हैं—एक दल वह, जो धर्मको बिलकुल मानता ही नहीं, अतः ऐसे अधार्मिक लोगोंके विषयमें कहना ही व्यर्थ है। दूसरा दल वह, जो 'सेक्यूलर स्टेट'की बात कर अपनी नासमझीका परिचय देता है। तीसरे वे लोग, जो धार्मिक शिक्षा तो चाहते हैं, पर उसे विद्यामन्दिरोंसे अलग रखना चाहते हैं। अतः दो प्रकारके लोगोंपर विचार करना है।

सेक्यूलर स्टेटकी आड़में लोग धार्मिकतापर प्रहार करते हैं। अतः हमें Secular State को भलीप्रकार समझ लेना है। "In all public and political matters the state will not ally itself to any particular religious and will not give preference to any group or individual on religious grounds. But it does not mean it is anti-religious." अर्थात् 'सभी सार्वजनिक तथा राजनीतिक मामलोंमें राज्य किसी विशेष धर्मसे अपना सम्बन्ध नहीं जोड़ेगा तथा धार्मिक आधारपर किसी व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमूहको कोई विशेषता नहीं देगा; पर इसका यह अर्थ नहीं कि राज्य अधार्मिक होगा।' अतः सेक्यूलर राज्यमें धार्मिक शिक्षा न तो गैरकानूनी ही है और न राष्ट्रियताके ही विरुद्ध है। आजकल धर्मके नामसे चिढ़नेका स्वभाव-सा बन गया है। सर्वत्र धर्मसे भागनेका प्रयत्न हो रहा है। धर्मका नाम लेते ही लोग जबान पकड़ने लगते हैं। धर्मपर अनाचार तथा रक्तपातके दोष मढ़े जाते हैं, पर ये सब बातें तर्कहीन तथा नासमझीकी हैं और धर्मको न समझनेके कारण ही कही जाती हैं। यह कटुता तथा भेद-भाव पैदा करनेवाली हठवादिता है, धार्मिकता नहीं। इस विषयमें एक विद्वान्का मत प्रकट करना उचित होगा—'मजहब, सम्प्रदाय तथा रिलीजनकी बातोंपर विवाद और भेद हो सकता है; पर 'धर्म'के सम्बन्धमें कभी मतभेद न हुआ और न हो सकता है।' धर्म तो नित्य है, वह अनित्य जीवनसे कहीं अधिक मूल्यवान् है। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'। 'जिससे इस लोकमें अभ्युदय—सर्वाङ्गीण उन्नति हो और मानव-जीवनके लक्ष्य निःश्रेयस-मोक्षकी प्राप्ति हो, वही धर्म है।' ऐसे धर्मसे तो सभीका कल्याण होता है। धर्म कहता है, स्वयं रहो और दूसरोंको भी रहने दो। गोस्वामी तुलसीदासजीके अनुसार—

पर हित सरिस धरम नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

आदि बातें धर्मके मौलिक तत्त्वोंमें समाविष्ट हैं। धर्मके सामान्य लक्षण बड़े उच्च कोटिके हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

अर्थात् धैर्य, क्षमा, मनका निग्रह, चोरी न करना, बाहर-भीतरकी पवित्रता, इन्द्रियोंका संयम, सात्त्विक बुद्धि, अध्यात्मविद्या, यथार्थ भाषण और क्रोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं। ऐसे उच्च कोटिके लक्षणवाले धर्मको हानिप्रद समझना सिवा पागलपनके और क्या हो सकता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा आदिने धर्मको ही प्रधानता दी है और उसीके लिये अपना बलिदान किया। महात्माजी तो जीवनके अन्तिम क्षणोंतक धर्म और ईश्वरको नहीं भूले। 'गीता' और 'उपनिषद्' अनन्त कालसे प्रकाश देते आ रहे हैं। इन ग्रन्थोंकी महत्तासे विदेशी विद्वान् चकित हैं, पर आश्चर्यकी बात है कि इन्हींके नामसे भारतवासी आगबबूला हो जाते हैं! इसमें कोई संदेह नहीं कि मजहबके नामपर संसारमें रक्तपात हुए; पर हमें ध्यान रखना चाहिये कि 'मजहब और मतवादका नाम धर्म नहीं है।' धर्म तो वह वस्तु है, जिसके बिना मनुष्य पशु बन जाता है (धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः)। धार्मिक व्यक्तियोंसे ही प्राणियोंमें सद्भावना भर सकती और विश्वका कल्याण हो सकता है। सर राधाकृष्णन्के अनुसार सच्चा धार्मिक व्यक्ति एक अद्भुत क्रान्तिकारी होता है। वह सारे दूषणोंको क्षणमें नष्ट-भ्रष्ट करके सद्भावना और शान्तिकी स्थापना करता है।

संसारकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु धर्मसे घृणा करना अपना, समाजका और राष्ट्रका अहित करना है ।

तीसरे प्रकारके लोग धार्मिक शिक्षाकी व्यवस्था विद्यामन्दिरोंमें नहीं चाहते हैं । संसारके सभी प्रगतिशील देशोंने माना है कि जो शिक्षा धर्मके आधारपर प्रतिष्ठित नहीं, वह मूर्खतासे भी निकृष्ट है । शिक्षा सदैव उन वस्तुओंकी प्राप्तिका माध्यम रही है, जिनकी मनुष्यको बड़ी आवश्यकता है । शक्ति, ज्ञान, पवित्रता, चातुर्य तथा कला आदि प्राप्त करनेका साधन शिक्षा ही रही । अतः हमें नैतिकता प्राप्त करनेके लिये सरस्वतीके मन्दिरका सहारा लेना पड़ेगा । इन लोगोंका मत है कि धार्मिक शिक्षा घरपर दी जाय; पर राजनीतिक तथा सामाजिक पराधीनताके कारण सभी घर ऐसे नहीं रह गये, जो आवश्यकताकी पूर्ति कर सकें । घरमें शिक्षाकी व्यवस्था भलीभाँति चल सके ऐसा सम्भव नहीं । अतः विद्यालयोंमें ही प्रबन्ध करना होगा ।

कुछ लोग धार्मिक शिक्षाके लिये अलगसे स्कूल खुलवाना चाहते हैं । उनके मतानुसार धार्मिक शिक्षाके स्कूलोंका सम्बन्ध दूसरे स्कूलोंसे नहीं होना चाहिये; पर यह ढंग भी ठीक नहीं । सरस्वतीके मन्दिरमें धर्मको स्थान न देना मानव-समाजका बहुत बड़ा अहित करना है । आदर्श जीवनका निर्माण करनेके लिये ही धार्मिक शिक्षा दी जाती है । जिस वस्तुका जीवनसे इतना गहरा सम्बन्ध हो, उसे दूर रखना किसी भी दशामें हितकर नहीं हो सकता । हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धति कृत्रिम है । उसमें जीवनकी समस्याओंका समाधान नहीं है । यही कारण है कि स्कूलका जीवन अधिक गम्भीरतासे नहीं देखा जाता । वहाँ जीवनकी कोई तैयारी नहीं हो पाती । वहाँ शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास नहीं होता । इन सारी कमियोंको पूरा करनेके लिये धार्मिक शिक्षा होना परम आवश्यक है ।

अब हमें विचार करना है कि किस प्रकारकी शिक्षा किस उद्देश्यको लेकर दी जाय । शिक्षाका ध्येय आदर्श जीवनकी तैयारी होना चाहिये । विद्यार्थियोंमें नैतिकता तथा नागरिकताकी सच्ची भावना भरनेके लिये, उनका उच्चकोटिका चरित्र-निर्माण करनेके लिये धार्मिक शिक्षाकी व्यवस्था अवश्य होनी चाहिये । धार्मिक शिक्षा इस प्रकार दी जाय, जिसमें आत्माका विकास हो, जीवन-का उत्थान हो, विश्वका कल्याण हो । विद्यालयोंका जीवन स्वाभाविक तथा उन्नतिशील होना चाहिये । जन-जीवनसे शिक्षाका सीधा सम्बन्ध होना चाहिये । जीवनमें जो कुछ सुन्दर है, सत्य है, उसीकी कामना करना, सिखाना—धार्मिक शिक्षाका उद्देश्य होना चाहिये । जीवनमें धर्मके स्थानको dynamic दृष्टिसे देखना चाहिये । अपना भला और संसारका भला करनेकी निःस्वार्थ भावना होनी चाहिये । सब प्राणियोंसे प्रेम करना, उनमें भगवान्‌की झाँकी देखना उनका स्वभाव होना चाहिये । धार्मिक शिक्षा पानेवालेको यह नहीं सोचना चाहिये कि मैं जीवनसे क्या ले सकता हूँ, वरं यह सोचना चाहिये कि मैं जीवनको क्या दे सकता हूँ । सच्ची धार्मिक शिक्षाद्वारा ऐसे स्वस्थ विचार विद्यार्थियोंमें भरे जायँ कि वे हठवादिताके विषाक्त वातावरणको नष्ट-भ्रष्ट करनेमें सफल सिद्ध हों ।

धार्मिक शिक्षाके साथ हमें अपनी नवजात स्वतन्त्रताका भी ध्यान रखना है । प्रजातन्त्र राज्यको शक्तिशाली बनानेके लिये भी धार्मिक शिक्षाकी बड़ी आवश्यकता है । पूर्ण प्रजातन्त्र राज्य उच्च नैतिक स्तरकी रक्षा और उन्नतिके बिना स्थापित नहीं हो सकता । धार्मिक शिक्षा बड़ी सहायक सिद्ध होती है । धर्म हमें असत्यसे सत्यकी ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर, मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले जाता है । धर्मकी शिक्षाका कार्य प्रत्येक नागरिकको देश, समाज तथा संसारके प्रति ईमानदार बनानेका है । इसके बिना प्रजातन्त्र राज्यके स्वप्न देखना व्यर्थ है; क्योंकि भारतमें आध्यात्मिकताके बिना प्रजातन्त्र राज्य व्यर्थ है । प्रजातन्त्रमें बहुमतकी प्रधानता है और बहुमत यदि अधार्मिकोंका होगा तो प्रजातन्त्र सर्वथा दोषमय, दुःखमय, अशान्तिमय और जन-अहितकारी ही होगा ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धार्मिक शिक्षाकी भारतको बड़ी आवश्यकता है । इसके बिना सुख, संतोष और शान्तिकी प्राप्ति कठिन ही नहीं वरं असम्भव है । आज आवश्यकता है मानव-निर्माणकी । मानव-निर्माणका अर्थ है मानवताके निर्माणका प्रयत्न, पर ऐसा 'धर्म' के बिना असम्भव है । हमारे समाजकी दशा कानून या नियन्त्रणसे नहीं सुधर सकती । उसकी शुद्धि इस प्रकार सम्भव नहीं है । 'उच्चतम समाज-निर्माण तो उच्चतम चरित्र और नैतिक साहसके बलपर ही सम्भव है और इसके लिये धर्मका आश्रय लेना ही पड़ेगा ।' अतः देश, समाज तथा संसारके कल्याणके लिये धार्मिक शिक्षाका सभी विद्यार्थियोंके लिये अनिवार्य होना परम आवश्यक है । अन्तमें हम कामना करते हैं—

हृदयमें धर्मका निवास होनेसे, चरित्रमें सौन्दर्यका विकास होगा ।
चरित्रमें सौन्दर्यका निवास होनेसे, घरमें सामञ्जस्यका वास होगा ।
घरमें सामञ्जस्यका निवास होनेसे, विश्वमें शान्तिका प्रकाश होगा ।

शिक्षाका भारतीय आदर्श

(लेखक—डा० मुहम्मद हाफिज सैयद एम्० ए०, डी० लिट्०)

पहले हम यह समझनेकी कोशिश करें कि अपने राज्यके साथ सम्बन्धमें प्राचीन और अर्वाचीन शिक्षा-पद्धतियोंमें कौन-से दो मौलिक भेद हैं। प्राचीन पद्धति केवल भारतवर्षमें है और अर्वाचीन भारत और ब्रिटेन दोनोंमें है। भारतकी प्राचीन पद्धतिमें शिक्षा और संस्कृति स्वशासित थीं और राज्य, संघटित राष्ट्र उनसे लाभान्वित होता था और उन्हींसे गौरव, धर्म, सदाचार, शक्ति और कुशलता प्राप्त करता था, तथापि देशकी सरकारके विधान और शासन-विभागोंका उनके ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं था और ये विभाग उनके प्रबन्धमें हस्तक्षेप नहीं करते थे। राजा विश्वविद्यालय बनवा देता था और उसके लिये सम्पत्ति भी दे देता था, लेकिन उसके ऊपर किसी अधिकारका दावा वह नहीं करता था। विश्वविद्यालयके दीक्षान्त समारोहमें सम्राट् सम्मिलित तो होता; परंतु कोई उसके स्वागतके लिये खड़ा न होता और वह साधारण दर्शककी भाँति अपना आसन ग्रहण करता; लेकिन पूज्यात्पूज्यतर कुलपतिके प्रवेश करनेपर सभी खड़े हो जाते और उसकी ओर मुँह करके शान्त और निस्तब्ध होकर उसके वचनामृतकी प्रतीक्षा करते। विश्वविद्यालय विद्याका मन्दिर था और विद्वान् ही उसके अधिकारी पुजारी थे। जब विद्वान् राजदरबारमें आता था तब भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने सिंहासनसे उतरकर उसकी पदवन्दना करते थे।

आधुनिक पद्धतिके अनुसार शिक्षा एक सरकारी-विभागके अधीन है। विधान-सभा इसके लिये कानून बनाती है। कार्यकारिणी इसके लिये संचालक या मन्त्री नियुक्त करती है, जो कि इसके वास्तविक प्रभु होते हैं और कार्यकारिणी अपने निरीक्षक विद्यालयों और महाविद्यालयोंमें भेजती है और शिक्षकोंको एक लोहेके ढाँचेके भीतर जकड़ देती है जिसे कि वह झूठ-मूठ कार्यकुशलताका नाम देती है।

प्राचीन कालमें सात वर्षतक बच्चेकी शिक्षा सम्भवतः घरपर अधिक होती थी, पाठशालामें कम। सातसे सोलह वर्षतक बालक विद्यालयमें शिक्षा प्राप्त करता था और उसके बाद विश्वविद्यालयमें भरती होता था। शैशवकी अवस्था सात वर्षमें समाप्त हो जाती है और उस अवस्थातक शरीरकी देख-भाल मुख्य होनी चाहिये और पाठ खेलके रूपमें दिये जाने चाहिये। साथ ही छोटे बच्चोंको अपनी रुचिके अनुसार चुननेका स्वातन्त्र्य देना चाहिये। जीवनके इन प्रारम्भिक सात वर्षोंमें यदि शरीरका पोषण न हुआ अथवा ठीक ढंगसे न हुआ तो बादमें चलकर कुछ भी करें तो शरीरकी शक्ति वापस नहीं आ सकती। संयुक्त कुटुम्ब-प्रणालीमें, घरमें आश्रितोंको लेकर इतने बच्चे हो जाते थे कि उनका पूरा समाज बन जाता था; जिसमें कि वे अलक्षित रूपसे दया, विनय, मृदुता, शिष्टता, मधुरभाषिता, प्रेम, त्याग, परस्पर सहायता और सेवाके पाठ सीखते थे। ज्यों-ज्यों घरकी परिधि छोटी होती गयी, त्यों-त्यों क्रीडाप्रचुर विद्यालयकी उपयोगिता अधिक बढ़ गयी और बच्चे अपने लघु साथियोंके बीच खेल-कूद और चुहुलमें अधिक प्रसन्न रहने लगे हैं। लेकिन विद्यालय बहुत ही सुन्दर होना चाहिये, शिक्षक बहुत मृदुल और कृपालु होने चाहिये और तब गीत, कहानियाँ और नाटक, जो इन्द्रियोंको उचित शिक्षा दे सकें तथा समरस गति और लय प्रदान कर सकें, शिक्षाके लिये पर्याप्त होते हैं। सातसे चौदहतकके वर्ष स्मृति और भावनाकी शिक्षाके लिये हैं, जो वीरता और स्फूर्ति प्रदान करनेवाले गुणोंकी कथाओंके द्वारा प्रदान की जानी चाहिये। ऐसी कथाएँ, जो मातृभूमिके इतिहाससे ली गयी हों और कुछ ऐसी भी, जो दूसरे देशोंकी हों; किंतु उत्साह और सेवाकी स्फूर्ति जगानेवाली हों। इस प्रकार बालकोंके मस्तिष्क और हृदय इतने शिक्षित हो सकेंगे कि वे निर्भयतापूर्वक शैशवसे यौवनको जोड़नेवाले खतरनाक पुलको पार कर जायँगे। चौदहसे इक्कीस वर्षतकका समय कठिन मानसिक स्वाध्यायका है। सोलह वर्षतक पहुँचते-पहुँचते विशिष्ट क्षमता दिखने लगेगी और भावी जीवनके लिये अपने अनुकूल वृत्ति ढूँढ़ निकाल लेगी और तब बड़े मजेमें विशिष्ट शिक्षा प्रारम्भ की जा सकती है। यह केवल पूर्ण पुरुषत्व या स्त्रीत्वकी तैयारीमें, जो कि सुनियमित छात्र-जीवनका लक्ष्य है, मोटी-मोटी अवस्थाओंका दिग्दर्शनमात्र है।

केवल आध्यात्मिक, बौद्धिक, भावनात्मक और शारीरिक प्रकृतिके शिक्षण और परिष्कारके द्वारा ही मनुष्यको पशुतासे ऊपर उठाकर ऋषि और संत बनाया जा सकता है। उसकी दरिद्रता नष्ट की जा सकती है। समाजमें बर्बरताके स्थानपर

भ्रातृ-भावना लायी जा सकती है। अविद्याके फल-पापसे मुक्ति मिल सकती है और अन्ताराष्ट्रिय तथा सामाजिक शान्ति युद्ध और वर्ग-संघर्षको अपदस्थ करके अधिष्ठापित की जा सकती है। अविद्या दरिद्रता, शोक और कष्टकी जननी है; विद्याके सूर्यसे अविद्याके अन्धकारको ही मार भगाना है।

भारतमें आधुनिक शिक्षाने अपनेको प्रायः मस्तिष्क और बुद्धिके विकासतक सीमित कर दिया है और आध्यात्मिक प्रकृतिके अन्तर्दर्शन, भावनाके उद्बोधन और उचित शिक्षण तथा यहाँ तक कि शरीरके विकासकी भी उसने बिल्कुल उपेक्षा कर रक्खी है।

प्राचीन भारतीय आदर्शके अनुसार समाज परमाणुओंका काकतालीय-संयोग न होकर बुद्धिशील प्राणियोंका समुदाय था, इसीलिये यह ऐसा जीवित संगठन माना जाता था, जिसके विविध अवयव अलग-अलग अपना कृत्य सम्पूर्ण समुदायके हित और स्वास्थ्यके लिये निर्वाह करते थे। इस व्यवस्थाको 'वर्णाश्रम-व्यवस्था' कहते थे और यह अनिवार्य वर्णाश्रम-शिक्षापर आधारित था। प्रत्येक छात्रके गुण उसके जन्मजात व्यवसायकी ओर उन्मुख किये जाते थे। जो बालक खुली हवा और पशु-पालनसे प्रेम करता है, उसे मुनीम या शहरी दफ्तरमें 'बाबू' बनाना ठीक नहीं है, न तो अङ्क-गणितकी साधना करनेवाले शान्त युवकको खेती या बागवानी-में भेजना ही ठीक है। शिक्षित व्यवसायोंमें यह बात अब भी सर्वमान्य है, विधि-चिकित्सा और इंजीनियरिंग अलग शिक्षणकी अपेक्षा रखते हैं। पुष्ट और क्रीडाशील बालक बैंककी कुर्सीसे नहीं बाँधा जाता; किंतु वह रेल आदिकी आयोजना करनेके लिये इंजीनियर बनाया जाता है या किसी दूसरे क्रियाशील व्यवसायमें लगाया जाता है। एक उदीयमान दार्शनिकको कारखानेमें न भेजना चाहिये और न एक उदीयमान कविको कोयलेकी खदानमें। यद्यपि शिक्षा और संस्कृतिका सामान्य स्तर सबके लिये एक ही तरहका अपेक्षित है, जिससे कि विभिन्न जीवनशैलियोंका सम्मिश्रण उपयोगी और ग्राह्य बन सके, तथापि इस सामान्य स्तरके पानेके बाद विशिष्ट योग्यता तो आवश्यक है ही।

अपनी जातिके अनुसार प्राचीन कालमें विद्यार्थियोंको विशिष्ट शिक्षा दी जाती थी। ब्राह्मणके लिये भाषा और साहित्यका अध्ययन नियत था और क्षत्रियके लिये शस्त्रास्त्रका। यही वर्णाश्रमका सार है। शारीरिक आनुवंशिकताका जब इस तरह उपयोग हो कि शरीर तत्तद्गुणोंके अनुरूप हो सके, तब उसका लाभ अवश्य होता है; किंतु यह उपयोग निरर्थक है जबतक कि इसे देवोंका सहयोग न प्राप्त हो। मनुष्य अपनी-अपनी जातिके लिये नियत धर्मका अनुसरण करें और इस प्रकार शरीरके विशिष्ट प्रकारकी रक्षा करें और देवता त्रिगुणोंसे विकसित अपनी-अपनी तन्मात्राओंको पथ निर्देश करें।

मैंने ऊपर भारतमें विद्याके सम्मानकी बात कही है। भारतके प्राचीन, मध्यकालीन या अर्वाचीन हिंदू, बुद्ध या मुस्लिम किसी कालमें विद्याकी साधना उत्कृष्टतम मानव-विकासकी रेखाके रूपमें स्वयं अपने लिये की जाती थी और यह साधना ब्रह्म-साक्षात्कार, पराविद्याकी परम सिद्धिसे कुछ ही कम मानी जाती थी। पराविद्याके लिये भी ज्ञान एक मार्ग कहा गया है।

यह उल्लेखनीय है कि भारतवर्षमें शिक्षा ऊपरसे नीचेकी ओर फैलती थी, नीचेसे ऊपरकी ओर इसका निर्माण नहीं होता था। भारतीय सभ्यता जनपदमें पैदा हुई है, नगरमें नहीं; वनमें बढ़ी है, पुरमें नहीं। ग्रीक-सभ्यताका विकास उसके नगरोंमें हुआ और उसका उत्कर्षबिन्दु भी नगर-राज्यमें है। परंतु जैसा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुरने कहा है—

'भारतवर्षमें जो सबसे अद्भुत बात देखते हैं, वह यह है कि इसकी सभ्यताका मूल स्रोत वन रहा है, न कि नगर। वनने ही भारतके दो महान् प्राचीन युगों—वैदिक और बौद्ध—को सींचा है। वैदिक-ऋषियोंकी भाँति भगवान् बुद्धने भी अपने उपदेशोंकी वर्षा भारतके वनोंमें ही की है। राजप्रासादके पास उन्हें बसानेकी शक्ति नहीं थी। वनने ही उन्हें अपनी गोदमें धारण किया। भारतके वनोंसे निकली हुई सभ्यताकी स्रोतस्विनीने समग्र देशको आप्लावित कर दिया।'

यह एक ऐसा भारतीय आदर्श है जिसे पुनर्जीवित करनेमें कुछ भलाई है; क्योंकि बड़े नगरोंके बीच विश्वविद्यालय बसाने-की योजना यूरोपीय है, भारतीय नहीं। इंगलैंडमें केवल आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिजने ही अपने आर्य पूर्वपुरुषोंकी परम्पराकी रक्षा की है। आधुनिक नागर विश्वविद्यालय (जैसा कि उन्हें पुकारा जाता है) अत्यन्त कोलाहलपूर्ण, आतुरता-पूर्ण और अशान्त नगरोंके बीच खड़े किये जाते हैं।

बौद्ध विहारोंने भी विश्वविद्यालयकी स्थापना प्राकृतिक सौन्दर्यके स्थलपर करके ऊँची दीवारके घेरेमें लंबा-चौड़ा मैदान घेरकर जिसमें बड़े-बड़े द्वार बने हों और

सभी द्वारोंपर द्वारपण्डित बैठा हो, इस सभ्यताके विकासमें सफल योगदान दिया है। इनके भीतर न केवल शानदार इमारतें, शिखर, गुम्बद और बारहदरियाँ वृक्षों, उपवनों और फौव्वारोंके नन्दनवनके बीच सुशोभित थे, बल्कि इनके भीतर कमलखचित सरोवर और पुष्पभारसे लदे हुए लता-वितान भी थे। वहाँ प्राकृतिक सौन्दर्यके प्रभावका अर्थ अच्छी तरह हृदयङ्गम किया जाता था। हिंदुओं और बौद्धोंके पवित्र ग्रन्थोंका अध्ययन तो होता ही था, पाठ्यक्रममें शरीरविज्ञान और चिकित्सा भी सम्मिलित था और यह स्मरणीय है कि अशोकने तीसरी शताब्दी ईसापूर्वमें मनुष्यों और पशुओं—दोनोंके लिये चिकित्सालय स्थापित किये थे और श्रीदत्तके अनुसार ये चिकित्सालय समस्त देशमें छाये हुए थे। वहाँ अध्ययन किये जानेवाले विषयोंकी एक सूचीके अनुसार इसके भीतर पञ्चसिद्धान्त, तर्कशास्त्र, व्याकरण, दर्शन, इतिहास, अङ्कगणित, ज्यामिति, ज्योतिष, संस्कृत, पाली, संगीत और तन्त्रचिकित्सा आते हैं। डाक्टर मैकडानल्का कहना है कि विज्ञान, ध्वनिशास्त्र, व्याकरण, गणित, शरीर-विज्ञान, चिकित्सा और विधिके क्षेत्रोंमें भारतीयोंका ज्ञान ग्रीक लोगोंसे कहीं अधिक उन्नत था।

विद्यालय और महाविद्यालयकी सम्पूर्ण अवधिमें कठोर ब्रह्मचर्यका पालन निर्दिष्ट था। इस आदर्शका भी पुनः प्रवर्तन किया जाना चाहिये। विद्यार्थी-जीवनके बारेमें मनुके नियमोंका कड़ाईसे पालन किया जाता था; सादा वेश, सात्त्विक भोजन, कठिन शय्या और ब्रह्मचर्यव्रत। किसीके साथ कोई रियायत नहीं की जाती थी। राजा, अमीर और गरीब सभी समान थे। प्राचीन भारतमें तरुण राजकुमार विलासिताका जीवन नहीं बिताने पाते थे—जैसा कि अब हो रहा है, और वे इसीलिये दीर्घ-आयु और स्वस्थ-जीवन प्राप्त करते थे। अब तो हमें विद्यालयोंमें ऐसे बालक दीखते हैं जो बाप-सरीखे लगते हैं और उनमें अकालवृद्धताके बीज बो गये रहते हैं।

भारतमें अच्छे आवासयुक्त विद्यालयोंकी आवश्यकता

(लेखक—ले० कमांडर श्रीशुकदेवजी पाण्डेय एम्० एस्-सी)

भारतकी वर्तमान शिक्षा-पद्धतिने न तो देशके वास्तविक अभावोंकी पूर्तिमें योगदान दिया है और न कभी यह जीवन प्रदान करनेवाले तथा निर्माणकारी आदर्शोंके लिये प्रोत्साहन-का साधन बनी है। आजकल जो स्कूल चल रहे हैं, वे हमारे बालकों और बालिकाओंके अन्तर्निहित गुणोंका उद्भव तथा सौम्य विकास करनेमें असफल सिद्ध हुए हैं। शिक्षा कोरी शाब्दिक हुई है, उसमें व्यावहारिकताकी बहुत कमी पायी जाती है। विद्यार्थीके जीवनसे उसका सरोकार ही नहीं रहा है। यह शिक्षा मानसिक प्रवृत्तियों और आदतोंको शुद्ध बनानेमें असफल रही है। आध्यात्मिकतापर इसने ध्यान ही नहीं दिया है। न तो इससे नागरिकताकी कोई शिक्षा मिली है और न इसने राष्ट्रिय तथा अन्ताराष्ट्रिय एकताको प्रोत्साहन प्रदान किया है। पाठ्यक्रममें छात्रोंकी विभिन्न रुचि और धंधोंकी पुष्टिके लिये स्थान नहीं है और ललित कला, चित्रकला, संगीत और स्थापत्यके लिये सुविधाएँ पैदा करनेमें कोई ध्यान नहीं दिया गया है। यह ऐसे धंधोंके लिये आदमी तैयार करता है, जिनमें आवश्यकतासे अधिक कर्मचारी लगे हुए हैं, तथा यह उद्योग-धंधोंमें काम करनेके लिये छात्र तैयार करनेमें निश्चेष्ट रहा है। छात्रोंके शरीर-गठनकी बुरी तरहसे उपेक्षा की गयी है।

वर्तमान शिक्षाके दोषोंका उल्लेख करनेमें यहाँ अतिशयोक्ति-से बिल्कुल ही काम नहीं लिया गया है, जहाँतक भारतके स्कूलोंमें साधारणतः पाये जानेवाले दोषोंका सम्बन्ध है, उनकी संख्या इनसे कहीं अधिक है। काम-धंधोंके लिये छात्रोंको योग्य बनानेकी कोई चेष्टा नहीं हुई है। आजकलके स्कूल थोड़ी मात्रामें भी छात्रोंके शरीर-गठन, बुद्धि-नैपुण्य, स्वभाव और आचार आदि गुणोंको, जिनसे किसी-न-किसी काम-धंधेके लिये व्यक्तिके योग्य-अयोग्य होनेका पता लगता है, उन्नत नहीं कर सकते। काम-धंधे, चाहे बौद्धिक हों या शासन-सम्बन्धी, व्यावहारिक हों या सामाजिक, अथवा क्लर्क-सम्बन्धी हों—उनके लिये विशेष प्रकारके मानसिक और स्वाभाविक गुणों, विशेष दक्षता, व्यावहारिक रुचि, सामाजिक और बौद्धिक पहुँच, नेतृत्व, आत्मनिर्भरता, कार्यारम्भकी क्षमता, अध्यवसाय, साहस, दृढ़ता, तत्परता, एकाग्रता, वाक्पटुता, आत्मबल, शरीर-गठन और स्फूर्ति अपेक्षित है।

राष्ट्रको पूर्ण विकसित करने तथा ऊँचा उठानेके उद्देश्यसे हमारे बालकों और बालिकाओंमें जनतन्त्र तथा जनतान्त्रिक संस्थाओंके बारेमें दृढ़ विश्वास होना आवश्यक है। साथ ही उनमें सच्ची निःस्वार्थ राष्ट्रिय लगन तथा विशाल अन्ताराष्ट्रिय

दृष्टिकोण भी होना चाहिये । देशकी तात्कालिक माँग है कि ऐसे नेता तैयार किये जायँ जो अपने विशुद्ध चरित्र और सुन्दर सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमिके कारण इस विशाल महादेशके लोगोंमें आशा और विश्वासका संचार तथा एकताका पोषण कर सकें । हमें ऐसे उदार-चित्त पुरुषोंको सृजन करना है जो प्रज्ञा, कला, महान् सम्पत्ति तथा स्वतन्त्र भारतके लिये भक्ति-निष्ठासे सम्पन्न हों ।

शिक्षा राष्ट्रका प्रमुख उद्योग है । यह अत्यन्त मूल्यवान् सम्पत्ति है । देशके बच्चोंको अच्छे ढंगकी शिक्षा देनेमें चाहे जितना खर्च किया जाय, जितना प्रयत्न अथवा समय और अवकाशका त्याग किया जाय—उसे थोड़ा ही समझना चाहिये । अच्छे ढंगके स्कूलोंकी संख्या बढ़ानेमें विलम्ब करना ठीक नहीं ।

नये ढंगकी संस्थाओंका उद्देश्य यह होगा कि वे अपनी देख-रेखमें आनेवाले बच्चोंको ऐसी शिक्षा प्रदान करें जिससे उनके शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक गुणोंका सौम्य विकास हो और वे उपयोगी, स्वावलम्बी और ईमानदार नागरिकका स्थान ग्रहण करने योग्य बन सकें । शरीरसे बलवान् हों और उनका मन प्रमादशून्य हो, जोरदार सहज बुद्धिसे अनुप्राणित हों तथा जीवनके विषयमें स्वस्थ दृष्टिकोण रक्खें और साथ ही 'शिव'के लिये श्रद्धा रक्खें तथा 'सत्य' और 'सुन्दर' का यथोचित अनुभव कर सकें ।

इस उद्देश्यको प्राप्त करनेके लिये छात्रोंको ऐसी आदतें बनानी पड़ेंगी, जो समाजके लिये लाभदायक हों और उन आदतों और रस्म-रिवाजोंका त्याग करना पड़ेगा, जो समाज-विरोधी हों । सारांश यह है कि जबतक वे संस्थामें रहें, बदन और कपड़े साफ रखना सीखें, उनकी चाल-ढाल और भाव-भंगीमें स्फूर्ति हो और जहाँ रहें, वहाँ अपने आस-पासकी चीजोंकी सुन्दरताको बढ़ाने तथा असुन्दरताको कम करनेमें टाल-मटोल न करें । दूसरोंके सम्पर्कमें आनेपर भाव-प्रकाशनमें संयमसे काम लेना तथा दूसरोंके प्रति आदर-भाव प्रकट करना सीखें; क्योंकि ये ही शिष्टाचारके मूल आधार हैं । वे सबके प्रति सौजन्य प्रकट करना सीखें और अपनेको इतना मजबूत बनाना सीखें, जिससे परापवादके फैलाने तथा उसमें मजा लेने, शैतानीसे भरी हुई कानाफूसी, दूसरोंकी अयोग्य और असुन्दर (या दुष्ट लोकापवाद) आलोचना तथा भद्दे प्रदर्शनसे वे अलग रह सकें । अपने व्यवहारको ठीक और सुन्दर बनानेकी, अपने अध्यापकों, गुरुजनों और अतिथि-अभ्यागतोंके प्रति सत्कारशील होनेकी तथा निम्नकोटिके लोगोंके साथ व्यवहार करनेमें विचारशील बननेकी चेष्टा करें । पड़ोसियोंकी तथा विपद्ग्रस्त लोगोंकी सहायता करना, सार्वजनिक स्वार्थकी उन्नति तथा जनताकी कल्याण-वृद्धिकी चेष्टा करना, परधनको नुकसान पहुँचाने और अपव्यय करनेसे बचना, दूसरोंकी भावना, स्वत्व तथा अधिकारोंका सत्कार करना—ये ऐसे गुण हैं, जिनका संग्रह प्रत्येक छात्रको करना चाहिये । विद्यार्थियोंको चाहिये कि स्वास्थ्य और आहारके नियमोंका पालन करते हुए तथा अनुकूल शारीरिक व्यायाम और खेलोंमें हिस्सा लेते हुए शरीरके स्वस्थ विकासपर ध्यान रक्खें । खेलनेके मैदानमें मुख्य ध्यान जीतनेपर कदापि नहीं रखना चाहिये, बल्कि सुन्दर खेल और परस्पर तथा दलके प्रति अनुगमन-शीलता, मुख्य ध्यानका विषय होना चाहिये ।

जीवनमें सच्ची सफलता प्रायः अनुशासनकी दृढ़ भावना, आत्मसंयम तथा काम करने और आराम करनेकी नियमित आदतें बनानेपर अवलम्बित होती है । छात्रोंको चाहिये कि प्रसन्नतापूर्वक अपने शिक्षकोंकी आज्ञाका पालन करें और संस्थाके नियमोंके अनुसार चलने तथा स्वार्थ एवं आत्म-तृप्तिके सामने कर्तव्यको प्रथम स्थान देनेके लिये तैयार रहें । उन्हें अपने विद्या-भवनसम्बन्धी कामोंमें नियमित और सुव्यवस्थित होना चाहिये तथा व्यक्तिगत जीवनमें पवित्रता और सच्चाईके लिये यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये । असत्य या द्वेष चाहे जिस रूपमें आवें, उनसे लड़नेके लिये तैयार रहना चाहिये । उनके स्थानमें सत्य और प्रेमके अनुशीलनकी चेष्टा करनी चाहिये । 'सत्य और शिव'के अन्तिम विजयमें अदम्य विश्वास रखना चाहिये तथा चरित्रके निर्माण और दृढ़ बनाने एवं जीवनको सम्पन्न करने और समझनेके साधनस्वरूप स्वाध्याय तथा विचारशील अध्ययनके लिये रुचि बढ़ानेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये ।

छात्रोंको जानना चाहिये कि नम्रता यानी अपनी अल्पज्ञताकी अनुभूति तथा दूसरोंके विचार और विश्वासको समझने और उसके साथ सहानुभूति-प्रदर्शनकी आस्था सुशिक्षित मनके लक्षण हैं । उन्हें स्वाध्याय और उदार सहिष्णुताके द्वारा वर्तमान जीवनकी गुत्थियोंको समझने तथा पक्षपात और अविवेकसे रहित होकर दूसरोंके विचारोंके जाँच करनेकी क्षमताको बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये । जिनसे मतभेद हो, उनके इरादेपर सन्देहकी दृष्टि डालना सर्वथा उपेक्षणीय है ।

यह याद रखनेकी बात है कि अधिकार और स्वत्वका उपभोग तभी मनुष्य कर सकता है जब पहले वह अपने कर्तव्योंका पालन करे और अपने प्रति किये गये उपकारोंका बदला चुकावे। तथा यह भी याद रखना चाहिये कि समस्त वास्तविक स्वतन्त्रताके आधार हैं नियम-कानून। विद्यार्थियोंको चाहिये कि उनके लिये जो कर्तव्य निर्धारित किये गये हों, उनको मुस्तैदीसे पूरा करें, अपने विद्याभवनके प्रति विनीत भावना बढ़ावें और सब प्रकारसे उसकी प्रतिष्ठा-वृद्धि करनेकी चेष्टा करें।

अगले अनुच्छेदोंमें हम विस्तारपूर्वक बतलायेंगे कि किसी संस्थामें एक छात्रको किस वस्तुकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना है। साथ ही यह भी बतला देना आवश्यक है कि इन अभिलाषाओंकी पूर्तिके लिये उस संस्थाके शिक्षकका क्या कर्तव्य होना चाहिये।

शिक्षकको अपनी संस्था और उसके अधिकारियोंके प्रति विनयी होना चाहिये। उसके आदर्शोंमें पूर्ण विश्वास रखना चाहिये तथा स्कूलके द्वारा जो प्रोग्राम बने, उसका बिना किसी ननु-नचके समर्थन करना चाहिये। उसे उस संस्थामें रहनेका गर्व होना चाहिये और जब उसे मालूम हो कि उस संस्थाके आदर्शोंकी रक्षा ईमानदारीसे वह नहीं कर सकता तथा अपने विचारोंके द्वारा अधिकारियोंपर प्रभाव नहीं डाल सकता—तब उसके लिये सबसे अच्छा तरीका यही होगा कि असंतोष फैलानेका साधन बनकर उस संस्थाकी मान-मर्यादाको धक्का पहुँचानेकी अपेक्षा ऐसी जगह चला जाय, जहाँका वातावरण उसके अधिक उपयुक्त हो।

क्लासमें या क्लाससे बाहर उसका आचार-विचार ऐसा हो कि उसके ऊपर कोई अँगुली न उठाये। लड़कोंके साथ, अपने साथियोंमें तथा बाह्य जगत्में उसका व्यवहार ऐसा हो कि उसकी ईमानदारी और सौजन्यमें कोई सन्देह न करे। उसे निराधार अफवाहें फैलाना, दुष्टजनप्रवाद या उत्तर-दायित्वशून्य बातें करना, अनुचित और भद्दी आलोचना करना, मुँहसे गाली निकालना या ऐसा कोई काम, जिससे शिक्षककी प्रतिष्ठामें बट्टा लगता है, गर्हणीय समझना चाहिये। उसका दृष्टिकोण उदार हो, वह सबकी भावनाओंका आदर करे तथा विवेकी, सहिष्णु, मिलनसार और सबका मित्र हो। उसकी मनोवृत्ति सौम्य होनी चाहिये। वह शिक्षा-दीक्षामें दक्ष हो, व्यापक अनुभव रखता हो और साथ ही उसमें समाज-सेवाके लिये अदम्य उत्साह हो। जब कभी और जहाँ-कहीं किसीको आवश्यकता पड़े—उसे सहानुभूति-पूर्ण कृपालु बनकर सदा सहायता और सहयोग देनेके लिये तैयार रहना चाहिये। उसे संस्थाकी सारी कार्यवाहियोंमें उत्साहपूर्वक भाग लेना चाहिये और जहाँ उसकी सेवा अपेक्षित हो, वहाँ अवश्य ही उपस्थित होना चाहिये। सारांश यह है कि संस्थाके उद्देश्योंके अनुसार लड़कोंमें जिन गुणोंका समावेश करनेकी आशा की जाती है, वे गुण शिक्षकमें भी होने चाहिये। वह छात्रोंको जैसा बनाना चाहता है, उसका जीता-जागता उदाहरण उसे स्वयं बनना चाहिये। यह याद रखना होगा कि बच्चोंके लिये आलोचनाकी अपेक्षा आदर्शोंकी अधिक आवश्यकता होती है। शिक्षकमें जितनी ही अधिक विशेषताएँ होंगी, उतना ही अधिक प्रभाव उसका पड़ेगा और तदनुसार ही छात्रोंके विचार, कर्म और आचारमें सुडौलपन आयेगा। अध्यापकों और छात्रोंमें उपर्युक्त गुण होने चाहिये, इसकी चेतना तो हमारे भीतर युगोंसे है; परंतु आज शिक्षाके नव-निर्माणके प्रोग्राममें आवश्यकता यह है कि हम नवयुवकोंमें इन गुणोंका समावेश करनेके लिये साधन और मार्ग ढूँढ़ निकालें। सरकारके द्वारा स्वीकृत शिक्षा-संस्थाओंमें एकमात्र केवल यही साधन उपलब्ध है कि बड़े पैमानेपर पाठ्य-क्रमके अतिरिक्त क्रियाशीलताकी अवतारणा की जाय और नियमितरूपसे उनको कार्यान्वित करके अभिवाञ्छित उद्देश्योंकी पूर्ति की जाय।

पाठ्य-क्रमके अतिरिक्त निम्नलिखित क्रियाशीलताकी अवतारणा प्रत्येक प्रसिद्ध शिक्षा-संस्थामें की जा सकती है।

१. शारीरिक शिक्षा—ऐसे प्रोग्राम बनाये जायँ, जो विकासोन्मुख बालकके स्वस्थ मांस-पेशीयुक्त शरीर, सहिष्णुता, शारीरिक बल, कर्मनिष्ठा, साहस और स्वावलम्बनकी वृद्धिमें सहायता प्रदान करें। शारीरिक क्रियाशीलताको निम्नलिखित मुख्य शीर्षकोंमें विभाजित करना चाहिये।

(क) जिमनास्टिक।
(ख) दंड, बैठक, कुश्ती।
(ग) बचावकी कला।
(घ) तैरना, घुड़सवारी, घूसेबाजी, गदका, लाठी, बल्लम आदि।
(ङ) प्रधान-प्रधान खेल।
(च) सैनिक-शिक्षा, जिसमें बड़े लड़कोंके लिये निशाने-बाजी भी शामिल है।

—प्रत्येक विद्यार्थी, जिसका शरीर नीरोग है, इनमेंसे प्रत्येकमें एक निर्धारित न्यूनतम दर्जेकी योग्यता प्राप्त करे। (परिशिष्ट 'क' देखिये)

प्रधान-प्रधान खेलोंके द्वारा असली खेलाड़ीपनको उन्नत करनेके लिये विशेष चेष्टा होनी चाहिये, जिससे लड़कोंमें सुन्दर खेलनेकी भावना उत्पन्न हो और वे दलगत स्वार्थके सामने अपने व्यक्तिगत स्वार्थको नगण्य मानते हुए एक साथ मिल-जुलकर चेष्टा करनेकी महत्ताको समझें।

२. ललित-कला—अब यह अनुभव किया जा रहा है कि मन्त्र और भावोंके विकासमें उनके स्वतः प्रकाशनके तरीकोंसे, यदि उनमें आपसी सामञ्जस्य हो तो, बहुत अधिक मदद मिलती है। संगीत, चित्रकला, स्थापत्य और मूर्तकला भाव-प्रवाहको अभिवाञ्छित दिशामें मोड़नेमें सहायक होती हैं, तथा उपज और कल्पनाको विकसित करनेके उद्देश्यसे आत्म-प्रकाशनके लिये पर्याप्त अवसर प्रदान करती हैं; अतएव प्रगतिशील विद्यालयोंको ललित-कलाकी शिक्षाके लिये प्रबन्ध करना चाहिये।

३. शिल्प-कला—प्रगतिशील विद्यालयकी निम्न तथा उच्च श्रेणियोंमें शिल्प-कलाके क्रमिक पाठ्य-क्रमका श्रीगणेश होना चाहिये। शिल्प-कलासे चित्तकी एकाग्रता बढ़ती है, वह लड़कोंको निर्माणात्मक कार्यके लिये अवसर प्रदान करती है और समझदारीके साथ अपनी मांस-पेशियोंका जरूरी कामोंमें प्रयोग करनेका भी मौका देती है। बदन और दिमागमें अधिकाधिक सामञ्जस्य स्थापित करती है और ठीक-ठीक पर्यवेक्षण करने तथा काम करनेकी आदत बढ़ाती है। शिल्प-कलाके द्वारा एक प्रकारकी बुद्धिका विकास होता है, जिसे दर्जेमें और तख्तास्याहके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। निम्नलिखित शिल्प-कलाओंमें एक या अधिकसे शिक्षा आरम्भ की जा सकती है—

१. कारीगरी (फिटरका काम)।
२. खरादका काम।
३. जिल्दसाजी।
४. कागज बनाना।

४. बागवानी—तरकारी और फूल। स्वाभाविक जीवनमें तीन चीजें जरूरी हैं—श्रम, अध्ययन और अवकाश। आजकलकी शिक्षा-संस्थाओंमें श्रमपर ध्यान नहीं दिया जाता, यद्यपि आदमीके जीवनमें श्रमका बड़ा महत्त्व-पूर्ण स्थान है। पुरुष और स्त्रीके जीवनका अधिकांश जीविकोपार्जनके लिये श्रम करनेमें लग जाता है। श्रमके गौरव तथा चरित्र-निर्माणपर उसके प्रभावपर जोर देनेमें कोई कोर-कसर नहीं रखनी चाहिये।

बागवानीके (फूलों और तरकारियोंके) संघटनसे तथा फलोंके वृक्ष लगानेसे लड़कोंमें हाथसे काम करनेका उत्साह पैदा करनेका मौका मिलता है और अपने लिये आप ही तरकारियाँ और फल प्राप्त करनेमें मदद मिलती है। साथ ही फूल उगानेसे उनकी कलात्मक अभिरुचि बढ़ती है तथा यह शिक्षा मिलती है कि अवकाशके समयका उपयोग कैसे किया जाय।

५. शौकके काम—अच्छी शिक्षा-संस्थाएँ लड़कोंको शौकके कामोंके लिये अभिरुचि बढ़ानेमें यथाशक्ति प्रोत्साहन प्रदान करें और छुट्टीके समयका उपयोग करना सिखलायें। फोटोग्राफी, मधुमक्खी पालना, संचयन (सिक्के, स्टाम्प आदि), फल आदिका संरक्षण, रेडियो-इंजिनियरिंग, सुसज्जाके सामान तैयार करना, पालतू जीवोंको रखना तथा ऐसी ही दूसरी वस्तुओंके लिये, जिनसे खूब लाभ हो, प्रयत्न किया जा सकता है।

६. सभा-समितियाँ—उच्च बौद्धिक और सांस्कृतिक जीवनके लिये स्वस्थ वातावरण बहुसंख्यक सभा-समितियोंके द्वारा पैदा किया जा सकता है। साहित्यिक समितियाँ, अध्ययन-मण्डल तथा कविसम्मेलन जीवनको सम्पन्न बनाने तथा आचार और बुद्धिके निर्माण और गठनके साधनके रूपमें सद्वाचन तथा गम्भीर अध्ययनके लिये अभिरुचि बढ़ानेका साधन प्रदान करते हैं। लड़कोंकी शिक्षाको पूर्ण और सम्पन्न बनानेमें सर्वजनीन विषयोंपर व्याख्यान, शिक्षा-सम्बन्धी फिल्मोंका प्रदर्शन तथा रेडियो-प्रोग्राम, श्रेणी-वाद-विवाद, भाषण-प्रतियोगिता, साधारण ज्ञान-प्रश्नावली, विज्ञान-गोष्ठी, नाट्य, समिति जैसी गोष्ठियाँ इत्यादि क्षति-पूर्ति करनेवाली क्रियाशीलताके रूपमें मदद करती हैं। बालचर—स्काउट-मण्डल तथा सेवा-समिति अपने-अपने ढंगसे नम्रता और सेवाके भाव भरनेमें मदद करते हैं और लड़कोंको उपयोगी नागरिकके रूपमें सुसज्जित करते हैं।

७. धर्मशिक्षा—धार्मिक शिक्षाका आधार ऐसे व्यापक सिद्धान्तोंपर होना चाहिये जिससे हिंदू-संस्कृति, हिंदू-विचार-धारा तथा हिंदू-दर्शनकी, विश्वको जो महान् देन है, उसकी छाप लड़कोंके मनपर पड़े। अन्धविश्वासका आवरण जो समाजको ढँके हुए है, उसको दूर करनेमें विद्यार्थियोंको धार्मिक

शिक्षासे सहायता मिलनी चाहिये। उससे धार्मिक जिज्ञासा और सहिष्णुताकी भावनाकी वृद्धि होनी चाहिये तथा दूसरे महान् धर्मोंके मौलिक, धार्मिक विचारोंके अध्ययनके लिये प्रोत्साहन मिलना चाहिये। उससे मनसा और कर्मणा, सत्संकल्प तथा सदुद्देश्योंके विकासमें प्रोत्साहन मिले। उससे लड़कोंमें ऐसी दृढ़ नैतिकताकी वृद्धि हो जिससे वे प्रलोभनोंकी धारामें न बह सकें और उनमें त्याग, प्रेम और साहसकी भावना जाग्रत् हो। परिशिष्टमें इसका क्रमिक पाठ्य-क्रम दिया गया है।

८. **व्यापक ज्ञान तथा पर्यवेक्षण ज्ञान**—आजकलके स्कूलोंके लड़कोंमें सबसे बड़ी कमी यह होती है कि वे अपने पारिपार्श्विक जगत्से बिल्कुल अनभिज्ञ होते हैं तथा उनको अपनी संस्कृतिका कुछ ज्ञान नहीं होता। इस कमीको पूरा करनेके उद्देश्यसे बनायी हुई एक योजना परिशिष्ट 'ख' में दी गयी है।

बालकोंकी ज्ञानवृद्धिके लिये प्राप्य पर्यवेक्षण-सम्बन्धी सहायतासे पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिये। अवकाशके दिनोंमें शिक्षणार्थ भ्रमणकी व्यवस्था होनी चाहिये। यात्रा-विवरणमें ऐतिहासिक महत्त्वके स्थानों, व्यावसायिक और औद्योगिक केन्द्रों, तीर्थस्थानों तथा स्थापत्य, मूर्त्तकला और प्राकृतिक सौन्दर्यके लिये प्रसिद्ध स्थानोंका समावेश होना चाहिये। इससे लड़कोंको अपने देशकी विशालता, विभिन्नता तथा सर्वोपरि इसकी एकताको समझनेकी शक्ति प्राप्त होगी।

९. **गृह-प्रणाली**—कुछ प्रगतिशील संस्थाओंमें गृह-प्रणालीका प्रयोग सफलतापूर्वक किया गया है और यह आजकल अच्छे स्कूलोंका प्रमुख अङ्ग बन गया है। इसमें समानताके आधारपर वर्गीकरण करनेमें सावधानी बर्तनी चाहिये।

१०. **वैयक्तिक मनोयोग**—भारतीय शिक्षण-संस्थाओंमें वैयक्तिक मनोयोगकी कमीके कारण बालकोंकी बड़ी हानि होती है। आजकलके स्कूलोंमें व्यक्तिगत सम्पर्कका प्रायः अभाव होता है। किसी भी प्रगतिशील स्कूलमें शिक्षकों और विद्यार्थियोंको अपने दैनिक कार्योंमें एक साथ परस्पर मिल-जुलकर काम करना चाहिये और संस्थामें प्रवेश करते समय बालकको समझना चाहिये कि वह एक परिवारका सदस्य बन गया है, जहाँ उसको अपना हिस्सा पूरा करना है। प्रगतिशील स्कूलोंमें व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करनेकी कुछ पद्धतियाँ प्रचलित हैं और उनमेंसे किसी पद्धतिसे भी अपने स्कूलके अधिकारीवर्गके हाथमें प्राप्त साधनके अनुसार काम लिया जा सकता है।

११. **पाठ्य-क्रम**—विद्यार्थियोंकी क्षमताकी जाँच करनेके लिये स्कूलमें एक विशेषज्ञका होना जरूरी है। छात्रके जिस प्रकारके जीवन-क्षेत्रमें उपयोगी होनेकी सम्भावना हो, उसी प्रकारके जीवनके लिये उसे योग्य बनानेका प्रबन्ध करना चाहिये। छात्रोंको भारतीय सेना, जल तथा नभ-सेनाके लिये तैयार करनेके लिये विशेष शिक्षणकी आवश्यकता है। प्रतिद्वन्द्वात्मक जाँच-परीक्षाओंके द्वारा देखना चाहिये कि कौन छात्र किस सेनाके योग्य होगा। हमारी वर्तमान संस्थाओंमें इस बातपर बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया गया है।

उच्च कक्षाके विद्यार्थियोंको उपयुक्त विकास-स्थितिमें साहित्य, संगीत और कलाके विस्तृत क्षेत्र तथा राजनीति, विज्ञान और शिल्पकलासम्बन्धी प्रगतिसे, उनके योग्यतानुसार, परिचय प्रदान करना चाहिये। स्कूल छोड़ते समय छात्रको अपनी शक्तिके विकासमें विश्वास होना चाहिये और उसके लिये स्थायीरूपसे लाभदायक किसी क्रियाशीलता या शास्त्रीय विषयमें उसकी गहरी दिलचस्पी होनी चाहिये। उसमें संकल्पकी सत्यता तथा विचार, सहानुभूति और व्यक्तित्वकी उदारता विकसित होनी चाहिये।

परिशिष्ट १

बुनाई—स्कूलकी दस्तकारीके रूपमें बुनाईका शिक्षणमें उपयोग तथा उनके तरीके।

रंग—बुनाईमें रंगका प्रयोग; वानस्पतिक रंगसे रँगाई।

डिजाइन—किस्में, धारी और चौखाना तथा ट्विलका विकास तथा हीडल और ढरकीके द्वारा बुनी जानेवाली साधारण किस्में, तानेके नमूने।

करघोंके प्रकार—सब किसके दफ्तीके करघे (कार्ड-बोर्ड-लूम) चार तहकी ऊन, मोटा सूत और जूट आदिके लिये। मोटी सामग्रीसे साधारण बुनाईके लिये लकड़ीके तख्तेके करघे (बोर्ड-लूम) 'क' बिना पट्टेके, 'ख' पट्टेवाले। बक्स करघे (बाक्स-लूम), मझोले करघे (वेस्ट-लूम)।

चार तहकी ऊन तथा दूसरे मोटे कच्चे मालके लिये मोटी लकड़ीकी हीडलके बनानेका तरीका।

पिक्चर फ्रेम-लूमपर बुनना, कड़ी हीडलवाले करघे, टेपस्ट्री बुनाई, सुईकी बुनाई ।

अधिक उन्नत करघे, रोलर करघे, ताना बनाना और लगाना ।

साधारण ढंगकी बुनाई, स्क्वेयर कागजपर किस्में बनाना । बक्स और मेज करघे (बक्स और टेबल-लूम) दो हीडलवाले, बक्स करघे चार हीडलवाले ।

ऊँचे दर्जेकी बुनाई—मेज करघे, स्क्वेयर कागजपर किस्में बनाना । तीन तह और दो तहकी ऊनसे बुननेका तरीका, हाथका कता सूत, फ्लैक्स (टसर) और हाथ-कती भरनी, स्कार्फकी बुनाई ।

किनारीकी किस्में । पैरसे चलनेवाले करघे, ताना भरनेके तरीके, हीडल, पेडल आदि लगाना । नये ढंगकी दरकियाँ । पर्दे, मसनद, झोले आदिके लिये दो तहकी ऊन तथा हाथसे कते सूतका कपड़ा । पैरसे चलाये जानेवाले करघेपर कंबलकी बुनाई, बुना हुआ और जमावटी कंबल, ताना सूत और भरनी ऊन ।

हाथसे बुने सामानको चिकना और तैयार करना ।

व्यावहारिक—प्रत्येक विद्यार्थीको चाहिये कि अपने हाथके तैयार किये हुए ६ नमूने उपस्थित करे, जिसमें १ दरी, १ फीता, १ तौलिया, १ ट्विलका थान और दो कमीज और कोटके कपड़ेके नमूने हों ।

परिशिष्ट (क)

शारीरिक योग्यताकी माप

उच्च श्रेणीके लिये—

१०० गजकी दौड़	११.३६ सेकंड
२२० ,, ,,	३१.०० ,,
ऊँचा कूदना	५ फुट
लंबा कूदना	१७ ,,
१६ पौंडका गोला फेंकना	३० ,, (१६० पौंडसे कम वजनवाले आदमीके लिये)
बाँससे कूदना	८ फुट ६ इंच
गेंद फेंकना	२५० फुट (क्रिकेट)
तैरना	१०० गज
दौड़ २ मील	१२ मिनट १५ सेकंडमें
भ्रमण १० मील	२ घंटेमें

बिना हिले-डुले सीना ताने सीधे १० मिनटतक खड़ा रहना ।

निम्न श्रेणीके लिये—

१०० गजकी दौड़	१२ सेकंड
२२० ,, ,,	३३ ,,
ऊँचा कूदना	४ फुट ६ इंच
लंबा कूदना	१५ फुट
१६ पौंडका गोला फेंकना	२५ ,,
बाँससे कूदना	७ ,, ९ इंच
तैरना	५० गज
दौड़ २ मील	१४ मिनटमें
भ्रमण १० मील	२½ घंटेमें

परिशिष्ट (ख)

शारीरिक स्वच्छता

व्यक्तिगत स्वच्छता—सारे शरीरका स्नान प्रतिदिन करनेकी आवश्यकता । ठंडे, गुनगुने तथा गरम पानीसे स्नान । जहाँ स्नानगृह या अन्य स्नानकी सहूलियतें न हों वहाँ स्नानका प्रबन्ध करनेका तरीका । सख्त और जोरसे बदन रगड़नेका लाभ ।

साफ बर्तनोंका महत्त्व—तौलिया, ब्रश, साबुन और स्नानके कुण्ड ।

हाथोंकी स्वच्छता—भोजन तथा रसोईके बर्तनोंको छूनेके पहले हाथोंको धोनेका महत्त्व । चिट्ठी लिखने, हाथमें किताब उठाने या सिलाई करनेके पहले हाथोंको धोनेका महत्त्व । शौचके बाद हाथ धोना । नाखून साफ करनेमें ब्रशका उपयोग, नखोंका काटना और रेतना तथा उनको छोटा और साफ रखना ।

गर्दन, मुँह और कानोंकी सफाई—कान कैसे साफ किये जायँ ?

पैरोंकी स्वच्छता—प्रतिदिन धोना, जोरकी कसरत या खेलके बाद मोजोंको बदलना । भीगे मोजोंको बदलना, लंबा भ्रमण करनेके लिये मोजोंमें साबुन लगाना ।

सिर, नाक और हाथोंकी स्वच्छता

सिरकी स्वच्छता—बालोंको कंघी करना और सँवारना । साफ कंघी और ब्रशकी जरूरत, उसे अपने निजी इस्तेमालके लिये रखना । ब्रश और कंघीको साफ करनेके तरीके । सिरके बाल धोना । छोटे बाल रखनेके लाभ । सिरको ढकनेवाले वस्त्र (साफा या टोपी) की स्वच्छता और अपना निजी साफा, पगड़ी या टोपी रखनेका महत्त्व । हैट या टोपी न पहननेके

लाभ तथा नुकसान। इन नियमोंपर ध्यान न देनेके कुछ दुष्परिणाम—सिरमें रोग पैदा होना, बालोंका गिरना इत्यादि। सिरके रोगोंका और जूँ-चीलर आदिका संक्रमण।

मुँह और दाँतोंकी स्वच्छता—भोजन करनेके बाद दाँतोंकी सफाई और दाँत साफ करनेके ब्रशकी पूरी सफाई। दातुन क्यों अधिक उपयोगी है?

नाककी स्वच्छता—रूमाल इस्तेमाल करना। नासिका-रन्ध्रोंको साफ रखनेका महत्त्व। मुँहसे साँस न लेना, नासिकाके रोग और जुकामसे बचना। रूमालकी सफाईके लिये उसे बारंबार धोते रहना और अपना रूमाल आप इस्तेमाल करना। साँस लेनेके तरीके। खाँसते और छींकते समय मुँहपर हाथ या रूमाल रखना। इधर-उधर थूकना क्यों नहीं चाहिये? कफ-बलगम आदिको कैसे फेंकना चाहिये।

घरकी स्वच्छता—जहाँतक हो सके घरमें बिल्कुल गर्द न ले जाना, जूतेसे कीचड़ दूर करनेके लिये चटाई और पाँव-पोशका इंतजाम। कमरे और कुर्सी आदि सामानोंको प्रतिदिन झाड़ना। सीढ़ियोंको प्रतिदिन धोना, चूल्हे और चौकेकी प्रतिदिनकी सफाई। फर्शको खुरचकर साफ करना तथा लकड़ीके सामानको धोना, घरकी स्वच्छताका ठीक ढंग। मौसमी सफाईकी जरूरत, जैसे दीवालीकी सफाई या होलीकी सफाई। 'वैकुअम क्लीनर'का प्रयोग। स्नान-गृहकी सफाई, हाथ धोनेके कुण्डकी सफाई, पाखाना और पेशाब-घरकी सफाई आदि। स्वच्छ हवा, प्रकाश और सूर्यकी किरणोंका घरमें प्रवेश। सूर्यकी किरणोंके प्रवेशके लिये साफ खिड़कियोंकी जरूरत। हवाके प्रवेशके लिये खुली खिड़कियाँ। पाखानेकी खिड़कियाँ सदा खुली रहनी चाहिये। बंद खिड़कियाँ और सीलन।

रसोई घरकी सफाई—भोजन करनेकी चौकी आदिकी सफाई। चूल्हे, गैस और बिजलीसे चलनेवाले कूकरकी सफाई। नालीकी सफाई और धोना। प्रचुर मात्रामें गरम पानी तैयार रखनेकी जरूरत। बर्तनों और कढ़ाई आदिकी सफाई। थाली पोंछनेवाले कपड़ेकी सफाई। सारे कूड़े-कर्कटको जला डालना या दबा देना। अनाज आदि रखनेके बर्तनोंका ठीक प्रयोग और उन्हें सूखा रखना। गली और आँगनकी सफाई। बगीचेको ठीकसे रखना। खिड़कियोंपर सुंदर फूलोंके गमलोंसे लाभ।

भोजनकी सफाई—साफ डेयरी तथा साफ ग्वालेसे दूध खरीदना। केवल वही दूध खरीदना जो खुले मुँहवाले बर्तनमें न हो। दूधके बर्तनोंमें खटास आ जाना। मक्खियोंसे दूधका बचाव। दूधमें खटास पैदा होनेके कारण। मलमल आदि पतले कपड़ोंसे दूधको ढाँकना। दुकानों और हाटोंसे भोजनकी वस्तुएँ खरीदना। धूल, गर्द और मक्खियोंसे प्रभावित भोजनके पदार्थोंसे परहेज। मिठाइयोंको गर्द और मक्खियोंसे बचाना। खानेके पदार्थोंमें जहाँतक हो सके कम हाथ लगाना चाहिये और उन्हीं लोगोंको हाथ लगाना चाहिये जिनके हाथ साफ हों। खानेके पहले फलको धो लेना और सँवार लेना चाहिये।

जानवरोंकी सफाई—गोरक्षा-गोपालन-गोसंवर्धनके तरीके, गाय-बैलोंको स्वस्थ, नीरोग और उपयोगी बनानेके तरीके, गो-दुग्ध बढ़ानेकी प्रक्रिया। पालतू जानवरोंको अपने लिये तथा खुद उनके लिये साफ रखनेकी आवश्यकता। कुत्ते और बिल्लियोंको बिछौनेपर न आने देना। बटेर, कबूतर, खरगोशके घरों तथा चिड़ियोंके पिंजरोंकी सफाई। मक्खियाँ और गर्द। मक्खियोंको नष्ट करनेका तरीका। मक्खियोंसे भोजनकी सामग्रीकी रक्षा।

निजी कपड़ोंकी सफाई—कपड़ोंकी सफाईकी आवश्यकता। कोट आदिसे धूल और गर्द झाड़ना। कहाँ, कब और कैसे यह काम करना। जूतोंकी सफाई। पगड़ी, टोपी तथा साफेकी सफाई। पहननेके लिये अनावश्यक अधिक कपड़े रखनेपर उनकी सफाईमें अनावश्यक समय लगता है।

जाँघियाके बारंबार बदलनेकी जरूरत, जाँघिया, बनियाइन और निकर, मोजे आदिकी सफाई। रँगीन कपड़े सफेद कपड़ोंके समान ही जल्द गंदे हो जाते हैं; यद्यपि देखनेमें कम गंदे मालूम होते हैं, इसको महसूस करना। धूपमें कपड़े सुखानेके लाभ। बच्चोंको धुला सकने योग्य कपड़े पहनानेके लाभ।

घर तथा मेजपोशकी सफाई

घरके बाहरकी सफाई—जलपान तथा अन्य गोष्ठियोंके अवसरपर सफाई। भोजनको बंद करके ले जानेकी आवश्यकता, जिससे उसमें गर्द न पड़े या मक्खियोंसे वह दूषित न हो। दूषित जलसे बचाव। बिखरे हुए कूड़े-कर्कटको हटाना। कैम्पमें सफाई। भोजन, पानी, बोतल, पाखाना, वस्त्र-बिछौना आदिकी सफाई। कूड़ा-कर्कटको गाड़ना।

परिशिष्ट (ग)

भोजन

(१) भोजनकी आवश्यकता और उसका शरीरकी विभिन्न क्रियाओंपर प्रभाव।

(२) भोजनके तत्त्व, हाइड्रोजन, आक्सीजन, कार्बन, नाइट्रोजन तथा धातुज पदार्थ इत्यादि ।

(३) स्टार्च-आयोडिन-परीक्षा ।

(४) स्टार्च और विभिन्न प्रकारके भोज्य-पदार्थोंमें उसकी स्थिति ।

(५) चीनी और विभिन्न प्रकारके भोज्य-पदार्थोंमें उसकी स्थिति । फीलिंगका घोल ।

(६) नेत्रजनीय भोज्य-पदार्थ ।

(७) विटामिन (पोषक-तत्त्व) ।

(८) घी, तेल आदि स्निग्ध पदार्थ ।

(९) दूध और आलू आदिकी सावधानीसे जाँच ।

(१०) (क) भोज्य-पदार्थ—शाकाहार, अन्नाहार, (चावल, गेहूँ आदि); दाल ।

(ख) कन्द-मूल-फल और तरकारियाँ ।

(ग) पशुओंद्वारा प्राप्त आहार—दूध, मक्खन और घी, छाछ ।

(११) शरीरके संतुलनके लिये भोज्य-पदार्थोंके मिश्रणकी आवश्यकता ।

(१२) भोज्य-पदार्थको विभिन्न प्रकारसे तैयार करना ।

(१३) आहार-सम्बन्धी सिद्धान्त ।

(१४) आहार-द्रव्योंकी तालिकाका अध्ययन, जिसमें उनके विभिन्न पोषण-तत्त्वोंका तुलनात्मक वर्णन हो ।

भोजन और उसका पाचन

(१) दाँत और उनकी देख-भाल ।

(२) लार और ग्रन्थि ।

(३) आमाशय एवं आमाशयिक रस ।

(४) अजीर्णके कुछ कारण ।

(५) आन्त्र और आन्त्ररस ।

(६) कैसे खायें और क्या न खायें, चबाना ।

भोजन और शरीरमें उसका आत्मसात् हो जाना

(१) मौलिक आवश्यकताएँ ।

(२) श्वास-क्रिया, फेफड़ा, पसलियाँ, वक्षः-उदरमध्यस्थ पेशी ।

(३) हृदय और उसका कार्य ।

(४) रक्त और रक्त-परिभ्रमण-प्रसार-प्रणाली ।

स्वास्थ्यके सामान्य सिद्धान्त

(१) सफाई—व्यक्तिगत और गृहसम्बन्धी ।

(२) व्यायाम और विश्राम ।

(३) आवास और स्वास्थ्यकी दृष्टिसे उसके निर्माणकी शर्तें ।

(४) वायु और स्वच्छ वायुका प्रवेश ।

(५) जल ।

(६) स्वास्थ्य और छूत ।

परिशिष्ट (घ)

सामान्य ज्ञान

तथ्योंका व्यापक और गम्भीर ज्ञान मनुष्यके जीवन और ज्ञानको अधिक सम्पन्न, पूर्ण और सुन्दर बनाता है । यह जीवनके काम-धंधोंमें लाभदायक और संस्कृतिका एक बहुत जरूरी अङ्ग है तथा सामाजिक मेल-जोलके लिये नितान्त आवश्यक है ।

सामयिक इतिहास

धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी संस्कृति, विचार और प्रयत्नमें बड़े-बड़े आन्दोलन ।

बड़े-बड़े लोगोंके नाम जो इन आन्दोलनोंके प्रवर्तक हैं या प्रबल समर्थक हैं ।

जीवनके विभिन्न विभागोंमें होनेवाली घटनाएँ ।

अपने युगके महान् आविष्कार, आविष्कारक तथा उनके आविष्कारोंकी जीवन और समाजमें उपयोगिता ।

मुख्य विचारधाराएँ और जीवनपर उनका प्रभाव; हमारी शासन-व्यवस्था, व्यवस्थापिका संस्था, स्वायत्तशासन, वर्तमानके प्रधान-प्रधान राजकर्मचारी, विश्वकी शासन-प्रणाली ।

मुख्य-मुख्य पत्र-पत्रिकाओंके नाम, विभिन्न क्षेत्रोंके प्रमुख विचारक, उनके मुख्य काम और सफलता ।

परिशिष्ट (ङ)

इतिहास

महान् घटनाओं, युद्ध और आन्दोलनोंके तथ्य, मुख्य घटनाओंकी तारीखें, हिंदुस्थानके इतिहासके विषयमें विस्तृत ज्ञान और विश्व-इतिहासका सामान्य ज्ञान, विशेषरूपसे यूरोप और उत्तरी अमेरिकाके विषयमें सामान्य ज्ञान ।

संयुक्तराष्ट्र और जापानका विकास, फ्रांसकी राज्य-क्रान्ति, भारतका स्वतन्त्रता-संग्राम इत्यादिपर विशेष ध्यान देना चाहिये । महान् राजनीतिक नेता और उनके विचार और कार्य तथा उनकी रचनाएँ । ऐतिहासिक महत्त्वके स्थान, उनकी स्थिति तथा उनके निर्माता ।

भक्ति-कीर्तन-सेवा

भक्ति-पूजा

ये सब प्रभुकी पूजा करते । जगतपिताको मनमें धरते ॥
पावेंगे ये गुण भरपूर । दुःख रहेंगे इनसे दूर ॥
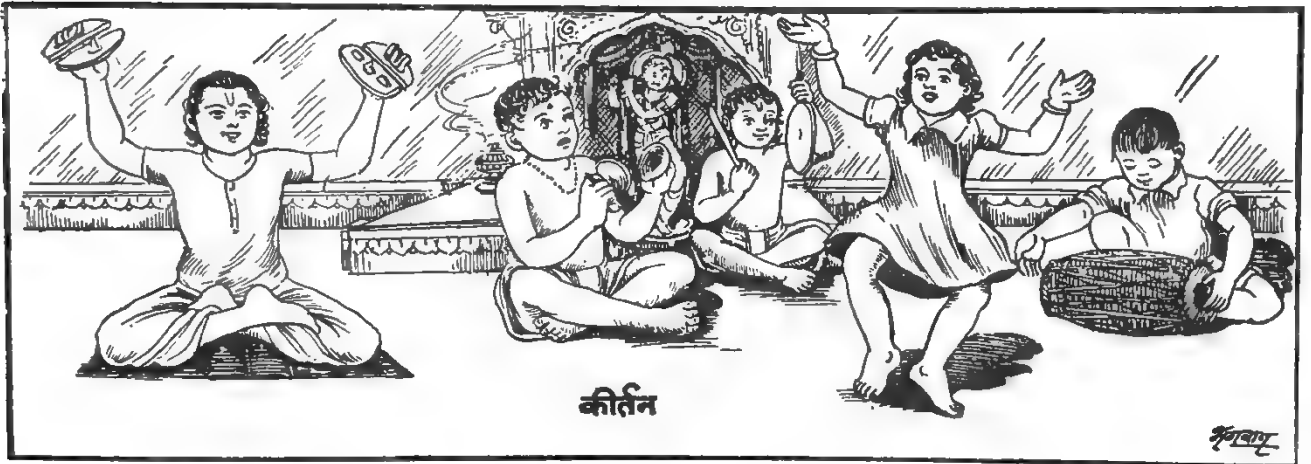
कीर्तन

ढोल झाँझ औ ले करताल । कीर्तन करते दे दे ताल ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥

सेवा

ये रोगीकी सेवा करते । घृणा न करते और न थकते ॥
अच्छे बच्चे ये कहलाते । सबसे ही ये आदर पाते ॥

पढ़ाई और दस्तकारी

पढ़ाई
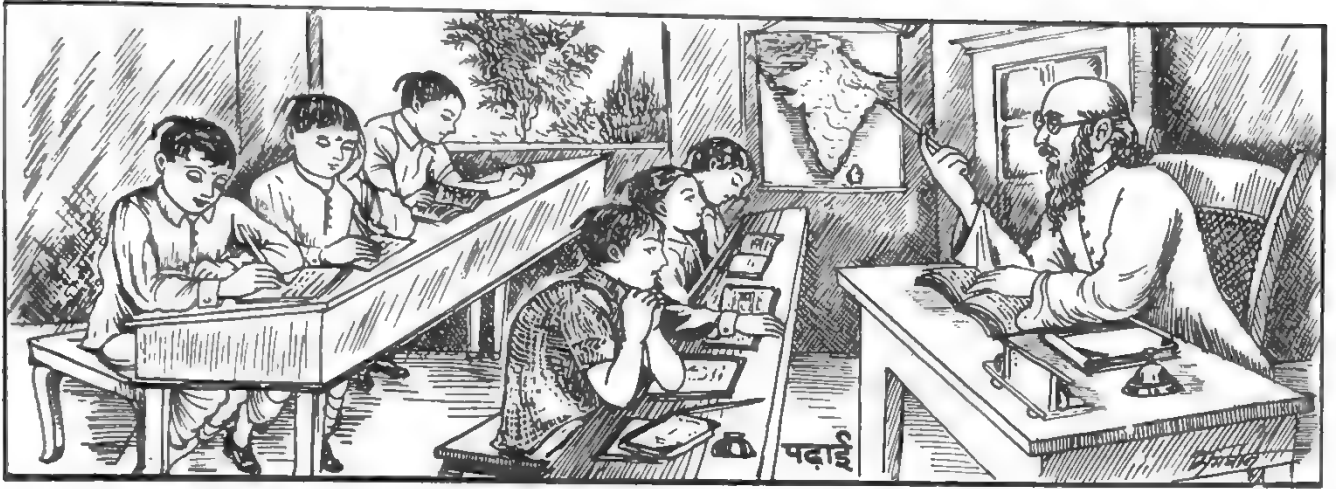
खूब पढ़ाई करते हैं ये। चित्त लगाकर सुनते हैं ये ॥
फिर करते हैं सब अभ्यास। ये होवेंगे निश्चय पास ॥

चित्रकारी

ये बच्चे तस्वीर बनाते। भाँति भाँतिके रंग लगाते ॥
चिड़िया, हाथी, खींची बिल्ली। नहीं काममें इनके ढिल्ली ॥

ऊन बुनाई

स्वीटर मोजे बुनते हैं ये। देखो कैसे सजते हैं ये ॥
ऊन बुनाई उत्तम काम। सर्दी भागे औ हो नाम ॥

दर्शन और धर्म

आन्दोलनों तथा विचार-प्रणालियोंके नाम और प्रयोजन; प्रमुख दार्शनिक और धर्मगुरु; तीर्थस्थान, धर्मग्रन्थ तथा धर्म-मन्दिर; उनके द्वारा अभिव्यञ्जित कुछ प्रमुख विचारधाराओं और प्रवृत्तियोंका ज्ञान। इन सारी चीजोंके विशेषकर हिंदू और यूनानी दर्शनोंसे सम्बन्धित ज्ञान, हिंदू-धर्म, इस्लाम, ईसाईमत और बौद्धमत-जैसे प्रमुख धर्मोंके आधुनिक दार्शनिकोंका परिचय। उनकी विभिन्न शाखाएँ, मान्यताएँ और सिद्धान्त।

साहित्य

संस्कृत, हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू, बंगाली, गुजराती और मराठी भाषा तथा साहित्यकी पुस्तकें तथा उनके लेखकोंके नाम। विश्वकी कुछ महत्त्वपूर्ण प्राचीन पुस्तकें और उनके रचयिताओंके (चाहे वे किसी भाषा या देशके क्यों न हों) नाम। कुछ विशेष नाम, जैसे 'नोबल प्राइज', 'ब्रिटिश-एकडमी सोसायटी' आदि।

प्रमुख सभा-समितियाँ, संस्थाएँ और पारितोषिक, पत्र-पत्रिकाएँ, सम्पादक और समालोचक।

विज्ञान

प्रतिदिनके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रमुख तथ्य। जगत्की सामान्य घटनाओंकी व्याख्या। प्रतिदिनके व्यवहारकी चीजें कैसे प्राप्त की जाती हैं, इसका ज्ञान। प्रमुख वैज्ञानिक और उनके आविष्कार, प्रतिदिनके जीवनमें विज्ञान। विज्ञान और डाक्टरी सहायता। विज्ञान और उद्योग। विज्ञान और युद्ध। विज्ञान और यातायातके साधन। विज्ञान और मनोरंजन। विज्ञान और कला। वैज्ञानिक, उनके आविष्कार और उनकी उपयोगिता तथा उनके प्रयोगके ढंग आदि। प्रमुख औद्योगिक देशोंके विषयमें जानकारी। विज्ञान और गणितके क्षेत्रमें हिंदुस्थानकी देन।

खेल-कूद

भारतीय और पश्चिमी खेलोंके नाम। उनके खेलनेका ढंग और स्थान। प्रमुख खेल-समारोह (टूर्नामेन्ट), खेलोंकी विश्व-प्रतियोगिता (ऑलिम्पिक गेम्स)। प्रमुख देशों और व्यक्तियोंद्वारा स्थापित उल्लेखनीय रेकार्ड। मोटर चलाना, वायुयान-संचालन, तैरना, दौड़ना, ऊँची कूद, लम्बी कूद, लोहेके गोले फेंकना, नाव खेना, कुश्ती आदिके रेकार्ड;—तथा ऑलिम्पिक संस्थाएँ। ग्रामीण खेल, घरके खेलोंके नाम, कुछ प्रसिद्ध पारिभाषिक नाम, जैसे क्रास कंट्री रेस, कैम्ब्रिज ब्लू, माराथन रेस, काउंटेगुलर टूर्नामेन्ट, कवर्ड कोर्ट टेनिस आदिकी पूरी व्याख्या।

मनोरञ्जन और कला

रंगमंच। हिंदुस्थानके तथा विदेशोंके प्रसिद्ध गायक और अभिनेता। संगीतके महान् पदनिर्माता और जन्मदाता। मूक चलचित्र और बोलनेवाले चलचित्र। भारत तथा विदेशोंके सफल सिने-अभिनेता, प्रसिद्ध फिल्मनिर्माता, जैसे होलीउड, न्यू थियेटर, प्रभात। सर्वश्रेष्ठ सुखान्त और दुःखान्त चित्र, विभिन्न क्षेत्रोंमें सर्वश्रेष्ठ कलाप्रदर्शन। प्रसिद्ध कलाकार और उनके चित्रण, फोटोग्राफी, मूर्तिकला, स्थापत्यके काम, कुछ विश्वविख्यात मन्दिर, उद्यान, स्वास्थ्य-निकेतन, पर्वतीय स्थान, सोते-झरने आदि।

परिशिष्ट (च)

दस्तकारी

विज्ञानके छात्रोंको निम्नलिखित माडल (आदर्श आकृति) मेंसे कुछके निर्माणकी शिक्षा देनी चाहिये—

(१) इलेक्ट्रिक मोटर।
(२) बार्लोज ह्वील (बार्लोकी पहिया)।
(३) प्लग की।
(४) बिजलीकी घंटी (एलेक्ट्रिक बेल)।
(५) साधारण नमूनेकी मोर्स की।
(६) भू-समानान्तर रोटरके साथ स्टीम टर्बाइन।
(७) आर्मेचर।
(८) माइक्रो प्रोजेक्टरके लिये लैम्प हाउस।
(९) मुख्य ट्रांसफार्मर (विद्युत्प्रसारक)।
(१०) सोलेनायडमें कम्पित लोहेका छड़।
(११) वर्टिकल रोटर और सेफ्टी वाल्वके साथ स्टीम टर्बाइन।
(१२) रीएक्शन स्टीम टर्बाइन (हेरोका इंजिन)।
(१३) गतिशील कोयल गालवनोमीटर (विद्युत्-प्रवाहमापक)।
(१४) तीन पोलवाला एलेक्ट्रिक मोटर।
(१५) घरपर मरम्मतका काम।

पानीके नलकी मरम्मत, फ्यूजकी मरम्मत, तारकी मरम्मत, रेडियो-मरम्मत, ताले और चिटकनी वगैरह, दीवालके प्लग।

परिशिष्ट (छ)

बागवानी और कृषि

मिट्टी–उत्पत्ति, प्रकार, खुदाई, खाई और बाँध ।

खाद–जान्तव और अजान्तव, दोनोंके उदाहरण । मिट्टीके अवयवोंपर उसका प्रभाव, कार्य, प्रयोगका ढंग ।

मल-मूत्रको ठिकाने लगाना–खादके रूपमें उसकी उपयोगिता । हरी खाद, खादके गढ़े, कम्पोस्ट खाद आदि ।

चूना–क्रिया, चूनेकी किस्में, प्रयोगका तरीका ।

औजार–इस्तेमाल और देख-भाल (खेतके औजार–इस्तेमाल और देख-भाल) ।

तरकारी उपजाना–कंदोंकी खेती, जैसे आलू, गाजर, प्याज, मूली, शलजम, चुकन्दर, नोलखोल अर्थात् गोभी, फूलगोभी, ब्रूसेल्स अङ्कुर, छीमीवाली फसलें, जैसे चौड़ी सेम, फ्रेंच सेम, सेम और मटर; सलाद, हरी भाजी, चौलाई, पालक, ककड़ी, तरोई, खीरा, टिंडा, बैंगन, हरी तरकारियाँ आदि ।

प्रसार–बीज बोना, डालियाँ और मूल काटना, रोपना, उगाना, कलम काटना, बीज संग्रह करना, अच्छे बीजोंका चुनाव ।

कीड़े–नाशकारी कीड़े, कीड़ेका पूर्ण तथा अपूर्ण आकार-परिवर्तनके साथ पूरा जीवन-वृत्तान्त, प्रमुख तरकारियों, सर्वमान्य फूलों और फलोंके नाशक कीड़े तथा उनसे बचनेके ढंग ।

बाँझ बनानेवाले रोग–एक खास ढंगके बान्ध्य-रोगका जीवनवृत्तान्त, तरकारी, फल और फूल-सम्बन्धी प्रमुख बान्ध्य-रोग ।

चिड़ियाँ–(१) जो फसलके लिये लाभदायक हैं । (२) जो फसलकी शत्रु हैं ।

फूलकी खेती–वार्षिक फूल, अर्धवार्षिक फूल, बहुवार्षिक फूल, गुलाब, शोभा बढ़ानेवाली फूलोंकी झुरमुटें ।

दूबके मैदान और उनका प्रबन्ध–बोना, जमाना और ऊपरसे रोलिंग करना, काटना-छाँटना और उपजाऊ बनाना ।

चट्टान बनाना–बनावट, पर्वताकृति बनाना ।

शीशेका काम–ठंडा हरा घर, ठंडा फ्रेम, घड़ियाँ, उनका इस्तेमाल और प्रबन्ध ।

फलोंकी खेती–नारंगी, नीबू, शरीफा, आम, अमरूद, पपीता, अनार, केला आदि ।

खेतीकी फसलें–दो प्रधान भागोंमें विभाजन—रब्बी और खरीफ, बाजरा, धान, मक्का, दाल, जौ, गेहूँ ।

चारेकी फसलें–बरसीम, जई और घासें ।

परिशिष्ट (ज)

ग्राम-निर्माण

घर और गाँव–प्रकाश और हवा, ठीक स्थान । अहाते, कुएँ, गाँवके तालाब तथा पानीकी आमदकी सफाई । झोंपड़ोंसे दूर खादका गढ़ा रखनेकी जरूरत । फालतू पानीका तरकारियाँ उपजानेमें प्रयोग । छाया या फलके लिये पेड़ लगाना ।

खेत और पशु–खेतका बँटवारा । खाद और खादके गढ़े । कम्पोस्ट खाद, अच्छा बीज । सुधरे हुए औजार, योग्य फसलकी सिंचाई । बीमारी और कीड़े । अच्छे साँड, पशुकी नसल । पशुओंकी नसलमें सुधार । पशुओंके लिये नपी-तुली खुराक । साधारण रोग । उपजकी बिक्री और उसमें आनेवाली बाधाओंका निवारण ।

स्वास्थ्य–नपा-तुला भोजन, गंदगीकी सफाई, बीमारियाँ, डाक्टरी मदद, महामारी । बच्चोंकी देख-भाल । रस्म-रवाज और सामाजिक बुराइयाँ । उनके कारण होनेवाला कर्ज । सुधारके सफल तौर-तरीके ।

ग्रामसंगठन–पंचायत, सहयोग-समितिका काम, सफाईके लिये एक कमेटी । समाज-सेवाका केन्द्र, स्त्रियोंकी सभा, अच्छा जीवन बितानेके लिये समितियाँ, प्रचार-कार्य, प्रदर्शनी लगाना । स्कूलका प्रदर्शन । मनोरञ्जनके केन्द्र ।

स्थानीय संस्थाएँ–म्यूनिसिपैलिटी (नगरपालिका), जिलासंगठन । इन संस्थाओंसे मदद कैसे ली जाय ? गाँवोंके अफसर, उनके कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व । ग्रामोद्योग और उनका पुनर्गठन ।

बेकारी–छुट्टीके समयको काममें लाना, बकरी और भेड़ पालना, मधुमक्खियाँ, रेशम, लाह । दस्तकारीकी उन्नति । स्वल्प आयको बढ़ानेके साधनके रूपमें चर्खा ।

परिशिष्ट (झ)

भारतीय संस्कृति

पाठ्य-क्रम

वर्ग १

साहित्य तथा सामाजिक विकास

१. रामायण तथा महाभारतकी कथाएँ संक्षेपमें ।

२. दुष्यन्त-शकुन्तला, नल-दमयन्ती, सावित्री-सत्यवान्, वसिष्ठ, विश्वामित्र तथा परशुरामके उपाख्यान। (बालकोंद्वारा इन उपाख्यानोंका यथासम्भव अभिनय भी कराया जाना उपयुक्त होगा।)

३. व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, हर्ष, बाणभट्ट, सूरदास, तुलसीदास तथा कबीरदासकी जीवनकथाएँ।

४. पञ्चतन्त्र तथा हितोपदेशसे पाँच नीति-कथाएँ।

५. नीति तथा भक्ति-सम्बन्धी बीस श्लोक तथा तीस दोहे-चौपाइयाँ कण्ठस्थ कराये जायँगे और उनका भावार्थ भी समझाया जायगा।

पुस्तकें—बालरामायण, बालमहाभारत, 'कल्याण'के 'रामायणाङ्क' तथा 'महाभारताङ्क', संस्कृत-कवि-चर्चा (श्रीमहावीरप्रसाद द्विवेदी)।

धार्मिक आचार-विचार

१. साधारण भारतीय शिष्टाचार।

२. भारतमें प्रचलित धार्मिक उत्सव, उनका आरम्भ तथा विकास।

३. विभिन्न धर्म तथा उनके प्रवर्तकोंकी संक्षिप्त जीवन-कथाएँ।

पुस्तकें—हिंदुस्थानी शिष्टाचार, हिंदूधर्मकी आख्यायिकाएँ, बालनीति-कथा, महापुरुषोंके दर्शन, गृहस्थगीता।

संगीत और कला

१. गन्धर्व, किन्नर और चारणोंकी कथाएँ।

२. भरतमुनि और उनका नाट्यशास्त्र।

३. नट तथा कठपुतलीका नृत्य।

४. रासलीला, यात्रा तथा अन्य धार्मिक अभिनयोंकी कथाएँ।

५. तानसेन, हरिदास, बैजू बावरा, मीराँ, सूरदास आदि प्राचीन गायनाचार्योंकी संक्षिप्त कथाएँ।

६. भारतीय देवी-देवता तथा उनके आकार।

७. अजन्ता, एलोरा, साँची आदि प्राचीन कला-केन्द्रोंका वर्णन। (बालकोंको ले जाकर इनमेंसे कुछ स्थानोंको दिखाना उपयुक्त होगा।)

वर्ग २

साहित्य तथा सामाजिक विकास

१. आर्योंके भारतमें आगमन तथा वेदोंकी रचनाकी कथा।

२. वैदिक आर्योंका रहन-सहन तथा सामाजिक संगठन।

३. वर्णाश्रम-व्यवस्था, उसका आरम्भ तथा विकास।

४. राम, लक्ष्मण, सीता, भरत तथा हनूमान्के चरित्रोंकी विशेषताओंपर प्रकाश डालते हुए रामायणकी कथाका और श्रीकृष्ण, भीष्म, युधिष्ठिर तथा कर्णके चरित्रोंपर प्रकाश डालते हुए महाभारतकी कथाका विस्तार।

५. पाणिनि, पतञ्जलि, चरक, आर्यभट्ट, कालिदास, अश्वघोष, भवभूति, बाणभट्ट, चन्द्र, सूर, तुलसी, कबीर, भूषण, मीराँ, प्रसाद, पन्त तथा उनकी रचनाओंका संक्षिप्त वर्णन।

६. भारतीय इतिहासके साधन।

७. महावीर तथा बुद्ध। भारतीय साहित्य तथा इतिहासपर उनका प्रभाव।

८. तक्षशिला, विक्रमशिला, नालन्द, हड़प्पा, मोहन-जो-दड़ो आदि प्राचीन ऐतिहासिक स्थानोंकी खोजोंका वर्णन।

९. जातक-कथाएँ। (लगभग पाँच उत्कृष्ट कथाएँ वर्णन की जायँगी।)

१०. नीति तथा भक्तिसम्बन्धी बीस श्लोक तथा तीस दोहे-चौपाइयाँ कण्ठस्थ कराये जायँगे और उनका भावार्थ भी समझाया जायगा।

धार्मिक आचार-विचार

१. महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, नानक, स्वामी राम, रामकृष्ण परमहंस तथा दयानन्द सरस्वतीकी जीवनियाँ और उनकी धार्मिक विचारधाराएँ।

२. संत तथा सूफी-सम्प्रदाय।

३. हिंदू त्योहारों तथा उपवासका महत्त्व।

४. विभिन्न धर्मोंके ग्रन्थोंका संक्षिप्त परिचय।

पुस्तकें—व्यावहारिक सभ्यता, बाल-मनुस्मृति, संतवाणी-संग्रह, महापुरुषोंके दर्शन, हिंदुओंके व्रत और त्यौहार, हिंदू-धर्मकी बालपोथी, मानवधर्म, भारतकी संस्कृति।

संगीत और कला

१. भारतीय वाद्ययन्त्र, वीणाकी प्राचीनता। (नारद, तुम्बुरु, उदयन तथा हरिदासका वीणावादन।)

२. भारतीय नाटककी उत्पत्तिमें सङ्गीत तथा नृत्यका महत्त्व।

३. भारतीय लोकगीत तथा रणगीत।

४. कत्थक, कथाकली, गरबा, रास आदि भारतीय नृत्य-प्रणालियोंका संक्षिप्त परिचय।

५. भारतीय मौलिक शिल्प तथा चित्रकला और उसपर वैदेशिक (विशेषतः यूनानी) प्रभाव । प्राचीन तथा आधुनिक प्रधान शैलियाँ ।

६. भारतीय वास्तुकलाका विकास ।

वर्ग ३

साहित्य तथा सामाजिक विकास

१. वैदिक साहित्यका विभागशः संक्षिप्त परिचय तथा वैदिक युगकी सामाजिक व्यवस्थाका अध्ययन ।

२. भारतके आदिनिवासी और उनकी सभ्यता ।

३. पुराण तथा उनमें वर्णित विषय ।

४. रामायण-महाभारतकी राष्ट्रियता तथा पीछेके साहित्यपर उनका प्रभाव ।

५. संस्कृत तथा प्राकृतके मुख्य काव्यकार तथा उनकी रचनाएँ ।

६. विभिन्न भारतीय भाषाएँ (प्राचीन तथा अर्वाचीन) ।

७. नीति-कथाओंका उद्गम तथा विकास ।

८. भारतीय कथासाहित्यका क्रमबद्ध इतिहास ।

९. हिंदीसाहित्यका संक्षिप्त इतिहास (अपभ्रंश कालसे आधुनिक कालतक) ।

१०. भारतीय जीवन तथा साहित्यपर वैदेशिक (विशेषतः सेमेटिक और यूरोपीय) प्रभाव ।

११. भारतीय राष्ट्रियता तथा शासनसत्ताका प्राचीन कालसे अबतकका पूर्ण इतिहास ।

१२. आयुर्वेद, रसायनशास्त्र, भारतीय गणित तथा ज्योतिष, शून्य तथा दशमलव-पद्धतिका आविष्कार (रामानुजम्, रमन, बोस, राय, साहा, कृष्णन् तथा भाभाके अनुशीलन कार्योंका संक्षिप्त परिचय)

१३. नीति, भक्ति तथा प्रकृति-वर्णन-सम्बन्धी बीस श्लोक ।

धार्मिक आचार-विचार

१. धर्मकी उत्पत्ति तथा महत्त्व । धर्मके अङ्ग । विभिन्न धर्मोंके मूल सिद्धान्तोंमें समानता ।

२. सनातनधर्मके मूल सिद्धान्त ।

३. उपनिषद्, रामायण तथा गीतामें प्रतिपादित धार्मिक सिद्धान्तोंका परिचय । छात्रोंको उत्तर-ग्रन्थोंके उपयुक्त अंशोंका अध्ययन कराया जाना चाहिये ।

४. तिलक, मालवीय तथा गाँधीके जीवन-चरित्र—उनके धार्मिक विचारोंपर विशेष ध्यान रखते हुए ।

५. पुस्तकें:—Sanatan Dharma—An Elementary Text Book of Hindu Religion and Ethics. सब धर्मोंकी एकता (श्रीभगवानदास), धर्म-शिक्षा (श्रीलक्ष्मीधर बाजपेयी) ।

संगीत और कला

१. भारतीय वाद्ययन्त्रोंका क्रमिक इतिहास ।

२. भारतीय गान-पद्धतिका उद्गम और विकास (वैदिक कालसे अबतक) ।

३. आधुनिक भारतमें प्रचलित विभिन्न 'सङ्गीत तथा नृत्य-पद्धतियाँ' ।

४. मुद्राएँ, उनका इतिहास तथा नृत्य और कलाकी विभिन्न शैलियोंमें उनका प्रयोग ।

५. मध्यकालीन भारतकी विभिन्न चित्र तथा शिल्प-शैलियाँ और उनमें भेद । इसके वास्तविक ज्ञानके लिये छात्रोंको देशके विभिन्न कलाक्षेत्रों तथा संग्रहालयोंमें ले जाना आवश्यक होगा ।

६. भारतीय चित्र तथा शिल्पकलाकी आधुनिक धाराएँ ।

७. आधुनिक वास्तुकलापर पाश्चात्त्य प्रभाव ।

भगवान्का घर

स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात । मन मंदिर तिन्ह कें बसहु सीय सहित दोउ भ्रात ॥
जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु । बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु ॥

हे तात ! जिनके स्वामी, सखा, पिता, माता और गुरु—सब कुछ आप ही हैं, उनके मनरूपी मन्दिरमें सीतासहित आप दोनों भाई निवास कीजिये । जिसको कभी कुछ भी नहीं चाहिये और जिसका आपसे स्वाभाविक प्रेम है, आप उसके मनमें निरन्तर निवास कीजिये; वह आपका अपना घर है ।

भारतीय बालकोंकी शिक्षा-प्रणाली

(लेखक—पं० श्रीनन्ददुलारेजी बाजपेयी एम्० ए०)

आज जब हम शिक्षाके क्षेत्रमें इतनी उन्नति कर चुके हैं और अनेक नये प्रयोगोंके द्वारा नयी बातोंका ज्ञान प्राप्त करते जाते हैं, हमें मुड़कर उस शिक्षा-क्रमकी ओर देखनेका ध्यान नहीं रहता, जो हमारे देशमें प्राचीनकालमें प्रचलित था। हम समझते हैं कि हम आगे बढ़ रहे हैं। यह भी सच है कि परिस्थितियाँ बदल गयी हैं और हम शिक्षाकी पुरानी विधिको पूरी तरह अपना नहीं सकते, परंतु थोड़ी-सी गम्भीरताके साथ विचार करनेपर यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि शिक्षाकी वर्तमान गतिविधि आदर्श नहीं है और हम अपने अतीतसे अब भी बहुत कुछ सीख सकते हैं। जिस भारतीय शिक्षाने हमारे प्राचीन ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, धर्म-दर्शन, रीति-नीति, सभ्यता और संस्कृतिके निर्माणमें योग दिया था और जिसने वस्तुतः हमें इतिहासमें गौरव-का पद प्रदान किया था—उसकी ओर फिरकर देखना अत्यन्त आवश्यक और उपयोगी है।

सबसे पहली बात, जो हमें अपनी प्राचीन शिक्षाके महत्त्वकी ओर आकृष्ट करती है, गुरु और शिष्यके सम्बन्ध-की है। आजका गुरु या अध्यापक या तो किसी 'संस्था' का नौकर होता है या सरकारका। वह एक बँधे-बँधाये पाठ्यक्रमके अनुसार कुछ नियमित घंटोंके अन्तर्गत अपना कार्य पूरा कर डालता है। इसके आगे और पीछे वह अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं समझता। जो घंटे उसके कामके हैं, वे भी क्या सच्चे अर्थोंमें विद्यार्थियोंके उपयोगमें आते हैं? आजका अध्यापक अपनी ही समस्याओंके चक्करमें पड़ा रहता है और कदाचित् पड़े रहना पसंद भी करता है। वह जब कक्षामें प्रवेश करता है, तब क्या उसके मनमें कभी यह धारणा भी होती है कि वह एक पवित्र कार्यमें संलग्न है। पुराने समयमें प्रत्येक अध्यापकको अपनी प्रतिष्ठाका ध्यान रहता था। वह इस बातकी सदैव चेष्टा रखता था कि उसके विद्यार्थी जब पढ़कर बाहर निकलें, तब वे किसी अन्य अध्यापकके विद्यार्थियोंसे ज्ञान और योग्यतामें कम न हों। आजके अध्यापकोंको क्या इतनी भी चिन्ता रहती है?

ऊपर मैंने पवित्र आशय और भावनाकी बात कही है, वह काफी ऊँची चीज है। जिस अध्यापकके हृदयमें इस भावनाने घर नहीं किया, वह क्या सच्चे अर्थोंमें अध्यापक कहा भी जा सकता है? ऐसे अध्यापकसे विद्यार्थी सीखते क्या हैं? केवल कुछ पुस्तकोंकी नपी-तुली बातें, जिनसे वे परीक्षामें उत्तीर्ण हो सकें; परंतु क्या यह भी शिक्षाका कोई आदर्श है? आज तो बिना गुरुके भी सहस्रों विद्यार्थी कुंजियोंको रटकर परीक्षामें उत्तीर्ण हो जाते हैं। उनका शिक्षकके व्यक्तित्वसे कभी सम्पर्क ही नहीं होता। जो शिक्षा-प्रणाली कुंजियोंके बलपर उच्चतम उपाधियाँ प्रदान करनेकी सुविधा देती है, वह अपनी उद्देश्यहीनताका आप ही इजहार करती है।

आजकी शिक्षा अपने खर्चीलेपनके लिये प्रख्यात है। यह बात सभी स्वीकार करते हैं कि इस शिक्षासे थोड़े ही लोग लाभ उठा पाते हैं। इस दृष्टिसे इसे राष्ट्रिय शिक्षा कहना उस शब्दका अपमान करना ही है। आजके विद्यार्थी भी भारतीय जन-जीवनसे कोई घनिष्ठ सम्पर्क नहीं रखते। उन्हें यह भी पता नहीं कि उनके पड़ोसी क्या करते हैं? किस प्रकार जीविका अर्जन कर पाते हैं? बहुत-से विद्यार्थियों-को तो यह भी ज्ञात नहीं होता कि स्वयं उनके माता-पिता और अभिभावक किन कठिनाइयोंसे उनका खर्च चला पाते हैं। तभी तो वे अपनी मर्यादाके बाहर जाकर अनावश्यक चीजोंमें पैसे नष्ट करते हैं। प्राचीन युगका भारतीय विद्यार्थी फजूलखर्चीका कभी स्वप्न भी नहीं देख सकता था। वह लोक-जीवनसे सीधा सम्पर्क रखता था और प्रतिदिन आस-पासकी परिस्थितियोंका परिचय प्राप्त करता था।

रही चरित्रकी बात! चरित्र कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो आकाशसे उतरती है। वह परिस्थिति, वातावरण और शिक्षा-सम्बन्धी उद्देश्यपर आधारित रहता है। आज वर्तमान शिक्षासे चारित्रिक शिक्षणकी आशा रखना व्यर्थ है। हमारी शिक्षाका एक भी पहलू ऐसा नहीं है, जिसके आधारपर हम यह कह सकें कि हमारे विद्यार्थियोंमें चरित्रबल उत्पन्न होगा। सारी पद्धति कृत्रिम होती जा रही है। जीवनके वास्तविक स्रोतोंसे हम और हमारे विद्यार्थी दूर होते जा रहे हैं। चरित्रबल तभी आता है जब विद्यार्थी और अध्यापक दोनोंका जीवनकी वास्तविकतासे सम्पर्क हो। शिक्षाका अन्तिम उद्देश्य क्या है? भारतीय धारणा यह रही है कि इसका उद्देश्य लोक-जीवनका संस्कार, ज्ञान-विस्तार

और अन्ततः जीवन्मुक्ति है। आजके हमारे शिक्षाक्रममें इनमेंसे किस पक्षकी यथार्थ पूर्ति होती है ? क्या सामाजिक संस्कारकी ? हमारे विद्यार्थी क्या ऐसे उद्देश्योंको लेकर बाहर निकलते हैं कि वे देश-सेवा या लोक-सेवाके कार्यमें कुछ भी समय लगा सकें ? तो फिर वे लोक-सुधार क्या करेंगे। क्या ज्ञानविस्तारके लिये हमारे विद्यार्थियोंको समुचित शिक्षा दी जाती है ? यदि ज्ञानविस्तारसे हमारा अर्थ वस्तुओं और विषयोंके सामान्य ज्ञानसे हो, तो हम भले ही संतोष कर लें कि हमारे विद्यार्थी प्रति वर्ष हजारोंकी संख्यामें बी० ए०, एम्० ए० और बी०एस्-सी०, एम्० एस्-सी० आदिकी डिगरियाँ प्राप्त करके निकलते हैं; परंतु इस सामान्य ज्ञानका स्तर भी गिरता जाता है, यह आजके शिक्षाशास्त्रियोंका खेदजनक अनुभव है, परंतु हम जिस ज्ञानविस्तारकी बात कह रहे हैं, वह इस सामान्य ज्ञानसे कहीं ऊँची वस्तु है। जबतक हमारे विद्यार्थी ज्ञानकी सच्ची परिभाषासे परिचित नहीं होते; जबतक उन्हें राष्ट्रिय-जीवन और आजके विश्व-जीवनकी विडम्बनाओं-का ज्ञान नहीं होता; जबतक उनके भीतर वह नैसर्गिक और अदम्य उत्साह और लगन पैदा नहीं होती, जो आजकी सभ्यताकी मूलभूत बुराइयोंको नष्ट करनेके लिये कटिबद्ध हो जाय, तबतक वास्तविक ज्ञानविस्तार सम्भव ही कहाँ है ! हम केवल बनी-बनायी लीकपर चले जाते हैं और समझते हैं कि हम कुछ कर रहे हैं। अधिक-से-अधिक हमें यह अभिज्ञता हो जाती है कि आजका संसार एक विषम परिस्थितिमें पहुँच रहा है; परंतु यह अभिज्ञता ही पर्याप्त नहीं है। हमारे भीतर उस विभीषिकासे जीवनव्यापी संघर्ष करनेकी निष्ठा भी उत्पन्न होनी चाहिये। यहीं चरित्रबलकी बात आती है, परंतु इस क्षेत्रमें हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली हमें कोई प्रकाश नहीं दे रही है।

रही बात शिक्षाके अन्तिम उद्देश्यकी, जिसे हम आत्ममुक्ति या जीवन्मुक्ति कहते हैं। जब हमने आरम्भिक स्तरों और भूमिकाओंपर भी पैर नहीं रक्खा है, तब हम अन्तिम लक्ष्यकी बात सोच भी कैसे सकते हैं। हमारी शिक्षा-प्रणालीमें ऐसा कोई साधन नहीं रहा, जो हमें आत्मिक दृष्टिसे प्रौढ़ और परिपुष्ट बना सके। हमारी शिक्षा प्रमुखतः अर्थकरी शिक्षा रह गयी है। हमारे आस-पास ऐसी चीजें फटकने भी नहीं पातीं, जो हमें दूरतक सोचनेका अवसर दें, हमारे प्राचीन शिक्षा-क्रमने अनेकानेक युग-पुरुषोंको उत्पन्न किया था। आज इतने वर्षोंके बाद हमारे देशमें एक गाँधी, एक तिलक ही उत्पन्न हो पाये हैं; किंतु गाँधी और तिलक भी क्या आधुनिक शिक्षाके परिणाम हैं। हम तो यही कहेंगे कि आधुनिक शिक्षाके प्रति प्रचण्ड प्रतिक्रियाने ही उन्हें गाँधी और तिलक बनाया और वह प्रचण्ड प्रतिक्रिया भी प्राचीन आदर्शोंके प्रति महान् आकर्षणसे अनुप्राणित थी। इधर कुछ वर्षोंसे शिक्षाका क्रम और भी उपयोगितावादी होता जा रहा है। शिक्षा-संस्थाओंसे आदर्श नामकी वस्तु बहिष्कृत होती जा रही है और हम क्रमशः ऐसे साँचेमें ढाले जा रहे हैं, जिससे हम किसी भी प्रकारका महत्त्व उपलब्ध नहीं कर सकते। बस, हम शिक्षित भर बने रह सकते हैं।

क्या यह भी कोई शिक्षा है, जो हमें केवल साक्षर और पण्डित बनाकर ही बस कर देती है। यदि शिक्षाका यही स्वरूप और आदर्श हो, तो कहना होगा कि इस शिक्षासे तो अशिक्षित ही अच्छे ! यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो अनेक बुराइयोंके रहते हुए भी आजके अशिक्षितोंमें आजके शिक्षितोंकी अपेक्षा मनुष्यत्वका गुण अधिक है। तो फिर हम अपनी शिक्षापर क्या और कैसे गर्व करें ?

हम इस बातपर विश्वास नहीं करते कि बदली हुई परिस्थितियोंमें जो कुछ हो रहा है, वही एकमात्र सम्भव है। इस होनहारवादी दृष्टिकोणको बदलना ही होगा। सबसे पहले हमें अपने शिक्षकोंको स्वाधीन बनाना होगा। उन्हें सरकार और संस्थाओंकी दासतासे मुक्ति मिलनी ही चाहिये—यह पहली शर्त है। शिक्षकमें व्यक्तित्वका निर्माण तभी सम्भव है, जब वह आत्मनिर्भर हो सके। आजके शिक्षा-क्रममें शिक्षककी आत्मनिर्भरता एक अनहोनी-सा आदर्श बनता जा रहा है, परंतु जबतक इस आदर्शकी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं होती, तबतक शिक्षा-सम्बन्धी किसी भी क्षेत्रमें कोई बड़ा परिवर्तन सम्भव नहीं है। यह भी सच है कि आजके शिक्षक अपने समकक्ष दूसरे पेशेवालोंसे गिरी हुई दशामें हैं। विशेषकर प्रारम्भिक कक्षाओंके अध्यापकोंकी दयनीय स्थिति है। राष्ट्रिय-दृष्टिसे प्रारम्भिक शिक्षा ही सम्पूर्ण शिक्षा-क्षेत्रमें सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। जबतक प्राथमिक शिक्षाका ढाँचा एकदम बदल नहीं दिया जाता और जबतक शिक्षकको उसकी दैनिक आवश्यकताओंकी पूर्तिसे निश्चिन्त नहीं कर दिया जाता, तबतक राष्ट्रिय शिक्षाकी नींव मजबूत भूमिपर नहीं पड़ सकती।

दूसरे कई प्रश्न भी इसीके समानान्तर चलते हैं। उनमेंसे

कुछका संकेत ऊपर किया जा चुका है। इनमेंसे एक मुख्य प्रश्न है—अध्यापक और विद्यार्थीका सम्बन्ध। वर्तमान समयमें न तो शिक्षकको विद्यार्थीकी कोई विशेष चिन्ता रहती है और न विद्यार्थी ही शिक्षकके प्रति कोई वास्तविक सम्मान रखता है। यद्यपि ये दोनों मनोवृत्तियाँ बदली हुई शिक्षा-पद्धतिका ही परिणाम है, किंतु ये स्पष्ट ही राष्ट्रिय विकासके लिये बाधक हैं। इस परिस्थितिमें शिक्षक अपना सर्वोत्तम ज्ञान विद्यार्थीको दे ही नहीं सकता और न विद्यार्थी ही इस मनोवृत्तिमें रहता है कि वह शिक्षकसे अधिक-से-अधिक लाभ उठा ले। यदि अध्यापक और अध्येता एक दूसरेके अधिक समीप नहीं आते, तो यह स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। उपचार सम्भव है। हमें अपनी पुरानी पद्धतिकी ओर दृष्टि दौड़ानी होगी और ऐसा मार्ग निकालना होगा, जिसमें आजकी शिक्षा-संस्थाएँ शिक्षकों और विद्यार्थियोंको एक-दूसरेके निकट ला सकें। दोनोंकी सम्मिलित कौटुम्बिकता और सहकारिताके लिये नयी परिस्थिति उत्पन्न करनी होगी।

न तो शिक्षकोंका और न शिक्षितोंका ही सम्बन्ध शेष समाजसे रह गया है। एक नयी ही दुनिया बनाकर हमारी शिक्षा-संस्थाएँ चलायी जा रही हैं। स्पष्ट ही यह व्यवस्था राष्ट्रिय विकासके लिये अत्यधिक घातक है। यदि इस पद्धतिके रहते हुए यह आरोप किया जाय कि हमारी शिक्षा पूँजीवादी पद्धतिकी उपज है और एक विशेष वर्गके व्यक्ति ही उससे लाभ उठाते हैं, तो यह अनुचित आरोप न होगा। इस सम्बन्धमें भी हमें शिक्षा-सम्बन्धी भारतीय आदर्शको अपने सामने रखना होगा, जो किसी वर्ग या श्रेणीके लिये न थी, जिससे सारा राष्ट्र उपकृत होता था। हमें अपनी शिक्षा-संस्थाओंका यह खर्चीला रूप, जो वस्तुतः प्रवेश-निषेधका ही दूसरा नाम है—समाप्त कर देना होगा। और यह तभी सम्भव है जब हमारे शिक्षक और शिक्षार्थी सम्मिलित रूपसे प्रयत्न करें, आत्मनिर्भर होनेके उपाय निकालें और शासन-व्यवस्था भी इस सम्बन्धमें अपने कर्तव्यका पालन करे।

आज हमारे देशमें पश्चिमसे आये हुए वादोंका इतना प्राबल्य क्यों है। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी शिक्षा-संस्थाओंने नयी उद्भावना और नये चिन्तनका काम विदेशोंको ही सौंप रखा है। हम वर्तमानमें तो कर्तृत्वविहीन हैं ही, अपने अतीतके प्रति भी पूरी उपेक्षा दिखा रहे हैं। मानो हम अपने इतिहास और उसकी पूरी परम्परासे विच्छिन्न हो गये हैं। जिस देशकी शिक्षा-संस्थाओंमें यह आत्महीनता घर कर लेती है और उधारकी पूँजीपर काम चलानेकी मनोवृत्ति पैठ जाती है, उस देशका भविष्य उज्ज्वल नहीं है। आज हमारे विद्यार्थियोंमें शङ्कराचार्य और कबीरकी अपेक्षा मार्क्स और एंजिल्सकी निष्पत्तियाँ अधिक व्यापकरूपसे घर करने लगी हैं। हम इतनी जल्दी अपनी जीवन-विधि और जीवन-आदर्शोंको खो बैठेंगे, इसकी सम्भावना नहीं थी; पर वास्तविक तथ्य यही होता जा रहा है। हम यह नहीं कहते कि हम नये ज्ञानका, चाहे वह किसी दिशासे आया हो, वर्जन करें; परंतु अपने देशकी मौलिक सम्पत्ति और जीवनचर्याका तिरस्कार करके नये मतवादोंकी शरण जाना एक दुर्बल राष्ट्रकी प्रवृत्तिका परिचायक है।

ऐसी परिस्थितिमें हमसे कहा जाता है कि हमारी शिक्षा-संस्थाएँ विद्यार्थियोंको चरित्रबल क्यों नहीं देतीं? वे चरित्र-बल दें कहाँसे, जब कि सारा वातावरण ही विशृङ्खल हो रहा है। हमारी नयी पीढ़ीका चरित्रबल नयी परिस्थितिका ही प्रतिबिम्ब हो सकता है। हम संख्यामें और परिमाणमें हजारों इंजीनियर, हजारों डाक्टर और अन्य पेशेवर कार्यकर्ता अपने विश्वविद्यालयोंसे भले ही निकाल रहे हों, परंतु जिस मानसिक और नैतिक स्तरके व्यक्तियोंकी हमारे राष्ट्रको आवश्यकता है, उसका बेहद टोटा दिखायी देता है। आज भारतवर्षकी एक मुख्य समस्या भ्रष्टाचार कही जाती है। भ्रष्टाचार किसी एक व्यक्ति या वर्गतक ही सीमित नहीं है, वह सम्पूर्ण देशमें फैल गया है। एक विकृत मनोवृत्ति ही इसका कारण है; एक भ्रष्ट-जीवन-दर्शन ही इसकी बुनियाद है। जबतक हम मूलको नहीं सुधारते, तबतक शाखाओंका उपचार नहीं हो सकता। मूलको सुधारनेके स्थल हैं हमारी शिक्षा-संस्थाएँ; माध्यम हैं—हमारे अध्यापक और तैयार की जानेवाली वस्तुएँ हैं—हमारी नयी संततिकी मनोवृत्ति, उनका दृष्टिकोण, उनका जीवनलक्ष्य। इन सबका संस्कार अत्यावश्यक है, परंतु यह तभी सम्भव है, जब हम पुनः अपनी अतीत विधियों और प्रणालियोंकी ओर दृष्टिपात करें; उनका अनुसरण करनेके लिये तैयार हों और नयी परिस्थिति-के अनुकूल अपनी राष्ट्रिय परम्पराको नये सिरेसे चलानेका संकल्प करें।

ऊपर केवल हमने अपने बालकोंको दी जानेवाली नयी शिक्षा और उसकी प्रणालीको संक्षेपमें देखनेकी चेष्टा की

है। प्राचीन शिक्षा-संस्थाओंने हमारे देशको संसारके अन्य राष्ट्रोंके सम्मुख कितना ऊँचा पद प्रदान किया था, यह इतनेसे ही समझा जा सकता है कि शताब्दियोंतक हमारे पण्डित और आचार्य विदेशोंमें जाकर ज्ञानप्रसार करते थे और सहस्रों विद्यार्थी दूर-दूर देशोंसे आकर हमारी शिक्षा-संस्थाओं और विद्यापीठोंमें अपने जीवनके उच्चतम ध्येयोंकी सिद्धि करते रहते थे। आज परिस्थिति उलटी ही है। आज हमारी आँखें विदेशोंकी विद्याबुद्धि और ज्ञान-विज्ञानकी ओर लगी रहती हैं। हम अपने छात्रोंको बाहर भेजकर, विदेशोंसे शिक्षित-दीक्षित करा रहे हैं। यद्यपि आजकी परिस्थितिमें ऐसा करना एक सीमातक आवश्यक हो गया है, पर यह व्याधिका कोई स्थायी निदान नहीं है। हमें अपने ऊपर आस्था रखकर ही अपना और अपने राष्ट्रका उद्धार करना होगा। कोई भी देश विदेशोंपर अपनी शिक्षाके लिये आश्रित रहकर कामचलाऊ उन्नति ही कर सकता है। वास्तविक राष्ट्रिय शिक्षाकी नींव देशके भीतरी प्रयत्नोंसे ही रक्खी जा सकती है। अभी तो इस दिशामें आरम्भिक कार्य भी नहीं किया जा सका। गाँधीजीके प्रयत्नोंसे जो आंशिक सुधार हो रहा था, वह भी स्थगित-सा हो गया है। एक बार पुनः विदेशी चकाचौंध हमारी सम्यक् दृष्टिको ओझल कर रही है। नया दिशाज्ञान तो दूर, नये दिग्भ्रममें ही हम पड़ते जा रहे हैं!

प्राचीन गुरुकुल तथा आधुनिक विद्यालय

(लेखक—पण्डित श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री)

भारतवर्ष अत्यन्त प्राचीनकालसे विद्याका महान् केन्द्र रहा है। भूमण्डलके समस्त मानव इस देशके विद्वान् ब्राह्मणोंसे न केवल विद्याकी वरं संस्कृति, सदाचार और सभ्यताकी भी शिक्षा ग्रहण करनेके लिये इस देशमें आते थे। मनुजीने स्पष्ट शब्दोंमें इसका उल्लेख किया है।* गर्भाधानसे लेकर चूडाकरणतक तो भारतीय महर्षियोंने उत्तम बालककी उत्पत्ति तथा रक्षाके ही शास्त्रीय प्रयत्न बताये हैं। साथ ही इन संस्कारोंद्वारा उनकी आयु तथा मेधाशक्तिको भी समृद्ध करनेका प्रयास किया जाता था। तदनन्तर पिताद्वारा उपनयनके समय द्विजबालकको गुरुकी सेवामें भेजा जाता था। वहाँ गुरु उसका विधिपूर्वक संस्कार करके उसे यज्ञाधिकार-सूचक यज्ञोपवीत देते और ब्रह्मचर्यकी दीक्षा देकर उस बालकको वेद-शास्त्र, अग्निहोत्र, सेवा तथा व्रतपालनका उपदेश करते थे। इस प्रकार अपने जीवनका एक चतुर्थांश भाग द्विजकुमारको गुरुकुलमें व्यतीत करना पड़ता था। सृष्टिके प्रारम्भमें जब भगवान् विष्णुकी नाभिसे ब्रह्माजीका प्रादुर्भाव हुआ, उस समय स्वयं नारायणने उन्हें 'स्पर्शेषु यत् षोडशमेकविंशम्'के अनुसार तपका आदेश दिया था। यही मानो उनके लिये गुरुद्वारा ब्रह्मचर्यपालन आदिकी आज्ञा थी। इसीके फलस्वरूप 'गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म'ने ब्रह्माजीके हृदयमें ब्रह्मज्ञान (वेद एवं परमात्मतत्त्वके बोध) का प्रकाश फैला दिया—'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये।' फिर ब्रह्माजीने सनकादिकों तथा अपने अन्य मानसपुत्रोंको उस तत्त्वका उपदेश किया। सृष्टिके प्रारम्भसे लेकर अबतककी यह गुरुपरम्परा बहुत विशाल और अवर्णनीय है। बृहदारण्यकमें वेदाध्ययनकी एक विशिष्ट परम्पराका उल्लेख मिलता है, जिसमें स्वयम्भू ब्रह्मासे लेकर परवर्ती अनेकानेक महर्षियोंके नाम आये हैं। श्रावणी-उपाकर्मके अवसरपर वंश-ब्राह्मणका जो पाठ किया जाता है, उसमें उक्त वैदिक गुरुशिष्यपरम्पराका ही वर्णन है।

'गॄ निगरणे' धातुसे गुरु शब्दकी सिद्धि हुई है; इसके अनुसार जो शास्त्रवाणीका उद्गरण कर सके—प्रवचन-पटु हो, वह गुरु है। तत्त्वका बोध करानेमें समर्थ वक्ता विद्वान् ही गुरु एवं आचार्यपदका अधिकारी होता है; अतः आर्य महर्षियोंने उनको माता-पिताके समान ही आदर दिया है। मनुजीके मतानुसार जो शिष्यका उपनयन करके कल्प एवं रहस्यसहित सम्पूर्ण वेदका उपदेश कर सके, उसे आचार्य कहते हैं।* ये आचार्यपाद गायत्रीके उपदेशद्वारा बालकको जो द्वितीय जन्म देते हैं, वही यथार्थ जन्म है। गुरुप्रदत्त वह

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

* उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

ज्ञानमय शरीर अजर-अमर है।* शास्त्रने पिताको भी गुरु कहा है और वह इसलिये कि पिता विधिपूर्वक गर्भाधानादि समस्त संस्कारोंको सम्पन्न करता और अन्नद्वारा संतानका पालन-पोषण करता है। ऐसा करनेवाला पिता ही 'गुरु' कहलानेका अधिकारी है—

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥

प्रस्तुत लेखमें आचार्यरूप गुरुके ही कुलपर विचार किया जाता है। गुरुके पुत्र और शिष्य ही उनके कुलके अन्तर्गत है; क्योंकि वंश दो प्रकारके हैं—'विद्यया जन्मना च' विद्यासे और जन्मसे। शिष्य विद्याग्रहण करनेसे गुरुके वंशज हैं और पुत्र जन्मग्रहणके कारण। प्राचीनकालमें जहाँ कोई विद्वान् आचार्य शिष्योंको विद्याका उपदेश करता था, वह स्थान 'गुरुकुल' कहलाता था। जहाँ अध्ययनाध्यापनकी परम्परा दीर्घकालतक चालू रहती थी, वह स्थान 'विद्यापीठ'के नामसे भी पुकारा जाता था। 'समर्थः पदविधिः' सूत्रके भाष्यमें महाभाष्यकार पतञ्जलिने अनेक बार 'गुरुकुल' शब्दका उल्लेख किया है।† जहाँ ऋषिसमुदाय एकत्र होकर शास्त्र या सत्सङ्ग करता हो, वह स्थान 'ऋषिकुल' कहलाता था। नैमिषारण्य ऐसा ही ऋषिकुल था। अत्यन्त प्राचीनकालमें गुरुकुल प्रायः तपोवनोंमें होता था। कुछ घास-फूसके सुन्दर झोपड़े, अग्निहोत्रका स्थान, शास्त्रचर्चाके लिये स्थान, सघन सुन्दर वृक्ष, फूलके पौदे, तुलसीकी वाटिका, गोबरसे लिपी-पुती स्वच्छ भूमि, गौओंका समुदाय, हरिनोंके झुंड, विविध पक्षियोंका कलरव, शुक-सारिका आदिके द्वारा भी शास्त्र-चर्चा तथा हिंसक जीवोंका तपके प्रभावसे हिंसा त्यागकर रहना आदि बातें उन मुनियोंके आश्रमोंकी विशेष्यताएँ थीं। इन आश्रमोंमें ब्रह्मचारी द्विजोंके वेदमन्त्रोंका घोष सदा गूँजता रहता था। अपने-आप उगे हुए नीवार, कन्द-मूल-फल, शिलोञ्छ-वृत्तिसे लाये हुए अन्नके दाने अथवा शिष्योंद्वारा भिक्षामें प्राप्त हुआ अन्न—यही गुरुकुलकी आजीविका थी। इन गुरुकुलोंमें गरीब तथा राजा-महाराजाके लड़के भी समान भावसे रहते और शिक्षा पाते थे।

महर्षि अगस्त्य जब काशीमें रहते थे, उस समयके उनके आश्रमका जैसा वर्णन स्कन्दपुराणमें उपलब्ध होता है, उससे आश्रमसम्बन्धी उपर्युक्त धारणाकी ही पुष्टि होती है। अग्निहोत्रकी धूममालाओंसे आच्छादित आश्रमवृक्ष बड़े भले मालूम होते थे। वहाँकी वायुमें मीठी-मीठी सुगन्ध भीनी रहती थी। कालिदासने रघुवंशमें वसिष्ठ-आश्रमका वर्णन भी कुछ ऐसा ही किया है। केवल काव्योंमें ही नहीं, अन्यत्र भी महर्षियोंके आश्रमोंका वैसा ही वर्णन मिलता है। पद्मपुराण पातालखण्डमें महर्षि च्यवनके आश्रमका चित्रण भी ऐसा ही किया गया है। महाभारत, रामायण तथा विभिन्न पुराणोंमें अनेक स्थलोंपर आश्रमोंके उपर्युक्त स्वरूपका ही वर्णन उपलब्ध होता है। छान्दोग्योपनिषद्में सत्यकाम जाबालके गुरुकुल-गमनकी चर्चा आयी है। उन्हें गुरुने चार सौ गायोंकी सेवाका भार सौंपा था और यह आदेश दिया था कि जब ये एक हजारकी संख्यामें पहुँच जायँ, तब आश्रमपर लौटकर आना। इससे पता चलता है कि गुरुकुलके आसपास गोचरभूमि पर्याप्त होती थी। ऐसा होना वनमें ही सम्भव है। जहाँ समिधा, कुशा, जल, गोचारण, अग्निहोत्र, नीवार एवं कन्द-मूल आदिका सुपास हो, वहीं ये आश्रम या गुरुकुल होते थे। चारों वेदोंके प्रथम मन्त्रोंपर दृष्टिपात करनेसे भी इसी धारणाकी पुष्टि होती है। यजुर्वेदका प्रथम मन्त्र है 'इषे त्वा ऊर्जे त्वा' इत्यादि। इसमें पलाश-शाखाके उच्छेदनका उल्लेख है। दर्श-पौणमास यागके प्रथम दिन पलाश-शाखाद्वारा स्पर्श करके गायोंका दूध पीनेवाले बछड़ोंको उनके पाससे अलग किया जाता था, जिससे शामको जो दूध मिले, उसका कल होनेवाले यागके लिये उपयोग किया जा सके। यदि बछड़े साथ ही चरने चले गये तो शामको दूध नहीं मिल सकेगा। इस मन्त्रमें पलाश-शाखा, वत्स तथा गौओंसे आवश्यक प्रार्थना की गयी है। इससे गुरुकुलके उस भव्य रूपकी झाँकी मिलती है, जहाँ सदा यज्ञ-याग होते थे और बछड़े तथा गौओंकी बहुलता रहती थी। वनके तटप्रान्तकी पावनभूमिमें आचार्यका गुरुकुल होता और उसके सब ओर गायोंके लिये चरनेकी सुविधा रहती थी। ऋग्वेद और सामवेदके प्रथम मन्त्रमें अग्निदेवकी प्रार्थना की गयी है। ये अग्नि परमात्माकी विभूति हैं अथवा अग्नि परमात्माका भी नाम है। तथापि 'यज्ञस्य देवम्' इस विशेषणसे यज्ञ-सम्बन्धी अग्निका भी बोध होता है और इस मन्त्रद्वारा अनादि

* आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा॥
(म० २। १४८)

† 'श्रितो विष्णुमित्रो गुरुकुलम्' 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' इत्यादि।

कालसे चली आती हुई अग्निहोत्र एवं यज्ञादिकी परम्परापर पूरा प्रकाश पड़ता है। अतः यह निश्चय होता है कि गुरुकुलके द्विज-कुमार प्रतिदिन सवेरे-शाम अग्निहोत्र कर्म अवश्य करते थे। अथर्ववेदके प्रथम मन्त्रमें जल देवताकी प्रार्थना है। स्नान-सन्ध्या-तर्पण आदिके लिये तथा स्वयं भी जीवनधारणके लिये जलका कितना महत्त्व है, यह सभी अनुभव कर सकते हैं। अतः छात्रोंका दैनिक कृत्य एवं उनकी धार्मिक दिनचर्या जलके अभावमें अधूरी न रह जाय—इसके लिये गुरुकुल अवश्य किसी नदी, नद, महान् सरोवर या निर्झर आदिके समीप होता था। प्राचीनकालमें काशी, प्रयाग और पाटलि-पुत्र भी विद्याके केन्द्र रहे हैं। ये सब गङ्गातटपर हैं। उज्जयिनीके सान्दीपनिका गुरुकुल भी सिप्राके तटपर सुशोभित था। काश्मीर भी प्राचीनकालसे शारदापीठ रहा है। वहाँ भी नदी एवं निर्झर आदिकी कमी नहीं है। यह तो हुआ गुरुकुलोंकी भौगोलिक स्थिति एवं छात्रोंके आचार-व्यवहारका विवरण। गुरुकुलोंकी शिक्षाका लक्ष्य क्या था, यह भी समझने-की वस्तु है। १—छात्रोंसे दीर्घकालतक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन कराकर उनके शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक शक्तिको विकसित करना। २—उनमें अनुशासन, आज्ञापालन, सेवा, सद्धर्मपरायणता तथा सदाचार-प्रियताका भाव जगाना। ३—प्रत्येक छात्रको रहस्य, कल्प आदिसहित साङ्ग वेदों, आन्वीक्षिकी आदि चतुर्विध विद्याओं तथा चौसठ कलाओंका मर्मज्ञ विद्वान् बनाना आदि गुरुकुलोंका लक्ष्य था। आस्तिकता, परलोक और पुनर्जन्मपर विश्वास, देवताओं, पितरों तथा गुरुजनोंके प्रति श्रद्धा-भक्ति, श्राद्ध आदि सत्कर्मोंपर आस्था तथा देश और समाजके हितके लिये आत्मोत्सर्गकी दृढ़ भावना आदि बातें इन गुरुकुलोंकी सांस्कृतिक देन थीं। वहाँसे त्यागी, संयमी, ज्ञानी, सदाचारी, काम, क्रोध, लोभ आदिसे रहित तथा पूर्ण संतोषी स्नातक निकलते थे। मैं यहाँ प्राचीन गुरुकुलसे निकले हुए एक शिष्यका दृष्टान्त रखना चाहता हूँ। वरतन्तु ऋषिके गुरुकुलमें कौत्स मुनि पढ़ते थे। उनका अध्ययन पूर्ण होनेपर जब समावर्तन-संस्कार हुआ, तब उन्होंने गुरुसे दक्षिणा माँगनेका अनुरोध किया। गुरुने कहा—'मैं तुम्हारी सेवासे ही संतुष्ट हूँ।' तथापि विशेष आग्रह करनेपर गुरुने शिष्यकी परीक्षाके लिये चौदह करोड़ अशर्फियाँ माँग दीं। एक दीन ब्राह्मण इतना धन कहाँसे लाता। फिर भी कौत्सने साहस नहीं छोड़ा। वे महाराज रघुके पास यह धन माँगनेके लिये गये। उन दिनों महाराज रघुने विश्वजित् यज्ञ करके अपना सर्वस्व लुटा दिया था। यहाँतक कि अतिथि-सत्कारके लिये उनके पास एक बर्तनतक नहीं बचा था। उन्होंने मिट्टीके बर्तनमें जल मँगाकर उसीसे अतिथिके चरण पखारे। महर्षि कौत्सने महाराजकी अकिञ्चनता देखी तो कुछ भी न माँगनेका निश्चय कर लिया। महाराजने आश्रम या गुरुकुलका कुशल-समाचार पूछकर कौत्समुनिसे उनके आगमनका कारण जानना चाहा। आग्रह करनेपर उन्होंने सब कुछ बता दिया और कहा—'अब मैं और कहीं माँग लूँगा; आपकी स्थिति, इस समय यह धन देनेकी नहीं है।' महाराज रघुने कहा—'मेरे द्वारपर आप-जैसे विद्वान् अतिथि गुरुदक्षिणाके लिये आयें और निराश लौट जायँ, यह कलङ्क मैं सहन नहीं कर सकूँगा। आप दो-एक रोज ठहरें, मैं कोई व्यवस्था करूँगा।' कौत्स मुनि ठहर गये। दिग्विजयी रघुने धनुष सँभाला और सवेरे रथारूढ होकर कुबेरसे युद्ध करनेका निश्चय किया। क्षत्रिय माँग तो सकता नहीं, युद्धसे जीतकर ही धन प्राप्त कर सकता है। कुबेरको रघुके संकल्पका पता चल गया और उन्होंने रघुके महलमें अनन्त स्वर्णराशिकी वर्षा कर दी। सवेरे रघुको अपने घरमें अपार वैभव दिखायी दिया। उन्होंने कहा—'कुबेरने यह स्वर्णराशि आपके लिये भेजी है, आप सब ले जाइये।' कौत्सने कहा—'मुझे अपने लिये एक पैसा नहीं चाहिये, गुरुको जितना देना है, उतना ही लूँगा।' अयोध्यावासियोंने सर्वस्व देनेवाले रघु और गुरु-दक्षिणासे अधिक कुछ भी न लेनेवाले कौत्स—दोनोंका साथ-साथ अभिनन्दन किया—

> जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ
> द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
> गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी
> नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥

यह है प्राचीन गुरुकुलके एक छात्रका चरित्र, जो कामिनी-काञ्चनको धूलसे अधिक महत्त्व नहीं देता था। क्या आजके कालेज और विश्वविद्यालयोंके छात्र इससे कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकेंगे?

आगे चलकर लोगोंमें मानसिक संयमका अभाव दृष्टि-गोचर होने लगा। लोग कुसङ्गमें पड़कर पथभ्रष्ट होने लगे। अतः उनके संरक्षणके लिये विशेष व्यवस्थाकी आवश्यकता प्रतीत हुई। धन और प्रभुताके अभिमानने भी कुछ लोगोंके मनमें सर्व-साधारणसे अपनेको अलग रखनेकी भावना उत्पन्न की। कादम्बरीके रचयिता महाकवि

बाणभट्टने राजा तारापीडके द्वारा स्थापित एक ऐसे विद्यालयका चित्रण किया है, जो उन्होंने अपने पुत्र चन्द्रपीडकी शिक्षाके लिये बनवाया था। जन-सम्पर्कके कारण राजकुमारका मन किसी अन्य व्यसनमें न फँस जाय, इसके लिये महाराजने नगरसे बाहर सिप्राके तटपर विद्यामन्दिरका निर्माण कराया। उसका विस्तार आधे कोसका था। चारों ओर हिमालयकी शृङ्गमालाओंके समान ऊँची चहारदीवारी खड़ी थी। चहारदीवारीके पीछे गहरी और चौड़ी खाई खुदी थी। विद्यामन्दिरके सभी द्वारोंपर अत्यन्त दृढ़ किवाड़ें लगी थीं। उसका एक ही द्वार खुलता था और उसीसे विद्यालयमें प्रवेश किया जाता था। उसके एकान्त प्रदेशमें सवारीके लिये अश्व और शिबिका आदि प्रस्तुत रहती थी। ऊपर शिक्षाका स्थान था और निचले भागमें व्यायामशाला थी। उस विद्यालयका नक्शा देवमन्दिरके समान था। उसमें सभी विद्याओंके आचार्योंको एकत्र करनेका प्रयास किया गया। जैसे सिंह-किशोरको पिंजड़ेमें बाँध रक्खा जाय, उसी प्रकार राजकुमार चन्द्रपीडको विद्यालयमें प्रविष्ट करके बाहर निकलनेकी मनाही कर दी गयी थी। वहाँ आचार्य और उनके पुत्र ही उनके पारिवारिक जन थे। समस्त बालोचित क्रीडाओंका प्रसङ्ग, जो विद्याप्राप्तिमें प्रतिबन्धक है, निषिद्ध कर दिया गया था। राजा कभी-कभी रानीके साथ जाकर राजकुमारको देख लिया करते थे। यदि सर्वसाधारणके लिये ऐसा विद्यालय बन सकता तो बड़ी उत्तम बात होती। नगरके आकर्षणमय वातावरणमें छात्रोंका मन एकाग्र नहीं हो सकता, इसका अनुभव करके सर्वत्र ऐसे ही विद्यालयोंकी व्यवस्था होनी चाहिये, जहाँ विद्यामें प्रतिबन्धक वस्तुओं या प्रसङ्गोंका प्रवेश सर्वथा निषिद्ध हो। ब्रह्मचर्यपालन और ज्ञानोपार्जनमें कोई विघ्न न आने पावे। बौद्धकालमें नालन्दाका विश्वविद्यालय भारतभरमें प्रसिद्ध था। कहते हैं, उसमें एक सौ ख्यातनामा विद्वान् अध्यापक थे और दस हजारसे अधिक छात्र शिक्षा पाते थे। वहाँ भी छात्रोंके संयमपूर्ण जीवन और ज्ञानवर्धनकी सुविधापर दृष्टि रक्खी जाती थी। प्रतिकूल बातोंका कठोरतापूर्वक निवारण किया जाता था। इसीलिये वहाँके स्नातक बड़े विद्वान्, यशस्वी और सच्चरित्र होते थे। आचार्यपाद कुमारिलभट्ट भी उसी विद्यालयकी एक विभूति थे। यह स्मरण रखनेयोग्य बात है कि मध्यकालके इन विद्यामन्दिरों अथवा विद्यालयोंमें भी सहशिक्षाका कभी प्रवेश नहीं हुआ। बौद्धकालमें भी बालक और बालिका या युवती और युवक एक साथ एक विद्यालयमें शिक्षा नहीं पाते थे।

आधुनिक विद्यालयोंकी अवस्था इससे सर्वथा विपरीत है। अधिकांश स्कूल, कालेज या विश्वविद्यालय नगरोंमें हैं और बहुतोंमें सहशिक्षाका प्रचार है। एक तो संयम, ब्रह्मचर्य और त्यागका पुरातन आदर्श भुलाकर पश्चिमकी विलासितापूर्ण पद्धति अपनायी गयी। दूसरे, ऐसे-ऐसे साहित्यका अध्ययनाध्यापन चालू कर दिया गया, जिसे पढ़कर किसी भी छात्रके लिये मनोविकारोंपर विजय पाना सम्भव न रहे। शास्त्रोंमें स्त्रीको घृतकुम्भ और पुरुषको तप्ताङ्गारकी उपमा दी गयी है; अतः इन दोनोंको सदा एक साथ रहनेकी आज्ञा नहीं है, पर आज सहशिक्षाने इस आदर्शको उलट दिया और अग्नि एवं घृतके एकत्र स्थापनसे जो दुष्परिणाम सम्भावित है, वह प्रत्यक्ष देखा जाने लगा है। हमारे छात्र-जीवनको उच्छृङ्खलता एवं कामुकताकी ओर ले जानेकी दिशामें सबसे घातक प्रयत्न सिनेमा-जगत्‌ने किया है। वहाँके रंगमञ्चपर युवक-युवतियोंके अश्लीलतापूर्ण अभिनय, निर्लज्ज अङ्ग-संचालन तथा वासनाको उत्तेजित करनेवाले संगीत कोमलमति बालकोंपर विषका-सा असर डालते हैं। यदि सिनेमाके दृश्योंकी इस अभद्रतापर निकट भविष्यमें नियन्त्रण नहीं किया गया तो हमारे भविष्यके आशादीप बालक इस योग्य नहीं रह जायँगे कि अपना अथवा अपने समाजका उत्थान या हित-साधन कर सकें। पाश्चात्य मनोवृत्तिके कुछ लेखक और कवि भी प्रगतिवाद या यथार्थवादके नामपर ऐसे अवाञ्छनीय एवं अभद्र साहित्यकी सृष्टि कर रहे हैं, जिससे समाजकी धार्मिक मर्यादा तथा सच्चरित्रताके मूलोच्छेदका भय उपस्थित हो गया है; अतः उसपर भी रोक-थामकी आवश्यकता है। प्राचीन गुरुकुलों या विद्यालयोंमें छात्रकी योग्यता बढ़ानेका उत्तरदायित्व अध्यापकोंपर होता था; आजकल केवल लंबी-लंबी फीस वसूल की जाती है; छात्रकी योग्यता कैसी है? उसमें कितनी प्रगति हो रही है? इसकी चिन्ता स्कूल-कालेजके अध्यापक नहीं करते। यह सब चिन्ता लड़कोंके अभिभावक करें। वे स्कूलकी तो फीस दें ही, घरपर भी ट्यूटर रखनेकी व्यवस्था करें। ऐसी स्थितिमें अर्थहीन असहाय व्यक्ति अपनी संतानोंको सुशिक्षित कैसे कर सकता है? ये सब कई विचारणीय समस्याएँ हैं, जिनपर विचार करके शिक्षाकी वर्तमान पद्धति तथा छात्रोंके रहन-सहन आदिमें आमूलचूल परिवर्तन करनेकी आवश्यकता है, तभी हम अपने बालकोंका तथा राष्ट्रका भविष्य उज्ज्वल कर सकेंगे।

भगवान्‌के भेजे हुए हमारे अतिथि

(लेखक—आचार्य श्रीफीरोज कावसजी दावर, एम्०ए०, एल्०-एल्०बी०)

सम्पत्ति एक न्यास (ट्रस्ट) है—भोग और सुखका साधन-मात्र नहीं; वह दायित्व-भार है जिसका निष्ठापूर्वक वहन करना चाहिये । बपौती नहीं, जिसे जैसे चाहें बहावें । यही बात बच्चोंके बारेमें भी कही जा सकती है, उनमें भी चरितार्थ होती है । वे भगवान्‌की ओरसे हमें वरदान और प्रसादके रूपमें प्राप्त होते हैं, इसलिये नहीं कि हमारे जीवनमें हमारी सहायता करें और बुढ़ापेमें हमारी सेवा-शुश्रूषा करें—(यद्यपि कर्तव्यपरायण बालक आज्ञाकारिता और सेवासे कभी च्युत नहीं होते, वे इसको अपना सौभाग्य समझते हैं) वरं भगवान् हमें संतान इसलिये देते हैं कि हम अपने सर्वोत्कृष्ट साधनोंसे उनका सुखद वातावरणमें पालन करें और उनको जीवनके शाश्वत तथ्यों-के ज्ञानमें प्रतिष्ठित करें । शिशु स्वतः एक स्वतन्त्र साध्य है, अपनी प्रयोजनसिद्धिका साधन नहीं और न वह सेवक है जिसे इच्छानुसार बरतें, वरं वह भगवान्‌के यहाँसे आया हुआ हमारे घरका अभ्यागत (अतिथि) है । उसके प्रति व्यवहारके लिये हम ईश्वरके सामने सीधे उत्तरदायी हैं । हमारा दायित्व इसलिये और भी बढ़ जाता है कि उसकी उत्पत्तिमें माता-पिताके नाते हमारा हाथ था । समस्त नैसर्गिक सुखोंमें संतानवत्ता अनुत्तम और शुद्धतम सुख है । ज्योत्स्ना-मयी रात्रि, पार्वतीय दृश्य, कल्लोलमय महासागर अथवा मनोमोहक गीत हमें आनन्दसे रोमाञ्चित कर सकते हैं; परंतु इस आनन्दसे अत्यन्त उत्कृष्ट आनन्द हमें तब मिलता है, जब हम स्वास्थ्य और ओजसे देदीप्यमान बालककी सरल तोतली वाणी सुनते हैं अथवा उसकी चिन्ताविरहित क्रीड़ाको देखते हैं । यह सत्य है कि आजकलके कठिन समयमें, विशेषकर निर्धन वर्गमें, संततिकी न ज्यादा माँग है और न उनका स्वागत ही होता है; परंतु इस विषयमें हमारे जीवनकी अत्यन्त विषम परिस्थितियाँ विचारणीय हैं, जिनसे वस्तुओंके मूल्य बढ़ते जाते हैं और हमारा नैतिक स्तर गिरता जाता है । संतानके प्रति धनहीन वर्गकी इस प्रवृत्तिके लिये हमें सहानुभूति रखनी चाहिये, न कि कुत्सा या निन्दाभाव; क्योंकि वे भाग्यहीन और दयनीय हैं, जो ऐसी प्रवृत्ति रखते हैं और संतान-जैसे शुभ्रतम और सर्वोत्कृष्ट आनन्दसे अपनेको वञ्चित रखते हैं, जिसकी पूर्ति न स्वास्थ्य कर सकता है और न लक्ष्मी ।

बालककी शिक्षाका सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम स्वयं शिक्षित बनें; क्योंकि उसे अध्यापकोंसे कहीं अधिक आदर्शोंकी आवश्यकता है । स्वभावतः उसके सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ आदर्श माता-पिता हैं और विशेषरूपसे माता । यह निरर्थक अविवेक है कि घरमें स्वयं असत्य बोलो, अपशब्द कहो, अथवा अन्य भाँतिसे अशिष्ट व्यवहार करो और बालकको सत्यभाषण, विनय और चरित्रकी महिमाका उपदेश करो । बालकगण उपदेशसे बढ़कर सदा उदाहरणपर चलते हैं और वे अपने माता-पिताके वचनोंको सुननेकी अपेक्षा उनकी क्रियाको सचमुच अधिक ध्यानसे देखते हैं । यह विरोधोक्ति अत्यन्त सारगर्भित है कि 'बालककी शिक्षाका आरम्भ उसके पैदा होनेके सौ वर्ष पहले करो' । इसका अर्थ यह है कि यदि कोई स्त्री या पुरुष परम्परासे पवित्र, धार्मिक और सुसंस्कृत जीवनवाला होता है, तो वह अपने ये गुण पुत्रको दे जायगा और सम्भावना यह है कि सौ वर्ष बाद जो प्रपौत्र होगा, वह इन्हीं सद्गुणोंका उत्तराधिकारी बनेगा (जिनका बीजारोप उसने परिवारमें किया था); क्योंकि विज्ञानका यह नियम है कि वंशपरम्परासे संततिमें पूर्व पुरुषोंके गुणोंका अवतरण होता है । अपवाद तो सदा होते हैं और होंगे, परंतु व्यापक नियम यह है कि संतान अपने पुरखोंके गुणोंका अनुगमन करते हैं, जैसे फल वृक्षके गुणोंका अनुगामी होता है ।

शिशु-शिक्षाका उद्देश्य है कि उसका जीवन श्रेष्ठ बने । बालक एक बीज है, सम्भावना है, शक्ति है । उसके अन्तर्निहित और सहज मनोबलको विकसित करके उसे विश्वका एक आदर्श नागरिक बनाना चाहिये । कोई गुण बाहरसे नहीं आता । प्रत्येक विशेषता अंदरसे ही विकसित होती है । जिस गुण या शक्तिका हमें बालकमें विकास करना चाहिये—वह है इन 'बाल भगवान्'में निहित श्रेष्ठता और सुन्दरता अर्थात् उनकी प्रच्छन्न दिव्यता । अच्छे हिंदू या मुसल्मान, अच्छे गुजराती या बंगाली, अच्छे भारतीय या अंग्रेज अथवा अच्छे भगवद्भक्त भी बननेकी अपेक्षा यह अत्यन्त श्रेयस्कर और समुचित है कि बालक एक उदारचेता महापुरुष बने । अपने धर्म या प्रदेशका प्रेम यद्यपि वास्तवमें सराहनीय है, तथापि बहुधा उसमें साम्प्रदायिकता अथवा

प्रान्तीयताका दोष आ जाता है। अतः यह राष्ट्रके हितके लिये घातक हो जाता है। ऐसी देशभक्तिके उदाहरण पाये जाते हैं, जिसमें विश्वबन्धुता और जातीय समानताका अभाव था और वह युयुत्सु और विग्रहशील देशप्रेममें परिणत हो जाती है। ऐसी देशभक्ति मानवजातिके लिये वास्तविक अभिशाप बन जाती है, जैसा नाजी जर्मनीके पतनमें देखा जा चुका है।

यह सत्य है कि हम बालकके मनको नहीं समझ पाते; हमलोग प्रौढ़ हैं और बुद्धि एवं तर्कसे चलते हैं। बालक भावना और कल्पनाशक्तिसे काम लेते हैं। हम प्रायः उनकी कोलाहलमयी क्रीडा और उद्दण्डतासे झुँझला उठते हैं। यह भूल जाते हैं कि उनकी अनावश्यक शक्तिकी अतिरिक्त मात्रा उनके प्रबल और बाह्य दृष्टिसे अर्थहीन उपद्रवोंमें अपनेको व्यक्त करती है। एक बालकके लिये घंटोंतक कुर्सी और मेजसे चिपके रहना उसी भाँति असम्भव है, जैसे किसी लड़खड़ाते बुड्ढेसे यह आशा करना कि वह विश्वप्रतियोगिताकी दौड़में भाग ले। उसकी चञ्चल शक्तिको लाभकारी मार्गमें लगाना चाहिये; दण्डसे दमन नहीं करना चाहिये। कभी-कभी बालकोंके बुद्धिरहित प्रश्न हमें खिझाने लगते हैं; परंतु उनकी यह प्रवृत्ति इस बातको द्योतित करती है कि उनमें अज्ञानके बदले ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रबल उत्सुकता रहती है। जिज्ञासा बालकोंका सुन्दर लक्षण है। उसको संतुष्ट करनेके प्रयास बिना उसपर चिढ़ना भूल है। मन्दबुद्धि बालकके लिये 'जडमति' 'मूर्ख' इत्यादि शब्दोंका बारम्बार प्रयोग उसमें हीनताकी ग्रन्थि पैदा कर देता है, जिसका दूर करना कठिन हो जाता है। इससे उसके मनपर बुद्धिकी मन्दताका भाव—चाहे वह सत्य हो या असत्य, दृढ़तर हो जाता है और अपने सुधारके लिये प्रयास करनेमें उसे निरुत्साहित कर देता है। कुछ बालकोंके लालन-पालनमें असीम धैर्य एवं कौशल अपेक्षित है। कुछ बालकोंपर शिक्षा और उपदेश सद्यः प्रभाव डालते हैं। कितनोंपर अत्यन्त विचारपूर्ण शिक्षा, मधुर शब्द तथा हार्दिक कृपालुता व्यर्थ सिद्ध होते हैं। कभी-कभी तो इनका बालक गलत अर्थ लगाते हैं और समझने लगते हैं कि हमारे पिता-माताकी दुर्बलता है। कुछ बालक जन्मसे ही हठी होते हैं। उनका चित्त इतना विकृत होता है कि कृपा या कठोरताका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; परंतु जैसे वैद्यको अपना उपचार अन्ततक करते रहना चाहिये, चाहे वह जान भी ले कि रोग असाध्य है, वैसे ही बुद्धिमान् माता-पिताको भी अपना कर्तव्य करना ही पड़ता है। जब जैसी आवश्यकता हो कृपा और सहानुभूतिके साथ वे यथोचित कठोरताका प्रयोग भी करते हैं।

ईसाइयोंकी धर्मपुस्तकमें वर्णित अपव्ययी पुत्रकी कथा (ल्यूक-पञ्चदश ११ । ३२) का अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि भगवान् दुरात्माओंका उद्धार करनेके लिये आतुर रहते हैं और विशेषतः प्रसन्न होते हैं, जब कोई पापी पुण्य-पथगामी बनता है। इस प्रकारका अप्रत्याशित प्रत्यावर्त्तन नष्ट प्राणीकी पुनरवाप्ति अथवा मृतकके पुनर्जीवनके तुल्य है। यह नहीं कहा जा सकता कि कोई बालक अपने जीवनमें कब बुरेसे अच्छा बनने लगेगा। मानव-जीवन सम्भाव्यताओंसे परिपूर्ण है। माता-पिताके बहुत कालसे प्रयोगमें लाये हुए धैर्य और क्षमाका पुरस्कार सम्भव है बुढ़ापेमें मिले, जैसे साध्वी मॉनिकाके अपने पापी तथा बाह्यतः असाध्य पुत्र (संत ऑगस्टाइन) के लिये बहाये हुए अश्रुओंको और उसकी प्रार्थनाको अन्ततोगत्वा भगवान्‌ने इस प्रकार स्वीकार किया कि माताको उसके सुधारसे पूर्ण हार्दिक संतोष हुआ। ऐसे लोगोंके उदाहरण भी मिलते हैं, जो पढ़नेमें सर्वथा मन्दबुद्धि थे; परंतु जीवनके अन्य क्षेत्रमें उन्होंने अपनी अद्भुत योग्यता दिखायी और करोड़ों रुपये पैदा किये। कभी-कभी तो घोर-से-घोर दुरात्माओंकी अवस्थामें ऐसा परिवर्तन देखा गया है कि वे अपने जीवनके अन्तिम भागमें महात्मा हो गये। इससे यह सिद्धान्त प्रतिपादित होता है कि जो सुधारके पहिले जितना ही बड़ा दुराचारी होता है, परमात्माकी कृपासे जब उसका उद्धार होता है, तब वह उतना ही बड़ा धर्मात्मा हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि शिशु-शिक्षामें अपार धैर्य और अध्यवसायकी आवश्यकता है। यदि पुत्र जीवनकी अन्तिम घड़ियोंतक दुष्ट बना रहे और उसका सुधार अशक्य हो, तो भी, बुद्धिमान् माता-पिताको अपनी क्षमाशीलता एवं सहानुभूति धीरतापूर्वक अक्षुण्ण रखनी चाहिये और यह मानना चाहिये कि उनका वह पुत्र उनके ही पूर्वजन्मकृत पापोंके समुचित दण्डस्वरूपमें उन्हें प्राप्त हुआ है। पिताको यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि भगवान्‌के सुव्यवस्थित विश्वमें कोई यातना या कष्ट ऐसा नहीं भोगना पड़ता जो उसके अपने ही किसी पाप या अपराधका फल न हो। जिस रोगकी कोई ओषधि न हो, उसे जीवन-दीपकी अन्तिम लौ बुझनेतक आशापूर्ण धैर्य, प्रार्थना, प्रेम तथा दयाके व्रतपर दृढ़ रहकर सहन करना चाहिये।

केवल बौद्धिक शिक्षा, जिसमें मस्तिष्कका ही विकास होता है और मनुष्यकी अन्य शक्तियाँ उपेक्षित रहती हैं, एकाङ्गी उत्कर्षकी साधिका है। ऐसी शिक्षाका अत्यन्त दुःखद परिणाम आज सर्वत्र दिखायी देता है। एक अंगरेज विचारकका कहना है—सच्चरित्रता जीवनका नव-दशमांश है। यदि शिक्षासे मनुष्यके सदाचार निर्माण नहीं हुआ तो

वह निरर्थक है । शिक्षासे हमारी चारित्रिक जागरूकता सम्पन्न होनी चाहिये और चारित्रिकता 'धर्म'का आधार है । चरित्र-निर्माणका प्रारम्भ जन्मके साथ होना चाहिये । इसकी न उपेक्षा की जा सकती है और न इसके करनेमें विलम्ब ही किया जा सकता है; परंतु चरित्र सीखा नहीं जाता। उसका अनुकरणद्वारा ग्रहण होता है । बालकके मनपर सत्कर्म भी बलपूर्वक इच्छाके विरुद्ध लादा नहीं जा सकता । दुर्गुणके दुष्परिणाम और निष्पक्ष परोपकार तथा स्वार्थहीन सेवाके जीवनसे जो सुख और आनन्द प्राप्त होता है, उसे दिखाकर बालकके हृदयमें सूक्ष्म एवं अज्ञातरूपसे चारित्र्यका प्रवेश कराया जाता है । यदि सत्यके महत्त्व और उसकी तत्परताका गौरव बालकने समझ लिया तो जीवनके संग्राममें विजय निश्चित है; क्योंकि सत्यनिष्ठासे अन्य विभिन्न सद्गुण अपने-आप ही उसके पीछे लगे चले आते हैं । सत्य-भाषणके कारण वह असत्कर्मोंके आचरणसे बचेगा । बालककी शिक्षामें सत्यका स्थान आदिमें, मध्यमें और अवसानमें—सर्वोच्च है । इस एक गुणकी महिमाके फलस्वरूप बालक अपने व्यवहारमें निष्कपट, स्पष्टवादी तथा निर्भीक हो जायगा । दूसरे सद्गुण हैं—प्रेम, स्वार्थहीनता, अहिंसा और परहित-साधन । स्वार्थ उद्वेजक है और सत्य आकर्षक । सत्यसे संसारमें सम्मान प्राप्त होता है, परंतु प्रेमपीयूष दूसरोंमें प्रेमकी उत्पत्ति करता है और जिन हृदयोंके प्रति प्रदर्शित किया जाता है, उन्हें वशमें कर लेता है ।

बालक प्रायः न्यायसङ्गत और विवेकपूर्ण व्यवहारको समझते हैं । यदि कोई माता-पिता किसी संतानके प्रति अपेक्षाकृत अधिक स्नेह करेंगे तो दूसरी संतानोंके हृदयमें एक ईर्ष्या-द्वेषकी भावना पैदा हो जायगी, जिसका भविष्यमें महाभयङ्कर परिणाम होगा । यह स्वाभाविक है कि माता-पिता अपनी संततिसे सम्मानकी आशा करते हैं; परंतु इस आशा करनेके पहले उन्हें सम्मानका पात्र बनना चाहिये । उनको अपनी ओरसे संतानके व्यक्तित्वका आदर करना चाहिये । बुरे लगनेवाले शब्दोंको विशेषकर दूसरोंके सामने प्रयुक्त करके उसके आत्म-सम्मानको ठेस न लगने देनी चाहिये । बलात् अनुशासन और कठोर दण्डसे सैनिक विद्यालय-में भले ही काम चल जाय, परंतु परिवारमें इनसे काम न चलेगा । जहाँ बालक झूठ और छलसे इनसे बचनेके लिये प्रलोभित होंगे और यदि असत्य तथा कपट पैठ गये तो चारित्र्यके मूलपर ही कुठाराघात हो जायगा । हमें बालक-को अपना विश्वासभाजन बनाना चाहिये, जिससे उसकी यह धारणा दृढ़ हो जाय कि हमें उसके कल्याण और हितमें तीव्र अनुराग है । उसकी अपने पिता-मातामें ऐसी प्रतीति होनी चाहिये कि संकटके कालमें हमारे लिये उसकी सलाह लेना श्रेयस्कर और वाञ्छनीय है । जब कभी उससे भूल हो जाय तो शान्तिपूर्वक उसे समझाना चाहिये, जिससे उसको बोध और विश्वास हो जाय कि मैं ठीक रास्तेपर नहीं हूँ । हमारे व्यवहारसे उसको यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि माता-पिता प्रेत नहीं हैं, जिनसे डरना चाहिये; अपितु वे हमारे सहायक, मित्र और गुरु हैं, जिनसे आत्म-कल्याणके लिये बराबर सलाह लेनी चाहिये ।

बहुत-से विचारकोंने संसारके भविष्यके अत्यन्त चित्ता-कर्षक चित्र खींचे हैं । इधर दूसरोंने ऐसा अन्धकारमय और भयावह चित्रण किया है कि उसे देखकर सारे होश-हवास गुम हो जाते हैं । यदि हम वास्तवमें एक सुन्दरतर संसार चाहते हैं—ऐसा स्थान जहाँपर हमारे उच्चतम आदर्श पूर्णताके निकट पहुँच सकें—तो हमें उन आदर्शोंको अपने बालकोंमें लाना शुरू करना चाहिये । ये ही आनेवाले कलके नागरिक हैं और जैसे सुन्दर जगत्की हम कल्पना करते हैं, उसके भावी निवासी हैं । सोने और रत्नोंसे भी बढ़कर संसारकी पूँजी और थाती उसके सुशिक्षित बालक हैं— यह ऐसी निधि है जो कभी नष्ट नहीं होती और जिससे भविष्यमें प्रभूत और प्रचुर धनागम होता रहेगा । कार्य आयासबहुल है और नैराश्य अरुन्तुद और मर्मघाती होता है; परंतु इसका पुरस्कार निकट या दूर भविष्यमें अनिवार्य और अवश्यम्भावी है । यह सत्य है कि नव पादपकी वृद्धिके लिये वर्षा, खाद, अनुकूल भूमि और विवेकपूर्ण रक्षाविधिकी आवश्यकता होती है और फिर भी सभी पौदे वृक्ष नहीं हो पाते और सारे वृक्ष फलद नहीं होते; परंतु प्रकृति देवी अध्यवसायी और कर्मठ व्यक्तियोंको ही पुरस्कृत करती है, आलसियोंको नहीं ।

हमारा यह अटल विश्वास है कि अपनी संतानको बुद्धियुक्त और धर्मपूर्ण आदर्शोंमें दीक्षित करनेके हमारे प्रयास एक सुन्दरतर युग निर्माण करनेमें समर्थ होंगे, जिसमें जहाँ हम विफल हुए हैं, वहाँ उनको सफलता मिलेगी—एक ऐसा उज्ज्वलतर युग जिसमें 'प्रेम निर्भ्रान्त पथप्रदर्शक होगा और आनन्द अपना स्वयं कवच होगा' ।

भगवान् रामकी शिक्षा-दीक्षा

(लेखक—डा० श्रीशान्तिकुमार नानूरामजी व्यास, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

श्रीराम और उनके भाइयोंके विद्याध्ययनका जो पहला वृत्तान्त वाल्मीकि-रामायणमें उपलब्ध होता है, वह उस समयका है, जब वे वयस्क गिने जाने लगे थे। वे सभी वेदोंके विद्वान् थे, फिर भी उनका वैदिक अध्ययन जारी था। वे ज्ञानवान्, धनुर्वेदमें प्रवीण, घोड़ेपर चढ़कर धनुष-बाणसे शिकार करनेवाले तथा हाथी, घोड़े और रथपर सवारी करनेमें कुशल थे। सभी लज्जाशील, शूरवीर, यशस्वी, सर्वज्ञ और दूरदर्शी थे। वे समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न, पिताकी सेवामें दत्तचित्त रहनेवाले तथा लोकहितकारी कार्यों में लगे रहते थे (१ । १८ । २५-३८)।

उपर्युक्त शिक्षामें औचित्य एवं संतुलनका पूरा ध्यान रक्खा गया है। पर्याप्त ज्ञानसे सम्पन्न होनेपर भी चारों भाइयोंका स्वाध्याय जारी रहना बताया गया है। इस शिक्षामें एक तरुणके लिये आवश्यक शारीरिक व्यायामका भी समावेश है; सैनिक प्रशिक्षण, शक्तिशाली पशुओंका नियन्त्रण, रथचर्या और मृगया—शक्तिवर्धनके ये साधन सर्वथा युवकोचित थे। नैतिक-दृष्टिसे इस आयुमें पैतृक अनुशासनका भी वाञ्छनीय स्थान रक्खा गया है। विनम्रता और समाज-सेवा तरुणके उत्साह और महत्त्वाकाङ्क्षाको मर्यादामें रखनेके लिये आवश्यक तत्त्व थे।

इसी समय रामको कुछ समयके लिये विश्वामित्रके अधीन कर दिया गया। इसे रामकी 'गुरुकुल-शिक्षा' कहना उचित न होगा; क्योंकि अबतक वह अपना औपचारिक अध्ययन समाप्त कर स्नातक बन चुके थे। विश्वामित्रसे उनको जो शिक्षा मिली, उसे 'स्नातकोत्तर प्रशिक्षण' (पोस्ट ग्रेजुएट ट्रेनिंग) कहना अधिक उपयुक्त होगा।

विश्वामित्रने सबसे पहले रामको 'बला' और 'अतिबला' नामक विद्याओंकी शिक्षा दी। ये दोनों विद्याएँ लौकिक और अलौकिक (भौतिक और आध्यात्मिक) शक्तियाँ प्रदान करनेवाली थीं। 'बला' विद्यामें अथर्ववेदके-से जादू-टोनोंवाले मन्त्रोंका संग्रह था, जिनके प्रयोगसे युद्धमें बल और विजय प्राप्त होते थे। जब कि 'अतिबला' विद्यामें गढ़ दार्शनिक मन्त्र थे, जिनका लक्ष्य रामको दार्शनिक ज्ञान, बुद्धिकी तीक्ष्णता तथा वाद-विवादमें निपुणता प्रदान करना था (ज्ञाने, बुद्धिनिश्चये, उत्तरे, प्रतिवक्तव्ये) (१ । २२)।

विश्वामित्रने रामको नवीन प्रकारके शस्त्रास्त्रोंके प्रयोगकी भी शिक्षा दी। विश्वामित्रके पास कुलपरम्परागत ५५* असाधारण अस्त्रोंका संग्रह था, जो उस समय बड़े दुर्लभ थे तथा जिनका प्रयोग करनेवाला युद्धमें अजेय बन सकता था। इन अस्त्रोंको विश्वामित्रने रामको प्रदान कर उनके प्रयोगकी विधि भी सविस्तर समझा दी (१ । २७-२८)। इस अस्त्र-शिक्षाका व्यावहारिक उपयोग करनेका भी अवसर रामको शीघ्र ही मिल गया, जब कि उन्हें विश्वामित्रके यज्ञमें

---

* दण्डचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, ऐन्द्रचक्र, वज्र-अस्त्र, शिवशूल, ब्रह्मसिर, ऐषीक, ब्रह्मास्त्र, मोदकी गदा, शिखरी गदा, कालपाश, धर्मपाश, वरुणपाश, शुष्क अशनी (वज्र), आर्द्र अशनी (वज्र), शिवास्त्र पिनाक, नारायणास्त्र, शिखर (अग्निका प्रिय अस्त्र), वायव्यास्त्र, हयशिर, क्रौञ्च, दो शक्तियाँ, कंकाल, मुशल, घोर, कपाल, किंकणी (ये सब देवताओंके अस्त्र हैं), विद्याधरोंका महास्त्र—नन्दन, असि। गन्धर्वोंका—प्रिय मोहनास्त्र, प्रस्वापन, प्रशमन, सौम्य, वर्षण, शोषण, संतापन, विलापन। कामदेवका महास्त्र—मादन, गन्धर्वोंका प्रिय अस्त्र मानव, पिशाचोंका प्रिय अस्त्र मोहन, तामस, सौमन, संवर्त, दुर्धर्ष, मौसल, सत्य, मायामय, सूर्यका तेजःप्रभ, चन्द्रमाका शिशिर, (विश्वकर्माका) दारुण त्वाष्ट्र, भगदेवताका भयानक शीतेषु और मानवास्त्र।

ये पचपन अस्त्र देकर विश्वामित्रने कहा था—'ये सभी अस्त्र कामरूपी हैं। इच्छानुसार रूप धरनेवाले हैं, महान् बलशाली और मनोरथ पूर्ण करनेवाले हैं।'

ये सब अस्त्र मन्त्ररूप थे और इनके अधिष्ठातृ-देवता भी थे। मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजी पूर्व-मुख बैठ गये और उन्होंने समस्त मन्त्र श्रीरामचन्द्रको दे दिये। विश्वामित्रके जप करते ही वे सब अस्त्र भगवान् रामके पास आ गये और हाथ जोड़कर बोले—'परमोदार राघव! हम आपके दास हैं, आप इच्छानुसार जो आज्ञा देंगे, हम वही सब करेंगे' ('''परमोदार किंकरास्तव राघव! यद्यदिच्छसि भद्रं ते तत्सर्वं करवाम वै।' (वा० १ । २७ । २५-२६) भगवान् रामने उनका हाथसे स्पर्श किया और कहा कि 'आपलोग सदा मेरे मानसमें बने रहें।'

इससे यह सिद्ध है कि उस समय कितनी चमत्कार और महत्त्वपूर्ण मन्त्रमयी तथा चेतन अस्त्रमयी विद्या प्राप्त थी। आजके विज्ञानका उसके सामने क्या मूल्य है।—सम्पादक

विघ्न पहुँचानेवाले राक्षसोंका संहार करना पड़ा था। इसके पश्चात् उन्होंने मिथिलाके स्वयंवरमें सीताको पत्नीरूपमें प्राप्त कर लिया, किंतु विवाहके बाद भी उनकी शिक्षा-दीक्षा काफी समयतक चलती रही। सीताके कथनानुसार विवाहके बाद वे बारह वर्षतक अयोध्यामें रामके साथ रहीं और तेरहवें वर्षमें उन दोनोंने वनको प्रस्थान किया था (उषित्वा द्वादशसमा इक्ष्वाकूणां निवेशने।...तत्र त्रयोदशे वर्षे......॥ ३। ४७। ४-५)। इस अवसरपर रामकी उन सभी विशेषताओंका विस्तारसे उल्लेख किया गया है, जो उन्हें युवराज-पदके लिये विशेष उपयुक्त बनाती थीं (२। १-२)। इन विशेषताओंके सूक्ष्म अध्ययनसे पता चलता है अबतक रामने कैसी सर्वाङ्गीण—बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक एवं व्यावहारिक—शिक्षा प्राप्त कर ली थी।

विद्वत्ताकी दृष्टिसे राम प्रज्ञा, प्रतिभा, स्मरणशक्ति और कल्पनासे सम्पन्न थे। उन्होंने उस समयकी सभी विद्याओं, वेद-वेदाङ्गों और कलाओंमें प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओंमें भी वे निपुण थे। मनोरञ्जनके उपयोगमें आनेवाले संगीत, वाद्य और चित्रकारी-जैसे शिल्पोंके भी वे विशेषज्ञ थे। धर्म और अर्थके ज्ञाता ब्राह्मणोंसे उन्हें उत्तम शिक्षा मिली थी। उन्हें धर्म, अर्थ और कामके तत्त्वोंका सम्यक् ज्ञान था। सामयिक लोकाचारोंसे वे सुपरिचित थे। वे विद्वान् और वयोवृद्ध ब्राह्मणोंका सत्सङ्ग किया करते थे। अस्त्राभ्याससे अवकाश मिलनेपर वे चरित्र, ज्ञान और आयुमें बड़े सत्पुरुषोंसे वार्तालाप करते और उनसे शिक्षा लेते थे। वे असाधारण वक्ता थे और अपने न्याययुक्त पक्षके समर्थनमें वाचस्पति या बृहस्पतिके समान एक-से-एक बढ़कर युक्तियाँ देते थे।

शारीरिक दृष्टिसे राम नीरोग शरीर, तरुण अवस्था तथा सुन्दर विग्रहसे सुशोभित थे। उनका व्यक्तित्व पूर्ण विकसित, बलिष्ठ एवं प्रभावशाली था। अपनी वीरता, ओज, तेज तथा पराक्रमके कारण वे देशके प्रीतिभाजन थे। शस्त्रास्त्रोंका वे निरन्तर अभ्यास करते रहते थे। वे धनुर्वेदके विद्वानोंमें श्रेष्ठ, देवों, असुरों या मानवोंके सभी शस्त्रास्त्रोंके प्रयोगमें प्रवीण, हाथी-घोड़ोंकी सवारीमें चतुर तथा बाण-विद्यामें तो अपने पितासे भी बढ़कर थे। अतिरथी पुरुषोंमें उनका विशेष आदर था। सैन्य-संचालनमें उन्होंने विशेष निपुणता प्राप्त की थी। वे शत्रु-सेनापर आक्रमण और प्रहार करनेमें कुशल थे। जब वे किसी नगर या गाँवको सर करने निकलते, तब बिना जीते वापस नहीं आते थे। संग्राममें वे अजेय थे।

राजकुमार होनेके नाते राम राजनीतिके व्यवहारमें पारंगत थे। कुलपरम्परागत प्रवृत्तियों और लक्षणोंसे वे युक्त थे। क्षात्र-धर्मके प्रति उनकी श्रद्धा थी। उन्हें सत्पुरुषोंके संग्रह, दीनोंपर अनुग्रह तथा दुष्टोंके निग्रहके अवसरोंका यथोचित ज्ञान था। वे देश-कालके तत्त्वको समझते थे। उनका क्रोध या हर्ष कभी निरर्थक नहीं जाता था। वे गम्भीर थे, लोगोंके मनोभावोंको परखनेवाले पर स्वयंके भाव गुप्त रखनेवाले थे। वे आय बढ़ानेके उपायोंको तथा व्ययके उचित प्रकारोंको भलीभाँति जानते थे। प्रजाका रामके प्रति और रामका प्रजाके प्रति अनुराग था। वे प्रजा-हितमें तत्पर तथा लोगोंको चन्द्रमाके समान सुख और आनन्द प्रदान करते थे। धर्म और अर्थका पूर्णतया पालन करनेके बाद ही वे सुखका उपभोग करते थे। युद्धोंसे लौटनेपर वे स्वजनोंकी तरह नागरिकोंकी—उनके स्त्री-पुत्रों, सेवकों, अग्नियों तथा शिष्योंकी—कुशलक्षेम पूछना नहीं भूलते थे। प्रजाजनोंके कष्टोंसे वे बड़े दुखी होते तथा उनके उत्सवोंमें पिताके समान परितुष्ट होते थे।

एक सदाचारी पुरुषके रूपमें राम कभी अशुभ कार्योंमें रुचि नहीं लेते थे—वे किसीके दोष नहीं देखते थे। वे सदा शान्तचित्त रहते। यदि कोई उनसे कठोर बात भी कह देता तो वे उसका उत्तर नहीं देते थे। वे कृतज्ञ थे—एक ही उपकारसे कृतार्थ हो जाते थे, जब कि किसीके सैकड़ों अपकार करनेपर वे उन्हें याद नहीं रखते थे। वे सदा मधुर, प्रिय और मृदु-हास्यपूर्वक बोलते थे। उनके मुँहसे दुर्वचन कभी नहीं निकलते थे। वे वृद्ध पुरुषोंका सदा सम्मान किया करते थे। वे परम दयालु, क्रोधको जीतनेवाले, ब्राह्मणोंके पुजारी, दीनोंपर कृपालु, धर्मका रहस्य जाननेवाले और इन्द्रियजयी थे। बाहर और भीतरसे वे सदा शुद्ध रहते थे। शास्त्र-विरुद्ध बातें सुननेमें उनकी कभी रुचि नहीं होती थी। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था कि विधाताने संसारमें समस्त पुरुषोंके सारतत्त्वको समझनेवाले साधु पुरुषके रूपमें एकमात्र रामको ही प्रकट किया है। वे कल्याणकी जन्मभूमि, साधु, दीनतासे रहित और सत्यवादी थे। दोषदृष्टिका तो उनमें लेश भी नहीं था। क्रोधको वे जीत चुके थे। द्वेष और अभिमान उनके पास भी नहीं फटकने पाते थे। धैर्यमें वे पर्वतके समान थे। वे कालके

वशमें होकर उसके पीछे-पीछे चलनेवाले नहीं थे, काल ही उनके पीछे चलता था। सरल और सज्जन होनेपर भी उनकी कोई अवहेलना नहीं कर सकता था। मृदु होनेपर भी वे स्थिरचित्त थे; शक्तिशाली होते हुए भी वे गर्व या विस्मयसे फूलनेवाले नहीं थे। सभीके बारेमें वे सत्य और संगत बातें कहते थे। भोग और त्यागका यथोचित समय वे जानते थे। आलस्य उन्हें छूतक नहीं गया था, न वे असावधान ही रहते थे।

इस समयतक रामकी शिक्षा-दीक्षा व्यापकता एवं प्रगाढ़ताकी दृष्टिसे बहुत प्रगति कर चुकी थी। छोटी आयुमें रामका वैदिक अध्ययन जारी था; वाद-विवादमें निपुण तथा युद्धकौशलमें प्रवीण बनानेके लिये उन्हें अथर्ववेदीय शिक्षा दी गयी थी; हाँ, सामान्य ज्ञान उनका व्यापक था। इस समयतक उनकी वैदिक शिक्षा साङ्गोपाङ्ग पूर्ण हो चुकी थी; अथ और धर्मकी शिक्षा भी वे विशेषज्ञोंसे लेने लगे थे। कर्मकाण्ड और लोकाचार, विभिन्न भाषाएँ, वक्तृत्व-कला, विद्वानोंसे सम्भाषण, तर्क और विवाद, अर्थशास्त्र और आय-व्यय, संगीत और कामशास्त्र—इन सबमें उनकी पर्याप्त गति हो चुकी थी। रामकी यह विवाहोत्तरकालीन शिक्षा मुख्यतः साहित्यिक, दार्शनिक, कलात्मक और सामाजिक है और उसमें कुछ-कुछ अर्थशास्त्रीय गणितका भी समावेश है। इस शिक्षामें काम या कामशास्त्रका समावेश इस बातका सूचक है कि उपयुक्त अवस्थामें युवकको इस शास्त्रका ज्ञान कराना भी वाञ्छनीय माना जाता था। भारतको छोड़कर शायद ही अन्य किसी देशकी शिक्षा-व्यवस्थामें कामशास्त्रको इतनी प्राचीन स्वीकृति मिली हो।

जहाँतक शारीरिक व्यायाम और सैनिक प्रशिक्षणका प्रश्न है, राम इनका नियमित सेवन करते रहे; साथ-ही-साथ युद्धके पशुओं और सवारियोंका संचालन भी होता रहा। पहले विश्वामित्रके साथ जो प्रयोगात्मक युद्ध किये गये थे, वे तत्पश्चात् नियमित सैन्य-संचालन और आक्रमणोंके रूपमें प्रगति कर चुके थे। बीच-बीचमें विद्वच्चर्चा भी हो जाया करती थी। परिणामस्वरूप रामका पूर्ण शारीरिक विकास हो चुका था; बल और सौन्दर्य-का उनमें कान्त संयोग था। अब रामको 'अतिरथी' का पद प्राप्त हो चुका था।

नैतिक दृष्टिसे रामकी प्रगति प्रभावोत्पादक है। तरुण राम जहाँ उत्साह और महत्त्वाकाङ्क्षाओंसे परिपूर्ण हैं तथा पैतृक अनुशासनकी अपेक्षा रखते हैं, वहाँ इस समय युवक राम चरित्र-सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ प्रदर्शित करते हैं। उनमें क्षात्रधर्मका पूरा भान है; शील और शिष्टाचारसे वे सम्पन्न हो गये हैं। अपने स्वभावमें विरोधी बातोंका समावेश करनेमें भी वे समर्थ हैं—वे सौम्य किंतु प्रबल विचारशक्तिसम्पन्न, शक्तिशाली तथापि निरभिमानी, सात्त्विक वृत्तिवाले फिर भी जीवनके आनन्दोंका परित्याग न करनेवाले हैं। अपने भावों और वृत्तियोंको वे काबूमें रख सकते हैं। वे संसारमें होते हुए भी उससे पृथक् हैं। उनमें अपने गुण-दोष आँकनेकी क्षमता है। उनके विचार स्वतन्त्र हैं; अपने समयके वे दास नहीं हैं। वे उदार, सहानुभूतिशील, समाजमें रुचि लेनेवाले तथा उसकी सत्प्रवृत्तियोंको प्रोत्साहन देनेवाले हैं। यदि रामके इस चरित्रका सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो वे एक अद्वितीय विभूति प्रतीत होंगे, जिनमें वीरता और सुसंस्कृति, सौम्यता एवं विनय तथा अलौकिक आत्म-संयम और आध्यात्मिक निष्ठाका मणिकाञ्चन संयोग था।

रामायणके कुछ स्थलोंसे प्रकट होता है कि यदि राम इस समय युवराज-पदके लिये न चुन लिये जाते और इसके तुरंत बाद ही वे वनमें न चले गये होते तो उनकी शिक्षा इसके बाद भी जारी रहती। तभी तो दशरथ चिन्ताके मारे कह उठते हैं कि अभीतक राम वेदोंके अध्ययनसे, ब्रह्मचर्यके संयम-नियमसे तथा विभिन्न गुरुओंकी अधीनतासे कृश होते रहे हैं; और अब (यौवराज्याभिषेकके बाद) जब कि उनका सुख भोगनेका समय आया है, तब उन्हें फिर (वनवासके) कष्टपूर्ण जीवनको स्वीकार करना पड़ रहा है—

> वेदैश्च ब्रह्मचर्यैश्च गुरुभिश्चोपकर्शितः ।
> भोगकाले महत्कृच्छ्रं पुनरेव प्रपत्स्यते ॥
> (२ । १२ । ८४)

इसका अर्थ यह हुआ कि इस समयतक राम पूर्ण विद्यार्थी बने हुए थे और इस अनुशासनसे वे युवराज बननेपर मुक्त हो जाते।

राम और लक्ष्मणको अपने विवाहमें दो दिव्य धनुष, दो अभेद्य कवच, दो तरकस तथा दो खड्ग दहेजमें मिले थे। ये आयुध उनके धनुर्विद्याके आचार्यके घर रक्खे रहते थे। (सम्भवतः इनका नाम उपाध्याय सुधन्वा था, जिनका रामने चित्रकूटपर स्मरण किया था २ । १०० । १४) वन जाते समय रामने ये आयुध उनके यहाँसे मँगा लिये थे (२ । ३१ । ३१)। इससे प्रतीत होता है कि इस समय-

तक राम और लक्ष्मण अपने आचार्यके यहाँ नियमित रूपसे शास्त्राभ्यास करते रहते थे । मोटे तौरपर यही जान पड़ता है कि रामने इसी समय अपना अध्ययन समाप्त किया था, क्योंकि उनके वन चले जानेपर भरतने अपना यह मत प्रकट किया कि रामने वैदिक छात्रकी जीवनचर्याका यथाविधि पालन किया है और उन्होंने अपना अध्ययन-क्रम भी सम्पूर्ण किया है, अतः मैं उनके मौलिक अधिकार राज्यप्राप्तिको कैसे छीन सकता हूँ—

चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः ।
धर्मे प्रयतमानस्य को राज्यं मद्विधो हरेत् ॥
(२ । ८२ । ११)

वस्तुस्थिति जो भी रही हो, इतना तो स्पष्ट और निर्विवाद है कि राम अभीतक अपने आचार्यों और शिक्षालयों-के निकट सम्पर्कमें थे, चाहे वे वहाँ औपचारिकरूपसे अध्ययन करते हों या नहीं । वन जानेसे पहले लक्ष्मणने रामकी ओरसे जाकर आचार्य सुयज्ञ-वासिष्ठको, जो उनके 'सखा' भी थे, राजमहलमें आमन्त्रित किया । रामने अपनी तथा सीताकी अनेक सुन्दर एवं बहुमूल्य वस्तुएँ सुयज्ञ और उनकी पत्नीके लिये भेंट कर दीं । अयोध्याके आगस्त्य और कौशिक-आश्रमोंके दो आचार्य, तैत्तिरीय शाखाके अभिरूप नामक आचार्य तथा आर्य चित्ररथ नामक सूत इनको भी अनेक उपहार दिये गये । अयोध्यामें कठ-शाखाके अनेक विद्यार्थी वास करते थे, जो निरन्तर स्वाध्यायमें लगे रहनेके कारण जीविकोपार्जन नहीं कर पाते थे । इनको भी रामने बुलाकर प्रभूत धन-धान्य दिया । इनके अतिरिक्त अयोध्यामें वैदिक छात्रोंका एक सङ्घ था (मेखलीनां महासङ्घः), जिसके प्रत्येक सदस्यको रामने एक-एक सहस्र मुद्राएँ दिलवायी थीं (२ । ३२) ।

जब भरत रामको लौटा लानेके लिये चित्रकूट गये, तब रामने उन्हें राजधर्म और व्यवहारधर्मका सारगर्भित उपदेश दिया, जो उनकी बहुश्रुतताका परिचायक है (२ । १००) । रामके समग्र प्रवचनसे ज्ञात होता है कि वनवाससे पहले राम इन-इन विषयोंमें विशेष रुचि लिया करते थे—दर्शन, कर्मकाण्ड, राजनीति, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, वेद, सेना और युद्ध, शासनव्यवस्था, राजतन्त्रकी सूक्ष्मताएँ तथा आस्तिकों और नास्तिकोंके बौद्धिक संघर्ष ।

वनवास-कालमें राम अनेक वैदिक आश्रमोंके सम्पर्कमें आये, जिससे उनकी शिक्षा-दीक्षामें उत्तरोत्तर परिष्कार होता गया । अगस्त्यके आश्रममें उन्होंने कुछ शस्त्रोंके प्रयोगकी वैदिक विधि भी सीखी (३ । १२) । इसके तीन वर्ष बाद हनुमान्-ने लङ्कामें सीताके समक्ष रामका वर्णन करते हुए कहा था कि वे ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करते हैं । वे धनुर्वेद तथा अन्य वेद-वेदाङ्गोंके परिनिष्ठित विद्वान् हैं । यजुर्वेदकी भी उन्हें शिक्षा मिली है । वैदिक विद्वानोंमें उनका बड़ा सम्मान है । वे राजनीतिमें पूर्ण शिक्षित, ज्ञानी, शीलवान् और विनम्र हैं (५ । ३५ । १२-४) । हनुमान्ने रामके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी सुडौलताका जो वर्णन किया है (५ । ३५ । १५-२०) उससे सूचित होता है कि इस अवस्थामें भी राम शारीरिक गठन और विकासपर कितना अधिक ध्यान देते थे ।

सीताके विरहमें रामको जिन परिस्थितियोंमें रहना पड़ा, उनमें यह स्वाभाविक था कि रामको अपने चिर-अभ्यस्त अध्ययन-कालकी स्मृति हो आये । ऋष्यमूक पर्वतपर सुहावनी वर्षा-ऋतुका अवलोकन करते हुए वे कह उठते हैं—

मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः ।
मारुतपूरितगुहाः प्राधीता इव पर्वताः ॥
(४ । २८ । १०)

'देखो, ये पर्वत मेघोंके रूपमें काला मृगचर्म पहने हुए हैं; वर्षाकी धाराएँ उनके यज्ञोपवीत हैं; उनकी गुफाओंमेंसे वायुका शब्द निकल रहा है—जान पड़ता है, बटुओंके समान इन पर्वतोंने अपना अध्ययन प्रारम्भ कर दिया है ।'

मासि प्रौष्ठपदे ब्रह्म ब्राह्मणानां विवक्षताम् ।
अयमध्यायसमयः सामगानामुपस्थितः ॥
(४ । २८ । ५४)

'भादोंका महीना आ गया । यह स्वाध्यायकी इच्छा रखनेवाले ब्राह्मणोंके लिये उपाकर्मका समय है । सामगान करनेवाले विद्वानोंके स्वाध्यायका भी यही समय है ।'

चौवालीस वर्षकी आयुमें रामका राज्याभिषेक हुआ । नारदने इन्हीं रामका वर्णन वाल्मीकिके प्रति बालकाण्ड-के प्रथम सर्गमें किया है । वाल्मीकि अपने चरितनायकमें शरीर, मन और चरित्रकी सभी विशेषताओंका सामञ्जस्यपूर्ण विकास देखना चाहते थे—जिसमें योग्यता और बल, धार्मिकता और पुरुषार्थ, पाण्डित्य और सुन्दर स्वास्थ्य इन विरोधी बातोंका एकीकरण हो; जो दृढ़प्रतिज्ञ होते हुए भी प्रियदर्शन हो; सभी प्राणियोंका हितसाधक और किसीकी निन्दा न करनेवाला होनेपर भी जिसके कोपसे संग्राममें

देवता भी डरते हों (१ । १ । २-५)। नारदके अनुसार राम ही इस आदर्शकोटिके महापुरुष थे।

स्वास्थ्यकी दृष्टिसे रामके कंधे मोटे और भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं। ग्रीवा शङ्खके समान, ठोढ़ी भरी हुई, छाती चौड़ी तथा गलेके नीचेकी हड्डी (हँसली) मांससे छिपी हुई थी। उनकी भुजाएँ लंबी, मस्तक सुन्दर, ललाट भव्य और चाल मनोहर थी। उनका शरीर अधिक ऊँचा या नाटा न होकर मध्यम और सुडौल था तथा देहका रंग चिकना था। उनका वक्षःस्थल भरा हुआ और आँखें चौड़ी थीं। वे धनुर्वेदमें प्रवीण, महाबलवान्, शत्रु-संहारक और बड़े धनुषवाले थे। मानसिक दृष्टिसे राम बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, वक्ता, वेद-वेदाङ्गके तत्त्वको जाननेवाले, अखिल शास्त्रोंके मर्मज्ञ, स्मरणशक्तिसे युक्त और प्रतिभासम्पन्न थे। नैतिक दृष्टिसे वे मनको वशमें रखनेवाले एकाग्र, जितेन्द्रिय, सत्यप्रतिज्ञ, अपनी माताके आनन्दको बढ़ानेवाले, सज्जनोंको आकर्षित करनेवाले, सबमें समान भाव रखनेवाले, गम्भीरतामें समुद्र और धैर्यमें हिमालयके समान, क्रोधमें कालाग्निके समान, क्षमामें पृथ्वीके सदृश, दानमें कुबेर और सत्यमें द्वितीय धर्मराजके समान थे। राजाके रूपमें वे शोभायुक्त, शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न, यशस्वी, प्रजाके हित-साधनमें तत्पर, श्री-सम्पन्न तथा धर्म और जीवोंके रक्षक थे। इस प्रकार राज्याभिषेकके समय राम एक आदर्श सुशिक्षित पुरुष बन चुके थे।

राज्याभिषेकके बाद शासन-व्यवस्थामें संलग्न रहते हुए भी राम ऋषियों, विद्वानों तथा आश्रमवासियोंके सम्पर्कमें निरन्तर आते रहे। उनके दरबारमें कथा-वार्ता और सत्सङ्ग होते रहते थे। उनके अश्वमेध-यज्ञमें देश-देशान्तरसे अपने-अपने विषयोंके विद्वान् एकत्र हुए थे। वास्तवमें रामने अपना समस्त जीवन ही शिक्षा और संस्कृतिके वातावरणमें ही व्यतीत किया।

वाल्मीकिने भगवान् रामको एक आदर्श महापुरुषके रूपमें चित्रित किया है।* उनमें वे सभी सद्गुण थे, जो मानवमें कल्पित किये जा सकते हैं। उन्हें जो सर्वाङ्गीण शिक्षा मिली, उससे वे लौकिक जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें खूब चमके। उनकी परिष्कृत रुचि और कलाप्रियता, उदारता और सहानुभूति, मानवता और सहृदयताके कारण उनका जीवन एकाङ्गी नहीं रहा और उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभाद्वारा समकालीन जगत्को बड़ा प्रभावित किया। सदाचार और नैतिकताकी दृष्टिसे तो वे अपने युगसे कोसों आगे थे। रामकी शास्त्रीय एवं व्यावहारिक निपुणताका कारण यही था कि उन्होंने अपने गुरुओं और आचार्योंके अनुशासनमें रहकर अपने विषयोंका मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया था।

प्रार्थना

सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम। मम हियँ बसहु निरंतर; सगुन रूप श्रीराम॥

हे नीलमेघके समान श्यामशरीरवाले सगुणरूप श्रीरामजी! सीताजी और छोटे भाई लक्ष्मणजीसहित प्रभु (आप) निरन्तर मेरे हृदयमें निवास कीजिये।

---

* वाल्मीकि-रामायणमें भगवान् रामको स्पष्टरूपमें अवतार माना गया है। इसके प्रचुर प्रमाण हैं। बालकाण्डमें १५ वें सर्गमें भगवान् विष्णुके वचन हैं—उन्होंने देवताओंसे कहा कि 'मैं दशरथके घर अवतार लेकर ग्यारह हजार वर्षोंतक राज्य करूँगा और राक्षसोंका वध करूँगा।' इसी प्रकार बालकाण्डके १६। १७ सर्गमें भी स्पष्ट उल्लेख है। अयोध्याकाण्डमें रामायणकार कहते हैं—'वे दर्पपूर्ण रावणका वध चाहनेवाले देवताओंसे प्रार्थित सनातन विष्णु मनुष्यलोकमें प्रकट हुए थे—

सहि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः। अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः॥ (अ० १। ७)

अरण्य, किष्किन्धामें प्रसङ्ग है। सुन्दरकाण्डमें तो श्रीहनुमान्‌जीने भगवान् रामको चराचर भूतोंके सहित समस्त लोकोंके संहार और सृजनमें समर्थ 'सर्वलोकेश्वर' बतलाया है (सर्ग ५१)। युद्धकाण्डके आर्यस्तवमें कहा गया है—'सीता लक्ष्मी हैं, आप विष्णु हैं, रावणके वधार्थ यहाँ मनुष्य-शरीरमें आये हैं' (११७। २७-२८)। और भी अनेकों प्रमाण हैं, यहाँ थोड़ेसे उद्धृत किये हैं, अवश्य ही भगवान् रामने आदर्श नरलीला की है, इससे वाल्मीकिजीके चित्रणमें आदर्श महापुरुषका रूप ही अधिक प्राप्त होता है। —सम्पादक

छात्र और अध्यापक

(लेखक—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कवितार्किक चक्रवर्ती पण्डित श्रीमहादेवजी पाण्डेय शास्त्री)

बाल्यावस्थामें शारीरिक और बौद्धिक विकासकी शक्ति अत्यधिक रहती है । इस समय साधारण आहारसे ही शरीरका उतना उपचय होता है, जितना बादमें असाधारण आहारसे भी सम्भव नहीं । ठीक इसीभाँति ज्ञानकी उपलब्धि इस अवस्थामें जितनी हो सकती है, उतनी दूसरे समय शक्य नहीं है । इसीलिये बाल्यावस्था ही शिक्षाका समुचित समय माना गया है । यद्यपि जीवनके अनिवार्य व्यवहारोंकी शिक्षा जगत्के दैनन्दिन प्रयोगोंसे भी मिल जाती है, किंतु आहार-विहारके सामान्य धरातलसे ऊपर उठनेके लिये शास्त्रीय क्षेत्रमें प्रवेश करना पड़ता है । लेकिन शास्त्रीय क्षेत्रके प्रवेशद्वारपर 'आचार्य' अन्तःप्रवेशके इच्छुकोंको अपने संनिधानमें रखकर आचार और विचारकी वह पूँजी देता है, जिससे दुर्गम शास्त्रमें प्रविष्ट होने तथा उसमें सुखपूर्वक विचरण करनेकी सुविधाएँ अनायास प्राप्त हो जाती हैं । बिना आचार्यके उपदेशके कोई भी इस शास्त्र-जगत्में प्रवेशका अधिकारी नहीं हो सकता । गुरु-परम्परासे प्राप्त की हुई विद्या ही फलवती होती है । गुरुके अंदर रहनेवाली गोप्यतम विद्या भी श्रद्धा-विश्वासपूर्वक शुश्रूषा करनेवाले छात्रमें उपसंक्रान्त हो जाती है । इसलिये गुरुके सम्बन्धमें सामान्य ज्ञान कर लेना आवश्यक हो जाता है । मनुने गुरुओंके तीन भेद किये हैं—आचार्य, उपाध्याय और गुरु । इन तीनोंका स्वरूप भी उन्हींके शब्दोंसे समझ लेना चाहिये—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥
(२ । १४०)

अर्थात् 'जो ब्राह्मण शिष्यका उपनयन करके यज्ञ, विद्या एवं उपनिषद्के सहित वेद पढ़ावें, उन्हें आचार्य कहा जाता है।'

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥
(२ । १४१)

अर्थात् 'जीविकाके लिये जो वेदके एकदेश या वेदाङ्गोंको पढ़ाता है, वह उपाध्याय कहलाता है ।'

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥
(२ । १४२)

अर्थात् 'जो विप्र निषेक आदि कर्मोंको विधिपूर्वक करता है और दूसरे उपायोंसे भी सम्माननीय बनाता है, वह गुरु कहलाता है ।'

शिक्षकके इन तीनों भेदोंमें शिष्यको पूर्ण विद्वान् बनानेकी प्रवृत्ति है । केवल इतनी ही बात शिक्षकमें आवश्यक नहीं है कि वह शिष्योंको जिस किसी भाँति शास्त्रीय ज्ञानसे परिचित या संयुक्त कर दे; बल्कि उन उदात्त वृत्तियोंको जीवनके साँचेमें ढालनेकी श्रद्धा भी उनमें पैदा कर दे, जिससे ज्ञान और क्रियाका संयोग हो जाय । क्रियाके बिना ज्ञान तो भार हो जाता है । इसीलिये आचार्यको शास्त्रोक्त धर्मका अनुष्ठाता होना चाहिये, क्योंकि आचरणसे ही शिष्योंमें धर्मानुष्ठानकी भावना स्थिर की जा सकती है । उत्तम आचार और विचारकी शिक्षा पानेपर ही चरित्र-बल और बौद्धिक प्रकर्ष आ सकता है । इसी प्रसङ्गमें छात्रोंके अनिवार्य गुणोंका भी ज्ञान कर लेना आवश्यक है । उनमें उत्कट जिज्ञासासे भी अधिक 'गुरु-भक्ति' होनी चाहिये । शुश्रूषासे विद्या तो प्राप्त ही होती है, विनय और कर्मण्यता भी मिल जाती है । ब्रह्मचर्य, सन्ध्योपासन, अग्निहोत्र और गुरु-शुश्रूषासे प्राप्त की हुई विद्या सहस्रगुणित उत्कर्ष लाती है । छात्र शब्द ही गुरुके दोषोंको छिपानेका स्वभाववाला होना बतलाता है । मनुस्मृतिके दूसरे अध्यायमें विस्तारपूर्वक छात्रोंके कर्तव्योंका विवेचन है । यदि छात्र उन गुणोंको अपनाकर विद्याभ्यास करें तो अर्जितविद्या उनमें वह चमक पैदा कर देगी, जिसके आलोकसे आधुनिकताके भक्तोंका गाढान्धकार हट जायगा । श्रद्धालु शिष्य और वत्सल आचार्यके तपसे ज्ञानकी रश्मियाँ केवल संसारके अन्धकारको ही नहीं हटातीं प्रत्युत अपनी शीतलतासे त्रिविध तापकी ऊष्माका भी अपसारण करती हैं । जैसे शिष्योंको अपने कर्तव्य-पालनका कठोर आदेश है, वैसे ही गुरुओंको भी कर्तव्योन्मुख करनेका प्रयास दृष्टिगोचर होता है । कहा है—

आचार्यपुत्रः शुश्रूषुर्ज्ञानदो धार्मिकः शुचिः ।
आप्तः शक्तोऽर्थदः साधुः स्वोऽध्याप्या दश धर्मतः ॥
(मनु० २।१०९)

अर्थात् 'आचार्यके पुत्रको, सेवकको, ज्ञान देनेवालेको, धार्मिकको, शुचिको, बान्धवको, उपदेश ग्रहण करनेमें समर्थको, धन देनेवालेको, साधुको और स्वजनको धर्मतः पढ़ाना चाहिये ।' इनके अध्यापनमें न कोई व्याज किया जा सकता है और न तो आलस्य ही । इस तरह गुरु-शिष्यके सम्बन्धकी कड़ीको विद्या कहते हैं । विद्याके भी अनेक भेदोपभेद किये गये हैं । मूलतः आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति—ये चार भेद हैं । आगे चलकर इन्हें ही चतुर्दश संख्यामें विभक्त किया गया है । जैसे पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, ऋग्, यजुः, साम, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और व्याकरण—ये छः वेदाङ्ग, इसीमें चार उपवेदोंको जोड़ देनेसे अष्टादश विद्याएँ भी कही गयी हैं । इन समस्त विद्याओंका गम्भीर ज्ञान और चौंसठ कलाओंका पूर्ण परिचय विद्यार्थियोंको करा दिया जाता था । जीवनके उत्कर्षमें जितना विद्याओंका महत्त्व है, उससे कम कलाओंका नहीं । इसीलिये तो वीतराग भर्तृहरिने कहा है—

साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः ।

अर्थात् 'साहित्य, सङ्गीत और कलाओंसे विहीन व्यक्ति सींग-पूँछसे हीन साक्षात् पशु है ।' इस प्रकार प्राचीन कालमें गुरुके संरक्षणमें पला हुआ छात्र विविध ज्ञान-विज्ञानके साथ-साथ ललित कलाओंमें पारङ्गत होता था । पुराने विश्व-विद्यालयोंमें जो विप्रर्षि दस सहस्र ऋषियोंकी अशन, वसन, निवसन आदिकी सुविधा करके उन्हें उपर्युक्त विद्याओंमें निष्णात करता था, वह 'कुलपति' कहलाता था । ऐसे कुलपतिके संरक्षणमें पलकर निकले हुए छात्र वैयक्तिक तथा राष्ट्रिय आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेमें स्वावलम्बी होते थे । उच्च-कोटिके ज्ञानी और सदाचारी स्नातकोंसे राष्ट्रका गौरव था । किसी भी स्थानकी शोभाका संवर्धन कोई भी शिक्षित व्यक्ति कर सकता था । आजकी शिक्षामें पले हुए छात्रोंमें न प्रौढ़ ज्ञान आ पाता है और न तो चरित्रकी निर्मलता ही । संयम और सादगी तो परिहासास्पद हैं । आचार्योंका सम्मान करना आत्माभिमानके विरुद्ध है । अनुशासनहीनता ही कर्मण्यताका प्रतीक है । आहार-विहारका अनियन्त्रण ही औदार्यका पर्याय है । विलासिता ही छात्रजीवनकी सहचरी है । इस तरह आधुनिक शिक्षा-संस्थानोंसे शिक्षित व्यक्ति नौकरीके लिये लालायित, इन्द्रिय-दासतासे जर्जर, भोगैषणाके शिकार होकर निकल रहे हैं । इन स्नातकोंके शरीरमें न बल है और बुद्धिमें न तेज । इस तरह निर्बल और निष्प्रभ स्नातक ढालनेवाले विद्यामन्दिरोंके आदर्शमें आमूलचूल परिवर्तन न हुआ तो इस शिक्षासे लाभके बदले हानि ही अधिकतर भोगनी पड़ेगी । आजकी शिक्षाका उद्देश्य केवल अर्थ है । और अर्थ है कामका पूरक । इस तरह अर्थ और कामको ध्यानमें रखकर ही शिक्षाप्राप्तिके लिये छात्र यत्नशील हैं; पर प्राचीन युगमें शिक्षाका ध्येय केवल अर्थ और काम ही नहीं; बल्कि धर्म और मोक्ष भी था । साथ ही अर्थ और काम उपेक्षित नहीं थे । अर्थकरी विद्या और भोगफल अर्थकी प्रचुर चर्चा प्राचीन शास्त्रोंमें है, किंतु अर्थ और कामकी उपासनासे न शान्ति आ पाती है और न संतोष ही । 'अशान्तस्य कुतः सुखम्' गीताका यह उद्घोष किसे मान्य नहीं । सुख ही तो सबका साध्य है और वह सुख शान्तिके गर्भसे प्रसूत होता है; अतः सुखेच्छुको शान्तिका पुजारी बनना ही पड़ेगा । वह शान्ति धर्मकी उपासनासे प्राप्य है और धर्मकी निर्व्याज सेवा मुमुक्षा पैदा ही कर देती है । इस प्रकार संक्षेपमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति कर लेना ही समस्त साधनोंका फल है ।

इस अर्थप्रधान युगमें मानवीय मान्यताका निकष है अर्थ । ठीक है पहले भी वित्त मान्यताका प्रयोजक था, किंतु उससे कई गुनी महत्ता थी विद्याकी । मनुने स्पष्ट कहा है—

वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥
(२।१३६)

अर्थात् 'वित्त, बन्धु, वय, कर्म और विद्या मानके पात्र हैं; परंतु इनमें उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्वसे गुरुतर हैं ।' यदि विद्याका उपार्जन ठीक-ठीक हो तो आज भी इस क्रमका व्यावहारिक रूप सामने आ सकता है । विद्या तो मनुष्यको इतने उच्च आसनपर बैठा देती है कि बरबस सभी लोगोंका मस्तक उसके सामने नत हो ही जाता है । प्रमाणपत्रोंकी प्राप्ति और बात है और विद्याकी प्राप्ति और ही बात है । यह प्रतिष्ठा विद्यासे मिलती है, डिग्रियोंसे नहीं । विद्याके साथ डिग्रियोंका रहना अशोभन नहीं है । पर विद्याके बिना

डिग्रियोंकी दुर्दशा तो सर्वविदित है। अतः शिक्षाके क्षेत्रमें विद्याका अनुराग पैदा करना परमावश्यक है।

आधुनिक शिक्षामें मनोवैज्ञानिकताकी बड़ी चर्चा सुनायी पड़ती है। ठीक ही है, बिना मनोविज्ञानके सहारे शिक्षाका आरम्भ और उचित विनियोग सम्भव ही नहीं। प्राचीन समयमें भी मनोविज्ञानका बड़ा उपयोग था। बच्चोंकी रुचि और प्रवृत्तिका सूक्ष्म अध्ययन करके उन्हें उस दिशामें अग्रसर करनेकी प्रणाली प्रचलित थी। मौहूर्त्तिकोंको बालमनोविज्ञानकी शिक्षा देकर फलादेशकी आज्ञा है।

तस्मिन् काले स्थापयेत् तत्पुरस्ताद्
वस्त्रं शस्त्रं पुस्तकं लेखनीं च।
स्वर्णं रौप्यं यच्च गृह्णाति बाल-
स्तैराजीवैस्तस्य वृत्तिः प्रदिष्टा ॥

(मुहूर्तचिन्तामणि,संस्कारप्रक० २२)

अर्थात् 'बच्चा जब पृथ्वीपर बैठने लगे, तब उसके सामने वस्त्र, शस्त्र, पुस्तक, लेखनी, सोना और चाँदी रख देने चाहिये। उनमेंसे बच्चा जो उठा ले, उसीसे उसकी जीविकाका निर्देश करना चाहिये।' कितनी सूक्ष्म निरीक्षा है! जाबालकी परीक्षामें गुरुको सत्यवादिता मिली। जिससे गुरुने उसे 'ब्राह्मण' कहा और सत्य विद्याका उपदेश किया। इसी तरह भार्गव बनकर शस्त्र-विद्या सीख लेनेवाले कर्णको भी परशुरामने उसके धैर्य और साहससे झट पहचान लिया और शाप भी दे दिया। इस प्रकारके अनेकों उपाख्यानोंसे मनोवैज्ञानिक पद्धतिकी परम्पराका स्पष्ट पता चलता है। मनोविज्ञानका केवल शिक्षाके ही क्षेत्रमें नहीं, बल्कि जीवनके अन्य अवसरोंपर भी प्रयोग होता था। हनूमान्‌को स्वपौरुषका स्मरण कराना मनोविज्ञानकी प्रणाली है। शल्यके द्वारा कर्णका अवमान करना भी मनोवैज्ञानिक विधान ही है। इस तरह मनोविज्ञानकी चर्चा आजकी तरह चाहे न रही हो, पर उसका प्रयोग तो प्रचलित ही था।

इसी क्रममें सहशिक्षापर भी ध्यान दे लेना अनुचित न होगा। यद्यपि सहशिक्षाकी प्रथा पहले भी यत्र-तत्र दीख पड़ती है, किंतु उससे सम्भाव्य दोषोंकी आशङ्कासे इसका प्रचलन बंद करना ही पड़ा। सहशिक्षामें शिक्षण-व्ययकी अल्पता तो है, पर इसका प्रभाव छात्र और छात्राओंके चरित्रपर प्रायः बुरा ही पड़ता है। प्राकृतिक नियमोंका अवहेलन सम्भव नहीं। आध्यात्मिक शिक्षामें भी इसके दोष उभड़ आते हैं तो भौतिकविज्ञानके विलासितापूर्ण वातावरणमें सङ्ग-दोषका परिहार बड़ा कठिन है। यद्यपि आज यह कहना लोगोंको खटकेगा, पर यह कटु सत्य उपेक्षणीय नहीं हो सकता।

अब इस लेखका कलेवर न बढ़ाता हुआ मैं पाठकोंका ध्यान पुनः एक बार प्राचीन शिक्षाकी ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। गुरु-शिष्यके पावन सम्बन्धका फल ही तो ये युग्मक हैं, जिनका स्मरण सदैव आदरपूर्वक होता रहेगा। नारद-सनत्कुमार, भृगु-वरुण, श्वेतकेतु-उद्दालक, राम-वसिष्ठ, कृष्ण-सान्दीपनि, युधिष्ठिर-धौम्य आदि जोड़े हमारे गुरु-शिष्यके सम्बन्धके स्मारक हैं। ज्ञानियों, वृद्धों और मनीषियोंका साहचर्य बालकोंको भी बहुज्ञ बना देता था। लिपिकी शिक्षा भी पूरी नहीं हो पाती थी कि उनमें शासनका सफल कौशल स्फुटित हो जाता था। महाकवि कालिदासने रघुवंशमें सुदर्शन नामक राजाका वर्णन किया है, जिसकी अवस्था छः वर्षके लगभग थी—

न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां
कात्स्‍र्न्येन गृह्णाति लिपिं न यावत्।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात्
फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ॥

(१८।४६)

अर्थात् 'जबतक वह वर्णमालाकी लिपियोंको भी पूरा-पूरा न सीख पाया था, उसने ज्ञानवृद्धोंके सहयोगसे दण्डनीतिके समस्त फलोंका उपयोग आरम्भ कर दिया।' इसी तरह—

बालोऽहं जगदानन्द न मे बाला सरस्वती।
अपूर्णे पञ्चमे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयम् ॥

अर्थात् 'महाराज! मैं बच्चा हूँ, पर मेरी सरस्वती बच्ची नहीं है। मैं पूरे पाँच सालका भी नहीं हूँ, पर तीनों लोकोंका वर्णन करता हूँ।' की यह उक्ति भी ज्ञानकी धाराके अजस्र प्रवाहका संकेत करती है। पुस्तकों और शिक्षकोंसे जितना ज्ञान मिलता है, उससे भी अधिक अपने-अपने विषयके पारंगत मनीषियोंके सांनिध्यसे जिज्ञासुको प्राप्त होता है। प्राचीन युगमें वृद्ध-सेवाका बड़ा महत्त्व था। आज उसको हम भूल गये हैं। यदि अपने अन्तरमें प्रौढ अनुभूति और अदम्य उत्साह लाना हो तो वृद्ध-सेवा शुरू कर देनी चाहिये। देशके गौरवको, अपनी प्रतिष्ठाको और समाजके सुखको ध्यानमें रखकर प्रत्येक छात्र और गुरुको अपने कर्तव्यका

पालन धर्मपूर्वक आरम्भ कर देना चाहिये। शिक्षाका ध्येय नौकरी नहीं, ज्ञान होना चाहिये। संयम और चरित्रकी रक्षाका व्रत लेना चाहिये। धर्मकी भावनाको जाग्रत् करना चाहिये। देशमें फैले हुए अनाचारका निवारण वैयक्तिक सुधारसे ही सम्भव है। अपनेको सच्चरित बना लेनेके बाद ही दूसरोंको उपदेश देना लाभप्रद होता है। अतः छात्र और अध्यापक अपने-अपने कर्तव्योंका तत्परतापूर्वक पालन करके भारतीय गौरवको पुनः प्रतिष्ठित कर सकते हैं। भगवान् इन्हें इस पावन व्रत तथा इसके निर्वाहकी शक्ति दें।

गुरु और शिष्यका स्वरूप एवं उसके रक्षणका उपाय

(लेखक—पं० श्रीबालचन्द्रजी दीक्षित)

शास्त्रोंमें वंशका चलना दो प्रकारसे कहा गया है—प्रथम विद्या अर्थात् शिष्यपरम्परा, द्वितीय जन्म-परम्परासे।

'वंशो द्विधा विद्यया जन्मना च॥'

यहाँपर विद्याके द्वारा जो वंशपरम्परा चलती है, उसे मुख्य स्थान दिया गया है। इससे जन्म-परम्परामें उत्पन्न पुत्र-पौत्रादिकी अपेक्षा विद्यापरम्परामें उत्पन्न शिष्य-प्रशिष्यादिकी उत्कृष्टता दिखायी गयी है। इससे यह भी सूचित किया गया है कि जन्मना वंशपरम्परा चलते रहनेपर भी उसमें उत्पन्न यदि विद्यारहित हुआ तो उससे प्राणीका उतना श्रेय नहीं हो सकता जितना कि जन्मना वंशपरम्पराके नष्ट होनेपर भी विद्यावंशपरम्परामें उत्पन्नसे ऐहलौकिक-पारलौकिक श्रेय-सम्पत्ति सम्भव है।

गुरु सान्दीपनिकी वंशपरम्परा नष्ट हो गयी थी, किंतु विद्यावंशपरम्परामें उत्पन्न भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने यमराजको भी जीतकर संयमनी पुरीसे उनके मृत पुत्रको लेआकर उनकी जन्मना वंशपरम्परा भी अबाधित रक्खी।

इसी बातको बौधायनधर्मसूत्रमें लिखा गया है कि सुश्रवाः (श्रमपूर्वक वेदाध्यायी) और अनूचान (शब्दतः-अर्थतः वेद और अङ्गका अध्यायी) ब्राह्मणोंके दो वीर्य होते हैं—प्रथम प्राणवायु है, जो नाभिके ऊपर रहता है। वह नाभिसे उठकर मुखमें होता हुआ अनेक प्रकारके शब्दोंका अभिव्यञ्जक होता है। दूसरा शरीरके नीचेके भागमें रहता हुआ भी नाभिके नीचे उत्पन्न होकर वीर्यत्यागका कारण होता है। इनमें प्रथम वीर्यके द्वारा उपनयन, अध्यापन, याजन और साधुवृत्तिसे चार प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। यह विलक्षण शक्ति इसीमें है और यही प्रजाका श्रेष्ठतर जन्म भी है।

जिससे दूसरे शरीरमें भी स्वर्गापवर्गप्राप्तिके द्वारा प्राणीका उपकार होता है। दूसरा जो नाभिके नीचे है, उससे वह संतान होती है, जिसे औरस कहते हैं। अतः जिस श्रोत्रिय ब्राह्मणके इस प्रकार अध्यापनमूलक चार संतति विद्यमान हैं, उसको औरस संततिके अभावमें भी 'अप्रज अर्थात् निःसंतान हैं' ऐसा विद्वान् लोग नहीं कहते।

'द्वयमु ह वै सुश्रवसोऽनूचानस्य रेतो ब्राह्मणस्योर्ध्वं नाभेरधस्तादन्यत्। स यदूर्ध्वं नाभेस्तेन हैतत् प्रजायते यद् ब्राह्मणानुपनयति, यदध्यापयति, यद्याजयति, यत्साधु करोति, सर्वास्यैषा प्रजा भवति।

अथ यदवाचीनं नाभेस्तेन हास्यौरसी प्रजा भवति, तस्माच्छ्रोत्रियमनूचानमप्रजोऽसीति न वदन्ति।'

(बौधायनधर्मसूत्र, प्रथम प्रश्न, अध्याय ११, सूत्र १५)

इस प्रकार गुरुके लिये शिष्य पुत्रसे भी प्रिय होता है और औरस पुत्रके अभावमें भी उसे पुत्रवान् होनेके सौभाग्यसे सम्पन्न करता है। यहाँ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि अध्यापनसे सम्बन्ध रखनेवाले गुरु, आचार्य और उपाध्याय—ये तीनों पूर्वकालमें अधिकारी ब्राह्मण ही होते थे। शिष्य भी कृतज्ञ, दयावान्, ग्रन्थ-ग्रहण-धारणसमर्थ, बाह्याभ्यन्तरशौचयुक्त, आधिव्याधिरहित, अनसूयक अर्थात् गुरुके दोषोंको छिपाकर गुणोंको ही प्रकट करनेवाला, सच्चरित्र, सेवामें समर्थ, बान्धव, एक विद्या लेकर दूसरी विद्या देनेवाला और अपणपूर्वक अर्थात् बिना शर्तके धन देनेवाला—इन्हीं समस्त या व्यस्त गुणोंसे युक्त अधिकारी द्विज ही होता था। और अध्ययन भी विद्याका ही होता था। विद्याका लक्षण करते हुए भागवतकारने लिखा है कि विद्या वह है, जिससे धर्म और ईश्वरविषयक बुद्धि हो।

'सा विद्या तन्मतिर्यया ।'

याज्ञवल्क्यने लिखा है कि पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र; तथा व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्यौतिष, शिक्षा और कल्प, इन षडङ्गोंसे युक्त चारों वेद—ये चौदह विद्याएँ हैं। अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थोंकी साधनभूता हैं । इनका तथा धर्मका स्थान भी ये ही चौदह हैं ।

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय, प्रकरण १, श्लोक ३)

इनका ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यरूप द्विजातिमात्रको अध्ययन करना चाहिये । उनमें ब्राह्मण इनका अध्ययन विद्याप्राप्ति तथा कर्मानुष्ठानके लिये करे । क्षत्रिय-वैश्य केवल धर्मानुष्ठानके लिये । इस बातको शङ्खने कहा है—

'एतानि ब्राह्मणोऽधिकुरुते स च वृत्तिं दर्शयतीतरेषाम् ।'

मनु भी यही कहते हैं, केवल उनमें विशेषता यह है कि वे ब्राह्मणको ही स्पष्टतः शिष्योंके लिये उपदेशका अधिकार देते हैं। अन्य अर्थात् क्षत्रिय-वैश्योंको नहीं, जो सर्वथा शास्त्रसम्मत है ।

विदुषा ब्राह्मणेनेदमध्येतव्यं प्रयत्नतः ।
शिष्येभ्यश्च प्रवक्तव्यं सम्यङ् नान्येन केनचित् ॥

इतने विवेचनसे पाठकोंको गुरु-शिष्य एवं विद्याका स्वरूप उद्बुद्ध हो गया होगा । प्राचीन भारतमें इसी प्रकारके अधिकारी गुरुके द्वारा अधिकारी शिष्यको सद्विद्याका यथा-शास्त्र उपदेश होता था ।

इसीलिये इस भारतवसुन्धराके अलंकारस्वरूप वाल्मीकि, सान्दीपनि, आयोदधौम्य और गुरु द्रोण आदि अनेकानेक गुरुवर्य एवं क्रमसे उनके लव-कुश, श्रीकृष्ण-सुदामा, उपमन्यु-आरुणि, वेद और अर्जुन-जैसे शिष्यकुलतिलक शिष्य उत्पन्न हुए। जिससे आज इस गिरी दशामें भी भारतीय विश्वके समस्त इतिहासोंमें बेजोड़ माने जाते हैं ।

आज भारतमें जो पूर्ण ब्रह्माण्डके लोगोंको आश्चर्यचकित करनेवाली एवं चतुर्विध पुरुषार्थोंकी अनायास साधिका ज्ञानराशिका अभाव है, उसका एकमात्र कारण है भारतीयोंके द्वारा विद्यात्याग एवं अविद्याका ग्रहण । जब विद्या ही नहीं रही, तब अधिकारी योग्य गुरु एवं शिष्यका अभाव होना सुतरां सिद्ध है; क्योंकि अविद्या-उपासकका अविद्वान्, अज्ञानी, परस्पर गुरु-शिष्यघातक एवं देश-धर्म-राष्ट्र-विघातक होना अनिवार्य ही है । अमर वाणीके उपासक अतएव अमर अर्थात् देवताओंके ऊपर अंग्रेजोंने विजय प्राप्तकर भी शासन करना असम्भव समझा; क्योंकि सत्त्वगुण-सम्पन्नोंके ऊपर तमोगुणियोंका शासन हो ही नहीं सकता, अतः कूटनीतिज्ञोंने इनकी सीधी-साधी किंतु अजेय शक्ति-रूपा देवी विद्याके स्थानमें आपातरमणीया देवताओंको देवत्वसे च्युतकर दानव बनानेवाली अविद्याको लाकर खड़ा कर दिया । इसने ऐसा हाव-भाव दिखाया जिससे भारतीय विशेषकर धनिकवर्गने इसे इस प्रकार अपनाया मानो इनके पास इसके पहले कोई विद्या थी ही नहीं । केवल त्याग करके ही दम नहीं लिया; अपितु अमरविद्याको मृतविद्या घोषित कर दिया । किसी सुदैवसे उन कूटनीतिज्ञोंको निकालनेका प्रयत्न हुआ और किसी मात्रामें निकाले भी गये; फिर भी उनकी विषवेलि कुशिक्षाको आज भी भारतीय अधिकाधिक अपनाते हुए बड़ी तीव्र गतिसे दानवताकी ओर अग्रसर हो रहे हैं और चाहते हैं देवोचित अथ च मानवोचित आचार-विचार, व्यवहार, सम्मान एवं सुख-सम्पत्ति । यह तो वैसा ही है जैसा कि कोई अविवेकी प्राणी तुरंत मारनेवाले हालाहल विषका पान करे और चाहे अमर होना ।

अतः यदि भारतको भारत ही नहीं, अपितु समस्त विश्वप्रपञ्चकी सम्पूर्ण आपदाओंको सदाके लिये मिटाकर परम मङ्गलमय बनानेवाले तथा शिष्योंपर अनन्त स्नेह रखनेवाले गुरुवर्योंकी अपेक्षा है, तथा अपेक्षा है पूर्ण अनुशासनानुशासित एवं देश, धर्म, राष्ट्रको उन्नति-शिखरपर ले जानेवाले शिष्योंकी, तो भारतमें प्रचलित शिक्षाप्रणालीपर एक बार पूर्णरूपसे विचार करना होगा और उसमें उनका भुलाया जाना 'जैसा कि आजकल सर्वत्र शिक्षासम्मेलनोंमें प्रायः हो रहा है'—जिन्होंने सहस्र वर्षके लंबे परतन्त्रता-कालमें अपमानित, विताडित और बुभुक्षित रहनेपर भी मानवोंको मानवता ही नहीं अपितु देवत्व प्राप्त करानेवाली विद्याकी रक्षा अपने प्रिय प्राणोंकी भी परवा न करके की है, पङ्कस्नान-जैसा ही होगा, अतः उन्हींकी प्रधानतामें गम्भीरताके साथ भलीभाँति विचारकर इस पिशाचिनी वैदेशिक शिक्षाको सर्वथा विदेश भेजकर या आजके समयमें वैदेशिकोंके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद करना असम्भव है, अतः उनके साथ सम्बन्धके लिये प्रत्येक प्रान्तके किसी एक कोनेमें

उसे रखकर और उसके अधिकारीको ही उसका अध्ययन कराकर समस्त भारतपर विद्यादेवीका अखण्ड एवं अकण्टक साम्राज्य स्थापित करना होगा।

यद्यपि आजके युगमें यह कार्य असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य प्रतीत होगा, किंतु जिन भारतीयोंने अपनी चेतनावस्थामें बौद्धोंको उनके धर्म-कर्मके साथ निकाल फेंका और थोड़े ही साहसके साथ इस कुविद्याके जन्मदाताओंको भी अपनी जन्मभूमिकी शरण लेनेको विवश किया, उनके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है। तभी भारतीयोंकी चिरकाङ्क्षित अभिलाषाएँ पूर्ण होंगी, एवं सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्चके लिये भारत मङ्गलमय होगा।

आशा है हमारे इस अल्प विवेचनसे अवश्य कुछ लोगोंका अनुकूल दिशामें उद्बोधन हो सकेगा।

बालकोंका बुद्धि-परीक्षण

[मनोवैज्ञानिक समीक्षा]

(लेखक—श्रीभगवानदासजी शा'विमल' एम्०ए०, बी० एस्-सी०, एल्०टी०, 'साहित्यरत्न')

बालक क्या है ?

बालक भगवान्‌की सृष्टिका सर्वोत्कृष्ट रत्न है। प्राचीके निरभ्र होनेसे झाँकते हुए स्वर्ण-पुरुषको प्रथम बार देखनेवाले बालकमें भी वे सब शक्तियाँ विद्यमान हैं, जिनके बलपर आजका पूर्ण विकसित मानव अहंकार करता है। बालकमें बीजरूपमें वे सब शक्तियाँ होती हैं, जिनका विकास करते हुए वह अपने जीवनकी क्रमिक अवस्थाओंको पार करता हुआ अद्वितीय क्षमता-सम्पन्न नर-रत्न बन जाता है। साधारण भोले-भाले बालक भी अवहेलनाके विषय नहीं हैं। सृष्टि उनके विकासकी भी अपेक्षा करती है। बालकमें अन्तःप्रवृत्तियाँ, मनोविकार, स्थायी-भाव, रुचि, स्वभाव, चरित्र, योग्यता, क्षमता आदि अनेक विशेषताएँ पायी जाती हैं। आधुनिक मनोविज्ञानका दृढ़ विश्वास यह है कि एक ही अवस्थाके दो बालकोंमें अनेक विभिन्नताएँ पायी जाती हैं; परंतु ये बालक प्रकारकी अपेक्षा परिमाणमें ही अधिक भिन्न होते हैं। यदि हम कई बालकोंकी विशेषताओंका सापेक्षिक अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि उनमें परिमाणके विचारसे ही उच्चतमसे निम्नतम तकका अन्तर पाया जाता है; पर अधिकांश बालक मिश्रित गुणोंको ग्रहण करनेवाले ही होते हैं। इस अन्तरके आधारपर यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक बालकमें ही विशिष्ट गुण पाये जाते हैं अथवा अमुक बालकमें कोई गुण ही नहीं पाये जाते। वास्तवमें प्रत्येक बालक परम्परागत संस्कारोंके अधीनस्थ उन सभी गुणों, विशेषताओं एवं प्रवृत्तियोंका स्वामी होता है, जिनके स्वामित्वकी कल्पना एक उच्च आदर्श बालकमें की जाती है। प्रत्येक बालकमें बुद्धि होती है, प्रत्येक बालकमें अन्तःप्रवृत्तियाँ होती हैं, प्रत्येक बालकमें सामान्य प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं, प्रत्येक बालकमें चरित्र होता है और प्रत्येक बालकमें शिक्षा ग्रहण करनेकी शक्तियाँ होती हैं। इस दृष्टिकोणसे बालकोंके साथ किये जानेवाले व्यवहार एवं उनकी शिक्षा-दीक्षामें उनकी अन्तःशक्तियोंका ही अधिक महत्त्व होता है। यद्यपि बाह्य प्रभाव एवं संस्कार भी अपना कार्य करते रहते हैं; किंतु मूलतः बालकका विकास उसके अन्तरमें ही छिपा रहता है, बाह्यमें नहीं। हम बालकको मिट्टीका घरौंदा अथवा लकड़ीका खिलौना मानकर उसकी अवहेलना नहीं कर सकते; वह शक्ति है, वह बल है, वह देशकी भावी विकसित अवस्थाका प्रधान प्रतिनिधि है। साधारणतः हम सम्पन्न परिवारमें जन्म लेनेवाले अथवा सुन्दर बालककी ओर शीघ्रतासे आकृष्ट हो जाते हैं और उसके गुणोंकी प्रशंसा करने लगते हैं; पर निर्धन परिवारमें जन्म लेनेवाले अथवा नंगे-धड़ंगे, काले-कुरूप बालककी ओर हम घृणाकी दृष्टिसे देखने लगते हैं। ऐसा क्यों? यह समाजमें प्रचलित दोषोंके कारण ही। यह हमारी ज्ञान-शून्यताके कारण ही। वास्तवमें हमने अपने जीवनके स्वतन्त्र चिन्तनके क्षणोंमें बालकोंकी शक्तियोंपर विचार करनेका कभी भी कष्ट नहीं किया। हम सदा उन्हें दुतकारते ही रहे हैं। हम उन्हें सदैव अपने कार्यमें बाधा उपस्थित करनेवाले प्राणी ही समझते आये हैं। हम जिज्ञासा-प्रवृत्तिसे भरे हुए उनके प्रश्नोंकी झड़ीमें उनकी उद्दण्डता देखने लग जाते हैं; उन्हें मूर्ख समझने लगते हैं और फलतः हम धिक्कारना देकर उन्हें चुप करके

उनकी जिज्ञासा-प्रवृत्तिको कुचल देते हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जिज्ञासा मानव-विकासकी आदि एवं मूलभूत आवश्यकता है। उसकी रक्षासे ही हम अपने समाजको विकसित, सम्पन्न एवं उन्नत बना सकते हैं; पर बालकोंकी जिज्ञासा तिरस्कार एवं हीनताका विषय! कितना आश्चर्य है! संक्षेपमें हमें बालकोंको उनके असली स्वरूपमें समझना है। उनकी शक्तियोंका ज्ञान प्राप्त करके उनके विकासमें लग जाना है। उनके जीवनमें सक्रियता, स्वावलम्बन, बुद्धि-प्रयोग आदिकी महत्त्वपूर्ण भावनाओंको आरोपित करना है।

बालकमें बुद्धि

प्रत्येक बालकमें बुद्धि पायी जाती है। बुद्धि क्या है? अनेक ग्रन्थों एवं पुस्तकोंमें संगृहीत ज्ञान-कोशको कंठस्थ करके उसे अपना बना लेने मात्रसे बुद्धिका अर्जन नहीं कहलाया जा सकता। पाश्चात्त्य विद्वानोंके प्रयत्नोंसे मनोविज्ञानके नवीन ज्ञानने बुद्धिके स्वरूपको अत्यन्त स्पष्ट रूपमें हमारे सामने ला दिया है। फिर भी, यही कहना अधिक सुरक्षित है कि बुद्धि-उद्‌घाटनका क्षेत्र अभी नया है, उसकी उद्भावनाएँ अभी भी अपूर्ण हैं और उस क्षेत्रमें अभी भी बहुत कार्य किया जाना शेष है। नीचे हम बुद्धिके सम्बन्धमें पाश्चात्त्य विद्वानोंद्वारा प्रवर्तित कुछ परिभाषाएँ देते हैं।

(१) **विलियम जेम्स**—सापेक्षिक नूतन परिस्थितिमें स्वयंको उसके अनुकूल बना लेनेकी क्षमता बुद्धि कहलाती है।

(२) **बर्ट**—बुद्धि अन्तर्जन्म सर्वाङ्गीण मानसिक योग्यता है।

(३) **टरमन**—व्यक्ति उसी परिमाणमें बुद्धि-सम्पन्न माना जायगा, जिस परिमाणमें वह अमूर्त मनन करनेकी क्षमता रखता है।

(४) **मैग्डूगल**—बुद्धिमान् व्यक्ति वह है, जो समान परिस्थितिमें लाभप्रद सिद्ध होनेवाले अनुभवकी सहायतासे वर्तमान परिस्थितिके लिये सुलभ हल ढूँढ़ निकाल लेता है। अन्तःप्रवृत्ति व्यक्तिकी जन्मजात शक्ति है; पर उसके उपयोग एवं विकासके लिये बुद्धिकी ही आवश्यकता होती है।

(५) **थार्नडाइक**—बुद्धि वह सामान्य शक्ति है, जिसकी सहायतासे व्यक्ति परिस्थितिके प्रति उपयुक्त प्रतिक्रिया करनेकी क्षमता उत्पन्न करता है।

इन परिभाषाओंसे तीन बातें पूर्णरूपेण स्पष्ट होती हैं—

(क) बुद्धि ईश्वर-प्रदत्त शक्ति है।

(ख) बुद्धिके बलपर ही मानव नवीन परिस्थितियोंके अनुकूल स्वयंको बनाकर उनके प्रति उपयुक्त प्रतिक्रिया करने लगता है।

(ग) साधारण और अति स्पष्ट शब्दावलीमें बुद्धि अनेक मानसिक शक्तियोंका संगृहीत रूप है। ये शक्तियाँ हैं—तर्क, कल्पना, विवेक, न्याय, मनन, सोचना इत्यादि।

विद्या और बुद्धिमें अन्तर है। प्रो० ह्वाइटहेडके शब्दोंमें—

'ज्ञानके आधारके अभावमें तुम बुद्धिमान् नहीं हो सकते; परंतु ज्ञान-अर्जन करनेके पश्चात् भी तुम बुद्धिरहित बने रह सकते हो।'

इस कथनसे यह आशय निकलता है कि यह आवश्यक नहीं कि जिसके पास विद्या हो, वह बुद्धिमान् भी हो तथा बुद्धिमान् व्यक्ति विद्वान् भी हो। ऐसे व्यक्तियोंके भी उदाहरण उपलब्ध हुए हैं, जो परिस्थितिवश विद्याका अर्जन न कर सके; परंतु उनमें कभी भी बुद्धिका अभाव नहीं पाया गया। कम विद्वान् होनेपर भी व्यक्ति उच्चकोटिका बुद्धिमान् हो सकता है।

इन सब मान्यताओंके पश्चात् अब हम बालककी बुद्धिपर आते हैं। प्रत्येक बालकमें बुद्धि होती है—कम अथवा अधिक। वह उसे जन्मसे ही प्राप्त होती है। उसमें परम्परागत संस्कारोंका भी प्रभाव निहित होता है। साधारणतः बुद्धिमान् माता-पिताकी संतान बुद्धिमान् होगी और मूर्ख माता-पिताकी संतान मूर्ख; पर निश्चयात्मक रूपसे इस कथनकी सत्यतामें विश्वास करना कठिन है। प्रकृतिके अपवादोंकी व्याख्या करना बड़ा जटिल कार्य है।

इसलिये आवश्यकता इस बातकी है कि बालकोंकी बुद्धिका मूल्याङ्कन किया जाय। बुद्धि-मूल्याङ्कनके पश्चात् ही उनकी शिक्षाकी उचित व्यवस्था की जा सकती है अथवा समाजमें उनको उचित स्थान दिया जा सकता है। शिक्षाकी व्यवस्थाके विचारसे तो यह प्रश्न बड़ा ही महत्त्वपूर्ण हो जाता है। बुद्धि-मूल्याङ्कनके बाद की हुई शिक्षा-व्यवस्थासे ही बालकोंका तथा उनसे समाजका हित हो सकेगा। बुद्धिहीन बालकोंसे अप्रत्याशित कार्योंके सम्पादित करानेकी आशामें

समाजका अहित ही अधिक होगा और स्वयं उन बालकोंका हित न किया जा सकेगा। जब हम यह कहते हैं, तब हमारा आशय बालकोंकी शक्तियोंको तिरस्कृत करनेका नहीं है। हम आरम्भमें ही यह कह आये हैं कि बालकोंकी शक्तियोंमें प्रकार-का भेद कम ही होता है, उनमें परिमाणका अन्तर ही दिखायी देता है। सभी बालक समान परिमाणकी शक्तियों-वाले हो ही कैसे सकते हैं! हमारा कथन तो यह है कि इस वैभिन्न्यको ध्यानमें रखते हुए ही हमें बालकोंका उचित मूल्याङ्कन करना है, उनकी शक्तियोंका उचित उपयोग करना है और उस उपयोगसे उन्हें अधिक-से-अधिक परिमाणमें लाभान्वित करना है। बुद्धि-मूल्याङ्कनके लिये मनोविज्ञानकी आधुनिक खोजने 'बुद्धि-परीक्षण'का तथ्य ढूँढ़ निकाला है। बुद्धि-परीक्षण आधुनिक मनोविज्ञानका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषय बन रहा है। दिन-प्रतिदिन इस क्षेत्रमें नवीन प्रयोग किये जा रहे हैं और उनसे नवीन उद्भावनाओंकी सृष्टि की जा रही है। बुद्धि-परीक्षण है क्या और उसकी आवश्यकता क्या है?

बुद्धि-परीक्षणकी आवश्यकता

बालककी सुप्त शक्तियोंके विकासके लिये शिक्षा ही एक साधन है। यही कारण है कि बालकका अध्ययन शिक्षा-शास्त्रका प्रधान विषय बन गया है। बालमनोविज्ञानके ज्ञानाभावमें आजकी शिक्षाका कार्य नहीं हो सकता। अतएव हम बालकपर शिक्षाके सम्बन्धमें ही विचार कर रहे हैं। बालककी शिक्षा उसकी शक्तियोंका जागरण है।

जैसे-जैसे शिक्षाकी प्रगति होती गयी, वैसे-वैसे बालकों-की शक्तियोंमें वैयक्तिक वैभिन्न्यका ज्ञान लेनेकी आवश्यकता-का अनुभव किया जाने लगा। शैक्षणिक प्रयत्नोंके अन्तर्गत किये जानेवाले अनेक कार्य इस वैयक्तिक वैभिन्न्यके ज्ञानके अभावमें व्यर्थ सिद्ध हो जायँगे। हमें यह भलीभाँति समझना है कि बालक शिक्षाके लिये नहीं है, वरं शिक्षा बालकके लिये है। हमें अधिक बुद्धिवाले और कम बुद्धिवाले प्रकारके बालकोंके लिये शिक्षा-पाठ्य-क्रम एवं शिक्षा-विधानमें परिवर्तन करना होगा। प्रतिभासम्पन्न बालकके लिये जो पाठन-प्रणाली लाभप्रद सिद्ध हो सकती है, वही बुद्धिहीन बालकके लिये नहीं। बुद्धिहीन बालकको प्रतिभा-सम्पन्नके साथ विद्या पढ़ानेसे हम मानवीय शक्तियोंके ज्ञानका परिचय-अभाव ही देंगे। हम असम्भवको सम्भव करनेके प्रयत्नमें लगे हुए होंगे। इसी प्रकार प्रतिभासम्पन्न बालकको बुद्धिहीन बालक-के साथ बैठकर पढ़नेके लिये बाध्य करनेमें हम प्रतिभासम्पन्न बालकके साथ अन्याय ही अधिक करेंगे, उसकी शक्तियोंको तिरस्कृत ही करेंगे। अतएव समान बुद्धि-स्तरके बालकोंकी कक्षामें ही शिक्षाका कार्य भलीभाँति सम्पन्न हो सकता है।

बुद्धि-परीक्षण वह विधि है, जिसके द्वारा हम बालकों-की बुद्धिका स्पष्ट मूल्याङ्कन करते हैं। इस कार्यके लिये कुछ 'बुद्धि-परीक्षा-पत्र' निर्मित किये जाते हैं। बुद्धिका मूल्याङ्कन कर चुकनेके बाद हम उसके अनुरूप उसकी शिक्षाकी व्यवस्था कर सकते हैं।

बुद्धिके सम्बन्धमें एक बात और है। प्रत्येक व्यक्तिमें 'सामान्य बुद्धि' पायी जाती है। उसकी सहायतासे वह सामान्यतः जीवनकी परिस्थितियोंके अनुकूल स्वयंको बनाता है। प्रत्येक बालक इस प्रकारकी बुद्धिका क्षण-क्षणपर उपयोग करता रहता है। एक अथवा दो वर्षके बालकके व्यवहारोंसे भी इस प्रकारकी बुद्धिके प्रदर्शनका पता लग जाता है। वह कैसे खेलता है, वह किसी वस्तुको किस प्रकार उठाता है, वह माता-पिताकी क्रियाओंके प्रति कैसे और किस प्रकार-का व्यवहार करता है, आदि तथ्योंसे उसकी इस बुद्धिका सुलभतापूर्वक पता लग जाता है। यही बात बड़ी अवस्थाके व्यक्तियोंमें भी पायी जाती है। इस 'सामान्य बुद्धि'के अतिरिक्त एक और प्रकारकी बुद्धि होती है। हम उसे 'विशिष्ट बुद्धि' कह सकते हैं। इसका प्रयोग विशिष्ट कार्योंमें ही किया जाता है। हमारी बुद्धि गणितमें खूब चलती है, पर भाषा और साहित्यमें नहीं; पर हम सामान्यतः बुद्धिमान् हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हममें गणितके सम्बन्धमें 'विशिष्ट बुद्धि' पायी जाती है। शिक्षा-कार्यमें 'विशिष्ट बुद्धि'का बड़ा महत्त्व है। गणित और विज्ञानकी शिक्षाके प्रति विशिष्ट बुद्धि न रखने-वाले बालकोंमें इन विषयोंके सीखनेमें कोई रुचि न होगी। अतः ऐसा बालक इन विषयोंको न सीख सकेगा। ऐसी अवस्थामें उचित यह होगा कि उसे इन विषयोंकी शिक्षा ही न दिलायी जाय; पर बहुधा माता-पिता इसे नहीं समझ पाते। प्रत्येक माता-पिता अपने बालकको इंजीनियर, डाक्टर, वैज्ञानिक आदि बनता हुआ देखना चाहता है, पर यह सम्भव कैसे हो! प्रत्येक बालक इंजीनियर, डॉक्टर, वैज्ञानिक आदि नहीं बन सकता। फिर क्या किया जाय? उसे अन्य विषयोंमें शिक्षा दिलायी जाय और उसके आधार-पर उसके भावी जीवनका स्वरूप निर्धारित किया जाय। इस

कार्यके लिये भी 'बुद्धि-परीक्षण'की आवश्यकता हो जाती है । एतदर्थ पाठशालाओंका वर्गीकरण, विषयोंका वर्गीकरण आदि बातोंके लिये बुद्धि-परीक्षणसे ही मार्ग-दर्शन मिल सकेगा । बुद्धिहीन बालक साधारण पाठशालाओंमें पढ़कर लाभान्वित नहीं हो सकते, उनके शिक्षणके लिये तो विशेष प्रकारकी पाठशालाओंके निर्माणकी आवश्यकता होगी ।

बुद्धि-लब्धि

बुद्धि-परीक्षणके क्षेत्रमें सर्वप्रथम कार्य किया फ्रान्सके एक मनोवैज्ञानिक डॉ० अल्फ्रेड बिनेने । डा० बिनेको पेरिसकी म्युनिसिपैलिटीने मन्द-बुद्धि बालकोंका पता लगानेके लिये नियुक्त किया था, जिससे उन्हें विशिष्ट प्रणालियोंके द्वारा शिक्षा दी जा सके । सन् १९०४ में बिनेने साइमनके सहयोगसे एक प्रश्नावली तैयार की । उन प्रश्नोंके उत्तरोंके आधारपर बालकोंकी बुद्धिका मूल्याङ्कन किया जाता था ।

धीरे-धीरे इन प्रश्नावलियोंमें अनेक परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन होते गये ।

इन प्रश्नावलियोंसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य तो न हो सका, पर इस कार्यके लिये क्षेत्र दिखानेका श्रेय डॉ० बिनेको ही मिला । अमरीकाके विद्वान् टरमनने अमरीकाके बालकोंके लिये इन प्रश्नावलियोंमें संशोधन किया । टरमनने इस दिशामें एक बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि उसने बुद्धि-मूल्याङ्कन-के हेतु 'बुद्धि-लब्धि' नामक एक अत्यन्त उपयोगी सिद्धान्त-का प्रवर्तन किया । उसने दो प्रकारकी अवस्थाओंकी कल्पना की—

(१) वास्तविक अवस्था ।
(२) मानसिक अवस्था ।

उसने कहा कि बालककी वास्तविक अवस्था और मानसिक अवस्थामें एक सम्बन्ध होता है। उसने इस सम्बन्धको इस प्रकार प्रकट किया—

$$\frac{\text{मानसिक अवस्था}}{\text{वास्तविक अवस्था}} = \text{बुद्धि-लब्धि ।}$$

बुद्धि-लब्धिको पूर्ण अङ्कमें लाकर स्पष्ट बनानेके विचारसे इस बुद्धि-लब्धिको प्रतिशतके रूपमें प्रकट किया जाने लगा । अतएव सूत्र यह हुआ—

$$\frac{\text{मानसिक अवस्था}}{\text{वास्तविक अवस्था}} \times १०० = \text{बुद्धि-लब्धि ।}$$

मान लीजिये कि एक बालककी बुद्धि-लब्धि ज्ञात करना है । उसकी वास्तविक अवस्था १० वर्ष है और मानसिक अवस्था १२ वर्ष है ।

$$\text{बुद्धि-लब्धि} = \frac{१२}{१०} \times १००$$
$$= १२०$$

बुद्धि-लब्धिके अनुसार बालकोंकी बुद्धिके मूल्याङ्कनके लिये उसने निम्न तथ्य प्रकट किये—

बुद्धि-लब्धि	किस कोटिका बालक है ?
२००	अत्यन्त प्रतिभाशाली (Supreme genius)
१४० से ऊपर	प्रतिभाशाली (Genius)
१२० से १४० तक	अत्युत्कृष्ट (Very Superior)
११० से १२० तक	उत्कृष्ट (Superior)
९० से ११० तक	साधारण (Normal)
८० से ९० तक	मन्द (Dull)
७० से ८० तक	निर्बल बुद्धि (Borderline)
७० से नीचे	हीनबुद्धि (Feeble-Minded)
५० से ७० तक	मूर्ख (Moron)
२० से ५० तक	मूढ़ (Imbecile)
२० से नीचे	जड़ (Idiot)

बुद्धि-परीक्षणके भेद

बालकोंका बुद्धि-परीक्षण दो प्रकारकी विधियोंद्वारा किया जा सकता है (१) वैयक्तिक परीक्षण और (२) सामूहिक परीक्षण ।

वैयक्तिक परीक्षण

वैयक्तिक परीक्षणमें भाषामें लिपि-बद्ध प्रश्न मौखिक एवं वैयक्तिक रूपमें बालकोंके समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं । प्रश्नों-को प्रस्तुत करनेके पूर्व यह भलीभाँति देख लिया जाता है कि प्रत्येक प्रश्न स्पष्ट रूपमें बालकोंके समक्ष रक्खा जा रहा है और प्रश्नकी समस्या बालकोंके बौद्धिक स्तरके अनुकूल ही है । एक-एक बालककी परीक्षा ली जाती है । समस्याएँ मूर्त तथा अमूर्त दोनों रूपोंमें होती हैं । साधारणतः मूर्त समस्याएँ छोटे बालकोंके लिये और अमूर्त समस्याएँ बड़े बालकोंको दी जाती हैं । प्रत्येक समस्याका उत्तर ढूँढ़नेमें बालकोंको अनेक मानसिक प्रक्रियाएँ करनी पड़ती हैं—यथा, सविकल्पक प्रत्यक्ष, तर्क, मनन, कल्पना आदि । इन्हीं प्रक्रियाओंका संगृहीत रूप बुद्धिके रूपमें प्रकट होता है। वैयक्तिक परीक्षणके

हेतु बनाये हुए बर्ट महोदयके कुछ प्रश्न नीचे दिये जाते हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि टरमनके विवेचनके आधारपर बुद्धिका वास्तविक अवस्थासे सम्बन्ध है, अतएव ये प्रश्न भिन्न-भिन्न अवस्थाके बालकोंके लिये भिन्न-भिन्न रूपोंमें होंगे।

अवस्था ८ वर्ष

साधारण प्रश्नोंके उत्तर देना

(क) कल्पना करो कि तुम्हें कहीं बाहर जाना है। तुम्हारी रेलगाड़ी चूक जाती है। ऐसी स्थितिमें तुम क्या करोगे?

(ख) यदि तुम अन्य व्यक्तिकी किसी वस्तुको तोड़ डालो तो उस अवस्थामें तुम्हें क्या करना चाहिये?

अवस्था ११ वर्ष

हम किसी व्यक्तिके विषयमें उसके कार्यसे, पर उसके कथनसे नहीं, अपना निर्णय क्यों देते हैं?

अवस्था १५ वर्ष

अमूर्त तथ्योंके सम्बन्धमें कल्पनाका प्रयोग

निम्नलिखितमें क्या अन्तर है—

(१) हर्ष और सुख।

(२) निर्धनता और दयनीयता।

वैयक्तिक परीक्षणके लाभ

वैयक्तिक परीक्षणके निम्नलिखित लाभ हैं—

(१) यह सर्वमान्य मत हो गया है कि आजकल वैयक्तिक परीक्षण ही बुद्धि-परीक्षणकी सबसे अधिक शुद्ध विधि है, क्योंकि उसमें व्यक्तिगत एवं निजीरूपमें बालकका बुद्धि-परीक्षण किया जाता है। ऐसा परीक्षण निश्चित ही अधिक सत्य एवं पूर्ण होगा।

(२) परीक्षक, इस विधिके प्रयोगद्वारा, बुद्धि-मूल्याङ्कनके अतिरिक्त बालककी अनेक विशेषताओंका ज्ञान भी प्राप्त कर लेता है। ये विशेषताएँ हो सकती हैं—किसी कार्यको दत्तचित्त होकर करनेका सामर्थ्य, कार्य करनेमें तेजी, धैर्य, विश्वास अथवा इनके विपरीत बालकके मनोविकार-सम्बन्धी उत्तेजनाओंका भी पता लग जाता है। संक्षेपमें वैयक्तिक परीक्षणके द्वारा परीक्षक बालककी सम्पूर्ण प्रतिक्रियाओंका ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

(३) परीक्षक बालककी सफलता एवं असफलताके आधारपर प्रश्नोंकी उपयोगिता अथवा अनुपयोगिताका पता लगा सकता है, जब कि वह बालककी अस्वस्थता, बाधक तत्त्व एवं मनोविकारोंकी उत्तेजनाके कारण होती है।

(४) परीक्षक बालकके अनेक शारीरिक दोषों—यथा नेत्र-सम्बन्धी, कर्ण-सम्बन्धी आदिका ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

(५) इस परीक्षणमें बालक कार्यमें रुचि प्रदर्शित करता है। अतएव उसकी महत्तम शक्तिका उपयोग किया जा सकता है। ऐसी स्थितिमें उसकी बुद्धिका अधिक सत्य एवं निष्पक्ष मूल्याङ्कन हो जाता है।

वैयक्तिक परीक्षणकी हानियाँ

(१) वैयक्तिक परीक्षण-कार्यको सम्पन्न करनेके लिये विशेष प्रशिक्षित परीक्षकोंकी आवश्यकता होती है। उन्हें निम्नलिखित बातोंका ठीक-ठीक ज्ञान होना चाहिये।

(क) परीक्षाके प्रश्न।

(ख) प्रश्नका कितना भाग बालकके सामने रखना है, जिससे वह पूर्ण अवधानसे उसे कर सके।

(ग) माप जिसके सहारे शुद्ध एवं अशुद्ध उत्तरोंका निर्णय किया जा सके।

(२) इसमें अधिक समयका व्यय होता है।

सामूहिक परीक्षण

इस प्रकारके परीक्षणमें अनेक प्रश्न सामूहिक रूपमें किसी पुस्तिकामें छपे रहते हैं, जिनके उत्तर एक-दो शब्दोंमें ही अथवा केवल शब्दोंके रेखाङ्कनद्वारा ही दिये जाने होते हैं। सामूहिक परीक्षणके द्वारा काफी बड़ी संख्याके बालकोंका एक साथ परीक्षण हो जाता है।

सामूहिक परीक्षणके प्रश्नोंके कुछ रूप नीचे देखिये—

१. पारस्परिक सम्बन्ध

(क) आकाश : नीला :: घास:—
(मेज, हरा, गर्म, बड़ा)

(ख) मछली : तैरना :: मनुष्य:—
(कागज, समय, टहलना, लड़की)

(ग) वेश-भूषा : पहनना :: पानी:—
(दौड़ना, पीना, बहना, पकाना)

[बालकसे उस शब्दके नीचे रेखा खींचनेको कहा जाता है, जो उक्त सम्बन्धको प्रकट करे।]

२. रिक्त स्थानोंकी पूर्ति

(क) बकरी········देती है ।

(ख) साँस लेते समय मुख·····रहना चाहिये ।

(ग) जब वायु ··हो, तब खेलना अच्छा होता है ।

३. वर्गीकरण

प्रत्येक पंक्तिमें उस शब्दको काट दो, जो उपयुक्त न हो । ऐसा प्रत्येक पंक्तिमें एक ही शब्द है ।

(क) बच्चा गुड़िया पहने हुए बिल्लीका बच्चा

(ख) कुर्सी मेज विस्तर स्टोव

(ग) मोटर साइकिल ताँगा टेलीग्राफ रेलगाड़ी

४. विपरीतार्थी शब्द

रिक्त स्थानोंमें विपरीतार्थी शब्दोंको लिखोः—

(क) सस्ता··········· ।

(ख) सरल··········· ।

(ग) लंबा········ ·· ।

(घ) बंद करना········· ।

५. अङ्कोंका क्रम

अङ्कोंकी प्रत्येक पंक्तिमें यह देखो कि ये अङ्क किस क्रमसे रक्खे गये हैं । फिर उनके आगे उन दो अङ्कोंको लिख दो, जो वहाँ उस क्रममें आयेंगे ।

(क) ३ ६ ९ १२ १५ १८········ ।

(ख) ९ ९ ७ ७ ५ ५········ ।

(ग) १२८ ६४ ३२ १६ ८ ४········ ।

सामूहिक परीक्षणके लाभ

(१) इनसे समयकी बचत होती है; क्योंकि एक ही बारमें कई बालकोंका बुद्धि-परीक्षण किया जा सकता है ।

(२) इस परीक्षण-कार्यके लिये विशेषरूपसे प्रशिक्षित परीक्षकोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती ।

सामूहिक परीक्षणकी हानियाँ

(१) ये परीक्षण वैयक्तिक परीक्षणके समान शुद्ध नहीं हैं ।

(२) इनमें बालकोंको आदेशोंमें निहित कुछ भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयोंका सामना भी करना पड़ता है; क्योंकि उन कठिनाइयोंको दूर करनेके लिये उनके पास कोई व्यक्तिगत सहायक नहीं होता ।

(३) छोटी अवस्थाके बालक ऐसे प्रश्नोंमें रुचि नहीं दिखाते । उनका मन बहुत शीघ्र उचट जाता है ।

बुद्धि-परीक्षणके क्षेत्रमें किये गये इन अनुसंधानोंने शिक्षा-शास्त्र-जगत्‌में महान् क्रान्ति मचा दी है । अब बालकमें कितनी बुद्धि है, इसका निर्णय सुलभ एवं स्पष्ट हो गया है । इस खोजने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि आजकल जिन परीक्षापत्रोंके द्वारा पाठशालाके बालकोंकी परीक्षाएँ ली जाती हैं, वे सब दोषपूर्ण हैं । वास्तवमें आजकी सारी परीक्षा-प्रणाली ही दोषपूर्ण है । अतएव उसमें सुधार किया जाना आवश्यक है । हमारे प्रयत्न भी इसी ओर हैं ।

बालकोंके बुद्धि-परीक्षणसे सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि बालकोंको शिक्षा प्राप्त करनेमें तो सुविधा होती ही है, पर साथ-ही-साथ उन्हें अपने जीवनका व्यवसाय ढूँढ़नेमें भी मार्ग-दर्शन मिलता है । बुद्धि-परीक्षणद्वारा परीक्षक बालकके अभिभावकको उस बालककी प्रवृत्तियोंका सूक्ष्म एवं पूर्ण परिचय दे सकता है । इन प्रवृत्तियोंके अनुरूप ही उसे अपने व्यवसायका चुनाव करना चाहिये । बुद्धि-परीक्षणका यह लक्ष्य बालकोंके हितकी दृष्टिसे निश्चित ही महान् है । अतः ऐसा विषय प्रत्येक शिक्षित जनका ध्यान आकर्षित किये बिना न रहेगा ।

नीचे हम बालकोंकी बुद्धिके सम्बन्धमें कुछ निर्णीत तथ्य दे रहे हैं, जो अभिभावकोंके लिये विशेष लाभदायक सिद्ध होंगे ।

(१) भिन्न-भिन्न बालकोंकी बुद्धि-लब्धिमें बहुत बड़ा अन्तर पाया जा सकता है । साधारणतः बुद्धि-लब्धि साठसे एक सौ अस्सीतक पायी जाती है । साधारण समाजमें मूढ़ और जड बालकोंका अभाव ही पाया जाता है ।

(२) बालकका मानसिक विकास सोलह वर्षकी अवस्थातक ही होता है । उसके बाद उसका विकास रुक जाता है । अतः बुद्धि-पक्षसे हम सोलह वर्षके बालकको पचास वर्षके वृद्ध व्यक्तिसे किसी प्रकार कम नहीं समझते ।

(३) उत्कृष्ट बुद्धिवाले बालकोंका मानसिक विकास सोलह वर्षसे भी अधिक अवस्थातक चलता रहता है, पर मन्द बुद्धिवाले बालकोंका मानसिक विकास बहुत शीघ्र रुक जाता है ।

(४) बुद्धिके विचारसे बालक और बालिकामें कोई अन्तर नहीं पाया जाता, पर बालिकाएँ बालकोंकी अपेक्षा

कम संख्यामें ही प्रतिभाशालिनी पायी जाती हैं तथा मन्द-बुद्धि बालिकाओंकी संख्या मन्द-बुद्धि बालकोंकी संख्याकी अपेक्षा कम होती है।

संक्षेपमें हम यही कहना चाहते हैं कि प्रत्येक अभिभावकको अपने बालकोंके बुद्धि-पक्षका अवश्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इस ज्ञानके पश्चात् ही वे अपने बालकोंकी शिक्षा एवं व्यावसायिक चुनाव भलीभाँति कर सकेंगे। इस कार्यके लिये हमारे देशमें कई संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। ये संस्थाएँ शैक्षणिक कार्योंमें सहयोग देनेके साथ-साथ व्यक्तिगतरूपमें बालकोंके अभिभावकोंकी सहायता करती हैं। दिल्ली, इलाहाबाद, श्रीनगर (काश्मीर), ग्वालियर (खुलनेवाली है) आदि स्थानोंकी मनोवैज्ञानिक संस्थाएँ (Bureaus of Psychology) बालकोंके बुद्धि-परीक्षणके क्षेत्रमें स्तुत्य कार्य कर रही हैं।

बच्चेके प्रति प्रेमसे मानसिक लाभ

(लेखक—प्रो० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्०ए०,बी०टी०)

अभी एक सभ्य व्यक्तिको एक ढाई वर्षका बच्चा कल भूला हुआ मिला। वह इधर-उधर घूम रहा था। वह अपने पिता-माताका नाम नहीं जानता था। उस नागरिकने इस बच्चेको गोदीमें उठा लिया। वह इधर-उधर उसके पिता-माताकी खोज कर रहा था; परंतु कुछ पता न चला। उसने खोये बच्चेकी खबर बनारस शहरके सभी थानोंमें दी; परंतु बच्चेके विषयमें कोई खोज करने न आया। बच्चा इस बीच अपने शुभ-चिन्तकसे हिल-मिल गया। वह दस-बारह घंटे इनके साथ रह चुका था। वे इसे गोदीमें लिये थे। उनका मन प्रसन्न था और बच्चा भी बड़ा प्रसन्नचित्त था। बच्चा बोलना तो जानता नहीं था। जब उससे पूछा जाता था कि 'डाक्टर-साहब कहाँ हैं?' तब वह अँगुलीसे डाक्टर प्रभुदयालजीकी ओर संकेत करता था। जब उससे कहा जाता था कि 'नमस्ते करो बेटा' तब वह नमस्ते करता था।

लड़केकी प्रसन्नता और निर्भीकता देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। इस घटनाने मुझे अनेक प्रकारके विचारोंमें डाल दिया। बच्चा इन सज्जनकी गोदीमें रहकर घबरा क्यों नहीं रहा है और ये सज्जन उसे गोदीमें क्यों लिये थे। इसपर विचार करनेपर ज्ञात हुआ कि ये व्यक्ति स्वयं बालकके प्रेमके भूखे थे। बालकके अचेतन मनका उनकी अन्तरात्मासे एकत्व स्थापित हो चुका था और बालक उनकी इस आन्तरिक भूखको पूरा कर रहा था। बालकको विश्वास हो गया था कि उनसे क्षतिकी कोई आशङ्का नहीं है। उनकी गोदीमें रहनेसे वह प्रसन्न था।

बालक किसी भी व्यक्तिके वशमें हो जाते हैं, जो उन्हें प्यार करता है। श्रीकृष्ण भगवान् इस प्रकार गाँवकी ग्वालिनोंके घरोंमें प्रसन्न रहते थे। ग्वालिनें अपने घरको इसीलिये खोलकर चली जाती थीं कि बालक श्रीकृष्ण उनके घर आवें और कुछ खा लें। जब भगवान् श्रीकृष्ण उनके घरोंमें दधि-माखनकी चोरी कर लेते, तब उन्हें हार्दिक संतोष होता था। जो संतोष इन ग्वालिनोंको भगवान् श्रीकृष्णकी दधि-माखनकी चोरीसे होता था, वह उनको दधि-माखन खिलानेमें नहीं होता था। वे चाहती थीं कि श्रीकृष्ण कुछ उत्पात करनेकी बात सोचें और उनकी शिकायत करनेका उन्हें मौका मिले। इससे वास्तवमें उन ग्वालिनोंको बड़ा आत्म-संतोष होता था।

जो लोग जितना ही बालकोंके बारेमें सोचते हैं और उन्हें किसी-न-किसी प्रकार प्रसन्न करनेकी चेष्टा करते हैं, वे अपने आपको उतना ही सुखी और आरोग्यवान् बनाते हैं। ऐसे लोगोंको अकारण चिन्ता, भय और हृदयके रोग नहीं होते। लेखकके उपचारमें जितने ही हृदयके रोगी आये, उन सभीके जीवनमें बच्चोंके प्रति प्रेमकी कमी पायी गयी। इनमेंसे कितनोंने तो अपने बच्चेको कभी गोदीमें भी नहीं लिया था। जो लोग हमारी चिकित्साविधिको मानकर बच्चोंको प्यार करने लगे और सदा उनको अपने साथ रखने लगे, उनके हृदयका रोग जाता रहा।

जब रोगीको अकारण चिन्ता और मानसिक अशान्ति त्रास देती है, तब छोटे बच्चोंके साथ बात-चीत करने, उनके साथ खेलने, उन्हें 'क' 'ख' 'ग' सिखाने और उनका चिन्तन करनेसे यह सरलतासे नष्ट हो जाती है।

महर्षि व्यासको अपने बुढ़ापेमें काफी अशान्ति हुई। वे इस समयतक सभी पुराणोंका निर्माण कर चुके थे। वेद-वेदान्त आदि सभीका अध्ययन और उनपर ग्रन्थ-निर्माण

हो चुका था; परंतु उनकी ब्रह्मविद्याके ज्ञानने उन्हें मानसिक शान्ति नहीं दी । वे फिर नारदजीके पास गये और उनसे मानसिक शान्तिके उपायको उन्होंने पूछा । नारदजीने भगवान् श्रीबालकृष्णके गुणानुवाद गानेके लिये उनसे कहा । इसके परिणाम-स्वरूप व्यासजीद्वारा श्रीमद्भागवतका निर्माण हुआ । इसके निर्माणसे न केवल व्यासजीकी ही मानसिक व्याधि जाती रही, वरं उस समयसे आजतकके करोड़ों नर-नारियोंकी मानसिक अशान्तिको दूर करनेके लिये यह पुस्तक ओषधि बन गयी । श्रीमद्भागवतका दशम स्कन्ध वास्तवमें मानसिक आरोग्यकी दृष्टिसे बड़ा ही उपयोगी है । महामना पण्डित श्रीमदनमोहन मालवीयजी इस स्कन्धका बार-बार पारायण करते रहते थे । मालवीयजीकी भागवतमें लगनका ही परिणाम है कि वे अपना सब-कुछ काशी विश्वविद्यालयके निर्माणमें दे सके । वे सदा बालकोंकी शुभ-कामनाके चिन्तनमें ही लगे रहते थे । वे कहा करते थे कि मैं आप सभी लोगोंमें नारायणको देखता हूँ ।

जिन लोगोंको गृहस्थ-जीवनका अवसर नहीं है, उन्हें श्रीकृष्ण भगवान्का गुणानुवाद गाना मानसिक दृष्टिसे बड़ा ही लाभदायक होता है । अविवाहित और असफल गृहस्थोंके जीवनको सफल बनानेकी सर्वोत्तम ओषधि श्रीबालकृष्णकी उपासना है । यह न केवल धार्मिक दृष्टिसे लाभप्रद है वरं मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी लाभदायक है । जयदेव, सूरदास और मीराँबाईके जीवनकी सफलता श्रीबालकृष्णकी उपासनामें ही है।

जो व्यक्ति अपनी श्रीबालकृष्णकी उपासनाके दृष्टि-बिन्दुको प्रसारित कर सकते हैं, वे और भी धन्य हैं । सभी बच्चोंमें श्रीकृष्ण भगवान्को देखना, सभी बच्चोंसे प्यार करना, उनकी सेवा करना मनुष्यके जटिल भावोंको सुलझाता और उनके मानसिक क्लेशोंका निवारण करता है ।

जो शिक्षक श्रद्धापूर्वक बालकोंको पढ़ाता है, वह हजारों मानसिक रोगोंसे अपने-आपको मुक्त कर लेता है । बच्चेका हृदय सरल होता है । वह सच्चे प्यारको एकदम परख जाता है और ऐसे व्यक्तिको सहजभावसे स्नेह करने लगता है । इस स्नेहका जादूके समान असर प्यार करनेवाले व्यक्तिपर पड़ता है और उसकी जटिल मानसिक व्याधियाँ क्षण भरमें नष्ट हो जाती हैं ।

हजरत ईसाके पास जब छोटे-छोटे बच्चे दौड़कर आ रहे थे, सब लोग उन्हें रोकने लगे । वे समझे कि ये लड़के अपनी उद्दण्डतासे ईसाको रंज कर देंगे; परंतु ईसाने कहा कि 'तुम इन बच्चोंको मेरे पास आनेसे मत रोको; क्योंकि स्वर्गका राज्य वास्तवमें इन्हींका है और मैं सचमुचमें तुमसे यही कहता हूँ कि जबतक तुम भी अपने हृदयमें बच्चों-जैसे नहीं बन जाओगे, तबतक तुम्हें स्वर्गके भीतर नहीं जाने दिया जायगा ।' महात्मा ईसा बच्चेको कितने महत्त्वसे देखते थे इससे यह प्रत्यक्ष है । संसारके प्रायः सभी संत बच्चोंसे प्यार करते चले आये हैं और उन्होंने अपने-आपको बच्चे-जैसा बनानेकी सदा चेष्टा की है । दुनियादारी हमें छल सिखाती है । इससे कुछ लौकिक सफलता हमें अवश्य मिलती है; परंतु हमारा हृदय हमें कोसने लगता है । हमें फिर आत्म-प्रसाद नहीं मिलता । हममें अनेक प्रकारके अकारण भय, चिन्ता और सन्देह आने लगते हैं । ऐसी अवस्थामें हम अपना आत्म-विश्वास खो देते हैं ।

सफल शिक्षक वही व्यक्ति हो सकता है, जो बच्चोंको देवरूप मानता है । फ्रांसके प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री रूसो महाशयके इस कथनमें केवल कविता और कल्पनामात्र ही नहीं है कि परमात्माके हाथसे जो वस्तु आती है, वह सुन्दर होती है और मनुष्यके हाथमें ही वह बिगड़ जाती है । अतएव बालकको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखना न केवल बालकके प्रति अपना कर्तव्य-पालन करनेमें सहायक होता है वरं उस परमात्माके प्रति अपनी आस्तिकता प्रकट करनेका यह निश्चित रूप है, जिस परमात्माने सारी सृष्टिकी रचा है । सच्चे शिक्षक बालकसे न केवल प्रेम करते हैं, वरं उन्हें श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं । वे बालकोंकी तोतली वाणीमें देववाणीकी ध्वनि पाते हैं । जो व्यक्ति बालककी साधारण-सी बातोंमें जितना रस लेता है, वह अपने हृदयकी शान्तिको उतना ही अधिक स्थिर बनाता है । छोटे बच्चोंका लालन-पालन और उनका पढ़ाना जितना स्वास्थ्यकी दृष्टिसे लाभप्रद है, दूसरा कोई काम उतना लाभप्रद नहीं है ।

लेखकके एक मित्रको एक बार अकारण मानसिक विषाद उत्पन्न हो गया । इनकी आयु चौंसठ वर्षकी थी । ये स्वयं मानसिक रोगोंकी चिकित्सा आयुर्वेदिक ढंगसे किया करते थे और आयुर्वेदके बड़े ही विख्यात पण्डित हैं । इनसे कई दिनोंतक बातचीत की गयी । इनके स्वप्नोंका अध्ययन किया गया और इनकी जीवनगाथा सुनी गयी । जिस बातने उन्हें सबसे अधिक लाभ पहुँचाया, वह बालकोंका अपने समीप रखना और उनको पढ़ानेमें मन लगाना था । जब

कुछ दिन बाद लेखक उनके पास गया और उनके स्वास्थ्य-लाभ करनेके अनुभवके बारेमें उनसे पूछा, तब उन्होंने कहा कि छोटे बच्चोंको पढ़ाते-पढ़ाते मुझे बच्चोंके मनकी गति समझमें आयी। मैंने बच्चोंके मनको वशमें करनेके उपाय इसे जानकर निकाले। फिर, जिस प्रकार बच्चोंके मनको वशमें करनेकी बात मैंने सीखी, उसी प्रकार अपने बाल-मनको भी वशमें करनेका मार्ग मुझे मिल गया। मैंने देखा कि जिस प्रकार बच्चोंका मन हठी होता है, इसी प्रकार बड़ोंका आन्तरिक मन भी हठी होता है। ऊपरी मनकी विद्वत्ता इस हठको मिटानेमें समर्थ नहीं होती। जो बात बाल-मन पकड़ लेता है, वह उसे लाख मना करनेपर भी नहीं छोड़ता। उससे ऐसी बातको छुड़ानेके लिये यही उपाय करना पड़ता है, जो बालकको वशमें रखनेके लिये रचना पड़ता है।

वास्तवमें बालकके साथ स्नेह करनेसे अपनी अन्तरात्माका उनके साथ तादात्म्य हो जाता है। फिर जैसे-जैसे बालक अपने जीवनमें उन्नति करता जाता है, वैसे-वैसे हम अपने-आप ही उन्नत होते जाते हैं। इस प्रसङ्गमें एक अंग्रेजी साहित्यकारका अनुभव उल्लेखनीय है। इस साहित्यकारको सिगरेट पीनेकी बड़ी आदत थी। वह इसे छोड़ना चाहता था; परंतु लाख प्रयत्न करनेपर भी छोड़ नहीं पाता था। जब कभी वह सिगरेट पीना बंद करता तो उसका मन निरुत्साह हो जाया करता था। एक बार उसके मित्रका लड़का, जिसे भी सिगरेट पीनेकी आदत थी, मित्रके कहीं बाहर जानेपर उसके पास रहने लगा। इस लड़केकी सिगरेट पीनेकी आदतको उसने जान लिया। लड़का किशोरावस्थामें था। इस लड़केके प्रति इस व्यक्तिको भारी सहानुभूति हुई। उसके मनमें विचार आया कि यदि यह लड़का अपनी इस आदतको इसी समय न छोड़ पाया तो वह एक जटिल आदतका दास बन जायगा और फिर मेरी तरह आत्म-ग्लानिका कष्ट भोगेगा। फिर इस व्यक्तिने उस बालकको अपना प्रेम दिखाते हुए और अपनी मानसिक जटिलताको कहते हुए सिगरेट पीनेकी आदतको छोड़नेकी सलाह दी। लड़केको धीरे-धीरे सिगरेट पीना छोड़नेका मार्ग बतलाया। उसे किसी रचनात्मक कार्यमें सहानुभूतिपूर्वक लगाया। धीरे धीरे तीन-चार महीनेमें उस बालकने सिगरेट पीना छोड़ दिया। उसके मित्रके आनेपर वह अपने घर चला गया, परंतु आश्चर्यकी बात तो यह है कि अब जब इस व्यक्तिने अपनी सिगरेट पीनेकी आदतको छोड़नेका संकल्प किया, तब वह अपने संकल्पको पूरा करनेमें बिना किसी कठिनाईके सफल हो गया। इस समयतक उसकी इच्छाशक्ति इतनी बलवान् हो गयी कि यह जटिल आदत उसे अपने कैदमें न रख सकी।

उक्त उदाहरणसे हम देखते हैं कि बालकमें किसी प्रकारकी सहानुभूतिपूर्वक सुधार करनेके प्रयत्नसे हम स्वयं ही अपने-आप सुधर जाते हैं। यह कार्य हमारे अनजानेमें हो जाता है; परंतु इस प्रकारका सुधारका कार्य अभिमान-पूर्वक न होना चाहिये। बालकको अपनेसे अच्छा समझते हुए होना चाहिये। साधारणतः बालक हमारे सुधारक गुरु बनकर ही आते हैं। जो दूसरोंको नीचा मानकर उन्हें सुधारना चाहते हैं, वे व्यक्ति न तो दूसरोंमें, न अपने-आपमें कोई सुधार कर पाते हैं। इस प्रकारकी सुधारकी मनोवृत्ति अपनी ही कमजोरियोंका दूसरोंपर आरोपित करना मात्र है। दूसरोंमें देवत्व देखना ही अपने-आपमें देवत्व-भावका जागरण करना है। दूसरेमें शैतानको देखना अपनेमें शैतानको बली बनाना है।

लेखकके एक मित्र एक बार अकारण पेटके रोग और अशान्तिसे पीड़ित हो गये। ये स्वयं प्रसिद्ध वैद्य हैं, परंतु अपने इस रोगकी चिकित्सा करनेमें वे असमर्थ रहे। उनका कुछ मनोविश्लेषण-विधि और निर्देशन-विधिसे उपचार किया गया। इससे कुछ लाभ उन्हें अवश्य हुआ; परंतु उनको स्थायी लाभ जीवनके प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित करनेसे हुआ। ये पहले अपने-आपको एक महान् व्यक्ति मानते थे। उन्होंने लाखों रुपया अपने पुरुषार्थसे कमाया था। उनकी सफलता ही अब उनके लिये भार-स्वरूप हो गयी थी। वे अपनी इस महत्ताको भुला नहीं सकते थे। उन्हें बच्चोंको खिलाने और उनके साथ समय बितानेकी सलाह दी गयी। उन्होंने धीरे-धीरे अपने-आपको बच्चोंका संगाती बना लिया। एक दिन लेखकने देखा कि वे अपनी एक नातिनीको कंधेपर लिये खूब मजेसे सब लोगोंमें टहल रहे थे। वे कहने लगे 'पण्डितजी! यह बालिका मुझे जीवन प्रदान कर रही है। पहले जिन बच्चोंसे मैं दूर भागता था, अब वे ही मुझे प्यारे लगते हैं।' उस समय न तो उन्हें मानसिक कष्ट था और न पेटका रोग।

बच्चा निरभिमान होता है। सभी रोगोंकी वृद्धि अभिमानके कारण होती है। वास्तवमें रोग मनुष्यके पास उसके अभिमानको कम करनेके लिये ही आता है और जब वह हमें बच्चे-जैसा निरभिमान बना देता है, तब चला जाता

है। अपने अभिमानको खोनेका सर्वोत्तम उपाय बच्चोंके विषयमें चिन्तन करना और उनके साथ कुछ खेलना है। इंगलैंडका प्रसिद्ध राजा अलफ्रेड प्रत्येक रविवारको गुप्तरूपसे अपनी राजधानीसे पचास मील दूर जाकर एक साधारण घरका अतिथि बन जाता था और वहाँके छोटे-छोटे बालकोंके साथ ऐसे खेलने लगता था, मानो वह भी बालक है। कभी-कभी वह इन बच्चोंको पीठपर रखकर घुटने और हाथोंके बल चलता और वे उसपर घोड़े-जैसे सवारी करते थे। इससे उसके मनमें इतनी प्रसन्नता हो जाती थी कि वह सप्ताह भर अपने राज्यभारको सरलतासे सँभाल लेता था।

वास्तवमें बच्चा एक शक्तिका केन्द्र है। जो बच्चेकी सेवा इस भावसे करता है कि उससे उसे शान्ति और आनन्द मिलता है तथा उसकी मानसिक शान्ति बढ़ती है, उसे ये लाभ अवश्य होते हैं। बच्चेके मनमें अन्तर्द्वन्द्व नहीं होता; इसलिये उसकी शक्ति व्यर्थ खर्च नहीं होती है। बच्चेके सम्पर्कमें आते ही मनुष्यका मन भी वैसा ही सरल बन जाता है। जिस भावसे हम भावित रहते हैं, उसी भावनाको हम चरितार्थ भी करते हैं। बच्चेकी सरलता बार-बार मनमें लानेसे, उसके प्रेमका चित्र मनमें बार-बार अंकित करनेसे हम स्वयं सरलचित्तके हो जाते हैं और हमारा सारा स्वत्व प्रेमसे पूर्ण हो जाता है। जहाँ प्रेम है, वहीं आनन्द है, वहीं शान्ति और वहीं सच्चा स्वास्थ्य है। प्रेम और परमात्मा एक ही तत्त्वके दो नाम हैं। प्रेम परमात्माकी शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान्‌में नामका भेद है, तत्त्वका नहीं।

बालककी आवश्यकता तथा समाज

(लेखक—श्रीकुञ्जविहारीसिंहजी एम्०ए०)

बालक राष्ट्रकी निधि हैं; वे देशके भावी नागरिक हैं। उनके भविष्यके ऊपर राष्ट्रका भविष्य निर्भर है। क्या घुमक्कड़, अक्खड़, दुर्विनीत तथा दुस्साहसी बालक, जो अन्य बालकोंको मारता-फिरता है, किसी प्रजातन्त्रीय शासनमें ठीकसे बैठ सकता है ? क्या वह मतदानद्वारा सत्ता ग्रहण करनेकी विधिमें कभी विश्वास रख सकेगा ? उसमें धीरता, गम्भीरता तथा दूरदृष्टिका अभाव रहेगा। प्रजातन्त्रीय प्रणालीके सुचारुरूपसे संचालित होनेके लिये यह आवश्यक है कि नागरिक सहिष्णु, धीर तथा सहानुभूतिपूर्ण हों, अन्यथा बड़े-बड़े सिद्धान्तवाला विधान केवल कागजी ही रह जायगा। बालककी उचित शिक्षा तथा दीक्षा ही इसे कार्यरूपमें परिणत करनेका प्रमुख साधन है।

बालक तथा संरक्षक—आरम्भमें बालक माता-पिताकी ही संरक्षकतामें रहता है। वात्सल्य-प्रेम एक प्राकृतिक प्रेरणा है। उसे स्वार्थके मापदण्डसे नहीं नापा जा सकता। पशु-पक्षी तथा मनुष्यमें यह प्रेरणा समान रूपसे पायी जाती है—हाँ, मनुष्यका व्यवहार अधिक पेंचीदा तथा अधिक बुद्धिगर्भित हो सकता है। हम सब जानते हैं कि हम अपने बच्चोंको प्यार करते हैं। हम उनकी पढ़ाई, लिखाई, भोजन-वस्त्र तथा सुख-सुविधाका पहले ध्यान रखते हैं। उनके लिये हम किसी भी त्यागको महान् त्याग नहीं समझते; परंतु अनेक अवसरोंपर प्रकृति-विधानका सर्वोच्च प्राणी मनुष्य स्वयं अपनेको धोखा दे बैठता है। पशु-पक्षियोंके प्रतिकूल वह वात्सल्य-प्रेमका आधार अपनेको मानता हुआ भी अन्तर्मनमें इसकी विरोधी ग्रन्थियाँ रखता है।

माता-पिताको यह सुनकर कितना आश्चर्य होगा यदि उनसे कहा जाय कि तुम अपने बच्चोंसे प्रेम नहीं करते; परंतु बात यह बिल्कुल सत्य है। बाह्य परिस्थितियाँ तथा मनुष्यकी विषयगत कामनाएँ इस प्रेममें बाधक हैं। सांसारिक नियम तथा व्यवस्थाओंमें बँधे रहनेके कारण भले ही हमारा प्रकाश्य मन इसे स्वीकार न करे, परंतु हमारा अचेतन मन अनजान रूपसे ही हमें इस ओर प्रेरित कर रहा है।

माता-पिताका अनभीष्ट बालक—अनेकों रूपरंगके भद्दे बालकोंको माता-पिता अपना कहनेमें आन्तरिक मनसे हिचकिचाते हैं, कितने बच्चे कई संतानोंके बाद होनेसे माता-पिताकी उदासीनताके भागी होते हैं, कितने घरकी आर्थिक दुरवस्थाके कारण अनभीष्ट-से रहते हैं, कितनोंके कारण माता अपने आकर्षणमें कमी पाते देख अंदरसे दुखी रहती है, अनेकों पिता स्त्रीके आकर्षणमें कमी होते देख स्त्री तथा बच्चे दोनोंसे विरक्त हो जाते हैं, कई बालक बिमाताओंके शान्ति तथा सुखके विनाशक-से मान लिये जाते हैं, कितने दुराचारी माताके कलङ्कके रूपमें संसारमें आते

हैं; सारांश यह कि परिस्थितियाँ इस प्रकारकी हो जाती हैं कि जीवनकालके आरम्भसे ही बालक परित्यक्त तथा अनभीष्ट-सा हो जाता है। सबसे बड़ी बात यह होती है कि बालक इस परिस्थितिको स्वयं ताड़ जाता है। बाह्यरूपसे कितना ही इसको छिपानेकी चेष्टा की जाय, परंतु वह तथ्यकी परख कर ही लेता है।

परिणाम—इस प्रेमवञ्चितताका परिणाम संतानके ऊपर बड़ा ही भयावह होता है। बालक संसारमें सुरक्षा तथा स्थिरता चाहता है। इनके न होनेसे उसका विकास रुक जाता है। लड़केको यह विदित होना चाहिये कि कोई ऐसा भी स्थान है जहाँ सब कुछ करनेपर भी बालक त्यक्त नहीं होगा, कोई ऐसा वातावरण है जो दिन-प्रतिदिन मूलतः परिवर्तित नहीं होता। बालकके भावात्मक विकासके लिये इस प्रकारकी भावना अतीव आवश्यक है। माता-पिता, भाई-बहिन सभी उसके जीवनपर प्रभाव डालते हैं। पिता अधिकारके, माता प्रेमके, भाई-बहिन औदार्य तथा सौहार्द्रके प्रतीक हैं। यदि इस सम्बन्धमें किसी प्रकारके विकार पैदा हुए तो बालककी भावात्मक शक्तियाँ अवरुद्ध-सी हो जाती हैं—उसके मनमें भाँति-भाँतिकी ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं, जो भविष्यके उसके सारे व्यवहारोंको प्रभावित करती तथा उसके जीवनको विषाक्त बना देती हैं। बालकका व्यक्तित्व इस प्रकार विशृङ्खलित-सा होने लगता है।

अनभीष्ट तथा प्रेमवञ्चित बालक संसारमें दुखी-सा रहता है। यदि उसकी आन्तरिक शक्तियाँ प्रबल हैं तब तो उसमें विद्रोह तथा प्रतीकारकी उत्पत्ति हो जायगी! उद्धतपन, चोरी, असत्यभाषण तथा अन्य ऐसे ही उपायोंसे अपने गुरुजनोंको नीचा दिखाने, तंग करने तथा अपनी ओर आकर्षित करनेमें प्रयत्नशील रहेगा। ऐसे बालक प्रायः बिस्तरेपर मूत्र तथा शौच भी करने लगते हैं। इच्छाशक्तिका दुर्बल बालक हीनभावनाकी ग्रन्थिसे पीड़ित होगा। अपनेको छोटा समझनेके कारण वह अपने पतनके मार्गकी ओर अग्रसर होगा। 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः' हम स्वयं अपने सबसे बड़े शत्रु और मित्र हैं। हीनभावनाका भयङ्कर मानसिक विषमजाल आत्माको शत्रु बना देता है। ऐसा लड़का उदास, चिन्तित, व्यथित तथा दुर्बल अध्यवसायात्मिका बुद्धिका होगा। उसमें तथ्योंके सामना करनेकी शक्ति नहीं रहती। वह अन्तर्मुखी हो अपने ही विचारोंमें लीन रहता है। संसारको प्रभावित करनेकी उसमें शक्ति कहाँ?

ऐसे अभावग्रस्त बालकोंको प्रायः शारीरिक परिताप भी होते देखे गये हैं। पेटकी शिकायत सर्वसाधारण है—कोष्ठबद्धता तथा अतिसार उनके विभिन्न मानसिक अवस्थानोंके लक्षण हैं। प्रायः उनको ज्वर भी आने लगता है। निद्राहीनतासे भी वे पीड़ित होते हैं। स्वभाव उनका चिड़चिड़ा हो जाता है। कृष्णकुमार दो वर्षका बालक है, अभी उसका छोटा भाई हो गया। मा छोटे भाईमें व्यस्त रहती है, कृष्णकुमार छिने गये राज्यवाले राजाकी भाँति दुखी है। रातमें कई बार 'अम्मा, अम्मा' पुकारता है। मा जागती है और तंग रहती है। इस प्रकार ईर्ष्यासे वह माताको तंग करता है। अभी वह नयी परिस्थितिमें अपनेको नहीं सँभाल पाया।

प्रेमवञ्चित तथा प्रतिकूल परिस्थितिमें बालक प्रायः दिवास्वप्नमें मग्न रहते हैं। इस प्रकार उनमें व्यवसायात्मिका शक्तिकी दृढ़ता नहीं आ पाती और वे धीरे-धीरे दिवास्वप्नोंकी सुखद कल्पनाको तथ्योंसे बचनेका एक साधनमात्र बना लेते हैं। आगे चलकर ऐसे बालक संसारमें न कुछ सीख पाते हैं और न कुछ कर पाते हैं।

बचपनकी ये ग्रन्थियाँ बालकके सुखको नष्ट कर देती हैं और संसारमें या तो उसे असहाय-सा छोड़ती हैं या फिर उसे जीवनसंघर्षमें पथभ्रष्ट-सा बना देती हैं। ये ही बालक आगे चलकर समाजमें अनेक प्रकारके अनाचार, अत्याचार तथा प्रपीड़नके साधक बनते हैं। समाजके अनेक अभ्यस्त अपराधियोंकी जीवन-वृत्तियोंके अध्ययनसे हम ऐसे ही निष्कर्षपर पहुँचते हैं। उनमेंसे अधिकांश बचपनमें किसी-न-किसी भावनाग्रन्थिसे उत्पीड़ित थे। मानसिक चिकित्सा-गृहोंके अनेक रोगी इन्हींके बढ़े हुए विकारोंके परिणाम हैं।

जीवनके प्रथम पाँच वर्ष मानवविकासके मुख्य वर्ष हैं। इन्हींसे बालकके पूरे जीवनका हम ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इन्हीं महत्त्वपूर्ण वर्षोंमें बालकके जीवनको अभीष्ट या अनभीष्ट मार्गपर देखकर माता-पिता उसे पाठशालामें भेजते हैं और फिर लड़केके सभी दोषोंके लिये अध्यापकको दोषी ठहराते हैं।

बालक और अध्यापक—अध्यापकका भी बालकोंके विकासमें कम हाथ नहीं। 'परिवर्तनके नियम' (Law of transfer) के अनुसार बालक उसे पिता या माताके

स्थानपर ग्रहण करता है । यद्यपि वह बालककी बुद्धिमें नहीं, वरं उसके ज्ञानमें ही विकास कर सकता है; परंतु बालकके स्थायीभाव, चरित्र, व्यक्तित्व तथा व्यवसायके निर्माणमें उसका बहुत ही बड़ा हाथ है । फिर बालकके जीवनको सुधारना तो उसका अपना पेशा ही है ।

प्रायः अध्यापक अपनी हीन आर्थिक अवस्था तथा निर्धारित पाठ्यक्रममें ही व्यस्त रहता है । उसे आगे सोचनेके लिये न समय मिलता है और न उसमें इतनी शक्ति ही होती है । वह या तो बालकके चरित्रसे उदासीन सा रहता है या फिर किसी दोषको देखकर बिगड़ खड़ा होता है । जिस व्यक्तिका मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है, वह बालककी कोई सहायता नहीं कर सकता । वह तो बालकको समझ भी नहीं पायेगा । कुछ बातोंमें बालक अध्यापकसे काफी निपुण होते हैं । वे उसकी विशिष्ट मानसिक कमजोरीसे लाभ ही उठाते हैं । अध्यापकको बालकोंके स्वाभाविक व्यक्तित्वकी परख होनी चाहिये । इसके अतिरिक्त उसे बालकके जीवनकी कठिनाइयाँ तथा उनके व्यक्तित्व-विक्षेपके कारणोंका भी ज्ञान होना चाहिये । उसमें धैर्य होना चाहिये । जल्दबाजीसे कामके बिगड़नेका डर है । उसे शीघ्र किसी परिणामपर नहीं पहुँच जाना चाहिये । उसे सब प्रकारसे अपने निर्णयको तौलना चाहिये । अब उसे व्यक्तित्व-विक्षेप तथा बालकके समस्यात्मक व्यवहारके विश्लेषण-से ही संतोष नहीं करना चाहिये; परंतु ऐसे व्यवहारोंकी प्रेरक शक्तिका भी पता लगाना चाहिये । इनके कई कारण हो सकते हैं । अध्यापक उन कारणोंको पहले ले, जो सुगम हैं । जो माता-पिताके सम्बन्धकी बातें हैं, वह उनकी सहायतासे हल करे, आवश्यकता पड़नेपर चिकित्सककी भी सहायता ली जा सकती है । बालकका उत्तरदायित्व बहुत ही महान् है । माता-पिता, अध्यापकसमाज सभीके सहयोगसे काम बन सकता है ।

बालककी ग्रन्थियोंकी पहचान—बालकके व्यक्तित्वके विक्षेप तथा उसकी कठिनाइयोंको अध्यापक या अभिभावक कैसे पहचाने, यह एक विचारणीय प्रश्न है । प्रथम तो व्यक्ति-को चाहिये कि वह बालकका विश्वास ग्रहण करे ताकि वह उससे कोई बात कहनेमें हिचके नहीं । बालकको ही बात करनेका अवसर दिया जाय तथा अपने भावोद्रेकोंको प्रकट न होने दिया जाय । बालक अपनी ग्रन्थियोंको निकाल देगा तथा अधिकांश अवसरोंपर उसका मन भी हल्का हो जायगा, बात कर देनेसे ही कभी-कभी वह ग्रन्थि भी निकल जाती है ।

बालकको कोई कहानी कहनेके लिये उत्साहित कीजिये । कहानीका चुनाव वह अपनी प्रमुख रुचिके आधारपर करेगा, कहानी कहनेमें जिन स्थलोंपर वह जोर देता है उनको याद करते चलिये, वे लड़केकी भावना-ग्रन्थियोंको स्पष्ट कर देंगी । बालकको कोई रेखाचित्र या ड्राइंग बनानेको कहिये । विषय-निर्वाचन लड़केके ऊपर छोड़ दीजिये । इनसे बालककी हीन-भावनामय, अनस्थिरता तथा मनकी विशेष व्यग्रताओंके समझनेमें आपको विशेष सहायता मिलेगी ।

इन बातोंके अतिरिक्त खेलमें बालकका बहुत ही अच्छा अध्ययन होता है । उसके खेलके ढंगसे उसका मानसिक द्वन्द्व आपको प्रकट हो जायगा । लड़केके मनकी घृणा, संदेह, समाजसे पृथक्पन, नृशंसता, अत्यधिक प्रदर्शन, हीनता, भय, चिन्ता, भावात्मक पतन आदि अनेक बातें आप देख लेंगे । बहुत छोटे बालक खेलोंमें अपने दिवास्वप्न-को प्रदर्शित करते हैं । उनसे उनके मनकी अवस्थाओंका अनुमान लगाया जा सकता है । इसके अतिरिक्त आप अध्यापक तथा अन्य लोगोंके प्रति उसकी अपनी सम्मति लीजिये, उसके मनोगत भावोंके समझनेमें आपको देर न लगेगी ।

किशोरावस्था—उपर्युक्त बातें तो शिशु और बालकके सम्बन्धकी हैं । किशोरके द्वन्द्व तथा उसकी समस्याएँ और कठिन हैं । किशोरावस्था जीवनके नष्ट होने तथा बननेकी अवस्था है । जो इस अवस्थामें सँभल गया, वह बन गया; जो इस समय गिरा, जिसके लिये अनेक कारण हैं, उसका भविष्य अन्धकारमय हो गया । वर्तमान वातावरणके विनाश-कारी प्रभाव किशोरके ऊपर सबसे अधिक पड़ते हैं । इस छोटेसे लेखमें उसका विवेचन करना कठिन है । उसकी गुत्थियोंपर विचारके लिये बहुत अधिक चिन्तन तथा परिश्रमकी आवश्यकता है ।

बालककी प्रवृत्तियोंका शोधन—बालककी गुत्थियोंको सहानुभूतिपूर्वक समझनेके बाद उन्हें सुलझानेका प्रयत्न करना चाहिये । ये गुत्थियाँ बालककी प्राकृतिक प्रवृत्तियों तथा सामाजिक आवश्यकताओंके द्वन्द्वसे बनती हैं । इन प्रवृत्तियों-को अबाध छोड़ देना समाजका हनन करना होगा; समाजकी आवश्यकताओंको प्रमुखता देना मानसिक द्वन्द्व पैदा करना होगा । फिर क्या उपाय किया जाय कि समाज भी फूले-फले और बालक भी सुखी रहे । इन प्राकृतिक प्रवृत्तियोंमें एक स्वाभाविक शक्ति होती है, जो बालकको एक विशेष परिस्थितिमें विशेष व्यवहार करनेके लिये प्रेरित करती है । यदि इस

परिस्थितिको समाजके अनुकूल बना दिया जाय तो बड़ा अच्छा हो। बालकोंको एक ऐसे बालसमाजमें रखा जाय, जहाँ उनको कुछ करनेके, कुछ आत्मप्रदर्शनके क्षेत्र मिल सके। 'खेल-चिकित्सा' का भी बड़ा महत्त्व है। इसपर अनेक अन्वेषण किये गये हैं और लड़केकी विभिन्न प्रकारकी मानसिक कठिनाइयोंमें विभिन्न प्रकारके खेल निकाले गये हैं। इस प्रकार लड़कोंकी प्रवृत्तियोंके लिये हम उचित क्षेत्र तैयार करते हैं। उनकी कार्यधाराको हम समाजोपयोगी प्रणालियोंमें प्रवाहित करते हैं। इसीको शोधन या रेचन कहते हैं। किस प्रवृत्तिके लिये कौन-कौनसे मार्ग दिये जायँ, यह भी जाननेका विषय है।

समाजके कर्तव्य—बालकका चरित्र-गठन उतना ही अपेक्षित विषय है जितना देशमें सिंचाई-व्यवस्था तथा आवागमनके साधन। बालकोंकी शक्तियोंका दुरुपयोग राष्ट्रकी महान् क्षति है। इस ओर हमें गम्भीरतासे ध्यान देना है। बालकके चरित्र, व्यवसाय तथा व्यक्तित्वके ही ऊपर उसके जीवनकी सफलता तथा असफलता निर्भर है, पुस्तकज्ञान तथा परीक्षोत्तीर्णतापर एकाङ्गी ध्यान बालकोंको कई दशाओंमें पतनकी ओर ले जा रहा है। आवश्यकता है इस सम्बन्धमें राष्ट्रकी भावना जाग्रत् करनेकी। बालकोंपर प्रयोग तथा अध्ययन समयकी माँग है। जिस प्रकार हर जिलेमें एक पाठशालाओंका स्वास्थ्य-अधिकारी होता है, वैसे ही एक मनोवैज्ञानिक भी रहे, जो बच्चोंके सम्बन्धमें उनके अभिभावकों तथा अध्यापकोंको उचित परामर्श दे सके।

बालकोंके सामने बहुत ऊँचे आदर्श रखना प्रायः भीषण परिणाम लाता देखा गया है। प्रत्यक्ष नैतिक शिक्षाएँ भी अधिक लाभप्रद नहीं। उनको बार-बारकी निषेधाज्ञा अवज्ञाकी ओर ही प्रेरित करती है। अमुक चीज बुरी है, अमुक अच्छी, इसके ज्ञानसे भी उन्हें अधिक सहायता नहीं मिलती। माता-पिताके चरित्रोंकी छाप बालकोंके ऊपर बड़ी गम्भीर पड़ती है। उनके बहुत अधिक चिड़चिड़े स्वभाव, उनके गृह-कलह बालककी दृष्टिमें उन्हें गिरानेके लिये पर्याप्त हैं। संतान पैदा करना और फिर उसे प्रेमवञ्चित करना महान् अपराध है। अध्यापक बिना अभिभावकोंके सहयोग तथा समाजकी उत्साहवर्धक प्रेरणाके कुछ नहीं कर सकता। जितना व्यय आजकी सभ्य सरकारें पुलिसपर करती हैं, उसका यदि एक छोटा अंश भी बाल-अपराधके समझनेवालोंपर करतीं तो शायद समाज कईगुना सुखी होता। तब कदाचित् इन पुलिस और जेल-अधिकारियोंका काम भी बहुत हल्का हो जाता।

बालकोंके मालीसे

(रचयिता—पं० श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

ये नन्हे-नन्हे फूल, भरी इनमें सुगन्ध रसवाली।
इनको न बनाना धूल, समझना रे उपवनके माली॥
सिञ्चनका करना दान, प्यारके मंजुल मधुर कनोंसे।
बिखरे मनहर मुस्कान, जगत देखे प्रमुदित नयनोंसे॥
गोड़न मोड़न भी श्रेय, रहेगी काट-छाँट हितकारी।
हो सर्व प्रकार विवेक, तभी ये पायेंगे छबि भारी॥
कच्ची हैं कलियाँ आज, आयगा कल ही रंग रसीला।
नित नया-सजाना साज, अरे तेरा ही इन्हें वसीला॥
इनका मृदु हास विलास सृष्टिकी अनुपम वस्तु दुलारी।
हो अविचल क्रमिक विकास, खिलें इनकी विभूतियाँ सारी॥
करना रुचिप्रद रसदान, फले तेरी आशा चिर प्यासी।
जब होगा मधुकर गान, फूलना निरख सुमन मधुमासी॥
भरना समभावी प्यार, चढ़ें सब देवोंके चरणोंमें।
ये करें सुरभि विस्तार, अहर्निशि सूर्य-चन्द्र-किरणोंमें॥

बालकोंका मनोवैज्ञानिक सुधार

(लेखक—श्रीकृष्णबहादुरजी सिनहा, बी०ए०, एल्-एल्० बी०)

मनुष्य-जातिकी विचार-शक्ति ही उसे संसारके अन्य जीवधारियोंसे अलग करती है। अतएव मस्तिष्कका कार्य एक विशेष-महत्त्वकी वस्तु हो जाती है। हमारे जीवनके समस्त कार्य एक मस्तिष्करूपी डोरीद्वारा पिरोये रहते हैं। बालक, युवा, वृद्ध—सभी समान रूपसे मनोवैज्ञानिक ढंगसे मस्तिष्कमें उत्पन्न हुए विचारोंद्वारा प्रभावित होते हैं।

अमुक व्यक्तिने एक गुलाबका सुन्दर पुष्प देखा, देखते ही उसे इस बातका ज्ञान हो गया कि यह पुष्प है और गुलाबका ही है। अपने पूर्व-अनुभवके अनुसार हमारी स्मृति कहती है कि इसमें सुगन्ध भी है। इसी प्रकार सम्पर्क (association) से ज्ञान उत्पन्न होता है, यदि हमारा सम्पर्क उत्तम कोटिका होगा तो मस्तिष्कमें उत्तम प्रकारकी भावनाओं एवं विचारोंका स्रोत उमड़ेगा और इसके विपरीत अगर हमारा सम्पर्क निन्दनीय वस्तुसे है तो स्वभावतः हमारा मस्तिष्क निकृष्ट भावोंका उद्गम-स्थान हो जायगा। अतः जीवनका जो उद्गम-स्थान बाल्यकाल होता है, उसमें बालकके सम्पर्ककी वस्तुओंका विशेष ध्यान रखना चाहिये और बड़ी सावधानीसे काम लेना चाहिये। कभी-कभी अति कठोर व्यवहार भी बालकको नरकमें ढकेलनेमें सहायक होते हैं। पग-पगपर बड़ी बुद्धिमत्तासे मनोवैज्ञानिक ढंगके उपायोंसे काम लेना चाहिये।

अर्वाचीन कालमें बचपनसे ही विद्यार्थी भड़कीली पोशाक पहनकर, केशोंको सुन्दर प्रकारसे काढ़कर, क्रीम-पाउडर लगाकर, पानके बीड़े रचकर नगरोंके हाट-बाजारोंमें घूमा करते हैं। इसी प्रकार बालिकाएँ भी सलवार-कुरता पहनकर, दो चोटी डालकर, लिपस्टिक आदिसे शृङ्गारकर नगरोंकी चौड़ी-चौड़ी सड़कोंपर मन-बहलावके हेतु घूमा करती हैं। सन्ध्या हुई और बालक-बालिकाएँ इसी प्रकार सैर करनेको निकल पड़े! जहाँ-तहाँ घूमे-फिरे और एक दूसरेसे बढ़कर साज-शृङ्गार करके सिनेमा पहुँचे। साथमें सम्भव है उनके घरवाले भी हों; पर इस प्रकारके घूमनेसे सर्वप्रथम प्रभाव बालकके मस्तिष्कपर पड़ता है, वह यह कि अधिक-से-अधिक शृङ्गार कर लेना ही सबसे आवश्यक और अच्छा काम है, इससे आपसमें होड़ लगती है 'कहो दोस्त! तुमने इस सप्ताहमें कितने सिनेमा देखे ? 'हमने तो चार देखे', 'पूनम' या 'जाल' तो बड़े ही रोचक हैं।' 'कहो सखी! इस तरह चोटी तुम कर सकती हो ? मैं तो बम्बई गयी थी, पापाके साथ! वहाँ तो अब ऐसी ही चोटी करती हैं।'

इस प्रकार हर-क्षण वे बालक-बालिकाएँ इसी होड़में अपना सारा समय, धन एवं शक्ति—मानसिक और शारीरिक नष्ट किया करते हैं।

आवश्यकता तो इस बातकी है, हम शिक्षित-समाजके जो कर्णधार बने बैठे हैं, हमलोगोंको चाहिये कि अपने दाम्पत्य-जीवनकी विलासिताको अपने नन्हे बच्चोंसे आँख बचाकर निबाहें और प्रतिदिन स्वयं श्रीभगवान्‌का ऐसा पूजन-पाठ करें, चाहे केवल दस-पाँच मिनट ही, जिससे हर बालकका दिनभर थोड़ा-सा ध्यान खिंचा रहे कि हमारे माता या पिता या दोनों ऐसा पूजन करते हैं। क्या यह अच्छी बात है, और यदि है तो क्या हम बालक भी कर सकते हैं ?

हम लोगोंको चाहिये कि बालकोंको इस बातकी हर समय शिक्षा देते रहें कि धर्मका स्थान जीवनमें सर्वोच्च है। जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। अपना धर्म सर्वोत्तम है, फिर अपना धर्म चाहे जितना गुणहीन भी हो, तो भी दूसरेका धर्म कभी नहीं अपनाना चाहिये—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'

(गीता ३ । ३५)

हमलोगोंका प्रधान कर्तव्य है, बालकोंको कभी भी गंदा साहित्य पढ़नेको न दें। पर यह सब होगा—पहले स्वयं, अपने करनेसे। बालकपर उपदेशका असर उतना नहीं होता जितना प्रत्यक्ष आचरणको देखकर होता है। अधिकतर ऐसा होता है कि माता-पिता अपने आनन्दके लिये जो गंदा साहित्य उपयोग करते हैं, उनके बालक उसीको चुराकर पढ़ते हैं। हमलोगोंको चाहिये कि ऐसे गंदे साहित्यको हम स्वयं कभी न पढ़ें। यदि किसी विशेष हेतुसे पढ़ना पड़े तो उसे बालकोंकी पहुँचसे बाहर रक्खें। माता-पिताको स्वयं कुछ नियमोंका पालन करना पड़ता है, स्वयं कुछ त्याग करना पड़ता है। तभी बालक-बालिकाएँ सुधर सकती हैं। बड़े हर्ष-

का अब समाचार है कि अब फिल्मी गानोंका केवल १ । ६ भाग आल इंडिया रेडियो 'आकाशवाणी' से प्रसारित किया जायगा । इसी प्रकार हमारे देशके नैतिक उद्धारमें यदि राज-सत्ता भी हमारा सहयोग दे और गंदे सिनेमाओंको बंद कर दे और आगे बननेकी अनुमति न दे, तो यह विशाल कार्य बड़ी सुलभतासे पूरा हो सकता है । जिस प्रकार, हम जैसा भोजन करते हैं, वैसा ही शरीरमें शक्तिका संचार होता है; तथा वैसा ही हमारा मन बनता है; ठीक, उसी प्रकार हम जैसे साहित्यका मनन करेंगे, वैसे ही हमारे आचार-विचार होंगे; यह मनोविज्ञानका अटल सत्य है ।

बालकका सुधार ही राष्ट्रका सुधार है

(लेखक—श्रीराघुराजिवीरेन्द्रः)

स्तनं धयन्तं जननीमुखाब्जं
विलोक्य मन्दस्मितमुज्ज्वलाङ्गम् ।
स्पृशन्तमन्यं निजमङ्गुलीभि-
र्वन्दे यशोदाङ्कगतं मुकुन्दम् ॥

'शिशु श्रीकृष्ण यशोदा मैयाकी गोदमें बैठकर उनके एक स्तनका पान कर रहे हैं और दूसरे स्तनका अपनी अंगुलियोंसे स्पर्श कर रहे हैं; वे माताके मुख-कमलकी ओर देखकर मन्द-मन्द मुसकरा देते हैं; उनका एक-एक अङ्ग परम उज्ज्वल दिव्य सौन्दर्यसे युक्त है; ऐसे बालरूप श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ ।'

आजका बालक ही कलका राष्ट्र है । यही समस्त बालक जो आज विभिन्न पाठशालाओंमें शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, कल निकट भविष्यमें राष्ट्रके नागरिक होंगे । आजके बालकोंमें कितने जवाहर, पटेल, राजेन्द्र बाबू तथा महात्मा गाँधी हैं ? कौन कह सकता है । इन्हींको आगे चलकर राष्ट्रकी नौका खेना है । अतः इन्हींके सुधारसे समग्र राष्ट्रका सुधार होगा ।

प्रत्येक वस्तुकी अपनी विशेषता होती है । बबूलका वृक्ष अपनी विशेषतासे ही बबूल कहलाता है । आम्रकी अपनी अलग ही विशेषता है । इसी प्रकार प्रत्येक देशकी भी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं । हम सब भारतवासी हैं । अतः हमें यह देखना है कि भारतकी विशेषता क्या है ? महाकवि केपलिनने सत्य ही कहा है—

'The East is East and the West is West;
And the twain shall never meet.'

स्वामी विवेकानन्दके शब्दोंमें यदि हम कहें तो यह कि अनादिकालसे भारतका मध्यबिंदु धर्म ही रहा है तथा सृष्टिके अन्ततक यही रहेगा । प्रकृति भारतपर विशेष कृपा-शील रही है । यहाँ अभीतक जीविकाका प्रश्न उतना जटिल नहीं रहा, जितना अन्य देशोंमें । विदेशियोंके ही वर्णनसे हमें यह पता सहज ही चल जाता है कि यह देश सदैव ही समृद्धिशाली तथा सुखी रहा है । जब कभी कोई ऐसा शक्तिशाली सम्राट् हुआ है, जिसने विदेशियोंके आक्रमणोंसे इसकी शान्ति भङ्ग नहीं होने दी, तभी मा भारतीके असंख्य आराधकोंने अपने जन्मसे इस वसुधाको यथार्थ नामवाली किया है तथा अपनी-अपनी प्रतिभासे संसारको चकित ही नहीं किया, मार्ग भी दिखलाया है । प्रसिद्ध तार्किक भगवान् उदयनाचार्यका यह श्लोक प्रत्येक भारतीय विद्यार्थीको कण्ठस्थ रखना चाहिये—

वयमिह पदविद्यां तर्कमान्वीक्षिकीं वा
यदि पथि विपथे वा वर्तयामः स पन्थाः ।
उदयति दिशि यस्यां भानुमान् सैव पूर्वा
न हि तरणिरुदीते दिक्पराधीनवृत्तिः ॥

'हम यहाँ व्याकरण, तर्कशास्त्र अथवा वेदान्तको यदि प्रचलित प्रणाली अथवा उसके विपरीत पद्धतिपर ले जा रहे हैं तो वही उसका समुचित मार्ग होगा । सूर्य जिस दिशामें उदय होता है, वही पूर्व है । उसका उदय-अस्त आदि व्यापार किसी दिशाके अधीन नहीं होता ।'

यहाँ मनुष्य प्रकृतिसे लड़ता नहीं किंतु खेलता है । प्राणिमात्रको वह अपना ही स्वरूप समझता है । भारतीय विचारधारानुसार पशु तथा मनुष्यमें जातीय भेद नहीं । भेद केवल अनुपातमें है । भारत ही ऐसा देश है जहाँ मत्स्यावतार, शूकरावतार, नृसिंहावतार तथा कच्छपावतार हुए हैं । यही हमारी इस बातका द्योतक है । यही कारण है कि शकुन्तला जब पतिगृह जाती है, तब अपने लगाये हुए वृक्षों तथा पाले हुए पशुओंको

अपनी सखियोंको सौंपती है। तपोवनोंमें हम देखते हैं कि मृगशावक ऋषियोंके पूजार्थ लाये गये कुशोंको खा जाते हैं तो ऋषिलोग उन्हें मारते नहीं, केवल निवारण भर कर देते हैं। महाराज दुष्यन्तका पुत्र भरत, जिसके नामपर इस खण्डको भारतवर्ष कहते हैं, सिंह-शावकोंके साथ क्रीड़ा करता है। महाराज रामके पुत्र लव तथा कुश महर्षि वाल्मीकिके ही आश्रममें वन्य पशुओंके मध्य स्वच्छन्द क्रीड़ा करते हैं। राजालोग भी तपोवनोंमें शिकार करनेकी हिम्मत नहीं करते। ऋषि-कुमारोंके साथ-साथ मृगशावक भी पलते हैं तथा निर्भय और स्वच्छन्द वनोंमें विचरण करते हैं। भारतीय कवियोंके वन-वर्णनमें हम स्पष्ट देखते हैं कि मानवने वन्य जन्तुओंसे ही नहीं, अपितु वृक्ष तथा लतादिकोंसे भी एकात्मता प्राप्त कर ली है।

इसके विपरीत महाकवि मिल्टनने उस वनका वर्णन करते हुए, जिसमें आदम और हव्वा रहते थे, कहा है—

"Beast, bird, insect or worm
Dars't enter none
Such was their awe of man."

समस्त चराचरकी सृष्टि ईश्वरने मनुष्यकी उदरपूर्तिके लिये ही की है। मनुष्योंको प्रकृतिको विजय करनेमें ही अपने जीवनकी आहुति देनी पड़ती है। मनुष्य अपनी प्रतिभासे प्रकृतिकी समानता प्राप्त करनेमें दत्तचित्त है। वह अपने बुद्धिकौशलसे ही अपने भवनमें शिमलेकी ठंढक तथा भूमध्य-रेखाकी उष्णता प्राप्त करता है।

इसी कारण पूर्व तथा पश्चिममें यह भेद है। पूर्वमें मनुष्य स्वयं प्रकृतिके स्वच्छन्द वातावरणमें पनपता है तथा प्रकृतिको बिना विकृत किये उसे भी पनपनेका अवसर देता है। इसके विपरीत पश्चिममें मनुष्य प्रकृतिको विकृत करके अपने बुद्धि-कौशलसे उसे अपने अनुकूल बनाता है। इतना ही नहीं, वह बलपूर्वक प्रकृतिको अपने स्वार्थके लिये अपनी सेवामें नियोजित करता है। पूर्वमें मानव प्रकृतिका उपासक है तो पश्चिममें मानव प्रकृतिका भक्षक।

पहले यह कहा जा चुका है कि आजका बालक ही कलका भारतीय नागरिक है। ये लोग जैसे होंगे, वैसा ही देश भी होगा। अतः इनकी शिक्षाकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये।

धार्मिक शिक्षा आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य होनी उचित है। हमें इस बातसे अत्यन्त खेद है कि अब जब हम स्वयं ही अपने भाग्यविधाता हैं, अपने बालकोंकी धार्मिक शिक्षाकी ओर शत-प्रतिशत उदासीन हैं। यह दोष हममें पाश्चात्यके अंधानुकरणके कारण ही आ गया है। धर्म क्या है? अंग्रेजीमें धर्मके लिये 'Religion' शब्द प्रयुक्त होता है। यह शब्द दो शब्दोंसे बना है। एक Re अर्थात् पीछे दूसरा ligion (from ligare) अर्थात् उद्गम। तात्पर्य यह कि जो वस्तु हमें उद्गमाभिमुख करे वह 'Religion' है।

संस्कृतमें भी 'धर्म' शब्दका यही अर्थ है। 'धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।' अतः इसकी परिभाषासे अब हमें यह स्वीकार करनेमें कोई भी आपत्ति नहीं कि धर्मकी शिक्षा कितनी आवश्यक है।

आजकल जैसे अंग्रेजीका श्रीगणेश करनेमें हम पढ़ते हैं "A fat cat sat on the mat." उसी प्रकार पहले हम श्रीगणेश करते थे—'सत्यं वद। क्रोधं कामं च जहि। धर्मं चर।' (सत्य बोलो, काम-क्रोधको जीतो, धर्मका आचरण करो।) इत्यादिसे। धार्मिक शिक्षाका अभाव ही आजके मानवके नैतिक पतनका कारण है। आजके मानवका चरित्र चित्रित करके यदि उसके पूर्वजोंके समक्ष उपस्थित किया जाय तो हमें विश्वास है कि वे पूर्वज यह स्वीकार ही न करेंगे कि यह चित्र हमारे वंशधरोंका है। बहुत पीछे जानेकी आवश्यकता नहीं, शेरशाहके समयका इतिहास इसका साक्षी है। उस समयके मानवोंका नैतिक स्तर कितना उन्नत था कि घरोंमें किवाड़ बंद करनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती थी। इसके विपरीत आजकल चरित्रकी ओर ध्यान देनेकी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। चरित्रके प्रति उदासीनताका ही यह फल है कि हम प्रतिदिन पतनोन्मुख ही होते चले जा रहे हैं।

श्रीवाल्मीकीय रामायणका आरम्भ मूलरामायणसे होता है। मूलरामायणमें महर्षि वाल्मीकिने भगवान् नारदसे कुछ विशिष्ट गुणोंसे युक्त किसी पुरुषके सम्बन्धमें पूछा है। उन्हींमें महर्षिने पूछा है 'चारित्रेण च को युक्तः।' अर्थात् चरित्रसे युक्त कौन पुरुष है? इसका तात्पर्य यही है कि सर्वथा निर्दोष चरित्रवाला कौन पुरुष है। श्रीवाल्मीकीय रामायण हमारा आदिकाव्य है। इसी चरित्र-बलको लेकर ही आदिकाव्यका निर्माण हुआ है। अतः चरित्रबल हमारे यहाँके दृष्टिकोणमें विशेष स्थान रखता है।

राजस्थानी (मेवाड़) १८वीं शती] दावानल-पान [भारत-कला-भवन

पहाड़ी १८वीं शती] दानलीला [भारत-कला-भवन

केवल कानून बनानेसे चरित्र कभी भी नहीं सुधरा। शिक्षा ही वह साँचा है, जो मनुष्यको ढालकर खरा बनाती है। चरित्रनिर्माणमें धार्मिक शिक्षाका विशेष स्थान है। महाराज युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ पढ़ने तपोवन गये। वहाँ उन्होंने श्रीगणेश किया 'सत्यं वद' से। इसके आगे था 'कामं क्रोधं च जहि।' छः मास बाद महाराज धृतराष्ट्र, जो कौरव तथा पाण्डव—दोनोंके अभिभावक थे, अपने पुत्रोंकी शिक्षाकी प्रगति देखने गये। युधिष्ठिर पढ़नेमें अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि थे। अध्यापकोंको उनपर गर्व था। उस दिन प्रधानाचार्यने युधिष्ठिरसे पूछा—'बोलो, तुमने क्या पढ़ा है?' युधिष्ठिरने खड़े होकर उत्तर दिया, 'मैंने केवल प्रथम वाक्य ही पढ़ा है।' इसपर सभीको आश्चर्य हुआ। आचार्यने डाँटकर फिर पूछा तो पुनः वही उत्तर मिला। क्रोधाविष्ट होकर आचार्यने उन्हें मारा। इतना मारा कि कानसे रक्तस्राव होने लगा। फिर पूछा गया तो युधिष्ठिरने पुस्तककी ओर इङ्गित करते हुए कहा कि 'कुछ-कुछ दूसरा वाक्य भी पढ़ा है।' आचार्यकी दृष्टि जब पुस्तककी ओर गयी, तब उन वाक्योंका अर्थ उनके सामने नाचने लगा। आचार्यने तब समझा कि युधिष्ठिरके कहनेका अभिप्राय यही है कि प्रथम वाक्यको उन्होंने अपने जीवनमें घुला-मिला लिया है। अर्थात् सत्य पूरा जीवनमें आ गया है। केवल पढ़ा ही नहीं, तदनुकूल आचरण भी किया जा रहा है। यह सोचते ही आचार्य महोदय युधिष्ठिरके पैरोंपर गिर पड़े और कहा कि 'आज ही मेरा पढ़ाना और तुम्हारा पढ़ना सार्थक हुआ।' किंतु महाराज युधिष्ठिरने क्षमा-प्रार्थना करते हुए कहा, 'नहीं। जिस समय आप मुझे मार रहे थे उस समय मन-ही-मन क्रोध आ रहा था। अतः मैं अभी दूसरा वाक्य पूरा नहीं पढ़ सका हूँ। आप मुझे क्षमा करें।' इस प्रकार महाराज युधिष्ठिरने प्रथम वाक्याध्ययनकी सार्थकता सिद्ध की। इन बालकोंको जब ऐसी शिक्षा दी जायगी, तभी भारतका वास्तविक कल्याण सम्भव है।

हमारे धार्मिक ग्रन्थोंमें गीताका विशिष्ट स्थान है। गीता ऐसा ग्रन्थ है कि पूर्व ही नहीं, समस्त संसार उसे मस्तक नवाता है। एक बार महाकवि एमर्सन (Emerson) संत थोरोके पास गये। उस समय महात्मा थोरो एक वृक्षके नीचे टूटी खाटपर लेटे हुए थे। आस-पास सर्प तथा विषैले जन्तु आरामसे चारों ओर पड़े थे। महाकविने संत महोदयसे पूछा कि 'आपको इन विषाक्त जन्तुओंसे भय नहीं लगता?' इसपर संत महोदयने भगवान्‌की वाङ्मयी मूर्ति गीताकी पुस्तक अपने सिरहानेसे निकालकर कहा—'भय कहाँ है जब कि गीतामाता मेरी रक्षाके लिये यहाँ मौजूद हैं।' Where is fear when mother Gīta is there to protect. यह है विदेशियोंकी भावना गीताके प्रति। हमारे भारतमें माननीय श्रीनेहरू-सरीखे घोर भौतिकवादीने भी अपनी पुस्तक 'Discovery of India' में गीताका महत्त्व मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है।

श्रीमद्भागवतमें एक श्लोक है—

> गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्
> पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
> दैवं न तत् स्यान्न पतिश्च स स्या-
> न्न मोचयेद् यः समुपेतमृत्युम्॥
> (५।५।१८)

अर्थात् 'गुरु, मित्र, पिता, माता, भाग्य तथा राजा वही है, जो निश्चय आनेवाली मृत्युसे प्राणीको बचावे।' जितने भी आज भारतके नागरिक हैं, वे ही गुरु, माता, पिता तथा मित्र हैं। अतः सबका प्रमुख कर्तव्य है कि बालकोंको ऐसी शिक्षा दें जिससे मृत्युभय उनके हृदयसे निकल जाय। अतः हम सबका तथा सरकारका यही प्रथम कर्तव्य होना चाहिये कि गीताकी शिक्षा प्रत्येक विद्यार्थीके लिये अवश्य ही नहीं, अनिवार्य कर दें। गीतासे हमें स्वकर्म करनेकी शिक्षा मिलती है। आजकल बहुत-सी गड़बड़ी स्वकर्तव्यका पालन न करनेसे ही पैदा हुई है। हम स्वयं इसका प्रतिदिन अनुभव करते हैं। अतः उन बालकोंको, जो देशके संरक्षक, नेता, धर्माचार्य, शासक, राष्ट्रपति बननेवाले हैं, क्यों न गीता उनके गलेके नीचे उतार दी जाय जिससे कि वे किसी भी पद और अधिकारको पाकर उसको भलीभाँति निभा सकें और अपने कर्तव्यसे तनिक भी च्युत कभी न हों। गीता ही एक ऐसा छोटा-सा परंतु महान् ग्रन्थ है, जिसमें कर्तव्यका स्पष्ट निर्देश है और भलीभाँति कर्म करते हुए भी कर्मसे न बँधनेकी सरल युक्ति बता दी गयी है। गीताके अनुसार चलनेवाला मनुष्य न कहीं कर्तव्यसे चूकता है और न कहीं बन्धनको प्राप्त होता है। उसका प्रत्येक कर्म भगवान्‌की पूजा

बन जाता है और उस कर्मसे ही वह कर्म-बन्धनको तोड़कर भगवान्‌को भी पा लेता है। अतएव अन्य शिक्षाके साथ गीताकी शिक्षा बालकोंको अवश्य दी जानी चाहिये। इसीसे उनका तथा देशका सब प्रकारसे कल्याण है।

हमलोग तो जैसे रहे, वैसा ही आजका भारत भी है; पर इस समय हम सबका प्रधान कर्तव्य यही है कि इन बालकोंको, जिनपर देशका भविष्य निर्भर है, विशेष योग्य बनावें। इनके ही सुधरनेसे देश सुधरेगा, इन्हींके बिगड़नेसे राष्ट्र बिगड़ेगा। हमें सब ओरसे अपना ध्यान हटाकर इन बालकोंपर ही केन्द्रित करना चाहिये।

बालशिक्षाकी समस्या

(लेखक—श्रीरामावतारजी विद्याभास्कर)

बाल-सुधारका प्रश्न सर्वव्यापी है। यह प्रश्न मानव-समाजकी चर्चाका मुख्य विषय रहता है। बच्चोंको सुधारनेवाली संस्थाओंके पते पूछे जाते हैं और चाहा जाता है कि बच्चोंको वहाँ भेजकर बाल-कर्तव्यके प्रति निश्चिन्त हो जायँ। माता-पितामें उचित-अनुचित किसी भी उपायसे सुधरे-समझे हुए तथा मोल ली हुई विद्याके प्रमाण-पत्रोंसे थैली (जेब) भरे हुए बालकोंके माता-पिता बन सकनेकी इच्छा अधिकतासे पायी जाती है। यह उनकी कर्तव्यहीन इच्छा है। स्वयं अविद्वान् तथा अधर्मात्मा रहकर भी बालकोंको विद्वान् तथा धर्मात्मा देखनेके इच्छुक लोग अधिक संख्यामें पाये जाते हैं। बाल-सुधारके लिये स्वयं सुधरनेके संकटमें पड़नेसे बहुतोंका जी घबराता है। लोगोंमें इस संकटमें पड़नेका साहस नहीं पाया जाता। सुधरनेका साहस करनेवालोंकी संख्या न्यून है। जब ऐसे लोग यह पूछते हैं कि बच्चोंको कहाँ भेज दें ? बच्चोंको सुधारनेवाली संस्थाओंके पते बताइये, तब इनके इस प्रश्नसे प्रतीत होता है कि बच्चे इन लोगोंके कंधोंके बोझ बने हुए हैं। ये इनको कहीं टालकर निश्चिन्त होना चाहते हैं।

बिगड़े हुए जीवनोंके दृष्टान्तोंकी अधिकताने पापमय जीवनको ही मनुष्यकी स्वाभाविक स्थिति घोषित कर देनेवाला ऐसा दूषित वातावरण बना दिया है कि जिससे सुधरा हुआ ऋषि, संत या महात्मा होना सबका कर्तव्य प्रतीत नहीं होता। समाजकी ऐसी दुर्दशा हो गयी है कि सुधारको सार्वजनिक सम्पत्ति नहीं रहने दिया गया है। समाजके पतनका इससे बड़ा और क्या प्रमाण होगा कि विशेष श्रेणीके लोगोंको ही सुधरने और सुधारनेका ठेकेदार बना लिया गया है। समाज कुछ संस्थाओंको सुधारकी मुँह-माँगी ठेकेदारी देकर स्वयं सुधारहीन असहाय अवस्थामें डूब गया है। समाजने ऐसे लोगोंको दान-दक्षिणा या चंदा देकर और नमस्कार करके ही सुधारका कर्तव्य पूरा समझकर, उस ओरसे अपना मुँह मोड़कर, आसुरी भूषा पहनकर, अपने ऊपर काम-क्रोध आदि मानसिक दोषोंका निन्दनीय अधिकार बैठ जाने दिया है। संसारके अधिक लोग खाने, उपार्जन करने, कुटुम्ब-वृद्धि करने और हो सके तो कुछ द्रव्य व्यय करके किसी प्रकार सुधरे हुए बच्चोंके पिता बनकर, उनका ब्याह करके उन्हें भी अपने ही-जैसा रोगी बनाकर अपना विकारी जीवन उन्हें दे देनेतक ही अपने कर्तव्यकी सीमा मानने लगे हैं और अपार धन व्यय करके शिक्षा और विवाह नामको इस भ्रान्त तथा विकारमयी सफलताको मोल लेनेके लिये चिन्ताग्रस्त होकर अहर्निश अपना और बालकोंका अपार अकल्याण करते हैं। ऐसे लोगोंकी यह प्रवृत्ति मोह-मूलक है; क्योंकि सुधरना, संत, ऋषि या महात्मा बनना सम्पूर्ण मनुष्योंका सर्वप्रथम सर्वमुख्य और सार्वजनिक कर्तव्य है। यह कुछ विशेष श्रेणीके लोगोंका ही कर्तव्य नहीं है; क्योंकि सुधरा हुआ त्यागमय जीवन ही 'मनुष्य-जीवन' है। बिगड़ा हुआ भोगमय जीवन मनुष्य-जीवनकी स्वाभाविक स्थिति नहीं है।

किसी प्रकार सुधरे हुए बालकोंके माता-पिता बनना चाहनेवाले यह भूल करते हैं कि बच्चोंके सुधार तथा अपने सुधारको वे भिन्न-भिन्न पदार्थ मान लेते हैं। वस्तु-स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। माता-पिताका सुधार ही बच्चोंका सुधार है तथा बच्चोंके सुधारमें ही माता-पिताका सुधार है। बच्चोंका बिगड़ जाना ही माता-पिताका बिगड़ जाना है तथा माता-पिताका बिगड़ जाना बच्चोंके बिगड़ जानेका कारण है। इस प्रकार माता-पिताके और बच्चोंके बिगाड़-सुधारमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं है। जो बच्चोंको सुधारना चाहता है, उसका

स्वयं सुधरना अर्थात् सुधरे जीवनका स्वामी बनना मुख्य कर्तव्य हो जाता है। सुधरे जीवनका स्वामी बनते ही बच्चोंके सुधारका कर्तव्य अनायास पूरा हो जाता है। सुधरे हुए जीवनका स्वामी बने बिना बाल-सुधारका कर्तव्य पूरा नहीं हो सकता। बात यह है कि माता-पिताके मनमें छिपकर बैठे हुए मोहकी अशरीरिणी गुप्त छाया ही बालकोंको बिगाड़ती है। माता-पिताका मोहतन्तु, सुधारनेके लिये किसी अच्छी समझी संस्थामें भेजे हुए बालकोंकी शारीरिक दूरीको लाँघ-लाँघकर अपना प्रभाव डालता रहता है। माता-पिताकी निर्मोह-स्थिति ही बच्चोंके सुधारका काम करती है। निर्मोही माता-पिताके बच्चे आठों पहर सुधरते हैं। जो अपने-आपको सुधारना चाहता है, उसके पास यदि ईश्वरकी देनके रूपमें बालक हैं, तो उन बालकोंको सुधारना ही उसका सुधरना हो जाता है। बिगड़े हुए बालक माता-पिताकी कर्तव्यहीनताकी घोषणा करते रहते हैं। फल कड़वा है तो पेड़ मीठा कैसे है! बालकोंको न सुधारनेसे आत्म-सुधार असम्भव रह जाता है।

बालकोंको भोले बालकमात्र समझना भयङ्कर भूल है। बालक माता-पिताको नरकसे बचानेवाले होते हैं। बालकोंके सम्बन्धमें यह ज्ञातव्य रहस्य है कि ईश्वर ही मनुष्यको आत्म-सुधारका सुअवसर देनेके लिये बालकरूपमें अवतार धारण किया करता है। बालक लोग माता-पिताके अनुरूप बननेके लिये पूर्णरूपसे उद्यत होकर माताके हाथमें पूर्ण आत्म-समर्पण करके अवतीर्ण होते हैं। देखते हैं कि जब सर्वव्यापी भगवान् बाल-देह धारण करके किसी घरको अपने चरण-स्पर्शसे पवित्र करते हैं, तब जीवन-सुधारकी समस्या घर-घरमें आ खड़ी होती है। देखा जाता है कि सब माता-पिताके मनमें इन नवागत अतिथि बाल-नारायणकी देख-रेखमें सुधरनेकी कल्याण-भावना या प्रवृत्तिका दिव्य अवसर उपस्थित हो जाता है। कौन नहीं जानता कि कोमलमति 'बाल-नारायण' नामके इस पूजनीय अतिथिके मनको बिगाड़नेवाली चर्चा प्रत्येक सद्गृहस्थमें घृणा और त्यागके योग्य वस्तु बन जाती है। वे सर्वव्यापी सत्यनारायण मनुष्यके विकार-भोगी, भोगपूर्ण जीवनके दूषित वातावरणको चीर-फाड़कर, उसे उत्तरदायित्व-पूर्ण बना देनेके लिये बाल-शरीर धारण करके, माता-पिताको उनके कर्तव्यरूपी सत्यका दर्शन करानेके लिये भोगोंकी, किंवा उनके नरककी रुकावट बनकर आते हैं और अपनी निश्चल आँखोंसे उनके मनको सावधान बाणी सुनाते रहते हैं। देखते हैं कि घरमें बाल-नारायणोंके आते ही माता-पिताके हृदयोंमें कर्तव्य-शास्त्रकी रचना होने लगती है। माता-पिता सोचते हैं, बालकोंके सामने कोई अपवित्र भूल न होने पाये। स्वयं बाल-देहधारी गूँगे नारायण ही इस कर्तव्य-शास्त्रके निर्माता आदिम आचार्य हैं। जो माता-पिता अपने अनुभवपूर्ण प्रौढ-जीवनमें भोगासक्तिके विरोधी त्यागका पाठ सीखकर, उसे अपना लेनेके स्वाभाविक अधिकारी बन चुकते हैं, उनके सामने संतान-पालनरूपी पवित्र धर्म पाले जानेके लिये स्वयमेव उपस्थित हो जाता है। वे बाल-नारायणों-की कृपासे स्वयं सत्यसे सुपरिचित होकर संतानको भी सत्यसे परिचित, सत्यमें सम्मिलित तथा सत्यारूढ़ बनाकर, अमृत-स्पर्शी-जीवनको अपनानेका सुअवसर अनायास प्राप्त कर लेते हैं। संतान-पालनरूपी पवित्र धर्मको ठीक-ठीक निभा देनेसे माता-पिताको अज्ञानसे मुक्ति मिल जाती है। इस धर्मको पालनेसे संतान भी मुक्त हो जाती है और माता-पिता भी दिव्य मुनि बन जाते हैं। बात यह है कि यदि संतानके बाल्य-कालको रूप-रस आदिकी आसक्तियोंसे बचा लिया जाय और उसके परिणाम-स्वरूप उनके प्रौढ-कालको परमात्मासे मिले रहनेके विमल आनन्दसे भरा जा सके तो माता-पिता बननेका कल्याणमय उत्तरदायित्व पूर्णरूपसे पालित हो जाय और माता-पिता भी धन्यताको प्राप्त कर लें। घरमें संतान-नारायणका अज्ञान-नाशक आविर्भाव होते ही, माता-पिताके मनसे भोग-वासना दूर हो जाती है और तब उन्हें महत्त्वपूर्ण गम्भीर कर्तव्य-बुद्धिका दर्शन होता है; क्योंकि वे बाल-नारायण इस मानव-शरीरमें भोग-वासनाका आखेट बननेके लिये और इस घरमें भोगाभ्यास होने देनेके लिये अतिथि होकर नहीं आये। वे मानव-देहमें भोग-वासनाका दलन करके, स्वरूप-दर्शनका सुयोग ढूँढ़नेके लिये अवतीर्ण हुए हैं। वे घरमें पदार्पण करते ही अपनी सांकेतिक वाणीसे, अपनी आँखोंके सामनेसे किंवा अपने निवास-मन्दिरसे, विकारग्रस्त भावोंका पूर्ण बहिष्कार करनेको मौन-आज्ञा घोषित करते रहते हैं। वे अपने गूँगे जीवनके साथ वेदाज्ञाओंके रूपमें माता-पिताके लिये अनगिनत सूचनाएँ लेकर आते हैं। वे अकेले नहीं आते। वे अपने साथ अपने माता-पिताके लिये संयमके कुछ विशेष नियम लेकर आते हैं। वे आते ही माता-पितापर अपनी अव्यक्त भाषाके द्वारा कुछ नियम लागू करके जागरूक माता-पिताको अपनी ऐश्वरी-शक्तिका परिचय देते रहते हैं कि 'हे माता-पिता! हम बाल-देहधारी नारायण हैं।' वे आते ही माता-पितापर अज्ञानमुक्त संत

बननेका बोझा डाल देते हैं। मूर्ख माता-पिता उनकी इस आशाको अनसुनी करके स्वयं भी अज्ञानरूपी नरकके अधिकारी बने रहते हैं और अपनी संतानको भी क्रम-क्रमसे नरकनिवासके लिये सहमत करके उन्हें भी भोगमय, विकारग्रस्त, विकार-भोगी जीवन देकर अपने ही हाथों उनका और अपना सर्वनाश कर लेते हैं। माता-पिताका कल्याण इसी बातमें सुरक्षित है कि वे बाल-नारायणके अवतार धारण करनेपर संत-जीवनको अपना लें, नहीं तो, ये संतान माता-पिताकी कर्तव्यभ्रष्टताके कारण दुराचार सीखकर, वयस्क होते ही, दूसरे शरीरोंके विकारोंको भोगनेके लोभमें फँसकर माता-पिताको अनन्त दुःख देनेवाले और अपमान करनेवाले बन जायँगे। कहनेका भाव यह है कि माता-पिताके संत बने बिना परिवारके सुखी जीवनका दूसरा कोई उपाय नहीं है। माता-पिताके संत बने बिना घरमें पवित्र वातावरण नहीं बन सकता। घर-घरमें पवित्र वातावरण बने बिना संसारमें बाल-सुधारका दूसरा कोई उपाय नहीं है।

जिस प्रकार दूसरोंसे पलनेवाली कोयल, कौवोंसे अपने बच्चे पलवाकर कोयल बच्चोंकी मा बन जाती है, इसी प्रकार जिन लोगोंमें दूसरोंसे अपने बच्चे सुधरवाकर, सुधरे हुए या शिक्षित समझे जानेवाले बच्चोंके माता-पिता बनना चाहनेवाली आलस्य तथा अज्ञानभरी कर्तव्यपथसे भ्रष्ट प्रवृत्ति हो, उनको यह समझना चाहिये कि बच्चे ईश्वरीय प्रबन्धसे जिस घरमें उतारे जाते हैं, वहाँ वे अकेले नहीं उतारे जाते। उनके साथ माता-पिताके मनमें उनको सुधारनेका कर्तव्य भी उतारा जाता है। अपने बालकोंको उनका जीवन सुधारनेके लिये किंवा उनके लिये कुछ विद्या कहींसे मोल लेकर, उन्हें विद्वान् बना देनेके लिये, दूसरोंके पास भेजना, माता-पिताके पास आये हुए, इस कर्तव्य-नारायण नामके अतिथिका घोरतर अपमान तथा उपेक्षा करना है। यह बच्चों तथा कर्तव्य नामके दोनों जन्म-साथियोंको निर्दयतापूर्वक पृथक् कर देना है। इस कर्तव्य नामके अतिथिका अपमान या उपेक्षा करनेसे कर्तव्यहीन मूर्ख माता-पिताके क्रूर हाथोंसे बालकोंके सुधारकी सम्भावना नष्ट हो जाती है।

प्रमाणपत्रोंके गट्ठोंका तथा उधारी सभ्यताका बोझ ढोनेवाला, दुग्धफेनोज्ज्वलवकपक्षशुभ्रवस्त्रविभूषित, वर्णमालापुच्छधारी मनुष्य विद्वान् नहीं है। वह तो केवल अक्षरविद्याका वाहन है। सोचिये तो सही कि उसके जीवनमें चन्दनभारवाही गधेके तथा पुस्तकभारवाही उष्ट्रके जीवनसे कौन-सी विशेषता है?

ऐसे विद्वान् समझे हुए बालकोंको प्रमाणपत्र बाँटनेवाली संस्थाएँ कुछ स्वार्थी लोगोंके संगठनमात्र हैं। ऐसे लोग इन लंबे-चौड़े नामोंवाली संस्थाओंकी आड़में अपने स्वार्थोंके लिये समाजकी मनोवृत्तिको दासोचित बनानेका घोर पाप कर रहे हैं! सामाजिक किंवा सार्वजनिक स्वार्थको भुलवाने किंवा उपेक्षित करानेकी कुटिल मनोवृत्ति रखनेवालोंने विचार कर सकनेकी योग्यतावाले सब पढ़े-लिखे मस्तिष्कोंके सामने किसी-न-किसी प्रकारका लोभोपादान फेंककर और उन्हें उन्हीं (लोभोपादानों) के द्वारा व्यक्तिगत स्वार्थोंसे चिपट जानेका अवसर देनेके लिये प्रमाणपत्र नामकी रस्सियोंसे बाँध रखनेकी रीतिका आविष्कार किया है।

अपरिणामदर्शी बालक और उनके माता-पिता उन प्रमाणपत्रोंसे अपने क्षुद्र दैहिक स्वार्थोंकी किंवा भोगासक्तिकी पूर्तिकी सम्भावना देखकर उनको लेने और लिवानेके लिये अंधे और बावले बन जाते हैं। इन प्रमाणपत्रोंको लेनेके कर्मबन्धनमें फँसे हुए बालक अपने जीवनभर निर्लज्ज और निःसंकोच होकर दीपकपर पतंगाहुतिके समान अपने तुच्छ स्वार्थके लिये समाजकी लज्जा और उसके सार्वजनिक स्वार्थका बलिदान करते रहते हैं। वे सामाजिक स्वार्थको भूलनेके परिणामस्वरूप ही अपना जीवन-निर्वाह करते हैं।

प्रमाणपत्रके सम्बन्धमें सचाई यह है कि किसी भी मनुष्यको किसीको प्रमाणपत्र बाँटनेका अधिकार नहीं है। सुव्यवहार या मनुष्यता ही मनुष्यको प्रतिष्ठायोग्य बनानेवाली ईश्वरीय रचना है। इस ईश्वरीय रचनाके स्थानपर पत्रखण्डोंपर लिखे हुए प्रमाणपत्र बाँटनेकी परिपाटी दूषित मानव-मनकी मायामयी कपटपूर्ण रचना है। जिनको प्रमाणपत्र बाँटा जाता है, उनके मनमें दासता और परमुखापेक्षिताकी वासना घुसा देना तथा उन (प्रमाणपत्रों) पर अपने हस्ताक्षर करके उनके मनपर अपने श्रेष्ठपनकी धाक बैठा देना ही प्रमाणपत्र बाँटनेका प्रकटरूपसे न कहा जा सकनेवाला हृदयनिहित भाव है। प्रमाणपत्र देनेकी रीति क्षुद्र अविचारशील अपरिणामदर्शी सामाजिक स्वार्थको बेचकर निजी स्वार्थकी पूर्ति करनेवाले लोगोंको फाँदकर अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी एक परिपाटीमात्र है। केवल मनुष्यका आपा अर्थात् मनुष्यका घटवासी नारायण ही, मनुष्यको सच्चे या

विद्वान् होनेका प्रमाणपत्र देनेका ईश्वरीय अधिकार रखता है। प्रमाणपत्र नामके सब पत्रोंके टुकड़े उन टुकड़ोंको बाँटने और लेनेवालोंके स्वार्थ नामकी मानसिक निर्बलताओंके ढिंढोरे हैं। यह कहा जा चुका है कि लिखने-पढ़नेकी चतुराईसे विद्वत्ताका लेशमात्र भी कौटुम्बिक सम्बन्ध नहीं है। लिखने-पढ़नेकी चतुराई देखकर विद्वत्ताका प्रमाणपत्र देनेवाली संस्थाएँ समाजमें चरित्रकी उपेक्षारूपी अंधेपनका प्रचार कर रही हैं। ये सब-की-सब संस्थाएँ प्रमाणपत्र नामके पत्रखण्ड बाँटकर आचरणोंके महत्त्वको घटानेका घोर पाप कर रही हैं। किसी भी चतुर बालक और चतुर माता-पिताको दासताकी नकेल डालनेवाले प्रमाणपत्र लेने या लिवानेकी निर्बलताका आखेट नहीं बनना चाहिये, प्रत्येक मनुष्यको अपने समाजके आत्मसम्मानकी रक्षा करनी चाहिये और उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व करना चाहिये। यह नहीं किया जा सके तो उसे अपनेको विद्वान् कहलानेके अधिकारसे वञ्चित समझना चाहिये।

विद्वान् बननेका अभिप्राय यही है कि मनुष्य सत्यासत्य, कर्तव्याकर्तव्य तथा सुख-दुःखके रहस्यका पूर्ण ज्ञाता हो जाय। उसका जीवन परिस्थितिरूपी नारायणकी सांकेतिक भाषाको पहचाननेवाला हो जाय। जैसी परिस्थिति आ जाय वह उसीसे सहर्ष सहमत होनेवाला हो जाय। विद्वान् बननेका यही अभिप्राय है कि उसका जीवन निरपेक्ष अर्थात् बेमार्गका, विकारविजयी, यदृच्छालाभसंतुष्ट, द्वन्द्वातीत, विमत्सर, पूर्ण, अभ्रान्त, आनन्दस्वरूप तथा सामाजिक स्वार्थ या सामाजिक हितको ही अपना व्यक्तिगत स्वार्थ समझनेवाला हो जाय। विद्वान् वह है, जिसका जीवन ऐसा हो जाय जो किसीके काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिका वाहन न बन सके, जिसका जीवन भौतिक संग्रामसे हीन हो जाय। मनुष्य विद्वान् तब कहलाता है, जब उसका जीवन ऐसा हो जाय कि जिसकी ओर आँख उठानेवाले दुष्टको प्रलयकालका ताण्डव किंवा महादेवके तृतीय नेत्रका क्रोध देखना पड़े। जीवन ऐसा हो जाय कि वह किसीका भोग्य उपकरण न बन सके। उसे देखकर संतोंको संतोष हो, मूर्खोंको उपेक्षा हो और दुष्टोंको भय मानना पड़े। यही विद्वान्का सच्चा लक्षण है। लिखने-पढ़नेकी बाह्येन्द्रियोंकी चतुराईके साथ विद्वत्ताका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। सुन्दर विज्ञापन (साइनबोर्ड) लिखनेवाले लेखकों (पेन्टरों) को कौन विद्वान् कह सकता है? तथा अक्षर-ज्ञानसे लेशमात्र सम्बन्ध न रखनेवाले दिव्यदृष्टि संतोंको विद्वान् कहनेसे कौन रोक सकता है? संसारका इतिहास बता रहा है कि संतोंने कभी किसीका प्रमाणपत्र नहीं लिया। संत अपने सद्गुणोंसे यशस्वी नाम उपार्जन करते हैं। जब बालकोंको प्रमाणपत्रवाही विद्वान् बननेके लिये दूसरोंके पास भेजा जाता है, तब बाल-सुधारके कर्तव्यपूर्ण ईश्वरीय प्रबन्धको तोड़कर ही भेजना सम्भव होता है; क्योंकि ईश्वरने जिन माता-पिताके पास बाल-सुधारका कर्तव्य भेजा है, वे उस कर्तव्यको स्वयं करना नहीं चाहते। वे अपने बाल-भगवान्की पूजा नौकरोंसे कराकर संतुष्ट जीवनके स्वामी बन जाना चाहते हैं। वे या तो अपने भोगी जीवनको इतना प्यार करते हैं कि सुधरे जीवनको संकट समझते हैं। वे समझते हैं कि बालकोंको किसी सुधारक संस्थामें रहनेवाला अपरिचित मनुष्य सुधारेगा, हम माता-पिता लोग घरमें बालहीन रहकर कर्तव्यहीन जीवन बितायेंगे। वे बालकोंको किसी संस्थामें भेजना चाहकर अपने आचरणोंके द्वारा उनसे कहते हैं कि 'बालको! जाओ, हमें तुम्हारे सुधारके लिये सुधरे हुए जीवनके संकटमें पड़नेका साहस नहीं है। हमको भोगी, कर्तव्यहीन, पथभ्रष्ट, अनियमित जीवन रुचिकर है; अथवा वे रुपया उपार्जन करने आदि जैसे कामोंको बाल-सुधारसे आवश्यक समझते हैं। वे अपने धन-राशि उपार्जन कर सकनेवाले समयको पैसा उत्पन्न न करनेवाले बाल-सुधार-जैसे निकम्मे समझे हुए काममें लगाना नहीं चाहते। वे अपने उपार्जित धनमेंसे कुछ धन दूसरोंको देकर उनसे उनका समय मोल लेकर, बाल-सुधार नामके उस अपने कर्तव्यको, मोल लिये हुए उन लोगोंसे करानेकी भ्रमपूर्ण इच्छा करते हैं, जिनके पास ईश्वरने इन बालकोंकी सुधार-प्रेरणा नामका कोई कर्तव्य नहीं भेजा।

समझ लेना चाहिये कि धनसे न तो किसीकी मनुष्यता मोल ली जा सकती है और न वह जन्मघुटीके समान उससे घुटवाकर अपने बालकोंको पिलायी जा सकती है। मनुष्यताका मूल्य कोटि-कोटि रुपया भी नहीं हो सकता। जो मनुष्यताको बेचता है, उसके पास मनुष्यता नहीं है। मनुष्यता क्रय-विक्रयके लिये हाटमें धरनेकी वस्तु नहीं है। इसका लेन-देन हार्दिक होता है। समर्पणकी अवस्था ही मनुष्यताका सर्व-सुलभ मूल्य है। यह अधिकारी-हृदयके सामने आनेपर उसकी सेवा करनेके लिये उसके चरणोंमें रख देनी पड़ती है।

संसार संतोंसे रीता नहीं है। कुछ संतलोग स्वभावसे बाल-सेवाके द्वारा जीवनयापन करते हैं। ईश्वर माता-पितासे

भिन्न जिनके पास बाल-सुधार नामका कर्तव्य भेजते हैं, ऐसे संतलोग किसी भी विनिमयके बिना बालकोंकी सेवाका काम नारायण-समर्पणीभावसे करते हैं। वे बालकोंको माता-पितासे भी अधिक प्यार करते हैं। माता-पिता बच्चोंसे उकता जाते हैं, परंतु संतोंको बालकोंसे उकताते नहीं देखा गया। वे बालकोंके उत्पातोंको नारायणके खेल समझकर उनके क्रीडा-प्रसङ्गोंसे ही उनके स्वभावको पहचानकर उनकी सेवा कर मार्ग निर्धारित करते हैं। संतोंका प्रेम निःसीम होता है। माता-पिता बालकोंसे जैसे स्वार्थकी सीमामें रहकर प्रेम करते हैं, संतोंका वैसा संकुचित या दूषित प्रेम नहीं होता। वे बालकोंके प्रति सर्वार्पण करके उनको नारायणभावसे पूजते हैं। वे बाल-शिक्षणको राम-भजन समझते हैं। वे बाल-सेवा और नारायण-सेवामें लेशमात्र भी अन्तर नहीं समझते। वे सच्चे माता-पिताके समान बाल-सुधार नामक कर्तव्य पालनेके लिये तुष्ट तथा देवदर्शनार्थी मनसे सन्नद्ध हो जाते हैं। यही बाल-शिक्षणकी परिपाटी है। इसीको 'आश्रम-प्रणाली' कहा जाता है। आश्रम-प्रणालीमें आत्मसमर्पण करनेवाले बालकोंको ही स्थान मिलता है।

सुधारकी यह परिपाटी नहीं है कि एक मनुष्य तो अपनेको बालकोंका माता-पिता या स्वामी मानता हो और बालक उसे अपना समझ रहे हों तथा पढ़-लिखकर उसीके स्वार्थमें सम्मिलित होनेकी आशा रखते हों और तीसरा व्यक्ति उनका सुधारक बननेका अभिमान करता हो, यह सुधारकी परिपाटी नहीं है। ईश्वरके प्रतिनिधियोंके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण ही सुधारका मूल-मन्त्र है। यह समर्पण उभयपक्षीय होता है। जब किसी बालशरीरसे अपना मोहपूर्ण पितृत्व हटाकर उसे ईश्वरके पूर्ण प्रतिनिधि किसी संतको सौंप दिया जाता है और वह उस समर्पणको स्वीकार भी कर लेता है, तब वह सुधारकी ईश्वरीय रचना हो जाती है। ऐसी रचना ही 'आश्रम-प्रणाली' की जननी है। समर्पणमें दोनोंकी सम्मति अत्यावश्यक है, यह कहा जा चुका। इसमें एक समर्पण करनेवाला तथा दूसरा समर्पणको स्वीकार करनेवाला होता है।

समर्पण ही सुधार कर सकता है। समर्पणकी अवस्था ही सुधारकी सामग्री है। समर्पणके बिना सुधारकी सामग्री पूर्ण नहीं होती। मूर्ख माता-पिता बालकोंकी समर्पण-जैसी इस पवित्र अवस्थाका उपयोग बालकोंके मनको बिगाड़नेमें या उन्हें कुछ निर्बलताएँ सिखानेमें करते हैं। समर्पणको ईश्वरीय धरोहर समझकर उसका पूर्ण सदुपयोग करनेसे ही कल्याणकी प्राप्ति होती है। जब समर्पण न करके बच्चोंको अश्व-विनेताओं (चाबुक-सवारों) के समान वेतनार्थियोंसे सुधरवाना चाहा जाता है, तब इस समर्पण न करने नामकी न्यूनताके कारण बच्चोंका सुधार नहीं होता। समर्पण स्वीकार करनेकी कलाको तथा समर्पणके महत्त्वको न जाननेवाले अध्यापक, बालकोंका सुधार करनेमें असफल रह जाते हैं। समर्पण हो और उसे सच्चाईसे स्वीकार कर लिया जाय, तभी सुधारकी सामग्रीमें पूर्णता आती है। माता-पिता और बालकोंके बीचमें समर्पणकी यह अवस्था ईश्वरीय प्रबन्धसे होती है; क्योंकि ईश्वर आज्ञा मानने और चर्या सीखनेके लिये पूर्ण उद्यत होकर ही किसीका पितृत्व स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि बालक माता-पितासे अधिक दूसरे किसीका कहना नहीं मानते। उनपर उनसे अधिक किसीका भी प्रभाव नहीं पड़ता। माता-पिताकी सुधारेच्छु आँखें ही बालकोंसे तपस्या करानेवाली और उनको निर्दोष सुवर्ण बनानेवाली भट्ठियाँ हैं।

बालकोंको सुधारनेवाला यह उभयपक्षीय समर्पण नहीं होता तो बाल-सुधार ढोंग-ही-ढोंग रह जाता है। बाल-सुधारका ढोंग करनेवाली संस्थाएँ बाल-सुधारके नामपर माता-पितासे व्यय लेकर दस-पंद्रह वर्षोंतक बालकोंके हृदयमें लगातार विकारोंकी जड़ जमा-जमाकर, उन्हें विकाराधीन असहाय अंधे बनाकर अंधे माता-पिताको लौटा देती हैं। मूर्ख माता-पिता उनकी वेष-भूषा, उनके शरीरकी लंबाई-चौड़ाई, उनके रूप-यौवन-विकार, उनके अनेक भाषा-विज्ञान तथा उनकी अर्थोपार्जन-शक्तिको देखकर अपार संतोष मानते हैं और फूले नहीं समाते। माता-पिताके पास यह समझनेकी आँखें नहीं होतीं कि ये बालक समाज-द्रोही चूहे-जैसे निर्बल मनवाले अविद्याके अवैतनिक प्रचारक (बेदामोंके दास) बनकर वहाँसे लौटे हैं। वस्तुस्थिति यह है कि इन बालकोंने दस-पंद्रह वर्ष लगातार अपने विद्यार्थीजीवनमें आवश्यकताओं-के दास बनने और उन्हें पूरा करने नामके दो भ्रमोंका अभ्यास किया है। विचार करनेवाले जानते हैं कि इन सब बालकोंको वहाँ अपने समाजका आखेट करना सिखाया गया है। इन्हें अपने जीवनभर आग लगाना और फिर इस आगके लिये ईंधन जुटाते रहना सिखाया गया है। काल्पनिक आवश्यकताओंकी अधीनताको स्वीकार कर लेना ही आग लगाना है और उन आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये अपनी

जीवनी-शक्तिका दुरुपयोग करते रहना इनका आग बुझाना है। वास्तवमें तो इस आग बुझानेको आगमें ईंधन डालना कहना चाहिये। विद्यार्जन-काल समाप्त होते-न-होते ही नौकरियोंके पतोंकी पुस्तकें ऐसे बालकोंके स्वाध्यायकी मुख्य सामग्री बन जाती हैं। इनका जीवन और यौवन दोनों इनके ऊपर एक भारी दुर्भर बोझ हो जाते हैं। ये अपने जीवन और यौवन इन दोनोंको दूसरोंके चरणोंपर फेंकनेको लालायित हो जाते हैं। ये अपने विद्यार्थीजीवनमें राजनियम (कानून) की पकड़को बचानेवाली और समाजकी दृष्टिको धोखा देनेवाली कलाका अभ्यास करते हैं।

देखते हैं कि बिना पढ़े-लिखे सीधे-सादे आडम्बर-शून्य मनुष्यका जीवन रुपयेपर निर्भर नहीं होता। उसका जीवन अपनी कर्मशक्तिपर निर्भर होता है और इसीके द्वारा सुखपूर्वक व्यतीत हो जाता है; परंतु कर्मशक्तिको निकम्मा रखनेवालेपर निर्भरशील पढ़े-लिखे मनुष्यके जीवन-व्ययकी कोई सीमा नहीं है। इसे जितनी प्राप्ति हो जाती है यह सबको चाट जाता है। सहस्र और लाख इसकी दुराशाग्निमें तृणसे अधिक महत्त्व नहीं रखते। ऐसे मिथ्या शिक्षितोंका पेट सुरसाके पेटसे कम नहीं रहता। संतुष्ट, सुखी और स्वतन्त्र रहनेकी कलाका पूर्ण परिज्ञान हुए बिना विद्वत्तासे कोई लाभ नहीं होता। वह वन्ध्या होती है। असंतोषपूर्ण विद्वत्ता मनुष्यजीवनका काला धब्बा है। आज संसारकी विद्याशालाओंके द्वारा विद्यार्थियोंको असंतुष्ट जीवन बाँटा जा रहा है। अंधा समाज यह देखनेकी शक्ति खो बैठा है कि इन विद्याशालाओंद्वारा हमारे बालकोंका और उनके द्वारा संसारका कितना बड़ा अनर्थ किया जा रहा है? और ये किस प्रकार संसारमें अविद्याका प्रचार कर रही हैं? मूर्ख-समाज अपने बालकोंको इनके बहाये हुए अनर्थ प्रवाहमें बहानेके लिये प्राणपणसे चेष्टा कर रहा है। ये शालाएँ इस अनर्थकारिणी अविद्यासे अपने बालकोंको दूषित करनेमें अपना परम सौभाग्य मान रही हैं। ये शालाएँ समाजको केवल अपने स्वार्थ-साधनका क्षेत्र समझनेवाले समाजके व्याधोंकी सेना प्रस्तुत कर रही हैं। ये संस्थाएँ नौकरी और कमीशन खानेवाले, दूसरोंके अधिकारपर आक्रमण करनेवाले स्वार्थान्ध दासोंको ढाल रही हैं। जब बाल-सुधारके ईश्वरीय विधानकी उपेक्षा करनेवाली इन शालाओंके विद्यार्थी अपना विद्यार्थीजीवन समाप्त करके लौटते हैं, तब देखते हैं कि इनके माता-पिताने इनको जिस रोगसे बचानेके लिये अच्छी-से-अच्छी समझी हुई सुधारक-शालाएँ ढूँढ़कर इन्हें अपने प्रभावसे अलग रखना चाहा था, वे बालक पढ़-लिखकर उसी रोगके असाध्य रोगी होकर, रोगी रहना अपना स्वभाव बनाकर लौटे हैं! देखा जाता है कि जो विकारी जीवन माता-पिता बिता रहे थे, इन बालकोंके लिये भी वही विकारी जीवन स्वाभाविक जीवन बन गया है। यह सब कुछ देखकर विवेकियोंको इनकी अनुपयोगिता स्पष्ट समझमें आती है।

इस दृष्टिसे विश्व समाजको मनुष्यताके पवित्र नामपर ऐसी विद्याशालाओंका पूर्ण बहिष्कार कर देना चाहिये। सचाई यह है कि अपने बालकोंको अपने पास रखकर ही मनुष्यताकी शिक्षा देनी चाहिये। मनुष्य बने रहनेका दृढ़ निश्चय ही मनुष्योचित ज्ञानका किंवा मनुष्यताका उत्पादक होता है। मनुष्य बने रहनेके दृढ़ निश्चयसे ही मनुष्यता सीखी जाती है। अपने स्वभावको ढीला रखनेसे मनुष्यता खोयी जाती है। इस दृष्टिसे संतानके साथ माता-पिताका जो ईश्वरीय प्रबन्धसे बना हुआ सेव्य-सेवकका पवित्र सम्बन्ध है, उसे थोड़े कालके लिये भी टूटने देना कल्याणकारी नहीं है। यह ध्यान देना माता-पिताका पवित्र कर्तव्य है कि उनके एकाधिकारमें समर्पित किया हुआ बालजीवन उपेक्षित या पथभ्रष्ट न हो जाय; किंतु वह कर्तव्य-बन्धनकी मर्यादामें रहकर उनके द्वारा सन्मार्ग प्राप्त करे। समर्पणके ईश्वरीय प्रबन्धको तोड़नेसे दोनोंमेंसे किसीका भी कल्याण नहीं है। यह समर्पण ही 'आदर्श आश्रम-व्यवस्था'का मूल-मन्त्र है। इस समर्पणकी अवस्थाके न रहनेसे ही सुधारक संस्थाएँ अपनेको बाल-सुधारके अधिकारसे वञ्चित किये बैठी हैं।

बालकोंको अपने पाससे हटाकर दूसरोंके पास भेजना समर्पणकी इस ईश्वरीय कल्याणजननी व्यवस्थाको तोड़कर बालकके जीवनको उपमातासे पाले हुओंके समान निस्तेज बना देना है। ऊपर बाल-सेवाको जीवनव्रत बनानेवाले जिन संतोंका वर्णन किया है, वे संत समाजके कल्याणमें ही अपना कल्याण समझते हैं। इसलिये वे समर्पण स्वीकार करनेके अधिकारी हैं और समाज भी उनके हाथमें निःशङ्क होकर बालसमर्पण कर सकता है। वे संतलोग समाजमें दैवी-सम्पत्तिके प्रसार या विकासके लिये प्राणपणसे चेष्टा किया

करते हैं। वे इस कर्तव्यको पालनेके लिये, विषयोंके हाथों बिके हुए मनवाले वयस्क पुरुषोंको अपना कर्मक्षेत्र न बनाकर, बालकोंके कोमल मनपर विषयरस चखनेसे पहले-ही-पहले दैवीसम्पत्तिका प्रभुत्व बैठानेके लिये मनुष्य-समाजके स्वाभाविक अधिकारी बालसमाजमें समाज-कल्याणका बीज बोनेमें लगे रहते हैं। ऐसे लोगोंको ईश्वरीय प्रेरणासे बाल-सुधार या बाल-शिक्षाका अधिकार मिला रहता है। सर्व-व्यापक अनन्त सत्यनारायणके शान्तरूप ऐसे महापुरुषोंके हाथोंमें बालकोंको समर्पित करके, उनपरसे अपनापन हटाकर, सत्यकी धरोहर सत्यनारायणको सौंप दी जाती है। इसीसे बाल-सुधारका बीज-वपन होता है। जब यह बीज-वपन वृक्षावस्थाको धारण करता है, तब संतरूपमें संसारके सामने आता है।

बालकोंको अपना बनाये रहकर दूसरोंसे पढ़वाने या सुधरवानेकी अवस्थामें रक्खे हुए बालक, उस घोड़ेकी परिस्थितिमें फँस जाते हैं, जिसकी बागडोर किसी स्वामीने अपने हाथोंमें पकड़ रक्खी हो और उसे पकड़े-ही-पकड़े किसी अश्वशिक्षकसे सुधरवाना चाहता हो। ऐसे बालक समर्पणाभाव नामकी रुकावटके कारण कहीं दैववश सत्सङ्ग मिल जाय तो भी उससे लाभ उठानेसे वञ्चित रहते हैं। बात यह है कि समर्पणकी अवस्थामें रहना ही सुधारका रहस्य है। समर्पण न करनेवाले माता-पिताकी संतान जहाँ भेजी जाती है, वहाँ भी सुधारका उत्तरदायित्व वैसे ही मनुष्य ग्रहण किये रहते हैं, जिनके मनमें न तो समर्पणका महत्त्व होता है और न जिनके मनमें दूसरोंके बालकोंको सुधारनेकी कल्याण-मयी प्रवृत्ति होती है। ऐसे सुधारकोंके साथ बच्चोंके माता-पिताका मोलभावका सम्बन्ध रहता है। ऐसे मोल-तोलकी भावनासे ग्रहण किये हुए बालक स्वयं बिना ही सुधरे, सुधारकका कुछ स्वार्थ सिद्ध करके, बिगड़ी हुई अवस्थामें माता-पिताके घर लौटा दिये जाते हैं। ऐसे बालक अपने माता-पिताके दुःसंकल्पोंसे अपने चिन्मय शरीरको दुबला बनाते रहते हैं और अपने मनको चूहे-जैसा निर्बल तथा विकार-रुचि बना लेती हैं।

इस सबका कारण यही है कि समर्पण न करनेवाले अहंकारी माता-पिता अपने पास दूसरोंसे अपनी संतान पलवानेवाली कोयलके समान दूसरोंसे अपनी संतान पलवाकर, फिर उनके मुखसे मोहमयी बातें सुनकर, अपनी मोह-पिपासा बुझानेका आशा-तन्तु बाँधे रखकर, दूसरोंके पास भेजते हैं। दूसरे शब्दोंमें कहें तो मूर्ख माता-पिता मोही प्यार करनेके लिये बालकका हृदय अपने पास रख लेते हैं और उसके शरीरको पढ़नेकी चतुराई सीखनेके लिये दूसरोंके पास भेज देते हैं। अपने हाथमें पकड़ा हुआ यह विषभरा आशातन्तु सदा ही बालकोंके सुधारनेकी रुकावट बना रहता है। जब इस आशातन्तुको अपने हाथमें रखनेवाले मोही माता-पिता कभी उनसे प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे मिलते हैं, तब मौखिक बातोंके द्वारा या पत्रोंके द्वारा अथवा संकल्पके द्वारा अपनी मोहरज्जुको उन अपने संकल्पबद्ध बालकोंके पास पहुँचा-पहुँचाकर, लाख कोस बैठे हुए बच्चोंको भी अपने मोहकी चेष्टाओंसे बिगाड़ते रहते हैं। वे अपने बालकोंको अपने वासना-तन्तुसे मकड़ीके समान लपेटे रहते हैं। ऐसों-के बालक भी उनकी इस मनोवृत्तिके क्रीतदास बनकर मोहशिक्षासे सच्छिक्षाके प्रभावको धोते रहते हैं। माता-पिताके सामने दूसरोंकी लाखों शिक्षाएँ एक ओर रक्खी रह जाती हैं। माता-पिताकी वाणी लाखों शिक्षकोंसे ऊपर उठकर अपना प्रभाव उत्पन्न किये बिना नहीं मानती। माता-पिता तथा बालकोंमें जो समर्पणका स्वाभाविक सम्बन्ध है वही इसका कारण है। मूर्ख माता-पिता बालनारायणकी इस समर्पणकी अवस्थासे अनुचित लाभ उठाकर उनके और अपने दुःखोंका बीज बोते रहते हैं। जब बालक माता-पिताके हाथमें आते हैं, तब पूर्ण आत्म-समर्पणके भावसे आते हैं। उनका सुधार या बिगाड़ माता-पिताके ही हाथोंसे होता है। मूर्ख माता-पिता पूर्ण आत्म-समर्पण किये हुए बाल-स्वरूपधारी नारायणको नर वा संसारी बताकर उसके नारायण भावको भुलवाकर उसे भोगासक्त प्राणी बनाकर भोग-विलासका अभ्यास करा देते हैं। यदि माता-पिता पूर्णताके उपासक हों तो बालकोंको पूर्णता पैतृक-सम्पत्तिके रूपमें मिलती है। जिन घरोंमें अपूर्णता और निर्बलताकी उपासना होती है, उन घरोंके बालकोंको साक्षात् नारायण भी पूर्णताका दर्शन नहीं करा सकता या ज्ञानी विद्वान् नहीं बना सकता। ऐसे बालक जितना अधिक पढ़ते हैं और जितने अधिक प्रमाणपत्रोंका उपार्जन कर लेते हैं, उतने ही विद्यासे दूर हो जाते हैं। विद्वान् नामधारी बनानेके प्रयत्नोंके साथ-ही-साथ बालकोंके विद्वान् बननेकी सम्भावना घटती चली जाती है। विद्वान् और धर्मात्मा बननेकी ठेकेदारी लेनेवाली संस्थाएँ बालकोंपर वेतनार्थी कर्मचारियोंके मोल लिये हुए समयका प्रयोग कराकर उन्हें मोह, ममता, माया, अनृत और कुटिलतामें चतुर, दूसरोंके शरीरों,

रूप-यौवनादि विकारोंको भोगनेके उत्सुक, विषयोंके भूखे भेड़िये, लोगोंके उपार्जनमेंसे अन्यायपूर्वक उपार्जन करनेवाले, समाजभक्षक, आसुरी-सम्पत्तिके पोषक तथा सामाजिक स्वार्थके उपेक्षक बनाकर पड़ोसियोंका आखेट करनेके लिये समाजमें छोड़नेके बदलेमें अपना पारिश्रमिक (फीस) प्राप्त करती हैं।

किसी भी आँखोंवाले माता-पिताको बालशिक्षाके उपर्युक्त मर्मको ध्यानमें रखकर स्कूलों-कालेजों तथा सुधारक होनेका दम भरनेवाली, सुधारसे सर्वथा अपरिचित संस्थाओंके लंबे-चौड़े बहुरंगे मुद्रणकला तथा शब्दविन्यासकी चातुरीसे आकृष्ट करना चाहनेवाले विज्ञापनोंके भुलावेमें नहीं आना चाहिये। ये संस्थाएँ जिन वेतनार्थी लोगोंके द्वारा यह बाल-सुधार नामका नाटक खेलती हैं और जिन वैषयिक जीवन बितानेवाले विकारग्रस्त लोगोंको वेतन देकर बालकोंको उनकी देख-रेखमें कुछ काल ऊँची दीवारोंके घेरेमें एकान्तमें रखकर उन्हें संयमी बना देनेका उपहासपूर्ण अभिनय करती हैं, उन वेतनार्थियोंका मुख्य लक्ष्य किसी प्रकार अपना वेतन संस्थापर चढ़ा देना होता है। वे इसी लक्ष्यको मुख्य रखकर उसके साधनके रूपमें बालकोंको कुछ विद्या-शिक्षा देकर या उनसे सुधार नामका सैनिकोंके व्यायाम-जैसा कुछ श्रम करा लेते हैं। वे बालकोंको कुछ अच्छी सभ्य समझी जानेवाली क्रियाओंका अभ्यास करा देते हैं। इन शालाओंमें जीवनको अमृतमय करनेकी कला नहीं सिखायी जाती।

बाल-सुधार चाहनेवाले प्रत्येक माता-पिताको यह भली-भाँति समझ लेना चाहिये कि ईश्वरने जिसके पास बालकोंको सुधारनेका कर्तव्य नहीं भेजा, वह जब अवसर पायेगा, तभी सुधारके लिये अपने वेतनार्थी बनावटी उत्तरदायित्वमें लिये हुए बालकोंको बिगाड़नेसे नहीं चूकेगा। उसका कारण यही है कि उस वेतनार्थीके हृदयमें ईश्वरके प्रबन्धसे बाल-सुधार करानेवाले 'कर्तव्यनारायण' अनुपस्थित हैं। जहाँ ईश्वरके प्रबन्धसे कर्तव्य अनुपस्थित है, वहाँ बालकको भेजनेमें उसका कल्याण नहीं है। वेतनके विनिमयसे कर्तव्यका विनिमय नहीं किया जा सकता। कर्तव्य ईश्वरीय प्रेरणा है। कर्तव्य भगवान्की आज्ञा है। वेतन भोगमय जीवन बितानेके लिये, भोग-सुविधा या अव्याहत भोगके लिये चाहा हुआ भौतिक पदार्थ है। कर्तव्य निःस्पृह भावनासे किया जाता है। वेतन, स्पृहासे प्राप्त किया जाता है। ऐसी परिस्थितिमें किसीको वेतन देकर बाल-सुधार करा लेना असम्भव है। जो बाल-सुधारके नामपर वेतन या शुल्क ले रहा है, उसे सुधारका रहस्य ज्ञात नहीं है। बाल-सुधार समाज-सेवाका काम है। जिन्हें वेतनकी आवश्यकता हो उन्हें बाल-सुधारके उत्तरदायित्वमें नहीं पड़ना चाहिये।

कौन महान् ?

धन-दौलत अधिकार-मानसे होता कोई नहीं महान।
पर-दुख सुखी, दुखी पर-सुखमें जो, वह है पापोंकी खान॥
पर-सुख-साधनके निमित्त जो निज-सुख कर देता बलिदान।
वह अमूल्य आभूषण जगका वही जगतमें मनुज महान॥
अपना स्वार्थ साधनेको जो करता औरोंका नुकसान।
वह मानव जगका कलंक है, मानवताका शत्रु महान॥
जो स्वार्थी नर साधु-संत सज ठगता है धोखा देता।
'बगुला भगत' नीच वह धर्मजगतका गौरव हर लेता॥
पढ़-लिख जो उपाधि धारण कर पर-सुख हरता साहंकार।
पढ़े-लिखे हिंसक उस पशु-मानवको बार-बार धिक्कार॥

शिक्षाका आदर्श एवं उद्देश्य

(लेखक—आचार्य श्रीलौटूसिंहजी गौतम एम्०ए०, एल्०टी०, पी-एच्० डी०, काव्यतीर्थ, इतिहासशिरोमणि)

किसी भी देशके लिये उसकी शिक्षा-समस्या बड़ी जटिल वस्तु है; क्योंकि देशकी शिक्षाके ऊपर ही उसका सारा भविष्य निर्भर है। देशके बालक (और बालिकाएँ भी) किसी भी देशकी अमूल्य निधि हैं । यदि देशकी शिक्षा-योजना सुन्दर, उपयोगी और देशके तथा मानवताके कल्याणके लिये बनायी गयी तो देशके युवक और युवतियाँ चरित्र, त्याग, तपस्यासे विभूषित होकर अपना जीवन सफल बनावेंगी और मानवताके सुख और समृद्धिमें वृद्धि करेंगी । इसके विपरीत देशकी शिक्षाशैली दोषपूर्ण हुई तो उस देशका अधःपतन होगा ही और वह देश मानव-समाजके लिये अभिशाप होगा।

देशकी परिस्थितिके अनुसार शिक्षाशैलीमें कुछ तो सार्वभौम सिद्धान्त होते हैं और कुछ उस देशके जीवनके आदर्शानुसार । हमारे देशमें आजसे हजारों वर्ष—मेरे मतमें लाखों वर्ष—पूर्व हमारे महर्षियोंने जीवनका चरम लक्ष्य स्थिर किया था, जिसे 'पुरुषार्थ-चतुष्टय' कहते हैं । मानव-जीवनकी सफलताके लिये इन्हीं चार पुरुषार्थोंकी अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धि आवश्यक है । इन्हींकी सिद्धिमें मानव-जीवनकी सफलता है । मानव-जीवनका यही लक्ष्य है और इन्हींकी सिद्धि मानवका सच्चा पौरुष और कर्तव्य है ।

इस चरम लक्ष्यकी उपलब्धिमें सुन्दर शिक्षाका बड़ा हाथ है । भारत-जैसे धर्मप्रधान देशमें इस ओर हमने बड़ा ध्यान दिया। हमारे भारतकी आश्रम-व्यवस्थाने शिक्षा-योजना-द्वारा बड़े सफल नागरिक पैदा किये, जिन्हें आप वसुधाका भूषण कह सकते हैं ।

हमारी शिक्षा-योजनाका आदर्श बहुत ऊँचा था । जैसे हमने 'धर्म'को अपने 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस'का साधन बनाया था, वैसे ही हमने अपनी शिक्षाको 'धर्मका सहायक' बनाया था । जो व्यावहारिक ज्ञान हमें 'सामर्थ्यवान्' बनावे, उसीका नाम 'शिक्षा' है, अर्थात् जिस साधनसे हममें सामर्थ्य हो, उसी साधनका नाम मोटे हिसाबसे शिक्षा है; किंतु आदर्श शिक्षा वह है, जिससे हमारी प्रकृति-प्रदत्त शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और नैतिक शक्तियाँ पूर्ण विकसित होकर हमें सफल जीवन बितानेमें समर्थ करती हैं और सफल-जीवनके उपरान्त मोक्ष या मुक्ति दिलानेमें भी सहायक होती हैं। या यों कहिये कि जिस व्यावहारिक ज्ञानसे क्रियाशील होकर हमें पुरुषार्थ-चतुष्टयकी प्राप्ति होती है, उसी व्यावहारिक ज्ञानको 'आदर्श शिक्षा' कहते हैं । इस आदर्श शिक्षामें सात्त्विक बुद्धितत्त्वका विकास होना बहुत ही आवश्यक है; यद्यपि शारीरिक शक्तियोंको विकासकी भी आवश्यकता है और धार्मिक शक्तियोंके विकास बिना मनुष्य 'शिक्षित पशु' हो जाता है, तथापि आदर्श शिक्षामें 'बुद्धितत्त्व' का विकास होना औरोंकी अपेक्षा, जैसा ऊपर कहा गया है, अधिक आवश्यक है । ऐसी शिक्षामें चरित्रनिर्माण, सामाजिक सेवाके प्रति अभिरुचि और लगन, स्वावलम्बन और आत्म-निर्भरता होना अनिवार्य होगा । शिक्षाके इस रूपको पश्चिमी शिक्षाशास्त्री भी समझने लगे हैं। अनेकोंमेंसे एकका मत यहाँ उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है।

"Education is the harmonius and equable evolution of the human powers by a method based on the nature of the mind so that every power of the Soul is unfolded, every crude principle of life stirred up and nourished all one-sided culture avoided and the impulses on which the strength and worth of men rest carefully attended to." ("Psychology applied to Education" by James Ward, Page 10)

अर्थात् 'शिक्षा वह साधन है, जिससे मानवकी शक्तियाँ सम्बन्धरूपसे विकसित होती हैं और इस विकासमें मानव प्रकृतिका आधार होता है; मानवप्रकृतिके अनुकूल शिक्षासे आत्मिक शक्तियाँ विकसित होती हैं और जीवनके नैसर्गिक भावोंमें प्रोत्साहन मिलता है, एकाङ्गी संस्कृति नहीं पनपने पाती और जिन भावोंपर मानवकी शक्ति और योग्यता निर्भर है, उन भावोंको सावधानीसे सुरक्षित रक्खा जाता है ।' शिक्षाके इस व्यापक और सार्वभौम सिद्धान्तसे कदाचित् किसी भी शिक्षाशास्त्रीका मतभेद नहीं हो सकता; हाँ, उन लोगोंका अवश्य मतभेद होगा, जिन्होंने मानव-समाजका आदर्श बहुत ही निम्नकोटिका माना है। उन लोगोंने—जैसे फ्रायड, यूंग और

एडलरने मनुष्यकी चेष्टाओंका आधार 'भोजन' और 'मैथुन' माना है, वे लोग मानव और पशुमें विशेष अन्तर नहीं मानते। भारतने तो स्पष्ट कहा है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

अतः आधुनिक युगके सर्वश्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री पूज्यपाद महामना मालवीयजीने काशीविश्वविद्यालयके चार सिद्धान्तोंमें सबसे बड़ा सिद्धान्त यह माना है—'(इस विश्वविद्यालयमें) धर्म और सदाचारको शिक्षाका आवश्यक अङ्ग बनाकर भारतके युवकोंमें चरित्रबल भरना।' इस विचारधाराका समर्थन पश्चिमी शिक्षा-शास्त्री भी करते हैं। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हर्बर्टने भी माना है कि शिक्षाका उद्देश्य है—'नैतिक और धार्मिक आचरणकी व्यवस्था।' उसका कहना है—

'Education consists in the conquest of the lower impulses by the higher altogether. Education may be summed up in the concept Morality.' अर्थात् जिस साधनसे हमारी ऊँची प्रवृत्तियाँ नीची प्रवृत्तियोंपर विजय पाती हैं, उसीका नाम शिक्षा है। 'सदाचार' की विचारधारामें 'शिक्षा' सन्निहित है। यूरोपके प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातूनने भी कहा है कि 'नागरिकको इस प्रकारकी शिक्षा दी जाय कि वह सज्जन और धर्मात्मा बने।'

हमारे मतसे तो यदि शिक्षामेंसे धर्म, तपस्या और संयम निकाल दिये जायँ तो उस शिक्षासे केवल तामसी बुद्धि होगी और श्रीगीताके कथनानुसार वह 'अधर्म' को धर्म समझेगी और सम्पूर्ण अर्थोंको विपरीत ही मानेगी। ऐसी बुद्धि संसारका संहार करनेवाली होती है। अतः जगत्‌के कल्याणके लिये यह आवश्यक है कि शिक्षा धर्मनियन्त्रित हो; ताकि उस शिक्षासे दीक्षित और अनुप्राणित सज्जन अपने व्यक्तिगत तथा समाजगत कर्तव्योंको शान्ति तथा युद्धकालमें कुशलता और उदारताके साथ सम्पन्न कर सकेंगे। इसीको ध्यानमें रखकर विश्वका एक ख्यातनामा शिक्षा-शास्त्री कहता है—'The troubles of the whole world including India are due to the fact that Education has become a mere intellectual exercise and not the acquisition of moral and spiritual values. Proper education must transform the nature of the pupil, make him a new being and give new directions to his mind.' अर्थात् 'भारतसहित सारे विश्वके कष्टोंका कारण यह है कि शिक्षा केवल मस्तिष्कके विकासतक परिमित रह गयी है। उसमें धार्मिक और आध्यात्मिक मूल्योंका समावेश नहीं है। समुचित शिक्षा एक बालककी प्रकृतिको परिवर्तितकर उसे नया जन्म देती है और उसके मस्तिष्कको नयी शिक्षाओंमें परिचालित करती है।' आचार्य श्रीराधाकृष्णन्‌के ये शब्द सर्वमान्य हैं।

हमारी भारतीय शिक्षाकी सबसे बड़ी यही विशेषता है कि इसमें धर्म, नैतिकता, न्याय, उदारता आदिका समावेश है। हमारी शिक्षासे ही सच्ची विद्या या ज्ञानका उदय होता है। प्राचीन कालमें अठारह विद्याओंका वर्णन आता है। चार वेद, छः वेदाङ्ग, मीमांसा, न्याय, धर्म, पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्वशास्त्र, अर्थशास्त्र—आधुनिक विज्ञान भी इसी विद्याके अन्तर्गत हैं। इनमें सभी विद्याओंका लक्ष्य है 'सफल जीवन और मोक्ष'। कहा भी है, 'सा विद्या या विमुक्तये'।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमारी प्राचीन भारतीय शिक्षामें उन सभी सिद्धान्तोंका समावेश है, जिन्हें आजकलके शिक्षाशास्त्री उपादेय और आवश्यक मानते हैं। एथेन्समें शिक्षाका उद्देश्य था 'सुन्दरता तथा सुखके साथ पूर्ण जीवनका उपभोग करना'। यूनानके इस एथेन्सने जीवनको सुन्दर बनाया। ऐसा सुन्दर बनाया कि जीवन भोगमय हो गया और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सामाजिक कल्याणको उल्लङ्घन कर गयी। इस 'व्यक्तिवाद' ने उच्छृङ्खलता पैदा की; स्वार्थ-भावना और भोगलिप्सासे देश नष्ट हो गया। हमने भी 'सुन्दरता' का सिद्धान्त रक्खा; पर वह 'सत्य' और 'शिव' से नियन्त्रित और मर्यादित सुन्दरता थी। अतः शिक्षामें जहाँ-जहाँ 'सुन्दरता' 'सत्यं शिवं' से नियन्त्रित नहीं है, उससे विलासी जीवन होकर मानवको अधःपतनके गर्तमें गिरना पड़ता है। अब आइये एकाध और उदाहरण लें। स्पार्टाका अनुशासन विश्वप्रसिद्ध है। हमारे अनुशासनमें स्पार्टाके सैनिक गुण हैं; किंतु उद्दण्डता या अशिष्टता नहीं है। हमारे यहाँ रूसोका प्रकृतिवाद है; किंतु उसका उच्छृङ्खलपन नहीं है। हमारी प्राचीन शिक्षाशैलीमें सबसे बड़ी व्यवस्था यह थी—'समुचित शिक्षा देनेके लिये यह आवश्यक है कि

शिक्षणीय बालककी मनोवृत्तिका भरपूर अध्ययन किया जाय और उसको आवश्यकता, रुचि तथा योग्यताके अनुकूल शिक्षा दी जाय ।' इस सिद्धान्तका पालन होता था वर्णानुसार शिक्षा देकर । प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हर्बर्टका 'पूर्वज्ञान' वाला सिद्धान्त (Apperception Principle) हमारी शिक्षाका प्रधान अङ्ग था । प्रसिद्ध जर्मन शिक्षाशास्त्री फ्रोबेलने बालोद्यानकी स्थापना की । 'स्वयंक्रिया, स्वतःप्रवृत्ति और व्यक्तित्वका विकास' इन सिद्धान्तोंका हमारी शिक्षामें पूरा समावेश था । हर्बर्ट स्पेन्सरकी 'व्यावसायिक शिक्षा' वर्णानुसार होनेसे हमारी शिक्षाके अनुकूल है । अमेरिकाके आचार्य उमूईका सिद्धान्त है कि 'हम शिक्षाद्वारा ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दें कि बालकको सम्पूर्ण मानवजातिके सामाजिक अभ्युत्थानमें सक्रिय योग देनेका अवसर मिले और बालकमें ऐसी समर्थता उत्पन्न कर सके कि वह समाजमें जिस परिस्थितिमें स्थापित किया जाय, उसमें वह सफलता प्राप्त करे और सुखसे रहे और बालकके हृदयमें लोक-कल्याण और लोकसेवाकी भावना बनी रहे ।' इस उदार शिक्षाको हम भारतीय शिक्षाका अङ्ग मानते हैं । इटलीकी मान्टेसरीकी प्रयोगशाला गुरुकुल और ऋषिकुलके आश्रमोंकी प्रयोगशालासे मिलती-जुलती है । उसकी 'विनयशीलता' हमारे आश्रमोंका स्मरण कराती है, इसके अतिरिक्त डाल्टन-प्रयोगशाला-योजना, जिसमें बच्चे अपनी रुचिसे पढ़ते हैं, अध्यापक केवल पथप्रदर्शक है, स्वयंप्रयोग-प्रणाली (Heuristic method) अथवा आविष्कारक योजना, आदि-आदिके मूलतत्त्व हमारी प्राचीन शिक्षा-योजनामें सूत्ररूपसे वर्तमान हैं । आवश्यकता है उन्हें समयानुसार परिचालित करनेकी; इस सम्बन्धमें निवेदन करना है कि हमारी सारी शिक्षाका आधार होना चाहिये संयम, तपस्या और नियमित जीवन । शिक्षाशास्त्री 'लाक'का 'कठोरीकरण प्रयोग' भारतमें पुनः उपयुक्त होना चाहिये । उसके शिक्षातत्त्वोंका सारांश है 'आत्मसंयम' या विनयानुशासन । इस सम्बन्धमें मनुस्मृतिके दो श्लोकोंका उद्धरण करना आवश्यक है—

> उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
> आचारमग्निकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥
> (२ । ६९)
>
> वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा ।
> सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥
> (२ । १००)

इनमें 'शौच' 'आचार' 'अग्निकार्य' 'सन्ध्योपासन' 'इन्द्रियजयत्व' पर विशेष बल दिया गया है और इसके अतिरिक्त हमारी शिक्षामें 'तप' पर भी अधिक-से-अधिक बल देना चाहिये । श्रीगीताका वर्णित शारीरिक, वाचिक और मानसिक तप स्वतन्त्र भारतकी शिक्षायोजनाकी आधारशिलाका कार्य देगा । यहाँ इन श्लोकोंका उद्धरण करना आवश्यक प्रतीत होता है ।

> देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
> ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
> अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
> स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
> मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
> भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥
> (१७ । १४-१६)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शारीरिक तप है । उद्वेग न करनेवाला, प्रिय, हितकारी तथा सत्य भाषण और स्वाध्यायका अभ्यास वाणीका तप है और मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, मौन या भगवच्चिन्तनका स्वभाव, मनका निग्रह और मनके भावोंकी पवित्रता मानसिक तप है ।'

इन पंक्तियोंके पाठकोंमेंसे वे सज्जन, जिन्हें अपने देशकी वैदिक और आध्यात्मिक देनका पता नहीं है, शायद समझते होंगे कि ये पंक्तियाँ केवल राष्ट्रिय अभिमानसे लिखी जा रही हैं । यदि ऐसे कोई भाई हों तो उनसे मेरा नम्र निवेदन है कि वे कम-से-कम चार-छः विदेशी यात्रियोंके वर्णन पढ़ लें तो उन्हें पता चलेगा कि प्राचीन भारतकी शिक्षायोजना क्या थी । चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमें मेगैस्थनीज़ और सिकन्दर महान्के साथ आये यूनानी लेखक या उस समयके अन्य लेखक फाह्यान गुप्तकालकी दशासे सुनिये । सातवीं शताब्दीकी रामकहानी ह्वेनसांगसे सुनिये । इतसिंग भी अपनी आँखों देखी दशाका चित्रण करता है । उससे सप्रमाण पता चलेगा कि मेरा कथन कोरी डींग नहीं है । अब दो-एक उदाहरण अपनी भारतीय शिक्षायोजनाके सुनिये—तैत्तिरीयोपनिषद्के एकादश अनुवाकमें स्नातकको गुरुका विदा होते समय बड़ा ही उपादेय उपदेश है, विश्वव्यापी बड़ी-से-बड़ी शिक्षाका निचोड़ है ।

'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य, प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः, सत्यान्न

प्रमदितव्यम्, धर्मान्न प्रमदितव्यम्, कुशलान्न प्रमदितव्यम्, भूत्यै न प्रमदितव्यम्, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्, देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव·········श्रद्धया देयम्, अश्रद्धयादेयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्, संविदा देयम्, आदि-आदि।

सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो, स्वाध्याय करनेसे न चूको, आचार्यके लिये दक्षिणाके रूपमें वाञ्छित धन लाकर दो, संतान-परम्पराका उच्छेद मत करो। सत्यसे, धर्मसे, शुभ-कर्मोंसे, उन्नतिके साधनोंसे, वेदोंके पढ़ने-पढ़ानेसे, देव-कार्य और पितृ-कार्यसे कभी नहीं डिगना या चूकना चाहिये। माताको, पिताको, आचार्यको और अतिथिको देवरूप समझो; श्रद्धापूर्वक देना चाहिये, बिना श्रद्धाके नहीं देना चाहिये; अपनी स्थितिके अनुसार, लज्जासे, भयसे भी देना चाहिये। विवेकपूर्वक देना चाहिये। इत्यादि।

इन्हीं उपदेशोंमें शिक्षाके सारे उद्देश्य संनिहित हैं। गागरमें सागर भर दिया गया है। पूज्य मालवीयजीने इन्हीं शब्दोंको अपने विश्वविद्यालयके स्नातकोंके लिये चुना। जो उपदेश गौतमबुद्धने अपने गृहस्थ बौद्धोंके लिये दिया और जिस उपदेशको 'अशोक महान्'ने गृहस्थ बौद्धोंके लिये अपने एक शिलालेखमें दोहराया, वे ही शब्द यहाँपर सुन्दर ढंगसे रक्खे गये हैं। पारिवारिक जीवनकी सफलता है 'मातृदेव और पितृदेव बननेमें;' आचार्यको देवता माननेसे सच्ची विद्या प्राप्त होती है; अतिथिको देवता मानना सामाजिक सेवा है।

एक और उदाहरण पर्याप्त होगा, एक गुरुजी अपने स्नातकको उपदेश देते हैं—'आप शिष्ट, बलिष्ठ और कल्याणी बनिये, यही मेरी शिक्षाका सारांश है।' यदि शिक्षित 'बालक' 'शिष्ट, बलिष्ठ और कल्याणी' बन जाता है तो वह इस विश्वमें अपना जीवन सफलतापूर्वक और सुखपूर्वक बिता सकता है, वह किसी भी समाजकी शोभा है। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय इंगलैंडका ख्यातनामा विद्यापीठ है; वहाँके छात्रोंकी शिष्टता जगत्प्रसिद्ध है। वहाँके एक आचार्यने अपने विश्वविद्यालयके ध्येयके विषयमें कहा था—'आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयका प्रधान उद्देश्य है कि वह अपने छात्रोंमें 'शिष्टता' उत्पन्न कर दे।' 'Oxford teaches an Englishman how to be an English gentleman.' इसीको उस विश्वविद्यालयकी 'Stamp' 'छाप' कहते हैं। इस आक्सफोर्ड या गोतीर्थ विश्वविद्यालयने अपनी 'Stamp' अर्थात् 'छाप' या मोहर लगाकर अपने छात्रोंका जीवन ही परिवर्तित कर दिया है; वहाँके वातावरणमें छात्रको विवश होकर 'शिष्टता' सीखनी पड़ती है। 'बालक' समाजकी नकल करता है, मानो समाजकी छाप उसपर पड़ती है और वह 'समाज' का प्रतिरूप बन जाता है। अपने चालीस वर्षोंके पठन-पाठनके अनुभवके आधारपर इन पंक्तियोंके लेखकका नम्र निवेदन है कि इस 'वातावरण'के बिना 'सच्ची शिक्षा'की योजना नहीं बन सकती; आजकलके विद्यालयोंमें जैसा 'वातावरण' है, उसमें पले 'बालक' उसीके अनुसार बनेंगे। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री बर्ट्रेण्ड रसलने कहा है 'Eton and Oxford set a certain stamp on a man's mind just as a Jesuit College does.' अर्थात् ईटन और गोतीर्थ (आक्सफोर्ड) छात्रोंके मस्तिष्कपर एक 'छाप' लगा देते हैं जैसा कि 'जीस-सम्प्रदाय'वालोंकी छाप अपने सम्प्रदायानुसार लगती है।' हमारे प्राचीन विद्यापीठोंमें जैसे तक्षशिला, उज्जैनी, नालन्दा, काशी, नवद्वीप, आदि-आदि भी अपनी-अपनी 'छाप' अपने छात्रोंपर लगा देते थे। वे स्नातक 'शिष्य' बनकर कार्यक्षेत्रमें उतरते थे। आश्रमोंके शुद्ध, निर्बाध, सात्त्विक, प्रबुद्ध, संयम, तपस्या तथा उदार प्राकृतिक वातावरणमें शिक्षित और अनुप्राणित 'स्नातक' 'पूतेन वचसा' (पवित्री वाणी), 'अवदातेन कर्मणा' (निष्कलङ्क कर्म) से समाजकी नागरिकताको सुशोभित करते थे और समाजकी उन्नतिमें अपनी उन्नति मानते थे। नागरिकताका यह चरम लक्ष्य भारतके बालकोंने अपने दैनिक जीवनमें भी उतारा था। सार्वजनिक सामाजिक सेवाओंको 'धर्म'का रूप दिया गया था और प्रत्येक स्नातक या पढ़े हुए बालकका मस्तिष्क इस सामाजिक सेवाके लिये ही प्रोत्साहित किया जाता था। इसी वातावरणमें उनके सम्पूर्ण अङ्गोंकी अर्थात् हाथोंकी, हृदयकी और मस्तिष्ककी शिक्षा होती थी, सम्राट्का पुत्र भी इन आश्रमोंमें अपने 'हाथों' सब कार्य करता था। उसका 'हृदय' दूसरेके दुःखसे 'द्रवीभूत' हो जाता था, उसका मस्तिष्क 'जीवन'की बड़ी-बड़ी समस्याओंको हल कर लेता था; क्योंकि ऐसे वातावरणमें बली, समर्थ, सशक्त होना सम्भव ही नहीं, अनिवार्य था। 'टेनीसन' अपनी एक कवितामें 'आत्मसंयम, आत्मज्ञान, आत्मगौरव,की प्रशंसा करते हुए कहता है कि इनसे 'शक्ति'

स्वयं उत्पन्न हो जाती है—'Self-Control, Self-Knowledge, Self-reverence create power.' कदाचित् उसका लक्ष्य ऐसे ही स्नातकोंकी संयमपूर्ण शिक्षाके सम्बन्धमें था । स्नातकोंके जीवनकी शोभा थी 'कल्याणभावना।' भगवान् श्रीकृष्णने इस विषयमें जगत्‌को अन्तिम उपदेश दिया है, जिसे इन पंक्तियोंका लेखक श्रीगीता या ज्ञानका 'सार' मानता है—

न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।

इन कल्याण-भावनाओंमें अपार शक्ति है, दार्शनिक दृष्टिसे 'कल्याण-भावना'का बड़ा महत्त्व है; इस कल्याण-भावनामें बड़ा बल है । आज सारा विश्व इस भावनाके ह्राससे श्मशानवत् हो गया है ।

आजकी भारतीय शिक्षाका प्रधान उद्देश्य है 'रोटी' । सत्य है, जिस शिक्षासे 'रोटी' भी न मिल सके वह शिक्षा निरर्थकसे भी बुरी है, किंतु उपर्युक्त विश्लेषणसे स्पष्ट है कि आदर्श शिक्षासे 'रोटी'की भी समस्या हल होती है, ज्ञानार्जन भी होता है, संस्कृतिकी भी रक्षा होती है, सदाचारको भी प्रोत्साहन मिलता है, सामाजिक सेवा भी होती है, मानवका समुचित विकास भी होता है, सम्पूर्ण जीवनके सभी अवसर प्राप्त होते हैं तथा मोक्षप्राप्ति भी होती है, जिसे मानवजीवनका चरम लक्ष्य माना जाता है । जिस शिक्षासे हम इतना भी न कर पावें कि अपनी जीवन-यात्रा सफलतापूर्वक निभा सकें और सामाजिक सेवा भी हो सके तो वह शिक्षा, जैसा ऊपर कहा गया है, निरर्थक है । हमारी शिक्षाको स्वतन्त्र भारतके अनुकूल बनानेके लिये उसमें आमूल परिवर्तन करना पड़ेगा । समझमें नहीं आता हमारे देशका शिक्षा-विभाग इतना पिछड़ा क्यों है । फ्रोबेलने शिशु-शिक्षापर विशेष बल दिया । मान्टेसरीका भी मत है कि यदि शिक्षा पाँचसे दस वर्षतक ठीक-ठीक न दी गयी तो बारह वर्षके पश्चात् शिक्षा देना निरर्थक है । तो भी स्वतन्त्र भारतमें राधाकृष्णन्-समितिने विश्वविद्यालयोंकी सुधारयोजना प्रस्तुत की और आजकल माध्यमिक शिक्षा-समिति माध्यमिक शिक्षाके सुधारके लिये अपनी बैठकें कर रही है । जबतक प्रारम्भिक शिक्षामें सुधार न होगा, तबतक इससे ऊपरकी शिक्षा-योजनामें क्या सुधार हो सकता है । यदि हमें स्वतन्त्र भारतमें विश्वको नैतिक या बौद्धिक देन देना है तो हमें प्रारम्भिक और शिशुकालकी शिक्षासे लेकर विश्व-विद्यालयोंतक देशकी परिस्थितिके अनुसार जगत्‌के कल्याणार्थ बालकोंकी रुचि, योग्यता और आवश्यकताके अनुसार उनके अनुकूल तथा सार्वभौम सिद्धान्तोंके अनुसार ऐसी शिक्षा-योजना बनानी है कि आजकलकी सामूहिक शिक्षामें उचित सुधार होकर हमारे 'बालक' देश और मानवताकी अभिवृद्धिमें सक्रिय भाग ले सकें ।

हमारे अध्यापकोंकी दयनीय दशा या दुर्दशा, हमारे बालकोंकी हीनवृत्ति, इनकी विवशता, पाठ्यविषयोंका स्तर, हमारे विद्यालयोंका वातावरण, हमारे ट्रेनिंग कालेजोंका निम्नस्तर, हमारी बालिकाओंका विदेशी ढंगपर शिक्षण, हमारे बालकोंमें राष्ट्रिय संस्कृतिका अभाव, हमारी संस्कृतिका अभिरक्षण और लोक-कल्याणके लिये उसका प्रचार और प्रसार आदि-आदि अनेकों विषय हैं, जिनपर पूर्ण मीमांसा कर सामयिक सुधार करना है । तभी हमारे देशकी सच्ची उन्नति होगी और तभी हमारा देश मानवताकी समृद्धिमें समुचित भाग लेगा । इस समय यदि भारतने—

'परमेश्वरस्य प्रीतये ऋषिदेवपितृसंवर्द्धनाय सर्वभूतमङ्गलाय जगत्कल्याणाय राष्ट्रसंस्कृतिप्रसाराय च संकल्पसिद्धिशुभवासनया ।'

—आदर्श शिक्षाद्वारा अपने बालकोंमें पूरी शक्ति लाकर नैतिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक देनद्वारा विश्वकी, मानवताकी और जड़वादग्रस्त जनताकी सेवा न की तो उसका स्वतन्त्र होना नितान्त निरर्थक है । भगवान् विश्वनाथसे प्रार्थना है कि वे स्वतन्त्र भारतको सच्चे रूपमें प्रबुद्ध कर उसे उस राष्ट्रिय संस्कृतिसे ओतप्रोत कर दें कि जिससे वह अपनी लोकोपकारी शिक्षाद्वारा विश्वका नैतिक नेतृत्व ग्रहण कर 'सभ्यता' और 'मानवता' की रक्षा करनेमें समर्थ हो सके ।

माता-पिताके आज्ञापालनका महत्त्व

मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ ।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जायँ ॥

जो लोग माता, पिता, गुरु और स्वामीकी शिक्षाको स्वाभाविक ही सिर चढ़ाकर उसका पालन करते हैं, उन्होंने ही जन्म लेनेका लाभ पाया है; नहीं तो जगत्‌में जन्म व्यर्थ ही है ।

बालिकाओंकी शिक्षा कैसी हो

(लेखिका—श्रीमती विद्यादेवीजी)

चाहे किसी भी विचारका मनुष्य हो, सम्भवतः इस विषयमें किसीका भी मतभेद नहीं होगा कि शिक्षा मनुष्यमात्रकी अनिवार्य आवश्यकता है; क्योंकि सामान्य-से-सामान्य तथा सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, लौकिक तथा पारलौकिक सभी विषयोंका ज्ञान मनुष्यको शिक्षाके द्वारा ही होता आया है । शिक्षाका तो इतना महत्त्व है कि शिक्षाके द्वारा कबूतर, हाथी, घोड़े आदि पशु-पक्षियोंसे भी अनेक कार्य कराये जाते थे, तब पूर्णावयव मनुष्य जो सर्वशक्तिमान् और सर्वश्रेष्ठ कलाकार परमेश्वरकी सर्वोत्कृष्ट कला है, उसका तो कहना ही क्या है ? उपयुक्त शिक्षा मिलनेसे वह सब कुछ कर सकता है । किस अधिकारीको कैसी शिक्षा देनी चाहिये, यह अवश्य दूसरा विषय है । हमें इस प्रबन्धमें बालिकाओंकी शिक्षा कैसी हो, इसी विषयपर संक्षिप्त विचार करना है ।

कन्याओंकी शिक्षा कैसी होनी चाहिये, इस विषयमें कुछ विचार करनेसे पहले यह निश्चय होना आवश्यक है कि शिक्षाका उद्देश्य तथा उसका लक्षण क्या है, यह निर्णय हो जानेपर आगेका विषय स्वतः स्पष्ट हो सकेगा । श्रीभारत-धर्ममहामण्डलके प्रसिद्ध नेता अद्वितीय विद्वान् तथा वक्ता ब्रह्मीभूत पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी दयानन्दजी महाराजने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'धर्मविज्ञान'में शिक्षाका उद्देश्य तथा लक्षणके विषयमें लिखा है—'शिक्षाको अंग्रेजीमें एजुकेशन (education) कहते हैं; जिसकी उत्पत्ति educe (to bring out) अर्थात् भीतरी शक्तिको बाहर प्रकट करना—इस शब्दसे हुई है । प्रत्येक व्यक्ति या जातिके भीतर जो मौलिक सत्ता विद्यमान है, उसीको पूर्ण परिस्फुट करना ही शिक्षाका लक्षण तथा लक्ष्य है ।'

शिक्षाका यह लक्षण तथा लक्ष्य बहुत ही समीचीन तथा उपयुक्त प्रतीत होता है । वर्तमान समयके शिक्षा-विशेषज्ञोंका भी ध्यान किसी अंशमें इस ओर आकृष्ट हुआ देखा जाता है । उनका कहना है कि बालकोंकी अभिरुचिका अध्ययन करके जैसी जिसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति हो, उसी विषयकी शिक्षा उसको देनी चाहिये, तभी विशेष सफलता होगी । शिक्षाके इस लक्ष्यके अनुसार बालिकाओंके भीतर निहित सत्ताको पूर्ण विकसित कर देना, यही बालिकाओंकी सर्वोत्कृष्ट शिक्षा कही जा सकती है । अब यह देखना है कि बालिकाओंके भीतर कौन-सी शक्ति निहित है, जिसको शिक्षाके द्वारा विकसित किया जा सके । इस विषयमें वेद-शास्त्र एवं लौकिक व्यवहार देखनेसे भी यही सिद्ध होता है कि स्त्रीजाति महाशक्ति जगज्जननी जगदम्बाकी अंशभूता है । यथा देवीभागवत—

सर्वाः प्रकृतिसम्भूता उत्तमाधममध्यमाः ।
योषितामवमानेन प्रकृतेश्च पराभवः ॥
रमणी पूजिता येन पतिपुत्रवती सती ।
प्रकृतिः पूजिता तेन वस्त्रालंकारचन्दनैः ॥
कुमारी चाष्टवर्षा या वस्त्रालंकारचन्दनैः ।
पूजिता येन विप्रेण प्रकृतिस्तेन पूजिता ॥
कुमारी पूजिता कुर्याद् दुःखदारिद्र्यनाशनम् ।
शत्रुक्षयं धनायुष्यं बलवृद्धिं करोति वै ॥

अर्थात् 'उत्तम, मध्यम एवं अधम सभी स्त्रियाँ प्रकृतिसे उत्पन्न हुई हैं । प्रकृतिका ही रूप होनेसे स्त्रियोंकी अवमाननासे प्रकृतिकी अवमानना होती है । पति-पुत्रवती सतीकी पूजासे जगदम्बाकी पूजा होती है । अष्टवर्षा कुमारीकी पूजासे प्रकृतिकी पूजा होती है । कुमारीकी पूजासे गृहस्थकी दुःख-दरिद्रताका नाश, शत्रुनाश तथा धन, आयु एवं बलकी वृद्धि होती है ।' दुर्गासप्तशतीमें भी कहा है—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु ॥

'संसारकी समस्त विद्याएँ तथा समस्त स्त्रियाँ जगन्माताके ही भेद हैं ।'

जगत्की अधीश्वरी प्रकृतिमाताके दो भाव हैं, प्रथम वह विश्वेश्वर परमेश्वरकी सती गृहिणी है और दूसरा वह जड-चेतनात्मक समस्त विश्व-ब्रह्माण्डकी जननी है । आदिमाताके ये दोनों भाव उनकी अंशभूता स्त्री-जातिमें भी ओत-प्रोत हैं । स्त्रीजातिके भीतर ये ही दोनों भाव अर्थात् गृहिणीत्व एवं मातृत्वके भाव जन्मसे ही बीजरूपमें विद्यमान रहते हैं । जगन्मातामें सतीत्वके भावका उज्ज्वल उदाहरण यह है कि अपने पिता दक्षप्रजापतिद्वारा भगवान् शङ्कर-का अपमान होते देख उसको न सहन कर सकनेके कारण उस पिताद्वारा प्राप्त शरीरको ही वहीं योगाग्निसे जला डाला और पुनः गिरिराज हिमालयके

पार्वतीरूपमें दूसरा शरीर धारणकर भगवान् शङ्करको ही वरण किया । इसी प्रकार भगवान् विष्णुकी गृहिणी भगवती लक्ष्मी कभी भी उनसे अलग नहीं होतीं और सदा उनकी चरण-सेवामें ही लगी रहती हैं । जगदम्बाका संसारका सृजन-पालन-संहारकार्य परमपुरुष परमात्माके निरीक्षणमें ही होता है । परमात्मा जब निरीक्षण-कार्यसे विरत हो अपने स्वरूप ब्रह्मरूपमें विराजमान होते हैं, उस समय जगन्माता अपना सब गृहकार्य (सृष्टिकार्य) समेटकर उन्हींमें लीन हो जाती हैं, यही उनका स्वभाव है। यह उनका गृहिणीभाव है । इसी प्रकार समस्त विश्वका प्रसव करना और उसका पालन करना जगन्माताका मातृभाव है । ये ही दोनों 'गृहिणीभाव' तथा 'मातृभाव' स्त्रीजातिमें बाल्यावस्थासे ही उसके अन्तःकरणमें निहित रहते हैं । बालिकाओंकी अबोध अवस्थाकी क्रीड़ा, उनकी प्रवृत्ति एवं स्वाभाविक चेष्टाओंसे भी इन्हीं भावोंकी झलक दिखायी देती है । अतः इन स्वाभाविक अन्तर्निहित शक्तियोंका पूर्ण विकास जिस प्रकारकी शिक्षाके द्वारा हो सके, बालिकाओंके लिये वही उपयुक्त शिक्षा होगी; इसमें सन्देह नहीं ।

आजकी छोटी-छोटी सुकुमारी बालिकाएँ कलकी भविष्यकी माताएँ तथा गृहिणियाँ हैं; ये ही राष्ट्रको बनानेवाली हैं, इन्हींकी कुक्षिसे भगवान् राम-कृष्ण, वशिष्ठ-व्यास, शुक-कपिल, मनु-याज्ञवल्क्य आदि अवतार एवं ऋषि-मुनिगण तथा अन्यान्य शूर-वीर उत्पन्न हुए, लालित, पालित एवं शिक्षित हुए और भविष्यमें भी होंगे । अतः बालकोंकी शिक्षाकी अपेक्षा भी बालिकाओंकी शिक्षाका गुरुत्व तथा महत्त्व सर्वोपरि है, यह किसी भी विवेकशील व्यक्तिको स्वीकार करना ही होगा ।

यद्यपि इधर कुछ वर्षोंसे हमारे देशमें कन्याओंकी शिक्षाके विषयमें विशेष प्रगति देखनेमें आती है । उनके पढ़नेके लिये अनेकों स्कूल-कॉलेज खोले गये हैं । सहस्रों बालिकाएँ उनमें पढ़ने लगी हैं; सैकड़ों कॉलेजोंमें भी पढ़ने लगी हैं; बालिकाओंकी शिक्षाकी ओर लोगोंका ध्यान भी पहलेकी अपेक्षा अधिक आकर्षित देखा जाता है; किंतु प्रश्न यह होता है कि क्या इस प्रचलित शिक्षाद्वारा शिक्षाके उद्देश्यकी पूर्ति हो रही है ? क्या आजकलकी शिक्षित बालिकाएँ भविष्यमें भारतीय संस्कृतिकी पतिप्राणा सती गृहिणी और आदर्श माता बन सकेंगी ? क्या इस शिक्षा-द्वारा उनके भीतर बीजरूपमें विद्यमान मातृभाव एवं गृहिणीभावके विकासमें सहायता हो रही है ? और क्या वे अपने इस महान् उत्तरदायित्वकी रक्षा करनेके उपयोगी बन रही हैं ? शिक्षाका जो परिणाम अबतक सामने आया है, उससे इन प्रश्नोंका उत्तर नकारात्मक और निराशाजनक ही मिलता है ।

वर्तमान समयकी शिक्षाप्रणाली दूषित एवं असम्पूर्ण है, वह न तो बालकोंके लिये उपयोगी है, न बालिकाओंके लिये ही । इस सम्बन्धमें प्रायः सभी शिक्षाविशेषज्ञ सहमत हैं, किंतु इसके समुचित सुधारके लिये कोई कार्य अबतक होता नहीं दिखायी दे रहा है, यह खेदका विषय है ।

हमारे पूज्यपाद महर्षियोंने अपनी समाधिबुद्धिसे सभी विषयोंके मूल तत्त्वोंका पता लगाया था । उनके गवेषणा-पूर्ण विचारमें स्त्रियों एवं पुरुषोंके अधिकार भूमि एवं बीजकी तरह सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं । इसी सिद्धान्तके अनुसार उन्होंने बालिकाओं एवं बालकोंकी शिक्षाप्रणाली भी भिन्न-भिन्न बनायी थी । बालकोंको अध्ययनके लिये गुरुकुल जाना पड़ता था, बालिकाएँ अपने पितृगृहमें ही अध्ययन करती थीं । प्राचीन इतिहास रामायण-महाभारत तथा पुराणोंसे पता चलता है कि उस समय महिलाएँ उच्च श्रेणीकी विदुषी हुआ करती थीं, उनको अपने धर्म, कर्तव्य, संस्कृति, गृहविज्ञान तथा सभी ललित कलाओंका उत्तम ज्ञान होता था और वे देश-कालकी आवश्यकताके अनुसार बड़ी कुशलतासे अपने कर्तव्योंका पालन करती थीं । उनमेंसे कोई-कोई गार्गी, मैत्रेयी-जैसी ब्रह्मवादिनी भी हुआ करती थीं । कोई ऋषिकन्याएँ मन्त्र देखनेवाली ऋषि भी होती थीं । घोषा, विश्ववारा आदि अनेक ऐसी देवियोंके नाम उपनिषदोंमें मिलते हैं । उस समय दो श्रेणीकी स्त्रियाँ मानी जाती थीं; उन्हें सद्योवधू एवं ब्रह्मवादिनी कहते थे । यथा—

द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च, तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहे भिक्षाचर्या ।—महर्षि हारीत

अर्थात् 'दो प्रकारकी स्त्रियाँ होती हैं, ब्रह्मवादिनी और सद्योवधू । इनमें ब्रह्मवादिनी स्त्रियोंके लिये उपनयन, अग्नीन्धन, वेदाध्ययन और अपने गृहमें भिक्षाचर्या विहित है ।' किंतु स्मरण रखने योग्य है कि यह साधारण नियम नहीं,

असाधारण नियम असाधारण अधिकारिणीके लिये विहित था। ये आजीवन अविवाहिता ब्रह्मचारिणी रहती थीं। कलियुगमें प्रायः ऐसी अधिकारिणी नहीं होती। अतः इस युगमें यह वर्जित कर दिया गया है। नियम साधारण अधिकारीके लिये ही होते हैं, जिनकी संख्या करोड़ों होती है। साधारणतः स्त्रियोंमें सतीत्व, गृहिणीत्व एवं मातृत्व आदि देवीभावकी प्रचुरता देखी जाती है; अतः उनमें लज्जाशीलता, कोमलता, करुणा, दया, वात्सल्य आदि मधुर देवीभावकी बहुलता है। जगत्‌में स्त्रियोंका स्वभावसुलभ कार्य देखकर भी यही निश्चित होता है कि गर्भधारण, संतानपालन आदि ईश्वरप्रदत्त कार्य उनके मातृसुलभ कार्य हैं, जो पिताके द्वारा कदापि सम्भव नहीं। अनेक बालक ऐसे होते हैं, जिनके गर्भमें आते ही पिताकी मृत्यु हो जाती है, बालक यथासमय उत्पन्न होता है और माताद्वारा लालित-पालित होता है; किंतु यदि उसी अवस्थामें माताकी मृत्यु हो जाय तो बालक कदापि नहीं बच सकता है। इस प्रकार जितना ही विचार किया जाय, यही सिद्ध होगा कि स्त्रीजातिको जगन्माताकी अंशभूता होनेसे मातृत्व एवं गृहिणीत्व उत्तराधिकारके रूपमें प्राप्त है। अतः वही शिक्षा बालिकाओंके लिये उपयोगी हो सकती है, जिससे वे उत्तम गृहिणी और कुशल माता बन सकें। उनका मन-बुद्धि इतना पवित्र हो कि उनकी कुक्षिसे महापुरुष एवं अवतार भी उत्पन्न हो सकें।

इस समयकी प्रचलित शिक्षाप्रणाली बालिकाओंको विकृतिकी ओर लिये जा रही है। उसके द्वारा उनका शरीर अस्वस्थ एवं उनका मन तथा बुद्धि कलुषित हो रही है, जिससे वे अपने गौरव, अपना अधिकार तथा अपना स्वरूप भूलकर पुरुषोंके साथ स्पर्द्धा एवं आर्थिक स्वतन्त्रताके लिये आन्दोलन कर रही हैं। उनमें मातृत्व, गृहिणीत्वकी कोमल वृत्तियोंका लोप होता जा रहा है। दयाकी जगह क्रूरता तथा निष्ठुरता, प्रेम एवं त्यागकी जगह स्वार्थपरता, सहिष्णुता-की जगह असहिष्णुता, लज्जा एवं शीलताकी जगह दुःशीलता एवं उद्दण्डता आदि अवाञ्छनीय घृणित दुर्गुण बढ़ते दिखायी देते हैं। यह उन बालिकाओंका दोष नहीं, किंतु जैसी शिक्षा उनको स्कूलों-कालेजोंमें दी जा रही है, उसीका अवश्यम्भावी परिणाम है। बालिकाओंकी शिक्षाका यदि यही क्रम चलता रहा तो इस देशका भविष्य घोर अन्धकारमय है, इसमें सन्देह नहीं।

प्रचलित शिक्षाप्रणालीका सर्वोपरि भयङ्कर दोष यह है कि उसमें धर्मशिक्षाको कोई भी स्थान नहीं है। जिस शिक्षामें धर्म एवं ईश्वरका ही स्थान नहीं है, उसके द्वारा वही परिणाम हो सकता है, जो आज बालक-बालिकाओंमें देखनेमें आ रहा है। केवल किसी भाषाका ज्ञान हो जाना, विदेशी इतिहास तथा भूगोलका ज्ञान हो जाना एवं फैशन सीख लेना—शिक्षा नहीं कही जा सकती। शिक्षा तो वह है, जिससे मनुष्य मनुष्य बन सके और स्त्री स्त्री बन सके, जिससे स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मन एवं स्वस्थ बुद्धिका निर्माण हो सके। इनमेंसे किसी आवश्यकताकी पूर्ति प्रचलित शिक्षाशैलीद्वारा नहीं हो रही है। यह तो अपने प्राचीन इतिहासके ज्ञान एवं धर्मशिक्षाद्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नहीं। चाहे कितने ही कालेज एवं युनिवर्सिटियाँ खुला करें और भले ही अरबों रुपया शिक्षापर व्यय किया जाय, शिक्षाका जो यथार्थ लक्ष्य चरित्र-निर्माण है, उसकी पूर्ति सम्भव नहीं। बड़े खेदकी बात यह है कि प्रचलित शिक्षापद्धतिके दोषोंको जानते हुए भी न तो अधिकारियोंका ध्यान इस ओर आकृष्ट हो रहा है और न अभिभावकोंका ही!

प्राचीनकालमें शिक्षा राज्यशासनके अधीन नहीं थी। इसका दोष जानकर ही पूज्यपाद महर्षियोंने शिक्षाको अपने अधीन रक्खा था। गुरुकुलोंमें राजा-रंक सभीके बालक एक साथ विद्याध्ययन करते थे और उनमें तेजस्वी, कर्तव्यनिष्ठ, धर्मनिष्ठ, व्यवहारकुशल, वीर एवं योद्धा निकलते थे। आजकल ठीक उसके विपरीत फल हो रहा है। प्राचीन कालमें बालिकाएँ विद्याध्ययनके लिये घरसे बाहर नहीं भेजी जाती थीं। उनको अपने घरोंमें ही माता-पिता आदि स्वजनोंद्वारा समुचित शिक्षा दी जाती थी। घरमें ही शिक्षा प्राप्तकर वे सभी ललित कलाओंमें दक्ष, परम विदुषी, सुयोग्य, स्नेहमयी माता और पतिप्राणा गृहिणी बनती थीं। पहले स्त्रियाँ कितनी योग्य होती थीं*। इसकी एक झलक भगवान् श्रीरामचन्द्रकी निम्नाङ्कित उक्तिमें मिलती है—

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी
धर्मेषु पत्नी क्षमया धरित्री।
स्नेहेषु माता शयनेषु रम्भा
रङ्गे सखी लक्ष्मण सा प्रिया मे॥

भगवान् राम कहते हैं कि 'हे लक्ष्मण! मेरी प्रिया सीता कार्योंमें मन्त्री, सेवामें दासी, धर्मकार्यमें पत्नी और क्षमामें

* द्रौपदी-सत्यभामा संवाद महाभारतमें देखिये।

पृथिवीके समान है, पुनः स्नेहमें माताके समान, एकान्तमें रम्भा और आमोद-प्रमोदके समय सखीके समान है।' यह भगवती सीताका संक्षिप्त स्वरूप है। ऐसी स्त्री यदि प्रत्येक घरमें हो तो यह भूमि स्वर्ग हो जाय। आजकल लोगोंका सभी विषयोंमें एक तर्क यह होता है कि 'समय बदल गया है, अतः समयके साथ चलना चाहिये, अन्यथा हम पीछे रह जायँगे।' इस समय समय बदल गया है, इसमें तो कोई विवाद नहीं है; परंतु यह भी देखा जा रहा है कि मनुष्योंके जीवन, मृत्यु एवं स्वास्थ्यके जो नियम प्राचीनकालमें थे, उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। मनुष्यको जीवनके लिये अन्न, जल, शुद्ध वायु, सूर्य आदि आपेक्षित हैं; इसके बिना मनुष्य जी नहीं सकता। यह प्राकृतिक नियम जैसे थे, वैसे ही अब भी हैं। स्वास्थ्यके लिये संयमकी आवश्यकता अब भी वैसे ही है। इसी प्रकार विकास एवं अधोगतिके नियम जो प्राचीनकालमें थे, वही अब भी विद्यमान हैं। इस सत्यको छिपाना अपनेको धोखा देना होगा। फलतः यह मानना ही होगा कि मौलिक तत्त्वोंमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, न हो सकता है।

अतः बालिकाएँ आदिशक्ति जगन्माताकी अंशभूता हैं और उनमें शिक्षाद्वारा उन्हीं स्वाभाविक मौलिक गुणोंको पूर्ण प्रस्फुटित कर देना उनके उपयोगी शिक्षा होगी, इसके लिये आवश्यक है कि बालिकाओंकी शिक्षामें धर्मशिक्षाका प्रधान स्थान हो, जिससे बालिकाएँ देवीभावमें भावित हो सकें। साथ-साथ गृहप्रबन्ध, संतानपालन, व्यवहार तथा सभी ललित कलाओंकी शिक्षा उनको मिलनी चाहिये। रामायण, महाभारत आदि इतिहास तथा पुराणोंद्वारा उन्हें अपनी संस्कृति तथा परम्पराका ज्ञान कराना चाहिये। इसके साथ ही उनको देश-कालका ज्ञान, संस्कृति, हिंदी-भाषाका अच्छा ज्ञान तथा अंग्रेजी आदि भाषाका भी साधारण ज्ञान, हिसाब आदिकी शिक्षा भी होना आवश्यक है। इस प्रकार शिक्षित होनेसे बालिकाओंके भीतर निहित देवीभावके प्रस्फुटित होनेमें सहायता होगी और अपने घरोंको वे सुख-शान्ति-आनन्दका निकेतन बना सकेंगी तथा अपनी संतानोंको भी उचित शिक्षा दे सकेंगी। जिस शिक्षाके द्वारा बालिकाएँ नौकरी करनेके उपयोगी केवल डिग्रियाँ प्राप्त कर लें, कुछ अंग्रेजी बोलना-लिखना सीख लें, होटलोंमें खाना, नाचना-गाना सीख लें, सिनेमाओंमें नटी बनना जान लें, प्रत्येक विषयमें पुरुषोंकी समानता करनेका दावा करना सीख लें, भोजन बनाने एवं घरके अन्यान्य कामकाज करनेमें लज्जा तथा हीनताका अनुभव करें, पिता-माता, सास-ससुर, देवता-अतिथि-अभ्यागतकी सेवा-शुश्रूषा करना भूल जायँ, पति-प्रेममें समानताकी भावना बाधक हो जाय; ऐसी शिक्षा बालिकाओंके लिये कुशिक्षा है तथा यह कुल, समाज तथा राष्ट्रके लिये घातक सिद्ध होगी; क्योंकि आजकी बालिकाएँ कलकी माताएँ हैं, ये ही राष्ट्रकी निर्मात्री हैं; जैसी माता होगी वैसी संतान होगी, यह तो सभी लोग मानते हैं। इसी कारण हमारे शास्त्रोंमें माताकी बड़ी महिमा है। भगवान् मनु कहते हैं—

पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते।

अतः बालकोंकी शिक्षाकी अपेक्षा भी बालिकाओंकी शिक्षा एवं रक्षाका विशेष महत्त्व तथा उत्तरदायित्व माता-पिता आदि अभिभावकोंपर है, क्योंकि कुशिक्षाद्वारा विपथगामिनी होकर बालिका अपने मातृकुल, पितृकुल, समाज तथा राष्ट्रका नाश कर सकती है और अच्छी शिक्षा मिलनेसे अपने भीतर निहित जगदम्बाके त्यागपूर्ण आदर्श 'गृहिणीत्व' एवं 'मातृत्व' आदि पवित्र भावोंको विकसितकर अपने घरोंको सुख-शान्ति एवं आनन्दमय अन्नपूर्णाका मन्दिर बना सकती है। जहाँ आकर संसारके अनेक उलझनों, असुविधाओं और समस्याओंसे चिन्तित, निराश एवं परिश्रान्त मनुष्य अपने सब कष्टोंको भूलकर जीवनमें नयी स्फूर्ति, उत्साह, उमंग एवं कर्तव्यकी प्रेरणा पा सकता है, जैसा कि अतीतमें होता आया है।

शास्त्रोंमें श्रीजगदम्बाके दो रूप कहे गये हैं, जिनको 'विद्या' एवं 'अविद्या' कहा गया है।

यथा—

विद्याविद्येति तस्या द्वे रूपे जानीहि पार्थिव।
विद्यया मुच्यते जन्तुर्बद्ध्यतेऽविद्यया पुनः॥

अर्थात् 'विद्या एवं अविद्या जगदम्बाके दो रूप हैं, विद्याके द्वारा जीवकी मुक्ति होती है और अविद्याद्वारा बन्धन प्राप्त होता है।'

अतः समुचित शिक्षाद्वारा यदि बालिकाओंमें विद्याके दिव्य भाव विकसित नहीं होंगे, तो कुशिक्षाद्वारा उनका अविद्याभाव प्रकट होगा। अविद्या शक्ति होनेके कारण अज्ञानमयी होनेसे अनर्थकरी होगी, इसमें संदेह नहीं। वर्तमान समयमें प्रचलित शिक्षाप्रणालीका जो दुष्परिणाम

सामने आ रहा है, उसको देखनेसे यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रचलित शिक्षापद्धति बालिकाओंमें अविद्याभावको बढ़ा रही है। त्याग, तपस्या, आत्म-बलिदान, सेवा-शालीनता आदि विद्याके पवित्र भावोंकी जगह स्वार्थपरता, विलासिता, निरङ्कुशता, निर्लज्जता, दुःशीलताकी वृद्धि हो रही है। आज स्कूल-कालेजोंमें शिक्षा पानेवाली बालिकाओंके जीवनका आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती, लोपामुद्रा, अनसूया, अरुन्धती, सुकला अथवा महारानी पद्मिनी, लक्ष्मीबाई, अहिल्याबाई आदि देवियाँ नहीं हैं। इनके जीवनका लक्ष्य तो केवल एक यही हो रहा है कि आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त-कर प्रत्येक कार्यमें पुरुषोंकी समानता करें। इसी कारण प्रायः शिक्षिता बालिकाएँ विवाह-बन्धनमें न पड़कर कुमारी रहना चाहती हैं, वे स्वेच्छाविहारिणी होना पसंद करती हैं। उनको अन्यकी गुलामी, नौकरी करना रुचिकर है, परंतु अपने पिता-भाई, पति-पुत्र आदि स्वजनोंकी सेवा अभीष्ट नहीं है, गृहकी सम्राज्ञी बनना रुचिकर नहीं है। शिक्षाका यदि यही अर्थ हो तो यह कहना ही पड़ेगा कि ऐसी शिक्षासे अशिक्षिता रहना ही बालिकाओंके लिये श्रेयस्कर है; क्योंकि आज भारतकी इस दीन-हीन दशामें भी निरक्षर सहस्रों महिलाएँ ऐसी होंगी, जो अपने धर्म, देश और कर्तव्यके प्रति पूर्ण उद्बुद्ध हैं, एवं बड़ी योग्यताके साथ अपने कर्तव्यका पालन कर रही हैं। अपने उत्तरदायित्व, सम्मान तथा गौरवका उनको अभिमान है। उन अशिक्षित कहलानेवाली देवियोंमेंसे प्रतिवर्ष दो-चार अपने मृतपतियोंकी चितामें प्रविष्ट होकर भस्म भी हो जाया करती हैं। आज भी भारतका सिर इन्हीं देवियोंके कारण संसारभरमें ऊँचा है; क्योंकि इनकी कहीं तुलना नहीं मिलती है। पुरुषोंके साथ समानता करनेवाली, नौकरी करनेवाली और आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्तकर स्वच्छन्द विचरनेवाली स्त्रियाँ तो सभी देशोंमें भरी पड़ी हैं, किंतु मृतपतिकी धधकती चितापर चढ़कर राख हो जानेवाली देवियाँ इसी देशमें होती हैं। हमें इन्हीं देवियोंका गौरव है।

मुझे देशके अनेक कन्याओंकी शिक्षा-संस्थाओंको देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने पूनाके 'कर्वे यूनिवर्सिटी'का बहुत नाम सुना था, अतः उसे देखने मैं १९२८ में पूना गयी थी, परंतु धर्मशिक्षाका अभाव वहाँ भी दिखायी पड़ा। बालिकाएँ अपनी संस्कृतिकी शिक्षा एवं समुचित धार्मिक शिक्षा प्राप्त करती हुई वर्तमान समयकी उपयोगी शिक्षा भी प्राप्त करें, इसी उद्देश्यमें मैंने १९३२ में श्रीआर्यमहिला-हितकारिणी महापरिषद्द्वारा श्रीआर्यमहिला-महाविद्यालयकी स्थापना की। यह इस समय इंटरमिजियट कालेज है और प्रायः एक सहस्र बालिकाएँ इसमें शिक्षा प्राप्त कर रही हैं और यह भी मानना पड़ेगा कि इस विद्यालयमें अबतक भारतीय संस्कृतिकी झलक दिखायी पड़ती है। यहाँ प्रत्येक कक्षामें धार्मिक शिक्षाकी व्यवस्था भी की गयी है; परंतु मुझे इतनेहीसे संतोष नहीं होता, न हमारा इसे स्थापित करनेका उद्देश्य पूरा हो सका है। इसके तीन प्रधान कारण अनुभव होते हैं, प्रथमतः प्रचलित विषाक्त शिक्षा-पद्धतिका अनिवार्य प्रभाव। द्वितीयतः हमारे ही आदर्शके अनुसार आदर्शवाली अध्यापिकाओंका अभाव और तृतीयतः बालिकाओंके अभिभावकोंकी आदर्शके प्रति उदासीनता। अभिभावकगण यदि सहयोग करें, अपनी-अपनी कन्याओंके शिक्षा-आचार-व्यवहारकी ओर विशेष ध्यान दें, तो बहुत कुछ कार्य हो सकता है, परंतु बहुत ही दुःखके साथ लिखना पड़ता है कि अभिभावकगण भी अपनी कन्याओंके जीवनके आदर्शके प्रति उदासीन दिखायी देते हैं; वे अपनी बालिकाओंको स्कूलों-कॉलेजोंमें भेजकर, उनकी फीस देकर अपने कर्तव्यकी इति-श्री समझ लेते हैं, कन्याओंके जीवन-निर्माणपर ध्यान नहीं देते हैं। कोई-कोई केवल इसलिये मैट्रिक पास कराना चाहते हैं कि आजकल लड़के बिना पढ़ी कन्यासे विवाह नहीं करना चाहते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो यह चाहते हैं कि उनकी पुत्री अर्थोपार्जनके योग्य हो जाय और अपनी आजीविका स्वयं उपार्जन कर सके। वस्तुतः शिक्षाका जो उद्देश्य तथा लक्ष्य है और माता-पिताका जो उत्तरदायित्व कन्याके प्रति है, वह इतनेहीसे पूरा नहीं हो जाता। इन कारणोंसे आर्यमहिला-महाविद्यालयको अपना लक्ष्य प्राप्त करनेमें बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ रहा है। यह संस्था बालिकाओंको सती, सीता, सावित्री, शशिकला, पद्मिनी, लक्ष्मीबाई, संयोगिता आदि महाभागाओंके आदर्शपर प्रस्तुत करनेका प्रयास करती है। यदि बालिकाओंके अभि-भावकगण भी इस दिशामें सचेष्ट हों, अन्य स्थानोंमें भी इसी आदर्शपर शिक्षा देनेवाली संस्थाएँ संस्थापित एवं संचालित हों, तो बहुत कुछ कार्य हो सकता है। पूरी सफलता तो ईश्वराधीन है।

यह निर्विवाद सत्य है कि आज भी भारतके अतीत गौरवको पुनः प्राप्त करनेका सुखद स्वप्न यदि सत्य हो सकता

है तो वह बालिकाओंकी समुचित शिक्षाद्वारा ही हो सकता है । अतः इस विषयपर बड़ी गम्भीरतापूर्वक विचार करनेकी आवश्यकता है । बालिकाओंकी शिक्षाका यदि वर्तमान-क्रम ही चलने दिया गया तो देशका भविष्य घोर निराशापूर्ण है । अतः बालिकाओंके अभिभावकोंसे हमारा नम्र निवेदन है कि वे अपनी कन्याओंको स्कूलों-कॉलेजोंमें भेजकर ही अपने कर्तव्यकी पराकाष्ठा न समझें; किंतु उनके चरित्रनिर्माणकी ओर विशेष ध्यान दें, उनको उत्तम गृहिणी एवं उच्चादर्शकी माता बनानेके लिये घरमें ही शिक्षा दें । बालिकाओंको धर्मशिक्षा घरमें ही दें । रामायण, महाभारत, भागवत आदि पुराणोंद्वारा अपनी संस्कृति एवं धर्मकी शिक्षा घरमें ही उत्तमतासे दी जा सकती है, जिससे बालिकाएँ सती, सीता, सावित्री, शशिकला, मदालसा, सुनीति आदि महाभागा देवियोंको अपना आदर्श बना सकेंगी और उनके चरण-चिह्नोंका अनुसरण करना अपना कर्तव्य समझेंगी । ध्रुव, प्रह्लाद, अभिमन्यु, राणा प्रताप, शिवाजी आदि-जैसे भगवद्भक्त, वीर तथा देशभक्त पुत्रोंकी माता बननेमें गौरवका अनुभव करेंगी । बाल्यावस्थासे ही बालिकाओंके संस्कार अपने माता-पिताद्वारा घरमें इस प्रकारके बनाये जायँगे तो स्कूल-कॉलेजोंकी दूषित शिक्षा तथा वातावरणका इतना अनुचित प्रभाव उनपर नहीं हो सकेगा जितना अभी हो रहा है । इस प्रकार अभिभावकोंके इधर ध्यान देने एवं धार्मिक शिक्षा घरमें देनेसे बहुत कुछ रक्षा होनेकी आशा हो सकती है । इसके साथ-साथ विविध प्रकारके भोजन बनाना, आयके अनुसार व्ययकी व्यवस्था बाँधना, सीना, पिरोना, बेल-बूटे निकालना, स्वास्थ्य-विज्ञान, गृह-विज्ञान, रोगी-परिचर्या, बालविज्ञान, गोपालन तथा गान-वाद्य आदि ललित कलाओं तथा व्यवहारकी समुचित शिक्षा बालिकाओंको मिलनी चाहिये । मेरा यह कदापि अभिप्राय नहीं है, बालिकाएँ कालेजोंमें पढ़ें । बल्कि बालिकाओंकी शिक्षा-जैसे महत्त्वपूर्ण विषयपर देशके उन्नायकों एवं बालिकाओंके अभिभावकोंको विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये और समवेत प्रयत्नद्वारा प्रचलित विषाक्त शिक्षा-प्रणालीमें आमूल परिवर्तनकर बालिकाओंके लिये ऐसी शिक्षाप्रणाली प्रचलित करनी चाहिये, जिसमें कन्याओंके उपयोगी अन्यान्य विषयोंके साथ-साथ धर्मशिक्षाका अनिवार्य तथा प्रमुख स्थान हो, तभी देशका सच्चा कल्याण होगा । आजकल बालक-बालिकाओंकी सहशिक्षाकी भी प्रथा चल पड़ी है, इसमें भी बड़ी भारी हानि हो रही है । अतः सहशिक्षाकी प्रणालीको अविलम्ब बंद करना चाहिये । यह प्रथा इस देशके वातावरणके अनुकूल नहीं है । अतः बालिकाओंका विद्यालय सर्वथा भिन्न होना चाहिये, जिसमें केवल बालिकाएँ शिक्षा प्राप्त करें ।

निष्कर्ष यह है कि जैसे किसी वृक्षके मूलको सींचनेसे उसकी शाखा-प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल सभी पुष्ट होते हैं, उसी प्रकार बालिकाएँ भावी माताएँ होनेके कारण इनकी समुचित शिक्षापर ही राष्ट्रकी सर्वविध उन्नति अवलम्बित है ।

सर्वश्रेष्ठ कौन है ?

गाली सुनकर भी, जो मनमें जरा नहीं दुख पाता है ।
क्रोध दिलानेपर भी, जिसको क्रोध नहीं कुछ आता है ॥
कड़वे वचन कदापि न कहता मर्मबेध करनेवाले ।
वचन सत्य हित मधुर बोलता अमरित बरसानेवाले ॥
पर-दुखसे हो दुखी, सदा जो पर-सेवा करता रहता ।
दुःख उठाकर स्वयं, दूसरेके दुख नित हरता रहता ॥
कपट-दंभ-अभिमान छोड़, जो सबका करता है सम्मान ।
हरिका हो, जो भजता हरिको, परम धर्म जीवनका मान ॥
अपने शुभ आचरणोंसे जो हरता है पर-दुख-अज्ञान ।
जगमें सबसे श्रेष्ठ वही है, वही जगत्‌में सदा महान ॥

ग्रामीण बालिकाओंकी शिक्षाका स्वरूप कैसा हो ?

(लेखिका—श्रीमती सुधा शुक्ला)

गाँवोंमें स्त्री-शिक्षाका प्रसार बहुत ही कम है। अब भी अधिकांश स्त्रियों और बालिकाओंके लिये काला अक्षर भैंस बराबर है। गाँवोंमें कन्यापाठशालाएँ नाममात्रको हैं, जहाँ कहीं हैं, उनकी दशा शोचनीय है। साथ ही, जो शिक्षा-पद्धति चल रही है, वह बिल्कुल व्यर्थ सिद्ध हो रही है। वह उनके जीवन-निर्माणमें कुछ भी सहायता नहीं देती। वास्तविक लाभ जो होना चाहिये वह तो होता ही नहीं, वरं शक्ति, समय और सम्पत्तिका अपव्यय होता है। पाठशालामें जीवनकी कुछ भी तैयारी नहीं हो पाती ! शिक्षा समाप्त करनेके उपरान्त जीवन वैसा ही अन्धकारमय रहता है, प्रकाशकी किरणें कहीं दीख नहीं पड़तीं। यही कारण है कि इस प्रकारकी शिक्षासे जीवनका सुधार नहीं हो पाता। जीवनभर कंकरीले-पथरीले मार्गसे गुजरना पड़ता है।

ग्रामीण बालिकाओंकी शिक्षाकी योजना बनाते समय इस बातका ध्यान रक्खा जाय कि गाँवकी अधिकांश लड़कियाँ कालेज या युनिवर्सिटीमें पढ़ने नहीं जायँगी। उनकी शिक्षाका आरम्भ और अन्त वहीं होता है। यही नहीं, वरं उन्हें शीघ्र ही गृहस्थजीवनमें प्रवेश करना पड़ता है। अतः केवल किताबी शिक्षासे कार्य न बनेगा। उन्हें आदर्श माता तथा आदर्श गृहिणी बननेके लिये तथा सफल पारिवारिक जीवन बितानेके लिये वैज्ञानिक शिक्षा दी जानी चाहिये। केवल किताबी शिक्षा लड़कियोंको जीवन-निर्माण करनेमें सहायता नहीं कर सकती। उनकी शिक्षाको क्रियात्मक रूप देना ही आवश्यक होगा। ग्रामीण स्कूल और ग्रामीण जीवन पास-पास होने चाहिये। उसमें एक समन्वय रहना चाहिये। 'शिक्षामें कुछ अंश सफल आदर्श 'मातृत्व' और 'गृहिणीत्व' लानेके लिये अवश्य रक्खा जाय।'

गाँवकी लड़कियोंके लिये वास्तवमें ऐसी ही शिक्षा चाहिये, जो उनके काम-काजमें सहायक हो। हाथकी कारीगरी भी परम आवश्यक है। गाँवकी जनता अधिकतर खेती करती है। अतः कृषिकार्यमें भाग लेनेकी क्रियात्मक शिक्षा भी आवश्यक है। लड़कियोंका कार्य करनेका ऐसा स्वभाव बनाया जाय, जिससे वे सभी घरेलू कार्य बिना किसी कठिनाई तथा संकोचसे कर सकें। उस कार्यको करना अपने लिये महत्त्वपूर्ण समझनेकी प्रवृत्ति बनायें। साथ ही उनको सच्ची समाजसेविका बनानेका पूर्ण प्रयत्न किया जाय। यह कदापि नहीं होना चाहिये कि शिक्षिता होनेपर वे उपन्यास पढ़ने तथा लेख लिखनेके कामके सिवा घरके आवश्यक कामोंको नीचा समझकर उनसे घृणा करने लगें।

लड़कियोंकी शिक्षाका ध्येय ग्रामीण आवश्यकताओंके अनुसार होना चाहिये। उनके लिये वही शिक्षा उपयोगी होगी, जिससे वह सफल गृहिणी तथा ग्रामीण समाजकी उपयोगी सदस्या बन सकें। देहातोंमें घरोंकी दशा बड़ी शोचनीय रहती है। जीवन पशुवत् रहता है। सुखमय और उन्नतिशील जीवन उनके लिये स्वप्नमें भी अप्राप्य है। अतः इस बातकी बड़ी आवश्यकता है कि लड़कियोंको सिखाया जाय कि वे किस प्रकार अपने घर तथा गाँवको आदर्श बना सकेंगी तथा ग्रामीण समाजकी बुराइयोंको निकालकर वे किस प्रकार उन्नतिशील समाजका निर्माण कर सकेंगी। उनको यह भी बताया जाय कि किस प्रकार वर्तमान घरोंको, जो कलहके कारखाने बने हैं, शान्तिनिकेतन बनाया जाय। उनकी शिक्षामें स्वास्थ्य-विज्ञान, गृह-प्रबन्ध, गृह-शिल्पकला, पाक-कला, शिशु-पालन, सूईका कार्य, साधारण सङ्गीत तथा बागवानी आदिकी समुचित व्यवस्था की जाय। भाँति-भाँतिके खेल भी सिखलाये जायँ। ग्रामीण जीवनमें कृषि तथा पशु-पालनका प्रमुख स्थान है। कृषिका सम्बन्ध सभीसे होता है। पशु-पालनका रिवाज तो आवश्यक-सा है। अतः कृषिसम्बन्धी साधारण जानकारी अवश्य होनी चाहिये तथा पशु-पालनकी वैज्ञानिक शिक्षा दी जानी चाहिये। पशुओंकी देख-रेख अधिकतर स्त्रियोंपर ही रहती है। यदि वे इस कलाको भलीभाँति सीख लें तो गाँवोंमें पशु-पालनकी व्यवस्था ठीक हो जाय। इस प्रकारकी शिक्षासे आर्थिक दशा भी सुधर सकती है। इसके अतिरिक्त जो कुछ उनको पढ़ाया जाय वह क्रियात्मक ढंगसे पढ़ाया जाय। जैसे घरेलू हिसाबके लिये क्रय-विक्रयद्वारा उनको अभ्यास कराया जाय। प्रायः सभी विषयोंकी प्रायोगिक शिक्षा दी जाय। इसके साथ ही आत्मनिर्भरता, सहयोगिता तथा उपयोगी क्रियाशीलता सिखायी जाय।

आदर्श शिक्षा-योजनाके अतिरिक्त यह भी परम

आवश्यक है कि कन्या-पाठशालाएँ ग्रामसुधारके लिये उपयोगी सिद्ध हों । ग्राम-सुधार-योजनामें पाठशालाओंसे अधिक सहायता ली जा सकती है । इन्हींमें समाजका केन्द्र स्थापित हो सकता है। पाठशालाओंके द्वारा स्वस्थ विचारोंका प्रचार करके ग्रामीण जीवन उन्नतिशील बनाया जा सकता है। इस कार्यको सफल बनानेके लिये अभिभावकों और शिक्षकोंकी बैठक होनी चाहिये । सामाजिक सम्मेलन तथा उत्सवोंके द्वारा भी यह कार्य भली प्रकार हो सकता है। मेला तथा प्रदर्शनीद्वारा भी ग्राम-सुधारका कार्य पाठशालाओंकी सहायतासे हो सकता है। ग्राम्य जीवनको उन्नतिशील बनानेके लिये अध्यापिकाओंको पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। ग्रामसुधार-योजनाको सफल बनानेके लिये पुस्तकालयका होना भी परम आवश्यक है । पाठशालाके पुस्तकालयमें ऐसी पुस्तकें तथा पत्रिकाएँ हों जो ग्रामीण समाजको आगे बढ़ानेमें सहायक बन सकें, उनके चरित्रको ऊँचा उठा सकें तथा नैतिकताकी भावना भर सकें।

अध्यापिकाको ग्रामीण नारी-समाजका नेत्री होना चाहिये। पाठशालाओंमें ऐसी अध्यापिकाएँ हों जिनके जीवनका उद्देश्य ही समाज-सेवा हो। ग्रामोंके सभी उचित कार्योंको सफल बनानेकी शक्ति उनमें होनी चाहिये । वे गाँवका ऐसा वातावरण बनायें जिसमें स्त्रियोंको आगे बढ़नेका अवसर मिले। समाजमें स्त्री-शिक्षाका सम्मान हो ।

प्रायः गाँवोंमें लड़कियोंको पढ़ाना अनुचित समझते हैं। उन्हें डर रहता है कि लड़कियाँ पढ़कर चरित्रहीन हो जायँगी। यह भय सर्वथा निर्मूल तो नहीं है, परंतु इस प्रकारकी भावनाको निकालकर प्रगतिशील भावना भरनेका कार्य अध्यापिकाओंका होना चाहिये । अपने कार्यद्वारा लोगोंके दिलोंमें यह बात बिठा दें कि बिना शिक्षाके जीवन पशुओंके-ऐसा रहता है और शिक्षा लड़कियोंको भी देनी चाहिये। इस प्रकारकी भावना जब जन-साधारणकी होगी तभी ग्रामीण नारी-शिक्षाकी योजना सफल हो सकेगी। लड़कियोंको आगे बढ़ानेमें अध्यापिकाओंको संरक्षकोंकी सहायता लेकर पूर्ण प्रयत्न करते रहना चाहिये; पर इतना अवश्य ध्यानमें रक्खा जाय कि लड़कियाँ कहीं ग्रामीण जीवनसे दूर न भटक जायँ।

लड़कियोंकी शिक्षाके साथ प्रौढ़ स्त्रियोंकी शिक्षाकी ओर भी ध्यान होना आवश्यक है। पूर्ण शिक्षाका प्रसार तभी हो सकता है जब घरकी चहारदीवारीके अंदर रहनेवाली भोली-भाली निरक्षर स्त्रियोंकी शिक्षाका भी समुचित प्रबन्ध किया जाये। यह कार्य भी पाठशालाकी अध्यापिकाओंद्वारा बन सकता है। वे अपना समय निकालकर प्रौढ़ स्त्रियोंकी शिक्षाका प्रबन्ध करें। इन्हें लिखने-पढ़नेके अतिरिक्त सिलाई, कढ़ाई, पाक-कला, शिशु-पालन आदि सिखाया जाय । स्वास्थ्य-सम्बन्धी जानकारी बढ़ायी जाय। इनके अन्धविश्वासोंको दूर किया जाय। गाँवोंमें विशेषकर स्त्रियोंमें अन्धविश्वास अधिक है। इससे हानि भी होती और उन्नतिका मार्ग भी रुक जाता है। अतः नवीन, स्वस्थ तथा वैज्ञानिक विचारोंको उत्पन्न करना परम आवश्यक है। घरको भलीभाँति चलानेका ढंग भी सिखाया जाय।

परंतु यह सब कार्य केवल विज्ञापनबाजीसे नहीं हो सकता। इसके लिये अधिक धन और समय लगाना पड़ेगा। इसमें सरकार तथा जनता दोनोंका सहयोग होना चाहिये। गाँवोंकी आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय रहती है। अतः सरकारको इसके लिये अधिक धन देना चाहिये । इस योजनाके लिये योग्य और अनुभवी अध्यापिकाओंकी बड़ी आवश्यकता है। ग्रामीण पाठशालाओंके लिये प्रायः अनुभवी अध्यापिकाओंका अभाव रहता है। गाँवोंमें रहने-सहनेकी सुविधा अच्छी नहीं होती, वेतन भी कम मिलता है। इसीलिये अध्यापिकाएँ ग्रामीण पाठशालाओंमें जाना पसंद नहीं करतीं। यदि किसी प्रकार जाती भी हैं तो दिन काटा करती हैं। शहरकी अध्यापिकाएँ न तो गाँवोंकी समस्याएँ ही समझ पाती और न वहाँके अनुसार अपने जीवनको ही बना पाती हैं। परिणाम यह होता है कि सारा कार्य फीका पड़ जाता है। इन सब कठिनाइयोंको दूर करनेके लिये यह आवश्यक है कि ग्रामीण पाठशालाओंके लिये ग्रामीण अध्यापिकाएँ ही रक्खी जायँ। वे ही वहाँके जीवनमें अपना जीवन मिला सकती हैं।

ग्रामीण पाठशालाओंकी अध्यापिकाको गाँवकी नैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक दशाका सच्चा ज्ञान होना चाहिये। उनमें वह शक्ति होनी चाहिये जिससे वे वहाँकी समस्याओंका सामना कर सकें तथा उनमें उचित परिवर्तन और सुधार भी कर सकें। उनमें ग्रामीण विज्ञान तथा नागरिक शास्त्रकी जानकारी होनी चाहिये। वे सारे समाजको लेकर आगे बढ़नेमें समर्थ हों। उनमें विश्वास और प्रेमका प्रसार करनेकी सच्ची लगन होनी चाहिये। अध्यापिकाओंका व्यक्तित्व भी ऐसा होना चाहिये जो स्त्री-समाजके सम्मानकी रक्षा कर सके। वे आदर्शवादी हों। उनमें सेवा करनेकी शक्ति हो। सारांश यह कि वे आदर्श और सफल अध्यापिकाएँ हों।

इन सब बातोंके लिये ट्रेनिंग स्कूलोंकी बड़ी आवश्यकता है। कई गाँवोंके बीचमें एक ट्रेनिंग स्कूल होना चाहिये। वहाँपर अध्यापिकाओंको भलीभाँति प्रत्येक बात सिखायी जाय तथा अनुभव करनेका अवसर दिया जाय। नागरिक जीवनसे भी उनका परिचय कराया जाय। युगकी आवश्यकताओंकी ओर उनका ध्यान होना चाहिये। अध्यापिकाओंको सब प्रकारकी सुविधा दी जाय तथा उनका वेतन भी काफी होना चाहिये। जनता तथा सरकारकी ओरसे उनका सम्मान होना चाहिये।

इन सब बातोंके अतिरिक्त मुख्य बात यह है, लड़कियोंकी शिक्षाका आधार 'धर्म' होना चाहिये। धार्मिक शिक्षा देना परम आवश्यक है। नारी-समाजमें अधार्मिकता आनेसे देशका बड़ा ही अहित होगा। अतः उन्हें रामायण तथा गीताका सच्चा ज्ञान कराया जाय। महाभारतकी चुनी हुई आख्यायिकाएँ पढ़ायी जायँ। हमारे देशमें ग्राम्य जीवन स्वर्गीय जीवन तभी होगा जब वहाँकी बालिकाएँ सती सीता तथा सावित्री बननेका प्रयत्न करेंगी। इसके लिये धार्मिक शिक्षा ही एकमात्र उपाय है।

यदि इस प्रकार शिक्षाका ढंग बनाया जाय तो नारी-समाजका ही कल्याण नहीं वरं पुरुषोंका भी बहुत बड़ा कल्याण हो सकता है; क्योंकि नारी ही पुरुषकी जननी है। अन्तमें हम भगवान्‌से विनय करती हैं कि वह दिन शीघ्र आये जब देशकी प्रत्येक बालिका सीता, सती तथा सावित्री बने।

माता-पिताके आचरणोंका बाल-जीवनपर प्रभाव

(लेखक—श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश' साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार)

यदि मैं यह कहूँ कि माता-पिताके आचरणोंका बालकोंपर जितना प्रभाव पड़ता है उतना अन्य किसीका नहीं तो कोई भी अतिशयोक्ति नहीं होगी और सच बात तो यह है कि अपने बच्चोंको सुधारने-बिगाड़नेमें जितना हाथ अभिभावकोंका रहता है उतना अन्य किसीका नहीं। यह दावेके साथ कहा जा सकता है कि माता-पिताके सत्-आचरणों और सद्गुणोंके प्रभावसे ही संतान आदर्श गुणवान् बनती है। शुरूसे ही उनमें जिन संस्कारोंकी नींव डाली जायगी, आगे चलकर वे उन्हीं संस्कारोंके तद्रूप बनेंगे—यह ध्रुव सत्य है। बालकगण शुरूसे ही जैसा आचरण अपने माता-पिताको करते देखते हैं वैसा ही वे भी करने लगते हैं—जैसी भावना उनमें देखते हैं, वैसी ही अपनेमें बना लेते हैं—यहाँतक कि यदि बालकोंसे कुछ भी न बताया जाय तो भी वे अपने अभिभावकोंका अनुकरण बराबर करते रहते हैं।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि बालकोंके मस्तिष्क और भावनाएँ बहुत ही कोमल होती हैं। उनकी बुद्धि तो परिपक्व होती ही नहीं—ज्ञानकी परिधि बहुत ही सीमित होती है। अतः उनके मस्तिष्कमें उनके घरवालों आदिका बहुत जल्दी असर पड़ जाता है। चाहे वह कितना ही बुरा क्यों न हो, अथवा वे उसे ठीक-ठीक न सोच पाते हों, पर फिर भी देखा-देखी असर तो उनमें उसी तरहका पड़ ही जायगा। यह तो सिर्फ कहनेकी बात है कि बालक कुछ समझते ही नहीं। मैं तो यह कहूँगा कि जितनी जल्दी वे नकल उतारकर उसी आचरणको करनेका प्रयत्न करते हैं—चाहे वे अज्ञानतासे ही करें—उतना और कोई नहीं कर सकता और बचपनमें यही देखा-देखी नकल और माता-पिताके आचरणोंसे बालकोंके मस्तिष्कपर जो प्रभाव पड़ता है, वह प्रायः जीवनपर्यन्त नहीं जाता।

यों तो संसारकी जितनी भी विभूतियाँ हुई हैं अथवा होती हैं, सब प्रायः स्वयं अपने ही सिद्धान्तों और अपनी ही लगनसे महान् होती हैं, पर फिर भी उनमें प्रेरणा उनकी माता-पिताकी दी हुई होती है। बचपनसे ही उनके माता-पिता उनमें अच्छे संस्कारोंकी नींव डालते हैं, उनमें अच्छी भावनाकी वृद्धि करते हैं, उनके सामने अपना आदर्श उदाहरण रखते हैं ताकि वे भी वैसे ही चरित्रवान् बनें; उन्हें अपनी संस्कृति तथा आचरणका ऐसा आकर्षक प्रभाव दिखाते हैं कि बालकगण भी उसे अपना लेनेमें अपना गौरव समझते हैं। इतिहास इस बातका साक्षी है कि अपने माता-पिताके आचरणोंसे प्रभावित और उनसे प्रेरणा मिलनेपर ये ही बालकगण अपने देश, समाज और राष्ट्रका सिर ऊँचा करते हैं। भरत—जिसके

नामपर हमारे देशका नाम 'भारतवर्ष' पड़ा है, वीराङ्गना माता शकुन्तलाके कारण वीर बन सका। बादमें प्रतापी सम्राट् हुआ और भारतके नामको उज्ज्वल किया। हिंदू-रक्षक वीर शिवाजीको शिवाजी बनानेमें उनकी माता जीयाबाईका पूरा-पूरा हाथ था। ध्रुवजी अपनी माताके आचरण और प्रेरणासे ही इतना उठे। वीर बभ्रुवाहन, सिकन्दर आदि सभीके जीवनमें उनके माता-पिताके आदर्श आचरणोंका वह जबर्दस्त प्रभाव पड़ा, जिसने उन्हें भी गौरवान्वित कर देशकी विभूतियोंमें स्थान दिया। इसके अतिरिक्त इतिहासके पन्ने भरे हैं जो कि इसके साक्षी हैं कि मा-बापके आदर्श आचरण ही बालकोंका उत्थान कर सकते हैं।

पर बड़े खेदकी बात है कि पहलेके लोग जितना अपने आचरणका ध्यान रखते थे, उतना आजके लोग नहीं रखते और इससे हमारी संतान भी अवनतिके गड्ढेमें गिरी जा रही है। जब हम स्वयं चरित्रवान् नहीं हैं तो संतान क्यों अच्छे आचरणकी होगी। हमें यह स्वप्नमें भी नहीं ख्याल करना चाहिये कि हम अपना चरित्र भ्रष्टकर अपनी संतानको सुधार लेंगे। उनमें तो हमारी ही छाप रहेगी और संस्कृतमें एक कहावत भी है कि 'आत्मा वै जायते पुत्रः।' अन्य दूषित वातावरणके बावजूद भी माता-पिता इस दोषसे वञ्चित नहीं। प्राचीन युगमें बालकोंको आचरण, शिष्टाचार आदिकी बराबर शिक्षा अपने माता-पिता, गुरुजनों आदिसे मिलती थी, जिससे कि वे आरम्भसे ही चरित्रवान् बनते थे;पर इस वर्तमान युगने तो धीरे-धीरे शिष्टाचार-सदाचारको तो समाप्त ही कर दिया है और यदि मैं यह कहूँ कि इस वातावरणमें शील और चरित्र नामक कोई वस्तु ही नहीं रह गयी है तो शायद कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। जमानेकी हवाने शायद सब-कुछ भुला दिया है। पहले जहाँ सूर्योदयके पूर्व लोग उठकर तुरंत दैनिक कार्योंसे निपटकर पूजा-पाठ, जप-ध्यान करते थे, प्रार्थनाएँ करते थे, देव-दर्शन लाभ करते थे, सुबह-शाम गायत्री जपते थे, अन्य धार्मिक कृत्योंका आयोजन करते थे—वहीं अब लोग सूर्योदयके काफी देर बाद उठते हैं, पूजा-पाठ और देवदर्शनकी जगह रेडियो, ग्रामोफोनके बढ़िया अश्लील गाने सुनते हैं, धार्मिक ग्रन्थोंके बजाय चटपटे और काम-क्रीडाको प्रोत्साहन देनेवाले पत्र और उपन्यासादि पढ़ते हैं तथा अन्य रंगरेलियोंमें अपना जीवन व्यतीत करते हैं। शामको क्लब, होटल, थियेटर, सिनेमा आदिका आनन्द उठाते हैं। मनुष्य-आचरणको गिरानेवाले ये विलासिता-के साधन आजके सभ्य और आधुनिक मनुष्यकी सोसाइटीके प्रमुख अङ्ग माने जाते हैं, आजके इन हमारे आचरणोंका हमारी संतानोंपर कितना गहरा प्रभाव पड़ता जा रहा है यह किसीसे छिपा नहीं है।

आजका जो बालक है, कलका वही पिता होता है तथा उस नवीन पितामें अपने बापके अधिकांश आचरणोंका समावेश रहता है। यदि कोई पिता जुआरी, शराबी, कबाबी, गुंडा, वेश्यागामी आदि है और उसकी यह हरकत उसकी संतान किसी रूपमें जानती है अथवा छिपकर देखती है तो वह भी उसका अनुकरण धीरे-धीरे करने लगती है। तथा फिर वह वैसी ही बन जाती है। कहीं-कहीं इसका अपवाद भी हो सकता है कि माता-पिताकी तरह उनकी संतान न हो, पिताके विपरीत गुण संतानमें हों, पर अधिकांशरूपमें तो संतानमें उनके माता-पिताके गुणोंकी ही मात्रा अधिक रहती है। यही नहीं, माता-पिताकी बीमारियोंके कीटाणु अपने-आप जन्मजातसे उनकी संतानोंमें आकर उनमें भी उसी रोगकी उत्पत्ति प्रारम्भ कर देते हैं। वैज्ञानिक खोजने इस बातको अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है। यह तो हुई रोगोंके कीटाणुओंकी बात, पर अब वैज्ञानिक खोजोंसे यह भी निर्विवाद सिद्ध हो गया है कि जैसे अधिकांशतया ये राजयरोग भी पुश्तैनी रोग हैं और प्रायः इन रोगोंके कीटाणु जन्मजातसे ही होते हैं—उसी प्रकार जैसी हमारी भावनाएँ, संस्कृति और आचरण होता है—वैसे ही संस्कार गर्भावस्थामें ही हमारी संतानोंके पड़ जाते हैं। हमारा भारतीय कामशास्त्र तथा पाश्चात्त्य कामशास्त्र दोनों इस बात-की पुष्टि करते हैं कि शिशुकी गर्भावस्थामें उनके माता-पिता-की जैसी भावना होगी, जैसे विचार होंगे तथा होनेवाली संतान-के प्रति जैसी भावना होगी तथा बच्चेकी गर्भावस्थातक माता-पितामें जैसे अच्छे-बुरे संस्कार जाग्रत् होंगे तथा उस समयतक मा-बाप जैसे अच्छे-बुरे आचरणसे रहेंगे, वे ही सब लक्षण तथा संस्कार, भाव उन नवजात शिशुओंमें पाये जायँगे। महाभारतकी कथाको पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार अर्जुनके पुत्र अभिमन्युने गर्भावस्थामें ही अपने पिताद्वारा कही हुई चक्रव्यूहको तोड़नेकी सारी कला सीख ली थी। यही नहीं, आजकी खोजने तो यहाँतक सिद्ध कर दिया है कि जुआरी,

शराबी, कबाबी, वेश्यागामी, दुष्ट, दुश्चरित्र, लंपट आदि व्यक्तियों-की संतानमें भी इन दुर्गुणोंके कीटाणु अपने-आप पहुँच जाते हैं। जो लोग गाँजा, भाँग, अफीम आदिका नियमित सेवन करते हैं, उनकी संतान भी कम-से-कम सुननेवाली, आलसी, जाहिल और इन मादक वस्तुओंके सेवनसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंकी शिकार होती हैं—चाहे उनके माता-पितामें वे रोग किसी भी वजहसे न भी उभड़ सके हों—पर संतानोंमें अवश्य उभड़ जाते हैं।

बच्चा जबतक अबोध है, अपने पिता आदिकी नकल करता ही है। जब वह अपने पिताको सिगरेट पीते हुए देखता है, तब उसकी इच्छा भी वही काम करनेकी होती है। लेकिन चूँकि बुद्धि परिपक्व नहीं होती और सामने ऐब करने-में झिझक और पकड़े जानेका भय रहता है, इससे वह लुक-छिपकर सिगरेट आदि इधर-उधरसे लाकर अथवा चुराकर छिपे-छिपे पीता है। यहाँतक कि कई बार ऐसा भी अनुभव किया गया है कि अगर बीड़ी-सिगरेट मिलनेमें कोई अड़चन हो तो बच्चे कागजको सिगरेटकी तरह लपेटकर उसकी सिगरेटकी-सी शकल बनाकर उसका धुँआ उड़ाते हैं, उन्हें तो धुँआ उड़ानेसे काम। अथवा कभी-कभी सींक आदि जलाकर उसका धुँआ मुखसे उड़ाते हैं। यह देखा-देखीका फल है। इसी प्रकार बालक अपने पिता आदिको शराब पीते हुए देखता है तो उसकी भी उत्कण्ठा अपने स्वभावके अनुसार उसे पीने-को होती है और न मिलनेपर वह उसी तरहका कोई पेय पदार्थ अथवा शरबत बनाकर उसी ढंगसे अदा और मस्तीके साथ पीता रहता है। धीरे-धीरे उसकी भावनामें शराबके संस्कार इतने प्रबल हो जाते हैं एवं अपना इतना प्रभाव उस बालककी छोटी उम्रमें कर लेते हैं, जिसके फलस्वरूप बड़े होनेपर उसे वह वस्तु अपनानी ही पड़ती है। अपने माता-पिता आदिकी देखा-देखी कितने ही बालक जुआरी, शराबी, चोर, डाकू आदि बन जाते हैं। गुणोंका समावेश तो धीरे-धीरे होता है, पर अवगुण झटसे आ जाते हैं; क्योंकि बुरी आदतोंसे एक बार तो क्षणिक आनन्द मिल ही जाता है। इसी प्रकार अच्छे आचरणका उनपर अच्छा असर पड़ता है। बालकगण अपने बचपनमें ठीक एक पौदेके समान है, जिसे छोटे रहनेपर चाहे जिधर झुका दिया जा सकता है, पर बड़े होनेपर वह किसी तरह नहीं झुकाया जा सकता। उपर्युक्त कथन बिल्कुल सही और ध्रुव सत्य है। इसमें जरा भी शङ्काकी गुंजायश नहीं। यदि माता-पिताकी विचारधारा-में बच्चेके बारेमें कुछ अन्तर हो तो उसे बच्चेके सामने निपटाना या झगड़ा-लड़ाई करना अच्छा नहीं, बल्कि जब बच्चा बाहर हो या वहाँसे दूर हो तो फैसला कर लेना चाहिये। एक बार एक मनोवैज्ञानिकने पाँच सालके बालकको देखा, वह घुटने नीचे करके झुककर दीवालमें लगे हुए शीशेके अंदर देखकर अपने बाल सँवार रहा था। शीशा तो ऊँचा लगा हुआ था परंतु फिर भी बालक झुककर घुटने नीचे किये जा रहा था और स्वयं भी नीचे आ रहा था। पूछ-ताछसे मनोवैज्ञानिकको पता चला कि उस बालकका पिता जरा कदमें लंबा था और दीवालमें लगा हुआ शीशा उससे कुछ नीचा था। इसलिये उसे झुककर हर रोज बाल सँवारने पड़ते थे। बच्चा यद्यपि कदमें छोटा ही था, फिर भी पिताकी नकल करने लगा और झुककर उसी तरह दीवालकी ओर देखने लगा।

एक नवदम्पति अपने वृद्ध पिताको बहुत कष्ट दिया करते थे। नवयुवकका पिता शरीरसे जर्जर होनेके कारण एक कोठरीमें हमेशा जमीनपर पड़ा रहता था। भूमिपर बराबर पड़े रहनेके कारण अक्सर उसे दर्दकी शिकायत हो जाती थी। उसने अपने पुत्रसे एक खाटके लिये माँग की। दम्पतिने एक बहुत पुरानी घुनी जीर्ण खटिया उसे दी। वह बेचारा किस्मतको कोसता उसीपर पड़ा रहता। एक दिनकी बात है कि वे दम्पति कहीं बाहर गये हुए थे। लौटकर घर आये तो क्या देखते हैं कि उनका छः वर्षका पुत्र एक वैसी ही छोटी खिलौनेरूपी खटिया नारियलके झाड़के सींकोंकी जोड़कर बना चुका है। जब उससे पूछा गया, तब उसने बताया कि 'पिताजी! जब आप मेरे बाबाके उम्रके हो जायँगे और आपमें कुछ ताकत नहीं रह जायगी, तब मैं भी आपकी तरह बढ़िया पलंगपर स्वयं लेटूँगा और आपको लेटनेके लिये यही खाट दूँगा। यही नहीं, मैं ठाटके साथ चौकेमें बैठकर खाना खाया करूँगा और आपको चौकेका बचा-खुचा बासी भोजन आदि दिया करूँगा—जैसा कि आप मेरे बाबाको आजकल दे रहे हैं।' यह बात दम्पतिको तीरकी तरह लगी। उन्होंने बालकसे कहा 'ठीक कहते हो, एक दिन हम भी बूढ़े होंगे।' तत्पश्चात् दोनों प्राणियोंने वृद्धके चरणोंपर गिर-कर माफी माँगी और जीवनपर्यन्त उन्हें कोई तकलीफ न होने दी।

इसका यह मतलब नहीं कि बच्चे केवल बड़ोंकी शारीरिक क्रियाओंकी ही नकल करते हैं, बल्कि उनके भाषण,

विचार और आचारकी भी। इसलिये हमें बच्चेके सामने हर बातमें अधिक सावधान रहना चाहिये। बच्चोंके सुधारनेका प्रधान उपाय है—स्वयं सुधर जाना।

अतएव आज सबसे बड़ी आवश्यकता इस बातकी है कि यदि हमें अपनी संतानको आदर्श और सदाचारी बनाना है तो हमारे लिये यह परमावश्यक है कि हम अपना चरित्र इतना दृढ़, खरा और शुद्ध बना लें कि उसका असर हमारे बालकोंपर जब पड़े, तब अच्छा ही पड़े। यदि वे उसका अपनी आदतके कारण अनुकरण भी करें तो उनका कोई नुकसान न हो, हमारे आचरणसे उनकी आदतें खराब न हों। अगर हमारा ही चरित्र खोटा होगा, हमारी ही आदतें-हरकतें खराब होंगी तो बच्चोंके सुधरनेकी आशा करना ही व्यर्थ है। अतएव हमें विशेषरूपसे सतर्क रहना चाहिये और सदा यह ध्यान रखना चाहिये कि हम कोई ऐसी गलत हरकत तो नहीं कर रहे हैं जिसका असर बालकोंपर भी होगा। इसके अतिरिक्त हमें भूलकर भी लड़कोंके सामने—

(१) गाली-गलौज नहीं बकनी चाहिये; क्योंकि इससे उनकी भी जबान खराब होती है।

(२) किसीसे भी अधिक हँसी-मजाक नहीं करनी चाहिये और न अश्लील बातें ही करनी चाहिये। बालक भी ऐसा ही करेंगे।

(३) किसीको भी डाँटना-डपटना अथवा किसीसे दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिये। देखा-देखीके कारण बालक भी ऐसा करने लगते हैं।

(४) किसीके प्रति अपना क्रोध प्रदर्शन न करना चाहिये।

(५) किसीको मारना-पीटना नहीं चाहिये। इससे बच्चोंकी आदत बिगड़ जाती है।

(६) नशीली वस्तु आदिका सेवन नहीं करना चाहिये। ताकि बच्चोंकी भी आदत न पड़ जाय।

(७) अपनी स्त्री आदिसे किसी ऐसे ढंगसे वार्तालाप न करना चाहिये, जिससे वे भी उसी ढंगको अपनायें और न उनके सामने गुप्त वार्ताएँ ही करनी चाहिये।

(८) कोई अन्य ऐसी हरकत न करनी चाहिये जिससे उसका भी असर बालकोंपर पड़े।

अन्तमें एक बात और है। वह यह कि माता-पिता चाहे अच्छे हों चाहे बुरे, लेकिन वे अपनी संतानको तो आदर्श और अच्छे रूपमें ही देखना चाहते हैं। वे माता-पिता, जिनका आचरण शुद्ध है—यदि अपनी संतानको अच्छे बननेकी सीख भी देते हैं तो उनपर असर भी हो सकता है और होता भी है। लेकिन यदि आचरणभ्रष्ट माता-पिता संतानको अच्छा बननेके लिये सीख भी देते हैं तो उनपर कोई असर नहीं होता। प्रसङ्गवश मैं यहाँ एक-दो उदाहरण बताना अनुचित नहीं समझता, जिससे कि उपर्युक्त कथनकी पुष्टि हो जाती है।

मेरे एक मित्र हैं जिनके कई संतान हैं, उनमें सुबह बहुत देरसे उठनेकी आदत है। प्रायः सूर्योदयके बाद भी कई घंटोंतक वे सोते रहते हैं। धीरे-धीरे देखा-देखी लड़के भी ऐसा ही करने लगे। वे भी बहुत देरसे उठने लगे। पिता इसके लिये बच्चोंपर बहुत बिगड़ते, डाँटते, पर फिर भी बच्चे न मानते। अन्तमें वे परेशान हो गये तो उन्होंने मुझसे कहा। मैंने कहा जब आप स्वयं इतनी देरसे उठते हैं, तब बच्चोंको जल्दी उठनेकी शिक्षा देनेके आप अधिकारी ही कहाँ हैं और यदि देते हैं तो वे फिर आपकी बात क्यों मानने लगे! यदि आप वास्तवमें उनकी आदत सुधारना चाहते हैं तो उनके सामने अपना जल्दी उठनेका आदर्श उदाहरण रखिये तभी उनपर असर पड़ेगा। बड़ी मुश्किलसे धीरे-धीरे वे अपनी आदत सुधार सके और कहना नहीं होगा उनकी इस आदतमें सुधार होते ही बच्चे भी अपने-आप जल्दी उठने लगे।

मेरे एक अन्य मित्र हैं, जिनके एक पुत्र है। उसे प्रायः पेटकी शिकायत रहती थी। इसका कारण यह था कि बालक मिठाई अधिक मात्रामें सेवन करता था। बात यह थी कि उसकी माताको मिठाइयाँ बहुत पसंद थीं जिसकी देखा-देखी वह बालक भी करने लगा। धीरे-धीरे उसकी जीभपर मिठाईका ऐसा चस्का लग गया कि जब उसे मिठाई न मिलती, तब वह घरवालोंकी नजर छिपाकर चीनी ही फाँक जाता तथा स्कूलमें और बाहर बाजारकी मिठाई खाता। फलस्वरूप उसका स्वास्थ्य बिगड़ता चला गया। उसकी माता उसको समझाते-समझाते थक गयी, पर वह क्यों मानने लगा। एक दिन मिलनेपर मुझे सारी बातें मालूम हुईं। मैंने कहा कि 'जब बच्चेके सामने घरमें बराबर तरह-तरहकी

मिठाइयाँ बनती हैं और आप भी उन्हें बराबर सेवन करती हैं तो भला बच्चा क्यों बाकी रक्खेगा—आप चाहे उसे मिठाई न खानेके लिये कितना ही क्यों न मना किया करें। आप कम-से-कम उसके सामने तो मिठाई खाना और बनवाना बंद कर दीजिये, तब देखिये उसपर क्या असर पड़ता है।' उन्हें यह बात जँच गयी और फलस्वरूप बालककी भी आदत सुधरने लगी।

स्पष्ट है कि माता-पिताके आचरणका उनकी संतानपर सबसे गहरा प्रभाव पड़ता है। हम भी शुद्ध आचरण तथा आचार-विचार रखकर ही उन्हें वैसा बना सकते हैं। 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे' से काम नहीं चलता।

माता-पिताके आचरणका बाल-जीवनपर प्रभाव

(लेखक—श्री१०८ स्वामीजी गणेशदासजी उदासीन)

छोटे-छोटे बालकोंके जीवन-व्यवहार, अभिरुचि तथा क्रियाकलापका अध्ययन करनेवाले मनोवैज्ञानिकोंने अत्यन्त विस्तारके साथ व्यापक सम्प्रेक्षणों और परीक्षाओंके द्वारा बालकोंकी रुचि, प्रवृत्ति, इच्छा और आकाङ्क्षा आदिका अत्यन्त गम्भीर अध्ययन करके उनके परिणाम और कारणोंका विवरण दिया है। उन्होंने यह परिणाम निकाला है कि बालककी सम्पूर्ण क्रियाका आधार अनुकरण है। वह अपने चारों ओर अपनेसे बड़ों, समवयस्कों तथा छोटोंको जैसा करते देखता है, वैसा ही वह भी करने लगता है। हँसने, बोलने, उठने-बैठनेकी शैली भी वह अपने आस-पासके लोगोंसे सीखता है। किंतु इन समीपवर्ती प्रभाव डालनेवाले व्यक्तियोंमें सबसे अधिक प्रभावशाली माता-पिता ही होते हैं; क्योंकि वे ही बालकके जन्मसे लेकर उसके समझदार होनेतककी अवस्थामें सदा अधिक-से-अधिक उसके सम्मुख उपस्थित रहते हैं।

सभी माता-पिताओंका यह अनुभव है कि बालक सर्वप्रथम उन्हींका अनुकरण करता है। यदि कोई धर्मनिष्ठ पिता सन्ध्या-पूजा करता है तो उसका पुत्र प्राणायामका अनुकरण करके नाक दबाता है, आचमनीसे जल लेकर इधर-उधर फेंकता है और माला जपता है। यदि किसीका पिता सिगरेट या हुक्का पीता है तो उसके बच्चे उसकी अनुपस्थितिमें हुक्का गुडगुडाते हैं, कागज लपेटकर सिगरेटका आकार बनाकर उसे मुँहमें डालकर साँस खींचते हैं। इस प्रकार बालकके सब प्रारम्भिक संस्कार माता-पिताके आचार-व्यवहारके अनुसार स्थिर होने लगते हैं।

यह संस्कार केवल आचार-व्यवहारमें ही नहीं, विचारमें भी आने लगता है। कुछ थोड़ेसे पूर्वजन्मके संस्कारसे प्रभावित बालकोंको छोड़ दिया जाय तो प्रतीत होगा कि अधिकांश बालक माता-पिताके स्वभाव और विचार भी ग्रहण करते चलते हैं। चिड़चिड़े, कंजूस, क्रोधी, ईर्ष्यालु, फूहड़ और गप्पी माता-पिताओंके पुत्र भी चिड़चिड़े, कंजूस, क्रोधी, ईर्ष्यालु, फूहड़ और गप्पी हो जाते हैं। वैद्यका पुत्र बिना वैद्यक सीखे हुए ही सैकड़ों ओषधियोंके नाम और प्रयोग जान जाता है। वकीलका पुत्र भी अनेक अपराधों और उनसे सम्बद्ध धाराओंका परिचय और प्रयोग जान लेनेके साथ वकालतके अनेक हथकंडोंसे भी परिचित हो जाता है। कालिदासके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध है कि उनके यहाँके सेवकतक संस्कृत बोलनेमें बड़े पटु थे और मण्डनमिश्रके घर तो उनके तोता-मैना भी इस बातपर शास्त्रार्थ किया करते थे कि जगत् ध्रुव है या अध्रुव। इस सबका कारण यह है कि मनुष्य जिस संगति और वातावरणमें रहता है उसके प्रभावमें निरन्तर पड़कर वह अपना संस्कार बनाना चाहता है। ये संस्कार प्रारम्भिक अवस्थामें ही बनते हैं और फिर जब एक बार बन जाते हैं, तब फिर कभी बदलते नहीं। इसलिये बालकके प्रारम्भिक संस्कारका निर्माण करनेमें माता-पिताको स्वयं अपना संस्कार ठीक करना चाहिये।

बहुतसे माता-पिता अपने बालकोंको छोटी-छोटी बातमें डाँटते और मारते रहते हैं, किंतु यदि वे बालकोंके अपराधोंकी शान्तिपूर्वक परीक्षा करें तो उन्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि बालकोंने अधिकांश अपराध उन्हींसे अनुकरणमें सीखे हैं अथवा उनकी किसी असावधानी, त्रुटि, दोष या दुर्बलतासे बालकमें वे दोष आ गये हैं। यदि आपका बालक झूठ बोलता है तो उसका कारण यह है कि या तो आप स्वयं झूठ बोलते होंगे या आपने अपने क्रोधी और चिड़चिड़े स्वभावसे बालकको इतना भयभीत और त्रस्त कर रक्खा है कि उसे आपके सम्मुख सत्य बोलनेमें यह हिचक और डर लगा रहता है कि कहीं सत्य कहनेपर आप उसे दण्डित न करें।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि माता-पिताको अपने आचरणमें तीन प्रकारका संयम अर्जित करना चाहिये। प्रथम वाक्-संयम, दूसरे स्वभाव-संयम और तीसरे व्यवहार या आचार-संयम। वाक्-संयमका तात्पर्य यह है कि माता-पिताको बालकके सम्मुख कुछ भी बात कहनेसे पहले विचार कर लेना चाहिये कि युक्त बात बालकके सम्मुख उससे या दूसरोंसे कहनी चाहिये या नहीं। बहुतसे लोगोंको गाली देनेका बुरा अभ्यास होता है और वह अभ्यास इस चरम-सीमातक पहुँच जाता है कि वे बात-बातमें गालीकी टेक देकर सखुनतकिया बनाकर गालीका प्रयोग करने लगते हैं। बहुत-से लोग जब किसीसे मिलना नहीं चाहते, तब अपने बच्चोंसे कहला देते हैं—'कह दो घरपर नहीं हैं।' बहुत-से लोग बात-बातमें इतना झूठ बोलते हैं कि बच्चे भी उनके उस झूठको जान जाते हैं और उनके मनमें इन सब प्रकारके व्यवहारोंसे यह संस्कार जम जाता है कि झूठ बोलना या गाली देना कोई बुरा काम नहीं है। पंजाबके एक प्रसिद्ध व्यवसायीके घरकी एक बड़ी प्रसिद्ध घटना है। वे व्यवसायी महोदय कश्मीरी शालका व्यापार करते थे। उनका यह स्वभाव था कि जब उनसे कोई वस्तु माँगने आता था, तब वे झट कह देते थे कि अमुक सज्जन माँग ले गये हैं। उनके पुत्रने भी यही सीख लिया था कि जब कोई वस्तु माँगने आता, तब यही कह देता था कि 'है नहीं, या अमुक सज्जनके यहाँ गयी हुई है।' एक बार उनके एक पड़ोसी व्यवसायी मित्र कड़ाहा माँगने आये। घरपर और तो कोई था नहीं। बालकने छूटते ही उत्तर दिया—'रलियारामजीके यहाँ गया हुआ है।' वे सज्जन स्वयं रलियाराम थे। वे बोले—'बेटा! रलियाराम तो मैं ही हूँ और कड़ाहा भी सामने रक्खा है।' इस प्रकारकी घटनाएँ बहुत-सी होती रहती हैं, जिनमें माता-पिताके आचरणसे प्रभावित बालकोंको मिथ्या अनुकरण करनेके कारण लज्जित और अपमानित भी होना पड़ जाता है। विचित्र बात तो यह है कि जो माता-पिता अपने बालकोंको ऐसे अपराधोंपर डाँटते-फटकारते हैं, वे उनसे यह आशा रखते हैं कि हम अपने बालकोंपर जो कुसंस्कार डाल रहे हैं उन्हें बालक छोड़ दें; किंतु यह विडम्बनामात्र है।

स्वभावसंयमका तात्पर्य यह है कि माता-पिताको अपने स्वभावकी ओरसे भी सावधान रहना चाहिये। यदि उनमें किसी प्रकार ऐसे दुर्गुण या दुर्व्यसन आ गये हैं, जिनका परित्याग सम्भव नहीं है तो उन्हें अपने उस स्वभावसे सम्बद्ध दुर्गुण या दुरभ्यासकी आवृत्ति अपने बच्चोंके सम्मुख कभी नहीं करनी चाहिये। यदि माता-पिताको सिगरेट पीने, पान खाने, जुआ खेलने अथवा अन्य किसी इस प्रकारके दुर्व्यसनका अभ्यास पड़ गया हो और वे उसपर संयम न कर सकते हों तो उन्हें दो काम करने चाहिये—या तो अपने बच्चोंको अपने पाससे हटाकर किसी अच्छे विद्यालयमें रख देना चाहिये या फिर अपने ऊपर इतना संयम करना चाहिये कि उन दुर्गुणोंको अपने छोड़ दें। यदि ये दोनों ही उपाय सम्भव न हों तो उन्हें चाहिये कि बालकोंके सम्मुख अपने इस स्वभावका प्रदर्शन कभी न करें। अन्यथा परिणाम यही होगा कि स्वाभाविक अनुकरणसे बाल्यावस्थामें जो दुःखद अभ्यास बालकमें पड़ जायँगे, वे फिर जीवनभर उसका पिण्ड नहीं छोड़ेंगे।

तीसरा संयम व्यवहार या आचारका संयम है। प्रत्येक सामाजिक प्राणीको संसारमें रहते हुए अनेक व्यक्तियोंके अधिकाधिक सम्पर्कमें आनेका अवसर प्राप्त होता रहता है। इन अनेक व्यक्तियोंमें जहाँ अस्सी भले होते हैं, वहाँ बीस झूठे, चोर, अविश्वस्त, अनियमित, आलसी, कामचोर और अव्यवस्थित भी होते हैं। स्वभावतः इन बीसके प्रति आपको क्रोध करना या उनसे घृणात्मक व्यवहार करना पड़ जाता है, किंतु समाजमें कभी-कभी बुरे लोगोंका अभ्युत्थान और उन्नयन देखकर यह इच्छा होने लगती है कि हम भी संसारको धोखा देकर सबसे प्रवञ्चनापूर्ण व्यवहार करें, मुँहमें राम-राम बगलमें छुरीवाली युक्तिको चरितार्थ करते हुए इस प्रकार व्यवहार करें कि संसारमें हम इस प्रकारके निम्न व्यवहारसे अपने आत्माको और संसारको धोखा देकर महत्त्वका पद प्राप्त करें। प्रलोभनसे प्रभावित होकर हम संसारमें अनेक ऐसे कुकाण्ड करने लगते हैं, जिनका आधार पूर्णतया अन्यायपूर्ण तथा अनैतिक होता है। ऐसे सब व्यवहारोंका प्रभाव बालकोंपर इतना बुरा पड़ता है कि वे भी इस प्रकारके अनैतिक आचरणको अच्छा मानकर जीवनके प्रारम्भिक कालमें ही कुपंथ पकड़ लेते हैं और इस प्रकार आगे चलकर वे समाजके शत्रु बन जाते हैं!

इस सम्पूर्ण व्याख्याका निष्कर्ष यह है कि माता-पिताको यदि अपने बालकोंका सुधार करना हो तो उन्हें स्वयं अपने आचार-विचार-व्यवहार-संस्कारपर नियन्त्रण रखना होगा और यदि वे इतना कर सकें और अपने जीवनको सुधारकर उसके आदर्श बालकोंके सम्मुख उपस्थित करें तो उतनेसे ही बालकोंका चरित्र-सुधार हो जायगा।

बालकोंको शिष्टाचारकी शिक्षा

(लेखक—श्रीश्रीनाथसिंहजी)

मेरे एक घनिष्ठ मित्र श्रीयुत 'क' हैं। वे अपने तीन वर्षके पुत्रको कभी गोदमें, कभी पैदल लेकर नित्यप्रति टहलने निकलते हैं। प्रायः मेरी उनकी भेंट हो जाती है। मुझे देखते ही वे अपने पुत्रको आज्ञा देते हैं—'बेटा! चाचाजीको प्रणाम करो, जोड़ो हाथ!' बालक संकोच करता है, पर दो-तीन बार कहनेपर अपने नन्हे हाथ जोड़ता है। मैं उसे आशीर्वाद देता हूँ, चुमकारता हूँ। वह प्रसन्न हो जाता है।

प्रायः इसी प्रकार अनेक लोग अपने बच्चोंको प्रणाम करना सिखाते हैं; पर मैं सोचता हूँ, यह ढंग गलत है। बच्चोंमें अनुकरण करनेकी आदत होती है, वे हमको जो करते देखेंगे, वही स्वयं भी करने लगेंगे; तब क्यों न हम उन्हें अनुकरणद्वारा सीखने दें? बजाय उनसे कहनेके हम स्वयं आगत मित्रोंको हाथ जोड़कर प्रणाम करें। हमें ऐसा करते देखेंगे, तब बालक भी निश्चय ही ऐसा करने लगेंगे। हमें चाहिये कि हम धैर्यसे उन्हें इस प्रकार सीखनेका अवसर दें और फिर बालकको हम अपनेसे छोटा क्यों समझें? पता नहीं, भगवान्‌की कौन-सी प्रेरणा लेकर वह अवतरित हुआ है। हम स्वयं भगवान्‌के इस बालरूपको क्यों न प्रणाम करें? अपना जितना ही विनम्र रूप हम बालकके सम्मुख उपस्थित करेंगे, उसके उतना ही विनम्र बननेकी सम्भावना है।

यदि हम स्वयं अशिष्ट व्यवहार करते हैं, गाली बकते हैं, झूठ बोलते हैं, नशीले द्रव्योंका व्यवहार करते हैं, क्रोध प्रदर्शित करते हैं और आलस्यमें समय काटते हैं तो अपनी आज्ञाओंसे, कठोर अनुशासनोंसे, भय या प्रलोभनसे हम बालकको शिष्ट, सत्यवादी और मृदु नहीं बना सकते। हमारे अनुशासनोंसे अधिक प्रभाव बालकके कोमल मनपर हमारे व्यक्तिगत जीवनका पड़ेगा; क्योंकि बालकको हम लाख समझायें, वह करेगा वही, जो हमको करते देखेगा। अतएव बालकके अभिभावकके रूपमें हमारी यह जिम्मेदारी है कि हम बालकके सामने अच्छा उदाहरण रक्खें। हम बालकको जैसा बनाना चाहते हों, पहले स्वयं वैसा बनें।

इसका एक आँखों देखा उदाहरण मैं यहाँ देता हूँ। ब्रिटिश-शासनकालमें यहाँ प्रयागमें एक अंग्रेज पुलिस इंस्पेक्टर थे। उनका नाम मेजर्स था। मैं और मेरे मित्र श्रीयुत 'क' जिनका, मैं ऊपर वर्णन कर चुका हूँ, प्रातःकाल साथ-साथ वायुसेवनके लिये निकलते थे। मार्गमें उक्त साहबका बँगला पड़ता था। एक दिन हम क्या देखते हैं कि मेजर्स साहब अपने नन्हे पुत्रको, जो शायद दो वर्षके आस-पास रहा होगा, अपनी अंगुली पकड़ाये लंबे होनेके कारण कुछ झुके हुए-से, उसके कदम-से-कदम मिलाते बँगलेके फाटककी ओर आ रहे हैं। फाटकपर बालककी आया बालकको बैठाकर घुमानेवाली गाड़ी लिये खड़ी थी। मेजर्स साहबने बालकको उस गाड़ीमें प्रयत्नके साथ चढ़ते देखा, फिर उसे चूमकर, अपने हाथ हिलाकर इस तरह विदा किया जैसे कोई मेहमानको विदा करता है।

मेरे मित्र श्री 'क' ने कहा—'देखा, साहब तो लड़केके साथ इस तरह पेश आये जैसे यह इनका बाप हो!' पर मैं मन-ही-मन साहबकी प्रशंसा कर रहा था। मैंने अपने मित्रको उत्तर दिया—'मुझे तो लगता है, मेजर्स साहब अपने पुत्रको एक साधारण शिष्टाचार सिखा रहे हैं कि जब कोई आत्मीय घरसे बाहर जाने लगे, तब उसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये। खैर, उस दिन हम उस बालकके इर्द-गिर्द ही टहलते रहे और लगभग उसके साथ ही लौटे। हमने देखा कि आयाकी गति बहुत मंद पड़ गयी है। मैंने कहा—'जान पड़ता है यह इस बातकी प्रतीक्षा कर रही है कि साहब आयें और बेटेका स्वागत करें।' 'क्या बेहूदापन है!' मेरे मित्र बोले। उसी समय हमने देखा कि मेजर्स साहब फाटककी ओर आ रहे हैं। आयाने तब जल्दी-जल्दी ले जाकर गाड़ी फाटकके पास खड़ी कर दी। मेजर्स साहबने गाड़ीके पास उस नन्हे शिशुका स्वागत किया, स्नेहसे उसे अपनी अंगुली पकड़ायी और उसी तरह अंदर ले गये जैसे बाहर लाये थे।

निश्चय ही इस बालकने भी अपने पिताके इस गुणका अनुसरण किया होगा और इसी प्रकार स्वयं भी व्यवहार करने लगा होगा।

हमलोग चाहे जहाँ फलोंके छिलके, रद्दी कागज, कूड़ा-करकट फेंकते रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हमारे मार्ग स्वच्छ नहीं दीखते। हमारे बालक भी हमारी

इस प्रवृत्तिका अनुकरण करते हैं और दूसरी पीढ़ीमें भी इस मनोवृत्तिके बने रहनेकी सम्भावना है। उस दिन हमने समाचारपत्रोंमें पढ़ा कि प्रधान मन्त्री दिल्लीकी एक प्रदर्शनी-से बाहर निकलते समय क्या देखते हैं कि एक फल बेचने-वालेकी दूकानके सामने कुछ बाबू लोग केले खरीद-खरीदकर खा रहे हैं और उसके छिलके सड़कपर फेंकते जाते हैं। यद्यपि पास ही कूड़ा फेंकनेवाली म्युनिसिपैलिटीकी नाद गड़ी हुई है। नेहरूजीने पैनी दृष्टिसे उन बाबुओंकी ओर देखा और सड़कपरके छिलके उठा-उठाकर उस नादमें डालना शुरू किया। फिर तो सभी लोगोंने उनका अनुसरण किया और सड़क बात-की-बातमें स्वच्छ हो गयी।

यह समाचार पढ़ते समय मुझे एक पुरानी घटनाका स्मरण हो आया। एक बार मैं स्वर्गीय आर० एस० पण्डितकी प्रतीक्षामें उनके प्रयागके निवासपर बैठा हुआ था। वे कहीं बाहर टहलने निकल गये थे और लौटनेहीवाले थे। मेरे सामने छोटी मेजीपर कई समाचारपत्र रक्खे थे, जो शायद कलकी डाकमें आये थे और खोले न गये थे। मैंने एक समाचार पत्र उठाया और उसका रैपर फाड़कर नीचे फर्श-पर डाल दिया। उसी समय स्वर्गीय पण्डितजीकी सबसे छोटी कन्या, जो शायद तीन या चार सालकी थी, मेरे निकट आयी और बोली—'देखिये, कूड़ा इस तरह फेंकते हैं!' उसने दूसरा समाचार पत्र उठाया, उसके रैपरको फाड़ा और उसे पासकी टोकरीमें डाल दिया और मैंने जो रैपर फर्शपर फेंका था, उसे भी उसीमें डाल दिया।

इस घटनाका मेरे मनपर बड़ा प्रभाव पड़ा। निश्चय ही स्वर्गीय पण्डित साहबने इस कन्याको कूड़ा फेंकनेकी यह शिक्षा इसी प्रकार दी होगी, जिसे वह मुझे सिखा रही थी। यदि कूड़ा फेंकनेकी यह वृत्ति हम स्वयं अपना लें तो हमारे बच्चे भी इसका अनुसरण करें और हमारे घर, आँगन, द्वार, रास्ते, स्कूल, मैदान, बाग स्वच्छ दीखें। हम चाहे जहाँ कूड़ा फेंकते रहें और थूकते रहें और बच्चोंको एक स्थानपर फेंकनेको कहें तो यह कैसे हो सकता है।

हम चाहते हैं कि हमारे बालक सदाचारी, सत्यवादी, विनयी, दयालु और साहसी हों। इन सब बातोंके लिये हम उन्हें बराबर उपदेश देते रहते हैं; परंतु प्रायः सभीका यह रोना है कि आनेवाली पीढ़ीका निर्माण आशाके अनुरूप नहीं हो रहा है। इसका कारण यही है कि हम कोरे उपदेशक बनकर उन्हें आदर्श बनाना चाहते हैं। बालक हमको करते कुछ देखता है, कहते कुछ सुनता है। बस, वह भी वैसा ही हो जाता है। उसमें अनुकरणकी वृत्ति जो होती है। गाँधीजी-का प्रभाव अखिल विश्वपर क्यों पड़ा? इसीलिये कि जो वे दूसरोंको करनेको कहते थे, उसे स्वयं अपने जीवनमें पहले उतारकर दिखा देते थे। प्रत्येक व्यक्ति, जो अपनी संतानको आदर्श बनाना चाहता है, उसे अपने जीवनमें गाँधीजीकी-जैसी साधना अपनानी होगी। यदि हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे सबेरे उठें तो हमें स्वयं सबेरे उठनेकी आदत डालनी होगी। यदि हम चाहते हैं, हमारे बच्चे बड़ोंका आदर करें तो हमें स्वयं बड़ोंका आदर करना होगा। यदि हम चाहते हैं कि हमारे बच्चे झूठ न बोलें तो हमें स्वयं सत्यवादी बनना होगा।

बहुत-से लोगोंको बच्चोंके मुँहसे गाली सुननेमें आनन्द आता है। वे स्वयं गाली बकते हैं और बच्चोंको गाली बकनेको उत्साहित करते हैं। बचपनका यह विनोद उन्हीं बच्चोंके लिये समस्त जीवनमें एक अभिशाप बनकर छा जाता है। जब हम किसी बूढ़े मनुष्यको गाली बकते देखते हैं, तब हमें कितना बुरा मालूम होता है; परंतु इसके लिये वह बूढ़ा इतना दोषी नहीं है जितने कि उसके मा-बाप हैं, जिन्होंने उसकी यह आदत पड़ने दी। छोटे बच्चोंका गालीका अभिनय, बड़ोंके अनादरका अभिनय, जीवोंके प्रति निर्दयताका अभिनय, झूठ-चोरी आदिका अभिनय हमें कितना ही मनोरञ्जक क्यों न प्रतीत हो, हमें इससे बचने और बच्चोंको बचानेकी आवश्यकता है।

आजकल लोग वर्ण-व्यवस्थाके बहुत विरुद्ध हैं। चारों तरफसे इसको मटियामेट कर देनेकी आवाजें उठ रही हैं। वर्ण-व्यवस्थाका मैं कोई पोषक नहीं हूँ और न इस लेखमें उसकी वकालत ही करना चाहता हूँ; पर सोचता हूँ कि बालकके सीखनेका, समाजके लिये उपयोगी बननेका जैसा अवसर वर्ण-व्यवस्थाके अन्तर्गत है, वैसा अन्यत्र कहाँ है? आखिर तो सब काम सब मनुष्य नहीं कर सकते। समाजकी उन्नति और कल्याणके लिये अलग-अलग लोगोंको अलग-अलग कामोंमें लगना ही होगा। तब यदि बचपनसे ही इस प्रकारकी शिक्षाकी व्यवस्था हो तो क्या बुरा है? पीढ़ी-दर-पीढ़ी कुम्हार मिट्टीके बर्तन बनाता आ रहा है, बढ़ई काष्ठकी कला विखेरता आ रहा है, सुनार गहने गढ़ता आ रहा है, ब्राह्मण पढ़ता-पढ़ाता आ रहा है, क्षत्रिय सैनिक बनता आ रहा है, वैश्य देशको धन-धान्यसे भरता आ रहा है। समाजकी इस

प्रणालीको तो हम निर्बल बनाते जा रहे हैं, परंतु बच्चोंको विविध कलाएँ और हुनर सीखनेकी क्या व्यवस्था कर रहे हैं ? जब हम पराधीन थे, तब हमारी शिक्षा-दीक्षाका उत्तर-दायित्व विदेशी सरकारपर था। उसकी शिक्षाप्रणालीके पीछे यह ध्येय था कि वह हमें सतत गुलाम बनाये रख सके। अब हम स्वाधीन हैं, पर तो भी समाजको दृढ़ रखनेवाले परम्परागत तत्त्वोंको छोड़नेमें ही समाजका कल्याण समझ बैठे हैं। यही भाव हम अपनी नव-संततिमें भी भर रहे हैं। ईश्वर-आराधन, जप, पूजन आदिको हम ढोंग घोषित कर रहे हैं और परिणाम यह हो रहा है कि हमारे विद्यार्थी उद्दण्ड, उच्छृङ्खल और अनियन्त्रित होते जा रहे हैं। वे नकल करके पास होना चाहते हैं और रोकनेपर शिक्षकका प्राणतक लेनेको उद्यत हो जाते हैं। यह स्थिति असह्य है और इसके दूर करनेका एक ही उपाय है कि प्राचीन परम्पराओंको हम कोरी रूढ़ि घोषित करके छोड़नेको उद्यत न हों। ज्ञानसे, तर्क और विवेकसे उन्हें सर्वथा त्याग बैठनेके बजाय आधुनिक परिस्थितियोंके अनुकूल बनावें। वर्तमान शिक्षणप्रणालीमें इस ध्येयसे परिवर्तन और संशोधन आवश्यक है।

प्रत्येक परिवारमें बालक आकर्षणका केन्द्र-विन्दु होता है। कला, साहित्य, विज्ञान आदिकी उसकी शिक्षा तो स्कूलमें होती है, परंतु शिष्टाचार, जो उसे सभ्य और सुसंस्कृत बना सकता है, परिवारके वातावरणमें ही सम्भव है। बालककी नन्ही टाँगें हर जगह जानेको, नन्हे हाथ हर काम करनेको, स्वच्छ और निर्मल आँखें हर दृश्य देखनेको, श्रवण हर बात सुननेको और जिह्वा हर विषयमें बोल उठनेको उत्सुक रहती है। यह सोचकर उसकी उपेक्षा करना कि अमुक दृश्य वह नहीं देखता या अमुक बात नहीं समझता, कदापि उचित नहीं है; क्योंकि प्रत्येक क्षण और पलमें उसके आस-पासकी घटनाएँ उसके कोमल मनको प्रभावित करती रहती हैं और उसके चरित्रको बनाती या बिगाड़ती रहती हैं। इसलिये यह परम आवश्यक है कि हम उसके आसपासके वातावरणको इस प्रकारका बनाये रहें कि वह गुणोंको ग्रहण करता रहे और अवगुणोंको त्यागता रहे।

एक साधारण-सा शिष्टाचार है कि जब दो व्यक्ति बात कर रहे हों, तब तीसरेको उसमें नहीं कूद पड़ना चाहिये। अब मान लीजिये आप किसीसे बात कर रहे हैं और आपका बालक आ गया। उस समय उसे डाँटना कि 'जाओ यहाँसे, ठीक नहीं है; बल्कि अपनी बातका विषय इस प्रकार बना दें कि बालककी रुचि ही न रह जाय तो वह तुरंत चला जायगा और क्रमशः दोकी बातमें उसे तीसरा बनकर उपस्थित होनेकी इच्छा ही न रह जायगी; परंतु जब आप किसी वयस्क व्यक्तिके साथ टहलने निकलें और साथमें बालक भी हो तो आपकी बातचीतका विषय ऐसा होना चाहिये कि उस बालकको भी रस प्राप्त हो और वह कुछ पूछ बैठे तो उसके प्रश्नकी उपेक्षा न करें।

गाँधीजीकी यह बात थी कि वे जब कभी घूमने निकलते थे, छोटे बच्चोंको भी साथ ले लेते थे। उस समय वे कोई भी बात करते रहें पर यदि बच्चे कुछ पूछ बैठें तो पहले उनकी बातका उत्तर देते थे। एक बार वे अपने कुछ मित्रोंके साथ साबरमतीमें स्नान करने गये। साथमें कुछ बालक भी थे। अहिंसाका विवाद छिड़ा था। गाँधीजी पानीमें शान्त भावसे खड़े अपनी बात कह रहे थे। तभी उनके पाँवके एक अँगूठेमें एक कछुएने काट लिया। गाँधीजी पानीके बाहर निकल आये। अँगूठेसे रक्त बह रहा था। एक बालक बोल उठा—'बापू ! आपने इस कछुएको अहिंसा नहीं सिखायी ?' मित्र, जिनसे गाँधीजी विवाद कर रहे थे, हँस पड़े; पर गाँधीजी गम्भीर हो उठे। उन्हें लगा कि बालकने उनसे गूढ़ प्रश्न कर दिया है और बुद्धिमें वह उनसे बहुत ऊँचा है। उन्होंने उत्तर दिया—'पहले मनुष्योंको तो सिखा लूँ मेरे बेटे ! कछुओंका नंबर बादको आयेगा।' बालक इस उत्तरसे तुष्ट हो गया। लौटते समय उन्होंने कहा—'यह बालक मेरा गुरु है !'

तात्पर्य यह कि छोटा या अबोध समझकर हमें बालकोंकी या उनकी बातकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि यदि हम ऐसा करेंगे तो वे भी जिसे अपनेसे छोटा या अबोध समझेंगे, उसकी उपेक्षा करने लगेंगे।

मृदु-भाषण सामाजिक शिष्टाचारका प्रधान अङ्ग है। किसीका स्वर कर्कश होता है, किसीका कोमल। इसका कारण मनोविज्ञानके पण्डित यह बताते हैं कि श्रवण दो प्रकारके होते हैं, एक वे जो प्रत्येक स्वर ग्रहण करनेको तैयार रहते हैं; दूसरे वे जो केवल मधुर स्वर सुननेको उत्सुक होते हैं। सो वे जन जिनके श्रवण मधुर-स्वरग्राही होते हैं, मिष्टभाषी हो जाते हैं, शेष जन परवा नहीं करते कि उनका स्वर कैसा है ? हो सकता है कि मृदुभाषणकी शक्ति प्रकृति-प्रदत्त हो, पर तो भी क्रमशः अभ्याससे प्रत्येक व्यक्तिमें मृदु-भाषणकी शक्ति विकसित की जा सकती है।

इसका एक उदाहरण लीजिये। हमारे एक मित्र हैं श्रीभगवतजी। उन्होंने निश्चय किया कि वे अपने पुत्रको मृदुभाषी और विनयी बनायेंगे। सो उन्होंने प्रत्येक व्यक्तिको वह कोई भी हो, मृदु और आदरसूचक शब्दोंसे सम्बोधित करना शुरू किया। अगर उनके दरवाजेपर भिखारी आता तो वे कहते—'श्रीमान्‌जी' और सुपात्र होता तो कुछ देकर और कुपात्र होता तो मीठे शब्दोंसे उसका सत्कार करके विदा करते। अगर उनके दरवाजेपर मेहतरानी आती तो वे उसे मृदु शब्दोंमें केवल 'रानी' कहते और वह प्रसन्न हो जाती। प्रत्येक व्यक्तिको वे 'पिताजी' या 'भाईजी' कहते। प्रत्येक नारीको वे 'माताजी' या 'बहनजी' कहते। इसका यह परिणाम हुआ कि उनका बालक ही नहीं, उनके मुहल्लेके सारे लोग मेहतरानीको 'रानी' कहने लगे हैं और राह चलते लोग भी उस रास्तेसे गुजरते हैं तो बच्चों और मुहल्लेवालोंके मुखसे अपने लिये भाईजी, पिताजी-जैसे शब्दोंको प्रयुक्त होते सुनकर आनन्दमग्न हो जाते हैं।

अपने बच्चोंको तम्बाकू-सिगरेटसे दूर रखनेके लिये हमें स्वयं इन चीजोंका परित्याग करना होगा। उन्हें सत्यवादी बनानेके लिये हमें स्वयं सत्यवादी बनना पड़ेगा। अपनी आज्ञाओंसे नहीं, अपने श्रेष्ठ उदाहरणोंसे ही हम उन्हें श्रेष्ठ नागरिक बना सकते हैं। यदि हम अपने बच्चोंमें कोई अवगुण देखें तो उन्हें प्रताड़ित करनेके बजाय पहले अपने अन्तरको देखें कि स्वयं हममें तो वह अवगुण नहीं है! इसी प्रकार हम बच्चोंको शिष्टाचारकी शिक्षा दे सकते हैं।

बच्चोंके प्रति सद्भाव-सम्बन्धी शिष्टाचार

(लेखक—पं० श्रीरामनारायणजी मिश्र)

१. भारतीय संस्कृतिमें बच्चोंके सुन्दर और प्यारे नाम रखनेकी प्रथा है, इस प्रथाको मत बिगाड़ो।

२. किसी मित्र या रिश्तेदारके घर जाओ तो उनके बच्चोंको अपने प्यारका परिचय दो।

३. विशेष अवसरपर किसीको निमन्त्रित करो तो उनके बच्चों (बालगोपाल) को यथासम्भव बुलाना मत भूलो।

४. बच्चोंको मत रुलाओ। रोते बच्चेको प्यारसे उठाकर सीटी या बाजा बजाकर या किसी अन्य प्रकारसे उसका मन बहलाकर उसे चुप करा दो, डराकर चुप मत कराओ। जिस घरमें बच्चे रोते रहते हैं, वह घर सदा सुखी नहीं रह सकता।

५. बच्चोंको ऐसी आदत डालो कि वे सोकर रोते हुए न उठें, हँसते हुए उठें।

६. बच्चोंके अंदर भय पैदा करना, उनको नीचा दिखलाना, अपमानित करना या मारना बुरा है। बुरे लड़के भी बिना मारे सुधर सकते हैं, सुधारनेवाला चाहिये।

७. बच्चोंको ऐसी कहानियाँ सुनाओ, जिनसे उनमें उत्साह और देशाभिमान पैदा हो, उनकी हिम्मत बढ़े, उनके हृदयमें धर्मका भाव पैदा हो।

८. बच्चोंको मेला, तमाशा, सभा-सोसाइटी, प्रदर्शनी, ऐतिहासिक, धार्मिक और प्राकृतिक शोभाके स्थान दिखलाते रहना चाहिये।

९. बच्चोंकी आलोचना करनेसे उनको उतना लाभ नहीं पहुँचता, जितना उनके सामने ऊँचा आदर्श या उदाहरण रखनेसे पहुँचता है। इसलिये उनको अपने समयके महापुरुषों, विद्वानों, संतों और नेताओंके पास तथा कथा-कीर्तन आदिमें कभी-कभी ले जाना चाहिये, जिससे उनमें शुद्ध-पवित्र संस्कार, आध्यात्मिक भावना पैदा हो और सत्सङ्गकी ओर प्रवृत्ति हो।

१०. छोटे-छोटे बच्चोंको पास बैठाकर उनकी तोतली बोली सुनना या उनके साथ खेल-कूद, दौड़-धूपमें कभी-कभी शरीक होना, उन्हें हँसाना आदि बच्चोंके नैतिक स्तरको ऊँचा करनेका और बहुत बड़े मनोरञ्जनका साधन है।

११. बच्चोंको 'तू' मत कहो, 'तुम' कहो। 'आप' कहना तो और भी अच्छा है, इससे उनको भी आप कहनेकी आदत बचपनमें ही पड़ जायगी।

१२. कोई छोटा बच्चा कुछ कहना चाहे तो उसकी बात पहले सुन लो, पर यदि वह किसीकी शिकायत करे तो सहसा उसपर कोई कार्रवाई न करो।

१३. गाड़ी या नावमें बच्चोंको पहले चढ़ा लो या उतरने दो, तब आप चढ़ो या उतरो। चलती गाड़ी या नावमें बच्चोंको बीचमें रक्खो।

१४. बच्चोंको पहले भोजन दो। सबसे छोटे बच्चेसे शुरू करो।

१५. बच्चोंको निश्चित समयपर खाना दो। हर वक्त खानेकी आदत बुरी है। निश्चित समयपर ही शौच, स्नान आदिकी भी उनमें आदत डालो।

१६. भूत-प्रेतकी या दूसरी डरानेवाली कहानियाँ बच्चोंको मत सुनाओ। उन्हें अँधेरेमें जानेसे मत डराओ।

१७. बच्चोंको गहना नहीं पहनाना चाहिये।

१८. बच्चोंको नंगा मत रक्खो, कम-से-कम जाँघिया या लँगोट पहनाये रक्खो।

१९. छोटे बच्चोंको पैसा नहीं देना चाहिये। यदि उनके हाथमें पैसा आ जाय तो ध्यान रक्खो कि उसे वे मुँहमें न डालें; क्योंकि मुँहमें डाला हुआ सिक्का कभी-कभी गलेमें फँस जाता है।

२०. बच्चोंको हर वक्त गोदमें न लिये रहो। जितनी जल्दी हो सके, उनको अपने बलपर खड़े होना और चलना सिखलाओ। उनको अपने हाथ-पैर हिलाने दो। वे कभी साधारणतः गिर भी जायँ तो तुरंत उठाने मत दौड़ो। उठाओ भी तो उनका मन किसी दूसरी तरफ फेर दो।

२१. जितनी जल्दी हो सके, बच्चोंको अपने-आप चलन-खाने और अलग सोनेकी आदत डालो। उनका बिछौना बहुत नरम नहीं होना चाहिये।

२२. बच्चोंकी देखभालका उत्तरदायित्व यथासम्भव नौकरोंपर मत छोड़ो।

२३. बच्चोंको चूमना अच्छा नहीं।

२४. बच्चोंसे कोई चीज टूट-फूट जाय तो उनको मारो मत, उनको समझा दो जिसमें वे भविष्यमें वैसी असावधानी न करें। अच्छा तो यह होगा कि ऐसी चीजें वहाँ रक्खो जहाँ उनका हाथ न जाय।

बालकोंका स्वभाव-निर्माण और उदाहरण

(लेखक—लाला संतरामजी बी० ए०)

१—किसीका कथन है कि मनुष्य स्वभावोंकी गठरी है। इसका आशय यह है कि एक बड़ी हदतक हमारे स्वभाव हमारे चरित्र, चाल-चलनको बनाते हैं। स्वभावका अर्थ है कि किसी चीजको इतनी अधिक बार करना कि फिर उसका करना सुगम और स्वाभाविक हो जाय। उदाहरणके लिये एक लड़की है, जब कोई दूसरा व्यक्ति उसका काम कर देता है, तब वह इतनी बार 'धन्यवाद' देती है कि फिर जब कभी उसे 'धन्यवाद' कहनेका अवसर आता है तो बिना सोचे ही यह शब्द अपने-आप उसके मुँहसे निकल पड़ता है; तब हम कहते हैं कि उसने 'धन्यवाद' कहनेका 'स्वभाव' बना लिया है।

२—यदि यह सच है कि हमारे स्वभावोंसे हमारा चरित्र बनता है तो यह बहुत आवश्यक है, हम अच्छे स्वभाव बनायें। जवानीकी अपेक्षा बचपनमें स्वभाव बनाना कहीं अधिक आसान होता है। हम कई बार बूढ़ोंको कहते सुनते हैं, हम 'अब बूढ़े हो गये हैं। जो स्वभाव बन चुके सो बन चुके। अब नये स्वभाव बनाना हमारे लिये कठिन है।' सचमुच बुढ़ापेमें नयी आदतें डालना कठिन होता है। अच्छे स्वभाव सीखनेका समय बचपन ही है।

३—बिल्कुल छोटे बच्चोंको शिष्टाचार और आचरणकी अच्छी-अच्छी बातें सिखायी जा सकती हैं; परंतु उनको सिखानेके लिये देरतक लगातार कोशिश और सावधानीसे देख-रेख करनेकी जरूरत है। उनको कोई बात सिखानेकी एक दिन कोशिश करके यदि हम दूसरे दिन छोड़ देते हैं, तो वह व्यर्थ है। उदाहरणके लिये, मान लीजिये कि हम पहलेसे बच्चेको यह स्वभाव डालना चाहते हैं कि वह अपने-आप सो जाया करे, किसी दूसरेको उसके पास बैठकर थपकनेकी जरूरत न हो; अब यदि हम उसको एक रात तो अँधेरेमें चुपचाप लिटा देते हैं, परंतु दूसरी रात सुलानेके लिये उसे गोदमें उठाये इधर-उधर टहलते हैं; क्योंकि लिटानेसे वह चिल्लाता है तो हमें अपने काममें कभी सफलता न होगी। यदि हम उसमें अपने-आप लेटे रहनेका 'स्वभाव' डालना चाहते हैं तो रोनेपर हमें उसको चटपट उठा नहीं लेना चाहिये। हाँ, यदि उसका रोना बहुत देरतक बंद ही न हो और यदि हम सचमुच समझें कि उसकी तबीयत अच्छी नहीं या उसके रोनेका कोई और उचित कारण है तो बात अलग है। बाकी बातोंकी तरह हमें यहाँ भी अपनी व्यवहार-बुद्धिसे काम लेना चाहिये।

४—एक दूसरा उदाहरण लीजिये—कई बच्चे लगातार अपने बिछौनेको मल-मूत्रसे गीला करते रहते हैं; क्योंकि उनको दिन-रातमें कई बार उठाकर हँगाया या मुताया नहीं जाता । इस सम्बन्धमें भी बच्चेको सफाईकी आदतें डालना बिल्कुल सम्भव है । यदि मा उसे थोड़े-थोड़े अन्तरके बाद उठाकर बिछौनेसे नीचे कर देगी, तो माके कुछ दिनोंतक यत्न करते रहनेके बाद बच्चा समझने लगेगा कि मुझे किसलिये उठाया जाता है और वह अपनेको वशमें रखना सीख कर केवल उसी समय मल-मूत्र त्यागेगा जब उसे माता उठाकर बिछौनेसे अलग कर देगी । हाजत होनेपर बच्चा अपने-आप हिल-जुलकर इस बातकी सूचना देने लगेगा कि मुझे उठाओ, मैं मूतना चाहता हूँ । यदि मा ऐसे अवसरोंपर उसको उठानेमें आलस्य करेगी तो उसे विवश होकर बिछौना खराब करना पड़ेगा । बिछौनेको गीला न करनेका स्वभाव बन जानेपर भी कभी-कभी किसी कारणसे बच्चा ऊपर ही टट्टी कर दे तो कोई घबरानेकी बात नहीं । नियममें अनियम हो ही जाता है ।

५—यदि बच्चोंकी सावधानीसे देख-रेख न की जाय तो उन्हें खूब चबाकर खानेकी जगह भोजनको निगल जानेकी बुरी लत पड़ जाती है । जब बच्चा ठोस भोजन खाने योग्य हो जाय, तब उसे इसको चबाकर और धीरे-धीरे खानेकी शिक्षा देनी चाहिये । बच्चेकी तंदुरुस्तीके लिये यह बड़ी जरूरी बात है; क्योंकि ठोस भोजनको चबाये और मुँहमें थूकके साथ मिलने दिये बिना निगल जाना अवश्य ही अजीर्ण पैदा करता है ।

६—नन्हे बच्चोंको हमें अच्छे नैतिक स्वभाव और शिष्टाचारकी बातें भी सिखानी चाहिये । असभ्य रीतिसे बात करना, गाली देना या रोटीको उठाकर खाते फिरना इत्यादि बुरी बातोंको पहलेसे ही रोकना चाहिये । जितनी छोटी अवस्थामें बच्चेके स्वभावोंपर हम ध्यान देना शुरू करेंगे, हमारा काम उतना ही ज्यादा आसान होगा; क्योंकि बच्चा जितना बड़ा होता जायगा, उसके बुरे स्वभावोंको बदलना उतना ही कठिन होता जायगा ।

७—परंतु किसी भी सूरतमें हम अपना काम बहुत आसान नहीं पायेंगे । हमें बच्चेको एक सच्चाईका बार-बार अनुभव कराना होगा । कभी-कभी हम धीरजको हाथसे खो बैठेंगे, और हारकर हमारा जी चाहेगा कि चलो छोड़ो, जिस तरह वह करता है करने दो; परंतु प्रेम और दृढ़ताके साथ मिलकर धीरज बच्चेकी शिक्षामें आश्चर्यजनक काम कर सकती है ।

८—बड़ी बात यह है कि हम दृढ़ रहें । मान लीजिये कि हम चाहते हैं कि बच्चा शोर न मचाकर धीरे बात करना सीखे । अब हमें चाहिये कि जब भी वह चिल्लाकर बोले, उसे इसलिये न छोड़ दें कि हम आलस्यके कारण उसका सुधार नहीं कर सकते और फिर अगली बार जब वह चिल्लाये तब डंडा लेकर उसे मारने दौड़ें । यदि हम उसे शिक्षा देनेमें इतने अनिश्चित होंगे तो हम आशा नहीं कर सकते कि वह धीरे बोलनेका स्वभाव सीख ले ।

९—इसके साथ ही दूसरी बात यह है कि हमें बहुत कठोर भी नहीं होना चाहिये और सब समय झगड़ा नहीं करते रहना चाहिये । छोटे बच्चोंको डराना बिल्कुल नहीं चाहिये । छोटे बच्चोंकी दुर्बल इच्छाशक्तिका विचार कर लेना चाहिये । हमें उनसे बहुत अधिककी आशा नहीं करनी चाहिये ।

१०—यदि हम किसी बच्चेमें अच्छे स्वभाव डालना चाहते हैं तो मुखसे उपदेश करनेकी अपेक्षा आप उदाहरण बनकर दिखलानेसे उसपर अधिक प्रभाव पड़ेगा । उदाहरणमें—जो काम हम बच्चेसे कराना चाहते हैं उसे पहले आप करके दिखानेमें बड़ी भारी शक्ति है । बुरे स्वभाव छूतछातके रोगोंके सदृश लग जाते हैं । सौभाग्यकी बात है कि अच्छे स्वभाव भी आ लगते हैं । एक स्त्री अध्यापिकाको बच्चोंके साथ बैठी देखनेका स्वभाव था । अध्यापिकाको धीरेसे नम्रतापूर्वक बात करनेका स्वभाव था । बच्चोंकी सारी कक्षाने उसकी नकल कर ली । वे सब उसी ढंगसे नम्रतापूर्वक बात करने लगे । इसका कारण यह नहीं था कि अध्यापिकाने उनको ऐसा करनेको कहा था, वरं उन्होंने बिना समझे-बूझे उसके उदाहरणकी नकल कर ली थी ।

११—इसलिये हम जो कुछ बच्चोंको बनाना चाहते हैं, वह पहले हमें आप बनना चाहिये । यदि हम उन्हें सच बोलनेका स्वभाव डालना चाहते हैं, तो पहले हममें आप सच बोलनेका स्वभाव होना चाहिये । या यदि हम उनको साफ-सुथरे रहना सिखा रहे हैं, तो हमें आप साफ-सुथरे रहना चाहिये ।

याद करने योग्य जरूरी बातें

१–स्वभावोंसे चरित्र बनता है।

२–यदि हम देरतक कोशिश करते रहें तो बिल्कुल छोटे बच्चे भी सफाई और नियमपर चलनेके स्वभाव सीख सकते हैं।

३–जो कुछ हम अपने बच्चोंको बनाना चाहते हैं, वह हमें आप बननेका यत्न करना चाहिये।

बालकोंका रक्षण तथा शिक्षण

माता जिस समय रजस्वला होती है, उसी समयसे उसके गर्भाशयपर उसके आहार एवं विचारोंका प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हो जाता है। इसलिये माताके रजस्वला होनेके समय ही बालकके निर्माणकी भूमिका प्रारम्भ हो जाती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे बालकके विकास-क्रमको अवस्थाके अनुसार सात भागोंमें बाँटा जाना चाहिये और उन अवस्थाओंके अनुकूल उसके पालन-पोषण तथा शिक्षणकी समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। ये सात अवस्थाएँ हैं—१–गर्भस्थ शिशु, २–जबतक शिशु बैठने नहीं लगता, ३–एक वर्षतककी अवस्था, ४–दोसे चार वर्षतक, ५–पाँचसे नौ वर्षतक, ६–दस वर्षसे बारह वर्षतक, ७–युवावस्था।

१–गर्भस्थ शिशु

१–गर्भवती होनेके पश्चात् स्त्रीको पवित्र विचार रखने चाहिये। सात्त्विक आहार करना चाहिये। उस समयके आहार एवं विचारका गर्भपर बहुत प्रभाव पड़ता है। उसे एकान्तमें रहना चाहिये और भगवान्का तथा पवित्र पुरुषोंके चरितका चिन्तन करना चाहिये।

२–यदि स्त्री-पुरुष कामवासनासे ही संसर्ग करेंगे तो संतानमें भी मलिन संस्कार आवेंगे। केवल उत्तम संतानकी इच्छासे, गर्भाधान-संस्कारकी विधिसे, संतानमें जिन गुणोंको लानेकी इच्छा हो, वैसे गुणों तथा वैसे गुणशाली महापुरुषोंका चिन्तन करते हुए स्त्री-पुरुषको सहवास करना चाहिये।

३–आयुर्वेदमें गर्भकी रक्षाके लिये जो प्रतिमास सेवन करनेकी ओषधियाँ कही गयी हैं, किसी अच्छे वैद्यसे सलाह करके उनका सेवन कराना चाहिये।

४–गर्भकी स्थिति ज्ञात होनेके पश्चात् बड़ी सावधानीसे माता-पिताको ब्रह्मचर्यका पूरा पालन करना चाहिये। माताको कामुकताके विचार, वैसी बातें और उत्तेजक साहित्यका पढ़ना सर्वथा छोड़ देना चाहिये।

५–माताको लालमिर्च, चरपरा, खट्टा, बहुत शीतल, बहुत उष्ण भोजन तथा सब प्रकारके नशीले पदार्थ सर्वथा छोड़ देना चाहिये। इनके सेवनसे गर्भस्थ बालकको बहुत हानि होती है।

६–माताको उन दिनों भगवान्की पूजा, जप, पाठ तथा देवाराधनमें विशेषरूपसे मन लगाना चाहिये। वह जैसे विचार करेगी, उसके बच्चेमें उन विचारोंकी प्रधानता होगी।

७–गर्भवती स्त्रीको कोई भारी वस्तु नहीं उठानी चाहिये। दौड़ना नहीं चाहिये। अधिक श्रम नहीं करना चाहिये।

८–गर्भवती स्त्री यदि सूर्य या चन्द्रमाके ग्रहणको देखेगी तो गर्भका बालक विकृताङ्ग उत्पन्न होगा।

९–गर्भवती स्त्रीको परिवारमें पहले भोजन कराना चाहिये। उसकी यदि कोई वस्तु पानेकी इच्छा हो तो यथासम्भव उसे वह वस्तु दी जानी चाहिये।

२–जबतक शिशु बैठने नहीं लगता

१–बच्चेके उत्पन्न होनेपर उसके नालोच्छेदन तथा सूतिकागृहकी रक्षाका उपयुक्त प्रबन्ध करना चाहिये। जातकर्म-संस्कार, सूतिकागृह-रक्षणसे लेकर षष्ठीपूजनतकके कर्म बहुत सावधानीसे करने चाहिये। विद्वान् ब्राह्मणसे इनकी विधियाँ जाननी चाहिये। नवजात शिशु एवं प्रसूता नारीके लिये अनेक प्रकारकी बीमारियों तथा पूतनादि ग्रहोंका भय होता है, अतः इस कालमें खूब सावधानी आवश्यक है।

२–जबतक बालक माताका दूध पीता है, माताको अपने आहारमें सावधानी रखनी चाहिये। माताको कोई ऐसी वस्तु नहीं खानी चाहिये, जिससे बच्चा रोगी हो जाय। चरपरे, खट्टे, तेलसे बने भोजनके अतिरिक्त माताको पत्तोंके शाक तथा मूली जैसे शीतल तथा कटहल जैसे गरिष्ठ शाक और फल भी नहीं खाने चाहिये।

३–बच्चेको दूध पिलानेका समय बना लेना चाहिये। चाहे जब दूध नहीं पिलाना चाहिये। दूध लेटे-लेटे या खड़े-खड़े नहीं पिलाना चाहिये। सदा बैठकर गोदमें बालकको लिटाकर दूध पिलाना चाहिये।

४–शिशुके अङ्गोंमें, पैरोंके तलुओंमें तथा सिरपर तेल मलना, नेत्रोंमें अञ्जन लगाना तथा उत्तम ओषधियोंकी उसे घुटी देना लाभदायक है; किंतु बालकको निद्रित करनेके लिये अफीम या कोई दूसरी नशीली वस्तु कभी नहीं देना चाहिये। बालकको पहली जन्मघुटी दी जाती है, उसमें पहली बार एक ही दफा यदि खसके दाने जितनी असली कस्तूरी मिला दी जाय तो बच्चेको कभी सूखाका रोग नहीं होगा, न न्यूमोनिया ही होगा।

५–बालक यदि स्वस्थ है तो खेलता रहेगा। यदि वह रोने लगे तो उसे तुरंत दूध मत पिलाइये। देखिये कि उसे क्या कष्ट है। उसे मक्खी, जूँ, खटमल या मच्छर तो नहीं तंग करते हैं। लघुशंकासे उसका बिछौना गीला तो नहीं हुआ है। उसकी असुविधा दूर कर देनेपर वह चुप हो जायगा।

६–छोटे बच्चेको कपड़े पहनानेसे उसके अङ्गोंके विकासमें बाधा पड़ती है। उसको सोते समय आवश्यक वस्त्रसे ढक दीजिये; किंतु उसे वस्त्र पहनाइये मत। गहने तो उसे बिल्कुल ही मत पहनाइये।

७–बराबर गोदमें लिये रहनेसे बच्चेको गोदमें रहना अच्छा लगने लगता है और गोदमें लिये बिना वह रोता रहता है। इसलिये प्रारम्भसे उसे गोदमें कम लेना चाहिये। यदि गोदमें रहनेका स्वभाव पड़ गया है तो उसे धीरे-धीरे दूर करना चाहिये। सदा गोदमें रखनेसे पैरोंमें ताकत भी नहीं आती है।

८–जो कुछ हाथमें आवे, उसे मुखमें डालना बच्चेका स्वभाव होता है। उसके हाथ स्वच्छ रखिये। उसके पास गंदे कपड़े मत रहने दीजिये। उसे मिट्टी या लकड़ीके ऐसे खिलौने मत दीजिये, जिनके रंग छूटते हों। यह रंग पेटमें जाकर बच्चेको हानि पहुँचाता है। रबड़के खिलौने उसके हाथमें एकदम मत दीजिये।

९–यह मत सोचिये कि अबोध बच्चा कुछ समझता नहीं। बच्चा अपने आस-पासकी बातोंको बड़े ध्यानसे देखता है। उसपर उन बातोंके गम्भीर संस्कार पड़ते हैं। नवजात बालकके समीप भी माता-पिताको पूरा संयम रखना चाहिये। बच्चेके पास कोई काम, क्रोधकी चेष्टा नहीं होनी चाहिये।

१०–मुख बनाकर, चिल्लाकर या दूसरे किसी भी प्रकारसे बच्चेको डराइये मत।

११–बच्चा नहीं समझता, इसलिये उसे ऊटपटांग बातें मत कहिये। उसे पाजी, गवाँर, साला आदि कहकर प्यार करना बहुत बुरा है। उसे उत्तम सम्बोधन दीजिये। उसे सद्गुणी बताइये।

१२–बच्चेके आस-पास भयानक या गंदे चित्र, खिलौने आदि मत रहने दीजिये। उसके पास ऐसे उत्तम चित्र और खिलौने रखिये, जिससे उसके मनपर अच्छे संस्कार पड़ें।

३–एक वर्षतककी अवस्था

१–बालकमें जो भी दोष हैं, अज्ञानके कारण हैं। पाँच वर्षतककी अवस्थातक तो बालकको मारना बिल्कुल ही नहीं चाहिये। मारनेसे उसका स्वभाव सुधरनेके बदले बिगड़ेगा। उसे प्रेमसे और समझाकर सुधारिये।

२–बालकको चाय या किसी प्रकारकी नशीली वस्तु मत दीजिये। उसे अपना जूठा भी कभी मत खिलाइये।

३–बालकोंको चूमना उनके स्वास्थ्यके लिये हानि-कारक है।

४–धूलिमें उसे खेलने दीजिये और थोड़ी बहुत चोट लगे तो ध्यान मत दीजिये। बच्चेको अभी कपड़े पहनानेकी आवश्यकता नहीं है।

५–बालक इस वयतक आज्ञाकारी होता है। उसे 'ना' कहकर ही आप किसी कामसे रोक सकते हैं।

६–बच्चेको डाँटिये मत। डराइये मत। दूसरोंको उसके सामने अपशब्द मत कहिये। उसे किसीको मारना मत सिखाइये।

७–स्नेहवश बालकको मसालेदार भोजन, चाट, मिठाई आदि न खिलावें। उसे दूध, फल, मेवे तथा हल्का सात्त्विक भोजन ही दें।

८–बच्चे अपनेसे बड़े बच्चोंका अनुकरण करते हैं। वे जितना अपनेसे बड़े बालकोंसे सीखते हैं, उतना माता-पिता या शिक्षकसे नहीं सीखते। अतः बालककी सभी दशामें यह सावधानी रखनी चाहिये कि उसके पास बुरे स्वभावके उससे

बड़ी अवस्थाके बालक न खेलें। अच्छे स्वभावके बालकोंके साथ उसे रखकर सरलतासे उसमें सद्‌गुण स्थापित किये जा सकते हैं।

९–मिट्टी खाना या ऐसा ही कोई दोष बालकमें आ गया हो तो उसे मारिये मत। रोष मत प्रकट कीजिये। स्नेहपूर्वक यत्न करके दोषको दूर कीजिये।

१०–कभी भी बालकको घूस मत दीजिये। अर्थात् यदि वह कोई अनुचित माँग करके रोवे तो उसकी माँग मत पूरी कीजिये। बालकपर क्रोध भी मत कीजिये। उचित माँगके लिये भी वह रोवे तो उसे कह दीजिये कि चुप होनेपर ही वह माँग पूरी होगी। उसे अनुभव करने दीजिये कि रोनेसे उसकी कोई माँग पूरी नहीं होती। उसके रोनेपर कोई ध्यान नहीं देता।

४–दो वर्षसे चार वर्षतक

१–लगभग डेढ़ वर्षकी अवस्थामें बालक अपनी आवश्यकताएँ प्रकट करने लगता है। अब उसके शिक्षणका प्रारम्भ हो जाता है। उसमें उत्तम स्वभाव पड़े, इसका ध्यान इस अवस्थासे ही रखना चाहिये।

२–बच्चेको शौच या लघुशङ्काकी आवश्यकता होनेपर सूचित कर देना चाहिये। शौच होनेपर जलसे शरीर स्वच्छ होनेकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। बार-बार सूचना देकर, स्नेहसे समझाकर यह स्वभाव बच्चेमें डालिये।

३–बच्चेको किसी दूसरेके पासकी वस्तु लेनेको उत्कण्ठित नहीं होना चाहिये।

४–छड़ी, चाकू, अग्नि, दीपक या ऐसी ही दूसरी वस्तुएँ उसे नहीं छूनी चाहिये।

५–ढाई वर्षकी अवस्थातक उसे अपने हाथसे भोजन करना, भोजनके पश्चात् भलीप्रकार हाथ-मुँह धोना तथा उन्हें पोंछना, स्नान करना और कपड़े पहनना आ जाना चाहिये।

६–उसे मल-मूत्र-त्यागके उचित स्थानकी पहचान हो जानी चाहिये और ठीक स्थानपर ही ये कार्य करने चाहिये।

७–प्रसन्नतासे सबको अभिवादन करना उसे आना चाहिये।

८–बालक अब केवल आदेश देनेसे नहीं मान लेगा। उसे इन बातोंके लाभ मोटे रूपसे थोड़ेमें समझाइये। इनके विपरीत वह चले तो उसकी हानि बताइये।

९–बार-बार सिखानेपर भी बालक कोई स्वभाव न छोड़े या कोई बात न सीखे तो रुष्ट मत होइये। बालकको दण्ड देना आवश्यक जान पड़े, तो उससे प्रसन्नमुखसे कह दीजिये कि अमुक कारणसे उससे दो या एक घंटे आप नहीं बोलेंगे। अथवा उसे गोदमें नहीं लेंगे। अपनी बातका स्थिरतासे पालन कीजिये। बालकपर इसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा।

१०–बालकको एक साथ बहुत-सी बातें मत समझाइये। एक बार एक बात बताइये और वह भी सीधे ढंगसे।

११–इस अवस्थामें बालकोंमें थूकना, छोटे कीड़ोंको तंग करना, मुख या नाकमें अंगुली डालना, बार-बार जननेन्द्रिय छूना आदि दोष आते हैं। इन्हें धीरे-धीरे समझाकर दूर करना चाहिये।

१२–बालक इस समय प्रायः झूठ बोलने लगता है। उसे कुछ बोलना है। बोलना सीख रहा है वह। अतः आप कुछ पूछते हैं तो जो मुँहमें आता है, वह बोल जाता है। बालकसे कोई ऐसी टेढ़ी बात मत पूछिये कि वह झूठ बोले। यदि वह झूठ बोलता है तो उसकी बातपर ध्यान मत दीजिये। उसे दण्ड देकर या भय दिखाकर ऐसा मत बनाइये कि उसे भयवश झूठ बोलना पड़े।

१३–'तुम झूठ बोलते हो' 'तुमने चोरी की' 'तुमने अपराध किया' इस प्रकारकी बात बालकसे मत कीजिये। बुराइयोंकी चर्चा ही मत कीजिये। उसे केवल कहिये—'यह बात ठीक नहीं कही। ठीक बात कहना चाहिये।' इसी प्रकार उसके रोनेपर 'चींटी मर गयी' जैसी बातें भी कहना ठीक नहीं। उससे कहिये—'कहीं किसी चींटीको तुमने रुलाया तो नहीं।' 'तुम पाजी हो' जैसी बातें मत कहिये। कहना हो तो कहिये 'तुम अमुक काम ठीक नहीं करते। उसे ऐसा करनेवाले लड़के भले होते हैं।'

१४–बच्चेकी बातोंको प्रेमसे सुनिये, पर उसकी उन बातोंपर ध्यान मत दीजिये जो वह दूसरोंकी बुराई करता है।

१५–बच्चेके प्रश्नोंको टालिये मत। उनके ठीक उत्तर समझाकर दीजिये। देरतक बालकके प्रश्नका उत्तर मत रोकिये।

१६–'हौआ' आदिसे बालकको मत डराइये। उसे

भूतोंकी कहानियाँ मत सुनाइये । उसे सत्पुरुषों, भक्तोंकी सच्ची कथाएँ सुनाइये ।

१७—बालकसे दलील मत कीजिये । एक बातको बार-बार मत दुहराइये ।

१८—अच्छे कामके लिये बालकको पुरस्कार मत दीजिये। केवल प्रसन्नता प्रकट कीजिये । अनुचित कार्यके लिये मना करनेपर बालक रोये-चिल्लाये तो दृढ़तासे उसके रोनेकी उपेक्षा कर दीजिये । उसे न रोनेके लिये मनानेसे उसका स्वभाव बिगड़ता है । अच्छाईके लिये बालकको सुन्दर नाम 'उपाधि' देकर प्रोत्साहित कीजिये ।

१९—बालकको चिढ़ाइये मत और न उसकी हँसी उड़ाइये । बालक कुछ चाहता हो तो उसे बहकाइये मत । उसकी माँग क्यों पूरी नहीं होती, यह समझा दीजिये ।

२०—बालकके शरीर, वस्त्र या कार्यकी अनुचित प्रशंसा मत कीजिये । 'यह वस्तु मेरी है और यह तुम्हारी है' ऐसी बातें उसे मत सिखाइये । घरके बालकोंके खिलौने बाँटिये मत । निजत्वके भावको जहाँतक हो, कम कीजिये ।

२१—बालकको दूसरोंसे मिलना सिखाइये । छोटे-छोटे कार्योंमें सहायता करनेका उसे अभ्यास कराइये ।

२२—बालक गिरे और चोट लगे तो कह दीजिये—'जाने दो ! अच्छे लड़के मजेसे सह लेते हैं ।'

२३—बालक किसीको मारे या गाली दे तो तुरंत रोकिये। प्रसन्नता मत प्रकट कीजिये ।

२४—बालक कोई काम अधूरा न छोड़े, यह ध्यान रखिये ।

२५—बार-बार सिखाने-समझानेपर भी बालक त्रुटि करे तो समझना चाहिये कि कहीं अपनेमें, अपने समझानेकी रीतिमें त्रुटि है। पहले उस त्रुटिको ढूँढ़कर दूर करना चाहिये ।

५—पाँच वर्षसे नौ वर्षतक

१—भारतकी शास्त्रीय परम्पराके अनुसार इस अवस्थामें द्विज बालकका उपनयन संस्कार हो जाना चाहिये और उसे ब्रह्मचर्याश्रमके नियमोंका स्वयं पालन करना चाहिये ।

२—यदि इससे पहले ठीक ढंगसे बालकका संरक्षण हुआ है तो अब वह स्वयं नियमोंका पालन करेगा । अब उसे इसके लिये बराबर प्रेरित नहीं करना होगा ।

३—इस अवस्थामें बालकमें सहनेकी पर्याप्त शक्ति होती है और उसके मनमें बहुत अधिक जिज्ञासा होती है । वह बहुत-सी बातोंको पूरी तरह जानना चाहता है । उसे इस अवस्थामें भलीप्रकार शिक्षा मिलनी चाहिये ।

४—बालकके शरीरकी धातुएँ इस समय परिपक्व हो रही हैं । डरिये मत, वह इस समय बहुत अधिक सर्दी-गरमी सह सकता है । इस समय उसके शरीरको सुख देनेसे सदाके लिये वह शीत-उष्ण सहनेमें असमर्थ हो जायगा ।

५—ब्रह्मचर्याश्रमके नियमोंके अनुसार युवावस्थातक बालकको छाता, जूता, तेल आदिका उपयोग नहीं करना चाहिये । उसे भूमिमें सोना चाहिये । जटा रखनी चाहिये और शरीरको वस्त्रोंसे ढके नहीं रहना चाहिये । यह सब सम्भव न हो, तो भी बालकको तख्तेपर सोनेका अभ्यास कराइये। उसे नंगे पाँव रखना अधिक अच्छा है । विलासकी वस्तुओंसे उसे सर्वथा दूर रखना चाहिये ।

६—इस अवस्थामें माता-पितासे भिन्न एक ऐसे व्यक्तिकी आवश्यकता हो जाती है, जो संयमी हो, सदाचारी हो, तितिक्षु हो और विद्वान् हो । बालक जिसपर श्रद्धा कर सके और युवावस्थातक जिसके संरक्षणमें रह सके । ऐसी व्यवस्था न हो सके तो पिताको ही यह उत्तरदायित्व लेना चाहिये । बालकको संयमित एवं नियमनिष्ठ होनेके लिये उसे अपनेको गम्भीर रखना होगा ।

७—पाँचसे दस वर्षतकके बालकको नियमित रखनेके लिये एक अंशमें दण्ड आवश्यक होता है । बालकको न तो बार-बार डाँटा जाय, न पीटा ही जाय । वह खूब निःसंकोच हिल-मिलकर खेल सके; किंतु उसके मनमें भूल करनेपर भय आवे, रुखाईसे मना करनेपर वह समझे कि उसे कठोर दण्ड मिल सकता है, यदि उसने आज्ञापालन नहीं किया । ऐसा स्वभाव आपको अपना बनाना चाहिये ।

८—बालकमें इस अवस्थामें सबसे तीव्र वृत्ति होती है—जिज्ञासा । उसे विश्वास हो कि अमुक नियमोंका पालन करनेसे तथा अमुक प्रकार रहनेसे उसका ज्ञान बहुत शीघ्र बढ़ सकता है तो वह स्वतः सावधानीसे नियमोंका पालन करेगा । उसकी जिज्ञासाको उभाड़ते रहिये ।

९—कहानी सुनने, खेलनेकी वृत्ति बालकमें इस समय तीव्र होती है । उसे पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथाएँ यदि आप सुनाते हैं तो उनका संस्कार जीवनभर उसपर रहेगा ।

उसे ऐसे खेल दीजिये कि उससे वह कुछ सीख सके। उससे बातें करते समय ऐसे शब्दोंका बार-बार उपयोग कीजिये जो उसके ज्ञानको बढ़ावें।

१०–कष्ट सहना, अपने काम सब अपने हाथसे करना, स्थानको तथा वस्त्रोंको स्वच्छ करना, गुरुजनोंकी सेवा करना बालक पसंद करेगा यदि आप उसे प्रोत्साहित करेंगे। उसे ये सब कार्य आ जाने चाहिये।

११–यदि संरक्षक मोहवश बालकमें चटोरापन न उत्पन्न करें तो बालक इस समय भोजनकी परवा नहीं करेगा। उसे सादा भोजन करने दीजिये। इस समय मिठाई, चाट, चाय आदिका स्वभाव डालना बालकका बहुत अहित करेगा।

१२–बच्चेको अपने कार्योंका उत्तरदायित्व समझना चाहिये। उसके कामोंमें कम-से-कम सहायता देकर उसे स्वावलम्बी बनने दीजिये। लाड़-प्यार और उसके वस्त्र, बिछौने, भोजनकी व्यवस्थामें अधिकता करनेसे बच्चेकी हानि ही होती है। आप उसे गुरुगृह न भेज सकें तो घरमें उसे संयम एवं स्वावलम्बनका जीवन बितानेको प्रेरित करते रहें। उसे गुरुका स्नेह तथा शिक्षण दें। अच्छे गुरुमें उसकी भक्ति-श्रद्धाको जगावें।

१३–शिक्षाके लिये कुछ बातोंको रटना आवश्यक होता है। बालककी स्मरण-शक्ति रटनेके इस समय अनुकूल होती है। लेकिन उसे कम-से-कम रटना पड़े, यह प्रयत्न करना चाहिये। लंबे स्तोत्र, बहुत-से श्लोक या पद्य यदि आप उसे रटावेंगे तो दूसरी आवश्यक दिशाओंमें बालककी स्मरण-शक्ति ठीक काम नहीं कर सकेगी।

१४–यदि बालकमें कई दोष आ गये हैं तो उनको क्रम-क्रमसे दूर कीजिये। एक दोष दूर करनेके लिये बालकको एक समय बता दीजिये और देखिये कि वह उसे किस प्रकार दूर करनेका प्रयत्न कर रहा है।

१५–बालक इस अवस्थामें अपने सङ्गके लोगोंसे बहुत अधिक सीखता है। वह बहुत अधिक अनुकरण करता है। उसे श्रेष्ठ सङ्ग मिले, इसका ध्यान रखना चाहिये। उसके सामने आपको अशुद्ध शब्द नहीं उच्चारण करने चाहिये। आप लिखने या बोलनेमें अशुद्धि करेंगे तो बालक यह स्वभाव पकड़ लेगा। ऐसे ही दूसरी सब त्रुटियोंके संसर्गसे दूर रखना चाहिये बालकको। गुरुकुलमें भेजनेकी प्रथा इस संसर्गदोषसे बचानेके लिये अत्यन्त उत्तम थी।

६–दस वर्षसे बारह वर्षतक

१–स्थान, समाज एवं आहारके अनुसार दसवें वर्षके प्रारम्भसे लेकर बारहवें वर्षतक बालकमें संतानोत्पादक ग्रन्थियोंकी पुष्टि प्रारम्भ हो जाती है। यद्यपि उसमें वीर्यका बनना ग्यारह वर्षके पीछे ही प्रारम्भ होता है, परंतु वीर्य निर्माण करनेवाली ग्रन्थियाँ इससे पूर्व ही पुष्ट होने लगती हैं और इससे बालकमें एक प्रकारके शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तनका सूक्ष्म आरम्भ हो जाता है। अभिभावकको इस समय पर्याप्त सावधान रहना चाहिये और उसे बालकके रहन-सहनपर ध्यान रखना चाहिये।

२–बालकमें लज्जा, संकोचके साथ जननेन्द्रियसम्बन्धी जिज्ञासाका उदय भी इसी अवस्थामें होता है। अतएव उसे शरीरकी रचनाका सामान्य ज्ञान, शरीरके बाहरी एवं भीतरी अवयवोंके कार्योंका साधारण परिचय तथा ब्रह्मचर्यके पालनका शरीरकी दृष्टिसे महत्वकी शिक्षा मिलनी चाहिये। शरीर-रचना-प्रणालीका सामान्य परिचय बालकमें अनेक दुर्गुण आनेसे रोकेगा; क्योंकि उसके जिज्ञासाकी उचित ढंगसे पूर्ति होनेपर वह अनुचित मार्ग नहीं अपनावेगी।

३–यदि बालकमें अधिक लज्जाशीलता आ रही है, वह झेंपने लगा है, चिड़चिड़ा हो रहा है तो सावधानीसे पता लगाना चाहिये कि उसमें किसी बुरी आदतका प्रारम्भ तो नहीं हो रहा है। बालकपर बिगड़नेसे कोई लाभ नहीं होगा। उसे शरीरकी रचना तथा उसे व्यवस्थित रखनेके उपाय समझाइये। चित्रों आदिसे उसे शिक्षा दीजिये। वह स्वयं संयमित रहनेके लिये प्रोत्साहित होगा।

४–उत्तेजक भोजन, उत्तेजक साहित्य तथा गाने-बजाने, नाटक-सिनेमा एवं कुसङ्गसे बचानेकी इस समय सबसे अधिक आवश्यकता है।

५–बालकको स्कूली शिक्षाके साथ नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिये तथा व्यावहारिक कार्योंमें सामान्यरूपसे अभ्यस्त होना चाहिये।

६–बालकको सादगीकी ओर प्रोत्साहित कीजिये। सजे-बजे रहने तथा फैशनकी वस्तुओंकी ओर झुकनेकी उसकी मनोवृत्तिको प्रोत्साहित मत कीजिये।

७–व्यावहारिक कार्योंमें बालकको अनुभव करने दीजिये। वह थोड़ी हानि उठाकर, चोट सहकर ही सीखेगा। यदि आप उसे बार-बार टोकेंगे, झिड़केंगे, लंबे उपदेश करेंगे तो

वह उलटे मार्गमें जायगा। हानिके लिये उसकी भर्त्सना मत कीजिये। उसे धीरेसे कहिये—'ऐसा तो होता ही है। तुम फिर यह भूल नहीं करोगे। ऐसा करनेसे अमुक हानियाँ और नहीं होंगी।' इस प्रकार बालक बहुत अधिक सीखेगा।

८—दस वर्षकी आयुके पश्चात् बालकको डाँटना और मारना नहीं चाहिये। उसके साथ मित्रके समान व्यवहार करना चाहिये।

९—बालकको स्वयं अनुभव करने दीजिये। वह जिस कामको ठीक समझता है, उसे कर लेने दीजिये। केवल उसे अपने किये कामकी अच्छाई-बुराईपर सोचनेकी शिक्षा दीजिये। यदि आपने ठीक ढंगसे शिक्षा दी है तो बालकमें ये गुण होने चाहिये—(क) वह कभी कोई बात आपसे नहीं छिपायेगा। (ख) कभी कोई निन्दनीय काम जान-बूझकर नहीं करेगा। (ग) बुरे लोगोंका साथ स्वयं छोड़ देगा। (घ) दूसरोंके साथ ईमानदारीका व्यवहार करेगा। (ङ) अपने निश्चयपर स्थिर रहना चाहेगा।

७—युवावस्था

१—युवावस्था सद्गुणों और दुर्गुणों दोनोंकी जननी है। यह उपजाऊ भूमि-जैसी है। जैसा बीज पड़ेगा, वैसी फसल उत्पन्न होगी। अतएव अभिभावकों तथा युवकोंको भी सावधान रहना चाहिये।

२—कामवासनाके अङ्कुर उत्पन्न होने लगते हैं इस अवस्थामें और उसमें मनका आकर्षण बढ़ता जान पड़ता है। इस अवस्थामें अज्ञानके कारण बहुत-से छोटे-बड़े दोषोंके आनेकी सम्भावना रहती है, जिनका पीछे बहुत बड़ा कुफल भोगना पड़ता है। इसलिये वैवाहिक जीवनमें प्रवेश करनेसे पूर्व युवकको वीर्यवहन-प्रणालीकी क्रिया, वीर्यका शरीरमें स्थान तथा वीर्यरक्षाका महत्त्व भली प्रकार समझा देना चाहिये। यह शिक्षा अश्लीलतामें, कामुकतामें न जाकर शिक्षाके रूपमें होनी चाहिये और इससे लाभ भी होता है।

३—अपने शरीरको सुदृढ़ रखनेकी प्रवृत्ति भी युवकमें होती है। उसे व्यायामके लिये प्रोत्साहित करना चाहिये। साथ ही पौष्टिक ओषधियोंके विज्ञापनों एवं ओषधियोंसे उसे सावधान रहना चाहिये। ओषधिका सेवन कोई रोग न हो तो बिल्कुल ही नहीं करना चाहिये।

४—युवावस्थाकी सबसे प्रमुख प्रवृत्ति है—साहस। युवकमें खतरा उठानेकी अभिरुचि होती है। वह बीमार होने, चोट लगने तथा दूसरे कष्टोंकी चिन्ता बहुत कम करता है। उसकी नाड़ियोंमें जो नवीन उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है, वह अपनी सार्थकता चाहता है। युवककी इस प्रवृत्तिको दबाना अच्छा नहीं है। सावधानीसे उसे उचित दिशामें मोड़ना चाहिये। घुड़सवारी, यान्त्रिक एवं रासायनिक शिक्षा, कठिन यात्राएँ, अनेक क्षेत्रोंमें प्रयोगात्मक शिक्षण उसके लिये उचित दिशाएँ हैं। यदि युवककी इस वृत्तिको ठीक-ठीक क्षेत्र एवं प्रोत्साहन मिल जाता है तो उसके अनेक दुर्गुण स्वयं दूर हो जायँगे।

५—युवक उत्तरदायित्व सँभालना और पूरा करना जानता है। वह कर्तव्यका दृढ़तासे पालन कर सकता है। आवश्यकता इतनी है कि कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व उसपर लादा न जाय। उसे इनके कोरे उपदेश न किये जायँ। वह स्वयं अपना कर्तव्य स्थिर करे, स्वयं उत्तरदायित्व ले, इसके लिये उपयुक्त शिक्षा एवं परिस्थिति बनाना चाहिये।

६—युवावस्थामें महत्त्वाकाङ्क्षा होती है। उचित दिशामें लगा देनेपर युवक परिश्रमी और कर्तव्यनिष्ठ स्वयं हो जायगा अपनी महत्त्वाकाङ्क्षाके कारण।

७—यह प्रयत्न मत कीजिये कि युवक आपके अनुभवोंको बिना ननु-नच किये मानता चले। उसे स्वयं सोचने और अनुभव करने दीजिये। ऐसे समय उसे सेवाके कार्यमें मन लगानेकी आदत डालनी चाहिये।

८—युवावस्थाकी शिक्षाका अधिकांश व्यावहारिक होना चाहिये। बौद्धिक शिक्षणको प्रयोग करके अनुभूत बनानेका अवसर मिलना चाहिये प्रत्येक युवकको।

९—अनुशासनका पालन, सेवाकी प्रवृत्ति, विनय, सदाचार-निष्ठा, त्याग एवं कष्ट सहनेके लिये प्रत्येक समय तत्पर रहना, ये विशेष गुण युवकमें आने चाहिये। उसकी शिक्षाका क्रम इन बातोंको मुख्यता देकर ही स्थिर होना चाहिये। सु०

व्यायाम और खेल

कबड्डी

देखो कैसा खेल कबड्डी। हों मजबूत नसें औ हड्डी॥
तनमें पूरी फुर्ती आवे। खूब खेलना मनमें भावे॥

दौड़

आओ दौड़ें लंबी दौड़। एक साथ सब करके होड़॥
यह भी है उत्तम व्यायाम। आगे जाये उसका नाम॥

कुश्ती–कसरत

ये हैं बैठक-दण्ड लगाते। कुश्तीके भी दाव दिखाते॥
आदर करते इनका लोग। बल बढ़ता है भगते रोग॥

व्यायाम और खेल
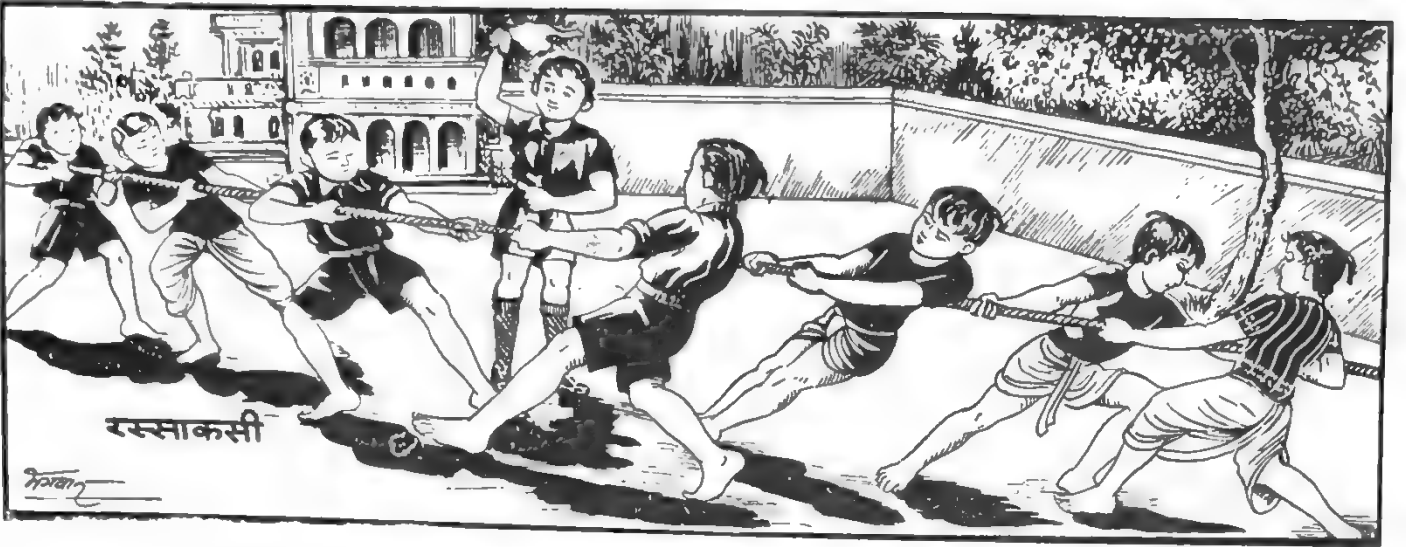
रस्साकसी जोरका खेल। खींचो एक साथ कर मेल ॥
देखो जीतेगा दल कौन। बोलो मत सब रक्खो मौन ॥

है तो अच्छी सायकिल दौड़। पर मत करना इसमें होड़ ॥
भीड़ भाड़को देख चलाना। ऊँची नीची राह बचाना ॥
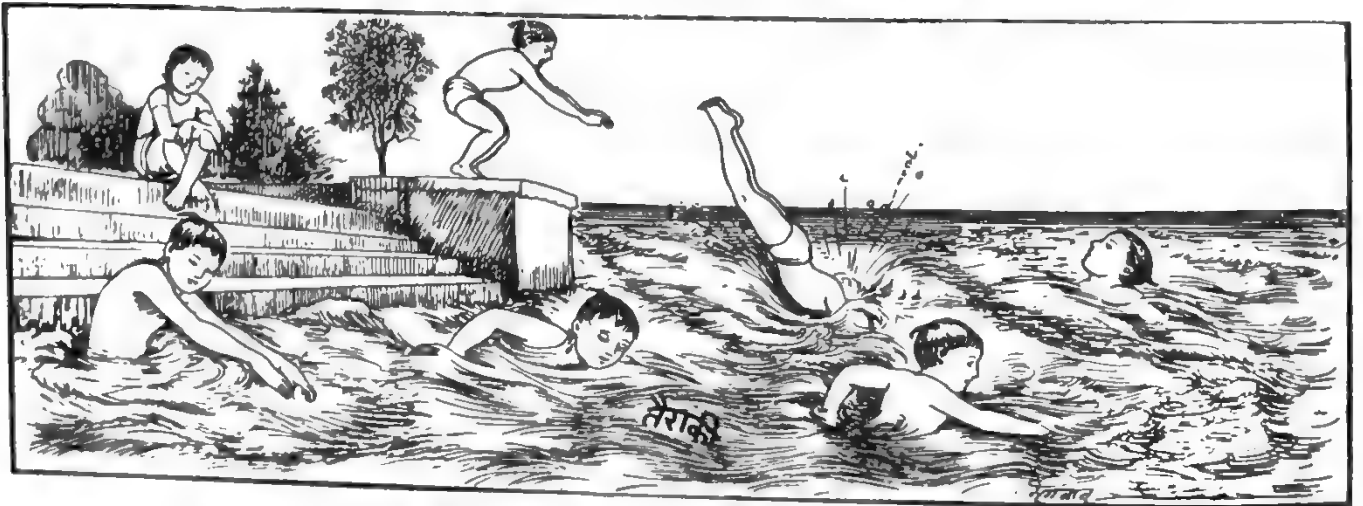
बालक जलमें तैर रहे हैं। कूद रहे हैं, दौड़ रहे हैं ॥
मैल दूर हो, हो व्यायाम। तैराकीमें दो-दो काम ॥

प्रार्थना

स्वामीके शुचि चरण-कमलमें सादर शीश झुकाऊँ मैं।
दुखियोंके संताप-हरणकी शक्ति विलक्षण पाऊँ मैं॥

दो ऐसा वरदान दयामय! दीनोंको अपनाऊँ मैं।
सारा सुख दुखियोंको देकर, उनका सुख बन जाऊँ मैं॥

छाता बनकर, मेह-घामसे उनकी देह बचाऊँ मैं।
कंकड़-काँटे लगें नहीं, उनकी जूती बन जाऊँ मैं॥

अंधोंकी लकड़ी बन करके, सूधे मार्ग चलाऊँ मैं।
भटक रहे जो लक्ष्य भुलाकर, उनको पथ दिखलाऊँ मैं॥

गुणसमूहको प्रकट करूँ, अवगुणको सदा दुराऊँ मैं।
धागा बनूँ, अंग निज देकर, सबके छिद्र छिपाऊँ मैं॥

पुत्रहीनका सुपूत बनकर, उसको सुख पहुँचाऊँ मैं।
जिसके कोई नहीं, उसीका निज जन ही बन जाऊँ मैं॥

हिम्मत हारे हुए व्यक्तियोंको हिम्मत बँधवाऊँ मैं।
निपट निराश जनोंको आशाका आलोक दिखाऊँ मैं॥

जीवनहीन प्राणियोंको, निज जीवन सौंप जिलाऊँ मैं।
निष्प्राणोंमें प्राण फूँककर, दे अवलम्ब उठाऊँ मैं॥

मूर्छित तमसाच्छन्न जनोंको देकर बोध जगाऊँ मैं।
ज्ञान-भास्करकी किरणोंसे, तमको तुरत मिटाऊँ मैं॥

प्रभुके निर्मल लीला-रसकी सरस रागिनी गाऊँ मैं।
मुरझी हृदय-कुसुम-कलिकाको पूर्णतया विकसाऊँ मैं॥

सूखे नीरस प्राणोंमें, रस-सुधा सदा बरसाऊँ मैं।
श्रद्धाकी शुचि सुधा पिलाकर, नित उनको सरसाऊँ मैं॥

गतविश्वास संशयी पुरुषोंका विश्वास बढ़ाऊँ मैं।
प्रभुकी महिमा सुना-सुनाकर चरण-शरण दिलवाऊँ मैं॥

भयभीतोंको अभय चरणका आश्रय अचिर कराऊँ मैं।
चिदानन्दमय सत्य सनातन निर्भय पद पहुँचाऊँ मैं॥

प्रभुके करुण हृदयके दर्शन दीनोंको करवाऊँ मैं।
अशरण-शरण पतित-पावन प्रभुका संधान बताऊँ मैं॥

प्रभुकी प्रेम-अमिय-रस-धारा उज्ज्वल अमल बहाऊँ मैं।
काम-स्वार्थका मल धो, मा धरतीको सफल बनाऊँ मैं॥

हमारे और पाश्चात्यके बालक

(लेखक—श्रीरामसिंहजी एम्० ठाकुर, गुरुकुल विश्वविद्यालय)

अवहेलना

भाग्यका चक्र बड़ा विचित्र है, आजकल जहाँ हम जीवनके हर-एक क्षेत्रमें विशेषज्ञोंकी माँग करते हैं, चाहे वह मशीनसे सम्बन्ध रखती हो, चाहे पशुओं और बीजोंसे, चाहे फलों और फूलोंसे, लेकिन जहाँ बालकका पालन-पोषण और शिक्षणके सम्बन्धका प्रश्न उठता है, वहाँपर अनपढ़ोंको तो जाने दीजिये, पढ़े-लिखे सम्पन्न माता-पिता भी, पालन-पोषणकी कलाको सीखनेकी आवश्यकता नहीं समझते । उनका यह भ्रम है कि वे बच्चेका पालन-पोषण करना भलीभाँति जानते हैं । प्रायः उन्हें उदासीन ही पाया जाता है । इसी अभागी वृत्तिके कारण पशुओं, फल-फूलों और पक्षियोंके पालन-पोषणकी अपेक्षा भी मानव-बालक अत्यन्त उपेक्षित रह गया है और यही कारण है कि मनुष्य-जाति दुःखके सागरमें बह गयी है । मानव-समाजका इतिहास पालन-पोषणकी कठोर टीका-टिप्पणीका इतिहास है । यह युद्धों और व्यक्तियोंके पारस्परिक वैमनस्यका इतिहास है । यदि मानवसमाजने इसकी ओर ध्यान न दिया तो मनुष्य-जाति पूर्णतया नष्ट ही हो जायगी । मनुष्य-जातिका कलङ्कित इतिहास और बालकोंके असामान्य व्यवहारकी महामारीको देखकर यह सिद्धान्त निर्विवादरूपसे स्थिर होता है कि बाल-पालनके लिये शिक्षा और शिक्षण-विज्ञानकी परमावश्यकता है और सभ्य-समाजका यह कर्तव्य है कि वह किसी भी ऐसे व्यक्तिको माता-पिता होनेका अधिकार न दे, जिसने बाल-पालन-पोषणकी शिक्षा प्राप्त न की हो । समाज और साधारण माता-पितामें इस विषयके प्रति केवल जागृतिका अभाव ही नहीं, विरोध भी है । बाल-पालन-पोषणके लिये बालकके मनोविज्ञान और उसके विकासकी विधियोंमें ज्ञानकी नितान्त आवश्यकता है ।

बच्चे राष्ट्रकी अमूल्य सम्पत्ति हैं और उनके कल्याणपर ही देशका भविष्य निर्भर होता है, किंतु दुःख है कि हमारे देशमें उनके हितोंकी अवहेलना हुई है । मुझे यूरोपके कई स्कूलोंको देखनेका अवसर मिला है । अवसर ही नहीं मिला, बल्कि एकमें काम करनेका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है । वहाँ मैंने देखा कि बच्चोंकी देख-भाल करनेके लिये कितना प्रयत्न किया जाता है । उनकी शिक्षाका ही नहीं, किंतु उनके स्वास्थ्यपर भी पूरा ध्यान दिया जाता है । प्रत्येक बालकको एक पौंड दूध व्यायामके पश्चात् बिना किसी भेदभावके दिया जाता है । गरीब-से-गरीब विद्यार्थीका भोजन, यदि हमारे यहाँके बढ़िया-से-बढ़िया भोजनसे तुलना की जाय तो, वैज्ञानिक दृष्टिसे बराबर अथवा अधिक पौष्टिक सिद्ध होगा ।

शिक्षाकी व्यवस्था

ब्रिटेनमें बच्चोंकी देख-भाल एवं कल्याणके लिये प्रशंसनीय कार्य हो रहा है । बारह वर्षतक बालक और बालिकाओंके लिये अनिवार्य शिक्षा है और उनके लिये नर्सरी स्कूल गरीब-से-गरीब बस्तीमें विद्यमान है । ग्रामोंमें भी मैंने देखा कि निःशुल्क शिक्षा-पढ़ाईकी अच्छी व्यवस्था है । शहर अथवा गाँव दोनों ही इलाकोंमें शिक्षापर अधिक जोर दिया जाता है । सत्य तो यह है कि वे शिक्षा तथा सामाजिक स्वच्छतामें हमसे बहुत अधिक बढ़े-चढ़े हुए हैं ।

रहन-सहन

प्रत्येक मनुष्य अपने घर तथा उसके चारों तरफ इतनी सफाई रखता है कि कोई भी दर्शक यह अंगुली नहीं उठा सकता कि यह स्थान मैला है । प्रत्येक घरके साथ एक छोटा-सा बगीचा होता है । चलती-फिरती गाड़ियोंसे बहुत काम लिया जाता है । इन गाड़ियोंसे जिस प्रकारके काम लेने अनिवार्य होते हैं, ठीक उसे उसी प्रकारसे ही फिट कर लेते हैं । उदाहरणार्थ—दाँत-चिकित्सा, स्वास्थ्य-शिक्षा, सामूहिक रेडियोग्राफी—इनके लिये अलग-अलग मोटरें हैं । प्रत्येक शिक्षा पानेवाले विद्यार्थीकी डाक्टरीपरीक्षा अनिवार्य है । अस्पतालमें प्रसन्नताका जीवन देखनेको मिलता है । वहाँ न केवल रोगीकी चिकित्सा ही होती है, बल्कि उनकी देख-भाल करनेवाली उपचारिका माताके समान उनका पालन-पोषण करती है । खिलौने, रंग-बिरंगी पुस्तकें तथा खेलकी अन्य सुन्दर वस्तुएँ बालकोंको प्रसन्न रखनेके लिये उपलब्ध की जाती हैं ।

शिक्षाकी तुलना

कारखानेवालोंके लिये आवश्यक है कि वह कर्मचारियोंके बच्चोंके लिये स्नानागार, स्कूल, पुस्तकालय आदिकी व्यवस्था खूब रक्खे । पंगु और अङ्गहीन बच्चोंके लिये अलग-अलग

स्कूल हैं। सत्य तो यह है कि बच्चोंकी अवहेलना किसी भी क्षेत्रमें नहीं की जाती है, जब कि उसके विपरीत अपने देशके बालकोंकी दशा देखें तो हमारे लाखों बच्चोंके लिये शिक्षा ही नहीं और यदि है भी तो उनकी शिक्षाकी व्यवस्था संतोषजनक नहीं। कहीं-कहीं तो शहरोंकी धर्मशालाओंमें ही शिक्षणालय बना रक्खे हैं और कहीं-कहीं गाँवके बाहर, जहाँ गाँवका कूड़ा-कचरा इकट्ठा किया जाता है वहाँ बने हुए हैं। कमरोंमें रोशनदान नहीं होते और बच्चोंके लिये खेल तथा पढ़ाईका सामान बहुत ही न्यून होता है। प्रकाश एवं जीवन हमारे ग्रामोंतक अभी पहुँच ही नहीं सका। ग्रामोंको जाने दीजिये। शहरोंमें भी ऐसे बहुत-से बालक हैं, जिनकी शिक्षाकी व्यवस्था ही नहीं है। हमारी शिक्षाका मान तो बहुत ही नीचा है; क्योंकि हमारे अध्यापक कम वेतन पाते हैं। बालकोंके लिये अस्पताल अलग स्थापित ही नहीं किये गये। शिक्षणालयोंमें बच्चोंके लिये दूधका प्रश्न तो दूर रहा, उनके भोजनकी भी पूरी व्यवस्था नहीं होती। बालक और बच्चोंवाली माताओंकी मृत्युसंख्या इस देशमें जितनी अधिक है, शायद ही कहीं उतनी हो।

हमारी अभिलाषा

इसपर भी हम आशा करते हैं कि हमारी यह भावी पीढ़ी भारतको सम्पन्न और बुद्धिमान् बनायेगी। अभीतक तो हमारे पास एक सीधा-सा उत्तर था कि 'हम बेबस हैं, क्या करें, विदेशी राज्य है, जब हमारे हाथमें सत्ता आयेगी तभी देखेंगे।' जिन्होंने हमलोगोंपर शासन किया था, उन्होंने हमारी दण्डनीय अवहेलना की थी।

किंतु अब विलम्ब क्यों?

अब भारत स्वाधीन है, हमें अपना घर सँभालना है। मुझे पूरा विश्वास है कि बच्चोंकी देख-भाल हम सबका मुख्य कर्तव्य और प्रत्येकका महत्त्वपूर्ण कार्य होना चाहिये। बच्चोंकी देख-भालका कार्य उनके माता-पिताका है, किंतु दुःख है कि उनके माता-पिता इन स्वास्थ्य तथा स्वच्छताके साधारण नियमोंसे अनभिज्ञ हैं। हमारा वयस्क समुदाय जिस अनुशासनमें लिप्त है, जबतक वह दूर नहीं होता और जबतक हमारी स्त्रियोंका विशाल समूह अपनी अज्ञानता एवं अन्धविश्वाससे मुक्त नहीं होता, तबतक हमें यह आशा नहीं करनी चाहिये कि हमारे बच्चोंका पालन-पोषण और देख-भाल आदर्श ढंगसे हो सकेगा। फिर भी सामाजिक कार्यकर्ताओंके लिये यह एक भारी क्षेत्र है कि वह इस ओर अपने कार्यक्रमको बढ़ावें।

सच्चे शिक्षकोंकी आवश्यकता

यदि वास्तवमें विद्यार्थियोंकी कमियोंकी जाँच की जाय तो मालूम होगा कि इनका सूत्रपात माता-पितासे ही नहीं, बल्कि शिक्षकके व्यक्तित्वसे भी आरम्भ हुआ है। सत्य तो यह है कि जीवन-संग्रामके कई संघर्षोंमें उन्हें इतना समय ही नहीं मिलता कि वे अपने-आपको सच्चा शिक्षक बना सकें। उनकी आँख घड़ीकी सुइयोंपर अथवा महीनोंकी तिथिपर जमी रहती है। यदि भारत-सरकार कभी इस बातकी जाँच करनेपर कमर कसे तो उसे ज्ञात होगा कि दो तिहाई अध्यापकोंको विवश होकर यह धंधा लेना पड़ा है।

यदि सरकार और समाज देशकी उन्नति चाहता है तो उनका यह कर्तव्य है कि वे ऐसे योग्य शिक्षक रक्खें, जो विद्यार्थियोंके सामने अच्छा आदर्श रख सकें। इन सब कमियोंको दूर करनेका एकमात्र उपाय गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली ही है; जिसमें बालकोंके मानसिक, शारीरिक तथा आध्यात्मिक विकासका पूरा ध्यान किया जाता है, और उसे सच्चा नागरिक बनाया जाता है।

उचित सुझाव

१. अच्छे बड़े-बड़े गाँवोंमें शहरोंसे दूर स्कूल बनाये जायँ, जहाँपर शुद्ध जल तथा वायु प्राप्त हो सकें। प्रत्येक स्कूलके साथ सुन्दर क्रीडाक्षेत्रोंकी व्यवस्था होनी चाहिये। २. गाँवोंमें घूमने-फिरनेवाली गाड़ियोंपर पुस्तकालय होने चाहिये। स्वच्छता और शिक्षाके लिये जितना सरकार इस ओर खर्च करे उतना ही थोड़ा है। ३. स्कूलोंमें फौजी ड्रिल और कालेजोंमें सैनिक-शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिये। ४. स्कूलोंमें छात्रोंके लिये शुद्ध दूधका प्रबन्ध होना आवश्यक है। ५. प्राइमरी शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिये। इसके साथ प्रौढ़ शिक्षाका भी ध्यान रखना चाहिये। जिनमें जीवनोपयोगी बातें हों।

प्रेटोका बाल-शिक्षण

(लेखक—प्रो० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०)

सुप्रसिद्ध दार्शनिक और मौलिक विचारक प्रेटोने अपनी प्राचीन पुस्तक 'रिपब्लिक' (या प्रजातन्त्र) में अनेक विषयोंपर अपने विचार प्रकट किये हैं, जो आज भी सर्वमान्य तथा महत्त्वपूर्ण हैं। अपनी प्रजातन्त्रकी कल्पनामें उन्होंने यत्र-तत्र बाल-शिक्षणपर भी प्रकाश डाला है। जिन बच्चोंको महान् बनकर राज्योंका उत्तरदायित्व सँभालना है, उनका प्रारम्भिक शिक्षण सबसे अधिक ध्यान देनेका विषय है। भारतमें बाल-शिक्षणको इससे अनेक बहुमूल्य तत्त्व प्राप्त हो सकते हैं। आइये, देखें, बाल-शिक्षणपर प्रेटोके क्या विचार हैं—

संस्कारोंका महत्त्व

प्रेटो बाल-जीवनमें संस्कारों और भावनाओंको विशेष महत्त्व प्रदान करते हैं। मानव-स्वभाव संस्कारों और भावनाओंका दास है। माता-पिताके मनःप्रदेशमें निवास करनेवाले गुप्त संस्कार, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें प्रकट होनेवाली गुप्त इच्छाएँ, भावनाएँ और स्वयं उनके संस्कार बाल-मानस-निर्माणमें प्रचुर भाग लेते हैं। प्रत्येक शिशु माता-पिताके गुप्त संस्कारोंकी मूर्त प्रतिच्छाया है। अतः प्रेटोने सर्वप्रथम संरक्षकों, माता-पिताओं, अध्यापकोंके सम्बन्धमें विस्तारसे लिखा है। वे लिखते हैं—

'प्रकृति और पोषण दो ऐसे तत्त्व हैं, जो बालकका निर्माण करते हैं। इन दोनोंके बिना यह सम्भव नहीं कि बच्चेका उचित पालन हो सके।' आप जैसा चाहते हैं, वैसा स्वभाव प्रकृतिसे इतना नहीं माँग सकते, जितना स्वयं अपने संरक्षणसे उत्पन्न कर सकते हैं। परिस्थितियोंका विशेष महत्त्व है। आप परिस्थितियाँ बनाकर बच्चेके विकासमें सहायक बन सकते हैं। बिना उचित पालन, निरीक्षण, अथवा शिक्षणके एक शुभ, सात्त्विक और स्वस्थ संस्कारोंवाला बालक भी अपना पूर्ण विकास न कर सकेगा। वह अपनी निम्न प्रकृतिका भी विकास कर सकता है।

संरक्षकको कैसा होना चाहिये ? प्रेटोका विचार है कि 'पूर्ण रूपसे विकसित संरक्षकको आध्यात्मिक, बुद्धिमान्, कुशाग्र और सशक्त होना चाहिये।' * आधुनिक मनोविज्ञान भी बालकोंमें माता-पिताके संस्कारोंकी छाया देखता है। या बापके प्रेम, दया, करुणा, सौहार्द्र, सज्जनता अथवा उनके दोष, अभिमान, स्वार्थ, क्रोध बहुधा बच्चोंमें जन्मसे ही उत्पन्न हो जाते हैं। हमारे बच्चेमें जो भावनाएँ आती हैं, उनमेंसे अधिकतर हमारे अचेतन मनमें संकलित संस्कारोंके अनुसार ही निर्मित होती हैं। जो व्यक्ति ऊपरसे अच्छी भावनाएँ प्रदर्शित करनेका अभिनय किया करते हैं, किंतु गुप्त मनमें भयंकर उद्वेग, क्रोध, घृणा, कामभाव छिपाये रहते हैं, वे जान-बूझकर अपनी पापवृत्तियोंपर आवरण डालनेका प्रयत्न करते हैं। इससे यह सम्भव नहीं कि उनका बच्चा भी खराब न बने। पिता-माताका गुप्त मौलिक प्रभाव, जन्मजात-संस्कार अज्ञातरूपसे बाल-मानसकी नींव बनाता है। उनके नैतिक, बौद्धिक और मानसिक व्यक्तित्वकी सृष्टि बहुत कुछ माता-पितासे ही आती है।

प्रेटोके उपर्युक्त विचारोंपर अब पर्याप्त वैज्ञानिक खोज हो चुकी है। प्रो० हंट मौरगनके पथ-प्रदर्शनमें उनके शिष्यों और अनेक अमेरिकन वैज्ञानिकोंने जो परीक्षण और नवीन अनुसंधान किये हैं, उनके निष्कर्षोंसे प्रेटोके विचारोंकी सत्यता स्पष्ट हो जाती है। वंशानुगत-तत्त्वोंका सम्पूर्ण रहस्य मनुष्यके प्रत्येक जीव-कोष (Cell) में अर्ध तरल रूपमें वर्तमान वे अत्यन्त सूक्ष्म दण्ड या डोरियाँ हैं, जिन्हें क्रोमोसम्स (Chromosms) कहते हैं। माता-पिताके ही नहीं, सम्पूर्ण वंशमें पूर्वपुरुषोंके भी अनेक जीव-कोष संस्कार बनकर रक्तमें चले आते हैं। प्रत्येक व्यक्तिमें अड़तालीस क्रोमोसम्स होते हैं। चौबीस पृथक् जोड़ोंके रूपमें गर्भाधानके समय प्रत्येक व्यक्ति इन्हें प्राप्त करता है। ये क्रोमोसम्स विभाजन और पुनर्विभाजन द्वारा अरबों क्रोमोसम्समें परिवर्तित हो जाते हैं। लेकिन वे मूल अड़तालीस क्रोमोसम्सके ही ठीक प्रतिरूप होते हैं। हर जीव-कोषमें क्रोमोसम्सके जोड़े रहते हैं। नये जन्मके अवसरपर पुरुषका शुक्र आधे क्रोमोसम्स—यानी प्रत्येक जोड़ेमेंसे एक-एक लेकर चौबीस क्रोमोसम्स धारण करता है। इसी प्रकार नारीका रज अपने आधे क्रोमोसम्स धारण कर लेता है। दोनों क्रोमोसम्सके जोड़े निकट-सम्पर्कमें आकर नये मानवकी रचना प्रारम्भ करते हैं। मोटे रूपमें यह मत मान्य है, यद्यपि इसमें और भी सम्भावनाएँ हैं। किसी

* "Then in our judgment the man whose natural gifts promise to make him a perfect guardian of the state will be philosophical, high-spirited, swift-footed, and strong."—Plato's 'Republic' Book II page 64.

पूर्वपुरुषके वंशके रक्तमें आते हुए कुछ क्रोमोसम्स संततिमें आकर विशेष प्रभावशाली बन सकते हैं। यह ही हमारे संस्कारोंके निर्माणका मनोवैज्ञानिक रहस्य है। इनमें आगे चलकर जन्मके पश्चात् अनेक नये संस्कार वातावरणका परिणाम होते हैं।

बच्चोंके प्रारम्भिक संस्कार कैसे हों ?

प्लेटोका विचार है कि प्रारम्भसे ही बालकके मनपर बुद्धि और दैवी क्रमके संस्कार डालने चाहिये। संसारमें जो कुछ हो रहा है, वह दैवी नियम, परमेश्वरकी इच्छाके अनुसार ही होता है, यह संस्कार बच्चेके मनपर आस्तिकताका भाव उत्पन्न करता है। इस प्रकारके संस्कारोंसे बच्चा अपनी आत्मामें पवित्रता, शिवत्व, सत्यता और मानवताके भाव उत्पन्न करता है। शिवत्वकी ये भावनाएँ, ईश्वरीय-शक्तिमें विश्वास बच्चेको एक ऐसा सुदृढ़ आधार प्रदान करता है, जिससे उसका भावी जीवन शान्त, समृद्ध और सुखी बनता है *।

अतः प्रत्येक माता-पिता तथा संरक्षकका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ऐसी परिस्थिति तथा वातावरणका निर्माण करे कि बच्चेके मनमें यह संस्कार उत्पन्न हो—'इस विशाल विश्वमें ईश्वर ही सर्वशत्रुविनाशक है और वही बहुविध पदार्थोंका उत्पादक और स्वामी है। वरणीय मोक्षादिके स्थान और इस संसारके उत्पादकके रूपमें ईश्वर ही हमारे प्रीतिपूर्वक गानका आधार होना चाहिये, हमें ईश्वरके गुणोंकी स्तुति कर उनके अनुरूप बननेका प्रयत्न करना चाहिये। तभी हमारा जीवन सफल और आनन्दमय बन सकता है।' —इन आस्तिक संस्कारोंसे बच्चेको आध्यात्मिक शान्त-जीवनके लिये एक आधार प्राप्त हो जायगा। उसके सामने प्रारम्भसे ही परमेश्वरके सब गुणोंकी सविस्तार चर्चा करनी चाहिये।

अतः बच्चेकी शिक्षाका प्रारम्भ धर्म-शास्त्रसे होना चाहिये।† धर्मका अर्थ यह है कि बच्चेके कोमल हृदय तथा मस्तिष्कके समक्ष शिवत्व, उच्चता, पवित्रताके उदाहरण आने चाहिये, जिनके संस्कार उसके अन्तर्मनपर पड़ सकें। वह अच्छाई, पवित्रताके आदर्शोंमें पनपता रहे। परमेश्वरकी दैवी सम्पदाओंका विस्तृत मनोहारी वर्णन उनके सामने पुनः-पुनः करनेसे उन्हें अनुकरणके लिये एक आधार प्राप्त हो सकेगा। अतः परमेश्वर नामकी उच्च सत्तामें किन-किन गुणोंका आरोप होना चाहिये, यह प्रारम्भमें ही निश्चित हो जाना चाहिये।

प्लेटोका शिक्षण बच्चोंकी पौराणिक, धार्मिक, नीति-कथाओं, पवित्र गाथाओंसे प्रारम्भ होता है *। ये कहानियाँ सरल, सुबोध कविताओंमें भी हो सकती हैं। देवताओंके उच्चतम गुणों, अनुकरणीय स्वरूपोंसे प्रारम्भ होकर शिक्षा धीरे-धीरे ऐतिहासिक वीरों, योद्धाओं, मानव नर-रत्नों तथा सर्वोत्कृष्ट स्वरूपोंतक आ जानी चाहिये। महानता, वीरता, सेवा, सहायता अपने उच्चतम आदर्शोंके रूपमें निरन्तर उनके सामने रहने चाहिये। यदि इसे कलात्मक और बुद्धिवादी रूपमें प्रस्तुत किया जा सके, हृदयस्पर्शी कविताका इसमें योग हो सके तो अति उत्तम है। भारतके प्राचीन संस्कारोंमें सत्य-रक्षाके लिये निर्भीक, दृढ़ी, वीर बनना प्रत्येक बालकका आदर्श था।

प्लेटोका विचार है कि शिवत्वका यह रूप, सौन्दर्यका यह सात्त्विक रूप साहित्य, सङ्गीत और कला (Plastic arts) में ही आकर्षक रूपमें रक्खा जा सकता है। प्लेटो कोरे किताबी या साहित्यिक ज्ञानमें विश्वास नहीं करते। उनके सामने निरन्तर यही प्रश्न रहता है कि आत्माको सत्य ज्ञान दिया जाय। यह सत्य-शिक्षण देवताओंकी पुनीत गाथाओंद्वारा ही सम्भव है।

इन प्रारम्भिक कथाओंमें कौन-कौन-से मानवीय गुणोंपर प्रकाश डाला जाय ? प्लेटोका विचार है कि इनमें प्रथम माता-पिताके प्रति श्रद्धा-भावना तथा दूसरा भ्रातृ-भाव है। जैसे-जैसे बच्चा विकसित होता जाय, उसमें हमें दो आधार-भूत गुणोंके विकासपर जोर डालना चाहिये—साहस और आत्मसंयम (Control)। अधिक बड़ा हो जानेपर सब

* The greatest thing a man can learn is to see according to a man's measure the presence of reason and divine intelligence in the world about him. So from its earliest stages education is a method of helping the soul to see the good, but in all kinds of different ways.

(—*Education of Rulers in early life*)

† "It begins with religion; the good is presented to the soul first in the form of a being who is perfectly good and true; and the purpose of teaching about such a being is that the soul may be as like God as possible." (Ibid. page 81)

* Plato's system of education begins with stories of a mythological kind, treating of the divine nature, whose very essence is to be good and true."—Lectures on Plato's Republic Nettleship, page 81.

गुणोंके शिरोमणि सत्य (Truth) के प्रति आकर्षण उत्पन्न करना चाहिये । सत्यका प्रेम ही प्लेटोके बाल-शिक्षणकी आधार-शिला है ।

प्लेटोका विचार है कि बच्चोंको ऐसी कल्पित कहानियाँ भी सुनायी जायँ, जिनमें नीतिका कोई गूढ़ उपदेश छिपा हुआ हो । विवेकपूर्ण तत्त्वोंसे परिपूर्ण कहानियाँ (Fables) चुनते समय बड़ी समझदारीसे काम लिया जाना चाहिये । लेखकोंकी सर्वोत्कृष्ट पवित्रतम रचनाएँ ही चुनी जायँ, घृणित गंदी चीजका बहिष्कार कर दिया जाय । * ऐसी शुभ संस्कारोंवाली कहानियाँ माताएँ तथा परिचारिकाएँ बच्चोंको सुनाती रहें । इनमें सौन्दर्यकी मात्रा बहुत रहनी उचित है । यदि कोई लेखक देवताओं तथा उच्च चरित्रोंको गलतरूपसे प्रतिष्ठित करे, तो उसका बहिष्कार किया जाय ।

शिक्षा कैसे दी जाय ? उसका तरीका क्या हो ? इस प्रश्नपर विचार करनेसे हम प्लेटोकी शिक्षण-पद्धतिपर आते हैं । प्लेटो शिक्षाको क्रमिक विकासका साधन मानते हैं । शिक्षा एक प्रकारका अनुकरण ही है । अपनी पुस्तकमें अनुकरण शब्दको दो प्रकारके अर्थोंमें प्रयुक्त किया है—विशेष तथा साधारण अर्थोंमें । साधारण रूपमें यह साहित्यके लिये प्रयुक्त हुआ है । विशेषरूपमें यह उन आदर्शों, नमूनों, कार्योंके लिये हुआ है, जो अन्य उपायोंसे बच्चोंके सामने रक्खे जाते हैं । वे ऐसे साहित्यके पक्षमें हैं, जो बच्चोंके शिवत्वको जाग्रत् करे और उसीका विकास करनेको प्रेरित करे ।

प्लेटोने शिक्षणमें संगीतको विशेष महत्त्व दिया है । संगीत मनुष्यका परिष्कार करता है, यह आत्माकी ध्वनि है । संगीतज्ञोंका भी प्रजातन्त्रमें महान् उत्तरदायित्व है । प्लेटोने संगीतका अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक अर्थ लिया है । इसमें सब साहित्य, कला, ज्ञान, ललित कलाएँ, ताल, लय, सुर, ध्वनि इत्यादि सम्मिलित हैं । वे वाद्य संगीतका गौण स्थान रखते हैं । ताल, लय, सुरको भी इतनी महत्ता प्रदान नहीं की गयी है । वे तारोंवाले वाद्ययन्त्र जैसे सितार, दुतारा, सारंगी, वायलिन इत्यादिको अच्छा मानते हैं ।

प्लेटोने जिमनास्टिक (Gymnastic) को महत्ता दी है । इस शब्दका भी विस्तृत व्यापक अर्थ है । इसके द्वारा उन्होंने शारीरिक विकास, भाँति-भाँतिके व्यायाम, खेल-कूद, विद्यार्थियोंके शरीरकी देख-रेख, खेल-कूदका महत्त्व दिखाया है । शरीरका पूर्ण विकास किया जाय । शिक्षाका ध्येय यह है कि वह मानव-शरीरका, अङ्ग-प्रत्यङ्गों, मांस-पेशियोंका सुन्दरतम रूप प्राप्त करनेमें सहायता करे । प्लेटोने शरीर और आत्माका पारस्परिक सम्बन्ध जान लिया था और वे समझते थे कि असंयमी जीवनसे रोग उत्पन्न होते हैं । जब रोग उत्पन्न होते हैं, तब उनके मतानुसार कानून और चिकित्सा-शास्त्रका जन्म होता है । कानून और चिकित्साको वे विलासकी सामग्री समझते हैं । उनके अनुसार झूठ बोलना, चोरी करना, परच्छिद्रान्वेषण, हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ मस्तिष्कके रोग हैं, जो बच्चोंके सामने गलत आदर्श रखनेसे उत्पन्न होते हैं । उन्होंने ड्रामा या नाटकको भी हानिकर माना है; क्योंकि नाटकमें वेशभूषाको बदलकर मिथ्याचारकी ओर प्रवृत्ति होती है । नाटक सत्यके समीप नहीं होता । उसमें झूठकी ओर प्रगति हो सकती है । अतः बच्चोंके चरित्रकी सत्यनिष्ठा-के लिये वह हानिकर हो सकता है । प्लेटोने नाटकको शिक्षणमें स्थान नहीं दिया है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्लेटोके बालशिक्षण-सम्बन्धी सिद्धान्त आधुनिक शिक्षाविशारदोंके बड़े कामके सिद्ध हो सकते हैं । उनमें जो सूक्ष्मता है, उसे ग्रहण करना चाहिये ।

सत्सङ्ग—सर्वोत्तम लाभ

गिरिजा संतसमागम सम न लाभ कछु आन । बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान ॥

हे गिरिजे ! संत-समागमके समान दूसरा कोई लाभ नहीं है । पर वह [संत-समागम] श्रीहरिकी कृपाके बिना नहीं हो सकता, ऐसा वेद और पुराण गाते हैं ।

* "Our first duty will be to exercise a superintendence over the authors of fables selecting their good productions, and rejecting bad. And the selected fables shall advise our nurses and mothers to repeat to their children, and they may thus mould their minds with the fables even more than they shape their bodies with the hand" · The Republic of Plato (Book II) Page 65.

'स्वतन्त्र विद्यालय'का विद्यार्थी

(लेखक—रायबहादुर पण्डित ए० डी० जोशी, बी०एस्-सी०, एल्०टी०)

जब हम स्वतन्त्र विद्यालयकी बात करते हैं, तब हमारा अभिप्राय इंगलैंडके 'स्वतन्त्र विद्यालय' से रहता है। पहले ये सार्वजनिक विद्यालय (Public school) कहे जाते थे; परंतु समाजवादके शुभागमनके अनन्तर इनकी संज्ञा 'स्वतन्त्र विद्यालय' (Independent school) हो गयी है। स्वतन्त्र इसलिये कि वे अन्य छोटे और कम समृद्ध विद्यालयोंकी भाँति सरकारी अनुदानके उपजीवी नहीं होते। स्वतन्त्र विद्यालय कई प्रकारके हैं, पर यहाँ उनके विशिष्टतम प्रकारकी चर्चा की जायगी—

ऐसे आदर्श विद्यालयमें जो छात्र पढ़ने आते हैं, वे प्रायः ऐसे भले घरोंसे आते हैं, जिनकी संस्कृति, परिष्कृति, उदात्त परम्परा और अतिशय विनय ही मुख्य विशेषता होती है। वह छात्र सादे रहन-सहनमें विश्वास करनेवाला होता है। उसके कपड़े मँहगे या भड़कीले नहीं होते। वह विद्यालयद्वारा निर्दिष्ट वेशमें ही चौबीसों घंटे रहता है। सबसे बढ़िया पोशाक-सरीखी कोई चीज उसके पास नहीं सोची जा सकती। उसकी अपनी अलग चाल-ढाल, अनुभाव और गम्भीरता होती है। यही स्वतन्त्र विद्यालयके छात्रकी सबसे निर्भ्रान्त पहचान होती है। उसका व्यवहार बहुत मधुर होता है, उसका चेहरा सदा प्रफुल्लित रहता है और अपने नौकरोंतकसे उसका सम्भाषण विनीत और शिष्ट होता है; किंतु वह कभी डींग नहीं हाँकता। वह अपना विशिष्ट व्यक्तित्व बना लेता है, दूसरेका पुछल्ला बनकर नहीं रहता। उसमें आत्मसम्मान और आत्मविश्वास सबसे अधिक होता है। उसके लिये मिस्टर एटली केवल मिस्टर एटलीभर हैं, उससे अधिक नहीं। वह अपने व्यक्तित्वको, चाहे कितना भी बड़ा आदमी क्यों न हो, उससे अभिभूत नहीं होने देगा। वह किसीको देवता मानकर नहीं पूज सकता। उसके लिये उसके मुख्याध्यापक बहुत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति अवश्य हैं, पर वह उनके सामने भी दास नहीं रहता और उनसे भी बहुत गौरव और आत्मसम्मानके साथ बात करता है। वह अपने सम्भाषणमें परिमार्जित और परिष्कृत भाषाका प्रयोग करता है, जिसके भीतर दोष या ग्राम्यता ढूँढ़ निकालना असम्भव रहता है। उसका सबके साथ भला व्यवहार रहता है और वह किसीसे झगड़ता नहीं; परंतु न्याय और औचित्यके लिये लोहा लेनेको भी वह उतारू हो जाता है। जब वह कोई अनैतिक कार्य देखता है, तब सात्त्विक रोषसे भर जाता है। वह अपने काममें परिशुद्धता और विचारमें परिच्छिन्नताका प्रेमी होता है। जो कुछ वह ढूँढ़ता या करता है, उसका स्पष्ट ज्ञान भी वह रखता है। इसीसे वह समस्याएँ आ पड़नेपर सही हल निकालने तथा उचित निर्णयपर पहुँचनेके लिये बहुत गहन चिन्तन करनेमें समर्थ रहता है। जीवनके सही मूल्योंका उसे वास्तविक परिज्ञान रहता है। उसे सद्गुणोंकी चाह अधिक रहती है। निषेधात्मक गुणोंका उसके जीवनमें कोई स्थान नहीं है। उत्कृष्टतर स्वतन्त्र विद्यालयके छात्रमें पाये जानेवाले गुण इतनेमें ही नहीं गिनाये जा सकते। हाँ, इससे उस कोटिके छात्रोंका निर्देश कुछ-कुछ हो जाता है। इन सामान्य गुणोंको गिनाते समय दृष्टि टाइपके ऊपर रही है, न कि व्यक्तिके ऊपर। इसीलिये व्यक्तिकी बंकिमाओंका आकलन इनमें न मिलेगा, इससे केवल वर्ग-प्रतिनिधिको देखा जा सकता है। लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिये कि स्वतन्त्र विद्यालयोंसे समस्त छात्र बस, एक साँचेमें कस दिये जाते हैं। बल्कि ठीक उल्टे वहाँ विशेष जोर सबल व्यक्तित्वके निर्माण और सुगठित सामाजिक जीवनकी तैयारीपर दिया जाता है।

हम अब यह पूछ सकते हैं कि 'यह सब कैसे होता है?' यह काकतालीय या आकस्मिक विकास तो हो नहीं सकता। 'स्वतन्त्र विद्यालय' प्रतिष्ठित परम्पराओंपर चलता है। कुछ ऐसे कार्य होते हैं, जो विद्यार्थियोंके मनमें स्वयं उठते हैं और वे पूर्ण किये जाते हैं। कुछ ऐसे कार्य होते हैं, जो नहीं भी किये जाते। 'नहीं किये जाने' का महत्त्व विद्यालयकी समवेत सत्ताके ऊपर है। जो कोई शक्ति न कर सके, वह इसके द्वारा सम्भव हो जाता है। स्वतन्त्र विद्यालयके विद्यार्थी क्रमशः अपने आचार-नियम स्वयं बना लेते हैं और उसका कड़ाईसे पालन करते हैं। यह तो सुविदित तथ्य है कि आचार बहुत कुछ लोकमतसे प्रभावित होता रहता है। प्रायः जब कोई व्यक्ति कोई ऐसा काम करनेके लिये ललकता है, जिसे लोकरुचि अनैतिक करार देती है, तब वह इसी भयके कारण उससे विरत होता है कि अमुक-अमुक व्यक्ति,

जिसके लिये उसके मनमें इतना आदर-सम्मान है, उसके बारेमें क्या कहेंगे या क्या सोचेंगे । सत् और असत्की भावनाका विकास समाजमें इसी प्रकार होता है । विद्यालयकी परम्परा एक बार सदाके लिये संस्थाके सामाजिक जीवनके विधि-निषेध नियत कर देती है । जिसे प्रत्येक छात्र खुले-मैदान करें, वह विहित है और जो कोई न करे, वही वर्जित है । मुझे स्मरण है कि एक अंग्रेज तरुण हैलट युद्ध-विद्यालयमें किसी दूसरे स्वतन्त्र विद्यालयसे आया । विज्ञानकी प्रयोगशालामें उसके प्रथम प्रवेशके दिन और मुझसे बात करनेके भी प्रथम अवसरपर ही मुझे उसमें कुछ अजीब-सी चीज लगी । मैंने तुरंत उसे बुलाकर पूछा कि 'तुम कहाँसे आये हो ?' उसने अपने स्कूलका जब नाम बताया, तब मैंने उसे हिदायत दी कि 'हो सकता है, इसीलिये तुम्हारा यह ढंग है, पर याद रक्खो, हमारी परम्पराएँ भिन्न हैं और ऐसा ढंग यहाँ नहीं रक्खा जाता ।' कहनेकी आवश्यकता नहीं कि वह युवक हमारे योग्यतम छात्रोंमें निकला । स्वतन्त्र विद्यालयोंमें विशुद्ध सत्यनिष्ठा, निःस्वार्थता, विनम्रता, निर्भीकता, आत्मविश्वास, आत्मसंयम और दोष-स्वीकारकी स्वस्थ परम्पराएँ बनी रहती हैं । 'स्वतन्त्र विद्यालय'का केन्द्र-बिन्दु है—अनुशासन और यही इसका सबसे बड़ा लाभ है । यह विद्यालयके अन्तर्जीवनकी बाह्य अभिव्यक्ति है । यह छात्रोंके जीवन, कार्य, क्रीड़ा और संचारणकी शैलीका प्रतिनिधित्व करता है । विद्यार्थियोंको आत्मसम्मानी होनेकी शिक्षा दी जाती है और वे डंडेसे हाँककर नहीं चलाये जाते । स्वयं शासन करनेमें वे अनुशासित किये जाते हैं और इसीलिये सभाभवनमें या भोजनशालामें या कक्षाशालामें जाने-जैसे प्रतिदिनके कार्यका संचालन वे स्वयं कर लेते हैं । ज्येष्ठतर छात्र इन मामलोंमें सही नेतृत्व देते हैं और सभी अवसरोंपर पूर्ण अनुशासनके लिये अपनेको उत्तरदायी समझते हैं । अपने अध्यापकोंके पथनिर्देशमें छात्रोंको स्वशासन और नेतृत्वकी सत्-शिक्षाका सबसे उत्तम अवसर प्राप्त होता है । सबसे उल्लेखनीय बात तो यह है कि अध्यापक और छात्र दोनोंको यह सहज ही मान्य हो जाता है । उस प्रभुतावादी अनुशासनका कहीं वहाँ लेशमात्र भी न मिलेगा, जिससे सामान्यतः हमलोग परिचित हैं । इसका परिणाम यह है कि वहाँ प्रत्येक कार्य करते समय समयकी पाबंदी, कुशलता, सुन्दरता और फुर्तीका वातावरण छाया रहता है । न कहीं मनक है, न दिखावा है और न हुकुमशाही । प्रत्येक गति स्वयंचालित जान पड़ती है और प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यके प्रति जागरूक जान पड़ता है । बच्चे बहुत प्रसन्न, स्वस्थ और मगन दिखायी पड़ते हैं, जीवनके प्रत्येक क्षणका रसास्वादन करते रहते हैं । अपनी पाठशालाके बाहर वे संसारके सबसे सुखी प्राणी लगते हैं और बरबस अपने-आप वे दर्शकोंकी शुभकामना पाते रहते हैं । अपनी पाठशालाके भीतर वे सुव्यवस्थित, शान्त और सुसंयत रहते हैं । अध्यापकवर्ग भी उनसे बात करते समय बहुत शिष्टता बरतते हैं । वे छात्रोंसे सम्भाषण करते समय कभी भी अपना स्वर ऊँचा नहीं करते और छात्र भी प्रत्युत्तरमें बहुत विनम्रता रखते हैं और व्यर्थकी बहस उनसे नहीं करते । जब कभी अध्यापक एक विशिष्ट विद्यार्थीके बारेमें कुछ कहता है, तब वह 'जी, महाशय' के साथ उत्तर देता है । यहाँ आदेशसे अधिक अनुनय ही अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, किंतु साथ ही इससे यह मान लेना चाहिये कि ये तरीके प्रभावशाली न होंगे । स्वतन्त्र विद्यालयमें लाड़-प्यार और पुचकारके लिये कोई भी गुंजाइश नहीं है । बच्चोंसे बात करते समय मातृवत्सल रीति यहाँ नहीं अपनायी जाती । विद्यार्थियोंको इस तरह यहाँ सम्बोधित किया जाता है कि वे सबल, सशक्त और अपनी देख-भाल करने योग्य अच्छे सयाने युवक हैं । उनको अङ्गविन्यास ठीक करनेके लिये आप उनके शरीरपर हाथ नहीं लगा सकते । तथ्यतः तो बच्चोंके शरीरको कभी छूना ही नहीं चाहिये । उन्हें तो इस योग्य बनाना चाहिये कि वे स्वयं आदेश समझकर उनका पालन कर सकें तथा गलतियोंमें आवश्यक संशोधन भी बतलानेपर स्वयं कर सकें ।

विद्यालयमें वैसी ही शिक्षापद्धतियाँ प्रयोगमें लायी जाती हैं जैसी कि उसके वर्गीकरण और गुटविभाजनके अनुकूल पड़ें । ये विशिष्टात्मक और गहनात्मक होती हैं । बच्चोंकी अलग-अलग आवश्यकताओं, रुचियों और शक्तियोंका अध्ययन किया जाता है और प्रयुक्त पद्धतियोंका तदनुसार सामञ्जस्य किया जाता है । छात्रोंके मनमें विद्याके लिये अभिलाषा पैदा की जाती है और उनमेंसे प्रत्येक अपने अभिलषित पदार्थको ही पानेके लिये अधिक-से-अधिक प्रयत्न करता है । प्रत्येक कार्यके सम्बन्धमें उनकी समस्त मनोवृत्ति परिच्छिन्नता, निष्ठा तथा विशुद्धतासे विशिष्ट रहती है ।

यह तो हुआ उनका पाठशालाके भीतर बौद्धिक कार्य। पर यही सब कुछ नहीं है। विद्यालय खेल-कूद, चाव-शौक और मनबहलावकी विविध रुचियों एवं सुझावोंका सामान प्रस्तुत करता है। पुस्तकालय, संग्रहालय, विज्ञानीय प्रयोगशाला, खेलके मैदान, व्यायामशाला, रंगशाला, संगीतशाला, कला-शिल्पशाला, छायाचित्रशाला, रेडियो और विभिन्न विद्यालय-गोष्ठियाँ, ये समस्त रुचियों एवं रचनात्मक प्रवृत्तियोंके लिये खाद्यसामग्री प्रस्तुत करते हैं। इसके अलावा तैराकी, घुड़सवारी और सैन्यकला आदिमें विशेष शिक्षा प्राप्त करनेका भी पर्याप्त अवसर रहता है। कार्य तो समस्त हाथमें लिये जाते हैं; पर एकको भी समयकी कमी कह-कर कम नहीं किया जाता। न कहीं आलोचना सुननेको मिलती है, न भुनभुनाहट है और न जलन है। यह परिणाम है अच्छे संगठनका, जिसका आधार उच्चकोटिके अनुशासन-की पूर्ति है। ऐसे अनुशासनकी कि जो ऊपरसे किसीपर नहीं लादा जाता, बल्कि जिसे सभी एक स्वरसे अपनी सहमति स्वयं देते हैं। विद्यालयका लक्ष्य और आदर्श है—बच्चेको सर्वथा योग्य बनाना—मन, शरीर और आचरण तीनोंसे। इसलिये विद्यार्थी स्वयं हरेक तरह योग्य बननेके लिये अपनेको अनुशासित करे और विद्यालयके शिक्षकवर्गके प्रबुद्ध पथनिर्देशन और नेतृत्वमें स्वशासनके वातावरणमें अपनेको विकसित और उन्नत बनाये।

यहाँपर मैं 'स्वतन्त्र विद्यालय' में अभिभावकोंके प्रभावकी चर्चा करना चाहूँगा। अभिभावक एक बार अपने बच्चोंको विद्यालयमें भर्ती कराके फिर कभी विद्यालयकी माँगोंके बारेमें ननु-नच नहीं करते और अपनी सम्मतिसे वहाँके अधिकारियोंको उद्विग्न नहीं करते। वे विद्यालयको पूर्णतम सहयोग देनेके लिये उत्सुक रहते हैं और अपने बच्चोंको विद्यालयके तौर-तरीकोंमें ढलनेकी प्रेरणा देते रहते हैं। उधर विद्यालय भी 'भाषणदिवस' के अवसरपर अभिभावकों-को एकत्र करता है कि जिससे वे अपनी आँखसे देखें और समझें कि उनके बच्चे और विद्यालय क्या है? भारतीय स्वतन्त्र विद्यालयके अभिभावकोंका मेरा हालका अनुभव बहुत अच्छा नहीं है। मैं यह सोचनेको विवश हूँ कि विद्यालयके सामाजिक जीवनमें अभिभावकोंका दखल नहीं होना चाहिये। स्वतन्त्र विद्यालयमें बच्चे जनतान्त्रिक वातावरणमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामाजिक-सुघटनका जीवन व्यतीत करते हैं। वे अपने ज्येष्ठतर बालकों एवं अध्यापकके अनुशासनके अनुवर्ती रहते हैं। यदि अभिभावक अपने बच्चोंकी शिक्षाके तौर-तरीकोंमें दखल देता है, तो इसका उस बच्चेके चरित्र और व्यवहारपर तो प्रत्यक्षरूपसे घातक प्रभाव पड़ता है और अप्रत्यक्षरूपसे इसका प्रतिकूल प्रभाव विद्यालयके अनुशासनपर भी पड़ता है। अभिभावक बच्चेको विद्यालय और उसके अधिकारियोंके विरुद्ध बकनेके लिये प्रोत्साहित करता है और चूँकि बच्चेकी कल्पनाशक्ति बड़ी उर्वर होती है, वह असंख्य चीजें बकने लगता है। उसकी बातोंको गाँठमें बाँधकर अभिभावक उसका एक अतिशयित विद्रूप खड़ा करके मुख्याचार्यसे शिकायत करने जा पहुँचता है। मैं तो इस मतका हूँ कि अभिभावकको अपने बच्चेके बारेमें ऊलजलूल सोचनेकी अनुमति न होनी चाहिये। या तो उसे विद्यालय और उसके तौर-तरीकोंमें पूर्ण भरोसा रखना है, या नहीं रखना है तब उस दशामें उसे अपने बच्चेको तुरंत विद्यालयसे हटा लेना चाहिये।

अब, तनिक विचार किया जाय कि 'आवास विद्यालय' (Residential School) का क्या स्वरूप होता है। लंबी-चौड़ी और सुसज्जित इमारतें, दृश्यों एवं श्रुतिमधुर निनादोंके प्राकृतिक परिसरके बीच अवस्थित स्वस्थ स्थली ऐसे वातावरणके निर्माणमें योगदान देती है, जो ज्ञानके अर्जन, कल्पनाके संवर्द्धन और आदर्श आचरणके निर्माणके लिये उपयुक्त हो। इस वातावरणमें रहनेका परिणाम यह होता है कि विद्यार्थियोंमें अभी विद्यालयके प्रति एकनिष्ठा, दायित्वका गम्भीर ज्ञान, नेतृत्व, अनुभावमें पौरुष, सुसंस्कृत व्यवहार, उत्साह, तत्परता और बौद्धिक, शारीरिक एवं आक्रीडिक कार्यकलापोंमें उत्तम उत्कर्ष लानेकी क्षमता विकसित होती है। कक्षाएँ तो केवल सचमुच औपचारिक शिक्षा प्रदान करती हैं। अधिक महत्त्वपूर्ण अंश तो शिक्षाका कक्षाओंके बाहर अध्यापकोंद्वारा अपने संलापोंमें पूरा किया जाता है, जहाँ कि अध्यापक अपने छात्रोंके निरन्तर सम्पर्कमें रहता है। उनमेंसे प्रत्येककी आवश्यकता, रुचि एवं सामर्थ्यका अध्ययन करता है। उनकी अपेक्षाके अनुसार अपनेको समंजस कर सकता है और अपने व्यक्तित्वसे उन्हें प्रेरित और प्रभावित भी कर सकता है। उसके संलापोंमें चरित्र-निर्माण एवं आत्मगौरव-निर्माणपर अधिक बल रहता है। ऐसे वातावरणमें छात्र अपने-आप जीवनके प्रति ऐसी दृष्टि और ऐसी प्रवृत्ति बना लेते हैं, जिसमें जीवनके सही मूल्योंका ठीक-ठीक निरूपणके साथ-साथ जीवनमें महान् और क्षुद्रके बीच विवेचनकी शक्ति भी आयत्त रहती है।

ऐसी संस्थाका उद्देश्य केवल इतनी-सी ज्ञान-सामग्री मात्र प्रस्तुत करना नहीं है, जितनी कि बौद्धिक मनुष्यके लिये अपेक्षित है, बल्कि उसके साथ-साथ मनुष्यके तीनों पहलुओं— शरीर, मन और आचरणका शिक्षण भी है। और अधिक बल दिया जाता है—मनके उन्नयन और संकल्पके महान् आदर्शोंपर समाहित करनेपर। अध्यापक इस बातके लिये जागरूक रहेगा कि अर्जित चरित्र और आचरणमें संक्रान्त हो गया कि नहीं।

विद्यार्थी सभी अवसरोंपर बाहर-भीतर सादी और निर्दिष्ट पोशाकमें रहते हैं। केवल खेल-कूद और शारीरिक व्यायाम करते समय वे विशेष वर्दी पहनते हैं। अधिक खर्चीले कपड़ोंपर बिल्कुल रोक है। छात्रगण सीधे-सादे ढंगसे रहते हैं और मस्तिष्क एवं हृदयके विकासपर अधिक बल देते हैं। मुख्य उद्देश्य रहता है—छात्रकी चिन्तनात्मक एवं भावनात्मक शक्तियोंका उद्बोधन, जिससे कि वह अपनेसे देख सके, सोच सके, अर्जित शक्तियोंका उपयोग कर सके और स्वतन्त्र देशका उपयोगी नागरिक बन सके। इस प्रकार शिक्षा-प्राप्त विद्यार्थी दूसरे स्थानोंके अपने समवर्तियोंसे हमेशा बढ़ा ही रहता है। उसकी मानसिक वय उसकी नैसर्गिक वयसे दो या तीन वर्ष आगे ही रहती है। इस तथ्यके निदर्शनके लिये मैं यहाँ एक पत्रका उद्धरण दे रहा हूँ। हैल्ट विद्यालयके पुराने छात्रके पाससे मेरे पास वह विगत फरवरीमें आया है। लड़का अभी बस, तेरह वर्षका है। पाठक स्वयं यह देखकर कि उसका मस्तिष्क कितना विकसित है और उसके विवरण कितने सही और परिशुद्ध हैं, कुतूहलमें पड़ जायँगे।

'यहाँ जैसा कि समाचारोंसे आपको पता चला होगा, बहुत ही खराब मौसम चल रहा है। मध्याह्नका औसत ताप-क्रम ३५° फारेनहाइट है। रेडियोसे सुनाया गया कि जर्मनी-से स्वीडनतक बर्फपर पैदल चला जा सकता है। डेनमार्कके मछुए समुद्रमें पाँच या सात मीलतक साइकिलपर चले जा रहे हैं और कुल्हाड़ीसे बर्फमें बिल बनाकर मछलीका शिकार कर रहे हैं। पचास मील लंबी बर्फकी आँधी उत्तरी सागर-में चल रही है और बहुत बड़े स्वेडिज जहाज फँस गये हैं।...आपको तो केवल समाचारपत्रोंसे ही जानकारी प्राप्त होती होगी, इसलिये मैं कुछ ईंधनकी कटौतीके बारेमें भीतरी सूचना दे रहा हूँ। इंगलैंडके विस्तृत भूभागमें थोड़ी देर दोपहरमें रसोई पकानेके लिये ही बिजली ही मिलती है, नहीं तो, सारे दिन बिजली काट दी जाती है। गैस-कम्पनियोंके पास भी केवल ग्यारह दिनोंकी पूर्ति-मात्रके लिये संरक्षित शक्ति है, इसलिये उसमें भी कटौती जब हो जाय। निजी उपभोक्ताओंको कोयलेका सभी प्रकारका ईंधन अप्राप्य है और बीसों कारखाने बंद हो गये हैं। यहाँतक कि, कुछ कोयलेकी खानें भी मौसमके कारण बेकार हो रही हैं। जितना भी बचाया जा सके, उतना कोयलेको नाना प्रकारसे बचाना है।

'जर्मनीकी दशा तो बिल्कुल अवर्णनीय है। लोग शीतसे मर रहे हैं। समाचारपत्रोंके द्वारा लोगोंको कोई समाचार नहीं मिल पा रहा है; क्योंकि सभी समाचार सेंसर हो रहे हैं और दबाये जा रहे हैं। युद्धकालमें जर्मन-मजूरका दिमाग उन पर्चोंसे ठूँसा जाता था, जिनमें मित्र-राष्ट्रोंके विजयी होनेपर आनेवाले स्वर्ण-युगके वर्णन रहते थे। अब जब वह आज-की दशा देखता है और अपने पूर्वजोंके स्वेदसे निर्मित जहाज-घाटों और कारखानोंको डायनामाइटसे उड़ाया देखता है, तब स्वभावतः वह सिवा इसके और क्या सोचेगा कि हिटलरके राज्यमें ऐसी बात नहीं हुई, बुरा खाना हमें भले ही मिला हो सकता है, लेकिन अब तो उसके भी लाले हैं। मैं तो नाजीवाद ही चाहूँगा।'

प्रथम श्रेणीके एक 'स्वतन्त्र विद्यालय'के एक नये छात्रके इस पत्रमें वस्तुज्ञान, आधुनिक घटनाओंकी जानकारी, अवहित पर्यवेक्षण और चिन्तन, मनन, विवेचनशक्ति और परिष्कृत भाषा सभीका एक साथ निदर्शन मिलेगा। यह एक अच्छे स्वतन्त्र विद्यालयके अच्छे अनुशासनकी शिक्षाका फल है। यह स्मरण रखना चाहिये कि यह सारी बात 'उचित नेतृत्व' पर निर्भर करती है। नेता एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिये, जो सहानुभूति, समझ और सूझवाला तो हो, पर साथ ही जो अपने रहन-सहन और स्वभावमें प्रभुता चलानेवाला न हो। विद्यालयकी परीक्षा उसके अनुशासनसे होती है। यह दीर्घकालीन शिक्षण-प्रक्रिया है, जो आत्मवशी युवकके उपलक्षणोंके अनुरूप भाव और अनुभावका विकास करती है। यह उसे जीवनके आघातों-प्रत्याघातोंके बीच अविचल खड़ा रहनेकी शक्ति प्रदान करती है। छात्रोंका नेतृत्व वही करे, जो आदर और प्रेम पानेके योग्य हो। उसे सहानुभूतिशील रहना चाहिये और अपनेको सदा ऐसी स्थितिमें रखना चाहिये, जहाँसे वह अपने अधीन किशोरको ठीक-ठीक समझ सके। उनका विश्रम्भ एक बार पाकर वह बहुत

आसानीसे उनका नेतृत्व कर सकता है। लेकिन साथ ही बालकोंको भी बहुत सावधान रहना चाहिये कि उन्हें प्रत्येक पगपर पिछलग्गू नहीं बनना है और अपने शिक्षकके सामने सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं दायित्वका आत्मसमर्पण नहीं करना है। हम अपने बालकोंमें चरित्र-स्वातन्त्र्यका विकास देखना चाहते हैं और उनमें ऐसी मनोवृत्ति लाना चाहते हैं जिससे कि वे अन्ध-अनुसरण और दूसरेके पग-पग-निर्देशनकी आवश्यकताके बिना अपनेसे सोच सकें और कर सकें। स्वतन्त्रता एक ऐसी बहुमूल्य निधि है, जिसकी रक्षा सब कुछ गँवाकर भी करनी चाहिये और कठोर व्यक्तित्वकी मूल-भावनाका दमन या शमन होने नहीं देना चाहिये।

मैं समझता हूँ, अब आप यह निर्णय करनेकी स्थितिमें होंगे कि कितना प्रयत्न और परिश्रम स्वतन्त्र-विद्यालयका आदर्श छात्र बननेमें करना पड़ता है, ऐसा आदर्श छात्र, जो अपनेमें अपने विद्यालयकी छाप लेकर निकल सके। मैं आशा करता हूँ कि भारतीय स्वतन्त्र विद्यालयोंमें इस दिशामें हार्दिक प्रयत्न होंगे और हमारे छात्र सुदृढ़ पुरुषत्व तथा पुष्ट व्यक्तित्वका विकास कर सकेंगे।

अब अन्तमें, छात्रोंके लिये 'कुछ मत करो'की बातें भी; यद्यपि यह अत्यन्त अरुचिकर विषय है और इसके लिये स्वतन्त्र विद्यालयमें कहीं स्थान नहीं है। अपनेको एक क्षणके लिये भी उदास, मनहूस, अवसन्न और परितृप्त न होने दो। ठीक इसके उल्टे ऊँची बातें सोचो, बड़े आदर्श रक्खो, सदा प्रसन्न रहो और अपने आस-पासकी चीजोंका आस्वादन करो। अपने विद्यालयकी निन्दा न करो और अपने अध्यापकोंकी आलोचनामें न पड़ो। हम सभी एक समुदायके अङ्ग हैं। हमारे आपसी मतभेद हमारी अपनी बात है, जिसे बाहरी लोगोंतक नहीं पहुँचाना चाहिये। कुचर्चा, चुगली और बंदरघुड़की—ये अक्षम्य अपराध हैं। इन वर्जित चीजोंसे बचकर यदि हम दूर रहें कि ये हमारे मनमें न रह जायँ और यदि हम उच्च आदर्शों एवं सद्गुणोंपर अपनेको समाहित कर सकें, तो हम सब भी बहुत ऊँचे उठ सकते हैं।

बालकोंकी रक्षा और शिक्षाके लिये पश्चिमी देशोंमें क्या कुछ किया जाता है ?

(लेखक—विद्यावारिधि पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

आजसे सौ वर्ष पहलेकी अपेक्षा अब बालकोंको बहुत अधिक महत्त्व दिया जा रहा है। पाश्चात्य देशोंने बालकके राष्ट्रिय मूल्यको समझ लिया है। वे अनुभव करने लगे हैं कि जिस राष्ट्रके बालक निर्बल, अशिक्षित और चरित्रहीन हैं, वह अवश्य ही एक दिन किसी दूसरे देशकी पराधीनताके पंजेमें पड़ेगा। इसलिये वे हर प्रकारसे अपने भावी नागरिकोंके शरीर और मनको बलवान् और निर्दोष बनानेका यत्न करते हैं। इस लेखमें हम उन बातोंका दिग्दर्शन कराना चाहते हैं, जो पश्चिमका प्रत्येक बड़ा नगर अपने बालकोंको मजबूत पुरुष और स्त्रियाँ बनानेके लिये कर रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि स्कूल बड़े महत्त्वकी चीज है; परंतु आप देखेंगे कि शिक्षाके अतिरिक्त बालकोंको और भी अनेक चीजें दी जाती हैं; क्योंकि ऐसे बालकोंको पढ़ानेसे कुछ भी लाभ नहीं, जो पढ़-लिखकर आयुभरके लिये रोगी हो जायँ। स्कूलोंके अतिरिक्त नगरमें शिक्षाके लिये पुस्तकालय भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है।

आजके बालक कलके पुरुष और स्त्रियाँ हैं। अबसे कुछ ही समय पहले लोगोंकी ऐसी धारणा न थी। वे यही समझते थे कि बच्चोंकी इच्छाको तोड़ना और उनके शरीरोंको माता-पिताके अधीन रखना चाहिये। बालक जिस बातके लिये हठ करे, वह उससे बलात् छीन लेनी चाहिये और प्रत्येक काम उससे डंडेके जोरसे कराना चाहिये। वे बच्चेका एक स्वतन्त्र अस्तित्व न समझ उसे एक खिलौना समझते थे; परंतु अब सभ्य संसार बालकके अतिशय महत्त्वका अनुभव करने लगा है। उसे अब इस बातकी समझ आने लगी है कि हमारे बच्चोंके ही हाथमें किसी दिन देश और शासनकी बागडोर होगी, वही गृहस्थीको सुखी या दुःखी बनायेंगे और यदि हम अपने देशको स्वतन्त्र और उन्नत देखना चाहते हैं तो हमें जातिके बालकोंकी शिक्षापर विशेष ध्यान देना चाहिये। संयुक्तराज्य अमेरिकाके शिकागो, न्यूयार्क, बोस्टन आदि बड़े-बड़े नगरोंको यह मालूम हो गया है कि यदि वह नीरोग शरीर और स्वस्थ मनवाले नागरिक चाहते हैं तो उन्हें अपने नन्हे बालकोंके शरीर तथा मनपर विशेष ध्यान देना चाहिये—अर्थात् उन्हें देखना चाहिये कि क्या नगरके बालकोंको पर्याप्तमात्रामें स्वास्थ्यवर्धक भोजन मिलता है ? क्या शीतसे बचनेके लिये उनके शरीरपर

उचित वस्त्र हैं ? क्या उनके रहनेके घर साफ-सुथरे और स्वास्थ्य-रक्षाके नियमोंके अनुकूल बने हुए हैं और क्या उनकी शिक्षाका यथोचित प्रबन्ध है ? नहीं तो, बालक और उसके साथ ही राष्ट्रके हितकी भारी हानि होगी। अनेक अवस्थाओंमें माता-पिता इतने निर्धन या इतने ज्ञानशून्य होते हैं कि वे अपने बालकोंके लिये ये बातें आप नहीं कर सकते।

न्यूयार्कमें सदा अन्य देशोंसे आकर लोग बसते रहते हैं, जिससे उसकी जन-संख्यामें परिवर्तन होता रहता है। इसलिये विदेशसे आकर बसनेवाले बालकोंकी शिक्षाका प्रश्न उसके लिये बड़ा कठिन है; क्योंकि इन बालकोंकी भाषा, धर्म और आचार-विचार भिन्न-भिन्न होते हैं। परंतु फिर भी यह नगर अपने कर्तव्यका बड़ी खूबीसे पालन कर रहा है।

न्यूयार्कमें सार्वजनिक स्कूलोंकी पद्धति है। यह पद्धति यद्यपि अपने आदर्शसे अभी बहुत दूर है; फिर भी जिन बालकोंके साथ इसे वास्ता पड़ता है, उनपर यह चमत्कार कर दिखाती है। सार्वजनिक स्कूलके अधिकतर बच्चे मैले दरिद्रतासे दबे हुए घरोंसे आते हैं। स्कूल उन लोगोंमें उत्तम नागरिक और सद्गृहस्थ बननेकी नींव रखता है। बच्चे जब स्कूलमें भरती होते हैं, तब उन्हें घरकी गंदगी और मैल-कुचैलका अभ्यास होता है। थोड़े वर्षोंके पश्चात् वे स्कूल छोड़ जाते हैं; परंतु उनमें कितना भारी परिवर्तन आ जाता है, उनमें शारीरिक स्वच्छताका भाव घर कर जाता है। पहले वे संयुक्त राज्योंकी भाषा—अंग्रेजीसे सर्वथा अनभिज्ञ थे, अब उन्हें इसपर अधिकार हो जाता है। जिस देशमें वे आकर बसे हैं, उसके विषयमें भी उन्हें खासा ज्ञान हो जाता है। वे अपने स्कूल, अपने अध्यापकों और सबसे बढ़कर अपनी बनायी हुई मातृ-भूमि—अमेरिकाके संयुक्त राज्योंपर अभिमान करने लगते हैं।

सार्वजनिक (पब्लिक) स्कूल जैसे भी हों, हर प्रकारसे नगरके बच्चोंको उत्तम और उपयोगी नागरिक बननेमें सहायता देते हैं। जिन विषयोंको 'स्कूली पाठ' कहा जाता है, उनके अतिरिक्त लड़कोंको बढ़ईका काम और लड़कियोंको रसोई बनाना तथा कपड़े सीना भी सिखाया जाता है। बच्चोंके शरीरोंको बलवान् बनानेके लिये वहाँ व्यायामशालाएँ और अन्य कसरतके खेल हैं। स्कूलके डाक्टर और डाक्टरनियाँ सदा परीक्षा करके देखती रहती हैं कि बालकोंके नेत्र, कान, दाँत, नाक और कण्ठमें कोई रोग तो नहीं उत्पन्न हो गया।

अनेक बालकोंको हाईस्कूलमें जानेसे पहले ही स्कूल छोड़कर मेहनत-मजदूरीमें लग जाना पड़ता है; परंतु यदि उनमें विद्या-प्राप्तिके लिये उमंग हो तो वे सायंकाल भी हाईस्कूलकी श्रेणियोंमें पढ़ सकते हैं। इससे दिनमें धन और साँझको विद्या—दोनोंका ही उपार्जन हो जाता है। हाईस्कूलके ऊपर वहाँ दो बड़े कालेज हैं—एक लड़कोंके लिये और दूसरा लड़कियोंके लिये। इनमें नगरके सारे स्कूलोंकी तरह विद्यार्थियोंसे फीस कुछ नहीं ली जाती, प्रत्युत पुस्तकें भी मुफ्त दी जाती हैं।

सार्वजनिक स्कूलोंके अध्यापक और अध्यापिकाएँ बच्चोंके पिताओं और माताओंके साथ मिलकर काम करनेका यत्न करती हैं, जिससे वे बालकोंको अधिक अच्छी तरहसे समझ सकें। इस उद्देश्यसे माताओंकी समितियाँ और पिताओंके समाजोंका सङ्गठन किया गया है। इन समाजोंमें माता-पिता और अध्यापक-अध्यापिकाएँ मिलकर बच्चोंके विषयमें बातचीत और उनको सधानेकी सर्वोत्तम विधिपर विचार करती हैं। कई माता-पिता भी ऐसे होते हैं, जिन्हें शिक्षाकी आवश्यकता होती है; उन्हें डाक्टरों या खूब सधी हुई धायोंकी बातोंको ध्यानपूर्वक सुननेके लिये कहा जाता है।

केवल युवती माताएँ ही एक साधन नहीं, जिसके द्वारा नन्हे बालकोंतक पहुँचा जाता है। बड़ी बहिनोंकी भी एक सभा बनी हुई है। इसका नाम 'छोटी माताओंका संघ' है। प्रायः बड़ी बहिनोंको ही छोटे बच्चोंकी देख-रेख करनी पड़ती है। कई अवस्थाओंमें 'बड़ी माताओं' की अपेक्षा इन 'छोटी माताओं' को सिखाना अधिक सुगम पाया गया है। अनेक बार ऐसा होता है कि मा डाक्टरनी (नर्स) की बातोंपर ध्यान नहीं देती, परंतु घर आकर जब उसकी छोटी पुत्री उसे वही बातें सिखाती है, तब वह झट सीख जाती है। इसलिये बड़ी बहिनोंको शिशु-पालन-सम्बन्धी शिक्षाएँ देनेसे बहुत लाभ होता है।

ग्रीष्ममें स्कूलके मकानसे सभा-भवनका काम लिया जाता है। यहाँ माताएँ सप्ताहमें एक बार सायंकाल आकर डाक्टरों और नर्सोंकी हितकारी और मनोरञ्जक बातें सुनती हैं। वहाँ उन्हें बताया जाता है कि बच्चोंके लिये सर्वोत्तम भोजन कौन-कौन-से हैं, उनके लिये भोजन कैसे तैयार किया जाता है और दूध पिलानेकी बोतलको साफ कैसे रक्खा जाता

है ! उनको दिखलाया जाता है कि बालकोंको कैसे स्नान कराना और कैसे वस्त्र पहनाना चाहिये। उन्हें ताजी हवा और स्वच्छताका महत्त्व भी बताया जाता है।

ये छोटी माताएँ इन पाठोंको भलीभाँति ग्रहण कर लेती हैं। इसका प्रमाण वे छोटे-छोटे निबन्ध हैं, जो उनमेंसे कुछने एक व्याख्यान-मालाकी समाप्तिपर लिखे थे। एक छोटी लड़कीने लिखा था—

'ग्रीष्ममें बच्चेको गरम कपड़े मत पहनाओ। उसे बहुत थोड़े कपड़े पहनाओ। बालकके लिये सबसे उत्तम भोजन जौका पानी है। जब बालक बीमार हो, तब उसे एक चमचीभर अरंडीका तेल दे दो। बालकका पोषण उसकी अवस्थाके अनुसार होना चाहिये। उसे प्रतिदिन स्नान कराओ। उसका मल-मूत्र तत्काल साफ कर दो। उसे मैला कभी न रक्खो। उसे फल या अपवित्र दूध मत दो। उसे सेव, अचार या तरबूज या ऐसी ही कोई दूसरी वस्तु कभी न दो, क्योंकि वह मर जायगा।'

'छोटी माताओंके सङ्घ' से सम्बन्ध रखनेवाली प्रत्येक लड़की सदस्या होनेके चिह्नके रूपमें एक बिल्ला या चपरास-सी पहनती है और प्रत्येक समूहकी प्रधाना एक गिल्टका बिल्ला रखती है। यह गिल्टी-चपरास एक उच्च सम्मान समझा जाता है।

न्यूयार्कके नगर-अस्पतालों और सार्वजनिक स्कूलोंमें, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, ऐसे चिकित्सक और जगह-जगह फिरनेवाली नर्सें हैं, जो बच्चोंके घरोंमें जाती हैं। अनेक माताएँ तो उनकी सहायताके लिये कृतज्ञ होती हैं; पर कुछ ऐसी भी हैं, जो स्वच्छता और उचित भोजनकी आवश्यकताको नहीं समझतीं। उदाहरणार्थ, एक नर्सने एक ऐसे बच्चेकी बात सुनायी, जिसे उसकी मा दिनभर तरबूज, आलू, अचार और जो भी चीज उसके हाथ आयी, खिलाती रही; परंतु उसे दूध, जो बच्चेका एकमात्र भोजन है, बिल्कुल न दिया गया। एक दूसरे घरमें नर्सने देखा कि बालकको एक टोकरीमें लिटाया हुआ है और वह हाथमें मक्कीकी रोटी लिये चूस रहा है। नर्सने बालकके हाथसे रोटीका टुकड़ा छीनकर मातासे बड़े धैर्यसे पूछा—'आपने बालकको मक्कीकी रोटी क्यों दी, वह उसे कैसे पचा सकता है?'

इसपर मा चिढ़कर बोली—'तो मैं इसे क्या दूँ! इसे चनेकी रोटी भाती नहीं।'

अमेरिकन माताओंकी शिशु-पालन-सम्बन्धी अज्ञताके विषयमें जो कुछ ऊपर बताया गया, वह भारतकी माताओं-पर और भी अधिक अंशोंमें चरितार्थ होता है। हमारे यहाँ तो इस अज्ञानको दूर करनेका भी किसीको विचार तक नहीं। इस देशमें सहस्रों बालक माताओंके अज्ञानके कारण अपने जीवनके प्रथम ही वर्षमें काल-कवलित हो जाते हैं।

सागर-तटपर रोगी बालकोंके लिये सदन

कभी-कभी नन्हें बालककी जीवन-रक्षाके लिये उसे कुछ कालके लिये घरसे बाहर ले जाना आवश्यक होता है। इसलिये दरिद्र बालकोंके लिये, सागर-समीर, यक्ष्मा-चिकित्सालय और रोगी-शिशु-भवनकी भाँति, सदन खोले गये हैं।

सागर-समीर, यक्ष्मा-चिकित्सालय कोनी-द्वीपमें बनाया गया है। इसमें बहुत-से ऐसे बालक हैं, जो बुरे पोषणके कारण उत्पन्न होनेवाले भीषण रोग, राजयक्ष्मासे पीड़ित हैं। यहाँ न्यूयार्कके तंग और गंदे घरोंसे सैकड़ों छोटे-छोटे मरियल और लँगड़े बच्चे लाकर रक्खे जाते हैं। उन घरोंमें उनके जीनेकी बहुत कम आशा होती है। यहाँ सागर-तटपर गरमी और सर्दीमें वे खुले स्थानमें रक्खे जाते हैं और प्रकृतिकी उपशमकारिणी शक्तियोंको उनपर पूरा-पूरा कार्य करनेका अवसर दिया जाता है।

श्रीयुत जेकब ए० रूस इस सागर-समीर-चिकित्सालयके एक वीर नन्हें रोगीका वर्णन इस प्रकार करते हैं—

मॅक्स ग्रास नामका पाँच वर्षका यह बालक है। दरिद्रता और अभावके कारण इसकी यह दशा हुई। वह वर्षके सभी दिन एक चौखटके साथ चमोटीसे बँधा रहता है। इससे उसका छोटा-सा शरीर कड़ा रहता है; क्योंकि उसकी पीठ दूसरे बच्चोंकी-सी नहीं। फिर भी वह सदा प्रसन्न रहता है, कभी हताश नहीं होता और कमरेके सिरेसे डाक्टरको कहता है—'मैं पहलेसे चंगा हूँ।' हाँ, बेचारा गरीब छोकरा! एक और केवल एक ही बार उसकी आँखोंसे आँसू गिरे हैं। जब उसे रोते देख उसकी धाय चौंककर उसके पास गयी, तब वह सिसकी भरकर बोला, जिससे धायकी सलीब थूकसे भर गयी, कि जब मुझे उठाकर ले जा रहे थे तब किसीने ड्योढ़ीमेंसे कहा था कि 'मॅक्स चंगा नहीं होगा।' परंतु मैं मरना और मरकर देवदूत बनना नहीं चाहता। मैं तो इस चारपाईपरसे

उठकर पहले खेलना चाहता हूँ ।' बालकके ये शब्द सुनकर धायका हृदय पिघल गया ।

सभी दिन 'सागर-समीर' के खुले मैदानमें व्यतीत किये जाते हैं। यहाँतक कि स्कूलका भी एक तंबू है । बहुत सर्दीके दिनोंमें ही पाठोंका समय घटाया जाता है, परंतु इन रोगी बालकोंकी अवस्थामें स्कूलका समय सदैव बहुत छोटा होता है।

गंदे और तंग घरोंमें रहनेवाले यक्ष्मापीड़ित सभी बालकोंको सागर-तटके सदनोंमें ले जाया नहीं जा सकता। इसलिये छतोंपर तंबू लगाये गये हैं । वहाँ बच्चे सारा दिन खुली हवामें रह सकते हैं । रोगी बालक तंबूमें प्रतिदिन सबेरे नौ बजे आते हैं । उन्हें तत्काल ताजा दूधका एक गिलास प्रतिदिन दिया जाता है। तब इन बच्चोंको प्रायः स्कूलकी ही भाँति पाठ पढ़ाया जाता है । दोपहरको इन्हें सादा हितकारक भोजन दिया जाता है और तीसरे पहर फिर दूधका एक गिलास पिलाया जाता है । ठीक पाँच बजे तंबू (कैम्प) बंद कर दिया जाता है; परंतु घरोंकी आरोग्यनाशक अवस्थाओंको खुली हवाके अच्छे परिणामोंको नष्ट नहीं करने दिया जाता। नर्सें (डाक्टरनियाँ) और चिकित्सक इन तंग घरोंमें जाते और देखते हैं कि रोगीको सबसे अधिक हवादार और प्रकाशवाला कमरा दिया जाता है । वे यह भी देखते हैं कि रोगीके कपड़े और खानेके बर्तन अलग धोये जाते हैं । वे घरवालोंको एक पर्चा दे आते हैं जिससे उन्हें रोगी बालकके लिये दो सेर दूध मुफ्त मिल जाता है । यक्ष्माके भयानक रोगका सामना करनेके लिये न्यूयार्क-नगरकी ओरसे यह दिनका तंबू बड़ी ही बुद्धिमत्ताका साधन है।

यद्यपि रोगी बालकोंको तन्दुरुस्त होनेमें सहायता देना बुद्धिमत्ता और दयाका काम है; परंतु अन्तको देशकी वास्तविक आशाका आधार तो तन्दुरुस्त बालक ही हैं, जो बड़े होकर मजबूत स्त्रियाँ और पुरुष बनेंगे । नगर इस बातका अनुभव करता है और वह नीरोग बालकोंको हृष्ट-पुष्ट तथा प्रसन्न रखने और उनके शरीर तथा मस्तिष्कके लिये हितकारक धंधा देनेके काममें लग गया है । इस उद्देश्यसे, उसने खुली हवामें क्रीडा-क्षेत्र, छतोंपर फुलवाड़ी, मन बहलानेके खंभे या पुल, स्नान करनेके तालाब, वाटिकाएँ और व्यायाम-क्षेत्र बनाये हैं और बालकोंको खेलना सिखानेके लिये खुश-मिज़ाज और हितकारी युवक और युवतियाँ नियुक्त की हैं; क्योंकि दुर्भाग्यसे घनी बस्तीवाली गलियोंमें रहनेवाले बालक सादा खेल भी खेलना नहीं जानते और उन्हें सिखानेकी आवश्यकता होती है।

तंग और गंदे घरोंके बालकोंमें काम करनेवाले सरकारी कर्मचारी छतपरकी फुलवाड़ीको अपनी एक अतीव मूल्यवान् सहायक गिनते हैं। न्यूयार्कके सभी नवीन सार्वजनिक स्कूलोंकी छतोंपर क्रीडा-क्षेत्र हैं, जिनके चारों ओर तारका जँगला और फर्शपर खपरैलें हैं । यहाँ बच्चे बेस बाल (Base ball) और बास्केट बाल (Basket ball) वरं टेनिस भी खेलते हैं । साँझको शायद यहाँ व्यायाम और नृत्यकी श्रेणियाँ लगती हैं।

आदर्श-सदनोंमेंसे अनेक छतपर वाटिकाएँ हैं और न्यूयार्क-नगरके अनेक दिवा-पालन स्थानों (Day Nurseries) में वसंतके छत-बाग़ (Summer roof-garden) हैं। यहाँ धायोंकी देख-रेखमें छोड़े हुए बालक खुली हवामें खेलते हैं, यहाँतक कि यह सर्वोत्तम ओषधि उनके पीत गालोंपर स्वास्थ्यकी गुलाबी चमक लाना आरम्भ कर देती है । इन छत-बागोंमें झूले पड़े होते हैं और अनेक प्रकारके दूसरे खेलोंके अतिरिक्त सुन्दर फूलोंकी क्यारियाँ होती हैं । इनकी देख-रेखका काम कभी-कभी बड़े बच्चोंपर छोड़ा जाता है।

फिर ऐसे क्रीडा-क्षेत्र भी हैं, जहाँ बालक जितना चाहे खेल सकता है । यहाँ झूले हैं, कटहरे और घेरे (Rings and bars) हैं, टेनिस खेलनेके आँगन हैं, बालूके ढेर और मनोरञ्जनकी अन्य चीजे हैं । बड़े-से-बड़े लड़के या लड़कीसे लेकर छोटे-से-छोटे बच्चेतक सबके खेलनेके लिये वहाँ कुछ-न-कुछ चीज मौजूद है—और वह सब गरम, गलियोंकी धूल और शोरसे दूर-परे हैं।

सार्वजनिक उद्यानोंमें खेलनेसे जो लाभ होता है, उसको भी स्वीकार किया गया है। वसंत और आरम्भिक ग्रीष्ममें स्कूली बालकोंको वन-भोजके लिये वहाँ ले जाया जाता है । वहाँ जाकर वे खूब नाचते-कूदते हैं। अध्यापक और अध्यापिकाएँ बड़े-बड़े सार्वजनिक स्कूलोंमें जाकर भिन्न-भिन्न देशों और जातियोंके बालकोंको उनके पुरखाओं और देशोंके नाच सिखाती हैं । इनमें बहुत-से बच्चे यूरोपके जर्मनी, रूस, इटली और पोलैंड आदि देशोंमें

उत्पन्न हुए होते हैं। अब जब वे न्यूयार्ककी व्यायाम-शालाओंमें अपने जातीय नाच देखते हैं, तब उन्हें वह घर ही मालूम होने लगता है। इससे वे भूल जाते हैं कि हम स्वदेश छोड़कर विदेशमें आये हैं।

इन सार्वजनिक उद्यानोंमें प्रायः लड़के और लड़कियाँ झंडोंकी ड्रिल और दूसरे प्रकारके देश-भक्तिके खेल खेलती हैं। इसलिये पुरानेका नयेके साथ पैबंद हो जाता है और वे नन्हे-नन्हे विदेशी बालक अनुभव करने लगते हैं कि हम वास्तवमें अमेरिकाके नागरिक हैं।

अत्यन्त गरमी और लूके दिनोंमें यह उन्नत नगरी अपने लड़के और लड़कियोंके नहाने और तैरनेके लिये तालाबोंका प्रबन्ध करती है। उनमें बालक खूब जी भरकर ठंडे पानीमें स्नान और जलक्रीडा कर सकते हैं। वहाँ ऐसे अध्यापक रक्खे हुए हैं, जो बालकोंको तैरना, डुबकी लगाना और पानीके अन्य खेल सिखाते हैं और बालक खेलमें ही स्वच्छताका वास्तविक मूल्य सीख लेते हैं।

इस प्रकार न्यूयार्क-नगरी अपने लड़के और लड़कियोंके शरीरोंको बनाती है और निर्दोष रखनेकी शिक्षा देती है। अब सुनिये कि वह उनके मनोंको कैसे उन्नत करती है? सार्वजनिक स्कूलोंमें अन्य विषयोंके अतिरिक्त गृह-प्रबन्ध और व्यवसायोंकी शिक्षा भी दी जाती है। जब सार्वजनिक स्कूलकी शिक्षा समाप्त हो जाती है, तब पुस्तकालय बालकके सुधारनेका काम अपने ऊपर ले लेते हैं। न्यूयार्कके सभी पुस्तकालयोंमें बालवाचनालय हैं, जिनमें बच्चोंके उपयुक्त छोटे मेज और कुर्सियाँ हैं। इनमेंसे अनेकमें प्रति सप्ताह एक घंटा बच्चोंको मनोरञ्जक कहानियाँ सुनायी जाती हैं। कहानियाँ सुनानेके लिये विशेष सधे हुए पुरुष या स्त्रियाँ रक्खी जाती हैं। कहानी सुनानेके घंटे सामान्यतः दो भागोंमें अलग-अलग किये होते हैं। एकमें बहुत छोटे बच्चोंको परियों आदिकी कल्पित कहानियाँ सुनायी जाती हैं और दूसरेमें बड़े लड़के और लड़कियोंको वीरताकी बातें। बहुधा कहानीका कोई उत्तेजक भाग ही सुनाया जाता है। तब सुननेवाला इन शब्दोंके साथ कहानीको छोड़ देता है—'बाकी कहानी पुस्तकालयकी आलमारीमें बंद पुस्तकोंमें मिलेगी।' इस प्रकार बच्चोंमें उत्तमोत्तम पुस्तकें पढ़नेकी रुचि उत्पन्न की जाती है। देशभक्तिकी कहानियोंकी बड़ी माँग रहती है। ईस्ट साइडके पुस्तकालयोंमें 'वाशिंगटन पुस्तकों' और 'लिंकन पुस्तकों' को पढ़-पढ़कर धज्जियाँ उड़ा दी जाती हैं, क्योंकि इन छोटे-छोटे विदेशी बच्चोंमें अपने नये ग्रहण किये हुए देशके वीरोंके कार्य-कलापको जाननेकी बड़ी उत्सुकता होती है।

चाहे बालक पुस्तक पढ़नेके लिये कितना ही उत्सुक क्यों न हो, परंतु पुस्तकालयका एक कड़ा नियम है कि मैले हाथोंवाले बच्चेको पुस्तक नहीं दी जाती।

'तीसरे पहर स्कूल बंद होनेके तीन ही मिनट पश्चात् पुस्तकालयके डेस्कके सामने बच्चोंकी पंक्ति लगना आरम्भ हो जाता है। दस मिनटमें यह पंक्ति कमरेके दूसरी ओरतक पहुँच जाती है। पंद्रह मिनटमें यह सीढ़ियोंसे उतरकर नीचे बाजारतक जा पहुँचती है। एक बार 'सीवाई पार्क पुस्तकालय' के सामने पंद्रह सौ बालकोंकी ऐसी ही पंक्ति लग गयी थी। ये सब बड़ी उत्सुकताके साथ पुस्तकालयसे पुस्तकें पानेकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

जब सब बालक हाथ साफ कर चुकते हैं, तब उन्हें वाचनालयमें जानेकी आज्ञा मिलती है। लड़के और लड़कियोंको पुस्तकालयमें 'भरती' होते समय एक प्रतिज्ञा-पत्र-पर हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। वह प्रतिज्ञा इस प्रकार है—'मैं यहाँ अपना नाम लिखकर इस बातकी प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं जिन वस्तुओंका उपयोग करूँगा, उनका विशेष ध्यान रक्खूँगा और नियमोंका पालन करूँगा।'

इस बार एक लड़कीसे पूछा गया कि तुमने जो यह प्रतिज्ञा-पत्र लिखकर दिया है, इसका तुम क्या अर्थ समझती हो? इसपर उसने उत्तर दिया कि 'इसका अर्थ यह है कि पुस्तकको हाथमें लेनेसे पहले हाथ धो लो और इस बातका ध्यान रक्खो कि बच्चा इसे कहीं फाड़ न दे।'

इस प्रकार सफाईकी शिक्षा और परियोंकी कहानियोंका आनन्द साथ-साथ मिलता है। कहते हैं कि न्यूयार्कके पुस्तकालयोंमें जो लाखों पुस्तकें हैं, उनमेंसे एक तिहाईसे अधिकको नगरके बालक पढ़ते हैं।

फ्रायडका काम-दमन-विरोधी असंयम-वाद

(लेखक—श्रीअश्विनीकुमारनारायणसिंहजी एम०कॉम्)

विज्ञान नहीं अज्ञान

राहे मग़रिब में ये लड़के लुट गए, वाँ न पहुँचे और हमसे छुट गए।

कालकी भी क्या ही कराल गति है। एक वह समय था जब कि इस देशमें दसों दिशाएँ शम-दमकी ध्वनिसे गूँजा करती थीं और अब एक वह समय आ गया है, जब कि पाश्चात्त्य जगत्के मिथ्या, भ्रामक तथा घातक सिद्धान्तोंका बड़े गर्वके साथ प्रचार-प्रसार हो रहा है। सत्य शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी शिक्षा बंद हो जानेसे अब इस जगद्गुरु भारतकी यह दुर्दशा हो रही है कि विज्ञानके नामपर विदेशसे जो भी वाद उठता है, हम आँखें मूँदकर उसीको श्रेयस्कर समझकर उसीके गीत गाने लगते हैं! यों तो आजतक न जाने कितने अनर्थकारी वाद पश्चिमसे निकलकर चारों ओर फैले, पर इधर कुछ वर्षोंसे जर्मनीसे निकले 'असंयमवाद' ने तो सभी वादोंसे बाजी मार ली। स्पष्ट शब्दोंमें यह 'वाद' कहता है कि 'काम-दमन स्नायविक रोगोंका हेतु होनेके कारण हेय है।'

जिस इन्द्रिय-दमनरूप ब्रह्मचर्यकी महर्षि चरक 'आयुः-प्रकर्षकरं जराव्याधिशमनम् ऊर्जस्करममृतं शिवम्' इन शब्दोंमें स्तुति करते हैं, उसीको आजका विज्ञानाचार्य फ्रायड रोगोत्पादक बताता है, और लोग इसको अंधे होकर मान रहे हैं; परंतु उसका यह विज्ञान सर्वथा अज्ञानमात्र है। असल बात तो यह है कि जिस प्रकार अग्नि घृतकी आहुति देनेसे शान्त न होकर उलटे और धधकती है, उसी प्रकार कामाग्नि भी भोगरूपी घीकी आहुति पाकर अत्यन्त प्रज्वलित होती है। भगवान् मनुका भी यही आदेश है—

> न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
> हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
> (२ । ९४)

'कामना विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती, घृतसे अग्निके समान बार-बार अधिक ही बढ़ती जाती है।' गोस्वामी तुलसीदास भी अपने मार्मिक शब्दोंमें कहते हैं, 'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते।' सर्वोपरि श्रीमद्भगवद्गीतामें, जिसकी ज्ञानगरिमाके सामने सारे संसारका मस्तक अवनत है, श्रीभगवान्का आदेश है—

> एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
> जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥
> (३ । ४३)

'हे महाबाहो! अपनी शक्तिको समझकर इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मारो।'

> शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
> कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
> (गीता ५ । २३)

'जो मनुष्य शरीरनाश होनेसे पहले ही काम और क्रोधसे उत्पन्न हुए वेगको सहन करनेमें समर्थ है, वही इस लोकमें योगी है और सुखी है।' संक्षेपमें यही यहाँके नवयुवकोंकी चर्याका मूलमन्त्र रहा है।

विनाशकाले विपरीतबुद्धिः

परंतु विनाशकालके उपस्थित हो जानेपर बुद्धि सदा भ्रष्ट हो जाया करती है। एक तो इस देहका आधारभूत अन्न दूध-घीके भावों बिक रहा है और दूसरे दूध, घी तो दवाके लिये भी दुर्लभ हो रहे हैं। प्राकृतिक चिकित्सक गला फाड़-फाड़कर कह रहे हैं कि आहारमें फल और साग-सब्जियोंकी मात्रा पर्याप्त होनी चाहिये; परंतु ये चीजें जैसी महँगी हो रही हैं, किसीसे छिपा नहीं है। दूध, घी, फल और साग-सब्जियोंकी कौन कहे रूखा-सूखा अन्न भी पर्याप्त मात्रामें बहुत थोड़ोंको ही प्राप्त होता है। ऐसी विषम स्थितिमें हमारे नवयुवक निरे नाममात्रके नवयुवक हो रहे हैं। सच पूछिये तो वे बेचारे पूर्ण यौवन प्राप्त ही नहीं करते। वे तो युवा होनेसे पहले ही बूढ़े हो जाते हैं। उनकी दयनीय दशाका चित्रण किसी कविने कैसे हृदयद्रावक शब्दोंमें किया है—

> 'खिलके गुल कुछ तो बहार अपनी सबा दिखला गए।
> हसरत उन गुञ्चों पै है जो बिन खिले मुर्झा गए॥'

परंतु विपत्ति कभी अकेली नहीं आती। एक ओर तो देशके भावी आशास्थल प्रायः अन्न-कष्ट भोग ही रहे थे, तिसपर उनके सिरपर यह 'असंयमवाद' का वज्रपात हो गया। अब उसी बकवादको गलेका हार बनाये हमारे ये

नामके नवयुवक रात-दिन काम-कुक्कुरके किंकर बने बड़े गौरवके साथ उसके पीछे दौड़ रहे हैं।

यहाँ यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि फ्रायडने तो बहुत-से धक्के खा-खाकर अन्तिम दिनोंमें अपने सिद्धान्तोंको बहुत कुछ सुधार लिया था। यहाँतक कि जिस धर्म और उपासनाको वह आरम्भमें मानव-जातिका सबसे बड़ा भ्रम कहा करता था, अन्तमें वह उसीकी दुहाई देने लगा था। काशीके सुविख्यात दार्शनिक डाक्टर श्रीभगवान्‌दासजी अपनी पुस्तक 'एन्श्यन्ट साइको-सिन्थेसिस वर्सस् माडर्न साइको-अनैलिसिस्' में फ्रायडके अन्तिम भावोंका उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

"The question, what is the purpose of human life, has been asked times without number; it never received a satisfactory answer......Only religion is able to answer the question......The only gleam of life which he sees in the deep gloom is, again, a gleam of the metaphysical and religious light."

अर्थात् 'मानव-जीवनकी सार्थकता किसमें है ? यह प्रश्न अनेकों बार पूछा जा चुका है; किंतु इसका संतोषजनक उत्तर कभी नहीं दिया गया—केवल धर्म ही इस प्रश्नका उत्तर दे सकता है। घोर अन्धकारके बीच जीवनकी जो कुछ भी ज्योति दिखायी देती है, वह केवल आध्यात्मिक एवं धार्मिक जीवनका प्रकाश है।'

फ्रायडकी भाँति ऐडलर भी, जो कि पहले उसके प्रधान शिष्योंमेंसे था, पर पीछे उससे अलग हो गया, अनुभव करता है कि—'Only religion in the deepest sense can help in the last resort !' अर्थात् 'और कोई भी अवलम्ब न रह जानेपर तात्त्विक अर्थमें केवल धर्म ही सहायक बन सकता है।'

उसी प्रकार उसके दूसरे प्रधान शिष्य जंगके बारेमें उपर्युक्त डाक्टर साहब लिखते हैं—

'Jung confesses repeatedly that he himself has no answer to give to that most frequent of questions. What is the meaning of my life or life in general ?...... But he feels that Ancient Eastern wisdom has and can give the answer.'

'जंग बार-बार स्वीकार करता है कि उसके पास इस सबसे अधिक पूछे जानेवाले प्रश्नका कि मेरे जीवनका या जीवनमात्रका क्या प्रयोजन है ? कोई उत्तर नहीं है। परंतु उसे प्रतीत होता है कि प्राचीन पौरस्त्य विज्ञानके पास इसका उत्तर है और वहींसे मिल सकता है।' इन दो-चार उद्धरणोंसे यह बात स्पष्ट है कि फ्रायड और उसके बड़े-बड़े चेले तो अन्तमें भ्रम-युक्त हो बहुत कुछ रास्तेपर आ गये, पर दुर्भाग्य है कि हम हतभाग्य भारतवासी अब भी फ्रायडकी आरम्भिक भ्रान्तियोंका ही राग अलाप रहे हैं !

यहाँपर मैं श्रीराजाराम कुमरिया, प्रोफेसर सेन्ट्रल ट्रेनिंग कालेज लाहौरकी एक गम्भीर चेतावनीको उद्धृत करता हूँ। अबसे कई वर्ष पहले 'पंजाब एजुकेशनल जर्नल', लाहौरमें उन्होंने अन्यान्य बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातोंके बीच लिखा था कि—आधुनिक नवयुवककी स्वच्छन्दतावादमें आस्था है, किंतु यह एक भ्रान्त-मनोविज्ञान और दुष्ट नैतिकता है। स्वच्छन्दतावाद (मनमानी वासनातृप्ति) से सुखकी प्राप्ति होगी, इसमें बहुत सन्देह है। भारतवर्षकी यह प्राचीन कहावत है कि कामनाकी पूर्तिसे कामनाओंकी तृप्ति नहीं हो सकती। इच्छाएँ, विशेषकर कामवासनाएँ पूरी होनेके साथ-साथ और भी तीव्र होती जाती हैं। किसी भी स्वनामधन्य धर्म-प्रचारक, तत्त्वज्ञ या दार्शनिकने वासनाओंकी ओर प्रधानतया कामवासनाकी स्वच्छन्द और असंयत पूर्तिका उपदेश नहीं दिया है; क्योंकि इस प्रकारकी व्यवस्थामें चलनेवाला समाज एक दिन भी नहीं ठहर सकता।......जहाँ कहीं भी कामके व्यापारपर नियन्त्रण नहीं रहा, वहीं अराजकता हुई और परिणाममें समाजका विनाश तथा पतन ही हुआ। इतिहासका यही निर्णय है। न केवल प्राचीन इतिहास ही वरं यूरोपका वर्तमान इतिहास भी इस सत्यका साक्षी है। उपर्युक्त डाक्टर साहब इसी पुस्तकके २६६ पृष्ठपर लिखते हैं—

"Not long ago a newspaper report of the Statistics on the subject stated that the number of cases of insanity per ten thousand was, in Europe, nearly ten times as great as that in India, and the number of cases of venereal diseases and of suicides was also correspondingly high."

अर्थात् कुछ ही दिनों पूर्व एक समाचारपत्रमें प्रकाशित इस विषयके आँकड़ोंकी एक विज्ञप्तिमें बताया गया था कि भारतकी अपेक्षा यूरोपमें प्रति दस सहस्र पागलोंकी संख्या प्रायः दसगुनी अधिक है और यौन-रोगियों तथा आत्म-हत्याओंकी संख्या भी इसी प्रकारसे बढ़ी-चढ़ी है।

फ्रायडके भ्रान्त असंयमवादका ऐसा परिणाम अवश्यम्भावी है—इस बातको समझकर इस भ्रान्त धारणाको तुरंत मनसे निकाल देना चाहिये और हमारे तपस्वी ऋषियोंके जीवनका पदानुसरणकर सावधानीके साथ उनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। सन्मार्गके प्रधान प्रदर्शक भगवान् मनु कहते हैं—

एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत् क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥
(२।१८०)

'ब्रह्मचारी सब जगह अकेला सोये, वीर्यको कभी नहीं गिराये, जो कामसे वीर्यको गिराता है, वह ब्रह्मचारी अपने व्रतका नाश करता है।'

ब्रह्मचारी ही नहीं, गृहस्थतकके लिये भी आज्ञा है कि अत्यन्त संतप्त होनेपर भी वह मासिक स्रावके वर्जित दिनोंमें न स्त्रीके पास जाय और न उसके साथ एक शय्यापर शयन करे। (४।४०)

मनु महाराजके आज्ञानुसार व्यवहार करनेसे हम इन्द्रिय-संयमरूप सुख और कल्याणके पथपर लौट पड़ेंगे।

काम-दमनका भारतीय स्वरूप

फ्रायडने स्नायविक विकारोंकी उत्पत्तिके भयसे काम-सेवनका निर्देश किया है और इसीको काम-दमनका साधन माना है; पर हमारे ऋषि इस बातको नहीं मानते। इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि 'काम'के साथ मूर्खतासे युद्ध ही किया जाय। इस प्रकारका युद्ध भी हानिकर होता है। डा० एनी बेसेंट अपनी पुस्तक 'थॉट पावर, इट्स कंट्रोल एंड कल्चर' में लिखती हैं—

"In fighting against anything the very force we spent causes a corresponding reaction and thus increases our trouble."

अर्थात् 'किसी वस्तुके साथ युद्ध करनेमें जो शक्ति हम व्यय करते हैं, उसीके अनुरूप प्रतिक्रिया उत्पन्न होकर हमारे कष्टकी वृद्धि कर देती है।' अतएव काम-दमनके लिये कामनाको हठसे मारने जाना बुद्धिमत्ता नहीं है। कामनाके विषयको बदल देना ही बुद्धिमानी है, हमारे यहाँके मनीषियोंने काम-दमनका यही मार्ग बतलाया था और इसका प्रयोग करके वे उसे ऐसा परास्त करते थे कि वह फिर कभी सिर उठानेका साहस नहीं करता था। बारीसालके स्वनामधन्य बाबू अश्विनीकुमारदत्त अपनी पुस्तक 'भक्तियोग' के 'काम-दमन' शीर्षक अध्यायमें इस दमनके अनेक उपाय बतलाकर अन्तमें कहते हैं—कामदमनका सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट उपाय है—'कामके द्वारा काम-दमन।' स्पष्ट और सरल शब्दोंमें इसका अर्थ यह है कि पवित्र और ऊँची कामनाओं और वासनाओंमें सबसे पवित्र और ऊँची कामना-वासना है—परम पावन परमेश्वरके पदपङ्कजकी प्रीति। इस प्रीतिके जाग्रत् होते ही सारी कुत्सित और नीची कामना-वासनाएँ भागती दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ भगवच्चरणारविन्द-लाभकी कामना बलवती हुई, वहीं अन्य कामनाएँ हार मानकर भगीं। श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम नहिं काम।
तुलसी कबहुँ कि रहि सकै रबि रजनी एक ठाम॥

यहाँ आप यह कह सकते हैं कि 'ये शब्द सुननेमें तो बड़े ही सुखद और मधुर हैं; पर ऐसी भगवत्प्रीतिकी प्राप्ति कोई हँसी-खेल नहीं, जो आजकलके बालकों और नवयुवकोंमें बात-की-बातमें पैदा हो जाय। वह बड़े बड़ोंको भी दुर्लभ है।' यह सत्य है विषय-वासनाके दलदलमें फँसे हुए बड़ी उम्र-वालोंके लिये तो यह प्रीति अवश्य ही दुर्लभ है, पर कोमल सरल-हृदय बालकोंमें इस भगवत्प्रीतिको प्रयत्न कर,पर सहज ही लाया जा सकता है। माता-पिता, शिक्षक-समुदाय तथा शिक्षा-विभाग इस ओर ध्यान दे तो बालकोंके मन बहुत आसानीसे बदले जा सकते हैं। जैसे आजकल 'चीन' में केवल साम्यवादी पुस्तकें ही पढ़ायी जाती हैं। उसीपर भाषण, व्याख्यान होते हैं, उसीके जुलूस निकलते हैं, नाटक-सिनेमा आदिमें भी वही बातें सिखायी जाती हैं—इसी प्रकार यहाँ भी यदि ईश्वर-प्रीति और संयमका महत्त्व और लाभ बताने-वाली बातें ही पढ़ायी, सिखायी, समझायी और दिखायी जायँ तो अनुकरणप्रिय बालकोंके जीवन वैसे ही बन जायँगे। दोष तो सारा हमारा ही है।

संयम-नियम तथा त्याग-तपस्याके—(योगदर्शनके अनुसार) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष,

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—यम-नियमके पथपर चलकर ही जगत्-कल्याणकी ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। कामसेवनसे कदापि कामदमन नहीं हो सकता। जब हमारे बालक और तरुण इस प्राचीन निरापद पथपर चलेंगे, तभी वे सच्चे शूरवीर, मेधावी और परिवार तथा देशका सिर ऊँचा और मुख उज्ज्वल करनेवाले होंगे। मन-इन्द्रियोंपर विजय पाये हुए लोग ही सर्वत्र विजयी होंगे, तभी उनकी विजयकी शङ्खध्वनि सर्वत्र गूँजेगी। तभी रूठे हुए देवगण एक बार फिर प्रसन्न हो आकाशसे पुष्पवृष्टि करेंगे। भगवान् करें वह दिन शीघ्र देखनेमें आये।

यहि आसा अटक्यौ रहै अलि गुलाब के मूल।
ह्वैहैं बहुरि बसंत रितु इन डारन वे फूल॥

नामकरण-संस्कार

(लेखक—श्रीतारकेश्वरप्रसादजी वर्मा, बी०ए०, आनर्स)

नामकरणकी रीतियाँ प्रत्येक देशमें भिन्न-भिन्न हैं। कहीं परम्पराकी माला जपी जाती है तो कहीं संख्याबोधक शब्दोंसे ही काम चला लिया जाता है। यदि अन्तर है भी तो वह नहींके बराबर।

भारतमें नामकरणका विशेष [illegible] है। अधिकतर देवी-देवताओंके नामपर ही नामकरण होते हैं। इसके कारण भी हैं। बच्चोंको पुकारनेके साथ ही लोगोंको ईश्वरके नामोच्चारणका सुअवसर मिल जाता है। पुराणोंके पढ़नेसे पता लगता है कि वेश्याएँ भी अपने तोतोंसे 'राम' नाम रटवाकर भवसागरसे तर गयीं। कहते हैं, पापमें डूबा हुआ 'अजामिल' भी धोखेसे अपने पुत्र 'नारायण' को पुकारकर विष्णुलोकका अधिकारी हो गया था। ऐसी अनेक कथाएँ हैं। इससे यही अनुमान होता है कि देवता या महापुरुषके नामपर ही बालकका नामकरण होना उचित है।

आज, इस बीसवीं सदीमें, नामकरणसे न तो इस प्राचीन संस्कृतिकी रक्षा की जाती है और न नैतिकताका पालन ही हो पाता है। कोई अपनी बच्चीको 'लिलि' कहता है तो कोई 'बेबी' और कोई 'डॉली।' धीरे-धीरे अब ये रूप यहाँतक बिगड़ते जाते हैं कि कुछ लोग अपने लाड़लोंको 'जैक' 'जेसन', 'हेनरी' और 'हार्वे'—जैसे नामोंसे पुकारकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट करते हैं! ऐसे लोग धन्य हैं, जिन्हें अपने पूर्वजोंद्वारा अपनाये हुए नामोंका ध्यान नहीं है! इधर कुछ लेखकों और कवियोंने तो और भी हद कर दी है। ऐसे लोग अपने वास्तविक सुन्दर नामोंको गौण बनाकर संक्षिप्त उपनामोंसे ही साहित्य-साधनामें लगे हुए हैं। इनमें कुछ नाम तो ललित होते हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्हें सुनते ही लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। कुछ उदाहरण देखिये—बेकार, विकट, पागल, दुखित, व्यथित आदि; किंतु प्राचीन कालमें ऐसी बातें न थीं। शायद उर्दूके कवियोंकी देखा-देखी हिंदीमें भी कवियोंने उपनाम रखनेकी प्रथा चला दी। अंग्रेजी तथा संस्कृत-साहित्यमें शेक्सपीयर, शेली, कालिदास, भवभूति आदिके नामोंके साथ कोई उपनाम नहीं है।

स्वयं महाकवि 'सूर' ने भी उपनामके झमेलोंसे दूर रहकर, अपने आराध्यदेव कृष्णके इस संस्कारका बड़ा रोचक वर्णन किया है। चञ्चल, चटुल और चमत्कारी माखनचोर कन्हैयाके जन्म-संस्कारका बड़ा मार्मिक वर्णन हुआ है 'सूरसागर' में। यथा—

बिप्र बुलाइ नाम लै बूझ्यो रासि सोधि इक दिनहिं धरौं।
आछो दिन सुनि महर जसोदा सखिन बोलि सुभ गान करौं॥
जुवति महरि को गारी गावति और महरि को नाम लियो।
ब्रज घर घर आनंद बढ़यो अति प्रेम पुलक न समात हियो॥

आस-पासकी सखियाँ जुट पड़ीं। सभी शुभागमनके साथ ही एक-दूसरेको गाली देने लगीं। ऐसे अवसरपर गाली भी तो भली लगती है। आज नन्द-यशोदाके पैर पृथ्वीपर नहीं पड़ते। ऋषिराजका शुभ आगमन हुआ।

उस चञ्चल, नटखट और रसिक बालकके भी कई नाम पड़े। जैसे—गोवर्धनधारी, मुरारि, माखन-चोर, केशव, कन्हैया, नन्दलाल, नन्द-नन्दन, मुरलीधर, गोपी-कृष्ण, गोपीवल्लभ, घनश्याम आदि। प्रत्येक नामकी निजी विशेषता और महत्ता है। भला ऐसा बालक, जो शैतानोंका नेता हो, जिसके अङ्ग-अङ्गमें बिजलीकी शक्ति भरी हो, जिसके मुखारविन्दपर मुसकराहट थिरक रही हो। ऐसा बालक जिसके एक-एक तोतले शब्दमें अनोखी मिश्री घुली हो। तो ऐसी मोहिनी सूरत मुरलीवाले श्याम अनेक नामसे क्यों न विभूषित हों।

अब आइये विदेशी बच्चोंके नामकरण संस्कारमें ले चलें आपको। वहाँ देखिये तिब्बतके मा-बाप अपने बच्चोंका संस्कार कर रहे हैं। तिब्बतके बच्चोंके दो बार नामकरण होते हैं। पहला नाम धर्म-गुरु 'लामा' द्वारा रक्खा जाता है। यही गुरु-दीक्षाके समयका नाम विवाह आदिके अवसरपर काम आता है। दूसरा नाम केवल पुकारनेके लिये होता है।

तिब्बतमें जहाँ नामकरण केवल दो ही बार होता है, वहाँ बर्मामें अनेक परिवर्तन होते रहते हैं। प्रत्येक शिशुका यह नामकरण-संस्कार, उसके जन्मके प्रायः चौदह-पंद्रह दिनोंके बाद, किसी पण्डितके द्वारा होता है। नामके परिवर्तनके समय उसकी सूचना बालकके निकटतम सम्बन्धियों तथा पड़ोसियोंको दी जाती है। इस अवसरपर सभी शुभचिन्तकोंके यहाँ एक बंडल चाय और एक पत्र भेजा जाता है। इस पत्रमें नये बदले हुए नामका उल्लेख रहता है। इस संस्कारके बाद बालक इसी नामसे पुकारा जाता है।

चीनमें नामकरण मुण्डन-संस्कारके दिन होता है। यह संस्कार जन्मके ठीक एक मास बाद होता है। इस अवसरपर माता स्वयं बच्चेको लाल रंगके वस्त्र पहनाती है। बच्चेका सिर मुड़ा दिया जाता है और पीछेकी ओर एक चोटी छोड़ दी जाती है। संस्कार करानेवाला नाई भी सिरसे पैरतक लाल पोशाकमें खूब फबता है। लाल रंगको बहुत शुभ समझकर ही चीनी माताएँ उस दिन लाल-लाल वस्तुओंका अधिक प्रयोग करती हैं। इस प्रकार मुण्डनके बाद मा अपने बच्चेका मुँह देखती है और उसका नाम चुनती है। इस नामको 'छोटा' नाम कहते हैं। इसी भाँति स्कूल जानेकी उम्रमें दूसरा नामकरण होता है और युवा होनेपर तीसरा।

टर्कीमें बालकके जन्मके तीन दिन बाद नामकरण-संस्कार होता है। उस दिन वह अपने पिताके पास लाया जाता है। उन्हींका चुना हुआ नाम बच्चेके कानमें तीन बार जोर-जोरसे कहा जाता है। माता-पिता अपने बच्चोंके लिये ऐसा नाम नहीं चुनते जो सुननेमें मधुर लगे। ऐसा वे इसलिये करते हैं कि नाम सुननेवालोंकी नज़र कहीं बच्चेको न लग जाय। इसी कुदृष्टिकी आशङ्कासे बच्चे अपनी मांके साथ प्रायः घरके भीतर ही रहते हैं।

ग्रीस (यूनान) के बच्चोंका नामकरण जन्मके एक-दो सप्ताहके बाद होता है। यह बच्चोंके लिये बड़े कष्टका समय होता है। उनके सम्पूर्ण शरीरमें मालिश होती है। फिर वे हवामें खूब झुलाये और जलमें डुबो-डुबोकर नहलाये जाते हैं। प्रत्येक बालकका नाम किसी महात्माके नामपर रक्खा जाता है। बालकके जन्मके बाद जिस महात्माका जन्म-दिन पड़ता है, उसी महात्माका नाम रक्खा जाता है। उसी दिनसे उसकी जन्म-तिथिकी गणना होने लगती है। इस अवसरपर बालकके सगे-सम्बन्धियोंके यहाँसे काठके रंग-बिरंगे खिलौने आते हैं। इन खिलौनोंपर भाँति-भाँतिके भावपूर्ण चित्र अङ्कित होते हैं।

आस्ट्रेलियाके पुराने निवासियोंमें नामकरण-संस्कार एक अनोखे ढंगसे होता है। खुले मैदानमें मिट्टीके दो गोलाकार चबूतरे दूर-दूरपर बनाये जाते हैं। चबूतरे चारों ओरसे घिरे रहते हैं और एक ओर आने-जानेके लिये मार्ग बना रहता है। जिस बालकका संस्कार हो चुका है वही श्रीगणेश करता है; एक डंडेकी ओर लोगोंका ध्यान खींचकर वह 'साँप-साँप' चिल्लाता हुआ दौड़ जाता है। उपस्थित मनुष्य भी उसके पीछे हो लेते हैं। फिर नृत्य होता है। नाचकर सभी लोग छोटे चबूतरेके निकट जाते हैं, जहाँ साँप तथा अन्य पशुओंकी मिट्टीकी बनी मूर्त्तियाँ रहती हैं। सभी जातियोंके मुखियोंके आ जानेपर बड़े चबूतरेमें आग लगा दी जाती है। फिर सभी खूब मस्त होकर जंगली नाच दिखाते हैं। कई नाटक भी दिखाये जाते हैं। इनके द्वारा बालकोंको यह बताया जाता है कि अब उनके जीवनमें परिवर्त्तनका समय आ गया है। यहाँ नाम पशु-पक्षियोंके नामपर रक्खे जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संसारके कई देशोंमें नामकरण-संस्कारकी विलक्षण प्रथाएँ हैं। भारतमें हिंदू-गृहस्थोंके यहाँ इसका बहुत महत्त्व है। धनी घरानोंमें इस संस्कारके अवसरपर धूम-धामसे उत्सव होता है। नाम भी सुन्दर और सार्थक चुनकर रक्खा जाता है। बंगाल और महाराष्ट्रमें नामोंका चुनाव अच्छा होता है। आर्यसमाजी लोग भी अच्छे-अच्छे नाम चुनकर रखते हैं।

बालकका नाम ऐसा रखना चाहिये जिसका अर्थ सुन्दर हो—उच्चारण मधुर और कोमल हो, जो सुननेमें कर्कश और घृणाजनक न हो, जो बालकके पैतृक गुण और कुलपरम्परागत प्रतिष्ठाके अनुकूल हो, जो जातीय विशेषता और रूपरंगके प्रतिकूल न हो। ऐसा नहीं कि रूपवान् बालकका नाम चिथरू-गुदरू हो और कुरूपका नाम चन्द्रमोहन! मसल मशहूर है—'लिख लोढ़ा, पढ़ पत्थर, नाम विद्याधर!'

बाल-जीवनमें खेलका स्थान

(लेखक—श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम्०ए०, एल्०टी०, साहित्यरत्न)

खेल हमारे जीवनमें इतना रम रहा है कि उसके लिये कोई परिभाषा जुटानेका ध्यान हमें नहीं होता; परंतु मनोविज्ञानका विद्यार्थी खेलकी परिभाषा किये बिना संतुष्ट नहीं हो सकता। अस्तु, खेलको हम मनोवैज्ञानिक भाषामें बालकके रचनात्मक कार्यकलापकी एक 'अभिव्यक्ति' कह सकते हैं। मनोविज्ञानके सुप्रसिद्ध ज्ञाता मैग्डूगलने खेलको एक अकेली प्रवृत्ति कहा है; किंतु उनका यह कथन न्यायसंगत नहीं है। खेलके द्वारा बालक अपने-आपको वातावरणके अनुकूल बनानेका प्रयत्न करता है। प्राणिशास्त्रके अनुसार उसका अपना एक उद्देश्य होता है। मानवके अस्तित्वके लिये खेलका अपना निजका महत्व है, क्योंकि वह जीवन-संग्राममें सहायक होता है।

'स्टर्न' नामक एक विद्वान्ने खेलको 'स्वेच्छानुरूप आत्म-संयमकी एक क्रिया' बताया है। जिस प्रकार युद्धकार्यके लिये विविध कौशलकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार स्टर्नने जीवनके लिये खेलकी अनिवार्यता समझी है। दूसरे शब्दोंमें खेल एक उल्लासपूर्ण, स्वेच्छानुरूप, रचनात्मक क्रिया है, जिसके द्वारा मनुष्यको आत्माभिव्यक्तिका पूर्ण अवसर मिलता है।

काम और खेलका अन्तर

खेल बहुत-कुछ स्वेच्छानुरूप होता है, उसमें बाहरसे कोई दबाव नहीं रहता, उसे हम अपनी इच्छासे करते हैं। काम प्रायः बाध्य होकर किया जाता है, उसमें एक बाह्य शक्ति काम करती है और उसका एक निश्चित अन्त होता है। स्कूल और कालेजके वातावरणमें प्रायः 'बाध्य या अनिवार्य खेल'की शब्दावली सुन पड़ती है; पर खेल वहाँ बाध्य क्यों है ? इसका उत्तर यही है कि इन खेलोंका समावेश एक निश्चित ध्येयकी प्राप्तिके लिये किया गया है। यदि कालेजके विद्यार्थी कबड्डी खेलना चाहें, तो खेल सकते हैं, पर वह उनके शारीरिक विकासके लिये उतनी उपयुक्त नहीं समझी गयी। इसलिये नहीं कि कबड्डीके खेलमें कोई नैसर्गिक त्रुटि है; परंतु इसलिये कि हमारा शिक्षाक्रम अंग्रेजोंने अपने ही साँचेमें ढाला था और अब भी बहुत-कुछ पुरानी लकीर पीटी जा रही है। एक विद्वान्का मत है कि कबड्डीसे जितनी फुरती, आँखोंकी ट्रेनिंग और आत्मरक्षाकी शिक्षा मिलती है, उतनी फुटबॉल, टैनिस और क्रिकेटसे नहीं। उन्होंने जब अपने एक जर्मन सैनिक अफसरको कबड्डीका खेल दिखाया, तब वह चकित रह गया और उसने कहा कि वह जर्मन-सेनामें उसका प्रचार करेगा। अस्तु, स्वास्थ्य अथवा संस्कृतिकी दृष्टिसे जिन खेलोंको सर्वथा उपयुक्त समझा गया है, उन्हें ही 'अनिवार्य खेल' का नाम दिया जाता है।

खेलमें हमें उद्देश्यका कोई ध्यान नहीं होता, ध्येयकी चिन्ता नहीं रहती। खेल हम प्रसन्नताके लिये स्वतन्त्र-रूपसे खेलते हैं। एक मैत्रीपूर्ण मैचमें हम इसीलिये भाग लेते हैं। हमें उससे हार-जीतका मतलब नहीं। हम उसे केवल प्रसन्नताके लिये खेलते हैं; पर कभी किसी खेलमें हमारी दृष्टिमें एक परिणाम भी होता है, जैसे किसी टूर्नामेन्टमें भाग लेते हुए हमें 'कप' या 'शील्ड'-प्राप्तिकी आकाङ्क्षा बनी रहती है। हमारा यह लक्ष्य कामके उद्देश्यसे भिन्न होता है; काम करते हुए हमारा एक उद्देश्य, एक ध्येय होता है, जिसे हमें प्राप्त करना ही होगा। यदि हम असफल होते हैं, तो हमें उसके लिये फिर प्रयत्न करना होगा। खेलमें हमारा उद्देश्य एक प्रकारका बनावटी उद्देश्य होता है। कल्पना-निर्मित होनेके कारण वह हमारे अपने ही मस्तिष्ककी उपज है। मनोविज्ञानके एक प्रमुख विद्वान् 'ड्रीवर'के अनुसार उद्देश्य खेलकी प्रसन्नतापूर्ण हलचलके अधीन होता है। ड्रीवरके अनुसार काममें एक पृथक् उद्देश्य होता है और सदैव उसकी प्रमुखता रहती है। खेलमें हमें अपनी बनायी हुई दुनियाका ही सामना करना पड़ता है। हाँ, कुछ अच्छे ढंगके खेलोंमें थोड़ी वास्तविकता भी रहती है। काममें हमें सर्वत्र वास्तविक संसारका सामना करना होता है। खेलमें हमें उल्लासपूर्ण आनन्द अथवा आनन्दमय उल्लासकी अनुभूति होती है, जिसे हमने 'खिलाड़ियोंका भाव'की संज्ञा दी है। इसके विपरीत सचाई और गम्भीरता कामको परिचित करानेवाली विशेषताएँ हैं।

इन सब लक्षणोंका समन्वय करते हुए हम कह सकते हैं कि काममें जब गम्भीरताकी कमी होती है, तब वह क्रिया खेल कही जा सकती है। बात यह है कि काम और

खेलके बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा नहीं बनायी जा सकती। काम और खेलका अन्तर मस्तिष्कके झुकाव-विशेषके ऊपर निर्भर करता है। इसीलिये आधुनिक शिक्षाके पाठ्य-क्रममें कामके गाम्भीर्यके साथ खेलक्रियाओंका समावेश किया गया है। अतः पहुँच इस निष्कर्षपर होती है कि खेल एक क्रिया है, जो स्वयं अपने लिये की जाती है और उसमें उपज (उद्देश्य) का ध्यान नहींके बराबर होता है। काम एक ऐसी क्रिया है, जो अपनेसे अलग किसी उद्देश्य-के लिये की जाती है।

खेलके विषयमें विविध धारणाएँ

खेल-सम्बन्धी प्रवृत्तियोंके विश्लेषणके लिये कई प्रयत्न किये गये हैं और वे इस प्रकार हैं—

१. शिलर-स्पेन्सरका सिद्धान्त—अतिरिक्त शक्तिका सिद्धान्त—इस सिद्धान्तके अनुसार बालकमें आवश्यकतासे अधिक शक्ति भरी हुई है। जिस प्रकार किसी 'सेफ्टी वाल्व' द्वारा इंजनमें बढ़ जानेवाली अतिरिक्त भापको निकाला जा सकता है, उसी प्रकार प्रकृतिने खेलके द्वारा बालककी अवाञ्छित शक्तिको निकाल देनेका प्रबन्ध किया है; किंतु इस सिद्धान्तसे यह स्पष्ट नहीं होता कि खेल किन्हीं निश्चित धाराओंमें प्रवाहित क्यों होता है और थक जानेपर हम क्यों खेलते हैं? खेलनेवाले बालककी समता उस 'लोको-मोटिव इंजन'से की जाती है, जिसने कोयलेके द्वारा आवश्यकतासे अधिक शक्ति एकत्र कर ली है और इस हेतु वह भाप निकालनेके लिये विवश होता है।

२. लैजारसका सिद्धान्त—ताजगीका सिद्धान्त—इस सिद्धान्तका प्रतिपादन लार्ड कन्सने किया और बादमें इसे पैट्रिकका समर्थन प्राप्त हुआ। इन महानुभावकी यह धारणा है कि खेल थके हुए बालकोंको ताजा कर देता है; किंतु काम-की भाँति खेलमें भी शक्तिका व्यय संनिहित है। जब हम थक जाते हैं, तब हमें आराम करना चाहिये। इस सिद्धान्तसे प्रौढ़ व्यक्तियोंके दृष्टिकोणका परिचय मिलता है। खेल एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा हम जीवनकी कठिनाइयोंको भूल जाते हैं। इसलिये खेल बालकके स्नायु-संस्थानके ताजे स्नायुओंको काममें लाकर थके हुए स्नायुओंको आराम देता है कि वे अपने भीतर एकत्र विषाक्त रासायनिक पदार्थ-से निवृत्ति पा लें।

३. कार्ल ग्रूसका सिद्धान्त—इस सिद्धान्तका प्रतिपादन पहले-पहल मैलब्रांचने किया और बादमें इसका समर्थन कार्ल ग्रूसने किया। इन महानुभावकी यह धारणा है कि खेल-का उद्देश्य जीवनके लिये तैयारी करना है। खेलका समय हमारी तैयारीका समय है। जीवधारियोंकी निम्न श्रेणियोंमें खेलका अस्तित्व नहीं; क्योंकि उन्हें अपने पूर्वजोंकी प्रेरणाएँ और आदेश पहलेसे ही परिपक्व होकर प्राप्त होते हैं। इसके विपरीत उच्च श्रेणियोंमें अपरिपक्वताकी अवस्था बहुत लंबी होती है, इसलिये उन्हें खेलकी आवश्यकता बनी हुई है। इस सिद्धान्तके अनुसार खेल प्रकृतिकी एक युक्ति है, जिसके द्वारा बालक अपनेको वातावरणके अनुकूल बनाकर अपने भविष्यका निर्माण करनेमें समर्थ होता है। बिल्लीका बच्चा एक गेंदका पीछा करके चूहे पकड़नेकी कला सीखनेसे अधिक कुछ नहीं करता। जन्मके समय मानव बहुत ही अबोध होता है और उसे अपरिपक्वताका सबसे अधिक समय मिलता है। साथ ही खेलकी प्रवृत्ति भी उसमें अधिक समय तक बनी रहती है। कार्ल ग्रूसके इस सिद्धान्तके अनुसार इन सबका अच्छा समाधान हो जाता है। मानवी खेलके विभिन्न रूप होते हैं; क्योंकि मनुष्यके उत्तरदायित्व अनेक और भिन्न होते हैं।

४ स्टैनली हालका सिद्धान्त—इस सिद्धान्तके अनुसार सब जीवधारी उन स्थितियोंको दुहराते हैं, जिनमें होकर उनके पूर्वजोंका विकास हुआ है। जहाँ कार्ल ग्रूस खेलको प्रकृतिमें एक प्रतीक्षा समझते हुए आगेकी ओर देखता है, वहाँ स्टैनली हाल खेलको एक पुनरावृत्ति मानते हुए पीछे-की ओर मुड़ता है। सम्भवतः हालको अपने इस सिद्धान्त-का आश्रय हेकेलकी धारणामें मिला कि 'व्यक्तिका विकास वंश-परम्पराके इतिहासकी पुनरावृत्ति मात्र है।' अस्तु, स्टैनली हालके अनुसार मानवी खेलकी प्रतिक्रिया उसी क्रममें पायी जाती है, जिसमें मानव-जातिका विकास हुआ है। बालकका काटना, करवटें बदलना, लटकना, चढ़ना आदि छोटे खिलाड़ी जीवधारियोंका अनुकरण-मात्र है। दौड़ना, शिकार करना, फेंकना, कूदना आदि क्रियाएँ प्रारम्भिक मानवी पूर्वजोंके ढंगपर हैं। बालकोंमें परस्पर प्रीतिका व्यवहार मानव-जातिके विकासकी घुमक्कड़ स्थितिका द्योतक है। रचनात्मक कार्योंमें बालककी दिलचस्पी चरवाहा-जीवनकी सुधि दिलाती है। सामूहिक या जातीय खेल मानवके पूर्ण सामाजिक विकासको प्रकट करते हैं; परंतु यह पूछा जा सकता है कि बालक अपने प्रारम्भिक पूर्वजोंकी

क्रियाओंको दुहराते क्यों हैं? इसके लिये स्टैनली हालको एक दूसरे सिद्धान्तकी खोज करनी पड़ी।

५. स्टैनली हालका द्वितीय सिद्धान्त—स्टैनली हालने अपने पहले सिद्धान्तसे असंतुष्ट होकर एक दूसरा सिद्धान्त खोज निकाला, जिसके अनुसार बालकमें जन्मके समय इतनी अधिक अवाञ्छित प्रवृत्तियाँ होती हैं कि वे दूर न की जायँ, तो संसारमें एक बड़ा उत्पात खड़ा हो जाय। इसलिये खेल प्रकृतिकी एक बड़ी युक्ति है, जिसके द्वारा बालक अपनी प्रवृत्तियोंके परिष्कारमें समर्थ होता है। मनोविज्ञानके सुप्रसिद्ध विद्वान् 'नन'का कथन है कि 'मनुष्य बुराई और बेरहमीकी अति प्राचीन प्रवृत्तियोंसे छुटकारा नहीं पा सकता; किंतु खेल उसकी शरारतको छीन लेनेका एक उत्तम उपाय है, खेलके द्वारा मनुष्य उन प्रवृत्तियोंको सामाजिक विधानके लिये प्रेरक महत्त्वपूर्ण शक्तियोंके रूपमें परिवर्तित करता है। स्वभावसे हम लड़ाके हैं और हमें लड़ना अवश्य चाहिये। सभ्य मानव 'खेल'में लड़ता है। हमारा प्रत्येक खेल एक नकली लड़ाई है। आज जो बहुतेरे पहेलियाँ भरकर धनवान् होना चाहते हैं, मानो वे भाग्यसे लड़ाई ठाने हुए हैं।

विभिन्न सिद्धान्तोंपर विचार

अध्यापकोंको उचित है कि वे इन सिद्धान्तोंमेंसे किसी एकपर आस्था न रक्खें; क्योंकि ये एक दूसरेके पूरक हैं। खेलके सम्बन्धमें हालका सिद्धान्त अधिक आशाजनक है; क्योंकि नृत्यकी भाँति खेलमें भी बालक स्नायुओंका प्रयोग प्रधानतः होता है। इसके विपरीत जहाँ खेलका सम्बन्ध बुद्धिसे अधिक होता है और शरीरसे कम, वहाँ ग्रूसका सिद्धान्त अधिक शिक्षाप्रद और सारगर्भित है। पहले सिद्धान्तमें जिस शक्तिका उल्लेख है, वह शारीरिक शक्ति है और पाँचवेंका अभिप्राय मानसिक शक्तिसे है। अपनी दबी हुई भावनाओंसे छुटकारा पाकर हमें जीवनकी तैयारीमें सहायता मिलती है। लैजारसके सिद्धान्तसे अन्य सिद्धान्तोंका मेल नहीं बैठता। हालने एक स्थानपर कहा है 'खेलमें आत्माका उतना ही योग है, जितना शरीरका।' अतएव योग्य शिक्षकका यह विश्वास होता है कि खेलमें बालक भावी जीवनकी गम्भीर क्रियाओंके रिहर्सलसे अधिक कुछ नहीं करता, और बालकके मस्तिष्क तथा चरित्रके विकासको ध्यानमें रखकर वह खेलकी भावनाका समुचित उपयोग करता है। अध्यापकों और अभिभावकोंद्वारा बालक-बालिकाओंके खेलोंका सहानुभूतिपूर्वक निरीक्षण किया जाना चाहिये, ऊपरसे उनका नियन्त्रण उचित नहीं।

खेलके विकासकी स्थितियाँ

'जड' नामक एक अमेरिकन मनोवैज्ञानिकने खेलकी पाँच अवस्थाएँ बतायी हैं—

१–जन्मसे पाँच वर्षतक शैशवका खेल—इस अवस्थामें बालक अपने हाथ-पैर आदि अङ्गोंका एक निश्चित गतिसे संचालन करता है और खेल केवल बालकके व्यक्तित्वसे सम्बन्ध रखता है। बालक अपने हाथ-पैर चला-चलाकर शरीरके तन्तुओंको शक्तिसम्पन्न करता है और उसे इसमें प्रसन्नताकी प्रतीति होती है। इस स्थितिमें यह आवश्यक है कि बालकको खेलनेके लिये चमकीली चीजें दी जायँ और उसे ढीले वस्त्र पहनाये जायँ, जिससे वह अपने हाथ-पैरोंको मनचाहा चला सके। अतिरिक्त शक्तिके सिद्धान्तद्वारा इन शारीरिक चेष्टाओंका अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि बालक अपनी अतिरिक्त शक्तिसे बचना चाहता है।

२–पाँचसे आठ वर्षतक अनुकरणात्मक खेल—इस अवस्थामें बालक दूसरोंका अनुकरण करना चाहता है। इस स्थितिमें बालकके लिये पालतू जानवरोंका प्रबन्ध अच्छा होगा; उसे सीधे-सादे खेल खेलनेकी सुविधा होनी चाहिये।

३–आठसे बारह वर्षतक स्पर्धात्मक खेल—आठ वर्षकी अवस्थामें बालकमें अपनेको दिखानेकी प्रवृत्ति परिपक्व हो जाती है। मनोवैज्ञानिक शब्दावलीमें इसे हम 'आत्मश्लाघाकी अन्तःप्रेरणा' कहेंगे। यह अन्तःप्रेरणा लड़कियोंकी अपेक्षा लड़कोंमें विशेष होती है। शिक्षकको उचित है कि वह इस स्थितिके बालकोंमें लड़ाई-झगड़ेकी अन्तःप्रेरणाका सदुपयोग करे।

४–बारहसे अठारह वर्षतक सामूहिक खेल—इस अवस्थामें बालक मिलकर खेलना चाहते हैं, इसे हम सामूहिक अन्तःप्रेरणा कहेंगे। यह आवश्यक है कि इस स्थितिके बालक-बालिकाओंके सामूहिक खेलोंके लिये कुछ सामान्य नियम निर्धारित किये जायँ, जिनसे वे समूहके दुर्गुणोंसे बच सकें।

५–अठारह वर्षसे आगे विचारात्मक खेल—इस अवस्थामें व्यक्ति कुछ ऐसे खेल खेलना चाहते हैं, जिनसे शारीरिक चेष्टाका अभाव होता है, जैसे ताश और शतरंज। टैनिस

और गोल्फ-जैसे खेलोंमें भी शारीरिक संचालन थोड़ा होता है, इसलिये उन्हें भी इस स्थितिके खेलोंमें स्थान दिया गया है ! यही कारण है कि हाईस्कूलके बालकोंके लिये टैनिस उपयुक्त खेल नहीं समझा गया । शिक्षकको उचित है कि वह इस स्थितिके विद्यार्थियोंको खेल खेलते हुए सोचनेका अवसर दें । इस बातपर ध्यान रखना चाहिये कि लड़कों और लड़कियोंके खेल प्रारम्भिक अवस्थासे ही भिन्न हों, क्योंकि लड़कोंमें आविष्कारकी भावना विशेष होती है और लड़कियोंमें अनुकरणकी प्रवृत्ति विशेष मात्रामें पायी जाती है ।

खेलका अभिनयात्मक रूप

बालकके व्यक्तित्वको सामूहिक रूपमें विकसित करनेमें खेलक्रियाओंका अपना निजका महत्त्व है । खेलक्रियाओंका एक मुख्य लक्षण मिथ्या विश्वासकी भावना है, जिसका आशय अपनेको दूसरेके स्थानपर समझकर अथवा अपने लिये काल्पनिक परिस्थितियाँ खड़ी करके तदनुसार आचरण करना है । दूसरोंका पार्ट अदा करनेमें बालकोंको एक स्वाभाविक प्रसन्नता होती है, क्योंकि उनमें अनुकरणकी प्रवृत्ति विशेष मात्रामें पायी जाती है । कार्ल ग्रूसके सिद्धान्त-के आधारपर बालक कल्पनाके सहारे बहुत-सी अनमोल बातें सीखता है । मिथ्या विश्वासके इन खेलोंद्वारा आत्मश्लाघाकी दबी हुई भावनाओंको प्रकट होनेका अवसर मिलता है । स्टैनली हालकी सम्मतिमें जानवरोंके खेल खेलनेसे बच्चोंकी भावनाएँ परिष्कृत होती हैं । बच्चे जब बिल्ली या शेर, मुर्गे या तीतरकी बोलीकी नकल करते हैं, तब घरके बड़े-बूढ़े प्रायः अपने धंधोंसे परेशान रहकर उनपर झल्लाते हैं । यथार्थमें बालककी ये क्रियाएँ पुनरावृत्ति (पुनर्जीवन) की क्रियाएँ हैं और शक्तियोंको परिष्कृत करना इनका प्रधान उद्देश्य है ।

कुछ लोगोंके मतानुसार मिथ्या विश्वासकी भावना बालकके मस्तिष्ककी पूरक प्रवृत्ति है । बालकके वास्तविक जीवनमें जिन वस्तुओंका अभाव होता है, उनकी पूर्ति वह मिथ्या विश्वासद्वारा करनेमें समर्थ होता है । बालक लाठीको अपनी टाँगोंके बीचमें डालकर तथा उसे अपनी सवारीका घोड़ा समझकर दौड़ाता है और मिथ्या विश्वासके द्वारा वह लाठी उसके लिये सचमुच घोड़ा बन जाती है । जिस प्रकार कला-द्वारा मानवी शक्तियोंका परिष्कार होता है, उसी प्रकार बच्चे अपनी दबी हुई भावनाओंको मिथ्या विश्वासके सहारे प्रकट करनेमें समर्थ होते हैं । बालकको अपने मार्गमें बाधक व्यक्तियोंको पराजित करनेमें प्रसन्नताका अनुभव होता है । अपने लिये एक दुनिया आप बसाकर और अपनेको उसका एकमात्र अधिपति अथवा नायक समझकर वह अपनेसे बड़ोंको हरानेका एक मार्ग ढूँढ़ निकालता है ।

बालक जिस प्रौढ़ जीवनकी प्रतीक्षा करता है, वह बहुत कुछ अनिश्चित होता है । इसलिये मिथ्या विश्वास प्रकृतिकी एक बड़ी युक्ति है, जो बालकको भविष्यमें सभी प्रकारकी रहन-सहनकी कुछ-न-कुछ तैयारी करा देनेका उपक्रम है । इस प्रकार बाल-जीवनमें सर्वत्र पायी जानेवाली इस प्रवृत्ति-विशेषका जीवशास्त्रके अनुसार एक प्रमुख ध्येय है । मिथ्या विश्वासकी इस भावनासे यह आशय कदापि नहीं कि बालक 'मिथ्या' को 'यथार्थ' से अधिक समझता है । झूठकी भित्ति-पर बालकका निर्माण नहीं होता, प्रत्युत यह मिथ्या विश्वास जीवशास्त्रकी एक ऐसी आवश्यकता, एक ऐसा स्तम्भ है, जिससे जीवनके प्रारम्भिक वर्षोंमें बालकका आत्माभिमान वास्तविकताके बोझसे ढहने नहीं पाता ।

अस्तु, मिथ्या विश्वास बालकके पूर्ण विकासका सन्देश-वाहक है और वह उसे वातावरणके अनुकूल बनानेमें सहायक होता है । ज्यों-ज्यों बच्चा बड़ा होकर शक्तिसम्पन्न होता जाता है, मिथ्या विश्वास भी उसमें कम होता जाता है । जीवनमें इसका एक निश्चित समय होनेके कारण शिक्षक और अभिभावक दोनोंका यह कर्तव्य है कि वे इस प्रवृत्तिको परियोंकी कहानियां-जैसे सुन्दर कलात्मक रूपमें प्रोत्साहित करते हुए बालककी शिक्षामें इसका समुचित उपयोग करनेके लिये सदैव तत्पर रहें ।

खेलके विषयमें विविध धारणाओं और उसके विकासकी स्थितियोंपर विचार करते हुए हमारा अभिप्राय यही है कि हमारे पाठक प्रकृतिकी इस महत्त्वपूर्ण प्रेरणासे पूर्ण लाभ उठाते हुए बालककी शिक्षा-दीक्षाके सम्बन्धमें अपने दृष्टिकोणको कुछ अधिक उदार और व्यापक बनायें । खेल जहाँ मनोविनोद, शारीरिक विकास तथा जीवन-संघर्षके लिये आवश्यक है, वहाँ प्रकृतिसे समन्वय स्थापित करना भी उसका कार्य है । जीवन जितना कृत्रिम और व्ययसाध्य होता जाता है, खेलोंका ढंग भी उतना ही कृत्रिम और व्ययसाध्य हो रहा है । अब कंकड़ियोंसे 'सोलह गोटियाँ'-जैसे खेलोंका लोप कदाचित् इसीलिये हो रहा है । समाजव्यवस्था-से खेलोंका सीधा सम्बन्ध है । अंग्रेजी खेल, जैसे क्रिकेट और टैनिस, यूरोपीय समाजकी आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितिके भी द्योतक हैं । क्या हम कभी अपने खेलोंको जीवित रखनेके लिये सचेष्ट होंगे ।

छुट्टियाँ कैसे बितायी जायँ ?

(लेखक—ले० कमांडर पं० श्रीशुकदेवजी पाण्डेय बी०एस्-सी०)

भारतवर्षमें विद्यार्थियों और अध्यापकोंको दोसे तीन महीनेका वार्षिक अवकाश मिलता है। चाहे जिस पहलूसे देखिये, अधिकांशतः ये लंबे अवकाश व्यर्थ ही गँवाये जाते हैं। कभी-कभी यह सन्देह होने लगता है कि इसे अवकाश कहना भी चाहिये कि नहीं। प्रायः न तो इसमें कोई उपयोगी कार्य होता है, न कोई विशेष परिवर्तन और न कोई आराम ही मिलता है। इसलिये यदि हम अवकाशसे यथा-सम्भव पूर्णतम लाभ उठाना चाहते हों तो हमें अवकाशका सुनिश्चित कार्य-क्रम बना लेना आवश्यक है।

(१)

जिनका चालू वर्षमें स्वास्थ्य अच्छा न रहा हो, उन छात्रोंको ऐसी आरोग्यशालाओं, स्वास्थ्यधामों और शिविरोंमें भेजना चाहिये, जो उनके लिये विशेष रूपसे आयोजित किये गये हों। अमेरिका और रूस—दोनों देशोंमें विद्यार्थियोंके लिये नियमित रूपसे अवकाश-शिविर आयोजित किये जाते हैं। अमेरिकामें ये शिविर व्यापारी ढंगपर चलाये जाते हैं और प्रतिवर्ष इनमें अधिकाधिक छात्र आकृष्ट होते हैं।

वैज्ञानिक बाहार, उचित काम, खेल-कूद और आरामकी व्यवस्था उनके लिये की जाती है और उन्हें समस्त सुविधाएँ सुलभ की जाती हैं, जिनमें मनोवैज्ञानिक पथनिर्देश, चिकित्सक-सेवा, उपयुक्त भोजन, व्यायाम, जल और स्थलके खेल कूद तथा मनोरञ्जन—सभी सम्मिलित हैं। अमरीकी शिविरका प्रयोजन केवल समग्रतः ही नहीं, बल्कि एकान्ततः भी सुखका अनुभव कराना होता है। यह पारिवारिक वातावरणसे विलग स्वावलम्बन और स्वरक्षणके वातावरणका अवसर प्रदान करता है। यह उसके शारीरिक, भावनात्मक और चारित्रिक निर्माणमें योग देता है। यह उसे ऐसा परिसर प्रदान करता है, जिसमें उसे नूतन, प्रीतिकर और तृप्तिकर प्रयत्नका अवसर प्राप्त हो।

रूसमें छात्रोंके अवकाश-शिविर, वहाँके शिक्षाबोर्डके द्वारा आयोजित होते हैं। इनका मुख्य व्यय-भार बोर्ड वहन करता है, अभिभावक अपने वेतनके अनुपातमें कुछ अंश इसमें देते हैं। प्रत्येक विद्यालय अपना ग्रीष्म-शिविर स्वयं आयोजित करता है और किसी स्थायी स्थलमें बच्चोंके रहनेका प्रबन्ध लकड़ीके मकानों या पुराने ग्रामावासमें रहता है। रूसी शिविरके बारेमें सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि दिलचस्प कार्य-कलाप, स्वस्थ-विश्राम और मनोरञ्जन प्रस्तुत करनेके साथ-साथ यह नागरिकतामें शिक्षित करनेका भी कार्य करता है। प्रत्येक शिविर गुल्मोंमें विभाजित होता है, प्रत्येक गुल्म पंक्तियोंमें, प्रत्येक पंक्ति और गुल्मके ऊपर छात्रोंमेंसे ही एक नायक होता है। पंक्तिनायक गुल्मनायकके प्रति उत्तरदायक होता है और गुल्मनायक छात्र शिविरनायकके प्रति। रसोई बनानेके अतिरिक्त सभी काम बारी-बारीसे विभिन्न पंक्तियोंद्वारा हाथमें ले लिये जाते हैं। प्रतिदिन सन्ध्या-समय शिविरका ध्वज-उत्तोलनके अनन्तर अलाव लगता है। रूसी शिविरका समय-विभाजन प्रायः कुछ इस तरह होता है—

७ बजे प्रातः—सोकर उठना, सुबहकी ड्रिल।
७।१५ प्रातः—नहाना-धोना और बिस्तर ठीक करना।
७।४५ प्रातः—पंक्तिमें खड़ा हो जाना।
८ प्रातः—जलपान।
८।३० से ११—स्वतन्त्र समय।
११ से १२ दिनतक—सूर्यस्नान और तैरना।
१ बजे अपराह्न—दोपहरका भोजन।
१।३० से ३ अपराह्न—विश्रान्तिका समय।
४ अपराह्न—चाय।
४।३० से ६ अपराह्न—स्वतन्त्र समय।
७ बजे सन्ध्या—रात्रिका भोजन।
८ से ९।१५ रात्रि—शिविर अलाव।
९।१५ रात्रि—पंक्तिबद्ध हो जाना।
९।३० रात्रि—बिस्तरपर जाना।
१० बजे रात्रि—अन्तिम बिगुल।

स्वतन्त्र समयमें हर एक छात्र अपनी मन-मौजके अनुसार कुछ-न-कुछ काममें लगा रहता है। जैसे किसी पेड़की छायामें पढ़ता रहे, घासपर बैठकर बातचीत करता रहे, तूलिका या लेखनीका अभ्यास करे या बागवानी, विमान-शिल्प, व्यायाम-शिक्षकके साथ खेल या अभ्यास या शिविर क्षेत्रकी सफाई जैसे संगठित कार्योंमें अपनेको लगा सके। सन्ध्याके पंक्तिबन्धनमें दिनके कार्योंका लेखा-जोखा लिया

जाता है और अगले दिनके लिये कार्यक्रमकी घोषणा की जाती है। उसी समय नियमोंके उल्लङ्घनकी घटना कोई हुई रहती है तो उसकी सूचना दी जाती है।

अवकाशके अन्त होते-होते शिक्षा-बोर्ड सर्वोत्तम शिविरका निर्णय करनेके लिये एक कमीशन भेजता है, जिससे उसे लालध्वज प्रदान किया जाय। स्वास्थ्य और खेल-कूदमें स्थापित उत्कर्ष रिकार्ड, प्रथम सहायता और तैराकीमें जीती हुई पटिकाएँ, शिविरमें गढ़े नमूने, दबाये हुए फूलोंके संग्रह, घोंघोंके संग्रह, पत्तियोंके संग्रह, जिलेकी वनस्पतिके बारेमें दैनन्दिनियाँ, विभिन्न टोलियोंके कार्योंके छायाचित्र—ये सभी जाँचे जाते हैं। जो शिविर लालध्वज जीतता है, वह इसे अपने विद्यालयमें वर्षके अन्ततक गर्वसे फहराता है और वर्षान्तमें जिलेमें अगले वर्षके पुरस्कारके लिये लौटा देता है।

युद्धमें पड़े छात्रोंने रूसमें गरमीकी छुट्टियोंमें अपने अध्यापकोंकी देख-रेखमें सामूहिक और सरकारी खेतोंके काममें सहायता भी की थी। उदाहरणार्थ १९४२ के ग्रीष्ममें पैंतालीस लाख विद्यार्थियों और आठ लाख अध्यापकोंने खेतीमें हाथ बँटाया था। इसके अलावा छोटे-छोटे बच्चोंने विभिन्न कामोंके लिये बेरी (फल), कुकुरमुत्तों और ओषधियोंका संग्रह भी किया। केवल बीस प्रदेशोंके बच्चोंने स्थानीय अधिकारियोंको कम-से-कम ३४४ टन सुखाया कुकुरमुत्ता, ५७६४ टन नमकीन और सिरकेमें छोड़ा कुकुरमुत्ता, ३१५३ टन बेरी और फल और ११५० टन ओषधि संग्रह करके दिया था।

भारतवर्षमें स्वस्थ छात्रको समाज-सेवाके उपयोगी कार्योंमें छुट्टियोंमें लगाना चाहिये। उत्तरप्रदेशके उच्च माध्यमिक विद्यालय उदाहरणार्थ दो महीनेके लिये बंद रहते हैं। प्रत्येक विद्यालयको दो टोलियोंमें बाँटा जा सकता है, यह बँटवारा ऊपरसे हो ताकि प्रत्येक टोलीमें सभी वय और कक्षाओंके छात्र आ जायँ। इन टोलियोंको पचास-पचासके गुटोंमें तोड़ा जाय। प्रत्येक गुटके ऊपर एक छात्र नायक रहे और उसके साथ एक अध्यापक संलग्न रहे। प्रत्येक गुटके लिये अलग-अलग छः सप्ताहका कार्य सौंप दिया जाय।

गुटोंके बीचमें कामका विभाजन बहुत सरलतापूर्वक किया जा सकता है। एक गाँव चुनकर कुछको सुधारका कार्य दिया जा सकता है। गाँवके समीप एक उपयुक्त स्थल चुन लिया जाय, जहाँ गुट अपना पड़ाव डाल सके। दिनमें कुछ निश्चित घंटोंमें लड़के गाँवमें काम करेंगे और ग्राम-वासियोंकी सहायतासे गाँवके इर्द-गिर्द सड़कों और गलियोंकी सफाई करेंगे। झोपड़ोंको साफ करके उनमें खिड़कियाँ और वातायन खोलें, ग्रामवासियोंको शारीरिक स्वास्थ्य और स्वच्छताकी शिक्षा दें और चेचक, हैजा और मोतीझराका उन्हें टीका लगवायें। सन्ध्या-समय साहित्यिक कक्षाएँ लगायी जायँ। छोटे पुस्तकालय भी स्थापित किये जा सकते हैं। वार्ताएँ प्रस्तुत की जायँ और कथाएँ सुनायी जायँ, जिससे कि गाँववालोंको विश्वके बारेमें जानकारी बढ़े और उनका अज्ञान और अन्धविश्वास कम हो। यदि लड़के अपने साथ एक रेडियो ला सकें, तो अपनेको बहुत आसानीसे लोकप्रिय बना सकते हैं। सन्ध्या-समय खेल आयोजित किया जाय और रातमें मनोरञ्जनका कार्य-क्रम रक्खा जाय। छोटे-छोटे लघु नाटक खुली हवामें खेले जायँ और सस्ते, आसानीसे समझमें आने लायक खेल सिखाये जायँ। बादमें चलकर सरकारका यह कर्तव्य हो जायगा कि वह छात्रोंके द्वारा प्रारम्भ कार्यको जारी रक्खे और उसे ठोस बनाये। यद्यपि छात्रोंको भी इसके लिये प्रोत्साहन देना चाहिये कि वे अपने कार्य-क्षेत्रोंमें चालू वर्षमें भी बीच-बीचमें रविवारकी छुट्टियोंमें जाकर देख-भाल करें। छात्रोंके लिये दिनमें आराम और मन-बहलावका समय अवश्य रखना चाहिये।

इसी प्रकार छात्रोंको छुट्टियोंमें बड़े खेतों और बाड़ियोंमें काम करनेके लिये लगाया जा सकता है। देशका खाद्य-उत्पादन बढ़ानेके साथ-साथ इससे शहरी विद्यार्थीको उस धरतीके समीप भी लाया जा सकेगा, जिसके अंचलसे कृत्रिम शिक्षाने उन्हें विलग बना रक्खा है। सम्भवतः यह भारतमें शिक्षाके जनपदीकरणका प्रथम चरण होगा और जिसके बाद पीछे ग्राम्य-विद्यालय और महाविद्यालयोंकी स्थापना भी होती रहेगी, जिनमें कि ग्रामीण अर्थशास्त्र, ग्राम्य-समाज-विज्ञान, ग्राम्य-पुनर्निर्माण, ग्राम्य-साहूकारी और सहकारिता, कृषि, उपवन-विज्ञान, गोदोहन और कृषि, पशु-संवर्द्धन, ग्राम्य-शिल्प आदि-आदि विषयोंकी शिक्षा दी जा सके। इन बड़े खेतोंमें लगे युवकोंमें बहुत ऐसे भी निकल सकते हैं, जो बहुत आसानीके साथ प्रौढ़-साक्षरताका कार्य भी कर सकते हैं।

(२)

लंबे अवकाश विद्यार्थियोंको यात्रा और उस भारत-भूमिके दर्शनका भी सुनहला अवसर प्रदान करते हैं, जिसके बारेमें वे सालभर पढ़ते रहते हैं। वे आगरा, दिल्ली, पूना, इन्दौर, भुवनेश्वर, हैदराबाद-जैसे ऐतिहासिक नगरोंकी ओर जा सकते हैं। वे काशी, गया, पुरी, प्रयाग, अयोध्या,

मथुरा और हरिद्वार-जैसे तीर्थोंमें जा सकते हैं। वे जमशेदपुर-में टाटा-कारखाना, कलकत्तामें बाटा और हिंदुस्थान मोटर-कारखाना, बंगलोरमें भारतीय विमान-कारखाना, कानपुर, अहमदाबाद, बम्बई और सूरतमें कपड़ेकी मिलों जैसे प्रमुख भारतीय औद्योगिक केन्द्रोंमें जाकर ठहर सकते हैं। वे पृथ्वीकी गरिमा हिमालयसे प्रेरणा प्राप्त करनेके लिये पहाड़ोंकी यात्रा कर सकते हैं, या नौकामें गङ्गाकी यात्रा कर सकते हैं—ऐसी यात्रा जो कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता—पुरातन और नवीन दोनोंके बारेमें उससे कहीं अधिक शिक्षा दे सकती है, जितनी पाठशालाओंके समस्त व्याख्यान नहीं बतला सकते। वे भारतके उद्यानों और सौन्दर्य-स्थलोंको देख सकते हैं। इसके बड़े शिक्षा-केन्द्रों—संग्रहालयोंको जाकर देख सकते हैं। वे अभिभावक अपने बच्चोंको बाहर विदेशमें शिक्षा-पर्यटनके लिये भेज सकते हैं। उन बच्चोंको विदेश भी भेज सकते हैं। विद्यालयके नित्य कार्यक्रमका यह अङ्ग होना चाहिये कि वे छात्र नायकों और अध्यापकोंके देख-भालके अंदर ऐसी यात्रा-टोलियोंका आयोजन करें तथा दूसरे सरकारी अधिकारियोंको उन्हें छूट और आवश्यक सुविधा देनेके लिये प्रस्तुत रहना चाहिये।

क्या उपर्युक्त प्रस्ताव स्वीकार करनेसे पहले ही कामके बोझसे लदे अध्यापकके ऊपर असह्य भार बढ़ जायगा ? अगर इसे अच्छी तरह कार्यान्वित किया जाय तो आवश्यक नहीं है कि भार बढ़े। शिविरोंका प्रबन्ध विद्यार्थियोंको स्वयं करना चाहिये। पूरे गुट या शिविरकी भी देख-रेख करनेके लिये एक अध्यापक पर्याप्त है और उसे स्वयं इस अनुभवसे नया आनन्द और लाभ होगा। बड़े विद्यालयोंमें जहाँ २५ या ३० अध्यापक हैं, वहाँ प्रत्येक अध्यापकको जीवन-कालमें सिर्फ केवल एक बार ही देख-रेख की जायगी। आशा है कि बहुत-से तो ऐसे भी अध्यापक होंगे जो २५ वर्षके भीतर एकसे अधिक बार ऐसे राष्ट्र-निर्माणात्मक कार्यमें योग-दान देनेके लिये अपने बच्चोंको पथनिर्देश स्वेच्छासे करना चाहेंगे। 'मैं इस पथपर केवल एक बार आऊँगा। इसलिये जो उपकार मैं कर सकूँ, मुझे अभी कर लेना चाहिये; क्योंकि फिर इस पथपर मुझे नहीं आना है।'

छुट्टियोंका सदुपयोग कैसे हो ?

(लेखक—प्रत्यक्षदर्शी)

भारतवर्षके स्कूल-कालेजोंमें वर्षभरमें लगभग छः महीने-का समय छुट्टियोंमें चला जाता है। इससे सालभरमें जितनी पढ़ायी होनी चाहिये, उसमें दो साल लग जाते हैं। इस प्रकार समय और धनका अपव्यय होता है। यह बहुत बड़ी राष्ट्रिय हानि है; पर इस ओर किसीका ध्यान नहीं जाता। आवश्यक मामूली छुट्टियोंके अतिरिक्त पूरा समय पढ़ाईमें दे देनेसे विद्यार्थी कई साल पहले योग्यता प्राप्त करके जीविका-अर्जन करने योग्य बन सकते हैं। दूसरे, जबतक विद्यार्थी-जीवन रहता है, तबतक प्रायः घरकी चिन्ता नहीं रहती। होस्टलों और बोर्डिंगोंमें एक-दूसरेकी देखा-देखी विद्यार्थी बेहद खर्च करने लगते हैं। गरीब पिता या अभिभावक ऋण लेकर, घर-जमीन बेचकर 'पुत्र पढ़ लेनेपर खूब पैसा कमायेगा'—इस आशासे उसकी माँग पूरी करते रहते हैं। इधर ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती है, त्यों-त्यों मनमें विकार बढ़ने लगते हैं। कुसङ्ग मिलता है, सिनेमाके उत्तेजक दृश्य देखनेको मिलते हैं, घरके कामोंमें नफरत हो जाती है, फैशन और विलासिताका शिकार हो जाते हैं, जिससे उच्छृङ्खलता और चरित्रहीनता बढ़ जाती है। चारों ओर हानि-ही-हानि होती है। यदि ये छुट्टियाँ कम हो जायँ और पढ़ाईमें समय लगे, तो ये सारी बुराइयाँ बहुत अंशमें अपने-आप दूर हो सकती हैं।

छुट्टियोंमें लड़के आवारा घूमते हैं या आलस्यमें समय बिताते हैं, इसलिये छुट्टियोंके समयमें मनोरञ्जनके साथ ही ज्ञान-वृद्धि हो, इसके लिये शिक्षा-मनीषियोंने यह सोचा कि 'अवकाशके समय विद्यार्थीगण अपने-अपने अध्यापकोंकी देख-रेखमें यात्रा-टोली बनाकर देशमें जहाँ-जहाँ उपयोगी स्थान हैं, वहाँ जायँ, सेवा करना सीखें, औद्योगिक केन्द्रोंको देखें, ऐतिहासिक स्थलोंका निरीक्षण करें और अपनी जानकारी बढ़ावें। ऐसी यात्रा-टोलियोंके लिये रेलवे-विभाग रेलका किराया कम करे और जहाँ-तहाँ सरकारी अधिकारी भी आवश्यक सहायता करें।' प्रस्ताव उचित है और ठीक-ठीक व्यवस्था और अनुशासनमें कार्य हो तो, समयका कुछ उपयोग भी हो सकता है। विदेशोंमें व्यवस्थितरूपसे ऐसा होता भी है; परंतु हमारे यहाँकी स्थिति दूसरी ही है। यद्यपि

उपर्युक्त निर्णयके अनुसार यहाँ छात्र-छात्राओंकी यात्रा-टोलियाँ बनने लगी हैं और उनका देश-भ्रमण भी आरम्भ हो गया है; पर इस यात्रामें जो निम्नलिखित बुराइयाँ पैदा हो रही हैं, उनके सम्बन्धमें भी कुछ विचार करना परम आवश्यक है।

१. ज्ञान-वृद्धिकी जगह विद्यार्थियोंमें सैर-सपाटे और मौज-शौककी प्रवृत्ति बढ़ रही है।

२. धनका खर्च बहुत बढ़ रहा है। इसके अनुपातमें लाभ बहुत ही कम होता है।

३. छुट्टियोंके दिनोंमें विद्यार्थी जो कुछ घरका काम-काज देखते-करते, उसे नहीं कर पाते हैं और घरकी जानकारीसे वञ्चित रह जाते हैं।

४. यात्रा-टोलीके विद्यार्थी अत्यन्त स्वच्छन्द हो जाते हैं। कई बार स्वयं आँखों देखा गया है कि विद्यार्थियोंकी ऐसी टोली जिस रेलके डिब्बेमें, बसमें, जहाजमें यात्रा करती है, उसमें अन्य यात्रियोंके नाकों दम आ जाता है। ये बिना टिकट या निम्नश्रेणीके टिकट लेकर भी उच्च श्रेणीके डिब्बेमें सवार हो जाते हैं और यात्रियोंको तंग करते हैं। दिल्लगी करना, ठहाका मारकर हँसना, चाहे जिसका मजाक उड़ाना, बड़े-बूढ़ों और गरीबोंसे छेड़खानी करना, ब्राह्मण-साधुओंको परेशान करना, राह-चलतोंको तंग करना, तरह-तरहकी बोलियाँ बोलना, ऐसी कई बातें टोलीके विद्यार्थी करते हैं कि जिनको देखकर बड़ी लज्जा आती है। पर कोई कुछ बोल नहीं सकता। अगर किसीने कुछ कहा तो टोली-की-टोली उसपर टूट पड़ती है और उस बेचारेकी बड़ी दुर्दशा की जाती है।

५. शौचाचारका त्याग, संध्योपासनाका त्याग, पूजा-अर्चना तथा धार्मिक स्वाध्यायका त्याग, एक-दूसरेका जूठन खाना-खिलाना, सभीका एक साथ खाना, अभक्ष्य-भक्षण करना आदि कई ऐसी बातें हैं, जिनको विद्यार्थी घरमें नहीं करते, पर इस यात्रा-टोलीके पहले दोस्तोंके संकोचसे करते हैं। फिर उसमें अभ्यस्त हो जाते हैं। प्रायः तरुण अध्यापक ही टोलियोंमें साथ रहते हैं, जिनका विद्यार्थियोंपर कोई खास प्रभाव नहीं रहता। अतएव वे विद्यार्थियोंको किसी प्रकारकी रोक-टोक न करके उन्हींके साथ हो जाते हैं। ये बुराइयाँ आम तौरपर बढ़ रही हैं।

ऐसी यात्राओंमें ज्ञानवृद्धि, मनोरञ्जन और विभिन्न स्थानोंको देखनेका जितना लाभ होता है, उससे कहीं अधिक धनका नाश और सबसे बढ़कर तो सदाचारका नाश हो जाता है। इन बुराइयोंसे सर्वथा बचाकर यात्रा-टोलियोंकी व्यवस्था हो तो ठीक है, नहीं तो, आजकल जैसे जीवनका उच्चस्तर (हाई-स्टैंडर्ड) बनानेमें खर्च, फैशन, विलासिता, प्रमाद और असदाचार बढ़ रहा है, वैसे ही छुट्टियोंकी यात्रा-टोली भी बुराइयोंके बढ़ानेमें कारण होकर समाज और देशके लिये घातक सिद्ध होगी। इस विषयपर शिक्षा-विभागको, शिक्षण-संस्थाओंके संचालकोंको, अभिभावकोंको और संयमी विद्यार्थियोंको भी गहराईसे विचार करना चाहिये।

बालक

(रचयिता—श्रीबद्रीप्रसादजी गुप्त 'आर्य')

तुम राष्ट्रके इतिहास हो !

तुम अग्निकी भीषण लपट
जलते हुए अंगार हो,
तुम चंचलाकी द्युति चपल
तीखी प्रखर असिधार हो,
तुम खौलती जलनिधि-लहर
गतिमय पवन उनचास हो !
तुम राष्ट्रके इतिहास हो !

तुम क्रांतिकी आख्याइका
भैरव प्रलयके गान हो,
तुम इन्द्रके दुर्दम्य-पवि
तुम चिर अमर बलिदान हो,
तुम कालिकाके कोप—
पशुपति रुद्रके भ्रू-लास हो !
तुम राष्ट्रके इतिहास हो !

श्रीरामचरितमानस और भगवद्गीताकी शिक्षासे अनुपम लाभ

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

बालकोंके चरित्रनिर्माणके लिये आरम्भसे ही उनको ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिये जिसमें उनका चारित्रिक पतन तो हो ही नहीं, प्रत्युत उत्तरोत्तर उन्नति होती रहे। इसके लिये सदाचारकी और सर्वकल्याणकारी धर्मकी शिक्षा आवश्यक है। ऐसी व्यापक धार्मिक शिक्षाके बिना न तो चरित्र-निर्माण होगा और न देश, जाति और समाजका हित करनेवाले बालक ही बनेंगे। इस प्रकारके सदाचार और उदार धर्मकी शिक्षाके लिये हमारे यहाँ दो सर्वोत्तम ग्रन्थ हैं—एक हिंदीका श्रीरामचरितमानस और दूसरा संस्कृतका श्रीमद्भगवद्गीता। हमारी भारतीय आर्यसंस्कृति और धर्मकी शिक्षा अमृतके तुल्य है। यह शिक्षा इन दोनों ग्रन्थोंमें भरपूर है। जैसे अमृतका पान करनेवालेपर विषका असर नहीं हो सकता, उसी प्रकार इन ग्रन्थोंके द्वारा भारतीय उदार आर्य हिंदू-संस्कृति और धार्मिक आदर्शसे अनुप्राणित, शिक्षासे शिक्षित और तदनुसार व्यवहारमें निपुण होनेपर विदेशी और विधर्मियोंकी अनेकों प्रकारकी शिक्षाओंमें जो कहीं-कहीं विष भरा हुआ है, उसका प्रभाव नहीं हो सकता। अतएव बालकोंके लिये श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर आदर्श शिक्षाकी व्यवस्था अवश्य करनी चाहिये। रामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीता—ये दो ग्रन्थ हमारे साहित्यके अनुपम रत्न हैं और विश्वसाहित्यके भी महान् आभूषण हैं। संसारके अनुभवी बड़े-बड़े प्रायः सभी विद्वानोंने इन दोनों ग्रन्थोंकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अतः इन दोनों ग्रन्थोंको बालकोंके पाठ्यक्रममें अनिवार्यरूपसे रख दिया जाय तो बालकका सुधार होकर परम हित हो सकता है।

दुःख और शोककी बात है कि हमारे देशमें ऐसे अमूल्य ग्रन्थ-रत्नोंके रहते हुए भी बालकोंको अत्यन्त हानिकर पुस्तकें पढ़ा-पढ़ाकर उनके मस्तिष्कमें कूड़ा-कर्कट भरा जाता है। जब अंग्रेजोंका राज्य था, तब तो हमारा कोई उपाय नहीं था। पर अब तो हमारा अपना राज्य है, हमें अपनी इस स्वतन्त्रताका विशेष लाभ उठाना चाहिये। जो सदाचारका नाश करनेवाली तथा धर्मविरोधी पुस्तकें हैं, जिनके अध्ययनसे सिवा हानिके कुछ भी लाभ नहीं है, उन पुस्तकोंको हटाकर जिनमें देश, जाति और समाजकी तथा शरीर, मन, बुद्धि और आचार-व्यवहारकी उन्नति हो, ऐसे शिक्षाप्रद ग्रन्थ बालकोंको पढ़ाने चाहिये। बात बनानेके लिये तो बहुत लोग हैं, परंतु बालकोंका जिसमें परम हित हो, इस ओर बहुत ही कम लोगोंका ध्यान है। किन्हीं-किन्हींका इस ओर ध्यान है भी तो परिश्रमशील और विद्वान् न होनेके कारण उनके भाव उनके मनमें ही रह जाते हैं। इस कारण हमारे बालक उस लाभसे वञ्चित ही रह जाते हैं। कितने ही शिक्षित, सदाचारी, अच्छे विद्वान् भी हैं, किंतु वे मान-बड़ाईके फंदेमें फँसकर या अन्य प्रकारसे विवश होकर अपने भावोंका प्रचार नहीं कर सकते और कितने ही अच्छे शिक्षित पुरुष भी इस विषयमें किंकर्तव्य-विमूढ हो रहे हैं!

अतः अनुभवी विद्वान् सदाचारी देशहितैषी पुरुषोंसे तथा शिक्षा-विभागके संचालकोंसे और वर्तमान स्वतन्त्र सरकारसे हमारी सविनय प्रार्थना है कि वे पाठ्य-प्रणालीके सुधारपर शीघ्र ही ध्यान देकर उसका समुचित सुधार करें जो कि हमारी भावी संतानका जीवन है। देशकी उन्नति और उसका सुधार भविष्यमें होनेवाले बालकोंपर ही निर्भर है। आज तो हमारे बालक विद्याके नामपर दिन-प्रतिदिन अविद्याके घोर अन्धकारमय गड्ढेमें ढकेले जा रहे हैं। बालकोंमें आलस्य, प्रमाद, उच्छृङ्खलता, अनुशासनहीनता, निर्लज्जता, अकर्मण्यता, विलासिता, उद्दण्डता, विषयलोलुपता और नास्तिकता आदि अनेक दुर्गुण बढ़ रहे हैं। दुर्गुणोंकी इस बढ़ती हुई बाढ़को यदि शीघ्र नहीं रोका जायगा तो आगे जाकर यह भयङ्कर रूप धारण कर सकती है। तब इसका रुकना अत्यन्त कठिन हो जायगा। इस बाढ़को रोकनेमें श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीता—समर्थ बाँध भी है और बाढ़को सुखानेमें भी बहुत सहायक हैं। इसलिये बालकोंको इनका अभ्यास अवश्य ही कराना चाहिये।

श्रीरामचरितमानस

बालकोंके पाठ्यक्रममें आरम्भसे ही श्रीरामचरितमानसको शामिल कर देना उचित है जिससे बालकोंके जीवनपर मर्यादापुरुषोत्तम भगवान्‌के आदर्श चरित्रका प्रभाव पड़े और उनका सुधार हो सके। श्रीरामचरितमानसमें सात काण्ड हैं। पहली-दूसरी कक्षाके बालकोंको भाषाका ज्ञान नहीं होता,

अतः उन्हें मौखिकरूपसे श्रीरामचरित्रका ज्ञान कराना उत्तम होगा। इसके बादकी तीसरी-चौथी कक्षाओंमें बालकाण्ड, पाँचवीं तथा छठीमें अयोध्याकाण्ड, सातवींमें अरण्य, किष्किन्धा और सुन्दरकाण्ड, आठवींमें लङ्काकाण्ड और नवीं तथा दसवीं कक्षाओंमें उत्तरकाण्ड—इस प्रकार विभाग करके सम्पूर्ण रामायणका अर्थसहित अभ्यास करा दिया जाय तो मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीके सम्पूर्ण आदर्श चरित्रोंका ज्ञान प्रत्येक बालकको सहज ही हो सकता है। यदि इस प्रकार न रुचे तो शिक्षक अपनी इच्छाके अनुसार क्रम रख लें। गीताप्रेसकी ओरसे रामायण-परीक्षा-समिति बहुत पहलेसे ही परीक्षा-विधिसे रामायणके अध्ययनका प्रचार कर रही है। उसका निर्धारित पाठ्यक्रम भी अच्छा है, उसके अनुसार भी क्रम रखकर बालकोंको परीक्षामें सम्मिलित किया जा सकता है, जिससे उनको मानसका ज्ञान हो सके। (परीक्षासमितिके पाठ्यक्रमकी विशेष जानकारीके लिये पाठकगण 'गीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताप्रेस, गोरखपुर',को पत्र लिखकर नियमावली मँगा सकते हैं।) यदि पूरी रामायण न पढ़ा सकें तो सरकार और शिक्षक, जितने अंशको विशेष लाभप्रद समझें, उतने अंशको ही पाठ्यक्रममें शामिल करें, परंतु रामायणका अध्ययन अवश्य कराना चाहिये; क्योंकि रामायणसे हिंदी भाषाका, साहित्यिक शब्दोंका और कविता (छन्द-रचना) का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—इस भारतीय संस्कृतिका ज्ञान भी हो जाता है, जो कि विशेष लाभप्रद है। रामचरितमानसके दोहे, चौपाइयाँ, सोरठे, छन्द और श्लोक बड़े ही मधुर, सरल एवं काव्यके अलङ्कारादिके सभी गुणोंसे और प्रेमरससे ओत-प्रोत हैं तथा उनका अर्थ और भाव तो इतना लाभदायक है कि जिसकी प्रशंसा करनेमें हम सर्वथा असमर्थ हैं। यह महान् अनुपम ग्रन्थ आर्थिक, सामाजिक, भौतिक, नैतिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक आदि सभी दृष्टियोंसे सब प्रकारसे उपादेय है। इसीलिये अनुभवी विद्वानोंने, संतोंने तथा महात्मा गाँधीजीने भी इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। हिंदीभाषामें ऐसा सब प्रकारसे सुन्दर और लाभप्रद ग्रन्थ दूसरा कोई नहीं है—यह कहना कोई अतिशयोक्ति न होगा। अतः सभी भाइयोंसे हमारी प्रार्थना है कि तन-मन-धनसे इसका यथाशक्ति अपने कुटुम्ब, गाँव, जिले और देशमें सब प्रकारसे प्रचार करें और स्वयं इसका यथाशक्ति अध्ययन करने तथा इसके उपदेशोंका पालन करनेकी भी चेष्टा करें। जो स्वयं पालन करता है, वही प्रचार भी कर सकता है और उसीका असर होता है। जो स्वयं पालन नहीं करता, उसको न तो इसके अमृतमय रहस्यका अनुभव ही हो सकता है, न वह प्रचार ही कर सकता है और न उसका लोगोंपर असर ही होता है।

महात्मा तुलसीदासजीद्वारा वर्णित भगवान् श्रीरामके परम-पवित्र, शिक्षाप्रद, अनुपम, अति प्रशंसनीय, अमित प्रभावयुक्त चरित्रका—यत्किञ्चित् सारभूत अंश बालकों तथा पाठकोंके लाभके लिये नीचे दिया जा रहा है, जिसका अनुकरण करके लाभ उठाना चाहिये।

बाल-अवस्थामें जब श्रीरामचन्द्रजी महाराज अपने भाइयोंके साथ खेला करते थे, उस समय वे अपने भाइयोंको जिता दिया करते और स्वयं हार जाया करते थे। अयोध्याकाण्डमें श्रीभरतजी कहते हैं—

मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥

श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

खेलत संग अनुज बालक नित जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत देत दिवावत दाउ॥

इस प्रकार श्रीराम अपनी जीतमें भी हार मान लेते थे और छोटे भाइयोंको प्रसन्न करनेके लिये उन्हें प्रेमसे दाँव दिया करते थे। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी ऐसी स्वार्थ-त्यागपूर्ण पद्धति बालकोंको सीखनी चाहिये।

जब श्रीरामके सामने युवराजपदकी प्राप्तिका अवसर आया, तो उस समय वे कितनी उदारताका व्यवहार करते हैं। अयोध्याकाण्डमें वे कहते हैं—

जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बंस यहु अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥

'हम सब भाई एक साथ ही जन्मे, खाना-पीना, खेल-कूद, कर्णवेध, यज्ञोपवीत और विवाह आदि सब उत्सव साथ-साथ ही हुए; किंतु और भाइयोंको छोड़कर अकेले मुझे ही युवराजपद दिया जाता है, यह रघुकुलकी कैसी अनुचित रीति है।'

इससे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भाइयोंके साथ समान व्यवहार ही करें।

कैकेयीद्वारा भरतको राजगद्दी और चौदह वर्षके लिये रामको वनवास देनेका वर माँगनेपर महाराज दशरथ अत्यन्त

व्याकुल हो गये। उस समय कैकेयीकी आज्ञासे सुमन्त्र श्रीरामको बुलाने गये और शीघ्र ही उन्हें साथ लेकर आ गये। श्रीरामने आते ही पिताजीके मुखको मलिन देखकर उनकी व्याकुलताका कारण पूछा। इसपर माता कैकेयीने आदिसे अन्ततक सारी घटनाका विवरण बताते हुए कहा कि—'बेटा! तुम्हारे पिता तुम्हें वन जानेकी आज्ञा देनेमें संकोच करते हैं, उसी कारणसे दुखी हैं; और कोई दुःखका कारण नहीं है। तू माता-पिताका भक्त है, अतः पिताकी आज्ञाका पालन करके पिताको क्लेशसे बचा।' इसपर श्रीराम बोले—'इसमें तो मेरा सब प्रकारसे हित-ही-हित भरा है। वनमें मुनियोंसे मिलना, पिताकी आज्ञा, आपकी सम्मति और प्राणप्यारे भाई भरतको राजगद्दी मिलना—इससे बढ़कर मेरे लिये लाभकी और क्या बात होगी? ऐसे मौकेपर भी मैं 'ना' कर दूँगा तो मूर्खोंकी श्रेणीमें मैं सर्वप्रथम गिना जाऊँगा।' मानसमें भगवान्‌के वचन इस प्रकार हैं—

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामका कितना उच्चकोटिका स्वार्थ-त्यागपूर्ण विनययुक्त आदर्श व्यवहार है। इससे हमें विशेष शिक्षा लेनी चाहिये।

भगवान् श्रीराम वन जाते समय माता कौसल्याके साथ जो व्यवहार कर रहे हैं, उसमें नीति, धर्म और स्वार्थत्यागका अनुपम भाव भरा है। माता कौशल्या धर्म-शास्त्रके अनुसार केवल पिताकी आज्ञा ही हो तो वनमें न जानेके लिये कह रही हैं और यदि पिता दशरथ तथा माता कैकेयी—दोनोंकी आज्ञा हो तो वन जानेके लिये आज्ञा दे देती हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

वनगमनके समय श्रीसीताजी भगवान् रामके साथ चलनेकी आज्ञा माँग रही हैं किंतु भगवान्‌ने वनके भयानक कष्टोंका खयाल करके उन्हें अयोध्यामें ही रहनेके लिये कहा। वे कहते हैं—

आपन मोर नीक जौं चहहू। बचनु हमार मानि गृह रहहू॥
आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥
\... \... \...
कानन कठिन भयंकर भारी। घोर घामु हिम बारि बयारी॥
कुस कंटक मग काँकर नाना। चलब पयादेहिं बिनु पद त्राना॥

इसपर पतिव्रताशिरोमणि सीताने वनके दुःखोंसे भी पति-वियोगजनित दुःखको अधिक मानकर प्रेमपूर्वक वन जानेके लिये ही आग्रह किया। तब भगवान् श्रीरामने सोचा—यदि मैं इसे वनमें साथ न ले चलूँगा तो यह प्राणोंका त्याग कर देगी किंतु साथ चलनेका आग्रह नहीं छोड़ेगी। यह सोचकर भगवान्‌ने उन्हें साथ चलनेकी आज्ञा दे दी। सीताजी और श्रीरामका यह प्रेमपूर्ण संवाद आचरणमें लानेके लिये ध्यान देने योग्य है। सीताजी कहती हैं—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥
अस कहि सीय बिकल भइ भारी। बचन बियोगु न सकी सँभारी॥

जब सीताकी इस प्रकारकी अधीर अवस्था हो गयी, तब—

देखि दसा रघुपति जियँ जाना। हठि राखें नहिं राखिहि प्राना॥
कहेउ कृपाल भानुकुलनाथा। परिहरि सोचु चलहु बन साथा॥

इसी प्रकार भगवान् राम भाई लक्ष्मणको भी माता-पिताकी सेवा करनेके लिये अयोध्या रहनेको कहते हैं—

मातु पिता गुरु स्वामि सिख सिर धरि करहिं सुभायँ।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर नतरु जनमु जग जायँ॥
अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई। करहु मातु पितु पद सेवकाई॥
भवन भरतु रिपुसूदन नाहीं। राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥
\... \... \...
रहहु तात असि नीति बिचारी। सुनत लखनु भए ब्याकुल भारी॥
\... \... \...

इसपर लक्ष्मणजीने कहा—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥
\... \... \...
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥
\... \... \...
मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

जब लक्ष्मणजीका ऐसा प्रेमपूर्ण अत्यन्त आग्रह देखा तो भगवान्‌ने माता सुमित्राकी आज्ञा लेकर लक्ष्मणके संतोषके लिये साथ चलनेकी आज्ञा दे दी—

माँगहु बिदा मातु सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई॥

यहाँ भगवान् श्रीराम और लक्ष्मण-दोनोंका स्वार्थत्याग-पूर्वक भ्रातृ-प्रेम सराहनीय है। उपर्युक्त वनगमनके प्रसंगमें श्रीरामका भ्रातृ-प्रेम और माता-पिताकी आज्ञाका पालन,

राज्यपद-जैसे महान् स्वार्थका त्याग और वनवास-जैसे कष्टको आनन्दका रूप देना आदि आदर्श व्यवहार हैं। इनसे बालकोंको विशेषरूपसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

भगवान् श्रीराम सीता और लक्ष्मणके साथ वनमें चले गये और पिता दशरथने श्रीरामवियोगमें प्राणोंका परित्याग कर दिया। जब भरतजी ननिहालसे अयोध्या आये तो वे वहाँका ऐसा हाल देखकर अत्यन्त दुःखित हुए। उन्होंने धैर्यपूर्वक पिताकी और्ध्वदैहिक क्रिया की। तदनन्तर माताओं तथा वशिष्ठ आदि गुरुजनोंने राज्यतिलकके लिये बहुत आग्रह किया, किंतु भरतजीने स्वीकार नहीं किया और कहा—

मोहि उपदेसु दीन्ह गुरु नीका। प्रजा सचिव संमत सबही का ॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा ॥
गुर पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी ॥
••• ••• •••

अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावनु देहू ॥
ऊतरु देउँ छमब अपराधू। दुखित दोष गुन गनहिं न साधू ॥
पितु सुरपुर सिय रामु बन करन कहहु मोहि राजु।
एहि तें जानहु मोर हित कै आपन बड़ काजु ॥

तत्पश्चात् भरत मन्त्री, गुरुजन और माताओंके साथ चित्रकूट गये और भरतने भगवान् श्रीरामसे बड़े ही विनीत-भावसे राजतिलकके लिये प्रार्थना की। चित्रकूटमें श्रीराम और भरतका जो परस्पर मिलन और वार्तालाप है, वह स्वार्थ-त्यागपूर्वक भ्रातृप्रेमका एक उज्ज्वल उदाहरण है। वे दोनों ही भाई राज्य-पद-जैसे स्वार्थको एक-दूसरेके लिये त्याग रहे हैं। श्रीराम-भरतकी प्रेममयी मिलनावस्थाका वर्णन करते हुए श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं ॥
••• ••• •••

बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान ॥
••• ••• •••

फिर निषादराजने भगवान्‌से बतलाया कि—

नाथ साथ मुनिनाथ के मातु सकल पुर लोग।
सेवक सेनप सचिव सब आए बिकल बियोग ॥

तदनन्तर, गुरु वशिष्ठने भरत-शत्रुघ्नके लिये यह प्रस्ताव रक्खा कि—

तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लखन सीय रघुराई ॥

इसपर श्रीभरतजी बड़े प्रसन्न हुए और बोले—

सुनि सुबचन हरषे दोउ भ्राता। भे प्रमोद परिपूरन गाता ॥
कानन करउँ जन्म भर बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू ॥
अंतरजामी रामु सिय तुम्ह सरबग्य सुजान।
जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिअ बचनु प्रवान ॥
••• ••• •••

भगवान् श्रीरामने भरतजीसे अपनी असमञ्जसता व्यक्त करते हुए कहा—

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी ॥
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू ॥
••• ••• •••

श्रीभरतजीने राजतिलकके लिये प्रार्थना की—

देव एक बिनती सुनि मोरी। उचित होइ तस करब बहोरी ॥
तिलक समाजु साजि सबु आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना ॥
सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ ॥

इस प्रकरणसे हमें भ्रातृ-प्रेम और स्वार्थत्यागकी अपूर्व शिक्षा मिलती है। बालकोंको इसे सीखकर लाभ उठाना चाहिये।

भगवान् श्रीराम जब चित्रकूटसे पञ्चवटी पधारे, तब मार्गमें अनेक मुनियोंसे भेंट हुई। उन मुनियोंके साथ भगवान् श्रीरामने बड़ा ही रहस्यमय, मर्यादा, शिक्षा, नीति, धर्म, दया, प्रेम और विनयसे युक्त स्वार्थरहित, अनुकरणीय आदर्श व्यवहार किया।

अरण्यकाण्डमें भगवान्‌का अत्रिमुनिके साथ कितना रहस्यपूर्ण संवाद है—

संतत मो पर कृपा करेहू। सेवक जानि तजेहु जनि नेहू ॥
धर्मधुरंधर प्रभु कै बानी। सुनि सप्रेम बोले मुनि ग्यानी ॥
जासु कृपा अज सिव सनकादी। चहत सकल परमारथ बादी ॥
ते तुम्ह राम अकाम पिआरे। दीनबंधु मृदु बचन उचारे ॥

आगे चलकर भगवान्‌ने मुनियोंकी हड्डियोंके ढेरको देखकर कहा—

निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह ॥

सुतीक्ष्ण मुनिसे मिलनेपर जब मुनिने भगवान्‌से स्तुति-प्रार्थना की, तब—

मुनि मुनि बचन राम मन भाए । बहुरि हरषि मुनिबर उर लाए ॥
परम प्रसन्न जानु मुनि मोही । जो बर मागहु देउँ सो तोही ॥
मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाचा । समुझि न परइ झूठ का साचा ॥
तुम्हहि नीक लागै रघुराई । सो मोहि देहु दास सुखदाई ॥

जब भगवान् श्रीराम अगस्त्य ऋषिके पास जाने लगे, तब सुतीक्ष्णजी बोले —

अब प्रभु संग जाउँ गुर पाहीं । तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं ॥
देखि कृपानिधि मुनि चतुराई । लिए संग बिहसे द्वौ भाई ॥

और अगस्त्यमुनिके आश्रमपर पहुँचनेपर—

मुनि-पद-कमल परे द्वौ भाई । रिषि अति प्रीति लिए उर लाई ॥
... ...

तब रघुबीर कहा मुनि पाहीं । तुम्ह सन प्रभु दुराव कछु नाहीं ॥
तुम्ह जानहु जेहि कारन आयउँ । ताते तात न कहि समुझायउँ ॥
अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही । जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही ॥

सीताहरणके बाद जटायुके साथ श्रीरामका कृतज्ञता, दया और प्रेमसे भरा हुआ जो बर्ताव है, वह बहुत ही प्रशंसनीय और अनुकरणीय है । श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कर सरोज सिर परसेउ कृपासिंधु रघुबीर ।
निरखि राम छबि धाम मुख बिगत भई सब पीर ॥
... ...

राम कहा तनु राखहु ताता । मुख मुसुकाइ कही तेहिं बाता ॥
जा कर नाम मरत मुख आवा । अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा ॥
सो मम लोचन गोचर आगें । राखौं देह नाथ केहि खाँगें ॥
जल भरि नयन कहहिं रघुराई । तात कर्म निज तें गति पाई ॥
परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा । देउँ काह तुम्ह पूरनकामा ॥
... ...

अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरिधाम ।
तेहि की क्रिया जथोचित निजकर कीन्ही राम ॥

कोमल चित अति दीन दयाला । कारन बिनु रघुनाथ कृपाला ॥
गीध अधम खग आमिष भोगी । गति दीन्ही जो जाचत जोगी ॥
सुनहु उमा ते लोग अभागी । हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी ॥

इसके बाद भगवान् श्रीरामका शबरीके साथ जो प्रेमका बर्ताव है, वह बहुत ही प्रशंसा और आदरके योग्य है । भक्ति करनेवाले भक्तोंके साथ भगवान् कैसा प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हैं, इस बातको यहाँके बर्तावसे जानकर हमें भगवान्‌में अनन्य श्रद्धा और प्रेम करना चाहिये । श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

कंद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि ।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि ॥
... ...

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता । मानउँ एक भगति कर नाता ॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई । धन बल परिजन गुन चतुराई ॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा । बिनु जल बारिद देखिअ जैसा ॥

किष्किन्धाकाण्डमें श्रीराम-लक्ष्मणका श्रीहनुमान्‌के साथ मिलनका प्रसङ्ग है, वह एक अद्भुत आदर्श है । उससे हमें भगवान् रामकी विनय, निरभिमानता, कुशलता और प्रेम तथा श्रीहनुमान्‌की श्रद्धा, भक्ति, विनय और प्रेमका पाठ सीखना चाहिये ।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

बिप्र रूप धरि कपि तहँ गयऊ । माथ नाइ पूछत अस भयऊ ॥
को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा । छत्री रूप फिरहु बन बीरा ॥
... ...

की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ । नर नारायन की तुम्ह दोऊ ॥
जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार ।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार ॥

इसपर भगवान् रामने कहा—

कोसलेस दसरथ के जाए । हम पितु बचन मानि बन आए ॥
नाम राम लछिमन दोउ भाई । संग नारि सुकुमारि सुहाई ॥
इहाँ हरी निसिचर बैदेही । बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही ॥
आपन चरित कहा हम गाई । कहहु बिप्र निज कथा बुझाई ॥
... ...

इसपर श्रीहनुमान्‌जीने कहा—

मोर न्याउ मैं पूछा साईं । तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं ॥
तव माया बस फिरउँ भुलाना । ता ते मैं नहिं प्रभु पहिचाना ॥
एकु मैं मंद मोहबस कुटिल हृदय अग्यान ।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान ॥
... ...

अस कहि परेउ चरन अकुलाई । निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई ॥
तब रघुपति उठाइ उर लावा । निज लोचन जल सींचि जुड़ावा ॥
... ...

तथा भगवान् श्रीरामने कहा—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ । सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ ॥
सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

तदनन्तर, सुग्रीवसे मित्रता हुई। मित्रके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इस विषयमें भगवान्‌का उपदेश बड़ा अलौकिक है। केवल कथन ही नहीं, कथनके अनुसार उनका व्यवहार भी है। भगवान् सुग्रीवको आश्वासन देते हुए उनसे कहते हैं—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें॥

फिर, जब बालिसे भेंट हुई तब उसके साथ भी भगवान्‌का नीति, धर्म, दया और प्रेमका बड़ा सुन्दर व्यवहार है। इससे तथा बालिके बर्तावसे भी हमें भक्तिके तत्त्व—रहस्यकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

श्रीरामचरितमानसमें बतलाया है—

हृदयँ प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ राम की ओरा॥
धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं॥
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥

तब श्रीरामचन्द्रजीने कहा—

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई॥

तब बालिने विनय और प्रेमपूर्वक कहा—

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि॥

इसपर भगवान् रामका व्यवहार देखिये—

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी॥
अचल करौं तनु राखहु प्राना।........................

इसपर बालिने कहा—कृपानिधान भगवन्! मेरी बात सुनिये—

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं॥
जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अबिनासी॥
मम लोचन गोचर सोइ आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा॥

भगवान्‌ने यहाँ बालिके नीतियुक्त वचनोंको सुनकर नीतियुक्त जवाब दिया तथा श्रद्धा, प्रेम और रहस्ययुक्त तात्त्विक वचनोंको सुनकर अपार दया और प्रेमका व्यवहार किया है। ये दोनों ही व्यवहार अलौकिक हैं। इसको देखकर हमलोगोंको भगवान्‌में श्रद्धा-प्रेम करना चाहिये। भगवान्‌ने बालि-जैसे पापीको भी उत्तम गति दी, भगवान्‌के ऐसे विरदसे हमलोगोंको भी आश्वासन मिलता है। अतः कभी निराश नहीं होना चाहिये, वरं भगवत्प्राप्तिके लिये परम उत्साहित होकर भगवान्‌में प्रेम करना चाहिये।

अपने साथ प्रेम करनेवालेके प्रति श्रीराम किस प्रकार प्रेम करते हैं, यह देखकर हमें केवल भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम करना चाहिये। इस विषयमें श्रीसीताजीका प्रेम आदर्श है। सुन्दरकाण्डमें श्रीहनुमान्‌जी श्रीसीताजीसे श्रीरामका संवाद सुनाते हुए कहते हैं—

रघुपति कर संदेसु अब सुनु जननी धरि धीर।
अस कहि कपि गदगद भयउ भरे बिलोचन नीर॥
... ...

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥
प्रभु संदेसु सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥

भगवान्‌का कितना उच्चकोटिका प्रेम है। ऐसे प्रेम करनेवाले भगवान्‌को छोड़कर जो दूसरेको भजते हैं, उनको धिक्कार है।

चौदह वर्षकी अवधि समाप्त होनेपर भगवान् श्रीरामको भरतकी स्मृति हुई, क्योंकि भगवान्‌के विरहमें व्याकुल हुए भरत भगवान् श्रीरामको याद कर रहे थे, अतः श्रीराम भक्त विभीषणके आग्रह करनेपर भी लंकामें नहीं गये। उस समय भगवान् रामके हृदयमें भरतके प्रति अलौकिक प्रेम दिखायी पड़ता था। लंकाकाण्डमें जब विभीषणने यह प्रार्थना की कि—

सब बिधि नाथ मोहि अपनाइअ। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइअ॥

तब—

सुनत बचन मृदु दीनदयाला। सजल भए द्वौ नयन बिसाला॥

फिर भगवान् भरतको याद करते हुए विभीषणसे बोले—

तापस बेष गात कृस जपत निरंतर मोहि।
देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरउँ तोहि॥
बीतें अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर।
सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥

इस प्रकारके उत्कट प्रेमको देखकर स्वाभाविक ही मनुष्यके हृदयमें भगवान्‌से प्रेम करनेका भाव जाग्रत् हो जाता है—

इसके अनन्तर, जो भरतजीकी विनयपूर्वक विरहकी व्याकुलता है, वह बहुत ही प्रशंसनीय तथा हमलोगोंके लिये अनुकरणीय है। उनकी उस दशाको देखकर श्रीहनुमान्का शरीर पुलकित हो गया और भरतजीसे मिलनेपर भगवान् भी प्रेममें विह्वल हो गये। भरतका भगवान् राममें केवल भ्रातृ-प्रेम ही नहीं था, वे भगवद्भावसे भी भावित थे और उनमें भगवान्के विरहकी व्याकुलता और भगवान्में श्रद्धा-प्रेमकी पराकाष्ठा थी। श्रीरामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें उनकी उस प्रेमावस्थाका वर्णन करते हुए श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कारन कवन नाथ नहिं आयउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायउ॥
अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥
... ...

राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥
बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥

इसके बाद जब भगवान् श्रीराम अयोध्याके निकट पुष्पक विमानपरसे भूमिमें उतर गये। तब भरतजी वहाँ आये और—

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥
परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥

भरतजीके इस प्रसङ्गसे हमें भगवान्के विरहमें व्याकुलता, श्रद्धा, प्रेम, दैन्य-भाव और निरभिमानताकी शिक्षा लेनी चाहिये।

तत्पश्चात् भगवान्ने सब प्रजाजनोंके साथ कैसा उच्च-कोटिका बर्ताव किया कि सबके साथ एक साथ यथायोग्य मिले। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—

प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥
... ...

छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहुँ न जाना॥

इसके अनन्तर भगवान्का जो प्रजाजनोंके साथ राज्य-शासनका बर्ताव है, उसकी तो उपमा भी नहीं दे सकते। आज कहीं भी उत्तम-से-उत्तम व्यवस्था (प्रबन्ध) होती है तो उसके लिये यह कहावत चली आती है कि वहाँ तो 'रामराज्य' है। भगवान् श्रीरामके राज्यका वर्णन करते हुए गोस्वामीजीने बतलाया है—

रामराज बैठें त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

रामराज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥

राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकइ फनीस सारदा॥
एक नारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥

इससे हमें आश्रित जनोंके साथ कैसा बर्ताव करें—यह शिक्षा मिलती है। इसके बाद, भगवान्ने प्रजाको उपदेश दिया है। भगवान्के वचनोंमें नीति, धर्म, विनय और प्रेम भरा हुआ है। भगवान् कहते हैं—

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहउँ न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई॥
जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥
बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥

सभी पाठक-पाठिकाओंसे तथा जनतासे प्रार्थना है कि श्रीभगवान्के उपर्युक्त चरित्र और वचनोंके अनुसार अपना जीवन बनावें। सरकारसे और विद्वान् अनुभवी शिक्षकोंसे एवं धनी-दानी सज्जनोंसे हमारा सविनय निवेदन है कि वे श्रीरामचरितमानसका स्वयं अध्ययन और अनुभव करें तथा जनताके हितके लिये स्कूल, कालेज, पाठशाला आदि शिक्षा-संस्थाओंके पाठ्यक्रममें रखवाकर इसका प्रचार करें। बालकोंके लिये रामचरितमानसकी शिक्षा बहुत ही आदर्श है। धार्मिक दृष्टिके सिवा, काव्यकी दृष्टिसे तथा नैतिक, सामाजिक और व्यावहारिक दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ बहुत ही अनुपम, सब प्रकारसे उपयोगी, सरल और मधुर है तथा

चित्तको आकर्षण करनेवाला और सब प्रकारकी शिक्षा प्रदान करनेवाला है। अतः इसका हरेक प्रकारसे प्रचार करना चाहिये । हरेक भाई-बहिनको उचित है कि अपने घरमें भी यह ग्रन्थ मँगाकर रक्खें और इसको पढ़ने-पढ़ानेकी कोशिश करें ।

श्रीमद्भगवद्गीता

जिस प्रकार बालकोंके लिये पाठ्यक्रममें रामचरितमानसकी उपयोगिता है, उससे भी बढ़कर गीताकी उपयोगिता है। गीताकी संस्कृत बहुत सरल और मधुर है। श्लोकोंके भाव हृदयग्राही और पक्षपातरहित हैं। उसमें थोड़ेमें ही परमात्माका तत्त्व, रहस्य तथा शिक्षाका सार भरा हुआ है। गीता नित्य-नवीन जीवन पैदा करनेवाली तथा मनुष्यमें मनुष्यत्वका भाव लानेवाली है। इसमें गागरमें सागरकी भाँति ज्ञान, वैराग्य, योग, सद्गुण, सदाचार आदि अध्यात्म विषय तो है ही, इसके सिवा शारीरिक, बौद्धिक, व्यावहारिक तथा नैतिक शिक्षा और उपदेश भी भरा हुआ है।

शारीरिक शिक्षाका अभिप्राय है शरीर-विषयकी उन्नतिकी शिक्षा। सतरहवें अध्यायके आठवें, नवें और दसवें श्लोकोंमें जो सात्त्विक, राजस और तामस आहार बतलाया है, उसमेंसे राजस-तामसका त्याग करके सात्त्विकका सेवन करना शारीरिक उन्नतिका भी हेतु है। तथा छठे अध्यायके १६ वें और १७ वें श्लोकमें योगके प्रकरणमें जो अनुचित आहार-विहारके त्याग और उचित सेवनकी बात है, वह शारीरिक आरोग्य और संगठनकी दृष्टिसे भी उपयोगी है। इसी प्रकार अन्य जहाँ-कहीं शरीर-संगठन, आरोग्य और आयु-वृद्धिके भाव हैं, वे सब शारीरिक उन्नतिमें लिये जा सकते हैं।

बौद्धिक शिक्षासे अभिप्राय है, बुद्धिको तीक्ष्ण, निर्मल और सात्त्विक बनानेवाली शिक्षा। तेरहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकोंमें अर्जुनको दार्शनिक विषय सुननेकी प्रेरणा करके उसके बाद जो आदेश दिया है, वह बुद्धिको तीक्ष्ण और निर्मल करनेवाला है। इसी प्रकार अठारहवें अध्यायके २०वें, २१वें और २२वें श्लोकोंमें सात्त्विक, राजस, तामस ज्ञानका तथा ३०वें, ३१वें, ३२वें श्लोकोंमें बुद्धिका वर्णन है। उसमेंसे राजसी-तामसी ज्ञान और बुद्धिका त्याग करके सात्त्विक ज्ञान और बुद्धिका ग्रहण करनेसे बुद्धि तीक्ष्ण और निर्मल होती है। भगवान्‌ने कहा है—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥
(१८ । २०)

'जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान।'

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
(१८ । ३०)

'हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गको, कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है—वह बुद्धि सात्त्विकी है।

यह बौद्धिक शिक्षा है। इसी प्रकार जहाँ-कहीं भी बुद्धिके तीक्ष्ण, निर्मल और सात्त्विक होनेका प्रकरण है, वह सब बौद्धिक शिक्षाका विषय समझना चाहिये।

जिस व्यवहारसे मनुष्यकी उन्नति हो, वास्तवमें वही असली व्यवहार है। इस प्रकारकी शिक्षा व्यावहारिक शिक्षा है। भगवान्‌ने अर्जुनको दूसरे अध्यायके ३१वेंसे ३८वें और अठारहवें अध्यायके ४१वेंसे ४८वें तकके श्लोकोंमें जो उपदेश दिया है, उसमें व्यवहारको लेकर शिक्षाकी बातें हैं। इसी प्रकार गीतामें जहाँ-कहीं व्यवहारकी बातें हैं, उनसे व्यावहारिक शिक्षा भी लेनी चाहिये।

न्याययुक्त बर्ताव करना नीति है और इस विषयकी शिक्षा नैतिक शिक्षा है। पहले अध्यायके तीसरेसे ग्यारहवेंतक द्रोणाचार्यके प्रति दुर्योधनके वचनोंमें राजनीति भरी है। दुर्योधन कहता है—

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥
(१ । ३)

'हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये।'

यहाँ 'हे आचार्य! व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये'—इस कथनका यह भाव है कि यद्यपि हमारी सेना महान् है, तथापि पाण्डवोंने व्यूहकी रचना इस प्रकारकी है कि उनकी सेना अल्प होनेपर भी महान् दीखती है। "आप देखिये तो सही, उनकी कैसी अद्भुत चातुरी है।"

और 'आपके शिष्य—' यह कहनेका आशय है कि हमारी सेनाकी व्यूह-रचना तो इससे भी बढ़कर होनी चाहिये। क्योंकि उनकी सेनाकी व्यूह-रचना करनेवाला धृष्टद्युम्न आपका शिष्य है, आप उसके आचार्य हैं; जब आपके शिष्यकी ऐसी रचना है तो फिर आपकी रचना तो उससे भी विशेष होनी ही चाहिये। तथा धृष्टद्युम्नको द्रुपदपुत्र कहकर दुर्योधन द्रुपदके साथ जो द्रोणाचार्यका वैर था, उस वैरको याद दिलाते हुए युद्धके लिये आचार्यको जोश दिला रहा है, जिससे कि वे तेजीके साथ युद्ध करें।

एवं धृष्टद्युम्नको बुद्धिमान् कहनेका अभिप्राय यह है कि वह यद्यपि आपके मारनेके लिये उत्पन्न हुआ था तो भी आपका शिष्य बनकर उसने आपसे ही युद्धविद्या सीखी, यह उसकी कैसी बुद्धिमत्ता है।

नीतिकुशल दुर्योधनके वचनोंमें इसी प्रकार आगे भी चौथेसे ग्यारहवें तकके श्लोकोंमें राजनीति भरी हुई है। तथा तीसरे अध्यायके १० वेंसे १२ वें तक जो ब्रह्माजीके वचन हैं, उनमें शिक्षाप्रद नीतिके वचन हैं। और भी जहाँ कहीं गीतामें नीतिकी बात है, उससे नीतिकी शिक्षा लेनी चाहिये।

गीतामें ऐसी रहस्यमयी शिक्षा भरी हुई है कि जिससे मनुष्य इस लोकमें न्याययुक्त अर्थकी सिद्धि करके अपना शरीर-निर्वाह और मरनेपर परलोकमें उत्तम-से-उत्तम गति लाभ कर सकता है। ऐसा उपदेश-प्रद ग्रन्थ संस्कृत भाषामें भी दूसरा कोई देखनेमें नहीं आता, फिर अन्य भाषाओंकी तो बात ही क्या है! इसकी संस्कृतभाषा और कविताका लालित्य आकर्षक है। जो सदाचारी विद्वान् इसकी गम्भीरतामें गोता लगाते हैं, उनको इसमेंसे नये-नये उपदेशरत्न मिलते ही रहते हैं। गीता सब शास्त्रोंका सार है। इसकी महिमा जितनी गायी जाय, उतनी ही थोड़ी है। स्वयं श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

(महा० भीष्म० ४३। १)

'गीताका ही भली प्रकारसे श्रवण, कीर्तन, पठन-पाठन, मनन और धारण करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके संग्रहकी क्या आवश्यकता है? क्योंकि वह स्वयं पद्मनाभ भगवान्‌के साक्षात् मुख-कमलसे निकली हुई है।'

जिस प्रकार दर्शनशास्त्रके अवलोकनसे बुद्धि तीक्ष्ण होती है, उससे भी बढ़कर इस गीताशास्त्रके अनुशीलनसे बुद्धि तीक्ष्ण और निर्मल होती है। क्योंकि गीतामें दार्शनिक विषय भी उच्चकोटिका है। योग, सांख्य, वेदान्त आदि दर्शन-ग्रन्थोंमें जो लाभ-प्रद बातें हैं, उनका तथा श्रुति-स्मृतियोंका भी सार इस गीताशास्त्रमें भगवान्‌ने कहा है। तेरहवें अध्यायके तीसरे, चौथे श्लोकमें भगवान् अर्जुनको सुननेके लिये सचेत करते हुए कहते हैं—

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥

'वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है, और जिस कारणसे जो हुआ है; तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है—वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन।'

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

'यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है और विविध वेद-मन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है, तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है।'

गीताके रहस्य और तत्त्वको जाननेवाले सदाचारी विद्वान्, साधु-महात्माओं तथा शिक्षकोंने एवं महात्मा गाँधीजीने भी इसकी भूरि-भूरि महिमा गायी है। अतएव बालकोंके लिये पाठ्य-क्रममें गीताका अध्ययन अवश्य रखना चाहिये।

गीताप्रेस गोरखपुरमें गीता-परीक्षा-समिति भी खोली हुई है, उसके अनुसार पाठशालाओं और स्कूलोंमें बालकोंको गीताकी परीक्षा दिलायी जा सकती है।

तीसरी श्रेणीके बालकोंको प्रवेशिका-परीक्षा दिला सकते हैं, जिसमें केवल २ रे तथा ३ रे अध्यायको साधारण अर्थसहित कण्ठस्थ करना होता है। चौथी श्रेणीके बालकोंको प्रथमा परीक्षा दिलावें, जिसमें गीताके प्रथमसे छठे अध्यायतक है, जिसका सालभरमें अर्थसहित कण्ठस्थ होना सहज है, क्योंकि यदि प्रतिदिन एक श्लोक भी कण्ठस्थ किया जाय तो भी सालभरमें छः अध्याय कण्ठस्थ हो सकते हैं। पाँचवीं कक्षामें गीताकी मध्यमाका प्रथम खण्ड दिलावें, जिसमें अध्याय १ से १२ तक अर्थसहित कण्ठस्थ करना तथा गीता-तत्त्वविवेचनीके आधारपर पहले अध्यायकी व्याख्याका अध्ययन करना होता है। इसमेंसे १ से ६ तकका तो प्रथमामें अध्ययन किया ही जा चुका है, बाकी छः अध्याय ही रह जाते हैं, उनका सालभरमें अध्ययन करना कोई कठिन नहीं। छठी कक्षामें मध्यमाका

द्वितीय खण्ड दिलावें, जिसमें अ० १ से १८ तक अर्थसहित कण्ठस्थ करना तथा गीतातत्त्वविवेचनी अ० २, ३, ४ की टीका है। इसमें भी १ से १२ तकका तो प्रथमा और मध्यमा-प्रथम खण्डमें अध्ययन हो ही चुका है, बाकी छः अध्याय ही रह जाते हैं, उनका सालभरमें अध्ययन करना कोई कठिन नहीं। सातवीं कक्षामें मध्यमाका तृतीय खण्ड दिलावें, जिसमें प्रधानतया गीतातत्त्वविवेचनी अ० ५ से ९ तककी टीका है। आठवीं कक्षामें उत्तमा दिलावें, जिसमें प्रधानतया गीतातत्त्वविवेचनी अध्याय १० से १८ तककी टीका है। तथा नवीं और दसवीं कक्षाओंमें गीताविशारदकी परीक्षा दिलावें, जिसमें कई टीकाओंका तुलनात्मक अध्ययन विशेषरूपसे रक्खा गया है। गीता-परीक्षा-समितिके पाठ्य-क्रमकी विशेष जानकारीके लिये नियमावली गीताप्रेस, गोरखपुरसे मँगाकर देख सकते हैं।

यदि ऐसा न हो सके तो साधारण तौरपर तो गीता अवश्य ही रखनी चाहिये। दूसरी कक्षामें अध्याय १, २; तीसरी कक्षामें अ० ३, ४; चौथी कक्षामें अध्याय ५, ६; पाँचवीं कक्षामें अध्याय ७, ८; छठी कक्षामें अध्याय ९, १०; सातवीं कक्षामें अध्याय ११, १२, आठवीं कक्षामें अध्याय १३, १४; नवीं कक्षामें अध्याय १५, १६ और दसवीं कक्षामें अध्याय १७, १८—इस प्रकार क्रम रखकर भी पढ़ा सकते हैं। यह क्रम बहुत ही साधारण है; क्योंकि सालभरमें केवल दो अध्यायोंका ही अध्ययन करना होता है और इससे गीताका ज्ञान बहुत सहज ही हो सकता है। साथ-साथ अर्थ और भाव भी सिखलाना चाहिये, जिससे उनके जीवनपर अच्छा असर हो और उनके आचरणोंका सुधार हो।

सरकारसे, शिक्षकोंसे और दानी सज्जनोंसे हमारा निवेदन है कि वे गीताका पठन, अध्ययन, मनन और अनुभव करके स्वयं इसके उपदेशोंको धारण करें तथा दूसरोंको धारण करानेके लिये इसका प्रचार करें एवं स्कूल, कालेज, पाठशाला आदि शिक्षा-संस्थाओंमें गीताकी पढ़ाईको भी अनिवार्य करने-करानेकी विशेषरूपसे कोशिश करें।

तरुणो ! अपना पथ चुन लो

(लेखक—श्रीस्वामीजी श्रीशिवानन्दजी महाराज)

क्या यही वह भूमि है, जिसे चक्रवर्ती भरतके चरणोंने कभी पवित्र किया था ? क्या आजके तरुण उसी भारतमाताकी संतान हैं, जिसने कभी भीष्म, अर्जुन, याज्ञवल्क्य और नचिकेताको जन्म दिया था ? निस्सन्देह वही है; क्योंकि आज भी बाहरी संस्कृतियोंके इतने समाघातोंके बाद भी, इस पुण्य-भूमिमें उस महान् प्राचीन आध्यात्मिक संस्कृतिके पदचिह्न अब भी अवशेष हैं, यहाँकी धरतीमें अब भी योगियों, संतों, प्रतापी शासकों और गहन मनीषियोंके पद-परागकी सुरभि अभिव्याप्त है।

भारतमाता ! तब तुम्हें कौन-सी व्यथा सता रही है ? तुमने क्यों ऐसी निर्बल संतान जनना प्रारम्भ कर दिया है, कि जिनमें न प्रतिभा है, न नैतिक बल है और न है संकल्पकी दृढ़ता ! क्यों तुम्हारे ऊपर ऐसी विपत्ति आ पड़ी कि जिस कोखने श्रीराम और भगवान् बुद्धको जन्म दिया, उसी कोखसे दुर्बल संकल्पवाले चरित्रहीन तरुण जन्म लेने लगे ! नहीं-नहीं, यह रोग तुम्हारे अन्तर्मर्मको प्रभावित नहीं कर सकता। यह तो केवल क्षणिक ज्वर है।

भारतमाताकी तरुण संतानो ! महान् योगियों और संतोंके वंशजो ! उठो, तन्द्रा छोड़ दो, तुम्हारी माता तीव्र यातना पा रही है। जिसने तुम्हें जन्म देकर पाला-पोसा, उस जननीका हृदय आज व्यथित है। उसका जीवन-श्वास है—अध्यात्म, तुम्हारा प्रत्येक कुकर्म उस श्वासको अवरुद्ध कर देता है, तुम्हारे प्रत्येक कुवचन और कुविचार उसको अरुचिसे उद्विग्न कर देते हैं, वह अब अधिक सहन करनेमें असमर्थ है।

भारतमाताने तुमसे अपेक्षा की थी कि तुम सभी मानवताके आध्यात्मिक नेता बनोगे, पर निकले तुम विदेशी भौतिकवादी संस्कृतिके अभागे अनुगामी ! भारतमाताने तुमसे अपेक्षा की थी कि तुम अध्यात्मशक्तिकी महान् विभूति बनोगे, बुद्धिके अवतार बनोगे और पवित्रताकी महान् आत्मा बनोगे, पर अब योगका नाम लेते ही तुम्हारी जान काँपती है, ईश्वर और संतोंके नाम आते ही तुम कान मूँद लेते हो और ऐन्द्रिय-सुखकी परछाईंके पीछे तुम दौड़ते रहते हो। क्या माको इस तरह हताश करना तुम्हारे लिये उचित है ? कभी नहीं, कदापि नहीं।

भारतकी तरुणाई ! जागो। क्या तुमने अपना पाठ नहीं दुहराया है ? विदेशी सभ्यताकी शताब्दियोंकी अधम दासतासे तुम्हें क्या मिला ? सिनेमासे, सस्ते उपन्यासोंसे, होटलोंसे और जुआघरोंसे, चाय, कहवा और मादक पेयोंसे कौन-सा

आनन्द और सुख तुम्हें मिला है—सिवा रोग, स्नायु-विशृंखलता, मानसिक विकृति, चारित्रिक दिवालियापन और धूमिल बुद्धिके ? जब तुम अपनी सुन्दर देहको कुत्सित अङ्गरागोंसे आलिप्त करते हो, जब तुम ईश्वरप्रदत्त विशुद्ध वायुके बदले तम्बाकूके धूम्रसे अपने फेंफड़ोंको आपूरित करते हो, जब तुम सूर्य और वायुको संरुद्ध करनेवाली और भारतीय जलवायुसे प्रतिकूल पश्चिमी, वेश-भूषा अपने शरीरपर लाद लेते हो और जब तुम भड़कीली नेकटाई और शौकीन हैट-बूटसे लैस हो जाते हो, तब तुम अपने ऊपर ही मृत्युदण्डकी व्यवस्था कर देते हो । हाँ, वासना और विलासके अन्ध उन्मादमें तुम इसे लख नहीं पाते ।

आओ, मैं तुम्हें निस्तारका उपाय बतलाऊँ । यह उपाय कोई नया नहीं है । यह तुम्हारे रक्तमें वर्तमान है । यह ऐसी संस्कृतिका अभिज्ञान है जो तुम्हारे हृदयपटलपर गहरे रूपसे अंकित है । केवल तुम इसे जानते नहीं, मुझे तुम्हें स्मरणमात्र दिलाना है, मुझे शिक्षा नहीं देनी है ।

जीवनका उद्देश्य मरण न होकर कुछ उच्चतर लक्ष्य है । जीवनका अन्त मृत्यु न होकर सत् और महत्‌की प्राप्ति है । उसका उद्देश्य मोटरगाड़ी, सिगरेटके डब्बे, बँगले और बैंकके खाते नहीं है । तुम्हीं एक क्षण शान्त होकर सोचो तो तुम्हें तुरंत यह समझमें आ जायगा कि इन सब विलास-सामग्रियोंने दुःखोंको हजारगुना बढ़ाया ही है । जिस सत् और महत्‌की बात मैं कर रहा था, वे दूसरे धरातलकी वस्तुएँ हैं ।

क्या तुम अपना मन जानते हो ? क्या तुम्हें विचारपर भी विचार करनेका अवसर मिला है ? नहीं, तुम्हें इसका अवकाश कहाँसे मिले ? इसीलिये तुम, असद्‌विचार उठने न पायें, इसका निवारण नहीं जानते, जीवनमें विनाशके क्षणोंको रोकनेका उपाय तुम्हें नहीं मालूम, मनकी शान्ति और वास्तविक सुख पानेका साधन तुम नहीं जानते ।

मनको परिष्कृत करनेके विविध प्रकार हैं । तुम्हें उन सबको अपनाना पड़ेगा । मन और शरीरके बीच बहुत ही सूक्ष्म सम्बन्ध है । जो शरीरकी स्नायुओंको उत्तेजित कर देता है, वह मनके लिये भी अहितकर होता है । तुम्हारे भीतर प्रचुर शक्ति और ऊर्जा है । तुम्हें इनका उपयोग जानना चाहिये । स्नायुओंको उत्तेजित करनेसे उनका सदुपयोग नहीं हो सकता । मदिरा और सिगरेटमें कोई ओज नहीं है, वे तो उल्टे तुम्हारे ओजका दुरुपयोग कराके विनाश करते हैं । इन सबसे कोसों दूर रहो । जब तुम मांस-मदिरासे विरहित शुद्ध पोषक आहार करोगे, तभी तुम अपने आन्तरिक ओजकी निधिमें वृद्धि कर सकोगे और बलवान् एवं शक्तिशाली बन सकोगे । तभी तुम्हारा मन शान्त होगा और तुम्हें आनन्दकी प्राप्ति होगी ।

मनकी कुपथपर जानेकी स्वयं ही कुटेव होती है । उसीको लोग आदत कहते रहते हैं । तुम्हें अपनी आदतोंपर पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिये, तब वे आदतें न रह जायँगी । तुम मनके ऊपर शासन करोगे, मन तुम्हारे ऊपर नहीं शासन करेगा । तब तुम स्वस्थ आदतें डालनेमें समर्थ हो सकोगे । लौह संकल्पके साथ समस्त अस्वस्थ और अनैतिक आदतोंपर विजय प्राप्त करो । तुम ऐसा कर सकते हो, तुम्हीं अकेले कर सकते हो और तुम तभीतक कर सकते हो, जबतक तुम तरुण हो ।

ब्रह्मचर्यमें अधिष्ठित हो जाओ । वीर्य तुम्हारे भीतर वह शक्ति है, जिसे तुम चाहे जीवनमें बड़ी सफलता प्राप्त करनेके लिये, चाहे अद्भुत चमत्कार प्राप्त करनेके लिये, चाहे पाण्डित्य प्राप्त करनेके लिये, चाहे विश्रुत कलाकार बननेके लिये, चाहे व्यक्तिगत आकर्षणशक्ति और तेजस्वी स्वास्थ्य प्राप्त करनेके लिये या फिर चाहे दुर्व्यसनोंमें और कामुक व्यापारोंमें तथा विकृतियोंमें नियोजित कर सकते हो । इस बातको भलीभाँति समझ लो । भीष्म समरमें इसलिये अजेय थे कि वे ब्रह्मचारी थे । हनुमान् इतना शौर्य इसलिये दिखला सके कि वे ब्रह्मचारी थे । ब्रह्मचर्य तुम्हें दमकती देह, दीर्घ-जीवन, सशक्त मस्तिष्क, हृदयानन्द और आकर्षक व्यक्तित्व प्रदान करे ।

उन सभी प्रकारके उपन्यासों और अखबारों, पत्र-पत्रिकाओं और चित्रोंसे अपनेको दूर रक्खो, जो तुम्हारी पाशविक प्रवृत्तियोंको उत्तेजना दें । क्या तुम पशु हो ? मनुष्य-योनिमें जन्म लेकर क्या तुम पशुका अनुकरण करना चाहोगे ? कितनी लज्जाजनक बात है । तुम्हें अपने निम्नतर संस्कारोंके साथ असहयोग करना चाहिये । तभी तुम यथार्थ पुरुष बनोगे । यदि तुम्हारा मन सिनेमाकी ओर दौड़ता है तो अनशन और प्रार्थना करो । गंदे साहित्यको जला डालो । कामोद्दीपक उपन्यासोंकी होली मना डालो । यदि तुम सभी उपन्यास न पढ़नेका संकल्प कर लेते हो तो मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि दूकानदार इस आत्मविनाशी व्यापारमें अपना कारबार कुण्ठित होते देखेंगे ।

गीता, उपनिषद् और धार्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन करो ।

तुम्हारा मन इससे ऊर्ध्वोन्मुख बनेगा । तब मनमें कोई विक्षोभ न उठेगा । जब मन शान्त हो जायगा, तब तुम इसकी प्रकृति पहचान सकोगे । तुम मनके महान् स्रोतोंका सदुपयोग करना सीख जाओगे । तुम अंदरसे शक्ति प्राप्त करने लगोगे । तुम मानसिक शान्तिका आनन्द उठाना जान लोगे । तुम शाश्वत सुख और आनन्द-प्राप्तिका साधन पा लोगे ।

जब तुम्हारा मन शान्त और अविचल हो जाता है, तब तुम्हारा शरीर भी स्वस्थ और शक्तिशाली हो जायगा । तुम्हारा हृदय पवित्र हो जायगा और तुम्हारी इच्छाशक्ति अप्रतिहत बन जायगी । मुँहसे एक शब्द कहोगे, वह होकर रहेगा । मनमें कोई विचार करोगे, वह तुरंत कार्यान्वित होकर रहेगा । तुम सिंहका अनुभाव प्राप्त कर लोगे । तुम्हारा शब्द कानून बन जायगा । तुम्हारी कामना परिपूर्ण हो जायगी । तुम द्युतिमान् देवपुरुषकी तरह चमक उठोगे । तब तुम समझोगे कि जीवनका प्रयोजन अपने स्रोतका परिज्ञान है, मनुष्यताका लक्ष्य ईश्वरकी प्राप्ति है और यह जगत् इसलिये है कि तुम इसके भीतर इसके स्रष्टाको पा सको ।

जब मन अविचल और हृदय शुद्ध हो जाता है, तब ईश्वरकी ज्योति उसमें छिटक जाती है और उसके भीतरसे अव्याहतरूपसे प्रसृत होती रहती है । तब तुम ईश्वरको जान जाओगे । तब तुम यह जान जाओगे कि वस्तुतः तुम स्वयं ही ईश्वर हो । ईश्वरकी ज्योति तुम्हारे द्वारा आलोकित होगी, ईश्वरकी शक्ति तुम्हारे द्वारा कार्य करेगी, ईश्वरका परमानन्द तुमसे विसृत होगा ।

तब भारतमाता आनन्द मनायेगी और तब प्राचीन ऋषि, महात्मा, योगी और महापुरुष भी आनन्द मनायेंगे और तुम्हारे ऊपर अपने आशीर्वादकी वर्षा करेंगे । तुम अमृतत्व प्राप्त करोगे, तुम्हारा नाम अमर होगा और तुम्हारी कीर्ति अक्षय होगी ।

भगवान् करे तुम सभी महापुरुष और परम भागवत इसी जन्ममें और अभी हो जाओ । यही हमारी परमात्मासे हार्दिक विनय है ।

अभ्युदय और निःश्रेयस तथा उनकी प्राप्तिके उपाय

(लेखक—श्रीमाधव सदाशिव गोळवलकर महोदय)

मनुष्य-समाजके जीवनप्रवाहमें बालकका स्थान अनन्य-साधारण महत्त्व रखता है । वह अतीतका परिपाक एवं भावी कालकी आशा है । अतः उसके जीवनकी महत्ता कितनी है, यह समझना कठिन नहीं । जिन संस्कारोंसे युक्त होकर, जिन विचारोंको—भावोंको ग्रहणकर वह पूर्णरूपसे खड़ा होगा, उसपर मानव-उन्नति या अवनति निर्भर रहेगी । बाल्यकालमें संस्कार ग्रहण करनेकी शक्ति अत्यधिक मात्रामें विद्यमान रहती है । इस अवस्थामें जैसा वायुमण्डल बालकको प्राप्त होगा, जिस प्रकारके विचार उसके कोमल अन्तःकरणपर प्रभाव डालते रहेंगे, चारों ओरके उसे प्रिय एवं आदरणीय व्यक्ति व्यवहार करते रहेंगे, वैसा ही उसका जीवन बनेगा । बहुत कालतक जो संस्कार उसे प्रभावित करते रहेंगे, उनका उसपर अमिट परिणाम होकर उन्हींका वह जीवनभर अपने आचरणमें आविष्कार करेगा । एक बार इस कोमल, संस्कारसुलभ अवस्थामें उसने अपने अन्तःकरणको बनाया तो फिर उत्तरायुष्यमें लाख प्रयत्न करनेपर भी उनसे छुटकारा पाना या उनमें परिवर्तन करना उसके लिये असम्भव होगा । फलतः मानवसमाजकी प्रगतिकी दृष्टिसे बालककी शिक्षा-दीक्षाका महत्त्व अत्यन्त श्रेष्ठ है । इसीलिये अपने-अपने समाजकी भलाई चाहनेवालोंको इस प्रश्नको सर्वप्रथम स्थान देकर इसपर साङ्गोपाङ्ग विचार करनेकी आवश्यकता है ।

जिन संस्कारोंके कारण व्यक्तिका जीवन बनता है उनके दो प्रमुख विभाग किये जा सकते हैं । एक तो आनुवंशिक और दूसरे जो उसके वैयक्तिक जीवनमें उसे प्राप्त होते हैं । इनमें प्रथम विभागके दो प्रकार माने जा सकते हैं । जिस समाजमें बालक जन्म लेता है, उसके सामूहिक जीवनधाराके कारण सम्पूर्ण समाजके कुछ सामान्य गुणधर्म, जीवन-दृष्टि, जीवनका लक्ष्य, इस लक्ष्यकी उपासनाके कारण स्वाभाविक रीतिसे सदसत्, गुणावगुण, पुण्य-पाप आदिका सहजसिद्ध विवेक इत्यादिका जन्मसिद्ध संस्कार उसकी बुद्धिपर पड़ा रहता है । इसकी अभिव्यक्ति कम-अधिक परिमाणमें समाजमें जन्म पाये हुए प्रत्येक व्यक्तिके जीवनमें होती है । योग्य वायु-मण्डल प्राप्त होनेपर इन संस्कारोंमेंसे श्रेष्ठ, कनिष्ठ या मिश्र

नागनथैया

पहाड़ी १८वीं शती] [भारत-कला-भवन

पूतना-उद्धार
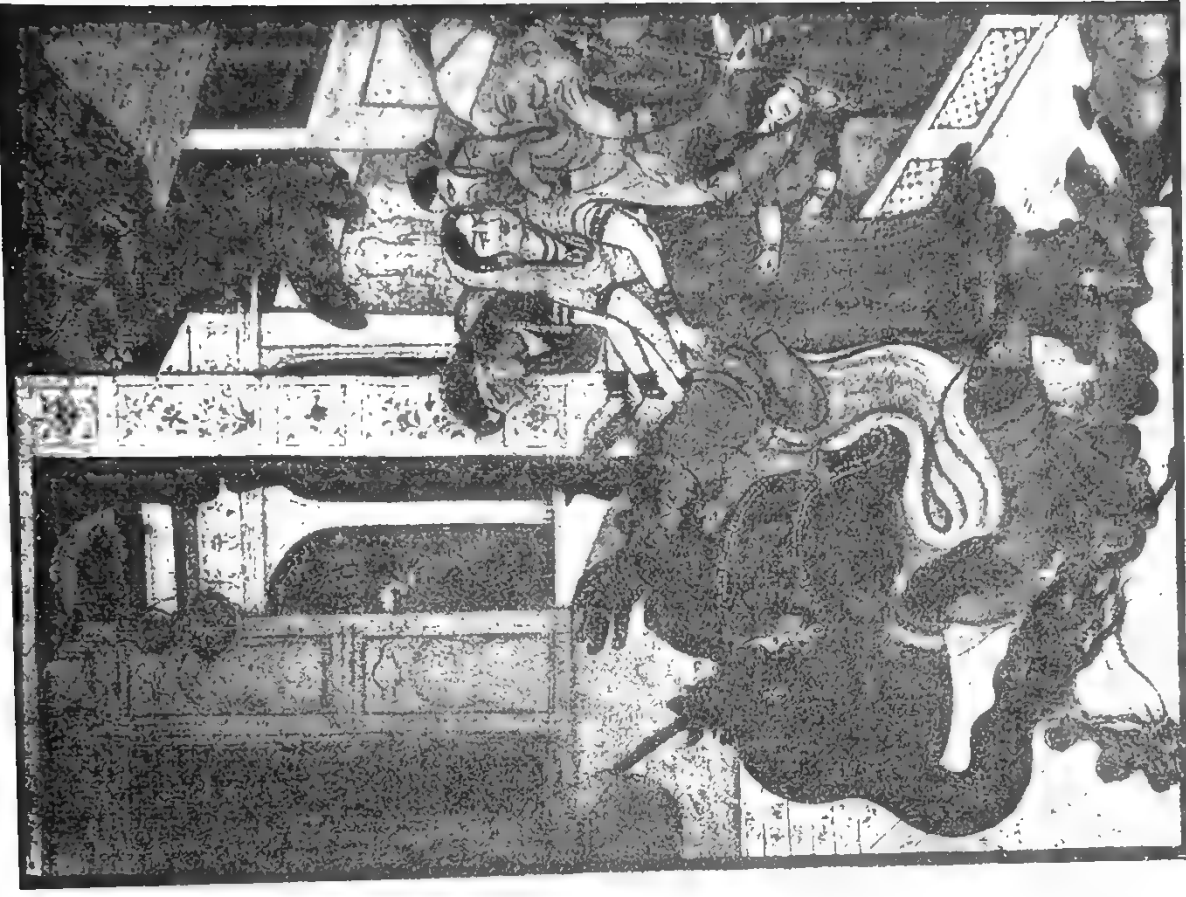
पहाड़ी १८वीं शती] [भारत-कला-भवन

संस्कार भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें प्रकट होते रहते हैं। यह एक प्रकार है। दूसरा जिन माता-पितासे वह जन्म पाता है, उनके विशिष्ट संस्कार, गुणावगुण तथा रहन-सहन। इस प्रकारका महत्त्व इतना है कि एक तत्त्वज्ञने कुछ विचित्र-सा शब्द प्रयोग कर लिखा है "A man should be very careful in the choice of his parents" जिसका अर्थ स्पष्टतया यह है कि माता-पिताके संस्कार आदिके परिणामसे छुटकारा पाना किसीके लिये सम्भव नहीं। इन आनुवंशिक संस्कारोंके ऊपर किसीका नियन्त्रण चलना कठिन है।

इन दो प्रकारोंके आनुवंशिक संस्कारोंसे मुक्त होना यद्यपि कठिन है, विशेषरूपसे प्रत्यक्ष माता-पितासे प्राप्त गुणावगुण अत्यन्त उत्कटतामें विद्यमान होनेके कारण व्यक्ति-जीवनपर उनका प्रभाव पड़कर व्यक्ति उनसे सीमित हो जाता है, तथापि योग्य वायुमण्डल, शिक्षा आदिके कारण सामाजिक जीवन-धारासे मिलनेवाले उत्तम गुणोंका विकासकर अपने व्यक्तित्वपर पड़े हुए अपने निजी माता-पिताके जीवन-संस्कारोंको परिमार्जितकर व्यक्तिकी उन्नति करना असम्भव नहीं। अर्थात् संस्कारोंका दूसरा विभाग अपने व्यक्ति-जीवनमें बाल्यादारभ्य प्राप्त होनेवाले संस्कार अपना असीम महत्त्व रखते हैं। इसलिये इन्हीं संस्कारोंकी ओर ध्यान देकर 'बालक'के जीवनका विचार करनेका संकल्प किया गया है।

मानव-समाजकी उन्नति ही होती रहे, इसकी कामना तो सब करते हैं। प्रत्येक व्यक्तिका चरम विकास हो और ऐसे विकसित व्यक्ति अपनी सुसंस्कृतताके कारण अपनेको सुव्यवस्थित सुखी समाजरूपमें सुगठित करें, यही लक्ष्य लेकर सब चलते हैं। कितने ही देशोंमें समाजविषयक तथा व्यक्ति-विकासविषयक जैसी धारणाएँ बनी हैं, तदनुसार बालकोंकी देखभाल करनेकी योजनाएँ बनी हैं और उन योजनाओंके फलस्वरूप बालकोंको उन देशोंकी विचार-प्रणालीके कट्टर समर्थक पुरुषके रूपमें परिणत किया जाता है, यह तो सर्वविदित है। सम्पूर्ण पृथ्वीका मानव एक पारिवारिक जीवनका अनुभव अभी तो नहीं कर रहा है। वह दैशिक आदि भेदोंमें विभक्त है। भिन्न-भिन्न देशोंके बीचमें मित्रताका भाव भी नहीं दीखता। सर्वत्र स्पर्धा तथा संघर्षका ही बोलबाला है। फलस्वरूप प्रत्येक देशमें अपनी-अपनी अलग प्रकृतिके यथोचित स्वाभिमानके साथ-साथ अन्य सब मानवोंको अपनेसे पृथक्, हीन तथा संघर्षयोग्य माननेका दुराग्रह भी प्रत्येक व्यक्तिके हृदयपर अङ्कित किया जाता है। यह आजका वास्तव चित्र है। दुर्भाग्यपूर्ण है, किंतु है—इसे कोई अमान्य नहीं कर सकता। संसारकी इस अवस्थामें स्थित हम लोगोंको भी अपने बालकोंके विकासका विचार करना है; किंतु अपनी विश्वकौटुम्बिक अन्तः-प्रवृत्तिके अनुकूल। उचित स्वाभिमानके निर्माणके साथ ही दुराग्रह, हठ आदि दुष्ट प्रवृत्तियोंका निर्मूलन करते हुए इस विकासका विचार करना आवश्यक है।

व्यक्तिका चरम विकास—विकसित सुसंस्कृत व्यक्तियोंकी समष्टि यानी सुव्यवस्थित उन्नतिशील समाज—इन शब्दोंमें अपने जीवन-रचनाकी भावना प्रकट होनेके पश्चात् यह आवश्यक होता है कि सर्वप्रथम व्यक्तिका चरम विकास होनेका अभिप्राय क्या है? इस बातको सोचें। व्यक्ति क्या है? इसी प्रश्नपर जगत्के सब तत्त्वज्ञोंने गम्भीर विचार किया है। सबसे महत्त्वका प्रश्न भी यही है। उसका योग्य उत्तर मिलने-पर जीवनसे सम्बन्धित अन्य सब बातोंका विचार होना सुलभ हो जाता है। इसी कारण अपने पूर्वजोंने 'कस्त्वम्?' कोऽसि? आदि प्रश्नोंको प्राधान्य देकर अपने तत्त्व-मन्दिरका निर्माण किया। सूक्ष्म विचारसे तथा आत्मानुभूतिसे उन्होंने इन प्रश्नोंका पूर्ण उत्तर भी खोज निकाला। इस उत्तरका साधारण स्वरूपमात्र दिग्दर्शित करना यहाँ सम्भव है। अधिक गहन युक्तिवादमें पड़नेके लिये यहाँ न तो अवसर है, न उसमें कुछ औचित्य ही है।

तो यह सब चराचर एक महान् सत्यके आधारपर दृश्यमान है। अचरसे जीव-सृष्टिमें उस सत्यका आविष्कार अधिक स्पष्ट होता जाता है और मानवमें समस्त जीव-सृष्टिकी अपेक्षा भावना, बुद्धिविवेक आदिके अस्तित्वके कारण उसका आविष्कार स्पष्टतम हुआ दीखता है। प्रत्येक जीव वह सत्तत्त्व होनेके कारण, अपने जीवनमें स्पष्टतया, असंदिग्ध-रूपमें सत्तत्त्व अनुभूति करना, स्वतःके व्यक्ति-जीवनकी सीमाओंको बढ़ाकर चराचर-सृष्टिके साथ, समष्टिके साथ तादात्म्यका अनुभव करना, इस विशाल सृष्टि-तादात्म्यकी अनुभूतिसे परिपूर्ण जीवन बननेके कारण असीम सुख, अकुतोभय वृत्ति, निर्वैरत्व, विश्वकुटुम्बत्व, सर्वत्र समदर्शन करनेकी बुद्धि, आत्यन्तिक दुःखराहित्य, चरम सत्यके साक्षात्कारके कारण जगदुपकारके कर्तव्यका ज्ञान एवं कृति आदि गुणोंसे अलंकृत, परिपूर्ण मानव नरका नारायण बनना ही उसका एकमात्र लक्ष्य होता है। इस लक्ष्यको

पानेके लिये सर्वसाधारणको मार्ग सूझता नहीं । परंतु अपने पूर्वजोंने अपनी कुशाग्र संशोधक बुद्धिको शुद्ध जीवन एवं तपस्यासे परिष्कृत एवं तीव्रतम बनाकर उस साध्यकी ओर जानेवाले मार्गोको भी प्रकट किया है । इन मार्गोंमें तीन प्रमुख—ज्ञान, भक्ति, कर्म—हैं। जिन्हें योग आदि अनेक उपाङ्गोंकी सहायता होकर लक्ष्य प्राप्त होता है। तत्त्वग्रन्थोंमें इन मार्गोंका साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है । यहाँ केवल उनपर चलनेकी पात्रता व्यक्ति-व्यक्तिमें आनेके लिये क्या किया जाय, इसीका उल्लेख करनेका प्रयत्न पर्याप्त है ।

प्रत्येक व्यक्तिके गुणधर्मोंका विचारकर यह कहा गया है कि सर्वसाधारण रीतिसे तीन प्रकारके व्यक्ति मानव-समाजमें विद्यमान हैं। सात्त्विक, राजसिक एवं तामसिक। प्रत्येक व्यक्तिमें तीनों गुण कम-अधिक मात्रामें रहते हैं। तमःप्रधान व्यक्तिके लिये उपरिनिर्दिष्ट किसी भी मार्गका अवलम्ब करना असम्भव-सा है। रजःप्रधान व्यक्ति सत्कर्म, स्वकर्तव्यका श्रेष्ठ पुरुषोंसे ज्ञान प्राप्तकर सश्रद्ध हृदयसे उसका पालन, स्थूलरूपमें पूजा आदिके द्वारा भक्तिका प्रयत्न—इनमें रत हो सकता है। इस प्रकार अपने जीवनकी दिशा निश्चितकर वह उन्नतिके पथपर अग्रसर हो सकता है। सत्त्वप्रधान व्यक्ति स्वभावतः ही उत्तम गुणोंसे युक्त होनेके कारण, उदात्तभावोंसे पूर्ण होनेके कारण ज्ञानादि सब मार्गोंपर चलकर उन्नतिके शिखरतक पहुँच सकता है।

तीनों प्रकारके व्यक्तियोंको उनकी प्रकृति देखकर योग्य अनुशासनद्वारा इन मार्गोंपर चलनेके लिये सिद्ध करनेसे वह जीवनके लक्ष्यको पानेमें समर्थ होता है। अतः बाल्यकालसे ही इस सिद्धताकी ओर ध्यान देना आवश्यक है। इनमेंसे किसी भी मार्गका पथिक बननेके लिये अन्तर्बाह्य-शुचिता, साधनचतुष्टयसम्पन्नता तथा अमानित्वादि सद्गुणोंकी उपासना अनिवार्य है। शिक्षाका लक्ष्य यही होना चाहिये। केवल कुछ विषयोंकी जानकारी Information के द्वारा बालबुद्धिको ठूस-ठूसकर भर देनेसे जैसा कि आजकलकी शिक्षा-प्रणालीमें होता दिखायी देता है और वह भी अधूरा और विकृत—कोई लाभ नहीं, उससे सुसंस्कारोंसे युक्त योग्य मानवका विकास कदापि सम्भव नहीं। इस योग्य शिक्षाका प्रदान होनेकी दृष्टिसे सर्वप्रथम आवश्यकता घरके वायुमण्डलका शुद्ध रहना है। माता-पिताको यह जानना चाहिये कि उनके ऊपर बहुत बड़ा दायित्व है। जिस समय उन्होंने किसी जीवको जगत्में प्रविष्ट कराया, उसी समयसे उनके ऊपर यह भार है कि वह जीव अपना आत्यन्तिक कल्याण कर सके, ऐसा ही वायुमण्डल उसके चारों ओर रखकर उसे सुयोग्य संस्कारोंसे पूर्ण करें। इसलिये प्रत्येक गृहमें कुछ नियमोंका पालन अनिवार्य होना चाहिये। अपने पूर्वजोंने ये नियम भी स्पष्ट कर रक्खे हैं। उनका कुछ निर्देश करनेका प्रयत्न करता हूँ।

सर्वप्रथम सूर्योदयके पूर्व निद्रा त्यागकर, शारीरिक शुद्धिकर, चराचर सृष्टिके स्वपिता, स्वामी, नियन्ता परमेश्वरका, जो कोई ध्यान अपनी श्रद्धाका विषय हो, उसका मनःपूर्वक स्मरण करें। अनेक भावपूर्ण स्तोत्र सगुण एवं निर्गुण स्वरूपकी आराधनाके निमित्त निर्मित हैं। उनको कण्ठस्थकर पठन करना और साथ ही हृदयकी शुद्ध भावनासे उस परमात्माका कुछ समयतक समाहित चित्तसे चिन्तन करना चाहिये । स्नानादिक क्रिया, सूर्यनमस्कार-जैसा पवित्र व्यायाम, सात्त्विक आहार-विहार, कुलाचार-पालन, प्रतिदिन कुछ-न-कुछ दान, समाजसेवा इत्यादि कार्य, कर्तव्यका निरलस पालन, सायंकाल तथा निद्राके पूर्व ईश-चिन्तन इत्यादि श्रेष्ठ व्यवहार अत्यन्त नियमपूर्वक करना आवश्यक है। माता-पिताको स्वयं इन नियमोंका पालनकर घरका वातावरण शुद्ध संस्कार करनेके लिये समर्थ रखना तथा केवल शाब्दिक उपदेशमात्रसे नहीं तो अपने प्रत्यक्ष आदर्शसे बालकोंको सत्त्वगुणप्राप्तिद्वारा सत्तत्त्वसाक्षात्कारके लिये सिद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा वातावरण बना रहा तो मनुष्यमात्रको हीनताकी ओर खींचनेवाले क्षुद्र आकर्षण बालकोंपर प्रभाव नहीं डाल सकेंगे और वे कदापि कुमार्गगामी नहीं होंगे । दुर्भाग्यवश आजकल बहुतेरे परिवारोंसे विशेषतः आधुनिक शिक्षाप्राप्त परिवारोंसे ये सब नियम, कुलाचार, सदाचारके आदर्श लुप्त ही हो गये हैं। घरके संस्कार अशुद्ध, पाठशाला आदिमें शिक्षा नाममात्र—क्योंकि वहाँ तो चारित्र्य-गठनका कोई विचार ही नहीं. दीखता, जीवनके लक्ष्यका किसीको न पता है, न उसकी प्राप्तिका विचार, केवल निकम्मे नौकर बनानेके कारखानोंसे उन्हें अधिक महत्त्व दिखता नहीं—चारों ओर हीन अनाचारको प्रवृत्त करनेवाले, क्षुद्र पशुभावको विषयलोलुपताको उद्दीपित करनेवाले, निरंकुश स्वच्छन्द स्वैराचारको प्रोत्साहन देनेवाले, स्वार्थपरता, भौतिक सुखोपभोगकी कामना, कर्तव्य-विस्मृति आदि भयानक दुर्गुणोंको उत्पन्न करनेवाले, मानवता-विघातक

अनेक प्रबल आकर्षण—यही आजके बालकके चारों ओरका भीषण वायुमण्डल है। इस भयंकर अवस्थामें आजका बालक अपने संस्कार प्राप्त करता हुआ दिखता है। इस स्थितिमें उसमें मानवताका प्रकाश उत्पन्न होकर वह श्रेष्ठतम जीवन प्राप्त कैसे कर सकेगा ? इस प्रश्नपर गम्भीर विचार करनेकी नितान्त आवश्यकता है और अपने बालकोंके माता-पिता-द्वारा प्राप्त आनुवंशिक संस्कारोंमेंसे अनिष्ट संस्कारोंको नष्ट कर योग्य संस्कारोंकी अभिवृद्धि करनेके लिये घरका वायुमण्डल प्रबल शुद्ध संस्कार निर्माण कर सके, इस दृष्टिको सामने रखकर माता-पिताको अपने पारिवारिक जीवनमें उक्त अनुशासन, नियमबद्धता एवं शुद्धता लानेकी तथा समाजके श्रेष्ठ गुणोंका आनुवंशिक संस्कार विशुद्ध रूपमें प्रकट हो, ऐसी चेष्टा करनेकी अतीव आवश्यकता है।

समाजके आनुवंशिक संस्कारोंका विचार सामने आनेपर, १—आध्यात्मिक, २—राष्ट्रिय—दो दृष्टियोंसे विचार करना आवश्यक होता है। प्रथम समाज-जीवनका आध्यात्मिक संस्कार और दूसरा व्यावहारिक आविष्कार—राष्ट्रिय संस्कार-अपने समाजका विचार करते हुए व्यक्ति-विकासके विचारके समय जिसका कुछ उल्लेख किया गया, वे जीवनके लक्ष्यभूत आध्यात्मिक तत्त्व मुख्यतः सम्मुख आते हैं। व्यक्तिके आध्यात्मिक विकासमें उसके व्यक्तित्वकी मर्यादाओंको विस्तृतकर समाजके साथ व्यक्तिकी एकरूपताका अनुभव व्यष्टि-समष्टि-तादात्म्य होना ही चाहिये। इस दृष्टिसे शिक्षाके द्वारा ऐसे ही संस्कारोंका निर्माण होना आवश्यक है, जिनसे व्यक्ति अपने वैयक्तिक या कौटुम्बिक स्वार्थसे ऊपर उठकर अपनेको समाजके अविभाज्य अङ्गके रूपमें पहचान सके। इसलिये सामूहिक खेल आदि शारीरिक कार्यक्रम सामुदायिक समाजोपयोगी कार्योंद्वारा समाज-सेवाकी शिक्षा देनेवाले कार्यक्रम, सामुदायिक प्रार्थना आदिका आयोजन कर बालकोंको उसमें सम्मिलित करना और इन आयोजनोंद्वारा उनमें सुसूत्र सामाजिक भावोंके संस्कार-निर्माण करना आवश्यक है। इन संस्कारोंके निर्माणसे सहजमें ही एक और श्रेष्ठ लाभ होता है कि व्यक्ति निःस्वार्थ, त्यागी, सेवाभावयुक्त, सत्कार्यरत होकर हीन भावोंको त्यागनेमें समर्थ होता हुआ परमोच्च आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करनेके लिये अधिकाधिक पात्र होता है। इस प्रकार वह अपने समाज-जीवनकी परम्पराप्राप्त आध्यात्मिक सम्पत्तिका अधिकारी बनकर अपने दैनन्दिन व्यवहारमें राष्ट्रके उत्कृष्ट अङ्गके रूपमें खड़ा हो सकता है।

अपनी जीवनधारामें अन्तिम लक्ष्य-प्राप्तिके हेतु समाज धारण करनेवाले धर्मका, जो व्यक्तिके लिये अभ्युदय तथा निःश्रेयसका हेतु है, पालन करना अत्यन्त अनिवार्य कहा गया है। और उपरिनिर्दिष्ट शिक्षा, वायुमण्डल, माता-पिताके आचरण, सामूहिक जीवन आदिके द्वारा समाजके साथ अविच्छेद्य एकात्मताका संस्कार तथा कर्तव्य निर्देश होनेके कारण समाजकी सुव्यवस्थित धारणा करनेवाले धर्मका परिपालन करनेमें व्यक्ति समर्थ होता है। धर्म-पालनसे स्वतःके जीवनमें निःश्रेयसतक पहुँचनेकी पात्रता प्राप्तकर आत्यन्तिक अभ्युदयका भी वह लाभ पा सकता है। आत्यन्तिक अभ्युदयका विचार धर्ममेंसे निर्माण होनेके कारण अपने राष्ट्रजीवनमें उससे केवल किसी व्यक्तिमात्रके जीवनका ऐहिक उत्कर्ष अभिप्रेत न होकर सम्पूर्ण समाजका, राष्ट्रका अभ्युदय, राष्ट्रका सर्वप्रकार सुखसम्पत्ति, वैभव, ऐश्वर्य, गरिमा, जगत्-प्रतिष्ठा आदिसे युक्त श्रेष्ठ जीवन अभिप्रेत है, यह स्पष्ट है। अर्थात् अपने राष्ट्रकी महिमाका ज्ञान, उसके श्रेष्ठ भाव, बाल्यकालमें ही अंकुरित हों और फलतः व्यक्ति सर्वोत्तम राष्ट्रहितकारी संस्कारोंसे प्रभावित होकर राष्ट्र-सेवामें काया-वाचा-मनसा संलग्न होनेके लिये सिद्ध हो, इसे लक्ष्यमें बनाकर वायुमण्डल बनाना आवश्यक है। इस इष्ट फलकी प्राप्तिके हेतु अति प्राचीन कालसे आजकल जो श्रेष्ठ राष्ट्र-पुरुष हो गये, उनके जीवनेतिहासकी शिक्षा देकर, उनके जन्मदिनादि पर्वोंपर महोत्साहके साथ उनका सश्रद्ध स्मरण कर, उनके दीप्त पद-चिह्नोंपर चलनेकी प्रेरणा उत्पन्न हो, ऐसे अमिट संस्कार हृदयपर अङ्कित करना अतीव आवश्यक है। वैदिक साहित्यसे लेकर आधुनिकतम इतिहास-साहित्यमें अनेकानेक श्रेष्ठ पुरुषोंकी बाल-दशाका वर्णन आता है। बाल्यकालसे ही उनके द्वारा प्रकट किये श्रेष्ठ गुण, ज्ञान, त्याग, आत्मबलिदान, स्वाभिमानयुक्त राष्ट्रसेवा, धर्मभक्ति आदिका रसपूर्ण वर्णन विद्यमान है। इन श्रेष्ठोंकी बालदशाका इतिहास पढ़ाकर बालकोंके हृदयके सद्भाव जाग्रत् करना, उनके अन्तःकरणमें स्वयं भी उनके सद्गुण आत्मसात्कर उनके ही समान आदर्श राष्ट्रभक्त बननेकी आकाङ्क्षा जाग्रत् करना अत्यन्त आवश्यक है। आजकी स्थितिमें तो इस प्रकारकी शिक्षाका अभाव ही दीखता है। श्रेष्ठ राष्ट्र-पुरुषोंको आदर्श-रूपमें बालकोंके सम्मुख रखनेके स्थानमें, उनके ऊपर

विकृत संस्कार पड़ें, ऐसा उन आदर्शोंको तोड़-मरोड़कर रक्खा जा रहा है, उनके जीवन-लक्ष्यकी उपेक्षा कर उन्हें उनके आदर्श पदसे खींचकर क्षुद्र बनानेकी ऐसी राष्ट्र-विघातक चेष्टाएँ हो रही हैं कि जिससे सर्वसाधारण बालकके विकासको गहरी चोट पहुँच रही है। आनुवंशिक संस्कारोंके कारण रक्तके बिन्दु-बिन्दुमें जो स्मृतियाँ गूँजती हैं, उनको हृदय-सिंहासनसे स्थानभ्रष्ट करनेके हानिकर प्रयत्नोंके कारण रिक्त हुआ बालक-हृदय, भ्रष्ट विचारोंसे भर जाता है, अपनी मानवताके श्रेष्ठत्वसे च्युत होता है। यही बात आज सर्वत्र दिखायी देती है। अपने ही अनुभवका एक उदाहरण देकर इस दुरवस्थाको स्पष्ट करना चाहता हूँ। स्वर्गीय सरदार वल्लभभाई पटेलके देहान्तपर मैं उनकी शवयात्रामें सम्मिलित होने गया था। शवयात्रा चल पड़ी और एक चौराहेके निकट आयी। अपार जनसमूह साथ था। आजके प्रधान-मन्त्री पण्डित जवाहरलालजी नेहरू आदि अनेक श्रेष्ठ पुरुष दुःखमें डूबे हुए गम्भीरभावसे धीरे-धीरे चल रहे थे। इतनेमें मैंने देखा कि लोग शवयात्राकी दुःखद गम्भीरता, अपने नेताओंका सामीप्य आदि सब भूलकर ऊपरकी ओर देखते हुए अत्यन्त आनन्दित भावसे किसीकी जय बोल रहे हैं। तब मैं बड़े असमंजसमें पड़ गया। साथ चलनेवाले व्यक्तियोंसे पूछनेपर उन्होंने बताया कि पासके मकानमें ऊपरकी मंजिलपर कोई प्रसिद्ध सिनेमा-नट शवयात्रा देखनेके लिये खड़ा है, उसीके कारण लोग इतने आनन्दमत्त हो रहे हैं।

उदाहरण स्पष्ट है। अतः शिक्षामें सर्वप्रमुख स्थान अपने रक्तके सम्बन्धसे सहज आदर, सहज आत्मीयता, सहज ही जिनके आदर्शका अनुसरण करनेकी प्रेरणा होती है, ऐसे अपने अतीतके श्रेष्ठ पुरुष, जो कि अपने उज्ज्वल गुणोंके कारण जगद्वन्द्य हैं, उन्हींके इतिहासको देना आवश्यक है। उन्हींके चारित्र्य-पठनसे उत्कृष्ट संस्कारकी निर्मिति होकर वैयक्तिक जीवनमें हीन प्रवृत्तियोंका हृदयमें प्रवेश होना असम्भव होगा और प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक आनुवंशिक संस्कारोंसे युक्त, माता-पिताके सद्गुण ही प्राप्त करेगा, उनके अनुपकारक गुणोंसे मुक्त होकर अपने राष्ट्रका उत्कृष्ट अङ्ग बन सकेगा और अपने वैयक्तिक जीवनमें भी जीवनके लक्ष्य अभ्युदय एवं निःश्रेयसको प्राप्त कर सकेगा।

अपने भारतकी उज्ज्वल परम्परामें वैभवसम्पन्न ऐहिक राष्ट्रजीवन और साथ ही प्रत्यक्ष परमात्मदर्शनकर सृष्टिकी समस्या सुलझानेवाला आध्यात्मिक जीवन—इन दोनोंका परमोच्च आदर्श प्राप्त है। उचित संस्कारोंद्वारा वही श्रेष्ठत्व फिर भारतको प्राप्त हो, इसी प्रकार अपने आगे आनेवाले बालक-बालिकाओंको शिक्षित करना यही अपने सामनेका श्रेष्ठतम कर्तव्य है। आशा है सब समझदार बन्धु इस समस्याकी महत्ताको समझकर उचित प्रबन्ध करनेमें आगे बढ़ेंगे।

निन्दक सच्चे मित्र

मित्रोंको नहिं दोष दीखते।
उनसे हम कुछ भी न सीखते॥
वे गुण गाते नहीं अघाते।
दोष तनिक भी नहीं बताते॥
उनको मित्र न मानो भाई।
जो मुँहपर कर रहे बड़ाई॥
दोष बड़ाईसे न सुधरते।
उलटे आ-आकर घर करते॥
निंदक दोष बताते भाई।
हमें राहपर लाते भाई॥

मित्र उन्हें हम सच्चा मानें।
ढूँढ़-ढूँढ़ जो दोष बखानें॥
फूलो मत सुन बड़ी बड़ाई।
भूलो मत मनकी अधमाई॥
झूठी अधिक प्रशंसा होती।
निंदा अधिक सत्य ही होती॥
जो केवल निज गुण सुनते हैं।
वे नितही जलते-भुनते हैं॥
जो अपनी चाहते भलाई।
धीरज रखकर सुनो बुराई॥

बालक और भारतीय संस्कृति

(लेखक—श्रीताराचन्दजी पण्ड्या बी० ए०)

बालक जगत्की शोभा है, वह प्राणीका सबसे अधिक मनोहर स्वरूप है। माके लिये तो बालक प्यारी वस्तु है ही, किंतु अन्य मनुष्योंके हृदयोंमें भी वह अपने प्रति बरबस प्रेम उत्पन्न कर देता है। मनुष्योंको मनुष्येतर प्राणियोंके भी बच्चे कितने प्यारे लगते हैं और हिंसक जानवरोंने भी मनुष्योंके बच्चोंको पाला-पोसा है, इसके भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। भक्तोंको भगवान्की बाल-लीलाएँ जितनी मनभावनी लगती हैं, उतनी अन्य लीलाएँ नहीं। तुलसीदासजी और सूरदासजीके भगवान्की बाललीलाओंके वर्णन उनकी कविताओंके मधुरतम भाग हैं। श्रीकृष्णके गीता-ज्ञानोपदेशक स्वरूपने जगत्को उतना नहीं रिझाया है, जितना कि उनके दधि-माखन-चोर ग्वाल-बाल राधा-सखाके बालस्वरूपने।

बालककी विश्वविजयिनी मोहिनी शक्ति उसकी सरलता—उसके भोलेपनमें है। वह पृथ्वीपर स्वर्गके देवोंकी निर्दोषता-का प्रतीक है। वह कामवासनासे अछूता है, इसीलिये उसे नारीके स्तनोंको पीनेका एवं समुद्रवसना वसुन्धरापर नग्न ही क्रीड़ा करनेका अधिकार है। क्रोध, लोभ, मद, मोहादि भले ही उसमें भी उमड़ते हों, लेकिन वे पानीकी रेखाके सदृश तुरंत ही अदृश्य हो जाते हैं। वह तनिक-से मिट्टीके खिलौने-के लिये त्रिलोकीके राज्यको बिना चिन्ताके छोड़ सकता है और दूसरे ही क्षण उस मिट्टीके खिलौनेको भी तोड़-फोड़कर फेंक देता है—यह उसके मोह और अमोह, लोभ और अलोभके उदाहरण हैं।

लेकिन संतके भोलेपनमें और बालकके भोलेपनमें अन्तर है। पहला ज्ञानजनित है और विकसित वासनाओंको स्वच्छ कर या उपशान्त कर उपार्जित किया हुआ है, जब कि दूसरा अज्ञानजनित है और वासनाओंके अविकसित (सुप्त) रहनेके कारण है। इसलिये संतकी सरलता सशक्त तथा जागरूक रहती है और शक्ति एवं जागृतिका चिह्न है, जब कि बालककी सरलता दुर्बल है, दुर्बलताकी सूचक है और विकसित होनेवाली वासनाओंसे दूषित हो जानेवाली है। लेकिन क्योंकि बाल्यावस्थामें वासनाएँ अविकसित और अशक्तावस्थामें रहती हैं और वासनाओंका शासक मन भी अदृढ होता है, अतः शिक्षाके द्वारा एवं उपयुक्त परिस्थितियों-का संग्रह करके बुरी वासनाओंको विकसित या बलवान् बननेसे रोका जा सकता है अथवा उनको अच्छी वासनाओंमें परिवर्तित किया जा सकता है और उसी प्रकार सदिच्छाओं-को अच्छी तरह विकसित किया जा सकता है, और साथ ही मनको भी ठीक दिशामें संस्कृत एवं बलवान् बनाया जा सकता है। इसीलिये बाल्यकालमें सुशिक्षा और शुभ वातावरण (सत्संगति तथा सत्परिस्थिति) की आवश्यकता और उपयोगिता है। इसीलिये प्राचीन भारतीय संस्कृतिमें बालकोंको गुरुकुल-के पवित्र वातावरणमें शिक्षा देनेकी रीति थी। निस्सन्देह, जो बालक पूर्व-जन्मसे बुरी वासनाओंके अति तीव्र संस्कार लेकर आते हैं, उनको पूरी तरहसे पलटना दुष्कर है। लेकिन ऐसे तीव्र संस्कार कुछ बालकोंके ही और उनके भी कुछ विषयोंमें ही होते हैं, और इन संस्कारोंपर भी शिक्षा आदिका कुछ तो प्रभाव पड़ता ही है और शेष बालक जिनके संस्कार इतने तीव्र नहीं होते हैं, उनके चरित्रका निर्माण तो अच्छी तरहसे किया ही जा सकता है।

भारतीय संस्कृतिमें बालक, समाजकी धरोहरके रूपमें है जिसकी योग्य शिक्षा-दीक्षा कर समाजने जो उपकार अपने प्रति किये हैं उनका बदला चुकानेका प्रयास किया जाता है। बालक पिताकी आध्यात्मिक उन्नतिका भी साधन है, अर्थात् जिसके वयस्क होनेपर उसे गृहस्थाश्रमका भार सँभलाकर खुद सर्वतोभावेन आत्मिक उन्नतिमें लग सके। नीतिमें भी कहा गया है कि 'पुत्रादिच्छेत् पराजयम्' (पुत्रसे पराजय पानेकी—पुत्रको अपनेसे ज्यादा योग्य, शक्तिशाली एवं यशस्वी बनानेकी—इच्छा करे) और—

'प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्।'

(पुत्रके सोलह वर्षकी उम्रका हो जानेपर उसके प्रति मित्रके समान आचरण करे।) अतः प्रत्येक पुत्रको ऐसी शिक्षा-दीक्षा दिलायी जाती थी कि वह सुचरित्र और योग्य होकर तनसे, मनसे और वचनसे स्वस्थ और शक्तिशाली होकर गृहस्थीको सँभाल ले और विश्वका सुनागरिक बनकर धर्मपूर्वक अर्थ तथा कामका सेवन करते हुए समाज-सेवा तथा संत-सेवा करे और इस तरह जीवनके तीसरे पहरमें सर्वतोभावेन आत्मिक उन्नति (अर्थात् सर्वगुणोंकी परिपूर्णता, सर्वबन्धनोंसे मुक्ति तथा अबाध एवं निश्छल और निश्चल

विश्व-प्रेम)की ओर लग जाय (क्योंकि देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीरकी इसीमें सफलता है और जीव तन, मन, धन, वचन आदि नहीं है—ये तो साधनमात्र हैं—किंतु वस्तुतः आत्मा है) । इसी तरह कन्याको भी ऐसी शिक्षा दी जाती थी, जिससे वह उपर्युक्त गुणोंका विकास कर सके (क्योंकि वह भी आत्मा है) और पुरुषकी सहधर्मिणी बनकर उसके उपर्युक्त कर्तव्य-कर्ममें सहायता करे और इस प्रकार पितृकुल और पतिकुल दोनोंकी कीर्ति फैलावे ।

आजकल भी ऐसी ही शिक्षा देश, समाज एवं बालकोंके लिये उपयोगी हो सकती है, क्योंकि बालक ही भावी नागरिक हैं । लेकिन क्या आजकलके जमानेमें ऐसी शिक्षा दी जाती है ? जब कि बालकोंको सिनेमाके दूषित चित्र दिखाये जाते हैं, जब कि धार्मिक शिक्षाका देना नीतिविरुद्ध माना जाता है, जब कि सादे रहन-सहनके बजाय तड़क-भड़ककी वेष-भूषा धारण करना, विविध श्रृङ्गार करना एवं व्यय-साध्य जीवन बिताना ही सभ्यता एवं उच्च जीवनका चिह्न समझा जाता है, जब कि प्रकृतिसे दूर आलीशान महलोंमें विद्यालय बनाना (भले ही उनमें दी गयी शिक्षा थोथी हो और उनके छात्रोंके पास पुस्तक, स्लेट, कागज आदिके साधन भी न हों) ही ऊँची शिक्षा-व्यवस्था समझी जाती है, जब कि विनयके बजाय उद्दण्डताकी प्रतिष्ठा है, जब कि (प्राचीन कालकी रीतिके विपरीत, जिसमें जीवन-क्षेत्रमें सफल तथा अनुभवी व्यक्ति वानप्रस्थाश्रममें बिना वेतन लिये रुचिपूर्वक विद्यादान दिया करते थे) आजीविकाके अन्य क्षेत्रोंके लिये अयोग्य हुए अननुभवी मनुष्य शिक्षकके कर्ममें रुचि न रखते हुए भी शिक्षकका काम आजीविकाके लिये—वेतन-भाड़ाके लिये—करते हैं, जब कि अपने ग्राम और आस-पासकी बातोंसे अपरिचित रखकर अति दूर-देशकी संस्कृतिका प्रेमी बनानेका प्रयत्न किया जाता है और जब कि वास्तविक योग्यता बढ़ाना तथा विद्या-प्रेम जाग्रत् करना नहीं, किंतु दोषपूर्ण पाठ्य-पुस्तकोंको रटाकर मस्तिष्कशोषी परीक्षाओंमें येनकेन पास करा देना ही शिक्षाका ध्येय है ?

श्रीकृष्णका श्रेष्ठ और भगवदीय युवकका आदर्श

(लेखक—दीवानबहादुर श्रीके० एस० रामस्वामी शास्त्री)

इंगलैंडके प्रसिद्ध दार्शनिक महाकवि वर्ड्सवर्थकी उक्ति है—'शिशु मानवका जनक है ।' बालकोंका सुधार करो, राष्ट्र अपने आप सुधर जायगा; राष्ट्र सुधर जायँगे तो संसारका सुधार अपने-आप हुआ समझो । हमें यह न भूलना चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्णका सर्वप्रथम उपदेश अर्जुन या उद्धवके प्रति नहीं था, वरं गोकुल और वृन्दावनके ग्वाल-बाल-बालिकाओंके प्रति था । यह उपदेश उस समयकी अपेक्षा वर्तमान समयके हमारे नवयुवकोंके लिये बहुत अधिक आवश्यक है । देशके युवक और युवतियोंको प्रत्येक दिशासे नैतिक जीवनमें भौतिकवाद, नास्तिकता 'न वेद्मि'-वाद, भोग-सुखवाद, औदासीन्यवाद एवं नैराश्यवाद घेरे हुए हैं और उनपर आघात कर रहे हैं । आर्थिक क्षेत्रमें वे अनियन्त्रित पूँजीवाद और निर्दय तथा प्रतिशोधपूर्ण साम्यवादसे आकृष्ट होकर इतस्ततः पथभ्रष्ट हो रहे हैं । सामाजिक क्षेत्रमें वे सामाजिक उच्छृङ्खलता तथा सामाजिक सैनिकता-पाशसे परस्परविरुद्ध दिशाओंमें खींचे जा रहे हैं । अनुशासनहीनता घरों और स्कूलोंमें सर्वत्र फैली हुई है । माता-पिता, आचार्य एवं गुरुजनोंके प्रति सम्मानकी सनातन भावना क्रमशः क्षीण होती और खूबसूरतीके साथ घटती चली जा रही है । खान-पान तथा स्त्री-पुरुषोंके आचरणकी पुरातन प्रथाएँ तिरस्कृत की जा रही हैं या निष्ठुरतापूर्वक निराकृत हो रही हैं । धूम्रपानका सार्वत्रिक प्रचार है, यद्यपि डाक्टरों और वैद्योंका मत और चेतावनी उसके विरुद्ध है । यदि यही स्थिति रही तो जीवनके उन शाश्वत मूल्यवान् तत्त्वोंका आत्यन्तिक अभाव हो जायगा, जिनको हम महत्त्वपूर्ण मानते रहे हैं और सुस्थिर बनानेमें प्रयत्नवान् रहे हैं । इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने जो उपदेश और संदेश अपने समयके नवयुवकोंके लिये दिया था, उसका ज्ञान हमारे लिये अत्यन्त उपकारी होगा ।

श्रीमद्भागवतका एक सुन्दर श्लोक है, जो श्रीब्रह्माजीकी उक्ति है—

> अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
> यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥
> (१० । १४ । ३२)

अर्थात् अहो ! नन्द आदि व्रजवासी गोपोंके धन्यभाग्य हैं,

उनके वस्तुतः बड़े भाग्य हैं; क्योंकि परमानन्दस्वरूप सनातन पूर्ण ब्रह्म स्वयं उनके सखा और मित्र हैं।

वास्तवमें उपनिषद्में वर्णित एक ही वृक्षपर स्थित दो पक्षियोंका दृष्टान्त आत्मा और परमात्माके घनिष्ठ आध्यात्मिक सख्यका द्योतक है। यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(मुण्डकोपनिषद् ३।१।१)

भगवद्गीता भी इस बातको स्पष्ट कहती है कि परमात्मा कर्म-फलदाता और इस विश्वके सर्वोपरि कर्त्ता, भर्त्ता, नियन्ता और चरम संहर्त्तासे बढ़कर सबके सुहृद् और मित्र तथा निवासके रूपमें रहते हैं। स्वयं भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(५।२९)

'मैं सारे यज्ञ-तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा समस्त भूतप्राणियोंका सुहृद् (स्वार्थरहित मित्र) हूँ, इस तत्त्वको जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है।'

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

(१८।६४)

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

(१८।६५)

'समस्त गोपनीयोंसे भी अति गोपनीय मेरे श्रेष्ठ वचनोंको तू सुन; तू मेरा इष्ट (अत्यन्त प्रिय) है, इससे तेरे हितके लिये मैं कहूँगा। मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि तू मुझको ही प्राप्त होगा; क्योंकि तू मेरा प्रिय है।'

मित्रका वास्तविक कर्तव्य केवल स्वार्थरहित प्रेमका रखना और प्रकट करना ही नहीं है, अपितु अपने मित्रको शिक्षा देना, उसे सचेत और सतर्क करना, सान्त्वना देना तथा आवश्यकता पड़नेपर उसके हितार्थ संकोचरहित बलपूर्वक आदेश देना भी है। यही कारण है कि ऐसा कहा जाता है कि वेद तो राजाकी भाँति आज्ञा देते हैं—'प्रभुसम्मित'; स्मृतियाँ सखाकी भाँति सलाह देती हैं—'सुहृत्सम्मित', परंतु काव्य मुग्ध करके सौजन्य और दिव्यताकी शिक्षा देते हैं—'कान्तासम्मित'। श्रीमच्छङ्कराचार्य अपने विशाल भक्तिविषयक काव्य 'शिवानन्दलहरी' में कहते हैं—

प्रयत्नात् कर्तव्यं मदवनमियं बन्धुसरणिः।

'भगवति! अपने ही प्रयत्नसे मेरी रक्षा कीजिये—त्राण करिये। यही हितकारी बन्धुकी परिपाटी है।'

भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश सूत्रोंकी तरह है, जिनका भाष्य श्रीमद्भगवद्गीता है और जिनकी सविस्तर टीका (विवरण) भागवतका एकादश स्कन्ध है। इन तीनोंका एक साथ अध्ययन करना चाहिये और इन्हें वैसे ही अभिन्न समझना चाहिये, जैसे ब्रह्ममें त्रिमूर्ति और त्रिमूर्तिमें ब्रह्म। इन सबका सार लोकसंग्रह, निष्कामकर्म, भक्ति, ज्ञान तथा ध्यानका अन्तर्मिश्रण, समन्वय और संश्लेष है।

श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धके २२ वें और २३ वें अध्यायोंमें हमें तीन घटनाएँ मिलती हैं, जिनमें भगवान्के उस अमर संदेशका समावेश है, जो सौजन्य और दिव्यताकी मर्यादा बतलाता है। गोकुलकी बालिकाएँ यमुनामें अरुणोदयके पूर्व स्नान करने और भद्रकालीसे इस हेतुसे प्रार्थना करने जाती हैं कि उन्हें श्रीकृष्ण भगवान्की कृपा प्राप्त हो।

वे एक स्वरसे इस मन्त्रका गान करती हैं—

कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः॥

(श्रीमद्भा० १०।२२।४)

'हे कात्यायनी! महामाये! महायोगिनी! सबकी एकमात्र अधीश्वरी! आप नन्दनन्दन श्रीकृष्णको हमारा पति बना दीजिये। हम आपको नमस्कार करती हैं।'

उन्होंने अपने वस्त्र उतारकर तटपर रख दिये और वे पावन जलमें प्रविष्ट हुईं; किंतु व्रतिनी होनेके नाते उन्हें वस्त्र धारण किये ही स्नान करना चाहिये था। भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें कर्तव्यका पाठ पढ़ाया और उनकी अनुतापपूर्ण चित्तवृत्तिको देखकर उनके अपराधको क्षमा करके उनके वस्त्र लौटा दिये।

तत्पूर्तिकामास्तदशेषकर्मणां
साक्षात्कृतं नेमुरवद्यमृग् यतः॥

(श्रीमद्भा० १०।२२।२०)

'अपने व्रतको पूर्ण करनेके लिये उन्होंने भगवान्‌को नमस्कार किया और भगवान्‌को समस्त कर्मोंके साक्षी, फल-दाता और निखिल पापोंका परिमार्जक समझा ।'

इस लीलासे हमें यह शिक्षा प्राप्त होती है कि हमें अपने कर्तव्यका समुचित रूपसे पालन करना चाहिये और पापसे बचना चाहिये; यदि प्रमाद हो जाय तो पश्चात्ताप होना चाहिये और उसके परिमार्जनके लिये प्रभुसे दयाकी याचना करनी चाहिये । भगवान् सदैव क्षमाशील हैं और शाश्वत दयामय हैं । वे हमारी त्रुटियोंका नाश करते हैं; हमारे ऊपर दयादृष्टि और आशीर्वृष्टि करते रहते हैं ।

भगवान्‌ने व्रजबालिकाओंसे कहा—'रासलीलामें तुम सब मेरे चरणोंकी अर्चा कर सकती हो ।' ईश्वरके प्रति स्वानुभूतिपूर्ण प्रेम हमें पवित्र बनाता है, हमारा उद्धार करता है और हमें त्राण देता है । वह कभी ऐहिक एवं पार्थिव वासनाका रूप वैसे ही नहीं धारण कर सकता, जैसे अग्निदग्ध बीज कभी अङ्कुरित नहीं हो सकता ।

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते ॥
(श्रीमद्भा० १० । २२ । २६)

कुछ समयके बाद भगवान् श्रीकृष्ण गोप-बालोंको साथ लेकर वनकी ओर गये । वहाँ उन्होंने एक सामान्य दृष्टान्तसे सब पाठोंसे सरलतम, परंतु सुष्ठुतम यह पाठ पढ़ाया—उन्होंने कहा—

'मेरे प्यारे मित्रो ! देखो, ये वृक्ष कितने भाग्यवान् हैं । इनका सारा जीवन केवल दूसरोंकी भलाई करनेके लिये ही है । ये स्वयं तो हवाके झोंके, वर्षा, धूप और पाला—सब कुछ सहते हैं; परंतु हमलोगोंकी उनसे रक्षा करते हैं । मैं कहता हूँ कि इन्हींका जीवन सबसे श्रेष्ठ है; क्योंकि इनके द्वारा सब प्राणियोंको सहारा मिलता है, उनका जीवननिर्वाह होता है । जैसे किसी सज्जन पुरुषके घरसे कोई याचक खाली हाथ नहीं लौटता, वैसे ही इन वृक्षोंसे भी सभीको कुछ-न-कुछ मिल ही जाता है । ये अपने पत्ते, फूल, फल, छाया, जड़, छाल, लकड़ी, गन्ध, गोंद, राख, कोयला, अङ्कुर और कोंपलोंसे भी लोगोंकी कामना पूर्ण करते हैं ।'

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने मानो सभी युगों और देशोंके युवकोंका प्रतिनिधित्व करनेवाले ग्वाल-बालोंको परोपकार और जन-सेवा (लोक-संग्रहवाद) की महिमाका गान करते हुए अन्तमें कहा—

एतावज्जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु ।
प्राणैरर्थैर्धिया वाचा श्रेय एवाचरेत् सदा ॥
(श्रीमद्भा० १० । २२ । ३५)

'मेरे प्रिय मित्रो ! संसारमें प्राणी तो बहुत हैं; परंतु उनके जीवनकी यथार्थ सफलता इतनेमें ही है कि जहाँतक हो सके अपने धनसे, विवेक-विचारसे, वाणीसे और प्राणोंसे भी ऐसे ही आचरण सदा किये जायँ जिनसे दूसरोंका कल्याण हो ।'

इस स्थानसे कथा एक अन्य महत्त्वपूर्ण दिशाकी ओर चलती है । ग्वालबालोंको भूख लगी । भगवान्‌ने समीपस्थ एक आश्रमकी ओर संकेत किया और कहा—'वहाँ जाओ और याज्ञिक आश्रमवासियोंसे भोजनकी याचना करो । कहना कि मेरे भैया दाऊजीने तथा मैंने तुम्हें भेजा है ।' उन्होंने ऐसा ही किया; परंतु आश्रमके ब्राह्मणोंने, जो उस समय यज्ञ कर रहे थे, भोजन नहीं दिया प्रत्युत उन्हें डाँट-डपटकर भगा दिया । बालक निराश होकर लौट आये । श्रीकृष्ण महाराजने कहा—'जाओ और अबकी बार आश्रमको ऋषि-पत्नियोंसे माँगना । निष्ठुर-हृदय पुरुषोंसे तुमने व्यर्थ याचना की ।' महिलाओंको भगवान्‌के दिव्य रूपका बोध था । अतः वे उसी क्षण समग्र पकान्न लेकर यमुना-तटपर गयीं, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण बलदाऊजीके साथ खड़े थे । वे कहने लगीं—'प्रभो ! पुरुषोंने यद्यपि हमारे ऊपर दोषारोप किया तथापि हम आपके चरणकमलोंमें आकर उपस्थित हुई हैं । आप हमें आशीर्वाद देकर कृतार्थ कीजिये ।' सर्वान्तर्यामी भगवान्‌ने उनके हृदयके भावका जान लिया और वे अत्यन्त प्रसन्न हुए ।

तास्तथा त्यक्तसर्वाशाः प्राप्ता आत्मदिदृक्षया ।
विज्ञायाखिलदृग्द्रष्टा प्राह प्रहसिताननः ॥
(श्रीमद्भा० १० । २३ । २४)

भगवान् उपदेश करने लगे—'अपने-अपने पतिदेवके पास लौट जाओ और यज्ञपूर्ति करनेमें उनका योग-दान करो ।' इसपर विप्र-ललनाओंने उत्तर दिया, 'आपके चरण-कमलोंका सांनिध्य प्राप्तकर अब हम कैसे लौट सकती हैं ? हमारे पति हमपर क्रुद्ध हो गये होंगे ।' भगवान् बोले—'अब उनको तुम्हारी कुलीनता और भद्रता विदित हो चुकी है । अखिल विश्व और समस्त देवगण तुम्हारे कार्यकी प्रशंसा करते हैं । भक्ति विरहसे वृद्धिको प्राप्त होती है, तुम जाओ और अपना मन मुझमें लगा दो । तुम्हें शीघ्र मेरी प्राप्ति होगी ।'

न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह ।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ ॥
(श्रीमद्भा० १० । २३ । ३२)

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने उनको अपने गार्हस्थ्य-जीवनमें भाग लेनेके लिये वापस भेज दिया, परंतु वे लौटीं भगवच्चरणोंमें तीव्रतर अनुरागको लेकर। उन्हें देखकर उनके पतियोंके हृदय भी पिघल उठे और उनको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वे भगवान्से दयाकी भीख माँगने लगे और बोले—

'हमारे जन्मको धिक्कार है, हमारी विद्या बेकार है, हमारा व्रत व्यर्थ है, हमारी बौद्धिक श्रेष्ठता निष्प्रयोजन है, हमारा कुल लक्ष्यहीन है, हमारा चातुर्य निष्फल है। हम भगवान्से पराङ्मुख हैं। हम दूसरोंको उपदेश देते हैं, उनके गुरु हैं; परंतु हम आत्मकल्याण न जान सके। हमारी स्त्रियोंमें जगद्गुरु भगवान्के प्रति असीम भक्ति है। उन्होंने भवपाशको तोड़ दिया। उनको पावन द्विजातिके संस्कारोंका लाभ नहीं मिला, उन्होंने शाश्वत सत्यका साक्षात्कार करनेके लिये गुरुकुलमें वास नहीं किया, तपस्या नहीं की, दर्शन-शास्त्रका अध्ययन नहीं किया, शौचाचार नहीं सीखा और न वे विविध कर्म-काण्डके मर्मको ही जान सकीं जिसे हमने आत्मसात् कर लिया है। तथापि उनमें योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अहैतुकी भक्ति है, जिसका हममें अभाव है। हमें अपनी बुद्धिका पाखण्डपूर्ण अहङ्कार है। प्रभु श्रीकृष्णने गोप-बालकोंके मुँहसे हमें ईश्वरकी प्राप्तिका मार्ग बताया। यह हमारा परम सौभाग्य है कि ऐसी शुद्धात्मा स्त्रियाँ हमारी पत्नियाँ हैं।'*

श्रीशुकदेव महाराज कहते हैं—यद्यपि गोकुलके लोगोंके मनमें सत्यका उदय हो गया था, परंतु उन्हें कंसके कोपका भय था और अपने शरीरोंकी रक्षामें निरत रहते थे। इसीलिये वे प्रभुके सम्पर्कमें आनेसे बचते थे।

इन तीन लीलाओंसे हमारे बालकोंको कुछ श्रेष्ठ महत्त्व-पूर्ण पाठ सीखने चाहिये—

१—कोई अपराध न करो। यदि अपराध बन जाय तो पश्चात्ताप करो और भगवान्से क्षमा माँगो। प्रेममय प्रभु क्षमा करेंगे और आशीष् देंगे।

२—सबकी भलाई करो। किसीकी बुराई न करो। प्रत्येक प्राणीकी अपने साधनोंसे शक्तिभर पूरी सेवा करो।

३—अपने कुल और विद्याका वृथाभिमान न करो। विनीत बनो।

४—असत्य और हिंसाका जीवन न बिताओ। सत्य और अहिंसाका जीवन बनाओ।

५—संयत, सरल, कर्ममय, अध्यवसायपूर्ण, स्वार्थहीन, आध्यात्मिक और आनन्दयुक्त जीवन बनाओ।

६—आत्मज्ञान, आत्मसम्मान, आत्मसंयम एवं आत्म-सिद्धि प्राप्त करो। इनका अभिमान मत करो।

७—ईश्वरसे प्रेम करो। सज्जनता और भगवद्भक्ति प्राप्त करो।

८—प्रभुकी दया सबके लिये समान है। उसमें जाति, सम्प्रदाय और पुरुष-स्त्रीका भेद नहीं है।

---

* दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे भक्तिमलौकिकीम्। आत्मानं च तया हीनमनुतप्ता व्यगर्हयन्॥
धिग् जन्म नस्त्रिवृद् विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम्। धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे॥
अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ। दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान् गृहाभिधान्॥
नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि। न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः॥
अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे। भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि॥
ननु स्वार्थविमूढानां प्रमत्तानां गृहेहया। अहो नः स्मारयामास गोपवाक्यैः सतां गतिः॥
× × × ×
अहो वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशीः स्त्रियः। भक्त्या यासां मतिर्जाता अस्माकं निश्चला हरौ॥
(श्रीमद्भा० १० । २३ । ३८-३९, ४१—४४, ४९)

संतान-कामनाका भारतीय आदर्श

(लेखक—श्रीरामलालजी बी० ए०)

वर्णाश्रम-धर्ममें अविचल आस्था रखनेवाला प्रत्येक हिंदू अपने पूर्वजोंद्वारा मान्य प्रत्येक शास्त्रानुमोदित परम्परामें पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखकर संतानोत्पत्तिकी पृष्ठभूमिमें पवित्र भावना और आदर्शसे अनुप्राणित होकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, सद्गति तथा परम गतिकी इच्छा करता चला आ रहा है । इस कथनका अभिप्राय यह है कि वह ऐसी संतानकी कामना करता है, जो उसकी ऐहिक और पारलौकिक सुख-वृद्धिमें सहायक हो, परमात्माकी प्राप्ति और अनुभूतिका माध्यम हो, जिससे समस्त संसारका कल्याण हो, जो निष्पाप हो । अनेककी अपेक्षा इस प्रकारकी एक ही संतान सर्वथा श्रेयस्कर है । इस प्रकारकी संतान धर्माचरण और तपस्यासे प्राप्त होती है । भगवान् श्रीकृष्णकी परम प्रेममयी माता, वात्सल्य-साम्राज्य-राजेश्वरी यशोदाको लक्ष्यकर एक कविकी वाणी भारतीय मातृत्वसे निवेदन करती है ।

'यह धन धर्म ही ते पायो ।
नीके राख जसोदा मैया,
नारायण ब्रज आयो ।'

पुत्ररूपमें यशोदाने परम धन नारायणको प्राप्त कर लिया, ऐसा सौभाग्य परम पुण्यके उदयस्वरूप ही मिल सका । यह पदांश संकेत करता है कि माताके हृदयके पवित्र वात्सल्य, तपपूर्ण धर्माचरणजन्य स्तन्य पानके रसास्वादनके लिये पुत्ररूपमें परमात्मा भी शिशुके स्वर्गराज्यमें उतरकर अपनी अलौकिक लीलासे स्वजनोंका मन अपने वशमें कर लेते हैं; यह है धर्मज संतान-कामनाका पवित्रतम आदर्श ।

भारतमें दाम्पत्य-जीवनका लक्ष्य पवित्र प्रेमकी प्राप्ति, पातिव्रत्य और निष्पाप संतान-लाभमें संनिहित है । पुरुष और स्त्री दोनों प्रेमार्जनके लिये ही दाम्पत्य-जीवनमें प्रवेश करते हैं, काम धर्मके माध्यमसे प्रेम हो जाता है, उससे विषय-भोगमें आसक्ति नहीं, उपरति मिलती है । पाश्चात्य सभ्यताके इस प्रचारसे कि दाम्पत्य अथवा विवाहित जीवनका लक्ष्य केवल विषयानन्द है, संतानोत्पत्तिके पवित्र उद्देश्यको बड़ा धक्का लगा है; पर धीरे-धीरे यह बात सत्य उतरती जा रही है कि कामवासनाकी पूर्ति गौण और सदाचारी, निष्पाप और पवित्र संतानोत्पत्तिकी भावना मुख्य है । इससे पातिव्रत्य-धर्मकी वृद्धिमें बड़ी सहायता मिली है । पत्नी पतिको साक्षात् परमेश्वर मानकर उसकी प्रसन्नता और सेवाके लिये ही काम-राज्यमें प्रवेश कर धर्मज संतान पैदा करती है । यज्ञ, तप, दान, देव-प्रसन्नता और ईश्वर-भक्तिसे धर्मज संतान मिलती है । पातिव्रत्यसे ईश्वरनिष्ठा और ईश्वर-निष्ठासे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धि होती है । अर्थ और कामके धर्म हो जानेपर मोक्षकी प्राप्ति अथवा ईश्वर-बोध सरल और सुगम हो जाता है । भारतमें अर्थ और काम दोनोंको सदा धर्मका रूप दिया गया है । भारतीय समाज-व्यवस्था और राज्य-संचालनमें इसी पवित्र कर्मको सदा प्रधानता दी गयी है । महाकवि कालिदासने अपने रघुवंश-महाकाव्यमें प्राणप्रियतमा सुदक्षिणाको साथ लेकर महर्षि वशिष्ठके आदेशसे संतान-प्राप्तिके लिये, पुत्र पानेके लिये वन-वनमें कामधेनुकी पुत्री नन्दिनीकी सेवामें दिन-रात एक करनेवाले महाराज दिलीपकी ओर संकेत किया है, अर्थ और कामकी पूर्ण वृद्धिसे सम्पन्न भारतीय इतिहासके स्वर्णयुगकी वाणीने घोषणा की है—

स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान् परिणेतुः प्रसूतये ।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ॥
(रघुवंश १ । २४)

अपराधीको दण्ड देना राजाका धर्म है । अपराधीको दण्ड दिये बिना राज्य ठहर नहीं सकता, इसलिये वे अपराधियोंको उचित दण्ड देते थे । वंश चलाना भी मनुष्यका धर्म है, इसलिये संतान उत्पन्न कर वंश चलानेकी इच्छासे ही उन्होंने विवाह किया था, भोग-विलासका लक्ष्य नहीं था । इस प्रकार, यद्यपि दण्ड और विवाह वास्तवमें अर्थ और काम-शास्त्रके विषय हैं तो भी उनके हाथोंमें पहुँचकर वे धर्म बन गये थे । आशय यह है कि संतानसे धर्म और धर्मसे मोक्षकी सिद्धि होती है, परमात्माका साक्षात्कार होता है ।

धर्मज संतान-प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें अनेक विधानोंपर प्रकाश डाला गया है, भारतीय धर्मग्रन्थों और साहित्यमें इन विधानोंके अन्तर्गत अनेकानेक यज्ञ, तप, व्रत और दानके प्रयोग समय-समयपर किये गये हैं । रामायण और महाभारत तथा पुराणोंमें इस कथनकी सत्यता सफलतापूर्वक चरितार्थ हुई है । आदर्श पुत्र-प्राप्तिके लिये अश्वमेध, पुत्रेष्टि, मरुत्स्तोम और मित्रावरुण आदि यज्ञोंका सम्पादन किया जाता था

इन्द्र, सूर्य, वायु आदि शक्तिशाली देवताओंकी प्रसन्नता भी इस पवित्र कार्यमें सहायता करती थी।

पुत्र न होनेसे महाराज दशरथ बहुत दुखी रहते थे, वे चक्रवर्ती नरेश थे, उनको इस बातकी बड़ी चिन्ता थी कि मेरे मरनेके बाद राज्यका उत्तराधिकारी कौन होगा, पितरोंको तर्पण करनेवाला तथा मुझे सद्गति प्रदान करनेवाला कौन होगा। उन्होंने इस चिन्ताको दूर करनेके लिये अश्वमेध यज्ञ करनेका निश्चय किया।

तस्य चैवंप्रभावस्य धर्मज्ञस्य महात्मनः।
सुतार्थं तप्यमानस्य नासीद् वंशकरः सुतः॥
चिन्तयानस्य तस्यैवं बुद्धिरासीन्महात्मनः।
सुतार्थं वाजिमेधेन किमर्थं न यजाम्यहम्॥

(वाल्मीकि० बाल० ८। १-२)

महाराज दशरथने सामग्री एकत्र करनेके लिये मन्त्रियोंको आदेश दिया। सुमन्त्रने कहा कि यज्ञ करानेवाले ऋत्विजोंके मुखसे मैंने कथा सुनी थी, सनत्कुमारने कहा था कि अङ्गदेशके राजा महाराज रोमपादके जामाता, विभाण्डक ऋषिके पुत्र ऋष्यशृङ्ग तुम्हारे पुत्र होनेका विधान करेंगे। राजा दशरथको समग्र राज्य पुत्रके बिना दुःखरूप लगता था। वशिष्ठने भी उनको आदेश दिया था।

शान्ताभर्तारमानीय ऋष्यशृङ्गं तपोधनम्।
अस्माभिः सहितः पुत्रकामेष्टिं शीघ्रमाचर॥

(अध्यात्म० बाल० ३। ५)

वाल्मीकि-रामायणमें कथा आती है कि महाराज दशरथ ऋष्यशृङ्गको लिवा लानेके लिये स्वयं अङ्गदेशमें गये थे। ऋष्यशृङ्गने अयोध्यामें आकर भगवती सरयूके उत्तर तटपर पुत्रकाम यज्ञ किया।

शृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा। पुत्रकाम सुभ जग्य करावा॥

महाराज दशरथसे यज्ञके पूर्व ऋष्यशृङ्गने कहा—

इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः॥

(वाल्मीकि० बाल० १५। २)

पुत्र उत्पन्न होनेके लिये मैं पुत्रेष्टि यज्ञ करूँगा। अथर्ववेदमें कहे गये मन्त्रोंद्वारा विधानपूर्वक यज्ञ करनेसे अवश्यमेव सिद्धि होती है, इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि पुत्रेष्टि यज्ञ सर्वथा वैदिक कर्म है। पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें कथा आती है कि इस पुत्रेष्टि यज्ञमें अग्निकुण्डसे साक्षात् भगवान् विष्णु प्रकट हुए थे, राजाने उनसे वरदान माँगा कि 'भगवन्! आप मेरे पुत्रभावको प्राप्त हों।' इस यज्ञके फलस्वरूप भगवान् विष्णु अपने अंशोंसहित रामके रूपमें लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नके साथ दशरथके राजप्रासादमें प्रकट हुए। इस यज्ञका विधान आश्वलायन श्रौतसूत्रमें भी मिलता है।

राजा दशरथने श्रवणकुमारके पिताके शापको वरदान समझा। भगवती सरयूके तटपर घड़ा भरते समय धोखेमें दशरथने श्रवणकुमारको अपने शब्दवेधी बाणका लक्ष्य बना दिया था, शाप दिये जानेपर उन्होंने श्रवणकुमारके पितासे कहा था। कालिदासका वचन है—

शापोऽप्यदृष्टतनयाननपद्मशोभे
सानुग्रहो भगवता मयि पातितोऽयम्।
कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीजप्ररोहजननीं ज्वलनः करोति॥

(रघुवंश ९। ८०)

'हे मुने! आजतक मुझे पुत्रके मुखकमलका दर्शनतक नहीं हुआ है। इसलिये मैं आपके शापको वरदान ही समझता हूँ। इस बहाने मुझे पुत्र तो प्राप्त होगा। जंगलकी लकड़ीकी आग एक बार चाहे पृथ्वीको ही भले ही जला दे, पर वह उसे इतनी उपजाऊ बना देती है कि आगे उसमें अच्छी उपज होती है।' शाप यह था कि 'हे राजा! तुम भी हमारे समान बुढ़ापेमें पुत्रशोकसे ही प्राण छोड़ोगे।'

आदर्श पुत्रके लिये श्रीमद्भागवतमें मरुत्स्तोम नामक यज्ञका वर्णन मिलता है। ऐसी कथा आती है कि दुष्यन्तके पुत्र सम्राट् भरतने पुत्रकी प्राप्तिके लिये मरुत्स्तोम यज्ञ किया था। और मरुद्गणोंने प्रसन्न होकर भरतको भरद्वाज नामक पुत्र दिया—

तस्यैवं वितथे वंशे तदर्थं यजतः सुतम्।
मरुत्स्तोमेन मरुतो भरद्वाजमुपाददुः॥

(श्रीमद्भा० ९। २०। ३५)

पुत्रोत्पत्तिके लिये मित्रावरुण यज्ञका भी विधान किया जाता था। श्रीमद्भागवतका वचन है—

अप्रजस्य मनोः पूर्वं वसिष्ठो भगवान् किल।
मित्रावरुणयोरिष्टिं प्रजार्थमकरोत् प्रभुः॥

(श्रीमद्भा० ९। १। १३)

वैवस्वत मनु पहले संतानहीन थे, उस समय सर्वसमर्थ

भगवान् वशिष्ठने उन्हें संतान-प्राप्तिके लिये मित्रावरुण-यज्ञ कराया था । देवताकी कृपा और प्रसन्नतासे भी पुत्र हुआ करते थे । त्रिशंकुके पुत्र हरिश्चन्द्र संतानहीन थे, वे बहुत चिन्तित और उदास रहा करते थे । नारदके उपदेशसे वे वरुण देवताकी शरणमें गये, पुत्रके लिये प्रार्थना की, वरुणकी कृपासे उन्हें रोहित नामक पुत्रकी प्राप्ति हुई ।

राजा दिलीपकी बड़ी इच्छा थी कि मेरी पत्नीसे मेरे-जैसा पुत्र हो, वे अपनी पत्नी सुदक्षिणाको लेकर वशिष्ठके आश्रममें गये । कुशल पूछनेपर उन्होंने कहा कि आपकी कृपासे सब ठीक है, पर आपकी इतनी कृपासे भी जब मेरी पत्नीके गर्भसे मेरे समान तेजस्वी पुत्र नहीं हुआ, तब रत्नोंको पैदा करनेवाली अपने राज्यकी पृथ्वी भी मुझे अच्छी नहीं लग रही है । अब तो मुझे ऐसा जान पड़ने लगा है कि मेरे पीछे कोई पिण्डदान करनेवाला भी नहीं रह जायगा । उन्होंने कहा, कालिदासकी काव्योक्ति है—

लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।
संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ॥
(रघुवंश १ । ६९)

तपस्या करने और ब्राह्मणों आदिके दान देनेसे जो पुण्य मिलता है, वह केवल परलोकमें सुख देता है; पर अच्छी संतान सेवा-शुश्रूषा कर इस लोकमें तो सुख देती ही है, साथ ही तर्पण और पिण्डदान आदिसे परलोकमें भी सुख पहुँचाती है । वशिष्ठकी कृपा और कामधेनुकी पुत्री नन्दिनीकी सेवासे उन्हें इहलोक और परलोक बनानेवाली धार्मिक संतान प्राप्त हुई ।

निष्पाप और यशस्वी तथा धार्मिक संतान-प्राप्तिकी आधारशिलाका एक आवश्यक अङ्ग तपस्या है । भारतीय ग्राम-साहित्यमें भी इस पवित्र भावनाका सुचारु दिग्दर्शन कराया गया है । गङ्गामें स्नान करते समय पुत्र माँगनेमें सौभाग्यवती भारतीय नारी परम गौरवका अनुभव करती है—

गंगा-जमुनाके बीच तेवइया एक तप करइ हो ।
गंगा अपनी लहर हमें देतिउ मैं मँझधार डूबित हो ॥

निःसंतान रमणीकी और कामना क्या हो सकती है, पर गङ्गापर उसकी तपस्या प्रभाव डालती है, भागीरथी कहती हैं—

जाहु तेवइया घर अपने, हम न लहर देवइ हो ।
तेवई ! आजके नवयें महिनवाँ होरिल तोरे होइहैं हो ॥

रमणीके अङ्ग-अङ्ग रोमाञ्चित हो उठते हैं, स्वर्ग और अपवर्ग उसके नयनोंके सामने नाचने लगते हैं, उसका मातृ-हृदय बोल उठता है—

गंगा गहबरि पिअरी चढ़उबैं, होरिल जब होइहैं हो ।
गंगा देहु भगीरथ पूत जगत जस गावइ हो ॥

पुत्रका जन्म होनेके पहले उसका जीवनादर्श स्थिर कर रखना भारतीय मातृत्वका ही एक अङ्ग हो सकता है । इसी तपस्यामूलक मातृत्व और धर्मपूर्ण संतानोत्पत्तिकी भावनाका प्रभाव है कि भारतीय बालकने अपने जीवनके अरुणोदयमें व्यष्टि और समष्टिके कल्याणको भगवद्भक्तिमें ढाल दिया । श्रीमद्भागवतमें कथा है कि जब उद्धव केवल पाँच सालके थे, तब बालकोंकी तरह खेलमें ही श्रीकृष्णकी मूर्ति बनाकर उसकी सेवा-पूजामें ऐसे तन्मय हो जाते थे कि कलेवेके लिये माताके बुलानेपर उसे छोड़कर नहीं जाना चाहते थे ।

यः पञ्चहायनो मात्रा प्रातराशाय याचितः ।
तन्नैच्छद्रचयन् यस्य सपर्यां बाललीलया ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २ । २)

परम भागवत बालक प्रह्लादने अपने सहपाठियोंको सीख दी—

पढ़ौ भाइ राम मुकुन्द मुरारि ।
चरन-कमल मन सनमुख राखौ, कहूँ न आवै हारि ॥
कहै प्रह्लाद सुनौ रे बालक, लीजै जनम सुधारि ।
को है हिरनकसिप अभिमानी, तुम्हें सकै जो मारि ॥
जनि डरपौ जड़मति काहू सौं, भक्ति करौ इकसारि ।
राखनहार अहै कोउ औरे, स्याम धरे भुज चारि ॥
सत्य स्वरूप देवनारायन, देखौ हृदय बिचारि ।
सूरदास प्रभु सबमें व्यापक, ज्यों धरनीमें बारि ॥

भारतीय मातृत्वने सदा इस प्रकारकी सदाचारी, धार्मिक, तपस्वी और भागवत संतानकी कामना की है । यही भारतीय आदर्श है ।

गर्भाधान-नियन्त्रण और उत्तम संतानकी प्राप्ति

(लेखक—डा० श्रीशीतलप्रसादजी चक्रवर्ती)

ज्यौतिष-सम्बन्धी गर्भाधान-नियन्त्रण, नियमानुकूल उत्तम संतानकी प्राप्तिके लिये गर्भाधान-मुहूर्त्त-निर्णय

यथार्थ—साधारणतः लोग यही समझते हैं कि नाना प्रकारके बाहरी उपायोंसे संतानोत्पत्ति बंद कर देना ही जन्म-नियन्त्रण है; किंतु मैं तो यह कहूँगा कि जन्म-नियन्त्रणका अर्थ यह है कि मनुष्य अपनी संतानोत्पत्तिपर ऐसा नियन्त्रण करे कि वह उसके हाथकी वस्तु हो जाय—वह जब चाहे संतानोत्पत्ति बंद कर दे और जब चाहे उसे पुनः आरम्भ कर दे, और साथ ही अपने इच्छानुसार—चाहे तो पुत्र उत्पन्न करे और चाहे तो कन्या। यथार्थ जन्म-नियन्त्रण है भी यही।

आवश्यकता—पूर्वकालमें गृहस्थगण संयमी हुआ करते थे, अतः उन्हें इसकी कोई भी आवश्यकता नहीं थी; किंतु वर्तमान समयके नर-नारियोंके असंयमी तथा उच्छृङ्खल होनेके कारण जन्म-नियन्त्रणकी नितान्त आवश्यकता हो गयी है। इसका कारण एक तो यह है कि भारतवर्षमें अधिकसंख्यक गृहस्थ दरिद्र हैं तथा अनेक संतानयुक्त भी हैं। उनके असंयमके ही कारण वे दरिद्र होनेपर भी संतानोत्पत्तिके कार्यसे विमुख नहीं रहते। दूसरा कारण बहुत ही हृदयस्पर्शी है। वह यह है कि माताएँ दरिद्र भारतमें अन्नाभावके कारण दुर्बल, रोगग्रस्त—अतः क्षीणकाय होनेपर भी शीघ्र-शीघ्र संतान उत्पन्न करनेके कारण क्षय-रोग-ग्रस्ता हो जाती हैं तथा अपने प्रफुल्लित होनेवाले सुखद यौवनकालमें ही कालका कौर बन जाती हैं। तीसरा कारण यह है कि इन असंयमी पुरुषोंद्वारा गर्भाधान करनेवाली माताएँ स्वयं अतिदुर्बल एवं रोगग्रस्ता होनेके कारण जो संतान उत्पन्न करती हैं, वे संतान भी असंयमी, क्षीणकाय, दुर्बल एवं रोगग्रस्त रहा करती हैं। उनकी अधिक संख्या भारतीय अन्नाभाव-समस्याको और भी उलझाकर जटिल कर देती है और इन्हीं दुर्बल एवं अन्नाभावग्रस्त संतानोंपर भारतका भविष्य निर्भर होता है। यह देशका कितना बड़ा दुर्भाग्य है!

जन्म-नियन्त्रणकी वर्तमान प्रचलित विधियोंकी असफलता

वर्तमानकालमें गर्भावरोधके लिये अनेक प्रकारके यान्त्रिक एवं भेषजीय उपाय प्रचलित हैं, और उनका आधार लेनेसे वे तुरंत फल देनेवाली भी होती हैं। किंतु इससे भविष्य प्रायः अति दुःखदायी एवं कटु हो जाता है; क्योंकि इन उपायोंसे माताओंको अधिक संख्यामें श्वेत-प्रदर, जरायु-कैंसर, हिस्टीरिया, कामोन्माद इत्यादि रोग हो जाते हैं। अतः हमें एक ऐसे उपायका अवलम्ब लेना चाहिये, जिससे हम उपर्युक्त दोषोंसे सदैव मुक्त भी रहें और साथ-ही-साथ जन्म-नियन्त्रण भी पूर्णरूपेण हो जाय। उन्हीं उपायोंमेंसे ज्यौतिष-सम्बन्धी एक उपायको मैं पाठकोंके सामने प्रस्तुत करके आशा करता हूँ कि पाठक इससे समुचित लाभ उठाकर सफल होंगे और उत्तम संतान उत्पन्न कर सकेंगे।

यह उपाय ज्यौतिष-सम्बन्धी होनेपर भी इतना सरल है कि इसे करनेके लिये स्वयं ज्यौतिषी होनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं है। केवल पञ्चाङ्ग देखकर तिथि और नक्षत्र जान लेनेसे ही काम चल जाता है। हाँ, जो लोग इतने अपढ़ हैं कि पञ्चाङ्ग भी नहीं देख सकते, उन्हें तो किसी निकटवर्ती ज्यौतिषीके यहाँ कम-से-कम एक बार जाना ही होगा और उनसे केवल दो-चार बातें जीवनभरके लिये जान लेनी होंगी।

नाक्षत्रिक उपाय

माताओंकी जन्म-कुण्डलीमें लग्न, रवि और चन्द्रमा जिस जिस नक्षत्रपर हों, उन नक्षत्रोंको जानना होगा। क्योंकि लग्न जिस नक्षत्रपर है, उसपर और उस नक्षत्रसे सातवें, चौदहवें और इक्कीसवें नक्षत्रपर; एवं चन्द्र जिस नक्षत्रपर है उसपर और उससे चौदहवें नक्षत्रपर; एवं सूर्य जिस नक्षत्रपर है, उसपर और उससे भी चौदहवें नक्षत्रपर जब चन्द्रमा गोचरमें आयेंगे, तभी स्पष्ट गर्भाधान-मुहूर्त बनेगा तथा उन दिनोंके एक दिन आगे और पीछे भी हो सकता है। गर्भाधान इन्हीं नक्षत्रोंके दिनोंमें होगा, अन्यथा गर्भाधान होगा ही नहीं।

उपर्युक्त नक्षत्रोंके दिन माताओंकी भी शारीरिक अवस्था गर्भाधानयोग्य रहनी चाहिये *। अर्थात् माताएँ महीनेमें

* मनुस्मृतिके अनुसार महीने भरमें रजस्वला होनेके दिन

उत्तम संतानकी प्राप्ति एवं रक्षाका शास्त्रीय प्रयत्न

भारतीय वाङ्मयमें संतानका बड़ा महत्त्व माना गया है। संतानके भीतर पुत्र और पुत्री दोनों आते हैं। जहाँ पुत्रकी महत्ता बतायी गयी है, वहाँ 'पुत्र' शब्द पुत्रीका भी उपलक्षण समझना चाहिये; क्योंकि 'पुत्र' शब्दकी जो व्युत्पत्ति है, वही पुत्रीकी भी है—'पुन्नाम्नो नरकात्त्रायते इति पुत्रः पुत्री वा।' 'पुम्' नामक नरकसे त्राण करनेवाली संतान 'पुत्र' है, स्त्रीलिङ्गमें उसीको पुत्री कहते हैं। यद्यपि पुत्रकी भाँति पुत्रीका अधिकार श्राद्ध आदि करनेका नहीं है, तथापि दौहित्र (पुत्रीके पुत्र) को वह अधिकार शास्त्रतः प्राप्त है। 'दौहित्र' का एक पर्याय 'नप्ता' है, जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'न पतन्ति पितरो मातामहादयो नरकमनेनेति नप्ता।' जिससे नानाका कुल नरकमें न पड़े, वह नप्ता है। मनुजीने 'पुत्र' और 'पौत्र' की महत्ताका प्रतिपादन करते हुए कहा है कि 'पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।'—'पुत्रसे मनुष्य उत्तम लोकोंपर विजय पाता है और पौत्रसे अक्षय सुखका भागी होता है।' संतानके प्रति मोह-ममता सभी प्राणियोंमें और सब देशोंके लोगोंमें पायी जाती है; परंतु भारतीय ऋषि-महर्षियोंने जो पुत्र-पौत्रको महत्ता दी है, वह इसलिये नहीं कि वह अपना रक्त है, अपितु इसलिये कि अपना आत्मा है—'आत्मा वै जायते पुत्रः।' पुत्रकी सार्थकता इसमें है कि वह जीतेजी पिता-माताकी आज्ञाका पालन करे, मरनेपर क्षयाह तिथिको उसके निमित्त ब्राह्मण-भोजन कराये और गयामें जाकर पिण्डदान करे—

जीविते वाक्यस्वीकारात् क्षयाहे भूरिभोजनात्।
गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता॥

इस प्रकार पुत्र अपने पिताके उत्थानके लिये धर्माचरण और उसके कल्याणके लिये श्राद्ध एवं ज्ञानयज्ञका अनुष्ठान करके उसकी आध्यात्मिक उन्नतिमें योग देता है। यही आर्यसंतानकी महत्ता है और इसीलिये आर्य ऋषि-मुनियोंकी दृष्टिमें पुत्र परम प्रिय तथा कमनीय वस्तु है—'एष्टव्या बहवः पुत्राः।' धर्मपत्नीका महत्त्व भी इसीलिये है कि वह धर्म-परम्पराकी रक्षाके लिये संतानको जन्म देती है—'प्रजनार्थं महाभागाः।' धर्मपत्नीके अधीन ये पाँच बातें हैं—संतानोत्पत्ति, यज्ञादि धर्मानुष्ठान, गुरुजनोंकी सेवा, पतिके लिये रति तथा अपने और पितरोंके लिये स्वर्गकी प्राप्ति*। इनमें संतानको ही प्रथम स्थान दिया गया है। वैवाहिक होममन्त्रोंमें देवताओंसे यह प्रार्थना की जाती है कि इस नारीकी संतान मृत्युपाशसे मुक्त हो और इसे कभी पुत्रशोकसे रोना न पड़े—

अग्निरैतु प्रथमो देवतानां
सोऽस्यै प्रजां मुञ्चतु मृत्युपाशात्।
तदयꣳ राजा वरुणोऽनुमन्यतां
यथेयꣳ स्त्री पौत्रमघं न रोदात्॥

गार्हपत्य अग्निसे यह प्रार्थना की जाती है कि वे इस नारीकी संतानको दीर्घायु बनायें, इसकी गोद सूनी न रहे। यह जीवित पुत्रोंकी माता हो। इतना ही नहीं, इसे पितामही बननेका भी सौभाग्य प्राप्त हो—यह पुत्र तथा पौत्र दोनोंके सुखका अनुभव करे—

इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः
प्रजामस्यै नयतु दीर्घमायुः।
अशून्योपस्था जीवतामस्तु माता
पौत्रमानन्दमभिविबुध्यतामियꣳ स्वाहा॥

अङ्गुष्ठग्रहणके समय भी वरके हृदयमें अनादिकालसे जो धार्मिक एवं चिरञ्जीवी पुत्रके लिये शुभ कामना होती है, उसे श्रुति इन शब्दोंमें अभिव्यक्त करती है—

पुत्रान् विन्दावहै बहून्। ते सन्तु जरदष्टयः।

'हम दोनों बहुत-से पुत्र प्राप्त करें और वे सभी वृद्धावस्थातक जीवित रहनेवाले हों।'

ध्रुवदर्शनके बाद भी पति इसी शुभेच्छाको श्रुतिके शब्दोंमें दुहराता है—'मया पत्या प्रजावती संजीव शरदां शतम्।'—'मुझ पतिके साथ संतानवती होकर सौ वर्षोंतक जीवित रहो।'

चतुर्थी-होमके समय जो वायु-देवताके लिये घीकी आहुति दी जाती है, उसमें प्रार्थना की जाती है कि इस नारीके शरीरमें जो संताननाशक तत्त्व है, उसका नाश हो—

* अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह॥
(मनु० ९। २८)

वायो प्रायश्चित्ते त्वं देवानां प्रायश्चित्तिरसि यास्यै प्रजाघ्नी तनुस्तामस्यै नाशय स्वाहा।

पक्षादि-कर्ममें दर्शपौर्णमाससम्बन्धी आहुति देनेके पश्चात् चरुका शेष भाग लेकर ऐसे भूतोंको बलि समर्पण किया जाता है, जो ग्राम अथवा वनमें रहते और छोटे बच्चोंमें आविष्ट होकर उनके मस्तिष्कको विकृत कर देते हैं। उनसे प्रार्थना की जाती है कि वे हमारी संतानोंको सकुशल रहने दें—

ये मे प्रजामुपलोभयन्ति ग्रामे वसन्त उत वारण्ये तेभ्यो नमोऽस्तु बलिमेभ्यो हरामि स्वस्ति मेऽस्तु प्रजां मे ददतु।

गर्भाधान-संस्कारका महत्त्व इसीलिये अधिक है कि इसके द्वारा उत्तम संतानकी उत्पत्तिके लिये बीजारोपण होता है। यदि स्त्रीके गर्भ न रहता हो तो उसके लिये शास्त्रीय प्रयत्न भी है। जिस दिन पुष्य नक्षत्र हो, उस दिन उपवास-पूर्वक रहकर सफेद फूलवाली कण्टकारिकाकी जड़ उखाड़े और रजस्वला स्त्री जब चौथे दिन स्नान कर ले तो रातमें उस ओषधिको पानीमें पीसकर पत्नीकी दाहिनी नाकमें उसे थोड़ा-थोड़ा करके डाले और स्त्री उसे साँस खींचकर सूँघे। उस समय नीचे लिखा मन्त्र पढ़ना चाहिये—

इयमोषधी त्रायमाणा सहमाना सरस्वती।
अस्या अहं बृहत्याः पुत्रः। पितुरिव नाम जग्रभम्।

सीमन्तोन्नयन-संस्कारमें पत्नीके सीमन्तका मन्त्रपूर्वक संस्कार करनेके पश्चात् गृह्यसूत्रमें एक विधि यह देखी जाती है कि दो वीणावादकोंको बुलाकर उनसे किसी वीर राजाका या अन्य किसी वीर पुरुषके चरित्रका गान कराया जाय। इससे गर्भस्थ बालकपर उसका सहज प्रभाव पड़ता है। इसलिये गर्भवती स्त्रीको सद्धर्म, हरिचर्चा, कीर्तन तथा वीरचरित सुनानेकी प्राचीन प्रथा है। प्रह्लादने गर्भमें ही भगवत्तत्त्वका बोध प्राप्त किया। अष्टावक्रने गर्भमें वेद कण्ठस्थ कर लिये। वीरवर अभिमन्युने गर्भमें ही चक्रव्यूहभेदनकी कला समझ ली थी।

बालकके जातकर्म-संस्कारमें उसकी बुद्धि और आयु बढ़नेके लिये एक उपाय किया जाता है—पिता नालच्छेदनके पहले वहाँ जाकर अपनी अनामिका अङ्गुलिको सुवर्णसे आच्छादित करके उसीके द्वारा बालकको मधु और घी चटाये। (मधु और घीका मान बराबर नहीं रखना चाहिये)। अथवा केवल घी चटाये। उस समय ये चार मन्त्र क्रमशः पढ़े और चार ही बार चटाये—'भूस्त्वयि दधामि, भुवस्त्वयि दधामि, स्वस्त्वयि दधामि, भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि।' इससे बालककी मेधाशक्ति बढ़ती है। इसके पश्चात् उसकी आयु बढ़ानेके लिये बालककी नाभिके समीप अथवा दाहिने कानके पास मुँह ले जाकर निम्नाङ्कित मन्त्रोंका तीन बार उपांशु उच्चारण करना चाहिये—

अग्निरायुष्मान् स वनस्पतिभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। सोम आयुष्मान् स ओषधीभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। ब्रह्मायुष्मत्तद् ब्राह्मणैरायुष्मत्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। ऋषय आयुष्मन्तस्ते व्रतैरायुष्मन्तस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधाभिरायुष्मन्तस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। यज्ञ आयुष्मान्स दक्षिणाभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि। समुद्र आयुष्मान्स स्रवन्तीभिरायुष्मांस्तेन त्वाऽऽयुषाऽऽयुष्मन्तं करोमि।

तदनन्तर निम्नाङ्कित त्र्यायुष-मन्त्रका भी तीन बार जप करे।

'त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषं यद्देवेषु त्र्यायुषं तत्तेऽस्तु त्र्यायुषम्।'

इसके सिवा—बालक पूरी आयुतक जीवित रहे, इस निमित्तसे 'दिवस्परि' इत्यादि अनुवाककी बारह ऋचाओंमेंसे प्रारम्भकी ग्यारह ऋचाओंका उच्चारण करते हुए बालकके समस्त शरीरका स्पर्श करे। जिस भूमिपर बालकका जन्म हो, उसका भी मन्त्रसे संस्कार किया जाता है; उसका उद्देश्य भी बालकके जीवनका संरक्षण ही है। तदनन्तर पुनः कुमारके शरीरका स्पर्श करते हुए निम्नाङ्कित मन्त्रका पाठ करना चाहिये—

'अश्मा भव, परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव। आत्मा वै पुत्रनामासि, स जीव शरदः शतम्।'

इसके बाद सूतिकागृहके द्वारपर अग्निकी स्थापना करके सूतकपर्यन्त प्रतिदिन सबेरे-शाम फलीकरणयुक्त सरसोंकी दो आहुतियाँ डालनी चाहिये। उस समय 'शण्डामर्का' तथा 'आलिखन्निमिषः' इन दो मन्त्रोंका पाठ किया जाता है। इससे विघ्नकारक भूत आदि नष्ट होते हैं। यदि बालकपर किसी बालग्रहका उपद्रव हो तो पिता उस बालकको जाल या चादरसे ढककर गोदमें ले ले और निम्नाङ्कित मन्त्रका जप करे—

'कूर्कुरः सुकूर्कुरः कूर्कुरो बालबन्धनः। चेच्चेच्छुनक

सृज नमस्ते अस्तु सीसरोलपेतापह्वर तस्सत्यम् । यत्ते देवा वरमददुः स त्वं कुमारमेव वा वृणीथाः । चेचेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरोलपेतापह्वर तत्सत्यं यत्ते सरमा माता सीसरः पिता श्यामशबलौ भ्रातरौ चेचेच्छुनक सृज नमस्ते अस्तु सीसरोलपेतापह्वर ।'

तत्पश्चात् बालकके सर्वाङ्गका स्पर्श करते हुए कहे—

'न नामयति न रुदति न हृष्यति न ग्लायति यत्र वयं वदामो यत्र चाभिमृशामसि ।'

इससे ग्रहबाधाकी निवृत्ति हो जाती तथा बालक स्वस्थ और सुखी होता है। चूडाकरण-संस्कार भी बालककी आयुको बढ़ानेके उद्देश्यसे ही किया जाता है। जिस समय कुशपत्रसहित केशका छेदन किया जाता है, उस समयके उस कर्मको श्रुति आयुष्यवर्धक बताती है—

इदमस्यायुष्यम् । जरदष्टिर्यथा सत् ।

'यह इसका आयु बढ़ानेवाला कर्म है, जिससे वृद्धावस्थातक यह बालक सकुशल रहे।' निम्नाङ्कित श्रुतिमें यह केशच्छेदन कर्म जीवन, आयु, यश एवं कल्याणकी वृद्धिका हेतु बताया गया है—

'तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे, जीवनाय सुश्लोक्याय स्वस्तये ।'

उपनयन-संस्कारमें जो उपवीत धारण कराया जाता है, वह भी आयुकी वृद्धि तथा बल और तेजकी रक्षाके ही लिये है। श्रुति कहती है—

आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं
यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ।

इस प्रकार शास्त्रकारोंने पुत्र या संतानकी प्राप्तिके लिये जहाँ पुत्रेष्टि, मैत्रावरुणेष्टि आदि यज्ञों तथा अन्यान्य उत्तम उपायोंका प्रतिपादन किया है, वहीं पुत्रके जीवनकी रक्षाके लिये तथा उसे मेधावी, सद्गुणसम्पन्न एवं यशस्वी, तेजस्वी, वर्चस्वी बनानेके लिये नाना प्रकारके उपाय बताये हैं। यदि हम शास्त्रीय विधिके अनुसार चलें तो अब भी वैसे पुत्ररत्न-की प्राप्ति असम्भव नहीं है। संस्कारसम्पन्न बालक ही सुदुर्लभ गुणोंसे विभूषित होता है, अतः बालकोंके संस्कारपर विशेष ध्यान देना चाहिये। अब यहाँ अभीष्ट संतानकी प्राप्तिके लिये कुछ अन्य शास्त्रीय उपाय बताये जाते हैं—

यदि स्त्रीको ऋतु (मासिकधर्म) न होता हो तो वह तीन दिनका व्रत करे। काँसेकी प्यालीसे एक प्याली दूध पीकर रहे। तीन रातका व्रत समाप्त होनेपर चौथे दिन स्नान करके नया वस्त्र पहने। शूद्र या शूद्रकी स्त्रीसे उस दिन उसका स्पर्श न हो। उस दिन वह अपने हाथसे धान कूटे। इस उपायसे मासिक ठीक हो जाता है।

जो यह चाहता हो कि मुझे गौरवर्णका पुत्र प्राप्त हो और वह पूर्णायु तथा एक वेदका विद्वान् हो तो पति-पत्नीको कुछ दिनोंतक गरम खीरमें घी मिलाकर उसे खाना चाहिये और तबतक ब्रह्मचर्य-पालन करना चाहिये। फिर वे वैसे पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ हो सकते हैं। वह पुत्र दो वेदोंका ज्ञाता हो सकता है। साधारण भात और घीका नियमपूर्वक सेवन करनेके बाद जब पति-पत्नीका सहवास हो तो श्यामवर्ण, लाल नेत्रवाले तीन वेदके ज्ञाता पुत्रकी प्राप्ति हो सकती है। जो विदुषी कन्याको जन्म देना चाहें, वे दम्पति तिलयुक्त भातमें घी मिलाकर कुछ कालतक उसीका सेवन करें। उड़द और चावलकी खिचड़ीमें घी मिलाकर खानेसे सब वेदोंके विद्वान् और वक्ता पुत्र उत्पन्न करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। इन सब उपायोंके अतिरिक्त मन्त्र-जप, शतचण्डीपाठ, पुराण-श्रवण, तपस्या, भगवदाराधन तथा अन्य सत्कर्मोंके अनुष्ठानसे भी अभीष्ट, सद्गुणसम्पन्न तथा चिरञ्जीवी संतानकी प्राप्ति होती है। प्रबल शास्त्रीय पुरुषार्थसे नवीन प्रारब्ध भी बनता है और दुर्लभ वस्तु भी करतलगत हो जाती है। अतः शास्त्र एवं भगवत्कृपापर विश्वास करके सत्कर्मके अनुष्ठानसे विरत नहीं होना चाहिये। रा० शा०

तीन बात

ग्रंथ पंथ सब जगतके बात बतावत तीन।
राम हृदय, मनमें दया, तन सेवामें लीन ॥

सारे जगत्के पंथ और ग्रन्थ तीन ही बात बताते हैं—हृदयमें राम हों, मनमें दया हो और शरीर सेवामें लीन हो।

बालोपयोगी दिनचर्या

(लेखक—श्रीरामकालजी पहाड़ा)

१—स्वस्थ बालक, स्वभावतः सूर्योदय होनेपर उठते और पक्षियोंके समान सूर्यास्त होनेपर सो जाते हैं, मानो वे प्रकृतिके आदेशको मानकर रहना चाहते हैं; परंतु संरक्षक अपने अनुचित व्यवहारसे उनके स्वभावको विकृत कर देते हैं।

२—बालकोंको सदा पूर्वकी ओर सिर रखकर सुलाना चाहिये। इससे सूर्यकी प्रथम किरण उनके मस्तिष्कमें प्रवेश कर उनकी मेधाको बढ़ाती है।

३—बालकोंको उठानेके समय उनके पास एक-दो मिनट-तक मधुर ध्वनिसे 'हरे राम······हरे हरे' किंवा अन्य इष्ट श्लोकका गायन करना उत्तम है। इससे उनमें सदाचारका विकास होता है।

४—बालकको शौच, मुखमार्जन (और यदि सम्भव हो तो स्नान भी) कराकर प्रार्थना (यज्ञोपवीत होनेपर) संध्याका नित्य अभ्यास कराना इष्ट है।

५—इसके उपरान्त बालक खेलें, पढ़ें या घरके कामोंमें भाग लें। बालकोंमें अनुकरण-बुद्धि विशेष जाग्रत् रहती है, अतएव उससे लाभ उठाकर संरक्षकजन बालकोंको उचित और सुलभ गृह-धंधोंमें लगायें। सम्भव है आरम्भमें वे कुछ बिगाड़ करें, तो भी उनकी भर्त्सना न करे। भर्त्सनासे वे हताश होकर अकर्मण्य हो जाते हैं। ठीक तो यही है कि उनके बिगाड़े हुए कामको सुधारते हुए उनका अनुमोदन करे और उनमें काम करनेका उत्साह बढ़ायें।

६—बालकोंको सदैव प्रातःकाल दिनमें पूर्वाभिमुख और सायंकाल रात्रिमें पश्चिमाभिमुख बिठलाकर भोजन करायें। ऐसा करनेसे सूर्य-प्रकाशका प्रत्यक्ष ओज उन्हें मिलता है। वे दीर्घायु होते हैं। भोजनके समय बालक पालथी मारकर बैठे, इससे आन्त्रभाग मुक्त होता और पाचन ठीक होता है।

७—बालक स्वभावतः शुद्ध सात्त्विक भोजन खाना चाहते हैं; किंतु संरक्षक (विशेषकर स्त्रियाँ) थोड़ा कष्ट बचानेको उन्हें अपने समान मिर्च-मसाले खानेमें लगा देते हैं।

८—दाँत निकलनेके समय बच्चोंका स्वास्थ्य बहुत मन्द हो जाता है। उनकी आँखें बिगड़ जाती तथा अँतड़ियाँ कमजोर हो जाती हैं। उनको ज्वर आता और अधिक संख्यामें दस्त होते हैं। ऐसी स्थितिमें धैर्य रखकर बच्चोंको शुद्ध मातदिल वस्तुएँ खिलायें, जिससे शरीरमें बढ़ी हुई ऊष्माका शमन हो। संरक्षकोंके प्रमादसे इन दिनों अनेक बच्चे मर जाते या सदाके लिये रोगी हो जाते हैं।

इसी तरह प्रायः सात वर्षकी आयुतक बच्चोंको शीतला, चेचक, खसरा आदि ज्वरोंके होनेकी सम्भावना रहती है। इस समय भी धैर्यसे काम करना चाहिये।

९—बच्चोंकी आवश्यकताको पूरा करना ठीक है, परंतु हठ—दुराग्रहकी प्रवृत्ति रोकनी चाहिये।

१०—बच्चोंके कपड़े सदा स्वच्छ हों और उनके शरीरके मानसे सदा कुछ ढीले रहें। बहुत चुस्त या तंग कपड़ोंसे उनके रुधिर-सञ्चारमें बाधा होती है।

११—माता-पिता या बड़े भाई-बहिन बच्चोंको अपने साथ प्रतिदिन खुले मैदानों, बगीचोंमें ले जाकर टहलायें। प्रतिदिन कुछ समय निकालकर उनके खेल-कूदमें भाग लें। ऐसा करनेसे वे दूषित संसर्गसे बचे रहते हैं।

१२—ज्वर आदि व्याधिमें बच्चोंको 'रामकवच' या अन्य 'इष्टकवच'का झाड़ा देना अमोघ उपाय है।

१३—बालकोंके मनमें यह बात भरते रहना चाहिये कि

भूत प्रेत निकट नहीं आवै। महाबीर जब नाम सुनावै॥

अर्थात् महावीर (अपना शुद्ध आचरण) सब भूत-प्रेतोंको दूर भगा देता है; क्योंकि स्वयं महावीर (हनुमान्) जीने अपने शुद्ध दृढ़ आचरणके बलसे सब राक्षसोंको पराजित कर दिया था। इसलिये बालक भी प्रतिदिन व्यायाम और संध्या कर अपना बल बढ़ायें और व्यसनोंसे दूर रहकर दृढ़ आचरण रक्खें—'सत्यसंध दृढब्रत रघुराई' का अनुकरण करनेका प्रयत्न करें।

१४—बालक थोड़ा पढ़ें और उसको अभ्यासमें लाकर चरित्र सुन्दर बनानेका प्रयत्न करें। संरक्षकगण भी उनको उपदेशोंके बदले क्रियात्मक उदाहरणद्वारा सिखानेका प्रयत्न करें।

१५—बालकोंमें कौतूहल अधिक रहता है, अतएव वे जाननेके लिये प्रश्न किया करते हैं। जहाँतक हो, उनका उचित समाधान कर देना चाहिये; इससे उनमें विचारशक्ति

बढ़ती है। यदि प्रश्नका समाधान न हो सके तो मृदुतासे उनको समझाकर धीरज देना चाहिये; परंतु उनके कौतूहलको निर्दयतासे दबा देना अच्छा नहीं।

१६—बालकोंके चित्तपरसे परीक्षाका बोझा हटा देना चाहिये। आजकल शिक्षा-विभागमें अधिकारिवर्गने बच्चोंपर बहुत अधिक बोझ डाल रक्खा है। प्रत्येक कक्षामें आवश्यकतासे अधिक पुस्तकोंकी नियुक्ति कर रक्खी है। पाठ्यक्रमकी रचना करनेवाले लोग पाठ्यक्रम बनाते समय बालककी उम्रका ध्यान न रखकर ऐसा पाठ्यक्रम बनाते हैं, मानो वे अपने लिये बना रहे हों। बालकोंकी आयु, बुद्धि और वित्तका बहुत कम ध्यान रक्खा जाता है। इससे बालकोंमें शारीरिक और नैतिक पतन बढ़ता जा रहा है।

१७—सोते समय बालकोंको पेशाब कराना चाहिये, अन्यथा वे बिछौनेको बिगाड़ देते हैं। यदि उनके हाथ-पैर भी धो दिये जायँ तो उनको ठीक नींद आती है।

१८—बालकोंको हर महीनेमें एक बार साधारण रेचक औषध (जैसे अदरक, तुलसी, नीबू) देनेसे उनकी अँतड़ियोंमें मल एकत्रित नहीं होता। उनका पाचन ठीक हो जाता और ज्वर आदि व्याधियाँ दूर रहती हैं।

१९—प्रति रविवार बालकोंको दूध, भात (रोटी), शक्कर अवश्य खिलायें। इससे उनमें सूर्य-रश्मियोंका प्रभाव ठीक पड़नेसे स्वास्थ्य और मेधाकी वृद्धि होती है।

२०—बालकोंको प्रति सप्ताह मङ्गलवार और शनिवारको—विशेषकर शीत ऋतुमें तेलकी मालिश करके कुछ देर उन्हें प्रातःकाल धूपमें लिटा दें या बैठा दें। इससे उनमें अस्थिदौर्बल्य (Rickets) नहीं होता।

२१—ईर्ष्यालु स्त्रियोंके दृष्टि-दोषसे सुरक्षित रखनेके लिये बच्चोंके गलेमें राममन्त्र अथवा अन्य इष्ट मन्त्रका तावीज बाँध दें। विशेष अवसरपर उनपर राई, नोन (नमक) निछावर कर अग्निमें डाल दें।

२२—भोजन करनेके पहले और पश्चात् दोनों बार बालकोंको हाथ, पैर, मुँह, नाक, कपाल, सिरको धोकर गीला रखनेका अभ्यास करायें। इससे उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ—विशेषकर नेत्रज्योति दीर्घायुतक सुरक्षित रहती हैं। जब बालकोंका श्वास दाहिने नथुनेसे चलता हो (सूर्यदेव चैतन्य हों), तब उन्हें खानेको देनेसे पाचन-क्रियामें विकार नहीं होता।

२३—पढ़ने-लिखनेमें बायीं ओरसे प्रकाश आनेका प्रबन्ध रहे, अन्य ओरसे आनेवाला प्रकाश बालकोंकी आँखोंको हानि पहुँचाता है। बालक रीढ़को सदा सीधी रखकर पढ़ें या लिखें। पुस्तकपर अधिक झुकनेसे फुफ्फुस खराब हो जाते हैं और कालान्तरमें क्षय होनेका डर रहता है।

२४—बालकोंको शिक्षा देनेके लिये सदा सुगम, स्थूल वस्तुओंका उदाहरण लेकर कठिन, सूक्ष्म नियमकी ओर ले जाना चाहिये। उनकी ज्ञानेन्द्रियोंका अधिक-से-अधिक उपयोग करना चाहिये। उनके सामने ऐसी स्थूल वस्तु रक्खें, जिन्हें वे छुएँ, सूँघें, बजायें, चक्खें, देखें। वे अपनी सर्वज्ञानेन्द्रियोंका उपयोग कर वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त करें। शिक्षाका उत्तम ढंग यही है।

२५—बालकोंके मननार्थ कुछ सुन्दर चौपाइयाँ दी जाती हैं। मानस तो अगाध मानस है और निर्मल जलसे (सुन्दर विचारोंसे) परिपूर्ण है; किंतु यात्री अपने प्रयोजनानुसार जल ग्रहण कर तृप्त हो जाते हैं।

बालक अपने 'स्वास्थ्य'के लिये सदा इस श्लोकका मनन करते रहें। यहाँ केवल बाल-बुद्धिगम्य अर्थ लिखा जायगा—

नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं
सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौ महासायकचारुचापं
नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥

'मैं रघुवंशके नाथ श्रीरामको नमन करता हूँ, जिनका शरीर नीलकमलके समान श्याम और कोमल है, वाम भागमें सीताजी विराजमान हैं और हाथमें महान् बाण और सुन्दर धनुष हैं। भावार्थ—रामजी अपने रघुवंशकी रक्षा करते हैं, अपने ऐश्वर्यसे सब जीवों (रघु=जीव; वंश=समुदाय) की रक्षा करते हैं। उनके पास सदा गृहस्थीकी सुन्दरता रहती है और उनका शरीर भी सदा स्वस्थ रहता है तथा दुष्टोंको दण्ड देनेके लिये उनके हाथमें सदा धनुष-बाण रहते हैं। रामजी स्वस्थ, उत्तम गृहस्थ और नीतिज्ञ हैं; अतः मैं उनकी ओर झुकता हूँ, उनको स्वास्थ्यका उत्तम आदर्श मानकर उनका अनुचर (अनुयायी) होनेका प्रयत्न करता हूँ।

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई॥

शठ=हठ, दुराग्रह। सत्संगति=भली मित्रता, नियमपूर्वक काम करते रहनेकी बान, प्राकृतिक जीवन; पारस=परमरस (ओषजन oxygen), कुधातु=विकृत धातुएँ, जो शरीरमें

सात प्रकारकी हैं। नियमपूर्वक काम करते रहनेसे वा भले मित्रके उपदेशसे दुराग्रह सुधरता है; बदलकर दृढ़ संकल्प हो जाता है, जैसे परम रस (वातावरणसे लिये हुए ओषजन) से शरीरस्थित धातुओंके विकार मिट जाते हैं।

व्यंग्यार्थ—अपने शारीरिक और मानसिक दोषको हटानेके लिये प्रतिदिन नियमपूर्वक गहरा श्वासोच्छ्वास करते रहना चाहिये। यह अत्यन्त सुगम है; परंतु महान् भयसे बचा लेता है। प्राकृतिक जीवन ही सत्सङ्ग है।

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

रामकृपा=माता, पिता, गुरुजनोंका अनुग्रह, आत्मसंयम। विवेक=सत्य-असत्य तथा भले-बुरेकी पहचान।

नियमपूर्वक बिना काम किये सत्य और असत्यकी पहचान नहीं होती। नियमपूर्वक काम करना भी माता, पिता, गुरुजनोंके अनुग्रह बिना वा आत्मसंयम बिना सुलभ नहीं है। भावार्थ—आत्म-संयमसे नियमपूर्वक काम करते रहनेसे सत्य और असत्यकी पहचान हो जाती है।

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सुनु भ्राता॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करै सो तस फलु चाखा॥

लक्ष्मणजी निषादको समझा रहे हैं। भाई! कोई किसीको सुख-दुःख देनेवाला नहीं है, अपने किये हुए कर्मके भोग ही उपस्थित होते हैं; क्योंकि विश्वमें मुख्य चीज कर्म ही है। जो जैसा करता है वैसा फल चखता है। भावार्थ—अन्य जनको दोष नहीं देना चाहिये। अपने ही कर्मको सुधारना चाहिये। यही शान्तिका अमोघ उपाय है, अन्यथा ईर्ष्याभाव बढ़ता और अत्याचारका प्रसार होता है।

बिधिबस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥

विधिवश=कर्मवश, अदृश्यशक्तिवश, कुसंगति=बुरी स्थिति, लौकिक प्रपञ्च। किसी अज्ञातशक्तिकी प्रेरणासे या अपने प्रमादसे भला मनुष्य भी बुरी स्थितिमें या कपटियोंके जालमें फँस जाता है। देखो सर्प और मणि साथ रहकर अपने गुणोंका अनुसरण करते हैं, इसी तरह सज्जन भी ऐसी स्थितिमें अपनी सज्जनता न छोड़े। इस समय विधिवश भारतमें अनेक वृत्तिवालोंका संघर्ष उपस्थित हो गया है। ऐसी विकट स्थितिमें आत्मगौरवको रखनेवाले यथार्थ भारत-वासियोंको अपनी सनातन संस्कृतिका ही अनुसरणकर संसारमें शान्ति-स्थापनका उचित उपाय प्रकट करना चाहिये।

जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥

सुमति=अच्छी बुद्धि, उदारता, सरलता, कुमति=बुरी बुद्धि, कुटिल प्रपञ्च, स्वार्थबुद्धि। जहाँ (जिस घर, समाज, राष्ट्र, देशमें) लोगोंमें परस्पर व्यवहार करनेमें उदारता और सरलता रहती है, वहाँ नाना प्रकारसे सम्पत्ति एकत्रित हो जाती है और जहाँ कुटिलप्रपञ्चमय स्वार्थ-बुद्धिसे व्यवहार चलता है वहाँ अन्तमें विपत्ति आती है। लोगोंमें विषमता फैलकर नाना प्रकारकी बीमारियाँ बढ़ जाती हैं। अतः मनमें शिव संकल्प रखकर व्यवहार करते रहना ही परम धर्म है।

परहित सरिस धरम नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

परहित=परोपकार, परम शक्तिका विकास। व्यवहारमें—परोपकारके समान धर्म नहीं है। परोपकार ही श्रेष्ठ कर्तव्य है और पर-पीड़ाके समान नीचता नहीं है। दूसरोंको दुःख देना नीचता है।

अध्यात्ममें—अपनी आन्तरिक शक्तिका समुचित विकास करना ही श्रेष्ठ धर्म है और शक्तिका ह्रास करना ही नीचता है। भावार्थ—हम आत्म-संयमसे रहकर शक्तिका विकास करें और व्यसनोंमें पड़कर ईश्वरदत्त शक्तिका ह्रास न कर डालें।

वरदान

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान। जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥
अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम। मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम॥

मुझे न अर्थकी रुचि (इच्छा) है, न धर्मकी, न कामकी और न मैं मोक्ष ही चाहता हूँ। जन्म-जन्ममें मेरा श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम हो, बस, यही वरदान माँगता हूँ, दूसरा नहीं। हे प्रभो श्रीरामजी! छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजीसहित धनुष-बाण-धारी आप निष्काम (स्थिर) होकर मेरे हृदयरूपी आकाशमें चन्द्रमाकी भाँति सदा निवास कीजिये।

बाल-प्रश्नोत्तरी

ईश्वर क्या है ?

ईश्वर क्या है, यह तो नहीं बताया जा सकता; क्योंकि कौन कितना बड़ा विद्वान् है, यह बात उससे बड़ा विद्वान् ही ठीक-ठीक बता सकता है और ईश्वरसे बड़ा कोई है नहीं। पूरी तरह ठीक-ठीक सर्वशक्तिमान् ईश्वर न जाना जा सकता, न उसका वर्णन हो सकता है; लेकिन ईश्वर है, यह बात सवा सोलह आने सच्ची है । जैसे कपड़ेको देखकर उसका कोई बनानेवाला है, यह समझा जाता है, वैसे ही संसारका भी कोई बनानेवाला होना चाहिये, यह स्पष्ट है । संसार इतना नियमपूर्वक चलता है और फिर इतनी आश्चर्यजनक घटनाएँ इस संसारमें होती रहती हैं कि उन घटनाओंका बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी कोई कारण नहीं समझ पाते । इन सब बातोंसे ईश्वरकी सत्ता सिद्ध होती है ।

ईश्वर कैसा है ?

ईश्वर सर्वव्यापक है, सर्वशक्तिमान् है, सब कुछ भूत-भविष्य-वर्तमानकी बातोंका जाननेवाला है; क्योंकि इस संसार और संसारके सब पदार्थों तथा मनुष्यके मन और बुद्धिको भी ईश्वरने ही बनाया है । अतः संसारमें जो कुछ है या होना सम्भव है, मन या बुद्धिमें जो कुछ आता है या आ सकता है, वह सब ईश्वरका ही रूप है । ईश्वर वह सब है और उससे भी विलक्षण है । ईश्वर ऐसा है और ऐसा नहीं है, इस प्रकारका हठ अज्ञानके कारण होता है । जैसे घड़ेके भीतर भरा पानी घड़े-जैसा और लोटेमें भरा पानी लोटे-जैसा होता है, वैसे ही जो जैसी भावना ईश्वरके सम्बन्धमें कर ले, उसके लिये ईश्वर वैसा ही है ।

ईश्वर साकार है या निराकार ?

ईश्वर निर्गुण-सगुण, साकार-निराकार सर्वरूप है । जैसे मिट्टीमें घड़ा नहीं है, परंतु मिट्टीसे अलग घड़ा कोई वस्तु भी नहीं है, इसी प्रकार ईश्वरमें यह संसार नहीं है, पर संसारके पदार्थ और गुण ईश्वरसे अलग भी नहीं हैं । ईश्वरमें गुण न होते तो संसारमें गुण आते ही कहाँसे और ईश्वरमें निर्गुणता न होती तो बुद्धिमें निर्गुणकी भावना कैसे आती । इसी प्रकार आकाश, वायु आदि निराकार और पशु-पक्षी आदि साकार पदार्थ भी ईश्वरने ही बनाये हैं । ईश्वर सर्वशक्तिमान् है । अतः वह एक ही साथ निराकार और साकार दोनों है । इसलिये ईश्वरके निराकार या साकारपनेके विषयमें झगड़ना नहीं चाहिये ।

ईश्वर एक है या अनेक ?

ईश्वर है तो एक ही; परंतु अनेक रूप हैं उसके और अनन्त शक्तियाँ हैं उसकी । जैसे एक ही मनुष्य कभी नाटकमें कुछ बनता है, कभी कुछ बनता है और इस प्रकार अनेक वेश बनानेसे वह अनेक नहीं हो जाता, वैसे ही ईश्वरके भी अनेक रूप हैं। इसलिये ब्रह्म, परमात्मा, राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, शक्ति, गॉड, खुदा, अल्लाह या और भी जो नाम-रूप ईश्वरके कहे जाते हैं, वे सब एक ही ईश्वरके हैं। उनमेंसे किसी एककी प्रशंसा करके दूसरेकी निन्दा करना या दूसरेसे द्वेष करना ईश्वरकी ही निन्दा तथा ईश्वरसे ही द्वेष करना है; क्योंकि हमारे पास एक ही मन है और उपासनाका पूरा फल मनकी एकाग्रता होनेसे ही मिलता है, इसलिये हमको भगवान्का जो नाम तथा रूप प्रिय लगे, उसीकी हमें आराधना करनी चाहिये । उसी एकमें ही अपनेको पूरी तरह लगाना चाहिये । कभी एक रूपमें और कभी दूसरे रूपमें मनको लगानेसे मन चञ्चल बना रहेगा और उपासनाका पूरा लाभ नहीं होगा । इस प्रकार भगवान्के एक ही नाम-रूपमें लगना तो हमारे लाभके लिये है । लेकिन भगवान्के दूसरे नाम और रूप भी भगवान्के ही हैं । उनका अपमान या तिरस्कार नहीं करना चाहिये । जैसे पिताको पुत्र सदा पिता कहता है; पर उसकी मा उसके पिताको पति कहती है तो इसलिये वह झगड़ता नहीं कि क्यों वह भी उसके पिताको पिता नहीं कहती । इसी प्रकार जो लोग भावके भेदसे भगवान्को दूसरे नाम-रूपमें मानते हैं, वे भी उसी एक ही भगवान्के पुजारी हैं । उनसे प्रेमभाव ही रखना चाहिये ।

ईश्वर अवतार लेता है ?

ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, अतः वह अवतार ले तो सकता ही है । अग्नि सर्वव्यापक रहते हुए भी अनेक स्थानोंपर प्रकट होता है, ऐसे ही सर्वव्यापक ईश्वर सर्वव्यापक रहते हुए ही अवतार लेता है । जब एक योगी ही अपने योगबलसे अनेक रूप 'कायव्यूह' नामकी सिद्धिसे धारण कर सकता है, तब भला ईश्वर अवताररूप क्यों नहीं ले सकेगा; क्योंकि ईश्वर परम दयालु है, अतः जब उसके भक्त उसे आँखोंसे प्रत्यक्ष देखना चाहते हैं, तब वे जिस रूपमें उसे देखना चाहते

हैं, उसी रूपमें वह उनके सामने प्रकट हो जाता है। जब किसी समय भगवान्‌के बहुत-से सच्चे भक्त उन प्रभुके साथ पुत्र, मित्र आदिका सम्बन्ध बनाकर उनकी लीलाका आनन्द लेनेको अत्यन्त उत्सुक हो जाते हैं, तब भगवान्‌का अवतार होता है।

अवतार और महापुरुषमें क्या भेद है ?

महापुरुष चाहे जितना महान् हो, चाहे जितनी सिद्धियाँ या अद्भुत शक्तियाँ उसमें हों; पर उसका शरीर साधारण लोगोंके समान पञ्चभूतोंसे ही बना होता है। उसको बुढ़ापा, रोग आदि होते हैं। महापुरुषका जो सङ्ग करते हैं, उसकी सेवा करते हैं, उनका कल्याण होता है; किंतु जो महापुरुषसे द्वेष करते हैं, उसे सताते हैं, उसके प्रति दुर्भाव रखते हैं, उनको पापका भागी होकर नरक जाना पड़ता है। लेकिन भगवान्‌का अवतार-शरीर पञ्चभूतोंसे बना नहीं होता। लोगोंके देखनेमें साधारण मनुष्य-शरीर-जैसा लगनेपर भी वह दिव्य शरीर होता है। उसमें मायाके पदार्थोंका लेश भी नहीं होता। उसमें रोग या बुढ़ापा नहीं आता। भगवान्‌के उस अवतार-शरीरकी सेवा, उसका ध्यान, पूजन करनेवालोंका तो कल्याण होता ही है, जो उससे द्वेष करते हैं, शत्रुता करते हैं, उनका भी कल्याण हो जाता है। भय, द्वेष, लोभ, काम आदि किसी भी प्रकारसे जो भगवान्‌के अवतार-शरीरका चिन्तन करते हैं, उनके सारे पाप भस्म हो जाते हैं। उनका कल्याण ही होता है।

मूर्ति-पूजा क्यों की जाती है ?

जैसे मूर्ति धातु, पत्थर, लकड़ी आदिकी होती है, वैसे ही हमारे-आपके शरीर भी हड्डी, मांस आदि जड तत्त्वोंके ही हैं। लेकिन जीव क्योंकि इस शरीरमें है, अतः किसीके शरीरकी सेवा-पूजा उस पुरुषकी सेवा-पूजा मानी जाती है। भगवान् सर्वव्यापक हैं, अतः वह मूर्तिमें भी हैं। इसलिये मूर्तिमें जब हम भगवद्भाव करके पूजा करते हैं, तब वह पूजा भगवान्‌की हो जाती है। जैसे किसीके शरीरको, जो कि जड है, छोड़ दिया जाय तो फिर उसमें जो चेतन है, उसके सत्कारका कोई उपाय ही नहीं रहता। हमारे मनके लिये एक प्रकट आधार चाहिये चिन्तन और पूजनका। मूर्तिके द्वारा सर्वव्यापक भगवान्‌की ठीक पूजा हो पाती है और उनका ध्यान करना भी सम्भव हो जाता है। जैसे शरीरका सत्कार जडका सत्कार नहीं है, वैसे ही मूर्तिकी पूजा भी पत्थर, मिट्टी आदिकी पूजा न होकर भगवान्‌की ही पूजा है।

ईश्वर है, यह कैसे जाना जाय ?

नियम यह है कि कार्य अपने कारणको जान नहीं सकता। कोई भी पुत्र यह नहीं जान सकता कि सचमुच उसका पिता कौन है। इस विषयमें उसे माताके वचनोंपर विश्वास ही करना पड़ता है। मनुष्यकी बुद्धि भगवान्‌की बनायी हुई है, अतः बुद्धिके द्वारा तर्क-वितर्क करके ईश्वरको जानना सम्भव नहीं है। महापुरुषों तथा शास्त्रोंके वचनोंपर विश्वास करना ही एक मात्र उपाय है। जहाँ तर्ककी गति नहीं होती, वहाँ प्रयोगसे ज्ञान होता है। कोई तर्कसे न मानना चाहे कि अग्नि उष्ण है तो उसे छूकर देखना चाहिये। वैज्ञानिक सिद्धान्तोंपर सन्देह होनेपर जैसे ठीक विधिसे पूरी सावधानीसे प्रयोग करना आवश्यक होता है, वैसे ही जिसे पूरा निश्चय करना हो, उसे शास्त्रोंमें बतायी विधिसे सावधानीके साथ साधन करना चाहिये। पूरे विश्वमें अनादिकालसे अबतक एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ, जिसे ठीक साधन करनेपर भगवत्प्राप्ति न हुई हो। भगवान् हैं, इसका यही सबसे बड़ा प्रमाण है।

ईश्वरको न माननेसे हानि क्या है ?

मनका स्वभाव है असंयमकी ओर जानेका। जो लोग ईश्वरको मानते हैं, उन्हें परलोक भी मानना ही पड़ता है। झूठ, कपट, चोरी, अनाचार, हिंसा आदि पाप करनेमें उन्हें भय होता है। उनका चित्त सदा उन्हें इन दुष्कर्मोंसे रोकता है। जो लोग ईश्वरको नहीं मानते, उनमें सत्य आदि सद्गुण हो तो सकते हैं; पर उन सद्गुणोंका कोई आधार नहीं होता। फल यह होता है कि जब प्रलोभन आता है, उनके सद्गुण टिक नहीं पाते। ईश्वरको माननेसे जो एक अद्भुत आत्मबल मिलता है, उससे भी वे वञ्चित रह जाते हैं। ईश्वरको न माननेसे जीवनमें अचिन्त्य ईश्वरीय सहायताओंसे मनुष्य वञ्चित हो जाता है और परलोक तो उसका नष्ट हो ही जाता है। ये बहुत बड़ी हानियाँ हैं।

ईश्वर मिलता कैसे है ?

ईश्वर है और वह मिलता है, मिल सकता है, इस प्रकारका पूरा विश्वास ईश्वर-प्राप्तिके लिये सबसे पहले आवश्यक है। सत्य, सदाचार आदिका पालन करते हुए भगवान्‌के नामका अधिक-से-अधिक जप करना, भगवान्‌के मङ्गलमय रूपका ध्यान करना, भगवान्‌के अवतार-चरित तथा भगवद्भक्तोंके चरितोंको पढ़ना, सुनना और सोचना,

भगवान्‌का ध्यान, पूजन तथा कीर्तन करना, ये सब साधन हैं भगवान्‌को पानेके। सच्ची बात तो यह है कि भगवान् एकमात्र सच्चे प्रेमसे उत्पन्न हुई तीव्र व्याकुलता होनेपर ही मिलते हैं; किंतु सच्चा प्रेम निर्मल चित्तमें ही उदय होता है। चित्तकी निर्मलताके लिये सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सदाचारका पूरा पालन और भगवन्नामका अधिक-से-अधिक जप आवश्यक है। जब आचरणकी शुद्धि तथा जप, पूजन, कीर्तन आदिसे चित्त शुद्ध हो जाता है, तब उसमें अपने-आप भगवत्प्रेमका उदय होता है। तभी भगवान्‌को पानेके लिये तीव्र व्याकुलता जगती है और फिर दयामय भगवान् स्वयं कृपा करके उस भाग्यवान् भक्तके सामने अपने दिव्य सच्चिदानन्द स्वरूपको प्रकट कर देते हैं।

धर्म क्या है ?

जैसे अग्निका धर्म है उष्णता, वैसे ही जो विशेषता जिसका धारण करती है, वह उसका धर्म है। इस दृष्टिसे धर्म दो प्रकारका है, एक मनुष्य-धर्म या मानव-कर्तव्य और दूसरा जाति तथा वर्ण-धर्म। सत्य, अहिंसा, शौच, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, क्षमा, उदारता, सेवा आदि मनुष्यधर्म हैं। जो इनका पालन नहीं करता, वह तो 'मनुष्य' कहलाने योग्य ही नहीं है। इनके अतिरिक्त अपनी जाति, अपने समाज, अपने वर्णाश्रमका जो धर्म शास्त्रसे तथा परम्परासे माना जाता हो, वह पालन करनेयोग्य है। मनुष्य पहले मनुष्य है और पीछे किसी जाति या वर्णका है। इसलिये मनुष्य-धर्म तो सबको पालन करना ही चाहिये। यदि किसी जाति या समाजमें परम्परासे मनुष्य-धर्मके विपरीत कोई बात हो—जैसे चोरी करना, हिंसा करना आदि तो वह छोड़ देना चाहिये। मनुष्य-धर्मका पालन करते हुए जैसे ब्राह्मणोंका कर्तव्य यज्ञ कराना, दान लेना तथा देना आदि है, क्षत्रियका कर्तव्य दुखियोंकी रक्षा करना है, ब्रह्मचारीका कर्तव्य गुरुसेवा है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनोंका कर्तव्य सन्ध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, वेदाध्ययन, श्राद्ध, हवन, देवपूजन आदि है, इन सबका पालन करना चाहिये।

बालकोंका विशेष धर्म क्या है ?

बालकोंका विशेष धर्म है अध्ययन करना, गुरुजनोंका आदर करना और उनकी आज्ञा मानना, ब्रह्मचर्यका पालन करना तथा सात्त्विक भोजन, सादी वेश-भूषा, पवित्र अध्ययन, उत्तम सङ्गमें ही अपनेको सीमित रखना। बालकोंको किसी भी आन्दोलनमें पड़कर अपने अध्ययनमें बाधा नहीं देनी चाहिये। सिनेमा देखना, भड़कीला वेश रखना, चटपटा भोजन, गंदी पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिका पढ़ना, चाय-तंबाकू आदि नशीले पदार्थोंका सेवन, अश्लील हास-परिहास तथा उच्छृङ्खल लोगोंका सङ्ग बालकोंको एकदम छोड़ देना चाहिये। पूरा जीवन बाल्यकालपर ही निर्भर है। संयम, सदाचार तथा ब्रह्मचर्यका पालन करके शरीर और मनको जो स्वस्थ बनाये रक्खेगा, उसीका जीवन सफल और सुखी होगा। जो कुमारावस्थामें भोजन, रहन-सहन, सङ्ग तथा आचारके विषयमें ध्यान नहीं देता, उसका शरीर प्रायः रोगी हो जाता है और मनमें ऐसे कुसंस्कार जम जाते हैं कि वे जीवनभर पुरुषको अशान्त बनाये रहते हैं।

धर्मोंके कारण लड़ाई-झगड़े क्यों होते हैं ?

धर्मोंके कारण लड़ाई-झगड़े होते हैं, यह बात ही झूठी है। लड़ाई-झगड़े स्वार्थके कारण होते हैं। स्वार्थी लोग अपने स्वार्थको सिद्ध करनेके लिये झगड़े कराते हैं। जहाँ धर्मका नाम लेकर लड़नेमें उनका स्वार्थ होता है, वहाँ वे धर्मका नाम लेते हैं; जहाँ राजनीतिके सिद्धान्तोंका नाम लेनेसे उनका काम बनता है, वहाँ उनका नाम लेते हैं। जिन देशोंमें एक ही धर्म है, वहाँ भी लड़ाई-झगड़े होते हैं और बार-बार होते हैं, खूब भयङ्कर होते हैं। वहाँ लड़ाईके लिये कोई और बहाना स्वार्थी लोग बना लेते हैं। जो लोग लड़ते-झगड़ते हैं, वे धर्मका नाम चाहे जितना लें, पर वे धार्मिक नहीं होते। धर्मको मानने और पालन करनेवाला कभी अन्यायपूर्ण अत्याचार कर ही नहीं सकता। जो इस लोक और परलोक दोनोंमें मनुष्यका कल्याण करे, उसे धर्म कहते हैं। धर्मकी शिक्षा ही यह है कि मनुष्य अपना ही स्वार्थ न देखे। वह दूसरोंपर दया करे, दूसरोंकी सेवा करे और अपने कष्टको सहे, अपने अपराधियोंको क्षमा करे। संसारमें लड़ाइयाँ न हों, लोग झगड़ें नहीं, यह स्वार्थका त्याग करनेसे ही हो सकता है। धर्म मनुष्यको स्वार्थ-त्याग सिखलाता है। शान्तिका उपाय ही एकमात्र यह है कि लोग सच्चे धार्मिक बनें।

कौन-सा धर्म सबसे श्रेष्ठ है ?

कोई धर्म श्रेष्ठ है और दूसरे धर्म उससे हीन हैं, यह बात ही झूठी है। मनुष्यधर्म जो सत्य, दया, अहिंसा आदि हैं, वे तो सभी मनुष्योंके लिये समानरूपसे पालन करने योग्य हैं। सभी धर्म उनको महत्त्व देते हैं। इन मानव-धर्मोंके

अतिरिक्त जो बातें धर्मोंमें होती हैं, वे देश तथा समाजके भेदसे आचरणके सम्बन्धकी हैं। इनमें जो जिस देश तथा समाजमें उत्पन्न हुआ है, उसके लिये उसी देश तथा समाजका धर्म श्रेष्ठ है। दूसरेके धर्मकी निन्दा करके अपने धर्मकी प्रशंसा करना अज्ञान है। एक धर्मके व्यक्तिको भय या लोभसे दूसरे धर्ममें दीक्षित करनेका प्रयत्न भी स्वार्थके कारण ही होता है। सभी सच्चे धर्मोंका लक्ष्य है—भगवान्‌की प्राप्ति और संसारमें सदाचारपूर्ण जीवन बिताना। ऐसे सभी धर्म अपने-अपने स्थानपर ठीक हैं और श्रेष्ठ हैं।

नास्तिक किसे कहते हैं ?

जो परलोकको न माने अर्थात् मरनेके पश्चात् शरीरसे भिन्न कोई तत्त्व बच रहता है और उसे जीवित दशामें किये पाप-पुण्यका फल कभी-न-कभी भोगना पड़ता है, यह बात जो स्वीकार न करे, वह नास्तिक है। किसीके मानने-न-माननेसे सत्यमें अन्तर तो पड़ता नहीं; अतः नास्तिकके न माननेसे परलोक नहीं रहेगा, यह तो होनेसे रहा। जो परलोक नहीं मानता, उसे पाप-पुण्यका कोई भय नहीं है। वह चाहे जितना संयमी, सत्यवादी, सदाचारी हो; किंतु उसपर विश्वास नहीं किया जा सकता। उसकी स्वार्थवृत्ति किसी भी समय उसे विचलित कर सकती है और उस समय बड़े-से-बड़ा पाप वह बिना हिचके कर डालेगा। अपने पापोंका फल तो मरनेके पीछे उसे भी भोगना ही पड़ेगा। नास्तिकता आती है स्वाधीनताका लोभ देकर। धर्म और ईश्वरके बन्धनसे छूटनेका ऐसे लोग गर्व करते हैं। लेकिन इसका फल यह होता है कि वे अपने मन तथा इन्द्रियोंके पूरे दास हो जाते हैं। उच्छृङ्खल होकर प्रायः असंयम करते हैं और फिर उसका फल रोग तथा अशान्ति विवश होकर उन्हें भोगना पड़ता है। लाख सिर पटकनेपर भी वे रोग तथा अशान्ति भोगनेमें स्वतन्त्र नहीं हो सकते। ऐसे ही मरनेपर यमराजके दूतोंके फंदे और डंडे भी उनकी स्वाधीनताकी चिन्ता नहीं करते। सच्ची स्वतन्त्रता है—धर्म और ईश्वरको मानकर मन एवं इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लेना। मन तथा इन्द्रियोंका दास होना स्वाधीनता नहीं है। संयम, सत्य, सदाचार परलोक तथा भगवान्‌को मानकर ही टिक सकते हैं, यह बात कभी भूलनी नहीं चाहिये।

परलोक क्या है ?

परलोकके सम्बन्धमें अलग-अलग धर्मोंकी अलग-अलग धारणा है। इस दीखनेवाले देहके भीतर देहसे भिन्न कोई चेतन-तत्त्व है। स्वप्नकी दशामें जब शरीर चुपचाप पड़ा रहता है, उसीके सहारे मनुष्य नाना प्रकारके दृश्य देखता है। मृत्युके पश्चात् भी वह तत्त्व बचा रहता है। शरीरके नष्ट होनेसे वह नष्ट नहीं होता है। जीवित दशामें जो कुछ अच्छे-बुरे कर्म व्यक्तिने किये हैं, मृत्युके पश्चात् उसे उनका फल भोगना पड़ता है। इस फल भोगनेकी व्यवस्था जहाँ जिस प्रकार होती है, उसीको परलोक कहा जाता है।

पुनर्जन्म कैसे होता है ?

मनुष्य-जन्म ही कर्म करनेवाला जन्म है। इस मनुष्य-जन्ममें जो कर्म किये जाते हैं, उनका ही फल भोगनेके लिये देवता, पितर, पशु, पक्षी, कीड़े-मकोड़े, वृक्ष, बेल आदिका जन्म जीव लेता है। इसलिये दूसरे किसी जीवको अपने कर्मका कोई पाप या पुण्य नहीं होता। उसे कर्मका कोई फल-पीछे (दूसरे जन्ममें) नहीं भोगना पड़ता। मनुष्य एक क्षणमें ऐसा महान् पुण्य या इतना भारी पाप कर सकता है कि उसका फल भोगनेके लिये उसे लाखों जन्म लेने पड़ें। इसलिये जितने अच्छे-बुरे कर्म मनुष्य करता है, उन कर्मोंके संस्कार उसके चित्तमें एकत्र होते जाते हैं। जन्म-जन्मके जो संस्कार चित्तमें इकट्ठे हैं, उन्हींको 'संचित' कहते हैं। जो नवीन कर्म मनुष्य करता है, उसको 'क्रियमाण' कहा जाता है और वह भी संचितमें जाकर मिल जाता है। केवल बहुत बड़े पुण्य-कर्म या बहुत बड़े पाप-कर्म तथा विधिपूर्वक किये गये सकाम पूजन, यज्ञ, अनुष्ठान आदिके फलस्वरूप नवीन प्रारब्ध बनकर तुरंत फल देते हैं। शेष सब कर्मोंके फल अन्य जन्मोंमें भोगनेके लिये संचितमें एकत्र होते रहते हैं। जब मनुष्यके मरनेका समय आता है, तब उसकी जो अन्तिम इच्छा होती है, वह उसे दूसरे जन्ममें तुरंत भोगनेको मिलती है। लेकिन एक इच्छाका भोग कई प्रकारसे सम्भव है। जैसे कोई मिठाई खाना चाहे तो दूसरे जन्ममें हलवाई, चींटी, मक्खी या अन्य जीव हो सकता है। अन्तिम इच्छा पूरी हो जाय, इसे प्रधानता देकर उसके संचितमेंसे कुछ कर्मोंका समूह पृथक् होता है, जिससे उसे जन्म मिल सके। इस पृथक् हुए कर्मके समूहका नाम 'प्रारब्ध' है। उस समय यह प्रारब्ध एक ही नहीं बनता। एकके बाद दूसरे प्रारब्ध बनते जाते हैं जंजीरकी कड़ियोंकी भाँति। यह प्रारब्धोंकी जंजीर कितनी लंबी या छोटी होगी, यह उस जीवके संचित कर्मोंपर निर्भर

है। यह जंजीर वहाँ समाप्त होती है, जहाँ मनुष्य-जन्म मिलने योग्य 'प्रारब्ध' बन जाय। भगवान्‌की दया यहाँ ही स्पष्ट होती है। जितनी छोटी प्रारब्धोंकी जंजीर बन सके, जितनी जल्दी जीव मनुष्यका जन्म पा सके, ऐसी व्यवस्था भगवान् करते हैं। अब जीव उन प्रारब्धोंके अनुसार जन्म लेता है। एक प्रारब्धके पूरे सुख-दुःख भोगकर वह शरीर छोड़ देता है और फिर दूसरे प्रारब्धके अनुसार जन्म लेता है। इस प्रकार एकके बाद दूसरा जन्म लेते हुए अन्तमें वह मनुष्यका जन्म पाता है। मनुष्य-जन्ममें उसे माता-पिता, देश-जाति, कुल-धर्म, सुख-दुःख, यश-अयश आदि प्रारब्धके अनुसार मिलते हैं; किंतु वह कर्म करनेमें स्वतन्त्र होता है। अब यदि वह यहाँ अच्छे कर्म करे तो मरनेपर अच्छी गति पायेगा। बुरे कर्म करनेपर उसे नरकादिमें जाना होगा। यदि भगवान्‌का भजन करके भगवत्प्राप्ति कर ले तो फिर यह जन्म-मरणके चक्करसे सदाके लिये छूट जायगा।

ये स्वर्ग-नरक क्या हैं ?

परलोक और पुनर्जन्मको स्वीकार कर लेनेपर स्वर्ग-नरक तथा इन लोकोंके निवासियोंकी बात समझना कठिन नहीं है। संसारमें जितने भी प्राणधारी हैं, वे एक सीमातक ही सुख या दुःख भोग सकते हैं। सीमासे अधिक सुख सहसा मिलनेपर भी प्राणी मर जाता है। फिर इन्द्रियोंके द्वारा सुखका ग्रहण भी थोड़ा ही होता है। भोजनका स्वाद तभी-तक लिया जा सकता है, जबतक पेट न भर जाय। बराबर स्वादके पीछे पड़े तो शरीर रोगी हो जायगा और भोजन ही छोड़ना पड़ेगा। यही बात सभी सुखोंकी है। इसी प्रकार सीमासे दुःख अधिक हो जाय तो प्राणी मूर्च्छित हो जाता है और मर भी जाता है। जिस जीवके कर्म ऐसे हैं कि उसे बहुत अधिक सुख या बहुत अधिक दुःख मिलना चाहिये, उसे स्वर्ग या नरक जाना पड़ता है। स्वर्गमें 'भोग-देह' प्राप्त होता है। इस देहमें सीमातीत सुख भोगनेकी क्षमता होती है। ऐसे ही नरकमें 'यातना-देह' मिलता है। यह देह ऐसा होता है कि टुकड़े-टुकड़े काटनेपर भी फिर स्वयं एक बन जाता है। अग्निमें जलाने या खौलते तेलमें पकानेपर भी मरता नहीं। सीमातीत कष्ट भोग सकता है यह देह। इस प्रकार जब जीवके पुण्य या पाप इतने रह जाते हैं कि उनका फल सुख या दुःख किसी सांसारिक शरीरमें भोगा जा सके, तब वह पृथ्वीपर अपने कर्मोंके अनुसार कोई जन्म पाता है। पृथ्वीके सारे शरीर सुख या दुःख भोगनेके माध्यमिक साधन हैं और यहाँका जीवन सुख-दुःखसे मिला हुआ है। केवल सुख या केवल दुःख यहाँ कोई नहीं भोगता। सुखकी अधिकताका भोग स्वर्गमें और दुःखकी अधिकताका भोग नरकमें होता है।

देवता तथा प्रेत क्या सचमुच हैं ?

बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं जो केवल तर्कसे नहीं जानी जा सकतीं और इन्द्रियों तथा यन्त्रोंसे प्रमाणित भी नहीं होतीं। लेकिन देवताओं, प्रेतों तथा अन्य अलक्ष्य योनिके प्राणियोंके सम्बन्धमें इतनी घटनाएँ संसारमें होती रहती हैं कि जो सचाई जानना चाहेगा, उन्हें इनकी सत्ता तो माननी ही पड़ेगी। जैसे स्वर्ग और नरक इस पृथ्वीसे भिन्न लोक हैं और वहाँ पृथ्वीपर दीखनेवाले शरीरोंसे सर्वथा भिन्न अद्भुत देहोंमें जीवको रहना पड़ता है, वैसे ही पृथ्वीसे भिन्न अन्य लोक भी हैं। उन लोकोंमें भी अद्भुत देहके प्राणी रहते हैं। जैसे देवता स्वर्गमें रहते हैं और उनके साथ वहाँ उपदेव-जातिके गन्धर्वादि भी स्वर्गके एक विशेष स्तरमें रहते हैं। प्रेत आदि अन्तरिक्षमें रहते हैं। हमलोगोंके शरीरमें मिट्टीकी प्रधानता है। पृथ्वीके प्राणियोंके देह मिट्टीकी प्रधानता होनेसे स्थूल हैं और सदा प्रत्यक्ष रहते हैं। देवताओंका शरीर अग्नि-प्रधान और प्रेतोंका वायुतत्त्व-प्रधान होता है। इसीसे ये अलक्ष्य रहते हैं। जैसे अग्नि कभी बिजली आदिके रूपमें चमककर दीख जाती है, जैसे भाप बादल बननेपर दीखने लगती है, वैसे ही देवता या प्रेत अपनी इच्छासे अपने शरीरको घना करके मनुष्योंके सामने प्रकट कर सकते हैं। ये अलक्ष्य प्राणी संसारी प्राणियोंको सुख या दुःख दे सकते हैं, यह बात भी ठीक है; किंतु हैं ये भी जीव ही, अतः इनकी शक्ति भी सबकी एक-सी और असीम नहीं है। जैसे हमलोग देश, काल, परिस्थिति और शक्तिके अनुसार ही किसी काममें सफल या असफल होते हैं, वैसे ही ये भी सफल या असफल होते हैं। ये सबको न तो कष्ट देनेमें समर्थ हैं और न सबकी सभी इच्छाएँ पूरी करनेकी इनमें शक्ति है। अतएव इनसे डरनेकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है। यहीं यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि आजकल धूर्त लोगोंने स्वार्थवश देवताओं तथा प्रेतोंके नामपर दम्भ बहुत अधिक फैला रक्खा है। देवसिद्धि या प्रेतबाधा तथा प्रेतविद्याकी जितनी बातें सुनी जाती हैं, उनमें सौमें एक-आध ही सच होती है।

इसलिये आजकल ऐसी बातोंको सत्य मानकर किसीके द्वारा ठगे जानेका पूरा ही भय है। किसीको भी इन बातोंके फेरमें नहीं पड़ना चाहिये। भगवान्‌का भजन ही निर्दोष एवं निर्विघ्न है। भगवान् सर्वसमर्थ परम दयालु हैं। वे अपने भक्तकी सभी अभिलाषा पूर्ण करते हैं और जो भगवान्‌का भजन करता है, भूत-प्रेतादि किसीमें साहस नहीं कि उसकी ओर देख भी सके।

श्राद्धका क्या तात्पर्य है ?

'जीव अपने कर्मोंका फल भोगता है, मरनेके पश्चात् वह फिर जन्म ले लेता है, उसके लिये श्राद्ध करनेसे क्या लाभ ? श्राद्धके पदार्थ यहीं रह जाते हैं या ब्राह्मणके पेटमें जाते हैं, परलोकगत जीवको उनसे क्या मिला ?' आदि प्रश्न बातको बिना सोचे किये जाते हैं। संसारमें हम सबका जीवन ऐसा है कि एककी क्रियाका दूसरेपर कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता ही है। घरमें एक व्यक्ति भगवान्‌का भजन करे तो उससे थोड़ी-बहुत शान्ति सभीको मिलती है। एककी कमाईसे दूसरोंका भी काम चलता है। इसी प्रकार कर्ममें भी सम्बन्ध तथा आसक्तिके कारण फलका भाग प्राप्त होता है। पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी आदि परस्पर एक-दूसरेके कर्मोंके कुछ-न-कुछ फलभागी होते हैं। इसीसे जो मृत पुरुषकी सम्पत्तिके अधिकारी हैं, उसके सम्बन्धी हैं, उनके लिये उसका श्राद्ध करना कर्तव्य है। जीव इस मनुष्यशरीरको छोड़नेके बाद तुरंत स्थूल देहमें जन्म ले लेता हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। उसे स्वर्ग, नरक, पितृलोक, प्रेतयोनि आदिमें सहस्रों वर्ष भी रहना पड़ सकता है। इन योनियोंमें रहते समय यदि उसके सम्बन्धी उसके लिये श्राद्ध करते हैं, तो उसके फलस्वरूप उसे प्रत्यक्ष तृप्ति होती है। यदि उसने पृथ्वीपर कहीं जन्म ले लिया है, तो भी श्राद्धके फलसे उसे अनजानमें ही तृप्ति होती है। हम नहीं जानते कि हमारे पूर्वजोंने कब कहाँ जन्म ग्रहण किया, अथवा वे अभी पितृ-लोकादिमें हैं, उन्होंने जन्म ले लिया हो, तो भी श्राद्धके फलसे उन्हें तृप्ति तो होगी ही। अतः श्राद्ध तो करना ही चाहिये। श्राद्धसे पितरोंकी तृप्ति कैसे होती है, यह बात आप अपनी तृप्तिसे ही समझ लें। हम आप जो पदार्थ सेवन करते हैं, उन पदार्थोंका सब अंश हमारे इस स्थूल देहमें ही चला जाता है। वह इस स्थूल देहको ही पुष्ट करता है। हमको—हमारे चित्तको केवल तृप्ति मिलती है। जो महात्मा अपने स्थूल देहमें आसक्ति तथा ममता नहीं रखते, उन्हें कुछ भी खिला दीजिये, उन्हें इससे कोई तृप्ति नहीं मिलती। इसके साथ यह बात भी है कि हमें आपको कोई कुछ स्थूल पदार्थ दिये बिना उस पदार्थके पानेका संतोष नहीं दे सकता। मिठाई खाये बिना मिठाई खानेकी तृप्ति नहीं होगी। इससे यह नियम निकला कि जिसका जिस स्थूल देहमें ममत्व है, उसे उस स्थूल देहके द्वारा तुष्टि दी जा सकती है। स्थूल देहमें ही स्थूल पदार्थ रह जाते हैं, प्राणीको केवल तुष्टि मिलती है। परलोकगत प्राणीके पास स्थूल देह नहीं है, अतः स्थूल देहको पुष्ट करनेवाले तत्त्व उसे चाहिये ही नहीं। उसे तो स्थूल पदार्थसे मिलनेवाली तुष्टि चाहिये। मन्त्रोंकी शक्तिसे निमन्त्रित ब्राह्मणके शरीरमें परलोकगत प्राणी कुछ देरके लिये ममत्व कर पाता है, इससे ब्राह्मणको खिलाये पदार्थोंसे उस ब्राह्मणकी तुष्टिके साथ पितरकी तुष्टि भी होती है। यह वैसी ही तुष्टि है, जैसी हमें आपको पदार्थोंके भोजनसे मिलती है। पदार्थ तो हमारे-आपके भी इस नश्वर देहमें ही रह जाते हैं, जीवमें उनका कोई अंश नहीं जाता। इसी प्रकार वे ब्राह्मणके देहको पुष्ट करते हैं, इसमें तो कोई असंगति है नहीं।

पाप करनेवाले सुखी और कर्तव्यनिष्ठ दुखी क्यों देखे जाते हैं ?

'भगवान्‌की आराधना, देवपूजन, श्राद्ध-तर्पण तथा कर्तव्यका सावधानीसे पालन करनेवाले आजकल प्रायः दरिद्र और दुखी देखे जाते हैं और जो लोग झूठ, छल आदि नाना प्रकारके पाप करते हैं, संयम-सदाचारके एक भी नियमका पालन करते नहीं दीखते, वे धनवान्, स्वस्थ और सुखी हैं। ऐसा क्यों होता है ?' इस प्रकारकी जिज्ञासा स्वाभाविक है, लेकिन देखनेकी बात तो यह है कि क्या सभी झूठ, छल आदि करनेवाले, असंयमशील पुरुष धनी और सुखी ही हैं या उनमें भी दरिद्र, रोगी और दुखी हैं। यदि ऐसे भी लोग हैं कि सब छल, कपट, प्रपञ्च करके भी दर-दर भटकते हैं, कंगाल एवं दुखी हैं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि पाप तथा असंयमसे धन और सुख मिलता है। सच बात तो यह है कि हमारे मनमें यह प्रश्न प्रारब्ध तथा पुनर्जन्मको न माननेके कारण ही उठता है। मनुष्य अपने प्रारब्धका फल भोगता है और इस जन्ममें जो कुछ करता है, उसका फल उसे आगे भोगना पड़ता है। एक मजदूर सप्ताहभर श्रम करके मजदूरी पाता है, दूसरे सप्ताहभर वह बैठा

रहा । अब दूसरे सप्ताहमें पहला मजदूर काम-धाम तो करता नहीं, पर अपनी मजदूरीके पैसोंसे मौज उड़ाता है । दूसरा मजदूर अब पूरा श्रम करता है; पर जबतक सप्ताह पूरा न हो, मजदूरी मिलनेसे पहले उसे प्रायः भूखे रहना पड़ता है । जो लोग इन मजदूरोंके पहले सप्ताहका जीवन नहीं जानते, वे ही दूसरे सप्ताहका जीवन देखकर आक्षेप करते हैं कि मजदूरी करनेपर भूखों रहना पड़ता है । इसी प्रकार जो लोग सुख पा रहे हैं, वे अपने पूर्वजन्मके पुण्यका फल भोग रहे हैं । यदि वे इस समय पाप करते हैं तो अपने लिये आगे दुःखके साधन जुटा रहे हैं । वे तो दया करने योग्य हैं । जो कर्तव्यका पालन करते हैं, पूर्वजन्मोंके कर्मदोषसे भले उनको इस समय क्लेश भोगना पड़ता हो, पर वे ठीक मार्गपर हैं । उनका भविष्य उज्ज्वल है । वे प्रशंसनीय हैं ।

मनुष्यका जन्म प्राणीको बड़े सौभाग्यसे प्राप्त होता है । इस जीवनमें भी सबसे उत्तम अवस्था बाल्यकालकी ही है । इस अवस्थामें जीवनको जैसा बनाया जाय, वह उसी दिशामें चल पड़ता है । इस समयके संस्कार पूरे जीवनको प्रभावित करते हैं । अतः बहुत सोच-समझकर बालकोंको अपना जीवन-पथ चुनना चाहिये । संयम, सदाचारपूर्ण जीवन ही उन्हें सावधानीसे अपनाना चाहिये । शास्त्रोंपर तथा अपने स्वधर्मपर आस्था रखकर, कुसङ्ग तथा कुतर्कसे बचे रहकर ही वे अपने जीवनको सफल बना सकते हैं । सु०

बालकोंके उपयोगकी बातें

बहुत-सी छोटी-छोटी बातें होती हैं, जिनपर प्रारम्भमें ध्यान दिया जाय तो वे बहुत अधिक लाभ करती हैं और उनकी उपेक्षा कर दी जाय तो बहुत हानि होती है । पहले-पहले ध्यान देनेसे अनेक अच्छाइयाँ स्वभाव बन जाती हैं । उनके लिये कोई विशेष श्रम नहीं करना पड़ता; किंतु आरम्भमें ध्यान न दिया जाय तो स्वभाव उनके विपरीत बन जाता है । फिर बुरे स्वभावको बदलनेमें कठिनाई होती है । लेकिन अपनी भूलका जब पता लगे, तभीसे उसे दूर करने और अच्छा स्वभाव डालनेका पक्का निश्चय कर लेना चाहिये । जिसका निश्चय पक्का है, वह अवश्य सफल होगा । यदि प्रारम्भमें सफलता न मिले तो निराश नहीं होना चाहिये । बराबर श्रम करते ही रहना चाहिये ।

स्वास्थ्य, सम्मान और सुख-शान्ति—ये तीन मुख्य बातें हैं । हमारा शरीर स्वस्थ रहे, हमारी सब इन्द्रियाँ ठीक-ठीक काम करें, वे आगे चलकर दुर्बल न हो जायँ, हमें रोग न हों, यह स्वास्थ्यपर निर्भर है । सब लोग हमारा आदर करें, हमें कोई बुरा न कहे, हमारा तिरस्कार न हो । हमारे चित्तमें उद्वेग न आवे, मन चञ्चल न बना रहे और चित्त प्रसन्न रहे । ये तीनों बातें होनेपर ही जीवन पूर्ण होता है । कुछ थोड़ी बातोंके पालनका स्वभाव बना लिया जाय तो तीनों बातें अपने-आप आ जाती हैं । जो लोग तुच्छ समझकर इन नियमोंका पालन नहीं करते, उनके जीवनमें रोग, शोक, अपमान, अशान्तिके बड़े-बड़े कष्ट आते हैं और बड़ा भारी परिश्रम करके भी वे उन्हें दूर नहीं कर पाते ।

स्वास्थ्यके लिये

१—जो गुरुजनों (बड़ों) का आदर करता है, उनको नित्य प्रणाम करता है, उसके बल, आयु, विद्या और यशकी वृद्धि होती है । जो इसके विपरीत बड़ोंका आदर नहीं करता या उनका तिरस्कार करता है, उसके आयु, बल, विद्या और यशका नाश होता है ।

२—सोते समय सदा दक्षिण या पूर्व सिर करके सोओ । उत्तर और पश्चिम सिर करके सोनेसे आयु क्षीण होती है । इसी प्रकार दक्षिण मुख करके भोजन करनेसे भी आयुका ह्रास होता है ।

३—भजन, पूजन, भोजनादि उत्तम कर्म पूर्व या उत्तर मुख करके करना हितकारी है । केवल सायंकालीन सन्ध्या पश्चिम मुख करके की जाती है ।

४—स्वस्थ रहनेके लिये शरीरकी बाहरी और भीतरी स्वच्छता तथा नियमित व्यायाम आवश्यक है ।

(क) दाँतोंको नित्य दतुअन करके स्वच्छ रक्खो । मौलसिरीका दतुअन बहुत उत्तम है । दतुअन न हो तो मंजन करो । नित्य भली प्रकार स्नान करो । हाथ-पैर धोकर स्वच्छ रक्खो । नख बढ़े न रहें और उनमें मैल न रहे, इसका ध्यान रक्खो । वस्त्रोंको मैला मत रक्खो । अपने बर्तन तथा दूसरी उपयोगी वस्तुएँ और रहनेका स्थान स्वच्छ रक्खो । कूड़ा दूर फेंको और नालियोंको गंदा मत रहने दो । जल

छानकर पीओ। प्रातःकाल सूर्य उगनेसे पहले उठो। हाथ-मुँह धोकर एक गिलास जल पी लो।

(ख) पेट साफ रहे, इसका ध्यान रक्खो। जो वस्तुएँ सरलतासे न पच सकें, उन्हें मत खाओ। कब्ज होनेपर हरड़ या त्रिफला सोते समय खाकर गरम दूध या जल पी लो।

(ग) खुली वायुमें कुछ दूर रोज टहल आया करो। घरकी भूमि नम मत रहने दो। कुछ हल्का व्यायाम नियमपूर्वक करो।

५–मांस, मछली, अंडे, प्याज, लहसुन तथा बासी और सड़ा भोजन बुद्धिको निश्चय ही मलिन बनाता है और स्वास्थ्यका नाश करता है।

६–लाल मिर्च, खटाई, तेलके बने पदार्थ, बाजारकी पूड़ी-मिठाई और चाट स्वास्थ्यके लिये बहुत हानिकारक है।

७–तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट, चाय, काफी आदि सब प्रकारकी नशीली वस्तुएँ स्वास्थ्यको नष्ट करती हैं।

८–भोजन सात्त्विक, सुपाच्य तथा ऋतुके अनुकूल, स्वास्थ्यकारक होना चाहिये।

९–बहुत गरम भोजन, चाय तथा बहुत गरम दूध पीना अथवा बहुत ठंडा भोजन, बरफ या बरफ पड़े पदार्थ खाना पेटको तो खराब करता ही है, इससे दाँत शीघ्र गिर जाते हैं। सोडा वाटर, लेमन हर कहीं मत पीओ। वह जूठा तो होता ही है, स्वास्थ्य-नाशक भी होता है।

१०–यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारे दाँत सुदृढ़ रहें और पेट ठीक काम करे तो पान-तम्बाकू मत खाओ। भोजन जल्दी-जल्दी मत करो, भली प्रकार चबाकर खाओ। चाय, बरफ, चाट, बाजारू मिठाई और सब प्रकारके नशोंसे दूर रहो।

११–खड़े-खड़े भोजन करना, चलते-फिरते भोजन करना, भोजन करते समय बातें करना—ये हानिकर हैं। बैठकर मौन होकर प्रसन्नतासे भोजन करो।

१२–भोजन पवित्रता और शुद्धतासे बनाया जाय, शुद्ध और पवित्र होकर शुद्ध स्थानपर किया जाय। भोजन एकान्तमें करना चाहिये। उसपर चाहे जिसकी दृष्टि पड़ना हानि करता है।

१३–कुल्ला करके हाथ-पैर धोकर गीले पैरों भोजन करनेसे भोजन ठीक पचता है। भोजनके लिये या तो पालथी मारकर स्थिर बैठो या दाहिने हाथको दोनों घुटनोंके बीचमें रखकर भोजन करो।

१४–भोजनके बीच-बीचमें आवश्यक हो तो थोड़ा जल पी सकते हो, पर भोजन समाप्त करके तुरंत जल मत पीओ। आध घंटे बाद जल पीना उत्तम है।

१५–ग्रास इस प्रकार उठाओ कि पात्रसे भूमिपर या वस्त्रोंपर जूठन न गिरे।

१६–एक थाली या पत्तलमें कई लोगोंका खाना स्वास्थ्यके लिये हानिकर है। छोटे बच्चोंको भी परस्पर जूठा नहीं खाना चाहिये। किसीका जूठा मत खाओ और किसीको अपना जूठा मत दो।

१७–भोजन सदा दाहिने हाथसे करो। जलका बर्तन अपनी दाहिनी ओर रक्खो। बायीं ओर मत रक्खो।

१८–भोजनके पश्चात् भली प्रकार कुल्ला करके शुद्ध जलसे हाथ, मुख और पैर भी धो डालो। जिस जलको पिया है, उसी जलसे हाथ मत धोओ।

१९–एक बारका जूठा भोजन दुबारा कामका नहीं रहता। जूठा बच ही जाय तो उसे पशुओंको दे देना चाहिये।

२०–भोजनके पश्चात् हाथ धोकर गीले हाथ दोनों नेत्रोंपर फेर लेनेसे नेत्रोंकी ज्योति बढ़ती है।

२१–भोजनके समय शरीरपर कुर्ता-कमीज आदि नहीं होना चाहिये। शरीर खुला रहना चाहिये; किंतु केवल धोती पहनकर भी भोजन करना भी उत्तम नहीं। कंधेपर एक चद्दर या गमछा रखना चाहिये।

२२–कभी भी गीले हाथ छिड़को मत या धोतीमें मत पोंछो। हाथ-मुख स्वच्छ रूमाल या गमछेसे पोंछना चाहिये।

२३–जल सदा बैठकर और धीरे-धीरे पीओ। खड़े-खड़े जल मत पीओ।

२४–बिना देखे जल मत पीओ। पहले देख लो कि उसमें कुछ पड़ा तो नहीं है। इसी प्रकार बिना देखे इलायची, पान आदि मुखमें मत डालो और बिना देखे तथा बिना धोये फल मत खाओ।

२५–कहींसे चलकर आनेपर तुरंत जल मत पीओ, हाथ-पैर मत धोओ और न स्नान करो। इससे बड़ी हानि-का भय रहता है। पसीना सूख जाने दो। कम-से-कम पंद्रह मिनट विश्राम कर लो, तब पहले हाथ-पैर धोकर कुल्ला करके तब जल पीओ। प्राचीन प्रथा ऐसे समय आधा या पाव तोला गुड़-मिश्री या ऐसा ही कुछ खाकर जल-

पीनेकी है और यह स्वास्थ्यके लिये बहुत उत्तम है।

२६—व्यायाम करके, मार्ग चलकर आनेपर तुरंत भोजन मत करो और न तो भोजन करके तुरंत परिश्रमका कोई काम करो। दौड़ना या कोई श्रमका काम करना हो तो भोजन करने और भोजनके पीछे उसमें आधे घंटेका अन्तर पड़ना चाहिये।

२७—दूध विश्राम करनेसे पचता है। दूध पीकर मार्गमें चलना या परिश्रम करना हानिकारक है।

२८—स्नानके समय पहले सिर धो डालो और तब जलमें प्रवेश करो या शरीरपर जल डालो, इससे सिरके रोग नहीं होंगे।

२९—सप्ताहमें बाल बनवानेका बुधवार ही उत्तम दिन है। सोमवार, बुधवार और शनिवार शरीरमें तेल लगानेके लिये उत्तम दिन हैं। यदि तुम्हें ग्रहोंके अनिष्टकर प्रभावसे बचे रहना है तो इन्हीं दिनोंमें तेल लगाना चाहिये।

३०—यदि चाहते हो कि तुम्हारे नेत्रोंकी शक्ति क्षीण न हो तो इन नियमोंका पालन करना मत भूलो—

(क) प्रातः-सायं भगवान् सूर्यको अर्घ्य अवश्य देना चाहिये। उगते तथा अस्त होते सूर्यको खुले नेत्रोंसे देखना हानिकारक है; किंतु नेत्र बंद करके उनकी ओर मुख किये रहना नेत्र-ज्योतिको बढ़ाता है।

(ख) तेल लगाते समय पहले नाभिको और हाथ-पैरकी अँगुलियोंके नखोंको भली प्रकार तेल लगा दिया करो।

(ग) मुखमें जल भरकर नित्य प्रातःकाल स्वच्छ, शीतल जलके छींटे मारकर नेत्र धो लिया करो।

(घ) पैरोंको यथासम्भव खुला रक्खो। गरमियोंमें मोजे आदिसे मत ढको और कुछ समय प्रातःकाल हरी घासपर नंगे पैर टहलो।

३१—बहुत कसे हुए कपड़े पहनना स्वास्थ्यके लिये अच्छा नहीं है। आवश्यकता न होनेपर केवल 'फैशन' के लिये शरीरपर कपड़े लादे रहना हानिकारक है।

३२—मुख ढककर कभी मत सोओ। कमरेको चारों ओरसे बंद करके या कमरेमें अँगीठी जलाकर भी मत सोओ। मुख खुला रक्खो और कमरेमें वायुके आने-जानेका मार्ग रहने दो। पुरानी प्रथा है, सोते समय कमरेमें एक घड़ा जल खुले मुख रखनेकी। यह जल सबेरे फेंक देना चाहिये। यह प्रथा बहुत उत्तम है।

३३—श्वास सदा नाकसे ही लो। मुख खुला मत रक्खो। मुख खुला रखना दुर्बल चरित्रका चिह्न तो है ही, इससे फेंफड़े खराब होते हैं।

३४—नाकमें बार-बार अँगुली मत डालो। नाक साफ करके हाथ तथा नाक धोती या कुर्तेके छोरसे मत पोंछो। हाथ रूमालसे पोंछो।

३५—शौच जाकर हाथ सदा मिट्टीसे मलकर, धोकर शुद्ध करो। गंदी मिट्टी काममें मत लो। अच्छी शुद्ध मिट्टी लो।

३६—शौच या लघुशंका जाकर हाथके साथ पैर भी अवश्य धोना चाहिये।

३७—शौच या लघुशंका बैठते समय पहले बैठनेके स्थलको देख लो। वहाँ चींटियाँ या दीमक आदि कीड़े न हों। वह स्थान ऐसा न हो कि लघुशंकाका प्रवाह तुम्हारे जूतोंको गंदा कर दे। वस्त्र भलीप्रकार समेट लो। शौचके समय जलका पात्र ठीक सामने मत रक्खो। एक बगल कुछ दूर रक्खो, जिसमें उसपर लघुशङ्काके छींटे या उसका प्रवाह न पहुँचे।

३८—सन्ध्या करनेसे बचा, पैर धोनेसे बचा, स्नान करनेसे बचा, एक बार पीनेसे बचा और शौचसे बचा जल अपवित्र होता है। इन्हें फेंक देना चाहिये। किसी काममें इन्हें नहीं लेना चाहिये।

३९—किसीके पहिने कपड़े या जूते मत पहिनो और न नीलामके कपड़े आदि लो। इससे अनेक प्रकारके रोग होनेकी सम्भावना रहती है। दूसरेके अंगोछेसे शरीर मत पोंछो।

४०—सोनेसे पहले पैर धोकर भली प्रकार पोंछकर सोनेसे नींद अच्छी आती है; परंतु गीले पैर सोना हानि करता है।

४१—सूर्योदयके पश्चात्तक सोते रहनेवालोंका तेज, बल, आयु एवं लक्ष्मी नष्ट हो जाती है। ब्राह्ममुहूर्तमें ही निद्रा त्यागनेवाले उत्तम स्वास्थ्य एवं सुखी जीवन प्राप्त करते हैं।

४२—रात्रिमें देरतक मत जगो। जल्दी सो जाओ और ब्राह्ममुहूर्तमें जग जाओ।

४३—सदा करवट सोओ। पेट या पीठके बल सोनेका स्वभाव हानिकारक है।

४४—बिस्तर समान और कड़ा होगा तो पाचन क्रिया ठीक होगी। कोमल बिस्तर स्वास्थ्यके लिये प्रतिकूल है।

४५—सिनेमा देखना नेत्रज्योतिको नष्ट करता है तथा

उसमें और भी बहुत-से भयानक दोष हैं। नेत्रोंकी रक्षाके लिये तेज प्रकाशमें नहीं पढ़ना चाहिये। इस प्रकार नहीं पढ़ना चाहिये कि प्रकाश सीधे पुस्तकके पृष्ठोंपर पड़े। लेटे-लेटे भी नहीं पढ़ना चाहिये और न झुककर या पुस्तकको नेत्रोंके बहुत पास करके पढ़ना चाहिये। बहुत कम प्रकाशमें पढ़ना भी हानिकारक है।

४६—यदि तुम तन-मनसे स्वस्थ रहना चाहते हो तो तुम्हें सिनेमा कभी नहीं देखना चाहिये, स्त्रियोंसे हँसी-दिल्लगी नहीं करनी चाहिये। उनके नंगे चित्र नहीं देखना चाहिये और न गंदे पत्र-पत्रिका तथा पुस्तकें पढ़नी चाहिये। इन उत्तेजना देनेवाले साधनोंसे ऐसे अनेक रोग हो जाते हैं, जो पीछे बहुत चिकित्सा करनेसे भी दूर नहीं होते।

४७—सायकिलकी सवारी स्वास्थ्यके लिये बहुत लाभदायक नहीं है।

४८—ऊँची एड़ीके या तंग पंजोंके जूते स्वास्थ्यको हानि पहुँचाते हैं।

४९—पाउडर, स्नो आदि त्वचाके स्वाभाविक सौन्दर्यको नष्ट करके उसे रूक्ष एवं कुरूप कर देते हैं।

५०—जितना सादा भोजन, सादा रहन-सहन रक्खोगे, उतने ही स्वस्थ रहोगे। फैशनकी वस्तुओंका जितना उपयोग करोगे या जिह्वाके स्वादमें जितना फँसोगे, स्वास्थ्य उतना ही दुर्बल होता जायगा।

सम्मानके लिये

१—यदि चाहते हो कि अच्छे लोग तुमसे घृणा न करें, तुम्हारा आदर करें तो शिष्टाचारके नियमोंका सावधानीसे पालन करो।

२—सदा सबका सम्मान करो, किसीका कभी अपमान या तिरस्कार न करो, सबसे मीठी वाणी बोलो। अपनेसे उम्र, पद या अधिकारमें जो छोटे हों, उनके साथ व्यवहार करनेमें उनके सम्मानका विशेष खयाल रक्खो।

३—सदा सत्य बोलो। झूठ बोलनेवालेका लोग विश्वास नहीं करते और उसका तिरस्कार होता है।

४—कोई बात बिना समझे मत बोलो। जब तुम्हें किसी बातकी सचाईका पूरा पता हो, तभी उसे कहो।

५—अपनी बातके पक्के रहो। जिसे जो वचन दो, उसे पूरा करो। जिसे जब मिलनेको कहो या जो काम जब करनेको कहो, उसे उसी समय करो, उसमें विलम्ब मत करो।

६—व्यवहारमें स्पष्ट रहो। जो काम तुमसे नहीं हो सकता, उसे करनेका वचन मत दो। नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दो।

७—प्रत्येक काम पूरी सावधानीसे करो। किसी कामको छोटा समझकर उसकी उपेक्षा मत करो।

८—प्रत्येक काम ठीक समयपर करो। एक कामके समय उसे टालकर दूसरे काममें मत लगो। पढ़नेके समय पढ़ो, खेलनेके समय खेलो, काम करनेके समय काम करो। नियत समयपर काम करनेका स्वभाव हो जानेपर कठिन काम भी सरल बन जायँगे।

९—दूसरोंमें जो अच्छी बातें हों, उन्हें सीखो; किंतु किसीके दोषका अनुकरण मत करो और न किसीकी निन्दा करो।

१०—उत्तेजना और क्रोधको वशमें रक्खो। जब तुम्हें क्रोध आवे या तुम किसी बातपर उत्तेजित हो उठो, तब उस समय बोलना बंद कर दो। एकान्तमें दस मिनट बैठो और एक ग्लास शीतल जल पीओ। जब चित्त शान्त हो जाय, तब विचारपूर्वक काम करो।

११—पढ़नेमें मन लगाओ। विद्याप्राप्तिके लिये पूरा यत्न करो। जो कुछ ज्ञानार्जन कर लोगे, वही जीवनमें सफलता तथा सम्मान देगा। ऐसा कोई काम मत करो जो अध्ययनमें बाधा दे। केवल परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके लिये मत पढ़ो। ज्ञानकी वृद्धिके लिये पूरी पढ़ाई करो।

१२—उत्तम ग्रन्थोंका (रामायण, गीता, भागवत आदिका) नियमित रूपसे नित्य पाठ करो और उत्तम ग्रन्थोंका यथाशक्य स्वाध्याय करो।

१३—मिलने-जुलने, खेल-कूद तथा मनबहलावके दूसरे कामोंमें दिनके दो घंटेसे अधिक समय मत लगाओ। पढ़नेमें पूरा समय दो और केवल रटो मत। जो कुछ पढ़ो, उसे समझनेकी चेष्टा करो।

१४—जो तुमसे श्रेष्ठ हैं, उनसे पूछनेमें संकोच मत करो।

१५—बातचीत करना भी एक कला है। व्यर्थकी बातें मत करो। दूसरोंको क्या सुनना पसंद होगा, उनकी उत्सुकता किसमें है, यह समझकर बोलना चाहिये। दूसरोंकी बात धैर्यसे सुननी चाहिये। अपनी ही बात कहते रहनेवालेसे लोग ऊब जाते हैं।

१६—धर्म, देवता, संयम, शास्त्र और सदाचारका सम्मान करो। इनकी हँसी मत उड़ाओ।

१७—नम्र, विनयी और शान्त रहो । उद्धत, उच्छृङ्खल और चञ्चल मत बनो । सबके साथ प्रेमका बर्ताव करो, सत्यभाषण करो और जहाँतक अपनेसे बने दूसरोंके हितके लिये प्रयत्न करो । अपना स्वार्थ छोड़कर भी दूसरेकी भलाई करना उत्तम आदर्श है ।

१८—तुम जैसे लोगोंके साथ उठो-बैठोगे, खेलोगे, घूमो-फिरोगे, लोग तुम्हें भी वैसा ही समझेंगे । इसलिये बुरे लोगोंका साथ सर्वथा छोड़ दो । अच्छे लोगोंके साथ ही रहो । जो लोग बुरे कहे जाते हैं, तुम्हें उनमें दोष न भी दीखे, तब भी उनका साथ मत करो ।

१९—शौकीनी तथा फैशनके वस्त्र, तीव्र सुगन्धिके तेल या सेंटका उपयोग करनेवालों, सदा सजे-बजे रहनेवालोंको अच्छे लोग 'आवारा' समझते हैं । तुम्हें अपना रहन-सहन, वेश-भूषा सादगीसे युक्त रखना चाहिये । सिनेमाकी अभिनेत्री तथा अभिनेताओंके चित्र छपे हुए अथवा उनके नामके वस्त्रोंको कभी मत पहनो । इससे बुरे संस्कारोंसे बचोगे ।

२०—अपने छोटे भाई-बहिनोंसे प्रेम करो । उनकी भूलोंको क्षमा करो । वे तुम्हारा कुछ बिगाड़ भी दें तो उनपर क्रोध मत करो । अपने मित्रोंसे भी ऐसा ही व्यवहार करो ।

२१—अनेक बार तुम्हारे माता-पिता तुम्हारी माँग, जो तुम्हें उचित जान पड़ती है, पूरी नहीं करते । वे अनेक बार तुम्हें निरपराध ही डाँटते या दण्ड देते हैं । ऐसे अवसरोंपर भी तुम्हें शान्त रहना चाहिये । किसी वस्तुके लिये हठ नहीं करना चाहिये । तुम्हारे माता-पिता सम्भव है परिस्थितिवश तुम्हारी माँग पूरी न कर पाते हों । तुम्हें डाँटने या दण्ड देनेमें उनका पूरा सद्भाव है । जब उन्हें अपनी भूलका पता लगेगा, तब वे तुम्हारा बहुत आदर करेंगे और तुमसे उनका प्रेम अधिक बढ़ जायगा । तुम उनकी बातका बुरा मत मानो और न उनको उलटकर उत्तर दो ।

कभी 'शेखी' मत मारो । अपने मुख अपनी प्रशंसा करना तुच्छताका चिह्न है ।

सुख और शान्तिके लिये

१—प्रातःकाल निद्रा खुलते ही भगवान्‌का अवश्य-अवश्य स्मरण करो और रातको सोते समय भी भगवान्‌का स्मरण करके भगवन्नाम लेते हुए सो जाओ । इससे तुम्हें बुरे सपने कभी नहीं आयेंगे और चित्त प्रसन्न रहेगा ।

२—नियमितरूपसे नित्य भगवान्‌की प्रार्थना करो । प्रार्थनाके समान मनोबल और किसी उपायसे प्राप्त नहीं होता ।

३—किसी भगवन्नामके जपकी एक संख्या निश्चित कर लो । उतना जप नित्य अवश्य करो । जपके समान बुद्धिको शुद्ध और तीव्र करनेवाली दूसरी कोई ओषधि संसारमें नहीं है । यज्ञोपवीतधारी द्विज हो तो सन्ध्या तथा गायत्री-जप अवश्य करो ।

४—देवताओंमें श्रद्धा रक्खो और जब किसी देवस्थानके सामनेसे निकलो, देवताको अवश्य मस्तक झुकाकर प्रणाम करो । देवताओंकी कृपासे मन प्रसन्न रहता है ।

५—सदा संतुष्ट रहो । जो कुछ भोजन, वस्त्र या दूसरी वस्तुएँ तुम्हें मिलती हैं, उनको पाकर संतुष्ट और प्रसन्न रहो । दूसरोंकी वस्तुओंको देखकर ललचाओ मत ।

६—तुम्हारी कोई वस्तु नष्ट भी हो जाय तो दुःख या क्रोध मत करो । वह वस्तु कभी-न-कभी तो नष्ट होती ही । बुद्धिमान् बालक सदा संतुष्ट रहते हैं ।

७—सदा प्रसन्न बने रहो । कष्टमें, रोगमें भी अपनेको प्रसन्न रक्खो । कष्ट तो जो हो रहा है, वह होगा ही; किंतु मनको दुखी करनेसे मनकी व्यथा और बढ़ जायगी । यदि तुम चित्तको प्रसन्न रक्खोगे तो कष्टकी पीड़ा तुम्हें तुच्छ जान पड़ेगी ।

८—किसीके अपराध करनेपर भी क्रोध मत करो । उसे क्षमा कर दो ।

९—बड़ोंकी आज्ञाका पालन करो । सदाचारपूर्वक रहो और भगवान्‌की असीम कृपा तुमपर है, इस बातपर पूरा विश्वास रक्खो । सु०

सार

तन मन धन सों कीजिए निसिदिन पर उपकार ।
यही सार नर देह में बाद बिबाद बिसार ॥
तन पवित्र सेवा किए धन पवित्र कर दान ।
मन पवित्र हरि भजन कर होत त्रिबिध कल्यान ॥

शिष्टाचार

एक व्यक्ति दूसरेके साथ जो सभ्यतापूर्ण व्यवहार करता है, उसे शिष्टाचार कहते हैं। यह व्यवहार ऐसा होना चाहिये कि अपने रहन-सहन तथा वचनोंसे दूसरोंको कष्ट या असुविधा न हो। शिष्टाचार दिखावटी नहीं होना चाहिये, वह सच्चा होना चाहिये। शिष्टाचार सदाचारका एक अङ्ग है। प्रत्येक देश एवं समाजके शिष्टाचारके नियम कुछ पृथक्-पृथक् होते हैं। बचपनमें ही इन नियमोंको जान लेना चाहिये और इनके पालनका स्वभाव बना लेना चाहिये।

शिष्टाचारके दो मुख्य भाग हैं—एक अपने शरीर, वस्त्र, चलने-फिरने, खाने-पीने, उठने-बैठने आदिसे सम्बन्धित और दूसरा, दूसरे व्यक्तियोंसे व्यवहार, बात-चीत आदिसे सम्बन्धित। जैसे ही बच्चा कुछ समझने योग्य होता है, उसे इन नियमोंके पालनका अभ्यस्त बनाना चाहिये।

बड़ोंको अभिवादन

१—बड़ोंको कभी 'तुम' मत कहो, उन्हें 'आप' कहो और अपने लिये 'हम'का प्रयोग मत करो, 'मैं' कहो।

२—जो गुरुजन घरमें हैं, उन्हें सबेरे उठते ही प्रणाम करो। अपनेसे बड़े लोग जब पहले मिलें, जब उनसे भेंट हो, प्रणाम करना चाहिये।

३—जहाँ दीपक जलानेपर या मन्दिरमें आरती होनेपर सायंकाल प्रणाम करनेकी प्रथा हो, वहाँ उस समय भी प्रणाम करना चाहिये।

४—जब किसी नवीन व्यक्तिसे परिचय कराया जाय, तब उन्हें प्रणाम करना चाहिये। पान-इलायची या पुरस्कार जब कोई दे, तब उस समय भी उसे प्रणाम करना चाहिये।

५—गुरुजनोंको पत्र-व्यवहारमें भी प्रणाम लिखना चाहिये।

६—प्रणाम करते समय हाथमें कोई वस्तु हो तो उसे बगलमें दबाकर या एक ओर रखकर प्रणाम करना चाहिये।

७—चिल्लाकर या पीछेसे प्रणाम नहीं करना चाहिये। सामने जाकर शान्तिसे प्रणाम करना चाहिये।

८—प्रणामकी उत्तम रीति दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाना है। जिस समाजमें प्रणामके समय जो कहनेकी प्रथा हो, उसी शब्दका व्यवहार करना चाहिये। महात्माओं तथा साधु-संतोंके चरण छूनेकी प्राचीन प्रथा है।

९—जब कोई भोजन कर रहा हो, स्नान कर रहा हो, बाल बनवा रहा हो, शौच जाकर हाथ न धोये हो तो उस समय उसे प्रणाम नहीं करना चाहिये। उसके इन कार्योंसे निवृत्त होनेपर प्रणाम करना चाहिये।

बड़ोंका अनुगमन

१—अपनेसे बड़ा कोई पुकारे तो 'क्या' 'ऐं' 'हाँ' नहीं कहना चाहिये। 'जी हाँ' 'जी' अथवा 'आज्ञा' कहकर बोलो।

२—लोगोंको बुलाने, पत्र लिखने या उनकी चर्चा करनेमें उनके नामके आगे 'श्री' और अन्तमें 'जी' अवश्य लगाओ। इसके अतिरिक्त 'पण्डित' 'सेठ', 'बाबू', 'लाला' आदि यदि उपाधि हो तो उसे भी लगाओ।

३—अपनेसे बड़ोंकी ओर पीठ करके मत बैठो। उनके सामने पैर फैलाकर भी मत बैठो। उनकी ओर पैर करके मत सोओ।

४—मार्गमें जब गुरुजनोंके साथ चलना हो तो उनके आगे या बराबर मत चलो। उनके पीछे चलो। उनके पास कुछ सामान हो तो आग्रह करके उसे स्वयं ले लो। कहीं दरवाजेमेंसे जाना हो तो पहले बड़ोंको जाने दो। द्वार बंद हो तो आगे बढ़कर खोल दो और आवश्यकता हो तो भीतर प्रकाश कर दो। यदि द्वारपर पर्दा हो तो उसे तबतक उठाये रहो, जबतक वे अंदर न चले जायँ।

५—सवारीपर बैठते समय बड़ोंको पहले बैठने देना चाहिये। कहीं भी बड़ोंके आनेपर बैठे हो तो खड़े हो जाओ और उनके बैठ जानेपर बैठो। उनसे ऊँचे आसनपर तो बैठो ही मत। बराबर भी मत बैठो। नीचे बैठनेको जगह हो तो नीचे बैठो। स्वयं सवारीपर हो या ऊँचे चबूतरे आदि स्थानपर और बड़ोंसे बात करना हो तो नीचे उतर कर बात करो। वे खड़े हों तो उनसे बैठे-बैठे बात मत करो, खड़े होकर बात करो। चारपाई आदिपर बड़ोंको तथा अतिथियोंको सिरहानेकी ओर बैठाना चाहिये। मोटर-घोड़ा-गाड़ी आदि सवारियोंमें बराबर बैठना ही हो तो बड़ोंकी बायीं ओर बैठना चाहिये।

६—जब कोई आदरणीय व्यक्ति अपने यहाँ आवें, तब कुछ दूर आगे बढ़कर उनका स्वागत करना चाहिये और जब वे जाने लगें, तब सवारीतक या द्वारतक उन्हें पहुँचाना चाहिये।

७–गुरु, स्वामी आदिके आसनपर उनकी अनुपस्थिति-में भी नहीं बैठना चाहिये ।

८–यदि मार्गमें चलते समय छाता एक ही हो तो उसे अपने हाथमें ले लो और इस प्रकार उन्हें लगाये रहो कि उसकी ताड़ियाँ उन्हें न लगें ।

९–कोई सम्मानित व्यक्ति अपने यहाँ आवें तो 'आइये' नहीं कहना चाहिये । उनसे 'पधारिये' कहना चाहिये ।

छोटोंके प्रति

१–बच्चोंको, नौकरोंको अथवा किसीको भी 'तू' मत कहो । 'तुम' या 'आप' कहकर बोलो ।

२–जब कोई तुम्हें प्रणाम करे, तब उसके प्रणामका उत्तर प्रणाम करके, आशीर्वाद देकर या जैसे उचित हो, अवश्य दो ।

३–बच्चोंको चूमो मत । यह स्वास्थ्यके लिये भी हानिकारक है । भारतकी स्नेह प्रकट करनेकी पुरानी रीति है मस्तक सूँघ लेना और यही उत्तम रीति है ।

४–नौकरको भी भोजन तथा विश्रामके लिये उचित समय दो । बीमारी आदिमें उसकी सुविधाका ध्यान रक्खो । वह भोजन, स्नानमें लगा हो तो पुकारो मत । किसीको भी कभी नीच मत समझो ।

५–तुम्हारे जानेसे, तुमसे जो छोटे हैं, उन्हें असुविधा न हो—यह ध्यान रखना चाहिये । छोटोंके आग्रह करनेपर भी उनसे अपनी सेवाका काम कम-से-कम लेना चाहिये ।

स्त्रियोंके प्रति

१–अपनेसे बड़ी स्त्रियोंको माता, बराबरवालीको बहिन तथा छोटीको कन्या समझो ।

२–बिना जान-पहचानकी स्त्रीसे कभी बात करनी ही पड़े तो दृष्टि नीचे करके बात करनी चाहिये । स्त्रियोंको घूरना, उनसे हँसी करना, उनके प्रति इशारे करना या उन-को छूना असभ्यता है, पाप भी है ।

३–घरके जिस भागमें स्त्रियाँ रहती हों, वहाँ बिना सूचना दिये नहीं जाना चाहिये । जिस मार्गमे स्त्रियाँ ही जाती हों, उधरसे नहीं जाना चाहिये । जहाँ स्त्रियाँ स्नान करती हों, वहाँ नहीं जाना चाहिये । जिस कमरेमें कोई स्त्री अकेली हो, सोयी हो, कपड़े पहिन रही हो, अपरिचित हो, भोजन कर रही हो, पर्दा करनेवाली हो, उसमें भी नहीं जाना चाहिये ।

४–गाड़ी, नाव आदिमें स्त्रियोंको बैठाकर तब बैठना चाहिये । कहीं सवारीमें या अन्यत्र स्थानकी कमी हो और कोई स्त्री आ जाय तो उठकर उसके बैठनेके लिये स्थान खाली कर देना चाहिये ।

५–नंगी स्त्रियोंको या उनके चित्रको देखना बहुत बुरा है । न तो स्त्रियोंके सामने अपर्याप्त वस्त्रोंमें स्नान करना चाहिये और न उनसे स्त्री-पुरुषके गुप्त रोगोंकी चर्चा करनी चाहिये ।

यही बातें स्त्रियोंके लिये भी हैं । विशेषतः उन्हें खिड़कियों या दरवाजोंमें खड़े होकर झाँकते नहीं रहना चाहिये और न गहने पहनकर या इस प्रकार सजधज कर निकलना चाहिये कि लोगोंका ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो ।

सर्वसाधारणके प्रति

१–यदि किसीके अंग ठीक नहीं—कोई काना, कुबड़ा, लँगड़ा या कुरूप है अथवा किसीमें तुतलाने आदिका कोई स्वभाव है तो उसे चिढ़ाओ मत । उसकी नकल मत करो । कोई स्वयं गिर पड़े या उसकी कोई वस्तु गिर जाय, किसीसे कोई भूल हो जाय, तो हँसकर उसे दुखी मन करो । यदि कोई दूसरे प्रान्तका तुम्हारे रहन-सहनमें, बोलनेके ढंगमें भूल करता है, तो उसकी हँसी मत उड़ाओ ।

२–कोई रास्ता पूछे तो उसे समझाकर बताओ और सम्भव हो तो कुछ दूरतक जाकर मार्ग दिखा आओ । कोई चिट्ठी या तार पढ़वाये तो रुककर पढ़ दो । किसीका भार उससे न उठता हो तो उसके बिना कहे ही उठवा दो । कोई गिर पड़े तो उसे सहायता देकर उठा दो । जिसे जैसी भी सहायता कर सकते हो, उसे अवश्य करो । किसीकी उपेक्षा मत करो ।

३–अंधोंको अंधा कहनेके बदले 'सूरदास' कहना चाहिये । इसी प्रकार किसीमें कोई अङ्ग-दोष हो तो उसे चिढ़ाना नहीं चाहिये । उसे इस प्रकार बुलाना या पुकारना चाहिये कि उसको बुरा न लगे ।

४–किसी भी देश या जातिके झंडे, राष्ट्रिय गान, धर्म-ग्रन्थ अथवा सम्मान्य महापुरुषोंका अपमान कभी मत करो । उनके प्रति आदर प्रकट करो । किसी धर्मपर आक्षेप मत करो ।

५–सोये हुए व्यक्तिको जगाना हो तो बहुत धीरेसे जगाना चाहिये ।

६–किसीसे झगड़ा मत करो । कोई बहसमें अपने

मतपर हठ करे तो उसकी बातें तुम्हें ठीक न लगे तब भी उसका खण्डन करनेका हठ मत करो ।

७–मित्रों, पड़ोसियों, परिचितोंको 'भाई' 'चाचा' आदि उचित सम्बोधनोंसे पुकारो ।

८–दो व्यक्ति झगड़ रहे हों तो उनके झगड़ेको बढ़ानेका प्रयत्न मत करो । दो व्यक्ति परस्पर बातें कर रहे हों तो वहाँ मत जाओ और न छिपकर उनकी बात सुननेका प्रयत्न करो । दो आदमी बैठे या खड़े बात करते हों तो उनके बीचमेंसे मत जाओ ।

९–'आपने हमें पहचाना ?' ऐसे प्रश्न करके दूसरोंकी परीक्षा मत करो । आवश्यकता न हो तो किसीका नाम-गाँव परिचय मत पूछो और कोई कहीं जा रहा हो तो 'कहाँ जाते हो ?' यह भी मत पूछो ।

१०–किसीका पत्र मत पढ़ो और न किसीकी कोई गुप्त बात जाननेका प्रयत्न करो ।

११–किसीकी निन्दा या चुगली मत करो । दूसरोंका कोई दोष तुम्हें ज्ञात भी हो जाय तो उसे किसीसे कहो मत । किसीने तुमसे दूसरेकी निन्दा की हो तो निन्दकका नाम मत बतलाओ ।

१२–बिना आवश्यकताके किसीकी जाति, आमदनी, वेतन मत पूछो ।

१३–कोई अपना परिचित बीमार हो जाय तो उसके पास कई बार जाना चाहिये । वहाँ उतनी ही देर ठहरना चाहिये जिसमें उसे या उसके आस-पासके लोगोंको कष्ट न हो । उसके रोगकी गम्भीरताकी चर्चा वहाँ नहीं करनी चाहिये और न बिना पूछे औषध बताने लगना चाहिये ।

१४–अपने यहाँ कोई मृत्यु या दुर्घटना हो जाय तो बहुत चिल्लाकर शोक नहीं प्रकट करना चाहिये । किसी परिचित या पड़ोसीके यहाँ मृत्यु या दुर्घटना हो जाय तो वहाँ अवश्य जाकर आश्वासन देना चाहिये ।

१५–किसीके घर जाओ तो उसकी वस्तुओंको मत छुओ । वहाँ प्रतीक्षा करनी पड़े तो धैर्य रक्खो । कोई तुम्हारे यहाँ आवे और उसे प्रतीक्षा करनी पड़े तो समय काटनेके लिये कुछ पुस्तक समाचार-पत्र आदि दे दो ।

१६–बातचीतमें कम बोलो । किसीसे अपनी ही बात मत कहते रहो । दूसरोंकी बात धैर्यपूर्वक सुनो । कोई तुम्हारे पास आकर कुछ अधिक देर भी बैठे तो ऐसा भाव मत प्रकट करो कि तुम ऊब गये हो ।

१७–किसीसे मिलो तो उसका कम-से-कम समय लो । केवल आवश्यक बातें ही करो । वहाँसे आना हो तो उसको नम्रतापूर्वक सूचित कर दो । वह अनुरोध करे तो यदि बहुत असुविधा न हो तो कुछ देर वहाँ रुको ।

अपने प्रति

१–अपने नामके साथ स्वयं 'पण्डित' 'बाबू' आदि मत लगाओ ।

२–कोई तुम्हें पत्र लिखे तो उसका उत्तर अवश्य दो । कोई कुछ पूछे तो नम्रतापूर्वक उसे उत्तर दो ।

३–कोई कुछ दे तो बायें हाथसे मत लो, दाहिने हाथसे लो और दूसरेको कुछ देना हो तो भी दाहिने हाथसे दो ।

४–दूसरोंकी सेवा करो, पर दूसरोंसे सेवा मत लो । किसीका भी उपकार मत लो ।

५–किसीकी वस्तु तुम्हारे देखते, जानते गिरे या खो जाय तो उसे दे दो । तुम्हारी गिरी वस्तु कोई उठाकर दे तो उसे धन्यवाद दो । तुम्हें कोई धन्यवाद दे तो नम्रता प्रकट करो ।

६–किसीको तुम्हारा पैर या धक्का लग जाय तो उससे क्षमा माँगो । कोई तुमसे क्षमा माँगे तो कहो 'इसमें आपसे कोई भूल नहीं हुई । क्षमा माँगनेकी कोई बात नहीं ।'

७–अपने रोग, अपने कष्ट, अपनी विपत्ति तथा अपने गुण, अपनी वीरता, अपनी सफलताकी चर्चा अकारण ही दूसरोंसे मत करो ।

८–झूठ मत बोलो, पर शपथ मत खाओ और न प्रतिज्ञा करनेका स्वभाव बनाओ ।

९–किसीको गाली मत दो । अपशब्द मुखसे मत निकालो ।

१०–यदि किसीके यहाँ अतिथि बनो तो उस घरके लोगोंको तुम्हारे लिये कोई विशेष प्रबन्ध न करना पड़े ऐसा ध्यान रक्खो । उनके यहाँ जो भोजनादि मिले, उसकी प्रशंसा करके खाओ । वहाँ जो स्थान तुम्हारे रहनेको नियत हो, वहीं रहो । भोजनके समय उनको तुम्हारी प्रतीक्षा न करनी पड़े । तुम्हारे उठने-बैठने आदिसे वहाँके लोगोंको असुविधा न हो । तुम्हें जो फल, कार्ड, लिफाफे आदि आवश्यक हों, वह स्वयं खरीद लाओ ।

११–किसीसे कोई वस्तु लो तो उसे सुरक्षित रक्खो और काम करके तुरंत लौटा दो । जिस दिन कोई वस्तु लौटानेको

कही गयी हो तो उससे पहले ही उसे लौटा देना उत्तम होता है।

१२—किसीके घर जाते या आते समय द्वार बंद करना मत भूलो। कोई वस्तु किसीकी उठाओ तो उसे फिर यथा-स्थान रख देना चाहिये।

मार्गमें

१—रास्तेमें या सार्वजनिक स्थलोंपर न तो थूको, न लघुशंकादि करो और न वहाँ फलोंके छिलके या कागज आदि डालो। लघुशंकादि करनेके नियत स्थानोंपर ही करो। इसी प्रकार फलोंके छिलके, रद्दी कागज आदि भी एक किनारे या उनके लिये बनाये गये स्थलोंपर डालो।

२—मार्गमें काँटे, काँचके टुकड़े या कंकड़ पड़े हों तो उन्हें हटा दो।

३—सीधे शान्त चलो। पैर घसीटते, सीटी बजाते, गाते, हँसी-ठट्ठा करते चलना असभ्यता है। छड़ी या छत्ता घुमाते हुए भी नहीं चलना चाहिये।

४—रेलमें चढ़ते समय, नौकादिसे चढ़ते-उतरते समय, टिकट लेते समय धक्का मत दो। क्रमसे खड़े हो और शान्तिसे काम करो। रेलसे उतरनेवालोंको उतर लेने दो, तब चढ़ो। डिब्बेमें बैठे हो तो दूसरोंको चढ़नेसे रोको मत। अपने बैठनेसे अधिक स्थान मत घेरो।

५—रेलके डिब्बेमें या धर्मशालामें वहाँकी किसी वस्तु या स्थानको गंदा मत करो। वहाँके नियमोंका पूरा पालन करो।

६—रेलके डिब्बेमें जल मत गिराओ। थूको मत, नाक मत छिनको, फलोंके छिलके न गिराओ, सबको बाहर डालो, जलको बाहर फेंकना हो तो हाथ नीचे करके जल फेंको, जिसमें दूसरोंपर छींटे न पड़ें।

७—रेलमें या किसी भी सार्वजनिक स्थानपर धूम्र-पान मत करो, विशेषतः यदि तुम्हारे पासके व्यक्तिको इसमें आपत्ति हो। पासके व्यक्तिसे नम्रतापूर्वक पूछकर ही बहुत आवश्यक होनेपर ऐसा करना चाहिये।

८—बाजारमें खड़े-खड़े या मार्ग चलते कुछ खाने लगना बहुत बुरा स्वभाव है। एक प्रकारकी पशुता है।

९—जहाँ जाने या रोकनेके लिये तार लगे हों, दीवार बनी हों, काँटे डाले गये हों, उधरसे मत जाओ।

१०—एक दूसरेके कंधेपर हाथ रखकर मार्गमें मत चलो।

११—जिस ओरसे चलना उचित हो, मार्गके उसी किनारेसे चलो। मार्गमें खड़े होकर बातें मत करो। बात करना हो तो एक किनारे हो जाओ।

१२—रास्ता चलते इधर-उधर मत देखो। झूमते या अकड़ते मत चलो। अकारण मत दौड़ो। सवारीपर हो तो दूसरी सवारीसे होड़ मत करो।

तीर्थ तथा सभास्थलमें

१—कहीं जलमें कुल्ला मत करो और न थूको। अलग पानी लेकर जलाशयसे कुछ दूर शौचके हाथ धोओ तथा कुल्ला करो और मल-मूत्र पर्याप्त दूर त्याग करो।

२—तीर्थ-स्नानके स्थानपर साबुन मत लगाओ। वहाँ किसी प्रकारकी गंदगी मत करो। नदीके किनारे टट्टी-पेशाब मत करो।

३—देव-मन्दिरमें देवताके सामने पैर फैलाकर या पैर-पर पैर चढ़ाकर मत बैठो और न वहाँ सोओ। वहाँ शोर-गुल भी मत करो।

४—सभामें या कथामें परस्पर बात-चीत मत करो। वहाँ कोई पुस्तक या अखबार भी मत पढ़ो। जो कुछ हो रहा है, उसे शान्तिसे सुनो।

५—खाँसना, छींकना, जम्हाई लेना किसी दूसरेके सामने या सार्वजनिक स्थलपर पड़ जाय तो मुखके आगे कोई वस्त्र कर लो। बार-बार छींक या खाँसी आती हो या अपानवायु छोड़ना हो तो वहाँसे उठकर अलग चले जाना चाहिये।

६—कोई दूसरा अपानवायु छोड़े, खाँसे या छींके तो शान्त रहो। हँसो मत और न घृणा प्रकट करो।

७—यदि तुम पीछे पहुँचे हो तो भीड़में घुसकर आगे बैठनेका प्रयत्न मत करो। पीछे बैठो। यदि तुम आगे या बीचमें बैठे हो तो सभा समाप्त होनेतक बैठे रहो। बीचमें मत उठो। बहुत अधिक आवश्यकता होनेपर ऐसे धीरेसे उठो कि किसीको बाधा न पड़े।

८—सभा-स्थलमें या कथामें नींद आने लगे तो वहीं झोंके मत लो। धीरेसे उठकर पीछे चले जाओ और खड़े रहो।

९—सभा-स्थलमें, कथामें बीचमें बोलो मत। कुछ पूछना, कहना हो तो लिखकर प्रबन्धकोंको दे दो। क्रोध या उत्साह आनेपर भी शान्त रहो।

१०—किसी सभा-स्थलमें किसीकी कहीं टोपी, रूमाल आदि रक्खी हो तो उसे हटाकर वहाँ मत बैठो।

११–सभा-स्थलके प्रबन्धकोंके आदेश एवं वहाँके नियमोंका पालन करो।

१२–किसीसे मिलने या किसी सार्वजनिक स्थानपर प्याज, लहसुन अथवा कोई ऐसी वस्तु खाकर मत जाओ जिससे तुम्हारे मुखसे गन्ध आवे। ऐसा कोई पदार्थ खाया हो तो इलायची, सौंफ आदि खाकर जाना चाहिये।

१३–सभामें जूते बीचमें न खोलकर एक ओर किनारेपर खोलो। नये जूते हों तो एक-एक जूता अलग-अलग छिपाकर रख दो।

विशेष सावधानी

१–चुंगी, टैक्स, किराया आदि तुरंत दे दो। इनको चुरानेका प्रयत्न कभी मत करो।

२–किसी कुली, मजदूर, ताँगेवालेसे किरायेके लिये झगड़ो मत। पहले तय करके काम कराओ। इसी प्रकार शाक, फल आदि बेंचनेवालोंसे बहुत झिकझिक मत करो।

३–किसीसे कुछ उधार लो तो ठीक समयपर उसे स्वयं दे दो। मकानके किराये आदि भी समयपर देना चाहिये।

४–यदि कोई कहीं पान, इलायची आदि भेंट करे तो उसमेंसे एक-दो ही उठाना चाहिये।

५–वस्तुओंको धरने-उठानेमें बहुत शब्द न हो ऐसा ध्यान रखना चाहिये। द्वार भी धीरेसे खोलना, बंद करना चाहिये। दरवाजा खोलो तब उनके अटकनें लगाना तथा बंद करो तब चिटकनी लगाना मत भूलो। सब वस्तुएँ ध्यानके साथ उनके अपने-अपने ठिकानेपर ही रक्खो, जिससे जरूरत होनेपर ढूँढ़ना न पड़े।

६–कोई पुस्तक या समाचारपत्र पढ़ता हो तो पीछेसे या बगलसे झुककर मत पढ़ो। वह पढ़ चुके, तब नम्रतासे माँग सकते हो।

७–कोई तुम्हारा समाचारपत्र पढ़ना चाहे तो उसे पहले पढ़ लेने दो।

८–जहाँ कई व्यक्ति पढ़नेमें लगे हों, वहाँ बातें मत करो, जोरसे मत पढ़ो और न कोई खटपटका शब्द करो।

९–जहाँतक बने किसीसे माँगकर कोई चीज मत लाओ, जरूरत ही हो तो लाओ पर उसे सुरक्षित रक्खो और अपना काम हो जानेपर सुरक्षितरूपसे तुरंत वापस लौटा दो। बर्तन आदि हों तो भलीभाँति मँजवाकर तथा कपड़ा, चादर, चाँदनी हो तो धुलवाकर वापस करो।

बातचीत

१–सुनो अधिक, बोलो बहुत कम। बोलो सो सत्य, हितकारी, प्रिय और मधुर वचन बोलो।

२–बात करते समय किसीके पास एकदम सटो मत और न उसके मुखके पास मुख ले जाओ।

३–किसीकी ओर अँगुली उठाकर मत दिखाओ। किसीका नाम पूछना हो तो 'आपका शुभ नाम क्या है ?' इस प्रकार पूछो। किसीका परिचय पूछना हो तो पूछो, 'आपका परिचय ?'

४–किसीको यह मत कहो कि 'आप भूल करते हैं।' कहो कि 'आपकी बात मैं ठीक नहीं समझ सका।'

५–दो व्यक्ति बात करते हों तो बीचमें मत बोलो। किसीकी बात समाप्त हुए बिना बीचमें मत बोलो।

६–जहाँ कई व्यक्ति हों, वहाँ काना-फूसी मत करो। किसी सांकेतिक या ऐसी भाषामें भी मत बोलो जो तुम्हारे बोलचालकी सामान्य भाषा नहीं और जिसे वे लोग नहीं समझते। रोगीके पास तो एकदम काना-फूसी मत करो, चाहे तुम्हारी बातका रोगीसे कोई सम्बन्ध हो या न हो।

७–'जो है सो' आदि आवृत्ति-वाक्य (सखुनतकिया) का स्वभाव मत डालो।

८–बिना पूछे राय मत दो।

९–बहुत-से शब्दोंका सीधा प्रयोग भद्दा माना जाता है। मूत्र-त्यागके लिये लघुशंका, मल-त्यागके लिये शौच, मृत्युके लिये परलोकवास, विधवाके दुःख पड़ना आदि शब्दोंका प्रयोग करना चाहिये।

१०–बहसमें भी शान्त-स्वरमें बोलो। चिल्लाने मत लगो। दूर बैठे व्यक्तिके पास जाकर बात करो, चिल्लाओ मत।

११–पीठ-पीछे किसीकी निन्दा मत करो और न सुनो। किसीपर व्यंग मत करो।

१२–हँसना हो तो भी बहुत ठठाकर मत हँसो। अकारण मत हँसो।

अपनेसे सम्बन्धित

१–नित्य मञ्जन या दातौन करके दाँतोंको स्वच्छ रक्खो। दाँतोंपर मैल न रहे और मुखसे दुर्गन्धि न आवे। मिस्सी, तम्बाकू या ऐसी कोई वस्तु न खाओ या लगाओ, जिससे दाँत काले या लाल दीखें।

२—नित्य स्नान करो । शरीरपर मैल न चढ़ा रहे । हाथ-पैर स्वच्छ रहें । काले या स्याही आदिसे रंगे हाथ असभ्यताके चिह्न हैं ।

३—वस्त्र मैले-कुचैले नहीं होने चाहिये । उनमें स्याही, हल्दी, रंग आदिके धब्बे न लगे हों । जो भी वस्त्र हों, स्वच्छ हों ।

४—बहुत भड़कीले वस्त्र अशिष्टतासूचक होते हैं । वस्त्र सादे होने चाहिये । स्थानके तथा ऋतुके उपयुक्त वस्त्र होना चाहिये । मन्दिरमें, सत्सङ्गमें धोती पहनकर जाना उत्तम है । वहाँ पतलून, कोट पहनकर जाना अच्छा नहीं । इसी प्रकार आफिसोंमें नंगे शरीर नहीं जाना चाहिये । गरमियोंमें गरम कोट या अधिक वस्त्र लादे रहना तथा सर्दियोंमें पतले वस्त्र पहनना भी अच्छा नहीं ।

५—केश अस्त-व्यस्त और मैले नहीं रखने चाहिये और न उनमें इतना तेल लगाना चाहिये जो अधिक दीखे ।

६—हाथ-पैरके नख कटवाते रहना चाहिये । बढ़े, मैल भरे नख मत रक्खो ।

७—मुखमें अँगुली, पेन्सिल, चाकू, पिन, सूई, चाबी या वस्त्रका छोर देना, कानमें तिनका, नाकमें अँगुली डालना, हाथसे या दाँतसे तिनके नोचते रहना, दाँतसे नख काटना, भौंओंके केशोंको नोचते रहना—गंदी आदतें हैं । इन्हें झटपट छोड़ देना चाहिये ।

८—मुखमें अँगुली लगाकर पुस्तकोंके पृष्ठ मत उलटो । थूक लगाकर टिकिट या लिफाफे मत चिपकाओ ।

९—स्थिर बैठो और स्थिर खड़े रहो । हाथ-पैरसे भूमि कुरेदना, तिनके तोड़ना, बार-बार सिरपर हाथ फेरना, बटन टटोलते रहना, वस्त्रके छोर उमेठते रहना, झूमना, अँगुलियाँ चटखाते रहना—बुरे स्वभावके चिह्न हैं ।

१०—लिखनेमें स्याही मत छिड़को । काट-कूट मत करो । स्याही गिरे नहीं, ऐसी सावधानी रक्खो । अक्षर साफ तथा सुन्दर लिखो ।

११—स्नान करते समय दूसरोंपर छींटे न पड़ें, यह ध्यान रक्खो । हाथ धोओ तो पोंछ लो, छिड़ककर छींटे मत उछालो । भोजन करके कुल्ले करो । हाथ-पैर धोकर भोजन करो । जूठा हाथ कहीं मत लगाओ ।

१२—व्यर्थ पानी मत गिराओ । पानीका नल और बिजलीकी रोशनी अनावश्यक मत खुला रहने दो ।

१३—चाकूसे मेज मत खरोंचो । पेन्सिलसे इधर-उधर चिह्न मत करो । दीवालपर मत लिखो ।

१४—पुस्तक खुली छोड़कर मत जाओ । पुस्तकोंपर पैर मत रक्खो और न उनसे तकियेका काम लो ।

१५—पीनेके पानी या दूध आदिमें अँगुली मत डुबाओ ।

इस प्रकार जिस प्रदेशमें भोजन करनेके लिये बैठने, भोजन करने, स्नान करने, वस्त्र पहनने आदिके जो लोकाचार मान्य हों, उनका पालन करना चाहिये ।*

बालकके प्रति

(रचयिता—श्रीरूपनारायणजी वर्मा 'धर्मविशारद')

मानव-मानवीके जीवनका विकसित-विशुद्ध स्वरूप !
मानव-मानवीके जीवनकी सृष्टिका सुनहरा पृष्ठ !
स्त्री और पुरुषके जीवनकी विकसित शक्ति !
वंशका विशुद्ध कीर्तिध्वज !
राष्ट्रकी आलोकमयी प्रतिभा !
संसारकी विशाल अनुभूतियोंका अविरल स्वरूप !
दो सरल हृदयोंका प्रेम-स्रोत !
स्त्री और पुरुषके प्रेमका आनन्द-स्रोत !
मानव-मानवीके जीवन-पथका सच्चा पथिक !
स्त्री और पुरुषके जीवन-मंथनका अमृत !
शिक्षा और शान्तिका कल्याण स्वरूप !
स्त्री और पुरुषके जीवनकी पृष्ठभूमि !
भावना और कर्त्तव्यकी अमर ज्योति !
दया और कर्मका समन्वय !
सत्य, शिव, सुन्दरका मूर्तिमान् स्वरूप !
कल्याण-पथका अग्रदूत !
जीवन-निधिका अनमोल रत्न !

* श्रीरामनारायणजी मिश्रकी 'भारतीय शिष्टाचार' नामक पुस्तकके आधारपर ।

मदालसाका अपने पुत्रको भारतीय शिष्टाचारका उपदेश

मदालसाने कहा—बेटा ! मनुष्यको सदा ही सदाचारका पालन करना चाहिये । आचारहीन मनुष्यको न इस लोकमें सुख मिलता है न परलोकमें। जो सदाचारका उल्लङ्घन करके मनमाना बर्ताव करता है उस पुरुषका कल्याण यज्ञ, दान, तपस्यासे भी नहीं होता । दुराचारी पुरुषको इस लोकमें बड़ी आयु नहीं मिलती । अतः सदाचारके पालनका सदा ही यत्न करे । सदाचार बुरे लक्षणोंका नाश करता है । वत्स ! अब मैं सदाचारका स्वरूप बतलाती हूँ । तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो और उसका पालन करो । मनुष्यको धर्म, अर्थ, काम—तीनोंके साधनका यत्न करना चाहिये । उनके सिद्ध होनेपर उसे इस लोक और परलोकमें भी सिद्धि प्राप्त होती है । मनको वशमें करके अपनी आयका एक चौथाई भाग पारलौकिक लाभके लिये संगृहीत करे । आधे भागसे नित्य-नैमित्तिक कार्योंका निर्वाह करते हुए अपना भरण-पोषण करे । एक चौथाई भाग अपने लिये मूल पूँजीके रूपमें रखकर उसे बढ़ावे । बेटा ! ऐसा करनेसे धन सफल होता है। इसी प्रकार पापकी निवृत्ति तथा पारलौकिक उन्नतिके लिये विद्वान् पुरुष धर्मका अनुष्ठान करे। ब्राह्ममुहूर्तमें उठे । उठकर धर्म और अर्थका चिन्तन करे । अर्थके कारण जो शरीरको कष्ट उठाना पड़ता है, उसका भी विचार करे । फिर वेदके तात्त्विक अर्थ—परब्रह्म परमात्माका स्मरण करे । इसके बाद शयनसे उठकर नित्यकर्मसे निवृत्त हो स्नान आदिसे पवित्र होकर मनको संयममें रखते हुए पूर्वाभिमुख बैठे और आचमन करके सन्ध्योपासन करे । प्रातःकालकी सन्ध्या उस समय आरम्भ करे, जब तारे दिखायी देते हों । इसी प्रकार सायंकालकी सन्ध्योपासना सूर्यास्तसे पहले ही विधिपूर्वक आरम्भ करे । आपत्तिकालके सिवा और किसी समय उसका त्याग न करे* । बुरी-बुरी बातें बकना, झूठ बोलना, कठोर वचन मुँहसे निकालना, असत् शास्त्र पढ़ना, नास्तिकवादको अपनाना तथा दुष्ट पुरुषोंकी सेवा करना छोड़ दे । मनको वशमें रखते हुए प्रतिदिन सायंकाल और प्रातःकाल हवन करे । उदय-अस्तके समय सूर्यमण्डलका दर्शन न करे । बाल सँवारना, आइना देखना, दाँतन करना, देवताओंका तर्पण करना, यह सब पूर्वाह्णकालमें ही करना चाहिये ।

ग्राम, निवासस्थान, तीर्थ, क्षेत्रोंके मार्गमें, जोते हुए खेतमें, गोशालामें मल-मूत्र न करे । परायी स्त्रीको नंगी अवस्थामें न देखे । अपनी विष्ठापर दृष्टिपात न करे । रजस्वला स्त्रीका दर्शन, स्पर्श तथा उसके साथ भाषण भी वर्जित है । पानीमें मल-मूत्रका त्याग, मैथुन न करे । बुद्धिमान् पुरुष मल-मूत्र, केश, राख, खोपड़ी, भूसी, कोयले, हड्डियोंके चूर्ण, रस्सी, वस्त्र आदिपर, केवल पृथ्वीपर, मार्गमें कभी न बैठे । मनुष्य अपने वैभवके अनुसार देवता, पितर, मनुष्य, अन्यान्य प्राणियोंका पूजन करके पीछे भोजन करे । भलीभाँति आचमन करके, हाथ-पैर धोकर, पवित्र हो,पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके भोजनके लिये आसनपर बैठे और हाथोंको घुटनोंके भीतर करके मौनभावसे भोजन करे । भोजनके समय मनको अन्यत्र न ले जाय । यदि अन्न किसी प्रकारकी हानि करनेवाला हो तो उस हानिको ही बतावे, उसके सिवा अन्नके और किसी दोषकी चर्चा न करे । भोजनके साथ पृथक् नमक लेकर न खाय । अधिक गरम अन्न खाना भी ठीक नहीं है । मनुष्यको चाहिये कि खड़े होकर या चलते-चलते मल-मूत्रका त्याग, आचमन तथा कुछ भी भक्षण न करे । जूठे मुँह वार्तालाप न करे तथा उस अवस्थामें स्वाध्याय भी वर्जित है । जूठे हाथसे गौ, ब्राह्मण, अग्नि, अपने मस्तकका स्पर्श न करे । जूठी अवस्थामें सूर्य, चन्द्रमा, तारोंकी ओर जान-बूझकर न देखे। दूसरेके आसन, शय्या, बर्तनका भी स्पर्श न करे ।

गुरुजनोंके आनेपर उन्हें बैठनेके लिये आसन दे, उठकर प्रणामपूर्वक उनका स्वागत-सत्कार करे। उनके अनुकूल बातचीत करे । जाते समय उनके पीछे-पीछे जाय, कोई प्रतिकूल बात न करे । एक वस्त्र धारण करके भोजन तथा देवपूजन न करे । बुद्धिमान् पुरुष ब्राह्मणोंसे बोझ न ढुलाये । आगमें मूत्र-त्याग न करे । नग्न होकर कभी स्नान वा शयन न करे । दोनों हाथोंसे सिर न खुजलाये । बिना कारण बारंबार सिरके ऊपरसे स्नान न करे । सिरसे स्नान कर लेनेपर किसी अङ्गमें तेल न लगाये । सब अनध्यायोंके दिन स्वाध्याय बंद रक्खे । ब्राह्मण, अग्नि, गौ, सूर्यकी ओर मुँह करके पेशाब न करे । दिनमें उत्तरकी ओर और रात्रिमें

* पूर्वां सन्ध्यां सनक्षत्रां पश्चिमां सदिवाकराम् ।
उपासीत यथान्यायं नैनां जह्यादनापदि ॥
(३४ । १८)

दक्षिणकी ओर मुँह करके मल-मूत्रका त्याग करे। जहाँ ऐसा करनेमें कोई बाधा हो, वहाँ इच्छानुसार करे। गुरुके दुष्कर्मकी चर्चा न करे। यदि वे क्रुद्ध हों तो उन्हें विनयपूर्वक प्रसन्न करे। दूसरे लोग भी यदि गुरुकी निन्दा करते हों तो उसे न सुने। ब्राह्मण, राजा, दुःखसे आतुर मनुष्य, विद्यावृद्ध पुरुष, गर्भिणी स्त्री, बोझसे व्याकुल मनुष्य, गूँगा, अंधा, बहरा, मत्त, उन्मत्त, व्यभिचारिणी स्त्री, शत्रु, बालक, पतित—ये यदि सामनेसे आते हों तो स्वयं किनारे हटकर इन्हें जानेके लिये मार्ग देना चाहिये। विद्वान् पुरुष देवालय, चैत्यवृक्ष, चौराहा, विद्यावृद्ध पुरुष, गुरु, देवता—इनको दाहिने करके चले। दूसरोंके धारण किये हुए जूते, वस्त्र स्वयं न धारण करे। दूसरोंके उपयोगमें आये हुए यज्ञोपवीत, आभूषण और कमण्डलुका भी त्याग करे। चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी, पर्वके दिन तैलाभ्यङ्ग एवं स्त्रीसहवास न करे। बुद्धिमान् पुरुष कभी पैर, जाँघ फैलाकर न खड़ा हो। पैरोंको न हिलाये तथा पैरको पैरसे न दबाये। किसीको चुभती बात न कहे। निन्दा-चुगली छोड़ दे। दम्भ, अभिमान, तीखा व्यवहार कदापि न करे। मूर्ख, उन्मत्त, व्यसनी, कुरूप, मायावी, हीनाङ्ग, अधिकाङ्ग मनुष्योंकी खिल्ली न उड़ाये। पुत्र और शिष्यको शिक्षा देनेके लिये आवश्यकता होनेपर उन्हींको दण्ड दे, दूसरोंको नहीं। आसनको पैरसे खींचकर न बैठे। सायंकाल, प्रातःकाल पहले अतिथिका सत्कार करके फिर स्वयं भोजन करे।

वत्स! सदा पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके ही दाँतन करे। दाँतन करते समय मौन रहे। दाँतनके लिये निषिद्ध वृक्षोंका त्याग करे। उत्तर-पश्चिमकी ओर सिर करके कभी न सोये। दक्षिण या पूर्व दिशाकी ओर सिर करके ही सोये। जहाँ दुर्गन्ध आती हो ऐसे जलमें स्नान न करे। रात्रिमें न नहाये। ग्रहणके समय रात्रिमें भी स्नान करना बहुत उत्तम है। इसके सिवा अन्य समय दिनमें ही स्नानका विधान है। स्नान कर लेनेके बाद हाथ या कपड़ेसे शरीरको न मले। बालों और वस्त्रोंको न फटकारे। विद्वान् पुरुष बिना स्नान किये कभी चन्दन न लगाये। लाल, रंग-बिरंगे, काले रंगके कपड़े न पहने। जिसमें बाल, थूक या कीड़े पड़ गये हों, जिसपर कुत्तेकी दृष्टि पड़ी हो, जिसको किसीने चाट लिया हो, जो सार भाग निकाल लेनेके कारण दूषित हो गया हो, ऐसे अन्नको न खाये। बहुत देरके बने हुए और बासी भातको त्याग दे। पिठी, साग, ईखके रस, दूधकी बनी हुई वस्तुएँ भी यदि बहुत दिनोंकी हों तो उन्हें न खाय। सूर्यके उदय-अस्तके समय शयन न करे, बिना नहाये, बिना बैठे, अन्यमनस्क होकर, शय्यापर बैठकर या सोकर, केवल पृथ्वीपर बैठकर, बोलते हुए, एक कपड़ा पहनकर तथा भोजनकी ओर देखनेवाले पुरुषोंको न देकर मनुष्य कदापि भोजन न करे। सबेरे-शाम दोनों समय भोजनकी यही विधि है।

समझदार पुरुषको कभी परायी स्त्रीके साथ समागम नहीं करना चाहिये। परस्त्री-संगम मनुष्योंके इष्ट, पूर्त और आयुका नाश करनेवाला है। इस संसारमें परस्त्री-समागमके समान मनुष्यकी आयुका विघातक कार्य दूसरा कोई नहीं है। देवपूजा, अग्निहोत्र, गुरुजनोंको प्रणाम, भोजन भलीभाँति आचमन करके करना चाहिये। स्वच्छ, फेनरहित, दुर्गन्ध-शून्य, पवित्र जल लेकर पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके आचमन करना चाहिये। जलके भीतरकी, घरकी, बाँबीकी, चूहेकी बिलकी, शौचसे बची हुई—ये पाँच प्रकारकी मिट्टी त्याग देने योग्य है। हाथ-पैर धोकर एकाग्र-चित्तसे मार्जन करके घुटनोंको समेटकर दो बार मुँहके दोनों किनारोंको पोंछे; फिर सम्पूर्ण इन्द्रियों और मस्तकका स्पर्श करके जलसे भलीभाँति तीन बार आचमन करे। इस प्रकार पवित्र होकर समाहित-चित्तसे सदा देवताओं, पितरों, ऋषियोंकी क्रिया करनी चाहिये। थूकने, खँखारने, कपड़ा पहननेपर बुद्धिमान् पुरुष आचमन करे। छींकने, चाटने, वमन करने, थूकनेके पश्चात् आचमन, गायकी पीठका स्पर्श, सूर्यका दर्शन करना तथा दाहिने कानको छू लेना चाहिये। इनमें पहलेके अभावमें दूसरा उपाय करना चाहिये।

दाँतोंको न कटकटाये। अपने शरीरपर ताल न दे। दोनों सन्ध्याओंके समय अध्ययन, भोजन, शयनका त्याग करे। सन्ध्याकालमें मैथुन, रास्ते चलना भी मना है। बेटा! पूर्वाह्णकालमें देवताओंका, मध्याह्नकालमें मनुष्योंका (अतिथियोंका), अपराह्णकालमें पितरोंका भक्तिपूर्वक पूजन करना चाहिये। सिरसे स्नान करके देवकार्य या पितृकार्यमें प्रवृत्त होना उचित है। पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके क्षौर कराये। उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेपर भी जो कन्या किसी अङ्गसे हीन, रोगिणी, विकृतरूपवाली, पीले रंगकी, अधिक बोलनेवाली तथा सबके द्वारा निन्दित हो, उसके साथ विवाह न करे। जो किसी अङ्गसे हीन न हो, जिसकी नासिका सुन्दर हो, जो सभी उत्तम लक्षणोंसे सुशोभित हो, वैसी ही कन्याके
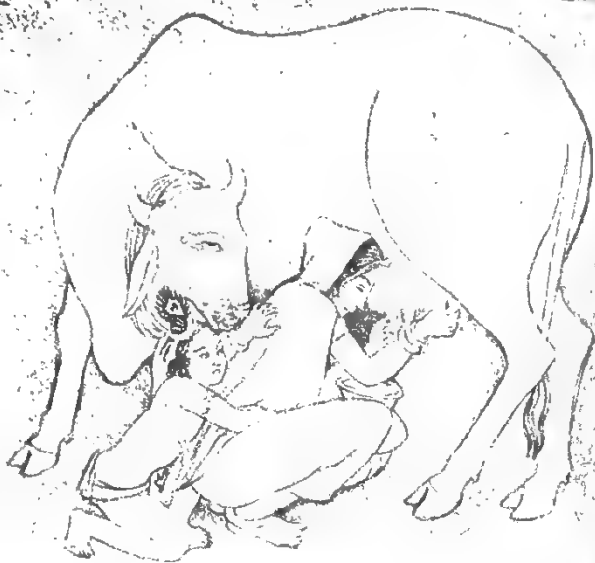
व्रजनन्दनकी बाल-लीला—चित्र ४

साथ कल्याणकामी पुरुषको विवाह करना चाहिये । पुरुषको उचित है कि स्त्रीकी रक्षा करे। दिनमें शयन-मैथुन न करे। दूसरोंको कष्ट देनेवाला कार्य न करे, किसी जीवको पीड़ा न दे। रजस्वला स्त्री चार रातके लिये सभी वर्णोंके मनुष्यके लिये त्याज्य है। यदि कन्याका जन्म रोकना हो तो पाँचवीं रातमें भी स्त्री-सहवास न करे। छठी रात आनेपर स्त्रीके पास जाय, क्योंकि युग्म रात्रियाँ ही इसके लिये श्रेष्ठ हैं। युग्म रात्रियोंमें स्त्री-सहवाससे पुत्रका जन्म होता है। अयुग्म रात्रियोंमें गर्भाधान करनेसे कन्या उत्पन्न होती है; अतः पुत्रकी इच्छा रखनेवाला पुरुष युग्मरात्रियोंमें ही स्त्रीके साथ शयन करे । पूर्वाह्णमें मैथुन करनेसे विधर्मी, सन्ध्याकालमें करनेसे नपुंसक पुत्र उत्पन्न होता है।

बेटा! हजामत बनवाने, वमन होने, स्त्री-प्रसंग करने, श्मशानभूमिमें जानेपर वस्त्रसहित स्नान करे । देवता, वेद, द्विज, साधु, सच्चे महात्मा, गुरु, पतिव्रता, यज्ञकर्ता, तपस्वी—इनकी निन्दा-परिहास न करे। यदि कोई उद्दण्ड मनुष्य ऐसा करते हों तो उनकी बात सुने भी नहीं । अपनेसे श्रेष्ठ, अपनेसे नीचे व्यक्तियोंकी शय्या-आसनपर न बैठे। अमङ्गलमय वेश न धारण करे, मुखसे अमाङ्गलिक वचन न बोले। स्वच्छ वस्त्र धारण करे, श्वेत पुष्पोंकी माला पहने। उद्दण्ड, उन्मत्त, अविनीत, शीलहीन, चोरी आदिसे दूषित, अधिक अपव्ययी, लोभी, वैरी, कुलटाके पति, अधिक बलवान्, अधिक दुर्बल, लोकमें निन्दित, सबपर संदेह करनेवाले लोगोंसे कभी मित्रता न करे । साधु, सदाचारी, विद्वान्, चुगली न करनेवाले, सामर्थ्यवान्, उद्योगी पुरुषोंसे मित्रता स्थापित करे। विद्वान् पुरुष वेद-विद्या एवं व्रतमें निष्णात पुरुषोंके साथ बैठे। मित्र, दीक्षाप्राप्त पुरुष, राजा, स्नातक, श्वशुर, ऋत्विग्—इन छः पूजनीय पुरुषोंका घर आनेपर पूजन करे। जो द्विज संवत्सर व्रतको पूरा करके घरपर आवें, उनकी अपने वैभवके अनुसार यथासमय आलस्य त्याग कर पूजा करे और कल्याणकामी पुरुष उनकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सदा उद्यत रहे । बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि उन ब्राह्मणोंके फटकारनेपर भी कभी उनके साथ विवाद न करे।

घरके देवताओंका यथास्थान भलीभाँति पूजन करके अग्नि-स्थापनपूर्वक उसमें आहुति दे । पहली आहुति ब्रह्माको, दूसरी प्रजापतिको, तीसरी गृह्यको, चौथी कश्यपको, पाँचवीं अनुमतिको दे। फिर पूर्वकथनानुसार गृहबलि देकर वैश्वदेवबलि दे। देवताओंके लिये पृथक्-पृथक् स्थानका विभाग करके उनके लिये बलि अर्पित करे । उसका क्रम बतलाती हूँ, सुनो। एक पात्रमें पहले पर्जन्य, जल, पृथ्वीको तीन बलि दे । फिर प्राची आदि प्रत्येक दिशामें वायुको बलि देकर क्रमशः उन-उन दिशाओंके नामसे भी बलि समर्पित करे। तत्पश्चात् ब्रह्मा, अन्तरिक्ष, सूर्य, विश्वेदेव, विश्वभूत, उषा तथा भूतपतिको क्रमशः बलि दे । फिर 'पितृभ्यः स्वधा नमः' कहकर दक्षिण दिशामें अपसव्य होकर पितरोंके निमित्त बलि दे। फिर पात्रसे अन्नका शेष भाग और जल लेकर 'यक्ष्मैतत्ते निर्णेजनम्' इस मन्त्रसे वायव्य दिशामें उसे विधिपूर्वक छोड़ दे । तदनन्तर रसोईके अन्नसे अग्राशन तथा हन्तकार निकालकर उन्हें विधिपूर्वक ब्राह्मणको दे। देवता आदिके सब कर्म उन-उनके तीर्थसे ही करने चाहिये। ब्राह्मतीर्थसे आचमन करना चाहिये, दाहिने हाथमें अँगूठेके उत्तर ओर जो एक रेखा होती है, वह ब्राह्मतीर्थके नामसे प्रसिद्ध है। उसीसे आचमन करना उचित है। तर्जनी और अँगूठेके बीचका भाग पितृतीर्थ कहलाता है । नान्दीमुख पितरोंको छोड़कर अन्य सब पितरोंको उसी तीर्थसे जल आदि देना चाहिये । अँगुलियोंके अग्रभागमें देवतीर्थ है। उससे देवकार्य करनेका विधान है। कनिष्ठिकाके मूलभागमें कायतीर्थ है जिससे प्रजापतिका कार्य किया जाता है।

इस प्रकार इन तीर्थोंसे सदा देवताओं, पितरोंके कार्य करने चाहिये। अन्य तीर्थोंसे कदापि नहीं । ब्राह्मतीर्थसे आचमन उत्तम माना गया है। पितरोंका तर्पण पितृतीर्थसे, देवताओंका देवतीर्थसे और प्रजापतिका कायतीर्थसे करना श्रेष्ठ बतलाया गया है। नान्दीमुखके पितरोंके लिये पिण्डदान, तर्पण प्राजापत्यतीर्थसे करना चाहिये। विद्वान् पुरुष एक साथ जल और अग्नि न ले। गुरुजनों, देवताओंकी ओर पाँव न फैलाये। बछड़ेको दूध पिलाती हुई गायको न छेड़े। अञ्जलिसे पानी न पिये। शौचके समय विलम्ब न करे। मुखसे आग न फूँके। बेटा! जहाँ ऋण देनेवाला धनी, वैद्य, श्रोत्रिय ब्राह्मण, जलपूर्ण नदी—ये चार न हों, वहाँ निवास नहीं करना चाहिये। जहाँ शत्रुविजयी, बलवान्, धर्मपरायण राजा हो, वहीं विद्वान् पुरुषको निवास करना चाहिये। दुष्ट राजाके राज्यमें सुख कहाँ? जहाँ दुर्धर्ष राजा, उपजाऊ भूमि, संयमी एवं न्यायशील पुरवासी एवं ईर्ष्या न करनेवाले लोग हों, वहींका निवास भविष्यमें सुखदायक होता है। जिस राष्ट्रमें किसान बहुत अधिक

हों, पर वे अधिक भोगपरायण न हों, जहाँ सब तरहके अन्न पैदा होते हों, वहीं बुद्धिमान् पुरुषको निवास करना चाहिये । बेटा ! जहाँ विजयका इच्छुक, पहलेका शत्रु तथा सदा उत्सव मनानेवाले लोग—ये तीन सदा रहते हों, वहाँ निवास न करे । विद्वान् पुरुषको ऐसे ही स्थानोंपर सदा निवास करना चाहिये जहाँके सहवासी सुशील हों ।

जो व्यापक बुद्धि, बल अथवा धनसे पूरे कुटुम्बका भार वहन करता है, उसी पुत्रसे उसकी माता वस्तुतः पुत्रवती कही जाती है । पुरुषोंमें श्रेष्ठ और विद्यायुक्त एक भी उत्तम पुत्र हो तो उसीसे समस्त कुल प्रकाशित हो उठता है, जैसे एक ही चन्द्रमासे रजनीकी शोभा बढ़ जाती है । भूसी भरे हुए आढक (मापविशेष) की भाँति बहुत-से पुत्रोंको पाकर ही कौन मनुष्य धन्य हो जाता है ! कुलको सहारा देनेवाला एक ही पुत्र अच्छा है, जिससे पिताकी ख्याति एवं प्रतिष्ठा बढ़ती है । एक ही गुणवान् पुत्र उत्तम है, किंतु सैकड़ों मूर्ख पुत्र अच्छे नहीं हैं । एक ही चन्द्रमा अन्धकार मिटाता है, ताराओंका समुदाय नहीं । एक ही सुपुत्रके भरोसे सिंही निर्भय होकर सोती है, परंतु गदही अपने दस पुत्रोंके साथ स्वयं भी बोझ ढोती है । एक श्रेष्ठ पुत्रके जन्म लेनेसे भी कुलका महत्त्व बढ़ जाता है । अकेला चन्द्रमा ही आकाशको सदा उज्ज्वल बनाये रखता है । शोक और संताप पैदा करनेवाले बहुत-से पुत्रोंके जन्म लेनेसे क्या लाभ ? कुलको सहारा देनेवाला एक ही पुत्र अच्छा, जिसके आश्रयमें रहकर समस्त कुल आरामसे रहता है । विद्याविहीन बहुत-से पुत्र हों और वे सभी कल्पभर जीनेवाले हों, तो भी इनसे पिताका क्या लाभ है ? एक ही क्षयशील या प्रतिदिन कला-कला बढ़नेवाला गुणवान् पुत्र हो तो उसीसे उसको सुख प्राप्त होता है, ठीक उसी तरह, जैसे घटती या बढ़ती कलावाले चन्द्रमासे ही समुद्रके हृदयमें आनन्दकी लहरें उठती रहती हैं ।

जो पैदा नहीं हुआ, जो पैदा होकर मर गया अथवा जो जीवित रहकर मूर्ख हो गया—इन तीन प्रकारके पुत्रोंमें आदिके दो अच्छे हैं, परंतु अन्तिम अर्थात् मूर्ख पुत्र कदापि अच्छा नहीं है । पूर्वोक्त दोनों अजात और मृतपुत्र एक ही बार दुःख देनेवाले होते हैं, परंतु अन्तिम (मूर्ख) पुत्र पग-पगपर दुःख देता है । जिसका पुत्र न विद्वान् हो, न शूरवीर हो और न धार्मिक ही हो, उसके कुलमें चन्द्रहीन रात्रिकी भाँति अँधेरा-ही-अँधेरा है । दान, तपस्या, शूरवीरता, विद्या तथा धनोपार्जनमें जिसका सुयश नहीं फैला, वह पुत्र नहीं, माताका मल-मूत्र ही है । जो उत्साहहीन, आनन्दशून्य, पराक्रमरहित एवं शत्रुकी प्रसन्नता बढ़ानेवाला हो, ऐसे पुत्रको कोई भी नारी जन्म न दे । गर्भ गिर जाना अच्छा, स्त्रीके पास न जाना भी अच्छा, बालकका जन्म लेते ही मर जाना अच्छा, पुत्रके बदले कन्या ही जन्म ले, यह भी अच्छा, पत्नीका वन्ध्या हो जाना अच्छा और बालकका गर्भमें ही रह जाना भी अच्छा है, परंतु रूप, गुण और धनसे युक्त होकर भी पुत्र मूर्ख रह जाय—यह कदापि अच्छा नहीं है । रा० श्या०

बालकका विकास

प्रकृतिने प्रत्येक बालकको मानव-निर्माणका काम उसके जन्मके साथ ही सौंप रक्खा है । सृष्टिकी सारी रचनामें मनुष्यका अपना अद्भुत स्थान है और हमें समझना यह है कि बालक इसी मनुष्य नामधारी प्राणीका पिता है । हमें यह कभी न भूलना चाहिये कि हममेंसे हर एक व्यक्तिकी, फिर वह मजदूर हो या शासनाधिकारी हो, सज्जन हो या दुर्जन हो, मनोरचना बालकने ही की है । सब-कुछ इस बातपर निर्भर है कि बालकको अपने विकासके लिये वातावरण किस प्रकारका मिला है—वह प्रेम और शान्तिके वातावरणमें पला है या अशान्ति और विरोधका शिकार बना है । अतएव बालकका विकास समाज एवं सरकारकी अपनी पहली जिम्मेदारी समझी जानी चाहिये ।

—डा० मारिया मोण्टीसोरी

स्वाध्यायका महत्त्व और स्वाध्यायके योग्य साहित्य

माताके गर्भमें बालकका शरीर उस रससे बनता तथा बढ़ता है, जो माताके खाये-पिये पदार्थोंसे बनता है। जन्म लेनेके बाद दूध एवं भोजनसे बालकका शरीर पुष्ट होता है। यदि उचित आहार न मिले तो शरीर दुर्बल हो जायगा और यदि कोई एकदम उपवास करने लगे तो अन्ततः उसका जीवन समाप्त हो जायगा। ठीक इसी प्रकार गर्भमें माताके संस्कार, विचार आदिसे बालककी मानसिक स्थिति बनती है। जन्म लेनेके पश्चात् बालक दूसरोंसे ही सीखता है। बालकके अपने पास तो कुछ होता नहीं। जो वह देखता, सुनता या पढ़ता है, उसीके अनुसार उसके विचार बनते हैं। समाचारपत्रोंमें अनेक बार ऐसे बालकोंके समाचार छपे हैं, जिन्हें भेड़ियोंने अपनी माँदमें पाला था। ऐसे बालक भेड़ियोंके समान ही गुर्राते, उन्हींके समान हाथ-पैरसे चलते और उन्हीं-जैसा आहार पसंद करते थे। मनुष्य होनेपर भी उनमें मनुष्योंकी कोई विशेषता नहीं थी; क्योंकि उन्हें मनुष्योंमें रहनेका अवसर नहीं मिला था। भेड़ियोंके बीचमें रहकर उन्होंने भेड़ियोंकी रहन-सहन सीख ली थी।

एक बात यहाँ बहुत साफ समझ लेनेकी है। मनुष्यका बालक जैसे भेड़ियोंमें रहकर भेड़ियोंकी रहन-सहन, भाषा और चलनेकी रीति सीख लेता है, वैसे कोई दूसरे पशु-पक्षीका बच्चा नहीं सीख सकता। गाय और कुत्तेके बच्चे अपनी मातासे दूर करके भले मनुष्योंमें रक्खे जायँ, परंतु वे मनुष्योंकी भाषा बोलना तथा दो पैरसे चलना नहीं सीख सकते; किंतु मनुष्यका बालक जिस पशु या पक्षीके सङ्गमें रक्खा जायगा, उसीके समान आचरण करना सीख जायगा।

ऐसा क्यों होता है ? इसका कारण यह है कि केवल मनुष्ययोनि ही कर्मयोनि है। दूसरे सारे प्राणी भोगयोनिके प्राणी हैं। इसलिये मनुष्यको छोड़कर दूसरे सब योनिके प्राणी अपनी जातिमें मिलनेवाले भोगको भोगने योग्य ज्ञान माताके पेटसे लेकर ही उत्पन्न होते हैं। उन्हें बाहर सीखनेकी आवश्यकता नहीं होती। बत्तक पक्षीका बच्चा अंडेसे निकलते ही जलमें तैरने लगता है। उसे तैरना सीखना नहीं पड़ता। दूसरे पक्षियोंके बच्चोंको भी घोंसला बनाना कोई सिखाता नहीं। गायका बच्चा दौड़ना जन्म लेनेके कुछ घंटे बाद ही प्रारम्भ कर देता है। इसी प्रकार दूसरे सब प्राणी अपने जीवनके लिये उपयोगी ज्ञान जन्मसे ही लिये आते हैं। लेकिन मनुष्य तो केवल भोग भोगने नहीं आया है। वह तो कर्मयोनिका प्राणी है। उसे जन्मके पश्चात् अपने नवीन कर्मोंसे स्वयं ही अपना जीवन तथा अपना परलोक बनाना है। इसलिये मनुष्यके बालकको भगवान् सर्वथा कोरा भेजते हैं। उसे जैसा भी बनना हो, उसके अनुसार ज्ञान उसे यहीं सीखना पड़ता है।

इस बातको और स्पष्ट समझनेके लिये आप अपने मनपर ध्यान दें। आपके माता-पिता जो भाषा बोलते हैं, आपने जो भाषाएँ दूसरोंसे सुनकर या पढ़कर सीखी हैं, उन भाषाओंके शब्दोंको छोड़कर क्या आप कोई विचार कर सकते हैं ? यदि वे शब्द आपके पास न हों तो आपके मनकी क्या दशा होगी, यह बात एक बार सोचकर देखिये और तब आप समझ सकेंगे कि आपका शरीर जैसे अन्नसे बना और अन्नपर ही जीता है, वैसे ही आपका मन, आपकी विचारशक्ति दूसरोंके द्वारा सीखे ज्ञानसे ही बनी है। भाषाके बिना विचार सम्भव नहीं है और भाषा तो दूसरोंसे सीखकर ही पायी जाती है।

मनुष्य-बालकका पूरा जीवन इस बातपर निर्भर है कि उसे क्या सीखनेको मिलता है। अपने लिये, परिवारके लिये, जाति तथा समाजके लिये बालक हितकर बनेगा या अनिष्टकारी, परलोकको नष्ट करके वह नरकगामी होगा या स्वयं अपने उद्धारके साथ अपने कुलका भी उद्धार करेगा, यह सब बातें बालककी शिक्षापर ही निर्भर हैं और इसलिये बालककी शिक्षाका महत्त्व कितना अधिक है, यह भली प्रकार ध्यान देनेकी वस्तु है।

बालक हो या बड़ा—सीखनेकी दो रीति है। हम सभी या तो अपने मिलने-जुलनेवालोंके सङ्गसे सीखते हैं या फिर पुस्तकोंसे सीखते हैं। इनमेंसे सङ्गका प्रभाव बहुत गहरा पड़ता है। इसलिये अच्छा सङ्ग मिले और कुसङ्गसे दूर रहा जाय, यह मुख्य बात है। बालकोंको बुरे लोगोंके सङ्गसे सर्वथा दूर रखना चाहिये; क्योंकि बालक सबसे अधिक अपने आस-पासके लोगोंसे शिक्षा ग्रहण करता है। बिना जाने ही वह जो कुछ देखता है, उसमेंसे बहुत-सी बातोंको अपने स्वभावमें ले आनेका प्रयत्न करता रहता है।

शिक्षाका दूसरा मार्ग है—अध्ययन। अध्ययनका प्रभाव

सङ्गकी भाँति तत्काल पड़नेवाला भले न हो; किंतु सङ्ग-दोषको दूर करनेका साधन अध्ययनको छोड़कर दूसरा कुछ नहीं है। उत्तम ग्रन्थोंका अध्ययन कुसङ्गरूपी रोगकी ओषधि है। साथ ही अध्ययन व्यापक ज्ञानका साधन है। हमारे पास ऐसे साधन नहीं हो सकते कि हम विचारशील श्रेष्ठ विद्वानों, महापुरुषों तथा ज्ञानके विभिन्न क्षेत्रोंके विशेषज्ञोंके समीप जाकर उनके सङ्गसे उनके ज्ञानका परिचय प्राप्त करें। हम बहुत थोड़े लोगोंसे मिल सकते हैं और जिनसे मिलते भी हैं, उनके ज्ञानके बहुत छोटे अंशको उनके सङ्गसे जान पाते हैं। लेकिन ग्रन्थोंके द्वारा हमें उन सब विद्वानोंका सङ्ग प्राप्त हो सकता है, जिनका सङ्ग हम चाहें। ग्रन्थोंमें उन महापुरुषोंका ज्ञान संचित है और यह ज्ञान हमें सरलतासे मिल सकता है। ग्रन्थ उन सहस्रों वर्ष पहले हुए महापुरुषोंके अनुभव तथा विचारसे हमें परिचित कराते हैं, जिनसे मिल पानेका अब हमारे पास कोई साधन नहीं है।

आज वैज्ञानिक कहते हैं—'रोगोंके कीटाणु वायुमें सर्वत्र भरे हैं। उनसे कोई सर्वथा बच सके, यह सम्भव नहीं है।' तब स्वस्थ रहनेके लिये हमें अपने शरीरको ऐसा शक्तिशाली बनाना चाहिये कि रोगके कीटाणु हमारे देहपर प्रभाव न डाल सकें। यदि कदाचित् रोग हो ही जाय तो उसकी ओषधि करनी चाहिये। ठीक इसी प्रकार आजका समाज ऐसा हो गया है कि उसमें बालकोंको कुसङ्गसे पूर्णतः बचाया नहीं जा सकता। असंयम, उच्छृङ्खलता, मनमाना आचार और आहार, शास्त्रों तथा गुरुजनोंका उपहास, धर्म एवं ईश्वरकी अवज्ञा आदि दुर्गुण आज गौरवकी वस्तु बन गये हैं! अधर्मरूपी रोगके ये कीटाणु सर्वत्र फैल गये हैं। इनसे पूर्णतः बचना सम्भव नहीं रहा है। ऐसी दशामें बालकके मनको ऐसा दृढ़ होना चाहिये कि उसपर कुसङ्गका प्रभाव न पड़े। वह आजकी निराधार बातोंके चक्करमें न फँसे और यदि कभी उसका मन रोगी हो जाय—कभी उसके चित्तपर सङ्गके प्रभावसे कोई बुरा प्रभाव पड़े, वह शास्त्र, धर्म, ईश्वर आदिके विषयमें संशयशील बने अथवा संयम, सदाचारसे उसका चित्त विचलित होने लगे तो उसके संदेहको मिटाकर उसे अपने संयमपर स्थिर रखनेका उपाय होना चाहिये। इसका एकमात्र उपाय है अच्छे ग्रन्थोंका स्वाध्याय। यदि बालकको आरम्भसे धार्मिक शिक्षा दी गयी है, यदि उसमें धार्मिक ग्रन्थोंके पढ़नेकी रुचि है तो उसका मानसिक स्वास्थ्य दृढ़ रहेगा। उसपर आजके दूषित विचारोंका प्रभाव नहीं पड़ेगा। यदि कभी उसका मन रोगी हो गया, उसपर कुछ प्रभाव पड़ा भी तो उत्तम ग्रन्थोंका अध्ययन उसके मनको स्वस्थ कर देगा। उसका संशय दूर हो जायगा।

बिना अध्ययनके ज्ञान पुष्ट नहीं होता; जैसे उत्तम भोजनके बिना शरीर पुष्ट नहीं होता। बालकमें अध्ययनकी रुचि होनी चाहिये। माता-पिता तथा अभिभावकोंको प्रोत्साहन देना चाहिये कि बालक अपनी पाठशालाकी पुस्तकोंके अतिरिक्त दूसरे अच्छे ग्रन्थ भी पढ़ें। उसमें पढ़नेका उत्साह हो। आजकल किसी प्रकार परीक्षा पास कर लेना ही उद्देश्य हो रहा है। बालक अपनी पाठ्यपुस्तकें भी भली प्रकार नहीं पढ़ते। परीक्षामें उत्तीर्ण होनेभर पढ़ लिया जाय। कुंजियोंसे, टीकाओं या आलोचनाओंसे अथवा नकल करके, पर्चे चुराकर, किसी अन्यायमार्गसे परीक्षामें उत्तीर्ण हो जायँ, इतना ही लक्ष्य बन गया है। आज उपाधियाँ तथा प्रमाणपत्र (सर्टिफिकेट) अभीष्ट बन गये हैं। योग्यताके स्थानपर विद्यालयोंसे ऊँची-ऊँची उपाधियाँ लेकर निकलनेवाले बालकोंकी योग्यता इतनी थोड़ी होती है कि उसे देखकर आश्चर्य होता है। पाठ्य-पुस्तकोंका भार यद्यपि बहुत बढ़ गया है, किंतु बालकोंका बौद्धिक स्तर बराबर गिरता जा रहा है। देश एवं समाजके लिये यह स्थिति बहुत ही निराशापूर्ण है। अध्ययनमें रुचि हुए बिना बालकका ज्ञान विस्तृत नहीं हो सकता। अतएव बच्चोंको अध्ययनके लिये भरपूर प्रोत्साहन मिलना चाहिये।

कोई भूखा हो और उसे देनेके लिये हमारे पास भोजन न हो तो उसे कंकड़, पत्थर या मिट्टी खानेको नहीं दी जा सकती। कोई बीमार हो और उसके लिये हमारे पास ओषधि न हो तो हम उसे विष थोड़े ही दे देंगे। लेकिन अध्ययनके क्षेत्रमें बालकोंके साथ यही किया जा रहा है। बालकका जीवन उसके अध्ययनपर निर्भर है, यह जानकर भी बालकोंको ऐसी शिक्षा दी जाती है, उनको ऐसी पुस्तकें पढ़नेको दी जाती हैं कि उनका जीवन सुधरनेके स्थानपर नष्ट हो जाता है। संयमके बदले असंयम, श्रद्धाके बदले अविश्वास, विनयके स्थानपर उद्दण्डता और शान्तिके बदले अशान्तिकी शिक्षा देनेवाला साहित्य उनको पढ़नेको मिलता है।

आजकी शिक्षा तो ज्ञानके बदले अज्ञान देती है, प्रकाशके बदले अन्धकारमें ले जाती है। आज बालकोंको

पढ़ाया जाता है कि 'आर्य भारतके बाहरसे आये। मनुष्यके ज्ञानका उत्तरोत्तर विकास हुआ है। पहलेके लोग असभ्य, मूर्ख और जंगली थे। धर्म तथा धर्मग्रन्थोंको मानना मूर्खता है। संयम और सदाचारका पालन दासता है।' इस प्रकारकी शिक्षा पाठ्य-पुस्तकोंमें, पत्र-पत्रिकाओंमें तथा साहित्यके दूसरे ग्रन्थोंमें आज भर गयी है। बालकको शिक्षा तथा स्वाध्यायके नामपर ऐसा ही साहित्य आज मिलता है।

यदि कोई प्रकाशकी ओर न चल सके तो अन्धकारमें उसे नहीं जाना चाहिये। कोई गड्ढेके किनारे खड़ा हो और पीछे न लौट सके तो उसे खड़े रहना चाहिये, इसके बदले कि वह पैर आगे बढ़ावे और गड्ढेमें गिरे। आजके समाज-की 'प्रगति' तो गड्ढेमें गिरानेवाली प्रगति है। ऐसी शिक्षा और ऐसे साहित्यके अध्ययनकी अपेक्षा बालकका अशिक्षित रह जाना कुछ बुरा नहीं है। स्वाध्याय आवश्यक है—वैसे ही आवश्यक है, जैसे भोजन; किंतु आवश्यक होनेसे ही हम जैसे मिट्टी-गोबर या संखिया-अफीम नहीं खाने लग सकते, वैसे ही बालकोंके जीवनको नष्ट करनेवाला, उनकी बुद्धिको विकृत करनेवाला साहित्य उन्हें नहीं पढ़ाना चाहिये। विष केवल शरीरको नष्ट करता है, परंतु मनपर पड़ा बुरा प्रभाव आचरणको नष्ट करके मृत्युके उपरान्त भी नरककी पीड़ा देनेवाला बन जाता है। विष केवल अपने खानेवाले-को ही मारता है; किंतु विकृतबुद्धि पुरुष अपने देश, अपने समाज तथा अपनी जातिकी हानि करता है और अपने पूरे कुलको नरकमें ले जाता है।

बालकोंको संयम, सदाचार, पवित्रता, सत्य, गुरुजनोंका सम्मान, धर्म तथा धर्मशास्त्रमें श्रद्धा, भगवान्‌में भक्ति हो, ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिये। बालकोंके बौद्धिक ज्ञानकी वृद्धि हो, वे नीति, विज्ञान तथा व्यावहारिक बातोंमें पटु बनें, ऐसी शिक्षा तो मिलनी ही चाहिये; किंतु इससे भी पहले उन्हें संयम, सदाचार तथा आस्तिकताकी शिक्षा मिलनी चाहिये। उनके मनमें धर्मशास्त्र, भगवान् तथा संयमके प्रति आस्था एवं आदरभाव हो यह बात बालकोंकी शिक्षामें सबसे अधिक महत्त्व देनेकी है।

बालकोंको रामायण, भागवत, महाभारत तथा दूसरे पुराणोंके उत्तम चरितोंका परिचय होना चाहिये। भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्णके चरितसे हिंदू-बालक परिचित न हों, यह बहुत दुःखकी बात है। छोटे बच्चोंकी रुचि रामायण, महाभारत, भागवतकी कथाएँ जाननेमें उत्पन्न कर दी जाय तो वे स्वयं बड़ी उत्सुकतासे अपने लिये ग्रन्थ ढूँढ़ते हैं और इससे उनका मनोरञ्जन होनेके साथ, बौद्धिक विकास भी होता है। धर्मशास्त्रके आचारकी शिक्षा भी बालकको मिलनी चाहिये और ऐसा यत्न होना चाहिये कि उसकी प्रवृत्ति स्वयं आचारके नियमोंको जाननेकी ओर हो जाय। भगवान्‌के अवतार-चरित, भगवान्‌के भक्तोंके चरित, आदर्श पुरुषोंके चरित तथा संयम, सदाचारकी शिक्षा देनेवाले दूसरे ग्रन्थ, बालकोंके स्वाध्यायके योग्य हैं। माता-पिता तथा अभिभावकोंका ही यह कर्तव्य है कि वे बालकोंको धार्मिक एवं आदर्श साहित्य पढ़नेको दें और इस बातका ध्यान रक्खें कि बालक आजकलकी कहानी-उपन्यासकी पुस्तकों तथा आचारसे गिरानेको प्रोत्साहित करनेवाली पत्र-पत्रिकाओंको पढ़नेमें प्रवृत्त न हो।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।　　(योगदर्शन)

स्वाध्यायसे आराध्यदेवताका साक्षात्कार होता है। यह स्वाध्यायका सबसे बड़ा महत्त्व है। यहाँ स्वाध्यायका अर्थ है—पाठ और जप। रामायण, गीता और भागवत पाठके लिये बहुत उत्तम ग्रन्थ हैं। छोटे बालक हनुमानचालीसा, रामायण—सुन्दरकाण्ड तथा गीताका पाठ करते हैं। पाठका एक निश्चित नियम बना लेना चाहिये और उतना पाठ नित्य अवश्य करना चाहिये। पाठका प्रभाव स्थिर एवं गम्भीर होता है। किसी ग्रन्थके नित्य पाठ करनेसे उसके संस्कार चित्तपर स्थिर हो जाते हैं। इसके साथ ही गीता, रामायण आदि पवित्र ग्रन्थोंके पाठमें दिव्य शक्ति होती है। इनके पाठ करनेवालेको एक मनोबल मिलता है, जो उसके चित्तको शुद्ध करता है, एवं उसके दुर्गुणोंको दूर करनेमें उसकी सहायता करता है। पाठ प्रत्येक व्यक्तिके लिये बहुत लाभदायक है और बालकोंको तो उससे सबसे अधिक लाभ होता है। जैसे ही बालक पाठ करने योग्य हो जाय, उसे यह उत्तम अभ्यास कराना चाहिये। जीवनमें नियमितता वह पहला और महत्त्वपूर्ण सद्गुण है जो पाठ करनेवाले बालकोंमें आपको स्पष्ट दिखायी पड़ेगा। पाठके साथ यदि बालक भगवान्‌के किसी नामका जप करनेका नियम बना ले तो उसे बहुत शीघ्र उसका प्रभाव जान पड़ेगा। नाम-जपकी एक संख्या बना ली जाय और उतना जप नित्य नियमपूर्वक अवश्य किया जाय। भगवान्‌के नामकी महिमा शास्त्रोंमें बहुत अधिक है। सभी महापुरुषोंने नामकी महिमाका वर्णन किया है। महात्मा गाँधीजी रामनामको ही अपना

सर्वस्व तथा अपनी समस्त शक्तिका मूल कारण मानते थे । लेकिन जो शास्त्रोंमें तथा महापुरुषोंमें विश्वास नहीं करते, उनको भी यह तो जानना ही चाहिये कि जपके समान मस्तिष्कको शक्ति देनेवाली दूसरी कोई ओषधि नहीं है। नित्य नियमपूर्वक जप करके कुछ महीनोंमें ही इसका अनुभव किया जा सकता है ।

यह भूलनेकी बात नहीं है कि सुख और शान्ति ही सबका एकमात्र उद्देश्य है और असंयम तथा अनाचारके द्वारा दुःख एवं अशान्ति ही मिलती हैं। स्वाध्यायका उद्देश्य है ज्ञानकी प्राप्ति—ज्ञानकी वृद्धि, और ज्ञान वही है जो मनुष्यको सुख-शान्तिका मार्ग दिखला सके । जो मनुष्यको अशान्तिकी ओर ले जाता है, वह अज्ञान है। बालक अज्ञानको अपनानेसे बचें । ऐसे साहित्यका अध्ययन करें जो उन्हें ज्ञान प्रदान करे। उन्हें संयम तथा सदाचारपर स्थिर रक्खे। भगवान् तथा धर्ममें उनकी श्रद्धा दृढ़ करें, केवल ऐसे ही साहित्य स्वाध्यायके योग्य हैं। इन्हींके अध्ययनसे स्वाध्यायका पूरा लाभ प्राप्त हो सकता है।

स्वाध्याय स्वयं एक तप है। श्रुतिका आदेश है—

स्वाध्यायान्मा प्रमदः।

स्वाध्यायसे प्रमाद मत करो! उत्तम ग्रन्थोंके अध्ययनमें प्रमाद नहीं करना चाहिये; क्योंकि उनसे सद्गुणोंकी प्राप्ति होती है, ज्ञानका विस्तार होता है, दुर्बलताओं तथा दुर्गुणोंको दूर करनेके लिये बल मिलता है। श्रद्धा दृढ़ होती है। विचार परिपक्व होते हैं। लेकिन स्वाध्याय उत्तम ग्रन्थोंका ही करना चाहिये। निकृष्ट साहित्यके अध्ययनसे दुर्गुणोंकी वृद्धि होगी। नैतिकता तथा आचारका नाश होगा। इसके साथ ही स्वास्थ्य भी नष्ट होगा। जीवनसे सुख-शान्ति दूर हो जायगी।

जहाँ दूसरे कोई उत्तम ग्रन्थ न मिल सकें, वहाँ रामायण तथा गीताका ही बार-बार अध्ययन एवं नित्य पाठ करना चाहिये। धार्मिक एवं आध्यात्मिक पत्र, धार्मिक ग्रन्थ, सदाचारकी शिक्षा देनेवाली कथाएँ बालकोंके स्वाध्यायके लिये चुनने चाहिये। बालकोंके संरक्षकोंको सावधानीपूर्वक बालकों-की रुचि तथा हितका ध्यान रखकर उनके अध्ययनका साहित्य चुनना चाहिये। सु०

गंदे साहित्यसे बालकोंके जीवनपर कुप्रभाव

एक नगरकी नगरपालिकाके विरुद्ध सभाएँ हो रही थीं और समाचारपत्रोंमें लेख लिखकर उसे कोसा जा रहा था। उसके प्रबन्धकी निन्दा हो रही थी। उसके सदस्योंको भला-बुरा कहा जा रहा था। बात इतनी ही थी कि नगरपालिकाकी कूड़ेकी गाड़ियाँ दिनके समय, जब कि रास्तेपर लोग चलते-फिरते होते थे, कूड़ेसे लदी हुई निकलती थीं और उनपर कूड़ेको ढकनेके लिये टाटके टुकड़े भी नहीं होते थे।

एक सज्जन स्वास्थ्यपर आवश्यकतासे बहुत अधिक ध्यान देते थे। इसका फल यह हुआ था कि वे मल तथा मूत्रके परिमाण, रंग, गन्ध आदिकी प्रायः चर्चा किया करते और यह बताते कि वे रंग, परिमाण आदि किस दशाके सूचक हैं। उनके साथ कोई भी भोजन करने बैठना नहीं चाहता था। बात करते समय लोग प्रायः उन्हें रोक देते थे बोलनेसे। उनकी बातें सुनकर अनेक बार लोग घृणाके भाव व्यक्त करते थे।

क्या आप किसी ऐसे नगरमें कभी गये हैं, जहाँ नगरपालिकाकी मैला-गाड़ियाँ मल ढोया करती हैं? किसी ऐसी गाड़ीके पाससे आपको निकलना पड़ा है? क्या दशा होती है आपकी? यदि वह गाड़ी सड़कपर उलट पड़े ....। आपको यह कल्पना भी बहुत बीभत्स जान पड़ती होगी। हमारे, आपके शरीरसे ही वह गंदगी निकलती है। शरीरमें वह सदा ही भरी रहती है। लेकिन क्या इसीलिये नगरपालिकाको आप यह अधिकार केवल एक दिनके लिये देना पसंद करेंगे कि वह नगरकी एक दिनकी पूरी गंदगीका ढेर नगरके मुख्य बाजारमें चौबीस घंटेके लिये लगा दे और कहे—'देखिये! यह सब आपलोगोंके शरीरसे ही निकला है।'

वास्तविकताके नामपर आज साहित्यमें इसी प्रकार गंदगीका प्रदर्शन किया जा रहा है और आश्चर्य तो यह है कि यह प्रदर्शन बड़े गौरवसे किया जाता है। मनुष्य जैसे भोजन करता है, जैसे शौच जाता है, वैसे ही उसमें संतानोत्पादककी क्रिया भी है। उसके मनमें तथा चरित्रमें बुराइयाँ भी हैं; किंतु वास्तविकताके नाम-पर जैसे मल तथा मल-त्यागकी क्रियाका वर्णन एवं मलका प्रदर्शन अशिष्टताके साथ निन्दनीय भी है, वैसे ही मनुष्यकी

काम-प्रवृत्तिका वर्णन भी अशिष्ट एवं निन्दनीय है। मनुष्यकी आचारगत बुराइयोंका भड़कीला वर्णन तो मलकी प्रदर्शनीके समान है, जो समाजकी रुचि तथा मानसिक स्वास्थ्यके लिये अत्यन्त घातक है !

आज कहानी: उपन्यास, नाटक तथा अन्य भी दूसरे प्रकारके साहित्यमें अश्लीलता भरी दीख पड़ती है। वासनाको उद्दीप्त करनेका प्रयत्न ही आज जैसे 'कला' बन गया है। इस मुख्य गंदगीके साथ और भी दूसरी अनेक गंदगी हैं। शास्त्रोंका, धर्मका, ईश्वरका उपहास किया जाता है। सदाचार एवं सतीत्वको कायरता, मूर्खता, दासता आदि नाम दिया जाता है। झूठ, चोरी, छल आदिको ऐसे रूपमें उपस्थित किया जाता है कि उनके प्रति अरुचि न रहे और सहानुभूति जाग्रत् हो। व्यभिचारके तरीके उदाहरणसहित पुस्तकोंमें वर्णन किये जाते हैं। दोषोंके वर्णन विस्तारपूर्वक किये जाते हैं। अनेक बार उनको बड़ा भव्य रूप दिया जाता है। यह सब करके क्या उद्देश्य सिद्ध होगा, आज यह पूछना भी अपराध है! आजका कलाकार तो कलाका उपासक है। उसकी 'कला कलाके लिये' है, भले वह समाजके लिये 'काल' ही हो।

कला कलाके लिये होती हो तो हुआ करे; किंतु कलाकार अपनी कलाको अपनेतक ही कहाँ सीमित रखता है। वह यदि उसके प्रचारका प्रयत्न न करे तो समाजको उससे क्या लेना-देना है। हमारा उन लोगोंसे कहाँ विरोध है, जो गंदगीका निरीक्षण करनेमें सुखी होते हैं। लेकिन नगरपालिका गंदगीकी प्रदर्शनी करे या कूड़ेकी गाड़ियाँ बिना ढके बीच बाजारसे निकाले तो इसका प्रभाव नगरके स्वास्थ्यपर पड़े बिना कैसे रह सकता है। जब यह धुन है कि हमारी रचना छपे, उसका प्रचार-प्रसार हो, वह समाजमें रखी जाय तो उसका प्रभाव समाजके मानसिक स्वास्थ्यपर क्या पड़ेगा, इसकी उपेक्षा कैसे की जा सकती है।

स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये आवश्यक है कि गंदगी ढक दी जाय, दूर कर दी जाय, दबा दी जाय या जला दी जाय। गंदगी सत्य है, वास्तविक है, लोगोंके अपने शरीरसे ही निकली है; किंतु उसे खुला करना, फैलाना स्वास्थ्यके लिये हानिकारक है। उसका वर्णन भी घृणोत्पादक एवं स्वास्थ्यके लिये प्रतिकूल ही है। इसी प्रकार मनुष्यकी आचारगत गंदगी चाहे जितनी वास्तविक हो, पर है वह नेत्रोंसे दूर कर देने योग्य। उसको खुला करके सामने रखनेसे मानसिक स्वास्थ्यका नाश होगा। दूसरा कोई उद्देश्य उससे सिद्ध नहीं हो सकता।

मनुष्यकी सहज प्रवृत्ति बुराइयोंकी ओर होती है। जैसे बीमार व्यक्ति कुपथ्यकी इच्छा करता है, वैसे ही मनुष्यका मन असंयमकी ओर झुकता है। इस दशामें एक ही मार्ग होता है कि बीमार स्वयं बुद्धिसे काम ले और अपनी कुपथ्यकी रुचिको दबावे तथा दूसरे लोग उसे इसके लिये प्रोत्साहित करें। कुपथ्यकी वस्तुएँ उससे दूर रखी जायँ और उनकी चर्चा वहाँ न की जाय। यदि किसी रोगीको खटाई प्रिय है, पर वह उसके लिये हानिकारक है और उसके पास इमली रख दी जाय अथवा उसके सामने बार-बार इमलीकी चर्चा की जाय तो रोगीकी क्या स्थिति होगी ? मनुष्यमें वासनाएँ तो पहलेसे हैं, वह असंयम एवं अनाचारकी ओर पहलेसे झुकना चाहता है और अब उसे जो साहित्य मिलता है, उसमें उसको वासनाओंको उत्तेजित करनेके साधन मिलते हैं। अपने प्रिय कुपथ्यको पाकर जैसे रोगी हर्षित होता तथा जोरसे उसे ग्रहण करता है, वैसे ही गंदे साहित्यको आजका मानसिक दृष्टिसे रोगी-समाज पकड़ रहा है—अपना रहा है। इसका फल क्लेश एवं अशान्तिकी वृद्धिको छोड़कर और कुछ हो ही नहीं सकता।

बालककी स्थिति वयस्क पुरुषसे भिन्न होती है। बालककी प्रकृति सीखने और अनुकरण करनेकी होती है। उसका मस्तिष्क विकसित हो रहा है, अतः प्रकृति देवी उसे अपने ज्ञानकी वृद्धिकी ओर लगा रही हैं। बालकमें अच्छे और बुरेका निश्चय करनेकी शक्ति नहीं होती और न अपनी जाग्रत् रुचिको नियन्त्रित करनेकी उनमें शक्ति होती है। बालकके सामने यदि आप किसी चोरकी निन्दा करते हैं और यह कहते हैं कि चोरी करना बुरा है, तब तो ठीक है। बालककी चोरीके प्रति घृणा हो जायगी और यह घृणा उसके पूरे जीवनमें बहुत कुछ स्थिर रहेगी। लेकिन यदि निन्दा करनेके साथ आप यह वर्णन भी करते हैं कि उस चोरने किस प्रकार कितने कौशलसे चोरी की तो बालक चोरीकी निन्दापर ध्यान नहीं देगा। वह चोरी करनेके कौशलपर ध्यान देगा और स्वयं भी उसी प्रकार चोरी करनेकी इच्छा करेगा। आश्चर्य नहीं कि वह चोरी करनेका प्रयत्न भी करे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बालकके सामने बुराइयोंका स्पष्ट वर्णन उसे

बुराईमें ही प्रवृत्त करता है । आजका गंदा साहित्य बच्चोंके हृदयपर कैसा प्रभाव डालेगा, यह समझा जा सकता है और समाजमें कहीं भी उस प्रभावको देखा जा सकता है ।

बालकके चित्तपर जिस बातका जैसा प्रभाव पड़ता है, वह बहुत स्थायी होता है । अपने जीवनमें बालक उस प्रभावको बड़ी कठिनाईसे ही दूर कर पाता है । अनेक बार कुछ भ्रान्त धारणाएँ किसी कारण-विशेषसे ही बचपनमें हम बना लेते हैं और वे धारणाएँ हमें जीवनमें बराबर प्रेरित करती रहती हैं । बचपनका यह भ्रम इतना दृढ़ होता है कि यदि कोई बहुत प्रबल निमित्त उसे दूर करनेवाला न मिले तो वह प्रायः अन्ततक बना ही रहता है ।

बालकका मस्तिष्क और उसका स्वभाव एक कच्चे घड़ेके समान है । उसपर जो कुछ चिह्न पड़ेंगे, अमिट हो जायँगे । इसके साथ इतना और जोड़ लेना चाहिये कि वह चिह्नोंको ग्रहण करनेके लिये स्वयं प्रयत्नशील रहता है । अब यदि बालकके हाथमें गंदा साहित्य आता है, तो वह उसकी गंदगीको अपने स्वभावमें ले लेगा । उसकी कुप्रवृत्तियाँ दृढ़ होंगी । इन प्रवृत्तियोंसे छूटना उसके लिये बहुत कठिन हो जायगा । उसका जीवन तो दुःखमय बनेगा ही; समाजमें भी उसके द्वारा अशान्ति एवं अव्यवस्था फैलेगी ।

प्रवृत्तिका एक स्वभाव है कि उसको एक बार अपना लेनेपर वह स्वतः बढ़ती जाती है । जो पुरुष कोई पाप करता है, उसके पापका संस्कार उसे बार-बार पापकी ओर ले जानेको उकसाता रहता है । उससे बार-बार पाप होते हैं और उसका जीवन पापमय बन जाता है । यदि पुरुष कोई सत्कर्म करता है तो उसे उस कर्मके संस्कार बार-बार सत्कर्म करनेको प्रेरित करते हैं । उसका जीवन पवित्र एवं पुण्यमय बन जाता है । इसलिये 'बालक एक गंदी पुस्तकको एक बार पढ़ ही ले तो क्या हुआ' यह तर्क ठीक नहीं है । एक बार जब बालकको गंदे साहित्यके पढ़नेकी चाट लग जाती है तो वह बार-बार उसी प्रकारका साहित्य ढूँढ़ता है । अपने पढ़े साहित्यके प्रभावसे प्रभावित होकर वह वैसी ही चेष्टा करने लगता है । उसका आचार नष्ट हो जाता है । उसका जीवन व्यर्थ एवं दुःखमय बन जाता है ।

प्रत्येक व्यक्ति चाहता है—वे व्यक्ति भी जो कि बड़े उत्साहसे गंदा साहित्य लिखते हैं, धर्म तथा सदाचारका खण्डन करते हैं, चाहते यही हैं कि उनकी पत्नी और पुत्री सदाचारिणी रहें । उनका पुत्र आवारा न बने । वह विनयी और सत्यवादी हो । पढ़नेमें मन लगावे तथा माता-पिताका सम्मान करे । लेकिन यह हो कैसे ? बालक जब पुस्तकोंमें इनसे विपरीत बातें पढ़ता है, तब वह उन्हींको अपना लेता है । उसे वे पुस्तकें प्रिय हो जाती हैं । जब कोई पातिव्रत्यको दासता कहे और लिखे तो उसे यह आशा क्यों करनी चाहिये कि उसकी कन्या तथा पत्नी शीलवती रहेगी । जब धर्म और ईश्वरपर अविश्वासकी प्रेरणा आप साहित्यके द्वारा बच्चेको देते हैं तो वह माता-पितामें ही क्यों श्रद्धा करे और उनकी बात ही क्यों माने ।

आज पाठशाला तथा छात्रालयोंके छात्रोंकी स्थिति देखिये—बालक अपने अध्यापकों तथा गुरुजनोंका अपमान करते हैं, सार्वजनिक स्थानोंपर अशिष्ट व्यवहार करते हैं, अन्याय और अत्याचार करनेमें सबसे आगे रहना चाहते हैं और यह सब करके गर्वका अनुभव करते हैं । ऐसा क्यों होता है ? यह इसीलिये होता है कि उनको इसी प्रकारका साहित्य पढ़नेको मिलता है ।

गंदे साहित्यसे बालकमें गंदी आदतें आती हैं । आगे चलकर वह उन बुराइयोंको समाजमें फैलाता है । आज एक ओरसे कहा जा रहा है कि देशका उत्थान तबतक नहीं हो सकता, जबतक लोगोंका नैतिक स्तर ऊँचा न हो । झूठ, चोरी, घूस, हत्या, अनाचार आदि जबतक हमारे स्वभावसे न चले जायँ, कोई भी शासकसंस्था तथा कोई भी कानून कैसे सुव्यवस्था स्थापित कर सकता है । लेकिन नैतिक स्तर ऊँचा कैसे हो ? हमारा गंदा साहित्य बालकोंको भ्रष्ट भी करता रहे और नैतिक स्तर भी ऊँचा हो, यह कैसे सम्भव है । हम धर्म, ईश्वर और संयमका खण्डन करके, इनका उपहास करनेवाली पुस्तकें बच्चोंके हाथमें देकर कैसे आशा करते हैं कि वे नीतिमान् रहेंगे ।

समाजके कल्याणकी बात तो है ही, बालकके अपने जीवनकी बात भी है । गंदी पुस्तकें बालकमें जो गंदी आदतें डालती हैं, उनके कारण आगे चलकर बालकका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है । उसका मन बराबर अशान्त रहता है । आज आत्महत्या करनेवाले युवकोंकी संख्या बढ़ती जा रही है, आत्महत्याका बार-बार संकल्प करनेवालोंकी संख्याकी तो कुछ गणना ही नहीं है । यह निराशा, यह दुःखमय स्थिति गंदे साहित्यने बालकोंको दी है । गंदे साहित्यको पढ़कर

उनका जीवन नष्ट हो गया है, इसे वे स्वयं अनुभव करने लगते हैं। अतएव बालकोंको गंदे साहित्यके पठन-पाठनसे सावधानीपूर्वक दूर रहना चाहिये। यह सरलतापूर्वक तभी सम्भव होगा, जब उन्हें पढ़नेके लिये उत्तम साहित्य प्राप्त हो। उनकी रुचि अच्छे, सदाचारको प्रेरणा देनेवाले ग्रन्थोंकी ओर कर दी जाय या हो जाय। सु०

वर्तमान कुछ पत्र-पत्रिकाओंकी अनैतिक प्रवृत्ति और बालकोंको उससे बचानेकी आवश्यकता

'कुएँमें भाँग पड़ गई' यह एक लोकोक्ति है। किसी कुएँके जलको मादक बनाने जितनी भाँग कभी किसी कुएँमें पड़ी या नहीं, यह तो पता नहीं; किंतु जहाँतक हिंदीके साहित्यिक क्षेत्रकी बात है—प्रायः पूरे कुएँमें ही भाँग पड़ी जान पड़ती है। आजके अधिकांश पत्र-पत्रिकाओंमें जो लेख, कहानियाँ, कविताएँ आदि मिलती हैं, वे इस बातके प्रमाण हैं। जैसे सारी मर्यादा, समस्त शिष्टाचारको नष्ट कर देना ही आजके लेखकका परम पुरुषार्थ हो गया है। बड़े गौरवसे आजका लेखक नंगी कामुकताका वर्णन करता है, प्राचीन आदर्श चरित्रोंकी खिल्ली उड़ाता है और शिष्टाचारको नष्ट करनेका प्रचार करता है। यह सब करके वह क्या चाहता है, यह सोचनेका उसे अवकाश नहीं। वह तो अपने उच्छृङ्खल तर्कपर गौरव करता है। कहानी-लेखक तो इतना खुला एवं अश्लील चित्रण करते हैं कि उसे वे स्वयं दूसरोंके सामने पढ़नेमें हिचकेंगे। ऐसे लेखक तथा उसके प्रकाशक यह नहीं सोचते कि यह साहित्य क्या वे अपने पुत्र, कन्या, बहिन आदिके हाथोंमें देना चाहेंगे। इस प्रकारके साहित्यका परिणाम होता है अनाचार!

प्रत्येक चिकित्सक यह जानता है कि यदि किसीकी काम-प्रवृत्ति बराबर उत्तेजित होती रहे तो वह थोड़े ही दिनोंमें नपुंसक हो जायगा। स्त्रियोंके नग्न या अर्धनग्न चित्र छापकर अश्लील कहानियाँ तथा कविताएँ देकर आजके पत्र क्या चाहते हैं, यह सोचना कठिन है। केवल पैसेके लिये समाज एवं देशको अन्धकारके गड्ढेमें जान-बूझकर गिरानेकी यह प्रवृत्ति अत्यन्त घृणित है। इस गंदे प्रचारके प्रवाहमें बालक बह जाते हैं। उनमें अनेक कुप्रवृत्तियाँ आ जाती हैं। थोड़े ही दिनोंमें उन्हें पौष्टिक ओषधियोंकी आवश्यकता होने लगती है। आज सबसे अधिक विज्ञापन वीर्यवर्द्धक ओषधियों तथा तिलाके होते हैं और इनके सबसे अधिक ग्राहक युवक होते हैं। युवावस्थामें ही इन ओषधियोंकी उन्हें आवश्यकता हो जाती है। ये ओषधियाँ उन्हें लाभके बदले हानि ही अधिक पहुँचाती हैं। ओषधियोंके चक्करमें पड़कर वे धन और स्वास्थ्य दोनों गँवा देते हैं।

उत्तेजक साहित्यका प्रभाव सबसे पहले बालकपर यह पड़ता है कि उसे कुतूहल होता है। वह उसी प्रकारकी बातें बार-बार पढ़ना चाहता है, साथ ही अपनी इस प्रवृत्तिको वह छिपाना भी चाहता है। इसके साथ उसमें झूठ और छल आता है। आगे चलकर वह धृष्ट हो जाता है। उसमें आवारापन आ जाता है। गुरुजनोंका अपमान करना, गंदे परिहास, महिलाओंको छेड़ना आदि उसके स्वभावमें आ जाते हैं। उसमें अनेक कुटेवें आ जाती हैं। वह प्रयत्न करता है कि जैसी कहानियाँ या कविताएँ वह पढ़ता है, उसके अनुसार स्वयं भी कार्य कर सके। अपनी कुटेवोंके कारण तथा बार-बार उत्तेजनाके कारण उसे वीर्य-सम्बन्धी रोग हो जाते हैं। यदि किसी युवकमें कोई दूसरी गंदी आदत न भी पड़े, तो भी केवल वासनाको उद्दीप्त करनेवाले लेखोंको बार-बार पढ़नेसे ही उसे वीर्य-सम्बन्धी रोग हो जायँगे। बार-बार इन्द्रियमें उत्तेजना आनेसे, बार-बारके मानसिक पापसे वह नपुंसकताके निकट अवश्य पहुँच जायगा।

बालकका मन तथा उसके शरीरकी धातुएँ अपरिपक्व होती हैं। इस अवस्थामें यदि वह ब्रह्मचर्यका पूरा पालन न करे तो उसका शरीर तथा उसका मन—दोनों क्षीण हो जाते हैं। जो लोग बाल-विवाहका विरोध करते हैं, उनकी प्रधान युक्ति यही है कि इससे बालक सदाके लिये शरीरसे अशक्त तथा मनोबलसे रहित हो जाता है। लेकिन आजकी पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित होनेवाला गंदा साहित्य तो और भी भयंकर है। वह बालकको बार-बार मानसिक पापमें प्रवृत्त किया करता है। उसका अपरिपक्व मन बुराइयोंसे भर जाता है और उसे उस कच्ची अवस्थामें ही वीर्य-सम्बन्धी रोग हो जाते हैं। साथ ही वह धृष्टता, उच्छृङ्खलता आदि अनेक दुर्गुण भी सीख लेता है।

समाजको स्वस्थ, तेजस्वी, सच्चरित्र, शिष्ट तथा अनुशासन-प्रिय विश्वस्त युवक चाहिये। जिस समाज या देशमें ऐसे युवक नहीं होंगे, वह समाज उन्नति कर नहीं सकता। वह तो सदा पददलित एवं तिरस्कृत समाज बना रहेगा। शिक्षा ही बालकके चरित्रका निर्माण करती है। आजके साहित्यकार तथा पत्र-पत्रिकाओंके प्रकाशक जो शिक्षा दे रहे हैं, उसका क्या प्रभाव होगा? इस अश्लील साहित्यको पढ़कर हमारे बालक रोगी, दुर्बल, निस्तेज, चरित्रहीन बनते हैं। उनकी स्थिति ऐसी हो जाती है कि उनपर विश्वास करना कठिन होता है। आजके विद्यालयोंके छात्रोंमें अनुशासन नामकी कोई वस्तु रह ही नहीं गयी है। अशिष्टताको वे गौरव एवं मनोरञ्जनकी वस्तु मानते हैं। यह सब उनमें कहाँसे आता है? पुस्तकोंसे तथा पत्र-पत्रिकाओंके साहित्यसे। ऐसे युवकोंका निर्माण आजका साहित्य कर रहा है।

पत्र-पत्रिकाओंमें लेखों, कविताओं तथा कहानियोंके साथ जो चित्र छपते हैं, वे भी प्रायः वासनाको उत्तेजित करनेवाले होते हैं। अर्धनग्न स्त्रियोंके चित्र छोड़कर जैसे कलाके लिये दूसरा आश्रय ही नहीं रहा है। इसके साथ सिनेमाके नट-नटियोंके चित्रोंका प्रकाशन होता है। आजकल यह पैसा कमानेका एक अच्छा साधन हो गया है। फिर इस साधनके द्वारा हमारे बालकोंका, हमारे समाजका कैसा पतन होता है, यह देखनेकी आवश्यकता कहाँ किसको प्रतीत होती है?

हिंदीके पत्रोंमें एक उत्तम प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई—अश्लील विज्ञापन नहीं दिये जायँगे। यह प्रशंसनीय प्रवृत्ति है और प्रायः उच्चकोटिके सभी पत्र इस नियमका सम्मान करते हैं। जो पत्र आर्थिक लाभके लोभमें इस नियमका पालन नहीं करते, उनके प्रति समाजकी अच्छी धारणा नहीं रह जाती। लेकिन अश्लील विज्ञापनोंसे जो हानि होती है, अश्लील कहानियों, अश्लील कविताओं तथा अश्लील चित्रोंसे क्या उससे बहुत अधिक हानि नहीं होती? अश्लील विज्ञापनोंकी भाँति ही क्या ये सर्वथा छोड़ देने योग्य नहीं हैं? लेखक, सम्पादक और प्रकाशक एक बार सोच लिया करें कि जो कुछ वह लिख या प्रकाशित कर रहा है, उसे वह अपनी वयस्क अविवाहिता पुत्री या बहिनको पढ़नेके लिये दे सकता है या नहीं? यदि उस सामग्रीके सम्बन्धमें उनकी कन्या या बहिन कुछ पूछें तो उन्हें संकोच होगा या नहीं? यदि वह सामग्री आप अपने घरके बालकोंके योग्य नहीं समझते तो वह दूसरे किसी भी बालक या युवकके योग्य कैसे हो सकती है?

अश्लील—कामुकताको उत्तेजित करनेवाले साहित्यके साथ हिंदीके कुछ पत्र-पत्रिकाओंमें यह प्रवृत्ति और हो गयी है कि वे नीति, शिष्टाचार एवं धर्मकी मर्यादाओंकी खिल्ली उड़ाते हैं। आदर्श चरितोंपर आक्षेप करते हैं। बड़े आडम्बरसे आदर्श चरितोंको अपमानित किया जाता है। जो पुराने निन्दित चरित हैं, उनकी उत्कृष्टता सिद्ध करने तथा आदर्श चरितोंको गिरानेमें अपनी विद्वत्ताका पूरा व्यय किया जाता है। इसे खोज, प्रतिभा, निर्भीक आलोचनाका भव्य नाम दिया जाता है।

अभी विजयादशमीके अवसरपर एक पत्रमें एक लेख था—'पुतला रावणका जलाना चाहिये या रामका?' लेखकने बड़े आडम्बरसे यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया था कि रावण निर्दोष था। अन्याय रामकी ओरसे हुआ था। इस प्रकारके आक्षेप प्रायः प्रकाशित होते रहते हैं। एक पत्रमें सत्यवादी हरिश्चन्द्रको मूर्ख बतलाया गया था। एक लेखकने श्रीकृष्णको धूर्त और महान् दुराचारी बताया था। ऋषियोंके चरितको निन्दित और असुरोंको प्रशंसायोग्य बताकर आजका लेखक अपनी 'नयी खोज' पर गर्व करता है!

बालकोंपर ऐसी बातोंका यह प्रभाव पड़ता है कि वे उलटी धारणा बना लेते हैं। जब रावणकी प्रशंसा और रामकी निन्दा होगी, तब उसे पढ़नेवाले बालक रावण बनना चाहेंगे या राम? एक अच्छे विद्यालयमें वहाँ पढ़नेवाली कन्याओंके मध्य दीक्षान्त भाषण करते समय एक विद्वान्ने माता सीताका नाम आदर्शरूपसे लिया। वहाँकी कन्याएँ बीचमें बोल उठीं—'यह तो गुलामीका आदर्श है। पुरुषोंने स्त्रियोंको गुलाम बनाये रखनेके लिये पातिव्रत धर्मका जाल फैलाया है।' यह मनोवृत्ति बालिकाओंमें आजके साहित्यसे आती है। अब जिनके मनमें पातिव्रत्यके प्रति तिरस्कार है, उनका आचरण कैसा बनेगा?

नीति, संयम और शिष्टताको ढकोसला बताकर अनैतिक एवं अमर्यादित आचारकी आजके पत्र-पत्रिकाओंमें स्तुति की जाती है। आजके एक महापण्डितने एक स्थानपर लिखा है—'ईश्वर मनुष्यका मानसपुत्र है और धर्म मनुष्यकी दुर्बलताओंका सङ्घीभाव।' यह एकको बात नहीं है—बहुत-से लेखक धर्म तथा ईश्वरकी मान्यताका खण्डन करते

हैं, उनपर व्यंग करते हैं और ऐसे चित्रण करते हैं, जिनमें धर्म तथा ईश्वरमें विश्वास रखना हीनताका द्योतक सूचित किया जाता है। इसके विपरीत धर्मकी मर्यादाओंको स्पष्टरूपसे तोड़ना, भगवान्‌के अस्तित्वको न मानना, उद्धत आचरण करना—प्रशंसनीय बताया जाता है।

बालक-बालिकाओंके कोमल मनपर ऐसे विचारोंका बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। उनमें विवेचनाकी शक्ति नहीं होती। उनका अध्ययन भी बहुत थोड़ा होता है। वे तो जो कुछ पढ़ते हैं, उसे प्रायः सत्य मान लेते हैं। एक बार एक विद्यार्थीने श्रीमद्भागवतपर बहुत-से आक्षेप किये। उसने मुझे श्रीमद्भागवतका पाठ करते देखा था। उसकी दृढ़ धारणा थी कि भागवत बहुत खराब ग्रन्थ है। उसने प्रमाण-स्वरूप अनेक विद्वानोंके मत सुनाये। मैं उसका खण्डन करता तो उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ना था। उसके विचार उन खण्डनात्मक लेखोंको पढ़कर दृढ़ हो गये थे। मैंने उसे श्रीमद्भागवतके वे आठ-दस अध्याय पढ़नेको कहा, जिनपर उसने सबसे अधिक आक्षेप किये थे। मैंने कहा—'तुम इन अध्यायोंको एक बार पढ़कर कल आना। इससे तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देनेमें मुझे सुविधा होगी।' दूसरे दिन वह नहीं आया और तीसरे दिन भी नहीं आया। लगभग एक सप्ताह बाद वह आया और कहने लगा—'मैं बहुत भूलमें था। अब मैं श्रीमद्भागवतको पूरा पढ़ लेना चाहता हूँ। पूरा ग्रन्थ पढ़कर यदि कुछ पूछना हुआ तो पूछूँगा।' पूरा ग्रन्थ पढ़ लेनेके बाद वह स्वयं नित्य पाठ करनेमें लग गया। लेकिन इस प्रकार स्वयं अध्ययन तथा छान-बीन करनेकी योग्यता बहुत थोड़े बालकोंमें होती है। जिनमें होती भी है, उन्हें भी सभी बातोंकी छानबीनका समय मिलना अशक्य ही है। फल यह होता है कि बालक जो कुछ पढ़ता या सुनता है, उसके अनुसार धारणा बना लेता है और वैसा ही आचरण करने लगता है।

कालेजों तथा विद्यालयोंके बालक प्रायः अपने उन साथियों एवं शिक्षकोंका उपहास करते हैं, जो सादगीसे रहना चाहते हैं, संध्या करते हैं, भगवान्‌को मानते हैं। बालकोंमें वह प्रशंसनीय माना जाता है, जो धर्म तथा ईश्वरका उपहास करे, शिक्षकोंको तथा दूसरोंको सबसे अधिक तंग करे, अपने अनाचारमें सबसे आगे बढ़ा हो और खान-पानमें सबसे अधिक नियमोंका भंग कर सकता हो। दुर्गुणोंके प्रति आदर बुद्धि हो गयी है। नियम यह है कि जिस बातमें गौरवबुद्धि होती है, उसे हम अपनेमें ले आना चाहते हैं और जिस बातमें हीनताका भाव होता है, उसे हम अपनेसे दूर करना चाहते हैं। आजके पत्र-साहित्यने बालकोंमें मर्यादा एवं आस्तिकताके प्रति हीनत्वकी बुद्धिका प्रचार किया है। धर्मको अन्धविश्वास, ईश्वरके प्रति आस्तिकताको मूर्खता, पवित्रताको ढकोसला, संयम तथा सदाचारको कायरता सिद्ध करनेका प्रयत्न बराबर आजके पत्रोंद्वारा होता है। बालकोंमें इस साहित्यके ही द्वारा दुर्गुणोंमें महत्त्व-बुद्धि आयी है।

आजके साहित्यने प्रचार किया है कि ऋषिगण आचारहीन थे। ध्रुव, प्रह्लाद प्रभृति चरितोंको, भगवान् राम तथा श्रीकृष्णकी कथाको कल्पित सिद्ध करनेमें पूरी योग्यता खर्च कर दी जाती है। वर्णाश्रमधर्मका पालन दकियानूसी विचार बताया जाता है। पत्र-पत्रिकाओंमें बड़े श्रमसे हिरण्यकशिपु, रावण, शिशुपाल, कंस आदिके चरितोंकी प्रशंसा की जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि बालक ऐसे साहित्यको पढ़कर भगवान्‌के अवतार-चरितोंको कल्पित मान लेते हैं। भक्तों तथा धार्मिकोंके चरितमें उनकी आस्था नहीं रह जाती। उनका संयम और सदाचार आदर्शहीन होकर नष्ट हो जाता है। रावण, शिशुपाल, कंस ही उनके आदर्श हो जाते हैं।

बालकोंको इस अमर्यादित साहित्यसे बचाना अत्यावश्यक है। आजके पत्र-पत्रिकाओंके लेखोंमें, कहानी-उपन्यासोंमें जो कुछ निकलता है, वह विषसे भी अधिक घातक है। बालकका जीवन उससे नष्ट हो जाता है। बालकका मन विकृत हो जाता है। उसकी बुद्धिमें नाना प्रकारके भ्रमोंकी एक परम्परा स्थापित हो जाती है। वह अपने लिये तथा पूरे समाजके लिये भी केवल अव्यवस्था, अशान्ति और दुःखका कारण बन जाता है।

आपका बालक क्या बनेगा? इसका उत्तर सरलतासे दिया जा सकता है, यदि आप बता दें कि वह कैसे सङ्गमें रहता है? कैसी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ पढ़नेमें रुचि रखता है। बालकको बौद्धिक शिक्षण मिले, उसके व्यावहारिक ज्ञानकी वृद्धि हो, ऐसे ही पत्र उसे पढ़नेको मिलने चाहिये। कुछ पत्र-पत्रिकाएँ शिक्षासम्बन्धी होती हैं। इनमें प्रायः एक विषयमात्र होता है। जैसे भूगोलकी शिक्षाके लिये 'भूगोल' है। ऐसे विशेष विषयकी शिक्षा देनेके लिये जो पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं, वे तो उन विषयोंके विद्यार्थियोंके लिये उपयोगी हैं; किंतु जो सामान्य ज्ञानकी वृद्धिके लिये

सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं, उनमेंसे बालकोंके योग्य कितनी हैं, यह कह पाना कठिन ही है। बालकोंके अभिभावकोंको ही इसका निश्चय करना चाहिये।

जिन पुस्तकों या पत्र-पत्रिकाओंमें अश्लील चित्र, अश्लील विज्ञापन, सिनेमाके परिचय तथा विज्ञापन होते हैं, जिनमें काम-प्रवृत्तिको असदाचार, असत्य और हिंसा-द्वेषको उत्तेजित करनेवाली कहानियाँ, कविताएँ, लेख या नाटक होते हैं, जिनमें धर्म तथा ईश्वरका खण्डन छपा करता है, जिनमें भगवान्‌के अवतार-चरित, ऋषियों, भक्तों तथा महापुरुषोंके चरितको हीन बताया एवं सिद्ध किया जाता है, जिनमें गो-वधका समर्थन किया जाता है, ऐसे सभी पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकोंको बालकोंसे बचाये रखना अत्यन्त आवश्यक है। बालक स्वस्थ, सदाचारी एवं मनस्वी बन नहीं सकता, यदि आप उसे ऐसे साहित्यसे पूर्णतः दूर नहीं रखते।

बालकको पढ़नेके लिये जो पुस्तकें या पत्र-पत्रिका दी जायँ, उनमें ये विशेषताएँ अवश्य होनी चाहिये—

१–भगवान्‌पर विश्वास करनेकी प्रेरणा हो।

२–धर्मकी मर्यादाका पालन आवश्यक माना गया हो।

३–भगवान् तथा भगवान्‌के भक्त, सदाचारी, सत्यवादी, परोपकारी, वीर, नियमनिष्ठ, देशभक्त, गुरु एवं माता-पिताके भक्त महापुरुषोंके चित्र एवं चरित्र हों।

४–संयम, सदाचार, सात्त्विक भोजन, सत्य, अहिंसा, दया, परोपकारकी प्रेरणा दी जाय।

५–किसीके भी धर्म एवं आदर्श पुरुषपर आक्षेप न हो।

६–कामुकताको उत्तेजित करनेवाली किसी प्रकारकी कोई सामग्री न हो।

७–सिनेमाके विज्ञापन, सिनेमाके समाचार, सिनेमा-चित्रोंके विवेचन न हों और न सिनेमाके नट-नटियोंके चित्र हों। सु०

सिनेमा-साहित्य एवं सिनेमा-अभिनेत्रियोंके चित्रोंके प्रचारसे बालकोंका पतन

'सिनेमा वर्तमान युगका एक अभिशाप है। उसने माननीय कुलोंकी हजारों कुमारियोंको नाचनेवाली वेश्या और लड़कोंको भाँड़ बना दिया है और उन्हें लाज-शर्म तथा सम्मानके गुणोंसे रहित कर दिया है। सिनेमाका शिक्षा तथा नीति सम्बन्धी जो कुछ भी मूल्य बतलाया जाता है, वह असलमें इसकी बीभत्सताको ढकनेके लिये है। सिनेमा चलानेवालोंको सामाजिक या नैतिक सुधारकी चिन्ता नहीं है, उनका लक्ष्य तो केवल रुपये कमाना है।'

उपर्युक्त मन्तव्य मद्रासके चीफ प्रेसीडेन्सी मैजिस्ट्रेटके फैसलेका यह एक अंश है, जो उन्होंने एक सिनेमा-सम्बन्धी मुकदमेमें किया। इसका प्रत्येक शब्द ध्यान देने योग्य है।

'सिनेमासे लोगोंने चोरीकी नयी-नयी कलाएँ सीखीं, डाके डालने सीखे, शराब पीना सीखा, निर्लज्जता सीखी और भीषण व्यभिचार सीखा।'

'प्राचीनकालसे चली आयी हुई आदर्श-परम्पराओंको रूढिवादी और आडम्बरयुक्त कहकर अनेक चित्रोंमें उनपर जमकर प्रहार किया जाता है। और यह सब होता है कलाके नामपर। प्रत्येक चित्रपटमें भौतिक तथा शारीरिक सौन्दर्यका चतुर्मुखी स्पष्टीकरण किया जाता है।'

'प्रत्येक चित्रमें ऐन्द्रिय तत्त्वोंको गुदगुदानेवाली उद्दाम-वासनाको प्रदीप्त करनेवाली सामग्री भरपूर रहती है, जिसका परिणाम दर्शकोंके मनपर पड़ता है।'

'इसे मनोरञ्जन कहना स्वतःको धोखा देना है। यह असंयमित वासना ही समस्त दुःखों और क्रोधके मूलमें काम करती है।'

देशके सम्मान्य विद्वानोंके इन उपर्युक्त विचारोंपर कोई टीका-टिप्पणीकी आवश्यकता नहीं है। इनके साथ आचार्य विनोबा भावेके सिनेमा-सम्बन्धी निम्न विचार भी ध्यानमें रखने योग्य हैं—

'सभी सच्चे साहित्यिक 'सिनेमाके बढ़ते हुए खतरे'से चिन्तित हैं। पुराने जमानेमें लोग दिनभरके काम-काजके बाद भजन-कीर्तनमें भाग लेते थे और भगवान्‌के नामका स्मरण करते हुए सोते थे और कोई आश्चर्य नहीं कि वे भले विचारोंके होते थे। सिनेमाका प्रभाव इसके बिल्कुल विपरीत है।'

'...स्वराज्य-प्राप्तिके बाद अगर हम अपने चारित्र्यमें शिथिलता आने देंगे तो उसको कमाये हुए स्वराज्यको खोनेकी क्रियाका आरम्भ समझना होगा।'

मद्रास प्रान्तके मुख्य मन्त्री श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचारी महोदयने अपने एक व्याख्यानमें कहा—'सिनेमा-निर्माता लोग गरीबोंकी कठिन कमाईका शोषण कर रहे हैं और जनताको चरित्रभ्रष्ट कर रहे हैं।...वे मनुष्यकी कमजोरियोंको जानते हैं और गंदे चित्र निर्माणकर लोगोंकी नीच प्रवृत्तियोंको उत्तेजितकर उन्हें दुर्भाग्यकी ओर प्रेरित करते हैं।'

उत्तरप्रदेशके महामहिम राज्यपाल श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी महोदयने चेतावनी दी है—'रोज-बरोज हजारों सिनेमाघरोंमें लाखों व्यक्तियोंको अपराध, हत्या, कमीनापन और गंदे जीवनके बारीक-से-बारीक साधनोंकी शिक्षा दी जा रही है। इस प्रकार जनताके उच्च मनोभावों एवं सौन्दर्य-भावनाको नष्ट किया जा रहा है।'

उत्तरप्रदेशके शिक्षामन्त्री श्रीहरगोविन्दसिंहजीने बड़े खेदसे कहा है—'आजकलके विद्यार्थियोंको फिल्मी अभिनेताओंके जीवनकी प्रत्येक बात मालूम है; परंतु अपने देशके इतिहास और अपने नेताओंके सम्बन्धमें उनका ज्ञान एकदम शून्य है।'

एक सुप्रसिद्ध विद्वान्ने एक स्थानपर आलोचना करते हुए लिखा है—'आजकलके लड़के अपने बापको बापके रूपमें नहीं चाहते। उन्हें उपन्यासके बाप-जैसा बाप चाहिये। वे अपनी माताको माता नहीं कहना चाहते, उन्हें कहानीकी माता चाहिये। अपनी साध्वी पत्नी उन्हें एकदम पसंद नहीं। वे उपन्यासमें वर्णित पत्नी चाहते हैं।' उन विद्वान् विवेचककी बात अब सिनेमाके सम्बन्धमें हो गयी है और उसमें इतना और कि—'आजकल युवक-युवतियाँ अपने-जैसे अपनेको भी नहीं चाहते। वे सिनेमाके नट-नटियोंके समान अपनेको देखना चाहते हैं।'

बहुत-से लोग अभिनेता और अभिनेत्रियोंकी वेश-भूषाको ही अपना आदर्श मानते हैं। आजकल लिहाफ और पर्देके कपड़ोंके बुशशर्ट तेजीसे चल पड़े हैं। इससे भी आगे 'आवारा' और 'बरसात'के बुश-शर्ट भी निकले हैं। इन कपड़ोंपर 'आवारा' और 'बरसात'के प्रमुख दृश्य छपे होते हैं। सिनेमाके पोस्टरों-जैसे इन कपड़ोंको पहिनकर बड़े गर्वसे आजके युवक चलते हैं। 'मधुबाला' 'नरगिस' 'सुरैया' आदि सिनेमा-नटियोंके नामकी साड़ियाँ बाजारमें बिकने लगी हैं और वस्त्र-विक्रेताओंका अनुभव है कि ये सिने-सितारोंके नामवाले कपड़े बहुत जल्दी बिकते हैं।

पुरुषोंके साधारण कपड़ोंपर भी जो 'लेबिल' होता है, उसपर पहले भगवान् कृष्ण, भगवान् राम, गणेशजी, लक्ष्मीजी आदिके चित्र होते थे; किंतु अब तो उनपर किसी सिनेमा-नटीका चित्र होता है। साबुनोंको लपेटनेवाले कागजोंपर, तेलकी बोतलोंपर, ओषधियोंपर—जहाँ देखिये वहीं सिनेमा-तारिकाओंके चित्र दीखेंगे। किसी स्त्रीका चित्र दिये बिना आजके व्यापारीका विज्ञापन पूरा ही नहीं होता। वस्तुओंके विज्ञापनमें कहा जाता है कि इसे अमुक सिनेमा-नटी अपने काममें लेती है। पिछले दिनों किसी विश्वविद्यालयके छात्रोंके युनियनके चुनावमें पोस्टर लगाये गये थे कि 'अमुक सज्जनका अमुक सिनेमातारिकाने समर्थन किया है, अतएव उन्हींको वोट दीजिये।' बड़े-से-बड़े लोकनेता और अधिकारी भी सिनेमा-नटियोंके साथ खड़े होकर अपना छायाचित्र खिंचवाते और उसे पत्रोंमें छपवाते हैं। मानो सभी क्षेत्रोंमें वे ही आदर्श हैं।

इन सब बातोंसे यह अनुमान किया जा सकता है कि हमारा समाज कहाँ जा रहा है। संसारमें जिस किसी जातिमें कामुकताकी गंदी प्रवृत्ति मर्यादाहीन होकर बढ़ी, वह जाति अन्तमें नष्ट हो गयी। समाजका जीवन ही सदाचार, सत्य, अनुशासन एवं उदारतापर निर्भर होता है। लेकिन आज चारों ओरसे वासनाओंको बढ़ानेका प्रयत्न हो रहा है।

आज घरोंमें भगवान् तथा महापुरुषोंके चित्रोंके स्थानपर सिनेमाके नट-नटियोंके चित्र सजे मिलते हैं। मेजोंपर, पुस्तकोंमें और सदा जेबमें युवक-युवतियाँ इन चित्रोंको रखते हैं। इसका क्या परिणाम होता है? निरन्तर वासनाका चिन्तन, बराबर मानसिक व्यभिचार। इससे चरित्र नष्ट हो जाता है। मनोबलका ह्रास हो जाता है। स्वास्थ्य चौपट हो जाता है।

आज सिनेमा-सम्बन्धी साहित्य, सिनेमाके नट-नटियोंके चित्र, सिनेमा-विज्ञापनोंकी भरमार है। अनेक पत्र हैं जो केवल सिनेमा-सम्बन्धी साहित्य ही प्रकाशित करते हैं। ऐसे पत्रोंके अतिरिक्त साहित्यिक, राजनीतिक एवं धार्मिक पत्रोंमें भी सिनेमाके विज्ञापनोंकी बहुलता होती है। सिनेमा-सम्बन्धी साहित्यके लिये अधिकांश पत्रोंमें कुछ स्थान सुरक्षित होता है। सिनेमाके नट-नटियोंके चित्र विज्ञापनोंके अतिरिक्त भी छापे जाते हैं।

बाजारोंमें सिनेमाके अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियोंके चित्रोंकी बहुलता है। पदार्थोंके लेबिलों एवं विज्ञापनोंके द्वारा

भी ये चित्र घरोंमें पहुँचते हैं। बाजारोंमें बड़े-बड़े पोस्टर लगाकर, नोटिसें बाँटकर, गाजे-बाजेके साथ जुलूस निकालकर सिनेमावाले जो अपना विज्ञापन करते हैं, वह तो इससे भिन्न ही है। सिनेमाके विज्ञापन नित्य प्रत्येक नगरमें इतने व्यापक परिमाणमें होते हैं कि देशके बड़े-से-बड़े नेताके आनेपर भी उसके आगमनका प्रचार उतना नहीं हो पाता।

बालकोंके कोमल मस्तिष्कपर इसका बहुत घातक प्रभाव पड़ता है। मैंने बहुत छोटे बालकोंको सिनेमाके गंदे गाने गाते हुए सुना है। एक बार एक छोटी बालिका अपने घरकी चौखटपर खड़ी एक बहुत ही गंदे गीतकी पंक्ति बार-बार गा रही थी। सम्भवतः वह उसे सिनेमा-गृहमें सुन आयी थी। वह यह नहीं जानती थी कि उस गीतका क्या तात्पर्य है; किंतु बचपनसे जब उसे ऐसे गीत कण्ठस्थ होने लगे हैं, तब उनका उसके चरितपर क्या प्रभाव पड़ेगा? यह घटना इसलिये भी स्मरण रह गयी कि मैंने देखा कि बालिकाकी माता घरमेंसे निकली और लज्जाके मारे उसने बालिकाके मुखपर हाथ रखकर उसका गाना बंद करा दिया। माता-पिताके द्वारा ही बालिकाको सिनेमाघरमें ले जाकर ऐसे गंदे गीत तथा उनके साथ चलनेवाले दृश्य दिखाये जायँ तो फिर उसे चुप करानेका अर्थ क्या रह जाता है?

यह एकदम वाहियात बात है कि सिनेमामें अच्छे और धार्मिक चित्र भी आते हैं। इस प्रकार तो यह भी कहा जा सकता है कि वेश्याएँ सूर-तुलसीके पद भी गाती हैं। अच्छे सिनेमा देखने-दिखानेको जानेका एक ही फल होता है कि सिनेमा देखनेका चस्का लग जाता है। विशेषतः जब किसी बालकको आप सिनेमा दिखाने ले जाते हैं, तब वह चित्र चाहे जितना अच्छा हो, पर बालकको तो उससे सिनेमा देखनेकी रुचि हो जाती है और फिर वह सभी प्रकारके चित्र देखेगा। प्रतिबन्ध लगानेपर झूठ बोलने और छिपकर सिनेमा जानेकी उसमें आदत पड़ेगी। आप स्वयं सिनेमा जायँ और घरके बालकोंको न ले जायँ, यह तो सोचनेकी बात ही नहीं है। आप जायँगे तो बालकके मनमें भी सिनेमा देखनेकी लालसा जागेगी। अच्छे या बुरे किसी सिनेमाचित्रको बिल्कुल न देखा जाय, यही एकमात्र मार्ग है और इसके लिये दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये। वेश्या चाहे जैसे भजन गावे, उसके पास जानेपर तो वासनाको ही उत्तेजना मिलती है। इसी प्रकार सिनेमाके अच्छे कहे जानेवाले चित्रोंसे भी दर्शक अपने मनकी वासनाओंका ही उद्दीपन प्राप्त करते हैं।

सिनेमावाले अपना जो प्रचार करते हैं, उसपर सरकार ही नियन्त्रण लगा सकती है। अनेक नगरोंमें जुलूस बनाकर विज्ञापन करने, लाउड-स्पीकर तथा बाजोंके साथ विज्ञापन करनेपर प्रतिबन्ध है। यह प्रतिबन्ध सर्वत्र होना चाहिये तथा कड़ा होना चाहिये। पोस्टरोंपर सिनेमा-नटियोंके अर्धनग्न उत्तेजक चित्रोंको देनेपर प्रतिबन्ध होना चाहिये। सिनेमा-चित्रोंकी वर्तमान प्रवृत्तिपर ही नियन्त्रण होना चाहिये। गंदे तथा कामोद्दीपक चित्रोंको प्रचलित करनेकी एकदम अनुमति नहीं मिलनी चाहिये।

सिनेमा-सम्बन्धी जो साहित्य पत्र-पत्रिकाओंमें निकलता है, उसे तो बंद कर ही देना चाहिये। यदि हम-आप अपने घरोंमें ऐसे पत्र-पत्रिकाओंका आना बंद कर दें, जिनमें सिनेमा-विज्ञापन तथा सिनेमा-साहित्य हो, तो पत्र-पत्रिकाओंके संचालकोंपर प्रभाव पड़ सकता है। आज रुपया कमानेकी धुनमें साहित्यके प्रचारक लोग भी यह नहीं देख रहे हैं कि वे बालकोंको किस पतनकी ओर ले जा रहे हैं। हमारे समाजका ऐसा पतन हो गया है कि वह अपने क्षुद्र स्वार्थके लिये पूरे समाजको पतनकी ओर ले जानेका घोर पाप करते भी हिचकता नहीं। इसलिये अपने परिचितोंको भी प्रेरित करना चाहिये और स्वयं भी निश्चय कर लेना चाहिये कि सिनेमा-साहित्य तथा सिनेमा-नटियोंके चित्रोंको आप अपने घरमें नहीं आने देंगे। पत्र-पत्रिकाओंके अतिरिक्त जिन पदार्थोंपर विज्ञापन लेबिलोंके रूपमें ऐसे चित्र हैं, जहाँतक हो सके, उन्हें भी नहीं खरीदना चाहिये।

सिनेमा-सम्बन्धी साहित्य तथा सिनेमा-नटियोंके चित्रोंके प्रचारसे बालकोंके चरितका घोर पतन हुआ है। आजके युवक-युवतियाँ घरोंसे भागकर बम्बई जानेका बराबर स्वप्न देखा करती हैं। भले घरोंकी अनेकों लड़कियाँ भागती हैं और अपने चरितका नाश कर लेती हैं। वहाँ जानेपर उन्हें लगभग वेश्याकी स्थितिमें रहना पड़ता है। घरसे भागे युवक अपनी पूँजी खोकर निराश लौटते हैं। घरसे या जहाँसे मिल सके वे उचित-अनुचित हर प्रकारसे रुपये पानेका प्रयत्न करते हैं और यह धन उनकी सिनेमामें सम्मिलित होनेकी धुनमें नष्ट हो जाता है।

सिनेमा-साहित्यने बालकोंके मनमें एक भयानक उन्माद भर दिया है। उनकी लज्जा, उनका शील, उनकी शिष्टता—सब अच्छे गुण उनके नष्ट हो गये हैं। सिनेमा-नटियोंके चित्रोंके पीछे जो उनका पागलपन है, वह उनके स्वास्थ्यको

चौपट कर रहा है, यह वे समझ ही नहीं पाते। देशके लिये अपने बालकोंका इतना भयंकर पतन बहुत ही चिन्ताका विषय है। बालकोंके स्वास्थ्य एवं चरित्रकी रक्षाके लिये यह नितान्त आवश्यक हो गया है कि उन्हें सिनेमा-चित्रोंसे तो दूर रक्खा ही जाय, सिनेमा-साहित्य तथा सिनेमा-तारिकाओंके चित्रोंसे भी सर्वथा दूर रक्खा जाय। मु०

चलचित्रके सदुपयोगसे बालशिक्षा

(लेखक—श्रीगुर्ती सुब्रह्मण्य, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

संसारमें अमेरिकाके पश्चात् भारतवर्ष ही ऐसा देश है, जहाँ चलचित्रोंकी संख्या सबसे अधिक है। चलचित्रको वर्तमान सभ्यताके आवश्यक अङ्गोंमें स्थान दिया गया है। भारतवर्षमें चलचित्रका प्रचार बहुत-से गाँवोंतकमें पहुँच गया है। इस समय भारतवर्षका ऐसा कोई भाग नहीं है जहाँ चलचित्रोंका प्रचलन थोड़े या अधिक मात्रामें न हो। दस वर्ष पूर्व चलचित्रोंका प्रसार थोड़ेसे वर्गोंके मध्य था, पर युद्धने समाजके समस्त वर्गोंमें इसके प्रति आकाङ्क्षा उत्पन्न कर दी है। क्या ग्रामीण, क्या नागरिक, क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बाल, क्या वृद्ध, क्या श्रमिक, क्या धनिक—सभी वर्गके लोग इसे देखने जाते हैं। इधर दो-तीन वर्षोंसे तो इसका इतना अधिक प्रसार हो गया है कि इसके व्यवस्थापकोंको दिनमें चार-चार बार इसके प्रदर्शन करनेकी आवश्यकता हो गयी है। यह सब होते हुए भी टिकटघरके सामनेका दृश्य शोचनीय है। बड़े-बड़े तथाकथित सभ्योंको टिकट प्राप्त करनेके लिये पंक्तिबद्ध घंटों खड़ा रहना पड़ता है। जहाँ पंक्ति-निर्माणमें किसी प्रकारका अन्तराय आ पड़ता है वहाँ तत्काल पारस्परिक युद्ध होने लगता है। किसीका कुरता फटता देखा जाता है, तो किसीकी धोती। यह सब परिश्रम तथा अमूल्य समयका नाश एक टिकट प्राप्त करनेके लिये होता है। हमारे देश तथा वर्तमान पीढ़ीकी इससे अधिक दयनीय दशा क्या होगी ?

पर इसका यह अर्थ नहीं है कि चलचित्रोंका उपयोग भलाईमें हो ही नहीं सकता। संसारमें प्रत्येक वस्तुका महत्त्व है। उसके सदुपयोग या दुरुपयोगके द्वारा ही गुण-दोषोंका परिज्ञान होता है। विज्ञानके सम्बन्धमें भी यह आरोप लगाया जाता है कि इसके द्वारा संसारका सर्वनाश हो रहा है। वैज्ञानिक यन्त्रोंके अत्यधिक प्रयोगसे संसारमें विनाशकारी युद्धोंकी संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है, अणु-शक्तिके दुरुपयोगसे संसारके सभी भीत और त्रस्त हो रहे हैं; पर इसका अर्थ यह नहीं, विज्ञानमें कोई गुण ही नहीं है, सब दोष-ही-दोष है। हमें उसके गुणोंकी ओर भी दृष्टिपात करना पड़ेगा। विज्ञानके द्वारा संसारके प्रत्येक कार्यमें शारीरिक परिश्रमके स्थानपर वैज्ञानिक यन्त्रोंका उपयोग होने लगा है, जिससे थोड़े समयमें अधिक काम हो पाता है। आज हमारे लिये एक देश दूसरेसे दूर नहीं है; एक व्यक्तिकी बात दूसरेको श्राव्य है, चाहे वह कहींका भी क्यों न हो, और एक दिन ऐसा आ रहा है जब कि एक व्यक्तिके लिये दूसरे दूरस्थ व्यक्तिका देखना भी सरल हो जायगा। अणु-शक्तिके उपयोगसे तो हम असम्भव-से-असम्भव कार्योंको सुगमतासे सम्भाव्य बना सकेंगे।

चलचित्रोंका आज सचमुच बड़ा दुरुपयोग हो रहा है और इससे निःसंदेह समाज पतनकी ओर जा रहा है। तथापि यदि चाहें तो इनका सदुपयोग हो सकता है। चलचित्रोंका सबसे सुन्दर उपयोग इस देशकी शिक्षा और विशेषकर बालशिक्षामें किया जा सकता है। बालकोंकी शिक्षाकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जो वस्तु उन्हें याद करायी जाय, वह यदि प्रत्यक्ष दिखलायी भी जाय तो तत्काल ग्राह्य होगी। जिस वस्तुका जितने अधिक इन्द्रियोंद्वारा उन्हें ग्राह्य कराया जायगा, उतना ही अधिक उनकी शिक्षाकी उन्नति हो सकेगी। चलचित्रोंका प्रभाव उनकी कर्णेन्द्रिय तथा नेत्रेन्द्रिय—दोनोंपर पड़ता है। अतएव जो ज्ञान दोनोंके संनिकर्षसे उनमें पहुँचाया जायगा, वह तत्काल ग्राह्य होगा। इसलिये बालशिक्षामें जो वस्तु पहले सिखलायी जाती है, वही वस्तु प्रत्यक्ष प्रमाणके लिये उसके सामने प्रस्तुत भी की जाती है। इससे बालकोंका मनोरञ्जन तो होता ही है; साथ ही, उनके ज्ञानकी भी वृद्धि होती है।

'बालशिक्षा' एक व्यापक प्रयोग है। इसके अन्तर्गत कई प्रकारकी शिक्षाएँ आ जाती हैं। साहित्यिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा, भौगोलिक शिक्षा, ऐतिहासिक शिक्षा, वैज्ञानिक

शिक्षा, व्यावसायिक शिक्षा आदि थोड़े-से शिक्षाके प्रधान अङ्ग हैं, जिनपर जोर देना मनुष्यका कर्तव्य हो जाता है। साहित्यिक शिक्षासे तात्पर्य है—अक्षर-ज्ञान, कुछ कविताओंका कण्ठाग्र कराना, तुलसी-सूर आदि कुछ श्रेष्ठ महाकवियोंकी जीवनियोंसे परिचय प्राप्त कराना, कुछ व्यावहारिक विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाले लेखोंसे परिचय प्राप्त कराना आदि। धार्मिक शिक्षाके अन्तर्गत बालकोंको राम, कृष्ण, शिव आदि प्रधान देवताओंके सम्बन्धमें परिचय प्राप्त कराना, भक्तोंकी जीवनियोंका ज्ञान कराना, संतोंके उपदेशोंको कार्यरूपमें परिणत करवाना तथा बालकोंकी दिनचर्या, स्वास्थ्य आदिपर विशेष ध्यान देना आता है। भौगोलिक शिक्षामें ब्रह्माण्डके विविध भुवनोंके सम्बन्धमें परिचय प्राप्त कराते हुए उनके देश, प्रान्त तथा नगरके विविध भौगोलिक ज्ञान प्राप्त करवाना आता है। ऐतिहासिक शिक्षाके द्वारा सृष्टिके आरम्भसे अबतकके इतिहासका संक्षेपमें बोध कराते हुए अपने देशके इतिहास तथा संस्कृतिसे परिचय प्राप्त कराना आता है। वैज्ञानिक शिक्षाके द्वारा विज्ञानके विविध क्षेत्रोंमें उन्नति बतलाते हुए वैज्ञानिक अनुसंधानोंके सम्बन्धमें परिचय प्राप्त कराया जाता है, जिससे कि उनमें भी कुछ अन्वेषणाकी रुचि उत्पन्न हो। व्यावसायिक शिक्षामें विविध व्यवसायोंके गुण-दोष तथा लाभ-हानिका विस्तारके साथ दिग्दर्शन कराना आता है। यह समस्त ज्ञान छोटे-छोटे चलचित्रोंद्वारा बड़ी सुगमतासे कराया जा सकता है।

हमारे देशकी ऐसी आर्थिक परिस्थिति नहीं है कि हम बड़े-बड़े चलचित्रोंका निर्माण कर उनके द्वारा यह समस्त शिक्षा प्रदान कर सकें। हमें तो ऐसे अल्प मूल्यवाले तथा छोटे चलचित्रोंका निर्माण करना होगा, जिनके द्वारा हम गाँव-गाँवमें शिक्षाका प्रचार कर सकें।

संसारके कुछ प्रमुख राष्ट्रोंकी उन्नति ऐसे उपयोगी चलचित्रोंद्वारा शिक्षा-प्रदानके कारण हुई है। रूसने तो वायुयानोंके उपयोगसे साइबेरिया-जैसे उजाड़ प्रदेशको उर्वर बना दिया और चलचित्रोंके प्रयोगसे वहाँकी अपढ़ जनताको शिक्षित कर दिया। ये दोनों कार्य बहुत ही शीघ्रताके साथ सम्पन्न हुए हैं।

भारतवर्षका भविष्य हमारे भावी बालकोंपर निर्भर है। हमारे देशके नैतिक पतनका आमूल उन्मूलन उन्हींके द्वारा हो सकता है। जो लोग वर्तमान प्रचलित शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं, उनका सुधार यदि असम्भव नहीं तो, कष्टसाध्य अवश्य है। हमें अपनी भावी संतानोंकी ओर इस कार्यकी पूर्तिके लिये देखना होगा। हमारा कर्तव्य है कि हम उन्हें ऐसी शिक्षा प्रदान करें, जिससे उनका अमूल्य जीवन व्यर्थके तथा पतनकारी विषयोंके अध्ययनमें न जाय। मनुष्यजन्म सब जन्मोंमें दुर्लभ कहा गया है। उसे प्राप्तकर यदि उसका समुचित उपयोग नहीं किया जाता तो इसमें उस व्यक्तिका उतना अधिक दोष नहीं है, जितना कि उस समाजका है, जिसने कि ऐसी परिस्थितियाँ निर्माण कर रक्खी हैं, जिनमें उसे अपने व्यक्तित्वके पूर्ण विकासका अवसर उपलब्ध ही नहीं होता। हमारे देशकी ऐसी जलवायु है कि हमारे बच्चोंकी शिक्षा छः वर्षकी अवस्थासे प्रारम्भ होकर सोलह वर्षकी अवस्थातक समाप्त हो जानी चाहिये। यदि इस कार्यमें अनावश्यक विलम्ब होता है तो हमारी भावी संतानके जीवन नष्ट होनेकी अधिक सम्भावना है। अतएव हम उन्हें ऐसी शिक्षा दें जो कि चलचित्रोंके उपयोगसे शीघ्र बोधगम्य हो, जीवनकी विषम परिस्थितियोंको हल करनेमें सहायक हो, देशके भविष्यको उज्ज्वल बनाये रखनेमें विद्युत्का-सा काम कर सके।*

---

* चलचित्रोंके सदुपयोगके लिये यह लेख मननीय है। इसमें कोई संदेह नहीं कि चलचित्रोंके द्वारा समाज-विज्ञान, राजनीति, स्वास्थ्य-विज्ञान और धर्मज्ञान आदिकी शिक्षा बहुत अच्छी तरह दी जा सकती है और वह सफल भी हो सकती है, परंतु चलचित्र-निर्माताओंकी, साहित्यिकोंकी और सरकारकी वैसी मति और नीति हो तभी ऐसा हो सकता है। यह सत्य है कि वर्तमान कालमें सिनेमा इतना व्यापक हो गया है कि इसका सर्वथा बंद किया जाना सम्भव नहीं है, परंतु इसमें पर्याप्त सुधार किया जा सकता है और इसे समाजके उपयोगी बनाया जा सकता है। इसके लिये दो बातोंकी खास आवश्यकता है। प्रथम तो इसमेंसे स्त्री-अभिनेत्राको सर्वथा निकाल देना चाहिये। सारी बुराईकी जड़ यही है और दूसरे मनमें विकार पैदा करनेवाली कोई भी बात नहीं आनी चाहिये। ऐसा होनेपर ही इसके दोष दूर होंगे। सरकार तथा चित्रनिर्माताओंमें ऐसा करनेका साहस हो जाय, यह बहुत कठिन है; परंतु वे यदि समाजको बुराईसे बचाना चाहें तो उनको यह करना ही चाहिये। एक बार होहल्ला मचेगा, पर फिर अभ्यास हो जायगा। क्योंकि मनोरञ्जनकी चीज तो रहेगी ही। सिर्फ बुराई निकल जायगी। सेंसर-बोर्ड भी अवश्य कुछ सुधार कर सकता है, परंतु उसमें भी आखिर मनुष्य ही हैं, उनमें भी कमजोरी हो सकती है और उनके द्वारा भी अवाञ्छनीय चित्रोंकी अनुमति प्राप्त की जा सकती है। फिर बुराईकी जड़ तो वे काट ही नहीं सकते, अतः मूलका सुधार ही आवश्यक है।

—सम्पादक

बालकोंमें अभक्ष्य-भक्षणकी बढ़ती हुई प्रवृत्तिको रोकना आवश्यक है

हमारा जीवन कैसा होना चाहिये ? हमारे समाजका आदर्श क्या होना चाहिये ? हमारे देशकी अवस्था कैसी होनी चाहिये ? इन प्रश्नोंके उत्तरमें क्या एक भी व्यक्ति ऐसा है कि वह वर्तमान अवस्थाको संतोषजनक कह सके ? आज जो समाजमें छल, कपट, झूठ, चोरी, अनाचार चल रहा है, क्या इसे चलने देना कोई भी पसंद कर सकता है ? एक दूसरेको धोखा देकर, एक-दूसरेको दबा-धमकाकर, किसीकी दुर्बलता या अज्ञानसे लाभ उठाकर जो धन एकत्र करनेकी घृणित लालसा सर्वत्र दिखायी पड़ रही है, उससे क्या किसीको भी लाभ हुआ है ? उससे क्या किसी एकको भी सुख एवं संतोष मिला है ?

शासकवर्गमें जो चरित्रगत दुर्बलताएँ हैं, जो आज घूसखोरीकी प्रवृत्ति है, उसकी एक सज्जन चर्चा कर रहे थे। बड़े आवेशमें थे वे और उनकी बातें ठीक नहीं थीं, ऐसा भी कहा नहीं जा सकता। एक मित्रने उनसे कहा—'आप कोई उपाय बताइये! आपके हाथमें सत्ता हो तो आप क्या करेंगे ? आप किसी संस्थाका नाम बता सकते हैं, जिससे आशा की जाय कि वह सत्तामें आनेपर इस स्थितिको सर्वथा दूर करनेमें सफल हो जायगी ?' इस प्रश्नके उत्तरमें उनका बोलनेका उत्साह शिथिल पड़ गया। वे कहने लगे—'मेरे पास कोई जादूकी छड़ी नहीं है और जादूकी छड़ीके बिना अब सुधारकी आशा कहाँ है। किसीके पास वह छड़ी नहीं।' उनकी बात बहुत स्पष्ट है। जब पूरा समाज ही दोषग्रस्त हो, तब निर्दोष व्यक्ति कहाँसे आवें। एक व्यक्तिको दूर करके दूसरेको वहाँ लगाया जा सकता है; किंतु आज तो यह स्थिति है कि सभी एक-से हैं। नागनाथ जायँगे तो साँपनाथ आयेंगे।

अन्ततः भारतकी यह दशा हुई क्यों ? यह ऋषियोंका वही पवित्र देश है कि जहाँ भाईके बगीचेसे बिना पूछे एक फलको तोड़ लेनेके कारण वह भाई राजाके पास जाकर कहता है—'मैंने चोरी की है, मेरे हाथ काट लो।' और जब राजा क्षमा करनेकी बात करता है तो उसे डाँट सुननी पड़ती है—'तुम्हें विधान बनानेका क्या अधिकार ? तुम्हें विधानके पालन करानेका हमने अधिकार दिया है। तुम विधानका पालन करो। मैंने चोरी की है, तुम हाथ कटवाओ। तुम्हें इधर-उधर करनेका कोई अधिकार नहीं।' विदेशियोंने भारतकी यात्राएँ कीं और यहाँके सत्य, यहाँके धर्म, यहाँकी ईमानदारीकी प्रशंसा करते वे थकते नहीं थे। यहाँ घरोंमें ताले बंद करनेकी आवश्यकता नहीं थी। आज उसी देव-भूमिकी यह दुर्दशा है और यह हीनदशा उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। उसपर प्रतिबन्ध न लगाया जा सका तो कैसी भयङ्कर स्थिति होगी, यह सोच पाना भी कठिन है।

जीवनका निर्माण दो तत्त्वोंसे होता है। १. शिक्षा, २. आहार। इन दोनोंमें भी हमारे जीवनसे आहारका सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है। 'जैसा खाय अन्न वैसा बने मन।' यह लोकोक्ति अक्षर-अक्षर ठीक है। हमारा शरीर ही भोजनसे पुष्ट होता और बनता हो, सो बात नहीं है। हम जो भोजन करते हैं, उसके सूक्ष्म अंशसे हमारे मनका निर्माण और पोषण होता है। हमारा आहार यदि सात्त्विक होगा तो हमारे मनकी प्रवृत्ति सात्त्विक कर्मोंमें होगी। यदि हमारा आहार राजसिक या तामसिक है तो हमारे मनमें राजस-तामस भाव बढ़ेंगे और हमारी प्रवृत्ति वैसे ही कर्मोंमें होगी।

समाज तथा देशकी आशाका आधार बालक होते हैं। बालक जैसे बनेंगे, समाज भी वैसा ही बनेगा और जैसी शिक्षा तथा आहार होगा, बालक वैसे ही बनेंगे। आज माता-पिता तथा घरके लोग अबोध बालकोंको चाय-काफी पिलाते हैं। छोटे बच्चोंको केक, बिस्कुट आदि दिया जाता है। एक मित्र बिस्कुट खरीद रहे थे। मैं जानता था कि वे स्वयं भोजनकी शुद्धताका बहुत अधिक ध्यान रखते हैं। मेरे पूछनेपर उन्होंने कहा—'यह तो बच्चोंके लिये है।' मुझे आश्चर्य और खेद दोनों हुआ। बच्चोंके सम्बन्धमें जब कि सबसे अधिक सावधानी रखनी चाहिये, यह मान लिया गया कि उनके आहारपर ध्यान देनेकी आवश्यकता ही नहीं है। चाय, काफी, केक, बिस्कुट आदिका प्रभाव बालकोंके स्वास्थ्यपर बहुत बुरा पड़ता है। साथ ही अपवित्र वस्तुओंके सेवनसे बालकके मनमें अपवित्रताके बीज बचपनकी कच्ची अवस्थासे ही पड़ जाते हैं। आगे जीवनमें ये बचपनके अज्ञातरूपमें पड़े बीज बड़े-बड़े अनर्थ करते हैं।

जहाँतक कालेज तथा विद्यालयके बालकोंकी बात है, अभक्ष्य-भक्षणकी प्रवृत्ति उनमें बड़ी शीघ्रतासे बढ़ती जा रही है। अभी कुछ ही वर्ष पहले तक बालक बिना स्नान किये, बिना हाथ-पैर धोये भोजन करना पसंद नहीं करते थे।

लेकिन अब हाथ-पैर धोने या चौकेमें बैठनेकी तो बात ही उठ गयी है। अब तो जूता पहिनकर, होटलोंमें मेजपर बैठकर या चलते-फिरते ही अभक्ष्य पदार्थ खाना एक प्रियकार्य हो गया है बालकोंका।

स्पर्शास्पर्श (छूआ-छूत) आज अन्धविश्वास ही नहीं, अपराध भी बताया जाता है; किंतु हमारे लोकनेता यह नहीं देखते कि मर्यादाओंको तोड़नेका परिणाम क्या होता है। जब एक बार मर्यादा तोड़नेका स्वभाव बन जाता है, जब कोई मर्यादा भङ्ग करनेको उकसा दिया जाता है, तब वह कहाँतक बढ़ता जायगा, कोई कह नहीं सकता। उसके पास फिर तर्क एवं बुद्धिमत्ताको स्थान नहीं रह जाता। आजके विद्यालय (स्कूल) तथा महाविद्यालय (कालेज) के छात्र केवल छूआ-छूतके बन्धनको तोड़कर ही क्या रुक गये हैं? आज उनमें एक दूसरेका जूठा खाना बड़े गर्वकी बात हो गयी है। किसी भी अपरिचितकी थोड़ी देरकी मित्रताके पश्चात् वे आवश्यकता न होनेपर भी उसके साथ एक थालमें भोजन करने बैठ जाते हैं। स्वास्थ्यके लिये यह जूठा खाना कितना हानिकर है और सभ्यताकी दृष्टिसे कितना घृणाजनक है, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं; किंतु आजके शिक्षित बालक तो जूठा खानेको ही मित्रता तथा प्रेमका लक्षण मान बैठे हैं।

बालकोंमें निषिद्ध पदार्थोंको खुले आम खानेकी एक स्पर्धा चल पड़ी है। इससे स्वास्थ्य, सदाचार एवं संयमका नाश होता है, इस बातपर ध्यान देना उन्हें अनावश्यक जान पड़ता है। उनसे ये बातें कही जायँ तो वे इसका उपहास करते हैं। मांस-मदिरा आदिका सेवन करके वे अपने वर्गमें गौरवका अनुभव करते हैं। अंडोंको तो प्रायः निरामिष आहार ही मान लिया गया है और अच्छे-अच्छे धर्मात्मा माने जानेवाले घरोंमें भी उनका सेवन किया जाने लगा है! दूसरोंको, जो इन अभक्ष्य पदार्थोंके सेवनसे बचना चाहते हैं, ये बालक अनेक प्रकारसे इन पदार्थोंको खिलानेका प्रयत्न करते हैं। जो आहारके सम्बन्धमें थोड़ा भी संयम रखना चाहता है, वह बालकोंके समूहमें उपहासका पात्र बनता है।

एक प्रसिद्ध विद्वान् अपनी पुस्तकोंमें पद-पदपर अपने मांस-भक्षणका वर्णन करते चलते हैं। उनका तात्पर्य है कि उनके पाठकोंको मांस खानेकी प्रेरणा मिले और वे जानते हैं कि उनकी पुस्तकोंके अधिकांश पाठक छात्र ही हैं। एक प्रसिद्ध नेताने बंदरोंका मांस खानेकी बात अपने एक व्याख्यानमें एक बार कही थी। पशुओंके सम्बन्धमें नियुक्त एक कमेटीने राय दी है कि लोगोंमें मांस खानेकी प्रवृत्ति बढ़ानी चाहिये, जिससे अनुपयोगी गौएँ इस काममें आ सकें। एक सज्जनने तो वृद्ध एवं समाजके लिये अनुपयोगी मनुष्यों तकको खा जानेकी सलाह दी। इस प्रकारके मन्तव्य चाहे विनोदमें दिये गये हों, चाहे केवल तर्ककी दृष्टिसे; किंतु बालकोंपर इसका क्या प्रभाव पड़ता है, यह भूलना नहीं चाहिये।

भक्ष्याभक्ष्यके सम्बन्धमें बालकोंकी प्रवृत्ति इतनी नियन्त्रण-हीन होती जा रही है कि उनमें अब गौ-सूअरका प्रतिबन्ध भी उठता जा रहा है। अब वे अपने धर्मकी इन दृढ़तम मान्यताओंको तोड़नेमें भी गर्वका अनुभव करने लगे हैं। धर्म एवं सदाचारके नियमोंको जितना अधिक भङ्ग किया जा सके, उतना भङ्ग करनेका आजके बालक प्रयत्न करते हैं और उसे प्रकट करके बड़े-बूढ़ोंकी खिल्ली उड़ाते हैं।

पुराने लोग कहा करते थे—'बालक और बंदर एक स्वभावके होते हैं। इन्हें छेड़ देने या उकसा देनेपर इनका नियन्त्रण करना सरल नहीं होता।' हमारे सम्मान्य विद्वानों एवं लोकनेताओंको इस लोकोक्तिपर कुछ ध्यान देना चाहिये। आज बालकोंकी अनुशासनहीनता, उद्दण्डता, अनाचारकी बात सर्वत्र सुनायी देती है और हमारे लोकनेता उसपर झुँझलाते भी हैं; किंतु उन्होंने स्वयं ही इन बातोंकी बालकोंको प्रेरणा दी है। निर्दोष बालकोंको इस ओर प्रवृत्त करनेकी जिम्मेवारी बड़ोंकी ही है। अब भी वे ऐसी प्रेरणाएँ देना बंद कर दें तो बहुत कुछ लाभ हो सकता है।

अब यह निर्विवाद रूपसे सिद्ध हो चुका है कि स्वास्थ्यकी दृष्टिसे मांस-भक्षण बहुत ही हानिकारक है। मांसाहारसे अनेक दुश्चिकित्स्य रोग होते हैं। वृद्धा-वस्थामें आयुकी प्रथमावस्थाका किया मांसाहार बहुत कष्ट देता है। मांस मनुष्यके लिये सर्वथा अप्राकृत एवं हानिकर भोजन है।

बालकोंकी इस अभक्ष्य-भक्षणकी प्रवृत्तिके कारण उनका मन दूषित होता जाता है। उनमें आहारके अनुरूप तमोगुणके धर्म काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, झूठ, हिंसा आदि बढ़ते हैं। उनका अपना स्वास्थ्य नष्ट होता है। उनके जीवनमें अशान्ति तथा दुःख स्थिर बनते हैं तथा साथ ही देश एवं समाजके लिये वे अशान्ति और दुःखके कारण बनते हैं।

बालकोंकी अभक्ष्यके प्रति बढ़ती रुचिको रोकना अत्यन्त

आवश्यक है। माता-पिता तथा अभिभावकोंका कर्तव्य है कि बालककी छोटी अवस्थासे ही उसमें पवित्रताके संस्कार डालें। बालकको कोई हानिकर एवं अपवित्र वस्तु खानेके लिये कभी न दी जाय। बालकके मनमें अभक्ष्य पदार्थोंसे अरुचिके भाव दृढ़ हों, ऐसी शिक्षा उसे घरपर ही मिलनी चाहिये। अभक्ष्य पदार्थोंसे होनेवाली हानियाँ उसे समझा दी जानी चाहिये। इसके साथ बालकपर निरीक्षण रहना चाहिये कि सङ्ग-दोषसे वह अभक्ष्य-भक्षण न करे।

देशके नेताओं, विद्वानों तथा समाजसेवी संस्थाओंको इस आवश्यक विषयकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। बालकोंके आहार तथा आचारमें संयम रहे, यह अत्यन्त आवश्यक है। बालकको अभक्ष्य आहार एवं अमर्यादित आचरणकी प्रेरणा नहीं मिलनी चाहिये। जहाँ बालकोंके भोजनालय हैं, वहाँ कोई अपवित्र वस्तु नहीं बने, ऐसा प्रबन्ध शिक्षासंस्थाओंके अधिकारियोंको करना चाहिये। बालकोंको ऐसी प्रेरणा एवं प्रोत्साहन देना सबसे अधिक लाभदायक सिद्ध होगा, जिसमें बालक सात्त्विक भोजन करके रहनेमें गौरवका अनुभव करने लगें। सात्त्विक आहार, सादी वेश-भूषा और संयमपूर्ण जीवनमें बालकोंकी गौरव-बुद्धि उत्पन्न करनेसे ही उनके दोष दूर हो सकते हैं। सु०

विलासिताकी सामग्रियोंके प्रचारसे युवक-युवतियोंके धन, स्वास्थ्य तथा चरित्रका नाश

एक समाचारपत्रमें एक समाचार छपा था उन दिनों जब कि भारतका विभाजन हुआ था। पंजाबसे उत्पीड़ितोंके दल-के-दल चले आ रहे थे। उन्हें दिल्लीके आस-पास शिविरोंमें ठहराया गया था। समाचार-पत्रमें कहा गया था कि एक उत्पीडित शिविरको देखनेके लिये जब एक सरकारी अधिकारी वहाँ पहुँचे, तब उत्पीड़ित लोगोंमेंसे अनेक लड़कियोंने उनसे पाउडर, साबुन, स्नो आदि न मिलनेकी शिकायत की। उस समयतक ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकी थी कि उत्पीड़ितोंके लिये पर्याप्त अन्न एवं वस्त्र दिया जा सके; किंतु विलासिताकी सामग्रियोंके प्रति इतनी उत्कट लालसा उन माँग करनेवाली लड़कियोंमें थी कि उन्हें भोजन एवं वस्त्रसे भी अधिक ये पाउडर आदि आवश्यक जान पड़े।

पाउडर, स्नो, सेंट, क्रीम, लिपस्टिक आदि विलासिताकी वस्तुएँ जब एक बार उपयोगमें आने लगती हैं, तब फिर इनका मोह छोड़ पाना कठिन हो जाता है। आज भी इसके बहुत अधिक उदाहरण पाये जाते हैं—विशेषतः पंजाबसे आये उत्पीड़ित परिवारोंमें। आर्थिक दृष्टिसे उनका जीवन बहुत कष्टप्रद है। भोजन एवं वस्त्रकी चिन्ता उन्हें नित्य तंग करती रहती है; किंतु इतनेपर भी विलासिताकी ये सामग्रियाँ उनका पर्याप्त धन चूसे लेती हैं। वैसे तो देशभरमें ही यह रोग व्यापक हो गया है। विलासिताकी वस्तुओंका व्यसन बराबर बढ़ता जा रहा है।

इस पिछले महायुद्धके समय जब हिटलरके सैकड़ों हवाई जहाज नित्य इंगलैंडपर बम बरसा रहे थे, इंगलैंडमें वस्त्रोंकी तथा लोहेकी कमी हो गयी। इंगलैंडमें उस समय यह आन्दोलन चल पड़ा था कि दाढ़ी रखना तथा पेबंद लगे वस्त्र पहनना उत्तम पुरुषका चिह्न है। ऐसा इसलिये कि दाढ़ी बढ़ानेसे सेफ्टी रेजरमें लगनेवाली पत्तियाँ बचती थीं और कपड़ेका कम-से-कम व्यय करना देश-हितके लिये आवश्यक था। आज भारतमें वर्षोंसे अकाल है। करोड़ों रुपयोंका अन्न बाहरसे मँगाना पड़ता है। देशमें अनेक आवश्यक कार्योंके लिये धनका अभाव है। स्थान-स्थानसे भुखमरीके समाचार आते हैं। करोड़ों गरीब स्त्रियों और बच्चोंके पास तन ढकनेको भी कपड़ा नहीं है। इतनेपर भी देशका करोड़ों रुपया विलासिताकी सामग्रियोंके लिये नष्ट हो जाता है। करोड़ों रुपया पाउडर, सेंट आदिके लिये विदेशमें चला जाता है। बढ़िया फैशनके कपड़े, चाहे वे निर्लज्जताके ही बढ़ानेवाले हों, बुरी कमाई करके भी प्राप्त करनेकी कोशिश होती है। यह भी इस समय धनका घोर दुरुपयोग है। देशकी इस दरिद्रताके समय तो देशका पूरा धन आवश्यक वस्तुओंके निर्माण तथा आयात करनेमें ही लगना चाहिये।

जो लोग सेंट, क्रीम आदिका व्यवहार करते हैं, यदि वे अपनी इन विलासिताकी वस्तुओंमें व्यर्थ नष्ट होनेवाले धनको बचाकर उसका सदुपयोग करें तो एक व्यक्ति एक भूखसे मरनेवाले प्राणीके प्राण बचा सकता है। अकाल, बाढ़ आदिसे जो लोग बे-घर-बार हो गये हैं, जिनके बच्चोंको एक समय आधा पेट अन्न नहीं मिलता, उन्हें इनका

बिलासितामें नष्ट होनेवाला धन जीवन-दान कर सकता है। यदि लोग इसे परोपकारमें न लगा सकें तो भी यह उनके तथा आपके परिवारके लिये भी अच्छा सहायक होगा। एक बार हिसाब करके देखेंगे कि वर्ष भरमें आप कितना धन इन वस्तुओंमें नष्ट करते हैं तो स्वयं आपको आश्चर्य होगा।

विलासिताकी सामग्रियोंका सबसे अधिक उपयोग युवक तथा युवतियाँ करती हैं। विद्यालय एवं महाविद्यालयोंमें पढ़नेवाले छात्र एवं छात्राएँ अंधा-धुंध इन वस्तुओंका उपयोग करने लगे हैं। उनके माता-पिता तथा अभिभावक समझते हैं कि उनके बालक पढ़ते हैं और पढ़ाईमें खर्च होता ही है; किंतु सच्ची बात यह है कि छात्र-छात्राएँ माता-पिताकी गाढ़ी कमाईका धन विलासिताकी सामग्रियोंमें, सिनेमा तथा पार्टियोंमें एवं अभक्ष्य-भक्षणमें नष्ट करते हैं। अपने परिवारकी स्थितिका उन्हें तनिक भी ध्यान नहीं रहता। वे नहीं सोचते कि व्यर्थ वस्तुओंमें वे जो पैसा नष्ट कर रहे हैं, वह उनसे स्नेह करने तथा उनपर विश्वास करनेवालोंने कितने यत्नसे प्राप्त किया है। ऐसा जाना गया है कि दिल्लीमें कुछ छात्राएँ अपने शौककी सामग्रियोंको जुटानेके लिये दुराचरणतक करती हैं, पर उस शौकको नहीं छोड़ सकतीं।

पाउडर, स्नो, क्रीम, हैजलीन, लिपस्टिक, सेंट आदि वस्तुओंके उपयोगसे केवल धनका नाश होता हो, सो बात नहीं है। इनके द्वारा चरित्रका नाश होता है और स्वास्थ्य भी बिगड़ता है। इन वस्तुओंमें प्रायः हानिकर एवं अपवित्र पदार्थ पड़े होते हैं। कुछ तो चर्बी-जैसे या उससे भी अपवित्र पदार्थ इनमेंसे अनेक वस्तुओंमें पड़ते हैं और फिर इनको मुख एवं होठतक लगाया जाता है। जो लोग आचारका तनिक भी ध्यान रखते हैं, उन्हें इन वस्तुओंके उपयोगसे सर्वथा ही दूर रहना चाहिये।

श्रीरोम्या रोलांने निःशस्त्रीकरणके सम्बन्धमें कहा था—'शस्त्र युद्धके प्रतीक हैं। जब सभी राष्ट्र अपने-अपने शस्त्रास्त्र बढ़ानेकी धुनमें लगे हैं, तब युद्ध अनिवार्य है। इससे कोई मतलब नहीं कि सभी राष्ट्र युद्ध न करनेके पक्षमें हैं।' इसी प्रकार यह भी सोचनेकी बात है कि शृङ्गारका लक्ष्य क्या है? शृङ्गार किया जाता है दूसरोंकी दृष्टिमें अपनेको सुन्दर सिद्ध करनेके लिये, दूसरोंके नेत्र अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये। इस सुन्दर सिद्ध करने तथा दूसरोंकी दृष्टि अपनी ओर आकर्षित करनेकी चेष्टाके मूलमें ही काम-भावना है।

एक बार एक परिचित विद्वान् कह रहे थे—'ये लड़कियाँ तितलियोंकी भाँति सजकर, नंगे सिर, खुली भुजाएँ अपने अर्धनग्न शरीरका प्रदर्शन करती बाजारोंमें निकलती हैं और फिर शिकायत करती हैं कि लोग इन्हें घूरते हैं, छेड़ते हैं।' अपनेको इस प्रकार प्रदर्शनकी वस्तु बनानेका तात्पर्य दूसरा क्या हो सकता है?

शृङ्गार करनेवालेके मनमें क्या है, इससे कोई मतलब नहीं। शृङ्गार स्वयं शरीरके प्रति एक आकर्षण है। इसके द्वारा अनजानमें ही कामुकता बढ़ती रहती है। दूसरेके नेत्र आकर्षित होते हैं और फिर यह आकर्षण पतनका कारण बन जाता है। जैसे राष्ट्र चाहें या न चाहें, शस्त्रास्त्रकी वृद्धि होगी तो युद्ध होकर ही रहेगा, वैसे ही शृङ्गार-प्रियता आयेगी तो चरित्रका नाश होगा ही।

अङ्गराग, अधरराग, नखरञ्जिका आदि शृङ्गारके प्रसाधनोंका वर्णन पुराणोंमें तथा महाभारतादिमें भी आता है। पुराने समयमें भी शृङ्गार किया जाता था। लेकिन उस समयके शृङ्गारमें दो बातें थीं—संयम तथा सात्त्विकता। उस समयके शृङ्गार-प्रसाधनोंमें स्वास्थ्यके लिये हितकारी पवित्र ओषधियाँ पड़ती थीं। उन ओषधियोंसे युक्त शृङ्गार-को धारण करनेसे शरीर स्वस्थ रहता था, चित्त प्रफुल्लित रहता था और मनपर सात्त्विक प्रभाव पड़ता था। इतनेपर भी शृङ्गार कामोत्तेजक ही माना जाता था। अङ्गरागादि धारण करनेका अधिकार केवल गृहस्थको था और स्त्री तभी अपने शरीरका शृङ्गार करती थी, जब कि उसका पति उसके पास हो। अभिप्राय यह कि शृङ्गार केवल पतिके सुखके लिये ही किया जाता था। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रममें किसी भी प्रकारका शृङ्गार-धारण वर्जित है। तेलतक लगानेकी आज्ञा इन तीनों आश्रमोंमें नहीं है; क्योंकि शरीरको सुन्दर दिखानेकी भावना भी रहे और संयम भी बना रहे, ये दोनों बातें हो नहीं सकतीं। गृहस्थ होनेपर भी स्त्रीके लिये आदेश है कि यदि पति कहीं दूर चला गया हो तो वह सब प्रकारके शृङ्गारको छोड़ दे। सौभाग्यवतीके चिह्न सिन्दूर, चूड़ी आदिके अतिरिक्त वह कोई शृङ्गार अपने शरीरपर न रक्खे।

कोई भी अविवाहिता बालिका यदि अपनेको इस प्रकार सजाती है कि लोगोंके नेत्र सहसा उसकी ओर जायँ, तो यह उसके मानसिक पतनकी सूचना है। आज तो बात इससे बहुत अधिक बढ़ गयी है। शृङ्गारकी, विलासिताकी इन सामग्रियोंका उपयोग लड़कियोंके समान ही लड़के भी बहुलतासे करने लगे हैं। विद्यालयोंके छात्रोंके लिये ये

विलासिताकी सामग्रियाँ आवश्यक पदार्थ बन गयी हैं। अध्ययनके स्थानपर उनका ध्यान अपनेको सजाये रखनेपर अधिक रहने लगा है। फलतः उनके चरित्रके विनाशकी चर्चा आज सर्वत्र है!

विद्यार्थीका भूषण है शील, सहिष्णुता एवं अध्ययन। भारतीय सम्राटोंके युवराज भी गुरुकुलोंमें भूमिपर सोते थे, भिक्षासे मिला रूखा-सूखा अन्न खाते थे। उनकी कमरमें मूँजकी मोटी रस्सी होती थी, जिसमें कौपीन लगाते थे वे। शरीरपर मृगचर्म रहता और हाथमें एक लकड़ीका दण्ड। मस्तक उनका या तो घुटा रहता या उसपर जटाएँ होतीं। उनका स्वस्थ, सुदृढ़ शरीर और तेजोमय मुख देवताओंके समान प्रतीत होता। इसके विपरीत, आजका विद्यार्थी भड़कीले वस्त्रोंमें ढँका, मुखपर क्रीम-पाउडर लगाये, स्त्रियोंके समान बालोंको बार-बार हिलाता, सजाता, दुर्बल, निस्तेज, दयनीय प्रतीत होता है। बचपनमें ही नेत्रोंकी ज्योति क्षीण हो जानेसे उसे चश्मा लगाना पड़ता है। उसकी विलास-प्रियता उसके चरित्रको नष्ट कर देती है। वह युवक होनेपर भी वृद्ध-जैसा दीखता है।

मुझे स्मरण है कि बचपनमें हमारे यहाँ यह धारणा थी कि मुखको सजाकर, भड़कीले वस्त्र पहनकर, जूते खटकाती पुरुषोंके मध्य निर्लज्जतापूर्वक चलनेवाली स्त्री वेश्या ही हो सकती है; किंतु आज तो भले घरकी लड़कियाँ इस प्रकार बाजारोंमें निकलती हैं कि कदाचित् वेश्याएँ भी उतनी निर्लज्जतापूर्वक, उतनी सज-धजसे आजसे पचास-तीस वर्ष पूर्व बाजारोंमें नहीं निकलती होंगी। पहले कन्याएँ प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व ही स्नान कर लेती थीं। वे गौरी-पूजन करती थीं। उनका आभूषण था लज्जा। शील और संकोचकी वे मूर्ति होती थीं। घरमें माताके घरेलू कामोंको यथासम्भव कर लेनेका उनमें पूरा उत्साह होता था। उनके मुखपर लज्जाके साथ भोलापन होता था। लेकिन आज तो नींद टूटते शैय्यापर ही चायकी आवश्यकता होती है। इसके बाद तुरंत पाउडर-क्रीम लेकर मुखको सजाना आवश्यक हो जाता है। घरके काम करने तो दूर, अपने स्वयंके कामके लिये भी सेवकोंकी आवश्यकता होती है। इस विलास-प्रियताके कारण चरित्र नष्ट हो जाता है और नष्ट हो जाता है स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य।

किसी ऐसे व्यक्तिको जो नित्य पाउडर लगाता है, सबेरेके समय जब उसने अपना शृङ्गार न किया हो, आप देख लें तो आपको उसके पीले, बदरंग चेहरेसे घृणा हो जायगी। पाउडर, क्रीम, लिपस्टिक आदिमें जो पदार्थ पड़ते हैं, उनका यह सहज गुण है कि वे त्वचाकी कोमलता तथा स्वाभाविक सौन्दर्यको नष्ट कर देते हैं। एक प्रकारकी मनोहर स्निग्धता, जो त्वचामें होती है, पाउडरका उपयोग करते रहनेसे नष्ट हो जाती है। इस प्रकार विलासिताके ये पदार्थ स्वाभाविक सौन्दर्यको नष्ट करके इस बातके लिये विवश कर देते हैं कि व्यक्ति अपनेको कृत्रिमरूपसे सदा सजाये रहे। जब भी वह इन पदार्थोंका उपयोग किये बिना दूसरोंके सामने आता है, उसका चेहरा, उसकी त्वचा रूखी तथा अनाकर्षक दिखायी देती है।

नखोंपर, ओठपर तथा शरीरपर आप जो पदार्थ लगाते हैं, कैसे सम्भव है कि उनका कोई भाग आपके पेटमें न पहुँचे। नख तथा ओठ रँगनेमें जिन रंगों तथा पदार्थोंका उपयोग होता है, उनमेंसे अनेक विषैले हैं। वे पेटमें पहुँचकर पाचन क्रियाको दूषित कर देते हैं। अनेक प्रकारके रोग इससे उत्पन्न होते हैं। शरीरमें जो रोम हैं, उनकी जड़ोंमें सूक्ष्म छिद्र हैं। इन छिद्रोंसे पसीनेके द्वारा शरीरका दूषित द्रव्य सदा बाहर आया करता है। पाउडर, स्नो आदिके उपयोगसे ये रोमछिद्र बंद हो जाते हैं। पसीनेके प्रवाहमें बाधा पहुँचती है। शरीरका दूषित द्रव्य निकल नहीं पाता। इससे त्वचाकी कान्ति नष्ट हो जाती है। त्वचा-सम्बन्धी रोगोंकी सम्भावना बढ़ जाती है। ऐसे लोगोंको यदि कोई त्वचा सम्बन्धी रोग (खुजली आदि) हो जाता है तो बहुत कष्ट देता है। साधारण फुन्सियाँ भी ऐसी त्वचा-पर अत्यन्त पीड़ा देनेवाली बन जाती हैं। विलासिताकी वस्तुओंमें पाउडर, स्नो, क्रीम, लिपस्टिक, नखका रंग आदि सेवन करनेवालोंको आमाशय तथा त्वचाके रोग प्रायः होते हैं।

आजकल अज्ञानवश माताएँ छोटे शिशुओंको भी पाउडर लगाकर सजाती हैं। बालककी कोमल त्वचापर इसका बहुत ही हानिप्रद प्रभाव पड़ता है। बालकके लिये धूलिमें खेलना बहुत स्वाभाविक तथा स्वास्थ्यप्रद है। शुद्ध सरसोंके तेलकी शिशुके अङ्गोंमें मालिश करनेसे शिशुके अङ्ग पुष्ट होते हैं; किंतु बच्चोंको पाउडर, क्रीम आदि नहीं लगाना चाहिये। इससे बालकका स्वास्थ्य नष्ट होता है।

आवश्यकता तो इस बातकी है कि सरकार विलासिताके

पदार्थोंका विदेशोंसे देशमें आना सर्वथा बंद कर दे और देशमें इनके निर्माणपर प्रतिबन्ध लगा दे । मनुष्य-जीवनके लिये ये पदार्थ किसी प्रकार आवश्यक नहीं हैं । इनसे धन, चरित्र तथा स्वास्थ्यका नाश होता है । प्रत्येक व्यक्तिको इन पदार्थोंके उपयोगसे बचना चाहिये और अपने बच्चोंको बचाना चाहिये । सु०

जैसा बोवोगे वैसा पाओगे

मत हँसो, किसीको गिरते देख कभी तुम ।
मत समझो यह कि 'गिरेंगे कभी नहीं' हम ॥
उस गिरे हुएके पास दौड़कर जाओ ।
सादर दे कर अवलम्ब तुरंत उठाओ ॥
जो झटपट तुमने नहीं उठाया उसको ।
फिर कौन उठायेगा, गिरनेपर तुमको ॥

रोगी प्राणीको देख, न कभी घिनाओ ।
उस बे-सहायके खुद सहाय बन जाओ ॥
न करो कदापि उपेक्षा रोगीकी तुम ।
मत सोचो 'कभी न रोगी ही होंगे हम' ॥
ले प्रेम हृदयका, आदर दे अपनाओ ।
अपने हाथों उसके मल-मूत उठाओ ॥
जो तुम उसकी सेवासे विमुख रहोगे ।
बीमारीमें, तुम भी असहाय रहोगे ॥

मत करो घृणा तुम दीनोंसे, दुखियोंसे ।
उनका हक है सुख पाना ही सुखियोंसे ॥
दीनों-दुखियोंको कभी न भूल सताओ ।
प्रत्युत तुम उनके परम सुहृद बन जाओ ॥
सम्मान-प्रेम-हित-साधनमें जुट जाओ ।
दे तन-मन-धन उनका सब कष्ट मिटाओ ॥
जो उन्हें तुम्हारा नहीं सहारा होगा ।
तो दुर्दिनमें फिर कौन तुम्हारा होगा ॥

जैसा बोवोगे बीज मिलेगा वैसा ।
जैसा करता जो, फल पाता वैसा ॥
दुख दो न किसीको, करो न कभी बुराई ।
सुख चाहो तो नित करते रहो भलाई ॥

बालकोंकी घरसे भागनेकी मूर्खतापूर्ण प्रवृत्ति

एक लड़का है, जिसे मैं जानता हूँ । माता-पितासे झगड़ लेना साधारण बात है उसके लिये । घरसे भागना भी उसके लिये बहुत कठिन नहीं है । एक बार वह घरसे भागा और किसी प्रकार वृन्दावन पहुँच गया । रेलमें उसे क्या-क्या कष्ट हुए, सो वही जाने । जब वह वृन्दावन पहुँचा, उसका मुख सूख रहा था, शरीर दुबला हो रहा था और कपड़े मैले हो रहे थे । कुशल यही थी कि वह दूसरे घर छोड़कर भागनेवाले लड़कोंकी भाँति अपरिचित लोगोंमें नौकरी ढूँढ़ने या साधु होने नहीं गया । वह परिचितोंमें ही थोड़े दिन भटकता रहा और अन्तमें घर लौट आया ।

एक दूसरा लड़का घरसे झगड़कर भागा था । घरपर उसकी शानका ठिकाना नहीं रहता था । वह इसलिये भागा था कि घरपर उसे कुछ काम करनेको पिता कहते थे । उसकी इच्छाके अनुसार कपड़े, जूते तथा दूसरी शौकीनीकी वस्तुएँ उसे उसके गरीब पिता नहीं दे पाते थे । उस लड़केको यह बात भी बहुत अखरती थी कि घरवाले उसके मनमाना घूमनेपर टीका-टिप्पणी करते थे तथा उसे उसके आवारा मित्रोंसे अलग हो जानेको कहते थे । एक दिन वह अपने एक मित्रके साथ घरसे कुछ रुपये चुराकर भाग गया ।

इस दूसरे लड़केका पता बड़ी कठिनाईसे लगा । जब उसके पिता उसे जाकर लिवा लाये, लज्जाके मारे वह लगभग महीनेभर तक दूसरोंके सामने पड़नेसे बचा करता था । उसे एक सज्जनने जबलपुरके एक होटलमें देखा था और पहचान लिया था । उस होटलमें वह जूठी थालियाँ तथा तश्तरियाँ उठाने, मेज साफ करने और बर्तन मलनेका काम करता था । उस लड़केको वहाँ सबकी जूठन उठानी पड़ती थी और होटलके लोग उसे खूब डाँटते थे । वहाँ उसे बड़े सवेरेसे लगभग आधी राततक काम करना पड़ता था । जो मित्र उसके साथ गये थे, वे उसके पासके पैसे खर्च हो जानेपर साथ छोड़ गये थे और उससे बहुत पहले घर लौट आये थे ।

एक लड़का एक मेरे मित्रके पास एक दिन रो रहा था । वह घरसे भागकर आया था और उसे एक साधुने अपना शिष्य बना लिया था । अब वह घर नहीं लौट सकता था । पहले उसका खूब सत्कार हुआ था । उसे भोजन, वस्त्र आदिकी पूरी सुविधा मिली थी । अब उसे बहुत अधिक काम करना पड़ता था । वह झाड़ू लगाता था, बर्तन मलता था, भोजन बनाता था तथा और भी जो दूसरे छोटे-बड़े काम होते थे, उसे करने पड़ते थे । इतना करनेपर भी उसे बहुत रद्दी भोजन मिलता था । उसके कपड़े मैले और फटे हुए थे । उसके लिये वह दिन बहुत सौभाग्यका दिन होता था, जिस दिन वह पीटा न जाता हो । डाँट-डपट तथा गालियाँ तो उसे दिनमें कई-कई बार सुननी पड़ती थीं । इन सब बातोंसे भी अधिक बुरी बात यह थी कि उसे बहुत दिनोंसे अप्राकृतरूपमें वासना-तृप्तिका साधन बना रक्खा गया था और अब यह दोष उसमें भी आ गया था । बीड़ी, सिगरेट आदि पीना, झूठ बोलना तथा अवसर मिले तो कुछ चुरा लेना, वह बहुत पहले सीख चुका था ।

घरके लोगोंसे झगड़ा करके या घरमें अपने मनोनुकूल परिस्थिति न होनेसे आज लड़के भाग खड़े होते हैं । उनके भागनेसे उनके माता-पिताको, उनके घरवालोंको कितना दुःख होगा, कितनी चिन्ता होगी, इसे वे तनिक भी नहीं समझते । उनकी मूर्खतापूर्ण जिद होती है कि घरके लोग उनकी सब बातें मानकर क्यों नहीं चलते ? वे यह नहीं सोचते कि दूसरोंके भी हृदय हैं । उनको भी अपने मनके अनुसार चलनेका उतना ही अधिकार है, जितना किसी एकको है । लेकिन सब लोग अपने-अपने मनकी करने लगें तो न समाज चलेगा, न घर चलेगा । सुख और शान्ति संसारसे सर्वथा विदा हो जायँ यदि सब लोग अपने मनकी जिद पूरी करनेपर उतर जायँ । सुख-शान्तिका उपाय तो यह है कि हम अपनी सुविधाका कम ध्यान रक्खें और दूसरोंकी सुविधाका अधिक । दूसरोंकी रुचिको सहनेका हम अभ्यास डालें, यदि वह हमारी रुचिके अनुकूल नहीं है । हमारे साथ कौन कैसा व्यवहार करता है, यह बिना देखे हम दूसरोंके साथ उत्तम व्यवहार करें । दूसरोंको सुविधा पहुँचानेका तथा सुखी करनेका प्रयत्न करें । इससे हमारी सुख-सुविधा घटेगी नहीं, उलटे बढ़ेगी । आज हम अकेले अपनी चिन्ता करते हैं और इस चिन्ताके साथ ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि लेकर जलते रहते हैं । जब हम दूसरोंकी रुचि तथा सुविधाका ध्यान रखने लगेंगे, तब अनेक दूसरे लोग हमारी रुचि एवं सुविधाका ध्यान रक्खेंगे और उसमें द्वेष तथा कलहके स्थानपर सम्मान और स्नेह होगा ।

घरमें हमारे माता-पिता या स्वजन हमारे हितैषी हैं । वे हमारे शत्रु तो हैं नहीं कि हमारे प्रतिकूल आचरण करें । अब

यदि घरमें हमारी अनुकूलता नहीं मिलती तो उसके तीन ही कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि हम ऐसी अनुकूलता चाहते हैं, जो घरवालोंकी रुचि एवं स्वभावके सर्वथा प्रतिकूल है, दूसरे घरके लोग वैसी बात करनेमें हमारी हानि समझते हैं और तीसरी यह कि आर्थिक या किन्हीं और कठिनाइयोंसे घरके लोग हमारी इच्छा पूरी करनेमें असमर्थ हैं। तीनों ही दशाओंमें हमारा हठ करना अनुचित है। हमें अपनेको घरके लोगोंके अनुकूल बनाना चाहिये। घरके लोग हमारे अनुकूल बनें, यह माँग अनुचित तथा अविचारपूर्ण है।

जो आपके हैं, जिनका आपसे स्वाभाविक स्नेह है, वे आपके अनुकूल आचरण नहीं करते। उन लोगोंके बीचमें आपको अनुकूलता नहीं मिलती और जो आपके कोई नहीं हैं, जिनका आपसे कोई सम्बन्ध नहीं है, वे अपरिचित लोग आपके अनुकूल आचरण करेंगे, उनमें आपको अनुकूलता मिलेगी, ऐसी आशा करना कितना मूर्खतापूर्ण है। घरके लोग कुछ कहते भी हैं तो आपके भलेके लिये ही कहते हैं। उनके मनमें आपके प्रति ममता है, प्रेम है। दूसरोंसे आप इनमेंसे किसी बातकी आशा नहीं कर सकते।

जिन प्रतिकूलताओंके कारण लड़के घर छोड़ते हैं, उनकी अपेक्षा बहुत अधिक प्रतिकूलताएँ बाहर सहनी पड़ती हैं। यह कितनी बड़ी दुर्बुद्धि है कि पिताकी दो कड़ी बात आपसे सही नहीं जाती और घर छोड़कर दूसरोंकी आप गालियाँ सहनेको उद्यत हो जाते हैं। माता ठीक समयपर या आपकी इच्छाके अनुकूल भोजन नहीं दे पाती तो आपके क्रोधका ठिकाना नहीं रहता और बाहर जाकर आप सड़े-गले टुकड़ोंके लिये दूसरोंका मुख देखते हैं और उनकी सेवा तथा चाटुकारी करते हैं। बड़े भाई तथा गुरुजनोंद्वारा हुआ थोड़ा-सा तिरस्कार आपको असह्य होता है और बाहर दूसरे रोज-रोज पीटें, तो भी आप उसे सहते हैं। हो सकता है कि घरमें जो प्रतिकूलता है, उसमें घरके लोगोंकी ही कुछ भूल हो; किंतु यदि आप उसे सह लेंगे तो कुछ समयमें वह भूल अपने-आप ठीक हो जायगी। यह कोई बुद्धिमानीकी बात है कि घरमें थोड़ी-सी प्रतिकूलता न सही जाय और बाहर अपनेको तिरस्कार तथा भारी प्रतिकूलता सहनेको लाचार बना दिया जाय!

घरसे भागनेवाले लड़के या तो नौकरी पानेका प्रयत्न करते हैं या साधुओंके आश्रमोंमें जाते हैं। कच्ची बुद्धिके अनुभवहीन बालकोंको ठीक नौकरी भला कहाँ मिल सकती है, जब कि सुयोग्य व्यक्तियोंके लिये ही उपयुक्त काम सरलतासे प्राप्त नहीं होता है। नौकरीके लिये निकलनेवाले लड़के अनेक बार धूर्तोंके चक्करमें पड़ जाते हैं और वे लोग उन्हें विधर्मी बना लेते हैं। यदि नौकरी या मजदूरी मिलती भी है तो वह होटलोंमें काम करनेकी, बीड़ी बनानेकी, घूमनेवाली नाटक-मण्डलियोंकी या ऐसी ही कोई दूसरी हल्की नौकरी होती है। बहुत अधिक परिश्रम, पद-पदपर अपमान और नाममात्रका वेतन तो इनमें होता ही है, साथ ही स्वास्थ्य तथा सदाचारका नाश हो जाता है। ऐसी-ऐसी बुराइयाँ आ जाती हैं, ऐसी कुटेवें पड़ जाती हैं कि बालकका जीवन नष्ट हो जाता है। उसके लिये कहीं, किसी दिशामें कोई आशा नहीं रह जाती। अपने हाथों अपने जीवनका सत्यानाश कर लेनेकी यह प्रवृत्ति कितनी मूर्खतापूर्ण है!

जो बालक नौकरी पानेका प्रयत्न न करके साधुओंके पास जाते हैं, उनकी दशा भी कुछ अच्छी नहीं होती। कोई भी अच्छा साधु, कोई भी महापुरुष किसी बालकको उसके घरसे अलग होकर रहनेकी सम्मति दे नहीं सकता। बालकोंको दीक्षा देकर साधु बना लेनेकी जिनमें प्रवृत्ति है, उनमें अपवादरूपसे कोई सत्पुरुष भी हो सकते हैं; किंतु प्रायः बालकोंका चरित्र भ्रष्ट होता है—किया जाता है और उनमें सब प्रकारके दुर्गुण आ जाते हैं। उन्हें वहाँ तिरस्कार बहुत अधिक सहना पड़ता है तथा बहुत अधिक काम करना पड़ता है सो अलग। अनेक प्रकारके नशोंका सेवन तथा सदाचार-सम्बन्धी दूसरे दुर्गुण बचपनसे ही उनमें आ जाते हैं। साधु हो जानेके कारण वे घर लौट नहीं सकते, विवाह कर नहीं सकते और स्वभावमें संयम होता नहीं; फलतः गुप्तरूपसे पाप करने, छल एवं दम्भ करनेके अतिरिक्त उनके पास दूसरा कोई उपाय नहीं रह जाता। उनका जीवन कलुषित, पापमय हो जाता है और नरकका द्वार उनकी प्रतीक्षा करता है।

बात बालकोंतक ही नहीं है। बालिकाओंमें भी अब घरसे भागनेका रोग लगने लगा है। वे भी घरसे भागने लगी हैं। यदि पढ़ी-लिखी हुई तो आफिसोंमें क्लर्की ढूँढ़ती हैं या सिनेमामें स्थान पानेका प्रयत्न करती हैं और पढ़ी न हुई तो फिर साधुओंके आश्रम ढूँढ़े जाते हैं। यह ठीक है कि प्रारम्भमें उनको स्थान सुगमतासे मिल जाते हैं और भागे हुए बालकोंकी अपेक्षा सुविधा भी उन्हें अधिक रहती है; किंतु यह भी सत्य है कि अपना सतीत्व नष्ट करके एक

प्रकारकी वेश्या बन जानेके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं होता उनके पास। उनके सब स्वागत-सत्कार वासनावश ही होते हैं और यह सब भी बहुत थोड़े दिनों चलता है। पीछे उन्हें बालकोंसे भी कहीं अधिक तिरस्कार सहना पड़ता है। वे निकाल दी जाती हैं, ठुकरा दी जाती हैं, घृणित रोगोंसे आक्रान्त होती हैं और अन्तमें निराश्रय होकर भीख माँगने या स्पष्टरूपसे वेश्या बननेपर विवश होती हैं। इसलिये किसी भी बालिकाको तो भूलकर भी अपने संरक्षकोंसे स्वतन्त्र होनेका विचार ही नहीं करना चाहिये।

अपने घरमें जो प्रतिकूलता है, उसे सहन करना ही सबसे बड़ी बुद्धिमानी है। यदि उसमें कोई अपना दोष न हो और घरवालोंका ही दोष हो, तो भी उसे सहन करना चाहिये। घरमें यह सहिष्णुता आपमें सद्गुण देगी, धैर्य देगी और इनसे आपका जीवन सफल तथा सतेज बनेगा। घरकी कठिनाइयोंसे, तिरस्कारसे, असुविधासे ऊबकर भागनेवाले बालकका जीवन नष्ट हो जाता है। इस लोकमें वह असफल, दुखी और अपमानित होता रहता है और परलोक तो उसका नष्ट हो ही जाता है। शील, सहिष्णुता, संयम, गुरुजनोंका आदर एवं धैर्य रखना ही अच्छे पुरुषोंके गुण हैं और यह बात उस समय विशेष-रूपसे याद रखनी चाहिये, जब किसी कारणसे आपका मन घरसे उद्विग्न हो रहा हो। सु०

बालकोंका श्मशान-वैराग्य और उससे हानि

एक महात्मा रामनवमीके अवसरपर अयोध्या गये। वहाँ एक सुन्दर बगीचेमें वे ठहरे। उस समय वहाँ एक युवक संन्यासी ठहरे हुए थे। लंबा गोरा सुन्दर शरीर था, शान्त मुख था और विद्वान् थे संस्कृतके। जब सब लोग दोपहरको भगवान्का प्रसाद पाकर विश्राम करने लगे, तब वे संन्यासी उन महात्माजीके पास आये और प्रणाम करके बैठ गये। उनके नेत्रोंसे आँसूकी धारा चल रही थी। वे कह रहे थे—'महाराज! मुझे कोई उपाय बताइये। मैं तो कहीं-का नहीं रहा। मेरा मन जप, पाठ, ध्यानमें लगता नहीं। बहुत चेष्टा करता हूँ, बहुत स्थानोंपर भटका, पर कोई लाभ नहीं होता। मनमें संसारके भोगोंको भोगनेकी प्रबल वासना बराबर बनी रहती है। शरीरसे यद्यपि अबतक पाप नहीं किया है, परंतु मन बराबर पापकी बात ही सोचता रहता है। पता नहीं कब मेरा पतन हो जाय। आप मेरा उद्धार कीजिये!'

महात्माजीने पूछा—'आप संन्यासी कैसे हुए?'

उन्होंने कहा—'बचपनसे मेरी रुचि अच्छी थी। मैंने अंग्रेजी पढ़ते समय संस्कृत ले रक्खी थी और योगदर्शन तथा दूसरी धार्मिक पुस्तकें पढ़ा करता था। दसवीं कक्षा उत्तीर्ण होनेके पश्चात् मेरे मनमें तीव्र वैराग्य जगा और एक दिन बिना किसीको बताये घरसे मैं भाग निकला। बहुत कष्ट उठानेके बाद मुझे एक उत्तम गुरु मिल गये।'

अपने गुरुदेवमें उनकी पूरी श्रद्धा थी, किंतु गुरुदेव परलोकवासी हो चुके थे और अब उनका कोई संगी-साथी नहीं था। महात्माजीने पूछा—'आपको घरपर कोई कष्ट तो नहीं था? किसीसे आपकी खटपट तो नहीं थी?'

वे बोले—'मेरे पिता धनी पुरुष थे। मेरा घर समाजमें सम्मानित था। मैं अपने पिताका अकेला पुत्र हूँ। घरमें सभी मुझसे स्नेह करते थे। सब मेरा आदर करते थे। मुझे कोई कष्ट नहीं था। मैं तो भागा इसलिये कि पिताजी मेरा विवाह कर देना चाहते थे और उस समय विवाह करनेके स्थानपर मर जाना भी मुझे अच्छा लगता था। मैं क्या जानता था कि मेरे मनकी यह अवस्था तीन-चार वर्षमें ही हो जायगी। दूसरी बात यह भी है कि मेरे मनमें उस समय तपस्या करने तथा भगवान्का दर्शन करनेकी बहुत प्रबल इच्छा थी। मैं ध्रुवकी भाँति तप करना चाहता था। ध्रुव ही मेरे आदर्श थे।'

महात्माजीने उन्हें धैर्य रखनेको कहा; क्योंकि वे फूट-फूटकर रो रहे थे। जब वे कुछ स्थिर हुए, तब महात्माजीने पूछा—'घरसे भागनेसे पहले आपने किसीसे सलाह नहीं ली? किसीसे अपने मनकी बात कही नहीं?'

वे बोले—'महाराज! उस समय मैं अंधा हो रहा था। मैंने अपने कई हितैषियोंसे पूछा। वे आज भी श्रद्धा करने योग्य हैं। एकने भी मेरे मनके अनुकूल सम्मति नहीं दी। सब मुझे घर रहनेको कहते थे और सचेत करते थे कि मनकी यह वैराग्यवृत्ति ऐसी ही नहीं रहेगी; किंतु मुझे उनकी बातें सुनकर हँसी आती थी। मुझे लगता था कि ये डरपोक लोग हैं। इनमें कष्ट सहनेकी शक्ति नहीं है और इनके मनमें

वासनाएँ हैं, इसलिये ये लोग दूसरोंको भी डराते हैं। इन्हें भला मेरी दृढ़ता और वैराग्यका क्या पता ? उस समय मेरे मनमें सच्चा वैराग्य था और मैं समझता था कि चाहे जितना कष्ट मैं सह सकता हूँ।'

महात्माजी कुछ बोले नहीं, वे तनिक हँसकर रह गये। उन युवक संन्यासीने तनिक रुककर कहा—'मेरा वैराग्य झूठा नहीं था। दो-तीन महीने मैंने उपवास करके या रूखी-सूखी रोटी खाकर काटे। बिना वस्त्रके पूरा जाड़ा मैंने बिता दिया। भूमिपर सो रहना तो एक साधारण बात थी। उस समय जप भी होता था और मनमें उमंग भी थी। लेकिन पता नहीं क्या हो गया मेरा वह उत्साह। धीरे-धीरे अच्छे भोजनकी इच्छा होने लगी, वस्त्र भी रखने पड़े और मन इधर-उधर भागने लगा। अब तो पतनके अंधे कुएँमें दोनों पैर लटकाये बैठा हूँ। पता नहीं किस क्षण गिर पड़ूँ।'

'अब आप क्या चाहते हैं ?' महात्माजीने बड़े विचित्र ढंगसे पूछा।

निराशासे थके हुए मनुष्यकी भाँति वे बोले—'आप कहीं मुझे कोई साधारण-सी नौकरी दिला दें तो जीवनभर आपका ऋणी रहूँगा। घर तो अब क्या मुँह लेकर जाऊँ ? प्रयत्न करूँगा काम करनेमें पूरा मन लगानेका और बचे समयमें भजन करूँगा।'

महात्माजीके पास नौकरी कहाँ धरी थी। उन संन्यासी युवकका क्या हुआ आगे, पता नहीं; लेकिन आज देशमें ऐसे युवकोंकी कमी कहाँ है। यह तो भगवान्‌की कृपा थी कि उन्हें कोई अच्छे गुरु मिले थे और वासनाओंके बहावमें पड़नेसे वे तबतक बचे हुए थे, नहीं तो प्रायः बात दूसरी ही होती है। वैराग्यका वेग बहुत शीघ्र समाप्त हो जाता है। दम्भ, छल और गुप्त पापमें लगकर पतन हो जाता है ऐसी अवस्थामें।

उन संन्यासी युवकने तथा उनके समान दूसरे युवक भूल कहाँ करते हैं ? विषयोंसे वैराग्य होना और भगवान्‌को पानेकी तीव्र उत्कण्ठा होना तो बहुत अच्छे गुण हैं। शास्त्र तथा महात्मागण बार-बार इन बातोंका बड़े जोरसे उपदेश करते हैं। लेकिन इन गुणोंको ठीक-ठीक अपनानेमें भूल होती है। भक्तश्रेष्ठ ध्रुवने तथा दूसरे भगवान्‌के भक्तोंने जो कुछ किया, हम उन्हें पढ़ें, सुनें और अपने मनमें भी भगवान्‌को पानेकी वैसी ही लालसा जगावें, यह तो ठीक है; परंतु उनके आचरणकी ज्यों-की-त्यों नकल करनेमें बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है। जैसे किसी पहलवानकी बात पढ़ना ठीक है, वैसा पहलवान बननेकी इच्छा भी ठीक है; परंतु उस पहलवानके समान यदि कोई पहले दिन ही भोजन करने लगेगा या सैकड़ों दंड-बैठक करेगा तो पहलवान बननेके स्थानपर बीमार हो जायगा। उसकी शक्ति घट जायगी। अपने देश तथा शरीरकी शक्तिके अनुसार उसे उचित आहार करते हुए धीरे-धीरे व्यायाम बढ़ाना चाहिये। ऐसा करके वह पहलवान बन जायगा। इसी प्रकार पुराने भक्तों तथा महात्माओंके चरित्र पढ़ते समय यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि वे किस युगमें हुए हैं और उस युगमें लोगोंके शरीर तथा मनमें कितनी शक्ति थी। यह बात सोलह आने सत्य है कि आज भी भगवान्‌का दर्शन वैसे ही हो सकता है जैसे ध्रुवको हुआ था; किंतु ध्रुवके समान तप करना आजके युगमें सम्भव नहीं है और न इसकी आवश्यकता ही है। आज तो भगवान्‌के दर्शन उससे बहुत कम श्रमसे हो सकते हैं। ध्रुवके मनमें जो भगवान्‌को पानेकी तीव्र लालसा थी और जो दृढ़ विश्वास था भगवान्‌में, बस वही लालसा और विश्वास होना चाहिये।

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।' (योगदर्शन १।१२)
'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥'
(गीता ६।३५)

योगदर्शनमें और गीतामें भी कहा गया है कि मन अभ्यास और वैराग्यसे वशमें होता है। लेकिन यह बात सदा ध्यानमें रखनेकी है कि अभ्यासका नाम पहले लिया गया है और वैराग्यका पीछे। आजके युवक इस बातको एकदम भूल जाते हैं। वे वैराग्य पहले चाहते हैं और अभ्यास पीछे। फल यह होता है कि अभ्यास हो नहीं पाता और वैराग्यके नामपर जो मनका क्षणिक जोश था, वह भी चला जाता है।

वैराग्यका अर्थ क्या ? वैराग्यका अर्थ घर-द्वार छोड़कर भाग जाना है, यह मानना सबसे बड़ी मूर्खता है। वैराग्यका अर्थ है घरमें, धनमें, घरके लोगोंमें तथा शरीर एवं इन्द्रियोंको सुख देनेवाले पदार्थोंमें आसक्ति न होना। इनकी चाहका मनमें न रहना। जैसे एक बैंकका खजांची लाखों रुपये रोज गिनता है और सावधानीसे रखता है, पर उन रुपयोंका उसके मनमें मोह नहीं। उन रुपयोंको वह अपना नहीं मानता। कलको बैंकको घाटा लगे और उसकी तिजोरीमें कुछ न रह जाय, तो भी उसे कोई दुःख नहीं होगा

संसारमें इस प्रकार रहनेका नाम ही वैराग्य है। यह वैराग्य बाहर नहीं होता। राग, मोह या आसक्ति तो मनमें है। मनमेंसे उसको निकाल देना ही वैराग्य है।

एक आदमी कपड़े उतारकर फेंक दे तो क्या कपड़ोंसे उसका वैराग्य हो गया? उसके मनमें जबतक कपड़ोंकी आवश्यकताका अनुभव है, वह कपड़े पहने या उतार दे, दोनों बातें एक-सी हैं। यह झूठी बात है कि कपड़े उतार फेंकनेसे मनमें जो कपड़ोंकी आसक्ति है, वह मिट जायगी। किसीको भी इस धोखेमें नहीं पड़ना चाहिये। प्रायः इससे उलटी बात होती है। मनसे कपड़ोंके प्रति आसक्ति दूर हुए बिना जो कपड़े उतार फेंकेगा, उसका मन बार-बार कपड़ोंकी बात सोचेगा और उसकी आसक्ति कपड़ोंके प्रति बढ़ जायगी। यही बात घर छोड़कर भागनेमें होती है। मनमें आसक्ति बनी रहती है, भले वह उस समय न जान पड़ती हो; पर पीछे मन उन्हीं विषयोंका चिन्तन करने लगता है।

वैराग्य कैसे हो? आसक्ति कैसे दूर हो? इसका उत्तर बहुत सीधा है—अभ्यास करना चाहिये। अभ्याससे ही वैराग्य होता है। मनका स्वभाव है कि वह जब एक विषयमें लग जाता है, तब दूसरेको छोड़ देता है। मन जैसे-जैसे भगवान्‌में लगता जायगा, संसारके विषयोंसे अलग होता जायगा। वैराग्य किया या लिया नहीं जाता, वह अपने-आप होता है। जैसे प्रत्येक बालक जब अन्न खाने लगता है, माताके दूधसे धीरे-धीरे उसकी विरक्ति हो जाती है।

घरपर रहते हुए भगवान्‌के नामका, जितना बन सके, जप करना चाहिये। रामायण, गीता, भागवत तथा भगवान् एवं भगवान्‌के भक्तोंके चरितका पाठ करना चाहिये। उत्तम ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये। जिन पदार्थोंमें, जिन भोगके विषयोंमें, जिन व्यक्तियोंमें अपने मनकी आसक्ति हो, उन पदार्थादिसे मनको हटाकर बार-बार भगवान्‌में ही लगाना चाहिये। इस प्रकार धीरे-धीरे मन विषयोंसे हटकर भगवान्‌में लगने लगेगा। संसारके भोगोंकी आसक्ति अपने-आप मनसे दूर हो जायगी। इसीका नाम वैराग्य है।

जब कोई व्यक्ति परलोक सिधारता है और लोग उसके शवको लेकर श्मशान जाते हैं, तब थोड़ी देरके लिये उन लोगोंके मनमें संसारकी असारताकी बात आ जाती है। लेकिन जहाँ वे लोग श्मशानसे घरकी ओर लौटे—प्रायः रास्तेमें ही उन्हें अपने घरके कामोंकी चिन्ता हो जाती है और संसारकी असारताकी बात वे सर्वथा भूल जाते हैं। इसी प्रकार किसी कारणविशेषसे आवेशके रूपमें जो वैराग्य मनमें आता है, वह श्मशानवैराग्य है। वह टिकाऊ नहीं हुआ करता। इस आवेशमें घर-द्वार छोड़कर भागना बड़ी भारी भूल होती है।

आज कहीं कोई ऐसा वन नहीं है, जहाँ सरकारके जंगल-विभागका अधिकार न हो। ऐसे वनोंमें प्रायः आग जलाना भी मना होता है। पुराने तपोवन आज कहीं नहीं हैं और न उनके बननेकी निकट भविष्यमें कोई आशा दिखायी देती है। सरकार-संरक्षित जो वन हैं, उनमें भी आज कंद-मूल-फलका स्वप्न देखना व्यर्थ है। वर्षमें कुल मिलाकर एक दो महीनोंका काम वहाँके फलोंसे चल सकता है। लेकिन उन फलोंको बिना आज्ञाके लेना चोरी ही है। मनुष्यका शरीर आजकल ऐसा हो गया है कि वह रोगी हुए बिना नहीं रह पाता और वनमें मलेरिया आदि अनेक रोगोंका भय रहता है।

जो लोग वैराग्यके आवेशमें घर छोड़ते हैं, उन्हें बहुत शीघ्र पता लग जाता है कि वे तपोवनका जो स्वप्न देखते थे, वह सर्वथा निराधार है। तीर्थोंमें तथा दूसरे स्थानोंमें भी बालकोंको प्रायः कुसङ्ग ही मिलता है। उन्हें ऐसे लोग मिलते हैं जो उनको बहकाकर अनेक प्रकारके दुर्गुणोंमें लगा देते हैं। उनको केवल रोटी देकर सेवा लेनेकी तो सर्वत्र प्रवृत्ति है। घर छोड़नेके पश्चात् भजन तो दूर रहा, दूसरे दुर्गुण न भी आवें, तो भी रहनेके स्थान तथा भोजनके लिये उसे दीन, चाटुकार एवं तिरस्कृत बनना पड़ता है। उसका कहीं ठौर-ठिकाना नहीं रह जाता, यदि वह श्रम करते हुए भी चाटुकारी नहीं करता।

वैराग्यका आवेश तो समाप्त होगा ही। उसके समाप्त होनेपर मन बार-बार संसारके भोगोंकी इच्छा करता है। अच्छा भोजन, अच्छा वस्त्र, अच्छा स्थान तथा दूसरे भोग मन चाहता है। ये भोग मिलते नहीं, फलतः इनकी कामना बढ़ती जाती है। झूठ, छल, कपट, दम्भ करके फिर इन वासनाओंको पूरा करनेका प्रयत्न होता है। अनेक प्रकारके गुप्त पाप होने लगते हैं। इस प्रकार उद्धारके बदले वह नरकके रास्ते तीव्र गतिसे लुढ़कता जाता है। इसके ऊपर उठनेके मार्ग उसे प्रायः बंद दिखायी देते हैं। इसलिये किसी भी युवकको आजकल घर छोड़कर कहीं बाहर जाकर साधन-भजन करनेकी बात नहीं सोचनी चाहिये। घरपर रहकर भजन करना ही आजके युगमें सर्वश्रेष्ठ उपाय है। सु०

बालकोंकी जन्मकुण्डली और उसकी आवश्यकता

(लेखक—याज्ञिक श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

जन्मकुण्डलीमें लग्नका प्राधान्य रहता है। लग्नका नामान्तर शरीर भी है। इस विषयमें शिवसंहिता और सूर्यसिद्धान्तका कथन है—

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः॥

(शिवसंहिता)

'इस शरीरके भीतर सातों द्वीपोंसहित मेरु पर्वत विद्यमान है। नदियाँ, समुद्र, पर्वत, क्षेत्र, क्षेत्रपाल, सब ऋषि-मुनि, नक्षत्र, ग्रह, पुण्यतीर्थ, पीठ और पीठदेवता विद्यमान हैं।'

अथ सृष्ट्यां मनश्चक्रे ब्रह्माऽहङ्कारमूर्तिभृत्।
मनसश्चन्द्रमा जज्ञे सूर्योऽक्ष्णोस्तेजसां निधिः॥
मनसः खं ततो वायुरग्निरापो धरा क्रमात्।
गुणैकवृद्ध्या पञ्चेति महाभूतानि जज्ञिरे॥
अग्नीषोमौ भानुचन्द्रौ ततस्त्वङ्गारकादयः।
तेजोभूखाम्बुवातेभ्यः क्रमशः पञ्च जज्ञिरे॥

(सूर्यसिद्धान्त, भूगोलाध्याय २२–२४)

'तदनन्तर अहंकाररूपधारी ब्रह्माजीने सृष्टि रचनेमें मन लगाया। उनके मनसे चन्द्रमा और नेत्रोंसे तेजोनिधि सूर्य प्रकट हुए। ब्रह्माजीके मनसे ही आकाश भी प्रकट हुआ। आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल तथा जलसे भूमिका क्रमशः प्रादुर्भाव हुआ। ये पाँच महाभूत उत्तरोत्तर एक-एक अधिक गुणवाले प्रकट हुए हैं। तत्पश्चात् तेज, पृथ्वी, आकाश, जल और वायु—इन पाँचोंसे क्रमशः अग्नि, सोम, भानु, चन्द्रमा तथा अङ्गारक आदि उत्पन्न हुए हैं।'

इन प्रमाणोंसे निश्चय होता है कि ब्रह्माण्डरूपी संसारमें जो कुछ ग्रह-नक्षत्रादि विद्यमान हैं, वे सब पिण्डरूपी मनुष्यके देहमें स्थित हैं। इसलिये ब्रह्माण्ड और पिण्डात्मक मनुष्य-शरीर एकत्व-सम्बन्ध-युक्त है। जिस प्रकार वेदान्तके मतसे परमात्मा-जीवात्मामें अभेद है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और पिण्डात्मक शरीरमें अभेद है। अतः मनुष्य अनन्त आकाश-व्यापी और जगत्का नमूना है।

इस शरीरमें सूर्य आत्मा है, चन्द्रमा मन है, मङ्गल अग्नि है, बुध पृथ्वी है, बृहस्पति आकाश है, शुक्र जल है और शनि वायु है। अर्थात् इन पञ्च पदार्थोंके द्वारा पाञ्च-भौतिक पिण्ड (शरीर) में ये ग्रह फल देते हैं।

यह प्राकृतिक ब्रह्माण्ड देशकालसे परिच्छिन्न है और कर्मके साथ कालका साक्षात् सम्बन्ध है और ज्योतिषशास्त्र कालके स्वरूपोंका प्रतिपादक है तथा फलित ज्यौतिष कालके अन्तर्गत शुभाशुभ कर्मफलोंका प्रकाशक है। जैसा कि वराहमिहिरने कहा है—

यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः प्राप्तिम्।
व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव॥

अर्थात् जिस प्रकार अन्धकारस्थ पदार्थको दीपक प्रकाशित करता है, उसी प्रकार यह ज्यौतिषशास्त्र पूर्वजन्ममें किये हुए शुभाशुभ कर्मके फल (सुख-दुःख) को प्रकाशित करता है।

और भी देखिये—

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥

जैसे हजारों गायोंके झुंडमें बछड़ा अपनी माको ढूँढ़ लेता है, उसी प्रकार कर्म अपने कर्ताको प्राप्त होता है।

ज्यौतिषको वेदका नेत्र कहा गया है—इसीलिये वेदाङ्गों-में इसकी प्रधानता है। कान-नाक आदि अन्य अङ्गोंसे युक्त होनेपर भी यदि आँख न हो तो मनुष्य कुछ नहीं कर सकता।

वेदचक्षुः किलेदं स्मृतं ज्यौतिषं
मुख्यता चाङ्गमध्येऽस्य तेनोच्यते।
संयुतोऽपीतरैः कर्णनासादिभि-
श्चक्षुषाङ्गेन हीनो न किञ्चित्करः॥

(ग्रहगणित, कालमानाध्याय ११)

ग्रह और उपग्रहोंके साथ जीवका क्या सम्बन्ध है, इसका विचार भी आवश्यक है। प्रत्येक ग्रह और उपग्रहके भीतर आकर्षण और विकर्षण ये दो परस्पर विरुद्ध शक्ति विद्यमान हैं। संसारकी स्थिति दोनों शक्तियोंके सामञ्जस्यका ही फल है। अतः ग्रहोंमें परस्पर आकर्षण-विकर्षण बना हुआ है। जब ग्रह और उपग्रह परस्परमें आकर्षण-विकर्षण करते हैं, तब ग्रहोंके सम्बन्धसे पृथ्वीनिवासी जीवोंको ग्रहोपग्रहोंके

गुणानुसार सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है। पृथ्वीरूप ग्रहमें मध्याकर्षण-शक्ति है, जिससे पृथ्वी माता समस्त जीवोंको अपनी ओर खींचती है,* इसी प्रकार समस्त ग्रहोपग्रहमें समझना चाहिये, अर्थात् सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहोंके साथ जीवमात्रका ही आकर्षण-विकर्षण-सम्बन्ध प्राकृतिक रूपसे विद्यमान है।

मनुष्यका शरीर प्रारब्ध-कर्मसे ही उत्पन्न होता है। पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंमेंसे बलवान् फलोन्मुख कर्म प्रारब्ध बनकर जीवके स्थूल शरीरको उत्पन्न करता है। शरीरमें इसी कर्मसमूहका फल सुख-दुःखरूपमें होता है, जिसका निर्णय ज्यौतिष शास्त्रके द्वारा होता है।

जब कर्मका सम्बन्ध शरीरसे हुआ और ग्रहोंका भी प्राकृतिक आकर्षण-विकर्षण शरीरसे हुआ, तब प्रारब्ध-कर्मानुसार मनुष्यके जन्मके समय ग्रहोंकी स्थिति भी सम या विषम होगी। जिसका प्रारब्धकर्म जिस प्रकारका है, उसके जन्मके समय तदनुरूप ग्रहोंकी स्थिति नभोमार्गमें हुआ करती है और आकर्षण-विकर्षणका प्रभाव भी वैसा ही हुआ करता है। प्रारब्धकर्मोंको भुगानेवाले ब्रह्मा (प्रजापति) का भी सृष्टिमें यह एक आवश्यक कार्य सतत रहता है। इसलिये ग्रहोंके शुभाशुभ फल देनेमें प्रत्यक्ष गतिमान् ग्रह मुख्य कारण हैं। अतः जन्मकुण्डली बनाना आवश्यक सिद्ध हुआ। जन्मकुण्डलीमें मुख्य सौर जगत्की तात्कालिक प्रतिकृति ही रहती है, जिससे जन्मपर्यन्तके शुभाशुभ फलोंका ज्ञान हो सकता है। और किस कामको करनेसे सफलता मिलेगी इत्यादि विषय समझा जा सकता है तथा विषम ग्रहस्थिति-में ग्रहशान्ति आदि शुभकर्मोंके द्वारा ग्रहोंके दुष्प्रभावको टाला जा सकता है और अच्छी ग्रहस्थितिमें परिस्थितिके अनुसार कार्यारम्भ करके समुन्नत हुआ जा सकता है।

शुभाशुभ फलका निरूपण फलित-ज्यौतिषद्वारा किया जाता है; परंतु फलित-ज्यौतिषमें लग्न और नवग्रह मुख्य हैं। इन लग्न और ग्रहोंका ज्ञान (राश्यादि विकलान्त) गणित ज्यौतिषद्वारा होता है। इसलिये गणित ज्यौतिषशास्त्रमें प्रधान है। गणितके बिना ज्यौतिषशास्त्रमें प्रौढ़ता नहीं आ सकती। अतएव भास्कराचार्यने कहा है—

ज्योतिःशास्त्रफलं पुराणगणकैरादेश इत्युच्यते
नूनं लग्नबलाश्रितः पुनरयं तत् स्पष्टखेटाश्रयम्।
ते गोलाश्रयिणोऽन्तरेण गणितं गोलोऽपि न ज्ञायते
तस्माद्यो गणितं न वेत्ति स कथं गोलादिकं ज्ञास्यति॥

फलादेशके लिये स्पष्ट ग्रहकी मुख्य आवश्यकता है। जैसा कि भास्कराचार्यने कहा है—

'यात्राविवाहोत्सवजातकादौ
खेटैः स्फुटैरेव फलस्फुटत्वम्।'

आजकलके पञ्चाङ्गोंमें स्पष्ट ग्रहोंमें मतभेद पाया जाता है। इस विषयका निर्णय वेधशालाके बिना नहीं हो सकता। भारतवर्षका महान् दुर्भाग्य कहना चाहिये कि आज इस भारतवर्षमें उत्तम वेधशालाका सर्वथा अभाव है। फलादेशके लिये जन्म-समय मुख्य है। वर्तमान समयमें बहुधा लोग जन्म-समयका परिज्ञान घड़ी-यन्त्रके द्वारा किया करते हैं। आधुनिक घड़ियोंकी यह स्थिति है कि यदि प्रतिदिन घड़ीका समय ठीक नहीं किया जाय, तो घड़ी प्रायः शुद्ध (ठीक) नहीं रह सकती। अतः घड़ी-यन्त्रके द्वारा अत्यन्त सावधानीसे इष्टकालका निर्णय करना चाहिये। वर्तमान समयमें किञ्चिन्मात्र भी अन्तर होनेसे सूक्ष्म फलमें अवश्य अन्तर होगा। समयके अन्तरसे बहुत सम्भव है कि सन्धिस्थानमें लग्न भी बदल सकता है। ऐसी स्थितिमें सूक्ष्म विचारोंमें परिवर्तन हो जाना तो अनिवार्य ही है। शुद्ध घड़ीके अभाव और यत्र-तत्र घड़ीके अभावसे भी शुद्ध जन्म-समय (इष्टकाल) का भी मिलना प्रायः दुर्लभ रहता है। इन कारणोंसे ठीक-ठीक फल मिलनेमें प्रायः विघटन हो जाता है। अतः इसमें ज्यौतिषशास्त्रका कोई दोष नहीं है।

जन्मकालमें जिस समय बालक भूमिष्ठ होता है, उसको ठीक-ठीक जाननेमें अनेक बाधाएँ होती हैं। जन्मकुण्डली बनानेवाले नक्षत्रसूची न होकर त्रिस्कन्ध ज्योतिषके ज्ञाता होने चाहिये और ग्रह-शान्ति आदिके अवसरपर वेदमन्त्र-रहस्यज्ञ वैदिक होने चाहिये, जिससे बहुत कुछ शुद्धताके आ जानेसे जन्मकुण्डली अधिकतया उपयोगी और सम्यक् फलप्रद होगी। अतः बालकोंकी जन्मकुण्डली और उसकी आवश्यकता स्पष्ट सिद्ध है।

---

* आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति ……………………॥ (गोलाध्याये)

बालकोंका प्रथम शत्रु बालारिष्ट

(लेखक—पं० श्रीबलरामजी पाण्डेय ज्योतिषाचार्य, एम्०ए०, साहित्यरत्न)

भारतीय महर्षियोंने बालकोंके आयु-विचारमें यह लिखा है कि बालकोंकी आयु जन्मसे आठ वर्षपर्यन्त अनिश्चित रहती है। आठ वर्षतक ही 'बालारिष्ट' योग होता है। ज्यौतिष-शास्त्रके आचार्य महर्षि पराशरजीने तो २४ वर्षतक 'बालारिष्ट' माना है, किंतु यह कल्पना उस युगके लिये थी जब कि मानवकी आयु हजार वर्षतक मानी जाती थी। 'बालारिष्ट'-के कारण बच्चोंकी अधिक मृत्यु होती है। डाक्टरों और वैद्योंके मतानुसार भी अधिक मृत्यु बच्चोंकी ही होती है। आयु-विभागके अनुसार आठ वर्षतक 'बालारिष्ट', बारह वर्षतक 'योगारिष्ट' और ३२ वर्षतक 'अल्पायु योग' होता है। ७० वर्षतक मध्यायु, १०० वर्षतक पूर्णायु और इस युगमें १२० वर्षतक उत्तमायु मानी गयी है। इस प्रकार 'बालारिष्ट' योगमें भी तीन विभाग कहा गया है। १—गण्ड-अरिष्ट, २—ग्रहारिष्ट, ३—पताकी-अरिष्ट। इन तीनोंमें प्रथम 'गण्ड-अरिष्ट' क्या है, इसका विचार आवश्यक है। भारतीय ज्यौतिषशास्त्रमें पूरे ब्रह्माण्डके गोलेको बारह राशियोंमें विभक्त किया गया है, वे १२ राशियाँ २७ नक्षत्रोंमें विभक्त हैं, प्रत्येक नक्षत्रमें ९ भाग दिये गये और एक राशिमें ३० अंश माना गया। इस प्रकार नक्षत्रोंका एक नवांश ३ अंश २० कलाका हुआ। इस विचारसे जब कि राशि और नक्षत्रका अन्त एक साथ, या राशि और नक्षत्रका प्रारम्भ एक साथ हो तो वह 'गण्ड' कहलाता है। आश्लेषा नक्षत्रके अन्त और मघाके आदि भागका जो काल है, उसे 'रात्रि-गण्ड' कहते हैं। ज्येष्ठाके अन्त और मूलके आदि भागके दोषयुक्त कालको 'दिवा-गण्ड' कहते हैं। इस प्रकार रेवती और अश्विनीके दोष-कालको 'सन्ध्यागण्ड' कहते हैं। दिवा-गण्डमें कन्या और रात्रि-गण्डमें बालकका जन्म हो तो दोष नहीं लगता; परंतु ये गण्ड-योग अपना विभिन्न फल देते हैं। ज्येष्ठाकी अन्तिम एक घटी और मूलके प्रारम्भकी दो घटी 'अभुक्त' मूल कहलाता है, इसमें जन्म होनेपर बालकका मुख ९ वर्षपर्यन्त पिताको नहीं देखना चाहिये। यह बालक अपने पिताके लिये बहुत अनिष्ट फल देता है, परंतु यदि यह जीवित रह जाता है तो कुलका दीपक बनता है। आचार्योंने 'गण्ड-दोष'का फल भी विभिन्न प्रकारसे लिखा है। यदि बालक अश्विनीमें जन्म लेता है तो १६ वर्षतक, मघामें ८ वर्ष, मूलमें ४ वर्ष, आश्लेषामें २ वर्ष, ज्येष्ठामें १ वर्ष, रेवतीमें १ वर्षपर्यन्त बालकोंके लिये अनिष्टका भय रहता है। दोष-विचार करनेके लिये और फल-विचार करनेके लिये 'गण्ड'के नक्षत्रोंका काल-विभाजन भी किया गया है। जातक-पारिजातकारने लिखा है कि वैशाख, श्रावण, फाल्गुनमें जन्म होनेसे गण्ड-दोष आकाशचारियोंको होता है। आषाढ़, अगहन, पौष, ज्येष्ठमें गण्ड-दोष मानवको, चैत्र, भाद्रपद आश्विनमें गण्ड-दोष पातालवासियोंको लगता है। मासके बाद नक्षत्रका विचार भी बहुत बृहद् रूपसे है। हस्त और मघाके तीसरे चरणमें जन्म होनेसे माता-पिताके लिये कष्ट होता है। तीनों उत्तराके प्रथम चरणमें जन्मसे जातक स्वयं कष्ट पाता है। पूर्वाषाढ़ा और पुष्यके प्रथम चरणका जन्म-फल पितृव्यको कष्टकारक होता है। चित्रा, विशाखा, हस्तमें जन्म होनेसे माता-पिताको ही मृत्यु-कष्ट होता है। मृगशिराके मध्यमें जातक-जन्म माताके लिये भयदायक होता है। पुष्य, पूर्वाषाढ़ा, हस्त, मूल और आश्लेषा—इनके प्रथम चरणमें जन्मसे जातकको बहुत कष्ट होता है। पुष्य नक्षत्रके चारों चरण क्रमसे पिता, माता, जातक स्वयं और मामाके लिये अनिष्टकर कहे गये हैं। पूर्वाषाढ़ाके चारों चरण माता, जातक, चाचा और पिताके लिये अरिष्टकर कहे गये हैं। हस्तके चारों चरण जातक, चाचा, माता और पिताको क्रमशः कष्टदायक होते हैं। मूलके तीनों चरण पिता, माता, परिवारके लिये कष्टदायक होते हैं। मूलका चतुर्थ चरण उन्नतिकारक होता है। आश्लेषाके चारों चरण क्रमसे शुभदायक, परिवारनाश, मातृकष्ट और पितृकष्टकारक होते हैं।

बालकके लिये ग्रहारिष्ट

जातकके ग्रहारिष्टके विचारके पूर्व, संक्षेपमें, अनिष्टकारी, जन्म-तिथि, लग्नका विचार इस प्रकार होता है। दोनों पक्षोंकी पञ्चमी, दशमी, पूर्णिमा और अमावस्याके दण्डमें जन्म होनेसे बालकोंको कष्ट होता है। किसी-किसीके मतसे वैशाख शुक्ल षष्ठी, ज्येष्ठ कृष्ण चतुर्थी, आषाढ़ शुक्ल अष्टमी, श्रावण कृष्ण षष्ठी, भाद्र शुक्ल दशमी, आश्विन कृष्ण अष्टमी, कार्तिक शुक्ल द्वादशी, मार्गशीर्ष कृष्ण दशमी, पौष शुक्ल द्वितीया, माघ

कृष्ण द्वादशी, फाल्गुन शुक्ल चतुर्थी, चैत्र कृष्ण द्वितीयामें जन्म होनेसे बालकोंकी मृत्यु होती है। किसी-किसी आचार्यके मतसे प्रत्येक मासकी कृष्ण चतुर्दशीको जन्म होनेसे मृत्युजन्य कष्ट (जातकको) होता है। इसी प्रकारसे अन्तिम नवांश, कर्क, मीन, वृश्चिक और प्रथम नवांश मेष, सिंह और धन जातकके लिये कष्टदायक होते हैं, क्योंकि ये लग्न गण्डान्त-की हैं।

बालारिष्ट और चन्द्रमा

'बालारिष्ट'में अधिक कारण चन्द्रमा ही हैं। अशुभ ग्रहयुक्त, पाप-दृष्ट, निर्बल, दुःस्थानगत चन्द्रमा कुण्डलीमें बालारिष्टकारक होता है। इतना ही नहीं, जब गोचरका चन्द्रमा, बलिष्ठ अरिष्टकारी ग्रहके स्थानमें आता है, उस समय भी 'बालारिष्ट' होता है। जन्मकालिक चन्द्रमाके स्थानपर जब गोचरका चन्द्र आता है, तब भी अरिष्ट करता है, यह अवस्था सम्भवतः १ वर्षमें ३९ बार आती है, पर अन्य शुभ ग्रहोंका प्रभाव इस दोषका मारक होता है। जन्मके बाद जन्म-लग्न-राशिमें जब गोचरका चन्द्र आता है, तब भी अरिष्ट होता है। सर्वार्थचिन्ता-मणिके अनुसार जन्म-समयमें मेषके २३, वृषके २१, मिथुनके २२, कर्कके २२, सिंहके २१, कन्याके १, तुलाके ४, वृश्चिकके २१, धनके १८, मकरके २०, कुम्भके २० और मीनके १० अंशपर चन्द्रमा हों तो अरिष्ट होता है। यदि चन्द्र ६, ८, १२ स्थानमें हों और उसपर पापग्रहोंकी दृष्टि हो तो जातक शीघ्र ही मर जाता है। इसी दशामें यदि चन्द्र शुभग्रहोंसे युक्त हो; परंतु किसी बली पाप-ग्रहकी दृष्टि चन्द्र-पर पड़े तो जातक एक मासतक ही जीवित रहता है। यदि तीन पापग्रहकी, एक शुभग्रहकी दृष्टि हो तो जातक एक वर्ष जीता है, यदि दो पापग्रह, दो शुभग्रहकी दृष्टि हो तो जातक दो वर्षतक जीता है।

यदि दोनों प्रकारके ग्रहोंकी दृष्टि बराबर हो तो जातक-की आयु चार वर्षतककी होती है। यदि तीन शुभग्रह, दो पापग्रह हों तो जातक पाँच वर्षतक जीता है। यदि एक पापग्रह तीन शुभग्रह हों तो सात वर्षतक जातक जीता है। यदि किसी भी पापग्रहकी दृष्टि न हो तथा एक शुभ-ग्रहकी दृष्टि हो तो जातक आठ वर्ष जीता है; किंतु ये अरिष्ट सर्वदा सिद्ध नहीं होते। यदि बालक कृष्ण-पक्षमें दिनमें, शुक्ल-पक्षमें रात्रिमें पैदा होता है तो ये अरिष्ट फल नहीं देते हैं। चन्द्रमा क्षीण होनेपर ही अनिष्ट-कर होता है, शुक्ल पञ्चमीसे कृष्ण पञ्चमीतक चन्द्रमा क्षीण नहीं रहता। यदि क्षीण चन्द्रमा बारहवें स्थानमें हो, केन्द्र-में शुभग्रह न हो और लग्न और अष्टममें पापग्रह हों तो बालक शीघ्र मरता है। ऐसे चन्द्रपर पापग्रहकी दृष्टि जातकके मृत्युका कारण बनती है। यदि यह चन्द्रमा लग्नमें हो तथा केन्द्र और अष्टममें पापग्रह हों तो जातक शीघ्र मरता है। पापग्रहोंसे घिरनेपर ४, ७, ८ स्थलगत चन्द्रमा अरिष्ट-कारक हो जाते हैं। क्षीण चन्द्रमा बारहवें स्थानमें हों, लग्न, अष्टममें पापग्रह हों तो भी बालारिष्ट होता है। पापग्रहके साथ, १, ५, ७, ८, ९, १२ वें स्थानमें चन्द्रमाका रहना मृत्यु-कारक होता है। लग्नस्थ गुरु भी अरिष्ट भङ्ग नहीं कर सकते। यदि चन्द्र लग्नमें, १२वेंमें शनि, ९वेंमें सूर्य, ८वेंमें मंगल अरिष्ट करता है तो बली गुरु अरिष्ट भङ्ग कर सकते हैं। यदि चार केन्द्रोंमें चार पापग्रह हों तो जातक शीघ्र मर जाता है। यदि लग्न, अष्टममें पापग्रह हों, चन्द्रमा नीचका हो तो जातक शीघ्र मरता है, पर बृहस्पति केन्द्रस्थ न हों, तब यह दशा होती है। चन्द्रमासे पञ्चम, नवम सूर्य हो तो तीन सप्ताहके भीतर यह अरिष्टयोग होता है। यदि लग्नपर शुभग्रहोंकी दृष्टि हो तो यह दोष शमन हो जाता है। यदि चन्द्रमा लग्नस्थ हो, सप्तम द्रेष्काणमें कोई पापग्रह हो तो जातक शीघ्र मरता है। यदि चन्द्रमा लग्नमें हों, सातवेंमें तीन पाप-ग्रह हों या चन्द्र ८, ९, १० में हों, गुरु केन्द्रमें न हों तो भी जातक मर जाता है। चन्द्रमापर शनिकी दृष्टि तृतीय हो या शनिसे चन्द्रमा तृतीय स्थानमें हों तो जातक शीघ्र मर जाता है। यदि जन्म-समय सन्ध्या हो और लग्न चन्द्रमाके होरीकी हो, लग्नके अन्तिम नवांशमें पापग्रह हों, तो जातककी शीघ्र मृत्यु होती है। इसके अतिरिक्त यह भी मत है कि चार वर्षतक बालक माताके पापसे, आठ वर्षतक पिताके पापसे, बारह वर्षतक पूर्वार्जित पापसे मरता है।

बालारिष्टमें अन्य ग्रहोंका कुयोग

निम्नाङ्कित दशामें ग्रहोंके कुयोगसे भी 'बालारिष्ट' होता है—

बालकका जन्म यदि चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहणके समय हो, लग्नेश निर्बल हो, पर पापग्रह लग्नस्थ हों तो जातककी मृत्यु सद्यः होती है। जातक यदि पिता-लग्नमें पैदा हुआ हो, लग्नमें चन्द्र दो पापग्रहोंके बीच हो तो जातककी मृत्यु अवश्य होगी। गुरु वृश्चिक राशिमें हो, केतुपर पाप-ग्रहोंकी दृष्टि हो, शुक्रकी दृष्टि न हो तो बालक सद्यः मर जाता

है। वह जातक चार मासमें ही मर जाता है जब कि लग्नेश लग्नमें हो और पापग्रहोंपर शुभग्रहोंकी दृष्टि बिल्कुल न हो। यदि २, १२, ७, ८ में पापग्रह हो तो जातक शीघ्र ही मर जाता है। यदि गुरु अष्टममें हों, लग्नेश पापग्रहोंके साथ हो और उसपर शनिकी दृष्टि हो, साथ ही तृतीय स्थानमें पापग्रह हों तो जातक शीघ्र इस संसारको छोड़ देता है। कर्कराशिका अन्त, सिंहका आदि, वृश्चिकका अन्त, धनका आदि, मीनका अन्त और मेषका आदि—यह बालकोंके जन्मके लिये घातक काल है। यदि लग्नेश सूर्य अष्टमगत हों, लग्नेश नीच होकर सूर्यके साथ हों तो जातक जन्मसे जीवनपर्यन्त रोगी रहता है। यदि चन्द्र नवांशमें चन्द्रमा हों और वही सप्तमस्थ हों तथा शुभग्रहकी दृष्टि न हो तो बालक तीन मासके भीतर अवश्य मर जायगा। जन्मकुण्डलीके पूर्वार्द्धमें सभी पापग्रह, उत्तरार्द्धमें सभी शुभग्रह हों और लग्न वृश्चिक हो तो जातककी शीघ्र ही मृत्यु हो जाती है। यह फल कर्क लग्नमें संघटित होता है। यदि सभी ग्रह आपोक्लिम अर्थात् ३, ६, ९, १२ में हों, तो जातक ६ मासके भीतर मर जाता है; यदि ६ में या ८ में हों, मंगल लग्नस्थ हो और उसपर शुभग्रहकी दृष्टि न पड़ती हो, तो जातक शीघ्र मर जाता है। तथा यदि शनि, मंगल बिना शुभग्रहकी दृष्टिके सप्तमस्थ हों तो जातक शीघ्र ही मर जाता है। यदि शनि, सूर्य एक स्थानमें हों और मंगल २, ३, ९ में से किसीमें हो तो जातक १५ दिनके भीतर मरता है। षष्ठ वा अष्टममें शनि, मंगल, सूर्य पड़े हों और शुभग्रहोंकी दृष्टि या योग न हो तो जातक अल्पायु होता है। शनि सप्तमस्थ हो, लग्नेश नीचस्थ हो तो जातक पाँच वर्षके भीतर ही दिवंगत होता है। यदि सूर्य, शनि एक साथ, २, ३, ७ में रहें, मंगल लग्नस्थ हो तो जातक 'बालारिष्ट' के कोपका भाजन बनता है। यदि वृश्चिक एवं मीनमें पापग्रह रहें, चन्द्रमा कर्कका रहे तो बालककी मृत्यु बचपनमें ही निश्चित होगी। सूर्य लग्नस्थ हो, पापग्रह ५, ८, ९ में हो तो बालारिष्टका प्रभाव दुःखजनक होता है। लग्नपति यदि सप्तममें हो, साथमें पापग्रह हों तो जातक इसके प्रभावसे तीस दिनके भीतर मरता है। इस प्रकारसे बहुत बृहद्रूपमें 'बालारिष्ट' का विवेचन शास्त्रोंमें मिलता है।

स्मरण रहे कि 'बालारिष्ट' योगने इतना व्यापक क्षेत्र बना लिया है कि उसके प्रभावसे शायद ही कोई बालक बच सके; किंतु 'बालारिष्ट' के भङ्गका भी योग उपस्थित हो जाता है, उसका भी विवेचन शास्त्रोंमें बृहद्रूपसे प्राप्त है, संक्षिप्तमें कुछ नाममात्र योग यहाँ लिखे जा रहे हैं। यदि बालकने 'बालारिष्ट' के घेरेमें जन्म ग्रहण किया हो; किंतु षष्ठ और अष्टमस्थ चन्द्र शुभग्रह, गुरु, बुध, शुक्रके द्रेष्काणमें हो तो बालक नहीं मर सकता। पूर्णचन्द्रके दोनों भागमें शुभग्रह रहनेसे बालारिष्ट शान्त हो जाता है। शीर्षोदय राशिगत समस्त ग्रहसे बालारिष्ट दोष शान्त हो जाता है। यदि केन्द्रस्थित गुरुकी पूर्णदृष्टि पूर्ण चन्द्रपर पड़े तो बालक बालारिष्टसे बच जाता है। यदि लग्नेशपर केवल शुभग्रहोंकी दृष्टि हो, तो बालक इस योगसे बच जाता है। पूर्णचन्द्रपर शुभग्रहोंकी दृष्टिसे भी बालारिष्ट भङ्ग होता है। लग्नसे चतुर्थ पापग्रह हों, गुरु केन्द्रस्थ या त्रिकोणस्थ हो तो भी यह बालारिष्ट दोष फल नहीं देता है। केन्द्र और त्रिकोणस्थ शुभग्रहोंका प्रभाव भी चतुर्थ और दशमस्थ पापग्रहोंको शुभग्रहोंसे घिर जानेपर शुभद होता है। बृहस्पति और मंगलका एक साथ रहना भी बालारिष्ट दोषके विनाशका कारण बनता है और तुलाराशिका सूर्य द्वादशमें रहकर भी यही फल देता है। चन्द्रमाजन्य अरिष्टमें पूर्णचन्द्र, स्वगृही, स्वनवांशगत रहनेसे बालारिष्ट दोष प्रायः समाप्त हो जाता है। स्वगृही या उच्चका चन्द्रमा बालारिष्टमें दोष निवारण करता है। पापग्रहोंकी दृष्टिसे रहित चन्द्र यदि बालारिष्टका कारण बनता है तो वह दोष गुरु, शुक्र, बुधके वक्री होने एवं केन्द्रस्थ होनेपर मिट जाता है। बृहस्पति उच्चका केन्द्रस्थ होकर सभी दोषोंको समाप्त कर देता है। लग्नेश वक्री होकर केन्द्र-त्रिकोणस्थ रहकर भी दोषोंका विनाशक बनता है। जन्मकालिक अधिक ग्रह उच्चके हों, स्वगृही हों तो भी बालारिष्ट नष्ट हो जाता है। इस प्रकार बहुतसे अरिष्ट-भङ्गके भी योग हैं। बालारिष्टका पताकी अरिष्ट भी अधिक अनिष्टकारी होता है; किंतु पताकी अरिष्ट कम होता है। पताकी अरिष्ट लग्न एवं नक्षत्रोंके परस्पर बेधसे आधिपतियोंकी स्थितिके अनुसार संघटित होता है।

दशमे मासि सूतवे अर्थात् बालकके गर्भवासकालकी मीमांसा

(लेखक—श्रीयुधिष्ठिरजी मीमांसक)

लोकमें प्रायः देखा जाता है कि बालकका जन्म ९ वें मासके उपरान्त दशम मासके प्रारम्भिक १० दिनों अर्थात् २७०—२८० दिनोंके मध्यमें होता है। इस नियममें कभी-कभी विपरीतता भी देखी जाती है। कभी बालक सातवें-आठवें मासमें ही उत्पन्न हो जाता है और कभी-कभी ११-१२ मास भी लग जाते हैं। उपर्युक्त नियत कालसे पूर्व उत्पन्न होनेका कारण रोग तथा आकस्मिक आघात आदि और विलम्बसे उत्पन्न होनेका कारण माताकी निर्बलता या आहारादिकी अप्राप्ति आदि माना जाता है*, परंतु हमारे विचारमें इस वैपरीत्यका एक और प्रधान कारण है और वह है २७० दिनसे पूर्व ही बालकके गर्भकाल (१० मास) की अवधिका पूरा हो जाना तथा २८० दिनके उपरान्त भी बालकोंके गर्भवास-कालका पूरा न होना। ऐसे बालकोंकी उत्पत्तिकी न्यूनतम अवधि २००—२१० दिनोंके मध्य (लौकिक व्यवहारानुसार सप्तम मास) तक होती है, अधिकतम अवधि ३६० दिन (१२ मास) तक। अर्थात् बालकोंका गर्भवासका नियत काल पूरे दस मासका है और वह दस मासका काल २०० से ३६० दिनोंके मध्यमें (माताकी प्रकृतिके अनुसार) जब भी पूरा हो जायगा, तभी बालक उत्पन्न होगा और वह जीवित रहेगा।

पाठक हमारे लेखको पढ़कर चौंकेंगे कि २०० से ३६० दिनोंके मध्यका कोई भी काल 'दस मास' कैसे कहा जा सकता है, परंतु यह बात है सर्वथा सत्य, अर्थात् २०० दिनोंमें ही दस मास पूरे हो सकते हैं और ३०० दिन बीतनेपर भी पूरे नहीं हो सकते। यह बात प्राचीन आर्षग्रन्थों तथा गणितके द्वारा निश्चित है।

हम इस लेखमें यही दिखानेका प्रयत्न करेंगे कि गर्भवासका पूरे दस मासका नियत काल न्यून-से-न्यून २०० दिनोंमें ही कैसे पूरा हो जाता है और ३०० दिनके उपरान्त भी पूरा नहीं होता तथा बालक बिना किसी रोग या आघातादि कारणोंके २७० दिनसे पूर्व, और बिना माताकी निर्बलता आदिके ३६० दिनोंतक क्यों उत्पन्न होता है।

ऋग्वेद (१० । १८४ । ३) का वचन है—

'दशमे मासि सूतवे'। इसका साधारणतया अर्थ किया जाता है कि 'बालक दसवें मासमें उत्पन्न होता है' परंतु हमारे विचारमें इसका अर्थ होना चाहिये—'दस मास पूरे व्यतीत होनेपर बालक उत्पन्न होता है।' (इसकी विवेचना आगे की जायगी।) इससे इतना स्पष्ट है कि वेदमें बालक-उत्पत्तिका समय पूरे दस मासका कहा है।

चिकित्सकोंका मत है कि स्त्रीकी शारीरिक अवस्थाके ठीक होनेपर २७ या २८ दिनमें रजोदर्शन होता है, और ऐसी स्त्रीको २७० से २८० दिनोंके मध्यमें प्रसव होता है। इस प्रकार यदि हम **'दशमे मासि सूतवे'** वचनमें मास शब्दको दो रजोदर्शनके मध्यकालका वाचक मान लें तो २७×१०=२७० दिन तथा २८×१०=२८० दिनकी अवधिका न केवल पूर्ण सामञ्जस्य ही हो जाता है, अपितु हमारा किया अर्थ 'दस मास पूरे होनेपर बालक उत्पन्न होता है' भी युक्तिसङ्गत बन जाता है।

अब प्रश्न हो सकता है कि २७ वें दिन रजोदर्शन होनेवाली स्त्रीको २७० दिनमें और २८ वें दिन रजोदर्शन होनेवाली स्त्रीको २८० दिनमें ही प्रसव होना चाहिये। तब २७०-२८० दिनोंके मध्यमें प्रसव कैसे होता है ?

इसका उत्तर अत्यन्त सरल है। यदि दो रजोदर्शनोंके मध्यमें पूरे २७ या २८ दिनका ही अन्तर रहता हो, तब तो यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, परंतु वस्तुस्थिति इससे भिन्न होती है। २७ दिन पूरे होनेके अगले २४ घंटोंमें जितने घंटे पश्चात् रजोदर्शन होगा, उनको भी १० से गुणा करनेपर २७० से २८० दिनोंके मध्यका काल उपपन्न हो जायगा। यथा—यदि किसी स्त्रीको पहला रजोदर्शन १ ता० के प्रातः ८ बजे हुआ और दूसरा रजोदर्शन २८ वीं तारीखको दिनके १ बजे हुआ अर्थात् २७ दिन ५ घंटे पश्चात् हुआ तो उस कालको १० से गुणा करनेपर २७२ दिन २ घंटेका काल उपलब्ध होगा। इस प्रकार उक्त स्त्रीको गर्भस्थिति-कालके ठीक २७२ दिन और २ घंटे पश्चात् प्रसव होगा। यदि मिनट और सेकण्डोंका भी पूरा-पूरा हिसाब उपलब्ध हो सके तो प्रसवका पूर्ण निश्चित काल पहले ही बताया जा सकता है। यह शुद्ध गणितका विषय है। गणितानुसार उपलब्ध उत्तर कभी असत्य नहीं हो सकते।

* बारह मासतक बालककी उत्पत्तिका कारण, चरक शारीरस्थान अ० २ श्लोक १५।

हाँ, गणित करनेमें पूरी सावधानता और सूक्ष्मताकी आवश्यकता होती है।

सम्भव है चिकित्सक महानुभाव मेरे इस गणितको कल्पनामात्र कहें, परंतु मैंने स्वयं अपने दो बच्चोंका जन्म-काल इसी गणितके अनुसार जान लिया था। एक बालक २७० दिनमें हुआ था और दूसरा २९२ दिनमें। दोनोंके प्रसवकालमें क्रमशः ४ घंटे और ढाई घंटेका अन्तर पड़ा था। अतः मुझे इस गणितपर पूर्ण विश्वास है। यदि मिनटोंका भी पूरा ध्यान रक्खा जाता तो उपर्युक्त अन्तर भी नहीं पड़ सकता था। हमारे इस गणितकी उपपत्तिका आधार प्राचीन शास्त्र-वचन ही हैं। इसलिये अब हम उन्हीं शास्त्र-वचनोंकी मीमांसा करते हैं जिनके आधारपर हम इस सिद्धान्तपर पहुँचे हैं।

'दशमे मासि सूतवे' वचनमें 'मास' शब्दका क्या अर्थ है, सबसे पूर्व इसीपर विचार करना होगा। इस विषयकी सारी समस्या 'मास' शब्दका वास्तविक अर्थ जान लेनेपर स्वतः हल हो जाती है।

'मास' शब्दका मुख्य अर्थ है 'कालमापक'। इसी मुख्यार्थको लेकर लोकमें विभिन्न प्रकारकी कालकी अवधिके लिये मास शब्दका व्यवहार होता है। यथा—

१—सूर्यकी एक राशिसे दूसरी राशिमें प्रवेश करनेकी अवधि मास शब्दसे कही जाती है, चाहे वह अवधि न्यूनतम २८ दिनकी हो या अधिकतम ३२ दिनकी। इस कालका सम्बन्ध सूर्यके राशि-संक्रमणके साथ होनेसे यह मास लोकमें 'सौरमास' के नामसे प्रसिद्ध है।

२—किसी पूर्णिमाके अनन्तर (प्रतिपद्के प्रारम्भसे) दूसरी पूर्णिमाके अन्ततक (गुजराती पञ्चाङ्गानुसार अमावास्योत्तर प्रतिपद्से दूसरी अमावास्याके अन्ततक) का काल 'मास' कहाता है। चाहे इस अवधिमें ३० दिन हों या २९ (कभी-कभी २७ भी हो जाते हैं)। चन्द्रकी गतिके साथ इस कालका सम्बन्ध होनेसे यह चान्द्रमास कहाता है।

३—ईसवी सन्के मासोंकी न्यूनतम अवधि २८ दिन और अधिकतम ३१ दिनकी मानी जाती है।

इस विवेचनासे सिद्ध है कि किसी भी प्रकारके लोक-प्रसिद्ध मासमें दिनोंकी नियत संख्या नहीं है अर्थात् दिनोंके न्यूनाधिक होनेपर भी किसी विशेष नियमसे कालका मापक—कालकी अवधिको बतानेवाला वर्षका १२ वाँ अंश लोकमें 'मास' शब्दसे कहा जाता है।

इसी नियमके अनुसार स्त्रियोंके दो रजोदर्शनोंके मध्यकालकी अवधि भी मास शब्दसे व्यवहृत होती है। अतएव स्त्री-भेदसे रजोदर्शनके नियतकाल (२७, २८ दिन) से न्यूनाधिक दिनोंमें होनेवाले रजोदर्शनके लिये **'मासिकधर्म'** शब्दका व्यवहार होता है। यदि कोई कहे कि नियत काल (२७, २८ दिन) से न्यूनाधिक कालमें होनेवाले रजोदर्शनके लिये मास शब्दका व्यवहार गौणीवृत्तिसे होता है तो यह भी ठीक नहीं। हम अनुपद ही बतायेंगे कि धर्मशास्त्रमें २१ से २७ दिनके मध्यमें होनेवाले रजोदर्शनको 'कालोत्पन्न' कहा है। अतः २१—३६ दिनके मध्यमें किसी भी दिन होनेवाले रजोदर्शनके लिये मासिकधर्म शब्दका व्यवहार होता है। यदि मास शब्दका मुख्यार्थक ३० दिन माना जाय, तब तो लोकमें जहाँ-जहाँ मास शब्दका व्यवहार होगा, वह सब गौणीवृत्तिसे मानना होगा। हमारे विचारमें नियत ३० दिनके लिये मास शब्दका लोकमें कहीं व्यवहार नहीं होता। अस्तु, जब मास शब्दका मुख्यार्थ (३० दिन) में प्रयोग ही नहीं होता, तब गौण प्रयोगकी उपपत्ति कैसे होगी ?

इस विवेचनासे स्पष्ट है कि मास शब्द किन्हीं भी दो नियत अवधिके मध्यवर्ती कालका वाचक है। यही उसका मुख्यार्थ है और इसी मुख्यार्थको लेकर इसका लोकमें विविध रूपोंमें प्रयोग होता है। हमारे इस प्रकृत विचारमें मास शब्दका मुख्यार्थ है दो रजोदर्शनोंके मध्यका काल। वह चाहे दिनोंकी संख्यासे कितना ही न्यूनाधिक क्यों न हो।

अब हम इस बातकी विवेचना करेंगे कि बालक उपर्युक्त नियम मानी जानेवाली २७०—२८० दिनकी अवधिसे पूर्व और पश्चात् क्यों होता है और उस न्यूनाधिक कालमें १० मासकी अवधि कैसे पूरी होती है।

आयुर्वेदके अनुसार शुद्ध रजोदर्शनका काल २७, २८ दिनका है। इससे न्यूनाधिक दिनोंमें होनेवाला रजोदर्शन वैकारिक कहाता है, उसमें प्रायः गर्भस्थितिकी सम्भावना नहीं मानी जाती। गर्भ सर्वथा ही न रहता हो ऐसी बात भी नहीं है। न्यूनाधिककालमें रजोदर्शन होनेपर भी कभी-कभी गर्भकी स्थिति हो जाती है, बालक भी स्वस्थ तथा दीर्घायु होते हैं। इस प्रकार दो रजोदर्शनोंमें न्यून-से-न्यून तथा

अधिक-से-अधिक कितने दिनोंका अन्तर होनेपर भी गर्भ-स्थिति हो सकती है। इसका साक्षात् विवेचन मुझे किसी आयुर्वेदिक ग्रन्थमें नहीं मिला (जहाँतक मैंने देखा है)। धर्मशास्त्रोंके अध्ययनसे इस विषयपर कुछ प्रकाश पड़ता है । तदनुसार दो रजोदर्शनोंके मध्यमें न्यूनातिन्यून १९ दिनका अन्तर होनेतक गर्भस्थितिकी सम्भावना रहती है, उससे कम होनेपर गर्भ सर्वथा नहीं रहता।

धर्मशास्त्रोंके अशौच-प्रकरणमें रजोदर्शन-सम्बन्धी शुद्धिकी भी विवेचना की है। अङ्गिरास्मृति (१।१२७) में लिखा है—

आद्वादशाहान्नारीणां मूत्रवच्छौचमिष्यते ।
अष्टादशाहात् स्नानं स्यात् त्रिरात्रं परतोऽशुचिः ॥

अर्थात् प्रथम रजोदर्शनके १२ वें दिनतक रजोदर्शन होनेपर मूत्रवत् जलस्पर्शमात्रसे शुद्धि होती है और १८ वें दिनतक स्नानमात्रसे। १८ दिनके अनन्तर तीन रातके पश्चात् शुद्धि होती है।

पराशरमाधवीय भाग ३ पृष्ठ १६५ में किसी धर्मशास्त्रका निम्नवचन उद्धृत है—

अष्टादशदिनादूर्ध्वं स्नानप्रभृतिसंख्यया ।
यद्रजस्तु समुत्पन्नं तत्कालोत्पन्नमिष्यते ॥

अर्थात् पूर्व रजोदर्शनके स्नानके अनन्तर १८ दिनके बाद जो रजोदर्शन हो, वह कालोत्पन्न अर्थात् स्वाभाविक कहा जाता है।

इसी प्रसंगमें माधवाचार्यने (पराशरमाधवीय भाग ३ पृष्ठ १६६ में) लिखा है—

यस्याः कस्याश्चिद् धातुस्वभावविशेषाद् विंशतिरात्रादिकः कालविशेषः प्रतिनियतो भवति [स कालोत्पन्न इष्यते]।

अर्थात् जिस स्त्रीको स्वभावसे प्रथम रजोदर्शन दिनके २० वें या उसके बाद जो रजोदर्शन होता है, वह कालोत्पन्न कहलाता है।

इसे 'कालोत्पन्न' कहनेसे विदित होता है कि न्यूनातिन्यून १९ दिनके बाद जो स्वाभाविक रजोदर्शन होगा, उसमें गर्भस्थिति होगी । अङ्गिरा मुनिके मतमें १८ वें दिनके पश्चात् रजोदर्शन होनेपर तीन रात रजस्वलाके लिये शास्त्रविहित नियमोंका पालन करना होता है। इन नियमोंका उल्लेख धर्मशास्त्र और चिकित्साशास्त्र समानरूपसे करते हैं और इन नियमोंका उल्लङ्घन करनेसे गर्भमें क्या-क्या विकृतियाँ होती हैं, इसका स्पष्ट निर्देश करते हैं (देखो सुश्रुत शारीरस्थान २। २१)। इसलिये १८ दिन या २१ दिनके पश्चात् होनेवाले रजोदर्शनकी तीन रातमें शुद्धिका विधान करना अर्थात् तीन राततक रजस्वलाके नियम-पालनका आदेश देना इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि इस अवधिके रजोदर्शनमें गर्भस्थिति हो सकती है और १९ दिनसे न्यून दिनोंमें रजोदर्शन होनेपर गर्भस्थितिकी कुछ भी सम्भावना नहीं है। इस प्रकार धर्मशास्त्रोंके उपर्युक्त वचनोंसे सिद्ध होता है कि गर्भस्थितिके योग्य रजोदर्शनकी अल्पतम अवधि १९ दिनकी है।

गर्भस्थितिके योग्य रजोदर्शनकी अधिकतम अवधि कितनी है, इसका निर्देश न आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें मिलता है और न धर्मशास्त्रोंमें; परंतु रक्तगुल्मचिकित्सा-प्रकरणसे विदित होता है कि गर्भस्थिति-योग्य रजोदर्शनकी अधिकतम अवधि ३६ दिनकी है।

चरक तथा सुश्रुतमें रक्तगुल्मकी चिकित्सामें कहा है—

सरौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो
मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः ।
(चरकचिकित्सा० ५। १८)

सुश्रुतमें दस मासकी सीमा न बाँधकर सामान्यतया कहा है—

भवन्ति लिङ्गानि च गर्भिणीनां
तं गर्भकालातिगमे चिकित्स्यम् ।
असृग्भवं गुल्ममुशन्ति तज्ज्ञाः ॥
(उत्तरतन्त्र० ४२। १४)

अर्थात् रक्तगुल्मरोगमें अनेक लक्षण गर्भिणीके होते हैं। अतः उसकी चिकित्सा गर्भकालके व्यतीत होनेपर करनी चाहिये।

गर्भिणी और रक्तगुल्मिनीके कुछ लक्षणोंकी भिन्नता होनेपर भी अनेक लक्षणोंमें समानता होती है। कभी भूलसे गर्भिणीको रक्तगुल्मिनी समझकर उसके भ्रूणकी हत्या न हो जाय, इसलिये गर्भकालतक रक्तगुल्मिनीकी चिकित्सा वर्जित है।

चरक-शारीरस्थान अ० २ श्लोक १५ के अनुसार कभी-कभी बालककी उत्पत्ति एक वर्ष (१२ मास) में भी होती है । अतः रक्तगुल्मिनीकी चिकित्सा सामान्यतया गर्भकाल=१० मास व्यतीत होनेपर (क्योंकि प्रायः बालक ९ मास १० दिनतक उत्पन्न होते हैं) तथा विशेष संदेहावसर-

पर १२ मासके अनन्तर करनी चाहिये, ऐसा चिकित्सकोंका मत है।

इससे यह व्यक्त है कि १२ मासके ३६० दिनोंमें १० का भाग देनेसे ३६ दिनकी रजोदर्शनकी वह अधिकतम अवधि निकलती है, जिसमें गर्भस्थितिकी सम्भावना हो सकती है।

इसकी उपपत्ति एक अन्य प्रकारसे भी की जा सकती है। जब शुद्ध रजोदर्शनकाल (२७, २८ दिन)से ८ या ९ दिन पूर्वतक रजोदर्शन होनेपर गर्भस्थितिकी सम्भावना धर्मशास्त्रकारोंने मानी है, तब २७, २८ दिनसे ९ या ८ दिन बादतक होनेवाले रजोदर्शनमें भी गर्भस्थितिकी सम्भावना मानी जा सकती है।

अब केवल एक ही प्रश्न शेष रह जाता है। वह यह कि जिस स्त्रीको जितने दिनोंमें रजोदर्शन होता है, उसका उतने दिनोंका एक मास मानकर तदनुसार १० मासमें बालकका जन्म क्यों होता है, अर्थात् ९ मास (२७० दिन) से पूर्व ही बालक प्रसवयोग्य पूर्ण कैसे हो जाता है ?

इसके समाधानके लिये आवश्यक है कि स्वस्थ स्त्रीको २७–२८ दिनसे पूर्व तथा पश्चात् रजोदर्शन क्यों होता है ! इसपर विचार कर लिया जाय।

जिस स्त्रीकी प्रकृति पित्तप्रधान होती है या शरीरमें रक्तकी अधिकता होती है, उस स्त्रीको २७–२८ दिनसे पूर्व ही रजोदर्शन हो जाता है तथा जिस स्त्रीकी प्रकृति कफप्रधान होती है या शरीरमें रक्तकी न्यूनता होती है, उसको २७–२८ दिनके पश्चात् रजोदर्शन होता है।

अतएव माधवाचार्यने लिखा है—

यस्याः कस्याश्चिद् धातुस्वभावविशेषाद् विंशतिरात्रादिकः कालविशेषः प्रतिनियतो भवति [स कालोऽत्र इष्यते]।

(पराशरमाधवीय भाग ३ पृष्ठ १६६)

इसमें **'धातुस्वभावविशेषात्'** पद ध्यान देने योग्य है। इसके अतिरिक्त यदि किसी स्त्रीको रोगविशेष या द्रव्यविशेषके भक्षणसे न्यूनातिकालमें रजोदर्शन होता है, तो वह वैकारिक कहा जाता है (द्र० पराशरमाधवीय भाग ३ पृष्ठ १६५, १६६)। यदि यह वैकारिक रजोदर्शन भी इतना अधिक दूषित न हो जिससे गर्भस्थिति ही न हो सकती हो, तब वैकारिक रजोदर्शनकी अवस्थामें भी गर्भ रह जाता है। यद्यपि यहाँ हमें इसके विषयमें विचार नहीं करना है तथापि वैकारिक रजके कारण भी बालकोंकी उत्पत्ति न्यूनाधिककालमें हो सकती है।

अब केवल इस बातका उत्तर देना शेष है कि स्वाभाविक रूपसे न्यूनाधिक कालमें रजस्वला होनेवाली स्त्रीका गर्भ उसी अनुपातसे न्यूनाधिक कालमें कैसे पूर्ण होता है !

लोकमें स्पष्ट देखा जाता है कि अत्युष्ण और अतिशीत देशके निवासियोंमें बाल, युवा आदिके लक्षणोत्पत्ति तथा शरीर-संस्थानमें भिन्नता होती है। अत्युष्ण प्रदेशके बालकमें युवावस्थाके लक्षण शीतप्रधान देशके बालककी अपेक्षा शीघ्र प्रकट होते हैं और शीतप्रधान देशके बालकमें कुछ विलम्बसे होते हैं। यतः उष्णप्रधान देशके बालकोंकी युवावस्थाका आरम्भ शीघ्र होता है, इस कारण उनका शरीर भी उतना नहीं बढ़ पाता जितना शीतप्रधान देशके बालकका बढ़ता है; क्योंकि उन्हें शरीर-वृद्धिके लिये उतना समय ही नहीं मिलता। यह प्रत्येक किसान जानता है कि जिस खेतमें अन्न उचित कालकी अपेक्षा विलम्बसे बोया जाता है उसके अन्तको परिपाकके लिये पूरा समय न मिलनेसे अपेक्षाकृत छोटा रह जाता है। इसी प्रकार उष्णप्रधान देशकी कन्या शीत-प्रधान देशकी कन्याकी अपेक्षा कुछ काल पूर्व ही रजस्वला हो जाती है।

जिस प्रकार उष्णता और शीतताका प्रभाव मनुष्योंपर पड़ता है, वैसा ही वहाँकी वनस्पतियोंपर भी देखा जाता है। हिमाच्छादित प्रदेशमें बोया गेहूँ वैशाख या ज्येष्ठ मासमें जाकर पकता है। इसलिये जैसा बाह्य उष्णता या शीतताका प्रभाव मनुष्यके शरीरपर पड़ता है, उसी प्रकार गर्भगत बालकके शरीरकी रचनापर भी माताकी पित्तप्रधान या कफप्रधान प्रकृतिका प्रभाव पड़ता है।

इस विवेचनासे स्पष्ट है कि जिस स्त्रीको पित्तप्रधान होनेके कारण रजोदर्शन जितना शीघ्र होगा उतना ही गर्भ-गत बालकके शरीरकी रचना तथा पूर्णतामें शीघ्रता होगी। इसी प्रकार कफप्रधान प्रकृतिवाली स्त्रीको जितने दिन पश्चात् रजोदर्शन होता है, उतना ही अधिक काल उसके गर्भगत बालकके शरीरकी रचना तथा पूर्णतामें लगता है। यह बात अन्य लौकिक दृष्टान्तसे भी समझायी जा सकती है। दो विभिन्न चूल्होंपर तवेपर रोटियाँ डालनेपर दोनोंमेंसे जिस चूल्हेकी अग्नि जितनी तेज होगी उसकी रोटी पकनेमें उतना ही काल कम लगेगा।

इस नियमके अनुसार जिस स्त्रीको जितने दिनोंमें रजोदर्शन होता है, उतने दिनोंका एक महीना मानकर उसे दससे गुणा करनेपर जितने दिन उपलब्ध होंगे उतने ही दिनोंमें उसके बालकका प्रसव होगा। इसलिये जिस स्त्रीको बीस दिनमें रजोदर्शन होता है, उसके गर्भ-स्थितिके २०० दिन (छः मास बीस दिन) पश्चात् जो प्रसव होगा वह कालोत्पन्न होगा।

इसी दृष्टिसे धर्मशास्त्रकारोंने गर्भपातकी अवधि षष्ठ-मासतक ही मानी है।

यथा—

आचतुर्थाद् भवेत्स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः।

इस मीमांसासे यह भली प्रकार सिद्ध हो गया कि गर्भकालकी अवधि पूर्ण दस मास है। इसीलिये भगवती श्रुतिने कहा है—**दशमे मासि सूतवे।**

परंतु इस दस मासकी अवधिकी गणना लौकिक माससे नहीं करनी चाहिये, अपितु स्वस्थ स्त्रीके दो रजोदर्शन-के मध्यमें जितने दिनोंका अन्तर हो, उसे एक मास मानकर दस मासकी गणना करनी चाहिये। इस प्रकार यदि दिन, घंटे और मिनटोंकी भी पूरी-पूरी गणना करके उसे दससे गुणा किया जाय तो प्रसवकालकी निश्चित अवधिका ज्ञान हो सकता है।

यहाँ यह बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये कि जो बालक गर्भमें जितने दिन कम रहेगा वह उतना ही निर्बल और ह्रस्वकाय होगा। तथा जो बालक गर्भमें जितने दिन अधिक रहेगा उतना ही पुष्ट होगा, परंतु यह नियम स्वस्थ स्त्रीके विषयमें है। अस्वस्थ होनेसे या उचित खान-पान न मिलनेसे अधिक कालमें प्रसूत बालक भी निर्बल होता है। इसी प्रकार स्त्रीके निर्बल या खान-पानकी उचित व्यवस्था न होनेसे जो बालक नियमानुसार सप्तम मासमें होगा वह उचित मर्यादासे अधिक निर्बल होनेके कारण तत्काल या कुछ काल बाद मर जायगा।

इसी प्रसंगसे हम अन्तमें विद्वानोंका ध्यान एक और बातकी ओर आकृष्ट करके इस लेखको समाप्त करते हैं।

काल-गणनामें सौर तथा चान्द्र मास तथा वर्षका व्यवहार तो लोक-प्रसिद्ध है ही, परंतु प्राचीन कालमें एक मानुष मास और वर्षका भी प्रयोग होता था। मैं चिरकालतक नहीं समझ पाया कि यह मानुष-वर्ष क्या है? परंतु वायुपुराणके कतिपय श्लोकोंसे यह ग्रन्थि भी सुलझ गयी। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

सप्तविंशतिपर्यन्ते कृत्स्ने नक्षत्रमण्डले।
सप्तर्षयस्तु तिष्ठन्ति पर्यायेण शतं शतम्।
सप्तर्षीणां युगं ह्येतद् दिव्यया संख्यया स्मृतम्॥

(अध्याय ९ श्लोक ४१९)

त्रीणि वर्षसहस्राणि मानुषेण प्रमाणतः।
त्रिंशद् यानि तु वर्षाणि मतः सप्तर्षिवत्सरः॥

(अध्याय ५७ श्लोक १७)

इन श्लोकोंमें सप्तर्षि-युगकी दिव्य और मानुष वर्षसे गणना दिखलायी है। अर्थात् एक सप्तर्षि-युगमें सत्ताईस सौ (२७००) दिव्यवर्ष या तीस सौ तीस (३०३०) मानुष-वर्ष होते हैं।

पुराणों तथा प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थोंमें जहाँ कहीं दिव्य वर्षका प्रयोग हुआ है वह सौर वर्ष ही है, यह भी इसी श्लोकसे व्यक्त है। ज्यौतिष-शास्त्रके अनुसार सप्तर्षि-युग सत्ताईस सौ वर्षोंका ही माना गया है, उसे ही प्रथम श्लोकमें दिव्य-पदसे विशेषित किया है, अतः दिव्य और सौर वर्ष पर्यायवाची हैं।

उपर्युक्त श्लोकोंमें दिखलायी गयी दिव्य सौर और मानुष-वर्षोंकी संख्याकी तुलना करनेपर मानुष-वर्ष तीन सौ पचीस दिन पाँच घंटे छप्पन मिनट २६ १४/१०१ सेकंड (अर्थात् लगभग तीन सौ पचीस दिन और छः घंटेका ठहरता है। यदि इस कालको बारहमे भाग किया जाय तो एक मास सत्ताईस दिन दो घंटे २९ मिनट ४२ १८/१०१ सेकंडके बराबर होता है।

मानुष-मासके कालकी स्वस्थ स्त्रीके उचित समयपर होनेवाले रजोदर्शन-कालसे पूरी समानता है। इस समानतासे यह भी स्पष्ट हो गया कि मानुष-मासकी गणना स्वस्थ स्त्रीके उचित कालमें होनेवाले दो रजोदर्शनके मध्यवर्ती कालके आधारपर ही की गयी है। इसलिये दिव्य सौर-वर्षका सम्बन्ध सूर्य (द्युलोक) के साथ है, चन्द्र-वर्षका सम्बन्ध चन्द्र (पितृलोक) के साथ है, उसी प्रकार मानुष वर्षका सम्बन्ध मनुष्य-जाति-अन्तर्गत स्त्री-जातिमें नियत समयपर होनेवाली स्वाभाविक (प्राकृतिक) घटनाके साथ है, अतएव ये वर्ष दिव्य, पितृ और मानुष नामसे व्यवहृत होते हैं।

इस मानुष मासमें दसका गुणा करनेपर लगभग दो

सो बहत्तर दिनका काल होता है; यह सामान्यतया माने जानेवाले गर्भ-कालसे भी मिल जाता है।

इस सारी मीमांसासे पाठकोंको ज्ञात हो गया होगा कि श्रुतिका **'दशमे मासि सूतवे'** वचन कितना सत्य है। वेदमें जितना भी ज्ञान दिया है वह सब सामान्य धर्मको मानकर दिया है। अतएव मीमांसादर्शनमें लिखा है—

परं तु श्रुति सामान्यमात्रम्। (अ० १ पाद १)

जब भी हम किसी श्रुतिवचनकी मीमांसा किसी लोक-प्रसिद्ध या रूढिको मानकर करते हैं तभी उसमें पदे-पदे कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं और श्रुति-वचनकी तथ्यता भी समझमें नहीं आती[1]। इसलिये वेदके पदोंका यौगिक प्रक्रियाके अनुसार ही अर्थ करना चाहिये, यही प्राचीन आचार्योंका सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

आशा है 'कल्याण' के पाठकोंका 'बालकके गर्भवास-कालकी इस मीमांसासे अवश्य ही कुछ कल्याण होगा। इत्यलं बुद्धिमद्वर्येषु।

शरणागतकी प्रार्थना

मैं शरण आ पड़ा शरणद नाथ! तुम्हारी।
मनमें कर दृढ़ विश्वास आस ले भारी॥
मुझको अब हे सर्वस्व! तुरत अपना लो।
सब विधि करके स्वीकार सु-यन्त्र बना लो॥

मेरे जीवनमें अपनी ज्योति जगा दो।
चिर अंधकारको निश्चित मार भगा दो॥
शीतल प्रकाशसे हो जगमग जग सारा।
तम मिटे सभीका सबमें हो सुख न्यारा॥
इस ज्ञान-ज्योतिसे हो जीवन आलोकित।
हो नाश सभी अज्ञान ज्ञान-तन-पुलकित॥

तुम निज सुवास दे जीवन सुरभित कर दो।
सब जगको उस सुन्दर सुगन्धसे भर दो॥
पाकर पावन सौरभ पुनीत सब जग हो।
सबका जीवन अति पुण्यधाम सौभग हो॥
सबके जीवनमें तव महिमा जग जावे।
तव कीर्तिगानमें ही जीवन लग जावे॥

तुम अपनी सुन्दरतासे मुझे सजा दो।
जीवनका बाह्य असार सु-रूप लजा दो॥
इस सुन्दरतासे सारा जग सुन्दर हो।
इससे ही विकसित सुन्दर मन-मंदिर हो॥
सुन्दर हो सत्से भरा, भरा सुखसे हो।
यह सुन्दर ही तनसे, मनसे, मुखसे हो॥

१. इसी प्रकारके 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' (यजु० ३० । १८) श्रुतिवचनकी मीमांसा काशीसे प्रकाशित होनेवाली 'वेदवाणी' के नवम्बर १९५२ के 'वेदाङ्क'में की गयी है, वह भी देखने योग्य है।—लेखक

बालकों और उनके अभिभावकोंके प्रति कुछ हित-परामर्श

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भारतमें आजकल बालकोंको जो शिक्षा-दीक्षा प्राप्त हो रही है, वह भारतीय संस्कृतिके लिये तो घातक है । उन बालकोंके लिये भी अत्यन्त हानिकर और उनके जीवनको असंयमपूर्ण, रोगग्रस्त, दुखी बनाकर अन्तमें मानव-जीवनके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिसे वञ्चित रखनेवाली है । अधिकांश बुद्धिमान् सज्जन बहुत विचार-विनिमयके अनन्तर इसी निर्णय-पर पहुँचे हैं कि हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली हमारे बालकोंके लिये सर्वथा अनुपयोगी है । त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंका जो अनुभव था, वह सब प्रकारसे इस लोक और परलोकमें कल्याण-कारक था । पर आज हमलोग उनके अनुभवके लाभसे वञ्चित हो रहे हैं; क्योंकि उन महानुभावोंकी जो भी शिक्षा है, वह शास्त्रोंमें है और श्रद्धा, भक्ति, रुचिकी कमी तथा अन्य प्रकारके व्यर्थके कार्योंमें समय खो देनेके कारण समयाभावसे हमलोग शास्त्र पढ़ते नहीं; अतः उनसे प्रायः अनभिज्ञ रहते हैं । हमारी संतान तो इस ज्ञानसे प्रायः सर्वथा ही शून्य है और होती जा रही है । इसलिये भारतीय संस्कृतिके प्रति श्रद्धा रखनेवालों तथा बालकोंके सच्चे शुभचिन्तकोंको ऐसी शिक्षा-पद्धति बनानेका प्रयत्न करना चाहिये, जिससे बालक-बालिकाओंमें वर्णाश्रमधर्म, ईश्वरभक्ति, माता-पिताकी सेवा, मूर्ति-पूजा, श्राद्ध, एकनारीव्रत, सतीत्व आदिमें श्रद्धा उत्पन्न हो । साथ ही अभिभावकोंको स्वयं इनका पालन करना चाहिये । जो अभिभावक स्वयं सद्गुण-सदाचारका पालन नहीं करता, उसका बच्चोंपर असर नहीं होता । ऐसी उत्तम शिक्षाके लिये गीता, भागवत, रामायण, महाभारत, जैमिनीय अश्वमेध, पद्मपुराण, मनुस्मृति आदि धार्मिक ग्रन्थोंका स्वयं अध्ययन करना चाहिये और बालक-बालिकाओंको कराना चाहिये । यदि प्रति-दिन अपने घरमें, चाहे एक घंटा या आधा घंटा ही हो, इन ग्रन्थोंका क्रमसे सब मिलकर अध्ययन करें तो बालकोंको घर बैठे ही शास्त्रज्ञान हो सकता है । इस प्रकारके अभ्याससे ऋषि, मुनि, महात्मा, शास्त्र और ईश्वरमें श्रद्धा-विश्वास बढ़कर बालकोंका स्वाभाविक ही उत्थान हो सकता है तथा बालक आदर्श बन सकते हैं । बालकोंकी उन्नतिसे ही कुटुम्ब, जाति, देश और राष्ट्र तथा भावी संतानकी उन्नति हो सकती है । अतः बालकोंके शिक्षण और चरित्रपर अभि-भावकोंको विशेष ध्यान देना चाहिये ।

वर्तमान शिक्षा-संस्थाओंमें बालकोंको ईश्वर-भक्ति और धर्मपालनकी शिक्षाका देना तो दूर रहा, इनका बुरी तरहसे विरोध किया जाता है । ईश्वर और धर्मकी खिल्ली उड़ायी जाती है और कहा जाता है कि धर्म ही हमारे पतन और अवनतिका हेतु है एवं बालकोंमें इस प्रकारके मिथ्या सिद्धान्त भरे जाते हैं कि 'आर्यलोग बाहरसे भारतमें आये हैं, चार हजार वर्षोंसे पूर्वका कोई इतिहास नहीं मिलता तथा जगत् उत्तरोत्तर उन्नत हो रहा है ।' इन भावोंसे धर्म और ईश्वरके प्रति अनास्था होकर उनका घोर पतन हो रहा है । इसीलिये उनको धर्मका ज्ञान होना असम्भव-सा होता जा रहा है । आजकल-की प्रणालीके अनुसार बच्चा जब छः-सात वर्षका होता है, तभी हम उसे पढ़नेके लिये स्कूलमें भेज देते हैं। वहाँ अपरिपक्व मति तथा कॉलेजोंसे निकले हुए प्रायः प्राचीनताके विरोधी नये अध्यापकोंके साथ उच्छृङ्खल वातावरणमें रहकर जब वह करीब सोलह वर्षका होता है तो उसे कॉलेजमें भेज देते हैं । वह बीस वर्षकी आयुतक कठिनतासे बी० ए० पास कर पाता है; परंतु जब वह एफ० ए० या बी० ए० पास होकर घर आता है तो अपने मा-बापको मूर्ख समझने लगता है और हमारी बची-खुची भारतीय संस्कृतिके पुराने संस्कारोंको देखकर हँसी-मजाक उड़ाता है । ऐसी परिस्थितिमें हमारे बालक हमारे प्राचीन अनुभवी ऋषि-मुनियोंकी आर्य-संस्कृति-के लाभसे वञ्चित नहीं रहेंगे तो और क्या होगा ?

शिशु-कक्षासे लेकर विश्वविद्यालयोंकी उच्च कक्षाओंतकके विद्यार्थी आज धर्म-ज्ञानशून्य पाये जाते हैं, यह इसी शिक्षा-का दुष्परिणाम है । यहाँतक कि उनमें भारतीय शिष्टाचारका भी अभाव हुआ चला जा रहा है, यह बड़े ही खेदकी बात है।

प्राचीन भारतीय शिष्टाचार या धर्मके सेवनसे लाभ

प्राचीन भारतीय शिष्टाचारका—जिसको हम आर्य-संस्कृति या भारतीय संस्कृति कह सकते हैं, पालन करनेसे हमारा इस लोक और परलोक दोनोंमें ही कल्याण हो सकता है । इसीका नाम धर्म है । शास्त्रमें बतलाया है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

(वैशेषिकदर्शन सू० १)

'जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि हो, वह धर्म है।'

अतः जिस प्रकार राजा युधिष्ठिरने भारी-से-भारी विपत्ति पड़नेपर भी धर्मका त्याग नहीं किया, उसी प्रकार हमें भी धर्मका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। महाभारतमें कहा है—

> न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
> धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
> नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
> जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥
> (स्वर्गारोहण० ५। ६३)

'मनुष्यको किसी भी समय न कामसे, न भयसे, न लोभसे और न जीवन-रक्षाके लिये ही धर्मका त्याग करना चाहिये; क्योंकि धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य हैं तथा जीव नित्य है और इस जीवनका हेतु अनित्य है।'

धर्म ही मनुष्यका जीवन-प्राण है और इस लोक तथा परलोकमें कल्याण करनेवाला है। परलोकमें तो केवल एक धर्म ही साथ जाता है; स्त्री, पुत्र और सम्बन्धी आदि कोई भी वहाँ साथ नहीं जा सकते। अतएव अपने कल्याणके लिये मनुष्यमात्रको नित्य-निरन्तर धर्मका सञ्चय करना चाहिये। उक्त धर्मकी प्राप्ति धर्मके ज्ञाता महापुरुषोंके सङ्गसे और उनकी अनुपस्थितिमें सत्-शास्त्रोंके अनुशीलनसे होती है।

त्यागपूर्वक धर्मके पालनसे उसका दूसरे लोगोंपर भी बहुत अच्छा असर होता है। उसके प्रभावसे पापी पुरुष भी धर्मात्मा बन जाते हैं। राजा युधिष्ठिरका इतना भारी प्रभाव था कि वे जिस देशमें वास करते थे, उस देशमें धर्मका प्रसार, धन-धान्यकी वृद्धि और दुर्भिक्ष-महामारी आदिकी स्वतः निवृत्ति हो जाया करती थी। महाराज युधिष्ठिरका यह प्रभाव विस्तारसे देखना चाहें तो महाभारतका विराटपर्व देखना चाहिये।

जो दूसरोंके साथ त्यागपूर्वक व्यवहार करता है उसके साथ दूसरोंको भी त्यागपूर्वक व्यवहार करना पड़ता है। हमारी जो प्राचीन त्यागपूर्ण धार्मिक शिक्षा है, उससे हमारे आत्माका कल्याण तो होता ही है, इस लोकमें भी सब प्रकारसे लाभ-ही-लाभ होता है; परंतु यदि लौकिक लाभ न भी होता हो और यहाँके स्वार्थकी हानि भी होती हो पर उससे यदि हमारा परमार्थ सिद्ध हो जाता हो तो हमारे लिये वह महान् लाभकी बात है। सर्वस्व जाकर भी परमार्थ सिद्ध होता हो तो बिना विचारे सर्वस्वका त्याग कर देना उचित है; क्योंकि मनुष्य-जीवनका उद्देश्य आत्माका कल्याण है—सांसारिक भोग भोगना नहीं। आत्माका कल्याण या भगवत्प्राप्ति ही धर्मका यथार्थ फल है। अतएव हमारे बालकोंमें भगवत्प्राप्तिके हेतु इस धर्मके पालनके लिये प्रारम्भसे ही ऐसे भाव भरे जाने चाहिये। प्राचीन ऋषि-आश्रमोंमें यही हुआ करता था।

उपर्युक्त धर्मको दृष्टिमें रखकर बालकोंके लिये अब यहाँ कुछ विशेष उपयोगी बातें लिखी जा रही हैं। मनुष्यको चाहिये कि आलस्य, प्रमाद, भोग, दुर्व्यसन, दुर्गुण और दुराचारोंको विषके समान समझकर उनको त्याग दे एवं सद्गुण-सदाचारका सेवन, विद्याका अभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, माता-पिता और गुरुजनोंकी सेवा तथा ईश्वरकी भक्तिको अमृतके समान समझकर उनका श्रद्धापूर्वक सेवन करे। यदि इनमेंसे एकका भी निष्कामभावसे पालन किया जाय तो कल्याण हो सकता है, फिर सबका पालन करनेसे तो कल्याण होनेमें कहना ही क्या है।

छः घंटेसे अधिक सोना, दिनमें सोना, असमयमें सोना, काम करते या साधन करते समय नींद लेना, काममें असावधानी करना, अल्प कालमें हो सकनेवाले काममें अधिक समय लगा देना, आवश्यक कामके आरम्भमें भी विलम्ब करना तथा अकर्मण्यताको अपनाना आदि सब 'आलस्य'के अन्तर्गत हैं।

मन, वाणी और शरीरके द्वारा न करनेयोग्य व्यर्थ चेष्टा करना तथा करनेयोग्य कार्यकी अवहेलना करना—'प्रमाद' है।

ऐश-आराम, स्वाद-शौक, फैशन-विलासिता, विषयोंका सेवन, इत्र-फुलेल, सेंट-पाउडर आदिका लगाना, शृंगार करना, थियेटर-सिनेमा आदिका देखना, विलास तथा प्रमादोत्पादक क्लबोंमें जाना आदि सब 'भोग' हैं।

बीड़ी, सिगरेट, गाँजा, भाँग, चरस, कोकिन, अफीम, आसव आदि मादक वस्तुओंका सेवन, चौपड़-ताश-शतरंज आदि खेलना सब 'दुर्व्यसन' हैं।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, अभिमान, अहंकार, मद, ईर्ष्या आदि 'दुर्गुण' हैं।

हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, मांसभक्षण, मदिरापान, जूआ आदि 'दुराचार' हैं।

संयम, क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, संतोष, ज्ञान, वैराग्य, निष्कामता आदि 'सद्गुण' हैं।

माखन-चोरी

गुप्तकालीन मूर्ति] [भारत-कला भवन

कार्तिकेय

गुप्तकालीन मूर्ति] [भारत-कला-भवन

यज्ञ, दान, तप और सेवा करना तथा अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्यका पालन करना आदि 'सदाचार' हैं।

इनके अतिरिक्त विद्याका अभ्यास, ब्रह्मचर्यका पालन, माता-पिता और गुरुजनोंकी सेवा तथा ईश्वरकी भक्ति—ये सभी परम आवश्यक और कल्याणकारी हैं।

इसलिये बालकों और नवयुवकोंसे हमारा निवेदन है कि वे निष्कामभावसे उपर्युक्त साधनोंद्वारा अपने जीवनके स्तर (स्टैण्डर्ड) को ऊँचा उठावें, उसका पतन न होने दें। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥
(६। ५-६)

'अपनेद्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है। जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है, और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है।'

इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि जो मनुष्य अपने मन-इन्द्रियोंको जीत लेता है, वह स्वयं ही अपना मित्र है और जो नहीं जीतता, वह स्वयं ही अपना शत्रु है। क्योंकि मन-इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेवाला पुरुष ही विषयोंसे मन-इन्द्रियोंको रोककर दुर्गुण-दुराचारका त्याग और सद्गुण-सदाचारका सेवन करके आत्मकल्याण कर सकता है।

जिस आचरणको श्रुति और स्मृति उत्तम बतलाती है, तथा अच्छे पुरुष जिसका आचरण करते हैं एवं हमारी आत्मा भी यह स्वीकार कर लेती है कि ये आचरण अच्छे हैं, वही 'धर्म' है। श्रीमनुजीने कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥
(२। १२)

'वेद, स्मृति, सदाचार और अपनी आत्माकी रुचिके अनुसार परिणाममें हितकर—यह चार प्रकारका धर्मका साक्षात् लक्षण है।'

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः।
इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्॥
(२। ९)

'जो मनुष्य वेद और स्मृतिमें कहे हुए धर्मका पालन करता है, वह निःसंदेह इस संसारमें कीर्तिको और मरकर परमात्माकी प्राप्तिरूप अत्यन्त सुखको पाता है।'

अतः युवकोंसे हमारा निवेदन है कि वर्तमानमें जो हमारा बहुत ही नैतिक पतन हो रहा है, इससे निकलकर अपनी आत्माको उठावें तथा इस लोक और परलोकमें हमारा परम कल्याण हो, वही आचरण करें तथा सच्चे हृदयसे लगनके साथ सभी दिशाओंमें ऐसा प्रयत्न करें जिसमें अपनी भौतिक और बौद्धिक, व्यावहारिक और सामाजिक, नैतिक और धार्मिक तथा आध्यात्मिक या पारमार्थिक उन्नति हो। मानव-जीवन सफल हो, यहाँ अभ्युदयको प्राप्त करें और अन्तमें मुक्तिकी प्राप्ति हो।

भौतिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक उन्नतिके स्वरूप और उनका फल

जिससे शरीर नीरोग रहे तथा संसारमें धन, धान्य और शिल्पविद्या आदिकी उन्नति हो, यह 'भौतिक उन्नति' है। भाव यह कि आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पाँच भूतोंके कार्यरूप पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उन्नतिको भौतिक उन्नति कहते हैं; किंतु यह भौतिक उन्नति जब निष्काम-भावसे अहिंसा, सत्य और समस्त प्राणियोंके हितकी दृष्टिसे की जाती है, तभी कल्याणकारक होती है; इसके विपरीत 'अणुबम' आदिसे जनताका संहार करनेवाली भौतिक उन्नति तो भयानक और पतनकारक ही है।

जिससे हमारा लौकिक और पारलौकिक ज्ञान बढ़े, अनेक प्रकारकी भाषा, लिपि और श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणादि शास्त्रोंका तथा व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, निधिविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, संगीत, ललितकला आदि विद्याओंका ज्ञान हो एवं हमारी बुद्धि सूक्ष्म और तीक्ष्ण हो, उसका नाम 'बौद्धिक उन्नति' है; किंतु यह बौद्धिक उन्नति राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित, क्षमा, दया, उदारता, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि गुणोंसे युक्त होनेपर इस लोक और परलोकमें कल्याणकारक होती है। इससे विपरीत संसारके संहार करनेमें संलग्न बुद्धि तो हानि और पतन करनेवाली ही है।

कुशलतापूर्वक देश और विदेशमें व्यवसायबुद्धिसे पदार्थोंका उत्पादन, निर्माण, आदान-प्रदान और क्रय-विक्रय तथा कला-कौशलकी उन्नति और वृद्धि करना आदि एवं प्रत्येक व्यक्तिके साथ कुशलता और सभ्यतापूर्वक बर्ताव करना आदि 'व्यावहारिक उन्नति' है । यह 'व्यावहारिक उन्नति' झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी और स्वार्थसे रहित तथा सत्यता, समता, संतोष, संयम आदि गुणोंसे युक्त होनेपर मुक्ति देनेवाली है और इससे विपरीत आजकलके व्यापारकी तरह अन्यायपूर्ण होनेपर देश और राष्ट्रके लिये हानिकारक तथा आत्माका पतन करनेवाली है ।

वर्तमानमें जाति और समाजमें फैली हुई दहेज लेने आदिकी कुरीतियाँ तथा विवाह और अन्यान्य अवसरोंपर धनका अतिशय व्यर्थ खर्च करने आदिकी फिजूलखर्चीको खतरनाक समझकर उनका सुधार करना तथा देश, जाति और समाजका उत्थान और हित करना—यह 'सामाजिक उन्नति' है ।

रेल-यात्राके समय जगह रहते हुए भी अपने डिब्बेमें दूसरेको नहीं घुसने देना, तीसरे दर्जेका टिकट लेकर इंटरमें बैठ जाना अथवा इंटरका टिकट लेकर सेकंडमें सवार होना, टिकटके अनुसार नियत किये हुए परिमाणसे अधिक बोझ बिना किराया चुकाये ही ले जाना, हाकिम या पञ्च बनकर पक्षपात करना, व्यापारमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी करना और झूठे बही-खाते बनाना, सरकार और रेलवेकी उनके कर्मचारियोंसे मिलकर चोरी करना, रिश्वत आदि लेकर चोरी तथा अनैतिकतामें सहायता करना आदि सब 'नैतिक पतन' हैं । उपर्युक्त दोषोंको छोड़कर सबके साथ पक्षपातरहित, न्याय और समतायुक्त लोभरहित यथायोग्य व्यवहार करना—यह 'नैतिक उन्नति' है। उपर्युक्त सामाजिक तथा नैतिक बातोंका पालन यदि मान-बड़ाई आदिके लिये किया जाय तो मान-बड़ाई मिलती है और यदि कर्तव्य-बुद्धिसे निष्कामभावपूर्वक किया जाय तो परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है ।

झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, मद्यपान, मांसभक्षण, द्यूत और हिंसा आदि शास्त्रनिषिद्ध दोषोंसे रहित होकर यज्ञ, दान, तप, सेवा, तीर्थ, व्रत, परोपकार, शौचाचार, सदाचार आदि शास्त्रानुकूल धर्मका श्रद्धापूर्वक पालन करना 'धार्मिक उन्नति' है । यह धार्मिक उन्नति यदि निष्कामभावसे या भगवत्प्रीत्यर्थ अथवा भगवत्प्राप्त्यर्थ हो तो इस लोक और परलोकमें कल्याण करनेवाली है तथा यदि सकामभावसे की जाय तो इस लोक और परलोककी कामनाकी पूर्ति करनेवाली है ।

आत्मा और परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेके लिये सत्सङ्ग और स्वाध्याय करना, वैराग्यपूर्वक संसारके विषयभोगोंसे मन और इन्द्रियोंका संयम करना, श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर भगवान्के नामका जप और स्वरूपका ध्यान करना, सख्य, दास्य आदि भावोंसे भगवान्की उपासना करना, भगवान्की पूजा करना, उनको नमस्कार करना, उनकी स्तुति-प्रार्थना करना, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिरूप अष्टाङ्गयोगके द्वारा तथा अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मको यथार्थरूपमें जाननेका साधन करना आदि सब 'आध्यात्मिक उन्नति' के हेतु हैं । अतः इन साधनोंमेंसे कोई-सा भी साधन परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे करना 'आध्यात्मिक उन्नति' है ।

उन्नतिके साधन

अब बालकोंकी सर्व प्रकारसे अधिक-से-अधिक उन्नति किस प्रकार हो, इस विषयमें कुछ विचार करना है । जो अवस्थामें बालक हैं वे तो बालक हैं ही, किंतु जिनके माता-पितादि अभी जीवित हैं, उनकी आयु अधिक होनेपर भी माता-पिताके सम्मुख तो वे भी बालकके ही समान हैं तथा जिन्हें कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान नहीं है, वे भी बालकके समान है । पहले यहाँ यह विचार करते हैं कि बालकोंको अपनी दिनचर्या कैसी बनानी चाहिये ।

कम-से-कम सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व उठना और उठते ही भगवान्के नाम-रूपका स्मरण तथा उनको नमस्कार करना चाहिये । फिर—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

'आप ही माता और आप ही पिता हो, आप ही बन्धु और आप ही मित्र हो । आप ही विद्या और आप ही धन हो । हे देवोंके भी देव ! मेरे तो सब कुछ आप ही हो ।'

इस प्रकार स्तुति करके भगवान्में परम श्रद्धा और

अनन्यभक्ति हो तथा भगवान्‌के नाम और स्वरूपकी स्मृति नित्य-निरन्तर बनी रहे, इसके लिये भगवान्‌से हृदय खोलकर प्रार्थना करनी चाहिये। इसके बाद, पृथ्वी माताको नमस्कार करके शास्त्रविधिके अनुसार शौच-स्नान करना चाहिये।

मलत्याग करके तीन बार मृत्तिका और जलसे गुदा धोवे, फिर जबतक दुर्गन्ध और चिकनाई रहे, तबतक केवल जलसे धोवे। मल या मूत्रका त्याग करनेके बाद उपस्थको भी जलसे धोवे। मलत्यागके बाद मृत्तिका और जलसे दस बार बायें हाथको और सात बार दोनों हाथोंको मिलाकर धोना चाहिये। मृत्तिका और जलसे पैरोंको एक बार तथा पात्रको तीन बार धोना चाहिये। हाथ और पैर धोनेके अनन्तर मुखके सारे छिद्रोंको धोकर दातुन करके कम-से-कम बारह कुल्ले करने चाहिये। फिर स्नान करना चाहिये।

तदनन्तर यदि यज्ञोपवीतधारी हो तो उसे सन्ध्योपासन, गायत्रीजप, वेदाध्ययन, तर्पण, पूजा, होम आदि विधिपूर्वक करने चाहिये। मनुजीने कहा है—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद् देवर्षिपितृतर्पणम्।
देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च॥
(२।१७६)

'बालकको चाहिये कि नित्य स्नान करके शुद्ध हो देव तथा ऋषि और पितरोंका तर्पण तथा देवताओंका पूजन और अग्निहोत्र अवश्य करे।'

कम-से-कम प्रातःकाल और सायंकाल विधिपूर्वक सन्ध्योपासन और गायत्रीजप तो हरेक यज्ञोपवीतधारी बालकको अवश्य करना ही चाहिये। मनुजीने कहा है—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद्बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥
(मनु० २।१०३)

'जो मनुष्य न तो प्रातःसन्ध्योपासन करता है और जो न सायंसन्ध्योपासन करता है, वह शूद्रके समान सम्पूर्ण द्विज-कर्मोंसे अलग कर देनेके योग्य है।'

शौच-स्नानसे पवित्र होकर ही सन्ध्योपासन और गायत्री-जप करना चाहिये, क्योंकि पवित्र होकर किया हुआ गायत्री-जप ही अधिक लाभदायक होता है। शास्त्रोंमें गायत्री-जपकी बड़ी भारी महिमा आती है—

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥
(मनु० २।७८)

'इस (ॐ) अक्षर और इस व्याहृतियोंके सहित गायत्रीको दोनों सन्ध्याओंमें जपता हुआ वेदज्ञ ब्राह्मण वेद-पाठके पुण्य-फलका भागी होता है।'

सहस्रकृत्वस्त्वभ्यस्य बहिरेतत्त्रिकं द्विजः।
महतोऽप्येनसो मासात्त्वचेवाहिर्विमुच्यते॥
(मनु० २।७९)

'द्विज इन तीनोंका यानी प्रणव, व्याहृति और गायत्री-का बाहर (पवित्र और एकान्त स्थानमें) सहस्र बार जप करके एक मासमें बड़े भारी पापसे भी वैसे ही छूट जाता है, जैसे साँप केंचुलीसे।'

इसलिये हमलोगोंको एकान्त और पवित्र देशमें आलस्य-रहित होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अर्थ और भावको समझते हुए गायत्रीका जप अधिक-से-अधिक करना चाहिये। यदि हम प्रतिदिन एक हजार गायत्रीमन्त्रका जप आलस्यरहित होकर तीन वर्षतक श्रद्धा-प्रेमपूर्वक करें तो हमारा निश्चय ही कल्याण हो सकता है। श्रीमनुजी कहते हैं—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतास्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥
(२।८२)

'जो मनुष्य आलस्य छोड़कर प्रतिदिन तीन वर्षोंतक प्रणव और व्याहृतिसहित गायत्रीका जप करता है, वह मरनेपर क्रमशः वायुरूप और आकाशरूप होकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।'

इसलिये पवित्र होकर नित्य निष्कामभावसे श्रद्धाभक्ति-पूर्वक परमात्माकी प्राप्तिके लिये अधिक-से-अधिक गायत्रीजप करना चाहिये। अधिक न हो तो कम-से-कम प्रतिदिन एक हजार गायत्रीका जप तो अवश्य करना चाहिये। प्रातःकाल खड़े होकर और सायंकाल बैठकर जप करना उत्तम है अथवा दोनों समय बैठकर ही कर सकते हैं; किंतु चलते-फिरते नहीं। बीमार हों तो बिना स्नान किये भी हाथ-मुँह और पैर धोकर वस्त्र बदलकर मानसिक सन्ध्या और गायत्रीजप कर सकते हैं। रेल, मोटर, वायुयान आदिमें यात्रा करते समय भी बिना स्नान किये भी मानसिक सन्ध्या और गायत्री-जप आदि ठीक समयपर अवश्य करना चाहिये तथा गन्तव्य

स्थानपर पहुँच जानेपर शौच-स्नानादिसे निवृत्त हो पुनः विधिपूर्वक करना चाहिये । प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व और सायंकाल सूर्यास्तसे पूर्व करना सर्वोत्तम है । कहीं आपत्तिकाल-में समयका उल्लङ्घन हो जाय तो भी कर्मका उल्लङ्घन तो कभी होना ही नहीं चाहिये । अपने दैनिक नित्यकर्मका त्याग तो कभी किसी अवस्थामें करना ही नहीं चाहिये । मनुस्मृतिमें कहा है—

नैत्यके नास्त्यनध्यायो ब्रह्मसत्रं हि तत् स्मृतम् ॥
(२ । १०६)

'नित्यकर्ममें अनध्याय नहीं है; क्योंकि उसे ब्रह्मयज्ञ कहा है ।'

अतएव स्नान, सन्ध्या, गायत्रीजप, तर्पण, पूजा, हवन, स्वाध्याय आदि नित्यकर्म कभी किसी अवस्थामें भी नहीं छोड़ना चाहिये । जन्म और मृत्युका अशौच होनेपर मानसिक कर लेना चाहिये । बीमारी और संकट अवस्थामें स्नान न करनेके कारण अपवित्र होनेपर भी उपर्युक्त नित्यकर्म भगवान्‌का स्मरण करके मानसिक कर सकते हैं; क्योंकि भगवान्‌का स्मरण करनेसे मनुष्य बाहर-भीतरसे पवित्र हो जाता है । शास्त्रमें कहा है—

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥

'मनुष्य अपवित्र हो या पवित्र अथवा शुद्ध-अशुद्ध सभी अवस्थाओंमें विद्यमान रहते हुए भी जो कमलनयन भगवान्‌का स्मरण करता है, वह बाहर-भीतरसे पवित्र हो जाता है ।'

यदि किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके बालकके यज्ञोपवीत नहीं है तो उसे यज्ञोपवीत-संस्कार अवश्य ही करा लेना चाहिये; क्योंकि यज्ञोपवीतके बिना सन्ध्या, गायत्री, वेद और होम आदिमें अधिकार नहीं होता । यज्ञोपवीतका काल मनुजीने इस प्रकार बतलाया है—

गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥
(२ । ३६)

'ब्राह्मणका उपनयन (जनेऊ) गर्भसे आठवें वर्षमें, क्षत्रियका गर्भसे ग्यारहवेंमें और वैश्यका गर्भसे बारहवें वर्षमें करना चाहिये ।'

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥
(२ । ३७)

'ब्रह्मतेजकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मणका पाँचवें वर्षमें, बल चाहनेवाले क्षत्रियका छठेमें और धन चाहनेवाले वैश्यका आठवें वर्षमें यज्ञोपवीत करना चाहिये ।'

आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते ।
आद्वाविंशात्क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥
(२ । ३८)

'सोलह वर्षतक ब्राह्मणके लिये, बाईस वर्षतक क्षत्रियके लिये और चौबीस वर्षतक वैश्यके लिये सावित्रीके कालका अतिक्रमण नहीं होता अर्थात् इस अवस्थातक उनका उपनयन (जनेऊ) हो सकता है ।'

इसके बाद 'व्रात्य' संज्ञा हो जाती है; किंतु 'व्रात्य' संज्ञा होनेपर भी प्रायश्चित्त कराकर कोई सदाचारी विद्वान् ब्राह्मण यज्ञोपवीत दिला दें तो ले सकते हैं ।

जो स्त्री-शूद्र आदि यज्ञोपवीतके अधिकारी नहीं हैं, तथा अधिकारी होनेपर भी जिनका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ है, उन लोगोंको भी अपने इष्टदेव भगवान्‌का पूजन, नमस्कार, स्तुति, पाठ, नामका जप और ध्यान, गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंका स्वाध्यायरूप नित्यकर्म आत्मकल्याणके लिये अवश्य ही करना चाहिये । उनका सन्ध्या, गायत्री, होम और वेदाध्ययनमें अधिकार न होनेके कारण उन्हें हठ करके इन्हें नहीं करना चाहिये । उपर्युक्त सब तो वर्णाश्रमके कर्म हैं जो निष्काम भगवत्प्रीत्यर्थ होनेपर आध्यात्मिक उन्नतिरूप बनकर भगवत्प्राप्तिके साधन होते हैं । जो वर्णाश्रम धर्मसे रहित हैं, उन लोगोंकी आध्यात्मिक उन्नति और उसके फलस्वरूप भगवत्प्राप्ति निष्काम प्रेमभावसे भगवान्‌के पूजन-नमस्कार, स्तुति-प्रार्थना, जप-ध्यान आदिरूप भक्ति करनेपर हो सकती है ।

ऐसा माना जाता है कि एक मिनटमें १५ श्वासके हिसाबसे दिन-रातमें प्रायः २१६०० श्वास आते हैं; इसलिये प्रतिदिन कम-से-कम इक्कीस हजार छः सौ भगवन्नामोंका जप तो अवश्य होना ही चाहिये । इस दृष्टिसे यदि—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

—इस षोडश मन्त्रकी १४ माला प्रतिदिन जपी जाय तो २४१९२ नामोंका जप हो जाता है । अतः जिनको यह साधन लाभदायक और उचित प्रतीत हो, वे १४ मालाका जप अवश्य ही करें । इस प्रकारका जप यदि भगवान्‌के

स्वरूपका ध्यान रखते हुए या मन्त्रके अर्थको समझते हुए अक्षरोंका ध्यान रखते हुए किया जाय तो और भी उत्तम है। ऐसा जप श्रद्धा-प्रेमपूर्वक निष्कामभावसे नित्य-निरन्तर किया जाय, उसके लाभका तो कहना ही क्या है। उससे तो बहुत ही शीघ्र 'भगवत्प्राप्ति' हो सकती है। श्रीभगवन्नामजपकी महिमा शास्त्रोंमें सब प्रकारके यज्ञोंसे बढ़कर बतलायी गयी है। श्रीमनुस्मृतिमें कहा है—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
(२।८५)

'विधियज्ञ यानी श्रौत-स्मार्त्त यज्ञसे जपयज्ञ दसगुना बढ़कर है, और दूसरे मनुष्यको सुनायी न दे—इस तरह उच्चारण करके किया जानेवाला उपांशु जप (विधियज्ञसे) सौगुना और मानसजप (विधियज्ञसे) हजारगुना बढ़कर माना गया है अर्थात् एक-से-एक दसगुना श्रेष्ठ है।'

ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥
(२।८६)

'जो विधियज्ञ यानी श्रौत-स्मार्त यज्ञसहित चार पाकयज्ञ (वैश्वदेव, श्राद्ध, बलिकर्म और अतिथि तथा ब्राह्मण-भोजन) हैं, वे सब जपयज्ञकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं।'

इसके अतिरिक्त निर्गुण-निराकार अथवा सगुण-साकार भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि किसी भी इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रातःकाल और सायंकाल कम-से-कम एक घंटा या आधा घंटा यथाशक्ति अवश्य करें। श्रीमद्भगवद्गीताके कम-से-कम एक अध्यायका अर्थ-सहित पाठ करें तथा श्रीतुलसीदासजीके रामायणके चार दोहों (चौपाई-छन्द आदिसहित) का अर्थपर ध्यान रखते हुए पाठ करें एवं इष्टदेवके स्तोत्रोंका पाठ करें।

प्रतिदिन भगवान्‌की मूर्ति या चित्रपटकी षोडशोपचारसे पूजा करे अथवा मनसे अपने इष्टदेवके स्वरूपको अपने हृदयके भीतर या बाहर आकाशमें स्थित करके उनकी पूजा और नमस्कार करे तथा इष्टदेवकी स्तुति-प्रार्थना करे।

इस प्रकार नित्यकर्म करनेके पश्चात् अपने घरमें माता-पिताको तथा जो अवस्था, ज्ञान या पदमें अपनेसे बड़े हों उनको एवं आचार्य, अध्यापक और शिक्षकको प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये। नित्य प्रणाम करनेका लाभ बताते हुए मनुजी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥
(२।१२१)

'जो नित्य प्रणाम करनेके स्वभाववाला और वृद्धोंकी सेवा करनेवाला है, उसके आयु, विद्या, यश और बल—ये चार बढ़ते हैं।'

तदनन्तर आसन, व्यायाम आदि करके अपने अभ्यासके अनुसार दुग्धपान करना चाहिये अथवा रात्रिमें भिगोये हुए चनोंका सेवन भी दुग्धपानके समान ही है। इसके बाद विद्याका अभ्यास करना चाहिये। फिर पवित्र, सात्त्विक, उचित और हल्का भोजन करना चाहिये। आचमन करके ही भोजन करे तथा भोजनके अन्तमें भी आचमन करे (देखिये मनु० २।५३)। राजसी, तामसी, भारी और क्षुधासे अधिक मात्रामें भोजन नहीं करना चाहिये; क्योंकि अधिक भोजन करनेसे आरोग्य, आयु, स्वर्ग और पुण्यका नाश होता है (देखिये, मनु० २।५७)। न्यायसे प्राप्त द्रव्यसे खरीदे हुए तथा शास्त्रानुकूल शुद्धतासे बनाये हुए खाद्यपदार्थ पवित्र हैं। सात्त्विक भोजनके लक्षण गीतामें इस प्रकार बतलाये गये हैं—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
(१७।८)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं।'

घी, दूध, फल, शाक, अन्न और चीनी आदि पदार्थ शुद्ध भी हैं और सात्त्विक भी हैं, इसलिये इन पदार्थोंका ही भोजन करना चाहिये; किंतु घी, चीनी, मावा, मैदा और बेसन (चनेके आटे) की मिठाई भारी होनेसे गरिष्ठ और स्वादु होनेसे राजसी हो जाती है। इसलिये दूध, फल, मूँगकी दाल, चावल, खिचड़ी, रोटी, पूड़ी, फुलका, साग आदि सादा भोजन करना चाहिये।

उचित भोजनसे अभिप्राय है, क्षुधासे न अधिक हो और न कम; हल्केसे मतलब है—भोजन बहुत देरमें पचनेवाला

न होकर हल्का यानी अल्पकालमें ही पचनेवाला हो । तामसी भोजन तो कभी नहीं करना चाहिये। मधु, मांस, सोडावाटर, बर्फ, बिस्कुट, डाक्टरी दवा, आसव, अरिष्ट, लहसुन,प्याज, बाजारकी मिठाई आदि तथा होटलकी अपवित्र चीजें और एक-दूसरेका खाया हुआ जूँठा तथा रातमें बनाकर रक्खी हुई बासी रोटी आदि तामसी भोजन है । प्रायः सोडावाटर और बर्फ आदि उच्छिष्ट होनेसे; आसव-अरिष्ट मादक होनेसे, मधु और बाजारकी मिठाई अपवित्र होनेसे और चाहे जिसके स्पर्शसे दूषित होनेसे; तथा बढ़िया बिस्कुट आदिमें मुर्गीके अण्डे और डाक्टरी औषधमें मद्य, मांस आदिका मिश्रण होनेसे, होटलके पदार्थोंमें मद्य-मांसादिका संसर्ग होनेसे तथा लहसुन-प्याजमें दुर्गन्ध होनेसे—ये सभी सर्वथा त्याज्य हैं । मनुजीने भी कहा है—

वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥

(२ । १७७)

'शहद, मांस, सुगन्धित वस्तु, फूलोंके हार, रस, स्त्री, सिरकेकी भाँति बनी हुई समस्त मादक वस्तुएँ और प्राणियोंकी हिंसा—इन सभीको त्याग दें ।'

राजसी-तामसी भोजनके लक्षण गीतामें इस प्रकार बताये हैं—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

(१७ । ९-१०)

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं । जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट (जूँठा) है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है ।'

भोजन करनेके बाद कम-से-कम आध घंटेतक सोना नहीं चाहिये, रास्ते नहीं चलना चाहिये, विद्याभ्यास भी नहीं करना चाहिये, विशेष परिश्रम और स्नान भी नहीं करना चाहिये; क्योंकि दिनमें सोनेसे वृत्ति भारी और तामसी होती है और भोजनके बाद तुरंत ही चलने, पढ़ने, परिश्रम या स्नान करनेसे भोजन हजम नहीं होता; बल्कि विकृत होकर स्वास्थ्यकी हानि करता है । इसलिये उस समय आमोद-प्रमोदके लिये अपने सहपाठियोंके साथ विनोदपूर्वक सात्त्विक वार्तालाप या पाठ्य विषयकी चर्चा करनी चाहिये । फिर आधे या एक घंटे बाद पढ़ाई शुरू कर देनी चाहिये । पढ़ाई समाप्त करनेके बाद कसरत, कुश्ती, कवायद, देशी-विदेशी खेल, दौड़-धूप आदि व्यायाम करना चाहिये । तदनन्तर सायंकालमें शौच-स्नान करके सन्ध्या-गायत्री, पूजा-पाठ, तथा हवन आदि नित्यकर्म श्रद्धा, भक्ति और आदरपूर्वक करने चाहिये । नित्यकर्म करते समय उसकी विधि, अर्थ और भावकी ओर विशेष लक्ष्य रखना चाहिये । सायंकालके बाद शास्त्रविधिके अनुसार सात्त्विक, पवित्र और हल्का भोजन करना चाहिये तथा आधा घंटा सात्त्विक चर्चामें समय बिताकर रातको ९ बजेतक पढ़ी हुई विद्याका अनुशीलन करना चाहिये । बालकोंके लिये रात्रिमें ९ से ४ बजेतक सात घंटे शयन करना उचित है । शयन करनेके समय संसारी संकल्पोंके प्रवाहको भुलाकर भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव और चरित्रका चिन्तन करते हुए ही शयन करना चाहिये । जिससे कि रात्रिका शयनकाल भी आध्यात्मिक क्षेत्रमें ही बीते ।

उपर्युक्त दिनचर्या विद्यार्थियोंके लिये बहुत ही उत्तम है । इन सब नियमोंका पालन ऋषिकुल, गुरुकुल, ब्रह्मचर्याश्रम, पाठशाला, स्कूल, कालेज आदिमें तथा घरपर रहकर भी किया जा सकता है । ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए घरमें रहे तो भी वह बालक ब्रह्मचारी ही है ।

अब सभी बालकोंके लिये विशेष कर्तव्य बतलाये जाते हैं—

बालकोंको चौपड़-ताश आदिके खेलने, थियेटर-सिनेमा आदिके देखनेमें अपने मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय नहीं बिताना चाहिये । इनमें समय व्यर्थ जाता है, इतनी ही बात नहीं, अपना स्वभाव खराब होता है, जिससे अपना भविष्य नष्ट हो जाता है । थियेटर-सिनेमाके देखनेसे शरीरकी तथा नेत्रोंकी ज्योतिकी हानि और पैसोंका व्यर्थ खर्च तो है ही, अश्लील दृश्य देखनेसे वीर्यकी हानि भी होती है, जो कि ब्रह्मचारीके लिये कलङ्क है और जिससे बल, बुद्धि, तेज, ज्ञान और स्वास्थ्यकी भी हानि होती है ।

बालकोंको ऐश-आराम, स्वाद-शौकका एकदम त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि ये सब विद्याध्ययनमें बाधक तथा ब्रह्मचर्य-व्रतके पालनमें कलङ्क हैं। किसी भी इन्द्रियका अपने विषयके साथ जो रागपूर्वक संसर्ग है, वह सारे अनर्थोंका

मूल है, अतएव सारे विषय-भोगोंको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, दुःखरूप और घृणित समझकर त्याग करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । श्रीमनुजीने कहा है—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥

(२ । ९३)

'मनुष्य इन्द्रियोंमें आसक्त होकर निःसंदेह दोषको प्राप्त होता है और उनको ही रोककर उस संयमसे सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।'

कुछ लोग तो यह समझते हैं कि हम विषयोंका उपभोग करके अपनी लालसा पूर्ण कर लेंगे, उनकी यह समझ ठीक नहीं है । श्रीमनुजी कहते हैं—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

(२ । ९४)

'नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती, बल्कि घृतसे अग्निके समान बार-बार अधिक ही बढ़ती जाती है ।'

जैसे फतिंगे क्षणिक सुखके लोभसे दीपकके निकट जाते हैं और अन्तमें समाप्त हो जाते हैं, इसी तरह विषयोंके उपभोगसे मनुष्यको क्षणिक सुख मिलता है; किंतु अन्तमें उसका पतन हो जाता है । इसलिये विवेक, विचार और हठसे चाहे जैसे भी हो, इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना ही चाहिये ।

बालकोंको स्त्रियोंका संसर्ग, जूआ, गाली-गलौज, परस्पर लड़ाई-झगड़ा, परनिन्दा, इत्र, तेल, फुलेल, पुष्पमाला, अञ्जन, बालोंका शृङ्गार, नाचना, गाना आदिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये । मनुस्मृतिमें कहा है—

अभ्यङ्गमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम् ।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम् ॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथानृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च ॥

(२ । १७८-१७९)

ब्रह्मचारी विद्यार्थीके लिये 'उबटन लगाना, आँखोंको आँजना, जूते और छत्र धारण करना एवं काम, क्रोध और लोभका आचरण करना तथा नाचना, गाना, बजाना एवं जूआ, गाली-गलौज और निन्दा आदिका करना तथा झूठ बोलना एवं स्त्रियोंको देखना, आलिङ्गन करना और दूसरेका तिरस्कार करना—इन सबका भी त्याग कर देना चाहिये ।'

इसी प्रकार विद्यार्थी बीड़ी, सिगरेट, भाँग, तम्बाकू आदि मादक वस्तुओंका भी कभी सेवन न करे । ऊपर बतलाये हुए विषयोंके सेवनसे धन, चरित्र तथा इस लोक और परलोककी हानि होती है, इसलिये इन सबका कतई त्याग कर देना चाहिये ।

विद्यार्थी हिंसा, द्रोह, ईर्ष्या, झूठ, कपट, छल-छिद्र, चोरी, बेईमानी, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिका भी सर्वथा त्याग कर दे; क्योंकि इनसे इस लोकमें निन्दा होती है और उसका लोग विश्वास नहीं करते तथा मरनेपर परलोकमें दुर्गति होती है । दुराचार आदि दोषोंसे प्रत्यक्षमें ही मनुष्यका पतन हो जाता है ।

मनुजीने कहा है—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥

(४ । १५७)

'दुराचारी पुरुष सदा ही लोकमें निन्दित और दुःख भोगनेवाला तथा रोगी एवं अल्पायु भी होता है ।'

दूसरा कोई गाली दे या निन्दा करे तो बदलेमें न तो गाली देनी चाहिये, न उसका अनिष्ट करना चाहिये, न उसकी निन्दा ही करनी चाहिये; क्योंकि जो हमारी सच्ची निन्दा करता है, वह तो हमारे गुणोंको ढककर हमें शिक्षा देता है, उससे हमें लाभ ही है, कोई हानि नहीं और यदि कोई हमारी झूठी निन्दा करता है या गाली देता है तो उसके निन्दा करने या गाली देनेसे हमारी इस लोक या परलोकमें कहीं किंचित् भी हानि हो नहीं सकती; क्योंकि न्यायकारी भगवान्के यहाँ अंधेर नहीं है । इसलिये समझदार बालकको दुःख, चिन्ता, भय, उद्वेग कुछ भी नहीं करना चाहिये, बल्कि सहन करना चाहिये, जिससे क्षमा, तितिक्षा और आत्मबल बढ़कर अन्तमें परम शान्तिकी प्राप्ति होती है । इसी प्रकार मान और अपमानके विषयमें समझना चाहिये । कल्याणकामी मनुष्यको चाहिये कि वह मानको विषके समान और अपमानको अमृतके समान समझे । मनुजी कहते हैं—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।
अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥

(२ । १६२)

'ब्राह्मणको चाहिये कि सम्मानसे विषके समान नित्य डरता रहे (क्योंकि अभिमान बढ़नेसे बहुत हानि है) और अमृतके समान सदा अपमानकी इच्छा करता रहे अर्थात् तिरस्कार होनेपर खेद न करे।'

परेच्छा या अनिच्छासे कोई भी दुःख आकर प्राप्त हो, उसमें प्रसन्न ही होना चाहिये, उसमें द्वेष या दुःखबुद्धि नहीं करनी चाहिये। मनुस्मृति कहती है—

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥
(२। १६१)

'आर्त्त होनेपर भी दुखी न हो और न दूसरेसे द्रोह करनेमें बुद्धि लगावे। जिस वाणीसे दूसरेको उद्वेग हो, ऐसी लोकनिन्दित वाणी न बोले।'

कितने ही बालक परीक्षामें अनुत्तीर्ण (फेल) होनेके कारण तथा घरके कलहके कारण एवं देश-विदेशमें घूमनेकी इच्छासे और घरवालोंको तंग करनेके उद्देश्यसे मूर्खतावश घर छोड़कर भाग जाते हैं, इससे उन बालकोंको तो तकलीफ होती ही है, घरवालोंको भी बड़ी परेशानी उठानी पड़ती है, रुपये भी खर्च होते हैं। इसके सिवा बालकोंको घर लौटनेमें घरवालोंका संकोच तथा भय हो जानेसे घर लौटनेमें हिचकिचाहट हो जाती है, जिससे उन्हें भयानक परेशानी उठानी पड़ती है। यह उनकी बेसमझी है। इसलिये कहीं जाना हो तो घरवालोंकी आज्ञा लेकर ही जाना चाहिये। यदि आज्ञा लेकर न जाय तो कम-से-कम घरवालोंको सूचना तो अवश्य ही दे देनी चाहिये। कोई-कोई बेसमझ बालक तो परीक्षामें फेल हो जाने अथवा घरके कलह आदिके दुःखोंके कारण आत्महत्या कर बैठते हैं, जिससे उनके लोक-परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं तथा मनुष्यका अमूल्य जीवन व्यर्थ चला जाता है। ऐसा करना महामूर्खता है। उनको विचारना चाहिये कि जो दुःख इस समय है, उससे बहुत अधिक दुःख विष खाने, जलमें डूबने, आगमें प्रवेश करने और फाँसी लगाकर मरनेमें होता है और मरनेके बाद परलोकमें तो इससे भी भयानक दुःख होता है। शुक्लयजुर्वेदके ४० वें अध्यायके तीसरे मन्त्रमें बतलाया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'असुरोंके जो प्रसिद्ध नाना प्रकारकी योनियाँ एवं नरकरूप लोक हैं, वे सभी अज्ञान तथा अन्धकारसे आच्छादित हैं। जो कोई भी आत्माकी हत्या करनेवाले मनुष्य हैं, वे मरकर उन्हीं भयङ्कर लोकोंको बार-बार प्राप्त होते हैं।'

अतएव किसीको चाहे जितना भी दुःख हो, किसी भी हालतमें कभी भी आत्महत्या नहीं करनी चाहिये और न घरसे भागना ही चाहिये। बल्कि माता, पिता, गुरुजन और मित्रोंके स्वभाव, रुचि और परिस्थितिको समझकर सहनशील बनना चाहिये; क्योंकि मनके विपरीत कार्य उपस्थित होनेपर उसे सहन करनेसे आत्मबल तो बढ़ता ही है, इस लोकमें कीर्ति और परलोकमें उत्तम गति भी मिलती है।

बालकको चाहिये कि जो कार्य माता-पिता और गुरुजन बतलावें, उसे अवश्यमेव ही करना है; इस प्रकार कर्तव्य-बुद्धिसे उस कार्यको करनेका अपनेपर उत्तरदायित्व समझे और उसे भलीभाँति करे। जो अपने कर्तव्यके विषयमें अपना दायित्व नहीं समझता, उसकी इस लोक और परलोकमें इज्जत नहीं है और उसका कोई विश्वास भी नहीं करता, इसलिये उसका जीवन व्यर्थ है।

बालकोंको निष्कामभावसे कुटुम्ब, जाति और देशकी सेवा करनी चाहिये तथा हो सके तो मन, तन, धनसे प्राणिमात्रकी सेवा करनी चाहिये, किंतु दुःख तो किञ्चिन्मात्र भी कभी किसीको देना ही नहीं चाहिये। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
पर हित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ कछु दुर्लभ जग नाहीं॥

स्वयं भगवान् गीतामें कहते हैं—'जो सारे भूतोंके हितमें रत हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।'
(१२। ४)

अतएव यथाशक्ति मन, वाणी, शरीर और धनसे बड़े उत्साहके साथ निःस्वार्थभावसे सबकी सेवा करनी चाहिये।

सत्यके पालनपर बालकोंको विशेष ध्यान देना चाहिये। जैसा देखा, सुना और समझा हो, उसीके अनुसार निष्कपट-भावसे कहना, न उससे अधिक और न कम ही कहना—यही सत्य है। तथा वह वाणी सत्यके साथ-साथ मधुर और प्रिय हो। मधुर और प्रिय वही है, जो परिणाममें हितकर हो। मनुजीने कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥
(४। १३८)

'सत्य बोले, प्रिय बोले, ऐसी वाणी न बोले, जो सत्य तो हो पर अप्रिय हो और न ऐसी ही वाणी बोले जो प्रिय तो हो किंतु असत्य हो, यही सनातन धर्म है।'

श्रीभगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीताके सतरहवें अध्यायके १५वें श्लोकमें वाणीका तप बतलाते हुए यह आदेश दिया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।

'जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है (वह वाणीका तप कहा जाता है)।'

जो बालक असत्य बोलता है, उसका कोई विश्वास नहीं करता, न उसकी इस लोक और परलोकमें प्रतिष्ठा ही होती है। अतएव सत्य, प्रिय, मित और हितभरे वचन बोलना चाहिये तथा सबका विश्वासपात्र बनना चाहिये। जो किसीको धोखा नहीं देता, अपना दायित्व समझता है, कर्तव्यच्युत नहीं है और गुरुजनोंके इच्छानुसार कार्य करके उनको अपनी आवश्यकता पैदा कर देता है, वही बालक विश्वासपात्र समझा जाता है। ये सब बातें स्वार्थत्यागपूर्वक सेवा करनेसे स्वाभाविक ही हो जाती हैं। इसलिये हरेक कार्यमें स्वार्थत्याग करके सबकी सेवा करनी चाहिये।

विद्याका अभ्यास

बालक-बालिकाओंके माता-पिता तथा अभिभावकोंको चाहिये कि वे बालकोंको विषय-सुखोंमें आसक्त होनेका अवसर न दें; क्योंकि विषयोंमें सुखकी इच्छा उत्पन्न हो जानेपर बालक यथार्थ विद्याके लाभसे वञ्चित रह जाता है। बुद्धिमान् तरुण-तरुणियोंको भी ऐसा ही समझना तथा करना चाहिये। इस समय अनेक प्रकारकी भाषा और लिपिके ज्ञानकी बहुत आवश्यकता हो गयी है। हिंदी, संस्कृत, बँगला, गुजराती तथा अपनी प्रान्तीय एवं अंग्रेजी, रूसी और चीनी आदि विदेशी—अनेकों भाषाओं और लिपियोंका ज्ञान हो, उतना ही अच्छा है।

कॉलेज-स्कूलोंकी सहशिक्षा अर्थात् लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ना बड़ा ही खतरनाक और हानिकारक है। इससे चरित्रनाशकी बहुत आशङ्का है। सहशिक्षाके बहुत अधिक दुष्परिणाम प्रत्यक्ष हो चुके हैं। इसलिये सहशिक्षाको सर्वथा बंद करके लड़के-लड़कियोंको अलग-अलग पाठशालाओंमें पढ़ाना चाहिये। तेरह-चौदह वर्षकी युवती कन्याओंको तो अपने घरमें रहते हुए ही गृहकार्यके साथ-साथ विद्याका अभ्यास करना चाहिये। वे चाहे नैहर (पीहर) में रहती हों या ससुरालमें, उनके लिये घरसे बाहर जाकर स्कूलों, कॉलेजोंमें पढ़ाई करना सर्वथा हानिकर है; क्योंकि उच्च कक्षाओंमें अध्यापक प्रायः पुरुष ही रहते हैं, इसलिये भी उनके संसर्गसे उच्छृङ्खलताकी वृद्धि और चरित्रहीनताकी सम्भावना है। ऐसी घटनाएँ हुई भी सुनी जाती हैं।

बालक-बालिकाओंको ऐसा शृङ्गार भी नहीं करना चाहिये, जिसे देखकर मनमें विकार उत्पन्न हों; सौन्दर्य, सजावट, शौकीनी आदि शृङ्गारकी भावनाओंके उत्पन्न होनेसे मनोविकार बढ़ता है और चरित्रका नाश हो जाता है।

पाठ्यक्रममें भी शृङ्गार, अश्लीलता, अभक्ष्यभक्षण तथा नास्तिकताका वर्णन करनेवाली तथा इनको प्रोत्साहित करनेवाली पुस्तकें नहीं रखनी चाहिये; इससे सभी प्रकारकी बड़ी भारी हानि है। अतः जिन पुस्तकोंके अध्ययनसे बालक-बालिकाओंकी भौतिक, बौद्धिक, व्यावहारिक, सामाजिक, धार्मिक और नैतिक उन्नति हो, उनमें सभ्यता, शिष्टाचार, विनय, सेवा, संयम, बल, सद्गुण-सदाचार, विवेक और ज्ञान बढ़े तथा बुद्धि तीक्ष्ण हो, ऐसी उत्तम शिक्षासे युक्त पुस्तकें ही पढ़ानी चाहिये।

यह विद्याका अभ्यास लड़कियोंको चौदह वर्ष तथा लड़कोंको अठारह वर्षकी आयु होनेके तथा विवाहके पूर्व ही कर लेना चाहिये। आजकलके असंयमपूर्ण विलासी वातावरणमें विवाहके लिये विलम्ब करनेसे बालिकाओं और बालकोंके चरित्र कुसङ्गके कारण बिगड़ जाते हैं, अतः इस समय अठारह वर्षके बाद बालकका और चौदह वर्षके पूर्व ही लड़कीका विवाह कर देना चाहिये। लड़का ब्रह्मचर्यपालनके लिये आग्रह करे और उसकी विवाह करनेकी वास्तवमें इच्छा न हो तो ऐसी स्थितिमें बीस वर्षके बाद भी लड़केका विवाह किया जाय तो कोई हानि नहीं। आजकल स्कूल-कॉलेजोंमें वर्षमें प्रायः छः महीने छुट्टियोंमें चले जाते हैं, जिनमें विद्यार्थियोंका समय नष्ट होता है और वे व्यर्थ इधर-उधर भटकते हैं। यह समय यदि पढ़ाईमें लगाया जाय तो इस समय जो पढ़ाई २० वर्षकी अवस्थामें पूरी होती है, वही १६ वर्षकी अवस्थामें पूरी हो सकती है। ऐसा करनेपर अठारह वर्षतक काफी पढ़ाई होना सम्भव है। बालकोंको अठारह

वर्षकी आयु होनेके बाद न्याययुक्त व्यवसायका कार्य, अपनी जातिके अनुसार जीविकाका कार्य मन लगाकर अवश्य करना चाहिये। काम करते हुए ही साथमें विद्याका अभ्यास भी किया जाय तो और भी उत्तम है; क्योंकि विवाह होनेके पश्चात् विद्याध्ययनमें मन विशेष नहीं लगता, इसलिये न्याययुक्त जीविकाके काममें मन लगाना चाहिये। जो किसी विशेष प्रकारकी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहें, वे विवाहके अनन्तर भी कर सकते हैं; पर साधारणतया जीविकाके कार्यमें ही लगना उत्तम है।

जो बाल्य-अवस्थामें विद्याका अभ्यास नहीं करता, उसको सदाके लिये पश्चात्ताप करना पड़ता है। शास्त्रोंने विद्याकी बड़ी भारी महिमा गायी है। श्रीभर्तृहरिजी कहते हैं—

विद्यानाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥
(नीतिशतक १६)

'विद्या ही मनुष्यका अधिक-से-अधिक रूप और ढका हुआ गुप्त धन है, विद्या ही भोग, यश और सुखको देनेवाली है तथा विद्या गुरुओंकी भी गुरु है। विदेशमें गमन करनेपर विद्या ही बन्धुके समान सहायक हुआ करती है। विद्या परा देवता है, राजाओंके यहाँ भी विद्याकी ही पूजा होती है, धनकी नहीं। इसलिये जो मनुष्य विद्यासे हीन है, वह पशुके समान है।'

चाणक्यनीतिमें कहा है—

कामधेनुगुणा विद्या ह्यकाले फलदायिनी।
प्रवासे मातृसदृशी विद्या गुप्तं धनं स्मृतम्॥
(४।५)

'विद्यामें कामधेनुके समान गुण हैं, यह अकालमें भी फल देनेवाली है; यह विद्या मनुष्यका गुप्त धन समझी गयी है। विदेशमें यह माताके समान (मदद करती) है।'

किसी अन्य कविने कहा है—

न चोरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं
विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥

'विद्याको चोर या राजा नहीं छीन सकते। भाई इसका बँटवारा नहीं करा सकते, इसका कुछ बोझा भी नहीं लगता, तथा दान करनेसे यानी दूसरोंको पढ़ानेसे यह विद्या नित्य बढ़ती ही रहती है, अतः विद्यारूपी धन सब धनोंमें प्रधान है।'

बालक-बालिकाओंको पढ़नेके समय झुककर या पसरकर नहीं पढ़ना चाहिये तथा रात्रिमें बिजलीकी तेज रोशनीके सामने भी नहीं पढ़ना चाहिये, क्योंकि इन सबसे नेत्रोंकी ज्योतिकी हानि होती है। इसी कारण वर्तमानमें स्कूल-कालेजोंमें पढ़नेवाले बहुत-से बालक-बालिकाओंमें नेत्रदोष आ जाता है और उन्हें अकालमें ही चश्मे लगाने पड़ते हैं।

ब्रह्मचर्यका पालन

वास्तवमें ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ है—ब्रह्मके स्वरूपमें विचरण करना यानी ब्रह्मके स्वरूपका मनन करना। जिसका मन नित्य-निरन्तर सच्चिदानन्द ब्रह्ममें विचरण करता है, वही सच्चा ब्रह्मचारी है। इसमें प्रधान आवश्यकता है—शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके बलकी। यह बल प्राप्त होता है—वीर्यकी रक्षासे। इसलिये सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना ही ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना कहा जाता है। अतः बालकोंको चाहिये कि न तो ऐसी कोई क्रिया करें, न ऐसा सङ्ग ही करें तथा न ऐसे पदार्थोंका सेवन ही करें कि जिससे वीर्यकी हानि हो।

सिनेमा-थियेटरोंमें प्रायः कुत्सित दृश्य दिखाये जाते हैं, इसलिये बालक-बालिकाओंको सिनेमा-थियेटर कभी नहीं देखना चाहिये और सिनेमा-थियेटरमें नट-नटी तो कभी बनना ही नहीं चाहिये। इस विषयके साहित्य, विज्ञापन और चित्रोंको भी नहीं देखना-पढ़ना चाहिये; क्योंकि इसके प्रभावसे स्वास्थ्य और चरित्रकी महान् हानि होती है और दर्शकका घोर पतन हो सकता है।

लड़के-लड़कियोंका परस्परका संसर्ग भी ब्रह्मचर्यमें बहुत घातक है। अतः इस प्रकारके संसर्गका भी त्याग करना चाहिये तथा लड़के भी दूसरे लड़कों तथा अध्यापकोंके साथ गंदी चेष्टा, संकेत, हँसी-मजाक और बातचीत करके अपना पतन कर लेते हैं, इससे भी लड़कोंको बहुत ही सावधान रहना चाहिये। लड़के-लड़कियोंको न तो परस्परमें किसीको देखना चाहिये, न कभी अश्लील बातचीत ही करनी चाहिये और न हँसी-मजाक ही करना चाहिये; क्योंकि इससे मनोविकार उत्पन्न होता है।' प्रत्यक्षको तो

बात ही क्या, सुन्दरताकी दृष्टिसे चित्रमें लिखी हुई स्त्रीके चित्रको पुरुष, और पुरुषके चित्रको कन्या कभी न देखे। पुरुषको चाहिये कि माता-बहिन ही क्यों न हो, एकान्तमें तो कभी उनके साथ रहे ही नहीं। श्रीमनुजी कहते हैं—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

(२। २१५)

'माता, बहिन या लड़कीके साथ भी एकान्तमें न बैठे, क्योंकि इन्द्रियोंका समूह बड़ा बलवान् है, वह विद्वान्को भी अपनी ओर खींच लेता है।' ऐसे ही स्त्रीको भी अपने पिता, भाई और युवा पुत्रके पास भी एकान्तमें नहीं बैठना चाहिये।

बालकोंको आठ प्रकारके मैथुनोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। शास्त्रोंमें आठ प्रकारके मैथुन इस प्रकार बतलाये हैं—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

'स्त्रीका स्मरण, स्त्रीसम्बन्धी बातचीत, स्त्रियोंके साथ खेलना, स्त्रियोंको देखना, स्त्रीसे गुप्त भाषण करना, स्त्रीसे मिलनेका निश्चय करना और संकल्प करना तथा स्त्रीसङ्ग करना—ये आठ प्रकारके मैथुन माने गये हैं।'

जिस प्रकार बालकोंके लिये बालिका या स्त्रियोंका स्मरण आदि त्याज्य हैं, वैसे ही बालिकाओंके लिये पुरुषोंके स्मरण आदि त्याज्य हैं। यदि कहें कि 'इनमें और सब बातोंका तो परहेज किया जा सकता है; किंतु समयपर बातचीत तो करनी ही पड़ती है' सो ठीक है। लड़कीका कर्तव्य है कि किसी पुरुष या बालकसे बात करनेका काम पड़े तो नीची दृष्टि करके उसे पिता या भाईके समान समझकर बात करे तथा बालकको चाहिये कि किसी स्त्री या लड़कीसे बात करनेका काम पड़े तो नीची दृष्टि करके उसे माता या बहिनके समान समझकर बात करे।

मनमें विकार पैदा करनेवाले वेशभूषा, साज-शृङ्गार, तेल-फुलैल, केश-विन्यास, गहने, कपड़े-फैशन आदिका विद्यार्थी बालक-बालिका सर्वथा त्याग कर दें। ऐसी संस्थाओं, स्थानों, नाट्य-मन्दिरों, उत्सवस्थलों, भोजों, भोजनालयों और उद्यानोंमें भी न जाय जहाँ विकार उत्पन्न होनेकी जरा भी आशंका हो। सदा सादगीसे रहे और पवित्र सादा भोजन करे।

इस प्रकार बालक-बालिकाओंको ऊपर बताये हुए नियमोंका आचरण करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये।

श्रीहनुमान्जीने आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया, जिसके प्रभावसे वे बड़े ही वीर, तेजस्वी, बुद्धिमान्, ज्ञानी और भगवान्के भक्त हुए। वाल्मीकीय रामायणके किष्किन्धाकाण्डमें आया है, जब श्रीहनुमान्जीकी श्रीराम-लक्ष्मणसे भेंट हुई, उस समय श्रीहनुमान्जीकी बातें सुनकर श्रीरामचन्द्रजीका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा और वे लक्ष्मणसे कहने लगे—'लक्ष्मण! ये वानरराज सुग्रीवके मन्त्री हैं और उन्हींके हितकी इच्छासे यहाँ मेरे समीप आये हैं। ये वाक्यरचनाको जाननेवाले हैं। ये व्याकरणके भी पण्डित हैं, क्योंकि बहुत-सी बातें बोल जानेपर भी इनके शब्दोंमें कहीं अशुद्धि नहीं आयी।' श्रीहनुमान्जी बहुत ही बुद्धिमान्, पण्डित, छन्द और काव्यके ज्ञाता तथा उच्चकोटिके विद्वान् थे। महान् संगीतज्ञ थे। वे योगकी सिद्धियोंके भी ज्ञाता थे, जिनके प्रभावसे वे महान्-से-महान् और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप धारण कर लिया करते थे। यह बात उनके चरित्रसे सिद्ध होती है। लंका जाते समय उन्होंने विशालरूप धारण किया और सौ योजनके समुद्रको लाँघकर लंकापुरीमें प्रवेश करते समय मच्छरके समान सूक्ष्म रूप धारण कर लिया। वे बड़े भारी वीर और बलवान् भी थे। इसे बतानेवाले बहुत-से उदाहरण संसारमें प्रसिद्ध हैं। अक्षयकुमारको मार देना, रावणको मूर्च्छित कर देना, संजीवनी बूटीके लिये सूर्योदयके पूर्व ही द्रोणगिरिको उखाड़कर ले आना आदि घटनाएँ रामायणादि ग्रन्थोंमें मिलती हैं। तथा श्रीरामजीके यज्ञीय अश्वकी रक्षाके समय, राजा वीरमणिके दोनों पुत्रोंको रथसहित पूँछमें लपेटकर पृथ्वीपर पटक देना, शिवजीके त्रिशूलको तोड़ डालना और उनको अपनी पूँछमें लपेटकर मारने लगना, वीरभद्रके द्वारा मारे हुए पुष्कलको द्रोणपर्वतसे संजीवनी लाकर जिला देना आदि श्रीहनुमान्जीके वीरतापूर्ण लोकोत्तर कार्योंका वर्णन पद्मपुराणके पातालखण्डमें मिलता है। हनुमान्जी श्रीभगवान्के अलौकिक भक्त हैं, यह तो सर्वप्रसिद्ध है ही। हनुमान्जीकी इस लोकोत्तर प्रतिभामें भगवान्की अनन्य भक्ति तो सर्वप्रधान कारण है ही। ब्रह्मचर्य भी एक अन्यतम प्रधान कारण है। आज भी बल-वर्द्धनके लिये व्यायाम करनेवाले लोग 'महावीर' नामका स्मरण करते हैं और 'महावीर'

के नामसे दल बनाते और अखाड़े खोलते हैं।

भीष्मपितामहने आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया था, यह बात महाभारतके आदिपर्वसे सिद्ध होती है। दासराजके यहाँ जाकर अपने पिताके लिये सत्यवतीको लानेके समय भीष्मने अपने राज्यके अधिकारका त्याग किया और आजीवन विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा करके आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन किया, इससे संतुष्ट होकर उनके पिता शन्तनुने उनको वरदान दिया कि 'तुम्हारी इच्छा बिना तुम्हें मृत्यु नहीं मार सकेगी।' भीष्मजी अपने भाई विचित्रवीर्यके लिये काशिराजकी सभामें जाकर सब राजाओंको पराजितकर स्वयंवरसे राजकन्या अम्बा, अम्बिका और अम्बालिकाका हरण कर लाये। यह दुष्कर कर्म केवल अकेले भीष्मने किया और जब अम्बाका पक्ष लेकर परशुरामजी आये, तब उनके साथ तेईस दिन घोर युद्ध करके परशुरामजीको युद्धमें छका दिया। परशुरामजी-जैसे महान् अस्त्रधर त्रैलोक्यविजयी वीर भी दुर्धर्ष भीष्मको पराजित न कर सके। अर्जुनद्वारा बाणसे भीष्मका पृथ्वीपर गिराया जाना—यह केवल भीष्मकी इच्छासे ही हुआ। वास्तवमें भीष्मको पराजित करनेवाला शास्त्रोंमें कहीं देखने-सुननेमें नहीं आया। भीष्म केवल वीर ही नहीं थे, वे शास्त्रोंके ज्ञाता, पण्डित और उच्चकोटिके अनुभवी सद्गुणी सदाचारी ज्ञानी महात्मा महापुरुष थे, जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्णजीके आग्रह करनेपर शरशय्यापर पड़े हुए ही धर्मराज युधिष्ठिरको राजनीति, धर्म और अध्यात्म आदि विषयोंका विस्तारपूर्वक उपदेश किया। महाभारतके शान्ति और अनुशासनपर्व इसी भीष्मोपदेशसे भरे हुए हैं।

भीष्मजी भगवान् श्रीकृष्णके अनन्यप्रेमी परम भक्त भी थे। महाभारतके शान्तिपर्वके ४५ और ४६ वें अध्यायोंमें यह बात आती है कि जब वे शरशय्यापर शयन किये हुए थे, उस समय वे भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान कर रहे थे तो इधर श्रीकृष्ण भी इनका ध्यान कर रहे थे।

इसमें ब्रह्मचर्यपालन एक प्रधान कारण है। यदि आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन न हो सके तो आजकलके समयके अनुसार अठारह वर्षतक तो बालकोंको अवश्य ही ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। इससे पूर्व ब्रह्मचर्य खण्डित होनेसे शीघ्र ही बल, बुद्धि, तेज, आयु और स्मृतिका क्षय हो जाता है और रोगोंका शिकार होकर शीघ्र ही कालके मुखका ग्रास बनना पड़ता है। यह बात शास्त्रसङ्गत तो है ही, युक्तिसङ्गत भी है; गम्भीरतासे सोचनेपर प्रत्यक्ष अनुभवमें भी आती है। अतएव ब्रह्मचर्यका कभी खण्डन न हो, इसके लिये विशेष ध्यान देना चाहिये; क्योंकि ब्रह्मचर्यके पालनसे बल, बुद्धि, वीर्य, तेज और स्मृतिकी वृद्धि होकर उत्तम कीर्ति होती है तथा ईश्वरकी कृपासे ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और सद्गुण-सदाचारकी तथा परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति भी हो सकती है। प्राचीन कालमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचारीगण ब्रह्मचर्यका पालन करते थे। कठोपनिषद्में बतलाया है—

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(१ । २ । १५)

'जिस परमपदकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उसको मैं तुम्हें संक्षेपसे बताता हूँ—'ओम्' यही वह पद है।'

इसलिये बालकोंको ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

माता-पिताकी सेवा

बालकोंके लिये अपने माता-पिताकी सेवा करना परम कर्तव्य और अत्यन्त आवश्यक है। इनकी सेवा करनेसे महान् लाभ और न करनेसे महान् हानि है। जिनके माता-पिता जीवित हैं, चाहे उनकी कितनी ही उम्र क्यों न हो, माता-पिताके आगे वे बालक ही हैं।

अतः सबको माता-पिताकी सेवाका लाभ उठाना चाहिये। सेवासे अभिप्राय है—तन, मन, धनसे उनको सुख पहुँचाना, उनकी आज्ञाका पालन करना, उनके संकेत और मनकी रुचिके अनुसार आचरण करना तथा उनके चरणोंमें नमस्कार करना; क्योंकि बालकके पालन-पोषण और विवाह (शादी) आदि कार्योंमें माता-पिता महान् क्लेश सहते हैं तथा मरनेपर अपना सर्वस्व पुत्रोंको देकर जाते हैं; ऐसे परम हितैषी माता-पिताको जो त्याग देता है अथवा उनकी सेवा नहीं करता, वह घोर नरकमें जाता है। पद्मपुराणके भूमिखण्डमें बतलाया है—

पितरौ विकलौ दीनौ वृद्धौ दुःखितमानसौ॥
महागदेन संतप्तौ परित्यजति पापधीः।
स पुत्रो नरकं याति दारुणं कृमिसंकुलम्॥
वृद्धाभ्यां यः समाहूतो गुरुभ्यामिह साम्प्रतम्।
न प्रयाति सुतो भूत्वा तस्य पापं वदाम्यहम्॥

विष्ठाशी जायते मूढो ग्रामघोणी न संशयः ।
यावज्जन्मसहस्रं तु पुनः श्वा चाभिजायते ॥
पितरौ कुत्सते पुत्रः कटुकैर्वचनैरपि ।
स च पापी भवेद् व्याघ्रः पश्चादृक्षः प्रजायते ॥
मातरं पितरं पुत्रो न नमस्यति पापधीः ।
कुम्भीपाके वसेत् तावद् यावद्युगसहस्रकम् ॥
(६३ । ४—६, ११, १२)

'जो किसी अङ्गसे हीन, दीन, वृद्ध, दुखी तथा महान् रोगसे पीड़ित माता-पिताको त्याग देता है, वह पापात्मा पुत्र कीड़ोंसे भरे हुए दारुण नरकमें पड़ता है। जो पुत्र होकर बूढ़े मा-बापके बुलानेपर भी उनके पास नहीं जाता, वह मूर्ख विष्ठा खानेवाला ग्रामसूकर होता है तथा फिर हजार जन्मोंतक उसे कुत्तेकी योनिमें जन्म लेना पड़ता है। जो पुत्र कड़वे वचनोंद्वारा माता-पिताकी भर्त्सना करता है, वह पापी बाघकी योनिमें जन्म लेता है तत्पश्चात् रीछ होता है। जो पापबुद्धि पुत्र माता-पिताको प्रणाम नहीं करता, वह हजार युगोंतक कुम्भीपाक नरकमें निवास करता है।'

इसलिये मनुष्यको अपने आत्माके सुधार और कल्याणके लिये जितनी भी बन पड़े, अधिक-से-अधिक उनकी सेवा करनी चाहिये तथा उनके चरणोंमें नित्य नमस्कार करना चाहिये।

माता-पिताकी सेवाके विषयमें शास्त्रोंमें बड़ा भारी माहात्म्य लिखा है। केवल माता-पिताकी सेवासे मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है। कहीं-कहीं तो यह बात आती है कि उसे तीनों कालोंका ज्ञान भी हो जाता है। पद्मपुराणके सृष्टिखण्डमें एक बड़ी सुन्दर कथा आती है, वह यहाँ लिखी जाती है—

पूर्वकालमें नरोत्तम नामके एक ब्राह्मण थे। वे अपने माता-पिताका अनादर करके तीर्थसेवनके लिये चल दिये। सब तीर्थोंमें घूमते हुए उनके वस्त्र तपके प्रभावसे प्रतिदिन आकाशमें ही सूखते थे। इससे उनके मनमें बड़ा भारी अहंकार हो गया। वे समझने लगे, मेरे समान पुण्यात्मा और महायशस्वी दूसरा कोई नहीं है। एक दिन वे मुख ऊपर किये यही बात कह रहे थे कि इतनेमें एक बगुलेने उनके मुँहपर बीट कर दी। तब ब्राह्मणने क्रोधमें आकर उसे शाप दे दिया, जिससे बेचारा बगुला राखकी ढेरी होकर जमीनपर गिर पड़ा। बगुलेकी मृत्यु होते ही नरोत्तमके मनमें बड़ा भारी मोह व्याप्त हो गया। उसी पापके कारण तबसे उनके वस्त्र आकाशमें नहीं ठहरते थे। यह जानकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। तब आकाशवाणीने कहा—'ब्राह्मण! तुम परम धर्मात्मा मूक चाण्डालके पास जाओ। वहाँ जानेसे तुम्हें धर्मका ज्ञान होगा। उसका वचन तुम्हारे लिये कल्याणकारी होगा।'

यह आकाशवाणी सुनकर ब्राह्मण मूक चाण्डालके घर गये। वहाँ जाकर उन्होंने देखा कि वह चाण्डाल सब प्रकारसे अपने माता-पिताकी सेवामें लगा है। जाड़ेके दिनोंमें वह अपने मा-बापको स्नानके लिये गरम जल देता, उनके शरीरमें तेल मलता, तापनेके लिये अँगीठी जलाता, भोजनके बाद पान खिलाता और रूईदार कपड़े पहननेको देता था। प्रतिदिन भोजनके लिये मिष्टान्न परोसता और वसंत-ऋतुमें सुगंधित माला पहनाता था। इनके सिवा, और भी जो भोग-सामग्रियाँ प्राप्त होतीं, उन्हें देता और भाँति-भाँतिकी आवश्यकताएँ पूर्ण किया करता था। ग्रीष्मकालमें प्रतिदिन माता-पिताको पंखा झलता था। इस प्रकार नित्यप्रति उनकी सेवा करके उनको भोजन कराकर ही वह भोजन करता था। माता-पिताकी थकावट और कष्टका निवारण करना उसका सदाका नियम था। इन पुण्य-कर्मोंके कारण चाण्डालका घर बिना किसी आधार और खम्भेके ही आकाशमें स्थित था। उसके घरमें त्रिभुवनके स्वामी भगवान् श्रीहरि मनोहर ब्राह्मणका रूप धारण किये नित्य विराजते थे। यह सब देखकर नरोत्तम ब्राह्मणको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने मूक चाण्डालसे कहा—'तुम मेरे पास आओ, मैं तुमसे सम्पूर्ण लोकोंके सनातन हितकी बात पूछता हूँ, उसे ठीक-ठीक बताओ।'

मूक चाण्डाल बोला—'विप्र! इस समय मैं माता-पिताकी सेवा कर रहा हूँ, आपके पास कैसे आऊँ! इनकी पूजा करके आपकी आवश्यकता पूर्ण करूँगा, तबतक मेरे दरवाजेपर ठहरिये।' चाण्डालके इतना कहते ही ब्राह्मण देवता क्रोधमें भर गये और बोले—'मुझ ब्राह्मणकी सेवा छोड़कर तुम्हारे लिये कौन-सा कार्य बड़ा हो सकता है?'

चाण्डालने कहा—'आप कोप क्यों करते हैं, मैं बगुला नहीं हूँ। अब आपकी धोती न तो आकाशमें सूखती है और न ठहर ही पाती है। अतः आकाशवाणी सुनकर आप मेरे घरपर आये हैं। थोड़ी देर ठहरिये तो मैं आपके प्रश्नका उत्तर दूँगा; अन्यथा पतिव्रता स्त्रीके पास जाइये।'

तदनन्तर चाण्डालके घरसे ब्राह्मणरूपधारी भगवान् विष्णुने निकलकर नरोत्तम ब्राह्मणसे कहा—'चलो, मैं पतिव्रता देवीके घर चलता हूँ।' नरोत्तम कुछ सोचकर उनके साथ चल दिये।

इस कथासे मालूम होता है कि मूक चाण्डाल माता-पिताका महान् भक्त था। माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे उसे तीनों कालोंका ज्ञान था और वह अन्तमें स्वयं तो माता-पिताके सहित भगवान्‌के साथ परम धाममें चला ही गया, उसके घरमें बसनेवाले जीव-जन्तु भी परम धाममें चले गये।

मर्यादापुरुषोत्तम स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने माता-पिताकी सेवा करके जीवोंके कल्याणके लिये एक उच्च कोटिका आदर्श उपस्थित किया है। जिनकी कथा तुलसीकृत, अध्यात्म और वाल्मीकीय रामायणोंमें तथा पद्मपुराण और महाभारत आदि शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है।

पिताको दुखी देखकर जब श्रीरामजीने माता कैकेयीसे उनके दुःखका कारण पूछा, तब उसने कहा कि 'राजाके मनमें एक बात है, परंतु वे तुम्हारे डरसे कहते नहीं, तुम इन्हें बहुत प्यारे हो, तुम्हारे प्रति इनके मुखसे अप्रिय वचन नहीं निकलते। इन्होंने जिस कार्यके लिये मुझसे प्रतिज्ञा की है, तुमको वह अवश्य ही करना चाहिये। यदि तुम उनकी आज्ञाका पालन कर सको तो मैं तुम्हें सारी बातें बता दूँ।' इसके उत्तरमें श्रीरामने कहा—

> अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
> अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके॥
> भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
> (वा० रा० २। १८। २८-२९)

'अहो! मुझे धिक्कार है। हे देवि! आपको ऐसी बात मुझे नहीं कहनी चाहिये; क्योंकि मैं महाराजा पिताकी आज्ञासे आगमें कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विष भी खा सकता हूँ और समुद्रमें भी कूद सकता हूँ।'

अध्यात्मरामायणमें तो यहाँतक कह दिया कि—

> पित्रर्थे जीवितं दास्ये पिबेयं विषमुल्बणम्॥
> सीतां त्यक्ष्येऽथ कौसल्यां राज्यं चापि त्यजाम्यहम्।
> अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः॥
> उक्तः करोति यः पुत्रः स मध्यम उदाहृतः।
> उक्तोऽपि कुरुते नैव स पुत्रो मल उच्यते॥
> अतः करोमि तत्सर्वं यन्मामाह पिता मम।
> सत्यं सत्यं करोम्येव रामो द्विर्नाभिभाषते॥
> (२। ३। ५९—६२)

'पिताजीके लिये मैं जीवन दे सकता हूँ, हलाहल जहर पी सकता हूँ। राज्यको तो मैं त्याग ही रहा हूँ, पत्नी सीताको और माता कौसल्याको भी त्याग सकता हूँ। जो पुत्र आज्ञा न मिलनेपर भी पिताके मनके और संकेतके अनुकूल कार्यको करता है, वह उत्तम, और जो कहनेपर करता है वह मध्यम कहा गया है; किंतु जो कहनेपर भी नहीं करता वह पुत्र तो 'मल' ही कहा जाता है। इसलिये मेरे पिताजीने मेरे लिये जो कुछ कहा है वह सभी मैं करूँगा। आपसे मैं सत्य-सत्य कहता हूँ, मैं उसे अवश्य करूँगा। राम कभी दो तरहकी बात नहीं कहता।'

इसके बाद श्रीराम माता कौसल्याके भवनमें गये और उनसे प्रसन्नतापूर्वक अपने वन जानेका वृत्तान्त कहा। उनके वचन सुनकर माता कौसल्याको बहुत दुःख और उद्वेग हुआ। वे बोलीं—

> पिता गुरुर्यथा राम तवाहमधिका ततः।
> पित्राज्ञप्तो वनं गन्तुं वारयेयमहं सुतम्॥
> यदि गच्छसि मद्वाक्यमुल्लङ्घ्य नृपवाक्यतः।
> तदा प्राणान् परित्यज्य गच्छामि यमसादनम्॥
> (अध्यात्म० २। ४। १२-१३)

'राम! जिस प्रकार तुम्हारे लिये पिता बड़े हैं, उनसे भी बढ़कर मैं तुम्हारे लिये बड़ी हूँ। वन जानेकी पिताने आज्ञा दी है तो मैं तुझ पुत्रको मना कर रही हूँ। यदि तुम मेरे वचनोंका उल्लङ्घन करके राजाके वाक्यसे वनको जाओगे तो मैं प्राण त्याग करके मर जाऊँगी।'

वाल्मीकीय रामायणमें कहा है—

> यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम्।
> अहं प्रायमिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवितुम्॥
> ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम्।
> (२। २१। २७-२८)

'यदि तुम शोकविह्वल मुझको छोड़कर वन चले जाओगे तो मैं यहाँ आहार नहीं करूँगी, जिससे जीवित नहीं रह सकूँगी। पुत्र! तब तुम लोक-प्रसिद्ध (स्थानविशेष) नरकको प्राप्त होओगे।'

इसपर भगवान् श्रीरामने कहा—

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥
(वा० रा० २ । २१ । ३०)

'माताजी ! मैं सिर नवाकर आपसे क्षमा माँगता हूँ, मुझमें पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी सामर्थ्य नहीं है, अतः मैं वनको ही जाना चाहता हूँ।' (आप प्रसन्नतापूर्वक मुझे आज्ञा दें ।)

तदनन्तर माताने वन जानेकी आज्ञा दे दी । वे कहने लगीं—'रघुनन्दन ! अब मैं तुम्हें रोक नहीं सकती । तुम इस समय जाओ, सत्पुरुषोंके मार्गपर स्थिर रहो और शीघ्र ही वनसे लौट आओ । तुम नियमपूर्वक प्रसन्नतासे जिस धर्मका पालन करते हो, वही तुम्हारी रक्षा करे । महर्षियोंके साथ सब देवता तुम्हारी रक्षा करें ।'

इस प्रकार माताकी आज्ञा और आशीर्वाद लेकर भगवान् श्रीराम प्रसन्नवदन हो वनमें चले गये । धन्य है, उनकी मातृ-पितृ-सेवा और आज्ञापालन ! जो मनुष्य उनका अनुकरण करता है, वह भी धन्य है; उसके उद्धारमें कोई भी शङ्का नहीं । भगवान्‌के तो नाम और स्वरूपके स्मरणसे ही कल्याण हो जाता है, फिर उनके अनुकरणसे कल्याण हो जाय इसमें तो कहना ही क्या है ?

अतएव बालकोंको उचित है कि माता-पिताकी सेवाको परम धर्म मानकर उनकी सेवामें सब प्रकारसे सदा तत्पर रहें । मन, वाणी और शरीरसे सदा उनके अनुकूल चेष्टा करना, नित्य नमस्कार और परिक्रमा करना, चरणोंका प्रक्षालन करना और उनकी आज्ञाका पालन करना आदि सेवाकी शास्त्रोंमें बड़ी भारी महिमा बतलायी है ।

पद्मपुराणमें कहा है—

सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता ।
मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत् ॥
मातरं पितरं चैव यस्तु कुर्यात् प्रदक्षिणम् ।
प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा ॥
जानुनी च करौ यस्य पित्रोः प्रणमतः शिरः ।
निपतन्ति पृथिव्यां च सोऽक्षय्यं लभते दिवम् ॥
(सृष्टिखण्ड ४७ । ११—१३)

'माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप है; इसलिये सब प्रकारसे यत्नपूर्वक माता-पिताका पूजन करना चाहिये । जो माता और पिताकी प्रदक्षिणा करता है, उसने सातों द्वीपोंसे युक्त समूची पृथ्वीकी परिक्रमा कर ली । माता-पिताको प्रणाम करते समय जिसके घुटने, हाथ और मस्तक पृथ्वीपर टिकते हैं, वह अक्षय स्वर्गको प्राप्त होता है ।'

मातापित्रोस्तु यः पादौ नित्यं प्रक्षालयेत् सुतः ।
तस्य भागीरथीस्नानमहन्यहनि जायते ॥
(भूमिखण्ड ६२ । ७४)

'जो पुत्र प्रतिदिन माता और पिताके चरण पखारता है, उसका नित्यप्रति गङ्गास्नान हो जाता है ।'

पतितं क्षुधितं वृद्धमशक्तं सर्वकर्मसु ।
व्याधितं कुष्ठिनं तातं मातरं च तथाविधाम् ॥
उपाचरति यः पुत्रस्तस्य पुण्यं वदाम्यहम् ।
विष्णुस्तस्य प्रसन्नात्मा जायते नात्र संशयः ॥
प्रयाति वैष्णवं लोकं यदप्राप्यं हि योगिभिः ।
(भूमिखण्ड ६३ । २—४)

'यदि पिता पतित, भूखसे व्याकुल, वृद्ध, सब कार्योंमें असमर्थ, रोगी और कोढ़ी हो गये हों तथा इसी प्रकार माताकी भी वही अवस्था हो, उस समयमें भी जो पुत्र उनकी सेवा करता है, उसके पुण्यका माहात्म्य मैं कहता हूँ—उसपर निस्सन्देह भगवान् श्रीविष्णु प्रसन्न होते हैं । वह योगियोंके लिये भी दुर्लभ श्रीविष्णुभगवान्‌के परम धामको प्राप्त होता है ।'

नास्ति मातुः परं तीर्थं पुत्राणां च पितुस्तथा ।
नारायणसमावेताविह चैव परत्र च ॥
(भूमिखण्ड ६३ । १३)

'पुत्रोंके लिये माता तथा पितासे बढ़कर दूसरा कोई भी तीर्थ नहीं है । माता-पिता—ये दोनों इस लोकमें और परलोकमें भी निस्सन्देह नारायणके समान हैं ।'

शास्त्रोंमें माता-पिताकी सेवाके और भी बहुत-से उदाहरण मिलते हैं, जैसे—पद्मपुराण भूमिखण्डमें शिवशर्माके पुत्रोंका तथा कुण्डलपुत्र सुकर्माका, वाल्मीकीय रामायणके अयोध्याकाण्डके ६३ और ६४ वें सर्गमें श्रवणका और महाभारतके वनपर्वके २०७ वें अध्यायमें धर्मव्याधका इतिहास मिलता है । समस्त स्मृतियाँ भी एक स्वरसे माता-पिताकी सेवाके महत्त्वको बतलाती हैं । शास्त्रोंमें गुरु, उपाध्याय और आचार्यकी सेवासे भी माता-पिताकी सेवाका महत्त्व अधिक बतलाया है; क्योंकि माता-पिता बालकके पालन-पोषणमें

जो कष्ट सहते हैं, उसका बदला किसी भी हालतमें बालक चुका नहीं सकता। मनुस्मृतिमें बताया है—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥
(२।२२७)

'मनुष्यकी उत्पत्तिके समयमें जो क्लेश माता-पिता सहते हैं, उसका बदला सौ वर्षोंमें भी सेवादि करके नहीं चुकाया जा सकता।' इसलिये—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥
(२।१४५)

'बड़प्पनमें दस उपाध्यायोंसे एक आचार्य, सौ आचार्योंसे एक पिता और हजार पिताओंसे भी एक माता बड़ी है।'

इस कलियुगमें भी अनेकों मातृपितृभक्त पुरुष हो गये हैं। उनमेंसे एककी संक्षिप्त घटना यहाँ लिखी जाती है—

दक्षिणमें चन्द्रभागाके तटपर श्रीविट्ठल (विठोबा) भगवान्के मन्दिरके पास ही प्रायः पाँच सौ गज दूरपर 'पुण्डलीक' का मन्दिर है, और वहाँ इसका बड़ा माहात्म्य है। ये पुण्डलीक पहले माता-पिताके भक्त नहीं थे। एक बार वे पत्नीसहित काशी गये थे, वहाँ उन्होंने काशीसे तीन कोसपर मातृ-पितृभक्त कुक्कुट ऋषिके आश्रममें गङ्गा-यमुना-सरस्वतीको क्षुद्र सेवा करते देखा। पुण्डलीक जब उनके चरण-स्पर्श करनेको बढ़े, तब वे यह कहकर दूर हट गयीं कि 'तुम पापी हो, हमें छूना मत।' पुण्डलीकके बहुत अनुनय-विनय करनेपर उन्होंने बताया कि 'तुम-सरीखे पापी हममें स्नान करके जो पापराशि छोड़ जाते हैं, उस पापराशिको धोकर पूर्ववत् विशुद्ध होनेके लिये हमलोग पुण्यपुरुषोंके आश्रमोंमें आकर उनकी सेवा करती हैं।' यह सुनकर पुण्डलीकने उनसे अपने उद्धारका उपाय पूछा। उन्होंने कुक्कुट ऋषिके पास जाकर उनसे पूछनेकी सम्मति दी। तदनुसार पुण्डलीकने कुक्कुट ऋषिके पास जाकर अपनी सारी कथा सुनायी और उद्धारका उपाय पूछा। इसपर परम मातृ-पितृभक्त कुक्कुट ऋषिने कहा कि 'पुण्डलीक! तू बड़ा मूर्ख है, जो माता-पिताको छोड़कर यहाँ काशी-यात्राको आया है। तुझे यहाँ क्या फल मिलेंगे! माता पिताकी सेवा काशी-यात्राकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है। जा, माता-पिताकी सेवा कर।' यह सुनकर पुण्डलीक वहाँसे लौट आये और अनन्य-भावसे माता-पिताकी सेवा करने लगे। वे फिर माता-पिताके साथ पण्ढरीमें आकर रहे। एक दिन उन्हें दर्शन देनेके लिये स्वयं भगवान् पधारे। उस समय ये माता-पिताकी सेवामें लगे थे। इन्होंने भगवान्के आदरातिथ्यकी अपेक्षा माता-पिताकी सेवाको श्रेष्ठ समझा और भगवान्की भी उपेक्षा न हो, इसलिये भगवान्की ओर एक ईंट फेंककर प्रार्थना की कि आप इसपर खड़े रहें। भगवान् भक्तवत्सल हैं। पुण्डलीक-की मातृ-पितृभक्तिसे संतुष्ट होकर उसी ईंटपर खड़े हो गये। माता-पिताकी सेवा कर चुकनेपर भगवान्की पुण्डलीकने स्तुति की। भगवान्ने प्रसन्न होकर जब वर माँगनेको कहा, तब पुण्डलीकने यही वर माँगा कि 'मेरी मातृ-पितृभक्ति सदा बनी रहे और आप इसी रूपमें यहीं विराजें।' पुण्डलीकको 'तथास्तु' कहकर भगवान् पुण्डलीकके इच्छानुसार श्रीविग्रहके रूपमें ईंटपर ही खड़े हो गये और आजतक उन्हीं श्रीविग्रह-की पूजा होती है। और लाखों नर-नारी 'पुण्डलीक वरदे हरि विठ्ठल'की जय-घोष करते हुए भगवान्के दर्शन करते हैं। पुण्डलीककी पूजा होती है और पुण्डलीकके माता-पिताकी समाधि भी उन्हींके मन्दिरके पास ही विद्यमान है।

इससे यह बात सिद्ध होती है कि केवल माता-पिताकी सेवासे भी मनुष्यका कल्याण हो सकता है। यदि कहें कि माता-पिताकी सेवासे कल्याण होनेकी बात शास्त्रमें आती है, यह तो ठीक है; किंतु यह बात युक्तिसे समझमें नहीं आती, तो इसका उत्तर यह है कि यह युक्तिसङ्गत भी है। कोई कार्य माता-पिताके तो अनुकूल है, पर पुत्रके प्रतिकूल है, तो उस समय वह आज्ञाकारी पुत्र अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अपने माता-पिताके अनुकूल ही कार्य करता है; तथा जो कार्य पुत्रके तो अनुकूल है; किंतु माता-पिताके प्रतिकूल होनेके कारण वे उसे नहीं चाहते तो उस परिस्थितिमें वह पुत्र उस कार्यको माता-पिताके प्रतिकूल समझकर उसे तुरंत त्याग देता है। इस प्रकारकी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति प्रतिदिन ही प्राप्त होती रहती है। इसका परिणाम यह होता है कि पुत्रकी अनुकूल-प्रतिकूल वृत्तियोंपर नित्य आघात पड़ते रहनेसे उसकी अनुकूल और प्रतिकूल दोनों वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और वह माता-पिताकी अनुकूलतामें ही अपनी अनुकूलता तथा उनकी प्रतिकूलतामें ही अपनी प्रतिकूलताका समावेश कर देता है; उसकी अपनी न कहीं अनुकूलता रहती है और न प्रतिकूलता ही। तब अनुकूलतामें होनेवाले राग और प्रतिकूलतामें होनेवाले द्वेषका अत्यन्त अभाव हो जाता है। अन्तःकरणमें होनेवाले सुख-दुःखादि सारे विकारोंके मूल राग-द्वेष

ही हैं। इनका अत्यन्त अभाव होनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। अन्तःकरणकी शुद्धिसे चित्तमें प्रसन्नता होती है और प्रसन्नतासे परमात्माके स्वरूपमें स्थिति हो जाती है, जिससे परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अतएव माता-पिताकी सेवासे कल्याण होना शास्त्रसङ्गत तो है ही, युक्तिसङ्गत भी है।

गुरु-सेवा

माता-पिताकी भाँति आचार्य या गुरुकी सेवा करना भी परम कर्तव्य और अत्यन्त आवश्यक है। ऋषिकुल, गुरुकुल, पाठशाला, विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय आदिमें पढ़नेवाले विद्यार्थियोंको अपने आचार्य, अध्यापक, प्रोफेसर, प्रिन्सिपल आदि गुरुजनोंका सत्कार, सम्मान, उनकी आज्ञाका पालन, वर्णाश्रमानुसार यथोचित सेवा अवश्य करनी चाहिये।

इसी प्रकार आत्मोद्धारके लिये उपदेश करनेवाले गुरुकी विशेष सेवा करनी चाहिये। ऐसे सद्गुरुकी सेवासे ज्ञानकी प्राप्ति होकर परम कल्याण हो जाता है। भगवान्‌ने भी गीतामें कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(४।३४)

'उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्व-को भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

उपनिषदोंमें भी गुरुभक्तोंकी अनेक कथाएँ मिलती हैं। सत्यकाम और उपकोसल आदिको गुरुकी सेवासे ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो गया था। गुरुभक्तिकी महिमाके प्रसङ्गमें पद्मपुराणके भूमिखण्डमें बतलाया है कि 'गुरुके अनुग्रहसे शिष्यको लौकिक आचार-व्यवहारका ज्ञान होता है, विज्ञानकी प्राप्ति होती है और वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जैसे सूर्य सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार गुरु शिष्योंको उत्तम बुद्धि देकर उनके अन्तर्जगत्‌को प्रकाश-पूर्ण बनाते हैं।* वे शिष्यके अज्ञानमय अन्धकारका नाश करते हैं, अतः शिष्योंके लिये गुरु ही सबसे उत्तम तीर्थ हैं। यह समझकर शिष्यको उचित है कि वह सब तरहसे गुरुको प्रसन्न रक्खे। गुरुको पुण्यमय जानकर मन, वाणी और शरीर—तीनोंसे उनकी सेवा करे।'

इसलिये बालकोंको नित्य अपने गुरुजनोंके चरणोंमें दाहिने हाथसे उनके दायें पैरको और बायें हाथसे बायें पैरको छूकर प्रणाम करना चाहिये (देखिये मनु० २।७२)। तथा सदा गुरुके साथ बहुत ही आदरपूर्वक व्यवहार करना चाहिये। श्रीमनुजीने बतलाया है—

हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात् सर्वदा गुरुसंनिधौ।
उत्तिष्ठेत् प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥
आसीनस्य स्थितः कुर्यादभिगच्छंस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्य त्वाव्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः॥
नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसंनिधौ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत्॥

(२।१९४, १९६, १९८)

'गुरुके सामने सदा साधारण अन्न, वस्त्र और वेषसे रहे तथा गुरुसे पहले तो उठे और पीछे सोवे। बैठे हुए गुरुसे खड़े होकर और खड़े हुएसे उनके सामने जाकर तथा अपनी ओर आते हुएसे कुछ पद आगे जाकर एवं दौड़ते हुएसे उनके पीछे दौड़कर बातचीत करे। गुरुके समीप शिष्यकी शय्या और आसन सदा नीचा रहना चाहिये। गुरुकी आँखोंके सामने शिष्यको मनमाने आसनसे नहीं बैठना चाहिये।'

गुरुके साथ कभी असद्व्यवहार नहीं करना चाहिये। असद्व्यवहार करनेसे दुर्गति होती है। श्रीमनुजी कहते हैं—

परीवादात् खरो भवति श्वा वै भवति निन्दकः।
परिभोक्ता कृमिर्भवति कीटो भवति मत्सरी॥

(२।२०१)

'गुरुको झूठा दोष लगानेवाला गधा होता है, उनकी निन्दा करनेवाला निस्सन्देह कुत्ता होता है, अनुचित रीतिसे उनके धनको भोगनेवाला कृमि होता है और उनके साथ डाह रखनेवाला कीट होता है।'

अतएव इस प्रकार कभी भी गुरुके साथ बुरा बर्ताव न करे, बल्कि उनकी आज्ञाका पालन करे और उनकी इच्छाके अनुसार कार्य करे। उनकी इच्छाका पता न लगे तो उनके संकेतके अनुसार करे, संकेतका पता न लगे तो उनकी

* सर्वेषामेव लोकानां यथा सूर्यः प्रकाशकः।
गुरुः प्रकाशकस्तद्वच्छिष्याणां बुद्धिदानतः॥

(८५।८)

आज्ञाके अनुसार करे तथा मन, वाणी और शरीरसे सदा-सर्वदा उनकी सेवामें तत्पर रहे । इस प्रकार नित्य नमस्कार, सेवा और आज्ञापालन करनेसे शिष्यका कल्याण हो जाता है ।

माता-पिता और गुरुकी सेवाका महत्त्व जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा है । श्रीमद्भगवद्गीताके १७ वें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें शारीरिक तपका वर्णन करते हुए श्रीभगवान्ने जो 'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम्' कहा है, उसका अभिप्राय यही है कि देवता, ब्राह्मण, गुरु यानी माता-पिता, आचार्य आदि तथा प्राज्ञ यानी ज्ञानवान्—इनका पूजन अर्थात् सेवा-सत्कार और आदर करना चाहिये ।

श्रीमनुजीने दूसरे अध्यायके २३० वें श्लोकमें बतलाया है—

त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥

माता-पिता और आचार्य—ये ही तीनों भूः, भुवः और स्वः लोक हैं, ये ही तीनों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम हैं, ये ही तीनों ऋक्, यजुः और सामवेद हैं तथा ये ही तीनों गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय अग्नि हैं । इन तीनोंकी सेवासे मनुष्य तीनों लोकोंको जीत लेता है । श्रीमनुजी कहते हैं—

त्रिष्वेतेष्वितिकृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोऽन्य उच्यते ॥
(२ । २३७)

'इन तीनोंकी सेवासे ही पुरुषका सब कृत्य समाप्त हो जाता है, यानी उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता । यही साक्षात् परमधर्म है, इसके अतिरिक्त अन्य सब उपधर्म कहे जाते हैं ।'

इसी प्रकार वेदोंमें भी इसकी बड़ी महिमा मिलती है । तैत्तिरीयोपनिषद्के १ । ११ । २ में बतलाया है—

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव ।

'माताको देव माननेवाला हो, पिताको देव माननेवाला हो, आचार्यको देव माननेवाला हो अर्थात् इन सबको परमात्मदेव माननेवाला हो ।'

पद्मपुराणके भूमिखण्डमें आता है कि द्वारकावासी शिवशर्माके यज्ञशर्मा, वेदशर्मा, धर्मशर्मा, विष्णुशर्मा और सोमशर्मानामक पाँचों पुत्रोंने मातृ-पितृ-भक्तिसे परमपदकी प्राप्ति कर ली । मनुष्यकी तो बात ही क्या है, कुञ्जल नामके तोतेके चारों पुत्र उज्ज्वल, समुज्ज्वल, विज्वल और कपिञ्जल (पक्षी) भी माता-पिताके बड़े भक्त हुए हैं ।

ईश्वर-भक्ति

ईश्वरकी भक्तिके प्रभावसे दुर्गुण, दुराचार, प्रमाद, दुर्व्यसनरूप आसुरी सम्पदाका तथा दुःखोंका स्वाभाविक अपने-आप ही अत्यन्त अभाव हो जाता है और उसमें सद्गुण-सदाचाररूप दैवी सम्पदाके लक्षण अपने-आप ही आ जाते हैं, जिससे सदाके लिये परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है । इसमें न तो पैसे खर्च होते हैं, न कोई समय व्यय होता है और न कोई परिश्रम ही । जैसे रात्रिके समय सोनेके बाद कोई कार्य तो होता ही नहीं, समय केवल सोनेमें ही जाता है और स्वप्न भी वैसे ही आते हैं, जैसे कि सोनेके आरम्भ समयमें संकल्प होते हैं । इसलिये शयनके समयमें सांसारिक संकल्पोंके प्रवाहको हटाकर परमात्म-विषयक संकल्प करते हुए अर्थात् परमात्माके नाम, रूप, गुण, प्रभावका स्मरण करते हुए शयन करनेसे रात्रिमें परमात्म-विषयक ही संकल्प होते रहेंगे, इससे बुद्धि सात्त्विक होगी और हम परमात्माके निकट पहुँचेंगे । बतलाइये, इसमें हमको क्या परिश्रम है ? एवं न तो इसमें पैसोंका खर्च है और न समयका ही । फिर इसके न होनेमें कारण श्रद्धा-प्रेमकी ही कमी है । श्रद्धा और प्रेम हमलोगोंका स्वाभाविक संसारमें है, उसको भगवान्की ओर कर देनेसे महान् लाभ है और संसारकी ओर रखनेसे महान् हानि है । भगवान् हैं और मिलते हैं तथा वे अन्तर्यामी, परमदयालु और सर्वशक्तिमान् हैं । इस प्रकारका जो विश्वास है, इसीका नाम श्रद्धा है । इस प्रकार परमात्मामें विश्वास होनेपर उसके द्वारा कोई भी दुराचाररूप पाप नहीं बन सकते; क्योंकि उसको यह विश्वास है कि भगवान् हैं और वे सब जगह व्यापक हैं तथा सब जगह उनकी आँखें हैं और सब जगह ही उनके कान हैं । अतः हम जो कुछ कर रहे हैं, भगवान् उसे देख रहे हैं और जो कुछ हम बोल रहे हैं, उसे वे सुन रहे हैं । भगवान्ने गीतामें भी कहा है—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
(१३ । १३)

'वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और

मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है।'

जब बालकको इस प्रकार विश्वास हो जाता है, तब फिर वह दुराचार, दुर्व्यसन और प्रमादरूप पापको जो कि परमात्मासे विपरीत कार्य हैं, कैसे कर सकता है ?

ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करके उनकी शरण होनेपर मनुष्यमें निर्भयता आ जाती है तथा उसमें धीरता, वीरता, गम्भीरता ईश्वरकृपासे स्वाभाविक ही आ जाती है। अस्त्र-शस्त्रोंके द्वारा दूसरोंकी हिंसा करनेवाला वीर नहीं कहलाता। वीर पुरुष वही है, जो अपने ऊपर भारी-से-भारी आपत्ति पड़नेपर भी भक्त प्रह्लादकी भाँति अपने सिद्धान्तको, कर्तव्यको नहीं छोड़ता, वरं उसपर दृढ़ताके साथ डटा रहता है, जरा भी च्युत नहीं होता। ईश्वरके सगुण और निर्गुण-स्वरूपकी प्राप्ति या ज्ञान न होनेके कारण उसका यथार्थ चिन्तन न हो तो कोई हानि नहीं, किंतु जीव ईश्वरका अंश होनेसे उसका भगवान्में प्रेम स्वाभाविक ही होना चाहिये। अतः भगवान्के साथ आत्मीयता दृढ़ होनेके लिये भगवान्से दास्य, सख्य आदिमेंसे किसी भावका सम्बन्ध, उसकी सत्तामें विश्वास, उसका भरोसा तथा नामकी स्मृति अवश्य और दृढ़ होनी चाहिये। फिर उसके द्वारा कोई भी पाप नहीं हो सकता।

दुराचार आदि पापोंके संस्कार ही दुर्गुणके रूपमें हृदयमें जमते हैं। जब उसके द्वारा कोई बुरा काम नहीं होगा, तब दुर्गुण कैसे जम सकते हैं; बल्कि पहलेके संचित दुर्गुणोंके संस्कार भी भगवान्की भक्तिके प्रभावसे नष्ट हो जायँगे। उपर्युक्त प्रणालीके अनुसार शयन करनेका अभ्यास करनेसे शयनकाल भी साधनमें परिणत हो सकता है। विचारना चाहिये, यह कितने उत्तम लाभकी बात है। यह सब समझकर भी यदि हम इसके लिये चेष्टा न करें तो हमारे समान कौन मूर्ख होगा ?

इसी प्रकार विद्याभ्यास करते, चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते और खेल-कूदके समय भी भगवान्के गुण-प्रभावसहित नाम, रूप और चरित्रको याद रखते हुए ही उपर्युक्त सारी क्रियाएँ करनी चाहिये। जैसे, व्रजकी गोपियाँ वाणीके द्वारा भगवान्के नाम-गुणोंका कीर्तन और मनसे भगवान्का स्मरण करती हुई ही घरका सब काम किया करती थीं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥
(१०। ४४। १५)

'जो गौओंका दूध दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालनेमें झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें जल छिड़कते समय और झाड़ू देने आदि कर्मोंको करते समय, प्रेमपूर्ण चित्तसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्गद-वाणीसे श्रीकृष्णका गान किया करती हैं, इस प्रकार सदा श्रीकृष्णमें ही चित्त लगाये रखनेवाली ये व्रजवासिनी गोपियाँ धन्य हैं।'

अतएव बालकोंको इस प्रकार वाणीके द्वारा भगवान्के नाम-गुणोंका प्रेमपूर्वक कीर्तन तथा मनसे उनका स्मरण करते हुए ही सब चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा करनेपर स्वाभाविक ही दुर्गुण-दुराचारोंका नाश होकर तथा सद्गुण-सदाचारोंका आविर्भाव होकर परम शान्ति मिल सकती है। ऐसा करनेमें न तो समयका खर्च है, न पैसोंका ही और न कोई परिश्रम ही है। यह अलौकिक परम लाभ स्वाभाविक ही मिल सकता है, जिसके फलस्वरूप भगवान्में प्रेम होकर भगवान्की प्राप्ति हो सकती है।

प्रातःकाल और सायंकाल जो नित्यकर्मके लिये समय निकाला जाता है, उसको विशेष सार्थक बनाना चाहिये। उस समय भजन, ध्यान, पूजा-पाठ आदि जो कुछ भी किया जाता है, अर्थ और भावकी ओर खयाल रखकर करना चाहिये। इस प्रकार श्रद्धा-भक्ति और आदरपूर्वक नियमितरूपसे किया हुआ नित्यकर्म भी बहुत दामी हो जाता है; किंतु जो बिना आदर और बिना मनके साधन किया जाता है, वह विशेष दामी नहीं होता।

भक्त ध्रुवने बड़े आदरपूर्वक साधन किया था, जिसके फलस्वरूप साढ़े पाँच महीनोंमें ही उसे भगवान् मिल गये। सौतेली माता सुरुचिके आक्षेपभरे वचनोंने भी उसके हृदयमें उपदेशका काम कर दिया। और जन्म देनेवाली माता सुनीति तथा श्रीनारदजीका उपदेश पाकर ध्रुव जप, ध्यान और तपश्चर्यामें संलग्न हो गया, जिससे वह शीघ्र ही परम पदको प्राप्त हो गया।

इसी प्रकार श्रीनारदजीका उपदेश पाकर भक्त प्रह्लादने निष्कामभावसे भक्ति करके उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त की।

प्रह्लादने पाठशालामें पढ़ते समय भारी-से-भारी अत्याचारोंको सहते हुए भी भगवान्‌की भक्ति करते और बालकोंको कराते हुए भगवद्दर्शन प्राप्त किये । उसकी भक्तिका प्रभाव देखिये, जहरीले सर्पोंके विष तथा अग्निकी लपटोंका भी उसपर कोई असर नहीं हुआ । इसके सिवा उसपर और भी बहुत-से अत्याचार हुए; किंतु प्रह्लादका बाल भी बाँका नहीं हुआ । प्रह्लाद मनसे सर्वत्र भगवान्‌को ही देखते और भगवान्‌के नाम-गुणोंका कीर्तन किया करते थे । हिरण्यकशिपुके भय, लोभ और त्रास देनेपर भी प्रह्लाद अपनी भक्तिपर डटे ही रहे तथा प्रेमपूर्वक अत्याचारोंको सहते रहे । अतः किसी अत्याचार-का प्रतीकार बिना किये ही भक्तिके प्रभावसे सब अत्याचार निष्फल हो गये । यह समझकर बालकोंको बड़े उत्साहके साथ भगवान्‌के नाम और रूपको याद रखते हुए ही सब काम करते रहना चाहिये । भगवान्‌ने अर्जुनको भी यही आदेश दिया है कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
(गीता ८ । ७)

'इसलिये हे अर्जुन ! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगा ।'

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥
(गीता १८ । ५६)

'मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है ।'

अतएव बालकोंको भी सब समय भगवान्‌का आश्रय लेकर ही सब काम करना चाहिये ।

यहाँ बालकोंके सम्बन्धमें जो बातें कही गयी हैं, वही तरुणोंके और प्रायः बड़ी उम्रवालोंके लिये भी हैं । मेरा ऐसा विश्वास है कि इस प्रकारसे यदि वास्तवमें बालकोंका और तरुणों, प्रौढ़ोंका जीवन बन जाय तो मनुष्य-जीवनकी सर्वाङ्गीण सार्थकता हो सकती है ।

बालकको उद्बोधन

(रचयिता—महात्मा श्रीजयगौरीशंकर सीतारामजी)

सुनो-सुनो ऐ प्यारे बालक ! करो सदा प्रभुका गुण गान ।
आलस औ आडंबर छोड़ो, छोड़ो व्यर्थ कपट अभिमान ॥
प्रेम सहित विद्या पढ़ निशिदिन, पुरुषारथपर दो अब ध्यान ।
साधनसे निर्मल मन बनकर, होओ अर्जुन भीम समान ॥
स्वार्थ छोड़ परमार्थ साधकर, करो बड़ोंका नित सम्मान ।
विद्या पढ़ बन प्रेम-पुजारी, खूब बढ़ाओ बल औ ज्ञान ॥
अपनाओ यह महापुण्य है, दो सबको सत् शिक्षा दान ।
त्याग अविद्या अवगुण आलस, धरो हृदयमें प्रभुका ध्यान ॥
झूठ कपट व्यवहार छोड़ दो, इनसे मिलता दुख अपमान ।
मधुर वचन प्रिय बोलो प्यारे, खुश होंगे केशव भगवान ॥
रोकर कहो प्रेमयुत प्रतिदिन, दया करो हे दयानिधान ।
'कवलवास' परमारथ करके, बनो जगतमें पुरुष महान ॥

बालकके सुख-दुःख बालकके शब्दोंमें

(लेखक—विद्यावारिधि पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

कहा जाता है—बालक स्वभावसे ही हृद्य, प्रिय और मनकी वस्तु है। उसका क्रोध और हठ भी आनन्ददायक है। उसका धूल-धूसरित शरीर एवं निराली चाल-ढाल किस सहृदयको अपना वशंवद नहीं बनाती। बालकके सम्मुख क्रूर और हिंसक प्राणी भी अपनी क्रूरता और हिंसाको छोड़ देते हैं। भेड़ियोंके माँदमें भी मानव-बालक पलता हुआ देखा गया है।

यह भी कहा जाता है कि सनकादि तो बालरूपपर इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने पितामह ब्रह्मासे सदैव बालरूपमें रहनेका अपने लिये वर ही प्राप्त कर लिया।

परंतु इस स्तुतिवादसे मुझे क्या लाभ ? मेरा तो इससे कुछ बनता नहीं। मुझपर तो अपने जन्म-गृहमें ही जहाँ वर्षों चौबीसों घंटा रहना पड़ता है, प्रतिक्षण और प्रतिपल जो बीतती है और वह भी सुकुमार नन्हे-से व्यक्तिपर, मैं ही जानता हूँ। सुनिये, मुझसे कहा जाता है—

१. तू मूर्ख है।
२. तू मुखर है।
३. तू ढीठ है।
४. तू पागल है।
५. तू उल्लू है।
६. तू अयोग्य है।
७. तू मरा ही भला।
८. तू पैदा ही न हुआ होता तो अच्छा होता।
९. तू पैदा होकर मर जाता तो भी अच्छा होता।
१०. हैं ! मार लिया दुष्ट तूने हमें।

इतना ही नहीं, अपितु अश्लील और ग्रामीण शब्दोंमें भी मैं याद किया जाता रहता हूँ। हाथ-लात और डंडेसे खबर लेनेके अवसर भी आते रहते हैं। क्या यह मनोवैज्ञानिक बात है ? और भी सुनिये—मेरे साथ जो सलूक होता है—

१. मेरे स्वास्थ्यका पूरा ध्यान नहीं रक्खा जाता।
२. मेरे चरित्र-निर्माणकी परवा नहीं की जाती।
३. मेरी रुचिकी भी कोई नहीं सुनता।
४. मेरा व्यक्तित्व स्वीकार नहीं किया जाता।

सारांश यह है कि एक ब्राह्मण अपनी गोमुखी, क्षत्रिय घोड़े, वैश्य तराजू, किसान बैल और अंग्रेज कुत्तेकी जितनी परवा करता है, उतनी भी मेरी परवा नहीं की जाती।

जिस जातिको परमात्माके दर्शन बालरूपमें हुए हैं, उसी जातिका बाल-कृष्णके सखा-साथीके साथ आज लाखों घरोंमें यह व्यवहार ! विशेषतः ऐसी दशामें जब कि विश्व-दुर्लभ बाल-वात्सल्यके महाकाव्यका रचयिता सूर इसी जातिका महाकवि है, जिसने अपने महाग्रन्थमें मनस्तत्त्वात्मक—

अ. बाल-व्यक्तित्व।
आ. बाल-मनोवृत्ति।
इ. बाल-चिन्तन।
ई. बाल-स्वभाव।
उ. बाल-क्रीडा।
ऊ. बाल-सुषमा।
ऋ. बाल-चातुर्य।
ॠ. बाल-रुचि।
ऌ. बाल-प्रतिभा।
ॡ. बाल-सारल्य।

—आदिका बड़ी ही मनोमोहक शैली और सरस पदोंमें विश्लेषण किया है। यह असलमें बाल-मनोविज्ञानका लोकोत्तर विश्वकोष है। इसका एक-एक शब्द और भाव बाल-मनस्तत्त्वकी अभिव्यञ्जना है। यद्यपि सूरसागर कृष्णात्मक है; परंतु है तो उसमें बालकका ही व्यक्तित्व, न कि युवक और वृद्धका। बालकेतर अवस्थाओंमें परमात्मरूप बाल-सौन्दर्यकी झाँकी लेना तो कल्पनाकी बात कैसे हो सकती है ? परंतु उसी बालकपर गजब ढाया जाता है। फिर इसकी किसीको परवा भी कहाँ है ? यही कारण है कि आजका बालक इन दयनीय रूपोंमें देखा जाता है—

१. अल्पायु।
२. निर्बल।
३. रोगी।
४. कुरूप।
५. दीन।
६. दुखी।

घरसे निकलकर बालक द्विजन्मा बननेके लिये प्रारम्भिक

पाठशालामें जाता है; वहाँ भी इसके इन दुःखोंका ताँता बना ही रहता है। इसे नित्य ही गुरुजनोंके मुखसे ये शब्द सुनने पड़ते हैं—

क. तुझमें अक्ल जरा भी नहीं है।

ख. लिखना-पढ़ना बिल्कुल नहीं आता।

ग. निरा मूर्ख है।

घ. गधा कहींका।

ङ. साथ ही दो-एक बेतोंकी मार भी।

क्या यह व्यवहार—

१. आत्म-विश्वास।

२. आत्म-सम्मान।

३. आत्म-निर्णय।

४. आत्म-निरीक्षण।

—के विकासका सहायक हो सकता है? कदापि नहीं। इस अमानवीय व्यवहारसे तो उक्त गुणोंके अङ्कुर ही नहीं जम पाते। प्रत्युत बाल-मानवमें समाज-घातक प्रतिक्रिया होती है, जो इन बुराइयोंके पनपनेका अवसर प्रदान करती है—

च. क्रोध।

छ. निन्दा।

ज. अविनय।

झ. तुच्छता।

ञ. अनुशासनहीनता।

अब माध्यमिक-पाठशालाकी बात सुनिये और मेरे क्रमोन्नत कष्टोंका पता लगाइये—

यहाँ पुस्तकोंका ढेर सिरपर सवार रहता है। डर और मार भी पक्के मित्र बने रहते हैं। ऐसी दशामें तन-मनकी शक्तियाँ भी क्षीण हो जाती हैं और अन्धी प्रकृति संतुलन रखनेके लिये उच्छृङ्खल होकर नैतिक शक्तियोंसे युद्ध छेड़ देती है और ये दुःख बालकको बहुत लंबे समयतक सहने पड़ते हैं।

अब कदाचित् कालेजमें प्रवेश हुआ तो वहाँ सभी आशाएँ समाप्त हो जाती हैं। कालेज वस्तुतः भारतीय बालकके लिये एक अभिशाप है; क्योंकि वहाँ इसकी किशोर और तरुण-अवस्थाएँ बरबाद हो जाती हैं। साथ ही आर्योचित मानव-व्यक्तित्वके निर्माणका अवसर भी नहीं आता और भारतमें पढ़ते हुए भी बालककी अभारतीय मनोवृत्ति बनने लगती है। पहला चमत्कार ही देखिये—वहाँ हमें सुनाया, पढ़ाया और सिखाया जाता है—

१. आर्य भारतमें बाहरसे आये हैं।

२. तीन-चार हजार वर्षोंसे पूर्वका इतिहास नहीं मिलता।

३. जगत् उत्तरोत्तर समुन्नत होता जा रहा है।

यही नहीं, प्रत्युत कालेजके वातावरणमें कुछ लोमहर्षण अभारतीय बातोंका भी दौर-दौरा रहता है, उनमें मुख्यतम ये हैं—

ट. भारतीय लोग विज्ञान नहीं जानते थे।

ठ. विज्ञानमें ईश्वरका स्थान नहीं है।

ड. हिंदू-शास्त्र कपोलकल्पित हैं।

ढ. धर्म-कर्म पुराने समयकी चर्चा है।

ण. हिंदुओंका आदर्शवाद क्रियात्मक नहीं है।

इसपर अंग्रेजी भाषाका माध्यम, राष्ट्र-भाषाकी अवहेलना, पाश्चात्त्य रहन-सहन और चिन्तन-प्रणाली—सचमुच बालकको अवाञ्छित मानव ही बना छोड़ती है। यह ठीक है कि इससे बालकका एक नवीन रूप तैयार होता है, किंतु यह आत्म-संस्कृति-घातक होता है; इसलिये कि इसमें—

त. अपनापन नहीं होता।

थ. जीवन-संस्थापक तत्त्व नहीं पाये जाते।

द. परप्रत्ययनेय बुद्धिका दौर रहता है।

ध. जातीयताका दिवाला निकल जाता है।

न. भारतीय लाखों वर्षों और सहस्रों पीढ़ियोंका सांस्कृतिक व्यक्तित्व प्रायः नष्ट हो जाता है।

साथ ही बालकके वंशक्रमागत संस्कार, वर्णोचित मनोवृत्ति, वैयक्तिक रुचि पूर्णतः नष्ट होकर एक कृत्रिम किंतु अभारतीय विचार-पद्धति बनती है, जो मानवता, देश और जातिके लिये अहितकर सिद्ध होती है। इस तरह मैं देखता हूँ कालेज-शिक्षाके नामसे बालकका सांस्कृतिक और जातीय व्यक्तित्व तो सर्वथा नष्ट ही हो जाता है और म० मैकालेकी भावनाके अनुसार वह रुधिरसे भारतीय किंतु दिमागसे अंग्रेज बन जाता है।

यह भी एक अत्यधिक दुःखप्रद बात है कि कालेजमें छात्रने यदि हिंदी या संस्कृतमें एम्० ए० किया तो उसे साहित्य-सौन्दर्यसे वञ्चित नहीं रहना पड़ता; किंतु यदि अंग्रेजीमें किया तो इने-गिने प्रतिभाशाली बालकोंके सिवा दूसरोंमें अंग्रेजी साहित्यको ठीक-सा समझनेकी शक्ति भी उत्पन्न नहीं होती, उसका आस्वादन तो दूर—परेकी बात है।

आश्चर्य यह भी है कि विज्ञानके स्नातकोंकी भी वैज्ञानिक रुचि और वैज्ञानिक विचारपद्धति नहीं बन पाती। यही सब कारण है कि प्रायः लड़के बादमें पुस्तकें बेचते देखे जाते हैं। इस सबका परिणाम यह होता है कि—

१. धर्म-भीरु बालक।
२. वीर बालक।
३. ईश्वर-भक्त बालक।
४. मातृ-पितृ-भक्त बालक।
५. गुरु-भक्त बालक।
६. परोपकारी बालक।
७. देश-भक्त बालक।
८. त्यागी बालक।
९. सेवा-व्रती बालक।
१०. सत्य-प्रेमी बालक।
११. विश्वासी बालक।
१२. साधु-भक्त बालक।
१३. उदाराशय बालक।

—इनमेंसे हम एक प्रकारके बालक भी नहीं बन पाते। उल्टा अपने पूर्वजोंका परम्परागत सांस्कृतिक व्यक्तित्व नष्ट करके घर आते हैं। महात्मा गाँधीने एक बार पुरीके अपने भाषणमें प्रकारान्तरसे यही बात कही थी—

'लोकमान्य तिलक यदि अंग्रेजी न पढ़े होते तो दूसरे शिवाजी होते।'

गत सितम्बरमें अपने हैदराबादके भाषणमें प्रधान मन्त्री श्रीपण्डित जवाहरलाल नेहरूने भी विश्व-विद्यालयोंकी शिक्षापर अपने उद्गार इस प्रकार प्रकट किये—

'इस समय तो विश्व-विद्यालयोंसे कोई लाभ नहीं। मेरे सामने उपाधियोंका कोई महत्त्व नहीं। मैं उस आदमीको विशेषता देता हूँ, जो बी० ए०, एम्० ए० नहीं है।'

यहाँ एक दुःखद उल्लेखनीय बात यह भी है कि इस शिक्षासे हमें समाजकी ओरसे यह पदवियाँ भी मिलती हैं—

प. विलासी।
फ. उच्छृङ्खल।
ब. उद्दण्ड।
भ. अकर्मण्य।
म. अधार्मिक।

यदि दुर्भाग्य या सौभाग्यसे हम विलायत भेजे गये तो हममेंसे अधिकांश पाश्चात्य वातावरणके शिकार होकर आते हैं। उनका मत और धर्म-कर्म खाना-पीना और मौज उड़ाना रह जाता है। यह गति उस देशके बालककी होती है, जिसके पूर्वजोंने जीवनको प्रवृत्तिपरक किंतु निवृत्तिमूलक माना था और यह उद्घोषणा की थी—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनु० २।२०)

भूमण्डलमें निवास करनेवाले सब मनुष्य इस (भारत) देशमें उत्पन्न विद्वान् ब्राह्मणसे अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करें।

यहाँ यह कह देना भी अनुचित प्रतीत नहीं होता कि हमारे बन्धुजन एवं गुरुजन बाल-मनोविज्ञान-सम्बन्धी मूल सिद्धान्तोंसे अनभिज्ञ होते हैं। यही कारण है कि बाल-मानव उल्टी दिशामें बहनेको मजबूर होता है। कृपया वे इस क्षण ही उन्हें सुनकर इस दिशामें सक्रिय भाग लें। वे कुछ इस प्रकार हैं—

१. बाल-निर्माण-शिक्षण एक अनिवार्य बात है।

२. बालककी मानसिक माँगोंकी पूर्ति भी आवश्यक है।

३. बालककी विकास-श्रेणियोंके सम्बन्धमें सम्मान-वृत्ति अपेक्षित है।

४. बालक सर्वगुणसम्पन्न नहीं है, उसे सर्वगुणसम्पन्न मानकर चलना ठीक नहीं।

५. बालकके व्यक्तित्वका आदर करना मनोवैज्ञानिक शिक्षणकी बात है।

६. बालकके साथ आयु-सम्मत मनोवैज्ञानिक दृष्टि व्यवहार्य है।

७. बालकको परस्पर-विरोधी बातों, भावों और चिन्ताओंमें डालना ठीक नहीं, इससे वह पथ-भ्रष्ट होगा।

८. बालककी बुराइयोंको मनोवैज्ञानिक ढंगसे ठीक करो। उसकी हिंसा-वृत्तिको क्रीडाकी प्रतियोगितासे वीरतामें बदलो। उपलक्षणसे अन्य बुराइयोंको भी इसी तरह ठीक करो।

९. यह बात प्रतिक्षण याद रखनेकी है कि बालक अनुकरण-प्रिय-प्रकृति है। इसे आप जो देंगे वही वह लेगा। दूसरे शब्दोंमें वह आपका फोटो है। आपकी आकृति जैसी होगी वैसे ही उसकी प्रतिकृति होगी।

१०. बालकके लिये नैतिक और आध्यात्मिक वातावरणका निर्माण करना भी परम हितकर बात है। साथ ही सत्सङ्ग भी बाल-शिक्षण-विज्ञानकी अनोखी वस्तु है।

यहाँ मेरा यह नम्र निवेदन है कि कोई यह न समझे कि बालक अपने पक्षमें दूनकी हाँक रहा है। असल बात तो यह है कि बालक तो पृथ्वीपर असहायरूपमें माताकी गोदमें आया था। यदि उस समय ढंगसे काम लिया जाता तो आज आक्षेप-योग्य उसकी दशा न होती। विशेषतः हिंदू-बालक, जो जन्मना वर्णोचित और सामाजिक व्यक्तित्व लाया था, वह तो तहस-नहस न होता। यदि यह कथन असत्य है तो विरोधी बाल-मनोविज्ञान आइनेमें अपना मुख देखे। आइना इस प्रकार है—

'आपने बालकके व्यक्तित्वका अपमान किया है। हँसी-मखौल, दण्ड इत्यादिके द्वारा उसे हीनताका अनुभव कराया गया है। इन कठोर व्यवहारोंके कारण बालकमें समाज-विरोधी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो गयी हैं अर्थात् वह समाजका सहयोगी, आत्म-विश्वासी और निर्भय व्यक्ति होनेके स्थानमें समाज-विरोधी बन गया और अपना भी नाश कर बैठा। प्रौढ-जीवनमें देखी जानेवाली ईर्ष्या-घृणा-द्वेषकी अग्नि बाल-जीवनमें दमन की हुई इच्छाओं और प्रवृत्तियोंकी चिनगारियोंका प्रज्वलित रूप है। ऐसे ही उपलक्षणसे उसके अन्य रोग-दोष भी[1]।'

अब मैं अधिक न कहकर अन्तमें राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादके शब्दोंमें यही कहना चाहता हूँ कि—

हम चाहे अपने सामने जितने भी महान् वा उच्च आदर्शोंको लेकर जिस-किसी तरहकी राज्य-व्यवस्था क्यों न स्थापित कर लें, हमारी आर्थिक एवं सामाजिक विचारधारा कितनी भी समान एवं उदार क्यों न हो, पर जबतक हमारी अगली पीढ़ीका शारीरिक एवं मानसिक सौष्ठव वा गठन शिशु-जीवनमें ही ठीक नहीं बनता, तबतक हम देशमें चिरस्थायी सुख और शान्ति स्थापित करनेमें सफल नहीं हो सकते।[2]

प्राचीन और अर्वाचीन विद्यार्थीपर एक दृष्टि !

(रचयिता—श्री'सुदामा')

आओ ! दिखलाऊँ, बतलाऊँ तुमको
गत भारतके ब्रह्मचारीकी,
एक अपूर्व झाँकी,
दर्शन करते ही जिसके
उमड़ पड़ेंगे आनन्दके दिव्य स्रोत—
तुम्हारे मन-मन्दिरमें
जिनकी चाह बनी है तुमको वर्षोंसे—सदियोंसे।
तपोभूमिका वह ब्रह्मचारी,
जिसके मुख-मण्डलपर
आभा थी, प्रतिभा थी—
दर्शन करते ही पैरोंमें जिसके-
सृष्टिकी सुषमा झुक जाती—लुट जाती थी
जिसके मुखड़ेपर भोलापन था
दर्शन करनेको जिसके देव तरसते-
इन्द्रासन डुल जाता—
ज्यादा क्या !
यदि आवश्यकता पड़ जाती तो-
ईश्वर भी हिल जाता
उसके भोले-भाले सत्य सरल जीवनसे।
बहुत धनी या बिल्कुल निर्धन,
भू-स्वामी या भूखा ब्राह्मण
सारे भू-शय्यापर सोते,
कुटियाएँ सेवन करते
और फिर वे—
निष्कामी गुरुओंकी सेवामें
शस्त्रोंका—शास्त्रोंका
वेदोंका—श्रुतियोंका
पच्चीस वर्षतक अध्ययन करते।

१. प्रो० एस० पी० कनल।

२. गत सितम्बर मासमें कन्या-गुरुकुल, देहरादूनके दीक्षान्त भाषणमें।

इस तरह—
उस युगका वह प्राणी
जिसका नेक चरित्र पर्वतसे ऊँचा था
सेवा-व्रत भी जिसका—
चट्टानोंसे अधिक कड़ा था—
त्याग-तपस्यामें ही जिसका जीवन रत था—
अपने भावी पथपर बढ़नेको—
हर प्रकारसे तत्पर होकर
कर्म-क्षेत्रमें उतरा करता ।
फिर, उसके ही भुजदण्डोंपर
भार धरा जाता—
भारत भूका—लोक-सेवाका
इसीलिये तो भारतने पद पाया था विश्व-पिताका ।

× × ×

आज !
उसी देशके—उसी धराके
विद्यार्थीका चित्र बनानेको उद्यत होता
तो—तूलिका थर्राती—सकुचाती चलती
वर्णन करनेको जी चाहता
पर—लेखनी असमंजसमें पड़ जाती
कहती, अरे ! लिखूँ क्या ?
जिसकी पीली या मुर्दीली चमड़ीपर,
जिसके पिचके गोल कपोलोंपर
फैला है—झुर्रीका जाल प्रबल—
जिसकी धँसती आँखोंपर
दृष्टि भी कुछ नहीं प्रखर
ऐनककी जोड़ी चढ़ी हुई
जो चलता-फिरता पढ़ता-लिखता
केवल उसके बलपर—
पश्चिमका पुजारी बनकर—
कोट-पैंट-टाई अपनाकर
सूखे तरुके डंठल-सा—
घुन खाये—गेहूँके दाने-सा
बीस बरसमें बूढ़ेके लक्षण लेकर
पुस्तकोंका ढेर बनाकर
पत्ते चाटता सड़कोंपर
या—होटलका आदी बनकर
भटका करता—इधर-उधर ।
शौकीन सिनेमाका इतना-
कि ऋषियोंके सामवेद-सा-
उसके होठोंपर नाचा करता-
हरदम कोई फिल्मी गाना ।
बसती रहती उसकी आँखोंमें-
चित्रपटों या सड़कोंकी
न मालूम कितनी—पथभ्रष्ट तितलियाँ
न जाने कितने सहगल और सुरैया
वह 'लव मैरिज' की फिल्मी दुनियाका दीवाना !
इसीलिये तो—
यौवनके आरम्भसे पूर्व
मन्दाग्निका—धातुक्षयका
रोग लगा है दुनियाभरका
फिर भी जैसे-तैसे गिरते-पड़ते
कुछ 'इम्पोर्टैंट' कुछ 'टीप-टाप'
या—हड़तालोंका सहारा लेकर
सर्टिफिकेट प्राप्त कर लेता बी० ए० का एम्० ए० का
और एक तरफ बिना फीस ही
बुढ़ापनका—ढलते यौवनका ।
श्रद्धा खोकर—
नैतिकता ठुकराकर-
पुतला वादोंका—फैशनका—
ऐसा ही यह द्विपाद पशु
भार उठाता—अपने दुर्बल कंधोंपर
जातिका—जगतीके जीवनका—
आगे चलकर ।
केवल इसकी चिन्ता—
कि भारतका यह नव निर्माता
क्यों बढ़ता जाता बड़े वेगसे
महाप्रलयके इस भग्न गर्तमें—आँख मीचकर अब भी ।

भारतीय बाल-साहित्य

पृष्ठभूमिकी भावना

(लेखक—पं० श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदी)

कवीन्द्र श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुरसे किसी विदेशी विद्वान्‌ने पूछा था—'जिस देशमें भगवान्‌के बाल-गोपाल रूपकी पूजा होती हो, वहाँ बच्चोंकी देख-भाल तथा पालन-पोषणकी समुचित व्यवस्था तो होगी ही !'

कवीन्द्रने सखेद उत्तर दिया—

'दुर्भाग्यवश हमारे देशमें बच्चे तथा स्त्री-समाज—दोनों ही उपेक्षित हैं ।'

आजसे कई वर्ष पूर्व जब मिस म्यूरियल लीस्टर (जिन्हें बिलायतमें महात्माजीके आतिथ्य करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था) कलकत्ते पधारीं, तब मैंने उनसे प्रार्थना की 'रूसमें आपको जो-जो अनुभव हुए हों उनका सारांश मुझे भी सुनानेकी कृपा कीजिये ।' उन्होंने उत्तर दिया 'रूसमें मैं अधिक दिन नहीं ठहर सकी, पर उस बीचमें मैंने वहाँके बच्चोंकी रक्षा और शिक्षा तथा मनोरञ्जनके जो उपाय देखे, उनसे मैं इस परिणामपर पहुँची कि रूसमें बालक-बालिकाके रूपमें जन्म लेना अत्यन्त सौभाग्यकी बात है । उनके लिये वहाँ सर्वोत्तम प्रबन्ध है ।'

रूसी तथा चीनी पत्रोंमें बालक-बालिकाओंकी संस्थाओं तथा स्वस्थ बच्चोंके चित्र देखकर ही तबीयत खुश हो जाती है । छिद्रान्वेषी आलोचक लोग भले ही उसे प्रचारकार्य समझें, पर हमें तो उस प्रकारकी अविश्वासी मनोवृत्ति सर्वथा अनुचित प्रतीत होती है ।

रूससे हमारा राजनीतिक मतभेद भले ही हो—तानाशाहीके हम घोर-से-घोर विरोधी हों—पर इसका अभिप्राय यह नहीं है कि रूसमें जो भी कुछ शुभ कार्य हो रहा हो, उसकी अकारण निन्दा ही करें । और चीन तो हमारा पड़ोसी ही है । उसके और हमारे प्रश्नोंमें बहुत कुछ साम्य है ।

डाक्टर जगदीशचन्द्रजी जैनने, जो चीन गये हुए हैं, 'नया समाज'में लिखा है—

'नये चीनके निर्माताओंने अपने बालकोंके लिये थोड़ेसे समयमें ही बहुत साधन-सामग्री जुटा दी है । चीनी जनतन्त्र सरकार उनकी रक्षाका पूरा ध्यान रखती है, जिससे बालकोंकी मृत्यु-संख्या बहुत घट गयी है । बहुत-सी जगहोंमें मातृगृह और शिशुगृह खोल दिये गये हैं और बच्चोंको पहलेसे ही चेचक, हैजा, टाइफाइड, क्षय, डिप्थीरिया, काली खाँसी आदिके विरुद्ध 'टीके' लगवाकर अथवा इंजेक्शन देकर उनकी बीमारियोंको कम किया जाता है । यह सब कार्य सरकारकी ओरसे मुफ्त होता है, माता-पिताको कुछ खर्च नहीं करना पड़ता ।'

कारखानोंमें गर्भवती माताओंका विशेष ध्यान रक्खा जाता है । शंघाईकी कपड़ेकी मिलोंमें गर्भवती माताओंको हल्का काम दिया जाता है । उन्हें छप्पन (५६) दिनकी पूरी तनख्वाहके साथ छुट्टी मिलती है और ऊपरसे कुछ सरकारी सहायता भी दी जाती है । कारखानेमें काम करते समय उनके बच्चोंको खिलानेके लिये नर्सें रक्खी जाती हैं । चीनकी स्वतन्त्रताके बाद चीनकी शिशु-शालाओंमें १२ बारहगुनी वृद्धि हुई है ।···ऐसी शिशुशालाओंके लिये पार्क आदिके पास कोई रम्य स्थान चुना जाता है, जहाँ बच्चे स्वतन्त्रता-पूर्वक खेल-कूद सकें । १५-२० शिशुओंके साथ एक उत्साही परिचालिका रहती है, जो विविध प्रकारसे बच्चोंका मनोरञ्जन करती है । बच्चे बहुत साफ-सुथरे और प्रसन्नमुख दिखायी देते हैं । गुलाबी गालोंवाले अपने नन्हे-से मुखोंसे राष्ट्रिय गीतोंका गान करते हुए ये 'नन्हे सिपाही' कितने प्यारे लगते हैं । छोटे-बड़े सभी लोगोंके बच्चे इन शालाओंमें प्रविष्ट किये जाते हैं ।···चीनकी जनताका अटल विश्वास है कि 'अपनी उदीयमान भावी संततिकी सुख-समृद्धिके लिये उसे कुछ भी न उठा रखना चाहिये, तभी संसार अधिक सुखी और उज्ज्वल बन सकता है ।' भारतवर्षमें बालक-बालिकाओंके लिये किन-किन स्थानोंपर क्या-क्या कार्य हो रहा है, उसका पूरा तो क्या अधूरा वृत्तान्त भी हमें ज्ञात नहीं । यह हमारे लिये घोर लज्जाकी बात है । इसी कारण जब कल्याण-सम्पादककी यह आज्ञा हमें प्राप्त हुई कि हम भी बालकाङ्कके लिये कुछ लिखें, तब हम बड़े संकोचमें पड़ गये और कुछ नहीं तो निर्लज्जतापूर्वक केवल यही स्वीकार करनेके लिये कि चालीस वर्षकी कलम घिसाईके बाद भी इस विषयमें हमारा ज्ञान नगण्य है, हमें ये पंक्तियाँ लिखनी पड़ी हैं ।

हाँ, समय-समयपर इस विषयकी ओर हमारा ध्यान अवश्य गया है। फीरोजाबाद हमारा जन्म-स्थान है और उसके बारेमें युक्तप्रदेशकी किसी सरकारी रिपोर्टमें यह छपा था कि बालकोंकी मृत्यु-संख्याका सबसे ऊँचा औसत फीरोजाबादमें रहा! मालूम नहीं कि यह कलंक-कालिमा अबतक उतनी ही गहराईके साथ हमारे नगरके माथेपर लगी हुई है या नहीं; पर इतना हम अवश्य जानते हैं कि इस बीचमें जहाँ उस नगरकी आबादी तिगुनी हो गयी है, बच्चोंकी देख-भालके लिये कोई विशेष प्रबन्ध नहीं किया गया।

इससे भी ज्यादा दुःखप्रद अनुभव हमें विन्ध्यप्रदेशमें अपने निवास-स्थान कुण्डेश्वर [टीकमगढ़] के आसपासके ग्रामोंमें हुआ। हमने बीसियों बच्चोंको वहाँ चेचककी बीमारीमें काल-कवलित होते देखा और दो-तीन बार उस बारेमें 'विन्ध्यवाणी'में लिखा भी।

हमारा यह खयाल है कि इस बारेमें हमें पहले माता-पिताओं तथा शिक्षकोंको शिक्षित करनेकी जरूरत है। जो पत्रकार बच्चोंके विषयमें कभी-कभी कुछ लिख भी देते हैं स्वयं उनका ज्ञान अत्यल्प होता है।

बच्चोंके बारेमें कलम उठाना सबसे अधिक जिम्मेवारीका काम है; पर हमारे लेखकोंने उसे खेल ही समझ रक्खा है। बच्चोंकी शिक्षाके लिये दरअसल हमें उनकी नानियोंसे शुरू करना चाहिये। सुना जाता है कि अमरीकामें एक महाशय अपने पाँच वर्षके बच्चेको लेकर किसी शिक्षा-विशेषज्ञके पास गये और उनसे उसकी शिक्षाके विषयमें सलाह माँगी। उन्होंने कहा—'आप जनाब छै वर्षकी देरी करके आये हैं।'

बच्चोंकी अकाल-मृत्यु, अशिक्षा अथवा शारीरिक निर्बलताके लिये कितने अंशमें हमलोग जिम्मेवार हैं और कितने अंशमें हमारी सरकार या म्यूनिसिपैलिटियाँ, इस विवादग्रस्त प्रश्नको हम यहाँ नहीं उठाना चाहते, फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि दोनों ही समानरूपसे अपराधी हैं और दोनों ही घोर निन्दाके पात्र हैं।

जो लोग अपनेको सुशिक्षित समझते हैं, वे भी अज्ञानके गहरे गढ़ेमें पड़े हुए हैं। चार बच्चोंके पिता होनेपर भी हमने 'प्रसूति' नामक बीमारीका नाम भी तबतक नहीं सुना था, जबतक कि स्वयं हमें उसीके कारण पत्नीवियोगका दुःख न सहना पड़ा! और उसके सालभरके बाद वह बच्चा भी चल बसा। स्विटज़रलैंड-प्रवासी एक वयोवृद्ध अंग्रेज-महिलाने जब यह घटना सुनी, तब वह बोली 'स्विटज़रलैंडमें तो प्रत्येक बच्चेके जन्मसे लेकर उसकी आकस्मिक मृत्युतककी सभी बातोंका पूरा-पूरा ब्यौरा रक्खा जाता है, ताकि वैसी घटनाएँ फिर न घटें, किसी भी देशके लिये यह सबसे बड़ा कलंक है कि उसमें जच्चों और बच्चोंकी मृत्यु-संख्याका औसत ऊँचा हो।'

आज हमारे देशमें नाना प्रकारके प्लानों या आयोगोंका निर्माण हो रहा है। मालूम नहीं कि इस बारेमें कोई विशेष प्रयत्न किया जा रहा है या नहीं। हाँ, एक बार रेडियोपर हमने राजकुमारी श्रीअमृतकुँवरिका भाषण अवश्य सुना था और उनसे कुछ पत्र-व्यवहार भी किया था।

यों आयोजनाओंके बनानेमें तो कागज, कलम-स्याहीका ही खर्च होता है; पर तदनुसार काम करना कठिन है। यद्यपि हम सिद्धान्ततः अराजकवादके पक्षपाती हैं—तदनुसार आचरण न कर सकनेपर भी!—तथापि कभी-कभी हमारे मनमें यह विचार अवश्य आ जाता है कि कभी-कभी आपत्कालमें ज़ोर-ज़बरदस्तीका प्रयोग भी क्षम्य माना जाना चाहिये। जो माता-पिता अपनी लापरवाहीसे बच्चोंके जीवनको खतरेमें डाल रहे हों, उन्हें कुछ-न-कुछ दण्ड अवश्य मिलना चाहिये। जो पिता नालीमें अपने बच्चेको शौच फिरा रहा हो, उसके एकाध थप्पड़ जमा देनेका अधिकार प्रत्येक स्वच्छता-प्रेमी भलेमानसको होना चाहिये।

बच्चोंके लिये जैसे सुन्दर पार्क रूस देशमें बनाये जा रहे हैं क्या वैसे हमलोग अपने यहाँ नहीं बना सकते? अभी उस दिन दिल्लीके बाजारमें घूमते-घूमते हम एक प्रगतिशील पुस्तक-विक्रेताकी दूकानपर जा पहुँचे और हमने इस विषयके साहित्यकी माँग की। तुरंत ही दूकानदार महाशयने, जो सम्भवतः साम्यवादी दलके सहायकों या शुभचिन्तकोंमेंसे हैं, कई पुस्तिकाएँ हमारे सामने लाकर रख दीं।

१—मदर ऐंड चाइल्ड केयर इन यू॰ऐस॰ऐस॰आर (रूसमें माताओं तथा बच्चोंकी देख-भाल)

२—पब्लिक ऐजूकेशन इन यू॰ऐस॰ऐस॰आर (रूसमें शिक्षा)

३—चिल्डरन इन न्यू चाइना (नवीन चीनके बच्चे)

इनके सिवा 'सोवियट वोमेन' तथा 'पीपल्स चाइना'के कई अङ्क भी उन्होंने हमें दिये, जिनमें इस विषयका विशेष विवरण छपा था। पुस्तिकाओंकी छपाई, सफाई तथा सस्तेपनको देखकर हम चकित रह गये। क्या हमारे देशमें कहींपर भी इस प्रकारका कार्य नहीं हो रहा है? यदि हो

रहा है तो उसका वृत्तान्त सर्वसाधारणतक क्यों नहीं पहुँच पाता ?

यदि हमलोग सचमुच ही अपने बच्चोंके स्वास्थ्य, मनोरञ्जन तथा देख-भालके विषयमें इतनी अधिक उपेक्षा कर रहे हैं, तो हमारे लिये यह डूब मरनेकी बात है। हमारा अनुमान है कि जो थोड़ा बहुत कार्य हो भी रहा है, उसको भी उचित प्रोत्साहन नहीं मिलता। अभी २२ अक्टूबरकी बात है। अमरकंटकके पवित्र तीर्थस्थानके दर्शन करके हम लोग भोजन कर रहे थे। माननीय गृहसचिव डाक्टर कैलाशनाथजी काटजूने कहा—

'यद्यपि मैं अपने देशकी अनेक सुशिक्षित महिलाओंका प्रशंसक हूँ, पर मेरे हृदयमें सर्वोच्च स्थान एक बंगाली बहिनका है, जिन्होंने बच्चोंके लिये बड़ा उपयोगी कार्य कर दिखाया है।' हमलोगोंने उनका नाम, धाम तथा वृत्तान्त पूछा तो काटजू साहबने बड़ी श्रद्धासे सारा हाल संक्षेपमें कह सुनाया।

'कोई चौंतीस-पैंतीस वर्ष पहलेकी बात है। एक सोलह-सत्रह वर्षीय बंगाली बालिकाका विवाह चौबीस-पचीस वर्षके एक सुशिक्षित युवकसे हुआ था। उनके एक बच्चा हुआ। वह सालभरका न होने पाया था कि पिताका स्वर्गवास हो गया। उस अभागी विधवाने सोलह वर्षतक महान् साधना करके बच्चेको पाला-पोसा, पढ़ाया-लिखाया। वह बी०ए० में पढ़ता था कि उसका भी देहान्त हो गया। अब वह बिल्कुल ही निराधार हो गयी और उसका मस्तिष्क अत्यन्त अशान्त हो गया। किसी शुभचिन्तकके परामर्शानुसार वह विलायत गयी और वहाँ बच्चोंकी शिक्षाके विषयमें पूरे-पूरे अनुभव प्राप्त किये। वहाँ किसी विचारशील व्यक्तिने उनसे कहा—आप एक बच्चेके बजाय पाँच सौ बच्चोंकी पूज्य माताजी बन सकती हैं। आपमें उसकी योग्यता विद्यमान है। कलकत्ते लौटकर उन्होंने छोटे-छोटे बच्चोंके लिये एक छोटा-सा स्कूल खोला। पहले तो उसमें पाँच-सात बच्चे ही दाखिल हुए, पर बढ़ते-बढ़ते आज वह चार-पाँच सौ बच्चोंकी संस्था बन गयी है। ढाई वर्षसे लेकर पाँच वर्षतकके बच्चे उसमें भर्ती किये जाते हैं और सात, साढ़े सात वर्षके बच्चे आगेकी पढ़ाईके लिये वहाँसे अलग कर दिये जाते हैं। कितने ही मातृहीन या पितृहीन बच्चे वहाँ शिक्षा पाते हैं और कुछ तो बिल्कुल ही अनाथ हैं! आज उस आश्रम या विद्यालयका भवन ढाई लाखमें निर्मित हुआ है। बम्बईके किसी परोपकारी इंजीनियरने लागतके मूल्यपर ही उसका निर्माण कर दिया है। उस भवनकी एक शाखाको खोलनेका सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ था।'

डाक्टर साहबकी सेवामें मैंने निवेदन किया 'क्या आपने उन महिलाके विषयमें कहीं लिखा भी है?' उन्होंने कहा—'अभी तो नहीं लिखा। आप दिल्ली चल ही रहे हैं। वहीं लिखकर आपको दे दूँगा।'

यदि कोई दूसरा देश होता तो उस तपस्विनी महिला-का विस्तृत जीवन-चरित कभीका प्रकाशित हो गया होता, पर हमलोगोंने उनका नाम भी नहीं सुना।

हमारी वे पत्र-पत्रिकाएँ, जो सैकड़ों ही उद्दीपक किस्से-कहानियाँ छाप-छापकर पाठकोंकी रुचिको विकृत किया करती हैं, क्या कभी ऐसी महिलाओंका वृत्तान्त भी छापेंगी?

और क्या इस देशमें दस-बीस ऐसे लेखक नहीं हो सकते, जो बच्चोंके साहित्यका विशेषरूपसे अध्ययन करके संसारके सर्वोत्तम दृष्टान्त हमारे बच्चोंके सामने उपस्थित कर दें। जिस देशमें नौ हजार बच्चे प्रतिदिन पैदा हो रहे हों, वहाँ उनके विषयमें उपयोगी साहित्यका प्रायः अभाव हमारी अदूरदर्शिता-को ही प्रकट करता है। जब बच्चोंके साहित्यकी बात आती है, तब सहसा हमारे मनमें कई प्रश्न उपस्थित होते हैं।

आखिर इस विषयके लेखकका दृष्टिकोण क्या होना चाहिये? उसके निजके जीवनमें कोई दर्शन है भी या नहीं? और भावी समाज-व्यवस्थाके विषयमें उसके क्या विचार हैं?

यदि हम 'गो-सभ्यता' का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं तो हमें अपने बच्चोंको गो-पूजा तथा तपोवनोंकी महिमा सुनानी होगी। पर यदि हम 'पैट्रोल-सभ्यता'के उपासक हैं तो हमें 'वनस्पति-घी' और 'ट्रेक्टरों'के गुणगान करने होंगे। ट्रेक्टरोंके हम विरोधी नहीं। उनका भी उपयोग हमें करना है; पर यदि वे गोवंशके विनाशक सिद्ध हों तो उन्हें दूरसे ही नमस्कार कर देना ठीक होगा।

निरुद्देश्य ऐरे-गैरे पचकल्यानियोंके हाथमें शिशु-साहित्यके निर्माणका कार्य नहीं छोड़ा जा सकता। हम अपने मस्तिष्क-के कपाट खुले रखना चाहते हैं। विदेशोंमें जो कुछ अच्छा कार्य बच्चोंके लिये हो रहा हो, उसे देश-काल तथा परिस्थितिके अनुसार ग्रहण करनेमें हमें कोई एतराज नहीं, पर फालतू नकल हम किसीकी भी नहीं करना चाहते। उदाहरणार्थ दससे चार बजेतकका स्कूल हमारे देशके बच्चोंके लिये सबसे अधिक हानिकारक है, पर हमलोग अभी भी लकीर-के-फकीर

बने हुए सर्द मुल्कोंकी नकल कर रहे हैं और लाखों बच्चोंके स्वास्थ्यकी भयङ्कर हानि !

हमारे देशमें बीसियों ही जाँच-कमीशन कायम होते रहते हैं । क्या छोटे-छोटे बच्चोंकी शिक्षाके विषयमें कोई कमेटी स्थापित नहीं हो सकती ?

महाराष्ट्रमें अथवा गुजरात या दक्षिणमें जहाँ-जहाँ जो कुछ कार्य इस विषयमें हो रहा हो, उसका सचित्र विस्तृत व्यौरा हमारे सामने सरल मनोरञ्जक स्फूर्तिप्रद भाषामें आना चाहिये । विदेशी बालसाहित्यके विषयमें हमारी जानकारी अत्यल्प है । उससे भी परिचित होनेकी जरूरत है । जापानकी जनतामें सौन्दर्यकी जो भावना है, उसका बीज हमें वहाँके शिशु-साहित्यमें ही मिल सकता है । सुप्रसिद्ध अंग्रेज लेखक चैस्टरटनने किसी बच्चेको एक किताब भेंट करते हुए उसपर लिखा था—

'डोन्ट बिलीव इन ऐनी थिंग दैट कैन नौट बी इलस्ट्रेटेड इन पिक्चर्स ।'

अर्थात् किसी भी ऐसी बातपर विश्वास न करो जो चित्रित न की जा सके ।

कभी-कभी हमारे मनमें आता है कि हम स्वयं उन सब स्थानोंकी तीर्थ-यात्रा करें, जहाँ बालगोपालोंके लिये कोई महत्त्वपूर्ण शिक्षा-सम्बन्धी प्रयोग हो रहे हों और उन संस्थाओं तथा व्यक्तियोंका परिचय हिंदी पाठकोंको दें । पर एक तो हम शिक्षा-विशेषज्ञ नहीं, इसलिये मनमें स्वाभाविक संकोच है और फिर समय तथा साधनोंका अभाव भी मार्गमें बाधक है । यदि कोई अन्य सौभाग्यशाली लेखक इस कार्यको अपने हाथमें ले सकें तो उनके भावी ग्रन्थका नाम-करण-संस्कार हम अभीसे कर सकते हैं—

'हमारी तीर्थ-यात्रा'

निस्सन्देह यह पुस्तक हाथों-हाथ बिक जायगी और लेखकके लिये यश, पुण्य और धन तीनोंकी प्राप्ति करायेगी । और इन सबके ऊपर होगा सहस्रों माता-पिताओंका आशीर्वाद !

लेख समाप्त करनेके बाद हमें खयाल आया, फ्रान्सके सुप्रसिद्ध साहित्यिक स्व० रोम्यां रोलाँके एक प्रस्तावका, जो उनके फोर रनर्स (अग्रगामी) नामक ग्रन्थमें प्रकाशित हुआ था । रोम्यां रोलाँने ऐसी अन्ताराष्ट्रिय पाठ्य-पुस्तकोंके निर्माणकी बात कही थी, जो संसारके बालकोंको प्राथमिक शिक्षाके कालमें पढ़ायी जा सके । यदि जगत्में शान्ति स्थापित करनी है तो इस प्रकारकी रीडर्स तैयार करके हमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनाको पुष्ट करना होगा ।

संसारको रहनेयोग्य बनानेके लिये हमें क्या-क्या करना है—इसका नकशा हमारे बच्चोंके सम्मुख रहना ही चाहिये । इस विषयमें प्रतिभाशाली कवि जबरदस्त काम कर सकते हैं । वे कल्पित स्वर्गका चित्र हमारी आँखोंके सामने खींच सकते हैं । अपने बालक-बालिकाओंके सामने हमें एक लक्ष्य रखना है और उन्हें स्पष्ट भाषामें यह भी बताना है कि वे उसकी पूर्तिके लिये किस प्रकार अग्रसर हों ।

जनक और जननीसे

(रचयिता—श्रीबद्रीप्रसादजी गुप्त 'आर्य')

इतना दुलराओ बालकको, हो अनुशासन-हीन नहीं,
इतना प्यार करो, हो जिससे, निष्क्रिय,कर्म-विहीन नहीं,
इतना सुख दो, जितनेसे कर सके बुद्धिका वह विस्तार—
हो न कभी मतिमंद आलसी, उपजे शुद्ध-विवेक-विचार।

इतना मुक्त करो, जितनेसे, स्वतंत्रताका अनुभव हो,
इतनी दो न मुक्ति, जिससे उच्छृंखलताका उद्भव हो,
इतना प्रेम दिखाओ, जितनेसे अपना सम्मान रहे,
इतनी करो ताड़ना, जिससे उसमें हठ न गुमान रहे ।

वह डालो संस्कार, कि जिससे पुण्यात्मा सद्ज्ञानी हो,
वर्चस्वी, वाग्मी, विवेकी, वीर, धीर बलिदानी हो,
मात-पिताका आज्ञाकारी, गुरु-चरणोंका भक्त रहे,
धर्म, स्वजाति, राष्ट्र-सेवामें, जीवनभर अनुरक्त रहे ।

ऐसी दो प्रेरणा, कि जिससे नित बढ़नेका ही क्रम हो,
ऐसा दो विश्वास, कि प्राणोंमें दृढ़ता हो, संयम हो,
चाहे जिधर मोड़ लो, कोमल सलिलधार-सा बालक-मन,
जनक और जननीपर निर्भर, बालकका उत्थान-पतन ।

विद्यालाभके लिये अनुष्ठान

सरस्वती देवी विद्याकी अधिष्ठात्री देवता हैं। विद्यालाभके लिये सरस्वतीकी आराधना आवश्यक है। सरस्वतीकी आराधनासे, कई लोगोंको विलक्षण बुद्धि तथा प्रज्ञासम्पन्न होते देखा-सुना गया है। एक जैनी विद्वान्ने बतलाया था कि उनके एक सम्मान्य आचार्य सरस्वती देवीकी उपासनासे शतावधानी हो गये थे। यहाँ सरस्वतीकी प्रसन्नतासे विद्यालाभके लिये कुछ प्रयोग लिखे जाते हैं। ये प्रयोग कुछ महानुभावोंके द्वारा अनुभूत हैं—

(१)

ब्राह्मी-प्रयोग

माघ शुक्ल १३ को सन्ध्याके समय ब्राह्मीको निमन्त्रण दे आवे। निमन्त्रणके समय—

'ॐ कुमाररञ्जनायै नमः' इस मन्त्रको २१ बार पढ़कर शुद्ध धोये हुए चावलोंसे ब्राह्मीके एक बहुत छोटे-से पेड़को घेर दे। रात्रिको पवित्रतासे कुशासनपर या कम्बलपर सो रहे। चतुर्दशीको प्रातःकाल चार बजे ब्रह्मवेलामें उठकर बिना किसीसे कुछ बोले चुपचाप जाकर ब्राह्मीके निमन्त्रित पेड़को **'ॐ ऐं बुद्धिवर्द्धिन्यै नमः।'**—इस मन्त्रको २१ बार पढ़कर जड़से उखाड़ ले। तदनन्तर उसे बड़ी खरलमें डाल-डालकर **'ॐ ऐं ह्रीं ब्राह्म्यै नमः'** मन्त्रको २१ बार पढ़कर पीस ले और उसका रस निकालकर छानकर किसी शुद्ध बर्तनमें रख ले। तदनन्तर गङ्गातटपर जाकर **'ॐ ऐं ह्रीं श्रीं वाग्वादिनि सरस्वति मम जिह्वाग्रे वद वद मां सर्वविद्यां देहि देहि स्वाहा।'**

इस मन्त्रको १०८ बार जपे। पश्चात् जलमें प्रवेश करके नाभिके ऊपरतक जलमें खड़ा होकर 'सरस्वती देवीकी कृपासे मुझे अवश्य विद्याकी प्राप्ति होगी' मनमें ऐसा निश्चय करके उस ब्राह्मीके रसको पी जाय।

(२)

जिह्वापर लिखनेकी विधि

आषाढ़ मासमें जब उत्तराषाढ़ा नक्षत्र हो, तब—

'ॐ ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं वाग्वादिनि सरस्वति मम जिह्वाग्रे वद वद ॐ ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं नमः स्वाहा।'

इस मन्त्रको १०८ बार दिनमें जप ले। फिर रात्रिके समय ११ बजेसे १२ बजेके भीतर-भीतर जीभपर लालचन्दनसे 'ह्रीं' मन्त्र लिख दे। जिसकी जीभपर यह मन्त्र इस विधिसे लिखा जायगा, वह बहुत बड़ा विद्वान् होगा।

(३)

विद्याप्राप्तिके लिये सिद्ध हयग्रीवमन्त्रके साथ गुडुच्यादिप्रयोग

गुरुचि, अपामार्ग, वायविडंग, शंखिनी, ब्राह्मी, वच, सोंठ और शतावरी—इन सबको बराबर-बराबर लेकर उसका चूर्ण करे, तदनन्तर गोघृतमें मिलाकर उसकी आठ-आठ आनेभरकी ४४ गोलियाँ बनाकर रख ले और—

ॐ ऐं ह्रीं ह्रौं हयग्रीवाय नमो मां विद्यां देहि देहि बुद्धिं वर्द्धय वर्द्धय हुं फट् स्वाहा।

इस मन्त्रको प्रतिदिन १०० बार पढ़कर, मनमें विद्या-बुद्धिकी प्राप्ति और वृद्धिका विश्वास करके एक गोली खा ले।

इस युगका चिह्न

इस युगका चिह्न यह है कि मनुष्य अपने स्वार्थको आगे न रखकर सिद्धान्तको आगे रक्खे। पर सिद्धान्तका मतलब है स्वार्थवाद। सिद्धान्तवादका विचित्र लक्षण यह है कि जिसे वह खुद मानता है, उसे ही सिद्धान्त कहता है; और जिसे दूसरा मानता है, उसे वह सिद्धान्त नहीं कहता।

इस युगका यह भी एक चिह्न है कि मनुष्य करता तो है अपनी धारणाके अनुसार लेकिन बहाना करता है समाजहितका। समाजहितवाद अर्थात् व्यक्तिवाद। इसका विचित्र लक्षण यह है कि जिसे वह समाजहित कहता है उसके अलावा सब-कुछ समाजविरोधी है। दूसरे शब्दोंमें समाज अर्थात् व्यक्ति।

—स्व० गिजुभाई

माता-पिता तथा शिशु-संरक्षण

(लेखक—श्रीरामनारायणजी दुबे 'साहित्य-रत्न')

हिंदू-संस्कृतिमें मनुष्यके लिये धर्मानुकूल पुत्रोत्पादनके द्वारा 'पितृ-ऋण'से उऋण होकर सदाचारका आचरण करते हुए मोक्षको प्राप्त करना प्रधान कर्त्तव्य माना गया है।

वेद भगवान्—

'क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे'

(ऋक्संहिता १० । ८५ । ४२)

'पुत्र-पौत्र, धेवते-धेवतियोंके साथ घरमें आमोद-प्रमोद करते हुए रहनेकी आज्ञा देते हैं।'

संसारके सभी लौकिक व्यवहार पुत्रको ही प्रधान बनाकर चलते हैं। तृप्ति, संतोष, प्रीति, बल, सुख, जीविका, धनोपार्जन, वंश-विस्तार, कुल-कीर्ति-यश, लोक-परलोक—अभिप्राय यह कि सुखके प्रयोजनसे किये जानेवाले सभी कार्य प्रायः पुत्रके लिये ही होते हैं।

पुत्र भारतीय गृहस्थाश्रमका प्रधान पदार्थ है। पुत्र ही पिण्डदाता और पुत्र ही जनक-जननीके परम सुखका कारण है। निःसंतान दम्पतिके नीरस जीवनमें सजीवता लानेके लिये यही शक्ति है। नारीका पत्नीरूपसे अधिक महत्त्वपूर्ण और गौरवशाली स्वरूप उसके 'मातृत्व'में है। स्मृतिकारोंके मतमें 'माता' सबसे बढ़कर है।

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(मनु० २ । १४५)

'एक आचार्य गौरवमें दस उपाध्यायोंसे बढ़कर है, एक पिता सौ आचार्योंसे उत्तम है एवं एक माता एक सहस्र पिताओंसे भी श्रेष्ठ है।'

स्त्री चाहे कितनी ही अबला एवं कुरूपा हो, किंतु माताके रूपमें उसका सर्वोत्कृष्ट रूप दिखायी देता है। संतानको नौ-दस महीने गर्भमें धारण करने एवं विविध कष्ट सहकर भी उसका पालन-पोषण करनेके कारण माताकी पदवी सबसे ऊँची है।

भारतके वीर पराक्रमशाली पुरुषों, वीर-क्षत्राणियों तथा अभिमन्यु-जैसे वीर बालकोंको जन्म देनेका श्रेय प्राचीन भारतीय माताओंको ही है। कहा भी है—

माता जने, तो दो जने, कै दाता कै सूर।
नहिं तौ रहिहै बाँझ ही, घटै न मुखको नूर॥

गोस्वामी तुलसीदासजीने भी सुन्दर शब्दोंमें प्रशंसा की है—

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥

'संतान' शब्दमें जो पवित्र और उन्नतिके भाव निहित हैं, उस प्रकारकी संतान पैदा करना वास्तवमें परम पुण्य है।

संतान-उत्पत्तिके लिये पहले समयमें बड़े-बड़े विचार होते थे, पुत्रेष्टियज्ञ किये जाते थे; पर अब वे कुछ भी नहीं किये जाते। कामवश होकर लोग अंधाधुंध दर्जनों बरसाती मेढकोंकी तरह निरुपयोगी, हतवीर्य, अकर्मण्य, देशको कलङ्कित करनेवाली, प्रायः विकलाङ्ग, मूढ़, विकृत-मस्तिष्क, अन्य दोषोंसे युक्त, नित्य नये रोगोंसे पीड़ित, पिंजरावशेष तथा मृत्युके मुखमें जानेवाली संतान उत्पन्न कर भारतकी बाल-मृत्यु-संख्याको बढ़ा रहे हैं। उनकी संरक्षिका माताएँ दुबली-पतली, जर्जरित एवं कई रोगोंसे ग्रसित दृष्टिगोचर हो रही हैं। इसका एक प्रधानतम कारण माता-पिताका अज्ञानसे संतान उत्पन्न करना है तथा संतान उत्पन्न करनेके पश्चात् पुनः गलतीकर अपने-अपने कर्त्तव्यों-को भूलकर अज्ञानसे शिशुका लालन-पालन तथा उसकी चिकित्सा आदि न करना है।

अतः माता-पिता तथा संरक्षकका कर्त्तव्य है कि वे शास्त्रोक्त विधिके अनुसार सर्वभावसे शिशुकी रक्षा करें।

सेवक सुत पितु मातु भरोसे। रहै असोच बनै प्रभु पोसे॥

मानवजातिका सार धन शिशु हैं। शिशु राष्ट्रकी होनहार सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति हैं। इनके लालन-पालनमें बहुत ही सतर्क रहनेकी आवश्यकता है। शिशुकी रक्षा करना संतति-परम्पराकी रक्षा करना है।

आजके बच्चे ही कलके राष्ट्रके कर्णधार हैं। उन्हींपर जाति, समाज, देश एवं राष्ट्रकी उन्नति निर्भर है। वे ही राष्ट्रके भावी स्तम्भ हैं; अतः उनकी प्रसन्नता, स्वास्थ्य, शिक्षा, विचार-धारा आदिका ध्यान रखना चाहिये। और

उनकी क्रमोन्नति तथा रक्षाके निमित्त दम्पतिको प्रतिदिन ईश्वर-प्रार्थना करनी चाहिये।

प्रसव-काल

लगभग बालक ९ महीने १० दिनके करीब माताके गर्भमें रहता है, परंतु बालक और माताकी परिस्थितिके कारण इस अवधिमें कभी कमी-बेशी हो जाया करती है। शुद्ध शुक्र और आर्तवसे उत्पन्न शिशु ही नीरोग रह सकता है। इससे भिन्न अवस्थामें बालक उत्पन्न हो तो वह अल्पायु तथा जन्मसे लेकर मरण-पर्यन्त रोगी ही रहता है।

नवाँ महीना लगते ही सुविधाजनक स्थानमें आवश्यक सामान तथा साधनोंसे युक्त घरको 'प्रसूतिका-गृह' नियुक्त करना चाहिये। वहाँकी भूमि शुष्क होनी चाहिये। आर्द्र और क्लेशयुक्त भूमिसे बड़ी हानि होती है। प्रसूतागारमें प्रकाश और वायुका प्रबन्ध प्रसूता स्त्री और नवजात शिशुके लिये होना आवश्यक है; किंतु वायुका उपसर्ग, जहाँ प्रसूता स्त्री तथा बालक लेटते हैं, कदापि नहीं होना चाहिये।

सूतिकागृह बनानेके लिये पूर्वकी ओर द्वारवाला कमरा पसंद करना चाहिये। अपने मकानके भीतर स्वच्छ-साफ, वायु-प्रवेशक कमरा हो, जो तूतिया डालकर कलईसे पुतवाया गया हो और उसकी धरती फिनायल डालकर धुलवा दी गयी हो। उसे कपूर, लोहबान, गंधककी धूनी देकर कीटाणु-रहित बना देना चाहिये।

प्रसूतिका-गृहमें, जहाँतक हो सके, महान् पुरुषों और देवताओंके चित्र लगे होने चाहिये। उसमें उत्तम चारपाई, जिसमें खटमल इत्यादि न हों, प्रसूता होनेके पहले ही तैयार रहनी चाहिये। साथ ही अन्य आवश्यक सामग्रियाँ भी रहनी चाहिये। प्रतिवर्ष २० लाख बच्चे तो प्रसूतिका-गृहकी भेंट हो जाते हैं। कभी-कभी प्रसव-दुःखसे स्त्रियाँ प्रायः मरतक जाती हैं, जिससे दोनों जीवोंकी हानि होती है।

शिशु-जन्म

प्रसववेदनाके प्रारम्भसे ही प्रथमावस्था शुरू होती है। इसी समय ऐसी अनुभवी दाईको बुलावे, जो अपने कार्यमें दक्ष हो, किसी रोगसे संक्रामित न हो। जच्चा-से स्नेह और मधुर वचनोंसे बोले और उसको धैर्य बँधावे। दाईके नाखून आदि भलीभाँति कटवा देने चाहिये तथा उसके हाथ भी साबुनसे धुलवा देने चाहिये।

दाईके अतिरिक्त घरकी एक या दो चतुर स्त्रियोंका, जिन्होंने बहुत स्त्रियोंको प्रसव करवाया हो; जो मैत्रीकुशल, निरन्तर अनुरागवाली, प्रेम रखनेवाली, प्रसूताके लिये अनुकूल आचरण करनेवाली, कर्ममें दक्ष, कुशल, इशारेसे समझनेवाली, स्वभावसे प्रिय, विवादरहित, धैर्यवती और सेवा-परायण हों, प्रसूतिके पास परिचर्याके लिये उपस्थित रहना अत्यन्त आवश्यक है।

जहाँतक हो वे स्त्री प्रसूताकी मा या स्नेह-सम्बन्धिनी हों और दो-चार बच्चोंकी माता हों जो कि प्रसूताको हरसमय प्रसन्न रख सकें और धैर्य दे सकें। बहुत-सी स्त्रियोंकी भीड़ वहाँ इकट्ठी नहीं होनी चाहिये। विरोधी भावकी या द्वेष रखनेवाली स्त्रीका वहाँ न रहना ही श्रेयस्कर है। इस समय, प्रसव-विशेषज्ञ चिकित्सककी उपस्थिति भी उत्तम है।

गर्भसे शिशुके बाहर आते ही धीरे-धीरे उसे तुरंत पोंछ-कर उसके मुख एवं नासिका आदिसे, महीन धुली हुई मलमलके टुकड़ेसे अँगुलीके सहारे, श्लेष्मा आदि पदार्थ हटाकर उनको साफ कर देना चाहिये। फिर घीके सहारेसे मलस्थानको भी साफ कर दें, यदि इस कार्यमें तनिक भी भूल हो जाय तो शिशुके जीवन-मरणका प्रश्न आ उपस्थित हो जाता है। इसके पश्चात् विधिवत् शास्त्रोक्त क्रियानुसार नालोत्कर्तन करें।

बहुत-सी स्त्रियाँ तथा अन्य मित्र दस-बारह दिनोंतक रात्रिको जागरण करते हुए प्रसूता एवं नवजात शिशुकी रक्षामें तत्पर रहने चाहिये। इस कालमें घरमें स्तुति, गीत, वादित्र होते रहने चाहिये। घर खाद्य-पदार्थोंसे परिपूर्ण, इष्ट-मित्रोंसे युक्त रहे तथा अथर्ववेदके ज्ञाता ब्राह्मणोंको वहाँपर मङ्गलार्थक शान्तिहोम दोनों समय करते रहना चाहिये।

शिशु-जातकर्म

मेधाजनन क्रियाके पश्चात् नवजात शिशुको विषम मात्रा मधु और घृतमें $\frac{1}{2}$ रत्ती स्वर्णभस्म मिलाकर चटा देनी चाहिये।

महर्षि दयानन्द सरस्वतीने लिखा है कि पिता संतानके कानमें 'वेदोऽसीति' अर्थात् तेरा नाम वेद है, सुनाकर घी और शहदको लेकर सोनेकी शलाकासे जीभपर 'ॐ' अक्षर लिखकर चटावे।

कहीं-कहीं ग्रन्थोंमें दाहिने हाथकी अनामिका अँगुली-के अग्र भागमें मधु और घृतके साथ घिसा हुआ स्वर्ण लगा-

कर शिशुको जीभमें लगानेका विधान मिलता है। कहीं-कहीं ऐसा लिखा है कि बालककी जिह्वा तथा ललाटमें मोरपङ्खके सिरेसे ब्राह्मी, घृत और शहदसे 'ॐ' शब्द लिख दें। स्वर्णसे घिसे हुए घृत और मधुको संतानकी जिह्वापर लगानेमें अनेक गुण हैं। स्वर्ण वायु-दोषको शान्त करता है, मूत्रको साफ करता है तथा रक्तकी ऊर्ध्व गतिके दोष-को शान्त करता है। घृत शरीरमें तापको बढ़ाता है, बलकी रक्षा करता है और खुलासा दस्त लाता है। मधु मुखमें लारका संचार करता है, पित्तकोषकी क्रियाको बढ़ाता है और कफ-दोषको दूर करता है अर्थात् वह वायु-दोषको शान्त करनेकी, गलनलिका, उदर और आँतोंको सरस बनानेकी तथा सरलतासे मल-मूत्र निकालने और कफको कम करनेकी क्रिया है।

डाक्टर लोग भी सद्योजात शिशुके लिये मधुमिश्रित रेंडीके तेलकी व्यवस्था करते हैं, किंतु एरंड-तैलकी अपेक्षा स्वर्णसंयुक्त मधु-मिश्रित घृत अधिक उपकारी होता है।

इस संस्कारके द्वारा उपपातक अर्थात् पितृ-मातृ-शरीरज कई एक दोषोंका नाश भी होता है, ऐसा आर्यशास्त्रका सिद्धान्त है।

दुग्ध

स्तनपान कराते समय यदि बालकका मुख पूर्वकी ओर हो तो अच्छा है। शिशुकी माता दाहिना स्तन गरम पानी-में धोकर शिशुको दुग्ध पिलाये, जब दुग्ध पिलाये तब पहले थोड़ा-सा पृथ्वीमें गिरा दे, क्योंकि ये प्रथम बूँदें बालकको हानि करती हैं। इसी प्रकार बायें स्तनको भी धोकर दुग्ध पिलाये। जन्मके छः या आठ घंटे पश्चात् शिशुको स्तनपान कराना चाहिये।

स्तन पिलानेके पूर्व निम्नाङ्कित मन्त्र बोलना आवश्यक है—

चत्वारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिनः।
भवन्तु सुभगे नित्यं बालस्य बलवृद्धये॥
पयोऽमृतरसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने।
दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राश्यामृतं यथा॥

जब दुग्ध पिला चुके, तब स्तनोंको धो-पोंछ डाले। इससे स्तन फटते नहीं हैं। बच्चोंके मुँहको भी धोकर स्वच्छ कर दें।

चालीस दिनतक शिशुको दो-दो घंटेके अन्तरसे दूध पिलावें, इसमें जल्दी नहीं, जैसे कि बहुधा मूर्ख स्त्रियाँ किया करती हैं।

माताके लिये शिशुको बैठकर और घुटनोंको ऊँचा करके या लेटकर, कुहनी टेककर दुग्ध पिलाना चाहिये। दुग्ध पिलाते समय स्तनोंका सम्पूर्ण भार शिशुके मुखपर न हो, इस बातका ध्यान रखना चाहिये। खड़े-खड़े चलते-चलते या छातीपर लिटाकर बच्चेको दूध कभी नहीं पिलाना चाहिये।

सच्चा प्रेम रखनेवाली कुलवती माताका दुग्ध संतानका भावी जीवन श्रेयस्कर बनानेके लिये कल्याणकारी एवं अमृत-तुल्य होता है। जो इस अमृतसे शिशु-जीवनमें वञ्चित रहता है वह बड़ा अभागा है। जिस शरीरसे शिशुकी उत्पत्ति होती है, उस शरीरका सार-रस दुग्ध ही है। अन्य किसी नीच कुलकी स्त्री, धाय या डब्बेका दुग्ध तथा पशुका दुग्ध लाभदायक नहीं हो सकता। अतः अत्यावश्यक स्थितिके बिना बच्चेको और कोई दुग्ध पिलाना बहुत हानिकर है।

माताके दुग्धमें जीवनीका प्रचुर परिमाणमें होना आवश्यक है। इसलिये माताके खाद्यमें भी——फल, ताजा दुग्ध, मक्खन आदि होना चाहिये। खाद्यकी कमीके कारण ही बहु-शिशु-मृत्यु होती है।

माताके दुग्धसे अस्थि जितनी दृढ़ होती है, अन्य दुग्धसे उतनी दृढ़ नहीं हो सकती। शरीरका निर्माण अस्थि-पर ही निर्भर है एवं बल, बुद्धि, आयु आदि सब अस्थि-पर ही आश्रित हैं। बच्चेके लिये अपनी माका दूध ही उत्तम और पौष्टिक भोजन है, परंतु मातृ-दुग्धका प्रचुर-मात्रामें निकलना एवं शुद्ध होना नितान्त आवश्यक है। दुग्ध पिलाते समय निम्नलिखित बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये——

१—अपने शिशुको, मन्त्रोंसे पवित्र कर एकान्तमें, आँचलकी ओटकर, प्रसन्न-चित्तसे दुग्ध पिलाना चाहिये।

२—दुग्ध पीते समय शिशुको पूर्ण आराम मिलना चाहिये।

३—शिशुका नासामार्ग खुला रहना चाहिये ताकि श्वसन-कार्यमें बाधा न उत्पन्न हो।

४—दुग्ध पिलानेके बीचमें तीन-चार बार शिशुको उठाकर थपथपा देना चाहिये ताकि दुग्धके साथ गयी हुई वायु डकार या नीचेके मार्गसे निकल जाय।

५—जब बालककी माके सिरपर क्रोधका भूत चढ़ा हो, तब वह बालकको दुग्ध न पिलावे। क्रोधके समय स्त्रीका दुग्ध

विषके समान होता है। क्रोधके समय माताका दुग्ध पिलानेसे बच्चे भयानक रोगोंमें ग्रसित हो सकते हैं।

६–दुग्ध पिलानेवाली माताको गरिष्ठ एवं अपथ्यकर भोजन न स्वयं करना चाहिये और न बच्चेको ही कराना चाहिये।

७–मासिकधर्मके समय माताको न तो बालकको दुग्ध-पान कराना चाहिये और न उसके साथ अधिक सम्पर्क ही रखना चाहिये।

८–जबतक बच्चेके पूरे दाँत न आ जायँ, तबतक माताको सदाचारिणी रहकर शिशुको दुग्ध पिलाना चाहिये। स्तन-पान-अवधिके भीतर यदि माता-पिताका समागम होगा तो दुग्धमें विकार उत्पन्न होगा और बच्चेके स्वास्थ्य और आयुका ह्रास होगा।

९–यदि कभी स्तन-पान-अवधिके भीतर पुरुष-प्रसङ्ग हो ही जाय तो उस समयसे एक पहर (३॥ घंटा) पीछे अपने स्तनोंमेंसे कुछ दुग्ध निकालकर, धरतीपर डालकर बालकको दुग्ध पिलाये—ऐसा करनेसे दूषित दुग्ध निकल जाता है।

पूतना-व्याधि में भी बालक निम्नलिखित कारणोंसे फँस जाते हैं, जैसा कि विद्वान् आचार्य लेखकोंने लिखा है—

१०–जो स्त्री सोते समय बालककी ओर पीठ देकर सोती है, वहीं मैथुन कराती है और फिर निज बालकको दुग्ध पिलाती है, उसका बालक उपर्युक्त व्याधिका शिकार हो जाता है।

११–माताको कुमार-भरण-कालमें कम-से-कम चार-पाँच वर्षतक मैथुन-कर्मसे विरत रहकर ब्रह्मचारिणी रहना चाहिये। साथ ही मैथुनी रोगों (Venereal diseases) के परिणामोंसे भी परिचित रहना चाहिये।

१२–गर्भावस्थामें माताको गोदके बालकको स्तनपान नहीं कराना चाहिये। इससे 'पारगर्भिक' रोग हो जाता है। उसकी निवृत्तिके लिये माताको पुनः गर्भिणी होते ही गोदके बालकका दुग्धपान बंद कर देना चाहिये।

१३–माताको बालकके प्रति पूर्ण, शुद्ध, किंतु खाने-पिलानेमें मर्यादित प्रेम रखना चाहिये। नियमानुवर्तिनी माताओंके बालक अनुशासनप्रिय, स्फूर्तियुक्त (alert) स्वस्थ और स्वच्छ (neat and tidy) मिलते हैं।

एक संतानके पश्चात् दूसरी संतानकी उत्पत्तिमें अन्तर

गृहस्थको एक संतानके बाद दूसरी संतानकी उत्पत्तिमें कम-से-कम पाँच वर्षका अन्तर आवश्यकरूपसे रखना चाहिये। अन्यथा संतान दुर्बल, विकलाङ्ग एवं अल्पायु होगी। माता-पिताका भी स्वास्थ्य नष्ट होगा। अधिक संतान, यदि वे अयोग्य हों, तो भारस्वरूप होंगी। योग्य कम संतान भी गार्हस्थ्यको उज्ज्वल बना सकेंगी। जैसे कि एक चन्द्रमासे सारा जगत् प्रकाशित होता है, किंतु लाखों तारोंसे भी प्रकाशित नहीं होता।

प्राचीन समयमें, माताओंके करीब पाँच-पाँच वर्षके बाद संतान हुआ करती थी। इस पाँच वर्षके अन्तरके कारण वे दीर्घजीवी, बलवान् और बुद्धिमान् हुआ करती थीं; और गोदीवाले बच्चेको विकाररहित और पुष्टिकारक दूध भी तभी मिलता था। साथ ही माताओंका शरीर भी नीरोग रहता था।

कम-से-कम तीन वर्षकी आयुके पहले दूसरे बच्चेका जन्म हो तो वह शिशु और माताके लिये मृत्युके बराबर है।

दन्त और प्रचलित किंवदन्ती

शिशुके दाँतोंके विषयमें ऐसी किंवदन्ती प्रचलित है कि यदि शिशु सदन्त उत्पन्न हो, अथवा पैदा होते ही उसके दाँत निकल आयें तो उसे राक्षस जानना चाहिये। कहते हैं कि उसकी माता शीघ्र ही मर जाती है। प्रथम, द्वितीय अथवा तृतीय मासमें दाँत पैदा हों तब वह 'यमराज' होता है। उसका पिता शीघ्र ही मर जाता है। चतुर्थ मासमें दाँत पैदा हों तो उसका भाई मर जाता है। पाँचवें मासमें दाँत पैदा होनेसे माता और भाईकी मृत्यु होती है। छठे मासमें दाँत पैदा होनेसे बालकके नौकर तथा गुरु दुखी होते हैं। आठ माससे लेकर चौदह मासतककी उम्रमें दाँत पैदा होना गुणकारी एवं शुभ माना जाता है।

नीचेके दाँत ऊपरके दाँतोंसे पहले निकलते हैं। दूधके दाँत १॥ वर्षसे २॥ वर्षतक निकलते हैं। एक वर्षके बच्चेके लगभग ६ दाँत, डेढ़ वर्षके बच्चेके लगभग १२ दाँत, दो वर्षके बच्चेके लगभग १८ दाँत, ढाई वर्षके बच्चेके लगभग २० दाँत होते हैं। छठे वर्षमें प्रायः २८ दाँत होते हैं। युवावस्थामें प्रायः ३२ दाँत होते हैं।

महर्षि कश्यपने दाँतोंकी संख्या ३२ बतायी है; किंतु

३२ की संख्या सर्वत्र निश्चित नहीं है। संसारमें प्रायः २८–३०–३२ तीन प्रकारकी संख्यामें दाँत दृष्टिगोचर होते हैं।

वाग्भटमें लिखा है—

पृष्ठभङ्गे बिडालानां बर्हिणां च शिखोद्गमे।
दन्तोद्भवे च बालानां न हि किञ्चिन्न शूयते॥

बिल्लीकी पीठ टूटनेमें, मोरोंकी शिखाके उपजनेमें और बालकके दाँत निकलनेमें सम्पूर्ण देहमें पीड़ा होती है।

जितने मासोंमें दाँतोंका निषेचन होता है, उतने ही दिनोंमें उनका उद्भव होता है। इसी प्रकार उत्पन्न हुए दाँत जितने मासमें उत्पन्न होते हैं, उतने ही वर्षोंमें उनका पतन होकर फिर पुनरुद्भव होता है।

शिशुका वजन तथा शिशु-सम्बन्धी प्रत्युत्पन्न ज्ञान

रोगरहित बच्चोंका, जो कि स्वस्थ माताका विकार-रहित दूध पीते हैं, वजन आयुके अनुसार नियमित हो सकता है जो प्रायः निम्नलिखित 'हाल्ट' नामक विद्वान्द्वारा प्रदत्त और शेल्डनद्वारा उद्धृत तालिकासे जाना जा सकता है।

आयु	वजन (पौंडोंमें)	ऊँचाई (इंचोंमें)
जन्मके समय	७	२०
१ वर्ष	२१	२९
२ वर्ष	२८	३३
३ वर्ष	३३	३७
४ वर्ष	३७	४०
५ वर्ष	४१	४१
६ वर्ष	४५	४४
७ वर्ष	४९	४६
८ वर्ष	५५	४८
९ वर्ष	६१	५०
१० वर्ष	६७	५२
११ वर्ष	७३	५४
१२ वर्ष	७९	५६

प्रत्येक माता-पिता तथा अभिभावकका यह मुख्य कर्तव्य है कि वह अपने शिशुकी गतिविधियोंपर तथा शारीरिक एवं मानसिक व्यापारोंपर पूर्ण निगरानी रक्खे और उसे देश तथा समाजके लिये उपयोगी बननेमें अधिकाधिक प्रेरक बने।

विद्वान् लेखकोंद्वारा निर्धारित ज्ञातव्य तथा शिशु-अवस्थाके विविध पहलुओंका अध्ययन

१–तीन मासकी आयुमें बालक अपने सिरको साध सकता है और दोनों नेत्रोंकी सहक्रिया (Conjugate movement of the eyes) स्थिररूपसे प्रकट होने लगती है।

२–चार मासतक बालकके रोनेमें आँसू नहीं निकलते। यदि पाँचवें मासमें आँसू न निकलें तो उस बालकको रोगी जानना चाहिये।

३–छः मासकी वयमें बालक बिना किसी सहारेके बैठ सकता है तथा उसकी वस्तुओंका ज्ञान भी पक्का होने लगता है।

४–नौ मासकी आयुसे वह पैरोंके बल घिसटने लगता है।

५–एक वर्षका बालक खड़ा होने लगता है तथा छोटे-छोटे शब्दों (Monosyllabic words) का उच्चारण कर सकता है।

६–सवा वर्षका बालक सरलतासे दौड़ सकता है और छोटे-छोटे सरल शब्दोंका उच्चारण कर सकता है।

७–दो वर्षकी अवस्थामें उसे कुछ बोलना आना ही चाहिये।

८–तीन वर्षमें, बालक पूर्ण बोलना, जो कि मनुष्यका सर्वश्रेष्ठ गुण है, सीख लेता है।

९–पाँच वर्षके बाद, बच्चे विद्यारम्भ करने योग्य हो जाते हैं। यह पाँच वर्ष ही शिशु-जीवनकाल है।

शिशु-पालन

शिशु-रक्षा एक कला है। बिना इस ज्ञानके जो बालक आजकल हमारे देशमें पाले जाते हैं, वे केवल पशु-श्रेणीका जीवन-निर्वाह करनेयोग्य होते हैं।

आयुर्वेदीय ग्रन्थोंमें बालग्रह—स्कन्द, पूतना, अठारह प्रकारके देव-दैत्य, गन्धर्व, यक्ष, ब्रह्मराक्षस आदिसे रक्षा करनेके लिये तेल, धूप, बलि, स्नान, मन्त्रोपचार तथा धारणीय ओषधियोंका प्रयोग लिखा है। प्राचीन समयमें सुयोग्य माताएँ उनका यथार्थरूपसे पालन करती थीं। वर्तमान समयमें, आजकी

नारियाँ, शिशु-संरक्षणकला तथा शिशु-पालनके लिये शतांशमें एकांश भी नहीं जानतीं । यह बड़े खेदकी बात है ।

माता बननेके पहले ही, प्रत्येक नारीको, देशके भावी कर्णधारोंके पालन-पोषणका शास्त्रोक्त ज्ञान होना अनिवार्य है । शिशुरक्षा करना संततिकी परम्पराकी रक्षा करना है ।

शिशु-संरक्षणमें ज्ञातव्य

प्रथम मासमें शिशुको अन्य लिखित कार्योंके अतिरिक्त प्रभातमें सूर्योदयका दर्शन तथा रात्रिमें चन्द्र-दर्शन अवश्य कराना चाहिये ।

अथ खलु शिशोर्जातस्य तत्त्वकर्मण्यभिनिवृत्ते प्रथम एव मासि कृतरक्षाहोममङ्गलस्वस्त्ययनस्य सूर्योदयदर्शनोपस्थानं प्रदोषे चन्द्रमसः । (कश्यपः)

१–सूर्योदयका महत्त्व आजके विद्वान् समझते हैं । बाल-सूर्यकी रश्मियोंमें प्रमुख नीललोहितातीत किरणें शिशुके चर्ममें प्रवेश करके शिशुकी अस्थियोंके पोषक तत्त्वका निर्माण करती हैं ।

२–चतुर्थ माससे शिशुको अन्तर्गृहसे बाहर लाना चाहिये और सर्वप्रथम देवमन्दिरमें ले जाना चाहिये ।

चतुर्थे मासे स्नातालंकृतस्याहतवाससा ....
धात्र्या सहान्तर्गृहनिष्क्रमणं देवतागारप्रवेशनं च ।

३–छठे मासमें बालकको बिठानेका मुहूर्त करना चाहिये। अधिक देरतक बिठानेका निषेध है ।

उपलिप्ते शुचौ देशे शस्त्रतोयाग्निवर्जिते ।
उपविष्टं सकृच्चैनं न चिरात् स्थापयेद्बुधः ॥
स्तैमित्यं कटिदौर्बल्यं पृष्ठभङ्गः श्रमो ज्वरः ।
विण्मूत्रानिलसंरोधाध्मानं चास्युपवेशनात् ॥

(कश्यपः)

लिपे हुए पवित्र स्थानमें—जहाँ कोई शस्त्र, जल अथवा अग्नि न हो—बुद्धिमान् पुरुष बालकको एक बार बिठा दे, परंतु अधिक देरतक बिठाया न रक्खे । अधिक देरतक बिठाये रखनेसे शरीरके अकड़ जाने, कमरका भाग दुर्बल हो जाने, रीढ़की हड्डी टेढ़ी हो जाने, थकावट आ जाने, ज्वर हो जाने, टट्टी-पेशाब और श्वासके रुक जाने अथवा पेट फूल जानेका डर रहता है ।

४–छठे मासमें ही शिशुको विविध फलोंका प्राशन करवानेका भी विधान है ।

तस्मिन्नेव मासि विविधानां फलानां प्राशनम् ।

५–दाँत निकल आनेपर दसवें मासमें अन्नप्राशन कराना चाहिये; क्योंकि—

यथा सुराणाममृतं नागेन्द्राणां यथा सुधा ।
तथान्नं प्राणिनां प्राणमन्नं चाहुः प्रजापतिम् ॥

जैसे देवताओंके लिये अमृत एवं नागपतियोंके लिये सुधा है, वैसे ही मनुष्योंके लिये अन्न ही प्राण है । अन्नको ही प्रजापालक कहा गया है ।

माता-पिताका कर्तव्य

१–बच्चोंका अस्वस्थ होना माता-पिताके अज्ञान और कर्तव्यकी उपेक्षाका ही सूचक है । बच्चोंके लिये स्वस्थ रहना स्वाभाविक ही है ।

२–बालकोंके रोग रोकनेका सहज उपाय तो यही है कि सूतिका-गृहसे ही बालकोंको स्वच्छ रक्खा जाय ।

३–रात्रिको सोते समय माको बालकके प्रति पीठ देकर नहीं सोना चाहिये । सौर-गृहमें तो कदापि किसी भी दशामें पीठ देकर नहीं सोना चाहिये ।

४–मादक द्रव्योंका भी बच्चोंको देना निषेध है, जैसे अफीम देकर सुलाना । मादक द्रव्योंके सेवन करानेसे बालकोंके मस्तक निर्बल और शुष्क हो जाते हैं ।

५–बालकके सोकर उठते ही एकदम प्रकाशमें नहीं ले जाना चाहिये । इससे बालककी आँखोंमें कष्ट होता है ।

६–बालकोंको दूध पिलाकर या भोजन कराकर उनका मुख जरूर धो देना चाहिये । जिससे मुखमें दुर्गन्ध न आवे और न मुखके रोग ही उत्पन्न हों ।

७–बालकोंका नित्य-प्रति तैलाभ्यङ्ग (मालिश) करना चाहिये तथा सिर, कान और पैरके तालुओंमें तीसरे दिन कड़वा (सरसोंका) तेल डालना चाहिये ।

८–बच्चोंको कभी डराना नहीं चाहिये । बचपनका भय उनके हृदयसे जन्मभर नहीं निकलता । उनका हृदय निर्बल हो जाता है, दूसरे, उन्हें बीमारी भी हो सकती है ।

उसको झिड़कना या सहसा प्रतिबोधन करना भी त्याग दें; क्योंकि उससे बालक बहुत घबरा जाता है । चरकने लिखा है—

शिशुके रोने, आहार न लेने या अन्य किसी भी कारणके होनेपर भी राक्षस, पिशाच, पूतनादिका नाम लेकर डर दिखानेका प्रयत्न न करना चाहिये ।

९–बच्चोंको उछालना, मुक्का मारना, गेंदके समान ऊपर

उछालकर झेलना, सिरमें थपड़ी मारना, गाल खींचना, कान खींचना आदि प्रकारका व्यर्थका त्रास देकर प्रेम प्रदर्शित नहीं करना चाहिये। बच्चोंके मुँहमें मुँह देना और उन्हें जूठा खिलाकर प्यार करना भी बड़ा हानिकर है।

१०—बच्चोंका चुम्बन करना उनके स्वास्थ्यके लिये बहुत हानिकारक है। आजके स्वास्थ्य-विशेषज्ञ भी बड़े कठोर शब्दोंमें बच्चोंके चुम्बनका निषेध करते हैं। इससे संक्रामक बीमारियाँ हो सकती हैं। भारतीय शिष्टाचारमें तो चुम्बनके लिये कोई स्थान ही नहीं है। वह 'काम-शास्त्र' का ही अङ्ग माना गया है। माता-पिता तथा दूसरे सम्बन्धी, जिनका किसीपर वात्सल्य-स्नेह है, उसे गोदमें लेकर या अङ्कमाल देकर उसके मस्तकको सूँघ लेते थे। मस्तकको सूँघ लेना वात्सल्यकी अभिव्यक्तिका उत्कृष्ट बाह्य प्रतीक हिंदू-समाजमें है।

११—बालकोंको खेलनेके लिये सुन्दर, लघु, सिरेपर अतीक्ष्ण, मुखमें न प्रवेश कर सकने योग्य, जो मृत्युके कारण न बन सकें, जिनसे शिशु डरे नहीं—ऐसे खिलौने देना चाहिये।

१२—उसको खिलानेवाले माता-पिता या कुमार-धायको सैकड़ों प्रिय बातोंसे बालकका अनुनय करना चाहिये तथा आनन्दपूर्ण सरस संस्कृतनिष्ठ हिंदीमें प्रेम (दुलार) करना चाहिये। ऐसा करनेसे उसका मन बढ़ता है। वह उत्कृष्ट तत्त्वसम्पन्न और स्वस्थ एवं सुप्रसन्न रहता है।

१३—शिशुको सर्दी, वर्षा, कड़ी धूप, ठंडी हवा, बिजलीकी चमक, वृक्ष, बेल, कुआँ, तालाब, नदी, शून्य-स्थान, निम्न-स्थान, ग्रहच्छाया, भीड़ या जन-सम्पर्कके स्थानोंसे बचाना चाहिये।

१४—शिशुको सदैव स्वच्छ रखना चाहिये। ऋतुओंके अनुसार कपड़े पहिनाना चाहिये। उसकी नाक सिंघाड़से भरी हुई, आँखें गीड़—कीचड़से बहती हुई न रहनी चाहिये। कानके छेदोंको धूलसे भरनेसे बचाना चाहिये।

१५—शिशुको मिट्टी खानेसे रोकना चाहिये; क्योंकि नित्य मिट्टी खानेसे पाण्डुरोग, शोथ, श्वास, कास, जीवाणुजन्य अतिसार, छर्दि, मूर्च्छा, अग्निमान्द्य, स्तनद्वेषता, भ्रम आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

१६—चेचकके बचावके लिये घरमें ऊँटकटाराका एक पौधा शुभ नक्षत्रमें जड़ समेत उखाड़कर लटका देना चाहिये या रुद्राक्षका बड़ा दाना गलेमें बाँध देना चाहिये।

१७—शिशुके माता-पिता या अभिभावकोंमें प्रत्युत्पन्न-ज्ञान (common sense) की प्रचुरता होनी चाहिये। इसकी कमीसे बड़ी-से-बड़ी ज्ञानवती धात्रियाँ मूर्खा हो जाती हैं, जैसे—बिजलीके हीटर या स्टोवको जलता छोड़ देना, दियासलाईकी डिब्बी खुली पड़ी रहने देना, कमरेमें किरासिन तेलकी लालटेन और जलती हुई अंगीठी रखकर किवाड़ बंद कर देना, छत या छज्जोंपर बालकोंकी विशेष सावधानी न रखना। सर्दी, खाँसीपर ध्यान न देकर न्यूमोनियाँ बना लेना।

१८—बालक तथा बालिकाओंके नाम भी सुन्दर रखने चाहिये और उन्हें बिगाड़ना न चाहिये।

भीषण, नक्षत्र, वृक्ष, नदी, पक्षी, सर्प एवं अशुभ नामसूचक नाम कभी नहीं रखने चाहिये, जैसे—चण्डिका, काली, रोहिणी, गैंदा, विन्ध्या, कोकिला, भुजंग आदि; क्योंकि ये नाम कुत्सित और अन्य पदार्थोंके भी हैं।

१९—शिशुका निवास-स्थान ऐसी जगह हो, जहाँ स्वच्छ वायु सदा मिल सके। स्थान रमणीक हो। कमरेमें सूर्यकी किरणोंका प्रवेश होता हो, कमरेमें दीवालोंपर सात्त्विक प्रभाव डालनेवाले चित्र बने हों या टँगे हों, चित्र ऐसे हों जिससे किसी प्रकारका भय न उत्पन्न हो सके। मकान दृढ़ हो, टूटा-फूटा न हो तथा मकानमें एकाएक कुत्ते, बिल्ली आदि घातक जीव प्रवेश न कर पावें, ऐसा समुचित प्रबन्ध हो।

शिशु-विश्राम तथा निद्रा

शिशुको शान्त, स्वस्थ एवं सुखपूर्वक निद्राका आना अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। बच्चे जितना अधिक सोयेंगे, उनका उतना ही स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। प्रायः बच्चोंका विश्राम सोनेमें ही सम्मिलित होता है।

जन्मके बाद प्रथम दो-चार सप्ताह स्नान और स्तनपान करानेसे बच्चे अधिक सोते हैं, अर्थात् लगभग २१ घंटेतक शयन करते हैं। जैसे-जैसे उनकी आयु बढ़ती है उसी प्रकार उनकी निद्राका समय भी क्रमशः कम होता जाता है। तीसरे महीनेमें २० घंटे, छठे महीनेमें १८ घंटे और वर्ष पश्चात् नित्य १६ घंटेमें निद्रा पूरी होती है।

शिशुओंको स्वस्थ-शान्त निद्रा आवे, इसकी चिन्तापूर्वक सावधानी रखनी चाहिये।

एक स्वस्थ बालकको सोनेकी डाक्टरोंके मतानुसार आयुके अनुसार क्रम-तालिका—

१–दूध पीते बच्चोंके लिये दिनभरमें २२ से १६ घंटेतक।

२–दो वर्षसे ४ वर्षतककी आयुवाले १४ से १२ घंटेतक।

३–पाँच वर्षसे ९ वर्षतककी आयुवाले १२ से १०½ घंटेतक।

४–दस वर्षसे १५ वर्षतककी आयुवाले १० से ८½ घंटेतक।

एक स्वस्थ मनुष्यके लिये ७ घंटेकी निद्रा पर्याप्त होती है।

शिशुके ओढ़ने एवं बिछानेके कपड़ोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये। मल-मूत्रके बचावके लिये रबरकी चादर डालकर बच्चोंको सुलाना चाहिये।

ओढ़नेके लिये भारी या हल्के कपड़े ऋतुके अनुसार, गरम या ठंढे उपयोगमें लाने चाहिये। ओढ़ने एवं बिछानेके कपड़ोंको नित्य धूपमें डालना चाहिये, ताकि उनकी गंदगी दूर हो जाय। कपड़ोंमें भी खटमल, पिस्सू, जूँ न रहने पायें और वे स्वच्छ रहें।

शिशु-शयन-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण बातें

१–शिशुके सोनेका स्थान शान्त, स्वच्छ और वायु-प्रवेशक हो।

२–उसे अपने ही पलँगपर सुलाना चाहिये। पलँग लोहेका हो तो सर्वोत्तम है। पलँग धरतीसे पर्याप्त ऊँचा हो और उसके चारों ओर कटहरा लगा हो, जिससे वह पलँगपरसे गिर न पड़े। पलँग खटमल इत्यादिसे रहित होना चाहिये।

३–मच्छर, डाँस, आदिसे बचानेके लिये, बच्चोंको मच्छरदानी लगाकर सुलाना चाहिये।

४–बच्चोंका बिछौना नरम और सुखदायक होना चाहिये।

५–शिशुकी आँखोंपर प्रकाशकी किरणें नहीं पड़ने देना चाहिये।

६–शिशुओंको कोई वस्तु मुँहमें रखकर नहीं सोने देना चाहिये।

७–शिशुको मुँह ढाँककर नहीं सुलाना चाहिये।

८–बालकोंको औंधा या एक दम सीधा कभी नहीं सुलाना चाहिये।

९–रातको सोते हुए बच्चोंको तीन-चार बार अवश्य ही सँभाल लेना चाहिये ताकि वे ओढ़नेके वस्त्र अलग न कर सकें, साथ ही, उनके वस्त्र प्रत्येक दशामें स्वच्छ रखनेका ध्यान रखना चाहिये।

१०–बालकोंको उठाकर रात्रिमें तीन-चार बार मुता देना चाहिये, जिससे कपड़े न खराब हों। बालकोंको सुलाते समय, कुछ मनोहर उपदेशप्रद गीत, लोरियाँ या कहानियाँ सुनानी चाहिये।

उन्हें यह विदित न हो कि आप उनसे पिंड छुड़ानेके लिये ही उसे सुला रहे हैं।

११–सोते हुए बालकोंको सहसा जगाना नहीं चाहिये या अकेला छोड़कर कहीं नहीं जाना चाहिये।

बालकोंके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यपर ही उनके माता-पिता, देश, और राष्ट्रकी समस्त उन्नति निर्भर है। श्रेष्ठ संतानका पैदा करना और बालकको निर्बल या सबल रखना प्रायः माताके ही ऊपर निर्भर है।

इसलिये सबसे पहले—माता-पिता बननेके पूर्व ही शिशु-सम्बन्धी सब प्रकारका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये और उनका पालन-पोषण शास्त्रानुसार करना चाहिये।

ऐसा बच्चा ही सच्चा देशका सेवक या नागरिक बनकर देश, जाति, समाज और धर्मकी रक्षा कर सकनेके योग्य होगा तथा अपना और अपने माता-पिताका नाम उज्ज्वल कर सकनेमें समर्थ होगा। तभी हमारा और हमारे स्वतन्त्र भारतका कल्याण होगा। तभी हमारा और हमारे स्वतन्त्र देशका अभ्युदय होगा।

अब मैं विश्वभरके सम्पूर्ण शिशुसंसारके लिये शुभ कामनाकर इस लेखको समाप्त करता हूँ।

कामना

राम, कृष्ण, भीष्म, भीम, पार्थ-जैसे वीर बनें, रन्तिदेव, हरिश्चन्द्र-जैसे उपकारी हों।
व्यास, बाल्मीकि-जैसे ज्ञानी कलाकार बनें, ध्रुव प्रह्लाद-जैसे प्रभुके पुजारी हों॥
'अंकुश' सरल, शील, सत्य, सद्भाव लिये, चन्द्रकी कलासे सबहीको सुखकारी हों।
केशव, शिवाजी, राणा, बंदा, हरिसिंह-जैसे, प्रभु! भारतीय शिशु धर्मधनु-धारी हों॥

—ओमस्वरूप 'अंकुश'

गर्भवती माताके आहार, आचार-विचार, सङ्ग, स्वाध्याय आदिका गर्भपर प्रभाव

(लेखिका—श्रीशशिबालादेवी 'विशारद')

प्रतिदिनका हमारा यही अनुभव है कि कुछ बच्चे संसारमें पैर रखते ही अपनी प्रतिभासे जगत्को चकाचौंध कर देते हैं और कुछ जन्म लेनेसे पूर्व ही कूच कर जाते हैं। कोई-कोई बच्चे अङ्गहीन, अंधे, विकृत-अङ्ग या गूँगे होते हैं। ऐसा भी देखनेमें आता है कि कतिपय बालक जन्मके कुछ दिनोंके पश्चात् पागल हो जाते हैं या उन्हें दूसरी भयंकर बीमारियाँ धर दबाती हैं। कुछ जन्मसे ही कमजोर, दुबले-पतले और सुस्त पाये जाते हैं। इसके विपरीत किसी-किसी बालकको देखनेमात्रसे उसकी बुद्धिमत्ताका परिचय मिलता है। उन्नत ललाट, कमल-नेत्र, सुडौल शरीर, हँसमुख चेहरा देखनेवालेका मन लुभा लेता है।

क्या आपने कभी सोचा है कि ये सब बातें गर्भवती माताके आहार, आचार, विचार आदिके प्रभावसे हुई हैं ! इनके लिये हम व्यर्थ ही ईश्वरको कोसते या अपने भाग्यका रोना रोते हैं।

आहार

गर्भवतीका आहार बिल्कुल हल्का, सादा, सुगमतासे पचने योग्य तथा परिमाणमें अल्प होना चाहिये। गर्भस्थ शिशुका स्वास्थ्य, सौन्दर्य आदि गर्भवतीके आहारपर निर्भर करता है। इस अवस्थामें विशेषतया, अधिकांश स्त्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं, उनका चेहरा पीला पड़ जाता है, पैर सूज जाते हैं तथा रक्ताल्पता (anœmia) जैसी बीमारी हो जाती है। इस अवस्थामें यदि उत्तम भोजन नहीं मिला तो प्रसवकालमें बहुत कठिनाइयाँ होती हैं। गर्भवतीको ऐसा भोजन करना चाहिये, जिसमें यथेष्ट परिमाणमें प्रोटीन, विटामिन ए (A), बी (B), सी (C), डी (D) और खनिज लवण आदि विद्यमान हों। पवित्र दूध एक पूर्ण भोजन है। इसलिये गर्भवतीको पर्याप्त मात्रामें दूध मिलना परमावस्यक है। बहुधा यह देखनेमें आता है कि स्त्रियाँ अपने परिवारके लोगोंके लिये तो भोजनपर विशेष ध्यान देती हैं, पर स्वयं उस ओरसे लापरवाह रहती हैं। दूसरोंको अच्छे-से-अच्छा देना और स्वयं न लेना—यह उसकी त्यागवृत्ति तो सराहनीय और आदर्श है, परंतु शरीरकी स्वस्थताके लिये भी ध्यान रखना आवश्यक है। ऐसी परिस्थितिमें परिवारके सयानोंका यह कर्तव्य हो जाता है कि वे गर्भवतीके भोजनपर पूरी निगाह रक्खें ताकि उसके भोजनमें किसी भी आवश्यक विटामिनकी कमी न रहे।

विटामिन 'ए' से बच्चेका शरीर सुगठित, नेत्र सुन्दर और फेफड़ा मजबूत बनता है। पालक शाक, बंदगोभी, टमाटर, मूली, फूलगोभी, गाजर और नीबूमें पर्याप्त विटामिन 'ए' मिलता है। मक्खन, दूध, दही, घी, मट्ठामें भी यह विटामिन प्रचुर मात्रामें मिलता है। विटामिन 'बी' से पाचनशक्ति बढ़ती और मजबूत होती है, जिससे बच्चोंको पेटकी बीमारी नहीं होती। जिन माताओंके भोजनमें इस विटामिनकी कमी पायी जाती है, उनके बच्चे सर्वदा पेटकी बीमारीके शिकार बने रहते हैं। यह विटामिन चोकरदार आटेमें सबसे अधिक मिलता है। सब प्रकारकी दालोंमें, शलजमकी कोमल पत्तियोंमें, बथुआ, पालक, मूली आदिमें बहुत मिलता है। विटामिन 'सी' भी आवश्यक है। किसी-किसी स्त्रीको प्रसवके बाद अधिक रक्तपात होने लगता है। उससे बचनेके निमित्त विटामिन 'सी' की आवश्यकता है। चना तथा गेहूँके अङ्कुरोंमें यह सबसे अधिक मिलता है। टमाटर, नीबू, संतरा तथा अन्य फलोंमें तो मिलता ही है, पालक शाक तथा शलजममें भी मिलता है। फल तथा शाक खाना कितना श्रेयस्कर होगा, इससे स्पष्ट है। विटामिन 'डी' से बच्चोंकी हड्डी मजबूत बनती है तथा दाँत सुन्दर होते हैं। इसीकी कमीसे बच्चोंको महान् अनर्थकारी रिकेट (Rickets) रोग हो जाता है, जिससे अच्छा होना कठिन है। बच्चे जल्दी चलना नहीं सीखते, देखनेमें सुस्त, कमजोर तथा मरियल-से लगते हैं। शुद्ध मक्खन, पवित्र दूध एवं हरी-हरी सब्जियोंमें पर्याप्त विटामिन 'डी' होता है। सूर्यकी किरणोंसे भी इसे सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकते हैं। नंगे बदन धूपमें बैठकर, विशेषतया प्रातःकालके समय सरसोंका तेल, जिसमें रवि-रश्मि कुछ देरतक पड़ चुकी हो, मालिश करनेसे इस विटामिनको पा सकते हैं।

गर्भवती स्त्रियोंको अधिक उपवास तथा व्रत भी हानिकर

है। इससे मा तथा बच्चे दोनोंकी हानि होनेकी सम्भावना रहती है। पेटमें बच्चेका लालन-पालन माके आहारपर निर्भर करता है। अधिक उपवाससे गर्भपात होनेका भय रहता है। कहीं ईश्वरकी दयासे ऐसा न हुआ तो बच्चा या तो माके पेटमें मर जाता है, जन्मता है तो दुर्बल रहता है। प्राचीन ऋषि-महर्षियोंने भी यही सलाह दी है तथा गर्भवतीके लिये उपवासका निषेध किया है। इससे मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि पेटको सर्वदा गरिष्ठ भोजनसे भरे रक्खें। जिस प्रकार उपवास हानिकर है, उसी प्रकार अधिक खाना तथा गरिष्ठ पदार्थोंका सेवन भी हानिकर है। सारांश यह कि जो भोजन किया जाय वह शुद्ध प्राकृतिक, संतुलित, परिमित एवं हितकर होना चाहिये।

आचार

गर्भवतीका सोना, उठना, बैठना, खाना, पीना, पहनना—ये सभी बातें नियमानुकूल होनी चाहिये। सात घंटेकी नींद ठीक है। कपड़ा ढीला, साफ और स्वच्छ हो। थोड़ा व्यायाम भी अनिवार्य है। जिन स्त्रियोंको घरके काम-काज करना पड़ता है, उनका तो व्यायाम हो ही जाता है; पर जो चुपचाप बैठी रहती हैं, उन्हें थोड़ा हल्का व्यायाम लाभप्रद होगा। एक-दो मीलका प्रातःकालीन टहलना हितकर होगा।

गर्भवतीको सर्वदा सुप्रसन्न रहना चाहिये। आनन्द-संवाद-श्रवण, धार्मिक चर्चा, सत्सङ्ग तथा सद्ग्रन्थावलोकनसे बच्चेके सूक्ष्म शरीरपर बहुत सुन्दर प्रभाव पड़ता है। बड़े तथा छोटोंके प्रति उचित व्यवहार करना चाहिये। पूज्य जनोंको नित्य अभिनन्दन करनेसे उनके शुभ-आशीर्वादसे अदृश्यरूपसे बच्चेकी उन्नति होती है। छोटोंके प्रति प्रेम, स्नेह तथा दुलार बर्तनेसे भावी संतान मृदुभाषी तथा मेलसे रहनेवाली होगी।

विचार

गर्भवतीको अपना समय सुख-शान्तिपूर्वक व्यतीत करना चाहिये। उसे अपने मस्तिष्कमें किसी प्रकारकी चिन्ता, शोक, क्रोध, द्वेष या क्लेशको स्थान न देना चाहिये। बच्चेके विचारोंपर उस समयके माके विचारोंका यथेष्ट प्रभाव पड़ता है। केवल बच्चेके स्वास्थ्यपर ही नहीं, वरं माके स्वास्थ्यपर भी उन विचारोंका प्रभाव पड़ता है। यह देखा जाता है कि सर्वदा प्रसन्न रहनेवालोंका स्वभाव मृदुल, आकर्षक एवं प्रिय होता है तथा स्वास्थ्य सुन्दर रहता है। इसके विपरीत चिड़चिड़े स्वभाववाले दुर्बल, रुग्ण एवं क्षीणकाय होते हैं। स्त्रियाँ स्वभावतः कोमल प्रकृतिकी होती हैं अतः उनपर बाह्य वातावरणका शीघ्र प्रभाव पड़ता है। गर्भवतीके लिये अधिक बोलना, रोना, लड़ना-झगड़ना सर्वदा हानिकर है। इनसे कुविचार उत्पन्न होकर उनका कुप्रभाव पड़ता है। उसे सर्वदा नम्र, सहनशील, शान्त, सुहृद् एवं प्रभुभक्त, मधुर तथा मृदुभाषी होना चाहिये ताकि गर्भस्थ शिशुपर सुप्रभाव पड़े। 'स्त्रीणां भूषणं लज्जा।' महर्षि चरकका विचार है कि जो स्त्री शोक, चिन्तामें फँसी रहती है, उसकी संतान निरुत्साही, दुर्बल तथा डरपोक होती है। गर्भवतीके विचारपर ही बालकका भला-बुरा होना निर्भर करता है। नेपोलियनकी माता एक वीर रमणी थीं। जिस समय नेपोलियन पेटमें था, उस समय उसकी माता लड़ाई, विजय तथा संघर्षकी बातें सोचा करती थीं। परम-पूज्य महामना मालवीयजी तथा विश्ववन्द्य महात्मा गाँधीकी माता परम सच्चरित्रा एवं सात्त्विक भाववाली थीं, जिसका प्रभाव उन महापुरुषोंके जीवनसे स्पष्ट हो जाता है। विश्व-मानव पण्डित जवाहरलालजीकी माता भी शुद्ध तथा राष्ट्रिय विचारोंकी थीं।

सङ्ग

गर्भवतीके लिये सदा अच्छी संगतिमें रहना लाभप्रद है। उसे कलहकारिणी, चुगली तथा परनिन्दा करनेवाली, व्यभिचारिणी, उद्दण्ड, कठोरभाषिणी, दुष्टा एवं लड़ने-झगड़नेवाली स्त्रियोंके बीच कभी नहीं रहना चाहिये। उसे निर्मलमति, साध्वी, सच्चरित्रा, सुशीला तथा नेक स्त्रियोंसे सत्सम्भाषण करना चाहिये। उसे भक्तिरसकी, त्यागभावकी तथा वीररसकी ऐतिहासिक कथाएँ पढ़नी चाहिये। लज्जाहीन तथा गुणहीन स्त्रियोंके समीप भूलकर नहीं बैठना चाहिये। गंदे नाटक, अश्लील सिनेमा भूलकर भी नहीं देखना चाहिये। काम-सम्बन्धी चर्चा कभी नहीं करनी चाहिये। पतिसहवास सर्वथा हानिकर है। अन्यथा संतान निर्लज्ज, बुद्धिहीन तथा कामुक हो जायगी। इस विषयमें पशुओंसे शिक्षा लेनी चाहिये। मा पशु (मादा) नरको अपने पास उन दिनों आनेतक नहीं देती। महापुरुषोंके और भगवान्‌के दो-एक चित्र अपने कमरेमें अवश्य रखने चाहिये। उन्हें एकाग्रचित्तसे देखनेमात्रसे भी सत्संगतिका लाभ होगा। हरिचर्चा, हरि-कथा तथा सत्सङ्गसे विशेष लाभ होगा।

बाण-शिक्षा

चारों कुँअर चढ़ाये बाण। किया लक्ष्यपर सर संधान॥
धनुर्वेदकी लेते शिक्षा। यह क्षत्रियकी पावन दीक्षा॥

ताड़का-उद्धार

आयी जब ताड़का कराल। एक बाणसे बींधा भाल॥
दिया उसे भी अपना धाम। परम दयामय हैं श्रीराम॥

गुरु-सेवा

राम-लखन त्रिभुवनके भूप। इनकी श्रद्धा अमल अनूप॥
जिनका ध्यान देवपति धरते। वे गुरुकी पद-सेवा करते॥

सधे हुए चारोंके अंग। दौड़ रहे कंदुकके संग॥
घोड़ोंपर चढ़ भाई साथ। खेल रहे हैं श्रीरघुनाथ॥

गुरु पूजाके लिये उदार। फूल चुन रहे अवध-कुमार॥
धन्य जनकपुरका यह बाग। धन्य भूमि यह धन्य तड़ाग॥

राम-लखन ये दोनों भाई। देखें जनक-नगर सुखदाई॥
प्रेम विवश पुर-बालक साथ। सबका मन रखते रघुनाथ॥

स्वाध्याय

ऊपरकी सब बातोंके साथ-साथ स्वाध्यायके लिये भी सुन्दर, सात्त्विक,सदाचारपूर्ण पुस्तकोंका चुनाव होना आवश्यक है। अश्लील पुस्तकें, भद्दे गानेकी किताबें गर्भस्थ शिशुके मस्तिष्कपर कुसंस्कार तथा कुविचार डालती हैं। भगवान् राम, भगवान् श्रीकृष्ण, हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर, भीष्म, ऋषि-मुनि, महाराणा प्रताप, वीर शिवाजी, महात्मा गाँधी एवं अन्य महापुरुषोंकी जीवनी पढ़नेसे लाभ होगा। काम, सिनेमा, फिल्म-चित्र-सम्बन्धी पुस्तकें घोर अनर्थ करेंगी।

बालकके जीवनमें आध्यात्मिकताका पुट डालनेके लिये सद्ग्रन्थोंका अध्ययन अति आवश्यक है। एक धार्मिक संतान सिर्फ अपना ही कल्याण नहीं करती, वरं अपने पूर्वजोंतकका उद्धार करती है। नित्य श्रीमद्भगवद्गीता, रामायण, महाभारत, पुराण, योगवासिष्ठ, उपनिषद्-प्रभृति धार्मिक पुस्तकोंके अध्ययनमात्रसे आध्यात्मिक स्पन्दन बालकके सूक्ष्म विचारोंपर पड़ेगा। उन सद्ग्रन्थोंमें कथित विचारोंपर मनन भी नितान्त आवश्यक है।

भगवान् श्रीकृष्णने अपने मुखारविन्दसे विश्वके महाकाव्य श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं कहा है—

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥
(६।४१)

इससे स्पष्ट है कि शुद्ध सात्त्विक जीवन बितानेवाली माताएँ ही महान् आत्माको अपने उदरमें रखनेका दावा कर सकती हैं। उच्च आत्माएँ विशेष कार्यके लिये जगत्में अवतार लेती हैं।

माताएँ अपने आचार-विचार तथा जीवनको पवित्र बनाकर संसारका बहुत बड़ा कल्याण कर सकती हैं तथा स्वतन्त्र भारतके भावी संतानको वीर, बुद्धिमान्, चतुर तथा विश्वहितैषी बनानेमें सहायता प्रदान कर सकती हैं।

भगवान् सबको सन्मति और शान्ति दें।

ब्रह्मचर्यकी महिमा

(रचयिता—कविरत्न श्रीलक्ष्मीप्रसादजी मिश्री 'रमा')

भाग्यके भरोसे कभी भूलके न बैठते हैं, खोते नहीं व्यर्थ वक्त अपना नादानीमें।
मुखसे जो बात कहें पूरा उसे करते हैं, घबराते नहीं कभी बड़ी परेशानीमें॥
चूर कर डालते हैं बड़े-बड़े पहाड़ोंको, लाँघ जाते सात महासागर आसानीमें।
हटते नहीं हैं किंतु कामयाब हुए बिना, आग लगा देते 'रमा' वीर्यवान पानीमें॥ १॥

× × × ×

वृद्ध द्रोण कौरवोंकी सैन्यके सेनानी बनें, ऐसा था महान शौर्य ताकत जिस्मानीमें।
भीष्मके शरोंसे काँपता था वीर पारथ-सा, कामयाब हुआ था न स्वतः पासवानीमें॥
बार-बार उठा-उठा कंदुक समान तात, फेंकते थे भीमसेन वारण आसानीमें।
राखो 'रमा' पानी बात पतेकी बखानी यह, ऐसी है असीम शक्ति मानवके पानीमें॥ २॥

× × × ×

पानी राख हनूमान, लखन प्रसिद्ध हुए, पाया नाम भीष्म-भीम ताकत जिस्मानीमें।
पानी राख अर्जुन औ अभिमन्यु हुए वीर, हन डाले बड़े-बड़े सैनिक आसानीमें॥
पानीसे ही राममूर्ति, गामा जग जाहिर थे, बरबाद पानी भ्रात! कीजे न जवानीमें।
राखो 'रमा' पानी बात पतेकी बखानी यह, ऐसी है असीम शक्ति मानवके पानीमें॥ ३॥

बालकके आहार-विकासका क्रम

(लेखक—स्वामी श्रीविशुद्धानन्दजी परिव्राजक महाराज)

बालकोंका लालन-पालन किस प्रकार करना चाहिये और उनका आहार-विहार कैसा होना चाहिये, इस सम्बन्धमें नारी-समाजमें बड़ा अज्ञान फैला है । हमारी आधुनिक नारियाँ प्रायः न तो यह जानती हैं कि उन्हें अपना खान-पान कैसा रखना चाहिये और न यही जानती हैं कि शिशुओंको कब दूध पिलाना चाहिये, एक बारका पिया हुआ दूध कब पचेगा और कितने समय बाद उसे पुनः दूध पिलानेकी अपेक्षा होगी । और जो बालक कुछ अन्न लेने लगे हैं, उन्हें किस प्रकारका एवं कितना अन्न दिया जाना चाहिये ।

उचित यह है कि माता बननेके पूर्व उनको इस बातका ज्ञान होना चाहिये कि माताका क्या कर्तव्य है, कितना उसपर उत्तरदायित्व है और उसे किस प्रकार पूर्ण किया जा सकता है । यदि बालकोंका पालन-पोषण उचित ढंगपर करके उन्हें उत्तम दूध और आहार नियमसे दिया जाय तो वे अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट, प्रसन्नचित्त तथा कुल और देशका नाम उज्ज्वल करनेवाले हो सकते हैं । किसी देशके बालकोंकी जन्म-मृत्यु, स्वास्थ्य, चरित्र और शिक्षा-व्यवस्थासे हम उस राष्ट्रकी शक्ति और उन्नति—विकासका सहज ही अनुमान कर सकते हैं । अतः बालकोंका पालन-पोषण बड़ी ही तत्परतासे करना चाहिये ।

जिस समय बालक उत्पन्न होता है, उसी समयसे उसके स्वास्थ्य, शिक्षा, चरित्र और लालन-पालनकी ओर ध्यान देना चाहिये । और यह उत्तरदायित्व विशेषतया माताका है; क्योंकि बालक माताका दूध पीता है, इस कारण यदि माता असावधान रहेगी और कोई कुपथ्य करेगी तो उसका प्रभाव बालकपर अवश्य पड़ेगा । अतः माताको पूर्णतया सावधान एवं संयमसे रहनेकी आवश्यकता है ।

नवजात शिशुका आहार

नवजात शिशुका नाल काटनेके बाद शीतल जलसे मुँह धोकर आश्वासन करे और आयुर्वेद (सुश्रुत) के आदेशानुसार अनन्तमूल १ रत्ती, ब्राह्मीका स्वरस २ रत्ती, गोघृत ३ रत्ती और मधु (शहद) ६ रत्ती मिलाकर अँगुलीसे चटा दे । जबतक माताके स्तनमें दूध न आ जाय, तबतक यही भोजन दिनमें छः बार और रात्रिमें चार बार देना चाहिये । इन सभी वस्तुओंको यथावकाश पूर्वसे ही एकत्र कर रखना चाहिये । बालक उत्पन्न होनेके तीन रात्रि बाद माताके स्तनोंमें यथेष्ट दूध आता है, ऐसा आयुर्वेदका सिद्धान्त है । अतः बालकको माताके स्तनपर तुरंत नहीं लगाना चाहिये । दूध आनेमें यदि कोई बाधा दिखायी पड़े तो माताके स्वस्थ होनेपर बालकको एकाध बार स्तनसे लगाया जा सकता है; क्योंकि शिशुके स्मरण, दर्शन, स्पर्श या उसके स्तन ग्रहण करनेसे स्तनमें दूधकी प्रवृत्ति हो जाती है । जिन स्त्रियोंके पास बालकके लिये पर्याप्त दूध नहीं होता, उनमें अधिकांश बालकोंसे प्रेम न करनेवाली ही होती हैं । जो माताएँ बालकसे स्नेह रखनेवाली होती हैं, उनके स्तनोंसे शिशुका स्मरण करते ही दूधकी धारा प्रवाहित होने लगती है ।

बालकोंका भोजन

बालकका प्रारम्भिक भोजन दूध ही है । प्रकृतिने शिशुमात्रके लिये दूधका ही विधान किया है । सभी प्राणी, शेर, चीता, भेड़िया आदि हिंसक जीव भी अपने बच्चेको अपना ही दूध पिलाते हैं; किंतु मनुष्यलोकमें खास करके आजकल इस नियमका कुछ उल्लङ्घन होने लगा है । सम्पन्न या शिक्षित घरोंकी कुछ आधुनिक माताएँ अपना दूध अपने शिशुको नहीं पिलातीं, वे अपना उत्तर-दायित्व धात्रीपर छोड़कर निश्चिन्त हो जाती हैं; पर यह अप्राकृत होनेसे माता और संतान दोनोंके लिये ही हानिकर होता है । शिशुको दूध न पिलानेसे प्रसूता नारीका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, इस बातको अब वैज्ञानिकोंने भी स्वीकार कर लिया है । अवश्य ही यदि मा अस्वस्थ हो या उसके पर्याप्त दूध न हो तो उस अवस्थामें नीरोग धायका दूध या पानी मिलाकर उबाला हुआ शुद्ध गुनगुना गो-दुग्ध दिया जा सकता है । जो नारियाँ किसी कारणवश बच्चेको स्तन पिलाना बिल्कुल पसंद न करती हों, उनको भी शिशुपर दया करके उसके कल्याणके लिये कम-से-कम दो सप्ताहतक तो अवश्य स्तन पिलाना चाहिये; क्योंकि नवजात शिशुकी आँतोंमें काला मल चिपटा रहता है और उसे निकालनेका प्राकृत साधन मातृदुग्ध ही है । सद्यःप्रसूता स्त्रियोंका दूध रेचक

होता है, उसको पीनेसे वह मल सहज ही निकल जाता है। इस आयुमें जिन बालकोंको माताका दूध नहीं मिलता, उनको विरेचन ओषधिकी आवश्यकता होती है और नन्हे-से शिशुको विरेचन ओषधि देनेसे हानि होती है। यदि किसी कारणसे शिशुका मल रुक जाय तो उसे तीखा जुलाब न देकर बालघुटी *या गुदामें ग्लीसरीनकी बत्ती लगाकर टट्टी करा देनी चाहिये।

दूध पिलानेकी विधि

जिस किसी स्थितिमें बालकको दूध नहीं पिलाना चाहिये और न प्रत्येक समय दूध पिलाते ही रहना चाहिये। जब बालकको दूध पीनेकी अपेक्षा हो, तब स्तन धोकर और थोड़ा-सा दूध गिराकर पिलाना चाहिये। शिशुको सदैव बैठकर ही दूध पिलाना चाहिये। जो नारियाँ लेटे-लेटे अपने बालकोंको दूध पिलाती हैं, उनके कान बहने लगते हैं और अधिक दिन ध्यान न देनेसे जीवन-भरके लिये वे बहरे हो जाते हैं। स्तन धोनेकी आवश्यकता इसलिये है कि उसमें पसीना लगा रहता है। जूँठा और गंदापन दूर करनेके लिये यदि प्रमाद और असावधानीसे स्तनको धोकर दूध गिराया नहीं जायगा और यों ही शिशुको पिला दिया जायगा तो कफका अंश अधिक होनेसे एवं दूषित दूध न निकलनेसे प्रायः बालकको वमन, कास, श्वास आदि कई व्याधियाँ उत्पन्न हो जायँगी। यदि किसी कारण-वश माता या धात्रीको क्रोध आ गया हो तो जबतक प्रकृति शान्त न हो, तबतक दूध नहीं पिलाना चाहिये। प्रायः माताएँ गृहके अन्य व्यक्तियोंसे अप्रसन्न होकर शिशुओंको स्तनपान कराती हैं, इसका कुप्रभाव बालकोंपर पड़ता है। अर्थात् क्रोधके कारण रक्तके विषैले परमाणुओंद्वारा विकृत हुआ दूध उनके शारीरिक स्वास्थ्यके लिये तो हानिकर होता ही है, उससे बालकोंके कोमल मस्तिष्कपर ऐसे कुसंस्कार पड़ जाते हैं जो उन्हें साधनकालमें निर्बल बनाकर पथभ्रष्ट कर देते हैं।

बालकको जल पिलाना

प्रायः अशिक्षित नारियाँ सर्दी होनेके भयसे शिशुओंको पानी नहीं पिलातीं। ऐसा करना ठीक नहीं है। एक मासकी आयुके उपरान्त उबाला हुआ शीतल जल बूँद-दो-बूँद शिशुको कभी-कभी देना चाहिये। पानी प्रकृतिकी देन है, उससे डरना न चाहिये। हाँ, इसका अधिक और अयुक्त ढंगसे प्रयोग हानिकर हो सकता है। प्रायः कई माताएँ एक डेढ़ सालतक शिशुको जल नहीं देतीं, जिसका दुष्परिणाम यह होता है कि शिशु जो कुछ खाता है, पानीके अभावके कारण उसका ठीक परिपाक नहीं हो पाता और अन्तमें वह व्याधिग्रस्त हो जाता है। इस प्रकारकी युवती महिलाओंको सावधानीसे शिशुपालनकी विधि सीखनी चाहिये।

कितनी बार कितना दूध पिलाना चाहिये

शिशुके किंचित् रोते ही माताएँ दूध पिलाती हैं। यदि एक घंटेमें वह चार बार रोता है तो वे चारों ही बार शिशुको स्तन पिलाती हैं। इस प्रकार बालक स्वस्थ रहनेकी अपेक्षा अधिक दुर्बल हो जाता है। बिना पचे बार-बार दूध पिलाते रहनेसे वह दूध डालने लगता है। केवल भूख लगनेपर ही समयानुकूल दूध पिलाया जाय तो दूध डालना बंद हो जाय। नन्हे शिशुओंको अधिक बार दूध पिलानेकी आवश्यकता होती है; क्योंकि वे एक बारमें अल्पमात्रामें ही दूध पी पाते हैं और वह शीघ्र ही पच भी जाता है। ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है, त्यों-ही-त्यों दूधकी मात्रा बढ़ाते जाना चाहिये, साथ ही दूध पिलानेका समय भी बढ़ाते रहना चाहिये। वस्तुतः दूध पिलानेका ठीक समय वही है, जब शिशु भूखा हो, इसका कोई निश्चित समय नहीं बाँधा जा सकता और न परिमाण ही निश्चित किया जा सकता है। दूध पिलानेका जो समय निर्धारित किया जाता है, उसका अभिप्राय यह नहीं होता कि यदि बालकको उस समयसे पूर्व भूख लग जाय तो भी उसे दूध न पिलाया जाय और न तो यह होता है कि यदि शिशुको भूख न लगे तो भी ठीक उसी समय दूध पिलाया ही जाय। भूख लगनेपर भी

---

* काकड़ासिंगी, मुलहठी, मुनक्का, कायफल, मिश्री, हर्र, अमलतासका गूदा—ये सभी वस्तुएँ ४-४ रत्ती और काला नमक २ रत्ती (कूटकर) आधपाव पानीमें पकाये, जब एक तोला रह जाय तब छानकर शिशुको पिला दे, इससे कब्ज नहीं रहेगा।

कभी-कभी माताएँ बालकको अधिक सुलाने तथा अपने स्वच्छन्द रहनेके हेतु बालघुटीमें अफीम दे दिया करती हैं। यह बहुत ही हानिकर होता है, क्योंकि अत्यन्त कोमल मस्तिष्क बालकोंके अंदर नशीली वस्तु पहुँचकर उसके बुद्धि-विकासको नष्ट कर देती है। अफीम मलरोधक होनेके कारण मलको सुखा देता है, जिससे बालकको अनेकों उदर-व्याधियोंका शिकार होना पड़ता है। अतः ऐसी वस्तुएँ बालकोंको भूलकर भी नहीं देनी चाहिये।

शिशुको दूध नहीं दिया जायगा तो उसका पित्त कुपित हो जानेसे वह रक्तको जलायेगा और विलम्बसे पीया हुआ दूध ठीक-ठीक पचेगा भी नहीं। ठीक इसी प्रकार बिना भूख लगे दूध दिया जायगा तो अपच-अजीर्णादि कई व्याधियाँ हो जायँगी। नन्हे शिशुओंको जिस प्रकार दिनमें भूख लगती है, उसी प्रकार उन्हें रात्रिमें भी लगती है। अतः उन्हें रात्रिमें भी दूध देना चाहिये। ज्यों-ज्यों उनकी आयु बढ़ती जाती है, वे स्वयं रात्रिको दूध पीना कम करते जाते हैं*।

अन्न देनेकी विधि

भारतवर्षमें छः मासकी आयुतक प्रायः शिशुओंके दाँत नहीं निकलते। प्रकृतिके नियमानुसार जब आमाशयमें दूधके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके पचानेकी कुछ शक्ति आ जाती है, तभी दाँत निकलते हैं। यदि किसी बालकके दाँत एक वर्षतक न निकलें तो उसे दूधके अतिरिक्त कुछ भी खानेको नहीं देना चाहिये। दाँत निकलनेपर भी मनमानी वस्तुएँ नहीं खिलानी चाहिये; क्योंकि आमाशयके निर्बल होनेसे अन्नादि पदार्थोंका ठीक पाचन नहीं हो सकता। आरम्भमें शिशुको जो आहार दिया जाय वह पतला, नरम, स्वल्प, बलकारक और किसी विकारके उत्पन्न किये बिना पच जानेवाला होना चाहिये। प्रायः युवती नारियाँ बिना दाँत निकले ही बिस्कुट, पेड़ा, लड्डू, मिठाई आदि गरिष्ठ भोजन बालकोंको देने लगती हैं, पर ऐसा करना नितान्त हानिकारक है। छः महीनेके बाद ही अन्नप्राशन-संस्कार प्रायः भारतवर्षमें होता है, वह भी इसी सिद्धान्तका निर्देश करता है; क्योंकि दाँत निकलनेकी आयु छःसे आठ मासतक है। जब बालकके दो दाँत निकल आयें तो दूधकी मात्रा बढ़ा दे अथवा दूधमें साबूदाना, गेहूँका दरिया, चावलके लावा या चावलका माँड़ बल-काल देखकर देना चाहिये। प्रारम्भमें एकाएक बालकको रोटी नहीं देनी चाहिये, क्योंकि बिना दाँतोंके वह भली प्रकार चबायी नहीं जा सकती और उसके मेदामें भी रोटी-जैसी कड़ी वस्तु पचानेकी शक्ति नहीं होती। प्रथमसे ही बालकको अन्नके पदार्थोंपर निर्भर नहीं करना चाहिये। अपितु एक बार अन्न मिला दूध और यदि सम्भव हो तो एक बार संतरा, टमाटर, माल्टा, अंगूर आदिका रस और शेष समयमें दूध ही देना चाहिये। जौ, गेहूँ, चनेकी रोटी और रसयुक्त फलोंद्वारा पलनेवाले बालक सदैव हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ रहते हैं एवं अरारोट, बिस्कुट, चाय, चावल और बाहरसे आनेवाले सूखे दूधसे पले हुए बच्चे सदैव निर्बल, रोगी और दुबले-पतले रहते हैं। कारण इन पदार्थोंमें अस्थि-समूहको दृढ़ करनेवाला तत्त्व प्रायः नहीं होता। इससे उनकी कमर झुक जाती और पैरकी हड्डियाँ भी टेढ़ी हो जाती हैं। प्रारम्भसे बालकोंको मीठा बिल्कुल नहीं देना चाहिये। दाँत निकलनेपर दूधमें किञ्चित् मिलाया जा सकता है। अतः अधिक मीठा जिन बालकोंको दिया जाता है, उनके शरीरमें रक्तविकार, फोड़ा-फुंसी तथा उदरमें कृमि हो जाते और यकृत भी बढ़ जाया करता है। जब चार दाँत बालकके निकल आयें, तब रोटीके साथ पतली दाल और नरम शीघ्र पचनेवाले शाक दिये जा सकते हैं; किंतु गरिष्ठ पदार्थ—खोवे आदिकी मिठाई, चिवड़ा, आलू, घुइयाँ, शकरकंद, उबाली मटर, भुने चना आदि बिल्कुल नहीं देना चाहिये। सड़े, गले, बासी, कड़ुए और चाय आदि अति गरम तथा दूषित पदार्थ भी नहीं देने चाहिये। शिशुको उच्छिष्ट कभी नहीं खिलाना चाहिये। इससे भयंकर मुँहा उत्पन्न हो जाता है। प्रारम्भमें कभी-कभी बालकोंको आहार अनुकूल नहीं पड़ता, उस समय बड़ी सावधानीसे कूट्टू, रामदाना और धानकी खील प्रयोगमें लाना चाहिये।

दूध कब छुड़ाना चाहिये

बालकको दूध कबतक पिलाना चाहिये। इसका ज्ञान प्रत्येक नारीको होना चाहिये और तदनुसार व्यवहारमें लाना चाहिये। प्रायः माताएँ तबतक दूध पिलाती हैं, जबतक उनके स्तनोंमें दूध रहता है अथवा दूसरा बालक उदरमें नहीं आ जाता है। ऐसा करना बालक और माता दोनोंके लिये हानिकर है। यदि अवधिसे अधिक दिनतक माता अपने शरीरका अत्यावश्यक पोषक पदार्थ व्यय करती रहेगी तो अनेक व्याधियोंके लक्षण उत्पन्न हो जायँगे। मेरुदण्डमें कुछ खिंचावट-सी जान पड़ना, हृदयमें घबराहट, कोष्ठबद्धता, शूल, वमन, अरुचि, सिरमें भारीपन, कानोंद्वारा नाना शब्द सुनायी देना, अल्प श्रमसे हृदयकी गति बढ़ जाना, शरीर दुर्बल होना, रात्रिमें पसीना आना अथवा नेत्र-ज्योतिका कम होना आदि लक्षण जान पड़ते ही शिशुको ऊपरके दूधपर निर्भर कर स्तनपान बिल्कुल छुड़ा देना चाहिये। अतएव यदि उपर्युक्त

* दूध पिलानेके समय और परिमाणकी तालिका इसी अंकमें 'बच्चोंका भोजन' शीर्षक लेखमें दी जा रही है। —सम्पादक

व्याधियाँ माताको न हों तो कबतक माता शिशुको दूध पिलाये ? इस विषयमें वैज्ञानिकोंका मत एक वर्ष दूध पिलानेका है; किंतु भारतवर्षमें तीन वर्षतक बालक दूध पीते देखे जाते हैं, इससे अधिक हानि होती है। भारतीय विशेषज्ञोंके अनुसंधानसे डेढ़ वर्ष माता स्तनपान करा सकती है। दूध छुड़ानेका यह अभिप्राय न समझ लेना चाहिये कि डेढ़ वर्षके उपरान्त बालकको दूध देना ही बंद कर दें। दूध तो जीवनभर पीनेकी आवश्यकता है। उक्त कथनका अभिप्राय इतना ही है कि माता या धायीको अपना दूध डेढ़ वर्षसे अधिक एक बालकको नहीं पिलाना चाहिये। डेढ़ वर्षके उपरान्त गाय या बकरीका दूध, जो सुलभ हो, पिलाना चाहिये।

दूध छुड़ानेकी विधि

प्रायः देखनेमें आता है कि दूध छुड़ानेके लिये कोई-कोई माताएँ अपने स्तनमें मिर्चा या अन्य घृणात्मक पदार्थको लगाकर बालकका दूध छुड़ाती हैं। यह क्रिया बालक और माता दोनोंके लिये कष्टदायक है। यह कष्ट उन्हीं माताओंको उठाना पड़ता है जो बालकको नियमानुसार दूध नहीं पिलातीं। इन कृत्रिम साधनोंसे यदि बालक दूध छोड़ भी देता है तो आरम्भमें छः-सात दिन आहार बिल्कुल नहीं करता, जिससे अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। यदि माताएँ नियमसे प्रथम सप्ताहमें एक बार दूध पिलाना कम कर दें, दूसरे सप्ताहमें एक बार और कम करके स्वल्प अन्नाहार अथवा ऊपरी दूधकी मात्रा कुछ अधिक बढ़ा दें तो अनायास ही बालकका दूध बिना किसी कठिनाईके छूट जायगा।

दूध छुड़ानेके बाद बालकका आहार

बालकको दूध छूट जानेके बाद जौ, गेहूँ, चनेकी रोटी, मूँग, मसूर, अरहरकी दाल, दूध, थोड़ी चीनी, गोभी, टमाटर, भिंडी, परवल, लौकी, तरोई आदिकी तरकारी देनी चाहिये। कड़ी वस्तुएँ, जो विलम्बसे पचनेवाली, बासी तथा बाजारकी मिठाइयाँ आदि तो बिल्कुल नहीं देनी चाहिये। प्रायः लोग बालकोंके भोजन और वस्त्रोंकी स्वच्छतापर भी ध्यान नहीं देते, इससे उनकी दिनचर्या और आचार-विचारोंपर कुसंस्कार अपना अधिकार जमा लेते हैं, इसलिये जिस प्रकार अपनेसे बड़ेके प्रति स्वच्छ और मर्यादाका बर्ताव किया जाता है, ठीक उसी प्रकार बालकोंके प्रति भी होना चाहिये। बारह वर्षतकके बालक माता-पिताके लिये बालक ही हैं, इतनी आयुतक उनकी शिक्षा-दीक्षा, लालन-पालन, आहार-व्यवहार और चरित्रवान् बनानेका उत्तरदायित्व सर्वथा माता-पितापर रहता है। इसलिये उन्हें इस योग्य अवश्य बनाना चाहिये, जिससे वे स्वस्थ-शरीर और स्वस्थ-चित्तवाले होकर समाजका कल्याण कर सकें। बालकको योग्य बनानेमें ही माता-पिताकी उद्देश्यपूर्ति निहित है और यदि बालकोंको सुयोग्य बनानेकी व्यवस्था न हुई तो वे समाज और पृथ्वीके भार होकर पूर्वजोंके नामको कलङ्कित करेंगे।

आदर्श बालक

(रचयिता—श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

किसने कहा देश-भक्तोंसे करना तुम सर्वस्व प्रदान ?
किसने कहा दान-वीरोंसे दान करो तो होगा मान ?
किसने कहा संत तुलसीसे करो रामका तुम गुण-गान ?
कौन कभी कहता मातासे—समझो शिशुको अपना प्राण ?
किसने कहा कभी बादलसे—शान्त करो धरतीकी प्यास ?
किसके कहनेसे पुष्पोंसे निकला करती मधुर सुवास ?
कौन प्रेरणा रविको देता स्वर्ण-किरणका दे वह दान ?
कौन चन्द्रमासे कहता है, छबि छिटकाओ सुधा-समान ?
किसके कहनेसे दीपकसे अंधकारका होता नाश ?
कौन कभी जलसे कहता है, शीतलता दो सुधा-समान ?
कोई कभी न कहता इनसे, ऐसे अनुपम काम करो ।
कोई कभी न कहता इनसे, यों सेवा निष्काम करो ॥
ये सज्जन हैं और सज्जनोंको निशि-दिन यह चिंता एक—
'दुखियोंको सुख मिले और वे फूलें-फलें रहें सविवेक ॥'

बच्चोंका भोजन

(लेखक—डा० लक्ष्मीकान्त एम०बी०बी०एस, डी० पी०एच०, डी०टी० एम०एण्ड एच०, डी०आई०एच०, एफ०आर०आई०पी०एच०एच०)

भगवान्‌की कृपासे प्रकृतिका कुछ ऐसा विधान है कि जब बच्चा माके पेटमें रहता है, तभी उसके स्तनोंमें दूध पैदा होने लगता है। किसी भी बच्चेके लिये अपनी माके दूधसे बढ़कर दूसरी कोई चीज नहीं है। बच्चोंका उसपर अपना जन्मसिद्ध अधिकार है। अगर कोई स्त्री किसी भी कारणसे अपने बच्चेको दूध नहीं पिलाती, तो वह अपने 'मातृत्व'की रक्षा नहीं करती। माताका स्तन वास्तवमें बच्चेके लिये दूध तैयार करनेका ईश्वरीय कारखाना है, जिसकी तुलना संसारका कोई भी दूध बनानेवाला कारखाना नहीं कर सकता। बाजारू दूधोंको माताके दूधसे अधिक पुष्ट समझना बहुत बड़ी भूल है। बच्चेको स्तन-पान कराना केवल बच्चेके लिये ही हितकर नहीं है; बल्कि माताके स्वास्थ्यके लिये भी लाभदायक है। जन्मसे सालभरके अंदर मरनेवाले बच्चोंमें अधिकांश बच्चे माके दूधके अभावसे ही मरते हैं। यदि सभी माताएँ अपने बच्चोंको नियमपूर्वक अपना ही दूध पिलायें तो इस मृत्यु-संख्यामें बहुत बड़ी कमी आ जाय, लड़के बहुत जल्दी बीमार न पड़ें। माताके स्तन-पान करनेवाले बच्चोंके आहारमें छूत लगनेका भय नहीं रहता। माताके दूधमें रोगोंसे बचनेकी अद्भुत शक्ति रहती है और वह स्नायु-नाड़ियोंको स्वस्थ और समतुल रखता है। संतानकी सुन्दरताके विचारसे भी स्तन-पान करानेकी अत्यन्त आवश्यकता है। बोतलद्वारा दूध पिलानेसे बच्चोंके चेहरे, दाँत और कण्ठमें विकार पैदा हो जाता है।

जिस प्रकार स्तनमें दूधका पैदा होना एक स्वाभाविक क्रिया है, उसी तरह दूध पिलाना भी माताका प्राकृतिक कर्त्तव्य होना चाहिये। हम अपने जीवनको जितना अधिक प्राकृतिक बना सकें, अच्छे स्वास्थ्यके लिये उतना ही लाभदायक होगा। बच्चोंको स्तनपान करानेसे स्त्रीका शारीरिक और मानसिक विकास होता है। कुछ स्त्रियाँ स्तन-सौन्दर्यके नष्ट हो जानेके भयसे बच्चोंको दूध नहीं पिलातीं। यह उनकी बड़ी भूल है। वे केवल अपने ही लिये या केवल भोग-विलासके लिये ही पैदा नहीं हुई हैं। उनके सिरपर बहुत बड़ी जवाबदारी है, चाहे वे इसे जानें या न जानें, समझें या न समझें और निबाहें या न निबाहें। पैदा होनेवाला प्रत्येक बच्चा राष्ट्रका कर्णधार होता है। उन्हें वैसा बनानेकी जवाबदारी विशेषकर माताओंपर ही होती है। वे जैसा चाहें वैसा ही अपने लड़कोंको बना सकती हैं। बच्चोंको स्तनपान न करानेसे बच्चेकी, साथ ही कुल, जाति और राष्ट्रकी भी महान् क्षति है।

दूध-पान करानेका नियम

प्रायः स्त्रियाँ चारपाईपर लेटकर बच्चोंको दूध पिलाती हैं, कुछ माताएँ जब बच्चा कुछ बढ़ जाता है, तब दूध पिलानेमें स्वयं कोई भाग नहीं लेतीं। फलतः बच्चे जैसे चाहते हैं, वैसे स्तनको खींच-तानकर दूध पीते हैं, यह ठीक नहीं है। चतुर माताएँ बैठकर और बच्चेको गोदीमें सीधे बैठाकर दूध पिलाती हैं। यदि बच्चा बहुत छोटा होता है तो वे उसे अपने दोनों हाथोंके सहारे ऊपर उठाये रहती हैं। इसमें कोई शक नहीं कि इस तरह दूध पिलाना एक कसरत एवं कष्टदायक काम है। कुछ स्त्रियाँ इसे पसंद नहीं करेंगी; परंतु ऐसा करनेसे होनेवाले लाभोंकी उपेक्षा करना बहुत बड़ी मूर्खता है। लेटकर दूध पिलानेसे बच्चोंके कानमें दूध चले जानेका भय रहता है, जिससे कानकी बीमारी हो जा सकती है।

जिसमें बालक स्वस्थ रहे और उसके शरीरका उचित विकास हो, यह बहुत जरूरी है कि उसको काफी आहार मिले और इसके लिये उचित है कि दूध पिलानेवाली माताएँ पुष्ट और पौष्टिक भोजन करें। माताओंको गर्भकालमें और उसके बाद कुछ समयतक पर्याप्त मात्रामें कई बार औंटा जल पीना चाहिये और उन्हें अपने स्तन और चुचुकको अच्छी तरह साफ रखना चाहिये।

बच्चोंको जन्मसे लेकर ९ मासतक केवल माके दूधपर ही रखना उचित है। कुछ मा-बाप बच्चोंको चौथे या छठे महीनेमें ही थोड़ा बहुत दाल-भात चटाना शुरू कर देते हैं। यह बहुत बड़ी भूल है। उस समयतक बच्चोंमें अन्न पचानेकी पर्याप्त शक्ति नहीं रहती। माताके दूधमें लोहे और विटामिन 'सी'का अंश, जिसकी शरीरको जरूरत है, बहुत कम रहता है, इसलिये अगर बच्चोंको तीसरे महीनेसे थोड़ा बहुत नारंगी या टमाटरका रस पिलाया जाय तो बहुत लाभ होगा।

स्तनपान करानेवाली माताओंको नीचे बतायी गयी बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये ।

(१) वे ज्यादा तरल पदार्थ न खायँ ।

(२) बच्चेको साथ लेकर सोनेवाली माताएँ अपना स्तन अच्छी तरह बाँधकर रक्खें, जिसमें बच्चे बँधे हुए समयके अलावा दूध न पी सकें । कुछ बच्चोंको माके स्तनमें बराबर मुँह लगाये रहनेकी बुरी आदत पड़ जाती है; यह ठीक नहीं ।

(३) कुछ माताएँ, जिनके स्तनोंमें जरूरतसे अधिक दूध उतरता है, अपने बच्चोंको जबरदस्ती दूध पिलाते रहनेकी चेष्टा करती हैं । यह भी खराब है ।

(४) यदि अधिक दूध हो जानेके कारण स्तनमें दर्द मालूम पड़े तो उसको गरम जलमें तौलिया भिगोकर सेंके और तब जरूरतके मुताबिक दूध गारकर स्तनको पट्टीसे बाँध दे ।

(५) सम्भव है कुछ बच्चोंको ऐसा करनेसे दो-चार रोज असुविधा हो; परंतु पीछे वे इस नियमके आदी हो जायँगे ।

(६) यदि बच्चा दर-असल बहुत भूखा हो जाय तो नारंगी या टमाटरका रस पिलाया जा सकता है । इन चीजोंको पिलाते समय शुद्धता और सफाईका विशेष खयाल रखना चाहिये ।

ऊपर कहा जा चुका है कि बच्चोंको केवल ९ मासतक स्तनका दूध पिलाना चाहिये; परंतु देखा जाता है कि कुछ माताएँ प्यारसे बच्चोंको दो-तीन वर्षों या उससे भी अधिक समयतक दूध पिलाती रहती हैं । बच्चोंको दीर्घकालतक स्तन-पान कराते रहनेसे लाभकी अपेक्षा अधिक क्षति होती है । लड़केकी आदत बिगड़ती है, माताका स्वास्थ्य खराब होता है, जिसका असर बादके होनेवाले बच्चोंपर पड़ सकता है । इस विषयमें मनुष्योंकी अपेक्षा पशु अधिक चतुर हैं, जो एक खास समयके बाद बच्चोंको दूध पिलाना बंद कर देते हैं ।

दूधका कम होना और उसका उपाय

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि किसी स्त्रीके स्तनमें काफी दूध न होता हो तो क्या करना चाहिये और किन कारणोंसे पर्याप्त दूध पैदा नहीं होता ।

माताओंके स्तनमें कम दूध पैदा होनेके कारण

(१) गर्भावस्थामें उचित स्वास्थ्यकर नियमोंकी अज्ञानता या उनके पालन करनेमें असावधानता ।

(२) संतान पैदा हो जानेके बाद की जानेवाली लापरवाहियाँ ।

(३) माताओंको उचित पौष्टिक और समतुल भोजनका न मिलना ।

(४) उचित परिमाणमें पानी नहीं पीना ।

(५) अस्वास्थ्यकर कोठरीमें रहना और सोना ।

(६) चिन्ता, शोक, विषाद, कलह और दुःख ।

(७) ऐसी चीजोंका खाना, जो आसानीसे पच न सके ।

(८) आवश्यकतासे अधिक खाना ।

(९) कब्जकी शिकायत ।

(१०) कुसमयमें या अनियमित भोजन करना ।

उपाय

(१) कारणोंका पता लगाना और उन्हें दूर करना ।

(२) यदि स्त्री दूध पिलाने और स्वास्थ्यके सभी नियमोंको ठीकसे पालन कर रही हो और बच्चेका शरीर तथा तौल उचित परिमाणमें बढ़ रहा हो तो उसे इस बातकी कभी चिन्ता नहीं करनी चाहिये कि उसको काफी दूध नहीं होता ।

(३) बच्चेको हर बार दोनों स्तनका दूध भर पेट पीने देना चाहिये । बच्चा कमजोर हो और वह स्तनसे अच्छी तरह दूध खींचनेमें असमर्थ हो तो किसी दूसरे स्वस्थ बालकको स्तनका समूचा दूध पिला दें; अगर ऐसा सम्भव न हो तो हाथसे निचोरकर फेंक देना चाहिये ।

(४) दूध पिलानेके आधा घंटा पहले ऐसी माताओंको उचित है कि एक गिलास पानी पी लें ।

(५) खीर, खिचड़ी, खोआ, दाल (मसूरकी), दही, पपीता और तिलकी बनी चीजोंका व्यवहार करनेसे दूध बढ़ता है ।

(६) स्तनपर रेड़ीके पत्तेकी पट्टी बाँधनेसे भी दूध बढ़ सकता है ।

बच्चेको कितनी बार और कितना दूध पिलाना चाहिये

कुछ माताओंकी आदत होती है कि जब-जब बच्चा

रोता है, तब-तब दूध पिलाती हैं; परंतु यह गलत तरीका है। लड़केके रोनेके कई कारण हो सकते हैं; बच्चोंको दूध पिलाकर बहलाने-फुसलानेकी अपेक्षा उन कारणोंको दूर करना अधिक अच्छा है। एक खास बँधे हुए समयपर खानेकी आदतका तंदुरुस्तीपर बहुत बड़ा और अच्छा प्रभाव पड़ता है। बच्चोंमें लड़कपनसे ही यह आदत डालनी चाहिये।

यहाँ उत्तरप्रदेश (यू० पी०) के स्वास्थ्य-विभागकी सिफारिशके मुताबिक 'इण्डियन रेड क्रॉस सोसाइटी'द्वारा प्रकाशित 'चाइल्ड वेलफेयर' नामकी छोटी पुस्तिकामें दी गयी तालिकाकी नकल दी जाती है। अगर इसी तालिकाके अनुसार लड़कोंको दूध पिलाया जाय तो उनके स्वास्थ्यके लिये यह बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। यह तालिका दूध पिलानेसे सम्बन्ध रखनेवाली प्रायः बहुत-सी समस्याओंको हल करती है। जैसे—किस अवस्थामें, कितना, कितनी बार और कितनी देरपर दूध पिलाना चाहिये। यह नियम, चाहे बच्चोंको स्तनसे दूध पिलाया जाय या बोतलसे—दोनों हालतमें समानरूपसे लागू होगा।

बच्चेकी उम्र	दिनमें	रातमें	२४ घंटेमें	एक बारमें
	कितनी-कितनी देरके बाद दूध पिलाना चाहिये	कितनी बार दूध पिलाना चाहिये	कुल कितनी बार दूध पिलाना चाहिये	कितना दूध पिलाना चाहिये
पहले चार दिनोंमें	प्रति दो घंटेपर	२ बार	६ से १० बार	एकसे दो औंसतक
५, ६ और ७ वें दिन	,, २ ,,	२ ,,	१० ,,	१ से २ ,,
दूसरे सप्ताहमें	,, २ ,,	२ ,,	८ ,,	२ से २½ ,,
तीसरे सप्ताहमें	,, २ ,,	२ ,,	८ ,,	२½ से ३ ,,
४ थेसे ८ वें सप्ताहमें	,, २½ ,,	१ ,,	७ ,,	३ से ४ ,,
तीसरे महीनेमें	,, २½ ,,	१ ,,	७ ,,	४ से ५ ,,
चौथे महीनेमें	,, ३ ,,	१ ,,	६ ,,	५ से ५½ ,,
पाँचवें महीनेमें	,, ३ ,,	१ ,,	६ ,,	५½ से ६ ,,
६ से १० वें महीनेमें	,, ३ ,,	...	५ ,,	६ से ८ ,,

नोट—एक औंस लगभग आध छटाँकके बराबर होता है।

दूध पिलानेके समय इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि चुचुक और वस्त्र साफ हों। यह भी देखना चाहिये कि बच्चा धीरे-धीरे दूध पीता है। चुचुकको हाथसे पकड़े रहने और उसको धीरे दबानेसे बच्चेको दूध पीनेमें सुभीता होती है। एक स्तनका यथाशक्ति समूचा दूध पी लेनेके बाद ही दूसरे स्तनका दूध बच्चेको पिलाना उचित है।

बच्चोंको कब और कैसे दूध छुड़ाना चाहिये

जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है, बच्चोंको ९ या १० महीनेके बाद माका दूध बंद कर देना चाहिये। दूध छुड़ानेका अनुकूल मौसम जाड़ा है। गरमीके दिनोंमें दूध छुड़ाना एक तरहसे खतरनाक है। इन दिनों धूलवाली बीमारियों और मक्खियोंकी तेजी रहती है और काफी धूल उड़ा करती है। सम्भव है कि इन दिनों दूध छुड़ानेसे उसके स्थानपर खिलाने-पिलानेकी चीजें किसी प्रकार दूषित हो जायँ।

स्तनपान बंद कर देनेका यह मतलब नहीं है कि बच्चोंको केवल अन्न ही खिलाना शुरू कर दें। माका दूध बंद कर देनेके बाद भी दूध ही बच्चेका मुख्य आहार होना चाहिये। थोड़ा बहुत दूध-भात या दूधमें पकायी हुई सूजी दी जा सकती है। माका दूध बंद कर देनेके बाद कम-से-कम तीन पाव दूध

हर रोज पिलाना चाहिये। इसके अलावा थोड़ा-बहुत जल और फलोंका रस पिलाना भी बहुत जरूरी है।

किन हालतोंमें माताका दूध नहीं पिलाना चाहिये

कुछ खास हालतोंमें बच्चेको स्तनपान कराना बच्चे या उसकी माके लिये हानिकारक है। वे इस प्रकार हैं—

(१) गर्भवती स्त्रियोंका दूध पिलाना, स्त्रीके स्वास्थ्य और गर्भस्थ बालकके स्वास्थ्यकी दृष्टिसे मना है।

(२) जिन स्त्रियोंको क्षय, नासूर (कैन्सर), कुष्ठ इत्यादि भयंकर रोग हों, उन्हें अपने बच्चेको दूध नहीं पिलाना चाहिये।

(३) बच्चोंको बार-बार या बहुत देरतक दूध पिलानेके कारण या चुचुकको दूध पिलानेके बाद गीला छोड़ देने या असावधानीसे दूध पिलानेके कारण उसमें प्रायः दर्द पैदा हो जाता है। ऐसी परिस्थितिमें भी दूध पिलाना मना है।

(४) यदि स्तनमें किसी खास कारणसे दर्द या लहर अथवा उसमें किसी खास तरहका नाजुकपन मालूम हो तब भी दूध पिलाना मना है।

बच्चोंको धायका दूध पिलाना

माताके दूधके अभावमें बच्चोंको धायका दूध पिलाया जाता है; परंतु याद रहे कि बच्चोंको धायके हाथमें सुपुर्द करनेके पहले धायकी स्वास्थ्य-परीक्षा भलीभाँति करा लेनी चाहिये। दूधका असर बच्चोंके स्वास्थ्यपर पड़ता है। धायके दूधमें किसी प्रकारकी त्रुटि अथवा विकार बच्चोंके स्वास्थ्य और तंदुरुस्तीके लिये अहितकर है। विकारग्रस्त दूध-पानसे बच्चे खिन्न और रुग्ण हो जाते हैं तथा अनेकानेक रोगोंके चंगुलमें फँस जाते हैं, परिणामतः वे अकालमें ही कालके गालमें चले जाते हैं। किसी-किसी धायमें पुश्तैनी बीमारी पायी जाती है, जिसके कुप्रभावसे बच्चे वञ्चित नहीं रहते। अतएव माता-पिताको सावधानी रखनी चाहिये कि बच्चोंको किसी धायके जिम्मे सौंपनेके पहले उसकी पुश्तैनी बीमारीकी जाँच-पड़ताल किसी सुयोग्य डाक्टरसे करवा लें, ताकि बच्चोंको किसी प्रकारकी क्षति न हो। इसके अतिरिक्त यह बात बहुधा देखनेमें आती है कि धाय गंदी रहती है और बिना स्तनको साफ किये ही बच्चेको दूध पिलाती है। यह बहुत बुरी बात है। माता-पिताको चाहिये कि वे धायका ध्यान सफाईकी ओर आकर्षित करें। दूधका सम्बन्ध खान-पानसे भी है। दूध पिलानेवाली धायको उत्तेजक पदार्थ, जैसे— खटाई, मिठाई, मिर्च, राई आदि नहीं खाना चाहिये। सात्त्विक भोजन और फल-मूलका प्रयोग दूध पिलानेवाली धायके लिये पर्याप्त है। इन चीजोंके व्यवहारसे दूध शक्तिवर्द्धक और विशुद्ध होता है; जिसकी बच्चोंके लिये नितान्त आवश्यकता है। धायका आचरण और स्वभाव कैसा है, उसमें कोई कुटेव या कुचेष्टाकी आदत तो नहीं है। यह भी भलीभाँति जाँच-देख लेना चाहिये। धाइयोंकी कुचेष्टासे छोटे बालकोंमें ही बुरी आदतें आने लगती हैं और आगे चलकर उनका सर्वनाश हो जाता है।

माता और धायके दूधके विषयमें हम पहले बता चुके हैं। अब जानवरोंके दूधके विषयमें भी कुछ कहना अत्यावश्यक है। इसके साथ-साथ माताके दूध, गायके दूध, भैंसके दूध तथा बकरीके दूधमें रासायनिक भिन्नता क्या है, इसका स्पष्टीकरण निम्नाङ्कित तालिकासे हो जायगा—

तालिका

	मांसवर्द्धक पदार्थ	चिकनई	श्वेतसार	नमक	पानी
१—माताका दूध	२.९७	२.९	५.८	०.१६	८८.०
२—गायका दूध	४. ०	३.७	४.८	०. ७	८६.८
३—भैंसका दूध	४. ४	९.०	४.८	०. ८	८१.०
४—बकरीका दूध	३. ६	४.२	४.०	०.५६	८७.५

माताके दूध, गायके दूध और बकरीके दूधकी अपेक्षा भैंसके दूधमें मांस-वृद्धि और चिकनई अधिक है। श्वेतसार माताके दूधमें सबसे अधिक, गाय और भैंसके दूधमें समान रूपमें तथा बकरीमें इन सबसे कम पाया जाता है। माताके दूधमें पानीका अंश विशेष पाया जाता है। बकरीके दूधमें माताके दूधके बनिस्बत कम, गायके दूधमें बकरीके दूधसे कम तथा भैंसके दूधमें सबसे कम पाया जाता है। माताके दूधके अभावमें बच्चोंको बकरीका दूध पिलाना चाहिये। बकरीका दूध न मिलनेपर गायका दूध भी पिलाया जा सकता है। लेकिन भैंसका दूध पिलाना बिल्कुल अनुचित है; चूँकि भैंसके दूधमें मांसवर्द्धक पदार्थ और चिकनई विशेष है; जिसको बच्चे आसानीसे नहीं पचा सकते।

बोतलसे दूध पिलाना

अगर माता किसी कारणसे बच्चेको स्तनका दूध पिलानेसे लाचार हो। अथवा यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाय कि

उसको दूध नहीं होता है तो गाय या बकरीका दूध पिलाया जा सकता है। यह बात हमेशा याद रहे कि जबतक बच्चोंको दाँत न निकल आये, दूधके बदले दूसरी कोई चीज नहीं देनी चाहिये। दूध चाहे माका हो या जानवरका। माके दूधके बदले किसी दूसरे जानवरका दूध पिलानेवालोंको उसकी सफाई और शुद्धिमें पूरा खयाल रखना चाहिये और उसकी कोशिश रखनी चाहिये कि दूसरा पिलाया जानेवाला दूध माताके दूधके समान सुपाच्य और पुष्ट हो।

शुद्ध और स्वच्छ दूध प्राप्त करनेका तरीका

१–बच्चोंको पिलाया जानेवाला दूध बाजारसे कभी नहीं खरीदना चाहिये।

२–दूध गाय या बकरीके थनसे अपने सामने दुहाना चाहिये।

३–दूधको लगभग तीन घंटेतक स्थिर भावसे पड़े रहने देना चाहिये। उन तीन घंटोंके बाद उसको दूसरे बर्तनमें इस प्रकार ढाल लें कि नीचेका हिस्सा हिलने-डुलनेसे फिर न मिल जाय। इस निचले हिस्सेवाले दूधको बच्चेको पिलानेके अयोग्य समझना चाहिये।

४–दूधको केवल पाँच मिनटतक उबालिये और उबालते समय बराबर चलाते जाइये, जिसमें मलाई न पड़े।

५–दूध गरम हो जानेपर दूधभरे गरम बर्तनको शीघ्र ठंढा होनेके लिये ठंढे जलसे भरे हुए एक बड़े बर्तनमें रक्खें। जबतक वह अच्छी तरह ठंढा न हो जाय, उसे चलाते रहना चाहिये।

६–दूधवाला बर्तन एक साफ-सुथरा धुले हुए बर्तनसे ढका रहना चाहिये; जिसमें धूल और मक्खी न पड़ने पावे। ऊपर बताये गये तरीकेसे दिनभरमें दो बार दूध तैयार करना चाहिये।

बच्चोंको पीनेके लिये दिये जानेवाले पशुके दूधको माताके दूधके समान बनानेके तरीके

माताके दूधकी अपेक्षा जानवरोंका दूध कुछ भारी होता है। छोटे बच्चेको उसे सुपाच्य और हल्का बनाकर पिलाना चाहिये। चतुर माताएँ जानवरोंके दूधमें एक तिहाई शुद्ध और स्वच्छ उबाला हुआ जल फेटकर पिलाती हैं। इस प्रकार जल मिलानेसे दूधकी मिठास कम हो जाती है। वह कुछ बेस्वाद हो जाता है; अतः उसमें थोड़ी-सी चीनी और माल्ट किया हुआ पदार्थ मिला देनेसे वह अधिक पुष्ट और अधिकस्वादिष्ट हो जाता है।

माल्ट बनानेका तरीका

चावल और गेहूँको छोड़कर बाजरा, मकई, चना, जुँआर या मड़ूआको २४ घंटेसे ३६ घंटेतक स्वच्छ पानीमें घुलने दें, इस बीचमें पानीको कम-से-कम छः बार बदलना चाहिये। आखिरी बार, पानी फेंकनेके बाद उसको एक दूसरे बर्तनमें रख दें। कुछ समयके बाद उसमें अङ्कुर निकल आयँगे। अङ्कुर निकल आनेके बाद अनाजको साफ कपड़ेपर बिछा दें और उसपर थोड़ा-थोड़ा जल इस तरहसे दें कि अन्नमें नमी बनी रहे, परंतु भींगे नहीं। जब अङ्कुर आधा इंचसे एक इंच लंबा हो जाय, तब उसको छायामें छः घंटेतक सूखने दें और अन्तमें थोड़ी देरतक धूपमें भी सुखा लें।

इस तरह सूखे हुए अनाजमें फिर पानीके कुछ छींटे लगाकर, जिसमें नमी पैदा हो जाय, हाथसे या मोटे कपड़ेसे रगड़कर अङ्कुरको पृथक् कर दें। यदि आपकी इच्छा हो तो उस अन्नको छाँटकर उसके छिलकेको भी हटा सकते हैं। अब अनाजको धीमी आँचपर उलाकर जातेमें पीसकर आटा या सत्तू बना लें। यही माल्ट कहलाता है। इस तरह तैयार किये गये आटेका हलवा, खीर या रोटी बहुत स्वादिष्ट होती है। प्रत्येक बनावटी दूध पीनेवाले बच्चेको दूसरे महीनेसे संतरा, नीबू, जमीरी, चकोतरा, अंगूर या पके हुए टमाटर (विलायती बैगन) का रस बीच-बीचमें पिलाना आवश्यक है। दूधमें लोहा और जीवतत्त्व (विटामिन सी) का अंश (शरीर-वृद्धिके लिये जिसकी सख्त जरूरत रहती है) कम रहता है।

जो माता-पिता गरीबी या अन्य कारणसे शुद्ध दूधका इंतजाम करनेमें असमर्थ हों, वे मलाई या मक्खन निकाले हुए दूधका भी इस्तेमाल कर सकते हैं। दूधके सर्वथा अभावकी अपेक्षा यह अधिक लाभदायक होगा। बाजारोंमें बिकनेवाले 'ग्लेक्सो, हारलिक्स' जैसे माल्ट किये हुए दूधकी बुकनीका पेय भी बच्चोंके पीनेके लिये काफी मुफीद है। एक छटाँक गरम पानीमें लगभग दो छोटी चम्मचके बराबर बुकनी घोलनी चाहिये। इसमें चीनी या कोई चीज मिलानेकी जरूरत नहीं होती।

दूध पिलानेवाली बोतल

ये बाजारोंमें मिलती हैं, ये कई तरहकी और कई कारखानोंकी बनी होती हैं। इसमें हाराजन मार्कावाली बोतल सबसे अच्छी मानी गयी है।

बोतलमें दूध पिलानेके लिये चुचुक-जैसा लगा हुआ रबर अच्छी जातिका होना चाहिये। उसका छेद इतना काफी छोटा हो कि उसको चूसनेपर बच्चेके मुँहमें उचित मात्रामें ही दूध जाय।

दूध पिलानेवाली बोतलकी हिफाजत

बच्चेको दूध पिलानेके बाद बचे हुए दूधको फेंक दीजिये और बोतलको तत्काल गरम जलसे अच्छी तरह धोकर साफ कर दीजिये। दूधका चिकनापन दूर करनेके लिये जलके साथ नमक या बेसनका भी प्रयोग किया जा सकता है। रबरवाले चुचुकको भी बड़े यत्नसे अच्छी तरह साफ कर देना चाहिये। इसके अलावा बोतल और चुचुकको हर रोज एक या दो बार गरम जलमें उबाल देना चाहिये। उबालनेके तरीके नीचे टिप्पणीमें देखिये!*

इस बातको सदा याद रखना चाहिये कि बोतलमें किसी प्रकारकी गंदगी रहनेसे दूध खराब होकर बुरा असर डालेगा। इस तरह सावधानीपूर्वक साफ की गयी बोतल और चुचुकके रखनेमें भी काफी सावधानीकी जरूरत है। उन्हें या तो पानी भरे हुए बर्तनमें रखना चाहिये या किसी साफ जगहपर बर्तनमें डुबाकर रखना चाहिये अथवा किसी साफ-स्वच्छ जगहपर ढँककर, जिसमें धूल वगैरह नहीं पड़ने पावे। ऊपर बतायी गयी सफाइयोंकी सख्त जरूरत है; क्योंकि हवामें तरह-तरहके जीवाणु, जिन्हें हम अपनी आँखोंसे नहीं देख सकते, और तरह-तरहकी बीमारी पैदा करनेवाले होते हैं। दूधकी थोड़ी-सी भी गन्ध पाकर उसमें अपना वंश-विस्तार करते हैं। दूध पिलाते समय बोतलको मोटे कपड़ेसे ढाँककर रखना चाहिये जिसमें दूध जल्दी ठंढा न हो।

९-१० महीनेके बाद बच्चेको दिये जानेवाले भोजन और उनका तरीका—

इसके पहले हम ९ या १० महीनेके बच्चोंको क्या, कितना और कैसे खिलाना-पिलाना चाहिये यह बता चुके हैं। इस प्रकरणमें उसके बाद दी जानेवाली खाने-पीनेकी चीजें और उनका तरीका बताया जाता है।

जब बच्चा ९ या १० महीनेका हो जाय, तब उसको एक या दो बार सूजी, चावल या दालकी बनी पतली चीजें दे सकते हैं। खयाल रहे कि ये सारी चीजें खिलाते-पिलाते रहनेपर भी प्रतिदिन उसे तीन पाव दूध पिलाना अत्यावश्यक है। समय-समयपर थोड़ा बहुत पानी और फलोंका रस भी पिलाना कभी नहीं भूलना चाहिये। चलनीमें रगड़कर छिलके छुड़ाये हुए सेवके दो-चार कतरे भी खिलाये जा सकते हैं।

बारहसे अठारह महीनेके अंदर दिये जानेवाले भोजन, उनका समय और परिमाण—

समय	दी जानेवाली चीजें	प्रमाण	तरीका
छः बजे सुबह	१—ताजा दूध २—चीनी ३—रोटी	एक पाव अठन्नी भर $\frac{1}{4}$ भाग	थोड़ा-सा घी लगाकर दूधमें अच्छी तरह मिलाकर
ग्यारह बजे	१—तरकारी-का झोल २—आलू, सोवा, पालकका साग या दूसरी तरकारी ३—दूधमें मिलाया हुआ साबूदानेका गुलगुला ४—फल	$\frac{1}{2}$ पाव थोड़ी-सी एक छटाँक $\frac{1}{2}$ "	बिना मसालेका थोड़ेसे घीमें तैयार किया हुआ
चार बजे शाम	दूध रोटी	२ छटाँक $\frac{1}{4}$ "	थोड़ा-सा घी लगाकर
सात बजे शाम	१—सूजी, दाल, चावल या साबूदाने-की फुलौड़ी २—ताजा दूध	एक छटाँक एक पाव	

* एक बड़े बर्तनमें जिसमें इतना काफी जल अँटता हो कि दूध पिलानेवाली बोतल अच्छी तरह डूब सके, बोतल और चुचुक डालकर आगपर चढ़ा दें। जब पानी काफी गरम हो जाय तो पाँच मिनटके बाद निकाल लें। इस तरह उबालनेसे बोतलके फूटनेका डर नहीं रहता है।

अठारह महीनेके बाद दिये जानेवाले भोजन और परिमाण

इन बच्चोंको भी ऊपर बताये गये तरीकोंसे खिलाना चाहिये । लड़का सह सके तो चार बजे शामका नाश्ता बंद कर देना चाहिये । ग्यारह बजे दिनके और सात बजे शामके भोजनकी मात्रामें थोड़ी वृद्धि कर देनी चाहिये । सुबह छः बजे और सात बजे शामको पावभरके बदले आधा सेर दूध पिलाना चाहिये । इस समय दाल और दहीका व्यवहार भी कर सकते हैं। अन्तमें हम बच्चोंको पर्याप्त दूध और सोयाबीन देनेके बारेमें दो शब्द और लिखकर इस लेखको समाप्त करते हैं। प्रायः देखा गया है कि कुछ परिवार जिनकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं होती तथा जिन्हें थोड़ी-सी आमदनीसे ही घरका इंतजाम करना होता है, वे दूध-जैसे आवश्यक पदार्थमें ही कटौती करते हैं। उनका और सभी खर्च जैसा-का-तैसा बना रहता है । हमारी आर्थिक हालत चाहे जितनी भी हीन हो, हम हर रोज कुछ पैसे बेकार कामोंमें (जैसे पान, बीड़ी, सिगरेट, चाय, शराब अथवा सिनेमा, सर्कसमें) जरूर खर्च कर देते हैं। ऐसा न करके तथा पहलेकी अपेक्षा कुछ अधिक मोटा कपड़ा पहनकर भी दूध-जैसे अमृत पदार्थको भोजनका एक आवश्यक अंश बनाना चाहिये । बच्चोंका शरीर हर रोज बढ़नेवाली चीज है, जिसके लिये पौष्टिक आहारकी बहुत जरूरत होती है । दूध अधिकांश जरूरतोंको पूरा करता है । चूहोंपर प्रयोग करके देखा गया है कि जो चूहे दूध पिलाकर पोसे गये हैं, वे अधिक मोटे और तंदुरुस्त निकले हैं। माल्ट बनानेके लिये सोयाबीन सबसे अच्छा अनाज है । इसमें और अनाजोंकी अपेक्षा मांस बढ़ानेवाला पदार्थ ज्यादा होता है। सोयाबीन सस्ता अनाज है। सोयाबीनसे दूध और दही भी बनाया जा सकता है।

बच्चोंके खाने-पीनेके सम्बन्धमें बतायी गयी सभी बातोंका उद्देश्य यही है कि वे स्वस्थ रहें और उनके शरीरकी समुचित वृद्धि हो। बच्चोंके शरीरकी वृद्धि दो ही बातोंपर निर्भर करती है—एक खाना-पीना और दूसरा वंश-संस्कार । बच्चा वास्तवमें उचितरूपसे बढ़ रहा है कि नहीं, इसके लिये सालमें दो या तीन बार उसका तौल और नाप लेना चाहिये ।

सोयाबीनका दूध

मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी कलकत्ताके प्राकृतिक चिकित्सा-विभागके प्रधान चिकित्सक डा० कुलरंजन मुखर्जी महोदय लिखते हैं—

यदि पृथ्वीमें कोई ऐसी वस्तु है, जिसमें प्रकृतिने खाद्यके सभी तत्त्वोंका समावेश किया है तो वह दूध ही है; पर दुःखकी बात है कि दूध आजकल दुर्लभ-सा हो गया है। उसका मूल्य भी बहुत बढ़ गया है । इससे साधारण आयके लोगोंके लिये तो दूधका व्यवहार असम्भव-सा हो गया है; पर दूधमें जितने तत्त्व हैं, वे सभी सोयाबीनसे बनाये हुए दूध-दहीमें प्राप्त किये जा सकते हैं । सोयाबीनमें प्रोटीन ४२ भाग, चिकनई १९ और शर्करा २० हैं । इसमें ए, बी, डी और ई विटामिन तथा कैलशियम, फासफोरस तथा लौह आदि धातु भी विशेषरूपसे हैं । साथ ही इसमें एक गुण यह है कि यह क्षारधर्मी (alkaline) खाद्य है । इन्हीं सब कारणोंसे चीन और जापानमें इसके दूधका बड़ा प्रचार है । बच्चोंके लिये भी यह बहुत उपयोगी है । शंघाईमें तो यह दूध गायके दूधकी तरह बोतलोंमें बिकता है ।

दूध बनानेका तरीका

दूध बनानेके लिये काला और पीले रंगका सोयाबीन लेना चाहिये । सोयाबीनको पहले अच्छी तरहसे धोयी और साफ की हुई सिलपर पीस लेना चाहिये । फिर उस पीसे हुए सोयाबीनमें तीन गुना पानी मिलाकर उसे छान लेना चाहिये। इसके बाद धीमी आँचपर बीस मिनटतक गरम करनेसे ही सोयाबीनका दूध बन जाता है । इसे चीनी मिलाकर पिया जाता है ।

इससे भी उत्तम स्वादिष्ट दूध बनानेके तरीके हैं। सोयाबीनका बड़ा सुन्दर दही बनता है । पहलेसे बताया न जाय तो कोई देखकर और खाकर यह नहीं बतला सकता कि यह गायके दूधका दही नहीं है । सोयाबीनका दूध लगभग एक आने सेरमें बन सकता है । सोयाबीनका दूध, दही, मट्ठा, छेना, संदेश, हलुआ तथा अन्यान्य चीजें बनानेके तरीके बतलानेवाली 'दूधके बदलेमें' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका 'मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी', ३९१, अपर चितपुर रोड, कलकत्तेसे प्रकाशित हुई है । पाठक वहाँसे बिना मूल्य मँगवाकर देख सकते हैं ।

शिशु मानवका जनक है

(लेखक—डा० श्री के० सी० वरदाचारी एम्० ए०, पी-एच०डी०)

हिंदू-विचारधारा शिशुके उचित लालन-पालनको बड़ा महत्त्व देती है। शिशु स्त्री-पुरुषके प्रेमका ही साकार परिणाम-मात्र नहीं है, अपितु सबके लिये एक नया संसार बनानेके हेतु उस शिशुके रूपमें उन दोनोंके बीच एक नये व्यक्तिका आविर्भाव होता है। इतना ही नहीं, वरं यह तत्त्व भी सत्य है कि जब हम आश्चर्यसे प्रश्न करते हैं कि यह नवजात शिशु कहाँसे आया, तब इसका उत्तर 'प्राक्तन कर्मके आधारपर' देनेके सिवा और कोई मार्ग नहीं रह जाता। वास्तवमें प्रत्येक शिशु अपना भौतिक शरीर तो माता-पितासे पाता है; परंतु अपनी विलक्षण मानसिक विशेषता (संस्कार) वह अपने पूर्वजन्मसे लाता है। पूर्वजन्म ही उसके वर्तमान जन्मका नियामक है और तदनुसार ही अपने वर्तमान वातावरण और सङ्गतिके प्रति बालककी प्रतिक्रिया होती है। अतः जिस प्रकारका पुरुष बनना उसने अपने प्राक्तन कर्मोंके अनुसार निर्धारित कर लिया है, शिशु बढ़कर उसी प्रकारका मनुष्य बनता है; परंतु प्रश्न ये हैं—इसमें शिक्षासे कहाँतक सहायता मिल सकती है? किन साधनोंसे हम शिशुको ऐसा पुरुष बननेमें सहायता कर सकते हैं जो समाजके लिये ही नहीं, किंतु अपने लिये भी सामाजिक दृष्टिसे श्रेष्ठ और आध्यात्मिक दृष्टिसे सहायक सिद्ध हो? क्या शिशुको श्रेष्ठ पुरुष बनानेमें सहायता देनेकी कोई सम्भावना है?

दैववाद या प्रारब्धवाद शिक्षण-विधिके लिये घातक है। यद्यपि प्रत्येक बालक सहज ज्ञान-संस्कार और वृत्तियोंकी निधिके साथ ही जन्म लेता है। लेकिन उनको एक वातावरण मिलता है, जिसमें वे विकसित होनेकी चेष्टा करती हैं। उनकी क्रियाविधिका अज्ञान और संसारका सामना करनेमें शिशुकी अयोग्यताके कारण शिशु घोर संकटमें जा पड़ता है। धीरे-धीरे मनुष्य (एक बालक भी) समस्त परिस्थितिको समझने लगता है, यदि उसे न केवल अपने वरं दूसरोंके भी विचारोंके मूल कारण और फलका निरीक्षण करनेमें सहायता प्राप्त होती रहे। इसीलिये अध्यापकोंको चाहिये कि वे प्रत्येक बालकको इतना जिज्ञासु और उत्सुक बना दें कि वह अपने आस-पासके समस्त विषयोंका चाहे वे पदार्थ, प्राणी या आन्दोलन हों, निरीक्षण करने लगे, उनके निमित्त एवं परिणामोंको समझने लगे। इस निरीक्षणके स्वभावसे एक ओर इन्द्रियाँ ठीक काम करना सीख लेती हैं, दूसरी ओर बालक वैज्ञानिक ढंगसे सोचने लगता है। प्राकृतिक नियमोंका ज्ञान वैज्ञानिक निरीक्षणात्मक शिक्षा-विधिसे ही सम्भव हो सकता है।

इस प्रकार ठीक देखने, सुनने, सूँघने, चखने और स्पर्शानुभव करने (यानी रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श विषयोंको यथावत् अनुभव करनेमें) प्रवीण होकर बालक अपनी सत्यानुसन्धानकी प्रवृत्तिको विकसित करता है और अज्ञानके मूल कारण अस्पष्ट, अस्थिर एवं विधिविहीन इन्द्रियानुभूतिपर विजय प्राप्त करता है। प्रौढ़ निरीक्षक और यथार्थ वक्ता होनेके लिये बालककी शारीरिक तथा भावनात्मक अवस्था निर्दोष होनी चाहिये। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह (पातञ्जलोक्त यम) वास्तवमें सर्वोत्तम निर्माणकारी साधन हैं और व्यवहार-शुद्धि एवं मन, वचन और कर्ममें सत्यनिष्ठाकी प्रवृत्तिके पोषक हैं।

अर्वाचीन अध्यापकका भगवान्‌के सामने बड़ा उत्तरदायित्व है और विद्यालयों एवं शिक्षा-संस्थाओंके संस्थापकोंने धर्मको उनके पाठ्यविषयोंसे पृथक् करके प्रचुर अपुण्यका संचय किया है! मेरी समझसे प्रत्येक अध्यापकको निःसंदेह रूपसे सङ्गीत, कला, दर्शन, आचार-शास्त्र, विज्ञान, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगर्भविद्या, ज्यौतिष अथवा गणित इत्यादि अपने पाठ्य-विषयोंमें और उनके द्वारा भगवान्‌की महिमा और उसकी रचनात्मक सत्ताका ज्ञान बालकोंको अवश्य करा देना चाहिये। धर्मनिरपेक्षताका समर्थन करनेवाले संविधानके सामने वर्तमान शिक्षाशास्त्री नैरपेक्ष्यका आदेश और समर्थन करता है, वह जीवनके सर्वोत्कृष्ट तथ्य, जिससे मरणोत्तर जीवनके लिये योग्यता प्राप्त हो, उसके प्रति सम्मानको अधिक प्रश्रय नहीं दे सकता। सच बात तो यह है कि राजनीतिज्ञोंका धर्मनिरपेक्षतासे चाहे कुछ भी सर्वोत्तम अभिप्राय रहा हो, परंतु बिना सोचे-विचारे इतरजनोंके द्वारा उसका आचरण किया जानेसे बहुधा अत्यन्त निकृष्ट परिणाम ही होगा।

गहन सिद्धान्तके रूपमें नहीं, वरं रहस्योद्घाटनके रूपमें

धार्मिक विचार बालकों और विद्यार्थियोंको बताना चाहिये। विज्ञानके गौरवमय विवरणसे, धर्मोपदेशकोंके उज्ज्वल संघर्षसे और सभ्यताके प्रसारकी तथा ऐतिहासिक प्रगतिकी गम्भीर महिमासे सर्वोत्कृष्ट तत्त्वका दर्शन कराया जा सकता है—जिसका जानना और जिसमें प्रविष्ट होना परम कर्तव्य है।

सत्यके पास पहुँचनेके विविध मार्गों अथवा उपायोंमेंसे किसी एक अथवा सबके द्वारा धर्म मनुष्यको प्राप्त हो सकता है; क्योंकि इसीको उपनिषद् या गीता परमपुरुषार्थ या ईश्वरकी प्राप्ति अथवा साक्षात्कार कहते हैं, जो सब पदार्थों, क्रियाओं और पुरुषोंमें निवास करता और जिसमें सबको अपना आश्रय, आधार और एकता मिलती है। हमें उपनिषद्का यह संदेश अधिक-से-अधिक तत्परताके साथ बालकोंतक पहुँचाना चाहिये, जिससे वे सबमें उस एक ईश्वरकी शक्ति और सत्ताको देखनेका प्रयास करते रहें और इस महान् अनुभूतिके लिये अपने प्रयत्नोंको स्मरण रख सकें।

जीवनका ध्येय न तो मानववाद है और न अर्थातिवाद। भौतिक गौरव और सुखके परे, मानव-आवश्यकताकी पूर्ति और जीवन-स्तरके ऊपर वह तत्त्व है जिसके लिये अतीत कालमें मनुष्य जिये और मरे हैं। वही ईश्वर अथवा स्वराज्य है, किंवा जीवनकी पूर्णता अथवा सत्य है। पुराणोंकी कथाएँ बताती हैं कि मनुष्य मोक्ष, सत्य, प्रेम, धर्म इत्यादिकी प्राप्तिके लिये किस प्रकार उग्रतम तपस्यामें निरत रहते थे। क्या इससे यह प्रकट नहीं होता कि धन, स्त्री, सुख, शक्ति और पद अथच पुण्य और पापसे भी बढ़कर कोई विलक्षण दूसरी वस्तु है, जिसकी प्राप्तिके लिये आत्मा विकल रहती है। दुःख और संतापके कारणोंका अवलोकन करके मनुष्य धीरे-धीरे इस रहस्यको जान लेता है कि मनुष्य केवल रोटीपर ही नहीं, वरं भगवान्के स्नेहसे ही जीवित रहता है। और शान्तिकी प्राप्ति केवल कर्मफल और लौकिक (निम्न) उद्देश्योंके त्यागसे ही होती है। यदि हमारे माता-पिता, शिक्षक और विश्वविद्यालयोंके अध्यापक, न केवल विद्यार्थियोंमें ही वरं अपने सहयोगियों और साधारण जनतामें भी अपने व्यवहार-कलापसे उस अनन्त शक्तिके अस्तित्वकी भावना अनुप्राणित कर दें तो बालकगण सचमुच स्वस्थ वातावरणमें बढ़ने लगेंगे। प्रबन्धकों और विश्वविद्यालयोंके पदाधिकारियोंको इसका बहुत कम भान होता है कि उनके क्षुद्र कृत्योंको (बालकगण) देखते रहते हैं और मन-ही-मन उनकी आलोचना करके उनपर अपना निर्णय दिया करते हैं। उनकी आलोचना जितनी ही मूक होती है, अन्तमें उसका उतना ही घोर दुष्परिणाम होता है। बड़े-बूढ़ोंको सचेत रहना चाहिये कि विद्यार्थी और बालक उन्हें पाखण्डी न समझने लगें; क्योंकि इसमें उनकी दृष्टिमें उनका मान घट जाता है। बालक सबसे बड़े आलोचक और सबसे बड़े वीरपूजक भी होते हैं। प्रेम, सत्य और बन्धुत्वसे उनकी स्वाभाविक प्रसन्नता होती है; किंतु बड़ोंकी उच्छृङ्खलता तथा दम्भसे उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ विपथगामिनी हो जाती हैं और उनके मानसिक और नैतिक जीवनमें अव्यवस्थता उत्पन्न हो जाती है।

आल्डस हक्स्ले (Aldous Huxley) ने एक बार घरमें बालकोंके आधिपत्यकी कड़ी भर्त्सना की थी। उसने इसको नवीन 'कुमारोपासना' का नाम दिया था। माता-पिता बालकके इशारेपर नाचते हैं और वह एक लघुकाय निरङ्कुश शासक बन जाता है। 'कुमारोपासना' की अतिशयतासे बच्चेका आध्यात्मिक स्वरूप नष्ट हो जाता है। यद्यपि बालकको स्वच्छन्दताकी मूर्खता समझायी जा सकती है। पूर्ण स्वतन्त्रतामें बालकके अति लालनसे उसके बिगड़ जानेकी लोकोक्ति अवश्य प्रसिद्ध है, परंतु आध्यात्मिक समाजमें (यदि उसका एक बार फिर संस्कार किया जा सके तो) बालक निर्बाध विकासकी चेतनाको प्राप्तकर निरालम्ब अपना उद्धार स्वयं कर सकता है। उसकी जो प्राकृतिक सीमाएँ हैं, उनको देख और मानकर वह उनसे अमित लाभ उठाता है और उनके द्वारा ही भली प्रकार पूर्ण और समग्र जीवनकी ओर अग्रसर हो सकता है।

शिशु-संवर्द्धन एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। प्राचीन भारतीयोंने उसका हल ब्रह्मचर्याश्रमकी प्रणालीसे किया था, जिसमें शिक्षा-दीक्षा ऐसे आचार्योंके हाथोंमें रहती थी, जो धर्मारूढ़, संयमशील, तपस्वी, आचारकुशल और सत्यनिष्ठ होते थे। यदि यही व्यवस्था वर्तमान अवस्थाके अनुकूल बनाकर आजकल मान ली जाय तो इससे उत्तम इस प्रश्नका दूसरा समाधान सम्भव नहीं। शासन-व्यवस्थासे अधिक आशा नहीं है; क्योंकि इन परमावश्यक दिशाओंमें वे उच्चादर्शोंका पालन नहीं कर रहे हैं। अध्यापकगण ही वैयक्तिक ढंगसे इस कार्यको सम्पादित कर सकते हैं।

विशिष्ट शिक्षक और धर्माचार्य ऐसी संस्थाएँ बना सकते हैं, जो शिक्षाप्रणालीको फिरसे प्राचीन भारतीय साँचेमें ढाल सकती हैं। यह स्पष्ट है कि ऐसी शिक्षापद्धतिका व्यवहार

शैशवसे वयस्कतातक अर्थात् ५ वर्षकी आयुसे लेकर २१ वर्षकी आयुतक होना चाहिये। यह निर्विवाद है। अर्वाचीन भारतके लिये सांस्कृतिक परम्पराओंकी दुर्व्यवस्था मुख्यतम समस्या है। इसका हल अर्थात् संस्कृति परम्परामें सुव्यवस्थाकी पुनः स्थापना ऐसे सच्चे गुरुकुल-संस्थानोंसे ही सम्भव है, जो स्वतन्त्र हों, जिनकी व्यवस्थामें, आधुनिक मनुष्योंको समीचीन आदर्शोंके लिये तैयार न करके सांस्कृतिक परम्पराओंसे हीन सांसारिक ध्येयसे शिक्षा देनेवाले विश्वविद्यालयोंका, जिनसे संस्कृतिका उद्धार सम्भव नहीं है, हस्तक्षेप न हो। मन्दिर आदि आध्यात्मिक संस्थाओंसे भी इस बातका भय हो गया है कि वे सांस्कृतिक पवित्रतासे विहीन, केवल लौकिक शिक्षाका प्रसार अपने हाथमें न लेने लगें। यह भय उन कुछ धार्मिक मठोंमें प्रत्यक्ष रूपसे उपस्थित हो रहा है, जिन्होंने अपनी निधिको इस आधारपर सांसारिक प्रयोजनोंमें लगाना प्रारम्भ कर दिया है कि शिक्षा एक सुन्दर वस्तु है चाहे वह धर्मनिरपेक्ष ही हो। परंतु ऐसे व्ययसे धार्मिक उत्थान और संस्कृतिको सहायता मिलना तो दूर रहा, प्रत्युत इससे धार्मिक संस्कृतिके सारे भवनकी नींव हिल जाती है। जब वहाँके निवासियोंके आचरणमें और उनके द्वारा स्थापित संस्थाओंकी दैनिक चर्या और विधानमें आध्यात्मिक आदर्शोंके पालन करनेकी बाध्यताकी वास्तविक मान्यता न होगी, तब वे धार्मिक संस्कृतिकी रक्षा कैसे कर सकेंगे। पश्चिमके धर्मप्रचारकोंके उद्योगकी सफलताका यही रहस्य है और इसीका अभाव हिंदू-प्रयासोंकी असफलताका कारण है। हमें यह जान लेना चाहिये कि शिशु अनेक जन्मोंकी परम्परासे आध्यात्मिकताके पथपर अग्रसर होता हुआ प्राणी है और उसका अपने परिवारके निकट सम्बन्धियोंसे भिन्न विशिष्ट अधिकार है। समाजके दूसरे लोगोंसे तो और भी अधिक उसका यह अधिकार है। इस आध्यात्मिक व्यक्तिके साथ व्यवहार करनेमें आध्यात्मिक उपायोंका ही प्रयोग होना चाहिये। केवल अध्यात्मनिष्ठ पुरुष ही आध्यात्मिक नियमों-को काममें ला सकते हैं और बालकको उसके उन्नति-पथपर बुद्धिमानीसे और विलक्षण रूपसे अग्रसर कर सकते हैं। वे ही उसकी आभ्यन्तर उदात्त शक्तियोंको उन्नत कर सकते हैं। निम्नगामिनी प्रवृत्तियोंको वे ही शोधितकर निर्मल और उदार बना सकते हैं, उन्हें रूपान्तरित कर सकते हैं अथवा धीरे-धीरे समस्त विधियोंसे उनका सर्वथा परित्याग करा सकते हैं। विद्यालय मानव-निर्माणकी प्रयोगशाला है और मानव-व्यक्तित्वमें धार्मिक श्रद्धा ही विशाल आर्यसभ्यताका पुनरुद्धार कर सकती है।

तुम्हारा कर्तव्य

(रचयिता—श्रीलक्ष्मीप्रसादजी मिस्त्री 'रमा' कविरत्न)

पालो व्रत ब्रह्मचर्य विषै-वासनाएँ त्याग, ईश्वरके भक्त बनो जीवन जो प्यारा है।
उठिये प्रभातकाल रहिये प्रसन्न चित्त, तजो शोक-चिंताएँ जो दुखका पिटारा है॥
कीजिये व्यायाम नित्य भ्रात! शक्ति अनुसार, नहीं इन नियमों पै किसीका इजारा है।
देखिये सौ शरद औ कीजिये सुकर्म 'रमा' सदा स्वस्थ रहना ही कर्तव्य तुम्हारा है॥

× × ×

लाँघ गया पौन-पूत ब्रह्मचर्यसे ही सिंधु, मेघनाद मार कीर्ति लखन कमाई है।
लंका बीच अंगदने जाँघ जब रोप दई, हटा नहीं सका जिसे कोई बलदाई है॥
पाला व्रत ब्रह्मचर्य राममूर्ति-गामाने भी, देश और विदेशोंमें नामवरी पाई है।
भारतके वीरो! तुम ऐसे वीर्यवान बनो, ब्रह्मचर्य महिमा तो वेदनमें गाई है॥

सुपुत्रके लक्षण तथा उसकी प्राप्तिका उपाय

कुलोद्धारक श्रेष्ठ पुत्र

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'अर्जुन ! योग-भ्रष्टका न तो इस लोकमें नाश (पतन) होता है, न परलोकमें ही। वह कल्याण-कर्म (भगवदर्थ कर्म) करनेवाला दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता । वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानोंके उत्तम लोकों (स्वर्गादि) को प्राप्त होकर वहाँ बहुत समयतक निवास करके तदनन्तर पवित्र आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेता है। अथवा (उन लोकोंमें न जाकर) ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है; परंतु इस प्रकारका जन्म इस संसारमें बहुत ही दुर्लभ है।'

> पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
> न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥
> प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
> शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥
> अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
> एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥
> (गीता ६ । ४०–४२)

इससे यह सिद्ध है कि पूर्व-जन्मका सुसंस्कृत, उन्नत, साधनरत पुरुष पवित्राचार श्रीमानोंके अथवा ज्ञानवान् योगियोंके घरमें जन्म लेता है। ऐसा ही या इसी श्रेणीका भक्तिमान् पुत्र ही दुर्लभ पुत्र है, जो अपने चित्तको अपार-संवित्-सुखसागर-परब्रह्ममें लीन करके कुलको पवित्र, माताको कृतार्थ और पृथ्वीको पुण्यवती बनाता है।

> कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
> अपारसंवित्सुखसागरेऽस्मिँल्लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥
> (स्क० माहे० कौ० खण्ड ४२ । १४०)

श्रीतुलसीदासजी महाराजने ऐसे भगवद्भक्तको भगवान्‌से भी बढ़कर बतलाया है और कहा है कि जो भगवद्भक्त पुत्र-को जन्म देती है, वही पुत्रवती युवती है, साधारण पुत्रोंको जनना तो पशु-मादाकी तरह व्यर्थ ब्याना मात्र है। वह कुल जगत्-पूज्य और सुपवित्र धन्य है, जहाँ श्रीभगवान्‌के परायण विनीत पुरुष प्रकट होते हैं।

> मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा । राम तें अधिक राम कर दासा ॥
> राम सिंधु घन सज्जन धीरा । चंदन तरु हरि संत समीरा ॥
> पुत्रवती जुबती जग सोई । रघुबर भगत जासु सुतु होई ॥
> न तरु बाँझ भलि बादि बिआनी । राम बिमुख सुत तें हित जानी ॥
> सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत ।
> श्रीरघुबीरपरायन जेहिं नर उपज बिनीत ॥

श्रीमद्भागवतमें धर्मराज युधिष्ठिरने संत विदुरजीसे कहा है—

> भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो ।
> तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥
> (श्रीमद्भा० १ । १३ । १०)

'प्रभो ! आप-जैसे भगवान्‌के प्रिय भक्त स्वयं तीर्थ-रूप हैं । आपलोग अपने हृदयमें विराजमान भगवान् गदाधरके द्वारा तीर्थोंको महातीर्थ बनाते हुए विचरण करते हैं।' देवर्षि नारद तो यहाँतक कह देते हैं—

'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ।' 'तन्मयाः', 'मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति ।'
(नारदभक्तिसूत्र ६९–७१)

ऐसे भक्त तीर्थोंको महातीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र बना देते हैं, क्योंकि वे भगवान्‌के साथ तन्मय हैं, ऐसे भक्तोंका आविर्भाव देखकर पितरगण प्रमुदित हो जाते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथा हो जाती है। पद्मपुराणमें कहा है—

> आस्फोटयन्ति पितरो नृत्यन्ति च पितामहाः ।
> मद्वंशे वैष्णवो जातः स नस्त्राता भविष्यति ॥

पितृ-पितामहगण अपने वंशमें भगवद्भक्तका जन्म हुआ देखकर—यह हमारा उद्धार कर देगा, इस आशासे प्रसन्न होकर नाचने और ताल ठोंकने लगते हैं।

जिनके घर ऐसा भक्तिमान् पुत्र होता है, वे ही भाग्यवान् हैं, परंतु ऐसा भक्तिमान्, ज्ञानवान्, योगी पुत्र उन्हींके होता है, जो पवित्र, ज्ञानवान् भक्त हों और जिनपर भगवान्‌की कृपा हो। भगवान्‌की कृपाके बिना ऐसा पुत्र नहीं हो सकता। महर्षि वशिष्ठ कहते हैं—

> संसारे यस्य सत्पुत्रा भक्तिमन्तः सदैव हि ॥
> सुशीला ज्ञानसम्पन्नाः सत्यधर्मरताः सदा ।
> सम्भवन्ति गृहे तस्य यस्य विष्णुः प्रसीदति ॥

× × ×

विना विष्णोः प्रसादेन दारान् पुत्रान् न चाप्नुयात् ।
सुजन्म च कुलं विप्र तद्विष्णोः परमं पदम् ॥
(पद्मपुराण, भूमि-खण्ड)

जिसपर भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं, उसीके घरमें सदा सुशील, ज्ञानवान् और सत्य-धर्मपरायण पुत्र होते हैं । संसारमें उसीको भक्तिमान् श्रेष्ठ पुत्रकी प्राप्ति हुई है, जिसपर भगवान्‌की कृपा है । (जैसे भगवत्-कृपा बिना सत्-पुत्र नहीं मिलता, वैसे ही भगवत्कृपाके बिना उत्तम जन्म, उत्तम कुल भी नहीं मिलता । इसलिये वशिष्ठजी कहते हैं कि) 'भगवान् विष्णुकी कृपाके बिना कोई भी उत्तम स्त्री, उत्तम पुत्र, उत्तम जन्म, उत्तम कुल और श्रीविष्णुके परम धामको नहीं पा सकता ।'

श्रेष्ठ पुत्रके लक्षण

उत्तम पुत्रके पवित्र लक्षण बतलाते हुए वशिष्ठजीने कहा है कि जिसका मन सदा पुण्यमें लगा हो, जो सदा सत्य-धर्मके पालनमें तत्पर रहता हो, जो बुद्धिमान्, ज्ञान-सम्पन्न, तपस्वी, श्रेष्ठ वक्ता, सब कर्मोंमें कुशल, धीर, वेदाध्ययनपरायण, सम्पूर्ण शास्त्रोंका व्याख्याता, देवता और ब्राह्मणोंका उपासक, समस्त यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाला, ध्यानी, त्यागी, प्रिय वचन बोलनेवाला, भगवान् विष्णुके ध्यानमें तत्पर, नित्य शान्त, जितेन्द्रिय, सदा जप करनेवाला, पितृभक्ति-परायण, सदा सब स्वजनोंपर स्नेह रखनेवाला, कुलका उद्धार करनेवाला, विद्वान् और कुलको संतुष्ट करनेवाला हो—ऐसे गुणोंसे युक्त सुपुत्र ही यथार्थ सुख देता है । इसके अतिरिक्त अन्य भाँतिके पुत्र तो सम्बन्ध जोड़कर केवल शोक और संताप ही देते हैं—

अन्ये सम्बन्धसंयुक्ताः शोकसंतापदायकाः ।
(पद्मपुराण, भूमिखण्ड १७ । २०—२५)

विद्वान् एक पुत्र भी श्रेष्ठ है, बहुत-से गुणहीन पुत्रोंसे क्या लाभ, क्योंकि सुपुत्र एक ही वंशको तार देता है, दूसरे तो केवल संताप ही देते हैं—

एकः पुत्रो वरं विद्वान् बहुभिर्निर्गुणैस्तु किम् ।
एकस्तारयते वंशमन्ये संतापकारकाः ॥
(प० भू० ११ । ३९)

पाँच प्रकारके पुत्र

पुत्र पाँच प्रकारके होते हैं—१–धरोहर रखनेवाला, २–ऋण देनेवाला, ३–शत्रुता रखनेवाला, ४–उपकार तथा सेवा करनेवाला तथा ५–उदासीन ।

१. जिसने जिसकी जिस भावसे धरोहर हड़प ली है, वह उसी भावसे उसके यहाँ जन्म लेता है । धरोहरका मालिक रूपवान् और गुणवान् पुत्र होकर जन्म लेता है और धरोहर हरण करनेका बदला लेनेके लिये दारुण दुःख देकर चला जाता है ।

२. जिसने पिछले जन्ममें ऋण दिया था, वह ऋण चुकानेके लिये जन्म लेता है। वह सदा ही अत्यन्त दुष्टतापूर्ण बर्ताव करता है । गुणोंकी ओर तो वह कभी देखता ही नहीं । क्रूर स्वभाव और बड़ी निष्ठुर आकृति बनाये अपने स्वजनोंको डाँट-फटकार और गाली-गलौज सुनाया करता है । स्वयं सदा मीठी-मीठी वस्तुएँ खाया करता है । घरमें रहकर बलपूर्वक धनका उपभोग करता है, रोकनेपर क्रोध करता है और ऋण चुकानेके लिये यों दुःख देकर मर जाता है या स्वयं स्वामी बन जाता है ।

३. पूर्वकालका शत्रु बाल्यावस्थासे ही शत्रुओंका-सा बर्ताव करता है । खेल-कूदमें भी माता-पिताको बुरी तरह मार-मारकर भागता है और बार-बार हँसा करता है । क्रोधी स्वभावको लेकर ही बड़ा होता है और सदा वैरके काममें लगा रहता है । प्रतिदिन पिता-माताकी निन्दा करता है । नाना प्रकारसे धनका अपव्यय करता है । सब-कुछ हथियाकर पिता-माताको पीटता है । उनके मरनेपर न श्राद्ध करता है और न कभी उनके लिये दान करता है ।

४. पूर्वकालमें उपकार पाया हुआ पुत्र बचपनसे ही माता-पिताका प्रिय कार्य करता है । बड़ा होनेपर भी उनको सुख पहुँचानेमें लगा रहता है और अपनी भक्तिसे सदा माता-पिताको संतुष्ट रखता है । स्नेहसे, मधुर वाणीसे, प्रिय लगनेवाली बात-चीत और सेवासे उन्हें प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करता है । माता-पिताकी मृत्युके पश्चात् विधिवत् श्राद्ध और पिण्डदानादि कर्म करता रहता है तथा उनकी सद्गतिके लिये तीर्थ-यात्रा भी करता है ।

५. पाँचवाँ उदासीन बालक सदा उदासीनभावसे रहता है; वह न कुछ देता है, न लेता है, न रुष्ट होता है, न संतुष्ट होता है ।

जिनकी धरोहर रख ली गयी हो, जिनके ऋणका धन हड़प कर लिया गया हो और जिनसे वैरभाव रक्खा गया

हो—ऐसे लोग बदला चुकानेके लिये पुत्र होकर सदा दुःख ही देते हैं। जिनका उपकार किया गया हो, वे सेवा करते—सुख पहुँचाते हैं और जिनसे कोई खास सम्बन्ध न रहा हो वे उदासीन होकर रहते हैं। पुत्रोंकी यही गति है। प्रायः ऋणानुबन्धसे ही यहाँ सम्बन्ध हुआ करते हैं। शास्त्र कहते हैं कि पुत्र ही नहीं, ऋणानुबन्धसे पिता, माता, पत्नी, पति, बन्धु-बान्धव, नौकर यहाँतक कि हाथी, घोड़े, भैंस, गाय आदि बनकर भी अपना-अपना बदला चुकानेका जीव-सम्बन्ध जोड़ा करते हैं।

वस्तुतः मनुष्यको मोक्ष या भगवत्प्राप्ति तो उसके अपने साधनसे ही प्राप्त होती है। पुत्र यदि पुण्यात्मा और भक्त होता है तो उससे भी सहायता मिलती है; परंतु पुत्रके मोहमें फँस जानेपर दुर्गति भी होती है। पुण्यात्मा और भक्तिमान् पुत्रकी प्राप्ति कठिन है ही—अतएव पुत्र न होनेपर दुखी होना और अपनेको भाग्यहीन मानना कदापि बुद्धिमत्ता नहीं है। तथापि जिनको पुत्र न होता हो और पुत्रकी बड़ी प्रबल चाह हो—उनको शारीरिक रोगके लिये औषधोपचार करानेके साथ ही निम्नलिखित कार्य करने चाहिये। पुत्रेष्टि-यज्ञसे तो यज्ञ यथार्थरूपसे सम्पन्न होनेपर नवीन प्रारब्ध बनकर प्रायः पुत्र होता ही है; इन उपायोंसे भी सद्गुण-सम्पन्न पुत्रका उत्पन्न होना माना गया है।

पुत्र-प्राप्तिके साधन

(१) श्रद्धा-भक्तिके साथ पति-पत्नीको—दोनोंको मन लगाकर 'श्रीहरिवंशपुराण' मूल, अर्थसहित श्रवण करना चाहिये। कथावाचक पण्डित सात्त्विक प्रकृतिके, सदाचारी, वयोवृद्ध तथा भगवान्में एवं इस अनुष्ठानमें विश्वास करनेवाले होने चाहिये। उन्हें यथाशक्ति दक्षिणा तथा सम्मान देकर संतुष्ट करना चाहिये। एक बारमें फल न हो तो तीन बार श्रवण करना चाहिये। पुराणकथा-श्रवण समाप्त होनेपर द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) मन्त्रसे दशांश हवन तथा विधिपूर्वक तर्पण-मार्जन करके ब्राह्मण-भोजन कराना चाहिये।

(२) एक 'संतान-गोपाल' मन्त्र है—

देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते ।
देहि मे तनयं कृष्ण ! त्वामहं शरणं गतः ॥

हो सके तो इस मन्त्रका जप श्रद्धा तथा विश्वासके साथ पति-पत्नी दोनोंको करना चाहिये। प्रातःकाल स्नान करके पुरुष अपने सन्ध्या-वन्दनादि नित्यकर्म करने तथा स्त्री नियमित दैनिक जप-पाठ आदि करनेके बाद तुलसी-की मालासे मन्त्रका जप करें। जपके समय सामने किसी पवित्र धोयी हुई चौकीपर या दीवालपर भगवान् श्रीकृष्णका सुन्दर चित्रपट काँचमें मढ़ाया हुआ रखना चाहिये और भगवद्भावसे उस भगवान्के चित्रपटकी चन्दन, फूल, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, पान, इलायची आदिके द्वारा पूजा करनी चाहिये। फिर कपूरसे आरती करके पुष्प चढ़ाकर प्रणाम करना चाहिये। इस प्रकार पूजा करनेके बाद भगवान्से कातर प्रार्थना करनी चाहिये तथा यह दृढ़ विश्वास करना चाहिये कि भगवान्की कृपासे सत्पुत्रकी प्राप्ति अवश्य होगी। प्रार्थनामें यह भाव होना चाहिये कि 'प्रभो! आप दयामय हैं, हमें पुत्र देनेकी कृपा करें। आपका दिया हुआ वह पुत्र सद्भाव-सम्पन्न, सात्त्विक, सुन्दर, सच्चरित्र, सदाचारी, दीर्घजीवी, मेधावी तथा आप-का प्रिय भक्त हो।' इस प्रार्थनाके बाद तुलसीकी मालासे जप करना चाहिये। प्रतिदिन ५५ मालाका जप अवश्य होना चाहिये। इस प्रकार पूरे एक महीनेतक जप करनेपर जप सिद्ध हो सकता है; क्योंकि इससे १५०००० जप तथा १५००० दशांश होमके लिये—कुल १६५००० जप पूरा हो जाता है। पत्नी न कर सके तो पतिको ही करना चाहिये। एक महीनेके बाद प्रतिदिन यथासाध्य नियमित रूपसे जप चालू रखना चाहिये। मन्त्र सिद्ध होनेके बाद जब पत्नी ऋतुस्नाता हो, तब शास्त्रानुसार शुभ मुहूर्त-में पुत्र-प्राप्तिके लिये—कामभावसे नहीं—युग्म तथा अनिन्दित पर्ववर्जित रात्रिमें गर्भाधान करना चाहिये।

'श्रीरामचरितमानस' मन्त्रमय है। इसके भी बहुत-से सिद्ध प्रयोग हैं। निम्नलिखित दोहेके द्वारा सम्पुटित करके सात या इक्कीस नवाह्न-पारायण करनेसे सद्गुणी पुत्रकी प्राप्ति होती है। ऐसा कुछ सज्जनोंका अनुभूत कथन है।

दोहा यह है—

दानि सिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सतिभाउ ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभुसन कवन दुराउ ॥

हमारे देशमें बालमृत्युकी भयानकता

हमारे देशमें बालमृत्युकी संख्या दूसरे देशोंके मुकाबलेमें बहुत ही अधिक है। नीचे तीन सालकी संख्याकी तालिका दी गयी है, इससे यह भलीभाँति प्रमाणित है।* हमारे यहाँकी बालमृत्युकी अधिकतामें निम्नलिखित प्रधान कारण हैं—

१ बहुत छोटी अवस्थामें गर्भाधान। बालविवाह।
२ प्रसवकी दूषित रीति।
३ प्रसूतिगृहोंके दोष।
४ माता-पिताके असंयमपूर्ण जीवन।
५ माता-पितामें गर्भाधान तथा बालपोषणके ज्ञानका अभाव।
६ दरिद्रता।
७ शुद्ध खाद्यद्रव्यका अभाव।
८ गोदुग्धका अभाव।

इनमें प्रधान कारण है—माता-पिताका अज्ञान तथा दूधका अभाव। हमारे यहाँ पशुओंकी संख्या बहुत अधिक है, पर दूध उतना ही कम है। बच्चोंका प्रधान भोजन दूध है। भारतवर्षकी ३६ करोड़ जनसंख्यामें १५ वर्षके अंदरकी आयुके १४ करोड़ बालक हैं। इनमें १ करोड़ एक वर्षके अंदरके शिशु हैं, ४॥ करोड़ १ से ५ वर्षके बीचके हैं और ८॥ करोड़ ५ से १५ वर्षके बीचके हैं। इन सबको दूधकी अत्यन्त आवश्यकता है, पर यहाँ तो दूधका अभाव दिनोंदिन बढ़ता ही जा रहा है! गौओंकी नस्ल सुधरे, यथारीति गोरक्षण, गो-पालन, गो-संवर्धन हो, तभी दूधका अभाव मिट सकता है। अभी तो यहाँ गो-वध ही बंद नहीं हो रहा है। अभाव यहाँतक बढ़ गया है कि बच्चे दूध बिना रह जाते हैं। और हमारे देवमन्दिरोंमें भी आज वेजीटेबल—जमाये हुए अशुद्ध तैलसे प्रसाद बनाया जाकर भगवान्को नैवेद्य चढ़ाया जाने लगा है! यही दशा रही तो आगे चलकर दूध-घीका दर्शन भी दुर्लभ हो जायगा। देशके मनस्वियोंको सब प्रकारसे विचारकर बालमृत्युकी संख्या घटे, इसकी ओर ध्यान देना चाहिये।

भारतवर्ष और दूसरे देशोंके शिशु-जन्मकी तालिका

भारतीय प्रदेश	सन्			दूसरे देश	सन्		
	१९४७	१९४८	१९४९		१९४७	१९४८	१९४९
अजमेर मेरवाड़ा	३३.९	२५.७	२६.६	दक्षिण अफ्रीका संघ	२७.२	२७.०	२६.७
आसाम	१५.६	१५.३	१५.१	कनाडा	२८.६	२७.०	२६.९
उड़ीसा	२७.८	२७.२	२६.६	अमेरिकाका संयुक्तराष्ट्र	२५.७	२४.१	२४.०
उत्तरप्रदेश	२३.३	२०.६	२२.३	जापान	३४.८	३३.४	३३.२
कुर्ग	१७.८	१५.१	१७.६	लंका	३९.४	४०.६	३९.९
दिल्ली	२९.८	२५.६	३१.२	इंगलैंड और वेल्स	२०.५	१७.९	१६.७
पंजाब	३२.८	३५.०	३८.४	स्विजरलैंड	१९.३	१९.०	१८.४
पश्चिमी बंगाल	१९.२	२०.४	२१.१	न्यूजीलैंड	२६.४	२५.५	२४.९
बंबई	३३.६	३२.५	३३.५	आस्ट्रेलिया	२४.१	२३.१	२२.९
बिहार	१८.६	१८.०	१७.७	इटली	२१.९	२१.६	२०.०
मद्रास	३३.२	३०.८	३०.९				
मध्यप्रदेश	३४.९	३३.२	३५.५				
भारतवर्ष	२६.६	२५.२	२६.४				

* जन्म और मरणकी यह संख्या हमें भारतसरकारकी स्वास्थ्यमन्त्रिणी श्रीराजकुमारी अमृत कौरकी कृपासे, उन्हींके विभागसे—मिली है, इसके लिये हम उनके तथा उस विभागके हृदयसे कृतज्ञ हैं। 'सम्पादक'

नोट—शिशु-जन्म-मान प्रतिसहस्र जन-संख्यापर है।

भारतवर्षके विभिन्न प्रदेशोंमें बच्चोंकी मृत्यु-संख्या

प्रदेश	सन्					
	१९४७		१९४८		१९४९	
	१ वर्षतकके शिशु	१—५ वर्षतकके शिशु	१ वर्षतकके शिशु	१—५ वर्षतकके शिशु	१ वर्षतकके शिशु	१—५ वर्षतकके शिशु
अजमेर मेरवाड़ा	३६०४	३५७३	२७४७	२९९३	२७७२	२९९३
आसाम	१०४७७	६९४३	११७५८	८३१२	११०५८	९५४९
उड़ीसा	४२४५५	२६९४७	३६८८०	२००८१	३६६८४	१७८५९
उत्तरप्रदेश	१५७९४३	१९२२४०	१३३७२८	१५२५४६	१२८६९५	१४९१५४
कुर्ग	२६६	१७८	२००	१४०	२५५	१२६
दिल्ली	४९३२	४७५१	३८७७	२३९७	४६६०	३१३३
पश्चिमी बंगाल	६११४५	४४६५२	६११९०	४७९६८	६३४३९	४४१४१
बम्बई	१२०९५१	१२३३१८	१०८०७७	११२३३१	१४४१६८	१४८५७८
बिहार	५७९४१	८२६८९	५५९५५	७८८५६	५२९२२	६१४३६
मद्रास	२५१४६१	१६४२७८	२११९७५	१५३१०३	२०४७३०	१४७५९२
मध्यप्रदेश	१४८८३९	११३८६३	१२४०२८	११०४३१	११८५९४	८०५७९
भारतवर्ष	९३२६२०	८०१८१४	८०६२६०	७१६९९०	८३०२७०	६९३६१६

भारतवर्षमें और दूसरे देशोंमें शिशु-मरणकी तालिका

प्रदेश	सन् १९४७	सन् १९४८	सन् १९४९	दूसरे देश	सन् १९४७	सन् १९४८	सन् १९४९
अजमेर मेरवाड़ा	१६८·६	१६४·१	१५७·१	दक्षिणी अफ्रीका संघ	३५	३७	४०
आसाम	९१·१	१०३·०	९५·९	कनाडा	४६	४४	४३
उड़ीसा	२००·६	१७५·३	१७५·७	अमेरिकाका संयुक्त राष्ट्र	३२	३२	३१
उत्तरप्रदेश	११६·५	१०८·७	९५·२	जापान	७७	६२	६२
कुर्ग	८६·५	६१·८	६६·०	लंका	१०१	९२	८७
दिल्ली	१४१·९	१०४·२	९६·८	इंगलैंड और वेल्स	४२	३४	३२
पंजाब	१५४·१	१३०·३	१३१·५	स्विजरलैंड	३९	३६	३४
पश्चिमी बंगाल	१४४·८	१३६·७	१३२·८	न्यूजीलैंड	२५	२२	२४
बंबई	१६१·९	१४१·५	१४०·६	आस्ट्रेलिया	२९	२२	२५
बिहार	८३·३	८०·२	७६·३	इटली	८२	७१	७४
मद्रास	१४६·८	१२८·१	११९·८				
मध्यप्रदेश	२४३·०	२०९·७	१८६·०				
भारतवर्ष	१४५·६	१३०·१	१२२·८				

नोट—शिशुमरणमान प्रतिसहस्र जीवित प्रसूत शिशुओंपर दिया गया है।

बालकका विपथगामी स्वभाव

(लेखक—श्रीमेरिया मांटेसरी)

शरारत शब्द बालकोंके दो प्रकारके हठको प्रकट करता है। जब हम उसकी सहायता करनेका प्रयत्न करते हैं, तब वह उसका प्रतिरोध करता है और उसमें अपने-आप काम करनेका दृढ़ किंतु ज्ञानशून्य निश्चय होता है। यह बालकका ऐसा क्रियात्मक प्रयत्न है जो वातावरण, सगे-सम्बन्धियों और वयस्कोंसे मुक्त होनेके लिये करता है। बिलगताका यह भाव कुछ आश्चर्य उत्पन्न करता है, पर बालकका जन्म भी तो एक बिलगता ही है। अपनी माके शरीरसे बिलग होता है, जो उसके लिये जन्मके अन्तिम क्षणतक काम करता रहा है। जन्मके पश्चात् वह साँस लेना, पाचन, रक्ताभिसरणकी क्रिया स्वयं करने लगता है। जब छोटा बालक बिलगावका नया प्रयत्न करता है और ऐसे काम स्वयं करनेको कोशिश करता है, जिनको उसने पहले कभी नहीं किया है, तब उसका नया और दूसरा जन्म समझना चाहिये। यह जन्म उसे सामाजिक अस्तित्वमें पहुँचाता है और स्वतन्त्र कार्यकी ओर बढ़ानेका श्रीगणेश करता है। यह उसीसे मिलता-जुलता प्रयत्न है, जो तितली अपनी ग्रंथिसे निकलकर पंखका उपयोग करते समय करती है। उसका अंडेसे बाहर निकलना तो जन्म था। जब वह उड़कर घोंसलेमें गयी, तब उसका दूसरा जन्म हुआ।

यह एक विशिष्ट तथ्य है कि सारे संसारके बालकोंमें यह प्रवृत्ति, अकेले काम करनेकी यह रुचि पायी जाती है और यह निश्चित है कि यह प्रवृत्ति, मुक्तिके लिये किसी तर्क अथवा सचेत क्रियापर निर्भर नहीं करती, प्रत्युत यह तो बालककी स्वाभाविक बुद्धि-शक्तिकी माँग है।······
···शरारतमें वयस्कोंके विरुद्ध प्रतिरोध करनेके दो रूप होते हैं और उनमेंसे एक यह है। दूसरे प्रतिरोधमें सभी कुछ स्पर्श करनेकी इच्छा निहित होती है। बालकोंमें अपने वयस्कोंकी वस्तुएँ छूनेकी इच्छा होती है। बालकको किसी वस्तुका स्पर्श करनेसे रोकना किसीके भी लिये व्यर्थ होता है, न तो उसे समझाना-बुझाना काम देता है, न खिलौनों आदिसे ही वह संतुष्ट होता है। उसमें छूनेकी जो हठपूर्ण आकाङ्क्षा होती है, उसे कोई दूर नहीं कर सकता। वह कभी कुछ और कभी कुछ चाहता है। वह ऐसी वस्तुएँ चाहता है, जो उसके लिये आवश्यक नहीं होतीं। जो वस्तुएँ उसके लिये नहीं होतीं, उन्हें ही वह छूता और लेता है।··· प्रत्येक बालककी यह स्वतः प्रवृत्ति होती है। जिस तरह चिड़ियाके लिये उड़ना, मछलीके लिये तैरना स्वतः प्रवृत्ति है, उसी तरह बालकके लिये काम आवश्यक हो जाता है।

प्रत्येक नवजात प्राणी अपने ढंगकी क्रियाशीलता अपना लेता है और मनुष्यके लिये तो काम ही उसकी समुचित क्रियाशीलता है। हम प्रागैतिहासिक मनुष्यकी खोज—उसके ढाँचेके प्रकारसे नहीं, उन पालिश किये हुए पत्थरों और आभूषणोंसे करते हैं, जिनका उसने निर्माण किया है। यह विलक्षण बात है कि संसारके सभी बालक जो कुछ भी छू सकते हैं, उसे छूनेके लिये प्रवृत्त होते हैं। यह प्रवृत्ति न तो विचारका परिणाम है और न पूर्वकालीन इतिहासके परिचय और मानवीय भाग्यके अध्ययनका फल है। यह एक ऐसी माँग है, जिसे कोई नहीं दबा सकता। इस शक्तिका उद्रेक तर्कबलसे नहीं, स्वाभाविक प्रेरणासे होता है।

इन दोनों प्रेरणाओं—स्वतन्त्रताका प्रयत्न और काम करनेकी आकाङ्क्षा—के द्वारा बालक अपने व्यक्तित्वका निर्माण करता है। उसकी इस क्रियाशीलतामें प्रयोजन अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है और वह वास्तवमें इस क्रियाशीलताद्वारा अपने व्यक्तित्वके सर्वाङ्गीण विकासकी प्रक्रियामें प्रगति करता है। यदि उसे इस प्रकार काम करनेका अवसर नहीं दिया जाता, तो वह तीन वर्षसे बाद-की अवस्थामें मानसिक विपथगामिताका शिकार बन जाता है। वह प्रतिदिनके जीवनमें संघर्ष करता है और वयस्क लोग उसकी इस विपथगामिताको जितना कम समझ पायेंगे, वह उतनी ही बढ़ती जायगी।

जब कोई बालक अपने व्यक्तित्वके निर्माणमें बाधाका अनुभव करता है, वह विपथगामिताकी ओर झुकता है। यदि वह विपथगामी बन जाता है, तो निषेधात्मक लक्षणों-द्वारा अपनी विपथगामिता व्यक्त करता है। इस प्रकारके लक्षण बहुत-से होते हैं। कुछ तो नितान्त स्पष्ट रहते हैं—अधिकारभाव, विनाशात्मकभाव, पड़े रहना, क्रूरता प्रकट करना आदि। अन्य लक्षण कम ध्यान देने योग्य होते हैं। वास्तवमें ये बातें बालकोंमें सामान्य समझी जाती हैं,

पर ये विषयगामिताके ही लक्षण हैं । सुस्ती, भय, अवज्ञा, उकता जाना और शोकातुरता आदि इनमें ही सम्मिलित हैं। दूसरे कुछ लक्षण ऐसे भी हैं, जिन्हें बुराईके बदले गुण समझा जाता है। अति सजीव कल्पना-शक्ति, अतिशय ममता आदि ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनके कारण माता-पिता अपने बालकोंपर गर्व करते हैं; पर ये ऐसी परिस्थितियोंके परिणाम हैं, जो विकासकी बाधक होती हैं। ये त्रुटियाँ सभी बालकोंमें पायी जाती हैं' 'ये सामान्य अवस्थाके क्षेत्रसे बाहर-की वस्तुएँ हैं। ये सभी विशेषताएँ अपनेको असामान्यरूपमें तब प्रकट कर देती हैं, जब बालक उन अवस्थाओंमें रक्खा जाता है, जो सामान्य विकासके लिये आवश्यक होती हैं, तब वास्तवमें वे सभी विशेषताएँ नौ-दो-ग्यारह हो जाती हैं और बालकका नया रूप स्पष्ट हो जाता है।

(संकलित)

तरुण-तरुणियोंकी सहशिक्षा और शिक्षा-पद्धति

(लेखक—दीवानबहादुर श्रीकृष्णलाल मोहनलाल झवेरी एम्०ए०, एल्-एल्०बी०, जे०पी०)

अबसे पचास वर्ष पूर्व तरुण-तरुणियोंकी सह-शिक्षाके प्रश्नने इतना उग्र स्वरूप नहीं धारण किया था। इस समय तो देशभरके मनस्वियोंके सामने यह विचारणीय प्रश्न हो गया है और बहुत-से विचारशील पुरुषोंका यह निश्चित मत है कि सह-शिक्षाकी यह पद्धति सर्वथा अनिष्टकारक है और शीघ्र-से-शीघ्र इसे तिलाञ्जलि देनेमें ही देशका कल्याण है। कारण स्वतःसिद्ध है। जातीय शास्त्र, जातीय स्वभाव, प्रकृति—सभी यही कहते हैं कि इस अवस्थामें प्रायः युवक-युवतियाँ, शिक्षित हों या अशिक्षित, संयमकी रक्षा करनेमें असमर्थ होते हैं। इसीलिये इनका निर्बाध अनियन्त्रितरूपमें मिलना-जुलना वर्जित है; क्योंकि इनके मिलनेका परिणाम बड़ा भयानक होता है । इसलिये इनकी पढ़ाई सर्वथा अलग-अलग होनी चाहिये। इस समय तो युवतियोंके लिये भी पर्याप्त शिक्षण-संस्थाएँ भी स्थापित हो चुकी हैं। कलकत्तेका बेथून कालेज, जालन्धर कन्या महाविद्यालयके अतिरिक्त बड़ौदा, पोरबन्दर, वनस्थली, बंबई, पूना और पिलानी आदि अनेकों नगरोंमें बड़े-बड़े महाविद्यालय, विद्यालय और कन्या-पाठशालाएँ हैं। जहाँ नहीं हैं, वहाँ बनायी जा सकती हैं; परंतु कन्याओंकी पढ़ाई होनी चाहिये पृथक् ही। और वह पढ़ाई भी होनी चाहिये कन्याओंके योग्य ही।

बालकोंकी शिक्षा-पद्धतिमें भी अब परिवर्तन होना चाहिये। ब्रिटिश शासनके समय हेरो और आक्सफोर्डकी पद्धतिका अनुसरण करके बहुत-सी ऐसी बातें हमारी शिक्षा-पद्धतिमें आ गयी थीं, जो बिना विवादके भारतकी वस्तुस्थितिके अनुकूल नहीं थीं; पर अब तो अपना स्वशासन है, अतएव अपनी पुरानी गुरुकुल-पद्धतिको ध्यानमें रखते हुए उसमें समयानुसार आवश्यक परिवर्तन करके उसका प्रचलन कर देना चाहिये। आचार्य सांदीपनिके आश्रममें गरीब ब्राह्मण-कुमार सुदामा और राज्यारूढ़ यादववंशके यशस्वी कुमार श्रीकृष्ण-जैसे विरोधी स्थितिके बालक एक साथ एक-सी स्थितिमें रहकर पढ़ते थे और शिक्षा प्राप्त करके गृहसेवा, समाजसेवा, भ्रातृत्व, मातृ-पितृ-भक्ति, आज्ञापालन, नम्रता, धीरता, साधुता आदि गुणोंको लेकर कार्य-क्षेत्रमें आते थे। ये गुरुकुलके विद्यार्थी गुरु-पत्नीकी आज्ञाको शिरोधार्यकर जंगलसे समिधा, फल-फूल-मूल लानेमें, किसी भी प्रकारकी सेवा करनेमें हीनता नहीं समझते थे और 'भिक्षां देहि'से जो अन्न मिलता, उसे गुरुके चरणोंमें अर्पण करके गुरु जो कुछ भी खानेको दे देते, उसीमें संतोष करते थे। इनकी शिक्षाकी यही सर्टिफिकेट थी कि ये अमुक आचार्यके आश्रममें भली-भाँति पढ़े हैं। गुरुका नाम ही उनकी योग्यताका परिचायक था। यदि किसी प्रकार ऐसी पद्धतिका प्रचार हो सके तो वर्तमानमें जो शिक्षाका बेहद बोझ बढ़ रहा है, उससे समाज-की तथा विद्यार्थियोंकी रक्षा हो सकेगी। उनका स्वास्थ्य भी उन्नत होगा और मन-बुद्धि भी। तभी देशका भी सच्चा उद्धार होगा।

केवल एक बात

(लेखक—पं० श्रीगणेशदत्तजी पन्त)

बालको ! मुझे तुमसे केवल एक बात कहनी है, केवल एक । उसका सहारा लेकर यदि तुम आगे बढ़ोगे तो जीवनमें तुम्हारी उन्नति होगी और तुम एक दिन महान् व्यक्ति बनोगे । कहूँ मैं अपनी बात ? तुम उसे मानोगे न ? तो लो, सुनो—'लेना चाहते हो तो आशीर्वाद लो' । आशीर्वादमें कितनी शक्ति है यह तुम सम्भवतः नहीं जानते और इसीलिये इसे प्राप्त करनेका प्रयास नहीं करते । यह गुप्त शक्ति है जो सदैव हमारी सहायता करती रहती है ।

तुमको यह भलीभाँति ज्ञात है कि भारत देशके वासियोंकी आयु सौ वर्षसे कम नहीं हुआ करती थी । जीवनको चार भागोंमें विभक्त कर दिया गया था । ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास । मृत्युपर हर्ष मनाया जाता था, पर आजके युगमें विपरीत है । बाल्यकालमें ही कितने जीवन नष्ट हो जाते हैं, और अवस्थाकी तो कौन कहे । अवस्था जैसी है, वह किसीसे छिपी नहीं है । पर क्या कोई इसके तथ्यतक पहुँचनेका प्रयास करता है ? चरित्र-सम्बन्धी शिक्षाका घरसे लेकर समस्त क्षेत्रमें अभाव है । यही कारण है कि आजके बालकमें आत्मबल नहीं है और एक उसीके अभावमें उसका शरीर पनप ही नहीं पाता । वह आत्मबल दूसरोंकी कृपा और आशिषसे ही मिल पाता है । घी, दूध और भोजनसे तो शरीरकी पुष्टि होती है; पर आशीर्वादसे आत्माको बल मिलता है । क्योंकि उत्तम आशिष अनन्तकी दयासे ही मिलती है; अतएव बालको ! उसे प्राप्त करनेका प्रयास करो । देखो, तुम्हारी दुनिया ही बदल जायगी । जो आज तुमपर लाञ्छन लगाते हैं, वे ही कल तुम्हारी प्रशंसा करेंगे । घर, बाहर, देश वा विदेशमें भारतीय बालकोंका मान होगा केवल तुम्हारे तनिकसे भद्र-व्यवहारसे । इससे तुम्हारा ही नहीं, अपितु सारे संसारका भला होगा ।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि हमारी आयु सौ वर्षकी हुआ करती थी, जब हम बड़ोंका आशीर्वाद लिया करते थे । हमें आशीर्वाद मिलता था 'चिरं जीव,शतायुः भव' परंतु आज क्या हो रहा है, जानते हो ? आजका बालक कहता है कि मुझे तो पिताजीको प्रणाम करनेमें लज्जा आती है । जब पिताजी और माताजीको प्रणाम करनेमें लज्जा आती है, तब आजके अध्यापकके सामने नत-मस्तक होनेमें तो फिर मालूम क्या आवेगा ? यही कारण है कि आज उद्दण्डता और अनुशासनहीनता है । केवल आशीर्वाद न लेनेकी भावनाकी कमी है, क्योंकि आजका बालक यह समझता है कि 'किसीके कुछ कहनेमात्रसे ही कुछ कल्याण नहीं हो सकता । हम जो चाहेंगे वही होगा ।' पर यह उसकी भूल है ।

बालको ! आज मुझे भी तुमसे यही कहना है कि यदि लेना चाहते हो तो आशीर्वाद लो । धन, यौवन तथा अन्य सांसारिक पदार्थ साथ नहीं रहते, पर बड़ोंकी तथा अन्य सभीकी शुभ कामनाएँ सदैव साथ रहती हैं । अतएव उन्हें प्राप्त करो ।

भारतीय बालकोंकी प्रार्थना

(रचयिता—श्रीमुरलीधरजी एडवोकेट)

ॐ एता देवसेना सूर्यकेतवः सचेतसः । अमित्रान्नो जयन्तु स्वाहा ॥ (अ० ५ । २१ । १२)

हम आर्य हैं हमारा इतिहास है पुराना ।
है सूर्य ध्वज हमारा किरणें असंख्य नाना ॥ १ ॥
प्रातः सवनमें हमने विज्ञान वेद पाया ।
जिसकी विभा प्रभासे संसार जगमगाया ॥ २ ॥
शोभा हैं विश्वकी हम, हम देवके दुलारे ।
वसु हैं वसुन्धराके, हम हैं गगनके तारे ॥ ३ ॥
जीवनकी जान हैं हम, हम प्राण हैं पवनके ।
रविकी हैं रश्मियाँ हम, हम मान हैं सुमनके ॥ ४ ॥
भूपर सदा हमारा शासन सुचक्र घूमा ।
हम ही रहे सदासे इस भूमिके सु-भूमा ॥ ५ ॥
संसारको हमारा गौरव गुमान भाया ।
सद्धर्म सभ्यताका हमसे विधान पाया ॥ ६ ॥
अपने अतीतको अब हम वर्तमान कर दें ।
हम फिर दयासे जगमें आनन्द ज्ञान भर दें ॥ ७ ॥

निरर्थक हिंसासे बालकोंकी रक्षा

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे साहित्यरत्न)

जिस प्रकार स्वच्छ जलसे कोई भी इच्छित रंग बना लिया जाता है, किंतु एक रंग निर्मित हो जानेपर उसी जलसे दूसरा शुद्ध रंग बना लेना कठिन होता है, जिस प्रकार स्वच्छ कागजपर स्वेच्छया कोई भी सुन्दर चित्र अङ्कन कर लिया जाता है, परंतु एक बार एक चित्र बन जानेपर उसी कागजपर दूसरा इच्छित चित्र बनाना सम्भव नहीं रह जाता, और जिस प्रकार कच्चे लोहेको इच्छानुसार किसी ओर मोड़ सकते हैं, किंतु पक्के लोहेको मोड़ना सम्भव नहीं रह जाता, वह बल-प्रयोगसे टूट जाता है, ठीक उसी प्रकार धूलमें घुटनोंके बल सरक-सरककर आगे बढ़नेवाले शिशुकी बुद्धि अत्यन्त स्वच्छ और निर्मल होती है। उसपर प्रारम्भिक संस्कार अमिट चिह्न अङ्कित कर देते हैं, वे संस्कार आजीवन जीवित रहते हैं। शिशुका जीवन हमारे हाथोंमें होता है, उसके जीवन-निर्माणका सारा दायित्व हमपर होता है। हम सतत सावधानी और अथक प्रयत्नसे शिशुको विश्वका महामानव बना सकते हैं। संसारका सबसे बलिष्ठ पुरुष बना सकते हैं, विद्वान् बना सकते हैं और अपनी सजगतासे चाहें तो उसे जगदुद्धारक देवता बना सकते हैं, किंतु हम न चाहें तो वह एक अति तुच्छ तृणसे भी हीन हो सकता है। मूर्ख, रोगी, चोर, हिंसक और पतित हो सकता है वह। मानवके नाते, शिशुके अभिभावकके नाते या लीलामय प्रभुकी दी हुई थातीके नाते हमें अपने दायित्वका निर्वाह करनेके लिये, शिशुका जीवन-निर्माण करनेके लिये निरन्तर सजग और सचेष्ट रहना चाहिये, जागरूक रहना हमारे लिये नितान्त अपेक्षित है।

उत्फुल्ल कुसुम-सुकुमार शिशुको देखकर हम मुदित होते हैं और उसकी किलकारियोंपर प्राण अर्पित-सा होता जाता है। उसकी रक्षा और कल्याणके लिये हम चिन्तित रहते हैं, उसका उन्नत जीवन ही हमें अभीष्ट है, यह सर्वथा सत्य है किंतु मोहमय शिशुके क्रीडा-सुख-प्रवाहमें हम प्रायः निश्चिन्त रह जाते हैं और वहीं दायित्व-च्युत होनेके लिये अवकाश है।

हम अबोध शिशुको देखते हैं, जब उसमें अपने स्थानसे चार अंगुल भी आगे बढ़नेकी क्षमता नहीं होती। वह समीपके जूठे जलमें बार-बार हाथ घुमाता रहता है, जैसे वहाँकी उतनी भूमि लीप रहा हो। अति लघु पिपीलिकाको देखकर उसे बार-बार रगड़ता है। शिशु कितना भी कोमल और अनजान हो, पर उस अवस्थामें भी उससे सर्वथा निर्दोष अति लघु पिपीलिकाका संहार तो होता ही है। जीवित प्राणीकी हिंसा तो बन ही जाती है।

किञ्चित् आगे सरकनेवाले बालक अत्यन्त मंदगतिसे रेंगते हुए केचुओं और अपने पासके छोटे-छोटे जन्तुओंको हाथ-पैरसे मसलकर खेलते हैं। कुछ और बड़े हो जानेपर जब वे ढेला आदि उठा सकनेकी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, तब तो उनसे उन्मुक्त हिंसा आरम्भ हो जाती है, निश्चय ही बालक्रीडाके ही मिससे निरपराध प्राणियोंका वध करते हैं और उक्त वधसे उस प्राणीकी कोई हानि हो रही है, प्राणान्तके समय उसे दारुण यन्त्रणा मिलती है, और मेरी इस क्रीडासे उसके जीवन-सुखका दुःखद अन्त हो रहा है, यह सब वे कुछ नहीं जानते। वे तो यही समझते हैं कि 'मैं खेल रहा हूँ। मेरे खेलमें कोई विघ्न नहीं आना चाहिये।' उसका यह सोचना सत्य और स्वाभाविक भी होता है। अपनी इस स्वाभाविक क्रीडामें वह चाकूसे कितने चींटोंको काटता है, ढेलोंसे कितने मेढकोंका प्राणान्त करता और कितनी रंगीन तितलियोंका पंख नोच फेंकता है, संख्या नहीं, गणना नहीं। इस साधारण क्रीड़ामें होनेवाली हिंसासे बालकके विशुद्ध मस्तिष्कपर निर्दयताकी एक छाप पड़ती जाती है, वह क्रमशः निर्मम असरल बनता जाता है। अबाध गतिसे इस प्रकार उसकी क्रीडा चलती रहनेपर वह पूर्ण वयमें कठोर और दारुण बन जाता है। क्षमा, दया और उपकार प्रभृति दैवी गुणोंसे वह दूर, दूरतर होता जाता है। फिर परमार्थकी कल्पना उसके लिये व्यर्थकी बात हो सकती है। अनजानके ये संस्कार उसे जन्म-जन्मान्तरमें पता नहीं, किस दीर्घकालतक शाश्वत शान्तिके स्पर्शसे वञ्चित रखते हैं।

हमारी थोड़ी निश्चिन्तता और थोड़ी-सी उपेक्षा हमारे प्राणप्रिय बालकको कितने भयानक गर्तमें डाल सकती है, स्पष्ट है। किंतु यदि हम थोड़ी-सी सावधानी रखें तो वह भयंकर विपत्तिसे रक्षित रहे, वह सौभाग्यकी सुकोमल स्निग्ध स्वर्णिम रश्मियोंमें उत्तरोत्तर अग्रसर होता जाय।

शिशु जलमें या लघु पिपीलिकाको पकड़कर हाथ घुमाता

है, उसे पीसता है,—यह देखते ही उसे चटसे गोदमें ले लें। उसका हाथ धो डालें तथा साफ वस्त्रसे पोंछकर घुमा-फिरा दें। जहाँ दो-चार बार इस प्रकार किया गया कि निश्चय ही वह इस प्रकार भूमिपर जलसे हाथ लीपना छोड़ देगा। इसी प्रकार रेंगते हुए केंचुए या चींटे आदिको चाकूसे लेकर काटने या मेढक आदिको पत्थरसे मारने और तितलियोंके पंख नोच फेंकनेकी क्रीड़ासे हम बालकको विरत कर सकते हैं। समय और कार्यके अनुसार बालकको स्नेह और युक्तिसे इस प्रकारकी हिंसामय बीभत्स क्रीड़ासे बचाना चाहिये। तनिक भी समझनेवाले बालकको बार-बारके प्रयत्नसे समझाया जा सकता है कि 'यह पाप-कर्म है। किसी भी प्राणीको कष्ट होनेसे भगवान् अप्रसन्न होते हैं। भगवान्‌की प्रसन्नतासे ही विद्या, बुद्धि, बल और यशकी प्राप्ति होती है।' इस प्रकारकी बात बार-बार सुननेपर बालक निर्दोष प्राणियोंकी व्यर्थ हिंसा नहीं कर पायेगा।

कुछ अधिक आयु हो जानेपर तो बालकको सरलतासे समझाया जा सकता है कि 'इस प्रकारके खेलसे उन असहाय प्राणियोंको असह्य पीड़ा होती है। मृत्युके समय उन्हें दारुण दुःख होता है और जीवन-सुखसे वे बलात् वञ्चित हो जाते हैं।' इस प्रकार ध्यान रखकर समझानेसे बालक इस निरर्थक हिंसासे सरलतापूर्वक विमुख हो सकता है। सब उपाय इतने ही नहीं हैं। समय और सुविधाके अनुसार जिन स्नेहमय सात्त्विक उपायोंसे अनजान शिशु हिंसासे बच सकें, उन्हें सोचना, विचारना और करना आवश्यक है। 'अहिंसा परम धर्म है', यह तो सर्वसम्मत है ही। उचित तो यह है कि बालकोंको केवल हिंसासे ही नहीं बचाना चाहिये। विश्वके सभी प्राणियोंके प्रति उनके मनमें दया तथा सहानुभूतिकी वृत्ति पैदा करनी चाहिये।

बालकोंसे निवेदन

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

१—प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व ही उठ बैठो, सूर्य-उदय होनेतक सोते मत रहो। सूर्योदय होनेपर भी सोते पड़े रहना बीमारीको निमन्त्रण देना है।

२—आँखें खोलते ही खाटपर बैठे-बैठे ही पहले राम-राम, कृष्ण-कृष्ण, शिव-शिव आदि श्रीभगवन्नाम उच्चारण करो। श्रीभगवन्नामामृतका पान करो, श्रीभगवन्नाममें बड़ी ही मिठास है, इसे याद रक्खो। श्रीभगवन्नामकी मिठासको बालक भक्त ध्रुव, बालक भक्त प्रह्लाद जानते थे। लाख प्रयत्न करनेपर भी, लाख कष्ट सहनेपर भी उन्होंने श्रीभगवन्नाम लेना नहीं छोड़ा था। श्रीभगवन्नामके बलपर ही वे छोटे-छोटे बालक आज जगत्-पूज्य बन गये हैं। श्रीभगवन्नाम लेनेसे तुम आस्तिक, ईश्वरभक्त, धर्मात्मा, पुण्यात्मा बन सकोगे और नास्तिकतासे बच सकोगे।

३—खाटसे पैर नीचे रखनेसे पहले यह मन्त्र बोलो—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

और भारतमाता पृथ्वी माताको हाथ जोड़ो, सिर नवाओ, तब इसपर पैर रक्खो। ऐसा करनेसे तुम भारतमाताके सच्चे भक्त बन सकोगे। भारतका प्रत्येक कण परम पवित्र है, इसलिये बड़ी श्रद्धासे सिर नवाओ।

४—खाटसे उतरनेपर सीधे घरमें यदि श्रीठाकुरजीका स्थान है, पूजाकी कोठरी है तो वहाँ जाओ, बड़ी श्रद्धासे नतमस्तक होकर हाथ जोड़कर प्रणाम करो। भगवान् श्रीराम, कृष्ण, शिव, दुर्गा, हनुमान्‌की प्रतिमाओंके सामने मत्था टेको और घरमें श्रीतुलसीजी हों तो उन्हें हाथ जोड़ो, प्रणाम करो, गाय हो तो उन्हें सिर झुकाओ और पूज्य ब्राह्मण सामने आयें तो चरण छूकर प्रणाम करो और माता-पिताके चरण छू उनका आशीर्वाद प्राप्त करो और यदि बाबा-दादी हों तो माता-पितासे भी पहले उनके चरण छुओ। जो भी मिलें, उन्हें राम-राम, जयरामजीकी करो।

५—शौच जहाँतक हो, जंगलमें जाओ और साथ ही हाथमें लोटा भरकर जल अवश्य ही ले जाओ। शौच भूलकर भी पीपलके नीचे, गायोंके बैठनेकी जगह न करो। ऐसा करनेसे तेज नष्ट हो जाता है। भूलकर भी सूर्यके सामने मूत्र-त्याग न करो, नहीं तो कुष्ठ-रोग हो जाता है। शौच होते समय मौन रहो—बोलो मत।

६—टट्टीके हाथ मिट्टीसे मलकर धोओ, भूलकर भी साबुनसे हाथ मलकर मत धोओ। साबुनसे टट्टीके हाथ धोनेसे हाथ पवित्र नहीं, उल्टे अपवित्र हो जाते हैं और पाप लगता है।

७–दाँतुनसे या शुद्ध घरके मंजनसे दाँत साफ करो, भूलकर भी सूअरके बालसे बने बिलायती हड्डीके बेंटेके ब्रशसे दाँत साफ मत करो, ऐसा करना घोर पाप करना है और नरकका मार्ग तैयार करना है । दाँतुन नीमकी या बबूलकी होनी चाहिये और दाँतुन तोड़ते समय वृक्षोंको कष्ट न हो इसलिये मन्त्र बोलकर दाँतुन तोड़ो और जितनी चाहिये उतनी ही, ज्यादा नहीं । वृक्षोंमें भी जीव हैं, उन्हें भी कष्ट होता है, इसे याद रक्खो । दाँतुन बैठकर करो—खड़े होकर या घूमते-फिरते नहीं ।

८–स्नान श्रीगङ्गा, श्रीयमुना, श्रीसरयूमें करना तो महान् पुण्यदायक है ही; यदि श्रीगङ्गा, यमुना, सरयू न मिल सकें तो पासमें कोई नदी हो, नहीं तो, नित्य कूपपर स्नान करना चाहिये । स्नान करते समय श्रीगङ्गास्मरण और श्रीभगवन्नाम उच्चारण करते रहना चाहिये । अपवित्र तथा चर्बीका साबुन मत लगाओ । साबुन खुश्की पैदा करनेवाला है । शरीरको खद्दरके अँगोछेसे रगड़-रगड़ कर पोंछना चाहिये ।

९–स्नानके पश्चात् आजकल बहुत-से लोग धोतीका तहमद करके बाँध लेते हैं, ऐसा नहीं करना चाहिये । तहमद बाँधना पाप है और शास्त्रमें लिखा है कि बिना लाँगकी धोती बाँधकर चलना बड़ा पातक करना है । नेकर, पतलून या पाजामा भी नहीं पहनना चाहिये, पहले दिनकी धुली शुद्ध धोती पहननी चाहिये ।

१०–अपने मस्तकपर व्रजरज, श्रीअयोध्यारज, श्रीगङ्गारज, श्रीयमुनारजका तिलक लगाना चाहिये । तिलक-चोटीकी रक्षाके लिये श्रीगुरुगोविन्दसिंहके बालक जोरावरसिंह, फतेहसिंह दीवारोंमें चुने गये थे, वीर हकीकत बलिदान हो गये थे, हमें भी तिलक लगानेमें शर्म नहीं करनी चाहिये ।

११–सिरपर लंबी चोटी होनी चाहिये । चोटी कटाना पाप है, जिसके सिरपर चोटी नहीं, वह हिंदू कहलानेका अधिकारी नहीं । चोटीमें गाँठ लगानी चाहिये ।

१२–स्नानके पश्चात् एक लोटा जल भगवान् श्रीसूर्यदेव-को मन्त्र बोलकर अवश्य देना चाहिये । सूर्य भगवान्को जल दिये बिना जल पीना मूत्र-पानके सदृश माना गया है । भगवान् श्रीसूर्यदेवको जल देनेसे तेजकी प्राप्ति होती है और सूर्यदेव प्रसन्न होकर मनचाहा वरदान देते हैं ।

१३–नित्य-प्रति, यदि यज्ञोपवीत हो गया हो तो सन्ध्यावन्दन करके गायत्रीकी माला जपनी चाहिये और यज्ञोपवीत नहीं हुआ हो तो भगवान् राम, कृष्ण, शङ्करके चित्रके सामने मालापर श्रीराम-राम, कृष्ण-कृष्ण, शिव-शिव अवश्य ही जपना चाहिये और श्रीरामायणजीका पाठ करना चाहिये । पाठ अधिक न भी कर सकें तो कम-से-कम पाँच चौपाई तो अवश्य ही पढ़ लेनी चाहिये और श्रीतुलसीजीको जल दे परिक्रमाकर प्रणाम कर लेना चाहिये ।

१४–भूलकर भी टोप, नकटाई, पतलून नहीं पहनने चाहिये और तेल-फुलेल, चटक-मटकसे भी बचना चाहिये । सीधा-सादा और उच्च जीवन होना चाहिये ।

१५–भगवान्को स्मरण करके पाँच ग्रास निकालकर तब भोजन करना चाहिये । भोजन जूते पहनकर नहीं करना चाहिये । भोजन एक साथ एक थालीमें बैठकर नहीं करना चाहिये । भोजनमें खटाई-मिर्च नहीं होनी चाहिये । प्याज, लहसुन, सलजम, अंडे, मांस-मछली भूलकर भी नहीं खाने चाहिये—घोर पाप लगता है । होटलका बना भोजन नहीं करना चाहिये । चमार-भंगी, ईसाई, मुसल्मानोंके हाथका कुछ भी खाना-पीना नहीं चाहिये, घरके चौकेका पवित्र भोजन करनेसे ही आध्यात्मिक उन्नति होती है और बुद्धि शुद्ध होती है ।

१६–भूलकर भी बिस्कुट, डबल रोटी, चाय नहीं खाने-पीने चाहिये । चाय पीनेसे ब्रह्मचर्य नष्ट हो जाता है और मनुष्य मृतप्राय तेजहीन हो जाता है । चाय पीनेसे धन, धर्म, शरीर—सब कुछ स्वाहा हो जाता है और मनुष्य सबकी चायकी जूँठी प्यालियाँ चाटनेवाला चटोकरा कुत्ता-जैसा बन जाता है और धन, धर्म, शरीर—सबको खोकर नरककी सैर करता है ।

१७–भूलकर भी पानीका बर्फ नहीं पीना चाहिये । इसे हर जातिके लोग हर अपवित्र हालतमें बनाते हैं । इसके पीनेसे धर्म नष्ट होता है, पाप लगता है और साथ ही यह खुश्की पैदा करता है, शरीरको हानि पहुँचाता है । इसी प्रकार सोडा-लेमनेडसे भी दूर रहना चाहिये ।

१८–बीड़ी-सिगरेटसे भी कोसों दूर रहना चाहिये, यह बहुत बुरी लत है । इससे मनुष्यका जीवन बरबाद हो जाता है । दमेकी बीमारी हो जाती है और शरीर जर्जर हो जाता है तथा सबका जूँठा पीनेसे धर्मसे भी हाथ धो बैठते हैं । भाँग-शराबके भी हाथ नहीं लगाना चाहिये । शराबके सम्बन्धमें तो यहाँतक

पाप लिखा है कि 'यदि अँगुलीके भूलसे भी शराब लग जाय तो अँगुली काट फेंकनी चाहिये ।'

१९—संस्कृत पढ़ना चाहिये और पढ़ानेवाला गुरु ब्राह्मण होना चाहिये । वयोवृद्ध, त्यागी, तपस्वी होना चाहिये । बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे गुरुदेवको प्रणाम करना चाहिये और उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये । पढ़नेसे पहले नित्य श्रीगणेशजी और सरस्वतीजीका स्मरण अवश्य करना चाहिये । गुरुकी आज्ञा मानना परम धर्म मानना चाहिये और गुरु-सेवासे मुख नहीं मोड़ना चाहिये ।

२०—ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये । ब्रह्मचर्य किसी भी प्रकार नष्ट न हो, इसलिये कुसङ्गसे दूर रहना चाहिये । लड़कियोंके साथ कभी भी खेलना-पढ़ना नहीं चाहिये । गंदे लड़कोंसे बचना चाहिये, गंदी पुस्तकें नहीं पढ़नी चाहिये । अपने शास्त्र—रामायण, गीता, महाभारत देखने चाहिये ।

२१—चोरी कभी नहीं करनी चाहिये, चोरी करनेवाले बालकोंके पास नहीं बैठना चाहिये, किसीकी कोई भी चीज अच्छी-से-अच्छी पड़ी हो, नहीं उठानी चाहिये और बिना माँगे किसीकी चीज नहीं लेनी चाहिये ।

२२—गंदे शब्द नहीं बोलने चाहिये, गंदी बातें नहीं करनी चाहिये, गाली नहीं देनी चाहिये, झूठ नहीं बोलना चाहिये, किसीका अपमान नहीं करना चाहिये । लँगड़े, लूले, अंधे, काने, गरीब, दीन, दुखीको देखकर हँसना नहीं चाहिये । दीन-दुखियोंकी सेवा करनी चाहिये ।

२३—नाटक, सिनेमा, टाकीज भूलकर भी नहीं देखना चाहिये, इनसे बचना चाहिये । इन्हें देखनेसे मन गंदा होता है, व्यर्थ ही रुपया खर्च होता है, आँखें कमजोर होती हैं, समय नष्ट होता है, पाप लगता है, बुरी आदतें पड़ती हैं । जिसके धर्मपर महान् घोर विपत्ति हो, जिसके देशके टुकड़े-टुकड़े हो गये हों, माताएँ भगा ली गयीं हों; क्या अब भी हीं-हीं करके हँसना, गुलछर्रे उड़ाना, सिनेमा देखना शोभा देता है ?

२४—खड़े-खड़े मूत्र करना पशुओंका कार्य है, इसलिये भूलकर भी खड़े-खड़े मूत्र-त्याग मत करो । बैठकर करो और बादमें मिट्टीसे हाथ मलकर धोओ, कुल्ले करो ।

२५—व्यायाम करो, खेलो-कूदो पर अपने देशी खेल खेलो और हर जातिके लड़कोंके साथ मत खेलो । अंग्रेजी खेल मत खेलो, खेल-कूदकर बलवान् बनो, देश-धर्मकी रक्षाका व्रत लो ।

२६—कथा, कीर्तन, सत्सङ्ग, तीर्थयात्रामें बड़े चावसे जाओ, देवपूजनमें आलस्य मत करो, धर्मरक्षाके कार्योंमें खूब भाग लो, दान-पुण्य करते प्रसन्नताका अनुभव करो, धर्मविरुद्ध कार्य होते देखो तो अड़ जाओ, डटकर विरोध करो, गुंडोंके छक्के छुड़ा दो ।

२७—बाजारके चाट, पकौड़ियोंके पत्ते चाट-चाटकर चटोकरे मत बनो, जूते पहनकर खड़े-खड़े मत खाओ, चाहे जिसके हाथका और चाहे जो चीज मत खाओ; शास्त्रोक्त खाओ ।

२८—अपने पढ़नेका उद्देश्य नौकरी करना, सरकारी अफसर बनना और बाबू बनना मत समझो । संस्कृत और हिंदी पढ़ो तथा पढ़नेका उद्देश्य वेद-शास्त्र पढ़कर ईश्वर-प्राप्ति करना समझो ।

२९—कायर, नपुंसक, हिजड़े मत बनो; बलवान् धीर-वीर बनो और गुंडोंसे डरो नहीं, बल्कि गुंडोंको अपने तेजसे भस्म करनेवाले बनो । गुंडे देखकर थर-थर काँपे—ऐसे तेजस्वी वीर बनो । डरो मत, निर्भय रहो; डरो—पाप करते डरो; परधन, परस्त्री, बुरे कामोंके करनेसे डरो, गुंडोंसे नहीं ।

३०—भूलकर भी गोभक्षक और विधर्मीके साथ बैठकर मत खाओ, उनके हाथका मत खाओ, उनसे कोसों दूर रहो ।

३१—प्रतिज्ञा करो—हमें कोट, बूट, टोप, नकटाई पहननेवाला, खड़े-खड़े मूत्र करनेवाला, बीड़ी-सिगरेट पीनेवाला, सबकी जूँठी चायकी प्याली चाटनेवाला बाबू नहीं बनना है । हमें ध्रुव, प्रह्लाद, वीर हकीकत, अभिमन्यु बनना है, वही हमारे एकमात्र आदर्श हैं ।

३२—मैं हिंदू हूँ, हिंदुस्थान मेरा देश है, हिंदी-संस्कृत मेरी भाषा है, वेद, शास्त्र, पुराण मेरे प्राण हैं, सनातन वर्णाश्रमधर्म हमारा धर्म है, इसे मत भूलो ।

३३—शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन करो; गङ्गा, गीता, गायत्री, साधु, गौ, ब्राह्मण, मठ-मन्दिर, तुलसी, पीपलको सिर नवाओ, इन्हें सीधे हाथपर लो, पूज्यदृष्टिसे देखो, इनके अपमान करनेवालोंको अपना शत्रु मानो ।

३४—मैं हिंदू हूँ, हिंदू ही रहूँगा, मेरा देश हिंदुस्थान अखण्ड था, अखण्ड बनाकर रहूँगा, मैं गोवध न होने दूँगा, मंदिरोंकी मर्यादाओंकी रक्षा करूँगा, माताओंको सतानेवालों-

को दण्ड दूँगा, सनातन वर्णाश्रमधर्मका झंडा शानसे फहराऊँगा, अपने देशमें हिंदूराज्य स्थापित करूँगा, घर-घरमें कथा-कीर्तनकी धूम मचाऊँगा, सबको वर्णाश्रम-धर्मानुसार चलाऊँगा—ऐसा दृढ़ निश्चय करो।

३५—मैं चोटी-जनेऊकी रक्षा वीर हकीकत, जोरावरसिंह, फतेहसिंहकी भाँति करूँगा। धर्मकी रक्षा भगवान् श्रीराम, कृष्ण, महाराणा प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह, बंदावीरकी तरह करूँगा। ज्ञानी जनक-जैसा, ध्यानी ध्रुव-जैसा, भक्त प्रह्लाद-जैसा, सत्यवादी हरिश्चन्द्र-जैसा, माता-पिताकी सेवामें श्रवणकुमार-जैसा, दानी कर्ण-जैसा, भजनमें तुलसी-सूर-जैसा और वीर अर्जुन-जैसा बनूँगा—ऐसी अभिलाषा करो, ऐसे बननेकी सोचो और ऐसे बननेके लिये प्रभुसे कातर होकर प्रार्थना करो।

३६—पुस्तक पढ़नेसे पहले श्रीगणेश-सरस्वतीका स्मरण करो, पुस्तकके गंदे हाथ मत लगाओ, पुस्तकके थूक मत लगाओ, पैर मत लगाओ, उसे श्रद्धाकी दृष्टिसे देखो।

३७—राणा प्रताप-शिवाजी-जैसे शेर बनो, धर्मपर मर-मिटनेवाले धर्मवीर बनो; माता-बहिनको, मठमन्दिरोंको, गौ-ब्राह्मणोंको कोई छेड़े तो उसका प्रबल प्रतीकार करो। शस्त्र चलाना सीखो और देश-धर्मपर मर-मिटना सीखो।

३८—धर्म-विरोधी बात, चाहे माता-पिता कहें, चाहे नेता कहें, चाहे मास्टर कहें—किसीकी मत सुनो। धर्म-विरुद्ध कार्य चाहे प्राण जायँ, कभी मत करो; धर्म-विरोधी कोई भी हो उसे त्याग दो, उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर दो।

३९—स्वधर्मका पालन करो, जिस जातिमें पैदा हुए हो, उसीके अनुसार कार्य करो, जो शास्त्रकी आज्ञा हो उसे सिर झुकाकर मानो, शास्त्रकी मर्यादाओंके अनुसार चलो।

४०—स्वदेशी वस्त्र पहनो, स्वदेशी वेष-भूषा धारण करो, स्वदेशी खान-पान करो, स्वदेशी भाषा, स्वदेशी बोली बोलो, विदेशियोंकी नकल भूलकर भी मत करो।

वरदान

क्षुद्र स्वार्थका नाश करो प्रभु! कर दो मनको अभी महान।
'प्राणिमात्रका स्वार्थ, स्वार्थ है मेरा' इसको ले मन मान ॥
'स्व'की सीमा अखिल विश्वके 'स्व' में जाकर मिल जाये।
'सबके हितमें ही अपना हित' यह निश्चय नहिं हिल पाये ॥
सब भूतोंमें तुम्हीं भरे हो, सभी तुम्हारे ही हैं देह।
सबकी पूजामें तव पूजा, सबका नेह तुम्हारा नेह ॥
छोटे-बड़े, देव-दानव-मानव, पशु-पक्षी हैं तव रूप।
वृक्ष-पहाड़, नदी-नद-सागर, व्योम-वायुमें वही स्वरूप ॥
वही पूर्ण हो तुम पृथ्वीमें, तुम्हीं अग्निमें छाये हो।
सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र ज्योतिमें, सबमें सदा समाये हो ॥
तुम्हीं चराचर सकल विश्वमें, सदा तुम्हारा यह परिचय।
सभी दिशाओं, सभी दशाओं, सब देशोंमें तुम निश्चय ॥
सभी रसोंमें, रूप सभीमें, सभी दृश्य दर्शनमें तुम।
तुम ही द्रष्टा बने सदा ही तुम्हीं देखते तुममें तुम ॥
तुम्हीं स्वप्न-जाग्रत्-सुषुप्तिमें, तुम्हीं तुरीय रूप प्यारे!
भूत-भविष्यत्-वर्तमानका तुम्हीं विचित्र रूप धारे ॥
जीवन-मृत्यु, मिलन-बिछुड़न बन तुमही सबमें आते हो।
लाभ-हानि-मानापमानमें अपना रूप छिपाते हो ॥
सदा सभीमें तुम्हें देखकर सबका सदा करूँ सम्मान।
नाथ! कृपाकर मुझे आज ही दे दो यह सुंदर वरदान ॥

बालकोंकी उन्नतिशील स्वावलम्बी संस्था

'चर-संस्था' (Scouting)

आधुनिक युगके बालक-बालिकाओंके जीवनको सुखी, सरस और स्वावलम्बनपूर्वक आदर्श बनानेके कार्यमें 'चर-संस्था' * (स्काउटिंग) का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस संस्थाका जन्म सन् १८९९-१९०० ई०में दक्षिणी अफ्रीकाके 'बोअर-युद्ध' में हुआ था। वहाँ सेनापति रॉबर्ट बेडन पावलने सैनिकोंकी कमीके समय बालकोंको आवश्यक सैनिक-शिक्षा दी, जिससे इस 'बालचर-सेना'ने युद्धके चर-कार्योंमें सहायता पहुँचायी और इनकी विजय हुई। इसी समयसे 'बालचर-सेना' (War-scouting) की नींव स्थापित हुई।

लोग कहते हैं—'जब रॉबर्ट बेडन पावल भारतमें सेनापति थे, तब उन्हें हरद्वारके जंगलमें एक महात्मासे सम्भाषणके समय ऐसी संस्था बनानेका आभास मिला था, जो विश्वशान्ति और सेवा-भावको बढ़ाये।' बोअर-युद्धमें प्राप्त आश्चर्यजनक सफलतासे प्रभावित हो रॉबर्ट बेडन पावलने सन् १९०७ में अपनी विचारधाराको संसारके सम्मुख प्रस्तुत किया।

इसी विचारधाराके अनुकूल उन्होंने सन् १९०८ ई०में कुछ मिले-जुले बालचरोंका 'ब्राउन-सी' नामक द्वीपमें 'शिक्षण-शिविर' किया, जो विश्वका पहला 'बालचर-शिक्षण-शिविर' (स्काउट-ट्रेनिंग-कैम्प) था। वहाँ दिये गये उपदेशों तथा रात्रिको 'शिविर-ज्वाला' के समय कही गयी कहानियोंको लिपिबद्ध करके सन् १९०८–९ में 'चर-शिक्षा बालकोंके लिये' (Scouting for Boys) नामक पुस्तक तैयार की गयी।

इसी पुस्तकके आधारपर सम्पूर्ण विश्वमें बालचरोंके दल खोले जाने लगे। सन् १९११ में सब दलों और शाखाओंको संगठित कर 'अन्तराष्ट्रिय चर-संघ' बनाया गया। भारतमें सर्वप्रथम सन् १९१० ई०में विदेशी बालकोंके लिये 'चर-संस्था' आरम्भ हुई। भारतीय बालचरोंका पहला दल श्रीतारापुरवालाद्वारा 'थियासॉफिकल हाईस्कूल, बनारस' में और दूसरा दल पं० श्रीराम बाजपेयीद्वारा सन् १९१४ ई०में शाहजहाँपुरमें खोला गया। सन् १९१७ में डा० एनी बेसेंटने 'भारतीय बालचर-संघ' तथा महामना श्रद्धेय पं० श्रीमदनमोहन मालवीयने पं० श्रीहृदयनाथ कुंजरूकी सहायतासे सन् १९१८ ई०में 'सेवासमिति-बालचर-मंडल' स्थापित किये। इस प्रकार 'भारतीय बालचर-संस्था'के जन्मदाता श्रीमती ऐनी बेसेंट और महामना मालवीयजी माने जाते हैं। इन संघोंमें महान् परिवर्तन होनेके बाद अब स्वतन्त्र भारतमें ७ नवम्बर १९५० ई०में 'भारत स्काउट्स व गाइड्स' नामक एक संस्था स्थापित हो गयी है। सम्पूर्ण भारतीय बालचर इसी संस्थासे सम्बद्ध हैं। इस समय विश्वके लगभग ९० प्रतिशत देशोंमें इस संस्थाका प्रचार है। इसका उद्देश्य 'बालकोंमें भगवद्भक्ति, धर्मानुरक्ति, विश्व-बन्धुत्व, कर्तव्य-पालन, आदरभाव, आत्मसम्मान, आत्म-निग्रह, आत्मावलम्बन, अनुशासन, निःस्वार्थ सेवा-भाव, बुद्धि, बल, साहस, देशभक्ति, शिष्टाचार आदि सद्गुणोंको विकसित कर उन्हें अपनी मातृभूमिके सच्चे सुपुत्र और सुनागरिक बनाना है।'

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण, बलराम, पितामह भीष्म, वीरवर्य पाण्डव, अभिमन्यु, सावित्री, दमयन्ती, सीता, रुक्मिणी, द्रौपदी तथा माता कुन्ती प्रभृति इस संस्थाके आदर्श हैं। चरश्रेष्ठ हनुमान्‌जीका सीतान्वेषण तथा महाराणा प्रताप एवं महाराष्ट्र-केसरी शिवाजीका स्वातन्त्र्य-संग्राम इस संस्थाके आधार हैं।

बालचर-शिक्षा मानवको व्यावहारिक जीवनमें पूर्णरूपेण कुशल बना देती है, जिससे उसे जीवनकी सामान्य कठिनाइयोंके समक्ष नत-मस्तक नहीं होना पड़ता। इन्हीं उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये खेल-ही-खेलमें बालकोंको उपयोगी शिक्षा दी जाती है। इस शिक्षाका उपयोग बालिकाओंके लिये 'बालिका-चर्य' (Girl-guiding) के नामसे किया गया है।

इस संस्थामें सात वर्षके बच्चोंसे लेकर बड़े-बड़े नवयुवक भी सम्मिलित हो सकते हैं। आयु और शिक्षण-स्तरके विचारसे 'चरसंस्था'के सदस्योंको अलग-अलग नामोंसे पुकारा जाता है—

(१) ७ वर्षसे ११ वर्षकी आयुवाले बालक—'शिशुचर', 'शेर-बच्चे', (Cubs) 'वीर-बालक'।

* इसी संस्थाको बालचर्य, बालचर-संस्था, चर्य, स्काउट-संस्था आदि कई नामोंसे पुकारा जाता है—लेखक।

(२) ११ से १५ वर्षकी आयुवाले बालक—'बालचर' (Scouts)।

(३) १५ से १७ वर्षकी आयुवाले 'किशोर-चर' (सीनियर स्काउट)।

(४) १७ से ऊपरकी आयुवाले—'युवकचर' (रोवर स्काउट)।

बालिकाएँ उपर्युक्त क्रमसे 'बुलबुल' या 'वीर-बाला', 'बालिका-चर' (गाइड) 'उच्च बालिका-चर' (सीनियर गाइड) तथा 'युवती-चर' (रेंजर गाइड) कहलाती हैं। इनके दलोंको अंग्रेजीमें Cubs pack (कब्स पैक), बुलबुल फ्लॉक (Bulbul flock), स्काउट-ट्रप (Scout troop), गाइड-कंपनी (Guide company) 'रोवर कोर' और 'रेंज कोर' कहते हैं।

एक दलमें ३२ या २४ बालचर होते हैं। प्रत्येक दलमें ४ टोलियाँ (Patrol) होती हैं, टोलीका नेता 'टोलीनायक' (पैट्रोल लीडर) होता है। सम्पूर्ण दलका नेता 'दलनायक' (ट्रुप लीडर) तथा दलका शिक्षक 'चर-शिक्षक' (स्काउट मास्टर) कहलाता है। दलोंके नाम अपने-अपने ग्राम और नगरपर तथा टोलियोंके नाम किसी वीर या पशु-पक्षियोंके नामोंपर रक्खे जाते हैं। एक मण्डल (जिला) के सारे बालचर 'माण्डलिक-चराधिपति' (जिला स्काउट कमिश्नर) तथा प्रदेशभरके बालचर 'प्रादेशिक चराधिपति' (प्रान्तीय या प्रोविंशियल स्काउट-कमिश्नर) के अधीन होते हैं। ये सब अधिपति 'राष्ट्रिय चराधिपति' के प्रतिनिधि होते हैं। एक छोटे-से-छोटे बालचरसे लेकर 'प्रमुख-बालचर' (चीफ स्काउट) तक समानता और भाई-भाईका व्यवहार करते हैं।

सभी बालचरोंकी वेष-भूषा समान होती है। प्रत्येक बालचर खाकी रंगके साफा या टोपी, कमीज, नेकर और मोजे पहनता है। जूते बादामी या काले तथा 'गलेका रूमाल' (स्कार्फ) दलके अनुसार विभिन्न रंगका होता है। प्रत्येकके पास लाठी, सीटी, झंडी, रस्सी, चाकू तथा अन्य उपयोगी सामान रहता है। प्रत्येक बालचर अपनी-अपनी दिनचर्या 'दैनन्दिनी' में लिखकर अपने 'चर-शिक्षक' को दिखलाता है।

संस्थाके प्रवेशके समय बालचरको तीन प्रतिज्ञाएँ करनी पड़ती हैं—'मैं मान-मर्यादापूर्वक प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं यथाशक्ति—

(१) ईश्वर, धर्म और देशके प्रति निज कर्तव्यका पालन करूँगा।

(२) हर समय प्राणिमात्रकी सेवा करूँगा।

(३) चर-नियमोंका पालन करूँगा।

तीसरी प्रतिज्ञामें उल्लिखित 'चर-नियम' ये हैं—बालचर—

(१) विश्वासपात्र, (२) भक्त, (३) सहायक, (४) मित्र, (५) विनम्र, (६) दयालु, (७) अनुशासनशील, (८) वीर, (९) मितव्ययी और (१०) विशुद्ध होता है।

इन नियमोंका पालन करते हुए बालचर खेल-ही-खेलमें प्राथमिक चिकित्सा, कला-कौशल (चित्रकला, हस्तकला, कपड़े सीना आदि), अनुमान (ऊहापोह) लगाना, अन्वेषण, संदेशवाहन, तार देना (Telegraphy), प्राकृतिक वस्तुओंसे आग जलाना, शिविर-जीवन (Camp-life), वन-विद्या (Forestry), मानचित्र (नक्शे) बनाना, भोजन तैयार करना, तैराकी, बेमौत मरते हुएको बचाना आदि-आदि महान् कार्य सीख जाते हैं। इनकी शिक्षा प्रकृतिदेवीकी सुरम्य गोदमें होनेवाले 'शिविर' (Camp) में तथा वन-भ्रमण (Hiking) में होती है।

बालचर-संस्था भीड़-भाड़ और मेलोंके अवसरपर सराहनीय कार्य करती है। छोटे-छोटे बालचर स्वयंसेवकोंके रूपमें अनेकों अनभिज्ञोंका पथ-प्रदर्शन करते हैं। यथाशीघ्र प्राथमिक चिकित्सा तथा घायलको अस्पताल पहुँचानेका प्रबन्ध करना, अनेकों स्त्रियों, बच्चों और ग्रामीणोंको धूर्तोंके हथकंडोंसे बचाना, बिछुड़े हुए बालक और बालिकाओंको उनके माता-पिताओंके पास पहुँचाना भी बालचरोंका कार्य है। जलमें डूबते हुओंको बचाना और आगको सुगमतासे बुझाना भी बालचर जानते हैं। बालचर सदैव जनता-जनार्दनकी सेवा करते रहते हैं।

इस संस्थाका क्षेत्र विशाल है। इसका सम्बन्ध एक टोलीमात्रसे ही नहीं, वरं मनुष्यमात्रसे है। 'सेवा', 'तत्परता', 'वसुधैव कुटुम्बकम्' इसके मूल सिद्धान्त हैं। इसकी सर्वप्रियता एक खुली हुई पुस्तकके समान है। इसीसे अभिभावक अपने बालकोंको सहर्ष इस संस्थामें प्रविष्ट कराते हैं। इसका भविष्य उज्ज्वल तथा सफल है।

अन्तमें भगवान्‌से प्रार्थना है कि वे इस संस्थाको सदा फलती-फूलती हुई सुमार्गगामी बनाकर बालकोंका हित-साधन करनेमें अग्रसर करते रहें।*

---

* विशेष ज्ञानके लिये—'भारत-स्काउट्स व गाइड्स' राष्ट्रिय प्रधान कार्यालय, पोस्टबक्स सं० १२७, कनाट सर्कस, पार्लियामेन्ट स्ट्रीट, नयी दिल्ली' से पत्र-व्यवहार करें।—लेखक

बागवानी

भाई-बहिन सभी मिल आते। पानी देते, पेड़ लगाते ॥
चुनते फूल गूँथते हार। इनका फूलोंसे अति प्यार ॥

बाल - जुलूस

मिलकर आये बालक सारे। बना जुलूस लगाते नारे ॥
देश-जातिकी जय-जयकार। इनका है उत्साह अपार ॥

बालचरोंका सेवाकार्य

बालचरोंका सुन्दर वेश। इनपर गौरव करता देश ॥
सेवाके ये व्रती उदार। यश गाता इनका संसार ॥

गुब्बारोंसे खेलें बच्चे। देखो, लगते कितने अच्छे ॥
कभी नहीं ये झगड़ा करते। इससे नहीं किसीसे डरते ॥

कितनी सुन्दर इनकी क्रीड़ा। नहीं किसीको देते पीड़ा ॥
पशु-पक्षी सबसे कर मेल। खेल रहे सब मिल-जुल खेल ॥

बेंत चीरकर बुनें चटाई। कुरसी कैसी भली बनाई ॥
कहीं टोकरीका है काम। ये पायेंगे प्रथम इनाम ॥

कुछ बाल-रोग

(लेखक—स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी चक्रवर्ती)

प्राचीनकालमें बालरोग-निदान और उसकी चिकित्सा आयुर्वेदशास्त्रका अङ्ग मानी जाती थी। वैद्यकके अन्य अङ्गोंकी भाँति आज इसकी भी दुर्दशा है। परम्परागत वैद्योंमें, पुरानी वृद्धा स्त्रियोंमें और साधु-संन्यासियोंके पास इस अङ्गका बिखरा हुआ कुछ ज्ञान उपलब्ध हो सकता है। यहाँ हम बालरोगोंकी कुछ चिकित्सा लिख रहे हैं।

बदहजमी-निवारणार्थ पानक

अजवाइन ५ तोला
सोयेके बीज ,,
नागौरी असगन्ध ,,
वायबिडंग ,,

सब द्रव्योंका जौकुट कर ४ सेर पानीमें पकाना। चतुर्थांश शेष रहनेपर उतार छानकर अनबुझा खानेका चूना ४ तोला उसमें डाल देना। डंडेसे चला देना। २४ घंटेके बाद उसमें पोदीनेका रस ऽ। मिला देना। इसे २४ घंटे समाप्त हो जानेपर नितरा हुआ जल सँभालकर निकाल लेना। तदनन्तर ऽ॥ चीनी डालकर शरबत बना लेना। यह बालकोंकी पाचनशक्ति सुधार कर उन्हें पुष्ट करता है।

कठिन घावपर तैल

शार्ङ्गधर-संहिताका जात्यादि तैल गले-सड़े, खराब-से-खराब घावोंको निर्मूल कर देता है। चमत्कारक योग है।

मियादी बुखार

लक्ष्मीनारायण-रस बच्चोंके लिये बहुत उपकारक है। मियादी बुखारके अतिरिक्त प्रसूतज्वर, धनुर्वात, बालकोंकी मृगी, अतीसार, शूल आदिको भी दूर करता है। मारवाड़में होनेवाले अकड़िया नामक रोगमें भी यह लाभप्रद है। स्कन्दापस्मारमें, जिसे बिहारमें तड़का रोग कहते हैं, यह बड़ा लाभ करता है।

सिरके फोड़े-फुंसी

रसौत और मेंहदीकी पत्ती—दोनों पीसकर सिरके फोड़ोंपर लगानेसे वे समूल नष्ट हो जाते हैं।

पेटदर्द

(१) भुनी अजवाइन पीसकर गुड़में मिला कर देनी चाहिये।

(२) एक तोला सोंठ पावभर रेंड़ीके तेलमें तलकर छान रक्खें। आवश्यकता पड़नेपर तेल सेवन करायें।

(३) सोडा-बाई-कार्ब, काला नमक और गेरू समान भाग चूर्णकर रक्खें, १ से ४ रत्तीतक माताके दूधसे प्रयोग करें।

बाल-रोगोंकी कुछ अनुभूत दवाइयाँ

(लेखक—वैद्य श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

बालकोंके लिये यहाँ कुछ ऐसी दवाइयोंके नुस्खे लिखे जाते हैं, जिनको हम अपने दवाखानेमें वर्षोंसे काममें लाते हैं और जिनका निर्भयरूपसे बालकोंकी बीमारीमें प्रयोग करनेसे निश्चित लाभ होता है। जहाँ वैद्य-डाक्टर न हों, वहाँ तो इनसे काम होता ही है। साधारण रोगोंपर ये दवाएँ बहुत काम करनेवाली होनेके कारण डाक्टर-वैद्योंकी आवश्यकताको कम कर देती हैं। जल्दी आराम होता है और पैसे बचते हैं। विश्वासी पँसारी और दवा बेचनेवालोंके यहाँसे दवा बनानेकी असली चीजें खरीदनी चाहिये।

(१) बच्चोंके पसली या डब्बारोग (ब्रॉको न्यूमोनिया) में—फुलाया हुआ सुहागा छः रत्ती गुनगुने पानीके साथ बीमारीकी प्रबलताके अनुसार बार-बार देनेसे भयंकर स्थितिमें पहुँचा हुआ रोग भी मिट जाता है। ओषधि बिल्कुल सादी है; पर लाभ बहुत अधिक।

(२) खाज तथा फोड़े-फुन्सीके लिये अक्सीर मलहम—घी असली १० तोले, जिंक-ओक्साइड २॥ तोले, संगेजराहत २॥ तोले, बोरिक एसिड २॥ तोले, कपूर खूब महीन पीसा हुआ आधा तोला, हाइड्रोजरी ओकसाइड-रुबरी छः आने भर। घीके सिवा सब चीजोंको कपड़ेमें छानकर घीमें मिलाकर मलहम बना लें। नीमकी पत्तियाँ उबालकर उस पानीसे घावकी जगहको पहले धो-साफकर दवा लगानी चाहिये।

शक्ति विशेष क्षीण होनेसे थोड़ी-सी भी असावधानी अन्यान्य सांघातिक व्याधियोंको उत्पन्न कर देती है। अतः इस अवस्थामें दक्षता एवं पथ्यापथ्यको ध्यानमें रखते हुए सौम्य उपचार करनेसे दाँत बहुत सुगमतासे निकल आते हैं और बालकोंको किसी प्रकारका कष्ट भी नहीं होने पाता।

दक्षता–इस हालतमें माताका आहार-विहार पथ्यपूर्वक होना आवश्यक है। जबतक बालक माताका दूध पीता हो, तबतक माताको चाहिये कि वह गेहूँकी रोटी, मूँगकी दाल, दूध आदि हल्के शीघ्र पचनेवाले पदार्थ खाये; गुड़, तेल, खटाई, मिर्च आदि गरम पदार्थोंसे तथा मैथुनसे परहेज रक्खे एवं बालकको नियमसे दूध पिलाये। यदि बालक अन्नादि खाता हो तो उसे बहुत हल्का एवं सुपाच्य आहार देना चाहिये जो सहजमें ही पच जाय और दस्त साफ हो। मुरमुरोंकी खीर, साबूदाना, अंगूर, अनार, सेब आदि फलोंका रस देना ठीक है। यदि आमका मौसम हो तो पक्के मीठे आमोंका रस दूध मिलाकर देना लाभदायक है, किंतु अधिक मात्रामें नहीं, एकसे तीन चम्मच—इस प्रकार दिनमें तीन या चार बार दे सकते हैं। कोई भी आहार अधिक मात्रामें नहीं देना चाहिये, मिठाई आदि गरिष्ठ पदार्थ देना तो जहर (विष) देनेके समान है। कोई भी गरम दवा या गरमी पैदा करनेवाले पदार्थ खाने या पीनेको नहीं देने चाहिये। प्रायः दन्तोद्गमके समय बालकोंको दूध भी नहीं पचता, वे उल्टी कर दिया करते हैं, ऐसी हालतमें दूधमें किञ्चित् चूनेका निर्मल पानी मिलाकर उसे थोड़ा-थोड़ा पिलाना चाहिये।

दन्तोद्गमके समय मसूढ़ोंमें एक प्रकारकी सनसनाहट या खुजली-सी पैदा होती है, जिसे मिटानेके लिये बालक मिट्टी, ढेला, कंकड़ आदि जो भी उसके हाथ लग जाता है उसीको तुरंत मुखमें डाल, मसूढ़ोंसे दबाकर चबाने लगता है। यदि बालककी यह आदत आरम्भमें ही न छुड़ा दी जायगी तो आगे चलकर उसे पाण्डु आदि भयङ्कर रोगोंका सामना करना पड़ेगा। अतः दाँत निकलनेके समय बच्चोंको मिट्टी आदिके खानेसे बचाते रहना चाहिये। जो बालक प्रतिदिन कई घंटेतक बाहरकी स्वच्छ वायुमें रहता है या खुले हुए और स्वच्छ वायुके आने-जानेवाले कमरेमें रहता है तथा जिसको मात्रासे अधिक भोजन नहीं कराया जाता, उस बालकको दाँत निकलते समय कोई कष्ट नहीं होता। शारीरिक अस्थियोंकी बनावटमें चूना अत्यन्त आवश्यक पदार्थ है। चूनेकी कमीसे दाँत एवं अन्यान्य शारीरिक हड्डियाँ परिपुष्ट नहीं हो पातीं। इसलिये पाश्चात्त्य वैज्ञानिक बच्चोंके दुग्धमें चूनेका जल (Lime-Water) मिलाकर देनेकी योजना करते हैं तथा बच्चोंकी पुष्टिके लिये जितने बालामृत आदि शर्बतके रूपकी दवाइयाँ बनायी जाती हैं, उनमें चूनाप्रधान द्रव्य अधिकांशमें डाला जाता है।

एक संतानके पश्चात् दूसरी संतानके मध्यमें पाँच वर्षका समय स्त्रीको मिलना चाहिये कि जिसमें वह अपने शरीरके चूनेकी कमीको पूरा कर सके। जिनके बहुत शीघ्र-शीघ्र संतान होती है, उनके रक्तमें और पश्चात् अस्थियोंमें चूनेकी मात्राके कम हो जानेसे उनका शरीर निर्बल हो जाता है, अस्थियाँ कमजोर हो जाती हैं और सूतिकादि विकार हो जाता है। मुक्ता, मुक्ताशुक्ति, शुक्ति, शङ्ख, कपर्दिक, गोदन्ती, प्रवाल, संगयहूद, जवाहरमोहरा, अकीक आदि सब भस्मोंमें तथा संतरा, नीबू, सेब, अनार, नासपाती आदि फलोंमें चूनेकी ही मात्रा अधिक होती है। गर्भावस्थामें उपर्युक्त द्रव्योंका यथाविधि सेवन करते रहनेसे शरीरमें चूनेकी मात्रा बढ़ती है। मनुष्यसे मुर्गियाँ ही बुद्धिमान् हैं जो अंडे देनेसे पूर्व चूना खाकर अपने शरीरमें चूनेका संचय कर लेती हैं। दाँतोंका सुगमतासे निकलना बच्चोंके आमाशय और स्वास्थ्यपर भी आश्रित है। चूनेके जलसे बच्चोंका हाजमा अच्छा रहता है, जिगर ठीक काम करता है, रक्तमें शुद्धि होती और रहती है। इसलिये भी चूना बच्चोंके दन्तोद्गममें सहायक है।

उपचारविधि

१. उत्तम पत्थरका असली चूना बिना बुझा हुआ पाँच तोले नवीन मिट्टीके पात्रमें तीन पाव जलमें रात्रिके समय भिगो दे। प्रातःकाल ऊपरका साफ नितरा हुआ स्वच्छ जल मोटे वस्त्रमें छान ले। इसी जलमें एक सेर चीनी डालकर एकतारकी चासनी बना ले, फिर ठंढा होनेपर छानकर शीशीमें भर ले। यह उत्तम बालामृत शर्बत तैयार हो गया। मात्रा—१० बूँदसे ३० बूँदतक प्रातः-सायं चटावे। दाँत निकलनेके समय कष्ट, दस्त, वमन, पेट फूलना, दूधका न पचना, खाँसी, कफ, बुखार आदि सब विकार इससे दूर हो जाते हैं।

२. अतीस, काकड़ासिंगी, पीपल—इनका महीन चूर्णकर शहदके साथ चटानेसे लाभ होता है।

३. चूना बिना बुझा एक तोला और जल एक सेर एकत्र मिलाकर नीले रंगकी शीशीमें भर काग बंद करके बारह घंटे बाद एक बार हिलाकर जब पानी नितर आये, तब धीरेसे उस जलको मोटे वस्त्रमें छान ले और यह निर्मल स्वच्छ जल दूसरी नीली शीशीमें भर रक्खे। मात्रा—१० से १५ बूँदतक।

४. दन्तोद्भेद-गदान्तक-रस एक रत्ती जलमें घिसकर देनेसे दाँतोंकी सब बीमारियाँ, ज्वर, अतिसार, आक्षेप आदि दूर हो जाते हैं।

दन्तोद्गमजन्य प्रमुख व्याधि

वमन—१. सुहागेकी खील एकसे चार रत्ती माताके दूधमें मिलाकर दे।

२. अर्क-पोदीना, अर्क-सौंफ और अर्क-इलायची समभाग मिलाकर एकसे दस बूँदतक दूधमें मिलाकर पिलाना चाहिये।

३. प्रवाल और वंशलोचनको शहद या दूधके साथ देना चाहिये।

ज्वर—१. अतिविष, काकड़ासिंगी, नागरमोथा समभागका महीन चूर्ण पीसकर एकसे तीन रत्तीतककी मात्रासे शहद या माताके दूधके साथ दिनमें तीन बार दे, इससे वमनमें भी लाभ होता है।

२. सुदर्शन घनवटी माताके दुग्धमें किञ्चित् घिसकर दिनमें तीन बार दे।

अतिसार—१. जायफल, अतीस, अनारका छिलका, काकड़ासिंगी और जवाहरमोहरा समभाग महीन चूर्णकर एक रत्तीसे दो रत्तीतक शहद या दूधके साथ तीन बार दे।

२. धायपुष्प, बेलगिरी, धनियाँ, लोध, इन्द्रजव और बाला समभाग महीन चूर्णकर दोसे चार रत्तीतक तुलसी-रसके साथ दे।

३. तुलसीपत्रका चूर्ण दो या तीन रत्ती शर्बत अनारके साथ दे।

४. महागन्धक-रस भी परम लाभदायक है।

कोष्ठबद्धता—शुद्ध रेंड़ीका तैल डेढ मासासे तीन मासे-तक चटावे।

आध्मान—शंखवटी मूँगके बराबर मातृदुग्धके साथ दे। पेटपर रेंड़ीका पत्ता रेंड़ीका तैल चुपड़ गरमा कर रक्खे और उसपर रूई गरमकर रक्खे तथा कपड़ा बाँध दे।

कास-श्वास—१. मुलैठीका सत, छोटी हरड़ और सैंधा नमक समभाग घोटकर मटर-जैसी गोलियाँ बना दिनमें तीन बार मातृदुग्ध या जलमें घोलकर पिलाये।

२. मुलैठीका सत, अतीस, काकड़ासिंगी, नागरमोथा, पीपल—इनका समभाग चूर्णकर मात्रा एक रत्तीके प्रमाणमें शहदके साथ दे।

३. चतुर्भद्रिका चूर्ण शहदके साथ दे।

सिर-दर्द—सोंठ, कपूर घृतमें घोटकर धीरे-धीरे सिर-पर मलना चाहिये।

नेत्र-कष्ट—गवती चायकी पत्ती छः रत्ती एक छटाँक गरम पानीमें डालकर रख दे। जब पानीमें रंग उतर आये तब छान ले। उसमें फिटकरीका फूला दो रत्ती मिलाकर रख दे। यह उत्तम नेत्रबिन्दु है। इसकी एक-एक बूँद डाली जाय।

पथ्यापथ्य

दन्तोद्गमके समय बालकको कोई भी खट्टी या मीठी चीज खानेके लिये न दी जाय। मुरमुरोंकी खीर, साबूदाना, गेहूँकी रोटीका फूला हुआ भाग दुग्धके साथ देना चाहिये। छुहारे चबानेके लिये लाभदायक है। गरमीके दिनोंमें तो बालकका सिर शीतल जलसे कई बार धो दिया जाय तथा उसके सिरपर बादामका या तिल्लीका तैल लगाया जाय तथा कानोंमें बादामका तेल छोड़ते रहना चाहिये। माताको चाहिये कि यदि बालक उसका दूध पीता हो तो परहेजसे रहे, मिर्च, गुड़, तैल, खटाई, गरम पदार्थ एवं मैथुनसे दूर रहे।

चूनेकी कमीको पूरी करनेके लिये मुक्ताका प्रयोग

बच्चेको एक-दो रत्ती मुक्तापिष्टि नित्य दी जा सके, जब वह घुटनों सरकने या बैठने लगे तो बहुत उत्तम है। एक वर्षकी अवस्थातक इसे देनेसे बच्चेका शरीर पुष्ट बनेगा। दाँत निकलनेके उपद्रव भी उसे तंग नहीं करेंगे। क्योंकि इससे चूनेकी कमी दूर हो जायगी। मुक्तापिष्टि न दी जा सके तो मोतीके सीपकी भस्म एकसे दो माशेतक नित्य शहदके या माताके दूधके साथ दी जा सकती है; किंतु बच्चेको साधारण सीपकी भस्म नहीं देनी चाहिये। बच्चेको तीन माशे वंश-लोचनका कपड़छान किया चूर्ण प्रातः और तीन माशे सायंकाल दूध या शहदसे दे दिया करें तो भी उसके शरीरमें चूनेका अभाव पूरा हो जायगा। वंशलोचन उसे कोई हानि नहीं पहुँचावेगा; परंतु उसके चूर्णमें कण न रह जायँ, चूर्ण खूब बारीक हो, यह सावधानी रखनी चाहिये। सु०

शिशु-चिकित्सा

(लेखक—श्रीमनबोधनलालजी श्रीवास्तव एम्०ए०, बी०एस्-सी०, पी०ई०एस्०)

(होमियोपैथिक-प्रणाली)

भारतवर्षमें शिशुओंके पालन-पोषणकी ओर जो उपेक्षा की जाती है, वह राष्ट्रिय दृष्टिकोणसे घातक ही कही जा सकती है। देशमें क्रान्तिकारी परिवर्तन करनेके विचारसे जो विकास-योजनाएँ निर्मित और कार्यान्वित की जाती हैं, उनका मौलिक आधार आर्थिक सुधार होता है। देशकी दरिद्रता दूर करनेसे ही सचमुच राष्ट्रिय विकास सम्भव हो सकता है, यह तत्त्व निर्विवाद है। गाँधी-जयन्तीके दिन देशभरमें जिन सामुदायिक विकास-योजनाओंका श्रीगणेश किया गया, उनका उद्देश्य दरिद्रताके विरुद्ध भीषण संघर्ष करना है। इन विकास-योजनाओंके कार्यक्रमको देखनेसे प्रतीत होता है कि शिशुओं और बालकोंके पालन-पोषणके लिये उचित ध्यान नहीं दिया जा रहा है। शिशु-शालाओं तथा नर्सरी-संस्थाओंकी स्थापनाकी ओर उपेक्षा की जा रही है। हमारा विचार है कि हम देशके आर्थिक सुधारके वर्तमान महत्त्वके भारसे दबकर राष्ट्रिय उत्थानकी दूरगामी नीतिको विस्मरण कर रहे हैं। हम बहुधा भूल जाते हैं कि भावी राष्ट्र आजकलके शिशुओंकी सम्पत्ति है। यदि वे समय आनेपर अपने उत्तरदायित्वका भार न सँभाल सके और अपनी सम्पत्तिकी रक्षा तथा वृद्धि करनेमें अक्षम और अयोग्य सिद्ध हुए तो राष्ट्रके भविष्यका कल्याण न होगा। अतः हमारी राष्ट्रिय नीति जो सुदूर भविष्यकी कल्पनामय सत्यसे अनुप्राणित नहीं है, अधूरी और अपूर्ण है। इसके प्रमाणके लिये पाश्चात्त्य उन्नतिशील राष्ट्रोंका उदाहरण लिया जा सकता है। सन् १९४२ में जब द्वितीय महासमरकी भीषणता चरम सीमापर पहुँच चुकी थी और जर्मनीके वायुयानोंके निर्मम आघातोंके कारण इंगलैंडके सम्मुख जीवन-मृत्युकी संकटपूर्ण परिस्थिति उत्पन्न हो गयी थी तथा अंग्रेज-जातिका अस्तित्व संकटमें था, उस समय इंगलैंडके प्रधान मन्त्री चर्चिलके सामने एक मुख्य चिन्ता थी कि अंग्रेज-जातिके शिशुओं और बालकोंको किसी सुदूर देशके सुरक्षित स्थानमें पहुँचा दिया जाय। वायुयानोंकी बमवर्षासे बालकोंकी रक्षाका विशेष प्रयत्न किया जाता था। युद्धकालमें तथा युद्धके उपरान्त बहुत दिनोंतक जब खाद्य पदार्थोंपर कठोर नियन्त्रण था, तब दूध तथा अन्य पौष्टिक पदार्थ केवल शिशुओं और बालकोंके लिये दिये जाते थे। प्रायः सभी पाश्चात्त्य उन्नत देशोंमें शिशु-शालाओं (नर्सरी-संस्थाओं)की प्रचुरता है जहाँ शिशुओंके पालन-पोषण, स्वास्थ्यसुधार तथा उनकी शिक्षा-दीक्षाकी समुचित व्यवस्था रहती है। ये बालक नवोत्फुल्ल पुष्पोंकी भाँति सौन्दर्य एवं हासकी मधुरिमा और सौरभका प्रसार करते रहते हैं और राष्ट्रिय जीवनमें प्राणदान करते हैं। शिशुओं और बालकोंके सम्यक् विकासके लिये वाञ्छनीय वातावरण उत्पन्न करना राष्ट्रिय उत्तरदायित्व है। इस उत्तरदायित्वका भार समाजके प्रत्येक व्यक्तिपर व्यष्टि तथा समष्टिरूपसे है। जो माता-पिता शिशु-स्वास्थ्य तथा बालकके विकासकी ओर ध्यान नहीं दे सकते, वे अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते और उन्हें माता-पिता बननेका कोई अधिकार नहीं। जन्मके समय प्रत्येक शिशु सुन्दर और आकर्षक होता है; किंतु चार-छः महीनेके पश्चात् दशामें जो विषमता उत्पन्न हो जाती है उसकी कल्पना भी अत्यन्त करुण है। किसी सम्भ्रान्त घरमें आप जाइये तो आरक्त कपोलयुक्त नीरज पुष्पकी भाँति हँसते हुए बालक अपनी क्रीड़ाओंसे आपका मन मुग्ध कर लेंगे; परंतु अधिकांश घरोंमें रूखे-सूखे शरीरके दुर्बल बालक भयानकता उत्पन्न करते हुए आपके मनमें ग्लानिका भाव जाग्रत् करते हैं। देहातोंमें ९० प्रतिशत शिशु और बालक रुग्ण एवं दीन-क्षीण दिखायी देते हैं। समाजके निम्नश्रेणीके घरानोंमें दशा और अधिक शोचनीय होती है। अस्वास्थ्यकर वातावरणमें रहनेके कारण तथा पुष्टिकर भोजनके न पानेसे उनके बालक रोगी और सूखे हुए पाये जाते हैं। इन बालकोंके लिये सामान्य रोग भी घातक रूप धारण कर लेते हैं। यदि अपनी आन्तरिक शक्तिके कारण कोई बालक रोगोंसे संघर्ष करके कालकवलित होनेसे बच गया तो उसका शरीर ऐसा क्षतिपूर्ण हो जाता है कि फिर जीवनभर वह नहीं पनपता। शिशु-संसारमें रोगोंके व्यापक प्रभावके कई मुख्य कारण हैं अर्थात् (१) शुद्ध स्वास्थ्यवर्द्धक वातावरणका अभाव, (२) पुष्टिकर भोजनका न मिलना, (३) उचित चिकित्साके साधनकी कमी। गाँवोंमें दक्ष डाक्टरों और वैद्योंका वैसे ही अभाव है। अतः रोगी ईश्वरके भरोसे पड़ा रहता है। बहुधा यह भी देखनेमें आता है कि वैद्यकी या डाक्टरी दवा बालक बड़ी कठिनतासे पीते

हैं। फिर धनाभावके कारण इस प्रकारका उपचार सामान्य परिवारके लिये असम्भव रहता है। शिशु-चिकित्साके क्षेत्रमें होमियोपैथी चिकित्साप्रणालीसे विशेष उपकार हो रहा है। वैद्यक और हकीमी प्रणालियाँ दीर्घकालीन होनेके कारण प्रचलित हैं, यद्यपि उनकी लोकप्रियता कम होती जा रही है। हम इन प्रणालियोंके वैज्ञानिक आधार तथा उनकी लाभकारिताके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहते, क्योंकि उनसे मानव-जातिका जो उपकार हुआ है, वह जगत्प्रसिद्ध है। बात यह है कि शल्य-चिकित्सा (सर्जरी) से संयुक्त ऐलोपैथी प्रणाली राज्यसंरक्षित होनेके कारण सर्वत्र प्रचलित एवं लोकप्रिय है। ऐलोपैथी चिकित्साके अस्पताल स्थान-स्थानपर स्थापित हैं और वैज्ञानिक उन्नतिके साथ-साथ चिकित्सा-विज्ञानमें जो आश्चर्यजनक उन्नति होती जा रही है, उससे ऐलोपैथी निरन्तर लाभ उठा रही है। एक्सरे तथा अन्य परीक्षाविषयक नवीनतम अन्वेषणोंने ऐलोपैथ डाक्टरोंके लिये बड़ी सरलता उत्पन्न कर दी है। शरीरके अन्तरंग प्रत्येक अवयवकी परीक्षा, हृदयकी गतिविषयक बिजलीके यन्त्रोंसे बने हुए ग्राफ, रुधिरके लाल तथा श्वेत अणुओंकी प्रतिशत गणना आदि यन्त्र सुलभ परीक्षाफलद्वारा डाक्टर रोगका जीवित स्पष्ट चित्र सामने रख देता है। इस प्रकार रोगका निदान हो जानेपर चिकित्सा-कार्यमें सुगमता हो जाती है, यही मुख्य कारण वर्तमान कालमें ऐलोपैथी प्रणालीकी लोकप्रियताका है; परंतु ज्यों-ज्यों यह प्रणाली वैज्ञानिक उन्नतिके प्रसादको प्राप्तकर उन्नत होती जाती है, त्यों-त्यों वह सर्वसाधारणकी पहुँचसे मृगमरीचिकाकी भाँति दूर होती जाती है। धनाभाव और दरिद्रताके कारण सामान्य व्यक्ति विज्ञानके वरदानसे वञ्चित रहता है। इसी विषमताका निराकरण बहुत अंशमें होमियोपैथी चिकित्सा-प्रणाली करती है। यह प्रणाली भी दिन-प्रतिदिन उत्तरोत्तर लोकप्रिय होती जाती है।

यूरोप और अमेरिकामें पर्याप्तरूपसे प्रचलित होनेसे हमारे देशमें भी होमियोपैथीका काफी प्रचलन हुआ है। इस प्रणालीके साथ-साथ लोक-सेवा और दानका भाव स्वतः सम्बद्ध हो चुका है। यद्यपि स्थान-स्थानपर होमियोपैथिक डाक्टरोंके चिकित्सालय हैं, तथापि उनसे कई गुनी संख्या उन शिक्षित तथा उच्च शिक्षित सज्जनोंकी है जो परसेवाके भावसे निःशुल्क ओषधि देते हैं और लाखों गरीबोंका भला करते हैं। दो दशक वर्ष पूर्व ऐलोपैथ डाक्टर इस प्रणालीके कट्टर शत्रु थे; परंतु उसकी आरोग्यदायिनी अमोघ शक्तिने सिद्ध कर दिखाया कि रोगग्रस्त मानवताका सबसे अधिक उपकार और लाभ इस चिकित्सा-प्रणालीद्वारा ही हो सकता है। इस दृष्टिसे इस प्रणालीके प्रणेता एवं आविष्कारक डाक्टर सैमुएल हैनिमैन एक महान् पुरुष थे। होमियोपैथी चिकित्सा-प्रणालीकी कतिपय विशेषताएँ हैं—(१) यह ओषधि न्यूनतम मात्रामें दी जाती है। आवश्यकतानुसार उसकी उच्चतर शक्तियों (potency) का प्रयोग किया जाता है। (२) प्रत्येक रोग केवल ओषधिके सेवनसे अच्छा किया जा सकता है। चीरफाड़की आवश्यकता नहीं रहती। (३) दरिद्र एवं निर्धन व्यक्ति भी अत्यल्प व्ययसे इसका सेवन कर सकता है।

सर्वसाधारणमें एक सामान्य विश्वास है कि होमियोपैथिक ओषधि शिशुओं और बालकोंके लिये विशेषरूपसे उपकारी सिद्ध होती है। अनुभव भी यही कहता है; क्योंकि प्रकृतिकी सहायिका तथा शरीरकी सञ्जीवनी शक्तिके माध्यमद्वारा प्रतिक्रियापूर्ण होनेके कारण होमियोपैथिक ओषधि बालजीवनको शुद्ध एवं पवित्र प्रकृतिको अविलम्ब प्रभावित करती है। इस ओषधिसे रसाक्त एक-एक मीठी गोली स्वादपूर्ण होनेके साथ-ही-साथ अमोघ रामबाणका काम करती है और बच्चोंके स्वास्थ्यके लिये अमृत बन जाती है। बालकोंकी पीड़ाके हरने, उनके अज्ञात कष्टोंके निवारण करने तथा संतप्त दशामें शान्ति और शीतलता प्रदान करनेमें जिस शीघ्रतासे होमियोपैथिक ओषधि सफल होती है वह वास्तवमें कल्पनातीत है। पीड़ासे व्याकुल रोते-चिल्लाते बच्चेको, जिसके रोगके कारणका पता लगाना भी असम्भव है, एक खूराक होमियोपैथिक ओषधि खाते ही शान्त होते देखकर किसको विश्वास न होगा कि इस प्रणालीमें सचमुच जादूकी-सी शक्ति है। लेखक यह बात अपने गत तीस वर्षके अनुभवके आधारपर कहनेका साहस कर रहा है।

होमियोपैथीका वर्तमान कालमें इतना प्रचार हो चुका है और इस चिकित्सा-प्रणालीने अपनी प्रभावोत्पादिका शक्तिके आधारपर इतनी सर्वप्रियता प्राप्त कर ली है कि इस बातके बतानेकी आवश्यकता नहीं कि यह प्रणाली क्या है तथा उसका वैज्ञानिक निरूपण क्या है। इस प्रणालीके प्रभावका प्रत्यक्षीकरण प्रतिदिन होता रहता है जिसे स्वीकार करनेके लिये उसके कट्टर विरोधियोंको भी बाध्य होना पड़ता है। इस चिकित्साशास्त्रका लौकिक आधार समझनेके लिये हमें केवल यह स्मरण रखना चाहिये कि इसके द्वारा शरीरकी नैसर्गिक प्रकृति एवं प्राणसञ्चारिणी स्वाभाविक शक्तिको सहायता एवं प्रोत्साहन प्राप्त होता है। स्वास्थ्यलाभ सदा

शारीरिक प्रकृतिकी नैसर्गिक प्रवृत्तिके कारण हुआ करता है। अनेक कारणोंसे हमारी सञ्जीवनी शक्तिमें जब विकार उत्पन्न हो जाता है, तब शरीरके विभिन्न अङ्गोंमें सामान्य स्वास्थ्यके प्रतिकूल लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं और शरीर रोगाक्रान्त कहलाता है। यदि सञ्जीवनी शक्तिका विकार दूर कर दिया जाय तो लक्षण तिरोहित हो जाते हैं, रोगका निवारण हो जाता है और पुनः स्वास्थ्यलाभ होता है। इस विचारसे ओषधिकी प्रतिक्रिया दो रूपोंमें होती है। प्रथम वह उन बाह्य विकारों एवं विषाक्त दूषित प्रभावोंको दूर करती है, जिनके कारण हमारे शारीरकी सञ्जीवनी शक्तिमें विकार उत्पन्न हो जाता है। दूसरे ओषधि स्वयं सञ्जीवनी शक्तिको सबलता प्रदान करती है जिससे वह रोगसे संघर्ष करके विजयिनी सिद्ध होती है। ऐलोपैथिक ओषधियाँ अधिकतर प्रथम प्रकारसे कार्य करती हैं। एक उदाहरण लीजिये। किसी विषैले जन्तुके काटनेसे तथा किसी दूषित पदार्थके प्रवेश करनेसे शरीरमें आमास उत्पन्न हो गया। यह सूजन क्रमशः व्रण बन गयी और मवाद उत्पन्न हो गयी। साधारणतया इस व्रणको चीर देते हैं, मवाद निकल जाती है तथा दक्ष सर्जन निर्जीव तन्तुओंको निकाल देता है। चीर-फाड़के पश्चात् जिस ओषधिसे मरहम-पट्टी होती है उसका कार्य घावको भरना नहीं वरं बाह्य विषाक्त प्रभावसे आन्तरिक अति कोमल तन्तुओंकी रक्षा करना है। घावके भरनेका कार्य शरीरकी नैसर्गिक प्रकृतिद्वारा होता है। प्राकृतिक नियमोंके अनुसार शरीरकी प्राणशक्ति या सञ्जीवनी शक्ति निरन्तर शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य-रक्षाके लिये क्रियाशील रहती है। इसी सक्रियताके कारण शारीरिक विकास सम्भव होता है। इस शक्तिकी गतिमें मन्दता उत्पन्न होते ही विकास अवरुद्ध हो जाता है। जब ऐसी ओषधि शरीरमें जाती है जो प्राणशक्तिकी मन्दताको दूर कर देती है और उसे पुनः अनुप्राणित करती है, तब शारीरिक विकास पुनः द्रुतगतिसे होने लगता है। आरोग्य-प्रदायिनी ओषधिका वास्तविक कार्य यही होना चाहिये। इसी गुणके कारण होमियोपैथी मानवताका अमित उपकार कर रही है। मुख्यतः होमियोपैथिक ओषधि शरीरकी स्वाभाविक प्रकृतिकी सहायिका है। वह शरीरकी प्राणशक्तिको उत्तेजना प्रदान करती है।

एक और उदाहरण लीजिये। कतिपय रोग कीटाणुओं-द्वारा उत्पन्न होते हैं। मलेरिया ज्वर भी इसी प्रकारका रोग है। इसे उत्पन्न करनेवाले कीटाणु शरीरके रुधिरमें मच्छरों-द्वारा प्रविष्ट किये जाते हैं। ये कीटाणु रुधिरमें प्रजनित होते और कल्पनातीत परिमाणमें वृद्धि करते हैं। रुधिरकी स्वाभाविक शक्ति जबतक इतनी क्षमता-सम्पन्न रहती है कि वह इन बाह्य शत्रुओंके साथ संघर्ष करे और उन्हें नष्ट करती रहे, तबतक शरीर नीरोग रहता है। जब यह शक्ति निर्बल पड़ जाती है, तब शत्रु उसे पराजित कर देते हैं और शरीर मलेरिया ज्वरसे आक्रान्त हो जाता है। इसी प्रकारकी क्रिया हैज़ा, क्षय, प्लेग आदि रोगोंमें होती है। अब रोगके निवारण-के लिये दो प्रकारके उपचार हैं—(१) या तो शरीरकी प्राणशक्तिको सबल और उत्तेजित किया जाय जिससे वह अपने कार्यमें क्षमता प्राप्त करे। (२) या रुधिरमें कोई ऐसा विष प्रवेश कराया जाय जो कीटाणुओंको नष्ट कर दे। ऐलोपैथी-प्रणाली प्रायः दूसरे प्रकारके उपचारके अनुसार कार्य करती है; परंतु होमियोपैथी प्रथम प्रकारके उपचारको अपनाती है। स्पष्ट है कि होमियोपैथीकी प्रतिक्रिया अधिक कल्याणकर है।

होमियोपैथीकी प्रतिक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म रूपसे होती है। वहाँ स्थूलताका निराकरण हो जाता है। यही कारण है कि स्थूल भौतिक दृष्टिवाले लोग इसका उपहास करते हैं। जहाँ शीशी और बोतलभर दवा पिलायी जाती हो वहाँ शक्करकी दस-पाँच गोलियोंमें किस प्रभावकी कल्पना की जा सकती है। परंतु जब रोगी पीडासे व्याकुल चिल्लाता हो और लक्षणा-नुदानके अनुसार 'मेग्नीशिया फास' अथवा 'एकोनाइट'की दो-चार गोलियोंके जिह्वापर पड़ते ही रोगी शान्त होने लगे और बात-की-बातमें उसे चैन मिल जाय, तब इस ओषधिके प्रभावका उपहास करना केवल दुराग्रह कहा जायगा।

होमियोपैथी लक्षणोंको सर्वाधिक महत्त्व देती है। इसी कारणसे शिशुओं और बालकोंके लिये वह अधिक उपयोगी है। रोग केवल लक्षणोंद्वारा ही स्पष्ट होता है। रोगके निदान-के लिये इन लक्षणोंका ही महत्त्व है। रोगके नाम जाननेसे कोई विशेष लाभ नहीं। चिकित्सकका उद्देश्य रोगग्रस्त शरीरको आरोग्य प्रदान करना है। अतः उसे रोगीके स्वभाव, उसकी प्रकृति तथा उसके लक्षणोंपर ही विशेष ध्यान देना चाहिये। एक ही रोग अनेक व्यक्तियोंमें अनेक प्रकारके विभिन्न लक्षण उत्पन्न करता है, अतः कुशल चिकित्सक ओषधि देनेके लिये रोगीका अध्ययन करता है, केवल रोगका नाम नहीं जानना चाहता। उदाहरण लीजिये—खाँसी कई व्यक्तियोंको आ रही है, परंतु उसके उठनेका समय भिन्न-भिन्न है अर्थात् किसीको अर्द्धरात्रिको व्यथा होती है, किसीको

सन्ध्यासमय, किसीको प्रातःकाल। अब प्रत्येक रोगीको एक ही ओषधिसे लाभ कदापि नहीं हो सकता। अतः होमियोपैथिक डाक्टरको रोगीका सम्यक् अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है।

शिशुओं और बालकोंको बहुधा यकृत्का रोग हो जाता है। यह रोग बहुत शीघ्र घातक सिद्ध होता है। इसी प्रकारका एक घातक रोग सूखाके नामसे प्रसिद्ध है। बालकका शरीर सूखने लगता है और कुछ समय उपरान्त उसकी दशा शोचनीय हो जाती है। इन दोनों रोगोंमें होमियोपैथी चिकित्सा-प्रणालीसे अत्यन्त अधिक लाभ होता है। लेखकका अनुभव है कि ठीक समयपर चिकित्सा आरम्भ कर देनेसे कोई बालक नष्ट नहीं हो सकता। अनेक तीव्र रोगोंमें होमियोपैथिक ओषधि रामबाणका काम करती है। बालक स्वयं अपनी पीड़ाको व्यक्त नहीं कर सकता। वह केवल रुदनके द्वारा अपना कष्ट प्रकट करता है। अन्य प्रकारके चिकित्सक केवल अनुमानके सहारे ओषधि देते हैं। होमियोपैथको अनुमानकी आवश्यकता नहीं। वह केवल रुदनकी प्रकृतिसे लाभ उठाकर ओषधिका चयन करता है और शीघ्र लाभ पहुँचाता है।

होमियोपैथीकी एक विशेषता यह है कि चीरफाड़के रोग भी केवल ओषधिके सेवनसे शीघ्र ठीक हो जाते हैं। दो-चार दिनमें फोड़ोंका स्वतः फूटकर सूख जाना तो सामान्य अनुभव है। मांसपेशियोंकी गाँठें भी बहुत शीघ्र ओषधिके सेवनसे घुल जाती हैं। इस चिकित्सा-प्रणालीसे रोगीको भी सुविधा होती है और तीमारदारको भी। लेखकका विचार है कि यदि शिक्षित स्त्रियाँ अल्प ध्यान दें और होमियोपैथीका साधारण अध्ययन कर लें तो वे अपने बच्चोंके कष्टोंको शीघ्र दूर कर सकती हैं और डाक्टरोंके लंबे-लंबे बिलसे अपनी रक्षा भी कर सकती हैं। वर्तमान कालकी आर्थिक संकीर्णताको देखते हुए इस बातकी आवश्यकता है कि प्रत्येक भद्र परिवारमें एक होमियोपैथिक बक्स और एक-दो साधारण पुस्तकें हों, जिससे घरमें उत्पन्न होनेवाले रोगोंकी चिकित्सा अविलम्ब आरम्भ की जा सके तथा पास-पड़ोसके गरीब परिवारोंको सहायता देकर समाज-सेवा की जाय। दूसरेकी पीड़ाको हरनेसे बढ़कर और दूसरा सेवा-कार्य नहीं। लोक-सेवा और समाज-सेवाके पुण्य-कार्यके सम्पादनमें होमियोपैथिक चिकित्सा-प्रणाली बहुत सहायक हो सकती है।

यहाँ कुछ ओषधियोंकी सूची दी जाती है जिनसे अनेक रोगोंमें प्राथमिक सहायता दी जा सकती है। आरम्भमें यदि यही ओषधियाँ क्रय कर ली जायँ तो प्रत्येक परिवारमें सामान्य रोगोंसे बालकोंकी रक्षाका कार्य सुगम हो जाय। लेखकको सम्मति है कि अमेरिकाकी बोरिक एण्ड टेफिल कम्पनीकी ओषधियाँ मँगाना अच्छा होगा; क्योंकि उनकी प्रतिक्रियामें निश्चितरूपसे विश्वास किया जा सकता है।

ओषधि	रोग
१–एकोनाइट ३०	तीव्र पीड़ा, बेचैनी, ठंडी हवासे बुखार, जुकाम, आँव
२–एथूजा ३०	दूध गिराना, वमन
३–एन्टिम टार्ट ३०	खरखराहटदार ढीली खाँसी
४–एपिस ३०, २००	आँख आना, पित्ती
५–आर्जेन्टम नाइट्रिकम ३०,२००	आँखके रोग
६–आर्निका २००	चोट
७–आर्सेनिक ३०,२००	ज्वर, कमज़ोरी, दस्त
८–बेलेडोना ३०	सूजन, ज्वर, मूत्रावरोध
९–बोरैक्स ३०	मुँहा—सफेद
१०–ब्रायोनिया ३०,२००	सूखी खाँसी, बुखार, खसरा
११–कल्केरिया कार्ब ६,३०	सूखा, दाँत निकलनेके सब कष्टोंमें
१२–कल्केरिया फास ३०	हरे दस्त, सूखा
१३–केमोमिला ६,३०	पेटकी पीड़ा, हर प्रकारकी पीड़ा जिसमें शिशु गोदीसे न उतरे
१४–चाइना ३०,२००	यकृत रोग, पतले दस्त, मलेरिया
१५–सीना ३०	कृमि
१६–कोलोसिंथ ३०	शूल
१७–क्रोटन ३०	दस्त, जो पिचकारीकी भाँति हो
१८–क्यूप्रम मेटेलिकम ३०	बाँयटा, मिरगी
१९–ड्रसेरा ३०	कूकरखाँसी
२०–यूफ्रेशिया ३०	जुकाम, जिसमें आँसू निकलें और नाकसे पानी बहे
२१–जेल्सेमियम ३०	ज्वर, सिरकी वेदना, खाँसी
२२–हिपर सल्फ ३०, २००, १०००	व्रण, सूजन, कफदार खाँसी, कान बहना
२३–इपीकाक ३०	दस्त, ज्वर, खाँसी (कूकरखाँसी), वमन
२४–लाइकोपोडियम ३०, २००	यकृत, अपराह्ण ज्वर
२५–मेग्नीशिया कार्ब ३०	हरे दस्त
२६–मेग्नीशिया फास ३०	शूल

२७—मरक्यूरियस सल ३०	आँव, जुकाम, आँखके रोग	३३—रसटक्स ३०	मोच, मियादी ज्वर, वातका दर्द
२८—नेट्रम म्योर ३०	ज्वर, मलेरिया, सूखा पाखाना	३४—साइलीशिया २००, १०००	मवादका बनना, घाव
२९—नक्सवमिका ३०, २००	जुकाम, कब्ज, काँवर		
३०—फास्फोरस ३०	निमोनिया, काँवर, यकृत	३५—स्पंजिया ३०	खाँसी
३१—पोडोफाइलम ३०,२००	दस्त, काँच निकलना	३६—सल्फर ३०, २००	फोड़े-फुंसियाँ, खाँसी, ज्वर, जुकाम
३२—पल्सैटिला ३०	दस्त, कानकी पीड़ा, खसरा		

प्रसवके समयकी अनुभवी ओषधियाँ

(लेखक—श्रीबैजनाथदासजी वकील)

प्रसवके समय दर्द पैदा होनेपर सबसे पहले कैलोफाइलम (Caulophyelum) एक-दो खुराक १५ मिनटपर देनेसे अगर झूठा दर्द है तो बंद हो जायगा । यदि दर्द सच्चा है, तो तीसरी-चौथी खुराक देते-देते बच्चा फौरन बाहर आ जायगा । इस दवामें विशेष गुण यह है कि प्लैसेन्टा (Placenta) अंदर टूटने नहीं पाता । अतः सेप्टिक (Sceptic) होनेका डर नहीं रहता ।

अक्सर मलके रेक्टममें रुक जानेसे बच्चा नीचे नहीं आता । अच्छा यह होता है कि दर्दके पैदा होते ही एक या आधा औंस शुद्ध रेंड़ीका तेल गरम दूधमें मिलाकर पिला दे और हाथ पकड़कर स्त्रीको जरा टहलावे । इससे दस्त आ जाता है, बच्चा नीचे उतर आता है । उसके बाद एक या दो खुराक ऊपरकी दवा देते ही बच्चा बाहर आ जाता है ।

पल्सेटिला ३ (Pulsatilla. 3) भी काम करती है, परंतु इससे बादमें खून ज्यादा जानेका डर रहता है ।

बच्चा हो जानेके बाद यदि खून ज्यादा जाय और हाथ-पैर ठंढे होने लगे और कमजोरी भी ज्यादा आने लगे, तो चाइना ३० (China 30) दो-तीन खुराक आध-आध घंटेपर देनेसे कमजोरी दूर हो जाती है और शरीरमें गरमी आ जाती है । यह हमारी अनुभव की हुई दवा है ।

अक्सर बच्चा हो जानेके बाद स्त्रीको ऐसा अनुभव होता है कि बच्चेदानी बाहर निकल आयेगी, उस हालतमें सीपिया ३x (Sepia 3x) दो-तीन खुराक एक-एक घंटेपर देनेसे बच्चेदानी अपनी जगहपर बैठ जाती है और भविष्यमें बच्चेदानीका कष्ट स्त्रीको नहीं होने पाता ।

बच्चा हो जानेके बाद स्त्रीको प्रकृतिके नियमानुसार कुछ समयतक खून आता रहता है । यदि १५ या २० दिन बाद भी खून आता रहे तो उस स्थितिमें एकोनाइट ३x. (Aconite 3x) घंटे-घंटेभरपर चार-पाँच खुराक दे देनेसे खून आनेमें कमी हो जाती है । यदि एकोनाइट देनेपर भी खून उचित समयके अंदर बंद न हो जाय तो चाइना ३० (China 30.) तीन खुराक सुबह, दोपहर, शाम दे देनेसे बहुत लाभ होता है ।

यदि खून समयके पहले बंद हो जाता है तो स्त्रीके सिर और छातीमें दर्द होने लगता है और सिरका दर्द तो बहुत वेगसे होने लगता है । उस हालतमें ब्रायोनिया ३० (Bryonia 30) दो-तीन खुराक दे देनेसे खून जारी हो जाता है और उसका दर्द दूर हो जाता है ।

बच्चा होनेके आठ-दस दिन बाद अक्सर स्त्रियोंके पेशाबमें जलन पैदा हो जाती है । यदि कैन्थरिस ३x. (Cantharis 3x) दो-तीन खुराक दे दी जाय तो काफी लाभ होता है ।

अक्सर बच्चोंको पैदा होनेके महीने-दो-महीने बाद टिटैनिक फिट (Titanic Fit.) होने लगते हैं । कैमोमिला ३० (Cammomilla 30) दो-तीन खुराक दे देनेसे यह मर्ज बच्चोंको फिर नहीं होता ।

कैमोमिला (Cammomilla) बच्चोंका मित्र (Childrens friend) कहा जाता है । कभी-कभी इसका प्रयोग करते रहना चाहिये । बच्चे इससे स्वस्थ रहते हैं और उनके बहुत कष्ट दूर रहते हैं ।

यह मेरा अपने जीवनके पिछले ३७ वर्षोंका अनुभव है जो मैं 'कल्याण'के पाठक-वृन्द तथा सर्वसाधारणके सम्मुख रख रहा हूँ ।

बालकोंकी कूकरखाँसी

(लेखक—डा० गोपीकृष्ण शर्मा एल्.एम्.एस्. (होमियो)

बच्चोंके लिये यह बड़ी भयङ्कर बीमारी है। संक्रामक रोग होनेके कारण यदि इस रोगसे ग्रस्त बच्चोंके साथ स्वस्थ बच्चे खेलें तो उन्हें भी यह बीमारी हो जाती है। रोगकी प्रारम्भिक अवस्थामें बच्चोंको सर्दी और खाँसी होती है तथा खाँसते समय कुत्तेके भूँकने-जैसी आवाज होती है। इसी कारणसे बहुधा लोग इसे 'कूकरखाँसी' कहते हैं। पहले खाँसीकी संख्या दिनमें चार-पाँच बार ही रहती है तथा खाँसते-खाँसते कभी-कभी उल्टी भी हो जाती है। यदि प्रारम्भमें ठीक उपचार न किया जाय तो रोग जटिल रूप धारण कर लेता है। खाँसते-खाँसते उल्टी, दस्त तथा कभी-कभी मुँह, नाक, फेफड़ोंसे रक्तस्राव भी हो जाता है। इस रोगमें जीवनी-शक्तिका ह्रास क्रमशः होता जाता है। अन्तमें मृत्युतक हो जाती है। इस प्राणघातक बीमारीसे हजारों बच्चोंके प्राण प्रतिवर्ष जाते हैं।

ऐलोपैथिक-चिकित्सामें इसके लिये पर्टुसिनका प्रयोग करते हैं तथा पर्टुसस वेक्सीन (Pertussus Vaccine) का इंजेक्शन देते हैं। उनकी धारणाके अनुसार यह एक मियादी खाँसी है, जिसकी चिकित्साके लिये कम-से-कम तीन महीनेकी आवश्यकता है। हमारे देशकी गरीब जनताके लिये इतना महँगा और लंबा इलाज उपयुक्त नहीं हो सकता। इसकी चिकित्सा सदृश-विधान-चिकित्सा (Homeopathy) से अल्प समयमें तथा कौड़ियोंमें सफलतापूर्वक की जा सकती है।

यह निदान होनेपर कि बच्चेको कूकरखाँसी है, उसे सुबह खाली पेट ड्रूसेरा (Drosera) ३० शक्तिकी २ गोलियाँ आधा औंस चुआये हुए पानी (Distilled water) में गलाकर पिला दीजिये। तथा चार दिनतक दूसरी कोई दवा न दीजिये। आप इसीसे देखेंगे कि रोग बहुत अंशोंमें घट गया।

यदि बच्चा खाँसते-खाँसते दस्त, उल्टी कर देता है तो 'इपिकाक' (Ipecac) ६ शक्तिकी ८ गोलियाँ २ औंस चुआये हुए पानीमें गलाकर दिनमें चार बार दीजिये और इसीसे बच्चा आरोग्य हो जायगा।

यदि खाँसीका बार-बार तेज दौरा हो, मुँह या नाकसे खून निकले, चेहरा नीला पड़ जाय तो कोरेलियम रुब्रम (Coraleium Rubrum) ३ शक्ति २ बूँद ४ औंस चुआये हुए पानीमें, जबतक खाँसीका दौरा न घटे, २–२ घंटेसे एक-एक चम्मच देते रहें।

यदि गलेमें घर-घर आवाज हो, हिलने-डोलनेसे खाँसी बढ़े, बच्चा दाँत कड़कड़ाये तो सिना (Cina) ३० शक्तिकी ८ गोलियाँ ४ औंस चुआये हुए पानीमें गलाकर दिनमें चार बार दें।

यदि खाँसी आधी रातके बाद बढ़े, गलेमें दर्द रहे तो बेलेडोना (Balladona) ३० शक्तिकी चार गोलियाँ २ औंस चुआये हुए पानीमें गलाकर ४ बार दें।

इसके अतिरिक्त कूप्रम मेट, ब्रोमियम, नेप्थेलिन आदि दवाएँ भी इस खाँसीमें फायदा करती हैं।

दवा लेते समय चर्बीयुक्त पदार्थ, घी या तेलमें तली चीजें, सड़े-गले फल, गरिष्ठ पदार्थ, आइस-क्रीम, पिपरमेंटकी गोलियाँ आदि न देनी चाहिये। यदि बच्चा माताका दूध पीता हो तो उसकी माताको भी उपर्युक्त पथ्यसे रहना चाहिये। खुशबूदार तेल, सेंट, क्रीम, पाउडर आदिका व्यवहार बिल्कुल बंद कर देना चाहिये। जिन बच्चोंको यह बीमारी हो उनके माता-पिताका परम कर्तव्य है कि वे अपने बच्चोंको स्वस्थ बच्चोंमें न खेलने दें जिससे कि रोग दूसरोंको न फैल सके। बच्चा स्कूल जाता हो तो उसे स्कूल न जाने दें।

यदि उपर्युक्त बातोंका पूर्णरूपेण पालन किया गया तो निश्चय ही इस भयङ्कर बीमारीसे छुटकारा मिल सकता है। विशेषकर रोगकी प्रारम्भिक अवस्थामें होमियोपैथिक पद्धतिसे उपचार किया गया तो आठ-दस दिनमें रोगी अच्छा हो जायगा।

बालकके रोगनाशका मान्त्रिक साधन

[यह प्राचीन स्तोत्र है। बालकोंके रोगनाशके लिये इसका प्रयोग किया जाता है। अनुभूत है। मार्जनकी विधि यह है कि शुद्ध जल और इक्कीस कुशोंसे इसे पढ़-पढ़कर प्रतिदिन एक या तीन बार बालकपर तबतक मार्जन करे, जबतक कि वह स्वस्थ न हो जाय। इससे बड़ा लाभ होगा।—श्यामसुन्दर द्विवेदी]

प्रणम्य शिरसा शान्तं गणेशानन्तमीश्वरम्।
बालग्रहस्तवं वक्ष्ये समस्ताभ्युदयप्रदम् ॥ १ ॥

तपसा यशसा दीप्त्या वपुषा विक्रमेण च।
निर्दिष्टो यः सदा स्कन्दः स नो देवः प्रसीदतु ॥ २ ॥

रक्तमाल्याम्बरधरो रक्तगन्धानुलेपनः।
रक्तादित्योज्ज्वलः शान्तः स नो देवः प्रसीदतु ॥ ३ ॥

यो नन्दनः पशुपतेर्मातॄणां पावकस्य च।
गङ्गोमाकृत्तिकानां च स नो देवः प्रसीदतु ॥ ४ ॥

देवसेनापरिवृतो देवसेनार्चितः सदा।
देवसेनापतिः श्रीमान् स नो देवः प्रसीदतु ॥ ५ ॥

शक्तिः शक्तिधरापूरः कुमारः शिखिवाहनः।
सुरारिहा महासेनः स नो देवः प्रसीदतु ॥ ६ ॥

प्रकृत्या सुन्दरो दान्तो देवैश्वर्योदयान्वितः।
नानाविनोदसम्पन्नः स नो देवः प्रसीदतु ॥ ७ ॥

प्रबोधा सुप्रबोधा च बोधना सुप्रबोधना।
प्रबुद्धा च प्रबोधा च सुप्रीता सुमनास्तथा ॥ ८ ॥

मनोन्मनीति विख्याता योगिन्यः पान्तु बालकम्।
सुव्रता रुक्मिणी चैव मन्दवेगा विभीषणा ॥ ९ ॥

विद्युज्जिह्वा महानासा शतानन्दा तथापरा।
बलदा प्रमदा चेति योगिन्यः पान्तु बालकम् ॥१०॥

हरिणी चाथ वाराही वानरी क्रोष्टुकी तथा।
कुबेरी कोटराक्षी च कुम्भकर्णा च चण्डिनी ॥११॥

बलाढ्यकारिणी चेति योगिन्यः पान्तु बालकम्।
शुद्धा विशुद्धा श्रद्धा च योगसिद्धा मितंवदा ॥१२॥

सुभगा शुभदा गौरी बला विकरिणीति च।
नानाविज्ञानविख्याता योगिन्यः पान्तु बालकम् ॥१३॥

लम्बा प्रलम्बा च तथा लम्बकर्णा च लम्बिका।
ज्वाला कराली कालिन्दी कालिकेति यथोदिता ॥१४॥

स्वच्छन्दाचारसम्पन्ना योगिन्यः पान्तु बालकम्।
प्रणीता सुप्रणीता च मालिनी विश्वमालिनी ॥१५॥

विमला कमला माली लोला रौद्री च विश्वदा।
विचरन्त्यो यथाकामं योगिन्यः पान्तु बालकम् ॥१६॥

वायुवेगा महावेगा सुवेगा वेगवाहिनी।
शशिनी हंसिनी हृष्टिः पुष्टिः पौष्टिकसिद्धिदा ॥१७॥

दिव्यानुभावा वाहिन्यो योगिन्यः पान्तु बालकम्।
भ्रमिणी भामिनी नित्या निर्भिन्ना सुभगा गुहा ॥१८॥

क्लेदिनी द्राविणी वामा योगिन्यः पान्तु बालकम्।
रुद्रशक्तिविनिष्क्रान्तमेकाशीतिक्रमोदितम् ॥१९॥

योगिनीवृन्दमेतद्धि सिद्धविद्याधरार्चितम्।
स्कन्दग्रहाधिदैवं तद्बालकं पातु सर्वदा ॥२०॥

शकुनी रेवती देवी शिखा च मुखमण्डिका।
प्रलम्बा पूतनाख्या च कटिपूतनिका पुनः ॥२१॥

विजया गोमुखी धूम्रा मुण्डमाला तथापरा।
अधोलम्बा च पद्मा च कुमुदाप्यथ चाम्बिका ॥२२॥

भामिनी चैव काली च देवी प्रेतमुखी तथा।
ऐन्द्री मार्जारिका भूयः करुणी च शुभा कृशा ॥२३॥

कालरात्रिश्च माया च लोहिता पिलिपीचिका।
भीतारिणी चक्रवादा भीषणा दुर्जया परा ॥२४॥

तापनी कटकोली च मुक्तकेशी महाबला।
अहंकारी जया तद्वदजमेषा त्रिदण्डिका ॥२५॥

रोदनी मुकुटाभिख्या ललाटा पिङ्गला तथा।
शीतला बालिनी चैव तापसी पापराक्षसी ॥२६॥

मानसा धनदा देवी बलानावर्तिनी तथा।
यमुना जातवेदा च मानिनी कलहंसिनी ॥२७॥
बालिका देवदूती च वायसी यक्षिणी तथा।
स्वच्छन्दा पालिका चैव वासिनी चाम्बिकेति च ॥२८॥
पञ्चाशत्तु कुलोत्पन्ना चतुष्षष्टिः समीरिताः।
योगिन्यो नित्यसंतुष्टाः स्कन्दापस्मारदेवताः ॥२९॥
नानारक्षाधिकारस्था बालकं पान्तु सर्वदा।
महालक्ष्मीर्महानङ्गा महासेना महाबला ॥३०॥
महाकम्पा महाभीमा महातेजा महोत्सवा।
महासेना महाचण्डा मोहिनी वीरनायका ॥३१॥
एकवीरा विशालाक्षी सुकेशी सुमनास्तथा।
सुकेशिनी च संतुष्टा दण्डिनी च विलम्बिनी ॥३२॥
भामिनी चाथ सौवर्णी सिंहवक्त्रा करङ्किनी।
भ्रमरा चञ्चला चम्पा सिद्धिदा च तथापरा ॥३३॥
शातोदरी धृतिः स्वाहा स्वधाख्या च सनातनी।
शम्बरा च तथा देवी नीलग्रीवा तथाम्बिका ॥३४॥
वितला गन्धिनी वामा क्रीडन्ती चैव वाहिनी।
कर्षिणी मालती फुल्ला कालकर्णी च चण्डिका ॥३५॥
चित्रानना गुहा चेति पार्वतीसंगतिं गताः।
पञ्चाशन्नव सम्पन्नाः शकुनीदैवतप्रियाः ॥३६॥
योगिन्यः कामरूपिण्यो बालकं पान्तु सर्वदा।
विश्वतपा प्रभावज्ञा सर्वज्ञा सर्वगा गुहा ॥३७॥
दुर्गा सरस्वती ज्येष्ठा श्रेष्ठा पद्मा परापरा।
प्रमदा रोहिणी सीता प्रह्वी प्रह्लादनी विभा ॥३८॥
विभूतिर्विततिः प्रीतिः प्रकृतिः प्रमतिर्यथा।
एता भगवता सृष्टा योगिन्यो योगसिद्धिदाः ॥३९॥
पञ्चविंशतिराख्याता रेवती शक्तिगोचरा।
जगदाप्यायनकरा बालकं पान्तु सर्वदा ॥४०॥
नन्दश्चैवोपनन्दश्च गोमतिः सुमतिस्तथा।
विद्युज्जिह्वो महाकालः कुशलस्तिमिलोचनः ॥४१॥
तेजो होडा विरूपाक्षो गोमुखो बडवामुखः।
कालाननः करालश्च शङ्कुकर्णो विभीषणः ॥४२॥
एते शङ्कुदनोत्पन्ना वीराः षोडश राक्षसाः।
पूतना देवताजुष्टा बालकं पान्तु सर्वदा ॥४३॥
वज्रिणी शकिनी चैव दण्डिनी खड्गिनी तथा।
पाशिनी ध्वजिनी देवी गदिनी शूलिनी परा ॥४४॥
पविनी चक्रिणी चेति सर्वाकाराभयप्रदाः।
एता दिङ्निर्मिता देव्यो योगिन्यो देवकीर्तिताः ॥४५॥
अधिभूतप्रधाना या पायात् सा शान्तपूतना।
प्रसन्ना मातरः सर्वा बालकं पान्तु सर्वदा ॥४६॥
अर्थको जलको भूमा उग्रः स्कन्दश्च कीर्तितः।
वीरेशा पितृभिः सृष्टा नैजमेषाधिदेवताः ॥४७॥
पञ्चशक्तिप्रधानास्ते बालकं पान्तु सर्वदा।
आदित्या वसवो रुद्राः पितरो मरुतस्तथा ॥४८॥
मुनयो मनवः काला ग्रहयोगाः सनातनाः।
सिद्धाः साध्याश्च गन्धर्वा देव्यश्चाप्सरसां वराः ॥४९॥
विद्याधरा महादैत्या बालकं पान्तु सर्वदा।
सहजा योगजा चैव वीरजा मन्त्रजा तथा ॥५०॥
योगिन्यो योगवनिता नानाविभवगोचराः।
भवानीनामसंतुष्टा बालकं पान्तु सर्वदा ॥५१॥
भूर्लोके च भुवर्लोके स्वर्लोके याश्च मातरः।
अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक् च क्रीडन्त्योऽनन्तमूर्तयः ॥५२॥
प्रसन्ना योगसम्पन्ना दिव्यैश्वर्यसमन्विताः।
स्वच्छन्दपदसम्भूतैर्भैरवैः परिवारिताः ॥५३॥
रक्षन्तु बालकं प्रीताः शान्तिर्नोपैतु चेतसः।
दिव्यस्तोत्रमिदं पुण्यं बालरक्षाधिकारकम् ॥५४॥
जपेत् संतानरक्षार्थं बालद्रोहोपशान्तिदम् ॥५५॥

रोगशान्ति, विपत्तिनाश एवं भगवद्दर्शनके साधन

बालकके रोगशान्तिके लिये कवच

दामोदरः पातु पादौ जानुनी विष्टरश्रवाः।
ऊरू पातु हरिर्नाभिं परिपूर्णतमः स्वयम् ॥
कटिं राधापतिः पातु पीतवासास्तवोदरम्।
हृदयं पद्मनाभश्च भुजौ गोवर्द्धनोद्धरः॥
मुखं च मथुरानाथो द्वारकेशः शिरोऽवतु।
पृष्ठं पात्वसुरध्वंसी सर्वतो भगवान् स्वयम् ॥

गङ्गा-जल या गोमूत्र हाथमें अथवा किसी शुद्ध पात्रमें लेकर उपर्युक्त श्लोकोंको पढ़ता हुआ उस जलको बालकके प्रत्येक अङ्गसे लगाकर थोड़ा-सा उसके मुखमें डाल दे और बाकी जलको उसकी शय्याके चारों ओर छिड़क दे। फिर गायकी पूँछसे बच्चेको झाड़ दे। इस प्रकार करनेसे बच्चेके सभी रोग और ग्रह-बाधा आदि शान्त हो जाते हैं।

श्रीबालकृष्णके ध्यानसे सर्वविपत्तियोंका नाश तथा भगवान्‌के दर्शन

बालं नवीनशतपत्रविशालनेत्रं
बिम्बाधरं सजलमेघरुचिं मनोज्ञम्।
मन्दस्मितं मधुरसुन्दरमन्दयानं
श्रीनन्दनन्दनमहं मनसा नमामि ॥ १ ॥

मञ्जीरनूपुररणन्नवरत्नकाञ्ची-
श्रीहारकेसरिनखावलियन्त्रसङ्घम् ।
दृष्ट्यार्तिहारिमषिबिन्दुविराजमानं
वन्दे कलिन्दतनुजातटबालकेलिम् ॥ २ ॥

पूर्णेन्दुसुन्दरमुखोपरि कुञ्चिताग्राः
केशा नवीनघननीलनिभाः स्फुरन्तः।
राजन्त आनतशिरःकुमुदस्य यस्य
नन्दात्मजाय सबलाय नमो नमस्ते ॥ ३ ॥

श्रीनन्दनन्दनस्तोत्रं प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
तन्नेत्रगोचरं याति सानन्दो नन्दनन्दनः ॥

श्रीनन्दनन्दनके नेत्र नवीन कमलके समान विशाल हैं, पके हुए बिम्बफलके समान लाल-लाल ओठ हैं, जलसे भरे हुए मेघकी-सी अङ्ग-कान्ति है। मन्द-मन्द मुसकराते हुए वे अत्यन्त मनोहर जान पड़ते हैं। उनकी धीमी-धीमी चाल भी अत्यन्त आकर्षक और सुन्दर है; उन बालगोपालको मैं मनसे प्रणाम करता हूँ। उनके चरणोंमें पायजेब और नूपुर सुशोभित हैं। नवीन रत्ननिर्मित करधनी खन-खन शब्द कर रही है। वक्षःस्थलपर सुनहरी रेखाके रूपमें लक्ष्मीजी, मुक्ताहार, बघनखोंकी पंक्ति तथा यन्त्रोंका समूह शोभा दे रहा है। ललाटपर दृष्टिदोषजनित पीड़ाका निवारण करनेवाला काजल-का डिठौना विशेष सुन्दर लग रहा है। कलिन्दतनया श्री-यमुनाजीके तटपर बालोचित क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्णकी मैं वन्दना करता हूँ। नीचेकी ओर झुका हुआ जिनका शिरोभाग प्रफुल्ल कुमुदकी-सी शोभा धारण करता है, पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित परम सुन्दर श्रीमुखपर नवीन मेघके समान नीले रंगकी घुँघरारी अलकें लहरा रही हैं। बलदाऊ भैयाके सहित उन नन्दके लाड़िले आपको मेरा बार-बार प्रणाम।

प्रातःकाल उठकर जो इस नन्दनन्दन-स्तोत्रका पाठ करता है, आनन्दमूर्ति श्रीनन्दनन्दन उसके नेत्रोंके आगे नाचने लगते हैं।

बालकों (और बड़ोंको भी) को प्रातःकाल शय्यासे उठते ही हाथ-मुँह धोकर श्रीश्यामसुन्दर नन्दनन्दनके उपर्युक्त बालरूपका नित्य नियमपूर्वक प्रेमसहित ध्यान करना चाहिये। इससे तमाम विपत्तियोंका विनाश होकर भगवान् बालकृष्णके दर्शन प्राप्त होते हैं। (प्रेषक—श्रीकृष्णगोपाल)

बाल-ज्वरको नाश करनेवाला सिद्ध धूप

पलंकषा वचा कुष्ठं शैलेयं रजनीद्वयम्। निम्बस्य पत्रं माक्षीकं सर्पिर्युक्तं तु धूपनम्।
ज्वरवेगं निहन्त्याशु बालानां तु विशेषतः॥

गूगल, बच, कूट, मैनसिल, शिलाजीत, हल्दी, आँबी हल्दी, नीमके पत्ते और शहद—इन सबको बराबर मात्रामें कूटकर घृतमें मिलाकर धूप बना ले और ज्वर होनेपर वह धूप दे तो सबके, खास करके बालकोंके ज्वरका वेग तुरंत नष्ट होता है और बालक नीरोग हो जाता है। (प्रेषक—पं० श्रीरामजी तिवारी)

बालकोंके जनन-मरण-सम्बन्धी आशौच

(लेखक—याज्ञिक पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, काव्यतीर्थ)

जननाशौच

(१) प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ मासमें गर्भिणी स्त्रीका गर्भ नाश हो तो उसको 'गर्भस्राव' कहते हैं। उसमें प्रथम, द्वितीय और तृतीय मासमें गर्भस्राव होनेसे गर्भिणीको त्रिरात्र और चतुर्थ मासमें गर्भस्राव होनेसे चार अहोरात्र आशौच (अस्पृश्यत्व) होता है। पिता आदिकी स्रावमात्रमें स्नानमात्रसे शुद्धि होती है।

(२) पञ्चम और षष्ठ मासमें गर्भका नाश हो, तो उसको 'पात' कहते हैं, उसमें पञ्चम मासमें गर्भपात हो तो पाँच दिन और षष्ठ मासमें गर्भपात हो तो छः दिनका आशौच गर्भिणीको होता है। पिता आदि सपिण्डको त्रिरात्र जननाशौच होता है, मरणाशौच नहीं होता है (यह आशौच चारों वर्णोंमें समान होता है)।

(३) सप्तम माससे प्रसवमें माता-पिता आदि सपिण्डको दशाह आशौच होता है।

(४) जनन और मरणमें सपिण्डको दशरात्र, सोदकको त्रिरात्र और सगोत्रको एक रात्र आशौच होता है, यह कमलाकरका मत है।

(५) सपिण्ड (सात पीढ़ीतक) को दशरात्र और आठसे दस पुरुषतक त्रिरात्र, तदनन्तर जहाँतक जन्म-नाम मालूम हो वहाँतक ज्ञाति-मरणमें पक्षिणी और जिनकी जन्मपरम्परा न ज्ञात हो किंतु यह हमारे गोत्री हैं, ऐसे ज्ञानमें स्नानमात्रका आशौच होता है, यह शुद्धि-विवेककारका मत है। इसमें प्रथम मतको दाक्षिणात्य और द्वितीय मतको पञ्चगौड मानते हैं।

(६) चारों वर्णोंकी दशाहमें शुद्धि होती है, यह पक्ष अधिक प्रचलित है। कहीं-कहीं वर्णभेदसे भी आशौच कुछ लोग मानते हैं। जैसे—सप्तम माससे प्रसवमें ब्राह्मणोंको दशाह-आशौच, क्षत्रियोंको द्वादशाह, वैश्योंको पञ्चदशाह और शूद्रोंको एक मास आशौच होता है।

(७) जननाशौचमें माता दस दिनतक अस्पृश्य है, परंतु सूतिकाकी शुद्धि दस रात्रिसे होनेपर भी सूतिका पुत्रजननी हो तो बीस रात्रि व्यतीत होनेपर और कन्या-जननी हो, तो एक मास व्यतीत होनेपर उसका स्मार्त और गृह्यकर्ममें तथा पाकादि लौकिक कर्मोंमें अधिकार होता है। श्रौतकर्ममें तो दस रात्रिके अनन्तर ही अधिकारिणी होती है। पुत्रोत्पत्तिमें २० दिन और कन्योत्पत्तिमें एक मासपर्यन्त किसी कर्ममें भी माताका अधिकार नहीं है।

(८) बालकके होनेपर पिता सचैल स्नान करनेपर स्पर्शयोग्य होता है और सपत्न माता भी स्नानानन्तर स्पृश्य है। स्नानके पूर्व माता-पिता दोनों ही अस्पृश्य हैं।

(९) कन्या होनेपर भी पिता और सपत्न माताको स्नान करना चाहिये, यह कमलाकरका मत है।

(१०) जननाशौचकी प्रवृत्ति नालच्छेदनके अनन्तर होती है। अतः नालच्छेदनके पूर्व पिताको पुत्र-जनननिमित्त आभ्युदयिक श्राद्ध, जातकर्म एवं दानादिमें अधिकार है तथा षष्ठी रात्रिमें भी षष्ठी देवीकी पूजा और दानादिमें अधिकार है।

(११) मरणाशौचमें भी यदि पुत्रजनन हो, तो पुत्र-जनननिमित्त आभ्युदयिक श्राद्ध एवं जातकर्मादि आशौचान्तमें करना चाहिये, यह भी किसी आचार्यका मत है।

मरणाशौच

(१) मरणाशौचमें अस्पृश्यता और कर्ममें अनधिकार होता है।

(२) नालच्छेदनके पूर्व बालक या बालिकाकी मृत्युमें माताको दशाह और पिता आदि सपिण्डको त्रिरात्र जननाशौच होता है, मरणाशौच नहीं होता है, केवल स्नान होता है।

(३) नालच्छेदनके अनन्तर दस दिनतक बालक या बालिकाकी मृत्युमें माता-पिता और समस्त सपिण्डको जनननिमित्त दशाह-आशौच होता है, मरणाशौच नहीं होता है। मरणनिमित्त स्नानमात्र होता है।

---

१. सात पीढ़ीतक 'सपिण्ड' कहे जाते हैं।

२. आठसे चौदह पीढ़ीतक 'सोदक' कहे जाते हैं।

३. पंद्रहसे इक्कीस पीढ़ीतक 'सगोत्र' कहे जाते हैं।

४. एक रात्रि दो दिन या दो दिन एक रात्रि इस प्रकार डेढ़ दिनको 'पक्षिणी' कहते हैं।

(४) दशाहानन्तर नामकरणके पूर्व बालकके मरणमें सपिण्डको स्नानमात्र और माता-पिताको त्रिरात्र आशौच होता है । बालिकाके मरणमें माता-पिताको एकरात्र आशौच होता है, यह शुद्धिविवेककारका मत है । कमलाकरके मतसे दशाहानन्तर प्रत्येक अवस्थामें कन्याकी मृत्युमें त्र्यहाशौच ही होता है । इसमें प्रथम मत पञ्चगौडसम्प्रदाय-सिद्ध है और द्वितीय मत दाक्षिणात्य-सम्प्रदायसिद्ध है ।

(५) नामकरणके पूर्व बालक या बालिकाकी मृत्युमें खनन ही होता है, दाह नहीं । गङ्गा आदि नदीके सान्निध्यमें प्रवाह भी होता है ।

(६) नामकरणके अनन्तर बालकका तीन वर्ष-पर्यन्त यदि चूड़ाकरण (मुण्डन) न हुआ हो, तो दाह और खननमें विकल्प है । यदि मुण्डन हो गया हो, तो दाह नियत है ।

(७) बालकके वर्षत्रयानन्तर चूड़ाकरण न होनेपर भी दाह नियत है, खनन नहीं ।

(८) तीन वर्षके बाद कन्याकी मृत्युमें कन्याका दाह नियत है, उसका वाग्दान हुआ हो अथवा न हुआ हो ।

(९) नामकरणके अनन्तर दन्तोत्पत्ति (सप्तम मासके पूर्व) वाले पुत्रके मरणमें दाह हुआ हो, तो सपिण्डोंको एकाह और माता-पिताको त्रिरात्र-आशौच होता है । खननमें सपिण्डको स्नानमात्र और माता-पिताको त्रिरात्र आशौच होता है ।

(१०) नामकरणानन्तर दन्तोत्पत्ति (सप्तम मास) के पूर्व कन्याके मरणमें दाह या खननमें सपिण्डको स्नानमात्र और माता-पिताको एकाह आशौच होता है । (दाक्षिणात्य-मतसे त्रिरात्र आशौच होना चाहिये ।)

(११) दन्तोत्पत्तिके अनन्तर तीन वर्षपर्यन्त पुत्रके मरणमें उसका दाह या खनन किया हो, तो सपिण्डको एकाह और माता-पिताको त्रिरात्र आशौच होता है ।

(१२) दन्तोत्पत्तिके अनन्तर तीन वर्षपर्यन्त कन्याके मरणमें दाह या खननमें सपिण्डोंकी स्नानसे और माता-पिताकी त्रिरात्रसे शुद्धि होती है ।

(१३) प्रथम वर्षमें चूड़ाकरण-संस्कार किये हुए पुत्रके मरणमें पिता आदि समस्त सपिण्डोंको त्रिरात्र आशौच होता है और दाह भी नियत होता है ।

(१४) तीन वर्षके बाद उपनयनके पूर्व बालकका चूड़ाकरण हुआ हो या न हुआ हो, उसके मरणमें पित्रादि सपिण्डोंको त्र्यहाशौच होता है ।

(१५) तीन वर्षके बाद छः वर्षतकके पुत्रके मरणमें द्विजोंको त्र्यहाशौच होता है । तदनन्तर स्व-स्वजात्युक्त पूर्णाशौच होता है । उपनयन शब्दसे उपनयनका काल लिया गया है, जो कि छः वर्षतकका माना गया है । अतः सप्तमादिवर्षमें उपनयन न होनेपर भी पूर्ण आशौच होता है, यह शुद्धिविवेककारका मत है । निर्णयसिन्धुकार उपनयन शब्दसे उपनयनकाल नहीं मानते हैं, अतः जबतक उपनयन न होगा तबतक त्र्यहाशौच ही द्विजातिको रहेगा । इनके मतमें छः वर्षका कोई नियम नहीं है । इसमें प्रथम मत ही उत्तम प्रतीत होता है ।

(१६) वर्षत्रयके अनन्तर वाग्दानके पूर्व कन्यामरणमें त्रिपुरुष सपिण्डोंको एकाह और माता-पिताको त्रिरात्र आशौच होता है ।

(१७) वाग्दानोत्तर विवाहके पूर्व कन्यामरणमें भर्तृकुल और पितृकुलमें सप्तपुरुष सपिण्डको त्रिदिन आशौच होता है, यह पञ्चगौडमत है । यही मत युक्त है । दाक्षिणात्य-सम्प्रदायमें एकरात्र आशौच है ।

(१८) उपनयनके अनन्तर समस्त वर्णोंका दशाह आशौच होता है । अथवा ब्राह्मणको दशाह, क्षत्रियको द्वादशाह, वैश्यको पञ्चदशाह और शूद्रको एक मासका आशौच होता है । सोदकोंकी त्रिरात्र और गोत्रजोंकी स्नानमात्रसे शुद्धि होती है ।

(१९) अनुपनीत भ्रातृमरणमें भगिनीको आशौच नहीं होता है ।

विद्यादान

प्राचीन कालमें हमारे देशके गृहस्थ धनका उत्तरदायित्व स्वीकार करते थे । उचित काल, स्थान और पात्रमें दान देनेसे वे अपने आपको धन्य मानते थे । जो लोग अधिकारी थे, वे स्वेच्छासे ज्ञानके वितरणका उत्तरदायित्व समझते थे । वे जानते थे कि उन्होंने जो कुछ पाया है उसे देनेका सुयोग यदि नहीं मिला तो पाना ही अपूर्ण है । गुरु और शिष्यके बीच इस परस्पर सहज सापेक्ष सम्बन्धको ही मैंने विद्यादानका प्रधान माध्यम समझा है । —महाकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर

कुष्ठरोग और बालक

(लेखक—बाबा श्रीराघवदासजी)

हमारे देशमें समाजके जो अत्यन्त दुखी अङ्ग हैं, उनमें कुष्ठरोगी सबसे अधिक दुखी हैं, समाजमें वे जीवित रहते हुए भी मृतक ही समझे जाते हैं। परिवारके लोग भी इन दुखियोंसे जल्दी-से-जल्दी छुटकारा पा सकें, ऐसा प्रयत्न करते हैं। इसीलिये हमारे यहाँके संतोंने इन दुखियोंकी सेवा करना अपना कर्तव्य माना है। प्रसिद्ध महापुरुष श्रीचैतन्यदेव और महात्मा गाँधीने अपने हाथोंसे इन दुखियोंकी सेवा कर अपनेको धन्य समझा है।

इस रोगके बारेमें अलग-अलग कल्पना है। इस समय जो रोगियोंकी सेवा करनेमें लगे हुए हैं, उनका और उनके साथ काम करनेवाले विशेषज्ञोंका यह कथन है—और स्पष्ट ही उनका वह कथन अनुभवके आधारपर है—कि यह रोग अधिकांश संसर्गजन्य है और इसका अधिक प्रभाव बालकोंपर पड़ता है। वैसे तो इसके कीटाणु सभीके शरीरमें पाये जा सकते हैं; पर वह अपना प्रभाव तभी जमा पाते हैं जब कि मनुष्यमें रोगोंके प्रतीकार करनेकी शक्ति घट जाती है। बालकका शरीर विकासशील अवस्थामें होता है, इसलिये जो बालक कुष्ठरोगीके अधिक सम्पर्कमें आता है, अर्थात् जो उसके बिस्तरेपर सोता है, उसके साथ भोजन करता है या अन्य प्रकारसे उसके सम्पर्कमें आता है, उसको यह रोग सरलतासे अपना शिकार बना लेता है और यही बालक आगे चलकर इस रोगको फैलानेमें सहायक होता है। इसलिये इन रोगियोंकी सेवामें लगे हुए सेवक यह मानते हैं कि बालकोंको न केवल ऐसे रोगियोंसे अलग रक्खा जाय, बल्कि जो बालक इस रोगसे पीड़ित हो गये हैं, उनको रोगमुक्त करनेके लिये तत्काल उपाय किया जाय। इसलिये विदेशोंमें बालकोंके रोगोंको दूर करनेकी व्यवस्था स्थान-स्थानपर की गयी है। लेकिन हमारे देशमें एकाध जगह छोड़कर इसका सर्वथा अभाव है।

इस उत्तरप्रदेशमें काशी, प्रयाग, मथुरा, अयोध्या, हरिद्वार, ऋषिकेश ऐसे भारतप्रसिद्ध प्रमुख तीर्थस्थान हैं, जहाँ सैकड़ोंकी संख्यामें स्त्री-पुरुष इन रोगोंको लेकर पहुँचते हैं। उनके साथ उनके बालक भी रहते हैं। उन दुखी बालकोंके लिये आज कोई भी प्रबन्ध नहीं है। जिस प्रकार सरकार बालक अपराधियोंके सुधारकी ओर ध्यान देना जरूरी समझती है या गूँगे, बहरे, अंधे बालकोंके लिये संस्थाएँ खुलवानेमें सहायता करती है, या अन्य बालकोंके विकास या उनकी शिक्षाके लिये करोड़ों रुपये खर्च करती है, उसी प्रकार क्या वह और अन्य शिक्षा-संस्था-संचालक समाजके इस अत्यन्त दुखी अङ्ग, असहाय महारोगी बालकके लिये कुछ न करेंगे ?

हमारे देशमें १५ लाखसे भी अधिक कुष्ठरोगी हैं, जिनमें बालक रोगियोंकी संख्या अधिक है। इस देशमें इतने रोगियोंके होते हुए भी देशके कुल अस्पतालोंमें मिलाकर केवल २५ हजार ही रोगियोंके रखनेकी व्यवस्था है। बालकोंको अलगसे रखनेकी कोई व्यवस्था की गयी हो, यह कम सुननेमें आया है।

हम यहाँ 'मिशन टू लेपर्स' नामक संस्थाकी विशेषरूपसे चर्चा करना चाहते हैं, जो हमारे देशमें एकमात्र ऐसी संस्था है, जिसने ऐसे रोगियोंके रहनेके लिये स्थानका प्रबन्ध किया है। इस संस्थाके लिये जो पैसा एकत्र होता है, वह शिक्षा-संस्थाओंके बालकोंके दानसे तथा धार्मिक संस्थाओंद्वारा इकट्ठा किया जाता है। प्रत्येक ईसाई-परिवार अपना यह कर्तव्य समझता है कि अपनी आयमेंसे $\frac{१}{१०}$ दानमें दिया जाय। मिशन टू लेपर्सको प्रतिदिन हजारों, लाखोंका दान प्राप्त होता है और इन रुपयोंसे संसारके सभी कुष्ठरोगग्रस्त देशोंमें यह संस्था सेवाकार्य करती है। क्या हमारे देशके सहृदय स्त्री-पुरुष मानव-समाजकी सेवा करनेवाली इस संस्थाके कार्यक्रमको अपनानेकी तथा इस संस्थाको अपने सात्त्विक दानसे सेवा करनेका अवसर देनेवाले दाताओंके उदाहरणका अनुसरण करनेकी प्रथा न डाल सकेंगे ?

कुष्ठ-रोगियोंके नीरोग बालक

(लेखक—श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेसरी)

दुखियों और रोगियोंकी सेवा धर्म है, उसमें भी कुष्ठ-रोगियोंकी सेवा परम धर्म है। जिनको घरवाले भी छोड़ देते हैं उन्हें अपनाना, उनकी निःस्वार्थ सेवा करना साक्षात् नारायणकी सेवा है। अन्य रोगोंमें समाज तथा परिवारके सदस्य रोगीके प्रति सहानुभूति दिखाते हैं, परंतु कुष्ठ-रोगीके साथ घृणाका व्यवहार होता है। अतएव इस रोगको मिटानेके लिये सामाजिक दृष्टिकोणको बदलनेकी भी आवश्यकता है, और यह कार्य महान् रचनात्मक है। प्राचीन धर्मग्रन्थोंमें कुष्ठ-रोगियोंको अन्न-वस्त्रका दान तथा उनकी सेवा प्रतिदिन करनेका धर्म बताया है।

हमारे देशमें कुष्ठ-रोग बहुत है। पंजाबको छोड़कर सब प्रान्तोंमें यह रोग फैला हुआ है। अनुमान है भारतमें करीब पंद्रह लाख कुष्ठ-रोगी हैं। उत्तरप्रदेशमें यह रोग सबसे अधिक है। हरिद्वार, ऋषिकेश और दूसरे तीर्थस्थानोंमें कुष्ठ-रोगी बड़ी संख्यामें आते हैं और भीख माँगकर पेट भरते हैं। इन तीर्थस्थानोंपर देशके कोने-कोनेसे लाखों यात्री पहुँचते हैं और इस प्रकार यह रोग उचित व्यवस्था, चिकित्सा तथा निरोधक उपायोंके अभावमें फैलता है। तीर्थस्थानोंमें कुष्ठ-रोगी भीख माँगनेके अलावा इसलिये भी आते हैं कि गङ्गा-माताके अतिरिक्त उनका कोई सहारा नहीं। यदि समाज और सरकार इस रोगके उन्मूलनकी योजना बनावें तो कुछ वर्षोंमें ऐसा सम्भव है, कम-से-कम रोगकी वृद्धिको रोका जा सकता है।

हमारे देशमें यूरोप और अमेरिकासे ईसाई धर्मप्रचारक आकर अबतक कुष्ठ-रोगियोंकी सेवा करते थे। यह भारत जैसे धर्मप्राण देशके स्वाभिमानके लिये बुरी बात है। हर्षकी बात है अब भारतीयोंका ध्यान इस ओर गया है। गाँधी-स्मारक-निधिने कुष्ठ-रोगके उन्मूलनकी एक व्यापक योजना बनायी है; परंतु यह कार्य तबतक पूरा न होगा, जबतक सामाजिक दृष्टिकोण न बदले और सब इस कार्यके लिये यथाशक्ति कुछ करनेको तत्पर न हों।

जो डाक्टर और संस्थाएँ कुष्ठ-निवारणका कार्य करती हैं, उनका सुनिश्चित मत है कि यह रोग बच्चोंपर ही अधिक प्रभाव डालता है। मद्रासके पास सैदापेटामें—'सिल्वर जुबिली चिल्ड्रन्स क्लीनिक' नामक बच्चोंका चिकित्सालय है, जो १९३७ में स्थापित किया गया था। इस चिकित्सालयमें बच्चोंके कोढ़के बारेमें सब खोज की जाती है। इस खोजके परिणामस्वरूप मालूम हुआ है छः और तेरह वर्षके बीचकी आयुमें ही कुष्ठ-रोग अधिक लगता है। यह रोग अधिक समयतक घनिष्ठ सम्पर्कसे ही लगता है और उसमें भी बच्चोंपर अधिक प्रभाव डालता है। इस कारण बालकोंको कुष्ठ-रोगीके सम्पर्कसे बचानेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये। टिहरी, गढ़वाल और जौनसार बावरमें ऐसे अनेक कुष्ठ-रोगी परिवारोंका मुझे निजी ज्ञान है जो पहले स्वस्थ थे, परंतु परिवारका बालक बाहरसे यह संसर्ग-जन्य रोग लाया और उस बच्चेके मोहके कारण तथा गरीबीसे वर्षों निकट सम्बन्ध रहनेपर बालकके माता-पिता तथा अन्य व्यक्ति भी रोगी हो गये। पहाड़ी भागोंमें स्त्री-पुरुष दोनों खेतीके कामपर जाते समय छोटे बच्चोंको घरपर रहनेवाले पङ्गु कुष्ठ-रोगियोंके पास सौंप देते हैं। परिणाम यह होता है कि वह बच्चा शीघ्र कुष्ठी हो जाता है और फिर धीरे-धीरे सारा परिवार रोगके मुखमें चला जाता है। ऋषिकेशके पास मुनिकी रेतीमें ऐसे अनेक परिवार आ बसे हैं। ये लोग लक्ष्मणझूलातक सड़कपर बैठकर भीख माँगते रहते हैं। मुनिकी रेतीमें रहनेवाले इन कुष्ठ-रोगी माता-पिताओंके यहाँ बालकोंका जन्म होता है। मैं गतवर्ष जब कुष्ठ-रोगियोंकी इस बस्तीको देखने गया था, तब ऐसे पाँच बालक थे जो सर्वथा नीरोग थे, और यदि उन्हें उनके माता-पितासे पृथक् किया जाय तो वे इस महारोगसे बचाये जा सकते हैं।

कुष्ठ-रोग वंशानुगत रोग नहीं है, यह बात अनुभवके बाद सिद्ध हो चुकी है। वैज्ञानिक खोजसे भी यह बात प्रमाणित हो चुकी है।

कुष्ठ-रोगी माता-पिताके घर जन्म लेनेपर भी यदि पैदा होते ही अथवा कुछ मास बाद बालकको पृथक् रखनेकी व्यवस्था हो जाय तो उसमें कुष्ठ-रोगका कोई भी चिह्न नहीं हो सकता। ऐसे अनेक बच्चे कुछ सहृदय संतान-हीन व्यक्ति गोद ले गये हैं और वे पूर्ण स्वस्थ हैं।

कुष्ठ-रोगियोंके इन नीरोग बच्चोंके पालन-पोषण और शिक्षण आदिका प्रबन्ध अवश्य होना चाहिये । यह शुद्ध मानवीय कार्य है ।

ऋषिकेश और देहरादूनमें बसे हुए कुष्ठ-रोगी-परिवारोंमें मैं अनेक बार गया हूँ । नीरोग बच्चोंको ये लोग छोड़ते हुए स्वाभाविक दुःख अनुभव करते हैं । फिर भी अपने बच्चोंके सुखके लिये वियोगजन्य दुःख सहन करनेको उद्यत हैं; परंतु किसी भी दशामें अपने बच्चे ईसाई मिशनरियोंके हाथोंमें सौंपनेको उद्यत नहीं; क्योंकि ये मिशनरी ईसाई बनानेकी शर्तपर ही इन बच्चोंको लेते हैं। कुष्ठ-रोगसे मुक्त होनेके लिये अपना धर्म छोड़ना पड़े यह हिंदू-धर्मपर श्रद्धा रखनेवाले धर्मभीरु महानुभावोंके लिये चुनौती है। इस ओर हिंदू-समाजका ध्यान नहीं गया । आशा करनी चाहिये कि अब आवश्यक ध्यान आकृष्ट होगा ।

बालकोंको कुष्ठ-रोगियोंके सम्पर्कसे बचानेके लिये विद्यालयों और मन्दिरोंमें आवश्यक प्रचार करना चाहिये । मद्य, मांस, मत्स्यके सेवनसे सर्वसाधारणको हटनेकी प्रेरणा देनी चाहिये । जूठा खाना और जूठा देना, दूसरेके वस्त्रोंका सेवन करना, एक ही हुक्केमें सबका मुँह लगाना आदि बुराइयोंसे नीरोग भी रोगी होते हैं । कुष्ठ-रोगके प्रसारमें भी इन बुराइयोंका बड़ा भाग है । इसलिये इन्हें छोड़नेका व्यापक प्रचार करना चाहिये । बालकोंमें इन सब आवश्यक आचार-सम्बन्धी नियमोंके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना अभिभावकों और अध्यापकोंका कर्तव्य है ।

बालकोंके प्रति महात्मा श्रीरूपकलाजीके उपदेश

(संग्रहकर्ता—श्रीअच्चू धर्मनाथसहायजी बी० ए०, बी० एल्०)

प्रिय बालको ! सर्वशक्तिमान् परमकृपालु क्षमामन्दिर श्रीभगवान्‌को सभी देश-कालमें स्मरण किया करो और नाम जपो । हाथोंसे काम किये जाओ और सुरति श्रीभगवान्‌पर रक्खे रहो । पढ़नेमें भलीभाँति परिश्रम करो और परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके निमित्त श्रीभगवान्‌से अन्तःकरणसे प्रार्थना किया करो । श्रीहरिसे विनय, कर्तव्यपरायणता, उद्योग और सद्भाव—ये सिद्धिके लक्षण है । दम्भ बहुत बुरा है । ढाल बनो तो बनो, पर तलवार न बनो । जिह्वासे सावधान रहो, अर्थात् कब, कहाँ, क्या, कितना, कैसा और कैसे बोलना और खाना चाहिये, इससे सचेत रहो । अभिमान, आलस्य, वैर, फूट और डाहके निकट न जाओ । सत्यवादी, सत्यव्यवहारी, यशस्वी, दृढ़प्रतिज्ञ, दयाशील, शुचि, निर्मल, धीर, विनीत और उपकारी बनो । बहुत सोच-समझकर कोई प्रतिज्ञा करो। उसका सोच ही क्या जो बीत चुका । मनमें कभी नहीं हारनेके प्रभावका अनुभव करो । मन-चित्तको बुद्धिके अधीन रक्खो । विराग तथा शान्तिके सुखको जानो । अभ्यासके बल और प्रभावको समझो, प्रेमकी महिमा तथा प्रभुताको विचारो । किसीके साथ ऐसा व्यवहार मत करो कि जैसा तुम नहीं चाहते कि कोई तुम्हारे प्रति करे । कर्तव्यपालन करनेमें ठोस परिश्रम करनेसे न चूको । जो कार्य अभी-अभी कर सकते हो, उसे आगेके लिये नहीं उठा रक्खो । सोच-विचारका सदा अभ्यास करो । प्रतिरात्रि भूत तथा भविष्य दिनके कार्योंका मनन-चिन्तन करते हुए श्रीभगवान्‌से प्रार्थना करना उचित है जिससे कुमार्गकी ओर झुकनेसे या अनुचित वस्तुके लालचसे बच सको । अचल सुखके लिये श्रीभगवद्भक्तिकी बड़ी आवश्यकता है । दुःखकी जड़ पाप है और विषयासक्तिका फल नास्तिकता । अनात्मा, आत्मा, धर्मात्मा, महात्मा, परमात्माकी पहचान सविवेक हो । मृत्युको मत भूलो । मृत्यु निश्चित है और काल अचानक (अकस्मात्) आ पड़ता है । विद्या सब अर्थोंसे बढ़कर है । इन्द्रियोंके विषयोंको हितकर न मानो । धन और धर्मका योगक्षेम साथ-साथ भलीभाँति हो सकता है । शरीर केवल चलता घर, रथ या मोटरमात्र है, आत्माका । समयकी महिमा मत भूलो । समझनेवाला अन्तःकरण ही है, और समझ लिये जानेके योग्य भी अन्तःकरण ही है । चढ़ते-चढ़ते चढ़े चलो । श्रीभगवद्भक्तोंसे सादर मिलो । अन्तःकरणमें श्रीभगवान् रहें; श्रीभगवानमें ही मन, चित्त, बुद्धि प्रेमसे लगी रहें ।

भारतमें मूक-बधिर बालकोंकी समस्या

(लेखक—श्रीसूर्यकान्तजी मिश्र)

शिक्षाकी समस्या

आज करीब ५ लाखकी आबादी मूक-बधिर बालकोंकी है, जिसमेंसे मुश्किलसे दो हजार शिक्षा पा रहे हैं। उनके लिये भी कोई चार-पाँच स्थानोंको छोड़कर सुव्यवस्थित स्कूल नहीं है। किसी-किसी प्रान्तमें तो मूक-बधिर विद्यालय ही नहीं है, जैसे पंजाब। यदि है तो उसकी दशा शोचनीय है और नहींके बराबर है, जैसे बिहारप्रान्तमें। एशियाका सबसे बड़ा मूक-बधिर विद्यालय कलकत्ताका है, जिसमें सुन्दर एवं सुचारुरूपसे प्रशिक्षणकी व्यवस्था भी की गयी है और मूक-बधिर बालकोंको शिक्षा देनेकी भी सुन्दर व्यवस्था है।

भारतवर्षमें मूक-बधिर बालकोंका दूसरा केन्द्र, जिसपर कि प्रान्तीय सरकारने भी थोड़ा ध्यान दिया है, उत्तरप्रदेश है। बंगालको छोड़कर यहाँ सबसे अधिक स्कूल हैं और उनकी संख्या तीन है—प्रयाग-मूक-बधिर-विद्यालय, लखनऊ एवं बरेली, इन विद्यालयोंमें विद्यार्थियोंकी संख्या करीब ७५ की है। हम सरकार और पाठकको यह बता देना चाहते हैं कि जब उत्तरप्रदेशमें मूक-बधिर बालकोंकी संख्या छः हजार है, तब स्वयं पाठकगण और सरकार सोच सकते हैं कि कै फीसदी विद्यार्थी पढ़ते हैं।

पर मूक-बधिर-स्कूल सब शहरोंमें ही है जब कि ९० फीसदी मूक-बधिर विद्यार्थी देहातोंके हैं। आजकी शिक्षा कितनी खर्चीली है कि सब लोग आसानीसे मूक-बधिर बालकोंको नहीं पढ़ा सकते। ग्रामीण क्षेत्रोंमें प्रायः लोगोंको मालूम ही नहीं कि गूँगे-बहिरे बालक भी पढ़ सकते हैं। उन लोगोंका तो यह विश्वास है कि जब ईश्वरने ही उनको गूँगा-बहिरा बना दिया तो वे कैसे बोल सकते हैं। यद्यपि इस भ्रमका निवारण धीरे-धीरे प्रचारद्वारा हो रहा है और लोगोंको क्रमशः विश्वास होने लगा है कि ये बालक बोल भी सकते हैं। हमारा सरकारसे यह अनुरोध है कि मूक-बधिर-शिक्षाको प्रोत्साहन दे और जिस तरह कि प्रत्येक जिलेके अंदर सुननेवाले बच्चोंके लिये प्रारम्भिक स्कूल खोले गये हैं, उसी तरह मूक-बधिर बालकोंकी शिक्षा-व्यवस्थाका प्रबन्ध अवश्य प्रत्येक जिलेमें कर दे। इसके साथ-ही-साथ मूक-बधिर बालकोंकी शिक्षा ६ वर्षसे १२ वर्षतक अनिवार्य कर दी जाय। यह मूक-बधिर-शिक्षक-विशेषज्ञोंकी राय है।

क्योंकि यह देखा जाता है कि प्रायः मूक-बधिर बालक ६ वर्षकी अवस्थाके पश्चात् ही स्कूलमें जा सकते हैं। डा० एस्० एन्० बनर्जी मूक-बधिर-शिक्षककी यह राय है कि 'नैसर्गिक प्रवृत्तियोंका स्पष्ट अध्ययन जहाँतक मूक-बधिर बालकोंका है, पाँच-छः वर्षकी अवस्थामें होता है।' क्योंकि वातावरण एवं कुटुम्ब बालकके शिक्षा-विकासमें ही सहायक होते हैं और उसीके अनुसार बालक विकास करता है। बर्लिनके विद्वान् श्रीअलवर्ट बूटमैनने भी यह बताया है कि बोलनेसे विशेष प्रभाव बालकके फेफड़ोंपर पड़ता है। इसीलिये यदि मूक-बधिर बालक ६ वर्षकी अवस्थामें स्कूल आयेंगे तो उनकी बोली आसानीसे खुल जायगी।

सारांश यह है कि मूक-बधिर बालकोंकी शिक्षा शुरूमें ही शीघ्र प्रारम्भ कर देनी चाहिये, जिससे वे शब्दोंका उच्चारण आसानीसे कर सकें; क्योंकि बादमें बड़े हो जानेपर इनकी आवाज साफ नहीं हो पाती। इसलिये सरकारको शीघ्र-से-शीघ्र इस कार्यपर कदम उठाना चाहिये; क्योंकि ये बालक न तो बोल ही सकते हैं और न सुन ही।

भारतवर्षमें अभी मूक-बधिर बालकोंको उच्च शिक्षा देनेका कोई प्रबन्ध नहीं हो पाया है, पर स्कूलोंमें इनको केवल शिक्षा ही नहीं दी जाती अर्थात् केवल बोलना ही नहीं सिखाया जाता, बल्कि दस्तकारी भी सिखलायी जाती है, जिससे ये अपना जीवन-यापन कर सकें। इसलिये प्रायः सभी मूक-बधिर विद्यालयोंमें जो कहीं भी भारतवर्षमें हैं, कुछ-न-कुछ दस्तकारी पढ़ानेका प्रबन्ध है। प्रायः इनको सिलाई, छपाई, काष्ठकला, चित्रकारी पढ़ायी जा सकती है और आसानीसे ये इनमें सिद्धहस्त हो जाते हैं, क्योंकि इन बालकोंका जीवन-साधन दस्तकारी है, जिससे ये रोज कमा सकते हैं; पर क्या हमारी अपनी सरकारने इन स्कूलोंसे शिक्षित निकले हुए बालकोंके लिये सरकारी नौकरीका प्रबन्ध किया है ? नहीं; और सरकारी विभागमें कहीं भी नहीं। इन बालकोंके लिये खास तौरपर सरकारी विभागमें स्थान निश्चित होने चाहिये जैसा अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, फ्रांस आदि सभ्य देशोंमें है। अमेरिकाके तो मूक-बधिर बालकोंमेंसे जो शिक्षा प्राप्त कर लेता है, वह कभी-कभी सभाओंमें जनताका प्रतिनिधित्व

भी करता है। यह हम मान सकते हैं कि भारतकी मूक-बधिर-संस्थाएँ अभी अपने बालकोंको ऐसा पूर्ण योग्य नहीं बना पायी हैं, फिर भी सरकारको चाहिये कि दस्तकारी—सिलाई, छपाई, कताई और बढ़ईके कार्योंके लिये अपने यहाँ इन्हें स्थान दे।

हम सरकारका ध्यान मूक-बधिर बालकोंकी शिक्षा-व्यवस्थाको प्रोत्साहन देने और इन बालकोंको रोजी देनेके लिये आकर्षित करा देना चाहते हैं। ये बालक बोल और पढ़ अवश्य सकते हैं, इनको सहायताकी जरूरत है और नौकरीकी भी। ये बालक असहाय होते हैं, इनका पढ़ाना कठिन है, क्योंकि न बोल ही सकते हैं और न सुन ही। जिस तरह कि अमेरिका, रूस एवं चीन आदि स्वतन्त्र देशोंमें मूक-बधिर बालकोंपर विशेष ध्यान सरकारका रहता है और उत्तरी अमेरिकामें तो खास तौरसे इनके लिये सरकारकी ओरसे स्थान निश्चित रक्खा जाता है। जिस तरह कि पिछड़ी हुई जातियोंके उद्धारके लिये भारत-सरकारने कदम उठाया है, उसी तरह इन मूक-बधिर बालकोंकी स्वतन्त्र भारतमें जो समस्या है, उसको भी दूर करनेका शीघ्र उपाय करे और मूक-बधिर संस्थाओंको विशेषरूपसे प्रोत्साहित करे। जनताका भी कर्तव्य एवं धर्म है कि ऐसी संस्थाओंकी सहायता करे। इन बालकोंको पढ़ानेके लिये श्रवण-यन्त्र एवं मशीन है जिससे इनकी सुननेकी शक्तिकी जाँच की जाती है। जो बालक थोड़ा-बहुत सुन सकता है, उसके लिये ये मशीन बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है। इससे मूक-बधिर बालकोंकी श्रवण-शक्तिमें काफी सहायता मिली है जिससे यह आसानीसे किसी वस्तुको समझ सकते हैं। इस मशीनका उपयोग हर एक प्रान्तके मूक-बधिर-विद्यालयोंमें होना चाहिये; क्योंकि उससे हम मूक-बधिर-समस्याका समाधान आसानीसे कर सकेंगे। सरकार इस मशीनको मँगानेका प्रबन्ध करे, जिससे मूक-बधिर असहाय राष्ट्रके बालक लाभ उठा सकें। आशा है सरकार इन मूक-बधिर बालकोंकी शिक्षा, समस्या एवं मजदूरीपर अवश्य ध्यान देकर सरकारी स्कूल खोलनेका प्रयत्न करेगी, जैसे कि बोलनेवाले बालकोंका प्रबन्ध हर जिलेमें हुआ है। यदि जिलेमें सरकारी स्कूल नहीं खुले तो एक प्रान्तमें अवश्य हों। ये भी राष्ट्रके आवश्यक अङ्ग हैं और सरकारका कर्तव्य है कि इनकी सहायता करे। ('भारत'से)

उपेक्षित आदिवासी और उनके बालक

(लेखक—श्रीअखिल विनयजी)

आदिवासियोंका नाम लेते ही हमारे सामने देशके करोड़से कुछ ऊपर उन भाइयोंका दृश्य आँखोंके आगे नाच उठता है, जो आज उपेक्षित, अनपढ़ और पिछड़े हैं। ये लोग दरिद्रतामें हरिजनोंसे भी बढ़कर हैं। आज भारतकी आबादीमें २० व्यक्तियोंमें एक व्यक्ति आदिवासी है, जो शेष १९ व्यक्तियोंसे कहीं अधिक पिछड़ा, अज्ञानी और दीन-हीन है। आदिम जातियोंके ये लोग भारतके सभी राज्योंमें, वन्य और पर्वतीय भागोंमें बसे हुए हैं। भारतकी आदिम जातियोंमें ४० से ऊपर ऐसी हैं, जिनकी जनसंख्या अलग-अलग एक-एक लाखसे अधिक है तथा कतिपय प्रमुख जातियाँ—गोंड, संथाल और भील आदि तो क्रमशः ३२, २७ और २३ लाखसे कुछ ऊपर हैं।

यदि हम भारतके विभिन्न स्थानों (राज्यों) में बसनेवाली आदिम जातियोंको निवास-स्थानके दृष्टिकोणसे देखें तो बिहार-राज्यमें संथाल लोगोंका भागलपुर डिविजनमें एक अलग ही जिला है, जो 'संथाल परगना' कहलाता है और ये वहाँ ५०.५६ प्रतिशत हैं। इसी प्रकार छोटा नागपुर डिविजनके तो सभी जिलोंमें ये अधिक संख्यामें आबाद हैं। सन् १९४१ की जनगणनाके अनुसार तो बिहार राज्यमें ये कुल आबादीका १३-९१ प्रतिशत अर्थात् संख्यामें ५०,५५,६४७ थे। आसाममें तो सन् १९४१ में इनकी जनसंख्या २७,६०,१०३ थी जो कि उक्त राज्यकी कुल आबादीका चौथाई भाग है। इसी प्रकार उड़ीसा-राज्यमें इनकी जनसंख्या ३५,०९,४५८ थी और उस राज्यके गंजाम एजेंसी तथा कोरापट जिलेमें तो इनका अनुपात क्रमशः ८०.७ प्रतिशत और ८३.४९ प्रतिशत था। १९४१ की जनगणनाके अनुसार मद्रास-राज्यमें भी आदिवासियोंकी संख्या कुल आबादीका १.१ प्रतिशत थी। इसी भाँति बम्बई राज्यमें ये लोग ७.७ प्रतिशत थे। मध्यप्रदेशमें इनकी जनसंख्या २९ लाखसे ऊपर थी। राजस्थान, मध्यभारत, हैदराबाद, ट्रावणकोर-कोचीन संघ आदि राज्योंमें भी ये काफी संख्यामें आबाद हैं।

विचित्र रीति-रिवाज

समस्त देशके विभिन्न राज्योंमें फैले हुए इन आदि-

वासियोंके भिन्न-भिन्न रीति-रिवाज और एक-से-एक विचित्र परम्पराएँ हैं। प्रायः एक जातिका रहन-सहन, खान-पान दूसरी जातिके रहन-सहन और खान-पानसे पृथक् ही है; लेकिन ये सारे-के-सारे लोग अज्ञान, अन्धविश्वास और अन्ध-परम्परासे ग्रसित हैं । अशिक्षा, बाहरी लोगोंसे असम्पर्क और हीन आर्थिकावस्थाके कारण ये शेष भारतीयोंसे भी सभ्यताकी दौड़में पिछड़ गये हैं। इन लोगोंकी अपनी विविध समस्याएँ हैं। इनमें सुधार किया जाना आवश्यक है और वह इसलिये कि ये भी भारतभूमिपर जन्मे हैं। आज इनके नन्हे-नन्हे बालकोंको सुशिक्षित किया जाना आवश्यक है; क्योंकि वे भारतके लाड़ले लाल हैं और बड़े होकर राष्ट्र-निर्माणके लिये एक महत्त्वपूर्ण शृंखलाकी कड़ियाँ साबित होंगे। बालकका मन कोमल होता है और उसपर बचपनमें जैसे संस्कार पड़ जाते हैं, वह जन्मभर उसे बाँधे रहता है, इसलिये आदिवासियोंके बालकोंका प्रश्न नगण्य नहीं, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । ये बालक ही यदि सुनागरिकके रूपमें प्रतिष्ठित किये जा सकें तो देशके गौरव सिद्ध हो सकते हैं।

गोतुलगृहोंमें निवास

भारतके आदिवासियों या आदिम जातियोंमें गोंडोंकी संख्या सबसे अधिक है। सन् १९४१ की गणनानुसार इनकी कुल आबादी ३२,०१,००४ थी; ये मध्यप्रदेशके अतिरिक्त बंगाल, बिहार, मध्यभारत, उड़ीसा और हैदराबादमें भी बसे हैं । अकेले मध्यप्रदेशमें ही इनकी संख्या २४,८८,४४२ थी। गोंडोंमें बालकोंके लालन-पालनकी एक विचित्र प्रथा है । विवाह होनेसे पूर्व समस्त बालक-बालिकाएँ एक विशाल भवनमें रहते हैं, जिसे 'गोतुलगृह' कहा जाता है।

गोतुलगृह प्रत्येक ग्राममें होता है और इसे एक प्रकारसे समाज-शिक्षाका शिक्षण-केन्द्र ही कहा जाना चाहिये। गोतुलगृह प्रत्येक गाँवमें एक प्रकारके विशेष मकान होते हैं, जहाँ किसी भी व्यक्तिके सारे अविवाहित युवक और युवतियाँ विशेषरूपसे रात्रिमें रहते हैं। यह घर आयताकार आकृतिका बनाया हुआ एक बड़ा कमरा ('डोरमेटरी') होता है; बाँसके बड़े-बड़े खंभोंपर घास और फूसकी छत छायी जाती है। अंदर पहुँचनेका केवल एक ही दरवाजा होता है और उसके अतिरिक्त दीवालमें न कोई छेद और न कोई खिड़की ही होती है। गाँवके सभी अविवाहित बच्चे और लड़कियाँ वहाँ खेलते-कूदते, नाचते-गाते और सोते हैं।

गोंड माता-पिता सभी बच्चोंको प्रसन्नतापूर्वक गाँवके गोतुलगृहमें भेजते हैं, ऐसा न करना जातीय अपराध भी समझा जाता है। वहाँ प्रबन्धकी सुन्दर व्यवस्था होती है, एक चुना हुआ नेता होता है, जो सब कार्योंको देखता है। उसके विवाह कर लेनेपर दूसरा नेता चुना जाता है। युवक-युवतियाँ साथ-साथ रहते-रहते जब अपना योग्य साथी चुन लेते हैं, तब उनका विवाह हो जाता है। विवाह हो जानेके उपरान्त ये लोग एक दिन भी 'गोतुलगृह' में नहीं ठहर सकते। कहा जाता है कि समाजके लिये ये गोतुलगृह सामाजिक, आर्थिक वा व्यावहारिक दृष्टिकोणसे प्रत्येक रूपमें उपयोगी सिद्ध होते हैं।

आसामके नागा लोगोंकी जनसंख्या सन् १९४१ ई०में २,८०,६७० थी। इनमें भी गोंडोंके गोतुलगृहोंकी भाँति अविवाहित नवयुवकोंके लिये स्वतन्त्र घर 'रंगकी' अथवा 'दकछंग' होते हैं। अविवाहित लड़कियोंका घर 'हिलोकी' कहा जाता है। इन घरोंमें कट्टर अनुशासनका पालन होता है । इसी प्रकार अधिकांश आदिम जातियोंमें बालक-बालिकाओंके अपने अनुशासनविशेषके अनुसार रहनेकी व्यवस्था है। उराँव जातिमें ऐसे गृह 'धुमकुरिया' कहे जाते हैं। आदिवासी बालक वैसे ही वातावरणमें पलकर बड़ा होता है और जब वह किसी शहरमें आता है तथा वहाँके लोगोंके सम्पर्कमें विचित्रताका अनुभव करता है, वह अपनेको हीन अनुभव करता है तथा एक विचित्र ही स्थितिमें अपने-आपको पाता है। लंगोटी लगानेवाला वह बालक जब वस्त्रालंकृत किसी व्यक्तिको देखता है, तब हैरानीका आभास पाता है।

भूत-प्रेत और अंधविश्वास

प्रायः सभी आदिम जातियोंका जादू-टोना, भूत-प्रेत और चुड़ैलोंपर विश्वास है। रोगी चाहे वृद्ध हो या बालक, प्रत्येक बीमारीपर झाड़-फूँक होती है। भूत-प्रेतोंके निवारणार्थ अपने इष्ट देवताओंको मुर्गे आदिकी बलि दी जाती है। लगभग सभी जातियोंके पृथक्-पृथक् देवी-देवता हैं। बिहार-की उराँव जातिमें 'चंडी' नामक देवता शिकार और युद्धका अधिष्ठाता माना जाता है तथा अविवाहित उराँव नवयुवक इसका पूजन करते हैं। इनका एक अन्य देवता 'दरहा' है, जिसका निवास शालवृक्षमें मानते हैं।

कुछ समय पूर्व उराँव जातिमें कन्याके ७ वर्षकी होने-

पर प्रत्येक लड़कीके मस्तकपर अग्निद्वारा जलाकर आयताकार निशान बना देते थे और इसी प्रकारका एक चिह्न बालकोंके बायें दण्डपर भी अङ्कित करना जातीय संस्कार समझा जाता था । इनमें 'धुमकुरिया' में प्रायः १२ वर्षके बाद ही भेजा जाता है और ये लड़के-लड़कियोंके लिये अलग ही बने होते हैं। मुण्डा लोगोंमें भी पहले ८-१० वर्षके बच्चेकी बाँहपर गरम लोहेके निशान बना देने-सा प्रचलन था।

दक्षिण भारतकी टोडा जातिको छोड़कर, सारे देशके आदिवासियोंमें मांस और मदिराका अतिशय प्रचार है। उड़ीसाके जुआँग जातिके लोग तो सब तरहका मांस खा लेते हैं। चूहे, बंदर, शेर, भालू, साँप, मेढक—यहाँतक कि अखाद्य समझकर फेंक दिये जानेवाले मांसको भी खा लेते हैं । जहरीले साँपोंका मांस विषहीन करके खा जाते हैं। उड़ीसाकी एक अन्य जाति बोण्डा परजा है। इनमें स्त्रियाँ तथा पुरुष दोनों ही नग्नावस्थामें वास करते हैं। ये लोग 'जंगारों मुन्ताह' नामक २० मीलके क्षेत्रमें बसे हैं। ये 'सोलोपो' नामक शराब पीते हैं और भयंकर पियक्कड़ हैं। इनमें कभी-कभी तो शराबके लिये पिता पुत्रकी और पुत्र पिताकी हत्या भी करते सुने गये हैं।

आदिवासी बालक

हम देख चुके हैं कि आदिवासी भाई किन परिस्थितियोंमें जीवनयापन करते हैं। बालक अपने माता-पितासे ही जीवनका पहला पाठ पढ़ता है और आदिवासियोंके बालकोंके लिये तो यह और भी सत्य है; क्योंकि वे प्रायः जीवनभर ही अपने माता-पिताके साथ रहते हैं । बाल्यावस्थाके बाद युवावस्था भी उनकी उसी वातावरणमें व्यतीत होती है और इस प्रकार अन्धपरम्पराओंके वे स्वाभाविक विकासमें भक्त बन जाते हैं तथा कट्टर रूढ़िवादी हो जाते हैं। चूँकि ये बाहरी लोगोंके सम्पर्कमें भी नहीं आते, इनमें परिवर्तनकी गुंजाइश भी कम ही रहती है । एक बार जो संस्कार सुदृढ़ हो जाते हैं, वे हटानेका प्रयत्न करनेपर भी मुश्किलसे हटते हैं, फिर इनमें तो 'प्रयत्न' की सम्भावना ही नहीं होती !

आदिवासी बालक स्वाधीन भारतीय राष्ट्रके लिये एक चुनौती है। जबतक उनकी उन्नतिके लिये कुछ क्रियात्मक योजना बनाकर और उसपर अमल न किया जायगा, इस दिशामें कुछ भी न हो सकेगा। उन बालकोंके लिये शिक्षा-की कोई ठोस योजना कार्यान्वित की जानी चाहिये । यह सच है कि पिछले कितने ही वर्षोंसे आदिम जातियोंमें ईसाई मिशनरी शिक्षा-प्रसारका कार्य कर रही है, लेकिन क्या वह शिक्षा उनके लिये हितकर हो सकती है ? कोई भी समझदार व्यक्ति कह सकता है कि 'कदापि नहीं', क्योंकि वे भारतीय संस्कृति और सभ्यताके विरुद्ध विषैले कीटाणु इनमें भर रहे हैं, वे भगवान्‌के स्थानपर ईसामें ईमान लाना सिखलाते हैं। राम और कृष्णकी जगह वे यीसूके गुण बखानते हैं तथा उनके द्वारा बनायी गयी पाठ्य-पुस्तकोंमें भी यही भरा है। वे लोग गरीब और भोले-भाले आदिवासी बालकोंमें पाश्चात्य सभ्यताके प्रति रुचि जाग्रत् करते हैं ! भूतपूर्व ब्रिटिश सरकारने इस कार्यके लिये हमारे ही देशका करोड़ों रुपया व्यय किया था !

शिक्षा कैसी हो ?

हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि आदिवासी भाई अपने वर्तमान रीति-रिवाजोंसे हिंदुओंके अधिक निकट हैं या भील आदि भाइयोंके रहन-सहनसे हम कह सकते हैं कि इस देशमें बसनेवाले आदिवासी हिंदू ही हैं और इन्हें वही शिक्षा दी जानी चाहिये जो हम अपने बालकको दिलाना पसंद करेंगे। उनको दी जानेवाली शिक्षा-प्रणालीमें उससे भी कुछ विशेषता होनी चाहिये, जो कि इन्हें स्वावलम्बी बना सकें । ये लोग बहुत गरीब हैं, अतः इन्हें ऐसी शिक्षा दी जाय, जिससे ये आर्थिक चिन्तासे मुक्त हो सकें और वह खर्चीली न हो । उड़ीसाके कतिपय क्षेत्रोंमें बुनियादी तालीम काफी हदतक सफल हुई है । इनमें मनोवैज्ञानिक पद्धति-पर—मांटेसरी प्रणालीसे भी शिक्षा प्रारम्भ की जानी चाहिये, ताकि बच्चोंके मानसका प्रारम्भसे ही विकास हो।

आदिवासी बालकोंके लिये मात्र साक्षरता-प्रसारवाली शिक्षा उपयोगी न हो सकेगी। आज देशमें ही पढ़े-लिखे बेकारोंकी संख्या अधिक है और यदि हम उन्हें भी कोरा किताबी ज्ञान दिलाकर शिक्षित बनावें तो कुछ भी लाभ न होगा । आवश्यकता यह है कि उनकी शिक्षा ऐसी हो, जिससे वे सही अर्थमें मनुष्यताका पाठ सीखें, तहजीब सीखें, उन्हें धर्मका भी यथेष्ट ज्ञान हो, भारतीय संस्कृति और सभ्यतासे वे परिचित हों । आदिवासी बालकोंको ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिये, जिससे हाथसे किये जानेवाले कार्यके प्रति उनकी अरुचि नहीं, प्रत्युत भक्ति हो तथा उस शिक्षा

प्राप्त कर लेनेपर भी वे शिल्पकलामें अभिरुचि रक्खें तथा ऐसे कार्य करनेवाले अपने भाइयोंसे घृणा न करें ।

हमारा अपना ख्याल यह है कि आज देशमें नास्तिकता बढ़ती जा रही है और उसे रोकनेके लिये प्रयत्न किया जाय । आदिवासियोंमें तो विभिन्न आदिम जातियोंके अपने पृथक्-पृथक् देवता हैं और वे उनकी उपासना करते हैं तथा उन्हें खुश करनेके लिये अपने त्यौहारों और मनौतियोंके लिये विभिन्न पशु-पक्षियोंकी बलि वे आमतौरपर देते हैं । इस प्रकार आदिवासी बालकोंमें शिक्षाके साथ-ही-साथ उचित धार्मिक संस्कार डालने चाहिये । गीताके अनुसार—स्वधर्ममें निधन श्रेयस्कर है और इसीलिये उन लोगोंको संस्कार-सम्पन्न किया जाना चाहिये । इनमें बहुत-सी बातें अच्छी भी हैं, उनका विरोध न किया जाकर उनके बालकोंमें अच्छे संस्कारोंका प्रचलन प्रारम्भ किया जाना चाहिये । आज भारतीय सरकार धर्मके मामलेमें 'सेक्यूलर' है, लेकिन इससे बहुत हानि हुई है । इस धर्मनिरपेक्ष नीतिसे हिंदू-संस्कृतिपर कुठाराघात किया जा रहा है । दिल्लीमें बैठकर कानून बना देनेमात्रसे कुछ नहीं हो जाता, आजके धार्मिक संस्कार शताब्दियोंमें बने हैं । इसलिये आदिवासी बालकोंमें धार्मिक सुसंस्कारोंको चालू किया जाना चाहिये ।

शिक्षाका माध्यम

विभिन्न प्रदेशके आदिवासियोंकी विभिन्न बोलियाँ हैं और ये कुल मिलाकर सैकड़ों होंगी । इस कारण हमारा विनम्र मत है कि साधारणतया प्रत्येक प्रदेशमें आदिम जातियोंके बालकोंकी शिक्षा उस प्रान्तकी भाषामें होनी चाहिये, जिसमें वह प्रदेश हो । प्रायः आदिम जातिवालोंको अपने प्रान्तके आदमियोंसे कुछ काम पड़ता ही रहता है और वे अपनी जातिगत बोलीके अतिरिक्त प्रान्तीय भाषाको थोड़ी-बहुत समझ सकते हैं । प्राइमरी शिक्षाके बाद राष्ट्रभाषा हिन्दीके माध्यमसे उनमें शिक्षा-प्रसार किया जाना चाहिये । लिपि और पाठ्य-पुस्तकोंका प्रश्न भी विवादास्पद है । आदिवासी बालकोंके लिये ऐसी पाठ्य-पुस्तकें होनी चाहिये, जो उनके धर्म, रीतिरिवाजोंपर प्रकाश डालते हुए उनमें सुधरे हुए विचारोंका प्रचार भी कर सकें । भारतीय महापुरुषोंकी जीवनियाँ उन्हें पढ़ायी जानी चाहिये । ईसाइयोंने इनमें रोमन-लिपिके द्वारा शिक्षा देना प्रारम्भ किया था और भाषा उनकी ही रक्खी थी तथा बादमें अंग्रेजीको माध्यम रक्खा गया । लेकिन जहाँतक लिपिका प्रश्न है, वह तो अब देवनागरी ही होनी चाहिये ।

आदिवासी बालकोंमें शिक्षा-प्रचार करनेके लिये अध्यापक भी योग्य होने चाहिये । उस अध्यापकमें सबसे बड़ी योग्यता यह होनी चाहिये कि वह उनसे सहानुभूति रक्खे, उनमें मिल-जुलकर, उनका होकर रहे । वह उनकी कमी या बुराइयोंको धीरे-धीरे दूर करनेको अपने जीवनका उद्देश्य समझे । ऐसा ही कार्यकर्ता भी होना चाहिये जो सेवाभावनासे प्रेरित होकर उनमें कार्य करनेके लिये जाय । उसके रहन-सहन, व्यवहार और घर तथा सामाजिक जीवनका दूसरोंपर स्वयं ही अच्छा प्रभाव पड़ेगा । अध्यापक और कार्यकर्ता ऐसा होना चाहिये जो छूत-छात न मानता हो और सुधारवादी दृष्टिकोण रखता हो । जहाँतक हो सके प्रारम्भिक स्कूलोंमें तो हिंदी शिक्षित उन्हीं जातियोंके अध्यापक होने चाहिये । अभी ऐसे अध्यापकोंकी बहुत कमी है, लेकिन ऐसा प्रयत्न किया जाना चाहिये और उन्हें इस ओर आकृष्ट किया जाना चाहिये ।

उद्बोधन

(रचयिता—श्रीस्वामीआनन्दमुनिजी महाराज)

चरण अपना आगे बढ़ाता चला जा ।
सदा प्रेमके गीत गाता चला जा ॥
तेरे मार्गमें वीर ! काँटे बड़े हैं,
लिये तीर हाथोंमें वैरी खड़े हैं,
बहादुर ! तू सबको मिटाता चला जा ॥
तू है आर्यवंशी ऋषीकुलका बालक,
प्रतापी यशस्वी सदा दीनपालक,
तू संदेश सुखका सुनाता चला जा ॥
भले आज तूफान उठ करके आयें,
बलापर चली आ रही हों बलाएँ,
युवा वीर है दनदनाता चला जा ॥
जो बिछुड़े हुए हैं उन्हें तू मिला जा,
जो सोये पड़े हैं उन्हें तू जगा जा,
तू आनंद डंका बजाता चला जा ॥

शिशु-वत्सला मांटेसरी

(लेखक—श्रीरामलालजी)

मेरिया मांटेसरीका जन्म सन् १८७० ई०में रोमके एक सम्पन्न परिवारमें हुआ था। उन्होंने २४ सालकी अवस्थामें रोमके विश्वविद्यालयमें डाक्टरीपरीक्षा पास की। वे इटलीकी पहली महिला थीं, जिन्होंने विश्व-विद्यालयकी परीक्षामें सम्मिलित होकर इस प्रकारकी सफलता प्राप्त की। उन्होंने लूले, लँगड़े, बहिरे तथा अल्पबुद्धिवाले शिशुओंके एक विद्यालयमें सहकारी डाक्टरके रूपमें काम करना आरम्भ किया। इस अवधिमें बच्चोंके मनोविज्ञानके अध्ययनका उन्हें अच्छा अवसर मिला। इन्हीं दिनों डाक्टर गुइडो बेसलीने दुर्बल मस्तिष्कके शिशुओंके शिक्षणके लिये एक संस्था खोली और उसमें डाक्टर मांटेसरीने धीरे-धीरे अपने शिशु-सम्बन्धी प्रयोगको क्रियात्मक रूप देना आरम्भ कर दिया। कमजोर और मोटी बुद्धिवाले शिशुओंकी परीक्षासे उन्होंने यह सिद्धान्त स्थिर किया कि यदि उन्हें नये ढंगसे पढ़ाया-लिखाया जाय तथा काम करनेकी स्फूर्ति दी जाय तो ये साधारण शिशुओंकी अपेक्षा शीघ्र ही शिक्षित और कार्य-कुशल तथा संस्कृत बनाये जा सकते हैं। वे इस तरहके प्रयोगमें लग गयीं। उन्होंने शिशुकी मनोविज्ञान-सम्बन्धी पुस्तकोंका बड़ी तत्परतासे अवलोकन किया। ···रोमके सालारेंस नामक गाँवमें वैज्ञानिक प्रणालीके ढंगपर शिशु-विद्यालयकी स्थापना हुई। मांटेसरीने इसी समयसे अपना सम्पूर्ण जीवन शिशु-शिक्षाके पवित्र उद्देश्यमें लगा दिया। तीनसे चार सालके बच्चोंकी शिक्षा आरम्भ हुई। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मांटेसरी-प्रणाली' प्रकाशित करायी। शिशुको अपनी शक्ति और स्फूर्तिके विकासका अवसर मिला। मांटेसरीके नये प्रयोगने सिद्ध कर दिया कि शिशु प्राणोंसे परिपूर्ण है। वह सदा क्रियाशील रहना चाहता है। शिशु स्वतन्त्रताप्रिय है और उसे अपने व्यक्तित्वके विकासमें आनन्द मिलता है। स्वभावसे ही मौलिक होनेके नाते उसे दूसरेकी प्रेरणामूलक क्रियाके अनुरूप काम करनेमें उत्साह नहीं होता है। उसे अपनी चेष्टाओंके प्रदर्शनमें ही संतोष मिलता है। स्वतन्त्रताके प्रयत्न और काम करनेकी आकांक्षाद्वारा बालक अथवा शिशु अपने व्यक्तित्वका निर्माण करता है। उसकी इस क्रियाशीलतामें प्रयोजन अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह वास्तवमें इस क्रियाशीलताद्वारा अपने व्यक्तित्वकी सर्वाङ्गीण विकास-प्रक्रियामें गति करता है अन्यथा तीन सालके बादकी अवस्थासे वह विपथगामी बनता जाता है। जब वह व्यक्तित्वके निर्माणमें बाधाका अनुभव करता है, तब विपथगामी बन जाता है और निषेधात्मक लक्षणोंद्वारा उसे व्यक्त करता है।

मांटेसरी-प्रणालीमें शिशुके विद्यालयको 'बच्चोंका घर' कहा जाता है और उसमें उन्हें खेलने-कूदने तथा अपना व्यक्तित्व विकसित करनेकी पूरी छूट दी जाती है। इस घरमें बच्चे अपनी आवश्यकताके सारे कार्य अपने आप कर लिया करते हैं। मेज, कुर्सी, खिलौने आदि उनके वयके अनुरूप छोटे-छोटे होते हैं। बच्चे उन्हें बड़ी आसानीसे अपने काममें लेते हैं और उनकी स्फूर्ति तथा क्रियाशीलता दिन-प्रति-दिन बढ़ती जाती है। इस तरह काम करनेकी शिक्षा भी उन्हें मिलती रहती है। 'बच्चोंके घर'में शिशु अपने हाथ-मुँह स्वयं धो लेते हैं, बालोंमें कंघी फेर लेते हैं, कपड़े पहन लेते और झाड़ू लगा देते हैं। आशय यह है कि उनके सामने कोई ऐसा काम नहीं रहता है, जिसे वे स्वयं नहीं कर पाते हैं या करनेमें कठिनाईका अनुभव करते हैं। ऐसा होनेपर तो उनका व्यक्तित्व ही नहीं विकसित हो सकता। यह तो माता-पिता और बड़े-बूढ़ों तथा अभिभावकोंकी कमजोरी है कि बच्चोंको मनानेके लिये उनका काम स्वयं कर देते हैं और यह नहीं समझते हैं कि ऐसा करनेसे उनकी क्रियाशीलता कुण्ठित और मन्द हो जाती है। मांटेसरी-प्रणालीमें बच्चोंके लिये घर और विद्यालय दोनों एक-समान होते हैं। मांटेसरीने अनुभव किया और प्रयोगकी कसौटीपर अपने विचारको कसकर देखा कि बच्चेको काम करते रहनेसे ही आराम मिलता है, वह किसी भी समय बेकार नहीं बैठा रहना चाहता है। वह किसी विशेष उद्देश्यसे नहीं, आनन्द और आराम पानेके लिये ही काम करना चाहता है और आश्चर्यकी बात तो यह है कि काम करते-करते उसको थकावट ही नहीं होती है। वह थकना जानता ही नहीं।

बच्चोंमें काम करनेकी रुचि होती है। इस रुचिके विकासके लिये उसे वैज्ञानिक ढंगके बने खिलौने दिये जाते हैं। इन खिलौनोंसे ज्ञानेन्द्रियाँ विकसित होती हैं। शिशु

इनकी सहायतासे वर्णमाला, रेखा-गणित आदि खेलते-खेलते सीख जाते हैं। उन्हें धीरे-धीरे स्पर्श-बोध, रंग निर्णय, श्रवण-शक्ति, स्वाद और घ्राण-बोध, ताप-बोध आदिसे परिचित कराया जाता है। प्रत्येक आवश्यक विकासकी ओर ध्यान दिलाया जाता है। 'बचोंके घर' में शिक्षकका काम शिक्षा देना नहीं है, वह तो शिशुकी प्रत्येक चेष्टाका निरीक्षण करता रहता है। उसका काम गलती सुधारना नहीं है। वे खिलौने ही इस प्रकारके होते हैं कि दो-चार बार गलती करनेपर बच्चा उनकी सहायतासे ठीक चेष्टा करने लग जाता है और सीखनेकी वस्तुके प्रति उसकी जानकारी बढ़ने लगती है। यदि शिक्षक भूल-संशोधन कर देता है तो बच्चेकी क्रिया-शक्ति मर जाती है, नष्ट हो जाती है।

मांटेसरीने अपनी शिक्षा-प्रणालीको क्रियात्मक रूप देनेके लिये योरपके कई देशोंका भ्रमण किया। उनकी शिक्षा-पद्धतिका अध्ययन किया। हालैंड, इंग्लैंड तथा अन्य बहुत-से देशोंमें मांटेसरी-प्रणाली अनिवार्य कर दी गयी है। विश्वका एक बहुत बड़ा भाग उनके नये शिशु-शिक्षा-प्रयोगसे लाभान्वित हुआ है। वे भारतमें भी आयी थीं। थियोसाफिकल सोसाइटीके तत्त्वावधानमें उन्होंने अपनी शिक्षा-प्रणालीपर भाषण दिये थे और मद्रासमें मांटेसरी-संघकी एक शाखा भी स्थापित की थी।

नकलचीकी प्रतिज्ञा

(लेखक—स्वामी श्रीजयरामदेवजी)

एक बार मैं अपने एक अन्तरङ्ग मित्रसे मिलनेके लिये गया था, यह बहुत दिनोंकी बात है। मेरे मित्रजीका नाम था—सी० आर० गुप्ता। जिस समय मैं उनके बँगलेपर पहुँचा तो दरवाजा खुला हुआ था, सामने कमरेमें बैठे हुए मित्रजी अपने प्रिय पुत्रको हिंदी लिखना-पढ़ना सिखला रहे थे। उनका पुत्र इतना सुन्दर और भोला था कि उसे देखते ही मन प्रफुल्लित हो उठता था। उस बालककी आयु थी केवल पाँच वर्षकी और उसका नाम था—'मुकुन्द'।

मेरे मित्र सी० आर० गुप्ताजी अपने मुकुन्दको पढ़ानेमें इतने तन्मय हो गये थे कि उन्होंने मेरा आना नहीं जाना। मैं जाकर उनके पीछेकी ओर रक्खी हुई कुरसीपर चुपके-से बैठ गया। उस समय मित्रजी कह रहे थे—'देखो, मुकुन्द! अब तुम सबके नाम लिखना सीखो।' बालकने भोले स्वरसे कहा—'बाबूजी! किछका नाम लिखूँ?' बाबूजीने कहा—'सबसे पहले मेरा नाम लिखो।' मुकुन्द—'कैछे लिखूँ।'

बाबूजीने दुलार करते हुए कहा—'लिखो मेरा नाम—सी० आर० गुप्ता।' बालक मुकुन्दने बड़ी कठिनतासे सोच-समझकर लिखा—'सियार', और कहा—'देखो बाबूजी थीक है।' बाबूजी नाक सिकोड़कर कहने लगे—'धत्तेरेकी, यह क्या लिख दिया 'सियार'!'

ठीक-ठीक क्यों नहीं लिखता? सी० आर० गुप्ता।

यह सुनते ही मुकुन्द कुछ हिचकिचाहटके साथ बोल उठा—'हाँ, बाबूजी! मैं भूल गया था, लाओ लिख दूँ—सियार—कुत्ता।'

यह सुनते ही मैं खिल-खिलाकर हँस पड़ा। चौंककर आश्चर्यसे बाबूजीने मुख फेरकर मेरी ओर देखा। कुछ लज्जित नेत्रोंसे देखते हुए कहने लगे—'अच्छा! आप किस समय आये, मुझे तो पता ही नहीं चला।' मैंने मुसकराते हुए कहा—'अब मैं योगी-वियोगी बन-बनाकर उड़ाकू बन गया हूँ। जहाँ चाहता हूँ वहीं उड़कर पहुँच जाता हूँ। इस समय मैं आकाशमार्गसे आकर यहाँ प्रकट हो गया हूँ। इसीलिये मेरे आगमनका आपको पता नहीं चला।'

बाबूजी हँसकर बोले—'आप तो हास्यरसमें मेरी बातको घसीट ले गये। सच-सच बतलाइये।'

मैंने कहा—'आपके यहाँ मेरा इस प्रकार आना आज सफल हुआ—आपके बालक मुकुन्दके मुखारविन्दसे आपके अंग्रेजी नामका हिंदी अनुवाद सुनकर जो आनन्द मुझे मिला है, ऐसा आनन्द स्वर्गमें इन्द्रको भी नहीं मिलता होगा।—'धन्य-धन्य अंग्रेजी भाखा। बनि सियार कुत्ता रस चाखा।'

बाबू साहब अत्यन्त लज्जित होकर बोले—'क्या कहें! हमारा नाम ही ऐसा है कि बोलनेमें गड़बड़ हो जाता है।'

मैंने कहा—'आपका नाम तो बड़ा ही सुन्दर है, 'चन्द्ररमण'। अहा! ऐसा नाम तो लाखोंमें खोजनेसे भी नहीं मिलेगा, किंतु, आपने अंग्रेजीकी नकल करके अपने

श्रीरामकी बाल-लीला—१

खिलौनोंमें मस्त

खेल खिलौनोंमें लवलीन। जिनके सारा जग आधीन॥
ये चारों भैया सुकुमार। धन्य इन्हें जो करता प्यार॥

मित्रोंके लिये भोजनत्याग

ये हैं इनके बालचरित्र। देखा आये हैं कुछ मित्र॥
झट उठ दौड़े भोजन-त्याग। यह अनुपम पावन अनुराग॥

भोजन-लीला

भोजन करते चारों भाई। ये हैं सबको ही सुखदाई॥
इनकी मूरति ही सुखरूप। ये बालक भूपोंके भूप॥

श्रीरामकी बाल-लीला—२

नचा रहे हैं लट्टू आज। ये चारों रघुकुल युवराज॥
इनमें जिसका मन लग जावे। उसे काल भी सीस झुकावे॥

अवध नृपतिके राजकुमार। चारों शूर पुनीत उदार॥
खेल रहे सरयू तट खेल। हो भाईमें ऐसा मेल॥
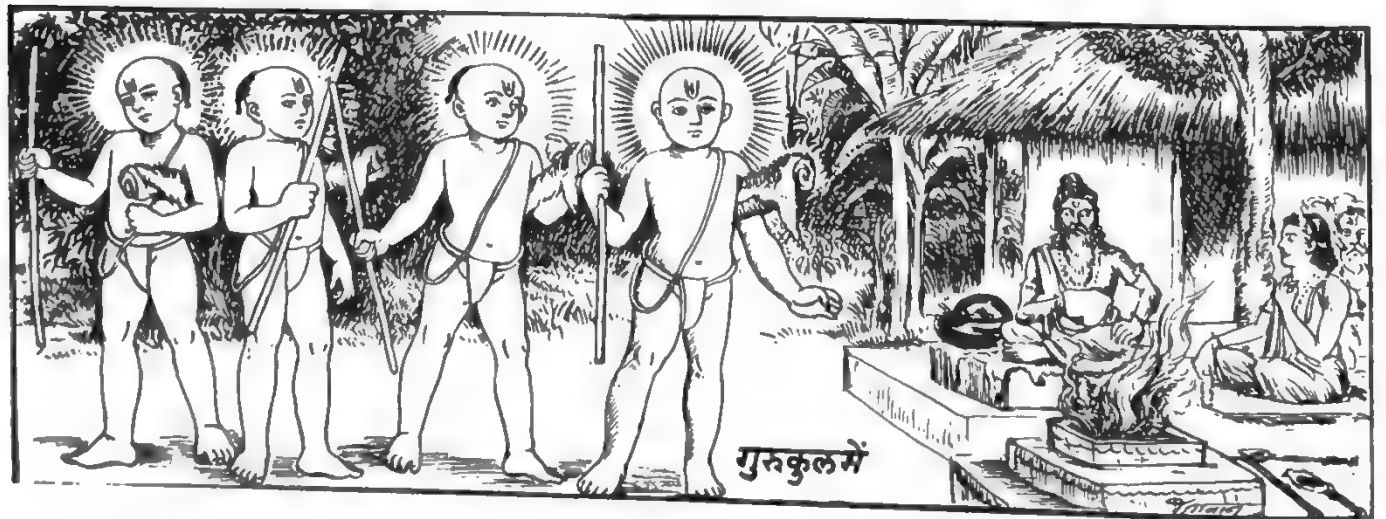
भरत शत्रुहन लक्ष्मण राम। पढ़ने आये गुरुकुल धाम॥
रुचिर ब्रह्मचारीका वेश। धन्य धन्य है भारत देश॥

नामको बिगाड़कर यह छीछालेदर करा डाली। अपनी ललित-मधुर भाषा देववाणीको छोड़कर परायी भाषाको आपने अपना रक्खा है, इस नकलचीपनको क्यों नहीं छोड़ते?' यह सुनते ही बाबू साहब पानी-पानी हो गये। बोले—'बस, आजसे मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस अंग्रेजी भाषाका नामके साथ प्रयोग कभी न करूँगा और अपने सभी मित्रोंमें इस बातका प्रचार करूँगा कि इस प्रकार अंग्रेजीका प्रयोग सदाके लिये समाप्त हो जाये।'

जिन्होंने जीवन ही बदल दिया

(लेखक—श्रीयशपालजी जैन)

(बड़ोंके बचपनकी कुछ सच्ची घटनाएँ)

[जिस प्रकार छोटे-से बीजके भीतर विशाल वृक्ष समाया रहता है, उसी प्रकार बालकके भीतर भी विकसित मानव समाविष्ट रहता है। कदाचित् इसी सत्यको लक्ष्यकर अंग्रेजीके महाकवि वर्ड्सवर्थने कहा था—"चाइल्ड इज दी फादर ऑफ दी मैन।" अर्थात् बालकमें मानवका जनक विद्यमान है। आवश्यकता इस बातकी है कि बालककी अन्तर्निहित वृत्तियों और शक्तियोंको सहजभावसे विकसित होनेका अवसर दिया जाय। कौन जानता है कि बालक किस वृत्तिके विकाससे क्या-से-क्या बन जाय! अभिभावकोंको चाहिये कि बच्चोंके प्रति अपने व्यवहारमें वे सजग एवं सावधान रहें।

नीचे हम कतिपय महापुरुषोंके बचपनकी कुछ छोटी-छोटी घटनाएँ दे रहे हैं। पाठक देखेंगे कि छोटी होनेपर भी उन्होंने उन महापुरुषोंके जीवनपर कितना गहरा प्रभाव डाला। उनके जीवनको एक नयी दिशामें मोड़ दिया। इन घटनाओंसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बच्चोंपर दबाव डालकर उनका निर्माण करनेकी प्रचलित परिपाटी अत्यन्त दोषपूर्ण है। समझ-बूझकर स्वेच्छासे गलती करके भी बालक अपना जितना विकास कर सकता है, उतना अभिभावकोंकी सख्ती या जोर-जबरदस्तीसे नहीं। लेखक]

१. संकल्प

वह एक सम्पन्न घर था। घर क्या, आलीशान महल कहिये। वैभवके जितने उपकरण हो सकते हैं, वे सब वहाँ मौजूद थे। मूल्यवान् मेज-कुर्सियाँ, रंग-बिरंगे एक-से-एक बढ़कर आवरण, दरियाँ, मखमली कालीन, पियानो, रेडियो। वहाँके समूचे वायुमण्डलमें आभिजात्यकी भावना व्याप्त थी और यह स्वाभाविक ही था। कारण कि उस भवनके स्वामी सामान्य व्यक्ति नहीं थे। देशके बड़े-बड़े लोगोंमें उनकी गणना होती थी। दैवयोगसे पत्नी भी उन्हें बड़े घरकी मिली थीं। घरकी साज-सज्जामें उनका बड़ा हाथ था।

घरमें कई बालक थे, जिनका पालन-पोषण घरके वैभव और प्रतिष्ठाके अनुरूप ही होता था। उनके रहन-सहन, शिक्षा-दीक्षा, बोल-चाल, सबमें घरका बड़प्पन झलकता था। लेकिन उनमें एक बालक था, जो अन्य बालकोंकी अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर और प्यारा लगता था। रंग तो दूसरे बच्चोंका भी साफ था, परंतु इस बालककी आकृतिमें कुछ ऐसा आकर्षण था कि जो भी उसे देखता था, मुग्ध हो जाता था। घर और पड़ोस सबका उसके प्रति असीम प्रेम था। संयोगसे बालकका स्वभाव भी अन्य बालकोंसे कुछ भिन्न था। उस वैभवशाली वायुमण्डलमें उसे विशेष रस न था। वह सीधे-सादे ढंगसे रहता था और बिना भेद-भावके सबसे मिलता-जुलता था।

एक दिन अनायास घरमें कोलाहल मच गया। बात बड़ी नहीं थी। नौकरसे चीनीकी कुछ मूल्यवान् रकाबियाँ टूट गयीं। अपराध नौकरका नहीं था। वह रकाबियाँ लेकर आ रहा था कि पैर फिसल गया और रकाबियाँ धरतीपर गिरकर चूर-चूर हो गयीं। गृह-स्वामी और गृहिणी दोनोंने देखा तो आग-बबूला हो गये। उन्होंने कहनी-अनकहनी सब तरहकी बातें उससे कहीं और जब नौकरने धीमी आवाजमें इतना कह दिया 'कि उसने जान-बूझकर थोड़ी तोड़ डाली?' तो उनका पारा और भी चढ़ गया। गृहस्वामीने कहा, 'अच्छा, तुम यों बाज नहीं आओगे तो मैं तुम्हें थाने भेजे देता हूँ।'

इतना कहकर उन्होंने आवेशमें थानेके अधिकारीको पत्र लिखा और उसके साथ नौकरको थाने भेज दिया। बेचारेको जाना पड़ा। न जाता तो करता क्या!

थानेमें उसपर कोड़ोंकी मार पड़ी और इतनी कि उसकी देह नीली पड़ गयी। पिट-पिटाकर शामको जब वह घर लौटा, तब ऐसा लगता था मानो महीनोंका बीमार हो। उसका चेहरा पीला पड़ गया था और कोड़ोंकी मार तथा अपमानके कारण उसके पैर ठीकसे नहीं उठते थे। ज्यों ही उसने घरमें प्रवेश किया, वही बालक सामने आया। अपने प्यारे नौकर और उसके मुरझाये चेहरेको देखकर बालक ठिठककर खड़ा हो गया और क्षणभर उसकी ओर देखता-का-देखता रह गया। नौकरकी आँखें सूजी हुई थीं और वह इतना विवश दीख पड़ता था मानो अभी रो पड़ेगा।

बालकको देखते ही नौकर भी खड़ा हो गया और एक बार उसने निगाह भरकर उसे देखा। वह कुछ कहना चाहता था, पर होठ नहीं खुले। देखते-देखते उसकी आँखोंकी बेबसी क्रोधमें परिणत हो गयी और उसने मुँह जरा टेढ़ा करके धीमे पर आवेशभरे स्वरमें कहा—'देखते क्या हो बाबू! एक दिन तुम भी ऐसे ही बनोगे।'

बालकका सारा शरीर काँप उठा, जैसे किसीने उसके शरीरसे बिजलीका स्पर्श करा दिया हो। उसका हृदय रो पड़ा। मन-ही-मन उसने कहा कि 'हे भगवन्! धरती फट जाय तो मैं उसमें समा जाऊँ।'

नौकरके साथ जो हुआ, उससे बालक पहलेहीसे बहुत क्षुब्ध था और वह प्रतीक्षा कर रहा था कि कब नौकर लौटे और कब वह उसका हाथ पकड़कर बार-बार चूमे और उसे ढाढ़स बँधाये! लेकिन नौकर लौटा तो उसके मुँहसे ऐसे शब्द सुनकर उसका बाल-हृदय एक साथ चीत्कार कर उठा। नौकर मूर्तिवत् खड़ा था मानो स्पन्दनहीन हो और बालकके भीतर भारी तूफान उठ रहा था।

नौकर फिर बोला, 'क्यों बाबू! मैं झूठ कहता हूँ?'

बालकने अपने सिरको लटका दिया। बोला—'नहीं, नहीं, मैं कदापि ऐसा नहीं करूँगा।'

इतना कहकर वह तेजीसे आगे बढ़ा और नौकरकी अपनी पतली बाहोंमें भरकर उसके कपड़ोंमें उसने अपना मुँह छिपा लिया।

बालकके इस सदय व्यवहारसे नौकरका हृदय उमड़ आया। वह अपनी व्यथाको भूल गया।

बचपनका वह संकल्प रूसके महान् अराजकवादी विचारक प्रिंस क्रोपोटकिनको आजीवन स्मरण रहा और उन्होंने बड़े-से-बड़ा अपराध होनेपर भी अपराधीके प्रति सदा सहानुभूति और करुणाका भाव रक्खा। करुणाका बीज उनमें पहलेसे मौजूद था। उक्त घटनासे उसे जीवन मिला और वह आगे जाकर लहलहा उठा।

२. प्रायश्चित्त

वह बारह-तेरह वर्षका बालक ही तो था। कच्ची बुद्धि थी और साथ अच्छा न था। उसके एक सम्बन्धी सिगरेट पीते थे। उसे भी शौक लगा। सिगरेटसे फायदा तो क्या, धुआँ उड़ाना उसे अच्छा लगता था। समस्या आयी कि सिगरेट खरीदनेके लिये पैसे कहाँसे आवें। बड़ोंके सामने न तो वह पीयी ही जा सकती थी, न खरीदनेके लिये उनसे पैसे ही माँगे जा सकते थे। तब, क्या हो? हो क्या, नौकरोंकी जेबें टटोली जाने लगीं और पैसा-धेला जो भी पल्ले पड़ता, उड़ा लिया जाता। बड़े सिगरेट पीकर फेंक देते तो वे टुकड़े बीनकर इकट्ठे कर लिये जाते। किसीने कह दिया कि एक पेड़की डंठल होती है, जिसे जलाकर पीनेसे सिगरेटका-सा आनन्द आता है। उसका भी प्रयोग किया गया, लेकिन मजा नहीं आया। मजा तो सिगरेट पीनेमें भी नहीं आता था, पर उससे क्या। यह सिलसिला कुछ दिनतक चला, अचानक एक दिन विचार उठा कि ऐसा काम क्यों करना, जो बड़ोंसे छिपाना पड़े और जिसके लिये चोरी करनी पड़े? बात उठी। उठी कि वहीं-की-वहीं दब गयी।

फिर उभरी और पराधीनता दिन-पर-दिन खलने लगी। यह भी क्या कि बड़ोंकी आज्ञाके बिना कुछ न कर सकें? ऐसे जीनेसे लाभ क्या? इससे तो जीवनका अन्त कर देना ही अच्छा।

पर मरें कैसे? किसीने कहा था कि धतूरेके बीज खा लेनेसे मृत्यु हो जाती है। बीज इकट्ठे किये गये, पर खानेकी हिम्मत न हुई। प्राण न निकले तो? फिर भी साहस करके दो-चार बीज खा ही डाले, लेकिन उनसे क्या होता था। मौतसे वह डर गया और उसने मरनेका विचार छोड़ दिया।

जान बची, साथ ही एक लाभ यह हुआ कि बीड़ीकी जूठन पीने और नौकरोंके पैसे चुरानेकी आदत छूट गयी।

दो वर्ष बाद

बालकके उस सम्बन्धी-साथीपर २५) का कर्ज हो गया। वह कैसे निकले ? जब कोई उपाय दिखायी न दिया, तब सोचा गया कि साथीके हाथमें सोनेका जो ठोस कड़ा था, क्यों न उसमेंसे थोड़ा-सा सोना काटकर बेच दिया जाय और कर्ज चुका दिया जाय ? अन्तमें यही किया गया। कड़ा कटा, सोना बिका और ऋणसे मुक्ति हो गयी।

ऋणसे मुक्ति तो हुई, पर वह घटना बालकके लिये असह्य हो गयी। उसने आगे कभी चोरी न करनेका निश्चय किया। साथ ही यह भी कि अपनी चोरीको अपने पिताके सामने स्वीकार कर लेगा। यह डर तो न था कि पिताजी उसे पीटेंगे, लेकिन इतना तो था कि वे सुनकर बहुत दुखी होंगे। अगर उन्होंने स्वयं अपना ही सिर पीट लिया, तो जो हो, पर भूल स्वीकार किये बिना मनकी व्यथा दूर न होगी।

पिताके आगे मुँह तो खुल नहीं सकता था। तब बालकने चिट्ठी लिखकर अपना दोष स्वीकार किया। चिट्ठी अपने हाथों ही पिताको दी। उसमें सारा दोष कबूल किया गया था, साथ ही उसके लिये दण्ड माँगा गया था। आगे चोरी न करनेका निश्चय भी था।

पिताजी बीमार थे। वे बिस्तरपर लेटे थे। चिट्ठी पढ़नेके लिये उठ बैठे। चिट्ठी पढ़ी। आँखोंसे मोतीकी बूँदें टपकने लगीं। थोड़ी देरके लिये उन्होंने आँखें बंद कर लीं। चिट्ठीके टुकड़े-टुकड़े कर डाले और बिस्तरपर पुनः लेट गये।

मुँहसे उन्होंने एक शब्द भी नहीं कहा। बालक अवाक् रह गया। पिताकी वेदनाको उसने अनुभव किया और उनकी पीड़ा तथा शान्तिमय क्षमासे वह रो पड़ा।

बड़े होनेपर उसने लिखा—'जो मनुष्य अधिकारी व्यक्तिके सामने स्वेच्छापूर्वक अपने दोष शुद्धहृदयसे कह देता है और फिर कभी न करनेकी प्रतिज्ञा करता है, वह मानो शुद्धतम प्रायश्चित्त करता है।'

इस बालकसे भारत ही नहीं, सारा संसार परिचित है। वह था मोहनदास करमचंद गाँधी।

३. दया

बालक कहींसे लौट रहा था। सन्ध्या हो चुकी थी और मार्ग जंगलमें होकर था। बालक खेलता-कूदता आ रहा था। अचानक एक पेड़की नीची टहनीपर देखता क्या है कि एक छोटे-से घोंसलेमें दो अंडे रक्खे हैं और उनपर एक चिड़िया बैठी है। बालक रुक गया। उसे वे अंडे बड़े अच्छे लगे। देखनेमें सुन्दर तो थे ही, साथ ही बाल-सुलभ कौतूहल भी था। उसने सोचा कि इन अंडोंको ले चलूँ और माको दिखाऊँ तो वह बहुत खुश होगी। वह घोंसलेकी ओर बढ़ा, फिर ठिठका। चिड़िया एक साथ फुर्रसे उड़ गयी। घोंसलेके बीचमें जरा-सा गड्ढा था, जिसमें एक-दूसरेसे सटे दोनों अंडे रक्खे थे। चिड़िया उड़कर ऊपरकी डालपर जा बैठी और चीं-चीं करने लगी। बालकने धीरे-धीरे घोंसलेकी ओर हाथ बढ़ाया और फिर खींच लिया। नहीं, उसे अंडे नहीं उठाने चाहिये। पर क्यों ? मा उन्हें देखकर कितनी प्रसन्न होंगी ? और भाई-बहनें ? कहेंगे कि वाह, क्या बढ़िया चीज लाया है।

उसने जी कड़ा किया और दोनों अंडे हाथमें उठा लिया। चिड़िया जोरसे चीत्कार कर उठी, पर बालक रुका नहीं। अंडे धीरेसे मुट्ठीमें दबाकर और हाथको कोटकी जेबमें डालकर वह गया, वह गया।

घर आकर उसने साँस ली। हाँफता हुआ बोला, 'ओ मा, ओ मा ! देख, कैसी बढ़िया चीज लाया हूँ।'

माने अंडे देखे और बालककी आशाके विपरीत उनका चेहरा एकदम गम्भीर हो गया। बोली—'हाय ! तूने यह क्या किया।'

बालकने कहा—'देखती नहीं कैसे सुन्दर हैं।' मा कहती गयी, 'तूने यह नहीं सोचा कि चिड़िया कितनी हैरान होगी ! वह बार-बार घोंसलेपर आकर इन्हें खोजती होगी और अपना सिर पीटती होगी। हाय ! तैंने यह क्या किया ?······और·····और·····अगर लाना ही था तो एक ले आता। कम-से-कम एक तो उसके लिये छोड़ ही आता।'

बालकको अपनी भूल मालूम हुई, पर अब वह क्या करे ? देर जो हो चुकी थी।

मा रातभर नहीं सो सकी और बालक भी सारी रात सपनेमें चिड़ियाका भयंकर आर्त्तनाद सुनता रहा, उसका फड़फड़ाना देखता रहा।

सबेरे उठते ही वह दौड़ा-दौड़ा गया। बड़ी मुश्किलसे उसे वह जगह मिली।

उसने देखा कि चिड़िया सूने घोंसलेके एक द्वारपर सुस्त-सी बैठी है। शायद रातभर रोते-रोते थक गयी थी।

बालकके आगे बढ़ते ही वह उड़कर दूसरी शाखापर जा बैठी। बालकने दोनों अंडे घोंसलेमें रख दिये और आड़में खड़े होकर देखने लगा कि आगे क्या होता है?

चिड़िया आयी घोंसलेपर बैठ गयी। उसने तिरछी गर्दन करके अंडोंको घूरा। बालकको हर्ष हुआ; लेकिन उसने देखा कि चिड़ियाकी आँखोंमें वह दुलार नहीं है, जो पहले था। वह चुपचाप घोंसलेके किनारेपर टिकी रही, पर अंडोंपर नहीं बैठी।

बालक देरतक खड़ा-खड़ा इस हृदयस्पर्शी दृश्यको देखता रहा, देखता रहा। उसके जीमें आता था कि वह उस वेदनासे विह्वल चिड़ियाको पकड़ ले और कहे कि मेरे अपराधको क्षमा कर दे और अपने इन पेटके जायोंको स्वीकार कर ले। मेरे लिये नहीं, भगवान्‌के लिये तू एक बार फिर इन्हें अपने पंखोंके सायेमें समेट ले।

पर चिड़ियाकी खोयी ममता फिर नहीं लौटी, नहीं लौटी।

निराश बालक घरकी ओर चला तो उसका हृदय बहुत भारी था।

जीवदयाका यह ऐसा पाठ था कि वह बालकके हृदय-पटलपर गहरा अङ्कित हो गया और जबतक जीया प्राणि-मात्रके प्रति सदा दयावान् बना रहा।

पाठक इस बालकको जानते हैं। वह थे दीनबन्धु एण्ड्रयूज—भारतके अनन्य मित्र और हितैषी।

४. परदुःखकातरता

विश्वविद्यालयके प्राध्यापक अपने उपकुलपतिसे बहुत हैरान थे। वे विद्यार्थियोंको जो भी दण्ड देते, विद्यार्थी उपकुलपतिके पास जाते और माफ करा लाते। यों अनुशासन कैसे चलेगा? विद्यार्थी उनकी बात कैसे मानेंगे? नहीं, इससे विश्वविद्यालयमें उच्छृङ्खलता पैदा हो जायगी।

वे काफी दिनतक सहन करते रहे; लेकिन जब उन्होंने देखा कि उपकुलपतिके व्यवहारमें कोई परिवर्तन होनेवाला नहीं है, तब उन्होंने एक दिन उनके पास जाकर शिकायत की। कहा कि 'आप जो करते हैं, उसका प्रभाव संस्थापर अच्छा नहीं पड़ेगा। विद्यार्थी 'आपको छोड़कर किसी भी अध्यापककी बात नहीं मानेंगे और हमलोगोंका काम करना मुश्किल हो जायगा।'

उपकुलपतिने उनकी बात ध्यानसे सुनी। फिर कुछ गम्भीर होकर बोले—'आप ठीक कहते हैं, पर क्या आप मेरी विवशताके लिये मुझे क्षमा नहीं करेंगे?'

'कैसी विवशता?' एक अध्यापकने पूछा।

उपकुलपति थोड़ी देर मौन रहे, मानो वह वहाँ न हों। फिर कुछ सँभलकर बोले—'अपने बचपनकी एक बात मैं भूल नहीं पाता। जब मैं छोटा था, मेरे पिता नहीं रहे थे। मा थी और घरमें बेहद गरीबी थी। मैं स्कूलमें पढ़ता था। फीस उन दिनों नाममात्रकी लगती थी; लेकिन वह भी समयपर नहीं निकल पाती थी। मा चाहती थी कि मैं ढंग-के कपड़े पहनकर स्कूल जाऊँ, पर लाती कहाँसे? एक दिन घरमें साबुनके लिये पैसा न था। मैं मैले कपड़े पहन-कर स्कूल चला गया और लज्जासे सिकुड़कर क्लासके एक कोनेमें बैठ गया। अध्यापक आये। उन्होंने क्लासपर एक निगाह डाली। मुझे भी देखा। देखा और उनकी निगाह मुझपर रुक गयी। बोले, 'खड़े हो जाओ।' मैं क्या करता? खड़ा हो गया। बोले 'इतने गंदे कपड़े पहन-कर स्कूल आनेमें तुम्हें शर्म नहीं आती? मैं तुमपर आठ आना जुर्माना करता हूँ।'

आठ आना! मेरे पैरोंके नीचेसे धरती खिसक गयी। मुझे अपमानकी उतनी चिन्ता न थी जितनी कि इस बातकी कि जब घरमें साबुनके लिये एक आना पैसा नहीं था तो मा आठ आने कहाँसे लायेंगी।'

कहते-कहते उपकुलपतिकी आँखें चमक आयीं। फिर कुछ सुस्थिर होकर बोले—'तबसे मुझे बराबर इस बात-का ध्यान रहता है कि विद्यार्थीकी पूरी परिस्थिति जाने बिना यदि हम उसे दण्ड देते हैं तो प्रायः उसके साथ अन्याय कर बैठते हैं, दूसरी बात यह कि जबतक आदमी स्वयं कष्ट नहीं पाता, दूसरेके कष्टको नहीं समझ सकता।'

अध्यापक निरुत्तर होकर चले गये।

यह घटना भारतीय राजनीतिके पण्डित माननीय श्रीनिवास शास्त्रीके बाल्य-कालकी है।

उच्च आदर्शोंकी व्यावहारिकता

(लेखक—श्रीत्रिलोकीनाथजी मेहरोत्रा, बी०ए०, एल्-एल्० बी०, एल्०एस्०जी०डी०)

राजपूत वीराङ्गनाओंकी अपूर्व वीरता, उनके असीम साहस तथा आदर्श सतीत्वके अनेक प्रमाण भारतीय इतिहासमें भरे पड़े हैं। राजपूत-प्रथाके अनुसार रणक्षेत्रसे भागकर लौटे हुए पतिको भी स्त्रियाँ तिरस्कारकी दृष्टिसे देखती थीं। उनकी सदैव यही अभिलाषा रहती थी कि या तो उनके पति और पुत्र रणक्षेत्रसे विजयी होकर घर लौटें या फिर रणक्षेत्रमें ही लड़ते-लड़ते अपने प्राण त्याग दें।

जिस प्रकार राजपूत-रमणियाँ अपने प्राणप्रिय पतियोंका मोह छोड़ सकती थीं, उसी प्रकार प्राचीन स्पार्टामें माताएँ तथा बहिनें रणपर जानेवाले योद्धाको ढाल देकर कहती थीं—"Come with the Shield or on it" (युद्धमें विजय प्राप्त करके इस ढालको लिये हुए लौटना अन्यथा वीरगतिको प्राप्तकर इसपर लदे हुए आना)। लगभग २८५० वर्ष हुए, ईसासे पूर्व नवीं शताब्दीमें स्पार्टा उत्कट वीरोंका एक देश था। वर्तमान ग्रीस देशके दक्षिणी भागमें जो मोरिया प्रायद्वीप है, वही पहले स्पार्टा कहा जाता था। स्पार्टाकी शासन-प्रणाली Lycurgus (लाईकरगस) नामक महान् विद्वान्ने बनायी थी। उन्होंने देशमें सोने-चाँदीके लिये कोई स्थान ही नहीं रक्खा था। उनके देशमें लोहेका सिक्का चलता था। उन्होंने सारे देशका रहन-सहन सैनिक आधारपर बनाया था। देशमें विलासिताकी चीज बनती ही न थी और न लोग उनको काममें ही लाते थे। स्पार्टन लोग परम आज्ञाकारी और अत्यन्त दृढ़ होते थे। व्यायामसे उनका शरीर वज्रवत् दृढ़ हो जाता था, जैसा कि आजकल जर्मन सैनिकोंमें पाया जाता है। वे बहुत ही सादा भोजन करते थे और वह भी सामूहिकरूपसे। स्पार्टाके लोग अपने बालकोंके स्वास्थ्यका विशेष ध्यान रखते थे। उनके यहाँ एक राजनियम था, जिसके अधीन सभी बच्चे राज्यकी सम्पत्ति होते थे और राज्यके ही द्वारा उनका लालन-पालन होता था। अस्वस्थ, कमजोर और रोगी बच्चोंको वहाँके लोग एक राष्ट्रिय भार और कलंक समझते थे, अतः वे उनको मार डालते थे। यही कारण था कि सभी स्पार्टन बालक पूर्ण स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट होते थे। स्पार्टाकी यह दशा लगभग पाँच सौ वर्षोंतक इसी क्रमसे चलती रही और इस कालमें स्पार्टाके लोग किसीसे पराजित नहीं हुए।

ग्रीस देशमें ही मैसेडन प्रान्तका राजा प्रसिद्ध वीर Alexander (सिकन्दर) हुआ है। यह राजा आजसे लगभग २३, २४ सौ वर्ष पहले हुआ था। इसने बचपनसे ही अदम्य उत्साह और बुद्धिमत्ताका परिचय दिया। इसने विशाल ईरानी राज्यको विजय किया। खेद है कि करीब ३३ वर्षकी आयुमें ही इसका देहान्त हो गया। यह अपने साथ बड़े-बड़े विज्ञानवेत्ताओं तथा दार्शनिकोंको ले जाता था, जिसके कारण पूर्व और पश्चिमके देशोंमें विचार-विनिमय होने लगा था। सिकन्दर बड़ा गुणग्राही था और उसमें एक खास गुण यह था कि वह अपनी माताका अनन्य भक्त था। जिस समय सिकन्दर एशियाके देशोंपर चढ़ाई करनेके लिये चला तो उसने अपनी माता ओलिम्पियाको मैसेडनका राज्य सपुर्दकर एन्टीपेटरको उनका मन्त्री रख दिया था। एन्टीपेटर बराबर अपने पत्रमें ओलिम्पियाके हस्तक्षेपकी शिकायतें लिखा करता था, जिनका उत्तर सिकन्दरने यह दिया—'Antipator! you do not know that one tear of my mother is able to wash away a thousand of thy epistles'. 'एन्टीपेटर! तुम नहीं जानते कि यदि दुःखमें मेरी माताका एक आँसू भी गिरा तो उसमें तुम्हारे हजारों पत्र बह जायँगे।' ऐसी थी सिकन्दरकी उत्कट मातृभक्ति, जिसने उसे महानताके उच्चतम शिखरपर पहुँचा दिया और मातृभक्तिका आदर्श एक इतना पुनीत और उच्च आदर्श है जो हर देश और कालके बालकोंके लिये सर्वथा अनुकरणीय है।

इसी प्रकार रोमका इतिहास भी उच्च आदर्शोंसे भरा पड़ा है, जो हमारी आनेवाली पीढ़ीके लिये स्वास्थ्यपथ-प्रदर्शनका काम कर सकते हैं। रोम-साम्राज्य लगभग एक हजार वर्षतक अपनी ऊर्जितावस्थामें था। यूरोपके लगभग सभी देश उसके अन्तर्गत थे और उससे ही उन्होंने अपनी सैनिक अनुशासन-प्रणाली सीखी। रोमके लोगोंमें अनेक दुर्गुण भी थे, पर उनमें आज्ञाकारिताका ऐसा कठोर अनुशासन था कि उसीके कारण यह राज्य इतना फला-फूला। ईसाके ७९ वर्ष बाद पाम्पियायी नामक एक प्रसिद्ध नगर विसूवियस नामक ज्वालामुखीके विस्फोटके कारण नष्ट हो गया। उसके ध्वंसावशेष प्रायः १८००

वर्षके बाद निकले। इस ध्वंसावशेषमें उस समयके एक सिपाहीका पंजर निकला जो कि अपनी ड्यूटीपर खड़ा पाया गया। इसी प्रकार अनुशासनके और भी उदाहरण मिलते हैं। यथा, ईसासे लगभग ५०९ वर्ष पूर्व एल्० ब्रूटस (L. Brutus) नामक एक प्रशासक (Consul) ने अपने दो पुत्रोंको राजद्रोहके अपराधमें स्वयं मृत्युदण्ड दिया था। इसी सिलसिलेमें ईसासे ५०८ वर्ष पूर्व लार्स पोर्सेना (Lars Porsena) के, जो रोमका घेरा डाले पड़ा था, कैम्पमें सी० म्यूसियस (C. Mucius) नामक एक नवयुवकने उपस्थित होकर उसके मन्त्रीको छुरा भोंककर मार डाला। वह पकड़ लिया गया और लार्स पोर्सेनाके सामने उपस्थित किया गया। पहले तो उसने यह पूछा कि 'मैंने जिसको मार डाला है वह लार्स पोर्सेना था या नहीं।' जब उसको मालूम हुआ कि वह तो एक मन्त्री था, तब उसने खेद प्रकट किया और कहा कि 'मैंने तो उसे लार्स पोर्सेना समझकर मारा था।' तब लार्स पोर्सेनाने उसको ललकारकर कहा कि राजा मैं हूँ; तुम्हारी क्या हिम्मत है जो तुम मुझको मार सको। उस समय एक तिपायीपर एक जलती हुई अंगीठी रक्खी थी; क्योंकि जाड़ेका अवसर था। म्यूसियसने अपना दाहिना हाथ आगमें डाल दिया और खड़ा-खड़ा उसी तरह बातें करता रहा। उद्वेगके कोई भी चिह्न उसके चेहरेपर न दिखायी दिये। हाथ जलकर राख हो गया और उसने उसे झटकारकर गिरा दिया। उसने लार्स पोर्सेनासे कहा कि 'उसीके समान तीन सौ नवयुवक प्रतिज्ञा करके उसको मारनेके लिये रोमसे आये हैं। इस बातको सुनकर और उस नवयुवककी दृढ़ताको देखकर लार्स पोर्सेना ऐसा डरा कि दूसरे ही दिन उसने रोमसे सन्धि कर ली। इस सन्धिमें कई युवक और युवतियाँ रोमसे लार्स पोर्सेनाके पास भेजे गये। इनमें एक लड़की क्लीलिया (Cloelia) नामकी थी, क्लीलिया लार्स पोर्सेनाके कैम्पसे भागकर टाइबर नदीको पारकर रोममें आ गयी। रोमवाले अपने वचनके बहुत पक्के थे, अतः उन्होंने क्लीलियाको पुनः लार्स पोर्सेनाके कैम्पमें भेज दिया। रोमके इस व्यवहार तथा क्लीलियाकी वीरतासे प्रभावित होकर लार्स पोर्सेनाने उसे अमानतसे मुक्त कर दिया और कहा कि अमानतके युवकों और युवतियोंमेंसे जिसको वह चाहे ले जा सकती है।

इसी प्रकारके सैकड़ों उदाहरणोंसे रोमका इतिहास भरा पड़ा है। ईसापूर्व ३६२ सन्में रोममें बड़ी महामारी फैली, जिसमें बहुत-से बड़े-बड़े लोग भी मर गये। रोमके पास बहनेवाली टाइबर नदी भी इतनी बढ़ गयी कि बाढ़से नगरके डूब जानेका संकट उपस्थित हो गया। बारंबार भूकम्प आने लगे और फोरम (Forum) नामक भवनमें एक बड़ी-सी दरार निकल आयी। इसपर ज्योतिषियोंने यह बताया कि यह दरार तभी बंद हो सकती है, जब रोमकी सबसे मूल्यवान् वस्तु उसमें डाली जायँ। इसपर कर्टियस (M. Curtius) नामक एक नवयुवकने आगे आकर कहा कि रोमके पास उसके वीर नागरिकोंके अतिरिक्त और क्या है ? ऐसा कहकर उसने अपना पूर्ण कवच धारण किया और घोड़ेपर चढ़कर उस दरारमें कूद पड़ा और देखते-ही-देखते अदृश्य हो गया। इस बहुमूल्य एवं साहसपूर्ण बलिदानके उपरान्त वह दरार बंद हो गयी। कर्टियसके इस अपार देश-प्रेमके आगे किसका मस्तक श्रद्धासे नहीं झुक जायगा।

इसी प्रकार सन् ३४० ईसा-पूर्वके लगभग टोरक्वाटस नामक एक सेनापतिके लड़केने फौजकी आज्ञाके विरुद्ध एक टसकुलन अफसरसे एकाकी युद्ध किया और उसको मार डाला। वह अपने बापका इकलौता बेटा था, पर अनुशासन भंग करनेके अपराधमें उसके पिताने उसे मृत्युदण्ड दिया।

ईसापूर्व तीसरी शताब्दीमें हैनीबाल (Hannibal) फिनीशियन सेनानायक हेड्रूबल (Hasdrubal) का नौ वर्षका पुत्र था। उस समय हैनीबालके पिताने अग्निके सम्मुख उससे यह शपथ धरा ली कि वह सदा रोम-साम्राज्यसे लड़ता ही रहेगा; कभी मित्रता नहीं करेगा। इस दृढ़ बालकने अपनी उस प्रतिज्ञाको अक्षरशः निभाकर आज संसारके सुप्रसिद्ध सेनानायकोंमें अपना नाम अमर बना लिया है। न जाने किन-किन कठिनाइयोंसे वह अपनी बड़ी फौज स्पेनमें पिरेनीज पर्वतपर होकर, फ्रांसमें रोन (Rhone) नदी पार करके और हिमाच्छादित आल्प्स पर्वतको पार करता हुआ इटलीमें ले आया। उसने रोम-साम्राज्यकी फौजोंको दो बार समूल नष्ट किया और बारह वर्षसे अधिक रोम-साम्राज्यमें ही जमा रहा। पीछे उसकी हार अवश्य हुई, पर अन्त समयतक वह अपनी प्रतिज्ञासे पलभर भी पीछे न हटा।

इस प्रकारके आदर्श चरित्र किसी एक ही देशकी धरोहर नहीं हैं। १८ वीं शताब्दीमें फ्रांसके नेपोलियन बोनापार्टका नाम आज भी बच्चा-बच्चा जानता है। उसने यूरोपके प्रायः

प्रत्येक देशपर अधिकार कर लिया था। उसका कहना था कि जो कुछ भी मैंने सीखा है वह सब मेरी माताके ही कारण है। यह वीर बड़ा ही मातृभक्त था और अपनी माताको देवीकी तरह मानता था। उसकी वीर जननीने उसे बचपनसे ही वीरताकी शिक्षा दी थी और इसी कारण नेपोलियन इतना बड़ा विजयी हुआ।

इसी प्रकार अमेरिकाके इतिहासमें अब्राहम लिंकन (१८०९–१८६५) का नाम अमर है। अब्राहम लिंकन अमेरिकाका एक बहुत प्रसिद्ध प्रेसिडेंट हो गया है। इसके समयमें ही गुलामोंको स्वतन्त्रता दी गयी थी। इसके जीवनचरित्रमें अदम्य उत्साह तथा उद्योग अनुकरणीय हैं। यह एक झोंपड़ेमें पैदा हुआ था। दिनभर खेतोंमें काम करता और रातको कोयलेसे फावड़ेके पृष्ठपर लिखकर सवाल करता। धीरे-धीरे उन्नति करते-करते वह एक कुशल वकील हो गया और फिर अमेरिकाका प्रेसिडेंट।

उपर्युक्त उदाहरणोंमें वीर-माताओंका अपने पुत्रकी मृत्युपर शोक न करके उनकी विजयपर गौरव करना, देश-भक्ति, पितृ एवं मातृभक्ति तथा अदम्य उत्साहके कारण उच्चतर सफलता तथा अमर कीर्ति लाभ करना दिखाया गया है। जिनका ऊपर वर्णन किया गया है वे सभी ईश्वरमें दृढ़ विश्वास रखते थे तथा अपनी धुन और लगनके पक्के थे। उन्होंने अपनी ही सुकीर्ति इतिहासमें नहीं छोड़ी है, वरं अपने देशके गौरवको भी अमिट बनाया है। लगन एक ऐसी वस्तु है जो मनुष्यसे क्या नहीं करा सकती। ठीक ही कहा है 'सिद्धसंकल्प ईश्वरः' और साथ ही यह भी परम आवश्यक है कि ऐसी लगनवाले जगत्‌का नियन्त्रण करनेवाली परम सत्ताको भक्तिपूर्वक माननेवाले हों।

हमारी प्राचीन संस्कृति

(रचयिता—श्रीसरयूप्रसादजी शास्त्री 'द्विजेन्द्र')

अध्यात्मवाद विवाद-विरहित, विश्व-शान्ति विधानता।
हो, पुनर्जन्म-विधानपूर्वक, आर्यधर्म प्रधानता॥
हो, वर्ण-आश्रम धर्म-कर्म-कलापकी सम्मानता।
परमेश-सत्ता-सहित भौतिकता समेत समानता॥ १॥

होवे न जिसमें लेशमात्र प्रवेश ईर्ष्या-द्वेषका।
किंवा न स्पर्शाऽस्पर्शके मौलिक निदेश-निवेशका॥
होवे न भेद-प्रभेद मिथ्यावाद या जडवादका।
निर्मूल भूल-विवादिता, किंवा न मायावादका॥ २॥

होती जहाँपर नित्य नैमित्तिक क्रियाओंकी प्रथा।
हो विश्वव्यापी धर्मके विज्ञानकी चर्चा तथा॥
गुरु ज्ञान-गौरव हो जहाँ, हो मातृ-पितृ-पदार्चना।
पति-पत्नि-प्रेम प्रधानता, हो अतिथि-देव-समर्चना॥ ३॥

हिंदुत्व-हित हो भारतीय विशिष्ट-शिक्षाचारिता।
हो ब्रह्मचर्य तथा सदाचाराऽचरण-संचारिता॥
उसको 'द्विजेन्द्र' प्रमाणते, प्राचीन संस्कृति आज है।
जिसके लिये पाता समादर, भारतीय समाज है॥ ४॥

आदर्श शिक्षक

(रचयिता—श्रीकेदारनाथजी बेकल, एम्० ए०, एल्० टी०)

व्यापक गुरुवर हर उर-अन्तर।
कारक, तारक, हारक बनकर॥
अविवेक-तिमिर-हर, अभयंकर।
शत शत प्रणाम, नत मस्तक कर॥ १॥

शिक्षक, सेवक, पथ-परिचायक।
भव-भाग्य-विधायक, सुखदायक॥
अति चतुर, सुचारु, चरित-नायक।
निःस्वार्थ, निरङ्कुश, निर्णायक॥ २॥

यह कोमल, निर्मल, निर्विकार।
सुन्दर-बालक, हे कर्णधार!
ले जाना है तुमको परार।
निर्भीक, सुरक्षित, धैर्य-धार॥ ३॥

यह स्वच्छ, सुगन्ध, सुमन-कलिका।
सानन्द करे सौरभ-वर्षा॥
या पुण्य-सुधा-जलका छींटा।
विकसित हो, फूले फले सदा॥ ४॥

मृग-शावक तुम्हें निहार रहा।
याचक है दया-सुरक्षाका॥
दिखलाना पथ सीधा सच्चा।
बन जाय न आशा मृग-तृष्णा॥ ५॥

जिसमें प्रतिहिंसा, रोष नहीं।
सद्-भाव, ज्ञानका कोष नहीं॥
सम भाव, धैर्य संतोष नहीं।
भक्षक है—यह शिशु-पोष नहीं॥ ६॥

सौजन्य, शील भण्डार बनो।
प्रियदर्शी, प्रेमागार बनो॥
गुण-गण विवेकके सार बनो।
तब आओ शिक्षा-कार बनो॥ ७॥

ओ लोलुप, लोभी, लम्पट जन!
करना तुमको यदि संचय धन॥
जा और कहीं, कर निज साधन।
मत पाप कमा अध्यापक बन॥ ८॥

विभु-बालक

(रचयिता—श्रीभवदेवजी झा, बी० ए० (ऑनर्स)

लघु बालक! आत्माराम तुम्हीं ; केशव-सम लीला-धाम तुम्हीं ;
तुम आत्मरूप हो पिता स्वयं, हो जगत्पिताके बालक भी।

हो नारद ध्रुव प्रह्लाद तुम्हीं ; हो गौतम कपिल कणाद तुम्हीं ;
तुम केवल शिष्य नहीं गुरु भी, हो छात्र और अध्यापक भी॥

हो विगत-मोह-मद-मान तुम्हीं ; हो सद्गुण-सत्त्व-प्रधान तुम्हीं ;
तुम स्वतः सुशील विनीत सरल, हो धीर-वीर जन-नायक भी।

निश्छल निर्मल निर्द्वन्द्व तुम्हीं ; निर्लेप शान्त स्वच्छन्द तुम्हीं ;
तुम शुद्ध-बुद्ध सिद्धार्थ स्वयं, हो जन-आराधक साधक भी॥

हो निर्विकार निष्पाप तुम्हीं ; अपने समान हो आप तुम्हीं ;
तुम प्रजा प्रजापतिकी अद्भुत, ऋषि-देव-पितृ-कुल पालक भी।

आनन्द सत्य सद्ज्ञान तुम्हीं ; साकार सगुण भगवान तुम्हीं ;
हम नतमस्तक, तुम परम पुरुष, हो विश्व-सृष्टि-संचालक भी॥

काठका घोड़ा

सूरज उगते छोटा मुन्ना बिस्तरसे उठ जाता है,
हाथ जोड़कर माताके चरणोंमें शीश नवाता है।

और पिताजीकी गोदीमें चुपकेसे चढ़ जाता है,
जो कुछ भी मा दे देती है, खाकर मोद मनाता है।

अपना नया काठका घोड़ा कोनेसे ले आता है,
हो सवार उसपर घरसे बाहर जल्दी आ जाता है।

अपने बाल-साथियोंसे फिर खेल-खेलमें कहता है,
यह मेरा चेतक घोड़ा हल्दीघाटीमें रहता है।

दिल्लीसे कुछ दूर देश मेवाड़ एक कहलाता है,
जो राणा प्रतापकी यश-गंगामें नित्य नहाता है।

उसी देशका यह घोड़ा है नीले-से रँगवाला है,
इस अनमोल रतनका मोल न और लगानेवाला है।

मेरी मा कहती है इसपर चढ़ना है आसान नहीं,
बालूपर चलता है, इसको भाता है मैदान नहीं।

भारत-माका सच्चा बेटा इसकी पूँछ पकड़ता है,
ले नंगी तलवार हाथमें कूद पीठपर चढ़ता है।

सात सालका चुन्ना राजा देख-देख ललचाता है,
आठ सालका लल्ला उसकी पकड़ लगाम नचाता है।

इसी तरह मुन्ना चुन्ना लल्ला तीनोंकी बनती है,
मिल जाते हैं जब, उनमें तब ऐसी गहरी छनती है।

—रामलाल

बालकके प्रति

(रचयिता—श्रीनन्दकिशोरजी झा, काव्यतीर्थ)

हे बालक, स्वजन-सुकृत-पालक, कुल-आलबालके वर प्रवाल!
व्यसनोंमें मत सन जाना तुम, निज कर्त्तव्योंका रखो ख्याल।
माईके लाल वस्तुतः तुम, गुदड़ीके लाल स्वकुल-प्रदीप,
हो जनक-पुन्नरक-तारक तुम, कल्पना-राज्यके वर महीप;
तुमको ही तो करना होगा—वृद्धोंके अवनत उच्च भाल ॥ हे बालक०॥

आये ज्यों ही इस भूपर तुम, हम पितर-ऋणोंसे हुए मुक्त,
अंधेरेमें दीखा प्रकाश, उल्लास-सुखोंसे हुए युक्त;
कंटकाकीर्ण दुखमय जीवन लघु दिखा उसी दिन वर विशाल ॥ हे बालक०॥

निज वंश-वृक्षके भव्य बीज, शुभ आशाके अङ्कुर नवीन,
आँगनमें उगते तुम्हें देख हम रहे अकिञ्चन नहीं दीन;
प्रति पत्र परम रस दे देकर तुम करो नित्य सबको निहाल ॥ हे बालक०॥

जीवनमें सब ऋतुओंमें ही निशि-वासर खिलते कमल-फूल,
अवलोक तुम्हारा वर विकास निज ह्रास-नाश हम गये भूल;
तब लगा—हमें अब मार सकेगा कभी नहीं यह क्रूर काल ॥ हे बालक०॥

ध्रुव-तुल्य तपस्यासे पाओ संसृतिमें स्थायी महा स्थान,
प्रह्लाद-सदृश निर्भरा भक्ति, शुकदेव-तुल्य अति विमल ज्ञान;
कुश-लव-सम इन्द्रिय-हय रोको गोपाल-तुल्य मन-विषम व्याल ॥ हे बालक०॥

ऊपरसे पितर निहार रहे, परितः समाजकी लगी दृष्टि,
है एकमात्र तुमको करना संतुष्टि सभीकी, नयी सृष्टि;
पुरुषोत्तम-तुल्य पराक्रमसे पहनो उरमें वर विजय-माल ॥ हे बालक०॥

बालकके विविध रूपोंसे शिक्षा

(रचयिता—ठाकुर श्रीश्रीनाथसिंहजी)

अखिल विश्व है आभा जिसकी
जो जग रचे और संहारे।
प्राण रूप है जीवोंमें जो
ज्योतित जिससे रवि शशि तारे ॥
वेद-पुराणोंमें जिसके गुण
पढ़ पढ़कर जन नहीं अघावें।
भक्ति-भावसे उस प्रभुको हम
बार बार निज शीश नवावें ॥ १ ॥

उसके राम रूपसे सीखें
रखनी हम कुलकी मर्यादा।
उसके श्याम रूपसे सीखें
खेल समझना सब भव-बाधा ॥
उसका शिवका रूप बिलोकें
जिसने अद्भुत संयम साधा।
उसका मातृ-रूप जब ध्यावें
सन्मुख आवें सीता राधा ॥ २ ॥

नयनोंमें हो, ज्योति उसीकी
श्रवणोंमें गूँजे उसका स्वर।
उसकी सुधिसे उर हो स्पन्दित
उसका वन्दन करें युगल कर ॥
रसना उसका रस पहचाने
वाणीसे प्रस्फुटित हों अधर।
सत्य ज्ञान बल संयमसे सिंच
यह शरीर हो उसका ही घर ॥ ३ ॥

ध्रुवकी टेक अगर हम धारें
पा सकते हैं प्रभुका दर्शन।
बाधाएँ बन फूल जायँगी
यदि हम भी प्रहलाद सकें बन ॥
दीपित हैं जिस महाज्योतिसे
पुण्य-भूमि भारतके कण कण।
उसे प्रतिष्ठित कर अन्तरमें
सफल करें हम भी निज जीवन ॥ ४ ॥

आगे बढ़ें, ऊँचे चढ़ें, आदर्श हों हम विश्वके

(रचयिता—डा० कृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

(भारतीय बालकोंके गानेयोग्य एक षटपदी)

[१]

व्यायाम करते, तैरते हैं, खेलते हैं चावसे,
औ' घुड़सवारी सीखते हैं; पूर्ण हैं आनन्दसे,
नीरोग हैं; है बल शरीरोंमें हमारे सर्वदा;
आलस्य तो है दूर कोसों भागता हमसे सदा ॥

[२]

हम बालचर हैं, वीर हैं, तैयार सेवाके लिये;
हैं सिर झुकाते नित्य हम माता, पिता, गुरुके लिये;
औ' स्वच्छतासे प्रेम है हमको बड़ा रहता अहा;
हम मानते हैं गुरुजनोंसे जो हमें जाता कहा ॥

[३]

पाठ अपना मन लगाकर याद करते हैं यहीं;
आजके निज कामको हैं छोड़ते कलपर नहीं;
हैं कलाएँ सीखते हम ज्ञान औ' विज्ञान भी;
क्योंकि जीवनमें हमारे काम आते हैं सभी ॥

[४]

सुखद सब समय है, अनोखी लगन है;
सभीकी परस्पर सरल-सी चलन है;
व साहस बड़ा है, न होती थकन है;
उदासी नहीं है, व सुस्ती नहीं है ॥

[५]

बढ़ते चलें, बढ़ते चलें, बढ़ते चलें हम सर्वदा;
विद्या, बड़ाई, नम्रता पावें सदा सुख-सम्पदा;
ज्ञान-दीपक हो हृदयमें और मुखमें सत्य बात;
शक्ति तनमें, भक्ति मनमें और आगे हो प्रभात ॥

[६]

कर्त्तव्य-पालन हो हमारा लक्ष्य जीवनमें सदा;
उससे न मुँह मोड़ें कभी हम, दृढ़ रहेंगे सर्वदा;
निर्मल बनें तनके सदा मनके तथैव चरित्रके;
आगे बढ़ें, ऊँचे चढ़ें, आदर्श हों हम विश्वके ॥

स्वस्थ शिशु

(रचयिता—पु० श्रीप्रतापनारायणजी)

कौन हो शिशुवर, बताओ तुम हमें
विष्णुके अवतार हो या रूप हो।
स्वर्गके शृंगार हो सुंदर-सुखद
भूमिके या भव्य-भावी भूप हो ॥ १ ॥

देखकर मनमोहिनी इस मूर्त्तिको
देव मुनि मानव विमोहित हो रहे।
मुखकमलपर देख कमलोंको खिले
कमलमें हैं कमल-मदको खो रहे ॥ २ ॥

बोलते हो क्यों नहीं, क्यों हँस रहे
कौन ऐसा मंत्र जिसको गुन रहे।
आज माया जालमें हो फँस रहे
या कि माया जाल ही हो बुन रहे ॥ ३ ॥

फूलता तनमें मनुज-मन मोद भर
मान तुमको फूल तन-मन वारता।
फूल झड़ते देख तुमसे, फूल भी
गर्वसे झड़ता, बहुत मन मारता ॥ ४ ॥

मानियोंको मातकर समझा रहे
आज हमको तुम बड़े ही चावसे।
बढ़ नहीं सकती, बहुत बढ़कर कभी
कांत कविता भी तुम्हारे भावसे ॥ ५ ॥

क्योंकि इसको देख, भूखे सिंहको
शांत देखा है भयंकर सर्पको।
किंतु कविता भावसे क्या मूढ़का
भाव बढ़ता है घटाकर दर्पको ॥ ६ ॥

योगियोंको तुम फँसाते जालमें
जानते ऐसे अनूठे योगको।
किंतु फिर भी मेटते हो क्यों नहीं
तुम अहो आवागमनके रोगको ॥ ७ ॥

अर्थ इस मुसकानका हमसे छिपा
बाल ! किसकी मूढ़तापर यों हँसे।
कर रहे निजपर स्वयं उपहास क्या
या कि हमपर, व्यर्थ जो तुममें फँसे ॥ ८ ॥

नित्य रोनेसे अधिक सोते यहाँ
और सोनेसे अधिक हँसते रहो।
और हँसनेसे अधिक जंजालमें
बाल ! अपने आप ही फँसते रहो ॥ ९ ॥

रुदन करना व्यर्थ है निज भाग्यपर
और सुखकी नींद भी जगमें कहाँ।
मोह-ममता देख हममें अधिकतर
ठीक बस हँसना तुम्हारा है यहाँ ॥१०॥

बात सब तुम जानकर अनजान क्यों
दुःखमें पड़, दुःखकी रचते चिता।
पुत्र कहलाकर बताओ किस तरह
तुम कहे जाते यहाँ मानव-पिता ॥११॥

छोड़ अपना देश, वैभव, वंशको।
राजरानीसे स्वमनको मोड़कर—
बादशाही पा गए बेमुल्ककी।
बालपनसे आज नाता जोड़कर ॥१२॥

बाल ! खाली हाथ क्यों आये यहाँ
और आकरके यहाँपर क्या लिया।
देह कोमल है तुम्हारा, मन मृदुल
काम ऐसा कठिन फिर कैसे किया ॥१३॥

देखते हो वस्तु जो संसारमें
है असलमें वस्तु वह कुछ भी नहीं।
मुग्ध होना चाहिये क्या इस तरह
तुम सरीखे योगियोंको हर कहीं ॥१४॥

खेलना-खाना तुम्हें हैं भा रहे
दुःख पड़ते किंतु हमको झेलने।
तुम खिलौने हो यहाँ खुद बन रहे
चाहते फिर क्यों खिलौने खेलने ॥१५॥

खा रहे मिट्टी, तुम्हें लगते सदा
खेल मिट्टीके बहुत अच्छे सभी।
किंतु यह मिट्टी मिला देगी तुम्हें
मोह ममता छोड़, मिट्टीमें कभी ॥१६॥

देखने आये जिसे वह तो स्वयं
देख लो, तुममें सभी वह बस रहा।
भूल जाता सलिल क्यों उस स्रोतको
उमड़ करके घुमड़ वह जिससे बहा॥१७॥

मेघमालाकी तरह क्यों भूलते
नीरनिधिसे अलग निजको मानकर।
अमल गंगाजल हुए तो क्या हुआ
हो कभी हिमसे पृथक् क्या बालवर!॥१८॥

रूपका ही भेद है संसारमें
एक ही तुम और हम दो देहमें।
है बड़ा छोटा यहाँ कुछ भी नहीं
किंतु माया मोह है जग गेहमें॥१९॥

बाल! कस्तूरी-हरिणकी ही तरह
गंध पाने फिर रहे हो क्यों यहाँ।
सुमन हो करके महा मकरंदको
सुमनसे तुम ढूँढ़ते हो यों कहाँ॥२०॥

हर बालकका कर्त्तव्य

(रचयिता—श्रीआरसीप्रसादसिंहजी)

जहाँ रहो, जो काम करो तुम,
परमेश्वरका नाम न भूलो।
चाहे, मिले उच्च पद जितना,
किंतु न अपने मनमें फूलो॥

जीवनमें जितने भी सुख-दुख,
सब उसकी इच्छासे आते।
चींटीसे लेकर हाथी तक,
जीव-जंतु गुण उसका गाते॥

राम कहो या कृष्ण कहो, कुछ
भी उसको तुम क्यों न कहो?
फर्क नहीं कुछ भी पड़ता, तुम
निर्भर होकर सिर्फ रहो॥

वह पिता और माता, विधा,
धन, बंधु और सर्वस्व वही।
वह जीवनका भी जीवन है,
वह प्राणोंका भी प्राण सही॥

जगमें जो भी सौंदर्य अरे,
वह उसी रूपकी छाया है।
आनंद बरसता जो इतना,
उस दिव्य मूर्तिसे आया है॥

सागर, वन, पर्वतकी शोभा,
धरतीकी प्यारी हरियाली।
उस चित्रकारसे ही निर्मित,
किरणोंसे भरी गगन-थाली॥

पावकमें उसकी ज्वाला है,
जलमें उसकी है शीतलता।
दिनकरमें ज्योति स्वयं ही वह,
है वही वायुमें चंचलता॥

उसकी आज्ञाके बिना एक
तिनका भी डोल नहीं सकता।
जबतक वह वाणी दे न, एक
शिशु भी मुँह खोल नहीं सकता॥

वह परम दयालु, विधाता है,
सबका वह एक सहारा है।
वह हृदय-देशमें रहता है,
सबकी आँखोंका तारा है॥

ब्रह्मचर्य ही जीवन है

(रचयिता—श्रीनयनजी)

ब्रह्मचर्यके बिना जगतमें—नहीं किसीने 'यश' पाया।
ब्रह्मचर्यसे परशुरामने
इकिस बार धरनि जीती !
ब्रह्मचर्यसे वाल्मीकिने
रच दी रामायण नीकी !!
ब्रह्मचर्यके बिना जगतमें—किसने 'जीवन-रस' पाया ?
ब्रह्मचर्यसे रामचन्द्रने
'सागर-पुल' बनवाया था !
ब्रह्मचर्यसे लक्ष्मणजीने
मेघनाद मरवाया था !!
ब्रह्मचर्यके बिना जगतमें—सबहीको 'परवश' पाया !
ब्रह्मचर्यसे महावीरने
सारी लंक जलाई थी !
ब्रह्मचर्यसे अंगदजीने
अपनी 'पैज' जमाई थी !!
ब्रह्मचर्यके बिना जगतमें—सबने ही 'अपयश' पाया !
ब्रह्मचर्यसे 'आल्हा-ऊदल'
बावन किले गिराये थे !
पृथीराज दिल्लीश्वरको भी
रणमें मार भगाये थे !!
ब्रह्मचर्यके बिना जगतमें—केवल विष ही 'विष' पाया !
ब्रह्मचर्यसे भीष्म पितामह
'शर-शैया' पर सोये थे !
ब्रह्मचारी वर 'शिवावीर'से
यवनोंके दल रोये थे !!
ब्रह्मचर्यके रसके भीतर—हमने तो 'षटरस' पाया !
ब्रह्मचर्यसे राममूर्तिने
छातीपर पत्थर तोड़ा !
लोहेकी जंजीर तोड़ दी,
रोका मोटरका जोड़ा !!
ब्रह्मचर्य है 'सरस' जगतमें—बाकीको 'करकश' पाया !

ब्रह्मचर्यसे सूर्य देवता
बालकसे दिखलाते हैं !
ब्रह्मचर्यसे सुघर चन्द्रमा
नयनानन्द पिलाते हैं !!
ब्रह्मचर्यके बिना वदनमें—नहीं किसीने 'कस' पाया !

कोई बड़ा काम करना है,
अथवा नाम कमाना है !
भारत माका झंडा ऊँचा
अगर तुम्हें फहराना है !!
ब्रह्मचर्य बिन जगमें—बच्चो ! कौन सफल बन 'हँस' पाया ?

शिशु-समयके उपदेशप्रद गीत

(रचयिता—श्रीरामनारायणजी दुबे)

[झूलेपर लोरी]

तुम तो झूलो वारे वीर !
वीरको झुलाओ सखी जमुनाके तीर ।
इस झूलेमें, झूल चुके हैं; हरिश्चन्द्र प्रण-वीर ॥
राम-कृष्ण-से ईश्वर झूले; बुद्धदेव गंभीर ।
पाठ अहिंसाका सिखलाया; झूले महावीर ॥
मूक प्राणिपर करुणा लाये; बहा रहे दृग नीर ।
राणा[1], शिव[2], नानक भी झूले; हरी धर्मकी पीर ॥
यवनोंका फिर नाश किया था; ले करके शमसीर ।
केशव, तुलसी, सूर भी झूले; झूले दास कबीर ॥
गाँधी, तिलक, जवाहर झूले; जगी हिंद तकदीर ।
बन जाओ, बलशाली भैया; नेताजी-से वीर ॥
मातृभूमिकी सेवा करना; धरकर मनमें धीर ।
तुम तो झूलो वारे वीर;
वीरको झुलाओ सखी जमुनाके तीर ॥

---

१. महाराणा प्रताप । २. शिवाजी ।

बालक

(रचयिता—लाला श्रीजगदलपुरीजी)

ओ बालक, तू अति प्यारा है !
तेरा चंदा-सा मुखड़ा है,
हर लेता मनका दुखड़ा है,
तुझको 'सुनीति'ने जन्म दिया—
तू भग्न-हृदयका टुकड़ा है;
नीलाम्बरका 'ध्रुव' तारा है !
ओ बालक, तू अति प्यारा है !!

जग-ज्वालामें जलकर, तपकर,
'प्रहलाद' बना प्रभुको जपकर,
दैहिक-हिरण्यके घरमें भी—
तेरा हिरण्य-जैसा अंतर;
जगमें है, जगसे न्यारा है !
ओ बालक, तू अति प्यारा है !!

अपने हाथोंसे बना लिया,
अपने हाथों ही मिटा दिया,
रच खेल घरौंदेका तूने—
ईश्वरताका संकेत किया;
कठपुतला-सा जग सारा है !
ओ बालक, तू अति प्यारा है !!

तुझमें 'अभिमन्यु'—महत्ता है,
तू 'जयमल' है, तू पत्ता है,
तू 'राय हकीकत' 'चन्द्रहास'—
हृदयोंमें तेरी सत्ता है;
तुझसे अस्तित्व हमारा है !
ओ बालक, तू अति प्यारा है !!

तू अवतारी 'रघुनंदन' है,
लीलाधारी 'यदुनंदन' है,
तेरे चरणों संसार झुका—
किसने न किया पग-वंदन है;
तूने भू-भार उतारा है !
ओ बालक, तू अति प्यारा है !!

तू सुकवि 'सूर'को भाया है,
'तुलसी'ने तुझको गाया है,
वह एक अलौकिक आकर्षण—
जिसने इस भाँति रिझाया है;
जिससे तू गया सँवारा है !
ओ बालक, तू अति प्यारा है !!

बालकका मनोरथ

मैया ! मैं अब खूब पढ़ूँगा।
कभी किसीसे नहीं लड़ूँगा ॥
पढ़-लिख होऊँगा होशियार।
सभी करेंगे मुझसे प्यार ॥
पैसे खूब कमाऊँगा मैं।
बढ़िया घर बनवाऊँगा मैं ॥
भाई-बहिन प्राणसे प्यारे।
सुखी रहेंगे मुझसे सारे ॥
उनसे कुछ न छिपाऊँगा मैं।
सबको हृदय लगाऊँगा मैं ॥
मेरा सब कुछ होगा उनका।
अलग नहीं रक्खूँगा तिनका ॥
सबको मैं अपना समझूँगा।
धनमें हिस्सा सबको दूँगा ॥

मेरी बाड़ीके फल-मूल।
सुंदर और सुगंधित फूल ॥
सबके वे आयेंगे काम।
सबको दूँगा मैं आराम ॥
पर-पीड़ामें मैं रोऊँगा।
पर-सुख देख सुखी होऊँगा ॥
अपना सुख मैं सबको देकर।
सुखी बनूँगा पर-दुख लेकर ॥
भूखोंको दूँगा निज-भोजन।
सुखसे मैं कर लूँगा अनशन ॥
निज-पर भेद मिटाऊँगा मैं।
यों परमेश रिझाऊँगा मैं ॥
कोख तुम्हारी सफल करूँगा।
सुखसे जीकर सुखी मरूँगा ॥

बालकके प्रति

(रचयिता—श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश,' साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार)

(१)

विधिकी सुघर क्रीड़ास्थलीमें जन्म तेरा बाल है।
प्राणी सभी तुमको निरख होते मुदित सब काल हैं॥
शिशुरूपमें होता तुम्हारा प्रथम जब अवतार है।
उस समय स्वर्गिक सुख सभी मिलता अपूर्व अपार है॥

(२)

मृदु अंकमें जब अम्बके तुम खेलते हो मोदसे।
होती जननि पुलकित अहा सौभाग्यपूर्ण विनोदसे॥
सुखमय तुम्हारा दिव्य जीवन परम शोभाधाम है।
हे सृष्टिके वर रत्न बालक दिव्य तेरा नाम है॥

(३)

वह बालपनकी स्मृति अनोखी प्यारकी घड़ियाँ अहा।
वह मंद मधु मुसकान चितवन सरस मिलती हैं कहाँ॥
दीपक शिखा-सी लहरती आशा तुम्हींमें सर्वदा।
नृप-रंककी भी कामना तुमसे बनी रहती सदा॥

(४)

गम्भीर सागर-सा तुम्हारा मन परम अभिराम है।
तुमपर कभी होता निछावर कोटि शत-शत काम है॥
होते तुम्हीं हो देशके विख्यात नेता भी कभी।
दुख दूर तुमसे ही सदा सब भाँति होते हैं सभी॥

(५)

चिंता तुम्हारे हृदयसे रहती सदा अति दूर है।
लगता तुम्हारा खेलमें मन मुग्ध हो भरपूर है॥
जीवन सरस आमोदमय भाता तुम्हें सब काल है।
होता नहीं प्रभुकी कृपासे एक बाँका बाल है॥

(६)

वर वीर होकर देशका करते तुम्हीं कल्याण हो।
हो दीनजन-रक्षक तुम्हीं होते सभीके प्राण हो॥
विद्या विनय साहस तुम्हारा ध्येय होता है अहा।
तुम पूज्य होते देव-से विख्यात होते हो महा॥

(७)

निज देशके तुम वीरवर भावी सुखद संतान हो।
आशा तुम्हीं हो सफलताकी, तुम अनोखी शान हो॥
तव नित्य निर्मल प्रेमसे परिपूर्ण हृदय महान् है।
विद्वेष-ईर्ष्या-भावका तुमको जरा न ज्ञान है॥

(८)

संस्कृति तुम्हारी जिस तरह पावन परम होती महा।
इस जन्मभर दृढ नींव उसकी कभी डिगती है कहाँ॥
यह भूमि अपनी जन्मकी तुम स्वर्ग रचते हो कभी।
बनकर पुजारी राष्ट्रके तुम कार्य करते हो सभी॥

(९)

प्रिय! एक दिन बापू तुम्हीं बनते परम मतिमान हो।
ईसा मुहम्मद बन कभी रखते धराकी शान हो॥
इस प्रकृति-प्रांगणके खिलौना तुम्हीं हर्ष अपार हो।
लेते कभी बन बाल! तुम ही रामके अवतार हो॥

(१०)

शुचि संत-सा होता कभी निर्मल तुम्हारा भाव है।
जब दूर हो जाते हृदयसे कपटपूर्ण दुराव हैं॥
होता तुम्हारा तभी जगसे वीर बेड़ा पार है।
हे बाल! हृदय विशाल तुमको नमन सौ-सौ बार है॥

मैं विद्यार्थी, मैं महाप्राण !

(रचयिता—श्रीजयशंकरजी त्रिपाठी शास्त्री)

मैं मानवताका एक सखा,
मैं राष्ट्र-युद्धका रक्त-दान,
मैं विद्यार्थी, मैं महाप्राण !
मैं विष्णु-चरणकी तीन डगें,
मैं ब्रह्म-कमंडलका उफान,
मैं रुद्र-नयनकी आग और
सागरमें बाडव महाप्राण।
मेरी बाँहोंमें रुकी हुई,
उत्तुंग-तरंगें सागरकी,
मेरे पैरोंमें अचल खड़े,
ये कंठ-घोषणा बादलकी,
आप्लावित करनेको जगती,
यह सिंधु-हृदय करता प्रयाण !
मैं मानवताका० ॥ १ ॥

वह नील-गगन, यह हरी धरा,
खेतोंकी फसलोंका उभार,
निर्झरिणीके तटके ऊपर
मेरी विद्याके खुले द्वार।
मैं शैल-शिलाओंपर बैठा—
नभकी बातें सोचा करता,
मुझसे कृतकृत्य हुआ पर्वत,
उस अंबरको कोसा करता,
वन-आश्रम विद्याके निकेत,
मेरा वह नैसर्गिक-विहान।
मैं मानवताका० ॥ २ ॥

तूफानोंसे लड़नेवाला,
मुझमें असीम अनुराग त्याग,
वाणी-मंदिर, आचार्य-हृदय,
हैं जान सके उत्सर्ग-याग,
मैं आरुणि हूँ, मैं एकलव्य,
संकल्प हमारा नेता है,
मिट्टीका भी आचार्य मुझे,
तो अग्नि-ज्ञान दे देता है।
आचार्य-निदेशोंसे तोड़ा,
पाञ्चाल-भूपका गर्व-ज्ञान !
मैं मानवताका० ॥ ३ ॥

खोलो इतिहास, उलट देखो—
मेरे शोणितकी लाल-धार,
है तक्षशिलामें गूँज रहा
मेरी हुंकृतिका रव अपार।
चाणक्य रहे आचार्य वहाँ,
मैं चन्द्रगुप्त लघु-ज्ञान रहा,
है याद सिकन्दरको वह दिन,
इतिहास जिसे फिर जान रहा।
चमचमा उठी ईरान तलक,
तव चन्द्रगुप्तकी वह कृपाण !
मैं मानवताका० ॥ ४ ॥

युगने अपनी करवट बदली,
खंडहर थे गुरु-कुलके निकेत,
जीवनके संगरमें लड़ते,
आचार्य हमारे रहे खेत,
मैं दीन-हीन, मैं पंगु हुआ,
आदर्श हमारे हुए शमन,
मेरे हृदय-स्थलमें निर्मित,
हो गया स्वार्थका राज-भवन।
अब नहीं राष्ट्रका प्रेम रहा,
स्वरमें सूखे थे साम-गान !
मैं मानवताका० ॥ ५ ॥

संतोंकी वाणीमें फिरसे,
मेरे गुरुकुलने कसा ठाट,
है याद मुझे नानक, समर्थ,
पंजाब और पश्चिमी-घाट।
दिल्लीकी दीवारें काँपी—
जिनका क्षण सिंह-नाद सुनकर,
वह सिक्ख-मराठोंका जीवन,
हा, चला गया बस वंदन कर।
गुरुकुलके टूटे शिला-खंड,
निर्झरमें गाते रुदन-गान !
मैं मानवताका० ॥ ६ ॥

मैं गिर-गिरकर उठनेवाला,
मैं चेतनताकी दीप्त-ज्वाल,

मैं साहसका उनचास पवन,
दोनों मिलकर मैं महाकाल।
कवलित करनेको व्यष्टि जगत,
मैं शेषनाग फुंकार रहा,
युग-जगत हमारी साँसोंपर,
कँपता ही बारंबार रहा।
लंदनमें फूँका नया-ज्ञान,
मैं मालवीय, गाँधी महान्!
मैं मानवताका० ॥ ७ ॥

मेरी बाँहोंपर गिरि टूटे,
मेरे मानसमें बुझी गाज,
पर आज धरातलमें होता,
मेरा सब वैभवका समाज।
यदि खुदीरामका रोष नहीं,
बरसा होता इस धरतीपर,
यदि नहीं निछावर भू होती,
आजाद वीरकी मस्तीपर।
मैं आर्यदेशका विद्यार्थी,
मैं विश्व-हृदय-सा मूर्तिमान्।
मैं मानवताका० ॥ ८ ॥

वासना बसी थी मानसमें,
जीवनमें छाया व्यष्टि-राग,
हो राख उड़ी होती नभमें,
चेतनताकी जागती आग,
यदि नहीं गर्ज करके सुभाष,
गाते क्षण राग प्रभातीका,
यदि नहीं गूँजता जय-रवसे,
वह देश ब्रह्मकी घाटीका।
मैं वीर जवाहर सेनानी,
मैं विश्व-क्रान्तिका हूँ निदान!
मैं मानवताका० ॥ ९ ॥

मैंने पृथ्वीको थाम लिया,
मैंने डाले गिरिवर उखाड़,
मैंने तोड़े नक्षत्र-कुसुम,
अंबरके द्रुम-दल तोड़ फाड़।
जब असहयोगकी क्रांति मची,
हम स्वयं छोड़ कालेज चले,
अन्यायीकी छातीपर हम,
प्रलयार्क-ज्वालसे तेज चले।
काँपा शासन भू शान्त हुई,
युगने बदली करवट उतान!
मैं मानवताका० ॥१०॥

सन बयालीसकी महाक्रांति,
मेरे जीवनका भव्य-रूप,
जब जन्म-भूमिको सौंप दिया—
गुरु-ज्ञान, रूप, वैभव अनूप।
माताका मुझको मोह नहीं,
था पिता-प्रेमका नाम नहीं,
जब राष्ट्र-पिता हो बन्धनमें,
क्षण भर हमको आराम नहीं!
मैं स्वतन्त्रताका अग्रदूत,
मेरा स्वरूप कितना महान्!
मैं मानवताका० ॥११॥

मैं विद्यार्थी आचार्य हुआ,
मैं हुआ देशका कर्णधार,
मैं जिलाधीश, मैं महामहिम,
मेरा जीवन कितना अपार।
मैं शोषक हूँ, मैं पोषक हूँ,
मैं भ्रान्ति-शान्तिका कर्ता हूँ,
मैं राजतन्त्र बन सकता हूँ,
मैं प्रजातन्त्र, मैं जनता हूँ।
मैं प्रलय सृष्टि दोनोंका घर,
जैसा मनमें धँस गया ज्ञान!
मैं मानवताका० ॥१२॥

पर आर्य-देशका विद्यार्थी,
अभिमान मुझे यह नहीं शेष,
चलते चित्रोंने लूट लिया,
मेरा चरित्र—वैभव अशेष।
मैं जाग रहा हूँ जीवनमें,
पर मतवाला-सा झूम रहा,
रुक गयी हमारी प्रगति यहाँ,
धरणी-अंबरतक घूम रहा।
प्रभुता-यश स्वार्थ-महोदधिमें,
बुझ रहा सूर्य-सा भासमान,
मेरे जीवनका यह बिहान!!
मैं मानवताका एक सखा,
मैं राष्ट्र-युद्धका रक्त-दान,
मैं विद्यार्थी, मैं महाप्राण!!!

श्रीकृष्णका शैशव और जन-सेवा

(रचयिता—श्रीराधेश्यामजी द्विवेदी)

क्या वीरो तुमने नहीं सुनी, गाथा अद्भुत नट नागरकी।
बृज बाल कन्हैया नँदनंदन, उस मुरलीधर गुण आगरकी॥
बालक ही बालक सब मिलकर, उद्धार देशका करनेको।
बस खेल-खेलमें पृथ्वीका, अति दारुण संकट हरनेको॥
वे अपनी टोली बना-बना, विचरण करते थे जहाँ-तहाँ।
मानवता अभय बनाना ही, माना जीवनका श्रेय महा॥
सब मित्रोंने निज हृदयहार, श्रीकृष्ण चुने थे निज नेता।
जो जन-जीवनके मूर्त रूप, थे सकल राष्ट्रके शुभचेता॥
बालकपनमें ही प्रथम लोक-माता गौका परित्राण किया।
बन ग्वाला उनका पेट भरा, जनताने अमृत पान किया॥
दधि-दूधकी मटुकी भर-भर कर, जीवनका स्रोत बहाया था।
निज देश बनाने बलशाली, जन-जन नीरोग बनाया था॥
उन दिनों सभी व्रजके वासी, जल-कष्ट भोगते रहते थे।
विषधरके विषसे यमुना-जल, सब विषसम देखा करते थे॥
वह महाबली बालक जनके हित कूद पड़ा तत्काल वहाँ।
फणि-फणको कुचला देख त्वरित, विस्मयमें सब थे लोग जहाँ॥
यमुना-जल निर्मल हुआ सभी पशु-पक्षी गणको त्राण मिला।
लहरोंके मधु कल-कल स्वरसे, प्रिय शैशवको सम्मान मिला॥
देखो फिर जन-संकट आया, आकस्मिक वनमें आग लगी।
थे बाल मित्र गौओंके संग, गौ एक-एक कर शीघ्र भगी॥
गौ तृण औ नष्ट हुए पादप, ग्वालोंका मंडल वहीं घिरा।
वह अग्नि तेज, आ शीघ्र निकट, जलती ज्वालामें दौड़ गिरा॥
उस महातेजमें तेज छिपा, दावानल शांत हुई वनमें।
फिर चैनकी वंशी बजी वहाँ, सब ग्वाल बालकी मधुवनमें॥
उनका बल निर्बलका बल था, जन-सेवाका पावन व्रत था।
वह गोप बालकोंका मंडल, मानवकी रक्षामें रत था॥
उस बालरूप जन-नेतासे, अत्याचारी सब घबराये।
नाना रूपोंमें छल करने बारी-बारीसे सब आये॥
पर सभी विषम बाधाओंसे वह बाल साहसी नहीं हटा।
वह वीर मुदित मन, दनुज-दमन-हित, भुजा उठा रणक्षेत्र डटा॥
बस खेल-खेलमें दानव-दल सारा ही उसने नष्ट किया।
पहुँचाया मृत्यु घाट उसको, जिसने जनताको कष्ट दिया॥
निज कुलका मोह छोड़ करके जन जीवनसे नाता जोड़ा।
प्रिय देश शांतिमें बलि जाने, अपना मुख कभी नहीं मोड़ा॥

वह युग भारतमें आया था, शैशवने ली थी अँगड़ाई।
औ, राजनीति भी उस बालकके रोम-रोममें थी छाई ॥
जो शैशव पहिले भारतमें था राष्ट्र-प्रेमका मूल बना।
वह गौरव रहना स्वाभाविक, यदि आज वही अनुकूल बना ॥
श्रद्धेय रहेगा चिर अपना, वह बाल विजेता यदुनंदन।
शुभ भावी भारतके प्रतीक, शैशवका करते हम बंदन ॥

बालकोंको शिक्षा

(रचयिता—श्रीरामचन्द्रजी शास्त्री 'विद्यालङ्कार')

माता और पिताकी सेवा करना परम धर्म मानो,
सिद्धि इसीसे तुम्हें मिलेगी जीवनमें यह सच जानो।
कहो न चुभती बात किसीको, कभी न जीव सताओ तुम,
कभी न रूठो, कभी न अकड़ो, जीवन सरल बनाओ तुम ॥१॥
ल्यारी[1]का-सा निज स्वभाव मत होने देना जीवनमें,
नटखट मत बनना, रखना गुरु-ईश्वर-देश-भक्ति मनमें।
केवट बनना भारत-नौके, शुभ सच्ची धुनके होना,
बातों या गप्पोंमें अपना व्यर्थ न पल भी तुम खोना ॥२॥
लड़को ! आपसमें मत लड़ना, दुर्व्यसनोंसे रहना दूर,
कर्मठ, उत्साही, मृदुभाषी, बनना सभ्य, सुजन अरु शूर।
अंकुशमें अपने पूज्योंके रहकर व्यवहारज्ञ बनो,
कला, ज्ञान, विज्ञान, नीति, सत् शिक्षाके मर्मज्ञ बनो ॥३॥
गीत, नाच, फैशन, बहुव्ययसे बचो, ग्राह्य सब गुण ले लो,
ताश तथा चौपड़, चरभर, शतरंज वगैरह मत खेलो।
प्रेम, सत्य, औदार्य, शीलता, दया, धैर्य अपनाओ तुम,
सच्चरित्र, निर्भीक, मनस्वी, धर्मात्मा बन जाओ तुम ॥४॥
गो-द्विज-देश-जाति-रक्षक बन करना अपना उज्ज्वल नाम,
रत्न देशके कहलाओ तुम ऐसे ऊँचे करना काम।
खलकी संगति कभी न करना, सज्जन संगतिमें रहना,
पुत्र कहा कर भारत मा के, इसकी अपकृति मत सहना ॥५॥
रच सत्काव्य समाज हृदयमें भरना तुम नित नूतन भाव,
कीट समान न जीना जगमें, गुण-संग्रहमें रखना चाव।
शिक्षाहीन दीन दुखियोंको शिक्षित कर दुख हरना तुम,
क्षान्तिमान बन इस भारतको लड़को ! सुखिया करना तुम ॥६॥

१—लोमड़ी

विश्वगत व्यवस्थामें बालकका हाथ

(लेखक—श्रीयुत के० यू० मंत्रा, एम० ए० डिप० मांट०)

मानव-इतिहासके आदिकालसे ही प्रत्येक दार्शनिक, विचारक एवं वैज्ञानिक प्रकृतिगत नियमानुवर्तिता, व्यवस्था, संतुलन और सामञ्जस्यके प्रति आश्चर्य, भय एवं विस्मय प्रकट करता आया है। मनुष्यने प्रकृतिका जितना ही अधिक अध्ययन और अवगाहन किया है, वह उतना ही विश्वगत व्यवस्थापर चकित हुआ है, जो सृष्टिके आरम्भसे अबतक और आगे भी निरन्तर क्रियाशील रहेगी। इस व्यवस्थाके उद्देश्यके विषयमें हमारी धारणा स्वाभाविक ही सदोष एवं अपूर्ण रही है तथा हमने इसके पीछे किसी व्यक्तिविशेषका हाथ माना है। तब भी एक निष्कर्ष तो स्पष्ट अथच अनिवार्य है कि विकास, परिवर्तन और प्रगति भी इस व्यवस्थाके अङ्ग-मात्र हैं; वास्तवमें तो इस व्यवस्थाके बिना किसी वस्तुकी सत्ताकी भी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह विश्वगत व्यवस्था और उसकी भावना इतनी साधार एवं ठोस है कि व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोणवालोंके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे सृजनात्मक और ध्वंसात्मक—दोनों प्रकारकी शक्तियों-की—सत् और असत्, समर और सभ्यता, स्वास्थ्य तथा रोग, प्रेम एवं घृणाकी पहलेसे कोई व्याख्या न करके यह समझनेकी चेष्टा करें कि ये उपयुक्त व्यवस्थाको चलानेमें सहायक हैं, जिस व्यवस्थाके 'चरम लक्ष्य'का पता लगानेमें मानव-बुद्धि सदा ही कुण्ठित रही है।

किंतु मनुष्य इन सब द्वन्द्वोंकी व्याख्या करने एवं उनके पीछे किसी व्यक्ति-विशेषका हाथ माननेसे विरत नहीं हो सकता। उसके लिये सोचना, अनुभव करना, क्रियाशील होना और निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक है। उसका ऐसा करना उस विश्वगत व्यवस्थाके अनुकूल ही है, जो जीवनको क्रमशः विकासकी ओर ले जाती है, जिससे कि प्राणी इस व्यवस्थाके कार्यमें अधिकाधिक समझदारीसे तथा बोधपूर्वक भाग ले सके। मनुष्य यद्यपि इस विकासकी चरम सीमापर पहुँचा हुआ प्राणी है, फिर भी उसे अपने कार्यका अत्यन्त ही अल्प ज्ञान है। अतएव मनुष्यका अधिकांश कार्य आज भी अबोधपूर्वक ही होता है, ताकि उपर्युक्त व्यवस्था कठोरतापूर्वक किंतु साथ ही सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये चलती रहे। मनुष्यका दुःख ही और उसीके परिणामरूपमें उसकी सुखके लिये खोज उसे अपने कार्यको अधिकाधिक समझने तथा उसे प्रकृतिके व्यापक हितकी दृष्टिसे सम्पन्न करनेमें प्रवृत्त करती है; क्योंकि प्रकृतिके हितके साथ उसके अपने जीवनका आनन्द भी जुड़ा हुआ है।

दूसरा तथ्य जो विकास-क्रमसे एवं वर्तमान प्राणि-जगत्की निम्नतम तथा उच्चतम योनियोंके अन्तरसे प्रकट है—यह है कि एक ओर तो नवजात शिशुकी दुर्बलता, अपूर्णता और शिक्षणापेक्षता क्रमशः बढ़ी हुई पायी जाती है, दूसरी ओर वयस्क प्राणियोंका वात्सल्य, संरक्षणशीलता तथा सँभाल भी उसी मात्रामें बढ़ी हुई देखनेमें आती है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृतिकी प्रवृत्ति जनन-प्रक्रिया तथा भ्रूण एवं शिशुके संरक्षण-की पद्धतिको क्रमशः पूर्णताकी ओर ले जाने और साथ-ही-साथ उच्चतर योनिके शिशुओंको अपने बड़ोंसे तथा वातावरणसे शिक्षा एवं पूर्णता प्राप्त करनेके लिये अधिकाधिक संवेदन-शील और अपूर्ण छोड़ देनेकी रही है। बौद्धिक विकासकी तथा आस-पासकी विषम परिस्थितियोंके अनुकूल बन जानेकी क्षमताकी सम्भावना जिस योनिमें जितनी अधिक है, नवजात शिशु उस योनिका उसी अनुपातमें अधिक संवेदनशील, अपूर्ण और शक्तिसम्पन्न होता है। ऐसा लगता है कि प्रकृतिने मानो यह जान लेनेके बाद कि उसकी व्यवस्थाके अनुसार जगत्के सर्वोच्च प्राणी मनुष्यके द्वारा उसके कार्यमें बोधपूर्वक योगदान दिये जानेकी सम्भावना है, अपने चरम लक्ष्यपर पहुँचनेकी प्रक्रियाको बदल दिया है। आस-पासकी बदलनेवाली परिस्थितियोंके अनुकूल, एक दूसरेसे अधिक विभिन्न एवं उच्चतर प्राणियोंकी सृष्टि करनेकी अपेक्षा उसने जन्मके बाद भी मानव-शिशुकी भ्रूणावस्थाको चालू रक्खा है, जिससे कि वह उस समय भी काम करनेवाली अपनी मानसिक ग्रहणशील शक्तियोंद्वारा मनुष्यकी तत्कालीन सभ्यता और संस्कृतिको ग्रहण और परम्परागत रूपमें प्राप्त कर सके और आगे चलकर प्रकृतिको बोधपूर्वक सहयोग देता रहे। अतएव विश्वगत व्यवस्थाके संचालन एवं विकासको आगे बढ़ानेमें बालकका भी मुख्य एवं सबल हाथ है।

उच्चतर बोध, अधिक विकसित बुद्धि और आश्चर्य-जनक कार्यक्षमता तथा कुशलतासे सम्पन्न हाथ मनुष्यकी पृथ्वीके अन्य जीवोंसे स्पष्टरूपमें विशेषता प्रकट करते हैं। यहाँतक कि उसने प्रकृतिको सभ्यताकी चादर उढ़ा दी है और वर्तमान अन्य योनियोंके अधिक स्वस्थ एवं सुन्दर रूपान्तर उपस्थित कर उसे वैभवशाली भी बना दिया है; किंतु मनुष्य अधिकांश-में इस बातसे अनभिज्ञ है कि विश्वगत व्यवस्थाके एक अन्य शक्तिमान् कार्यकर्ताके बिना वह अपनी आदिकालीन स्थिति और विकाससे आगे कदाचित् ही बढ़ सकता था। वह शक्तिमान् कार्यकर्ता बालक है, जो मानवकी सम्पूर्ण सृष्टि, संस्कृति और सभ्यताको आत्मसात् करके अपनेमें मूर्त करने

और इस प्रकार उन्नतिके मार्गको परम्परा-क्रमसे चालू रखने-की अनन्त शक्तियोंसे सम्पन्न होकर आता है ।

आज संसारके सभी देशोंने सभ्य और संगठित जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें निर्माणकी योजनाएँ बनायी हैं । सभी जगह पञ्चवार्षिक और दशवार्षिक योजनाकी बात सुनायी पड़ती है । इससे प्रकट होता है कि मनुष्य दूसरोंका अनुकरण करनेमें तथा कुछ अंशतक विश्वगत व्यवस्थाके अनुकूल आचरणमें बुद्धिपूर्वक प्रयत्नशील है । प्रकृतिपर विजय पानेकी धुनमें 'वैज्ञानिक गवेषणा'के द्वारा पहले प्रकृतिको समझनेके लिये उसने नाना प्रकारकी प्रयोगशालाएँ स्थापित की हैं; किंतु शिक्षाक्षेत्रमें अब भी अस्पष्ट, धुँधली एवं अनिश्चित भावनाओं-का ही साम्राज्य है । आज मनुष्यकी सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि वह वैज्ञानिक किंतु साथ-ही-साथ अत्यन्त श्रद्धापूर्ण मनोवृत्तिसे तथा विनम्रतापूर्वक बालककी सेवा करे एवं उसके भीतर क्रियाशील विश्वगत व्यवस्थाको समझनेमें उसकी सहायता करे । आज मनुष्यको मानव-प्रयोगशालाओंकी आवश्यकता है—जिनका उद्देश्य हो ऐसे लघु संसारकी सृष्टि करना, जिसमें संस्कृति और सभ्यताका सर्वोत्तम रूप देखनेको मिले और जो शिशुके विकासकी नैसर्गिक आवश्यकताओं, संतुलन और निश्चित कार्यक्रमकी पूर्तिमें उपयुक्त रीतिसे सहायक बने । मनुष्यको उदात्त भावनाके साथ-साथ अन्वेषककी विवेक-बुद्धिको लेकर बालककी सेवामें प्रस्तुत होना पड़ेगा । इसी क्रियासे वह अपने मूलभूत बालकके प्रति अपनी चेतनाहीन और आवेगजन्य प्रवृत्तिके ऊपर उठ सकेगा ।

मनुष्यने ज्ञान, विज्ञान और आत्मसंयम प्राप्त करके प्रकृतिपर विजय पायी । उसे अपनी संस्कृति और सभ्यताकी रक्षाके लिये शिक्षाकी समस्यापर भी वैज्ञानिक प्रक्रियासे विचार करना होगा और बालकके प्रति उदात्त एवं आत्मसंयमयुक्त भावना लेकर बढ़ना होगा । वयस्क व्यक्ति यदि संस्कृति और सभ्यताका निर्माता है तो बालक मानव-व्यक्तित्वका बनानेवाला है । बालकका बड़ोंकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण एवं ठोस कार्य है; परंतु बड़ोंको चाहिये कि उसके लिये साधन जुटायें । मानवताके निर्माता बालकको बिना पहचाने और बिना उसकी सहायता किये मनुष्य व्यर्थ ही अपनी 'आत्मा' की खोजमें लगा है । बालक संस्कृति और सभ्यताको आत्मसात् करता है और इस प्रकार मानवके व्यक्तित्वका निर्माण करता है ।

मनुष्यको यदि विनाशसे बचना है तो उसे चाहिये कि विश्वगत व्यवस्थामें बालकका जो कार्य है, उसे वह समझे और उसमें बालककी सहायता करे ।

मानसमें बालक

(लेखक—श्रीघासीराम भावसार 'विशारद')

जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता ।
ते जन बंचित किए बिधाता ॥

मानस—श्रीरामचरितरूपी मानसरोवरमें क्या नहीं है ? सभी कुछ है और सबके लिये है । मानव कहलानेवाला कोई भी प्राणी एक बार डुबकी तो लगाये इसमें; फिर तो 'जिन्ह खोजा तिन्ह पाइयाँ' । हमने भी बाल-विद्यार्थी बनकर इसमें मज्जन किया । जो कुछ प्राप्त हुआ, वही अपने बाल-साथियोंके समक्ष प्रस्तुत है ।

बाल-कवि तुलसीदास

सर्वप्रथम हमें जिन महापुरुषका बालरूपमें दर्शन हुआ, वे हैं प्रातःस्मरणीय पूज्य महात्मा, मानसके अमर रचनाकार महाकवि स्वयं श्रीतुलसीदासजी । आपकी बाल-विनय सुनिये—

संत सरल चित जगत हित जानि सुभाउ सनेहु ।
बाल बिनय सुनि करि कृपा राम चरन रति देहु ॥

संत तो ठहरे सदाके जगत्-हितकारी, उन्हें परदोष-दर्शनसे क्या प्रयोजन । भय तो है उन कवि-कोविदों—कविपुङ्गवों—का, जो बाल (केश तथा बालक) की खाल निकाला करते हैं । अस्तु, उनसे भी सुरुचिपूर्ण कृपाके लिये श्रीतुलसीदासजीने कच्चे-बच्चे बनकर विनती कर ही ली है—

कबि कोबिद रघुबर चरित मानस मंजु मराल ।
बाल बिनय सुनि सुरुचि लखि मो पर होहु कृपाल ॥

श्रीतुलसीदासजी कोई नयी (मौलिक) कहानी तो गढ़ने जा नहीं रहे थे, किंतु वही बचपनकी 'सुनी-सुनायी' कथा कह रहे थे, जो उन्होंने अपने गुरुसे सोरोंमें सुनी थी । यथा—

मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत ।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥

दूसरी बात यह है कि सहस्रों वर्षोंतक तपस्या करनेवाले त्रिकालज्ञ वृद्ध महर्षियों—व्यासजी तथा वाल्मीकिजीके समकक्षमें कलियुगी अल्प-आयु तुलसीदासजी निरे बालक ही ठहरते हैं, इस हेतु उनका बाल-कविके रूपमें विनती करना उचित ही है; फिर कलियुगमें आगे होनेवाले कवि-रत्नों, कवि-सम्राटों, महाकवि चच्चा, नन्ना, दद्दा, बब्बाके आगे—जो रबड़-छन्द, केंचुआ-छन्द आदि रचेंगे, दोहे-चौपाईकी

रचनाको काव्यकुञ्जमें स्थान न देंगे और उसके-ऐसे रचनाकारको क, ख, ग सीखनेवाली शालाका बालक मानेंगे—पूर्नसे ही बालक बन जाना तुलसीदासजी-जैसोंका काम है। वे कहते हैं—

कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ॥

और साथ ही यह भी कि—

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल बचन मन लाई॥

स्पष्ट एवं शुद्ध शब्दोंका उच्चारण बालकोंके लिये सम्भव नहीं। वे स्वभावतः ही तोतली वाणी बोलते हैं, जैसे क्षेत्रको खेत; तिसपर भी—

जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता॥

—दूसरे भी उनके शब्दोंकी कोई विशेष आलोचना नहीं करते। हाँ, तुलसीदासजीके तोतले शब्दोंपर ठहाका मारकर हँसनेवालों—राष्ट्रभाषा हिंदीके विरोधियों—की आज कमी नहीं है। गनी, गरीब, गुनह, गुलाम आदि यावनी भाषाके शब्द तो हैं ही; और भी कई ऐसे शब्द हैं, जिन्हें कोई अवधी, कोई मागधी, कोई व्रजभाषा, कोई शौरसेनी और कोई भाषा तथा प्राकृत कह उनके तोतलेपनपर विवाद किया करते हैं। असावधान लिपिकारोंका प्रमाद भी एक कारण हो सकता है। अस्तु, जो कुछ भी हो—

जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बाल कबि करहीं॥

मेरे प्रबन्धको बुद्धिमान् मनुष्य आदर नहीं देंगे, यह जानते हुए भी एक 'बाल कवि' श्रमको श्रम न मानकर श्रम करता है। तुलसीदासजीने भी वही किया है। क्यों किया है, यह आगेकी पंक्तियोंसे ज्ञात होगा।

भगवान् राम बालकरूपमें

कहते हैं कि चित्रकूटमें मौनी अमावास्याके दिन भगवान् श्रीरामने बालकरूपमें तुलसीदासजीके सामने प्रकट होकर 'बाबा! हमें चन्दन दो।' यों कहकर चन्दन माँगा था। उस अद्भुत बाल-छबिको निहारकर तुलसीदासजी शरीरकी सुध-बुध भूल गये थे।

विनय-पत्रिकामें श्रीराम भूपाल बने हुए सिंहासनपर विराजमान हैं। श्रीसीताजी तथा अन्य भ्राता भी विराजमान हैं। श्रीहनुमान्‌जी सेवामें उपस्थित हैं। दरबार लगा हुआ है। इस दरबारमें तुलसीदासजीने अपनी 'अर्जी' बालक बनकर पेश नहीं की है। वे वहाँ गरीब, गुलाम, दास बनकर पहुँचते हैं; किंतु मानसमें तो वे अपने प्रभुका बालरूप अधिक देखते हैं। वे ही क्या, मानसमें तो—

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥

—वाला सिद्धान्त पूरा-पूरा निभा है।

× × × ×

चलकर देखिये जनकपुरीमें। राजा जनक स्वयं पूछ रहे हैं—

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक।
मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥

वहाँकी स्त्रियोंको श्रीराम किशोर-अवस्थावाले भूप-कुँअर प्रतीत हुए; परंतु बालकोंके बीच वे बालक बने हुए थे—

पुर बालक कहि कहि मृदु बचना। सादर प्रभुहि देखावहिं रचना॥

मृदु, मधुर, मनोहर वचनोंद्वारा बालकोंसे पूरा-पूरा परिचय ऐसा गाँठा गया है, मानो लँगोटिया यार हों। बिछुड़े भी तो इस प्रकार—

कहि बातें मृदु मधुर सुहाईं। किए बिदा बालक बरिआईं॥

श्रीरामजी जब धनुष तोड़नेके लिये चले, उस समय सीताजीकी माताके हृदयमें जो विचार उत्पन्न हुए, वे इस प्रकार हैं—

कोउ न बुझाइ कहइ गुर पाहीं। ए बालक असि हठ भलि नाहीं॥

स्वयंवरमें आये हुए महीपोंने अपनी-अपनी भावनाके अनुसार श्रीरामको भिन्न-भिन्न रूपोंमें देखा। सयानोंके भावसे वे दशरथके रणबाँकुरे और जगत्पिता रघुपति थे। अब मूढ़ोंकी अभिसन्धिपर विचार कीजिये—

लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ। धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ॥

और तो और, बाल-ब्रह्मचारी परशुरामजी जब आते हैं, उनका बालक (लक्ष्मण) पर क्रोध करना और श्रीरामका बालकपर प्रेम पक्ष लेकर बचाव करना मनन करने योग्य हैं। यथा—

परशुराम-वचन—

रे नृप बालक काल बस बोलत तोहि न सँभार॥

× × × ×

बालकु बोलि बधउँ नहिं तोही।

× × × ×

कटुबादी बालकु बध जोगू।

× × × ×

बाल बिलोकि बहुत मैं बाँचा।

× × × ×

कौसिक सुनहु मंद यहु बालकु ।

× × × ×

देखु जनक हठि बालक एहू ।

× × × ×

राम-वचन—

नाथ करहु बालक पर छोहू । सूध दूधमुख करिअ न कोहू ॥

× × × ×

जौं लरिका कछु अचगरि करहीं । गुर पितु मातु मोद मन भरहीं ॥

× × × ×

बालक बचनु करिअ नहिं काना ।

× × × ×

बररै बालकु एकु सुभाऊ । इन्हहि न संत बिदूषहिं काऊ ॥

× × × ×

बेषु बिलोकें कहेसि कछु बालकहू नहिं दोसु ।

× × × ×

विवाह हो गया और वनवास भी हो गया। श्रीरामजी, श्रीलक्ष्मणजी, श्रीसीताजी शृङ्गवेरपुरमें आ गये हैं; वहाँके नर-नारियोंने जब इन्हें देखा, तब सारे ग्राममें शोर मच गया—

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे ॥

निषादपति और केवटके लिये वे बालक नहीं थे—सखा थे, अपने प्रभु थे; परंतु जब वे यमुनातीर पहुँचे, तब आस-पासके निवासियोंने फिर उन्हीं शब्दोंमें हो-हल्ला मचाना शुरू कर दिया—

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे ॥

नरकी अपेक्षा नारियोंमें बालकपर मातृत्वके कारण ममताका अंश अधिक होता है। वे नहीं चाहतीं कि कोई बालक जंगलोंमें भटकनेके लिये घरसे निकाल दिया जाय। इसीलिये प्रत्येक नारीने दूसरी नारीसे यही प्रश्न किया है कि 'सखि! वे माता-पिता कैसे हैं जिन्होंने.........'

हाँ, कलियुगी माता-पिताकी बात दूसरी है—

मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं । उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं ॥

अस्तु—

× × × ×

पञ्चवटीमें शूर्पणखाको युगल-कुमार पहले 'पुरुष' दीख पड़ते हैं और नाक कट जानेके बाद 'बालक'। कन्या किसे ब्याही जाय? यह एक प्रश्न है, जिसके उत्तरमें कहा जाता है कि पुरुषको; अर्थात् जिसमें पुरुषत्व, पौरुष या पुरुषार्थ हो। रावणकी बहिन कहती है—

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी ।

× × × ×

मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ॥

× × × ×

बड़े भैयासे चुगली करते समय भी पहले—

पुरुष सिंघ बन खेलन आए ।

और फिर बादमें—

देखत बालक काल समाना ।

—कहा है। नकटी बहिनके भेजे हुए खर-दूषणको श्रीराम जिस रूपमें मिलते हैं, वह उन्हींके मुखसे सुनिये—

यह कोउ नृप बालक नरभूषन ।

× × × ×

देखी नहिं असि सुंदरताई ।

× × × ×

वैरी भी जिनके बाल-रूप-सुधा-सर्वस्वपर मोहित हो जाते हैं, ऐसे प्रभुको हमारा कोटि-कोटि नमस्कार! मन्दभाग्य तो वे हैं, जिनका मन इन श्यामसुन्दरकी ओर आकर्षित नहीं होता।

× × × ×

राक्षसोंके दूतको बालक रामने जो उत्तर दिया है, वह सभी दृष्टियोंसे बालकोंके लिये हृदयङ्गम करने योग्य है। वे ऐसे बालक हैं जो—

रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं। एक बार कालहु सन लरहीं ॥

जद्यपि मनुज दनुज कुल घालक। मुनि पालक खल सालक बालक ॥

क्या ही अच्छा होता यदि आज भारतमें ऐसे ही बालकोंका बाहुल्य होता, जो गुंडोंके लिये 'साल' और भलोंके लिये 'ढाल' बने होते। कौन-सी ऐसी बुराई नहीं है, जो बालकोंके लिये वर्तमान कालमें प्रलोभन नहीं बनी हुई है?

मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ॥

× × × ×

जो सुग्रीवके सखा, हनुमान्के प्रभु, बालिके समदर्शी और विभीषणके प्रणतपाल हैं, वे ही रावणके लिये तापस या लघु तापस बने हुए हैं—

मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती ।

× × × ×

लघु तापस कर बाग बिलासा ।
× × × ×
जिअत घरहु तापस द्वौ भाई ।
× × × ×
मिलि तपसिन्ह तें भएसि लबारा ।
× × × ×
सुनु तापस मैं तिन्ह सम नाहीं ।
× × × ×

अब मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामकी दृष्टिमें लङ्कापति क्या है—महात्मा या महापण्डित ? युद्धसे पूर्व उन्होंने—

बिप्र चरन पंकज सिरु नावा ।

और हाँ, विद्वान् रावणने भी—

कहाँ रामु रन हतौं पचारी ।

—अन्त समय रामका नाम लेकर अपना उद्धार कर लिया है ।

बाल-चरित

इस विषयपर जितना भी लिखा जाय और जितना लिपि-बद्ध किया जाय, फिर भी इति होगी या नहीं—यह बताना कठिन है । मानसका थाह पाना तो दूरकी कौड़ी है, लहरियोंपर ही सारे जीवनकी बलि चढ़ सकती है ।

लोमश मुनिने काकभुशुण्डिजीको भगवान् रामके जिस रूपका ध्यान करनेका आदेश दिया है, वह उन्हींके मुखसे सुनिये—

बालक रूप राम कर ध्याना । कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना ॥

अच्छा, तो अब हम भी और कुछ न बन सके तो इन बालक भगवान्की—ग्रन्थकार व महादेवजीकी भाँति—वन्दना तो कर ही लें—

बंदउँ बाल रूप सोइ रामू । सब बिधि सुलभ जपत जिसु नामू ॥

जब-जब अयोध्यामें श्रीरामका अवतार होता है, काकभुशुण्डिजी और महादेवजी अवध-वीथियोंमें बालक रामके दर्शन—लीला, चरित, विनोद—के लिये फिरते रहते हैं—

इष्ट देव मम बालक रामा ।
× × × ×
देखउँ बाल चरित बहुरंगा ।
× × × ×
बाल बिनोद करत रघुराई ।
× × × ×
देखउँ बाल बिनोद रसाला ।
× × × ×
देखउँ बाल बिनोद अपारा ।

भगवान्का बालचरित बहुरंगा है, अपार है, रसमय है । तभी तो राजा स्वायम्भुव मुनि और रानी शतरूपाने वरदानमें—

जो सरूप बस सिव मन माहीं ।
× × × ×
जो भुसुंडि मन मानस हंसा ।
× × × ×
'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन ।

—माँगा है । भक्तोंके प्रेमी भगवान्ने राजा दशरथ और कौसल्याको जो सुख दिया है, वह निम्नपंक्तियोंसे विदित होगा ।

अनुपम बालक देखेन्हि जाई ।
× × × ×
सुत सनेह बस माता बाल चरित कर गान ।
× × × ×
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा ।
× × × ×
बाल चरित हरि बहुबिधि कीन्हा । अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा ॥
× × × ×
'बालचरित अति सरल सुहाए । सारद सेष संभु श्रुति गाए ॥'

जिस सुन्दर चरितका गान शारदाजी, शेषजी, शम्भुजी एवं चारों वेद कर चुके हैं, उनकी तुलनामें इन पंक्तियोंके लेखकका इतना कुछ लिखना एक बहुत बड़ी धृष्टता ही है ।

मानसमें अन्य कई प्रसङ्गोंमें बालकका उल्लेख है; जैसे शिवजीकी बारातके समय—

बालक सब लै जीव पराने ।

अयोध्यामें राजतिलकसे पूर्व—

बाल सखा सुनि हिय हरषाहीं ।

भरतजीके वाक्य—

जे अघ तिय बालक बध कीन्हें ।

भगवान् श्रीरामके वचनामृत—

जिमि बालक राखइ महतारी ।
बालक सुत सम दास अमानी ।

—आदि-आदि । इनका विशद विवेचन करके लेखका विस्तार बढ़ाना उचित नहीं । हम तो यहीं 'मानस' को नमस्कार कर लेते हैं ।

भारतीय कलामें बालक

(लेखक—राय श्रीआनन्दकृष्णजी)

भारतीय कलामें बाल-स्वभावके अनेक चित्र मिलते हैं। कुछ बालकृष्णके रूपमें, कुछ बालक रामके रूपमें, कुछ उनके सखाओं आदिके।

कवियोंकी भाँति भारतीय कलाकारने भी अपने हृदयकी भक्ति-भावनाको अपनी कृतियोंमें उँड़ेल दिया है। वह तो ऐसे प्रसङ्ग खोजता रहता है। जब उसे भगवान् बुद्धका आदेश मिला कि मेरी आकृति मत बनाओ, उसकी उपासना मत करो, तब उसका मन मुरझा गया और उसने सोच-विचारकर उनके पाद-पद्मोंमात्रको प्रतीकरूपमें अङ्कितकर अपनी भक्ति-भावनाको संतोष दिया। वह भावना कितनी उत्कट रही होगी, जिसने कोई पाँच सौ वर्ष बाद सारे बन्धनोंको तोड़ भगवान् बुद्धको साकार कर दिया !

अजिंतामें भी बालकके दो-एक चित्रण बड़े मार्मिक हैं। एक चित्रका विषय निम्नलिखित है—भगवान् बुद्ध बुद्धत्व-प्राप्तिके बाद जब कपिलवस्तु आये, तब वे भिक्षा माँगते-माँगते यशोधराके द्वारपर भी आये और यशोधराने अपनी आँखोंके तारे राहुलको भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर दिया। इस दृश्यमें राहुलके बालोचित स्वभावका—जिसमें भय है, कुतूहल है और हैं न जाने कितने मनोभाव—बड़ा ही व्यञ्जनापूर्ण चित्रण हुआ है।

वेस्संतर जातकके चित्रणमें भी बाल-स्वभाव बहुत स्फुट हुआ है। एक चक्रवर्ती राजाके, जो अपनी दान-शीलताके लिये प्रसिद्ध था, कुमारको एक भिक्षुक ब्राह्मण दाँत निपोरे यज्ञमें बलि देनेके लिये माँग रहा है। इस अनपेक्षित विपत्तिको देखकर राजा हतबुद्धि हो उठा है। भोला-भाला कुमार अपने पिताकी ओर देख रहा है कि ये आज्ञा दें और मैं उसे पूरी करूँ !

हमारी सगुण-उपासनाके सभी रूपोंमें कहीं-न-कहीं बालक भगवान्की पूजा अवश्य आती है। गुप्तकालमें स्कन्दका माहात्म्य इतना बढ़ा था कि पिछले गुप्त-महासम्राटोंके नामतक कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त आदि होते थे। स्कन्दका स्वरूप सेनानी होनेके साथ-साथ कुमार-वयका माना गया है। गुप्तकालीन मूर्तियोंमें वे इसी रूपमें अङ्कित हुए हैं। यद्यपि सेनानी होनेके नाते उनकी बैठनेकी मुद्रा वीरोचित है, फिर भी शैशवका सूचक बघनखा उनके गलेमें पड़ा है। यह निश्चय ही बालकोंकी अनेक रोग-व्याधियोंसे रक्षा करता है।

गुप्तकालीन मूर्तियोंसे ही श्रीकृष्णलीलाके सुन्दर उदाहरण मिलने लग जाते हैं। देवगढ़के भग्न मन्दिरकी कुरसीके नीचे मूर्तियोंके जो अवशेष हैं, उनमें श्रीकृष्णलीला एवं श्रीरामलीलाके बहुत सुन्दर अङ्कन यत्र-तत्र बच रहे हैं। इनमें गोप-गोपियोंके-से जैसे वस्त्र-विन्यासमें यशोदा और नन्द कहीं कृष्णको पुचकार रहे हैं, कहीं दधि-हरण-लीला है, कहीं माखन-चोरी है, आदि-आदि। खेद है, इनमेंकी कई बहुत सुन्दर मूर्तियाँ खण्डित हो गयी हैं; परंतु 'सर्वावस्थासु रमणीयत्वमाकृतिविशेषाणाम्'—विशिष्ट आकृतिवाले प्रत्येक दशामें सुन्दर लगते हैं।

माखन-चोरीका एक दृश्य भारत-कला-भवन-संग्रहमें भी देखनेयोग्य है, पर गुप्तकालीन मूर्तिकार श्रीकृष्णको केवल इसी रूपमें देखता हो, यह बात नहीं। कहीं-कहीं उदात्त रूपमें भी उनका चित्रण हुआ है। गोवर्धनधारी श्रीकृष्णकी भारत-कला-भवनवाली मूर्ति ऐसी ही है। इस मूर्तिके आकार-प्रकारसे ही इस भावनाका संकेत हो जाता है। फिर सारा पर्वत, जिसकी छाँहमें सारा विश्व आ सकता है, अनायास ही उनके ऊपर टिक गया है। इस मूर्तिमें भी शैशवके व्यञ्जक बघनखा आदि गलेमें पहनाये गये हैं। इस मूर्तिमें कलाकारने श्रीकृष्णकी त्रिवली आदि बनानेमें तो कमाल ही कर दिया है।

वस्तुतः श्रीरामचरितमें बालकरूपका उतना स्फुटीकरण नहीं हुआ, जितना श्रीकृष्णचरितमें। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान् श्रीरामके बालकजीवनका बड़ा संश्लिष्ट चित्रण किया है एवं परवर्ती कवियोंने उसके आधारपर अथवा श्रीकृष्णलीलावाली बहुप्रसिद्ध भावनाओं और रचनाओंकी जोड़पर रामचन्द्रजीकी बाललीलाका वर्णन किया है, तथापि रामचरितका प्रमुख अंश ऐसे अवसरोंपर प्रस्फुटित होता है, जब श्रीरामचन्द्र विश्वामित्रके साथ जाते हैं। वह उनके कैशोरकी अवस्था थी, शैशव या बालपनकी नहीं।

इधर श्रीकृष्णचरितका मुख्य भाग नहीं तो अधिकांश बाल-लीलाओंमें बीतता है। वस्तुतः श्रीकृष्णचरितको दो अलग-अलग भागोंमें बाँट सकते हैं। बाल-लीलावाले श्रीकृष्णसे मथुरावाले श्रीकृष्णका व्यक्तित्व भिन्न प्रकारका है। अतः कलाकारने श्रीकृष्णकी बाल-लीलाको विकसित करनेमें कोई कसर न रक्खी।

यों तो बाल-गोपाल-स्तुतिकी, जो बिल्वमङ्गल भक्तकी कृति है, १६ वीं शतीवाली प्रतिमें श्रीकृष्णके चित्र मिलने लगते हैं; परंतु मुख्यतः उन चित्रोंमें अपभ्रंशकी इतनी छाप है कि उसे कलाकृति न कह कलाके इतिहासकी एक कड़ी मानना चाहिये। सम्राट् अकबरने—जो भारतीय धर्म, ज्ञान

और संस्कृतिका महान् उपासक था—महाभारतका रज्मनामेके नामसे फारसीमें अनुवाद कराया था। यह ग्रन्थ चित्रित था। इसके एक पृष्ठपर, जो अमेरिकाके मेट्रोपॉलिटन संग्रहालयमें है, गोवर्धनधारणका उदात्त आलेखन है। यह भी अपनी कलाके अमूल्य रत्नोंमेंसे एक है। चित्रकारने इसमें सारा-का-सारा दृश्य ऐसी सजीवतासे खड़ा किया है, जो देखते ही बनता है। एक ओर सारा जगत् त्रस्त हो उठा है। इन्द्र अपने सारे प्रयत्न लगाकर जनसाधारणको एक बार डिगा देना चाहते हैं, पर जगत्-रक्षकके रूपमें श्रीकृष्ण आकर सारे संसारकी रक्षा करते हैं। इस अङ्कनमें कलाकारने भी अपनी कल्पनाको खूब विस्तृत किया है। यहाँ शिशु कृष्ण नहीं हैं, वरन् हैं लोकोद्धारक कृष्ण—जिनकी छत्रच्छायामें सारा समाज आश्वस्त खड़ा है। लोगोंका त्रास दिखलानेमें चित्रकारने बड़ी मार्मिकताका परिचय दिया है।

यहाँ यह ध्यान देनेकी बात है कि मध्यकालमें श्रीकृष्णकी इस रूपमें उपासना बहुत प्रचलित हो गयी थी। नाथद्वारेमें जो श्रीकृष्णकी काले पत्थरकी मूर्ति है—जिसे आजकल नाचते हुए कृष्णकी मूर्ति मानते हैं, विद्वानोंकी मतिमें यह गोवर्धनधारी कृष्णकी ही मूर्ति है, जिसका गोवर्धन पर्वतवाला अंश निकल गया है। यह मूर्ति गुप्तकालीन मूर्तियोंकी परम्परामें हो सकती है। इधर मीराके उपास्यदेव भी गिरिधर गोपाल ही थे। उनके भक्तिकाव्यमें श्रीकृष्ण प्रायः सर्वत्र 'गिरिधर गोपाल'के रूपमें ही सम्बोधित हुए हैं।

ब्रजभाषाकी कवितामें गिरिधारणका एक विशेष रूप देखनेमें आता है, जो बिहारीके शब्दोंमें इस प्रकार है—

डगमगात डगुलात गिरि लखि ब्रज सब बेहाल।
कंप किसोरी दरस के खरें लजाने लाल॥

इसी भावकी सूर एवं अन्य परवर्ती कवियोंकी रचनाएँ भी मिलती हैं।

× × ×

१७ वीं शतीके प्रारम्भसे राजस्थानमें एक उत्कृष्ट शैलीके चित्र मिलने लगते हैं। इनमें श्रीकृष्ण-लीलाके चित्र भी हैं, परंतु अभी इन चित्रोंमें आरम्भिकता है। इस शैलीवाले चित्रोंमें १७ वीं शतीके अन्त अथवा १८ वीं शतीके प्रारम्भवाली श्रीकृष्ण-लीलाकी एक चित्रमाला तो अपूर्व है। शैलीकी दृष्टिसे यह मेवाड़की शैलीके अन्तर्गत है। इसमेंके तीन-चार चित्र प्रकाशमें आये हैं, जिनमेंसे दो-एकका उल्लेख करना आवश्यक है। एक चित्र गोवर्धन-धारणका है*। ऊपर ऐरावतपर बैठे इन्द्र अपने गणों अर्थात् मेघोंको बटोर-बटोरकर अंधाधुंध वृष्टि कर रहे हैं। गोवर्धन पर्वतपर बैठे कुछ योगी विचित्र-विचित्र भङ्गिमा बनाये, वर्षामें भीगते अपनी तपस्यामें रत हैं। वस्तुतः इनकी भङ्गिमामें जो विचित्रता है, उससे यह स्पष्ट है कि वैष्णव कलाकारने इनमें व्यङ्ग्यका पर्याप्त अङ्कन किया है, जैसे तत्कालीन भक्त कवियोंने—जिनमें सूर और तुलसी भी सम्मिलित हैं—योगमार्गपर व्यङ्ग्य कसे हैं।

यह व्यङ्ग्य और भी तीखा हो जाता है, जब एक कन्दरामें वर्षाके डरसे छिपा हुआ पशुराज भी उनकी ओर बड़े आश्चर्यसे देखता हुआ दृष्टिगोचर होता है! गोवर्धनके नीचे सारा समुदाय एकत्र है और श्रीकृष्णने गिरि गोवर्धनको उठाकर सबके लिये शरणकी व्यवस्था कर दी है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

इस चित्रकलाका एक दूसरा प्रभावशाली चित्र श्रीभारत-कला-भवन-संग्रहमें है। इसमें दावानल-पानका सुन्दर दृश्य है। इस चित्रमें दृश्यकी भयंकरताका जैसा सुन्दर चित्रण हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आगकी लपटोंने सारे समाजको घेर लिया है, ग्वाल-बाल चकित हो देख रहे हैं, गौएँ घबरायी हुई हैं, अकेले श्रीकृष्ण आगे बढ़कर उसे पानकर सारे दुःखोंसे समाजको मुक्त कर रहे हैं। इस चित्रमें दृश्यके पीछे जो तेज पीला रंग है, वह दर्शनीय है। उसने आगकी लपटोंको इतना तेज बना दिया है कि उनकी गरमी दर्शकको अनुभव होती है। रंगोंद्वारा इतनी तीव्र व्यञ्जना कभी-कभी ही सम्भव होती है। सूरने इसे इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

झहरात भहरात दावानल आयौ।
बरत बन बाँस, थरहरत कुस काँस,
जरि उड़त है भाँस, अति प्रबल धायौ॥
झपटि झपटत लपट, फूल-फल चट-
चटकि फटत, लट लटकि द्रुम-द्रुम नवायौ।
अति अगिनि झार, भंभार धुंधार
करि उचटि अंगार झंझार छायौ॥
भए बेहाल सब ग्वाल ब्रजबाल तब,
सरन गोपाल कहि कै पुकारयौ।
मुठी भरि लयौ, सब नाइ मुखहीं दयौ,
सूर प्रभु पियौ ब्रजजन बचायौ॥

सूरसागरकी तनिक और बादवाली अर्थात् १८ वीं शतीके अन्तवाली एक सचित्र प्रतिमें श्रीकृष्ण-लीलाका एक दृश्य देखनेयोग्य है। इसमें वत्सासुर-वधका दृश्य बड़ी सजीवता-

* कलानिधि भाग १, सं० २, फलक १।

से अङ्कित है; पर राक्षसका वत्ससे जो साम्य इस चित्रमें दीखता है, वैसी कल्पना बिरले कलाकार ही कर सकते हैं।

राजस्थानी शैलीके अन्तिम काल, अर्थात् प्रायः १८०० ई० की अङ्कित रामायणकी एक प्रतिमें भगवान् श्रीरामकी शैशव-क्रीड़ाओंका सुन्दर चित्रण है; परंतु प्रायः अन्तःपुरतक ही सीमित रहनेके कारण इनमें वह चारुता नहीं, जो श्रीकृष्ण-लीलावाले चित्रोंमें दीखती है। फिर भी उसमें बालक्रीड़ाके अनेक सुन्दर प्रसङ्ग चित्रित हुए हैं।

× × ×

१८वीं शतीमें पहाड़के काँगड़ा आदि राज्योंके समाश्रयमें पहाड़ी शैली नामक जिस लोकविश्रुत चित्र-शैलीका जन्म हुआ, उसमें भावनाओं—विशेषतः कोमल भावनाओंके व्यक्तीकरणकी अद्भुत क्षमता थी। मुगलशैलीकी परिपक्वता एवं श्रीकृष्ण-लीला, श्रीरामचरित, नायिकाभेद, महाभारत आदि-आदि अनेक कथा-प्रसङ्गोंका विस्तृत वातावरण लेकर इस शैलीके चित्र बने। इन चित्रकारोंकी कल्पनाशक्ति इतनी ऊँची थी कि कोई भी विषय चित्रित कर डालना उनकी सामर्थ्यके बाहर न था। पाताललोकके प्राणी, मानवसृष्टि, राक्षसोंका लोक, देवजगत्—सब उनकी लेखनीसे झरते रहते। प्रत्येककी सृष्टिमें वे अधिकाधिक सफल होते। ऐसे कलाकारोंने भी श्रीकृष्णलीलापर कलम उठायी।

वस्तुतः श्रीकृष्णलीलाके चित्र पहाड़ी शैलीके सर्वाधिक सुन्दर चित्रोंमेंसे हैं। इनमें गाँवका वातावरण, सुन्दर गोप-गोपिकाएँ, घने वन एवं चरती हुई गौएँ, छलकती हुई यमुना नदी, वंशीकी ध्वनिका आकर्षक वातावरण होता है; पर इन सबसे मोहक होती है श्रीकृष्णकी सलोनी छबि। पहाड़ी शैलीवाले ऐसे कुछ चित्रोंका हवाला देना यहाँ अनुचित न होगा।

यों तो पहाड़ी शैलीवाले मामूली दृश्य भी—जैसे श्रीकृष्ण-का जन्मोत्सव, शिशुपरिवर्तन, स्तनपान आदि ही संश्लिष्ट हैं; परंतु जिन चित्रोंमें घटनाएँ हैं, वे बड़े ही आकर्षक बने हैं। बम्बईके एक सेठ श्रीमोदीके पास ऐसे चित्रोंकी एक बहुत ही सुन्दर चित्रमाला है।

कलाभवनका माखन-चोरीवाला रेखाचित्र भी अपूर्व है। कई सखाओंको एकपर एक खड़ाकर बालकृष्ण किसी प्रकार छीकेतक पहुँच गये हैं। उसमेंसे निकालते समय थोड़ा माखन गोपोंके मुँह और शरीरपर लिप्त होता हुआ भूमिपर भी गिर गया है। कई गोप उसे मुखस्थ भी कर रहे हैं और खिड़कीके बाहर एक वृक्षपर बैठे कुछ वानर अपने इन अनुकरणोंको देख प्रसन्न हो रहे हैं।

प्रायः यही दृश्य लखनऊ-संग्रहालयवाले ऊखल-बन्धनमें आया है। इसमें माखन पानेके लिये आतुर बालकोंके चित्रणमें तो कलाकारने ऐसे सुन्दर निरीक्षणका परिचय दिया है, जो कम कृतियोंमें मिलता है। इस दृश्यको यमलार्जुनवाले वृक्षोंसे अलगकर चित्रके दूसरे भागमें कथाका दूसरा दृश्य उपस्थित होता है। यशोदाने श्रीकृष्णको पकड़ लिया है, वे उन्हें ताड़ना दे रही हैं। इस अनपेक्षित विपत्तिसे भयभीत हो उनकी ओर श्रीकृष्ण टकटकी लगाये जिस प्रकार देख रहे हैं, बाल-मनोविज्ञानके बहुत सूक्ष्म अध्ययनसे ही उनकी कल्पना हो सकती है। श्रीकृष्णके सखागण बगटूट भाग गये हैं। उनमें दो-एक मुड़कर श्रीकृष्णकी ताड़ना देखते दीखते हैं। एक दरवाजेकी आड़में सुरक्षित हो एक ग्वाल सहसा उपस्थित इस विपत्तिको देख रहा है। पीछे गोशालामें बँधी गायें भी बड़े गम्भीर मौनके साथ इस दृश्यको देख रही हैं। इस चित्रके तीसरे दृश्यमें हम रुआँसे श्रीकृष्णको ऊखलसे बँधते देखते हैं। ·········· ···· श्रीकृष्णलीलाके उदात्त स्वरूपका पहाड़ी चित्रण भी वैसा ही तीव्र होता है। उदाहरणके लिये वत्सासुर-वधको लीजिये। एक ओर फुफकारता हुआ, लाल-लाल आँखें निकाले और डरावनी सूरत बनाये यह राक्षस आ रहा है, जिसके भयसे भीत हो गौएँ और गोप आदि भागे जा रहे हैं। दूसरी ओर श्रीकृष्णने आगे बढ़कर उसके सींग पकड़कर ऐसा दबाया है कि वह वहींसे टूट गया। अब उसकी आँखोंमें मृत्युका भय है, कातरता है।

श्रीकृष्णलीलाके तीसरे पक्ष—माधुर्यभावके भी अनेक सुन्दर चित्र इस शैलीमें बने। दानलीलावाला एक चित्र बटुलेका एक चावल होगा। इस चित्रमें गति तो है ही, गोपीके अन्तस्की एक अदृश्य मुसकानको भी चित्रकारने कैसी मार्मिकतासे प्रकट किया है।

वस्तुतः कलाकारके मनमें जो छायाएँ उठती रहती हैं, उन्हें उसकी लेखनी कभी-कभी व्यक्त कर देती है; पर उसकी मूल है यह विराट् सृष्टि, जिसे पुराने लोगोंने ईश्वरकी काव्य या कृति कहा है। यदि हम आँखें खोलें तो घर-घरमें बालगोपालकी लीला प्रतिदिन दीखे।

बालक श्रीराम

मन क्रम बचन अगोचर जोई । दसरथ अजिर बिचर प्रभु सोई ॥

श्रुतियाँ 'नेति-नेति' कहकर जिस परमात्माका वर्णन करती हैं, जो मन तथा वाणीसे परे है, सम्पूर्ण विश्वका जो मूल कारण है, जो सर्वेश्वर और सर्वाधार है, जिसके विषयमें वेदवाणी कहती है—

'न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ।'

'उसे कोई उत्पन्न करनेवाला नहीं और उसका कोई स्वामी भी नहीं ।'

प्रेममें ऐसी शक्ति है कि वह उसी निर्गुण, निराकार, अनादि, अनन्त, अव्यक्त परम ब्रह्मको भी उत्सुक बना देता है । वही सर्वशक्तिमान् प्रेमके वशमें होकर नन्हा-सा बालक बन जाता है। अपनेको समर्पित कर देता है वह निखिलब्रह्माण्ड-नायक ।

महाराज दशरथने पुत्रेष्टि यज्ञ किया और अग्निदेवने उन्हें प्रकट होकर चरु (पायस) दिया, यह सब तो एक निमित्त है। यह भी लीलामयकी वैसी ही लीला है, जैसे दूसरे नर-नाट्य उन्होंने किये। महाराज दशरथ तो साकेतके नित्य पिता हैं और माता कौसल्या नित्य माता हैं। परात्पर परमब्रह्म साकेतविहारी श्रीराम सदा-सर्वदा श्रीदशरथनन्दन एवं कौसल्यानन्दवर्धन ही हैं। अतः पृथ्वीपर उनके प्रकट होनेके जितने कारण कहे जाते हैं—सब लीलामात्र हैं।

मर्यादापुरुषोत्तमने माता कौसल्याको प्रसूतिगृहमें चतुर्भुज-रूपसे दर्शन दिया। माता कौसल्याने वह ज्योतिर्मय, सर्वाभरण-भूषित, सायुध चतुर्भुज रूप देखा तो वे प्रार्थना करने लगीं—'तजहु तात यह रूपा' और 'कीजै सिसुलीला' श्रीराम नित्य द्विभुज ठहरे। उनका वह भुवनसुन्दर द्विभुज शिशु-रूप प्रकट हो गया। 'चौथेपन' में—बुढ़ापेमें चक्रवर्ती महाराज दशरथको पुत्र प्राप्त हुआ। सम्राट्के घर युवराजका जन्म और वह भी प्रजा, पुरजन, परिजनके आतुर प्राणोंकी दीर्घ प्रतीक्षाके पश्चात्। युवराज भी कोई साधारण नहीं। महाराज स्वयं कहते हैं—

जाकर नाम सुनत सुभ होई । मोरें गृह आवा प्रभु सोई ॥

मङ्गल-महोत्सव, धूम-धामका वर्णन यहाँ नहीं करना है। ऋषि-मुनि, सिद्ध-गन्धर्व, देवता-देवियाँ—सबके स्तवन सफल हो गये आज । अयोध्यामें आज अखिलब्रह्माण्डनायक राजसदनके भीतर नन्हे शिशु बनकर पधारे हैं। भगवान् शङ्कर कैलाशपर नहीं रह सके और न काकभुशुण्डिजीका मन अपने नीलगिरिपर लगा। भोले बाबाने अपने विषयमें बताया है—

औरउ एक कहउँ निज चोरी । सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी ॥
काकभुसुंडि संग हम दोऊ । मनुज रूप जानइ नहिं कोऊ ॥
परमानंद प्रेम सुख फूले । बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले ॥

चोरीकी तो बात ही थी। अयोध्यामें जब सर्वाधार सर्वेश्वर ही नन्हे-से राजकुमार बन गये थे, तब वहाँ क्या मस्तकपर चन्द्रमा सजाकर, गलेमें नागेन्द्र भूषण धारण करके, नन्दीश्वरपर बैठकर जाया जा सकता था ?

जातकर्म-संस्कार हुआ, षष्ठीपूजन हुआ और यथावसर दूसरे सब संस्कार हुए। नामकरण-संस्कारका समय आया और गुरुदेवने नामकरण किया। भला इन अनामका नाम क्या ? कौन-सा ऐसा नाम है जो इनका नहीं है ? लेकिन फिर भी इनका नाम है और गुरु वशिष्ठको उसका उच्चारण करनेमें सुख हुआ । जो भी उस नामका उच्चारण करता है, उसके सारे दुःख सदाको दूर हो जाते हैं। वह नाम है—'राम'। गुरुदेवने कहा—

जो आनंद सिंधु सुख रासी । सीकर तें त्रैलोक सुपासी ॥
सो सुखधाम राम अस नामा । अखिल लोक दायक बिश्रामा ॥

शिशु श्रीरामकी झाँकी

कोई भाग्यशालिनी अयोध्याकी मान्य नागरिका बड़े सबेरे उठी और राजमहलकी ओर दौड़ी। यहाँ सबके प्राणोंमें एक ही लालसा रात-दिन जगती है कि महारानी कौसल्याके लालकी एक झाँकी मिल जाय। आज उसके जन्म-जन्मके पुण्य उदित हुए थे। वह जब अपने नेत्रोंको सफल करके लौटी, तब अपनी बात स्वयं अपनी सहेलीसे कह रही है—

अवधेसके द्वारे सकारे गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे ।
अवलोकि हौं सोच बिमोचनको ठगि-सी रही, जे न ठगे धिक से ॥
तुलसी मन-रंजन रंजित-अंजन नैन सुखंजन-जातक से ।
सजनी ससि में समसील उभै नवनील सरोरुहसे बिकसे ॥

केवल नेत्रोंपर उसकी दृष्टि गयी थी और वहीं रह गयी थी। वह कहती ही है—'ठगि-सी रही' और उसकी इस बातको कौन अस्वीकार करेगा—'जे न ठगे धिक से।'

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद ॥

श्रीराम और उनके साथ उनके नित्य अभिन्न बन्धु श्रीभरत, लक्ष्मणलाल और शत्रुघ्नकुमार। महाराज दशरथ तो सुकृतके साक्षात् स्वरूप हैं। उनके आँगनमें यह सच्चिदानन्द ब्रह्म चार रूप रखकर किलक रहा है।

बारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥

माताओंका प्रेम, उनका उल्लास, उनका आनन्द, उनका वात्सल्य—कोई कैसे वर्णन करे! गोस्वामी तुलसीदासजी भी इतना ही कहकर रह गये—

कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारइ कहि प्रिय ललना॥

श्रीकोसलराजकुमार कुछ और बड़े हुए। अब वे महाराजके मणिमय आँगनमें घुटनोंके बल सरक लेते हैं। उनके कर-चरणोंमें मणिमय आभूषण आ गये हैं। 'बालक रूप राम कर ध्याना' श्रीकाकभुशुण्डिजीके ये आराध्यदेव, शङ्कर-मानस-मराल, इनकी शोभा अवर्णनीय है। ध्यान करने योग्य है यह बाल-छवि—

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा॥
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती॥
रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे। नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे॥
कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गभीर जान जेहिं देखा॥
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी। हियँ हरि नख अति सोभा रूरी॥
उर मनिहार पदक की सोभा। बिप्र चरन देखत मन लोभा॥
कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई। आनन अमित मदन छबि छाई॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनै पारे॥
सुंदर श्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला॥
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे॥
पीत झगुलिआ तनु पहिराई। जानु पानि बिचरनि मोहि भाई॥

और सच्ची बात तो यह है कि—

रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहुँ जेहि देखा॥

एक बार इन नेत्रोंसे न सही, स्वप्नमें भी जिन्होंने उस अपरूप रूपको देखा है, धन्य है उनका जीवन। उन्होंने ही संसारमें जन्म लेनेका फल पाया है। कवितावलीमें गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

पग नूपुर औ पहुँची कर कंजनि मंजु बनी मनि माल हिए।
नवनील कलेवर पीत झगा झलकैं पुलकैं नृप गोद लिए॥
अरबिंद सो आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिए।
मन मों न बस्यो अस बालक जौं तुलसी जगमें फल कौन जिए॥

स्वयं उनकी एकमात्र अभिलाषा है—

तनकी दुति स्याम सरोरुह लोचन कंजकी मंजुलताई हरैं।
अति सुंदर सोहत धूरि भरे छबि भूरि अनंगकी दूरि धरैं॥
दमकैं दतियाँ दुति दामिनि-सी किलकैं कल बाल बिनोद करैं।
अवधेसके बालक चारि सदा तुलसी मन-मंदिरमें बिहरैं॥

इन्दीवरसुन्दर मुखमें लाल-लाल पतले अधर हैं और उनपर मृदु-मुसकान छायी रहती है। छोटे-छोटे दूधकी बूँदों-से दाँत चमक जाते हैं, जब हँसते हैं। तोतली वाणीमें छोटे-छोटे शब्द अब बोलने लगे हैं। माता-पिताको, परिजनोंको आनन्द देनेके लिये ही तो ये नित्य आनन्दघन शिशु बने हैं।

सुख संदोह मोहपर ग्यान गिरा गोतीत।
दंपति परम प्रेम बस कर सिसुचरित पुनीत॥

वह पुनीत बालचरित—

कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं।
कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत मातु सबै मन मोद भरैं॥
कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं।
अवधेसके बालक चारि सदा तुलसी मन-मंदिरमें बिहरैं॥

इन शोभासिन्धुके बोलनेकी, हठ करनेकी, खीझनेकी एक शोभा है—अपूर्व शोभा। अरुण अधरोंसे निकली तोतली वाणी—

बर दंतकी पंगति कुंद कली अधराधर पल्लव खोलनि की।
चपला चमकै घन बीच जगै छबि मोतिन माल अमोलनि की॥
घुँघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलनि की।
नेउछावरि प्रान करै तुलसी बलि जाउँ लला इन बोलनि की॥

अयोध्याके नर-नारी धन्य हैं। कोई महारानीकी महाभागा सखी इस शोभाको देखकर उनसे ही कह रही है—

नेकु बिलोकु धौं रघुबरनि।
चारि फल त्रिपुरारि तोको दिये कर नृप-घरनि॥
बाल भूषन बसन, तन सुंदर रुचिर रज भरनि।
परसपर खेलनि अजिर उठि चलनि गिर-गिर परनि॥
झुकनि, झाँकनि, छाँह-सों किलकनि, नटनि, हठि लरनि।
तोतरी बोलनि, बिलोकनि मोहिनी मन हरनि॥

श्रीकाकभुशुण्डिजी अयोध्याकी वीथियोंमें तो जन्मके समयसे ही 'मगन मन भूले' फिर रहे थे, अब अपना स्वरूप (काकरूप) धारण करके महाराजके आँगनमें ही घूम-फिरकर रहने लगे। आँगनकी भूमिपर ही बैठते और कोई पास आता तो फुदककर यहाँसे वहाँ हो जाते। भक्तवत्सल

श्रीराम सदासे भक्तोंकी रुचि रखनेवाले हैं। वे इनके साथ क्रीड़ा करने लगे—

राज मराल बिराजत बिहरत जे हर-हृदय-तड़ाग।
ते नृप अजिर जानु-कर धावत धरन चटक चल काग॥
सिद्ध सिहात, सराहत मुनि गन, कहैं सुर किन्नर नाग।
'है बरु बिहंग बिलोकिय बालक बसि पुर उपबन बाग॥'

इस शिशु-चरितमें भी श्रीरामभद्रका शील, सौष्ठव, भ्रातृवात्सल्य पद-पदपर व्यक्त होता है और माताओंको मुग्ध करता रहता है। वे गिर पड़ते हैं उठनेके प्रयत्नमें; किंतु रोते नहीं, सम्हलकर उठनेका प्रयत्न करते हैं। माता चुटकी बजाती है तो उसका हाथ पकड़कर नाचते हैं और कोई मीठी वस्तु जननी देना चाहती है तो उसे लेनेको हाथ बढ़ानेके बदले भाइयोंको बुलाने लगते हैं।

किलकि किलकि नाचत चुटकी सुनि डरपति जननि पानि छुटकाये॥
गिरि घुटुरुवन टेकि उठि अनुजन तोतरि बोलत भूप देखाये॥

श्रीरामका दिव्य ऐश्वर्य

साधारण बालककी भाँति चारों भाई माताओंको आनन्द देते क्रीड़ा कर रहे हैं; बालचरित दिखा रहे हैं; किंतु ये क्या साधारण शिशु हैं? साधारण शिशुका मोह प्राणीको संसारमें बाँधता है और इस दिव्य-शिशुमें यदि अनुराग हो जाय—आवागमनका यह दुर्निवार चक्र कब कैसे समाप्त हो गया, यह पता भी नहीं लगता। ये नन्हे शिशु होकर भी अनन्त हैं, अभी चलने-उठनेकी कला सीख रहे हैं और हैं सर्वसमर्थ, ब्रह्मा-शिव-इन्द्रादिसे लेकर तृणतक सचराचर-जगत्को अपनी इच्छामात्रसे नचानेवाले ये मैया कौसल्याकी चिटकी सुनकर नाचते हैं। इनका ऐश्वर्य अचिन्त्य है और एक दिन वह माताके आगे भी प्रकट हो गया—एक दिन माता कौसल्याने श्रीरामको स्नान कराया, शृंगार किया और देखा कि पुत्रको निद्रा आ रही है तो पालनमें सुला दिया। अब स्वयं स्नान किया और अपने आराध्य श्रीमन्नारायणकी पूजा करके उन्हें नैवेद्य अर्पित किया। नैवेद्य लगाकर माता रसोईघरमें गयीं तो देखती हैं कि वहाँ उनके भुवन-सुन्दर कुमार रत्नपीठपर बैठे भोजन कर रहे हैं। जो सर्वाराध्य सर्वेश्वर हैं, वे माताके भोग लगानेकी प्रार्थना सुनकर उसे सार्थक करनेमें लगे हैं; किंतु माता कहाँ जानती हैं इस तत्त्वको। उन्हें तो बहुत आश्चर्य हो रहा है। उनके पुत्रने इस प्रकार तो कभी भोग लगाया नहीं। वे गयीं उस पालनेके समीप। उनके रामभद्र वहाँ शान्त सो रहे हैं। जननी फिर भोजनालयमें आयीं—'श्रीराम ही तो हैं ये भोजन करते। एक बालक यहाँ और एक वहाँ? राम-जैसा भी कोई दूसरा शिशु त्रिभुवनमें है? मुझे आज यह कैसा बुद्धिभ्रम हो गया है?' माता व्याकुल हो गयीं और इसी समय वे सुकुमार इन्दीवर-सुन्दर धीरेसे मुसकरा उठे।

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

अगनित रबि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन॥
काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ॥
देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥
देखा जीव नचावइ जाही। देखी भगति जो छोरइ ताही॥
तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूदि चरननि सिरु नावा॥

लेकिन यदि माता कौसल्याको यह बोध बना रहे तो हो चुका नर-नाट्य, तब तो वह अपने श्रीरामको न गोदमें लेगी, न दूध पिलायेगी, न चलना सिखायेगी और न नचायेगी ही। फिर तो वात्सल्य-आस्वादनका सारा सुख आया गया हुआ। जननी तो श्रीरामको मन्दिरमें सिंहासनपर बैठायेगी, घड़ी-घंट बजाकर पूजा करेगी, भोग लगायेगी और लंबी-चौड़ी स्तुति किया करेगी हाथ जोड़कर। यही सब अभीष्ट होता तो साकेतमें इसकी कमी कहाँ थी। श्रीराम अयोध्यामें पूजित होने तो आये नहीं, वे तो पूजा करने—सेवा करने आये हैं। उन्हें वात्सल्यके रसका आस्वादन करना है। उन्होंने अपना ऐश्वर्य समेट लिया और मातासे अनुरोध करने लगे—

'यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई।'

× × ×

इस बाल-चरितके परम प्रेमी श्रीकाकभुशुण्डिजीने भी अपने आराध्यका अपार ऐश्वर्य देखा। उसका वर्णन वे स्वयं गरुड़जीसे करते हैं—

नृप मंदिर सुंदर सब भाँती। खचित कनक मनि नाना जाती॥
बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई। जहँ खेलहिं नित चारिउ भाई॥
बाल बिनोद करत रघुराई। बिचरत अजिर जननि सुखदाई॥
मरकत मृदुल कलेवर स्यामा। अंग अंग प्रति छबि बहु कामा॥
नव राजीव अरुन मृदु चरना। पदज रुचिर नख ससि दुति हरना॥
ललित अंक कुलिसादिक चारी। नूपुर चारु मधुर रवकारी॥
चारु पुरट मनि रचित बनाई। कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई॥
रेखा त्रय सुंदर उदर नाभी रुचिर गँभीर।
उर आयत भ्राजत बिबिधि बाल बिभूषन चीर॥

अरुन पानि नख करज मनोहर । बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर ॥
कंध बाल केहरि दर ग्रीवा । चारु चिबुक आनन छबि सींवा ॥
कलबल बचन अधर अरुनारे । दुइ दुइ दसन बिसद बर बारे ॥
ललित कपोल मनोहर नासा । सकल सुखद ससि कर सम हासा ॥
नील कंज लोचन भव मोचन । भ्राजत भाल तिलक गोरोचन ॥
बिकट भृकुटि सम श्रवन सुहाए । कुंचित कच मेचक छबि छाए ॥
पीत झीनि झगुली तन सोही । किलकनि चितवनि भावति मोही ॥
रूप रासि नृप अजिर बिहारी । नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी ॥
मोहि सन करहिं बिबिधि बिधि क्रीड़ा । बरनत मोहि होति अति ब्रीड़ा ॥
किलकत मोहि धरन जब धावहिं । चलउँ भागि तब पूप देखावहिं ॥

आवत निकट हँसहिं प्रभु भाजत रुदन कराहिं ।
जाउँ समीप गहन पद फिरि फिरि चितइ पराहिं ॥

यह सौभाग्य, यह क्रीड़ा-दर्शन और वह भी एक बार, दो बार नहीं । जब-जब, जिस कल्पमें, जब भी श्रीरामावतार होता है तभी भुशुण्डिजीने तो नियम बना रक्खा है—

जब जब राम मनुज तनु धरहीं । भक्त हेतु लीला बहु करहीं ॥
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ । बाल चरित बिलोकि हरषाऊँ ॥
जन्म महोत्सव देखउँ जाई । बरस पाँच तहँ रहउँ लोभाई ॥
इष्टदेव मम बालक रामा । सोभा बपुष कोटि सत कामा ॥
निज प्रभु बदन निहारि निहारी । लोचन सुफल करउँ उरगारी ॥
लघु बायस बपु धरि हरि संगा । देखउँ बाल चरित बहुरंगा ॥

लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं तहँ तहँ संग उड़ाउँ ।
जूठनि परइ अजिर महँ सो उठाइ करि खाउँ ॥

एक बार श्रीभुशुण्डिजीको मर्यादापुरुषोत्तमकी इस शिशु-क्रीड़ाको देखकर 'मोह' हो गया । वे सोचने लगे—'आनन्दकन्द प्रभु यह कैसी लीला कर रहे हैं कि मुझ-जैसे कौवेको देखकर भी डरते हैं और मेरे दूर भागनेपर रोने लगते हैं ।' अब क्या हुआ ? भुशुण्डिजी ही कहते हैं—

जानु पानि धाए मोहि धरना । स्यामल गात अरुन कर चरना ॥
तब मैं भागि चलेउँ उरगारी । राम गहन कहँ भुजा पसारी ॥
जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा । तहँ भुज हरि देखउँ निज पासा ॥

ब्रह्मलोक लगि गयउँ मैं चितयउँ पाछ उड़ात ।
जुग अंगुल कर बीच सब राम भुजहि मोहि तात ॥
सप्तावरन भेद करि जहाँ लगें गति मोरि ।
गयउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि ब्याकुल भयउँ बहोरि ॥

आपको स्मरण आ सकता है कि माता यशोदाने जब अपने श्यामसुन्दरको ऊखलसे बाँध देना चाहा था, तब प्रत्येक बार उनकी रस्सी भी दो अंगुल ही छोटी पड़ जाया करती थी । श्रीराम—घुटनों चलनेवाले श्रीरामकी वे नन्ही भुजाएँ कुछ लंबी नहीं हो गयी थीं । वे तो वैसी ही नन्ही थीं; किंतु शिशु होकर भी जो विभु हैं, उनके विभुत्वसे बाहर कोई जा भी कैसे सकता है ?

काकभुशुण्डिजी उड़ते-उड़ते थक गये । उनके अजर-अमर दिव्य-पक्ष गतिहीन होने लगे । भय-व्याकुल होकर उन्होंने नेत्र बंद कर लिये । नेत्र फिर खोले तो देखते हैं कि वे अयोध्यामें चक्रवर्ती महाराज दशरथके उसी भवन-प्राङ्गणमें पहुँच गये हैं, उन्हें देखकर शिशु श्रीराम हँस पड़े और उनके हँसते ही विवश भुशुण्डिजी उनके मुखमें चले गये । अब वहाँ क्या हुआ सो वे बताते हैं—

उदर माझ सुनु अंडजराया । देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया ॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका । रचना अधिक एक ते एका ॥
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा । अगनित उडगन रबि रजनीसा ॥
अगनित लोकपाल जम काला । अगनित भूधर भूमि बिसाला ॥
सागर सरि सर बिपिन अपारा । नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा ॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किंनर । चारि प्रकार जीव सचराचर ॥

जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ ।
सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ ॥

अपनी समझसे वर्ष दो वर्ष, युग दो युग नहीं और दो-चार मन्वन्तर भी नहीं, पूरे सौ कल्पतक भुशुण्डिजी उस विश्वात्मा शिशुके उदरमें यहाँसे वहाँ घूमते रहे । अनेक ब्रह्माण्ड, वहाँके अनेक प्राणी, वहाँकी नाना प्रकारकी सृष्टि देखते रहे वे । अन्तमें श्रीराम फिर हँसे और तब वे उनके मुखसे बाहर निकल पड़े । निकलनेपर उन्हें पता लगा कि कुल दो घड़ी वे इन लीलामयके उदरमें रहे हैं । अब तो वे 'त्राहि-त्राहि आरतजन त्राता' कहकर बालक श्रीरामके श्रीचरणोंमें गिर पड़े । कितने उल्लाससे भुशुण्डिजी कहते हैं—

कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ । दीन दयाल सकल दुख हरेऊ ॥

कुमार-चरित

राजकुमार कुछ बड़े हो गये । गुरुदेवने चारों भाइयोंके चूड़ाकर्म-संस्कार करा दिये । अब वे छोटे वयस्य बालकोंके साथ राजसदनमें खेलते रहते हैं । माताओंके भवनोंमें दौड़ जाते हैं और अपने बाल-विनोदसे उन्हें आनन्दित कर आते हैं । ये महाराज दशरथके प्राङ्गण-विहारी—

मन क्रम बचन अगोचर जोई । दसरथ अजिर बिचर प्रभु सोई ॥

महाराज बहुत चाहते हैं कि चारों भाई उनके साथ ही बैठकर भोजन करें । श्रीरामको गोदमें बैठाकर भोजन कराये बिना महाराजको किसी पक्वान्नमें कोई स्वाद ही नहीं जान पड़ता । लेकिन चारों राजकुमार अभी बहुत छोटे हैं । बहुत चपल हैं ।

भोजन करत बोल जब राजा । नहिं आवत तजि बाल समाजा ॥

राजकुमारोंको कहीं दास-दासियोंद्वारा बुलवाया जा सकता है । स्वयं महाराज पुकारते हैं, पुचकारकर बुलाते हैं और जब श्रीराम नहीं आते, तब वात्सल्यमयी महारानी स्वयं अपने कुमारको पकड़ने उठती हैं ।

कौसल्या जब बोलन जाई । ठुमुक ठुमुक प्रभु चलहिं पराई ॥
निगम नेति सिव अंत न पावा । ताहि धरै जननी हठि धावा ॥

निगम पावे या न पावे, योगीन्द्र-मुनीन्द्र हारें या थकें, शिव-सनकादि अपनी जानें; किंतु श्रीराम जननीसे भागकर भला कहाँ जा सकते हैं ? माता उन्हें पुचकारकर दौड़ाकर पकड़ लेती है और गोदमें उठा लाती है । महाराज अपने चपल युवराजको अङ्कमें लेकर भोजन करने बैठते हैं । कुछ धुले-पुँछे स्वच्छ युवराज नहीं हैं इस समय । इस समय तो इनकी छटा ही दूसरी है—

धूसर धूरि भरें तन आए । भूपति बिहँसि गोद बैठाए ॥
भोजन करत चपल चित इत उत अवसर पाइ ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ ॥

× × ×

श्रीराम कुछ और बड़े हो गये । अब नगरके महाभाग बालक सबेरे ही राजभवनके द्वारपर आ जाते हैं । वे प्रतीक्षा करते हैं अपने प्राण-सर्वस्व सखाके आगमनकी । भीतर श्रीभरतलालजी अनुरोध करते हैं—

खेलन चलिये आनंदकंद ।
सखा प्रिय नृपद्वार ठाढ़े बिपुल बालकबृंद ॥
तृषित तुम्हरे दरस कारन चतुर चातक-दास ।
बपुष बारिद बरषि छबिजल हरहु लोचन-प्यास ॥
बंधु बचन बिनीत सुनि उठे मनहु केहरि-बाल ।
ललित लघु सर-चाप कर उर-नयन-बाहु बिसाल ॥

माताएँ नहीं चाहतीं कि उनके ये सुकुमार कुमार उनके नेत्रोंके आगेसे दो क्षणको भी दूर हों । भला ऐसा कौन चाहेगा; किंतु इनकी क्रीड़ामें, इनके आनन्दमें बाधा भी तो नहीं दी जा सकती ।

निरखि परम बिचित्र सोभा चकित चितवहिं मातु ।
हरषबिबस न जात कहि 'निज भवन बिहरहु तात' ॥

वह परम विचित्र शोभा—एक झाँकी गोस्वामी तुलसीदासजी कवितावलीमें उसकी कराते हैं—

पदकंजनि मंजु बनीं पनहीं धनुहीं सर पंकज पानि लिये ।
लरिका सँग खेलत डोलत हैं सरजू-तट चौहट हाट हिये ॥
तुलसी अस बालक सों नहिं नेह कहा जप जोग समाधि किये ।
नर वे खर सूकर स्वान समान कहौ जगमें फल कौन जिये ॥

झाँकी अभी पूरी नहीं हुई । उसीका आगे वर्णन करते हैं—

सरजू बर तीरहिं तीर फिरैं रघुबीर सखा अरु बीर सबै ।
धनुहीं कर तीर निषंग कसे कटि पीत दुकूल नवीन फबै ॥
तुलसी तेहि अवसर लावनिता दस चारि नौ तीन इकीस सबै ।
मति भारति-पंगु भई जो निहारि बिचारि फिरी उपमा न फबै ॥

युग-युगके, जन्म-जन्मके साधनोंका जब परिपाक होता है, तब कहीं बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र अपने निष्पाप निर्मल एकाग्र चित्तमें उस सौन्दर्यसिन्धुकी एक झलक पाते हैं एक क्षणके लिये और आज वह सकल कल्याणगुणगणैकधाम परमानन्द-चिन्मूर्ति अयोध्यामें सरयूके कोमल उज्ज्वल सुरम्य पुलिनपर बालकोंके साथ हँसता, बोलता, किलकता इधरसे उधर दौड़ रहा है । अपनी असीम करुणासे वह इतना सुलभ-सुगम हो गया है । 'अस बालक सों नहिं नेह कहा जप जोग समाधि किये ।' अब यदि ऐसे कुवलय-सुकुमार कुमारके प्रेममें हृदय झूम नहीं उठा तो फिर साधनोंका अनन्त विस्तार किस कामका ? सब साधनोंका फल तो इन कोसल-राजकुमारमें प्रेम होना ही है ।

श्रीराम नित्य मर्यादापुरुषोत्तम हैं । उनकी मर्यादा, उनका शील, उनका सौहार्द, उनका बन्धुवात्सल्य उनके इस शैशवमें भी पद-पदपर प्रकट होता है । भाइयों और बालकोंके साथ रामभद्र नाना प्रकारके खेल खेलते हैं । दो दल हो जाते हैं—एक श्रीरामके साथ और दूसरा श्रीभरतलालके साथ । प्रतियोगिताके खेल चलते हैं; किंतु कितनी आदर्श, कितनी मधुर है वह प्रतियोगिता—

'हारे हरष होत हिय भरतहिं, जिते सकुच सिर नयन नए ।'

न रोष, न विवाद और न स्पर्धाकी भावना । श्रीराम सदा प्रयत्न करते हैं कि विजय उनके छोटे भाईकी, सखाओंकी हो । बहुत दिन पीछे भी भरतलालके हृदयमें

अपने बड़े भाईका यह औदार्य सजीव रहता है। चित्रकूटमें भरी सभामें आँखोंमें आँसू भरकर वे कहते हैं—

मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ । अपराधिहु पर कोह न काऊ ॥
मो पर कृपा सनेह बिसेषी । खेलत खुनिस न कबहूँ देखी ॥
सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू । कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू ॥
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही । हारेहुँ खेल जितावहिं मोही ॥

यह मृदुता, यह असीम उदारता श्रीरामका सहज स्वभाव है। बचपनमें क्रीड़ामें भी कभी रोष उनके मुखपर नहीं आता। अपराध करनेवाले सखाओंपर भी उन्हें क्रोध नहीं। एक-दो दिनकी बात नहीं, सदा साथ रहनेवाले छोटे भाइयोंका, सुहृदोंका सदा 'मन रखते' हैं, मान रखते हैं और स्वयं हारकर उनको खेलमें विजयी बनाते हैं।

अध्ययन

पाँचसे सात वर्षकी अवस्था ब्राह्मणके बालकके यज्ञोपवीतकी उत्तम अवस्था है। छः से आठ वर्षतककी वय क्षत्रियकुमारके लिये और सातसे नौ वर्षतक वैश्य-पुत्रके लिये। ब्राह्मणके बालकका यज्ञोपवीत अधिक-से-अधिक नौ वर्षकी अवस्थातक हो जाना चाहिये, क्षत्रिय-कुमारका दस वर्षकी वयतक और वैश्य-पुत्रका बारह वर्षतक। इस सीमातक यज्ञोपवीत न हो तो आगे व्रात्य संज्ञा हो जाती है और फिर प्रायश्चित्त (एक गोदान एवं पञ्चगव्य-पान) करके तब यज्ञोपवीत-संस्कार कराना चाहिये। यज्ञोपवीत होते ही सन्ध्या, तर्पण, गायत्री-जप, नित्य हवन आवश्यक हो जाता है। यज्ञोपवीत हो जानेपर सन्ध्या न की जाय तो पाप होता है। वेदाध्ययन, श्राद्धादि सभी वैदिक कर्मोंके करनेका अधिकार यज्ञोपवीत हो जानेके पश्चात् ही होता है। जबतक यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता, तबतक वेदोंका अध्ययन, गायत्रीजप या किसी भी वैदिक कर्मके करनेका अधिकार नहीं होता।

श्रीकोसल-राजकुमारोंकी अवस्था छः वर्षकी हो गयी। महाराज दशरथने गुरुदेवसे प्रार्थना की। शुभ मुहूर्तमें विधिपूर्वक चारों कुमारोंका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ। राजकुमारोंके वस्त्राभरण छोड़कर वे कमरमें मूँजकी मेखला, वल्कलकी कौपीन पहनकर, मृगचर्म कक्षमें दबाकर और हाथमें पलाशका दण्ड लेकर ब्रह्मचारी हो गये। चारों कुमार गुरुदेवके आश्रममें विद्याध्ययनके लिये गये।

गुरु गृह गए पढ़न रघुराई । अलप काल बिद्या सब आई ॥
जाकी सहज स्वास श्रुति चारी । सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ॥

चक्रवर्ती महाराज दशरथके सुकुमार कुमार और वह भी छः वर्षकी अबोध अल्प वयमें राजसदनका सुख छोड़कर गुरु वशिष्ठके आश्रममें चले गये। आज हम-आपको यह बहुत विचित्र एवं कष्टकर लग सकता है; किंतु भारतकी अपनी संस्कृतिमें यह गौरवकी बात थी। राजकुमारोंके लिये आश्रममें महाराजकी ओरसे या गुरुदेवकी ओरसे कोई सुख-सुविधाका विशेष प्रबन्ध हो, यह तो ब्रह्मचर्याश्रमका अपमान होता। भाइयोंके साथ श्रीराम दूसरे आश्रमवासी ब्रह्मचारियोंके समान प्रातः ब्राह्ममुहूर्तके प्रारम्भमें ही उठ जाते और नित्य शौचसे निवृत्त होकर स्नान, सन्ध्या, तर्पण, हवन आदिमें लग जाते। दिनमें वनसे फल, पुष्प, जल, समिधाएँ एकत्र कर लाते गुरुदेवकी सेवाके लिये और आश्रमकी सभी छोटी-बड़ी सेवा उत्साह तथा श्रद्धापूर्वक करते थे। कौपीन, मूँजकी मेखला और मृगचर्म इतने ही वस्त्र थे। रात्रिमें अर्धरात्रिके पश्चात् मिट्टीकी वेदीपर मृगचर्म बिछाकर सो रहते। इस प्रकार आहार तथा निद्राका संयम करके, गुरु-सेवाका श्रमपूर्ण व्रत लेकर भारतीय बालक अध्ययन करता था और चारों राजकुमारोंने पूरी दृढ़तासे इन नियमोंका पालन किया।

श्रुतियाँ श्रीरामकी सहज श्वाससे निकली हैं। समस्त विद्या, सभी कलाएँ उनके श्रीचरणोंकी छाया पाकर सार्थक होती हैं; किंतु लोकमें ब्रह्मचर्याश्रमकी मर्यादा रखनेके लिये उन परम प्रभुने गुरुकुलमें निवास करके गुरुदेवसे अध्ययन किया। विद्या गुरुमुखसे प्राप्त ही फलप्रद होती है। उन सौन्दर्यसिन्धुकी काली स्निग्ध अलकें रूखी बन गयीं। ब्रह्मचारी वेशमें उनकी शोभा और भी विमोहक हो गयी।

बहुत अल्प कालमें (कुछ मतोंसे केवल चौंसठ दिनमें) राजकुमारोंने चारों वेदोंको उपवेदोंके साथ साङ्ग-सरहस्य सीख लिया। सभी कलाओंमें वे पारङ्गत हो गये। गुरुदेवने उन्हें आज्ञा दी—धूम-धामसे सविधि समावर्तन-संस्कार हुआ। दिव्य वस्त्राभरणोंमें सजे चारों राजकुमार राजसदन लौट आये।

दिनचर्या

ब्राह्ममुहूर्तका प्रारम्भ होते ही श्रीराम शय्या त्याग देते थे। आचमन करके वे आसनपर बैठ जाते। वे नित्य आनन्दघन परात्पर प्रभु किसका ध्यान करते थे, सो तो वही जानें; किंतु उन्होंने संसारको यह सिखलाया अवश्य कि यह समय भगवच्चिन्तनके लिये सर्वोत्तम है। इसे निद्रा या प्रमादमें खो देना महती हानि है।

आसनसे उठकर शौच, स्नान तथा सन्ध्या कर लेते वे सूर्योदयके पूर्व ही । सूर्यबिम्बके क्षितिजपर उठते ही सूर्योपस्थान करके नित्य हवन करते और तब मङ्गलद्रव्योंका स्पर्श करके वस्त्राभूषण धारण होता ।

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा । मातु पिता गुरु नावहिं माथा ॥

माता कौसल्याकी वन्दना करके महारानी कैकेयीके चरणोंमें प्रणाम करने उनके भवन पधारते । माता सुमित्राको नित्य ढूँढ़ना पड़ता । वे ठहरीं राजसदनकी साज-सम्हाल रखनेवाली । पता लगाकर श्रीराम उनके चरण-वन्दन करते और तब पिताजीको प्रणाम करने बाहर आते । महाराज पहले ही ब्राह्मणोका पूजन एवं आगतोंका सत्कार करने बाहर आ गये होते । गुरुदेव पधारते इतनेमें मुनिमण्डलीके साथ । श्रीरामके श्रीमुखको देखे बिना नेत्र धन्य नहीं होते और यदि गुरुदेव कृपा करके स्वयं न पधारें तो श्रीरामभद्र भाइयोंके साथ उनकी चरण-वन्दना करने आश्रममें अवश्य पहुँच जायँगे, यह गुरुदेव भली प्रकार जानते हैं ।

आयसु माँगि करहिं पुर काजा । देखि चरित हरषइ मन राजा ॥

महाराजसे आज्ञा लेकर नगरवासियोंमें युवराज पधारते हैं । उनकी बात सुनते हैं और उनको जैसे सुख हो, जैसे उनकी सुविधा रक्षित हो, वैसी व्यवस्था करते हैं ।

जेहि बिधि सुखी होहिं पुरलोगा । करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा ॥

अभी अवस्था ही कितनी है ? नन्हे-नन्हे राजकुमार; किंतु ये सबके हृदयहारी राजकुमार अभीसे सबकी सेवा, सबके सुख, सबके आनन्दके संवर्धनमें लग गये हैं ।

बिद्या बिनय निपुन गुन सीला । खेलहिं खेल सकल नृप लीला ॥
करतल बान धनुष अति सोहा । देखत रूप चराचर मोहा ॥
जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई । थकित होहिं सब लोग लुगाई ॥

कोसलपुर बासी नर नारि बृद्ध अरु बाल ।
प्रानहु ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल ॥

इस क्रीड़ा और पुरजनसेवामें मध्याह्न हो जाता है । मध्याह्न-कालमें फिर स्नान करके मध्याह्न सन्ध्या करते हैं और तब—'अनुज सखा सँग भोजन करहीं ।' भाइयों और बालसखाओंको साथ बैठाकर भोजन करते हैं ।

दिनका दूसरा और चौथा प्रहर क्रीड़ा तथा नगरजनोंकी सेवाके लिये है । दिनका प्रथम और रात्रिका प्रथम प्रहर पूजन, सन्ध्या, जप, गुरु-वन्दना आदिके लिये । दिनका तीसरा और रात्रिका दूसरा प्रहर है—पुराण-इतिहासके श्रवण-कथनके लिये ।

बेद पुरान सुनहिं मन लाई । आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई ॥

भोजनके पश्चात् महाराजके समीप बैठकर मुनियोंसे श्रुति या पुराणोंका श्रवण करते हैं अथवा स्वयं भाइयों तथा सखाओंको पौराणिक कथाएँ सुनाकर उनका मर्म समझाते हैं ।

सायंकाल स्नान, सन्ध्या, तर्पण और हवन करते हैं और फिर भोजन करके मध्य रात्रितक महाराजके समीप या माताके पास पुराण-श्रवण करते हैं । माताके बार-बार अनुरोध करनेपर मध्य रात्रि हो जानेपर शयनके लिये शय्यापर पधारते हैं और भाइयों तथा सखाओंको स्नेहपूर्वक सो जानेके लिये विदा करते हैं ।

आज यह दिनचर्या बहुत कठिन जान पड़ती है; किंतु भारतीय गृहस्थकी यह साधारण दिनचर्या रही है युगोंसे । हमारी संस्कृति न भोगप्रधान है और न अर्थ-प्रधान । उपार्जनके लिये दिनका एक प्रहर (तीसरा प्रहर) हमारे आह्निक (दिनचर्या) में पर्याप्त माना गया है और निद्रा तथा ग्रामसुखोपभोगके लिये रात्रिके तीसरे प्रहरसे अधिक समय देना भारतीय समाजको अभीष्ट नहीं था । दिनमें नींद लेना तो पाप ही माना जाता था । यह दिनचर्या कुछ ऋषि-मुनि या बड़े नियमनिष्ठ पुरुषकी नहीं है । यज्ञोपवीतके पश्चात् पाँच या अधिक-से-अधिक बारह वर्षकी अवस्थासे ही द्विजातिके बालकको इस दिनचर्याका पूरा पालन करना पड़ता था । छः वर्षकी अवस्थासे भाइयोंके साथ श्रीराम निष्ठापूर्वक इस प्रकारकी दिनचर्या व्यतीत करने लगे थे ।

महर्षि विश्वामित्रके साथ

अयोध्याका आनन्द दिन दूना रात चौगुना बढ़ता जा रहा था । आनन्दकन्द श्रीरघुचन्द्र पुरजन, परिजन सबको अपने शील-स्वभाव एवं विनोदसे हर्षित कर रहे थे । इतनेमें एक दिन परम तपस्वी महर्षि विश्वामित्र पधारे । महाराज दशरथने उनका सविधि पूजन किया । महर्षिने बड़ी विचित्र माँग की—

राजन ! राम-लखन जो दीजै ।
जस रावरो, लाभ ढोटनिहूँ, मुनि सनाथ सब कीजै ॥
डरपत हौ साँचे सनेह बस सुत-प्रभाउ बिनु जाने ।
बूझिय बामदेव अरु कुलगुरु, तुम पुनि परम सयाने ॥
रिपु रन दलि, मख राखि, कुसल अति अलप दिननि घर ऐहैं ।
तुलसिदास रघुबंस-तिलककी कबिकुल कीरति गैहैं ॥

महर्षिके यज्ञमें राक्षसराज रावणके अनुचर मारीच और सुबाहु उपद्रव करते हैं। वे दुष्ट यज्ञधूम देखकर दौड़ आते हैं। राक्षसी सेनाके साथ और अपवित्र वस्तुओंकी वर्षा करके यज्ञको दूषित कर देते हैं। महर्षि समर्थ हैं। उनकी भृकुटि टेढ़ी हो तो यमराज भी सीधे हो जायँ; किंतु अनेक बार उनके तपमें विघ्न हुआ है। अब फिर क्रोध करके अपनी तपस्याको वे नष्ट नहीं करना चाहते। अयोध्या आनेमें दूसरा भी हेतु है उनका। श्रीरामको देखकर, उन समाधि-सौभाग्य-को साथ ले आकर महर्षिको अपना आश्रम तथा जीवन भी धन्य करना है।

देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥
सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं। राम देत नहिं बनै गुसाईं॥

लेकिन महाराज दशरथकी यह प्रेमकातरता मान लें, ऐसे विश्वामित्रजी हैं नहीं। कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ उनकी तेजस्विता भली प्रकार जानते हैं। महर्षि वामदेवजी भी विश्वामित्रजीका ही समर्थन करते हैं। जो अपने तपोबलसे दूसरी सृष्टितक बना सकते हैं, उनके आश्रयमें पुत्रोंको देना किसी प्रकार आशंकाप्रद नहीं है और उन परम तेजोमयको रुष्ट करनेसे पता नहीं क्या हो। कुलगुरु वशिष्ठजी तकके पुत्रोंका जिनका विरोध करनेमें नाश हो गया, उनको असंतुष्ट करना किसी प्रकार भी अच्छा नहीं है। महाराज दशरथने स्वयं बहुत कुछ सोचा और उन्हें कुलगुरु वशिष्ठजीने भली प्रकार समझाया। अन्तमें महाराजने श्रीराम-लक्ष्मणको बुलाकर महर्षिको सौंपते हुए बड़ी कातर वाणीमें प्रार्थना की—

मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ। तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ॥

पिताकी आज्ञा लेकर, माताके भवनमें जाकर जननीकी चरण-वन्दना करके छोटे भाई श्रीलक्ष्मणजीके साथ श्रीराम महर्षि विश्वामित्रके साथ उनके यज्ञकी रक्षा करने चल पड़े। जिनका अवतार ही गौ, ब्राह्मण एवं धर्मकी रक्षाके लिये हुआ है, वे अपनी बाल्यावस्थामें ही मुनिकी मख-रक्षाको सन्नद्ध होकर अयोध्याके राजसदनसे तपोवनको चले।

महर्षि विश्वामित्रजीके साथ मार्गमें चलते श्रीराम-लक्ष्मण-की एक झाँकी—

मुनिके संग बिराजत बीर।
काकपच्छधर, कर कोदंड-सर, सुभग पीतपट कटि तूनीर॥
बदन इंदु, अंभोरुह लोचन, स्याम-गौर सोभा-सदन सरीर।
पुलकत ऋषि अवलोकि अमित छबि उर न समाति प्रेमकी भीर॥
खेलत चलत, करत मग कौतुक, बिलँबत सरित-सरोवर तीर।
तोरत लता सुमन, सरसीरुह, पियत सुधासम सीतल नीर॥
बैठत बिमल सिलनि बिटपनि तर, पुनि पुनि बरनत छाँह, समीर।
देखत नटत केकि कल गावत मधुप, मराल, कोकिला, कीर॥

और मार्गकी क्या दशा है—

करत छाहँ घन, बरषैं सुमन सुर, छबि बरनत अतुलित अनंग॥

श्रीराम अन्ततः अभी बालक ही हैं, बाल-सुलभ चापल्य उनमें नहीं है, ऐसी बात नहीं। अपने बाल-विनोदसे मार्गमें वे महर्षिको हर्षित करते जाते हैं।

पैठत सरनि, सिलनि चढ़ि चितवत खग-मृग-बन रुचिराई।
सादर सभय, सप्रेम पुलकि मुनि पुनि पुनि लेत बुलाई॥

महर्षिके प्रति मनमें अत्यधिक आदर है और ये भयको भी भय देनेवाले भक्तवत्सल उनसे डरते भी हैं; किंतु पहले-पहले वनमें इस प्रकार आये हैं। कभी सरोवरोंमें कमल लेने प्रविष्ट हो जाते हैं और कभी आसपासकी ऊँची शिलापर चढ़कर इधर-उधर वनकी शोभा देखने लगते हैं। श्रीविश्वामित्रजी इस विनोदको देख-देखकर आनन्दमग्न हो रहे हैं।

यज्ञ-रक्षा

चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई॥
एकहिं बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥

श्रीराम कभी प्रमाद नहीं करते। वे खेलमें, विनोदमें भी असावधान नहीं होते। मार्गमें वन-शोभा देखते, पुष्प-पत्र चयन करते आनन्दमग्न दोनों भाई मुनिके साथ चले जा रहे थे। उनका शब्द सुनकर राक्षसी ताड़का क्रोधसे चिग्घाड़ मारती दौड़ी। महर्षि विश्वामित्रको केवल यह बतलाना पड़ा कि यह राक्षसी है, आततायिनी है, अतः वध्य है। दोनों राजकुमारोंमेंसे न तो कोई चौंका और न किसीने कोई आकुलता या हड़बड़ाहट व्यक्त की। जैसे एक नन्हा मच्छर उड़ता भनभनाता आता है तो हम-आप कोई विशेष ध्यान नहीं देते, केवल तनिक हाथ हिला देते हैं, वैसे ही श्रीरामने धीरेसे कंधेसे धनुष उतारा, धीरेसे एक बाण लिया तरकससे और मजेसे छोड़ दिया उसे—बस! ताड़काका इतनेसे ही काम हो गया। सचमुच उसका काम ही बन गया। उसकी छाती फट गयी, वह

षड़ामसे गिर पड़ी, यह दूसरी बात, किंतु दयामय श्रीरामने उसे अपने धाम भेज दिया। सदाके लिये आवागमनके चक्रसे मुक्त कर दिया!

महर्षि विश्वामित्रकी पहले धारणा थी कि सर्वेश्वरने श्रीदशरथराजकुमारके रूपमें अवतार धारण किया है। अब वह धारणा विश्वास बन गयी। इतना तेज, इतनी स्फूर्ति, इतनी शक्ति! महाराक्षसी ताड़काको इस प्रकार मार दिया जैसे कोई बात हुई ही नहीं। महर्षिने कठोर तपस्या करके जो भूख-प्यासपर विजय करनेवाली विद्या (बला, अतिबला) प्राप्त की थी, जो दिव्यास्त्र* उन्होंने तपसे पाये थे, वे सब श्रीरामको समर्पित कर दिये। अपने आराध्यके चरणोंमें यह महर्षिकी भेंट थी।

श्रीराम महर्षिके आश्रममें आये। ऋषिने उनका स्वागत-सत्कार किया। जिस कामके लिये उद्यत हुआ जाय, उसे सर्वत्र प्राथमिकता मिलनी चाहिये, यह श्रेष्ठ पुरुषका सदा दृष्टिकोण रहता है। आश्रममें पहुँचते ही श्रीरामभद्रने महर्षिसे कहा—'आप सब निर्भय होकर यज्ञ प्रारम्भ करें।' वह रात्रि आयोजन करनेमें व्यतीत हुई। मुनिमण्डलीको यज्ञ-सामग्री प्रस्तुत करनी थी। राजकुमारोंने विश्राम किया। प्रातःकाल महर्षि विश्वामित्र अपने आश्रमवासी मुनिगणोंके साथ यज्ञ करनेमें लग गये और श्रीराम तथा लक्ष्मणजीने धनुषपर ज्या चढ़ायी। वे सावधान खड़े हो गये।

यज्ञका सुगन्धित धुआँ आकाशमें चारों ओर फैलने लगा। वेदमन्त्रोंकी पवित्र ध्वनि दिशाओंमें गूँजने लगी। क्रूर-प्रकृति नीच पुरुष किसीका भी सत्कर्म सह नहीं पाते। मारीच और सुबाहु अपनी राक्षसी सेनाके साथ तपोवनमें यज्ञ होते देख टूट पड़े। श्रीरामने घोर गर्जन करते उन असुरोंको आते देखा। एक बिना नोकका बाण मारीचको खेल-खेलमें मार दिया उन्होंने। उस बाणके आघातसे वह सौ योजन दूर समुद्रके किनारे जा गिरा। बेचारा मारीच—वह भला फिर क्या आता। बहुत दिनों पीछे जब रावण सीताहरणमें उसे सहयोगी बनाने उसके पास पहुँचा था, तब भी मारीचको इस बाणकी चोट व्याकुल कर रही थी। उसने रावणसे कहा था—

मुनि मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥
सत जोजन आयउँ छन माहीं। तिन्ह सन बयरु किएँ भल नाहीं॥
भइ मम कीट भृंग की नाई। जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई॥

राक्षस दौड़े आ रहे थे। यज्ञमें विघ्न तो नहीं ही पड़ना चाहिये। अब विनोदके लिये अवकाश नहीं था। श्रीरामने अपने धनुषपर आग्नेयास्त्रका संधान किया और सुबाहु राक्षस उस अस्त्रकी ज्वालामें भस्म हो गया। जितनी देरमें श्रीराघवेन्द्रने दो बाण चलाये, उतनी देरमें उनके छोटे भाईने पूरी राक्षसी सेनाका सफाया कर दिया। यज्ञ तो उसी समय निर्विघ्न हो चुका था, जब उसे निर्विघ्न करनेके लिये इन अयोध्याके राजकुमारोंने अपनी कमरमें तरकस बाँधे थे।

अहल्या-उद्धार

यज्ञकी रक्षा हो गयी। उसमें विघ्न करनेवाले दूसरे लोक जा चुके। महर्षि विश्वामित्र जिस प्रयोजनसे कोसल-राजकुमारोंको ले आये थे, वह राजकुमारोंके आश्रममें पहुँचनेके दूसरे ही दिन पूर्ण हो गया। लेकिन महर्षि कुछ और भी चाहते हैं। मिथिला और अयोध्या ये दोनों राजवंश मूलतः एक ही हैं। इक्ष्वाकुकी वंशपरम्परामें ही दोनों हैं। महाराज निमि और महर्षि वशिष्ठके विवादमें दोनों पृथक् जा पड़े। अब दोनोंको एक सम्बन्धसूत्रमें आबद्ध हो जाना चाहिये। मिथिलानरेश महाराज सीरध्वज (जनक) की भूमिजा पुत्रीका स्वयंवर है। श्रीविदेह-नन्दिनीका पाणिग्रहण यदि ये अवधके युवराज कर लें···। मिथिला जानेके लिये निमन्त्रणका कोई प्रश्न ही नहीं। ब्राह्मणोंको, ऋषियोंको कहीं जानेके लिये निमन्त्रण आवश्यक नहीं और ये युवराजकुमार तो महर्षिके साथ जायँगे। वैसे भी मिथिलामें जो श्रीविदेहनन्दिनीके लिये

---

* विश्वामित्रजीने श्रीरघुराजकुमारको ५५ दिव्य अस्त्र दिये। इन सबके नाम वाल्मीकीय रामायण बालकाण्डके २८ वें अध्यायमें हैं। ये अस्त्र कोई टेढ़े-तिरछे-नुकीले-भड़कीले हथियार नहीं थे। सब मन्त्रमय थे और सब इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले थे। उन सबके अधिष्ठाता देवता थे। 'दिव्यभास्वरदेहाश्च मूर्तिमन्तः सुख-प्रदाः।' 'उनके शरीर अलौकिक तेजोमय थे, वे शरीरधारी और सुखप्रद थे।' उन्होंने भगवान् श्रीरामचन्द्रसे हाथ जोड़कर मधुर स्वरमें कहा—'इमे स्म नरशार्दूल शाधि किं करवाम ते।' 'हे नरश्रेष्ठ! हम लोग सेवामें आये हैं, आप आज्ञा दीजिये हम क्या करें।' भगवान् रामने कहा—'आप मेरे मनमें सदा स्थित रहें और काम पड़नेपर हमारी सहायता करें।' अर्थात् हमें सदा आपका (मन्त्रमय अस्त्र तथा प्रयोगविधिका) स्मरण बना रहे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दिव्यास्त्र मन्त्रमूर्ति होते हैं। मन्त्र पढ़नेसे वे प्रकट हो जाते हैं और साधारण बाणपर ही मन्त्र-जप करके उनका संधान-प्रयोग किया जाता है।

धनुर्भङ्गकी घोषणा हुई है, वह घोषणा है। वह शूरमानी समस्त नरेशों एवं राजकुमारोंके लिये खुला आह्वान है। उसमें किसीको व्यक्तिगत निमन्त्रण दिया नहीं गया है और न दिया जा सकता है। प्रत्येक शूर क्षत्रिय उसमें सम्मिलित हो सकता है और तब इन सुकुमार अवधेश-कुमारसे अधिक अद्भुत शूर धरातलपर और कहाँ पाया जा सकता है।

तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया॥

आश्रममें श्रीराम अपने छोटे भाईके साथ कुछ दिन रहे। आश्रमवासियोंको उन्होंने अपने शीलसे संतुष्ट किया। एक दिन महर्षिने प्रस्ताव किया—

तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिअ जाई॥
धनुषजग्य सुनि रघुकुल नाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा॥

पिताने जिन लोकपूजित महामुनिको सौंपा है, जो विद्या एवं शस्त्रदाता गुरु हो चुके हैं, उनकी आज्ञा ही तो एकमात्र कर्तव्य है। जबतक वे स्वयं आज्ञा न दें, अयोध्या लौटनेका प्रश्न ही कहाँ आता है। मुनिने मिथिला चलनेका प्रस्ताव किया और श्रीरामने उसे गुरु-आज्ञा समझकर स्वीकार कर लिया।

अयोध्यासे विश्वामित्र-आश्रम (वर्तमान बक्सरके समीप) की यात्रामें केवल महर्षि साथ थे। अब उस तपोवनसे मिथिलाकी यात्रामें पूरी मुनिमण्डली साथ हो गयी। अब दोनों राजकुमार विप्रवर्गकी सेवामें संलग्न हो गये।

भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥

ऋषि-मुनि प्राचीन कथाएँ सुनाते प्रसन्न होकर और बड़ी नम्रता एवं एकाग्रतासे दोनों भाई सुनते। 'हम इन प्रसंगोंको जानते हैं' ऐसी अविनयपूर्ण चञ्चलता उनमें कभी संकेतसे भी प्रकट नहीं हुई। भला श्रीरामसे अधिक आदर्श श्रोता कोई कहाँ पा सकता है।

यात्रामें ही एक बड़ा सुन्दर आश्रम दीख पड़ा। पुष्पित लताएँ, फलोंसे लदे वृक्ष, यज्ञोंकी वेदियाँ और हवनकुण्ड—सब लक्षण ऐसे थे कि वह किसी ऋषिका आश्रम है।

आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं॥

इतना सुन्दर आश्रम और उसके आसपास कोई पशु-पक्षी नहीं। इतना सुनसान। बड़ा कुतूहल हुआ और वह और भी बढ़ गया, जब एक शिलाकी नारीमूर्ति दिखायी पड़ी। वह कोई पूजित प्रतिमा नहीं जान पड़ती थी। ऐसे जनहीन आश्रममें वह मूर्ति क्यों? श्रीरामने महर्षिसे इन बातोंको जाननेकी इच्छा प्रकट की। महर्षिने इन्द्रका छल और महर्षि गौतमद्वारा अहल्याको शाप दिये जानेकी कथा सुनाकर अनुरोध किया—

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर॥

एक मुनि-पत्नीको चरण-स्पर्श कराना होगा, यह सुनकर आनन्दकन्द श्रीरघुचन्द्रका कमलमुख लज्जावनत हो गया। महर्षि-आज्ञासे बड़े संकोचके साथ उन्होंने धीरेसे चरण उठाकर उस प्रतिमाका स्पर्श किया।

रामपद-पदुम-पराग परी।
ऋषितिय तुरत त्यागि पाहन-तनु छबिमय देह धरी॥
प्रबल पाप पति-साप दुसह दव दारुन जरनि जरी।
कृपा-सुधा सिंचि बिबुध-बेलि ज्यों फिरि सुख-फरनि फरी॥
× × ×
भूरिभाग-भाजनु भई।
रूपरासि अवलोकि बंधु दोउ प्रेम-सुरंग रई॥
कहा कहौं, केहि भाँति सराहौं, नहि करतूति नई।
बिनु कारन करुनाकर रघुबर केहि केहि गति न दई॥

महर्षि गौतमका शाप अहल्याके लिये दिव्य वरदान बन गया। उसने इन शिव-समाधिके मूर्तिमान् सौभाग्यको भर लोचन देखा। इनकी वन्दना की। भक्तिका परम दुर्लभ वरदान मिला उसे और श्रीरामकी आज्ञासे वह अपने पतिदेवके समीप उनके लोकको चली गयी। यह सब हुआ, किंतु परम संकोची श्रीरामको इस बातका संकोच बना ही रहा कि उन्होंने एक मुनिपत्नीको जान-बूझकर चरणोंसे स्पर्श किया। ऐसे उदार, इतने संकोची, इतने शीलनिधि ये कोसलराजकुमार।

आगे त्रिभुवन-पावनी भगवती भागीरथीका प्रवाह देखकर श्रीराम उल्लसित हुए। इसलिये भी उल्लसित हुए वे भक्तवत्सल भावमय संकोची नाथ कि सुरसरिमें स्नान करनेसे ऋषिपत्नीको चरणस्पर्श करानेका दोष दूर हो जायगा। बड़ी उमंगसे गङ्गाजीके प्रकट होनेकी कथा तथा उनकी महिमाका वर्णन विश्वामित्रजीसे उन्होंने श्रवण किया।

नगर-दर्शन

महर्षि विश्वामित्र मिथिला पहुँच गये। नगरके बाहर

एक आमोंके उपवनमें उन्होंने आसन लगाया मुनि-मण्डलीके साथ। महाराज जनकको समाचार मिला और वे अपने कुलपुरोहित श्रीशतानन्दजी एवं मन्त्रियोंके साथ महर्षिका स्वागत करने पधारे।

तेहि अवसर आए दोउ भाई। गए रहे देखन फुलवाई॥

आमोंके उपवनमें आसन पड़ते ही श्रीरामने प्रथम काम यह किया कि पुष्प-वाटिका कहाँ है, यह देखने चले गये छोटे भाईके साथ। गुरुदेवको पूजाके समय पुष्पोंकी आवश्यकता होगी। उस समय विलम्ब हो, यह उचित नहीं है। यात्राके श्रमकी चिन्ता न करके वे कोसलराजकुमार गुरु-सेवाकी सावधानीमें लग गये थे।

महाराज जनकने यहीं श्रीराम-लक्ष्मणके प्रथम दर्शन किये। उस दिव्य छबिको देखकर महाराज आत्मविस्मृत हो गये। वे अपनी प्रेमविह्वलता स्वयं सूचित करते हैं—

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनि कुल तिलक कि नृप कुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

जब सहज विदेह आत्मज्ञानियोंके भी उपदेष्टा महाराज जनककी यह दशा है, तब दूसरे नगरजनोंकी बात तो कैसे कही जाय।

महाराज जनकने आदरपूर्वक महर्षिको साथ लिया और नगरमें ले जाकर एक उत्तम भवनमें आवास दिया। वहीं मध्याह्नके समयका भोजन हुआ और कुछ समय सबने विश्राम किया। यात्राकी थकान दूर हो गयी। अब भी एक प्रहर दिन शेष था। श्रीलक्ष्मणजी विदेहपुरी देखना चाहते थे; किंतु संकोचवश कहते नहीं थे। श्रीरामने छोटे भाईका भाव समझ लिया। उन भ्रातृवत्सलने महर्षिको मस्तक झुकाया और आज्ञा पाकर प्रार्थना की—

नाथ लखनु पुरु देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं॥
जौं राउर आयसु मैं पावौं। नगर देखाइ तुरत लै आवौं॥

महर्षि विश्वामित्रजी जानते हैं कि इस नगर-दर्शनका तात्पर्य क्या है। परम सौभाग्यशाली मिथिलावासियोंके नेत्रोंको ये करुणासागर धन्य करना चाहते हैं। महर्षिने बात स्पष्ट कर दी—

धरम सेतु पालक तुम्ह ताता। प्रेम बिबस सेवक सुखदाता॥

जाइ देखि आवहु नगरु सुखनिधान दोउ भाइ।
करहु सुफल सब के नयन सुंदर बदन देखाइ॥

अब यहाँ जनकपुरवासियोंकी अद्भुत उत्सुकता, अनुराग, आनन्द आदिका वर्णन करके प्रसङ्ग नहीं बढ़ाना है।

श्रीरामका सहज शील, अलौकिक सौन्दर्य सचराचरको मोहित करता है। राम किसीके पराये नहीं हैं। वे किसीके अपरिचित भी नहीं हैं। वे सबके अपने हैं। सबके जन्म-जन्मके सुपरिचित हैं। जनकपुरके बालकोंको कोई संकोच नहीं हुआ इन अयोध्याके राजकुमारोंके समीप जानेमें। उन्हें ऐसा ही लगा कि वे दोनों भाई उनके परम सखा हैं। बालकोंने उन्हें घेर लिया।

पुर बालक कहि कहि मृदु बचना। सादर प्रभुहि देखावहिं रचना॥

सब सिसु एहि मिस प्रेमबस परसि मनोहर गात।
तन पुलकहिं अति हरषु हियँ देखि देखि दोउ भ्रात॥

सिसु सब राम प्रेमबस जाने। प्रीति समेत निकेत बखाने॥
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥
राम देखावहिं अनुजहि रचना। कहि मृदु मधुर मनोहर बचना॥

गुरु-सेवा

कौतुक देखि चले गुरु पाहीं। जानि बिलंबु त्रास मन माहीं॥
जासु त्रास डर कहुँ डर होई। भजन प्रभाउ देखावत सोई॥

गुरुजनोंका भय मानना भारतीय शिष्टाचारका सहज अङ्ग है। यह भय प्रमादसे रक्षा करता है। थोड़ी-सी देर हुई थी नगर देखनेमें और श्रीराम गुरुदेवसे मन-ही-मन डर रहे थे; कहीं महर्षि अप्रसन्न न हों। किसी प्रकार बड़े स्नेह एवं आग्रहसे पुर-बालकोंको विदा करके दोनों भाई लौटे।

सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुर पद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ॥

बड़ोंके समीप उनकी आज्ञाके बिना आसन-ग्रहण नहीं करना चाहिये। गुरुजन खड़े हों तो खड़े रहना चाहिये और उनके बैठ जानेपर उनकी आज्ञासे बैठना चाहिये।

उस समय सायंकाल हो रहा था। महर्षिने आज्ञा दी, सबने सायंकालीन स्नान, सन्ध्या, हवन आदि किया। ऋषि-मुनि तथा ब्रह्मचारी एकाहारी होते हैं। सायंकाल भोजन करनेका कोई प्रश्न था ही नहीं। अयोध्याके युवराज मुनियोंके साथ आश्रमका संयमपूर्ण आदर्श जीवन बिता रहे थे।

कहत कथा इतिहास पुरानी । रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ॥
मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई । लगे चरन चापन दोउ भाई ॥
जिन्ह के चरन सरोरुह लागी । करत बिबिध जप जोग बिरागी ॥
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते । गुर पद कमल पलोटत प्रीते ॥

आधी राततक तो प्राचीन इतिहास एवं पुराणोंकी चर्चा होती रही । अर्धरात्रि होनेपर महर्षि शयनके लिये आसनपर पधारे । श्रीराम-लक्ष्मण बड़े प्रेमसे गुरुदेवके चरण दबाने लगे । आज यात्रा करके आये हैं, इसलिये यह चरण नहीं दबाया जा रहा है । यह तो नित्यका क्रम है । यात्राकी थकान तो महर्षिकी अपेक्षा इन सुकुमार राजकुमारोंको अधिक होनी चाहिये; किंतु प्रश्न थकानका नहीं है, यह तो श्रद्धा, प्रेम और सेवाकी बात है । जिनके श्रीचरणोंकी एक झाँकीके लिये मुनिजन वर्षों, युगोंतक ध्यान-धारणा एवं तप करते हैं, वे ही श्रीराम अपने पद्मपल्लव-मृदुल करोंसे गुरुके चरण बड़े प्रेमसे दबा रहे हैं । इस सेवामें इतना स्नेह, इतना आग्रह है उनका कि महर्षिके मना करनेपर भी वे रुकते नहीं, उठते नहीं, चरण दबाते ही जा रहे हैं ।

बार बार मुनि अग्या दीन्ही । रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही ॥

बार-बार स्नेहसे ऋषिने सो जानेकी आज्ञा दी । बार-बार मना किया । जब यह लगा कि अब महर्षिकी निद्रामें बाधा पड़ेगी, तब दोनों भाई वहाँसे उठे ।

चापत चरन लखनु उर लाएँ । सभय सप्रेम परम सचु पाएँ ॥
पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता । पौढ़े धरि उर पद जलजाता ॥

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि आधी रात हो जानेपर तो महर्षि विश्वामित्रजी ही शयनके लिये आसनपर गये थे । कुछ देर दोनों भाइयोंने उनके चरण दबाये और फिर श्रीरामके चरण दबाते रहे श्रीलखनलाल । रात्रिका केवल यह तीसरा प्रहर निद्राके लिये है और इस प्रकार उसका भी लगभग तृतीयांश इस प्रकार व्यतीत हो जाता है । नित्य नियमपूर्वक निद्राके लिये कठिनाईसे कुल दो घंटे बच रहते हैं ।

उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान ।
गुर तें पहिलेहिं जगतपति जागे रामु सुजान ॥

शिष्टाचार यही है कि शिष्य गुरुसे, सेवक स्वामीसे पीछे सोये और पहले जाग जाय । मुर्गेने शब्द किया, रात्रिका चतुर्थ प्रहर—ब्राह्ममुहूर्त प्रारम्भ हो रहा है, यह जानकर श्रीलक्ष्मणजीने शयनका आसन छोड़ दिया । श्रीरामकी बात भिन्न है । वे बड़े 'सुजान' हैं । गुरुदेवसे पहले उठ जाते हैं वे; किंतु यदि लक्ष्मणसे पहले उठ जायँ तो छोटे भाईको संकोच होगा । वे 'सुजान' जान-बूझकर छोटे भाईके उठ जानेपर ही उठते हैं । उनके शीलमें बड़ोंके सम्मान एवं छोटोंके संकोचकी सहज रक्षा है ।

सकल सौच करि जाइ नहाए । नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए ॥

स्वयं पवित्र होकर, स्नान-सन्ध्यासे निवृत्त होकर तुरंत गुरुदेवको दोनों भाइयोंने प्रणाम किया, जिसमें गुरुदेवके पूजनादिकी सेवामें योग दिया जा सके ।

समय जानि गुर आयसु पाई । लेन प्रसून चले दोउ भाई ॥

अब यहाँ बहुत विवेचन आवश्यक नहीं है । महर्षि महाराज जनकके अतिथि थे । उनकी पूजाके उपकरण महाराजके सेवक आदेश होते ही उपस्थित कर देते, किंतु आराध्यकी सेवा इस प्रकार नहीं हुआ करती । आराध्यकी पूजाकी सामग्री अपने हाथों एकत्र करनेकी वस्तु है । यह तो महर्षिकी असीम कृपा थी कि अपनी पूजाके लिये पुष्प लानेकी उन्होंने आज्ञा दी । जिसपर उन तपोधनका परम स्नेह न हो, वह ऐसी सेवाका आदेश माँगनेका साहसतक भी कर नहीं सकता था ।

सरल चित्त

श्रीराम-लक्ष्मण महर्षिकी पूजाके लिये पुष्प लेने महाराज जनकको पुष्पवाटिकामें गये । सरिता, पर्वत, वन, झरने आदि तो निसर्ग सम्पत्ति हैं । इनपर सबका अधिकार है । लेकिन उपवन तो ऐसा नहीं है । उसे तो जिसने लगाया है, सींचा है, उसकी वह सम्पत्ति है । उससे पूछे बिना वहाँसे दो पत्ते भी तोड़ लेना अनुचित है । अतः—

चहुँ दिसि चितइ पूँछि मालीगन । लगे लेन दल फूल मुदित मन ॥

संयोगकी बात, उसी समय उस पुष्पोद्यानमें स्थित भगवती पार्वतीका पूजन करनेके लिये श्रीविदेहनन्दिनी सखियोंके साथ पधारीं । कन्याओंकी परमाराध्या उमा हैं । माता सुनयनाने अपनी पुत्रीको उन गिरिजाकी आराधना करनेको भेजा था । श्रीजनककुमारीकी एक सखी उनसे पृथक् पुष्पवाटिकामें घूमने चली गयी । उसने अयोध्याके राजकुमारोंको देखा और उन शोभासिन्धुका दर्शन अपनी प्रिय सखी श्रीजानकीजीको कराने ले आयी । श्रीरामने श्रीजानकीको और श्रीजानकीने श्रीरामको देखा । उस समयके अनुरागका

वर्णन यहाँ करना नहीं है। ध्यान देनेकी बात है श्रीरामकी सरलता। साधारणजन जब ऐसे अवसरोंपर भरपूर चेष्टा करते हैं कि उनके मनके भावको कोई किसी प्रकार ताड़ न ले, कोई उनके विकारको लक्षित न कर ले, श्रीराम अपने छोटे भाईसे बड़े पवित्र चित्तसे कह रहे हैं—

तात जनकतनया यह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई॥
पूजन गौरि सखीं लै आई। करत प्रकासु फिरइ फुलवाई॥
जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥
सो सबु कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥

तनिक भी दुराव-छिपाव नहीं है। 'मोर मन छोभा' मेरे मनमें क्षोभ हो रहा है, यह बात बड़े सहजभावसे कह दी गयी है और साथ ही 'सहज पुनीत मोर मन' में कितना दृढ़ आत्मविश्वास है—कितनी बड़ी पवित्रताका आदर्श दिया है यहाँ उन मर्यादापुरुषोत्तमने। आगे इसी बातको और अधिक बल देकर पुष्ट कर रहे हैं—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरइ न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥
जिन्ह के लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी॥
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं। ते नरबर थोरे जग माहीं॥

'रघुवंशी सहज स्वभावसे कुमार्गपर पैर नहीं रखते!' कितना उद्दीप्त कुल-गौरव है। बहुत दिनोंसे हम पढ़ते, सुनते और गाते हैं—

जिनको न निज गौरव तथा निज देशका अभिमान है।
वह नर नहीं नरपशु निरा है और मृतक समान है॥

लेकिन यह गौरव कैसे मिलता है? केवल बातोंसे तो यह मिलेगा नहीं। गौरव तो तब प्राप्त होता है, जब हमारा स्वयंका आचरण उस गौरवके अनुरूप हो। जो अपने वंशपर गौरव करता है, वह अपने आचरणके विषयमें दृढ़तासे कह रहा है—

मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहुँ परनारि न हेरी॥

प्रकारान्तरसे श्रीरामने यह भी कहा—'शत्रुओंके सामने युद्धमें राम कभी पीछे नहीं हटेगा। मेरे नेत्र परायी स्त्रीकी ओर नहीं उठते और मेरा मन भूलकर भी परस्त्रीका चिन्तन नहीं करता। याचकोंको उनकी याचनाके उत्तरमें मैंने 'हाँ' कहना ही सीखा है, 'ना' कहना नहीं।' यह है भारतके युवकका उज्ज्वल आदर्श।

यह सरलता, चित्तकी यह शुद्धता; इतनी निर्विवाद है कि इसमें शंका-सन्देहको स्थान ही नहीं है। छोटे भाईसे ही श्रीरामने अपने मनकी स्थिति इस प्रकार प्रकट की हो, ऐसी बात नहीं है। जब चित्तमें दोष नहीं होता, तब चित्तकी बात कहनेमें कहीं भी हिचक नहीं होती। मर्यादापुरुषोत्तमने गुरुदेवसे भी दुराव नहीं किया। वैसे कोई आवश्यकता नहीं थी महर्षिसे यह सब कहनेकी; किंतु मर्यादा यही है कि गुरु, स्वामी एवं अभिभावकसे अपनी कोई बात छिपायी न जाय। अतः—

राम कहा सबु कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं॥

धनुर्भङ्ग

दूसरे दिन प्रातःकाल ही धनुष-यज्ञका महामहोत्सव आ गया। मिथिला-राजपुरोहित श्रीशतानन्दजीने आकर प्रार्थना की और मुनिमण्डली तथा श्रीराम-लक्ष्मणके साथ महर्षि विश्वामित्र यज्ञभूमिमें पधारे। महाराज जनकने उनका स्वागत किया। उचित आसन दिया उन्हें। जैसे एक तटस्थ दर्शक बैठता है, महर्षि बैठ गये सबके साथ।

महाराज जनकके प्रणकी सभा-स्थलमें घोषणा हुई। श्रीविदेहराजकुमारी सखियोंके मध्य अपने कमलकरोंमें वर-माला लिये यज्ञभूमिमें पधारीं। आगत नरेशोंमें खलबली मच गयी। उत्साह, उमंग, लंबी-चौड़ी आत्मप्रशंसा और फिर आतुर-उद्योग—लेकिन भगवान् शंकरका पिनाक न कोई तिनका था और न छोटी-मोटी लठिया ही। उस महा-धनुषको देखकर त्रिभुवन-विजयी दैत्येश्वर बाणासुर एवं राक्षसराज रावण भी उठानेका व्यर्थ प्रयत्न किये बिना ही धीरेसे खिसक चुके थे। नरेशोंकी उछल-कूदका कोई अर्थ ही नहीं था। उत्साह चाहे जितना हो, शशक हिमालयको उठा तो सकता नहीं। सबके प्रयत्नका एक ही परिणाम होना था—सब पसीनेसे लथपथ अपने आसनोंपर मुख लटकाये बैठ चुके थे। सबकी उछल-कूद समाप्त हो गयी।

बड़ी निराशा हुई महाराज जनकको। उनकी प्रतिज्ञा पूरी करनेवाला शूर क्या पृथ्वीमें है ही नहीं? निराशा, क्षोभ एवं उत्तेजनामें वे बहुत कुछ कह गये। 'बीर बिहीन मही मैं जानी' का उनका व्यंग श्रीलक्ष्मणलाल सहन नहीं कर सके। उन्हें महाराज जनकके वचनोंमें अपने स्वामीका—अपने अग्रजका अपमान जान पड़ा। वे उठ खड़े हुए और उनकी तेजोमयी वाणीने सभाको स्तब्ध कर दिया। उनकी तेजोमयी वाणी श्रीरामचरितमानसमें ही पढ़ने योग्य है। लेकिन

जो तेजोमय ज्वाला उगल रहे थे, वे बड़े भाईके केवल संकेतको देखकर नन्हे बालककी भाँति संकुचित होकर बैठ गये । यह रघुवंशका शील था । अब महर्षिने आज्ञा दी—

उठहु राम भंजहु भवचापा । मेटहु तात जनक परितापा ॥
सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा । हरषु बिषादु न कछु उर आवा ॥
ठाढ़े भए उठि सहज सुभाएँ । ठवनि जुबा मृगराजु लजाएँ ॥

जहाँ समस्त नरेश मुँहकी खा चुके हैं, वहाँ पराक्रम प्रकट करनेका अवसर आया है । श्रीजनककुमारीके प्रति चित्त पहलेसे आकर्षित हो चुका है । छोटे भाईकी तेजस्विताने भूमि उज्ज्वल कर दी है । लेकिन श्रीराममें आतुरता नहीं आ सकती । उन सहज धीरकी स्थिरता चञ्चल होना नहीं जानती । घोर विपत्तिमें और आनन्दातिरेकके चरम क्षणमें भी जो अविचल शान्त रहे, वही तो धीर पुरुष है । ताड़का और मारीच-सुबाहुके आक्रमणके समय जो चौंके नहीं थे, उनमें इस अवसरपर भी कोई आतुरता नहीं आयी ।

गुर पद बंदि सहित अनुरागा । राम मुनिन्ह सन आयसु माँगा ॥
सहजहिं चले सकल जग स्वामी । मत्त मंजु बर कुंजर गामी ॥

और मत्तगयंदके समान झूमती मन्द गतिसे जब धनुषके पास पहुँचे—

गुरहि प्रनामु मनहिं मन कीन्हा । अति लाघवँ उठाइ धनु लीन्हा ॥

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने गीतावलीके एक पदमें बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है—

मुनि-पदरेनु रघुनाथ माथे धरी है ।
रामरुख निरखि, लखनकी रजाइ पाइ,
धरा धरा-धरनि सुसावधान करी है ॥
सुमिरि गनेस-गुर, गौरि-हर, भूमिसुर,
सोचत सकोचत सकोची बानि धरी है ।
दीनबंधु, कृपासिंधु, साहसिक, सीलसिंधु,
सभाको सकोच कुलहूकी लाज परी है ॥
पेखि पुरुषारथ, परखि पन, पेम, नेम,
सिय-हियकी बिसेषि बड़ी खरभरी है ।
दाहिनो दियो पिनाकु, सहमि भयो मनाकु,
महाब्याल बिकल बिलोकि जनु जरी है ॥
सुर हरषत, बरषत फूल बार बार,
सिद्ध-मुनि कहत, सगुन, सुभ घरी है ।
रामबाहु-बिटप बिसाल बौंड़ी देखियत,
जनक-मनोरथ कलपबेलि फरी है ॥
लख्यौ न चढ़ावत, न तानत, न तोरतहू,
घोर धुनि सुनि सिवकी समाधि टरी है ।
प्रभुके चरित चारु तुलसी सुनत सुख,
एक ही सुलाभ सबही की हानि हरी है ॥

परशुरामके प्रति विनय

काल कराल नृपालन्हके धनुभंग सुने फरसा लिये धाये ।
लक्खन-राम बिलोकि सप्रेम महारिस ते फिर आँख देखाये ॥
धीर सिरोमनि बीर बड़े बिनयी बिजयी रघुनाथ सुहाये ।
लायक हे भृगुनायक से धनु-सायक सौंपि सुभाय सिधाये ॥

भगवान् परशुरामने इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय कर दिया था । उन प्रचण्ड क्रोधी परशुहस्तके सामने मुँह खोल सके, ऐसा साहस त्रिभुवनके किसी शूरमें नहीं था । वे अपने आराध्य भगवान् शङ्करके धनुषका टूटना सुनकर क्रोधोन्मत्त होकर आये थे । कोई उत्तर नहीं दे रहा था कि धनुष किसने तोड़ा । जो कुटिल नरेश श्रीरामके द्वारा धनुर्भङ्ग होनेपर रुष्ट हो रहे थे, उनमें भी बोलनेका साहस नहीं था । ऐसे अवसरपर भी श्रीराम सहज धीरता एवं विनयसे कहते हैं—

नाथ संभुधनु भंजनिहारा । होइहि केउ एक दास तुम्हारा ॥
आयसु काह कहिअ किन मोही । ... ... ॥

श्रीलक्ष्मणजीकी तेजस्विता तो अनुपमेय है; किंतु जब आवेशमें वे परशुरामजीके प्रति कुछ अधिक कठोर वचन कह जाते हैं, तब छोटे भाईके अपराधको अपना अपराध मानकर श्रीराम स्वयं क्षमा माँगते हैं—

नाथ करहु बालक पर छोहू । सूध दूधमुख करिअ न कोहू ॥
जौं पै प्रभु प्रभाउ कछु जाना । तौ कि बराबरि करत अयाना ॥
जौं लरिका कछु अचगरि करहीं । गुर पितु मातु मोद मन भरहीं ॥
करिअ कृपा सिसु सेवक जानी । तुम्ह सम सील धीर मुनि ग्यानी ॥

और यह विनय, प्रार्थनाका उदार एवं सहज क्रम चलता रहता है—

अति बिनीत मृदु सीतल बानी । बोले रामु जोरि जुग पानी ॥
सुनहु नाथ तुम्ह सहज सुजाना । बालक बचनु करिअ नहिं काना ॥
बररै बालकु एकु सुभाऊ । इन्हहि न संत बिदूषहिं काऊ ॥
तेहिं नाहीं कछु काज बिगारा । अपराधी मैं नाथ तुम्हारा ॥
कृपा कोपु बधु बँधब गोसाईं । मो पर करिअ दास की नाईं ॥
कहिअ बेगि जेहि बिधि रिस जाई । मुनिनायक सोइ करौं उपाई ॥

श्रीरामकी यह विनयशीलता और परशुरामजीका ठीक

इसके विपरीत भाव। वे श्रीरामको ही कठोर वचन कहने लगे। लेकिन—

भृगुपति बकहिं कुठार उठाएँ। मन मुसुकाहिं रामु सिर नाएँ॥

क्रोधके बदले क्रोध, अपशब्दके बदले अपशब्द, चपतके बदले घूसा, यह कोई सत्पुरुषोंकी नीति नहीं है। इसमें कोई गौरव नहीं। गौरव तो इसमें है कि श्रीराघवेन्द्र अपशब्द कहते हुए परशुरामजीसे नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर प्रार्थना करते हैं—

राम कहेउ रिस तजिअ मुनीसा। कर कुठारु आगें यह सीसा॥
जेहिं रिस जाइ करिअ सोइ स्वामी। मोहि जानिअ आपन अनुगामी॥

प्रभुहि सेवकहि समरु कस तजहु बिप्रबर रोसु।
बेषु बिलोकें कहेसि कछु बालकहू नहिं दोसु॥

देखि कुठार बान धनु धारी। भै लरिकहि रिस बीरु बिचारी॥
नामु जान पै तुम्हहि न चीन्हा। बंस सुभायँ उतरु तेहिं दीन्हा॥
जौं तुम्ह औतेहु मुनि की नाईं। पद रज सिर सिसु धरत गोसाईं॥
छमहु चूक अनजानत केरी। चहिअ बिप्र उर कृपा घनेरी॥
हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा॥
राम मात्र लघु नाम हमारा। परसु सहित बड़ नाम तोहारा॥
देव एकु गुनु धनुष हमारें। नव गुन परम पुनीत तुम्हारें॥
सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे। छमहु बिप्र अपराध हमारे॥

क्षमा, सहनशीलता और विनय कायरके धर्म नहीं हैं। ये शूरके—शक्तिशालीके धर्म हैं। जो इनमें कायरता देखते हैं, भ्रमवश क्रूरताको ही शूरता मान लिया है उन्होंने। वस्तुतः भीरु एवं कायर ही शीघ्र क्रूर बना करते हैं। श्रीरामकी विनयमें भीरुताका लेश नहीं था। परशुरामजीने भी उसमें भीरुता नहीं समझा; किंतु उन्हें भ्रम हो गया कि श्रीराम व्यंग कर रहे हैं उन्हें विप्र कहकर। उनके इस भावसे उत्तेजित होनेपर उन परम ब्रह्मण्यदेवने अपने भाव स्पष्ट कर दिये—

राम कहा मुनि कहहु बिचारी। रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी॥
छुअतहिं टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना॥

जौं हम निदरहिं बिप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभटु जेहि भय बस नावहिं माथ॥

देव दनुज भूपति भट नाना। समबल अधिक होउ बलवाना॥
जौं रन हमहि पचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ॥
छत्रिय तनु धरि समर सकाना। कुल कलंकु तेहिं पाँवर आना॥
कहउँ सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी॥
बिप्रबंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई॥

कायरता नहीं, भीरुताका लेश नहीं; किंतु औद्धत्य छू नहीं गया है। परशुरामजी भूलसे ही यह कर रहे थे कि वे अपने शस्त्रबलसे डराना चाहते थे। श्रीरामने स्पष्ट कर दिया—'हमें डराया नहीं जा सकता। क्षत्रिय मृत्युसे भयभीत नहीं होते। हम आपके परशुके कारण आपका सम्मान करते हों, सो नहीं है। आप ब्राह्मण हैं, पूजनीय हैं। आदरणीय गुरुजनोंका तिरस्कार हमें कभी भी स्वीकार नहीं है। गुरुजन अकारण भी डाँटें या ताड़न करें तो उसे सहन ही करना चाहिये। जो ब्राह्मणके ब्राह्मणत्वका सम्मान करता है, उसका भय मानता है, वह त्रिभुवनमें निर्भय हो जाता है।'

जहाँ निर्भयताके साथ विनय है, वहाँ नित्य विजय है। श्रीरामने परशुरामजीके सम्मुख नम्रता धारण करके तेजस्वी युवकोंके लिये यही आदर्श प्रदान किया है।

पितृ-दर्शन

श्रीपरशुरामजी मर्यादापुरुषोत्तमकी स्तुति करके, उन्हें अपना वैष्णव धनुष देकर तपस्याके निमित्त महेन्द्रपर्वतपर चले गये। उनके चले जानेपर महाराज जनक तथा जनकपुरवासियोंके देहमें प्राण आये। अबतक तो सबके हृदय धक्-धक् कर रहे थे। अब महर्षि विश्वामित्रजीसे अनुमति लेकर महाराज जनकने अयोध्या दूत भेजा महाराज दशरथको बुलानेके लिये।

दूत अयोध्या पहुँचे। जनकपुरके संवादने अयोध्याको आनन्दमग्न कर दिया। श्रीचक्रवर्ती महाराजने धूमधामसे बारात सजायी। महर्षि वशिष्ठको आगे करके अयोध्याका वैभवपूर्ण समाज श्रीरामका विवाह करने जनकपुरको चल पड़ा। बारात जनकपुर पहुँची। बड़ी अद्भुत बारात—दूल्हा पहलेसे ही नगरमें आया था और अब भी बारातसे उसकी भेंट नहीं हुई थी। महाराज जनकने बड़े उत्साहसे स्वागत किया नगरसे बाहर आकर। पहलेसे सुसज्जित जनवासेमें सपरिकर महाराज दशरथ आकर उतर गये।

पितु आगमनु सुनत दोउ भाई। हृदयँ न अति आनंदु अमाई॥
सकुचन्ह कहि न सकत गुरु पाहीं। पितु दरसन लालचु मन माहीं॥

भरे राजसमाजमें जिन्होंने धनुष तोड़ा, भगवान् परशुराम जिनको मस्तक झुकाकर चले गये, उन श्रीरामका यह शील है। पिता जनकपुर आ पहुँचे हैं, उनके दर्शनोंकी उत्कण्ठा भी भरपूर है; किंतु महर्षि विश्वामित्रजीसे संकोचके मारे कह नहीं पाते। यही संकोच शूरताका भूषण है।

महर्षि विश्वामित्रजी दोनों भाइयोंके शील-संकोचपर मुग्ध हो गये । दोनों राजकुमारोंको साथ लेकर वे महाराज दशरथसे मिलने चले । अब वह मिलनसुख वर्णनका विषय तो है नहीं। सहृदय भावुकजन उसका कुछ अनुमान कर सकते हैं ।

बालक श्रीरामकी शोभा, उनका शील, उनकी नम्रता, उनका आदर्श—भारतीय युवकका सदा-सर्वदाका मङ्गल आदर्श है वह और श्रीराम—उनकी तो यह बालछबि ही भगवान् शङ्करके मानसमें नित्य निवास करती है ।

'बैरिउ राम बड़ाई करहीं ।'

प्रजा-पुरजनकी तथा स्वजनोंकी बात छोड़ दीजिये, शत्रु भी श्रीरामके औदार्यकी प्रशंसा करते थे । उनके हृदयमें भी कसक उठती थी—'यदि किसीसे शत्रुता ही करनी हो तो रामसे शत्रुता करना भी भला ।' शत्रुता हो या स्नेह, होना चाहिये वह भी श्रीरामसे । श्रीरामसे हृदयका सम्बन्ध रहे—फिर वह कोई भी सम्बन्ध क्यों न हो । और यदि श्रीरामसे हृदयका सम्बन्ध नहीं है कोई कुछ भी कर ले, कोई अर्थ नहीं उसकी किसी भी क्रियाका ।

'तुलसी अस बालक सों नहिं नेह
कहा जप जोग समाधि किये ।
नर ते खर सूकर स्वान समान
कहौ जगमें फल कौन जिये ॥'

जीवनकी परम सफलता तो इसीमें है—

रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि । संतत सुनिअ रामगुन ग्रामहि ॥

सु०

बालक श्रीराम तथा नारद

(रचयिता—महाकवि पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस' साहित्यरत्न)

अवध नारद आकर रामको ,
निरखके शिशु-रूप महा हँसे ।
प्रकृति पाश पड़े अब आज हो ,
पकड़में किसकी तुम आ सके ॥

शिशु-दशा वश लार बहा रहे ,
मचलते बहु खेलन धूलमें ।
स-रज-अंग-निहंग निहारते ,
वसन औ जननी लख भागते ॥

जगत, जीव हितार्थ, दुखान्त है ,
सुजनको जग-मुक्ति प्रदानते ।
प्रभु पड़े फिर क्यों इस जालमें ,
यह रहा जन—अन्य लिये सदा ॥

विजन—ब्रह्म—स्वरूप—विराटता ,
मधुरता—मधु—मध्य समा रही ।
अजगसे[1] तल-वस्तु पड़े रहे ,
जन-समागम-चाह हुई तुम्हें ॥

दुख—दुखी कहता, जगमें महा ,
पर, सुना कब, आप छिपे रहे ।
अब परीक्षण नाथ स्वयं करें ,
गिरि, विलोक महाङ्ग विषाद हो ॥

खिलखिला करके हँस भागते ,
दँतुलियाँ मुखमें शुचि सोहतीं ।
घुटुरुवों चलते कर-कंजमें ,
सजल—पंक भरे सुख मातु दो ॥

जननि अंक लिये फुसला रही ,
अब न धूल धरो निज अंगमें ।
जग-पिता तुम, बालक हो बने ,
कलित—कौतुक कौतुकि क्यों करो ॥

मधुर—मंद भरी मुसकानमें ,
निरख नारदका मुख हेरते ।
मुनि कहा मुख बंदरका नहीं ,
नमत नारद हूँ पहचानिये ॥

---

१. ऊँट ।

श्रीभरतलालजी

भरत राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥

भगवान्‌के चार स्वरूप माने जाते हैं व्यूहके रूपमें—वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षण। श्रीरामके रूपमें इसी व्यूहरूपको श्रीराम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न कहा जाता है। श्रीभरतलालजीका स्वरूप मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामसे इतना मिलता है कि लोग दोनों भाइयोंमेंसे एकको सहसा पहचान नहीं पाते थे। केवल रूपकी ही एकता हो, ऐसी बात नहीं है। सच्चा भक्त—अनन्य प्रेमी अपने प्रेमास्पद प्रभुका चिन्तन करते-करते बाहर-भीतर सब प्रकारसे अपने आराध्यसे एकाकार हो जाता है और—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥

अतएव श्रीभरतलालजीके लिये दोहावलीमें गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

भरत स्याम तन राम सम सब गुन रूप निधान।
सेवक सुखदायक सुलभ सुमिरत सब कल्यान॥

शैशवसे ही श्रीभरतजीकी अपने बड़े भाईमें अपार प्रीति थी। वे क्षण-क्षण अनुभव करते थे कि मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी उनपर असीम कृपा है। चित्रकूटकी भरी सभामें उन्होंने कहा—

मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मो पर कृपा सनेहु बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥

बालक जब खेलने लगते हैं, तब अपनी जीतके लिये उनमें बहुत अधिक आग्रह स्वाभाविक होता है। वे अपने मित्रोंसे भी झगड़ने लगते हैं; लेकिन सच्ची मित्रता और सच्चा स्नेह तो वही है, जो खेलमें भी अपने बदले अपने प्रिय बन्धुकी विजयसे प्रसन्नता हो। महाराज दशरथके चारों कुमार खेलने जाया करते थे। जब कोई ऐसा खेल होता कि उसमें दो दल बनकर प्रतिस्पर्धाके रूपमें खेलें, तब इन भाइयोंकी जोड़ी बन जाती—

'राम-लखन इक ओर, भरत-रिपुदवन लाल इक ओर भये।'

यह दलोंका विभाग तो हो जाता था; परंतु श्रीराम सदा यही प्रयत्न किया करते थे कि उनके छोटे भाई भरतजीका दल ही विजयी हो। उधर श्रीभरतजीकी यह अवस्था थी—

हारे हरष होत हिय भरतहिं जिते सकुच सिर नयन नये।

जब भरतजी खेलमें हार जाते, तब बड़े प्रसन्न होते कि उनके बड़े भाईकी विजय हुई है और जब स्वयं विजयी होते, तब लज्जासे मस्तक झुका लेते। संकोचके मारे उनसे नेत्र ऊपर नहीं उठाया जाता। 'छोटा भाई बड़े भाईसे खेलमें भी जीत जाय, यह बात भरतजीको प्रसन्न नहीं करती थी। कितना सम्मान, कितना संकोच करते थे वे अपने बड़े भाईका, यह उनकी चित्रकूटमें कही बातसे ही प्रकट है। वे कहते हैं—

महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कही न बैन।
दरसन तृपित न आजु लगि पेम पिआसे नैन॥

श्रीभरतजीका अनन्य अनुराग, उनका त्याग, उनका नन्दिग्राममें चौदह वर्षतक केवल इसलिये कठोर तप करना कि श्रीराम वनमें मुनिवेष धारण करके रहते हैं—यह सब तो श्रीरामचरितमानसमें ही पढ़ने और नित्य पाठ करने योग्य है, लेकिन बाल्यकालमें भी जब अवसर आया है, भरतजीका उज्ज्वल प्रेम प्रत्यक्ष हो गया है। महर्षि विश्वामित्रजीके साथ श्रीराम-लक्ष्मण उनके यज्ञकी रक्षा करने चले गये। पर्याप्त समय बीत गया, सहसा एक दिन जनकपुरसे दूत आये अयोध्यामें। उस समय भरत-शत्रुघ्न बालकोंके साथ खेल रहे थे। समाचार पाते ही वे दौड़े आये—

पूछत अति सनेहँ सकुचाई। तात कहाँ तें पाती आई॥
कुसल प्रानप्रिय बंधु दोउ अहहिं कहहु केहिं देस।
सुनि सनेह साने बचन बाची बहुरि नरेस॥
सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता। अधिक सनेहु समात न गाता॥

अयोध्यामें बारात सजी और जनकपुरमें चारों राजकुमारोंका विवाह हुआ। चारों भाई अयोध्या आये और अपने उदारचरितोंसे महाराज तथा माताओंको प्रसन्न करने लगे। किसे अनुमान था उस समय कि इस आनन्दसिन्धुमें विषका बडवाग्नि भी छिपा है। लेकिन यही विषम प्रसंग भरतके निर्मल चरित्रको संसारके सामने ज्योतिर्मय करके रख देता है। इस वियोगकी अग्निमें तपकर वे चमक उठते हैं।

भरतजी छोटे भाई शत्रुघ्नके साथ ननिहाल गये थे। उन्हें इसकी गन्धतक नहीं थी कि अयोध्यामें उनको निमित्त बनाकर क्या कुकाण्ड हो रहा है। अवश्य वे उन दिनों नाना प्रकारके दुःस्वप्न देखते थे और प्रातःकाल माता-पिता तथा

भाइयोंकी कुशल मनाया करते थे । जब उनके पास अयोध्याके दूत पहुँचे, कुछ बाकी नहीं था । अयोध्या सूनी हो गयी थी उस समयतक । अयोध्यामें आनेपर भरतको चारों ओर सुनसान दिखलायी पड़ता था। सब उनको देखकर चुपचाप सिर झुकाते और खिसक जाना चाहते। सबके नेत्रोंमें सन्देह झलकता था। भरतको यह देखनेका अवकाश नहीं था । माता कैकेयीने उनका स्वागत किया और वे अपने भवनमें उन्हें ले गयीं । भरतने मातासे सबसे पहला प्रश्न किया—

कहु कहँ तात कहाँ सब माता । कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता ॥

अब कैकेयीने अपनी करतूतका वर्णन प्रारम्भ किया। पिताका परलोकगमन सुनकर भरत मूर्च्छित होकर गिर पड़े; किंतु कैकेयीका विवरण तो यहीं पूरा नहीं होता था। भरत विलाप कर रहे थे—

'तात न रामहि सौंपेहु मोही ।'

लेकिन वहाँ राम कहाँ थे। जब कैकेयीने उत्साहपूर्वक वह वर्णन सुनाया—

भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु ।
हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु ॥

कैकेयीने जब इतनेपर भी उपदेश देना बंद नहीं किया, तब भरत-जैसे सुशील, शान्त पुत्रको भी क्रोध आ गया। उन्होंने माताको धिक्कारा और वहाँसे उठकर वे माता कौसल्याके पास चले गये। भरतने अपनी माता कैकेयीको जो यहाँ छोड़ा सो छोड़ा। श्रीरामने तो कैकेयीका सब माताओंसे अधिक आदर किया चित्रकूटमें मिलनेपर; किंतु भरत तो पूरे चौदह वर्ष कैकेयीसे नहीं बोले। लेकिन इतनी व्यथा, इतना रोष होनेपर भी भरतजी सदा स्थिरचित्त एवं दयालु रहे। सारे उपद्रवकी जड़ मन्थरा वहाँ आयी और शत्रुघ्नकुमारने उसकी खबर लेना प्रारम्भ कर दिया तो भरतजीको दया आ गयी। उन्होंने शत्रुघ्नको मना कर दिया।

कैकेयीके पाससे भरत माता कौसल्याके पास गये। माताने उन्हें इस प्रकार गोदमें भर लिया, जैसे उसके बिछुड़े हुए राम ही फिर मिल गये हों। इस समय भरतजीकी जो व्यथा है, वह वर्णनसे बाहर है। कितना पश्चात्ताप है उनकी इस वाणीमें—

पितु सुरपुर बन रघुबर केतू । मैं केवल सब अनरथ हेतू ॥
धिग मोहि भयउँ बेनु बन आगी । दुसह दाह दुख दूषन भागी ॥

भरतजीने अनेकों शपथें करके रोते हुए बताया कि उन्हें कुछ पता नहीं था। माता कौसल्याको भरतपर तनिक भी संदेह नहीं था। उन्होंने बड़े स्नेहसे आश्वासन दिया। अब भरतजीने विधिपूर्वक पिताके शरीरका अन्तिम संस्कार करानेकी तैयारी की। माताएँ महाराजके साथ सती हो जाना चाहती थीं; किंतु भरतने उनके चरण पकड़कर रो-रोकर किसी प्रकार उन्हें रोका। पूरी साज-सजासे विधिपूर्वक महाराज दशरथका और्ध्वदेहिक कार्य पूरा हो गया। अब राजसभा एकत्र हुई। राजसिंहासन खाली नहीं रह सकता। महाराज दशरथने भरतको राज्य देनेका वचन दे दिया था, अब कुलगुरु वशिष्ठजीने ही प्रस्ताव किया कि भरत सिंहासनपर बैठें, मन्त्रियोंने गुरुदेवकी बातका समर्थन कर दिया, माता कौसल्याने बड़े स्नेहसे भरतको समझाया कि वे गुरुदेवकी आज्ञा मान लें। अब भरत क्या करें ? ऐसी विषम स्थितिमें भरतको बोलना पड़ा। वे कहते हैं—

हित हमार सियपति सेवकाईं । सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाईं ॥
मैं अनुमानि दीख मन माहीं । आन उपायँ मोर हित नाहीं ॥
सोक समाजु राजु केहि लेखें । लखन राम सिय बिनु पद देखें ॥
बादि बसन बिनु भूषन भारू । बादि बिरति बिनु ब्रह्मबिचारू ॥
सरुज सरीर बादि बहु भोगा । बिनु हरिभगति जायँ जप जोगा ॥
जायँ जीव बिनु देह सुहाई । बादि मोर सबु बिनु रघुराई ॥

भरतका परिताप उनके एक-एक शब्दमें पूर्ण है। वे कहते हैं—

मोहि समान को पाप निवासू । जेहि लगि सीय राम बनबासू ॥

भरतका प्रस्ताव था कि उन्हें श्रीरामके पास वनमें जाने दिया जाय। उन्होंने दूसरे ही दिन सबेरे चित्रकूट जानेका विचार प्रकट कर दिया, जैसे अयोध्यामें उत्साहकी बाढ़ आ गयी। जो लोग भरतजीको देखकर पहले मुख छिपाना चाहते थे, वही उनकी जयध्वनि करते थकते नहीं थे। पूरा समाज श्रीरामके दर्शनको उत्सुक था। अयोध्याका सुप्रबन्ध करके सबके साथ भरतने चित्रकूटकी ओर प्रस्थान किया।

बन सिय रामु समुझि मन माहीं । सानुज भरत पयादेहिं जाहीं ॥

लेकिन पहले दिन तो माता कौसल्याकी आज्ञा मानकर भरतजीको रथपर चढ़ना पड़ा। निषादराज गुहने भी पहले संदेह किया और युद्धकी पूरी तैयारी कर ली; किंतु समय रहते यह बात वहाँ सूझ गयी कि पहले मिलकर भरतके भावको समझ लेना ठीक होगा। निषादराज भरतजीके पास आये थे उनके भावका पता लेने, लेकिन जिन भरतजीका स्मरण करके आज भी मलिनहृदय पवित्र हो जाते हैं, उनका दर्शन हो जानेपर तो फिर हृदयका द्रवित हो जाना स्वाभाविक ही है। जब रात्रिमें निषादराजको लेकर भरतजीने उस स्थलके दर्शन किये, जहाँ रात्रिमें श्रीराम-जानकीने शीशमवृक्षके नीचे विश्राम किया था और वहाँकी कुश-साथरी देखकर व्यथित

हो उठे, तब निषादराजने ही उन्हें आश्वासन देना प्रारम्भ किया। गङ्गा पार होकर तो भरतजीने कोई सवारी लेना स्पष्ट अस्वीकार कर दिया। उनकी स्पष्ट वाणी है—

रामु पयादेहि पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥

उन सुकुमार राजकुमारने शृङ्गवेरपुरसे प्रयागतककी और फिर आगे चित्रकूटतककी भी पैदल ही यात्रा की। यद्यपि प्रयाग पहुँचनेमें ही उनके चरणोंकी यह दशा थी।

झलका झलकत पायन्ह कैसें। पंकज कोस ओस कन जैसें॥

भरतकी अनुपम अनन्य भक्ति—दूसरा कोई उदाहरण इस प्रकारका मिलना कठिन ही है। वे प्रयागमें त्रिवेणीस्नान करते समय प्रार्थना करते हैं—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

यह भक्ति भी भरतजीको एकाङ्गी चाहिये। वे यह भी नहीं चाहते कि उनकी भक्तिके बदले श्रीराम उनपर कृपा करें, उनसे प्रेम करें या उन्हें सत्पुरुष ही मानें। लोग उनकी प्रशंसा करें या उन्हें भ्रातृभक्त मानें, सो भी उनकी इच्छा नहीं। वे कहते हैं—

जानहुँ रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥
सीताराम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥

महर्षि भरद्वाजके आश्रममें पहुँचनेपर महर्षिने भरतजीसे सर्वथा ही उचित कहा था—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

भरतजीमें कितना आदर्श दैन्य था—इसका पता उनके इन शब्दोंसे लगता है—

मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं। रसा रसातल जाइहि तबहीं॥
मोहि समान को पाप निवासू। जेहि लगि सीय राम बनबासू॥

मुझे हठ करके जिस क्षण राज्य दे देंगे, उसी क्षण यह पृथ्वी पातालमें चली जायगी। मेरे समान पापका घर कौन है, जिसके कारण सीताजी और रामजीको वनवासी होना पड़ा।

परंतु वास्तवमें भरतजी कैसे थे—इसका पता भगवान् रामके इन शब्दोंसे लगता है—

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥
तीनि काल तिभुअन मत मोरें। पुन्यसिलोक तात तर तोरें॥

भरत! मैं स्वभावसे ही तथा शिवजीको साक्षी करके कहता हूँ कि यह पृथ्वी तुम्हारी ही रक्खी रहती है। मेरे मतसे तीनों काल और तीनों भुवनोंमें सभी पुण्यात्मा सज्जन, हे प्रिय! तुमसे नीचे ही हैं।

श्रीभरतजीके सेनासहित वनमें आनेका समाचार सुनकर जब लक्ष्मणजीने उनपर संदेह प्रकट किया तब भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने भरतके सम्बन्धमें जो कुछ कहा, उसीसे भरतजीके महत्त्वका पता लगता है। भगवान् श्रीरामने कहा—

सुनहु लखन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥

'लक्ष्मण! सुनो, भरत-सरीखा उत्तम पुरुष ब्रह्माकी सृष्टिमें न तो कहीं सुना गया है, न देखा ही गया है।

भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीर सिंधु बिनसाइ॥

[अयोध्याके राज्यकी तो बात ही क्या है] ब्रह्मा, विष्णु और महादेवका पद पाकर भी भरतको राज्यमद नहीं होनेका। क्या कभी काँजीकी बूँदोंसे क्षीरसमुद्र नष्ट हो सकता (फट सकता) है?

तिमिरु तरुन तरनिहि मकु गिलई। गगनु मगन मकु मेघहिं मिलई॥
गोपद जल बूड़हिं घटजोनी। सहज छमा बरु छाड़ै छोनी॥

अन्धकार चाहे मध्याह्नके सूर्यको निगल जाय। आकाश चाहे बादलोंमें समाकर मिल जाय। गौके खुर-जितने जलमें अगस्त्यजी डूब जायँ और पृथ्वी चाहे अपनी स्वाभाविक क्षमा (सहनशीलता) को छोड़ दे।

मसक फूँक मकु मेरु उड़ाई। होइ न नृपमदु भरतहि भाई॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना। सुचि सुबंधु नहिं भरत समाना॥

मच्छरकी फूँकसे चाहे सुमेरु उड़ जाय; परंतु हे भाई! भरतको राजमद कभी नहीं हो सकता। लक्ष्मण! मैं तुम्हारी शपथ और पिताजीकी सौगंध खाकर कहता हूँ, भरतके समान पवित्र और उत्तम भाई संसारमें नहीं है।

सगुनु खीरु अवगुन जलु ताता। मिलइ रचइ परपंचु बिधाता॥
भरतु हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥

हे तात! गुणरूपी दूध और अवगुणरूपी जलको मिलाकर विधाता इस दृश्य-प्रपञ्च (जगत्) को रचता है; परंतु भरतने सूर्यवंशरूपी तालाबमें हंसरूप जन्म लेकर गुण और दोषका विभाग कर दिया (दोनोंको अलग-अलग कर दिया)।

गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उजिआरी॥
कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ। प्रेम पयोधि मगन रघुराऊ॥

गुणरूपी दूधको ग्रहणकर और अवगुणरूपी जलको त्यागकर भरतने अपने यशसे जगत्में उजियाला कर दिया है। भरतजीके गुण, शील और स्वभावको कहते-कहते श्रीरघुनाथजी प्रेमसमुद्रमें मग्न हो गये। —सु०

श्रीलक्ष्मणजी

बारेहिं ते निज हित पति जानी । लछिमन राम चरन रति मानी ॥

अनेक लोगोंको सन्देह हो जाता है कि श्रीलक्ष्मणजी क्रोधी स्वभावके थे; किंतु यह भ्रम है। कुमार लक्ष्मणजी बड़े ही क्षमाशील एवं मृदुल स्वभावके थे । यह दूसरी बात है कि वे तेजस्वी और निर्भय थे । तेजस्विता और निर्भयता तो सद्गुण हैं; किंतु क्रोधी होना दोष है। अपने सम्मान या अपनी हानिके लिये श्रीलक्ष्मणजीने कभी कहीं क्रोध नहीं किया । भगवान् श्रीराममें उनका अनन्य अनुराग था । इसलिये जब कहीं उन्हें श्रीरामके अनादरकी गन्ध आती थी तो वे उसे सहन नहीं कर सकते थे । वे अपने बड़े भाईके अत्यन्त विनम्र सेवक थे और जबतक अपने स्वामीकी उपेक्षा, अनादर आदि उन्हें कहीं न दीख पड़े, उनका स्वभाव शान्त, सहनशील और दयापूर्ण रहता था । उनके मृदुल स्वभावका उनके जीवनमें बार-बार परिचय मिलता है।

जैसे छाया मनुष्यके साथ ही रहती है, वैसे ही लक्ष्मणजी श्रीरामसे पृथक् नहीं रह सकते थे । खेलमें भी वे श्रीरामके साथ उनके पक्षमें ही रहते थे और प्रवासमें, वनमें, युद्धमें— सर्वत्र वे बड़े भाईके साथ बने रहे। चलते समय वे श्रीरामके चरणचिह्न बचाकर उनके पीछे-पीछे चला करते थे तथा जहाँ कोई सेवाका कार्य आता, कोई कष्ट उठानेकी बात होती, वे आगे दीखते थे ।

पिताकी आज्ञासे महर्षि विश्वामित्रके यज्ञकी रक्षाके लिये श्रीराम चले । लक्ष्मणजी भला बड़े भाईको छोड़कर पृथक् कैसे रह सकते थे । आश्रममें पहुँचकर मर्यादापुरुषोत्तमने ऋषियोंसे यज्ञ करनेको कहा और स्वयं छोटे भाईके साथ धनुष चढ़ाकर यज्ञकी रक्षा करने लगे । यज्ञका धुआँ उठता देख मारीच और सुबाहु नामक राक्षस बड़ी भारी सेना लेकर यज्ञ ध्वंस करने चढ़ आये । ध्यान देनेकी यहाँ यह बात है कि जितनी देरमें श्रीरामजीने दो बाण छोड़कर एकसे सुबाहुको मार दिया और दूसरेसे मारीचको सौ योजन दूर समुद्र-तटपर फेंक दिया, केवल उतनी ही देरमें लक्ष्मणजीने समूची राक्षसी सेनाका सफाया कर डाला ।

जिन लक्ष्मणजीकी तेजस्विताका वर्णन करते हुए जनकपुरसे आये दूतोंने अयोध्यामें कहा था—

राजन रामु अतुलबल जैसें । तेज निधान लखनु पुनि तैसें ॥
कंपहिं भूप बिलोकत जाकें । जिमि गज हरि किसोर के ताकें ॥

उन्हीं कुमार लक्ष्मणका यह शील, यह संकोच है कि मनमें जनकपुर देखनेकी इच्छा होते हुए भी महर्षि विश्वामित्रके संकोचवश कह नहीं पाते । छोटे भाईके हृदयकी बात जानकर श्रीरामने ही प्रार्थना की—

नाथ लखनु पुरु देखन चहहीं । प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं ॥

गुरुजनोंसे यह संकोच और यह 'डर' ही उत्तम बालकका प्रशंसनीय गुण है। इस गुणके साथ सेवा-परायणता इतनी है कि दिनभर यात्रा करके दोनों भाई जनकपुर पहुँचे थे और वहाँ पहुँचनेपर भी उन्हींको पुष्पादि लाना पड़ा था । रात्रि होनेपर मुनिमण्डली अर्धरात्रितक तो कथा-सत्सङ्ग एवं भगवान्‌की चर्चामें लगी रही । आधी रात हो जानेपर सब लोग विश्राम करने उठे । अब दोनों भाई महर्षि विश्वामित्रजीके चरण दबाने लगे । जब बहुत आग्रह करके, बार-बार अनुरोध करके महर्षिने सोनेकी आज्ञा दी तो श्रीरामने विश्राम किया । लक्ष्मणजी अब बड़े भाईके चरण दबाने लगे ।

चापत चरन लखनु उर लाएँ । सभय सप्रेम परम सचु पाएँ ॥

जब बार-बार श्रीरामने आज्ञा दी तो कुमार लक्ष्मण अपने आसनपर जाकर लेटे। इस प्रकार रात्रिके तीसरे प्रहरमें तो वे विश्राम करने गये और रात्रिका चौथा प्रहर प्रारम्भ होनेपर सबसे पहले वे ही उठे—

उठे लखनु निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान ।

यह कुछ एक दिनकी बात नहीं है । पूरे प्रवासकालकी यही दिनचर्या थी । इस सेवाके साथ मर्यादाका पूरा निर्वाह भी श्रीलक्ष्मणजीके द्वारा होता था । जब महाराज जनककी फुलवारीमें दोनों भाई गुरुदेवकी पूजाके लिये पुष्प लेने आये और वहीं पार्वती-पूजनके लिये सखियोंके साथ आयी श्रीजानकीजीसे उनका साक्षात् हुआ, तब श्रीरामने लक्ष्मणजीको श्रीजनककुमारीका परिचय दिया और अपने मनमें जो पूर्वरागका उदय हुआ था उसकी बात भी कही; किंतु लक्ष्मणजीने न तो देखा श्रीवैदेहीकी ओर और न एक शब्द भी वे बोले । वे तो ऐसे हो गये थे, जैसे उन्हें बोलना आता ही नहीं ।

धनुषयज्ञमें तबतक लक्ष्मणजी चुपचाप दर्शकमात्र हैं, जबतक सब राजाओंके असफल हो जानेपर दुःखित होकर महाराज जनक यह नहीं कहते—'कि हमने समझ लिया कि
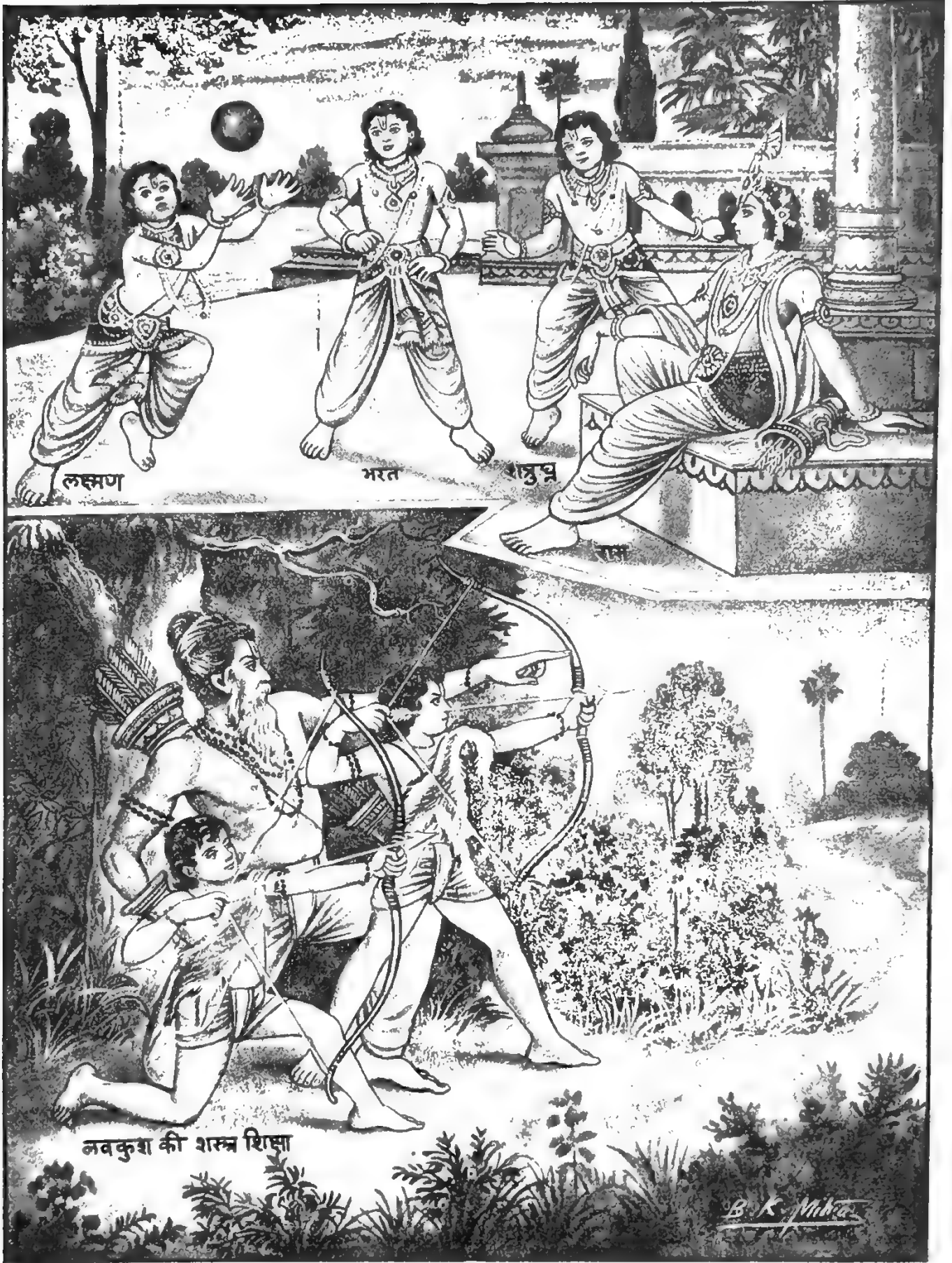
१ तीनों भाईसहित भगवान् श्रीराम । २ लव-कुशकी अस्त्रशिक्षा

पृथ्वीमें अब कोई शूर-वीर रहा नहीं। आपलोग अपने-अपने घर पधारें। आजसे कोई अपनेको वीर समझकर झूठा गर्व न करे।' महाराज जनकने किसी एकका नाम नहीं लिया था। वे सभी उपस्थित लोगोंके प्रति यह वचन कह रहे थे। लक्ष्मणजीको लगा कि यह तो मेरे स्वामी श्रीरामका अपमान है। श्रीरामका अपमान उनसे सहन नहीं हो सकता था।

माखे लखनु कुटिल भइँ भौंहें। रदपट फरकत नयन रिसौंहें॥

उन्होंने महाराज जनकको चुनौती दी—'इस पुराने धनुषको तोड़नेकी तो बात ही क्या, मैं सुमेरुको उखाड़कर मूलीके समान टुकड़े-टुकड़े कर सकता हूँ।' इतने ओज तथा आवेशमें लक्ष्मणजी बोल रहे थे। समस्त राजसभा स्तब्ध बन चुकी थी; किंतु श्रीरामने तनिक-सा संकेत आँखसे किया शान्त हो जानेका और वे चुपचाप संकुचित होकर बड़े भाईके पास बैठ गये। इसी प्रकार जब परशुरामजी पधारे तब भी श्रीलक्ष्मणजी अपनेको रोक नहीं सके। परशुरामजी एक ओरसे समस्त नरेशोंको तुच्छ समझ रहे थे। वे सबको मार डालनेकी धमकी दे रहे थे। उनके द्वारा श्रीरामका अनजानमें ही तिरस्कार हो रहा था। परशुरामजीको उत्तर देना तो एक बात थी, उनकी युद्धकी चुनौती तकका लक्ष्मणजीने उपहास किया।

'राउरी पिनाकमें सरीकता कहा रही।'

'पिनाकमें आपका क्या हक-हिस्सा था कि आप इतने लाल-पीले हो रहे हैं?' यह बात निर्भयता और तेजस्विताकी चरम सीमा सूचित करती है। जिन परशुरामजीने पूरी पृथ्वीको इक्कीस बार क्षत्रिय-हीन कर दिया था, जो जन्मजात क्षत्रिय-शत्रु एवं परम क्रोधी थे, उनसे ऐसी बात केवल श्रीलक्ष्मणजी ही कह सकते थे।

श्रीलक्ष्मणजीकी निष्ठाका पूरा स्वरूप उस समय प्रकट होता है, जब श्रीराम वनको जाने लगते हैं। कैकेयीके मुखसे पिताका वचन सुनकर श्रीरामने उसे स्वीकार कर लिया। माता कौसल्यासे वे विदा ले चुके। श्रीजनकनन्दिनी साथ चलनेको प्रस्तुत हो गयीं। इतना सब हो जानेपर तो लक्ष्मणजीको समाचार मिला।

समाचार जब लछिमन पाए। ब्याकुल बिलख बदन उठि धाए॥
कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा॥
कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। मीनु दीन जनु जल तें काढ़े॥
सोचु हृदयँ बिधि का होनिहारा। सबु सुखु सुकृतु सिरान हमारा॥
मो कहुँ काह कहब रघुनाथा। रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा॥

श्रीरामने देखा कि अत्यन्त व्याकुल 'देह गेह सब सन तृन तोरे' उनके छोटे भाई हाथ जोड़े आज्ञाकी प्रतीक्षामें उनके सामने खड़े हैं। बड़े स्नेहसे मर्यादापुरुषोत्तमने समझाया—'माता, पिता, गुरु तथा स्वामीकी आज्ञा जो मानते हैं, उनका जन्म-धारण करना ही सफल है। भाई लक्ष्मण! तुमको यह बात ध्यानमें रखकर माता-पिताकी सेवा करनी चाहिये। भरत और शत्रुघ्न यहाँ हैं नहीं, मैं वन जा रहा हूँ, इस समय वृद्ध पिताजी मेरे वियोगसे व्याकुल हो रहे हैं, अतः तुम्हें मेरे साथ चलनेका आग्रह नहीं करना चाहिये। तुम्हारे जानेसे अयोध्या आश्रयहीन हो जायगी। तुम यहीं रहो और माता-पिता तथा प्रजाको संतोष दिलाओ। राजाका कर्तव्य प्रजाको सुख देना है। प्रजाको कष्ट हुआ तो बड़ा दोष होगा।'

बड़े भाईकी यह बात सुनकर तो लक्ष्मणजीका मुख सूख ही गया। उनके मुखसे शब्द निकलता ही नहीं था। उन्होंने श्रीरामके चरण व्याकुल होकर पकड़ लिये और बड़ी दीनतासे बोले—

'नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाइ।'

कितनी विवश कातरता है इस वाणीमें। आगे अपने हृदयको खोलकर वे रख देते हैं—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥
नरबर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

ऐसे परम तेजस्वी, अमित-पराक्रम, उदार-चक्रचूड़ामणि, श्रीरामके अनन्य अनुरागी श्रीलक्ष्मणजीके गुणोंका वर्णन कहाँतक किया जा सकता है। वे चौदह वर्ष वनमें बिना कुछ खाये तथा बिना निद्रा लिये निरन्तर श्रीरामकी सेवामें लगे रहे। अपना सुख, अपना विश्राम क्या होता है, सो उन्होंने जाना ही नहीं। उनके श्रीचरण त्रिलोकीके नित्य प्रणम्य हैं।

बंदउँ लछिमन पद जलजाता। सीतल सुभग भगत सुखदाता॥
रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयउ जस जाका॥

श्रीशत्रुघ्नकुमार

नाम सत्रुसूदन सुभग सुषमा सील निकेत ।
सेवत सुमिरत सुलभ सुख सकल सुमंगल हेत ॥

एक महापुरुषका कहना है—'श्रीशत्रुघ्नजीके विषयमें कुछ न कहना ही उनके विषयमें सब कुछ कह देना है ।'

ग्रन्थोंमें श्रीशत्रुघ्नकुमारजीके पूरे जीवनके विषयमें बहुत ही कम वर्णन मिलते हैं, फिर उनके बालचरितके वर्णन तो मिल ही कैसे सकते हैं । बचपनसे वे शूर सुशील भरत-अनुगामी हैं । चुपचाप सेवा करना ही उन्हें आता है । बोलना और अपनेको लोगोंके सामने ले आना वे जानते ही नहीं । वे मूक कर्मयोगी कहे जाते हैं और उनके समान निरपेक्ष कर्मयोगीका दूसरा आदर्श मिलना कठिन ही है ।

जीवनकी परम सफलता है भगवान्‌को प्राप्त करनेमें और उसका सबसे सुगम उपाय है किसी सच्चे संतका पूर्णतया अनुगामी बन जाना । श्रीशत्रुघ्नजीके जीवनमें यह आदर्श अक्षरशः पाया जाता है । वे बचपनमें जब घुटनों सरकते थे तबसे पूरे जीवनभर श्रीभरतजीके पीछे चलनेवाले और उनके आज्ञापालक रहे । उन्हें अपनी ओरसे कुछ कहना नहीं था । भरतजी जो कहें, जैसी व्यवस्था करें, बस, उसे चुपचाप किये चलना, यही उनका सर्वदा आदर्श रहा । उनका यही पूरा जीवनचरित है । भरतका जीवन ही शत्रुघ्नका जीवन है । श्रीभरतजीकी समस्त विशेषताएँ उनमें हैं और इसके साथ उनमें आज्ञापालनकी बहुत अधिक विशेषता है । उनकी निर्भरता तो अनुपम ही है । सु०—

बालक श्रीकृष्ण

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च ।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः ॥

उस दिन भाद्रपदकी अष्टमी थी । अर्धरात्रिका समय था । रोहिणी नक्षत्र था । चारों ओर घोर अन्धकार फैला हुआ था । मथुराके सिंहासनपर अपने पिता उग्रसेनको कारागारमें डालकर जो असुरप्रकृति कंस राजा बना बैठा था, उसके अन्याय, अत्याचारसे जो संसारमें अन्धेर मच रहा था, मानो वही अन्धकारके रूपमें इस समय मूर्तिमान् हो उठा था । कंसके कारागारको सशस्त्र भयंकर आकारके प्रहरी घेरे थे । कारागारके द्वार बंद थे और उसके भीतर हथकड़ी-बेड़ीमें जकड़े दो महाप्राण बंदी थे । वे थे श्रीवसुदेवजी और महाभागा देवकीजी । एक चमत्कार हुआ उसी समय । दिशाओंका अन्धकार फट गया और ध्वस्त हो गया कारागारके उन बंदियोंकी कोठरीका अन्धकार भी । क्षितिजपर पूर्व दिशामें चन्द्रोदय हो रहा था और वसुदेव-देवकीके सामने शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म लिये चतुर्भुजरूपमें परात्पर पुरुष 'कृष्णचन्द्र' प्रकट हो गये थे ।

जब जीवनमें सर्वत्र अन्धकार हो जाता है, जब संसारके भोगोंकी, संसारके लोगोंकी सब आशा निराशामें डूब जाती है, जब कोई अपने अन्तःकरणमें ही बंदी हो जाता है, उस समय भले वह अपने अहंकारके ही कारागारमें हो; किंतु जो सब ओरसे निराश होकर उस सर्वेश्वरको पुकारता है, उसके हृदयके कारागारमें वे अन्तर्यामी वासुदेव अवश्य प्रकट हो जाते हैं । हृदयकी वह अन्धकार-रजनी उनके आलोकसे आलोकित हो उठती है ।

श्रीकृष्णने जन्म ही कारागारमें लिया । अपने शरणागतोंके बन्धन छिन्न-भिन्न करनेके लिये ही उनका अवतार है । प्रेमियोंके प्यारके सदा बंदी हैं वे और यदि वे अखिलेश्वर स्वयं भव-कारागारमें पधारकर जीवको इससे मुक्त न करें तो जीवके लिये दूसरा सहारा ही क्या रह जायगा ।

माता और पिता—हाय रे दुर्भाग्य ! जो पूरे विश्वके लिये सम्मान्य पिता हैं, जो सर्वदेवमयी त्रिभुवनकी माता हैं, वे अपने पुत्रका जन्मोत्सव भी नहीं मना सकते थे । खुलकर उसे हृदयसे लगानेका भी अवकाश नहीं था । 'कंस आता होगा ! हत्यारा कंस समाचार पाते ही दौड़ा आयेगा !' इस भय और आशङ्कासे उनका हृदय धक्-धक् कर रहा था । उनके आनन्दका वह क्षण भी व्याकुलताका क्षण हो गया था ।

श्रीकृष्ण न बालक हैं, न वृद्ध । न चतुर्भुज हैं, न द्विभुज । बालक-वृद्ध चतुर्भुज द्विभुज सब वही हैं । वे सर्वरूप हैं । माताकी इच्छा थी और स्वयं नरलीला करनेके लिये ही वे धराधामपर पधारे थे, अतः माता-पिताके देखते-देखते

उनके अस्त्र-शस्त्र, वस्त्राभरण अन्तर्हित हो गये। अब चतुर्भुज देवता वहाँ नहीं थे। माताके सामने नील कमलके रंगका एक परम सुन्दर नवजात शिशु भूमिमें खेल रहा था।

जिनके स्मरणमात्रसे मायाके सम्पूर्ण बन्धन टूट जाते हैं, जिनका नाम लेनेसे संसारके त्रयतापकी कड़ियाँ बिखर जाती हैं, उन्हीं सदाके बन्धनछेत्ताको गोदमें उठाकर जब वसुदेवजी कारागारसे निकलनेको हुए, उनके हाथ-पैरकी जंजीरें अपने-आप खुलकर गिर पड़ीं। कारागारके द्वारोंके ताले, साँकलें किसी अज्ञातने खोल दिये। सब-के-सब द्वार पूरे खुल गये। सभी प्रहरियोंको गाढ़ी निद्राने दबा लिया। वे इधर-उधर लुढ़के खर्राटे ले रहे थे।

अपने हृदयके टुकड़ेको हृदयसे लगानेका भी अवकाश नहीं था। वसुदेवजी एक सूपमें उस नवजात शिशुको लिये कारागारसे निकले। 'कहीं कोई आ न जाय। कोई देख न ले!' उन्हें किसी प्रकार गोकुल पहुँचना था। अन्धकार-पूर्ण रात्रि, आकाशमें घने बादल, वर्षा हो रही थी और बिजली चमक रही थी; किंतु वसुदेवजीको तो भादोंकी बढ़ी, उमड़ती-घुमड़ती, गर्जन करती यमुनाजीकी ओर भी ध्यान देनेका अवकाश नहीं था। उन्हें न मार्ग दीखता था, न घाट। उन्हें तो बस गोकुल-ही-गोकुल दीखता था।

वसुदेवजीके सिरपर जो नवजात शिशु था, शिशु होनेसे ही तो उसका ऐश्वर्य कहीं चला नहीं जायगा। योगमाया उसके भ्रूभंगपर सृष्टि-प्रलय किया करती हैं। भगवान् शेष अपने उस परम सेव्यपर अपने सहस्र फणका छत्र लगाये वसुदेव-जीके पीछे-पीछे गुपचुप चल रहे थे। श्रीयमुनाजी अपने आराध्यको देखते ही घुटनोंसे भी नीचे जलतक हो गयीं। जो श्रीकृष्णको मस्तकपर लेकर चलता है, उसके मार्गमें पड़ा हिमालय-जैसा विघ्न भी नन्ही कंकड़ी बन जाता है।

योगमायाने गोकुलमें भी सबको सुला दिया था। नन्दभवनके द्वार खुले पड़े थे। गोप तो क्या, श्वानतक सो रहे थे। वसुदेवजी भवनमें गये और सीधे प्रसूतिगृहमें चले गये। वहाँ भी सब सो रहे थे। श्रीयशोदाजीके पास वह अचिन्त्य लीलामयी योगमाया एक गोरी-गोरी नन्ही नवजात बालिका बनी पड़ी थी। वसुदेवजीने अपना बालक धीरेसे रख दिया और कन्याको उठा लिया। वे जैसे आये थे, वैसे ही लौट चले।

मायाका स्वभाव ही बन्धन देना है। वसुदेवजी जैसे-जैसे कारागारके द्वारोंमें प्रवेश करते गये, द्वार अपने-आप बंद होते चले गये। अपने स्थानपर पहुँचकर बालिका देवकीजीकी गोदमें धर दी उन्होंने और अब उनके हाथ-पैर फिर जंजीरोंमें जकड़ गये। यह बालिका जो अबतक गुम-सुम पड़ी थी, पूरे वेगसे रोने लग गयी।

कंसको देवकीके विवाहके दिन ही आकाशवाणीने कहा था—'इसका आठवाँ गर्भ तुझे मार देगा!' वह तो तभी देवकीका मस्तक काट देनेके लिये खड्ग खींच चुका था; किंतु वसुदेवजीने प्रतिज्ञा की—'मैं इसके बच्चे उत्पन्न होते ही तुम्हें दे दिया करूँगा' वसुदेवजीकी बातपर विश्वास करके वह देवकीको उस दिन छोड़ आया। तभीसे उसे लगता था—'मेरा मारनेवाला विष्णु आ तो नहीं रहा है?' उसने अपने पिता उग्रसेनको कारागारमें डाल दिया। स्वयं नरेश बना और असुर सहायक एकत्र किये। देवकीके पुत्र जैसे-जैसे होते गये, वह उन्हें उत्पन्न होते ही पत्थरपर पटककर मारता गया। छः पुत्र उसने मार दिये हैं। लोग कहते हैं कि देवकीका सातवाँ गर्भ गिर गया। किसीको क्या पता कि अपने प्रभुके आदेशसे योगमायाने सातवें गर्भमें आये अनन्तको देवकीके उदरसे खींचकर गोकुलमें श्रीनन्दरायके यहाँ कंसके भयसे टिकी वसुदेवजीकी पत्नी रोहिणीके उदरमें पहुँचा दिया और अब तो वे श्रीरोहिणीनन्दन लगभग एक वर्षके हो चुके हैं। कंसको पूरा विश्वास वसुदेवजीपर भी नहीं। उसने उनको सपत्नीक कारागारमें डाल रक्खा है। अब तो यह आठवें गर्भका समय है। कंस स्वयं देख चुका है देवकीके दुर्धर्ष तेजको। वह जानता है इसी गर्भमें उसका मारनेवाला है। कारागारपर सैनिक बढ़ा दिये गये हैं। कंस अब स्वयं उस शिशुके जन्मकी प्रतीक्षा करने लगा है।

मायावी विष्णुका क्या ठिकाना। वे दस महीनेपर ही जन्म लेंगे, मानव-शिशु ही बनकर आयेंगे, इसका क्या पता। कंसने नृसिंह, मत्स्य, वाराहादिके चरित सुने हैं। वह बहुत सशङ्क है। पता नहीं कब, कहाँसे, किस रूपमें विष्णु आवें और उसे दबोच लें। उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते उसे सदा भय लगा रहता है। मन्त्रियों, सैनिकों, स्त्री, पुत्र, सेवककी तो बात क्या, उसे तो अपनी छाया, अपने वस्त्र, अपने खड्ग, यहाँतक कि थालमें आये भोजनसे भी भय लगता है। वह बार-बार चौंकता है—'कहीं विष्णु तो नहीं आ गया!' सम्पूर्ण संसार उसे विष्णु ही दीखता है।

देवकीके गर्भका समय पूरा हो गया। कंसको न भूख है, न प्यास। वह दो क्षण भी सो नहीं पाता। अपने शत्रुकी प्रतीक्षा—बस एक ही बात रही है। इसी दशामें कारागार-रक्षकोंने दौड़कर समाचार दिया—'देवकीके कोई संतान हुई है।' कंस नंगे सिर, खुले केश, गिरता-पड़ता तलवार लिये दौड़ा। पुत्र है या कन्या, इससे निर्दय कंसको क्या। उसने रोती-बिलखती बहिनको झिड़क दिया। कन्याका पैर पकड़कर छीन लाया और पत्थरपर पटकनेके लिये घुमाया उसने।

'मूर्ख! तेरा मारनेवाला कहीं प्रकट हो गया।' कंस चकित देखता रह गया। उसके हाथसे वह नन्ही बालिका छिटककर ऊपर उड़ गयी। वहाँ आकाशमें वह ज्योतिर्मयी अष्टभुजा महाशक्तिके रूपमें स्थित थी। देवता, गन्धर्वादि उसका पूजन कर रहे थे। कंसको डाँटकर अदृश्य हो गयी वह।

अब कंसको पश्चात्ताप हुआ। व्यर्थ ही उसने अपनी बहिनके पुत्र मारे। वसुदेव-देवकीको उसने कारागारसे मुक्त कर दिया। उनके चरणोंमें गिरकर अपने अपराधकी क्षमा माँगी उसने। भला सत्त्वमूर्ति श्रीवसुदेवजी और माता देवकी क्या माँगनेपर भी किसीको क्षमा न करें, यह असम्भव है।

'तेरा मारनेवाला शत्रु उत्पन्न हो गया!' कंसको उस कन्याकी यह बात चैन नहीं लेने देती। प्रातःकाल ही उसने अपने सहायक असुरोंसे मन्त्रणा की। 'दस दिनसे छोटे और दस दिनसे बड़े भी जितने नवजात शिशु हुए हों, वे बिना देश, जाति, कुलका विचार किये मार दिये जायँ!' कंस और उसके सहायकोंकी मन्त्रणा तो उनके अनुरूप होनी ही थी। स्वभावसे हिंसाप्रिय असुर इस कार्यपर नियुक्त हो गये।

पूतना-परित्राण

व्रजराज श्रीनन्दरायको चौथेपनमें पुत्र हुआ था। व्रजने सुदीर्घ प्रतीक्षाके पश्चात् युवराज पाया था। अब वहाँके आनन्दोत्सवकी क्या सीमा। गोप और गोपियाँ तो क्या पशु-पक्षीतक नाच रहे थे, थिरक रहे थे। एक दूसरेपर दूध, दही, नवनीत उछाल-उछालकर लोगोंने पूरे व्रजको रस-पिच्छल बना दिया। गोरसकी कीच हो गयी वहाँ।

कंस बड़ा क्रूर एवं अहंकारी नरेश है। उसका कुछ ठीक नहीं कि कब क्या करे। अबतक व्रजराजने उसकी कभी चिन्ता नहीं की। राजा रूठेगा तो अपनी जागीर ले लेगा, सो नन्दबाबाको जागीरकी अपेक्षा कहाँ थी। लेकिन अब व्रजका युवराज आ गया था। अब व्रज तथा व्रजकी सम्पत्ति सुरक्षित रहनी चाहिये। कंसको संतुष्ट रखनेमें ही अब लाभ है। यह सब सोचकर अपने पुत्रकी षष्ठी करके दूसरे दिन अँधेरे ही छकड़े जोड़ दिये गये। गोकुलकी रक्षामें तरुण गोपोंको नियुक्त करके अन्य प्रमुख गोपोंके साथ व्रजराज कंसका वार्षिक कर देने मथुराको गये।

मथुरामें कंसको उन्होंने कर दिया और उससे विदा होकर अपने पड़ावपर लौटे तो वहाँ श्रीवसुदेवजी आकर मिल गये। दो परम बन्धु बहुत दिनोंपर मिले थे और वह भी कंसके भयसे गुपचुप ही मिलना था। कुशल-संवादके पीछे वसुदेवजीने कह दिया—'व्रजराज! आपको यहाँ बहुत नहीं रुकना चाहिये। गोकुलमें उत्पात हो रहे हैं।'

'गोकुलमें उत्पात—नारायण रक्षा करें।' श्रीनन्दबाबा भगवान्का स्मरण करते गोपोंके साथ छकड़े दौड़ाते यथाशीघ्र गोकुलकी ओर बड़ी ही आतुरतापूर्वक चल पड़े।

कंसने नवजात शिशुओंका वध करनेके लिये जिन असुरोंको नियुक्त किया था, उनमें पूतना सबसे प्रधान थी। यह राक्षसी इच्छानुसार रूप बनाकर अबोध बालकोंका वध करती घूमा करती थी। कभी यह उलूकी बनती और कभी बगुली। रात और दिन दोनों—सब समय शिशु-हत्यामें ही लगी रहती। श्रीकृष्णचन्द्रके जन्मके पाँचवें दिन षष्ठीदेवीका पूजन करके छठे दिन कुछ अँधेरा रहते ही श्रीनन्दराय मथुराको चले थे। उसी दिन प्रातःकाल कुछ दिन चढ़नेपर पूतना घूमती हुई सहसा व्रजमें पहुँची। उसने देख लिया कि बलवान् गोप धनुष-बाण लिये, बड़ी सावधानीसे गोकुलकी रक्षा कर रहे हैं। आकाशमार्गसे जानेपर भी गोपोंके द्वारा बाणसे मारे जानेका भय था। राक्षसीने मायासे अत्यन्त सुन्दरी स्त्रीका रूप बनाया। आभूषणोंकी झंकार करती, हाथमें एक कमल लेकर उसे नचाती जब पूतना चली, तब वह साक्षात् लक्ष्मी जान पड़ती थी। गोपोंने उसे रोका नहीं। वह सीधे चली गयी नन्द-भवनमें। व्रजके किसी दूसरे घरमें भगवान्की लीलाशक्तिने उसमें जानेकी प्रेरणा ही नहीं होने दी।

एक शय्यापर सुकोमल बिछावन पड़ा था दूध-जैसा उज्ज्वल और उसपर नीलमके समान सुकुमार शिशु सो रहा

था। श्रीकृष्णचन्द्र आज ही प्रसूतिगृहसे बाहर लाये गये थे। अभी वे हाथ-पैर भी हिला नहीं पाते। चुपचाप पड़े रहते हैं और कभी देखते हैं तो स्थिर देखते रहते हैं। जब पूतना आयी, उन अद्भुत शिशुने सहज भावसे सोनेके बहाने अपने नेत्र बंद कर लिये। भला ऐसी राक्षसीका मुख कौन देखे, जिसने वेश तो पत्नीका (लक्ष्मीका) बनाया है, कार्य माताका (दूध पिलानेका) करने आयी है और इच्छा मारनेकी लेकर हत्यारिणी बनी है।

पूतनाने अपने स्तनोंमें हलाहल विष लगा रक्खा था। उसकी दृष्टि श्रीकृष्णपर पड़ी। रस्सीमें सर्पका भ्रम, यह तो दार्शनिकोंका दृष्टान्त है, वास्तविकता यह है कि संसारके माया-मुग्ध जीवोंको सर्पमें ही भ्रम हो रहा है और वह भी रस्सीका नहीं, मालाका। इस विषय-विषसे भरे सर्पको वे गलेमें स्वयं डाले हैं और उनको पतातक नहीं कि इस सर्पका मन्दविष उन्हें क्षण-क्षण जला रहा है। पूतनाको भी भ्रम हुआ और वह भी सर्पमें रस्सीके भ्रमके समान ही; पर उसका भ्रम भी धन्य था। गोपियाँ तथा माता रोहिणी और यशोदातक राक्षसीके कृत्रिम सौन्दर्यके प्रभावमें आ गयीं। कोई न उससे बोल सका, न रोक सका। उसने बाहरी स्नेह दिखाते हुए बालकको गोदमें उठाया और उसके मुखमें अपना विषलिप्त स्तनाग्र दे दिया।

जिसका नाम हलाहलको अमृत कर देता है, उसे विषका क्या पता लगना था। श्यामसुन्दर दोनों हाथोंसे पूतनाका वक्ष पकड़कर दूध पीने लगे और पीने लगे साथ-साथ उसके प्राण। राक्षसीके मर्मस्थान फटने लगे। वह रोयी, चिल्लायी, हाथ-पैर पटकती भागी। शिशु तो उसके छुड़ाये छूटनेसे रहा। व्यथाके मारे तड़फड़ाती अपने वास्तविक रूपमें गोकुलसे दूर जाकर गिरी और समाप्त हो गयी।

पूतनाकी चिल्लाहट वज्रपात-जैसी थी। सब गोप-गोपियाँ व्याकुल हो गये थे। वे व्रजके जीवन शिशुको उससे छीनने उसके पीछे ही दौड़े थे। राक्षसी मरी पड़ी थी। उसका कोसों विशाल शरीर, बिखरे केश, हल-जैसे दाँत, सूखे सरोवर-सा उदर और नये खिले कुवलयके समान उसकी छातीपर नन्हा-सा श्याम दोनों हाथोंसे स्तनको अपनी समझसे पीट रहा था। गोपियाँ दौड़ती आयीं और दौड़ती चढ़ी चली गयीं राक्षसीकी देहपर। उन्होंने कृष्णको झपटकर उठा लिया और लाकर मैया यशोदाकी गोदमें रख दिया।

बच्चेको इतनी बड़ी राक्षसी ले गयी तो उसकी रक्षाका प्रबन्ध भी होना चाहिये। जो गोपाल बनकर आया है, उसकी रक्षा गायें ही तो करेंगी। गोपियोंने गोमूत्रसे नहलाया, गोरजमें नहलाया और फिर गायकी पूँछ शरीरपर घुमाकर अङ्गोंमें गोबर लगाया। स्वयं अपने शरीरमें मन्त्रन्यास करके शिशुके अङ्गोंमें बीजमन्त्रोंसहित भगवन्नामोंका न्यास किया। जो अपनी इच्छासे ही त्रिलोकीकी रक्षा करता है, वह गोपियोंके प्रेमसे इस प्रकार रक्षित किया गया! जब बालकने माताका दूध पी लिया और सो गया, तब सबको संतोष हुआ कि वह स्वस्थ है।

उधर नन्दबाबा गोपोंके साथ छकड़े दौड़ाये चले आ रहे थे। मार्गमें पर्वतकाय पूतनाका मृतदेह पड़ा था। वहाँके वृक्ष चूर-चूर हो गये थे। बड़ा विस्मय हुआ सबको। इतना बड़ा साकार उत्पात? अब मरी पूतना ऐसी तो थी नहीं कि उसे दस-बीस मनुष्य उठा सकें। ऐसा प्रबन्ध करना पड़ा कि कुल्हाड़ोंसे उसके शरीरके टुकड़े किये जायँ और अलग-अलग चिताओंमें रखकर वे जला दिये जायँ।

व्रजराज और गोपगण गोकुल आये। पूतनाका आगमन तथा बच्चेका कुशल सुनकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। इससे भी अधिक आश्चर्य हो रहा था सबको कि आज अगुरुकी बड़ी भारी सुगन्धि अकारण दिशाओंमें भर गयी थी। यह दिव्य गन्ध जलते हुए पूतनाके शवसे निकल रही है, यह क्या मनमें आनेकी बात थी? लेकिन श्यामसुन्दरने पूतनाका दूध पिया था न।

गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाइ।
मातुकी गति दई ताहि कृपालु जादवराइ॥

कोई कैसा है, किस भावसे आया है अपने पास, यह क्या उदार-चक्र-चूड़ामणि श्रीकृष्णचन्द्र कभी देखते हैं!

पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना।
जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाऽऽप सद्गतिम्॥
(श्रीमद्भा० १०। ६। ३५)

पूतनाका कर्म तो यह था कि वह निरपराध शिशुओंकी हत्या करती-फिरती थी। शिशुघातिनी थी वह। जन्मसे राक्षसी थी और आहार था उसका बालकोंका रक्त। श्रीकृष्णके पास किसी सद्भावसे नहीं गयी थी। कपटवेश बनाकर उन्हें मारने गयी थी; किंतु कैसे भी गयी, किसी भी भावसे सही, नन्हे नन्दकुमारके मुखमें उसने अपना स्तनाग्र तो दिया था। उसे उन व्रजनवयुवराजने माताकी गति दी। उसका कुत्सित स्थूल देहतक दिव्य गन्धसे पूर्ण हो गया।

श्रीकृष्ण जिसे स्पर्श कर लेते हैं, उसके द्वारा संसार और समाजमें दुर्गन्ध नहीं फैल सकती; वह तो विश्वको सुरभि ही देता है ।

शकट-भंजन

आज नन्दनन्दनका जन्म-नक्षत्र है । आज ही श्यामने अपने-आप करवट भी बदली है । दो महीने दस दिनका हो गया यह नीलसुन्दर शिशु । आज नन्द-भवनमें शिशुके करवट बदलनेका औत्थानिक महोत्सव है । ब्राह्मण वेद-पाठ कर रहे हैं । हवन-पूजन हो रहा है । गोपियाँ गाती हुई झुंड-की-झुंड आ रही हैं । बहुत भीड़-भाड़ है । व्रजेश्वरीने अपने पुत्रको स्नान कराया, ब्राह्मणोंने स्वस्तिवाचन किया, दूध पिलाया उसे और तब वह अपने सुन्दर नेत्र बंद करके सो गया । इतनी भीड़में शिशु निर्विघ्न सो सके, इस विचार-से मैयाने गोरस आदिसे लदे एक छकड़ेके नीचे पलना बिछाकर धीरेसे श्यामको सुला दिया । कुछ बालकोंको वहीं खेलनेको कह दिया और स्वयं आगतोंके स्वागत-सत्कारमें लग गयी ।

कृष्णचन्द्रकी निद्रा कितनी? जब नेत्र खुले, भूख लग गयी थी । मैया घरके काममें, आगतोंके स्वागतमें लगी थी । ये पालनेमें रोने और चरण उछालने लगे । शिशु श्यामसुन्दरके नन्हे-नन्हे किसलय-से कोमल चरण; किंतु उन मृदुल चरणोंमें-से ही एक तनिक छू गया उछालनेमें छकड़ेसे । छकड़ा धड़ामसे *उलटा गिरा । उसके पहिये, धुरे, जुआ—सब बिखर गये । बर्तन भड़भड़ाकर फूट-टूट गये । मनों गोरस चारों ओर फैल गया ।

सब लोग दौड़ आये वहाँ । सब परस्पर पूछने लगे—'छकड़ा स्वयं कैसे उलट गया ?' वहाँ खेलते छोटे बच्चोंने कहा—'इसी लालाने रोते-रोते अपने पैरसे मारकर उलट दिया है ।' लेकिन बच्चोंकी बातपर कौन विश्वास करता । गोप छकड़ेको फिरसे ठीक करनेमें लग गये । मैयाने अपने लालको गोदमें उठा लिया । व्रजराज ब्राह्मणोंके द्वारा ग्रह-शान्ति करानेमें लग चुके थे ।

तृणावर्त-त्राण

श्रीवसुदेवजीकी प्रेरणापर यादवोंके कुलपुरोहित गर्गाचार्यजी गोकुल पधारे । श्रीनन्दरायकी प्रार्थनापर एकान्तमें उन्होंने बलराम एवं श्रीकृष्णका नामकरण-संस्कार किया; क्योंकि गुप्तरूपसे यह संस्कार हुआ कंसके भयके कारण, इसमें कोई उत्सव नहीं किया गया । समयपर दोनों बालकोंका अन्नप्राशन-संस्कार भी विधिवत् सम्पन्न हो गया ।

श्यामसुन्दर अब घुटनोंके सहारे सरकने लगे । श्री-बलराम अपने छोटे भाईसे दो क्षणको भी पृथक् होना नहीं चाहते । दोनों बालक अत्यन्त चञ्चल हैं । कभी अग्नि पकड़ने दौड़ते हैं, कभी कीचड़में खेलते हैं, कभी मयूरके कण्ठमें भुजा डाल देते हैं और कभी छुरी-कटार पड़ी मिली तो उसीसे खेलने लगते हैं । देहली पार कर लेनेकी अब शक्ति आ गयी है इनमें, सो कहीं काँटोंकी ओर भागते हैं, कहीं बछड़ोंकी पूँछ पकड़ते हैं और कहीं किसी बिल्ली या कुत्तेके मुखमें हाथ डालने लगते हैं । दोनों माताएँ इन चञ्चल बालकोंको रोक नहीं पातीं । इनकी सम्हालमें घरका कोई काम कर नहीं पातीं वे । माताओंकी तो बात क्या, व्रजकी सभी गोपियाँ घरका काम-धंधा छोड़कर इनकी रुचिर-क्रीड़ा ही देखती रहती हैं ।

जो वेदमन्त्रोंद्वारा आवाहन किये जानेपर भी बड़े-बड़े यज्ञोंमें प्रत्यक्ष नहीं पधारते, वे ही शिशु बने, गोबर और कीचड़में लथपथ बड़ी आतुरतासे घुटनों सरकते मैयाकी गोदमें आनेको लपकते हैं और व्रजरानी दोनों हाथ बढ़ाकर उल्लाससे अपने लालको गोदमें उठाकर दूध पिलाया करती हैं ।

एक दिन मैया यशोदा इसी प्रकार कृष्णचन्द्रको गोदमें लेकर दूध पिला रही थीं और उनके सुन्दर मुखको देख रही थीं । सहसा श्यामसुन्दरने जम्हाई ली । अपने पुत्रके खुले हुए मुखमें मैयाने जो कुछ देखा, वह कल्पनामें भी नहीं आता । आकाश, दिशाएँ, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, अग्नि तथा समस्त समुद्र, पर्वत, नदियाँ, वन—सचराचर पूरा ब्रह्माण्ड दीख पड़ा कन्हाईके मुखमें । मैयाने चकित-भीत होकर नेत्र बंद कर लिये । उसके वात्सल्यके सामने ऐश्वर्यके अधीश्वरका ऐश्वर्य भी दो क्षणमें लुप्त हो गया ।

इसी प्रकार एक और दिन मैया श्यामको गोदमें लिये बैठी थी । वे अब एक वर्षके हो चुके थे । अचानक श्री-कृष्णके देहका भार इतना बढ़ गया कि वह उसे सम्हाल न सकी । 'मैं अपने पुत्रको ही सम्हाल नहीं पाती हूँ ।' इस प्रकार बड़ा आश्चर्य हुआ उसे । गोदमेंसे कन्हाईको भूमिपर रखकर भगवान् नारायणका स्मरण करने लगी वह ।

कंसका सेवक तृणावर्त नामक राक्षस आ रहा था । कंसने भेजा था उसे । अब यदि श्यामसुन्दर मैयाकी गोदमें

रहें तो असुर मैयाको भी कष्ट देगा। इसलिये अपने देहका भार बढ़ा दिया उन्होंने। मैया उनको आँगनमें बैठाकर घरके काममें लग गयी।

पूतना व्यक्तरूपसे आकर मारी गयी थी और शकटासुर अव्यक्तरूपसे आकर नष्ट हो चुका था। तृणावर्तने बवंडरका व्यक्त-अव्यक्त उभय रूप धारण किया। धूलि और कंकड़ियोंसे लोगोंके नेत्र भर दिये उसने। गोकुलमें दिनके समय ही रात्रि-जैसा अन्धकार छा गया। अपना हाथतक तो सूझता नहीं था। ऐसी आँधी और धूलिकी वर्षासे सबको व्याकुल करके आँगनमें भूमिपर बैठे श्रीकृष्णको उड़ा लिया उसने।

आँधी आते ही मैया अपने श्यामको उठाने दौड़ी; किंतु श्रीकृष्ण वहाँ हों तो मिलें। पुत्रको आँगनमें न पाकर वह क्रन्दन करने लगी। उसका रुदन सुनकर और गोपियाँ भी दौड़ आयीं; पर विलाप ही करना शेष था। असुर नन्दनन्दन-को आकाशमें ले जा चुका था।

तृणावर्त उठानेको तो उठा ले गया व्रजके सुकुमार युवराजको; लेकिन उन अनन्तको ढो लेना सहज नहीं था। उन ब्रह्माण्ड-नायकके भारसे उसकी गति रुक गयी। उसे लगा कि उसके गलेमें नीलमणिकी बड़ी भारी चट्टान बाँध दी गयी है। बहुत चेष्टा की उसने उस चट्टानको फेंक देने-की; किंतु श्रीकृष्ण उसका कण्ठ दोनों हाथों पकड़े हुए थे और ये ऐसे देवता हैं कि पकड़ना ही जानते हैं, छोड़ना जानते ही नहीं। अन्तमें गला दबनेसे असुरके नेत्र निकल आये। उसके कण्ठसे शब्दतक नहीं फूट सका। श्यामको उसने चट्टान समझा सो उसे चट्टान मिली। गोकुलमें नन्द-भवनके सामने पड़ी चट्टानपर उसका मृत देह आकाशसे गिरकर चिथड़े-चिथड़े हो गया।

दो घड़ीमें ही गोकुलमें दिनका प्रकाश हो गया फिरसे। गोपियोंने उस असुर-देहपर खेलते कन्हाईको देखा। वे दौड़कर उठा लायीं उन्हें। बाबा और मैयाको जैसे अपना मृत-पुत्र ही फिर मिला हो, इतना आनन्द हुआ।

बाल-क्रीड़ा

सच्चिदानन्द आनन्द-कन्द परमब्रह्म अपने भक्तोंको, अपने प्रियजनोंको सुख पहुँचानेके लिये ही तो इस पृथ्वीपर पधारे हैं। अपने ललित चरितसे वे सब व्रजवासियोंको सदा आनन्द देनेमें ही लगे रहते हैं। कोई कहता है—'कन्हैया! तनिक नाच तो लाला!' आप ठुमुक-ठुमुककर नृत्य करने लगते हैं। दोनों हाथ फेंककर भाव बताते हैं और तोतले स्वरमें गाते हैं। कोई गोपी कुछ उठा लानेको कहती है तो पीढ़े, बाट हाथसे उठाकर किसी प्रकार मस्तकपर रखकर ले जाते हैं उसके पास। मैया कभी कहती है—'लाला! बाबाके खड़ाऊँ तो उठा ला!' जिनकी पद-रजके लिये सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा भी तरसते रहते हैं, वे ही बड़े उत्साहसे व्रजराजके खड़ाऊँ मस्तकपर उठाकर ले आते हैं। कभी मैया हँसीमें बड़े बाट माँगती है तो दोनों हाथ लगाकर उठाते हैं। बाट उठता नहीं, मुख लाल हो जाता है। कभी किसीको मथानी देते हैं, कभी दोहनी, कभी रस्सी। कभी गोबर उठवाते हैं, कभी जलका लोटा ला देते हैं। जो सचराचरका सेव्य है, वह व्रजमें प्रेम-परवश प्रत्येक व्रजवासीका सेवक बन गया है।

एक दिन एक फल बेचनेवाली नन्द-द्वारपर पहुँच गयी; उसका शब्द सुनकर समस्त फलोंके एकमात्र दाता अपनी नन्ही हथेलीमें अन्न भरकर फल लेने दौड़ पड़े। फलवालीने देखा, श्यामसुन्दरकी हथेलीमेंसे सारा अन्न मार्गमें ही गिर गया है। बड़े स्नेहसे वह अञ्जलि उसने सुन्दर सुस्वादु फलोंसे भर दी। उसकी फलोंकी टोकरी रत्नोंसे अपने-आप भर गयी है, यह तो उसे अपने घर पहुँचनेपर पता लगा। श्यामसुन्दर देकर भी संकुचित होनेवाले दाता जो ठहरे।

श्रीकृष्णचन्द्र अब बड़े भाई श्रीबलराम तथा गोप-बालकोंके साथ अपने भवनके समीप खेलने लगे हैं। एक दिन सब बच्चे घरौंदे बना रहे थे। जिसकी इच्छा कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड बनाया-बिगाड़ा करती है, उसका घरौंदा किसीसे भी अच्छा नहीं बन पा रहा था। श्यामसुन्दर हठपर आ गये थे—'मैं अच्छा घरौंदा बनाऊँगा।' वे अपने और दूसरोंके भी बार-बार बिगाड़ दे रहे थे। बहुत समय बीत गया। कलेऊका समय हो गया। बलरामजीने भोजन करनेको चलनेका आग्रह किया तो खीझने लगे—'मैं यहीं मिट्टी खाऊँगा और घरौंदा बनाऊँगा। जबतक अच्छा नहीं बनेगा, उठूँगा नहीं।' हठमें आकर सचमुच मिट्टी खा ली आपने। बालक दौड़े और मैयासे जाकर कह दिया उन्होंने।

'बालक मिट्टी खायगा तो रोगी हो जायगा।' मैया एक छड़ी लिये दौड़ी आयी। आकर हाथ पकड़ लिया उसने अपने कुमारका और डाँटा—'क्यों रे, तू अब मिट्टी खाने लगा है!'

सच-झूठकी बात छोड़िये। डेढ़-दो वर्षके बच्चेके लिये ये शास्त्र-विचार नहीं हैं। जिसके भ्रूमण्डल कठोर होनेपर महाकालकी भी भयसे हड्डी-पसली ढीली हो जाती है, मैयाके भयसे उसके अधर सूख गये थे। उसके नेत्र भय-विह्वल हो रहे थे और उनसे बड़ी-बड़ी बूँदें कपोलोंपर ढुलकती जा रही थीं अंजनकी काली रेखा बनाती। मैयाने यद्यपि पुत्रको भयभीत देखकर छड़ी फेंक दी थी; किंतु वही सर्वसमर्थ वात्सल्यसे विवश भयके कारण कह रहा था—'मैया! मैंने मिट्टी नहीं खायी। ये सब मुझसे द्वेष करके झूठ बोल रहे हैं। तुझे विश्वास न हो तो मेरा मुख देख ले।'

'अच्छा खोल मुख!' मैयाने बिना तनिक भी संकोचके आज्ञा दे दी। लेकिन यह क्या! श्यामके मुख खोलते ही यह क्या दीख रहा है उसमें! एक बार पूरा ब्रह्माण्ड दीखा था, अबकी बार तो व्यक्त-अव्यक्त पूरा विराट् ही दीखने लगा उसमें। प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, देवगण, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, त्रिगुण, जीव, काल, कर्म, प्रारब्ध आदि अभूत तत्त्व भी मूर्त दीखने लगे। पूरा त्रिभुवन और उसमें यह व्रज, व्रजमें भी यशोदा और वह श्रीकृष्णका हाथ पकड़े। बड़ा विस्मय हुआ माताको। उसे संदेह हुआ—यह है क्या! विकल्प उठे और अन्तमें ज्ञान हो गया श्रीकृष्णके स्वरूपका।

यह एक रही। यदि मैयाको यह ज्ञान बना रहे तो हो चुकी बाल-लीला; मिल चुका मैयाके वात्सल्यका सुख। वह स्तुति करेगी और पूजा करेगी। श्रीकृष्णचन्द्रके अधरोंपर मन्द हास्य आया। वैष्णवी मायाने मैयाके ज्ञानको ढक दिया। वात्सल्यसे पूर्ण मैयाने अपने लालको गोदमें उठा लिया और स्नेहपूर्वक सिर सूँघने लगी। उसका रोष दूर हो चुका था। श्यामको घर ले जाकर दूध पिलानेकी शीघ्रता थी उसे।

माखन-चोरी

श्यामसुन्दरकी क्रीड़ा चलती ही रहती है। व्रजकी गोपियाँ प्रायः नन्दभवनमें ही टिकी रहती हैं। 'मोहन कभी हमारे घर भी आयेगा। कभी हमारे यहाँ भी वह कुछ खायेगा। जैसे मैयासे खीझता है, वैसे हमसे भी झगड़ेगा—खीझेगा।' बड़ी-बड़ी लालसाएँ उठती हैं उनके मनमें।

श्यामसुन्दर भक्तवाञ्छा-कल्पतरु हैं। गोपियोंका वात्सल्य-स्नेह ही उन्हें नित्यधामसे यहाँ खींच लाया है। उन्हें अपने प्रति की गयी प्रेमपूर्ण लालसाको सार्थक करना है। एक दिन एक गोपिकाकी अभिलाषा सफल हो गयी। उसने छिपकर देखा कि नन्दनन्दन उसके घरमें आ गये हैं। नवनीतके पात्रके पास बैठ गये हैं; किंतु मणिस्तम्भमें अपनी परछाईं देखकर उसे कोई दूसरा बालक समझ रहे हैं। उस बालकको मना रहे हैं, चोरीकी बात वह न कहे, इसके लिये फुसला रहे हैं और माखन खिलानेका प्रयत्न कर रहे हैं।

उस गोपीने दूसरोंसे चर्चा की। सबकी लालसा और तीव्र हो गयी। अब सखाओंके साथ श्यामसुन्दर भी उनके घरोंमें धूम करने लगे। एक ओर गोपियाँ तरसती रहतीं—'नन्दनन्दन कब मेरे घर आयेगा।' दूसरी ओर मैयाके पास उलाहना देने भी पहुँचतीं। कृष्णचन्द्रकी माताके समीप भयभीत मुद्रा, बात बनानेकी कला, भोला मुख प्रलुब्ध करता उन्हें उलाहनेके बहाने उस शोभाके दर्शन करनेके लिये।

किसीका कहना है—'यह असमयमें ही गायोंके बछड़े खोल देता है। बछड़े सब दूध गायोंका पी लेते हैं या भाग जाते हैं। डाँटनेपर मुख बनाकर, अँगूठा दिखाकर चिढ़ाता है और हँसता है।'

दूसरीका कहना है—'यह ताक लगाये रहता है कि कब कोई घरके काममें उलझता है। दबे पाँव चुपचाप घुस जाता है। माखन-दही खा ले तो कोई बात नहीं, बालकोंको भी खिलावे, यहाँतक ठीक; किंतु बंदरोंको लुटाता है, भूमिमें फैलाता है और बर्तन फोड़ जाता है।'

एक कहती है—मैंने सब प्रयत्न कर लिये। ऊपर रखनेपर ऊखलपर पाटा और पाटेपर किसी बालकको चढ़ाकर उसकी पीठपर चढ़कर यह गोरस उतार लेता है। बड़ी पक्की पहचान है इसकी कि किस पात्रमें क्या है। बहुत ऊपर रखनेपर लकुटसे मारकर बर्तनोंमें छेद कर लिया करता है। अँधेरेमें रखना तो किसी कामका ही नहीं; क्योंकि एक तो तुमने इसे ज्योतिर्मय मणि पहना रक्खी है, दूसरे इसके शरीरसे ही क्या कम प्रकाश निकलता है। तनिक हँस देता है तो पूरे घरमें चाँदनी छिटक जाती है।'

इससे भी अधिक बड़ा उलाहना है एकका—'मैंने ऐसा किया कि इसे कुछ न मिले। कुछ न मिलनेपर लिपा-पुता घर मलिन कर आया। बर्तन फोड़ दिये। सोये शिशुको रुला दिया और इतनेपर भी संतोष न हुआ तो हम सबपर क्रुद्ध हो रहा था। कहता था—'यह कैसा गोपका घर कि इसमें गोरस ही नहीं।' बहुत अटपटी बातें बकता था।'

मोहन माखन-घरमें पैठा। सखा संग ले जमकर बैठा ॥
बाँट रहा कपियोंको माखन। सारे व्रजका यह जीवनधन ॥

नाचें जमुना-तीर कन्हैया। अंग चलावें मुड़ें बँकैया ॥
संग सखा नाचे कर हैया। जो देखे सो जाय बलैया ॥

देख कदमकी शीतल छैया। लेट रहे हैं कुँवर कन्हैया ॥
सेवा करते सखा सुजान। पंखा झलते भरते तान ॥

फल-भक्षण-लीला

वनमें आये हैं सब ग्वाल। संग सखा इनका गोपाल॥
जो सबसे मीठा फल पाते। कृष्णचन्द्रको लाय खिलाते॥

गोवर्धनधारण

गोवर्धन श्रीकृष्ण उठाये। ग्वाल बाल हैं टेक लगाये॥
बरस बरस कर इन्द्र थकेंगे। हानि जरा भी कर न सकेंगे॥

नन्ही-सी ये तेरी बैयाँ। कैसे उठा पहाड़ कन्हैया॥
लगी हाथ सहलाने मैया। हँसे देख यह दाऊ भैया॥

उलाहनोंका कोई ठिकाना नहीं। कहीं मोहन किसीकी चोटी खाटसे बाँध आया है; कहीं किसीके पूरे मुखमें काजल लगा आया है। यह चञ्चल इतना सावधान रहता ह कि पकड़े पकड़ा नहीं जाता। कदाचित् पकड़ लो तो हाथ जोड़ता है, विनय करता है और छूटनेपर फिर वही धृष्टता।

मैया सबकी सुनती है; किंतु अपने पुत्रका झुका हुआ भोला मुख देखकर हँसी आ जाती है उसे। उसने देखा है कि जब वह अपने कृष्णको डाँटना चाहती है, तब ये उलाहना देनेवाली उलटे उससे अनुनय करने लगती हैं। श्यामको कुछ न कहा जाय, इसकी प्रार्थना करती हैं सब। इनके उलाहनेका अर्थ मैया जानती है। उसके सुन्दर लालको देखना चाहती हैं ये सब।

ऊखल-बन्धन

यह माखनचोरीकी अन्तिम लीला है। उस दिन कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा थी। श्रीकृष्णचन्द्र दो वर्ष दो मास आठ दिनके हो चुके थे। अभी वे माताका दूध ही रुचिपूर्वक पीते थे। घरकी दासियाँ अन्य कार्योंमें व्यस्त थीं; क्योंकि आज गोकुलमें इन्द्रयाग होना था। मैया यशोदा सवेरे ही उठी। उनके पुत्रको उठते ही तत्कालका निकाला ताजा मक्खन चाहिये, अतः वे दधिमन्थन करने लगीं।

मैया दही मथती जा रही थी और अपने पुत्रके चरित गाती जा रही थी। श्यामसुन्दर अभी सो रहा था। वह कब उठ गया, यह मैया देख न सकी। अपने आप शय्यासे उतरकर आया और मैयाके पास आकर स्तनपान करनेके लिये हठ करने लगा। दहीकी मथानी पकड़कर रोक दिया उसने मैयाको। जननी पुत्रको अङ्कमें लेकर दूध पिलाने लगी।

सामने पद्मगन्धा गौका दूध अग्निपर चढ़ाया था। यही दूध लाला पीता है। मैयाने देखा कि दूध उफनने-वाला है। यदि यह दूध उफनकर गिर गया तो मोहन पियेगा क्या? स्तनपान तो पीछे भी कराया जा सकता है। मैयाको बड़ा क्षोभ हुआ। वह झटसे श्रीकृष्णको भूमिपर रखकर दूध उतारने दौड़ गयी।

श्याम अभी माताके स्तनपानसे तृप्त नहीं हुआ था। इस प्रकार मैया उसे छोड़ गयी, इससे बड़ा रोष आया। पतले-पतले लाल-लाल अधर फड़कने लगे। दाँतसे अधर दबाया उसने। नेत्रोंमें अश्रु आ गये। पास पड़ा एक पत्थर दे मारा दहीके मटकेपर। इतना करके वहाँसे खिसक गये। गोरस रखनेवाले घरका द्वार खुला था। उसमें एक ऊखल उलटा रक्खा था। आप ऊखलपर चढ़ गये। इनकी और बंदरोंकी तो नित्य मैत्री है। एक मोटा-सा बंदर कहींसे कूद आया। छीकेपर धरे पात्रमेंसे निकाल-निकालकर उसे आप भरपूर मक्खन खिलाने लगे। बीच-बीचमें द्वारकी ओर देखते जाते थे कि मैया आ तो नहीं रही है।

मैया दूध उतारकर लौटी तो देखती है कि दहेड़ीके टुकड़े हो गये हैं। पूरा घर दधिमण्डसागर बन रहा है और यह सब करके उसका लड़ैता कहीं खिसक गया है। मैयाको हँसी आ गयी। फिर उसने सोचा, ऐसे तो बालक बिगड़ जायगा। उसे धमकाना चाहिये। एक छड़ी उठा ली हाथमें। दहीमें सने श्यामके चरणचिह्न उनका पता अपने-आप बता रहे थे।

श्यामसुन्दरने जो देखा मैयाको छड़ी लेकर अपनी ओर आते तो ऊखलसे उतरकर आँगनमें भागे। मैया दौड़ी उन्हें पकड़ने। चञ्चल कन्हाईके पीछे दौड़ रही थी मैया। उसके केश खुल गये थे, वस्त्र अस्त-व्यस्त हो रहा था, मुखपर पसीना आ रहा था; किंतु आज वह अपने इस नटखट लल्लाको पकड़कर रहेगी। अन्तमें कृष्णचन्द्र खड़े हो गये। सुकुमारताके कारण थककर कहिये तो, और जननीके श्रमको देखकर दयावश कहिये तो। खड़े होकर दोनों हाथोंसे नेत्र मलते हुए रोने लगे। अञ्जन मिली आँसूकी बड़ी-बड़ी बूँदें गिरने लगीं कपोलोंपर। भयसे विह्वल हो गये नेत्र।

मैयाने पुत्रको बहुत डरा देखा तो छड़ी दूर फेंक दी हाथसे। श्यामका हाथ पकड़कर उसने डाँटा—'तू बहुत ऊधमी हो गया है। ठहर, आज तुझे बाँधे देती हूँ। देखें कैसे चपलता करता है।' सचमुच मैयाने हाथमें रस्सी उठा ली और खींच लायी मोहनको उसी ऊखलके पास। मैयाने सोचा—'आज सवेरेसे इसे खिझाया है, डाँटा है। अब पता नहीं कहाँ भाग जाय। अभी बाँध देना है। दूसरा दही मथकर मक्खन निकाल लूँ तब खोलकर मना लूँगी।' लेकिन मैयाके इस सौभाग्य और श्यामसुन्दरके इस भक्तवात्सल्यका स्मरण देवी कुन्तीको कभी भूलता नहीं। महाभारतका युद्ध हो जानेपर जब श्रीकृष्णचन्द्र हस्तिनापुरसे द्वारिका लौट रहे थे, तब वे स्तुति करती कहती हैं—

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥*
(श्रीमद्भा० १।८।३१)

श्यामसुन्दर रोते जा रहे थे। भयके कारण स्पष्ट शब्दतक मुखसे नहीं निकलता था। मैयाने रस्सी ली और बाँधने लगी। रस्सी दो अंगुल छोटी हो गयी। मैयाने दूसरी रस्सी जोड़ी; किंतु फिर दो अंगुल छोटी। तीसरी जोड़ी, चौथी जोड़ी, पाँचवीं जोड़ी, एक-पर-एक रस्सियाँ जोड़ती चली गयी; किंतु वह दो अंगुलका अन्तर न घटा, न घटा। मैया आश्चर्यचकित रह गयी। उसके पुत्रकी मुट्ठीभरकी कटि तो मोटी हुई नहीं। श्यामकी कटिमें पड़ी करधनी ज्यों-की-त्यों है। फिर इतनी रस्सियाँ क्यों पूरी नहीं पड़तीं? गोपियाँ हँस रही हैं। वे कहती हैं—'व्रजरानी! जाने दो। इस लालके भाग्यमें विधाताने बन्धन नहीं लिखा है।' अच्छा रहा यह विधाता। यदि मैया कन्हाईको आज छोड़ दे तो वह क्या फिर डरेगा। बच्चेको बिगड़ने देना तो ठीक है नहीं। मैया तो तुल गयी है, कुछ भी हो वह कन्हैयाको आज बाँधकर रहेगी। कृष्णचन्द्रने भी देखा कि मैया बाँधना ही चाहती है और अब थक गयी है। यही स्वर्णिम क्षण होता है। जब उपासक साधन-श्रान्तिकी सीमापर पहुँच जाता है, जब चलनेवालेके चरण थक जाते हैं। वह कितना चला, सो कुछ नहीं—केवल इतना कि वह थक कितना गया। और जब वह पूर्णतः थक जाता है, भगवन्निष्ठ कृपा जाग उठती है। दयामय स्वयं बँध जाते हैं उसके प्रेमपाशमें। मैयाकी रस्सी पूरी हो गयी थी और विश्वको मुक्ति देनेवाला स्वयं बँधा खड़ा था ऊखलसे। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥
(श्रीमद्भा० १०।९।२१)

गोपियोंने देखा कि व्रजेश्वरी आज उनकी अनुनय-विनयपर ध्यान ही नहीं देतीं तो वे खीझकर अपने घरोंको चली गयीं। गोपोंके साथ नन्दबाबा इन्द्रयागमें लगे थे और श्रीबलराम तथा बड़े बालक भी यज्ञ देखने चले गये थे। कुछ छोटे बालक थे सही; किंतु वात्सल्यके स्निग्ध-करोंकी गाँठ उनसे तो खुल नहीं सकती थी। मैया मोहनको बाँधकर चली गयी दही मथने। आज उसीको पूरा घर सम्हालना था। इधर श्रीकृष्णकी दृष्टि पड़ी द्वारके सामने लगे ऊँचे-ऊँचे, एकमें सटे दोनों अर्जुनके वृक्षोंपर। जोर लगाकर ऊखल गिरा लिया उन्होंने और हाथ तथा घुटनोंके बल उसे खींचते, कटिमें रस्सी (दाम) से बँधे ये दामोदर चलने लगे उन्हीं यमलार्जुनकी ओर।

कुबेरके पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव सुरापान करके नंगे होकर सुरसरिमें स्त्रियोंके साथ जलक्रीड़ा कर रहे थे। उसी समय उधरसे देवर्षि नारद निकले। स्त्रियोंने तो लज्जित होकर वस्त्र पहन लिये; किंतु ये दोनों वैसे ही खड़े रह गये। इनके पतनपर देवर्षिको दया आ गयी। 'लोकपालके पुत्रोंका यह पतन!' इनपर अनुग्रह करके उन्होंने शाप दे दिया—'तुम दोनों धन, पद तथा शक्तिके मदमें अन्धे होकर वृक्ष-से खड़े हो, अतः वृक्ष हो जाओ। दिव्य एक सहस्र वर्षके पश्चात् जब गोलोकविहारी अवतार लेंगे, तब उनका सान्निध्य पाकर तुम्हारी वृक्ष-योनिसे और अज्ञानसे भी मुक्ति होगी। तुम्हें भगवद्भक्ति प्राप्त होगी।'

ऋषिका शाप—पता नहीं क्यों इसे शाप कहा जाता है। जिस भूमिमें ब्रह्माजी कोई तृण होनेका वरदान चाहते हैं, वहाँका वृक्ष बननेका शाप क्यों शाप है? लेकिन आज श्रीकृष्णचन्द्रको देवर्षिकी वाणी सत्य करनी है। वे ऊखल खींचते चले जा रहे हैं वृक्षोंकी ओर।

दोनों वृक्षोंके बीचसे श्याम तो निकल गये, किंतु ऊखल तिरछा होकर अटक गया। अब जो खींचा उन सर्वेश्वरने तो दोनों वृक्षोंकी जड़ें उखड़ गयीं। वे बड़ा भारी शब्द करते हुए दो ओर गिर पड़े भूमिपर। दो तेजोमय दिव्य वस्त्र एवं आभरणोंसे भूषित देवता वृक्षोंसे निकले। दोनोंने हाथ जोड़कर ऊखलमें रस्सीसे बँधे पुराणपुरुष

* 'जब बचपनमें आपने दूधकी मटकी फोड़कर यशोदामाताको खिझा दिया था और उन्होंने आपको बाँधनेके लिये रस्सी हाथमें ली थी, तब आपकी आँखोंसे आँसू झलक आये थे। कपोलोंपर काजल बह चला था, नेत्र चंचल हो रहे थे और भयकी भावनासे आपने अपने मुखको नीचेकी ओर झुका लिया था। आपकी उस लीला-छविका ध्यान करके मैं मोहित हो जाती हूँ। जिससे भय भी भय मानता है, उसकी यह दशा।'

दामोदरकी स्तुति की। उनकी प्रदक्षिणा की और उनकी आज्ञा लेकर आकाशमें चले गये।

गोपोंने वृक्षोंके गिरनेका शब्द सुना तो दौड़े। 'इतने बड़े-बड़े वृक्ष गिरे कैसे ?' न आँधी आयी थी, न बिजली गिरी थी और न वृक्षोंकी जड़ें खोखली ही हुई थीं। चारों ओर घूम-घूमकर सबने देखा। वहाँ जो छोटे बालक थे, उन्होंने कहा—'ऊखल टेढ़ा करके वृक्षोंको इस कन्हैयाने ही गिराया है। इन वृक्षोंसे दो चमकते पुरुषोंको भी निकलते हमने देखा है। यह नन्दनन्दन उनसे जाने क्या कह रहा था।'

लेकिन किसीने विश्वास नहीं किया। कुछको सन्देह अवश्य हुआ, पर निश्चय यही हुआ कि यह कोई भारी उत्पात था। नारायणने ही बच्चेकी रक्षा की। नन्द-बाबाने रस्सीमें बँधे ऊखल घसीटते अपने लालको हँसकर खोल दिया और गोदमें उठा लिया।

वृन्दावनागमन

व्रजराजके यहाँ सायंकाल सभी प्रधान गोप एकत्र हुए। गोकुलमें व्रजके प्राणसर्वस्व नन्दनन्दनको पीड़ा पहुँचानेवाले इतने उत्पात हो रहे हैं। अब करना क्या चाहिये। वयोवृद्ध उपनन्दजीने प्रस्ताव किया—'अब इस स्थानको छोड़ ही देना चाहिये। बच्चोंकी रक्षाके लिये हम सबको अब कहीं अन्यत्र बसना चाहिये। वृन्दावन नामक एक सुन्दर वन है। वहाँ पर्याप्त जल है, फले-फूले वृक्ष हैं, पशुओंके लिये भरपूर घास है, अतः हम सब आज ही वहाँ चलनेको प्रस्तुत हो जायँ।'

नन्द-व्रजमें दो मत तो कभी हुआ नहीं। गोपोंका ऐक्य अबतक प्रख्यात है। सबने स्वीकार कर लिया प्रस्तावको। छकड़े सजाये जाने लगे। घरकी सम्पूर्ण सामग्री छकड़ोंमें भरी गयी। लक्ष-लक्ष गायें आगे की गयीं और उनके पीछे ब्राह्मण छकड़ोंमें बैठकर चले। वृद्ध, बालक तथा स्त्रियाँ भी छकड़ोंमें बैठीं। तरुण गोपोंने धनुष-बाण, भाले और खड्ग सम्हाले और पूरे समूहको घेरकर सबकी रक्षा करते चले।

एक ही छकड़ेमें माता रोहिणी और यशोदाजी राम-श्यामके साथ बैठीं। दोनों बालकोंकी कुतूहलभरी वार्ता उनको आनन्दमें विभोर कर रही थी। श्रीनन्दरायजीका समूह कुछ छोटा तो था नहीं, लाखों गायों तथा सहस्रों गोपोंका समुदाय था वह। नन्दगाँव, गोवर्धन होते वृन्दावन-तक अर्धचन्द्राकार यह मण्डल अवस्थित हुआ। व्रजराज नन्दगाँवमें विराजे। अब बरसाना (बृहत्सानु) पड़ोसमें पड़ गया। वहाँके गोपनायक श्रीवृषभानुजीसे नन्दबाबाकी पहलेसे ही मैत्री है। दो प्रधान गोपसमुदाय एकत्र हो गये। अब इस दुगुनी शक्तिके कारण कंसके उत्पातका भय कम हो गया। मथुरा दूर भी हो गयी। राम-श्याम तो गिरिराज गोवर्धनकी तराई, कालिन्दीकी जलधारा और वृन्दावनकी शोभा देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए।

असुर-उद्धार

वृन्दावन आकर श्रीकृष्णचन्द्रको एक दूसरा ही उत्पात सूझा। अब माखनचोरीको तो उन्होंने छोड़ दिया, पर मचलने लगे हैं कि मैं गाय चराने जाया करूँगा। कहीं ढाई वर्षका बालक गाय चरा सकता है; किंतु श्यामको जो हठ सूझ जाय, उसे दूर कर पाना अशक्य ही प्रायः होता है। बाबा समझा-फुसलाकर हार गये, मैया बार-बार नेत्रोंमें जल भर लेती है, किंतु मोहन तो रोता है, मचलता है और खीझता है। उसे रात-दिन यही धुन चढ़ी है। अब गोपकुमारोंको अपनी क्रीड़ासे सर्वथा अपनाना है उस आकर्षणके परमाश्रयको। अन्तमें व्रजराजने अनुमति दी—'लाल ! तू छोटा है, छोटे-छोटे बछड़े चराया कर।' श्रीकृष्णचन्द्र प्रसन्न हो गये।

छोटे-छोटे सहस्रों गोपकुमारोंसे घिरे श्रीकृष्ण-बलराम प्रातःकाल कलेऊकर झुंड-के-झुंड बछड़ोंको चराने निकलते हैं। सभी बालकोंको उनकी माताएँ सजा देती हैं। केशोंमें पुष्प, नेत्रोंमें अञ्जन, वक्षपर मोतियोंकी माला, भुजाओंमें अंगद, हाथमें कङ्कण आदि आभूषणोंसे भूषित बालक वंशी, वेत्र, लकुट, शृङ्ग, छीके लिये हँसते, कूदते, ताली या शृङ्ग बजाते, कोलाहल करते निकलते हैं। उन्हें यह क्रीड़ाका अच्छा अवसर मिलता है।

वनके पत्ते, पुष्प, गुञ्जा आदिसे गोपकुमार अपना और उन राम-श्यामका शृङ्गार करते हैं, जिनके चरणोंमें पुष्पाञ्जलि समर्पित करनेका सौभाग्य लोकपालोंको भी कदाचित् ही मिलता है। वे उनके अङ्गोंपर गेरू, रामरज, खड़िया आदिसे चित्र बनाते हैं। उनके साथ खेलते हैं, दौड़ते हैं और मल्लयुद्ध करते हैं। भक्तवत्सल श्रीकृष्णचन्द्र इन बालकोंमें इनके ही समान नाना प्रकारकी बालक्रीड़ा करके इन्हें प्रसन्न करते हैं।

१. इस प्रकार गोपकुमारोंकी क्रीड़ा चलती रहती थी

नित्य। एक दिन एक असुर बछड़ेका रूप बनाकर बछड़ोंमें आ मिला। सोचा, बछड़ेके रूपमें रहनेसे यह पहचान नहीं सकेगा। अवसर पाकर वह श्रीकृष्णचन्द्रपर आघात करना चाहता था। श्यामसुन्दरने उसे देखा और बड़े भाईको संकेतसे दिखला दिया। दोनों भाइयोंमें आँखों-आँखोंमें ही कुछ बातें हो गयीं और दबे पैर धीरे-धीरे मधुसूदन उस बछड़ेके पास जा पहुँचे। उन्होंने उसकी पूँछ और दोनों पिछले पैर एक हाथसे पकड़ लिया और सिरके चारों ओर घुमाने लगे। असुरका भयंकर रूप प्रकट हो गया। घुमानेमें ही उसके प्राण विदा हो गये। श्यामने फेंक दिया एक वृक्षकी जड़पर उसे। बालक दौड़ आये और अपने इस अद्भुत सखाकी प्रशंसा करने लगे। देवता आकाशसे पुष्पवर्षा कर रहे थे।

२. इसी प्रकार एक दिन पूतनाका भाई बकासुर पर्वतकाय बगुला बना वृन्दावनमें एक ह्रदके किनारे आ बैठा था। बछड़ोंको जल पिलाने गोप-बालक वहाँ आये तो उसका आकार देखकर ही भयभीत हो गये। बकने शीघ्रतासे मुख फाड़कर श्रीकृष्णचन्द्रको टपसे उठा लिया। श्यामसुन्दरको बगुलेने मुखमें ले लिया, यह देखकर बालक तो शोकसे मूर्च्छितप्राय हो गये।

दम्भ जब सत्यको नष्ट करनेका प्रयत्न करता है, तब स्वयं नष्ट हो जाता है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जिसके भीतर तुच्छ धूलिकणों-से उड़ते-पड़ते रहते हैं, उसे असुर बक निगल लेना चाहता था। आसुरी सम्पत्तिका चिह्न ही है अन्ध अहङ्कार। लेकिन बकको जान पड़ा कि उसका मुख भस्म हुआ जा रहा है। श्रीकृष्णचन्द्रका शरीर उसे तप्त अङ्गार जान पड़ा। उसने झटसे उगल दिया उन्हें और फिर चोंचसे प्रहार करनेके लिये झपटा। अब केशवने उसकी चोंच पकड़कर खोल दी बलपूर्वक। नीचेकी चोंचपर चरण रख दिया और ऊपरकी चोंच हाथसे ऊपर उठाकर चीर फेंका तिनकेके समान उस दुष्ट असुरको। अब बालकोंके प्राण आश्वस्त हुए। वे दौड़कर लिपट गये श्यामसुन्दरसे और उनकी प्रशंसा करने लगे। जब बालकोंने घर लौटकर यह समाचार सबको सुनाया, गोप और गोपियाँ आश्चर्यसे चकित रह गये।

३ पूतनाको नन्दनन्दनने छठीके दिन ही मार दिया और अब बक भी मारा गया। इन दोनोंका छोटा भाई अघासुर अब व्रजमें आया। अघ सचमुच ही अघ था—पापकी घनीभूत मूर्ति। अमृत पीनेपर भी देवता उसके भयसे बेचैन ही रहा करते थे। वृन्दावनमें आकर उसने अजगरका रूप धारण किया और जिस मार्गसे खेलते हुए गोपबालक और बछड़े आगे बढ़ रहे थे, उसमें मुख फैलाकर पड़ रहा।

बालकोंने देखा कि एक बड़ी भारी गुफा है सामने। उसमें उज्ज्वल नुकीले शृङ्ग हैं। उसमें जानेको लाल पत्थरका चिकना मार्ग भी है। कहीं उसमें भीतर अग्नि लगी जान पड़ती है। गुफाके ऊपरके दो छेद जल-से रहे हैं और दावाग्निमें झुलसे पशुओंकी दुर्गन्ध भी आ रही है। उन्होंने कहा—'मित्रो! यह कोई वृन्दावनकी अद्भुत शोभा है। गुफा होनेपर भी यह ठीक-ठीक अजगरका मुख जान पड़ती है। आओ, इसमें भीतर चलकर देखें।'

किसीने कहा—'मित्र! कहीं यह सचमुच अजगर हुआ और हम सबको निगल गया तो?'

'तो कन्हैया क्या कहीं चला गया है। यह भी बगुलेकी भाँति मरेगा।' बड़ा दृढ़ विश्वास था उन सबका। आज बलराम तो साथ आये नहीं थे। श्याम अकेले पीछे पुष्प चुननेमें लगे थे। बालकोंने पीछे मुखकर देखा एक बार श्रीकृष्णके मुखकी ओर और ताली बजाते हँसते-कूदते अघके मुखके भीतर स्वयं चले गये। उनके साथ बछड़े भी कूदते-फाँदते घुस गये।

पाप सभी प्राणियोंको अपने भीतर आनेके लिये ललचाता है। जो इस प्रलोभनसे बच सकें, वे तो महापुरुष हैं; किंतु जो अबोध हैं, बालक हैं, वे बच नहीं पाते। अघ पचा जाता है उन्हें। लेकिन जो श्रीकृष्णकी ओर देखते हुए उसके मुखमें जाते हैं, कन्हाई उनसे पृथक् कैसे रह सकता है और जब श्याम वहाँ आता है, तब अघका मस्तक फटकर ही तो रहेगा।

श्रीकृष्णचन्द्र चौंके और चाहा कि पुकारकर बालकोंको रोक दें, किंतु वे तो दौड़ते हुए प्रविष्ट हो गये असुरके मुखमें। वहाँके विषसे मूर्च्छित होकर गिर भी पड़े। अघासुरने उन्हें निगला नहीं, सो केवल इसलिये कि वह श्रीकृष्णके मुखमें आनेकी प्रतीक्षा कर रहा है। श्यामसुन्दरने एक क्षणमें निश्चय कर लिया और वे भी उस असुरके मुखमें प्रविष्ट हो गये। जहाँ उनके अनन्य प्रिय प्रेमी हैं, वे भक्तवत्सल वहाँसे पृथक् कैसे रह सकते हैं। उनके अघके मुखमें प्रविष्ट होते ही देवताओंमें हाहाकार मच गया

विश्वात्मा श्रीकृष्ण अघासुरके मुखमें पहुँचते ही बढ़ने लगे। वामनसे विराट्रूप धारण कर लेना तो उनका पुराना स्वभाव ठहरा, पर इस बार उनका शरीर इस प्रकार बढ़ रहा था कि उससे असुरके मुखके समस्त रन्ध्र (छिद्र) बंद हो गये। श्यामसुन्दर सदासे छिद्र दूर करनेवाले हैं। अब श्वास निकलनेको कोई मार्ग नहीं था। अन्तमें रुका हुआ वायु सिर फोड़कर ब्रह्मरन्ध्रके मार्गसे निकल गया और निकल गये असुरके प्राण भी। देवताओंने देखा कि अघासुरके शरीरसे एक अद्भुत ज्योति निकली है। दिशाओंको आलोकित करती वह आकाशमें स्थित हो गयी है। रुककर प्रतीक्षा-सी कर रही है किसीकी।

अब श्रीनन्दनन्दनने अपनी अमृतवर्षिणी दृष्टिसे गोप-बालकों और बछड़ोंको देखा। उस दृष्टिके पड़ते ही वे सब जीवित हो उठे। उन सबको साथ लिये अघासुरके मुखसे निकले वे व्रज-नवयुवराज और जैसे ही वे बाहर निकले, अघके शरीरसे निकली ज्योति उनके श्रीचरणोंमें आकर लीन हो गयी।

सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि-
व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३९)

केवल एक बार जिनकी मनःकल्पित मूर्ति भी हृदयमें आनेसे प्राणी परमगति प्राप्त कर लेता है, वे सच्चिदानन्दघन स्वयं जिसके भीतर प्रविष्ट हुए, उसका भगवान्में लीन हो जाना तो ठीक ही था। साक्षात् अघ भी श्रीकृष्णके स्पर्शसे उनके सायुज्यको प्राप्त हो गया, यह देखकर देवताओंके आश्चर्य एवं आनन्दका पार नहीं रहा। वे स्तुति, जयध्वनि, वाद्य एवं पुष्पवृष्टिसे प्रभुका अभिनन्दन करने लगे।

सृष्टिकर्तापर अनुग्रह

अघासुरके मुखसे निकलकर सब बालक तथा बछड़े बहुत प्रसन्न हुए। उनकी क्रीड़ा फिर चलने लगी। अब वे यमुनापुलिनपर आ गये थे। श्यामसुन्दरने प्रस्ताव किया—'दिन चढ़ आया है, हम सब भूखे हैं और यह स्थल भी अच्छा है, अतः बछड़ोंको जल पिलाकर चरनेको छोड़ दिया जाय और हम सब भोजन करें।' सबने बछड़ोंको जल पिलाया और फिर पत्ते, फूल, छाल, फलोंके छिलके, पत्थर या छींकेका ही पात्र बनाकर एक अद्भुत मण्डल बनाकर बैठ गये श्रीकृष्णचन्द्रको मध्यमें करके भोजन करने।

श्रीकृष्णचन्द्रने कोई पात्र नहीं लिया था। बायें हाथकी हथेलीपर एक स्निग्ध मधुर दही-भातका बड़ा-सा ग्रास धर लिया था और दाहिने हाथसे उसमेंसे थोड़ा-थोड़ा खाते जा रहे थे। अद्भुत छवि है उनकी यह—

बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः॥
(श्रीमद्भा० १० । १३ । ११)

सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी अघासुरके मरनेपर देवताओंकी जय-ध्वनिका जो बड़ा भारी कोलाहल हुआ था, उसे सुनकर अपने धामसे आ गये थे। उन्होंने अघासुरकी ज्योति श्रीकृष्णचन्द्रमें मिलते देखा था और अब देख रहे थे कि गोपकुमारोंके मध्यमें बैठे वे पुरुषोत्तम, यज्ञपुरुष हास-परिहास कर रहे हैं। मौजसे खा रहे हैं और एक-दूसरेको खिला रहे हैं। ब्रह्माजीको अघोद्धारका पूरा चरित देखनेको नहीं मिला था। वे श्यामसुन्दरका कोई और मञ्जुचरित देखना चाहते थे। उन्हें भ्रम भी हो रहा था अब—'ये परम पुरुष गोपबालकोंके साथ इस प्रकार कैसे खा-खिला रहे हैं।' उधर यह भी सृष्टिकर्ता जानते थे कि जीव-ज्योति भगवान्‌को छोड़कर दूसरेमें मिलती नहीं। इस असमञ्जसमें पड़कर श्रीकृष्णकी महिमा देखनेके लिये बड़े सद्भावसे उन्होंने वनमें चरते बछड़े हरण कर लिये और मायासे एक गुफामें ले जाकर सुला दिया उन्हें।

भोजन करते-करते गोपकुमारोंकी दृष्टि वनकी ओर गयी। सहस्रों बछड़ोंमेंसे एक भी नहीं दीखता। वे चिन्तित हो उठे। श्यामसुन्दरने कहा—'मित्रो! भोजन बंद मत करो। मैं सबको अभी लिये आता हूँ। मेरे पुकारनेसे वे दौड़ आयेंगे और तुमलोगोंके जानेपर देर लगेगी।' हाथपर ग्रास लिये-ही-लिये वे भक्तवत्सल, अपने सखाओंके भोजनमें बाधा न पड़े, इसलिये स्वयं बछड़े ढूँढ़ने चल पड़े। उनके जाते ही ब्रह्माजीने बालकोंको भी मायासे सुलाकर उसी गुफामें रख दिया।

जिन्हें श्रुतियाँ अनादिकालसे ढूँढ़ रही हैं, जो दीर्घकाल-तक तपसे शुद्ध मनवाले ऋषियोंके भी अन्वेषणीय हैं, मुनि-जन ध्यान-धारणादि करके जिन्हें पाना चाहते हैं, समस्त साधन जिनका पता लगानेमें व्यस्त हैं, वे ही श्रीनन्दनन्दन हाथपर ग्रास रक्खे वन-वन बछड़े ढूँढ़ रहे हैं। बछड़े नहीं

मिले तो पुलिनपर लौट आये। अब वहाँ गोपबालक भी नहीं मिले। एक-एक कुञ्ज, प्रत्येक गुहा और खड्ड, वनका एक-एक कोना श्यामसुन्दरने छान डाला। पुकारा बार-बार, शृङ्ग बजाया और ढूँढ़ते गये। सच्ची बात है, वे ही ढूँढ़ते हैं। वे करुणावरुणालय ही ढूँढ़ते हैं। बेचारा जीव उन्हें क्या ढूँढ़ सकता है। उन सर्वज्ञका यह मधुर लीलानाट्य चला बहुत देर और अन्तमें उन सर्वज्ञने ब्रह्माजीकी करतूत जान ली। व्रजकी माताओंको पुत्रवियोग तथा गायोंको बछड़ोंके वियोगका दुःख नहीं होना चाहिये। साथ ही बूढ़े सृष्टिकर्ताको भी प्रसन्न करना था। जो स्वयं विश्वरूप हैं, वे एक बार फिर स्वयं सब बछड़े और बालक बन गये। बालक और बछड़े ही नहीं, वे छड़ी, सींग, बाँसुरी, पत्ते, छीके सब कुछ बन गये। और जिस बालकके जैसे वस्त्राभूषण थे, उनके शील, स्वभाव, गुण, नाम, रूप, अवस्था, खान-पान, चाल-ढाल, सब कुछ वैसे ही बनकर श्रीकृष्ण प्रकट हो गये। व्रजकी सब माताएँ निरन्तर सोचतीं—'श्यामसुन्दर मेरे पुत्र होते! वे मेरी गोदमें बैठकर मेरा स्तनपान करते। मैं उनका शृङ्गार करती, लालन करती।' सभी गौओंके स्तनोंसे जो मोहनको देखते ही दूधकी धारा झरने लगती थी, वह क्या उनके चित्तकी बात नहीं बतलाती? श्रीकृष्णसे लगकर भी क्या कोई कामना कभी अधूरी रही है? कल्पवृक्ष तो अपने नीचे आनेवालेकी इच्छा ही पूरी करता है और नन्दनन्दन! आज व्रजकी माताओं और गायोंकी, पिताओं एवं सुहृदोंकी—सबकी इच्छा पूर्ण हो गयी।

बात तो कुछ नहीं और बहुत कुछ है। वैसे ही गोपकुमार हैं और वैसे ही बछड़े हैं। वैसे ही वे घर आते हैं सायंकाल और वैसे ही प्रातः गोचारणको जाते हैं; किंतु इनमें व्रजके लोगोंका जो प्रेम है—निरन्तर बढ़ता प्रेम, वह कहाँ वैसा है। श्रुति कहती है—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

और जब वही आत्मा सगुण साकार होकर नेत्रोंके आगे आ जाता है, गोदमें आ बैठता है; जब उसे देखा, छुआ जा सकता है, जब उससे बोला जा सकता है, उसका लाड़-प्यार किया जा सकता है—कोई सीमा रह जाती है प्रेमकी।

प्रतिक्षण वर्धमान इस अनुपम अनुरागका एक उदाहरण श्रीबलरामजीने देखा। गायोंको वयस्क गोप गोवर्धनके शिखरपर चरा रहे थे। वहींसे उन्होंने नीचे चरते बछड़ोंको देखा और हुंकार करती, पूँछ उठाये अत्यन्त दुर्गम मार्गसे दौड़ पड़ीं। गोपोंने बहुत प्रयत्न किया, बहुत दौड़े, पर रोक न सके उन्हें। वे हाँफते हुए पसीनेसे लथपथ क्रोधमें भरे तमतमाये पीछे दौड़ते आये। गौओंके दूसरे बछड़े हो चुके थे, किंतु वे इन बछड़ोंको दूध पिला रही थीं, चाट रही थीं। गोपोंकी दृष्टि भी, जो बछड़े चरानेवाले अपने पुत्रोंपर गयी तो सहसा समस्त क्रोध पलभरमें भाग गया। लपककर उन्होंने बच्चोंको गोदमें ले लिया। आनन्दके मारे उनके नेत्रोंसे अश्रु गिरने लगे। शरीर रोमाञ्चित हो गया। बड़ा कष्ट अनुभव कर रहे थे वे बच्चोंसे पृथक् होनेमें, और गायें भी बड़ी कठिनाईसे दूर चरने जा सकीं। श्रीबलरामजी यह सब देखकर चौंके 'यह क्या है! जैसा अनुराग श्रीकृष्णमें होना चाहिये, वैसा सभी बालकों और बछड़ोंमें क्यों?' उन अनन्तकी दृष्टि ढका नहीं करती। एक पलमें उन्हें रहस्यका पता लग गया। पूछनेपर उनके छोटे भाईने ब्रह्माजीकी लीला बता दी।

ब्रह्माजी अपने हिसाबसे एक पलके लिये व्रजसे गये और फिर लौट आये; किंतु पृथ्वीपर तो पूरा एक वर्ष हो गया था। सृष्टिकर्ताने वृन्दावनमें जो कुछ देखा, उससे ठकसे रह गये। सब बछड़े और ग्वाल-बाल यहाँ और गुफामें भी! कई बार यहाँ-वहाँ देखकर भी वे निश्चय नहीं कर सके कि कौन सच्चे हैं तथा कौन कृत्रिम। इतनेमें उन्होंने देखा—व्रजके सहस्रशः ग्वाल-बाल तथा बछड़े एकाएक चतुर्भुज हो गये। शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी, दिव्याभरणभूषित परम प्रभुके ये लक्ष-लक्ष रूप और सब सच्चिदानन्दघन, सबके पास एक-एक ब्रह्मा, रुद्र आदि हाथ जोड़े स्तुति कर रहे हैं। सबका वैभव अचिन्त्य है। सबका तेज अपार है। ब्रह्माजीकी समस्त इन्द्रियाँ थकित हो गयीं। नेत्र बंद कर लिये उन्होंने व्याकुल होकर!

जब सृष्टिकर्ताने फिर नेत्र खोले—देखा कि वही वृन्दावन है, वही यमुना-पुलिन है, वही फेंटमें बाँसुरी खोंसे, काँखमें बेंत तथा सींग दबाये, बायें हाथपर दही-भातका ग्रास लिये गुञ्जाओंका कर्णाभरण धारण किये श्यामसुन्दर वन-वन अपने बछड़ों तथा सखाओंको ढूँढ़ रहे हैं। अब रहा नहीं गया ब्रह्माजीसे, वे अपने हंससे कूदे और सोनेके डंडेके समान व्रजेन्द्रनन्दनके आगे पृथ्वीपर गिर पड़े। आठों नेत्रोंसे अश्रुधारा चलने लगी। बहुत देरतक बार-बार उठते और फिर गिर पड़ते सृष्टिकर्ता। विह्वलतापूर्वक उन्होंने सहस्रों

बार दण्डवत्-प्रणिपात किया और तब हाथ जोड़कर स्तुति करने लगे। वेदमय ब्रह्माजीने देरतक स्तुति की, क्षमा माँगी, श्रीकृष्णचन्द्रकी परिक्रमा की और तब बछड़ों और गोप-बालकोंको यथास्थान पहुँचाकर अपने लोकको पधारे।

अब श्यामसुन्दर बछड़े लिये पुलिनपर आये। गोपकुमारोंको इन मोहनकी मायासे एक वर्षका समय बीत गया, यह पता ही नहीं। वे बड़े उल्लाससे बोले—'कन्हाई, तू बहुत शीघ्र आया। आ झटपट, हमने अबतक एक ग्रास भी नहीं खाया है। एक वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ भोजन आज पूरा हुआ और जब वे व्रजमें सायंकाल लौटने लगे, श्यामसुन्दरने अघासुरका मृतदेह दिखाया—'मित्रो! हमने इसे मार दिया है। अब इसकी सूखी देह हमारे खेलनेके लिये अच्छी गुफा हो गयी है।' सखाओंने अघासुरको गुफा समझा था और उसमें घुसकर खेलना चाहते थे। उनका उदार सखा संकेत कर रहा था कि मेरे सुहृदोंकी इच्छा तो पूरी होकर ही रहती है।

श्रीकृष्णकी अवस्था चार वर्षकी पूरी हो चुकी थी, जब अघासुरको उन्होंने मारा था और आज वे छठेमें प्रविष्ट हो रहे हैं; पर उनके सखा कहते हैं—'आज धूप बहुत कड़ी थी। यह दिनभरमें ही सूख गया।'

कालिय-मर्दन

'मैं बड़ा हो गया हूँ। अब मैं गायें चराऊँगा।' श्यामसुन्दर अब बछड़े चराकर संतुष्ट नहीं। गौ तो पूजनीया हैं। उनकी सेवाके लिये बालकमें उत्साह होना उत्तम लक्षण है। कृष्णचन्द्र अपनी हठ छोड़ना जानता ही नहीं। कार्तिक शुक्लाष्टमीको जब नन्दनन्दन पाँच वर्ष ढाई मासका था, महर्षि शाण्डिल्यने उससे गो-पूजन कराया और वह विधिपूर्वक गोपाल बन गया।

गायोंको लेकर अब बालक वनमें दूर-दूरतक जाने लगे। उनको खेलनेका पर्याप्त अवकाश मिल गया। उनके बीचमें उनका मित्र बनकर परमानन्दघन चिन्मात्र ब्रह्म उनके साथ क्रीड़ा कर रहा था, उनके सौभाग्यका क्या पूछना।

गरमीके दिन आये। एक दिन गायोंको लेकर गोप-बालक कालियदहकी ओर निकल आये। वे इस ह्रदकी बात सुन चुके थे; किंतु धूप तीव्र थी, प्यासे थे वे, उनको कुछ स्मरण रहा नहीं। गायें और बालक साथ ही दौड़ आये और कालियदहका विषैला जल पी लिया उन्होंने। पी लिया कहना ठीक नहीं है, स्पर्श किया कहना चाहिये। गायोंने मुखसे और बालकोंने अञ्जलिसे छुआ भर और गिर पड़े वहीं तटपर।

'यह क्या हुआ?' श्यामसुन्दर पीछे रह गया था। गायों और बालकोंको गिरते देखकर वह दौड़ आया। सबके अधर नीले पड़ गये थे। किसीके शरीरमें प्राण नहीं थे। योगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र स्थिर खड़े हो गये। अपनी अमृतवर्षिणी दृष्टिसे वे देखने लगे एक ओरसे सबको। वे उठे बालक, वे उठीं गायें—वे उठते जा रहे हैं सब। जिस-जिसपर वह दृष्टि पड़ती गयी, निद्रासे जैसे वह जाग पड़ा हो। सबने घेर लिया मोहनको। किसीको कोई संदेह नहीं था कि इस कृष्णचन्द्रने ही आज मर जानेपर भी उन्हें फिरसे जिला दिया है। सब श्यामसुन्दरको हृदयसे लगा रहे थे। अब श्रीकृष्णकी दृष्टि ह्रदपर गयी।

इस ह्रदकी भी एक कथा है—सौभरि ऋषि यहीं जलमें तपस्या कर रहे थे। एक दिन देवताओंसे युद्ध करके जब गरुड़जी अमृतकलश लिये आ रहे थे, बहुत भूख लगी मार्गमें उन्हें। इस ह्रदके तटपर कदम्बके ऊपर कलश रखकर उन्होंने जलमें झपट्टा मारा और मीनराजको हड़प लिया। ऋषिने मना किया, पर क्षुधार्त गरुड़जीने अपना आहार छोड़ना ठीक नहीं समझा। ऋषिने जलचरोंके कल्याणके विचारसे शाप दिया—'यदि गरुड़ फिर यहाँ आयेंगे तो मृत हो जायँगे।'

गरुड़जीकी नागोंसे शत्रुता ठहरी और नाग उनके मुख्य आहार हैं। नागोंका मुख्य निवास है समुद्रका रमणक द्वीप। वहाँ गरुड़जीका धावा होता ही रहता था। एक धावेमें वे सहस्रोंको उदरस्थ कर लेते थे। अन्तमें ब्रह्माजीने मध्यस्थता की। यह निश्चय हुआ कि प्रत्येक अमावस्याको एक वृक्षके नीचे नागलोग गरुड़जीके लिये उपहार रख दिया करें और गरुड़जी उसे लेकर नागोंपर दया करें। यह क्रम चलता रहा; पर कालियनागने इसमें बाधा दी। उसके एक सौ एक मस्तक थे। अपने विषके गर्वसे गरुड़जीके निमित्त रक्खा उपहार वह स्वयं खा गया। गरुड़जीने जब रुष्ट होकर आक्रमण किया, तब वह अपने सिर उठाकर फूत्कार कर उठा। लेकिन भगवान् विष्णुके अमोघविक्रम वाहन गरुड़जीके बायें पक्षकी एक ही चोटमें उसे लगा कि अब प्राण गया। समुद्रमें कूदकर भागा वह। उसे सौभरि ऋषिद्वारा गरुड़जीको शाप दिये जानेकी बातका पता था, अतः सीधा वृन्दावनके पास उसी ह्रदमें वह आ गया। उसके पीछे उसका पूरा परिवार भी वहीं आ बसा।

भगवान्का स्वभाव अत्यन्त विचित्र है। जो उनके हैं, उनकी तो उलटी भी सीधी, और जो उनके नहीं हैं, उनकी सीधी भी सन्दिग्ध ही है। भगवान्के भक्तोंका तिरस्कार करके कोई कैसा भी हो, विफल ही होता है। भक्तका भी कुछ दोष है; इसे वे भक्तवत्सल देखना जानते ही नहीं। महर्षि सौभरिने जिन जलचरोंका पक्ष लेकर गरुड़को शाप दिया, उन जलचरोंके कारण उनके तपका नाश हो गया। शाप देकर गरुड़को आनेसे रोका तो ह्रदमें आ गया कालियनाग। जलचरोंकी तो चर्चा क्या, ह्रदके ऊपरसे उड़नेवाले पक्षीतक विषसे खौलते ह्रदकी वायु लगनेसे मरकर गिर पड़ते थे। अमृत रखनेके कारण एक कदम्ब तो तटपर अवश्य बचा था, पर तटके शेष वृक्षतक कभीके जल चुके थे।

आज गौओं तथा गोपकुमारोंने कालियह्रदका जल पी लिया और उनकी यह दशा हो गयी। अब इस ह्रदको निर्मल होना चाहिये। श्यामके जन जहाँ क्रीड़ा करना चाहें, उस स्थल या पदार्थको निर्मल होना ही पड़ेगा। श्रीकृष्णचन्द्रने अलकें समेट लीं, पटुका कटिमें कसा और दौड़कर कदम्बके ऊपर चढ़ गये। कोई कुछ सोचे-समझे, रोके-समझाये, तबतक तो ताल ठोंककर झमसे कूद पड़े वे जलमें।

नन्हा-सा कन्हाई, उसकी सुकुमार नन्ही भुजाएँ, वह हाथ-पैर पीटकर ह्रदमें तैर रहा था और ऐसा लगता था कि पूरा ह्रद मथा जा रहा है। उत्ताल तरङ्गें उठ रही थीं। बड़ा भारी शब्द हो रहा था। महानाग कालिय यह देखकर फूत्कार करता उठा। उसने श्यामके मृदुल अङ्गपर फणसे आघात किया और अपने भोगमें उन्हें लपेट लिया। सर्पके भोगमें निश्चेष्ट पड़ा श्याम और उसके मस्तकपर क्रोधविह्वल एक सौ एक फण फैलाये फूत्कार करता स्थिर खड़ा महासर्प—गायें डकराने लगीं और गोपकुमार तो यह देखते ही मूर्छित होकर तटपर गिर पड़े।

वहाँ व्रजमें बड़े-बड़े उत्पात होने लगे, आकाशसे दिनमें उल्कापात होने लगा, शृगाल तथा श्वान रोने लगे, अशुभ अङ्ग बार-बार फड़कने लगे। सब आबाल-वृद्ध गोप-गोपिकाएँ चिन्तित हो गयीं। 'आज श्रीकृष्ण वनमें अकेले गये हैं। बलराम आज व्रजमें ही हैं।' यह बात जब ध्यानमें आयी, सबके हृदय धक्-से हो गये। प्रेममें अनिष्टकी अधिक आशङ्का होती है। पूरा व्रज सूना हो गया। सब गिरते-पड़ते दौड़े वनकी ओर। गायों तथा गोप-बालकोंके पद-चिह्नोंके बीच-बीचमें ध्वज, अंकुश, यव, कमल आदिके चिह्नोंसे युक्त श्रीकृष्णके चरणचिह्न देखते वे यमुनातटपर पहुँचे। अपने छोटे भाईका प्रभाव जाननेवाले श्रीबलरामजी यदि सावधान न होते, अनर्थ हो जाता। वे लगभग सात वर्षके अकेले दाऊ किसीको समझाते, किसीको रोकते, किसीको पकड़ते। बड़ा करुण दृश्य था। सब क्रन्दन कर रहे थे। सबके नेत्र नागभोगमें लिपटे निश्चेष्ट श्यामसुन्दरके मुखपर स्थिर थे। सब शोकसे उन्मत्त होकर बार-बार ह्रदमें कूद पड़नेको झपट पड़ते थे।

अपने स्वजनोंकी यह व्यथा करुणावरुणालय श्रीकृष्ण सह नहीं सकते थे। एक मुहूर्त सर्पके बन्धनमें रहनेके पश्चात् उन्होंने अपना शरीर बढ़ाया। सर्पको लगा कि उसका देह टूटा जा रहा है। झटसे नन्दनन्दनको छोड़कर वह फण उठाये अलग खड़ा हो गया। अब श्रीकृष्ण और सर्प जलमें एक दूसरेपर आघातका अवसर पानेके लिये चक्कर काटने लगे। बेचारा सर्प अनन्तशक्ति सर्वेश्वरके साथ कबतक घूमता। चञ्चल कन्हाईके साथ चक्कर काटना कुछ सरल नहीं था। वह थकने लगा। उसकी गति मन्द पड़ने लगी। इतनेमें हाथ बढ़ाकर श्यामने उसका एक मुख नीचे झुकाया और कूदकर चढ़ गये उसपर। देवताओंने देखा कि ये त्रिभुवनके स्वामी अब नृत्य करना चाहते हैं तो उन्होंने पुष्पाञ्जलि सम्हाली, गन्धर्वोंने वाद्य उठाये, अप्सराएँ गाने लगीं, सिद्धलोग स्तुति करने लगे और सर्पके फणोंपर श्रीकृष्णचन्द्रका नृत्य प्रारम्भ हो गया।

तलवारकी धारपर, सूतपर तथा अग्निमें भी कुशल कलाकार नृत्य कर लेते हैं; पर यह सर्पके फणोंपर नृत्य हो रहा था। भगवान् शङ्कर तो ताण्डव करते हैं, किंतु श्री-व्रजराजकुमार आज चित्रताण्डव कर रहे हैं। उनका प्रत्येक चरण सर्पके फणपर—उस फणपर पड़ता है, जिसे सर्प उठाना चाहता है। गीली अलकें सूखती जा रही हैं, कटिमें भीगकर चिपकी कछनी तनिक-तनिक उड़ने लगी है और दोनों हाथ उठाये नाच रहा है कन्हाई। उसके पदाघातसे सर्पके फण फटते जा रहे हैं। नाग मुखसे, नेत्रसे विष एवं रक्त उगल रहा है। श्यामके अरुण चरण सर्पके फणकी मणियोंके प्रकाशसे और भी अरुण हो रहे हैं और उनपर रक्तकी बूँदें बढ़ती जा रही हैं।

बेचारा सर्प—वह इस धमाचौकड़ीसे मरणासन्न हो रहा है। चिथड़े हो रहे हैं उसके फण। जलमें शिशुओंको आगे करके नागपत्नियाँ हाथ जोड़े बड़ी व्याकुलतासे स्तुति

करने लगी हैं। वे अपने पतिका प्राणदान चाहती हैं। अन्तमें दया करके श्यामसुन्दरने अपना उद्दाम नृत्य बंद किया। जलमें कूद पड़े वे। मूर्छित सर्प धीरे-धीरे चेतनामें आया। उसने क्षमा माँगी, उसे आदेश हुआ—'अपने पूरे परिवारके साथ अब यहाँसे चले जाओ रमणकद्वीपमें। यहाँ अब मेरे स्वजन क्रीड़ा करेंगे। डरो मत। तुम्हारे मस्तकपर मेरे चरणचिह्न हैं। गरुड़ अब तुम्हें नहीं सतायेंगे।' नाग एवं नागपत्नियोंसे पूजित होकर दिव्य वस्त्र, दिव्य माला, अद्भुत रत्नाभरण धारण किये व्रजका जीवनसर्वस्व ह्रदसे निकला। झपटकर सबने उसे हृदयसे लगा लिया। सबको लगा, श्रीकृष्ण उसीसे पहले मिल रहे हैं। इस मिलन-महोत्सवमें सायंकाल हो गया। अँधेरा हो चुका था और सब लोग दौड़-धूप तथा बहुत देर शोक उठानेसे थके थे। श्रीयमुनाजीसे कुछ हटकर उपकूलपर ही उन्होंने रात्रि-विश्राम किया। सहसा अर्धरात्रिमें लोग चौंककर उठे और भयार्त क्रन्दन करने लगे। वनमें दावाग्नि लगी थी। चारों ओरसे आगने घेर लिया था उन्हें और वह बढ़ती आ रही थी। प्राणीका जो भयमें एकमात्र त्राता है, उस अपने त्राताको वे एक स्वरसे पुकार रहे थे—'कृष्ण! श्रीकृष्ण! सर्वसमर्थ श्रीकृष्ण! इस अग्निसे हमलोगोंकी रक्षा करो।'

श्रीकृष्ण तो सदाके अग्निपायी हैं। संसारका विषम त्रयताप वे अपने शरणागतोंके लिये पी लेनेको सदा समुत्सुक रहते हैं। उन विश्वात्माने अग्निको, उसके कारणरूप अपने मुखमें लीन कर लिया। जब प्रातःकाल हुआ, व्रजवासी गौओंको आगे करके श्रीनन्दनन्दनके साथ आनन्द मनाते व्रज लौट आये।

धेनुक-उद्धार

वर्षाकी ऋतु, हरा-भरा वन, गायें शीघ्र चरकर तृप्त हो गयीं। गोपबालक बहुत देरतक खेलते रहे और फिर एकत्र होकर वे राम-श्यामके पास आये। उनको पके तालफलोंकी सुगन्ध मिल रही थी और उनके मनमें यह भाव था—'कदाचित् मोहन इस नये फलको पसंद करे।' उन्होंने आकर कहा—'दाऊ दादा! तू तो बहुत वीर है और श्यामसुन्दर! तू भी बहुत चतुर है। देख, यह कितनी अच्छी सुगन्ध पके तालफलोंकी आ रही है। यहाँसे थोड़ी ही दूरपर तालवन है। वहाँ पके हुए ताल गिरते ही रहते हैं; लेकिन एक धेनुक नामका राक्षस गधा बनकर वहाँ रहता है। वह बहुत दुष्ट है और बड़ा भारी बलवान् है। वह मनुष्योंको खा लेता है। उसके साथ उसके-जैसे ही उसके बहुत-से भाई-बन्धु हैं। वे सब असुर न तो स्वयं फल खाते, न दूसरोंको खाने देते हैं। केवल पक्षी ही कुछ खा पाते हैं। वहाँ गायोंके लिये खूब बड़ी-बड़ी घास है। हमारा मन वहाँके तालफल खानेका है। यदि तुम दोनोंकी इच्छा हो तो चलो चलें वहाँ।'

अपनोंकी इच्छा ही तो इन दोनों भाइयोंकी इच्छा है। हँसकर श्रीबलराम उठ खड़े हुए। श्यामसुन्दर बड़े भाईके साथ हो गये। तालवनमें पहुँचकर उन नीलाम्बरधारी रोहिणीनन्दनने हाथोंसे तालवृक्षोंको इस प्रकार हिलाना प्रारम्भ किया, जैसे मत्त गजराज छोटे-से वृक्षको हिलाता हो। भूमि फलोंसे पट गयी। असुर धेनुक यह देखकर रेंकता दौड़ा आया और अपने पिछले पैरोंसे श्रीबलरामजीकी छातीपर एक दुलत्ती झाड़कर भागा। जब दुबारा लौटकर वह मारने आया, दाऊने उसके दोनों पिछले पैर पकड़कर आकाशमें घुमा दिया उसे। घुमानेसे ही असुरके प्राण निकल गये। उसकी देह एक बड़े तालवृक्षपर फेंक दी तो वह ताल टूटकर गिरा और उसने पासके वृक्षको भी तोड़ दिया। अब धेनुकके बन्धु-बान्धव असुर-गर्दभ दौड़े। राम-श्यामको एक खेल मिल गया। दोनों भाई उन गधोंके पिछले पैर पकड़कर घुमा-घुमाकर वृक्षोंपर फेंकने लगे। उन वनकी भूमि फलों, टूटे वृक्षों और असुर-गर्दभोंके मृत शरीरोंसे ढक गयी। अब वहाँके फल सभीके लिये सुलभ हो गये। वहाँकी घास पशु स्वच्छन्दतापूर्वक चरने लगे।

प्रलम्ब-उद्धार

कंसके प्रधान सहायकोंमें प्रलम्बासुर था। इसका शरीर बहुत ही लंबा था। इसे कंसने वृन्दावन भेजा राम-श्यामका हरण करनेके लिये। कंसके इतने बलवान् अनुचरोंको श्यामसुन्दरने मार दिया था कि उसे पूरा ही सन्देह हो गया था—'श्रीकृष्ण ही मेरे मारनेवाले हो सकते हैं।' इसीसे वह बार-बार उनको मार देनेका उद्योग कर रहा था। उसकी चिन्ता बढ़ती जा रही थी। श्रीकृष्ण अब लगभग सात वर्षके हो चले हैं।

इतना तो प्रलम्ब पहलेसे समझ गया था कि राम-श्यामको मारना सरल नहीं है। वह उन्हें हरण करके मथुरा ले जानेके विचारसे आया था। गरमीके दिन थे। गोपबालक गायें चराते हुए वनमें खेल रहे थे। प्रलम्ब भी एक गोप-कुमारका वेश बनाकर आया और साथ खेलनेकी प्रार्थना की उसने। श्यामसुन्दरने पहचान तो लिया ही उसे, पर

उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली उन्होंने। अब गोपबालकोंमें दो दल खेलनेके लिये बने। एकके प्रधान हुए श्रीबलराम और दूसरेके श्रीकृष्ण। यह निश्चय हुआ कि जो दल हार जाय, वह विजयी दलके अपने प्रतिद्वन्द्वीको पीठपर बैठाकर भाण्डीरवटतक ढोवे।

श्यामसुन्दर सदासे अपने सुहृदोंका मान रखते आये हैं। जो मायाके भी स्वामी हैं, काल भी जिनसे डरता रहता है, वे नित्य अपराजित अच्युत अपने सखाओंसे खेलमें हार गये। उनका पूरा दल हार गया। उन नन्दनन्दनने अपनी पीठपर श्रीदामाको बैठाया और उसे ढोने लगे। उनके दलके दूसरे बालक भी विजयी दलके अपनी जोड़ीके बालकको पीठपर बैठाकर ले चलें। प्रलम्ब खेलमें सम्मिलित होते ही समझ गया कि श्रीकृष्णको वह हरण करनेमें समर्थ नहीं है। इससे वह उनके दलमें ही सम्मिलित हो गया। अब उसने श्रीबलरामजीको अपनी पीठपर बैठाया और सभी बालकोंसे आगे शीघ्रतापूर्वक दौड़ चला।

प्रलम्ब जबतक भाण्डीरवटतक दौड़ता गया, तबतक तो कोई बात हुई नहीं; किंतु जैसे ही वह सीमासे आगे बढ़ा, उसे लगा कि उसकी पीठका भार बढ़ गया है। भगवान् अनन्तके भारसे उसकी गति मन्द पड़ गयी। अब उसने अपना रूप प्रकट किया और आकाशमार्गसे उड़ने लगा वह।

बलरामजीने देखा कि यह तो बड़ा भारी काले पर्वतके समान देहवाला राक्षस है। उसके नेत्र अङ्गारेके समान जल रहे थे। बड़ी-बड़ी दाढ़ें निकली थीं। लाल रंगके केश रूखे और बिखरे हुए थे। अङ्गोंमें सोनेके चमकते हुए आभूषण पहिन रक्खे थे उसने। वह दाऊको आकाशमार्गसे लेकर ऐसे भागा जा रहा था, जैसे चोर किसीका धन चुराकर भागा जा रहा हो। 'इसे श्रीकृष्णने अपना सखा बना लिया है।' इस विचारसे दाऊ हिचक गये एक बार। इतनेमें उन्होंने सुना कि श्यामसुन्दर पुकार रहा है—'दादा! राक्षस है यह। मार इसे।' और तब एक घूसा कसकर असुरके सिरपर धमक दिया उन्होंने। जैसे इन्द्रका वज्र पर्वतपर पड़ा हो—बड़ा भारी शब्द हुआ। प्रलम्बका सिर चकनाचूर हो गया। वह भूमिपर गिर पड़ा। गोपकुमार दौड़ पड़े अपने दाऊको अङ्कमें भर लेने।

दावाग्नि-पान

आजका दिन ही कुछ बुरा था। सबेरे-सबेरे तो वनमें प्रलम्ब आ गया था और उसके मारे जानेपर जब गोपबालक खेलमें लग गये, तब गायें चरते-चरते दूर चली गयीं और मूँजके वनमें प्रविष्ट हो गयीं। वहाँ पहुँचकर वे मार्ग भूल गयीं। चिल्लाती हुई इधर-से-उधर भागने लगीं। इधर जब बालकोंका ध्यान गया, गायोंका कहीं पता नहीं था। वनमें चारों ओर दूरतक कोई गाय दीखती नहीं थी। गायें ही व्रजकी आजीविका ठहरीं। उनके न मिलनेसे बालकोंके तो प्राण ही सूख गये। वे अत्यन्त व्याकुल हो उठे। गौओंके खुरोंके चिह्न तथा उनके द्वारा चरी गयी घास देखते हुए वे मूँज वनमें पहुँचे। गायें डकरा रही थीं। श्रीकृष्णचन्द्रने उन्हें नाम ले-लेकर पुकारा। उस मेघगम्भीर वाणीको सुनकर हर्षित होकर वे हुंकार करने लगीं।

गोपकुमार गायोंको घेरकर लौटनेवाले ही थे कि वनमें दावाग्नि फैल गयी। गरमीके दिन, सूखा हुआ मूँजका वन, कितनी देर लगती है अग्निको वहाँ व्यापक होनेमें। भागनेका कोई मार्ग नहीं था। चारों ओरसे भयङ्कर अग्नि बढ़ी आ रही थी। गायें आर्त-क्रन्दन करने लगीं। बालक पुकार उठे—'श्रीकृष्ण! रक्षा करो! बचाओ श्यामसुन्दर!'

जब कोई कातर होकर पुकारता है, कभी विलम्ब किया है श्यामसुन्दरने? उस अभयदाताका स्थिर शब्द सुनायी पड़ा—'डरो मत! नेत्र बंद कर लो।' बालकोंने नेत्र बंद कर लिये और अग्निको पी लिया त्रयतापहारीने। जब नेत्र खोले गोपकुमारोंने, उन्हें मूँज-वनसे यमुनातटतक आनेका कष्ट भी नहीं उठाना पड़ा। उन्होंने देखा कि गायोंके साथ वे भाण्डीरवटके पास खड़े हैं। श्रीकृष्णचन्द्रकी शरण लेनेके पश्चात् सभी श्रम अपने-आप निवृत्त हो ही जाते हैं।

व्योमासुर-उद्धार

मायावियोंके परमाचार्य दानवेन्द्र मयका एक महामायावी पुत्र था व्योम। कंससे उसकी मित्रता थी। अपने मित्रकी सहायता करनेके विचारसे वह व्रजमें आया और जब वनमें गोपकुमार खेल रहे थे, वह भी एक गोपबालक बनकर उनमें मिल गया। श्रीकृष्णको तो अपने मित्रोंकी संख्या बढ़ानेकी धुन रहती है। कोई उनसे मैत्री करना चाहे तो वे कभी अस्वीकार नहीं करते।

बालकोंने आज अपनेमें तीन दल बनाये थे। कुछ बालक भेंड़ बने थे, कुछ उनके रक्षक बने थे और कुछ चोर बने थे। चोर बने बालक रक्षकोंसे बचकर भेंड़ बने बालकोंको अलग हटा ले जाते थे। श्रीकृष्णचन्द्र रक्षक दलमें थे और व्योमासुर चोर बना था। वह भेंड़ बने

बालकोंको तो उठा ले जाता ही था, रक्षक बने बालकोंको भी उठा ले जाता था अवसर पाकर और एक गुफामें रखकर उसपर बड़ी भारी शिला बंद कर देता था।

खेलके अनुसार भेंड़ बने बालक ही चुराये जाने चाहिये और वे भी थोड़ी देरमें घूम-फिरकर आ जाते हैं। यहाँ भेंड़ बने बालक तो रहे नहीं, रक्षक बने बालक भी दो-चार ही रह गये। अब श्रीकृष्ण चौंके—'यह हो क्या रहा है?' उन्होंने चुपचाप व्योमासुरका तब पीछा किया, जब वह एक बालकको उठाकर ले जा रहा था। जब वह गुफामें बालकको रखकर शिला रखने लगा, श्रीकृष्णने उसे धर दबाया।

पूरे व्रजके चरित्रमें केवल आज श्यामसुन्दरको क्रोध आया था। आज उनके भ्रूमण्डल टेढ़े हो गये थे, अधर फड़क रहे थे और शरीर काँपने लगा था क्रोधके मारे। कमललोचन आज अङ्गारे उगल रहे थे। ब्रह्माजीने भी बालकोंका हरण किया था; पर किया था सद्भावसे। प्रलम्बासुर भी गोपकुमार बनकर आया था, पर श्यामके सुहृदोंको सतानेका विचार भी नहीं किया उसने और यह अधम दानव आज श्रीव्रजराजकुमारके सखाओंको पीड़ा देनेका प्रयत्न करने चला। नन्दनन्दन अपना अपराध सह लेता है, पर अपने मित्रोंके प्रति किया गया अपराध उसे असह्य है। आज क्रोधमें वह लात, घूसे, थप्पड़ोंसे पीट रहा है, पीटता जा रहा है दानवको। कोई कुत्तेको भी जैसे न मारे; वैसे रुला-रुलाकर, कुचल-कुचलकर मारा उसे श्रीकृष्णचन्द्रने। उसके पूरे शरीरको लोथड़ा बना डाला उन्होंने और तब शिला हटाकर गोपकुमारोंको उन्होंने निकाला। अपने मित्रोंको हृदयसे लगाते समय उनके बड़े-बड़े नेत्रोंसे टप्-टप् बूँदें गिर रही थीं। गोपबालक अपने इस जीवनदाता सखाको पाकर नित्य निर्भय हैं। निर्भय हैं वे भी जिनका चित्त इस नव-जलधर सुन्दरके श्रीचरणोंमें लगा है।

गोवर्धन-धारण

श्रीकृष्णचन्द्र सात वर्ष दो महीने सात दिनके हो चुके। कार्तिक कृष्ण अमावस्या—दीपावलीके दिन सायंकाल उन्होंने देखा कि गोपगण किसी बड़े भारी यज्ञकी तैयारीमें व्यस्त हैं। लक्ष्मीपूजनमें तो ऐसा यज्ञ होता नहीं, यह इन्द्रयागका समारम्भ है। इन्द्र अपनेको त्रिलोकीका स्वामी मानते हैं और अब व्रजके लोगोंसे भी अपना पूजन कराने लगे हैं। श्यामसुन्दरके माता-पिता, बन्धु-बान्धव तो भुवनपूज्य हैं। वे स्वयं किसीकी पूजा करें, यह दूसरी बात और कोई उनसे पूजा पाना चाहे—देवराज गर्वके वशमें हो रहे हैं, गर्वहारीने उनका गर्व चूर करनेका संकल्प किया।

'बाबा! यह किसके पूजनकी तैयारी है? कौन-सा यज्ञ होनेवाला है? क्या उद्देश्य है इसका? इसके करनेसे क्या फल होता है?' श्रीव्रजराजकी गोदमें बैठकर श्यामसुन्दरने ढेरसे प्रश्न पूछ लिये।

स्नेहपूर्वक व्रजेश्वरने समझाया—'बेटा! देवताओंके राजा हैं इन्द्र। वे ही मेघोंके स्वामी हैं। हमलोग यज्ञ करके उन्हें प्रसन्न करेंगे तो वे अच्छी वर्षा करेंगे।'

अब व्रजके युवराजने मुख बना लिया—'बाबा! मेघ तो जलसे बनते हैं। रजोगुण और वायुकी प्रेरणासे वर्षा करते हैं। सब प्राणी अपने प्रारब्धके अनुसार ही सुख-दुःख पाते हैं। इसमें भला इन्द्र क्या करेंगे। हमलोग ठहरे गोप। गायें ही हमारी देवता हैं और वही हमारी जीविका हैं। ये गिरिराज गोवर्धन हमारा तथा हमारी गायोंका पालन-पोषण करते हैं, अतः हमारे देवता यही हैं। ये जड़ नहीं हैं, अपने भक्तोंपर ये कृपा करते हैं और दुष्टोंको मार देते हैं। अपने-अपने देवताका ही सबको पूजन करना चाहिये। मुझे तो यह अच्छा लगता है कि इस इन्द्रपूजामें कुछ धरा नहीं है। इसके लिये जो सामग्री एकत्र हुई है, उससे अग्निदेवताको आहुति दी जाय। ब्राह्मणोंका पूजन करके उन्हें गायें तथा भरपूर दक्षिणा दी जाय। गौओंको भरपेट 'यवस' (अङ्कुरित अन्न) खिलाया जाय और उनका पूजन करके उन्हें सजाया जाय। फिर गिरिराजकी पूजन करके उन्हें नाना प्रकारके पक्वान्नोंका भोग लगाकर हम सब गायोंको आगे करके उनकी प्रदक्षिणा करें। कल सभी दीन-दुखियोंको, पशु-पक्षियोंको उत्तम अन्न खिलाया जाय और हम सब भी वहीं गिरिराजके पास एक साथ भोजन करें। अग्नि, ब्राह्मण, गौ, गिरिराज तथा समस्त प्राणियोंका पूजन करके उन्हें तृप्त करनेवाला यज्ञ ही उत्तम यज्ञ है।'

श्यामसुन्दरके सखा तो प्रसन्न हो गये। कन्हैयाने खूब धूम-धड़ाकेका यज्ञ बताया और इतने बड़े देवता गिरिराज। गोपोंने भी अनुमोदन कर दिया। बाबाने भी देखा कि यज्ञ तो हो ही रहा है, गौ-ब्राह्मणोंकी पूजा भी होगी। यह श्यामसुन्दर हठी है, इसकी बात न मानी जाय तो पता नहीं क्या उत्पात करे। यह सब सोचकर उन्होंने भी स्वीकार कर लिया।

पूरे व्रजमें रात्रिभर कढ़ाइयाँ चढ़ी रहीं। नाना प्रकारके पक्वान्न बनते रहे। प्रातःकाल छकड़े जुते और सब गिरिराज-के पास एकत्र हुए। हवन, विप्रोंका पूजन, उन्हें दक्षिणा-प्रदान, गोपूजन आदि करके जब गिरिराजका पूजन होने लगा, तब श्रीकृष्णचन्द्र एक दूसरा विशाल रूप धारण करके प्रकट हो गये। गिरिराज गोवर्धनके अधिष्ठाता देवता वे स्वयं हैं। प्रकट होकर उन्होंने पूजन स्वीकार किया और गोपोंद्वारा अर्पित सब नैवेद्य आरोग लिया। देवताने प्रत्यक्ष भोग लगाया, इससे गोप बड़े आनन्दित हुए। सबने साष्टाङ्ग प्रणिपात किया।

पूजनके अनन्तर गोप प्रसाद ग्रहण करने बैठे। गोपियों-का समुदाय भी पृथक् बैठा। सबने आनन्दसे भोजन किया। आज सब उत्तम वस्त्राभरणोंसे सज्जित हुए थे। भोजनके पश्चात् छकड़ोंमें बैठकर जय-जयकार करते गाते-बजाते गिरिराजकी परिक्रमा की उन्होंने और फिर घरोंको लौट आये।

प्राचीनकालसे चली आती इन्द्रपूजा बंद हो गयी। सत्य-संकल्प श्रीकृष्णने जब संकल्प किया, सदाके लिये बंद हो गयी वह तो। इन्द्रको बड़ा क्रोध आया। उन्हें लगा कि एक चपल बालकके बहकानेसे गोपोंने उनका तिरस्कार किया है। प्रलयकालीन मेघोंको उन्मुक्त करके उन्होंने आज्ञा दी—'गोपोंको बहा दो! उनके पशुओंको नष्ट कर दो! देवराजके अपमानका फल चखा दो उन्हें।' इतनेपर भी संतोष न हुआ तो—स्वयं वज्र लेकर ऐरावतपर चढ़कर चल पड़े।

प्रचण्ड वायु चलने लगी। दिशाओंमें अन्धकार छा गया। बड़ी-बड़ी बूँदोंसे मूसलाधार वृष्टि होने लगी। ओले गिरने लगे। क्षण-क्षणपर वज्रपात होने लगा। घरोंमें रहना अशक्य हो गया। गायें काँपने लगीं थर-थर और डकराने लगीं। गोपियाँ शिशुओंको गोदमें छिपाये नन्दभवनकी ओर भागीं। गोप पुकारते भागते आये—'श्रीकृष्ण! रक्षा करो! अपना यज्ञ न होनेसे इन्द्र व्रजका नाश कर देना चाहते हैं। अब तुम्हीं व्रजको बचाओ।'

श्यामसुन्दरके अधरोंपर मन्दहास्य आया। वे घरसे निकलकर दौड़े और गिरिराजके पास जाकर बायें हाथसे सहज ही उन्होंने गोवर्धनको इस प्रकार उठा लिया, जैसे बालक बरसाती छत्तेको उखाड़कर उठा लेते हैं। गोप उन्हें वर्षामें निकलते देख उनके पीछे दौड़े आये थे। उनसे श्री-कृष्णने कहा—'मैंने सबकी रक्षाका उपाय कर दिया है। डरो मत कि यह पर्वत मेरे हाथसे गिर जायगा। छकड़ोंमें भरकर अपने घरोंकी सब सामग्री ले आओ। पूरा गोधन हाँक लाओ। यह पर्याप्त स्थान है। सब लोग सुविधानुसार इसके नीचे आ जाओ।'

गोप दौड़ गये घरोंको और सपरिवार, समस्त गोधन एवं गृहसामग्रीके साथ उनके लक्ष-लक्ष छकड़े थोड़ी देरमें पर्वतके नीचे आ गये। सात दिन और सात रात्रि वर्षा होती रही, वज्रपात होता रहा, ओले पड़ते रहे। श्रीकृष्ण बायें हाथकी कनिष्ठिकापर पर्वत उठाये स्थिर खड़े थे। गोप, गोपियाँ, बालक, गौएँ, वृषभ, बछड़े सब एकटक उनके श्रीमुखकी ओर देख रहे थे। उन्हें भूख-प्यास तो दूर, अपने शरीरतकका पता नहीं था।

प्रलयकालीन बादलोंका जल समाप्त हो गया। वज्र फेंकते-फेंकते इन्द्रकी अजर-अमर भुजा थक गयी। गोप जब घरोंसे नन्दगृह गये थे, जब नन्दगृहसे गिरिराजतक आये थे, जब फिर घरोंको गये थे सामग्री और गोधन लेने तथा जब सबको लेकर आये थे, इन चार बारके समयों-में जब वे खुले आकाशके नीचे थे, तब तो इन्द्र उनका कुछ बिगाड़ ही न सके, अब तो वे गिरिराजके नीचे थे। गोपों तथा गोपियोंकी हानि तो दूर, व्रजके किसी भवनका एक कोनातक नहीं टूटा। इतनी आँधी, इतनी वर्षा, ऐसे ओले और इतना वज्रपात; किंतु वृन्दावनके किसी वृक्ष-लता-का एक पत्ता टूट नहीं सका। कोई वनपशु या पक्षी आहत नहीं हुआ। प्रलयकालीन मेघ रिक्त हो गये और श्रीयमुना-जीमें बाढ़ नहीं आयी। इन्द्रने भले न देखा हो कि गिरिराज-के ऊपर घूमता श्रीकृष्णका महाचक्र समस्त जलको सोखे ले रहा है, पर उन्होंने अपने उद्योगकी विफलता देख ली। उनका गर्व नष्ट हो गया। मेघोंको लौटाकर वे स्वयं लौट गये। आकाश स्वच्छ हो गया। श्यामसुन्दरके कहनेसे गोप सपरिवार समस्त सामग्रीके साथ अपने घरोंमें आ गये। श्रीकृष्ण-चन्द्रने गिरिराजको यथास्थान स्थापित कर दिया।

'कहाँ सात वर्षका बालक और कहाँ इतने बड़े पर्वत-को उठाये रहना। यह कौन है? हम गवाँर गोपोंमें ऐसे अद्भुत बालकका जन्म कैसे शक्य है?' गोपोंको यह संदेह हो गया। उन्होंने व्रजराजसे कहा। व्रजराजने बताया—'महर्षि गर्गने इसके नामकरणके समय ही कहा था कि—'इसमें भगवान् नारायणके समान गुण होंगे। यह व्रजको समस्त विपत्तियोंसे बचा लेगा! अतः बच्चेके विषयमें संदेह नहीं करना चाहिये।' गोपोंको संतोष हो गया इससे।

उधर देवराज इन्द्रको अपने कामपर लज्जा आ रही थी। वे स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रसे क्षमा माँगने आनेमें भी संकुचित हो रहे थे। गोलोकसे कामधेनुको व्रजमें आते देख वे उस लोक-पूज्याके साथ आये। अकेलेमें उन्होंने स्तुति की श्यामसुन्दर-की और क्षमा माँगी। कामधेनुने कहा—'मेरे गोपाल! तुमने मेरी संतानोंकी रक्षा की है। हम गायोंके तुम्हीं स्वामी हो। ये इन्द्र हमारे इन्द्र रहने योग्य नहीं। मैं तुम्हें गायोंके इन्द्रत्वपर अभिषेक करने आयी हूँ।' कामधेनुके पावन दूधसे ऐरावतके सूँड़द्वारा उठाये आकाशगङ्गाके जलसे श्यामसुन्दरका गौओंके इन्द्रपदपर अभिषेक हुआ। देवराज इन्द्रने 'गोविन्द' कहकर प्रथम वन्दन किया उन्हें। इस प्रकार श्रीव्रज-नवयुवराज गोविन्द हो गये।

नन्दबाबाको वरुणलोकसे ले आना

पता नहीं क्यों बहुत-सी एक प्रकारकी घटनाएँ लगभग साथ ही आने लगती हैं। कार्तिक शुक्ल प्रतिपदाको तो इन्द्र-यागके बदले गोवर्धन-पूजन हुआ और उससे क्रुद्ध होकर देवराज वर्षा करने लगे। सप्तमीतक यह वृष्टि होती रही। कार्तिक शुक्लकी देवोत्थानी एकादशीको व्रजराजने व्रत किया और गोपोंके साथ रात्रि-जागरण किया। रात्रिमें हल्के बादल और उनमें छिपे चन्द्रमाके प्रकाशके कारण उन्हें ऐसा लगा कि प्रातःकाल हो गया। ब्राह्ममुहूर्त समझ-कर रात्रिके तीसरे पहरमें, जो कि आसुरी समय है, उन्होंने स्नानके लिये श्रीयमुनाजीमें प्रवेश किया। उस समय वहाँ जलमें वरुण देवताका कोई सेवक घूम रहा था। अपने समयमें एक मनुष्यको जलमें उतरते देख उसने बाबाको पकड़ लिया और वरुणलोक ले गया। बाहर गोप चीत्कार करने लगे—'व्रजेश्वर डूब गये।' कुछ लोग जलमें उतर-कर ढूँढ़ने लगे। गोपोंकी पुकार सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र दौड़ आये और कूद पड़े कालिन्दीमें। वे सीधे वरुणलोक पहुँच गये।

'प्रभो! मेरा सेवक बड़ा मूर्ख है। यह उचित-अनुचित कुछ नहीं जानता। मेरे इस अपराधको आप क्षमा कर दें। आपके पूज्य पिताको मेरे कारण व्यर्थ क्लेश हुआ। अब आप इन्हें अपने साथ ले जायँ।' वरुणजीने श्यामसुन्दरके चरणोंमें साष्टाङ्ग दण्डवत् किया, सिंहासनपर बैठाकर उनका पूजन किया विधिवत् और फिर हाथ जोड़कर बड़ी ही नम्रतासे यह प्रार्थना की। श्रीकृष्णचन्द्र उनका सत्कार स्वीकार करके नन्दबाबाको लेकर लौट आये।

श्रीव्रजेश्वरको बड़ा आश्चर्य हुआ था लोकपाल वरुण-जीका ऐश्वर्य देखकर और उन्हें यह देखकर तो अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि इतने बड़े देवता उनके पुत्रके सामने तुच्छ सेवककी भाँति हाथ जोड़कर खड़े होते हैं, उसके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करते हैं, उसके भयसे काँपते-से हैं। व्रजराजने गोपोंसे यह सब बातें कहीं तो उन्हें भी बड़ा आश्चर्य हुआ। उनको निश्चय हो गया कि ये श्रीकृष्ण ही साक्षात् परमपुरुष हैं।

गोपोंके मनमें एक लालसा उत्पन्न हुई—'ये श्रीकृष्ण-चन्द्र हमें भी अपने स्वधाम एवं स्वरूपका दर्शन करा दें।'

श्रीकृष्ण भक्तवाञ्छाकल्पतरु हैं। गोपोंके नेत्र सहसा बंद हो गये। जन्म-जन्म योग करके, युग-युगकी साधनासे कहीं कोई ऋषि-मुनि निर्विकल्प समाधिमें जिस अवाङ्मनस-गोचर अनिर्वचनीय पूर्णानन्द स्थितिका अनुभव करते हैं, एक क्षणमें सब-के-सब व्रजवासी उसी स्थितिमें पहुँच गये। जब उस अवस्थासे उनका उत्थान हुआ, ऋषियोंका वही समाधि-सौभाग्य मूर्तिमान् होकर उनके सामने मन्द-मन्द मुसकरा रहा था।

यज्ञपत्नियोंपर अनुग्रह

गरमीके दिन थे। आज गोपबालक अपने साथ दोपहर-का भोजन ले नहीं आये थे और गायें चराते हुए वे इतनी दूर नवीन दिशामें बढ़ आये कि घरोंसे कलेऊ (छाक) लानेवाले उन्हें ढूँढ़ न सके। मध्याह्न होनेपर सबको भूख लगी। बालक एकत्र होकर आये और राम-श्यामसे कहने लगे—'दाऊ दादा! श्यामसुन्दर! हमलोगोंको बड़ी भूख लगी है। इसे दूर करनेका कोई उपाय करो तुम दोनों।'

श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—'देखो, वह जो धुआँ उठ रहा है, वहाँ मथुराके ब्राह्मण यज्ञ कर रहे हैं। तुमलोग वहाँ जाओ और मेरा तथा दाऊदादाका नाम लेकर उनसे भोजन माँगो। केवल सौत्रामणि यज्ञमें दीक्षित पुरुषका अन्न नहीं खाना चाहिये। इन ब्राह्मणोंका अन्न लेनेमें कोई दोष नहीं है।'

भूखे गोपकुमार दौड़े हुए गये। उन्होंने भूमिमें मस्तक रखकर विप्रोंको प्रणाम किया। श्रीबलरामजी तथा श्रीकृष्ण-चन्द्रके क्षुधित होनेकी बात कहकर भोजन माँगा। वैसे भी कोई भूखा आवे तो गृहस्थको उसे अन्न देना ही चाहिये। यज्ञमें दीक्षित होनेपर तो अतिथियोंका विशेष रूपसे सत्कार

करना चाहिये और यहाँ तो साक्षात् यज्ञपुरुष अन्न मँगवा रहे थे; किंतु जब किसीको धन, बल या विद्याका गर्व हो जाता है, तब उसे भगवान्‌की याचना भी सुनायी नहीं पड़ती । ब्राह्मणोंने हाँ या ना कुछ नहीं कहा । उन्होंने देखा ही नहीं बालकोंकी ओर । बेचारे बालक निराश होकर लौट आये ।

'मित्रो ! एक बार और कष्ट करो । इस बार ब्राह्मणोंकी स्त्रियोंके पास जाओ । वे मुझसे स्नेह करती हैं । तुम्हें वे यथेच्छ अन्न देंगी ।' श्रीकृष्णचन्द्रने फिर सखाओंको भेजा । क्षुधासे व्याकुल बालक दुबारा यज्ञशालामें आये और इस बार यज्ञपत्नियोंको प्रणाम करके उन्होंने प्रार्थना की ।

राम-श्याम यहाँसे पास ही हैं और भूखे हैं, यह सुनकर विप्रपत्नियाँ बड़ी शीघ्रतासे उठीं और बड़े-बड़े थालोंमें नाना प्रकारके पकान्न भरकर स्वयं लेकर बालकोंके साथ चल पड़ीं । उन्होंने श्यामसुन्दरके भुवनमोहन रूप, अद्भुत पराक्रम आदि-की बहुत प्रशंसा सुनी थी । श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शनोंकी तीव्र उत्कण्ठा थी बहुत दिनोंसे उनके मनमें । पतियों, पुत्रों, भाइयों, पिताओंने उन्हें पुकारा, रोकना चाहा; किंतु जो नन्दनन्दनकी ओर चल पड़ा, जिसका चित्त उस कृष्णने खींच लिया, उसे कौन रोक सकता है । वे तो दौड़ती चली गयीं सबकी उपेक्षा करके । एकको उसके पतिने पकड़ लिया तो पतिके हाथ केवल मिट्टीका यह देह ही आया । वह तो नश्वर देह छोड़कर श्रीकृष्णके चरणोंमें एकाकार होने पहुँच गयी । विप्रपत्नियाँ आयीं, देखा उन्होंने उस त्रिभुवनसुन्दरकी बड़ी ही मोहक झाँकी थी—

> श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
> धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।
> विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
> कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥*
>
> (श्रीमद्भा० १० । २३ । २२)

नेत्र सफल हो गये । धन्य हो गया जीवन । भोजनके थाल सम्मुख रखकर मूर्तिकी भाँति वे खड़ी रह गयीं । श्यामसुन्दर बोले—'आप सबका स्वागत ! आप यहाँ पधारीं, बड़ा अच्छा हुआ; किंतु आपके पतियोंका यज्ञ आपके साथ ही पूरा हो सकता है । वे आपकी प्रतीक्षा करते होंगे । आपको शीघ्र यज्ञशालामें जाना चाहिये ।'

रो पड़ीं बेचारी । इन भुवनसुन्दरसे वियोग""उन्हों-ने प्रार्थना की और आशंका भी प्रकट की कि उनके स्वजन अब उन्हें स्वीकार नहीं करेंगे । श्रीकृष्णचन्द्रने कहा—'मेरे प्रति अनुराग होना कोई दोष नहीं है । लेकिन यह अनुराग दूर रहनेपर और बढ़ता है । आपके स्वजन आपका अपमान नहीं करेंगे । जो मेरे हो गये हैं, पूरी त्रिलोकी उनका सम्मान करती है । उनका तिरस्कार करनेका किसीमें साहस नहीं ।'

ब्राह्मणपत्नियाँ विवश होकर लौटीं । अब जो यज्ञशालामें पहुँचनेपर उनके बन्धु-बान्धवोंने उन्हें देखा तो श्रीकृष्णचन्द्र-की कृपाप्राप्त इन स्त्रियोंको देखते ही, इनका दर्शन करते हुए उनकी बुद्धिका दोष नष्ट हो गया । उन्हें अपनी भूल स्पष्ट दीखने लगी । 'हमने अज्ञानवश साक्षात् जगदीश्वरकी याचनाका अपमान किया और बनते हैं वेदज्ञ ।' बड़ा पश्चात्ताप हुआ उन्हें । स्त्रियोंके सौभाग्यकी भूरि-भूरि प्रशंसा की उन्होंने । ऐसी स्त्रियाँ पानेका हर्ष भी उनको हुआ । इच्छा तो उन ब्राह्मणोंकी भी बहुत थी श्यामसुन्दरके दर्शन करनेकी; किंतु कंसके भयके मारे वे जा नहीं सके । जब-तक देहका, घरका, धनका, स्वजनोंका मोह है, इनके कारण भय है, तबतक तो पैर जकड़े हैं इस मोहकी बेड़ीमें । तबतक भला कोई कैसे श्यामसुन्दरके समीप पहुँच सकता है ।

अजगरसे व्रजराजकी रक्षा

शिवरात्रि आयी, व्रजमें गोपोंने उस दिन व्रत किया । छकड़े जुते और श्रीनन्दबाबाके साथ राम-श्यामको लेकर सब गोप अम्बिका वनमें गये । वहाँ सरस्वतीके पवित्र जलमें स्नान करके सबने बड़े प्रेमसे भगवान् शङ्कर एवं भगवती जगदम्बा-की विधिपूर्वक पूजा की । ब्राह्मणोंको गायोंका, अन्नका, वस्त्रका, स्वर्णका दान किया । सबने उस दिन केवल जल पिया था । रात्रि-जागरण हुआ था । जब रात्रिके चौथे प्रहरकी पूजा हो चुकी, थके एवं उपवासे गोप वहीं सरस्वतीके किनारे मन्दिरके आस-पास विश्राम करने लगे । निद्रा आ गयी सबको ।

---

* उनके श्याम शरीरपर स्वर्णवर्ण पीताम्बर झलमला रहा है, गलेमें वनमाला सुशोभित है, मस्तकपर मोर-मुकुट है, अंगोंमें धातुओंसे चित्रकारी कर रक्खी है । नये-नये कोपलोंके गुच्छे शरीरमें लगाकर नटका-सा वेश बना रक्खा है । एक हाथ अपने सखा ग्वालबालकके कन्धेपर रक्खे तथा दूसरे हाथसे कमलका फूल नचा रहे हैं । कानोंमें कमलके कुंडल हैं, घुँघराली अलकें कपोलोंपर लहरा रही हैं और मुख-कमल मन्द-मन्द मुसकानसे प्रफुल्लित हो रहा है ।

कहींसे बड़ा भारी अजगर सरकता हुआ आया। निद्रित गोपोंके बीचमें होकर वह सीधे आकर नन्दबाबाके चरण निगलने लगा। बाबा चौंककर जगे। अजगर धीरे-धीरे पैरोंकी ओरसे उन्हें निगल रहा था। उनकी पुकार सुनकर गोप दौड़े और जलती लकड़ियोंसे उसे पीटने लगे। सर्प स्थान-स्थानपर झुलस गया; किंतु उसके दाँत तो ऐसे होते ही नहीं कि किसी वस्तुको पकड़नेके पश्चात् वह छोड़ सके। गोपोंने और बाबाने भी पुकार की—'कृष्णचन्द्र! श्यामसुन्दर! बेटा! देखो मुझे यह सर्प निगले जा रहा है। किसी प्रकार इससे मुझे बचाओ!'

श्रीकृष्णचन्द्र निद्रासे चौंककर उठे। आलस्यभरे-से आये और अजगरको एक लात जमा दी उन्होंने। उनके श्रीचरणोंका स्पर्श होते ही अजगर तो ज्योतिर्मय दिव्य शरीरवाला, रत्नाभरणभूषित विद्याधर हो गया। उसने बताया कि उसका नाम 'सुदर्शन' है। अङ्गिरा गोत्रमें उत्पन्न कुछ कुरूप ऋषियोंको देखकर एक बार वह हँस पड़ा था। ऋषियोंने शाप दे दिया। उस शापसे अजगर होना भी कल्याणकारी ही हुआ। श्रीकृष्णचन्द्रके पादस्पर्शसे निष्पाप हुआ वह विद्याधर सुदर्शन उनकी वन्दना तथा परिक्रमा करके, उनसे आज्ञा लेकर स्वर्गलोक चला गया। गोपोंको यह सब देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे व्रजराज एवं श्रीव्रजराज-कुमारकी बार-बार प्रशंसा करने लगे।

शंखचूड़-उद्धार

श्रीकृष्णचन्द्र आकर्षणके केन्द्र हैं और व्रजके तो वे ही जीवनसर्वस्व हैं। फाल्गुन पूर्णिमाका दिन था। रात्रिमें नवान्नेष्टि यज्ञ एवं होलिका-दहन महोत्सव होना था। बड़े भाई श्रीबलरामजीके साथ श्यामसुन्दर उत्सवकी प्रसन्नतामें घूम रहे थे। चन्द्रोदय होनेपर दोनों भाई चन्द्रिकासे धुले वसन्तके पुष्पित वनकी शोभा देखते कुछ दूर निकल गये। उन दोनों भाइयोंको वनकी ओर जाते देख व्रजकी कुमारियाँ भी उनके पीछे चल पड़ीं। परस्पर हँसी-विनोद करते वे इधर-उधर वनशोभा देखते हुए घूमने लगे।

कुबेरका एक सेवक शंखचूड़ नामक यक्ष उस समय उस वनमें कहींसे घूमता-घामता आ पहुँचा था। उसने व्रजकी कुमारियोंको देखा। इतनी शोभा तो स्वर्गकी देवियोंमें भी कभी देखी नहीं गयी। यक्षके मनमें विकार आ गया। राम-श्याम जब कुछ पृथक् हो गये और कुमारियोंका समूह उनसे थोड़ी दूर पुष्प चुननेमें लग गया, तब यक्षने सब कुमारियोंको बलपूर्वक उठा लिया और भाग पूरे वेगसे। निर्दोष कुमारियाँ क्रन्दन करती हुई पुकारने लगीं—'अमित पराक्रमी राम! प्यारे श्यामसुन्दर! हमारी रक्षा करो।'

यहाँ वनमें उन बालिकाओंके एकमात्र स्वजन वे दोनों भाई ही थे। दूसरा कोई उनका रक्षक नहीं था। अपने आश्रितोंकी आर्त पुकार वैसे भी श्यामसुन्दर कभी अनसुनी कर नहीं पाते। दोनों भाइयोंने शालके विशाल वृक्ष मूलीके समान उखाड़ लिये और उन्हें उठाये दौड़े। मेघगम्भीर वाणीसे उन्होंने कुमारियोंको आश्वासन दिया—'डरो मत!'

यक्षने ऐसी गम्भीर ध्वनि जीवनमें कभी नहीं सुनी थी। उसने जब मुख घुमाकर देखा, तब प्राण सूख गये उसके। अब झटपट कुमारियोंको तो छोड़ दिया उसने और अपने प्राण बचानेकी इच्छासे पूरी शक्तिसे भागा। लेकिन कोई श्रीकृष्णके आश्रितोंका अपराध करके भाग कहाँ जायगा। रात्रिके समय अब स्त्रियोंको इस भयभीत दशामें अकेला नहीं छोड़ा जा सकता था। श्यामने बड़े भाईसे कहा—'दादा! आप इनके पास रहो। मैं देखता हूँ इस दुष्टको।'

श्रीबलरामजी हाथमें शालका महावृक्ष उठाये कुमारियोंकी रक्षा करनेके लिये उनके पास सावधान खड़े हो गये। श्रीकृष्णचन्द्रने वृक्ष फेंक दिया और दौड़ते यक्षके पास पहुँचकर पीछेसे उसके मस्तकपर एक घूँसा जड़ दिया। यक्षका सिर फट गया। उसके प्राण विदा हो गये। उसके मस्तकमें एक बहुत सुन्दर तेजोमय दिव्य मणि थी। वह मणि श्यामसुन्दरने निकाल ली। रक्तसना अपना कर और मणि निर्झरके जलमें धोकर वे बड़े भाईके पास आये। सब गोपियोंके सामने ही बड़े स्नेह एवं आदरसे वह मणि श्रीबलरामजीको उन्होंने भेंट की।

अरिष्ट-उद्धार

कंसकी चिन्ता बढ़ती जा रही थी। वह किसी भी प्रकार अपनी मृत्युको टालना चाहता था। अब उसने अरिष्टासुरको व्रजमें भेजा। यह असुर साँड़के रूपमें रहता है। बड़े भारी काले पर्वतके समान इसका शरीर था। इसका ककुद (डील) इतना ऊँचा था कि उसपर बादल छा जाया करते थे। वह हँकड़ता हुआ, खुरोंसे पृथ्वी कुरेदता, सींगोंसे खेतोंकी मेड़ उखाड़ता दौड़ता व्रजमें आया। उसके नेत्र अंगारोंके समान जल रहे थे। क्रोधके मारे बार-बार थोड़ा-थोड़ा मूत्र-त्याग कर रहा था।

सायंकालका समय था । श्रीकृष्णचन्द्र गौओंको लेकर वनसे व्रजमें प्रविष्ट हो रहे थे । दुष्ट अरिष्टासुर सींगोंसे चहारदीवारी गिराता, गर्जन करता दौड़ता आ रहा था सामनेसे । उसकी गर्जना सुनकर गायें भयसे डकराती हुई इधर-उधर भागने लगीं । गोप एवं गोपियाँ घर छोड़कर भयके मारे भागे । सब एक स्वरसे रक्षाके लिये श्रीकृष्णचन्द्रको पुकार रहे थे ।

श्रीकृष्णचन्द्रने सबको आश्वासन दिया—'कोई डरो मत !' इसके पश्चात् असुरको उन्होंने ललकारा—'मूर्ख ! पशुओं और गोपोंको भयभीत करके तुझे क्या मिलेगा ? तेरे-जैसे दुष्टोंके बलका घमंड चूर-चूर करनेवाला मैं यहाँ खड़ा हूँ । चल इधर आ !' ललकारके साथ बड़े जोरसे ताल ठोंककर फिर ताली बजायी उन्होंने और एक सखाके कन्धेपर बायीं भुजा रखकर इस प्रकार स्थिर निश्चिन्त खड़े हो गये, जैसे कोई तमाशा देखने खड़े हों ।

असुर क्रोधमें भर गया । सींग आगे करके, पैरोंसे भूमि कुरेदकर, टेढ़ी दृष्टिसे श्रीकृष्णको देखता, फों-फों करता वह टूट पड़ा । मधुसूदन श्रीकृष्णचन्द्रने दोनों हाथोंसे उसके सींग पकड़ लिये । बलपूर्वक ठेलकर उसे अठारह पद पीछे ढकेलकर गिरा दिया उन्होंने । अब फिर असुर उठा । उसका शरीर पसीनेसे लथपथ हो रहा था । वह फिर झपटा । इस बार श्रीकृष्णने सींग पकड़कर पैर उसके पैरमें मारकर भूमिपर गिरा दिया उसे । जैसे कोई गीला कपड़ा निचोड़ता हो, ऐसे सींग पकड़े-पकड़े उसकी गर्दन उमेठ डाली उन्होंने और सींग उखाड़कर उससे पीट दिया । असुरके नेत्र निकल आये, मुख और नथुनोंसे रक्त चलने लगा । पैर पटकने लगा वह । गोबर और मूत्र कर दिया उसने और अन्तमें ठंढा हो गया । इस प्रकार उस दिन व्रजमें ही उस असुरको मारकर तब श्यामसुन्दरने गोष्ठमें प्रवेश किया ।

केशी-उद्धार

देवर्षि नारदकी लीला ही विचित्र है । वे भक्तोंको आराधना बतलाते हैं भगवान्‌की और असुरोंको भगवान्‌से शत्रुता करनेकी सामग्री देते रहते हैं । उनका उद्देश्य एक ही है—जो जैसे शीघ्र भगवान्‌को पा सके, वह उसी मार्गपर शीघ्रतासे चले । सो जब अरिष्टका उद्धार हो चुका, तब वे कंसके यहाँ पधारे । कंससे उन्होंने सब भेद खोल दिया कि किस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रको वसुदेवजीने गोकुल पहुँचाया । बलरामजी भी वसुदेव-पुत्र हैं, यह भी बताया उन्होंने । कंस तो उसी समय वसुदेव-देवकीको मार डालनेके लिये तलवार खींच चुका था; पर नारदजीने समझाया—'ऐसा मत करो । ऐसा करनेसे तो राम तथा कृष्ण क्रोधित होकर तुम्हारे ऊपर आक्रमण ही कर देंगे, उन्हें छलसे बुलाकर मरवा डालो; फिर जो मनमें आवे, करते रहना ।'

देवर्षि तो अपना काम करके विदा हो गये । अब कंसने अपने प्रधान शूर महादानव केशीको बुलाकर राम-श्यामको मारनेके लिये व्रजमें भेजा । केशी बड़ा भारी घोड़ा बनकर व्रजमें पहुँचा । केशीका शरीर अरिष्टासुरसे भी बड़ा भारी था । वह विकराल काला घोड़ा पूरा पर्वत-सा लगता था । व्रजमें बड़े सबेरे वह पहुँचा । श्यामसुन्दर गोचारणको जानेके लिये प्रस्तुत हो रहे थे । उन्होंने देखा कि दुष्ट असुर उन्हें ढूँढ़ रहा है और इधर-से-उधर दौड़ते हुए व्रजवासियोंको डरा रहा है तो वे घरसे मार्गमें निकल आये और सिंहनाद करके उन्होंने केशीको पुकारा ।

केशीने श्रीकृष्णचन्द्रको देखा । अपना भयङ्कर मुख फैलाकर दौड़ा और पास आकर पीछे घूमकर पिछले दोनों पैरोंसे आघात किया उसने । तनिक तिरछे होकर गोविन्दने उसके पैरोंका आघात बचा लिया और दोनों पिछले पैर पकड़कर उसे चार सौ हाथ दूर ऐसे फेंक दिया जैसे गरुड़ नन्हे सर्पको फेंक दें ।

थोड़ी देरमें केशी सचेत हुआ । अब वह मुख फाड़कर दौड़ा । श्रीकृष्णचन्द्र स्थिर खड़े रहे । उन्होंने मुट्ठी बाँधकर अपनी भुजा केशीके मुखमें पूरी डाल दी । केशीके दाँत तो उस भुजाके स्पर्शसे ही झड़ गये । उसके देहमें वह भुजा ऐसी बढ़ी कि असुरका श्वास रुक गया । वह गिर पड़ा और पैर पछाड़ने लगा । मुखसे लेकर पिछले भागतक उसका पूरा देह ऐसे फट गया जैसे वर्षा ऋतुकी ककड़ी (फूट) पकनेपर फट जाती है । उस मृत असुरके देहसे श्यामसुन्दरने अपनी भुजा निकाल ली ।

अब देवर्षि नारदजी व्रजमें पधारे । उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रकी स्तुति की और उनके आगामी असुरविनाशक कार्योंका वर्णन करके प्रकारान्तरसे स्मरण कराया—'प्रभो ! आप इन असुरविनाशरूप कार्योंको करके धराका भार दूर करने ही यहाँ दिव्य धामसे पधारे हैं । अब इन कार्योंका समय आ गया ।'

अक्रूरका व्रजागमन

कंस केशीको भेजकर निश्चिन्त नहीं हो गया । उसने

वसुदेव-देवकीको तो हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़कर कारागारमें डाल दिया और अपने असुर-मन्त्रियोंको बुलाकर षड्यन्त्र करनेमें लग गया। 'चतुर्दशी (फाल्गुन कृष्ण चतुर्दशी शिवरात्रि) को मथुरामें धनुषयज्ञ हो। मल्लयुद्ध हो। इस उत्सवके बहाने नन्दको बलराम-कृष्णके साथ बुलाया जाय। उस दिन गोप व्रत रहते हैं। वे दुर्बल रहेंगे उस दिन। रंगशालाके द्वारपर कुवलयापीड़ नामक गज उन लड़कोंको मार दे और कदाचित् वहाँसे बच निकलें तो मल्लयुद्धके बहाने मुष्टिक, चाणूर, शल, तोशल आदि मल्ल उन्हें मार डालें।' यह सब योजना बन गयी।

कंसने अब अपने दानाध्यक्ष अक्रूरजीको बुलाया। अक्रूरजी यादव हैं, धर्मात्मा प्रसिद्ध हैं और वसुदेवजीके नातेमें भाई भी लगते हैं। वे व्रज जायँ तो कोई सन्देह नहीं करेगा। यह सोचकर कंसने अक्रूरजीको आदरपूर्वक पास बैठाया। उनसे उसने कुछ छिपाया नहीं। पूरी बात बताकर बोला—'आप यज्ञ-दर्शनके बहाने गोपोंके साथ वसुदेवके दोनों पुत्रोंको ले आइये। यहाँ उनको मैं मरवा डालूँगा। उनके पश्चात् जितने देवपक्षी यादव तथा दूसरे नरेश हैं, उनका अपने सहायक जरासन्धादिकी सहायतासे ध्वंस कर दूँगा। निष्कण्टक पृथ्वीका राज्य अपना हो जायगा!' अक्रूरजीने चुपचाप सब सुन लिया। उन्होंने केवल इतना कहा—'राजन्! होता तो वही है जो भाग्यमें होता है; किंतु आपने अपनी भलाईकी योजना ठीक ही बनायी है। मैं तो आज्ञापालक ठहरा। आपकी आज्ञाका पालन करूँगा!'

सायंकाल यह सब मन्त्रणा हुई। अक्रूरजी प्रातःकाल अपने सन्ध्यापूजनादिसे निवृत्त होकर रथमें बैठकर व्रजके लिये चले। वे भाव-विभोर थे। श्रीकृष्णचन्द्र साक्षात् परमात्मा हैं, यह उनका दृढ विश्वास था। वे सोचते जा रहे थे—'आज मेरे धन्य भाग्य हैं। आज मेरे जन्म-जन्मके पुण्योंका उदय हुआ है। कंसने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की। उसकी आज्ञाके बहाने आज मुझे त्रिलोकीनाथके दर्शनोंका सौभाग्य प्राप्त होगा। मैं भला कहाँ इस योग्य हूँ। कहाँ इस अधमके ऐसे साधन और पुण्य हैं कि उन योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंके लिये भी दुर्लभ प्रभुके पादपद्मोंमें मस्तक रख सकूँ। लेकिन वे करुणावरुणालय हैं, अकारण कृपालु हैं। वे मुझपर अवश्य कृपा करेंगे। मृगोंका समूह मेरे दाहिनेसे जा रहा है, यह शुभ शकुन कहता है कि मुझे आज अपने आराध्यके दर्शनका सौभाग्य मिलेगा।' नेत्रोंसे अश्रु गिर रहे थे, शरीर रोमाञ्चित हो रहा था। हृदयमें भावका समुद्र उमड़ रहा था।

'मैं पापी कंसका सेवक हूँ। उसके भेजनेसे व्रजमें आया हूँ। कहीं······? लेकिन प्रभु सर्वज्ञ हैं। वे मेरे हृदयकी बात क्या नहीं जान जायँगे? वे मुझसे स्वजनके समान स्नेहसे मिलेंगे। मेरा नाम लेकर मुझे पुकारेंगे। मुझे हृदयसे लगायेंगे। मुझसे स्वजनोंका कुशल पूछेंगे। आज मेरा जीवन कृतार्थ हो जायगा।' अक्रूरजी भला रथ तो क्या हाँकते, वे तो नाना प्रकारके भावोंके समुद्रमें डूब-उतरा रहे थे। जब वनभूमिमें उन्हें ध्वज, वज्र, अङ्कुश आदिके चिह्नोंसे युक्त श्रीकृष्णके चरणचिह्न दिखायी पड़े, तब विह्वल होकर वे रथसे कूद पड़े। 'ये मेरे स्वामीके चरणचिह्न हैं!' इस भावसे वहाँकी भूमिमें वे लोट-पोट होने लगे। वहाँकी रज उठा-उठाकर शरीरमें मलने लगे।

बार-बार रथपर बैठते और बार-बार भूमिमें लोटते, धूलिसे सने अक्रूरजी विचित्र विह्वल दशामें सायंकाल नन्द-द्वारपर पहुँचे। उन्होंने दूरसे देखा कि नीलाम्बरधारी स्वर्ण-गौर श्रीबलरामजीके साथ पीताम्बर पहने दूर्वादलसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र गोष्ठमें गायें दुहवाने आये हैं। रथ छोड़कर अक्रूरजी दौड़े और उनके चरणोंमें गिर पड़े। एक शब्द भी उनके मुखसे नहीं निकला। उनके नेत्रोंकी धारा श्रीकृष्णचन्द्रके चरण धोने लगी।

'चाचाजी! अक्रूर चाचाजी आये हैं।' श्यामसुन्दरने बिना परिचय दिये उनका नाम लेकर हर्षपूर्वक उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया। उन्हें लेकर दोनों भाई भवनमें आये। वहाँ विधिपूर्वक अक्रूरजीके चरण धुलवाये, स्नान कराया, सुन्दर वस्त्राभरण दिये और भोजन कराया। भोजन करके जब अक्रूरजी विश्राम करने लगे, तब श्रीकृष्णचन्द्र उनके पास आ बैठे और उन्होंने अपने स्वजनोंका कुशल-समाचार, कंसका उद्योग तथा अक्रूरजीके आनेका प्रयोजन पूछा। अक्रूरजीने बड़ी नम्रतासे कंसका पूरा षड्यन्त्र बता दिया।

व्रजसे मथुरागमन

श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीनन्दबाबाको बता दिया कि मथुरामें चतुर्दशीको धनुषयज्ञ एवं मल्लक्रीड़ा है। महाराज कंसने अक्रूरजीको भेजा है व्रजराजको गोपोंके साथ आमन्त्रित करने-के लिये। व्रजेश्वरने उसी समय पूरे व्रजमें घोषणा करवा दी। सीधे-सरल गोपोंने इस यात्रामें कोई छल-कपट नहीं समझा।

वे रात्रिमें ही बड़े उत्साहसे चलनेके लिये छकड़े सजाने लगे। लेकिन गोपियोंके प्रेमपूर्ण निर्मल हृदयमें भविष्यकी स्पष्ट छाया पड़ने लगी। उन्हें यह बात असन्दिग्ध जान पड़ने लगी कि अब श्रीबलराम तथा श्यामसुन्दर व्रजमें लौटकर नहीं आयेंगे। वियोगकी आशङ्कासे वे व्याकुल हो उठीं। उनका हृदय फटने-सा लगा। उनकी रात्रि परस्पर एक दूसरीसे अपनी व्यथा कहते और क्रन्दन करते बीती।

फाल्गुन कृष्ण त्रयोदशीका वह निष्ठुर प्रातःकाल भी हुआ। गोपोंने उत्साहपूर्वक राजाको निवेदित करनेके लिये भेंटें सजायीं और छकड़े हाँक दिये। व्रजेश्वर भी गोपोंके साथ ही पधारे। गोपबालक भी मथुरा देखनेकी उत्सुकतासे साथ चले। राम-श्याम मैयाकी चरणवन्दना करके अक्रूरके रथमें बैठे।* गोपियाँ नेत्रोंमें अश्रुभरे देख रही थीं। श्रीकृष्णचन्द्र रथसे उतरकर उनके पास गये। उन्हें समझाया, धैर्य दिया। हाय! अब इस कोरे आश्वासनके अतिरिक्त रह क्या गया था। रथ अन्ततः चल पड़ा। रोती, बिलखती देखती रह गयीं वे बेचारी प्रेमके उज्ज्वल आदर्शकी मूर्तियाँ।

अक्रूरजीको शीघ्रता थी। व्रजमें जो वियोगका अनन्त समुद्र उमड़ पड़ा था, उससे किसी प्रकार शीघ्र बाहर होना था। रथ हाँककर वे यमुना-तटपर आये। यहाँ रथ रोककर राम-श्यामसे आज्ञा लेकर, उनको रथपर बैठाकर वे स्नान करने उतरे। यमुनाजीमें डुबकी लगाते ही उन्हें जलमें वही श्रीबलराम और श्यामसुन्दर दीख पड़े। बड़ा आश्चर्य हुआ अक्रूरजीको। जिन्हें वे रथपर छोड़ आये थे, वे यहाँ जलमें कैसे पहुँच गये? सिर उठाकर उन्होंने तटकी ओर देखा। दोनों भाई रथपर स्थिर बैठे थे। तब क्या जलमें भ्रमसे इनका रूप दीख पड़ा? यह सोचकर फिर अक्रूरजीने डुबकी लगायी।

मृणालगौर सहस्र फण भगवान् शेषके मस्तकोंकी मणियोंका प्रकाश जगमग कर रहा है। उनके भोगपर नील कमलके समान सुन्दर वर्ण, पीताम्बर पहिने, दिव्य रत्नाभरणोंसे आभूषित, चतुर्भुज परमपुरुष आधे लेटे हैं। उन परम प्रभुके मुखपर मन्द-मन्द मुसकान है और लोचनोंमें कृपाका समुद्र उमड़ रहा है। वे बड़े अनुग्रहपूर्ण भावसे देख रहे हैं अपनी ओर। भगवान्‌के सभी पार्षद, ब्रह्मा, शिव तथा इन्द्रादि लोकपाल, सनकादि ऋषिगण, प्रह्लादादि प्रमुख भक्त उन पुरुषोत्तमकी स्तुति कर रहे हैं। सभी भगवदीय शक्तियाँ मूर्तिमान् होकर सेवामें उपस्थित हैं। यह अद्भुत दृश्य देखकर अक्रूरजीका शरीर रोमाञ्चित हो गया। उनके नेत्रोंसे अश्रु गिरने लगे। गद्गद वाणीसे उन्होंने अपने आराध्य श्रीमन्नारायणकी स्तुति की।

अक्रूरजी स्तुति कर ही रहे थे कि भगवान्‌का वह दिव्य विग्रह अन्तर्हित हो गया। अब जाकर वे सावधान हुए। शीघ्रतापूर्वक स्नान-सन्ध्यादि करके रथपर लौटे। श्यामसुन्दरने पूछा—'चाचाजी! आप चकित-से जान पड़ते हैं। आपने जलमें क्या अद्भुत बात देखी है?'

अक्रूरजीने सिर झुकाकर कहा—'प्रभो! आप विश्वात्मा हैं। पृथ्वी, जल, आकाशमें जो कुछ है, सब आपमें ही है। मैं आपका इन चर्मचक्षुओंसे दर्शन कर रहा हूँ, इससे बड़ी अद्भुत बात और क्या होगी।'

रथ वेगपूर्वक चला। व्रजराजके साथ गोपोंने नगरसे बाहर एक उपवनमें जलकी सुविधा देखकर छकड़े खड़े किये थे और श्यामसुन्दरकी प्रतीक्षा कर रहे थे। अक्रूरजी चाहते थे कि दोनों भाई उनके घर पधारें। अपनी चरणरजसे उनके गृहको पवित्र करें। श्यामसुन्दरने रथ खड़ा कराया और बोले—'चाचाजी! अब आप पधारें। कंसको मारकर फिर हम दोनों आपके घर आयेंगे।' इच्छा न होनेपर भी अक्रूरजीको राम-श्यामको वहीं छोड़ देना पड़ा। खाली रथ लेकर वे नगरमें गये। कंसको बलराम तथा श्रीकृष्णचन्द्रके मथुरा आ जानेकी सूचना देकर वे अपने घर चले गये।

नगर-दर्शन

बड़े भाईके साथ श्रीकृष्णचन्द्र श्रीनन्दबाबाके पास छकड़ोंके शिविरमें आ गये। व्रजसे भोजनकी पर्याप्त सामग्री छकड़ोंमें आयी थी। सखाओंके साथ दोनों भाइयोंने भोजन किया और दोपहरीमें थोड़ा विश्राम किया। दिनके तीसरे प्रहरमें गोपबालकोंके साथ दोनों भाई मथुरा-नगर देखने चले। श्रीव्रजराज नहीं चाहते थे कि बालक नगरमें अकेले जायँ; किंतु श्यामसुन्दरने किसी प्रकार किसी गोपको साथ ले जाना स्वीकार नहीं किया।

नगरमें प्रवेश करते ही एक धोबियोंका सरदार मिल गया। वह कंसका निजी धोबी था और वस्त्रोंको रँगनेका काम भी करता था। उसके साथ बहुत-से और धोबी राजकीय

* नक्षत्र-गणनासे ११ वर्ष ६ मास ५ दिन अर्थात् वर्तमान सौर वर्षसे १० वर्ष ४ मास ३ दिनकी अवस्थातक श्रीकृष्णचन्द्र व्रजमें रहे।

धुले-रँगे उत्तम वस्त्र लिये जा रहे थे। श्रीकृष्णचन्द्र उसके पास चले गये और सहज भावसे बोले—'भाई! तुम हमलोगोंके योग्य उत्तम वस्त्र इन वस्त्रोंमेंसे दो दिनके लिये दे दो। इससे तुम्हारा कल्याण होगा।'

राजा कंसका वह धोबी दुष्ट एवं घमंडी था। उसने डाँटकर कहा—'तुमलोग बड़े उद्धत जान पड़ते हो। वनों और पर्वतोंमें घूमनेवाले जंगली गोप क्या ऐसे ही वस्त्र पहिनते हैं? बड़े मूर्ख हो तुम जो महाराजके वस्त्र माँगने चले हो। यदि जीनेकी इच्छा हो तो यहाँसे भाग जाओ। ऐसी बात फिर कभी मुखसे मत निकालना। तुम्हारे-जैसे मदोन्मत्त लोगोंको हमारे महाराज बंदी बना लेते हैं, उनका सब धन छीन लेते हैं और उन्हें मार डालते हैं।'

बकवादी धोबी बकता ही चला जा रहा था। श्रीकृष्णचन्द्रने अपने दाहिने हाथको तिरछा करके उसे मारा। धोबियोंके उस सरदारका मस्तक भुट्टे-सा कटकर दूर जा गिरा। उसकी मृत्यु देखते ही उसके संगी-साथी सब कपड़ोंके गट्ठर वहीं पटककर प्राण बचाकर इधर-उधर भाग गये। अब बलरामजीने, श्यामसुन्दरने तथा गोप-बालकोंने अपनी-अपनी रुचिके अनुसार कपड़े उठा लिये उनमेंसे और पहिन लिये। शेष वस्त्रोंको छोड़कर वे आगे बढ़े।

वे वस्त्र बालकोंके नापके बने नहीं थे। सभीके अङ्गोंमें वे ढीले-ढाले आ रहे थे। एक दर्जीने यह देखा तो कैंची, सूई आदि लेकर वह मार्गमें आ गया। हाथ जोड़कर उसने वस्त्र ठीक कर देनेकी आज्ञा माँगी और बड़ी शीघ्रतासे उसने दोनों भाइयों तथा गोपकुमारोंके वस्त्र उनके अङ्गोंके अनुरूप बना दिये। श्रीकृष्णचन्द्रने उसे सारूप्य मुक्ति तथा इस लोकमें अखण्ड सम्पत्ति प्राप्त होने एवं मरणपर्यन्त सबल-स्वस्थ शरीर रहनेका वरदान दिया।

श्रीव्रजराजकुमार सदासे अपने दीन अनुरागियोंकी सुधि लेते आये हैं। मथुरा पहुँचते ही उन्हें अपने सरल भक्त सुदामा मालीका स्मरण हुआ। बड़े भाई और सखाओंके साथ वे उसके घर पहुँच गये। सुदामा आनन्द, प्रेम एवं अकुलाहटसे स्तब्ध रह गया। उसने सब सखाओंके साथ दोनों भाइयोंको बैठनेके लिये आसन दिया। फिर सत्कार तथा पूजन करके बड़ी सुन्दर-सुन्दर मालाएँ और पुष्पगुच्छ समर्पित किये उस धन्यभागने। श्यामसुन्दर तो उसपर कृपा करने पधारे ही थे। बोले—'सुदामा! अब तुम जो चाहो सो वरदान माँग लो।' सुदामाको भला अब माँगना क्या रहा था। उसने श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीचरणोंमें अविचल भक्तिका वरदान माँगा। उसे उसका अभीष्ट तो मिला ही, साथ-ही-साथ बल, आयु, कान्ति, यश और वंशपरम्परामें बराबर बढ़नेवाली लक्ष्मीका वरदान और प्राप्त हुआ।

राम-श्याम नगर देखने आये हैं, यह समाचार पूरे नगरमें दो क्षणमें फैल चुका था। जो नगरवासी जैसे थे, वैसे ही दौड़ आये थे मार्गपर। भोजन, स्नान, वस्त्राभरण-धारण अधूरा छोड़कर लोग भाग आये थे। भवनोंकी अट्टालिकाओंपर नारियाँ और मार्गके दोनों ओर आबाल-वृद्ध पुरुषोंकी भीड़ लगी थी। पुष्प, दूर्वा, लाजा, अक्षत, चन्दन आदिकी वर्षा हो रही थी दोनों भाइयोंके ऊपर। ब्राह्मण स्वस्तिवाचन करते हुए आशीर्वाद दे रहे थे। नगरके व्यापारी हाथोंमें बहुमूल्य भेंटें लिये नम्रतापूर्वक अभिवादन कर रहे थे। सबका स्वागत स्वीकार करके उनका यथोचित सम्मान करते ये मत्त गजराजके समान चले जा रहे थे।

कंसका वह पूज्य धनुष उसके कुलमें परम्परासे पूजित होता आ रहा था। बड़े भारी भवनमें वह ऊँचे सिंहासनपर सजाया हुआ रक्खा था। सशस्त्र सैनिक सावधानीसे उस भवनकी रक्षा कर रहे थे। श्रीकृष्णचन्द्र अपनी पूरी मण्डलीके साथ सीधे उसी भवनमें पहुँच गये। जबतक रक्षक सैनिक रोकें या सावधान हों, तबतक तो वे शीघ्रतासे धनुषके पास पहुँच गये। उस बड़े भारी धनुषको बायें हाथसे सहज भावसे उन्होंने उठा लिया, उसपर डोरी चढ़ा दी और खींचकर बीचसे ऐसे तोड़ दिया, जैसे गजराज गन्नेको तोड़ दे। धनुष टूटनेका शब्द वज्रपातसे भी भयङ्कर हुआ। उससे सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज उठीं।

'पकड़ो! पकड़ लो!' इस प्रकार चिल्लाते हुए धनुषके रक्षक टूट पड़े अब श्रीकृष्णचन्द्रको पकड़ने। अबतक श्यामने बिना शस्त्र उठाये ही सब असुर मारे थे। व्रजमें उन्होंने किसीको मारनेके लिये लाठीतक नहीं उठायी। अब मथुरामें पहिली बार धनुषका एक खण्ड उन्होंने हाथमें लिया और दूसरा खण्ड श्रीबलरामजीने। अपने ऊपर झपटनेवाले आततायी सैनिकोंकी पिटायी प्रारम्भ कर दी उन्होंने। किसीका सिर फूटा, किसीका हाथ टूटा। वे रक्तमें सने घायल होकर भागे और कंसके पास जाकर हाय-तोबा मचाने लगे। कंसने एक पूरी सेना भेज दी; किंतु उसके सैनिक बेचारे टूटे धनुष-खण्डोंकी मारके आगे थोड़ी देर भी टिक नहीं सके। चिथड़े उड़ गये सबके।

धोबीसे लूटे हुए वस्त्र रक्तमें सन गये थे । सम्भवतः वे इसी अवसरके लिये लूटे गये थे । उन्हें तो सबने उतार फेंका और उस भवनसे निकलकर धीरे-धीरे नगर घूमते हुए सायंकाल शिबिरमें लौट आये । दोनों भाइयोंने नगरमें कुछ किया भी है, इसका कोई पता व्रजराज या गोपोंको लगा नहीं।

कंस-उद्धार

धनुष टूट गया, भेजे हुए सैनिक मारे गये, इन समाचारोंने कंसको बहुत उद्विग्न कर दिया । रात्रिमें एक तो उसे निद्रा नहीं आयी और जब आयी भी तो बड़े भयङ्कर स्वप्न दीखे । बड़े सबेरे ही उठकर वह मल्लशालामें पहुँच गया । सभासदोंके आनेके पीछे नरेशको आना चाहिये, यह नियम भी आज उसने नहीं रक्खा । दुन्दुभियाँ बजने लगीं । मल्ल एवं सभासद् शीघ्रतापूर्वक आने लगे । सब लोग कंसको अभिवादन करके, भेंट देकर अपने लिये निश्चित स्थानोंपर बैठने लगे । श्रीनन्दबाबा भी गोपोंके साथ आये और राजाको उपहार देकर एक स्थानपर एकत्र बैठ गये ।

बालक देरसे उठते ही हैं । गोप-बालकोंके साथ राम-श्याम कुछ देरसे उठे और स्नानादिसे निवृत्त हुए । जब वे सखाओंके साथ रंगशालाके समीप पहुँचे, तब देखा कि द्वार रोके एक बड़ा भारी हाथी झूम रहा है । गजराजके नेत्र लाल-लाल हो रहे हैं । उसे सुरा पिलाकर उन्मत्त कर दिया गया है । श्रीकृष्णचन्द्रने महावतको ललकारा—'हस्तिप ! अपने हाथीको द्वारसे झटपट हटा ले, अन्यथा हाथीके साथ तुझे भी यमराजका घर देखना पड़ेगा ।'

महावत अपने सहस्र हाथियोंका बल रखनेवाले कुवलयापीड़ महागजको कुछ हटा लेनेके लिये तो द्वारपर ले नहीं आया था । उसने अङ्कुश मारकर गजराजको उत्तेजित किया। टूट पड़ा हाथी और एक बार तो उसने सूँड़से श्रीकृष्णचन्द्रको पकड़ भी लिया; किंतु एक थप्पड़ मिली, उसे पुरस्कारमें । उसकी सूँड़से सरककर केशव निकल गये और उसके पैरोंके बीचमें ही हो रहे । दूसरी बार श्रीकृष्णचन्द्र भूमिमें लेटे और झटसे उठ गये । गजने उन्हें पृथ्वीमें पड़ा समझकर भूमिमें दाँत मार दिया । अब एक ओरसे बलरामजी और दूसरी ओरसे श्रीकृष्ण हाथीकी पूँछ और सूँड़ पकड़कर खींचने लगे । गज एक ओर झुकता तो दूसरी ओरसे उसपर थप्पड़ पड़ता । ये वज्रके समान तड़ातड़ पड़नेवाले थप्पड़—गजराज व्याकुल हो गया । वह सूँड़ उठाकर चिग्घाड़ मारने लगा । अन्तमें सूँड़ पकड़कर श्रीकृष्णचन्द्रने उमेठ दी और पटक दिया पर्वतके समान उस हाथीको भूमिपर । मस्तकपर पैर रखकर दोनों दाँत बलपूर्वक उखाड़ लिये । उन दाँतोंसे हाथी और हाथीवान तथा उसके सहायकोंको समाप्त कर दिया उन्होंने । अब दोनों भाई एक-एक हाथीदाँत कन्धेपर रक्खे रंगशालामें प्रविष्ट हुए । स्वेदके बिन्दु, रक्तके छींटे और हाथीके मदबिन्दुओंके पड़नेसे उनके अङ्गोंकी अत्यन्त अद्भुत शोभा हो रही थी । रंगशालाके लोगोंने अपनी-अपनी भावनाके अनुसार उनके दर्शन किये; क्योंकि उन सर्वरूपका रूप तो नित्य भावरूप ही है ।

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ४३ । १७)

रंगशालाके मध्यमें मल्लभूमि थी और उसमें महाकाय मल्ल लँगोट कसे व्यायाम करनेमें लगे थे । उनमेंसे चाणूरने श्रीकृष्णचन्द्रसे कहा—'नन्दकुमार ! तुम दोनों भाई बड़े बलवान् हो । महाराजने तुम्हारे पराक्रमकी प्रशंसा सुनकर ही तुम्हें बुलवाया है । अब अपनी मल्लविद्यासे तुम महाराजको प्रसन्न करो ।'

'हम बालक हैं, अतः अपने समान बालकोंसे मल्लयुद्ध करेंगे ।' यह कहकर श्रीकृष्णचन्द्र तनिक मुसकराये ।

'तुम भला बालक कैसे हो सकते हो । अभी तुमने सहस्र हाथियोंका बल रखनेवाले कुवलयापीड़को मारा है । अतः तुम्हारे साथ मैं मल्लयुद्ध करूँगा और बलरामके साथ चाणूर ।' मुष्टिकने कहा ।

'जैसी तुम्हारी इच्छा ।' कहकर दोनों भाई मल्लभूमिमें उतर गये । दोनों जोड़ें परस्पर गुँथ गयीं । नाना प्रकारके दाव-पेच, खींचतान चलने लगे ।

वहाँ बैठे नगरवासी व्याकुल होने लगे । उन्हें राम-श्यामके सुकुमार अङ्ग अत्यन्त आकर्षित कर रहे थे । श्रम पड़नेसे वे अङ्ग अरुणाभ हो आये थे और उनपर स्वेदके बिन्दु चमक रहे थे । पर्वतके समान विशाल, वज्रके समान कठोर शरीरवाले मल्लोंको सुकुमार बालकोंके साथ भिड़ा देना उन्हें बड़ा भारी अन्याय प्रतीत होता था । भयके मारे वे विरोध नहीं कर सकते थे; किंतु परस्पर चर्चा

कर रहे थे इस अन्यायको। उनके हृदय व्याकुल हो रहे थे!

नगरवासी तो व्याकुल थे स्नेहके कारण; किंतु चाणूर-मुष्टिक भी कम व्याकुल नहीं थे। उन्हें लगता था कि आज उनको वज्रकी बनी मूर्तियोंसे भिड़ा दिया गया है। उनका शरीर पिसा जा रहा था। बार-बार वे मूर्छित-से हुए जा रहे थे। व्याकुल होकर चाणूर कूदा और दोनों हाथोंसे घूसा बाँधकर उसने पूरे वेगसे श्रीकृष्णचन्द्रके विशाल वक्षपर आघात किया। कोई हाथीपर दो फूल पटक ही दे तो होता जाता क्या है। श्यामसुन्दर तो हिलेतक नहीं। उन्होंने चाणूरके दोनों हाथ पकड़ लिये और उसे अपने सिरके चारों ओर घुमाने लगे। अन्तमें पृथ्वीपर पटक दिया उसे उन्होंने। उसके केश बिखर गये, वस्त्रादि अस्तव्यस्त हो गये और प्राण निकल गये।

बड़े भैयाने देखा कि कृष्णचन्द्रने तो जोड़ समाप्त कर दी। इसी समय मुष्टिकने भी उनके वक्षपर घूसा मारा, सो उन्होंने उसकी कनपटीपर एक चपत जड़ दी। मुखसे खून फेंकता मुष्टिक घूमकर गिर पड़ा और ठंढा हो गया। अब कूट नामक मल्ल बलरामजीपर झपटा सो उसे उन्होंने बायें हाथका एक घूसा धमक दिया। उनका घूसा मिल जानेपर फिर क्या कोई श्वास लेता है। उधर शल और तोशल श्रीकृष्णपर झपटे थे। पैरकी एक ठोकर लगते ही शलका सिर धड़से दूर जा गिरा और तोशल तिनकेकी भाँति चीरकर फेंक दिया गया। अब जो मल्ल बचे थे वे भाग खड़े हुए।

यह अच्छी रही, राम-श्यामका अभी व्यायाम भी पूरा नहीं हुआ और महाराज कंसके मल्ल तो मल्लभूमिसे भाग ही गये। दोनों भाइयोंने अब अपने सखाओंको हाथ पकड़-कर खींचा। मल्लभूमिमें उचित जोड़ोंकी न्यायपूर्ण मनोहारी मल्लक्रीड़ा चलने लगी। सभी नागरिक हर्षसे जय-जयकार करने लगे। सब राम-कृष्णकी प्रशंसा करने लगे।

कंस क्रोधके मारे अपने मञ्चपर खड़ा हो गया। चिल्लाकर दुन्दुभियाँ तथा तुरहियाँ बजना बंद करवाया। अब वह बकवाद करने लगा—'इन दोनों दुष्ट लड़कोंको यहाँसे निकाल दो। गोपोंका सारा धन छीन लो। नन्दको मार डालो! वसुदेवको और शत्रुओंका पक्ष लेनेवाले मेरे पिता उग्रसेनको भी सहायकोंके साथ मार दो।'

कंस जिस मञ्चपर बैठा था, वह बहुत ऊँचा था। श्रीकृष्णचन्द्रने उसे बकवाद करते देखा तो वे कूदकर मञ्चपर पहुँच गये। धैर्यपूर्वक कंसने भी ढाल-तलवार उठा ली और पैंतरे बदलने लगा; किंतु असुर-निकन्दन श्रीकृष्णने उसका मुकुट फेंक दिया। उसके बाल पकड़कर मञ्चसे नीचे पटक दिया उसे और स्वयं वे जगदात्मा उसके ऊपर कूद पड़े। कंस मर गया इतनेसे ही, पर श्रीकृष्ण केश पकड़कर घसीटने लगे भूमिमें उसकी देहको। नन्दबाबा, वसुदेवजी, उग्रसेन आदिको दुर्वचन कहनेवालेपर उनका रुष्ट होना उन भक्तवत्सलके अनुरूप ही था।

कंस तो भयके कारण सदा सर्वत्र भगवान्‌को ही देखता था अतः वह उनमें ही एकाकार हो गया। उसके कंक, न्यग्रोध आदि आठ भाई उसकी मृत्युसे क्रुद्ध होकर दौड़े; किंतु बलरामजीने पास पड़ी एक परिघ उठा ली और उन्हें श्रीकृष्णतक पहुँचनेसे पूर्व ही समाप्त कर दिया।

बन्दियोंकी मुक्ति

कंस मारा गया। श्रीकृष्ण-बलदेवके जयनादसे मथुरा-का आकाश गूँजने लगा। कारागारके द्वार खुल गये। उग्रसेन, वसुदेव और देवकीकी बेड़ियोंके साथ समस्त बन्दियोंकी बेड़ियाँ कट गयीं। जो आवागमनकी भयङ्कर बेड़ीको काटनेवाले हैं, उन्होंने माता-पिताकी बेड़ियाँ काटीं और गिर पड़े उनके चरणोंमें।

'ये अमित पराक्रम साक्षात् भगवान् पुरुषोत्तम!' माता-पिता खड़े रह गये। उनका साहस नहीं हुआ श्रीकृष्णचन्द्र एवं बलरामको उठाकर हृदयसे लगानेका; किंतु श्यामसुन्दर कहीं इस प्रकार अपने निजजनोंसे बड़े बनकर दूर रहा करते हैं। उन्होंने 'पिताजी, माताजी, हमें क्षमा करें। कंसके भयके कारण हम आपसे दूर रहे। आपको हमारे कारण बड़ा क्लेश हुआ। हम आपकी सेवा नहीं कर सके' आदि ममत्वपूर्ण वचनोंसे माता-पिताकी प्रार्थना की। उनकी वैष्णवी योगमायाने वात्सल्य उँड़ेल दिया हृदयमें। अब अपने चिर बिछुड़े पुत्रोंको हृदयसे लगाये, नेत्रोंके आँसूसे उनकी अलकें भिगोते, पुलकित तन, रुद्ध वचन उन विश्ववन्द्य दम्पतिका ध्यान करके आप भी अपने हृदयके भावोंको पवित्र कर लें।

मथुरामें उत्सव मूर्तिमान् होकर बैठ गया है। श्रीकृष्णचन्द्रने राजसमाज जुटाया, सभासद् एकत्र हुए और तब सबके बीचमें उन्होंने वृद्ध महाराज उग्रसेनसे प्रार्थना

की—'महाराज ! सिंहासनपर विराजें । ययातिके शापको मान्यता देनेके कारण हम तो राज्यके अधिकारी हैं नहीं और आपके लिये कोई शङ्का करनेकी बात भी नहीं है। मैं सेवक बनकर आपके समीप उपस्थित रहूँगा। नरेशोंकी तो चर्चा क्या, बड़े-बड़े लोकपाल देवता भी आपके चरणोंमें भेंट रखकर मुकुट झुकायेंगे।' इसे कहते हैं कंगालको सम्राट् बना देना। जो कलतक कंसके कारागारमें थे, वे वृद्ध महाराज उग्रसेन आज यादव-चक्रवर्ती हो गये और किसीका साहस है जो उन्हें राजराजेश्वर न स्वीकार करे।

यह मङ्गल-महोत्सव—अब इसमें व्रजकी चर्चा करना अच्छा नहीं। बड़े आदर, बड़े स्नेहके साथ बड़े-बड़े उपहार देकर व्रजराजको विदा किया गया; किंतु विदा होना पड़ा उन्हें अपने राम-श्यामके पाससे। अब उनकी, गोपोंकी और उनके व्रजकी व्यथाकी चर्चा करके मथुराके इस आनन्दोत्सवको मन्द नहीं करना है। सच तो यह है कि उस वियोगके महाबाड़वकी चर्चा करना बसकी भी बात नहीं है।

गुरु-गृहमें

मथुराकी शासन-व्यवस्था महाराज उग्रसेनके सिंहासनारूढ़ होनेसे श्रीकृष्णचन्द्रके संरक्षणमें सम्पन्न हो गयी। कंसके भयसे विदेशोंमें जो लोग भाग गये थे, उन्हें आदरपूर्वक आमन्त्रित किया गया। धन, भूमि, भवन आदि देकर उन्हें बसाया गया। उनकी क्षतिपूर्ति तो की ही गयी, उन्हें राजकोषसे पर्याप्त धन देकर संतुष्ट किया गया।

नगरमें, देशमें शान्ति हो जानेपर श्रीवसुदेवजीने अपने दोनों कुमारोंका उपनयन-संस्कार कराया। श्रीबलराम एवं श्यामसुन्दर अब कटिमें मूँजकी मेखला तथा कौपीन पहिनकर, बगलमें मृगचर्म दबाकर, हाथमें पलाशदण्ड लेकर ब्रह्मचारी बन गये। द्विजातिमात्रके बालक बारह वर्षकी आयुसे पहले ही यज्ञोपवीत संस्कार प्राप्त करके गुरुके आश्रममें रहने चले जायँ और वहाँ ब्रह्मचर्याश्रमके नियमोंका पालन करते हुए संयम, तप, तितिक्षाका जीवन बितावें, गुरुसेवा करें और वेदाध्ययन करें, यह शास्त्रका आदेश है। जो परमप्रभु लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये ही अवतीर्ण हुए हैं, वे स्वयं उसका पूरा पालन करके मनुष्योंके सामने आदर्श उपस्थित करते हैं।

विद्याका प्रधान केन्द्र सदासे भगवान् विश्वनाथकी काशीपुरी रही है, किंतु उन दिनों जो काशीनरेश थे, वे पौण्ड्रकके मित्र थे और पौण्ड्रक कंसके पक्षका राजा था। ऐसी दशामें श्रीकृष्णचन्द्रका काशी पढ़ने जाना नहीं हो सकता था। सान्दीपनि नामके एक मुनि काशीके ही विद्वान् थे और उज्जयिनी पुरीमें आश्रम बनाकर रहते थे। सर्वत्र उनके तप एवं विद्याकी ख्याति थी। अवन्तिका (उज्जैन) की राजमाता थी वसुदेवजीकी बहिन राजाधिदेवीजी, अतः वसुदेवजीने अपने कुमारोंको अध्ययनके लिये अवन्तिका ही भेजा।

कोई सम्राट्का कुमार हो या कंगालका बालक, ऋषिकुलमें दोनों समान होते थे। किसीके घरसे या स्वजनोंसे कोई छोटी सहायता भी बालकोंको मिलनेका नियम नहीं था। बालकको इस छोटी अवस्थामें ही त्याग, तप, तितिक्षा, नम्रता, सेवा और स्वावलम्बनकी पूरी-पूरी शिक्षा देनेकी इतनी उत्तम व्यवस्था संसारके किसी भी दूसरे समाजने कभी नहीं की।

मृगचर्म बिछाकर मिट्टीकी वेदी (चबूतरे) पर रात्रिके तीसरे पहरमें सो जाना और चौथे प्रहरके प्रारम्भमें ही उठकर आश्रमको स्वच्छ करने, लीपने, जल भरने आदिमें लग जाना। सूर्योदयसे पूर्व ही स्नान करके सन्ध्या-वन्दन तथा हवनादि करना और फिर दिनके पहले प्रहरमें वेदाभ्यास करना। दूसरे प्रहरमें समीपकी बस्तियोंमें भिक्षा माँगने जाना और जो कुछ मिले, उसे लाकर गुरुदेवकी सेवामें उनके सम्मुख रख देना; उसमेंसे जितना जो कुछ गुरुदेव दे दें, मध्याह्न-सन्ध्या करके केवल उतनेसे संतोष कर लेना। यही एक बार मात्र दैनिक भोजन। जूते न पहनना, सुरमा न लगाना, पलंगपर न सोना, छाता न लगाना, सादगीसे रहना, गुरुपत्नीको छोड़कर किसी भी स्त्रीको न देखना, जब गुरुदेव भोजन करके लेट जायँ, तब उनके चरण दबाना या उनके पास बैठकर पंखा झलना आदि सेवा करना। इसी समय गुरुदेव जो कुछ पढ़ाते जायँ, उसे एकाग्र मनसे पढ़ लेना। दिनके तीसरे पहरमें वनमें जाकर फल, पुष्प, समिधा, कुश आदि ले आना। आश्रम-वृक्षोंको सींचना तथा गुरुगृहके सेवाकार्य करना। सायंकाल स्नान, सन्ध्या, हवन आदि और फिर आधीराततक गुरुसेवा करना। गुरुकुलमें रहनेवाले ब्रह्मचारीकी यह जीवनचर्या थी। उसके पास कौपीन, दण्ड, मृगचर्म और जलपात्र—बस इतनी सामग्री होती थी।

श्रीकृष्णचन्द्र एवं श्रीबलरामजी बड़ी श्रद्धा एवं तत्परतासे इन सभी नियमोंका पूरा-पूरा पालन करते थे।

एक दिन श्यामसुन्दर सुदामा नामक एक सहपाठी ब्राह्मण ब्रह्मचारीके साथ वनमें दिनके तीसरे प्रहर गुरुदेवकी पत्नीके आदेशसे सूखी लकड़ियाँ लेने गये थे। वनमें पहुँचनेपर बड़े जोरकी घटा छा गयी। आँधी आयी और वर्षा होने लगी। दोनों वनमें मार्ग भूलकर भटक गये। रात्रि हो गयी। घोर अन्धकार छा गया। वर्षासे भीगते, थर-थर काँपते, दोनों सिकुड़े हुए एक वृक्षकी जड़में परस्पर सटे पूरी रात बैठे रहे। प्रातःकाल गुरुदेव अपने शिष्योंको ढूँढ़ते पहुँचे। प्रसन्न हो गये वे तपोधन। उन्होंने आशीर्वाद दिया—'इस लोक और परलोकमें भी तुम्हें पूरा वैदिक ज्ञान सदा स्मरण रहेगा।'

जिनके श्वाससे ही श्रुतियाँ निकलती हैं, उनको अध्ययन क्या करना था। गुरुदेव एक बार पाठ कर देते और राम-श्याम दोनों उस विषयको उसके अङ्ग, उपाङ्ग, रहस्यके साथ सुना दिया करते। केवल चौंसठ दिनमें दोनों-ने सब वेद, उपवेद, वेदाङ्ग आदि शास्त्र सिद्धान्ततः तथा धनुर्वेद, आयुर्वेद, स्थापत्यवेद, गान्धर्ववेद आदि क्रियात्मक रूपसे भी सीख लिये। इन्हीं चौंसठ दिनोंमें चौंसठ कलाएँ भी अभ्यस्त बना लीं उन्होंने।

पैंसठवें दिन श्रीकृष्णचन्द्रने बड़े भाईके साथ गुरुदेवके चरणोंमें मस्तक रखकर गुरुदक्षिणा माँग लेनेकी प्रार्थना की। ऐसी अलौकिक प्रतिभा, ऐसा अभूतपूर्व ज्ञान—गुरुदेव अन्ततः इन भुवनवन्द्य दोनों भाइयोंके वन्दनीय गुरुदेव थे, उनसे यह छिपा नहीं था कि ये सर्वेश्वर ही शिष्य बनकर उन्हें गौरव दे रहे हैं। अपनी पत्नीसे गुरुदक्षिणाके विषयमें उन्होंने मन्त्रणा की। ब्राह्मणीके एक ही पुत्र हुआ था और पर्वस्नान करते समय वह प्रभासक्षेत्र-में समुद्रमें डूब गया था, वह अपना पुत्र पानेको बहुत उत्सुक थी। गुरुदेवकी आज्ञा पाकर दोनों भाई रथमें बैठकर समुद्रतटपर पहुँच गये।

श्रीरामावतारमें समुद्रको जो शिक्षा मिली थी, वह अब भी उसे भूली नहीं थी। अब फिर धृष्टता करनेका उसमें साहस नहीं था। बलराम-श्यामके पहुँचते ही मूर्तिमान् होकर रत्नोंका उपहार लिये सागर उनके चरणोंमें प्रणत हो गया। पूछनेपर उसने बताया कि बालकका हरण उसका कार्य नहीं है। एक शङ्खरूपधारी असुर जलमें रहता है, उसीकी दुष्टता यह हो सकती है। श्रीकृष्णचन्द्रने जलमें प्रविष्ट होकर असुरको मार डाला। उसके शरीरसे निकला शङ्ख ले लिया उन्होंने। बालक उसके उदरमें भी नहीं था। अब दोनों भाइयोंने यमराजकी संयमनीपुरीको रथ हाँक दिया।

धर्मराज बारह प्रधान भागवताचार्योंमें हैं। श्रीकृष्णचन्द्र-के शङ्खकी ध्वनि सुनते ही वे द्वारतक दौड़े आये। आज संयमनीपुरी राम-श्यामके पधारनेसे धन्य हो गयी। यमराजने बड़ी श्रद्धासे दोनों भाइयोंका पूजन किया और आज्ञा पाकर ब्राह्मणके पुत्रको दे दिया उन्हें। गुरुपुत्रको लेकर दोनों भाई लौट आये।

गुरुदेवसे श्रीकृष्णचन्द्रने और भी कुछ माँगनेकी प्रार्थना की; किंतु उन परम संतोषीको तो पहले ही कोई कामना नहीं थी। पत्नीकी इच्छासे ही उन्होंने पुत्र माँगा था। फिर इन आनन्दकन्दको पा लेनेपर फिर और पाना रह क्या जाता है। गुरु-आज्ञासे विधिपूर्वक दोनों भाइयोंका प्रत्यावर्तन संस्कार हुआ। सुन्दर बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत होकर रथमें बैठकर वे मथुरा लौटे। मथुरावासियों-के आनन्दका कोई आरपार नहीं। वहाँ घर-घर, गली-गलीमें गगनभेदी ध्वनि गूँजती है—'भगवान् वासुदेवकी जय!' सु०

झूलेमें जसुमतिजीको लाल

(रचयिता—काव्यरत्न 'प्रेमी' साहित्यरत्न)

रेसमकी डोरको हिंडोर सु पर्‍यो है तामैं ,
भोरहीं सुलायो नन्दरानी हथियाँनि तैं।
झूमि-झुकि झूलनि सों चूमिके कपोल गोल ,
मातु बतरावै तुतरानी बतियानि तैं॥

झूमर सु झूलि रही डुलि रही झूलना मैं ,
कान्ह सो पकरि दाबैं ढैंक दँतियाँनि तैं।
घूँघरू बजावै पलनाके, पलना मैं पोढ़ि ,
'प्रेमी' जसुमतिजीको लाल लतियाँनि तैं॥

बालक नचिकेता

(रचयिता–प्रोफेसर श्रीसीतारामजी 'प्रभास', एम्० ए०)

ऋषि-गण, यज्ञ, तपोवन, चिंतन-
के युगकी यह कथा पुरानी;—
अरुण-पुत्र उद्दालक मुनिने
किया विश्वजित यज्ञ महा था।
उसमें मुनिने दान दे दिया
सब कुछ अपने पुरोहितोंको;
दुबली-पतली गायें भी दीं
जाने लगीं, तभी नचिकेता,
उद्दालकका पुत्र, खिन्न मन
लगा सोचने—'यह तो अनुचित!
पाप-कर्म हो रहा पितासे।
मुझे दानमें देते, तो उद्धार
पापसे उनका होता;
मैं तो धन अनमोल पिताका।'
नचिकेताने कहा पितासे—
'मुझे दान दे दें। किसको
देंगे? बताइये, तात!' पिता पर,
क्रुद्ध हो गये, मौन रहे; लेकिन
वह पुत्र अशान्त बना था।
उसने बार-बार यह पूछा—
'किसको देंगे दान?' खीजमें
उत्तर मिला—'यमोंके राजा
को!' झट मृत्यु हुई बालककी।
नचिकेता यम-लोक पहुँच
यमराज-द्वारपर भूखा-प्यासा
तीन दिनोंतक पड़ा रहा, कारण,
राजा अन्यत्र गये थे।
तदनन्तर आ मृत्यु-देव
ब्राह्मण बालकको नमस्कार कर
बोले—'तू वर माँग तीन, तू
तीन दिनोंसे बिना अन्न-जल
बाट जोहता रहा यहाँपर!'
पितृ-भक्त, उस पिता-हितैषी
नचिकेताने पितृ-स्नेहके
प्राप्ति-हेतु वर पहला माँगा।
'एवमस्तु' यमराजने कहा।
वर माँगा दूसरा अग्नि-विद्याका
जग-कल्याण-विधायक।
वह निज सुखके लिये नहीं कुछ
माँग रहा है, समझ देवताने
खुश हो वर अन्य दे दिया—
'अग्नि आजसे नचिकेताके
नाम ख्यात हो, विश्व-विदित हो!'
नहीं हुआ संतुष्ट, वरन् उसकी
जिज्ञासा जगी और भी।
वह तृतीय वर माँग उठा—'हे
देव! बतायें, रहता मानव
मरनेके पश्चात्? या नहीं?
आप मृत्यु-देवता, ज्ञात होगा
यह तो सम्यक् प्रकारसे।'
आश्चर्यित यमराज हुए सुन
ऐसा कठिन प्रश्न बालकका;
लगे प्रशंसा करने उसकी
औ' बोले—'प्रिय नचिकेता! तू
माँग और कुछ, पर उत्तर इस-
का न पूछ, यह बहुत गूढ़ है।
अतिशय कठिनाईसे पाते
समझ इसे देवता-वृन्द भी।
माँग शतायु पुत्र-पौत्रोंको;
अगणित पशु, घोड़े, हाथी ले;
ले ले स्वर्ण, धरा विस्तृत ले,
जी ले जबतक जगमें चाहे;
विपुल सम्पदा तुझे मिलेगी।
भोग अमित ले माँग जगत्के,
पर, दे छोड़ प्रश्न तू अपना।'
विचलित नहीं हुआ नचिकेता,
लुभा सका उसको न प्रलोभन।
अति प्रसन्न हो यमपति बोले,—
'जाँच हो चुकी, सफल हुआ तू,
ब्रह्म-ज्ञानका अधिकारी है।

ज्ञानी बालक

नचिकेता, सत्यकाम, श्वेतकेतु, उपकोसल

मंगलप्रद—प्रिय मित्र जान ले,
सुख सांसारिक क्षणिक समझ तू।
सब कुछ कर निष्काम-भावसे,
लक्ष्य सिद्ध कर नित्य तत्त्वका।
जैसा करता, वैसा पाता,
जीव अमर है; काया नश्वर।
आत्मा प्राप्त करे उस विभुको,
सारे दुख मिट जायँ जीवके।
जगका जाल छिन्न हो जाता,
सर्वशक्तिमयकी समाधिमें।
वह तो पूर्ण, अजन्म, सूक्ष्मसे
सूक्ष्म, स्थूलसे स्थूल, चिरंतन,
मिलता नहीं बुद्धि, व्याख्यासे,
शास्त्र-श्रवणसे। ब्रह्म प्राप्य उस-
की निज दुर्लभ बड़ी कृपासे!
तनके रथपर चढ़ा जीव, हाँके
विवेक इन्द्रिय—अश्वोंको,
मनकी खिंची लगाम अगर हो,
रथी शीघ्र पहुँचे उस प्रभुतक।
सभी वस्तुओंमें फैली है
वही अखण्ड, एक सत्ता है।
रूप-रूपमें वही प्रगट है,
सभी काल, सर्वत्र सनातन!

वही शक्ति बाहर-भीतर है,
उसका लोक निराला, अद्भुत;
सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, पावक कब
वहाँ चमक सकते पल भर भी!
चिर प्रकाशका मूल स्रोत,
प्रज्वलित प्रखरतम प्रभा-पुञ्ज वह!'

× × ×
× × ×

परम रहस्यमयी ये बातें
सुन श्रोताको बोध हो गया।
नयी चेतना, नयी स्फूर्ति
दौड़ी मानसमें प्रबल वेगसे।
हृदय-नेत्र खुल पड़े, दिव्य
आलोक छा गया, बरसा अमृत,
शंकाएँ सब शान्त हो गयीं,
नचिकेता अब मुक्त हो गया!
छूट गया माया-बन्धनसे,
पहुँच गया वह ब्रह्म-लोकमें।
हम भी बालक नचिकेता-से
पितृ-शुभैषी, बलिदानी हों।
स्थिरमति, निर्लोभी, दृढ़, निर्भय,
विनयशील, जिज्ञासु, शुद्ध मन,
परम ज्ञानके पात्र बनें हम,
मृत्यु-द्वारपर मृत्युञ्जय हों!

एक ही ध्येय

(रचयिता—श्रीमती विद्यावती मिश्र)

पंथ अनेकों पथिक अनेकों हैं अगणित पाथेय,
किंतु एक ही ध्यान चिरंतन और एक ही ध्येय;
प्रभु तेरे मंदिरमें आनेके लाखों ही द्वार,
मनकी गति तरणी श्वासोंका विस्तृत पारावार;
तेरी कृपा साधकोंके हित बनकर दिव्य विवेक,
स्वयं द्वारपर है अंधेकी लकड़ी देती टेक;
ज्ञान-चक्षु लेते वह सीधी पगडंडी पहचान,
जिसपर दूरीके पत्थर हैं गीता वेद पुराण;
मैं भी तो भूली भटकी-सी रही अभीतक डोल,
जाने कितने द्वार अभीतक भ्रमवश चुकी टटोल;
मेरे प्रभु पाये बिन तेरी उँगलीका संकेत,
नहीं पा सकूँगी मैं तेरा भगवन पुण्य निकेत;
कर लेने दो प्राप्त मुझे अब तो दर्शनका श्रेय!
पंथ अनेकों पथिक अनेकों हैं अगणित पाथेय!!

सत्यकाम जाबाल

महर्षि हरिद्रुमके पुत्र गौतम ऋषिके आश्रममें एक दिन एक छोटा-सा बालक आया । उस बालकने बड़ी नम्रतासे महर्षिके चरणोंमें प्रणाम करके प्रार्थना की—'भगवन् ! मैं ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए आपके श्रीचरणोंकी सेवा करना चाहता हूँ, आप मुझे स्वीकार करें ।' महर्षिने स्नेहपूर्वक पूछा—'सौम्य ! तुम्हारा गोत्र क्या है ?'

बालक बोला—'मैंने अपनी मातासे यह बात पूछी थी । मेरी माताने कहा है कि जब वह युवा थी, तब मेरे पिताके घर बहुत अधिक अतिथि आया करते थे । मेरी माता अतिथि-सेवामें ही बराबर लगी रहती थी और इसीसे वह मेरे पितासे गोत्र नहीं पूछ सकी । मेरी शैशव अवस्थामें ही पिताजी परलोक चले गये । अतएव भगवन् ! मुझे इतना ही पता है कि मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ ।'

गौतम ऋषिने प्रसन्न होकर कहा—'वत्स ! ब्राह्मणको छोड़कर दूसरा कोई भी इस प्रकार सरलभावसे सच्ची बात नहीं कह सकता । इतनी सच्ची और कपटहीन बात कहनेवाले तुम निश्चय ही ब्राह्मण हो । मैं तुम्हारा उपनयन-संस्कार करूँगा । जाओ थोड़ी-सी समिधा ले आओ ।'

विधिवत् उपनयन-संस्कार हो जानेपर गौतम ऋषिने अपनी गोशालामेंसे दुबली-पतली चार सौ गायें चुनकर सत्यकामसे कहा—'बेटा ! इन्हें चराने वनमें ले जाओ । जबतक इनकी संख्या एक सहस्र न हो जाय, तबतक लौटकर मत आना ।'

छोटे-से बालक सत्यकामने गुरुदेवकी आज्ञा सहर्ष स्वीकार कर ली । जिसे ज्ञानको प्राप्त करनेकी सच्ची अभिलाषा है, उसमें हिमालय-जैसा धैर्य अपने आप होता है । जिस वनमें चारे-पानीकी पर्याप्त सुविधा थी, वहाँ जाकर सत्यकामने अपनी झोंपड़ी बनायी और गायोंकी सेवा करते हुए कई वर्ष व्यतीत कर दिये । फल तो सदा कर्मके पीछे चला करता है । श्रद्धा, तितिक्षा, धैर्य और सेवा जिसमें होती है, उसपर कृपा करनेके लिये समस्त देवता उत्सुक रहते हैं । जब गायोंकी संख्या एक सहस्र हो गयी, तब एक दिन एक वृषभने आकर मनुष्यवाणीमें पुकारा—'सत्यकाम !'

धर्मके साक्षात् स्वरूप वृषभको बोलते देख सत्यकामने नम्रतापूर्वक कहा—'भगवन् ! क्या आज्ञा है ?'

वृषभने कहा—'वत्स ! हमारी संख्या एक सहस्र हो चुकी है । अब हमें गुरुदेवके घर ले चलो । मैं तुम्हें ब्रह्मके एक पादका उपदेश करता हूँ ।' सत्यकामने श्रद्धापूर्वक वृषभसे ब्रह्मके एक पादका उपदेश ग्रहण किया । वृषभने बताया—'इसका नाम प्रकाशवान् है । आगेका उपदेश अग्निदेव करेंगे ।'

दूसरे दिन प्रातःकाल गायोंको लेकर सत्यकाम गुरुके आश्रमकी ओर चले । मार्गमें पड़ाव डालकर उन्होंने गायोंको रोका और जल पिलाकर रात्रि-निवासकी व्यवस्था की । वनमेंसे सूखी लकड़ियाँ एकत्र करके अग्नि प्रज्वलित की उन्होंने और फिर वहीं पूर्वकी ओर मुख करके बैठ गये । अग्निकी ज्वालामेंसे साक्षात् अग्निदेवने सत्यकामको पुकारा और अनन्तवान् नामक ब्रह्मके द्वितीय पादका उपदेश करके कहा—'आगेका उपदेश हंस करेगा ।'

सत्यकामने रात्रिभर उस उपदेशका मनन किया । दूसरे दिन सबेरे गौओंको लेकर वे आगे बढ़े और फिर सायंकाल एक जलाशयके किनारे रात्रि-विश्रामके लिये ठहरे । वहाँ जब वे अग्नि जलाकर बैठे थे, तब एक हंस ऊपरसे उड़ता हुआ आया और सत्यकामके पास बैठ गया । हंसने सत्यकामको सम्बोधित करके ज्योतिष्मान् नामक ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश किया । अगला उपदेश जलमुर्ग करेगा, यह भी वह बता गया । उस रात्रिमें भी सत्यकामने उपदेशका मनन किया । अगले दिन गौओंको लेकर वे चले और सन्ध्या समय एक वटवृक्षके नीचे ठहरे । वहाँ जब वे अग्निके पास बैठे थे, तब एक जलमुर्ग उनके पास आया । उसने उन्हें आयतनवान्‌रूपसे ब्रह्मका उपदेश किया ।

गुरुसेवा और गो-सेवाके प्रतापसे इस प्रकार वृषभरूपमें वायुदेवता, अग्निदेवता, हंसरूपमें सूर्यदेवता तथा जलमुर्गरूपमें प्राणदेवतासे सत्यकामने ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया । एक सहस्र गायें लेकर जब वे अपने गुरुदेव गौतम ऋषिके आश्रममें पहुँचे, तब उनके मुखपर ब्रह्मतेज छा रहा था । उनके चिन्तारहित तेजःपूर्ण मुखको देखकर गुरु बोले—'वत्स ! तू ब्रह्मज्ञानीके समान दीखता है । तुझे किसने उपदेश किया है ?'

बिना किसी अभिमानके सत्यकामने कहा—'भगवन् ! मुझे मनुष्येतरोंसे उपदेश प्राप्त हुआ है ।' पूरी बात

बताकर गुरुसे वे बोले 'आपके समान आचार्यद्वारा प्राप्त हुई विद्या ही श्रेष्ठ होती है। अब आप मुझे उपदेश करें।'

अपने सेवापरायण विनम्र शिष्यको ऋषिने हृदयसे लगाकर आशीर्वाद देते हुए कहा—'वत्स! तूने जो कुछ जाना है, वही ब्रह्मतत्त्व है। अब तेरे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं है।' सु०

श्वेतकेतु

अरुण ऋषिके पुत्र आरुणि उद्दालकके पुत्रका नाम था श्वेतकेतु। श्वेतकेतु यद्यपि बुद्धिमान् था, तो भी उसका मन पढ़नेमें नहीं लगता था। बारह वर्षकी अवस्थातक वह खेल-कूदमें ही लगा रहा। ब्राह्मणके बालकमें अपने आप ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा होनी चाहिये; किंतु जब श्वेतकेतुमें विद्याकी रुचि स्वयं नहीं जगी, तब एक दिन पिताने उसे पास बुलाकर समझाया—'बेटा! अपने वंशमें ब्राह्मणके गुण तथा आचारोंसे रहित, वेदोंका त्याग करके जीनेवाला कोई केवल नामधारी ब्राह्मण नहीं हुआ है। तुम्हें भी वेदोंका अध्ययन करके ब्रह्मको पाना चाहिये। तुम सुयोग्य गुरुके पास ब्रह्मचारी होकर रहो।'

पिताका मीठा उलाहना श्वेतकेतुको लग गया। वह बारह वर्षतक गुरुगृहमें रहा। वहाँ उसने छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंका पूरा-पूरा अध्ययन किया। चौबीस वर्षकी अवस्थामें जब वह अपने घर लौटा, तब उसे बहुत अधिक गर्व हो गया था—'मैं सम्पूर्ण वेदोंका विद्वान् हूँ। मेरे समान दूसरा कोई विद्वान् तथा बुद्धिमान् नहीं है।' घमंडके मारे वह उद्धत हो गया था। पिताके पास आकर उन्हें बिना प्रणाम किये ही खड़ा रहा। उसने अपनेको पितासे भी बढ़कर विद्वान् मान रक्खा था।

विद्या विनय देनेवाली है। यदि विद्वान् होकर कोई विनयी नहीं होता तो उसका विद्या पढ़ना व्यर्थ है। विद्या पाकर असत्पुरुष ही घमंडी होते हैं। अपने पुत्रके गर्वको उद्दालक ऋषिने समझ लिया। इसपर भी उन महात्माको क्रोध नहीं आया। उन्होंने उससे कहा—'श्वेतकेतु! अहंकार सारे दोषोंका घर है। अभिमानी पुरुषके सारे गुण नष्ट हो जाते हैं और उसमें सब दोष आ जाते हैं। जिस एकके सुननेसे सब वस्तुएँ सुन ली जाती हैं, जिस एकके विचारसे सब वस्तुओंका विचार हो जाता है, जिस एकके ज्ञानसे सम्पूर्ण वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त हो जाता है, यदि तुम उसे जानते हो तो बतलाओ।'

पिताकी बात सुनते ही श्वेतकेतुका गर्व नष्ट हो गया। वह नम्र होकर पिताके चरणोंपर गिरकर हाथ जोड़कर बोला—'भगवन्! जिस एक वस्तुको सुनने, सोचने और जाननेसे समस्त वस्तुओंका ज्ञान हो जाता है, उसे मैं नहीं जानता। आप कृपा करके उस वस्तुका मुझे उपदेश करें।'

आरुणि मुनिने कहा—'सौम्य! जैसे मिट्टीको जान लेनेसे उसके द्वारा बने घड़े, सकोरे, बरवे आदिका ज्ञान हो जाता है कि ये सब मिट्टी ही हैं। जैसे सोनेको जान लेनेसे यह पता लग जाता है कि सोनेके बने कुण्डल, कड़े आदि सब आभूषण केवल नाम-रूपसे ही पृथक्-पृथक् हैं, वस्तुतः सब सोना ही है, और जैसे लोहेको पहचान लेनेसे तलवार, भाला आदिकी मूल धातु लोहा जान ली जाती है, वैसा ही वह ज्ञान है।'

अब श्वेतकेतुकी जिज्ञासा पूर्णतः जाग्रत् हो गयी। उसने कहा—'पिताजी! मेरे विद्वान् गुरु इस बातको अवश्य नहीं जानते। वे जानते होते तो मुझे बताये बिना नहीं रहते। अब आप ही मुझे उस वस्तुका उपदेश कीजिये, जिस एकको जान लेनेसे सबका ज्ञान हो जाता है।'

आरुणि मुनिने अब पुत्रको उपदेश देना प्रारम्भ किया। उन्होंने कहा—'यह जो जगत् दिखायी पड़ रहा है, जब यह उत्पन्न नहीं हुआ था, तब एक ही सत् तत्त्व था। उसीको ब्रह्म कहते हैं। उसने संकल्प किया—'मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ।' ऐसा संकल्प करके उसने पहले तेज उत्पन्न किया। उस तेजसे जल तथा फिर अन्न उत्पन्न हुआ। जगत्की सब वस्तुएँ तेज (पित्त या उष्णता), जल (कफ या द्रवतत्त्व) तथा अन्न (ठोस तत्त्व)—इन्हीं तीनोंसे बनी हैं। अग्निकी लाली तेजसे, सफेदी जलसे और कालिमा अन्न या पृथ्वी-तत्त्वसे है। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत् आदि सभी पदार्थोंमें यही तीनों तत्त्व हैं। खाये हुए अन्नके स्थूल भागसे मल, मध्यम भागसे मांस तथा सूक्ष्म भागसे मन बनता है। जलका स्थूल भाग शरीरमें मूत्र, मध्यम भाग रक्त और सूक्ष्म भाग प्राण बनता है। तेल, घी आदि तैजस पदार्थोंका स्थूल भाग हड्डी, मध्यम भाग मज्जा और सूक्ष्म

भाग वाणी बनता है। अतएव मन अन्नमय, प्राण जलमय और वाणी तेजोमय है। जैसे दही मथनेसे उसका सूक्ष्म सार माखन निकल आता है, ऐसे ही खाये हुए अन्नका सार भाग मन, जलका प्राण और तेजका सार भाग वाणी बनता है। ये मन, प्राण और वाणी तथा इनको बनानेवाले अन्न, जल तथा तेज मूलमें सत् ही हैं। वह ब्रह्मरूप सत् पदार्थ ही सबका मूल कारण है, सबका आधार और आश्रय है। उससे बनी जगत्की नाना प्रकारकी आकृतियाँ केवल नाममात्र हैं। वह सत् अत्यन्त सूक्ष्म है। वही समस्त जगत्का आत्मा है। उसीमें यह जगत् कल्पित है। श्वेतकेतु! वह सत् पदार्थ तुम स्वयं हो—'तत्त्वमसि'

जैसे शहदकी मक्खी अनेक वृक्षोंके पुष्पोंसे मधु एकत्र करती है और उनको एकरस बना देती है। शहद बन जानेपर कोई रस नहीं जानता कि मैं किस वृक्षका रस हूँ। ऐसे ही सभी जीव गाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) में उस सत्में मिल जाते हैं। निद्रासे जगनेपर ही उन्हें मनुष्य, पशु, पक्षी आदि भेदका ज्ञान होता है। यह जो गाढ़ निद्रामें रहनेवाला सूक्ष्म तत्त्व है, वही आत्मा है और श्वेतकेतु! वह स्वयं तुम्हीं हो—'तत्त्वमसि'

समुद्रका ही जल वाष्प बनकर बादल बनता है। वर्षा होनेपर नदियोंमें जानेपर वही जल उन-उन नदियोंका जल कहा जाता है और फिर नदियोंके समुद्रमें मिल जानेपर उस जलके अलग-अलग नाम नहीं रह जाते। वह उसीमें एक हो जाता है। वैसे ही ये जीव भी सत्मेंसे निकलकर उसीमें लीन होते हैं। इतनेपर भी ये अपनेको नहीं जानते कि हम 'सत्' से आये हैं। ये अपने बाघ, सिंह, शूकर आदि रूपको ही जानते हैं। इन सब प्राणियोंका आत्मा जो सूक्ष्मतत्त्व है, वही सत् है, वही आत्मा है और श्वेतकेतु! वह स्वयं तुम हो—'तत्त्वमसि'

वृक्षके तने या शाखापर चोट करनेसे वृक्ष सूख नहीं जाता, वह जीवित रहता है, उसके छेदमेंसे रस टपकता है। जबतक वृक्षमें जीवात्मा है, वृक्ष हरा रहता है और अपनी जड़के द्वारा पृथ्वीसे रस खींचता रहता है। वृक्षकी जिस डालसे वह जीवात्मा हट जाता है, वह डाल सूख जाती है। जब जीव सारे वृक्षको छोड़ देता है, तब पूरा वृक्ष सूख जाता है। इसी प्रकार जीव जब शरीरको छोड़ देता है, तब शरीरकी मृत्यु हो जाती है। मृत्यु शरीरकी ही होती है, जीव कभी मरता नहीं। यह जीवरूप सूक्ष्मतत्त्व ही आत्मा है। श्वेतकेतु! वह सत् आत्मा तुम स्वयं हो—'तत्त्वमसि'

श्वेतकेतुने फिर समझानेकी प्रार्थना की। पिताने उसे एक वटका फल लानेको कहा और पूछा कि इसके भीतर क्या है? फल तोड़कर जब बीज श्वेतकेतुने दिखा दिये, तब एक बीज तोड़कर उसके भीतर क्या है, यह देखनेको मुनिने कहा। श्वेतकेतुने बीज तोड़कर देखा और कहा—'इसके भीतर कुछ नहीं है।' मुनि बोले—'वत्स! तू इस बीजके भीतर सूक्ष्मभावको नहीं देखता। जिसे तू 'कुछ नहीं' कहता है, वही तो बड़ा भारी वटवृक्ष बनता है। इसी प्रकार सूक्ष्म आत्मा इस जगत्का आधार है। यह सूक्ष्म तत्त्व ही सत् है, यही आत्मा है और श्वेतकेतु! वह सत् स्वयं तुम हो—'तत्त्वमसि'

फिर समझानेकी प्रार्थना करनेपर मुनिने एक नमककी डली लोटेके जलमें डालकर जल दूसरे दिन लानेको कहा। दूसरे दिन जल लानेपर उन्होंने जलमेंसे वह डली निकालनेकी आज्ञा दी; किंतु वह तो जलमें घुलकर एक हो चुकी थी। श्वेतकेतुको उन्होंने थोड़ा-सा जल पीकर देखनेको कहा। जलका स्वाद खारा हो चुका था। मुनिने समझाया—'जलको चाहे जिधरसे पीकर देखो, उसमें अब सदा सर्वत्र नमककी स्थिति है, यद्यपि नमककी डली उसमें आँखोंसे नहीं दीखती। इसी प्रकार तुम यद्यपि उस 'सत्' तत्त्वको नेत्रोंसे नहीं देख सकते, किंतु वह सर्वत्र सदा विद्यमान है। वह सूक्ष्म सत् ही आत्मा है और श्वेतकेतु! वह तुम स्वयं हो—'तत्त्वमसि'

अबकी बार पुनः पूछनेपर दृष्टान्तके द्वारा उद्दालक मुनिने श्रद्धाका मार्ग बतलाते हुए कहा—'मान लो कि किसी पुरुषके नेत्रोंपर पट्टी बाँधकर डाकू उसे उसकी जन्मभूमि गान्धार देशसे बहुत दूर निर्जन जंगलमें छोड़ दें और वह वहाँ व्याकुल होकर पुकारने लगे। कोई दयालु पुरुष उसकी पुकार सुनकर आवे और उसके नेत्रोंकी पट्टी खोलकर उसे उसकी जन्मभूमिका रास्ता बतला दे। वह व्यक्ति उस दयालु पुरुषकी बातपर विश्वास करके उसके बताये मार्गपर चले तो अवश्य गान्धार देश पहुँच जायगा। इसी प्रकार अज्ञानकी पट्टी बाँधकर जीवको काम, क्रोध, लोभ आदि चोरोंने इस संसाररूपी भयानक वनमें छोड़ दिया है। अब यदि जीव ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुके दयावश किये हुए उपदेशका पालन करे तो वह अविद्याके फंदेसे छूटकर अपने मूल स्वरूप 'सत्' को प्राप्त हो जाता है। यह सूक्ष्म सत् ही आत्मा है और श्वेतकेतु! वह तुम स्वयं हो—'तत्त्वमसि'

पुनः पूछनेपर मुनिने कहा—'मृत्युके निकट पहुँचे रोगीसे उसके सम्बन्धी पूछते हैं कि वह उन्हें पहचानता है या नहीं। जबतक रोगीकी वाणी मनमें, मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेजका ब्रह्ममें लय नहीं हो जाता, तबतक वह सबको पहचान सकता है। जब उसकी वाणी, मन आदिका क्रमशः लय हो जाता है, तब वह किसीको पहचान नहीं पाता। यह जो सबके लय हो जानेपर बचा रहनेवाला सूक्ष्म भाव है, वही आत्मा है, वही सत् है और श्वेतकेतु! वह तुम स्वयं हो—'तत्त्वमसि'

पूछनेपर उद्दालक मुनिने एक और दृष्टान्त देकर बताया—'चोरीके संदेहमें कोई पुरुष पकड़ा जाय और अपना अपराध स्वीकार न करे तो राजपुरुष अग्निसे तपाकर उसके हाथपर कुल्हाड़ी रखते हैं*। अब यदि उसने चोरी की है और झूठ बोलकर छूटना चाहता है तो आत्माको असत्यके साथ जोड़नेके कारण उसका हाथ जल जायगा और उसे अपराधका दण्ड प्राप्त होगा; परंतु यदि वह चोर नहीं है तो सत्यके साथ आत्माको संयुक्त रखनेके कारण उसका हाथ नहीं जलेगा और वह छोड़ दिया जायगा। इस प्रकार सत्य बोलनेके कारण सत्यवक्ता जलती कुल्हाड़ीसे बच जाता है। यह बात बतलाती है कि जीव 'सत्' है, वही आत्मा है और श्वेतकेतु! वह तुम स्वयं हो—'तत्त्वमसि'

पिताके द्वारा इस प्रकार उपदेश प्राप्त करके श्वेतकेतुको आत्माका अपरोक्ष ज्ञान हो गया और वे कृतकृत्य हो गये। सु०

उपकोसल

बेचारा कमलका पुत्र उपकोसल बहुत दुखी था। उसके मनमें अनेकों कामनाएँ थीं। वह ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके लिये बहुत उत्सुक था; किंतु उसके गुरुदेव सत्यकाम जाबाल उसे समावर्तन-संस्कारकी आज्ञा ही नहीं देते थे। उसने पूरे बारह वर्षतक गुरुदेवके अग्नियोंकी सेवा की थी। उसके सहपाठियोंको गुरुदेवने समावर्तन कराके घर भेज दिया था; किंतु उसे आज्ञा नहीं मिल रही थी। गुरुपत्नीने दयावश अपने पतिदेवसे कहा भी—'इसने श्रद्धापूर्वक आपकी इतने दिनोंतक सेवा की है, अतः अब इसका समावर्तन करा दीजिये।' किंतु गुरुदेवने कोई उत्तर नहीं दिया। वे बिना कुछ कहे यात्रा करने चले गये। बात यह है कि योग्य अधिकारी शिष्य पूर्ण ज्ञानी हुए बिना चला जाय, यह गुरुको स्वीकार नहीं था और ज्ञान-प्राप्तिके लिये उचित अधिकारी होनेमें उपकोसलके लिये कुछ प्रतिबन्धक थे। थोड़ी और तपस्या करनेसे उसका चित्त शुद्ध हो सकता था, जो अभी शेष थी। गुरुदेवकी आज्ञाके बिना आश्रमसे चले जानेकी बात ही उस समय कोई सोच नहीं सकता था। श्रद्धालु एवं गुरुभक्त उपकोसलके मनमें गुरुदेवके प्रति दोषबुद्धि भी नहीं आयी। लेकिन अपनेको अनधिकारी समझकर वह दुखी हो गया और अनशन करके शरीर छोड़ देनेका उसने निश्चय किया।

उपकोसलने अन्न-जल छोड़ दिया। गुरुपत्नीने भोजन करनेके लिये कहा तो उसने सरलता तथा नम्रतासे कह दिया—'मैं मानसिक दुःखोंसे व्याकुल हूँ। मेरे मनमें अनेकों कामनाएँ हैं। मैं भोजन नहीं करूँगा।' आजके लोग कामनाओंके पीछे अन्धे बने रहते हैं। वासनाओंकी पूर्तिके लिये अनेक प्रकारके पाप करते भी हिचकते नहीं; किंतु बालक उपकोसल अनशन करके प्राण त्याग देना ठीक समझता था, लेकिन गुरु-आज्ञाके बिना अनुचितरूपसे गृहस्थधर्ममें प्रवेश करनेकी कल्पना भी उसके पवित्र हृदयमें नहीं उठी।

उपवाससे उपकोसलके रहे-सहे पाप भी नष्ट हो गये। उसका हृदय पूर्ण शुद्ध हो गया। अब उसपर कृपा कर हवन-कुण्डकी अग्नियोंने उसे ब्रह्मविद्याका उपदेश किया। कुछ दिनों पीछे सत्यकाम यात्रासे लौट आये। अपने शिष्यका ब्रह्मतेजसे प्रकाशित मुख देखकर उन्होंने पूछा—'बेटा उपकोसल! तेरा मुख ब्रह्मज्ञानियोंके समान प्रकाशित हो रहा है, तुझे किसने उपदेश किया है?'

उपकोसलको किसी मनुष्यने तो उपदेश किया नहीं था, अतः उसने सांकेतिक भाषामें नम्रतापूर्वक उत्तर दिया—'भगवन्! मुझे आपके अतिरिक्त और कौन उपदेश करेगा? ये अग्नि पहले मानो कुछ और प्रकारके थे, अब आपको देखकर ये डर-से रहे हैं।'

गुरुदेवके पूछनेपर अग्नियोंसे जो उपदेश प्राप्त हुआ

* प्राचीन समयमें विश्वास किया जाता था कि सत्यवादीको अग्नि जलाया नहीं करती। अतएव सत्य-असत्यके निर्णयके लिये सन्दिग्ध व्यक्तिके हाथपर जलता लोहा रखनेकी उस समय प्रथा थी।

था, उसे उपकोसलने सुना दिया। अग्नियोंने उसे अग्नि-विद्या—यज्ञ-रहस्य तथा जीवका गति-क्रम समझाया था। यह विद्या लोक एवं परलोकमें हितकारिणी थी; किंतु अब गुरुदेवने उसे ब्रह्मतत्त्वका उपदेश किया। आत्मज्ञानका उपदेश करके तब उसे समावर्तन कराके घर जानेकी गुरुदेवने आज्ञा दी। सु०

ज्ञानी बालक सुतनु

देवर्षि नारद भगवान् नारायणके मनोऽवतार हैं। भगवान् जो कुछ करना चाहते हैं, नारदजी उसीके लिये चेष्टा करते हैं। भगवान्‌की इच्छा हुई कि भारतवर्षमें कलाप ग्रामके परम पवित्र ब्राह्मण बसाये जायँ, सो नारदजीके मनमें भी उत्तम ब्राह्मणोंको भूमिदान करनेकी इच्छा हुई। पवित्र भूमि ढूँढ़ते हुए नारदजी महर्षि भृगुके आश्रम (भृगुकच्छ) में आये। पूछनेपर भृगुजीने उन्हें दानके योग्य सर्वोत्तम भूमि, जहाँ मही नामक नदी समुद्रमें मिलती है, वह स्तम्भ-तीर्थ (खम्भात) बतलाया। भृगुजी और नारदजी उस स्थानपर आये। उस समय वहाँ आये ऋषियोंसे पता लगा कि उस प्रदेशके राजा धर्मवर्माने स्वप्नमें एक श्लोक सुना है। श्लोकका तात्पर्य बहुत कठिन है। जो कोई राजाको श्लोकका अर्थ बता देगा, उसे राजाने सात गाँव और बहुत-सा धन देनेकी प्रतिज्ञा की है। नारदजीने सोचा कि यह अच्छा उपाय है। राजाका दान लेना तो एक प्रकारका पाप है; परंतु यह तो विद्याके मूल्यसे भूमि और धन मिल रहा है। देवर्षि राजा धर्मवर्माके पास गये और श्लोकका तात्पर्य तथा राजाके प्रश्नोंका उन्होंने उत्तर दिया। इस प्रकार उन्होंने महीसागर-संगमपर सात गाँव तथा बहुत-सा धन प्राप्त किया।

भूमि और धन तो मिल गया, पर वह दिया किसको जाय! दान सत्पात्रको ही देना उत्तम होता है। यदि कोई दानका दुरुपयोग करे तो उसके पापमें दान देनेवालेको भी भाग मिलता है। अतएव दान खूब सोच-विचार करके देना चाहिये। देवर्षि सर्वोत्तम ब्राह्मणोंको भूमि देना चाहते थे, इसलिये ब्राह्मणोंके ज्ञानकी परीक्षाके लिये उन्होंने बारह प्रश्न पूछने प्रारम्भ किये। उनके प्रश्नोंका उत्तर देना सरल नहीं था। जब कहीं कोई उनके प्रश्नोंका उत्तर न दे सका, तब अन्तमें वे कलाप ग्राममें गये। यह कलाप ग्राम सौ योजन हिमालयके मध्यमें है। वहाँ कोई सामान्य व्यक्ति नहीं पहुँच सकता। युगोंतक तपस्या करनेवाले दिव्यदेह पुरुष वहाँ निवास करते हैं। वहाँ या तो आकाशमार्गसे विचरण करनेवाले ऋषिगण जा सकते हैं या दक्षिण दिशामें स्थित कुमार स्कन्दकी अन्न-जल छोड़कर आराधना करनेवाले उपासक उनके द्वारा बताये गुप्त भूगर्भ मार्गसे पहुँच सकते हैं। उस कलाप ग्राममें जब देवर्षि पहुँचे, तब वहाँके तपस्वी एवं यज्ञनिष्ठ विद्वान् ब्राह्मणोंने उनका यथोचित सत्कार किया। देवर्षि कुछ प्रश्न पूछना चाहते हैं, यह जानकर उन्हें बड़ा संतोष हुआ; किंतु देवर्षिके प्रश्नोंको सुनकर उन्होंने कहा—'ब्रह्मन्! आपके प्रश्न तो बालकों-जैसे हैं। इन छोटे प्रश्नोंका उत्तर आप हमलोगोंमें जिसे सबसे छोटा और ज्ञानहीन समझते हों, वही दे देगा।' देवर्षिको यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने उन ब्राह्मणोंमें जो सबसे कम अवस्थाका बालक था, उसे अपने प्रश्नोंका उत्तर देनेको कहा। उस बालकका नाम सुतनु था। वह क्रमशः देवर्षिके प्रश्नोंका उत्तर देने लगा।

देवर्षिका पहला प्रश्न था—मातृकाको कौन विशेष रूपसे जानता है? वह कितने प्रकारकी और कैसे अक्षरों-वाली है?

सुतनुने कहा—चौदह स्वर, तैंतीस व्यञ्जन, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय आदि मिलाकर बावन मातृका वर्ण माने गये हैं। इनमें पहला अक्षर ॐकार है। जितनी भी जानने योग्य बातें हैं, सब मातृका वर्णोंसे ही जानी जा सकती हैं।

ॐकारके सिरपर जो अनुस्वाररूप अर्धमात्रा है, वह भगवान् शिवका रूप है। अकार ब्रह्माजी, उकार भगवान् विष्णु और मकार महेश्वरका रूप कहा गया है। ये तीनों वर्ण त्रिगुणमय हैं। ॐकारकी महिमा तो अपार ही है।

मातृकामें जो 'अ' से लेकर 'औ' तक चौदह स्वर हैं, वे चौदह मनुओंके स्वरूप हैं। [स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तम, रैवत, तामस और चाक्षुष—ये छः मनु हो चुके। यह वैवस्वत मनुका मन्वन्तर चल रहा है। सावर्णि, ब्रह्म-सावर्णि, रुद्रसावर्णि, दक्षसावर्णि, धर्मसावर्णि, रौच्य तथा

भौत्य—ये सात मनु क्रमशः आगे होंगे। इस प्रकार ये चौदह मनु हैं।] 'क' से लेकर 'ठ' तक बारह आदित्य, 'ड' से 'ब' तक ग्यारह रुद्र, 'भ' से 'ष' तक आठ वसु और 'स' तथा 'ह' दोनों अश्विनीकुमार, इस प्रकार 'क' से 'ह' तक तैंतीस देवता हैं।

अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय—ये चार अक्षर जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उद्भिज्ज—ये चार प्रकारके जीव हैं। चार प्रकारके जीवोंमेंसे कोई भी जब मन, वाणी तथा कर्मसे तैंतीस देवताओंका आश्रय लेकर कर्मानुष्ठान करता है, तब चित्त शुद्ध होनेपर वह अर्धमात्रास्वरूप नित्यपद (शिव-तत्त्व) में लीन होता है। जिस मार्गमें पापी मनुष्य इन देवताओंको नहीं मानते, उसे कदापि नहीं मानना चाहिये। वैदिक मार्गमें देवता सर्वत्र प्रतिष्ठित हैं। जो इन देवताओंको न मानकर कर्मानुष्ठान करता है, वह अधःपतित होता है। मातृका (अक्षर) पढ़नेका फल देवताओंका ज्ञान होना ही है।

दूसरा प्रश्न देवर्षिका था—कौन द्विज पचीस वस्तुओंसे बने घरको भली प्रकार जानता है?

सुतनुने बताया—पाँच महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी), पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (कर्ण, नेत्र, त्वचा, नासिका और रसना), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पैर, जिह्वा, मूत्रेन्द्रिय और गुदा), पाँच विषय (रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श), मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति और पुरुष ये पचीस तत्त्व हैं। इन पचीस तत्त्वोंसे बना यह शरीर ही घर है। जो इसे इस प्रकार जानता है, वह परमात्माको प्राप्त करता है।

तीसरा प्रश्न—अनेक रूपवाली स्त्रीको एक रूपवाली बनानेकी कला किसे ज्ञात है?

उत्तर—वेदज्ञ विद्वान् बुद्धिको ही अनेक रूपवाली स्त्री कहते हैं। अनेक प्रकारके पदार्थोंके सेवनमें लगकर यह उन-उन विषयोंका रूप धारण किया करती है। यह केवल धर्मके संयोगसे धर्ममें लगकर ही एकरूपा (निश्चयात्मिका) रहती है। जो इस बातको जानता है, वह धर्मका आश्रय लेनेके कारण कभी नरकमें नहीं पड़ता।

चौथा प्रश्न—संसारमें रहनेवाला कौन पुरुष विचित्र कथावाली वाक्यरचना जानता है?

उत्तर—जो बात ऋषियोंने नहीं कही है तथा जिस वचनमें देवताओंका अस्तित्व नहीं माना गया है, वह विचित्र बात है। जो कामनायुक्त वचन हैं, वे भी विचित्र हैं। ऐसे वचनोंको नहीं मानना चाहिये। इनको माननेसे बन्धनमें पड़ना पड़ता है।

पाँचवाँ प्रश्न—कौन स्वाध्यायशील ब्राह्मण समुद्रवासी महान् ग्राहको जानता है?

उत्तर—यह संसार ही समुद्र है और उसमें लोभ ही बड़ा भारी ग्राह है। लोभसे ही मनुष्य पापमें लगता है। लोभसे ही कामना, मोह, क्रोध, शठता, अभिमान आदि होते हैं। दूसरेके धनका हरण, हत्या, दम्भ, डाह, निन्दा आदि दुर्गुण लोभसे ही आते हैं। बड़े-बड़े शास्त्रोंको जाननेवाले विद्वान् भी लोभके वशमें होकर पतित हो जाते हैं। लोभ और क्रोधके वश होकर पुरुष सदाचारसे गिर जाता है। लोभी मनुष्य धूर्त होता है। वह झूठे तर्क करके धर्मका लोप करता है, मीठी बातें बनाकर दूसरोंको ठगता है तथा लोभवश अपने स्वजनोंतकसे क्रूरताका व्यवहार करता है। लोभमें डूबे रहनेवाले महान् पापी हैं। जो लोभको जीत लेते हैं, वे इस संसार-समुद्रसे पार हो जाते हैं।

छठा प्रश्न—आठ प्रकारके ब्राह्मणत्वका किसे ज्ञान है?

उत्तर—मात्र, ब्राह्मण, श्रोत्रिय, अनूचान, भ्रूण, ऋषिकल्प, ऋषि और मुनि—ये आठ प्रकारके ब्राह्मण कहे गये हैं। जिसका जन्म तो ब्राह्मणकुलमें हुआ है, परंतु उपनयन संस्कार और वैदिक कर्मोंसे जो हीन रह गया है, वह 'मात्र' कहलाता है। जो व्यक्तिगत स्वार्थ छोड़कर वैदिक आचारका पालन करता है, सरल, एकान्तप्रिय, सत्यवादी और दयालु है, वह 'ब्राह्मण' है। जो वेदकी किसी एक शाखाको कल्प तथा छहों अङ्गोंसहित पढ़कर ब्राह्मणोचित कर्म करता है, वह 'श्रोत्रिय' है। जो वेद एवं वेदाङ्गोंका तत्त्वज्ञ, पापरहित, शुद्धचित्त तथा श्रोत्रिय विद्यार्थियोंको पढ़ानेवाला है, वह 'अनूचान' है। जो अनूचान होकर स्वाध्यायमें ही लगा रहता है (पढ़ाता नहीं), यज्ञ करके यज्ञशेषका ही भोजन करता है, अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखता है, वह 'भ्रूण' कहलाता है। जो सम्पूर्ण लौकिक एवं वैदिक विषयोंका ज्ञान प्राप्त करके मन एवं इन्द्रियोंको वशमें करके आश्रममें ही निवास करता है, वह 'ऋषिकल्प' है। जो नैष्ठिक ब्रह्मचारी है, जिसे किसी विषयमें कोई सन्देह नहीं, जो शाप और वरदान देनेमें समर्थ सत्यप्रतिज्ञ है, वह 'ऋषि' है। जो निवृत्तिमार्गमें स्थित है, सम्पूर्ण तत्त्वोंका ज्ञाता है, काम-क्रोधसे रहित है, ध्याननिष्ठ, जितेन्द्रिय तथा सोने एवं मिट्टीको समान माननेवाला है, उसे

'मुनि' कहा जाता है। वंश, विद्या और सदाचारसे ऊँचे उठे ब्राह्मण 'त्रिशुक्ल' कहे जाते हैं। वे ही यज्ञमें पूजनीय होते हैं।

सातवाँ प्रश्न–चारों युगोंके मूल दिन कौन बता सकता है?

उत्तर–कार्तिक मासके शुक्लपक्षकी नवमी सत्ययुगकी आदि-तिथि कही गयी है। वैशाख शुक्ल तृतीयाको त्रेतायुगका प्रारम्भ हुआ। माघके कृष्णपक्षकी अमावस्या द्वापरके प्रारम्भकी तिथि है और भाद्र कृष्ण त्रयोदशीसे कलियुग प्रारम्भ हुआ। इन चारों युगारम्भकी तिथियोंमें किया हुआ हवन, दानादि अक्षय होता है।

आठवाँ प्रश्न–चौदह मनुओंके मूल दिवस कौन-से हैं?

उत्तर–आश्विन शुक्ला नवमी, कार्तिक शुक्ला द्वादशी, चैत्र तथा भाद्रपदके शुक्लपक्षकी तृतीया, फाल्गुनकी अमावस्या, पौष शुक्ल एकादशी, आषाढ़ शुक्ल दशमी, माघ शुक्ल सप्तमी, श्रावण कृष्ण अष्टमी, आषाढ़, कार्तिक, फाल्गुन, चैत्र तथा ज्येष्ठकी पूर्णिमा—ये मन्वन्तरोंके आरम्भकी तिथियाँ हैं। दान-पुण्यको ये अक्षय करनेवाली हैं।

नवाँ प्रश्न–भगवान् सूर्य किस दिन पहले-पहल रथपर सवार हुए?

उत्तर–माघ शुक्ल सप्तमीको भगवान् सूर्य पहले-पहल अपने रथपर आरूढ़ हुए थे। विद्वान् लोग इसीसे इसे रथसप्तमी कहते हैं। इसमें किया गया दान-पुण्य अक्षय फल देनेवाला होता है।

दसवाँ प्रश्न–जो काले सर्पके समान प्राणियोंको उद्वेगमें डाले रहता है, उसे कौन जानता है?

उत्तर–जो प्रतिदिन याचना करता है, वह स्वर्ग जानेका अधिकारी नहीं। वह पापी है और चोरके समान सबको उद्वेगमें डालनेवाला है। उसे अवश्य नरकमें जाना पड़ता है।

ग्यारहवाँ प्रश्न–इस भयङ्कर संसारमें दक्ष पुरुषोंसे भी दक्ष कौन है?

उत्तर–जो यह विचार करता है—'मुझे इस लोकमें किस कर्मसे सिद्धि प्राप्त होगी। मृत्युके पश्चात् मुझे कहाँ जाना है?' यह सोचकर जो आगामी क्लेशको दूर करनेके लिये ठीक उपाय करता है, वही सबसे दक्ष पुरुष है। जो पुरुष अपनी आयुमेंसे कुछ काल या सम्पूर्ण जीवनभर ऐसा कर्म करता है, वही परम सुख पाता है।

बारहवाँ प्रश्न–दोनों मार्गोंको कौन ब्राह्मण जानता है?

उत्तर–शास्त्रोंमें जीवके ऊर्ध्वगतिके दो मार्ग बताये गये हैं—अर्चि और धूम। सकामभावसे यज्ञादि करनेवाला धूम-मार्गसे जाता है और स्वर्गमें पुण्यफल भोगकर फिर इस संसारमें लौट आता है। निष्काम कर्म करनेवाले ज्ञानी तथा भगवद्भक्त अर्चिमार्गसे जाकर मुक्त हो जाते हैं। इन दोनों मार्गोंसे भिन्न जो मार्ग हैं, वे पाखण्ड (कुमार्ग) हैं। जो देवताओं तथा शास्त्रीय धर्मको नहीं मानता, वह इन दोनों मार्गोंको न पाकर भ्रष्ट हो जाता है।

इस प्रकार देवर्षिके प्रश्नोंका उत्तर देकर बालक सुतनुने उन्हें प्रसन्न किया और फिर उनका परिचय पूछा। देवर्षि-का परिचय जानकर वहाँके सभी ब्राह्मणोंने बड़े आदरसे उनका पूजन किया। उन ब्राह्मणोंसे देवर्षिने महीसागर-सङ्गमपर भूमिदान लेकर बसनेका अनुरोध किया। देव-दुर्लभ पुण्यभूमि भारतवर्षमें ऐसे उत्तम तीर्थमें निवासकी बात उन ब्राह्मणोंमेंसे हारीतमुनिने स्वीकार कर ली। उनके परिवारमें छब्बीस सहस्र तपस्वी, वेदज्ञ, पवित्र ब्राह्मण थे। अपने तपोबलसे सूक्ष्मदेह धारण करके वे सब नारदजीकी वीणाके दण्डपर बैठ गये और देवर्षि नारदजी आकाशमार्गसे उन्हें उस स्तम्भतीर्थमें ले आये। वहाँ हारीतमुनि तथा ब्राह्मणोंका पूजन करके नारदजीने वह भूमि तथा राजा धर्मवर्मासे मिला सब धन उन्हें दान करके वहीं उनको बसाया। सु०

जन्मसिद्ध बालक ऐतरेय

महीसागरसङ्गम तीर्थमें देवर्षि नारदजीद्वारा बसाये गये ब्राह्मणोंके प्रमुख हारीत मुनिके गोत्रमें पीछे एक माण्डूकि मुनि हुए। ये वेद-वेदाङ्गमें निष्णात विद्वान् थे। इनकी पत्नी इतराके गर्भसे ऐतरेय नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। बालक ऐतरेयको पूर्वजन्ममें ही द्वादशाक्षर मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) की शिक्षा मिली थी। वह बाल्यावस्थासे निरन्तर इसी मन्त्रका जप किया करता था। इस जपके अतिरिक्त वह न तो किसीकी बात सुनता था और न स्वयं कुछ बोलता ही था। सबको निश्चय हो गया कि वह गूँगा है। पिताने उसे अनेक प्रकारसे समझाना, सिखाना और पढ़ाना चाहा, पर उसने लौकिक व्यवहारमें कभी मन नहीं लगाया। इससे पिताने भी उसे जड़ समझ लिया। उन्होंने पिंगा नामक दूसरी स्त्रीसे विवाह किया, जिससे चार पुत्र हुए।

बालक ऐतरेय प्रतिदिन तीनों समय नियमपूर्वक
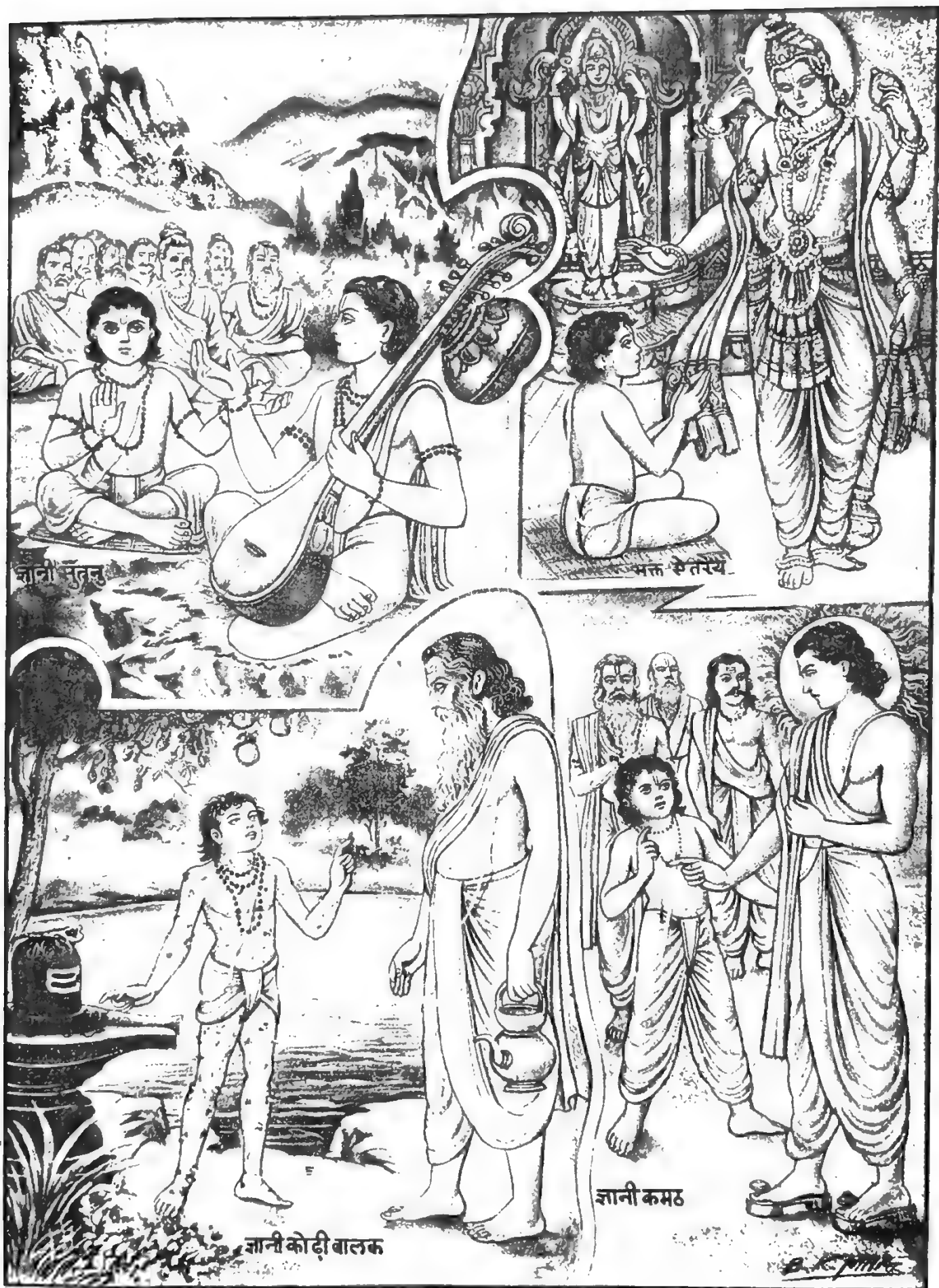
ज्ञानी-भक्त बालक—सुतनु, ऐतरेय, कोढ़ी, कमठ

भगवान् वासुदेवके मन्दिरमें जाकर उसी मन्त्रका जप करते थे। एक दिन उनकी माताने अपनी सौतके पुत्रोंको विद्वान् देखकर अत्यन्त दुःखसे उनसे कहा—'अरे! तू तो मुझे क्लेश देनेके लिये ही उत्पन्न हुआ है। उस स्त्रीका जन्म व्यर्थ है, जो पतिसे तिरस्कृत हो और जिसका पुत्र गुणवान् न हो। मैं बड़ी अभागिनी हूँ। मेरा महीसागरसंगममें डूब मरना ही अच्छा है।'

माताकी बात सुनकर धर्मज्ञ ऐतरेय खुलकर हँस पड़े। उन्होंने पहले भगवान्‌का ध्यान किया और फिर माताके चरणोंमें प्रणाम करके वे बोले—'मा! तुम झूठे मोहमें पड़ी हो। अज्ञानको ही तुम ज्ञान मान रही हो। जो शोक करने योग्य नहीं है, उसीके लिये शोक कर रही हो और जो शोचनीय है, उसके लिये तुम्हारे मनमें तनिक भी शोक नहीं होता। इस शरीरके लिये तुम क्यों शोक करती हो? यह तो मूर्खोंका काम है। इस शरीरमें है क्या? रक्त-मांससे भरा है यह। हड्डियोंके ढाँचेपर खड़ा है और नसोंसे बँधा हुआ है। विष्ठा और मूत्रका बर्तन है यह। केश, नख, रोम आदि सभी अपवित्र वस्तुएँ इसमें लगी हैं। केवल सुन्दर चमड़ेसे ढका होनेसे ही यह सुन्दर दीखता है। थूक, पीब आदि दुर्गन्धित मल इससे निकला करते हैं। इस अपवित्र वस्तुओंके भण्डारमें आसक्त जीव इसे अपना मानता है, यह कितने दुःखकी बात है। अपने ही शरीरसे निकले मल, मूत्र, थूकसे छू जानेपर मनुष्यका हाथ अपवित्र हो जाता है और उसे मिट्टीसे शुद्ध करना पड़ता है; किंतु इतनेपर भी इस दुर्गन्धके ठीकरेसे वैराग्य नहीं होता, यह कितने आश्चर्यकी बात है। सुगन्धित तेल, मिट्टी आदिसे कितने भी यत्नपूर्वक शुद्ध किया जाय, शरीर तो स्वभावसे ही अपवित्र है, वह क्या पवित्र हो सकता है? जो अपने देहकी दुर्गन्धसे विरक्त नहीं होता, उसे भला और कैसे वैराग्य होगा। दुर्गन्ध तथा मल-मूत्रके लेपको दूर करनेके लिये ही जल-मिट्टी आदिसे शुद्धिका विधान है। इस शुद्धिके पश्चात् आन्तरिक शुद्धि होती है। भावकी शुद्धि ही मुख्य है। भावसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। एक ही स्त्रीको उसका पुत्र तथा पति दोनों छूते हैं, पर दोनोंके छूनेमें दो भाव होनेसे बहुत भेद है। भावदृष्टिसे जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, वही स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त कर सकता है। उसे इस अपवित्र शरीरमें बार-बार नहीं आना पड़ता।

'इस शरीरमें चमड़ा ही जो कुछ है सो है। चमड़ा उधेड़ दें तो कोई इसके पास भी फटकना नहीं चाहेगा। जो बुद्धिमान् व्यक्ति इस शरीरके मोहको छोड़ देता है, वह जन्म-मरणके चक्करसे छूट जाता है। जो इस देहमें आसक्त रहता है, उसे नाना प्रकारके क्लेश भोगने पड़ते हैं। शरीरके मोहसे ही जीव गर्भमें आता है। वहाँ वह झिल्लीमें बँधा दो पर्वतोंके मध्य दबे प्राणी-जैसा कष्ट पाता है, समुद्रके जलमें डूबनेके समान गर्भके जलमें व्याकुल रहता है और जठराग्नि उसे ऐसे तपाती है, जैसे किसीको जीते-जी कड़ाहेके तेलमें खौलाया जाय। आठ महीनेतक उसे ऐसी वेदना होती है, जैसे तपायी हुई सहस्रों सुइयाँ सारे अङ्गोंको छेद रही हों। यहीं जीवको अपने पूर्वजन्मोंका स्मरण होता है। वह अपने पूर्वजन्मोंके कर्मोंके लिये पश्चात्ताप करता है और आगे ऐसे साधन करनेका निश्चय करता है, जिससे फिर गर्भमें न आना पड़े।

'गर्भवाससे भी करोड़ों गुना अधिक कष्ट जन्म लेते समय होता है। गर्भमें जो स्मृति एवं सद्‌बुद्धि जाग्रत् होती है, वह जन्म लेते ही नष्ट हो जाती है। बाहरकी हवा लगते ही मूढ़ता आ जाती है। मोहग्रस्त होकर जीव इसी देहमें अनुराग करने लगता है। राग और मोहके वश होकर संसारमें न करने योग्य पापकर्म वह करता है। विद्वानोंके समझानेपर भी वह अपने कल्याणकी बात नहीं समझता।

'बाल्यकालमें इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ असमर्थ रहती हैं। शिशु दूसरोंके अधीन रहता है। भूख-प्यास, मच्छर आदिके काटने तथा दूसरे कष्टोंको वह बता नहीं पाता। कुछ बड़े होनेपर दाँत उठनेसे कष्ट होता है। माताके खान-पान-दोषका क्लेश भी उसे भोगना पड़ता है। वह केवल रोता रहता है। कुछ करनेमें समर्थ नहीं होता।

'युवावस्था आनेपर काम और रागके कारण पुरुष मतवाला हो जाता है। ईर्ष्या और आसक्ति उसे उद्विग्न किये रहती है। कामी, क्रोधी और मोहासक्तको भला सुख कहाँ, उसे तो निद्रा भी नहीं आती। दिनमें द्रव्यके उपार्जनकी चिन्ता और श्रमसे व्याकुल रहता है। और स्त्रियाँ सब दोषोंका आश्रय हैं, यह जान लेनेपर भी वह उन्हींके पीछे पागल बना रहता है।

'जवानी एक दिन जानेवाली ही ठहरी। शरीर तो बूढ़ा होगा ही। बुढ़ापेमें शक्ति नष्ट हो जाती है। कोई काम किया नहीं जाता। रूप कुरूप हो जाता है। नेत्र देख नहीं पाते, कानोंसे सुनायी नहीं देता, दाँत गिर जाते

हैं और खायी हुई वस्तु ठीक पचती नहीं। स्त्री-पुत्र, सगे-सम्बन्धी तथा सेवक बार-बार अपमान करते हैं। वृद्धावस्थामें रोग घेर लेते हैं। उस समय पुरुष अर्थ, धर्म, काम या मोक्ष किसीका साधन नहीं कर सकता। अतएव धर्मका आचरण तो युवावस्थामें ही करना चाहिये।

'वात, पित्त और कफसे यह शरीर बना है। इनकी विषमता होनेपर रोग होते हैं। यह देह रोगका घर है। अनेक प्रकारके रोग इसे घेरे ही रहते हैं। ओषधिसे, संयमसे, जप, हवन और दानसे दूसरे रोग तो मिटाये भी जा सकते हैं; किंतु मृत्युको कोई दूर नहीं कर सकता। मृत्यु सदा सबके सिरपर सवार है। वह चाहे जब आ सकती है। घर-द्वार, स्त्री-पुत्र, धन-दौलत सबसे एक क्षणमें वह अलग कर देती है। वैसे तो मनुष्यकी आयु सौ वर्ष मानी जाती है, पर साठ-पैंसठ वर्ष जीवित रहना ही आजकल बड़ी बात है। मृत्यु तो जन्मते ही या बरस दो बरसके बालकोंकी भी होती है। जो जीवन मिलता भी है, उसमें आधा तो रात्रियाँ ले लेती हैं। बाल्यकालकी अबोधावस्था और बुढ़ापेकी असमर्थतामें बीस वर्ष ऐसे जाते हैं जो किसीके काम नहीं आ सकते। बची आयुका भी आधा भाग रोग, शोक तथा भयके कारण नष्ट हो जाता है। इन सबसे जो बच रहे, वही मनुष्यका सच्चा जीवन है।

'जीवन जब समाप्त होता है, मृत्यु उसी प्रकार प्राणीको निगलने लगती है, जैसे मेढकको साँप निगलता है। उस समय असह्य कष्ट होता है। शरीरके सारे मर्मस्थान फटने लगते हैं। कफसे कण्ठ रुक जाता है और बड़े कष्टसे घर्र-घर्र शब्दके साथ श्वास निकलता है। हाथ-पैर पछाड़ता है पुरुष और वेदनासे करवटें बदलता है। लज्जा छूट जाती है, वस्त्र खुल जाते हैं, मल-मूत्र निकल पड़ता है और वह व्याकुल होकर अपने प्रियजनोंको पुकारता है। कण्ठ और तालू सूख जाते हैं। इतनेपर भी वह अपने स्त्री-पुत्रोंकी चिन्ता करता रहता है। यमराजके दूत उसे बलात् शरीरसे निकाल ले जाते हैं।

'मृत्युका दुःख तो कुछ क्षणोंका है, पर जीवनमें ही नाना प्रकारके दुःख भरे पड़े हैं। सबसे बड़ा दुःख है याचना करना। किसीसे कुछ माँगना तो मृत्युसे भी बड़ा दुःख है। तृष्णाका दुःख कभी दूर नहीं होता। फिर भूखका रोग नित्य लगा रहनेवाला है। यह क्षुधा बलका नाश करनेवाली है। अन्नरूपी ओषधिसे इसे नित्य दूर करना पड़ता है। जिनके पास धन नहीं, जो कंगाल हैं, वे बेचारे जीवनभर क्षुधासे पीड़ा पाते रहते हैं और जिनके पास धन है, उनके पीछे अभिमानका दुःख लगा है। धनकी चिन्ता और गर्व उन्हें निरन्तर जलाया करते हैं।

'सुख धनमें तो क्या होगा, स्वर्गमें भी नहीं है। वहाँसे भी पुण्य समाप्त होनेपर गिरना पड़ता है। नरकके प्राणियोंका दुःख तो प्रसिद्ध ही है। जो जीव वृक्षादि योनियोंमें जाते हैं, उन्हें लोग मनमाना तोड़ते, काटते, कुचलते हैं। वे धूपमें सूखते और दावाग्निमें जलते हैं। सर्पादि जीवोंको भूख-प्यास और क्रोधसे निरन्तर कष्ट भोगना पड़ता है। उन्हें अचानक ही कोई मार देता है। पशु-पक्षियोंको लोग बाँधते हैं, उनसे काम लेते हैं, कठिनतासे ही उनका पेट कभी भरता है। परस्परके युद्धकी पीड़ा भी उन्हें सहनी पड़ती है।

'अकाल, दुर्भाग्य, मूर्खता, दरिद्रता, राज्योंका परस्पर युद्ध, परस्पर अपमान, आपसकी ईर्ष्या, भय, क्रोध, लोभ आदिके दुःखोंसे यह सम्पूर्ण चराचर जगत् व्याप्त है। इस संसारमें सुखका नाम भी नहीं है। जैसे कोई सिरके भारको कंधेपर रखकर अपनेको सुखी माने, वैसे ही दुःखका थोड़ा कम होना ही यहाँ सुख माना जाता है। बुद्धिमान् वही है जो ऐसे संसारसे मनको विरक्त कर ले; क्योंकि वैराग्यसे ही ज्ञान होता है और ज्ञानसे भगवान्‌को जानकर मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है।

'मा! जैसे कौओंके अपवित्र स्थानमें राजहंस नहीं रह सकता, वैसे ही मैं इस दुःखमय संसारमें आसक्त कैसे हो सकता हूँ? इस अविद्याके वनमें कर्ममय वृक्ष हैं, संकल्पोंके मच्छर हैं, शोक-हर्षरूप सर्दी-गरमी और मोहका अन्धकार है यहाँ। लोभरूपी सर्प यहाँ भरे हैं तथा काम-क्रोधरूपी डाकू इसमें डेरा डाले हैं। मैं इस दुःखमय घोर वनको पार करके जिस दिव्य देशमें पहुँचा हूँ उसे ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं। तेज, अभयदान, अद्रोह, कौशल, अचपलता, अक्रोध और प्रियवचन—ये सात वहाँके पर्वत हैं। दृढ़ निश्चय, सबके साथ समता, मन-इन्द्रियोंका संयम, गुणसंचय, ममताका अभाव, तपस्या तथा संतोष—ये सात वहाँ ह्रद हैं। भगवान्‌की भक्तिसे उनके गुणोंका ज्ञान, वैराग्य, ममता-त्याग, भगवान्‌की पूजा, भगवदर्पण बुद्धि, ब्रह्मज्ञान और सिद्धि—ये सात वहाँकी नदियाँ हैं। शान्त, जितेन्द्रिय भगवान्‌के भक्त महात्मा ही वहाँ पहुँच सकते हैं।

'मा ! मैंने ब्रह्मचर्य-व्रत धारण किया है। हृदयमें विराजमान अन्तर्यामीको ही मैंने अपना गुरु बनाया है। वे परमात्मा ही सबके सच्चे बन्धु हैं। मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ। माता ! तुम दुखी मत होओ। मैं उस पदको प्राप्त करूँगा, जहाँ सैकड़ों यज्ञ करके भी जाया नहीं जा सकता।'

अपने पुत्रकी बात सुनकर इतराको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह सोचने लगी—'जब मेरे पुत्रकी दृढ़ निष्ठा एवं विद्याका लोगोंको पता लगेगा, तब इसकी कीर्ति चारों ओर फैल जायगी और मेरा भी बहुत यश फैलेगा।'

ठीक इसी समय मूर्तिमेंसे शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी भगवान् विष्णु प्रकट हो गये। करोड़ों सूर्योंके समान उनकी अङ्गकान्ति थी। भगवान्‌को देखते ही ऐतरेय दण्डकी भाँति उनके चरणोंपर गिर पड़े। उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आया। नेत्रोंसे आँसूकी धारा चलने लगी। उठकर हाथ जोड़कर गद्गद स्वरसे उन्होंने भगवान्‌की बहुत ही भावपूर्ण स्तुति की। उनकी स्तुतिसे संतुष्ट होकर भगवान्‌ने उनसे वरदान माँगनेको कहा। ऐतरेयने कहा—'प्रभो ! मुझ संसार-सागरमें डूबते हुए असहायके आप कर्णधार बन जायँ।'

भगवान्‌ने ऐतरेयको प्रसन्न होकर ऐश्वर्य प्राप्त करने तथा उत्तम बुद्धिका वरदान दिया तथा विवाह करनेका आदेश दिया। भगवान् आदेश देकर उसी मूर्तिमें पुनः प्रविष्ट हो गये। ऐतरेय जन्मसे ही जीवन्मुक्त थे। भगवान्‌के आदेशके अनुसार उन श्रीहरिद्वारा निर्दिष्ट कोटितीर्थमें वे गये, जहाँ हरिमेधा ऋषि यज्ञ कर रहे थे। वहाँ हरिमेधा ऋषिने इनकी विद्वत्ताका परिचय पाकर इनका बड़ा सत्कार किया। इन्हें बहुत-सा द्रव्य दक्षिणामें दिया और अपनी पुत्रीसे इनका विवाह कर दिया।

ऐतरेयजीने अपनी मातासे बताया था—'मैं पूर्वजन्ममें संसारके दोषोंसे भयभीत होकर एक दिन एक धर्मात्मा ब्राह्मणकी शरणमें गया। उन परम दयालु विप्रने मुझे द्वादशाक्षर मन्त्रका उपदेश किया। उसी मन्त्रके जपके फलस्वरूप उत्तम ब्राह्मणकुलमें मेरा जन्म हुआ है। पूर्वजन्मकी स्मृति और भगवान् वासुदेवमें अनुराग भी उसी मन्त्रके जपका ही फल है।'—सु०

तत्त्वदर्शी बालक कमठ

एक दिन जब देवर्षि नारद घूमते हुए सूर्यलोकमें पहुँचे, तब सूर्य भगवान्‌ने उनसे पूछा—'नारदजी ! आपने जो महीसागरसंगम तीर्थमें ब्राह्मण बसाये हैं, वे कैसे हैं ?'

देवर्षिने कहा—'भगवन् ! क्योंकि मैंने उन्हें बसाया है, अतः वे मेरे स्वजन हुए। आत्मीयजनोंकी प्रशंसा करना तो सत्पुरुष उचित नहीं बताते और निन्दाके वे पात्र नहीं हैं। उन महात्मा ब्राह्मणोंकी महिमा आप स्वयं चलकर देखें।'

सूर्य भगवान् उन ब्राह्मणोंके दर्शन करनेको उत्सुक हो गये। उन्होंने नारदजीको विदा कर दिया और स्वयं एक रूपसे आकाशमें तपते हुए, अपने योगप्रभावसे एक दूसरा तपस्वी ब्राह्मणका स्वरूप धारण करके उस पवित्र क्षेत्रमें पहुँचे। अतिथिको आया देखकर वहाँके ब्राह्मण अपनी यज्ञशालासे दौड़ पड़े। बड़ी प्रसन्नतासे उन्होंने अतिथिका स्वागत किया। उनसे विश्राम करने एवं भोजन करनेकी ब्राह्मणोंने प्रार्थना की।

तपस्वी वेषधारी सूर्य भगवान्‌ने कहा—'विप्रो ! भोजन दो प्रकारका होता है—एक प्राकृत भोजन और दूसरा परम भोजन। मैं आपलोगोंका दिया उत्तम परम भोजन चाहता हूँ।'

अतिथिकी बात सुनकर उन ब्राह्मणोंके अग्रणी हारीत मुनिने अपने आठ वर्षके पुत्र कमठसे कहा—'बेटा ! क्या तुम अतिथिके कहे भोजनको जानते हो ?'

कमठने कहा—'पिताजी ! मैं आपको प्रणाम करके परम भोजनका परिचय दूँगा और इन विप्रदेवको उससे संतुष्ट करूँगा। प्रकृति आदि चौबीस तत्त्वोंसे बने इस शरीरको जो तृप्त करता है, वह प्राकृत भोजन है। वह छः रसवाला (मीठा, खट्टा, नमकीन, कड़वा, कसैला और तीखा—तिक्त) तथा पाँच प्रकारका (भक्ष्य, भोज्य, पेय, लेह्य तथा चोष्य) होता है। दूसरा भोजन वह है जो आत्माको तृप्त करे। आत्मा ही परम है, अतः उसे तृप्त करनेवाला भोजन परम कहलाता है। अनेक प्रकारके धर्मोंको सुनना ही वह परम भोजन है। विप्रवर ! आपको जो पूछना हो, आप पूछिये। अपनी शक्तिके अनुसार मैं आपको संतुष्ट करनेका प्रयत्न करूँगा।'

बालक कमठकी बात सुनकर अतिथिने पूछा—'जीव कैसे उत्पन्न होता है?'

कमठने गुरु एवं धर्मको नमस्कार करके कहा—'जीव पुण्य, पाप तथा दोनोंके मिले-जुले कर्मोंके फलस्वरूप जन्म लेता है। पुण्य सात्त्विक, पाप तामस और दोनों मिले कर्म राजस होते हैं। सात्त्विक (पुण्यात्मा) पुरुष स्वर्गमें जाता है और वहाँ अनेक प्रकारके सुख भोग करके संसारमें मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है। यहाँ भी वह धनवान्, धर्मात्मा और सुखी होता है। तमोगुणी (पापी) पुरुष पहले नरकमें जाकर नाना प्रकारके भयंकर कष्ट भोगता है। वहाँसे छूटनेपर वह संसारमें वृक्षादि स्थावर योनियोंमें जन्म लेता है। फिर धीरे-धीरे कीड़ा-मकोड़ा, पशु-पक्षी आदि होते हुए अन्तमें मनुष्य होता है। यहाँ भी वह अंधा, लँगड़ा, रोगी, दरिद्र होता है। जो पुण्य-पापमिश्रित कर्म करनेवाला है, उसका यदि पुण्य अधिक और पाप कम हुए तो पहले वह दुःख भोगकर तब सुखी होता है और यदि पाप अधिक और पुण्य कम हुए तो पहले पुण्यका फल सुख भोगकर तब दुःख भोगता है।

'स्त्री-पुरुषका संगम होनेपर सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा शुभ-अशुभ कर्म-संस्कारके साथ जीव माताके उदरमें उस रज एवं वीर्यके मिश्रित कललमें प्रवेश करता है। एक महीनेतक वह मूर्छित रहता है। दूसरे महीनेमें वह गाढ़ा होता है और तीसरे महीनेमें उसके अङ्ग बनने लगते हैं। सातवें महीनेमें उसका देह पूरा हो जाता है और वह माताके खाये-पिये भोजन तथा जलका नाभिनालके द्वारा सार भाग ग्रहण करने लगता है। आठवें-नवें महीने चैतन्य रहता है और गर्भके असह्य दुःखका अनुभव करता है। यदि गर्भमें बालक हुआ तो वह गर्भाशयमें दाहिनी ओर अधिक रहता है। कन्या बायीं ओर, नपुंसक बीचमें अधिक रहता है। गर्भके जलमें डूबा, झिल्लीसे बँधा, सिर नीचे तथा पैर ऊपर टँगे, जठराग्निसे बराबर जलता और वहाँके कीड़ोंसे नोचा जाता शिशु दारुण यातना भोगता रहता है। उसे वहाँ अनेक प्रकारके रोग भी होते हैं। माताके खाये तीखे, चरपरे, नमकीन पदार्थ उसकी कोमल त्वचाको जलाते रहते हैं। इतनेपर भी बस नहीं है। उसे उस समय अपने सैकड़ों पिछले जन्मोंके कर्म स्मरण हो जाते हैं और वह उन कर्मोंके लिये पश्चात्तापकी मानसिक अग्निमें भी जलता रहता है। सत्कर्म करने और भजन करनेके मनसूबे वहाँ बाँधता रहता है। उसके पिछले दो मासका प्रत्येक क्षण दारुण पीड़ामें बीतता है। प्रसवका समय होनेपर प्रसूतिवायु उसे बलपूर्वक बाहर ठेल देती है। बड़ी भारी पीड़ासे वह निकल पाता है। उसका गर्भका सब ज्ञान भूल जाता है। वह विवश एवं अज्ञानी हो जाता है। इतने क्लेशसे जीवको जो शरीर मिलता है, वह भी क्या है? हड्डी, मांस, रक्त, स्नायु, मल, मूत्र आदि अपवित्र वस्तुओंकी यह एक ढेरी मिलती है उसे। ऐसे शरीरमें आसक्त न होकर जो इसके द्वारा उत्तम कर्म करे, उसीका जन्म लेना सफल है।'

अतिथिने बालककी प्रशंसा करके कहा—'तुम्हारे प्रतिपादनकी शैली बहुत सुन्दर है। तुम मुझे शरीरका लक्षण बतलाओ।'

कमठने कहा—'विप्रवर! जैसा यह ब्रह्माण्ड है, वैसा ही देह भी है। पैरोंके तलवे पाताल, पैरोंका ऊपरी भाग रसातल, दोनों टखने तलातल, दोनों पिण्डलियाँ महातल, दोनों घुटने सुतल, दोनों जाँघोंका निचला भाग वितल, जाँघोंका ऊपरी भाग (नितम्ब) अतल, नाभि भूर्लोक, उदर भुवर्लोक, वक्षःस्थल स्वर्गलोक, कण्ठ महर्लोक, मुख जनलोक, दोनों नेत्र तपलोक और मस्तकको सत्यलोक कहा जाता है। पृथ्वीके सात द्वीपोंके समान शरीरमें त्वचा, रक्त, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और वीर्य—ये सात धातुएँ हैं। शरीरमें तीन सौ साठ हड्डियाँ तथा तीस लाख छप्पन हजार नाड़ियाँ हैं। साढ़े तीन करोड़ स्थूल तथा सूक्ष्म रोएँ इसे ढके हुए हैं। स्थूल रोम दीखते हैं; किंतु सूक्ष्म दीखते नहीं हैं। शरीरके ६ प्रधान अङ्ग हैं—दो हाथ, दो पैर, मस्तक और धड़। पुरुष देहके भीतर साढ़े तीन-तीन व्याम*की और स्त्रीके भीतर तीन-तीन व्यामकी तीन आँतें होती हैं। हृदयमें एक कमल है, जिसका नाल ऊपर और मुख नीचे है। हृदयकमलकी बायीं ओर प्लीहा और दाहिनी ओर यकृत है। शरीरमें मज्जा, मेद, वसा, मूत्र, पित्त, कफ, विष्ठा, रक्त और रसके दो-दो अञ्जलिके गड्ढे हैं। इन्हीं गड्ढोंसे प्रवृत्त होकर मज्जा, मेद आदि शरीरको धारण करते हैं। शरीरमें सीवनी नामक सात विशेष नाड़ियाँ हैं, जो हृदयकमलसे चलती हैं। इनमेंसे पाँच मस्तकतक, एक जिह्वातक और एक लिङ्गतक गयी है। मस्तकको जानेवाली पाँच नाड़ियोंमेंसे

* दोनों हाथ दोनों ओर पूरे फैला देनेपर एक हाथकी अंगुलियोंके सिरेसे दूसरे हाथकी अंगुलियोंके सिरेतककी जो दूरी होती है, उस लंबाईको व्याम कहते हैं।

सुषुम्ना, इडा और पिङ्गला प्रधान हैं। ये इडा-पिङ्गला ही शरीरकी वृद्धि तथा पुष्टि करती हैं।

'शरीरमें वायु, अग्नि तथा चन्द्रमा पाँच-पाँच भागोंमें विभक्त होकर स्थित हैं। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच वायु हैं। श्वास लेना और छोड़ना तथा अन्न और जल शरीरमें पहुँचाना प्राणवायुका कार्य है। यह कण्ठसे मस्तकतक रहता है। मल, मूत्र तथा वीर्यका त्याग और गर्भका प्रसव—ये अपानवायुके कर्म हैं। इसका स्थान गुदासे ऊपर है। समानवायु सारे शरीरमें घूमता है। यह खाये हुए भोजनको पचाता है और उसके अंशोंको पृथक् करता है। यही शरीरमें रसोंका संचार करता है। बोलना, जम्हाई लेना, डकार लेना तथा कर्मोंके लिये प्रयत्न करना उदानवायुके द्वारा होता है। इसका स्थान कण्ठसे मुखतक है। व्यानवायु हृदयमें रहकर शरीरका धारण-पोषण करता है। धातु बढ़ाना, पसीना, लार आदि निकालना, नेत्र खुलना, बंद होना प्रभृति कर्म व्यानवायुके ही हैं।

'अग्नि पाकाशयमें पाचक अग्निके रूपमें खाये हुए अन्नको पचाता है। रञ्जक अग्निके रूपमें आमाशयमें रहकर अन्नके रसको रँगकर रक्त बनाता है। साधक अग्निके रूपमें हृदयमें स्थित होकर बुद्धि तथा उत्साह बढ़ाता है। आलोचक अग्निके नामसे नेत्रोंमें रहकर देखनेकी शक्ति देता है तथा भ्राजक अग्निके रूपमें त्वचामें रहकर शरीरको निर्मल एवं कान्तिमान् रखता है।

'चन्द्रमाका क्लेदक रूप पक्वाशयमें स्थित होकर खाये अन्नको गलाता है। बोधक रसनामें रहकर रसोंका अनुभव करता है। तर्पणचन्द्र मस्तकमें रहकर नेत्रादि इन्द्रियोंको पुष्ट करता है। श्लेषण शरीरकी सन्धियोंमें स्थित होकर उन्हें मिलाये रहता है और आलम्बक रूपमें हृदयमें स्थित होकर चन्द्रमा शरीरके सब अङ्गोंको परस्पर अवलम्बित रखता है।

'इन्द्रियोंके छिद्र, रोमकूप, उदरका खाली भाग आकाश-जनित हैं। नासिका, केश, नख, हड्डी, धीरता, भारीपन, त्वचा, मांस, हृदय, नाभि, गुदा, मेदा, यकृत, मज्जा, आँत, आमाशय, स्नायु, शिर तथा पक्वाशय पृथ्वीके भाग हैं। नेत्रोंमें जो श्वेत भाग है, वह कफका अंश पितासे उत्पन्न और काला भाग वायुका अंश मातासे उत्पन्न है। पक्ष्म-मण्डल, चर्ममण्डल, शुक्लमण्डल, कृष्णमण्डल और दृङ्-मण्डल—ये नेत्रके क्रमशः पाँच मण्डल हैं। दोनों अण्डकोष मेदा, रक्त, कफ और मांससे युक्त होते हैं। जिह्वा रक्तमांस-मयी होती है। दोनों हाथ, ओष्ठ, गला और लिङ्ग चर्मप्रधान मांस तथा रक्तसे होते हैं। शरीरमें त्वचा, रक्त और मांस माताके अंशसे और मेदा, मज्जा और अस्थि पिताके अंशसे बनते हैं। सात धातु तथा पच्चीस तत्त्वोंसे बने हुए इस देहमें जीव निवास करता है।

'मनुष्य जो अन्न खाता है, प्राणवायु पहले स्थूलाशयमें उसे एकत्र करता है, फिर उसमें प्रवेश करके पहले जलको पृथक् कर देता है। तब जलको अग्निके ऊपर रखकर अन्नको जलके ऊपर करता है और स्वयं अग्निके नीचे रहकर उसे उद्दीप्त करता है। इस प्रकार अग्निके द्वारा जल उष्ण होकर अन्नको पकाता है। पकनेपर भोजनके दो भाग हो जाते हैं; मैल अलग हो जाती है और रस अलग। शरीरमें मल निकलनेके बारह मार्ग हैं—दो कान, दो आँख, दो नाक, जिह्वा, दाँत, लिङ्ग, गुदा, नख और रोमकूप। इनके द्वारा मल शरीरसे बाहर हो जाता है। भोजनके अन्न-रसको व्यानवायु नाड़ियोंमें ले जाता है, जहाँ वह अग्निकी उष्णतासे पककर रक्त बनता है। इसी रक्तसे त्वचा, रोम, केश, मांस, स्नायु, शिरा, अस्थि, नख, मज्जा, इन्द्रियोंका शोधन तथा वीर्यकी वृद्धि—ये कार्य क्रमशः होते हैं।

'इस प्रकार यह जो शरीर जीवको मिला है, वह पुण्य करनेके लिये मिला है; जैसे सुन्दर रथ भार ढोनेके लिये होता है। जो यह पुण्यरूपी कार्य न कर सके तो इसकी सेवासे क्या लाभ। जिस समय, जिस देशमें, जिस आयुसे शुभ या अशुभ कर्म जीव करता है, उसी कालमें, उसी देशमें और उसी अवस्थामें उसे उसका फल भोगना पड़ता है। इसलिये अक्षय सुखकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको सदा शुभ कर्म ही करने चाहिये।'

इसके पश्चात् कमठने प्राणीकी कैसे मृत्यु होती है, यह बतलाना प्रारम्भ किया—'जब मनुष्यकी आयु पूरी हो जाती है, तब यमराजके दूत जीवको बलपूर्वक शरीरसे बाहर निकालते हैं। पञ्चतन्मात्रा, मन, बुद्धि तथा अहंकारको साथ लेकर जीव शरीर छोड़ता है। योगीके प्राण ब्रह्मरन्ध्र फोड़कर निकलते हैं, पुण्यात्मा पुरुषोंके प्राण गलेसे ऊपरके सात छिद्रोंसे निकलते हैं और पापी मनुष्यके प्राण गुदामार्गसे निकलते हैं।

'मृत्यु होते ही जीव अँगूठेके बराबर आतिवाहिक शरीर धारण करता है। इस शरीरका निर्माण अपने ही प्राणोंसे होता है। इस शरीरमें स्थित जीवको यमदूत बाँधकर

यमलोक ले जाते हैं। यमलोक पृथ्वीसे छियासी हजार योजन दूर है। यह मार्ग कहीं तपे लोहेके समान है तो कहीं इसमें भयंकर शीत पड़ता है। सर्प, बिच्छू, मच्छर, मक्खियाँ, मांसभक्षी पक्षी तथा राक्षस इस मार्गमें भरे हैं और वे इस मार्गसे जानेवाले जीवको नोच-नोचकर खाते रहते हैं। रोता, चिल्लाता, बार-बार मूर्छित होता जीव यमदूतोंद्वारा घसीटा जाता है। यद्यपि यह मार्ग वह केवल चार घंटेमें पार करता है, परंतु उसे यह समय एक वर्षके बराबर जान पड़ता है। पापी जीवको इस पथमें वैतरणी नदी पार करनी पड़ती है, जिसमें रक्त और पीबकी धारा बहा करती है।

'यमलोकमें केवल मनुष्य ही मरनेपर जाते हैं। दूसरे प्राणी तो भोगयोनिमें हैं, अतः मरनेपर शीघ्र वे दूसरी योनिमें चले जाते हैं। धर्मात्मा पुरुषको यमलोकका मार्ग भी सुखकर बन जाता है। यमराज उसे बड़े सौम्य रूपमें दर्शन देते हैं और उसका सत्कार करते हैं; किंतु पापियोंको यमराज इतने भयंकर रूपमें दीखते हैं कि उन्हें देखकर ही पापी प्राणी मूर्छित हो जाता है।

'यमराजके यहाँ चित्रगुप्तजी प्राणियोंके पाप-पुण्यका विवरण रखते हैं और वे ही यमराजके सामने जीवको उपस्थित करते हैं। एक वर्षतक मृत प्राणी प्रेतलोकमें निवास करता है। इसी वर्षमें उसे भोग देह मिलता है। मृत व्यक्तिके लिये उसके भाई-बन्धु जो अन्न तथा जलयुक्त कुम्भका दान करते हैं, उसीको खाकर वह वहाँ पुष्ट होता है। उसने जो स्वयं जीवनमें अन्नदान आदि किया है, वह भी उसे वहाँ मिलता है। जिसने स्वयं दान-पुण्य नहीं किया है और जिसके स्वजन भी उसके लिये अन्न या जल नहीं देते, वह यमलोकमें भूख-प्याससे पीड़ा पाता रहता है। जिसके लिये षोडश श्राद्धपूर्वक प्रतिमास मासिक श्राद्ध नहीं किया जाता, वह प्रेतयोनिसे मुक्त नहीं होता। जब एक वर्षतक मासिक श्राद्ध करके मृत व्यक्तिके स्वजन भलीप्रकार सपिण्डीकरण श्राद्ध कर देते हैं, तब जीवका भोगदेह पूरा हो जाता है। यदि ये श्राद्ध स्वजन न करें तो युगोंतक जीव प्रेतयोनिमें ही रहता है। पापी जीव भयंकर यातना-देह पाता है और पुण्यात्माको उत्तम दिव्य देहकी प्राप्ति होती है। इसके पश्चात् पापी जीव नरकोंमें जाता है तथा पुण्यात्मा स्वर्गादि ऊपरके आनन्दमय लोकोंमें। स्वर्ग हो या नरक, जीव अपने कर्मोंके अनुसार वहाँ भी नियत समयतक ही रहता है। जिन्होंने अश्वमेधादि यज्ञ किये हैं या जो वीर सम्मुख धर्म-युद्धमें मारे गये हैं अथवा जिन्होंने भगवान्‌का भजन किया है, वे कभी प्रेतलोकमें नहीं जाते।'

अतिथिने कहा—'कमठ! तुमने परलोकका जो स्वरूप शास्त्रीय मतके अनुसार बताया है, वह ठीक वैसा ही है। अब तुम यह बताओ कि किस पापसे मनुष्यको कौन-सा फल भोगना पड़ता है और वह किस रूपमें जन्म लेता है?'

कमठने कहा—'ब्रह्मन्! ब्राह्मणकी हत्या करनेवाला क्षयका रोगी होता है, शराबीके दाँत काले हो जाते हैं, सोनेकी चोरी करनेवालेके नख और गुरुपत्नीगामीके शरीरका चमड़ा खराब हो जाता है तथा इन पापियोंका सङ्ग करनेवालेको भी यही रोग होते हैं। ये पाँच महापापी हैं। सत्पुरुषोंकी निन्दा सुननेवाला बहिरा, अपनी कीर्तिका वर्णन करनेवाला गूँगा तथा गुरुजनोंकी आज्ञाका उल्लंघन करनेवाला मृगीका रोगी होता है। गुरुजनोंका अपमान करनेवाला कीड़ा होता है। पूज्यपुरुषोंके कार्यकी उपेक्षा करनेवालेकी बुद्धि दूषित हो जाती है। सत्पुरुषोंका धन चुराकर चोर जितने पद चलता है, उतने जन्मोंतक पंगु होता रहता है। जो दान देकर फिर छीन लेता है, वह गिरगिट होता है। जो क्रोधित पूज्यपुरुषोंको प्रसन्न नहीं करता, उसे सिरदर्दका रोग होता है। रजस्वला स्त्रीसे समागम करनेवाला चाण्डाल होता है। कपड़ेके चोरको श्वेत कुष्ठ होता है। आग लगानेवाला गलित कुष्ठका रोगी होता है। चाँदी चुरानेवाला मेढ़क होता है। झूठी गवाही देनेवालेको मुखका रोग होता है। जो परस्त्रीको कुदृष्टिसे देखता है, उसे नेत्ररोग होता है। जो देनेको कहकर नहीं देता, वह अल्पायु होता है। ब्राह्मणकी वृत्ति हरण करनेवाला अजीर्णका रोगी होता है। नैष्ठिक ब्रह्मचारीको भोजन करानेसे मना करनेवाला गृहस्थ सदा रोगी रहता है। यदि कई पत्नियाँ हों और पति उनमेंसे एकमें ही प्रेम रक्खे तो उसे क्षयरोग होता है। स्वामीने जिसे धर्मके कार्यमें लगाया हो, वह सेवक यदि अन्याय करे या स्वामीका धन स्वयं खा जाय तो उसे जलोदर रोग होता है। बलवान् होकर सताये जाते दुर्बलोंकी उपेक्षा करनेवाला अङ्गहीन होता है। अन्न चुरानेवाला भूखकी पीड़ा पाता रहता है। व्यवहारमें पक्षपात करनेवाला जिह्वा-रोगसे दुःख पाता है। धर्म-कार्यमें लगे मनुष्यको मना करनेवाला पत्नी-वियोग भोगता है। अपनी बनायी रसोईमें स्वयं पहले भोजन करनेवालेको कण्ठके रोग होते हैं। पञ्चयज्ञ किये बिना भोजन करनेवाला गाँवका सूअर होता है। पर्वोंके दिन स्त्री-सङ्ग करनेवालेको प्रमेह होता है।

वह मनुष्य सदा जीविकाके लिये कष्ट पाता है, जो अर्थ-संकटमें पड़े मित्र, बन्धु, स्वामी तथा सेवकोंका त्याग करता है। स्वामी, गुरु तथा माता-पिताकी छलसे सेवा करनेवाला बड़े कष्टसे धन पाकर भी उससे वञ्चित हो जाता है। विश्वास करनेवाले व्यक्तिका धन हड़पनेवाला सदा दुःख भोगता है। धार्मिक पुरुषोंसे क्षुद्रतापूर्ण बर्ताव करनेवाला बौना होता है। दुबले बैलको हल या गाड़ीमें जोतनेवालेकी कमरमें 'लूता' (मकरी) रोग होता है। गोहत्यारा जन्मसे अन्धा होता है। गायोंको दुःख देनेवाला पशुरहित होता है। गायोंको पीटनेवाला मार्गमें कष्ट पाता है। सभामें पक्षपात करनेवालेको गलगण्ड (घेघा) होता है। सदा क्रोध करनेवाला चाण्डाल होता है। चुगलखोरके मुखसे दुर्गन्ध आती है। बकरी बेचनेवाला बहेलिया होता है। परपुरुषके संयोगसे उत्पन्न व्यक्तिका अन्न खानेवाला दास होता है। नास्तिक पुरुष तेली होता है। श्रद्धाहीन मनुष्य मुर्देके समान बना रहता है। अभक्ष्य-भक्षण करनेवाले कण्ठमालाके रोगी होते हैं। सबको दुःख देनेवाला सदा शोकमें डूबा रहता है। अन्यायसे विद्या ग्रहण करनेवाला मूर्ख होता है। शास्त्र चुरानेवाला राक्षस होता है। पवित्र कथासे द्वेष करनेवालेके मुखमें कीड़े पड़ते हैं। तालाब और बगीचेको नष्ट करनेवाला लूला होता है। व्यवहारमें छल करनेवाला अपने सेवकोंद्वारा मारा जाता है। परस्त्रीगामी प्रमेहका, खोटा वैद्य वातका और गुरुपत्नीगामी कोढ़का रोगी होता है। जो दुरात्मा परस्त्री-संगम करते हैं, वे नरकयातना भोगनेके पश्चात् नपुंसक (हिंजड़े) होकर जन्म लेते हैं। कृतघ्न मनुष्य सभी कार्योंमें असफल होता है। पापी मनुष्य नरकोंके दारुण कष्ट सहस्रों वर्ष भोगकर तब वृक्षादि स्थावर तथा कीट-पतंग, पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जन्म लेते रहते हैं और जब वे अन्तमें मनुष्य होते हैं, तब भी उन्हें उपर्युक्त दुःख, रोग आदि भोगने पड़ते हैं। धर्मसे सुख और अधर्मसे दुःख प्राप्त होता है। इस लोक और परलोकमें जितना सुख है, सब धर्माचरणसे ही मिलता है। अतः मनुष्य धर्मपूर्वक दो घड़ीके जीवनकी इच्छा करे, पर दोनों लोकोंका नाश करनेवाले पापकर्ममें लगकर कल्पभरका जीवन मिलता हो तो उसकी भी इच्छा न करे।'

आठ वर्षके बालक कमठकी ये ज्ञानपूर्ण बातें सुनकर भगवान् सूर्य बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने हारीत मुनि तथा वहाँके ब्राह्मणोंकी प्रशंसा की और उनसे अपना परिचय देकर वरदान माँगनेको कहा। साक्षात् भगवान् भुवनभास्कर अपने यहाँ पधारे हैं, यह जानकर ब्राह्मणोंको अत्यन्त आनन्द हुआ। उन्होंने पाद्य, अर्घ्य आदि देकर भगवान्‌का विधिपूर्वक पूजन किया और यह वरदान माँगा कि 'आप हमारे इस स्थानका कभी त्याग न करें।' भगवान् सूर्य उसी समयसे उस पवित्र तीर्थमें 'जयादित्य' विग्रहके रूपमें निवास करते हैं; क्योंकि बालक कमठपर प्रसन्न होकर भगवान् वहाँ जयादित्यके रूपमें प्रकट हुए थे, इसलिये इस रूपमें भगवान्‌की स्तुति तथा पूजन पहले-पहले कमठने ही अपने पिता हारीत मुनिकी आज्ञासे किया। सु०

ज्ञानी कोढ़ी बालक

प्राचीन कालमें विदिशा नगरमें एक ब्राह्मण रहता था। वह वेद-वेदान्तका पण्डित और धर्मशास्त्रोंका अर्थ जाननेवाला विद्वान् था। धर्मका उपदेश तथा शास्त्रोंकी व्याख्या करनेमें वह अद्वितीय था। दूसरोंको वह बराबर धर्मका उपदेश किया करता था। इतना होनेपर भी स्वयं वह अत्यन्त दुराचारी और पापी था। मांस-भक्षण, मदिरापान एवं परस्त्रीसङ्ग उसका स्वभाव हो गया था। वह झूठा, दम्भी, दुष्ट, लोभी, शठ और दुरात्मा था। स्वयं वह कोई सत्कर्म नहीं करता था। इसलिये जो लोग उसके इस पाखण्डी स्वरूपको जानते थे, उन्होंने धर्मका जाल करनेके कारण उसका नाम 'धर्मजालिक' रख दिया था।

प्रारब्ध समाप्त होनेपर धर्मजालिककी मृत्यु हो गयी। यमदूत उसे मारते-पीटते-घसीटते अत्यन्त कष्टप्रद भयंकर मार्गसे यमलोक ले गये। वहाँ वह कूटशाल्मलि नामके नरकमें ढकेल दिया गया। वज्रके काँटोंसे भरे उस नरकमें सहस्रों वर्षतक उसे इधरसे उधर घसीटा जाता रहा। कुत्ते उसे नोच-नोचकर खाया करते थे और बार-बार वह तलवारसे टुकड़े-टुकड़े काटा जाता था। दीर्घकालतक इस प्रकार रोता-चिल्लाता, अपने कर्मोंपर पश्चात्ताप करता वह नरककी कल्पनातीत दारुण यातना भोगता रहा।

नरकका भोग समाप्त होनेपर वह स्थावर (वृक्ष) हुआ और इस योनिमें भी उसे बराबर कष्ट-ही-कष्ट रहा। स्थावर योनिसे छूटनेपर वह सरस्वती नदीके किनारे कीड़ा हुआ। एक दिन वह कीड़ा मार्गमें सो रहा था कि उसने मार्गसे

आते रथकी घरघराहट सुनी। उस शब्दको सुनकर वह भागने लगा। ब्राह्मण रहते समय उसने लोगोंको धर्मका उपदेश किया था। कुछ लोग उसके उपदेशसे सन्मार्गपर चले भी होंगे। धर्मका पवित्र उपदेश करनेके पुण्यसे इस समय उसे भगवान् व्यासके दर्शन हुए। व्यासजी उसी मार्गसे जा रहे थे। कीड़ेको भागते देखकर उन्होंने पूछा—'तुझे इस शरीरसे इतना क्यों मोह है कि मृत्युसे डरकर भाग रहा है?'

सर्वज्ञ व्यासजीकी कीड़ेकी भाषामें कही गयी बात समझकर कीड़ेने कहा—'भगवन्! मैं मृत्युसे नहीं डरता। मुझे तो यह भय है कि कहीं इससे भी अधम योनि न प्राप्त करनी पड़े।'

परम दयालु व्यास भगवान्को दया आ गयी। उन्होंने कहा—'तू डर मत! जबतक तुझे ब्राह्मणका शरीर न मिल जायगा, तबतक मैं तुझे दूसरी योनियोंसे शीघ्र छुटकारा दिलाता रहूँगा।'

यह आश्वासन मिल जानेपर कीड़ा मार्गमें निर्भय होकर चला गया और रथसे कुचलकर मर गया। इसके पश्चात् उसे कौआ, सियार आदि कई योनियाँ मिलीं; किंतु सब कहीं व्यासजीके दर्शन उसे होते रहे। आठवीं बार वह ब्राह्मणके घरमें उत्पन्न हुआ। पिछले पापोंके कारण जन्मसे ही माता-पिताने उसका त्याग कर दिया और उसके शरीरमें गलित कुष्ठका रोग हो गया। जब वह पाँच वर्षका हुआ, तब व्यासजीने आकर उसे सारस्वत मन्त्रका उपदेश किया। उस मन्त्रके प्रभावसे बिना पढ़े ही उसे वेद, शास्त्र तथा सम्पूर्ण धर्मोंका (जो उसने पहले ब्राह्मणशरीरमें पढ़े थे) स्मरण हो गया। भगवान् व्यासने उसे आज्ञा दी—'तुम भगवान् कार्तिकेयके क्षेत्रमें जाओ और वहाँ नन्दभद्र नामक भगवद्भक्तको आश्वासन दो। वहाँ बहूदक तीर्थमें प्राण त्याग करके महीसागरसङ्गममें अपनी हड्डियाँ डलवा देना।'

बहूदक तीर्थमें ही एक नन्दभद्र नामके वैश्य रहते थे। ये तीनों समय आदरके साथ भगवान् शिवके कपिलेश्वर लिङ्गका पूजन किया करते थे। ये बड़े शुद्धाचारी, धर्मशास्त्रके रहस्यको जाननेवाले तथा सत्यपरायण थे। एक दिन इन्हें संसारके चरित्रोंपर बड़ा दुःख हुआ। ये कहने लगे—'यदि भगवान् शंकर मिल जाते तो पूछता कि आप चेतन हैं, शुद्ध हैं, राग-द्वेषरहित हैं, आनन्दस्वरूप हैं और आपने ही इस संसारकी रचना की है; फिर इसे आपने अपने समान ही क्यों नहीं बनाया? यहाँ अपवित्रता, राग-द्वेष, वैर-विरोध, पाप एवं मलिनता तथा नाना प्रकारके क्लेश क्यों हैं?' वे अपने आप कहने लगे—'मैं अब कहीं नहीं जाऊँगा। न मैं भोजन करूँगा और न जल पिऊँगा। मृत्युपर्यन्त मैं यहाँ स्थिर खड़ा रहूँगा। जब मेरा समाधान नहीं होता, तब मेरे जीवित रहनेसे लाभ ही क्या है?'

जिस समय नन्दभद्र उपर्युक्त बातें कह रहे थे, उसी समय वह कोढ़ी बालक भगवान् व्यासके आदेशसे वहाँ पहुँचा। पीड़ाके मारे वह बार-बार गिर पड़ता था और मूर्छित हो जाता था। नन्दभद्रकी बातें उसने सुन ली थीं। अपनेको किसी प्रकार सम्हालकर वह बोला—'आपके सभी अङ्ग सुन्दर और स्वस्थ हैं, फिर भी आप दुखी हैं यह आश्चर्यकी बात है।'

नन्दभद्रने अपने दुःखका कारण बतलाया। उनकी बात सुनकर कोढ़ी बालकने कहा—'यह बड़े कष्टकी बात है कि विद्वान् पुरुष भी अपने कर्तव्यको समझ नहीं पाते। आपका शरीर स्वस्थ है, इन्द्रियाँ बलवान् हैं, फिर भी आप मरनेकी व्यर्थ इच्छा करते हैं। मुझे देखिये, मेरे माता-पिता कोई नहीं हैं। मेरा सर्वाङ्ग इस दुष्ट रोगसे गल रहा है, फिर भी मैं मरना नहीं चाहता। राजा खट्वाङ्ग दो घड़ीमें मुक्त हो गये थे। यदि मेरा शरीर नीरोग हो जाय तो मैं एक-एक क्षणमें ऐसे सत्कर्म करूँ जिनका फल एक-एक युगतक भोगा जा सके। जिसका शरीर स्वस्थ हो और इन्द्रियाँ वशमें हों, वह साधन करनेके सिवा और किसी वस्तुकी इच्छा करे, इससे बड़ी मूर्खता और क्या होगी।

'जो कर्म विचारके विरुद्ध हैं, जिनमें नाना प्रकारके विघ्नोंकी सम्भावना है तथा जो मूल (साधनके आधार शरीर) का ही नाश करनेवाले हैं, उन्हें आप-जैसे विद्वानोंको नहीं करना चाहिये। जिनकी बुद्धि धर्मशास्त्रोंके अनुकूल चलनेवाली है, उन्हें दुर्गम संकटों तथा स्वजनोंकी विपत्तियोंमें भी व्याकुल नहीं होना चाहिये। विद्वान् पुरुष किसी वस्तुकी अभिलाषा नहीं करते, नष्ट हुई वस्तुके लिये शोक नहीं करते और विपत्तिमें घबराते नहीं।

'आधि और व्याधि—मानसिक दुःख और शारीरिक दुःखसे यह समस्त जगत् व्याप्त है। अप्रियका संयोग और प्रियका वियोग—ये दो हेतु मानसिक दुःखके हैं। मन दुखी होनेपर शरीर भी पीड़ा पाता है। इसलिये अप्रिय एवं प्रियमें समान भाव रखकर मानसिक दुःखोंसे छुटकारा पाना

चाहिये। शरीरमें रोग होनेपर मन भी क्लेश पाता है। ओषधि आदिसे शरीरके दुःखोंकी निवृत्ति होती है। मनके दुःखकी जड़ है स्नेह। मन शान्त हो तो शरीरका दुःख भी पीड़ा नहीं देता। स्नेहसे आसक्ति होती है और उससे दुःख तथा भय उत्पन्न होते हैं। शोक, हर्ष, आयास—सब स्नेहसे होते हैं। स्नेहसे इन्द्रियोंमें तथा विषयोंमें राग होता है। ये दोनों ही राग श्रेयके विरोधी हैं। जो स्नेह या आसक्तिका त्यागी, निर्वैर, निष्परिग्रह है, वह कभी दुखी नहीं होता और जो इनका त्याग नहीं कर सकता, वह बार-बार इस जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकता क्लेश भोगता रहता है।

'रागसे कामना होती है। कामनासे भोगकी इच्छा होती है। इस इच्छासे तृष्णा उत्पन्न होती है। तृष्णा सबको सदा उद्वेगमें डालनेवाली, लोभकी जननी, अधर्मकी जड़ और कभी तृप्त न होनेवाली है। शरीरके वृद्ध होनेपर भी यह तृष्णा बूढ़ी नहीं होती। प्राणान्तक रोगके समान इस तृष्णाको जो छोड़ पाता है, वही सुखी होता है।'

नन्दभद्रने पूछा—'शुद्धबुद्धि बालक ! पापी मनुष्य भी बिना किसी बाधाके स्त्री और धन पाकर आनन्द भोगते क्यों देखे जाते हैं ?'

बालकने कहा—'जिन लोगोंने पूर्वजन्ममें तामस भावसे दान किया है, वे इस जन्ममें अपने उसी पुण्यका फल भोगते हैं; लेकिन तामस भावसे जो कर्म किया गया, वह बुद्धिको धर्ममें नहीं लगाता। इसीसे ऐसे लोगोंका धर्ममें अनुराग नहीं होता। ऐसे मनुष्य अपने पुण्यका फल भोगनेके पश्चात् नरकमें ही जाते हैं। जिसका पूर्वजन्मका पुण्य शेष है और उसका फल सुख भोगते हुए जो नवीन पुण्य नहीं करते, वे मन्दबुद्धि एवं भाग्यहीन मनुष्य केवल इसी लोकमें सुखभोग पाते हैं; परलोकमें उन्हें अनन्त दुःख भोगना पड़ता है। जिसका पूर्वजन्मका पुण्य नहीं है, अतः इस लोकमें जो कष्ट पा रहा है, परंतु धर्मका आचरण करता है, तप करता है, वह परलोकमें अनन्त सुख भोगता है। ऐसे भाग्यवान् कोई-कोई ही होते हैं, जिनको पूर्वजन्मके पुण्यसे इस लोकमें सुख भी मिल रहा हो और जो यहाँ भी धर्मका आचरण कर रहे हों। उन्हें इस जन्मके पुण्यसे परलोकमें भी सुख-ही-सुख प्राप्त होगा। लेकिन ऐसे अभागोंके लिये क्या कहा जाय, जिनका पूर्वजन्मका कोई पुण्य न होनेसे यहाँ तो वे कष्ट पा ही रहे हैं, यहाँ भी नाना प्रकारके छल-छिद्र और अधर्म करते हैं। उन्हें तो परलोकमें भी अनन्त दुःख ही भोगना है। इसलिये बुद्धिमान् पुरुष वही है, जो अपने मनोरथोंके नष्ट होनेपर भी शोक नहीं करता। जो कुछ मिले, उसीमें तृप्त रहकर अपने धर्मका पालन करते हुए भगवान्‌का भजन करना ही मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य है। इसीमें उसका परम हित है।'

नन्दभद्रका सन्देह दूर हो गया। वे बड़े प्रसन्न हुए। कोढ़ी बालकने इसके पश्चात् मौन धारण कर लिया। बहूदक-कुण्डमें स्नान करके किनारे एक वृक्षके नीचे बैठकर वह भगवान् सूर्यके मन्त्रका जप करने लगा। सात दिन सात रात्रि एक आसनपर बैठकर वह जपमें लगा रहा। सातवीं रात्रिमें उसका शरीर छूट गया। बालकने जैसा बताया था, उसके अनुसार नन्दभद्रने ब्राह्मणोंद्वारा उसके शरीरका विधिपूर्वक दाह-संस्कार कराया। उसके शरीरकी अस्थियाँ तीर्थजलमें डलवा दीं और जहाँ उसने सात दिनोंतक सूर्यमन्त्रका जप किया था, वहाँ बालादित्य नामसे भगवान् सूर्यकी प्रतिमा स्थापित की। कोढ़ी बालक दूसरे जन्ममें मैत्रेय नामक विख्यात मुनि होकर मुक्त हो गया। सु०

बालक अष्टावक्र

महर्षि उद्दालकके पुत्र श्वेतकेतु मन्त्रशास्त्रके लोकपूजित विद्वान् थे। उनको भगवती सरस्वतीने साक्षात् दर्शन दिये थे। उद्दालक मुनिके कहोड नामक एक शिष्य थे। उन्होंने अपने गुरुदेवकी एकाग्र मनसे सेवा की। उनकी सेवासे प्रसन्न होकर गुरु उद्दालक मुनिने उनको समस्त वेद पढ़ा दिये और अपनी पुत्री सुजाताका उनके साथ विवाह कर दिया। पत्नीके साथ वे उसी आश्रममें रहने लगे। समय पाकर सुजाता गर्भवती हुई। एक दिन कहोड वेदपाठ कर रहे थे, उस समय सुजाताके गर्भस्थ बालकने कहा—'पिताजी ! आप बराबर वेदपाठ करते तो हैं, पर यह ठीक-ठीक नहीं होता।'

शिष्योंके बीचमें गर्भस्थ शिशुद्वारा तिरस्कृत होनेसे कहोडको क्रोध आ गया। उन्होंने शाप दे दिया—'यह गर्भसे ही ऐसी टेढ़ी बातें करता है, अतः इसके अङ्ग आठ स्थानोंसे टेढ़े हो जायँ।'

प्रसूतिकाल समीप आनेपर सुजाताको कष्ट होने लगा। उसने पतिदेवसे किसी नरेशके पास जाकर कुछ धन ले आनेको कहा। भाग्यके मारे कहोड मुनि महाराज जनकके पास धन लेने गये। उस समय महाराज जनक बारह वर्षव्यापी यज्ञ

कर रहे थे। महाराजकी राजसभामें उन दिनों बंदी नामक विद्वान् आया हुआ था। उसका नियम था कि उससे जो शास्त्रार्थमें हार जाय, वह समुद्रमें डुबा दिया जाय। बड़े-बड़े विद्वानोंको पराजित करके उसने समुद्रमें डुबवा दिया था। कहोड मुनि भी शास्त्रार्थमें उससे हार गये और समुद्रमें डुबा दिये गये। यह समाचार जब उद्दालक ऋषिको मिला तो उन्होंने अपनी पुत्रीको सान्त्वना दी और समझाया कि नवजात बालकको कभी यह बात न बतायी जाय।

जब अष्टावक्रजीकी आयु बारह वर्षकी थी, वे अपने नाना उद्दालकजीकी गोदमें बैठे थे। अबतक उन्हें अपने पिताके विषयमें कुछ पता नहीं था। उसी समय वहाँ श्वेतकेतु आये। उन्होंने अष्टावक्रको अपने पिताकी गोदसे नीचे खींचते हुए कहा—'यह गोद तेरे पिताकी नहीं है।' श्वेतकेतुके वचनोंसे अष्टावक्रको बड़ा दुःख हुआ। घर जाकर अपनी मातासे उन्होंने पूछा—'मेरे पिता कहाँ गये?' सुजाताने अपने तेजस्वी पुत्रके शापके भयसे सब बातें बता दीं। उसी दिन रातके समय श्वेतकेतुसे महाराज जनकका यज्ञ देखने चलनेकी अष्टावक्रने सलाह की और वे दोनों मामा-भानजे मिथिला-पुरीको चल पड़े।

मिथिलामें यज्ञशालाके द्वारपर द्वारपालोंने इन्हें बालक समझकर रोक दिया; क्योंकि वहाँ वृद्ध एवं विद्वान् ब्राह्मणों-को ही प्रवेश करनेकी आज्ञा थी। अष्टावक्रजीने द्वारपालसे कहा—'अधिक आयु होनेसे, केश पक जानेसे, धनसे या कुटुम्ब बड़ा होनेसे कोई बड़ा नहीं माना जाता। ब्राह्मणोंमें वही बड़ा है, जो वेदोंका वक्ता हो।'

द्वारपालने जब यह सुना कि राजसभाके महापण्डित बंदीसे ये शास्त्रार्थ करने आये हैं, तब उसने दोनों बालकोंको महाराज जनकके पास पहुँचा दिया। महाराजके पास पहुँचकर अष्टावक्रजीने बंदीसे शास्त्रार्थ करनेकी इच्छा प्रकट की। पहले तो जनकजीने इसे बालचापल्य समझा और इन्हें समझानेका प्रयत्न किया, फिर इनकी परीक्षाके लिये पूछा—'सोनेके समय कौन नेत्र बंद नहीं करता? जन्म लेनेके बाद किसमें गति नहीं होती? हृदय किसमें नहीं है? वेगसे कौन बढ़ता है?'

अष्टावक्रजीने बताया—'मछली सोते समय नेत्र नहीं बंद करती, अण्डेमें जन्मके बाद गति नहीं होती, पत्थरमें हृदय नहीं है और नदी वेगसे बढ़ती है।'

महाराज जनक इस उत्तरसे संतुष्ट हो गये। उन्होंने अष्टावक्रका सम्मान किया और बंदीसे उनका परिचय करा दिया। तदनन्तर बंदीसे शास्त्रार्थ हुआ और उसमें बंदी हार गया।

शास्त्रार्थमें हारनेसे बंदीका मुख सूख गया। अष्टावक्र-जीकी विजयसे ब्राह्मण हर्षध्वनि करने लगे। अष्टावक्र-जीने महाराज जनकसे शास्त्रार्थके नियमानुसार बंदीको समुद्रमें डुबा देनेको कहा। बंदीने बताया—'मैं लोकपाल वरुणका पुत्र हूँ। मुझे जलमें डूबनेसे कोई भय नहीं है। जैसे यहाँ मिथिलामें बारह वर्षका यज्ञ हो रहा था, वैसे ही मेरे पिता वरुणदेव भी बारह वर्षव्यापी यज्ञ कर रहे थे। उस यज्ञको करानेके लिये विद्वान् ऋत्विजोंकी आवश्यकता थी। मैंने इसीसे विद्वान् ब्राह्मणोंको शास्त्रार्थमें हरानेके बहाने जलमें डुबवाया है। वे विप्र मरे नहीं हैं। मेरे पिताका यज्ञ पूरा हो गया है। अब मेरे पिताद्वारा पूजित होकर अष्टावक्र-जीके पूज्य पिता तथा अन्य ब्राह्मण भी यहाँ आनेहीवाले हैं।'

यह बातचीत हो ही रही थी कि समुद्रमें डुबाये गये सभी ब्राह्मण वरुण देवतासे पूजित होकर जलसे बाहर निकल आये। महाराज जनककी सभामें आकर कहोडने कहा—'मनुष्यको ऐसे ही कामोंके लिये पुत्रकी इच्छा करनी चाहिये।'

इसके बाद बंदी समुद्रमें कूदकर वरुणलोक चला गया। ब्राह्मणोंने अष्टावक्रका सम्मान किया। अष्टावक्रजी अपने पिताके चरणोंमें गिर पड़े। वहाँसे अपने पिता तथा मामा श्वेतकेतुके साथ अपने आश्रमपर आये। वहाँ आकर पिताके आदेशानुसार जब समंगा नदीमें उन्होंने स्नान किया, तब उनके सब टेढ़े अङ्ग सीधे हो गये। इन्हीं अष्टावक्रजीने प्रसिद्ध अष्टावक्रगीताका उपदेश किया है। सु०

भगवती उमा

एक दिन देवर्षि नारद घूमते-घामते पर्वतराज हिमाचलके घर पहुँच गये। हिमाचलने देवर्षिका स्वागत किया, उनके चरण धोये और उनका पूजन किया। जब नारदजी स्वस्थ बैठ गये, तब पर्वतराजकी पुत्री उमाने उनके चरणोंमें प्रणाम किया। पर्वतराजने देवर्षि-से उमाके भविष्य जीवनकी बात पूछी। देवर्षि नारदजी ज्योतिष-शास्त्रके प्रथम आचार्योंमें हैं और सर्वज्ञ हैं। उन्होंने कहा—'हिमाचलजी! आपकी पुत्रीमें सभी

सुन्दर लक्षण हैं । यह नित्य सौभाग्यवती होगी और इसके कारण आपका भी यश बढ़ेगा । सम्पूर्ण संसार इसकी पूजा करेगा । पतिव्रता स्त्रियाँ तो इसका स्मरण करके अपने कठोर व्रतका पालन करनेमें सफल होंगी । इतना सब होनेपर भी इसे ऐसा पति मिलेगा, जिसके न मा होगी और न बाप ही होगा । वह नंगा रहनेवाला, अमङ्गलवेशधारी, संशयरहित, असंसक्त-चित्त कोई योगी होगा ।'

नारदजीकी बात सुनकर पर्वतराज तो घबरा गये । उन्होंने देवर्षिके चरण पकड़कर अशुभ फलोंको दूर करनेका उपाय पूछा । देवर्षि बोले—'प्रारब्ध मिटाया नहीं जा सकता; किंतु इस कन्याके वरमें जो दोष मैंने बताये हैं, वे सब शङ्करजीमें हैं । भगवान् शङ्कर परम समर्थ हैं । उनमें तो ये दोष भी गुण ही हैं । अतः यदि इसे पतिरूपमें शङ्करजी मिल जायँ तो बात बन जाय । शङ्करजी आशुतोष हैं । यदि आपकी पुत्री तप करे तो अवश्य भगवान् शिव उसे अपना लेंगे ।'

देवर्षि चले गये । पर्वतराजने अपनी पत्नी मयना-जीको सब बातें समझायीं । लेकिन परम सुकुमारी उमा-से तप करनेको कहा कैसे जाय । माता जब अपनी बालिका पुत्रीके पास गयी, उसका हृदय भर आया । उसने उमाको गोदमें बैठा लिया और नेत्रोंसे आँसू बहाने लगी वह । एक शब्द भी उससे बोला नहीं गया । बालिका उमाने माताके आँसू पोंछे और बोली—'मा ! मैंने आज एक स्वप्न देखा है । स्वप्नमें एक गौर-वर्ण ब्राह्मणने मुझसे कहा है कि तुम जाकर तपस्या करो । मा ! तपस्या सभी उत्तम फलोंको देनेवाली है । तपस्या-से असाध्य भी सिद्ध हो जाता है । तुम मुझे आज्ञा दो, मैं तप करने जाऊँगी ।'

बड़ी कठिनतासे माता-पिताने आज्ञा दी । बालिका उमा एक उत्तम स्थानपर, जहाँ जल, पुष्प आदिकी सुविधा थी—तप करना प्रारम्भ किया और बड़ा कठोर तप किया ।

तपस्या पूरी हुई । आकाशवाणीने आश्वासन दे दिया—'अब मिलिहहिं त्रिपुरारि ।' लेकिन इतनेसे ही बात पूरी नहीं हो गयी । भगवान् शङ्करने सप्तर्षियोंको भेजा पार्वतीकी परीक्षा करनेके लिये । सप्तर्षियोंने आकर इनसे कहा—'तुम व्यर्थ नारदके भुलावेमें आ गयीं । नारद तो सदासे लोगोंको बाबाजी बनाकर चौपट करते आये हैं । शङ्करजीके पास धरा क्या है ? चमड़ा लपेटते हैं, बूढ़े बैलपर चढ़ते हैं, मुंडोंकी माला धारण करते हैं, न घर-द्वारका ठिकाना, न सुन्दर रूप । तुम हमारी बात मानो, हम तुम्हारा विवाह सर्वगुणसम्पन्न निखिल सौन्दर्यराशि वैकुण्ठाधीश भगवान् नारायणसे करा देंगे ।' यह सुनकर पार्वतीजीने उत्तर दिया—

नारद बचन न मैं परिहरऊँ । बसउ भवनु उजरउ नहिं डरऊँ ॥
गुर कें बचन प्रतीति न जेही । सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही ॥
महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम ।
जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम ॥

आगे वे अपनी दृढ़ निष्ठाको स्पष्ट प्रकट करती हैं—

जन्म कोटि लगि रगर हमारी । बरउँ संभु न त रहउँ कुँआरी ॥

सप्तर्षियोंने इस दृढ़ निष्ठाकी प्रशंसा की—वन्दना की भगवती उमाकी; लेकिन जब भगवान् शङ्करने कामदेव-को भस्म कर दिया, तब वे फिर आये । उन्होंने कहा—'तुमने उस समय तो हमारी बात मानी नहीं; पर अब क्या करोगी ? अब तो शिवजीने कामको ही नष्ट कर दिया ।'

उमा हँस पड़ीं । वे कहने लगीं—महर्षियो ! आपलोग क्या यह समझते हैं कि भगवान् शङ्करने अब कामको नष्ट किया है और इससे पूर्व उनमें कामना थी ? और आप क्या यह समझते हैं कि मैंने वासनाके वश होकर भगवान्‌की आराधना की है ?

हमरे जान सदा सिव जोगी । अज अनवद्य अकाम अभोगी ॥

जहाँ इतनी दृढ़ निष्ठा, इतना निष्कामभाव है, वहाँ भगवान् तो प्रसन्न ही हैं । भगवान् शङ्करने भगवती उमाका पाणिग्रहण किया विधिपूर्वक । अपने नित्य

आराध्यको उमाने पाया। भगवती उमा बालिकाओंकी आराध्या हैं—आदर्श हैं। गौरी-पूजनसे नारीकी समस्त इच्छाएँ पूर्ण होती हैं, उसके सुख-सौभाग्यकी वृद्धि होती है।—सु०

सती सावित्री

मद्रदेशमें अश्वपति नामके एक धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, उदार तथा प्रजाका पालन करनेवाले राजा राज्य करते थे। राजा अश्वपतिके कोई संतान नहीं थी। उन्होंने संतान-प्राप्तिकी इच्छासे सावित्रीदेवीके मन्त्रोंसे हवन कराया। भगवती सावित्रीने उन्हें संतानकी प्राप्तिका आशीर्वाद दिया; राजाकी बड़ी रानीके गर्भसे यथासमय एक कन्याका जन्म हुआ। भगवती सावित्रीकी कृपासे वह कन्या उत्पन्न हुई थी, अतः राजाने उसका नाम सावित्री रक्खा।

जब सावित्री विवाहयोग्य हो गयी, तब राजाको बड़ी चिन्ता हुई। वे चाहते थे कि उनकी पुत्रीको उसकी इच्छाके अनुरूप पति मिले। उन्होंने पुत्रीसे कहा—'बेटी! अब तू विवाहके योग्य हो गयी है, अतः अपने योग्य वर तू स्वयं खोज ले, मेरे बूढ़े मन्त्री तेरे साथ जायँगे।' तपस्विनी सावित्रीने बड़े संकोचके साथ पिताकी आज्ञा स्वीकार कर ली। एक उत्तम रथमें बूढ़े मन्त्रियों-के साथ बैठकर वह वहाँसे चल पड़ी। जो जैसा होता है, उसे वैसा ही साथ चाहिये। धर्मनिष्ठा, तपस्विनी सावित्री धर्मात्मा एवं संयमी पति चाहती थी, अतः बड़ी-बड़ी राजधानियोंमें न जाकर वह राजर्षियोंके आश्रम तथा तपोवन देखने लगी।

एक दिन राजा अश्वपतिके यहाँ देवर्षि नारद आये हुए थे। उसी समय सावित्री मन्त्रियोंके साथ अपनी यात्रा समाप्त करके लौटी। उसने देवर्षि तथा पिताके चरणों-में प्रणाम किया। नारदजीने राजासे पूछा—'यह आप-की पुत्री कहाँ गयी थी। अब यह विवाहके योग्य हो गयी, आप इसका विवाह क्यों नहीं कर देते?'

राजाने कहा—'मैंने इसी कामसे इसे भेजा था। अब आप स्वयं पूछ लें कि यह किसे वर चुनकर लौटी है।'

सावित्रीने कहा—'शाल्वदेशके द्युमत्सेन नामके एक धर्मात्मा राजा थे। पीछे वे अंधे हो गये। पड़ोसके शत्रुओंने देखा कि उनकी आँखें चली गयीं और उनका पुत्र अभी बालक है तो उनके राज्यपर आक्रमण करके उसे हड़प लिया। महाराज द्युमत्सेन अपने पुत्र तथा पत्नी-के साथ वनमें चले आये। अब वे वहाँ बड़े-बड़े व्रत करते हुए निवास करते हैं। उनके कुमार सत्यवान् अब बड़े हो गये हैं और पिताके पास वनमें ही निवास करते हैं। वे मेरे अनुरूप हैं। मैंने उन्हें ही पतिरूपसे वरण किया है।'

देवर्षि नारदने कहा—'इस कुमारके पिता सत्य बोलते हैं और इसकी माता भी सत्यवादिनी है, अतः उन्होंने अपने पुत्रका नाम सत्यवान् रक्खा है। यह कुमार स्वयं भी तेजस्वी, क्षमाशील, दानी, सत्यवादी, ब्राह्मण-भक्त, उदार, रूपवान्, जितेन्द्रिय, मृदुलस्वभाव, शूर और ईर्ष्यारहित है। इसके शील और तप बढ़े हुए हैं तथा यह अत्यन्त सरल है। इतना होनेपर भी इसमें एक दोष है और वह ऐसा दोष है जो इसके सब गुणों-को दबा देता है। इसे छोड़कर उसमें और कोई दोष नहीं। वह दोष यह है कि आजसे ठीक एक वर्ष बाद सत्यवान्की आयु समाप्त हो जायगी। उसकी मृत्यु निश्चित है।'

देवर्षिकी बात सुनकर राजाने कहा—'बेटी सावित्री! ये नारदजी कहते हैं कि सत्यवान् अल्पायु है। तू फिर जा और किसी दूसरे उपयुक्त वरकी खोज कर।'
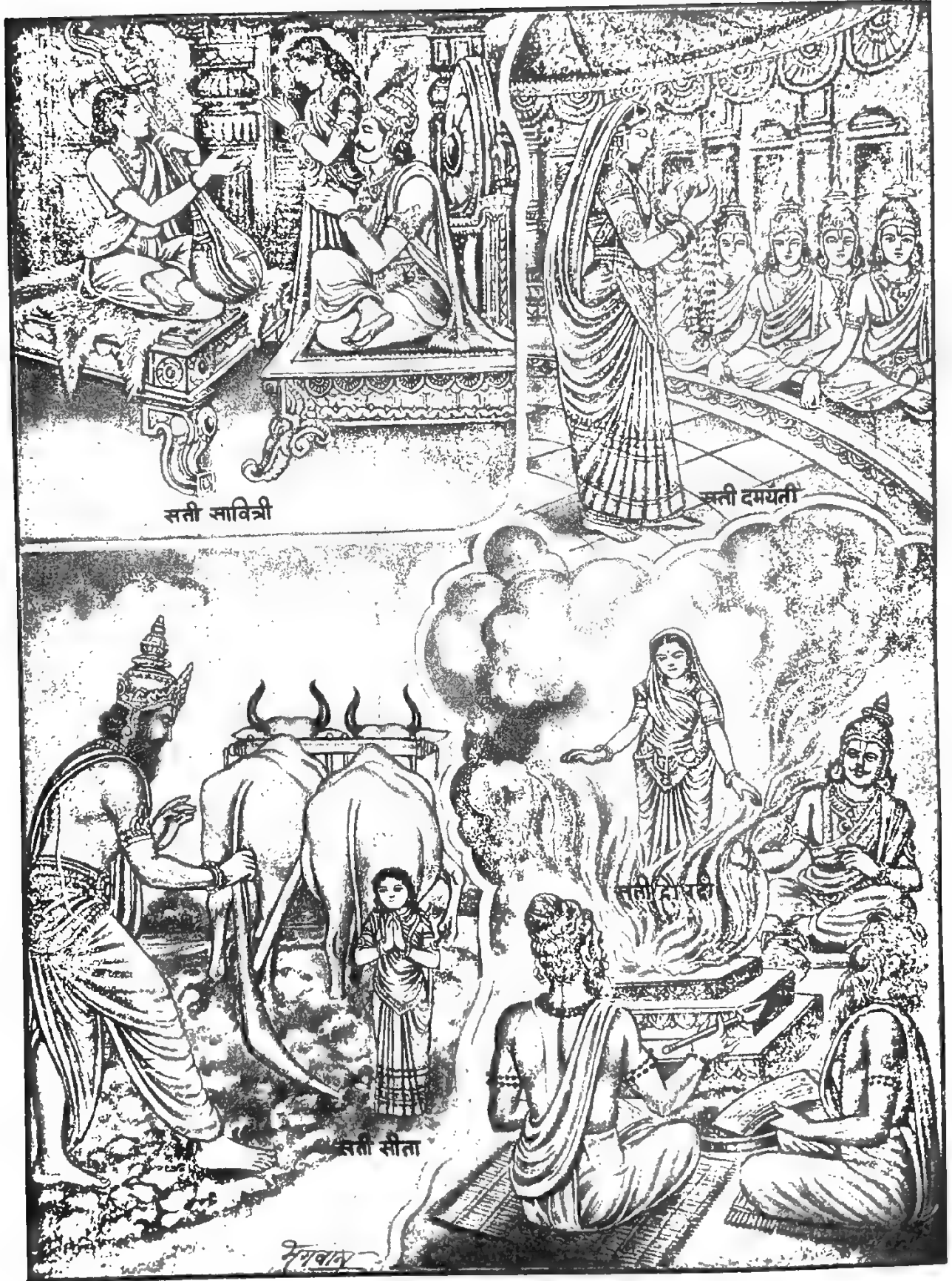
सती बालिका—सावित्री, दमयन्ती, सीता, द्रौपदी

सावित्रीने कहा—'पिताजी! लकड़ी या पत्थरका टुकड़ा उससे एक ही बार अलग होता है, कन्यादान एक ही बार किया जाता है; इसी प्रकार आत्मसमर्पण भी एक ही बार होता है। बात पहले मनमें आती है, फिर कही जाती है और तब की जाती है; इसलिये मन ही इस विषयमें प्रमाण है। सत्यवान् दीर्घायु हों या अल्पायु, मैंने अपने मनसे उन्हें पति मान लिया है; अब किसी दूसरे पुरुषका मैं वरण नहीं कर सकती।'

देवर्षि नारदजीने सावित्रीकी बातका समर्थन किया। राजा अश्वपतिने भी देवर्षिकी आज्ञा मान ली। एक वर्ष पीछे ही वैधव्य प्राप्त होगा, ऐसा जानकर भी केवल मनसे पति मान लेनेके कारण अपने संकल्पपर दृढ़ रहनेवाली कन्या और कन्याके पातिव्रत्यको समझकर उसका समर्थन करनेवाले पिता दोनों ही धन्य हैं। राजा अश्वपतिने विवाहकी सामग्री सजायी, पुरोहितको साथ लिया और तपोवनमें द्युमत्सेनके पास आये। वहाँ उनका यथोचित सत्कार हुआ। जब राजा अश्वपतिने अपने आनेका उद्देश्य बताया, तब द्युमत्सेनजीने कहा—'राजन्! पहले तो आपके यहाँ अपने पुत्रका सम्बन्ध करनेकी मेरी बड़ी इच्छा थी; किंतु अब तो हम राज्यच्युत वनवासी दरिद्र हैं।'

राजा अश्वपतिने कहा—'आपको मुझसे ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये। ये राज्य, सुख, भोग तो नश्वर हैं। सुख-दुःख तो आते-जाते ही रहते हैं।'

वहाँ आश्रमके पास रहनेवाले ब्राह्मण बुलाये गये। विधिपूर्वक सत्यवान्ने सावित्रीका पाणिग्रहण किया। पिताके चले जानेपर सावित्रीने सब आभूषण उतार दिये। वह वल्कल-वस्त्र पहनकर तपोवनमें रहनेयोग्य वेशमें रहने लगी। उसकी सेवा, विनय, गुण तथा संयमसे सभीको संतोष हुआ। पति तथा सास-ससुरकी सेवामें वह लग गयी। इस प्रकार कुछ दिन व्यतीत हो गये। अन्तमें वह समय आया, जब सत्यवान्की मृत्यु होनी थी। तीन दिन पहले ही सावित्रीने व्रत धारण किया। वह रात-दिन स्थिर होकर बैठी रही। चौथे दिन प्रातःकाल स्नानादिसे पवित्र होकर उसने वहाँके सभी ब्राह्मणों तथा गुरुजनोंको प्रणाम किया। सबने उसे अवैधव्यसूचक आशीर्वाद दिया। इसी समय सत्यवान् कुल्हाड़ी लेकर समिधा लेने वनमें जाने लगे। सावित्रीने उनके साथ जानेकी इच्छा प्रकट की। पहले तो सत्यवान्ने कहा—'तुम उपवाससे दुर्बल हो गयी हो, थक जाओगी।' किंतु उसका आग्रह देखकर स्वीकार कर लिया। सास-ससुरने भी उसे आज्ञा दे दी; क्योंकि विवाहके पश्चात् सावित्रीने यह पहली प्रार्थना उनसे की थी। पतिके साथ सावित्री वनमें गयी। वह ऊपरसे प्रसन्न दीखते हुए भी उस दिन व्याकुल थी।

वनमें सत्यवान्ने पत्नीके साथ फल एकत्र किये और लकड़ियाँ काटीं। उनके मस्तकमें इसके बाद दर्द होने लगा और वे एक वृक्षके नीचे पत्नीकी गोदमें सिर रखकर लेट गये। इतनेमें वहाँ सावित्रीको लाल वस्त्र पहने, मुकुट धारण किये, सूर्यके समान तेजस्वी एक भयंकर पुरुष दीख पड़ा। उसे देखते ही पतिका मस्तक पृथ्वीमें रखकर सावित्री खड़ी हो गयी। हाथ जोड़कर कातरस्वरसे उसने पूछा—'आप कौन हैं? यहाँ किसलिये आये हैं? मुझे तो आप कोई देवता जान पड़ते हैं।'

उस पुरुषने कहा—'मैं साधारण मनुष्योंको न तो दिखायी पड़ता और न बोलता हूँ, लेकिन तुम पतिव्रता और तपस्विनी हो, इससे मैं तुमसे बातें करूँगा। मेरा नाम यम है। तुम्हारे इस पतिकी आयु समाप्त हो चुकी है। सत्यवान् धर्मात्मा तथा गुणवान् है, इससे मेरे दूत इसे नहीं ले जा सकते थे। मैं स्वयं इसे लेने आया हूँ।'

यमराजने सत्यवान्के शरीरमेंसे अँगूठेके बराबर जीवको पाशमें बाँधकर निकाला और उसे लेकर

दक्षिणकी ओर चल पड़े । दुःखसे व्याकुल सावित्री भी उनके पीछे-पीछे चलने लगी । यमराजने उससे कहा—'तू लौट जा। अपने पतिकी देहका अन्तिम संस्कार कर। पति-सेवाके ऋणसे तू मुक्त हो गयी। पतिके पीछे तुझे जहाँतक जाना चाहिये था, वहाँतक तू आ चुकी।'

सावित्रीने कहा—'मेरे पतिदेव जहाँ जायँगे, वहीं मुझे भी जाना चाहिये। तपस्या, गुरुभक्ति, पतिप्रेम, व्रत तथा आपकी कृपाके प्रभावसे मेरी गति कहीं रुक नहीं सकती।'

यमराजने कहा—'तुम्हारे स्वर तथा सत्यभाषणसे मैं संतुष्ट हूँ। तुम सत्यवान्के जीवनको छोड़कर कोई एक वरदान माँग लो।'

सावित्रीने वरदान माँगा कि 'मेरे अंधे श्वशुरको नेत्र प्राप्त हो जायँ और वे बलवान् तथा तेजस्वी हो जायँ।' यमराजने यह वरदान दे दिया और उसे लौट जानेको कहा। सावित्री बोली—'जहाँ मेरे पतिदेव रहें, मुझे भी वहीं रहना चाहिये। सत्पुरुषोंका एक बारका भी सङ्ग निष्फल नहीं होता, फिर उनसे प्रेम हो जाना तो और भी उत्तम है। सत्पुरुषोंके पास ही सदा रहना श्रेष्ठ है।'

यमराजने देखा कि यह तो अपने पतिके पास सदा-सर्वदा यमपुरीमें भी रहनेको तैयार है और वहाँका रहना यमराजके पास रहनेसे सत्पुरुषोंके पास रहना बता रही है। अतएव यमराजने सत्यवान्के जीवनको छोड़कर कोई एक और वरदान माँगनेको कहा। सावित्रीने इस बार माँगा कि 'मेरे श्वशुरका जो राज्य शत्रुओंने छीन लिया है, वह उन्हें बिना उद्योगके मिल जाय।' यमराजने वरदान देकर लौटनेको कहा तो वह बोली—'मन, वचन और कर्मसे सभी प्राणियों-पर कृपा करना, उनसे द्रोह न करना और दान देना तो सत्पुरुषोंका सनातन धर्म है। अपनी शक्तिके अनुसार तो सभी कोमलताका बर्ताव करते हैं; किंतु सत्पुरुष तो अपने पास आये शत्रुपर भी दया करते हैं।'

सावित्रीका तात्पर्य स्पष्ट था कि सत्पुरुष होकर भी आप मुझे मेरे पतिके पाससे क्यों लौट जानेको कहते हैं। यमराजने सावित्रीके वचनकी प्रशंसा की और सत्यवान्के जीवनको छोड़कर एक वरदान और माँगनेको कहा। सावित्रीने कहा—'मेरे पिता अश्वपतिके कोई पुत्र नहीं है। उन्हें वंशकी वृद्धि करनेवाले सौ औरस पुत्र प्राप्त हों।' यमराजने वरदान देकर जब लौट जानेको कहा, तब सावित्री कहने लगी—'आप विवस्वान् (सूर्य) के प्रतापी पुत्र होनेसे वैवस्वत कहलाते हैं। शत्रु-मित्रका भेद छोड़कर सबका समानरूपसे न्याय करनेके कारण आपका नाम 'धर्मराज' है। सत्पुरुष सबके सुहृद् होते हैं, अतः मनुष्य सत्पुरुषोंसे प्रेम करता है और उनका अपनेसे भी अधिक विश्वास करता है।'

एक सत्पुरुष जो धर्मराज कहा जाता है, एक पतिव्रता नारीको उसके पतिसे पृथक् होनेकी सलाह दे—यह कैसे उचित है। सावित्रीने सूचित कर दिया कि मैं आपका विश्वास करती हूँ। यमराजने सत्यवान्के जीवनको छोड़कर उससे एक वरदान और माँगनेको कहा। सावित्रीने माँगा—'सत्यवान्के द्वारा बलवान् और पराक्रमी सौ औरस पुत्र मेरे हों।' यमराजने इस बार भी वरदान दे दिया और लौटनेको कहा। सावित्री बोली—'सत्पुरुषोंका चित्त सदा धर्ममें ही लगा रहता है। वे कभी दुःखित नहीं होते। सत्पुरुषका सङ्ग कभी व्यर्थ नहीं होता। उनसे किसीको कोई भय नहीं होता। वे अपने सत्यके बलसे सूर्यको भी पास बुला सकते हैं। वे ही पृथ्वीको धारण किये हुए हैं। संत ही भूत-भविष्यके आधार हैं, उनके समीप रहकर किसीको कभी खेद नहीं होता। सत्पुरुष परोपकार करते हैं और कभी यह नहीं चाहते कि

कोई उपकारके बदले उनके साथ भी उपकार करे।'

इस बार सावित्रीका संकेत बहुत स्पष्ट था। वह कहना चाहती थी कि 'आपके पास आकर मेरा दुःख बचा नहीं रहना चाहिये। आपने मुझे पुत्र होनेका वरदान दिया है, इसमें भी पतिका जीवन मिलनेसे ही वह धर्मतः पूर्ण होगा और आप कोई अधर्म करनेको कह नहीं सकते। आप समर्थ हैं, प्रारब्ध पूरा होनेपर भी मेरे पतिको जीवनदान दे सकते हैं। यद्यपि मैं आपका कोई उपकार नहीं कर सकती; किंतु आपका तो स्वभाव उपकार करना है।' सावित्रीकी बात सुनकर यमराजने इस बार उससे कोई भी वरदान माँगनेको कहा।

बड़ी ही नम्रतासे सावित्रीने कहा—'आपने मुझे जो पुत्र होनेका वरदान दिया है, वह बिना पतिके पूरा नहीं हो सकता। आपका वचन सत्य हो, इसलिये मैं यह वरदान चाहती हूँ कि मेरे पतिदेव जीवित हो जायँ। पतिके बिना मुझे सुख-भोग तो क्या, स्वर्गकी भी इच्छा नहीं है। पतिके बिना मैं जीवित भी नहीं रहना चाहती।'

प्रसन्न होकर यमराजने कहा—'ऐसा ही हो।' उन्होंने सत्यवान्‌के बन्धन खोल दिये। सावित्री अपने पतिके शरीरके पास लौट आयी। थोड़ी देरमें ही सत्यवान्‌के शरीरमें चेतना आ गयी। वे उठकर बैठ गये और बातें करने लगे। उस समय सूर्यास्त हो चुका था, अन्धकार फैल रहा था; अतः शीघ्रतासे वे अपने आश्रमके लिये चल पड़े।

वहाँ आश्रममें द्युमत्सेनको दृष्टि प्राप्त हो गयी थी। उन्हें सब वस्तुएँ दिखायी पड़ने लगी थीं। पुत्रके न लौटनेसे वे बहुत दुखी हो रहे थे। वहाँके ब्राह्मण उनको आश्वासन दे रहे थे। इतनेमें पत्नीके साथ सत्यवान् वहाँ आ गये। उनको देखकर सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। ब्राह्मणोंके पूछनेपर सावित्रीने वनमें जो कुछ हुआ था, सब बताया। सभी लोग उसके धैर्य एवं पातिव्रत्यकी प्रशंसा करने लगे।

दूसरे दिन शाल्वदेशके राजकर्मचारी आश्रममें आये। उन्होंने द्युमत्सेनसे कहा—'महाराज! वहाँ जो राजा था, उसे तथा उसके स्वजनोंको उसीके मन्त्रीने मार डाला है। शत्रुकी सेना भाग गयी है। प्रजाने एकमतसे आपको ही राजा बनानेका निश्चय किया है और हमें आपके पास भेजा है। अब आप कृपा करके राजधानीको पधारें और हम सबका पालन करें। आपके लिये सवारियाँ तथा सेना भी आयी है।' आश्रममें रहनेवाले वृद्ध ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेकर द्युमत्सेन राजधानीको लौट आये। पुरोहितने उनका राजतिलक किया। यथासमय सावित्रीके पिताको भी सौ पुत्र हुए तथा सावित्रीको भी सत्यवान्‌से सौ पराक्रमी पुत्र हुए।

भगवती श्रीसीताजी

जगज्जननी श्रीजानकीजी साकेतविहारी परात्पर परमब्रह्म मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामकी नित्य शक्ति हैं और उनसे सदा ही अभिन्न हैं। जब पृथ्वीका भार दूर करनेके लिये और धर्म-मर्यादाकी स्थापनाके लिये भगवान् श्रीरामने चक्रवर्ती महाराज दशरथके यहाँ अयोध्यामें अवतार धारण किया, तब उनकी नित्यशक्ति श्रीजानकीजीको भी प्रकट होना ही था। जैसे अपने प्रकट होनेके लिये श्रीरामने यज्ञके हविष्यको निमित्त बनाया, वैसे ही श्रीजानकीजीके प्रकट होनेका भी एक निमित्त बना। राक्षसराज रावणने अपने दूत भेजकर वनवासी मुनियोंसे राज्य-कर माँगा। भला, तपस्वी मुनियोंके पास कर देनेको धरा क्या था; उन्होंने एक घड़ेमें अपना थोड़ा-थोड़ा रक्त एकत्र करके वह घड़ा उन दूतोंको देकर कहा कि—'इससे रावणके नाशका कारण उत्पन्न

होगा ।' घड़ा देखकर और दूतोंकी बात सुनकर रावण डर गया । उसने घड़ेको लङ्कासे बहुत दूर मिथिला प्रदेशमें भूमिमें चुपचाप गड़वा दिया । उन दिनों मिथिलाके राजा थे महाराज सीरध्वज जनक । अचानक उनके राज्यमें अकाल पड़ गया । वर्षाके उद्देश्यसे महाराज जनकने यज्ञ करनेका निश्चय किया । विद्वान् ब्राह्मणोंने यज्ञके लिये संयोगवश वही भूमि बतलायी, जहाँ वह मुनियोंके रक्तसे भरा घड़ा रावणने गड़वाया था । यज्ञके पूर्व यजमान उस भूमिको जोतता है । सोनेका हल बनवाकर महाराज जनक जब उस भूमिको जोतने लगे, तब हलके अगले भागमें लगे लोहे (सीत) के लगनेसे घड़ा फूट गया । इसी बहानेसे आदिशक्ति श्रीजानकी नन्ही बालिकाके रूपमें वहाँ प्रकट हो गयीं । सीत (हलकी नोक) से निकलनेके कारण उनका नाम 'सीता' पड़ गया । पृथ्वीसे उत्पन्न होनेके कारण उन्हें भूमिसुता कहते हैं । महाराज जनक उस ज्योतिर्मयी बालिकाको उठा लाये और अपनी रानी सुनयनाजीको दे दिया । अपनी पुत्री मानकर वे उनका बड़े प्रेमसे पालन-पोषण करने लगे ।

भगवान् शङ्करने जिस धनुषको लेकर प्रजापति दक्षके यज्ञका ध्वंस किया था, वह धनुष उन्होंने प्रसन्न होकर देवताओंको दे दिया था । निमिवंशमें उत्पन्न महाराज देवरातको वह धनुष देवताओंने दिया और तभीसे वह उस वंशमें बड़े आदरसे पूजित होता था । वह इतना भारी था कि उसे बहुत बलवान् अनेकों योधा मिलकर भी उठा नहीं सकते थे । अपने पूजनीयकी सेवा सेवकोंसे नहीं करायी जाती । महारानी सुनयनाजी स्वयं जहाँ वह धनुष रक्खा था, उस भवनको स्वच्छ किया करती थीं । एक बार किसी काममें वे लगी थीं । उन्होंने अपनी बालिका श्रीजानकीजीसे वह भवन स्वच्छ करनेको कहा । श्रीजानकीजीने देखा कि धनुषके नीचे बहुत कालसे स्थान स्वच्छ नहीं हुआ है । उन्होंने एक हाथसे धनुषको उठाकर दूसरी ओर भवनमें रख दिया और स्थान स्वच्छ कर दिया । जब महाराज जनकको इस बातका पता लगा, तब उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली—'जो कोई इस धनुषको प्रत्यञ्चा चढ़ाकर खींचकर तोड़ देगा, उसीके साथ जानकीका विवाह होगा ।'

जब महर्षि विश्वामित्रजीके साथ श्रीराम छोटे भाई लक्ष्मणजीको लेकर जनकपुर पधारे और महर्षिकी पूजाके लिये पुष्पचयन करने पुष्पवाटिकामें गये, तब श्रीजानकीजी भी वहाँ पार्वती-पूजन करने माताकी आज्ञासे सखियोंके साथ आयी थीं । यहीं उन्होंने श्रीकोसलराजकुमारकी प्रथम झाँकी की । धनुष-यज्ञकी रङ्गभूमिमें श्रीरामने उस महान् धनुषको तोड़ डाला और तब श्रीजानकीजीने उनके कण्ठमें जयमाल डाल दी । सीताजी मानवीलीलामें भी अतुलनीय आदर्श स्थापित करनेवाली हुईं । इनका एक-एक चरित्र पवित्रतम तथा जगत्‌को पवित्र करनेवाला है ।

सती दमयन्ती

विदर्भदेशके राजा थे भीष्मक । उनके तीन पुत्र तथा एक कन्या थी । पुत्रोंके नाम थे दम, दान्त और दमन तथा कन्याका नाम था दमयन्ती । दमयन्ती इतनी सुन्दरी थी कि इन्द्रादि देवता भी उससे विवाह करना चाहते थे । उन्हीं दिनों निषधदेशमें नल नामके एक महान् गुणवान् राजा राज्य करते थे । विदर्भदेशसे निषधदेशको आने-जानेवाले लोगोंसे एक दूसरेके गुणोंकी प्रशंसा सुनकर नल तथा दमयन्तीके हृदयमें परस्पर अनुराग उत्पन्न हो गया ।

राजा भीष्मकने देखा कि मेरी कन्या विवाहके योग्य हो गयी है तो उन्होंने उसका स्वयंवर करनेका निश्चय किया । स्वयंवरका समाचार पाकर जहाँ दूसरे नरेश तथा नल आनेको उद्यत हुए, वहीं इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम भी दमयन्तीको पानेके लिये चले । देवताओं-

को पता था कि राजा नलको दमयन्ती चाहती है। सूर्यके समान कान्तिमान् परम सुन्दर नलको देखकर वे चकित हो गये। मार्गमें ही नलके पास आकर उन्होंने कहा—'राजन्! आप बड़े सत्यव्रती हैं। आप हमारी सहायताके लिये दूत बनना स्वीकार कर लीजिये।' नलने देवताओंका दूत बनना स्वीकार कर लिया। अब देवताओंने कहा—'आप हमारे दूतके रूपमें दमयन्तीके पास जाकर कहिये कि हमलोग उससे विवाह करना चाहते हैं। हममेंसे किसीको भी वह पति बना ले।' नलने नम्रतापूर्वक कहा—'आपलोग जिस उद्देश्यसे दमयन्तीके पास जा रहे हैं, उसी उद्देश्यसे मैं भी जा रहा हूँ। अतः मेरा वहाँ दूत बनकर जाना उचित नहीं है।' देवताओंने कहा—'आप पहले ही दूत बनना स्वीकार कर चुके हैं। अब अपनी बात झूठी न करें।' विवश होकर नलको देवताओंकी बात स्वीकार करनी पड़ी। इन्द्रने वरदान दिया कि दमयन्तीके यहाँ जाते समय नल-को द्वारपालादि नहीं देख सकेंगे।

नल दमयन्तीके भवनमें गये। दमयन्ती तथा उसकी सखियाँ परम सुन्दर युवा पुरुषको अपने समीप आया देखकर चकित तथा लज्जित हो गयीं। नलने अपना परिचय देकर कहा—'मैं इन्द्र, वरुण, यम और अग्निका दूत बनकर आया हूँ। ये लोकपाल तुमसे विवाह करना चाहते हैं। तुम इनमेंसे किसीको वरण कर लो।'

दमयन्तीने परिचय पाकर कहा—'नरेन्द्र! मैं तो अपने मनमें आपको वरण कर चुकी हूँ, मैंने आपके चरणोंमें अपना सर्वस्व चढ़ा दिया है। आप इस दासीको स्वीकार करें। आप मुझे स्वीकार नहीं करेंगे तो मैं विष खाकर, आग-में जलकर, जलमें डूबकर या फाँसी लगाकर प्राण त्याग कर दूँगी।'

बड़ी सचाईसे नलने दूतका कर्तव्य पूरा किया। यद्यपि वे स्वयं दमयन्तीको चाहते थे, फिर भी उन्होंने लोकपालोंके ऐश्वर्य, प्रभाव आदिका वर्णन करके दमयन्ती-को समझाना चाहा। जब दमयन्ती स्वर्गके ऐश्वर्यके लोभमें भी नहीं पड़ी, तब नलने कहा—'देखो, देवताओं-को छोड़कर तुम मुझ मनुष्यको मत चाहो। तुम अपना मन उन्हींमें लगाओ। देवताओंका अप्रिय करनेसे मनुष्य-की मृत्यु हो जाती है। तुम मेरी रक्षा करो।'

नलकी बात सुनकर दमयन्ती डर गयी। उसके नेत्रों-से आँसू गिरने लगे। उसने कहा—'मैं देवताओंको प्रणाम करके आपको ही पति वरण करती हूँ।' अब कोई उपाय नहीं था। फिर भी नलने स्वयंवरमें देवताओंको ही वरण करनेकी सलाह देकर वहाँसे विदा ली और लौटकर देवताओंको दमयन्तीका निश्चय सुना दिया। स्वयंवरकी सभामें चारों देवता नलके समान रूप बनाकर उनके पास ही बैठे। जब दमयन्ती स्वयंवर-सभामें आयी, तब उसने पास-पास बैठे नलके समान पाँच पुरुषोंको देखा। नलको न पहचानकर वह बड़े सोचमें पड़ गयी। उसे बड़ा दुःख हुआ। अन्तमें देवताओंकी शरणमें जानेका निश्चय करके उसने कहा—'मैं मनसे और वाणीसे नल-को छोड़कर किसी औरको नहीं चाहती। नलकी प्राप्ति-के लिये ही मैं व्रत कर रही हूँ। मैं यदि पतिव्रता हूँ तो मेरे सत्यके कारण देवतालोग मुझे नलको दिखला दें। ऐश्वर्यशाली लोकपालो! आप अपनेको प्रकट कर दें, जिससे मैं नरपति नलको पहचान सकूँ।'

पतिव्रताका तिरस्कार करनेका साहस देवताओंमें भी नहीं होता। दमयन्तीकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर देवताओं-ने उसे देवता तथा मनुष्यका भेद समझनेकी शक्ति दे दी। उसने देखा कि पाँचमेंसे चार पुरुषोंके शरीरपर न तो पसीना है, न धूलि। उनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती। वे पृथ्वीको स्पर्श नहीं कर रहे हैं। उनकी माला तनिक भी कुम्हलायी नहीं है। दमयन्तीने उन्हें देवता पहचानकर प्रणाम किया। पाँचवें पुरुषके शरीर-पर कुछ धूलि पड़ी थी, कुछ पसीना आया था, उसके

शरीरकी छाया पड़ रही थी, वह भूमिका स्पर्श कर रहा था और उसकी मालाके पुष्प कुछ कुम्हला गये थे। दमयन्तीने पहचान लिया कि ये ही राजा नल हैं। उसने उनके गलेमें जयमाला डाल दी। इस प्रकार अपनी दृढ़ निष्ठा तथा पातिव्रत्यके प्रभावसे उसने पतिरूपमें नलको प्राप्त किया। देवताओंने संतुष्ट होकर उसे आशीर्वाद दिया।

सती द्रौपदी

आजकल युक्तप्रान्तमें फर्रुखाबाद जिलेमें फतेहगढ़से अट्ठाईस मील दूर ईशानकोणमें काम्पिल्य नगर है। द्वापरके अन्तमें यह नगर पंजाब-प्रान्तकी राजधानी था और उस समय इसका एक नाम छत्रवती नगरी भी था। महाराज पृषत्‌के पुत्र द्रुपद यहाँके राजा थे। द्रोणाचार्यने अपने शिष्य अर्जुनके द्वारा द्रुपदको युद्धमें पराजित कराया था और इनका आधा राज्य छीन लिया था। यद्यपि द्रोणाचार्यने पराजित द्रुपदसे मित्रता करनी चाही फिर भी किसीका अपमान करके उसे मित्र नहीं बनाया जा सकता। वह तो शत्रु ही बन जाता है। द्रुपद इस पराजयसे बहुत दुखी हुए और बराबर द्रोणाचार्यसे बदला लेनेकी चिन्ता करने लगे। वे जानते थे कि युद्ध करके द्रोणाचार्यको पराजित नहीं किया जा सकता, अतः इस धुनमें लगे कि कोई तपस्वी ब्राह्मण ऐसा यज्ञ उनसे करायें, जिससे द्रोणको मारनेवाला पुत्र उन्हें प्राप्त हो।

द्रुपद महर्षि याजके पास गये और याजने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। विधिपूर्वक उन्होंने पुत्रेष्टि यज्ञ कराया। यज्ञके अन्तमें अभिमन्त्रित हविष्य ग्रहण करनेके लिये उन्होंने रानीको बुलाया। रानीने कहा—'मेरे मुखमें दिव्य सुगन्धकी वस्तुएँ लगी हैं, मेरा अङ्ग अङ्गरागसे लिप्त है, बिना स्नान किये यज्ञका हविष्य मैं कैसे ग्रहण कर सकती हूँ। आप थोड़ी देर रुक जायँ।'

याजको वहाँसे जानेकी शीघ्रता थी। वे बोले—'तुम आओ या मत आओ, मेरे यजमान (द्रुपद) का कार्य तुम्हारे बिना रुकेगा नहीं। मैं हविष्य अग्निमें डाल रहा हूँ।' यह कहकर उन्होंने हविष्यको दो बारमें अग्निमें डाल दिया। उसी समय अग्निमेंसे देवताओंके समान तेजस्वी किरीट-मुकुटधारी, कवच पहने, धनुष-बाण तथा खड्ग लिये एक कुमार उत्पन्न हुआ। आकाशवाणीने उसका नाम धृष्टद्युम्न बताया। इसी कुमारके हाथों द्रोणाचार्यकी मृत्यु हुई। इसके बाद अग्निकुण्डसे एक नील कमलके समान रंगवाली परम सुन्दरी कन्या प्रकट हुई। उसके बड़े-बड़े नेत्र थे, घुँघराले केश थे, लाल-लाल उभरे नख थे। उसके शरीरका रंग साँवला था, अतः उसका नाम 'कृष्णा' रक्खा गया। द्रुपदकी पुत्री होनेके कारण उसे 'द्रौपदी' कहा जाता है। उन दोनों बालकोंको देखकर द्रुपदकी रानी याजके चरणोंपर गिरकर प्रार्थना करने लगीं—'ये दोनों मुझे ही अपनी माता समझें।' प्रसन्न होकर याजने कह दिया 'ऐसा ही होगा।' द्रौपदीका एक नाम 'याज्ञसेनी' भी है।

महाराज द्रुपद चाहते थे कि उनकी पुत्रीका विवाह अर्जुनसे हो; किंतु उन दिनों पाण्डवोंका पता नहीं था। वारणावतमें लाक्षागृहके जल जानेके पश्चात् वे जीवित भी हैं या नहीं, इसमें भी संदेह था। अतः द्रुपदने द्रौपदीके विवाहके लिये मत्स्यवेधका नियम बनाया। वे जानते थे कि यहाँ रक्खे हुए धनुषको केवल अर्जुन ही चढ़ा सकते हैं और वे ही लक्ष्यको बाण मारकर गिरा भी सकते हैं। द्रौपदीके स्वयंवरमें बहुत-से राजा आये थे। पाण्डव भी ब्राह्मणों-जैसे वेशमें आये थे और ब्राह्मणोंके साथ ही बैठे थे। जब सब नरेश उसमें असफल हो गये, तब अर्जुनने धनुष चढ़ाकर यन्त्रमें घूमती नकली मछलीको बाण मारकर गिरा दिया।

क्रोधमें भरकर राजाओंने अर्जुनपर आक्रमण किया, परंतु अर्जुन तथा भीमसेनने उन्हें युद्धमें पराजित कर दिया। वहाँसे द्रौपदीको लेकर पाण्डव उस नगरमें उस कुम्हारके घर गये, जहाँ वे ठहरे थे।

द्रौपदीको साथ लेकर अर्जुन तथा भीमसेन अपने निवासपर पहुँचे। भीमसेनने कहा—'माता! हम भिक्षा लेकर आये हैं।' देवी कुन्तीने बिना देखे ही कह दिया—'सब भाई मिलकर उसका उपयोग करो।' जब उन्होंने द्रौपदीको देखा, तब बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ उन्हें। उन्होंने युधिष्ठिरके पास आकर कहा—'बेटा! मैंने जीवनमें कभी झूठी बात नहीं कही। आज भूलसे मेरे मुखसे एक अटपटी बात निकल गयी। अब कोई ऐसा उपाय करो कि मेरी बात झूठी न हो। द्रौपदीको तथा तुमलोगोंको अधर्म न लगे. यह मैं चाहती हूँ।'

महाराज द्रुपदको जब यह पता लगा कि उनकी पुत्रीको स्वयंवरमें पाण्डवोंने ही जीता है, तब उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। लेकिन देवी कुन्तीकी बातका समाधान किसीकी समझमें नहीं आता था। भगवान् व्यासने वहाँ आकर बताया कि द्रौपदी स्वर्गलोककी लक्ष्मी है। भगवान् शङ्करका तिरस्कार करनेसे स्वर्गके पाँच इन्द्रोंको अपने अंशसे मर्त्यलोकमें जन्म लेनेका शाप हुआ था। पाण्डव उन्हीं इन्द्रोंके अंशसे उत्पन्न हुए हैं; अतः द्रौपदीके साथ पाँचों भाइयोंका विवाह होना अधर्म नहीं है। भगवान् शङ्करकी आज्ञा ही द्रौपदीको पहले जन्ममें पाँच पति मिलनेकी हो चुकी है। द्रुपदने भगवान् व्यासकी बात स्वीकार कर ली। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेवने क्रमशः द्रौपदीके साथ पाणिग्रहण किया। प्रत्येक विवाहके समय द्रौपदी कन्याभावको प्राप्त हो जाती थी। इस प्रकार पाँच पति होनेपर भी द्रौपदी सदा उन्हें एक ही रूपमें देखती थी। भगवान् व्यासकी वाणी, शास्त्र तथा अपने पतियोंकी धर्मनिष्ठापर उसकी अविचल श्रद्धा थी। द्रौपदीका विशद चरित्र 'कल्याण'में गतवर्ष निकल चुका है।

भक्तराज श्रीहनुमान्‌जी

बंदउँ पवन कुमार खल बन पावक ग्यान घन।
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

त्रेतायुगमें जब मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने पृथ्वीपर अवतार लेनेका निश्चय किया, तब उनके पृथ्वीपर आनेसे पहले ही सभी देवता अपने-अपने अंशोंसे वानर तथा भालुओंके रूपमें पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए। भगवान् शङ्कर तो श्रीरामके अनन्य भक्त ठहरे, अतः वे भी अपने आराध्यकी सेवा करनेके लिये अपने ग्यारहवें रुद्र रूपके अंशसे वानरश्रेष्ठ केसरीकी पत्नी अञ्जना देवीसे प्रकट हुए। अञ्जना देवीको पवनने पुत्र होनेकी सूचना दी थी और श्रीशङ्करजीके अंशसे पुत्र हुआ, अतः यह अञ्जनाकुमार शङ्करसुवन तथा पवनपुत्र भी कहा जाता है। चैत्र शुक्ल १५ मंगलवारको श्रीहनुमान्‌जीके रूपमें शङ्करजीने अवतार ग्रहण किया।* इस केसरी-कुमारका रंग प्रातःकालीन सूर्यके समान लाल था और जन्मसे ही यह अत्यन्त बलवान् तथा तेजस्वी था।

माता अञ्जना अपने बच्चेको घरपर छोड़कर कहीं गयी थीं। प्रातःकालका समय था। बच्चेको भूख लगी थी। वह अभी एक महीनेके लगभगका ही था। पूर्व-दिशामें लाल-लाल सूर्यका बिम्ब निकला तो बच्चेने उसे कोई सुन्दर फल समझ लिया और खाने दौड़ा। वायुने पहले ही उड़नेकी शक्ति उसे दे दी थी। बालक पास पहुँचकर सूर्यके रथपर जा चढ़ा। उस दिन सूर्यग्रहण लगना था। राहु जब सूर्यका ग्रास करने पहुँचा, तब उसने सूर्यके रथपर वानरशिशुको देखा। उसने उस बालककी कोई परवा नहीं की और सूर्यपर टूट पड़ा; किंतु जब बालकने अपने कठोर हाथोंसे

* किसी-किसीके मतमें हनुमान्‌जीकी जन्मतिथि कार्तिक कृष्ण १४ या कार्तिक शुक्ल १५ है। कल्पभेदसे तीनों जन्म-तिथियाँ ठीक हैं।

उसे पकड़ लिया, तब वह लगा छटपटाने। किसी प्रकार अपनेको छुड़ाकर वह इन्द्रके पास पहुँचा। उसने कहा—'आपने सूर्यके प्रसनेका अधिकार किसी दूसरेको दे दिया है क्या?' इन्द्रने राहुको डाँटकर फिर भेजा। जब उस बालकने राहुको देखा, तब उसे अपनी भूख याद आ गयी। वह राहुपर टूट पड़ा, राहुका कोई बस नहीं चल रहा था। बालकने उसे पकड़ लिया था। अतः वह रो रहा था और इन्द्रको पुकार रहा था। इन्द्र राहुकी सहायताके लिये ऐरावत हाथीपर बैठकर आये। बालकने ऐरावतको कोई सफेद रंगका फल समझ लिया और राहुको छोड़कर ऐरावतको पकड़ने लपका वह। अब इन्द्र घबराये। उन्होंने अपना वज्र उठाकर बालकको मारा। वज्र लगनेसे बालककी ठुड्डी (हनु) तनिक टूट गयी। इसीसे उसका नाम हनूमान् पड़ा। वज्र लगनेसे बालक मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा।

वायुदेव बालकको उठाकर गुफामें ले गये। उन्हें इन्द्रपर बड़ा क्रोध आया। उन्होंने अपना वेग बंद कर दिया। वायुका वेग बंद होनेसे सबका श्वास रुक गया। अब सब देवता व्याकुल होकर ब्रह्माजीकी शरणमें आये। ब्रह्माजीने गुफामें आकर अपने स्पर्शसे बालकको जीवित कर दिया। वायुदेव इससे बड़े प्रसन्न हुए। वे फिर यथावत् चलने लगे। इन्द्रने वरदान दिया—'मेरे वज्रसे यह बालक नहीं मरेगा।' सूर्यने अपना शतांश तेज बालकको दिया। वरुणने जल तथा अपनी ओरसे निर्भय होनेका वरदान दिया। इसी प्रकार अग्नि, यम, विश्वकर्मा तथा ब्रह्माजीने भी अपने प्रभाव तथा शस्त्रोंसे बालकको निर्भय कर दिया।

एक तो वानर, दूसरे बालक और तीसरे शक्तिशाली—अतः बचपनमें हनुमान्‌जी बहुत चञ्चल तथा नटखट थे। ऋषियोंके आश्रममें जाकर उनके आसन पेड़पर टाँग देते, उनके कमण्डलुका जल लुढ़का देते, आश्रमके वृक्षोंको हिलाकर उनके फल गिरा देते। कोई इनको रोक पाता नहीं था। ऋषियोंने देखा कि बालकको अपने बलका घमंड है, अतः उन्होंने यह शाप दे दिया—'यह अपने बलको भूला रहेगा। जब कोई इसे याद दिलायेगा, तभी इसे अपने बलका पता लगेगा।'

जब हनुमान्‌जी विद्या पढ़ने योग्य हुए, तब माता-पिताने संस्कार कराके इन्हें सूर्यके पास भेजा। ये भगवान् सूर्यकी ओर मुख करके पीछेकी ओर सूर्य-रथकी गतिसे चलते भी जाते थे और पढ़ते भी थे। थोड़े ही दिनोंमें सम्पूर्ण वेद तथा उपवेदोंको इन्होंने उनके अङ्गोंके साथ भली प्रकार सीख लिया। गुरुदक्षिणाके रूपमें सूर्यने इनसे अपने पुत्र सुग्रीवकी रक्षाका वचन ले लिया था, अतः अध्ययन करके लौटनेपर ये माता-पिताकी आज्ञासे किष्किन्धामें सुग्रीवके पास रहने लगे। यहीं इन्हें श्रीरामके दर्शन हुए और फिर तो ये सदा भगवान् श्रीरामकी सेवामें ही लगे रहे।

भक्तश्रेष्ठ बालक प्रह्लाद

जिस समय दैत्यराज हिरण्यकशिपु तपस्या करने गये थे, उस समय इन्द्रादि देवताओंने दैत्योंको नायकहीन देखकर उनपर आक्रमण कर दिया था। दैत्य, दानव और असुर देवताओंसे हारकर इधर-उधर भाग गये थे और देवताओंने उनकी सम्पत्ति लूट ली, उनके घर-द्वार नष्ट कर दिये। हिरण्यकशिपुकी पत्नी कयाधूको इन्द्रने पकड़ लिया और वे उसे बलपूर्वक स्वर्गमें ले जाने लगे। उस समय कयाधू गर्भवती थी। इन्द्र सोचते थे कि जब इसके बच्चा हो जायगा, तब बच्चेको मार डालेंगे और इसे छोड़ देंगे। मार्गमें देवर्षि नारदजीने दुःखसे व्याकुल होकर रोती हुई कयाधूको देखा, देवर्षिको दया आ गयी। उन्होंने इन्द्रको बताया, 'इसके गर्भमें भगवान्‌का भक्त है। तुम उसे मार नहीं सकते। इसे अभी छोड़ दो!' इन्द्रने देवर्षिकी बात

मान लो और कयाधूके गर्भमें भगवान्का भक्त है, यह सुनकर उसकी परिक्रमा की तथा प्रणाम किया। देवराज इन्द्र कयाधूको छोड़कर स्वर्ग चले गये। देवर्षि नारदने पुत्री कहकर उन दैत्यराजकी महारानीको आश्वासन दिया और उन्हें अपने आश्रममें ले आये। जबतक दैत्यराज तपस्यासे नहीं लौटे, कयाधू श्रीनारदजीके आश्रममें ही रहीं।

दैत्यराज जब तपस्यासे लौटकर आये, तब उन्हें देवताओंकी निष्ठुरताका पता लगा। स्वभावसे ही वे देव-शत्रु थे और अब तो उनकी शत्रुता और भी बढ़ गयी। रसातलसे पृथ्वीको ले आते समय भगवान् वाराहने दैत्यराज हिरण्यकशिपुके छोटे भाई हिरण्याक्षको मार दिया था। हिरण्यकशिपु क्रुद्ध होकर भगवान् नारायणसे भ्रातृवधका बदला लेनेके लिये ही तपस्यामें लगा था। अब वरदान पाकर वह मदान्ध हो गया था। भगवान् तथा देवताओंकी शत्रुताके कारण वह भगवान्के भक्तों, ब्राह्मणों, गौओं तथा वेद और धर्मका भी शत्रु हो गया था।

यह सब तो था; किंतु त्रिभुवन-विजयी हिरण्यकशिपुके लिये उसका पाँच वर्षका छोटा-सा पुत्र प्रह्लाद ही चिन्ताका कारण हो रहा था। बात यह थी कि जब कयाधू देवर्षि नारदके आश्रममें थीं, तब प्रह्लाद ही उनके गर्भमें थे। माताके आहार, विचार तथा सङ्गका गर्भस्थ शिशुपर गहरा प्रभाव पड़ता है। उन दिनों कयाधू कन्द-मूल-फलका भोजन करती थीं, देवर्षि नारदकी सेवा करती थीं और देवर्षि उनके सामने तथा गर्भस्थ शिशुको लक्ष्य करके नित्य भगवान्के दिव्य गुणोंका वर्णन करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जन्मसे ही प्रह्लादजी विनयी, शान्त, धर्मपरायण एवं भगवान्के अनन्य भक्त हो गये। उनका मन निरन्तर भगवान्में ही लगा रहता था। कभी वे भगवान्के ध्यानमें शान्त बैठ जाते, कभी भगवान्के विरहका अनुभव करके रोने लगते, कभी भगवान्का हृदयमें दर्शन करके अपने-आप हँसते और कभी भगवान्का गुण गाते हुए नाचने लगते। हिरण्यकशिपुका अपने पुत्रसे बड़ा स्नेह था। प्रह्लादजी जबतक बहुत छोटे थे, तबतक उसने इनकी चेष्टाओंकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। जब ये पाँच वर्षके हो गये, उसने इन्हें शुक्राचार्यजीके पुत्र षण्ड तथा अमर्कके पास पढ़नेके लिये भेज दिया।

एक दिन प्रह्लादजी गुरुके आश्रमसे घर आये। माताने खिला-पिलाकर उनको वस्त्र तथा आभूषण पहनाये और पिताके पास भेजा। प्रह्लादजीने पिताको नम्रतापूर्वक प्रणाम किया। हिरण्यकशिपुने उन्हें गोदमें बैठाकर पूछा—'बेटा! तुमने जो कुछ पढ़ा है, उसमेंसे तुम्हें जो बात अच्छी लगती हो, वह सुनाओ।'

प्रह्लादजीने कहा—'पिताजी! संसारके सभी प्राणी इस दुःखमय संसारके भोगोंमें आसक्त रहकर सदा दुखी रहते हैं; अतः मैं तो सबके लिये यही अच्छा मानता हूँ कि वे तृणादिसे आच्छन्न कुएँके समान इस प्रपञ्चके फंदेसे निकलकर भगवान्का भजन करें।'

हिरण्यकशिपु प्रह्लादकी बात सुनकर जोरसे हँस पड़ा। उसे लगा कि उसके शत्रुओंने उसके पुत्रको बहका दिया है। गुरुपुत्रोंको बुलाकर उसने विशेषरूपसे सावधान किया—'बच्चेको दैत्यकुलके अनुरूप अर्थ, धर्म और कामकी शिक्षा दी जाय।'

षण्ड और अमर्क विद्वान् होते हुए भी हिरण्यकशिपुके अधीन थे। उन्होंने प्रह्लादको बहुत डाँटा और धमकाया। वे उन्हें अर्थशास्त्र, दण्डनीति, राजनीति आदिकी शिक्षा देने लगे। प्रह्लादजी गुरुदेवका अपमान नहीं करते थे। वे उनकी शिक्षा ध्यानपूर्वक ग्रहण करते थे; किंतु पढ़-सीखकर भी उस विद्याके प्रति उनके मनमें आस्था नहीं थी। जब गुरुपुत्रोंने समझ लिया कि प्रह्लादने भली प्रकार पढ़ लिया है, तब वे उनको दैत्यराजके पास ले गये। हिरण्यकशिपुने अपने विनयी पुत्रको गोदमें बैठाकर फिर पूछा—'बेटा! तुम उत्तम ज्ञान क्या मानते हो?'

प्रह्लादजीने कहा—'भगवान्के गुण तथा चरित्रोंकी कथा सुनना, उनकी दिव्य लीलाओं तथा मङ्गलमय नामोंका कीर्तन करना, उनका स्मरण करना, उनके

श्रीचरणोंकी सेवा करना, उन सर्वलोकेश्वरकी पूजा करना, उनको नमस्कार करना, उनके प्रति दास्य और सख्यभाव रखना तथा उन्हें आत्मनिवेदन करना—यह नवधा भक्ति है। इस नवधा भक्तिके द्वारा भगवान्में चित्त लगाना ही समस्त अध्ययनका सर्वोत्तम फल है।'

हिरण्यकशिपु क्रोधसे लाल हो गया। धक्का देकर प्रह्लादको उसने भूमिपर पटक दिया और गुरुपुत्रोंको डाँटने लगा—'तुम लोगोंने मेरे पुत्रको यह उलटी शिक्षा क्यों दी? तुमने तो मेरे साथ शत्रुओं-जैसा व्यवहार किया है।' गुरुपुत्रोंने बताया—'इसमें हमारा कोई दोष नहीं है।' प्रह्लादजी पिताद्वारा अपमानित होनेपर भी शान्त खड़े थे। उन्होंने नम्रतापूर्वक कहा—'पिताजी! आप क्रोध न करें। गुरुपुत्रोंका इसमें कोई दोष नहीं है। संसारके विषयभोग तो मनुष्यको नरकमें ले जानेवाले हैं। इन बार-बार भोगे हुए भोगोंमें आसक्त होना तो उगले हुएको फिर खानेके समान है। जिनकी बुद्धि इन्हीं भोगोंमें लगी है, जो इस भोग-जगत्के झूठे मोहमें आसक्त हैं, वे स्वयं या दूसरेकी प्रेरणासे भी भगवान्में चित्त नहीं लगा पाते। जैसे एक अंधा दूसरे अंधेको मार्ग नहीं दिखा सकता, वैसे ही जो संसारके सुखोंको पाना ही परम पुरुषार्थ मानते हैं, वे भगवान्के स्वरूपको क्या जानें। वे किसीको क्या शिक्षा दे सकते हैं। समस्त दुःखोंका नाश तभी होता है, जब चित्त भगवान्के श्रीचरणोंमें लगे और ऐसा तबतक नहीं हो सकता, जबतक निरभिमान होकर भगवद्भक्त महापुरुषोंकी चरणधूलि मस्तकपर न धारण की जाय।'

जिसके भयसे इन्द्र, वरुण, कुबेर तथा यमराजतक काँपते रहते थे, उसे एक छोटा-सा बालक उपदेश दे और शत्रुके पक्षका समर्थन करे—यह दैत्यराजसे सहन नहीं हुआ। चिल्लाकर हिरण्यकशिपुने अपने क्रूर सभासदोंको आज्ञा दी—'इस दुष्टको तुरंत मार डालो!' वे असुर तो स्वभावसे ही निर्दय थे। 'मारो! काट डालो!' चिल्लाते हुए भाले, त्रिशूल, तलवार आदि लेकर वे प्रह्लादपर टूट पड़े। प्रह्लाद न तो डरे और न घबराये। वे शान्त खड़े रहे। वे तो सर्वत्र अपने दयामय भगवान्को ही देखते थे; फिर भला, वे डरते कैसे। असुरोंने पूरे बलसे अपने हथियारोंसे प्रहार किया; किंतु उनके अस्त्र-शस्त्र प्रह्लादके शरीरको छूते ही टुकड़े-टुकड़े हो गये। प्रह्लादजीको उन अस्त्रोंके प्रहारसे तनिक भी चोट नहीं आयी।

हिरण्यकशिपुको आश्चर्य तो हुआ, पर वह प्रह्लादको मारनेपर उतारू हो गया था। अब उसने उन्हें मारनेके लिये अनेक प्रकारके उपाय प्रारम्भ किये। हाथ-पैर बाँधकर प्रह्लादको मतवाले हाथीके आगे डाल दिया गया, पर हाथीने सूँड़से उठाकर उन्हें अपने मस्तकपर बैठा लिया। कोठरीमें उन्हें बंद करके वहाँ भयङ्कर विषधर सर्प तथा बिच्छू छोड़े गये; किंतु प्रह्लादजीके पास पहुँचकर वे केंचुओं-जैसे सीधे हो गये। जब भूखा जंगली सिंह छोड़ा गया, तब वह पालतू कुत्तेके समान पूँछ हिलाता प्रह्लादजीके पास जाकर बैठ गया। भोजनमें बहुत ही तीव्र विष दिया गया प्रह्लादको; किंतु उनके उदरमें जाकर वह भी अमृत बन गया। अब दैत्यराजने भोजन तो दूर, जलतक देना बंद कर दिया; लेकिन प्रह्लाद ज्यों-के-त्यों बने रहे। उनके मुखका तेज बढ़ता ही गया। उन्हें ऊँचे पर्वतपरसे नीचे फेंका गया तो ऐसे उठ खड़े हुए, जैसे रूईके सुकोमल ढेरपर गिरे हों। उनके शरीरमें भारी चट्टानें बाँधकर उन्हें समुद्रमें डुबा दिया गया, पर वहाँसे भी वे निकल आये। कहीं भी किसी भी प्रकार उन्हें थोड़ा भी कष्ट नहीं हुआ। भयभीत होना तो वे जानते ही न थे।

हिरण्यकशिपुकी बहिनका नाम था होलिका। उसे एक वस्त्र वरदान-स्वरूप मिला था। जो उस वस्त्रको ओढ़कर अग्निमें प्रवेश करता था, उसका शरीर जलता नहीं था। सूखी लकड़ियोंका एक बड़ा भारी पर्वत एकत्र किया गया। होलिका अपना वह वस्त्र ओढ़कर प्रह्लादको गोदमें लेकर उस ढेरपर चढ़ गयी और राक्षसोंने उस ढेरमें चारों ओरसे अग्नि लगा दी। जो

भगवान्‌के भक्तोंका अनिष्ट करना चाहता है, उसका स्वयं अनिष्ट होता है। पता नहीं कब और कैसे होलिकाके शरीरसे वह वस्त्र उड़ गया और वह उस अग्निमें भस्म हो गयी; किंतु प्रह्लादजीका तो एक रोम भी नहीं जला। वे उस भयंकर अग्निमें बैठे अपने पिताको समझा रहे थे—'पिताजी! आप अपनी आँखोंसे रामनामका प्रभाव देख लीजिये कि ये अग्निकी लपटें मुझे शीतल लग रही हैं। आप भी भगवान्‌का नाम लें! संसारके तीनों तापोंसे आप भी इसी प्रकार निर्भय हो जायँगे।'

जब लौकिक उपायोंसे हिरण्यकशिपु भक्तश्रेष्ठ प्रह्लादजीको नहीं मार सका, तब उसने आसुरी माया-का सहारा लिया। अनेक प्रकारकी मायाके प्रयोग उसने किये; किंतु माया तो मायापतिके सेवकके सामने कभी टिकती ही नहीं। प्रह्लादजीके नेत्र उठाकर देखते ही माया नष्ट हो जाती थी। अन्तमें शुक्राचार्यजीके पुत्र षण्ड तथा अमर्कने प्रह्लादको मारनेके लिये अभिचार (मारण-प्रयोग) द्वारा कृत्या उत्पन्न की। मारण-प्रयोग जिसपर किया जाय, उसपर न लग सके तो प्रयोग करनेवालेको ही मार देता है। भगवान्‌की कृपासे जो सुरक्षित है, उसपर किसीकी कोई शक्ति चल नहीं पाती। कृत्या जब प्रह्लादके पास जानेमें असमर्थ हो गयी, तब लौटकर उसने गुरुपुत्रोंको ही मार दिया। भगवान्‌के भक्तको मारने जाकर वे दोनों गुरुपुत्र अपने ही अभिचारसे निष्प्राण होकर भूमिपर गिर पड़े। प्रह्लादजीके मनमें गुरुपुत्रोंके प्रति पूरी श्रद्धा थी। इतना सब होनेपर भी गुरुपुत्रोंके प्रति उनके मनमें तनिक भी द्वेष नहीं आया। गुरुपुत्रोंको मरे हुए देखकर प्रह्लादजी उनके पास आये और भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे—'प्रभो! मेरे कारण ये मेरे आचार्यके पुत्र मरे हैं। यह तो मेरे लिये ब्रह्महत्या-जैसी बात है। यदि मेरे मनमें इनके प्रति, अपने पिताके प्रति, अपने ऊपर प्रहारादि करनेवाले असुरोंके प्रति कोई द्वेष न हो तो ये गुरुपुत्र जीवित हो जायँ। यदि सर्वात्मा भगवान् मुझ अपने दासपर प्रसन्न हों तो ये दोनों गुरुपुत्र जीवित हो जायँ।' प्रह्लादजीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर दोनों गुरुपुत्र जीवित हो गये।

जब सब उपाय करके भी हिरण्यकशिपु प्रह्लादजी-का कुछ बिगाड़ नहीं सका, तब उसे स्वयं भय लगने लगा। वह सोचने लगा—'यह इतना नन्हा-सा लड़का इतना निर्भय है और अपने तेजसे ही समस्त संकटोंसे छूट जाता है; कहीं यह मेरी मृत्युका कारण न हो जाय!' गुरुपुत्रोंके कहनेपर दैत्यराजने वरुणपाशमें बाँधकर प्रह्लादको गुरुगृहमें भेज दिया। उसे आशा थी कि शिक्षा और सङ्गके प्रभावसे बालक सुधर जायगा। दैत्यगुरु शुक्राचार्य तपस्या करने गये थे। उनके लौटनेपर आशा थी कि वे भी कोई उपाय करेंगे। प्रह्लादजी गुरुपुत्रोंकी पढ़ायी विद्या पढ़ तो लेते, किंतु उसमें इनका चित्त लगता नहीं था; जब गुरुपुत्र आश्रमके अन्य कामोंमें लग जाते, तब ये अपने सहपाठी असुर-बालकोंको पास बुला लेते। एक तो ये राजकुमार थे, दूसरे इनके प्रभावकी बात सब बालक सुन चुके थे, तीसरे ये नम्र तथा सबसे स्नेह रखनेवाले थे; अतः सभी बालक खेल-कूद छोड़कर इनके पास चले आते और एकाग्रचित्तसे इनकी बात सुनते। प्रह्लादजी उन्हें समझाते—'यह मनुष्य-जन्म बहुत ही दुर्लभ है। मृत्युका कोई ठिकाना नहीं कि वह कब आ जाय। यदि इस जीवनमें भगवान्‌को न पाया तो बड़ी हानि हुई। घर-द्वार, स्त्री-पुत्र, धन-धान्य आदि तो दुःख ही देनेवाले हैं। इनमें आसक्ति करनेसे तो बार-बार जन्म-मरणके चक्रमें ही पड़ना पड़ता है। सुख तो मनको विषयोंसे हटा लेनेमें ही है। ये विषय-भोग तो प्राणीको नरकमें भी मिल जाते हैं। अतएव इस मरणशील शरीरको पाकर जितनी शीघ्र भगवत्प्राप्तिके साधनमें लगा जा सके, लग जाना चाहिये। भगवान् कहीं दूर तो हैं नहीं, वे तो अपने हृदयमें ही हैं और सबके सुहृद् हैं। उनको कोई विद्वान् या उच्च कुलका ही पा सके या उनके पानेके लिये बहुत पूजादि सामग्री लगे, सो

भी बात नहीं है। वे दयामय तो एकमात्र प्रेमसे ही प्रसन्न होते हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंपर दया करना ही उनकी सर्वोत्तम पूजा है। किसी प्राणीको कभी कष्ट नहीं देना चाहिये और मनको निरन्तर भगवान्‌में ही लगाये रखना चाहिये।'

भोले-भाले असुर-बालकोंका हृदय अभी निर्मल था। प्रह्लादजीकी शिक्षाका उनपर प्रभाव पड़ने लगा। गुरुपुत्रोंने यह सब देखा तो वे बहुत डर गये। प्रह्लादको वे दैत्यराज हिरण्यकशिपुके पास ले गये और सब बातें उन्होंने उसे सुना दीं। हिरण्यकशिपुने अब स्वयं प्रह्लादको मार डालनेका निश्चय किया। उसने चिल्लाकर पूछा—'अरे मूर्ख! तू किसके बलपर मेरा तिरस्कार करता है?' प्रह्लादजीने नम्रतासे कहा—'पिताजी! आप शान्त हो जायँ। इस मनको यदि वशमें न किया जाय तो यह कुमार्गमें लगकर सबसे बड़ा शत्रु हो जाता है। इसे छोड़कर किसीका और कोई शत्रु कहीं नहीं है। संसारमें एकमात्र श्रीहरि ही सर्व-शक्तिमान् हैं। सबमें उन्हींकी शक्ति है और वे सर्वत्र हैं।'

हिरण्यकशिपु क्रोधसे अंधा हो रहा था। उसमें समझनेकी शक्ति तो क्या, सुननेका धैर्य भी नहीं था। उसने उच्चस्वरसे कहा—'देखता हूँ, तेरा 'हरि' कैसे तुझे बचा लेता है। तू कहता है कि वह सर्वत्र है तो वह इस खंभेमें क्यों दिखायी नहीं पड़ता?' इतना कहकर सामनेके खंभेपर अपने वज्रके समान कठोर घूँसेका उसने प्रहार किया। प्रहारके साथ ही उस प्रहार-शब्दके अतिरिक्त एक और महाभयंकर शब्द हुआ। सारी दिशाएँ उस शब्दसे काँप उठीं। वह खंभा बीचसे फट गया था और उसमेंसे करोड़ों सूर्यों-के समान प्रकाशमान भीषणनेत्र भगवान् नृसिंह प्रकट हो गये थे। उन्हें देखकर हिरण्यकशिपु तलवार लेकर उनपर टूट पड़ा; किंतु अग्निपर जब पतिंगे टूटते हैं, तब क्या होता है? नृसिंह भगवान्‌ने उसे पकड़ लिया और ठीक संध्याकालमें सभाद्वारकी देहलीपर बैठकर अपनी गोदमें गिराकर दैत्यराजका पेट अपने भयानक नखोंसे फाड़ डाला।

दैत्यराज हिरण्यकशिपु मारा गया। उसके अनुचर या तो मारे गये या भाग गये। लेकिन भगवान् नृसिंह-का क्रोध शान्त नहीं हुआ। उनकी भीषण आकृतिको देखकर ब्रह्मा, इन्द्र आदि तो क्या, स्वयं लक्ष्मीजीका भी साहस उनके समीप जानेका नहीं हुआ। आँतों-की माला पहने बार-बार भयानक गर्जना करते हुए भगवान्‌का वह रूप अत्यन्त कराल था। अन्तमें ब्रह्मा-जीने प्रह्लादको ही प्रभुको शान्त करनेके लिये भेजा। प्रह्लाद निर्भय होकर गये और भगवान्‌के सामने उनके चरणोंमें उन्होंने मस्तक रख दिया। अपने सामने बालक प्रह्लादको दण्डवत् प्रणिपात करते देख भगवान् नृसिंह-ने उन्हें गोदमें उठा लिया और लगे जीभसे चाटने। भगवान्‌ने कहा—'बेटा प्रह्लाद! मुझे आनेमें बहुत देर हो गयी। तुझे बहुत कष्ट उठाने पड़े! तू मुझे क्षमा कर दे!'

प्रह्लादजीका कण्ठ भर आया। वे धीरेसे उठे और हाथ जोड़कर भगवान्‌के सामने खड़े होकर स्तुति करने लगे। अन्तमें जब भगवान्‌ने उनसे वरदान माँगनेको कहा, तब उन्होंने प्रार्थना की—'प्रभो! मुझे यही वरदान दें कि मेरे मनमें कभी कोई कामना ही न हो।' प्रह्लादजीने भगवान्‌से अपने पिताको भगवद्द्रोहके अपराधसे मुक्त करनेकी भी प्रार्थना की। भगवान्‌ने कहा—'बेटा प्रह्लाद! जिसके कुलमें तुम्हारे-जैसा भक्त उत्पन्न हुआ, वह तो अपनी इक्कीस पीढ़ियोंके साथ मुक्त हो गया।'

भगवान्‌ने प्रह्लादजीको दैत्योंका स्वामी बना दिया। प्रह्लादजी अमर हैं और सुतललोकमें वे अब भी भगवान्-का भजन करते हुए निवास करते हैं।

भक्त-बालक—ध्रुव, प्रह्लाद, चन्द्रहास, सुधन्वा

बाल-भक्त ध्रुव

(रचयिता—श्रीचन्द्रशेखरजी पाण्डेय 'चन्द्रमणि' कविरत्न)

[१]

जन्म ही हुआ था जिसका तपोधनोंके बीच, वनवासियोंने सूतिका-गृह सँवारा था।
शीतल-सुगंध-मंद मलय-समीर द्वारा दोलित लताओंने समोद पुचकारा था॥
यद्यपि न पाया मोद पितृ गोदका, परंतु माता करुणामयीने प्रेमसे दुलारा था।
प्यारा था सभीको प्राणसे भी वह बाल ध्रुव, संतत सुनीति-नयनोंका बना तारा था॥

[२]

आया था बुलानेसे पिताकी गोद बैठनेको,
किंतु हा ! विमाताका कटु-वच सुनना पड़ा।
वचन नहीं, वाण थे, हुए हियेके पार,
अन्तरकी वेदनासे सिर धुनना पड़ा।
आनका महान अपमान हो गया था, इस
हेतु चिंतनामें कुछ और गुनना पड़ा।
ध्रुव-नाम सार्थक बनानेको धराके बीच,
घोर तापका प्रशस्त पथ चुनना पड़ा।

[३]

नारदसे पाके उपदेश, मधुवन जाके, तनको तुरीय तपश्चर्यामें मिला दिया।
प्यासे प्राणधारियोंको, प्रणवीर बालकने हरिनाम-कीर्तनका अमृत पिला दिया॥
ध्यानयोग-सिद्धिसे समाधिकी दशाको प्राप्त 'चन्द्रमणि' मानवोंको सीख सिखला दिया।
श्वासनको जीत, लिया आसन था इस तौर, विष्णु भुजगासनका आसन हिला दिया॥

[४]

पाके वर विष्णुसे विशेष लोकका प्रसाद,
भक्त ध्रुवका स्वभाव ही विचित्र हो गया।
समदृष्टि, दृष्टिमें रमा था रमणीय रूप,
तन-मन-जीवन सभी पवित्र हो गया।
'चन्द्रमणि' चाहना रही न चल सम्पदाकी,
चौदहो-भुवन-चन्द्रिका चरित्र हो गया।
वनवास राज्यके सुखोंका चल-चित्र हुआ,
कल जो बना था शत्रु, आज मित्र हो गया।

[५]

शुद्ध सात्त्विकी स्वभाव, सतसंगतिसे जीवनमें भक्ति-धन अधिक कमा लिया।
'चन्द्रमणि' चक्रवर्ति-राज्यसे विराग रहा, अङ्गराग नहीं, तन भस्म ही रमा लिया॥
शासनमें पूर्ण अनुशासन प्रजा पै रहा, त्रास न किसीको, शस्त्र शांति औ क्षमा लिया।
ध्रुव अघनाशकको रोक-टोक थी न कुछ, अंत ध्रुव-लोकमें ही आसन जमा लिया॥

भक्त बालक चन्द्रहास

द्वापर-युगमें केरल देशके एक मेधावी नामक राजा हो गये हैं। उनके पुत्रका नाम था चन्द्रहास। जब चन्द्रहास बहुत छोटे थे, तभी शत्रुओंने केरल-पर आक्रमण किया। युद्धमें राजा मेधावी मारे गये। चन्द्रहासकी माता पतिके साथ सती हो गयीं। इस विपत्तिके समय धाय बालक चन्द्रहासको लेकर कुन्तलपुर नामके नगरमें जाकर रहने लगी। वह मजदूरी करके चन्द्रहासका पालन करने लगी। कुछ दिनों बाद धाय भी मर गयी। अब चन्द्रहास अनाथ हो गये। अनाथोंके नाथ तो भगवान् ही हैं। भगवान्‌की प्रेरणासे इस निराश्रय सुन्दर बालकको नगरकी स्त्रियाँ अपने पुत्रके समान मानती थीं। वे इन्हें खिलातीं, वस्त्र पहनातीं और इनसे स्नेह करतीं। एक दिन देवर्षि नारदजी वहाँ घूमते हुए पहुँचे। बालकको योग्य अधिकारी देखकर उन्होंने उसे शालग्रामजीकी मूर्ति दी और 'राम-नाम' मन्त्रका उपदेश किया। शुद्ध-हृदय बालक चन्द्रहास बड़े प्रेमसे भगवान्‌की पूजा करते और भगवन्नामका जप तथा कीर्तन करते। कीर्तनमें वे तन्मय हो जाया करते थे। बचपनमें ही उनका भगवान्‌में इतना प्रेम हो गया था कि कीर्तनके समय उन्हें बालकरूप-धारी भगवान् अपने साथ प्रत्यक्ष नृत्य करते तथा गाते दिखायी पड़ते थे।

कुन्तलपुरके राजा बड़े धर्मात्मा थे। उनके कोई पुत्र तो था नहीं, चम्पकमालिनी नामकी एक कन्या थी। अपने गुरु गालव मुनिके उपदेशसे वे सदा भजन-पूजनमें ही लगे रहते थे। उनके राज्यका सारा प्रबन्ध उनका धृष्टबुद्धि नामका मन्त्री करता था। मन्त्री धृष्टबुद्धि स्वयं बहुत धनी था। उसके दो पुत्र थे मदन और अमल तथा एक कन्या थी—विषया। धृष्टबुद्धिका मन धर्म-कर्ममें नहीं लगता था। वह रात-दिन राजकार्य तथा धन-संग्रह करनेकी चिन्तामें ही लगा रहता था; किंतु उसका पुत्र मदन भगवान्‌का भक्त था। अतएव मदनके कारण मन्त्रीके महलमें भी कभी-कभी संतोंका समागम, अतिथि-सत्कार तथा कीर्तन-कथा आदिका उत्सव हो जाया करता था। पुत्र-प्रेमके कारण मन्त्री इन कामोंको रोकता नहीं था।

एक दिन धृष्टबुद्धिके महलमें उसके पुत्र मदनके यहाँ ऋषियोंकी मण्डली पधारी थी और भगवान्‌का गुण-गान हो रहा था। इसी समय चन्द्रहास बालकोंके साथ भगवन्नामका कीर्तन करते हुए नगरकी गलियोंमें घूमते उधरसे निकले। छोटे-छोटे बालकोंको मधुर स्वरमें कीर्तन करते देख ऋषियोंने उन्हें बुलवानेको कहा। मदनने बालकोंको भीतर बुला लिया। चन्द्रहास तथा दूसरे बालक वहाँ कीर्तन करते हुए नृत्य करने लगे। इसी समय वहाँ धृष्टबुद्धि भी आ गया। चन्द्रहासके सुन्दर स्वरूप, भावपूर्ण कीर्तन तथा कोमल स्वर एवं नृत्यको देख-सुनकर ऋषिगण प्रसन्न हो गये। उन्होंने पास बुलाकर उनके शरीरके लक्षण देखे और अपनी योगशक्तिसे उनके भविष्यको जानकर बोले—'मन्त्रिवर! यह बालक बहुत ही सुन्दर लक्षणोंवाला है। इसे आप अपने घर रखें और स्नेहपूर्वक इसका पालन करें। यही आपकी धन-सम्पत्तिका स्वामी बनेगा। इस देशका यही राजा होगा और अन्तमें अपनी भक्तिके प्रभावसे भगवद्धाम प्राप्त करेगा।'

ऋषियोंके वचन अभिमानी धृष्टबुद्धिको बाणके समान लगे। एक कंगाल भिखारी बालक उसकी सम्पत्तिका स्वामी हो जायगा, यह सोचकर वह बेचैन हो

गया । अभिमानके कारण प्रेमके बदले द्वेष जगा उसके चित्तमें । चन्द्रहासको मरवा डालनेका उसने निश्चय कर लिया । दूसरे बालकोंको तो उसने मिठाई देकर विदा कर दिया, पर चन्द्रहासको रोक लिया । ऋषिगण चले गये । मन्त्रीने एक विश्वासपात्र हत्यारे-को बुलाकर उसे चन्द्रहासका हाथ पकड़ा दिया और कानमें कह दिया कि एकान्त वनमें ले जाकर मार डालना । साथ ही कोई चिह्न ले आनेको भी कह दिया ।

वह बधिक चन्द्रहासको घोर वनमें ले गया । जब उसने मारनेके लिये तलवार उठायी, तब चन्द्रहासने कहा—'भाई ! तुम तनिक रुक जाओ । मैं अपने भगवान्‌की पूजा कर लूँ, तब मुझे मार देना ।' चन्द्रहासने भगवान्‌की पूजा की और प्रार्थना की । वह बधिक यह सब देखता रहा । भगवान्‌की प्रेरणासे उसके चित्तमें दयाके भाव आये । एक निरपराध भोले बालकका वध करना उसे ठीक नहीं लगा । चन्द्रहासके एक पैरमें छः अँगुलियाँ थीं, बधिकने मन्त्रीको निशान दिखानेके लिये वह छठी अँगुली काटकर साथ ले ली और चन्द्रहासको वहीं छोड़कर लौट गया ।

अँगुली कटनेसे चन्द्रहासको बड़ी पीड़ा हो रही थी । वे मधुर स्वरमें भगवन्नामका कीर्तन करने लगे । भगवान्‌की माया बड़ी विचित्र है । वे कब किसपर कैसे कृपा करते हैं, यह कोई कैसे जान सकता है । कुन्तलपुर राज्यके अधीन एक छोटी रियासत थी चन्दनपुर । उसके राजा कुलिन्दक उस दिन घोड़ेपर बैठे उसी वनसे जा रहे थे । निर्जन वन-में भगवन्नामकी मीठी कीर्तन-ध्वनि सुनकर वे वहाँ पहुँचे । राजाके कोई संतान नहीं थी । बालक चन्द्रहासकी मोहिनी मूर्ति देखकर वे मुग्ध हो गये । उन्होंने समझा कि भगवान्‌ने ही कृपा करके यह भगवद्भक्त बालक भेजा है । चन्द्रहासको उठाकर उन्होंने गोदमें उठा लिया और घोड़ेपर चढ़ाकर अपने नगरको ले आये । चन्द्रहास एक अनाश्रय बालकसे युवराज हो गये ।

पहले तो चन्द्रहास कुछ पढ़ना ही नहीं चाहते थे । वे कहते थे—'मेरी जीभ भगवन्नाम छोड़कर और कुछ रटना नहीं सीखेगी ।' लेकिन यज्ञोपवीत होनेके पश्चात् थोड़े ही समयमें उन्होंने चारों वेदों तथा सभी उपयोगी विद्याओंकी शिक्षा प्राप्त कर ली । अपने सद्गुणोंसे वे राजपरिवार तथा प्रजाके अत्यन्त प्रिय हो गये । उनके प्रयत्नसे पाठशालाओंमें भगवान्‌की कथा अनिवार्य हो गयी । घर-घर हरिचर्चा होने लगी । लोग एकादशी-व्रत और भगवान्‌की पूजा करने लगे ।

चन्दनपुर रियासतकी ओरसे कुन्तलपुर राज्यको प्रतिवर्ष करके रूपमें दस हजार सोनेकी मुहरें दी जाती थीं । चन्द्रहासने इन मुहरोंके साथ और भी बहुत-सा धन, जो शत्रुओंको जीतकर पाया था, वहाँ भेज दिया । जब धृष्टबुद्धिको चन्दनपुरके युवराजकी विजयका समाचार तथा उस छोटी-सी रियासतकी सुख-समृद्धि-का पता लगा, तब उसने वहाँ जाकर रियासतको देखना चाहा । कुन्तलपुरसे जब वह चन्दनपुर पहुँचा, तब वहाँके राजा तथा राजकुमारने उसका हृदयसे स्वागत किया । युवराजको देखकर पहले तो धृष्टबुद्धि चकित हो गया, पर पहचाननेपर उसका पुराना द्वेष भड़क उठा । उसने अपने मनका भाव प्रकट नहीं किया । अपने बड़े पुत्र मदनको उसने चन्द्रहासको मार डालनेके लिये पत्र लिखा और उसे बंद करके, सील-मुहर लगाकर कहा—'राजकुमार ! एक बहुत आवश्यक काम है और इससे तुम्हारा भला ही होगा; तुम आज ही कुन्तलपुर जाकर यह पत्र कुमार मदनको दे दो । पत्र रास्तेमें खुलने न पाये और मदनको छोड़कर किसी भी दूसरेके हाथमें न पड़े ।'

चन्दनपुरसे कुन्तलपुर चौबीस कोस दूर था । चन्द्रहास उसी समय पत्र लेकर घोड़ेपर सवार होकर चल

पड़े । दिन ढलते-ढलते वे वहाँ पहुँचे । कुन्तलपुरके बाहर वहाँके राजाका सुन्दर बगीचा था । चन्द्रहास थके और प्यासे थे । बगीचेमें जाकर उन्होंने सरोवरमें हाथ-मुँह धोकर जल पिया और घोड़ेको भी जल पिलाया । कुछ देर विश्राम करके नगरमें जानेके विचारसे घोड़ेको एक वृक्षकी डालसे बाँधकर स्वयं वृक्षके नीचे लेट गये । शीतल वायु लगनेसे उन्हें नींद आ गयी ।

उसी समय राजकुमारी चम्पकमालिनी तथा मन्त्रीकी कन्या विषया उस बगीचेमें सखियोंके साथ घूमने आयी थीं । विषया अपनी सखियोंसे अलग घूमती हुई वहाँ पहुँच गयी, जहाँ चन्द्रहास सो रहे थे । परम सुन्दर चन्द्रहासको देखकर उसका मन मोहित हो गया और उसने मन-ही-मन उन्हें अपना पति वरण कर लिया । उसकी दृष्टि कुमारके हाथके पत्रपर पड़ी । कुतूहलवश पत्र उसने ले लिया और खोल लिया । उसमें लिखा था—

> स्वस्ति श्रीप्रिय पुत्र मदन देखत यह पाती ।
> विष दे देना, जिससे हो मम शीतल छाती ॥
> कुल, विद्या, सौन्दर्य, शूरता कुछ न देखना ।
> मदन शत्रु इस राजकुँवरको हृदय लेखना ॥

विषयाने सोचा—'इतने सुन्दर राजकुमारको भला, पिताजी विष क्यों दिलाने लगे । अवश्य ही वे इससे मेरा विवाह करना चाहते हैं । लिखते समय भूलसे मेरा नाम लिखनेमें 'या' अक्षर छूट गया है ।' उसने 'दे देना' मेंसे 'दे' को मिटा डाला और वहाँ 'या' लिखकर उसे 'विष' के साथ मिला दिया । अब वह 'विषया देना' बन गया । इसी प्रकार 'मदन शत्रु' जो अलग-अलग थे, उन्हें उसने एकमें मिला दिया । इतना करके पत्रको उसने फिर आमके गोंदसे बंद करके सोते राजकुमारके हाथमें धर दिया और प्रसन्न होती हुई वह सखियोंके पास चली गयी ।

चन्द्रहास जगनेपर सीधे मदनके पास पहुँचे । पत्र पढ़कर मदनको भी बड़ी प्रसन्नता हुई । उन्होंने समझा—'पिताजी इस विवाहको बहुत शीघ्र किसी कारणसे करना चाहते हैं । अपने आनेसे भी पहले उन्होंने यह कार्य करनेका आदेश दिया है ।' उसी दिन गोधूलि-मुहूर्तमें ब्राह्मणोंको बुलवाकर चन्द्रहासके साथ अपनी बहिनका विवाह उन्होंने कर दिया ।

धृष्टबुद्धि तीन दिन पीछे लौटा । अपने प्रयत्नको विफल देखकर उसे बड़ा दुःख हुआ । वह इतना दुरात्मा था कि अपनी कन्या भले विधवा हो जाय, परंतु चन्द्रहासको मार डालना है—यह उसने निश्चय कर लिया । नगरसे दूर पहाड़ीपर एक देवीका मन्दिर था । धृष्टबुद्धिने बधिकको वहाँ यह समझाकर भेज दिया कि जो कोई सायंकाल यहाँ पहुँचे, उसे मार डालना । इधर चन्द्रहाससे उसने कहा—'हमारे कुलकी रीति है कि किसी शुभ कार्यके बाद भवानीकी पूजा हो; इसलिये तुम आज ही संध्याको जाकर देवीको भेंट दे आओ ।'

चन्द्रहास श्वशुरकी आज्ञासे देवीके लिये भेंट लेकर चले । यदि कुटिल मनुष्योंकी इच्छाएँ पूरी हो जाया करें तो यह संसार रहे ही नहीं; किंतु जगत्‌का नियन्ता अपना प्रबन्ध अपने-आप करता है । कुन्तलपुरके राजाके मनमें वैराग्य हो गया था । भगवत्प्राप्तिके लिये भजन करने वे वनमें जाना चाहते थे । जानेसे पहले राजकुमारीका विवाह करके, किसीको राज्यका उत्तराधिकारी बनाना आवश्यक था । उन्होंने चन्द्रहासको ही अपनी पुत्री देने और राज्य सौंपनेका निश्चय करके मदनको भेजा कि वह शीघ्र चन्द्रहासको ले आये । राजाकी आज्ञा पाकर प्रसन्नतासे मदन अपने बहनोईको बुलाने दौड़ा । मार्गमें चन्द्रहासके मिलनेपर पूजा-सामग्री मदनने ले ली और वह देवीके मन्दिरको चला गया तथा चन्द्रहासको उसने

राजाके पास भेज दिया। मन्दिरमें पहुँचते ही बधिकने मदनका सिर काट लिया।

कुन्तलपुर-नरेशने चन्द्रहासके साथ अपनी पुत्री चम्पकमालिनीका विवाह कर दिया और उसी समय गालव मुनिकी आज्ञासे चन्द्रहासका राज्याभिषेक भी हो गया। इतना करके कुन्तलपुर-नरेश तत्काल वनको चले गये। दूसरे दिन प्रातःकाल धृष्टबुद्धिको यह समाचार मिला। वह दौड़ा देवीके मन्दिरमें गया और वहाँ उसका पुत्र मदन दो टुकड़े हुए पड़ा था। शोकसे व्याकुल होकर रोते हुए वहाँ पड़ी तलवारसे उसने अपना गला काट लिया।

अपने श्वशुर धृष्टबुद्धिको पागलोंकी भाँति दौड़ते चन्द्रहासने देख लिया था। वे भी पीछे-पीछे दौड़े आये देवीके मन्दिरमें। वहाँ पिता-पुत्रको मरा देख उन्होंने समझ लिया कि मेरे ही कारण दोनों मरे हैं। अतः उन्होंने स्वयं भी प्राण दे देना चाहा। जैसे ही चन्द्रहासने अपना सिर काटनेके लिये तलवार म्यानसे खींचनी चाही, तत्काल भवानी प्रकट हो गयीं और उन्होंने चन्द्रहासका हाथ पकड़ लिया और खींचकर अपनी गोदमें बैठा लिया। देवीने कहा—'बेटा चन्द्रहास! यह धृष्टबुद्धि बड़ा दुष्ट था। इसने तुझे मारनेके अनेकों उपाय किये थे। इसका पुत्र मदन भक्त और तेरा प्रेमी था; किंतु इसने अपनी बहिनके विवाहमें तुझे जो सम्पत्ति दी, उससे इसका संतोष नहीं हुआ। इसलिये इसने तुझे अपना शरीर देनेकी मन-ही-मन प्रतिज्ञा कर ली थी, अतः आज यह उऋण हो गया। अब तू शोक छोड़कर राज्य कर। मैं प्रसन्न हूँ। मुझसे जो मनमें आये, माँग ले!'

चन्द्रहासने पहले तो देवीसे भगवान्‌की भक्तिका वरदान माँगा, फिर बोला—'मेरे लिये मरे हुए ये दोनों जी उठें। मनुष्य अज्ञानवश ही पाप करता है। मेरे श्वशुरने मुझे मारनेके लिये जो कुछ किया, उसका मुझे कोई दुःख नहीं है। माता! आप इन्हें क्षमा करो और सुबुद्धि दो। इनके पापोंका नाश करके इनको भगवान्‌की भक्ति दो!'

भगवतीने 'तथास्तु' कह दिया और वे अन्तर्धान हो गयीं। दोनों पिता-पुत्र तत्काल सोकर जगनेकी भाँति उठ बैठे। चन्द्रहासके प्रभावसे धृष्टबुद्धि भी धार्मिक तथा भगवान्‌का भक्त हो गया।

भक्त राजकुमार सुधन्वा

महाभारतका युद्ध समाप्त हो जानेपर धर्मराज युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ कर रहे थे। उन्होंने यज्ञका घोड़ा छोड़ दिया था। गाण्डीवधारी महारथी अर्जुन उस घोड़ेकी रक्षा करते हुए सेनाके साथ उसके पीछे-पीछे चल रहे थे। अनेक देशोंमें घूमता हुआ घोड़ा चम्पकपुरीके पास पहुँचा। जब वहाँके राजा हंसध्वजको इसका समाचार मिला, तब वे बहुत प्रसन्न हुए। राजा हंसध्वजने कहा—'मैं वृद्ध हो गया, परंतु अभीतक मुझे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके दर्शन नहीं हुए। इस घोड़ेको पकड़ लेना चाहिये। यदि युद्धमें अर्जुनको व्याकुल कर दिया जाय तो अर्जुनके स्मरण करनेपर भक्तवत्सल भगवान् अवश्य प्रकट हो जायँगे। इस प्रकार हम सब लोगोंको उनके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हो जायगा।'

राजा हंसध्वज अत्यन्त धर्मात्मा और भगवान्‌के भक्त थे। उनके सम्पूर्ण राज्यमें सभी पुरुष एकपत्नी-व्रतका पालन करनेवाले थे। जो एकपत्नीव्रतका पालन न करे और भगवान्‌का भक्त न हो, वह उस राज्यमें रह नहीं सकता था। राजाकी आज्ञा पाकर भगवान्‌के दर्शनोंकी आशासे वहाँके शूरवीर उत्साहसे पूर्ण हो गये। घोड़ा पकड़ लिया गया। वहाँके धर्मगुरु ऋषिश्रेष्ठ शङ्ख तथा

लिखितकी आज्ञासे एक समय निश्चित करके यह घोषणा कर दी गयी कि 'उस समयतक सभी योद्धा युद्धक्षेत्रमें पहुँच जायँ । जो ठीक समयतक नहीं पहुँचेगा, उसे तेलके कड़ाहेमें डलवा दिया जायगा । यह आज्ञा राजपरिवारपर भी समानरूपसे लागू होगी ।'

राजाके सभी सेनानायक, सैनिक, मन्त्री, भाई तथा सुबल, सुरथ, सम एवं सुदर्शन नामक पुत्र युद्ध-भूमिकी ओर चल पड़े । महाराज हंसध्वजके सबसे छोटे पुत्रका नाम सुधन्वा था । वे अपनी मातासे आज्ञा लेने गये । उस वीर-जननीने पुत्रको आशीर्वाद देते हुए कहा—'बेटा ! युद्धमें विजयी होकर मेरे पास 'हरि' (भगवान्) को ले आना, चार पैरवाले पशु 'हरि' (घोड़े) को मत लाना । वही उपाय कर, जिससे भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न हों । भक्तवत्सल श्रीकृष्णसे डरना मत । उनसे डरनेवाला जी नहीं सकता । यदि तू युद्धमें डर गया तो लोग मुझे डरपोककी मा कहकर मेरी हँसी उड़ायेंगे । यदि युद्धमें लड़ते-लड़ते तू मारा गया तो तुझे उत्तम गति प्राप्त होगी और मुझे भी हर्ष होगा । देख, यह याद रख कि श्रीकृष्णके सामने मरनेवाला कभी मरता नहीं, वह तो अपनी इक्कीस पीढ़ियोंका उद्धार करनेवाला हो जाता है ।'

ऐसी माताओंके गर्भसे ही सुधन्वा-जैसे बालक उत्पन्न होते हैं । ऐसी जननीकी कोख धन्य है ! माताको प्रणाम करके तथा उनसे यह प्रतिज्ञा करके कि यदि मैं भगवान्‌को युद्धमें सम्मुख देखकर डर जाऊँ तो मुझे सद्गति न प्राप्त हो' सुधन्वाने अपनी बहिन कुवलासे अनुमति ली और फिर अपनी पत्नी प्रभावतीके पास विदा लेने गये । वहाँसे लौटते-लौटते कुछ देर हो गयी ।

युद्ध-क्षेत्रमें दल-के-दल वीर एकत्र हो गये थे । राजकुमारों तथा सेनानायकोंने महाराज हंसध्वजको अभिवादन किया; किंतु कुमार सुधन्वा अभीतक नहीं आये थे । निश्चित समय हो चुका था । महाराजने आज्ञा दी कि कुछ सैनिक जायँ और सुधन्वाको केश पकड़कर घसीटते हुए तेलके कड़ाहेके पास ले आयें । सैनिक वहाँसे चले, मार्गमें ही सुधन्वा मिल गये । बड़े दुःखसे सैनिकोंने उन्हें राजाज्ञा सुनायी । पिताके पास पहुँचकर सुधन्वाने प्रणाम किया और विलम्ब होनेका कारण बतलाया । राजा हंसध्वजने पुत्रका तिरस्कार करके शङ्ख तथा लिखितके पास दूत भेजकर पुछवाया कि क्या करना चाहिये । वे दोनों राजपुरोहित बड़े क्रोधी थे । उन्होंने कहा—'जब सबके लिये एक ही आज्ञा थी, तब इसमें पूछनेकी कौन-सी बात है ? जो दुरात्मा पुरुष लोभ, भय या मोहवश अपने वचनोंका पालन नहीं करता, उसे बहुत वर्षोंतक भयंकर नरकमें रहना पड़ता है । यह राजा अपने पुत्रके मोहमें पड़कर अपने वचन झूठे करना चाहता है ! हम ऐसे अधर्मी राजाके राज्यमें नहीं रहेंगे ।'

समाचार पाकर राजाने सुधन्वाको खौलते हुए तेलके कड़ाहेमें डाल देनेकी आज्ञा दे दी और स्वयं जाकर पुरोहितोंको प्रार्थना करके प्रसन्न किया । कोई भी सेवक प्रजाके परमप्रिय राजकुमार सुधन्वाको खौलते तेलमें डालनेको तैयार नहीं था । सबके नेत्रोंसे आँसूकी धारा बह रही थी । लेकिन सुधन्वा प्रसन्न थे । उन्होंने पिताकी आज्ञा पूरी करनेका निश्चय कर लिया था । पवित्र वस्त्र तथा गलेमें तुलसीकी माला पहनकर वे यह कहते हुए स्वयं तेलके कड़ाहेमें कूद पड़े—'प्रभो ! भक्त-भयहारी गोविन्द ! मुझे मरनेका कोई भय नहीं, मैं तो आपके चरणोंमें प्राण-त्याग करने ही आया था; किंतु मैं आपके दर्शनोंसे वञ्चित रहा । मैं आपको छोड़कर कामकी सेवामें लग गया, इसलिये मेरी ओर देखकर तो आप मुझे जो दण्ड दें, वह उचित ही है । जो अन्त समय आपका स्मरण करते हैं, उन्हें आपकी प्राप्ति होती है । मैं आपको प्राप्त तो कर ही लूँगा; पर लोग कहेंगे कि सुधन्वा वीर होकर भी कड़ाहेमें जलकर कायरोंकी

मौत मरा। आपने अपने सहस्र-सहस्र भक्तोंकी रक्षा की है; यदि इस बालकका इस प्रकार मरण आप अनुचित समझते हों तो इस अग्निसे बचाकर अवसर दीजिये कि मेरा देह अर्जुनके बाणोंसे खण्ड-खण्ड होकर आपके सामने गिरे। मैं तो आपका ही हूँ और आपका ही रहूँगा। अपनोंकी लज्जा आप सदासे रखते आये हैं।'

सुधन्वाको लगा कि वह शीतल जलसे भरे कड़ाहेमें बैठा है। जिस दयामयने प्रह्लादके लिये अग्निको शीतल कर दिया था, जिन श्यामसुन्दरने खाण्डववनकी अग्निमें पक्षीके नन्हे बच्चे बचा दिये थे, आज सुधन्वाके लिये भी उन्होंने खौलते तेलको ठंडा बना दिया। 'गोविन्द! दामोदर! माधव!' आदि भगवान्‌के मङ्गलमय नामोंको लेता हुआ सुधन्वा अपने शरीरकी सुधि भूल गया।

खौलते तेलके कड़ाहेमें सुधन्वा जल नहीं रहा है, यह देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। समाचार पाकर दोनों पुरोहितोंके साथ राजा हंसध्वज भी वहाँ आये। जहाँ श्रद्धा नहीं है, वहाँ केवल तर्क व्यर्थ ही मनुष्यको भटकाता है। पुरोहितोंको लगा कि सुधन्वा कोई तन्त्र-मन्त्र या ओषधिका प्रयोग जानता है। उन्होंने सेवकोंसे पूछा—'इसने कोई जड़ी बाँधी थी या कोई वस्तु शरीरमें मली थी? किसी मन्त्रका जप तो इसने नहीं किया था?' नौकरोंने बताया कि राजकुमारको यह कुछ भी करते उन्होंने नहीं देखा। शङ्खसे रहा नहीं गया, तेलकी परीक्षाके लिये कड़ाहेमें उन्होंने एक नारियल डलवाया। उबलते तेलमें पड़ते ही नारियल तड़ाकसे फूटा और उसके दो टुकड़े होकर उछले; वे टुकड़े शङ्ख और लिखितके सिरमें बड़े जोरसे लगे। दोनों मुनि इससे घबरा गये। अब भगवान्‌के भक्तका माहात्म्य उनकी समझमें आया। अब अपनेको धिक्कारते हुए वे आर्तस्वरमें कहने लगे—'हमारे-जैसे पण्डितोंको धिक्कार है। पण्डिताईके अभिमानमें हम भगवान्‌से विमुख हो रहे हैं। धन्य है यह राजकुमार!' पश्चात्तापके मारे जलते तेलमें कूदकर प्राणत्याग करनेकी इच्छासे शङ्ख-मुनि उसी कड़ाहेमें कूद पड़े; परंतु भक्त सुधन्वाकी शुभ भावनासे उनके लिये भी वह उबलता तेल शीतल हो गया। मुनिने सुधन्वाको हृदयसे लगाकर कहा—'राजकुमार! तुम धन्य हो। इस संसारमें जो भगवान् श्रीकृष्णका नित्य स्मरण नहीं करता, उसीको संताप, दुःख तथा अभावका कष्ट भोगना पड़ता है। तुम्हारे-सरीखे भगवद्भक्तको जलानेकी शक्ति भला, अग्निमें कहाँ है। मैं तो असाधु तथा मूर्ख हूँ। तुम्हारे-जैसे भक्तको मैंने उबलते तेलमें डलवाया। तुम मुझे क्षमा करो। आज तुम्हारा स्पर्श करके मेरा यह अधम शरीर भी पवित्र हो गया। परम पवित्र राजकुमार! उठो! तेलसे बाहर निकलकर अपने पिता तथा चारों भाइयोंके साथ मेरा भी उद्धार करो। श्रीकृष्णचन्द्र जिसका सारथ्य करते हैं, उन महावीर अर्जुनसे वस्तुतः तुम्हीं युद्ध कर सकते हो।'

मुनिके साथ सुधन्वा कड़ाहेसे बाहर निकले। राजाने पुत्रको हृदयसे लगाया। चारों ओर भक्तका जय-जयकार होने लगा। पिताकी आज्ञासे सुधन्वा रथपर बैठकर युद्ध-भूमिमें पहुँचे। दोनों ओरसे युद्धके बाजे बजने लगे। भयंकर संग्राम छिड़ गया। जब सुधन्वाने पाण्डव-पक्षके दूसरे सब वीरोंको अपने प्रबल पराक्रमसे युद्धमें पीछे हटनेको विवश कर दिया, तब स्वयं अर्जुन आगे आये। अर्जुन और सुधन्वा दोनों ही हैं भगवान्‌के परम भक्त; किंतु सुधन्वा बालक हैं और अर्जुन अनेक युद्धोंके अनुभवी योद्धा। इधर अर्जुनको भगवान्‌के अतिरिक्त अपने बल-पौरुषका भी भरोसा है और सुधन्वाको एकमात्र उन भक्तवत्सल प्रभुका ही बल है। भगवान्‌को आज दिखला देना है कि भक्तिका कोई एक ही ठेकेदार नहीं और जिसमें उत्तम भक्ति है, वही सबसे बड़ा बलवान् है।

अर्जुनने आते ही कहा—'राजकुमार! मैंने बड़े-

बड़े शूरोंसे युद्ध किया है; किंतु भीष्म, द्रोण, कर्ण आदिके पराक्रमसे भी उतना आश्चर्य नहीं हुआ, जितना तुम्हारी शूरता देखकर हुआ है । तुम सचमुच बहुत ही श्रेष्ठ वीर हो ।'

सुधन्वा बोले—'वीरश्रेष्ठ ! पहलेके युद्धोंमें भगवान् श्रीकृष्ण आपके रथपर बैठकर आपकी सहायता किया करते थे । आज उन श्रीकृष्णसे रहित होनेके कारण ही आपको आश्चर्य हो रहा है । आपने अपने उन दिव्य सारथिको कैसे छोड़ दिया ? कहीं उन्होंने मेरे साथ युद्ध करनेमें स्वयं तो आपको नहीं छोड़ा ? आप मुझसे युद्ध करनेमें समर्थ हैं या नहीं ?'

अर्जुनको बड़ा क्रोध आया । उन्होंने अपने गाण्डीव धनुषसे बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी, लेकिन सुधन्वाने उनके सभी बाण काट डाले । अर्जुनकी सारी निपुणता व्यर्थ हो गयी उस दिन । सुधन्वाके बाणोंकी मारसे वे व्याकुल हो गये । उनका सारथि मर गया । अब सुधन्वाने कहा—'पार्थ ! कहाँ गया आपका पुरुषार्थ ! आप मेरे बाणोंसे घायल हो गये हैं । अपने सर्वज्ञ समर्थ सारथिको छोड़कर एक साधारण सारथि नियुक्त करके आपने बड़ी भूल की । अब भी आप अपने उसी सारथिको स्मरण करें ।'

अर्जुनने बायें हाथमें धनुषके साथ घोड़ोंकी लगाम पकड़ी और युद्ध करना प्रारम्भ किया । मन-ही-मन वे भगवान् श्रीकृष्णको स्मरण करने लगे । उनके स्मरण करते ही भगवान् रथपर आ विराजे । अर्जुनके हाथसे लगाम उन्होंने अपने हाथोंमें ले ली । अर्जुन तथा सुधन्वा दोनोंने उन्हें प्रणाम किया । अपना उद्योग सफल हो गया, यह समझकर सुधन्वाको बहुत अधिक आनन्द हुआ । अब उसने अर्जुनसे कहा—'धनञ्जय ! आपके सारथि आ गये हैं । अब तो आप मुझपर विजय पानेके लिये कोई प्रतिज्ञा करें ।'

सुधन्वाकी ललकार सुनकर अर्जुनने तीन बाण निकालकर कहा—'इन तीन बाणोंसे मैं तेरा सिर काटकर गिरा दूँगा । मैं ऐसा न कर सकूँ तो मेरे पूर्वज पुण्यहीन होकर नरकमें गिरें ।'

अर्जुनकी प्रतिज्ञा सुनकर हाथ उठाकर सुधन्वाने कहा—'श्रीकृष्णके सामने ही मैं इन तीनों बाणोंको काट डालूँगा । यदि मैं ऐसा न कर सकूँ तो मेरी अधोगति हो ।'

दोनों ही भगवान्‌के भक्त हैं और दोनोंकी प्रतिज्ञाएँ परस्पर विरोधिनी । देवता भी स्तब्ध रह गये । सुधन्वाने प्रबल बाण-वर्षासे श्रीकृष्णसहित अर्जुनको घायल कर दिया । अर्जुनके रथका कुछ भाग उसने तोड़ डाला और बाण मारकर उसे कुम्हारके चाकके समान घुमाने लगा । भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—'तुमने मुझसे पूछे बिना प्रतिज्ञा करके अच्छा नहीं किया । जयद्रथ-वधमें कितना कष्ट हुआ था, इसे तुम भूल गये ? तुम्हारे रथको इस वीरने बाण मारकर चार सौ हाथ पीछे ठेल दिया है । यह एकपत्नीव्रती है और इस बातमें हम दोनों इससे बहुत पिछड़े हैं । इसे जीतना सरल नहीं है ।'

अर्जुनने कहा—'जब आप आ गये, तब मुझे भय क्या है ?' इतना कहकर अर्जुनने धनुषपर पहला बाण चढ़ाया । भगवान्‌ने उस बाणको अपना गोवर्धन-धारण-का पुण्य दे दिया । कालाग्निके समान वह बाण चला, पर सुधन्वाने उसे बीचमें ही काट डाला । अब भगवान्‌-की आज्ञासे अर्जुनने दूसरा बाण चढ़ाया । इस बाणको भी भगवान्‌ने फिर अपने बहुत-से पुण्य अर्पित किये । सुधन्वाने इस बाणको भी मार्गमें ही काट दिया । अर्जुन उदास हो गये । चारों ओर हाहाकार होने लगा । तीसरे बाणको भगवान्‌ने अपने रामावतारका पूरा पुण्य दे दिया । बाणके पिछले भागमें ब्रह्माजी तथा मध्यमें कालको स्थापित करके अग्रभागपर स्वयं भगवान् विराजे । सुधन्वाने पुकारकर कहा—'अर्जुन ! धन्य हो

तुम। तुम्हारे लिये भगवान् केवल अपना पुण्य ही नहीं देते, स्वयं बाणमें स्थित भी होते हैं; लेकिन पार्थ ! इन श्रीकृष्णकी कृपासे मैं इसे भी काटकर रहूँगा। मुझे मृत्युका भय नहीं है। मेरे स्वामी मेरा वध करने स्वयं बाणमें बैठकर आ रहे हैं, यह मैं जानता हूँ। आज अपने चरणोंमें आश्रय देकर वे मुझे कृतार्थ करेंगे।'

बाण चला और उसे काटनेको भगवान्का स्मरण करके सुधन्वाने भी बाण छोड़ दिया। भक्तके संकल्पको रोकना काल देवताके बसकी बात नहीं। सुधन्वाके बाणको देखते ही वे बाणके मध्यभागसे हट गये डरके मारे। अर्जुनका बाण बीचसे कट गया। उसका पिछला भाग गिर पड़ा। सुधन्वाकी प्रतिज्ञा पूरी हो गयी। अर्जुनकी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये बाणका अगला भाग सुधन्वाको लगा और उससे उसका मस्तक कटकर गिर पड़ा। सुधन्वाके सिर-रहित धड़ने पाण्डवसेनाको तहस-नहस कर डाला और उसका सिर 'मुकुन्द ! गोविन्द ! मुरारि ! कृष्ण !' आदि नामोंका उच्चारण करता भगवान्के श्रीचरणोंपर जाकर गिरा। भगवान्ने उस सिरको प्रेमपूर्वक दोनों हाथोंसे उठा लिया। उसी समय वीर बालक सुधन्वाके मुखसे एक ज्योति निकली और वह सबके देखते-देखते श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीमुखमें प्रवेश कर गयी।

भक्त सुव्रत

बात इस कल्पकी नहीं, दूसरे कल्पकी है। उस समय नर्मदाके पवित्र तटपर अमरकण्टक क्षेत्रमें सोमशर्मा नामके एक ब्राह्मण रहते थे। उनकी पत्नीका नाम था सुमना। भगवान् विष्णुकी आराधना करनेसे भगवत्कृपा-स्वरूप सोमशर्माके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम उन्होंने सुव्रत रक्खा। पूर्वजन्मोंके भजनके प्रभावसे बालक सुव्रत जन्मसे ही भगवान्का भक्त था। वह सदा भगवान्का ध्यान किया करता था। उसने अपने साथी बालकोंके नाम भी भगवान्के नाम ही रख लिये थे। अपने साथियोंको वह केशव, गोविन्द, नारायण, दामोदर आदि भगवान्के नामोंसे ही पुकारता था। खेलने, पढ़ने, गाने, हँसने, देखने, चलने, भोजन करने तथा सोनेमें भी वह भगवान्का ही ध्यान करता था। सभी पदार्थोंमें, सभी प्राणियोंमें वह धर्मात्मा बालक केवल भगवान्को ही देखता था। उसे सदा सर्वत्र श्रीहरिके दर्शन होते थे।

सुव्रत अपने साथी बालकोंके साथ खेलते समय मधुर स्वरसे भगवान्के नाम तथा गुणोंको गाया करता था। जब माता उससे कहती—'बेटा ! तुझे भूख लगी होगी; आ, भोजन कर ले।' तब वह मातासे कहता—'मा ! भगवान्का नाम अमृतके समान है, मैं उसीसे तृप्त रहता हूँ। मुझे भूख नहीं लगती।'

भोजनके समय वह भोजन करनेसे पहले संकल्प करता—'इस अन्नसे भगवान् विष्णु तृप्त हों।' सोनेके लिये लेटते समय वह कहता—'मैं योगनिद्रापरायण भगवान् श्रीकृष्णकी शरण आया हूँ।' इस प्रकार उठते-बैठते, वस्त्र पहनते, खाते-पीते—सब समय वह भगवान् वासुदेवका ध्यान किया करता था और उन परम प्रभुको समस्त वस्तुएँ समर्पित करके भगवान्के प्रसादस्वरूप ही उनका उपयोग करता था। इस प्रकार उसकी सब क्रियाएँ तथा उसका मन भगवान्में ही लगे रहते थे।

युवा होनेपर वैडूर्य पर्वतपर सिद्धेश्वर तीर्थके निर्जन वनमें सुव्रतने भगवत्प्राप्तिके लिये तपस्या प्रारम्भ की। अपने मनको उसने एकमात्र श्रीहरिके ध्यानमें स्थिर कर दिया। उसकी तपस्या तथा भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान्ने उसे प्रत्यक्ष दर्शन दिये। सुव्रतने भगवान्की स्तुति की और भगवान्से वरदान माँगा—'मेरे माता-पिता सशरीर आपके धामको जायँ।' भक्तिके प्रभावसे सुव्रत अपने माता-पिताके साथ भगवान्के उस नित्य धामको गया, जहाँ मृत्युका कभी प्रवेश नहीं होता।

परम सुशील बालक नारद

इस कल्पमें तो देवर्षि नारदजी सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीके पुत्र हैं; किंतु इससे पहलेकी सृष्टिमें वे गन्धर्व थे। उस समय वे अत्यन्त सुन्दर थे और अपने सौन्दर्यका उन्हें घमंड भी बहुत था, अप्सराओंसे वे घिरे ही रहते थे। एक बार ब्रह्माजीके यहाँ भगवान्‌की लीला, गुण आदिका कीर्तन हो रहा था। जहाँ भगवान्‌की कथा, कीर्तन, पूजन होता हो, वहाँ पवित्र होकर जाना चाहिये और शान्त, एकाग्र-मन होकर उस कथा-कीर्तनसे लाभ उठाना चाहिये। वहाँ अपवित्र दशामें जाना, वहाँ जाकर बातचीत या हँसी-मजाक करना, इधर-उधर चञ्चलतासे देखना, ऊँघना, पैर फैलाकर बैठना आदि अपराध हैं। नारदजीको स्त्रियोंमें आसक्ति इतनी थी कि वे ब्रह्माजीकी उस सभामें भी स्त्रियोंसे घिरे पहुँचे। उनके असंयमी तथा चञ्चल भावको देखकर ब्रह्माजीने शाप दे दिया—'तू शूद्र हो जा।' इससे गन्धर्व-देह त्यागकर उन्होंने भारतवर्षमें एक शूद्राके गर्भसे जन्म लिया।

नारदजीके जन्म लेनेके कुछ ही दिनों बाद उनके पिताका देहान्त हो गया था। उनकी शूद्रा माता एक धर्मात्मा, वेदोंके विद्वान्, संयमी, भगवद्भक्त ब्राह्मणकी दासी थी। उन ब्राह्मण देवताके घरके काम करके वह अपना तथा अपने पुत्रका पालन-पोषण करती थी। माता यद्यपि अपने इकलौते पुत्र नारदसे बहुत अधिक स्नेह करती थी, फिर भी वह पराधीन थी, दासी होनेके कारण उसका समय उन ब्राह्मणकी सेवाके कार्योंमें ही अधिक लगता था। गरीबोंके बच्चे जैसे पलते हैं, वैसे ही किसी प्रकार नारदजीका भी पालन-पोषण हुआ।

बचपनसे ही नारदजी बहुत सुशील थे। उन्हें साधारण बच्चोंके समान खेलना-कूदना और धूम मचाना आता ही न था। वे कभी झूठ नहीं बोलते थे, शान्त रहते थे और माता तथा उन ब्राह्मण देवताकी आज्ञाका प्रसन्नतासे पालन करते थे। एक बार वहाँ कुछ महात्मा पधारे। वर्षाके चार महीने वहीं बितानेका संतोंने निश्चय किया। नारदजीकी अवस्था उस समय केवल पाँच वर्षकी थी; किंतु उसी अवस्थामें वे साधु-महात्माओंके अत्यन्त भक्त थे। वे अब उन संतोंकी सेवामें ही लगे रहते। दिनभर उनके समीप रहते और जो छोटा-मोटा कार्य उनके योग्य दीखता, बिना कहे ही बड़े उत्साहसे उसे करते। संतोंके पास रहनेसे अपने-आप भगवान्‌की लीला-कथा सुननेको मिलती है। महापुरुषोंका स्वभाव होता है कि वे भगवान्‌के ही चरित्र एवं गुणोंका वर्णन करते हैं। इस प्रकार साधु-सेवा, सत्सङ्ग तथा संतोंका प्रसाद चार महीनेतक नारदजीको बराबर मिलता रहा। जब वे महात्मा जाने लगे, तब उन्होंने बालककी नम्रता, सुशीलता, सेवासे प्रसन्न होकर भगवान्‌के ध्यानकी विधि और मन्त्रका उपदेश किया। नारदजी इससे निष्पाप हो गये और एकाग्रचित्तसे उन्होंने संतोंके उस उपदेशको ग्रहण कर लिया।

महात्माओंके चले जानेपर नारदजीका चित्त घरपर लगता नहीं था। उनके मनमें भगवान्‌का भजन करनेकी तीव्र लालसा थी। एक दिन सायंकाल अँधेरा होनेपर उनकी माता गाय दुह रही थी कि उसको काले सर्पने डस लिया और इससे उसकी मृत्यु हो गयी। बालक नारदजीको माताकी मृत्युसे कोई दुःख नहीं हुआ। उन्होंने इसे दयामय भगवान्‌की कृपा समझा। माताके स्नेहवश भजन करने वे एकान्तमें नहीं जा सकते थे। उन्हें लगा कि अनन्त कृपासागर भगवान्‌ने कृपा करके माताको अपने पास बुला लिया, जिससे अब निश्चिन्त होकर वे भजन कर सकें। अतएव भगवान्‌को प्रणाम करके घरसे निकल पड़े और उत्तरकी ओर चल पड़े।

पाँच वर्षके बालक नारदजी—न उनको दिशाका पता था न यही ज्ञात था कि किधर कौन-सा देश है। अभीतक वे कहीं आये-गये नहीं थे। केवल भगवान्-पर विश्वास करके वे सीधे उत्तर चले जा रहे थे। अनेक ग्राम, नगर, झोपड़ियाँ मार्गमें मिलीं। अनेक नदी, नाले, वन-पर्वत पार करने पड़े। सर्दी-गरमी, भूख-प्यास आदि नाना प्रकारके कष्ट सहन करते वे चलते ही गये। अन्तमें हिमालयके पास पहुँचकर एक बहुत बड़ा वन मिला। सिंह, व्याघ्र, चीते आदि भयंकर पशु उसमें इधर-उधर घूम रहे थे। उसमें बहुत अधिक सर्प थे और कठोर शब्द करनेवाले उल्लूकी जातिके पक्षियों-से वह भरा था। नारदजी ऐसे वनमें भी डरे नहीं। वे जब थक गये, तब सरोवरमें हाथ-मुख धोकर जल पिया और उसके किनारे एक पीपलके वृक्षके नीचे बैठकर महात्माओंद्वारा बतायी हुई विधिसे भगवान्का ध्यान करने लगे।

सहसा हृदयमें सहस्रों सूर्योंके तेजसे भी महान् प्रकाश प्रकट हुआ। नारदजीको एक क्षणके लिये हृदय-में भगवान्के दर्शन हुए। वे आनन्दमें विभोर हो गये; किंतु दूसरे ही क्षण वह दिव्य झाँकी अदृश्य हो गयी। अब तो नारदजीकी व्याकुलताका पार नहीं रहा। वे बार-बार उसी झाँकीके दर्शनके लिये प्रयत्न करने लगे। उनकी व्याकुलता देखकर आकाशवाणी हुई—'नारद! अब इस जन्ममें तुम्हें मेरे दर्शन नहीं होंगे। यह दर्शन भी मैंने तुमपर कृपा करके इसलिये दिया है कि तुम्हारा चित्त मुझमें लग जाय। अब तुम मेरा भजन करते हुए पृथ्वीपर विचरण करो।' भगवान्की आज्ञा स्वीकार करके असङ्गभावसे भगवान्का गुणगान करते हुए नारदजी उसके पश्चात् पृथ्वीपर विचरण करने लगे। प्रारब्ध पूरा होनेपर उनका वह शरीर छूट गया। इस सृष्टिके प्रारम्भमें वे ब्रह्माजीके मनसे उत्पन्न हुए। नम्रता तथा संतोंकी सेवासे उनको यह उत्तम पद प्राप्त हुआ।

श्रीशुकदेवजी

श्रीशुकदेवजी तो हैं ही गोलोकविहारी श्रीकृष्णचन्द्र एवं श्रीरासेश्वरीके नित्य-लीला-शुक। जब भगवान्ने पृथ्वीपर अवतार धारण किया, तब शुकदेवजी भी भगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजीके यहाँ प्रकट हुए। बालक जब माताके गर्भमें रहता है, तब उसे भगवान्की कृपासे अनेक जन्मोंके कर्मोंका स्मरण हो जाता है और भगवान्-का भजन करनेका दृढ़ संकल्प करता है वह उस समय; किंतु गर्भसे निकलते ही उसका ज्ञान लुप्त हो जाता है, उसपर मायाका प्रभाव हो जाता है। माताके उदरमें आनेपर भी योगके प्रतापसे शुकदेवजी जन्म नहीं लेते थे कि कहीं उनपर भी मायाका प्रभाव न पड़े। जब देवर्षि नारदकी प्रार्थनासे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने स्वयं आकर उन्हें वचन दिया कि जन्म लेनेपर भी माया उनका स्पर्श नहीं करेगी, तब वे गर्भसे बाहर आये।*

उत्पन्न होते ही शुकदेवजी वनमें तपस्या करने चल पड़े। उस समय उनकी अवस्था सोलह वर्षके बालक-जैसी थी, क्योंकि वे पूरे सोलह वर्ष माताके गर्भमें ही रहे थे। न तो उनका नाल काटा गया था न जातकर्म-संस्कार ही हुआ था। उनके शरीरका रंग दूर्वादलके समान श्याम था। कमलके समान बड़े-बड़े नेत्र तथा लंबी भुजाएँ थीं। अपने परम सुन्दर तेजोमय पुत्रको उत्पन्न होते ही वनमें जाते देखकर पुत्र-स्नेहवश व्यासजी 'बेटा! बेटा!' पुकारते हुए उनके पीछे जाने लगे। क्योंकि शुकदेवजी समस्त जगत्को अपना स्वरूप ही समझते थे, अतः उनकी ओरसे वृक्षोंसे वाणी प्रकट

* श्रीशुकदेवजी भगवान् व्यासके मानस पुत्र हैं। उन्होंने माताके गर्भसे जन्म नहीं लिया है। व्यासजीके हवन-कुण्डकी अग्निसे वे उत्पन्न हुए हैं, ऐसी भी कथा मिलती है। कल्पभेदसे दोनों कथाएँ सत्य हैं।

हो गयी और उस वाणीने व्यासजीको समझाया ।

हिमालयके उस दिव्य प्रदेशमें स्वर्गकी देवियाँ एक सरोवरके किनारे अपने वस्त्र रखकर उसमें स्नान कर रही थीं । शुकदेवजी उनके पाससे चले गये, पर उन्होंने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया; किंतु जब व्यासजी समीप पहुँचे, तब उन देवियोंने जलसे निकलकर झटपट अपने कपड़े पहन लिये । यह देखकर व्यासजीने उनसे पूछा—'मेरा लड़का युवा है; किंतु वह तुम्हारे पाससे गया तो तुमलोगोंने लज्जा की नहीं और मुझ बूढ़ेको देखकर तुमने लज्जासे कपड़े पहन लिये ! इसका कारण क्या है ?' हाथ जोड़कर देवियोंने कहा—'महात्मन् ! आपके पुत्रको तो यही पता नहीं कि स्त्री-पुरुषमें कुछ भेद भी होता है । उनके सामने हमलोगोंको इसीसे लज्जा नहीं आयी । आपको स्त्री-पुरुषकी पहचान है, इससे हमने लज्जा की ।' देवियोंकी बात सुनकर व्यासजी आश्रमको लौट आये; क्योंकि जिसमें इतनी अभेद-दृष्टि है, उसे समझाकर लौटाया नहीं जा सकता ।

भगवान् व्यास जानते थे कि उनके पुत्र शुकदेवजीका चित्त केवल भगवान्‌के गुणोंपर ही खिंच सकता है । अतएव व्यासजीने श्रीमद्भागवतका आधा श्लोक अपने शिष्योंको बताकर कहा कि 'जब तुमलोग वनमें कुश, फल, समिधा आदि लेने जाओ, तब उसे उच्च स्वरसे गाया करो ।' गुरुकी आज्ञाका शिष्योंने पालन किया । शुकदेवजीने जब उस आधे श्लोकको सुना, तब वे उन ब्रह्मचारियोंके पास दौड़े आये और उनसे श्लोकका बाकी आधा भी पूछने लगे । ब्रह्मचारियोंको तो आधा ही श्लोक आता था, अतः पूरा श्लोक पढ़ने उनके गुरुदेव (अपने पिता) व्यासजीके पास आये । वह श्लोक है—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैः
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥

प्रातःकालका समय है, माता यशोदाने श्रीश्यामसुन्दरका शृङ्गार कर दिया है । उन श्रीनन्दनन्दनके मस्तकपर मयूरके पंखोंका मुकुट लहरा रहा है, श्रेष्ठ नटके समान गठीला तथा सजा हुआ उनका श्यामवर्ण शरीर है, कानोंमें अमलतासके फूलोंके गुच्छे उन्होंने लटका रक्खे हैं, शरीरपर सोनेके समान चमचम चमकता पीताम्बर है, गलेमें घुटनोंतक लटकती मोटी वैजयन्ती माला है, ओष्ठपर वंशी लगी है और उसे वे बड़े ललित ढंगसे बजा रहे हैं, सहस्रों गोपकुमार उन्हें घेरकर उनका सुयश गाते चल रहे हैं । इस प्रकार वे त्रिभुवनसुन्दर गोचारणके लिये अपने चरणचिह्नोंसे भूमिको अलंकृत करते हुए वृन्दावनमें प्रवेश कर रहे हैं ।

इस श्लोकको पढ़कर जब शुकदेवजी फिर वनमें जाने लगे, तब व्यासजीने बताया कि ऐसे अठारह सहस्र श्लोक उन्होंने बनाये हैं । शुकदेवजीने पूरा श्रीमद्भागवत पिताके पास रहकर पढ़ा । अध्ययनके पश्चात् व्यासजीने उनसे कहा—'तुम महाराज जनकके पास जाकर उनसे ज्ञान प्राप्त करो । बिना गुरुके जो ज्ञान होता है, वह स्पष्ट तथा सुदृढ़ नहीं होता ।' पिताकी आज्ञा मानकर शुकदेवजी मिथिलाके लिये चल पड़े ।

शुकदेवजी योगसिद्धिके बलसे आकाशमार्गसे जनकपुर जा सकते थे; किंतु गुरुगृहमें पैदल जाना ही ठीक समझकर वे उत्तराखण्डसे अनेक पर्वतों, वनों, नदियों आदिको पार करते हुए पैदल ही जनकपुर पहुँचे । इस यात्रामें अनेक सुन्दर नगर, बगीचे आदि स्थल उन्हें मिले थे और जनकपुरमें भी अत्यन्त सुन्दर भवन, दूकानें तथा बगीचे उन्हें मिले । स्थान-स्थानपर लोगोंने श्रद्धापूर्वक नाना प्रकारके वस्त्र, स्वादिष्ट अन्न, फल आदि भेंट करने चाहे; किंतु न तो शुकदेवजी कहीं रुके, न कुछ लेना स्वीकार किया और न किसी दृश्यकी ओर

ज्ञानी भक्त-बालक

अष्टावक्र, नारद, सुव्रत, शुकदेव

भक्त-बालक

मार्कण्डेय, भद्रायु, ब्राह्मण-राजकुमार, श्रीकर

उनका मन आकर्षित ही हुआ। वे सीधे महाराज जनकके द्वारपर पहुँच गये।

शुकदेवजी राजभवनमें जाने लगे, पर द्वारपालोंने उन्हें डाँटकर रोक दिया। इससे न तो उन्हें दुःख हुआ और न गुस्सा ही आया। वे चुपचाप वहीं खड़े हो गये। वहाँ तेज धूप थी, फिर भी छायामें हटनेका उन्हें ध्यान ही नहीं आया। रास्तेकी थकावट, द्वारपालोंके द्वारा हुआ तिरस्कार, तपती धूप आदिसे उन्हें कोई कष्ट नहीं हुआ। द्वारपालोंको उनका यह शान्त भाव देखकर अपने व्यवहारपर बड़ा खेद हुआ। उन्होंने शुकदेवजीको प्रणाम करके उनका पूजन किया और उन्हें राजभवनकी दूसरी ड्योढ़ीमें ले जाकर एक स्थान-पर बैठा दिया। शुकदेवजी वहाँ बैठकर आत्माके सम्बन्धमें चिन्तन करने लगे। थोड़ी देरमें हाथ जोड़े हुए राजमन्त्री आये और शुकदेवजीको प्रणाम करके वे उन्हें अन्तःपुरसे लगा हुआ जो प्रमदावन था, वहाँ ले गये। शुकदेवजीको वहाँ पहुँचाकर मन्त्री बाहर चले गये।

मन्त्रीके जाते ही अनेकों सुन्दरी तरुणियाँ दौड़कर शुकदेवजीके पास आयीं। वे वस्त्र तथा आभूषणोंसे भली प्रकार सजी हुई थीं। उन्होंने विधिपूर्वक शुकदेव-जीका पूजन किया और उन्हें उत्तम भोजन कराके तृप्त किया। भोजन करानेके बाद वे शुकदेवजीको प्रमदावनकी वस्तुएँ दिखाने लगीं। वे सब हँसती थीं, गाती थीं और अनेक प्रकारकी क्रीड़ाएँ करती थीं। शुकदेवजीको न तो इससे क्रोध आया, न झुँझलाहट हुई और न उनके मनमें कोई वासना ही आयी। उन्हें उन स्त्रियोंके चरित्रके प्रति कोई संदेह भी नहीं हुआ। अपने चिन्तनमें वे ऐसे लगे थे कि स्त्रियोंकी सेवासे उनको कोई हर्ष या सुख भी नहीं होता था। सायंकाल उन स्त्रियोंने एक रत्नजटित सोनेका पलंग, जिसपर कोमल बिछौने बिछे थे, शुकदेवजीको सोनेके लिये उपस्थित किया। शुकदेवजीने हाथ-पैर धोकर पहले तो संध्या की और फिर वे एक आसनपर बैठकर ध्यान करने लगे। रात्रिका पहला प्रहर बीत जानेपर उन्होंने निद्रा ली और फिर चौथे प्रहरके प्रारम्भमें ही उठकर वे नित्य कर्ममें लग गये। स्त्रियोंसे घिरे रहनेपर भी वे निर्विकार, शान्त तथा अपने कर्तव्यमें लगे रहे।

ज्ञानका वही अधिकारी है, जो सुख-दुःख, मान-अपमान, हर्ष-शोक आदिसे प्रभावित न होता हो। शुकदेव-जीकी परीक्षा पूरी हो गयी। तिरस्कृत होकर धूपमें बैठना तथा सम्मानके साथ स्त्रियोंसे सेवित होना—दोनों उनके लिये एक-जैसे थे। प्रातःकाल राजा जनक पुरोहितोंके साथ वहाँ आये। शुकदेवजीका उन्होंने पूजन किया और फिर शुकदेवजीके तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी प्रश्नोंका यथोचित रूपमें उत्तर देकर उनको संतुष्ट किया।

परमहंसशिरोमणि शुकदेवजी जन्मसे ही विरक्त हैं। वे अमर हैं और अब भी अधिकारी श्रद्धालु भगवद्भक्तको उनके दर्शन हो सकते हैं। महाराज परीक्षित् जब ऋषिकुमारका शाप होनेपर राज्य छोड़कर अनशन करके गङ्गातटपर बैठे थे, तब समस्त ऋषियों-के सामने शुकदेवजीने उन्हें सात दिनमें श्रीमद्भागवत सुनाया था। भागवतको सुनकर परीक्षित् मुक्त हो गये।

मुनि मार्कण्डेय

महामुनि मृकण्डके कोई संतान नहीं थी। पुत्रकी इच्छासे उन्होंने पत्नीके साथ तपस्या और नियमोंका पालन करते हुए भगवान् शङ्करकी आराधना प्रारम्भ की। भगवान् शङ्कर जब प्रसन्न हुए, तब प्रकट होकर उन्होंने पूछा—'मुने! तुम उत्तम गुणोंसे रहित चिरजीवी पुत्र चाहते हो या गुणवान् अल्पायु पुत्र तुम्हें चाहिये।'

मृकण्डने कहा—'भगवन्! जिस पुत्रमें सद्गुण न हों, ऐसे पुत्रकी मुझे इच्छा नहीं है। ऐसे पुत्रके दीर्घजीवी

होनेसे किसीका क्या भला हो सकता है । मुझे तो धर्मात्मा गुणवान् पुत्र चाहिये । भले ही वह थोड़े समय-तक ही जीवित रहे ।'

भगवान् शङ्कर वरदान देकर अन्तर्धान हो गये । समय आनेपर मृकण्ड मुनिकी पत्नी मरुद्वतीके एक सुन्दर पुत्र हुआ । गर्भाधानसे लेकर बादके सभी संस्कार बड़ी विधिसे उस बालकके किये गये थे । रूप और तेजमें वह साक्षात् शङ्करजी-जैसा ही जान पड़ता था । लेकिन मृकण्ड मुनिको तो पता था कि उनके बालकको आयु केवल सोलह वर्ष मिली है । उन्होंने पुत्रको यह बात कुछ बड़े होनेपर बता दी और कहा—'बेटा ! तुम जिस किसी भी ब्राह्मणको देखना, उसे अवश्य विनयपूर्वक प्रणाम करना ।' उन्होंने पुत्रको भगवान् शङ्करकी महिमा बताकर महामृत्युञ्जय मन्त्रका जप तथा शङ्करजीकी शरण ग्रहण करनेका भी उपदेश किया ।

बालक मार्कण्डेय पिताके आदेशानुसार भगवान् शङ्करके पूजनमें लग गये । वे दक्षिण समुद्रके तटपर चले गये और वहाँ एक शिवलिङ्ग स्थापित करके विधिपूर्वक भगवान्की पूजा करने लगे । साथ ही जिस किसी ब्राह्मणको वे देखते थे, उसे प्रणाम अवश्य करते थे । एक दिन सप्तर्षिगण मार्कण्डेयजीके आश्रमके पाससे निकले । मार्कण्डेयने उनके चरणोंमें प्रणाम किया । उनमेंसे प्रत्येकने उन्हें दीर्घायु होनेका आशीर्वाद दिया । आशीर्वाद देते समय वसिष्ठजीकी दृष्टि मार्कण्डेयके ललाटपर गयी और वे चौंक पड़े । उन्होंने दूसरे ऋषियोंसे कहा—'इस बालकको हमलोगोंने दीर्घायु होनेका आशीर्वाद दिया है और इसके ललाटकी रेखाके अनुसार तो इसकी आयु केवल तीन दिन शेष है । हमलोगोंकी बात झूठी नहीं होनी चाहिये ।'

दूसरा कोई उपाय न देखकर मार्कण्डेयको लेकर ऋषिगण ब्रह्मलोकमें सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीके पास गये । उनकी बात सुनकर ब्रह्माजीने कहा—'भाग्यको तो केवल भगवान् शङ्कर ही बदल सकते हैं । यह बालक भगवान् शिवका भक्त है, अतः आपलोगोंको चिन्ता नहीं करनी चाहिये ।' ऋषिगण मार्कण्डेयको उनके आश्रममें छोड़कर शङ्करजीके पूजनका उपदेश देकर चले गये । ऋषियोंकी तथा ब्रह्माजीकी बात सुनकर मार्कण्डेयकी श्रद्धा भगवान् शङ्करमें और भी बढ़ गयी ।

जिस दिन मार्कण्डेयकी आयु समाप्त हो रही थी, उस दिन वे भगवान् शिवकी पूजा करके जब स्तुति करने लगे, तब उन्होंने मृत्युको साथ लिये कालको वहाँ देखा । उसके गोल-गोल नेत्र लाल हो रहे थे । साँप और बिच्छू ही उसके रोम थे । उसका रंग कोयले-जैसा काला था और बड़ी-बड़ी दाढ़ोंके कारण उसका मुख बड़ा भयङ्कर जान पड़ता था । उसने आते ही मार्कण्डेयके गलेमें अपना फंदा डाल दिया । मार्कण्डेयने उससे कहा—'काल ! मेरा नियम है कि मैं भगवान् शिवकी पूजा तथा स्तुति किये बिना कहीं जाता नहीं हूँ, अतएव जबतक मैं स्तुति पूरी न कर लूँ, तबतक तुम ठहरो ।'

बालक मार्कण्डेयकी बात सुनकर काल हँस पड़ा । वह बोला—'जान पड़ता है, तुमने बड़े-बूढ़ोंकी यह बात नहीं सुनी है कि जो मनुष्य आयुके पहले भागमें ही धर्मका अनुष्ठान नहीं करता, वह बुढ़ापेमें साथियोंसे बिछुड़े यात्रीकी भाँति पछताता है । आठ महीनोंमें ऐसा उपाय कर लेना चाहिये कि वर्षाके चार महीने सुखसे बीतें । दिनमें ही वह काम कर ले, जिससे रात सुखसे बीते । पहली अवस्थामें ऐसा काम कर ले कि बुढ़ापा सुखसे बीते । जो काम कल करना हो, उसे आज ही कर ले । जो दोपहर बाद करना हो, वह काम दोपहरसे पहले कर ले । काल किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता कि इस व्यक्तिका काम पूरा हुआ या नहीं । जिसका काल नहीं आया है, वह सैकड़ों बाण लगनेपर भी नहीं मरता

और जिसका काल आ गया है, वह कुशाकी नोक लगनेसे ही मर जाता है। मैंने हजारों चक्रवर्ती राजाओं तथा सैकड़ों इन्द्रोंको अपना ग्रास बनाया है। मैं ठहरना नहीं जानता।'

कालकी बात सुनकर निर्भय होकर मार्कण्डेयने कहा—'काल! मैं तुम्हें इसलिये मना करता हूँ कि भगवान् शङ्करकी आराधनामें लगे पुरुषके कार्यमें बाधा देनेवाले शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। जैसे राजाके सेवकोंपर राजाको छोड़कर दूसरा आज्ञा नहीं चला सकता, वैसे ही भगवान्के भक्तोंपर उन प्रभुको छोड़कर दूसरा कोई शासन नहीं कर सकता। भगवान्के भक्तोंके लिये कोई कार्य असम्भव नहीं है। वे समुद्रोंको सुखा सकते हैं, पृथ्वी तथा आकाशको हिला सकते हैं। ब्रह्मा और इन्द्र उनके सामने तिनकेके समान हैं। मृत्यु, यमराज या ब्रह्माजी भी भगवान्के भक्तपर प्रभुत्व नहीं दिखा सकते। सब देवता क्रोधमें भर जायँ, तब भी भगवान्के भक्तको मार नहीं सकते। काल! तुमने सुना नहीं है कि भगवान्के भक्तोंपर विपत्ति कभी नहीं आती?'

कालको ये बातें अच्छी नहीं लगीं। उसका वेग अबतक कहीं रुका नहीं था। घोर गर्जन करके उसने मार्कण्डेयको खींच लेना चाहा। उसी समय उस शिवलिङ्गसे भगवान् शङ्कर प्रकट हो गये। हुंकारके साथ मेघ-गर्जन करते हुए उन्होंने कालकी छातीमें लात मारी। उनके पदाघातसे मृत्युदेव दूर जा गिरे और थर-थर काँपने लगे। मार्कण्डेयजी तो भगवान् शिवके चरणोंपर गिर पड़े। भावविह्वल होकर दोनों हाथ जोड़कर वे भगवान्-की स्तुति करने लगे।

भगवान् शङ्करकी लात खाकर काल भाग गया था। मार्कण्डेयकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर शङ्करजीने उन्हें अमर होनेका वरदान दे दिया। मार्कण्डेयजी सदाके लिये कालसे निर्भय हो गये। आज भी जो भगवान्की सच्चे हृदयसे शरण लेता है, वह कालसे निर्भय हो जाता है। भगवान् उसे जन्म-मृत्युके चक्रसे छुड़ा देते हैं।

ब्राह्मणकुमार और राजकुमार

विदर्भदेशके राजा सत्यरथ धीर पुरुष थे। वे धर्मात्मा, सत्यशील तथा प्रजापालक थे; लेकिन भाग्यकी लीला ही विचित्र है। शाल्वदेशके राजाओंने उनके ऊपर चढ़ाई कर दी। राजा सत्यरथ वीरतापूर्वक युद्ध करते हुए मारे गये। उनकी पतिव्रता रानीको रातके समय अकेले चुपचाप भागना पड़ा। रानी गर्भवती थीं। उनके प्रसवका समय समीप था। मार्गमें एक तालाबके किनारे वे बैठ गयीं। उस निर्जन स्थानमें ही उन्हें पुत्र हुआ। पुत्रोत्पत्तिके पीछे कोई रानीकी सेवा करनेवाला तो था नहीं, प्याससे व्याकुल होकर स्वयं वे तालाबमें उतरीं। वहाँ उसी समय उन्हें एक मगर निगल गया।

माता-पितासे रहित नवजात बालक वृक्षके किनारे भूख-प्यासके मारे रो रहा था। भाग्यवश एक ब्राह्मणी उधरसे निकली। उसकी गोदमें भी एक वर्षका पुत्र था। ब्राह्मणीने देखा कि वृक्षके नीचे तुरंतका उत्पन्न हुआ एक शिशु रो रहा है। उस शिशुका अभीतक नाल भी नहीं काटा गया था। ब्राह्मणीको बड़ी दया आयी; किंतु बिना यह जाने कि बच्चा किस वर्णका है, वह बच्चेको छूनेमें हिचकने लगी। इसी समय एक संन्यासी महात्मा वहाँ आ गये। उन्होंने ब्राह्मणीसे कहा—'बेटी! तू डर मत। इस बालकका पालन करनेसे तेरा मङ्गल ही होगा।' ब्राह्मणीने उस बालकको उठा लिया और अपने घर ले आयी।

एकचक्रा नगरमें उस ब्राह्मणीका घर था। उसके पतिका देहान्त हो चुका था और वह निर्धन थी।

अपने पुत्रके समान ही उस लाये हुए बालकसे भी वह प्रेम करती थी। भिक्षा माँगकर ही उसका निर्वाह होता था। कुछ बड़े होनेपर दोनों बालक ब्राह्मणीके साथ भिक्षा माँगने जाने लगे। एक दिन दोनों बालकोंके साथ भिक्षा माँगती वह एक मन्दिरमें गयी। वहाँ बड़े बूढ़े ऋषि-मुनि रहा करते थे। उनमेंसे शाण्डिल्य नामके मुनिने उस लाये हुए बालककी ओर देखकर कहा—'भाग्य बड़ा बलवान् है। कोई भी कर्मोंको टाल नहीं सकता। यह बालक अब भिक्षा माँगकर जी रहा है। ब्राह्मणीको ही यह अपनी माता समझता है और स्वयं ब्राह्मण-जैसे व्यवहार करता है।' ब्राह्मणीके पूछनेपर ऋषिने उस बालकका पूरा परिचय दिया।

ब्राह्मणीके पूछनेपर शाण्डिल्य मुनिने दरिद्रता दूर करनेका उपाय बताते हुए प्रदोषव्रतकी विधि तथा भगवान् शङ्करकी पूजाका उपदेश किया। मुनिने उन्हें भगवान् शङ्करके मन्त्रकी दीक्षा दी। मुनिकी आज्ञा लेकर ब्राह्मणी दोनों बालकोंके साथ घर आ गयी। अब दोनों बालकोंने नियमपूर्वक भगवान् शङ्करकी पूजा और प्रदोषका व्रत करना आरम्भ किया। इस प्रकार चार महीनेतक व्रत तथा पूजन करनेके बाद एक दिन ब्राह्मणीका पुत्र राजकुमारको लिये बिना अकेला ही नदीके तटपर स्नान करनेके लिये गया और वहाँ इधर-उधर टहलता रहा। वहाँ धाराके जलके बार-बार लगनेसे किनारेकी भूमि कट गयी थी और एक बड़ा भारी कलश चमक रहा था। ब्राह्मणकुमारकी दृष्टि उस कलशपर पड़ी। पास जाकर उसने देखा कि वह सोनेकी मुहरोंसे भरा है। देवताका प्रसाद समझकर कलशको वह घर ले आया और मातासे बोला—'मा! यह भगवान् शङ्करका प्रसाद है।' ब्राह्मणीने दोनों बालकोंको वह धन आपसमें बाँट लेनेको कहा। माताकी बात सुनकर ब्राह्मणकुमार प्रसन्न हो गया; किंतु राजकुमारने कहा—'मा! यह तुम्हारे पुत्रको ही मिला है। मैं इसमें भाग लेना नहीं चाहता। अपने पुण्यसे मिले धनका वे उपयोग करें। भगवान् शङ्कर मुझपर भी कृपा करेंगे।'

एक दिन द्विजकुमार और राजकुमार साथ-साथ एक वनमें घूम रहे थे। कुछ दूर जानेपर उन्हें गन्धर्व-कन्याएँ क्रीड़ा करती दिखायी पड़ीं। ब्राह्मणकुमारने स्त्रियोंके पास जाना उचित नहीं समझा, परंतु राजकुमार कुतूहलवश उनके पास चले गये। द्रविक नामके गन्धर्वप्रमुखकी पुत्री अंशुमती अपनी सखियोंके साथ वहाँ क्रीड़ा कर रही थी। राजकुमारको देखकर वह उनके प्रेमके वश हो गयी। उसने अपनी सखियोंको बहाना बनाकर दूसरी जगह भेज दिया। राजकुमारके पास आनेपर उसने प्रार्थना की कि वे उसे स्वीकार कर लें; किंतु धर्मात्मा राजकुमारने कहा—'तुम्हारे पिता जबतक तुम्हें प्रदान नहीं करते, मैं तुम्हारा स्पर्श नहीं करूँगा।' अंशुमतीने दूसरे दिन राजकुमारको वहीं बुलाया और चली गयी।

राजकुमारकी निर्लोभ तथा निष्काम वृत्ति और भक्तिसे प्रसन्न होकर स्वयं भगवान् शङ्करने गन्धर्वश्रेष्ठ द्रविकको आदेश दिया था कि वे राजकुमारको अपनी पुत्री दे दें तथा उनकी सहायता करें। दूसरे दिन गन्धर्व द्रविक अपनी पुत्रीके साथ आये। उन्होंने अंशुमतीका विवाह राजकुमारसे कर दिया। गन्धर्वोंकी सहायतासे राजकुमारने शत्रुओंको पराजित किया और वे विदर्भदेशके राजसिंहासनपर बैठे। ब्राह्मणकुमारको उन्होंने अपना बड़ा भाई माना और ब्राह्मणीको राजमाताके समान राजभवनमें रक्खा। भगवान् शङ्करकी आराधनासे उनका राज्य उन्हें प्राप्त हुआ।

राजकुमार भद्रायु

दशार्णदेशके राजा वज्रबाहुकी रानी सुमति अपने नवजात पुत्रके साथ असाध्य रोगसे ग्रस्त हो गयी थी। दुष्टबुद्धि राजाने उसे घरसे निकाल दिया। अनेक प्रकारका कष्ट भोगती वह एक नगरमें पहुँची। वहाँके पद्माकर नामके एक धनी वैश्यने रानीका सब हाल जानकर उसे अपने घरमें शरण दी। उसके लिये अन्न-वस्त्रादिका प्रबन्ध कर दिया। राजपत्नीके घाव तथा यक्ष्मा आदि रोग दूर नहीं हुए। उसका नन्हा पुत्र भद्रायु घावकी पीड़ासे अन्तमें मर गया। पुत्रके मरनेपर रानी शोकके कारण मूर्च्छित हो गयी। सचेत होनेपर वह विलाप करने लगी। उसी समय ऋषभ नामसे प्रसिद्ध शिवयोगी वहाँ आ पहुँचे। राजपत्नीको उन्होंने पहले तो बहुत समझाया, पर अन्तमें उसकी दीनतापर उन्हें दया आ गयी। मन्त्र पढ़कर उन्होंने बालकके मुखमें भस्मकी एक चिटकी डाल दी। विभूतिके पड़ते ही मरा हुआ बालक जीवित हो गया। शिवयोगीने रानीको थोड़ी भस्म और दी अपने तथा पुत्रके शरीरमें लगानेके लिये। इस भस्मको लगानेसे दोनोंके घाव तुरंत भर गये। वे पूर्ण स्वस्थ हो गये।

पद्माकर वैश्यके सुनय नामक एक पुत्र था। राजकुमार भद्रायुसे उसकी मित्रता हो गयी। पद्माकरने दोनों बालकोंके विधिपूर्वक सब संस्कार कराये। यज्ञोपवीत हो जानेपर दोनों बालक गुरुगृहमें गये और वहाँ उन्होंने सम्पूर्ण विद्याओंका भली प्रकार अध्ययन किया। जब राजकुमार भद्रायुका सोलहवाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ, तब वे ही शिवयोगी ऋषभ फिर आये। रानी तथा राजकुमारने बड़ी श्रद्धासे उनका पूजन किया। उन्होंने भद्रायुको धर्म, सदाचार आदिका उपदेश किया और भगवान् शङ्करके षडक्षर मन्त्र (ॐ नमः शिवाय) की दीक्षा देकर शङ्करजीकी उपासना-विधि बतलायी। भद्रायुको उन्होंने शिवकवचका उपदेश भी किया। शिवयोगीने एक शङ्ख तथा शत्रुनाशक खड्ग दिया और अभिमन्त्रित भस्म उनके शरीरमें लगायी। इस भस्मके लगानेसे भद्रायुमें बारह सहस्र हाथियोंका बल आ गया। इसके पश्चात् राजकुमार भद्रायुको आशीर्वाद देकर शिवयोगी चले गये।

मगधदेशके राजाने राजा वज्रबाहुको युद्धमें हराकर उनकी राजधानी नष्ट-भ्रष्ट कर दी थी। राजाके गोधन एवं सेवकादि उसने छीन लिये थे और राजा वज्रबाहुको बंदी बनाकर वह प्रबल शत्रु अपने नगरमें ले गया था। यद्यपि राजा वज्रबाहुने भद्रायुकी अबोध दशामें रोगी होनेके कारण माताके साथ निष्ठुरतापूर्वक घरसे निकाल दिया था और फिर कभी उसने अपनी पत्नी और पुत्रकी खोज-खबर नहीं ली थी, परंतु जब राजकुमार भद्रायुको पता लगा कि शत्रुओंने उनके पिताको तथा माताओंको बंदी बना लिया है और उनकी जन्मभूमि दशार्णदेशको नष्ट-भ्रष्ट किया है, तब वे बड़े कुपित हुए। कवच पहनकर तथा खड्ग लेकर वे घोड़ेपर बैठकर अकेले ही उस स्थानपर आये, जहाँ मगधकी सेना ठहरी थी। राजकुमार भद्रायु शत्रुओंपर टूट पड़े। मगधदेशके सहस्रों सैनिक भी क्रुद्ध होकर उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगे, लेकिन भद्रायु इससे तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने एक रथीको सारथिसहित मारकर उसके रथपर अधिकार कर लिया और अपने मित्र वैश्यकुमार सुनयको सारथि बनाकर रथपर बैठ गये। भयंकर संग्राम करके भद्रायुने शत्रुओंको पराजित कर दिया। शत्रुओंके बन्धनमें पड़े पिता तथा सौतेली माताओंको उन्होंने मुक्त किया। दशार्णदेशके जिन राजसेवकों, मन्त्रियों एवं प्रजाजनोंको मगधका राजा बंदी बना लाया था, उन्हें भी छुड़ाया और अपने राज्यका सब धन भी लौटा लाये।

इस प्रकार जब भद्रायु विजयी होकर दशार्णदेश अपने पिताको लौटा लाये, तब जो लोग शत्रुओंके भयसे अपना घर-द्वार छोड़कर भाग गये थे, वे भी अपने घरोंको लौट आये।

पिताको राजधानीमें छोड़कर भद्रायु अपनी माताके पास चले गये। शिवयोगीके आदेशसे निषधदेशके राजा चन्द्राङ्गदने अपनी पुत्री कीर्तिमालिनीका विवाह भद्रायुसे कर दिया। इस विवाहके अवसरपर निषधनरेशने राजा वज्रबाहुको भी बुलाया था। जब वहाँ पहुँचनेपर राजा वज्रबाहुको पता लगा कि उन्हें शत्रुसे छुड़ानेवाला महावीर उनका ही पुत्र है, तब उन्हें अपने कर्मपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। अपनी बड़ी रानी सुमति तथा अपने पुत्र भद्रायुको वे पुत्रवधूके साथ राजधानी ले आये। भद्रायुको राजाने युवराज-पदपर अभिषिक्त कर दिया।

भक्त बालक श्रीकर गोप

उज्जयिनीनरेश चन्द्रसेन भगवान् महाकालके परम भक्त थे। एक बार बहुतसे राजाओंने उनके राज्यपर आक्रमण कर दिया और चारों ओरसे अपनी सेनाओंके द्वारा नगरको घेर लिया। इस विपत्तिमें राजा चन्द्रसेन भगवान् महाकालकी शरणमें गये। वे उपवास करते हुए अनन्यभावसे भगवान् शङ्करकी आराधना करने लगे। एक दिन जब महाराज भगवान्का पूजन कर रहे थे, तब उसी नगरकी एक विधवा ग्वालिनी अपने एकमात्र पुत्र श्रीकरके साथ वहाँ गयी। श्रीकरकी अवस्था उस समय पाँच वर्षकी थी। बालकने बड़े ध्यानसे वह महोत्सव देखा और उसने भी वहीं पूजन करनेका निश्चय कर लिया।

घर आनेपर बालक श्रीकर कहींसे एक सुन्दर पत्थर उठा लाया। उसने उसे शिवलिङ्ग मानकर जलसे स्नान कराया, चन्दनके बदले मिट्टी लगायी शिवजीको और इसी प्रकार कृत्रिम धूप, दीप आदि भी उसने अपनी पूजामें काम लिये। जो पुष्प उसके हाथ आ सकते थे, उन्हें वह पहले ही तोड़ लाया था। वह भोला बालक एक बार पूजन करके संतुष्ट नहीं हुआ। वह बार-बार पूजन करता था, बार-बार मस्तक भूमिमें रखकर प्रणाम करता था और बार-बार ताली बजाकर अपने भगवान्के सामने नाचता था। इस प्रकार जब वह अपनी पूजामें लगा था, तभी उसकी माताने उसे भोजनके लिये बुलाया। माताके बुलानेपर भी उसे भोजन करनेकी इच्छा नहीं हुई। माताने देखा कि लड़का बुलानेसे नहीं आता तो स्वयं वहाँ आयी। उस समय श्रीकर आँख बंद करके ध्यान करने बैठा था। माताने उसे हाथ पकड़कर खींचा और जब वह नहीं उठा, तब मारा भी। अन्तमें झुँझलाकर माताने उसकी मूर्तिका वह शिवलिङ्ग दूर फेंक दिया और पूजाकी सामग्री नष्ट कर दी। क्रोधमें भरी ग्वालिनी बेटेको डाँटकर घरमें चली गयी।

बेचारा श्रीकर हाय-हाय करके भगवान्को पुकारने लगा और दुःखके मारे मूर्च्छित हो गया। उसके नेत्रोंसे आँसूकी धारा बह रही थी। दो घड़ीमें जब उसकी मूर्च्छा दूर हुई, तब वह भौंचक्का-सा हो गया। उसका निवास-स्थान परम सुन्दर शिव-मन्दिर बन गया था। उस मन्दिरमें मणियोंके खंभे तथा सुवर्णकी चौखटें, द्वार आदि थे। वहाँकी भूमि नीलम तथा हीरोंसे जड़ी थी। श्रीकरके हर्षका पार नहीं रहा। भगवान्की कृपा समझकर वह नाचने और भगवान्का गुण गाने लगा। फिर उसने पृथ्वीमें लेटकर भगवान्को प्रणाम करके प्रार्थना की—'देव! मेरी माताके अपराध क्षमा करें। वह मूढ़ है, आपके प्रभावको नहीं जानती। यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं, यदि आपकी पूजासे मुझे कुछ पुण्य हुआ है तो उसके प्रभावसे मेरी माता आपकी दया प्राप्त करे।'

दूसरे दिन सबेरा होते ही नगरमें हल्ला मच गया।

लोग श्रीकरके मन्दिरका दर्शन करने आने लगे। राजा चन्द्रसेन भी वहाँ दर्शन करने पधारे। जो राजा लड़ाई करने आये थे, उन्होंने भी भगवान्‌की कृपाका यह प्रभाव देखकर शत्रुताका भाव छोड़ दिया और राजा चन्द्रसेनकी आज्ञा लेकर नगरमें भगवान्‌के दर्शन करने आये। श्रीहनुमान्‌जी उसी समय वहाँ प्रकट हुए। उन्होंने बताया कि 'अनजानमें ही बालक श्रीकरने कृष्णपक्षमें शनिवारको प्रदोषव्रत तथा शिव-पूजन किया है, उसीका यह फल है।' शिवभक्तिके प्रतापसे श्रीकर धन्य हो गया। श्रीकरकी ही आठवीं पीढ़ीमें व्रजराज नन्दजी हुए, जिनके यहाँ साक्षात् गोलोक-विहारी श्रीकृष्णचन्द्र पुत्ररूपसे प्रकट हुए।

पाण्डवोंका बाल-जीवन

महाराज पाण्डुके दो रानियाँ थीं—कुन्ती और माद्री। कुन्तीके तीन पुत्र हुए—युधिष्ठिर, भीमसेन और अर्जुन एवं माद्रीके दो पुत्र हुए—नकुल और सहदेव। ये ही पाण्डुपुत्र होनेसे 'पाण्डव' कहलाये। ये पाँचों इन्द्रके अथवा धर्मराज, वायु, इन्द्र एवं अश्विनीकुमारोंके अंश थे तथा भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त थे।

हस्तिनापुरमें पाण्डवोंके विधिवत् सब संस्कार हुए। ये पाँचों भाई बचपनसे ही विनम्र, गुणवान् और शील-सम्पन्न थे। अपने बड़े भाई युधिष्ठिरका चारों भाई बहुत आदर करते थे और उनकी आज्ञाका सावधानीसे पालन करते थे। युधिष्ठिरजी भी अपने छोटे भाइयोंको प्राणोंके समान प्यार करते थे। पाण्डवोंमें भीमसेन अत्यन्त बलवान् थे। दौड़नेमें, कुश्ती लड़नेमें तथा भोजन करनेमें कोई उनकी बराबरी नहीं कर सकता था। होड़के कारण। धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि सभी पुत्रोंको खेलमें हरा दिया करते थे। वैसे उनके मनमें कोई वैरभाव नहीं था। दुर्योधन आदि जब किसी वृक्षपर चढ़ जाते, तब वे वृक्षकी जड़ पकड़कर हिला देते, जिससे सब बालक पृथ्वीपर गिर पड़ते थे। बराबर भीमसेनसे हारनेके कारण दुर्योधनके मनमें पाण्डवोंके प्रति द्वेष हो गया। वह बराबर भीमको मार डालने तथा युधिष्ठिर आदिको बंदी बनानेका उपाय सोचने लगा।

द्वेषवश दुर्योधनने एक योजना बनायी। गङ्गा-किनारे प्रमाणकोटि नामक स्थानपर उसने जलविहारके लिये शिबिर खड़े किये। पाण्डवोंने उसका आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। वहाँ पहुँचकर कौरवोंने बड़ा आदर दिखाते हुए पाण्डवोंको भोजन कराया। दुर्योधनने पहलेसे विष मिलाकर लड्डू बनवाये थे। बड़े आग्रहसे उसने भीमसेनको वे लड्डू खिलाये। अनजानमें ही भीम वे सब लड्डू खा गये। जल-क्रीडाके पश्चात् भीमको बड़ी थकावट जान पड़ी। वे अपने शिबिरमें आकर सो गये और विषके शरीरमें फैल जानेसे मूर्छित हो गये। दुर्योधनने अपने हाथों उन्हें लताओंसे बाँधकर ऊँचे कगारसे गङ्गाजीमें फेंक दिया। इसी दशामें भीम पाताल-लोक पहुँचे। वहाँ उन्हें विषैले सर्पोंने खूब काटा। सर्पोंके काटनेसे भोजनमें खाये विषका प्रभाव दूर हो गया। अब सचेत होकर वे सर्पोंको मारने लगे। उसी समय वहाँ आर्यक नागके साथ नागराज वासुकि आये। आर्यक नागने भीमको पहचान लिया। वह भीमका नाना लगता था। उसकी प्रार्थनापर नागराज वासुकिने नागलोकमें भरा अमृत पीनेकी आज्ञा दे दी। एक घूँटमें भीम एक कुण्डका रस पी जाते थे। इस प्रकार आठ कुण्डका रस पीकर नागोंके कहनेपर वे एक उत्तम शय्यापर सो गये और आठ दिनतक सोते रहे। यहाँ दुर्योधन मन-ही-मन प्रसन्न हो रहा था। युधिष्ठिर आदि चारों भाइयोंने बहुत ढूँढ़ा; किंतु उन्हें कहीं भीम मिले नहीं।

घर लौटकर माता कुन्तीको उन्होंने यह समाचार दिया। सबको यह शङ्का तो हो गयी कि इसमें दुर्योधनकी कुछ दुष्टता है; परंतु विदुरजीके समझानेसे सबने शान्त रहना ही उचित समझा। आठ दिनपर जब भीमसेनके शरीरमें वह रस पच गया, तब वे जगे। उनको अब दस सहस्र हाथियोंका बल प्राप्त हो गया था। नागोंने उनका दिव्य वस्त्र तथा आभूषणोंसे सत्कार किया। वहाँसे नागराजकी अनुमति लेकर भीमसेन ऊपर आये। माता कुन्ती तथा भाइयोंको भीमसे मिलकर बड़ा ही आनन्द हुआ। जब भीमने दुर्योधनकी दुष्टता सुनायी, तब युधिष्ठिरजीने कहा—'भाई! बस, अब चुप रहो। यह बात कभी किसीसे मत कहना। हमलोगोंको अब सावधानीसे एक-दूसरेकी रक्षा करनी चाहिये।'

दुरात्मा दुर्योधनने भीमसेनके प्यारे सारथिको गला घोंटकर मार डाला। भीमसेनके भोजनमें एक बार और विष डाला गया। युयुत्सुने यह बात पाण्डवोंको बतला दी, किंतु भीमसेनने वह विष खाकर पचा लिया। उनके शरीरपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। भीमको विषसे मरते न देखकर दुर्योधनने अपने मामा शकुनिसे सलाह करके और भी अनेक उपाय उन्हें मारनेके किये। पाण्डव सब कुछ जानकर भी सह लेते थे। वे किसीसे कुछ कहते नहीं थे। युधिष्ठिर बचपनसे इतने धर्मात्मा थे कि वे कौरवोंको अपना भाई मानकर अपकार करनेपर भी उनकी बदनामी करना पसंद नहीं करते थे।

जब धृतराष्ट्रने देखा कि राजकुमार खेल-कूदमें ही लगे रहते हैं, तब उन्होंने कृपाचार्यजीको बुलाकर उन्हें शिक्षा देनेके लिये कहा। पाण्डवों और कौरवोंने कृपाचार्यजीसे शास्त्रोंकी तथा धनुर्वेदकी प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। द्रोणाचार्यजीके हस्तिनापुर आ जानेपर भीष्मपितामहने उनसे प्रार्थना की कि वे राजकुमारोंको विधिवत् धनुर्वेदकी शिक्षा दें। आचार्य द्रोणसे ही कौरव तथा पाण्डवोंने धनुर्वेदकी सम्पूर्ण शिक्षा पायी।

जब सब राजकुमार कृपाचार्यजीके यहाँ पढ़ रहे थे, आचार्यने उन्हें पढ़ाया—'सत्यं वद', 'धर्मं चर' अर्थात् सत्य बोलो। धर्मका आचरण करो। पूछनेपर सभी राजकुमारोंने बताया कि हमें पाठ याद हो गया है, किंतु युधिष्ठिरजीने कहा कि 'मुझे एक वाक्य तो आ गया है, पर दूसरा पूरी तरह नहीं आया।' कई दिनोंतक आचार्य बराबर पूछते कि पाठ याद हुआ या नहीं और युधिष्ठिर वही उत्तर देते। अन्तमें आचार्यके अप्रसन्न होनेपर युधिष्ठिरने बताया—'धर्मका आचरण करना चाहिये, यह बात मेरे चित्तमें पूर्णतया बैठ गयी है; किंतु सदा सत्य ही बोलना चाहिये, यह बात इतनी दृढ़ नहीं बैठी है कि मैं कह सकूँ कि जीवनमें मुझसे कभी छलसे भी झूठ नहीं बोला जायगा।' आचार्यने युधिष्ठिरको हृदयसे लगा लिया और कहा—'सचमुच तुमने ही पढ़ा है। दूसरोंने तो कुछ भी पढ़ा नहीं।'

जिस प्रकार युधिष्ठिरजी धर्मनिष्ठ थे और भीमसेन सबसे बड़े बलवान् थे, वैसे ही अर्जुन बाण-विद्यामें सर्वश्रेष्ठ थे। एक बार आचार्य द्रोणने अपने शिष्योंकी परीक्षा लेनेके लिये एक नकली पक्षी बनवाकर वृक्षपर टाँग दिया और राजकुमारोंसे कहा—'तुम्हें बाण मारकर पक्षीका मस्तक उड़ाना होगा।' जब कोई राजकुमार धनुष चढ़ाकर तैयार हो जाता, तब आचार्य पूछते—'तुम्हें क्या दिखायी पड़ रहा है?' राजकुमार बतलाते—'हमको वृक्ष, पक्षी तथा यहाँके सब दृश्य दीख रहे हैं।' आचार्य कह देते—'धनुष रख दो! तुमसे लक्ष्य-वेध नहीं होगा।' एक एककर सभी राजकुमार इसी प्रकार बैठा दिये गये। अन्तमें जब अर्जुन उठे, तब उनसे भी वही प्रश्न हुआ। अर्जुनने कहा—'मुझे तो पक्षीके मस्तकको छोड़कर कुछ भी इस समय नहीं दीखता।' आचार्यने प्रसन्न होकर उन्हें बाण चलानेकी आज्ञा दी और पक्षीका मस्तक उस बाणसे कटकर गिर पड़ा। जबतक उद्देश्यके प्रति इतनी एकाग्रता न हो

कि उसे छोड़कर दूसरा कुछ न सूझे, तबतक पूरी सफलता नहीं होती, यही बात आचार्य द्रोणने अपने शिष्योंको इस घटनासे सिखायी। एक दिन गङ्गा-स्नान करते समय एक मगरने द्रोणाचार्यजीकी जाँघ पकड़ ली, आचार्य स्वयं छूट सकते थे; फिर भी उन्होंने शिष्योंको पुकारा। शेष राजकुमार तो हक्के-बक्केसे खड़े रह गये, पर अर्जुनने पाँच बाण मारकर पानीमें डूबे मगरको मार डाला। आचार्यने प्रसन्न होकर ब्रह्मशिर नामक दिव्यास्त्रका प्रयोग और संहार (लौटा लेना) अर्जुनको बतलाया। इस अस्त्रको प्राप्त करके अर्जुन सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर हो गये।

आचार्य द्रोण तथा राजा द्रुपद एक साथ एक आचार्यके यहाँ बाल्यकालमें शिक्षा पाते थे। उस समय दोनोंमें बड़ी मित्रता थी। द्रुपदने कहा था कि मैं राजा होनेपर अपना आधा राज्य आपको दे दूँगा। समय आनेपर द्रुपद राजा हो गये। जब द्रोणाचार्यजी उनसे मिलने गये, तब उन्होंने उनका यथोचित सम्मान नहीं किया। 'मित्रता समानमें ही होती है। एक राजा और एक दरिद्र ब्राह्मणमें कैसी मित्रता। बचपनमें अबोध दशामें कही हुई बातोंका कोई मूल्य नहीं होता।' इस प्रकारकी बातें करके उन्होंने द्रोणाचार्यका अपमान किया। आचार्य उन्हें दण्ड देनेमें समर्थ थे; किंतु उन्होंने अपने मित्रसे स्वयं युद्ध करना उचित नहीं समझा। वहाँसे वे हस्तिनापुर चले आये, पर द्रुपदको उनके अभिमानका दण्ड देनेका विचार उनके मनसे गया नहीं। जब कौरव-पाण्डवोंकी शिक्षा पूरी हो गयी, तब आचार्यने कहा—'द्रुपदको बंदी बनाकर मेरे पास ले आओ! यही मेरी गुरुदक्षिणा है।' दुर्योधनादिने उत्साहवश पहले द्रुपदपर आक्रमण कर दिया; किंतु उन्हें पराजित होना पड़ा। अन्तमें अर्जुनने घोर संग्राम करके द्रुपदको पकड़ लिया और लाकर द्रोणाचार्यके सम्मुख खड़ा कर दिया। द्रुपदका गर्व नष्ट हो गया था। द्रोणाचार्यने कहा—'राजन्! मैं अब भी पुरानी मित्रताको बनाये रखना चाहता हूँ। तुमने कहा था कि राजाका मित्र राजा ही हो सकता है, अतः तुम्हारा आधा राज्य मैं ले लेता हूँ और आधा तुम्हें लौटा देता हूँ। अब हम दोनों बराबर हो गये।' इसके बाद द्रुपदको आचार्यने छोड़ दिया।

द्रुपदको जीतनेके एक वर्ष पश्चात् धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरको युवराजपदपर अभिषिक्त किया; किंतु पाण्डवोंकी बढ़ती हुई शक्ति तथा जनताका पाण्डवोंके प्रति प्रेम देखकर वे मन-ही-मन चिन्तित रहते थे। अपने पुत्र दुर्योधनके प्रति उनका बहुत अधिक मोह था। दुर्योधन तो पाण्डवों-से जलता ही था, उसने उन्हें मार डालनेका एक उपाय निकाला और धृतराष्ट्रको समझा-बुझाकर सहमत कर लिया। वारणावत नगरमें दुर्योधनने अपने मन्त्री पुरोचन-को इसलिये भेज दिया कि वहाँ सन, राल, लकड़ी तथा दूसरे शीघ्र जलनेवाले पदार्थोंके संयोगसे एक सुन्दर भवन पाण्डवोंको निवास करनेके लिये बनाया जाय। दुर्योधनके चरोंने वारणावत नगरकी प्रशंसा करना प्रारम्भ कर दिया। एक दिन धृतराष्ट्रने युधिष्ठिरजीको आज्ञा दी कि 'वे भाइयोंके साथ उस सुन्दर नगरको देखने जायँ और कुछ दिन वहाँ रहकर लौट आवें।' युधिष्ठिरने इच्छा न होनेपर भी अपना आदरणीय होनेके कारण धृतराष्ट्रकी आज्ञा स्वीकार कर ली। विदुरजीको दुर्योधन-की दुष्टताका पता लग गया था। जब पाण्डव वारणावत नगर जाने लगे, तब विदुरजीने सांकेतिक भाषामें बता दिया कि 'तुम लोगोंको अग्निसे सावधान रहना चाहिये और घूम-फिरकर वनमें जानेवाले मार्गों तथा दिशाओंका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये।'

पाण्डवोंके वारणावत जानेपर पुरोचनने बड़े ढंगसे अपने बनवाये भवनकी चर्चा की। ऊपरसे देखनेमें वह बहुत सुन्दर था; किंतु उसमें सब जलनेवाली वस्तुएँ लगी थीं। उसकी दीवारोंपर ऐसे लेप चढ़ाये गये थे जो झटपट जल उठें, पर परीक्षा करनेपर भी संदेह

न हो । विदुरजीके संकेतसे युधिष्ठिर सब बातें समझ गये थे, फिर भी माता कुन्ती तथा भाइयोंके साथ वे उसी भवनमें आकर रहने लगे । गुप्तरूपसे पाण्डवोंने उस भवनसे वनमें निकल जानेके लिये एक सुरंग बनवाना प्रारम्भ कर दिया और वनमें शिकारके लिये नित्य घूमनेके बहाने आस-पासके मार्गोंका भी वे पता लगाते रहे । विदुरजीने एक सुरंग खोदनेवालेको पाण्डवोंके पास भेज दिया था । उसने एक बड़ी सुरंग बना दी और उसका द्वार भूमिके बराबर ऐसा कर दिया कि पता न लगे । पाण्डव एक वर्षतक उस भवनमें रहे । पुरोचन उन्हें धोखेसे भवनमें अग्नि लगाकर भस्म कर देना चाहता था । एक दिन रात्रिको पाण्डवोंने स्वयं ही उस भवनमें अग्नि लगा दी और सुरंगके मार्गसे वनमें निकल गये । उस भवनमें चारों ओर ऊँची-ऊँची दीवारें थीं और एक ही द्वार था । उस दिन दिनमें माता कुन्तीने ब्राह्मणोंको दान दिया था और गरीबोंको भोजन कराया था । एक भीलकी स्त्री भी वहाँ आयी थी । वे सब शराब पिये हुए थे, अतः भोजन करके संयोगवश उसी भवनमें सो गये थे । पापी पुरोचन तथा अपने पुत्रोंके साथ वह भीलनी उस भवनके साथ भस्म हो गये । प्रातःकाल शवोंको देखकर लोगोंने समझा कि अपनी माताके साथ पाण्डव जल गये हैं । प्रजामें हाहाकार मच गया । भीष्मपितामह आदिको भी बड़ा दुःख हुआ । विदुरजी सब कुछ जानते थे; फिर भी ऊपरसे उन्होंने भी शोक प्रकट किया । धृतराष्ट्र तथा उनके पुत्र मनमें बहुत प्रसन्न हो रहे थे और ऊपरसे दिखाऊ शोक भी प्रकट कर रहे थे ।

सुरंगके द्वारा वनमें पहुँचनेपर पाण्डवोंने शीघ्र ही दूर चले जानेका विचार किया । उन्हें दुर्योधनके दुष्ट साथियोंका अब भी भय था । इतना होनेपर भी माता कुन्तीके कारण शीघ्रतासे वे चल नहीं पाते थे । अन्तमें भीमसेनने कुन्ती देवीको कंधेपर उठाया, नकुल-सहदेवको गोदमें लिया और युधिष्ठिर तथा अर्जुनको हाथोंका सहारा देते हुए वे शीघ्रतासे चलने लगे । इसी समय विदुरजीका भेजा हुआ सेवक आया और उसने उन लोगोंको नौकाद्वारा गङ्गा-पार पहुँचा दिया । अनेक कष्ट उठाते हुए भीमसेन सबको पूर्ववत् लेकर आगे जाने लगे । रात्रिमें एक वृक्षके नीचे कुन्तीदेवी तथा चारों भाई सो गये । केवल भीमसेन सावधानीसे जगते हुए सबकी रक्षा करते रहे । उसी वनमें हिडिम्ब नामक एक राक्षस रहता था । वह काले रंगका, भयंकर दाढ़ोंवाला विशाल आकार-का, बलवान् तथा मांसभक्षी था । उसे भूख लग रही थी । मनुष्योंकी गन्ध पाकर उसने अपनी बहिन हिडिम्बाको उन्हें मारकर लानेके लिये भेजा। हिडिम्बा वहाँ पहुँची तो भीमसेनको देखकर मुग्ध हो गयी और प्रार्थना करने लगी कि वे उसे पत्नीके रूपमें स्वीकार कर लें । उसने अपने भाईके भयसे भी सूचित कर दिया । भीमसेनने कहा—'तू डर मत ! तेरा भाई मेरा या मेरे भाइयोंका कुछ बिगाड़ नहीं सकता ।' इधर इन बातोंमें लगनेसे हिडिम्बाको लौटनेमें देर होते देख राक्षस हिडिम्ब क्रोधमें भरा हुआ आया । भीमसेनने उसे पकड़ लिया और थोड़ी देरतक दोनोंमें घमासान युद्ध होता रहा, पर अन्तमें भीमने राक्षसको पटककर मार डाला । राक्षसके मरनेपर हिडिम्बाने माता कुन्तीके चरण पकड़कर प्रार्थना की । माताकी आज्ञासे भीमसेनने उससे विवाह कर लिया । घटोत्कच नामक परम पराक्रमी पुत्र हिडिम्बासे उत्पन्न हुआ ।

पाण्डवोंने सिरपर जटाएँ बढ़ा ली थीं । वे तपस्वियों-के समान वेश रखते थे और वनके कन्द-मूल खाते थे । कभी वे माताको पीठपर बैठा लेते और कभी धीरे-धीरे चलते । भगवान् व्यास उनसे एक बार वनमें मिले और उन्होंने पाण्डवोंको सान्त्वना दी । व्यासजीके आदेशसे पाण्डव एकचक्रा नगरीमें गये और वहाँ एक ब्राह्मणके घर रहने लगे । भगवान् व्यासने अपने पुनः आनेतक उन्हें वहीं रहनेका आदेश दे दिया था । उस समय पाण्डव

भिक्षा माँगकर लाते थे । जो कुछ मिलता था, उसे बनाकर कुन्तीदेवी आधा भीमसेनको खिला देतीं और आधेमें शेष सब बाँटकर खा लेते थे ।

जिस घरमें वे लोग रहते थे, उस ब्राह्मण-परिवारके लोग एक दिन करुण-क्रन्दन कर रहे थे । पूछनेपर पता लगा कि उस नगरके पास बक नामका राक्षस रहता है । उस बलवान् राक्षसके लिये नगरमेंसे बारी-बारीसे लोग प्रतिदिन एक गाड़ी अन्न और दो भैंसे भेजते थे । जो मनुष्य यह सामग्री लेकर जाता, उसे भी वह राक्षस खा लेता था । उस दिन उस ब्राह्मणके घरकी बारी थी; उस ब्राह्मणके घरमें ब्राह्मण, उसकी पत्नी, पुत्र तथा पुत्री—ये चार ही मनुष्य थे । इनमेंसे प्रत्येक चाहता था कि दूसरोंकी जीवन-रक्षा हो और वह स्वयं राक्षसका आहार बनने उसके पास जाय । कुन्तीदेवीने ब्राह्मणसे कहा—'आपलोग दुखी न हों । मेरे पाँच पुत्र हैं, मैं अपना एक पुत्र राक्षसके पास भेज दूँगी । आपके घरमें हम इतने दिनों बड़े आरामसे रहे हैं । आपके संकटको दूर करना हमारा कर्तव्य है ।' ब्राह्मण-ब्राह्मणीने यह बात स्पष्ट अस्वीकार कर दी । अपने घर ठहरे अभ्यागतको अपने प्राणोंके लिये राक्षसके पास भेजना तो बड़ा भारी पाप है । पाप करके यदि जीवनको रक्षा होती हो तो उससे मर जाना लाख गुना श्रेष्ठ है । किसी प्रकार कुन्तीदेवीने ब्राह्मणको समझाया कि 'मेरा पुत्र मरेगा नहीं । राक्षसको मारकर पूरे नगरका संकट वह दूर कर देगा ।' जब कुन्तीजीने यह बहाना किया कि मेरा पुत्र ऐसी मन्त्रविद्या जानता है कि राक्षस उसका कुछ नहीं कर सकता, तब ब्राह्मण राजी हुआ । माताकी आज्ञासे गाड़ीभर अन्न तथा भैंसे लेकर भीमसेन रात्रिके समय वनमें गये । वहाँ उन्होंने गाड़ीके भैंसे तो खोलकर भगा दिये और बकासुरको पुकारकर स्वयं लाया हुआ अन्न भोजन करने बैठ गये । वह भयंकर राक्षस वहाँ आया और अपने लिये लाया अन्न दूसरेको खाते देख क्रोधके मारे काँपने लगा । उसने बहुत गर्जन-तर्जन किया, पर भीमसेन तो उसकी ओर पीठ करके भोजन करनेमें लगे ही रहे । भोजन समाप्त करके हाथ-मुँह धोकर तब भीमने राक्षसकी ओर ध्यान दिया । थोड़ी ही देरके युद्धमें उन्होंने राक्षसको पटक दिया और घुटनोंसे रगड़कर मार डाला । राक्षसको मारकर उसका शव वे नगरद्वारतक उठा लाये और वहाँ पटककर माताके पास चले गये । उस दुष्ट राक्षसके मारे जानेसे सदाके लिये उस नगरके लोगोंका भय दूर हो गया ।

भगवान् व्यास फिर एकचक्रा नगरीमें आये । उन्होंने पाण्डवोंको द्रौपदीके जन्मकी कथा सुनाकर बताया कि उसका स्वयंवर होनेवाला है । व्यासजीकी आज्ञासे पाण्डवोंने माताके साथ पाञ्चाल देशके लिये प्रस्थान किया । मार्गमें एक दिन रात्रिके समय पाण्डव गङ्गातटके सोमाश्रयायण-तीर्थपर पहुँचे । उस समय अर्जुन आगे-आगे मशाल लिये चल रहे थे । गन्धर्वराज चित्ररथ स्त्रियोंके साथ वहाँ गङ्गाजीमें विहार कर रहे थे । उन्होंने पाण्डवोंको जलमें प्रवेश करनेसे यह कहकर रोका कि 'संध्याके पश्चात्का समय गन्धर्व, यक्ष तथा राक्षसोंका है । इस समय मनुष्योंको जलमें नहीं उतरना चाहिये ।' अर्जुनने कहा—'भला, समुद्र, हिमालय पर्वत और गङ्गाजी भी किसीके लिये सुरक्षित हो सकती हैं ?' बात बढ़ जानेपर गन्धर्वराजने विषैले बाण चलाने प्रारम्भ किये । अर्जुनने अपनी ढाल और मशालपर ही उनके बाण रोक लिये और आग्नेयास्त्र चलाकर उनका रथ भस्म कर दिया । चित्ररथसे वे दग्धरथ हो गये । गन्धर्वराजको पकड़कर अर्जुन युधिष्ठिरके पास ले आये; पर दयालु एवं धर्मात्मा युधिष्ठिरने उन्हें मुक्त करवा दिया । चित्ररथने अर्जुनसे मित्रता कर ली । अर्जुनने उसे आग्नेयास्त्र दिया और उसने अर्जुनको चाक्षुषी विद्या दी तथा बहुतसे गन्धर्वोंके दिव्य घोड़े यथासमय देनेका वचन दिया । गन्धर्वराज चित्ररथकी सम्मतिसे पाण्डवोंने तपस्वी

मुनि धौम्यको अपना पुरोहित बनाया और द्रौपदी-स्वयंवरको देखने जानेवाले ब्राह्मणोंके साथ वे पाञ्चाल पहुँचे । नगरमें पहुँचकर एक कुम्हारके घर ठहर गये ।

महाराज द्रुपद चाहते थे कि उनकी पुत्रीका विवाह अर्जुनके साथ ही हो । उन्होंने एक ऐसा यन्त्र बना रक्खा था कि उसमें बनायी मछली बराबर घूमती रहती थी । नीचे कड़ाहेमें तेल भरा था । तेलमें मछलीकी छाया देखकर वहाँ रक्खे धनुषपर डोरी चढ़ाकर पाँच बाणोंसे उस मत्स्यको मारकर गिरा देनेवालेके साथ ही द्रौपदीका विवाह होगा, यह घोषणा हो गयी थी । आये हुए नरेशोंमें-से बहुतोंसे तो धनुष चढ़ा ही नहीं । कुछने धनुष चढ़ा भी लिया तो वे लक्ष्यका वेध नहीं कर सके । सब नरेशोंके निराश हो जानेपर अर्जुन उठे और उन्होंने सहज ही धनुष चढ़ाकर उस मछलीको बाण मारकर गिरा दिया । उस समय पाण्डव ब्राह्मणों-जैसे वेशमें थे । राजाओंने उनपर आक्रमण कर दिया; किंतु अर्जुन तथा भीमके आगे उन सबकी एक नहीं चल सकी । श्रीबलरामजीके साथ भगवान् श्रीकृष्ण भी वहाँ आये थे । उन्होंने पहले ही पाण्डवोंको पहचान लिया था । राजाओंको समझा-बुझाकर भगवान्‌ने शान्त करा दिया । इस प्रकार अपने शील, सदाचार, त्याग, पराक्रम तथा सहनशीलतासे बाल्यकालमें ही पाण्डवोंने भगवान्‌की कृपा प्राप्त कर ली । द्रौपदीको उन्होंने प्राप्त किया तथा समस्त संकटोंसे भी पार हो गये ।

भक्त परीक्षित्

जिस समय सुभद्राकुमार अभिमन्यु महाभारतके युद्धमें कौरवोंद्वारा अन्यायपूर्वक मारे गये, उस समय उनकी पत्नी महाराज विराटकी पुत्री उत्तरा गर्भवती थीं । महाभारतका युद्ध समाप्त हो जानेपर रात्रिके समय पाण्डव-शिविरमें घुसकर अश्वत्थामाने वहाँ सोते हुए वीरोंको मार डाला । द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंका भी उसने वध कर दिया । इस प्रकार कौरव तथा पाण्डव-वंशकी परम्पराका एकमात्र आधार उत्तराका वह गर्भस्थ बालक ही था । अर्जुनने अश्वत्थामाको पराजित करके पकड़ लिया था; किंतु द्रौपदीके अनुरोधपर उसके मस्तककी मणि निकालकर अर्जुनने उसे छोड़ दिया । उस समय अश्वत्थामाकी बुद्धि पापसे मलिन हो रही थी । उसने पाण्डववंशका ही नाश करनेके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया । उत्तराने जब देखा कि एक जलता हुआ भयंकर बाण उसकी ओर आ रहा है, तब वह भयसे व्याकुल होकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी शरणमें गयी । भगवान्‌ने उसे अभयदान दिया और बालककी रक्षाके लिये सूक्ष्मरूपसे वे उत्तराके गर्भमें पहुँच गये ।

उत्तराके गर्भमें जो बालक था, उसने देखा कि एक बहुत बड़ी ज्वाला उसे भस्म करने आ रही है । समुद्रकी भाँति उमड़ती हुई वह ज्वाला चारों ओरसे बढ़ी आ रही है । इसी समय उस बालकने अँगूठेके बराबर भगवान्‌को अपने पास देखा । भगवान्‌का श्यामवर्ण श्रीअङ्ग बड़ा ही सुन्दर था । उनके शरीरपर बिजलीके समान पीताम्बर शोभा पा रहा था । उन्होंने मणिमय मुकुट, कुण्डल आदि आभूषण पहन रक्खे थे । भगवान्‌के चार हाथ थे और उनमें वे शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म लिये हुए थे । बालककी ओर अपने कमलके समान नेत्रोंसे बड़े स्नेहपूर्वक देख रहे थे और अपनी गदाको उल्काके समान शीघ्रतासे चारों ओर घुमाकर उस उमड़ते आते अस्त्र-तेजको नष्ट करते जा रहे थे । बालक दस महीनेतक बराबर भगवान्‌को देखता रहा और सोचता रहा—'ये कौन हैं ?' जन्मका समय आनेपर भगवान् अदृश्य हो गये, इसलिये बालकपर ब्रह्मास्त्रका थोड़ा-सा प्रभाव पड़ गया । वह मरा हुआ-सा उत्पन्न हुआ । समाचार पाकर तुरंत श्रीकृष्णचन्द्र

प्रसूतिकागारमें आये और उन्होंने बालकको जीवित कर दिया; क्योंकि बालकने गर्भमें बराबर भगवान्‌के सम्बन्धमें यह परीक्षण करना चाहा था कि ये कौन हैं, अतः उसका नाम परीक्षित् रक्खा गया।

महाराज परीक्षित् बड़े धर्मात्मा, भगवद्भक्त तथा विनयी थे। शिकारके समय भूख-प्याससे व्याकुल होकर वे शमीक मुनिके आश्रममें गये, पर उस समय मुनि ध्यानमग्न थे। उनको राजाके आनेका पता नहीं लगा। जब बार-बार माँगनेपर भी जल नहीं मिला, तब राजा परीक्षित्‌ने कौतुकवश पासमें पड़ा मरा सर्प मुनिके गलेमें डाल दिया और राजधानी लौट आये। मुनिके पुत्रने समाचार पाकर शाप दिया कि राजाको सातवें दिन तक्षक काट लेगा। राजधानी पहुँचकर परीक्षित्‌को बड़ा दुःख हुआ कि उनके द्वारा एक मुनिका अपमान हुआ। शापका समाचार मिलनेपर उनको न तो बुरा लगा, न भय हुआ। वे बहुत प्रसन्न हुए। अपने पुत्र जनमेजयको राज्य देकर वे गङ्गा-किनारे अनशन करते हुए बैठ गये। यहीं श्रीशुकदेवजी घूमते हुए पहुँचे और उन्होंने परीक्षित्‌को सात दिनमें श्रीमद्भागवत सुनाया। परीक्षित्‌का चित्त भगवान्‌में लग चुका था। तक्षकके काटनेसे उनका देह भस्म हो गया। इस प्रकार उनके देहको भस्म करके तक्षकने एक प्रकारसे उनके पुत्रका ही काम किया। जो भगवान्‌के भक्त हैं, जिनका मन भगवान्‌में लगा है, उनके लिये बड़े-से-बड़ा अनिष्ट भी अनुकूल फल देनेवाला बन जाता है।

कुमार वज्रनाभ

यदुवंशके महासंहारके पीछे बच गये केवल अनिरुद्धजीके पुत्र वज्रनाभ। थोड़ी-सी रानियाँ बच गयी थीं श्रीकृष्णचन्द्रकी। अर्जुन इन सबको द्वारिकासे इन्द्रप्रस्थ ले आये थे और वहीं युधिष्ठिरजीने मथुरा-मण्डलका वज्रनाभको राजा बना दिया था। पाण्डवोंके महाप्रस्थान कर जानेपर परीक्षित् वज्रनाभको मथुराका राज्य सौंपने आये। उस समय मथुरामें केवल सूने मकान थे। कोई पशु-पक्षीतक वहाँ नहीं था। परीक्षित्‌ने कहा—'प्रिय वज्रनाभ! तुम धनकी, राज्य जीतनेकी, शत्रुओंकी चिन्ता मत करो। यह सब तो मैं कर दूँगा। तुम तो इन माताओंकी सेवा करो।'

वज्रनाभने नम्रतासे कहा—'चाचाजी! आपकी यह बात तो आपके ही योग्य है; किंतु मैं क्षत्रिय हूँ और मुझे आपके पिताने अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षा दी है, इसलिये मुझे न किसीका भय है और न किसी वस्तुकी चिन्ता है। मुझे तो एक ही चिन्ता है कि मैं यहाँ राज्य किसपर करूँ। यहाँ तो मैं निर्जन वनमें आ गया हूँ। आपके धर्मात्मा पितामहने मुझे यहाँका राज्य दिया है, अतः मैं यहाँसे कहीं जाना भी नहीं चाहता। अब आप इस बातका कोई उपाय सोचें।'

परीक्षित्‌ने पता लगाया तो यमुना-किनारे महर्षि शाण्डिल्यकी कुटिया मिल गयी। बुलानेपर महर्षि कृपा करके आ गये और उन्होंने पूजन स्वीकार किया। पूजादिके पश्चात् पूछनेपर महर्षिने बताया—'यह व्रज तो दिव्यभूमि है। जब श्रीकृष्णचन्द्र पृथ्वीपर अवतार धारण करते हैं, तब उनका दिव्यलोक गोलोक भी प्रकट हो जाता है। भगवान्‌के अपने लोक जानेसे उनका व्रज भी अदृश्य हो गया है। अब तो अधिकारी भगवद्भक्त ही उस दिव्य वृन्दावनके दर्शन कर सकते हैं। साधारण लोगोंके लिये तो यह निर्जन ही दीखता है। मथुरामें तो तुम्हें ये भवन भी दीखते हैं, पर व्रजमें तो कूप तथा सरोवरतक अदृश्य हो गये हैं। अब तुम एक काम करो, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने जहाँ जो लीला की है, उसके अनुसार वहाँ कुण्ड, कुएँ, सरोवर तथा देवमन्दिर बनवाओ। मेरी कृपासे तुम्हें भगवान्‌के लीला-स्थलोंका स्फुरण होगा। जो लोग व्रजके लोगोंके सम्बन्धी

हैं, उन्हें यहाँ ले आकर आदरपूर्वक बसाओ तथा बंदर, मयूर आदि भगवान्‌के प्यारे पशु-पक्षियोंको भी यहाँ लाकर छोड़ो।' महर्षिकी आज्ञा स्वीकार करके परीक्षित् तथा वज्रनाभ इन कार्योंमें लग गये। स्थान-स्थानपर कुएँ, सरोवर, कुण्ड बनवाये गये। भगवान् शङ्करकी प्रतिमाएँ तथा गोविन्द, मुकुन्द आदि नामोंसे भगवान् श्रीकृष्णकी प्रतिमाएँ मन्दिर बनाकर स्थापित की गयीं। व्रजके लोगोंके जो सम्बन्धी दूसरे देशोंमें थे, उन्हें धन आदि देकर व्रजमें बसाया गया। वानर तथा पशु-पक्षी भी लाये गये।

एक दिन श्रीकृष्णचन्द्रकी पत्नियाँ यमुना-किनारे गयीं तो वहाँ उन्होंने कालिन्दीजीको सौभाग्यवतीके वेशमें देखा। बड़े आश्चर्यसे इसका उन्होंने कारण पूछा। दयावश यमुनाजीने बताया—'श्रीकृष्णचन्द्रसे हम सबका कभी वियोग नहीं होता। यह वियोग तो एक भ्रम है। वे श्रीनन्दनन्दन नित्य श्रीवृषभानुनन्दिनी राधिकाजीके साथ रहते हैं। जिन्हें कीर्तिकुमारीका दास्य प्राप्त है, उन्हें श्रीव्रजराजकुमारका नित्य सामीप्य प्राप्त रहता है। तुमलोग उद्धवजीके दर्शन करो। उद्धवजी एक रूपसे बद्रीनाथ जाकर तप कर रहे हैं और दूसरे रूपसे गोवर्धनके पास लताकुञ्जोंमें तदाकार होकर रहते हैं। वहाँ श्यामसुन्दरका नाम-गुण-कीर्तन करनेसे वे प्रकट हो जायँगे। उनके दर्शनसे तुम्हें श्रीश्यामसुन्दरकी प्राप्ति होगी।'

श्रीकृष्णचन्द्रकी पत्नियोंने वज्रनाभको यह सब बताया। वज्रनाभने सबके साथ गोवर्धनके समीप संकीर्तन-महोत्सव प्रारम्भ किया। उद्धवजी वहाँ उस उत्सवमें लताओंमेंसे प्रकट होकर आ गये। सबने बड़े प्रेमसे उनका पूजन किया। उद्धवजीने परीक्षित्‌को कलियुगका नियन्त्रण करनेके लिये भेज दिया और शेष सबको उन्होंने वैष्णवी रीतिसे एक महीनेमें श्रीमद्भागवतकी कथा सुनायी। कथाकी समाप्तिपर श्रीनन्दनन्दन अपने दिव्य व्रजमण्डलके साथ प्रकट हो गये। वज्रनाभ तथा रानियोंने उस चिन्मय दिव्यधाममें अपना-अपना स्थान देख लिया और उससे एक हो गये। जैसे वह दिव्यधाम संसारके साधारण लोगोंको नहीं दिखायी पड़ता, वैसे ही वे लोग भी संसारके लिये अदृश्य हो गये।

भक्त निषाद-बालक

वेंकटाचलपर वसु नामक एक निषाद सावाँके वनकी रक्षा किया करता था। वह भगवान् पुरुषोत्तमका बड़ा भावुक भक्त था। सावाँके चावलोंका भात बनाकर उसमें वह शहद मिलाता और श्रीदेवी, भूदेवीके सहित भगवान् विष्णुको भोग लगाकर तब स्वयं भगवान्‌का प्रसाद ग्रहण करता था। उसकी पतिव्रता पत्नी चित्रवतीके एक पुत्र था, जिसका नाम वीर था। बालक वीर अपने पिताके समान ही भगवान्‌का भक्त था।

एक दिन वसु निषाद अपने पुत्र वीरको सावाँकी रक्षा करनेका आदेश देकर वनमें मधुके छत्ते ढूँढ़ने चला गया। इधर उसके पुत्र वीरने भगवान्‌के नैवेद्य लगानेका समय होनेपर सावाँके तैयार किये भातमेंसे कुछ अग्निमें डाल दिया, कुछ पीसकर वृक्षकी जड़में भगवान्‌को भोग लगा दिया और फिर उसने स्वयं भगवान्‌का प्रसाद भोजन किया। जब वसु मधु लेकर आया, तब वह सावाँके भातको खाया हुआ देखकर अपने पुत्रको फटकारने लगा। उसे पुत्रका तनिक भी मोह नहीं था। जिस पुत्रने भगवान्‌का भोग लगानेके लिये तैयार भात स्वयं खा लिया, उसे वह मार डालनेको उद्यत हो गया। शीघ्रतासे उसने तलवार खींच ली; किंतु जैसे ही उसने अपने पुत्रको मारनेके लिये हाथ उठाया, भगवान् विष्णुने साक्षात् प्रकट होकर उसका हाथ पकड़ लिया।

हाथ पकड़े जानेपर वसुने पीछे मुड़कर वृक्षकी ओर देखा तो शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी साक्षात् भगवान् नारायण वहाँ खड़े थे। उनका आधा शरीर वृक्षपर टिका हुआ था। उनको देखते ही वसुने तलवार छोड़ दी और भगवान्‌को प्रणाम करके बोला—'प्रभो! देवदेवेश्वर! आप यह क्या कर रहे हैं? इसने आपका अपराध किया है, फिर इसे दण्ड देनेसे मुझे रोकते क्यों हैं?'

भगवान् हँसते हुए बोले—'वसु! तुम तो मुझे केवल स्वामि-पुष्करिणीके तटपर मूर्तिके रूपमें ही देखते हो और मेरी पूजा करते हो; किंतु तुम्हारा यह पुत्र मुझे सर्वत्र देखता है। यह मेरा बहुत प्यारा भक्त है। इसीपर प्रसन्न होकर मैंने इसे और तुम्हें भी दर्शन दिया है।'

भगवान् इतना कहकर अन्तर्हित हो गये। वसु निषादको अपने पुत्रकी भक्तिका परिचय मिलनेसे बहुत प्रसन्नता हुई। उसने आनन्दके मारे पुत्रको हृदयसे लगा लिया।

त्यागी भक्त गोपीचंद

(लेखिका—श्रीताराबहन मोड़क)

तिलकचंद बंगालका राजा था। रानीका नाम था मीनलदे। दोनों बड़े भले थे। सब तरहसे सुखी थे; लेकिन एक दुःख था, रानीकी गोद सूनी थी। बंगालके राज्यका कोई वारिस न था।

रानीने अनेक व्रत किये। अन्तमें रत्नाकरका कठिन व्रत शुरू किया। लगातार बारह वर्षोंतक रानी तप तपती रही। आखिर रत्नाकर प्रसन्न हुआ। ब्राह्मणके वेशमें रानीके सामने आया और बोला—'मीनलदे! माँगो, जो चाहो सो माँगो। मैं तुम्हारे व्रतसे प्रसन्न हुआ हूँ।'

रानीने कहा—'भगवन्! प्रसन्न हुए हो तो बंगालकी गादीके लिये कोई वारिस दो। मुझे और कुछ न चाहिये।'

रत्नाकर बोला—'तथास्तु! रानी! तुम्हारी कोखसे एक पुत्र होगा। इसके अतिरिक्त मैं तुम्हें अनमोल रत्नोंका यह हार देता हूँ।'

रानीके गलेमें रत्नोंकी माला पहनाकर रत्नाकर अन्तर्धान हो गया।

रानीके आनन्दका पार न रहा। वह बड़ी खुशीके साथ अपने महलोंमें आयी। फिर पहलेकी तरह बड़े आनन्दके साथ खाने-पीने और काम-काज करने लगी।

आखिर कुछ समय बाद रानीकी कोखसे एक पुत्र-रत्न जन्मा। राजाके हर्षकी सीमा न रही। दूर-दूरके देशोंसे ज्योतिषी बुलाये गये और उनसे राजकुमारकी जन्म-कुण्डली तैयार करवायी गयी।

राजाने राजकुमारके भविष्यके बारेमें प्रश्न पूछे। ज्योतिषियोंने गरदन भर हिलायी। कोई कुछ नहीं बोला। राजाने बहुत आग्रहपूर्वक पूछना शुरू किया। कहा—'जो कुछ हो, कह डालिये!' आखिर ज्योतिषियोंने मुँह खोला। बोले—'बालक उत्तम, बत्तीस लक्षणोंवाला है, दीर्घायुषी है, सब कुछ उत्तम है, किंतु·······'

'किंतु क्या? जो हो, सो कहिये न!'

'बात यह है कि राजकुमार सोलहवें वर्षमें राजपाट छोड़कर साधु बन जायगा। बुरा कुछ भी नहीं है। बालक लाखोंमें एक है। नाम गोपीचंद रखिये!'

× × ×

गोपीचंदके जन्मसे पहलेकी बात है। जालंधरनाथने मौनव्रत लिया था। उन्होंने जंगलमें एक पेड़के नीचे बैठकर तप शुरू किया। एक दिनकी बात है, कुछ चोर उधर आ निकले; देखते क्या हैं कि कोई मुनि तप कर रहा है। उन्होंने मुनिके चरण छूकर प्रतिज्ञा की—'मुनिवर! आजकी चोरी अच्छी रही तो उसमें जो सबसे मूल्यवान् वस्तु होगी, सो हम आपकी सेवामें चढ़ायेंगे।'

मुनिने मौनव्रत ले रक्खा था, इस कारण वे कुछ बोले नहीं। उन्होंने आँख खोलकर देखातक नहीं।

चोर चले, सो पहुँचे ठेठ तिलकचंद राजाके महलमें। ऊपर चढ़े। जवाहरखाना लूटा और रानीके आँगनमें झाँक कर देखा। सामने खूँटीपर अनमोल रत्नोंका हार अँधेरेमें जगमगा रहा था। लपककर उतारा और फिर सब जंगलमें पहुँचे वहीं, जहाँ मुनि तप कर रहे थे। मुनिके गलेमें हार डालकर चोर चले गये।

इधर दूसरे दिन राजमहलमें हाहाकार मच गया। 'चोरी हुई! भंडार लुट गया! रानीका रत्नहार कोई चुराकर ले गया!!' जिधर देखो, इसी बातकी चर्चा थी। राजाने हाथीसवारों और घुड़सवारोंको चारों ओर भेजा। हुक्म दिया—'सारा राज्य छान डालो। चोरोंको, वे जहाँ भी हों, वहाँसे खोजकर लाओ। किसी हालतमें रत्नोंका हार तो मिलना ही चाहिये।'

देखते-देखते सिपाही चारों ओर फैल गये। उनमेंसे एक टुकड़ीको जालंधरनाथ दिखायी पड़े। गलेमें अनमोल रत्नोंका हार चमक रहा था। उन्होंने सरपट घोड़े दौड़ाये और राजाको खबर दी।

राजा बोला—'जाओ, इसी दम जाकर उस साधुको यहाँ ले आओ। यह अच्छा धंधा है। दिनमें मौनव्रत और तप। रातमें चोरी। जाओ, बाँधकर ले आओ। लेकिन जरा ठहरो। मैं ही चलता हूँ।'

सब जंगलमें पहुँचे। जालंधरनाथसे बहुत कुछ पूछा, पर कोई जवाब न मिला। पकड़कर झकझोरा फिर भी कोई उत्तर नहीं। भाले भोंके, उसका भी कोई असर नहीं।

राजाने हुक्म दिया—'इसे बाँधो और पासके कुएँमें डाल दो, देखें, कैसे नहीं बोलता है।'

सिपाहियोंने मुनिको एक चादरमें बाँधा और पासके कुएँमें डाल दिया। लेकिन देखते क्या हैं कि चादर हाथसे छूट गयी और मुनि कुएँके अधबीच पद्मासन लगाये बैठे हैं।

राजाने कहा—'यह तो कोई जादूगर मालूम होता है। इस कुएँमें धूल और मिट्टी डालो और इसे भर दो।'

लेकिन देखो, यह कैसा चमत्कार है! धूलकी टोकनीपर टोकनी डाली गयी, पर मुनिके शरीरपर रजभर धूल भी न गिरी। पत्थर डाले, मुनिको एक भी न लगा। मुनिके चारों ओर पत्थरोंकी खासी दीवार-सी चुन गयी। बीचमें जालंधर मुनि अलिप्त-भावसे बैठे थे। आखिर राजाने और उसके सिपाहियोंने घोड़ोंकी लीद डालकर कुएँका मुँह बंद कर दिया और यों जालंधरनाथको कुएँमें पूर दिया।

तब तो मुनिका मौन छूटा और अंदरसे शाप-वचन सुनायी पड़ा—'राजा! मेरा कोई अपराध न होते हुए तूने मुझे इतना कष्ट दिया है। इसके कारण तेरा सर्वनाश होगा। तेरे कुलका नाश होगा और तू छः महीनोंके अंदर मरेगा।'

शापके ये शब्द केवल राजाको ही सुनायी पड़े। राजाके कानमें वे रात-दिन गूँजने लगे।

× × ×

सोलह सालका राजा गोपीचंद चौकमें नहाने बैठा है, रानियाँ उसे नहला रही हैं। पटरानी नयनावती राजाके हाथ-पैर मल रही है।

इतनेमें राजाकी पीठपर टप टप टप, पानीकी बूँदें टपकीं।

'अरे यह क्या बात है ! बादल नहीं, बरसात नहीं; फिर यह पानी कहाँसे ?'

राजाने सिर उठाकर ऊपर देखा । छतपर माता मीनलदे खड़ी दिखायी पड़ीं। उनकी आँखोंसे आँसू बह रहे हैं और वे ही गरम-गरम बूँदें राजाकी पीठपर पड़ रही हैं।

राजाने नहाना छोड़ दिया । कपड़े पहने और वह माके पास पहुँचा।

'मा ! बंगालकी राजमाता आज इस तरह क्यों रो रही है ? इस राज्यमें तुम्हें क्या कष्ट है ? मुझसे कहो, मा !'

'बेटा ! तुम्हारा सोने-जैसा शरीर देखकर मेरा जी भर आया। तुम्हारे पिताका शरीर भी ऐसा ही सुन्दर और सुदृढ़ था, लेकिन आखिर वह न रहा !'

'मा ! तो कहो, मैं क्या करूँ ? क्या कोई ऐसा उपाय है, जिससे यह शरीर नष्ट न हो ?'

'हाँ, किसी प्रचण्ड तपोबलवाले गुरुका आशीर्वाद पा सको तो अमर हो जाओगे ।'

'ऐसा गुरु कौन है ? तुम उसे जानती हो, मा ?

'हाँ जानती हूँ। एक है, उस ओरके जंगलमें एक पाटा हुआ कुआँ है। उसमें जालंधरनाथ नामका एक महान् तपस्वी गाड़ा गया है। तुम उसे प्रसन्न कर सको तो वह तुम्हें अमर बना देगा। लेकिन सुनो, जैसा मैं कहूँ, करना ।'

मीनलदेने उर्दके आटेके तीन बड़े पुतले बना दिये और कहा—

'बेटा गोपीचंद ! तुम्हारे पिताने इन मुनिको अकारण सताया था। इसलिये शुरूमें तो मुनि तुम्हें शाप देंगे। अतएव पहले तुम इन पुतलोंमेंसे एक-एक पुतला सामने रखना और फिर आगे बढ़ना। मुनि जो कहें, सो सुनना और उन्हें प्रसन्न करना । वे तुम्हें अमर कर देंगे।'

× × ×

समूचा गाँव गोपीचंदके साथ निकल पड़ा है। सबकी आँखें डबडबायी हुई हैं। एक गोपीचंद ही है, जो उत्साहके साथ आगे-आगे चल रहा है।

चलते-चलते एक जगह आयी। किसी पुराने जानकार आदमीने कहा—'यही है, वह कुआँ।' कुएँकी जगत्पर उर्दका एक पुतला रखकर और खुद पीछे खड़े रहकर गोपीचंदने पुकारा—

'नौ नाथोंके नाथ हो,
बोलो मुझसे, नाथजी !
शिष्य हूँ, शरण आया हूँ;
तारो मुझको, नाथजी !'

कुएँके अंदरसे आवाज आयी—'कौन है ?'

'मैं, बंगालका राजा, तिलकचंदका पुत्र।'

'भस्म हो जा !'

उर्दका पुतला जलकर भस्म हो गया। तीन बार पुतला रक्खा गया, तीनों बार भस्म हो गया । बादमें गोपीचंद आगे बढ़ा। बोला—

'तीन-तीन बार, नाथजी !
बात मेरी बिरथा हुई।
चौथी बार गुरुजी, विनय है,
दया मुझ अनाथपर !
शरणागतको शरण जो न मिले,
योग योगीका निष्फल हो ॥'

गोपीचंदने साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उत्तरकी राह देखता बैठ गया।

अब जालंधरका क्रोध शान्त हो चुका था। उसने पूछा—'यहाँ क्यों आये हो ?'

गोपीचंद—अमर बननेके लिये।

जालंधर—जा, राज्य कर; तू अमर ही है।

गोपीचंद—नहीं, गुरुदेव ! भला, इस तरह कहीं कोई अमर हुआ भी है ? मुझे राज्य नहीं चाहिये । कुछ भी नहीं चाहिये । आप मेरे गुरु बनिये, मैं आपका शिष्य बनूँ । मुझे अपने चरणोंमें रख लीजिये ।

जालंधर—भैया ! साधुका वेष धारण करना सरल नहीं है । तुम रेशमी कपड़े पहनते हो, मखमलकी गादियोंपर सोते हो, बढ़िया इत्रसे नहाते हो । भला, तुम यह राख अपने शरीरपर मलकर यहाँ कैसे रह पाओगे ?

गोपीचंद—महाराज ! एक बार परीक्षा तो लीजिये। मुझे अब न वे राजसी वस्त्र चाहिये और न वह राज्य-सुख ही चाहिये। मैं तो आपके साथ वनमें रहूँगा और धूनीकी राख अपने शरीरपर मलूँगा ।

जालंधर—तो फिर मैं तुम्हारी परीक्षा लूँ ? देखो, बारह घड़ोंका यह मेरा हंडा है । इसे तुम उठा सकोगे ? दूसरे किसीका हाथ न लगना चाहिये । जाओ, नदीपर जाकर भर लाओ ।

गोपीचंद—गुरुदेव ! दूसरी किसी जगह आप मुझे कहीं भी भेज दें और जो चाहें सो काम मुझसे लें; लेकिन अपने राज्यमें मैं पानी कैसे भरूँ ? नदीपर सारे गाँवकी औरतें मुझे देखेंगी और गाँवमें घर-घर मेरी ही चर्चा चलेगी ।

जालंधर—अच्छा, तो पानी मत भरो । जाओ, अपना राज्य सँभालो । खाओ, पियो और मौज करो । तुमसे यह भेष धरा न जायगा ।

गोपीचंद सोचने लगा । सूझता न था कि क्या करें और क्या न करें ।

गोपीचंद बड़े सबेरे उठा । उसने रातमें तय किया था कि पानीका हंडा भरकर लाऊँगा । वह हंडा हाथमें लिये नदीपर पहुँचा । पानी तो भर लिया, पर इतना भारी हंडा सिरपर उठा न पाया ।

सोच रहा था कि क्या करें, क्या न करें । इतनेमें राजमहलकी बाँदियाँ आयीं ।

कहने लगीं—'महाराज ! यह क्या है ? आपके राजमहलमें हजारों हाथी झूम रहे हैं, लाखों घोड़े बँधे हैं । फिर क्या कारण है कि बंगालका राजा आज घाटपर पानी भरने आया है ?'

गोपीचंद—कहाँ है बंगालका राजा ? मैं तो एक जोगी हूँ । यह हंडा किसी तरह मेरे सिरपर उठा दो तो अच्छा हो । गुरुजी मेरी बाट जोह रहे होंगे ।

गोपीचंद पानी भरकर गुफापर पहुँचा । जालंधर त्रिकालज्ञानी था । उसने देखते ही हाथमें सोटा उठा लिया और गरजकर बोला—'इसे औरतोंके हाथ लगे हैं । फेंक दे यह पानी !' गोपीचंदने पानी फेंक दिया । उसकी आँखोंसे आँसू बहने लगे । जालंधरनाथने गोपीचंदके सिरपर हाथ फेरा और कहा—

'बेटा ! रोनेसे कैसे काम चलेगा ? कहीं इस तरह साधु बना जाता है ? अच्छा, छोड़ो इस बातको । पानी न ला सके, न सही । कल नगरमें जाकर भिक्षा माँग लाओगे तो काम चलेगा ।'

गोपीचंद—गुरुजी ! क्या मैं अपने ही नगरमें भिक्षा माँगूँ ? मुझे दूसरी किसी जगह भेज दीजिये ।

जालंधर—तो भाई ! जाकर सुखसे अपना राज्य सँभालो न ! तुमसे कहा किसने है कि तुम यह कफनी पहनो ?

गोपीचंद फिर सोचमें पड़ गया । उसे सारी रात नींद न आयी । सब प्रश्नोंका एक बड़ा प्रश्न यही था कि यह बैराग सधेगा कैसे ? यह फकीरी निभेगी किस तरह ?

जब वह बड़े सबेरे उठा, तब उसने अपनेमें थोड़ी हिम्मत पायी । तुरंत ही हाथमें झोली लेकर वह भिक्षा माँगने निकल पड़ा ।

नगरमें घुसते ही राजकवि मिले। आगे बढ़नेपर सेठ-साहूकार दिखायी पड़े। और आगे बढ़ा तो राज्यके नौकर मिले। किसी एकने कहा—'महाराज! आपने यह क्या किया?' दूसरा बोला—'ये गेरुए वस्त्र उतार दीजिये।' तीसरेने कहा—'महाराज! चलिये, चलकर सिंहासनपर बैठिये।'

गोपीचंद बोला—मैं अब बंगालका राजा नहीं हूँ। जालंधरका शिष्य हूँ। मुझे भिक्षा दो।

'भिक्षा? चलिये, राज्यके कोठार खोले देता हूँ; आज्ञा हो, तो गाड़ीभर अनाज भेज दूँ?'

गोपीचंदने अपनी झोलीमें थोड़ा आटा और थोड़े चावल लिये और वह वापस गुफामें पहुँचा।

जालंधरनाथ गुफाके दरवाजे सोटा लिये खड़े थे। गोपीचंदने देखा, उसका चेहरा उतर गया। जालंधरने गरजकर कहा—'फेंक दो इस आटेको। एक ही घरसे भरकर लाये हो न। यह हमारे कामका नहीं।'

गोपीचंदको भूख लगी थी। आटा फेंकनेकी हिम्मत न पड़ी। जालंधरने डंडा उठाया। गोपीचंद रोने लगा। यह देख जालंधर शान्त हुआ। गोपीचंद-को अपने पास खींच लिया और कहा—"बेटा! तुम जोगी बनना चाहते हो न? तो फिर ये सारे काम तुम्हें करने होंगे। अच्छा, तो सुनो। कल राजमहलमें जाना और रानी नयनावतीसे कहना—'माता! भिक्षा दो।' जब तुम यह कर लोगे तो मैं मानूँगा कि तुम जोगी बने हो।"

"गुरुदेव! आप यह क्या कह रहे हैं? नयनावती-को 'माता' कहूँ? अग्निदेवकी साक्षीमें उसके साथ मेरा विवाह हुआ है। हजारों लोगोंके सामने उसका हाथ पकड़कर मैंने सात फेरे फिरे हैं। गुरुदेव! दूसरा कोई भी काम बताइये। जो कहेंगे, करूँगा।"

'बेटा! जाओ, सुखसे राज्य करो। व्यर्थ ही इस झमेलेमें क्यों पड़ते हो?'

गोपीचंदके मनमें फिर जोरोंका मन्थन शुरू हुआ। सारी रात सोच-विचारमें कट गयी। अन्तमें निश्चय किया कि रानीके पास जाकर भिक्षा माँगनी है।

पौ फटते ही गोपीचंद उठा। झटपट तैयार हुआ और राजमहलमें भिक्षा माँगने चल पड़ा। रानीकी दासियोंने देखा, राजा आया है। दौड़ती हुई रानीके पास पहुँचीं और बोलीं—'रानीजी! उठिये, जल्दी कीजिये। अच्छी भली साड़ी-चोली पहनिये, बाल सँवारिये, आज आपके द्वारपर एक भिक्षुक आया है। जरा देखिये तो कौन है! ऐसा मालूम होता है, मानो महाराजा ही हों।'

'यदि तेरी बात सच निकली तो तुझे सोनेसे मढ़ दूँगी; और कहीं झूठ निकली तो याद रख, धज्जियाँ उड़ा दूँगी।'

दासी—आप एक बार चलकर देखिये तो सही, फिर आपके जीमें आये सो कीजिये।

रानीने दरवाजेमेंसे झाँका और दरवाजेकी आड़से पूछा—'साधु महाराज! आप कहाँसे आये हैं और कहाँ जायँगे? आपका नाम क्या है?'

साधुने उत्तर दिया—'मीनलदे मेरी माता है और तिलकचंद पिता। मेरा नाम गोपीचंद है। मैं गौड़ बंगालका राजा था, अब जालंधरका शिष्य हूँ। आज तुम्हारे महलमें भिक्षा पाने आया हूँ।'

रानी—'ऐसा क्या दुःख आ पड़ा, जो आपने साधुका वेष धारण किया? इस वेषको छोड़ दीजिये और फिर राजा बन जाइये।'

'रानी! ये गेरुए कपड़े जो पहने हैं, सो उतारनेके लिये नहीं पहने। लाओ, मुझे भिक्षा दो। देर हो रही है।'

'तो मुझे भी अपने साथ ले चलो। आप जोगी और मैं जोगिन। जब आपने गेरुए कपड़े पहने हैं, तब मैं जरीकी साड़ी क्यों पहनूँ?'

'रानी! जब मुझे जोगी बनना है, तब मैं तुम्हें अपने साथ कैसे ले जा सकता हूँ? मेरे गुरु जालंधरनाथको यह चीज बरदाश्त कैसे होगी?'

'महाराज! आपके साथ कौन रहेगा? सुख-दुःखकी बातें कौन करेगा? मुझे अपने साथ रखिये। मैं आपकी सेवा करूँगी।'

'नहीं-नहीं, मेरी धूनी और कमण्डल मेरे साथ रहेंगे। बातें मैं रातके साथ करूँगा। गङ्गा माता और यमुना रानी मेरे पैर धोयेंगी।'

रानी गुरुके विषयमें अंट-संट बोलने लगी और कहने लगी—'कुछ भी क्यों न हो, मैं आपको जाने न दूँगी।' गोपीचंदने अपने मनको कड़ा किया। उसे जालंधरनाथकी आज्ञाका स्मरण आया।

गोपीचंदने कहा—मैया! भिक्षा दो, मुझे देर हो रही है। मैया! जल्दी भिक्षा दो।

भिक्षाकी झोली लेकर गोपीचंद गुफापर पहुँचा। जालंधरने उसे छातीसे लगा लिया। कहा—'बेटा! आज तुमने अपने मनको जीता है। मैं प्रसन्न हूँ। तुम्हारी काया अमर हो गयी है। जाओ, अब सुखसे राज्य करो।'

''गुरुदेव! रानीको 'मैया' कहकर आया हूँ। अब वापस जाकर क्या करूँगा? अब आप मेरे गुरु हैं और मैं आपका चेला। मुझे सदा अपने पास रहने दीजिये।''

जालंधर—तो बेटा! जाओ और अपनी माकी आज्ञा ले आओ। हम यहाँसे कहीं और जायँगे।

'गुरुजी! रानीको तो मैं रुलाकर चला आया, लेकिन माके पास मेरा कोई बस न चलेगा। मैं माकी बातको टाल न सकूँगा। आप मेरे साथ माके पास चलिये।'

× × × ×

गुरु-शिष्य राजमाता मीनलदेके पास पहुँचे। माताने पुत्रको जोगी बननेके लिये भेजा तो था, लेकिन आज उसे साधु-वेषमें देखकर वह अपनेको सँभाल न सकी।

बोली—'बेटा! मैंने तुझे अमर बननेके लिये भेजा था; लेकिन मैं यह नहीं चाहती कि इस तरह तू हमेशाके लिये जोगी बन जाय।'

'मा! जोगी बने बिना कोई अमर कैसे हो सकता है? अब अमर तो हो चुका हूँ। राज्य लेकर करूँगा क्या?'

माकी आँखोंसे आँसू झरने लगे। सारा नगर रोने लगा। माका विलाप सुना न जाता था। गोपीचंदकी आँखोंसे भी आँसू बहने लगे। जालंधरनाथका मन पिघला, वह दयार्द्र हो उठा। उसने मीनलदेको समझाया। ढाढ़स बँधाया। कहा कि रानी नयनावतीके एक पुत्र होगा। बारह साल बाद हम लौटेंगे। युवराज-का अभिषेक करेंगे। अब इस तरह बिलखना और रोना छोड़ दो।'

आखिर बड़े अनमने भावसे मीनलदेने पुत्रको जानेकी अनुमति दी और जाते-जाते कहा—'बेटा! जहाँ जी चाहे, जाना। देश-विदेशकी यात्रा करना। लेकिन धारा नगरी मत जाना। वहाँ तुम्हारी बहन रहती है। उससे तुम्हारा यह जोगी-वेष देखा न जायगा।'

× × × ×

गुरु-शिष्य चल पड़े हैं। गाँव-गाँव और प्रान्त-प्रान्तमें घूम रहे हैं। ज्ञानचर्चा होती रहती है। संसारकी मायासे नाता टूट गया है। दीन-दुखियोंकी मदद करते हैं। भूले-भटकोंको सन्मार्ग दिखाते हैं।

घूमते-भटकते एक दिन वे दोनों धारा नगरी पहुँचे। किसी बड़े पर्वका दिन था। सारे लोग नदीपर स्नानके लिये आये थे। रानीकी दासियोंने गोपीचंदको देखा और रानीके भाईके रूपमें पहचान लिया।

दासियाँ दौड़ी-दौड़ी रानीके पास गयीं, बोलीं—
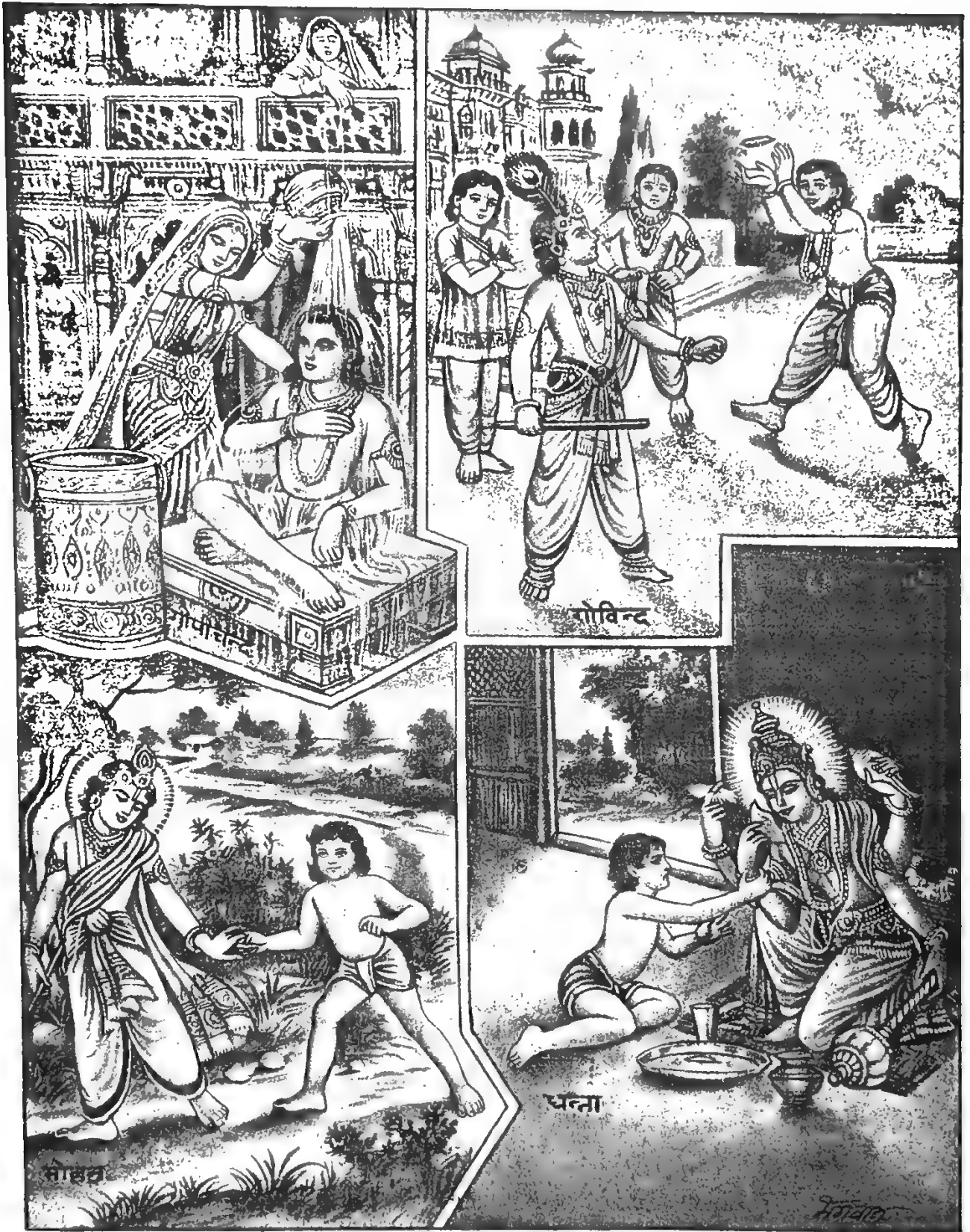
भक्त-बालक—गोपीचन्द, गोविन्द, मोहन, धन्ना

'गाँवके बाहरवाले बगीचेमें एक जोगी आये हैं। उनके साथ एक बालजोगी भी हैं। हमें तो ऐसा लगता है कि वे आपके भाई ही हैं।'

रानीको विश्वास न हुआ। वह बार-बार और खोद-खोदकर पूछने लगी। आखिर रथ तैयार करवाकर बगीचेमें पहुँची।

भाई-बहिन मिले। बहिनकी सिसकियाँ टूटती न थीं। बहिनने पूछा—'भैया! आखिर हुआ क्या? क्या किसीने अपमान किया? कोई चुभती हुई बात कह बैठा? मेरी भाभीसे नाराज होकर तुमने यह वेष धारण कर लिया? अथवा क्या मा तुम्हारी कोई जिद पूरी न कर सकीं।'

'बहिन! इनमेंसे एक भी बात नहीं हुई। न किसीसे रूठा हूँ न नाराज हुआ हूँ। अपनी ही कायाके कल्याणके लिये जोगी बना हूँ। इन गुरुजीके आशीर्वाद पानेके लिये जोगी बना हूँ।'

बहिनकी आँखोंसे आँसुओंके तार टूटते न थे। बहुतेरा समझाया, पर मन समझता न था। अन्तमें जालंधरनाथने आज्ञा दी कि बारह सालतक धारा-नगरीमें ही रहा जाय।

नदीके उस पार बगीचेमें नाथके लिये मठ बाँधा गया। बालजोगी रोज नगरमें आकर भिक्षा माँगता और लौट जाता। बारह सालतक वहीं रहनेके बाद गुरु-शिष्य दोनों बहिनको लेकर अपने राज्यमें पहुँचे। लोग अगवानीके लिये सामने आये। हाथीपर बैठाकर बाजे-गाजेके साथ गाँवमें ले गये। बारह वर्षके युवराजका राज्याभिषेक हुआ और फिर गुरु-शिष्यकी जोड़ी तपस्याके लिये गिरिनारकी ओर चली गयी।*

भक्त बालक गोविन्द

बात उन दिनोंकी है, जब श्रीनाथजी नाथद्वारे नहीं गये थे। उस समय वे व्रजकी अपनी नित्य लीला-भूमिमें गिरिराज गोवर्धनके पास विराजमान थे। मन्दिरके आस-पासका गाँव तो अब भी है। उन दिनों मन्दिरके समीप ही एक गरीब ब्राह्मणका घर था। ब्राह्मण-ब्राह्मणी दोनों ही बड़े सीधे, धार्मिक और भगवान् श्रीनाथजीके भक्त थे। उनके एक ही लड़का था—गोविन्द। वह बालक इतना सुन्दर था कि लोग उसे कामदेवका अवतार कहा करते थे।

गोविन्द दस वर्षका हो गया था। एक दिन अपने साथियोंके साथ खेलमें वह देरतक लगा रहा। शामको जब घर लौटने लगा, तब उस समय मन्दिरमें आरती हो रही थी। घड़ी-घण्टे तथा शङ्खका शब्द सुनकर गोविन्द भी आरती देखने मन्दिरमें चला गया। श्रीनाथजीका बालरूप देखकर वह मुग्ध हो गया। उसे यह पता ही न लगा कि यह पत्थरकी मूर्ति है। उसे तो एक हँसता हुआ बालक प्रत्यक्ष दीख रहा था। वह सोचने लगा—'यह लड़का मेरा मित्र बन जाय और मेरे साथ खेले तो बहुत आनन्द आयेगा।' जबतक सब लोग चले नहीं गये, वह अँधेरेमें छिपा वहीं खड़ा रहा। जब पुजारीजी भी पट बंद करके चले गये, तब किवाड़ोंकी संधिमेंसे अंदर झाँककर बड़े प्रेमसे वह बोला—'नाथजी! क्या तुम मेरे साथ खेलोगे? मेरा मन तुम्हारे साथ खेलनेके लिये छटपटा रहा है। आओ, देखो कैसी चाँदनी रात है। हम दोनों गुल्ली-डंडा खेलें। मैं सच कहता हूँ—मैं तुमसे झगड़ा या मारपीट नहीं करूँगा।'

सरल हृदयकी सच्ची पुकार सदा श्रीनाथजी सुनते

* गुजराती लोकगीतके आधारपर लिखे गये श्रीमोंघी बहन बधेकाके गीतसे।

आये हैं। गोविन्दको लगा कि मन्दिरके भीतरसे शब्द आ रहा है—'भाई! चलो, मैं आ रहा हूँ। हम दोनों खेलेंगे।' नाथजी हँसते हुए गोविन्दके पास आ खड़े हुए। गोविन्दने उनका हाथ पकड़ा और उनको लेकर गाँवसे बाहर आया। वह आज आनन्दमग्न हो रहा था। कभी अपने इस नये मित्रका कमलमुख देखता एकटक, कभी उनके बड़े-बड़े नेत्रोंको निहारता, कभी उनके हाथको हाथमें लेकर सहलाता। वह जैसे प्रेमके समुद्रमें गोते लगा रहा था।

चारों ओर चाँदनी छिटकी थी। फूल खिल रहे थे। मन्द वायु चल रहा था। दोनों मित्र खेलमें लग गये। श्रीनाथजी सदाके नटखट ठहरे। उन्होंने झगड़ा कर लिया गोविन्दसे। गोविन्दको अपनी बात भूल गयी कि उसने झगड़ने या मारपीट न करनेका वचन दिया है। क्रोधमें आकर नाथजीके गालपर एक थप्पड़ जमाकर बोला—'फिर मुझे खिझाया तो मार-मारकर मुँह लाल कर दूँगा।'

जिनके भयसे काल भी डरता रहता है, वे ही सर्वेश्वर त्रिलोकीनाथ एक नन्हे बालक भक्तकी थप्पड़ खाकर रोने लगे और बोले—'भाई गोविन्द! तुमने तो कहा था कि मारूँगा नहीं; फिर मुझे क्यों मारा?' नाथजीकी बात सुनकर और उन्हें रोते देखकर गोविन्द व्याकुल हो गया। उसने नाथजीके आँसू पोंछ दिये और उन्हें गले लगाकर बोला—'भाई! रो मत। तेरी आँखोंमें आँसू देखकर मेरा हृदय फटा जाता है।' दोनों फिर खेलमें लग गये। बड़ी देरतक दोनों खेलते रहे। अन्तमें गोविन्दने कहा—'अब मैं घर जाऊँगा। माता-पिता मुझे ढूँढ़ते होंगे। अब कल फिर खेलेंगे।' गोविन्द अपने नये मित्रसे अनुमति लेकर घर चला गया।

प्रतिदिन सायंकाल दोनों खेलने लगे। गोविन्द इस नये मित्रको पाकर अपने पुराने मित्रोंको भूल गया। एक दिन श्रीनाथजी खेलते-खेलते गोविन्दका दाँव दिये बिना ही भागे और मन्दिरमें चले गये। गोविन्द उनके पीछे दौड़ता आया। मन्दिर बंद था; किंतु गोविन्द ऐसे लौटनेवाला नहीं था। वह द्वारपर खड़ा होकर खरी-खोटी सुनाने लगा और जब मन्दिर खुला, अंदर घुस गया। श्रीनाथजीको डंडेसे पीटकर बोला—'फिर भागेगा?' पुजारी लोग 'हा! हा!' करके दौड़े और गोविन्दको मार-पीटकर मन्दिरसे बाहर निकाल दिया। इससे गोविन्दका क्रोध और बढ़ा। वह बोला—'नाथ-जी! तूने मेरे साथ बड़ा अन्याय किया है। अपने आदमियोंसे तूने मुझे पिटवाया है। कल देख लूँगा। जबतक तुझे इसका बदला न दूँगा, पानी भी नहीं पीऊँगा।' इतना कहकर वह रूठकर गोविन्दकुण्डपर जाकर बैठ गया।

उन दिनों मन्दिरके प्रधान पुजारी बड़े ही भगवद्-भक्त थे। मन्दिरमें जब वे भगवान्‌के सामने नैवेद्य रखकर ध्यान करने लगे, तब ध्यानमें भगवान्‌ने उनसे कहा—'तुमलोगोंने मेरे जिस भक्तको मारकर बाहर निकाल दिया है, वह जबतक नहीं आयेगा, तबतक मैं भोग नहीं ग्रहण करूँगा। उसके शरीरपर जो मार पड़ी है, वह सब मुझे ही लगी है।'

पुजारी बड़े हैरान हुए। किसी प्रकार ढूँढ़ते-खोजते वे गोविन्दकुण्ड पहुँचे और गोविन्दसे बोले—'भाई! नाथजीने तुम्हें बुलाया है। वे तुमसे हार मानते हैं और क्षमा चाहते हैं।'

गोविन्द बोला—'मैं जाता तो नहीं, वही मेरे पास आता और मैं उसे खूब पीटकर सीधा कर देता; पर जब उसने हार मान ली, तब चलो, चलता हूँ।' मन्दिरमें पहुँचकर वह बोला—'क्यों नाथजी! फिर कभी ऐसा करोगे? अच्छा हुआ जो हार मानकर मुझे बुला लिया; नहीं इतना पीटता कि जन्मभर याद रखते।' ये बातें गोविन्दने कह तो दीं; पर ऊपर दृष्टि करते ही उसे लगा कि नाथजीका मुख उदास हो रहा है। यह देखकर

सरल बालकके चित्तमें बड़ी वेदना हुई। वह बोला—'भाई! तुमने अबतक भोग क्यों नहीं लगाया? तुम्हारे मुखको उदास देखकर मेरे प्राण रो रहे हैं। तुम प्रसन्न हो जाओ और भोग लगाओ। मैं अब तुमसे नहीं रूठूँगा।'

मन्दिरके पट अपने आप बंद हो गये। श्रीनाथजी प्रकट होकर बोले—'भाई! तुम भी तो भूखे हो। आओ, हम दोनों मिलकर भोजन करें।' नाथजीको प्रसन्नमुख देखकर गोविन्दका मुख भी खिल उठा। दोनों हँसने लगे। दोनोंने साथ-साथ भोजन किया। मन्दिरके पट खुलनेपर गोविन्दको दिव्य नेत्र मिल गये। उसे सर्वत्र नाथजीके दर्शन होने लगे।

भक्त बालक मोहन

मोहनकी माता दरिद्र विधवा ब्राह्मणी थी और एक छोटे-से गाँवमें रहती थी। गाँवसे भीख माँगकर अपना तथा अपने बेटेका किसी प्रकार काम चलाती थी। जब मोहन छः वर्षका हुआ, तब उसकी माताको उसके पढ़नेकी चिन्ता हुई। ब्राह्मणका लड़का निरक्षर भट्टाचार्य रहे, यह तो ठीक नहीं है। गाँवसे दो कोसपर एक पाठशाला थी। ब्राह्मणी अपने लड़केको लेकर वहाँ गयी। विधवा ब्राह्मणीकी गरीबीपर दया करके अध्यापकने उसके बेटेको पढ़ाना स्वीकार कर लिया। यद्यपि उस समय विद्यार्थी गुरुके घर ही रहकर पढ़ा करते थे; फिर भी मोहन बहुत छोटा था, अपनी मातासे अलग वह रह नहीं सकता था और उसकी माताका मन भी अपने बेटेसे अलग रहनेका नहीं होता था। इसलिये मोहन रोज सबेरे पढ़ने जाता और शामको घर लौट आता।

छः वर्षके बालक मोहनको विद्या पढ़नेके लिये दो कोस सवेरे जाना पड़ता और दो कोस शामको लौटना पड़ता। शामको घर लौटते समय अँधेरा हो जाता था। रास्तेमें कुछ दूर जंगल पड़ता था और इस जंगलमें मोहनको बहुत डर लगता था। एक दिन गुरुजीके यहाँ कोई उत्सव था, मोहनको घर लौटनेमें बहुत देर हो गयी। अँधेरी रातमें जंगली जानवरोंका शब्द सुनकर बेचारा बालक भयसे काँपने लगा। ब्राह्मणी भी देर होनेके कारण अपने बच्चेको ढूँढ़ने निकली थी। किसी प्रकार मोहनको वह घर ले आयी। मोहनने मातासे कहा—'मा! दूसरे लड़कोंको ले जानेके लिये तो नौकर रहते हैं; मुझे बहुत डर लगता है, तू मेरे लिये भी एक नौकर रख दे।'

बेचारे बालकको क्या पता कि उसकी माता कितनी दरिद्र है। ब्राह्मणी रोने लगी। माताको रोते देख मोहन बोला—'मा! तू रो मत। मुझे नौकर नहीं चाहिये; पर हमारे और कोई नहीं है क्या?'

ब्राह्मणीने कहा—'बेटा! एक गोपालको छोड़कर और कोई हमारा नहीं।'

बालक मोहनने इतना ही समझा कि कोई गोपाल है और वह उसका कुछ होता है। अपनी मातासे उसने पूछा—'गोपाल कौन हैं? वे हमारे क्या लगते हैं? कहाँ रहते हैं?'

ब्राह्मणीने सरल भावसे कह दिया—'वे तुम्हारे भाई लगते हैं। रहते तो सब कहीं हैं, पर सहजमें दीखते नहीं। हाँ, कोई प्रेमसे पुकारे तो अवश्य दीखते हैं।'

बालककी उत्सुकता बढ़ी। वह गोपाल भाईको भली प्रकार जान लेना चाहता था। उसने पूछा—'गोपाल मुझसे छोटे हैं या बड़े? अपने घर क्यों नहीं आते?'

माताने कहा—'वे तुमसे बड़े हैं और घर भी आते हैं; किंतु हमलोग उन्हें देख नहीं सकते। उनको

पानेके लिये जब कोई व्याकुल होकर उन्हें पुकारता है, तब उसके पास वे झट आ जाते हैं।'

मोहनने कुछ सोचकर कहा—'जंगलमें शामको आते समय मुझे बड़ा डर लगता है। मैं खूब व्याकुल हो जाता हूँ। वहाँ मैं पुकारूँ तो गोपाल भाई आयेंगे।'

माताने कहा—'तू विश्वाससे पुकारेगा तो अवश्य आयेंगे।'

मोहनने माताकी बात अपने ढंगसे समझ ली। उसे विश्वास हो गया कि अब वनमें पुकारनेपर गोपाल भाई आ जायँगे। दूसरे दिन पाठशालासे लौटते समय वनमें पहुँचनेपर जब उसे डर लगा, तब उसने पुकारा—'गोपालभाई! तुम कहाँ हो? मुझे डर लगता है। मैं व्याकुल हो रहा हूँ। आओ, गोपाल भाई!'

अनाथ, अनाश्रय एवं दीनकी पुकारपर दौड़ पड़ना ही जिसका स्वभाव है, वह एक सरल विश्वासी बालककी पुकारका उत्तर न दे—यह सम्भव नहीं था। मोहनको अत्यन्त मधुर स्वर सुनायी पड़ा—'भैया! डर मत। मैं यह आया।' दो-चार पद चलते-न-चलते एक साँवरा-सलोना, पीताम्बरधारी, कमललोचन बालक वृक्षोंके बीचसे निकलकर मोहनके पास आ गया और उसका हाथ पकड़कर साथ-साथ चलने लगा। वनकी सीमातक मोहनको पहुँचाकर वह फिर लौट गया। घर पहुँचकर मोहनने बड़े उत्साहसे गोपालभाईके मिलनेकी बात बतायी और अपने गोपालभाईकी सुन्दरता, दयालुता आदिका वर्णन करने लगा। माताके नेत्रोंसे आँसू गिरने लगे। उसने हाथ जोड़कर प्रभुको प्रणाम किया। उसने समझ लिया कि जो दयामय द्रौपदी तथा गजराजकी पुकार सुनकर दौड़ पड़े थे, वे ही मेरे बालककी पुकार सुनकर भी आये थे।

मोहनको भला, अब जंगलका क्या भय। वनमें पहुँचते ही वह पुकारता और उसका गोपालभाई तो जैसे उसकी पुकारकी बाट जोहता ही बैठा रहा करता है। दोनों भाई खेलते-कूदते वनसे पार पहुँच जाते।

एक दिन पाठशालामें गुरुजीके पिताके वार्षिक श्राद्धकी तैयारी हो रही थी। गुरुजी किसी विद्यार्थीको कुछ और किसीको कुछ लानेको कह रहे थे। मोहनने भी पूछा कि 'मैं क्या लाऊँ।' गुरुजीने कहा—'बेटा! तुम्हें कुछ नहीं लाना होगा।' लेकिन मोहनको यह अच्छा नहीं लगा कि सब सहपाठी कुछ लायें और मैं कुछ भी न लाऊँ। उसके हठको देखकर गुरुजीने एक लोटा दूध ले आनेको कह दिया। घर जाकर मोहनने मातासे गुरुजीके पिताके श्राद्धकी बात कह सुनायी और यह भी बताया कि उसे एक लोटा दूध ले जाना है। भला, ब्राह्मणी दूध कहाँ पाये? उसे दूध कौन देता? लेकिन मोहन रोने लगा। अन्तमें माताने समझाया—'तू अपने गोपालभाईसे दूध माँग लेना। उनके पास बहुत गायें हैं, वे तुझे दूध दे देंगे।'

जंगलमें पहुँचते ही गोपालभाईको मोहनने पुकारा और उनके आनेपर सब बातें बताकर दूधकी माँग की। गोपालने कहा—'मैं तो पहलेसे लोटा भर दूध ले आया हूँ। तुम इसे ले जाओ।' मोहन बड़ा प्रसन्न हुआ। पाठशालामें गुरुजी दूसरे लड़कोंका उपहार लेनेमें लगे थे। मोहनने कुछ देर प्रतीक्षा की कि उसके दूधकी ओर भी गुरुजी ध्यान देंगे; पर जब किसीने ध्यान नहीं दिया, तब वह बोला—'गुरुजी! मैं दूध ले आया हूँ।' गुरुजीके सामने ढेरों सामग्रियाँ थीं, उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। मोहनने जब कई बार स्मरण दिलाया, तब झुँझलाकर बोले—'यह लड़का एक लुटिया दूध क्या ले आया, कान खाये डालता है। हमें जैसे निहाल कर देगा यह अपने दूधसे। ले जाओ, किसी बर्तनमें डालकर इसे यहाँसे हटाओ।' बेचारा मोहन खिन्न हो गया। उसका उत्साह मारा गया। उसकी आँखोंमें आँसू आ गये!

एक सेवकने दूधका लोटा ले लिया और एक छोटे

बर्तनमें दूध डालने लगा। वह बर्तन भर जानेपर दूसरेमें, फिर तीसरेमें। एकके बाद एक—कई बर्तन, कई बाल्टियाँ भर गयीं; किंतु वह लोटा तो खाली होनेका नाम ही नहीं लेता था। अनन्तस्वरूप भगवान्के हाथका भरा वह पात्र जैसे अनन्त हो गया था। सेवकने दौड़कर गुरुजीको समाचार दिया। गुरुजी तथा और सब लोग वहाँ आये। सबके सामने दूध बर्तनोंमें डाला गया और कई बड़े बर्तन फिर भर गये, लेकिन लोटेका दूध तनिक भी खाली नहीं हुआ। द्रौपदीकी साड़ी जिसने एक बार अनन्त बना दी थी, उसीने लोटेके दूधको भी आज अक्षय कर दिया था। गुरुजीने अब बड़े स्नेहसे पूछा—'बेटा! यह दूध तुम कहाँसे ले आये?'

बालक मोहन सरलतासे बोला—'मेरे गोपालभाईने दिया।'

गुरुजीने चौंककर पूछा—'तुम्हारे तो कोई भाई नहीं है, गोपालभाई कौन?'

मोहनने बलपूर्वक कहा—'है क्यों नहीं। गोपालभाई मेरा बड़ा भाई है। वह रोज मुझे वनमें मिल जाता है। उससे जो माँगा जाता है, तुरंत दे जाता है। मा कहती है कि वह सब कहीं रहता है, पर बिना व्याकुल होकर पुकारे दीखता नहीं।'

गुरुजीके नेत्र भर आये। मोहनको उन्होंने हृदयसे लगा लिया। श्राद्धमें उस दूधकी खीर बनी। ब्राह्मण खीरके स्वादका वर्णन करते तृप्त नहीं होते थे। उस दूधका बना श्राद्धान्न पाकर गुरुजीके पितर तृप्त तो हुए ही, मायाके चक्करसे मुक्त भी हो गये। जब श्राद्ध समाप्त होनेपर सब लोग चले गये, तब संध्याके समय गुरुजीने मोहनसे कहा—'बेटा! मैं तेरे साथ चलता हूँ। तू मुझे अपने गोपालभाईके दर्शन करा देगा?'

मोहनने कहा—'चलिये, गोपालभाई तो पुकारते ही आ जाता है।' वनमें पहुँचकर उसने पुकारा तो सुनायी पड़ा—'आज तो तुम अकेले नहीं हो, तुम्हें डर लगता नहीं, फिर मुझे क्यों बुलाते हो?'

मोहनने कहा—'मेरे गुरुजी तुम्हें देखना चाहते हैं। तुम झटपट आ जाओ।' गोपालभाई आये सही, पर मोहनके लिये ही आये। जब उसने गुरुजीसे पूछा कि उन्होंने उसके परम सुन्दर गोपालभाईको देख तो लिया? तब गुरुजीने कहा—'मुझे तो कुछ नहीं दीखता। मैं तो एक प्रकाशमात्र देख रहा हूँ।'

अब मोहनने कहा—'गोपालभाई! तुम यह क्या खेल कर रहे हो? मेरे गुरुजीको क्यों नहीं दिखायी पड़ते?' भगवान्ने बताया—'तुम्हारी बात दूसरी है। तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध है। तुममें सरल विश्वास है, इससे मैं तुम्हारे पास आता हूँ। तुम्हारे गुरुको जो प्रकाश दीख गया, उनके लिये वही बहुत है। उसीसे उनका कल्याण हो जायगा।'

उस दिव्यवाणीको सुनकर गुरुजीका हृदय गद्गद हो गया। अपने हृदयमें उनको भगवान्के दर्शन हुए। उन्होंने भगवान्की स्तुति की और मोहनको लेकर जब उसके घर पहुँचे, तब भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन भी हो गये। गोपालभाई वहाँ ब्राह्मणीकी गोदमें बैठे थे और उस माताके नेत्रोंसे आँसूकी धारा बहकर उनको नहला रही थी।

भक्त बालक धन्ना जाट

गाँवमें धन्नाजीके पिता बड़े ही सीधे स्वभावके तथा साधु-संतोंकी सेवा करनेवाले थे। जब कोई रमते-राम साधु उधरसे निकलते, तब धन्नाजीके दरवाजेपर ही उनका आसन लगता। कुछ साधु दो-चार दिन भी टिक जाते थे। एक बार एक पण्डितजी धन्नाजीके घर आये। पण्डितजीने कुएँसे अपने हाथसे जल खींचकर स्नान किया और झोलीमेंसे शालग्रामजीको निकालकर उनका

पूजन किया। धन्नाजी उस समय पाँच वर्षके थे। वे बड़े ध्यानसे पण्डितजीकी पूजा देखते रहे। जब पूजा पूरी हो गयी, तब उन्होंने पण्डितजीसे कहा—'पण्डितजी! मुझे भी एक ठाकुरजी दीजिये। मैं भी पूजा करूँगा।' भला, जाटके इतने छोटे लड़केको कोई शालग्राम कैसे दे? लेकिन बालक हठ करके रो रहा था। पण्डितजीने एक छोटा काला पत्थर पाससे उठाकर दे दिया और बोले—'यही तुम्हारे ठाकुरजी हैं। तुम इनकी पूजा किया करो।'

धन्ना बड़े प्रसन्न हुए। वे अपने ठाकुरजीको कभी सिरपर रखकर कूदते, कभी छातीसे लगाकर नाचने लगते। खेल-कूद तो गया छूट और लग गये पूजामें। पण्डितजीको जैसे पूजा करते देखा था, वैसी ही पूजा वे अपनी समझसे करने लगे। चन्दन तो था नहीं, मिट्टीका तिलक किया भगवान्‌को, तुलसीके बदले वृक्षके हरे-हरे पत्ते चढ़ाये, फूल चढ़ाये, कुछ तिनके जलाकर धुआँ दिखाया धूप समझकर और दीपक दिखाया। हाथ जोड़कर दण्डवत् की। दोपहरमें माताने बाजरेकी रोटियाँ खानेको दीं। धन्नाने उन रोटियोंको भगवान्‌के आगे रक्खा और नेत्र बंद कर लिये; बीच-बीचमें नेत्र खोलकर देख भी लेते थे कि भगवान् रोटी खाते हैं या नहीं। उन्होंने देखा कि ठाकुरजी तो रोटी खाते नहीं हैं—हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे। प्रार्थना करनेपर भी जब रोटियाँ वैसी ही धरी रहीं, तब सोचने लगे—'ठाकुरजी मुझसे रूठ गये हैं, इसीसे मेरी रोटी नहीं खाते।' ठाकुरजी भूखे रहें तो धन्ना कैसे रोटी खा लें। उन्होंने रोटियाँ वनमें उठाकर फेंक दीं।

धन्नाका शरीर दुबला होता जाता है। वे उठ-बैठ भी कठिनतासे पाते हैं। उनके माता-पिता बड़े चिन्तित हैं। लड़केको क्या रोग है सो वे जानते नहीं। धन्नाको इसका कोई दुःख नहीं कि कई दिनोंसे वे भूखे हैं। उन्हें तो एक ही दुःख है—'ठाकुरजी नाराज हैं। रोटी नहीं खाते हैं।' ठाकुरजी इतने सीधे भोले बालकसे कबतक नाराज रहते। बाजरेकी इतनी मीठी रोटियाँ उन्हें और कहाँ मिलतीं। धन्नाकी प्रेमभरी रोटियोंका स्वाद लेने वे एक दिन प्रकट हो गये और लगे भोग लगाने। जब आधी रोटी बच रही, तब बालक धन्नाने हाथ पकड़ लिया। वह कहने लगा—'ठाकुरजी! तुम इतने दिनोंतक नहीं आये। स्वयं भूखे रहे और मुझे भूखों मारा और आज आये हो तो सारी रोटी अकेले खा जाना चाहते हो? मैं क्या आज भी भूखों मरूँ? मुझे थोड़ी-सी रोटी भी नहीं दोगे!'

हँसकर भगवान्‌ने बची हुई आधी रोटी धन्नाको दे दी। ये नन्दके लाड़ले हैं ही बड़े विचित्र। इन्हें सुदामाके सड़े चिउरे द्वारकाके छप्पन भोगसे अधिक मीठे लगे थे। विदुरपत्नीके केलोंके छिलकेके लोभवश दुर्योधनका सारा स्वागत-सत्कार ठुकरा दिया था इन्होंने। भीलनीके जंगली बेरोंका स्वाद इन्हें अयोध्या तथा जनकपुरके राजमहलोंमें थालपर बैठकर भी याद आता था। अब धन्नाकी रोटियोंका स्वाद इनकी जीभको मिल गया, सो रोज पुकारते ही उस जाटके लड़केकी रोटियाँ खाने दौड़ आते थे।

इस प्रकार धन्नाजी बचपनमें भगवान्‌के साथ खेलते रहे। उन्हें रोटी खिलाते रहे। बड़े होनेपर गम्भीरता आ गयी, सो ठाकुरजीने इनके साथ बालक्रीडा करना बंद कर दिया। भगवान्‌के आदेशसे काशी जाकर इन्होंने श्रीरामानन्दाचार्यजीसे दीक्षा ग्रहण की। गुरुदेवकी आज्ञासे फिर घर लौट आये। इन्हें सर्वत्र सब रूपोंमें अपने आराध्य भगवान्‌के ही दर्शन होते थे। संतोंकी सेवामें उनका बड़ा अनुराग था और साधु-सेवाके लिये अपना सर्वस्व लगा देनेमें भी ये हिचकते नहीं थे।

भक्त शेख़ फ़रीद

(लेखक—श्रीज़हूरबख्श)

'बेटा ! तुम हर रोज नमाज़ पढ़ा करो । नमाज़ पढ़नेसे अल्लाह खुश होता और मिठाई देता है ।' माने बेटेसे कहा ।

बेटेने माका कहना मान लिया । उसकी उम्र अभी सिर्फ़ पाँच वर्षकी थी, फिर भी वह उसी दिनसे कपड़ा बिछाकर खुशी-खुशी नमाज़ पढ़ने लगा । जब नमाज़ पढ़ चुकता और कपड़ा हटाता, तब उसके नीचे मिठाई देखकर उसे बेहद खुशी होती । बात यह थी कि मा पहलेसे कपड़ेके नीचे मिठाई रख देती थी । बेटा मिठाई देखकर समझता था कि यह सचमुच अल्लाहने ही दी है ।

बालक इस तरह बारह वर्षकी उम्रतक नमाज़ पढ़ता रहा । उसका नाम शेख़ फ़रीद था । वह अरबका रहनेवाला था । बारह वर्षकी उम्रमें एक दिन उसने अपनी मासे पूछा—'अम्मा ! क्या नमाज़ पढ़नेसे अल्लाह भी मिलता है ?'

मा बोली—'हाँ बेटा, नमाज़ पढ़नेसे अल्लाह भी मिलता है—जरूर मिलता है ।'

शेख़ फ़रीद उसी दिन घरसे निकल पड़े । कुछ दिन-तक तो वे अपने देश अरबमें ही घूमते रहे, फिर भारत चले आये और छिंदवाड़ा जिलेके चिचोली गाँवमें पहुँचे । वहाँ वे बारह वर्षतक अल्लाहका नाम जपते रहे । इस बीच उन्होंने एक बार भी भोजन नहीं किया । भूख-प्यास लगनेपर वे केवल पेड़ोंके पत्ते खाकर और नाले-का पानी पीकर रह जाते थे । इतनेपर भी जब उनको अल्लाह न मिला, तब वे अरबको लौट गये ।

बाबा शेख़ फ़रीदको देखकर उनकी माता बहुत प्रसन्न हुईं । बाबा शेख़ फ़रीदने उनसे कहा—'मा ! मैं बारह वर्षतक अल्लाहका नाम जपता रहा, मगर वह मुझे न मिला । इस बीच मैंने एक बार भी खाना नहीं खाया । बस, भूख लगनेपर पेड़ोंके थोड़ेसे पत्ते चबाकर रह जाता था ।'

यह सुनकर माताने शेख़ फ़रीदको नहलाया-धुलाया । फिर वह कंघी लेकर उनके लंबे-लंबे उलझे बालोंको सुलझाने बैठी । माने जो कंघी चलायी तो शेख़ फ़रीदको सिरमें बहुत दर्द मालूम हुआ । उन्होंने कहा—'मा ! कंघी मत कर । उलझे बाल कंघीसे न सुलझेंगे । मुझे बड़ी तकलीफ़ हो रही है ।'

मा कंघीसे बालोंको सुलझाते-सुलझाते बोली—'बेटा ! मैं तुम्हारे बालोंको सुलझा रही हूँ, तो तुम्हें दर्द होता है । मगर यह तो बताओ कि तुम जिन पेड़ोंके पत्ते तोड़-तोड़कर खाते थे, उनको भी दर्द होता था या नहीं ?'

बाबा शेख़ फ़रीद क्या उत्तर देते ? वे थोड़ी देर चुप रहे और सोचते-सोचते बोले—'मा ! मुझे अल्लाह क्यों नहीं मिला ?'

माने कहा—'मिलता कैसे ! अल्लाहमें तुम्हारा जी था ही कहाँ ! तुम्हारा जी तो पत्तोंसे पेट भरनेकी चिन्तामें धरा रहता था ।'

इस बार माताने लकड़ीकी दो रोटियाँ बनवाकर शेख़ फ़रीदको दीं और कहा—'इनको ले जाओ । खूब मन लगाकर अल्लाहको याद करो । जब तुम्हें भूख लगेगी, तब ये रोटियाँ तुम्हारे मनको समझाया करेंगी ।'

बाबा शेख़ फ़रीदने रोटियाँ पेटसे बाँध लीं । वे फिर भारत चले आये और इस बार भी बारह वर्षतक अल्लाह-का नाम जपते रहे । जब भूख लगती, तब मनको समझा लेते कि रोटियाँ तो पेटसे ही बँधी हैं; अब खा लूँगा तब खा लूँगा । इसी तरह बारह वर्ष पूरे हो गये, पर बाबा शेख़ फ़रीदकी इच्छा पूरी न हुई । इससे दुखी

होकर वे अपने देशको लौट गये । उन्होंने मासे कहा—'इस बार भी अल्लाह नहीं मिला ।'

मा बोली—'अजब समझ है तुम्हारी ! जिसका मन रोटियोंमें लगा रहता है, उसे कहीं अल्लाह मिलता है ।'

यह सुनकर बाबा शेख़ फ़रीद फिर भारत चले आये । इस बार वे गिरर पहुँचे, जो मध्यप्रदेशके वर्धा जिलेमें है । उन दिनों गिररमें एक बहुत बड़ा और गहरा गड्ढा था । गड्ढेके किनारे एक पेड़ था । बाबा शेख़ फ़रीद उसी पेड़पर उलटे जा लटके और लगे खुदाका नाम जपने । इस बार वे खुदाकी यादमें ऐसे डूबे कि उनको अपने शरीरकी भी खबर न रही । यह दशा देखकर कौए उनके शरीरको नोच-नोचकर खाने लगे । इसपर बाबा शेख़ फ़रीदने कौओंसे कहा—

कागा सब तन खाइयो, चुन-चुन खइयो मांस ।
दो नैना मत खाइयो, पिया दरस की आस ॥

उनका इतना कहना था कि एक आवाज़ आयी—'ऐ शेख़ फ़रीद ! तेरी इबादत कुबूल की गयी । बस, अब झाड़से नीचे उतर आ ।'

परंतु शेख़ कुछ न बोले, चुप ही रहे । इसपर फिर वही आवाज़ आयी—'ऐ शेख़ फ़रीद ! तेरी इबादत कुबूल की गयी । बस, अब झाड़से नीचे उतर आ ।'

शेख़ने कहा—'तो क्या मेरी इच्छा पूरी हो गयी ?'

फिर आवाज़ आयी—'हाँ-हाँ, तेरी इच्छा पूरी हो गयी । यक़ीन न आता हो तो यह कहकर देख ले—जो खुदा करे, वही हो; और जो शेख़ फ़रीद कहे, वही हो ।'

यह सुनते ही शेख़ फ़रीद बोल उठे—'नीचेवाला गड्ढा शक्करसे भर जाय ।'

शेख़ फ़रीदके मुँहसे ये शब्द निकले ही थे कि गड्ढेमें शक्कर-ही-शक्कर दिखायी देने लगी । फिर क्या था, शेख़ साहब चटपट झाड़से नीचे उतर आये और उनका शरीर पहले ही-जैसा, बल्कि पहलेसे भी अच्छा हो गया । वे आनन्दमें मग्न होकर बोले—'मिल गया, मिल गया; मेरा अल्लाह मुझे मिल गया ।'

बाबा शेख़ फ़रीद फिर अरब नहीं गये । वे गिररहीमें रहकर अल्लाहका नाम जपते रहे । वहाँ अबतक उनकी दरगाह विद्यमान है । इसलिये मुसलमान लोग गिररको पवित्र स्थान मानते हैं और वहाँ हर साल एकत्र होकर बड़ी धूमसे जलसा मनाते हैं ।

गुरुभक्त बालक आरुणि

(लेखक—श्रीमुबारक अली)

बरसातके दिन थे । आकाशमें बादल छाये हुए थे । ऋषिवर धौम्य सुखसे अपने आश्रममें विराजमान थे और शिष्योंको विद्यादान कर रहे थे । प्राचीन भारतके विद्वान् ब्राह्मण नगरके बाहर आश्रम बनाकर बसते थे, वहीं जप-तप करते और अपने शिष्योंको पढ़ाते-लिखाते थे । शिष्य भी सदा उन्हींके आश्रममें निवास करते थे और पढ़ने-लिखनेके साथ-साथ उनके घरका काम-काज भी सँभालते थे । ऋषिवर आयोदधौम्य ऐसे ही गुरु थे और उनके आश्रममें निवास करनेवाले शिष्योंकी संख्या सैकड़ोंतक जा पहुँची थी ।

सहसा बादल घने हो गये । आकाशमें बिजली चमकने लगी और कानोंके पर्दे फाड़नेवाली गड़गड़ाहटसे दसों दिशाएँ काँप उठीं । इसके साथ ही बूँदा-बाँदी प्रारम्भ हुई और फिर मूसलधार पानी बरसने लगा—जैसे एकबारगी आकाश फट पड़ा । बात-की-बातमें जहाँ देखो वहाँ पानी-ही-पानी फैल गया । गुरुजी चिन्तित होकर बोले—'ऐसा पानी तो कभी नहीं बरसा । यदि खेतका बाँध पक्का न किया गया, तो उसकी सारी फसल बह जायगी ।'

गुरुभक्त बालक
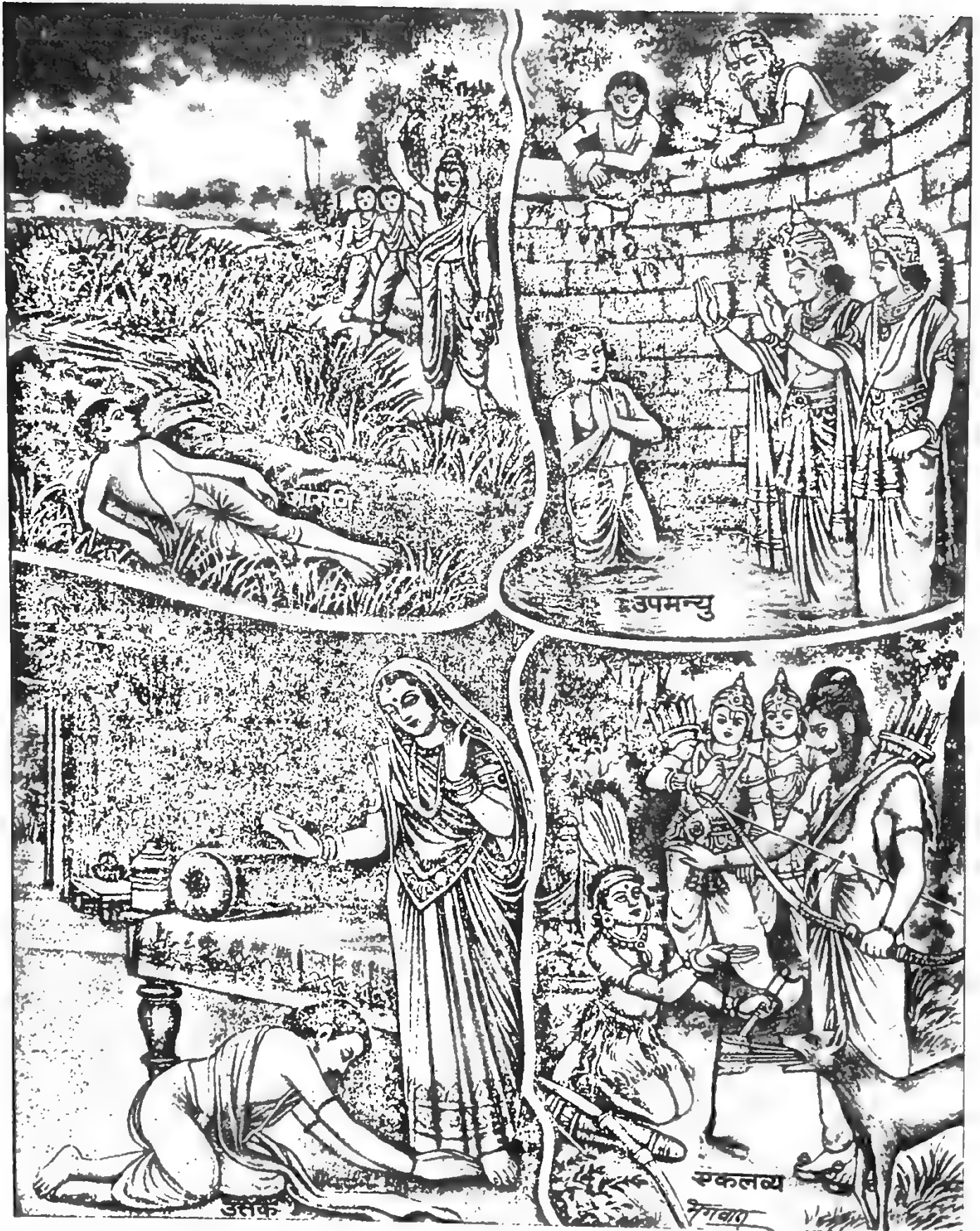
आरुणि, उपमन्यु, उत्तंक, एकलव्य

'मेरी कुटी रिसती है। जाकर देखूँ, उसमें पानी न भर जाय।' पहला शिष्य बोला और चलता बना।

'मेरी कुटीका पिछला भाग टूट गया है। अब उसकी क्या दशा होगी! चलकर देख-भाल करूँ।' दूसरा शिष्य बोला और लंबा हुआ।

'मेरे वल्कल वसन तो बाहर ही पड़े हैं, कहीं बह न जायँ।' तीसरा शिष्य बोला और जल्दी-जल्दी अपने पथपर लगा।

इस प्रकार एक-न-एक बहाना बनाकर लगभग सभी शिष्य खिसक गये। अब तो आरुणि शान्त न रह सका, उठकर खड़ा हुआ और बोला—'मुझे आज्ञा दीजिये भगवन्! मैं जाता हूँ और बाँध पक्का किये देता हूँ।'

गुरुजीने कहा—'जाओ बेटा! तुम्हीं जाओ; परंतु इतना याद रखना कि बाँध कच्चा न रहने पाये, परिश्रम भले ही अधिक करना पड़े।'

गुरुके शब्द सुनते ही आरुणि दौड़ते-दौड़ते खेतपर पहुँचा, तो देखता क्या है कि बाँध एक ओरसे टूट गया है और उसके रास्ते खेतका पानी अर्राटेसे बहा जा रहा है। बस, आरुणि एक क्षणके लिये भी नहीं रुका—बाँधको मिट्टीसे भरनेकी चेष्टा करने लगा और इसके साथ ही मानो उसके तथा वर्षाके बीच युद्ध छिड़ गया। पानी कहता था कि 'आज छोड़ कल न बरसूँगा और आरुणि कहता था कि बाँध कल नहीं, आज पक्का करूँगा।' परंतु आरुणिकी चल एक भी नहीं रही थी। वह जबतक मिट्टीका एक लौंदा रखता और दूसरा बनाने लगता था, तबतक पहला लौंदा बह जाता था।

अब आरुणि क्या करे? कैसे गुरुकी आज्ञाका पालन हो? कैसे बाँध पक्का बने? कैसे खेतका पानी रुके? क्या वह वर्षासे हार मान ले और खेतका पानी बह जाने दे? परंतु आरुणि हार माननेवाला नहीं, जीतपर मरनेवाला बालक था। जब उसे कुछ न सूझा, तब उसने वर्षापर विजय पानेके लिये एक बिल्कुल नया अनोखा उपाय खोज निकाला—वह स्वयं टूटे हुए बाँधके स्थानपर जा लेटा। अभिप्राय यह कि उसने मिट्टीके बाँधके स्थानपर हाड़-मांसका बाँध बना डाला और हाड़-मांसके उस जीवित बाँधके सामने वर्षाको हार माननी पड़ी—खेतके बहते हुए पानीको रुकना पड़ा।

जब दूसरे दिन गुरुजी शिष्योंको पढ़ाने बैठे, तब उनमें आरुणिको न देखकर चिन्तित स्वरमें बोले—'आज आरुणि दिखायी नहीं देता। कहाँ गया वह?'

'कल संध्या-समय खेतकी ओर जाता दिखायी दिया था!'—पहला शिष्य बोला।

'अपनी कुटीमें पड़ा होगा। पढ़ने-लिखनेमें उसका जी लगता ही कहाँ है! इतना दिन चढ़ आया और वह अभी सो ही रहा है।' दूसरा शिष्य बोला।

'कुटी तो उसकी सूनी पड़ी है। कामचोर तो वह है ही, मैं समझता हूँ, कल अवसर पाकर कहीं भाग निकला है।' तीसरा शिष्य बोला।

परंतु गुरुजी कुछ न बोले, चुपचाप खेतकी ओर चल पड़े और वहाँ पहुँचकर लगे करुण स्वरमें पुकारने—'आरुणि!····आरुणि!!····बेटा आरुणि!!!'

जब कहींसे कोई उत्तर न मिला, तब गुरुजी व्याकुल होकर खेतमें चक्कर काटने लगे। अन्तमें वे ठीक स्थानपर जा पहुँचे, तो देखते क्या हैं कि बेसुध आरुणिने टूटे हुए बाँधको घेर रक्खा है, उसके शीतसे अकड़े हुए शरीरपर गीली मिट्टीकी तहें जम गयी हैं और वह धीमे-धीमे साँस ले रहा है।

असल बात समझनेमें गुरुजीको विलम्ब न लगा। उनकी आँखोंसे टप-टप आँसू गिरने लगे। वे आरुणिको तुरंत आश्रममें उठा लाये। उन्होंने अपने हाथों उसका शरीर धोया-पोंछा, उसपर तेलका मालिश किया और फिर उसे गरम कपड़ोंसे ढँक दिया। आरुणि थोड़ी देर

बाद होशमें आ गया। अब तो गुरुजी बहुत प्रसन्न हुए और उसके सिरपर हाथ फेरते-फेरते बोले—'बेटा! तुम्हारी गुरुभक्तिपर मुझे अभिमान है। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुमको सारी विद्याएँ प्राप्त हो जायँ, तुम सुखसे जीवन बिताओ और खूब नाम कमाओ।' कहना नहीं होगा कि गुरुके वचन सफल हुए।

गुरुभक्त बालक उपमन्यु

महर्षि आयोदधौम्य अपनी विद्या, तपस्या और विचित्र उदारताके लिये बहुत प्रसिद्ध हैं। वे ऊपरसे तो अपने शिष्योंसे बहुत कठोरता करते प्रतीत होते थे; किंतु भीतरसे शिष्योंपर उनका अपार स्नेह था। वे अपने शिष्योंको अत्यन्त सुयोग्य बनाना चाहते थे। इसलिये जो ज्ञानके सच्चे जिज्ञासु थे, वे महर्षिके पास बड़ी श्रद्धासे रहते थे। महर्षिके शिष्योंमेंसे एक बालकका नाम था उपमन्यु। गुरुदेवने उपमन्युको अपनी गायें चरानेका काम दे रक्खा था। वे दिनभर वनमें गायें चराते और सायंकाल आश्रममें लौट आया करते। एक दिन गुरुदेवने पूछा—'बेटा उपमन्यु! तुम आजकल भोजन क्या करते हो?'

उपमन्युने नम्रतासे कहा—'भगवन्! मैं भिक्षा माँगकर अपना काम चला लेता हूँ।'

महर्षि बोले—'वत्स! ब्रह्मचारीको इस प्रकार भिक्षा-का अन्न नहीं खाना चाहिये। भिक्षा माँगकर जो कुछ मिले, उसे गुरुके सामने रख देना चाहिये। उसमेंसे गुरु यदि कुछ दे दें तो उसे ग्रहण करना चाहिये।'

उपमन्युने महर्षिकी आज्ञा स्वीकार कर ली। अब वे भिक्षा माँगकर जो कुछ मिलता, उसे गुरुदेवके सामने लाकर रख देते। गुरुदेवको तो शिष्यकी श्रद्धाको दृढ़ करना था, अतः वे सब भिक्षाका अन्न रख लेते। उसमेंसे कुछ भी उपमन्युको नहीं देते। थोड़े दिनों पीछे जब गुरुदेवने पूछा—'उपमन्यु! तुम आजकल क्या खाते हो?' तब उपमन्युने बताया कि 'मैं एक बारकी भिक्षाका अन्न गुरुदेवको देकर दुबारा अपने लिये भिक्षा माँग लाता हूँ।' महर्षिने कहा—'दुबारा भिक्षा माँगना तो धर्मके विरुद्ध है। इससे गृहस्थोंपर अधिक भार पड़ेगा और दूसरे भिक्षा माँगनेवालोंको भी संकोच होगा। अब तुम दूसरी बार भिक्षा माँगने मत जाया करो।'

उपमन्युने कहा—'जो आज्ञा।' उसने दूसरी बार भिक्षा माँगना बंद कर दिया। जब कुछ दिन बाद महर्षिने फिर पूछा, तब उसने बताया कि 'मैं गायोंका दूध पी लेता हूँ।' महर्षि बोले—'यह तो ठीक नहीं है। गायें जिसकी होती हैं, उनका दूध भी उसीका होता है। मुझसे पूछे बिना गायोंका दूध तुम्हें नहीं पीना चाहिये।'

उपमन्युने दूध पीना भी छोड़ दिया। थोड़े दिन बीतनेपर गुरुदेवने पूछा—'उपमन्यु! तुम दुबारा भिक्षा भी नहीं लाते और गायोंका दूध भी नहीं पीते तो खाते क्या हो? तुम्हारा शरीर तो उपवास करनेवाले-जैसा दुर्बल नहीं दिखायी पड़ता।'

उपमन्युने कहा—'भगवन्! मैं बछड़ोंके मुखसे जो फेन गिरता है, उसे पीकर अपना काम चला लेता हूँ।'

महर्षि बोले—'बछड़े बहुत दयालु होते हैं। वे स्वयं भूखे रहकर तुम्हारे लिये अधिक फेन गिरा देते होंगे। तुम्हारी यह वृत्ति भी उचित नहीं है।'

अब उपमन्यु उपवास करने लगा। दिनभर बिना कुछ खाये गायोंको चराते हुए उसे वन-वनमें भटकना पड़ता था। अन्तमें जब भूख असह्य हो गयी, तब उसने आकके पत्ते खा लिये। उन विषैले पत्तोंका विष शरीरमें

फैलनेसे वह अंधा हो गया। उसे कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता था। गायोंके चलनेका शब्द सुनकर ही वह उनके पीछे चल रहा था। मार्गमें एक जलरहित कुआँ पड़ा और उपमन्यु उसमें गिर पड़ा। जब अँधेरा होने-पर सब गायें लौट आयीं और उपमन्यु नहीं लौटा, तब महर्षिको चिन्ता हुई। वे सोचने लगे—'मैंने उस भोले बालकका भोजन सब प्रकारसे बंद कर दिया। कष्ट पाते-पाते दुखी होकर वह भाग तो नहीं गया।' उसे वे जंगलमें ढूँढ़ने निकले और बार-बार पुकारने लगे—'बेटा उपमन्यु! तुम कहाँ हो?'

उपमन्युने कुएँमेंसे उत्तर दिया—'भगवन्! मैं कुएँमें गिर पड़ा हूँ।' महर्षि समीप आये और सब बातें सुन-कर ऋग्वेदके मन्त्रोंसे उन्होंने अश्विनीकुमारोंकी स्तुति करनेकी आज्ञा दी। स्वरके साथ श्रद्धापूर्वक जब उपमन्युने स्तुति की, तब देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमार वहाँ कुएँमें प्रकट हो गये। उन्होंने नेत्र अच्छे करके एक पूआ उपमन्युको देकर खा लेनेको कहा; किंतु उपमन्युने अपने गुरुदेवको अर्पित किये बिना वह पूआ खाना स्वीकार नहीं किया। अश्विनीकुमारोंने कहा—'तुम संकोच मत करो। तुम्हारे गुरुने भी अपने गुरुको आपत किये बिना पहले हमारा दिया पूआ प्रसाद मान-कर खा लिया था।'

उपमन्युने कहा—'वे मेरे गुरु हैं, उन्होंने कुछ भी किया हो; पर मैं उनका अतिक्रमण नहीं करूँगा।' इस गुरुभक्तिसे प्रसन्न होकर अश्विनीकुमारोंने उसे समस्त विद्याएँ बिना पढ़े आ जानेका आशीर्वाद दिया। जब उपमन्यु कुएँसे बाहर निकला, महर्षि आयोदधौम्यने उसे हृदयसे लगा लिया।

गुरुभक्त बालक उत्तङ्क

महर्षि आयोदधौम्यके शिष्य महर्षि वेदने अपने ब्रह्मचर्याश्रमके जीवनमें गुरुगृहमें अनेक कष्ट भोगे थे। उन कष्टोंका स्मरण करके अपने यहाँ अध्ययनके लिये आनेवाले किसी बालकको वे किसी कार्यमें नियुक्त नहीं करते थे और न उनसे अपनी सेवा ही लेते थे। उनके शिष्योंमें प्रधान थे उत्तङ्क। एक बार जब महर्षि वेद अपने आश्रमसे किसी यात्रापर जाने लगे, तब उन्होंने उत्तङ्कको अपनी अनुपस्थितिमें अपना समस्त कार्य सम्हालनेकी आज्ञा दी। महर्षि वेदकी पत्नीके मनमें यह बात आयी कि इस थोड़ी अवस्थाके बालकपर उनके पतिदेवने आश्रमका पूरा उत्तरदायित्व क्यों सौंपा। अतएव उन्होंने उत्तङ्ककी परीक्षा लेनेका विचार किया। ऋषिपत्नीने कहा—'उत्तङ्क! महर्षिने जाते समय तुम्हें आज्ञा दी है कि उनकी अनुपस्थितिमें उनके सभी कार्योंको सम्पन्न करो। मैं ऋतुमती हूँ, अंतः तुम्हें मेरे ऋतुको सफल करनेका, महर्षिका कार्य भी पूरा करना चाहिये।'

उत्तङ्कने थोड़ी देर विचार करके बड़ी नम्रतासे प्रार्थना की—'आप मेरे गुरुदेवकी पत्नी हैं। आपकी आज्ञासे आपकी प्रसन्नताके लिये मैं अपना प्राण भी दे सकता हूँ; किंतु माता! आप मुझे ऐसा अनुचित काम करनेकी आज्ञा न दें; यह पाप मैं नहीं कर सकूँगा।'

उत्तङ्ककी दृढ़ श्रद्धा और संयम देखकर गुरुपत्नी प्रसन्न हो गयीं। जब महर्षि वेद लौटे, तब उनकी पत्नीने स्वयं उनसे सब बातें बतायीं; क्योंकि उन्होंने तो उत्तङ्क-की केवल परीक्षा लेना चाहा था। सब बातें सुनकर महर्षिने उत्तङ्कको आशीर्वाद दिया—'बेटा! तुम्हारी समस्त कामनाएँ पूर्ण हों। तुम्हें समस्त ज्ञान स्वतः प्राप्त हो जाय।'

अब उत्तङ्कने गुरुदेवको गुरुदक्षिणा देनेकी इच्छा प्रकट की। महर्षिने गुरुपत्नीसे पूछनेको कहा। पूछनेपर गुरुपत्नीने बताया कि महर्षिके दूसरे शिष्य राजा पौष्यकी पतिव्रता पत्नीके कानोंमें जो अमृतस्रावी कुण्डल हैं, उन्हें पर्वके अवसरपर मैं पहनना चाहती हूँ।' पर्वका समय केवल चार दिन शेष था। उत्तङ्क राजाके पास वह कुण्डल माँगने चल पड़े। देवराज इन्द्रने देखा कि नागराज तक्षक बहुत दिनोंसे उन कुण्डलोंको हरण करना चाहता है। राजाकी पतिव्रता पत्नीके पाससे कुण्डलोंको लेनेका तो उसमें साहस नहीं, पर यदि उत्तङ्क उन कुण्डलोंको लेकर चले तो तक्षक किसी-न-किसी रूपमें अवश्य कुण्डलोंका हरण कर लेंगे। यद्यपि नागराज तक्षक इन्द्रके मित्र हैं; किंतु देवराज होनेके कारण इन्द्रको यह उचित जान पड़ा कि वे उत्तङ्ककी सहायता करें। एक संयमी, तपस्वी, गुरुभक्त ब्राह्मण-बालक यदि अपनी गुरुपत्नीको उनकी माँगी दक्षिणा न दे सके तो उसे कितना खेद होगा, यह देवराज जानते थे और यह भी जानते थे कि उस समय उस तेजस्वी बालकके क्रोधको शान्त करना सरल नहीं हो सकता। वह शाप देकर किसी भी लोकपालको पदच्युत कर सकता है। अतः इन्द्रने सहायता देनेका उपाय पहलेसे निश्चित कर लिया। उत्तङ्कको राजाकी पत्नीने बड़ी श्रद्धासे अपने वे देवदुर्लभ कुण्डल दे दिये। छल करके तक्षकने उन कुण्डलोंको मार्गमें ही चुरा लिया; किंतु इन्द्रकी सहायतासे पाताल जाकर उत्तङ्कने फिर कुण्डलोंको प्राप्त किया और समयसे पहले ही गुरुपत्नीको उन्हें अर्पित किया। जिसमें पूरा संयम और अटल गुरुभक्ति है, उसके निश्चयको भला त्रिलोकीमें कोई भी व्यर्थ कैसे कर सकता है?

गुरुभक्त बालक एकलव्य

निषादराज हिरण्यधनुका पुत्र एकलव्य एक दिन हस्तिनापुरमें आया और उसने उस समयके धनुर्विद्याके सर्वश्रेष्ठ आचार्य, कौरव-पाण्डवोंके शस्त्र-गुरु द्रोणाचार्यजीके चरणोंमें दूरसे साष्टाङ्ग प्रणाम किया। अपनी वेष-भूषासे ही वह अपने वर्णकी पहचान दे रहा था। आचार्य द्रोणने जब उससे अपने पास आगमनका कारण पूछा, तब उसने बताया—'मैं श्रीचरणोंके समीप रहकर धनुर्विद्याकी शिक्षा लेने आया हूँ।'

आचार्य संकोचमें पड़ गये। उस समय कौरव तथा पाण्डव बालक थे और आचार्य उन्हें शिक्षा दे रहे थे। एक निषाद-बालकको अपने साथ शिक्षा देना राजकुमारोंको स्वीकार नहीं होता और यह उनकी मर्यादाके अनुरूप भी नहीं था। भीष्मपितामहको आचार्यने राजकुमारोंको शस्त्र-शिक्षा देनेका वचन दे रक्खा था। अतएव उन्होंने कहा—'बेटा एकलव्य! मुझे दुःख है कि मैं किसी द्विजेतर बालकको शस्त्र-शिक्षा नहीं दे सकता।'

एकलव्यने तो द्रोणाचार्यजीको मन-ही-मन गुरु मान लिया था। जिसे गुरु मान लिया, उसकी किसी भी बातको सुनकर रोष या दोष-दृष्टि करनेकी तो बात मनमें ही कैसे आती। निषादके उस छोटे बालकके मनमें निराशा भी नहीं हुई। उसने फिर आचार्यके सम्मुख भूमिमें लेटकर प्रणाम किया और बोला—'भगवन्! मैंने तो आपको गुरुदेव मान लिया है। मेरे किसी कामसे आपको संकोच हो, यह मैं नहीं चाहता। मुझपर आपकी कृपा रहनी चाहिये।'

बालक एकलव्य हस्तिनापुरसे लौटकर घर नहीं गया। वह वनमें चला गया और वहाँ उसने मिट्टीकी द्रोणाचार्यकी एक मूर्ति बनाकर स्थापित कर दी। उस मूर्तिको प्रणाम करके उसके सामने वह बाण-विद्याका अभ्यास करने

लगा। ज्ञानके एकमात्र दाता तो भगवान् ही हैं। जहाँ अविचल श्रद्धा और दृढ़ निश्चय होता है, वहाँ वे सबके हृदयमें रहनेवाले श्रीहरि गुरुरूपमें या बिना बाहरी गुरुके भी ज्ञानका प्रकाश कर देते हैं। महीनेपर महीने बीतते गये, एकलव्यका अभ्यास अखण्ड चलता गया और वह महान् धनुर्धर हो गया।

एक दिन द्रोणाचार्य अपने शिष्य पाण्डव एवं कौरवोंको बाणविद्याका अभ्यास करानेके लिये आखेट करने वनमें लिवा ले गये। संयोगवश इनके साथका एक कुत्ता भटकता हुआ एकलव्यके स्थानके पास पहुँच गया और काले रंगके तथा विचित्र वेशधारी एकलव्यको देखकर भूकने लगा। एकलव्यके केश बढ़ गये थे और उनके पास वस्त्रके स्थानपर बाघका चमड़ा ही था। वे उस समय अपना अभ्यास कर रहे थे। कुत्तेके भूकनेसे बाधा पड़ते देख उन्होंने सात बाण चलाकर कुत्तेका मुख बंद कर दिया। कुत्ता भागता हुआ अपने स्वामीके पास पहुँचा। सबने बड़े आश्चर्यसे देखा कि बाणोंसे कुत्तेको कहीं भी चोट नहीं लगी है; किंतु वे आड़े-तिरछे उसके मुखमें इस प्रकार फँसे हैं कि कुत्ता बोल नहीं सकता। बिना चोट पहुँचाये इस प्रकार कुत्तेके मुखमें बाण भर देना बाण चलानेका बहुत बड़ा कौशल है। पाण्डवोंमेंसे अर्जुन इस हस्तकौशलको देखकर बहुत चकित हुए। उन्होंने द्रोणाचार्यजीसे कहा—'गुरुदेव! आपने तो कहा था कि आप मुझे पृथ्वीपर सबसे बड़ा धनुर्धर बना देंगे; किंतु इतना हस्तकौशल तो मुझमें भी नहीं है।'

'चलो! हमलोग उसे ढूँढ़ें।' द्रोणाचार्यजीने सबको साथ लेकर उस बाण चलानेवालेको वनमें ढूँढ़ना प्रारम्भ किया और वे एकलव्यके आश्रमपर पहुँच गये। एकलव्य आचार्यके चरणोंमें आकर गिर पड़ा। द्रोणाचार्यने पूछा—'सौम्य! तुमने बाणविद्याका इतना उत्तम अभ्यास किससे प्राप्त किया है?'

नम्रतापूर्वक एकलव्यने हाथ जोड़कर कहा—'भगवन्! मैं तो आपके श्रीचरणोंका ही दास हूँ।' उसने आचार्यकी उस मिट्टीकी मूर्तिकी ओर संकेत किया। द्रोणाचार्यने कुछ सोचकर कहा—'भद्र! मुझे गुरुदक्षिणा नहीं दोगे?'

'आज्ञा करें भगवन्!' एकलव्यने बहुत अधिक आनन्दका अनुभव करते हुए कहा।

द्रोणाचार्यने कहा—'मुझे तुम्हारे दाहिने हाथका अँगूठा चाहिये!'

दाहिने हाथका अँगूठा! क्या सोचते हैं आप? दाहिने हाथका अँगूठा न रहे तो बाण चलाया ही कैसे जा सकता है? इतने दिनोंकी अभिलाषा, इतना बड़ा परिश्रम, इतना अभ्यास—सब व्यर्थ हुआ जा रहा था; किंतु एकलव्यके मुखपर खेदकी एक रेखातक नहीं आयी। उस वीर गुरुभक्त बालकने बायें हाथमें तलवार ली और तुरंत अपने दाहिने हाथका अँगूठा काटकर अपने हाथमें उठाकर गुरुदेवके सामने कर दिया उसने।

भरे कण्ठसे द्रोणाचार्यने कहा—'पुत्र! धनुर्विद्याके सृष्टिमें अनेकों महान् ज्ञाता हुए हैं और होंगे; किंतु मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारे इस भव्य त्यागका सुयश सदा अमर रहेगा!'

गुरुभक्त शाहजादे

(लेखक—श्रीज़हूरबख्श)

एक साफ़-सुथरे कमरेमें मौलवी साहब गद्दीपर बैठे हुए थे। उनके सामने फ़र्शपर दो छोटे-छोटे खूबसूरत बालक मौजूद थे। मौलवी साहब दोनों बालकोंको बड़े प्रेमसे पढ़ा रहे थे और दोनों बालक

बड़े ध्यानसे पढ़ रहे थे। थोड़ी देर बाद मौलवी साहब खड़े हो गये और बोले—'भई, मेरी जूतियाँ उठा लाओ। जरा बाहर जाऊँगा।'

दोनों बालक फौरन जूतियाँ उठाने दौड़े। दोनों एक साथ जूतियोंके पास पहुँचे। अब उनमें इस बातपर झगड़ा होने लगा कि हम दोनोंमेंसे कौन जूतियाँ उठावे? हर एक यही चाहता था कि मैं ही जूतियाँ उठाऊँ और मौलवी साहबके पास पहुँचूँ।

बड़ा कहता था—'मैं बड़ा हूँ, मैं ही जूतियाँ उठाऊँगा।'

छोटा कहता था—'मैं छोटा हूँ, मैं ही जूतियाँ उठाऊँगा।'

अब झगड़ा कैसे निबटे! बड़ा समझदार था, उसे एक बात सूझी और उसने छोटेसे कहा—'भाई! हमें आपसमें लड़ने-झगड़नेकी क्या जरूरत है? एक काम करो, मेरी बात मानो। एक जूती तुम उठा लो, दूसरी जूती मैं उठा लूँ। बस, झगड़ा खतम।'

छोटे बालकने यह बात मान ली। अब क्या था, दोनोंने एक-एक जूती उठा ली और जाकर मौलवी साहबके सामने रख दी।

इन मौलवी साहबका नाम उस्ताद फ़र्राह था और ये दोनों बालक—जो सगे भाई थे, बगदादके खलीफ़ा मामूँरशीदके बेटे थे। उन दिनों खलीफ़ा मामूँरशीद मुसल्मानोंके सबसे बड़े बादशाह थे। इसी तरह उन दिनों उस्ताद फ़र्राहका नाम भी दूर-दूरतक प्रसिद्ध था। वे खलीफ़ा मामूँरशीदके इन दोनों बेटों—इन दोनों शाहजादोंको पढ़ना-लिखना सिखाया करते थे।

जब खलीफ़ाको मालूम हुआ कि आज मौलवी साहबने दोनों शाहजादोंसे अपनी जूतियाँ उठवायी हैं, तब उन्होंने फौरन मौलवी साहबको बुला भेजा। मौलवी साहबके होश उड़ गये। वे डरते-डरते खलीफ़ाके सामने पहुँचे; परंतु खलीफ़ाने उनको बड़े प्रेमसे अपने पास बिठाया। फिर उनसे कहा—'मौलवी साहब! एक बात पूछता हूँ। सच बताइये, आज दुनियामें सबसे बड़ा कौन है और सबसे ज़्यादह इज़्ज़त किसकी है?'

मौलवी साहब खलीफाके मनकी बात नहीं समझे, सिर झुकाकर बोले—'हुजूर! आज तो दुनियामें सबसे बड़े आप हैं और सबसे ज़्यादह इज्ज़त भी आपकी ही है; क्योंकि आप सब मुसल्मानोंके खलीफ़ा हैं—बादशाह हैं।'

खलीफ़ाने उस्ताद फ़र्राहके मनकी बात समझ ली और मुसकराकर कहा—'नहीं, आज तो दुनियामें सबसे बड़े उस्ताद फ़र्राह हैं और इज्ज़त भी उस्ताद फ़र्राहहीकी सबसे ज़्यादह है, क्योंकि खलीफ़ाके प्यारे बेटे उनकी जूतियाँ उठाते हैं।'

मौलवी साहब मारे डरके पसीने-पसीने हो गये। अब खलीफ़ाको क्या जवाब दें? जब उन्हें कुछ न सूझा, तब वे हाथ जोड़ते-जोड़ते गिड़गिड़ाकर बोले—'हुजूर, बड़ी गलती की मैंने, जो शाहजादोंसे जूतियाँ उठवायीं। अल्लाहके नामपर मेरा क़सूर माफ़ कीजिये।'

खलीफ़ा हँस पड़े और कहने लगे—'यह क्या? आप डरते क्यों हैं जनाब! मैंने कोई झूठ बात नहीं कही। आप मेरे बच्चोंके उस्ताद हैं। इसलिये सचमुच दुनियामें आप ही सबसे बड़े हैं और इज़्ज़त भी आपकी ही सबसे ज़्यादह है। सच मानिये, इस बातसे मैं बहुत खुश हूँ कि आप मेरे बच्चोंसे अपनी खिदमत कराते हैं और वे भी खुशी-खुशी आपकी खिदमत करते हैं। उस्ताद, मा-बाप और बादशाहकी खिदमत करनेसे हमेशा आदमीकी इज़्ज़त

बढ़ती है। आज मेरे बच्चोंने आपकी जो खिदमत की है, उससे उनकी ही नहीं, मेरी भी इज्जत बढ़ी है।'

इसके बाद खलीफ़ाने उस्ताद फ़र्राह और दोनों शाहजादोंको दस-दस हजार दिरहम* इनाममें दिये।

शिवभक्ता सीमन्तिनी

राजा चित्रवर्मा बड़े ही शरणागतवत्सल, धर्मात्मा, न्यायी, यज्ञानुष्ठानकर्ता एवं भगवान् विष्णु तथा शिवमें भक्ति रखनेवाले थे। अनेक पुत्रोंके पीछे एक सुन्दर पुत्री हुई। उसका नाम सीमन्तिनी रक्खा गया। एक दिन राजभवनमें दो ज्योतिषके विद्वान् ब्राह्मण आये। एक ब्राह्मणने सीमन्तिनीकी जन्मकुण्डली देखकर बताया—'यह कन्या भगवती उमाकी भाँति मङ्गलमयी, दमयन्तीके समान सुन्दरी, लक्ष्मीके समान सद्गुणसम्पन्ना होगी। दस हजार वर्षतक यह अपने पतिके साथ आनन्द भोगेगी। इसके आठ पुत्र होंगे।' राजा चित्रवर्मा अपनी पुत्रीके सद्गुण-सौभाग्यको सुनकर बहुत प्रसन्न हुए। लेकिन दूसरे ज्योतिषी ब्राह्मणने कुण्डली देखकर कहा—'यह चौदहवें वर्षमें विधवा हो जायगी।' इस बातसे राजा व्याकुल हो गये; किंतु कोई उपाय तो था नहीं, भगवान्‌की इच्छा एवं कृपापर भरोसा करके चित्तको उन्होंने शान्त किया।

सीमन्तिनी जब सोचने-समझने योग्य हुई, तब सखियोंके मुखसे अपने वैधव्यकी बात सुनकर बड़ा कष्ट हुआ उसे। उसने महर्षि याज्ञवल्क्यकी पत्नी मैत्रेयीकी शरणमें जाकर उनसे सौभाग्य बढ़ानेवाले सत्कर्मको जानना चाहा। मैत्रेयीजीने कहा—'तू पार्वतीसहित भगवान् शङ्करकी शरण ग्रहण कर। सोमवारका व्रत कर। उस दिन उपवास करते हुए विधिपूर्वक भगवान् शिव एवं भगवती पार्वतीका पूजन किया कर। चाहे जितना कष्ट आये, चाहे जैसी बाधा पड़े, पर तू अपने व्रतको छोड़ना मत। इस व्रत एवं पूजनके प्रभावसे तेरे सब अमङ्गल दूर हो जायँगे।' सीमन्तिनीने ऋषिपत्नीकी आज्ञा स्वीकार कर ली और नियमपूर्वक सोमवार-व्रत तथा भगवान् उमामहेश्वरकी आराधनामें लग गयी।

समय आनेपर निषध देशके सुप्रसिद्ध राजा नलके पौत्र राजकुमार चन्द्राङ्गदके साथ सीमन्तिनीका विवाह हुआ। कुछ समयतक कुमार चन्द्राङ्गद ससुरालमें ही रहे। एक दिन मित्रोंके साथ जब वे यमुनाजीके पार नौकापर चढ़कर जा रहे थे, उनकी नाव भँवरमें पड़कर डूब गयी। उस नौकापर बैठे लोगोंमेंसे कोई भी बचकर बाहर नहीं आया। राजमहलमें हाहाकार मच गया। बेचारी सीमन्तिनी विधवा हो गयी। दूसरे ब्राह्मणकी बात सत्य हुई। सीमन्तिनीने अपने सब आभूषण उतार दिये, स्वच्छ वस्त्र पहने। सब प्रकारका शृङ्गार तथा आमोद-प्रमोद उसने उसी दिनसे छोड़ दिया। वह भूमिपर सोती, एक समय थोड़ा-सा सात्त्विक भोजन करती और निरन्तर भगवान् शिवके स्मरणमें रहने लगी। उसने अपने सोमवार-व्रत तथा उमामहेश्वरकी आराधनाको छोड़ा नहीं। पिताने उसे सती नहीं होने दिया था, पर वह एक आदर्श विधवाका जीवन व्यतीत कर रही थी।

कुमार चन्द्राङ्गद तथा उनके साथी जलमें डूब गये थे। किसीको मगरने खा लिया और कुछ भँवरके चक्करके कारण मर गये; किंतु कुमार चन्द्राङ्गद मरे नहीं थे। जलमें बहुत नीचे जानेपर उन्हें नागकन्याएँ मिलीं और वे सब उनको पकड़कर पातालमें नागराज तक्षकके पास ले गयीं। तक्षकने राजकुमारसे परिचय पूछा और यह भी पूछा कि वे किस

* चार आने मूल्यवाला एक सिक्का।

देवताकी पूजा करते हैं। जब तक्षकको यह पता लगा कि राजकुमार भगवान् शङ्करके भक्त हैं, तब वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'यहाँ ये परम सुन्दरी नागकन्याएँ हैं, यह रत्नमय लोक है और कल्पवृक्ष भी यहाँ है। रोग, बुढ़ापा तथा मृत्युका यहाँ भय नहीं है। तुम यहाँ इच्छानुसार विहार करो। यहाँके सुखोंका उपभोग करो।' लेकिन जो भगवान्का भक्त है, वह कभी लोभमें नहीं पड़ता। बड़े-से-बड़ा प्रलोभन उसे अपने कर्तव्यसे हटा नहीं पाता। राजकुमार चन्द्राङ्गदने नम्रतापूर्वक नागलोकमें रहना अस्वीकार कर दिया और माता-पिता तथा दुखी पत्नीके प्रति अपने कर्तव्यका स्मरण करके शीघ्र ऊपर जानेकी इच्छा प्रकट की। तक्षकने उन्हें नाना प्रकारके दिव्य वस्त्र, अलंकार भेंट किये। एक ऐसा घोड़ा दिया जो इच्छानुसार चलनेवाला था। तक्षकसे विदा होकर राजकुमार ऊपर आये।

राजकुमार चन्द्राङ्गदके पिताका राज्य उनके भाइयोंने बलपूर्वक छीन लिया था; किंतु जब उन्हें पता लगा कि राजकुमार नागलोकसे जीवित लौट आये हैं और नागराज तक्षकने उन्हें अश्व दिया है तथा सहायताका आश्वासन भी दिया है, तब उन लोगोंने राजकुमारके पिता इन्द्रसेनजीको उनका राज्य लौटाकर क्षमा माँग ली। राजकुमार अपनी राजधानी आये। यह समाचार जब राजा चित्रवर्माको मिला, तब उनके हर्षका पार नहीं रहा। सीमन्तिनीको राजकुमारने बुला लिया। इस प्रकार शिवभक्तिके प्रतापसे सीमन्तिनीने जलमें डूबे अपने पतिको पुनः प्राप्त कर लिया। पहले ज्योतिषी ब्राह्मणकी बात भी सत्य हुई। सीमन्तिनीके आठ पुत्र हुए और पतिके साथ दस हजार वर्षोंतक सुख भोगकर वह भगवान्के लोकको गयी।

मीराँबाई

धन्य है मारवाड़का वह कुड़की ग्राम जहाँ मीराँने जन्म लिया। राठौर रतनसिंहजीकी इकलौती पुत्री मीराँ—लेकिन व्रजके गिरिधर गोपालकी अटपटी चाल कब किसकी समझमें आयी है। एक दिन एक साधु रतनसिंहजीके यहाँ पधारे। बालिका मीराँने उनके ठाकुर श्रीगिरिधरलालजीकी मूर्ति देखी तो मचल गयी। साधु भी मीराँके भावको जाननेवाले थे। उन्होंने वह मूर्ति मीराँको दे दी। दस वर्षकी बालिका मीराँ अब गिरिधारीलालको स्नान कराने, चन्दन-पुष्प चढ़ाने, भोग लगाने, आरती उतारने, प्रेमपूर्वक कीर्तन करके उनको रिझाने आदिमें बराबर लगी रहती थी।

पंद्रह वर्षकी अवस्थामें मीराँका विवाह चित्तौड़के महाराणा साँगाके ज्येष्ठ कुमार भोजराजके साथ हो गया। विवाहके समय मीराँने अपने गिरिधारीलालजीको भी मण्डपमें विराजमान कराया था और फेरे लेते समय उसने उस मूर्तिके साथ भी फेरे लिये थे। जब माताने इसका कारण पूछा, तब मीराँने कहा—

माई म्हाने सुपनेमें बरी गोपाल।
रांती पीली चुनड़ी ओढ़ी मेहदी हाथ रसाल॥
काँई औरको बरूँ भाँवरी म्हाँके जग जंजाल।
मीराके प्रभु गिरधर नागर करौ सगाई हाल॥

सखियोंने मीराँसे उपहास किया; किंतु मीराँ तो लौकिक हास-परिहाससे बहुत ऊपर उठ चुकी थी। उसने कहा—

ऐसे बरको क्या बरूँ जो जनमै और मर जाय।
बर बरिये गोपालजी म्हारो चुड़लो अमर हो जाय॥

विदा होते समय दहेजकी सामग्रियोंकी ओर मीराँ-को देखना ही नहीं था। इकलौती पुत्रीको दहेज
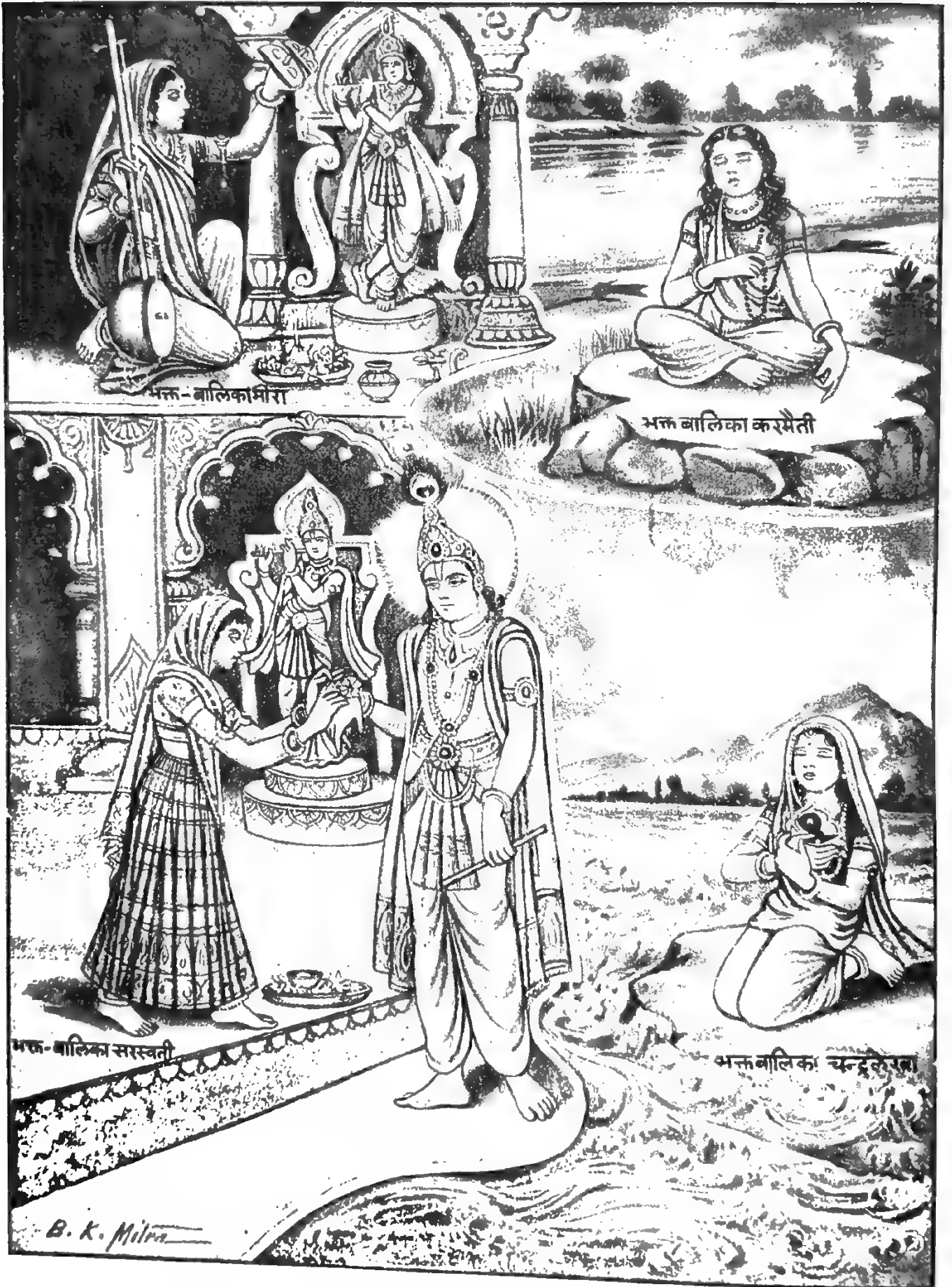
भक्त-बालिका—मीराँ, करमैती, सरस्वती, चन्द्रलेखा

देनेमें माता-पिताने कुछ उठा नहीं रक्खा था; पर मीराँको यह लौकिक धन चाहिये कहाँ। उसने स्वयं माँगा—

दे री माई अब म्हाँको गिरिधरलाल।
प्यारे चरणकी आन करति हौं और न दे मणि लाल॥

श्रीगिरिधरलालजीको लेकर मीराँ ससुराल आयी। राजकुलमें देवपूजाकी तैयारियाँ होने लगीं; लेकिन मीराँको तो अपने गिरिधरलालको छोड़कर दूसरे किसी देवी-देवताका पूजन करना नहीं था। कहना चाहिये कि मीराँके विरोधका श्रीगणेश पतिगृहमें प्रवेश करनेसे ही प्रारम्भ हो गया।

युवराज भोजराज वीर तथा साहित्यप्रेमी युवक थे। मीराँकी भक्ति-भावनासे पहले तो अप्रसन्न हुए; किंतु फिर इससे उन्हें प्रसन्नता ही हुई। मीराँ अपने लौकिक पतिको किसी प्रकार अप्रसन्न नहीं करती थीं। उन्होंने नम्रतापूर्वक बता दिया था—'मैं तो एकमात्र श्रीगिरिधारीलालजीकी ही हूँ। आप वंशकी रक्षाके लिये दूसरा विवाह कर लें तो मुझे बहुत प्रसन्नता होगी।'

युवराजने मीराँके लिये अलग श्रीरणछोड़जीका मन्दिर बनवा दिया। उन्होंने दूसरा विवाह कर लिया मीराँकी सम्मतिसे। मीराँको अब अपने आराध्यकी सेवामें लगनेका पूरा अवकाश मिल गया।

भक्तिमती करमैतीबाई

पण्डित परशुरामजी जयपुरके अन्तर्गत खण्डेलाके सेखावत सरदारके राजपुरोहित थे। इनकी पुत्री करमैती-का मन बचपनसे ही भगवान्‌में लग गया था। वह बालिका निरन्तर श्रीकृष्णका ध्यान तथा नाम-जप किया करती थी। कभी वह 'हा नाथ! हा नाथ!' कहकर क्रन्दन करती, कभी कीर्तन करते हुए नाचने लगती और कभी हँसते-हँसते लोटपोट हो जाती। नन्ही-सी बच्चीके भगवत्प्रेमको देखकर घरके लोग प्रसन्न हुआ करते थे।

करमैतीकी इच्छा विवाह करनेकी नहीं थी; परंतु लज्जावश वह कुछ कह नहीं सकी। पिताने उसका विवाह कर दिया; लेकिन जब ससुरालवाले उसे लेने आये, तब वह व्याकुल हो उठी। जो शरीर श्यामसुन्दरका हो चुका, उसे दूसरेके अधिकारमें कैसे दिया जा सकता है। उसने अपने प्रभुसे प्रार्थना प्रारम्भ की और जो कातर होकर उन श्रीवृन्दावनचन्द्रको पुकारता है, उसे अवश्य मार्ग मिल जाता है। करमैतीको भी एक उपाय सूझ गया। आधी रातको जब कि सब लोग सो रहे थे, वह अकेली बालिका चुपचाप घरसे निकल पड़ी और वृन्दावनके लिये चल पड़ी।

सबेरे घरमें करमैतीके न मिलनेपर हलचल मच गयी। परशुराम पण्डित जानते थे कि उनकी पुत्री कितनी पवित्र है; किंतु लोकलाजके भयसे अपने यजमान राजाके पास गये। राजाने अपने पुरोहितकी सहायताके लिये चारों ओर घुड़सवार भेजे कि वे करमैतीको ढूँढ़ लावें। करमैती दौड़ी चली जा रही थी। रात्रिभरमें वह कितनी दूर निकल आयी, सो उसे पता ही नहीं। सबेरा होनेपर भी वह भागी ही जा रही थी कि उसने घोड़ोंकी टापका शब्द सुना। उसे डर लगा कि घुड़सवार उसे ही पकड़ने आ रहे हैं। आस-पास न कोई वृक्ष था और न कोई दूसरा छिपनेका स्थान; किंतु एक ऊँट मरा पड़ा था और रात्रिमें शृगालोंने उसके पेटका भाग खा लिया था। करमैतीकी दृष्टि ऊँटके पेटमें बनी कन्दरापर गयी। इस समय वह सांसारिक विषयोंकी भयंकर दुर्गन्धसे भाग रही थी। मरे ऊँटके शरीरसे निकलने-वाली गन्ध उसे विषयोंकी दुर्गन्धके सामने तुच्छ जान

पड़ी। भागकर वह ऊँटके पेटमें छिप गयी। घुड़सवार पास आये तो दुर्गन्धके मारे उन्होंने उस ऊँटकी ओर देखातक नहीं। वहाँसे शीघ्रतापूर्वक वे आगे बढ़ गये और अन्तमें हताश होकर लौट गये। माता-पिता आदि भी पुत्रीके सम्बन्धमें निराश हो गये।

जिसकी कृपासे विष अमृत हो जाता है, अग्नि शीतल हो जाता है, उसीकी कृपावर्षा करमैतीपर हो रही थी। ऊँटके शरीरमें वह भूखी-प्यासी तीन दिन छिपी रही। उस सड़े ऊँटके शरीरकी गन्ध उसके लिये सुगन्धमें बदल गयी थी। चौथे दिन वह वहाँसे निकली। मार्ग उसका जाना हुआ नहीं था; किंतु जो सबका एकमात्र मार्गदर्शक है, उसकी ओर जानेवालेको मार्ग नहीं ढूँढ़ना पड़ता। मार्ग ही उसे ढूँढ़ लेता है। करमैतीको साथ मिल गया और वह वृन्दावन पहुँच गयी। वहाँ पहुँचकर मानो वह आनन्दके समुद्रमें मग्न हो गयी।

जब परशुराम पण्डितको अपनी पुत्रीका कहीं पता न लगा, तब वे वृन्दावन आये; लेकिन भला वृन्दावनमें करमैतीको जानता-पहचानता कौन था कि पता लगता। एक दिन वृक्षपर चढ़कर परशुराम पण्डित इधर-उधर देख रहे थे। ब्रह्मकुण्डपर उन्हें एक वैरागिनी दिखायी पड़ी। वहाँ जानेपर उन्होंने देखा कि साधुवेशमें करमैती ध्यानमग्न बैठी है। पुत्रीकी दीन-हीन बाहरी दशा देखकर पिताको शोक तो हुआ; परंतु उसके भगवत्प्रेमको देखकर वे अपनेको धन्य मानने लगे। कई घंटे बैठे रहनेपर भी जब करमैतीका ध्यान भंग नहीं हुआ, तब पिताने उसे हिला-डुलाकर जगाया। वे उससे घर चलकर भजन करनेका आग्रह करने लगे। करमैतीने कहा—'पिताजी! यहाँ आकर भी कोई कभी लौटा है। मैं तो ब्रजराजकुमारके प्रेममें डूबकर मर चुकी हूँ। अब मुर्दा यहाँसे उठे कैसे?'

अन्ततः परशुरामजी खिन्न होकर घर लौट गये। राजाने जब यह समाचार सुना, तब वह भी करमैतीके दर्शन करने वृन्दावन आया। राजाके बहुत आग्रह करनेपर करमैतीबाईने एक छोटी कुटिया बनवाना स्वीकार कर लिया। राजाकी बनवायी करमैतीबाईकी वह मठिया अब भी ब्रह्मकुण्डके पास है।

बहिन सरस्वती

'बाबा! आज मैं गोपाल भैयाको भोग लगाऊँगी।' नौ वर्षकी छोटी-सी बालिका सरस्वती पुजारी श्रुतदेवजीसे मचल रही थी। श्रुतदेवजी जिस मन्दिरके पुजारी थे, उसमें भगवान् श्यामसुन्दरकी सोनेकी बड़ी ही सुन्दर प्रतिमा थी। श्रुतदेवजीके लिये वह केवल प्रतिमा नहीं थी, वे गोपालजीको अपना पुत्र मानते थे और गोपालजी भी उनसे ऐसा ही व्यवहार करते थे; किंतु इस बातको दूसरा कोई जानता नहीं था। उनके पड़ोसमें मतिमान्‌जी नामके एक भगवद्भक्त पुरुष रहते थे। उनकी पत्नीका नाम श्रीकीर्तिजी था। इस दम्पतिके एक कन्या थी सरस्वती। बालिका सरस्वती बहुत छोटी थी, तभीसे वह श्रुतदेवजीके पास आकर बैठती और खेला करती। श्रुतदेवजी उसे अपनी पुत्रीके समान मानते। इससे गोपालजीको सरस्वती अपना भाई मानने लगी। एक दिन वह पुजारीजीसे हठ करने लगी कि 'मैं गोपालजीको वही भोग लगाऊँगी।'

पहले तो पुजारीजीने स्वीकार नहीं किया; परंतु पीछे उन्हें लगा कि ठाकुरजी कह रहे हैं—'सरस्वती भोग लगाना चाहती है तो आप क्यों रोकते हैं? मुझे इसके हाथका भोग ग्रहण करनेमें प्रसन्नता है।' पुजारीजीने अनुमति दे दी और स्वयं वे बाहर चले गये। बालिका सरस्वतीने भोग रक्खा, पर्दा खींचा और फिर थोड़ी देरमें

देखा तो नैवेद्य ज्यों-का-त्यों है। उसे लगा कि गोपालजी उसके हाथसे रक्खा नैवेद्य खा नहीं रहे हैं। दुखी होकर वह रोने लगी। उसका सच्चा भाव देखकर गोपालजी उसी मूर्तिमेंसे प्रकट हो गये और उन्होंने नैवेद्य स्वीकार किया।

अब प्रायः गोपालजी सरस्वतीके सामने प्रकट हो जाया करते थे। श्रावणी पूर्णिमा आयी। राखीका पुनीत पर्व—सरस्वतीने राखी ली और मन्दिरमें आ गयी। उसने कहा—'गोपाल भैया ! मैं राखी लायी हूँ।' श्रुतदेवजी चाहते थे कि उसकी राखी मूर्तिको चढ़ा दें, पर वह मूर्तिको कहाँ राखी चढ़ाने आयी थी। वह तो गोपाल भैयाको राखी बाँधने आयी थी और बहिन राखी लिये खड़ी हो तो भाई क्या आवेगा नहीं? गोपालजी मूर्तिमेंसे प्रकट हो गये और उन्होंने अपनी विशाल भुजा आगे कर दी। सरस्वतीने आज श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी भवभयहारी भुजामें राखी बाँधी।

गोपाल भैयाकी सम्मतिसे सरस्वतीने विवाह करना स्वीकार किया था और विवाहके अवसरपर उसके माता-पिता भी चकित रह गये थे कि इतनी बहुमूल्य सामग्री और इतने अपरिचित स्त्री-पुरुष जो अपनेको उनका सम्बन्धी बताते हैं, उनके घरमें कहाँसे आ गये; लेकिन गोपाल भैया अपनी बहिनके विवाहकी व्यवस्था स्वयं कर रहे हैं, यह किसीको क्या पता था।

भक्तिमती चन्द्रलेखा

'एक दिन एक साधु पश्चिमोत्तर प्रदेशके एक जमींदारके घर आये। साधु महाराजने अपना झोला रक्खा, स्नान किया और फिर झोलेमेंसे शालग्रामजीकी डिबिया निकालकर पूजा करने लगे। पूजाकी सामग्री जमींदारके घरसे आ गयी। जमींदारकी छोटी-सी लड़की चन्द्रलेखा पास बैठी यह सब देख रही थी। जब साधु पूजा कर चुके, तब उसने कहा—'बाबाजी ! मुझे भी एक भगवान् दे दो।'

साधुने पूछा—'तू भगवान्‌का क्या करेगी बेटी?'

बालिका बोली—'पूजा करूँगी—नहलाऊँगी, चन्दन लगाऊँगी, फूल चढ़ाऊँगी, भोग लगाऊँगी और आरती भी करूँगी।'

साधु बाबाने आस-पास ढूँढ़कर एक काला पत्थर लाकर दे दिया। बालिकाने पूछा—'इनका नाम क्या है?'

साधु बोले—'इनका नाम है सिलपिल्ले।'

साधु बाबा तो रमते राम हुए; किंतु चन्द्रलेखा अब अपने सिलपिल्ले भगवान्‌की पूजामें मग्न हो गयी। पिताने पुत्रीके आग्रहसे एक सिंहासन बनवा दिया उसके ठाकुरजीको बैठनेके लिये और एक पिटारी बनवा दी सोनेके लिये। अब चन्द्रलेखा सब खेल छोड़कर पूजामें ही लगी रहने लगी।

चन्द्रलेखा बड़ी हुई और उसका विवाह हो गया। उसने किसी प्रकार यह सुन लिया था कि उसका पति नास्तिक है। विवाहके पश्चात् जब ससुराल जानेके लिये वह पालकीमें बैठी, तब उसने अपने भगवान्‌की पिटारी भी साथ रख ली। मार्गमें एक नदीके किनारे बारात ठहरी। चन्द्रलेखाके पति अकेलेमें उसके पास उसे देखने तथा बात करने आये। उसने पतिसे कहा—'स्वामी ! मैंने सुना है कि आप भगवान्‌को नहीं मानते। श्रीहरिसे विमुख होकर तो किसी जीवका कल्याण नहीं होता। मैं आपसे हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूँ कि आप मङ्गलमय भगवान्‌से प्रेम करें। आप यदि मेरे आराध्य प्रभुसे प्रेम करेंगे तो मेरा हृदय आनन्दसे खिल जायगा और मैं बड़े उत्साहसे आपके चरणोंकी सेवा करूँगी।'

चन्द्रलेखाका नास्तिक पति यह सुनकर बिगड़

उठा । उसने चन्द्रलेखासे ठाकुरजीकी पिटारी बलपूर्वक छीन ली और नदीमें फेंकता हुआ बोला—'मेरे घर यह सब ढोंग नहीं चल सकता ।' बेचारी चन्द्रलेखा क्रन्दन करने लगी । लोगोंने उसे समझाना चाहा, परंतु उसके हृदयके असह्य दुःखको कौन समझे । ससुराल पहुँचनेपर पहले तो सबने यही सोचा कि नयी बहू पहले रोती ही है; किंतु चन्द्रलेखाका रोना कोई साधारण रोना नहीं था । उसके नेत्रोंसे आँसूकी धारा रात-दिन चला करती थी । वह न कुछ खाती थी, न जल पीती थी । निद्रा उसे आती ही नहीं थी । उसकी सासने जब उससे कारण पूछा, तब वह बोली—'माताजी ! जब मेरे भगवान् ही मेरे पास नहीं हैं, तब मैं जीकर क्या करूँगी । अपने भगवान्के मिलनेपर ही मैं जीवित रह सकती हूँ ।'

चन्द्रलेखाके पतिको अब बड़ा पश्चात्ताप हो रहा था अपने कामपर । जब सब लोगोंने देखा कि यह तो सचमुच अपने ठाकुरजीको पाये बिना जीवित नहीं रह सकती, तब वे उसे लेकर वहीं नदीके किनारे आये; लेकिन किसीकी समझमें नहीं आता था कि पिटारी अब कैसे मिलेगी । नदीकी धारामें बही हुई पिटारी ढूँढ़ी कहाँ जाय ? लेकिन चन्द्रलेखा नदीके पास खड़ी होकर कातर स्वरसे अपने भगवान्को पुकार रही थी । उसके नेत्रोंसे आँसूकी बूँदें जलमें गिरती जा रही थीं । भला भगवान् अपने भक्तकी पुकार सुनकर कबतक रुके रह सकते हैं । सहसा एक लहर नदीमें आयी और सिलपिल्ले भगवान्की पिटारी उस लहरके साथ उछलकर चन्द्रलेखाकी गोदमें गिर पड़ी ।

चन्द्रलेखाने पिटारीको उठाकर मस्तकपर धारण किया । यह घटना देखकर चन्द्रलेखाके पतिका नास्तिक हृदय बदल गया । वह रो-रोकर भगवान्से अपने अपराधकी क्षमा माँगने लगा ।

श्रीगणेशजी

[पितृभक्तिने प्रथम पूज्य बनाया]

'यज्ञ, पूजन, हवनादिके समय पहले किस देवताकी पूजा की जाय ?' देवताओंमें ही मतभेद हो गया था इस प्रश्नपर । सभी चाहते थे कि यह सम्मान मुझे मिले । जब आपसमें कोई निबटारा न हो सका, तब सब मिलकर ब्रह्माजीके पास गये; क्योंकि सबके पिता-पितामह तो ब्रह्माजी ही हैं और सत्पुरुष बड़े-बूढ़ोंकी बात अवश्य मान लिया करते हैं । ब्रह्माजीने देवताओंकी बात सुनकर निर्णय सुना दिया—'जो पृथ्वीकी प्रदक्षिणा करके सबसे पहले मेरे पास पहुँचे, वही सर्वश्रेष्ठ है और उसीकी सबसे पहले पूजा हुआ करेगी ।'

देवताओंमें दौड़ा-दौड़ मच गयी । कोई हाथीपर सवार हुआ, कोई घोड़ेपर तो कोई रथपर । पशु तथा पक्षियोंपर भी देवता बैठ गये । जिसका जो वाहन है, वह अपने उस वाहनको पूरे वेगसे दौड़ाने लगा । सभी इस प्रयत्नमें लग गये कि पहले वही पृथ्वीकी प्रदक्षिणा कर ले । अकेले गणेशजी खड़े सोचते रहे । एक तो उनका भारी-भरकम शरीर और बड़ी-सी तोंद, उसपर उनका वाहन ठहरा चूहा । वे सोच रहे थे—'मेरा चूहेपर बैठकर दौड़ना व्यर्थ है । चूहा इतने पशु-पक्षियोंसे दौड़में आगे नहीं जा सकता ।' लेकिन सोचते-सोचते उन्हें एक बात सूझ गयी । वे चूहेपर कूदकर बैठ गये और सीधे कैलाशकी ओर भागे । किसीको गणेशजीकी ओर देखनेका अवकाश नहीं था ।

कैलाश पहुँचकर गणेशजीने सीधे माता पार्वतीका हाथ पकड़ा और बोले—'मा ! मा ! तू झटपट चलकर पिताजीके पास जरा देरको बैठ तो जा !'

पार्वतीजीने अपने पुत्रकी अकुलाहट देखकर हँसते हुए पूछा—'तू इतनी शीघ्रतामें क्यों है ? क्या बात है ?'

गणेशजी बोले—'तू चलकर पहले बैठ जा। पिताजी तो ध्यान करने बैठे हैं। वे तो उठेंगे नहीं, तू जल्दी चल।'

माता पार्वती क्या करतीं, पुत्रका आग्रह रखनेके लिये वे भगवान् शङ्करके समीप बायीं ओर जाकर बैठ गयीं। गणेशजीने भूमिमें लेटकर माता-पिताको प्रणाम किया और फिर अपने चूहेपर बैठकर दोनोंकी सात प्रदक्षिणा की। फिर माता-पिताको प्रणाम करके वे ब्रह्मलोककी ओर दौड़ चले।

जब देवता ब्रह्माजीके पास पहुँचे, तब उन्होंने देखा कि ब्रह्माजीके पास गणेशजी पहलेसे बैठे हैं। देवताओंने समझा कि ये अपनी विजय होते न देखकर यहाँसे कहीं गये ही नहीं; किंतु ब्रह्माजीने जब बताया कि सबसे पहले गणेशजीकी पूजा होगी, तब सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। एक देवताने कहा—'आपने तो कहा था कि जो पृथ्वीकी प्रदक्षिणा करके पहले आयेगा, वही प्रथम पूज्य होगा।'

ब्रह्माजी बोले—'बात तो ठीक है; पर गणेशजी तो पृथ्वीकी तथा समस्त ब्रह्माण्डोंकी एक-दो नहीं, पूरी सात प्रदक्षिणा करके सबसे पहले आ गये हैं।'

देवता एक दूसरेका मुख देखने लगे—'यह कैसी बात ? यह कैसे सम्भव है ?'

ब्रह्माजीने उन्हें समझाया—'माता साक्षात् पृथ्वीका स्वरूप है और पिता तो भगवान् नारायणकी मूर्ति ही हैं। भगवान् नारायणके शरीरमें ही समस्त ब्रह्माण्ड रहते हैं।'

देवता अब क्या कहते ? उन्होंने गणेशजीको प्रणाम किया। पिता-मातामें श्रद्धा रखनेके कारण गणेशजी प्रथम पूज्य हो गये।*

चार पितृभक्त बालक

द्वारिकापुरीमें शिवशर्मा नामके एक तपस्वी, वेदोंके ज्ञाता ब्राह्मण शिवशर्मा रहते थे। उनके पाँच पुत्र थे—यज्ञशर्मा, वेदशर्मा, धर्मशर्मा, विष्णुशर्मा तथा सोमशर्मा। ये सभी पिताके परम भक्त थे। शिवशर्माने एक बार अपने पुत्रोंकी पितृभक्तिकी परीक्षा लेनेका विचार किया। वे योगसिद्ध थे, अतः मायाद्वारा उन्होंने एक घटना दिखायी। उनके पुत्रोंने देखा कि उनकी माता ज्वरसे पीड़ित होकर मर गयीं। यह देखकर वे पुत्र अपने पिताके पास गये और पूछने लगे कि 'माताकी मृत्युपर हमें क्या करना चाहिये।' शिवशर्माने अपने बड़े पुत्र यज्ञशर्मासे कहा—'किसी तेज हथियारसे अपनी माताके शरीरको टुकड़े-टुकड़े करके इधर-उधर फेंक दो।' पुत्रने पिताकी आज्ञाका पालन किया।

शिवशर्माने अपने दूसरे पुत्र वेदशर्मासे कहा—'बेटा! मैं स्त्रीके बिना नहीं रह सकता। सौभाग्य-सम्पत्तिसे युक्त जिस स्त्रीको मैंने देखा है, तुम उसे मेरे लिये यहाँ ले आओ।'

पिताकी आज्ञा मानकर वेदशर्मा उस स्त्रीके पास गये और उन्होंने उससे अपने पिताके पास चलनेकी प्रार्थना की। मायासे प्रकट हुई उस स्त्रीने कहा—'तुम्हारे पिता बूढ़े हो गये हैं, उनको खाँसी आती है, उनके मुखसे कफ निकलता है, और भी बहुत-सी बीमारियाँ उन्हें हैं, मैं उन्हें पति नहीं बनाना चाहती। मैं तो तुम्हें चाहती हूँ। तुम सुन्दर हो, सुलक्षण हो, तरुण हो। तुम उस बूढ़ेको लेकर क्या करोगे। तुम मुझे स्वीकार करो। जिस-किसी वस्तुकी तुम्हें इच्छा होगी, मैं तुम्हें वह ला दिया करूँगी।'

* गणेशजीने देवर्षि नारदके बतानेसे पृथ्वीपर 'रामनाम' लिखकर उसकी प्रदक्षिणा की थी, यह कथा भी पुराणोंमें आती है। कल्प-भेदसे दोनों कथाएँ सत्य हैं।

वेदशर्मा बोले—'देवि ! तुम मेरी माता हो । ऐसे पापपूर्ण वचन तुम्हें नहीं कहने चाहिये । मैं निरपराध हूँ और पिताका भक्त हूँ । तुम जो कुछ माँगो, मैं वह तुम्हें दूँगा । स्वर्गका राज्य भी चाहो तो वह भी दूँगा, पर तुम मेरी प्रार्थनासे मेरे पिताके पास चलो और उन्हें प्रसन्न करो ।'

उस स्त्रीने देवताओंके दर्शन करने चाहे । अपने तपोबलसे वेदशर्माने देवताओंके दर्शन करा दिये । अब उस स्त्रीने फिर कहा—'देवताओंसे मुझे कुछ काम नहीं है । यदि तुम मुझे अपने पिताके लिये चाहते हो तो अपना मस्तक मुझे दो ।'

वेदशर्माने प्रसन्नतासे कहा—'आज मेरा जन्म लेना सफल हो गया । पिताके लिये प्राणत्याग करनेवाला पुत्र धन्य है !' उन्होंने तीखी तलवारसे अपने हाथसे अपना मस्तक उस स्त्रीके सामने काट दिया । रक्तमें सने उस सिरको लेकर वह स्त्री शिवशर्माके पास आयी । अपने भाईके कटे मस्तकको देखकर शिवशर्माके चारों पुत्र कहने लगे —'हमलोगोंमें वेदशर्मा ही भाग्यवान् थे । पिताके लिये इन्होंने अपने प्राण दे दिये ।'

शिवशर्माने अपने तीसरे पुत्र धर्मशर्मासे कहा—'बेटा ! अपने भाईके मस्तकको ले जाओ । ऐसा उपाय करो, जिसमें यह जी जाय ।'

धर्मशर्माने भाईका मस्तक ले लिया और ले जाकर उनके शरीरपर जमाया । उन्होंने पिताकी भक्ति, तपस्या तथा सत्यके बलसे धर्मराजका आवाहन किया । उनके आवाहन करनेपर धर्मराज वहाँ प्रकट हो गये और उन्होंने वेदशर्माको जीवित कर दिया । धर्मराजके वरदान देनेकी इच्छा प्रकट करनेपर धर्मशर्माने उनसे पिताके चरणोंमें अविचल भक्ति, धर्ममें प्रेम तथा मरनेपर मोक्ष-प्राप्तिका वरदान माँग लिया । वरदान देकर धर्मराज अदृश्य हो गये । भाईको लेकर धर्मशर्मा पिताके पास चले गये ।

शिवशर्माने अपने चौथे पुत्र विष्णुशर्मासे कहा—'बेटा ! मैं अपनी इस प्रियतमाके साथ समस्त रोगोंको दूर करनेवाला अमृत पीना चाहता हूँ । तुम स्वर्ग जाकर अमृत ले आओ ।'

पिताकी आज्ञा मानकर विष्णुशर्मा अपने तपोबलसे आकाशमें होकर इन्द्रलोककी ओर चले । उन्हें आते देखकर देवराज इन्द्रने मेनका अप्सराको उनके काममें विघ्न डालनेके लिये भेजा । वह स्वर्गकी परम सुन्दरी अप्सरा सज-धजकर नन्दनवनमें मार्गके पास झूलेपर बैठकर झूलने तथा बड़े मधुर स्वरमें गाने लगी । विष्णुशर्मा उसके पाससे निकले, परंतु उन्होंने उसकी ओर देखा ही नहीं । उन्हें आगे जाते देख उस अप्सराने कहा—'महामति विप्रकुमार ! इतनी शीघ्रतासे कहाँ जा रहे हो ? मैं कामदेवके बाणसे पीड़ित होकर तुम्हारी शरण आयी हूँ । मेरी रक्षा करना तुम्हारा धर्म है ।'

विष्णुशर्मा बोले—'सुन्दरी ! तुम्हारे मनमें क्या है, सो मैं जानता हूँ । तुमने महर्षि विश्वामित्रके तपका नाश कर दिया, पर मैं अपने पिताका भक्त हूँ, मुझपर तुम्हारा जादू नहीं चल सकता । मुझे पिताका काम पूरा करना है, तुम किसी औरको ढूँढ़ लो ।'

इन्द्रलोकमें पहुँचकर विष्णुशर्माने इन्द्रसे अमृत माँगा । अमृत देनेके बदले देवराज अनेक प्रकारके विघ्न उपस्थित करने लगे । उन सब विघ्नोंको अपने तप तथा तेजसे ही नष्ट करके विष्णुशर्मा सोचने लगे—'यह इन्द्र मेरी बात नहीं मानता तो मैं इसे स्वर्गसे नीचे गिरा दूँगा और किसी दूसरेको यहाँ इन्द्र बना दूँगा ।'

इसी समय अमृतका घड़ा लेकर वहाँ देवराज आये । उन्होंने ब्राह्मणकुमारके चरणोंमें प्रणाम करके अपने अपराधोंके लिये क्षमा-याचना की । वहाँसे अमृत लेकर विष्णुशर्मा अपने पिताके पास आ गये । शिवशर्माको अमृतकी आवश्यकता तो थी नहीं, वे तो अपने पुत्रोंकी परीक्षा ले रहे थे । अब उन्होंने अपने पुत्रोंको बुलाकर

उनसे कहा—'मैं तुमलोगोंसे प्रसन्न हूँ। तुम्हारे मनमें जो आये माँग लो।'

पिताकी बात सुनकर उनके पुत्रोंने कहा—'आपकी कृपासे हमारी माता जीवित हो जायँ।' शिवशर्माने कहा—'ऐसा ही हो।' उनके ऐसा कहते ही उनके पुत्रोंकी माता वहाँ आ पहुँचीं और बोलीं—'पुण्यात्मा स्त्री पुण्यकर्मी पुत्रकी ही इच्छा करती है। अपने कुलके अनुसार आचरण करनेवाला, अपने कुल तथा माता-पिताको भी तारनेवाला पुत्र बड़े भाग्यसे मिलता है। मेरे सभी पुत्र अपने पिताके भक्त, धर्मात्मा, तपस्वी, तेजस्वी, यज्ञकर्ता और पराक्रमी हैं, यह मेरा बहुत बड़ा सौभाग्य है।'

शिवशर्माने अपने पुत्रोंसे फिर कोई वरदान माँगनेको कहा। उनके चार पुत्रोंने कहा—'पिताजी! यदि आप हमपर प्रसन्न हैं तो हमें भगवान्‌के उस गोलोकधाममें भेज दीजिये, जहाँ जाकर फिर इस संसारमें लौटना नहीं पड़ता।'

शिवशर्मा बोले—'तुमलोग सर्वथा निष्पाप और मेरे भक्त हो, अतः इस पितृभक्तिके प्रतापसे वैष्णवधाममें जाओ।' शिवशर्माके यह कहते ही शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी भगवान् विष्णु गरुड़पर बैठे वहाँ प्रकट हो गये। भगवान् तो शिवशर्माको उनकी पत्नी तथा सभी पुत्रोंके साथ अपने लोक ले जाना चाहते थे; परंतु शिवशर्माने अपने चार पुत्रोंको ही भेजनेकी इच्छा प्रकट की। पितृ-भक्तिके प्रतापसे शिवशर्माके चार पुत्र भगवान्‌के साथ भगवान्‌के नित्यधामको चले गये।

पितृभक्त सोमशर्मा

शिवशर्माके चारों पुत्र जब गोलोकधाम चले गये, तब उन्होंने अपने छोटे पुत्र सोमशर्माको अमृतका घड़ा रक्षा करनेके लिये दे दिया और स्वयं पत्नीके साथ तीर्थ-यात्रा करने चले गये। दस वर्षतक वे निरन्तर तपस्या करनेमें लगे रहे। धर्मात्मा सोमशर्मा रात-दिन आलस्य छोड़कर उस अमृत-कलशकी रक्षामें सावधानीसे लगे रहे। दस वर्ष पीछे शिवशर्मा लौटे। उन्होंने पत्नीसहित कोढ़ीका रूप धारण कर लिया था। उन दोनोंके सारे अङ्गोंमें गलित कुष्ठ हो रहा था और वे मांसके लोथड़े जान पड़ते थे। माता-पिताको देखकर सोमशर्मा उनके चरणोंमें गिर पड़े। पिता-माताके दुःखसे वे बहुत दुखी हुए। दोनोंके घावोंको भली प्रकार उन्होंने धोकर स्वच्छ किया और कोमल बिछौनेपर उन्हें बैठाया।

सोमशर्मा बड़े परिश्रमसे अपने कोढ़ी माता-पिताकी सेवामें लगे रहते थे। वे उनके मल-मूत्र तथा कफ धोते थे। अपने हाथसे उनके चरण पखारते और दबाते। उनके रहने, स्नान करने, भोजन करनेका प्रबन्ध बड़ी सावधानीसे करते। अपने माता-पिताको अपने दोनों कंधोंपर बिठाकर धर्मात्मा सोमशर्मा तीर्थोंमें ले जाते। अपने नित्यकर्म, हवन, तर्पण, देवपूजन आदि करते हुए माता-पिताकी वे सेवा करते और उसमें कोई त्रुटि न होने देते। माता-पिताको वे उत्तम भोजन, सुन्दर वस्त्र तथा सुगन्धित पान देते। माता-पिताके इच्छानुसार उन्हें फल, पुष्प, दूध आदि लाकर देते और सर्वदा उन्हें प्रसन्न करनेके प्रयत्नमें लगे रहते। इतनेपर भी पिता शिवशर्मा उन्हें बड़े कठोर तथा दुःखदायी वचन कहते। बार-बार झिड़कते, तिरस्कार करते और डंडोंसे पीटते भी थे। यह सब करनेपर भी सोमशर्माने कभी पिताके ऊपर क्रोध नहीं किया। वे मन, वाणी तथा क्रियासे सर्वदा पिताकी पूजा ही करते थे।

दीर्घकालतक परीक्षा लेनेके बाद सोमशर्मापर उनके पिता प्रसन्न हुए। अब उन्होंने मायासे घड़ेमें रक्खे

अमृतका हरण कर लिया और बोले—'बेटा! मैंने तुम्हें रोगनाशक अमृत दिया था, उसे लाकर मुझे दो। मैं उसे पीना चाहता हूँ।'

सोमशर्मा अमृत-कलशके पास गये तो उसमें एक बूँद अमृत नहीं था। यह देखकर मन-ही-मन उन्होंने कहा—'यदि मुझमें सत्य तथा गुरु-शुश्रूषा है, यदि मैंने निश्छलभावसे तप किया है, यदि इन्द्रिय-संयम, शौच आदि धर्मोंको मैंने कभी छोड़ा नहीं है तो यह घड़ा अमृतसे भर जाय।' महाभाग सोमशर्माने यह कहकर जैसे ही उस कलशकी ओर देखा, वह ऊपरतक अमृतसे भर गया। बड़ी प्रसन्नतासे उसे लेकर वे अपने पिताके पास गये।

अपने धर्मात्मा पुत्रपर प्रसन्न होकर अब शिवशर्माने पत्नीके साथ वह कृत्रिम कोढ़ी रूपको छोड़ दिया और पहलेके समान स्वस्थ रूप धारण कर लिया। सोमशर्माने माता-पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। अपने तप तथा योगके प्रभावसे पत्नी तथा पुत्रके साथ शिवशर्मा भगवान् विष्णुके परमधामको प्राप्त हुए।

पितृभक्त बालक सुकर्मा

महर्षि कश्यपके कुलमें उत्पन्न ब्राह्मणश्रेष्ठ पिप्पल बड़े ही धर्मात्मा और तपस्वी थे। इन्द्रियोंका संयम, पवित्रता तथा मनको वशमें रखना यह उनका स्वाभाविक गुण हो गया था। दशारण्यमें जहाँ वे तपस्या करते थे, उनके तपके प्रभावसे आस-पासके जंगली पशुओंका आपसका वैर-विरोध नष्ट हो गया था। जो प्राणी स्वभावसे एक दूसरेके शत्रु हैं, वे भी वहाँ आपसमें मिलकर प्रेमपूर्वक रहते थे। पिप्पलने इतना भारी तप किया कि उनके शरीरके चारों ओर चींटियोंने, दीमकोंने अपने घर बना लिये और अपनी मिट्टीसे उनको ढक दिया। उस मिट्टीके ढेरमेंसे भी तपस्वी पिप्पलके शरीरका तेज इस प्रकार बाहर निकलता था, जैसे अग्निकी लपटें निकलती हों। पिप्पलकी तपस्यासे प्रसन्न होकर देवताओंने उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया और यह वरदान दिया कि 'सारा जगत् तुम्हारे वशमें हो जायगा।'

देवताओंके वरदानसे पिप्पल विद्याधर हो गये। वे जिस-जिस व्यक्तिका मनसे चिन्तन करते थे, वही उनके वशमें हो जाता था। इस सिद्धिसे उनको बड़ा गर्व हो गया। वे अपनेको संसारमें सबसे बड़ा तपस्वी तथा सिद्ध मानने लगे। सिद्धिके गर्वने उनकी भगवत्प्राप्तिके पथको अवरुद्ध कर दिया। उनके इस गर्वको देखकर उनपर कृपा करनेके लिये स्वयं ब्रह्माजी सारसका स्वरूप धारण करके वहाँ आये और बोले—'ब्राह्मण! तुम ऐसा अभिमान क्यों कर रहे हो कि जगत्में तुमसे बड़ा कोई नहीं है। यद्यपि तुमने तीन हजार वर्षोंतक तप किया है और तुमको सबको वशमें करनेकी सिद्धि भी मिली है, फिर भी तुम मूढ़ ही हो। तुम निर्विशेष तत्त्वको नहीं जानते। कुण्डलके पुत्र सुकर्मा विद्वान् पुरुष हैं। उन्हें निर्विशेष तथा सविशेष तत्त्वका ज्ञान है। पिप्पल! भली प्रकार कान खोलकर सुन लो, संसारमें सुकर्माके समान महाज्ञानी दूसरा नहीं है। यद्यपि उन्होंने दान नहीं दिया; ध्यान, हवन तथा यज्ञादि कर्म भी कभी नहीं किये; वे न तीर्थ करने गये और न गुरुकी उपासना की; फिर भी वे समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता हैं। अपने माता-पिताकी वे सच्चे मनसे सेवा करते हैं और इस सेवाके प्रतापसे बालक होनेपर भी उन्हें जैसा ज्ञान प्राप्त हुआ है, वैसा तुम्हें अबतक नहीं मिला।'

सारसकी बात सुनकर पिप्पलजी शीघ्रतापूर्वक कुरुक्षेत्रमें स्थित विप्रवर कुण्डलके आश्रमके लिये चल पड़े। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि बालक सुकर्मा अपने माता-

पितृभक्त

यज्ञशर्मा, वेदशर्मा, धर्मशर्मा, विष्णुशर्मा

पितृभक्त
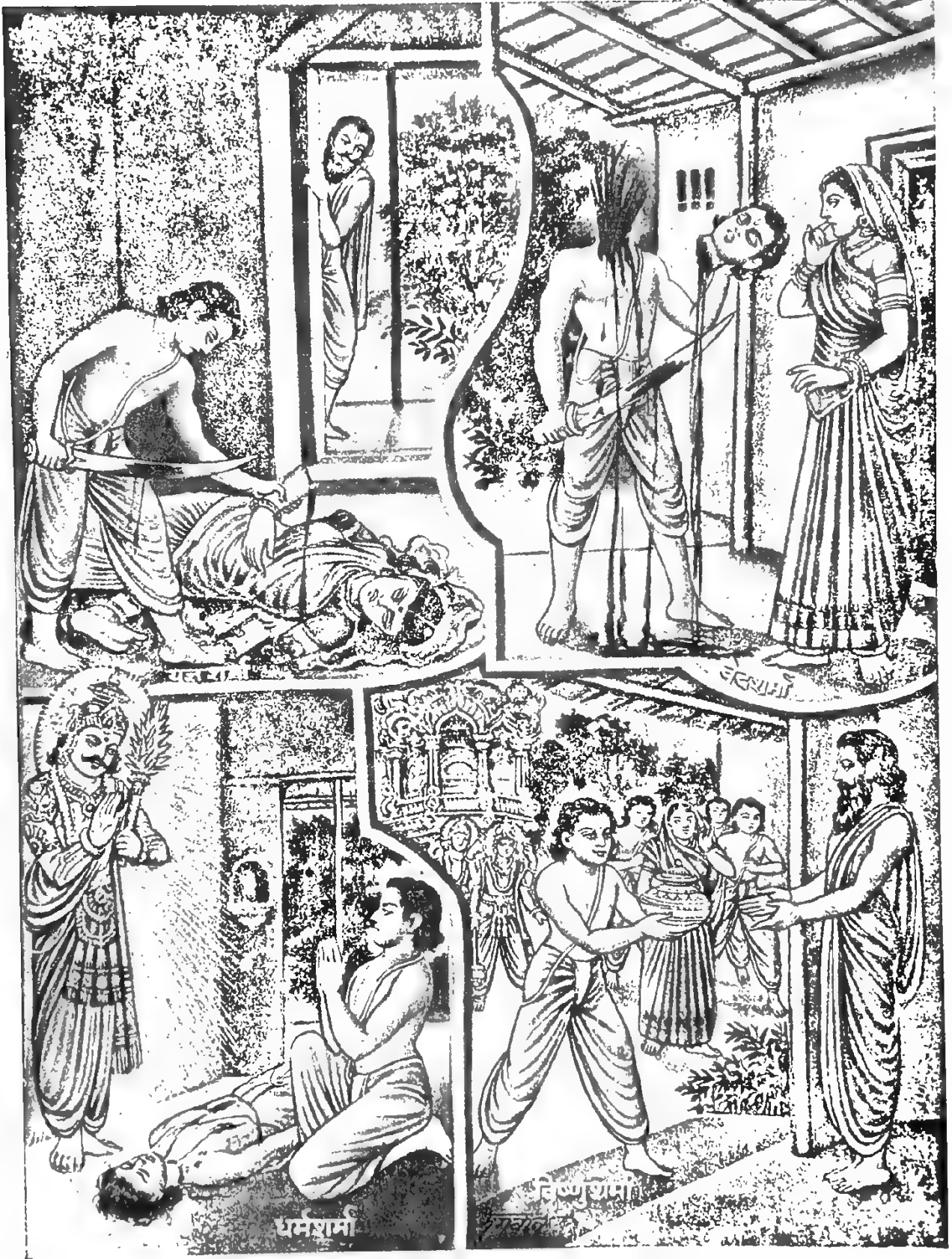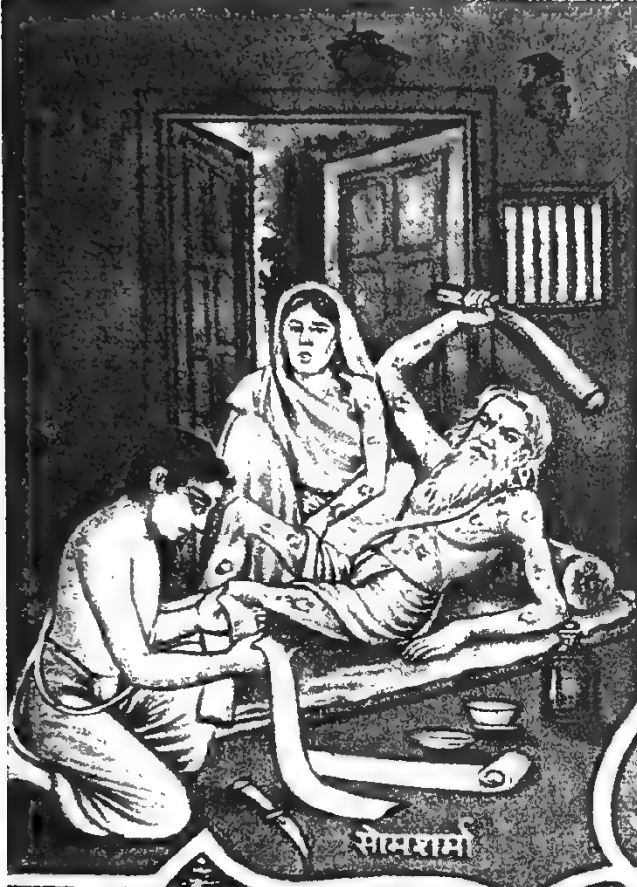
सोमशर्मा, सुकर्मा, पिप्पलाद, श्रवणकुमार

पिताकी सेवामें लगे हैं। कुण्डलकुमार सुकर्माने पिप्पलको अपने यहाँ आया देखकर खड़े होकर उनका स्वागत किया। उनको बैठनेके लिये आसन दिया तथा उनके चरण धोये। विधिपूर्वक अतिथि-सत्कार किया उन्होंने। इसके पश्चात् बिना पूछे ही सुकर्माने बता दिया कि सारसके भेजनेसे पिप्पल उसके पास आये हैं। उसने ही पिप्पलको बताया कि तपस्या तथा सिद्धिसे पिप्पलको जो गर्व हो गया था, उसे दूर करनेके लिये ब्रह्माजी ही सारस बनकर उनके पास गये थे। पिप्पलको अब भी अपनी सिद्धिका कुछ गर्व था। उनको विश्वास दिलानेके लिये सुकर्माने देवताओंका स्मरण किया। सुकर्माके स्मरण करते ही इन्द्रादि देवता वहाँ प्रकट हो गये। देवताओंका दर्शन कभी निष्फल नहीं होता, अतः सुकर्माने देवताओंके कहनेपर उनसे वरदान माँगा—'माता-पिताके चरणोंमें मेरी सुस्थिर भक्ति हो और मेरे माता-पिता भगवान् विष्णुके धामको पधारें।' देवता वरदान देकर अपने लोक चले गये। अब पिप्पलको सुकर्माकी शक्तिका विश्वास हो गया। उन्होंने परमात्माके निर्विशेष तथा सविशेष रूपका स्वरूप पूछा।

सुकर्मा बोले—'मैं पहले पराचीन (निर्विशेष) रूपका वर्णन करता हूँ। इन्द्रादि देवता तथा समस्त जगत् भगवान्के इसी रूपसे मोहित हो रहा है। सचराचर जगत्के स्वामी परमात्मा सर्वव्यापक हैं और सर्वत्र विद्यमान हैं। उनके इस व्यापक रूपको कोई देख नहीं पाता। वेद भी कहते हैं कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। उसके आँख, नाक, कान और मुख आदि नहीं हैं; किंतु वह सारे लोकोंके प्राणियों तथा उनके कर्मोंको देखता है। उनके शब्द सुनता है, समस्त गन्धोंको वह जानता है और सभी फलोंका वही परम भोक्ता है। हाथ-पैर न होनेपर भी वही सब कुछ करनेवाला तथा सब ओर दौड़नेवाला है। वही परमात्मा व्यापक, निर्मल, सिद्ध तथा सिद्धिदाता है। भगवान्का यह व्यापक रूप ही उनका पराचीन रूप है।'

अब भगवान्के चराचरमय व्यक्त अर्वाचीन रूपका वर्णन करते हुए सुकर्माने कहा—'जब सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा प्रजापति ब्रह्माजी स्वयं ही सबका संहार करके भगवान्के स्वरूपमें स्थित होते हैं, तब भगवान् जनार्दन उन्हें अपनेमें लीन करके दीर्घकालतक शेषशय्यापर सोते रहते हैं। प्रलयकाल समाप्त होनेपर जब भगवान् योगनिद्रासे जगते हैं, तब उनकी नाभिसे एक तेजोमय कमल प्रकट होता है। उसी कमलसे ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई। ब्रह्माजीसे इन्द्रादि देवताओं, लोकपालों तथा सचराचर जगत्की उत्पत्ति हुई। यह विराट् स्वरूप ही भगवान्का अर्वाचीन (सविशेष) रूप है।'

पिप्पलने पूछा—'आपकी आयु कम है, आपने कोई तप किया हो ऐसा भी नहीं दीखता; किंतु आपका प्रभाव तथा ज्ञान अपार है। इसका कारण क्या है?'

सुकर्माने कहा—'ब्रह्मन् ! मैंने यज्ञ-याग, धर्मानुष्ठान, ज्ञानोपार्जन तथा तीर्थयात्रा आदि कुछ नहीं किया है। कोई दूसरा पुण्यकर्म भी मेरेद्वारा नहीं हुआ है। मैं तो माता-पिताकी सेवा ही जानता हूँ। मैं अपने हाथसे ही पिता-माताके चरण धोता हूँ, उनके शरीरकी सेवा करता हूँ और उन्हें भोजनादि कराता हूँ। आलस्य छोड़कर रात-दिन मैं अपने पिता-माताकी सेवामें लगा रहता हूँ। जबतक मेरे माता-पिता जीवित हैं, मुझे उनकी सेवाका अलभ्य लाभ मिल रहा है, तबतक मुझे दूसरी तपस्या, तीर्थयात्रा तथा अन्य पुण्यकर्मोंसे क्या प्रयोजन है। विद्वान् पुरुष यज्ञादि करके जो फल पाते हैं, माता-पिताकी सेवासे ही मैंने उसे पा लिया है। जहाँ माता-पिता रहते हैं, वहीं पुत्रके लिये गङ्गा, गया तथा पुष्कर तीर्थ हैं। जो सत्पुत्र माता-पिताके जीवित रहते उनकी सेवा करता है, उसके ऊपर देवता तथा महर्षिगण प्रसन्न होते हैं। पिताकी सेवासे तीनों लोक

प्रसन्न होते हैं। जो पुत्र प्रतिदिन माता-पिताके चरण धोता है, उसे नित्य गङ्गा-स्नानका फल मिलता है। जिस पुत्रने ताम्बूल, वस्त्र, खान-पानकी सामग्री आदिसे माता-पिताका पूजन किया है, वह सर्वज्ञ हो जाता है। द्विजश्रेष्ठ! माता-पिताको स्नान कराते समय उनके शरीरसे जो जलके छींटे पुत्रपर पड़ते हैं, उससे उसको सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नानका फल प्राप्त होता है। यदि पिता पतित, वृद्ध, रोगी, भूखसे व्याकुल, असमर्थ तथा कोढ़ी हो गये हों तथा माताकी भी यही अवस्था हो तो भी जो पुत्र उनकी सेवा करता है, उसपर भगवान् नारायण प्रसन्न होते हैं। वह योगियोंके लिये भी दुर्लभ भगवान्‌के नित्यधामको प्राप्त होता है। जिसने माता-पिताका आदर नहीं किया, उसके यज्ञ, तप, दान, पूजन सभी शुभ कर्म निष्फल और व्यर्थ हैं। पुत्रके लिये तो बस माता-पिता ही धर्म, तीर्थ, मोक्ष, यज्ञ, दान तथा जन्मका सर्वोत्तम फल—सब कुछ है।

'जो अङ्गहीन, दीन, वृद्ध, दुखी तथा महारोगसे पीड़ित माता-पिताको त्याग देता है, वह दुरात्मा पुत्र कीड़ोंसे भरे दारुण नरकमें पड़ता है। जो मूर्ख पुत्र बूढ़े माता-पिताके बुलानेपर भी वहाँ नहीं जाता, वह विष्ठाभोजी ग्रामशूकर होता है तथा फिर हजार जन्मोंतक उसे बराबर कुतेका जन्म मिलता है। घरमें बूढ़े माता-पिताके रहनेपर उन्हें भोजन कराये बिना जो स्वयं पहले भोजन करता है, वह एक हजार जन्मोंतक विष्ठा खानेवाला घृणित गुबरैला होता रहता है। माता-पिताको कटुवचन कहनेवाला बाघ होता है। पीछे भालू होता है। माता-पिताको जो दुरात्मा प्रणाम नहीं करता, वह एक हजार युगोंतक कुम्भीपाक नरकमें निवास करता है।'

अन्तमें सुकर्माने कहा—'पुत्रके लिये पिता-मातासे बढ़कर दूसरा तीर्थ नहीं है। माता-पिता इस लोक तथा परलोकमें भी नारायणके समान हैं। मैं प्रतिदिन माता-पिताकी सेवामें लगा रहता हूँ, इसीसे तीनों लोक मेरे वशमें हो गये हैं। मेरी सर्वज्ञताका कारण माता-पिताकी सेवा ही है और यही मेरे ज्ञानका कारण है। जो माता-पिताकी सेवा नहीं करता, उसे वेदोंके साङ्गोपाङ्ग अध्ययनसे क्या लाभ होता है। यज्ञ, तप, दान तथा पूजनसे भी उसे क्या लाभ होगा। जो माता-पिताका आदर नहीं करता, उसके सभी शुभकर्म व्यर्थ हैं। माता-पिता ही पुत्रके लिये यज्ञ, दान, तप, तीर्थ तथा मोक्ष भी हैं।'

सुकर्माने और भी अनेक उपाख्यान पिप्पलजीको सुनाये। उनके उपदेशोंको सुनकर पिप्पलका गर्व दूर हो गया। अपने पिछले गर्वके कारण वे लज्जित हुए। सुकर्माकी आज्ञा लेकर तथा उन्हें प्रणाम करके वे स्वर्ग चले गये।

पितृभक्त बालक पिप्पलाद

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी शर्मा)

'मेरे पिताके हत्यारोंसे मैं अब बदला लूँगा अन्यथा प्राण त्याग दूँगा।' मूर्च्छावस्थासे उठते ही अथर्वनन्दन दधीचिके औरस पुत्र पिप्पलाद अश्वत्थ-वृक्षोंसे अपना परिचय पाकर गरज उठे।

'वास्तवमें पुत्र वही है, जो अपने पिताके मित्र और शत्रुके साथ मित्रता और शत्रुताका व्यवहार करे, अन्यथा वह पुत्ररूपमें शत्रु माना गया है।'

वनस्पतियों तथा उनके अधिपति चन्द्रदेवके बहुत समझानेपर भी प्रतिहिंसाकी भावना धारण करनेवाले ऋषिपुत्र पिप्पलाद नहीं समझे। अन्तमें चन्द्रदेवसे

उपाय पूछकर ऋषि-बालक पिप्पलाद चक्रेश्वर शिवकी आराधनामें लग गये।

आथर्वण-नन्दन पिप्पलादकी अभ्यर्थनासे मुग्ध हो भगवान् शिवने अभीष्ट वर माँगनेको कहा। पिप्पलादने अपने पितृ-हन्ताओंको नष्ट करनेकी शक्ति माँगी, किंतु भगवान् शिव अपने तृतीय नयनके दर्शन करनेको कहकर अन्तर्धान हो गये। शङ्कराज्ञासे बालक पिप्पलाद फिर तपस्यामें संलग्न हो गये।

'देवाधिदेव शम्भो! मैंने आपके तृतीय नयनकी ज्योतिके दर्शन कर लिये हैं, मुझे शत्रुओंको नष्ट करनेकी शक्ति प्रदान कीजिये।' अकस्मात् तपस्यामें संलग्न पिप्पलाद बोल उठे। 'एवमस्तु' कहते हुए शिवने तृतीय नेत्रसे बड़वाकृति कृत्या उत्पन्न की। प्रकट होते ही कृत्याने पिप्पलादसे आज्ञा माँगी।

'देवताओंको खा डालो' पिप्पलादने आज्ञा दी। कृत्याने 'एवमस्तु' कहते हुए बालक पिप्पलादको पकड़ लिया, 'दधीचिनन्दन! तुम्हारा शरीर भी देवनिर्मित है।' ऐसा सुनते ही पिप्पलाद भय-त्रस्त हो भगवान् शिवके शरणागत हुए। 'कृत्ये! इस योजनभर क्षेत्रसे बाहर अपना कार्य करो।' भक्तभयहारी शिवने कृत्याको आज्ञा दी।

कृत्याकी भयानक ज्वालासे तीनों लोक काँप उठे। देवगण भयभीत होकर औढरदानी शिवकी शरणमें आकर बालक पिप्पलादकी शान्तिके लिये प्रार्थना करने लगे। प्रसन्न होकर आशुतोष शिव पिप्पलादको समझाते हुए उपदेशप्रद वचन बोले—'बेटा पिप्पलाद! यदि देवताओंका नाश कर दिया जाय, तो भी तुम्हारे धर्मनिष्ठ पिता लौटकर नहीं आयेंगे। उन्होंने देवताओंकी कार्यसिद्धिके लिये ही अपने प्राण दिये हैं। संसारमें उनके समान कौन दयामय दीनबन्धु होगा? तुम्हारी पतिव्रता माता प्रातिथेयी भी उन्हींके साथ दिव्यलोकमें चली गयीं। उनकी आज्ञा जीव ही नहीं अपितु वनस्पति आदि भी मानते थे। यहाँ उनकी समता करनेवाली कौन नारीरत्न है, क्या लोपामुद्रा और अरुन्धती भी उनकी बराबरी कर सकती हैं? जिनकी हड्डियोंसे देवगण सर्वविजयी और सुखी रहते हैं, वे तुम्हारे पिता कितने शक्तिशाली थे। वे किसी भी प्रकार शोचनीय नहीं हैं, अतः अपने माता-पिताके सदुद्देश्योंकी रक्षा करते हुए वत्स! तुम शान्त हो जाओ।'

भगवान् शिवके उपदेशसे शान्तचित्त तथा नतमस्तक होकर दधीचिसूनु पिप्पलाद बोले—'वाणी, मन और क्रियाके द्वारा जिन्होंने सदैव मेरा उपकार किया है या करते हैं, उनके हितके लिये मैं, हे पार्वतीसहित भगवान् शिव! आपको नमस्कार करता हूँ। हे शम्भो! मैं जिनके द्वारा अभिवर्धित हुआ हूँ, उनके अभीप्सित कार्योंको भगवान् बालचन्द्रशेखर सिद्ध करें। हे प्रभो! मैं जिनके द्वारा लालित-पालित तथा संवर्धित हुआ हूँ, उन्हींके नामपर यह तीर्थ सकल लोकोंमें प्रख्यात और सर्वाधिक फलप्रद हो, जिससे मैं उनके ऋणसे मुक्त हो सकूँ। हे निरञ्जन! यदि देवगण यह स्वीकार कर लें, तो मैं उन्हें क्षमा कर सकता हूँ।'

पिप्पलादकी निःस्वार्थमयी बातको स्वीकार करके देवगण उनकी प्रशंसा करने लगे कि—'वत्स! वरं ब्रूहि' की ध्वनि सहसा शिवके मुखारविन्दसे उद्वेलित हो उठी। 'भगवन्! यदि आपकी यही आज्ञा है, तो इस पिप्पल-तीर्थमें स्नान तथा आपका अर्चन करनेवाला आपकी सायुज्य मुक्तिका अधिकारी हो', पिप्पलादने वर माँगा। 'एवमस्तु' कहकर भगवान् शिव प्रसन्न हुए।

'दधीचिनन्दन पिप्पलाद! तुम्हारी अपूर्व शिवभक्ति और निःस्वार्थ भावनासे हम बड़े प्रसन्न हैं, वर माँगो।' प्रसन्न होते हुए देवगण कहने लगे।

'मुझे किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं, मैं अपने स्वर्गस्थ माता-पिताके दर्शन करना चाहता हूँ।' निःस्वार्थभावसे बालक पिप्पलाद बोले। देवताओंने

'ऐसा ही हो।' कहकर आकाशमार्गसे आते हुए पुष्पक-विमानकी ओर संकेत करते हुए कहा—'वत्स पिप्पलाद! वह देखो तुम्हारे पिता महर्षि दधीचि और माता प्रातिथेयी विमानसे आ रहे हैं।'

विमानके आते ही पिप्पलादने प्रणामकर आशीर्वाद ग्रहण किया। देवगण, ऋषिदम्पति 'पिप्पलेश्वर महादेवकी जय' कहते हुए अपने लोकोंमें गये।

पिताकी आज्ञासे पिप्पलादने राजा अनरण्यकी पुत्री पद्माका पाणिग्रहण किया और सुखपूर्वक गृहस्थ-जीवन बिताया। इनके बारह विद्वान् पुत्र हुए।

यही बालक पिप्पलाद आगे जाकर बड़े विद्वान् तथा वेद-वेदाङ्गज्ञाता ब्रह्मर्षि हुए। इनका वर्णन 'प्रश्नोपनिषद्' और 'शिवपुराण'—(शतरुद्रसंहिता) में विस्तारपूर्वक आता है।

मातृपितृभक्त श्रवणकुमार

श्रवणकुमार जातिके वैश्य थे। इनके माता-पिता दोनों अंधे हो गये थे। बड़ी सावधानी और श्रद्धासे ये उनकी सेवा करते थे और उनकी प्रत्येक इच्छा पूरी करनेका प्रयत्न करते थे। इनके माता-पिताकी इच्छा तीर्थ-यात्रा करनेकी हुई। इन्होंने एक काँवर बनायी और उसमें दोनोंको बैठाकर कंधेपर उठाये हुए वे यात्रा करने लगे। ब्राह्मणके लिये तो भिक्षा माँगकर जीविका-निर्वाह कर लेनेकी विधि है; किंतु दूसरे वर्णके लोग यदि दरिद्र हों और तीर्थ-यात्रा कर रहे हों तो बिना माँगे जो कुछ अपने-आप कोई दे दे, उसीसे जीवन-निर्वाह करना चाहिये; लेकिन श्रवणकुमार तो वनसे कंद-मूल-फल ले आया करते थे और उसीसे माता-पिताका तथा अपना भी काम चला लेते थे। दूसरेका दिया हुआ अन्न भी वे नहीं लेते थे। इस प्रकार यात्रा करते हुए अयोध्याके समीप वनमें वे पहुँचे। वहाँ रात्रिके समय माता-पिताको प्यास लगी। श्रवणकुमार पानी लेनेके लिये अपना तुम्बा लेकर सरयूतटपर गये।

जबतक कोई पूरी सावधानीसे धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसे समस्त विपत्तियोंसे बचा लेता है; किंतु जब प्रमादवश धर्मकी मर्यादाका ध्यान नहीं रक्खा जाता, तब कोई-न-कोई भूल अवश्य होती है और उसका परिणाम भी सामने आता है। धर्मशास्त्रकी आज्ञा है कि युद्धको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी हाथीको मारना पाप है। दूसरे यह भी मर्यादा है कि बिना पूरा निश्चय हुए केवल अनुमान करके कहीं कोई अस्त्र न चलाया जाय। महाराज दशरथ उस समय अकेले ही आखेटके लिये निकले थे। उन दिनों अयोध्याके समीपके वनमें जंगली हाथी रहते होंगे। श्रवणकुमारने जब पानीमें अपना तुम्बा डुबाया, तब उससे जो शब्द हुआ, उसे सुनकर महाराजने समझा कि कोई हाथी जल पी रहा है। उन्होंने शब्दवेधी बाण छोड़ दिया। एक तो केवल अनुमानके आधारपर बाण चलाया गया, दूसरे हाथी समझकर भी बाण नहीं चलाना था; क्योंकि आखेटमें हाथीका मारना वर्जित है। बाण जाकर श्रवणकुमारकी छातीमें लगा और वे चीख मारकर गिर पड़े तथा कराहने लगे।

महाराज वह शब्द सुनकर वहाँ पहुँचे तो देखा कि एक वल्कलधारी निर्दोष बालक भूमिमें पड़ा है। उसकी जटाएँ बिखर गयी हैं, पात्रका जल गिर गया है और उसका शरीर धूलि तथा रक्तसे लथपथ हो रहा है। उसने महाराजको देखकर कहा—'राजन्! मैंने तो आपका कभी कोई अपराध किया नहीं था, आपने मुझे क्यों मारा? मेरे माता-पिता दुर्बल तथा अंधे हैं। उनके लिये मैं यहाँ जल लेने आया था। वे मेरी प्रतीक्षा करते होंगे। उन्हें क्या

पता कि मैं यहाँ इस प्रकार पड़ा हूँ। पता लग भी जाय तो वे चल नहीं सकते। मुझे अपनी मृत्युका कोई दुःख नहीं; किंतु मुझे अपने माता-पिताके लिये बहुत दुःख है। आप उन्हें जाकर यह समाचार सुना दें और जल पिलाकर उनकी प्यास शान्त करें।'

महाराज दशरथ शोकसे व्याकुल हो रहे थे। श्रवणने उन्हें अपने माता-पिताका पता तथा वहाँ पहुँचनेका मार्ग बताकर आश्वासन दिया—'आपको ब्रह्महत्या नहीं लगेगी। मैं ब्राह्मण नहीं, वैश्य हूँ। पर मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है। आप यह अपना बाण मेरी छातीसे निकाल लें।'

बाणके निकाल लेनेपर व्यथासे तड़पकर एवं काँपकर श्रवणने शरीर छोड़ दिया। अब महाराज दशरथ पश्चात्ताप करते हुए जलके पात्रको सरयूजीके जलसे भरकर श्रवणके माता-पिताके पास पहुँचे। वहाँ पहुँचकर दुःखसे भरे हुए कण्ठसे किसी प्रकार उन्होंने अपने अपराधका वर्णन किया। वे दोनों अंधे वृद्ध दम्पति पुत्रके मरनेकी बात सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो गये। उन्होंने रोते-रोते महाराजसे कहा कि 'हमें अपने पुत्रके मृत शरीरके पास पहुँचा दिया जाय।' महाराज दशरथने दोनोंको कंधेपर उठाकर वहाँ पहुँचाया। उसी समय महाराजने देखा कि मुनिकुमार श्रवण माता-पिताकी सेवाके फलसे दिव्य रूप धारण करके विमानपर बैठकर स्वर्गको जा रहे हैं। उन्होंने आश्वासन देते हुए अपने माता-पितासे कहा—'आप दोनोंकी सेवासे मैंने यह उत्तम गति प्राप्त की है। आप मेरे लिये शोक न करें। आपलोग भी शीघ्र ही मेरे पास आ जाइयेगा।'

इसके पश्चात् उन दोनोंने सूखी लकड़ियाँ एकत्र कराकर उसपर श्रवणका मृत देह रखवाया। सरयूजीमें स्नान करके अपने पुत्रको जलाञ्जलि दी और फिर उसी चितामें गिरकर शरीर छोड़ दिया। अन्तिम समय उन्होंने दुःखके वेगमें महाराजको शाप दे दिया—'जैसे पुत्रके वियोगमें हम दोनों मर रहे हैं, वैसे ही तुम्हारा शरीर भी पुत्रके वियोगमें ही छूटेगा।'

श्रवणके माता-पिता भी अपने पुत्रके पुण्यके प्रभावसे उत्तम लोकको प्राप्त हुए। इस प्रकार श्रवणने माता-पिताकी सेवा करके उस धर्मके प्रभावसे अपना तथा माता-पिताका भी उद्धार कर दिया।

पितृभक्त बालक भीष्म

महर्षि वसिष्ठके शापसे आठों वसुओंको मनुष्य-योनिमें जन्म लेना था। उन्होंने भगवती गङ्गाको अपनी माता बननेके लिये प्रार्थना करके राजी कर लिया। पुरुवंशमें उत्पन्न राजा प्रतीपके पुत्र शान्तनुको गङ्गाजीने अपना पति बनाया। उन्होंने महाराज शान्तनुसे यह वचन ले लिया था कि वे गङ्गादेवीके किसी कार्यमें हस्तक्षेप करेंगे तब वे चली जायँगी। अब जो पुत्र उत्पन्न होता, उसे गङ्गाजी अपनी धारामें ले जाकर डाल आतीं। राजा शान्तनु इसलिये कुछ नहीं बोलते थे कि वे कहीं चली न जायँ। इस प्रकार जब सात पुत्रोंको वे जलमें डाल चुकीं और आठवाँ पुत्र हुआ, तब राजाने कहा—'तुमने मेरे सात पुत्र तो मार ही दिये, एक बालक तो मुझे दे दो।'

गङ्गाजीने कहा—'ये बच्चे तो वसु थे। शापके कारण ये मनुष्य-योनिमें आये थे। मैंने इन्हें फिर इनके लोक भेज दिया। यह आठवाँ बच्चा भी वसु है, पर इसीके अपराधके कारण शाप हुआ था। यह दीर्घकालतक मनुष्यलोकमें रहेगा। आपने मेरे कार्यमें बाधा देकर नियम तोड़ा है, इसलिये अब मैं जाती हूँ। आपका यह पुत्र बड़ा होनेपर आपके पास आ जायगा।' गङ्गाजी उस बालकको लेकर अन्तर्धान हो गयीं।

एक दिन राजा शान्तनु गङ्गा-किनारे घूम रहे थे।

उन्होंने देखा कि गङ्गाजीमें बहुत थोड़ा जल रह गया है। इसका कारण जाननेके लिये आगे बढ़े तो उन्होंने देखा कि एक तेजस्वी बालक दिव्यास्त्रोंका अभ्यास कर रहा है। उसने अपने बाणोंसे गङ्गाकी धारा रोक दी है। गङ्गाजीने प्रकट होकर राजाको बताया कि यह उनका आठवाँ पुत्र है। उस कुमारको राजा शान्तनु अपने साथ ले आये और उसका नाम उन्होंने देवव्रत रक्खा। महर्षि वसिष्ठसे देवव्रतने साङ्गोपाङ्ग वेदोंकी शिक्षा पायी थी। दैत्यगुरु शुक्राचार्य तथा देवगुरु बृहस्पतिने उनको राजनीतिकी शिक्षा दी थी तथा भगवान् परशुरामने उन्हें धनुर्वेदकी शिक्षा दी थी।

महाराज शान्तनु एक दिन यमुनातटपर घूम रहे थे। वहाँ उन्हें बहुत उत्तम सुगन्ध मिली। वह सुगन्ध योजनगन्धा सत्यवतीके शरीरकी थी। सुगन्धकी खोज करते हुए राजा सत्यवतीके पास पहुँचे। वे उसके स्वरूपपर मोहित हो गये और उन्होंने उसे अपनी पत्नी बनाना चाहा। सत्यवतीका पालन-पोषण निषादराजके यहाँ हुआ था। राजा शान्तनुने जब निषादराजसे उनकी कन्या माँगी, तब निषादराजने कहा—'मैं अपनी कन्या आपको तभी दे सकता हूँ, जब आप यह प्रतिज्ञा करें कि आपके पीछे इस कन्याके गर्भसे उत्पन्न पुत्र ही राज्यका अधिकारी होगा।' यद्यपि महाराज शान्तनु सत्यवतीपर आसक्त हो गये थे; परंतु अपने विनयी, सुशील तथा योग्य पुत्र देवव्रतको उसके अधिकारसे वञ्चित करना उन्होंने स्वीकार नहीं किया और वे लौट आये।

महाराज शान्तनु लौट तो आये; पर उनका चित्त सत्यवतीमें ही लगा रहा। इस चिन्तासे वे दुर्बल पड़ने लगे। देवव्रतने मन्त्रियों तथा सेवकोंसे पूछकर किसी प्रकार पिताकी चिन्ताका कारण जान लिया। वे बड़े-बूढ़े क्षत्रियोंको लेकर निषादराजके यहाँ गये और उनकी कन्याको अपने पिताके लिये माँगा। निषादराजने कहा—'यह कन्या मेरी नहीं है। यह आप-जैसे ही उच्च राजकुलमें उत्पन्न हुई है। इसके पिताने मेरे यहाँ इसे पालन-पोषणके लिये रक्खा है और वे तप करने चले गये हैं। उनकी भी इच्छा यही है कि इसका विवाह आपके पितासे हो; किंतु इस सम्बन्धमें यह दोष है कि इसके पुत्रोंकी आपसे प्रतिद्वन्द्विता हो जायगी और आपसे शत्रुता करके तो देवता भी जीवित नहीं रह सकते।'

देवव्रतने कहा—'निषादराज! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि इसके गर्भसे उत्पन्न पुत्र ही हमारा राजा होगा।'

निषादराजको संतोष नहीं हुआ इतनेसे। उन्होंने कहा—'राजकुमार! आपकी प्रतिज्ञा तो आप-जैसे उत्तम पुरुषके ही योग्य है; किंतु मुझे भय है कि आपका पुत्र सत्यवतीके पुत्रसे राज्य छीन लेगा।'

देवव्रतने कुछ सोचकर हाथ उठाकर कहा—'मैंने अपने पिताके लिये राज्यका त्याग तो पहले ही कर दिया था, अब दूसरी प्रतिज्ञा करता हूँ कि आजसे आजीवन ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करूँगा।' इस प्रतिज्ञाके करते ही आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। देवताओंने इतनी भीषण (कठोर) प्रतिज्ञा करनेके कारण देवव्रतका नाम भीष्म रक्खा।

जब निषादराजकी कन्या लाकर भीष्मने अपने पिताको दी, तब शान्तनुने उन्हें आशीर्वाद देते हुए कहा—'मेरा निष्पाप पुत्र जबतक जीना चाहेगा, तबतक मृत्यु उसका स्पर्श नहीं कर सकेगी। जब मेरा पुत्र इच्छा करेगा, तभी मृत्यु उसे छू सकेगी।'

अपनी दृढ़ प्रतिज्ञाका जीवनभर भीष्मपितामहने पालन किया और महाभारतके युद्धमें जब वे शरशय्यापर गिर पड़े, शरीरके रोम-रोममें बाण लगे होनेपर भी पिताके वरदानके प्रभावसे सूर्यके उत्तरायण होनेतक जीवित बने रहे।

पितृभक्त खलासी-बालक

एक आदमी जहाजमें खलासीका काम करता था। उसका लड़का जब बारह वर्षकी उम्रका हुआ, तब वह भी अपने बापके साथ खलासीका काम करने लगा। बापने अपने लड़केको अच्छी तरहसे तैरना सिखलाया था। एक दिन तूफानसे जहाज डोलने लगा और जहाजपरसे एक मुसाफिरकी छोटी लड़की समुद्रमें गिर पड़ी। उसको गिरते देखकर खलासी भी समुद्रमें कूद पड़ा और उस लड़कीका कपड़ा पकड़कर उसको छातीपर रखकर तैरता हुआ जहाजके पास आने लगा; परंतु इतनेहीमें उसने देखा कि एक मगर उसको पकड़नेके लिये आ रहा है। यह देखते ही वह खलासी भयसे काँपने लगा। जहाजके ऊपरके आदमी बंदूक लेकर मगरको निशाना बनाकर गोली दागने लगे, परंतु कोई भी हिम्मत करके उसकी मददके लिये पानीमें न उतरा।

जहाजपरसे जितनी गोलियाँ चलायी गयीं, उनमेंसे एक भी मगरको न लगीं। इससे वह धीरे-धीरे पास आकर खलासीको पकड़नेके लिये तैयार हो गया। खलासीका लड़का बड़ा ही पितृभक्त था। पिताको मौतके मुखमें जाते देखकर वह एक धारवाली तलवार लेकर समुद्रमें कूद पड़ा और झटसे मगरकी ओर बढ़कर उसके पेटमें तलवार चुभो दी। इससे मगर गुस्सेमें आकर उसको पकड़ने चला, पर लड़का उसके पंजेमें न आकर कुशलतासे उसके शरीरके ऊपर-ऊपर तैरता हुआ तलवारकी चोटें करने लगा।

इतनेमें खलासी उस लड़कीको लेकर जहाजके पास पहुँच गया और जहाजपरके लोगोंने उसको तथा उसके हाथकी लड़कीको जहाजके अंदर ले लिया। खलासीके जहाजमें आ जानेके बाद सबकी नजर पानीके अंदर खिंच गयी और उन्होंने देखा कि मगर और खलासीके लड़केकी लड़ाई जैसी-की-तैसी चल रही है। तलवारके बहुतेरे घाव लगनेके कारण मगर कुछ कमजोर हो गया था और उसके शरीरसे इतना अधिक रक्त निकल रहा था कि उसके आस-पासके समुद्रका पानी खून-जैसा दीख पड़ता था। दूसरी ओर लड़का भी बहुत ही थक गया था और डूबने-जैसा गोता खा रहा था। इतनेमें मगर कमजोर होनेके कारण जरा धीमा पड़ा और वह लड़का हिम्मत करके जोशके साथ तैरता हुआ जहाजकी ओर बढ़ा और जैसे-तैसे करके जहाजके कुछ पास आ गया। जहाजके ऊपरके लोगोंने एक रस्सी उसकी ओर फेंकी और उसकी छोरको लड़केने पकड़ लिया। इसके बाद लोग रस्सी खींचने लगे; परंतु इतनेहीमें मगर पीछे जोरसे बढ़ा और लड़केके दोनों पैरोंको वह कमरतक निगल गया।

पश्चात् उसने इतने जोरसे झटका मारा कि उसके शरीरका निचला भाग, जो मगरके मुँहमें था, कटकर रह गया और मगर उसे मुँहमें लेकर पानीमें डुबकी मारकर समुद्रके तले जा बैठा। लड़का इससे एकदम शिथिल हो गया। फिर भी उसने पकड़ी हुई रस्सी न छोड़ी। इससे जहाजके लोगोंने उसे जहाजमें ले लिया। लड़केकी यह दुर्दशा देखकर उसके बापको मूर्च्छा आ गयी और वह पछाड़ खाकर जहाजमें गिर पड़ा। थोड़ी देरके बाद सचेत होनेपर उसने देखा कि लड़का उसके पास पड़ा हुआ एक नजरसे उसकी ओर देख रहा है। बापको होशमें आते देखकर लड़का बहुत खुश हुआ और फिर उसकी गोदमें सिर करके पहलेकी तरह एकटक उसके मुँहकी ओर देखने लगा। खलासीकी आँखोंसे अश्रुधारा बह रही थी और कलेजा धड़क रहा था, इससे वह बोल नहीं सकता था।

उसकी ऐसी अवस्था देखकर लड़का हिचकती हुई आवाजसे, पर बहुत ही प्रसन्नचित्तसे अपने बापसे बोला—'बाबा! क्यों आप इतने उदास हो रहे हैं,

मैं तो अपना धन्यभाग्य समझता हूँ कि आपके प्राण जब संकटमें थे, तब मुझसे कुछ मदद हो सकी। यही नहीं बल्कि आपकी गोदमें सिर रखकर तथा स्नेहसे उभरी हुई आपकी आँखोंकी ओर देखकर मरनेका महादुर्लभ अवसर मुझे प्राप्त हुआ है। मेरी मृत्युसे आप तनिक भी खेद न करें और मेरी दयामयी माताको भी शोक न करने दें। जो पूरा भाग्यशाली होता है, वही इस प्रकारकी सुखभरी मौत पाता है। बाबा! अब आखिरी प्रणाम! मुझसे जो अपराध हुआ है उसके लिये क्षमा माँगता हूँ। मेरी जीभ और आँखें खिंची जा रही हैं, इससे मैं बोल नहीं सकता। एक बार अपने प्रेमभरे हाथको मेरे सिरपर फेर दो।' इतना बोलते-बोलते उसकी जीभ थक गयी और उसकी आँखें हमेशाके लिये बंद हो गयीं। कैसा भाग्यशाली पितृभक्त लड़का था।

पितृभक्त कासाबिआनका

(लेखक—श्रीमुबारक अली)

लगभग डेढ़ सौ बरस पहलेकी बात है। अफ्रीका महाद्वीपके मिस्रदेशमें नील नदीके किनारे अंगरेजों और फ्रान्सीसियोंमें बड़े जोरोंसे लड़ाई चल रही थी। फ्रान्सीसी फौजके एक बड़े अफ़सरके साथ उसका बेटा भी था, जिसका नाम था—कासाबिआनका। कासाबिआनका कहनेके लिये तो दस बरसका बालक था, परंतु अपने पिताकी आज्ञा तुरंत मानता था। पिताकी आज्ञा टालना वह जानता ही नहीं था। इसलिये उसका पिता हमेशा उससे बहुत खुश रहता था।

एक दिन जब वह अफसर लड़ाईपर जाने लगा, तब कासाबिआनकासे बोला—'देखो बेटा! जहाजपर बड़ी होशियारीसे रहना पड़ता है। ऐसा न हो कि मैं तो लड़ाईपर चला जाऊँ और तुम यहाँ ऊधम मचाओ, या इधर-उधर उछल-कूद करते फिरो। बस, आरामसे अपनी जगहपर रहना। इधर-उधर न जाना।' यह कहकर अफसर लड़ाईपर चला गया और कासाबिआनका अपने कमरेमें बैठकर किताबोंके पन्ने उलटने लगा।

उधर लड़ाईमें वह अफसर मारा गया, पर कासाबिआनकाको इस बातकी खबरतक न लगी। इधर जहाजपर बड़े धमाकेसे तोपका गोला आकर गिरा और उसमें आग लग गयी। देखते-देखते जहाज धायँ-धायँकर जलने लगा। चारों ओर लाल-लाल लपटें उठने लगीं और सारे आसमानमें धुआँ-ही-धुआँ भर गया। अब तो सब लोग अपनी-अपनी जान लेकर भाग निकले, पर कासाबिआनका अपने कमरेके सामने रेलिंग पकड़े चुपचाप खड़ा रहा। टस-से-मस भी न हुआ।

यह देखकर लोगोंने आवाजें देना शुरू किया—'भाग-भाग! अरे लड़के भाग! वहाँ खड़ा होकर धधकती आगमें क्यों अपनी जान देता है।'

परंतु कासाबिआनकाने उनको हर बार एक ही उत्तर दिया—'भागना कैसा—मैं यहाँसे हिल भी नहीं सकता। मेरे लिये पिताजी यही आज्ञा दे गये हैं—सिर्फ यही आज्ञा।'

इसके साथ-साथ वह अपने मनमें सोचता था—'पिताजी मुझे यहीं ठहरनेकी आज्ञा दे गये हैं। उनकी आज्ञाके बिना कहीं आना-जाना ठीक नहीं। यदि कहीं वे आ जायँगे और मुझे दूसरी जगह देखेंगे तो अप्रसन्न होंगे। जब वे आज्ञा देंगे, तभी यहाँसे हटूँगा।'

और लपटें बढ़ती गयीं—बढ़ती गयीं, यहाँतक कि देखते-देखते कासाबिआनकाके पास आ पहुँचीं; परंतु वह सपूत अपनी जगहसे न हिला, न हिला। जब आँचसे उसका शरीर झुलसने लगा, तब उसने

घबराकर आवाज लगायी—'पिताजी ! पिताजी ! आप कहाँ हैं ? देखिये-देखिये, आग मेरे शरीरको जलानेके लिये झपटती चली आ रही है । सब लोग अपनी-अपनी जान लेकर भाग रहे हैं । एक अकेला मैं ही इन भयंकर लपटोंमें बच रहा हूँ । अब मेरे लिये आपकी क्या आज्ञा होती है ? हाय-हाय ! आप उत्तर क्यों नहीं देते ? क्या आप यही चाहते हैं कि मैं इस आगमें जलकर भस्म हो जाऊँ ?'

परंतु उसे आज्ञा देनेवाला वहाँ कौन बैठा था ! वह तो पहले ही संसार छोड़ चुका था । अन्तमें उस कोमल बालकको आगकी लपटोंने चारों ओरसे घेर लिया । बेचारा थोड़ी ही देरमें तड़प-तड़पकर वहीं जल मरा—राखका ढेर हो गया, परंतु अपनी जगहसे हटा तिलभर भी नहीं । ऐसा था वह लोहेका हृदय रखनेवाला कोमल बालक !

सपूत सनातन

सनातनका जन्म उड़ीसामें हुआ था । इसके परिवारमें कुल चार प्राणी थे । सनातनका छोटा एक वर्षका भाई और स्नेहमय माता-पिता । इस सीमित परिवारमें यद्यपि धन-बाहुल्य नहीं था; किंतु थी सरलता, सज्जनता, सदाशयता और सत्प्रेम ! प्रातःसायं दम्पति बालकोंको गोदमें लिये भगवच्चर्चा करते । संतोषके कारण सुख था, शान्ति थी और पवित्रतापूर्ण जीवन जगदाधार स्वामीकी ओर अग्रसर होता जा रहा था ।

उड़ीसामें एक बार दो वर्षोंतक लगातार भयानक अकाल पड़ा । सनातनका क्षेत्र उसकी लपेटसे बच नहीं सका । अन्न-जल और तृणादिके अभावमें मनुष्य और पशु-पक्षी छटपटा-छटपटाकर कालके कराल गालमें जाने लगे । दिन-दोपहर डाके पड़ने लगे ।

उस समय सनातन कुल ग्यारह वर्षका था और उसके छोटे भाईकी आयु चार वर्षकी थी । पिता सूर्योदयके पूर्व ही घरसे बाहर निकल जाता और सूर्यास्तके बादतक दो-एक मुट्ठी अन्न कठिनाईसे एकत्र कर पाता । उतनेसे किसका पेट भरता । पिता अपनी प्राणप्रिय पत्नी और संतानका मुँह देखकर अधीर हो जाता । उसका हृदय विदीर्ण होने लगता; परंतु वह करता ही क्या ? वश ही उसका क्या था ? भयंकरता यहाँतक बढ़ी कि कई दिनों कुछ भी नहीं मिला । घरकी सारी चीजें बिक चुकी थीं । सनातनके पिताके पास कोई साधन नहीं था । उसने बाहर जानेके लिये अपनी पत्नीसे कहा । पत्नी जानती थी कि इस विवशताने इन्हें जीवनका मोह छुड़ा दिया है । उसने बार-बार मना किया; किंतु एक दिन सनातनके पिता रात्रिमें चुपकेसे चले गये और कहाँ चले गये, कैसे बताया जाय, जब वे पुनः कभी वापस नहीं आये ।

ग्यारह वर्षकी आयु कोई अधिक नहीं होती । सनातन तो रुग्ण और जर्जर-सा हो गया था । अन्नके बिना अस्थिपञ्जरके अतिरिक्त कुछ नहीं रह गया था उसकी कायामें । उसकी मा तो शय्यासे सट गयी थी, पर बालक बुद्धिमान् था और था मातृभक्त ! माता और भाईकी रक्षाके लिये भीख माँगनेको वह स्वयं निकल पड़ा । प्रतिदिन वह तीन-चार मील चलता और हरित तृण, वृक्षमूल या थोड़ा बहुत अन्न आदि जो कुछ उपलब्ध होता, सनातन स्वयं न खाकर अपनी जन्म-दायिनी जननी और छोटे भाईके लिये ले आता । उन लोगों-को खिलाकर वह बहुत थोड़ा अपने मुँहमें डालता ।

शरीर कितना सहता । सनातन मूर्च्छित हो गया । चेतना हुई, पर 'मा और अबोध भाई ?' सनातन उठता और गिर पड़ता । मा और भाईको अन्न दिये तीन दिन बीत चुके थे । सनातनने पासमें पड़ी पिता-की लाठी उठा ली । उसीके सहारे वह अन्नके लिये चल पड़ा । कुछ दूर जानेपर फिर गिर पड़ा, मूर्च्छित हो

गया । चेतना आयी, तो आगे बढ़ा । इसी प्रकार गिरता-पड़ता वह बढ़ रहा था ।

'भैया ! थोड़ा भात मुझे भी !' सनातनने एक स्त्रीको भात बनाते देखकर अत्यन्त दीन और कातर वाणीमें याचना की । स्त्रीने बालककी ओर देखा । दीनता-दरिद्रता और पीड़ाकी जीवित मूर्ति देखकर स्त्री काँप गयी । वह सिहर उठी । उसका हृदय करुणार्द्र हो गया । उसने थोड़ा भात सनातनको एक पत्तेमें दे दिया । सनातन भात लिये चल पड़ा । गिरा, उठा । फिर गिरा, फिर उठा; पर मातृ-भ्रातृ-प्रेमी बालक सनातन अपने प्राणकी चिन्ता किये बिना लाठीके सहारे भात लिये भागा जा रहा था ।

कहते हैं, भूखी मा भी अपना पुत्र त्याग देती है और भूखी साँपिन अपनी ही संततिको निगल जाती है । सनातन भी भूखसे आकुल था । उसके प्राण वशमें नहीं थे, फिर भी वह स्वयं नहीं खाकर मा और भाई-की ओर दौड़ा जा रहा था ।

'भैया !' छोटा भाई सनातनको देखते ही उसकी ओर लपका । सनातनने थोड़ा-सा भात उसके मुँहमें दे दिया । उसकी आकृतिपर जीवन आ गया । उसने और भातके लिये भाईका हाथ पकड़ा, पर सनातन माकी ओर बढ़ गया । छोटा भाई चिल्ला उठा । 'क्या है रे !' माने धीरेसे करवट लेकर कहा । 'थोड़ा भात है मा !' सनातनने बताया और भात माके सामने रख दिया ।

सनातनकी सर्वथा अशक्य काया और अपने तथा पुत्रके जीवनकी रक्षाके लिये साहस और प्रयत्न देखकर माताकी गड्ढेमें धँसी आँखें गीली हो गयीं । 'भगवान् तेरा कल्याण करें बेटा !' माने हिचकते हुए गद्गद कण्ठसे कहा 'तेरे-जैसे सपूत बड़े भाग्यसे मिलते हैं ।'

वीर बालक लव-कुश

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने मर्यादाकी रक्षाके लिये पतिव्रताशिरोमणि श्रीजानकीजीका त्याग कर दिया । श्रीराम और जानकी परस्पर अभिन्न हैं । वे दोनों सदा एक हैं । उनका यह अलग होना और मिलना तो एक लीलामात्र है । भगवान् श्रीरामने अपने यशकी रक्षाके लोभसे, अपयशके भयसे या किसी कठोरतावश श्रीजानकीजीका त्याग नहीं किया था । वे जानते थे कि श्रीसीता सम्पूर्णरूपसे निर्दोष हैं । श्रीसीताजीके वियोगमें उन्हें कम दुःख नहीं होता था । यदि सीता-त्यागमें कोई कठोरता है तो वह जितनी सीताजीके प्रति है, उतनी ही या उससे भी अधिक श्रीरामकी अपने प्रति भी है; लेकिन भगवान्का अवतार संसारमें मर्यादाकी स्थापनाके लिये हुआ था । यदि आदर्श पुरुष अपने आचरणमें साधारण ढील भी रहने दें तो दूसरे लोग उनका उदाहरण लेकर बड़े-बड़े दोष करने लगते हैं । विवश होकर पवित्रतासे श्रीसीताजीको लंकामें रावणके यहाँ बन्दिनी बनकर अशोक-वाटिकामें रहना पड़ा था । अब कुछ लोग इसी बातको लेकर अनेक प्रकारकी बातें कहने लगे थे । 'कहीं इसी बातको लेकर स्त्रियाँ अपने अनाचारका समर्थन न करने लगें और पुरुष भी आचरण बिगाड़ न लें ।' यह सोचकर मर्यादापुरुषोत्तमको अपने ही प्रति यह भीषण कठोरता करनी पड़ी । उन्हें शासकोंके सामने भी यह आदर्श रखना था कि प्रजाके आदर्शकी रक्षाके लिये शासकको कहाँतक त्याग करनेको उद्यत रहना चाहिये ।

भगवान् श्रीरामकी आज्ञासे विवश होकर लक्ष्मणजी श्रीजानकीको वनमें महर्षि वाल्मीकिके आश्रमके समीप उस समय छोड़ आये, जब श्रीसीताजी गर्भवती थीं । वाल्मीकिजी वहाँसे श्रीजानकीजीको अपने आश्रममें ले गये और वहीं एक साथ यमजरूपमें लव-कुशका जन्म

हुआ । आश्रममें महर्षिने ही दोनों बालकोंके सब संस्कार कराये और महर्षिने ही उनको समस्त शास्त्रों तथा अस्त्र-शस्त्रकी भी शिक्षा दी । इसके अतिरिक्त महर्षिने अपने 'वाल्मीकीय रामायण' का गान भी उनको सिखाया । सात काण्ड और पाँच सौ सर्गवाले इस चौबीस हजार श्लोकोंमें बने श्रीरामचरितको जब दोनों कुमार अपने कोमल, सुमधुर स्वरमें संगीत-शास्त्रके अनुसार गान करने लगते थे, तब श्रोता मुग्ध हो जाते थे ।

उधर अयोध्यामें भगवान् श्रीरामने अश्वमेध-यज्ञकी दीक्षा ली । विधिपूर्वक पूजा करके श्यामकर्ण अश्व छोड़ा गया । बड़ी भारी सेनाके साथ राजकुमार पुष्कल तथा सेनापति कालजित्‌के साथ शत्रुघ्नजी उस अश्वकी रक्षामें चले । श्रीहनुमान्‌जी तथा वानरराज सुग्रीव भी वानर एवं रीछोंकी सेना लेकर शत्रुघ्नजीके साथ चल रहे थे । वह अश्व अपने मनसे जहाँ चाहता था, वहाँ जाता था । सेना उससे कुछ पीछे रहकर चलती थी, जिसमें घोड़ेको कोई असुविधा न हो । अनेक नरेशोंने स्वयं शत्रुघ्नजीको कर दिया, कुछने समझाने-बुझानेपर कर देना स्वीकार कर लिया । कहीं-कहीं संग्राम भी करना पड़ा । इस प्रकार सर्वत्र विजय करते हुए वह यज्ञका अश्व घूमता हुआ महर्षि वाल्मीकिके तपोवनके पास वनमें पहुँचा ।

कुमार लव उस समय मुनिकुमारोंके साथ वनमें खेल रहे थे । मणिजटित स्वर्णके आभूषणोंसे सजे उस परम सुन्दर घोड़ेको देखकर सब बालक उसके समीप आ गये । बड़े स्पष्ट तथा सुन्दर अक्षरोंमें लिखा हुआ एक घोषणापत्र अश्वके मस्तकपर बँधा था । उस घोषणापत्रमें बताया गया था 'कि यह अयोध्याके चक्रवर्ती सम्राट् महाराज श्रीरामके यज्ञका अश्व है और परम-पराक्रमी शत्रुघ्नकुमार इसकी रक्षा कर रहे हैं । जिस देशसे अश्व निकल जायगा, वह देश जीता हुआ समझा जायगा । जिस किसी क्षत्रियमें साहस हो और जो अयोध्याके महाराजको अपना सम्राट् न मानना चाहे, वह अश्वको पकड़े और युद्ध करे ।' इस घोषणापत्रको पढ़कर लवको क्रोध आ गया । उन्होंने घोड़ेको पकड़कर एक वृक्षमें बाँध दिया और स्वयं धनुष चढ़ाकर युद्धके लिये खड़े हो गये । साथके मुनिबालकोंने पहले तो उन्हें रोकनेका प्रयत्न किया; किंतु जब वे न माने, तब युद्ध देखनेके लिये वे सब कुछ दूर खड़े हो गये ।

घोड़ेके साथ चलनेवाले रक्षकोंने देखा कि एक बालकने अश्वको बाँध दिया है । उनके पूछनेपर लवने कहा—'मैंने इस घोड़ेको बाँधा है । जो इसे खोलनेका प्रयत्न करेगा, उसपर मेरे भाई कुश अवश्य क्रोध करेंगे !' रक्षकोंने समझा कि यह बालक तो यों ही बचपनकी बातें करता है । वे घोड़ेको खोलनेके लिये आगे बढ़े । लवने देखा कि ये लोग मेरा कहना नहीं मानते तो बाण मारकर उन सबकी भुजाएँ उन्होंने काट दीं । बेचारे रक्षक वहाँसे भागे और उन्होंने शत्रुघ्नजीको अश्वके बाँधे जानेकी सूचना दी ।

अपने सैनिकोंकी कटी भुजाएँ देखकर और उनकी बातें सुनकर शत्रुघ्नजी समझ गये कि अश्वको बाँधनेवाला बालक कोई साधारण बालक नहीं है । सेनापतिको उन्होंने व्यूह-निर्माणकी आज्ञा दी । सम्पूर्ण सेना दुर्भेद्य व्यूहके रूपमें खड़ी की गयी और तब सेनाके साथ सब लोग जहाँ अश्व बँधा था, वहाँ आये । एक सुकुमार छोटेसे बालकको धनुष चढ़ाये सम्मुख खड़े देखकर सेनापतिने समझानेका प्रयत्न किया । लवने कहा—'तुम युद्धसे डरते हो तो लौट जाओ ! मैं तुम्हें छोड़े देता हूँ । इस अश्वके स्वामी श्रीरामसे जाकर कहो कि लवने उनका घोड़ा बाँध लिया है ।' अन्ततः वहाँ युद्ध प्रारम्भ हो गया । लवके बाणोंकी वर्षासे सेनामें भगदड़ पड़ गयी । हाथी, घोड़े और सैनिक कट-कटकर गिरने लगे । सेनापति कालजित्‌ने पूरे पराक्रमसे युद्ध किया; किंतु लवने उसके सब अस्त्र-शस्त्र खेल-खेलमें काट डाले

और फिर उसकी दोनों भुजाएँ और मस्तक भी काट गिराया।

पहले तो शत्रुघ्नजीको अपने सैनिकोंद्वारा मिले इस समाचारपर विश्वास ही नहीं होता था कि कोई उनके यमराजके लिये भी दुर्धर्ष सेनापतिको मार सकता है। अन्तमें पूरी बातें सुनकर और मन्त्रीसे सलाह लेकर वे स्वयं सम्पूर्ण सेनाके साथ युद्धक्षेत्रमें आ गये। बड़ी भारी सेनाने लवको चारों ओरसे घेर लिया। लवने जब देखा कि मैं शत्रुओंसे घिर गया हूँ, तब अपने बाणोंसे उन सैनिकोंको छिन्न-भिन्न करने लगे। सैनिकोंको भागते देख पुष्कल आगे बढ़े। थोड़ी ही देरके संग्राममें लवके बाणने पुष्कलको मूर्छित कर दिया। पुष्कलके मूर्छित होनेपर क्रोध करके स्वयं हनुमान्‌जी लवसे युद्ध करने आये। उन्होंने लवपर पत्थरों तथा वृक्षोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी; किंतु लवने उन सबके टुकड़े उड़ा दिये। क्रोधमें भरकर हनुमान्‌जीने लवको अपनी पूँछमें लपेट लिया। इस समय लवने अपनी माताका स्मरण करके उनकी पूँछपर घूँसेसे मारा। इस घूँसेकी चोटसे हनुमान्‌जीको बहुत पीड़ा हुई। लवको उन्होंने छोड़ दिया। अब लवने उनको इतने बाण मारे कि वे भी मूर्छित हो गये। इसके पश्चात् शत्रुघ्नजी युद्ध करने आये। घोर संग्रामके पश्चात् लवने बाण मारकर शत्रुघ्नजीको भी मूर्छित कर दिया। शत्रुघ्नको मूर्छित देखकर सुरथ आदि नरेश लवपर टूट पड़े। अकेले बालक लव बहुत बड़े-बड़े अनेकों महारथियोंसे संग्राम कर रहे थे। शत्रुघ्नजीकी भी मूर्छा कुछ देरमें दूर हो गयी। अब इस बार शत्रुघ्नजीने भगवान् श्रीरामका दिया वह बाण धनुषपर चढ़ाया, जिससे उन्होंने लवणासुरको मारा था। उस तेजोमय बाणके छातीमें लगनेसे लव मूर्छित होकर गिर पड़े। मूर्छित लवको रथपर रखकर शत्रुघ्नजी अयोध्या ले जानेका विचार करने लगे।

जो मुनिकुमार दूर खड़े युद्ध देख रहे थे, उन्होंने दौड़कर महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें श्रीजानकीजीको समाचार दिया—'मा! तुम्हारे छोटे बेटेने किसी राजाके घोड़ेको बाँध दिया था। उस राजाके सैनिकोंने उससे युद्ध किया। अब लव मूर्छित हो गया है और वे लोग उसे पकड़कर ले जाना चाहते हैं।' बालकोंकी बातें सुनकर माता जानकी दुखित हो गयीं। उनके नेत्रोंसे आँसू गिरने लगे। उसी समय वहाँ कुमार कुश आये। उन्होंने मातासे तथा मुनिकुमारोंसे पूछकर सब बातें जान लीं। अपने भाईको मूर्छित हुआ सुनकर वे क्रोधमें भर गये। माताके चरणोंमें प्रणाम करके उन्होंने आज्ञा ली और धनुष चढ़ाकर युद्धभूमिकी ओर दौड़ पड़े।

लव उस समय रथपर पड़े थे; किंतु उनकी मूर्छा दूर हो गयी थी। दूरसे ही अपने भाईको आते उन्होंने देख लिया और वे कूदकर रथसे नीचे आ गये। अब कुशने पूर्वकी ओरसे रणभूमिमें खड़े योद्धाओंको मारना प्रारम्भ किया और लवने पश्चिमसे। दोनों क्रोधमें भरे बालकोंकी मारसे वहाँ युद्धभूमि लाशोंसे पट गयी। बड़े-बड़े योद्धा भागकर प्राण बचानेका प्रयत्न करने लगे। जो भी युद्ध करने आता, उसका शरीर कुछ क्षणोंमें बाणोंसे छलनी हो जाता था। हनुमान्‌जी और अंगदको बाण मारकर लव तथा कुशने आकाशमें फेंक दिया। जब ये दोनों भूमिपर गिरने लगते, तब फिर बाण मारकर लव-कुश इन्हें ऊपर उछाल देते। इस प्रकार गेंदकी भाँति उछलते-उछलते इन्हें बड़ी पीड़ा हुई और जब कृपा करके दोनों कुमारोंने इनपर बाण चलाना बंद कर दिया, तब ये पृथ्वीपर गिरकर मूर्छित हो गये। कुशने शत्रुघ्नजीको भी मूर्छित कर दिया बाण मारकर। महावीर सुरथ कुशके बाणोंके आघातसे भूमिपर पड़ गये और वानरराज सुग्रीवको कुशने वारुणपाशसे बाँध लिया। इस प्रकार कुशने युद्धभूमिमें विजय प्राप्त की।*

* श्रीरामीय अश्वमेधपुराणमें ऐसा वर्णन है कि शत्रुघ्नके

वीर बालक कुमार लव-कुश

विजयके पश्चात् लवने कहा—'भैया ! आपकी कृपासे मैं इस समर-सागरके पार हुआ। अब इस युद्धकी स्मृतिके लिये हम कोई उत्तम चिह्न ले चलें।' दोनों भाई पहले शत्रुघ्नके समीप गये और वहाँ उनके मुकुटमें जड़ी हुई बहुमूल्य मणि उन्होंने निकाल ली। इसके पश्चात् लवने पुष्कलका किरीट उतार लिया। दोनों भाइयोंने उनकी भुजाओंमें पड़े मूल्यवान् अंगद तथा अस्त्र-शस्त्र भी ले लिये। अब लवने कहा—'भैया ! मैं इन दोनों बड़े बंदरोंको भी लूँगा। इनको देखकर हमारी माता हँसेगी, मुनिकुमार प्रसन्न होंगे और मेरा भी मनोरञ्जन होगा।' इतना कहकर दोनों भाइयोंमेंसे एक-एकने सुग्रीव तथा हनुमान्‌जीकी पूँछ पकड़ी और उन्हें पूँछ पकड़कर उठाये हुए वे आश्रमकी ओर चल पड़े।

अपने पुत्रोंको दूरसे ही आते देख माता जानकीको बड़ी प्रसन्नता हुई। वे तो द्वारपर खड़ी इनके सकुशल लौटनेकी प्रतीक्षा ही कर रही थीं। जब उन्होंने देखा कि उनके कुमार दो वानरोंको पूँछ पकड़कर लिये आ रहे हैं, तब उन्हें हँसी आ गयी; लेकिन वानरोंको पहचानते ही उन्होंने कहा—'तुम दोनोंने इन्हें क्यों पकड़ा है ? छोड़ो ! शीघ्र इनको छोड़ दो। ये लंकाको भस्म करनेवाले महावीर हनुमान् हैं और ये वानरराज सुग्रीव हैं। तुमने इनका अनादर क्यों किया ?'

लव-कुशने सरलभावसे युद्धका कारण तथा परिणाम बता दिया। माता जानकीने कहा—'पुत्रो ! तुम दोनोंने बड़ा अन्याय किया है। वह तो तुम्हारे पिताका ही अश्व है। उसे शीघ्र छोड़ दो और इन वानरोंको भी छोड़ दो।'

माताकी बात सुनकर लव-कुशने कहा—'माताजी ! हमने तो क्षत्रिय-धर्मके अनुसार ही घोड़ेको बाँधा था और युद्ध करनेवाले लोगोंको हराया था। महर्षि वाल्मीकिने हमें यही पढ़ाया है कि धर्मपूर्वक युद्ध करनेवाला क्षत्रिय पापका भागी नहीं होता। अब आपकी आज्ञासे हम इन वानरोंको तथा अश्वको भी छोड़े देते हैं।'

श्रीजानकीजीने संकल्प किया—'यदि मैंने मनसे भी भगवान् श्रीरामको छोड़कर कभी किसी पुरुषका चिन्तन न किया हो, यदि मेरा चित्त धर्ममें अविचल-भावसे स्थिर रहा हो तो युद्धमें घायल, मूर्छित तथा मारे गये सब लोग पुनः स्वस्थ एवं जीवित हो जायँ।'

इधर श्रीजानकीजीके मुखसे ये शब्द निकले और उधर युद्धभूमिमें सब लोग निद्रासे जगे हुएके समान उठ बैठे। उनके कटे हुए अङ्ग भी जुड़ गये थे। किसीके शरीरपर चोटका कोई चिह्न नहीं था। शत्रुघ्न-जीने देखा कि उनके मुकुटकी मणि नहीं है। पुष्कलको अपना किरीट, अंगद तथा अस्त्र-शस्त्र नहीं मिले। यज्ञीय अश्व सामने खड़ा था। उसे लेकर ये सब लोग अयोध्या लौट आये और वहाँ सब बातें उन्होंने भगवान् श्रीरामको सुनायीं।

अश्वके आ जानेपर यज्ञका प्रारम्भ हुआ। दूर-दूरसे ऋषिगण अपने शिष्योंके साथ अयोध्या पधारे। महर्षि वाल्मीकि भी लव-कुश तथा अपने अन्य शिष्योंके साथ आये और सरयूके किनारे नगरसे कुछ दूर सबके साथ ठहरे। महर्षिके आदेशसे लव-कुश मुनियोंके आश्रमोंमें, राजाओंके शिविरोंमें तथा नगरकी गलियोंमें रामायणका गान करते हुए घूमा करते थे। उनके स्पष्ट, मधुर एवं मनोहर गानको सुनकर लोगोंकी भीड़ उनके साथ लगी रहती थी। सर्वत्र उन दोनोंके गानकी ही चर्चा होने लगी। एक दिन भरतजीके साथ श्रीरामने भी

मूर्छित होनेपर अयोध्या समाचार गया और वहाँसे लक्ष्मणजी सेना लेकर आये। लक्ष्मणजीके मूर्छित होनेपर भरतजी तथा अन्तमें स्वयं भगवान् श्रीराम युद्धमें पधारे। भगवान्‌ने युद्ध नहीं किया। उन्होंने अपने ही पुत्रोंपर शस्त्र चलाना उचित नहीं समझा। सेनाको युद्धके लिये भेजकर वे स्वयं रथपर सो गये। लव-कुशने समझा कि युद्धमें किसी बाणके लगनेसे वे मूर्छित हो गये हैं। कल्पभेदसे यह कथा भी ठीक ही है।

राजभवनपर ऊपरसे इन दोनों बालकोंका गान सुना। आदरपूर्वक दोनोंको भीतर बुलाकर सम्मानित किया गया और वहाँ उनका गान सुना गया। अठारह सहस्र स्वर्णमुद्राएँ पुरस्कारस्वरूप उन्हें भगवान् रामने देना चाहा; किंतु लव-कुशने कुछ भी लेना अस्वीकार कर दिया। लव-कुशके कहनेसे यज्ञकार्यसे बचे समयमें रामायण-गानके लिये एक समय निश्चित कर दिया गया। उस समय समस्त प्रजाजन, आगत नरेश, ऋषिगण तथा वानरादि रामायणका वह अद्भुत गान सुनते थे। कई दिनोंमें पूरा रामचरित सुननेसे सबको ज्ञात हो गया कि ये दोनों बालक श्रीजनककुमारी सीताके ही पुत्र हैं।

मर्यादापुरुषोत्तमने श्रीजानकीजीको सब लोगोंके सम्मुख सभामें आकर अपनी शुद्धता प्रमाणित करनेके लिये शपथ लेनेको कहकर बुलवाया। वे जगज्जननी माता जानकी वहाँ आयीं और उन्होंने शपथके रूपमें कहा—'यदि मैं सब प्रकारसे पवित्र हूँ तो पृथ्वीदेवी मुझे अपने भीतर स्थान दें।' पृथ्वी बड़े भारी शब्दके साथ फट गयीं। स्वयं भूदेवी रत्नसिंहासन लिये प्रकट हुईं और उसपर बैठाकर वे श्रीसीताजीको ले गयीं। फटी हुई पृथ्वी फिर बराबर हो गयी। अब इसके पश्चात् कहनेको कुछ नहीं रह जाता। लव-कुशको जन्मसे पिता नहीं मिले थे और जब पिता मिले, तब उनकी स्नेहमयी माता नहीं रहीं। अयोध्याके युवराज होनेका सुख भला उन्हें क्या सुखी कर सकता था।

वीर बालक भरत

[खेल और खिलौना]

(रचयिता—श्रीविप्र-तिवारी)

आज देशके बालक मिट्टीके कृत्रिम (शेर-गैंडे) खिलौनोंसे अपना मनोरञ्जन करते हैं। प्रस्तुत रचनामें भारतके उस बालकका चित्राङ्कन किया गया है, जो दुर्गम जंगलमें सिंह और उसके बच्चोंको अपना खिलौना बनाकर खेलता था। इसी बालकके नामपर अपना देश 'भारत' कहलाता है। आखेटके क्रममें गये राजा दुष्यन्तने जंगलमें देखा·················

देखा दुष्यन्तने·································!
निर्जन विपिनमें, भोले सुकुमारको;
पटुका कटिपर था, मालिका प्रबालोंकी!
श्रीवृद्धि करती थी, उसकी सुग्रीवको;
उन्नत ललाटपर, ओजकी रेखाएँ;
प्रदीप्त थीं·································
बार बार निस्तब्ध बनाली वह
केहरिकी गर्जनसे रह-रहकर गूँजती;
विकसित सुमनसे, सुन्दर सुकुमार पर
विरल घुँघराले कच, भ्रमर-से भासते;
कमनीय कलेवरका वल्कल वसन वह
पवनके योगसे, फहरता इतस्ततः!
खोलो वनराजकी क्रीडा केलि-पुत्तली,*
अपना बदन·································!
दशन गिनूँगा·································॥
और वह बालवीर; सु-कर बलिष्ठसे
बार-बार खोलकर सिंहका रुद्रमुख,
दशन गिनता था································!
सिंहका सपूत वह, सिंहके सपूतको
उठा निज अंकमें, जीवित क्रीडनक† से;
निर्भय खेलता था·····························॥
भूलकर सिंहनी हिंसक प्रवृत्तिको
धेनुके समान; निज नेहको बिखेरती!
प्यारसे दुलारसे, हस्ततल चाटती;
तेजस्वी बालकका·····························!

* सिंहनी।

† खिलौना।

धन्य ! तुम कौन हो ? पूछा दुष्यन्तने;
आर्य ! 'भरत'* हूँ मैं, बोला सुकुमार वह !
भारतके भालके 'भरत' तुम टीके हो,
आज यह पुण्यदेश भरतके नामसे
भारत कहला करके विश्वमें समुन्नत है !
तेजस्वी बालकका भारतके नामका
उज्ज्वल इतिहास है......................!

राजकुमार कुवलयाश्व

परम पराक्रमी राजा शत्रुजितके पास एक दिन महर्षि गालव आये। महर्षि अपने साथ एक दिव्य अश्व भी ले आये थे। राजाने महर्षिका विधिवत् पूजन किया। महर्षिने बताया—'एक दुष्ट राक्षस अपनी मायासे सिंह, व्याघ्र, हाथी आदि वन-पशुओंका रूप धारण करके आश्रममें बार-बार आता है और आश्रमको नष्ट-भ्रष्ट कर जाता है। यद्यपि उसे क्रोध करके भस्म किया जा सकता है, पर ऐसा करनेसे तो तपस्याका नाश ही हो जायगा। हमलोग बड़े कष्टसे जो तप करते हैं, उसके पुण्यको नाश नहीं करना चाहते। हमारे क्लेशको देखकर इस 'कुवलय' नामक घोड़ेको सूर्यदेवने हमारे पास भेजा है। यह बिना थके पूरी पृथ्वीकी प्रदक्षिणा कर सकता है और आकाश, पाताल एवं जलमें सर्वत्र इसकी गति है। देवताओंने यह भी कहा है कि इस अश्वपर बैठकर आपके पुत्र ऋतध्वज उस असुरका वध करेंगे। अतएव आप अपने राजकुमार-को हमारे साथ भेज दें। इस अश्वको पाकर वे कुवलयाश्व नामसे संसारमें प्रसिद्ध होंगे।'

धर्मात्मा राजाने मुनिकी आज्ञा मानकर राजकुमारको मुनिके साथ जानेकी आज्ञा दी। राजकुमार मुनिके साथ जाकर उनके आश्रममें निवास करने लगे। एक दिन जब मुनिगण संध्योपासनामें लगे हुए थे, तब शूकरका रूप धारण करके वह नीच दानव मुनियोंको सताने वहाँ आ पहुँचा। उसे देखते ही वहाँ रहनेवाले मुनियोंके शिष्य हल्ला करने लगे। राजकुमार ऋतध्वज शीघ्र ही घोड़ेपर सवार होकर उसके पीछे दौड़े। धनुषको खींचकर एक अर्ध-चन्द्राकार बाणसे उन्होंने असुरको बींध दिया। बाणसे घायल होकर असुर प्राण बचानेके लिये भागा। राजकुमार भी उसके पीछे घोड़ेपर लगे रहे। वनों, पर्वतों, झाड़ियोंमें जहाँ वह गया, राजकुमारके घोड़ेने उसका पीछा किया। अन्तमें बड़े वेगसे दौड़ता हुआ वह राक्षस पृथ्वीके एक गड्ढेमें कूद पड़ा। राजकुमारने भी उस गड्ढेमें घोड़ा फँदा दिया। वह पाताललोकमें पहुँचनेका मार्ग था। उस अन्धकारपूर्ण मार्गसे राजकुमार पाताल पहुँच गये। स्वर्गके समान सुन्दर पातालमें पहुँचकर उन्होंने घोड़ेको एक स्थानपर बाँध दिया और वे एक भवनमें गये। यहाँ उन्हें विश्वावसु नामक गन्धर्वराजकी कन्या मदालसा मिली। दानव वज्रकेतुके दुष्ट पुत्र पातालकेतुने उसे स्वर्गसे हरण किया था और यहाँ लाकर रक्खे हुए था। वह असुर इससे विवाह करना चाहता था। जब मदालसाको पता लगा कि उस असुर पातालकेतुको राजकुमारने अपने बाणसे छेद डाला है, तब उसने ऋतध्वजको ही अपना पति वरण कर लिया।

राजकुमार ऋतध्वजने जब मदालसासे विवाह कर लिया, तब इस बातका समाचार पाकर पातालकेतु अपने अनुयायी दानवोंके साथ क्रोधमें भरा वहाँ आया। असुरोंने राजकुमारपर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी, लेकिन हँसते हुए राजकुमारने उनके सब अस्त्र-शस्त्र अपने बाणोंसे काट डाले। त्वाष्ट्र नामके दिव्यास्त्रका

* भरत इन्हीं दुष्यन्तका पुत्र था। वह शकुन्तलाके गर्भसे अवतीर्ण हुआ था। शकुन्तला परित्यक्ता थी। वह महर्षि कण्वकी पुत्री थी, दुर्वासाके शापसे दुष्यन्त शकुन्तलाको भूल गया था।

प्रयोग करके उन्होंने सभी दानवोंको एक क्षणमें नष्ट कर दिया। जैसे महर्षि कपिलकी क्रोधाग्निमें सगरके साठ हजार पुत्र भस्म हो गये थे, वैसे ही उस दिव्यास्त्रकी ज्वालामें दानव भस्म हो गये।

पत्नीके साथ राजकुमार उस अश्वपर चढ़कर पातालसे ऊपर आ गये। अपने विजयी पुत्रको आया देखकर उनके पिताको बड़ा हर्ष हुआ। समय आनेपर राजकुमार ऋतध्वज—कुवलयाश्व नरेश हुए। उनकी पत्नी मदालसा परम तत्त्वको जाननेवाली थी। उन्होंने ही अपने पुत्रोंको गोदमें लोरी देते-देते ही ब्रह्मज्ञानका उपदेश किया था।

वीर असुरबालक बर्बरीक

महावीर पाण्डुनन्दन भीमसेनने हिडिम्बा राक्षसीसे विवाह किया था और उससे घटोत्कच नामक अतुल पराक्रमी पुत्र उनके हुआ था। घटोत्कचने भगवान् श्रीकृष्णके आदेशसे भौमासुरके नगरपाल मुर दानवकी परम सुन्दरी कन्या कामकटंकटासे विवाह किया। घटोत्कचको मुर-कन्यासे बर्बरीक नामक पुत्रकी प्राप्ति हुई। राक्षसियाँ गर्भ धारण करते ही पुत्र-प्रसव करती हैं और उनके बालक जन्मते ही युवक एवं बलवान् हो जाते हैं। बालक बर्बरीक जन्मसे ही विनयी, धर्मात्मा एवं वीर था। उसे साथ लेकर घटोत्कच द्वारका गया और वहाँ उसने भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें पुत्रके साथ प्रणाम किया। हाथ जोड़कर बर्बरीकने भगवान्से प्रार्थना की—'आदिदेव माधव! मैं मन, बुद्धि और चित्तकी एकाग्रतासे आपको प्रणाम करता हूँ। पुरुषोत्तम! संसारमें जीवका कल्याण किस प्रकार होता है? कोई धर्मको कल्याणकारी बतलाते हैं, कोई दानको, कोई तपको, कोई धनको, कोई भोगोंको तथा कोई मोक्षको। प्रभो! इन सैकड़ों श्रेयोंमेंसे एक निश्चित श्रेय जो मेरे कुलके लिये हो, उसका आप मुझे उपदेश करें।'

भगवान्‌ने कहा—'बेटा! जो जिस कुल एवं वर्णमें उत्पन्न हुआ है, उसके कल्याणका साधन उसीके अनुरूप होता है। ब्राह्मणके लिये तप, इन्द्रिय-संयम तथा स्वाध्याय कल्याणकारी है। क्षत्रियके लिये प्रथम बल साध्य है; क्योंकि बलके द्वारा दुष्टोंका दमन एवं साधुओंका रक्षण करनेसे उसका कल्याण होता है। वैश्य पशु-पालन, कृषि तथा व्यापारसे धन एकत्र करके दान करनेसे कल्याण-भाजन होता है। शूद्र तीनों वर्णोंकी सेवा करके श्रेयका भागी बनता है। तुम क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुए हो, अतएव पहले तुम अतुलनीय बलकी प्राप्तिका उद्योग करो। भगवती शक्तिकी कृपासे ही बलकी प्राप्ति होती है, अतः तुम्हें शक्तिरूपा देवियोंकी आराधना करनी चाहिये।'

बर्बरीकके पूछनेपर भगवान्‌ने उसे महीसागर-संगम तीर्थमें जाकर देवर्षि नारदद्वारा वहाँ लायी गयी नव-दुर्गाओंकी आराधनाका आदेश दिया। तदनन्तर तीन वर्षतक आराधना करनेपर देवियाँ प्रसन्न हुईं। उन्होंने प्रत्यक्ष दर्शन देकर उसे तीनों लोकोंमें, जो बल किसीमें नहीं, ऐसा दुर्लभ अतुलनीय बल प्राप्त करनेका वरदान दिया। वरदान देकर देवियोंने कहा—'पुत्र! तुम कुछ समयतक यहीं निवास करो! यहाँ एक विजय नामके ब्राह्मण आयेंगे, उनके सङ्गसे तुम्हारा और अधिक कल्याण होगा।'

देवियोंकी आज्ञा मानकर बर्बरीक वहीं रहने लगा। कुछ दिन पीछे मगध देशके विजय नामक ब्राह्मण वहाँ आये। उन्होंने कुमारेश्वर आदि सात शिवलिङ्गोंका पूजन किया और विद्याकी सफलताके लिये बहुत दिनोंतक देवियोंकी आराधना की। देवियोंने स्वप्नमें उन्हें आदेश दिया—'तुम सिद्धमाताके सामने आँगनमें सम्पूर्ण विद्याओंकी साधना करो। हमारा भक्त बर्बरीक तुम्हारी सहायता करेगा।'

विजयने भीमसेनके पौत्र बर्बरीकसे प्रातःकाल कहा—'तुम निद्रारहित एवं पवित्र होकर देवीके स्तोत्रका पाठ करते हुए यहीं रहो; जिससे जबतक मैं विद्याओंका साधन करूँ, तबतक कोई विघ्न न हो।'

विजय अपने साधनमें एकाग्रचित्तसे लग गये और बर्बरीक सावधानीसे रक्षा करता खड़ा रहा। और विजयकी साधनामें विघ्न करनेवाले रेपलेन्द्र नामक महादानव तथा द्रुहद्रुहा नामकी राक्षसीका सहज ही संहार किया। तदनन्तर पातालमें जाकर नागोंको पीड़ा देनेवाले 'पलाशी' नामक भयानक असुरोंको रौंदकर यमलोक भेज दिया।

उन असुरोंके मारे जानेपर नागोंके राजा वासुकि वहाँ आये। उन्होंने बर्बरीककी प्रशंसा की और प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगनेको कहा। बर्बरीकने वरदानमें केवल यह माँगा—'विजय निर्विघ्न साधन करके सिद्धि प्राप्त करें।'

पातालसे निकलते समय परम सुन्दरी नागकन्याओंने बर्बरीकके रूप एवं पराक्रमपर मुग्ध होकर उनसे प्रार्थना की कि वे उन सबसे विवाह कर लें; किंतु जितेन्द्रिय बर्बरीकने उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। उन्होंने सदा ब्रह्मचारी रहनेका व्रत ले रक्खा था।

जब पातालसे बर्बरीक लौटे, तब विजयने उनको हृदयसे लगा लिया। उन सिद्ध पुरुषने कहा—'वीरेन्द्र! मैंने तुम्हारी कृपासे ही सिद्धि प्राप्त की है। मेरे हवन-कुण्डमें सिंदूरके रंगकी परम पवित्र भस्म है, उसे तुम हाथमें भरकर ले लो। युद्धभूमिमें इसे छोड़ देनेपर साक्षात् मृत्यु भी शत्रु बनकर आ जाय तो उसे भी मरना पड़ेगा। इस प्रकार तुम शत्रुओंपर सरलतासे विजय प्राप्त कर सकोगे।'

बर्बरीकने कहा—'उत्तम पुरुष वही है, जो निष्काम भावसे किसीका उपकार करता है। जो किसी वस्तुकी इच्छा रखकर उपकार करता है, उसकी सज्जनतामें भला क्या गुण है! यह भस्म आप किसी दूसरेको दे दें। मैं तो आपको सफल एवं प्रसन्न देखकर ही प्रसन्न हूँ।'

विजयको देवताओंने सिद्धैश्वर्य प्रदान किया। उनका नाम 'सिद्धसेन' हो गया। उनके वहाँसे चले जानेके कुछ काल बीत जानेपर पाण्डवलोग जुएमें हारकर वनों एवं तीर्थोंमें घूमते हुए उस तीर्थमें पहुँचे। पाँचों पाण्डव और द्रौपदी बहुत थके थे। चण्डिका देवीका दर्शन करके वे वहाँ बैठ गये। बर्बरीक भी वहीं थे; किंतु न तो पाण्डवोंने बर्बरीकको देखा था और न बर्बरीकने पाण्डवों-के कभी दर्शन किये थे, अतः वे एक-दूसरेको पहचान न सके। प्याससे पीड़ित भीमसेन वहाँ कुण्डमें जल पीने उतरने लगे तो युधिष्ठिरने उनसे कहा—'पहले जल लेकर कुण्डसे दूर हाथ-पैर धो लो, तब जल पीना।' लेकिन भीमसेन प्याससे व्याकुल हो रहे थे। युधिष्ठिर-की बात बिना सुने ही वे जलमें उतर गये और वहीं हाथ-पैर धोने लगे। उन्हें ऐसा करते देखकर बर्बरीकने डाँटकर कहा—'तुम देवीके कुण्डमें हाथ-पैर धोकर उसे दूषित कर रहे हो, मैं सदा इसी जलसे देवीको स्नान कराता हूँ। जब तुममें इतना भी विचार नहीं, तब फिर व्यर्थ क्यों तीर्थोंमें घूमते हो?'

भीमसेनने भी गर्ज करके बर्बरीकको डाँटा और जल स्नानके ही लिये है, तीर्थमें स्नान करनेकी आज्ञा है, आदि कहकर अपने कार्यका समर्थन किया। बर्बरीकने बताया—'जिनके जल बहते हैं, ऐसे तीर्थोंमें ही भीतर जाकर स्नान करनेकी विधि है। कूप-सरोवर आदिसे जल लेकर बाहर स्नान करना चाहिये, ऐसा शास्त्रका विधान है। जहाँसे भक्तजन देवताको स्नान करानेका जल न लेते हों और जो सरोवर देवस्थानसे सौ हाथसे अधिक दूर हो, वहाँ पहले बाहर दोनों पैर धोकर तब जलमें स्नान किया जाता है। जो जलमें मल, मूत्र, विष्ठा, कफ, थूक और कुल्ला छोड़ते हैं, वे ब्रह्महत्यारेके समान हैं।

'जिसके हाथ-पैर, मन-इन्द्रियाँ अपने वशमें हों, जो संयमी हो, वही तीर्थका फल पाता है। मनुष्य पुण्य-कर्मके द्वारा दो घड़ी भी जीवित रहे तो उत्तम है, पर

लोकविरोधी पापकर्म करके कल्पपर्यन्तकी भी आयु मिलती हो तो उसे स्वीकार न करे। इसलिये तुम झटपट बाहर आ जाओ।'

बर्बरीककी शास्त्रसम्मत बातपर जब भीमसेनने ध्यान नहीं दिया, तब बर्बरीकने ईंटके टुकड़े भीमसेनके मस्तकपर लक्ष्य बनाकर मारने प्रारम्भ किये। आघातको बचाकर भीम बाहर निकल आये और बर्बरीकसे भिड़ गये। दोनों ही महाबली थे, अतः दोनों जमकर मल्लयुद्ध करने लगे। दो घड़ीमें भीमसेन दुर्बल पड़ने लगे। बर्बरीक उन्हें सिरसे ऊपर उठाकर समुद्रमें फेंकनेके लिये चल पड़ा। समुद्रके किनारे पहुँचनेपर आकाशमें स्थित होकर भगवान् शङ्करने कहा—'राक्षसश्रेष्ठ! इन्हें छोड़ दो। ये भरतकुलके रत्न तुम्हारे पितामह पाण्डुनन्दन भीमसेन हैं। ये तुम्हारे द्वारा सम्मानित होने योग्य हैं।'

बर्बरीकने जो यह बात सुनी तो वह भीमसेनको छोड़कर उनके चरणोंपर गिर पड़ा। वह अपनेको धिक्कारने लगा, फूट-फूटकर रोने और क्षमा माँगने लगा। उसे अत्यन्त व्याकुल होते देख भीमसेनने छातीसे लगा लिया। उसे समझाया—'बेटा! तुम्हारा कोई दोष नहीं है। भूल हमसे ही हो रही थी। कुमार्गपर चलनेवाला कोई भी हो, क्षत्रियको उसे दण्ड देना ही चाहिये। मैं बहुत प्रसन्न हूँ। मेरे पूर्वज धन्य हैं कि उनके कुलमें तुम्हारे-जैसा धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न हुआ है। तुम सत्पुरुषोंद्वारा प्रशंसनीय हो। तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये।'

बर्बरीकका इससे शोक नहीं मिटा। वह कहने लगा—'पितामह! मैं प्रशंसाके योग्य नहीं हूँ। सब पापोंका प्रायश्चित्त है, परंतु जो पिता-माताका भक्त नहीं, उसका उद्धार नहीं होता। जिस शरीरसे मैंने अपने पूज्य पितामहका अपराध किया है, उसे आज महीसागर-संगममें त्याग दूँगा, जिससे दूसरे जन्मोंमें मुझसे ऐसा अपराध न हो।'

वह समुद्रके किनारे पहुँचा और कूदनेको उद्यत हो गया। उस समय वहाँ सिद्धाम्बिका तथा चारों दिशाओंकी देवियाँ भगवान् रुद्रके साथ आयीं। उन्होंने बर्बरीकको आत्महत्या करनेसे समझाकर रोका। उनके रोकनेपर उदास मनसे वह लौट आया। पाण्डवोंको उसके पराक्रमको देखकर बड़ा आश्चर्य एवं प्रसन्नता हुई। बर्बरीकका उन्होंने सम्मान किया।

जब पाण्डवोंके वनवासकी अवधि समाप्त हो गयी और दुरात्मा दुर्योधनने उनका राज्य लौटाना स्वीकार नहीं किया, तब कुरुक्षेत्रके मैदानमें महाभारत युद्धकी तैयारी होने लगी। युद्धके प्रारम्भमें महाराज युधिष्ठिरने अर्जुनसे अपने पक्षके महारथियोंकी शक्तिके विषयमें प्रश्न किया। अर्जुनने सबके पराक्रमकी प्रशंसा करके अन्तमें बताया कि 'मैं अकेला ही कौरवसेनाको एक दिनमें नष्ट करनेमें समर्थ हूँ।' इस बातको सुनकर बर्बरीकसे नहीं रहा गया। उसने कहा—'मेरे पास ऐसे दिव्य अस्त्र-शस्त्र एवं पदार्थ हैं कि मैं एक मुहूर्तमें ही सारी कौरवसेनाको यमलोक भेज सकता हूँ।'

भगवान् श्रीकृष्णने बर्बरीककी बातका समर्थन किया और फिर कहा—'बेटा! तुम भीष्म, द्रोण आदिसे रक्षित कौरवसेनाको एक मुहूर्तमें कैसे मार सकते हो?'

भगवान्‌की बात सुनकर अतुल बली बर्बरीकने अपना भयंकर धनुष चढ़ा लिया और उसपर एक बाण रक्खा। उस पोले बाणको लाल रंगसे भरकर कानतक खींचकर उसने छोड़ दिया। उसके बाणसे उड़ी भस्म दोनों सेनाओंके सैनिकोंके मर्मस्थलपर जाकर गिरी। केवल पाण्डवों, कृपाचार्य और अश्वत्थामाके शरीरपर वह नहीं पड़ी। बर्बरीकने इतना करके कहा—'आपलोगोंने देख लिया कि मैंने इस क्रियासे मरनेवाले वीरोंके मर्मस्थानका निरीक्षण किया है। अब देवीके दिये तीक्ष्ण बाण उनके उन मर्मस्थानोंमें मारकर उन्हें सुला दूँगा। आपलोगोंको

अपने धर्मकी शपथ है, कोई शस्त्र न उठावें। मैं दो घड़ीमें ही सब शत्रुओंको मारे देता हूँ।'

बर्बरीक अतुल बली था, धर्मात्मा था और विनयी भी था; किंतु इस समय अहंकारवश धर्मकी मर्यादा तोड़ दी उसने। दोनों सेनाओंमें अनेक वीरोंको देवताओंसे, ऋषियोंसे वरदान प्राप्त थे। उन सब वरदानोंको व्यर्थ करनेसे देवता, धर्म एवं तपकी मर्यादा ही नष्ट हो जाती। धर्मकी मर्यादाके लिये ही अवतार धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने बर्बरीककी यह बात सुनकर अपने चक्रसे उसका सिर काट दिया।

बर्बरीकके मरनेपर सब लोग भौंचक्के रह गये। पाण्डव शोकमें डूब गये। घटोत्कच मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। उसी समय वहाँ चौदह देवियाँ आयीं। उन्होंने घटोत्कच तथा पाण्डवोंको बताया कि 'बर्बरीक पूर्वजन्ममें सूर्यवर्चा नामका यक्ष था। देवता ब्रह्माजीके साथ जब पृथ्वीका भार उतारनेके लिये मेरु पर्वतपर भगवान् नारायणकी स्तुति कर रहे थे, तब अहंकारवश उस यक्षने कहा—'पृथ्वीका भार तो मैं ही दूर कर दूँगा।' उसके गर्वके कारण रुष्ट होकर ब्रह्माजीने शाप दे दिया कि भूभार दूर करते समय भगवान् उसका वध करेंगे। ब्रह्माजीके उस शापको सत्य करनेके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने बर्बरीकको मारा है।'

भगवान्‌के आदेशसे देवियोंने बर्बरीकके सिरको अमृतसे सींचकर राहुके सिरके समान अजर-अमर बना दिया। उस सिरने युद्ध देखनेकी इच्छा प्रकट की, इसलिये भगवान्‌ने उसे एक पर्वतपर स्थापित कर दिया और जगत्‌में पूजित होनेका वरदान दिया।

महाभारत-युद्धके अन्तमें धर्मराज युधिष्ठिर भगवान्‌के बार-बार कृतज्ञ हो रहे थे कि उन वासुदेवके अनुग्रहसे ही हमें विजय प्राप्त हुई है। भीमसेनने सोचा कि 'धृतराष्ट्रके पुत्रोंको तो मैंने मारा है, फिर श्रीकृष्णकी इतनी प्रशंसा धर्मराज क्यों कर रहे हैं?' भीमसेनने जब यह बात कही, तब अर्जुनने उन्हें समझाना चाहा—'मेरे-आपके द्वारा ये भीष्म, द्रोण आदि त्रिलोकजयी शूर नहीं मारे गये। हमलोग तो निमित्तमात्र हैं। युद्धमें विजय तो किसी अज्ञात पुरुषके द्वारा हुई है, जिसे मैं सदा अपने आगे-आगे चलता देखता था।'

भीमसेन अर्जुनकी बात सुनकर हँस पड़े। उन्हें लगा कि अर्जुनको भ्रम हो गया है। ठीक निर्णय करानेके लिये वे अर्जुन और श्रीकृष्णके साथ पर्वतपर गये और बर्बरीकके सिरसे पूछा—'बेटा! तुमने पूरा युद्ध देखा है, बताओ कि युद्धमें कौरवोंको किसने मारा है।'

बर्बरीकने कहा—'मैंने तो शत्रुओंके साथ केवल एक पुरुषको युद्ध करते देखा है। उसके बायीं ओर पाँच मुख थे और दस हाथ थे, जिनमें त्रिशूल आदि वह धारण किये था। दाहिनी ओर एक मुख और चार भुजाएँ थीं, जिनमें चक्र आदि अस्त्र-शस्त्र थे। बायीं ओर उसके जटाएँ थीं और ललाटपर चन्द्रमा शोभित हो रहे थे, अङ्गमें भस्म लगी थी। दाहिनी ओर मस्तकपर मुकुट झलमला रहा था, अङ्गोंमें चन्दन लगा था और कण्ठमें कौस्तुभमणि शोभा दे रहा था। उस पुरुषको छोड़कर कौरवसेनाका नाश करनेवाले दूसरे किसी पुरुषको मैंने नहीं देखा।'

बर्बरीकके ऐसा कहनेपर आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। भीमसेन लज्जित होकर भगवान्‌से क्षमा माँगने लगे। भगवान् तो क्षमाके समुद्र हैं। उन्होंने हँसकर भीमसेनको क्षमा कर दिया।

भगवान्‌ने बर्बरीकके सिरके पास जाकर कहा—'तुमको इस क्षेत्रका त्याग नहीं करना चाहिये।'

भगवान्‌को प्रणाम करके वह मस्तक वहाँसे अदृश्य हो गया।

वीर बालक अभिमन्यु

महाभारतका युद्ध चल रहा था। भीष्मपितामह शरशय्यापर गिर पड़े थे और द्रोणाचार्य कौरवपक्षके सेनापति हो गये थे। दुर्योधन बार-बार आचार्यको कहता था—'आप पाण्डवोंका पक्षपात करते हैं। आप ऐसा न करें तो आपके लिये पाण्डवोंको जीत लेना बहुत ही सरल है।' आचार्यने उत्तेजित होकर कहा—'अर्जुनके रहते पाण्डवपक्षको देवता भी जीत नहीं सकते। तुम यदि अर्जुनको कहीं दूर हटा सको तो मैं शेष सभीको हरा दूँगा।' दुर्योधनके उकसानेपर संशप्तक नामक वीरोंने अर्जुनको युद्धके लिये चुनौती दी और उन्हें संग्रामकी मुख्यभूमिसे दूर युद्ध करनेके लिये वे ले गये। यहाँ द्रोणाचार्यने अपनी सेनाके द्वारा चक्रव्यूह नामका व्यूह बनवाया। जब युधिष्ठिरजीको इस बातका पता लगा, तब वे बहुत ही निराश एवं दुखी हो गये। पाण्डव-पक्षमें एकमात्र अर्जुन ही चक्रव्यूह तोड़नेका रहस्य जानते थे। अर्जुनके न होनेसे पराजय स्पष्ट दिखलायी पड़ती थी। अपने पक्षके लोगोंको हताश होते देख अर्जुनके पंद्रह वर्षीय पुत्र सुभद्राकुमार अभिमन्युने कहा—'महाराज! आप चिन्ता क्यों करते हैं। मैं कल अकेला ही व्यूहमें प्रवेश करके शत्रुओंका गर्व दूर कर दूँगा।'

युधिष्ठिरने पूछा—'बेटा! तुम चक्रव्यूहका रहस्य कैसे जानते हो?'

अभिमन्युने बताया—'मैं माताके गर्भमें था, तब एक दिन पिताजीने मेरी मातासे चक्रव्यूहका वर्णन किया। पिताजीने चक्रव्यूहके छः द्वार तोड़नेकी बात ...ायी, इतनेमें मेरी माताको नींद आ गयी। पिताजीने उसके आगेका वर्णन नहीं किया। अतः मैं चक्रव्यूहमें प्रवेश करके उसके छः द्वार तोड़ सकता हूँ; किंतु उसका सातवाँ द्वार तोड़कर निकल आनेकी विद्या मुझे नहीं आती।'

उत्साहमें भरकर भीमसेनने कहा—'सातवाँ द्वार तो मैं अपनी गदासे तोड़ दूँगा।' धर्मराज युधिष्ठिर यद्यपि नहीं चाहते थे कि बालक अभिमन्युको व्यूहमें भेजा जाय, परंतु दूसरा कोई उपाय नहीं था। अभिमन्यु अतिरथी योद्धा थे और नित्यके युद्धमें सम्मिलित होते थे। उनका आग्रह भी था इस विकट युद्धमें स्वयं प्रवेश करनेका। दूसरे दिन प्रातःकाल युद्धका प्रारम्भ हुआ। द्रोणाचार्यने व्यूहके मुख्य द्वारकी रक्षाका भार दुर्योधनके बहनोई जयद्रथको दिया था। जयद्रथने कठोर तपस्या करके यह वरदान भगवान् शङ्करसे प्राप्त कर लिया था कि अर्जुनको छोड़कर शेष पाण्डवोंको वह जीत सकेगा। अभिमन्युने अपनी बाण-वर्षासे जयद्रथको विचलित कर दिया और वे व्यूहके भीतर चले गये; किंतु शीघ्र ही जयद्रथ सावधान होकर फिर द्वार रोककर खड़ा हो गया। पूरे दिनभर शक्तिभर उद्योग करनेपर भी भीमसेन या दूसरा कोई भी योद्धा व्यूहमें नहीं जा सका। अकेले जयद्रथने वरदानके प्रभावसे सबको रोक रक्खा।

पंद्रह वर्षके बालक अभिमन्यु अपने रथपर बैठे शत्रुओंके व्यूहमें घुस गये थे। चारों ओरसे उनपर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा हो रही थी; किंतु इससे वे तनिक भी डरे नहीं। उन्होंने अपने धनुषसे पानीकी झड़ीके समान चारों ओर बाणोंकी वर्षा प्रारम्भ कर दी। कौरवोंकी सेनाके हाथी, घोड़े और सैनिक कट-कटकर गिरने लगे। रथ चूर-चूर होने लगे। चारों ओर हाहाकार मच गया। सैनिक इधर-उधर भागने लगे। द्रोणाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा, शल्य आदि बड़े-बड़े महारथी सामने आये; किंतु बालक अभिमन्युकी गतिको कोई भी रोक नहीं सका। वे दिव्यास्त्रोंको दिव्यास्त्रोंसे काट देते थे। उनकी मारके आगे आचार्य द्रोण और कर्णतकको बार-बार पीछे हटना पड़ा। एक-पर-एक व्यूहके द्वारको तोड़ते, द्वाररक्षक
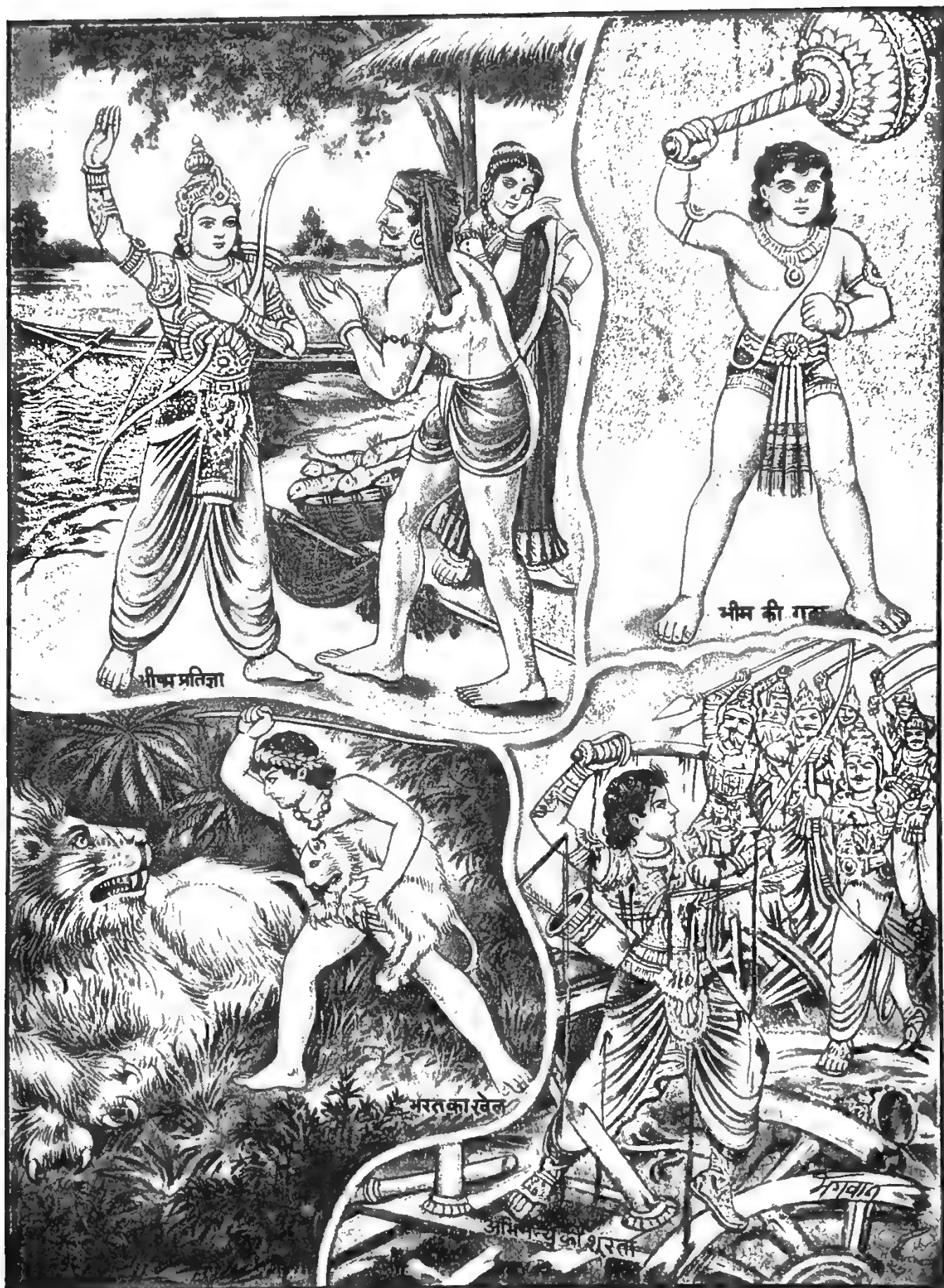
वीर-बालक—भीष्म, भीम, भरत, अभिमन्यु

महारथीको परास्त करते हुए वे आगे बढ़ते ही गये। उन्होंने छः द्वार पार कर लिये।

अभिमन्यु अकेले थे और उन्हें बराबर युद्ध करना पड़ रहा था। जिन महारथियोंको उन्होंने पराजित करके पीछे छोड़ दिया था, वे भी उन्हें घेरकर युद्ध करने आ पहुँचे थे। इस सातवें द्वारका मर्मस्थल कहाँ है, यह वे जानते नहीं थे। इतनेपर भी उनमें न तो थकान दीखती थी और न उनका वेग ही रुकता था। दूसरी ओर कौरव-पक्षके बड़े-बड़े सभी महारथी अभिमन्युके बाणोंसे घायल हो गये थे। द्रोणाचार्यने स्पष्ट कह दिया—'जबतक इस बालकके हाथमें धनुष है, इसे जीतनेकी आशा नहीं करनी चाहिये।'

कर्ण आदि छः महारथियोंने एक साथ अन्यायपूर्वक अभिमन्युपर आक्रमण कर दिया। उनमेंसे एक-एकने उनके रथके एक-एक घोड़े मार दिये। एकने सारथिको मार दिया और कर्णने उनका धनुष काट दिया। इतनेपर भी अभिमन्यु रथपरसे कूदकर उन शत्रुओंपर प्रहार करने लगे और उनकी मारसे एक बार फिर चारों ओर भगदड़ मच गयी। क्रूर शत्रुओंने अन्याय करते हुए उनको घेर रक्खा था। सब-के-सब उनपर शस्त्रवर्षा कर रहे थे। उनका कवच और शिरस्त्राण कटकर गिर गया था। उनका शरीर बाणोंके लगनेसे घायल हो गया था और उससे रक्तकी धाराएँ गिर रही थीं। जब अभिमन्युके पासके सब अस्त्र-शस्त्र कट गये, तब उन्होंने रथका चक्का उठाकर ही मारना प्रारम्भ किया। इस अवस्थामें भी कोई उन्हें सम्मुख आकर हरा नहीं सका। शत्रुओंने पीछेसे उनके शिरस्त्राणरहित सिरपर गदा मारी। उस गदाके लगनेसे अभिमन्यु सदाके लिये रणभूमिमें गिर पड़े। इस प्रकार संग्राममें शूरतापूर्वक उन्होंने वीर-गति प्राप्त की। इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने बहिन सुभद्राको धैर्य बँधाते हुए अभिमन्युकी-जैसी मृत्युको अपने सहित सबके लिये वाञ्छनीय बतलाया था।

वीर बालक अलक्षेन्द्र

अलक्षेन्द्र यूनानके प्रसिद्ध मकदूनिया राज्यके अधिपति महावीर फिलिपके पुत्र थे। इपीरसके अधिराजकी पुत्री ओलम्पिया उनकी माता थीं। अलक्षेन्द्र ईसा सन्‌से ३५६ वर्ष पूर्व मकदूनियाकी राजधानी पेलामें पैदा हुए थे। उनके जन्मके समय सम्राट् फिलिप ओलम्पिक रण-क्रीड़ाका अवलोकन कर रहे थे। सेनापति पार्मेनीने उनके सन्निकट आकर आदरपूर्वक मस्तक नतकर सूचना दी और अकस्मात् नगरकी डायना देवीका मन्दिर भी गिर पड़ा। फिलिपने प्रसन्नतापूर्वक नवजातका नाम अलक्जेन्डर—अलक्षेन्द्र रक्खा। दैवज्ञोंने कहा कि यह बालक पृथ्वीका राजा—विश्वविजयी होगा। फिलिपने पुत्रको वीर और परम ज्ञानी बनानेका निश्चय कर उसी समय यूनानके सबसे बड़े तत्त्वज्ञ अरिस्टाटिल—अरस्तूको शुभ सूचना दी कि 'राजकुमारके शिक्षा-गुरुके पदपर अभीसे ही आपकी नियुक्ति की जाती है, कृपापूर्वक इस महान् उत्तरदायित्वको स्वीकार करें। मकदूनियाके राजकुमारका यह परम सौभाग्य है कि उनकी शिक्षाके लिये इस समय पृथ्वीपर आप विद्यमान हैं।'

अलक्षेन्द्रको पहले-पहल लिओनिदास नामक योग्य व्यक्तिने शिक्षा दी। पढ़ते समय बालक अलक्षेन्द्र इलियद पुस्तक सदा अपने साथ रखते थे; वह उनका प्रिय साहित्य था। गुरुके मुखसे महावीर आकिलेसकी वीरतापूर्ण कथाएँ और पराक्रमसम्बन्धी अद्भुत बातें सुनकर वे उत्साहित हो जाया करते थे। उनके गौरवर्णवाले सुडौल सुन्दर शरीरके रोम-रोम वीर-गाथासे

पुलकित हो जाते थे। जब वे आकिलेसके वीरत्वका स्मरण करते थे, उनके मुखमण्डलपर सात्त्विक वीरोन्माद छा जाता था। हाथमें नंगी तलवार झनझना उठती थी। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें मातृवंशका रक्त तेज गतिसे दौड़ने लगता था। अलक्षेन्द्रकी माता प्रसिद्ध ट्राय वीर आकिलेसकी वंशज थीं।

जब अलक्षेन्द्र चौदह सालके हुए, उनकी शिक्षा दार्शनिक अरस्तूकी देख-रेखमें आरम्भ हुई। उन्होंने अरस्तूसे जीवनको परहितकारी, संयमित और विनियम-पूर्ण बनानेकी आवश्यक शिक्षा प्राप्त की। उनसे सीखा कि आत्मज्ञान शारीरिक वीरतासे कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण है। फिलिप कहा करते थे कि मैं अपने पुत्रको बर्बर सेनापति नहीं, दार्शनिक शासक बनाना चाहता हूँ। अलक्षेन्द्रने पिताकी मनःकामना पूरी की। उनके बाल्यजीवन-निर्माणमें अरस्तूके दर्शनमूलक शिक्षण और संरक्षणका अद्भुत योग था। अलक्षेन्द्रको पुस्तकीय ज्ञान कम और व्यावहारिक जीवनका उपदेश अधिक मात्रामें मिला था। उन्हें मानव-जीवनकी वास्तविकताकी सीख दी गयी थी, जिसे वे नित्य-प्रति अपने आचरणमें उतारनेका सफल अभ्यास किया करते थे।

बाल्यकालसे ही उनकी तीव्र इच्छा थी कि वे भविष्यमें विश्व-विजय अवश्य करेंगे। वे सदा इसी योजनापर विचार किया करते थे। अलक्षेन्द्रको अपनी बाल्यावस्थामें बड़ी-बड़ी विघ्न-बाधाओंका सामना करना पड़ा; पर उन्होंने कभी हार नहीं मानी। एक वीरात्माकी तरह वे अपने वीरोचित कर्तव्य-मार्गपर डटे रहे। बाल्यकालमें ही उनकी कामनाने विश्व-विजयकी आकृति ग्रहण कर ली। इससे 'होनहार बिरवानके होत चीकने पात' कहावतकी सत्यता चरितार्थ होती है। रा०

स्कन्धगुप्त

(लेखक—श्रीमदनगोपालजी सिंहल)

पाँचवीं शताब्दीकी बात है, भारतपर विदेशियोंने आक्रमण किया था। हूण, यवन, पल्लव और शक अपने-अपने लाखों सैनिकोंको लिये हमारे देशकी सीमा-की ओर बढ़ रहे थे। इन जातियोंने यूरोप और चीन-को पददलित किया था और रोम-साम्राज्यको टुकड़े-टुकड़े कर डाला था। अब ये बर्बर भारतको भी अपने पैरों-तले रौंदना चाहते थे।

सम्राट् कुमारगुप्त उस समय भारतके शासक थे और स्कन्धगुप्त उनके उत्तराधिकारी युवराज। स्कन्धकी आयु उस समय तेरह वर्षकी थी। उसने आक्रमणका समाचार सुना तो दौड़कर सम्राट्के मन्त्रणा-गृहमें घुस गया। उसने देखा कि वहाँ युद्धके विषयमें ही बात-चीत चल रही है और रणक्षेत्रमें कौन-कौन जायँगे, उनका चुनाव हो रहा है।

'पिताजी!' स्कन्धने आगे बढ़कर कहा, 'मैं भी इस युद्धमें जाऊँगा।'

'तुम?' सम्राट्ने कहा, 'तुम अभी बच्चे हो स्कन्ध! यह युद्ध बड़ा भयानक होगा बेटा! इसमें तो हमें स्वयं मृत्युसे ही लड़ना पड़ेगा।'

'तो क्या बात है पिताजी!' स्कन्धने दृढ़ताके साथ उत्तर दिया, 'मैं भी तो मृत्युसे लड़कर देखूँ न।'

सम्राट् कुमारगुप्तने दृष्टि जमाकर स्कन्धके मुख-मण्डलकी ओर देखा। बाल-सुलभ कोमलताके साथ-ही-साथ वहाँ वीरता और दृढ़ताको भी देखकर वे गद्गद हो गये। उन्होंने स्कन्धको अपनी छातीसे लगा लिया।

पाटलीपुत्रसे मगधके दो लाख सैनिक वीरोचित गान गाते और गरुड़-ध्वजको फहराते पञ्चनदकी पहाड़ी

सीमाकी नदियों और उपत्यकाओंमें अपना रक्त बहानेके लिये चल पड़े। पाँच सौ सरदार उस सेनाका संचालन कर रहे थे।

उन दिनों देशमें वीरोंकी कमी न थी। देश और धर्म, गाय और ब्राह्मण, स्त्री और बच्चोंपर आपत्ति पड़नेपर उसे दूर करनेके लिये माताएँ अपने पुत्रोंको, पत्नियाँ अपने पतियोंको और बहिनें अपने भाइयोंको हँसते-हँसते रणक्षेत्रमें मरनेके लिये भेज दिया करती थीं। तभी तो मगधकी सेनाएँ उन दानवों-जैसी बर्बर जातियोंसे लोहा लेनेके लिये इतने उत्साह और प्रसन्नताके साथ प्रस्थान कर रही थीं।

× × ×

पर्वत-मालाके पीछे मध्य एशियाकी लंबी-चौड़ी मरुभूमि थी। जबतक हमारी राजशक्ति दृढ़ आधारपर स्थापित थी, मगधकी सेनाएँ इसी स्थानसे देशकी रक्षा किया करती थीं; किंतु जबसे उस शक्तिका आधार हिला, उसी मरुभूमिसे सैकड़ों-हजारों भूखे मरुवासी बार-बार हमारे देशको रक्त-रंजित करनेके लिये आने लगे। आज इसी बर्फसे लदी हुई पर्वतमालाके उस ओर हूणोंकी सेनाएँ पड़ी थीं और इस ओरकी हरी-भरी समतल भूमिपर मगधकी सेनाओंका पड़ाव था। सूर्य उदय हो रहा था, उसकी किरणोंने पहाड़ियोंकी बर्फीली सफेद चोटियोंको लाल-लाल कर दिया था।

ठंडी पहाड़ी हवाके झकोरोंमें अपनी सेनाओंके मध्य निश्चल और गम्भीरभावसे खड़े युवराज स्कन्धने यह दृश्य देखा। उसके शरीरपर लोहेका कवच था और कमरमें तलवार झूल रही थी। देखते-ही-देखते सामनेके लाल-लाल पर्वत-शिखरोंपर काली-काली चींटियोंके समान सैनिक भर गये। झनझनाती हुई स्कन्धकी तलवार म्यानसे निकली और साथ ही 'युवराज स्कन्धकी जय' की ध्वनिसे पर्वतमाला गूँज उठी। उसे सुनकर आगे बढ़ते हुए शत्रुओंके घोड़ोंकी गति भी रुक गयी। पहाड़की चोटीसे रणका शङ्खनाद हुआ और उसके उत्तरमें मगधकी सेनाओंने भी युद्धका घोष कर दिया। स्कन्धके नेतृत्वमें हूणोंकी उस सेनापर आक्रमण कर दिया गया। पर्वतकी सफेद बर्फीली भूमिपर रक्तकी नदियाँ बहने लगीं। सफेद घोड़ेपर चढ़े कुमार स्कन्ध आज दानवोंका दलन करते हुए साक्षात् पार्वती-नन्दन स्कन्ध-से ही प्रतीत होते थे। उनकी तलवार विद्युत्-वेगसे भी अधिक तीव्रताके साथ चलकर शत्रु-सेनाका विध्वंस कर रही थी।

देखते-ही-देखते हूण-सेना भागने लगी। भागते हुए उनके घोड़ोंके खुरोंसे उठती हुई धूलसे रणक्षेत्रमें दिनमें ही अन्धकार-सा छा गया। फिर एक बार 'कुमार स्कन्धगुप्तकी जय' की ध्वनि हुई और मगधकी लंबी सफेद पताका उस ठंडी हवामें ऊँची होकर लहरा उठी। विजयी मागधी सेनाएँ अब पाटलीपुत्रको वापस लौट रही थीं।

× × ×

महावीर स्कन्धकी अभ्यर्थनाके लिये सारे आर्यावर्तके निवासी आपेसे बाहर हो गये। मार्गके सभी गाँवों और नगरोंमें बड़े-बड़े उत्सव मनाये गये। तक्षशिला, जालन्धर, स्थाण्वीश्वर, मथुरा, कान्यकुब्ज और वाराणसी युवराजके स्वागतके लिये दीपमालाओंसे जगमगा उठे और पाटलीपुत्रमें तो वहाँके नागरिकोंने नगरसे पाँच कोसतक विजयके तोरण बनवाये और सारे मार्गको पुष्पोंकी मालाओंसे सजाया। नगरके प्रधान फाटकपर ही स्वयं सम्राट्ने और प्रासादके सिंहद्वारपर पट्ट महारानीने अपने महापराक्रमी हूण-विजयी पुत्रका स्वागत किया और दूसरे ही दिन सम्राट् कुमारगुप्तने स्कन्धको मगधके राजसिंहासनपर बैठाकर स्वयं धार्मिक वृत्ति धारण कर ली।

वीरवर चंड

चित्तौड़के राजसिंहासनपर उस समय राणा लाखा विराजमान थे। अपने पराक्रमसे युद्धमें दिल्लीके बादशाह लोदीको उन्होंने पराजित किया था। उनकी कीर्ति चारों ओर फैल रही थी। राणाके पुत्रोंमें चंड सबसे बड़े थे और गुणोंमें भी वे श्रेष्ठ थे। जोधपुरके राठौरनरेश रणमल्लजीने राजकुमार चंडके साथ अपनी पुत्रीका विवाह करनेके लिये चित्तौड़ नारियल भेजा। जिस समय जोधपुरसे नारियल लेकर ब्राह्मण राजसभामें आया, राजकुमार चंड वहाँ नहीं थे। ब्राह्मणने जब कहा कि राजकुमारके लिये मैं नारियल ले आया हूँ, तब परिहासमें राणा लाखाने कहा—'मैंने तो समझा थां कि आप इस बूढ़ेके लिये नारियल लाये हैं और मेरे साथ खेल करना चाहते हैं।' राणाकी बात सुनकर सब लोग हँसने लगे।

राजकुमार चंड उसी समय राजसभामें आ रहे थे। उन्होंने राणाके शब्द सुन लिये थे। बड़ी नम्रतासे उन्होंने कहा—'परिहासके लिये ही सही, जिस कन्याका नारियल मेरे पिताने अपने लिये आया कह दिया, वह तो मेरी माता हो चुकी। मैं उसके साथ विवाह नहीं कर सकता।'

बात बड़ी विचित्र हो गयी। नारियलको लौटा देना तो जोधपुरनरेश तथा उनकी निर्दोष कन्याका अपमान करना था और राजकुमार चंड किसी प्रकार यह विवाह करनेको तैयार नहीं होते थे। राणाने बहुत समझाया; परंतु चंड टस-से-मस नहीं हुए। जिस पुत्रने कभी पिताकी आज्ञा नहीं टाली थी, उसे इस प्रकार हठ करते देख राणाको क्रोध आ गया। उन्होंने कहा—'यह नारियल लौटाया नहीं जा सकता। रणमल्लका सम्मान करनेके लिये इसे मैं स्वयं स्वीकार कर रहा हूँ; किंतु स्मरण रक्खो कि यदि इस सम्बन्धसे कोई पुत्र हुआ तो चित्तौड़के सिंहासनपर वही बैठेगा।'

कुमार चंडको पिताकी इस बातसे तनिक भी दुःख नहीं हुआ। उन्होंने भीष्मपितामहकी प्रतिज्ञाके समान प्रतिज्ञा करते हुए कहा—'पिताजी! मैं आपके चरणोंको छूकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेरी नयी मातासे जो पुत्र होगा, वही सिंहासनपर बैठेगा और मैं जीवनपर्यन्त उसकी भलाईमें लगा रहूँगा।' राजकुमारकी प्रतिज्ञा सुनकर सब लोग उनकी प्रशंसा करने लगे।

बारह वर्षकी राजकुमारीका पाणिग्रहण पचास वर्षके राणा लाखाने किया। इस नवीन रानीसे उनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम 'मुकुल' रक्खा गया। जब मुकुल पाँच वर्षके थे, तभी गयातीर्थपर मुसल्मानोंने आक्रमण किया। तीर्थकी रक्षाके लिये राणाने सेना सजायी। इतनी बड़ी पैदल यात्रा तथा युद्धसे जीवित लौटनेकी आशा करना ही व्यर्थ था। राजकुमार चंडसे राणाने कहा—'बेटा! मैं तो धर्म-रक्षाके लिये जा रहा हूँ। तेरे इस छोटे भाई 'मुकुल'की आजीविकाका क्या प्रबन्ध होगा?'

चंडने कहा—'चित्तौड़का राज्यसिंहासन इन्हींका है।' राणा नहीं चाहते थे कि पाँच वर्षका बालक सिंहासनपर बैठाया जाय। उन्होंने चंडको अनेक प्रकारसे समझाना चाहा, परंतु चंड अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहे। राणाके सामने ही उन्होंने मुकुलका राज्याभिषेक किया और सबसे पहले स्वयं उनका सम्मान किया।

राणा लाखा युद्धके लिये गये और फिर नहीं लौटे। राजगद्दीपर मुकुलको बैठाकर चंड उनकी ओरसे राज्यका प्रबन्ध करने लगे। उनके सुप्रबन्धसे प्रजा प्रसन्न एवं सम्पन्न हो गयी। यह सब होनेपर भी राजमाताको यह संदेह हो गया कि चंड मेरे पुत्रको हटाकर स्वयं राज्य लेना चाहते हैं। उन्होंने यह बात प्रकट कर दी। जब

राजकुमार चंडने यह बात सुनी, तब उन्हें बड़ा दु:ख हुआ। वे राजमाताके पास गये और बोले—'मा! आपको संतुष्ट करनेके लिये चित्तौड़ छोड़ रहा हूँ; किंतु जब भी आपको मेरी सेवाकी आवश्यकता हो, मैं समाचार पाते ही आ जाऊँगा।'

चंडके चले जानेपर राजमाताने जोधपुरसे अपने भाईको बुला लिया। पीछे स्वयं रणमल्लजी भी बहुतसे सेवकोंके साथ चित्तौड़ आ गये। थोड़े दिनोंमें उनकी नीयत बदल गयी। वे अपने दौहित्रको मारकर चित्तौड़-का राज्य हड़प लेनेका षड्यन्त्र रचने लगे। राजमाताको जब इसका पता लगा, वे बहुत दुखी हुईं। अब उनका कहीं कोई सहायक नहीं था। उन्होंने बड़े दु:खसे चंडको पत्र लिखकर क्षमा माँगी और चित्तौड़को बचानेके लिये बुलाया। संदेश पाते ही चंड अपने प्रयत्नमें लग गये। अन्तमें चित्तौड़को उन्होंने राठौरोंके पंजेसे मुक्त कर दिया। रणमल्ल तथा उनके सहायक मारे गये तथा उनके पुत्र बोधाजी भाग गये। कुमार चंड आजीवन राणा मुकुलकी सेवामें लगे रहे।

प्रणवीर बालक प्रताप

महाराणा प्रतापका जन्म सन् १५४० ई० में हुआ था। वे महाराणा उदयसिंहके ज्येष्ठ पुत्र थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा मेवाड़ राजवंश-परम्पराके अनुकूल हुई थी। अस्त्र-शस्त्र, सेना-संचालन, मृगया तथा राज्योचित प्रबन्धकी दक्षता उन्होंने बाल्यावस्थामें ही पूर्णरूपसे प्राप्त कर ली थी। राणा उदयसिंह अपने कनिष्ठ पुत्र जगमलको बहुत प्यार करते थे और उन्हींको अपना उत्तराधिकारी घोषित करनेका उन्होंने निश्चय कर लिया। प्रताप पितृभक्त बालक थे, उन्होंने पिताके निर्णयका तनिक भी विरोध नहीं किया, उनके सामने रामायणके प्राणधन भगवान् श्रीरामके राज्य-त्याग और वनवासका आदर्श उपस्थित था। प्रतापको बाल्यकालमें सदा यही बात खटकती रहती थी कि भारत-भूमि विदेशियोंकी दासताकी हथकड़ी और बेड़ीमें सिसक रही है। वे स्वदेशकी मुक्ति-योजनामें सदा चिन्तनशील रहते थे। उनके मामा झालोड़के राव अक्षयराज बालक प्रतापकी पीठपर सदा हाथ रखते थे। उन्हें आशङ्का थी कि ऐसा न हो कि प्रताप अन्त:पुरके षड्यन्त्रोंके शिकार हो जायँ और इस प्रकार स्वाधीनताकी पवित्र यज्ञवेदीका कार्य अधूरा ही रह जाय।

प्रताप बड़े साहसी बालक थे। स्वतन्त्रता और वीरताके भाव उनके रग-रगमें भरे हुए थे। कभी-कभी बालक प्रताप घोड़ेकी पीठसे उतरकर बड़ी श्रद्धा और आदरसे महाराणा कुम्भके विजयस्तम्भकी परिक्रमाकर तथा मेवाड़की पवित्र धूलि मस्तकपर लगाकर कहा करते थे कि 'मैंने वीर क्षत्राणीका दुग्ध पान किया है, मेरे रक्तमें महाराणा साँगाका ओज प्रवाहित है, चित्तौड़के विजय-स्तम्भ! मैं तुमसे स्वतन्त्रता और मातृभूमि-भक्तिकी शपथ लेकर कहता हूँ, विश्वास दिलाता हूँ कि तुम सदा उन्नत और सिसौदिया-गौरवके विजय-प्रतीक बने रहोगे। शत्रु तुम्हें अपने स्पर्शसे मेरे रहते अपवित्र नहीं कर सकते।'

बालक प्रतापके सामने सदा राणा साँगाका आदर्श रहता था। वे प्राय: श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते समय कहा करते थे कि 'मैं महाराणा साँगाके अधूरे कार्यको अवश्य पूरा करूँगा, उनके दिल्ली-विजय-स्वप्नको सत्यमें रूपान्तरित करना ही मेरा जीवन-ध्येय है। वह दिन दूर नहीं है, जब दिल्लीका अधिपति साँगाके वंशजसे प्राणकी भीख माँगेगा।'

प्रतापने बचपनमें ही यह सिद्ध कर दिखाया कि बाप्पा रावलकी संतानका सिर किसी मनुष्यके आगे नहीं झुक सकता। बालक प्रतापने राज्यप्राप्तिका नहीं, देशकी बन्धनमुक्तिका व्रत लिया था। रा०

वीर बालक बादल

उस समय दिल्लीकी गद्दीपर अलाउद्दीन खिलजी बादशाह होकर बैठा था। यह बहुत धूर्त तथा निष्ठुर बादशाह था। राजपूतानेमें चित्तौड़के सिंहासनपर उस समय राणा भीमसिंह विराजमान थे। अलाउद्दीनने सुना कि राणाकी महारानी पद्मिनी बहुत ही सुन्दर हैं। वह पद्मिनीको किसी भी प्रकार पानेके लिये बड़ी भारी सेना लेकर राजपूताने गया और चित्तौड़से थोड़ी दूरपर उसने अपनी सेनाका पड़ाव डाला। उस धूर्तने राणाके पास संदेश भेजा—'मैं पद्मिनीका प्रतिबिम्ब शीशेमें देखकर लौट जाऊँगा।' महाराणा भीमसिंहने इतनी बातके लिये व्यर्थ रक्तपात करना अच्छा नहीं समझा। उनके बुलानेपर अलाउद्दीन दुर्गमें आया। दर्पणमें रानी पद्मिनीका प्रतिबिम्ब उसे दिखा दिया गया। लौटते समय राणा उसे दुर्गसे बाहरतक पहुँचाने आये। दुर्गसे बाहर अलाउद्दीनने पहलेसे अपने सैनिक छिपा रक्खे थे। उन्होंने राणापर आक्रमण करके उन्हें पकड़ लिया और बंदी बनाकर वे अपने शिविरमें ले गये।

राणाके बंदी हो जानेसे चित्तौड़के दुर्गमें हाहाकार मच गया। बादशाहकी सेना इतनी बड़ी थी कि उससे सीधे संग्राम करके विजय पानेकी कोई आशा नहीं थी। अन्तमें रानी पद्मिनीके मामा गोराने एक योजना बनायी। अलाउद्दीनको संदेश भेजा गया—'रानी पद्मिनी बादशाहके पास आनेको तैयार हैं; यदि उनके आ जानेपर बादशाह राणाको छोड़ दें। रानीके साथ सात सौ दासियाँ भी आयेंगी। शाही सैनिक उन्हें रोकें नहीं।' बादशाहने इस बातको बड़े उत्साहसे स्वीकार कर लिया। सायंकाल अन्धकार होनेपर दुर्गसे सात सौ पालकियाँ निकलीं। बादशाहके सैनिक विजयके उन्मादमें उत्सव मना रहे थे। शाही सेनामें पहुँचकर रानीने पहले राणासे भेंट करना चाही और यह माँग भी स्वीकार हो गयी।

आप क्या सोचते हैं कि रानी पद्मिनी पालकीमें बैठकर यवन बादशाहके पास आयी थीं? पालकीमें रानी बना स्त्री-वेशमें छिपा अपने अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित रानीका बारह वर्षका सुन्दर भानजा बालक बादल वहाँ आया था। दूसरी पालकियोंमें भी राजपूत सरदार बैठे थे और पालकी उठानेवाले कहारोंके वेशमें भी राजपूत योद्धा ही थे। राणाको मुक्त करके घोड़ेपर बैठाकर कुछ सैनिकोंके साथ दुर्गकी ओर उन्होंने भेज दिया और स्वयं अलाउद्दीनकी सेनापर शस्त्र लेकर टूट पड़े। गोरा इस सेनाका सेनापतित्व कर रहे थे। बादलने इस युद्धमें अद्भुत वीरता दिखलायी। लेकिन मुट्ठीभर राजपूत समुद्रके समान विशाल शाही-सेनासे कबतक लड़ते। गोरा रणभूमिमें काम आये। यवन-सैनिकोंको गाजर-मूलीकी भाँति काटता हुआ बालक बादल दुर्गमें पहुँच गया। अलाउद्दीन चाहता था कि इस युद्धका समाचार दुर्गमें न पहुँचे। अचानक आक्रमण करके वह पद्मिनीको पकड़कर दिल्ली ले जाना चाहता था; किंतु उस बारह वर्षके बादलने उसकी एक भी चाल चलने नहीं दी। दुर्गमें समाचार पहुँचते ही राजपूत वीरोंने केसरिया बाना पहिना और निकल पड़े धर्म एवं मातृभूमिपर मस्तक चढ़ाने। बड़ी कठिनाईसे अलाउद्दीनको विजय प्राप्त हुई। अपनी अधिकांश सेनाकी बलि देकर जब वह चित्तौड़के पवित्र दुर्गमें घुसा, तब वहाँ बहुत बड़ी

चिता धायँ-धायँ करके जल रही थी। राजपूतानेकी देवियाँ पापी पुरुषके स्पर्शसे बचनेके लिये अग्निमें प्रवेश करके स्वर्ग पहुँच चुकी थीं। अलाउद्दीनने अपना सिर पीट लिया। भारतकी वह गौरवमयी दिव्यभूमि सतियों-के तेजके साथ वीर बालक बादलकी शूरता एवं बलिदान-से नित्य उज्ज्वल है।

निर्भीक बालक शिवाजी

आगे चलकर जिसे हिंदू-धर्मका संरक्षक छत्रपति होना था, उसके शैशवमें ही उसकी शिक्षा प्रारम्भ हो गयी थी। कठिनाइयाँ जीवनका निर्माण करती हैं और शिवाजीका बाल्यकाल बहुत बड़ी कठिनाइयोंमें बीता। शिवनेरके किलेमें सन् १६३० ई० में उनका जन्म हुआ था। उनके पिता शाहजी बीजापुर-दरबारमें नौकर थे। बीजापुरके नवाबकी ओरसे, जब कि शाहजी अहमद-नगरकी लड़ाईमें फँसे थे, मालदार खानने दिल्लीके बादशाहको प्रसन्न करनेके लिये बालक शिवाजी तथा उनकी माता जीजाबाईको सिंहगढ़के किलेमें बंदी करने-का प्रयत्न किया, लेकिन उसका यह दुष्ट प्रयत्न सफल नहीं हो सका। शिवाजीके बचपनके तीन वर्ष अपने जन्म-स्थान शिवनेरके किलेमें ही बीते। इसके बाद जीजाबाईको शत्रुओंके भयसे अपने बालकके साथ एक किलेसे दूसरे किलेमें बराबर भागते रहना पड़ा; किंतु इस कठिन परिस्थितिमें भी उन वीरमाताने अपने पुत्रकी सैनिक शिक्षामें त्रुटि नहीं आने दी।

माता जीजाबाई शिवाजीको रामायण, महाभारत तथा पुराणोंकी वीर-गाथाएँ सुनाया करती थीं। नारो, त्रीमल, हनुमन्त तथा गोमाजी नायक शिवाजीके शिक्षक थे और शिवाजीके संरक्षक थे प्रचण्ड वीर दादाजी कोंडदेव। इस शिक्षाका परिणाम यह हुआ कि बालक शिवाजी बहुत छोटी अवस्थामें ही निर्भीक एवं अदम्य हो गये। जन्मजात शूर मावली बालकोंकी टोली बनाकर वे उनका नेतृत्व करते थे और युद्धके खेल खेला करते थे। उन्होंने बचपनमें ही विधर्मियोंसे हिंदूधर्म, देवमन्दिर तथा गौओं-की रक्षा करनेका दृढ़ संकल्प कर लिया।

शाहजी चाहते थे कि उनका पुत्र भी बीजापुर-दरबारका कृपापात्र बने। शिवाजी जब आठ वर्षके थे, तभी उनके पिता एक दिन उन्हें शाही दरबारमें ले गये। पिताने सोचा था कि दरबारकी साज-सज्जा, रोब-दाब, हाथी-घोड़े आदि देखकर बालक रोबमें आ जायगा और दरबारकी ओर आकर्षित होगा; किंतु शिवाजी तो बिना किसी ओर देखे, बिना किसीकी ओर ध्यान दिये पिताके साथ ऐसे चलते गये, जैसे किसी साधारण मार्गपर जा रहे हों। नवाबके सामने पहुँचकर पिताने शिवाजीकी पीठपर हाथ फेरते हुए कहा—'बेटा! बादशाहको सलाम करो।'

बालकने मुड़कर पिताकी ओर देखा और बोला—'बादशाह मेरे राजा नहीं हैं। मैं इनके आगे सिर नहीं झुका सकता।'

दरबारमें सनसनी फैल गयी। नवाब बालककी ओर घूरकर देखने लगा; किंतु शिवाजीने नेत्र नहीं झुकाये। शाहजीने सहमते हुए प्रार्थना की—'शाहनशाह! क्षमा करें। यह अभी बहुत नादान है।' पुत्रको उन्होंने घर जानेकी आज्ञा दे दी। बालकने पीठ फेरी और निर्भीकता-पूर्वक दरबारसे चला आया। घर लौटकर शाहजीने जब पुत्रको उसकी धृष्टताके लिये डाँटा, तब पुत्रने उत्तर दिया—'पिताजी! आप मुझे वहाँ क्यों ले गये थे? आप तो जानते ही हैं कि मेरा मस्तक तुळजा भवानी

और आपको छोड़कर और किसीके सामने झुक नहीं सकता।' शाहजी चुप हो रहे ।

इस घटनाके चार वर्ष पीछेकी एक घटना है । उस समय शिवाजीकी अवस्था बारह वर्षकी थी । एक दिन बालक शिवाजी बीजापुरके मुख्य मार्गपर घूम रहे थे । उन्होंने देखा कि एक कसाई एक गायको रस्सीसे बाँधे लिये जा रहा है। गाय आगे जाना नहीं चाहती, डकराती है और इधर-उधर कातर नेत्रोंसे देखती है । कसाई उसे डंडेसे बार-बार पीट रहा है । इधर-उधर जो हिंदू हैं दूकानोंपर, वे मस्तक झुकाये यह सब देख रहे हैं । उनमें इतना साहस नहीं कि कुछ कह सकें । मुसल्मानी राज्यमें रहकर वे कुछ बोलें तो पता नहीं क्या हो ? लेकिन लोगोंकी दृष्टि आश्चर्यसे खुली-की-खुली रह गयी। बालक शिवाकी तलवार म्यानसे निकलकर चमकी, वे कूदकर कसाईके पास पहुँचे और गायकी रस्सी उन्होंने काट दी । गाय भाग गयी एक ओर । कसाई कुछ बोले—इससे पहले तो उसका सिर धड़से कटकर भूमिपर लुढ़कने लगा था ।

समाचार दरबारमें पहुँचा। नवाबने क्रोधसे लाल होकर कहा—'तुम्हारा पुत्र बड़ा उपद्रवी जान पड़ता है शाहजी ! तुम इसे तुरंत बीजापुरसे बाहर कहीं भेज दो ।'

शाहजीने आज्ञा स्वीकार कर ली । शिवाजी अपनी माताके पास भेज दिये गये, लेकिन अन्तमें एक वह भी दिन आया कि बीजापुर नवाबने स्वतन्त्र हिंदू-सम्राट्के नाते शिवाजीको अपने राज्यमें निमन्त्रित किया और जब शिवाजी हाथीपर बैठे बीजापुरके मार्गोंसे होते दरबारमें पहुँचे, तब नवाबने आगे आकर उनका स्वागत किया और उनके सामने उसने मस्तक झुकाया। (रा०)

वीर बालक छत्रसाल

पन्नानरेश महाराज चम्पतराव बड़े ही धर्मनिष्ठ एवं स्वाभिमानी थे । इन्हींके यहाँ ज्येष्ठ शुक्ल तृतीया वि० सं० १७०६ को बालक छत्रसालका मोर पहाड़ीके जंगलमें जन्म हुआ था। मुगल सम्राट् शाहजहाँकी सेना चारों ओरसे घेरा डालनेके प्रयत्नमें थी । छिपे रहना आवश्यक समझकर पुत्रके जन्मपर भी महाराजने कोई उत्सव नहीं मनाया था । एक बार तो शत्रु इतने निकट आ गये कि लोगोंको प्राण बचानेके लिये इधर-उधर छिपनेके लिये भागना पड़ा । इस भाग-दौड़में शिशु छत्रसाल अकेले ही मैदानमें छूट गये; किंतु—

जाको राखै साइयाँ मार सकै नहिं कोय ।
बाल न बाँका करि सकै जौं जग बैरी होय ॥

बालक छत्रसालपर शत्रुओंकी दृष्टि नहीं पड़ी । भगवान्‌ने शिशुकी रक्षा कर ली । चार वर्षकी अवस्थातक इन्हें ननिहालमें रहना पड़ा और फिर केवल सात वर्षकी अवस्थातक पिताके साथ रह सके। पाँच वर्षकी अवस्थामें श्रीरामजीके मन्दिरमें इन्होंने भगवान् राम-लक्ष्मणकी मूर्तियोंको अपने-जैसा बालक समझकर उनके साथ खेलना चाहा और कहते हैं सचमुच भगवान् इनके साथ खेले । पिताकी मृत्युके पश्चात् तेरह वर्षकी अवस्थातक छत्रसालको ननिहालमें रहना पड़ा । इसके बाद वे पन्ना चले आये और चाचा सुजानरावने बड़ी सावधानीसे उन्हें सैनिक शिक्षा दी । अपने पिताका शौर्य छत्रसालको पैतृक सम्पत्तिके रूपमें प्राप्त हुआ था। अपने जीवनमें उन्होंने पिताके संकल्पको पूर्ण किया । पन्नाराज्य छत्रसालको पाकर धन्य हो गया ।

देहलीके सिंहासनपर औरंगजेब बैठ चुका था । उसके अन्यायका दौरा सारे देशको आतंकित कर रहा

वीर बालक

स्कन्ध गुप्त, चण्ड, प्रताप, बादल

वीर बालक

शिवाजी, छत्रसाल, दुर्गादास, पुत्त

था। छत्रसालकी अवस्था उस समय लगभग १३-१४ वर्षकी थी। विन्ध्यवासिनी देवीके मन्दिरमें मेला था। चारों ओर चहल-पहल थी। दूर-दूरसे लोग भगवतीके दर्शन करने चले आ रहे थे। महाराज चम्पतराय बुन्देले सरदारोंके साथ वार्तालाप करनेमें लगे थे। युवराज छत्रसालने जूते उतारे, हाथ-पैर धोये और एक डलिया लेकर देवीकी पूजा करनेके लिये पुष्प चुनने वाटिकामें पहुँचे। उनके साथ उसी अवस्थाके दूसरे राजपूत बालक भी थे। पुष्प चुनते हुए वे कुछ दूर निकल गये। इतनेमें वहाँ कुछ मुसल्मान सैनिक घोड़ोंपर चढ़े आये। पास आकर वे घोड़ोंसे उतर पड़े और पूछने लगे—'विन्ध्यवासिनीका मन्दिर किधर है?'

छत्रसालने पूछा—'क्यों, तुम्हें भी क्या देवीकी पूजा करनी है?'

मुसल्मान सरदारने कहा—'छिः! हम तो मन्दिरको तोड़ने आये हैं।'

छत्रसालने फूलोंकी डलिया दूसरे बालकको पकड़ायी और गर्ज उठे—'मुँह सम्हालकर बोल! फिर ऐसी बात कही तो जीभ खींच लूँगा।'

सरदार हँसा और बोला—'तू भला, क्या कर सकता है। तेरी देवी भी·······।' लेकिन बेचारेका वाक्य पूरा नहीं हुआ। छत्रसालकी तलवार उसकी छातीमें होकर पीछेतक निकल गयी थी। एक युद्ध छिड़ गया उस पुष्प-वाटिकामें। जिन बालकोंके पास तलवारें नहीं थीं, वे तलवारें लेने दौड़ गये।

मन्दिरमें इस युद्धका समाचार पहुँचा। राजपूतोंने कवच पहने और तलवार सम्हाली; किंतु उन्होंने देखा कि युवराज छत्रसाल एक हाथमें रक्तसे भीगी तलवार तथा दूसरेमें फूलोंकी डलिया लिये हँसते हुए चले आ रहे हैं। उनके वस्त्र रक्तसे लाल हो रहे हैं। अकेले युवराजने शत्रुसैनिकोंको भूमिपर सुला दिया था। महाराज चम्पतरायने पुत्रको हृदयसे लगा लिया। भगवती विन्ध्यवासिनी अपने सच्चे पुजारीके आजके शौर्य-पुष्प पाकर प्रसन्न हो गयीं।

वीर बालक दुर्गादास राठौर

जोधपुरनरेश महाराज यशवंतसिंहजीके पास उनकी साँड़िनियों (ऊँटनियों) के रक्षकने यह सूचना पहुँचायी कि एक साधारण किसानके लड़केने एक साँड़िनीको मार डाला है। महाराजने उस किसानको पकड़कर लानेको कहा। किसानका नाम था आसकरण। वह राठौर राजपूत था। महाराजके सामने आनेपर उसने अपने बालकको आगे करके कहा—'श्रीमान्का अपराधी यही है।'

महाराजने क्रोधसे डाँटकर पूछा—'तुमने साँड़िनी मारी?'

बालकने निर्भयतापूर्वक स्वीकार कर लिया। पूछनेपर उसने कहा—'मैं अपने खेतकी रक्षा कर रहा था। साँड़िनियोंको आते देखकर मैंने आगे दौड़कर चरवाहेको मना किया; परंतु उसने मेरी बातपर ध्यान ही नहीं दिया। हमारी फसल नष्ट हो जाय तो हम खायँगे क्या? इसलिये जब एक साँड़िनीने मेरे खेतमें मुख डाला, तब मैंने उसे मार दिया। दूसरी साँड़िनियाँ और चरवाहा भी भाग गया।'

एक छोटा-सा बालक एक मजबूत ऊँटको मार सकता है, यह बात मनमें जमती नहीं थी। महाराजने पूछा—'तुमने साँड़िनी मारी कैसे?'

बालकने इधर-उधर देखा। एक पखालिया ऊँट सामनेसे जा रहा था। वह उस ऊँटके पास गया और कमरसे तलवार खींचकर उसने ऐसा हाथ मारा कि ऊँटकी गर्दन कट गयी। उसका सिर गिर पड़ा। महाराज

उस बालककी वीरतापर बहुत प्रसन्न हुए। उसे उन्होंने अपने पास रख लिया। यही बालक इतिहासप्रसिद्ध वीर दुर्गादास हुए। औरंगजेब-जैसे क्रूर बादशाहसे इन्होंने यशवन्तसिंहकी रानी तथा राजकुमार अजीतसिंहकी रक्षा की। मारवाड़ राज्यका यवनोंके पंजेसे इन्होंने ही उद्धार किया।

वीर बालक पुत्त

एक समय दिल्लीका मुगल बादशाह अकबर बहुत बड़ी सेना लेकर चित्तौड़ जीतने आया। चित्तौड़के राणा उदयसिंह यह देखकर डरके मारे चित्तौड़ छोड़कर दूसरी जगह भाग गये और उनका सेनापति जयमल शहरकी रक्षा करने लगा, पर एक रातको दूरसे अकबरशाहने उसे गोलीसे मार डाला। चित्तौड़निवासी अब एकदम घबरा उठे, पर इतनेमें ही चित्तौड़का एक बहादुर लड़का स्वदेशकी रक्षाके लिये मैदानमें आ गया।

उस वीर बालकका नाम था पुत्त। उसकी उम्र केवल सोलह वर्षकी थी। पुत्त था तो बालक, पर बड़े-बड़े बहादुर आदमियोंके समान वह भी हिम्मतवर और जोरावर था। उसकी माता, बहिन और स्त्रीने युद्धमें जानेके लिये उसे खुशीसे आज्ञा दे दी। यही नहीं, वे भी उस समय घरमें न बैठकर हथियार लेकर अपने देशकी रक्षा करनेके लिये बड़े उत्साहके साथ युद्धभूमिमें निकल आयीं।

अकबरकी सेना दो भागोंमें बँटी थी। एक भाग पुत्तके सामने लड़ता था और दूसरा भाग दूसरी ओरसे पुत्तको रोकनेके लिये आ रहा था। यह दूसरे भागकी सेना पुत्तकी मा, पत्नी और बहिनका पराक्रम देखकर चकित हो गयी। दोपहरके दो बजते-बजते पुत्त उनके पास पहुँचा; देखता क्या है कि बहिन लड़ाईमें मर चुकी है, माता और स्त्री बन्दूककी गोली खाकर जमीनपर तड़फड़ा रही हैं। पुत्तको पास देखकर माताने कहा—'बेटा! हम स्वर्गमें जा रही हैं, तू लड़ाई करने जा। लड़कर जन्मभूमिकी रक्षा कर या मरकर स्वर्गमें आकर मुझसे मिलना।' इतना कहकर पुत्तकी माने प्राण छोड़ दिये। पुत्तकी पत्नीने भी स्वामीकी ओर धीर भावसे एकटक देखते हुए प्राणत्याग किया। पुत्त अब विशेष उत्साह और वीरतासे फिर शत्रुसेनाका मुकाबला करने लगा। माताकी मरती समयकी आज्ञा पालन करनेमें उसने तनिक भी पैर पीछा नहीं किया और जन्मभूमिके लिये लड़ते-लड़ते प्राण त्याग दिये। इस प्रकार इस एक ही घरके चार वीर नर-नारी स्वर्ग पधारे और उनकी कीर्ति सदाके लिये इस संसारमें कायम रह गयी।

पृथ्वीसिंह

(लेखक—श्रीमदनगोपालजी सिंहल)

शिकारी जंगलसे एक नया शेर पकड़कर लाये थे। 'वनका राजा' अपनेको बन्धनमें पाकर बुरी तरह दहाड़ रहा था। बादशाह औरंगजेबने उसे देखा और कहने लगे—'शायद इससे ज्यादा खूँखार शेर इस जमीनपर दूसरा न हो।'

सभी दरबारियोंने उनकी हाँ-में-हाँ मिलायी; किंतु वहाँ उपस्थित व्यक्तियोंमें एक ऐसा भी था, जिसके मुखमण्डलकी आकृतिसे यह स्पष्ट प्रकट हो रहा था कि उसे बादशाहका यह कथन स्वीकार नहीं है।

औरंगजेबने उसकी ओर देखा और वह इसे समझ गये। उन्होंने कहा—'यशवन्तसिंह!'

'हाँ, जहाँपनाह !'

'क्या तुम्हें मेरी रायसे इत्तफाक नहीं है ?'

'नहीं, जहाँपनाह !'

'तो क्या इस शेरसे भी ज्यादा ताकतवाला कोई शेर है तुम्हारी निगाहमें ?'

'हाँ, जहाँपनाह !'

'किसके पास है वह शेर ?'

'मेरे पास, जहाँपनाह !'

'तुम्हारे पास ?' औरंगजेबने कहा। उसके आश्चर्यका ठिकाना न रहा।

'हाँ, जहाँपनाह ! मेरे पास' यशवन्तसिंहने कहा। 'यदि आपको विश्वास न हो तो मेरे शेरसे अपने शेरको लड़ाकर देख लीजिये।'

'और अगर तुम्हारा शेर हार जाय तो ?' औरंगजेबने पूछा।

'तो मेरा सिर भरी सभामें कटवा लीजिये, जहाँपनाह ! इससे अधिक और मैं कह भी क्या सकता हूँ।' यशवन्तसिंहने उत्तर दिया।

'मुझे तुम्हारी चुनौती मंजूर है !' औरंगजेबने कहा और वह दरबारसे उठ गया।

× × ×

अगले ही दिन किलेके सामनेवाले मैदानमें औरंगजेब और यशवन्तसिंहके शेरोंकी लड़ाईका आयोजन किया गया। मैदानकी चहारदीवारी ऊँचे कँटीले तारोंसे बनवायी गयी थी। उत्तरकी ओर सम्राट् स्वयं अपने सिंहासनपर आकर बैठ गये, उनके दाहिनी ओर उनके दरबारी थे और बायीं ओर कुछ राजपूत सरदार। सामने पूर्वसे पश्चिमकी ओर चन्द्राकारमें अपार जनता बैठायी गयी। मैदानमें एक बहुत बड़ा लोहेके सींकचोंवाला जाल लगाया गया था और उसीमें बंद बादशाहका बब्बर शेर दहाड़ रहा था।

सभी उपस्थित व्यक्ति यशवन्तसिंह और उनके सिंहकी प्रतीक्षामें थे। कुछ ही समय पश्चात् सबने देखा कि यशवन्तसिंह अपने दशवर्षीय पुत्र पृथ्वीसिंहके साथ बड़ी तीव्रतासे पैर बढ़ाते हुए चले आ रहे हैं; किंतु उनके साथ कोई भी सिंह किसीको दिखलायी न पड़ा।

यशवन्तसिंहने आगे बढ़कर बादशाहको सिर झुकाया।

'कहाँ है तुम्हारा शेर, यशवन्तसिंह !' औरंगजेबने कहा। 'तुम इतनी देरसे आये और फिर भी खाली हाथ !'

'मैं खाली हाथ नहीं आया हूँ, जहाँपनाह ! मेरा शेर मेरे साथ है।' यशवन्तसिंहने कहा। 'आप युद्ध आरम्भ होनेका संकेत कीजिये।'

'तुम्हें अपनी शर्त तो याद है न ?' औरंगजेबने पूछा।

'हाँ, जहाँपनाह ! खूब याद है और मैं उसे फिर भी दोहराये देता हूँ कि यदि मेरा शेर जहाँपनाहके शेरको न पछाड़ सके तो मेरा सिर इसी सभामें काट लिया जाय, मुझे कोई आपत्ति न होगी।'

'तो उपस्थित करो अपना शेर !' कहते-कहते औरंगजेबने शिकारीकी ओर संकेत किया और उसने आगे बढ़कर उस बब्बर शेरका पिंजरा खोल दिया। शेरने अँगड़ाई ली और दहाड़कर खड़ा हो गया। उसकी उस दहाड़को सुनकर सारी जनता सहम उठी। कँटीले तारोंकी चहारदीवारीके पास बैठे हुए व्यक्ति भी पीछेको हटने लगे।

शेरने पिंजरेके बाहर सिर निकाला ही था कि यशवन्तसिंहने अपने कुमारकी पीठ थपथपायी—'देखते क्या हो, मेरे शेर ! बढ़ जाओ आगे; देखना, प्रतिद्वन्द्वी बचकर जाने न पाये।'

अब जनताकी समझमें आया और बादशाहकी भी कि अपने शेरसे यशवन्तसिंहका अभिप्राय अपने पुत्रसे

था; किंतु यह समझनेके पश्चात् भी किसीको यह विश्वास नहीं हो रहा था कि यह दस-बारह वर्षका बच्चा इस बबर शेरको कैसे पछाड़ देगा ।

पृथ्वीसिंह गम्भीरतापूर्वक आगे बढ़ा, सारा जनसमूह आँखें फाड़कर उसकी ओर देख रहा था ।

शेर बाहर निकला और पृथ्वीसिंहने उससे आँखें मिलायीं । शेर एक क्षणके लिये पीछे हट गया, मानो वह उस सुकुमार बालककी छवि देख रहा हो ।

शिकारियोंने शेरको उकसाया तो वह दहाड़ मारकर आगे बढ़ा । पृथ्वीसिंहने पैंतरा बदला और अपनी तलवार म्यानसे खींच ली ।

'यह क्या करता है, पृथ्वीसिंह ! निहत्थे सिंहपर हथियारसे वार ! यह तो धर्मयुद्ध नहीं हुआ, बेटा !' यशवन्तसिंहने चिल्लाकर कहा ।

पृथ्वीसिंहने तलवार फेंक दी और फिर पैंतरा बदलकर शेरपर झपटा । देखते-ही-देखते उसने दोनों हाथोंसे शेरका जबड़ा पकड़ लिया और उसे फाड़ते-फाड़ते शेरको ही दो भागोंमें चीर डाला ।

सारा जनसमूह पृथ्वीसिंहकी जय-जयकारसे गूँज उठा । यशवन्तसिंहकी छाती गर्वसे फूल गयी । उन्होंने आगे बढ़कर अपने शेरको गोदीमें उठा लिया और उसका मुँह चूम लिया । और फिर उसी मुद्रामें पृथ्वीसिंहको गोदीमें उठाये-उठाये ही उन्होंने पीठ फेरी तो देखा कि बादशाह सिंहासनसे उठ चुके हैं और किलेकी ओर जा रहे हैं ।

वीर बालक जालिमसिंह

(लेखक—श्रीमुबारक अली)

विशाल बंगालके अधिपति नवाब सर्फ़राज़ खाँ बिहारका दौरा समाप्तकर राजधानी मुर्शिदाबादकी ओर लौटे । यह समाचार सुनते ही सेनापति अलीवर्दी खाँ सारी सेना लेकर दौड़ पड़ा और भागीरथीके तीरपर आ ठहरा । क्या अपने स्वामीका स्वागत करनेके लिये ? नहीं, अपने स्वामीका वध करनेके लिये—अपने स्वामीका ताज और तख़्त हथियानेके लिये !

जब सर्फ़राज़ खाँ चलते-चलते गिरियाके मैदानमें पहुँचे, तब भागीरथीके उस पारवाले दृश्यको देखते-देखते ठगे-से रह गये । उनकी ही सेना, उनका ही सेनापति और उनका ही विरोध करे ! आश्चर्यने जैसे उनकी आँखें खोल दीं । अपने मुट्ठीभर साथियोंपर दृष्टि डालते-डालते उनको अपना अन्धकारपूर्ण भविष्य साफ दिखायी देने लगा । फिर भी उन्होंने निश्चय किया, एक मर्दका निश्चय—बस, लोहा लेंगे; जयके लिये नहीं, पराजयके लिये प्राण देंगे ।

प्रातःकाल हुआ । उधर सूरज जीवनका संदेश लेकर क्षितिजपर आया, इधर दोनों दलोंने जोरोंसे मृत्युका लेन-देन आरम्भ कर दिया । नवाब सर्फ़राज़ खाँ स्वयं हाथीपर सवार हुए और मृत्युके इस व्यापारमें योग देनेके लिये आगे बढ़े । उनकी अद्भुत वीरतासे युद्ध-भूमि थर्रा उठी और अलीवर्दी खाँने ठंडी साँसें भरते-भरते देखा बाजी उसके हाथसे अब गयी, तब गयी; परंतु सौभाग्यने उसका साथ दिया । सहसा सर्फ़राज़ खाँके मस्तकमें एक गोली प्रविष्ट हुई और वे सदाके लिये रक्तकी सेजपर सो गये ।

यह समाचार विजयसिंहके कानोंसे टकराया । स्वामी तो इस प्रकार स्वर्गका रास्ता ले और सेवक यहीं नरकमें पड़ा रहे । भला, विजयसिंह कैसे बर्दाश्त करे यह भयानक चोट ! वह पागल हो उठा, बिजलीकी तरह लपका और उसने अपना विकराल भाला तौलकर अलीवर्दी ख़ाँपर फेंक दिया । परंतु अलीवर्दी खाँका सौभाग्य

फिर आड़े आया। भाला तो हौदेसे टकराकर रह गया और मृत्यु जो उधरसे गोलीका रूप धारणकर चली तो इधर विजयसिंहके हृदयसे आ चिपटी।

इस प्रकार विजयसिंहने तो अपनी अभिलाषा पूरी कर ली और वह अपने स्वामीसे जा मिला; परंतु अब उसका नौ-वर्षीय पुत्र जालिमसिंह क्या करे? जालिमसिंह सदा छायाके समान पिताके पीछे-पीछे चलता था। इस समय भी वह इस युद्धकी धधकती हुई ज्वालामें पिताके पीछे था और ज्यों ही पिता गिरे, त्यों ही उसकी नन्ही-सी तलवार हवामें तन गयी। इसके साथ ही वह गरज-गरजकर, तलवार घुमा-घुमाकर पिताके शवके चारों ओर चक्कर काटने लगा, जैसे निर्भय-निर्द्वन्द्व सिंह-सपूत हो।

शत्रु-सैनिकोंने जालिमसिंहकी यह दिलेरी—यह बहादुरी देखी और खुश होकर कहा—'शाबाश!' इसके बाद उन्होंने तलवारें तान-तानकर जालिमसिंहकी ओर बढ़ना शुरू किया। जालिमसिंह धीरे-धीरे तलवारोंके घेरेमें आ गया। परंतु उसे अपनी चिन्ता नहीं थी, अपनी जानकी चिन्ता नहीं थी; चिन्ता थी तो केवल इस बातकी कि उसके रहते शत्रु उसके पिताके शवको हाथ न लगाने पायें और वह उसी निर्भयतासे गरज रहा था, तलवार घुमा रहा था, चक्कर काट रहा था।

अलीवर्दी खाँ सामने ही मौजूद था। जालिमसिंहकी वह बहादुरी—वह दिलेरी उसके हृदयमें घर कर गयी। उसने कड़ककर अपने सैनिकोंको आज्ञा दी—'खबरदार! इस शेर-बच्चेका बाल भी बाँका न होने पाये। यह चिराग बनकर मेरी फ़ौजमें चमकेगा। इसकी पूरी-पूरी इज्ज़त की जाय—इसके साथ पूरी-पूरी हमदर्दी जाहिर की जाय।' फिर जालिमसिंहको समझाया—'बेटा! मैं तुमसे बहुत खुश हूँ। यह रंज, यह गम छोड़ो। विजयसिंहकी जगह मुझे समझो। मेरे रहते तुम्हें किसी तरहकी तकलीफ़ न होगी।'

युद्ध समाप्त हो ही चुका था; अलीवर्दी खाँकी आज्ञा हुई तो मुसल्मान सैनिक जालिमसिंहको बड़े आदर-मानसे अपने कंधोंपर बिठाकर शिबिरमें ले गये। इसके बाद उसने हिंदू-सैनिकोंकी सहायतासे भागीरथीके तटपर यथाविधि पिताके शवका संस्कार किया।

मुर्शिदाबादके इतिहासमें गिरियाका युद्ध बहुत प्रसिद्ध है और जालिमसिंहकी अनोखी कहानीने मानो चार चाँद लगा दिये हैं। संसारके इतिहासमें ऐसी बहादुरी, ऐसी दिलेरी और ऐसी पितृ-भक्तिका उदाहरण और भी कहीं मिलेगा? शायद नहीं!

जेरापुरका बालक राजा

[सन् १८५७ के विप्लवका वीर बलिदानी]

(लेखक—श्रीमाणिकलाल शंकरलाल राणा)

सन् १८५७ के गदरके समयकी कथा है। हैदराबादके समीप ही जेरापुर नामकी एक छोटी-सी रियासत थी। वहाँका राजा बहुत छोटी उम्रका था और वह विप्लवकारियोंसे मिला हुआ था। उसने अँगरेजोंके साथ लड़नेके लिये अरब और रोहिला-पठानोंकी एक फौज तैयार की थी।

सन् १८५८ ई० की फरवरीमें राजा हैदराबाद आया था। इसकी सूचना मिलते ही निजामके स्वामिभक्त वजीर सालारजंगने तुरंत उसको गिरफ्तार करके अँगरेजोंको सौंप दिया।

इस बालक राजाकी गिरफ्तारीका वृत्तान्त अत्यन्त प्रशंसनीय और वीरोचित है। कर्नल मेडोज टेलर नामक

एक अँगरेज अधिकारीके साथ राजाका बड़ा प्रेम था। राजा उन्हें 'अप्पा' कहता था। जेलखानेमें मेटोज टेलरने राजासे मिलकर उससे दूसरे विप्लवकारियोंके नाम पूछे। टेलर इस प्रसंगपर लिखते हैं कि राजाने गर्वसे उत्तर दिया—'नहीं अप्पा! मैं उनके नाम कभी नहीं बताऊँगा। कदाचित् मैं अपने प्राणोंके लिये भीख माँगूँगा—ऐसी मुझे आशा हो, यह मत समझियेगा। पर अप्पा! जैसे मैं दूसरेकी दयापर कायरकी तरह जीना नहीं चाहता, वैसे ही मैं अपने देशबन्धुओंके नाम भी प्रकट नहीं कर सकता।' कर्नल मेटोज एक दिन फिर राजाके पास गये। उन्होंने बालक राजासे कहा—'तुम यदि दूसरोंके नाम बता दोगे तो तुम्हें क्षमा कर दिया जायगा।' राजाने उत्तर दिया—'× × × × अप्पा साहेब! जब मैं मृत्युके मुखमें जानेकी तैयारी कर रहा हूँ, तब क्या मैं विश्वासघात करके अपने देशवासियोंके नाम आपको बतला दूँ? नहीं, नहीं, तोप या कालापानी—ये सब मेरे लिये इतने भयंकर नहीं हैं, जितना भयंकर विश्वासघात है!'

कर्नल टेलरने राजासे कहा—'तुमको प्राणदण्ड दिया जायगा।' राजाने जवाब दिया—'अप्पा! मेरी एक प्रार्थना है, मुझे फाँसीपर मत चढ़ाइयेगा। मैं चोर नहीं हूँ। मुझे तोपके मुँह उड़ा दीजियेगा; फिर देखियेगा मैं कितनी शान्तिसे तोपके सामने खड़ा रह सकता हूँ।' कर्नल टेलरके कहनेसे बालक राजाको प्राणदण्डके बदले कालेपानीकी सजा दी गयी।

जब उसे कालेपानी भेजा जा रहा था, तब राजाने हँसी-हँसीमें ही अपने अँगरेज पहरेदारकी पिस्तौल ले ली और मौका देखकर अपने ऊपर गोली दाग दी। इसके पहले उसने एक बार कहा था कि 'मैं कालेपानीकी अपेक्षा मृत्युको अधिक पसंद करता हूँ। कैद और कालेपानीको तो मेरी प्रजाका एक तुच्छ-से-तुच्छ पहाड़ी भी पसंद नहीं करेगा, तब मैं तो राजा हूँ।'

इस वीर बालक राजाका यह वृत्तान्त कर्नल मेटोज टेलरद्वारा लिखित 'स्टोरी आफ माइ लाइफ' (मेरी जीवन-कहानी) नामक पुस्तकसे लिया गया है। भारतके इस बलिदानी बालक राजाके प्रति हमारे कोटि-कोटि नमस्कार।

बालक हैवलाककी वीरता

सर हेनरी हैवलाकने सन् १८५७ के बलवेमें बड़ी बहादुरी दिखलायी थी। वे जब लड़कपनमें स्कूलमें पढ़ते थे, उन दिनों एक दिन स्कूल पहुँचनेपर शिक्षकने उनका कपाल लाल और सूजा हुआ मुँह देखकर पूछा—'क्या कहीं मार-पीट करके आया है?' बालक हैवलाकने उत्तर दिया—'मेहरबानी करके मुझसे मत पूछिये, मैं आपको इसका कारण नहीं बता सकता।' शिक्षकने जाननेके लिये आग्रह किया, न बोलनेपर पाँच-सात बेंत लगा दिये; पर बालकने अपनी बात किसी प्रकार भी नहीं बतलायी।

बात यह थी कि एक छोटे लड़केको हैवलाकसे बड़ी उम्रके दो लड़के सता रहे थे। हैवलाकने उनको मना किया, पर वे न माने। इसपर हैवलाक छोटे लड़केका पक्ष लेकर उनपर पिल पड़ा और उन दोनों लड़कोंके जुल्मसे उस छोटे लड़केको बचा लिया। इस मार-पीटमें उसको भी चोट लगी थी, पर अपनेसे दो बड़े लड़कोंको मार भगानेके कारण उसके दिलमें उत्साह भरा हुआ था; फिर भी वह अपनी बहादुरी जनाने और दूसरोंकी चपत खानेको एक-सा हल्का काम समझता था। शिक्षककी मारपर भी उसके मुँहसे एक शब्द न निकला।

बहादुर बालक हुसैन

(लेखक—श्रीमुबारक अली)

'कहाँ जा रहे हो, अब्बा, यह फ़ौजी वर्दी पहनकर—यह तलवार-बंदूक़ सँभालकर ?' हुसैनने अपने पितासे पूछा ।

'अरे, तुम्हें माळूम नहीं हुआ ? दुश्मनोंने हमारी प्यारी तुर्कीपर चढ़ाई कर दी है । मैं उन्हींसे लड़ने जा रहा हूँ ।' हुसैनके पिताने उत्तर दिया ।

तुर्की एक देशका नाम है, जो यूरोप और एशिया महाद्वीपमें फैला हुआ है । इस देशके रहनेवाले लोग तुर्क कहलाते हैं । तुर्क बड़े ही बहादुर, बड़े ही लड़ाकू होते हैं । वे अपने देशपर बहुत प्रेम रखते हैं और उसकी रक्षाके लिये सदा मरने-मारनेको तैयार रहते हैं । हुसैनमें भी ये सब गुण थे । पिताका उत्तर सुनते ही उसकी नन्ही-नन्ही भुजाएँ फड़क उठीं और वह बड़े उत्साहसे बोला—'तब तो, अब्बा, मैं भी आपके साथ चलूँगा और दुश्मनोंसे लड़ूँगा । बस, मुझे भी बंदूक़-तलवार दिलवा दीजिये ।'

पिताने हँसकर कहा—'अभी नहीं, बेटा ! अभी तुम छोटे हो । पहले बड़े तो हो लो, फिर खुशीसे लड़ाईपर जाना और दिल खोलकर दुश्मनोंसे लड़ना ।'

हुसैनने जिद तो बहुत की, परंतु पिताके सामने उसकी एक न चली । उसे मन मारकर चुप हो जाना पड़ा । उधर कुछ दिनों बाद उसका पिता लड़ाईमें दुश्मनोंके हाथ मारा गया । जब यह खबर हुसैनके कानोंतक पहुँची, तब उसने मारे क्रोधके अपने होंठ काट लिये और कहा—'कोई मुझे छोटा न समझे ! अगर मैंने तुर्कीके दुश्मनोंसे—अब्बाके दुश्मनोंसे बदला न लिया, तो मेरा नाम हुसैन नहीं ।'

इस तरह हुसैनने दुश्मनोंसे बदला लेनेकी ठान तो ली, परंतु बदला लेना हँसी-खेल नहीं था । जब हुसैनकी समझमें कुछ न आया, तब वह एक दिन फ़ौजी छावनीमें जा पहुँचा और उसके अफ़सरको सब हाल सुनाकर बोला—'बस, मुझे एक बंदूक़ दिलवा दीजिये । मैं अभी दुश्मनोंको मारकर अपने बापकी मौतका बदला चुकाऊँगा ।'

हुसैनकी बातें सुनीं तो अफ़सरने उसकी पीठ ठोंकी और कहा—'शाबाश, बहादुर बच्चे ! तुम्हारी बातें सुनकर मुझे बड़ी खुशी हुई । मगर अभी तुम छोटे हो, जरा बड़े तो हो लो; फिर मैं तुम्हें बंदूक़ भी दूँगा, तलवार भी दूँगा । तुम दिल खोलकर दुश्मनोंसे बदला चुकाना ।'

यह कहकर अफ़सरने हुसैनको बहुत प्यार किया और उसे अपने ही पास रख लिया; परंतु अफ़सरकी बातोंसे—अफ़सरके प्यारसे हुसैन प्रसन्न नहीं हुआ । उसके चेहरेपर हमेशा उदासी छायी रहती । वह हमेशा यही सोच-विचार किया करता कि कब मुझे बंदूक़ मिले और कब मैं दुश्मनोंपर आग बरसाऊँ ।

धीरे-धीरे हुसैनकी बेचैनी बढ़ती ही गयी । अन्तमें एक दिन मौक़ा पाते ही वह बंदूक़की तलाशमें छावनीसे बाहर निकल भागा और चलते-चलते लड़ाईके मैदानमें जा पहुँचा । वहाँ मरे हुए सिपाहियोंकी लाशोंका बिछौना-सा बिछा हुआ था । चारों ओर बंदूक़ें तथा गोलियाँ बिखरी पड़ी थीं । यह देखकर हुसैनकी खुशीका ठिकाना न रहा । उसने झपटकर एक अच्छी-सी बंदूक़ उठा ली और जेबमें बहुत-सी गोलियाँ भर लीं । इसके बाद वह लाशोंके ढेरमें जा छिपा और दुश्मनोंपर दनादन लगा गोलियाँ बरसाने ।

उधर दुश्मन बेख़बर थे । उनको क्या पता था कि मौत उनके सिरपर खेल रही है । हुसैनकी

गोलियाँ लगते ही कुछ तो सदाके लिये धरतीपर सो गये और कुछ सिरपर पैर रखकर भागे । इतनेमें वही अफ़सर कई सिपाहियोंके साथ हुसैनकी तलाश करता हुआ वहाँ आ निकला । हुसैन बराबर गोलियाँ बरसाये जा रहा था । उसकी यह हिम्मत—यह बहादुरी देखी तो सब लोग बहुत दंग रह गये । अफ़सरने तो दौड़कर मारे प्रेमके उसे छातीसे लगा लिया और कहा—'वाह रे, बहादुर बच्चे ! तूने दुश्मनोंसे अपने बापकी मौतका बदला तो चुका ही लिया, तुर्कीका मुँह भी उजला कर दिया ।'

इसके बाद अफ़सरने हुसैनकी इस बहादुरीका कुल हाल अपने बादशाहको लिख भेजा । उसे पढ़कर बादशाहको अचरज भी हुआ—खुशी भी हुई । उन्होंने तुरत हुसैनको अपने पास बुलाया और उससे बातें कीं । उसकी बातें सुनकर बादशाह बहुत खुश हुए और उसकी पीठ ठोंकते-ठोंकते बोले—'तू सचमुच तुर्कीका लाल है ।' इसके बाद उन्होंने उसे बहुत कुछ इनाम दिया और फ़ौजमें एक अफ़सरकी जगह भी दे दी ।

फिर तो हुसैनने बहादुरीके ऐसे-ऐसे काम किये कि तुर्कीमें घर-घर उसकी बड़ाई होने लगी ।

वीर होरेशियो नेलसन

(लेखक—श्रीमुबारक अली)

दिन जाते देर नहीं लगती । होरेशियो धीरे-धीरे पढ़ते-लिखते बारह वर्षका हो गया । इसके साथ-साथ उसका हौसिला भी बहुत बढ़ गया । एक दिन उसने समाचारपत्रमें पढ़ा कि उसका मामा मौरिस साक्लेङ्ग 'रीज़नेबल' नामक जहाजका कप्तान हो गया है और अब उसके अधिकारमें थोड़ी-न-बहुत चौंसठ बंदूकें रहेंगी ।

इतना पढ़ना था कि होरेशियो मारे हर्षके नाच उठा । उसने फ़ौरन पिताको पत्र लिखा—'बस, मुझे मामाके पास भेज दीजिये, अब तो मैं जहाजका काम सीखूँगा ।

ऐडमण्ड इस समय बीमार था और बाथ नगरमें पड़ा हुआ था । पुत्रका पत्र पढ़कर मुसकराया—'दुबला-पतला होरेशियो और जान खपायेगा जहाजके कठिन काममें । नादान कहींका !' परंतु होरेशियो भला, कब माननेवाला था । उसने पत्रोंमें लगातार एक ही बातकी झड़ी लगा दी—'मुझे मामाके पास भेज दीजिये । मैं जहाजका काम सीखूँगा ।'

आखिर ऐडमण्डने अपने साले मौरिस साक्लेङ्गको लिखा—'क्या करूँ, तुम्हारा भानजा होरेशियो नहीं मानता । बस, एक ही रट लगाये है—मैं जहाजका काम सीखूँगा, मामाके पास जाऊँगा । क्या कहते हो—भेज दूँ उसे तुम्हारे पास ?'

साक्लेङ्गने उत्तर दिया—'जरूर भेज दो । जहाज-का काम सीखना हँसी-खेल तो है नहीं; एक दिन भी देख लेगा, तो अपने-आप सारी जिद छोड़ देगा ।'

अब ऐडमण्ड क्या करता ? वह स्वयं होरेशियोको लेकर लंदन पहुँचा; परंतु उस समय साक्लेङ्ग लंदनमें नहीं था, कहीं बाहर गया था । उसके अभावमें होरेशियोको बड़ी कठिनाई उठानी पड़ी । एक जहाजीने उसे बहुत समझाया—'यह पागलपन छोड़ो । जहाजपर काम करना मानो जान हथेलीपर लिये फिरना है । न दिन चैन समझो, न रात आँखोंमें नींद—बस, आठ पहर चौसठ घड़ी एक ही चिन्ता चित्तपर सवार रहती है कि न जाने कब समुद्रकी लहरें मुँह फाड़ें और हमें निगल जायँ ।' परंतु होरेशियोने ये बातें एक कानसे सुनीं और दूसरे कानसे निकाल बाहर कीं ।

जब साक्लेङ्ग आ गया, तब होरेशियो 'रीजनेब्ल' पर काम करने लगा। धीरे-धीरे साक्लेङ्गको यह देखकर आश्चर्य हुआ कि होरेशियो कठिनाईके सामने अड़ता है, अड़कर प्रसन्न होता है और प्रसन्न होकर काम भी जल्दी-जल्दी सीखता है। कुछ समय बाद साक्लेङ्गका मित्र जान राथबोन अपना जहाज लेकर 'वेस्ट इण्डीज़'-के द्वीपपुंजकी ओर गया। साक्लेङ्गने होरेशियोको भी उसके साथ भेज दिया। यात्रासे लौटनेके बाद राथबोनने साक्लेङ्गसे कहा—'भाई! तुम्हारे भानजेकी क्या तारीफ करूँ। वह कठिनाईके सामने घबराता नहीं, बल्कि अड़ जाता है; अड़कर खुशी मनाता है और फिर काम भी इतने सपाटेसे सीखता है कि बस, पूछो मत। देखना तो इस यात्रामें वह कितना काम सीख आया है।'

× × ×

'रेस हॉर्स' और 'कारकैस बम' नामक दो जहाज उत्तरी ध्रुवकी ओर जानेवाले थे। होरेशियोने यह समाचार सुना तो उसका हृदय बाँसों उछलने लगा। वह दौड़ा-दौड़ा पहुँचा मामा साक्लेङ्गके पास और बोला—'मैं भी उत्तरी ध्रुवकी यात्रापर जाऊँगा। भिजवा दीजिये न मुझे।'

मामाने लाल-लाल आँखें निकालकर कहा—'नादान लड़के, क्या उत्तरी ध्रुवकी यात्रा करना दाल-भातका कौर है? वहाँ जाना मानो मौतको निमन्त्रण देना है।'

होरेशियोने मुसकराकर उत्तर दिया—'कुछ भी हो, आप तो मुझे भिजवा दीजिये।'

मामाने खीझकर कहा—'अच्छी बात है, रेस हॉर्स-का कप्तान लटविज़ मेरा मित्र है; मैं उससे कह दूँगा। वह तुझे ले जायगा।'

होरेशियो मारे आनन्दके फूले अङ्ग न समाया और अपना सामान बाँध-बूँधकर रेस हॉर्सपर जा पहुँचा। यथा-समय दोनों जहाज खुले और बहुत दिनोंतक धड़ाधड़ आगे बढ़ते रहे; परंतु इसके बाद एक ऐसे स्थानपर पहुँचे, जहाँ चारों ओर बर्फ-ही-बर्फ था—कहीं पानीका चिह्न भी नहीं था। अब जहाज न आगे बढ़ सकते थे न पीछे हट सकते थे—बस, फँसकर जहाँ-के-तहाँ रह गये थे। ऊपरसे मुसीबत यह थी कि मगर, घड़ियाल, रीछ आदि भयंकर प्राणी उनपर आक्रमण करते थे। दिनको तो किसी तरह प्राण बच भी जाते थे, परंतु रातको उनके आक्रमण इतने भयानक होते थे कि यात्री बेखटके सो भी न पाते थे।

एक दिन प्रातःकाल जो हाजिरी ली गयी तो होरेशियो अपने एक साथीसहित गायब था। लटविज़के पैरों तलेसे जैसे धरती खिसक गयी। उसने फ़ौरन बिगुल बजवाया और सब जहाजी हथियार ले-लेकर चारों ओर दौड़ पड़े। उधर होरेशियो अपने साथीके साथ एक भयानक रीछपर आक्रमण कर रहा था—लगातार गोलियाँ दाग रहा था। बिगुलकी आवाज़ सुनी तो साथी घबराकर बोला—'बस, लौट चलो, भाई! कप्तान साहब नाराज होंगे।'

होरेशियोने उत्तर दिया—'ठहरो तो सही! कहीं हाथमें आया हुआ शिकार छोड़ा जाता है।'

इतनेमें लटविज़ भी कई जहाजियोंके साथ वहाँ जा पहुँचा। वह देखता क्या है कि होरेशियोकी गोलियाँ खतम हो चुकी हैं और वह बंदूकके कुंदेसे ही रीछका मुकाबिला कर रहा है। उसके और रीछके बीच केवल एक पतली-सी नाली है। रीछ नाली लाँघने और होरेशियोको चीर-फाड़ डालनेकी घातमें है; परंतु होरेशियोको जैसे कठिनाईकी कोई चिन्ता नहीं है, वह खुशीसे रीछके सामने डटा हुआ है और उसपर लगातार बंदूकका कुंदा फटकारे जा रहा है। लटविजने फ़ौरन अपनी बंदूक सँभाली और उसकी नाल रीछकी ओर कर दी। धायँ-धायँके भयंकर स्वरसे दसों दिशाएँ काँप उठीं और रीछ लड़खड़ाकर नालीमें जा रहा।

अब लटविजने दाँत पीसते-पीसते होरेशियोसे

पूछा—'क्यों जी, तुम बिना आज्ञा लिये जहाजसे बाहर क्यों निकले ? बिगुलकी आवाजपर क्यों नहीं लौटे ? आखिर रीछसे क्यों इस तरह भिड़ रहे थे ?'

परंतु होरेशियोने बेखटके उत्तर दिया—'कुछ नहीं' जरा मैं इस रीछका चमड़ा पिताजीको भेंट करना चाहता था।'

× × ×

कठिनाईके सामने अड़ने और प्रसन्न होनेवाला यही बालक बड़ा होनेपर 'होरेशियो नेलसन'के नामसे प्रसिद्ध हुआ और इंगलैंडकी जलसेनाका प्रधान बना। इसने अपनी अद्भुत वीरतासे फ्रांसकी जलसेनाका नाश किया और अपने देशका मान बढ़ाया। आज भी जब अंग्रेज लोग होरेशियो नेलसनका नाम सुनते हैं, तब अभिमानसे उनकी छाती फूल उठती है।

श्रीशङ्कराचार्य

सहस्रों वर्ष पूर्वकी बात है। सर्वशास्त्र-निष्णात श्रीशिवगुरु नामक एक अत्यन्त पवित्र धर्म-निष्ठ ब्राह्मण थे। उनकी पत्नीका नाम सुभद्रा था। सुभद्रा देवी धर्मकी मूर्ति-जैसी थीं। अधिक आयु व्यतीत होनेके बाद भी उन्हें कोई संतान नहीं हुई। पुण्यमयी देवीने भगवान् आशुतोष शिवकी आराधना आरम्भ की। शशाङ्कशेखर संतुष्ट हुए और वृद्धावस्थामें उनकी कोखसे एक अत्यन्त तेजस्वी बालक उत्पन्न हुआ। कहा जाता है, भगवान् शङ्कर ही उपासनासे तुष्ट होकर उक्त महिमामय बालकके रूपमें अवतरित हुए। इनकी जन्मभूमि अबतक निश्चित नहीं हो सकी। कुछ लोगोंका कहना है कि ये मलाबार-प्रदेशमें उत्पन्न हुए थे और कुछ लोग कर्णाट-देशान्तर्गत तुङ्गभद्रा नदीके तटवर्ती शृङ्गेरी नामक नगरको इनकी जन्मभूमि बताते हैं। इनकी बहुत छोटी आयुमें ही इनके पिताका शरीर शान्त हो गया।

बालक शङ्कर असामान्य मेधावी थे। उनकी स्मरणशक्ति अत्यन्त तीक्ष्ण और बुद्धि प्रखर थी। एक वर्षकी आयुमें ही उन्होंने मातृभाषाकी वर्णमाला मुखस्थ कर ली थी। द्वितीय वर्षमें लिखे अक्षर पढ़ने लग गये थे। तृतीय वर्षमें पुराण और काव्य पढ़ने लग गये थे। पञ्चम वर्षमें इनका यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न हुआ और विद्याध्ययनके लिये ये गुरुगृह चले गये। इन्हें पढ़ानेमें गुरुको कुछ भी श्रम नहीं होता था। अपने सहपाठियोंको तो ये स्वयं पढ़ा दिया करते थे। सात वर्षकी आयु पूरी करते-करते तो इन्होंने चारों वेद, वेदाङ्ग, दर्शन, पुराण, इतिहास, काव्य और अलंकार प्रभृति शास्त्रोंको अच्छी तरह पढ़ ही नहीं लिया, इन विषयोंके ये पूरे पण्डित हो गये। इतनी छोटी उम्र और इतनी अद्भुत बुद्धि! जो देखता, वही चकित हो जाता। इनके तर्क और प्रमाणके सामने बड़े-से-बड़े विद्वान्को भी पराजय स्वीकार करनी पड़ती थी।

थोड़े ही दिनोंमें इनकी कीर्ति दूर-दूरतक फैल गयी। बड़े-बड़े नरेश इनके दर्शनार्थ आते। केरल-नरेशने इनके चरणोंमें विविध धर्मोपदेश प्राप्त किया। नरेशने इन्हें विपुल धनराशि देनी चाही; किंतु इन्होंने 'यह धन धनहीनोंमें वितरित कर दो। मुझे इसकी आवश्यकता नहीं।' कहकर उसे लौटा दिया। विद्या इनके जीवनमें उतर रही थी। ये निःस्पृह तो थे ही, संन्यास लेनेका इन्होंने निश्चय किया; किंतु स्नेहमयी जननी काँप उठी। जर्जर कायासे नयन-पुत्तली किस प्रकार पृथक् की जाय! पुत्रको छोड़कर प्रेममयी जननी किस प्रकार जीवित रह सकेगी।

एक दिन शङ्कराचार्य गाँवसे कुछ दूर किसी स्वजन-के यहाँ गये थे। मार्गमें एक छोटी-सी नदी पड़ती

थी। नदीमें जल कम था। नावकी आवश्यकता नहीं थी, इसलिये वे पार हो गये। उनकी माता भी साथ ही थीं। आते समय नदी वर्षाके जलसे उमड़ पड़ी थी। माके साथ ये पार आ रहे थे। पानी कण्ठतक आ गया और ये बहने लगे। इनकी माता घबरायीं। समय देखकर इन्होंने चट्से कहा—'मा! भगवान् संन्यासीसे प्रसन्न रहते हैं। यदि तुम मुझे संन्यास ले लेनेकी आज्ञा दे दो तो इस विपत्तिसे मुक्ति मिल सकती है।' विचारके लिये अवकाश नहीं था। पुत्र-स्नेह-कातरा जननीने आज्ञा दे दी। फिर तो दूने उत्साहसे वे माताके साथ पार हो गये। 'मैं समय-समयपर स्वयं आकर भेंट करता रहूँगा' इत्यादि वाक्योंसे माताको आश्वासन देकर वे पुण्यतोया नर्मदाकी ओर चल पड़े।

नर्मदातटपर जाकर उन्होंने आठ वर्षकी अवस्थामें गोविन्द भगवत्पादसे संन्यासकी दीक्षा ली। गुरुने इनका नाम भगवत्पूज्यपादाचार्य रक्खा। गुरुके बताये मार्गसे वहाँ ये शीघ्र ही योगसिद्ध हो गये। गुरुने इन्हें काशी जाकर ब्रह्मसूत्रपर भाष्य करनेकी आज्ञा दी।

गुरुके आदेशानुसार आचार्य शङ्कर काशी पधारे। वहाँ चाण्डाल-वेशमें भगवान् शङ्करने इन्हें दर्शन दिया। आचार्यने उन्हें पहचाना और चरणोंमें पड़ गये। फिर तो करुणामय पार्वतीवल्लभ प्रकट हो गये। शङ्कराचार्यने ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखा।

एक दिन सहसा एक वृद्ध ब्राह्मण उपस्थित हुए और एक सूत्रके अर्थपर शङ्का कर बैठे। शङ्कराचार्यने उत्तर दिया। फिर शङ्का हुई। शास्त्रार्थ प्रारम्भ हो गया और वह आठ दिनोंतक चलता रहा। पद्मपादाचार्य—जो आचार्य शङ्करके काशीमें प्रथम शिष्य थे और जिनका पूर्व नाम सनन्दन था—आश्चर्यचकित थे। 'मेरे गुरुजी-जैसे अद्वितीय विद्वान्से इतने दिनोंतक शास्त्रार्थ करते रहनेकी क्षमता किसमें है।' उन्होंने ध्यान-समाधिसे देखा तो पता चला कि ये तो भगवान् व्यास वृद्ध ब्राह्मणके वेषमें उपस्थित होकर शास्त्रार्थ कर रहे हैं। तत्क्षण उन्होंने हाथ जोड़कर स्तुति की—

शङ्करः शङ्करः साक्षाद् व्यासो नारायणः स्वयम्।
तयोर्विवादे सम्प्राप्ते न जाने किं करोम्यहम्॥

शङ्कराचार्यने भगवान् व्यासको पहचाना और वे उनके चरणोंमें गिर पड़े। अत्यन्त प्रसन्नतासे श्रीव्यासजी बोले—'तुम्हारी आयु केवल सोलह वर्षकी है, वह समाप्त होनेपर आयी है। सोलह वर्ष मैं तुम्हें अपनी ओरसे और देता हूँ। धर्मकी स्थापना करो।' आचार्यने भगवान् व्यासकी आज्ञाका जीवनमें अक्षरशः पालन किया। आचार्य-जैसे बालकको जन्म देकर हिंदू-जाति कृतार्थ हुई।

श्रीयामुनाचार्य

श्रीवैष्णव-सम्प्रदायके एक प्रधान आचार्य नाथमुनि हो गये हैं। उनके एक पुत्र थे—ईश्वरमुनि। ईश्वरमुनि बहुत छोटी अवस्थामें ही परलोक सिधार गये। इन ईश्वरमुनिके ही पुत्र श्रीयामुनाचार्य थे। पिताकी मृत्युके समय यामुनाचार्यकी अवस्था लगभग दस वर्ष थी। पुत्रकी मृत्युके बाद नाथमुनिने संन्यास ले लिया और वे मुनियोंकी तरह पवित्र जीवन बिताने लगे। इसी कारण उनका नाम नाथमुनि पड़ गया।

पिताकी मृत्यु हो जाने तथा पितामहके संन्यास ले लेनेके कारण यामुनाचार्यका लालन-पालन उनकी दादी और माताने किया। उनका जन्म १०१० वि० सं०में वीरनारायणपुर या मदुरामें हुआ था। यामुनाचार्यकी अलौकिक प्रतिभाका परिचय उनके बचपनसे ही मिलने लगा। वे अपने गुरु श्रीमद्भाष्याचार्यसे शिक्षा लेने लगे और थोड़े ही समयमें सब शास्त्रोंमें पारङ्गत हो गये। उनका विनीत मधुर स्वभाव बरबस सबको उनकी

ओर आकृष्ट करता था। उन्होंने १२ वर्षकी अवस्थामें ही अपनी बुद्धिकी प्रखरताके बलपर पाण्ड्य-राज्यके आधे हिस्सेपर अधिकार प्राप्त कर लिया था। जिन दिनों वे अपने गुरुदेवके पास रहकर विद्याध्ययन करते थे, उन दिनों पाण्ड्य-राज्यकी सभामें विद्वज्जन-कोलाहल नामक एक दिग्विजयी पण्डित थे। राजा उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा-भक्तिका भाव रखते थे। जो पण्डित कोलाहलके साथ शास्त्रार्थमें हार जाते थे, उन्हें राजाके आज्ञानुसार दण्डस्वरूप कुछ वार्षिक कर कोलाहलको देना पड़ता था। कोलाहल सम्राट्की तरह अपने अधीनस्थ पण्डितोंसे कर वसूल किया करते थे। यामुनाचार्यके गुरु भाष्याचार्य भी उन्हें कर दिया करते थे।

एक समय अर्थाभाव होनेके कारण भाष्याचार्य दो-तीन वर्षतक कर नहीं चुका सके। एक दिन कोलाहलका एक शिष्य भाष्याचार्यकी पाठशालापर कर माँगनेके लिये आया। उसका नाम वंजि था। उस समय भाष्याचार्य कहीं बाहर गये हुए थे, यामुनाचार्य ही वहाँ अकेले एक आसनपर बैठे थे। वंजिने आकर बड़े कड़े शब्दोंमें भाष्याचार्यको पूछा और बकाया कर माँगा। उसके व्यवहारसे क्षुब्ध होकर यामुनाचार्यने भी कड़े शब्दोंमें उससे कहा—'तुम्हारे गुरुसे मैं शास्त्रार्थ करनेके लिये तैयार हूँ।' वंजि यह सुनकर बड़ा क्रोधित हुआ और अपने गुरुके पास जाकर उसने सारा हाल सुना दिया। सभाके सब लोग बारह वर्षके बालककी ढिठाईपर चञ्चल हो उठे। राजाने फिरसे आदमी भेजकर पुछवाया कि 'क्या सचमुच वह लड़का शास्त्रार्थ करना चाहता है ?' यामुनाचार्यने अपनी स्वीकृति भेज दी और राजासे पण्डितोचित सवारी भेजनेका अनुरोध कर दिया। राजाने एक सवारी भेज दी। जब भाष्याचार्यने पाठशालामें वापस आनेपर यह सब हाल सुना, तब वे बहुत घबराये। यामुनाचार्यने उन्हें आश्वासन दिलाया और प्रणाम करके वे सवारीपर बैठ गये।

उधर राजसभामें राजा और रानीमें यामुनाचार्यके प्रश्नपर मतभेद हो गया। राजा कोलाहलके पक्षमें थे और रानी यामुनाचार्यके। रानीने कहा—'विजय यामुनकी होगी और यदि न हुई तो मैं महाराजकी क्रीत दासीकी भी दासी बनूँगी।' राजाने भी प्रतिज्ञा की कि 'यदि बालक कोलाहलको हरा देगा तो मैं उसे आधा राज्य दे दूँगा।' इसी बीच यामुनाचार्य सभामें उपस्थित हुए। कोलाहलने बालकको देखकर बड़े गर्वसे हँसते हुए रानीसे कहा—'क्या यही लड़का मुझे जीतेगा ?' रानीने कहा—'हाँ, यही लड़का आपको परास्त करेगा।'

शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। यामुनाचार्यने कोलाहलसे तीन प्रश्न किये—(१) आपकी माता वन्ध्या नहीं है, इस बातका खण्डन कीजिये। (२) पाण्ड्याधीश धर्मशील हैं, इसका खण्डन कीजिये और (३) रानी सावित्रीकी तरह साध्वी हैं, इसका खण्डन कीजिये। कोलाहल प्रश्न सुनकर बड़े चकराये। वे कुछ भी उत्तर न दे सके। अन्तमें यामुनाचार्यसे उत्तर देनेको कहा गया। यामुनाचार्यने तीनों प्रश्नोंका उत्तर दे दिया। रानीने प्रसन्न होकर कहा—'कोलाहल! बालकने सचमुच तुम्हें जीत लिया।' रानीने उस समय अपनी भाषामें 'आलवन्दार' कहकर अपना भाव व्यक्त किया था, इसी कारणसे उसी दिनसे यामुनाचार्यका नाम 'आलवन्दार' पड़ गया। राजाने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार यामुनाचार्यको आधा राज्य दे दिया। यामुनाचार्य सिंहासनपर बैठकर बड़ी दक्षताके साथ राज-काज सँभालने लगे। उन्होंने समीपके कितने ही राजाओंको परास्त किया।

ये ही श्रीयामुनाचार्य प्रसिद्ध श्रीरामानुजाचार्यके परम गुरु थे। यामुनाचार्यका रामानुजाचार्यपर बड़ा प्रेम था और रामानुजाचार्य भी उनके प्रति अटूट भक्तिभाव रखते थे। यामुनाचार्यने मृत्युकालमें श्रीरामानुजाचार्यको स्मरण किया, परंतु उनके पहुँचनेके पूर्व ही वे दिव्य धामको पधार गये थे। उनके मनमें रही हुई तीन कामनाओंको श्रीरामानुजाचार्यने भलीभाँति पूर्ण किया।

श्रीरामानुजाचार्य

(लेखक—श्रीरामचन्द्र बागची)

दक्षिण भारतके पाण्ड्यराज्यका महाप्रभूतिपुरी वह पावन स्थान है, जो आचार्यके आविर्भावसे धन्य हुआ। आसुरिकेशवाचार्य दीक्षित चन्द्रग्रहणके समय कैरविणी-सागर-संगमपर अपनी पत्नीके साथ स्नान करने आये थे। उनकी पत्नी श्रीकान्तिमतीजी श्रीयामुनाचार्यजीके शिष्य श्रीशैलपूर्णजीकी बहिन थीं। भगवदीय वरदानसे जो तेजोमय पुत्र उन्हें यथासमय प्राप्त हुआ, उसका नाम लक्ष्मण रक्खा गया। यही बालक लक्ष्मण भक्तिमार्गका पुनरुद्धारक हुआ और जगद्गुरु रामानुजाचार्य कहलाया।

पिताके परलोकवासके अनन्तर लक्ष्मण अद्वैतशास्त्रमें निष्ठा रखनेवाले आचार्य यादवप्रकाशजीके पास अध्ययन करने लगे, लेकिन लक्ष्मणको अद्वैत-शिक्षामें तनिक भी रुचि नहीं थी। भक्ति, देवार्चन आदि श्रवण, मननकी अपेक्षा निम्नकोटिके साधन हैं—यह उनका हृदय स्वीकार नहीं करता था। भगवान्के सच्चिदानन्दघन श्रीविग्रहको मायामय बताना उन्हें सह्य नहीं था। थोड़े ही दिनोंमें श्रुतियोंके अर्थके सम्बन्धमें गुरु-शिष्यमें मतभेद रहने लगा, लेकिन इस मतभेदके कारण बालक लक्ष्मणकी गुरुभक्तिपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे गुरुदेवका पूरा सम्मान करते थे।

आचार्य यादवप्रकाशजी मन्त्रशास्त्रके भी विद्वान् थे। काञ्चीकी राजकुमारीको ब्रह्मपिशाच पीड़ा दे रहा था। राजाके आमन्त्रणपर आचार्य अपने शिष्योंके साथ राजभवन पधारे; किंतु उनके किसी भी मन्त्र-तन्त्रका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अन्तमें ब्रह्मपिशाचने ही बताया कि यदि भगवद्भक्त लक्ष्मण उस कन्याके मस्तकपर अपने चरण रख दें तो कन्या अच्छी हो जायगी और पिशाच भी इस दुःखद योनिसे छूट जायगा। गुरुकी आज्ञासे लक्ष्मणने ऐसा ही किया। राजकुमारी स्वस्थ हो गयी। फलतः राजाने बहुत अधिक द्रव्य देकर लक्ष्मणका सम्मान किया। लक्ष्मणने वह सब धन आचार्य यादवप्रकाशजीको अर्पित कर दिया, लेकिन यादवप्रकाशजीके मनमें ईर्ष्या उत्पन्न हो गयी। अब वे लक्ष्मणको अपनी कीर्तिमें बाधक मानने लगे। उन्होंने लक्ष्मणको मार डालनेका निश्चय किया। काशीयात्राके बहाने वे सबके साथ चल पड़े। उनका उद्देश्य लक्ष्मणको किसी घोर वनमें मरवा देना था; किंतु गोण्डारण्य पहुँचनेपर लक्ष्मणको इस षड्यन्त्रका पता लग गया। वे गुरुदेवका साथ छोड़कर अलग हो गये।

अनजान मार्ग, भयंकर वन, काँटों और पत्थरोंसे बालक लक्ष्मणके पैर क्षत-विक्षत हो गये। भूख-प्यासने शरीरको असमर्थ बना दिया। अन्तमें आतुर होकर वे भक्तभयहारी भगवान्को पुकारने लगे। इसी समय उन्हें एक व्याध-दम्पति दिखायी पड़े। उन दोनोंने बताया कि यहाँसे काञ्ची बहुत दूर है, जहाँ लक्ष्मणको जाना है। रात्रिको वहीं विश्राम करना था। रातमें व्याधपत्नीको प्यास लगी। सबेरा होनेपर थोड़ी दूर चलनेपर एक कुआँ दिखायी पड़ा। कुएँपर बहुत मनुष्य जल भर रहे थे। कोई पात्र न होनेके कारण लक्ष्मणने अञ्जलिमें जल लेकर तीन बार व्याधपत्नीको जल पिलाया। चौथी बार वे जल पिलाने गये तो न वहाँ व्याध था न व्याधपत्नी। पूछनेपर ज्ञात हुआ कि वह स्थान तो काञ्चीनगर है। अब लक्ष्मण समझ गये कि भगवान् लक्ष्मीनारायणने ही उन्हें दर्शन दिया था और उस भयंकर वनसे रात्रिमें सोते समय उन्हें काञ्ची पहुँचा दिया। लक्ष्मण घर आये। माताने पुत्रको हृदयसे लगा लिया। जब लक्ष्मणके मामा काञ्चीपूर्णजीने

सब बातें सुनीं तब उन्होंने उसी शालकूपके जलसे नित्य भगवान् वरदराजको स्नान करानेका आदेश दिया। भगवत्कृपाका यह अनुभव करके बालक लक्ष्मणका हृदय भक्तिसे पूर्ण हो उठा ।

श्रीमध्वाचार्य

श्रीमध्वाचार्यका जन्म दक्षिण तुलुवदेशके बेलिग्राममें मधिजी भट्ट नामक एक वेद-वेदाङ्ग-पारङ्गत ब्राह्मणके घर हुआ था । इनकी माताका नाम वेदमती था । ब्राह्मणदम्पतिको दो पुत्र होकर मर गये थे । तब उन्होंने पुत्रकामनासे भगवान् श्रीनारायणकी उपासना की और एक बालकका जन्म हुआ । इस बालकका नाम ब्राह्मणने वासुदेव रक्खा । यज्ञोपवीत होनेके बाद वासुदेवाचार्य वेदाध्ययनके लिये ग्रामपाठशालामें भेजे गये । कहा जाता है कि स्वयं वायु देवता ही भगवान् नारायणकी आज्ञासे मध्वाचार्यके रूपमें प्रकट हुए थे ।

ग्राम-पाठशालाकी शिक्षा समाप्तकर वासुदेव अपने घरपर ही विभिन्न शास्त्रोंका अध्ययन करने लगे । इसी समय उनके चित्तमें संन्यासकी आकाङ्क्षा उत्पन्न हुई । उन्होंने ग्यारह वर्षकी उम्रमें ही अद्वैतमतके संन्यासी आचार्य अच्युतपक्षाचार्य (दूसरा नाम शुद्धानन्द) से दीक्षा ले ली । इनका नाम 'पूर्णप्रज्ञ' रक्खा गया । संन्यास लेकर इन्होंने गुरुके पास वेदान्त पढ़ना आरम्भ किया, परंतु इन्हें गुरुकी व्याख्यासे संतोष नहीं होता और ये उनकी व्याख्याका प्रतिवाद करने लगते थे । इनकी विद्वत्ताकी प्रशंसा चारों ओर होने लगी । जब ये वेदान्तशास्त्रमें पारङ्गत हो गये, तब गुरुने उन्हें 'आनन्दतीर्थ' नाम देकर मठाधीश बना दिया । आनन्दज्ञान, ज्ञानानन्द, आनन्दगिरि आदि नामोंसे भी वे प्रसिद्ध हुए । आनन्दतीर्थ अब मठाधीश होकर साधन-भजन करने लगे । बीच-बीचमें वे पण्डितोंसे शास्त्रार्थ भी करते थे । एक बार वे दक्षिण-विजय करनेके लिये निकले । उनके गुरु अच्युतपक्ष भी अन्यान्य साथियोंके साथ दक्षिण आये और मंगलौरसे सत्ताईस मील दक्षिण विष्णुमंगलम् स्थानमें ठहर गये । यहाँपर आचार्यने नाना प्रकारकी योगसिद्धियाँ दिखायीं ।

कुछ दिनों बाद यहाँसे वे त्रिवेन्द्रम् गये । वहाँके राजाकी सभामें शृंगेरीमठके अध्यक्षके साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ । त्रिवेन्द्रम्से वे रामेश्वर आये । फिर वहाँसे वे श्रीरंगम् और वहाँसे पलानदीके तटवर्ती उदीपीमें आये । यहींपर उन्होंने गीताभाष्यकी रचना की और उसमें अपने मतका सारांश दे दिया । पीछे उसीके आधारपर उन्होंने वेदान्तसूत्रका भाष्य लिखा । कहते हैं कि गीताभाष्यकी रचना करके आचार्य बदरिकाश्रम गये और भगवान् व्यासदेवके प्रत्यक्ष दर्शन होनेपर इन्होंने उक्त ग्रन्थ व्यास भगवान्को समर्पण कर दिया । व्यासजीने प्रसन्न होकर इन्हें शालग्रामकी तीन मूर्तियाँ दीं । ये ही तीनों मूर्तियाँ आचार्यने सुब्रह्मण्य, उदीपि और मध्यतलमें प्रतिष्ठित कीं । शालग्रामजीके सिवा एक श्रीकृष्ण-मूर्तिकी भी स्थापना उदीपिमें आपने की थी । इस कृष्णमूर्ति-प्रतिष्ठाका इतिहास इस प्रकार है । एक व्यापारीका जहाज द्वारकासे मलाबारको जा रहा था । तुलुवके समीप वह डूब गया । उसमें एक कृष्णविग्रह गोपीचन्दनसे आवृत विराजमान था । मध्वाचार्यको भगवान्ने आदेश दिया, इसीसे उन्होंने मूर्तिको जलसे निकालकर उदीपिमें उसकी स्थापना की । तभीसे उदीपि मध्वमतानुयायियोंके लिये तीर्थ हो गया ।

श्रीवल्लभाचार्य

आचार्यपाद श्रीवल्लभाचार्यका जन्म चम्पारण्य-में हुआ था। इनके पिताका नाम लक्ष्मण भट्टजी और माताका नाम श्रीइलम्मा गारु था। ये उत्तरादि तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पूर्वज दक्षिणके काँकरवाड़ नामक ग्राममें रहते थे।

इनके यथासमय द्विजाति-संस्कार हुए। काशीमें इन्होंने श्रीमाधवेन्द्रपुरीसे वेद-शास्त्रादिका पूर्ण अध्ययन किया। ग्यारह वर्षकी अवस्थामें ही इन्होंने अध्ययन समाप्त कर लिया था। काशीसे ये वृन्दावन चले गये। वहाँ कुछ दिन रहनेके बाद ये तीर्थाटनके लिये रवाना हुए। इन्होंने विजयनगरके राजा कृष्णदेवकी सभामें उपस्थित होकर वहाँ बड़े-बड़े विद्वानोंको शास्त्रार्थमें हराया। वहींपर इन्हें वैष्णवाचार्यकी उपाधि प्राप्त हुई। राजाने सब महामान्य विद्वानोंके सामने श्रीवल्लभाचार्यको स्वर्णसिंहासनपर बैठाकर उनका साङ्गोपाङ्ग पूजन किया और बहुत-सा सोना भेंट किया। उस समय आपने कुछ ही भाग लेकर शेष सब वहाँके विद्वानों और ब्राह्मणोंको बाँट दिया। इससे इनका त्याग-भाव प्रत्यक्ष है।

श्रीवल्लभ विजयनगरसे चलकर उज्जैन आये और वहाँ क्षिप्रा नदीके तटपर एक अश्वत्थ वृक्षके नीचे उन्होंने निवास किया। वह स्थान आज भी इनकी बैठकके नामसे प्रसिद्ध है। मथुराके घाटपर भी ऐसी ही एक बैठक है और चुनारके पास भी इनकी एक बैठक और मन्दिर है। उस बैठकके आँगनमें एक कुआँ है, जो 'आचार्य-कुआँ' कहलाता है। कुछ दिनों बाद आचार्य वल्लभ वृन्दावनमें आकर श्रीकृष्णकी उपासना करने लगे। भगवान् श्रीकृष्णने इनकी अचल भक्ति और कठोर तपसे प्रसन्न होकर इन्हें दर्शन दिये और बालगोपालकी पूजाका प्रचार करनेका आदेश दिया। ऐसा प्रसिद्ध है कि इन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणासे ही ब्रह्मसूत्रके ऊपर 'अणुभाष्य' की रचना की थी।

श्रीचैतन्यका बाल-विलास

[अप्रकाशित श्रीचैतन्य-कथासे]

(लेखक—पटनाप्रवासी श्रीकृष्णचैतन्य गोस्वामी)

अमिय निमाईका हुआ बाल-विलास विचित्र।
सरस अलौकिक प्रेममय, ज्यों गोपाल चरित्र॥

वे जन्म-कालसे दीर्घकाय,
नीरोग और अति चञ्चल थे।
थी अङ्गकान्ति स्वर्णाभ, केश
घुँघराले काले अविरल थे॥

गड़ जाती दृष्टि अचल होकर,
कोमलता तनकी ऐसी थी।
कहनेमें ही आ सके नहीं,
मोहकता उनकी जैसी थी॥

लेता जो उनको गोदीमें,
पुलकित निहाल हो जाता था।
इतना आकर्षित होता, फिर
जल्दी उतार नहिं पाता था॥

सब ही ललचाते रहते थे
उनको निज हृदय लगानेको।
उपहार घनेरे लाते थे
नित बालकके बहलानेको॥

रोना या कभी मचलना भी
उनका न अकारण होता था।
सबसे हरिनाम कराना ही
कारण साधारण होता था॥

नित मिश्र-भवनमें होती थीं
अनुपम अमानुषिक लीलाएँ।
पूरी वे होंगी नहीं कदा-चित,
जीवनभर भी हम गाएँ॥

विश्वरूप प्रभुने किया जब गृह तज प्रस्थान।
तब जो नव लीला हुई, सुनिए उसका गान॥
प्रभुके उद्धत भावका हुआ उसी दिन शेष।
कष्ट पिताका देख वे चिन्तित हुए विशेष॥
पढ़नेमें चित्त प्रवृत्त हुआ,
सारी दिनचर्या ही बदली।
माको समझाते गोद बैठ
प्रौढ़ोंकी-सी कह बात भली॥
परमार्थ-मार्गमें गए भ्रात,
धर मेरे ऊपर भार सभी।
चिन्ताकी है कुछ बात नहीं,
सब विधि हूँ मैं तैयार अभी॥
फिर गौर पठनमें दत्तचित्त
हो गये, खेलमें थे जैसे।
स्थितियाँ जीवनकी धाराको
परिवर्तित कर देतीं ऐसे॥
वर्तमानसे है नहीं मनुजोंको संतोष।
देखा जाता विश्वमें डाह, मोह या रोष॥
पहले विश्वम्भर उद्धत थे,
तब मिश्र महा चिन्ता करते।
कुलमें न हुआ ऐसा कोई,
यह सोच व्यथा मनमें भरते॥
अब श्रीविश्वम्भर परम शान्त
एकान्त पठनमें लीन हुए।
तो भी न पिताको तोष हुआ,
नव चिन्तासे वे क्षीण हुए॥
भावना हुई, ज्यों विश्वरूप
पढ़ लिये, हो गये संन्यासी।
वैसा ही यह भी हो न कहीं
पा ज्ञान, त्याग गृह वनवासी॥
'मूर्च्छा हटनेपर एक दिवस
जब विश्वम्भरने स्वप्न कहा,
तब तो न मिश्रजीके मनमें
कुछ भी बाकी संदेह रहा॥
तत्काल विचार किया उनने,
अब पढ़नेका कुछ काम नहीं।
रह जाय भले ही मूर्ख पुत्र,
पर संसारी बन रहे यहीं॥

फिर तुरत मिला आदेश
निमाईको 'अब पढ़ना बंद करो'।
है शपथ हमारी तुम्हें, और
जो चाहो सो स्वच्छन्द करो॥
इस भाँति निमाईके पढ़ने-
लिखनेका सारा काम रुका।
साथ ही शिष्टता, भलमनसीका
चालू था सो श्रोत चुका॥
जबतक प्रकाश रहता है,
तबतक तम आता है पास नहीं।
पर सूरज ढलते ही आनेमें
अन्धकारको त्रास नहीं॥
सो हुआ तुरत उद्दण्ड भाव
उनका पहलेके ही समान।
घरमें, बाहरमें भी ऊधमका
जोर चला बढ़ता महान॥
सुनते न पिता-माताकी भी
वह बात, न रहते थे घरमें।
बदनामी होने लगी महा
उनकी सारी नदियाभरमें॥
एक दिवस प्रभुने रची रचना एक विचित्र।
घूरे परकी हाँड़ियाँ ले आए अपवित्र॥
सैकड़ों हाँड़ियोंका पर्वत-
सा बना, उसीपर आप चढ़े।
तालियाँ बजाकर हँसते थे
बालक सब चारों ओर खड़े॥
माने आकर जब यह देखा
तो महा दुखी हो वह बोली—
'ब्राह्मणके घरमें जन्म हुआ'
यह तेरी कैसी मति डोली॥
कोई भी जिससे छू जानेपर
जाकर नदी नहाता है,
उसको शरीरमें लेपन कर
तू हँसता है, सुख पाता है॥'
अतिशय पवित्रता-शील शची-
देवीके मनमें कष्ट हुआ।
बेटाका ऐसा नीच खेल लख
सारा गौरव नष्ट हुआ॥

माँ ग्लानिग्रस्त हो इधर कुपित
मनमें होती जैसे-जैसे।
प्रभु उन्हें खिझानेको हँस करके
और कुढ़ाते थे वैसे॥
फिर बोले—'मा! जूठा-कूठा?
सारा विचार मनका भ्रम है।
विभु है ईश्वर—सर्वत्र व्याप्त;
उनको नीचा-ऊँचा सम है॥'
मा चकित हुई सुन बात, पुनः
फुसलाने लगीं नहानेको।
पर नहीं निमाई राजी थे
उस जूठनसे हट आनेको॥
बोले, 'तुमलोगोंने ही तो
अज्ञान-भाव हैं फैलाए।
पढ़ना ही तो कर दिया बंद,
फिर ज्ञान हमें कैसे आए॥
पढ़नेकी जब आज्ञा होगी,
तब ही हम उठकर आयेंगे।
यदि नहीं, रहेंगे बैठे योंही;
चाहे जो दुख पायेंगे॥'
सुत-जननी-संवादमें जुटे बहुत-से लोग।
माको समझाने लगे, पाया खूब सुयोग॥
'सर्वत्र बाप ही बच्चोंपर
शासन कर पढ़ने बैठाता।
है उलटी बात यहाँ—लड़का
ही पढ़नेको है हठ लाता॥'
सुत मूर्ख रहे मेरा जगमें,
यह माँको था क्या इष्ट कभी।
पर विश्वरूपकी घटनासे
थे नहीं मिश्र ही तुष्ट कभी॥
'यह भी न हाथमें रह
पायेगा पढ़ते ही' उनने जाना।
इसलिये गौरके पढ़ने-लिखनेका
विरोध उनने ठाना॥

इस रोक हटानेको विद्रोही
हुए इधर विश्वम्भर थे।
यह सत्याग्रह था किया और
होते उत्पात निरन्तर थे॥
उनके ऊधमसे ऊब उठे
सब लोग वहाँके प्रतिवासी।
पर इतनेपर भी मिश्र रहे
दृढ़ अपने हठपर विश्वासी॥
बस चला न कुछ विश्वम्भरका,
तब माका ही पल्ला पकड़ा।
'घूरेपरसे न उठेंगे हम'
सत्याग्रह कर उनको जकड़ा॥
बच्चोंका बल माँका अञ्चल,
दृढ़ दुर्ग वही—संदेह नहीं।
रोने, सोने, खाने, गाने,
पानेका होता केन्द्र वहीं॥
सर्वत्र त्रास पाकर बालक
माता अञ्चलतक आता है।
तब अभय नेहकी धारासे
कृतकृत्य वहीं हो जाता है॥
सुतके सत्सत्याग्रहसे माँ-
की आखोंमें आँसू आया।
इच्छाके ही अनुसार गौर-
ने उनसे आश्वासन पाया॥
कहनावतमें बालहठ है जगमें विख्यात।
मिला पिता-आदेश भी, हटा पठन-व्याघात॥
तब तो बेरोक लगा चलने
अध्ययन गौरका सुखकारी।
वह मनोयोगसे लगे उधर,
चञ्चलता दूर हुई सारी॥
अध्यापक लख सचकित होते थे
उनकी बुद्धि-विलक्षणता।
शालाका कोई छात्र नहीं
कर सकता था उनकी समता॥

(प्रेषक—आचार्य श्रीमदनमोहन गोस्वामी वै० दर्शनतीर्थ)

सूर्य और परमाल

(लेखक—श्रीमदनगोपालजी सिंहल)

बगदादके खलीफा वलीदकी सेनाओंने अपने युवक सेनापति मुहम्मद बिन कासिमके नेतृत्वमें देवल (सिंध) पर आक्रमण किया था—सन् ७१८ में।

उस समय सिंधके शासक थे महाराजा दाहर। युवराज जयशाहके संचालनमें आर्यसेनाएँ युद्ध-क्षेत्रमें भेजी गयीं, किंतु दैव उनके प्रतिकूल था। देवलकी सेनाएँ हार गयीं और उसके बंदरगाहपर चाँद-तारेका हरा झंडा लहराने लगा।

महाराज दाहरने यह समाचार सुना तो युद्धके लिये उनकी भुजाएँ फड़कने लगीं। वे स्वयं रणक्षेत्रमें आये; किंतु परिणाम कुछ न निकला। शत्रुकी अनेक सेनाओं-को मृत्युकी गोदमें ढकेलते हुए वे स्वयं भी अमरत्वको प्राप्त हो गये। हजारों मुसल्मानोंने मिलकर जीवित दाहरका नहीं, किंतु मरे हुए दाहरका सिर काट लिया, उसे खलीफाको भेंट करनेके लिये।

अन्तःपुरमें महारानीने यह सुना तो वह क्रोधसे पागल हो उठी। अपनी स्त्रियोंकी सेनाके साथ उसने मुस्लिम सेनाओंपर आक्रमण किया; किंतु कुछ ही देर पश्चात् वह भी रणक्षेत्रमें सदाके लिये सो गयी।

युद्ध समाप्त हो गया।

दाहरका महल लुटने लगा और लूटका जो सामान कासिमके हाथ आया, उसमें प्रमुख थे—दाहरका सिर, दाहरकी दोनों पुत्रियाँ, सूर्य और परमाल और दाहरका छत्र।

लूटका यह सभी सामान भेंटके रूपमें कासिमने खलीफा वलीदके पास बगदाद भेज दिया और स्वयं वहीं ठहरकर सम्पूर्ण भारतको विजय करनेका कार्य-क्रम बनाने लगा।

× × ×

खलीफाने जो दाहरका सिर देखा तो मारे डरके काँपने लगा। 'या अल्लाह! क्या हिंदुस्थानके काफिरोंकी शक्ल इतनी खूँख्वार होती है?' उसके मुँहसे निकल पड़ा और उसने उस कटे हुए सिरको शीघ्र ही अपने सामनेसे ले जानेकी आज्ञा दी।

अब भेंटकी दूसरी वस्तु उसके सामने लायी गयी—सूर्य और परमाल। उन्हें देखकर खलीफाकी आँखें खुली-की-खुली ही रह गयीं। 'ये दाहरकी बेटियाँ हैं या बहिश्तकी हूरें?' उसके मुँहसे निकल पड़ा और उसने अपने सैनिकोंको वहाँसे चले जानेकी आज्ञा दी। अब महलके उस कक्षमें खलीफा था और निःसहाय, निराश्रित और अनाथिनी दोनों कन्याएँ। उसने सूर्य देवीकी ओर देखा और उससे अपनी शादीका प्रस्ताव किया।

खलीफा समझता था कि इसपर सूर्यदेवीको क्रोध आयेगा, किंतु न जाने क्यों ऐसा नहीं हुआ, क्रोधके स्थानपर करुणाका सागर उमड़ पड़ा—सूर्यदेवी रो उठी।

'क्यों? क्यों? रोती क्यों हो?' कहता हुआ खलीफा अपने आसनसे उठकर सूर्यदेवीकी ओर बढ़ा तो दोनों ही बहिनें कूदकर एक ओरको हट गयीं।

'हमें न छूना, खलीफा!' सूर्यदेवीने कहा। 'हम आपके योग्य नहीं रह गयी हैं, हमें नीच कासिमने अपवित्र कर दिया है।'

खलीफापर मानो वज्रपात हुआ, उसने अपना सिर पकड़ा और अपने आसनपर गिर पड़ा।

'ओह नीच कासिम!' खलीफाकी आँखोंसे चिनगारियाँ निकल रही थीं। 'मेरे साथ यह धोखा!' उसने कहा और उठकर एक ओरको चला गया।

परमाल अत्यन्त भोली बच्ची थी; वह सारी आयु सूर्यके साथ रही, किंतु इस घटनाको वह कुछ भी न

समझ सकी। उसने अत्यन्त जिज्ञासाभरे नेत्रोंसे सूर्यकी ओर देखा और आँखों-ही-आँखोंमें सूर्यने उसका उत्तर भी दे दिया। परमालके होठोंपर मुसकानकी एक धीमी-सी रेखा खिंच गयी।

खलीफाने अपनी वज्र-जैसी वाणीमें आज्ञा दी 'जाओ, कासिमकी जिंदा लाशको सूखी खालमें सीकर मेरे सामने हाजिर करो।' और उसके दूत हिंदुस्थानकी ओर दौड़ पड़े उसके हुक्मकी तामील करनेके लिये।

कासिमने बहुतेरा चाहा कि उसे जिंदा ही खलीफाके सामने ले जाया जाय और वहाँ पहुँचकर वह एक बार अपने कानोंसे सूर्यदेवीकी बात सुन सके और अपने मुँहसे अपने निर्दोष होनेका प्रमाण दे सके; किंतु उसकी एक भी न सुनी गयी। सेनापति कासिमको सूखी खालमें सी दिया गया।

खालके उस बोरेमें बंद कासिमकी लाश खलीफाके सामने लायी गयी। उसे देखते ही खलीफाका क्रोध और भी भड़क उठा और उसने उठकर खालके बोरेपर ही लातें लगायीं।

क्रोध कुछ शान्त हुआ तो दूतोंने कासिमका अन्तिम संदेश खलीफाको सुनाया।

'तो क्या कासिम बेकसूर था?' खलीफा सोचने लगा, 'नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता; वे मासूम लड़कियाँ इतना झूठ बोलनेकी हिम्मत नहीं कर सकतीं।'

कहता-कहता वह अपने महलकी छतपर चढ़ गया, उसने हुक्म दिया कि सूर्य और परमालको वहीं उपस्थित किया जाय।

दोनों आर्य-बालिकाएँ फिर खलीफाके सामने लायी गयीं। 'मैंने कासिमको अपनी तौहीनकी माकूल सजा दी है लड़कियो! उसकी लाश मेरी ठोकरें खाकर नीचे दरबारमें लोट रही है।' खलीफाने कहा। 'लेकिन सच-सच बता दो; तुमने जो कुछ कहा था, क्या वह सही था?'

'नहीं, बिल्कुल नहीं; वह तो झूठ था, एक दम झूठ!' सूर्यदेवीने उत्तर दिया।

खलीफाका चेहरा क्रोधसे लाल हो गया। 'तो फिर तुमने यह झूठी बात क्यों कहीं?' वह चीख उठा।

'अपने देशके पतन और अपने पिताकी मौतका बदला लेनेके लिये।' सूर्यदेवीने विकट हँसी हँसते हुए उत्तर दिया।

क्रोधके मारे खलीफाके मुँहसे एक शब्द भी न निकल सका। "क्यों? क्या सोच रहे हो, खलीफा? हम आर्य-ललनाएँ हैं; संसारमें किसका साहस है कि वह हमारे शरीरका स्पर्श भी कर सके। फिर उस बेचारे कासिमकी क्या बिसात थी कि वह हमारा सतीत्व नष्ट कर पाता!' सूर्यदेवीने कहा। और इससे पहले ही कि खलीफा उनके लिये कोई दण्ड घोषित करता, दोनों बहिनोंने एक-दूसरेकी छातीमें अपनी-अपनी विषसे बुझी हुई कटारें भोंक दीं और उन दोनोंके निर्जीव शरीर महलकी छतसे नीचे लुढ़क पड़े।

खलीफाकी फटी हुई आँखें यह दृश्य देखती-की-देखती ही रह गयीं, उसका हृदय काँप उठा। उसे प्रतीत हो रहा था कि मानो दाहरका कटा हुआ सिर उसकी मूर्खता और अपने बदलेपर ठहाका मारकर हँस रहा है।

सरदारबाई

विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीकी बात है कि दिल्लीके मुसल्मान बादशाहका सूबेदार रहमत खाँ कर उगाहनेके लिये गुजरात आया हुआ था। उन दिनों उसकी छावनी रानीपुरमें पड़ी थी। रानीपुर गुजरातमें एक छोटा-सा हिंदू-राज्य था और उसके राजा थे खेमराज।

खेमराजके एक पुत्र था मूलराज—वृत्तिका नीच

और हृदयका काला, और एक पुत्री थी सरदारबाई—कमलके फूल-जैसी सुन्दर और वज्र-जैसी कठोर। भाई-बहिनमें आकाश-पातालका अन्तर था।

× × × ×

रानीपुरके बाहर कोई उत्सव हो रहा था, सभी पुरुष उसमें गये हुए थे। घरोंमें केवल स्त्रियाँ ही रह गयी थीं। और ऐसे ही अवसरपर रहमत खाँ अपने घोड़ेपर चढ़कर दो-एक साथियोंके साथ नगर-भ्रमणको निकला था। उसने देखा कि खेमराजके महलके उपवनमें कुछ बालिकाएँ खेल रही हैं।

'कासिम !' रहमत खाँने कहा—'देखा कुछ........?' उसने सरदारबाईकी ओर संकेत किया।

'हाँ सरकार ! लड़की क्या है, बहिश्तकी हूर है।' कासिमने उत्तर दिया।

उसने एक लंबी साँस ली और अपने साथियोंके साथ आगे बढ़ गया।

और उसी रातको

मूलराज रहमत खाँके डेरेपर शराबके नशेमें चूर जुआ खेल रहा था।

'मैं हारा तो तुम्हें उत्तरका जिला दे दूँगा और अगर तुम हारे तो ....?' रहमत खाँने पूछा।

'तो जो तुम कहो, सूबेदार !' मूलराजने नशेमें झूमते हुए उत्तर दिया।

'तो तुम मुझे अपनी बहिन दे देना।'

'स्वीकार !'

पासा फेंका गया और मूलराज हार गया।

अगले दिन प्रातःकाल ही खेमराजके महलके द्वारपर सरदारबाईको लेनेके लिये पालकी आ पहुँची।

खेमराजने मूलराजका यह समाचार सुना तो वे क्रोधसे काँप उठे। उन्होंने आज्ञा दे दी—'डोलीको तोड़कर फेंक दिया जाय और उसे लानेवालोंको बंदी बना लिया जाय।'

राजाकी आज्ञाका पालन किया गया। और दूसरी ओर मूलराजसे क़िलेका गुप्त मार्ग जानकर रहमत खाँने उसीको आगे करके किलेमें प्रवेश किया।

राजपूतोंकी तलवारें म्यानसे निकल आयीं। उनकी सेनाएँ रहमत खाँके सामने पहुँचतीं, इससे पहले ही अन्तःपुरकी महिलाएँ अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित होकर रणके लिये निकल पड़ीं। मूलराजकी पत्नी सबसे आगे थी।

उसके हाथमें भूखी भवानीकी जिह्वाके समान तलवार लपलपा रही थी और उसके नेत्र मूलराजको ढूँढ़ रहे थे। उसने देखा सामनेसे मुसल्मानोंकी सेना आ रही है और मूलराज सबसे आगे है; वह भूखी सिंहनीके समान दहाड़ उठी। उसने अपना घोड़ा दौड़ाया और देखते-देखते अपनी तलवार मूलराजकी छातीमें घुसेड़ दी और फिर पागलोंके समान चीख उठी। 'मैंने अपने पतिके पापोंका प्रायश्चित्त किया है और अब मैं अपने इस पापका प्रायश्चित्त कर रही हूँ!' कहते-कहते उसने वही तलवार अपनी छातीमें भोंक ली और कटे वृक्षके समान वह घोड़ेसे गिर पड़ी!

युद्ध प्रारम्भ हो गया। रहमत खाँका उद्देश्य सरदारबाईको उठाकर ले जाना था, अतः वह अन्तःपुरमें घुस गया। असंख्य स्त्रियोंने अपना बलिदान दे दिया; किंतु फिर भी सरदारबाई और उसकी माता जीवित ही बंदी बना ली गयीं। खेमराज भी पकड़ लिये गये।

रहमत खाँ उन सबको अपने साथ लेकर गुजरातकी राजधानी पाटनकी ओर चल दिया।

सारे रास्ते वह सरदारबाईसे मिलनेकी सोचता रहा; किंतु उसका साहस न हुआ।

× × × ×

वीर बालिकाएँ

हमीरमाता, सरदारबाई, पद्मा, ताजकुमारी

वीर बालिकाएँ

तारा, विद्युल्लता, वीरमती, लालबाई

'आज रातको सूबेदार तुम्हारे डेरेपर आयँगे।' सरदारबाईको यह संदेश मिला तो वह काँप उठी, किंतु उसने अपने मनके भावोंको मनमें ही दबा लिया।

'मुझे उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता होगी।' सरदारबाईने रहमतको उत्तर भिजवा दिया।

रात्रिको रहमत खाँ सरदारबाईके डेरेपर पहुँचा। सरदारबाईने उसे पलँगपर बैठाया और अपने हावभाव और बातोंसे सूबेदारको मोह लिया। रहमत खाँको उसकी ओरसे कोई भी शङ्का न रही।

'थोड़ी-सी शराब तो मँगाओ, सूबेदार! तभी आनन्द आयेगा' सरदारबाईने कहा।

शराब आयी। सरदारबाई रहमत खाँको अपने हाथोंसे भर-भरकर प्याले देने लगी और रहमत खाँ पीने लगे।

पीते-ही-पीते सूबेदार बेहोश हो गये।

सरदारबाईने यह देखा और हँस पड़ी। 'राजपूत बालाके सतीत्वसे खिलवाड़ करने चला था पापी!' उसने कहा और बेहोश रहमत खाँको दो ठोकरें लगायीं। वह पलँगसे नीचे लुढ़क पड़ा।

सरदारबाई डेरेसे बाहर निकली। अँधेरी रात थी, पहरेदार भी शराब पिये पड़े थे। उसने एक बेहोश सिपाहीके कपड़े उतारे और उन्हें पहनकर रहमत खाँके पड़ावसे बाहर निकल गयी।

प्रातःकाल सूबेदारको होश आया तो उसने डेरेसे निकलकर देखा कि सरदारबाईके वस्त्र वहाँ पड़े हैं और पास ही पड़ा एक नंगा सिपाही जमीनपर लोट रहा है।

रहमत खाँ सब कुछ समझ गया, वह क्रोधसे हाथ मलने लगा; किंतु कुछ बस चलता न देखकर वह खेमराज और उसकी स्त्रीके पास गया।

'खेमराज! तुम्हें मुसलमान बनना पड़ेगा आज ही, अभी' उसने कहा!

'और यदि न बनूँ तो?' खेमराजने पूछा।

'तो तुम्हें इसी वक्त अपनी औरतके साथ मौतका मुँह देखना पड़ेगा।' रहमत खाँने चीखकर कहा।

'मुझे यह स्वीकार है!' खेमराजने बड़ी शान्तिके साथ उत्तर दिया। और रहमत खाँने उन दोनोंको वहीं मौतके घाट उतार दिया, अपने मनमें यह समझकर कि मैंने सरदारबाईके भाग जानेका बदला ले लिया है! ग० सि०

वीरमती

चौदहवीं शताब्दीमें देवगिरि एक छोटा-सा हिंदू-राज्य था और उसके शासक थे राजा रामदेव—वीर, साहसी और स्वाभिमानी। देवगिरिपर अलाउद्दीनकी वक्र-दृष्टि थी; किंतु फिर भी रामदेवकी शक्तिके बलपर वह राज्य अपना मस्तक ऊँचा उठाये खड़ा था।

रामदेवके एक अपनी कन्या थी गौरी और दूसरी पालिता कन्या थी वीरमती। वीरमती उनके एक स्वामिभक्त मराठा सरदारकी बालिका थी। उसके पिता देवगिरिके शत्रुओंसे लोहा लेते हुए रणक्षेत्रमें काम आ चुके थे और उसकी माता उनसे भी पहले स्वर्गलोकको सिधार चुकी थी। मातृ-पितृविहीन हो जानेपर राजा रामदेवने वीरमतीको अपने ही महलोंमें आश्रय दिया और अपनी पुत्रीके समान ही उसका लालन-पालन भी किया।

वीरमती जब १४-१५ वर्षकी हुई, तब उन्होंने कृष्णराव नामके एक मराठा युवकके साथ उसकी सगाई कर दी। कृष्णराव भी वीर था और उसकी वीरताकी गाथाएँ दूर-दूरतक पहुँच चुकी थीं। वीरमतीने भी उसकी

बात सुनी थी; किंतु उसे यह ज्ञात न था कि कृष्णराव जितना वीर है उतना ही कपटी भी।

× × × ×

वीरमतीके विवाहकी तैयारियाँ हो रही थीं कि अलाउद्दीनने देवगिरिपर आक्रमण कर दिया। रामदेवको अधीनता स्वीकार करनेके लिये संदेश भेजा गया; किंतु वह सच्चा राजपूत था, उसे क्यों स्वीकार करने लगा था।

'हम अपनी स्वाधीनता अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये अपना रक्त पानीकी तरह बहा देंगे।' रामदेवने कहा और सभी राजपूतोंने एक स्वरसे उसे स्वीकार किया। राजाने स्वयं सेनाका नेतृत्व सँभाला और वीर मतवाले युवकोंकी वह टोली मुसल्मानोंको अपने राज्यकी सीमासे बाहर निकालनेके लिये चल पड़ी। कृष्णराव भी उसके साथ था। जिस समय वह युद्धके लिये चलने लगा, वीरमतीने कहा—'स्वाधीनता सबसे महान् वस्तु है, इसे न भूल जाना!'

'तुमसे भी महान्, वीरमती?' कृष्णरावने हँसते हुए कहा।

'हाँ!' वीरमतीने उत्तर दिया। 'स्वाधीनताके लिये एक मेरा ही नहीं, किंतु न जाने अपने किस-किसका बलिदान देना होगा तुम्हें।'

कृष्णराव युद्धमें चला गया।

दोनों सेनाएँ आमने-सामने आयीं तो युद्ध प्रारम्भ हो गया। अलाउद्दीन हार गया और उसकी सेनाएँ पीछे लौटने लगीं। रामदेवके सैनिक हर्षोन्मत्त हो उठे। उनकी छावनीमें विविध प्रकारके उत्सव मनाये जाने लगे। और ऐसे ही समय अलाउद्दीनकी सेनाओंने उनपर फिर आक्रमण कर दिया।

'हमारे साथ धोखा हुआ है; किंतु कोई चिन्ता नहीं। हम क्षत्रिय हैं, मरनेसे डरते नहीं; हम लड़ेंगे!' रामदेवने अपने सैनिकोंको सम्बोधित करते हुए कहा।

'अवश्य-अवश्य! हम विजयी होंगे या मर जायँगे।' सैनिकोंने दोहराया। केवल कृष्णराव चुप था।

रामदेवने उसकी ओर देखा और बोले 'क्यों, चुप क्यों हो?'

कृष्णराव कुछ कहना ही चाहता था कि वीरमतीने सिंहनीके समान झपटकर अपनी समूची तलवार कृष्णरावकी छातीमें भोंक दी।

कृष्णरावने पृथ्वीपर गिरकर आँखें खोलीं 'प्रिये····'

''मुझे 'प्रिये' शब्दसे न पुकारो, नवयुवक! तुम्हारी प्रिया है तुम्हारा पाप और देशद्रोह!'' वीरमतीने कहा।

कृष्णराव दम तोड़ रहा था, उसने कहा—'सचमुच मैं देशद्रोही हूँ, वीरमती! किंतु फिर भी तुम्हारा········!'

'हाँ-हाँ, मैं यह जानती हूँ।' वीरमतीने कहा। 'यद्यपि मेरा विवाह अभी आपके साथ नहीं हुआ है, फिर भी मैं अपने हृदय-मन्दिरमें आपकी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा कर चुकी हूँ। आपके बिना मेरा संसार सूना है····।' और कहते-कहते वही तलवार उसने अपनी छातीमें भोंक ली। दोनों एक साथ अनन्त निद्राकी गोदमें सो गये। म० सि०

लालबाई

आहोरके राजा पर्वतसिंहके दरबारमें सिंधके बादशाह अहमदशाहका दूत आया था एक पत्र और कुछ सामान लेकर। पत्र पढ़ा गया, उसमें लिखा था—'मैं तुम्हारी लड़की लालबाईसे शादी करना चाहता हूँ और मुझे पूरी उम्मीद है कि तुम उसे मेरे यहाँ भेज दोगे। इसमें आगा-पीछा सोचनेकी कोई बात नहीं है; क्योंकि अब तो न जाने कितने राजपूत सरदार अपनी लड़कियाँ यहाँके मुसल्मान बादशाहोंको दे चुके हैं।'

जिसने भी यह पत्र सुना, क्रोधमें आगबबूला हो गया।

'यह साहस उस नीचका, सिंहकी कन्या माँगता है गीदड़!' पर्वतसिंहके मुँहसे निकल पड़ा और उसने अहमदशाहके पत्रको घृणाके साथ फाड़कर फेंक दिया, सामानपर भी एक ठोकर मारी।

'मेरे लिये क्या हुक्म है?' दूतने पूछा।

'जाओ, जो कुछ यहाँ देखा है, अपने बादशाहको सुना देना; साथ ही उससे यह भी कह देना कि पर्वतसिंह राजपूत है और उसकी तलवारपर अभी जंग भी नहीं लगी है।'

अहमदशाहने दूतके मुखसे यह सब कुछ सुना तो अपनी दस हजार सेना लेकर आहोरपर चढ़ आया।

लालबाईको यह समाचार ज्ञात हुआ तो वह कह उठी—'क्या मेरा सौन्दर्य ही मेरे पिताके राज्यके विनाशका कारण बनेगा, विधाता! तैंने राजपूत बालिकाओंको इतना सुन्दर ही क्यों बनाया?'

× × ×

अहमदशाह हाथीपर चढ़कर आहोरके किलेके फाटकपर आ पहुँचा। 'अगर अपनी खैर चाहते हो तो फाटक खोल दो!' उसने चिल्लाकर कहा; किंतु उत्तरमें किलेकी सफीलसे एक तीर सरसराता हुआ आया और उसके ताजसे टकराकर हाथीके ओहदेमें गिर पड़ा।

बादशाहने उसे उठाकर पढ़ा—'जिस तीरन्दाजने तेरे सिरके ताजका निशाना बनाया है, वह तेरे सिरको भी इसी तरह निशाना बना सकता है। अगर खैर चाहता है तो पीछे लौट जा।'

अहमदशाह सचमुच ही इसे पढ़कर पीछे लौट पड़ा। उसके सैनिकोंने दूर हटकर किलेपर घेरा डाला। किलेके राजपूत किलेमें ही बंद कर दिये गये; किंतु यह परिस्थिति कबतक सम्भव थी। एक दिन वह भी आ गया, जब किलेमें रसद समाप्त हो गयी।

पर्वतसिंहने सोच-विचारकर सर्वस्व-बलिदानका निश्चय किया। स्त्रियाँ जौहर-व्रतके लिये तैयार होने लगीं और पुरुष केसरिया वस्त्रोंसे अपने शरीरको सजाने लगे।

संध्या होते-होते किलेमें चिता धधक उठी और एक-एक करके सभी राजपूत-रमणियाँ जलकर भस्म हो गयीं। सारी रात्रि अग्निकी ऊँची-ऊँची लपटें उठकर आसमानको छूती रहीं। प्रातःकाल हुआ तो सारे राजपूत गलेमें तुलसी और शालग्राम बाँधकर एक दूसरेसे गले मिले और फिर फाटक खोलकर एक साथ मुसल्मान-सेनापर टूट पड़े।

राजा पर्वतसिंह, युवराज रामसिंह और उनके सभी साथी युद्धमें मारे गये।

अहमदशाह विजयी होकर आहोरके किलेमें घुसा।

× × ×

चारों ओर सुनसान था, एक भी प्राणी किलेमें जीवित शेष नहीं था, जौहरकी चिता अभी भी धधक रही थी। 'तो क्या लालबाई भी इसीमें जलकर राख हो चुकी है?' अहमदशाहने कहा और सिर पकड़कर बैठ गया।

किंतु उसे शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि पर्वतसिंहने किलेके घेरेसे पहले ही लालबाईको गुप्त रूपसे एक विश्वासी सरदारके यहाँ पहुँचा दिया है।

× × ×

लालबाई आहोरसे दूर बैठी सारे समाचार सुनती रहती थी। उसने यह भी सुना कि आहोरका पतन हो गया है और उसके पिता और भाई युद्धमें काम आ चुके हैं। वह दिनभर बिस्तरपर पड़ी-पड़ी न जाने क्या सोचती रहती थी। उसका खाना-पीना सब छूट गया था। एक दिन उसने सुना कि अहमदशाहका दूत यहाँ भी आ पहुँचा है, उसे माँगनेके लिये। लालबाईने अपने आश्रयदाता सरदारको बुला भेजा, वे आये।

'लालबाई, मेरी बेटी ! चिन्ता मत करना, हम राजपूत हैं और साथ ही मर जानेके अभ्यासी भी । पर्वतसिंहकी कन्याको हम जीवित रहते किसीको नहीं सौंप सकते !' उसने कहा ।

'नहीं, चाचाजी ! मेरे लिये यह सब कुछ कष्ट उठानेकी आवश्यकता नहीं है, मैंने बादशाहके पास जानेका निर्णय कर लिया है ।' लालबाईने कहा ।

'बादशाहके पास ? ऐसा नहीं हो सकता, लालबाई ।' सरदारने कहा ।

'होगा और अवश्य होगा, मेरा यह निर्णय अन्तिम है ।'

और जिसने भी लालबाईका यह निर्णय सुना, दाँतोंके तले अँगुली दबाकर रह गया ।

'लालबाई अपने पिता और भाईके मारनेवालेके साथ विवाह करेगी ? हे विधाता ! यह क्या होने जा रहा है !' सबके मुँहसे निकल पड़ा । विवाहका दिन निश्चित हो गया । चाँदी झीलके निकटवाले शाही महलमें विवाह होना निश्चित हुआ ।

× × ×

सारे महलमें चहल-पहल थी । अहमदशाहने बड़े-बड़े मौलवी और साथ ही दूर-दूरसे पण्डित भी विवाह करानेके लिये बुलाये थे ।

प्रथाके अनुसार लालबाईने अपने होनेवाले पतिके लिये और अहमदशाहने अपनी होनेवाली पत्नीके लिये बढ़िया-बढ़िया कपड़े भेजे थे । अहमदशाह और लालबाई, वे ही कपड़े पहनकर विवाहमण्डपमें आये । किलेके बाहर जनताकी अपार भीड़ खड़ी थी, वह अपने बादशाह और उनकी नयी बेगमके दर्शनोंके लिये लालायित थी । अहमदशाह निकाहके पश्चात् जनताके सामने आना चाहता था; किंतु जनता अपने बादशाहको उसी क्षण देखना चाहती थी ।

अतः मुल्लाओं और ब्राह्मणोंको विवाहकार्य सम्पन्न करानेके लिये तैयार होते हुए छोड़कर वे ही कपड़े पहने अहमदशाह लालबाईके साथ किलेके कंगूरेपर आया । उसने देखा कि जहाँतक भी दृष्टि जाती है, केवल आदमियोंके सिर-ही-सिर दिखायी पड़ते हैं । वह आनन्दसे विभोर हो उठा, उसे अपने शरीरकी भी सुध न रही ।

किंतु यह क्या ? बादशाहके दाहिने कंधेसे आगकी एक लपट-सी निकली और उसका सारा शरीर जलने लगा । अहमदशाह चिल्लाने लगा और अपने कपड़े फाड़ने लगा । उसे यह पता ही नहीं था कि लालबाईने उसके लिये जो कपड़े भेजे थे, उनमें तीक्ष्ण विषका प्रयोग किया गया था । और इससे पहले ही कि उसके सरदार लोग इस रहस्यको समझ पायें, लालबाई पासवाली चाँदी झीलमें कूद पड़ी । उधर अहमदशाहने विषकी ज्वालाके कारण पागलोंके समान इधर-उधर भागते हुए ही अपने प्राण छोड़ दिये । अब आहोरके सरदारोंने समझा कि लालबाईका अहमदशाहके साथ विवाह करनेका आग्रह उससे अपने पिताकी मृत्युका बदला लेना ही था, और कुछ नहीं । म० सि०

ताजकुँवरि

(लेखक—श्रीमदनगोपालजी सिंहल)

कुतुबुद्दीन ऐबकके शासनकालकी बात है । कानपुरके पास ही किसोरा नामका एक छोटा-सा हिंदू-राज्य था । उसके शासक थे सज्जनसिंह । वे एक वीर क्षत्रिय राजपूत थे । उनके दो बच्चे थे, पुत्र लक्ष्मणसिंह और पुत्री ताजकुँवरि । सज्जनसिंह स्वयं ही उन दोनों बच्चोंको युद्धकी शिक्षा दिया करते थे ।

× × ×

वनघोर जंगल था, भाई और बहिन अपने-अपने

घोड़ोंपर सवार शिकारके लिये घरसे निकले थे। दोनोंमें बहस छिड़ी थी कि उनमें कौन अधिक वीर है।

लक्ष्मणसिंहने कहा—'जीजी! किसीसे भी क्यों न पूछ लो, यही उत्तर मिलेगा कि स्त्री पुरुषसे अधिक वीर नहीं हो सकती।'

'यह ठीक है,' ताजकुँवरिने उत्तर दिया। 'भैया! प्रायः होता भी ऐसा ही है; किंतु किसी विशेष अवस्थामें इसके विपरीत भी हो सकता है और उसीके आधारपर मैं कहती हूँ कि मैं तुमसे अधिक वीर हूँ।'

उपेक्षासे लक्ष्मणसिंहने कहा—'कहनेसे कुछ नहीं होता, कोई अवसर आने दो; स्वयं ही ज्ञात हो जायगा कि तुम अधिक वीर हो या मैं।'

'हाँ, हाँ, अवसर आने दो भैया!' ताजकुँवरिने कहा। 'मैं भी यही चाहती हूँ।'

संयोगकी बात कि यह अवसर भी उसी क्षण आकर उपस्थित हो गया। एक झाड़ीके पीछे दस-बारह मुसल्मान पठान बैठे कुछ परामर्श-सा कर रहे थे कि उन्होंने इन दोनों बालकोंको अकेले ही उस मार्गसे जाते देखा। उन्होंने पास पड़ी हुई अपनी-अपनी लाठियाँ उठा लीं और इनपर आक्रमण कर दिया। इन दोनोंने भी अपनी-अपनी तलवार म्यानसे बाहर खींच ली; देखते-ही-देखते युद्ध आरम्भ हो गया।

लक्ष्मणसिंहने पाँच पठानोंको मार गिराया और ताजकुँवरिने तीनको।

भाईने बहिनकी ओर देखा और हँस पड़ा—'क्यों, जीजी! मैंने कहा था न कि स्त्री पुरुषसे अधिक बलवान् नहीं हो सकती।'

युद्ध तो अभी चल ही रहा था, बाकी बचे चार-पाँच पठान अभीतक बालकोंपर आक्रमण कर ही रहे थे। ताजने भाईकी बात सुनी कि उसकी तलवारकी तीव्रता बढ़ गयी, देखते-ही-देखते दो और पठान उसकी तलवारसे कटकर पृथ्वीपर लोटने लगे। जो बाकी बचे, वे भाग निकले।

'अब क्या कहते हो, भैया? स्त्री पुरुषसे अधिक बलवान् नहीं तो बराबर अवश्य होती है।'

दोनों बहिन-भाई हँस पड़े।

× × ×

भागे हुए पठानोंने दिल्ली पहुँचकर कुतुबुद्दीनको सारा समाचार सुनाया और साथ ही उससे यह भी कहा कि 'ताज-जैसी खूबसूरत लड़की तो आपके हरममें एक भी न होगी, शाहंशाह! क्या ही अच्छा हो कि आप उसे सज्जनसिंहसे छीन लायें; इससे आपके महलकी रौनक भी बढ़ेगी और उन दस मुसल्मानोंकी मौतका बदला भी चुक जायगा।'

कुतुबुद्दीनको यह राय पसंद आ गयी और किसोरा मुसल्मानी सेनाओंद्वारा घेर लिया गया। सज्जनसिंहको सूचना दे दी गयी कि 'यदि तुम अपनी खैर चाहते हो तो ताजकुँवरिको बादशाहकी खिदमतमें पेश करो।'

राजपूतोंने यह सुना तो उनकी तलवारें झनझनाती हुई म्यानोंसे बाहर निकल आयीं। किलेके बाहर मुट्ठीभर राजपूतोंका बादशाहकी सेनासे युद्ध हुआ। किलेके एक कँगूरेपर खड़े लक्ष्मण और ताज युद्धका यह दृश्य देख रहे थे। एक-एक करके राजपूत सैनिक युद्धमें काम आने लगे। सज्जनसिंहका पक्ष निर्बल होने लगा।

'भैया! क्या देख रहे हो?' ताजने कहा। 'अब तमाशा देखनेका समय नहीं रह गया है; आओ, अब हम-तुम रणक्षेत्रमें चलें। हमने पिताजीसे जो कुछ सीखा है, वह आजके ही लिये तो सीखा है, भैया!'

एक क्षणके पश्चात् ही भाई और बहिन वीर-वेषमें सुसज्जित होकर रणक्षेत्रमें आ धमके। शत्रुओंके रक्तसे उनकी प्यासी तलवारें तृप्त होने लगीं। न जाने

कितने वीर पठानोंको ताजने सदाके लिये धरती माताकी गोदमें सुला दिया।

कुतुबुद्दीन दूरसे दूरबीन लगाये युद्धके इन दृश्योंको देख रहा था। उसने ताजकुँवरिको देखा तो चीख पड़ा—'ओह! कितनी खूबसूरत है। सचमुच ही ताज मेरे हरमके क़ाबिल है। मेरे सिपाहियो! तुममेंसे जो भी इस लड़कीको जिंदा पकड़कर मेरे पास ले आयेगा, उसे मुँहमाँगा इनाम दिया जायगा।'

इनामके लालचमें असंख्य मुसल्मानोंने राजपूतोंपर एक साथ आक्रमण कर दिया। सज्जनसिंह और उनके सारे साथी राजपूत मारे गये, पठान ताजको पकड़नेके लिये आगे बढ़े।

लक्ष्मण और ताज दोनोंने उनका मुक़ाबला किया। सैकड़ों मुसल्मान इनकी तलवारोंके घाट उतर गये। जिसने भी वह युद्ध देखा, दाँतों तले अँगुली दबाकर रह गया।

किंतु कबतक ऐसा होता, पठान सैनिक दोनों बच्चोंके निकट आते जा रहे थे और जब ताजने देखा कि पठान उसे पकड़ना ही चाहते हैं, तब उसने लक्ष्मणकी ओर देखा। 'अपनी बहिनकी रक्षा करो, भैया!' उसने कहा। और लक्ष्मणसिंहने तलवार चलाते हुए ही उत्तर दिया—'अब रक्षाकी कौन-सी सम्भावना रह गयी है, जीजी!' कहते-कहते उसका कण्ठ भर आया।

'छिः! राजपूत होकर रोते हो? मेरे शरीरकी नहीं, किंतु मेरे धर्मकी रक्षा करो, भैया!' ताजने कहा। 'यदि यवनोंके अपवित्र हाथ तुम्हारी बहिनका स्पर्श भी कर गये तो उसका धर्म नष्ट हो जायगा।' लक्ष्मणसिंह समझ गया और एक क्षणमें ही उसकी तलवारके वारने अपनी बहिनका सिर धड़से पृथक् कर डाला। लक्ष्मणसिंह स्वयं भी कुछ ही क्षणोंके पश्चात् समर-भूमिमें वीर-गतिको प्राप्त हो गया।

कुतुबुद्दीन ऐबकने किसोराके गढ़पर चाँद-तारेका झंडा फहराते हुए कहा—'मेरे बहादुर सिपाहियो! हमने इस लड़ाईमें फतह हासिल की है, इसके लिये तो अल्लाहतालाका शुक्र है; लेकिन उसने हमसे लड़नेके लिये ये राजपूत और उनके बच्चे किस क़िस्मकी फौलादसे बनाकर भेज दिये हैं, इसका पता हमें अभीतक नहीं लग सका है।'

तारा

(लेखक—श्रीमदनगोपालजी सिंहल)

अलाउद्दीनके शासनकालमें राजस्थानमें एक छोटा-सा राज्य था बिदनौर और वहाँके शासक थे सूरसेन। सूरसेन बड़े जनप्रिय नरेश थे। प्रजा उनके गुणोंपर मोहित थी। उनकी एक कन्या थी, जिसका नाम था तारा। तारा सचमुच ही अपने पिताकी आँखोंका तारा थी। सूरसेन उसे अपने प्राणोंसे भी बढ़कर प्यार करते थे।

अलाउद्दीन एक-एक करके सभी हिंदू-राज्योंको अपने अधिकारमें करता चला जा रहा था, फिर बिदनौर ही क्योंकर बचता! उसके किलेपर भी इस्लामी ध्वज फहराने लगा।

सूरसेन अपनी कन्याके साथ एक निर्वासित-जैसा जीवन व्यतीत करते थे और साथ ही ताराके लालन-पालनमें अपनेको लगाये रखकर पूर्वकी स्मृतियोंको भुला देनेका उद्योग भी किया करते थे। इसी प्रकार कई वर्ष बीत गये। अब तारा पंद्रहवें वर्षमें चल रही थी, वह सब कुछ समझने लगी थी, पिताके शत्रुओंके प्रति उसके हृदयमें प्रतिहिंसाकी चिनगारी भी सुलग चुकी थी। वह

उनसे बदला लेनेकी इच्छासे अब अपने पितासे ही युद्धकी शिक्षा प्राप्त कर रही थी। उसके चित्तका उत्साह, हृदयकी उमंग, वीरताका तेज और शरीरका सौन्दर्य दिन-दिन बढ़ता ही जा रहा था और उसके गुणोंकी प्रशंसा दूर-दूर पहुँच चुकी थी। अनेकों राजपूत उससे विवाह करनेकी इच्छासे आते थे और वह सबसे एक ही बात कह रही थी, तोतेके समान रटी हुई—'मैं अपना विवाह उसीके साथ करूँगी, जो मेरे पिताका राज्य उन्हें वापस दिला देगा।'

यह सुनकर तथा साथ ही अलाउद्दीनके पराक्रमकी कल्पना कर उन आनेवाले नौजवानोंके हौसलोंपर पानी फिर जाता था।

जयपाल नामके एक राजपूतने एक बार ताराकी यह प्रतिज्ञा पूर्ण करनेका आश्वासन दे दिया। वह अपने घरसे चलकर सूरसेनके पास आकर रहने भी लगा; किंतु एक दिन ताराको एकान्तमें पाकर उसने कुछ अनुचित चेष्टा करनी चाही, जिसके परिणामस्वरूप ताराकी तलवारके एक ही वारने उसका काम तमाम कर दिया। उसका सिर धड़से पृथक् होकर पृथ्वीपर लोटने लगा!

फिर एक दूसरा युवक आया पृथ्वीराज—चित्तौड़का निर्वासित राजकुमार। उसने भी ताराके समक्ष अपनी वीरताका बखान किया।

'मैं सुनना नहीं चाहती, राजकुमार!' ताराने कहा। 'मैं तो तुम्हारे शौर्यको देखना चाहती हूँ। मुझसे विवाह करनेकी इच्छासे आनेवाले युवकोंसे उनकी अपनी वीरताकी बातें सुनते-सुनते तो अब मेरे कान पक चुके हैं।'

'मैं केवल कहता ही नहीं, राजकुमारी! किंतु उसे दिखाऊँगा भी, मुझे अवसरकी प्रतीक्षा है।' पृथ्वीराजने कहा। सचमुच ही वह अवसरकी प्रतीक्षामें था और जैसे ही अवसर आया पृथ्वीराज सूरसेनका आशीर्वाद और अपने पाँच सौ वीर राजपूत सैनिकोंको लेकर बिदनौरकी ओर चल भी दिया। तारा भी पुरुष-वेषमें उसके साथ चली, इससे पृथ्वीराजके उत्साहका पारावार न रहा।

× × ×

उस दिन मोहर्रमका दिन था, ताजियोंका जनाजा उठ रहा था, 'हा हुसेन' 'हा हुसेन' करते हुए और अपनी छातियाँ पीटते हुए मुसल्मानोंके झुंड-के-झुंड रोते-चिल्लाते हुए आगे बढ़ रहे थे। किलेकी छतपर बैठा अफगान लाइलाहा यह दृश्य देख रहा था।

ताराने पृथ्वीराजका ध्यान उधर दिलाया और कुमारके धनुषसे एक बाणने निकलकर लाइलाहाकी छातीको बींध दिया। वह लड़खड़ाता हुआ अपनी मसनदसे नीचे लुढ़क पड़ा। चारों ओर हाहाकार मच गया। पृथ्वीराज और तारा सैनिकोंसे मिलनेके लिये पीछेकी ओर दौड़े और रोना-पीटना छोड़कर मुसल्मानोंने भी उनका पीछा किया। फाटकपर एक मस्त हाथीने पृथ्वीराजका रास्ता रोका, किंतु ताराके एक वारने ही उसकी सूँड़को काटकर नीचे गिरा दिया। हाथी चिग्घाड़कर नगरकी ओर दौड़ पड़ा और सैकड़ों मुसल्मान उसके पैरोंके नीचे कुचलकर मर गये।

उसी समय पाँच सौ राजपूतोंकी टोलीने नगरपर आक्रमण कर दिया। चारों ओर भगदड़ मच गयी। जो भाग गया, वही बचा, जिसने शस्त्र उठाना भी चाहा, वही काट दिया गया।

मुसल्मानोंकी पराजय हो गयी। बिदनौरके किलेपर फिर राजपूतोंका केसरिया ध्वज लहरा उठा।

× × ×

बिदनौर सूरसेनको मिल गया और तारा पृथ्वीराजको।

रत्नवती

(लेखक—श्रीमदनगोपालजी सिंहल)

सिपहसालार मलिक काफूरके सेनापतित्वमें अलाउद्दीनकी सेनाओंने जैसलमेरपर आक्रमण किया था। उसकी सेनाएँ टिड्डीदलकी भाँति किलेके चारों ओर घेरा डाले पड़ी थीं। दुर्गकी रक्षाका भार अपनी कन्या रत्नवतीको सौंपकर जैसलमेर-नरेश महारावल रत्नसिंह युद्धके लिये दुर्गसे बाहर निकल चुके थे।

रत्ना मर्दानी पोशाक पहने, कमरमें तलवार बाँधे, कँधेपर तूणीर कसे और हाथमें धनुष लिये घोड़ेपर सवार हर समय दुर्गमें घूमती रहती थी। वह कभी बुर्जपर चढ़ती थी और कभी प्राचीरोंपर घूमती थी। मुसल्मान सेनाएँ बार-बार दुर्गपर आक्रमण करती थीं, किंतु राजकुमारीके युद्ध-कौशलसे विफल होकर लौट जाती थीं।

एक दिन राजकुमारीने देखा कि शत्रुकी सेनाएँ दुर्गकी दीवारोंपर चढ़नेका प्रयत्न कर रही हैं। उसने अपने प्राचीर-रक्षक सैनिकोंको पीछे हटनेका आदेश दिया। शत्रुसेनाएँ ऊपर चढ़ने लगीं और जब वे काफी दूर दीवारपर चढ़ आयीं, तब राजकुमारीने उनपर पत्थर बरसानेकी आज्ञा दे दी और फिर गरम तेल फेंकनेकी। शत्रुकी वह पूरी सेना नष्ट हो गयी।

राजकुमारी भीषण अट्टहासके साथ हँस पड़ी—'और करो आक्रमण जैसलमेरपर, समझ रक्खा होगा कि महाराजकी अनुपस्थितिमें दुर्गपर अधिकार करनेका अच्छा अवसर मिलेगा।'

× × ×

एक दूसरे दिन संध्याके अन्धकारमें जब राजकुमारी एक बुर्जके नीचे खड़ी थी, उसने देखा कि एक मनुष्यकी आकृतिकी छाया-सी दुर्गकी ओर बढ़ती आ रही है। वह उसकी ओर ही देखती रही। उसने देखा कि वह मूर्ति सिंहद्वारकी ओर बढ़ी और फिर प्राचीरपर चढ़नेकी योजना करने लगी।

राजकुमारीने ललकारकर कहा—'कौन ?'

'मैं हूँ तुम्हारे पिताका संदेशवाहक!' उत्तर मिला।

'क्या संदेश है, पिताजीका ?'

'वहीं आकर बताऊँगा।'

'नहीं, वहींसे बोलो।'

'यहाँसे नहीं कहा जा सकता।'

'तो सावधान!' राजकुमारीने धनुषपर बाण चढ़ाया और छोड़ दिया। वह आकृति वहीं पृथ्वीपर गिरकर ढेर हो गयी। राजपूतोंने देखा, आनेवाला मुसल्मान था।

'यह यहाँ क्यों आ रहा था ?' राजकुमारी सोचने लगी; किंतु उसे संतोष था कि उसकी सावधानीसे दुर्गपर आनेवाला कोई संकट टल गया।

× × ×

राजकुमारी दुर्गकी प्राचीरपर शीघ्रतासे आगे बढ़ रही थी। उसने देखा कि एक वृद्ध सैनिक उसकी ओर आ रहा है तीव्रताके साथ।

'क्यों, बाबा! क्या बात है ?' राजकुमारीने पूछा।

'मुसल्मान सैनिकोंने मुझे यह सोना दिया है, बिटिया!' वृद्ध सैनिकने एक पोटली राजकुमारीको देते हुए कहा। 'इसीलिये कि मैं आधी रातको दुर्गका फाटक खोल दूँ और उन्हें अंदर आ जाने दूँ।'

'अच्छा ?' राजकुमारीने हँसते हुए कहा। 'उन्होंने तुम्हें घूस दी है यह।'

बूढ़ा भी हँस पड़ा।

'अच्छा, बाबा! एक काम करो; तुम आधी रातको उनके इच्छानुसार उनके लिये दुर्गका द्वार खोल देना!' राजकुमारीने कहा।

बूढ़ा चौंक पड़ा—'यह क्यों, बिटिया रानी ?'

'हम उन्हें पागल बना देंगे, दादा ! तुम देखना तो ।' राजकुमारी चली गयी । वृद्ध भी हँसता हुआ सिंह-द्वारकी ओर बढ़ गया ।

आधी रात बीत चुकी थी । एक सौ मुसल्मान सैनिक दुर्गके प्रधान द्वारकी ओर बढ़ रहे थे, मलिक काफ़ूर उन सबमें आगे था ।

दुर्गका द्वार खुला और उन सबको अंदर लेकर बंद हो गया । 'अब हमें गुप्त मार्गसे महलके अंदर भी पहुँचा दो, बूढ़े !' मलिकने कहा । और बूढ़ा राजपूत उन्हें लेकर आगे बढ़ने लगा ।

किंतु यह क्या ? बूढ़ा न जाने किधर चला गया ! अब काफ़ूर न आगे बढ़ सकता था और न पीछे ही लौट सकता था । वह अपने सभी साथियोंके साथ उनके उस व्यूहमें बंदी बन चुका था और दुर्गकी प्राचीरपर खड़ी रत्ना यह देखकर ठहाका मारकर हँस रही थी अपनी सहेलियोंके साथ ।

'और घूस दोगे राजपूतको, सिपहसालार ?' उसने कहा और चली गयी । मलिक काफ़ूर दाँत पीसता रह गया ।

× × ×

दुर्गसे मुसल्मानोंका घेरा नहीं उठा और उधर रसद समाप्त होने लगी । राजपूत भूखों मरने लगे । राजकुमारीका शरीर भी पीला पड़ गया । उसे अपने सैनिकोंके भोजनकी बड़ी चिन्ता रहती थी और उससे भी बढ़कर मलिक काफ़ूर और उसके साथियोंके भोजनकी । वह उन्हें दैनिक दो मुट्ठी अन्न देती थी और अपनोंको एक मुट्ठी । इसी प्रकार पाँच महीने और बीत गये । राजपूतोंने भूखे रहकर मरना स्वीकार किया, किंतु दुर्गका पतन नहीं होने दिया ।

अलाउद्दीनने यह सब समाचार सुना और साथ ही यह भी कि मलिक काफ़ूर महारावलके महलोंमें बंदी पड़ा है तो उसने जैसलमेरको अजेय समझकर संधिका प्रस्ताव भेज दिया । राजकुमारी उस दिन जब नित्यके समान दुर्गके प्राचीरपर गयी, तब उसने देखा कि मुसल्मान-सेना अपने डेरे-तम्बू उखाड़ रही है और महारावल रत्नसिंह अपने झंडेको फहराते हुए दुर्गकी ओर बढ़े चले आ रहे हैं ।

महारावलने अपनी वीर पुत्रीको छातीसे लगा लिया—'रत्ना ! मेरी बेटी !' वह अधिक न बोल सके ।

और जब उन्होंने मलिक काफ़ूरको बंदीघरसे मुक्त किया, तब वह कह उठा—'महाराज ! आपकी राजकुमारी इन्सान नहीं, फरिश्ता है, उसने खुद भूखी रहकर मुझे खाना दिया है । सचमुच ही वह पूजने लायक है ।'

विद्युल्लता

(लेखक—श्रीमदनगोपालजी सिंहल)

अलाउद्दीन चित्तौड़को घेरे पड़ा था । वह पहली बार पराजित होकर चित्तौड़से असफल लौट चुका था । अतः इस बार वह असंख्य सेना लेकर गढ़की ईंट-से-ईंट बजाने आया था । दर्पणकी छायामें पद्मिनीको देखकर वह उसे प्राप्त करनेके लिये और भी अधिक लालायित हो उठा था । उधर राजपूत अपने प्राणोंपर खेलकर अपनी मातृभूमिकी रक्षामें जुटे हुए थे । राजपरिवारके प्राणी ही नहीं, किंतु सरदार और साधारण सैनिक भी समान-रूपसे स्वदेशके लिये चिन्तित थे और साथ ही राज-महिषीसे लेकर साधारण गृहस्थोंकी बहू-बेटियाँतक भी अपना-अपना कर्तव्य निभानेके लिये तत्पर थीं ।

समरसिंह चित्तौड़के एक सरदारका पुत्र था—अपनी वीरताके लिये प्रसिद्ध और विद्युल्लता चित्तौड़-

के एक वीर सैनिककी पुत्री थी—अपने सौन्दर्यके लिये विख्यात। उन दोनोंका सम्बन्ध स्थिर हो चुका था। विवाहके लिये तैयारियाँ हो ही रही थीं कि अलाउद्दीनका आक्रमण हो गया; समरसिंह भी एक वीरकी भाँति उस आक्रमणको विफल करनेके लिये रणक्षेत्रमें चला गया और विवाह रुक गया।

विद्युल्लता दिनभर अपने घरके बगीचेमें और सारी रात अपने शयनके कमरेमें बैठी-बैठी अपने होनेवाले पतिका स्मरण किया करती थी; किंतु उसे संतोष था कि वह अपने कर्तव्य-पालनमें लगा हुआ है।

× × ×

एक दिन रात्रिको जब चन्द्रदेव अपनी शीतल किरणोंसे पृथ्वीतलको स्नान करा रहे थे, विद्युल्लताने देखा कि समरसिंह उसके भवनकी ओर ही चला आ रहा है तीव्रतासे पग बढ़ाता हुआ। वह भी घरका द्वार खोलकर वाटिकामें आ गयी।

'मुझे तुमसे एक आवश्यक बात कहनी है' समरने कहा।

'वह क्या ?' विद्युल्लताने पूछा।

'यही कि अब चित्तौड़के पतनका समय आ चुका है। इस बार मुसल्मानोंने जितनी शक्तिके साथ चित्तौड़-पर आक्रमण किया है, उसे देखते हुए हमारे पक्षकी पराजय निश्चित ही है !' समरसिंहने कहा।

'तो फिर ?' विद्युल्लता बड़े आश्चर्यके साथ समर-सिंहकी बातें सुन रही थी। उसकी समझमें यह नहीं आ रहा था कि आखिर समर कहना क्या चाहता है।

'ऐसी परिस्थितिमें मैं चाहता हूँ कि हम और तुम चित्तौड़से कहीं दूर भाग चलें।' समरसिंहने कहा।

'किसलिये ?' विद्युल्लताने पूछा।

'क्या यह भी बताना पड़ेगा मुझे ?' समरसिंहने कहा। 'विद्युल्लता ! मैं तुम्हारे ही कारण युद्धसे भाग-कर आया हूँ।'

विद्युल्लताको जैसे बिच्छूने डंक मारा हो। 'तुम युद्धक्षेत्रसे भागकर आये हो ?' उसने कहा। 'कायर कहींके। राजपूत-कन्याएँ ऐसे कायरोंसे विवाह नहीं किया करतीं, राजपूत ! ऐसा करना वह पाप समझती हैं। समझे ? जाओ, यदि मुझे प्राप्त करना चाहते हो तो स्वदेशकी रक्षामें अपने शौर्यका प्रदर्शन करो। यदि युद्धमें तुम वीरगतिको भी प्राप्त हो गये तो स्वर्गमें हमारा-तुम्हारा मिलन होगा।'

विद्युल्लता कहती-कहती अपने भवनमें घुस गयी। समरसिंह पाषाणकी प्रतिमाके समान खड़ा-का-खड़ा रह गया। उसने समझ लिया कि युद्ध-समाप्तिके पूर्व मुझे विद्युल्लता प्राप्त नहीं हो सकेगी। समरसिंह थोड़े दिन युद्धक्षेत्रमें रहकर अलाउद्दीनकी शक्तिसे परिचित हो गया था; अतः उसे यह भी विश्वास था कि इस युद्धमें उसके प्राण नहीं बच सकेंगे। वह विद्युल्लताको प्राप्त करना चाहता था और उसके लिये अपने प्राणोंको भी बचाना चाहता था। अतः उसने अपने देशके साथ विश्वासघात किया और वह अलाउद्दीनसे जा मिला।

जब चित्तौड़का पतन हो चुका, समरसिंह फिर विद्युल्लतासे मिलनेके लिये चला—सैकड़ों मुसल्मान सैनिकोंको अपने साथ लिये हुए।

विद्युल्लताने उसे देखा तो उसके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। समरसिंह मुसल्मानोंके साथ, और वह भी स्वतन्त्ररूपमें। यदि वह रणक्षेत्रमें जीवित भी बच गया है तो फिर मुसल्मानोंने उसे बंदी क्यों नहीं बनाया ? वह सोचने लगी और शीघ्र ही समझ भी गयी कि समरसिंहने देशके साथ विश्वासघात किया है। उसका सिर लज्जासे नीचे झुकने लगा।

अबतक समरसिंह भी विद्युल्लताके निकट आ चुका था। उसने आगे बढ़कर विद्युल्लताका हाथ पकड़ना

चाहा तो वह कूदकर पीछे हट गयी। 'अधम! मेरे शरीरको छूकर अपवित्र मत कर। जाओ, कहीं चुल्लू-भर पानीमें डूबकर मर जाओ। राजपूत-बालिकाओंके हृदयमें ऐसे कायरोंके लिये कोई स्थान नहीं होता।'

यों कहते-कहते विद्युल्लताने अपनी कमरसे कटार निकाली और उसे अपनी छातीमें भोंक लिया। समरसिंहने उसे पकड़ना भी चाहा, किंतु उस देशद्रोहीके हाथों अपवित्र होनेसे पहले ही वह स्वर्गमें पहुँच चुकी थी।

कृष्णा

(लेखक—श्रीमदनगोपालजी सिंहल)

कृष्णा मेवाड़के महाराणा भीमसिंहकी पुत्री थी—अनुपम सुन्दरी और सर्वगुणसम्पन्न। राजपूतानेके अनेकों वीर राजपूत उससे विवाह करनेके इच्छुक थे; किंतु उनमें अग्रणी थे जयपुर और जोधपुरके नरेश।

मेवाड़के महाराणाने सबके गुणोंको तौला और बहुत कुछ सोचने-विचारनेके पश्चात् कृष्णाकी सगाई जोधपुर-नरेशके यहाँ भेज दी।

× × ×

दोनों ओरसे विवाहकी तैयारियाँ होने लगीं। जोधपुरमें बाजे बजे तो जयपुरमें क्रोधकी लहर दौड़ गयी।

'यह मेरा अपमान है!' जयपुर-नरेशने तिलमिलाते हुए कहा। 'मैं इसे सहन नहीं कर सकता। मेवाड़के महाराणाको कृष्णाका विवाह मेरे साथ करना होगा, नहीं तो चित्तौड़की ईंट-से-ईंट बजा दी जायगी।'

जब जोधपुरमें यह समाचार पहुँचा, तब वहाँके महाराज कह उठे—'कृष्णा अब मेरी हो चुकी है, उसकी ओर यदि किसीने आँख भी उठायी तो उसकी आँख निकाल ली जायगी।'

अन्तमें वही हुआ, जो ऐसी परिस्थितिमें हुआ करता है। जोधपुर और जयपुरकी तलवारें म्यान छोड़कर बाहर निकल आयीं। 'जो युद्धमें विजयी होगा, वही कृष्णाको प्राप्त करेगा!' दोनोंने कहा और आपसमें एक-दूसरेसे भिड़ गये। खूब तलवारें चमकीं और भाले। हजारों वीर समर-क्षेत्रमें सो गये। परिणाम निकला जोधपुरकी पराजय और जयपुरकी विजय।

'अब कृष्णा हमारी है।' जयपुरके नरेशने कहा। 'जाओ' मेवाड़के महाराणासे कह दो।'

किंतु मेवाड़के महाराणाने यह सुना तो वे चुप रह गये, कुछ बोले नहीं। जयपुरके दूतने पूछा—'क्या कह दूँ जाकर, महाराणा!'

'मुझे सोच लेनेका अवसर दो राजपूत!' महाराणाने कहा—'आखिर कृष्णा मेरी कन्या है, उसके भले-बुरेको सोचनेका मुझे अधिकार है। वह कोई भेड़-बकरी तो है नहीं कि जो चाहे उसे हाँककर ले जाय। जोधपुरकी पराजयके पश्चात् भी मेरे लिये यह आवश्यक नहीं कि मैं अपनी कन्या जयपुर-नरेशको ही सौंपूँ।' और इस उत्तरको सुनकर मेवाड़के द्वारपर जयपुरकी सेनाओंका पड़ाव पड़ने लगा।

कृष्णाने यह सब कुछ सुना तो वह तिलमिला उठी और दौड़कर भवानीके मन्दिरमें घुस गयी—'मा! मा!! यह सब क्या हो रहा है? क्या मेरे कारण चित्तौड़में रक्तकी नदियाँ बहेंगी?'

किंतु भवानीसे अपने प्रश्नका कोई उत्तर न पाकर वह वहाँसे लौटी और फिर अपनी माके आँचलमें मुँह छिपाकर रो पड़ी।

एक ओर महाराणाका दरबार लग रहा था, जिसमें विचार चल रहा था कि युद्धको किस प्रकार टाला जाय और दूसरी ओर जयपुरके नरेश ललकार रहे थे—'कृष्णा अब मेवाड़में नहीं रह सकती। यदि उसे जीवित

रहनेकी इच्छा है तो उसकी डोली यहाँसे मेरे साथ जायगी और यदि वह जीवनका मोह छोड़ चुकी है तो उसकी लाश मेरे नेत्रोंके सामनेसे निकलेगी ।'

'कृष्णाकी लाश !' महाराणाने सुना तो कानोंको हाथोंसे मूँद लिया । 'क्या कृष्णाकी लाश भी निकल सकती है ?' उन्होंने दस-बीस बार इन शब्दोंको दोहराया और फिर पागलोंके समान चीख उठे—'हाँ हाँ यही होगा, कृष्णाकी लाश ही जयपुर-नरेशके सामनेसे निकलेगी । अब इसीमें मेवाड़का कल्याण है, इसीमें हमारे सम्मानकी रक्षा है ।'

चित्तौड़के गढ़में राणाकी यह चीख गूँज उठी; किंतु कृष्णाको मारेगा कौन ? उस फूल-जैसी सुकुमार बच्चीपर कौन शस्त्र उठायेगा ?

इस समस्याको स्वयं कृष्णाने ही सुलझा दिया। रोती हुई अपनी माको धीरज बँधाते हुए उसने कहा—'मा ! रो रही हो ? राजपूत महिलाएँ तो कभी भी रोया नहीं करतीं; उनका हृदय तो मरुभूमिके समान जलशून्य हुआ करता है, मा—जिसमें कभी भी जलधरका दर्शन ही नहीं होता । फिर तुम ही क्यों रो रही हो, यह मेरी समझमें नहीं आता ! मेरे बलिदानसे यदि राजपूतोंके सम्मानकी रक्षा होती है और चित्तौड़का कल्याण, तो फिर इससे अधिक महान् और पुनीत कार्य मेरे लिये और दूसरा क्या हो सकता है ?'

कृष्णाने पीछे फिरकर देखा । उसने देखा महाराणा अपने नेत्रोंसे निकल पड़ते अश्रुओंको रोकनेका उद्योग-सा कर रहे हैं ।

'हैं, पिताजी ! आपको भी क्या हो गया है आज ?' कृष्णाने पूछा ।

'तू नहीं जान सकती, बेटी !' महाराणाने कहा । 'यह उस पिताके हृदयसे पूछ, जिसने पंद्रह वर्षतक अपनी इकलौती बच्चीको उसे ही अपने जीवनका आधार समझकर पाला हो !'

'किंतु हमारी परम्परामें तो पुरुष कभी नहीं रोता, पिताजी !' कृष्णाने कहा । 'चित्तौड़ और उसके राणाके सम्मानकी वेदीपर एक नहीं, ऐसी सहस्रों कृष्णाओंका बलिदान किया जा सकता है। फिर आप अपनी एक कृष्णाका बलिदान भी उसके लिये देनेमें संकोच कर रहे हैं ? यह क्यों ? दे दीजिये न यह बलिदान !'

'क्या अपने ही हाथों ?'

'नहीं !' कृष्णाने कहा । 'मैं जानती हूँ कि रणक्षेत्रमें शत-शत शत्रुओंका हृदय विदीर्ण कर देनेवाले मेरे पिताके हाथ मेरा बलिदान नहीं कर सकेंगे । अतः मुझे एक विषका प्याला दे दीजिये, मैं स्वतः उसे पीकर अपनी जन्म-भूमिके मान और आपके सम्मानकी रक्षा करूँगी ।'

राणा कृष्णाकी ओर देखते-के-देखते ही रह गये । उनकी छाती गर्वसे ऊँची उठ गयी और उन्होंने आगे बढ़कर कृष्णाको अपने हृदयसे लगा लिया ।

'कृष्णा ! मेरी बेटी !' उनके मुखसे निकला । 'मेवाड़ आजतक अपनी तेरी-जैसी बेटियोंके कारण ही जीवित है ।'

कृष्णाके सामने विषका प्याला लाया गया और उसने अपने देश और अपने परिवारकी मान-रक्षाके लिये हँसते-हँसते उसे पी लिया ।

उपस्थित वज्र-हृदय राजपूत भी इस दृश्यको न देख सके, उन्होंने अपनी-अपनी आँखोंपर हाथ रख लिये ।

'मेवाड़की जय !' कृष्णाने कहा और फिर सदैवके लिये मौन हो गयी ।

हम्मीर-माता

चित्तौड़के महाराणा लक्ष्मणसिंहके ज्येष्ठ कुमार अरिसिंहजी शिकारके लिये निकले थे। एक जंगली सूअरके पीछे अपने साथियोंके साथ घोड़ा दौड़ाये वे चले जा रहे थे। सूअर इन लोगोंके भयसे एक बाजरेके खेतमें घुस गया। उस खेतकी रक्षा एक बालिका कर रही थी। वह मचानसे उतरी और खेतके बाहर आकर घोड़ोंके सामने खड़ी हो गयी। बड़ी नम्रतासे उसने कहा—'राजकुमार! आपलोग मेरे खेतमें घोड़ोंको ले जायँगे तो मेरी खेती नष्ट हो जायगी। आप यहीं रुकें, मैं सूअरको मारकर ला देती हूँ।'

राजकुमारको लगा कि यह लड़की खाली हाथ भला, सूअरको कैसे मार सकेगी। वे कुतूहलवश खड़े हो गये, पर उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उस लड़कीने बाजरेके एक पेड़को उखाड़कर तेज किया और खेतमें निर्भय घुस गयी। थोड़ी ही देरमें उसने सूअरको मारकर राजकुमारके सामने लाकर रख दिया। वहाँसे राजकुमार अपने पड़ावपर आये। जब वे लोग स्नान कर रहे थे, एक पत्थर आकर उनके एक घोड़ेके पैरमें लगा, जिससे घोड़ेका एक पैर टूट गया। वह पत्थर उसी किसानकी लड़कीने अपने मचानपरसे पक्षियोंको उड़ानेके लिये फेंका था। राजकुमारके घोड़ेकी दशा देख वह अपने खेतसे दौड़कर वहाँ आयी और असावधानीसे पत्थर फेंका गया, इसके लिये क्षमा माँगने लगी।

राजकुमार बोले—'तुम्हारी शक्ति देखकर मैं आश्चर्यमें पड़ गया हूँ। मुझे दुःख है कि तुम्हें देनेयोग्य कोई पुरस्कार इस समय मेरे पास नहीं।'

उस लड़कीने कहा—'अपनी गरीब प्रजापर आप कृपा रक्खें, यही मेरे लिये बहुत बड़ा पुरस्कार है।' इतना कहकर उस समय वह चली गयी। सायंकाल राजकुमार तथा उनके साथी घोड़ोंपर बैठे जा रहे थे। तब उन्होंने देखा कि वही लड़की सिरपर दूधकी मटकी रक्खे दोनों हाथोंसे दो भैंसोंकी रस्सियाँ पकड़े जा रही है। राजकुमारके एक साथीने विनोद करनेके लिये धक्का देकर उसकी मटकी गिरा देनी चाही; पर जैसे ही उसने घोड़ा बढ़ाया, उस लड़कीने उसका इरादा समझ लिया। उसने अपने हाथमें पकड़ी भैंसकी रस्सीको इस प्रकार फेंका कि उस रस्सीमें उस सवारके घोड़ेका पैर उलझ गया। घोड़ा तथा वह सवार भी धड़ामसे भूमिपर गिर पड़ा।

इस निर्भय बालिकाके साहस और शक्तिको देखकर कुमार अरिसिंह मुग्ध हो गये। उन्होंने पता लगाकर जान लिया कि वह क्षत्रिय-कन्या है। स्वयं अरिसिंहने उसके पिताके पास जाकर उससे विवाहकी इच्छा प्रकट की। इस प्रकार अपने पराक्रमके प्रभावसे वह बालिका एक दिन चित्तौड़की महारानी हुई। प्रसिद्ध राणा हम्मीरने उसीके गर्भसे जन्म लिया था।

चम्पा

(लेखक—श्रीमदनगोपालजी सिंहल)

चित्तौड़से दूर एक बीहड़ जंगलमें रहते थे महाराणा प्रतापसिंह—अपने परिवारके साथ, जिनमें उनकी महाराणी थी, छोटे-बड़े कई बालक थे और कई बालिकाएँ। महाराणाको अपने राजसी वैभवकी अपेक्षा अपना धर्म और अपने देशकी स्वतन्त्रता अधिक प्यारी थी और इसीके लिये उन्हें अपने जीवनके पचीस वर्ष

एक निर्वासित और निर्धन व्यक्तिके समान बिताने पड़े थे।

दिनमें बच्चे महाराणाके साथ इधर-उधर घूम-फिर लेते थे और रात्रिको वे लोहेके छीकोंमें बैठा-बैठाकर पेड़के तनोंपर ऊपर लटका दिये जाते थे जिससे जंगली पशु उन्हें कुछ हानि न पहुँचा सकें।

भोजनके लिये मेवाड़के उस अधीश्वरको मिलती थीं घासकी रोटियाँ और जंगली बेर और वह भी प्रतिदिन नहीं, कई-कई दिनके पश्चात् और प्रति सप्ताह ऐसे भी कई अवसर आ जाते थे, जब उन्हें वे घासकी रोटियाँ भी बनाते-बनाते ही वहाँसे भागना पड़ता था। इस प्रकार एक स्थानसे दूसरे स्थानपर और एक जंगलसे दूसरे जंगलमें भटक रहे थे महाराणा बड़ी वीरतासे महान्-से-महान् कष्टोंको झेलते हुए और कठोर-से-कठोर आपत्तियोंका सामना करते हुए।

उनका हृदय वज्रका बन चुका था। उसपर भीषणसे भी भीषण आघात होते; किंतु महाराणा कभी भी विचलित नहीं होते थे। हाँ, एक अवसर ऐसा अवश्य आया, जब वे ही महाराणा बच्चोंके समान रो पड़े।

× × ×

महाराणाकी एक कन्या थी चम्पा, जिसकी अवस्था ग्यारह वर्षकी थी और एक पुत्र था सुन्दर, जिसकी अवस्था थी चार वर्षकी।

एक दिन संध्याके समय ये दोनों बालक जंगलकी एक छोटी-सी नदीके किनारे बैठे थे। सुन्दर पासमें पड़े हुए पत्थरोंके छोटे-छोटे टुकड़ोंको नदीमें फेंक-फेंककर खेल रहा था और चम्पा पास ही बैठी हुई अपने उस भाईका दिल बहलानेके लिये जंगलके फूलोंकी एक माला गूँथ रही थी।

थोड़ी ही देरमें न जाने बच्चेको क्या ध्यान आया कि वह कह उठा—'जीजी! भूख लगी है, रोटी दो।'

किंतु बालिकाके पास वहाँ क्या रक्खा था जो वह सुन्दरको दे देती, उसने उसका ध्यान बँटानेके लिये कहा—'कहानी सुनोगे, भैया!'

'हाँ, हाँ!'

'तो सुनो!' चम्पाने कहा। 'एक राजा था। वह अपना राज हार गया और एक जंगलमें रहने लगा। एक दिन वह थका-माँदा और भूखा रोटी खाने बैठा, इतनेमें ही एक कौआ आया और उसकी रोटी छीनकर ले गया·······।'

'तब तो वह राजा रोया होगा।'

'ना, वह कोई तुझ-जैसा पागल थोड़े ही था जो रोटीके लिये रोता।' चम्पाने कहा।

'तो, मैं ही कब रोता हूँ।'

चम्पाका दिल भर आया, उसने अपने भाईको गोदमें उठाते हुए कहा—'मेरा भैया तो चतुर है, वह क्यों रोये?'

उसने अपनी गूँथी हुई माला सुन्दरके गलेमें पहना दी और उसे गोदीमें उठाकर महाराणाकी ओर बढ़ी। उसे भूखके कारण स्वयं चक्कर-सा आ रहा था। बच्चा माके पास पहुँचते ही उसकी गोदीमें सिर रखकर सो गया। महाराणा किसी चिन्तामें थे। उनकी आँखें आकाशकी ओर लगी हुई थीं।

'क्या बात है, पिताजी!' चम्पाने कहा।

'कुछ नहीं, बेटी! एक अतिथि आ गया है, वह भोजन चाहता है; किंतु उसे क्या पता है कि राणाका परिवार आज स्वयं ही दो दिनसे भूखा है।'

'नहीं, पिताजी! आप चिन्ता न कीजिये। आपके द्वारसे आपका अतिथि भूखा नहीं लौटेगा।' चम्पाने कहा।

महाराणाके नेत्र चमक उठे। उन्होंने देखा कि चम्पा एक पत्थरके नीचेसे दो छोटी-छोटी रोटी निकालकर ला रही है।

उसने कहा—'पिताजी ! आपने मुझे कल ये रोटियाँ दी थीं न, मुझे उस समय भूख नहीं थी। मैंने सुन्दरके लिये इन्हें रख दिया था; किंतु वह तो इस समय सो रहा है। अतः आप ये रोटियाँ अतिथिको दे दीजिये।'

महाराणा अच्छी तरह जानते थे कि चम्पाने ये रोटियाँ किस प्रकार अपना पेट काटकर बचायी हैं; किंतु समयकी परिस्थिति देखकर वे चुप थे। उन्होंने वही दो रोटियाँ चटनीके साथ लाकर अतिथिके सामने रख दीं।

अतिथि तो भोजन करके चला गया; किंतु उसे भोजन कराकर जब महाराणा अपनी झोंपड़ीमें गये, तब उन्होंने देखा कि चम्पा भूखके कारण मूर्छित हो चुकी है। महाराणाने एक लंबी साँस ली और दृष्टि जमाकर चम्पाकी ओर देखा।

महाराणाने देखा चम्पा भूखके कारण दम तोड़ रही है। वे बोले—'रानी ! मैं सब कुछ सहन कर सकता हूँ; किंतु भूखके कारण अपनी संतानको मरते हुए नहीं देख सकता।'

राणा अधीर हो उठे। उनके मुँहसे बरबस निकल पड़ा—'मैं अकबरकी अधीनता स्वीकार कर लूँगा।'

राणाके मुखसे ये शब्द निकले ही थे कि चम्पाने आँखें खोल दीं—'क्या कहा, पिताजी ? आप अकबरकी अधीनता स्वीकार करेंगे—हमें मरनेसे बचानेके लिये ? किंतु पिताजी ! क्या फिर हम कभी भी नहीं मरेंगे, अमर हो जायँगे ? नहीं-नहीं पिताजी ! आप भूल गये, अकबरके गुलाम बनकर तो हम जीते-जी ही मर जायँगे।' वह अधिक न बोल सकी, चुप हो गयी।

'सच कहती हो, बेटी !' महाराणाने कहा। वे भी अधिक न बोल सके।

'तो पिताजी ! मेरे ऊपर हाथ रखकर एक बार कहो तो कि मैं फिर ऐसे विचार कभी अपने मनमें नहीं लाऊँगा।' चम्पाने कहा।

महाराणाने चम्पाको अपनी गोदीमें उठाकर शपथ खायी। चम्पा हँसी और महाराणाकी गोदीमें ही उसके प्राण-पखेरू शरीरका पिंजरा छोड़कर उड़ गये।

महाराणा निर्जीवके समान उसे देखते-के-देखते ही रह गये। एक क्षण तो उन्होंने अपने आँसुओंको रोका; किंतु अधिक देरतक वे ऐसा न कर सके, फूट-फूटकर रो पड़े बच्चोंके समान।

चम्पाने अपना जीवन देकर महाराणाको नवजीवन प्रदान किया, उन्हें गिरते-गिरते उठा लिया।

भगवती

(लेखक—श्रीमदनगोपालजी सिंहल)

औरंगजेबके शासनकालमें केवल वह स्वयं ही नहीं, किंतु उसके सभी अमीर-उमराव और सूबेदार हिंदुओंपर मनमाना अत्याचार किया करते थे। कोई भी उन्हें रोकनेवाला नहीं था।

बिहारकी बात है। किसी एक जिलेका शासक मिर्जा नावमें बैठकर घूमने निकला था अपने इलाकेमें। उन दिनों मुसल्मान शासकोंके घूमनेका अर्थ होता था—हिंदुओंको लूटना, उनके देवस्थानोंको तोड़ना और उनकी सुन्दर बालिकाओंका अपहरण करना। जब-जब भी ये शासक घूमने निकलते थे, हिंदू-प्रजामें हाहाकार मच जाता था।

मिर्जाकी नाव गङ्गामें चल रही थी और उसके नेत्र तटपर स्नान करती कन्याओंको देख रहे थे।

'रोक दो नाव।' मिर्जाने आज्ञा दी । नाव रोक दी गयी । 'वह देखो, रहीम!' मिर्जाने संकेतसे अपने एक साथीको तटकी ओर देखनेको कहा । और रहीमने देखा कि वहाँ एक चौदह-पंद्रह वर्षकी बालिका स्नान कर रही है। उसका अनुपम सौन्दर्य देखकर सभीने अपने-अपने दाँतोंतले अँगुली दबायी ।

'लड़की क्या है, हूर है, हजूर!' रहीमने कहा। नौका तटकी ओर बढ़ायी जाने लगी ।

बालिकाने यह देखा तो डर गयी। उसने झटसे अपने कपड़े पहने और घरकी ओर दौड़ गयी ।

मिर्जाके चाटुकारोंने नदीपर स्नान करनेवाले दूसरे व्यक्तियोंसे पूछताछकर सब कुछ माल्रम कर लिया ।

'यह इसी गाँवके ठाकुर होरिलसिंहकी बहिन है, हजूर!' उन्होंने मिर्जाको आकर बतलाया । 'इसका नाम है भगवती, अभी इसका विवाह भी नहीं हुआ है।'

मिर्जाकी आँखें खिल गयीं। आदमी भेजे गये। ठाकुर आये ।

'मैंने आपकी बहिनको देखा है, ठाकुरसाहब! उस खूबसूरतको मैं अपनी बेगम बनाना चाहता हूँ। इसके लिये मैं आपको पाँच हजार अशर्फियाँ इनाममें दूँगा और साथ ही और जागीर भी।' मिर्जाने कहा। 'आप अपनी यह बहिन मुझे दे दीजिये।'

ठाकुरने यह सुना तो उसके नेत्रोंसे चिनगारियाँ निकलने लगीं। 'चुप! चुप! फिर ऐसी बात जबानसे निकाली तो सिर जमीनपर लोटता नजर आयेगा, मिर्जा!' कहते-कहते ठाकुरका हाथ अपनी तलवारकी मूठपर चला गया ।

भयके मारे मिर्जासाहब दो कदम पीछे हट गये। सिपाहियोंको संकेत हुआ और ठाकुर बंदी बना लिये गये ।

'ले जाओ इस बदमाश काफिरको और डाल दो नावके कैदखानेमें!' सिंहको बंदी बना हुआ देखकर मिर्जा कड़ककर बोले और राजपूत ठाकुरको हाथ-पैर बाँधकर नावके बंदीघरमें डाल दिया गया ।

समाचार होरिलसिंहके घर पहुँचा तो रोना-पीटना पड़ गया ।

ठाकुरकी पत्नी शोकके आवेशमें भगवतीपर ही उबल पड़ी । उसीके कारण उसके पति बंदी बने थे न ।

'जल जाय तेरा यह रूप!' उसने रोते-रोते कहा। 'तू ऐसी न होती तो आज मुझे यह दिन देखनेको न मिलता।'

भगवती चुप थी, वह कुछ सोच रही थी ।

'लाख बार कहा कि इतनी बड़ी होनेको आयी, घरमें ही स्नान किया कर। ले अब तो संतोष हुआ तुझे?' ठाकुरकी पत्नी बड़बड़ाती ही रही ।

'ले, भाभी!' भगवतीने कहा। 'तू शोक मत कर, मैं भैयाको अभी भेजती हूँ छुड़ाकर।' और वह सीधी नदीके तटपर पहुँची। उसने देखा कि मिर्जा अपने सिपाहियोंको उसे ही घरसे पकड़कर ले आनेका आदेश दे रहे हैं ।

भगवतीने आगे बढ़कर कहा—'नाहक मेरे लिये हजूरने तूमार खड़ा किया है। यह तो मेरा सौभाग्य है कि मैं आपकी बेगम बनूँ। मेरे भाईको छोड़ दीजिये, मैं आपके साथ चलनेको तैयार हूँ।'

ठाकुर मुक्त कर दिये गये। यह सब क्यों हुआ, इसे वे समझ भी न सके ।

भगवतीको ऐसी सरलतासे ही पाकर मिर्जा अत्यन्त प्रसन्न हो गये। उन्होंने भगवतीको नावपर आनेके लिये कहा। किंतु वह बोली—'मैं नावके सफरसे डरती हूँ, मिर्जासाहब! मेरे लिये पालकी मँगवाइये। मैं उसपर बैठकर चलूँगी।'

मिर्जाने आज्ञा दी और एक बहुत सुन्दर पालकी लायी गयी। भगवती पालकीमें बैठी। वह अत्यन्त प्रसन्न दीख पड़ती थी। मिर्जासाहबकी खुशीका भी कोई ठिकाना न था।

वीर बालिकाएँ

चम्पा, रत्नवती, भगवती, चंचलकुमारी

वीर बालिकाएँ
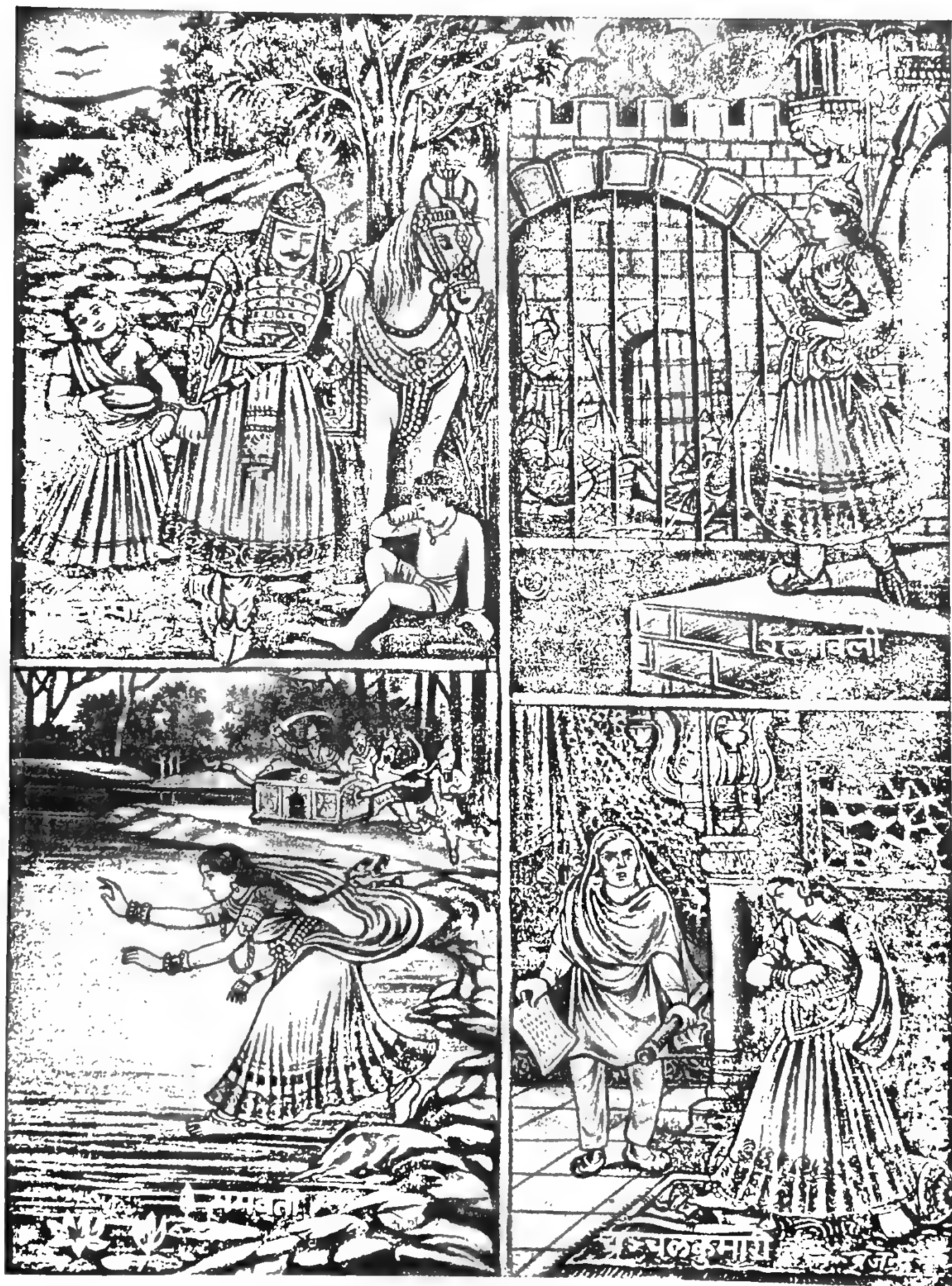
सूर्य-परमाल, मरीचि, मानवा

पाल्की आगे बढ़ रही थी कि रास्तेमें एक सरोवर आया ।

'मुझे प्यास लगी है, नवाबसाहब !' भगवतीने कहा । पाल्की रोकी गयी और मिर्जासाहब स्वयं पानी लानेके लिये दौड़े ।

'आप तकलीफ न करें, हुजूर !' भगवतीने कहा । 'विवाह होनेसे पहले मैं आपका छुआ पानी नहीं पीऊँगी । माफ कीजिये । यह तालाब मेरे वालिदने ही बनवाया है, बचपनमें मैं इसमें बहुत दिनोंतक तैरती रही हूँ । मैं इसे आखिरी बार देखना भी चाहती हूँ । मैं खुद ही अपने हाथोंसे इसका पानी पीऊँगी ।'

बिना उत्तरकी प्रतीक्षा किये वह पाल्कीसे उतर पड़ी । मिर्जासाहब वहीं खड़े रह गये । भगवती सरोवरके तटपर पहुँची । किनारेपर बने एक छोटे-से देवीके मन्दिरमें घुसकर वह प्रतिमाके चरणोंमें लिपट गयी ।

'मा ! मेरी रक्षा करना, मेरा शरीर इन दुष्टोंके हाथसे न छुआ जाय !' उसने कहा और बाहर निकलकर तालाबमें कूद पड़ी ।

देर होती देखकर मिर्जा अपने साथियोंको लेकर तालाबके किनारे पहुँचे; किंतु अब वहाँ क्या रक्खा था, सारा खेल ही समाप्त हो चुका था । सरोवरमें जाल डाले गये, किंतु शवका भी पता न लगा ।

होरिलसिंहके पास यह समाचार पहुँचा तो वे भागे हुए आये । उन्होंने भी जाल डलवाया तो प्राणहीन बहिनका शव उसमें आ गया ।

'भगवती ! मेरी बहिन !! तूने मेरे कुलकी लज्जा रख ली ।' उन्होंने कहा और फूट-फूटकर रो पड़े ।

मिर्जा आँख फाड़े हुए यह सब कुछ देखते-के-देखते ही रह गये ।

मानबा

अबसे दो सौ वर्ष पहलेकी बात है । सूरतमें नवाबी शासन था । ये नवाब किसी हिंदूके यहाँ धन-सम्पत्तिकी बात सुनते तो उसे छीननेके लिये दौड़ पड़ते और किसी हिंदूके घरमें कोई सुन्दर-सी बालिकाको देख पाते तो उसे उठाकर ले जाते ।

उन्हीं दिनों सूरतमें एक धनी वैश्य रहते थे, जो 'नगरसेठ' के नामसे विख्यात थे । नवाबने सुना कि नगरसेठके घरमें अपार धन-सम्पत्ति है और एक अनुपम सौन्दर्यवती बालिका भी । वह उन्हें देखनेके लिये बेचैन हो उठा और एक दिन बिना ही किसी प्रकारकी सूचना दिये सेठजीके भवनपर जा पहुँचा । वहाँ उसने सेठजीका वैभव भी देखा और उनकी बालिका मानबाको भी ।

मानबा बेचारी सरल बालिका थी, उसे नवाबोंकी प्रकृतिका कुछ भी परिचय न था । उसने सुना कि यहाँके शासक उनके भवनमें आये हैं तो वह कौतूहलवश अन्तःपुरसे निकलकर उनके सामने आ गयी । नवाबने उसे देखा तो उनका चित्त अस्थिर हो गया, वह उसकी ओर टकटकी बाँधकर देखने लगा ।

भोली बालिकाने नवाबकी यह चेष्टा देखी तो डर गयी और दौड़कर वह अन्तःपुरमें घुस गयी ।

'यह आपकी लड़की है, सेठजी ?' नवाबने पूछा ।

'हाँ, सरकार !' सेठजीने उत्तर दिया ।

'बड़ी खूबसूरत है !' नवाबसाहब बोले । 'इसका नाम क्या है ?'

'मानबा ।' सेठजीने कहा ।

नवाबने और अधिक वार्तालाप न किया, वह उठा और सीधे अपने महलको चला गया । वहाँ पहुँचते ही उसने आज्ञा दी कि नगरसेठको इसी समय उपस्थित किया जाय ।

× × × ×

सेठजी आये तो नवाबसाहबने बड़े आदर और सत्कारके साथ उन्हें अपने पास बैठाया।

'क्या आज्ञा है, सरकार ?' सेठजीने हाथ जोड़ते हुए पूछा।

'सेठजी !' नवाबसाहब बोले, 'वह आपकी लड़की है न—मानबा, मैं उसे अपनी बेगम बनाना चाहता हूँ; आप उसे मुझे दे दीजिये।'

सेठजीपर मानो वज्र गिर पड़ा !

'वह यहाँ बड़े आरामसे रहेगी, सेठजी !' नवाबने कहा। 'और साथ ही आपको भी दरबारमें बड़ा रुतबा बख्शा जायगा। अगर आपने उसे देना मंजूर न किया तो आपको कैदी बना लिया जायगा और आपकी सारी दौलत लूट ली जायगी। मानबाको तो फिर भी यहाँ आना ही पड़ेगा।'

'मुझे सोचनेके लिये कुछ समय दीजिये, सरकार !' सेठजीने काँपते हुए कहा।

'नहीं !' नवाब कड़कते हुए बोले। 'तुम्हें अभी इसका जवाब देना होगा, बिना जवाब दिये तुम यहाँसे बाहर नहीं जा सकोगे।'

सेठजी सोचने लगे और मानबाको न देनेसे उनपर जो अत्याचार हो सकते थे, वे उनकी कल्पना करने लगे और साथ ही मन-ही-मन उनसे डरने भी लगे और अन्तमें जब उन्हें और कोई भी मार्ग न सूझा, तब उन्होंने मानबाको नवाबको देना स्वीकार कर लिया।

× × × ×

सेठजी घरपर पहुँचे लुटे-पिटे हुए-से। घरवालोंने उन्हें देखा तो घबरा गये; किंतु जब परिस्थितिको समझा, तब रोने लगे।

नवाबके सैनिक पालकी लेकर सेठजीके द्वारपर आ चुके थे। मानबाके हृदयकी व्यथाका पार न था। वह रो रही थी। उसके माता-पिता ही उसे मुसल्मानके घर भेज रहे थे फिर वह अपने मनकी व्यथा किससे कहती। वह रोती-रोती ही पालकीमें जा बैठी।

सेवक पालकी उठाकर चल दिये सैनिकोंके साथ और थोड़ी ही देरमें पालकीमें बैठे-ही-बैठे मानबाने देखा ऊँची-ऊँची मीनारोंसे घिरा हुआ नवाबका आलीशान महल। सैकड़ों सीढ़ियोंके ऊपर महलका सिंहद्वार था, जिसपर शहनाई बज रही थी।

'तो क्या मेरा यह पवित्र शरीर यवनके द्वारा दूषित होकर ही रहेगा ?' उसका मन अधीर होने लगा। 'नहीं, नहीं, मैं ऐसा नहीं होने दूँगी।' उसने अपनेमें दृढ़ता लाते हुए मनको समझाया। 'किंतु····इसके लिये साधन···?' उसने एक लंबी साँस ली।

पालकी महलकी सीढ़ियोंके नीचे आकर रुक गयी। मानबा बाहर निकली और सीढ़ियोंपर चढ़ने लगी। नवाबकी अनेक बाँदियाँ उसके दायें-बायें चल रही थीं।

सीढ़ियोंके ऊपर, द्वारके आगे ही नवाबके परिवारकी अनेक महिलाएँ खड़ी थीं—मानबाका स्वागत करनेके लिये।

महलका सिंहद्वार मानबाके सामने था, जिसकी चौखटके अंदर था नवाबका अतुलित वैभव और महान् ऐश्वर्य, जो उसके चरणोंमें लोटनेके लिये उतावला-सा हो रहा था और जिसके बाहर थी उसके शरीरकी दिव्य पवित्रता और उस पवित्रताका रक्षक मानबाका धर्म, जिसकी छत्रछायामें रहकर उसने अपने जीवनके इतने दिन बिताये थे।

मानबाका बढ़ता हुआ पग रुक गया, वह चौखटके उस पार जानेको तैयार न थी। उसने पीठ फेरी और कुछ आगे बढ़कर अपने शरीरको उन पाषाणकी सीढ़ियोंपर फेंक दिया। उसका शरीर लुढ़कता हुआ तीव्रताके साथ भूमिकी ओर जाने लगा।

महलमें खलबली मच गयी। द्वारपर बजती हुई शहनाई बंद हो गयी। मानबाकी प्रतीक्षामें बेचैन विलासी

नवाब उसे पकड़नेके लिये दौड़ा; किंतु जबतक वह मानबाके पास पहुँचा, वह पृथ्वीपर आ चुकी थी और जबतक उसे ऊपर उठानेके लिये उसने मानबाका हाथ पकड़ा, वह शरीर छोड़कर देवताओंके पवित्र लोकमें पहुँच चुकी थी।

नवाबके हाथमें मिट्टी थी—केवल मिट्टी, जो कुछ ही क्षणोंके पश्चात् अग्निके सहयोगसे मिट्टीमें ही मिल गयी।

वीर बाला पद्मा

पद्माका जन्म भोपाल-राज्यमें एक गरीब कृषक क्षत्रियके घर हुआ था। जब पद्मा केवल ढाई वर्षकी थी, उसके माता-पिताकी मृत्यु हो गयी। सोलह वर्षके भाई जोरावरसिंहने अपनी छोटी बहिनका पालन-पोषण किया। जोरावरसिंह बालक होनेपर भी वीर पुरुष था। उसने अपनी बहिनको बचपनसे ही भाला-तलवार आदि चलाने तथा घुड़सवारीकी शिक्षा देनी प्रारम्भ की। पद्माने मन लगाकर युद्ध-विद्या सीखी और वह कुशल योद्धा हो गयी। घरके प्रबन्धमें भी वह खूब चतुर थी।

धीरे-धीरे पिताका धन समाप्त हो गया। जोरावरसिंहपर बहुत-सा कर्ज हो गया। जिस महाजनका कर्ज था, उसने अनेक बार उलाहने दिये, खरी-खोटी सुनायी और अन्तमें भोपाल-दरबारमें नालिश कर दी। कर्ज तो था ही, राज्यने जोरावरसिंहको कैद कर लिया। अब बेचारी पद्मा अकेली रह गयी। भाईके कैद हो जानेका उसे बहुत अधिक दुःख था। उसने भाईको छुड़ानेका निश्चय किया। अब उसने स्त्रीका वेश छोड़ दिया और एक राजपूत सैनिकका वेष धारण करके वह ग्वालियर पहुँची। उस समय ग्वालियर-नरेश थे महाराज दौलतरावजी सेंधिया। पद्माने पद्मसिंह नाम बनाकर सेनामें नौकरी पानेकी प्रार्थना की। निशाना लगाना, घुड़सवारी, भाला चलाना आदि कार्योंमें उसकी परीक्षा ली गयी और उनमें वह सफल रही, उसे सेनामें नौकरी मिल गयी।

उन दिनों सेंधिया और अंग्रेज सरकारमें युद्ध छिड़ा हुआ था। तीन वर्षतक यह युद्ध चलता रहा। पद्माने इस युद्धमें इतनी वीरता दिखायी कि वह साधारण सैनिकसे हवलदार बना दी गयी। उसकी जाँघ तथा भुजामें कई बार गोलियाँ लगीं; किंतु सदा वह स्थिर रही। शत्रुओंको उसके सामनेसे भागना ही पड़ता था। वह अपनेको सावधानीसे छिपाये हुए थी। स्नानादिके लिये सबसे पृथक् चली जाती थी। उसे एक ही चिन्ता थी—अपने भाईको कारागारसे छुड़ानेकी। उसे जो वेतन मिलता था, उसमेंसे बहुत थोड़ा खर्च करती अपने लिये, शेष बचाकर रखती जाती थी।

कुछ लोगोंको संदेह हुआ कि यह बिना मूछोंका हवलदार उनके साथ कभी स्नानादि क्यों नहीं करता। क्यों वह सदा कपड़े पहिने रहता है। एक सैनिकने छिपकर पद्माका पीछा किया और उसे पता लग गया कि वह स्त्री है। जब यह समाचार सेंधिया-दरबारमें पहुँचा, तब राजाने बुलाकर पद्मासे पुरुषवेश धारण करनेका कारण पूछा। पद्मा रो पड़ी, उसने अपने भाईके बंदी होनेकी बात बतायी। महाराज सेंधिया उसकी वीरता तथा भ्रातृभक्तिसे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सरकारी खजानेसे कर्जका धन भोपाल भिजवा दिया और पत्र लिख दिया कि जोरावरसिंहको कैदसे छोड़कर तुरंत ग्वालियर भेज दिया जाय।

जोरावरसिंह छूट गये। ग्वालियर आकर अपनी बहिनसे मिलकर वे बहुत प्रसन्न हुए। महाराज सेंधियाने जोरावरसिंहको सेनामें एक अच्छा पद दे दिया और पद्माका विवाह एक सेनापतिके साथ करवा दिया।

मरीचि

भारतके उत्तरमें नेपाल और भूटानके बीच एक छोटा-सा देश है सिक्किम। यशपालसिंह वहीं एक सरकारी अधिकारी थे और मरीचि थी उन्हींकी कन्या— खिलते हुए फूलके समान सुन्दर और कोमल।

मरीचि अपना अधिकांश समय भगवान्की सेवामें ही व्यतीत किया करती थी। वह कभी-कभी आस-पासके जंगलोंमें घूमने चली जाया करती थी पहाड़ी स्त्रियोंके समान बालोंमें छुरा घोंपकर।

'मरीचि!' एक दिन उसके पिताने उससे कहा, 'अब तुम अकेली घरसे बाहर मत जाया करो, बेटी!'

'क्यों, पिताजी?'

'कुछ ऐसे नरपशु हमारे देशमें आये हुए हैं, जिनके रहते किसी भी भले घरकी बहिन-बेटीकी मान-मर्यादा कभी भी खतरेमें पड़ सकती है।' यशपालसिंहने कहा।

'अच्छा, पिताजी!' मरीचिने कहा। 'किंतु यदि ऐसा कोई अवसर आया भी तो आप निश्चिन्त रहें, निर्बलोंके बल वे सर्वशक्तिमान् प्रभु आपकी मरीचिकी रक्षा करेंगे।'

'वह तो सारे संसारकी रक्षा करते ही हैं, मरीचि! मैं यह जानता हूँ।' यशपालसिंहको अपनी पुत्रीके साहसपर पूर्ण विश्वास था। वह जितनी सुन्दर और गुणवान् थी, उतनी ही साहसवान् भी।

× × × ×

एक दिन मरीचि अपनी बहिनके साथ पासवाले जंगलमें घूमने गयी थी। वहाँ वे दोनों बहिनें तितलियोंके समान इधर-से-उधर भागती फिर रही थीं—निर्भय और निःशङ्क खेलती हुई। उन्हें यह ज्ञात ही न था कि निकट ही एक झाड़ीके पीछे खड़ा एक अंग्रेज उनकी ओर घूर रहा है। मरीचिका सौन्दर्य देखकर अंग्रेजके हृदयमें पाप-वासना जाग रही थी।

वह अंग्रेज अपनेको रोक न सका। झाड़ीसे बाहर आकर उसने मरीचिकी ओर संकेत किया और बोला—'इधर आओ, लड़की!' मरीचि सीधे स्वभाव उसके पास चली गयी।

साहब बहादुर खुश हो गये। वे टकटकी जमाकर मरीचिकी ओर देखने लगे। उसकी यह चेष्टा देखकर मरीचिको पहले तो कुछ हँसी आयी; किंतु फिर वह कुछ डरी और उसने लौटना चाहा।

साहब बोले—'लड़की! तुम जानती नहीं, मैं यहाँका अफसर बनाया गया हूँ?'

'तो मुझे इससे क्या मतलब?' मरीचिने कहा और वह लौटने लगी।

'रुको!' साहबने फिर कहा। 'इसका मतलब यह है कि मैं तुम्हें पसंद करता हूँ, तुम मेरे घरपर चलकर आरामसे रहो।'

मरीचि एकदम सन्न रह गयी, वह यह सोच ही रही थी कि साहबको क्या उत्तर दूँ कि वह नरपशु आगे बढ़ा। मरीचि और पीछेको हटी तो उसने आगे बढ़कर उसका हाथ पकड़ लिया।

मरीचि अब समझी उस अंग्रेजका अभिप्राय। उसने झटकेके साथ अपना हाथ अंग्रेजसे छुड़ाते हुए कहा—'खबरदार, साहब बहादुर! अगर आगे बढ़े तो अच्छा नहीं होगा।'

मगर साहबपर तो शैतान सवार था, उसने फिर आगे बढ़कर मरीचिका हाथ पकड़ लिया।

अब मरीचि शान्त न रह सकी, उसने मन-ही-मन द्रौपदीकी लज्जा बचानेवाले भगवान्का ध्यान किया और दूसरे हाथसे अपने सिरमें लगा हुआ छुरा निकालकर साहबके पेटमें घोंप दिया। साहब हाय-हाय करते हुए घायल होकर पृथ्वीपर गिर पड़े।

मरीचि घर लौटी तो उसकी छोटी बहिनने सारी घटना अपने पिताको सुनायी। वे बोले—'मैंने कहा न था, बेटी! घरसे अकेली बाहर न जाया करो। चलो; जो हुआ प्रभुकी इच्छा।'

किंतु झगड़ा वहीं शान्त न हुआ। घायल अंग्रेजके वक्तव्यके अनुसार अंग्रेजोंने घटनाकी खोज की और यशपालसिंहका घर घेर लिया। दुर्गास्वरूपिणी मरीचि फिर अपनी छुरी लिये हुए बाहर निकली। उसने आनेवालोंको सारी घटना बतायी और उन्हें ललकारा भी।

मरीचि स्वयं उनसे दो-दो हाथ करनेको तत्पर थी; किंतु उसने देखा कि उसका कथन सुनकर आनेवाले अंग्रेजोंने स्वयं ही अपने घोड़े वापस मोड़ लिये हैं। म० सि०

चंचल

एक मुसल्मान बुढ़िया रूपनगरमें तस्वीरें बेचने आयी थी। वह वहाँके नरेश विक्रम सोलंकीके महलमें भी पहुँची। उसने वहाँकी राजकुमारी चंचलको भी वे चित्र दिखाये।

बुढ़ियाने अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँकी तस्वीरें दिखायीं तो राजकुमारी बोली—'क्या हिंदू राजाओंकी तस्वीरें नहीं हैं तुम्हारे पास?'

'हैं क्यों नहीं, राजकुमारी! यह देखो।' अब उसने मानसिंह, जयसिंह और जगतसिंहकी तस्वीरें दिखायीं।

'ये राजा हैं, बुढ़िया? ये तो मुसल्मानोंके नौकरोंकी तस्वीरें हैं, मैं राजाओंकी तस्वीरें चाहती हूँ।' चंचलने कहा।

अब बुढ़ियाने प्रतापसिंह, करनसिंह और राजसिंहके चित्र दिखाये। राजकुमारीने उन्हें ले लिया।

'और दिखाओ!' राजकुमारीने कहा।

बुढ़ियाने औरंगजेबका चित्र उसके सामने रक्खा। 'यह आलमगीरकी तस्वीर है, राजकुमारी! इसकी सिजदा करो।'

'सिजदा?' चंचलने कहा। 'सिजदा कैसी, मैं तो इसे जूतेकी नोकपर मारती हूँ।'

'खामोश!' बुढ़ियाने कहा। 'शाहनशाह सुन पायेंगे तो रूपनगरकी ईंट-से-ईंट बजा देंगे।'

'ऐसी बात है?' चंचलने हँसते हुए कहा। 'तो सहेलियो! इस तस्वीरपर सब एक-एक लात मारो।'

सभी उपस्थित कन्याओंने राजकुमारीकी आज्ञाका पालन किया। तस्वीर टुकड़े-टुकड़े हो गयी।

चंचलने ली हुई तस्वीरोंका मूल्य बुढ़ियाको दे दिया। और जाती-जाती बुढ़िया बादशाहकी तस्वीरके टुकड़े भी उठाकर ले गयी।

× × ×

वह टूटी हुई तस्वीर बुढ़ियाने दिल्ली जाकर आलमगीरके सामने उपस्थित की और साथ ही सारी घटना भी कह सुनायी अच्छी तरह नमक-मिर्च लगाकर।

'मेरी यह तौहीन?' औरंगजेब गरज उठा। 'मैं इसका बदला लूँगा।'

'क्या है, शाहनशाह?' सेनापतिने पूछा।

'उस रूपनगरके नाचीज राजाकी काफिर लड़कीने मेरी तौहीन की है, सिपहसालार! मेरी राय है कि तुम रूपनगरकी ईंट-से-ईंट भिड़ाकर उस लड़कीका डोला ले आओ, मैं उससे विवाहकर इस तौहीनका बदला लूँगा।'

'जो हुक्म, जहाँपनाह!' सेनापतिने कहा और मुगल-सेनाएँ रूपनगरकी ओर चल पड़ीं।

रास्तेसे ही विक्रम सोलंकीको लिख भेजा गया—'हम आ रहे हैं, आप अपनी लड़कीका डोला तैयार रक्खें; अगर ऐसा न किया गया तो हम जबरदस्ती उसे छीनकर ले जायँगे।'

विक्रमने इसे पढ़ा तो वह काँप उठा। मुगलोंसे लोहा लेनेकी शक्ति उसमें न थी। वह सोचने लगा कि 'यदि लड़की बादशाहकी बेगम बन ही जाती है तो इसमें कौन-सी नयी बात है; और दूसरे राजपूतोंकी कन्याएँ भी तो शाही महलोंमें गयी हैं।'

इधर चंचलने जब अपने पिताका यह निश्चय सुना तो उसके शान्त हृदयमें मानो ज्वारभाटा ही आ गया। उसका मुख रक्तकी लालिमासे तमतमा गया। 'मैं राजपूत होकर मुगलानी बनूँगी? नहीं, नहीं, यह कभी नहीं होगा।' उसने कहा और उसकी यह घोषणा एक क्षणमें ही सारे राजमहलमें गूँज गयी।

उसके पिताने सुना तो वह दौड़कर चंचलके पास पहुँचा—'चंचल बेटी! ऐसा न कहो; मुझपर विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ेगा, रूपनगर रक्तके सागरमें बह जायगा।'

'बह जाने दीजिये, पिताजी! मैं भी उस सागरमें स्नान करूँगी।' चंचलके मुँहसे मानो स्वयं रणचण्डी ही बोल रही थी।

'किंतु तुझे बचानेकी शक्ति मुझमें नहीं है!' विक्रमने कहा। 'नर-संहार भी होगा और फिर भी वे तुझे ले ही जायँगे।'

'कैसे ले जायँगे, पिताजी!' चंचलने कहा। 'राजपूत-बालाको उसकी इच्छाके विरुद्ध कहीं ले जानेकी शक्ति दिल्लीमें तो क्या, देवताओंमें भी नहीं है। अग्नि, विष और तलवार—ये तो हमारी नित्यकी सहचरियाँ हैं; इन्हींकी सहायतासे क्षत्राणियाँ अपनी आत्मरक्षा किया करती हैं। आप जाकर विश्राम कीजिये, मैं अपनी रक्षा स्वयं कर लूँगी।'

विक्रम अपना सिर पकड़कर चंचलके कमरेसे निकल आये और राजपूत-बाला सिंहनीके समान इधरसे उधर टहलने लगी, अपने धर्मकी रक्षाका उपाय सोचती हुई। घूमते-घूमते उसकी दृष्टि सामने टँगे हुए राजसिंहके चित्रकी ओर गयी।

'राजसिंह!' चंचलके मुखसे निकल पड़ा। 'चित्तौड़के महाराणा, हिंदुपति प्रतापके वंशधर!' उसने टकटकी बाँधकर राजसिंहके चित्रकी ओर देखा मानो वह उससे ही सहायताकी प्रार्थना कर रही हो।

उसने कुछ सोचा और फिर गम्भीरताके स्थानपर उसके मुखपर हल्का-सा हास्य छा गया। 'रुक्मिणीने भी तो यही किया था!' उसके मुँहसे निकल पड़ा और वह राजसिंहको पत्र लिखने बैठ गयी।

× × × ×

राणाने चंचलका पत्र पढ़ा तो उनका राजपूती रक्त खौल उठा, उनके होठ फड़फड़ाने लगे और उनके नेत्रोंसे चिनगारियाँ बरसने लगीं।

'राजकुमारीसे कहना कि उनका पत्र ठीक-ठिकानेपर पहुँच गया है। वे निश्चिन्त रहें।' राणाने पत्र-वाहकसे कहा और उसे विदा कर दिया।

केवल एक ही दिन तो था बीचमें, राणाने उसी समय अपने सैनिकोंके साथ रूपनगरकी ओर कूच कर दिया।

मुगल-सेनापतिको आशा भी न थी कि इतनी सरलतासे कार्य सिद्ध हो जायगा। वह रूपनगर पहुँचा कि राजकुमारीका डोला उसके सुपुर्द कर दिया गया।

अब उसकी सेनाएँ राजकुमारीको लेकर दिल्लीकी ओर लौट रही थीं। डोला और सैनिक अरावली पर्वतके बीचवाले तंग रास्तेसे जा रहे थे। राजकुमारी बार-बार डोलेका परदा उठाकर न जाने किसको देखना चाह रही थी।

× × ×

अचानक ही पर्वतोंपरसे पत्थर बरसने लगे—सौ-सौ मनके।

मुस्लिम फौजें भागीं, आगेका रास्ता बंद था, वे पीछे लौटीं। वह भी रास्ता बंद कर दिया गया था। मुगल उस चूहेदानीमें फँसे हुए थे और ऊपरसे उनपर पत्थर पड़ रहे थे।

'तोबा!' 'तोबा!', 'कहर!' 'कहर!', 'मरा!' 'मरा!' की आवाजोंसे अरावली पर्वतकी घाटियाँ गूँज उठीं।

हजारों मुसल्मान मारे गये, बचे हुओंने जैसे-तैसे करके अपनी जान बचायी।

चंचल महाराणा राजसिंहके सामने उपस्थित हुई।

'राजकुमारी! मुसल्मान सेनाएँ भाग चुकी हैं, अब तुम अपने पिताके पास जा सकती हो।' महाराणाने कहा।

'नहीं महाराणा! मेरे पिता तो मुझे औरंगजेबको दे चुके हैं, अब मैं वहाँ नहीं जाऊँगी।' राजकुमारीने कहा।

'तो फिर?'

'मैं तो आपके चरणोंमें ही स्थान चाहती हूँ, महाराणा!' कहते-कहते राजकुमारीका मुख लज्जासे लाल हो गया।

'तो आओ, राजकुमारी! अब तुम मेवाड़की अधीश्वरी हो।' महाराणाने कहा।

राजपूत सेनाओंने जय-जयकारसे गगनमण्डल कँपा दिया। चित्तौड़में प्रसन्नताका सागर उमड़ पड़ा। म० सि०

वीर बालिका जेन

(लेखक—श्रीमुबारक अली)

अमेरिकाके मूल निवासी बिगड़ उठे थे—मरने-मारनेपर तुल गये थे। गोरे संख्यामें कम थे—बहुत कम; इसलिये वे उनको दबा तो न सके थे, खुद ही भागकर किलेमें जा छिपे थे। परंतु मूल निवासी भला, कब माननेवाले थे। वे किलेको घेरे थे, झाड़ियों और खाइयोंमें छिपे बैठे थे—इस आशासे कि कब मौका मिले और कब हम इन गोरोंको भूनकर रख दें।

गोरे अब क्या करते—कैसे धीरज धरते। उन्होंने अपने भाइयोंको खबर भेज दी थी तथा आशा बाँध रक्खी थी कि वे कल सवेरेतक जरूर आ जायँगे और उनको इस विपत्तिसे बचा लेंगे; परंतु रात बेरिन कैसे कटेगी? जब रातको मूल निवासी धावा बोलेंगे, तब उनसे अपना बचाव कैसे करेंगे? उनके पास बंदूकें जरूर हैं; परंतु बंदूकें जिस बारूदके सहारे आग उगलती हैं, वह बारूद कहाँ है। वह बारूद तो वे प्राण बचानेकी घबराहटमें किलेके बाहर लकड़ियोंवाले झोपड़ेमें ही भूल आये हैं।

अब कौन किलेके बाहर जाय और झोपड़ेसे निकाल-कर बारूद लाये? जो जायगा, भला, वह जीवित लौटेगा? मूल निवासी उसे अपने तीरों और भालोंसे छेदकर न रख देंगे? फिर भी किसी-न-किसीको तो जाना ही पड़ेगा—पचासकी रक्षाके लिये किसी-न-किसीको तो अपने प्राणोंका मोह त्यागना ही पड़ेगा। तीन-चार युवक आगे बढ़े और सेनापतिसे बोले—'इतनी चिन्ता करनेकी क्या जरूरत। हमलोग तैयार हैं। आप जिसे आज्ञा दें, वही चला जाय।'

सेनापतिने कहा—'नहीं, यह नहीं हो सकता। किलेकी रक्षा करनेके लिये एक-एक जवानका प्राण बड़ा मूल्य रखता है। मैं तुमलोगोंमेंसे किसीको भी मौतके मुँहमें जानेकी आज्ञा नहीं दे सकता।

इसपर कुछ आवाजें उठीं; परंतु यह तो बताइये, रातको बारूदके अभावमें क्या होगा? भला, मूल निवासी बिना हमला किये मानेंगे?

सेनापति इन प्रश्नोंका क्या उत्तर देता? वह ठंढी-ठंढी साँसें भरने लगा।

'कोई जाय, चाहे न जाय, मैं तो जाती हूँ—प्राण हथेलीपर रखकर। बस, किलेकी रक्षाका एक यही

उपाय है। यह एक चौदह वर्षकी बालिका थी—सेनापतिकी प्यारी बेटी जेन।

'नहीं-नहीं, इतने जवानोंके रहते एक बालिका मौतके मुँहमें नहीं जा सकती।' कई युवक एक साथ बोल उठे।

'क्यों नहीं जा सकती? क्या किलेकी रक्षाका ठेका जवानोंने ही ले रक्खा है? क्या बालिकाओंको किलेकी रक्षामें हाथ बँटानेका कोई अधिकार नहीं है?' जेनने भी जोरोंसे आवाज लगायी।

'ठीक कहती है, बेटी! तू ही जायगी।' सेनापतिने अपना निर्णय सुनाया।

लोग आश्चर्यमें डूब गये, आँखें फाड़-फाड़कर कभी जेनका और कभी सेनापतिका मुँह ताकने लगे। और जेन सचमुच प्राण हथेलीपर रखकर चल पड़ी और किलेके फाटकपर पहुँची। संतरीने बड़ी सावधानीसे धीरे-धीरे फाटक खोल दिया—इस तरह कि जरा भी आवाज न हो।

जेन बाहर निकली, बिल्लीके समान आहट लेती इधर-उधर ताकती दबे पैरों आगे बढ़ी और फिर हिरनीके समान छलाँगें भरती यह जा, वह जा, बात-की-बातमें झोपड़ेके दरवाजेपर पहुँची। धीरेसे किवाड़ खोलकर भीतर घुसी, बारूदकी बड़ी-से-बड़ी गठरी बाँधकर बाहर निकली और उसे छातीसे चिपटाकर जल्दी-जल्दी भाग चली। उधर मूल निवासियोंको आहट मिल गयी और उनके तीर चारों ओरसे हवामें सायँ-सायँ करने लगे।

जेनके पैरोंमें जैसे बिजली चमक उठी और वह और भी वेगसे भागी। शिकार हाथसे निकलता देख मूल निवासी झल्ला उठे और उसके पीछे दौड़ पड़े; परंतु जेन तितलीके समान बराबर उड़ी जा रही थी—कभी नीचे झुकती, कभी ऊपर तनती, कभी इधर मुड़ती, कभी उधर बल खाती। गोरे किलेकी दीवारसे दुबके-दुबके यह अनोखी दौड़ देख रहे थे। एक उसीके जीवनसे उन सबका जीवन था; इसलिये जब वह शत्रुओंके चंगुलसे निकलती दिखायी देती थी, तब वे हर्षसे चीख उठते थे और जब वह शत्रुओंके चंगुलमें फँसी जान पड़ती थी, तब वे अपनी छातीमें घूँसा मारकर रह जाते थे। आखिर साहसका रंग चोखा रहा। जेन फाटकपर पहुँच ही गयी और संतरीने उसे पलक मारते भीतर खींच लिया।

इतनेमें मूल निवासी भी आ पहुँचे और लगे फाटकपर तीरों, भालों तथा कंकड़ों-पत्थरोंकी वर्षा करने; परंतु अब इस ऊधमसे क्या होनेवाला था! अब तो गोरोंके हाथमें मूल निवासियोंको भूनने लायक आग पहुँच ही चुकी थी।

बालक राममोहन राय

बंगाल प्रान्तके कृष्णनगरके समीप राधानगरके प्रसिद्ध राय-वंशमें राममोहन रायने लगभग सन् १७७४ ई० में जन्म लिया था। उनके पिता रामकान्त राय प्रतिष्ठित ब्राह्मण थे। राय-परिवारका मुरशिदाबादके नवाब-घरानेसे अच्छा सम्बन्ध था। उनकी माता तारिणी देवी बड़े आचार-विचारसे रहती थीं। वे बड़ी धर्मनिष्ठ, उदार और दयालु-स्वभावकी महिला थीं। लोग उनको ठकुरानी कहकर पुकारा करते थे। माता और पिताके सम्पर्कमें राममोहन एक आदर्श बालक गिने जाने लगे। बालक राममोहन देखनेमें बड़े सुन्दर थे, उनका शरीर सुडौल था। मुखमण्डल तेजोमय था। लोग देखते ही उनको प्यार करने लगते थे, अपने हृदयका सारा स्नेह उड़ेल देनेके लिये उत्सुक हो उठते थे। राममोहन धार्मिक प्रवृत्तिके बालक थे। ईश्वरमें उनकी अचल भक्ति थी। माता-पिताकी वैष्णवताका उनपर पूर्ण प्रभाव पड़ा था। अपने गृह-देवता 'राधा-गोविन्द'के वे महान्

भक्त थे, बालक राममोहन मन्दिरमें बैठकर घंटों अपने गृह-देवताका ध्यान किया करते थे । उनके चरणोंमें श्रद्धा और भक्तिपूर्वक लोटते रहते थे । जबतक श्रीमद्भगवद्गीताके कम-से-कम एक अध्यायका पाठ नहीं कर लेते थे, तबतक जलकी एक बूँद भी नहीं ग्रहण करते थे । पिता-माताको बालककी इस आध्यात्मिक मनोवृत्तिसे बड़ी प्रसन्नता होती थी । उन्होंने राममोहनकी शिक्षाकी ओर विशेष ध्यान दिया । गाँवकी ही पाठशालामें लिखना-पढ़ना सीखनेके लिये उनका प्रवेश कराया गया । उन्होंने अद्भुत स्मरण-शक्ति, कुशाग्र बुद्धि और अदम्य उत्साहसे थोड़े ही समयमें असाधारण विद्याप्रेमी बालक होनेका परिचय दिया । उस समय फारसी-अरबी-शिक्षाका प्रधान केन्द्र पटना था । नौ सालकी अवस्थामें वे शिक्षा प्राप्त करनेके लिये पटना भेजे गये । फारसीके सूफी कवियोंकी कविताओंमें उनको बड़ा आनन्द मिलता । ब्रह्मवादपर विचार करनेकी प्रेरणा उनको इन कविताओंसे अधिक मात्रामें मिली । परमात्माके अद्वैत रूपमें बचपनमें ही उनकी निष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी । बारह सालकी अवस्थामें विद्याध्ययनके लिये उनको काशी भेजा गया । चार सालतक उन्होंने मनोयोगपूर्वक संस्कृतकी शिक्षा पायी । उपनिषदोंका ध्यानपूर्वक अनुशीलन कर ब्रह्मज्ञानका रसास्वादन किया । वे बड़े स्पष्टवक्ता और निर्भीक व्यक्ति थे । उन्होंने अपने हृदयके सत्यको बेरोक-टोक कहनेमें कभी तनिक भी संकोच नहीं किया । वे उच्चकोटिके अध्यवसायी थे ।

बालक राममोहन रायकी वाल्मीकि-रामायणमें उत्कृष्ट श्रद्धा थी । एक दिन प्रातःकाल वे वाल्मीकि-रामायणका पाठ करने बैठे । घरवालोंसे विनम्रतापूर्वक कह दिया कि जबतक पाठ पूरा न कर लूँ, मुझे कोई न बुलाये । वाल्मीकिका पाठ उन्होंने उसी दिन आरम्भ किया था । कभी पहले पढ़ीतक नहीं थी उन्होंने वाल्मीकि-रामायण । वे रामके यशसागरमें इस तरह निमग्न हो गये कि उन्हें खाने-पीनेकी सुधि ही न रही । जबतक एक बैठकमें उन्होंने पूरी रामायण नहीं पढ़ ली, उठनेका नाम ही न लिया । उनकी यह तन्मयता देखकर घरवालोंको पूरा विश्वास हो गया कि बालक राममोहन आगे चलकर अपने कुल, समाज और देशकी बड़ी-से-बड़ी सेवा करेगा ।

बालक राममोहनने अपने जीवनका ध्येय सदा स्थिर और ऊँचा रक्खा । मानव-मात्रकी सेवाकी बलिवेदीपर तन-मन-धन—सर्वस्व समर्पित कर देना राममोहन रायके प्रारम्भिक जीवनका प्रतीक हो गया । रा०

देशभक्त बालक तिलक

लोकमान्य तिलकका जन्म २३ जुलाई सन् १८५६ ई०को रत्नगिरिमें हुआ था । उनके पिता गंगाधर राव एक साधारण व्यक्ति थे, वे स्थानीय पाठशालामें शिक्षक थे । उनका पूरा नाम बलवन्तराव था, घरपर लोग उन्हें बाल कहा करते थे । तिलककी इसीलिये बालगंगाधर तिलकके नामसे प्रसिद्धि हुई । उनकी माता श्रीपार्वतीबाईकी सनातनधर्ममें बड़ी निष्ठा थी । उन्होंने संतान-प्राप्तिके लिये एक आदर्श भारतीय रमणीका धर्म निवाहा, बड़ी-से-बड़ी तपस्या की, चान्द्रायण आदि कठोर व्रतोंका आचरण किया, भगवान् सूर्यकी उपासना की । श्रीलोकमान्य तिलक इन पुण्योंके समन्वयरूपमें पैदा हुए थे । उनके पिता संस्कृतके अच्छे पण्डित और ज्योतिषी थे । धार्मिक माता और विद्वान् तथा मेधावी पिताके सम्पर्कमें बालक तिलककी शिक्षा-दीक्षा विधिपूर्वक हुई । वे बड़े प्रतिभाशाली छात्र निकले । विद्यालयमें प्रवेश करनेके पहले उन्हें बहुत-से श्लोक

कण्ठस्थ थे। इसका कारण यह था कि उनके पिता कागजके टुकड़ोंमें एक-एक श्लोक लिखकर एक पैसा रख देते थे। नियम यह था कि एक टुकड़ेका एक श्लोक याद करनेपर एक पैसा मिलता था। बालक तिलक बड़े उत्साहपूर्वक श्लोकोंको याद कर लिया करते थे। इस तरह उन्होंने कई रुपये एकत्र कर लिये थे। उनकी बड़ी बहिन इस काममें उनसे स्पर्धा करती थी, पर पीछे रह जाती थी।

असत्य और पापसे बालक तिलकने कभी समझौता नहीं किया। एक बार कक्षामें कुछ विद्यार्थियोंने मूँगफली खाकर छिलके सहनमें डाल दिये। अध्यापकको तिलक-पर संदेह हुआ। तिलकने बड़ी निर्भयतासे प्रतीकार किया। वस्तुस्थितिका पता चलनेपर अध्यापकने बड़ा पश्चात्ताप किया, पर तिलकने पाठशालामें आन्दोलन मचा दिया। यह उनकी सत्यपरायणताका एक ज्वलन्त दृष्टान्त है।

उनकी बुद्धि बड़ी विलक्षण थी। एक बार अध्यापक-ने विद्यार्थियोंसे कापीपर एक अङ्कगणित-सम्बन्धी प्रश्नका उत्तर निकालनेको कहा। तिलक चुपचाप बैठे रहे। अध्यापकने पूछा कि क्या तुम्हें नहीं पढ़ना है। तिलक-ने मौखिक रूपसे उत्तर बताकर उन्हें निरुत्तर कर दिया। यदि शिक्षक उनसे श्यामफलकपर अन्य लड़कोंको हिसाब समझानेके लिये कहते थे, वे कक्षामें खड़े होकर, खरिया मिट्टीसे हाथ गंदा होनेके भयसे, मौखिक समाधान कर दिया करते थे। वे अमित प्रतिभाशाली और होनहार युवक थे।

बचपनसे ही उनके हृदयमें स्वराज्य, स्वधर्म और स्वदेश-प्रेमकी आग जला करती थी। वे अपनी पवित्र मातृभूमिको विदेशियोंके हाथसे मुक्त करनेकी योजनाओं-पर अन्य उत्साही छात्रोंके साथ गुप्त रूपसे परामर्श किया करते थे।

बालक तिलककी कविता और व्यायाममें बड़ी रुचि थी। वे आदर्श देशभक्त बालक थे। ईश्वर और धर्ममें उनकी बड़ी निष्ठा थी, भारतकी प्राचीन संस्कृतिमें अडिग आस्था थी। रा०

महामना मालवीयजीका बाल्य-जीवन

आदर्श माता-पिताकी संतति आदर्श होती है, यह बात महामना पं० मदनमोहनजी मालवीयके सम्बन्धमें पूर्णतः चरितार्थ होती है। मालवीयजीके पितामह पं० प्रेमधरजी चतुर्वेदी गृहस्थ होते हुए भी सर्वत्र भगवान्‌को देखनेवाले महापुरुष थे। मालवासे श्रीगौड़ ब्राह्मणोंका भारद्वाजगोत्री जो परिवार घूमता-घामता प्रयाग आ बसा था, वह प्रारम्भसे ही परम धार्मिक, भगवद्भक्त एवं शास्त्रोंपर दृढ़ विश्वास रखनेवाला था। ब्राह्मणोचित आजीविकाको छोड़कर उन लोगोंने आपत्तिकालमें भी किसी दूसरे आयके साधनको अपनाया नहीं था। पं० श्रीप्रेमधरजी तो भगवद्भक्ति एवं भगवद्-विश्वासकी मूर्ति ही थे। महामना मालवीयजीके पिता पं० श्री-व्रजनाथजी चतुर्वेदी अपने पिताके सुयोग्य पुत्र थे। सुन्दर शरीर, निर्मल बुद्धि तथा श्रीराधाकृष्णकी भक्ति उन्हें पैतृक सम्पत्तिके रूपमें मिली थी। वे कभी किसीसे कुछ माँगते नहीं थे और न किसीका दान स्वीकार करते थे। श्रीमद्भागवतकी कथापर जो कुछ आ जाता, वही उनकी आजीविकाका साधन बनता। उनकी श्रीमद्भागवतकी कथा सुनकर श्रोता मुग्ध हो जाते थे। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती मूनादेवी अपने पतिके नित्य अनुकूल रहनेवाली, परम सती, धर्मनिष्ठ एवं भगवान्‌की अनन्य भक्त थीं। श्रीमदन-मोहन मालवीयजी इनके तीसरे पुत्र थे।

बालकोंको शिक्षा देनेमें आजकल प्रायः एक भूल

की जाती है। बालक आरम्भसे स्कूलमें भेजा जाता है और वहाँ पाश्चात्य ढंगकी शिक्षा पाता है। उसपर पाश्चात्य शिक्षाके संस्कार पड़ जाते हैं। उसके विचार पाश्चात्य शिक्षाके अनुकूल हो जाते हैं। अब यदि वह बड़ा होनेपर अच्छा विद्वान् होता है और अपने शास्त्रीय ग्रन्थ पढ़ता भी है, तो भी उन ग्रन्थोंकी व्याख्या अपने चित्तपर पड़े पाश्चात्य संस्कारोंके अनुसार ही करता है। शास्त्रोंको पढ़कर भी वह सनातन-धर्मके मूल भाव तथा भारतीय संस्कृतिकी विचारधारासे दूर रहता है। अपने स्वदेश एवं स्वधर्मपर यदि उसके मनमें गौरव भी हुआ तो इनको वह पाश्चात्य विज्ञानके तर्कोंसे समन्वित करता है। शास्त्रोंमें भी पाश्चात्य मान्यता सिद्ध करता है। इस प्रकार वह अपनेको भारतीय मानते हुए तथा शास्त्रीय ग्रन्थोंका विद्वान् होते हुए भी भारतीयतासे दूर ही रहता है। सनातन-धर्मकी मौलिक मान्यताएँ उसकी समझमें नहीं आतीं।

भागवत-व्यास पं० श्रीव्रजनाथजी चतुर्वेदीने अपने पुत्रोंको शिक्षा देनेमें यह भूल नहीं की। वे इस विषयमें पूरे सावधान रहे कि बालकोंको पहले अपने धर्म, अपने आचार एवं अपने शास्त्रका ज्ञान हो, बालकपर पहले अपनी संस्कृति एवं अपने धर्मके दृढ़ संस्कार पड़ जायँ, तब उसे स्कूलमें भेजनेसे वह पाश्चात्य शिक्षासे भी लाभ उठा सकेगा। वह उसकी भ्रान्त धारणाओंसे बचेगा, उसके थोथे तर्कोंको समझेगा और उसके गुणोंको ही अपनायेगा। बालकके लिये सबसे पहली शिक्षा जो आवश्यक है, वह है सदाचारकी शिक्षा; किंतु आजके स्कूलोंमें तो सब प्रकारसे आचारको भङ्ग करना और मनमाना खान-पान रखना, अनेक दुर्गुणों एवं असदाचारको अपनाना गौरव माना जाने लगा है। वहाँ इतना कुसङ्ग बालकको मिलता है, जितना अन्यत्र कठिनतासे ही मिल सकता है। पं० श्रीव्रजनाथजीने इन बातोंमें पूरी सावधानी रक्खी। अपने पुत्र मदनमोहनको पहले तो घरपर ही उन्होंने पढ़ाना प्रारम्भ किया और फिर पण्डित हरदेवजीकी 'धर्मज्ञानोपदेश' पाठशालामें पढ़नेको बैठाया।

महामना मालवीयजीने अपने पिता तथा पितामहसे अपनी शैशवावस्थामें ही अक्षरज्ञान प्राप्त कर लिया था और श्रीमद्भागवत तथा गीताके बहुत-से श्लोक, कई स्तोत्र तथा सूरदासजी, मीराँबाई आदिके बहुत-से भजन उसी समय उन्हें कण्ठस्थ हो गये थे। इन भजनों तथा श्लोकोंको वे अपनी वृद्धावस्थातक समय-समयपर दुहराते, गाते तथा दूसरोंको प्रसङ्ग आनेपर सुनाते थे। इनका उनके जीवनपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था।

कुछ दिनों बाद पिताने मदनमोहनको पण्डित देवकीनन्दनजीकी 'विद्या-धर्मप्रवर्द्धिनी सभा' की पाठशालामें भेज दिया। उसके अध्यापक पण्डित देवकीनन्दनजी इस सात वर्षके बालकको माघमेलेके समय त्रिवेणी-तटपर ले जाया करते और वहाँ एक मोढ़ेपर खड़ा करके व्याख्यान दिलाया करते। इस प्रकार उस नन्ही अवस्थासे ही मालवीयजीमें प्रवचन-शक्ति तथा अपनी संस्कृति तथा धर्मके प्रचारकी भावना जाग्रत् हो गयी। नौ वर्षकी अवस्थामें पिताने विधिपूर्वक इनका यज्ञोपवीत-संस्कार कराया। पिताने ही इन्हें गायत्रीका उपदेश किया। यज्ञोपवीत होनेके पश्चात् ये नियमपूर्वक संध्या-वन्दन तथा पूजन करने लगे थे। अपने सहपाठियोंका एक संध्यादल ही इन्होंने बना लिया था। यह दल संध्या-पूजनका सामान लेकर नियमपूर्वक श्रीयमुनातटपर पहुँच जाया करता था और वहाँ बड़ी एकाग्रता तथा श्रद्धासे वे बालक स्नान तथा संध्यादि करते थे।

मदनमोहनकी इच्छा अंग्रेजी पढ़नेकी हुई। पिताने देख लिया कि बालक अब अपने आचार तथा विचारके पक्के संस्कार प्राप्त कर चुका है, अतः उन्होंने इनको इलाहाबाद जिला स्कूलमें पढ़नेको भेज दिया। विद्याकी इनमें इतनी प्रबल रुचि थी कि स्कूलमें ठीक समयपर पहुँचनेका पूरा प्रयत्न करते थे। अनुपस्थित होनेकी तो

बात ही सोचना इनके लिये सम्भव नहीं था। घरमें निर्धनता तो थी ही; एक बात यह भी थी कि ठाकुरजीको भोग लगाये बिना कोई भोजन नहीं कर सकता था। फलतः मदनमोहनको बासी रोटी मट्ठेके साथ खाकर ही स्कूल जाना पड़ता था। अध्ययनका पूरा समय आर्थिक कठिनाइयोंको झेलते हुए ही इनका बीता। स्कूलसे लौटनेपर घरमें अभ्यास करनेकी सुविधा नहीं थी। छोटा-सा घर और बड़ा परिवार! भला वहाँ पढ़ाई कैसे हो। पड़ोसमें एक बगीचा था और उसमें एक साथी विद्यार्थी रहता था; सायंकाल लालटेन तथा पुस्तकें लेकर मदनमोहन वहीं चले जाते और थोड़ा-बहुत अध्ययन करके रात्रिको वहीं सो रहते।

जो श्रीमालवीयजीसे कभी मिले हैं या उनकी विचार-धारासे परिचित हैं, वे जानते हैं कि मालवीयजी युवकोंको व्यायाममें प्रवृत्त करनेके कितने पक्षमें थे। वे कहते थे कि 'प्रत्येक ग्राममें अखाड़ा अवश्य होना चाहिये। प्रत्येक युवकको व्यायाम करना चाहिये और दूध मिलना चाहिये उसे।' स्वस्थ तथा सबल शरीर, सुदृढ़ आचार एवं अपने धर्म एवं संस्कृतिके अनुकूल उन्नत विचार प्रत्येक युवकको प्राप्त हों, इसी प्रयत्नमें महामना मालवीयजीका पूरा जीवन व्यतीत हुआ। वे स्वयं तबतक नियमितरूपसे व्यायाम करते रहे, जबतक वृद्धावस्था तथा रोगने उन्हें विवश नहीं कर दिया। श्रीमद्भागवतका नित्य पाठ तथा व्यायाम ये बचपनसे उनके नित्य कार्य थे।

सेवाकार्य, व्यायाम तथा संध्या-पूजनके अतिरिक्त मालवीयजीके दो और प्रिय कार्य थे। एक तो इनका संगीत-प्रेम और दूसरा गायत्रीका जप। ये घरसे चुपचाप भाग जाते और बरगदघाटपर यमुना-किनारे आसन लगाकर एकाग्रचित्तसे जप करते रहते। संगीत इनका परम्पराप्राप्त धन था। इनके पिताजी बहुत सुन्दर बंशी बजाते थे। इन्होंने सितार बजाना सीखा। सूर, तुलसी, मीराँ, भारतेन्दु आदिके पद जब ये सितार बजाकर गाते थे, तब दोनों नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा चला करती थी। सुननेवाले भी रोये बिना रह नहीं सकते थे।

एण्ट्रेन्स पास करके मालवीयजी म्योर सेण्ट्रल कालेजमें पहुँचे। यहीं उनकी भेंट महामहोपाध्याय पण्डित आदित्यरामजीसे हुई। पं० आदित्यरामजी उनके केवल कालेजके शिक्षक ही नहीं थे, वे उनके आध्यात्मिक गुरु तथा पथ-प्रदर्शक भी थे। हिंदूधर्मकी सेवा एवं उसके उत्थानके लिये महामहोपाध्यायजीके चित्तमें प्रबल भावना थी। उन्हींके प्रोत्साहनपर मालवीयजीने 'हिंदू-समाज' नामक संस्थाकी स्थापना की। इस समाजके द्वारा हिंदूधर्मके प्रचारके लिये व्याख्यान दिये जाते तथा समाजके विरोधी तत्त्वोंको दूर करनेकी प्रेरणा दी जाती थी।

महामना मालवीयजीकी दृढ़ता, धैर्य, नीतिकुशलता तो प्रसिद्ध ही हैं; पर सबसे बड़ा उनका सद्गुण था सहृदयता—दया। स्वर्गीय श्रीचिन्तामणिजीका कहना था—'वे सिरसे पैरतक हृदय-ही-हृदय हैं।' किसीका भी कष्ट उनसे देखा नहीं जाता था। दूसरोंका दुःख देखकर वे रो पड़ते थे और जो कुछ सम्भव होता, वह सब करनेको उद्यत हो जाते थे। सहस्रों उदाहरण हैं मालवीयजीकी दयाके; किंतु उनमेंसे केवल एक यहाँ दिया जा रहा है।

एक दिन मालवीयजी बड़ी शीघ्रतासे प्रयागके एक वैद्यजीके घर पहुँचे। बहुत उतावलीमें वे लगते थे। पहुँचते ही वैद्यजीसे बोले—'एक कुत्तेके कानसे सटा एक बड़ा घाव हो गया है। घावमें कीड़े पड़ गये हैं। पीड़ाके मारे कान लटकाये चिल्लाता हुआ वह भागता है। आप कोई दवा बताइये।' वैद्यजीने एक अंग्रेजी दवा बता दी और डाक्टरसे सम्मति ली। डाक्टरने दवा तो वही लगानेकी राय दी, पर वह हँस पड़ा। घावकी पीड़ामें कुत्ता लगभग पागल रहता है।

उस समय उसे दवा लगा देना सीधी बात नहीं है। दवा लेकर मालवीयजी कुछ स्कूलके लड़कोंके साथ कुत्तेके पास गये। वह मक्खियोंके भयसे एक टट्टरकी आड़में छिपा था। मालवीयजीने एक बाँसमें कपड़ा लपेटकर उसे दवासे भिगोया और दूरसे कुत्तेके घावमें दवा लगाने लगे। कुत्ता गुर्राता था, भोंकता था, दाँत दिखाकर काटने झपटता था; किंतु मालवीयजी भी धुनके पक्के थे। वे चुपचाप अपने काममें लगे रहे। दवा लगानेसे कुत्तेकी पीड़ा घटी, वह धीरेसे बैठ गया और सो गया। गलीमें भटकते एक कुत्तेपर भी जिसकी इतनी दया उमड़ती है, दीन-हीन मनुष्योंको देखकर, रोगी या विपद्ग्रस्त लोगोंके लिये उसका हृदय द्रवित हो जाता था—इसमें आश्चर्य ही क्या था।

महात्मा गांधीका बाल्य-जीवन

[हिंदी 'आत्मकथा'के आधारपर]

महात्माजीके पितामह थे राज्यके सम्मानित दीवान और महात्माजीके पिता श्रीकरमचन्द गांधीजी भी दीवान ही थे। वे धीर एवं सम्मानित पुरुष थे। महात्माजी कहते हैं—'मेरे पिताजी कुटुम्ब-प्रेमी, सत्यप्रिय, शूर और उदार, परंतु साथ ही क्रोधी थे।' रिश्वतसे दूर रहनेवाले तथा न्याय-प्रिय होनेके कारण उनकी सर्वत्र ख्याति थी। माताके प्रति महात्माजीकी बहुत अधिक भक्ति थी। माताके सम्बन्धमें उन्होंने लिखा है—'माताजी साध्वी स्त्री थीं, ऐसी छाप मेरे दिलपर पड़ी है। वे बहुत भावुक थीं। पूजा-पाठ किये बिना भोजन न करतीं, हमेशा हवेली—वैष्णव-मन्दिर जाया करती थीं। जबसे मैंने होश सँभाला, मुझे याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी चातुर्मास्य छोड़ा हो। कठिन-से-कठिन व्रत वे लिया करतीं और उन्हें निर्विघ्न पूरा करतीं।'

आश्विन कृष्ण १२ सं० १९२५ (२ अक्टूबर १८६९ ई०) को सुदामापुरी (पोरबन्दर) में महात्माजीका जन्म हुआ और बचपन वहीं व्यतीत हुआ। सात वर्षकी अवस्थामें राजकोटकी पाठशालामें भर्ती हुए। बचपनसे सत्यके प्रति महात्माजीका कितना प्रेम था, यह उनकी इस घटनासे जाना जा सकता है। वे लिखते हैं—'शिक्षा-विभागके इन्सपेक्टर साहब निरीक्षण करने आये। उन्होंने पहली कक्षाके विद्यार्थियोंको पाँच शब्द लिखवाये। उनमें एक शब्द मैंने गलत लिखा। मास्टर साहबने मुझे बूटसे टल्ला (संकेत) देकर चेताया; पर मैं क्यों चेतने लगा। मेरे दिमागमें यह बात न आयी कि मास्टर साहब मुझे आगेके लड़केकी स्लेट देखकर सही लिखनेका इशारा कर रहे हैं। ....मास्टर साहबने बादमें मेरी यह 'मूर्खता' मुझे समझायी; परंतु उसका मेरे दिलपर कुछ असर न हुआ। दूसरोंकी नकल करना मुझे कभी न आया।'

बड़ोंका सम्मान करने, उनकी आज्ञा माननेका कितना विचारपूर्ण भाव महात्माजीके मनमें था बचपनसे कि वे उन मास्टर साहबके विषयमें ही कहते हैं—'ऐसा होते हुए भी मास्टर साहबका अदब रखनेमें मैंने कभी गलती न की। बड़े-बूढ़ोंके ऐब न देखनेका गुण मेरे स्वभावमें ही था। बादको तो इन मास्टर साहबके ऐब भी मेरी नजरमें आये। फिर भी उनके प्रति मेरा आदर-भाव कायम ही रहा। मैं इतना जान गया था कि हमें बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञा माननी चाहिये, जैसा वे कहें, करना चाहिये; पर वे जो कुछ करें, उसके काजी हम न बनें।'

जिसकी सद्गुणोंके प्रति सहज रुचि होती है, उसे सर्वत्र उन सद्गुणोंकी ही खोज रहती है।

वह जहाँ भी उन गुणोंको पाता है, हृदयसे ग्रहण कर लेता है । बालक मोहनदास (महात्माजी) को बचपनमें 'श्रवणकुमारकी पितृ-भक्ति' नामक नाटक पढ़नेको मिल गया था और सत्यहरिश्चन्द्र नाटक देखनेको मिला था । वे कहते हैं—"श्रवण जब मरने लगा था, उस समयका उसके माता-पिताका विलाप अब ····भी याद है। हरिश्चन्द्रके सपने आते। यह धुन समायी कि—'हरिश्चन्द्रकी तरह सत्यवादी सब क्यों न हों?' ········मेरे हृदयमें तो हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित हैं । आज भी मैं उन नाटकोंको पढ़ पाऊँ तो आँसू आये बिना न रहें ।"

तेरह वर्षकी अवस्थामें पिताने विवाह कर दिया था। अपने एकपत्नीव्रतके विषयमें उन्होंने लिखा है—'शुरूसे यह मेरी आदत रही कि जो बात पढ़नेमें अच्छी नहीं लगती, उसे भूल जाता और जो अच्छी लगती, उसके अनुसार आचरण करता । यह पढ़ा कि एक पत्नी-व्रतका पालन करना पतिका धर्म है । बस, यह मेरे हृदयमें अङ्कित हो गया ।

अपने सत्यका इतना विश्वास और प्रेम था महात्माजीको कि उनकी बातपर कोई अविश्वास करे, इससे भी उन्हें दुःख होता था । एक बार स्कूलमें व्यायामके समय महात्माजी इसलिये ठीक समयपर न पहुँच सके कि आकाशमें बादल होनेसे समयका पता नहीं लगा । अनुपस्थिति-कारण ठीक-ठीक बतानेपर भी अध्यापकने उनपर विश्वास नहीं किया और दो आने जुर्माना कर दिया । महात्माजीका कहना है—'मुझे इस बातसे अत्यन्त दुःख हुआ कि मैं झूठा समझा गया ।········मैं रोया और समझा कि सच बोलनेवाले और सच करनेवालेको गाफिल भी न रहना चाहिये । अपनी पढ़ाईके दरमियान मुझसे ऐसी गफ़लत वह पहली और आखिरी थी ।'

पढ़ते समय एक बार महात्माजी संस्कृत छोड़कर फ़ारसी लेने जा रहे थे । उस समय संस्कृतके अध्यापकने उन्हें समझाया कि अपने धर्मकी भाषा उन्हें अवश्य पढ़नी चाहिये । इस घटनाका वर्णन करते हुए महात्माजी लिखते हैं—'आज मेरी आत्मा कृष्णशंकर मास्टरका उपकार मानती है; क्योंकि जितनी संस्कृत मैंने उस समय पढ़ी थी—यदि उतनी भी न पढ़ा होता तो आज मैं संस्कृत-शास्त्रोंका जो आनन्द ले रहा हूँ, वह न ले पाता । बल्कि मुझे तो इस बातका पछतावा रहता है कि मैं अधिक संस्कृत न पढ़ सका; क्योंकि आगे चलकर मैंने समझा कि किसी भी हिंदू-बालकको संस्कृतका अच्छा अध्ययन किये बिना न रहना चाहिये ।'

अपने परिवारके विषयमें महात्माजी लिखते हैं—'माता-पिता कट्टर वैष्णव माने जाते थे । हमेशा वैष्णव-मन्दिर जाते थे ।············फिर मैं माता-पिताका परम भक्त ठहरा । मैं मानता ही था कि यदि उन्हें मेरे मांसाहारका पता लग जायगा तो वे बेमौत ही प्राण छोड़ देंगे ।' इतना होनेपर भी कुसङ्गके प्रभावसे महात्माजीके मनमें मांसाहारके प्रति आकर्षण हो गया और वे मानने लगे कि सचमुच इससे लाभ होता है। उनके एक मित्रने उन्हें निरन्तर यही शिक्षा दी। बहुत दिनों बाद विलायत जानेपर महात्माजीको इस सत्यका पता लगा कि मांसाहारके बताये जानेवाले सब लाभ अन्न, फल तथा दूधमें हैं और मांसमें बहुत-से रोग उत्पन्न करनेके दुर्गुण हैं । महात्माजी मांसाहारके कठोर विरोधी रहे अन्ततक । वैसे उस कुमित्रके बहकानेसे उस समय कुछ बार—एक वर्षमें कुल पाँच बार उन्होंने मांस खाया था । उस समय मांसाहारको वे आवश्यक मानते थे, पर माता-पिताकी भक्ति तथा सत्यनिष्ठाने उन्हें इस दुर्गुणसे बचा लिया । वे लिखते हैं—'माता-पिताको धोखा देना और झूठ बोलना मांस न खानेसे भी ज्यादा बुरा है । इसलिये माता-पिताके जीते-जी मांस

न खाना चाहिये ।' एक कामको अच्छा समझते हुए भी माता-पिताकी प्रसन्नताके लिये तथा सत्यकी रक्षाके लिये उन्होंने उसे छोड़ दिया और सत्यने उनकी रक्षा कर ली । आगे जाकर उन्हें पता लग गया कि वे भूलमें थे, मांसाहार सर्वथा त्याज्य है ।

महात्माजीके एक भाईको भी उसी मित्रने मांस खाना सिखा दिया था । बीड़ी-सिगरेटकी भी आदत पड़ गयी थी । नियम यह है कि एक पाप जो करता है, उसे अनेक पाप करने पड़ते हैं । धर्मपर स्थिर रहनेसे धर्मकी वृद्धि होती है और पापमें लगनेपर पाप बढ़ता है । मांस, बीड़ी आदिके लिये पैसे चाहिये और पैसे आयें कहाँसे ? पच्चीस रुपये महात्माजीके भाईने कर्ज कर लिये थे । उस भाईके हाथमें सोनेका ठोस कड़ा था । चुपचाप सुनारसे उसमेंसे एक तोला सोना कटवाकर बेच दिया गया, कर्ज चुक गया । कड़ा भी वैसा-का-वैसा दीखता था; किंतु महात्माजीका हृदय इसे सह नहीं सका । धर्मका जिसने पालन किया है, उससे कभी भूल भी होती है तो उसका पिछला धर्म उसे सम्हाल लेता है । महात्माजीने आगेसे चोरी न करनेका निश्चय किया । पितासे कहनेका साहस नहीं होता था, इसलिये सब बातें पत्रमें लिखकर वह पत्र उन्होंने अपने पिताको दे दिया । महात्माजी कहते हैं—'जो मनुष्य अधिकारी व्यक्तिके सामने स्वेच्छापूर्वक अपने दोष शुद्ध हृदयसे कह देता है और फिर कभी न करनेकी प्रतिज्ञा करता है, वह मानो शुद्धतम प्रायश्चित्त करता है ।'

बचपनसे ही महात्माजीकी राम-नामपर अपार श्रद्धा थी । ये धार्मिक संस्कार उनपर कैसे पड़े, यह हम उनके ही शब्दोंमें दे रहे हैं—''मैं पहले कह चुका हूँ कि मैं भूत-प्रेतादिसे डरा करता था । इस रम्भाने मुझे बताया कि इसकी दवा 'राम-नाम' है; किंतु 'राम-नाम'की अपेक्षा रम्भा (धाय) पर मेरी अधिक श्रद्धा थी । इसलिये बचपनमें मैंने भूत-प्रेतादिसे बचनेके लिये राम-नामका जप शुरू किया । यह सिलसिला यों बहुत दिनोंतक जारी न रहा; परंतु जो बीजारोपण बचपनमें हुआ, वह व्यर्थ न गया । राम-नाम जो आज मेरे लिये एक अमोघ शक्ति हो गया है, उसका कारण वह रम्भाबाईका बोया हुआ बीज ही है । मेरे चचेरे भाई रामायणके भक्त थे । इसी अर्सेमें उन्होंने हम दो भाइयोंको 'राम-रक्षा' का पाठ सिखानेका प्रबन्ध किया । हमने मुखाग्र करके प्रातःकाल स्नानके बाद पाठका नियम बनाया । ………परंतु जिस चीजने मेरे दिलपर गहरा असर डाला, वह तो थी रामायणका पारायण ।……… उस समय मेरी अवस्था कोई तेरह सालकी होगी; पर मुझे याद है कि उनकी (श्रीलाधा महाराजकी) कथामें मेरा बड़ा मन लगता था । रामायणपर जो मेरा अत्यन्त प्रेम है, उसका पाया यही रामायण-श्रवण है । आज मैं तुलसीदासकी रामायणको भक्ति-मार्गका सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ ।'

श्रीमद्भागवतके सम्बन्धमें महात्माजीका कहना है—'मैंने उसका गुजराती अनुवाद बड़े चावसे पढ़ा है; परंतु अपने इक्कीस दिनके उपवासमें जब भारत-भूषण पण्डित मदनमोहन मालवीयजीके श्रीमुखसे मूल संस्कृतके कितने ही अंश सुने, तब मुझे ऐसा लगा कि बचपनमें यदि उनके सदृश भगवद्भक्तके मुखसे भागवत सुनी होती तो बचपनमें ही मेरी गाढ़ प्रीति उसपर जम जाती । मैं अच्छी तरह इस बातका अनुभव कर रहा हूँ कि बचपनमें पड़े शुभ-अशुभ संस्कार बड़े गहरे हो जाते हैं और इसीलिये अब मुझे यह बात खल रही है कि लड़कपनमें कितने ही अच्छे ग्रन्थोंका श्रवण-पठन न हो पाया ।'

महात्माजी अपनी सत्यनिष्ठाके सम्बन्धमें लिखते हैं—'एक बातने मेरे दिलपर अच्छी जड़ जमा ली ।

यह सृष्टि नीतिके पायेपर खड़ी है, नीतिमात्रका समावेश सत्यमें होता है ।'

बड़ी कठिनाईसे महात्माजीको मातासे विलायत जाकर अध्ययन करनेकी आज्ञा मिली थी और इस आज्ञाके लिये मातासे उन्हें मांस न खाने, शराब न पीने तथा विलायतमें स्त्री-सङ्ग न करनेकी प्रतिज्ञा करनी पड़ी थी । यद्यपि इनमेंसे मांस न खानेकी प्रतिज्ञाके कारण बहुत कठिनाई उठानी पड़ी, कई सप्ताह आधे पेट ऐसा भोजन करके रहना पड़ा, जो रुचिकर नहीं था; फिर भी बड़ी दृढ़तासे माताको दिये गये वचनोंका महात्माजीने पालन किया ।

महात्माजीके बाल्य-जीवनमें ही हम उनमें अद्भुत सत्य-निष्ठा, उच्च कोटिकी माता-पिताकी भक्ति तथा दृढ़ता पाते हैं तथा यह भी देखते हैं कि बचपनमें राम-नाम, रामायण-श्रवणके संस्कार कितने गहरे पड़ते हैं। राम-नाम तो महात्माजीका जीवन-सर्वस्व ही हो गया था।

बालक श्रीअरविन्द

श्रीअरविन्द कलकत्तेके प्रमुख डाक्टर श्रीकृष्णधन घोषकी द्वितीय संतान थे । समयकी गतिके अनुसार श्रीकृष्णधन घोषपर अंग्रेजी शिक्षा, रहन-सहन, वेष-भूषा, खान-पान आदिका प्रभाव विशेषरूपसे था । साथ ही उनकी डाक्टरी खूब चलती थी । अतः वे अपनी संतानके रहन-सहनका धरातल ऊँचे-से-ऊँचा उठानेमें धनको पानीकी तरह बहाते थे; परंतु बालक अरविन्द न जाने क्यों बचपनसे ही इस वैभवसे कुछ बचनेका-सा प्रयत्न करते हुए प्रतीत हुआ करते थे । उनमें विद्याध्ययनकी लालसा बड़ी तीव्र थी। पाँच वर्षकी छोटी-सी अवस्थामें ही वे माता-पितासे दूर दार्जिलिंगमें रहकर अध्ययन करने लगे । बालककी असाधारण बुद्धि देखकर अध्यापकगण चकित रह जाते थे। बालक अरविन्द बहुत सुन्दर तथा स्वभावके बड़े चञ्चल और हँसमुख थे, पर उनकी चञ्चलतामें एक गहन गम्भीरता छिपी हुई थी और उसकी बनावटमें एक अद्भुत सादगी ।

दो वर्ष बाद श्रीकृष्णधन घोष सपरिवार विदेश चले गये । बालक अरविन्द भी अपने माता-पिताके साथ गये । प्रतिभा-सम्पन्न बालक बारह वर्षकी अवस्थामें ही धाराप्रवाह अंग्रेजीमें बात करने लगा । लंदनके सेंट पाल्स स्कूलके अध्यापक बालककी असाधारण प्रतिभासे बड़े प्रभावित हुए।

बालक अरविन्द पढ़नेके समय पढ़ते और अतिरिक्त समयमें स्कूलके अन्य कार्यक्रमोंमें बड़े उत्साहसे भाग लेते। वे स्कूलकी पत्रिकाके लिये छोटे-छोटे लेख लिखते, वाद-विवादकी सभाओंमें प्रभावशाली भाषण देते और अवसर पड़नेपर प्रत्येक साथीकी हर प्रकारकी सेवाके लिये तत्पर रहते। उनके ऐसे व्यवहारको देख उनके सभी सहपाठी उनसे प्रेम करने लगे थे। धीरे-धीरे वे अपने स्कूलके सभी अध्यापकों और विद्यार्थियोंके आकर्षणका प्रधान केन्द्र बन गये । उनके लेख लंदनके अनेक प्रमुख पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित होने लगे और इससे परिचितोंमें उनका सम्मान बढ़ा तथा अपरिचितोंमें उनके प्रति श्रद्धा ।

यद्यपि अरविन्दका पूरा बचपन, उनका सम्पूर्ण विद्यार्थी-जीवन अंग्रेजोंके सम्पर्कमें ही बीता, फिर भी उनका हृदय अंग्रेजोंकी संस्कृति और सभ्यतासे वस्तुतः अछूता ही रहा। उनकी आत्मा पूर्णरूपसे भारतीय बनी रही और पढ़ाई समाप्त करनेपर जब वे भारत लौटे, तब लोगोंने उन्हें पूर्णरूपसे भारतीय पाया ।

ये ही बालक श्रीअरविन्द आगे चलकर पांडिचेरीके विश्व-विख्यात महान् संत, साधक और योगिराजके नामसे प्रसिद्ध हुए ।
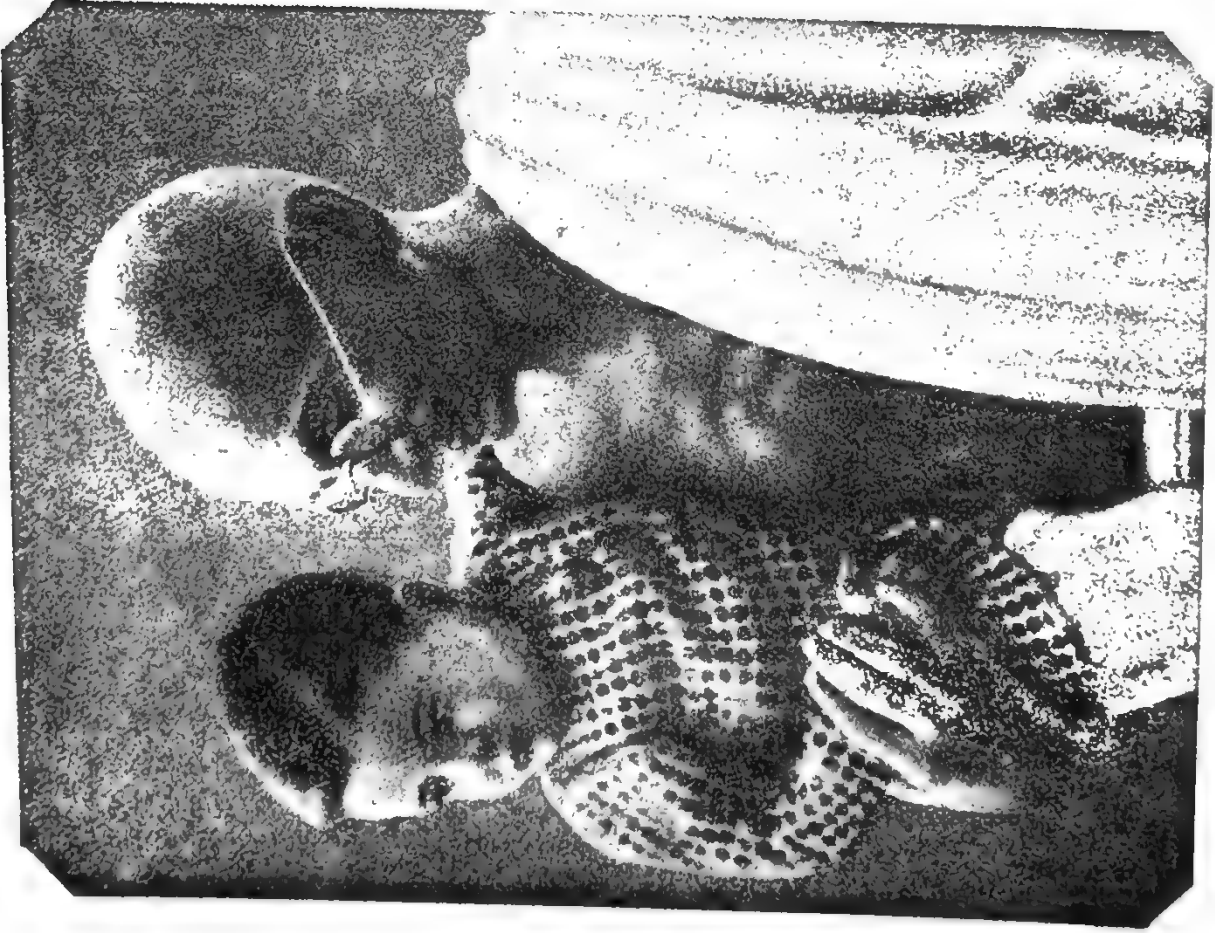
श्रीगांधीजीका शिशु-प्रेम

श्रीबेडन पावेल

बालक गांधीजी

बालक रवीन्द्रनाथ

बालक अरविंद

बालक सुभाषचन्द्र

बालक रवीन्द्रनाथ ठाकुर

बालक रवीन्द्रनाथ बंगालके एक धनी परिवारमें पैदा हुए थे। उनके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर बहुत बड़े तपस्वी, विद्वान् और उदार तथा देश-भक्त थे; बालक रवीन्द्रपर उनके सद्गुणोंका बड़ा प्रभाव था।

रवीन्द्रनाथको कविका हृदय मिला था। वे जब सात या आठ सालके थे, तभीसे उनके मनमें रमणीय प्रकृति और उसकी वस्तुओंके प्रति अनुरागका उदय हो चला था। वे जितने शान्त थे, उतने ही चञ्चल भी थे। कभी एकान्त स्थानमें बैठकर प्रकृतिकी सुन्दर वस्तुएँ देखते तो कभी कंकड़-पत्थर जोड़कर पहाड़ बनाते थे, कोनेमें धूल-मिट्टी एकत्रकर बीज डालते और पानीसे सींचते थे कि दूसरे दिन बड़े-बड़े पेड़ निकल आयेंगे। वे प्रातःकाल बगीचेमें जाकर तालाबके किनारे बैठकर झूम-झूमकर बाँसुरी बजाया करते थे, काले-काले बादलों-को देखकर उनका मन आनन्द-विभोर हो जाया करता।

घरसे बाहर वे कम निकलते थे। उनकी माता धर्मनिष्ठ महिला थीं, वे उन्हें रामायण और महाभारतकी कथाएँ सुनाया करती थीं, बालक रवीन्द्र इन्हीं बातोंको दिनभर सोचा करते। माताके बीमार पड़नेपर वे घरमें रहनेके बन्धनसे मुक्त-से हो गये। धीरे-धीरे अधिक देरतक बाहर रहकर ही खेलनेका उन्होंने स्वभाव बना लिया। एक दिन नौकरोंने उनको राम-वनवास और सीता-हरणकी कथा सुनायी, उससे प्रभावित होकर वे घरके भीतर ही रहने लगे। नौकरोंने कहा कि 'राम जब सोनेके मृगका शिकार करने गये, उनकी सहायताके लिये जाते समय लक्ष्मणने एक लकीर खींचकर सीतासे कहा था कि—इसे पार करनेपर राक्षस हर ले जायगा।' इसके बाद उन्होंने बालक रवीन्द्रके सामने एक लकीर खींच दी और अपने काममें लग गये। रवीन्द्रके मनपर इस घटनाका बड़ा प्रभाव पड़ा; उन्होंने सोचा कि यदि मैं लकीर पार करूँगा तो मुझे भी राक्षस हर ले जायँगे। उसी दिनसे उनका घरके बाहर निकलना अपने-आप रुक गया।

उन्हें बचपनसे ही कविता करनेकी रुचि थी। वे कविताएँ लिखकर पत्रोंमें भेजते और वे लौट आया करती थीं। उनके मनमें यह बात समा गयी कि यदि अपनी कविताओंमें किसी काल्पनिक कविका नाम दे दिया करूँ तो इनके छपनेमें बड़ी आसानी हो जायगी। उन्होंने कविताओंमें एक काल्पनिक मैथिल-कवि भानुसिंहका नाम देना आरम्भ किया और इस तरह उनकी रचनाओंका सम्मान बढ़ने लगा।

वे बड़े प्रतिभाशाली, शीलवान् और होनहार बालक थे।

बालक चितरञ्जनदास

कलकत्तेमें ता० ५ नवम्बर सन् १८७० ई०को उनका जन्म हुआ था। उनके पिता श्रीभुवन-मोहनदास कलकत्तेके उच्च न्यायालयके एक विशेष वकील (सालीसिटर) थे। उन्होंने बालक चितरञ्जनके पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षामें किसी प्रकारकी कमी नहीं आने दी। श्रीभुवनमोहनदास एक अच्छे कवि थे, चितरञ्जनने उनके प्रभावसे छोटी अवस्थामें ही कविता करना आरम्भ कर दिया। उनकी माता ईश्वरभक्त थीं। बालक चितरञ्जनने उनसे वैष्णवता पायी, भगवान्के चरणोंमें उनकी अडिग आस्था और निष्ठा थी। वे दृढ़ भगवद्विश्वासी बालक थे।

मेधावी बालक होते हुए भी उनका मन खेल-कूदमें बहुत लगता था। फूलके समान कोमल शरीर, कवियों-की-सी भोली चितवन, स्निग्ध लावण्य देखकर लोग उनके प्रति सरल हृदयसे स्नेह करने लग जाते थे। बालक चितरञ्जन बड़े मिलनसार और कोमल स्वभावके थे।

कक्षाकी पढ़ाईमें बालक चितरञ्जनका मन कम लगता था । वे कुछ-न-कुछ सोचा करते या किसी सद्ग्रन्थका पाठ किया करते थे । बंकिम बाबूके ग्रन्थोंको वे चावसे पढ़ते थे और 'आनन्दमठ' पुस्तकको तो उन्होंने अनेक बार पढ़ा था । वे अपने बाल-सखाओंसे कहा करते थे कि यदि भारतदेशको पूर्णरूपसे जगाना है तो प्रत्येक भारतीय विद्यार्थीको आनन्दमठ उपन्यास अवश्य पढ़ना चाहिये । घर-घरमें पुस्तककी एक प्रति रहनी चाहिये । गंदी और अश्लील पुस्तकोंको बालक चितरञ्जनने कभी हाथसे छूआतक नहीं । उन्हें अन्य विद्यार्थियोंकी अपेक्षा देश-दुनियाका अधिक ज्ञान रहता था । उनकी बुद्धि बड़ी कुशाग्र थी । बाल्यकालसे ही साहित्यमें अभिरुचि थी । लड़कोंका दल बनाकर उनका नेता बननेका तो उन्होंने स्वभाव ही बना लिया था । निस्संदेह वे नेतृत्वकी शक्तिसे सम्पन्न थे । घरसे जलपानके लिये जो कुछ पैसा मिलता था, उसे मित्रोंमें समानरूपसे बाँट देते थे । इससे उनके बचपनकी उदारताका पता लगता है । इस तरह अनजानमें ही अनेक असहाय और गरीब विद्यार्थियोंको सहायता मिल जाती थी । वे अपनी प्रत्येक वस्तु साफ-सुथरी रखते थे । समय कभी व्यर्थ नहीं खोते थे और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि परमात्माका प्रत्येक क्षण स्मरण किया करते थे । उन्होंने चौदह सालकी अवस्थामें भगवान्‌के सम्बन्धमें एक कविता लिखी थी—'हे स्वामी ! मुझे अपने कोमल चरणोंको छू लेने दो । अन्धकाररूपी वनमें मैं आलोकरूपी शरणकी भीख माँगता हूँ । मैं अबोध बालक सिसक रहा हूँ, तुम कहाँ छिप गये हो ?'

एक बार ग्यारह सालकी अवस्थामें उन्होंने पितासे कुछ रुपये माँगे । वे छोटे-से बालककी माँगपर आश्चर्यचकित हो गये और परख करनेके लिये तीन रुपये दे दिये । उनके पीछे गुप्तचर लगा दिया । तीसरे दिन एक गरीब लड़केके लिये दो रुपयेकी पुस्तकें खरीद दीं और एक रुपयेका जूता ले दिया । गरीब विद्यार्थीका मुख कृतज्ञतासे प्रसन्न हो उठा, उसने चितरञ्जनको हार्दिक धन्यवाद दिया । पिताने गुप्तचरसे सारी बात सुनकर बालक चितरञ्जनको कलेजेसे लगा लिया, अपने सौभाग्यकी मन-ही-मन सराहना की ।

बालक चितरञ्जन बड़े सत्यवादी थे । उन्हें असत्यभाषणसे बड़ी घृणा थी । यदि किसी बातको स्वीकार करनेमें हृदय हिचकता था तो तत्काल प्रतिवाद कर बैठते थे । स्पष्ट कहनेका तो उनका स्वभाव पड़ गया था । उनके चाचा दुर्गामोहन वकील थे । एक बार उन्होंने चितरञ्जनसे पूछा कि 'आगे चलकर तुम क्या करोगे ?'

'सब कुछ कर सकता हूँ, पर वकालत नहीं ।' बालकने घृणापूर्ण शब्दोंमें अपने भाव प्रकट किये । 'वकील चोर होते हैं ।'

'क्या मैं भी···· ?' दुर्गामोहन आश्चर्यसे बोल उठे ।

'मैं ऐसा नहीं कह सकता ।' बालकने शीलका परिचय दिया । चितरञ्जन सचमुच असाधारण बालक थे ।

बालक सुभाषचन्द्र

(लेखक—श्रीराय अम्बिकानाथसिंहजी)

सुभाषचन्द्र बोसका नाम भारत ही नहीं, संसारका बच्चा-बच्चा जानता है । उन्होंने अपने देशकी आजादीकी लड़ाईमें बड़ा नाम कमाया । उनके बचपनकी कुछ असाधारण घटनाओंसे उनके देश-प्रेम, स्वाभिमान और जन-सेवाका पता चलता है ।

वे कटकके सबसे धनी वकील जानकीनाथजीके लड़के थे । बचपनसे ही उनके मनमें वीरताके भाव भर दिये गये थे । जब वे चार-पाँच सालके थे, उनकी माता प्रभावती देवी उन्हें भगवती दुर्गाकी प्रसिद्ध गौरव-गाथा लोरियोंमें गा-गाकर सुनाया करती थीं । आठ ही सालकी अवस्थामें वे एक साधककी तरह रहने लगे । केवल एक समय भोजन करते थे और बड़ी सादगीसे

रहते थे। एक धोती और एक चादरसे ही काम चला लेते थे। वे रातको जमीनपर ही सोते थे। एक बार माताने उनसे खाटपर सोनेको कहा। बालक सुभाषने उत्तर दिया कि शिवजी तो कैलासकी चट्टानपर सोते हैं। माताने फिर कभी इस तरहका आग्रह नहीं किया।

जिस समय सुभाष एक यूरोपियन स्कूलकी चौथी कक्षामें पढ़ते थे, उनकी अवस्था केवल बारह सालकी थी। पड़ोसके ही एक गाँवमें हैजा पड़ा। बीमारोंकी सेवाके लिये उनका हृदय उत्सुक था, वे अपने चार साथियोंके साथ गाँवमें चले गये। इधर माता-पिता उनके लिये आकुल हो गये। दो-चार दिनके बाद उन्होंने पिछले दरवाजेसे आकर अपने नन्हे-नन्हे हाथोंसे माकी आँखें मूँद लीं। माने अपने प्राणसे भी प्यारे बेटेको गले लगा लिया।

एक बार कालेजमें पढ़ते समय उन्होंने अद्भुत स्वाभिमानका परिचय दिया था। कालेजका प्रिंसिपल गोरा था, उन दिनों अंग्रेजोंके लिये भारतीयोंका मजाक उड़ाना एक खिलवाड़-सा था। उसने भारतके विरुद्ध कुछ अश्लील शब्द कहे, बालक सुभाष इस अपमानको सह न सके। उन्होंने ईंटका जवाब पत्थरसे दिया। सारे कालेजमें हलचल मच गयी, वे पढ़ाईसे अलग कर दिये गये; पर उनपर इस घटनाका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा।

चौदह सालके बालक सुभाषने कलकत्तेमें स्वामी विवेकानन्दका भाषण सुना। श्रीरामकृष्ण-मिशनका उत्सव मनाया जा रहा था।

स्वामी विवेकानन्दने भरी सभामें ललकारकर कहा, 'कौन है जो युग-युगसे उठती हुई भारतमाताकी पुकार सुनेगा? किशोर भारत, हिमालयकी शिलाएँ तुम्हें साधना सिखानेके लिये बुला रही हैं।'

युवक सुभाषपर स्वामी विवेकानन्दके भाषणका बड़ा प्रभाव पड़ा। वे हिमालयकी ओर चल पड़े। सत्य और शान्तिकी खोजमें उनका मन हिमालयकी गुफाओंमें अधिक दिनतक न लगा। उन्होंने मन-ही-मन पर्वत-राजको नमस्कार किया, विदा माँगी; उन्होंने निश्चय किया कि पृथ्वीको स्वर्गमें बदल दूँगा, स्वयं हिमालय बनूँगा।

हिमालयसे लौटकर उन्होंने बी०ए०की परीक्षा प्रथम श्रेणीमें पास की। उनके पिता उन्हें आई० सी० एस्०की परीक्षाके लिये इंगलैंड भेजना चाहते थे। सुभाषने बहुत कुछ समझाने-बुझानेपर सम्मति दे दी। इसका कारण यह था कि उनके पिताने बात-चीतके बीचमें कह दिया था कि 'अंग्रेजोंसे मुकाबला है, तुम डरते हो!' सुभाषने यह सुना कि उनका चेहरा लाल हो गया। वे इस शर्तपर इंगलैंड गये कि परीक्षामें उत्तीर्ण होते ही त्यागपत्र दे देंगे।....सुभाषने परीक्षामें सफलता पायी और त्यागपत्र लिख दिया। उस समय इंडिया हाउसमें जानकीबाबूके मित्र सर विलियम ड्यूक रहते थे। उन्होंने पुत्रके त्यागपत्रकी बात पिताको लिखी। पिताका विचार बदल चुका था, उन्होंने सर विलियमको बड़े गर्वसे उत्तर दिया कि 'मैंने सुभाषको इसी शर्तपर भेजा था, त्यागपत्र तो देना ही चाहिये। वह गुलाम होनेके लिये नहीं, स्वतन्त्रतासे रहनेके लिये पैदा हुआ है।' सर विलियमने सुभाषसे पूछा कि 'रोजी किस तरह चलेगी?' भारत माताके लालने कहा कि 'मैंने अपना जीवन ऐसा बना लिया है कि केवल दो आनेसे ही खाना-पीना चल सकता है।' युवक सुभाष भारत चले आये और स्वतन्त्रता-संग्राममें उतर पड़े।

महामना गोपालकृष्ण गोखलेकी ईमानदारी

परम देशभक्त श्रीयुत गोपालकृष्ण गोखले बाल्यावस्थामें जब स्कूलमें पढ़ते थे, तब एक दिन शिक्षकने घरसे करके लानेके लिये कुछ हिसाब दिये। गोपालकृष्णको उनमें एक प्रश्न नहीं आता था, इसलिये उसे दूसरे विद्यार्थीकी मददसे कर लिया। स्कूलमें सब लड़कोंकी कापी देखी

गयी, केवल गोपालकृष्णके सारे हिसाब सही निकले।

यह देखकर उनके शिक्षक बहुत ही प्रसन्न हुए और उनको कुछ इनाम देने लगे। बालक गोपालकृष्णने इनाम तो लिया नहीं, वह उलटे रोने लगा। यह देखकर शिक्षकको बहुत ही आश्चर्य हुआ और उनसे रोनेका कारण पूछा। बालकने हाथ जोड़कर नम्रतासे कहा कि 'आपने तो यह समझा होगा कि इन सब सवालोंके जवाब मैंने अपनी बुद्धिसे निकाले हैं; पर सच यह नहीं है। इनमेंसे एक प्रश्नमें मैंने अपने एक मित्रसे मदद ली है। अब बतलाइये, क्या मैं इनाम पाने लायक हूँ या सजा पाने लायक ?'

यह सुनकर शिक्षक बहुत ही खुश हुए और उनके हाथमें इनाम देते हुए कहा कि 'अब यह इनाम मैं तुझको तेरी सत्य-प्रियताके लिये देता हूँ।'

ईमानदार वीरेश्वर मुखोपाध्याय

बंगालमें माल्दा शहरके बाहर एक बड़े बगीचेमें एक तेरह-चौदह वर्षका लड़का घूम रहा था। इतनेमें बशीर मुहम्मद नामका एक काबुली मुसाफिर अपने साज-सामानके साथ वहाँ आ पहुँचा। वह थोड़ी देर वहाँ ठहरा और जाते वक्त रुपयोंकी एक थैली वहीं भूल गया। उस थैलीमें पाँच हजार रुपये थे। उस चौदह वर्षके बंगाली लड़केने उस थैलीको देखते ही उठा लिया और यह जानकर कि उसमें बहुत रुपया है—उसने ईमानदारी बरती और वह रुपया उसके असली मालिकको देनेका निश्चय किया।

उधर बशीर मुहम्मद जब कुछ दूर निकल गया, तब उसे रुपयोंकी थैली याद आयी। वह बहुत घबराया और बगीचेकी ओर उलटे पाँव दौड़ा। बालकने उसे चिन्तित देखकर पूछा—'क्या तुम्हारी कोई चीज खो गयी है ?' व्यापारीने कहा—'मेरी रुपयोंकी थैली खो गयी है।' बालकने उसको थैली दिखाते हुए कहा—'ये अपने रुपये लो।' बशीर मुहम्मदने थैली खोलकर देखा कि उसमें एक भी रुपया कम नहीं है। फिर उसने बालकसे पूछा—'तुमने इतने रुपयोंके लालचको कैसे रोका ?' बालकने नम्रतापूर्वक कहा—'मैंने बचपनसे ही ऐसा सीखा है कि दूसरेके धनको मिट्टीके ढेलेके समान तुच्छ समझकर कभी भी चोरी नहीं करनी चाहिये।' बालककी बात सुनकर वह व्यापारी चकित हो गया और वह खुशीसे उसको पाँच रुपये इनाम देने लगा। पर लड़केने कहा—'मैंने तुम्हारा रुपया तुमको वापस दे दिया, यह मेरा धर्म ही था; इसमें इनामकी कौन बात है ? न लौटाता तो जरूर बेईमानी करता।'

उस लड़केकी यह भलमनसाहत देखकर बशीर मुहम्मद उसको बहुत शाबाशी देने लगा और उसके इस भले कामकी खबर उसने समाचारपत्रोंमें छपायी। उस बालककी साधुताकी कहानीके अन्तमें बशीर मुहम्मदने कहा है कि वह रुपया मेरे मालिकका था। यदि बालक वह रुपये खा गया होता तो मेरे मालिकका विश्वास मेरे ऊपरसे उठ जाता और मुझे कैदखानेमें जाना पड़ता। इसलिये इस बालकने मेरे ऊपर कितना बड़ा उपकार किया है, इसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। मैं कभी इस लड़केको भूल नहीं सकता और मैं प्रतिदिन यह प्रार्थना करूँगा कि प्रभु उसे लंबी उम्र और सुख प्रदान करे।

उस बालकका नाम 'वीरेश्वर मुखोपाध्याय' था। साधुताके गुणसे प्रत्येक मनुष्य इसी प्रकार लोकप्रिय और आशीर्वादका पात्र बन सकता है।

मिला हुआ हार उसके मालिकको सौंपनेवाला बालक

एक खलासीका घर था। उसमें मालिक-मालकिन और लड़का मिलकर तीन आदमी थे। खलासीके मर जानेके बाद उसकी स्त्री और लड़का निराधार हो गये। लड़केने निश्चय किया कि अब तो उसे अपना और माका भरण-पोषण खुद ही करना पड़ेगा। इसके बाद वह अपनी माकी आज्ञा लेकर नौकरीकी तलाशमें गया। सौभाग्यसे उसे एक नौकरी मिल गयी और वह अपनी माके पास आकर बोला—'मुझको नौकरी मिल गयी है। अमुक दिन मेरा जहाज खुलेगा और वह जब लौटेगा, तब मैं तुमसे भेंट करूँगा।' इतना कहकर वह जहाजपर गया। विभिन्न जगहोंपर रुकता हुआ वह जहाज एक बड़े बन्दरगाहपर जाकर खड़ा हुआ। लड़केके ऊपर कप्तानकी बड़ी दया थी और वह उसे बहुत मानता था; क्योंकि वह सदा ही सच बोलता था। रोज ईश्वरकी प्रार्थना करता था और दूसरे भी अच्छे गुण उसमें थे। जहाजके खलासी भी उसको चाहते थे। एक दिन कुछ खलासियोंके साथ वह लड़का शहर देखने जा रहा था। इतनेमें एक गाड़ीमेंसे कोई ओहदेदार और उसकी स्त्री उतरी। उतरते वक्त स्त्रीका हीरेका हार नीचे गिर गया। उस हारको दूसरे किसीने न देखा, पर उस लड़केने देखा और देखते ही तुरंत उसे उठा लिया। इस बातको जब उसके साथियोंने सुना, तब उन्होंने कहा—'इस कीमती हारको बेच दिया जाय तो बहुत रुपये मिलें और फिर नौकरी-चाकरी करनेकी जरूरत ही न रहे।'

यह सुनकर उस लड़केने कहा—'यह हार तो दूसरेका है। हम यदि इसे ले लेंगे तो चोर बन जायँगे। चोरी करना महापाप है। मेरी मा कहती थी कि मनुष्यकी आँखको तो धोखा दिया जा सकता है, पर ईश्वरकी आँखको कोई धोखा नहीं दे सकता; क्योंकि ईश्वर सब जगह है। इसलिये मैं तो जिसका हार है, उसीको वापस दूँगा।'

साथियोंने उसे बहुतेरा समझाया, पर उसने उनकी एक न मानी। वह हार जिस स्त्रीका था, उसे वापस दे दिया। उस स्त्रीको हार मिलनेसे बहुत ही आनन्द हुआ और उसने उस लड़केको योग्य इनाम दिया। कप्तानको जब यह खबर मिली, तब वह भी उस लड़केपर बहुत अधिक प्रेम करने लगा; सत्यसे प्रेम कौन नहीं करता।

एक होटलवाले बालककी ईमानदारी

एक व्यापारी कहीं विदेश जा रहा था। रास्तेमें वह एक होटलमें रातको रहा और सबेरा होते-होते वहाँसे चल दिया। निश्चित स्थानपर जानेके बाद देखता क्या है कि उसकी रुपयेकी थैली पाकेटसे गायब है। उस थैलीमें तीन सौ रुपयेकी रकम थी। व्यापारीने उस थैलीके मिलनेकी आशा छोड़ दी और वह उस बातको भूल गया।

उस मुसाफिरके जानेके बाद होटलवाले लड़केकी नजर होटलके आँगनमें पड़ी थैलीपर गयी, पर उसपर उसने अपना हाथ न डालकर अपने बापके पास आकर उसके बारेमें कहा। बापने बेटेकी बात सुनकर कहा—'बेटा! तू उस थैलीके ऊपर कुछ पत्ते और पेड़की डाली फैला दे।' इसके अनुसार उस लड़केने थैलीके ऊपर पत्ते और डालियाँ डालकर उसे ढक दिया।

कुछ दिनों बाद वह मुसाफिर लौटकर उस होटलमें रातको रहा। बातचीतके सिलसिलेमें उसने अपनी खोयी हुई थैलीकी बात कही। उसकी बात पूरी होते ही वह होटलवाला बोला—'आपकी थैली जहाँ पड़ी

है, उस जगहको यह मेरा लड़का आपको दिखला देगा। उसपर इसने अपना हाथ नहीं लगाया है, सिर्फ ऊपरसे ढक दिया है।'

वह व्यापारी उस लड़केके साथ वहाँ गया और पत्तों और डालियोंको हटाकर अपनी थैलीको बाहर निकाला। फिर होटलमें आकर उसने उस लड़केकी खूब बड़ाई की।

इस प्रकार जिसको पराये मालको छूनेकी इच्छा नहीं होती, वह लड़का बड़ा ईमानदार गिना जाता है।

ईमानदारीसे नाम पैदा करनेवाला बालक

एक धनी आदमी रास्तेसे जा रहा था। एक फटे-हाल गरीब लड़का उसके पास गया और उससे पैसा माँगा। उसने अपने पाकेटसे एक चवन्नी निकालकर उसके हाथमें दी और कहा—'इसमेंसे एक आना तुझको देना है, वह तू ले ले और तीन आने मुझे वापस दे।' उस लड़केके पास फुटकर पैसा न था, उसने कहा कि 'मैं इसे अभी भँजाकर लाता हूँ।' इतना कहकर वह दौड़ गया। उसको जरा देर लगते देखकर उस गृहस्थने थोड़ी देर राह देखी और फिर वह वहाँसे चला गया। वह लड़का चवन्नी भँजाकर पीछे लौटा और उस गृहस्थको वहाँ न देखा, तब उसने निश्चय किया कि वह इस रास्तेसे जब कभी गुजरेगा, तब उसे तीन आने पैसे वापस कर दूँगा।

वह लड़का भीख माँगकर प्रतिदिन अपना गुजारा करता था, पर उस तीन आने पैसेको हाथ नहीं लगाता था। एक सप्ताहके बाद वह गृहस्थ उसके देखनेमें आया। वह लड़का तुरंत ही उसके पास गया और उसके हाथमें तीन आने पैसे दे दिये। उस गृहस्थको वह बात याद भी न थी। लड़केकी ईमानदारी देखकर वह बहुत ही खुश हुआ और उसकी गरीब हालतपर दया करके उसे अपने यहाँ ले गया। उसे स्कूलमें भरती करवा दिया। उसके बाद वह लड़का धीरे-धीरे पढ़कर भारी विद्वान् हो गया। उसे यश और सुख दोनों मिले।

अपराध स्वीकार करके निर्दोषको बचानेवाला बालक

एक पाठशालामें पढ़ते समय बच्चे मुँहसे बार-बार सीटी बजाया करते। एक दिन गुरुजीने कहा—'अबसे कोई पढ़ते समय सीटी बजायेगा तो उसे सजा दी जायगी।' इसलिये उस दिन किसीने सीटी नहीं बजायी, परंतु दूसरे दिन पाठके समय फिर सीटी सुनायी दी। पाठशालामें एक लड़का बदमाशी करने और बार-बार सीटी बजानेके लिये प्रसिद्ध था। गुरुजीने समझा उसीने सीटी बजायी होगी। उसको बुलाकर पूछनेपर उसने कहा—'गुरुजी! मैंने तो नहीं बजायी।' पर गुरुजीको उसकी बातपर विश्वास नहीं हुआ। गुरुजीने गुस्सेमें आकर उसे मारनेके लिये ज्यों ही बेंत उठायी कि झटसे एक लड़केने सामने आकर विनयके साथ कहा—'गुरुजी! इसने सीटी नहीं बजायी, सीटी तो भूलसे मैंने बजायी थी। सजा मुझको दीजिये।'

गुरुजीने प्रसन्न होकर कहा—'तुझे सजा नहीं होगी, तूने अपने-आप सामने आकर अपना अपराध स्वीकार किया है और दूसरेको अन्यायका भोगी होनेसे बचाया है। तेरी इस सद्बुद्धिपर मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ। सब बालकोंको तेरे ही समान सच बोलनेवाला बनना चाहिये।'

ईमानदार मजदूर बालक

किसी अमीरके घरमें एक दिन धुआँसा साफ करनेके लिये एक मजदूर लड़केको बुलाया गया। लड़का सफाई करने लगा, वह जिस कमरेका धुआँसा उतार रहा था, उसमें तरह-तरहकी सुन्दर चीजें सजायी रक्खी थीं। उन्हें देखनेमें उसे बड़ा मजा आ रहा था। उस समय वह अकेला ही था, इसलिये प्रत्येक चीजको उठा-उठाकर देखने लगा। इतनेमें उसे एक बड़ी सुन्दर हीरे-मोतियोंसे जड़ी हुई सोनेकी घड़ी दिखायी दी। वह घड़ीको हाथमें उठाकर देखने लगा। घड़ीकी सुघड़तापर उसका मन लुभा गया। उसने कहा—'काश! ऐसी घड़ी मेरे पास होती।' उसके मनमें पाप आ गया, उसने घड़ी चुरानेका मन किया; परंतु दूसरे ही क्षण वह घबराकर जोरसे चिल्ला उठा—'अरे रे! मेरे मनमें यह कितना बड़ा पाप आ गया। यदि मैं चोरी करके पकड़ा जाऊँगा तो मेरी कितनी दुर्दशा होगी। सरकार सजा देगी। जेलखाने जाकर पत्थर फोड़ने पड़ेंगे और कोल्हूमें जुतना पड़ेगा। ईमान तो गया ही। फिर कौन मेरा विश्वास करके अपने घरमें घुसने देगा? यदि मनुष्यके हाथसे न भी पकड़ा गया तो भी क्या हुआ। ईश्वरके हाथसे तो कभी छूट नहीं सकता। मा बार-बार कहा करती है कि हम ईश्वरको नहीं देखते, पर ईश्वर हमको सदा देखता रहता है। उससे छिपाकर हम कोई काम कर ही नहीं सकते। वह घने अँधेरेमें भी देख पाता है। यहाँतक कि मनके अंदरकी बातको भी देखता रहता है।'

यों कहते-कहते लड़केका चेहरा उतर गया, उसका शरीर पसीने-पसीने हो गया और वह काँपने लगा। घड़ीको यथास्थान रखकर वह फिर जोरसे कहने लगा—'लालच बहुत ही बुरी चीज है। मनुष्य इस लालचमें फँसकर ही चोरी करता है। भला, मुझे धनियोंकी घड़ीसे क्या मतलब था? लालचने ही मेरे मनको बिगाड़ा, पर दयालु भगवान्ने मुझको बचा लिया, जो माकी बात मुझे वक्तपर याद आ गयी। अब मैं कभी लालचमें नहीं पड़ूँगा। सचमुच चोरी करके अमीर बननेकी अपेक्षा धर्मपर चलकर गरीब रहना बहुत अच्छा है। चोरी करनेवाला कभी निर्भय होकर सुखकी नींद नहीं सो सकता, चाहे वह कितना ही अमीर क्यों न हो। अरे! चोरीका मन होनेका यह फल है कि मुझे इतना दुःख हो रहा है। कहीं मैं चोरी कर लेता तब तो पता नहीं मुझे कितना भयानक कष्ट उठाना और दुःख झेलना पड़ता।' इतना कहकर लड़का शान्तचित्तसे अपने काममें लग गया।

घरकी मालकिन बगलके कमरेसे सब कुछ देख-सुन रही थी। वह अब तुरंत लड़केके पास आ गयी और पूछने लगी—'लड़के! तूने घड़ी ली क्यों नहीं?' लड़का इतना सुनते ही सुन्न हो गया। काटो तो खून नहीं। वह सिर थामकर दीनभावसे जमीनपर बैठ गया और काँपने लगा। उसकी जबान बंद हो गयी और आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली।

लड़केकी दीन-दशा देखकर मालकिनको दया आ गयी। उसने बड़े मीठे स्वरोंमें कहा—'बेटा! घबरा मत। मैंने तेरी सभी बातें सुनी हैं। तू गरीब होकर भी इतना भला, ईमानदार और धर्म तथा ईश्वरसे डरनेवाला है—यह देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई है। तेरी माको धन्य है जो उसने तुझको ऐसी अच्छी सीख दी। तुझपर ईश्वरकी बड़ी ही कृपा है, जो उसने तुझको लालचमें न फँसनेकी ताकत दी। बेटा! सचेत रहना। कभी जीको लालचमें न फँसने देना। मैं तेरे खाने-पीनेका और किताबोंका प्रबन्ध कर देती हूँ। तू कलसे पाठशालामें जाकर पढ़ना शुरू कर दे। भगवान् तेरा मङ्गल करेंगे।' इतना कहकर मालकिनने उसे अपने हाथोंसे उठाकर हृदयसे लगा लिया और अपने आँचलसे

उसके आँसू पोंछ दिये। फिर उसके हाथमें कुछ रुपये देकर कहा—'तेरी इस ईमानदारीका कुछ तो इनाम तुझे अभी मिलना चाहिये न।'

मालकिनके स्नेहभरे शब्दोंसे लड़केका हृदय खुशीके मारे उछल उठा। उसके मुखपर कृतज्ञताभरी प्रसन्नता छा गयी। वह दूसरे ही दिनसे पाठशालामें जाने लगा और अपने परिश्रम तथा सत्यके फलस्वरूप आगे चलकर बड़ा विद्वान् और प्रतिष्ठित पुरुष बना।

ईमानदार गरीब बालक

एक गरीब लड़का था। घरमें उसकी मा थी और एक छोटी बहिन। बहिन बीमार थी। वह उसकी दवा करानेके लिये अपने चाचासे कहने जा रहा था। रास्तेमें उसे एक पाकेटबुक पड़ी मिली। उसमें १२०) के नोट थे।

लड़का बड़ा ईमानदार था। उसने अपने मनमें निश्चय कर लिया कि 'यह जिसकी पाकेटबुक है, उसका पता लगाकर उसे जरूर दूँगा।' उसने घर आकर अपनी मासे सब हाल सुनाकर कहा—'मा! जिस बेचारेकी पाकेटबुक खोयी है, उसको बड़ी चिन्ता हो रही होगी; क्योंकि इसमें उसके रुपये हैं। हम ये रुपये रख लेंगे तो बहुत पाप होगा और प्रभु हमपर नाराज होंगे, पर जिसके रुपये खोये हैं, उसका पता कैसे लगे। मा! तू कोई उपाय बता—जिसमें मैं उसे खोज पाऊँ।' लड़केकी मा भी बड़ी ईमानदार थी। तभी तो उसके ऐसा पुत्र हुआ। वह पुत्रकी बात सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई। उसने कहा—'बेटा! भगवान् तेरी नीयतकी सचाई इसी प्रकार दृढ़ रक्खें। तेरा कल्याण हो। बेटा! किसी अखबारमें खबर देनेसे मालिक आप ही आकर ले जायगा।'

लड़का अखबारवालेके पास गया। उसकी नेकनीयती देखकर अखबारवालेने उसके नामसे यह विज्ञप्ति छाप दी—'मुझे एक पाकेटबुक रास्तेमें मिली है, उसमें एक सौ बीस रुपयेके नोट हैं। जिसकी हो, वह अमुक पतेपर आकर सबूत देकर ले जाय।' विज्ञप्ति पढ़कर पाकेटबुकका मालिक आया और इतनी गरीबीमें भी ऐसी ईमानदारी देखकर चकित हो गया।

उसने कहा—'जो गरीब होकर भी दूसरोंके पैसोंपर जी न ललचाता, वही सच्चा ईमानदार है, और वही प्रशंसाके योग्य है, और सचमुच गरीब ही ऐसे ईमानदार होते हैं। पैसेवाले तो प्रायः अभाव न होनेपर भी, पैसेके सङ्गसे लोभमें पड़कर बेईमान हो जाते हैं। तुम लोगोंको धन्य है जो इस प्रकार प्रभुपर विश्वास रखकर अपने सत्यपर डटे रहे।' यह कहकर उसने वे नोट लड़कीकी दवा और सेवाके लिये आग्रह करके दे दिये और लड़केको अपने यहाँ अच्छी नौकरी दे दी। लड़का अपनी ईमानदारीके बलपर आगे चलकर नामी और धनी व्यापारी बना।

ईमानदार दीन बालक

विलायतमें जाड़ेमें बहुत ठंढक पड़ती है और रास्तेमें बर्फ गिरती है। वहाँ गरीबों या गरीब लड़कोंके रहनेके लिये मकान नहीं होते; क्योंकि वहाँ मकानका भाड़ा बहुत होता है। लंदनमें ऐसे गरीब लोग जगह-जगह दियासलाईके बक्स वगैरह छोटी कीमतकी वस्तुओंको बेचकर गुजरान करते हैं।

एक दिन एक गरीबका लड़का दियासलाईके बक्स लेकर एक होटलके पास खड़ा था। उसके कपड़े फटे थे और पैरमें जूता न था, इससे वह जाड़ेसे काँप रहा था। उस समय दो आदमी उस रास्तेसे जा रहे थे। उसने पूछा—'साहब! दियासलाई खरीदेंगे?' उन्होंने जवाब दिया—'नहीं।' तब उस लड़केने कहा—'केवल

एक पेनी कीमत है ।' उन आदमियोंमेंसे एकने कहा—'मुझे जरूरत नहीं है ।' लड़केने कहा—'एक पेनीका दो दूँगा, लीजिये ।'

तब एकने कहा—'लाओ,' ऐसा कहकर अपने पाकेटमेंसे एक पेनी निकालना चाहा, पर पेनी मिली नहीं । तब उसने कहा कि 'मेरे पास फुटकर नहीं है, इसलिये कल लूँगा ।' लड़का बोला—'साहब ! आज ही लीजिये; क्योंकि मेरे पास खानेके लिये कुछ नहीं है । मैं फुटकर पेनी ला देता हूँ ।'

यह सुनकर उस आदमीने उसे एक शिलिंग दिया । वह लड़का शिलिंग भँजाने गया, पर बहुत देरतक वापस न आते देख उस आदमीने समझा कि लड़का शिलिंग लेकर चला गया और वह वहाँसे अपने घर गया ।

दूसरे दिन वह आदमी उस मुहल्लेमें फिर आया और उस लड़केको ढूँढ़ने लगा, इतनेमें उस लड़केका छोटा भाई मिला । उसने कहा—'क्या कल रातको आपने मेरे भाईसे दियासलाईका बक्स खरीदा था ?' उस आदमीने जवाब दिया—'हाँ, वह कहाँ है ?' उस छोटे लड़केने कहा—'आपके पाससे एक शिलिंग लेकर वह भँजाने गया था, वहाँसे लौटते वक्त गाड़ीके टक्करमें आ गया। उसे बहुत चोट लग गयी है। दियासलाईके बक्स और आपके सात पेंस इस दुर्घटनामें खो गये हैं । चार पेंस उसमेंसे मिला है, वह यह है लीजिये । वह अस्पतालमें पहुँचाया गया है । मुझे खबर मिलते ही मैं वहाँ गया तो उसने अपने पैसेकी बात कही । उसने आपको खोजकर ये पेंस देनेको मुझे कहा था ।' तब उस आदमीने पूछा—'क्या तुमने कुछ खाया है ?' उसने कहा—'नहीं ।' तब वह लड़केको खिलाकर सफाखानेमें गया । वहाँ वह लड़का खाटके ऊपर सोया था । उस आदमीको पहचानकर उस लड़केने कहा—'कल रात मैं शिलिंग भँजाकर आ रहा था, उस वक्त गाड़ीके टक्करमें मैं आ गया और आपका पैसा गिर गया । जो कुछ बचा है, वह मैंने अपने भाईसे आपके पास पहुँचानेके लिये कहा था, वह मिला होगा ।'

इतना कहकर उसने अपने भाईसे कहा—'मैं अब जा रहा हूँ । तुम्हारी खबर कौन लेगा ? मा-बापके मरनेके बाद मुझसे जहाँतक बन सका, मेहनत करके तेरी सँभाल रखता था । अब ईश्वर तेरी सँभाल रक्खेगा ।' यह सुनकर उस आदमीने उसके भाईके पालन-पोषण करनेका जिम्मा अपने ऊपर लिया । बीमार लड़का इससे बहुत खुश हुआ और प्रभुसे कृपाकी भीख माँगते हुए इस लोकसे विदा हो गया ।

बालक सुकरात

बालक सुकरातका जन्म ईसासे ४६९ साल पूर्व यूनानके एथेन्स नगरमें हुआ था । उनकी माताका नाम फिनेरिट था । उनके पिता एफ्रोनिस्कस एक साधारण संगतराश थे । दिनभरकी मेहनत-मजदूरीसे अपने छोटे-से परिवारका भरण-पोषण करते थे । उनकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी । बालक सुकरातने कुछ दिनों-तक विद्यालय और व्यायामशालामें निःशुल्क शिक्षा प्राप्त की । संगीत और विज्ञानमें भी उनकी रुचि बढ़ती गयी । एथेन्स बड़े-बड़े विद्वानों, कलाकारों और दार्शनिकों तथा कवियों और संगीतज्ञोंका निवासस्थान था; बालक सुकरात उनके सम्पर्कमें रहना अधिक पसंद करते थे, इसलिये वे दिनमें प्रातःसे संध्यातक उनके दरवाजोंपर कई चक्कर लगाया करते थे । उनके कुरूप शरीर, चिपटी नाक, बड़े नथुने, भद्दे मुख और

बड़ी-बड़ी आँखोंसे लोग अनायास प्रभावित हो जाते थे। यद्यपि वे गरीब होनेके नाते चिथड़े पहनकर नंगे पाँव सारे नगरमें घूमा करते थे, तो भी उनकी प्रखर प्रतिभा, दार्शनिक गम्भीरता और जिज्ञासा बाल-सुलभ चपलतामें छिपी नहीं रह पाती थी, लोग उनकी ओर धीरे-धीरे आकृष्ट होने ही लगे। बालक सुकरात बड़े सरल और प्रेमी स्वभावके थे, गरीबीके कारण भूखे रहनेपर मित्रोंके निवास-स्थानपर भोजन कर लेनेमें वे तनिक भी संकोच नहीं करते थे।

बालक सुकरात सत्य-चिन्तनमें इतने व्यस्त रहते थे कि उन्हें कई दिनोंतक खाने-पीनेकी भी सुधि नहीं रहती थी, उनकी ज्ञान-पिपासा उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। एथेन्स छोड़कर बाहर जाना उन्हें किसी भी स्थितिमें रुचिकर नहीं था, जंगलों और बागोंमें तो वे कभी जाते ही नहीं थे। बाल्यकालकी यह मनोवृत्ति उनके निःस्पृह तथा गम्भीर भावी दार्शनिक जीवनकी भूमिका थी। बड़ोंका बचपन इसी तरह असाधारण हुआ करता है। जहाँ कहीं भी सड़ककी पटरी और चौराहेपर वे मनुष्योंका जमघट देखते थे, वहीं पहुँच जाते थे और ज्ञानकी चर्चा करने लगते थे।

उनके शिक्षा-गुरुका नाम प्राडिक्स था। वे सुकरातको बड़े स्नेहकी दृष्टिसे देखते थे। एथेन्सके बड़े-बूढ़े बालक सुकरातको अपने बच्चेकी ही तरह प्यार करते थे।

बालक सुकरातको धन और सुखके प्रति बड़ी चिढ़ थी, उनका मन इन दोनोंसे सदा दूर भागा करता था। वे असत्यको महापातक मानते थे। दूसरेका अहित-चिन्तन सुकरातकी दृष्टिमें महत्तम अपराध था।

उन्हें अपने बाल्यकालमें ऐसा लगा कि परमात्माने उन्हें किसी देव-कार्यके पवित्र सम्पादनके लिये ही धरतीपर भेजा है। निस्सन्देह वह देव-कार्य सत्यका अनुशीलन ही था। वे स्वभावसे ही धार्मिक-प्रवृत्तिके बालक थे। उन्होंने अपनी अन्तरात्माके प्रतिकूल कोई कार्य नहीं किया।

एक बार वे सड़कपर खड़े-खड़े प्रातःकालसे शामतक कुछ सोचते रहे, रातमें भी अविराम गतिसे यही क्रम चलता रहा। लोग उनसे कुछ दूर चटाई बिछाकर लेट गये और यह देखते रहे कि यह सोचना कब बंद होगा। मेधावी सुकरात रातभर सोचते ही रह गये और दूसरे दिन प्रातःकाल सूर्यको नमस्कार कर वे अपने निवास-स्थानपर लौट आये। इस घटनासे उनके संयमित और नियन्त्रित जीवनका दर्शन होता है। वास्तवमें वे महान् अध्यवसायी थे। उन्होंने आगे चलकर स्वीकार किया था कि जब मैं बालक था मुझे—प्रकृति क्या है, ईश्वर क्या है, सृष्टि किस तरह बनती-बिगड़ती है—इन प्रश्नोंपर विचार करना अच्छा लगता था। एथेन्स नगर ही उनका विद्यालय था, उसके चलते-फिरते जीव उनके शिक्षक थे। उनका बाल्य-जीवन कितना मर्मस्पर्शी और उत्साहवर्धक है। 'अपने-आपको जानो' यही उनके जीवनका महान् ध्येय था। रा०

दृढ़ सत्यवादी अब्दुल कादिर

(लेखक—श्रीमुबारक अली)

ईरानदेशमें जीलान नामक एक सुन्दर स्थान है—अंगूरों, खजूरों और गुलाबोंके हरे-भरे बगीचोंसे घिरा हुआ। लगभग नौ सौ वर्ष पहले वहाँ एक सज्जन रहते थे—हजरत सैयद अबी स्वालह। वे कहनेको तो निर्धन थे, परंतु स्वभावके बहुत भले थे—बड़े ही विद्याप्रेमी, बड़े ही परोपकारी और बड़े ही ईश्वर-

भक्त। इसलिये समाजमें आदरकी दृष्टिसे देखे जाते और सम्मान पाते थे। उनके एकमात्र पुत्र थे— सैयद अब्दुल कादिर जीलानी, जो सन् ४७० हिजरीके रमजान महीनेकी पहली तारीखको उत्पन्न हुए थे।

सैयद अब्दुल कादिर जीलानी अपने पिताके समान ही सुशील थे और पढ़ने-लिखनेकी ओर विशेष ध्यान देते थे। प्रारम्भिक शिक्षा उन्होंने जीलानकी पाठशाला-में ही प्राप्त की थी; परंतु वहाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करने-का कोई सुभीता नहीं था। जब पाठशालाकी शिक्षा समाप्त हो गयी, तब अब्दुल कादिर चिन्तामें डूब गये— अब उच्च शिक्षा कैसे प्राप्त करें? उन दिनों बगदाद नगर विद्याका प्रसिद्ध केन्द्र था और वहाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करनेके लिये दूर-दूरके विद्यार्थी पहुँचते थे। बस, अब्दुल कादिरने भी बगदाद जानेका निश्चय कर लिया और एक दिन अपनी वृद्धा माता हजरत फातिमासे कहा—'अम्मी! मैं अभी और पढ़ना चाहता हूँ, इसलिये बगदाद जाऊँगा।'

पुत्रका निश्चय विदित होते ही हज़रत फातिमाकी आँखें डबडबा आयीं। वे रुँधे हुए कण्ठसे बोलीं—'कहाँ जीलान, कहाँ बगदाद! उतनी दूर जाकर कौन-सा फायदा उठा लोगे? यहीं रहो बेटा, अल्लाहकी मर्जी होगी, तो दो रोटियाँ मिल ही जायँगी। तुम्हारे अब्बा स्वर्गवासी हो चुके हैं। अब तुम बगदाद चले जाओगे तो मैं यहाँ किसके भरोसे रहूँगी? इसलिये वहाँ जानेका विचार छोड़ दो। यदि यहाँ रहोगे तो तुम्हें देख-देखकर मेरी आँखें तो ठंढी हुआ करेंगी।' अब्दुल कादिर बड़े समझदार थे, कहने लगे—'कैसी बातें करती हो अम्मी! मरना-जीना तो संसारका नियम ही ठहरा, इसके लिये क्या दुखी होना। मानता हूँ कि यहाँ रहूँगा तो दो रोटियाँ जरूर मिल जायँगी, परंतु समाजमें कोई उच्च पद तो न मिलेगा। यदि खूब पढ़-लिख लूँगा तो समाजमें आदर-मान पा सकूँगा, भलीभाँति कमा-खा सकूँगा और तुम्हें भी कुछ सुख पहुँचा सकूँगा। जरा सोचो, उस समय अपने दिन कितनी खुशीसे कटेंगे।'

हजरत फ़ातिमा बड़ी बुद्धिमती थीं। अब्दुल कादिर-की बात उनकी समझमें आ गयी। उन्होंने बड़ी सावधानीसे अब्दुल कादिरकी फतुहीके भीतरी भागमें चालीस अशर्फियाँ रखकर सी दीं और जब वे चलने लगे, तब उनसे कहा—'बेटा! तुम्हारे अब्बा इतना ही धन छोड़ गये थे। इसे खूब सोच-समझकर अपने काममें लाना। तुमसे अधिक क्या कहूँ, तुम खुद समझदार हो। बस, इतना खयाल रखना कि चाहे जैसी मुसीबत आये, भूलकर भी झूठ न बोलना। जब बोलना, सच ही बोलना। सच बोलनेवालेपर हमेशा अल्लाहकी मेहरबानी बनी रहती है।'

उन दिनों न रेलें चलती थीं, न मोटरें, मार्गमें चोरों-डाकुओंका भी बहुत डर लगा रहता था। इसलिये व्यापारी बड़े-बड़े समूह बनाकर यात्रापर निकलते थे। उस समय व्यापारियोंका एक समूह ऊँटोंपर माल लादकर जीलानसे बगदादकी ओर जा रहा था। अब्दुल कादिर भी उसके साथ हो लिये। जब व्यापारियोंका समूह एक सुनसान जङ्गलमें पहुँचा, तब उसे अचानक हथियार-बंद डाकुओंने घेर लिया। उन्होंने व्यापारियोंकी मुश्कें बाँध दीं और उनका सारा माल लूट लिया; परंतु अब्दुल कादिर एक ओर निर्भय खड़े रहे।

उनको देखकर एक डाकू अपने साथियोंसे बोला—'क्या जाने, इस लड़केके पास भी कुछ धन हो।'

यह सुनकर दूसरा डाकू बोला—'नहीं जी, मैं तो समझता हूँ, उसके पास फूटी कौड़ी भी न होगी। देखो तो, बेचारा कितना गरीब जान पड़ता है।

इसपर तीसरा डाकू बोला—'परंतु उससे पूछ लेनेमें हर्ज ही क्या है ?'

अब क्या था, सब डाकुओंने अब्दुल कादिरको घेर लिया और एक डाकूने उनसे पूछा—'क्यों मियाँ लड़के, तुम्हारे पास भी है कुछ ?'

अब्दुल कादिरके मनमें आया कि कह दूँ, मेरे पास तो कुछ नहीं है; परंतु इतनेमें उनको माताका उपदेश याद आ गया और उन्होंने बेधड़क होकर उत्तर दिया—'हाँ, मेरे पास चालीस अशर्फियाँ हैं।'

यह सुन डाकू ठठाकर हँस पड़े और एक डाकू बोला—'चालीस अशर्फियाँ! दिल्लगी करते हो बेटा—पिटोगे!'

अब्दुल कादिरने कहा—'नहीं साहब! मैं दिल्लगी नहीं करता, देखिये।'—यह कहते-कहते उन्होंने फतुहीसे अशर्फियाँ निकालकर डाकुओंको दिखा दीं।

डाकू आश्चर्यसे आँखें फाड़-फाड़कर अब्दुल कादिरका मुँह ताकने लगे। अन्तमें उनके सरदारने अब्दुल कादिरके कंधेपर हाथ रक्खा और प्रश्न किया—'तुम सच क्यों बोले? क्या तुम्हें डर नहीं लगा कि हम तुम्हारी अशर्फियाँ छीन लेंगे?'

अब्दुल कादिरने उत्तर दिया—'भाई! मैं यह कुछ नहीं जानता। मुझसे तो अम्मीने कहा था कि बेटा, चाहे जैसी मुसीबत आये, बोलना हमेशा सच ही। सच बोलनेवालेपर हमेशा अल्लाहकी मेहरबानी रहती है। फिर मैं क्यों झूठ बोलता और क्यों अशर्फियाँ छिपाता?'

डाकू सन्नाटेमें आ गये। सरदारने उनसे कहा—'भाइयो! एक बच्चा अपनी माकी बात मानता और अल्लाहको खुश रखनेके लिये सच बोलता है। एक हम हैं, जो हमेशा झूठ बोलते और दूसरोंका माल लूटते हैं। सचमुच हमारे लिये यह बड़ी शर्मकी बात है। आओ, आजसे हम यह नीच कार्य छोड़ दें और हमेशा सच बोलनेकी आदत डालें।' यह कहते-कहते डाकू-सरदारने अब्दुल कादिरको हृदयसे लगा लिया और उनको अपनी ओरसे चालीस अशर्फियाँ दीं। फिर उसने व्यापारियोंकी मुश्कें खुलवा दीं और उनसे कहा—'भाइयो! हमारा अपराध क्षमा करो। अपना माल सँभालो और जहाँ जाना चाहो खुशीसे जाओ।'

अब्दुल कादिर व्यापारियोंके साथ बगदाद पहुँचे और विद्याभ्यास करनेके साथ-साथ भगवान्‌के स्मरणमें लीन रहने लगे। माताके स्वर्गवासके पश्चात् तो उन्होंने बगदादको ही अपना निवास-स्थान बना लिया और वहीं लगभग नब्बे वर्षकी आयुमें संसार-त्याग किया। उनके जीवनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे सदा विद्या-दान करते और परोपकारमें रत रहते थे। जब इन कार्योंसे अवकाश पाते थे, तब भगवान्‌के स्मरणमें डूब जाते थे। यही कारण है, जो मुसल्मान-लोग आजतक बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ उनका नाम लेते और उनके स्मरणमें हिजरीसन्‌के रबीउस्सानी महीनेकी ग्यारहवीं तारीखको बड़े प्रेमसे 'ग्यारहवीं शरीफ़' नामक त्यौहार मनाते हैं; क्योंकि वे इसी दिन स्वर्गवासी हुए थे।

मुसल्मान अब्दुल कादिरको 'हज़रत गौसुल आजम' या 'बड़े पीर' के नामसे भी याद करते हैं। उनका मक़बरा बगदादमें अबतक विद्यमान है। इसीलिये मुसल्मान उसे अपना तीर्थ मानते और हर साल वहाँ लाखोंकी संख्यामें पहुँचते हैं। बगदाद आजकल ईराक देशकी राजधानी है।

वीर बालक नेपोलियन

कोर्सिकाकी राजधानीमें एक बड़े बगीचेमें एक लड़का और लड़की खेलते थे। लड़केका नाम नेपोलियन और लड़कीका नाम इलाइजा था। खेलते-खेलते दोनों बगीचा पार करके बहुत दूर निकल गये। वहाँ इलाइजाकी असावधानीसे एक किसानकी लड़कीकी पकी जामुनकी टोकरी गिर गयी और जामुनके फल टूट गये। उस लड़कीको रोती देखकर इलाइजाने कहा—'भाई! चल हम भाग चलें, जिससे कोई जानने न पाये।'

'मैं नहीं जाऊँगा। देख, यह लड़की बहुत रोती है। हमने जो नुकसान किया है, वह इसको भर देना चाहिये। यह हमारा फर्ज है।'—ऐसा कहकर नेपोलियन उस लड़कीके पास गया। इलाइजा भी भाईका मतलब समझकर उस लड़कीके जो फल गिरे थे, वह बीनने लगी।

'घर जाकर मैं माको क्या कहूँगी? सारे फल बिगड़ गये, इससे मुझे तीन दिनोंकी खूराक मिलती।' इतना कहकर वह लड़की खूब रोने लगी। 'रो मत'—ऐसा कहकर नेपोलियनने तीन छोटे चाँदीके सिक्के उसके हाथमें दिये और फिर कहा—'मेरे घर चल, बाकी पैसे मैं तुझे दूँगा।'

इलाइजाने भाईके कानमें कहा—'भाई! तुम यह क्या कर रहे हो? माको खबर मिलेगी तो वह हमें सजा करके केवल रोटी और पानी ही देगी।'

भाईने जवाब दिया—'तो इससे क्या? फल नष्ट किये हैं, उसके दाम तो देने ही पड़ेंगे।'

इतनेमें दासीके बुलानेपर भाई और बहिन दौड़ गये। उनके पीछे अनजानी एक लड़कीको आते देखकर दासीने पूछा—'यह फिर कौन है?'

लड़केने जवाब दिया—'हमसे इसके कुछ जामुनके फल नष्ट हो गये हैं। मा उसकी कीमत देगी, ऐसा सोचकर मैं इसको साथ लाया हूँ।'

घरके दीवानखानेमें नेपोलियनकी मा मैडम लिटिसिया बैठी थी। नेपोलियन, इलाइजा, दासी और किसानकी लड़की वहाँ पहुँची। लड़कोंकी ओर मुँह करके वह बोली—'खेलने जाते वक्त तुमको मैंने कहा न था कि बगीचेके बाहर न जाना? अब तो बस तुमको खेलने ही न जाना होगा।'

'मा! इलाइजाको सजा न दो; मैं ही गया था और वह मेरे साथ गयी थी।' ऐसा कहकर नेपोलियनने अपना दोष स्वीकार किया। इलाइजा चुप होकर भाईको देखने लगी। मैडम लिटिसियाका भाई भी वहाँ बैठा था। वह लड़केकी इस सचाईसे खुश होकर उसका अपराध क्षमा करनेके लिये प्रार्थना करने लगा।

डरी हुई इलाइजाको अपने भाईके बर्तावसे हिम्मत मिली और वह मामाका हाथ पकड़कर बोली—'मेरी ही गलतीसे नुकसान हुआ है। भाईको कुछ न कहना।'

उसके मामाने पूछा—'तुमने क्या किया है इलाइजा?' लड़कीने सारी बातें कह सुनायी और स्वीकार कर लिया कि उसकी गलतीसे ही नुकसान हुआ है। उसकी आँखोंसे आँसू बहने लगे; परंतु अपराध स्वीकार करनेसे उसकी माने क्षमा कर दिया।

इसके बाद नेपोलियनने कहा कि 'मा! मैं एक वस्तु माँगता हूँ। तुम महीने-महीने खर्च करनेके लिये मुझे जो तीन सिक्के देती हो, वह मुझे दोगी?' माने तुरंत पुत्रकी प्रार्थना स्वीकार की और कहा—'अब डेढ़ महीनेतक तुझे कुछ भी नहीं मिलेगा।' नेपोलियनने वह सिक्का लेकर उस फलवाली लड़कीको दे दिया।

किसानकी लड़कीको पूरा दाम मिल गया, वह खुश हो गयी और पहले दिये हुए तीन चाँदीके छोटे सिक्कों-को वापस करने लगी; परंतु नेपोलियनने नहीं लिया। लड़कीका ऐसा अच्छा व्यवहार देखकर मैडम लिटिसिया बहुत खुश हुई और 'तेरी मा कहाँ है? तुम कितने भाई-बहिन हो? तेरा घर कहाँ है?'—आदि पूछने लगी। उसके बाद वे सब उसके घर गये और उसकी बीमार माके लिये दवा और खानेका प्रबन्ध कर दिया।

बालिका विक्टोरियाकी सचाई

बचपनमें ही माता-पिताने विक्टोरियाको उत्तम गुण एवं शील-सम्पन्न बनानेका पूरा प्रयत्न किया था। राजकुलमें विक्टोरिया ही एकमात्र संतान थी, अतः इंग्लैंडका राजमुकुट उसके सिरको भूषित करेगा, यह पहलेसे निश्चित था। यह प्रयत्न बड़ी सावधानीसे माता लुइसा करती थीं कि उनकी पुत्रीमें कोई दुर्गुण न आने पाये। विक्टोरियाको खर्चके लिये सप्ताहमें एक निश्चित रकम मिलती थी। विक्टोरिया उसके प्रायः खिलौने खरीदकर साथी बच्चोंको बाँट दिया करती थी। माताने उसे कह रक्खा था कि किसीसे कर्ज या उधार नहीं लेना चाहिये।

एक दिन अपनी आठ वर्षकी अवस्थामें विक्टोरिया अपनी शिक्षिकाके साथ बाजार गयी। खिलौनोंकी दूकानपर जाकर उसने एक छोटा-सा सुन्दर बक्स पसंद किया। उसके पैसे शिक्षिकाके पास रहते थे। शिक्षिका-ने बताया कि इस सप्ताहके पैसे समाप्त हो गये हैं। दूकानदारने कहा—'आप बक्स ले जाइये। पैसे पीछे आ जायँगे।'

बालिका विक्टोरियाने कहा—'मैं उधार नहीं लूँगी। मेरी माताने मुझे मना कर रक्खा है। आप बक्स अलग रख दें। अगले सप्ताह जब मुझे पैसे मिलेंगे, मैं उसे ले जाऊँगी।' एक सप्ताह बाद पैसे मिलनेपर विक्टोरियाने जाकर वह बक्स खरीद लिया।

एक दिन विक्टोरियाका मन पढ़नेमें नहीं लग रहा था। उसकी शिक्षिकाने कहा—'थोड़ा पढ़ लो! मैं जल्दी छुट्टी दे दूँगी।'

बालिकाने कहा—'आज मैं नहीं पढ़ूँगी।'

शिक्षिका बोली—'मेरी बात मान लो।'

बालिका मचल गयी—'मैं नहीं पढ़ूँगी।'

माता लुइसाने यह सुन लिया और पर्दा उठाकर उस कमरेमें आ गयीं और पुत्रीको डाँटने लगीं—'क्या बकती है।'

शिक्षिकाने कहा—'आप नाराज न हों, राजकुमारी-ने एक बार मेरी बात नहीं सुनी है।'

बालिका विक्टोरियाने तुरंत शिक्षिकाका हाथ पकड़कर कहा—'आपको याद नहीं है, मैंने दो बार आपकी बात नहीं मानी है।'

बचपनका यह उदार, स्थिर एवं सत्यके पालनका स्वभाव ही था कि अपने राज्य-कालमें महारानी विक्टोरिया इतनी विख्यात तथा प्रजाप्रिय हो सकीं।

बालिका हेलेन वाकरकी सत्यप्रियता

दो सौ साल पहलेकी बात है, स्काटलैंडके एक गरीब परिवारमें बालिका हेलेन वाकरका जन्म हुआ था। उस समय राज्यकी ओरसे एक कड़ा कानून प्रचलित था, जिसको तोड़नेपर मृत्यु-दण्ड दिया जाता था।

हेलेन अपनी छोटी बहिनको बहुत प्यार करती थी, सदा अपने पास रखती थी। इस छोटी बालिकाने कानून तोड़ दिया था। यद्यपि वह भोली-भाली और सीधी थी और उसने जान-बूझकर अपराध नहीं किया था, तो भी यह बात तो निश्चित थी कि उसे राजदण्ड भोगना पड़ेगा।

हेलेनके लिये अत्यन्त कड़ी परीक्षाका अवसर उपस्थित हुआ। यदि वह विचारपतिके सामने झूठी गवाही दे देती तो उसकी बहिनकी प्राणरक्षामें कुछ भी संदेह नहीं था और न किसीको पता ही चलता कि उसकी छोटी बहिनने कानून तोड़ा है।

पर हेलेनको यह पवित्र सीख मिली थी कि असत्य बोलनेसे बढ़कर दुनियामें दूसरा कोई पाप है ही नहीं। वह अच्छी तरह जानती थी कि इस महापातकका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है। उसने मनमें यह बात बैठा ली थी कि बहिनको बचानेके लिये मुझे अपने प्राणसे हाथ भले ही धोना पड़े, पर मैं झूठ नहीं बोलूँगी।

उसकी बहिनका स्वभाव दूसरे प्रकारका था। उसने हेलेनको झूठ बोलकर अपने प्राण बचानेके लिये उकसाना चाहा, बड़ी विनती की, पर हेलेनको निश्चयसे डिगाना आसान काम नहीं था। छोटी बहिनने कहा कि तुम्हारा हृदय पत्थर है, मैं मरने जा रही हूँ और तुम्हें न्याय और सत्यकी बात सूझ रही है। तुम्हारे थोड़ा-सा झूठ बोल देनेपर मेरी प्राण-रक्षा हो जायगी। हेलेन टस-से-मस नहीं हुई।

हेलेन झूठ भले न बोलती, पर छोटी बहिनको मृत्युके मुखसे बाहर निकालनेका एक रास्ता तो था ही। यह तो निश्चित था कि उसकी बहिन मृत्युकी सजा पाती, पर साथ-ही-साथ बादशाहसे क्षमा-दान पानेपर उसके प्राण बच सकते थे। सबसे टेढ़ा प्रश्न तो यह था कि स्काटलैंडके बादशाह सैकड़ों मीलकी दूरीपर लंदनमें रहते थे, हेलेन गरीब माता-पिताकी संतान थी। उस समय रेलगाड़ी नहीं थी, न सुरक्षित राजमार्ग थे। धनी लोग तो घोड़ागाड़ियोंपर राजधानीमें जाया करते थे। एक बालिका, पैदल चलकर इतनी दूरकी यात्रा किस तरह पूरी करेगी? यह एक विचित्र समस्या थी। उसे तो पैदल ही रास्ता पूरा करना था। वह चल पड़ी। अपने सत्यकी रक्षाके लिये वह रात-रातभर चलती रही, निर्जन वनोंमें अप्रशस्त पथों और भयंकर शीतमें परमात्माका स्मरण करती हुई वह लंदन जा पहुँची। उसके कोमल तलुवोंमें बड़े-बड़े छाले पड़ गये थे। अङ्ग-अङ्गमें भीषण पीड़ा हो रही थी, पर यह सब कुछ सत्यकी रक्षा और न्यायके प्रति पूर्ण भक्तिके लिये था।

हेलेन अपने पिताके एक मित्रके घर गयी। वे स्काटलैंडके निवासी थे। वे अरगिल्के सामन्त थे। उस समय बादशाह लंदनसे बाहर गये हुए थे, इसलिये हेलेनने सामन्तसे कहा कि मैं महारानीसे मिलना चाहती हूँ, आप इस काममें मेरी सहायता करें। सामन्तने सूखा-सा उत्तर दिया, पर इससे हेलेन निराश नहीं हुई। उसने धैर्यसे काम लिया। वह महारानीसे स्वयं मिली और अपने लंदन आनेका कारण बता दिया। सत्यकी विजय होती है, महारानी बालिका हेलेनकी सत्यनिष्ठा और राजभक्तिसे बहुत प्रसन्न हुई। उन्होंने उसकी बहिन-को क्षमा-दान दिया, हेलेनने कालके गालसे सत्यके बलपर अपनी बहिनको बाहर निकाल लिया। रा०

बालचरकी सचाई

एक बार एक स्कूलके विद्यार्थी परीक्षा देने बैठे थे। गणितका प्रश्नपत्र बहुत कठिन था। लड़कोंको उसका उत्तर नहीं आता था। अन्तमें किसी लड़केने प्रश्नपत्र परीक्षा-भवनसे किसी प्रकार बाहर भेज दिया और उसके

मित्रने सब प्रश्न हल करके उसके पास भेज दिये। उस कमरेमें जितने लड़के बैठे थे, सबने बाहरसे प्राप्त हुए हलको अपनी कापीमें उतार दिया। उन लड़कोंमें एक ऐसा लड़का भी था जो 'बालचर' था। उसे पहले तो बहुत संकोच हुआ; किंतु परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके लोभको वह दबा नहीं सका। उसने भी दूसरोंकी देखा-देखी उस हलकी नकल अपनी कापीमें कर दी और परीक्षाका समय पूरा होनेपर घर चला आया।

नियमानुसार प्रत्येक बालचर रातमें सोते समय अपने नियमोंको पढ़ता है। रातमें जब उस बालचरने सोनेसे पहले नियम पढ़े, तब पहले ही नियमको पढ़कर वह व्याकुल हो गया। नियमके अनुसार उसे सदा सत्यका पालन करना था और आज वह असत्य आचरण कर आया था। अपने कर्मपर उसे बहुत अधिक पश्चात्ताप हुआ। उसी समय उठकर उसने कपड़े पहने और पाठशालाके मुख्याध्यापक (हेडमास्टर) के घर जाकर उनका दरवाजा खटखटाने लगा। मुख्याध्यापकने रातमें उसके आनेका कारण पूछा। उसने सब बातें सच-सच कह दीं और बोला—'मुझसे बहुत बड़ा अपराध हुआ है। आप मुझे जो दण्ड उचित समझें, दें।'

मुख्याध्यापक बोले—'तुम्हें अपने-आप पर्याप्त दण्ड मिल चुका है। गणितके प्रश्नपत्रमें फिरसे तुम्हारी परीक्षा ले ली जायगी।'

उस बालककी गणितमें फिर परीक्षा ली गयी और वह अच्छे नम्बरोंसे उत्तीर्ण हुआ। दूसरे नकल करनेवाले विद्यार्थियोंको दण्ड मिला।

छोटे बालककी सचाई

दो छोटे बालक चले जा रहे थे। रास्तेके एक छोटे बगीचेमें रंग-बिरंगे फूल खिले हुए थे। फूलोंकी सुगन्धसे सारा रास्ता महक रहा था। यह देखकर एक लड़केने कहा—'इसमेंसे थोड़े-से फूल मुझे मिल जाते तो मैं ले जाकर अपनी बीमार बहिनको देता, वह बहुत खुश होती।' यह सुनकर दूसरेने कहा—'तो तोड़ क्यों नहीं लेते? तुम्हारा हाथ न पहुँचता हो तो लाओ मैं तोड़ दूँ, मैं तुमसे लंबा हूँ।' पहले लड़केने उसका हाथ पकड़कर कहा, 'नहीं-नहीं! ऐसा मत करना। चोरी बहुत बुरी चीज है। मैं मालिकसे माँग लूँगा।' इतनेपर भी दूसरे लड़केने गुलाबका एक गुच्छा तोड़ लिया। मालीने दूरसे उसे तोड़ते देख लिया और दौड़कर पकड़ लिया, मारा और ले जाकर कोठरीमें बंद कर दिया।

इधर पहले लड़केने दरवाजेपर जाकर पुकारा। अंदरसे एक दयालु बुढ़िया माईने आकर किवाड़ खोल दिये। लड़केने कहा—'माजी! कृपा करके मेरी बीमार बहिनके लिये मुझे दो-एक गुलाबके फूल दोगी?' वृद्धा स्त्रीने कहा—'बड़ी खुशीसे। बेटा! मैं तुम दोनोंकी बातें सुन रही थी, तू बड़ा अच्छा लड़का है, चल, तुझे गुलाबका बढ़िया गुच्छा तोड़ दूँ।'

बुढ़ियाने गुलाब तोड़ दिये और कहा—'बेटा! जब-जब तेरी बहिन फूल माँगे, तब-तब आकर ले जाया कर।' इतना ही नहीं, बुढ़िया लड़केकी बीमार बहिनसे और उसकी मासे मिलने गयी और उस लड़केको पढ़नेका खर्च देने लगी। जब लड़का पढ़ चुका, तब उसे अपने यहाँ नौकर रख लिया। सचाईका कितना सुन्दर नतीजा है!

बालक जार्ज वाशिंगटनकी परोपकारप्रियता एवं सत्यवादिता

एक पहाड़ी नदीके किनारे सबेरेके समय एक स्त्री बड़े करुणापूर्ण स्वरमें चिल्ला रही थी—'बचाओ ! मेरे बच्चेको बचाओ ।'

लोग दौड़े आये, पर कोई नदीमें कूदनेका साहस नहीं कर सका । नदीकी धारा बहुत तेज थी और भय था कि उसमें पड़नेपर चट्टानोंसे टकराकर हड्डियाँतक चूर-चूर हो जायँगी । इतनेमें एक अठारह वर्षका युवक वहाँ दौड़ा हुआ आया । उसने अपना कोट उतारकर पृथ्वीपर फेंक दिया और वह धम्मसे नदीमें कूद पड़ा ।

लोग एकटक देख रहे थे । अनेक बार वह नौजवान भँवरमें पड़ता जान पड़ा । कुछ बार तो वह बाल-बाल बचा चट्टानपर टकरानेसे । कुछ क्षणमें यह सब हो गया । अन्तमें वह उस डूबे हुए मूर्च्छित बालकको अपनी पीठपर लादे तैरता हुआ किनारे आ गया । दूसरोंकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंपर खेल जानेवाला युवक था—जार्ज वाशिंगटन ।

जार्ज वाशिंगटन अमेरिकाके एक किसानका लड़का था । वह जब छोटा था, तब एक दिन उसके पिताने उसे एक कुल्हाड़ी दी । उसे लेकर जार्ज बगीचेमें खेलने लगा । बगीचेमें जो पेड़ देखता, वह उसीपर कुल्हाड़ी चलाता और हँसता । उसके पिताने बड़ी कठिनतासे प्राप्त करके एक फलका वृक्ष लगाया था । जार्जने उसपर भी कुल्हाड़ी चला दी । इस प्रकार कुल्हाड़ीसे खेलकर वह खुशी-खुशी घर लौटा ।

इधर उसका पिता बगीचेमें पहुँचा तो उसने उस फलके पेड़को कटा देखा । उसे बहुत दुःख हुआ । उसने मालियोंसे पूछा, पर किसीने भी पेड़ काटना स्वीकार नहीं किया । तब घर आकर जार्जसे पूछा । जार्जने कहा—'पिताजी ! मैं खेल रहा था और पेड़ोंपर कुल्हाड़ी चला-चलाकर यह आजमा रहा था कि मुझसे पेड़ कटते हैं कि नहीं । उस पेड़पर भी मैंने ही कुल्हाड़ी मारी थी और वह उसीसे कट गया था ।'

पिताने कहा—'बेटा ! तुझे इस कामके लिये तो मैंने कुल्हाड़ी नहीं दी थी; परंतु तेरी सच्ची बातपर मैं बहुत खुश हूँ । इससे मैं तेरा कसूर माफ करता हूँ । तेरी सचावट देखकर मुझे बड़ी ही प्रसन्नता हुई है ।'

यही जार्ज वाशिंगटन बड़ा होकर अमेरिकाका प्रख्यात प्रेसिडेंट हुआ था ।

सत्यवादी बालक चार्ली

एक शहरमें चार्ली नामका एक लड़का गेंद उछालता हुआ जा रहा था । इतनेमें एक दवा बेचनेवालेकी दूकानके बड़े शीशेपर वह गेंद जा लगी और वह शीशा टूट गया । चार्ली वहाँसे भागा नहीं; क्योंकि वह बहादुर और सच बोलनेवाला लड़का था । वह तुरंत उस दूकानमें गया और दूकानदारसे बोला—'मेरी भूलसे आपकी दूकानका शीशा टूट गया है ।' दूकानदारने टूटे हुए शीशेको देखकर उसे बैठा देनेके लिये कहा । लड़का गरीब था, उसने कहा—'मेरे पास पैसा नहीं है, पर मैं आपकी मजदूरी करके इसका खर्च चुका दूँगा ।' इसके बाद उसने कई दिनोंतक दूकानदारके यहाँ काम किया । शीशेका पैसा वसूल हो जानेके बाद उस दूकानदारने कहा—'तू ईमानदार लड़का है, मैं तुझे कारिन्दाके रूपमें रखना चाहता हूँ ।' उस लड़केने उसकी नौकरी मंजूर कर ली और सुखसे अपनी गुजर करने लगा ।

ईमानदारी शुरूमें कुछ अखर जाती है; परंतु जो उसको पकड़े रखता है, उसको अन्तमें उसका अच्छा फल मिले बिना नहीं रहता ।

वचनका पक्का गड़ेरिया बालक

एक गाँवमें एक गड़ेरियेका लड़का एक पेड़के नीचे बैठकर आस-पासमें बकरियाँ चरा रहा था। थोड़ी देरके बाद उसने अपने पीछे एक खूबसूरत और अच्छा कपड़ा पहने बारह वर्षके लड़केको खड़े देखा। लड़केने समझा कि 'वह लड़का जंगलके रखवालेका होगा।' इससे उसने सलाम करके कहा—'साहब! फरमाइये।' वह लड़का बोला—'इस जंगलमें चिड़ियोंके घोंसले हैं?' गड़ेरियेका लड़का कुछ चकित होकर बोला—'हाँ साहब! जंगलमें ऐसे बहुतसे घोंसले हैं। आप जंगलके मालिकके लड़के हैं, तिसपर भी क्यों नहीं जानते।'

उस खूबसूरत लड़केने घोंसला देखनेकी इच्छा प्रकट की, तो वह गड़ेरियेका लड़का बोला—'मैंने आज एक बढ़िया घोंसला देखा है; परंतु मैं तुमको न दिखा सकूँगा।' इतनेमें उस लड़केका शिक्षक वहाँ आ पहुँचा और उस गड़ेरियेके लड़केकी बात सुनकर गुस्सेमें होकर बोला—'तू बड़ा मूर्ख है। कुँवरने कभी घोंसला देखा नहीं, इससे वह सिर्फ देखना चाहता है, वह उसको छुयेगा नहीं। इसलिये इसे घोंसला दिखाकर खुश कर दो।'

गड़ेरियेके लड़केने नम्रतासे कहा कि 'दुःख है कि मैं उसे दिखला नहीं सकता।' यह जवाब सुनकर उस लड़केके शिक्षकने कहा—'लड़के! तुमने बहुत लोगोंको खुश किया होगा, फिर राजकुँवरको क्यों नहीं खुश कर देता?' यह सुनकर लड़केने आश्चर्य करके टोपी उतारकर सिर झुकाया और फिर धीरेसे बोला—'क्या यह राजकुँवर हैं? मैं इनको देखकर बहुत ही खुश हूँ और अपनेको भाग्यशाली समझता हूँ; परंतु यदि खुद राजा साहब आयें तो भी मैं पक्षीका घोंसला नहीं दिखा सकूँगा; क्योंकि मेरा भाई-बन्धु मथुरा उस पर्वतपर बकरियाँ चराता है। उसने आज ही सबेरे मुझको एक बढ़िया घोंसला दिखलाया था, पर उस घोंसलेसे उसको काम होनेके कारण उसने कहा था कि 'दूसरे किसीको यह घोंसला न दिखलाना।' मैंने यह बात मान ली है, इससे मैं अपनी बात न तोड़ूँगा।' यह सुनकर शिक्षकने परीक्षा लेनेके लिये गिन्नियोंसे भरी एक थैली पाकेटमेंसे निकाली और कहा—'यदि तू उस सुन्दर घोंसलेको दिखा देगा तो यह सारी गिन्नियाँ तुझे मिल जायँगी और मथुराको इस बात-की खबर भी न होगी।'

यह सुनकर गड़ेरियेके लड़केने कहा—'मथुरा जाने या न जाने, पर यह तो विश्वासघातका काम होगा। ऐसा काम मैं नहीं करता। मैंने उसको जो वचन दिया है, उसे कभी न तोड़ूँगा।'

यह सुनकर शिक्षकने कहा—'इन गिन्नियोंकी कीमत तुम जानते हो? इससे तो बहुत ही चीजें खरीदी जा सकती हैं।'

गड़ेरियेके लड़केने कहा—'साहब! मैं जानता हूँ कि इन गिन्नियोंसे मेरे मा-बापकी गरीबी दूर हो जायगी, फिर भी मैं ऐसा न करूँगा। मेहरबानी करके आप जाइये, मुझे लोभमें न डालिये।'

यह सुनकर शिक्षकने कहा—'भले ही तू अपना वचन पाल, पर मैं तो इतना कहूँगा कि अपने मित्रके पास जाकर तू यदि उसकी आज्ञा ले ले तो यह सारी गिन्नियाँ तुझको दे दूँगा और तू चाहेगा तो दूसरी थोड़ी गिन्नियाँ तुम्हारे मित्रको भी मिल जायँगी।'

गड़ेरियेके लड़केने कहा—'हाँ, दोपहरको आज्ञा लेनेके बाद देखा जायगा।' इसके बाद राजकुँवर और शिक्षक अपने मुकामपर चले गये, वहाँ पता लगानेपर मालूम हुआ कि उस गड़ेरियेके लड़केका नाम जीवो है और उसका बाप बड़ा ही भला आदमी है। दोपहरको वापस आकर गड़ेरियेके लड़केने उनसे कहा—'यह है मेरा

मित्र इसने दिखानेकी आज्ञा दे दी है। अब चलो, मैं आपलोगोंको घोंसला दिखला दूँ।'

इसके बाद उसने राजकुँवरको घोंसलेके पास बुलाकर कहा—'देखो, वह मादा अंडेके ऊपर बैठी है, यही वह घोंसला है।' इतना कहना था कि मादा वहाँसे उड़ गयी और उसके बाद सबने पक्षीका बढ़िया गूँथकर बनाया हुआ घोंसला तथा उसके अंदरके अंडोंको आनन्दपूर्वक देखा। राजकुँवर भी देखकर बहुत प्रसन्न हुए। इसके बाद शिक्षकने वादेके अनुसार गिन्नियोंमेंसे कुछ मथुराको दी और बाकी सब जीवोको दी। गिन्नियाँ लेकर दोनों लड़के घर गये।

उस दिन राजा भी घूमते-फिरते अपने लड़केको देखनेके लिये जंगलमें उसी मुकामपर आ पहुँचा। उसके बाद सब लोग नाश्ता करने बैठे; तब राजकुँवरने पक्षीके घोंसलेकी सारी बात राजासे कही और उस गड़ेरियेके लड़केकी ईमानदारीकी बात भी कह सुनायी। राजा ये सारी बातें सुनकर बहुत ही खुश हुआ और फिर उसने उस लड़केको बुलाया। जब वह आया, तब राजाने बहुत ही प्रेमसे उससे कहा—'लड़के! तू पढ़ना चाहता है?' लड़केने कहा—'हाँ साहब! पर मेरा बाप बड़ा ही गरीब है।'

इसके बाद राजाने तुरंत ही उसके बापको बुलवाकर कहा—'इस लड़केके पढ़नेका खर्च राज्यकी ओरसे मिलेगा; इसलिये इसको पढ़नेके लिये राजधानीमें भेज दो।'

गड़ेरियेका लड़का राजधानीमें गया। वह मन लगाकर पढ़ने लगा और कुछ ही दिनोंमें बहुत कुछ पढ़ना सीख गया। पढ़-लिख लेनेके बाद उसको राजाने अपने यहाँ नौकर रख लिया। इससे वह बड़ा ही सुखी हुआ और नाम पैदा किया।

अपना वचन पालन करके दूसरोंका सुधार करनेवाला बालक

एक खलासीका लड़का एक जहाजपर नौकरी करता था। उस जहाजके सभी खलासी शराब पीते थे, पर वह लड़का शराब नहीं पीता था। एक दिन जहाजका कप्तान उसके ऊपर बहुत खुश हुआ और उसको एक अच्छी जातिका शराब पीनेके लिये दिया, पर लड़केने बिल्कुल इन्कार कर दिया। कप्तानने कहा—'तू क्या मेरा हुक्म नहीं मानेगा? न मानेगा तो कैदखानेमें डाल दूँगा।' लड़केने कहा—'मैं आपका हुक्म तोड़ना नहीं चाहता; परंतु शराबके लिये मुझे ऐसा करना पड़ता है।' इसके बाद कप्तानने आँखें दिखाकर कहा—'यदि तू यह शराबका प्याला नहीं पीयेगा तो अभी-का-अभी तुझे बेड़ी डाल दी जायगी और किनारे चलकर हुक्म-अदूलीका फैसला किया जायगा।' कप्तानके ये शब्द सुनकर वह लड़का रोता हुआ कहने लगा—'मैं आपका हुक्म तोड़ता हूँ, इसका कारण यह है कि मैंने अपनी माको शराब न पीनेका वचन दिया है। मेरे बाप शराब पीनेकी आदतसे मर गये, इसलिये मेरी माने मुझसे शराब न पीनेका प्रण कराया है।'

उस लड़केका यह उत्तर सुनकर कप्तानको आश्चर्य हुआ और वह बोला—'लड़के! तुम ठीक हो। मैं तुम्हारी टेक देखकर बहुत ही खुश हूँ। सब लोग तुम्हारे-जैसे हों, यह मैं चाहता हूँ। शराब जहर है, यह सब जानते हैं, पर आदत नहीं छोड़ते। इसलिये अब मैं भी आजसे शराब पीना छोड़ता हूँ।' इतना कहकर उसके पास जितनी शराबकी शीशियाँ थीं, सब वहींसे उसने समुद्रमें फेंक दीं।

धर्मप्रचारके लिये जीवनकी आहुति देनेवाला विद्यार्थी

आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व पटनेके पास नालन्दामें एक बड़ा विश्वविद्यालय था। भगवान् बुद्धने वहाँ रहकर व्याख्यान दिया था। भगवान् महावीर स्वामीने भी वहाँसे ज्ञान प्राप्त किया था और वहाँ अपने धर्मसम्बन्धी व्याख्यान दिये थे। उसकी ख्याति संसारमें फैली थी और आज जैसे हमारे देशके विद्यार्थी ज्ञानार्जनके लिये अमेरिका, यूरोप और जापान जाते हैं, उसी प्रकार उस समय चीन, कोरिया, श्याम, लंका, तुर्किस्तान और यूनान आदि देशोंसे विद्यार्थी नालन्दामें पढ़नेके लिये आते थे। प्रसिद्ध चीनी यात्री हुएन्साँग लिखता है कि—'संसारमें ऐसा एक भी देश नहीं है, जो नालन्दा-विश्वविद्यालयको न जानता हो, अथवा ऐसी कोई जाति नहीं है कि जिसका एक भी विद्यार्थी नालन्दामें शिक्षा लेकर महापण्डित न बना हो। ईसाकी सातवीं शताब्दीमें इस विद्यालयमें दस हजारसे अधिक विद्यार्थी पढ़ते थे और उनको हजारों अध्यापक पढ़ाते थे।'

उस विश्वविद्यालयमें पढ़नेके लिये हुएन्साँग चीनसे आये थे। यहाँ उनको विद्यार्थियों और अध्यापकोंद्वारा खूब सम्मान प्राप्त हुआ था। उनका व्यवहार हुएन्साँग-के प्रति इतना अच्छा था कि इस चीनी विद्वान्‌को एक दिन भी ऐसा न लगा कि वह परदेशमें है। हुएन्साँग जब पढ़कर स्वदेश लौट गया, तब बहुत-सी बुद्धमूर्तियाँ और बौद्ध-धर्मके ग्रन्थोंकी हस्त-प्रतिलिपि अपने साथ लेता गया। उसे विदा करनेके लिये उसके प्रेममें मुग्ध अनेकों विद्यार्थी सिन्धुनदीके मुहानेतक जानेके लिये तैयार हो गये; परंतु दुर्भाग्यसे ऐसा हुआ कि आधे रास्ते जहाज तूफानमें पड़ गया और उसमें पानी भरने लगा और डूबनेके लिये तैयार होने लगा। हुएन्साँगकी सारी मेहनतपर पानी फिरनेको आ गया। उस समय नालन्दाके विद्यार्थियोंने असाधारण साहसका परिचय दिया। उन्होंने सोचा कि यदि ये मूर्तियाँ और अमूल्य धर्मग्रन्थ नदीमें डूब गये तो हमारे धर्मका चीनमें प्रचार होनेका अवसर हाथसे चला जायगा। इसलिये अपना सर्वस्व त्यागकर उस स्मारककी रक्षा करनेका उन्होंने संकल्प किया और देहकी लालसा छोड़ अमर जीवनकी प्राप्तिके लिये वे नदीके प्रवाहमें कूद पड़े। देखते-देखते उनका पवित्र शरीर नदीतलमें प्रविष्ट हो गया। अपनी देह सरिताको समर्पण करके उन्होंने जहाजके भारको हल्का किया और हुएन्साँग और उन धर्मग्रन्थोंकी रक्षा हुई। आश्रमवासी विद्यार्थियोंका यह अपूर्व आत्मोत्सर्ग नालन्दा-विश्वविद्यालयके शिक्षणका प्रभाव था। इस प्रकार हमारे आर्यब्रह्मचारी विद्यार्थियों-के बलिदानसे ही चीन देशमें धर्मज्ञानका प्रसार हुआ।

स्वेच्छासे दिये गये इस प्रकारके बलिदानके उदाहरण तो आजके सुधरे देशोंके विश्वविद्यालयोंके इतिहासमें कदाचित् ही मिलेंगे।

धर्मवीर बालक गोविन्दसिंह

गुरुगोविन्दसिंहका बाल्य-जीवन वीरतापूर्ण घटनाओंकी पवित्र गाथा है। उन्होंने पौष शुक्ल सप्तमी, संवत् १७२३ वि० को पटनामें जन्म लिया था। उस समय उनके पिता गुरु तेगबहादुर पटनामें ही रहा करते थे। जन्मसे कुछ समय पूर्व वे पटनामें अपनी धर्मपत्नी गूजरी-जीको छोड़कर आसाम-यात्राके लिये चल पड़े। मार्गमें उन्हें पुत्रके जन्मका समाचार मिला, उन्होंने नवजातका नाम गोविन्दसिंह रक्खा। गुरु तेगबहादुर आनन्द-

पुर चले आये, नैना देवीके पर्वतके पास पहाड़ी राजाओंसे भूमि लेकर उन्होंने आनन्दपुर बसाया था। कुछ दिनोंके बाद उन्होंने अपनी पत्नी और पुत्रको भी वहीं बुला लिया। माता गूजरीजी और गुरु तेगबहादुरके संरक्षणमें बालक गोविन्दका पालन-पोषण आरम्भ हुआ। पिता बालकको सदा रामायण, महाभारत तथा अन्य ऐतिहासिक ग्रन्थोंसे वीरतापूर्ण कथाएँ सुनाया करते थे। बालक गोविन्द शास्त्र और शस्त्र दोनोंमें समान अनुराग रखते थे। सरस्वती और शक्ति दोनोंके उपासक थे। उनकी कविता करनेमें बड़ी रुचि थी। उनकी धार्मिक शिक्षा माता गूजरीजीकी देख-रेखमें हुई। माताके मुखसे गुरु नानक, अर्जुनदेव आदि अपने पूर्व गुरुओंकी उदात्त जीवन-गाथाएँ सुनकर उनका शरीर रोमाञ्चित हो जाया करता था। जब माता आँखोंमें अश्रु भरकर गुरु अर्जुनदेवकी बलिदान-गाथा सुनाती थीं, तब वीरोन्मादसे उत्तेजित होकर बालक गोविन्द नंगी तलवार लेकर धर्मकी रक्षाकी शपथ लिया करते थे। जिस समय वे माताके मुखसे सुनते कि मेरे दादा हरगोविन्दके ग्वालियर किलेमें बंदी होनेपर सिख उपवास करते और किलेकी दीवार चूमते थे, उनका मन श्रद्धासे विभोर हो उठता था। उनके वीरोचित स्वभाव और सदाचारपूर्ण चरित्रके निर्माणमें माता गूजरीका बहुत बड़ा हाथ था। वीर होते हुए भी बालक गोविन्दसिंह बड़े धैर्यवान् और गम्भीर तथा शान्त प्रकृतिके थे।

काश्मीर उन दिनों धर्मज्ञ तथा शास्त्रज्ञ पण्डितोंका प्रधान स्थान था। शासनने जब धर्मपर आक्षेप करना चाहा, अत्याचारने जब मनमानी करनी चाही, तब वहाँका एक शिष्टमण्डल गुरु तेगबहादुरसे मिलने आया और उसने उनसे धर्म-रक्षाकी माँग की। गुरु तेगबहादुरने कहा कि यह कार्य एक पवित्र आत्माका बलिदान चाहती है। बालक गोविन्दसिंहकी अवस्था इस समय केवल नौ सालकी थी। पिताकी सारगर्भित पवित्र वाणीने उनके हृदयमें स्वाभिमानके भावकी उत्तरोत्तर अभिवृद्धि की।

नौ सालके बालकने बड़े शीलसे कहा—'पिताजी, आज भरतखण्डमें आपसे बढ़कर पवित्र आत्मा दूसरा कौन हो सकता है। अयोध्या, मथुरा, काशी, रामेश्वरम्, पण्ढरपुर और अमृतसरकी पवित्र धार्मिक मर्यादाको आपके बलिदानकी अपेक्षा है।' गुरु तेगबहादुरने पुत्रको हृदयसे लगा लिया, भगवान्‌से गोविन्दके दीर्घायु होनेकी प्रार्थना की। नौ सालके बालकपर सिखोंके गुरु होनेका उत्तरदायित्व सौंपकर दिल्लीके लिये पाँच सौ शिष्योंके साथ प्रस्थान किया। 'सिर दिया, पर सार न दिया'—की असाधारण घटनासे सिखोंका ही नहीं, भारतका इतिहास गौरवपूर्ण हो उठा। तेगबहादुरके बलिदानके बाद बालक गोविन्दने सिखोंके रग-रगमें वीरताका मन्त्र फूँक दिया।

गुरु गोविन्दने अल्पवयस्क होनेपर भी सिखोंका उचित ढंगसे नेतृत्व किया। खालसा पंथके निर्माणसे सिखोंमें स्वार्थत्याग और वीरताके भाव भर दिये। 'वाह गुरुकी फतह'—गुरुकी जय हो—से धरती और आसमानका कण-कण, अणु-अणु पवित्र हो उठा।

अमर शहीद ये चार लाड़ले

(लेखक—आचार्य श्रीसूर्यदत्त शास्त्री काव्यतीर्थ, विशारद)

आज हम आपको चार अमर शहीद बच्चोंका स्मरण करा रहे हैं, जिन्होंने धर्मकी बलिवेदीपर अपनेको कुर्बान कर दिया था। वयस्कोंमें तो बुद्धि होती है, सोचने-समझनेकी ताकत होती है। आन-शान, इज्जत और प्रतिष्ठाका खयाल होता है। पर इन छोटे लाड़ले बच्चोंके खूनकी गरमी तो देखिये!

कितनी दृढ़ता है, कितना साहस है, कैसी उत्कट लगन है। भयका नाम-निशान नहीं, ओफ ! इन ६-८-१० वर्षके बच्चोंमें कितनी दिलेरी है! सम्भवतः इन्होंने दादाजी (गुरु तेगबहादुरजी) की कुर्बानी सुनी होगी और पिताजी (गुरु गोविन्दसिंह) तो अभी जूझ ही रहे थे। युद्धोंके और बहादुरोंके वातावरणमें तो ये बच्चे अभी पनपे ही थे। शाही-दरबारसे गुरु गोविन्दसिंहजीसे कई मुठभेड़ें हुईं। गुरु गोविन्दसिंहकी बढ़ती हुई शक्ति और शूरताको देखकर औरंगजेब झुँझलाया हुआ था। उसने शाही फरमान निकाले कि पंजाबके सभी सूबोंके हाकिम और सरदार तथा पहाड़ी राजा मिलकर आनन्दपुरको बर्बाद कर डालें और गोविन्दसिंहको गिरफ्तार करें या उनका सिर काटकर शाही दरबारमें हाजिर करें। फिर क्या था, आक्रमण कर दिया गया, घमासान युद्ध हुए। कहाँ राजाओंके दलके साथ शाही सेना और कहाँ मुट्ठीभर सिख-सरदारोंकी सेना! मुगल सेना बीस गुना अधिक थी; फिर भी सिखोंकी सेनाओंने कमाल किया। आनन्दपुरके किलेमें रहते हुए शाही सेनाको परेशान कर दिया। लड़ाई बहुत दिनोंतक चली। शाही सेना आनन्दपुर किलेको घेरकर जम गयी। इधर सिखोंके रसद-सामान घटने लगे, परेशानियाँ बढ़ गयीं। सिख-सेना भूखसे घबरा गयी। अपने साथियोंके विचारसे बाध्य होकर अनुकूल अवसर जान आधी रातमें सपरिवार गुरुजीने किला छोड़ दिया। शाही फौजको जब बादमें पता लगा, हलचल मच गयी, सेनाओंकी दौड़ होने लगी। उसी हो-हल्लेमें गुरुजीके परिवारवाले बिलग-बिलग हो भटक गये। गुरुजीकी माता अपने छोटे पोते—जोरावरसिंह तथा फतेहसिंह—के साथ दूसरी ओर निकल पड़ीं। साथमें उनका एक रसोइया था। रसोइयेके विश्वासघातके कारण ये लोग सेनाओंद्वारा गिरफ्तारकर सूबा सरहिंद भेज दिये गये। सूबा सरहिंदने गुरु गोविन्दके दिलपर चोट पहुँचानेके खयालसे उन दोनों छोटे बच्चोंको मुसल्मान बनानेका निश्चय किया।

भरे दरबारमें जोरावरसिंह और फतेहसिंह नामक बच्चोंसे वजीदखाँ नामक सूबाने कहा—'ऐ बच्चो! तुम-लोगोंको दीन इस्लामकी गोदमें आना मंजूर है या कतल होना?' दो-तीन बार पूछनेपर जोरावरसिंहने कहा—'कतल होना कबूल है।' वजीदखाँ बोला—'बच्चो! दीन इस्लाममें आकर सुखसे दुनियाकी मौज हासिल करो, अभी तो तुम्हारा फलने-फूलनेका समय है। मृत्युसे भी इस्लाम-धर्मको बुरा समझते हो? जरा सोचो! अपनी जिन्दगीको क्यों गँवा रहे हो?' जोरावरसिंह सिंह-शावकोंकी तरह हँसकर बोले—'हिंदूधर्मसे बढ़कर संसारमें कोई धर्म नहीं। अपने धर्मपर मरनेसे बढ़कर सुख देनेवाला दुनियामें कोई काम नहीं, अपने धर्मकी मर्यादापर मिटना तो हमारे कुलकी रीति है। हमलोग इस क्षणभंगुर जीवनकी परवा नहीं करते। मर-मिटकर भी धर्मकी रक्षा करना ही हमारा अन्तिम ध्येय है—चाहे तुम कतल करो या तुम्हारी जो इच्छा हो, करो।' इसी तरह भाई फतेहसिंहजीकी भी ओजस्वी वाणीसे शाही सल्तनत आश्चर्यचकित हो उठी। मन-ही-मन लोग हैरान हो गये। दरबारके सभी सूबोंने शाबाशी दी, पर अन्यायी शासकको यह कैसे सहन होता। काजियों एवं मुल्लाओंकी रायसे इन्हें दीवारमें चुनवानेकी बात तै हुई। जीते-जी इन्तजाम हो गया। एक गजकी दूरीपर दोनों भाई दीवारमें चुने जाने लगे। धर्मान्ध सूबेदारने कहा—'ऐ बालको! अभी तो तुम्हारे प्राण बच सकते हैं, कलमा पढ़कर मुसल्मान-धर्म स्वीकार कर लो, मैं तुम्हें नेक सलाह देता हूँ।' वीर जोरावरसिंहने गर्जना करते हुए कहा—'अरे अत्याचारी नराधम! अब तू क्या बकता है। मुझे तो आज खुशी है कि पञ्चम गुरु अर्जुनदेव और दादा-गुरु तेगबहादुरके मिशनको पूरा करनेके लिये मैं अपनी

कुर्बानी कर रहा हूँ। तेरे-जैसे अत्याचारियोंसे यह धर्म मिटनेका नहीं, बल्कि हमारे खूनोंसे इसके पौधे सींचे जा रहे हैं। आत्मा अमर है, इसे कौन मार सकता है।' दीवार शरीरको ढकती हुई ऊपर बढ़ती जा रही थी। छोटे भाई फतेहसिंहकी गर्दनतक दीवार आ गयी थी। वे पहले ही आँखोंसे ओट हो जानेवाले थे। जोरावरसिंहने देखा—भाई फतेह मुझसे पहले मृत्युका आलिङ्गन कर रहा है। उसकी आँखोंमें आँसूकी बूँदें आ गयीं। हत्यारे सूबेदारने समझा—अब मुलजिम नम्र हो रहा है; मन-ही-मन प्रसन्न हो वह बोला—'जोरावर! अब भी बता दो, तुम्हारी इच्छा क्या है? रोनेसे क्या होनेको है।' जोरावरने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—'आज मैं बड़ा अभागा हूँ कि अपने छोटे भाईसे पहले मैंने जन्म धारण किया, माताका दूध और जन्म-भूमिका अन्न-जल ग्रहण किया, धर्मकी शिक्षा ली; किंतु धर्मके निमित्त जीवन-दान देनेका सौभाग्य मेरेसे पहले छोटे भाई फतेहको प्राप्त हो रहा है। धन्य है यह! इसीलिये मुझे आज खेद हो रहा है कि मैं भाई फतेहके बाद अपनी कुर्बानी कर रहा हूँ।' देखते-देखते दोनों बालक दीवारोंमें चुन दिये गये!

उधर गुरु गोविन्दसिंहजीकी सारी सेनाएँ लड़ते-लड़ाते समाप्त हो चुकी थीं। बड़े पुत्र कुमार अजीतसिंहसे रहा नहीं गया, पिताके पास आकर वे बोले—'पिताजी! जीते-जी बंदी होना कायरता है, भागना बुजदिली है। इससे अच्छा है, लड़कर मरना। आप आज्ञा करें, मैं इन यवनोंके छक्का छुड़ा दूँ या मृत्युका आलिङ्गन करूँ।' वीर पुत्रकी वाणी सुन गुरुजीका कलेजा फूल उठा, वे बोले—'शाबाश! धन्य हो, पुत्र! जाओ, स्वदेश और स्वधर्मके निमित्त अपना कर्तव्यपालन करो। हिंदूधर्मको तुम्हारे-जैसे वीर बालकोंकी कुर्बानीकी आवश्यकता है।' फिर क्या था—बहादुर अजीत आठ-दस सिखोंके साथ युद्धस्थलमें जा धमका और देखते-देखते गाजर-मूलीकी तरह बड़े-बड़े सरदारोंका काम तमामकर खुद भी मर मिटा। ऐसे ही वीर बालकोंकी गाथासे भारतीय इतिहास अमर हो रहा है। उनसे छोटे भाई बालक जुझारसिंहसे कैसे बैठा रहा जाता। वह भी गुरु गोविन्दसिंहजीके पास जा पहुँचा और बोला—'पिताजी! बड़े भैया तो वीरगतिको प्राप्त हो गये, पर मैं क्या इस संसारमें ही रहूँगा? मुझे भी भैयाका अनुगामी बननेकी आज्ञा दीजिये।'

गुरुजीका हृदय भर आया, उन्होंने उठकर जुझारको गले लगा लिया। वे बोले—'जाओ, बेटा! तुम भी अमरपद प्राप्त करो; देवता तुम्हारी इंतजारी कर रहे हैं।' 'सत्य श्रीअकाल' कहकर बालक जुझार उछल पड़ा, उसके रोयें-रोयें फड़कने लगे। गुरुजीने उसे वीर-वेशसे सज्जित कर दिया और आशीर्वाद दिया।

वीर जुझार पिताजीको नमस्कारकर अपने कुछ सरदार साथियोंके साथ हाड़ी नामक घोड़ेपर सवार हो युद्धमें जा जूझे! जिधर ही जुझार जाता उधर ही मानो महाकालकी लपलपाती हुई जिह्वा सेनाओंको चाट रही है—ऐसा मालूम होता था। देखते-देखते मैदान साफ हो गया; परंतु अन्तमें प्यासा, थका-माँदा वह लाड़ला बालक भी मृत्युकी भेंट चढ़ गया! देखनेवाले दुश्मन भी धन्य-धन्य करने लगे। धन्य है यह देश! धन्य हैं वे माता-पिता, जिन्होंने इन लाड़ले चार पुत्ररत्नोंको जन्म दिया और देश, धर्म, जातिके नामपर उन्हें उत्सर्ग कर दिया!

अमर शहीद इन चारों वीर बालकोंकी जय हो!

धर्मवीर बालक मुरलीमनोहर

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

परम श्रीकृष्णभक्त वीर बालक मुरलीमनोहर कंदहारका रहनेवाला था। उसके बाप-दादे व्यापारके निमित्त भारतसे जाकर वहाँ बस गये थे। मुरलीमनोहरका जन्म कपूर खत्रियोंके कुलमें हुआ था। वह भगवान् श्रीकृष्णका सच्चा भक्त था। उसने बाल्य-कालमें ही गीताके सारे श्लोक कण्ठ कर लिये थे। प्रातःकाल

ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर शौचादिसे निवृत्त हो स्नान करनेके बाद उसका सबसे पहला कार्य होता था—नित्य गीता-पाठ । उसकी आत्मामें, रग-रगमें श्रीकृष्णका उपदेश भर गया था । मुरलीमनोहर नित्यकी तरह एक दिन नदीपर स्नान करने गया । कुछ मुसल्मान पठान भी वहाँपर नहा रहे थे । श्रीकृष्ण-भक्त मुरलीमनोहर अपने साथ भगवान् श्रीकृष्णकी प्रतिमा, माला, गीता, आसनी और धोती भी लाया था और उन्हें किनारेपर रखकर वह कमरतक जलमें जा अपने इष्टदेव श्रीकृष्णका स्मरणकर गोते लगाने लगा । सूर्यदेवकी ओर जलमें खड़ा होकर जप करने लगा । गुंडे पठानोंने उसे छेड़नेकी गरजसे उधरको जल उछालना आरम्भ किया । वह बेचारा शान्त रहा, चुप-चाप सहन करता रहा और श्रीकृष्ण-नाम-जपमें लगा रहा । मुसल्मान गुंडोंने जब देखा कि यह तो शान्त है, उन्होंने ज़्यादा छेड़ना प्रारम्भ कर दिया, यहाँतक कि अब जप करना भी कठिन हो गया । आखिर न रहा गया तो मुरलीमनोहरने उनको मना किया । वहाँ तो छेड़नेके लिये ही तो सब कुछ किया जा रहा था, बातों-ही-बातोंमें झगड़ा हो गया और बढ़ते-बढ़ते गाली गलौजतककी नौबत आ पहुँची । पठानोंने मुरलीमनोहरके घरवालोंको, रिश्तेदारोंको गालियाँ देनी शुरू कीं, जिस-पर भी वह शान्त रहा । अन्तमें गुंडोंने देवी-देवताओं-को गालियाँ देनी प्रारम्भ कीं और उसके मुखपर थूक दिया । मुरलीमनोहर सब कुछ सहन करता रहा; परंतु जब उसने अपने पूज्य प्रातःस्मरणीय देवी-देवताओंको गाली सुनी, तब वह सहन न कर सका । वह तो कट्टर सनातनधर्मी, गीताका पाठ करनेवाला और श्रीकृष्ण भगवान्का भक्त था । उसने अब मुसल्मानोंके हुजूमकी चिन्ता नहीं की और वीर हकीकतकी तरह इन मियाँओंको जैसे-का-तैसा उत्तर दिया । मुसल्मानोंने देखा यह काफ़िर ऐसे नहीं मानेगा । उस समय तो वे लोग खिसक गये, लेकिन दूसरे दिन उन्होंने भारी आफत खड़ी कर दी । मुरलीमनोहर घाटसे आकर कपड़े भी बदलने न पाया था कि मकानके चारों ओर अफ़गानी सिपाहियोंने घेरा डाल दिया और मुरलीमनोहरको बाहर निकलनेके लिये बाध्य होना पड़ा । बाहर आते ही वह गिरफ्तार कर लिया गया और कंदहारके गवर्नरके सामने पेश किया गया ।

कचहरीके बाहर हजारों पठान खड़े शोर-गुल मचा रहे थे और चाह रहे थे कि मुरलीमनोहरको फौरन कत्ल कर दिया जाय । मुरलीमनोहरपर इलजाम लगाया गया कि उसने पीरको गालियाँ दी हैं । अब गवाहोंके बयानात शुरू हुए । सफाईमें गवाहोंने बतलाया कि गाली-गलौजका प्रारम्भ मुसल्मानोंकी तरफसे हुआ, मुरलीमनोहरने सिर्फ उनकी बातोंको दुहरायाभर था । मुसल्मानोंके गवाहोंने भी उपर्युक्त बातें दुहरा दीं । लेकिन शरारत चाहे जिधरसे शुरू की गयी थी, प्रश्न तो यह था कि बालक मुरलीमनोहरको पीरको गालियाँ देनेकी हिम्मत कैसे हुई ? यह जुर्म ऐसा नहीं कि जो उसे जिंदा रक्खा जाय या उसे छोड़ा जाय । हाकिमने एक बार बालक वीर मुरलीमनोहरके सुन्दर लाजवाब नूरानी चेहरेकी ओर देखा । उसके मनमें तूफान खड़ा हो गया । परिस्थिति कहती थी कि उसे फौरन फाँसीके तख़्तेपर लटका दिया जाय और न्याय कहता था कि इसका कोई अपराध नहीं । मुरलीमनोहरके पिता तथा अन्य घरवाले अदालतमें खड़े हुए थे और उधर घरपर उसकी माता भगवान्की मूर्तिके सामने रो-रोकर प्रार्थना कर रही थी कि किसी प्रकार उसका पुत्र सकुशल बचकर आ जाय । मुरलीमनोहर निर्भय खड़ा था । अदालतमें चारों तरफ सन्नाटा था । गवर्नरने यह सोचकर कि इस बालकको फाँसी भी न लगे, बच जाय और इधर मुल्ला-मौलवी भी तूफान खड़ा न कर दें, उसने कहना प्रारम्भ किया—

'मुरलीमनोहर ! तुमने जो अपराध किया है, वह काबिले

बलिदानी बालक

रामसिंह, मुरलीमनोहर, फतेहसिंह-जोरावरसिंह, हकीकतराय

विलक्षण बालक

दयालु शतमन्यु-सिद्धार्थ, मेधावी वरदराज, विश्वासी कुमारिल

रहम नहीं। खुदाकी शानमें जो अलफाज तुमने इस्तेमाल किये हैं, वे किसी भी प्रकार माफ नहीं किये जा सकते। यदि तुम अल्लाहतालासे अपने गुनाहकी माफी माँगते हुए दीन इस्लाम कबूल कर लो तो तुम्हें रिहाई मिल सकती है और साथ ही तुम किसी ऊँचे ओहदेपर बिठाये जा सकते हो, तुम्हारी शादी हो सकती है और तुम ऐशो-आरामकी जिंदगी बिता सकते हो।'

वक्तव्य सुनते ही समस्त लोगोंकी आँखें मुरलीमनोहरकी तरफ उठ गयीं और सब उसका मुँह देखने लगे; लेकिन वीर मुरलीमनोहरकी पेशानीपर बल भी न आया, उसकी आँखें चमकने लगीं, चेहरा तमतमा उठा; उसने घृणासूचक हँसी हँसकर मुख फेर लिया। गवर्नरने चुप देखकर पूछा—'क्या इरादा है?'

मुरलीमनोहरने हँसकर उत्तर दिया—'हुजूर! मैं हिंदू हूँ, सनातन-धर्मी हूँ, श्रीमद्भगवद्गीताका नित्य पाठ करता हूँ, श्रीकृष्णका परम वैष्णव भक्त हूँ। मैं भला, मुसल्मान कैसे हो सकता हूँ? जिस श्रीकृष्णकी परम मोहनी मूर्तिने मेरे दिलपर कब्जा कर लिया है, उसे अब इस सिंहासनसे कैसे उतार सकता हूँ?'

गवर्नर—बेवकूफ बच्चे! किस वहममें पड़ा है? दीने-इस्लाम कबूल कर लेनेसे जिंदगी रहती है और जिंदगी रहनेसे बराश्त और बहिश्त—दोनों मिलते हैं।

मुरलीमनोहर—मैं अपने सर्वश्रेष्ठ धर्मको कदापि छोड़नेको तैयार नहीं। मैं मृत्युसे नहीं डरता। मरना तो एक-न-एक दिन है ही। मैं अपना धर्म छोड़कर अपना परलोक बिगाड़नेको कदापि तैयार नहीं हूँ।

गवर्नर—तुम गलती कर रहे हो। खैर आजके दिनकी तुम्हें मोहलत देता हूँ। खूब सोच-समझ लो। मालूम होता है कि कुफ्रने तुम्हारे दिलपर पूरा सिक्का जमा लिया है। तुम्हारी आँखोंपर कुफ्रका काला पर्दा पड़ा हुआ है। अब तुम्हारे लिये मौतके सिवा कोई दूसरी सजा दिखायी नहीं देती। तुम रातको विचार लो और कल आकर बताओ, क्या चाहते हो—मौत या इस्लाम?

अदालत उठ गयी और मुरलीमनोहरको बेड़ियोंमें जकड़कर जेलखानेमें बंद कर दिया गया। उसने रातको न कुछ खाया न पीया, सारी रात वह गीताका पाठ करता रहा। गीताके श्लोक सुरीली आवाजमें गाते-गाते तन्मय हो गया; उसे मालूम होने लगा कि मानो साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण सामने खड़े उसे उपदेश दे रहे हैं। उसने श्रद्धासे भगवान्‌के श्रीचरणोंमें सिर नवाकर प्रार्थना की कि 'प्रभो! बल दो, हृदयमें शक्ति दो। इस अन्यायके सम्मुख छाती तानकर खड़े होने तथा हिंदू-धर्मके सम्मानकी रक्षाके लिये हँसते-हँसते फाँसीपर चढ़ जानेकी शक्ति दो।'

प्रातःकाल हुआ। मुरलीमनोहरने नित्यकर्मसे निवृत्त हो स्नान किया और भगवान् श्रीकृष्णकी भक्तिमें तल्लीन हो गया। इतनेमें ही उसके माता-पिता, भाई-बहिन जेलके दरवाजेपर पहुँच गये और रोने-चिल्लाने लगे। मुरलीमनोहर जेलके दरवाजेपर आ गया। सब फूट-फूटकर रो रहे थे; पर क्या मजाल जो मुरलीमनोहरके मुखपर तनिक भी उदासी आयी हो। माताने कहा—'बेटा! तू काजीकी बात मान ले; तू जिंदा रहेगा तो मैं तुझे देख तो लिया करूँगी। मेरे कलेजेके टुकड़े, तुझे देखकर मेरा कलेजा तो ठंढा हो जाया करेगा।'

मुरलीमनोहर—'माताजी! तुम्हें मोह और ममताने यह कहनेको बाध्य किया है। यदि मेरे अन्तिम समयमें तुम्हें ये शब्द शोभा देते हैं तो फिर मुझे हिंदू-धर्मका यह अमृत क्यों पिलाया था? मेरे हृदयमें धर्मकी ज्योति क्यों जगायी थी? भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति करना क्यों सिखाया था? और मुझे सांसारिक भोगोंकी ओर क्यों न लगाया था? फिर तो मैं संसारके मिथ्या भोगोंपर धर्म, कर्म, भक्ति, ईमान, माता-पिता—सब

कुछ ही न्यौछावर कर देता; परंतु अब तो मेरे हृदयपर गीताके अद्भुत वचन और श्रीकृष्णकी मनमोहिनी मूर्ति विराजमान हो चुकी है। संसारकी सब वस्तुएँ यहींपर रह जाती हैं, धर्म ही परलोकमें साथ जाता है; फिर भला अपने धर्मको कैसे छोड़ दूँ ? मुझे गंदी नालियोंमें मत फेंको। मुझे प्रसन्नतासे श्रीकृष्ण-स्मरण करते हुए धर्म-रक्षाके लिये हँसते-हँसते मरने दो। काजी मेरे शरीरको काटेगा। तुम मेरी आत्माको न काटो।' जब जेलके अफसरोंको मालूम हुआ कि मुरलीमनोहर मुसल्मान होनेको किसी भी प्रकार तैयार नहीं है, तब उन्होंने उसी वक्त गवर्नरको खबर दी कि 'हुजूर! काफिर मुरलीमनोहरसे जब पूछा गया कि आज रातको तुमने क्या निश्चय किया ? तुम मृत्यु चाहते हो या इस्लाम कबूल करना ? तब उसने निर्भय होकर उत्तर दिया कि 'मुझे हिंदूसे मुसल्मान बनानेका ख़्याल दिमागमें लाना महज बेवकूफी और अपनी बुजदिलीका सबूत देना है।' गवर्नरने तैशमें आकर हुक्म सुनाया कि आज ही दोपहरको उसे कत्ल कर दिया जाय।

एक चौड़े मैदानमें हजारों लोग एकत्र हो गये। पठानोंको यह शौक था कि आज अपनी आँखोंसे एक काफ़िरको मौतके घाट उतारे जाते देखकर खुशी मनायेंगे। वह सनातन-धर्मी कट्टर वीर बालक मुरलीमनोहर ऊँची जगहपर खड़ा कर दिया गया। गवर्नरने हुक्म दिया—

सिर ऊँचा करो।

मुरलीमनोहरने हुक्मकी तामील की।

गवर्नरने पूछा—क्या तुम तैयार हो ?

मुरलीमनोहर—हाँ, मैं अपने धर्मपर मरनेके लिये तैयार हूँ। बंदूककी तीन गोलियाँ सीनेके पार हो गयीं। जालिम मुसल्मान पठानोंने लाशको पत्थर मार-मारकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया।

आज वीर हकीक़तका दृश्य सबके सामने था। श्रीकृष्णका प्यारा बालक मुरलीमनोहर श्रीकृष्णके लिये हँसते-हँसते बलिदान हो गया और हिंदू-बालकोंको धर्मपर मर मिटनेका पाठ पढ़ा गया। (संकलित)

वीर बालक रामसिंह

(लेखक—श्रीमदनगोपालजी सिंहल)

सम्राट् शाहजहाँके दरबारमें एक दिन उनके साले सलावतखाँने महाराज अमरसिंहका अपमान कर दिया और उस रणबंके राठौड़ने भी वहीं उसी समय सलावतखाँका सिर धड़से पृथक् कर डाला।

सारा दरबार काँप उठा, बादशाह शीघ्रतासे दरबार छोड़कर अन्तःपुरमें घुस गये और दूसरे मुसल्मान दरबारी भी इधर-उधर भागने लगे।

अमरसिंह भी दरबारसे बाहर आये और आगरेके किलेकी प्राचीरसे घोड़ेसहित कूदकर भाग निकले।

उनका एक साला था अर्जुन गौड़—मुसल्मानोंका गुलाम और बादशाहका चाटुकार। वह अमरसिंहके पास आया और कुछ समझा-बुझाकर उन्हें शाही महलमें ले गया।

वहाँ अमरसिंहके साथ धोखा किया गया और जैसे ही उन्होंने किलेमें प्रवेश किया, अर्जुन गौड़ने पीछेसे उनपर अचानक ही वार कर दिया और उनका वध कर डाला। शाहजहाँने जब यह सुना, तब मन-ही-मन प्रसन्न हुआ। उसने आज्ञा दी 'अमरसिंहकी लाशको नंगी करके शाही बुर्जपर डाल दिया जाय।'

आज्ञाका पालन किया गया और जिस राठौड़की वीरताकी धाक सारे राजपूतानेके घर-घरमें बैठी हुई थी, उसीकी लाश, पशुकी तरह नंगी, शाही-महलकी बुर्जपर

डाल दी गयी और चील-कौवे आ-आकर उसपर बैठने लगे।

× × ×

राठौड़की हत्याका समाचार उसके महलमें पहुँचा तो कोहराम मच गया।

'मैं सती हूँगी, बाँदी! तैयारियाँ करो।' रानीने दृढ़तापूर्वक कहा।

'किंतु रानीजी!' बाँदीने कहा। 'महारावका शरीर तो अभीतक शाही किलेमें ही है।'

'तो जैसे भी हो, उसे लानेका प्रबन्ध करो।' रानीने आज्ञा दी और उनके महलमें जो भी थोड़े-बहुत राजपूत सैनिक थे, वे शाही महलकी ओर चल पड़े। मुसलमानोंने उनका रास्ता रोका और वे सभी वहाँ मारे गये।

'हः हः हः हः' शाहजहाँ हँस पड़ा। 'यही थी राठौड़की वह ताकत, जिसके बलपर उसने सरे-दरबार ऐसी गुस्ताखी करनेकी जुर्रत की थी। आज उसकी लाशको चील-कौवे खा रहे हैं और कोई भी माका लाल उसके खानदानमें ऐसा नहीं, जो उसे किलेसे निकालकर ले जाय!'

और बादशाहका यह अट्टहास दूर-दूरतक गूँज उठा।

असहाय और बेबस रानी तिलमिला उठी। उसने अपनी सहायताके लिये न जाने किस-किसके आगे अपना आँचल फैलाया; किंतु व्यर्थ, परिणाम कुछ भी न निकला। कौन उसकी सहायता करके मुगल-सम्राट्की क्रोधाग्निमें पड़कर भस्म होता।

रानी पागल हो उठी—'लाओ मेरी तलवार, बाँदी! और चलो मेरे साथ; मैं स्वयं महारावकी लाश लाऊँगी किलेसे निकालकर।'

और सचमुच ही रानीने अपनी तलवार उठा ली। सारा रनिवास अस्त्र-शस्त्रोंकी झंकारोंसे गूँज उठा।

रानीने देखा एक नवयुवक धीरे-धीरे उसकी ओर बढ़ रहा है, उसके हाथमें नंगी तलवार है और मुखपर गम्भीरता।

'ठहरो, चाची! मेरे रहते हुए तुम्हें इन महलोंसे बाहर निकलनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी।' उसने कहा।

'कौन, रामसिंह! मेरा बेटा!' रानी गद्गद हो उठी। रामसिंहने आगे बढ़कर रानीके पैर छुये।

'आशीर्वाद दो, चाची! मैं अपने उद्देश्यमें सफल होऊँ। मैं राठौड़-वंशकी प्रतिष्ठाको अपने प्राण देकर भी बचाऊँगा।' कहते-कहते रामसिंहने अपनी तलवार रानीके पैरोंपर रख दी।

'जाओ, बेटा! मा दुर्गा तुम्हारी सहायता करेंगी।' कहते-कहते रानी रो पड़ी।

'रोओ नहीं, चाची! मैं अभी आया।' रामसिंहने कहा और लौट पड़ा।

अमरसिंह राठौड़के एक बड़े भाई थे जसवन्तसिंह, रामसिंह उन्हींका वीर पुत्र था—अपने पिता और चाचाके समान ही वीर और रणबाँकुरा। उसने अपने जीवनमें अभीतक पंद्रह बार ही वसन्त देखा था, वह इन दिनों सोलहवें वर्षमें चल रहा था।

× × ×

नवयुवक राठौड़ने अपने घोड़ेकी बागडोर मुगलोंके किलेकी ओर मोड़ दी और उसे सरपट दौड़ा दिया। कुछ ही क्षणोंमें वह जा पहुँचा किलेके सिंह-द्वारपर।

फाटक खुला हुआ था, उसका घोड़ा तीरके समान उसमें प्रवेश कर गया। द्वाररक्षक उसे पहचान भी न सके।

किंतु बुर्जके नीचे पहुँचते-पहुँचते उसने देखा कि वहाँ सैकड़ों मुसल्मान खड़े हैं, मरने-मारनेके लिये।

तलवारें चलने लगीं। रामसिंहका सारा शरीर रक्तसे

रञ्जित हो गया। वह घोड़ेकी लगाम मुँहसे थामे दोनों हाथोंसे तलवार चला रहा था।

सहस्रों तलवारोंकी धारोंके बीचसे होता हुआ और सैकड़ों मुर्दोंकी छातियोंपर चढ़ता हुआ रामसिंह बुर्जपर चढ़ गया। अमरसिंहकी लाश उठाकर उसने अपने कंधेपर रक्खी और नीचे उतरकर फिर अपने घोड़ेपर चढ़ गया।

इससे पहले कि उस बुर्जके नीचे मुगलोंकी और सेनाएँ पहुँचतीं, रामसिंह अपने घोड़ेकी बागडोर मोड़ चुका था। वह जिस प्रकार अंदर घुसा था, उसी प्रकार बाहर निकल गया। पीछे 'मारो, मारो' 'पकड़ो, पकड़ो' की ध्वनि ही होती रह गयी।

रानी द्वारपर खड़ी अपने वीर भतीजेकी प्रतीक्षा कर रही थी। रामसिंह आ पहुँचा, वह अमरसिंहकी लाश अपने हाथोंमें लिये हुए आगे बढ़ा। महलके प्राङ्गणमें चिता पहलेसे ही तैयार थी। रामसिंहने आगे बढ़कर अपने चाचाकी लाश उसपर रख दी।

और रानी जब सती होनेके लिये चितापर चढ़ने लगी, तब अपने पैरोंमें पड़े रामसिंहको उठाते हुए उसने कहा—'बेटा! तैंने मेरी प्रतिष्ठाकी रक्षा की है, भगवान् युगोंयुग तेरी प्रतिष्ठाकी दिन-दिन वृद्धि करते रहेंगे।'

वीर बालक हकीकतराय

(लेखक—श्रीमदनगोपालजी सिंहल)

शाहजहाँके शासनकालकी बात है।

स्यालकोटके एक छोटे-से मदरसेमें हकीकतराय पढ़ता था। एक लंबी डाढ़ीवाले मौलवी साहब वहाँ बच्चोंको पढ़ाया करते थे।

एक दिन मौलवी कहीं बाहर गये तो उनकी अनुपस्थितिमें बच्चे खेलने-कूदने लगे। हकीकतराय इस खेल-कूदमें सम्मिलित नहीं हुआ, इसपर दूसरे बच्चोंने उसे छेड़ा। एक मुसलमान बच्चेने हकीकतरायको गाली दी, दूसरेने सारे हिंदुओंको और तीसरेने हिंदुओंके देवी-देवताओंको—भगवती दुर्गाको।

इसपर हकीकत चुप न रह सका। वह बोल उठा—'अगर मैं भी बदलेमें यही शब्द कहूँ तो तुम बुरा तो नहीं मानोगे?'

'तो क्या तू ऐसा भी कर सकता है?' एकने पूछा।

'क्यों नहीं?' हकीकतने उत्तर दिया। 'मुझे भी तो भगवान्ने जबान दी है।'

'तो कहकर देख!' दूसरेने कहा।

और हकीकतरायने वही शब्द दुहरा दिये। आखिर बच्चा ही तो था और साथ ही अपने धर्मका पक्का भी।

चारों ओर सन्नाटा छा गया, मानो प्रलय हो गयी हो।

मौलवी साहब आये तो मुसल्मान बच्चोंने नमक-मिर्च लगाकर सारी घटना उन्हें सुनायी।

'हकीकत! क्या सचमुच ही तैंने यह सब कुछ कहा है?' मौलवी साहबने आँखें फाड़ते हुए पूछा।

'हाँ!' हकीकतने दृढ़तासे उत्तर दिया। 'लेकिन उससे पहले इन सबने भी तो मेरी देवी भगवतीके लिये वही सब कुछ कहा था।'

मौलवी साहबने इस्लामकी तौहीनका यह मामला स्यालकोटके हाकिम अमीर बेगकी अदालतमें भेज दिया। वहाँ भी हकीकतरायने सब कुछ स्वीकार कर लिया।

हाकिमने मुल्लाओंकी सम्मति ली। उन्होंने बताया 'इस्लामकी तौहीन करनेवालेके लिये शरहमें मौतकी सजा लिखी है।'

हकीकतरायका बूढ़ा बाप रो पड़ा। उसकी मा बिलखने लगी। उसकी नन्ही-सी पत्नी बेहोश होकर गिर पड़ी। हकीकतरायकी अवस्था उस समय तेरह वर्ष की थी।

हाकिमके निर्णयके विरुद्ध लाहौरमें अपील भी की गयी; किंतु वहाँसे भी वही फैसला बहाल रहा।

हकीकत जेलके सींखचोंके पीछे बैठा था। वह निश्चिन्त था, गम्भीर था और प्रसन्न भी। मौतका फैसला सुनकर उसके हृदयमें घबराहट नहीं थी।

काजी, मुल्ला और उसके बूढ़े मा-बाप सींखचोंके बाहर आकर खड़े हो गये।

काजीने कहा—'हकीकत! अगर तू मुसलमान बन जाय तो मरनेसे बच सकता है।'

हकीकतरायका चेहरा तमतमा उठा। वह कुछ बोलना ही चाहता था कि उसके बूढ़े पिता भागमल हिचकियाँ लेते हुए कह उठे—'हाँ-हाँ बेटा, मुसल्मान बन जा; अगर तू जीवित रहेगा तो हमारी आँखें तुझे देखकर ठंढी तो होती रहेंगी।'

'आप भी यही कहने लगे, पिताजी! तो क्या मैं मुसल्मान बन जानेपर फिर कभी नहीं मरूँगा? और अगर एक-न-एक दिन मरना ही है तो फिर दो दिनके जीवनके लिये धर्म छोड़नेसे क्या लाभ?'

'बड़ा लाभ होगा तुम्हें हकीकत!' काजीने कहा। 'शाही दरबारमें इज्जत, बेशुमार दौलत, और·········।'

'बस-बस, इतना ही?' हकीकतराय हँस पड़ा। 'इतने भरके लिये ही मैं अपना धर्म छोड़ दूँ, काजी साहब? धर्म कभी बदला नहीं जाता, वह तो अटल होता है। जीवन-भरके लिये वह हमारे साथ रहता है और मरनेपर भी हमारे साथ ही जाता है।'

माता-पिता और सम्बन्धियोंने बहुतेरा समझाया; किंतु हकीकतराय टस-से-मस न हुआ।

× × ×

इस्लामका अपमान करनेके अपराधमें हकीकतरायका सिर काट देनेका आयोजन खुले मैदानमें किया गया था। मैदान हिंदू और मुसल्मान स्त्री-पुरुषोंसे खचाखच भरा हुआ था।

जिस समय उस मैदानमें हकीकतराय लाया गया, वह तलवारोंकी छायामें था, हथकड़ी-बेड़ियोंमें जकड़ा हुआ था, मुसल्मानी फौजोंसे घिरा हुआ था।

काजीने एक बार फिर उससे मुसल्मान हो जानेके लिये कहा और उसने फिर उसी दृढ़तासे उत्तर दिया—'मैं धर्म नहीं छोड़ सकता, दुनिया छोड़ सकता हूँ।'

मुल्लाने काजीको संकेत किया और काजीने जल्लादको।

जल्लादने तलवार उठायी और हकीकतने सिर झुका दिया। जल्लादने उस फूल-जैसे बच्चेको अपनी तलवारके नीचे देखा तो उसका पत्थर-जैसा हृदय भी पिघल गया। तलवार उसके हाथसे छूटकर गिर पड़ी।

काजी और मुल्लाओंकी त्योरियाँ चढ़ गयीं। सारी भीड़में हलचल-सी मच गयी। किंतु एक क्षण बाद ही सबने देखा कि हकीकतराय स्वयं तलवार उठाकर जल्लादके हाथोंमें दे रहा है। 'घबराओ नहीं, जल्लाद! लो, अपने कर्तव्यका पालन करो।'

जल्लादने तलवार थामी और हकीकतकी झुकी हुई गर्दनपर दे मारी। एक छोटी-सी किंतु तीखी रक्तकी धार पृथ्वीपर बह निकली।

धर्मके दीवाने पिता-पुत्र

अठारहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध चल रहा था। मुगलसम्राट् देशका शासन कर रहे थे। भाई शाहबेग-सिंह लाहौरके कोतवाल थे उन दिनों। वे अरबी और फारसीके बड़े विद्वान् थे और साथ ही अपनी योग्यता और कार्यकुशलताके कारण हिंदू होते हुए भी सूबाके परम विश्वासपात्र भी थे।

वे मुसल्मानोंके नौकर थे, फिर भी लाहौरके हिंदू और सिक्ख उनका बड़ा सम्मान करते थे। उन्हें भी

अपने धर्मसे प्रेम था। और यही कारण था कि मुसल्मान मुल्ला और मौलवी मन-ही-मन उनसे जलने भी लगे थे। इन्हीं शाहबेगसिंहका एकमात्र पुत्र था—शाहबाजसिंह। शरीरका सुन्दर और बुद्धिका मेधावी और साथ-ही-साथ हिंदूधर्मका प्रेमी भी। उसकी अवस्था उन दिनों १५-१६ वर्षसे अधिक न थी। एक मौल्वी उसे फ़ारसी पढ़ाया करते थे।

वे मौलवी दैनिक ही उससे इस्लामकी प्रशंसा करते और साथ ही हिंदू-धर्मको इस्लामसे नीचा बताते। आखिर वह उसे कबतक सुनता? एक दिन वह मौलवीसाहबसे भिड़ ही तो पड़ा; किंतु ऐसा करते समय वह यह न समझ सका कि इस्लामी शासनमें ऐसा करनेका क्या परिणाम हो सकता है। अभी नासमझ ही था न!

× × × ×

मौल्वी शहरके काजियोंके पास पहुँचा और झूठी-सच्ची बातें बनाकर उनकी धर्मान्धताको जाग्रत् करनेमें सफल हो गया। सूबाके कान भरे गये और शाहबाजसिंह-पर इस्लामकी निन्दाका आरोप घोषित कर दिया गया।

पुत्रके साथ ही पिता भी बंदी बनाकर सूबाके सामने उपस्थित किया गया।

सूबाने न्यायके लिये उन्हें काजियोंके हवाले कर दिया। काजी तो पहलेसे ही उनके लिये निर्णय किये बैठे थे। घोषणा की गयी—'पिता-पुत्र दोनों इस्लामको स्वीकार करें, अन्यथा मौतके घाट उतार दिये जायँ।'

जिसने भी सुना, सन्नाटेमें रह गया। शाहबेगसिंह-जैसे सर्वप्रिय हाकिमको यह दण्ड और वह भी उनके पुत्रके अपराधके नामपर! सबके नेत्रोंसे अश्रु-प्रवाह होने लगा; किंतु····

शाहबेगसिंह हँस रहे थे। 'कितने सौभाग्यशाली हैं हम—इसकी हमें कल्पना भी न थी, बेटा!' उन्होंने शाहबाजसिंहसे कहा। 'मुसल्मानोंकी नौकरीमें रहते हुए हमें अपने धर्मकी वेदीपर बलिदान होनेका अवसर मिल सकेगा, इसे हम सोच भी कैसे सकते थे। किंतु प्रभुकी महिमा अपार है; वह जिसे गौरव देना चाहे, उसे कौन रोक सकता है?'

शाहबाजसिंहका भी सुन्दर और गोरा मुखमण्डल धर्म-के तेजसे देदीप्यमान हो उठा।

'डर तो नहीं जाओगे, बेटा?' पिताने पूछा।

'नहीं-नहीं पिताजी!' पुत्रने उत्तर दिया। 'आपका पुत्र होकर मैं मौतसे डर सकता हूँ? कभी नहीं। देखना तो सही, मैं किस प्रकार हँसते हुए मौतको गले लगाता हूँ।'

पिताकी आँखें चमक उठीं। 'मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी, बेटा!' उन्होंने कहा और पुत्रको अपनी छातीसे चिपटा लिया।

× × × ×

पिता और पुत्रको जेलकी कोठरियोंमें पृथक्-पृथक् रक्खा गया।

मुसल्मान शासक कभी पिताके पास जाते और कभी पुत्रके पास, उन्हें मुसल्मान बन जानेके लिये प्रोत्साहन देने-के लिये; किंतु दोनोंसे एक ही उत्तर मिलता—'मुसल्मान हो जानेसे मर जाना कहीं उत्तम है।'

मौलवी साहब भी अपनी दाढ़ीपर हाथ फेरते हुए शाहबाजसिंहके पास पहुँचे।

'बच्चे! तेरा बाप तो सठिया गया है, न जाने उसकी अक्लको क्या हो गया है। मानता ही नहीं। लेकिन तू तो समझदार है। अपना यह सोने-जैसा जिस्म क्यों बरबाद करता है, यह मेरी समझमें नहीं आता।' उन्होंने कहा।

'यह जिस्म कितने दिनका साथी है, मौलवी साहब!' शाहबाजसिंहने बड़ी सरलताके साथ उत्तर दिया। 'आखिर एक दिन तो जाना ही है इसे, फिर इससे प्रेम ही क्यों

किया जाय। जाने दीजिये इसे, धर्मके लिये जानेका अवसर फिर शायद जीवनमें इसे न मिल सके।'

मौलवी साहब अपना-सा मुँह लेकर लौट गये।

× × × ×

शाहबेगसिंह और शाहबाजसिंहका वध किस प्रकार किया जाय, इसका निर्णय करनेके लिये फिर काजियोंकी न्यायशाला बैठी। बहुत देर विचार चलते रहनेके पश्चात् निर्णय सुना दिया गया, जिसके अनुसार पिता और पुत्र चर्खेपर चढ़ाये गये।

मुसल्मान जल्लाद चर्खेको घुमाने लगे। चट-चट करके दोनोंके शरीरकी हड्डियाँ टूटने लगीं। स्थान-स्थानसे शरीरकी खालें फट गयीं और उनसे रक्तकी धाराएँ प्रवाहित होने लगीं।

'अब भी मान जाओ, शाहबेगसिंह! इस्लाम कबूल कर लो, तुम्हारी जान बख्शी जा सकती है।' सूबाने चीखकर कहा; किंतु धर्मके दीवानोंने जैसे उसे सुना ही नहीं।

चर्खे चल रहा था, ऊपरसे कोड़ोंकी मार भी पड़ रही थी; किंतु मरनेवालोंके मुखपर अभी भी हँसी ही खेल रही थी, मानो उनपर कोई पुष्पोंकी वर्षा कर रहा हो।

और इसी प्रकार हँसते-हँसते दोनोंने सदैवके लिये अपने नेत्र बंद कर लिये! म० सिं०

बालक कुमारिलकी धर्मनिष्ठा

(लेखक—पं० श्रीमायादत्तजी पाण्डेय शास्त्री, साहित्याचार्य, वेदतीर्थ, वेदान्तकेसरी)

काशी प्राचीन कालसे संस्कृतविद्याका केन्द्र रही है। दूर-दूरसे भगवती सरस्वतीके उपासक काशीमें बाबा विश्वनाथकी शरण लेने आया करते थे। श्रीयज्ञेश्वर भट्ट एवं माता चन्द्रगुणाने अपने प्रतिभाशाली पुत्र कुमारिलको उपनयनके पश्चात् अध्ययनके लिये काशी भेज दिया। कुमारिलकी अवस्था उस समय बारह वर्षकी थी। जब एक दिन वे एक राजप्रासादके नीचेसे जा रहे थे, सिरपर बड़ी-सी शिखा, ललाटपर भस्मका त्रिपुण्ड्र, हाथमें पलाशदण्ड, कटिपर मेखलामें लगी कौपीन, बगलमें मृगचर्म, पैरोंमें खड़ाऊँ—बड़ा तेजस्वी था वह बालब्रह्मचारी; राजप्रासादसे राजकुमारीने कुमारिलको देखा। उसके मनमें आया कि 'देशमें बौद्धधर्मके नामपर भ्रष्टाचार बढ़ता जा रहा है। अब थोड़े ही दिनोंमें ऐसे ब्रह्मचारी नहीं दीखेंगे। कितने दुःखकी यह बात है!' राजकुमारीके नेत्रोंसे टप-टप आँसू गिरने लगे। आँसूकी बूँदें कुमारिलकी पीठपर पड़ीं। चौंककर उन्होंने ऊपर देखा और बोले—

अश्रूणि मुञ्चसि कथं वद वामनेत्रे।'

'सुन्दर राजकुमारी! तुम आँसू क्यों बहा रही हो?' राजकुमारीने उत्तर दिया—

'कोऽद्योद्धरिष्यति पुनर्भुवि वेदधर्मान्।'

'आज ऐसा कौन है, जो वैदिक धर्मका उद्धार करेगा!' यह सुनकर बड़े दृढ़ स्वरमें कुमारिलने कहा—

एवं हि मा रुदिहि धर्मपरायणे त्वं
त्वां मोदयिष्यति कुमारिल एष वाणी॥

'धर्मपरायण राजकुमारी! यदि यही बात है तो तुम रोओ मत। यह ब्रह्मचारी कुमारिल तुम्हें आनन्दित कर देगा।'

उस समय बिहारमें तक्षशिला बौद्धधर्मका केन्द्र थी। इस महाविद्यालयके स्नातकोंका देशमें सर्वत्र सम्मान था। वैदिक धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये बौद्धधर्मका खण्डन आवश्यक था और जबतक किसी धर्मका अध्ययन न किया जाय, उसका खण्डन कैसे किया जा सकता है। कुमारिल काशीसे तक्षशिला आये। उनके-जैसे प्रतिभा-

शाली बालकका कौन-सा विद्यालय स्वागत नहीं करेगा। विधिपूर्वक उन्होंने बौद्धधर्म एवं बौद्धदर्शनोंका अध्ययन किया।

अध्ययन पूरा होनेपर कुमारिलने तक्षशिला-विद्यालयके प्रधानाचार्यसे एक दिन ईश्वरके अस्तित्व एवं उसके कर्मनियन्ता होनेके सम्बन्धमें जिज्ञासा की। प्रधानाचार्यने बौद्धदर्शनके अनुसार इसका खण्डन किया। फलतः गुरु-शिष्यमें शास्त्रार्थ छिड़ गया। विद्यालयमें शास्त्रार्थका निश्चय सम्भव नहीं था, अतः उस प्रदेशके राजा सुधन्वाकी मध्यस्थतामें शास्त्रार्थ निश्चित हो गया। मगधराज सुधन्वा सत्यके जिज्ञासु थे। आश्विन शुक्ल दशमी (विजया-दशमी) को राजसभामें शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। एक ओर अकेले कुमारिल और दूसरी ओर तक्षशिला-महाविद्यालयके प्रधानाचार्य अपने सहायक श्रमणोंके साथ; किंतु विजयकी अधिष्ठात्री भगवतीकी कृपा तो सदा धर्मके विनम्र सेवकको प्राप्त होती है। कुमारिलकी अकाट्य युक्तियोंका उत्तर बौद्धाचार्य दे नहीं सके।

'केवल तर्कसे धर्मका निश्चय नहीं होता। यदि कुमारिल ईश्वरमें विश्वास करते हैं तो कोई प्रत्यक्ष प्रमाण दें ईश्वरके अस्तित्वका।' शास्त्रार्थमें पराजित होनेपर श्रमण विद्वानोंने यह हठ पकड़ा। राजा सुधन्वाको भी यह बात जँच गयी। निश्चय हुआ कि दोनों पक्ष एक ऊँचे पर्वतके शिखरसे कूदकर अपने सत्यकी शक्तिको प्रमाणित करें। राजकर्मचारियोंकी चौकसीमें कुमारिल शिखरपर पहुँचे। उन्होंने घोषणा की—

> वेदाः प्रमाणं भगवान् हि गोप्ता
> सर्वज्ञ ईशोऽखिलशक्तिशाली।
> अच्छेद्य आत्मामर एव सत्यं
> धर्मस्तु नित्यो विमुखाः पतन्ति॥

'धर्मो रक्षति रक्षितः' कुमारिल कूदे ऊँचे पर्वतके शिखरसे; किंतु उनको धक्कातक नहीं लगा। धर्ममूर्ति जनार्दनने उनकी रक्षा कर ली। श्रमणोंने इसे 'मणिमन्त्रौषधि' आदिका चमत्कार कहना प्रारम्भ किया; किंतु जब उनके कूदनेकी बारी आयी, वे भागने लगे। राजा सुधन्वाने वैदिक धर्मके पदोंमें मस्तक झुकाया।

जिसमें धर्मपर पूरी निष्ठा नहीं, वह धर्मकी सेवा या रक्षा नहीं कर सकता। परम धार्मिक कुमारिलके मनमें यह बात काँटेकी भाँति चुभती रही कि जिससे उन्होंने अध्ययन किया, उसीको शास्त्रार्थमें पराजित करके अपमानित करना पड़ा। गुरुके अपमानका प्रायश्चित्त करना निश्चय किया उन्होंने। कैसा था वह प्रायश्चित्त—उस धर्मनिष्ठ महाप्राणने प्रयागमें गङ्गा-यमुनाके पवित्र संगमपर तुषाग्नि (भूसीकी धीरे-धीरे जलानेवाली आग) में अपने शरीरको भस्म कर दिया।

एक अंग्रेज बालकका विश्वास

लीवरपुल शहरमें एक बार बरसातकी बड़ी टान पड़ी। इसलिये एक दिन नगर-निवासी ईश्वरकी प्रार्थना करनेके लिये एक जगह इकट्ठे हुए। इतनेमें एक छोटा बालक उनके आगे छत्ता लगाये आया। उसको देखकर सब लोग हँस पड़े और बोले—'एक बूँद जलके लिये तो हम मर रहे हैं और तुझको वर्षाका इतना डर लगा कि छत्ता लगाकर आया है?' बालकने गम्भीरतासे जवाब दिया—'मैंने सुना है कि आज वर्षाके लिये दयामय प्रभुसे प्रार्थना करनेके लिये सब लोग यहाँ इकट्ठा होनेवाले हैं, इसीलिये मैं छत्ता लगाकर आया हूँ। परंतु यहाँ आकर देखता हूँ कि आपलोगोंमेंसे एक भी आदमी छत्ता लेकर नहीं आया है; तो क्या आप सब लोग मनमें यह विश्वास करके आये थे कि प्रार्थनासे कुछ भी हासिल होनेवाला नहीं है?'

विश्वासी विद्यार्थी बालक

पाठशालामें गुरुजी लड़कोंको बतला रहे थे—'भगवान् सर्वव्यापक हैं। जमीन-आसमान, पृथ्वी-पाताल, जल-थल, घर-जंगल, पेड़-पत्थर, रात-दिन, सुबह-शाम—ऐसा कोई भी स्थान और समय नहीं है, जिसमें भगवान् न हों। वे बाहर-भीतरकी सब बातें सभी समय देखते-सुनते रहते हैं। उनसे छिपाकर कभी कोई कुछ भी नहीं कर सकता।' सुननेवाले विद्यार्थियोंपर गुरुजीके उपदेशका बड़ा असर पड़ा। विद्यार्थियोंमें एक किसानका लड़का भी था। पाठशालासे वह जब घर लौटकर आया, तब उसके पिताने कहा, 'चलो, एक काम करना है।' वह पिताके साथ हो लिया। किसान उसे किसी दूसरे किसानके खेतमें ले गया और बोला—'बेटा! देख, इस समय यहाँ कोई देखता नहीं है। अपनी गायके लिये मैं खेतमेंसे थोड़ी-सी घास काट लाता हूँ। ज्यादा होगी तो बेच लेंगे। तू देखता रह, कोई आ न जाय।'

लड़का बैठ गया, परंतु सोचने लगा—'क्या पिताजी इस बातको नहीं जानते कि भगवान् सब समय, सब जगह, सभी बातोंको देखते रहते हैं?' किसान घास काटने लगा। कुछ देर बाद उसने पूछा—'बेटा! कोई देख तो नहीं रहा है?' अब लड़केको बोलनेका मौका मिल गया। उसने कहा—'पिताजी! आपके और मेरे सिवा यहाँ कोई आदमी तो नहीं है, जो हमारे कामको देखे; लेकिन पिताजी! मेरे गुरुजीने बतलाया था कि ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर, जल-थलमें भगवान् व्यापक है और वह सब समय सबकी बातें देखता रहता है। कोई कितना भी एकान्तमें करे, उससे छिपाकर किसी कामको कर ही नहीं सकता। हमलोग जो यह चोरी करते हैं, इसे भी भगवान् तो देखता ही है।' बच्चेके मुँहसे यह बात सुनकर किसान काँप गया। उसके हाथसे हँसिया गिर पड़ा और वह काटी हुई घास वहीं छोड़कर बच्चेके साथ घर लौट आया। उस दिनसे उसने चोरी करना छोड़ दिया।

प्रभु-विश्वासी राजकन्या

करमान देशके राजा बड़े भक्त और ईश्वर-विश्वासी थे। उनके एक परम भक्तिमती सुन्दरी कन्या थी। राजाने निश्चय किया था कि मैं भगवान्पर परम विश्वास रखनेवाली अपनी इस कन्याको उसीके हाथोंमें सौंपूँगा, जो सच्चा त्यागी और अडिग प्रभु-विश्वासी होगा। राजा खोज करते रहे, परंतु ऐसा पुरुष उन्हें नहीं मिला। लड़की बीस सालकी हो गयी। एक दिन राजाको एक प्रसन्नमुख त्यागी नवयुवक मिला। उसके बदनपर कपड़ा नहीं था और उसके पास कोई वस्तु नहीं थी। राजाने उसे भगवान्की मूर्तिके सामने बड़ी भक्तिभावनासे ध्यानमग्न देखा। मन्दिरसे निकलनेपर राजाने उससे पूछा—'तुम्हारा घर कहाँ है?' उसने कहा, 'प्रभु जहाँ रखें।' राजाने पूछा—'तुम्हारे पास कोई सामग्री है?' उसने कहा—'प्रभुकी कृपा ही मेरी सामग्री है।' राजाने फिर पूछा—'तुम्हारा काम कैसे चलता है?' उसने कहा—'जैसे प्रभु चलाते हैं।'

उसकी बातोंसे राजाको निश्चय हो गया कि यह अवश्य ही प्रभु-विश्वासी और वैराग्यवान् है! मैं अपनी धर्मशीला कन्याके लिये जैसा वर खोजता था, आज ठीक वैसा ही प्रभुने भेज दिया।

राजाने बहुत आग्रह करके और अपनी कन्याके त्याग-वैराग्यकी स्थिति बतलाकर उसे विवाहके लिये राजी किया। बड़ी सादगीसे विवाह हो गया।

राजकन्या अपने पतिके साथ जंगलमें एक पेड़के नीचे

पहुँची। वहाँ जाकर उसने देखा—वृक्षके एक कोटरमें जलके शिकोरेपर एक सूखी रोटीका टुकड़ा रक्खा है। राजकन्याने पूछा—'स्वामिन्! यह रोटी यहाँ कैसे रक्खी है?' नवयुवकने कहा—'आज रातको खानेके काममें आयेगी, इसलिये कल थोड़ी-सी रोटी बचाकर रख छोड़ी थी।'

राजकन्या रोने लगी और निराश होकर अपने नैहर जानेको तैयार हो गयी। इसपर नवयुवकने कहा—'मैं तो पहले ही जानता था कि तू राजमहलमें पली हुई मेरे-जैसे दरिद्रके साथ नहीं रह सकेगी।'

राजकन्याने कहा—'स्वामिन्! मैं दरिद्रताके दुःखसे उदास होकर नैहर नहीं जा रही हूँ। मुझे तो इसी बातपर रोना आ रहा है कि आपमें प्रभुके प्रति विश्वासकी इतनी कमी है कि आपने 'कल क्या खायेंगे' इस चिन्तासे रोटीका टुकड़ा बचा रक्खा। मैं अबतक इसीलिये कुँआरी रही थी कि मुझे कोई प्रभुका विश्वासी पति मिले। मेरे पिताने बड़ी खोज-बीनके बाद आपको चुना। मैंने समझा कि आज मेरी जीवनकी साध पूरी हुई; परंतु मुझे बड़ा खेद है कि आपको तो एक टुकड़े रोटी-जितना भी भगवान्पर विश्वास नहीं है।'

पत्नीकी बात सुनकर उसको अपने त्यागपर बड़ी लज्जा हुई, उसने बड़े संकोचसे कहा—'सचमुच मैंने बड़ा पाप किया; बता, इसका क्या प्रायश्चित्त करूँ?'

राजकन्याने कहा—'प्रायश्चित्त कुछ नहीं, या तो मुझे रखिये या रोटीके टुकड़ेको रखिये।' नवयुवककी आँखें खुल गयीं और उसने रोटीका टुकड़ा फेंक दिया।

विश्वासी बालक रोहिताश्व

(लेखक—चौधरी श्रीशिवसिंह मल्लाजी चोयल)

राजस्थान राज्यके अन्तर्गत जोधपुर जिलेमें बिलाड़ा नामक एक अति प्राचीन कस्बा है। इसमें नवदुर्गावतार भगवती आईमाताका एक प्राचीन मन्दिर है। मन्दिरके अधिष्ठाता (मुख्य) दीवानके नामसे प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार उदयपुरके महाराणा एकलिङ्गदेवके दीवान कहे जाते हैं, ठीक उसी प्रकार मारवाड़की सीरवी जातिके नेता आईमाता अथवा आईजीके दीवान कहलाते हैं, जिनकी गादी बिलाड़ामें ही है और वे बिलाड़ाके दीवान भी कहे जाते हैं। इस दीवान-वंशमें कई वीर, सत्यव्रत और भक्त दीवान हो गये हैं, जिनमें दीवान रोहिताश्वजी, राजसिंहजी और लक्ष्मणसिंहजी-जैसे अद्वितीय प्रभावशाली दीवान विशेष प्रसिद्ध हैं।

जिस समय बिलाड़ाकी दीवान-गादीपर दीवान कर्मसीजी सुशोभित थे, उसी समय जोधपुर (मारवाड़) के प्रतापी नरेश राव मालदेवजी स्वर्ग सिधार गये और उनके पुत्र राव राम, चन्द्रसेन और उदयसिंहके बीच राजगद्दीके लिये आपसमें लड़ाई होनेसे समस्त मारवाड़में हाहाकार मच गया और कई ग्राम सूने हो गये थे। मुगल—जिनको राव राम अपनी सहायताके लिये लाया था, बड़ा अत्याचार करते थे। इससे विवश होकर बिलाड़ेके दीवान कर्मसीजी बडेर छोड़कर अपने सब मनुष्योंके साथ गोडवाड़की ओर जा रहे थे कि सोजतसे परदेशियोंने आकर धोखेसे उन्हें घेर लिया। बड़ा घमासान युद्ध हुआ—जिसमें वीरवर दीवान कर्मसीजी संवत् १६२७ वि० सं० आसोज सुदी ११को सोजतके पास 'धौंगड़वास' नामक गाँवमें वीरगतिको प्राप्त हुए।

दीवान कर्मसीजीके कुँवर रोहिताश्वजी, जो उस समय केवल १० वर्षके ही थे—सथलाणा नामक गाँवमें सात मासतक रहे। वहाँ उन्होंने अपनी इष्टदेवी भगवती आई माताकी एक कोठरीमें बैठकर श्रद्धापूर्वक भक्ति करना आरम्भ किया और जब मारवाड़में मोटा राजा उदयसिंहजीका शासन हुआ, तब वे राज्यद्वारा बिलाड़ा आकर देवीकी

गादीके अधिकारी हुए। दीवान रोहिताश्वजीने बिलाड़ा आकर जगदम्बाकी बड़ी भक्ति की और सर्वत्र उनकी प्रत्येक कार्यमें विजय होने लगी। सब सीरवी जाति उनकी आज्ञमें रहने लगी। अन्य जातियाँ—यहाँतक कि विधर्मी भी बालक दीवान रोहिताश्वके वशवर्त्ती हो गये। सर्वत्र उनकी धाक जमकर यश छा गया।

कुछ लोग दीवान रोहिताश्वजीकी इस बढ़तीको देखकर जलने लगे और जोधपुर जाकर महाराजा उदयसिंहजीके कान भरने लगे। फलस्वरूप महाराजा उदयसिंहजीने बालक दीवान रोहिताश्वजीको जोधपुर बुलवा लिया और उनसे कहा कि आपमें ऐसी क्या शक्ति है, जो आप समस्त सीरवियोंको अपने वशमें किये हुए हैं? इसपर बालक रोहिताश्वने कहा कि मुझमें कुछ शक्ति नहीं है, शक्तिमान् तो भगवती आईमाता हैं।

महाराजा उदयसिंहजीने बालक रोहिताश्व दीवानकी परीक्षा लेनेके लिये एक खोड़ा (लोहेकी साँकल) तैयार करवायी। ज्यों ही दीवान रोहिताश्व खोड़ेके भीतर पैर डालने लगे उनके पैर हाथीके पैरोंके समान हो गये और वे खोड़ेमें नहीं समा सके। इसपर खोड़ा बड़े मापका बनवाया तो दीवानसाहबके पैर बहुत पतले हो गये। जब महाराजा उदयसिंहजीको यह ज्ञात हुआ कि खोड़ेमें बंद करनेमें सफलता नहीं मिलती, तब आज्ञा दी कि दीवानसाहबको एक अँधेरी कोठरीमें बंदकर लोहेके मजबूत ताले लगा दो। महान् त्यागी एवं भक्त रोहिताश्व कोठरीमें साँकलोंसे जकड़कर बंद कर दिये गये और द्वारपर लोहेके मजबूत बड़े-बड़े ताले लगवा दिये गये। थोड़ी देर पश्चात् क्या होता है कि कोठरीके ताले खुलकर अलग जा पड़ते हैं और द्वार चूर-चूर हो जाता है। कोठरीके भीतर भक्त दीवान बालक अपनी इष्टदेवी 'आईमाता' की आराधनामें मग्न थे। यह चमत्कार देखकर महाराजा उदयसिंहजीने बालक रोहिताश्वको आदरपूर्वक बाहर बुलवाकर अपने कठोर बर्तावके लिये दीवानसाहबसे क्षमा माँगी और यह चमत्कार देखकर दंग रह गये।

बालक रोहिताश्वके इस चमत्कारको देखकर महाराजा उदयसिंहजीने १२५ रुपये 'आईमाता' के केशर और छत्रके लिये भेंट किये और आधा 'जोड़' (घासका बीड़ा) गायोंके चरनेके लिये भेंट किया। उस समय दीवान रोहिताश्वके यहाँ ३००० गायें थीं।

दीवान रोहिताश्वने जोधपुरमें बैठे हुए ही भेंट किये हुए जोड़की सीमा तय (निश्चित) कर ली और महाराजा उदयसिंहजीसे कहा कि पासवाला राज्य (आप) का 'जोड़' है, उसकी घासपर सिट्टे आयेंगे और मेरेको जो भेंट किया है, उस जोड़की घासपर सिट्टे नहीं आयेंगे। यही आपके और मेरे जोड़की सीमा है, नापने (सीमा तय करने) का कष्ट न कीजिये।

आगे चलकर सत्यवादी भक्त बालक रोहिताश्वजीकी वाणी सत्य हुई। बिलाड़े दीवानसाहबका जो अभी भी 'जोड़' है, उसकी घासपर सिट्टे नहीं आते; जिसे बिलाड़ाके लोग 'बौंडाघास' के नामसे पुकारते हैं।

लोग इन्हें देवताकी भाँति पूजते हैं। उन्होंने जीते-जी बाणगंगा बिलाड़ापर समाधि ली थी।

बालक वरदराज

बालक वरदराजका नाम तो कुछ और था; परंतु मंदबुद्धि होनेके कारण इनके सहपाठी इन्हें बरधराज (बैलोंका राजा) कहा करते थे। इनकी स्मरणशक्ति इतनी दुर्बल थी कि जितने दिनोंमें एक बड़े घड़ेभर सत्तू खाकर ये समाप्त कर पाते थे, उतने दिनोंमें केवल एक सूत्र इनको कण्ठस्थ होता था। जब ये पाँच वर्षके थे, तभी पढ़नेके लिये गुरुजीके पास आये थे। दस वर्ष बीत जानेपर भी जब ये मूर्ख ही बने रहे, तब अन्तमें एक

दिन गुरुजीने निराश होकर कहा—'बेटा वरदराज! मैंने पूरा प्रयत्न कर लिया; परंतु तुम्हारे भाग्यमें विद्या नहीं जान पड़ती। तुम पढ़ाई छोड़कर घर जाओ और कोई दूसरा काम करो।'

ब्राह्मणके बालकको विद्या नहीं आयेगी, यह बात उन दिनों साधारण नहीं थी। यह तो ब्राह्मणत्वसे गिर जाने-जैसी बात थी। गुरुदेवकी बातसे वरदराजको इतना दुःख हुआ कि उन्होंने विद्याहीन जीवनसे मर जाना श्रेष्ठ समझा। कुएँमें कूदकर प्राण-त्याग करनेके विचारसे वे एक कुएँके पास गये। उन्होंने देखा कि कुएँके ऊपरका जो पत्थर है, उसपर जल खींचनेकी रस्सीकी रगड़के चिह्न बन गये हैं। वरदराजने सोचा—'जब इतने कठोर पत्थरपर कोमल रस्सीके बार-बार रगड़नेसे चिह्न बन जाता है, तब परिश्रम करनेसे क्या मुझे विद्या नहीं आयेगी?' वे आत्महत्या करनेका विचार छोड़कर गुरुदेवके पास लौट आये। कुछ दिन और अपने पास रखकर शिक्षा देनेके लिये गुरुदेवसे उन्होंने प्रार्थना की।

वरदराजने अब मन लगाकर पढ़ना प्रारम्भ किया। उनकी लगन इतनी तीव्र थी कि अपने शरीरतकका भी उन्हें ध्यान नहीं रहा। सायंकाल जब वे भोजन करने बैठे, तब भोजन करते समय भी उनकी दृष्टि व्याकरणके पन्नेपर ही थी और वे उसीको स्मरण करनेका प्रयत्न कर रहे थे। उनका हाथ थालीके बदले पास पड़ी राखपर पड़ गया और उसी राखको भोजन समझकर वे उठा-उठाकर खाने लगे। पढ़नेमें उनका इतना ध्यान था कि मुखमें भोजन जा रहा है या भस्म, इसका उन्हें कुछ पता ही नहीं लगा।

जब कोई किसी भी काममें पूरी एकाग्रतासे, सच्चे हृदयसे लग जाता है, तब उसके देवता उसपर अवश्य प्रसन्न हो जाते हैं। उस कार्यमें अवश्य उसे सफलता मिल जाती है। वरदराजकी पढ़नेमें इतनी एकाग्रता देखकर विद्याकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती प्रसन्न हो गयीं। उन्होंने प्रकट होकर दर्शन दिया। उनके आशीर्वादसे वरदराज व्याकरण तथा सभी शास्त्रोंके महान् विद्वान् हो गये।

पाणिनीय व्याकरण पढ़नेमें बहुत श्रम होता है, वरदराजको इसका अनुभव था। उन्होंने आरम्भमें विद्यार्थियोंको व्याकरण पढ़नेमें सरलता हो, इस विचारसे 'लघुसिद्धान्तकौमुदी'की रचना की। पाणिनीय व्याकरणका संक्षिप्त सारांश इस ग्रन्थमें है।

वरदराजकी घटनासे संस्कृतमें एक लोकोक्ति प्रचलित हो गयी, जिसकी हिंदीमें भी पद्यके रूपमें बहुत प्रसिद्धि है। बालकोंके लिये यह लोकोक्ति स्मरण रखनेयोग्य है।

करत करत अभ्यासके जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते सिलपर परत निसान॥

बालक हेनरी डेविड थॉरो

हेनरी डेविड थॉरोका बाल्य-जीवन अत्यन्त सरस और मनोमोहक है। अमेरिकाके मचस्टस प्रदेशके कानकार्डमें १२ जुलाई सन् १८१७ ई०को ये पैदा हुए थे। इनके बाल्यकालका अधिकांश प्रकृतिके सौन्दर्यसे परिपूर्ण कानकार्डके चरागाहों, हरे-भरे खेतों, जंगलों और मैदानोंमें ही बीता था। बालक थॉरोने प्रकृति, पशु-पक्षियों और वन्य जन्तुओंसे बहुत कुछ सीखा था। कुछ बड़े होनेपर ये अपनी माताकी गायोंको सबेरेसे शामतक इसी रमणीय स्थानमें चराया करते थे। इनका प्रकृतिप्रेम धीरे-धीरे बढ़ता गया। जिस समय ये निर्जन वनों और घासके मैदानोंमें अरुणोदयकालमें गायोंको लेकर घरसे बाहर निकलते थे, इनकी आत्मा प्रकृतिके सम और मधुर संगीतपर थिरक उठती थी। प्रकृतिसे बालक थॉरोने सीखा कि अपनी जीविका चलानेके लिये अपने हाथसे काम

करना बड़े सम्मानकी बात है। इन्होंने सदा कठिन श्रम करके अपना जीवन-निर्वाह किया। कितना संयमित और तपःपूर्ण था इनका बाल्य-जीवन और निस्सन्देह भावी जीवनमें भी ये इसी तरह संयमी और तपस्वी रहे।

इनकी शिक्षा-दीक्षा जोन्सवेरी नामक एक प्रसिद्ध कविकी देख-रेखमें हुई थी। बालक थॉरोके लिये साहित्य एक प्रिय विषय बन गया। इन्होंने लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार टामस कारलाइल आदिके साहित्यसे बहुत कुछ सीखा था। लैटिन और यूनानी भाषामें भी पूर्ण दक्षता प्राप्त की। युवक थॉरोको महात्मा इमरसनका सम्पर्क लाभ हुआ। उनके ऋषिकल्प जीवनसे वे बहुत प्रभावित हुए और आत्माके प्रति इनकी जिज्ञासा बढ़ने लगी। दर्शन उनके लिये एक रुचिकर विषय हो गया। वैषयिक सुखों-का त्याग इनका स्वभाव बन गया। भोग-पदार्थ युवक थॉरोको अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सके। इनका कहना था कि एकान्तसे बढ़कर मनुष्यका कोई दूसरा सुहृद् है ही नहीं और जीवनपर्यन्त वे एकान्तकी पवित्र गोदमें विश्राम करते रहे। ये परम मेधावी, महान् तपस्वी और निःस्पृह बालक थे। छोटे-छोटे बच्चोंके बीचमें रहना और उनकी प्रसन्नताकी बातें करना, उनके लिये स्वाभाविक आनन्दका कारण था। श्रीभगवद्गीतासे इनका बड़ा प्रेम था। इनका बाल्य-जीवन स्पर्धाकी वस्तु है। रा०

मेधावी बालक ईश्वरचन्द

एक सौ वर्षके लगभग हुए, बंगालके मेदनीपुर नामक स्थानसे एक सज्जन अपने पुत्रके साथ कलकत्तेके लिये चले। सड़कपर पहुँचनेपर बालकने एक पत्थर देखकर पितासे पूछा—'इसपर क्या लिखा है?'

पिताने बताया—'यह दूरी बतानेवाला पत्थर है। अंग्रेजी अङ्कोंमें इसपर १९ लिखा है; क्योंकि कलकत्ता यहाँसे १९ मील दूर है।'

प्रत्येक मीलपर मीलकी सूचना देनेवाला वह पत्थर मिलता गया और बालक ईश्वरचन्द उसे ध्यानसे देखकर अंग्रेजी अङ्कोंको सीखता गया। कलकत्ता पहुँचनेके पहले ही बालकने अंग्रेजीके पूरे अङ्क सीख लिये थे।

अपनी योग्यता तथा प्रतिभाके कारण ईश्वरचन्द बहुत प्रसिद्ध हो गये हैं और उनकी 'विद्यासागर' उपाधि उनके उपयुक्त ही है। ये बड़े ही मातृभक्त और दयालु थे।

बालक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

बालक हरिश्चन्द्रका जन्म भाद्र मासकी शुक्ल पञ्चमी-को संवत् १९०७ वि० में काशीके सुप्रसिद्ध नगरसेठ स्वनामधन्य श्रीगिरिधरदासजीके यहाँ हुआ था। बालक हरिश्चन्द्रका पालन-पोषण बड़े उचित ढंगसे हुआ। उनके पिता गोपालचन्द्र—उपनाम गिरिधरदास, व्रजभाषा-के एक बहुत अच्छे कवि थे और उनके निवासस्थानपर नित्यप्रति काशीके विख्यात कवियोंकी मण्डलीका समागम होता था। इस साहित्यिक वातावरणका बालक हरिश्चन्द्रके मानसिक और चारित्रिक विकासपर बड़ा प्रभाव पड़ा। परिवारके लोग पुष्टिमार्गपर चलनेवाले वैष्णव थे, अतएव बालक हरिश्चन्द्र भी श्रीराधाकृष्णकी प्रेमभक्तिमें पग गये। वे कदके कुछ लंबे और एकहरे शरीरके थे। न कृश थे, न मोटे थे। शरीरका गठन सुन्दर और सुडौल था। आँखोंमें मोहिनी ज्योति थी। घुँघराली लटें कानोंपर लहराती रहती थीं। ललाट उन्नत था। वे मधुरभाषी और शिष्ट थे। उनका रँगीला स्वभाव लोगोंको मुग्ध कर देता था।

जब वे केवल तीन सालके शिशु थे, तभी उनको

श्रीवल्लभसम्प्रदायके सिद्धान्तके अनुसार कंठी दे दी गयी थी। जब वे पाँच सालके थे, उनकी माताने गोलोककी यात्रा की। पिताकी देख-रेखमें पालन-पोषण होने लगा। छोटी अवस्थामें ही वे पढ़ने बैठ गये थे। उनकी प्रतिभा विलक्षण थी। परीक्षामें कभी असफल नहीं हुए। ग्यारह-बारह सालकी ही अवस्थामें संस्कृतका इतना ज्ञान हो गया था कि बात-की-बातमें कठिन-से-कठिन समस्याकी पूर्ति कर दिया करते थे।

बालक हरिश्चन्द्र बड़े चञ्चल थे, पेड़ोंकी डालियोंपर चढ़कर एकसे दूसरीपर कूदा करते थे। चलती हुई घोड़ा-गाड़ीपर दौड़कर चढ़ जाते और कूद पड़ते थे, पर यह सब कुछ वे दूसरोंसे स्नेह पानेकी दृष्टिसे करते थे। वे बड़े सीधे-सादे स्वभावके थे, दूसरे बालकोंसे व्यर्थ कभी नहीं झगड़ते थे।

उनका बचपन बड़े सुखमें बीता। उनके बाल्यकाल-से सम्बद्ध अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ कही-सुनी जाती हैं। उनके पिता कथामृत नामक काव्यकी रचना कर रहे थे। पिताको कविता कहते देखकर पाँच सालके हरिश्चन्द्रने कहा कि 'मैं भी कविता बनाऊँगा और तत्क्षण ही लिखकर दे दिया एक दोहा—

> लै ब्योरा ठाढ़े भये श्री अनिरुद्ध सुजान।
> बानासुरके सैन को हनन लगे भगवान॥

वे आश्चर्यचकित होकर हरिश्चन्द्रकी काव्य-प्रतिभाकी सराहना करने लगे। एक बार मित्र और कविमण्डलीमें वे अपने पिताके साथ बैठे थे। 'कच्छपकथामृत'के एक सोरठे—

> 'कहन चहत जस चारु, कछु कछुवा भगवान को'

पर विचार हो रहा था। किसी मित्रने 'कछुवा भगवान्' का अर्थ कच्छप भगवान् लगाया। बालक हरिश्चन्द्रने गम्भीरतापूर्वक निवेदन किया कि मैं भी अर्थ लगाऊँ और इतना कहनेके बाद ही 'कछुक छुवा भगवान् को'—का यह आशय बताया कि 'पिता-जी! आप उन भगवान्का यश वर्णन करना चाहते हैं जिनको आपने कुछ-कुछ छू लिया है।' कवि-मण्डली तो ठहाका मारकर हँस पड़ी, पर श्रीगिरिधरदासके नयनोंसे अश्रुकी धारा उमड़ पड़ी, वे गद्गद हो गये और ऐसे संस्कारी पुत्रको हृदयसे लगाकर अपने सौभाग्यकी सराहना करने लगे।

काशीनरेश श्रीईश्वरीनारायणसिंहजी हरिश्चन्द्रके बाल-मित्रोंमेंसे एक थे। एक बार 'जानकीमङ्गल' नाटक खेलनेका निश्चय हुआ। लक्ष्मणका अभिनय करनेवाला बालक अस्वस्थ हो गया, संवाद लंबा था। नाटक स्थगित होनेहीवाला था कि हरिश्चन्द्र आ गये और उन्होंने एक ही घंटेमें सारा संवाद कण्ठ कर लिया। नाटक सफल होकर ही रहा। इस घटनासे पता चलता है कि उनकी स्मरण-शक्ति कितनी अच्छी थी।

माता-पिताका सम्पर्क-सुख उन्हें अधिक न मिल सका। जब वे नौ सालके थे, उनके पिता भी चल बसे। हरिश्चन्द्र ईश्वर और धर्ममें बड़ी आस्था रखते थे। श्रीकृष्णकी वे सखा-भावसे उपासना करते थे। बचपनमें ही श्रीकृष्णके प्रति इतना प्रगाढ़ अनुराग हो जाना उनकी जन्मजात भगवद्भक्तिका परिचायक है। तीर्थयात्रा करनेमें उनकी विशेष रुचि थी। ग्यारह वर्षकी ही अवस्थासे वे जगन्नाथपुरी, अयोध्या आदिकी यात्रा करने लग गये। निःसन्देह वे भागवत बालक थे। रा०

शूर करते हैं, कायर बकते हैं

> **सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु।**
> **बिद्यमान रन पाइ रिपु कायर कथहिं प्रतापु॥**

शूरवीर तो युद्धमें करनी (शूरवीरताका कार्य) करते हैं, कहकर अपनेको नहीं जनाते। शत्रुको युद्धमें उपस्थित पाकर कायर ही अपने प्रतापकी डींग मारा करते हैं।

संसारका सर्वप्रथम गणितज्ञ बालक श्रीनिवास रामानुजम् ए० आर० एस०

(जन्म १८८७ ई०—मृत्यु १९२० ई०)

(लेखक—डॉ० श्रीलक्ष्मीनारायणजी टंडन 'प्रेमी' एम्० ए०, साहित्य-रत्न, एन्० डी०)

श्रीरामानुजम्का जन्म २२ दिसम्बर सन् १८८७ ई० को मद्रासप्रान्तके इरोद नामके एक छोटे गाँवमें हुआ। उनके पिता एक साधारण परिवारके निर्धन ब्राह्मण थे और मुनीमी करके अपना पेट पालते थे। पाँच वर्षकी आयुमें वे ग्रामकी पाठशालामें पढ़ने बैठे। दस वर्षकी आयुमें कुम्भकोणम् हाई-स्कूलमें पढ़कर सन् १८९८ में प्राइमरी परीक्षामें वे सर्वोच्च उत्तीर्ण हुए।

'होनहार बिरवानके होत चीकने पात' के अनुसार इन्हें बाल्यावस्थासे ही गणितसे अत्यन्त प्रेम था। यह बालक सदा अपनी ज्ञान-पिपासाकी शान्तिमें लगा रहता। तीसरी कक्षामें पढ़ते हुए ही इन्होंने बीजगणित आदिका इंटरमीडियेट कक्षाओंका पाठ्य-क्रम समाप्त कर दिया था तथा चौथी कक्षामें बी०ए० के त्रिकोणमितिके कठिन प्रश्न। उस समय वे केवल बारह वर्षके थे। उन्होंने बी० ए०के एक छात्रसे लोनी साहबकी सुप्रसिद्ध त्रिकोणमितिकी पुस्तक बहुत हठ करके प्राप्त की; क्योंकि पहले उस छात्रने इनकी बात हँसकर टाल दी थी। १२ वर्षकी आयुमें त्रिकोणमिति सारी हल कर देना इनकी अलौकिक प्रतिभाका उदाहरण है। पाँचवीं कक्षामें इन्होंने 'ज्या' और 'को ज्या' का विस्तार कर डाला। यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि इन ऐतिहासिक बालकको आयलर नामक विद्वान्का नामतक ज्ञात न था, जो कि गणितके ऐसे विषयोंमें सर्वप्रथम अनुसन्धान करनेके कारण यूरोपके गणितज्ञोंमें अमर हो गया है। आयलरके सिद्धान्तोंको बतानेवाला न इन्हें कोई गुरु ही मिला था न किसी ग्रन्थसे सहायता ही। १३ वर्षकी आयुमें इनका किया हुआ कार्य सर्वथा मौलिक तथा स्वतःप्रेरित था। इस छोटी आयुमें इन्होंने गणित-सम्बन्धी जो कार्य कर लिया था, वह बड़े-बड़े गणिताचार्यों-की सम्पूर्ण आयुकी मौलिक खोजोंसे किसी प्रकार कम महत्त्वका नहीं था।

१७ वर्षकी आयुमें इन्होंने सरकारी छात्रवृत्ति प्राप्त करते हुए १९०३ ई० में मैट्रीकुलेशनकी परीक्षा पास की, पर इंटरमीडियेट कक्षामें वार्षिक परीक्षामें अंग्रेजीमें अनुत्तीर्ण हो जानेसे इनकी छात्रवृत्ति बंद हो गयी और निर्धन छात्रकी पढ़ाईका यहीं अन्त हो गया। अपना पूर्ण समय और ज्ञान गणितकी ओर ही लगानेसे इन्हें अंग्रेजी या अन्य विषयों-के पढ़नेका समय ही न मिलता था और न रुचि ही थी।

बिना किसी गुरुकी सहायता या सहायक ग्रन्थोंको प्राप्त किये ही ईश्वरप्रदत्त प्रेरणासे वह एक प्रकारसे पूर्ण मौलिक कार्य करते थे। सच्ची लगन, प्रतिभा और अध्यवसायके आगे कुछ भी असम्भव नहीं है। यह अत्यन्त विस्मयकी बात है, इन्हें कोई भी प्रसिद्ध गणितकी पुस्तकें देखनेको नहीं मिली थीं। जो भी यदा-कदा कोई गणितकी पुस्तक इन्हें देखनेको मिल जाती थी, यह उसीपर संतोष करते थे। हाँ, एक पुस्तक, कारकी सिनोप्सिस इन्हें इनके मित्रने कुम्भकोणम् कालेजके पुस्तकालयसे ला दी थी। यह पुस्तक इनकी प्रतिभा तथा प्राकृतिक शक्तियोंको जगानेमें बहुत सहायक सिद्ध हुई। यद्यपि यह पुस्तक बहुत उच्चकोटिकी नहीं है।

श्रीरामानुजम् नामगिरि देवीके बड़े भक्त थे। कहते हैं कि देवीजीकी कृपासे ही यह गणितके असाधारण गवेषणाएँ करनेमें सफल हुए। इनका जन्म भी श्रीदेवीजीकी आराधनाके फल-स्वरूप हुआ था। विवाहके कई वर्ष व्यतीत हो जानेपर भी जब इनकी माताके कोई संतान नहीं हुई, तब इनके नानाने नामकल ग्राममें जाकर नामगिरि देवीकी शरण ली। उनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर देवीजीके वरदान-स्वरूप श्रीरामानुजम् अपनी माताके गर्भमें आये। जिन प्रश्नोंको यह जाग्रत्-अवस्थामें हल

नहीं कर पाते थे, उन्हें यह स्वप्नावस्थामें स्वतः हल कर लेते थे। इसे यह देवीजीकी कृपा कहते थे।

बाल्यावस्थामें इन्हें इनके अध्यापकगण सनकी समझते थे। प्रायः महान् पुरुषोंको साधारण बुद्धिके लोग ऐसे ही झक्की समझते हैं। इन महान् आत्माओंकी महत्ता और प्रतिभाका ज्ञान तो उनकी अन्तिम अवस्था या मरणोपरान्त ही होता है। तीसरी और चौथी कक्षामें पढ़नेवाला जब यह विद्यार्थी अपने अध्यापकों तथा सहपाठियोंसे गणितके कठिन प्रश्नों, नक्षत्र तथा पृथ्वीकी परिधि आदिके विषयमें पूछता, तब इन असाधारण प्रश्नोंका ठीकसे उत्तर सहपाठी तो क्या अध्यापक भी नहीं जानते थे। एक बार एक अध्यापक तीसरी कक्षामें बता रहा था कि किसी संख्याको उसी संख्यासे भाग दिया जाय तो भजनफल एक होता है। इन्होंने पूछा कि क्या शून्यके सम्बन्धमें भी यही नियम लागू होता है? बेचारे अध्यापक स्वयं नहीं जानते थे कि शून्यको यदि शून्यसे भाग दिया जाय तो भजनफल एक नहीं, वरं अपरिमित अथवा अनिर्दिष्ट (Indeterminate) होता है। अतः अध्यापकका इन्हें झक्की समझना स्वाभाविक ही था।

पढ़ाई तो अर्थाभावसे समाप्त ही हो गयी। अतः घर-पर रहकर ये गणितके अध्ययनमें लवलीन हो गये। पर पेटकी समस्या विकट थी। विवाह भी इनका हो चुका था। कुछ हितैषियोंकी सहायतासे यह युवक ट्यूशन तथा साधारण क्लर्की आदि करके पेट पालनेपर विवश हुआ; किंतु इनका अध्ययन, खोज तथा ज्ञान दिनोदिन बढ़ता ही गया।

२३ वर्षकी छोटी अवस्थामें, जब विवश होकर उन्हें घर छोड़कर नौकरीके लिये भटकना पड़ रहा था, उस समय उनकी जेबकी नोटबुकोंमें गणितकी वह महत्त्वपूर्ण खोजें थीं, जिन्हें यूरोपके महान् गणितज्ञोंको निकालनेमें सैकड़ों वर्ष लगे थे और तब भी पूर्ण सफलता नहीं मिली थी।

श्री बी० रामास्वामी अय्यर डिप्टी कलेक्टर, भूतपूर्व गणित-प्रोफेसर श्रीपी० बी० शेषु अय्यर, नैलौरके कलक्टर दीवान बहादुर श्री आर० रामचन्द्र राव आदि उनके हितैषी थे। पहले तो श्रीरावने उनका भार अपने ऊपर ले लिया, किंतु अन्तमें उस आत्म-सम्मान-प्रिय नवयुवकको उन्होंने ३०) मासिककी मद्रास पोर्ट ट्रस्टकी नौकरी दिला दी। श्रीरावने एक स्थानपर इनके लिये लिखा है—'एक नाटा, तंदुरुस्त, मैलेसे कपड़े पहने हुए, चमकीली आँखोंवाला युवक मेरे सामने उपस्थित हो गया। यही युवक श्रीनिवास रामानुजम् थे। युवककी सूरतसे ही गरीबी टपक रही थी। एक मोटी-सी कापी वह बगलमें दबाये हुए था और गणितके अध्ययनके लिये कुम्भकोणमूसे मद्रास भाग आया था। धन और यशका भूखा न था। चाहता था कि उसके गणितके अध्ययनमें कोई बाधा न पड़े। कोई उसके भोजन-वस्त्रका प्रबन्ध कर दे और वह निश्चिन्त होकर अपना अध्ययन जारी रक्खे।'

हाय रे भारतवर्ष! यदि यूरोप या अमेरिकामें यह पैदा हुआ होता तो ३३ वर्षकी कच्ची आयुमें इसे क्षयसे न मरना पड़ता। श्रीनेहरूजीने अपनी पुस्तक 'हिंदुस्तानकी कहानी' में कितने मार्मिक शब्दोंमें लिखा है—'रामानुजम्का अल्पकालिक जीवन और मृत्यु भारतकी आजकी दशाका प्रतीक है। हमारे करोड़ों लोगोंमें कितने हैं, जिन्हें थोड़ी-सी शिक्षा भी प्राप्त है, कितने हैं जिन्हें पेटभर भोजन मिल जाता है—और उन लोगोंके पास भी, जिन्हें कुछ शिक्षा प्राप्त हो जाती है, दफ्तरमें क्लर्की करनेके अतिरिक्त कोई चारा नहीं होता। अगर इन्हें जीवनमें अवसर मिले और इन्हें भोजन तथा दूसरी सुविधाएँ प्राप्त हो जायँ, इनके लिये शिक्षा तथा उन्नति-का मार्ग खुल जाय, तो इन करोड़ोंमेंसे कितने हैं जो कि बड़े वैज्ञानिक, शिक्षक, लेखक और कलाकार नहीं बन सकते हैं और इस प्रकार एक नवीन भारत और नवीन संसारके निर्माणमें सहायक नहीं हो सकते।'

ऐसे असाधारण बालककी संक्षिप्त जीवनी जान लेना हमारा धर्म है । सरकारी वेध-शालाओंके डाइरेक्टर-जनरल डॉ० जी० टी० वाकरकी सहायतासे इन्हें दो वर्षको ७५) मासिककी छात्रवृत्ति मिली । इसके बाद ये जीवन-पर्यन्त गणितकी गवेषणामें ही लगे रहे ।

ट्रिनिटी कालेजके फेलो डॉ० जी० एच० हार्डी आपकी गणित-सम्बन्धी खोजोंसे प्रभावित होकर उन्हें इंगलैंड बुलाना चाहते थे, पर अन्धविश्वासी परिवार इन्हें समुद्र-यात्राकी अनुमति नहीं दे रहा था । रामानुजम्की दशाका पता उनके श्रीहार्डीको लिखे पत्रसे लगता है— 'अपने दिमागको ठीक बनाये रखनेके लिये मुझे भोजनकी भी आवश्यकता है और मैं पहले उसी विषयको सोचता हूँ ।' कैम्ब्रिजके गणित-प्रोफेसर नेविलने जो एक पत्र लिखकर मद्रास-विश्वविद्यालयसे इन्हें छात्रवृत्ति तथा इंगलैंड जानेकी अनुमति दिलायी, उसका कुछ अंश यह है—'रामानुजम्को गहन अन्धकारसे निकालकर विश्व-व्यापी प्रसिद्धि प्रदान करनेके लिये मद्रास नगर और विश्व-विद्यालयको सदैव उचित गर्व करनेका अच्छा मौका मिलेगा।'

यदि अंग्रेजोंने इस विश्व-विख्यात युवकको न पहचाना होता तो गणित-संसारकी कितनी भारी हानि होती । प्रो० हार्डी तथा अन्य अंग्रेज गणितज्ञोंका आपके गणित-सम्बन्धी ज्ञानसे प्रभावित होना स्वाभाविक ही था । रामानुजम्ने जिस विधिसे अपने परिणामोंको स्थापित किया था, वह विधि अति सूक्ष्म तथा मौलिक थी । उनके सभी स्थापित सूत्र प्रायः निर्दोष थे । उच्च कोटिके तो वे थे ही । उनके विद्वत्तापूर्ण लेखोंने गणित-संसारको इनकी ओर आकर्षित किया ।

प्रसिद्ध अंग्रेज वैज्ञानिक जूलियस हक्सलेने कहा है कि 'वह इस शताब्दीका सबसे बड़ा गणितज्ञ है ।' कहते हैं भारतकी मैथिमेटिकल सोसाइटीकी प्रसिद्ध पत्रिकामें उन्होंने लगभग ६० प्रश्न किये थे और लगभग २० प्रश्न अभीतक हल नहीं हो पाये हैं । यह थी उनकी विलक्षणतापूर्ण प्रतिभा ।

अनेक कठिनाइयोंके बाद १९१४ ई०में आप इंगलैंड गये । अपनी भारतीय वेश-भूषा, आचार-व्यवहार, भोजन तथा वस्त्रोंमें उन्होंने कोई परिवर्तन नहीं किया । अत्यधिक परिश्रम, पौष्टिक पदार्थोंका अभाव तथा इंगलैंडकी जलवायु आपके क्षयरोगसे १९१७ ई० में पीड़ित होनेका कारण हुई । १९१४ ई० में जर्मन-युद्ध छिड़ जानेके कारण भी आपको अध्ययन-सम्बन्धी अनेक असुविधाएँ हुईं । भारत लौटना भी आपका सम्भव न था । इंगलैंडके अच्छे अस्पतालोंमें आपका इलाज होता रहा और हितैषियों तथा डाक्टरोंके मना करनेपर भी आपकी गणित-सम्बन्धी गवेषणाओंका क्रम वैसा ही रहा । १९१८ ई०में आपका स्वास्थ्य कुछ ठीक हुआ । इसी वर्ष केवल ३० वर्षकी अल्पायुमें आप रायल सोसाइटीके फेलो बनाये गये । यह सम्मान प्राप्त करनेवाले आप प्रथम भारतीय थे ।

स्वास्थ्यकी ओरसे उपेक्षा तथा क्षय-सा भयंकर रोग । यह सत्य है कि उनके अनुसन्धान-कार्यमें इस रोगने बहुत बाधा डाली, किंतु जितना वे कर सकते थे, उससे अधिक ही वे करते थे । २० मार्च १९१९ ई० को आप भारत पहुँचे । निरन्तर अनुरोधपर भी आपने अध्ययन-कार्य नहीं रोका । अस्पतालोंकी मृत्यु-शय्यापर ही उनका Mock Theta Functions पर सब काम पूरा हुआ था । डॉ० हार्डीने मद्रास-विश्वविद्यालयको लिखा था—'रामानुजम् इतने बड़े गणितज्ञ होकर भारत लौटेंगे, जितना आजतक कोई भारतीय नहीं हुआ । मुझे आशा है भारत इन्हें अपनी अमूल्य सम्पत्ति समझकर उचित सम्मान करेगा ।' २६ अप्रैल १९२० को चेतपुर ग्राममें आपका स्वर्गवास हुआ । मृत्युके चार दिन पहलेतक उनका अनुसन्धान चलता रहा और मृत्युके कुछ क्षण पूर्वतक कोई विकार उनकी मानसिक वृत्तियोंमें नहीं उत्पन्न हुआ था ।

इनकी प्रतिभा कितनी विलक्षण थी, इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि जिन कठिन प्रश्नोंके हल

करनेमें गणितज्ञ घंटों लगा देते, उन्हें ये चुटकी बजाते कर देते थे। इनकी गणना-शक्ति तथा स्मरणशक्ति भी अलौकिक थी। प्रो० हार्डीने इनके सम्बन्धमें एक जगह लिखा है—

'मैंने आजतक श्रीरामानुजम्-सरीखा कोई गणितज्ञ नहीं देखा। मैं आपकी तुलना आयलर और जैकेनीसे ही कर सकता हूँ। अङ्कों और संख्याओंसे आपकी गहरी दोस्ती थी।' तथा 'एक सफल व्यक्ति—पर उनको अपनी सफलताका ज्ञान नहीं।' हनुमान्जीकी भाँति उनके लिये भी आवश्यकता थी कि उन्हें उनकी महत्ता और सफलताका ज्ञान कराया जाता।

अपने अन्तर्ज्ञानसे ही वे बड़े-बड़े मौलिक परिमाणों-को बिना प्रमाणके ही हल कर देते थे। ऐसा वह किस प्रकार कर पाते हैं—इसे विद्वान् आजतक नहीं समझ सके; किंतु श्रीरामानुजम्का विश्वास था कि नामगिरि देवीकी कृपासे ही यह हो सकता है।

संख्याओंकी मीमांसा Theory of Numbers सम्बन्धी उनकी खोजें अधिकतर हुई हैं। अनेक नये सिद्धान्तोंको उन्होंने जन्म दिया तथा उन्नत बनाया। लगभग ४००० बिना प्रमाण किये हुए ही आपके नियम हैं, जो लिपिबद्ध हैं।

उनके सारे मौलिक लेख पुस्तकाकार सन् १९२७ ई० में कैम्ब्रिजसे प्रकाशित हुए।

वे स्वभावके शान्त, सरल, माता-पिताके अपूर्व भक्त, धर्म-भीरु, विनयी, निरभिमान तथा आस्तिक थे। आपकी उदारताका आभास आपके मद्रास-विश्वविद्यालयको लिखे एक पत्रसे मिलता है—'मुझे ऐसा अनुभव होता है कि भारत लौटनेके पश्चात् सब धन, जो मुझे मिलना चाहिये मेरी आवश्यकताओंसे कहीं अधिक होगा। मैं आशा करता हूँ कि इंगलैंडमें मेरा व्यय तथा ५० पौंड वार्षिक मेरे माता-पिताको देनेके पश्चात् मेरे आवश्यक खर्चमें जो शेष बचे, वह किसी शिक्षाकार्यमें विशेषतः स्कूलमें दरिद्र बालकोंकी फीस घटाने और पुस्तकोंका प्रबन्ध करनेमें व्यय कर दिया जाय।'

श्रीरामानुजम् संसारकी उन थोड़ी विभूतियोंमेंसे थे जो दरिद्र-परिवारमें जन्म लेकर भी अपनी प्रतिभाके बलसे गणित-संसारमें सदाको अपना नाम अमर कर गये। इतिहासमें किसी बालक गणितज्ञका इनके पूर्व हमें नाम नहीं मिलता। इतने कम समयमें उन्होंने जो असाधारण सफलता प्राप्त की, वह वास्तवमें महान् है।

संसारकी सबसे चतुर बालिका

(लेखक—लाला संतरामजी बी० ए०)

हमारे यहाँ गुरुकी बड़ी महिमा है। सद्गुरुका मिलना मनुष्यके लिये बड़े सौभाग्यकी बात है। सद्-गुरुकी कृपासे मूढ़ मनुष्य भी पण्डित बन जाता है। इतना ही नहीं, इस भवसागरको तरनेके लिये सद्गुरु ही एक जहाज है। लोग कहते हैं कि बीजका गुण प्रधान रहता है; परंतु 'सद्गुरुकी सत्सङ्गति' उसे भी बदल सकती है। आगे लिखा वृत्तान्त हमारे इस कथनकी सत्यताका प्रमाण है।

अमेरिकाका संयुक्तराज्य एक उन्नतिशील देश है। वह बड़े-बड़े विद्वानों, विचारकों और आविष्कारकोंकी जन्मभूमि है। वहाँके विद्याव्यसनी लोग अपने ज्ञानकी उन्नतिके लिये नित्य नये-नये प्रयोग किया करते हैं। इसी अमेरिका देशमें अध्यापक हेनरी ओलरिच नामके एक शिक्षाशास्त्री हैं। आपने एक छोटी बालिकाको ऐसे उत्तम ढंगसे शिक्षा दी है कि वह इस समय संसारकी सबसे चतुर बालिका है। उस बच्चीकी शिक्षा-सम्बन्धी योग्यताओंको देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। इतिहासमें इतनी छोटी अवस्थाकी और इसके समान

चतुर किसी दूसरी लड़कीका पता नहीं चलता।

इस बालिकाका नाम वायोला रोजेलिया ओलरिच है। संयुक्तराज्योंके आईओवा राज्यके अन्तर्गत सिटी आवड्स मोइन्समें इसका जन्म हुआ था। आठ मास चार दिनका वय होनेपर अध्यापक हेनरी ओलरिच और उनकी पत्नीने उसे अपनी धर्मपुत्री बना लिया। उस समय अध्यापक महाशय आईओवाके लेक्सिटी नामक नगरमें सार्वजनिक स्कूलोंके अधिष्ठाता थे। वे आप ही घरपर उसे शिक्षा देते थे।

धर्मपुत्री बनानेका प्रधान कारण

बालिकाको धर्मपुत्री बनानेका प्रधान कारण यह था कि वे व्यावहारिकरूपसे शिक्षाकी एक नवीन पद्धतिकी परीक्षा करना चाहते थे। जितनी शिक्षा-पद्धतियाँ उस समय प्रचलित थीं, उन सबसे वे इस पद्धतिको उत्तम समझते थे। स्थूलरूपसे वह पद्धति इस प्रकार है।

बच्चेका चुनाव कैसे किया गया

कोई विशेष बच्चा चुननेका उद्योग नहीं किया गया। इसके विपरीत वे कोई साधारण-सा बच्चा चाहते थे। वे केवल शारीरिक स्वास्थ्यको ही महत्त्व देते थे; परंतु बच्चेके माता-पिताके स्वास्थ्यके सम्बन्धमें भी उन्हें बहुत कम ज्ञान था।

वायोलाकी दिनांकनी (रोजनामचा)

जितनी सावधानीसे अध्यापक महाशय वायोलाकी दैनिक प्रगतिका इतिहास रखते हैं, उससे अधिक सावधानीके साथ आजतक कदाचित् किसी दूसरे बालकका इतिहास नहीं रक्खा गया। इसलिये बालिकाके सम्बन्धमें जो बातें आगे लिखी गयी हैं, वे यों ही अटकल-पच्चू अनुमानसे नहीं लिख दी गयीं, वरं वे उतनी ही ठीक हैं जितनी कि कोई नियमपूर्वक सावधानीसे लिखी हुई चीज हो सकती है।

शारीरिक विशेषता

दत्तक बनाते समय वायोलाकी शारीरिक दशा बहुत संतोषजनक न थी। वह पीले रंगकी गोरी-सी बच्ची थी। उसका मुँह थोड़ा-सा टेढ़ा और मुखमण्डलकी दाहिनी ओर बायींसे यथेष्ट अधिक फूली हुई थी। ये दोष शीघ्र ही घटकर लुप्त होने लगे। उसके गालोंका रंग गुलाबी और चेहरा सुडौल हो गया। वायोलाका वजन और डील औसत दर्जेका है। अब तीन वर्ष साढ़े तीन मासकी आयुमें उसका तौल ३० पौंड ८ औंस, और कद ३ फुटसे कुछ ऊँचा है। दत्तक बनानेके समय, १० मास पहले, उसका तौल १४ पौंड ८ औंस था। इस समय उसके नेत्र चमकीले, केश सुनहरे, चेहरा सुन्दर और व्यक्तित्व चित्ताकर्षक है।

पहला आचरण

जब अध्यापक महाशय वायोलाको पहले-पहल अपने घर लाये, तब वह एक रोती रहनेवाली लड़की थी। अध्यापक महाशयने उसे शीघ्र ही सादेसे खिलौनेके साथ अपने आप फर्शपर खेलना सिखाना आरम्भ किया। उसे यह इतना भाया कि वह गोदीमें अधिक उठाया जाना पसंद न करती थी। इस प्रकार उसने बहुत पहले अपनेको आप ही बहलाना सीख लिया। यह बात बड़ी ही बहुमूल्य है और बच्चे, बूढ़े सभीको पूरी तरहसे आनी चाहिये। इस प्रकार उसके साथ प्रेमका व्यवहार होने और उसे काममें लगाये रखनेसे उसका रोती रहनेका स्वभाव शीघ्र ही कम हो गया और उसकी प्रकृति निरन्तर सुशील और आनन्दमयी होती गयी।

खान-पान

वायोलाको जितना वह चाहे सदा उतना खा लेने दिया जाता रहा है। बड़े भोजनोंके बीचके अन्तरमें जब भी उसे भूख लगती है, वह बराबर खाती रही है। एक वर्ष और छः मासकी आयुमें उसे अपना जलपान रखने-

के लिये एक छोटी-सी आलमारी दे दी गयी थी । उसमें उसके लिये रोटी और अन्य खाद्य पदार्थ रख दिये जाते हैं । जब भोजनोंके बीचके अन्तरमें वह कुछ खाना चाहती है, तब वह उसका द्वार खोलकर जितना चाहती है उसमेंसे निकालकर खा लेती है । जब वह खा चुकती है, तब सदा ध्यानपूर्वक आलमारीका द्वार बंद करके खेलने चली जाती है । यह अभ्यास स्वास्थ्यवर्धक क्षुधा उत्पन्न करनेके लिये ही लाभदायक नहीं, वरं इससे सुव्यवस्थाकी भी अच्छी शिक्षा मिलती है ।

सोना

वायोला जबसे अध्यापक महाशयके यहाँ आयी है, सदा आप ही जाकर अकेली सो जाती है । पहले कुछ मास वह दिनमें दो बार सोया करती थी । सुलानेके लिये उसे कभी पालनेमें डालकर झुलाया, सुलाया या गोदीमें उठाकर घुमाया या थपकाया नहीं गया । बच्चेको बहुत-सी निर्विघ्न एवं सुखदायक निद्रा चाहिये । जो बच्चा आप उठ-बैठ और चल-फिर नहीं सकता, उसे, ज्यों ही वह जागे, उठा लेना चाहिये । उसे सहायताके लिये रोनेपर कभी विवश नहीं करना चाहिये । इस प्रकार रोनेपर विवश करनेसे वह शीघ्र ही रोता रहनेवाला बच्चा बन जाता है ।

स्वास्थ्यकी दशा

अचानक जुकाम और खसरा आदिको छोड़कर बालिकाका स्वास्थ्य सदा अच्छा रहा है । जिस दिनसे वह अध्यापक महाशयके पास आयी है, उस दिनसे वह निरन्तर तगड़ी होती जा रही है ।

उसके साथ कैसा व्यवहार होता है ?

अध्यापक महाशय वायोलाके साथ सदा अतीव दया और सुशीलताका बर्ताव करते रहे हैं । उसे उन्होंने कभी ऊँचा या कठोर शब्द नहीं कहा । सच पूछो तो, प्रत्येक 'बुरा लड़का' और प्रत्येक 'बुरी लड़की' इसलिये बुरी बन गयी है, क्योंकि लोग व्यर्थ उनके काममें हस्तक्षेप करते हैं । पुराने ढर्रेके लोगोंका मत है कि जो माता-पिता और अध्यापक अपने बच्चों और शिष्योंपर दण्ड-प्रहार नहीं करते, वे उन्हें बिगाड़ देते हैं; परंतु आधुनिक विज्ञान और व्यवहार-बुद्धि यह कहने लगी है कि 'छड़ीको नष्ट कर देनेसे ही बच्चा शिष्ट बन सकता है ।' निःसन्देह बुद्धि, दया और स्वतन्त्रता ही ऐसी चीज है जो वास्तवमें संसारका सुधार एवं संशोधन कर सकती है ।

विधि

वायोलाने अपना सारा ज्ञान खेलके रूपमें प्राप्त किया है । उसने अपने जीवनमें कभी किसी पाठका 'अध्ययन' नहीं किया । उसे कभी पुस्तक लेनेके लिये नहीं कहा गया । उसका सारा जीवन एक रुचिर क्रीड़ा-सा रहा है । अध्यापक महाशयने एक बहुत ही मनोहर शिक्षा-सम्बन्धी यन्त्रका आविष्कार एवं निर्माण किया । इसके साथ बालिकामें ज्ञान-प्राप्तिके लिये रुचि उत्पन्न हो गयी । इस यन्त्रके साथ परिवेष्टित कर देनेके बाद बालिकाको इस बातकी पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाती है कि वह क्या और कब सीखे । इस विकल्पमें निर्णेता सदा वही रही है, अध्यापक महाशय नहीं । वे केवल इतना ही करते रहे हैं कि जिस दिशामें वे चाहते थे कि वह उन्नति करे, उसके सीखनेमें वे उसकी रुचि तथा उत्साह बढ़ा देते थे ।

वायोलाने पढ़ना कैसे सीखा ?

कुछ तो अपनेको बहलानेके उद्देश्यसे, कुछ पुस्तकोंके लिये रुचि उत्पन्न करनेके लिये और कुछ पुस्तकोंको उठाना और रखना सीखनेके विचारसे वायोलाको उसकी पहली पुस्तक तेरह मासकी आयुमें दी गयी । इसके बाद शीघ्र ही वे उसका ध्यान चित्रोंमें चित्रित वस्तुओंकी ओर खींचने लगे और उनके सम्बन्धमें उन्होंने उसको कई मनोरञ्जक बातें सुनायीं । थोड़े ही दिनोंमें वह इन सरल अभ्यासोंमें बहुत रुचि लेने लगी । वह शीघ्र ही पाठ लेनेके लिये अपनी पुस्तक बार-बार उनके पास लाने

लगी। जिस समय उन्होंने उसे यह पुस्तक दी, उसी समय उन्होंने बैठनेके कमरेमें एक सुभीतेके स्थानपर एक छोटा-सा सुन्दर शेल्फ या पुस्तकाधार भी लगा दिया और उसे कह दिया कि यह शेल्फ तुम्हारी नयी पुस्तकके लिये, जिस समय तुम उसका उपयोग नहीं कर रही होगी, एक बहुत अच्छे पुस्तकालयका काम देगा। उसने पुस्तकको उसपर रखनेका पाठ बहुत आसानीसे सीख लिया। सुव्यवस्थाकी शिक्षामें यह एक महत्त्वपूर्ण पाठ था।

अपनी पहली पुस्तकके साथ वह दो मासतक खेलती रही। इसके बाद वह उठाकर रख दी गयी और एक दूसरे प्रकारकी फर्स्ट रीडर या प्रथम पुस्तक उसे दी गयी। इसका भी उसने उसी प्रकार दो मासतक उपयोग किया। वह इन पुस्तकोंके साथ बहुत खेली—कदाचित् दोसे तीन घंटेतक रोज खेलती थी। पहली पुस्तकका अगला भाग काफी फट गया है, दूसरी केवल दो स्थानोंमें ही फटी हुई है। इन सरल अभ्यासोंने छोटी अवस्थामें ही चित्रों और पुस्तकोंके लिये दिलचस्पी उत्पन्न कर दी, पर्यवेक्षणके लिये रुचि जाग्रत् कर दी, सावधानता एवं स्मृतिको विकसित कर दिया, मनोयोगको पुष्ट किया, उसके शब्दभाण्डारको बहुत बढ़ा दिया और सुव्यवस्था एवं सौन्दर्यका सम्मान करना सिखला दिया। वास्तवमें उन्होंने बहुत-सी मानसिक शक्तियोंके विकासका आरम्भ कर दिया।

सत्रह मासकी आयुमें वह प्रत्येक अक्षरकी एक ध्वनि बता सकती थी। तब उसने छोटे-छोटे वाक्य पढ़ना सीखा, जिनको वह शीघ्र ही बोलना सीख चुकी थी। उन्होंने इन वाक्योंको कार्डोंपर छाप दिया और उसने उनको वाक्यविधि (सेंटेंस मेथड) से पढ़ना सीखा। तब वे शब्दविधि (वर्ड मेथड) का भी प्रयोग करने लगे। इस प्रकार उन्होंने सभी विधियोंका मनोहर ढंगसे प्रयोग किया—कभी वे एकको काममें लाते थे और कभी दूसरीको।

दो वर्ष और ग्यारह मासकी आयुमें वायोला अंग्रेजी भाषामें किसी भी पाठ्य विषयको देखते ही प्रभावोत्पादक उच्चारणके साथ पढ़ सकती थी। अभी वह पूरे तीन वर्षकी भी न हुई थी कि वह जर्मन भाषा भी बड़ी उत्तम रीतिसे पढ़ लेती थी। तीन वर्ष और दो मासकी आयुमें वह अंग्रेजी, जर्मन और फ्रेंच पढ़ती थी। स्कूली रीडरोंकी बाल्डविन पुस्तकमालामें पहलीसे लेकर छठीतक, कदाचित् एक भी ऐसा शब्द नहीं, जिसे वह देखते ही जल्दीसे नहीं पढ़ सकती।

जर्मन और फ्रेंच उसने एकमात्र वाक्यविधिसे ही पढ़ना सीखा। वाक्यविचारका एक मान (यूनिट) है। हम वाक्योंके ही संकेतोंमें विचार करते हैं, शब्दों या प्रारम्भिक ध्वनियोंमें नहीं। इसी कारणसे छोटे बच्चोंके लिये वाक्यविधि ही सबसे अधिक सुगम और चित्ताकर्षक है, शब्दविधि नहीं। यह कहीं उत्तम पाठ उत्पन्न करती है। नये वाक्य सीखनेके स्थानमें बच्चेको ऐसे वाक्य पढ़ने सीखने चाहिये, जिनको वह प्रतिदिन वार्तालापमें शीघ्रतासे बोलता है। इस ढंगसे पढ़ना सुखकर, सुरम्य और सुगम हो जाता है।

संख्याएँ और रंग

बीस मासकी आयुमें वायोला सभी अङ्क पढ़ सकती और नौ रंग—सफेद, काला और त्रिपार्श्व काँचमें दिखायी देनेवाले सूर्यके प्रकाशके सात रंग पहचान सकती थी। अध्यापक महाशयने उसे अङ्क सिखानेके लिये सुन्दर फलोंपर बड़े-बड़े अङ्क लिखकर दीवारपर लटका दिये। जिस तखतीपर जो अङ्क लिखा था, उसके अनुरूप उतने ही चमकीले पिन भी उसमें लगा दिये गये थे। रंगोंका ज्ञान करानेके लिये फलकोंपर रंगीन फीते बाँधकर उनको अङ्कोंके फलकोंके सदृश दीवारपर लटकाया गया था। जब कभी बच्चे या अध्यापक महाशयका जी उन फलकोंके साथ खेलनेको करता था, तब अङ्क या रंगका नाम लेकर उसे मँगाया

जाता था। बच्ची जाकर उसी फलकको ले आती थी जिसे वह समझती थी कि अध्यापक महाशयने मँगाया है। उन्होंने पहले दो फलकोंके साथ आरम्भ किया और फिर वे क्रमशः इनकी संख्याको बढ़ाते गये। बाईस मासकी आयुमें वह १०० तक सारी संख्याएँ पढ़ सकती थी। तीन वर्ष साढ़े तीन मासकी आयुमें वह पद्मोंतककी राशियाँ पढ़ना सीख गयी। वह इस अवस्थामें कई हलके रंगों (शेड और टिंट) को भी खूब पहचानती है।

ड्राइंग

जब वह एक वर्ष और नौ मासकी थी, तब वह निम्नलिखितको काली पट्टी या पेन्सिलके साथ कागज-पर खड़ी रेखा, आड़ी रेखा, तिरछी रेखा, क्रास, सीढ़ी और वृत्त खींच सकती थी—तबसे उसने और भी अनेक चीजें खींचनी सीख ली हैं। तीन वर्ष साढ़े तीन मासकी आयुमें, वह अनुरोध करनेपर, समतल रेखागणित (प्लेन ज्यामिटरी) में प्रयुक्त होनेवाली प्रत्येक प्रकारकी लकीर, सब प्रकारके त्रिभुज, गोला, वर्ग और त्रिभुजाकार छेदित घनक्षेत्र (प्रिज्म), सुंडाकार स्तम्भ (पिरामिड), शंकु और उनके खंड, पेड़ोंके पत्ते और इसी प्रकारकी अन्य अनेक चीजें खींच लेती थी। ड्राइंग सिखानेके लिये अध्यापक महाशयने पहले उसे काली पट्टीपर सीधी लकीरें खींचना सिखाया और उनकी स्थिति समझायी, फिर धीरे-धीरे त्रिभुज, वक्ररेखा इत्यादि अधिक असरल चीजें सिखायीं।

रेखागणित-सम्बन्धी आकृतियाँ

वायोलाने आकृतियाँ बहुत शीघ्र सीख लीं। वह अभी एक वर्ष और नौ मासकी भी नहीं हुई थी कि चौंतीस आकृतियोंमेंसे प्रत्येकका नाम बता सकती और उठाकर ला सकती थी। पहले-पहल केवल तीन ही आकृतियाँ—वर्ग, वृत्त और त्रिभुज—उसके सामने रक्खी गयी थीं। जब वह इनको सीख गयी, तब क्रमशः उनमें और आकृतियाँ बढ़ा दी गयीं।

राष्ट्रिय पताकाएँ

एक वर्ष और नौ मासकी आयुमें वायोला पचीस राष्ट्रोंके झंडोंको जानती थी। सब झंडे एक पंक्तिमें लगा देनेपर वह जिसका भी नाम लो उसे पकड़ लेती थी। इन सब अभ्यासोंमें पहले थोड़ेसे आरम्भ करके धीरे-धीरे संख्या बढ़ायी जाती थी। उसकी शिक्षामें किसी पाठके लिये कोई विशेष समय नियत नहीं था, वरं सदा जैसा जी चाहता था, वैसा कर लिया जाता था। पाठकोंको यह बात भूल न जानी चाहिये कि वायोलाकी सारी शिक्षा खेलमात्र थी। इन सब शिक्षा-सम्बन्धी विषयोंमें उसे सदा स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

भूगोल

भूगोलमें उसने पहले अमेरिकाके संयुक्तराज्योंके प्रदेशों तथा स्टेटोंका स्थान निर्देश करना और तत्पश्चात् उनके नाम सीखे। इस प्रयोजनके लिये जिस मानचित्रका उपयोग किया गया, उसमें नाम न थे। एक वर्ष और नौ मासकी आयुमें वह किसी भी प्रदेश और स्टेट और उनकी राजधानियोंको संकेतसे बता सकती थी। इस रीतिसे वह शीघ्र ही संसारके सभी देशों और उनकी राजधानियोंका स्थान निर्देश करना और उनके नाम बताना सीख गयी। तब उसने महासागरों, झीलों, पर्वतों, नदियों और अन्तरीप आदिके नाम पढ़ना और उनका स्थान-निर्देश करना सीखा। तीन वर्ष साढ़े तीन मासकी आयुमें वह फ्राईस ज्योग्राफीसमें दिये हुए प्रायः प्रत्येक नामको पढ़ सकती, और बंद पुस्तक उसके हाथमें दे देनेपर, कोई भी प्रसिद्ध भौगोलिक नाम एवं स्थान, उसे खोलकर कुछ ही सेकंडोंमें निकाल देती थी।

प्रसिद्ध व्यक्तियोंके चित्र

एक वर्ष और दस मासकी आयुमें वायोला अच्छी और बुरी—प्रत्येक प्रकारकी विचारधाराको दिखलानेवाले

एक सौसे अधिक स्त्री-पुरुषोंके चित्रोंको जानती थी। उसे शीघ्र ही इन चित्रोंके साथ खेलनेका शौक हो गया और उसने थोड़े ही समयमें उनको पहचानना सीख लिया।

ये चित्र एक गत्तेकी बनी हुई चौखटमें खुले तार-पर रक्खे गये थे। तब बच्चेसे कहा जाता था कि उनमेंसे अमुक उठा लाओ। पहले पाठमें केवल दो ही चित्रों-का उपयोग किया गया। तब जितनी जल्दी वह उन्हें पहचानना सीखती गयी, उतनी ही जल्दी उनकी संख्या बढ़ा दी जाती रही।

बीज और पत्ते

वायोला अभी पूरे एक वर्ष और ग्यारह मासकी नहीं हुई थी कि वह विभिन्न जातिके बत्तीस बीजों और पचीस प्रकारके पेड़ोंके पत्तोंको जानती और उनके नाम बता सकती थी। बीज छोटी-छोटी बोतलोंमें बंद करके एक साफ-सुथरी संदूकचीमें इस ढंगसे रक्खे हुए थे कि उन सबपर एक साथ दृष्टि पड़ सकती थी। पत्ते एक बड़ी पुस्तकमें दबा कर रक्खे गये थे।

शरीर-शास्त्र और शरीर-व्यवच्छेद विद्या

एक वर्ष और ग्यारह मासकी आयुमें वह नर-कङ्कालकी प्रायः प्रत्येक अस्थि और शरीरकी सभी इन्द्रियोंका निर्देश कर सकती थी। उसने पहले जाँघकी हड्डीका, फिर भुजाकी हड्डीका नाम लेना और स्थान-निर्देश करना सीखा। तीन वर्ष और साढ़े तीन मासकी आयुमें वह नरकङ्कालकी सभी अस्थियोंके नाम पढ़ सकती और प्रायः उन सबका स्थान-निर्देश कर सकती थी। वह शरीरके बाह्य अङ्गोंके नाम बता सकती, पढ़ सकती और उनका स्थान-निर्देश कर सकती थी।

रेखाएँ और कोण

जब वायोला एक वर्ष और ग्यारह मासकी थी, तब वह रेखागणितमें प्रयुक्त होनेवाली बाईस प्रकारकी रेखाओं और कोणोंको जानती और देखते ही उनके नाम बता देती थी। ये रेखाएँ और कोण एक साधारण लिफाफेके आकारके कार्डोंपर खींचे गये थे। उसने उनकी पहचान और नाम उसी प्रकार सीख लिये, जिस प्रकार उसने चित्रों आदिके नाम सीखे थे।

संयुक्त राज्योंकी मुद्राएँ

तेईस मासकी आयुमें वह अमेरिकाके संयुक्त राज्यों-के सभी सिक्कोंका नाम बता सकती और उनको पहचान सकती थी। उसे इनका ज्ञान सिक्कोंको एक उथली रकाबीमें रखकर कराया गया। पेनी और निकलसे आरम्भ करके ज्यों-ज्यों वह सीखती गयी, क्रमशः अधिक मूल्यके सिक्के रक्खे गये। कभी उसे कोई सिक्का उठाकर देनेको कहा जाता था और कभी कोई सिक्का उठाकर उससे उसका नाम पूछा जाता था। इस रीतिसे उसने एकको दूसरेसे पहचानना तथा नाम बताना और पर्यवेक्षण तथा वार्तालाप करना सीख लिया। जीवनके व्यावहारिक कामोंमें ये सब बातें बड़ी ही उपयोगी हैं।

परीक्षा

एक वर्ष ग्यारह मास और पचीस दिनकी आयुमें वायोलाने निष्पक्ष परीक्षकोंकी एक समिति (कुमारी वर्ना लम्पकिन और कुमारी मार्था केम्बल, जो कि दोनों लेक सिटी, आईओवाके सार्वजनिक स्कूलोंकी सुयोग्य और सफल अध्यापिकाएँ हैं)के सामने परीक्षा पास की।

समितिने मालूम किया कि यदि चित्रों या स्वयं वस्तुओंको उसके सामने लाया जाय तो वह २५०० संज्ञाएँ जानती है। उन्होंने यह भी कूता है कि वह कम-से-कम ५०० संज्ञाएँ और भी जानती है, जिनके चित्र या वस्तुएँ वे उसके सामने उपस्थित नहीं कर सकीं। इससे उस आयुमें उसकी जानी हुई संज्ञाओंकी संख्या ३००० हो जाती है। एक सम्मान्य प्रौढ़ मनुष्य अपनी दैनन्दिन बातचीतमें इस संख्यासे कहीं कम पदोंका उपयोग करता है।

यह परीक्षा दो सर्वथा भिन्न-भिन्न रीतियोंसे की गयी थी। पहली रीतिमें बहुसंख्यक वस्तुएँ या उनके चित्र वायोलाके सामने रक्खे गये। तब एक-एकका नाम लेकर उसे उसको लानेके लिये अनुरोध किया गया। दूसरी रीतिमें कोई वस्तु या उसका चित्र उसे दिखलाकर उससे उसका नाम पूछा गया। लगभग आधा समय पिछली रीतिका उपयोग किया गया, यद्यपि वह सूचीके प्रायः सभी नामोंका उच्चारण भलीभाँति कर सकती थी।

विराम-चिह्न

दो वर्षकी आयुमें उसे बाईस विराम चिह्नोंका ज्ञान था। वे कार्डोंपर खींच दिये गये थे और उनको उसने चित्र आदिकी तरह ही सीख लिया था। पाठक देखेंगे कि वायोलाकी सारी शिक्षा व्यावहारिक ज्ञानके रूपमें ही हुई। इससे पूर्व कि बालक सोच-समझकर पढ़ सके और शुद्ध रीतिसे लिख सके, उसके लिये इस ज्ञानका प्राप्त करना बहुत आवश्यक होता है।

वर्ण-संयोग

जब वायोला पढ़ने लगी, तब उसके थोड़े ही काल उपरान्त उसने वर्णोंके नाम सीखना और सुगम शब्दोंके हिज्जे करना भी आरम्भ कर दिया। ये शब्द कार्डोंपर मोटे अक्षरोंमें छापे गये थे। ये कार्ड मनोहर तख्तियोंके एक तलपर बनी हुई नालीमें खिसक कर जा सकते थे। ये तख्तियाँ दीवारपर लटकायी हुई थीं और इनमें चिलगोजे भरे हुए थे। जब वायोला कोई चिलगोजा लेना चाहती थी, तब उसे एक तख्ती, जिसपर एक विशेष शब्द लिखा रहता था, लानेके लिये कहा जाता था। (अध्यापक महाशयने इन तख्तियोंका नाम चिलगोजोंकी बोतलें रख छोड़ा था।) यदि वह ठीक शब्दवाली तख्ती लाती थी, वह पहले देखकर, फिर स्मृतिसे और बहुधा ध्वनिसे भी उसके हिज्जे कर लेती थी। इसी रीतिसे वह शीघ्र ही और सुखपूर्वक हिज्जे करना सीख गयी, यहाँतक कि तीन वर्षकी आयुमें वह शब्दोंकी एक लंबी सूचीके हिज्जे कर लेती थी। उनमेंसे अनेक शब्द बहुत कठिन भी थे यथा—

Vinegar, sugar, insect, viola, busy, Mamma, Rosalia, February, biscuit, Olerich, American, Nebrasta, Council, Pompeii, Mediterranean इत्यादि।

फूलका विश्लेषण

वह फूलोंको बहुत चाहती है। उनको तोड़कर उनके भागोंको जुदा-जुदा करनेमें उसे आनन्द आता है। यूमनकृत बाँटनीमें दिये हुए सभी वनस्पतिशास्त्र-सम्बन्धी नामोंको वह देखते ही पढ़ सकती है। अध्यापक महाशयने अनेक बार दर्शकोंके हाथमें यह वनस्पतिशास्त्र (बाँटनी) और स्टीलरचित प्राणिशास्त्र (जूऑलोजी) देकर कहा है कि जो सज्जन इन दोनों पुस्तकोंमेंसे एक भी शब्द ऐसा निकाल देंगे, जिसे देखते ही वायोला उसका उच्चारण न कर सके, उन्हें एक सुन्दर पुस्तक पारितोषिकमें दी जायगी। आजतक कोई भी व्यक्ति ऐसा शब्द नहीं निकाल सका।

लिखना

लिखनेका अभ्यास करनेके पहले वायोला सुगमतापूर्वक हस्तलेख पढ़ सकती थी। लिखने और ड्राइंगका अभ्यास उसने पहले ब्लैकबोर्डपर ही आरम्भ किया। पहला वर्ण जो उसने लिखना सीखा, वह छोटी (i) थी। इसके बाद उसने e, u, t, j, n, b, इत्यादि सीखे। 'O' पहला बड़ा (कैपिटल) वर्ण था, जो इसने सबसे पहले बनाना सीखा। तीन वर्ष साढ़े तीन मासकी आयुमें वह शब्द और संख्याएँ बड़ी शीघ्रतासे लिखने लगी, लिखनेके अभ्यासोंको मनोरञ्जक बनानेके लिये अध्यापक महाशय बहुधा बीच-बीचमें मनोहर आलेख्य भी बना देते थे।

टाइपराइटिंग

तीन वर्ष और बारह दिनकी आयुमें उसे पहले-पहल

शिववात्सल्य

पहाड़ी १८वीं शती] [भारत-कला-भवन

राजकुमारी-राजकुमार

अजन्ता पेंटिंग
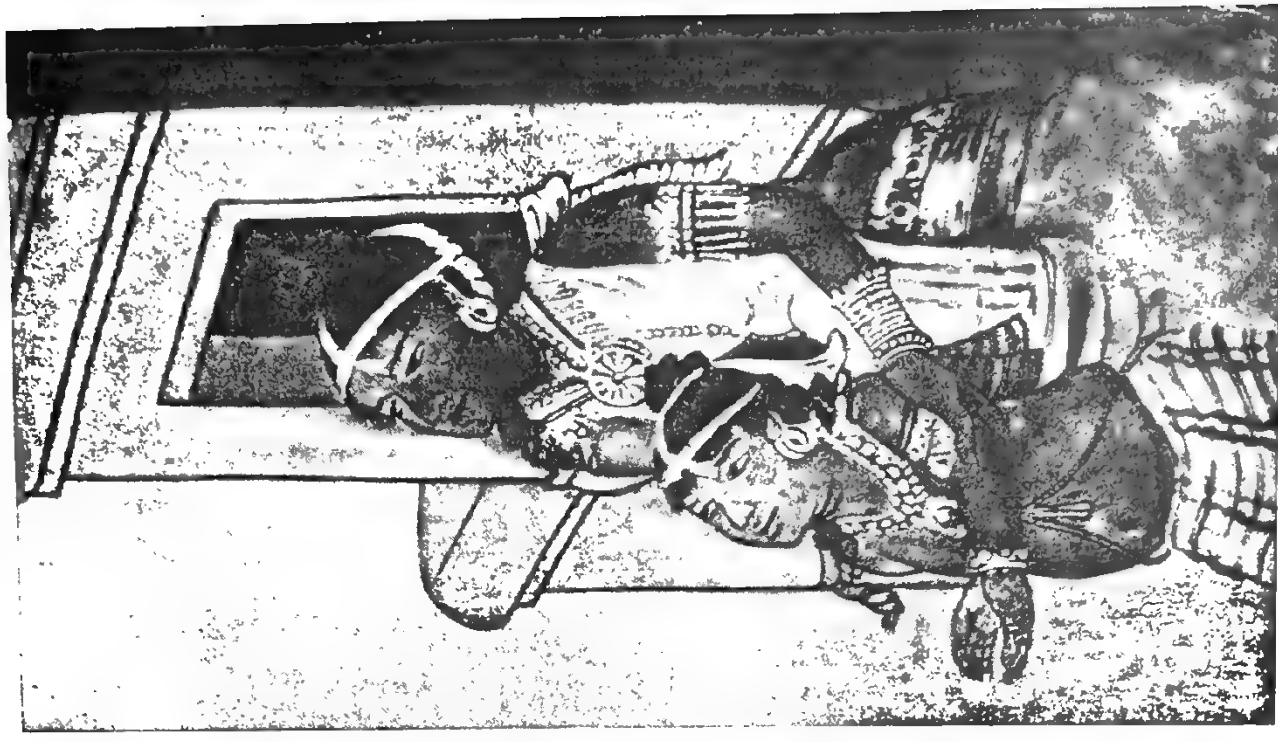
स्मिथ प्रीमियर टाइपराइटर मिला और इसके दो दिन बाद उसे इसका पहला पाठ दिया गया। थोड़े ही दिनोंमें वह मशीनमें कागज रखना, कैरेजको चलाना, कागज चढ़ाना और दोनों हाथोंके साथ सारे बोर्डपर उँगली चलाना सीख गयी। वह 'की' पर ऐसी दृढ़ता और समरूपसे चोट करती है कि सभी वर्ण पूरे-पूरे और साफ-साफ छपते हैं। तीन वर्ष साढ़े तीन मासकी आयुमें वह न केवल हस्तलेख और छपी हुई प्रतिको ही देखकर वरं प्रतिके बिना भी बहुत अच्छी तरहसे टाइप कर लेती थी।

दूसरे अनेक सद्गुण

तीन वर्ष तीन मासकी आयुमें वायोला अंग्रेजी भाषाकी सभी प्रारम्भिक ध्वनियाँ दे सकती और एक छोटेसे अभिधानमें शब्द ढूँढ़ सकती है। वह अमेरिका-के संयुक्त राज्योंके प्रदेशों तथा स्टेटोंके सप्ताहके, दिनों-के, वर्षोंके, मासोंके और अन्य अनेक वस्तुओंके संक्षिप्त नाम पहचान और पढ़ सकती थी। वह विराम-चिह्नोंका उपयोग खूब जानती थी। वह फ्रेंच और जर्मनका अंग्रेजीमें अनुवाद करनेमें बड़ी निपुण और ज्योतिषशास्त्र, भूगर्भविद्या, व्याकरण, भौतिक भूगोल और इतिहास आदिमें प्रयुक्त होनेवाली वैज्ञानिक परिभाषाओंकी एक बहुत बड़ी संख्यासे परिचित थी। उसका मनोयोग, उसकी स्मृति, उसका पर्यवेक्षण, उसकी विवेकशक्ति, उसका तर्क और समालोचकके रूपमें उसकी योग्यता सब विस्मयोत्पादक हैं।

वायोलाकी शिक्षासम्बन्धी योग्यताकी कई अवसरोंपर सर्वसाधारणमें पूरी-पूरी जाँच की जा चुकी है। वह अपना कार्य एक छोटी-सी ऊँची रंगभूमिपर करती है। उसे शिक्षासम्बन्धी यन्त्रोंकी प्रदर्शनियाँ दिखानेका बड़ा शौक है। जब दर्शक लोग उसकी प्रशंसा करते हैं, तब वह बहुत प्रसन्न होती है। लोग प्रसन्न होकर उपहारमें उसे गुलदस्ते देते हैं।

लोग अध्यापक महाशयसे पूछते हैं कि आप इस शिक्षासम्बन्धी प्रयोगसे क्या सिद्ध करना चाहते हैं? इसका उत्तर वे इस प्रकार देते हैं—

"मैं दिखलाना चाहता हूँ कि एक बच्चा, बहुत छोटी आयुमें, अच्छा पाठक, पटु लेखक, बहुत अच्छा हिज्जे करनेवाला और पण्डित बन सकता है। निर्दयता और नियन्त्रणकी अपेक्षा दया और स्वतन्त्रता कहीं अधिक अच्छे शिक्षासम्बन्धी परिणाम पैदा करती है; विद्या सीखनेके लिये बलसे नहीं, वरं रुचिसे उत्तेजना प्राप्त होनी चाहिये। बच्चा सब कुछ खेलके रूपमें सीखे; बच्चा चाहे कितना भी अधिक क्यों न सीखता जाय, जबतक वह पूर्ण रूपसे स्वतन्त्र है, उसे कोई हानि नहीं हो सकती। अपेक्षाकृत छोटा बच्चा शरीरशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान आदि महत्त्वपूर्ण शास्त्रोंका प्रचुर ज्ञान शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। प्रतिभा और चरित्र प्रायः सर्वथा जन्मके बाद होनेवाली शिक्षापर निर्भर हैं और यदि परम्परा या जन्मसे पूर्व पड़नेवाले संस्कारोंपर कुछ है भी, तो बहुत थोड़ा और यदि प्रत्येक स्वस्थ बच्चेको रुचि, दया और स्वतन्त्रताकी शैलीसे शिक्षा दी जाय तो उसका शब्दभाण्डार इतना विस्तृत तथा उसकी स्मरणशक्ति इतनी विस्मयोत्पादक होगी और उसमें अनेक ऐसे असाधारण उत्तम गुण आ जायँगे कि देखकर आश्चर्य होगा।" अध्यापक महाशयका विश्वास है कि शिक्षाकी उचित पद्धतिसे बच्चे आठ वर्षकी आयुको प्राप्त होनेसे पहले ही आजकलके सामान्य ग्रेजुएटसे अधिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसके लिये उन्हें कोई आयास या यत्न नहीं करना पड़ेगा। वे खेल-कूदमें ही इसे सीख लेंगे।

धन्य है वह देश जिसमें ऐसे गुरु मिल सकते हैं और धन्य हैं वे बालक जिनको ऐसी उत्तम पद्धतिसे शिक्षा-प्राप्तिका सौभाग्य मिलता है! राष्ट्रोंकी दौड़में पिछड़े हुए इस भारतमें तो न मालूम कितने सहस्र बच्चे शिक्षकों-के निर्दोष शिक्षा-पद्धतिका शुद्ध ज्ञान न होनेसे और उनकी मार-पीटसे डरकर ज्ञानामृतसे वञ्चित रह जाते हैं।

बालक बीरबलकी बुद्धिमानी

(लेखक—स्वामीजी श्री पी० एन० सरस्वती)

जिस समय बालक बीरबलकी आयु पंद्रह सालकी हुई, माता और पिता—दोनों न मालूम किस 'अगोचर परदेश' को चले गये। उस समय 'गरीब बीरबल' के पास केवल पचास रुपये थे। पढ़े-लिखे भी वे बहुत कम थे।

खूब सोच-समझकर बीरबलने पानकी दूकान खोली—और वह भी किलेके पास। उस समय बादशाह अकबर आगरेके किलेमें निवास कर रहे थे। गोस्वामी तुलसीदासजीको कैद करनेके कारण वीर बजरंगीने बादशाहको दिल्लीके किलेसे सर्वदाके लिये निकल जानेकी आज्ञा दे दी थी। अतः अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँने आगरेमें ही रहकर राज्य किया था। औरंगजेब जरूर दिल्लीके किलेमें जाकर रहा था। सो हमेशाके लिये 'इस्लामी राज्य' खतम भी हो गया।

बालक बीरबल अपनी पानकी दूकानपर बैठा सुपारी काट रहा था और सरस्वती देवीका मन्त्र 'ॐ ऐं ॐ' का जाप कर रहा था। आजकलके विद्यार्थी लोगोंको सरस्वती माताका मन्त्र ही नहीं मालूम! जो विद्याका 'बीजमन्त्र' नहीं जानता और विद्या प्राप्त करना चाहता है, उसे 'विद्याका प्रेत' कहा जाता है।

बीरबलने देखा कि किलेसे निकलकर 'एक मियाँ' लपकता हुआ आ रहा है। वह मियाँ आकर दूकानके सामने खड़ा हो गया और बोला—'पिण्डीजी! आपके पास चूना है?'

'कितना चाहिये?' बीरबलने पूछा।

'पावभर भींगा हुआ तर चूना चाहिये।'

'इतने चूनेका क्या करोगे?'

'आपके पास तर चूना कितना होगा?'

'मेरी एक गगरीमें तीन सेर चूना भींग रहा है। जितना चाहो ले जाओ, पर यह तो बताओ कि पावभर चूनेकी क्यों जरूरत पड़ी?'

'क्या बतलाऊँ माराज! बादशाह सलामत गुशल फरमाकर जो निकले तो मैंने पान पेश किया। उसे खाते-खाते वे एक कुरसीपर बैठ गये और हुकुम दिया कि पावभर चूना ले आओ।'

'मगर अपने लिये 'एक कफन' भी साथ लेते जाना।'

'अरे पिण्डीजी! यह आप क्या फरमाते हैं?'

'तुम बादशाहके लिये पान लगानेपर नौकर हो?'

'जी, माराजजी!'

'कितने दिनोंसे?'

'कोई पंद्रह साल हो गये।'

'फिर भी पान लगाना नहीं आया?'

'आप तो उलझन-में-उलझन पैदा कर रहे हैं—जनाब।'

'अब तुम्हारी सारी उलझनें दूर होनेवाली हैं।'

'आपका मतलब?'

'यह है कि यह पावभर चूना तुम्हें खिलाया जायगा।'

'तब तो मैं मर जाऊँगा।'

'इसीके लिये मैंने कफन ले जानेकी सलाह दी थी।'

'आखिर मेरा कसूर?'

'पानमें चूना ज्यादा लगा दिया। बादशाहकी जीभ कट गयी है। चूनेकी तीव्रतासे तुमको परिचित करानेकी आवश्यकता समझी गयी।'

'यानी?'

'यानी यह पावभर चूना तुम्हें खिलाया जायगा।'

'सच कहते हो—पिण्डीजी! तुम 'जोतसी' हो। सारा हाल आईना हो गया। अल्लाह तुम्हें बरकत दे। अब मेरे बचनेका भी तो कोई उपाय बताओ—जोतसीजी माराज!'

'एक सेर घी पी लो, फिर चूना ले जाओ। जब बाद-

शाह कहे कि चूना खाओ तो बेधड़क खा लेना । चूनाका शत्रु घी है । घीके प्रभावसे न तो तुम्हारी जबान (जीभ) फटेगी और न कलेजा कटेगा । मरोगे भी नहीं । चूनेका जहर घी मारेगा और घीका जहर चूना मारेगा । दोनों लड़कर मर जायँगे ।'

'खुदा तुम्हारा दर्जा ऊँचा करे । आपकी दूकानमें घी भी है ?' 'हाँ—अपने खानेके लिये कल दो सेर घी लिया था । एक सेर तुम ले लो ।'

बीरबलने तौलकर पावभर चूना और सेरभर घी सामने रख दिया । दोनों चीजोंके दाम देकर मियाँने घी पी लिया और चूना लेकर महलकी तरफ भागा ।

बादशाहने पूछा—'चूना लाया ?'

'जी हाँ—गरीबपरवर !' खोजा बोला ।

'यहीं बैठकर खा जाओ !' बादशाहने हुकुम दे दिया। खोजा सामने बैठ गया और बादशाहको पावभर चूना दिखलाकर सब खा गया ।

× × ×

शामको जब वही खोजा, बादशाहको पान देने गया, तब बादशाहने पूछा—'क्यों मुनीर ! तू मरा नहीं ?'

'हजूरके इकबालसे बच गया ।'

'कैसे बचा ?'

खोजा मुनीरने बीरबलका सारा किस्सा बयान कर दिया ।

बादशाहने कहा—'कल दरबारमें उस लड़केको हाजिर करो ।'

सबेरा हुआ । दरबार लगा । खोजा गया और बीरबल-को ले आया । बीरबलने सलाम किया । बादशाह हँसा । फिर बोला—'क्यों मियाँ लड़के ! इस मरदूद खोजेको घी पीनेकी सलाह तुमने दी थी ?'

'जी, जहाँपनाह !'

'क्यों ?'

'मैं समझ गया था कि इसने आपके पानमें चूना ज्यादा लगा दिया ।'

'तुम बहुत अक्लमंद मालूम पड़ते हो ?'

'सरस्वतीकी कृपा है—गरीबपरवर !'

'तुम मेरे एक इम्तहानमें पास हुए हो । दो सवालोंका जवाब तुमसे और लिया जायगा । अगर तीनों बातें ठीक निकलीं तो तुमको कुछ इनाम दिया जायगा ।'

'फरमाइये—जहाँपनाह !'

बादशाहने अपने आठों मन्त्री बुलाये । सबको एक कतारमें खड़ा किया । सबके अन्तमें बालक बीरबलको खड़ा किया । फिर बादशाहने सब वजीरोंसे सवाल किया—

'१२ मेंसे १ गया—क्या रहा ?'

आठों वजीरोंने क्रमशः उत्तर दिया—'११ बाकी रहे—हुजूर ।' मगर बीरबलकी ओर जब इशारा किया गया, तब उसने कहा—'कुछ भी बाकी नहीं रहा—जहाँपनाह !'

'वह कैसे ?' बादशाहने पूछा ।

बीरबलने उत्तर दिया—'बारह महीनोंमेंसे यदि सावन-का एक महीना निकाल दिया जाय तो पैदावारकी सफाई हो जायगी । अतः कुछ भी न रहा । और बादशाहके प्रत्येक सवालमें एक 'रहस्य' होना चाहिये । वजीरोंसे मामूली सवाल नहीं पूछा जाता ।'

बादशाह बहुत खुश हुए, आठों वजीर बहुत लजाये । हँसकर बादशाहने कहा—'नम्बरवार सब वजीरोंको जवाब देना चाहिये—'एक और एक कितना हुआ ?'

आठों मन्त्रियोंने उत्तर दिया—'दो हुए सरकार !'

परंतु बीरबलने उत्तर दिया—'एक और एक—ग्यारह हुए गरीबपरवर !'

'वह कैसे ?' बादशाहने कहा ।

बीरबलने कहा—'अगर आप-सा बादशाह हो और मुझ-सा वजीर हो तो हम दोनोंकी शक्ति दोके समान न होकर ग्यारहके समान हो जाय।'

बादशाहने कहा—'मैं अपनी बादशाहीमें नौ वजीर बनाना चाहता था । पूरा 'नवग्रह' चाहता था । आठ मिल गये थे । नवें तुम आज मिल गये हो। मियाँ लड़के ! तुम्हारा नाम क्या ?'

'मुझे बीरबल कहते हैं—जहाँपनाह !'

'महाराज बीरबल! आजसे आप 'वजीरे आजम' हुए और 'महाराज'का खिताब दिया गया।'

'गरीबपरवरने मेरी जो कदर की है, उसके लिये शुक्रिया'—बीरबलने कहा।

बादशाहकी आज्ञासे बीरबलको प्रधान मन्त्रीवाली पोशाक दी गयी और शाही सिंहासनकी दाहिनी ओर एक छोटे सिंहासनपर बैठनेको जगह दी गयी। शेष आठों मन्त्री उनके नीचे चौकियोंपर बैठ गये।

यह बात सबको मालूम है कि अकबर और बीरबल-का साथ बहुत दिनोंतक रहा था।

छत्तीस सालतक दोनोंमें मित्रता रही और साथ रहा था। जब काबुलकी लड़ाईमें महाराज बीरबल मारे गये थे, तब बादशाह अकबर उनके मरनेकी खबर सुनकर बेहोश होकर खड़ेसे जमीनपर गिर पड़े थे।

बादशाहने तीन दिन अन्न ग्रहण नहीं किया था और रात-दिन रोते रहते थे।

बादशाहने कहा था—'कैसा अच्छा होता जो मैं भी महाराज बीरबलके साथ मर जाता। जिंदगी तो बीरबलके साथ गयी—अब तो मौतके दिन पूरे कर रहा हूँ।'

सरस्वती देवीको सिद्ध करके बीरबलने अपना नाम अमर कर दिया। आजकलके विद्यार्थी कहते हैं—'सरस्वती कौन चीज ? उसके 'मंतर-जंतर' पर हमें विश्वास नहीं।'

देश-प्राण शतमन्यु

सत्ययुगकी बात है। एक बार देशमें दुर्भिक्ष पड़ा। अवर्षणके कारण अन्न नहीं हुआ। पशुओंके लिये चारा नहीं रहा। दूसरे वर्ष भी वर्षा नहीं हुई। विपत्ति बढ़ती गयी। सरिता-सरोवर सूख चले। मार्तण्डकी प्रचण्ड किरणोंसे धरती काँपने लगी। तृण भस्म हो गये। वृक्ष निष्प्राण हो चले। मनुष्यों और पशुओंमें हाहाकार मच गया।

दुर्भिक्ष बढ़ता गया। एक वर्ष नहीं, दो वर्ष नहीं, पूरे बारह वर्षोंतक अनावृष्टि रही। लोग त्राहि-त्राहि करने लगे। कहीं अन्न नहीं, जल नहीं, तृण नहीं, वर्षा और शीत ऋतुएँ नहीं। सर्वत्र-सर्वदा एक ही ग्रीष्म ऋतु। धरतीसे उड़ती धूल और अग्निमें सनी तेज हवा। आकाशमें पंख पसारे दल-के-दल उड़ते पक्षियोंके दर्शन दुर्लभ हो गये। पशु-पक्षी ही नहीं, कितने मनुष्य काल-कवलित हुए, कोई संख्या नहीं। मातृ-स्तनोंमें दूध न पाकर कितने सुकुमार कुमार मृत्युकी गोदमें सो गये, कौन जाने। नर-कंकालको देखकर करुणा भी करुणार्द्र हो जाती, किंतु एक मुट्ठी अन्न किसीको कोई कहाँसे देता। नरेशका अक्षय कोष और धनपतियोंके धन अन्नकी व्यवस्था कैसे करते ? परिस्थिति उत्तरोत्तर अत्यधिक विकट होती गयी। प्राणोंके लाले पड़ गये।

किसीने बतलाया कि 'नरमेध' किया जाय तो वर्षा हो सकती है। लोगोंको बात तो जची, पर प्राण सबको प्यारे हैं। बलात् किसीकी बलि दी नहीं जा सकती।

बृहद् जन-समाज एकत्र हुआ था, पर सभी नीरव थे। सबके शीश नत थे। अचानक नीरवता भङ्ग हुई। सबने दृष्टि उठायी, देखा द्वादशवर्षीय अत्यन्त सुन्दर बालक खड़ा है। उसके एक-एक अङ्गसे कोमलता जैसे चू रही थी। उसने कहा, 'उपस्थित महानुभावो ! असंख्य प्राणियोंकी रक्षा एवं देशको संकटकी स्थितिसे मुक्ति दिलानेके लिये मेरा प्राण सहर्ष प्रस्तुत है। यह प्राण देशका है और देशके लिये अर्पित हो, इससे अधिक सदुपयोग इसका और क्या होगा ? इसी बहाने विश्वात्मा-प्रभुकी सेवा इस नश्वर कायासे हो जायगी।'

'बेटा शतमन्यु ! तू धन्य है !' चिल्लाते हुए एक व्यक्तिने दौड़कर उसे अपने अङ्कमें कस लिया। वे उसके

पिता थे। 'तूने अपने पूर्वजोंको अमर कर दिया।' शतमन्यु-की जननी भी वहीं थीं। समीप आ गयीं। उनकी आँखें झर रही थीं। उन्होंने शतमन्युको अपनी छातीसे इस प्रकार चिपका लिया, जैसे कभी नहीं छोड़ सकेंगी।

नियत समयपर ससमारोह यज्ञ प्रारम्भ हुआ। शतमन्युको अनेक तीर्थोंके जलसे स्नान कराकर नवीन वस्त्राभूषण पहनाये गये। सुगन्धित चन्दन लगाया गया। पुष्पमालाओंसे अलंकृत किया गया।

बालक यज्ञ-मण्डपमें आया। यज्ञ-स्तम्भके समीप खड़ा होकर वह देवराज इन्द्रका स्मरण करने लगा। यज्ञ-मण्डप शान्त एवं नीरव था। बालक शीश झुकाये बलिके लिये प्रस्तुत था, एकत्रित जन-समुदाय मौन होकर उधर एक-टक देख रहा था। उसी क्षण शून्यमें विचित्र वाद्य बज उठे। शतमन्युपर पारिजात-पुष्पोंकी वृष्टि होने लगी। सहसा मेघध्वनिके साथ वज्रधर सुरेन्द्र प्रकट हो गये। सब लोग आँख फाड़े साश्चर्य देख-सुन रहे थे। शतमन्युके शीशपर अत्यन्त प्यारसे अपना वरद हस्त फेरते हुए सुरपति बोले—'वत्स! तेरी भक्ति और देशकी कल्याण-भावनासे मैं संतुष्ट हूँ। जिस देशके बालक देशके रक्षार्थ प्राणार्पण करनेके लिये प्रतिक्षण प्रस्तुत रहते हैं, उस देशका कभी पतन नहीं हो सकता। तुम्हारे त्यागसे संतुष्ट होकर मैं बलिके बिना ही यज्ञ-फल प्रदान कर दूँगा।' देवेन्द्र अन्तर्धान हो गये।

दूसरे दिन इतनी वृष्टि हुई कि धरतीपर जल-ही-जल दीखने लगा। सर्वत्र अन्न-जल, फल-फूलका प्राचुर्य हो गया। एक देश-प्राण शतमन्युके त्याग, तप एवं कल्याणकी भावनाने सर्वत्र आनन्दकी वेगवती सरिता प्रवाहित कर दी।

सिद्धार्थकुमार

(लेखक—श्रीज़हूरबख्श)

आजसे पचीस सौ वर्ष पहले एक दिन—

बालक सिद्धार्थ—कपिलवस्तुके राजा शुद्धोदनका बालक सिद्धार्थ अपने बगीचेके एक कोनेमें बैठा हुआ था। वह चुपचाप न जाने क्या सोच रहा था—जैसे किसी ध्यानमें मग्न था।

सहसा वहाँ एक बालक और आ पहुँचा—उसका चचेरा भाई देवदत्त! वह कमान लिये था, तीर लिये था। उसने बगीचेमें आते ही तीर चलाना शुरू किया—कभी इधर, कभी उधर, कभी पक्षियोंपर, कभी तितलियोंपर। सिद्धार्थको उसकी यह धमाचौकड़ी पसंद न आयी और उसने कहा—'यह क्या करते हो, देवदत्त! बगीचेमें आये हो तो शान्तिसे बैठो, पेड़-पौधोंकी शोभा देखो, फूल-पत्तियोंकी सुन्दरता देखो! इस धमाचौकड़ीसे क्या लाभ उठा लोगे?'

परंतु देवदत्तने ये बातें एक कानसे सुनीं, दूसरे कानसे निकाल बाहर कीं। वह उसी तरह धमाचौकड़ी मचाता रहा। सहसा उसकी दृष्टि आकाशमें उड़ते हुए हंसोंपर जा पड़ी और उसने एक हंसकी ओर तककर तीर छोड़ दिया। हंस घायल हुआ तथा चीखता-चिल्लाता धरतीपर गिरा। गिरा भी कहाँ? सिद्धार्थ-के पास!

हंसका कातर स्वर कानोंमें पड़ा तो सिद्धार्थका ध्यान टूट गया, उसका हृदय उमड़ आया और उसने झपटकर हंसको गोदमें उठा लिया। उसके शरीरपर प्रेमसे हाथ फेरा, बड़ी सावधानीसे तीर निकाला और घावपर ताजे पत्तोंका रस निचोड़ा।

सिद्धार्थका यह काम देखकर देवदत्त कुढ़ गया। उसने सिद्धार्थसे कहा—'भैया! आप इतना कष्ट क्यों उठा रहे हैं? मेरा हंस मुझे दे दीजिये।'

सिद्धार्थने उत्तर दिया—'हंस तुम्हारा नहीं, मेरा है। यह तुम्हें नहीं मिल सकता—कभी मिलेगा भी नहीं।'

'क्यों नहीं मिलेगा ? मैंने इसे तीर मारकर आकाशसे गिराया है या नहीं ? यह मेरा तो है ही।'

'नहीं, मैंने इसके शरीरसे तीर निकाला है और घावकी दवा-दारू करके इसके प्राण बचाये हैं। अब तो इसपर मेरा—केवल मेरा अधिकार है।'

'आपसे कहा किसने था कि आप मेरे हंसकी दवा-दारू करें ? लाइये, मेरा हंस मुझे दीजिये।'

'कह तो दिया, हंस तुम्हारा नहीं है; तुम्हें नहीं मिलेगा—नहीं मिलेगा।'

'अच्छा, देखता हूँ। अभी जाकर महाराजसे कहता हूँ। देखूँ, आप मेरा हंस मुझे कैसे नहीं देते ?'

महाराज शुद्धोदन सब हाल सुनकर बोले—'बेटा सिद्धार्थ ! क्यों झगड़ा करते हो ? हंस देवदत्तको क्यों नहीं दे देते ? तीर उसने चलाया था, या तुमने ?'

सिद्धार्थने उत्तर दिया—'पिताजी ! मेरा कहना यह है कि हंसपर देवदत्तका कोई अधिकार भी तो हो! यह सच है कि देवदत्तने तीर मारकर हंसको नीचे गिराया है; परंतु मैं आपसे पूछता हूँ कि देवदत्तको हंसपर तीर छोड़नेका अधिकार ही क्या था ? यह बेचारा सुखसे आकाशमें उड़ा जा रहा था, इसने देवदत्तकी कोई हानि नहीं की थी; परंतु देवदत्तने तीर छोड़कर बेचारेको व्यर्थ ही दुःख पहुँचाया। मुझसे इसका दुःख नहीं देखा गया और मैंने दवा-दारू करके इसके प्राण बचाये। अब तो मैं समझता हूँ कि इसपर मेरा अधिकार है।'

महाराजके आस-पास जितने लोग बैठे थे, सब-के-सब सिद्धार्थकी बड़ाई करने लगे। महाराजको भी सिद्धार्थकी बात पसंद आयी और वे बोले—'सिद्धार्थका कहना ठीक है। मारनेवालेसे बचानेवाला बड़ा होता है—मारनेवालेसे बचानेवालेका अधिकार बड़ा होता है। अब हंस सिद्धार्थका है।'

इतना सुनना था कि सिद्धार्थने हंसको छोड़ दिया और वह फुरसे आकाशकी ओर उड़ गया।

यही दयावान् बालक सिद्धार्थ बादमें भगवान् बुद्धके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

दयालु बालक टामस फिप

उस समय क्रीमिया और रूसके बीच युद्ध चल रहा था, टामस फिप नामका एक बालक ग्रेनेडियर दलके बैंडमें बाँसुरी बजाता था। उस समय इनकारमैनका भीषण युद्ध चल रहा था। फिपने पास ही एक घायल सैनिकको तड़फड़ाते देखा और यह कहते सुना—'कोई मुझको एक प्याला चाय पिला देता तो बहुत अच्छा होता।' बालकका करुण हृदय उस सैनिककी अन्तिम इच्छा पूरी करनेके लिये व्याकुल हो उठा। सैनिकोंकी झोलीमें चाय-पानीकी शीशी तथा केटली आदि रहती है। उस समय दनादन गोलियोंकी बौछार हो रही थी; फिर भी उस बालकने प्राणोंकी जरा भी परवा न करके, गोलियोंकी वर्षामें भी आस-पाससे लकड़ियोंके टुकड़े इकट्ठे किये और आग जलाकर चाय बनाना शुरू किया। इतनेमें एक गोली उसकी टोपीके ऊपरसे चली गयी और दूसरी गोली उसके कोटकी बाँहमेंसे आरपार हो गयी। एक बार उसके कंधेमें हल्की चोट भी लगी; परंतु बालक उसपर कुछ भी ध्यान न देकर दयार्द्र हृदयसे उस सैनिकको गरमा-गरम चाय पिलाकर उसकी तृषा तृप्त कर रहा था। आस-पास अनेक घायल सैनिक पड़े थे। उन्होंने उस बालककी इतनी अधिक सहानुभूति देखकर मृत्युके समय सच्चे अन्तःकरणसे उसे आशीर्वाद दिया।

दयालु मूलराज

लगभग नौ सौ वर्ष पहलेकी बात है, राजा भीमदेव गुजरातमें राज्य करते थे। उनके एक लड़का था, नाम था मूलराज। लड़का होनहार था और था बड़ा दयालु। एक साल गुजरातमें बरसात नहीं हुई। खेत सूख गये। एक गाँवके लोग राजाको लगान नहीं दे सके। राजाके सिपाहियोंने गाँवमें जाकर उन लोगोंके घरमें जो कुछ था, सब जप्त करके ले लिया और उनको भी साथ लाकर हाजिर किया। राजकुमार मूलराज पास ही खेल रहा था। किसान बेचारे दुखी थे और आपसमें अपनी बुरी हालतकी चर्चा कर रहे थे। राजकुमारने उनकी सारी बातें सुनीं। उनका दुःख जानकर मूलराजकी आँखोंसे आँसू बहने लगे। मूलराजने उनका दुःख दूर करनेका निश्चय किया।

उन दिनों राजकुमार घुड़सवारीकी कला सीख रहा था। राजाने कहा था, 'तुम अच्छी तरह सीख लोगे, तब तुम्हें इनाम दिया जायगा।' मूलराजने अभ्यास करके घुड़सवारीकी कला सीख ली थी। आज पिताको अपनी कला दिखलायी। राजाने प्रसन्न होकर कहा—'बेटा! मैं बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ; बोलो, क्या इनाम चाहते हो?' मूलराजने कहा—'पिताजी! इन बेचारे गरीबोंकी जप्त की हुई चीजें वापस लौटा दीजिये और इन्हें घर जानेकी आज्ञा दीजिये।'

मूलराजकी बात सुनकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई। उनकी आँखोंमें हर्षके आँसू छलक आये। फिर उन्होंने कहा—'बेटा! तूने अपने लिये तो कुछ नहीं माँगा, कुछ तो माँग।' इसपर मूलराज बोला—'पिताजी! आप प्रसन्न हैं तो मुझे यह दीजिये कि अब अगर किसी साल फसल न हो तो उस साल लगान वसूल ही न किया जाय, ऐसा नियम बना दें। इससे मेरी आत्माको बड़ा सुख होगा।'

राजाने ऐसा ही किया, किसानोंकी जप्त की हुई चीजें लौटा दीं और भविष्यके लिये फसल न होनेके दिनोंमें लगान न लेनेका नियम बना दिया। किसान खुशी-खुशी आशिष देते हुए अपने घरोंको लौट गये!

दयालु विद्यार्थी बालक

कलकत्तेके एक स्कूलमें दो भले विद्यार्थी पढ़ते थे। प्रत्येक परीक्षामें उनका पहला और दूसरा नम्बर आता था। परीक्षाके पहले उनमें एककी मा बीमार पड़ी, इससे वह लड़का दो महीनेतक स्कूल नहीं गया। माके मरनेके बाद वह स्कूलमें पढ़ने गया। उस वर्षकी परीक्षामें सबको विश्वास था कि इस बार इसका पहला नम्बर नहीं आयेगा और जिसका दूसरा नम्बर आता था, वह पहला आयेगा; परंतु जब परीक्षाका फल निकला, तब मालूम हुआ कि वही लड़का, जिसकी मा मर गयी थी तथा जिसकी पढ़ाईमें अड़चन आयी थी, पहला आया है और जो दूसरा आता था, वह दूसरा आया है। यह देखकर शिक्षकको बहुत अचरज लगा। उसने दोनों लड़कोंकी उत्तर-पुस्तक फिरसे ध्यानपूर्वक देखी तो पता चला कि दूसरे विद्यार्थीने हर एक प्रश्नके उत्तरमें थोड़ा-थोड़ा जवाब बाकी छोड़ दिया है; परंतु वे सवाल इतने सरल थे कि उसको न आते हों, ऐसी बात न थी। इसलिये शिक्षकने उस विद्यार्थीको एकान्तमें बुलाकर पूछा तो उसने बतलाया कि 'वह लड़का मेरी अपेक्षा कहीं अधिक होशियार है। उसकी मा बीमार पड़ी और मर गयी, इससे उसकी पढ़ाईमें विघ्न पड़ा और मुझको पहला नम्बर मिलनेकी बारी आ गयी, पर मुझे यह ठीक न लगा। इस बार भी वही पहला आये, इस

इरादेसे मैंने जान-बूझकर अधूरा जवाब लिखा है। मेरी तो मा है, इस बेचारेकी मा नहीं। आप कृपया इस बातको अपनेतक ही रक्खें।'

शिक्षकको उस विद्यार्थीकी दया और उदारताको देखकर बहुत ही संतोष हुआ और उसने कहा—'सबसे बड़ी परीक्षा, जो महत्त्वकी परीक्षा है, उसमें तुम्हारा सबसे पहला नम्बर आया है। इस परीक्षाके सामने स्कूलकी परीक्षाकी कोई बिसात ही नहीं है।'

संकटग्रस्त जहाजको बचानेवाला दयालु बालक

कई साल हुए, जाड़ेकी ऋतुमें समुद्रके किनारे एक गाँवमें शोर हुआ कि 'एक जहाज थोड़ी दूरपर कीचड़में फँस गया है और उसपर बैठे हुए लोग बड़े संकटमें हैं।' इस बातको सुनते ही लोग चारों ओरसे इकट्ठा होने लगे और अफसोस करने लगे। उस समय वहाँ एक भी नाव न थी, जिससे उनको उतारा जा सके। तीन दिनोंतक इस प्रकार सब लोग खाये-पिये बिना समुद्रमें फँसे रहे। पानी बहुत गहरा होनेके कारण कोई तैर करके भी वहाँ नहीं जा सकता था। बहुत लोग दया प्रकट करने लगे; पर किसीकी हिम्मत न हुई कि उनको बचाये। इतनेमें एक विद्यार्थी वहाँ आया। जहाजके आदमियोंपर उसको बड़ी दया आयी। वह बहुत बलवान् न था; परंतु था बड़ा हिम्मती। इसलिये तुरंत बोल उठा—'मैं उनको छुड़ानेके लिये जाता हूँ।' इतना कहकर एक आदमीसे रस्सा लेकर उसकी छोरको अपनी कमरमें बाँधा और वह समुद्रमें कूद पड़ा। सब लोग उसकी हिम्मत देखकर आश्चर्य करने लगे और उसकी विजयके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करने लगे।

वह विद्यार्थी बड़ी मुश्किलसे समुद्रमें तैरने लगा। उसके मनमें ऐसा था कि मैं जाकर दुःखमें पड़े हुओंको बचा लूँगा। गहरे पानीमें लंबी दूरतक तैरना कठिन काम है। दूसरे लोग जो यह सब कुछ देख रहे थे, उनका शरीर उसकी अपेक्षा बहुत मजबूत होनेपर भी वे तैरनेसे डरते थे। वह विद्यार्थी दयाके आवेशमें मुश्किल उठाकर जहाजके पास पहुँच गया। उसने दाँतमें चाकू पकड़ रक्खा था। उससे कमरकी रस्सी काट डाली। किनारेपर खड़े हुए उसके एक मित्रने वह रस्सा पकड़ रक्खा था, ताकि यदि वह तैर न सके तो उसको वापस खींच लिया जाय। उसके बाद जहाजमेंसे एक आदमीको लेकर वह तैरता हुआ किनारेपर लौट आया। उसके बाद दूसरी बार गया और फिर दूसरी बार एक आदमीको साथ लेकर आया। इस प्रकार छः बार जाकर उसने छः आदमियोंकी जान बचायी। अब वह खूब थक गया था, फिर भी सातवीं बार जाकर उसने एक दुर्बल लड़केको लानेका प्रयत्न किया। लड़का दुर्बल होनेके कारण ठीक न तैर सका और डूब गया। तब उसने डुबकी मारकर उसे ऊपर निकाला। इस प्रकार दो बार उसने डुबकी मारकर उसे निकाला। अन्तमें बड़ी मुश्किलसे उसको भी वह किनारे ले आया। किनारेपरके आदमियोंने प्रत्येक बार ऊँचे स्वरसे उसको शाबाशी दी और अन्तिम बार तो उसको खूब ही शाबाशी दी।

दयालु इब्राहिम लिंकन

(लेखक—श्रीमुबारक अली)

संध्याका धूमिल-सा अँधेरा गहरा होता जाता था। सूर्यकी अन्तिम किरण भी पहाड़ियोंकी ओटमें जा छिपी थी। पक्षी दल बाँध-बाँधकर अपने बसेरोंकी ओर उड़े जा रहे थे। इब्राहिम और उसके मित्र भी वायु-सेवनके पश्चात् हँसते-मुसकराते अपने घरोंकी ओर लौट रहे थे। सहसा सामनेसे एक घोड़ा आता दिखायी दिया—

कुछ चिन्तित-सा, कुछ चौकन्ना-सा, इधर-उधर ताकता हुआ, जैसे किसी दुर्घटनाका शिकार हो । उसकी पीठपर जीन थी और मुँहमें लगाम ।

'किसका है यह घोड़ा ?'—इब्राहिम बोला ।

'किसी शराबीका ! अभागा पड़ा होगा यहीं कहीं, नशेकी हालतमें अपनी सारी सुध-बुध खोकर ।'—दूसरा मित्र बोला ।

'पता तो लगाना चाहिये उसका !' इब्राहिम बोला ।

'बड़े आये पता लगानेवाले ! भला पता लगानेसे फ़ायदा ही क्या होगा ?'—तीसरा मित्र बिगड़कर बोला।

'और नुक़सान भी क्या होगा ! आख़िर देखना तो चाहिये कि वह है कौन ?'—इब्राहिम जोर देकर बोला ।

मित्रोंको इब्राहिमकी बात जँच गयी । उन्होंने थोड़े ही प्रयत्नसे शराबीको खोज निकाला । वह एक झाड़ीके पास औंधे मुँह पड़ा धरती सूँघ रहा था । उसके मुँहसे फेन बह रहा था—पतला-पतला और दुर्गन्धसे भरा हुआ । इब्राहिमने घबराकर कहा—'अब ?·······क्या करना चाहिये अब ?'

'मरने भी दो अभागेको ! इससे कहा किसने था कि यह इतनी शराब पिये, अपनी सारी सुध-बुध खो बैठे और फिर धरती सूँघने लगे ।'

'कुछ-न-कुछ तो हमें करना ही चाहिये । आख़िर यह भी मनुष्य है ।'

'बुरी आदत है, इब्राहिम ! तुम्हारी । बिना मतलब ही किसी-न-किसी चिन्तामें उलझ जाते हो । शराबी शराब पिये, अपनी सुध-बुध खोये और चिन्तामें दुबले बनो तुम ! वाह ! कहना मानो, चुप-चाप घर चलो । बैठे-बिठाये उलझन मोल लेना कहाँकी बुद्धिमानी है ?'

'कैसी बातें करते हो तुमलोग ! यदि मनुष्य ही मनुष्यकी सहायता न करेगा तो फिर कौन करेगा—जानवर ?'

'अच्छा है—अच्छा है ! तुम मनुष्य हो, मनुष्यकी सहायता करो । हमलोग तो अपने-अपने घर जाते हैं ।'

इस प्रकार सभी मित्र कर्तव्यकी पुकार ठुकराकर चलते बने । अब इब्राहिम अकेला ही शराबीके पास पहुँचा और उसे होशमें लानेकी चेष्टा करने लगा; परंतु शराबी था कि होशमें आनेका नाम न लेता था, उठ-उठकर गिरता था, न आँखें खोलता था न मुँहसे बोलता था; हाँ, बीच-बीचमें हाथ-पैर अवश्य फटकारने लगता था । इब्राहिमने हैरान होकर आप-ही-आप कहा—'बड़ी मुश्किल है ! इसने तो पेट-भर शराब पी रक्खी है । भला, यह जल्दी होशमें क्यों आने चला । अब क्या करूँ—क्या इसे घर ले चलूँ ?'

और इब्राहिम सचमुच शराबीको फूलके समान उठाकर अपने घरकी ओर चल पड़ा । ग़रीब मजदूरका वह पंद्रहवर्षीय बालक ऐसा ही बलवान् था—ऐसा ही साहसी था । उसे देखते ही बहिन चीख़ उठी—'अरे, इसे क्यों उठा लाये ?'

इब्राहिमने शराबीको धरतीपर लिटाते-लिटाते उत्तर दिया—'चीख़ती क्यों है, पगली ! क्या यह मनुष्य नहीं है ? क्या इसकी सेवा करना हमारा कर्तव्य नहीं है ?'

बहिन अपनी भूलपर लज्जित हुई और भाईका साथ देनेके लिये आगे बढ़ी । इब्राहिमने उसकी सहायतासे शराबीको कुछ खिलाया-पिलाया और रात-भर उसकी सेवा की । प्रातःकाल होते-होते शराबी होशमें आया और लज्जित-भावसे अपने रास्ते चला गया।

× × ×

यह 'गुदड़ीका लाल' दिनोंदिन लोक-प्रिय होता गया और पचास वर्षकी आयुमें सम्मानके शिखरपर जा पहुँचा । संयुक्त राज्य—अमेरिकाकी जनताने उसे अपना 'प्रेसिडेण्ट' या 'राष्ट्रपति' बनाया । यह कहनेके लिये तो इस संसारमें नहीं है, परंतु अबतक अपने देश-वासियोंके हृदयपर राज्य करता है । वे उसे 'पिता लिंकन' कहते और उसका नाम सुनते ही श्रद्धा-भक्तिसहित अपना सिर झुका लेते हैं ।

रेलगाड़ीको बचानेमें जान देनेवाला बालक

एक आदमी रेलवेमें नदीके ऊपर पुलके चौकीदारका काम करता था। उसका एक चौदह वर्षका लड़का भी उसीके साथ रहता था। एक दिन एक बड़ा तूफान आया और उसके साथ जोरका पानी। रातकी गाड़ी आनेके पहले बाप पुल देखनेके लिये गया और लड़का घरमें रहा। उसके थोड़ी देर बाद नदीमें बाढ़ आयी और उससे कई गाँव बह गये। पीछे लड़का भी बाहर निकला और पुल देखने गया तो उसे टूटा हुआ पाया। उसने अपने बापको पुकारा, पर कुछ भी जवाब नहीं मिला। उसने निश्चय किया कि रातकी अन्तिम गाड़ी आनेका वक्त हो गया है; इसलिये यदि गाड़ीको रोका न गया तो वह नदीमें चली जायगी और सब आदमी मर जायँगे।

इस विचारसे उसके मनमें दयाका संचार हुआ और उसने दृढ़ निश्चय किया कि किसी प्रकारसे गाड़ीको रोकना ठीक है।

रेलगाड़ी पहाड़के एक तंग दर्रेसे होकर निकलती थी और वहाँ खड़े होनेतककी जगह न थी। अब क्या किया जाय? उसी समय उसको यह सूझ हुई कि एक ठेला पटरियोंपर खड़ा करके लाल रोशनी दिखलायी जाय तो गाड़ी जरूर खड़ी हो जायगी। उसने ठेलेको नाकेपर ले जाकर खड़ा कर दिया और हाथमें लाल रोशनी लेकर उसपर खड़ा हो गया। इतनेमें ही रेलगाड़ी आ गयी। ड्राइवरने उसे देखकर गाड़ी खड़ी करनेकी चेष्टा की; परंतु वह जोशमें थी, इसलिये रुक न सकी। लड़केने खूब चिल्ला-कर कहा—'पुल टूट गया है, पुल टूट गया है।' इतनेमें इंजनका धक्का ठेलेमें लगा और वह ठेला उस लड़केको कई फुट ऊँचे ले जाकर पछाड़ खाकर गिरा और चूर-चूर हो गया। उसके बाद गाड़ी खड़ी हो गयी और ड्राइवरने उस लड़केको देखा तो उसे मरा हुआ पाया।

दूसरे दिन बड़े सम्मानके साथ पासके गाँवमें उसकी कब्र बनायी गयी और उसपर लिखा गया—

'कार्ल स्प्रिंगेल, उम्र वर्ष १४।'

वह बहादुरीसे और परोपकार करता हुआ मरा। उसने दो सौ आदमियोंकी जान बचायी।

गाँवको डूबनेसे बचानेवाला बालक

यूरोपमें हालैंड देशका कुछ भाग समुद्रकी सतहसे नीचा होनेके कारण कभी-कभी समुद्रका पानी आकर उस भागमें बसे गाँवोंको डुबो देता था। इस दुःखसे बचनेके लिये वहाँके लोगोंने समुद्रके किनारे एक ऊँचा बाँध बाँध रक्खा था। फिर भी कभी-कभी जलका इतना वेग होता कि बाँध तोड़कर वहाँके लोगोंको नुकसान पहुँचाता। बाँध टूटनेसे पहले क्या-क्या नुकसान हुआ था, इसके बारेमें बारंबार चर्चा करके लोग अपने-अपने लड़कोंको खुश करते और कहते कि 'यदि बाँधसे तनिक भी पानी निकलने लगे तो उसके रोकनेका तुरंत उपाय करना चाहिये। नहीं तो वह पानी बाँधको तोड़कर एकबारगी जोरसे आयेगा और जान-मालको बड़ी हानि पहुँचायेगा।'

एक दिन जाड़ेमें एक लड़का उस बाँधके पाससे होकर आ रहा था। इतनेमें उसने देखा कि बाँधमेंसे धीरे-धीरे पानी आ रहा है। तुरंत ही उसे अपने बापकी कही बात याद आयी। उसने विचारा कि 'दौड़कर मैं यह बात अपने बापसे कहूँ या यहाँसे भागकर किसी ऊँची जगहपर चढ़ जाऊँ।' फिर उसके मनमें आया कि ऊँची जगह चढ़नेपर मैं अकेला तो बच जाऊँगा, पर दूसरे सब लोग तो मर जायँगे। क्या मैं उनको भी किसी तरह नहीं बचा सकता? मैं दौड़ता हुआ सबसे कहने जाऊँगा और इतनेमें पानी जोरसे आ जायगा और छेद बड़ा हो जानेसे

सारा गाँव डूब जायगा। इसलिये यदि किसी तरह बाँधमेंसे आते हुए जलको रोक सकूँ, तभी मैं, मेरे बाप तथा और सब लोग बच सकेंगे।'

इसके बाद उसने सोच-विचारकर अपना हाथ वहाँ रक्खा, जहाँसे जल आ रहा था और इस प्रकार पानीका आना तथा छेदका बढ़ना रोक दिया। सारी रात उसने इसी प्रकार अपना हाथ पानी रोकनेमें लगाये रक्खा। एक तो सख्त जाड़ेकी रात थी, दूसरे वह सर्द जगहमें बैठा था और तीसरे उसका हाथ पानीमें डूबा हुआ था। इन तीनों कारणोंसे उसे बहुत ही ज्यादा जाड़ा लग रहा था, पर वह इसकी तनिक भी परवा न करके जहाँ-का-तहाँ ही बैठा रहा। घरपर उसका बाप उसकी राह जोह रहा था। सबेरेके वक्त उधरसे जाते हुए एक आदमीने उस लड़केको बाँधके पास बैठे और बाँधके छेदमें हाथ घुसेड़े हुए देखकर पूछा—'तू यहाँ क्या कर रहा है?' लड़केने लड़खड़ाती हुई आवाजमें कहा कि 'यहाँसे पानी निकलता है, इसको मैंने रोक रक्खा है, नहीं तो गाँव डूब जायँगे।' इससे अधिक वह बोल न सका; क्योंकि वह भूखा था और सख्त जाड़ेके कारण बेसुध हो गया था। इसके बाद उस आदमीने उसका हाथ निकालकर अपना हाथ वहाँ डाल दिया और मददके लिये शोर मचाया। थोड़ी देरमें लोग आ गये और पानी निकलनेकी जगहको भर दिया। पीछे उस लड़केको लोगोंने बहुत सम्मान प्रदान किया; क्योंकि स्वयं संकट झेलकर उसने सारे गाँवको डूबनेसे बचाया था।

बुराई करनेवालेकी भलाई करनेवाला बालक

एक शहरके स्कूलमें ऐसा नियम था कि कोई बालक कुछ अपराध करता था तो गुरुजी उसके वर्गके दूसरे बालकोंको पंच बनाकर उनके द्वारा ही फैसला कराते थे और यदि अपराध साबित होता तो उसे सिर्फ रोटी-पानी देकर एक अँधेरी कोठरीमें डाल देते थे। साथ ही यह भी नियम था कि यदि कोई लड़का उस अपराधीके बदले कैदखानेमें रहना चाहे तो उस अपराधी लड़केको छोड़ दिया जाता था।

उस स्कूलमें एक शरारती लड़का सदा ही ऊधम मचाता और कैद भोगता था। गुरुजी भी उससे तंग आ गये थे। गुरुजीने तो अब यहाँतक कह दिया था कि 'यदि अब तुम ऊधम मचाओगे तो तुमको हमेशाके लिये स्कूलसे निकाल दिया जायगा।'

इतना होनेपर भी एक दिन उस ऊधमी लड़केने एक दूसरे लड़केको मारा। पंचोंने फैसला देते हुए उसे अपराधी ठहराया। फिर वर्गमें पूछा गया कि 'उसके बदलेमें कोई कैदमें जानेके लिये तैयार है?' सब छात्रोंने कहा—'वह बहुत ही खराब बालक है। उसके ऊपर हम दया नहीं करेंगे।' उस समय वह लड़का, जिसको ऊधमी लड़केने मारा था, सामने आया। उसके मनमें दया आ गयी और वह बोला—'गुरुजी! मैं उसके बदले कैदखाने जानेके लिये तैयार हूँ।'

यह सुनकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। इसके बाद उसे कैदखानेमें डाल दिया गया और वह ऊधमी लड़का छोड़ दिया गया। इससे वह विचार करने लगा कि 'मैंने जिसे मारा था, उसीने मुझे छुड़ाया। अहा! वह कैसा अच्छा बालक है।' उसके मनमें इस विषयमें तरह-तरहके विचार उठे और वह अफसोस करने लगा। बादको उसने गुरुजीसे अपने अपराधके लिये क्षमा माँगी और उस लड़केको छोड़नेके लिये प्रार्थना की तथा वचन दिया कि वह फिर कभी कोई बुरा काम नहीं करेगा। उसके बाद उसने फिर कभी कोई गलती नहीं की।

इससे यह शिक्षा मिलती है कि बुरा करनेवालेका हित करके उसे लज्जित करना चाहिये, न कि बुरी बात कहकर या मारकर। सच्ची क्षमा वही है, जिससे दुश्मनका भी हित हो। उपर्युक्त लड़का ऐसा ही सच्चा क्षमाशील था।

कैदी बालककी दया

एक जवान बालकको किसी अपराधमें कैदकी सजा हो गयी थी। एक बार अवसर पाकर वह जेलसे भाग निकला। बड़ी भूख लगी थी, इसलिये समीपके गाँवमें उसने एक झोंपड़ीमें जाकर कुछ खानेको माँगा। झोंपड़ीमें एक अत्यन्त गरीब किसान-परिवार रहता था। किसानने कहा—'भैया! हमलोगोंके पास कुछ भी नहीं है, जो हम तुमको दें। इस साल तो हम लगान भी नहीं चुका सके हैं। इससे मालूम होता है, दो-ही-चार दिनोंमें यह जरा-सी जमीन और झोंपड़ी भी कुर्क हो जायगी। फिर क्या होगा, भगवान् ही जानें।' किसानकी हालत सुनकर बालक अपनी भूखको भूल गया और उसे बड़ी दया आयी। उसने कहा—'देखो, मैं अभी जेलसे भागकर आया हूँ, तुम मुझे पकड़कर पुलिसको सौंप दो तो तुम्हें पचास रुपये इनाम मिल जायँगे। बताओ तो, तुम्हें लगानके कितने रुपये देने हैं?' किसानने कहा—'भैया! चालीस रुपये हैं; परंतु तुम्हें मैं कैसे पकड़वा दूँ?' लड़केने कहा—'बस, चालीस रुपये हैं, तब तो काम हो गया; जल्दी करो।'

किसानने बहुत नाहीं की; परंतु जवान लड़केके हठसे किसानको उसकी बात माननी पड़ी। वह उसके दोनों हाथोंमें रस्सी बाँधकर थानेमें दे आया। किसानको पचास रुपये मिल गये। बालकपर जेलसे भागनेके अभियोगमें मुकदमा चला। प्रमाणके लिये गवाहके रूपमें किसानको बुलाया गया। 'कैदीको तुमने कैसे पकड़ा?' हाकिमके यह पूछनेपर किसानने सारी घटना अक्षरशः सुना दी। सुनकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ और लोगोंने इकट्ठे करके किसानको पचास रुपये और दे दिये। हाकिमको बालककी दयालुतापर बड़ी प्रसन्नता हुई। पहलेके अपराधका पता लगाया गया तो मालूम हुआ कि बहुत ही मामूली अपराधपर उसे सजा हो गयी थी। हाकिमकी सिफारिशपर सरकारने बालकको बिल्कुल छोड़ दिया और उसकी बड़ी तारीफ तथा ख्याति हुई। पुण्य तो हुआ ही।

तीन आदमियोंको आगसे बचानेवाला बालक

एक बार एक बड़े शहरमें एक घरमें आग लगी और देखते-देखते आस-पासके घरोंमें भी फैल गयी। घरके आदमी बड़ी कठिनाईसे बाहर निकल सके और अपना-अपना माल बचानेमें लग गये। कुछ देरके बाद आग बुझानेवाली दमकल भी आ गयी।

एक घरमें सीढ़ीमें आग लग जानेके कारण तीन आदमी निकलनेका बहुत उपाय करनेपर भी न निकल सके। अन्तमें वे रास्तेके ऊपरके किनारेपर आये। यदि वहाँसे कूदते तो उनका तुरंत ही प्राण चला जाता। रास्तेमें खड़े लोगोंने उनको देखा तो सही, पर इतनी लंबी सीढ़ी न होनेके कारण वे निरुपाय हो गये।

उन तमाशा देखनेवाले लोगोंमें एक विट्ठल नामका बारह-तेरह वर्षकी उम्रका जूता साफ करनेवाला लड़का था। उस लड़केने यह करुणाजनक दृश्य देखा और इधर-उधर नजर दौड़ायी। उसने रास्तेपर एक तारका खंभा खड़ा देखा। जलते घरके छप्परमें एक हुक मारकर तारका एक छोर वहाँ बँधा था। यदि खंभेवाला छोर काट दिया जाता तो तार सीधे मकानके किनारे जमीनकी ओर लटक जाता। इसलिये तुरंत इधर-उधर देखकर आग बुझानेवालोंकी रास्तेमें पड़ी एक कुल्हाड़ी उसने उठा ली और उसे साथ लेकर तुरंत वह खंभेपर चढ़ गया तथा थोड़ी ही देरमें तारके छोरको काट डाला। तार काटे जानेपर घरके छतसे नीचेकी ओर लटक गया और उसको पकड़कर एक-एक करके तीनों आदमी तुरंत ही नीचे उतर आये। विट्ठलकी यह समयानुसार सूझ और दयासे भरा

हुआ काम देखकर लोगोंको बहुत ही आनन्द हुआ और उसको लोग शाबाशी देने लगे। उसके बाद उतरे हुए तीनों आदमियोंने उसको इनाम दिया और उस लड़के-का उपकार माना। तुरंत अखबारोंमें उसका चित्र छपवाया गया और उसके इस कामकी बड़ी प्रशंसा की गयी। यह बात शहरमें जीवदया-मण्डलके कानोंमें पहुँची तो उसने भी लड़केको सोनेका पदक दिया।

देखो, बारह-तेरह वर्षका बहुत ही गरीब लड़का भी किस प्रकार तीन आदमियोंकी जान बचा सका। मनुष्य चाहे कितना ही गरीब क्यों न हो, वह चाहे तो परोपकारका सुन्दर काम अवश्य कर सकता है। यह बात इस उदाहरणसे बहुत अच्छी तरह समझमें आ सकती है।

बालक अन्सारुल हककी दयालुता

बिहार प्रान्तके बेलवागंजके एक गरीब व्यक्तिके मकानमें एक दिन आग लग गयी। जो लोग उस समय उस मकानमें थे, भागकर बाहर निकल आये। बाहर आनेपर उन्हें याद आया कि एक छोटा बच्चा मकानमें ही रह गया है। वे लोग चाहते थे कि उस शिशुको निकाल लें; किंतु उस समयतक फूसका छप्पर धधक उठा था। मकान चारों ओरसे आगकी लपटोंमें ढक गया था। किसीका साहस उसमें जाकर बच्चेको लानेका नहीं हुआ। बच्चेकी माता तथा उसके सम्बन्धी बाहर खड़े रो रहे थे।

आगकी लपटोंको देखकर वहाँकी पाठशालाके कुछ विद्यार्थी भी दौड़े आये और अग्नि बुझानेका प्रयत्न करने लगे। उनमेंसे एक विद्यार्थीने जैसे ही सुना कि जलते घरमें एक नन्हा बालक सोता हुआ रह गया है, वैसे ही उसने अपना कुर्ता उतार फेंका और दौड़कर आगकी लपटोंमें होता वह घरमें घुस गया। वह जानता नहीं था कि बच्चा किस स्थानपर है, अतः ढूँढ़नेमें उसे कुछ मिनट लग गये। बच्चेको गोदमें छिपाये दौड़ता हुआ जब वह निकला, बच्चेकी माताने दौड़कर अपने बच्चेको गोद-में ले लिया।

उस वीर बालकका नाम अन्सारुल हक था, जिसने अपनेको आगकी लपटोंमें डालकर शिशुके प्राण बचाये थे। अन्सारुल हक स्वयं पर्याप्त जल गया था और इसलिये अस्पताल जाकर उसे अपनी चिकित्सा करानी पड़ी; किंतु अपने सत्-साहससे उसने एक शिशुके प्राणके साथ मनुष्यताकी रक्षा की। कर्तव्यके लिये प्राण दे सकनेवाला ही तो सच्चा मनुष्य है।

दुखी मुसाफिरकी सेवा करनेवाला बालक

एक गाँवके रास्तेपर एक लँगड़ा नास्तिक एक दिन बैठा था। सख्त गरमी पड़ रही थी और अपनी टेकनेवाली लकड़ीके टूट जानेके कारण उस बेचारेसे चला नहीं जाता था। 'रास्तेमें कोई गाड़ी मिल जाती, तो अपने गाँवमें पहुँचा देती'—इस आशासे वह बैठा किसी गाड़ीकी बाट देख रहा था। इतनेमें वहाँ एक गाड़ी आयी। उसमें अपनेको बैठा लेनेके लिये उसने अर्ज की; परंतु गाड़ीवानने भाड़ा माँगा, उसके पास कुछ था नहीं, इससे वह नहीं जा सका। बहुत देरतक दूसरी कोई गाड़ी न आनेके कारण वह आखिरमें एक पेड़के नीचे जाकर सो गया। थोड़ी देरके बाद उसकी नींद टूटी तो देखता क्या है कि पानी पड़ रहा है और उसके ऊपर किसीने कपड़ा ओढ़ा दिया है, और पास ही एक बालक टूटी हुई लाठीको रस्सीसे बाँधकर दुरुस्त करने बैठा है। यह देखकर लँगड़ेने उस लड़केसे पूछा—'हे भले लड़के!

तू क्यों नंगा बैठा है और मेरे ऊपर अपने कपड़ेको क्यों डाल दिया है ?'

बालकने जवाब दिया—'मैं इधरसे जा रहा था, इतनेमें तुम्हें मैंने पानीमें भीगते देखा। तुम गहरी नींदमें सोये थे, वर्षासे भीग जानेपर तुम जाग उठते और तुम्हारी नींद जाती रहती, यह बात मुझको अच्छी नहीं लगी। इसके सिवा, तुम बूढ़े हो, इसने सर्दी लगनेपर बीमार पड़ जाते। इसीलिये मैंने अपना कोट उतारकर तुम्हारे ऊपर डाल दिया। मैं बालक हूँ, इससे नंगा रह सकता हूँ। तुम्हारी लाठी टूटी हुई देखकर अपनी रस्सीसे उसे दुरुस्त करने बैठा हूँ। यह बँधकर तैयार हो जायगी और यहाँसे थोड़ी दूरपर मेरा गाँव है, वहाँ मेरे साथ तुम चलोगे तो अपने काकाकी नयी लाठी तुमको दिला दूँगा।'

उस बालककी यह बात सुनकर उस नाविकको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसकी आँखोंसे एकाएक आँसू गिरने लगे। यह देखकर लड़केने उससे पूछा—'तुम क्यों रो रहे हो ?' यह सुनकर लँगड़ा बोला—'मेरा लड़का भी तुम्हारे-जैसा ही भला था और तुम्हारी-जैसी ही उसकी मधुर वाणी थी। पाँच वर्ष हुए, मैं जहाजमें नौकरी करने गया था। अब वह लड़का कहाँ होगा, यह याद करके रोता हूँ।'

यह सुनकर उस लड़केने पूछा—'उस लड़केका नाम क्या है ?' लँगड़ा बोला—'उसका नाम विट्ठल है और मेरा नाम जीवो है।' नाम सुनकर वह लड़का एक बारगी लँगड़ेकी छातीसे चिपक गया और कहने लगा कि 'बाबा! मैं ही तुम्हारा विट्ठल हूँ।' फिर वह बालक उसको गाँवमें ले गया और अपने काकाको सब समाचार कह सुनाया। इसके बाद दोनों भाई मिले और खुशीसे एक साथ रहने लगे। तुरंत ही नयी लाठी तैयार की गयी और उसको लेकर नाविक जहाँ-तहाँ गाँवमें घूमने लगा। उसने उस पुरानी लाठीको, जिसे उस बालकने दुरुस्त किया था, आजीवन बचाकर रक्खा; क्योंकि उसी लाठीके कारण लड़केका और दोनों भाइयोंका मिलाप हुआ था।

आदमियोंको डूबनेसे बचानेवाला बालक

एक समय समुद्रमें बहुत तूफान आनेके कारण किनारेसे थोड़ी दूरतक आया हुआ एक जहाज डूबनेकी तैयारीमें था। उसमें आनेवाले लोगोंको बचानेके लिये किनारेसे नावका जाना जरूरी था; परंतु उसको चलानेके लिये एक और आदमीकी जरूरत थी। किनारेपर एक लड़का खड़ा था, उसे यह देखकर दया आ गयी और वह उस नावपर जानेके लिये तैयार हो गया। उस समय उसकी मा भी वहीं खड़ी थी। लड़केने अपनी मासे कहा—'मा! मैं इस नौकाको मदद दूँ? उस जहाजके लोग तभी बच सकेंगे, जब नाव वहाँ पहुँच जायगी।'

बालककी यह बात सुनकर माके मनमें बड़ा मोह आ गया; क्योंकि इस बालकका बाप छः ही महीने पहले नावमें बैठकर समुद्रमें गया था और फिर लौटकर नहीं आया। लोगोंने समझ लिया कि वह मर गया होगा। इस बालकके सिवा उस स्त्रीको दूसरा कोई आधार न था। उसने सोचा कि—'यदि बालकको भी कुछ हो गया तो मेरा कोई भी सहारा न रहेगा।' ऐसा विचार करते-करते उस स्त्रीकी दृष्टि जहाजकी ओर गयी। देखती क्या है कि उसके आदमी बड़ी आतुरतासे नावकी बाट देख रहे हैं और जहाजमें पानी अधिक-अधिक भरता जा रहा है। इससे उसने विचारा कि 'इन सब लोगोंका घर भी दूर होगा और इन सबके भी कितने अधिक सङ्गी-साथी, स्त्रियाँ, लड़के, मा-बाप और बहिनोंको हानि पहुँचेगी! मेरा बच्चा नाव डूबनेसे मर जायगा तो इससे केवल मेरा

नुकसान होगा और मैं चाहे किसी तरह अपना गुजारा कर लूँगी। इसलिये इन सब लोगोंके सगे-साथियोंका नुकसान हो तो उसकी अपेक्षा मुझ अकेलीका नुकसान होना अच्छा होगा।' ऐसा विचारकर उसने लड़केसे कहा—'मेरे बेटे! तू जा। परमात्मा तुझे सही-सलामत रक्खे।'

इसके बाद वह बालक नावमें बैठा और थोड़ी ही देरमें डूबते हुए जहाजके पास पहुँच गया। जहाजके सब आदमियोंकी जान बच गयी। दैवयोगसे उसी जहाजपर उस बालकका बाप भी था। उस बालकने और उसके साथके नौकाके खलासियोंने उसको पहचाना। बालकने उससे पूछा—'इतने दिनोंतक तुम कहाँ थे? हमलोगोंने तो समझा था कि तुम मर गये होगे!'

इसके उत्तरमें बालकके पिताने कहा—'समुद्रमें बड़ा तूफान आनेसे मेरी नाव उलट गयी, पर इतनेमें एक पटरा हाथ लगा और उसका आधार लेकर मैं तैरने लगा। उस किनारे दूर एक जहाज जाता था, उसपरके आदमियोंने मुझे देखा और उन्होंने मुझे ऊपर ले लिया। वह जहाज अफ्रीका पहुँचा और वहाँसे यह जहाज चला। इसपर बैठकर मैं घर आ रहा था, इतनेमें फिर पीछेसे तूफान आया और तुम यह नाव लेकर आये।'

इसके बाद अपने लड़केके साथ वह घर गया। लड़केने मासे कहा—'देख मा! तूने मुझे नावमें जानेकी आज्ञा दी तो मेरे पिता भी बच गये।' वह स्त्री अपने स्वामीको देखकर बहुत ही खुश हुई और ईश्वरका उपकार मानने लगी। वह बालक दूसरे आदमियोंका प्राण बचाने गया था, उसका फल उसे कैसा अच्छा मिला? अच्छा काम करनेवालेका ईश्वर भला करता है।

दयालु रानी और अनाथ बालक

एक बड़े देशकी रानीको बच्चोंपर बड़ा प्रेम था। वह अनाथ बालकोंको अपने खर्चसे पालती-पोसती। उसने यह हुकुम दे रक्खा था कि 'कोई भी अनाथ बालक मिले, उसे तुरंत मेरे पास पहुँचाया जाय।'

एक दिन सिपाहियोंको रास्तेमें एक छोटा बच्चा मिला। उन्होंने उसे लाकर रानीके हाथोंमें सौंप दिया। रानी सहज स्नेहसे उसे पालने लगी।

बच्चा जब पाँच सालका हो गया, तब उसे पढ़नेके लिये गुरुजीके यहाँ भेजा। वह मन लगाकर पढ़ने लगा। बालक था बड़ा सुन्दर और साथ ही अच्छे गुणोंवाला और बुद्धिमान् भी। इससे रानीकी ममता उसपर बढ़ने लगी और वह उसे अपने पेटके बच्चेकी तरह प्यार करने लगी। बच्चा भी उसे अपनी सगी माके समान ही समझता था।

एक दिन वह जब पाठशालासे लौटा, तब बहुत उदास था। रानीने उसे अपनी गोदमें बैठा लिया और प्यारसे गालोंपर हाथ फेरकर उदासीका कारण पूछा। बच्चा रो पड़ा। रानीने अपने आँचलसे उसके आँसू पोंछकर और मुँह चूमकर बड़े स्नेहसे कहा—'बेटा! तू रो क्यों रहा है?' बच्चेने कहा—'मा! आज दिनभर पाठशालामें मेरा रोते ही बीता है। मेरे गुरुजी मर गये। मेरी गुरुआनीजी और उनके बच्चे रो रहे थे। मैंने उनको रोते देखा। वे कह रहे थे कि हमलोग एकदम गरीब हैं; हमारे पास गुजरानके लिये कुछ भी नहीं है और न कोई ऐसे प्यारे-पड़ोसी ही हैं, जो हमारी मदद करें।' मा! उनको रोते देखकर और उनकी बात सुनकर मुझे बड़ा ही दुःख हो रहा है। तुझे उनकी परवरिशके लिये कुछ-न-कुछ करना पड़ेगा।'

बालककी बातें सुनकर रानीका कलेजा दयासे भर आया। उसने तुरंत नौकरको पता लगाने भेजा और बच्चेका मुँह चूमकर कहा—'बेटा! नन्ही-सी उम्रमें तेरी ऐसी अच्छी बुद्धि और अच्छी भावना देखकर

मुझे बड़ी ही खुशी हुई है। तेरी गुरुआनीजी और उनके बच्चोंके लिये मैं जरूर प्रबन्ध करूँगी। तू चिन्ता मत कर।'

रानीके भेजे हुए आदमीने लौटकर बताया कि 'बात बिल्कुल सच्ची है।' रानीने बच्चेको पाँच सौ रुपये देकर गुरुआनीके पास भेजा और फिर कुछ ही दिनोंमें, उनके कुटुम्बका अच्छी तरह गुजारा चल सके और लड़के पढ़ सकें, इसका पूरा प्रबन्ध करवा दिया।

एक बूढ़े आदमीको मदद करनेवाली लड़की

एक बूढ़ा रास्तेमें बड़ी मुश्किलसे चला जा रहा था। उस समय हवा बड़े जोरोंसे चल रही थी। अचानक उस बूढ़ेकी टोपी हवासे उड़ गयी। उसके पास होकर दो लड़के स्कूल जा रहे थे। उनसे बूढ़ेने कहा—'मेरी टोपी उड़ गयी है, उसे पकड़ो। नहीं तो, मैं बिना टोपीका हो जाऊँगा।' वे लड़के उसकी बातपर ध्यान न देकर टोपीके उड़नेका मजा लेते हुए हँसने लगे। इतनेमें लीला नामकी एक लड़की, जो स्कूलमें पढ़ती थी, उसी रास्तेपर आ पहुँची। उसने तुरंत ही दौड़कर वह टोपी पकड़ ली और अपने कपड़ेसे साफ करके उस बूढ़ेको दे दी। उसके बाद वे सब लड़के स्कूल गये। गुरुजीने यह टोपीवाली घटना स्कूलकी खिड़कीसे देखी थी। इसलिये पढ़ा लेनेके बाद उन्होंने सब विद्यार्थियोंके सामने वह टोपी-वाली बात कही और लीलाके कामकी तारीफ की तथा उन दोनों लड़कोंके कामपर उन्हें बहुत धिक्कारा।

इसके बाद गुरुजीने अपने पाससे एक सुन्दर चित्रोंकी पुस्तक उस छोटी लड़कीको भेंट दी और उसपर इस प्रकार लिख दिया—

'लीला बहिनको उनके अच्छे कामके लिये गुरुजीकी ओरसे यह पुस्तक भेंट की गयी है।'

जो लड़के गरीब बूढ़ेकी टोपी उड़ती देखकर हँसे थे, वे इस घटनाको देखकर बहुत ही शर्माये और दुखी हुए।

दयामयी बालिका ग्रेस

(लेखक—श्रीमुबारक अली)

रात आधीसे अधिक बीत चुकी थी। तूफान अपनी पूरी जवानीपर था। समुद्रमें भयानक हाहाकार मचा हुआ था। उसकी भयंकर पर्वताकार लहरें चीखती-चिंघाड़ती आतीं, प्रकाश-स्तम्भ*को धक्के मारती हुई आगे बढ़ जातीं और तट-भूमिको निगलनेकी चेष्टा करने लगती थीं। बेचारी चौदह वर्षकी बालिका ग्रेस डार्लिंग प्रकाश-स्तम्भके एक कमरेमें अपनी मातासे सटी बैठी थी और रह-रहकर उससे पूछ बैठती थी—'यह तूफान कभी शान्त भी होगा या नहीं?'

माता उत्तर देती थी—'बड़ी पगली लड़की है। अरी, तूफानको शान्त करना मेरे या तेरे बसकी बात है? जब उसे शान्त होना होगा, होता रहेगा। तू सो क्यों नहीं जाती? डर किस बातका है? मैं तो बैठी हूँ। यहाँ प्रकाश-स्तम्भके भीतर तूफान हमारा क्या बिगाड़ सकता है। जा, आरामसे सो जा।'

* ग्रेस डार्लिंग इंगलैंडकी रहनेवाली थी। उसका पिता इंगलैंडके तटपर बने हुए एक प्रकाश-स्तम्भका कर्मचारी था। समुद्रमें कहीं-कहीं ऐसी चट्टानें विद्यमान रहती हैं, जिनसे टकराकर बड़े-बड़े जहाज भी चकनाचूर हो जाते हैं। इस विपत्तिसे जहाजोंकी रक्षा करनेके लिये ऐसी चट्टानोंपर विशालकार गगनचुम्बी खंभे बना दिये जाते हैं, जिनके शिरोभागमें रातके समय तीव्र प्रकाश होता रहता है। ये खंभे लाइट-हाउस या प्रकाश-स्तम्भ कहलाते हैं।

परंतु ग्रेस सो कैसे जाती ? भला हजार-हजार तोपोंके गर्जन-समान हाहाकार करते हुए समुद्रके बीच ग्रेसही-को क्या, किसीको भी नींद आ सकती थी ? माताके धीरज बँधानेसे क्या होता था, भय भीतर-ही-भीतर हृदयको कचोटे डालता था—कहीं लहरोंके धक्कोंसे प्रकाश-स्तम्भ अरराकर गिर पड़ा तो ? सहसा समुद्रमें दूरीपर आकाशको भी हिला देनेवाली कड़कड़ाहट हुई और मा चीख उठी—'हाय-हाय ! तूफानकी चपेटमें पड़कर कोई जहाज चकनाचूर हो गया ।'

ग्रेस धीरज छोड़कर बोली—'फिर ?········फिर जहाजमें बैठे हुए यात्रियोंके प्राण कैसे बचेंगे ? पिताजी बाहर गये हुए हैं; यहाँ होते तो उनकी कुछ सहायता भी करते ।'

माताने आँखोंमें आँसू भरकर कहा—'क्या बताऊँ बेटी ! भगवान् सबका सहायक है, वही उनकी सहायता करेगा । तुम्हारे पिताजी यहाँ होते भी, तो इस अँधेरी रातमें इस उछलते-गरजते समुद्रमें उनकी क्या सहायता करते !'

अब तो ग्रेसके लिये बाकी रातने जैसे पहाड़का रूप धारण कर लिया । वह रह-रहकर खिड़कीमें जाती थी और बाहर दूर-दूरतक नजर दौड़ाती थी—यह जाननेके लिये कि अभी सवेरा होनेमें कितनी देर है । आखिर सबेरा हुआ और ग्रेस दूरबीन लेकर दौड़ती हुई प्रकाश-स्तम्भके ऊपरी खंडपर जा चढ़ी । दूरबीनने उसे बताया कि लगभग मीलभरकी दूरीपर टूटे हुए जहाजके एक तख्तेने नौ आदमी सँभाल रक्खे हैं और तख्ता अब डूबा, तब डूबा हो रहा है ।

ग्रेसमें न जाने कहाँका बल, कहाँका साहस, कहाँ-का उत्साह उमड़ आया । वह आँधीकी तरह नीचे उतरी और मातासे बोली—'मीलभरकी दूरीपर जहाज-के एक तख्तेसे नौ आदमी चिपटे हुए हैं; मालूम नहीं, बेचारे कब समुद्रके पेटमें समा जायँ । मैं उनको बचाने जाती हूँ ।'

माता अवाक् रह गयी । फिर सँभलकर बोली—'पगली लड़की ! बकती क्या है ? तू समुद्रके इस उबलते हुए क्रोधका मुकाबला करेगी ? लहरके एक थपेड़ेमें पता भी न लगेगा कि दुनियामें थी भी या नहीं । चल, बैठ इधर ! अरी, सुनती है या नहीं ?'

परंतु माताके शब्द सुननेका अवसर था ही कहाँ ! इधर वह चीखती-चिल्लाती रही, उधर ग्रेस प्रकाश-स्तम्भ-से बँधी हुई नौकापर जा कूदी और समुद्रकी लहरोंसे भिड़ गयी । लहरें गरज-गरजकर कहती थीं—'तेरा इतना साहस ! तू हमसे लड़ेगी ? हम तुझे निगलकर मानेंगी ।' ग्रेस उत्तर देती थी—'रहने भी दो यह अभिमान ! मैं तुम्हें हराकर मानूँगी, मैं तुम्हें कुचलकर मानूँगी, मैं उन नौ आदमियोंको तुम्हारे भयानक जबड़ोंसे निकालकर मानूँगी ।'

उधर माता प्रकाश-स्तम्भके ऊपरी खण्डपर खड़ी थी—आँखोंमें आँसू और मुँहमें भगवान्‌का नाम भरे हुए । इधर ग्रेस भगवान्‌का नाम लेती थी, मशीन-जैसी फुर्तीसे हाथ चलाती थी और पतवारोंके घुमाव-फिरावपर उसकी नौका आगे बढ़ती जाती थी—तीरके समान लहरोंको चीरती-फाड़ती । समुद्रके तटपर झुंड-के-झुंड लोग एकत्र थे । वे समुद्रपर आँखें गड़ाये थे और आपसमें कहते थे—'बाप रे बाप ! लड़की है या साहसकी पुतली ! तूफानी समुद्रको छूते बड़े-बड़े वीरोंके तो छक्के छूटते हैं और वह प्राण हथेलीपर रक्खे उससे युद्ध कर रही है ! हमने तो ऐसा न कभी देखा, न कभी सुना ।'

आखिर ग्रेसकी नौका जहाजके उस तख्तेतक जा पहुँची । तख्तेसे चिपटे हुए उन प्राणियोंने समझा जैसे स्वर्गसे आशीर्वादकी देवी जीवनका संदेश लेकर समुद्रकी क्रुद्ध लहरोंपर उतर आयी हो । वे मारे हर्षके पागल हो उठे और अपनी सारी शक्ति लगाकर उसकी नौकापर आ गये ।

प्रेसके आनन्दका पार न रहा । वह लहरोंसे उसी तरह लड़ती-झगड़ती उनको प्रकाश-स्तम्भमें ले आयी । इधर 'मेरी बची, मेरी बेटी'की पुकार लगाती हुई माता उससे लिपट गयी और उधर तटपर खड़े हुए लोगोंने 'हुर्रे'की प्रचण्ड आनन्द-ध्वनिसे आकाशको हिला दिया ।

इसके बाद जनताने प्रेसपर सम्मानकी ऐसी झड़ी लगायी कि बस पूछो मत । अगणित लोगोंने आकर उसके दर्शन किये, धनवानोंने उसके सामने उपहारोंके ढेर लगाये और समाचार-पत्रोंने उसकी प्रशंसामें पृष्ठ-के-पृष्ठ रँग डाले ।

दुःख सहकर रेलगाड़ी बचानेवाली बालिका

एक गाँवके पास एक नालेके ऊपर रेलका पुल था । उस पुलके पासकी झोपड़ीमें एक लड़की अपने मा-बाप-के साथ रहती थी । बरसातके दिनोंमें शामके समय वह लड़की खिड़कीसे अपने बापके आनेकी राह देख रही थी । इतनेमें उसने दूरसे पटरियोंपर रेलगाड़ीको आते हुए देखा । वह गाड़ी नालेकी ओर आ रही थी । फिर भी वह दूर जान पड़ती थी । वह लड़की तुरंत ही रोशनी जलाकर दौड़ी । पुलके पास पहुँचकर उसने देखा कि पुल टूट गया है और इंजन तथा डब्बे नालेमें पड़े हुए हैं । उसने निश्चय किया कि अभी दूसरी ओर-की गाड़ी आयेगी, तो उसकी भी यही हालत होगी । इसलिये उसको बचानेकी कोशिश मुझे अवश्य करनी चाहिये । ऐसा निश्चय करके वह बहादुर लड़की फौरन पासके स्टेशनको चल पड़ी । वह स्टेशन पुलसे एक मीलकी दूरीपर था और वहाँ जानेके लिये रास्तेमें एक बहुत ही सँकड़ा लकड़ीका पुल था । ऐसी अँधेरी रातमें और तूफानमें उसके ऊपरसे जाना बहुत ही भयंकर था । फिर भी उस लड़कीने स्टेशन जानेका दृढ़ विचार किया । इसलिये कठिनाईकी परवा न करके वह पुलपर घुटनेके बल बंदरके समान धीरे-धीरे पार हो गयी और फिर जोरसे दौड़ने लगी । उसके कपड़े काँटेमें फँसते और फटते रहे तथा वह पानीसे खूब भीग गयी थी । फिर भी वह जैसे-तैसे करके जल्दी स्टेशन पहुँच गयी । उस समय वह हाँफ रही थी, इससे वह अधिक बोल न सकी । केवल 'ट्रेन रोको, ट्रेन रोको' कहकर वह जमीनपर गिर पड़ी । गाड़ी खुल गयी थी, स्टेशनमास्टरने एक आदमीको दौड़ाकर गाड़ी रुकवायी । यदि ऐसा न होता तो उसमें बैठे हुए सारे आदमी मर जाते ।

उसने बहादुरीसे खबर पहुँचाकर सैकड़ों आदमियों-की जान बचायी, उसके बदलेमें सबने उसका बड़ा उपकार माना । वे बच जानेवाले लोग उस वक्त कितना अधिक खुश हुए होंगे ? और वह लड़की खुद भी कितना अधिक प्रसन्न हुई होगी ?

बड़े भाईके बदले समुद्रमें गिरनेवाला छोटा भाई

पंद्रहवीं सदीके प्रारम्भमें पुर्तगीजोंके जहाज हिंदुस्थानमें आते थे । एक बार एक जहाजमें करीब सौ आदमी बैठकर हिंदुस्थानकी ओर आ रहे थे । पहले कुछ दिनोंतक तो जहाज अच्छी तरह चला, पर एक जगह टकरानेके कारण थोड़ी ही देरमें डूब जायगा, ऐसा सबको मालूम होने लगा ।

उस जहाजमें एक छोटी नौका थी । ऐसा प्रसंग देखकर कप्तानने उसे समुद्रमें उतार दिया और खानेकी वस्तुएँ लेकर उन्नीस आदमियोंके साथ उसमें जा बैठा । दूसरे लोग भी नौकामें उतरनेकी कोशिश करने

लगे; परंतु अधिक आदमियोंके चढ़नेसे नौकाके डूबनेका खतरा था, इसलिये उनको तलवारसे रोक दिया गया। उसके थोड़ी देरके बाद जहाज डूब गया।

समुद्रमें कम्पासके बिना रास्ता जाननेका कोई उपाय नहीं। उस जहाजमें एक कम्पास था; परंतु घबराहट-के कारण कप्तान उस यन्त्रको लाना भूल गया। नौका किस ओर चले इसका निर्णय वह कर न सका। यहाँतक कि जहाजमें पीनेका पानी था, उसे लाना भी सब भूल गये। ऐसी दुर्दशामें उन्होंने नौका चलाना शुरू किया।

कप्तान पहलेसे ही रोगी और दुर्बल होनेके कारण चार दिनमें ही मर गया। इस घटनासे नौकामें बड़ी अव्यवस्था हो गयी। सब एक दूसरेके ऊपर हुक्म चलाने लगे। अन्तमें सबने एका करके एक बूढ़े आदमी-को अगुआ बनाया।

कितने दिनोंमें उनको किनारा मिलेगा—इसकी किसीको खबर न थी और खूराक भी खतम होनेको आयी, उससे अधिक दिनोंतक काम नहीं चल सकता था। नये कप्तानने कहा कि हमें गोटी डालकर कम-से-कम चौथाई आदमियोंको समुद्रमें डाल देना चाहिये, जिससे अधिक दिनोंतक खूराक चले और शेष आदमी उतने दिन जी सकें।

यह राय सबको पसंद आयी। नौकामें सब मिलकर उन्नीस आदमी थे। उसमें एक पादरी और एक बढ़ई था। वह पादरी मरते वक्त धर्मोपदेश करेगा और बढ़ई जरूरत पड़नेपर नावकी मरम्मत करेगा, ऐसा निश्चय करके उन दोनोंको और बूढ़े कप्तानको उस गोटीसे मुक्त कर दिया गया।

इस प्रकार तीनको छोड़कर शेष सोलहकी गोटी पड़ी। उसके बाद जिन चार आदमियोंको समुद्रमें फेंकनेका निश्चय हुआ, उनमेंसे तीन तो तुरंत मरनेके लिये तैयार हो गये। चौथे आदमीका छोटा भाई नौकामें था। वह अपने बड़े भाईको मरनेके लिये तैयार देखकर प्रेमपूर्वक उससे मिला और आँखोंमें आँसू भरकर बोला—'मैं तुमको मरने न दूँगा, तुम्हारे बदले मैं मरूँगा। तुम्हारी स्त्री और लड़के हैं। इसके सिवा हमारी तीन अनाथ बहिनें हैं। तुम जीते रहोगे तो उनका भरण-पोषण कर सकोगे। और मैं कुँवारा हूँ, इसलिये मैं ही मरूँगा।'

बड़ा भाई छोटे भाईकी इस अद्भुत बातको सुनकर चकित हो गया और आँसू बहाते हुए बोला—'भाई! तुम छोटे हो और मुझको बहुत प्यारे हो। यदि मैं तुम्हें मरने दूँगा तो मुझे भी शोकसे अन्तमें आत्मघात करना पड़ेगा। इसलिये तुम मुझे ही मरने दो।'

छोटे भाईने कहा—'मैं किसी भी प्रकार अपनी आँखोंके सामने तुमको मरने न दूँगा।' इतना कहकर वह बड़े भाईके पैरोंमें लिपट गया और बहुत रोने लगा। तब बड़े भाईने कहा—'भाई! मेरे समान तुम भी बहिनोंको, बालकोंको और मेरी स्त्रीको पाल-पोस सकते हो। इसलिये मुझे छोड़ो और समुद्रमें डूबने दो।'

इस प्रकार बड़े भाईने छोटे भाईको बहुत समझाया, परंतु आखिरमें उसे छोटे भाईका कहना मानना पड़ा। फिर दूसरे तीनों आदमी और वह छोटा भाई—चारों आदमी समुद्रमें फेंक दिये गये। पहले तीनों तो तुरंत ही डूब गये। परंतु वह छोटा भाई जवान था, तैरनेमें कुशल था, नौकाके पास तैरने लगा।

भाईके प्रति प्रेमका यह अलौकिक दृष्टान्त देखकर सबके अन्तःकरणमें स्नेह उत्पन्न हो गया और सबकी आँखोंसे आँसू गिरने लगे। कुछ देरके बाद सबने एकमत होकर कहा—'हमारा चाहे जो हो, पर हम इसको जरूर बचायेंगे। हमने अपनी सारी उम्रमें ऐसा स्नेह कहीं नहीं देखा।' इतना कहकर उन्होंने तुरंत उसे ऊपर खींच लिया।

पश्चात् नौकाके सारे आदमी रातभर डाँड़ चलाते रहे । सवेरा होते-होते उनको समुद्रका किनारा नजदीक दीख पड़ा । अब सबको हिम्मत आ गयी और सब अधिक बलसे डाँड़ चलाने लगे । थोड़ी देरके बाद नौका अफ्रिकाके मोजाम्बिक पर्वतके पास आ गयी । सब लोग प्रभुको धन्यवाद देकर आँखोंमें आँसू भरे किनारेपर उतरे और थोड़ी दूरपर पुर्तगीजोंकी बस्ती थी, वहाँ जाकर सबने आश्रय लिया ।

उस बस्तीके लोगोंने उनके दुःखकी कहानी सुनी और उनका हृदय द्रवित हो गया; परंतु उस छोटे भाईकी बड़े भाईके प्रति प्रेमकी कहानी और अन्तमें छोटे भाईको बचानेका समाचार सुनकर वे बहुत ही प्रसन्न हुए और छोटे भाईको बचानेके कारण नौकाके आदमियोंकी खूब प्रशंसा करने लगे ।

भाईके लिये दुःख सहनेवाला बालक

यूरोपके एक पहाड़ी और बर्फीले प्रदेशमें, जाड़ेके मौसिममें एक समय दो भाई—जिनमें एक नौ वर्षका और दूसरा छः वर्षका था—बर्फके ऊपर खेलने गये । खेलते-खेलते वे पासके जंगलमें जा पहुँचे और बहुत दूर निकल गये । इतनेमें शाम हो गयी और वे घर लौटनेका रास्ता खोजने लगे । जंगल बर्फसे ढँका था, इसलिये उनको रास्ता न मिल सका । तब बड़े भाईने छोटे भाईसे कहा—'अब हमको सारी रात यहीं बितानी पड़ेगी । इसलिये हमें सोनेके लिये बिना बर्फवाली जगह खोज निकालनी चाहिये ।' खोजते-खोजते चाँदनीमें पहाड़के एक किनारे एक छोटी गुफा उनको दीख पड़ी । उन्होंने गुफामें जाकर आस-पास पड़े हुए पत्तोंको इकट्ठा करके एक बिछावन तैयार किया । तब बड़े भाईने छोटे भाईका हाथ थामकर कहा—'भाई ! अब रो मत; अब तुझे डरनेका कोई कारण नहीं है । यहाँ सो जा ।'

बड़े भाईने इतना कहकर छोटे भाईको उस पत्तोंके बिछौनेपर सुला दिया और खुद उसके पास सो गया, पर छोटे भाईसे जाड़ा सहा नहीं जाता था । इसलिये वह रह-रहकर कहने लगा—'भाई ! जाड़ा बहुत लगता है ।' बड़े लड़केको छोटा भाई बहुत ही प्यारा था । इसलिये वह सोचने लगा कि किस तरह छोटे भाईका जाड़ा कम किया जाय । अन्तमें दूसरा उपाय न होनेके कारण उसने अपने बदनके सारे कपड़े निकालकर उसके शरीरपर डाल दिये और इससे भी उसका जाड़ा जब कम न हुआ, तब वह उसके शरीरके ऊपर सो गया ।

इस प्रकार छोटे भाईका जाड़ा कम हो गया । उसको सुखी देखकर बड़े लड़केको बहुत ही आनन्द हुआ । अपना शरीर उघाड़ा होनेसे सख्त जाड़ा लगनेके कारण उसे बड़ा कष्ट हो रहा था; परंतु उस कष्टको उसने जरा भी नहीं गिना । इस अवस्थामें वे यदि अधिक समयतक रहते तो बड़ा लड़का जरूर ही मर जाता; परंतु सौभाग्यसे ऐसा न हुआ; क्योंकि शाम पड़नेपर जब लड़के घर न आये, तब उनका बाप उन्हें खोजनेके लिये निकला । उसने कई जगह खोजा पर पता न लगा । तब वह जोरसे पुकारता हुआ गुफाके पास आया । गुफामें देखा कि दोनों भाई सटकर सोये हुए हैं । बापने उनकी आशा छोड़ दी थी, इसलिये उनको देखकर उसकी आँखोंसे आनन्दके आँसू बहने लगे । फिर बड़े लड़केने सारी बात बापको कह सुनायी और बापने भी बड़े भाईका छोटे भाईके प्रति ऐसा स्नेह देखकर उसके ऊपर बड़ा प्रेम दिखलाया और फिर उन दोनों भाइयोंको साथ लेकर घर गया ।

जार्ज स्टीवेन्सनका भगिनी-प्रेम

जार्ज स्टीवेन्सन इंगलैंडके प्रसिद्ध इंजिनियर थे। दुनियामें सबसे पहले स्टीम इंजिन बनाकर इन्होंने ही लिवरपुल और मैंचेस्टरके बीच दौड़ाया था।

स्टीवेन्सनकी एक बहिन थी। उसका नाम नेल था। बाल्यावस्थामें एक बार वे बहिनको साथ लेकर न्यू कैसल नगरमें गये। वहाँ एक दूकानमें बहिनने एक टोपी देखी। टोपी पसंद आ गयी, पर कीमत पूछने-पर जान पड़ा कि उसके पास जितना पैसा था, उससे पंद्रह पेंस अधिक उस टोपीके दाम हैं। बहिनको निराश होते देखकर जार्ज स्टीवेन्सनने कहा—'नेल! तू कुछ परवा न कर। मैं अभी तेरे लिये पैसा ला रहा हूँ। मेरे आनेतक तू यहीं खड़ी रहना।'

जार्ज भीड़में चला गया। नेल बहुत देरतक बाट जोहती रही। कभी-कभी उसे चिन्ता भी मनमें उठती कि जार्ज कहाँ चला गया, कहीं खो तो नहीं गया! इतने-में जार्ज उमंगमें भरा दौड़ता हुआ आया और बोला—'बहिन! मैं तेरी टोपीके लिये पैसा ले आया हूँ।'

'पर तुमको पैसा मिला कहाँसे?'

'नेल! एक सज्जनका घोड़ा छूट गया था। मैंने उसे पकड़ा और इनाममें मुझे ये पैसे मिले हैं।'

बहिनने टोपी खरीदी और अपनी प्यारी बहिनकी इच्छा पूरी होते देखकर जार्जको भी बड़ा आनन्द हुआ।

छोटे भाई-बहिनोंके लिये प्राण देनेवाली बालिका

एक बार एक शहरमें रातके समय एक लकड़ीके मकानमें आग लगी। आदमियोंका शोर-गुल सुनकर घर-के आदमी जाग उठे और घबराकर नीचे उतरे। उस घरके बड़े कमरेमें एक छोटी-सी बारह वर्षकी लड़की अपने छोटे भाई-बहिनके साथ सोयी थी। वह भी अपने तीन वर्षके छोटे भाईको लेकर नीचेकी मंजिल-पर आयी और शोर-गुल अधिक होनेके कारण वह सामनेके बरामदेमें गयी। वहाँ नीचे खड़े हुए आदमियों-ने उससे कहा—'लड़की! कूद जा, हम तुम्हें ऊपरसे पकड़ लेंगे।' परंतु लड़कीने ऐसा न करके अपने भाईको वहाँसे गिरा दिया और तुरंत ऊपर जाकर अपनी छोटी बहिनको ले आयी और उसको भी नीचे लोगोंके द्वारा पकड़ी हुई झोलीमें डाल दिया। उसके बाद वह बारह वर्षकी भली लड़की स्वयं गिरने जा रही थी, इतनेमें उस घरका छप्पर टूट पड़ा। इससे उस लड़कीकी आँख तथा कपड़ेमें आग लग गयी। तुरंत ही आग बुझानेवालोंने उसको आगसे बाहर निकाला, पर वह बहुत ही जल गयी थी। इतनेमें डाक्टर भी आया। डाक्टरने उस लड़कीसे पूछा—'मेरी! मुझे पहचानती है?' लड़कीने कहा—'हाँ'। डाक्टर बोला—'मेरी बेटी! मैं किसी प्रकार तुझको बचा नहीं सकता।' यह सुनकर उस भली लड़कीने कहा—'कोई चिन्ता नहीं, मैंने अपनी बहिन और भाईको बचाया है। इससे मुझे पूरा-पूरा संतोष है और जरूर ईश्वर मुझे तार देगा।' इसके बाद कुछ दिनों-में वह लड़की मर गयी।

यदि वह स्वयं कूद गयी होती तो जीती रहती, परंतु अपने छोटे भाई-बहिनकी रक्षाका विचार उसके मनमें आया और उनके प्रति प्रेम होनेके कारण वह ऐसा न कर सकी। धन्य!

सत्सङ्गके बिना हरिकथा नहीं

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥

सत्सङ्गके बिना हरिकी कथा सुननेको नहीं मिलती, उसके बिना मोह नहीं भागता और मोह गये बिना श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ़ (अचल) प्रेम नहीं होता।

बहिनको पागल कुत्तेसे बचानेवाला बालक

एक छोटा बालक अपनी छोटी बहिनके साथ रास्तेमें खेलता था। थोड़ी देरके बाद उसने यह हल्ला सुना—'लड़के! भागो। पागल कुत्ता आ रहा है।' उस बालकने तुरंत अपना कोट निकालकर दाहिने हाथमें लपेट लिया और अपनी बहिनको अपने पीछे रखकर उसका हाथ अपने दूसरे हाथमें पकड़कर खड़ा हो गया। वह पागल कुत्ता तुरंत दो पैरोंपर खड़ा हो गया और उसके हाथमें लपेटे हुए कोटके ऊपर आक्रमण करने लगा। जबतक लोग नहीं आये, तबतक कुत्ता वैसा करता रहा। फिर लोगोंने आकर उसे लाठीसे मार डाला।

कुछ लोगोंने पूछा—'तुम भाग क्यों नहीं गये?' उसने जवाब दिया—'मैं अकेला दौड़कर बच सकता था, पर मेरी बहिन उतना दौड़ नहीं सकती और कुत्ता उसको काट लेता!' कुत्तेके दाँत उस मोटे कोट-के आरपार नहीं गये थे, इससे लड़केके हाथमें कहीं भी घाव नहीं हुआ था। उसने इस तरह अपनी बहिनको कुत्तेके पंजेसे छुड़ाया। यह उसकी बड़ी बुद्धिमानी और बहादुरी थी। यदि उस लड़केने समयानुसार काम न किया होता तो उसकी बहिनकी मौत निश्चित थी। अपनी रक्षा तो सभी करते हैं; परंतु दूसरेकी रक्षा करना बड़ी-से-बड़ी बहादुरी है।

बालक कार्लटनका मधुर गीत

ह्वाइट हैवेनके कोयलेकी खानके निकट एक छोटी-सी झोंपड़ीमें राबर्ट कार्लटन नामका एक छोटा-सा बालक रहता था। उसकी अवस्था केवल दस सालकी थी। वह बड़ा गरीब और असहाय था।

एक दिन अचानक उसके घरकी एक दीवाल गिर पड़ी। उसका छोटा-सा घर तो विनष्ट हो ही गया। साथ-ही-साथ दीवाल गिरनेपर उसके नीचे वह अपनी मा और दो बहिनोंके साथ दब गया। खानमें काम करने-वाले झोंपड़ीमें रहनेवालोंके प्राण बचानेके लिये दौड़ पड़े। उनको विश्वास हो गया कि वे दीवालके नीचे दब-कर मर गये, पर इतनेमें ही मलबेके नीचेसे एक सुरीली और मीठी आवाज गूँजती-सी सुनायी पड़ी। छोटा-सा बालक कोई मधुर गीत गा रहा था।

मजदूरोंको पता चल गया कि नीचे जीवित प्राणी अवश्य हैं। उन्होंने प्रोत्साहन और प्यारके स्वरमें कहा कि 'गाते रहो, गाते रहो' और बालक दूने उत्साहसे गाता रहा। मजदूर मलबा हटाने लगे और बालक कार्लटन अपने देशका राष्ट्रगीत गाता गया। मजदूरोंने कार्लटनको एक काठकी बल्लीसे लिपटा पाया। वह धीरे-धीरे क्षीण आवाजसे अब भी गा रहा था। उसकी मा और एक बहिनने मृत्यु-लोककी यात्रा की; पर दूसरी छोटी बहिन अब भी जीवित थी, उसे बड़ी चोट लगी थी। इधर कार्लटनकी भी दशा शोचनीय थी, पर वह सुरक्षित था। वह अपनी छोटी बहिनको प्रसन्न रखने और मलबा हटानेवालोंको सचेत करनेके लिये ही गा रहा था। रा०

भगवान् सब कुछ कर सकते हैं

मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रबीन ॥

प्रभु मच्छरको ब्रह्मा कर सकते हैं और ब्रह्माको मच्छरसे भी तुच्छ बना सकते हैं। ऐसा विचारकर चतुर पुरुष सब संदेह त्यागकर श्रीरामजीको ही भजते हैं।

बहिनका भाईके प्रति असाधारण प्रेम

बम्बईमें कुछ वर्ष पूर्व एक पारसी कुटुम्बमें बानू बाई नामकी एक कन्या थी। उसके दो भाई थे। बानू बाई-की उम्र नौ वर्षकी थी और दोनों भाई उससे छोटे थे।

एक दिन जलता हुआ लैम्प उसके एक भाईके ऊपर गिरा और वह उससे बहुत जल गया। डाक्टरोंने उसको जिलानेकी आशा छोड़ दी।

एक डाक्टरने कहा कि 'यदि किसी आदमीके हाथकी जीती चमड़ी उतारकर इस जली हुई चमड़ीकी जगहपर साट दी जाय तो इस लड़केके बचनेकी आशा हो सकती है।'

वह लड़की बानू बाई डाक्टरकी बात सुन रही थी। वह आगे आयी और डाक्टरसे कहने लगी—'डाक्टर साहब! मेरी चमड़ी निकाल लो और मेरे भाईकी जान बचाओ।'

सबको बड़ा ही आश्चर्य हुआ, पर लड़केकी जान बचानेके लिये उस लड़कीकी बात माननी पड़ी। लड़कीने क्लोरोफार्म सूँघकर बेहोश होना भी पसंद न किया। उसकी जीती चमड़ी डाक्टरने उतार ली, पर उसने अपने हृदयको इतना कठिन बना लिया कि मुँहसे जरा भी चीख नहीं निकली।

उसके भाईकी जान बच गयी और उसका अपना हाथ भी कुछ दिनोंके इलाजसे ठीक हो गया।

धन्य थी वह लड़की, जिसमें इस प्रकारका अपूर्व भ्रातृ-प्रेम था।

कुछ चीनी गुणवान् बालक

बालककी प्राणरक्षा

चीनमें एक छोटे बालकने पानीसे भरे घड़ेमें गिरे हुए अपने साथी—एक छोटे-से बालककी रक्षा की। उसका नाम कांग था। उसे छोटी-छोटी साधारण बातोंकी बड़ी जानकारी थी। एक दिन वह अपने साथियोंके साथ खेल रहा था कि उनमेंसे एक मिट्टीके बहुत बड़े और गहरे घड़ेमें गिर पड़ा। घड़ा बहुत लंबा था। साथीको घड़ेके भीतरसे निकालना छोटे-छोटे बच्चोंके लिये आसान काम नहीं था। बालकका प्राण बचना कठिन था। पर कांगने उस समय बड़ी बुद्धिमानीका परिचय दिया। उसके सामने ही एक बहुत बड़ा पत्थरका टुकड़ा पड़ा था। उसने उस टुकड़ेसे घड़ेको फोड़ डाला, पानी बाहर निकल गया और उसके साथीकी प्राणरक्षा हो गयी।

समझदार मेनसिस

मेनसिसके माता-पिता बहुत गरीब और असहाय थे। जब वह केवल तीन सालका बच्चा था, उसके पिताका देहान्त हो गया। उसकी माने मेहनत-मजदूरीसे मेनसिसको पढ़ा-लिखाकर एक होनहार और बुद्धिमान् बालक बनाना चाहा।

मेनसिस विद्यालयमें पढ़नेके लिये भेज दिया गया। पहले तो उसने पढ़ने-लिखनेमें बड़ी रुचि दिखायी, पर बादमें उसका मन कम लगने लगा। बात यहाँतक बढ़ी कि पुस्तकोंको विद्यालयमें ही छोड़कर मेनसिस घर चला आया। उसने अपनी माको कपड़ा बुनते देखा, वह बड़े परिश्रमसे इस कामको पूरा कर रही थी। कपड़ा बड़ा कीमती था और आशा थी कि उसका अधिक मूल्य मिलता। ज्यों ही उसने मेनसिसको घरमें प्रवेश करते देखा, उसने कपड़ेको फाड़ डाला और उसके मुखपर उदासी छा गयी।

मेनसिस घबरा गया। माने बड़े प्यारसे कहा कि 'तुम्हें विद्यालय छोड़कर आते देखकर मुझे बड़ा दुःख हुआ है; पर मुझे कपड़े फाड़ते देखकर तुम्हें इसका आधा भी नहीं हुआ होगा। मैं तो तुम्हारे ही लिये

इतना परिश्रम कर रही थी, पर तुम पढ़ाई छोड़कर चले आये ।'

मेनसिस माके इस कथनसे बहुत प्रभावित हुआ, उसकी समझमें यह बात आ गयी कि विद्यालय छोड़कर चले आना उसके लिये हितकर नहीं है । वह लौट गया । बड़े श्रमसे उसने विद्या पढ़ी और आगे चलकर चीनका एक ऐतिहासिक व्यक्ति माना गया ।

होनहार बालक यांगसू

यांगसू एक असहाय और गरीब बालक था । उसके पिता उसे चार सालकी अवस्थामें छोड़कर स्वर्ग चले गये । उसका मन पढ़ने-लिखनेमें बहुत लगता था, पर पढ़ाईके साधनोंकी बड़ी कमी थी । उसकी मा कागज, कलम और किताबका प्रबन्ध गरीबीके कारण नहीं कर सकी । परीक्षाके दिन अत्यन्त निकट थे; पर छोटे-से यांगसूने साहस नहीं छोड़ा, उसने धैर्यका परिचय दिया । कुछ दिनोंतक तो वह उपाय सोचता रहा, पर सफलता नहीं मिल सकी । यांगसूका घर समुद्र-तटके समीप था । वह तटपर पहुँच गया । उसने एक छोटी-सी छड़ी ले ली और बालूपर उसीसे अङ्कगणित आदिके प्रश्न सुलझाने लगा । बालूने स्लेटका काम दिया । वह समुद्रतटपर नित्य जाने लगा और कक्षामें प्रथम श्रेणीका विद्यार्थी गिना जाने लगा ।

विद्यार्थी कांग हंग

कांग हंग नामक बालककी पढ़ने-लिखनेमें बड़ी रुचि थी । अच्छी-अच्छी पुस्तकोंको पढ़नेमें उसे आनन्द मिलता था, पर पैसेकी कमीसे वह अपनी मनचाही पुस्तकें नहीं खरीद पाता था । वह एक मजिस्ट्रेटके घरपर काम करने लगा और वेतनके रूपमें रुपयोंके बदले पुस्तकें ही मालिकसे लिया करता था; पर इतनेसे भी उसकी इच्छा पूरी न हुई । उसे दिनमें मजिस्ट्रेटके यहाँ काम करना पड़ता था । और रातको अँधेरेमें पुस्तक पढ़ना सम्भव न था । गरीब होनेके नाते वह रातमें दीपका प्रबन्ध नहीं कर पाता था ।

यह सच है कि जहाँ चाह होती है, वहाँ राह मिल ही जाती है । उसे एक उपाय सूझ गया । उसका पड़ोसी धनी आदमी था । रातको उसके घरपर प्रकाशका अच्छा प्रबन्ध रहता था । कांगने घरकी दीवालमें एक सूराख कर ली, उससे पर्याप्त प्रकाश मिलने लगा । कांग सूराखके ठीक सामने पुस्तक रखकर पढ़ा करता था । इस तरह उसने प्रकाशकी समस्याका समाधान खोज निकाला और विद्याध्ययनका पवित्र कार्य पूरा किया ।

बालक कांगकी अद्भुत सूझ

चीनके देहातमें एक दरिद्र परिवारमें कांगका जन्म हुआ था । वह बड़ा परिश्रमी और अध्ययनशील बालक था । उसके गाँवके बहुत-से निवासी गरीब ही थे । वे दिन-भर काम करते और शाम होते ही खा-पीकर सोने चले जाते थे । रातमें दीप जलानेका काम कम पड़ता था । बालक कांगकी परीक्षाका समय निकट था, इसलिये वह रातमें भी पढ़नेका विचार किया करता था; पर गरीबीके कारण तेल खरीदनेके लिये पैसोंका अभाव था । वह सोचा करता कि यदि परीक्षामें सफल होना है तो रातका समय व्यर्थ बिता देना ठीक नहीं । उसने सुन रक्खा था कि जुगनू रातको थोड़ा-बहुत प्रकाश फैलाता रहता है । उसने तीव्र बुद्धिका परिचय दिया । बहुत-से जुगनुओंको उसने एकत्र कर लिया और उनके द्वारा फैलाये गये प्रकाशके सहारे वह आसानीसे पुस्तक पढ़ सका । इसी तरह वह प्रत्येक रातको बहुत देरतक पढ़ता रहता था । अपनी सूझ और परिश्रमसे उसने परीक्षामें प्रथम श्रेणीकी सफलता पायी ।

बालक यनफोहकी बुद्धिमानी

चीनके एक छोटे-से गाँवमें यनफोह नामका छोटा-सा बालक रहता था । एक दिन वह अपने साथियोंके साथ गेंद खेल रहा था । खेलनेके मैदानमें काठका एक लंबा खंभा गड़ा हुआ था, जिसमें पोल था । गेंद उछलकर

खेलत चारों भैया

राजस्थानी १९वीं शती] [भारत-कला-भवन

हनुमान्-सुग्रीव-बन्धन

बसोहली १९वीं शती] [भारत-कला-भवन
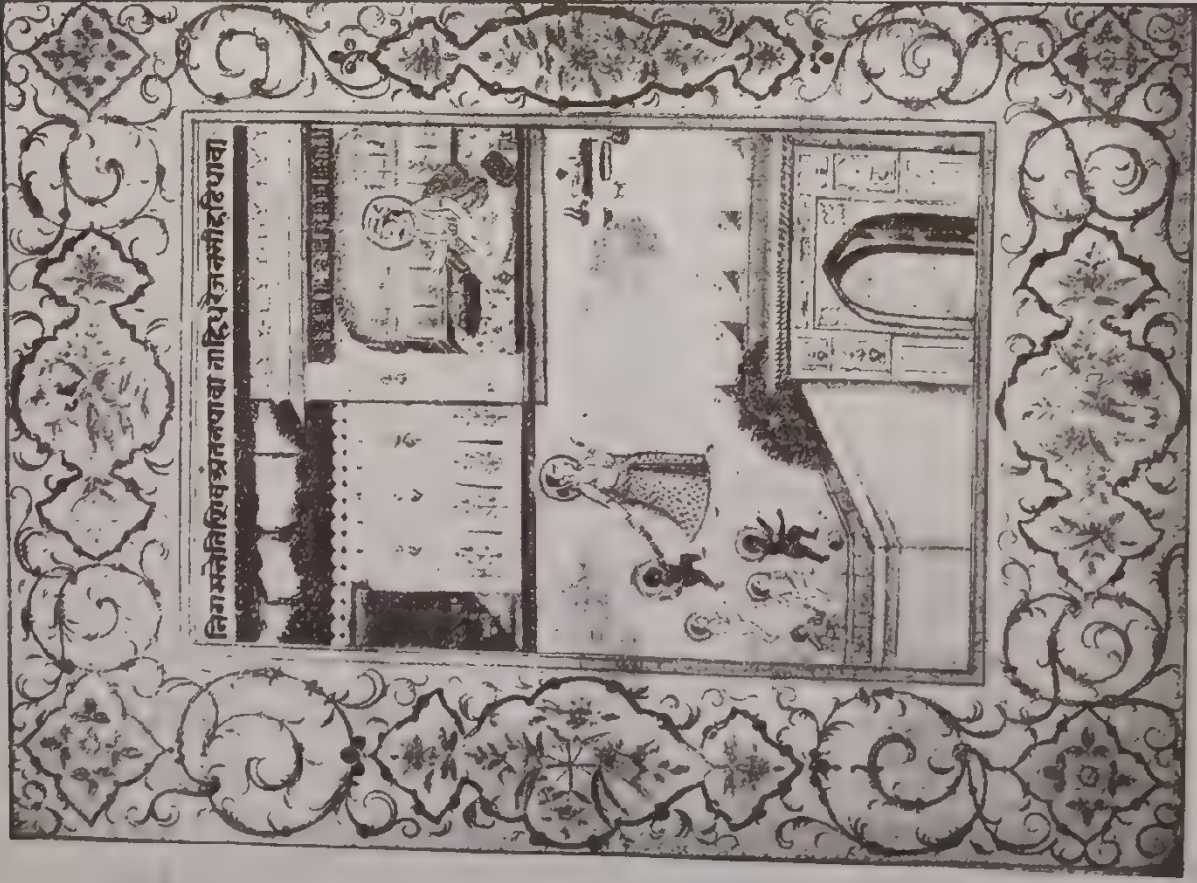
पोलमें चला गया। बालकोंको पूरा-पूरा विश्वास हो गया था कि गेंद अब बाहर नहीं आ सकता और वे मुख लटकाकर अपने-अपने घर जाने लगे। इतनेमें यनफोह गाँवकी ओर दौड़ गया, उसने कुएँसे एक बालटी पानी निकाला। खंभेके पोलमें पानी डालते ही गेंद ऊपर चला आया, दूसरे बालक आश्चर्यसे यनफोहका मुख देखने लगे। रा०

पुस्तकप्रेमी बालक अब्राहम

(लेखक—श्रीमुबारक अली)

'सुना है, आपके पास जॉर्ज वाशिंगटनका एक बहुत सुन्दर जीवन-चरित्र है। यदि आप कुछ समयके लिये यह पुस्तक मुझे दे सकें, तो बड़ी कृपा हो। मैं आपका बहुत उपकार मानूँगा।' विद्यार्थी अब्राहम लिंकनने अपने गुरु एण्ड्रू क्राफर्ड महोदयसे प्रार्थना की।

लगभग एक सौ चालीस वर्ष पहलेकी बात है। इंडियाना—अमेरिकाके एक जंगली गाँवमें टामस लिंकन नामक एक मजदूर रहता था। अब्राहम लिंकन उसीका पुत्र था। यद्यपि टामस लिंकन मजदूर था, निर्धन था, दरिद्र था, तथापि अब्राहम लिंकन बड़ा विद्याप्रेमी था और पुस्तकें पढ़नेका बड़ा शौकीन। वह खोज-खोजकर अच्छी-अच्छी पुस्तकें पढ़ता था। यदि कभी बीमार पड़ जाता तो अपनी बहिनसे पुस्तकें पढ़वाकर सुनता था। इनाम या उपहारमें रुपये-पैसेके बदले पुस्तकें ही लेना पसंद करता था।

अब्राहमकी प्रार्थना सुनकर क्राफर्ड महोदय असमंजसमें पड़ गये। फिर कुछ सोच-विचारकर बोले—'देखो, अब्राहम! मैं किसीको अपनी पुस्तकें देना अनुचित समझता हूँ—बहुत अनुचित; परंतु तुम्हारे पुस्तक-प्रेमसे भलीभाँति परिचित हूँ, इसलिये तुम्हें यह पुस्तक दिये देता हूँ। परंतु पढ़ना ज़रा सावधानीसे; कहीं ऐसा न हो कि मैली-कुचैली कर डालो या फाड़-चीरकर रख दो।'

'जी नहीं; मैली-कुचैली क्यों करूँगा और फाड़ूँगा-चीरूँगा किस लिये? बड़ी सावधानीसे पढ़ूँगा और बहुत जल्दी आपको लौटा दूँगा। यदि कहीं जरा भी दाग-धब्बा लग जाय तो मुझे जो चाहे, सज़ा दीजिये।' यह अब्राहमका उत्तर था और वह पुस्तक लेकर आनन्दसे उछलता-कूदता घर चला आया।

सर्दियोंकी संध्या थी। माता-पिता आदि अँगीठीके पास बैठे आग ताप रहे थे। अब्राहम भी उनके पास जा बैठा और पुस्तक पढ़ने लगा। सात बजे, आठ बजे, नौ बजे, दस बजे—लगातार कई घंटे बीत गये। धीरे-धीरे सब सो भी गये। परंतु अब्राहम मानो पुस्तकमें ही खोया रहा। बीच-बीचमें कई बार पिताकी आँख खुली और उसने अब्राहमसे सो जानेके लिये कहा; परंतु अब्राहम था कि पुस्तकपरसे दृष्टि भी न हटाता था। अन्तमें पिता गरज उठा—'अरे! कहना नहीं मानेगा—इसी तरह ठंढमें सिकुड़ता रहेगा? कहीं बीमार पड़ गया तो?.... बस-बस, अब सो जा; सवेरे पढ़ लेना।'

भला, अब्राहम कबतक पिताकी आज्ञा टालता रहता। उसने मन मारकर पुस्तक खिड़कीमें रख दी और बिस्तरकी गोदमें अपना सिर छिपा लिया। पुस्तकमें पढ़ी हुई बातोंपर विचार करते-करते वह न जाने कब सो गया; परंतु प्रातःकाल पुस्तक पढ़नेके चावमें सबसे पहले जागा और झपटकर खिड़कीके पास पहुँचा तो देखता क्या है कि रातको वर्षा हुई है और पानीकी बौछारसे पुस्तककी सारी शोभा धूलमें मिल गयी है।

अब्राहमका हृदय धक्-से हो गया। उसके कानोंमें क्राफर्ड महोदयके शब्द गूँजने लगे। अब क्या उत्तर देगा वह उन्हें—क्या कहकर समझायेगा वह उन्हें? परंतु घर बैठ रहनेसे तो काम चलेगा नहीं। अब्राहम उसी समय पुस्तक लेकर हारा-हारा थका-थका-सा क्राफर्ड

महोदयके सामने पहुँचा—आँखोंमें आँसू भरे, लज्जासे सिर झुकाये ।

क्राफर्ड महोदय अब्राहमको देखते ही बरस पड़े—'आखिर तुमने इतनी सुन्दर—इतनी मूल्यवान् पुस्तक नष्ट कर ही डाली ! इसीलिये तो मैं किसीको अपनी पुस्तकें नहीं देता । मैंने गलतीकी जो तुम्हारे हाथों यह पुस्तक नष्ट करा ली ।'

'क्या कहूँ, पुस्तक मैंने खिड़कीमें रख दी थी । रातको पानी बरसा और इसकी यह दुर्गति हो गयी । इस अपराधके लिये मैं लज्जित हूँ—दुखी हूँ ।'

'लज्जित या दुखी होनेसे काम नहीं चलेगा । तुम्हें मेरी पुस्तकका मूल्य अदा करना पड़ेगा । मैं लखपती नहीं हूँ । समझे ?'

'परंतु मेरे पास तो पैसे हैं नहीं ।'

'पैसे नहीं हैं तो क्या हुआ, हाथ-पैर तो हैं ।'

'बताइये, फिर मैं क्या करूँ ?'

'पुस्तक यहाँ रख दो और तीन दिनतक मेरे खेतों-की घास काटो । बस, मैं समझ लूँगा मेरी पुस्तकका मूल्य अदा हो गया । इसके बाद उसपर तुम्हारा अधिकार हो जायगा ।'

जैसे अब्राहमके हृदयपर रक्खी हुई चट्टान हट गयी । वह प्रसन्नतापूर्वक लगातार तीन दिनतक क्राफर्ड महोदयके खेतोंकी घास काटता रहा । चौथे दिन पुस्तकपर उसका अधिकार हो गया । वह उसे लेकर आनन्दसे झूमता-झामता घर पहुँचा और अपनी बहिनसे बोला—'तीन दिन घास काटनी पड़ी तो क्या हुआ; पुस्तक तो अपनी हो गयी । अब हमेशा इसे पढ़ूँगा और लाभ उठाऊँगा ।'

निर्भय बालक होरेशियो

(लेखक—श्रीमुबारक अली)

इंग्लैंडका नॉरफॉक प्रान्त, नॉरफॉक प्रान्तका बर्नहमर्योर्थ ग्राम, बर्नहमर्योर्थ ग्रामका निवासी एडमंड नेलसन, एडमंड नेलसनका निडर बालक होरेशियो नेलसन और निडर बालक होरेशियो नेलसनकी लगभग एक सौ नब्बे बरस पुरानी कहानी—

लकड़बग्घोंने चारों ओर उपद्रव मचा रक्खा था । वे मौका पाते ही भेड़, बकरी, कुत्ते आदि पशु ले भागते थे और अब-तब छोटे-छोटे बच्चोंपर भी हाथ साफ कर बैठते थे । इसलिये एडमंड सदा ही होरेशियोके विषयमें चिन्तित रहा करता था और उसने घरके सब लोगों तथा नौकरों-चाकरोंसे कह रक्खा था—'यह बहुत मनचला है । मौका पाते ही इधर-उधर चल देता है । कहीं ऐसा न हो किसी दिन मुसीबतमें फँस जाय । बस, इसपर जरा कड़ी नजर रक्खा करो ।'

होरेशियोकी माता कभीकी स्वर्गवासिनी हो चुकी थी । इसलिये बूढ़ी दादी उसकी देख-भाल क्या रखती थी, एक तरह उसपर अपना सारा प्यार-दुलार लुटाया करती थी । फल यह हुआ था कि होरेशियो ढीठ हो गया था—पूरा ढीठ । जब देखो तब बूढ़ी दादीकी नजर बचाकर भाग निकलता था । फिर तो घरभरमें वह कोहराम मचता था कि बस, कुछ पूछो मत ।

एक दिन होरेशियो अपने खिलौने सँभाल-सँभालकर रख रहा था । अचानक बाहर सीटी बजी और उसकी आवाज होरेशियोके कानोंमें गूँज उठी । उसने इधर-उधर नजर फेंकी । बूढ़ी दादी किसी काममें लगी हुई थी । बस, वह चुपचाप घरसे निकल पड़ा ।

बाहर होरेशियोका एक मित्र खड़ा था—किसी ग्वालेका बेटा । वह होरेशियोको देखते ही खिल उठा, धीरे-से बोला—'चलते हो यार ! बड़ा अच्छा मौका

है। चिड़ियोंके घोंसले देखेंगे, जंगलमें घूमेंगे। अहा हा! बड़ा मजा रहेगा।'

होरेशियो भी खिल उठा, इधर-उधर देखकर बोला—'तो जल्दी चलो न! दादी अभी किसी काममें लगी है। कहीं बाहर आ पहुँची तो बस, फिर न चल सकूँगा।'

अब क्या था, दो मित्र यह जा—वह जा, नौ दो ग्यारह हो गये। इधर थोड़ी ही देर बाद घरभरमें कोहराम मच गया—'होरेशियो कहाँ निकल गया—होरेशियो कहाँ निकल गया? ढूँढ़ो तो जरा उसे!'

इसके साथ ही सब लोग चारों ओर दौड़ पड़े। उन्होंने बात-की-बातमें सारा गाँव छान मारा; पर कहीं होरेशियो तो क्या, उसकी धूल भी न पायी।

अब तो मारे घबराहटके जैसे सब लोगोंके होश हवा हो गये और बेचारी बूढ़ी दादीको काटो तो शरीरमें लोहू नहीं। उसने आँसू बहाते-बहाते अपना माथा पीट लिया। फिर भी उसका जी न माना तो वह स्वयं लाठी टेकती ठंढी-ठंढी साँसें भरती अपने होरेशियोको ढूँढ़ने निकल पड़ी और इधर-उधर भटकने लगी।

धीरे-धीरे सूर्य क्षितिजकी ओटमें जा छिपा और अँधेरी संध्याने पृथ्वीकी ओर पैर बढ़ाया; परंतु होरेशियोका कहीं पता न था। फिर भी बूढ़ी दादीकी ममता न मानी। वह बराबर आगे बढ़ती गयी और चलते-चलते गाँवसे बहुत दूर जा निकली। तब देखती क्या है कि होरेशियो पहाड़की तलहटीमें नालेके किनारे एक चट्टानपर बैठा है और हँस-हँसकर ग्वालेके बेटेसे गप्पें लड़ा रहा है।

बूढ़ी दादीके जी-में-जी आया और पैरोंमें जैसे बिजली चमक उठी। वह झपटकर होरेशियोके पास पहुँची और मधुर स्वरमें मानो उसपर स्नेहकी धारा उड़ेलते-उड़ेलते बोली—'बेटा! तू अबतक यहीं बैठा है! तुझे डर नहीं लगता?'

होरेशियोने भोले-भाले स्वरमें उत्तर दिया—'डर! डर किसे कहते हैं, दादी? मैं तो उसे नहीं जानता। जरा बता तो; मैं भी देखूँ कि डर कैसा होता है?'

बूढ़ी दादी आँखें फाड़-फाड़कर होरेशियोको ताकने लगी। फिर उसने उसे गोदमें उठा लिया और उसके फूल-से प्यारे-प्यारे मुखड़ेपर चुम्बनोंकी झड़ी लगा दी।

स्वावलम्बी बालक किलएनथिस

प्राचीन कालमें ग्रीस देशमें किलएनथिस नामका एक युवक रहता था। वह अखाड़ेमें कुश्ती लड़ने और मुक्केबाजीमें बड़ा ही दक्ष था। अच्छे-अच्छे लोगोंको हरा देता था, पर कुछ दिनोंके बाद इस कामसे उसे अरुचि हो गयी और उसके मनमें दर्शनशास्त्र पढ़नेकी धुन सवार हुई। एथेन्सनिवासी तत्त्ववेत्ता जीनोकी उस समय दार्शनिकके रूपमें अच्छी ख्याति थी। वह जीनोके पास गया, उस समय उसकी हालत बड़ी दयनीय थी। शरीरके वस्त्र फटे थे और पास सिर्फ छः आने पैसे थे। जीनोके विद्यालयमें थोड़ी फीस प्रतिदिन लगती थी। उसे देकर वह युवक ध्यानपूर्वक पढ़ता था। पढ़नेमें वह इतना रस लेता था कि दूसरे विद्यार्थी उससे डाह करने लगे। उनको शङ्का होने लगी कि ऐसा चीथड़े-हाल युवक पढ़नेके लिये इतने दिनोंसे फीस कहाँसे लाता है। उन्होंने उसके विरुद्ध चोरीका आरोप गढ़ लिया और न्यायाधीशके सामने उसे उपस्थित किया।

निर्दोष किलएनथिसने निर्भयतापूर्वक उत्तर दिया कि 'मैं निर्दोष हूँ; मेरे ऊपर जो चोरीका आरोप लगाया गया है, वह निर्मूल है। मैं अपने बयानकी पुष्टिमें दो गवाह पेश करना चाहता हूँ।'

गवाह बुलाये गये। पहला गवाह एक माली था, उसने बयान दिया कि 'यह युवक प्रतिदिन सबेरे

मेरे बागमें आकर कुएँसे पानी खींचता है और इसके बदलेमें मैं इसको कुछ मजदूरी देता हूँ।' दूसरा गवाह एक विधवा थी। उसने बयान दिया कि 'मैं वृद्धा हूँ और लड़कोंकी देखभालमें मेरा सारा समय लग जाता है, इससे घरकी दाल भी मैं नहीं दल पाती। यह युवक मेरे यहाँ आकर दाल दल जाता है और मैं उसको मेहनतके बदले पैसे दे देती हूँ।'

इस प्रकार मेहनत-मजदूरी करके पाये हुए पैसोंसे किलएनथिस विद्याभ्यास करता था। न्यायाधीश उसके आत्मबलसे प्रसन्न हो गया और उसने उसकी मददके रूपमें थोड़ी रकम मंजूर करनी चाही, जिससे उसे भविष्यमें पाठशालाकी फीसके लिये मजदूरी नहीं करनी पड़े।

परंतु युवकने इस मददके लेनेसे साफ इनकार कर दिया और कहा—'मैं अपने शारीरिक श्रमसे विद्याभ्यास करनेकी अनुमति माँगता हूँ। किसीसे दान लेना नहीं चाहता।'

अध्यापक जीनोने भी उसका समर्थन करते हुए कहा कि 'ठीक है, इसको किसीकी मददके बिना ही विद्याभ्यास करने दें। स्वावलम्बनका महान् पाठ यह इसी प्रकार सीखेगा।'

बालक अबूशहमाका सत्यके लिये आत्मबलिदान

(लेखक—श्रीसैयद कासिमअली, साहित्यालङ्कार)

मक्का शहरमें द्वितीय खलीफा हजरत उमर अपने न्याय एवं कर्तव्यनिष्ठाके लिये विशेष विख्यात हो गये हैं। खलीफाका पुत्र अबूशहमा बचपनसे ही जंगल और गुफाओंमें भगवान्‌की आराधना एवं प्रार्थना करता भटका करता था। एक राजकुमारका इस प्रकार संसारसे उदासीन हो जाना सभीके लिये चिन्ताका विषय था; किंतु खलीफा अपने पुत्रकी भगवन्निष्ठासे बहुत प्रसन्न थे और उसे प्रोत्साहित करते रहते थे।

खलीफा उमरने इस्लामके धर्म-नियमोंके अनुसार शासनविधान बनाया था। वे स्वयं राजकोषसे केवल चार आने दैनिक अपने खर्चके लिये लेते थे। इस्लामी राज्यका शासक राज्यकार्य चलाते हुए भी मीठे और चटपटे भोजनसे वञ्चित रहकर संयमका कठोर जीवन बिताये तो ऐसे आदर्श पिताके आचरणका प्रभाव उसके पुत्रपर भला, क्यों नहीं पड़ेगा।

हजरत उमरने शराब पीने-पिलाने और बेचनेपर बहुत कड़ा प्रतिबन्ध लगा रक्खा था। इस सम्बन्धका अपराध करनेवालेको पचास कोड़े लगानेका दण्ड घोषित हो चुका था। इस घोषणासे शराब पीने तथा बेचनेवालोंमें आतङ्क फैल गया था। एक शराबके ठेकेदारने हजरतके पुत्र अबूशहमाको बहकाकर अंगूरोंका रस पिला दिया और उसने स्वयं ही हजरतके पास उनके पुत्रके शराब पीनेकी शिकायत की। उसे आशा थी कि खलीफा अपने पुत्रको बहुत कड़ा दण्ड नहीं दे सकेंगे और इससे नियत किया दण्ड ढीला हो जायगा।

भरे दरबारमें अबूशहमाको बुलाकर खलीफाने पूछा। बालक अबूशहमाने बड़े धैर्यसे कहा—'मैंने अंगूरका रस पिया है। मैं कसूरवार हूँ। मुझे सजा मिलनी चाहिये।' खलीफाने नियत दण्ड ५० कोड़े लगानेकी आज्ञा दे दी। एक शाहजादेको इतना कठोर दण्ड सुनकर लोग रो पड़े।

सुकुमार-शरीर बालक अबूशहमापर जल्लादके कोड़े पड़ रहे थे। उसका सुन्दर देह लहूलुहान हो रहा था। दस कोड़े लगते ही बालकके प्राण निकल गये। हजरत उमरने पुत्रकी मृत्युक्रिया की, शोक मनाया; किंतु दण्ड-विधानकी रक्षाके लिये शेष ४० कोड़े उनकी आज्ञासे अबूशहमाकी समाधिपर मारे गये।

खलीफा उमरका न्याय पूरे अरबमें विख्यात हो गया। इस्लामी राज्योंसे शराबका नामोनिशान मिट गया। बालक अबूशहमाके बलिदानने शराबको इस्लाममें सदाके लिये बंद कर दिया।

दृढ़निश्चयी बालक गंगाराम

लाला दौलतरामजी अमृतसरमें कोर्ट इन्सपेक्टर थे। इनके शेखूपुरा जिलेके एक गुरुद्वारेमें जो पुत्र हुआ, कौन जानता था कि वही बालक आगे चलकर इतनी ख्याति प्राप्त करेगा। बालकका नाम गंगाराम था। बचपनसे ही वह अपनी धुनका पक्का था। जब गंगाराम एन्ट्रेन्स पास कर चुके, तब नौकरीकी खोजमें लाहौर आये। लाहौरमें उनके कुलके पुरोहित एक इंजीनियरके दफ्तरमें नौकर थे। गंगाराम जब उनसे मिलने गये, तब वे दफ्तरमें नहीं थे, अतः एक कुर्सीपर बैठ गये। यह कुर्सी दफ्तरके अफसर इंजीनियर साहबकी थी। इंजीनियर-साहबने आते ही गंगारामको डाँटकर अपनी कुर्सीसे उठा दिया। थोड़ी देरमें वे पुरोहितजी आये और गंगारामसे पूछने लगे—'अब तुम्हारा क्या करनेका विचार है?'

गंगारामने कहा—'विचार तो कुछ और था, पर अब बदल गया है! अब तो मैं इंजीनियर बनूँगा और जिस कुर्सीपरसे उठाया गया हूँ, उसपर बैठकर रहूँगा।'

उस समय लोगोंने हँसकर बात उड़ा दी; किंतु गंगाराम वहाँसे लौट आये और रुड़कीके टामसन कालेजमें भर्ती हो गये। कुछ दिनों बाद इंजीनियर होकर अपनी बात उन्होंने सच्ची कर दी। उसी आफिसके इंजीनियरकी कुर्सीपर वे सचमुच आ बैठे।

अपने जीवनकी कमाईका अधिकांश उन्होंने दीन-दुखियोंकी सेवामें लगाया। पचास लाखसे भी अधिक द्रव्य इन्होंने विभिन्न संस्थाओंमें व्यय किया। विद्यार्थियोंकी पढ़ाईमें इन्होंने बहुत अधिक सहायता की। सरकारने 'सर'की पदवी देकर इनका सम्मान किया था।

ईसामसीहका बाल्यकाल

बेतलहम, जहाँ कि महात्मा ईसा अपनी शैशवावस्थामें माता-पिताके साथ रहते थे, तीर्थस्थान बन गया था। दूर-दूरसे लोग इस दिव्य बालकके दर्शन करने आते थे! लेकिन यरूशलमके शासक हेरोडेसको संदेह हो गया था कि कोई यहूदी बालक उसे मारेगा! नवजात शिशुओंको वह क्रूर मरवा डालता था। उस अत्याचारीके उपद्रवसे बचनेके लिये यूसुफ तथा उनकी पत्नी मरियम ईसाको लेकर मिस्र चले गये!

ईसाके पिता गरीब थे; किंतु माता-पिताने ईसाको कोई कष्ट नहीं होने दिया। बचपनसे ही ईसाकी रुचि धर्म-पालनमें थी और वे अत्यन्त दयालु थे। उनकी बातोंको सुनकर बड़े-बड़े धर्मोपदेशक चकित रह जाते थे। पापात्मा हेरोडेसकी मृत्यु हो जानेपर ईसाके माता-पिता स्वदेश लौट आये और नासरत नगरमें रहने लगे। वहाँसे ईद मनाने वे लोग यरूशलम गये। जब घर लौटे, तब देखते हैं कि ईसा उनके साथ नहीं आये हैं। माता-पिता उन्हें ढूँढ़ते हुए यरूशलममें घूमने लगे। तीन दिन बाद उन्हें हैकल (धर्मविषयक प्रश्नोंका निपटारा करनेका स्थान) में उनको अपना बारह वर्षका बालक बड़े-बड़े धर्मज्ञ विद्वानोंसे धर्मचर्चा करता मिला। माताने कहा—'बेटा! मैं और तुम्हारे पिता दोनों तुम्हें खोजते-खोजते हैरान हो गये हैं।'

ईसा बोले—'मैं तो अपने पिताकी बातें ही सुन तथा कह रहा था।' ईसाका दृढ़ विश्वास था कि वे भगवान्‌के पुत्र हैं।

उन दिनों युहन्ना बड़े ही सत्पुरुष, धर्मात्मा, परोपकारी तथा संयमी कहे जाते थे। उनका जीवन अत्यन्त पवित्र था। ईसा गलेलसे यरोनके किनारे युहन्नाके पास आये और उनसे बपतिस्मा लिया। इसके बाद वे निर्जन वनमें साधन करने चले गये। चालीस दिनोंतक शैतान इनके पीछे पड़ा रहा। इस अवधिमें इन्होंने जलतक नहीं पिया। जब ईसाको भूख लगी, तब शैतानने

कहा—'तू ईश्वरका पुत्र है तो इस पत्थरको कह कि यह रोटी बन जाय।'

ईसाने कहा—'मनुष्य केवल रोटीसे नहीं जीता; वह परमात्माकी प्रत्येक बातसे जीवनशक्ति पाता है।'

शैतान उन्हें एक ऊँचे पर्वतपर ले गया और अपनी मायासे दुनियाकी पूरी बादशाहत दिखाकर बोला—'यदि तुम केवल एक बार मुझे नमस्कार कर लो तो मैं तुम्हें ये सब राज्य दे दूँगा।'

ईसा बोले—'भगवान्‌की आज्ञा है कि एकमात्र उन्हींकी उपासना मनुष्य करे और उन्हींको प्रणाम करे। तुम यहाँसे चले जाओ। तुम्हारे राज्य मुझे नहीं चाहिये।'

शैतानने कहा—'यदि तू यहाँसे कूद पड़े और ईश्वरके फरिश्ते तुझे बचा लें तो मैं तुझे सच्चा ईश्वरका पुत्र समझूँ।'

ईसाने कहा—'भगवान्‌की परीक्षा न ली जाय, यही मर्यादा है। तू मुझे कुछ भी समझ, मुझे इसकी चिन्ता नहीं है।' अपनी कोई दाल गलते न देख शैतान वहाँसे चला गया। महात्मा ईसाने इस प्रकार बाल्यकालमें ही दृढ़ निष्ठा एवं अद्भुत शक्ति प्राप्त कर ली थी।

कर्तव्य

[कहानी]

(लेखक—श्रीयशपालजी जैन)

छुट्टीका दिन था। बालकोंकी एक टोली घूमने निकली। उनमें सब विद्यार्थी थे, लगभग एक उम्रके। छुट्टीके दिन वे लोग प्रायः इकट्ठे हो जाते थे और कभी हाकी तो कभी फुटबाल अथवा क्रिकेटके बल्ले आदि लेकर मैदानमें निकल जाते थे। टोलीमें एक बालक था रोहित। वह सातवीं कक्षाका छात्र था, बड़ा सुशील और भला। मुहल्लेभरमें उसका मान था। खेलती-कूदती, गप-शप करती टोली मैदानमें पहुँची। पहुँची कि फुटबॉल शुरू हो गयी। सब बालक बिखरकर थोड़े-थोड़े फासलेपर खड़े हो गये और लगे फुटबॉलको उछालने। कोई-कोई तो इतने जोरसे पैर मारता कि गेंद बहुत ऊँची आसमानमें चली जाती और फिर सबमें होड़-सी लगती कि देखें, कौन उसे अपने हाथोंमें लेता है। कभी-कभी तो इस क्रियामें उनके सिर भिड़ जाते, कभी कोई गिर जाता और जब-जब ऐसा होता, सारी टोली खिलखिला पड़ती।

और बहुतसे लोग—स्त्री-पुरुष-बच्चे वहाँ घूम-फिर रहे थे; लेकिन इस टोलीके बालकोंका उस ओर ध्यान नहीं था। कोई भी आओ, कोई भी जाओ, वे अपने खेलमें मग्न थे।

इस प्रकार खेल चलता रहा। एक बार गेंद जब हवामें घूमकर नीचे आयी, तब रोहितने उसे लपकनेका प्रयत्न किया, इतनेमें उसे सुधीरका धक्का लगा और गेंद उनकी अँगुलियोंसे छूकर नीचे गिर पड़ी। गिरी और एक बड़ा-सा गढ़ा खाकर आगे लुढ़क चली। रोहित उसके पीछे दौड़ा। दौड़ते-दौड़ते वह कुछ कदम आगे निकल गया। गेंदके लुढ़कनेका वेग कम हुआ और वह उसे पकड़नेको बढ़ा कि देखता क्या है, वहाँ एक बटुआ पड़ा है। बटुआ! उसका सारा शरीर एक साथ काँप गया। वह क्षणभर वहीं स्तब्ध खड़ा रहा। बटुआ है, शायद इसमें रुपये भी हों। बहुत रुपये भी हो सकते हैं, थोड़े भी हो सकते हैं। यह भी हो सकता है कि थोड़ी-सी रेजगारी ही उसमें डालकर कोई घूमने निकल पड़ा हो।····पर वह बटुआ तो है···और उसका नहीं है····उसमें बड़ी रकम हुई तो!····बहुत-सी बातें उस एक क्षणमें रोहितके मस्तिष्कमें चक्कर काट गयीं। उसने इधर-उधर देखा, कोई भी तो उसे नहीं खोज रहा था। उसने बटुआ उठा लिया। हाथमें आनेपर पता चला कि वह भारी है, पर खोलनेका साहस न हुआ। फिर उसने गेंद उठायी और टोलीमें आ मिला। सब बालक उसकी

राह देख रहे थे। एक हाथमें गेंद और दूसरेमें बटुआ देखकर वे सब दौड़कर इकट्ठे हो गये। रोहितने कहा—'यह बटुआ वहाँ पड़ा था।'

टीमोने पूछा—'उसमें क्या है ?'

रोहितने उत्तर दिया—'मुझे क्या पता! रुपये होंगे, भारी मालूम देता है।'

सुधीर बोला—'आज किसी अच्छेका मुँह देखकर उठा होगा, रोहित।'

देवेन्द्रने कहा—'वाहजी! चलो, रसगुल्ले खायेंगे।'

प्रद्युम्न जरा पीछे था। देवेन्द्रको थोड़ा ढकेलकर आगे बढ़ आया और बोला—'जरा इनकी लाटसाहबी तो देखो। रसगुल्ले खायेंगे। जा, जा, पहले वहाँ तलैयामें मुँह धो आ। हमलोग तो बाइस्कोप देखेंगे। क्यों रे मोहन! बोलता क्यों नहीं ?'

मोहन बेचारा चुपचाप खड़ा उन लोगोंकी बातें सुन रहा था। बोला—'अरे! पहले यह तो देखो कि बटुएमें कितने रुपये हैं! तब कोई प्रोग्राम बनाना।'

बात सबको पसंद आयी और रोहितने बटुआ खोलकर उसमेंसे रुपये और रेजगारी निकालकर गिनी तो सब-के-सब भौचक्के रह गये। एक सौ बाईस रुपये दो आने!

रोहित गम्भीर हो गया, मानो अभी रो पड़ेगा। एक ही विचार रह-रहकर उसके मनमें उठ रहा था—'जिसका बटुआ खोया है, उस बेचारेपर क्या बीत रही होगी। जबसे उसे मालूम हुआ होगा, बेहद परेशान हो रहा होगा। शायद रो भी रहा हो!...

बड़ी रकम देखकर बालकोंकी माँग भी बढ़ गयी। रसगुल्ले, चाट, बाइस्कोप और न जाने किस-किसका प्रोग्राम बन गया। रुपये क्या मिले, मानो उन्हें दुनिया-भरका राज्य ही मिल गया।

रोहितकी गम्भीरता प्रतिक्षण बढ़ती जाती थी। उसके कंधेपर हाथ मारकर सुधीरने कहा, 'क्या सोच रहा है ? हमें खिलायेगा-पिलायेगा नहीं तो क्या इस रुपयेसे हाथी-घोड़े खरीदेगा ?'

रोहितको छोड़कर सारी पार्टी हँस पड़ी।

रोहितने अवरुद्ध कण्ठसे कहा, 'तुमलोग हँस रहे हो, पर बटुएवालेका क्या हाल होगा ?'

'हाल क्या होगा!' टीमो बोल उठा। 'जिसे रुपये रखनेका ढंग नहीं, उसे खोनेकी क्या चिन्ता होगी!'

प्रद्युम्न बोला, 'चलो, अब देर हो रही है।' रसगुल्लेकी बात याद करके उसके मुँहमें बार-बार पानी आ रहा था।

रोहित सोचने लगा कि इतने बड़े शहरमें वह उस बटुएवालेको कहाँ खोजेगा, और कैसे ? तब अचानक उसके अन्तरसे जैसे कोई बोल उठा—'तू परेशान क्यों होता है। जिसका बटुआ है, वह खोजते-खोजते यहाँ अवश्य आयेगा। एक सौ बाईस रुपये दो आने! रकम थोड़ी नहीं है।'

और तब रोहितने निश्चय किया कि बटुआ लिये वह यहीं बैठा रहेगा।

अपना निश्चय साथियोंको बताया तो वे लोग हँस पड़े। सुधीरने कहा—'बहुत अच्छा धर्मराजजी! जो आपके जीमें आये, कीजिये। हमलोग तो जाते हैं।'

टीमोने कहा, 'क्यों नीयत बिगड़ गयी ? सारा रुपया बच्चू अकेले ही हड़प लेना चाहते हैं!'

उन बालकोंने और बहुत-सी बातें कहीं, पर वे जानते थे कि रोहित अपनी धुनका पक्का है। एक बार जो ठान ली, उसपर डटा रहता है।

सबने मिलकर थोड़ी देर बटुएवालेकी प्रतीक्षा की। अनन्तर रोहितको वहीं बैठा छोड़कर सब लोग चले गये।

रोहित अकेला रह गया तो तरह-तरहकी बातें उसके मनमें उठने लगीं। मान लो कि बटुएवाला इधर नहीं आया तो! .... अंदरसे किसीने कहा—हाँ, बता, नहीं आया तो! 'रोहितने सिर झटका—नहीं, जबतक रात नहीं हो जायगी, वह यहीं डटा रहेगा, टस-से-मस न होगा। तबतक कोई न आया तो सोचेगा कि आगे क्या करे।........अरे, पुलिसको उसे क्यों नहीं दे देते ?.... उससे क्या होगा ? क्या

भरोसा कि पुलिस खोजकर उसे उसके स्वामीके पास पहुँचा ही देगी?………

बहुत कुछ सोच-विचारके बाद रोहितने तय किया कि राततक अगर कोई लेने न आया तो वह बटुएको अपने घर ले जायगा, माके सुपुर्द कर देगा और पिताजीसे कहकर उसकी सूचना अखबारमें निकलवा देगा। इससे अधिक वह और कर भी क्या सकता था!

नहीं जी! उसकी नौबत नहीं आयेगी। बटुएवाला ढूँढ़ता हुआ वहाँ अवश्य आयेगा, अवश्य आयेगा।

रोहित और दृढ़ताके साथ बैठ गया। लोग आते और घूमते हुए आगे बढ़ जाते। रोहित प्रत्येककी चालको, उसके चेहरेको ध्यानसे देखता और जब उसके मुँहपर परेशानी दिखायी न देती, तब वह अपनी सहज-बुद्धिसे समझ जाता कि यह वह नहीं है, जिसकी प्रतीक्षामें वह बैठा है।

आधा घंटा बीता, एक बीता, दो बीते! बालकका जी अब ऊबने लगा। वह क्या करे? बटुएको वहीं पटककर क्या वह घर चला जाय? नहीं जी! ऐसा वह कैसे कर सकता है?

थोड़ी देर और बीती कि इतनेमें देखता क्या है कि एक लड़की घबरायी-सी इधर-उधर धरतीपर कुछ खोजती उधर चली आ रही है। उसके चेहरेका रंग फीका पड़ रहा था और वह बेहद परेशान दीखती थी। रोहितने तत्काल अनुमान कर लिया कि हो न हो, यह बटुआ इसीका है। वह चुपचाप अपने स्थानसे उठा और आगे बढ़कर उसने पूछा, 'क्या खोज रही हो, बहिनजी?'

लड़कीने निगाह उठाकर रोहितकी ओर देखा, पर एक साथ उसके मुँहसे शब्द नहीं निकला। वह शायद रास्तेभर रोती आयी थी। कुछ सँभलकर बोली, 'यहाँ कहीं मेरा बटुआ गिर गया है।'

'कैसा था?' रोहितने सहज स्वरमें पूछा।

लड़कीने हाथसे इशारा करके बता दिया।

'उसमें कितने रुपये थे?'

लड़कीके होठ सूख रहे थे। उनपर जीभ फिराकर उसने कहा, 'बहुत थे। जो कुछ था, सब उसीमें था। मुझे कालेजकी फीस देनी थी, कुछ किताबें लेनी थी।'

'फिर भी कितने रुपये थे?'

'सौसे ऊपर।'

'अब क्या करोगी?'

इस प्रश्नपर लड़कीके संयमका बाँध टूट गया। आँखें डबडबा आयीं। रूमालसे उन्हें पोंछते हुए बोली, 'क्या बताऊँ! मेरा भाग्य बड़ा खोटा है!'

रोहितको पक्का विश्वास हो गया कि बटुआ उसीका है। उसने जेबसे बटुआ निकालकर उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा, 'देखिये, कहीं यह तो नहीं है।'

बटुआ देखते ही लड़कीकी आँखें चमक उठीं, शरीरमें एक सिहरन दौड़ गयी। बोली, 'भैया! तुमने मुझे बचा लिया। मैं तुम्हारा उपकार कभी न भूलूँगी।'

लड़कीके हर्षका पार न था, और रोहित? उसकी कुछ न पूछिये। उसका हृदय आनन्दसे बल्लियों उछल रहा था। बटुआ लड़कीके हाथ देते हुए बोला, 'बहिनजी! गिन लीजिये, रुपये ठीक हैं न?'

लड़की झेंप गयी। बोली, 'तुम कैसी बात करते हो!'

पर जब रोहितका बहुत आग्रह हुआ, तब वह गिननेको बाध्य हो गयी। पूरे-के-पूरे रुपये निकले। उनमेंसे तो दस-दसके दो नोट रोहितकी ओर बढ़ाते हुए बोली, 'यह लो भैया, अपना इनाम!'

रोहितका चेहरा तमतमा आया। बोला, 'इनाम? कैसा इनाम?'

'कितना बड़ा काम तुमने किया है और कोई होता तो हाथ पड़ा बटुआ लौटाता?'

रोहितने कहा, 'बहिनजी! यह बड़ा काम नहीं है। कर्तव्य है।'

लड़कीने आगे बढ़कर बड़े प्यारसे रोहितकी पीठ थपथपायी और कृतज्ञताभरी दृष्टिसे उसकी ओर देखा।

रोहितने कहा, 'बहिनजी! आप मुझे कुछ देना

ही चाहती हैं तो यह वचन दीजिये कि आगे आप इतनी असावधान न रहेंगी।'

लड़कीने एक बार उस असाधारण बालककी पीठ फिर थपथपायी और कुछ दूर रोहितके साथ चलकर दूसरे रास्तेपर मुड़ गयी।

अब रोहितको देखो। ऐसा उछलता-कूदता घरकी ओर चला, मानो राम लंका जीतकर अयोध्या जा रहे हों। उसके पैर सड़कपर नहीं पड़ रहे थे, जैसे 'हवामें उड़ रहे हों!' वह भूल गया कि इतनी देरसे घर पहुँचनेपर मा नाराज होंगी और पिताजी हुए तो उसकी खबर लिये बिना नहीं मानेंगे।

घर आया तो सचमुच बहुत देर हो गयी थी। मा कई बार द्वारपर झाँक गयी थीं। छुट्टीके दिन रोहित कभी इतना बाहर नहीं रहता था। राह देखते-देखते झुँझला उठीं। इतनेमें रोहितने घरमें प्रवेश किया। माने कड़ाईके साथ पूछा, 'क्यों रे, तू कहाँ गया था?'

रोहितने सारा किस्सा कह सुनाया। सुनकर माकी झुँझलाहट काफूर हो गयी और गद्गद होकर उन्होंने असीम प्यार और गहरी ममताके साथ बालकको छातीसे लगा लिया। आँखें उनकी भर आयीं। बोलीं—'मेरे प्यारे बेटे! तूने आज हमारे कुलका नाम ऊँचा किया। तुमसे मुझे ऐसी ही आशा थी।'

रोहित पुलकित हो उठा।

मा कहती गयीं, 'मेरे बेटा! हमलोग गरीब हैं तो क्या, हमलोगोंके पास ऐसी दौलत है, जो बड़ों-बड़ोंके घर भी मुश्किलसे मिलेगी।'

कहते-कहते गर्वसे माकी छाती फूल आयी और मा-बेटेके उस अलौकिक आनन्दसे मानो वहाँका मौन वातावरण भी मुसकरा उठा।

शिखा

[कहानी]

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न)

'तुम्हें लज्जा नहीं आती क्या?'

'इसमें लज्जाकी कौन-सी बात है? और सच पूछा जाय तो लज्जा तुम्हें आनी चाहिये।'

'लंबी चोटी और माथेपर राख पोते कॉलेजमें तुम चले आते हो और लज्जित मुझे होना चाहिये?'

'अपनी संस्कृति और धर्मकी उपेक्षामें मुझे गौरवका बोध नहीं होता। शिखाको मैं अपने सर्वाधिक सम्मान-की वस्तु समझता हूँ।'

'साँप चला गया, लकीर पीटते रहो।'

'अभीष्ट प्राप्त करानेवाली लकीरका फकीर बनना मैं सौभाग्यकी वस्तु समझता हूँ।'

'अशिष्टताबोधकके अतिरिक्त और क्या है यह चुटिया! कॉलिजके शिष्ट छात्रोंके बीच अद्भुत जन्तु लगते हो तुम।'

'यह तो दृष्टिभेदके अतिरिक्त और कुछ नहीं, मेरी दृष्टिमें कॉलिजके ये झुंड-के-झुंड छात्र ही अद्भुत जन्तु-से लगते हैं। अंग्रेजीके कुछ अक्षरोंको सीखकर जिन्होंने अपनी प्राचीन महिमामयी संस्कृतिको तिलाञ्जलि दे दी, पर-धर्म और पर-संस्कृति ही जिनके लिये आकर्षणका केन्द्र बन गयी है, वे दयाके पात्र हैं।' खिन्न मन गजाननने शान्त स्वरमें कहा।

'तुम्हारा समस्त धर्म और समूची संस्कृति इन शिरोजात कुछ केशोंमें ही समायी है।' रवीन्द्रने कटाक्ष किया।

'शिखा धर्म और संस्कृतिका अङ्ग है।' गजाननके रोम-रोममें जैसे विषदग्ध सूची बेध दी गयी हो। वह आहत-सा हो गया, किंतु उत्तेजित नहीं हुआ। गम्भीरतासे उसने कहा—'जबतक अनुष्ठान कर्म रहता है, तबतक शिखा-सूत्र किसी भी दशामें त्यागा नहीं जा सकता। यह हिंदुत्वका बोधक तो है ही, शास्त्र-मूलक है और है श्री और यशको देनेवाला।' शुक्ल यजुर्वेदमें स्पष्ट उल्लेख है।

आत्मन्नुपस्थे न वृकस्य लोम
मुखे श्मश्रूणि न व्याघ्रलोम।
केशा न शीर्षन् यशसे श्रियै शिखा
सिंहस्य लोम त्विषिरिन्द्रियाणि॥
(यजु० वा० सं० १९। ९२)

'शिखा यदि श्रीके लिये है तो उसे आगे, पीछे या मध्यमें क्यों नहीं रखते?' कुटिल स्मितके साथ रवीन्द्रने पूछा।

'हमारे शास्त्रोंने प्राणियोंके कल्याणार्थ सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयोंपर भी गम्भीर विचार किया है।' गजानन धीरे-धीरे कह रहा था। 'शास्त्रोंका अध्ययन हो जानेपर उनमें उत्कट श्रद्धा हो जाती है। शिखा रखनेके लिये स्थान निश्चित है—

'अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले।'

अर्थात् 'तालुके मध्यमें स्तनकी तरह जो केशराजि दीखती है। यहाँ केशोंका मूल है; वहाँ सिरके कपालका भेदन करके 'इन्द्रयोनि' इन्द्र अर्थात् परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग सुषुम्ना नाड़ी है। योगी उसे सुषुम्नाका मूलस्थान कहते हैं और आयुर्वेदने उसे 'मस्तुलिंग' संज्ञा दी है। सिरपर उसकी रक्षाके लिये गोखुर परिमाण बाल, जो शिखा शब्दसे व्यवहृत होते हैं, रखनेका आदेश है आयुर्वेदमें शिखा अत्यन्त उपयोगी बतलायी गयी है।'

'अच्छा महाराज! उपदेश बंद कीजिये।' रवीन्द्रने व्यङ्ग्य किया। 'शिखाशून्य कालेजके छात्र सब-के-सब रुग्ण ही हैं?'

'पर मैं किसीसे अस्वस्थ नहीं।' गजाननने कुछ कड़े शब्दोंमें कहा। 'लंबी दौड़में कालेजके समस्त छात्र मुझसे पराजित हो चुके हैं। हाकी और फुटबॉलमें भी मैं किसीसे पीछे नहीं। परीक्षा-फल मेरा प्रथम श्रेणीसे कभी नीचे नहीं आया।'

गजानन स्वयं अपनी प्रशंसा कभी नहीं करता था, वह अत्यन्त सरल और शीलवान् था। बाल्यकालमें उसपर पिताके धार्मिक जीवनका पूर्ण प्रभाव पड़ा था। अमरकोश और अष्टाध्यायी तो उसे छः वर्षकी आयुमें ही मुखस्थ हो गयी थी। उसकी बुद्धि तीक्ष्ण और स्मरणशक्ति अत्यन्त प्रखर थी। मेधावी गजाननका प्रभाव उसके प्रोफेसरपर भी था। वे गजाननको आदरकी दृष्टिसे देखते। सरल वेश था उसका। सुदृढ़ स्वास्थ्य लेकर वह प्रत्येक दिशामें सफल होता। वह जिस अनुरागसे पाठ्य पुस्तकोंमें डूबता, उससे अधिक अनुरागसे सूर्योदयके पूर्व ही अपनी माताकी साड़ी और पीतलका कमण्डलु लिये उनके साथ गङ्गा-स्नान कर आता। शिवलिङ्गकी अर्चना और दोनों आह्निक कर्म वह नियमित रूपसे निष्ठापूर्वक करता। कॉलेजमें पहुँचते ही छात्रोंकी दृष्टि उसपर पड़ती और वे मुसकरा उठते; किंतु गजानन उन्हें भूला-भटका पथिक समझकर अपनी पुस्तकोंमें लग जाता। अध्ययनमें वह इतना तल्लीन होता, प्रोफ़ेसरके व्याख्यानको इतने ध्यानसे सुनता कि एक-एक अक्षर जैसे पीता जाता। किस छात्रने प्रोफ़ेसरको देखकर नाक-भौं सिकोड़ी, किसने फलका छिलका अपने साथीपर फेंका और कौन व्याख्यानके बीचसे ही बाहर चला गया, यह उसे साइकिलसे घर जाते समय ही कभी किसीसे विदित हो पाता, अन्यथा वह गम्भीर साधककी भाँति कॉलेजमें सरस्वतीकी आराधना करता रहता। कॉलेजके किसी छात्रके साथ घूमने, टी-पार्टीमें सम्मिलित होने या चलचित्र देखनेके लिये उसके पास अवकाश ही नहीं था। एक बार कॉलेजके तीन छात्रोंने गजाननकी माताके पैरों पड़ उससे चलचित्र देखनेकी स्वीकृति ले ली। किसी प्रकार रात्रिका द्वितीय खेल देखनेके लिये वह गया। छात्रत्रय अपनी सफलतापर विजयगर्वका अनुभव कर रहे थे, पर चित्र आरम्भ होनेके कुछ ही देर बाद तीनों छात्रोंने देखा, गजानन धीरेसे खिसक गया था। दूसरे दिन गजाननने छात्रोंसे कहा था 'कल कुछ ही देरका चित्र देखकर आजीवन 'चलचित्र-भवनमें कभी भी पैर न रखनेकी मैंने शपथ ले ली।' सद्गुण-सम्पन्न होनेपर भी वह स्वतः 'मियाँ

मिट्ठू' नहीं बनता था, किंतु रवीन्द्र आज रह-रहकर उसके मर्मपर जैसे अंगार रख रहा था। धर्म और संस्कृतिकी उपेक्षा देखकर उसे पीड़ा होती, पर वह मौन रहता। आज सीधे स्पष्ट शब्दोंमें शिखा-जैसी पवित्र और आदरणीय वस्तुकी कुत्सित आलोचनासे वह छटपटा उठा। इसी कारण वह इतना कह गया। कॉलेजसे घर जाते समय दोनों साइकिल खड़ीकर तर्कमें उतर पड़े थे।

गजानन शान्त होनेका प्रयत्न कर रहा था कि उसे क्रोध आ गया। उसके नेत्र जलने लगे। उसकी शिखाको समीपसे पकड़कर रवीन्द्रने हिला दिया और विद्रूप-हास्यके साथ साइकिलपर भाग खड़ा हुआ।

गजाननकी साइकिल पीछे दौड़ी! दोनों पूरे वेगसे साइकिल दौड़ा रहे थे। रवीन्द्र आगे-आगे भाग रहा था और गजानन उसे पकड़नेका प्रयत्न कर रहा था। दोनों पसीनेसे लथपथ हो गये, पर रवीन्द्रको भागनेके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था। शान्त महोदधिके चंचल होनेके परिणामसे वह अपरिचित नहीं था। रवीन्द्र जितनी तीव्रगतिसे दौड़ सकता था, दौड़ रहा था, पर गजाननकी साइकिल उसके पीछे दीख रही थी। गजानन साइकिलपर झुककर इतना तेज चल रहा था, जैसे उसे पथके किसी भी विघ्न-बाधाकी चिन्ता नहीं थी। उसकी साइकिल रवीन्द्रकी साइकिल-से केवल दो हाथ पीछे रह गयी। रवीन्द्र घबरा गया। उसके पैर थक गये थे, वे उठ नहीं रहे थे, पर शरीरका समस्त धैर्य और साहस एकत्रकर उसने पैडिलपर पैरोंका जोर लगाया और आगे बढ़ा।

झन्ना मोड़पर रवीन्द्रकी साइकिल रिक्शेसे उलझी और दूर जा गिरी। रवीन्द्र मुँहके बल गिर पड़ा।

गजाननने ब्रेक लगाया और देखा पसीनेसे भींगे रवीन्द्रका सिर फट गया था, रक्त निकल रहा था। हाथ और पैरमें भी चोट आ गयी थी। गजाननको देखकर वह सहम गया, शरीर उसका काँप रहा था।

ताँगेपर रवीन्द्र और उसकी साइकिल रक्खी गयी। ताँगा नगरके मुख्य चिकित्सालयकी ओर मुड़ पड़ा। गजानन अपनी साइकिलसे पीछे-पीछे उदास मन जा रहा था।

× × × ×

दूसरे दिन स्नान-संध्याके बाद गजानन शिवार्चन करने बैठा। शिवलिङ्गपर उसने जल चढ़ाया, चन्दनसे त्रिपुण्ड्र तिलक लगाया और बिल्वपत्र, पुष्प एवं सुगन्धित पुष्पकी माला चढ़ायी। सद्गन्ध-पूरित धूप जला दी। वह एकान्त उपासना-गृह सुवासित हो गया। गजानन-ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की; किंतु आज पूजाका सारा क्रम अभ्यस्त हाथोंसे व्यवस्थित रूपसे चलते रहनेपर भी उसका मन एकाग्र और शान्त नहीं हो गया। रात्रिमें उसे नींद नहीं आयी। शय्यापर जैसे बिच्छू पड़ा था, वह इधर-से-उधर करवटें लेता रहा। अभी उसने पार्वतीवल्लभ भगवान् आशुतोषका ध्यान करनेके लिये नेत्र निमीलित किया; किंतु उमानाथ ध्यानमें नहीं आ सके। जैसे-तैसे उसने स्तुतिके श्लोक कहे और फिर पुस्तक उठा ली। पुस्तककी पंक्तियाँ काली-काली रेखाओंके अतिरिक्त और कुछ नहीं दीख रही थीं। वह आकुल हो गया। पुस्तक उसने रख दी और कभी छतकी ओर और कभी खिड़कीके बाहर देखता, पर नेत्रकी पलकें उठी रहनेपर भी उसे कुछ नहीं दीख रहा था। उसके सामने विगत सोलहवीं शताब्दीका चित्र रह-रहकर जैसे मूर्त्त होता जा रहा था।

घटना थी उस समयकी, जब सन् १६५९ ई०में मुगल सम्राट् औरंगजेब बड़े ठाट-बाटसे दिल्लीकी गद्दीपर बैठा 'मेरे राज्यमें कोई हिंदू नया मन्दिर न बनाने पाये।' उस धर्मान्धने शासनभार ग्रहण करते ही आज्ञा निकाली। सन् १६६४ ई०में उसने गुजरातके एक मन्दिरमें हिंदु-प्राण गौका वध करवाया और उसे तोड़कर वहाँ मसजिद खड़ी कर दी। सन् १६६९ ई०में तो उसने सीधे 'हिंदुओंकी पाठशालाएँ और मन्दिर नष्ट कर दिये जायँ' आदेश दे दिया। उसने अपनी आज्ञाओंका कठोरतापूर्वक पालन किया। उसी समय काशीविश्वेश्वरका मन्दिर तोड़ा गया, दूसरे वर्ष मथुराका

केशवरायका मन्दिर तोड़कर विशाल मसजिद बना दी गयी। सन् १६६९ ई०में मथुरानिवासी गोकुल नामक जाटने अत्याचारसे पीड़ित होकर एक मुसल्मान फौजदार-का प्राण ले लिया। औरंगजेबने उसे पकड़वाया और उसकी बोटी-बोटी कटवाकर फेंकवा दी। उसके परिवारके लोग बलात् यवन बनाये गये। 'काफिरोंके हाथ जानेसे अपवित्र हो जायगा। इस कारण सिक्कोंपर कलमा लिखा जाना बंद कर दिया गया।'

कितनी विचित्र परिस्थिति थी। ऊँचे पदोंपर मुसल्मान थे, शासन उनका था, शस्त्र उनके पास थे। सर्वांशतः इस्लामको पद-पदपर प्रोत्साहन दिया ही जा रहा था। काफिर क्या करते? उनके लिये कौन मार्ग था? इस्लामके विरुद्ध तो दूरकी बात, अपने धर्मके गरिमा-गानके लिये असुविधा थी, भीषण कठिनाई थी, शिक्षाके लिये हिंदू-बालकोंको मकतबमें जानेके अतिरिक्त और कोई पथ शेष नहीं रह गया था।

सुरेन्द्र आगराके उस मकतबमें पढ़ता था, जो यमुनासे थोड़ी ही दूरपर था। मकतब विशाल और भव्य था। छतपर खड़े हो जानेसे नीली कलिन्दनन्दिनीकी निर्मल धारा बहुत दूरतक दीखती थी। उस पारकी फैली हुई विस्तृत उज्ज्वल रेणुराशि और सघन वन अत्यन्त ही मोहक लगता। सायंकाल प्रायः मौलवी छतपर चला जाता। हाथमें तसबीहके मनके फेरता हुआ वह टहलता रहता।

अंशुमाली अपनी अरुणिम किरणोंसमेत अस्ताचल चले जाते। शून्यमें असंख्य तारिकाओंके साथ चन्द्र उदय होता। उसकी अमृतमयी धवल शीतल किरणें सुदूर पारके घने वन, फैली बालुकाओं और यमुनाकी लहरोंपर फैल जातीं। शीतल, मन्द पवन चलता रहता। उस समय भी मौलवी देरतक, बड़ी देरतक उसी तरह तसबीह लिये मनका फेरते धीरे-धीरे टहलता रहता। रह-रहकर यमुनाकी चाँदी-जैसी चमकती हुई चञ्चल लहरोंको देख लेता, कभी-कभी वह बहुत देरतक उन्हीं लहरोंपर आँखें गड़ाये जैसे 'खुदाका नूर' देखनेकी कोशिश करता। गरमीके दिनोंमें प्रतिदिनका काम उसका यही था।

'मौलवी साहब!' उस दिन मौलवी मकतबकी छतपर खड़े होकर यमुनाकी काँच-जैसी स्वच्छ धारामें सूर्यदेवके अन्तिम प्रहरके लोहितवर्णका प्रतिबिम्ब देखनेमें तन्मय हो गया था। तसबीहका एक मनका उसकी कृश अँगुलियोंमें निरुपाय दबा पड़ा था। मौलवीने झटकेसे उधर देखा, एक मुसल्मान छात्रने उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था। 'क्या है?' धीमे स्वरमें उसने पूछा। तसबीहके मनके सरकने लगे।

'सुरेन्द्रने आपकी दाढ़ीको गाली दी'—छात्र एक साँसमें बोल गया।

'हाँ मौलवी साहब!' दूसरा मुस्लिम छात्र साक्षी देनेके लिये उपस्थित था। 'सुरेन्द्रने आपकी ही सफेद दाढ़ीकी नहीं बल्कि इस्लामके हर नुमाइंदोंकी दाढ़ीको गाली दी।'

वृद्ध मौलवी क्रोधसे काँप उठा। गड्ढेमें धँसी उसकी आँखोंमें जैसे जर्जर शरीरका सारा रक्त उतर आया। 'बुलाओ····उसे।' विशृङ्खल वाणीमें उसने आज्ञा दी।

छात्र दौड़ता हुआ नीचे चला गया और दूसरे ही क्षण सुरेन्द्र ऊपर आया। आगे-पीछे कई छात्रोंने उसे घेर रखा था। मौलवीकी दृष्टि उठते ही मुस्लिम छात्र इधर-उधर हट गये। सुरेन्द्रने सिर उठाया। उसकी आकृति रक्तसे भींग गयी थी। शरीर उसका शिथिल-सा हो गया था। स्पष्ट था कि मुस्लिम छात्रोंने मिलकर उसे पीटा था।

'सुरेन्द्र!' मौलवीने पूछा 'तुमने क्या कहा है?'

'जी,' बोला नहीं जा रहा था उससे। धीरे-धीरे उसने कहा 'मेरी शिखा करीमने जोरसे खींची?'

सब छात्र चुप थे। मौलवी सरोष उसकी ओर देख रहा था। सुरेन्द्रने कठिनाईसे कहा 'मैंने विनय-पूर्वक कहा, यह हमारा धर्मचिह्न है। हम इसे आदर देते हैं। इस प्रकार हमारा और हमारे धर्मका अपमान नहीं करना चाहिये।'

कुछ क्षण चुप रहकर मुँहपर बहकर गिरते रक्तको पोंछकर उसने दर्दसे कराहते हुए कहा—'सलीम मेरी

बायीं ओर खड़ा था। उसने करीमको मना करना तो दूर रहा, मेरी चोटी दूसरी ओरसे खींच ली। करीमने कहा—'बकरेकी पूँछकी तरह इसे रखनेसे क्या फायदा ?'

सुरेन्द्र गिरते-गिरते बचा। सिर थामकर बैठ गया और बोला—'मैंने उत्तरमें कहा—इस्लामके अनुयायियोंमें जो आदर और सम्मान दाढ़ीको दिया जाता है, हमारे धर्ममें शिखाका गौरव उससे किञ्चित् भी कम नहीं।' मेरा यही वाक्य इन लोगोंके लिये विषाक्त बाण बन गया। उत्तेजित होकर सबने मेरी यह गति····।' सुरेन्द्र मूर्च्छित हो गया।

× × × ×

'सुनो सुरेन्दर !' तीसरे दिन समस्त छात्रोंके बीच खड़े अपराधी सुरेन्द्रको मौलवीने सुनाया। 'तुमने इस्लाम-की तौहीन की है। पाक कुरानके खिलाफ तुम्हारी खुली बगावत काबिले बर्दाश्त नहीं। तुम्हारे लिये सिर्फ दो रास्ते हैं—इस्लामकी मंजूरी या मौत।'

समस्त छात्र शान्त थे। सुरेन्द्र अवनत मुँह खड़ा था। मौलवीने तसबीहके दानोंको जोरसे घुमाते हुए अपनी शक्तिभर तड़पकर कहा—'बोलो, क्या मंजूर है ?'

सुरेन्द्र चुप था। मकतबमें मरघटकी शान्ति व्याप्त थी। उस समय सूई गिरनेका शब्द भी सुना जा सकता था। मौलवी अपनी सफेद दाढ़ीपर बायाँ हाथ फेरते हुए पुनः बोला—'हमारे पास ज्यादा वक्त नहीं, बोलो, तुम्हें क्या मंजूर है ?'

'पवित्र इस्लामके फरिश्तेका न्याय मैंने सुन लिया।' सुरेन्द्रकी अपनी परम पुरातन हिंदू-संस्कृतिकी स्निग्ध किरणें जैसे उसके नेत्रोंके सामने थिरकने लगीं। धराकी वह महिमामयी संस्कृति, जो जल, थल और नभके प्रत्येक प्राणीको सुखपूर्वक जीवन-यापन करनेके लिये आश्वस्त करती रहती है। जिस संस्कृतिमें लघु पिपीलिकाको मधुर शर्करा और विषधरको दुग्ध-दानका विधान है। सुरेन्द्रने सगर्व उत्तर दिया—

'इस्लाम स्वीकार करनेकी अपेक्षा मृत्युको आलिङ्गन करना मैं अत्यधिक श्रेयस्कर समझता हूँ।'

मौलवी देखता रहा। मुस्लिम छात्र काना-फूँसी करने लगे। दो-चार हिंदू छात्र थे। रोषसे उनके रोम काँप रहे थे, पर वे विवश थे, निरुपाय थे। मौलवीने पुनः कहा—'खूब सोच लो! जानकी कीमत कम नहीं। इस्लाम मंजूर कर लेनेपर तुम्हारे लिये ऊँची पदवी भी तैयार है।'

'सोच-विचारके लिये कुछ शेष नहीं!' सुरेन्द्रने अत्यन्त निश्चिन्ततासे उत्तर दिया। 'परम पावन सनातन धर्मको छोड़कर मुझे दिल्लीका राज्यसिंहासन भी अभीष्ट नहीं।'

'अल्लाहो अकबर।' मुस्लिम छात्रोंने गगनभेदी स्वरमें उच्च घोष किया।

सुरेन्द्रकी आकृति किञ्चित् भी मलिन नहीं हो सकी।

× × × ×

होना वही था, जो निरङ्कुश शासनमें होता है। सुरेन्द्र इस्लामके उन्मादका शिकार बना। शासन उसे किसी प्रकार भी प्रलुब्ध करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उस कुसुम-सुकुमार बालकका मस्तक उतार लिया गया, पर वह हँसता रहा, अन्ततक हँसता रहा। धड़से पृथक् होनेपर भी हास्य उसकी आकृतिपर नर्तन करता रहा।

× × × ×

गजाननके नेत्र गीले हो गये। उसने आँखोंसे रूमाल सटा लिया, पर आँखें बरसीं तो बरसती ही गयीं।

'····हिंदू-धर्मका वह सम्मान, शिखाकी रक्षाके लिये प्राणार्पण! हँसते हुए बलिदान! और आज अपनी शिखा अपने ही हाथों····। हिंदू ही शिखाकी उपेक्षा, अनादर········।' गजानन सिसकने लगा।

'कॉलिजका समय हो गया बेटा!' गजाननकी माने भीतरसे पुकारकर कहा। 'भोजन कर ले।'

'आज भूख नहीं है मा!' काँपती जबानमें उसने उत्तर दिया। 'उस समय खा लूँगा।'

'आज क्या हो गया है तुझे ?' समीप आकर माने कहा। 'थोड़ा ही खा ले, नहीं तो पढ़ेगा कैसे ?'

'नहीं मा, आज मैं नहीं खा सकूँगा।' कहते हुए गजाननने अपनी पुस्तक और साइकिल बाहर निकाल ली।

गजानन साइकिलपर बैठकर चला गया, पर उसकी मा नहीं समझ सकी कि वह आँखोंसे बार-बार रूमाल क्यों सटा लेता था।

वीराङ्गना

[कहानी]

(लेखक—स्वामीजी श्रीपारसनाथजी)

आजसे ५५ वर्ष पहले यह घटना घटी थी। रायपुर जिलेकी एक पुलिस-चौकीपर एक दारोगा और सात सिपाही रहते थे। तीन सिपाही हिंदू थे और दारोगा-सहित चार सिपाही मुसल्मान।

शामका समय था। दारोगाजी चौकीके बाहर एक चबूतरेपर बैठे सिपाहियोंको देहाती पहरेपर भेज रहे थे। तीनों हिंदू और एक मुसल्मान सिपाहीको जब पहरेपर भेज चुके, तब उनके पास केवल तीन मुसल्मान सिपाही रह गये थे।

तबतक पासके रास्तेसे, एक युवक अपनी पंद्रह वर्षीय बहिनके साथ निकला। दारोगाकी नजर लड़की-पर पड़ी। दारोगाने एक सिपाहीसे कहा—'उन दोनोंको यहाँ ले आओ।'

जब वे आ गये, तब दारोगाने युवकसे पूछा—'तुम कौन हो और तुम्हारे साथ यह लड़की कौन है?'

'मैं हरीपुरके ठाकुर साहबका लड़का हूँ। यह मेरी बहिन है।'

'तुम दोनोंके नाम?'

'मेरा नाम चेतसिंह है और इसका नाम दुर्गावती है।'

'कहाँसे आ रहे हो?'

'मेरी बहिन मेरे मामाके यहाँ गयी थी। अब इसका विवाह होनेवाला है, इसलिये घर लिये जाता हूँ। हमलोग मँझोलीपर बैठकर आ रहे थे। यहाँ आनेपर एक बैल बीमार हो गया। मेरा गाँव यहाँसे दो मील दूर है, सोचा कि पैदल चले जायँगे।'

'मगर रास्ता खराब है। कल एक मुसाफिर लुट गया था। तुम्हारी बहिन जेवर पहिने है। तुमलोग यों ही मुँह उठाकर चल देते हो—बदनामी होती है साले थानेदारकी!'

'तो क्या न जाऊँ?'

'हाँ, तुम दोनों आज रात यहीं थानेमें रहो।'

'बहुत अच्छा।'

'मालूम पड़ता है कि तुम इस लड़कीको कहींसे भगा लाये हो। यह तुम्हारी बहिन नहीं हो सकती।' दारोगाने आँख दिखाते हुए कहा।

'यह लड़का काला है और यह लड़की गोरी है।' एक सिपाहीने दारोगाकी दलीलपर सुआद कर दिया।

'इस लड़केको हिरासतमें बंद कर दो और इस लड़कीको मेरे कमरेमें पहुँचा दो।' दारोगा बोला।

'हम दोनों भाई-बहिन हिरासतमें रहेंगे।' लड़की-ने कहा।

'नहीं—तुम्हारा बयान एकान्तमें लेना है।'

सिपाहियोंने लड़केको हवालातमें ठूँस दिया और लड़कीको दारोगाके कमरेमें बिठला दिया।

दारोगा—देखो दुर्गावती! तुम डरो मत। सुबह तुम दोनोंको भेज दिया जायगा। कुछ खाना खाओगी? मिठाई मँगवाऊँ?

लड़की—जी नहीं। हमलोग खाना खा चुके हैं।

दारोगा—आरामसे पलंगपर बैठो। जमीनपर क्यों बैठी हो? इसे अपना घर समझो और मुझे अपना ××××××।

लड़की—जो पूछना हो, पूछिये। मैं भाईके पास जाऊँगी।

दारोगा—तुम सचमुच उसकी बहिन हो?

लड़की—मेरे पिताके पास सिपाही भेजकर मालूम कर लो। अभी सिपाही भेजो—अभी पिताजी यहाँ चले आयेंगे। हमलोग क्षत्रिय हैं—झूठ नहीं बोलते।

दारोगा—यकीन आ गया। सुबह तुमलोग बेशक चले जाना। मगर आजकी रात तुमको इसी कमरेमें मेरे पास रहना होगा।

× × × ×

लड़कीकी आँखें लाल हो गयीं। वह बोली—'मैं किसी रंडीकी लड़की नहीं हूँ—एक पतिव्रता क्षत्राणीकी लड़की हूँ। खबरदार! जबान सँभालकर बात करना।'

'यह मिजाज? काफिरोंका यह हौसिला! अब मैं और तीनों सिपाही—तुम्हारे मिजाजको देखेंगे। पलंगपर लेटो। मैं पेशाब करके अभी आता हूँ।' दारोगाने कहा!

बाहर निकलकर दारोगाने तीनों मुसल्मान सिपाहियोंको समझा दिया और कहा—एक घंटे बाद मैं बाहर आ जाऊँगा। तब तुम जाना।

इतना कहकर दारोगा अपने कमरेकी तरफ बढ़ा।

उधर दुर्गावतीने जो कमरेमें नजर दौड़ायी तो एक खूँटीपर एक तलवार लटकती दीखी।

उसने तलवार नंगी करके हाथमें ले ली और खुद किंवाड़की आड़में खड़ी हो गयी।

ज्यों ही दारोगा साहब भीतर घुसे, त्यों ही उस लड़कीने ऐसी तलवार मारी कि सिर कटकर फर्शपर गिर पड़ा। दुर्गावतीमें 'दुर्गापन' झलक रहा था। उसने किंवाड़ बंद कर दिये और लाशको पैरोंसे पलंगके नीचे कर दिया। खुद फर्शके एक कोनेमें बैठ गयी।

एक घंटा बाद एक सिपाही आया। लड़कीने साँकल खोल दी और खुद तलवार लिये किंवाड़की ओटमें हो गयी। ज्यों ही सिपाही भीतर आया त्यों ही उसका भी सिर काट डाला। इसी प्रकार तीनों सिपाही मार डाले गये। पलंगके नीचे चार लाशें थीं और कमरा खूनसे तर था।

सबेरा हुआ। देहाती पहरेके सिपाही आये। दारोगाजीको आवाज दी। किंवाड़ थपथपाये। लड़कीने कहा—'इस कमरेमें चार खून हो गये हैं और मैंने ही चारोंको मारा है। कमरा तब खोला जायगा, जब कलक्टर साहब आ जायँगे।'

उस लड़कीने अपना सारा हाल सुनाकर कहा।

एक सिपाही क्षत्रिय था। वह रेलपर बैठकर शहर गया और कलक्टर साहबको मोटरद्वारा चौकीपर ले आया। कलक्टर साहबके साथ पुलिस-सुपरिंटेंडेंट भी थे। कलक्टर साहब कायस्थ थे और कप्तान साहब क्षत्रिय।

'किंवाड़ खोलो—बेटी! मैं आ गया।' कलक्टरने कहा। किंवाड़ोंको खोलकर हाथमें खून भरी तलवार लिये दुर्गावती साक्षात् दुर्गा बनी बाहर निकली।

लड़कीने सारा हाल सच-सच बयान कर दिया।

कलक्टर साहबने उसके भाईको हिरासतसे निकलवाया। उसने भी वही बयान दिया, जो लड़कीने दिया था।

कलक्टरने कहा—'तुमने कोई जुर्म नहीं किया, बेटी! अपने प्राणोंपर और अपने धर्मपर संकट आनेपर हमला किया जा सकता है—यह कानून कहता है। 'हिफ़ाजत खुद अख़तियारी'वाली दफासे तुम बेकसूर हो। क्यों कप्तान साहब?'

'बिल्कुल बेकसूर! बल्कि काबिले-इनाम यह केस है।' कप्तानने कहा।

'मैं तुमको वह गाँव इनाम देता हूँ, जिसमें तुमने जनम लिया है—दुर्गादेवी!' साहब कलक्टरने कहा।

'मैं तुमको यही तलवार इनाम देता हूँ, जिससे तुमने चार पाजियोंको दोजखमें भेजा है—बेटी!' कप्तान साहबने कहा।

इसके बाद उस 'भाई-बहिन'की जोड़ीको अपनी मोटरमें बिठलाकर दोनों आला अफसर—उनके पितासे मिलने और उनका बयान लिखनेके लिये—गाँवपर गये।

दुर्गाके पिताने दोनों अफ़सरोंका बड़ा आदर किया।

पिताने कहा—'ये दोनों बच्चे मेरी ही संतान हैं।

अपने मामाजीके गाँवसे आ रहे थे। गाड़ीका एक बैल बीमार हो गया था। इसीसे पैदल दोनों चल दिये थे।'

गाँवभरकी स्त्रियाँ तथा लड़कियाँ और लड़के—दुर्गावतीके चरण छू रहे थे और 'जय दुर्गा' कह रहे थे।

'इस लड़कीके ब्याहमें हम दोनों अफसरोंको जरूर बुलाना—ठाकुर साहब!' कलक्टर साहबने कहा।

'जरूर हुजूर जरूर।' ठाकुर साहबने कहा।

दुर्गावतीके विवाहमें सारा शहर उमड़ पड़ा था। सब अफसर और सब रईस आये थे। विवाहके मण्डपके नीचे जेवरों और कपड़ोंका पहाड़ लग गया था। कहना नहीं होगा कि कलक्टर और पुलिस-सुपरिंटेंडेंट महोदयने जरूरी कागजात सरकारमें भेजकर न केवल दुर्गावतीको माफी दिलवायी वरं उसे बहादुरीकी सनद और इनाम भी दिलवाया!

मैत्रेयका शिक्षक दल

[लघुकथा]

(लेखक—श्रीरावी)

एक बार धरतीके एक चक्रवर्ती सम्राट्ने अपने राज्यके शिक्षाध्यक्ष-पदपर मैत्रेय ऋषिको नियुक्त किया। प्रजाजनोंके लौकिक और पारलौकिक विकासके लिये शिक्षाक्रमोंका निर्माण तथा शिक्षकों और प्रचारकोंके प्रशिक्षण एवं नियुक्तिका कार्य इस पदाधिकारीद्वारा ही किया जाता था। राज्यकी आयका एक तिहाई भाग इस शिक्षा-विभागमें ही व्यय होता था।

मैत्रेयने अपने कार्यका दायित्व तो स्वीकार कर लिया; किंतु किसी भी शिक्षक और प्रचारककी नियुक्ति नहीं की, उनके प्रशिक्षणका कोई शिबिर नहीं खोला और न किसी शिक्षाक्रमकी ही राज्यमें घोषणा की। फलतः राज्यकोषसे इन कार्योंके लिये उन्होंने कोई धन भी नहीं लिया और वे अपने पार्वत्य-प्रदेशीय आश्रममें ही रहे आये।

जब दस वर्ष इसी प्रकार बीत गये, तब राजाको चिन्ता हुई और प्रजाको भी शिक्षकोंके अभावमें असंतोष और आशङ्काओंका भय होने लगा। राजा और प्रजा दोनोंकी ओरसे एक शिष्टमण्डल मैत्रेयके आश्रममें उनसे मिलने गया।

'आपलोग कैसी बात कहते हैं?' मैत्रेयने उनकी बात सुनकर आश्चर्यके स्वरमें कहा। 'मैंने तो इन दस वर्षोंमें शिक्षकोंकी एक बड़ी संख्या आपके राज्यमें भेज दी है। जाइये खोजिये, आप उन्हें पा जायँगे।'

शिष्टमण्डल लौट आया; लेकिन उसे या राज्यके किसी भी नागरिकको एक भी शिक्षक कहीं नहीं दीख पड़ा। दुबारा वह मण्डल मैत्रेयके पास पहुँचा।

'आपने उनकी खोज नहीं की। इस समयतक कोई भी घर ऐसा नहीं, जिसमें वे पहुँच न गये हों। क्या नगरकी गलियोंमें, हाटके झूलोंमें, माताओंकी गोदमें आपने उन्हें अभीतक नहीं देखा?' कहकर मैत्रेयने उन्हें फिर वापस कर दिया।

नगरकी गलियों, हाटके झूलों और माताओंकी गोदमें नागरिकोंके बालक-बालिकाओंसे भिन्न और किसकी ओर मैत्रेयका संकेत हो सकता था? विद्वान् अर्थकारोंने समझा कि ये ही प्रौढ़ नागरिकोंके शिक्षक हैं और मैत्रेय ऋषिने इन्हें ही आवश्यक ज्ञान-दानकी क्षमतासे सम्पन्न कर दिया है।

लोग बालकोंसे भाँति-भाँतिके प्रश्न पूछने, शङ्काओंका समाधान माँगने और ज्ञानदानकी याचनाएँ करने लगे; किंतु वे बालक उन्हें कुछ भी न बता सके। लोगोंने बच्चोंके व्यवहारोंका अपने पारस्परिक व्यवहारमें अनुकरण करनेका भी प्रयास किया; किंतु उसका फल भी अत्यन्त असुविधाजनक रहा। विवश हो, तीसरी

बार जब वह शिष्टमण्डल मैत्रेय ऋषिकी सेवामें उपस्थित हुआ, तब उन्होंने कहा—

'आपलोगोंने मेरा अभिप्राय अबकी बार ठीक ही समझा; किंतु प्रश्नोंके उत्तर देने, शङ्काओंका समाधान करने और व्यवहारका आदर्श प्रस्तुत करनेवाले शिक्षक एक साधारण सीमाके आगे आपका पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकते। आप लौटकर अपने बच्चोंके और भी निकट सम्पर्कमें आनेका प्रयत्न कीजिये। उनके व्यवहारोंका अनुकरण न कीजिये; बल्कि अपने प्रति जैसे व्यवहारोंके लिये वे आपको प्रेरित करते हैं, उन्हींका अध्ययन कीजिये और उन्हें ही अपने पारस्परिक व्यवहारमें भी लाइये। इससे बढ़कर शिक्षा आपको अन्यत्र नहीं मिलेगी।'

उसी रात राज्यके प्रत्येक गृहस्थने—किसीने स्वप्न और किसीने जाग्रत् अवस्थामें—अपने आँगनमें एक त्रिवर्षीय सुन्दर बाल-मूर्तिको प्रकट होकर कहते सुना—

'जैसा स्निग्ध, निष्कपट, उदार, क्षमापूर्ण एवं न्याय-अधिकार और आदान-प्रदानकी तुलनाओंसे मुक्त व्यवहार तुम मेरे साथ करते हो, वैसा ही आपसमें भी करनेकी प्रेरणा मैं तुम्हें देता हूँ। जिस दिन तुम इस प्रेरणाको ग्रहण कर सकोगे, उसी दिनसे तुम्हें लोक-व्यवहारका कोई अन्य पाठ सीखनेको न रह जायगा।'

× × ×

मैत्रेय ऋषिकी शिक्षा-व्यवस्थाकी यह कथा किसी इतिहास-पुराणमें अभीतक नहीं आयी है; किंतु सुना है कि मान्य जनोंकी शिक्षा-व्यवस्थासे अब भी उनका कुछ विशेष सम्बन्ध बना हुआ है और वे अब भी मान्य-शिशुओंको उसी स्नेह-सम्मानकी दृष्टिसे देखते हैं।

एक स्वामिभक्त बालक

(लेखक—श्रीनयनजी)

उस समय भारतकी राजधानी उज्जैनमें थी। राजा वीर विक्रमादित्य उस समय भारतसम्राट् थे। आपको बालकोंसे बड़ा प्रेम था। महलके भीतर प्रत्येक कार्यपर बालक ही नियुक्त थे; क्योंकि बालक—सीधे, सच्चे, सरल, सुखद, सुभग और सुन्दर होते हैं। वे सहसा कोई भी अपराध नहीं करते। रामायणमें भी लिखा है—'बंदउँ बालरूप सोइ रामू।' अर्थात् प्रत्येकका बालक (पशु-पक्षीका भी) रामका स्वरूप होता है। इसी विचारसे भारतसम्राट्ने अपने 'शरीर-रक्षक' भी बालक ही बनाये थे और महलका सारा प्रबन्ध बालकोंको सौंप दिया था।

गरमियोंकी रात थी। सतखंडेपर महाराज सो रहे थे। पलंगके नीचे कालीनपर उनके शरीर-रक्षक लड़के सो रहे थे।

सहसा रोदनकी आवाज सुनकर महाराज जाग पड़े। उस समय आधी रात बीत चुकी थी। एक स्त्रीको रोती हुई सुनकर महाराजने कहा—'पहरेपर कौन है?'

पाँचों लड़के एक-एक घंटा जागकर महाराजका पहरा देते थे। उस समय 'किशोर' नामक एक क्षत्रिय-बालकका पहरा था। वह चुपचाप सामने जा खड़ा हुआ।

'कौन? किशोर?' सम्राट्ने कहा।

'जी अन्नदाता! आज्ञा।' किशोरने हाथ जोड़कर कहा।

'किसी स्त्रीके रोनेकी आवाज सुनते हो—किशोरसिंह?' राजा बोले।

'जी सरकार!' किशोरने कहा।

'जाकर देखो कि इस समय कौन रोता है और क्यों रोता है?' दीनबन्धु सम्राट्ने आदेश दिया।

अपनी तलवार लेकर किशोरसिंह गुप्तद्वारसे महलके बाहर निकल गया ।

किशोरकी आज्ञापालन-विधिको खुद देखनेके लिये सम्राट् भी उसके पीछे छिपते हुए महलसे बाहर हो गये। सावधान सम्राट् वही है, जो अपने नौकरोंकी स्वयं जाँच-पड़ताल करता है।

रोनेकी आवाज, कालीदेवीके मन्दिरसे आ रही थी। किशोरने मन्दिरमें जाकर देखा कि एक अतीव सुन्दरी स्त्री रो रही है। मन्दिरके पीछे एक रोशनदान था। उसके द्वारा सम्राट् विक्रमादित्य भीतरका हाल देख रहे थे।

'आप कौन हैं देवी ?' किशोरने पूछा।

'मैं राज्यलक्ष्मी हूँ।' देवीने कहा।

'आप क्यों रो रही हैं इस समय ?' किशोरने पूछा।

'राजा वीर विक्रमादित्यकी अकाल मृत्यु आ गयी है। ऐसा राजा फिर मुझे कहाँ मिलेगा—इसीसे रोती हूँ।' देवीने उत्तर दिया।

'राजाकी मौत कब होगी ?' किशोरने पूछा।

'आज प्रातः ठीक चार बजे।' देवीने कहा।

'महाराजके जीवनकी रक्षा किसी प्रकार हो सकती है ?' किशोरने आँखोंमें आँसू भरकर पूछा।

'हाँ—हो सकती है; क्योंकि उपाय सब संकटोंका होता है।' देवीने अपने आँसू पोंछे।

'बतलाइये ! बतलाइये ! हमारे हृदयसम्राट् कैसे बच सकते हैं ?' किशोरने जल्दी-जल्दी पूछा।

'अगर कोई कुँआरा व्यक्ति कालीदेवीके सामने अपना बलिदान कर दे तो राजा बच जायगा।'

इतना कहकर 'राज्यलक्ष्मी' अन्तर्द्धान हो गयी। अपने-आप किशोर कहने लगा—'कुँआरा व्यक्ति मैं कहाँ खोजने जाऊँगा ? मैं खुद कुँआरा हूँ। यदि सौ किशोरोंके मरनेसे ऐसे सम्राट्की जीवनरक्षा हो तो भी कोई बात नहीं। मैं अपना बलिदान करूँगा।'

इतना कहकर किशोरने तलवार नंगी की और अपना गला काटकर देवीके चरणोंमें डाल दिया।

यह हाल देखकर राजाने मन्दिरमें प्रवेश किया। स्वामिभक्त बालककी लाश देखकर महाराजने उसकी तलवार उठा ली।

सम्राट्ने देवीसे प्रार्थना की—'या तो इस लड़केको जीवित कीजिये, नहीं तो, मैं भी तलवारसे अपना गला काटता हूँ। मैं तो समझता था कि राजासे कोई हार्दिक और निःस्वार्थ प्रेम नहीं करता। ओह ! किशोर-जैसा स्वामिभक्त अब मुझे कहाँ मिलेगा।'

इतना कहकर राजाने तलवार अपनी गरदनपर चला दी। तुरंत काली माई प्रकट हो गयीं और देवीने राजाका हाथ पकड़ लिया।

'क्या बात है राजन् ! तुमको जीवित रखनेके लिये बलिदान लिया गया है। अब तुम नहीं मर सकते।' देवीने तलवार छीन ली।

'माता ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो इस लड़केको जीवित कीजिये। यह लड़का जीवित न हुआ तो मैं जीता हुआ भी मृतक बना रहूँगा। इसका गम मुझे खाता रहेगा।'

'अच्छा ! तुम जाओ। तुम्हारे पीछे तुम्हारा लड़का भी आता है।' देवीने मुसकराकर कहा।

राजा चला गया और अपने पलंगपर जा लेटा। देवीने लड़केका सिर उसके धड़से लगाया और उसे जीवित कर दिया। अपनी तलवार लेकर किशोर भी महलकी छतपर जा पहुँचा।

'आ गये किशोर ?' सम्राट्ने पूछा।

'जी अन्नदाता !' किशोर बोला।

'वह स्त्री क्यों रो रही थी ?' सम्राट्ने पूछा।

'कुछ नहीं सरकार ! उसकी सासने उसे पीटा था। मैं समझा-बुझाकर उसे उसके घर पहुँचा आया

और उसकी सासको धमका आया कि अब कभी बहूको मारा-पीटा तो तुम्हारी शिकायत महाराजसे कर दी जायगी।' किशोरने बहाना बनाया।

'तुम धन्य हो किशोर! तुम्हारे माता-पिता धन्य हैं किशोर! आजसे तुम मेरे 'प्रधान सेनापति' हुए किशोर!' सम्राट्ने किशोरको हृदयसे लगाकर कहा।

अङ्कुर

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न)

मदमत्त गज हरित सुकोमल अङ्कुरोंको अपने विशाल पैरोंसे रौंदता चला जा रहा था। अङ्कुर पिसते जा रहे थे, मिट्टीमें मिलते जा रहे थे। उनकी नन्ही-नन्ही हरी-हरी पत्तियाँ टूट-टूटकर बिखरती जा रही थीं, इधर-उधर धूलिमें जैसे लोट रही थीं।

'तुम महाकाय प्राणी हो।' वटके एक अङ्कुरने धीरेसे कहा, पर उसकी ध्वनि मत्त कुञ्जरके कानमें नहीं पड़ी। वह पूर्वकी भाँति निश्चिन्त, स्वच्छन्द उन्मत्त पग रखता आगे बढ़ा जा रहा था।

'तुम्हारी शक्ति महान् है।' द्विरदके विशाल काले पगके नीचे आनेसे बचा हुआ पीपलका अङ्कुर बोल उठा, पर वह नहीं सुन सका।

'तुमसे हमारी कोई तुलना नहीं।' कुछ ही आगे जानेपर पाकरके अङ्कुरने कुछ जोरसे कहा, पर गजने उसकी ओर ध्यानतक नहीं दिया।

'हमें पीस देनेमें तुम्हारा कोई गौरव नहीं।' आगे बढ़नेपर चौथे अङ्कुरने चीत्कार किया। गज निर्द्वन्द्व बढ़ता गया।

'हमें मिटाकर तुम कुछ नहीं पा सकोगे।' पाँचवें अङ्कुरने कहा।

मत्त गज आगे बढ़ता जा रहा था। उन सर्वथा अशक्त, असहाय और तुच्छ अङ्कुरोंके अनुनय-विनयसे उसके कानपर जूँतक नहीं रेंग सकी।

'हमारा सर्वनाश करनेसे तुम्हारा कोई लाभ नहीं।' एक अङ्कुरने कहा। समीपके जैसे समस्त छोटे-छोटे अङ्कुर चिल्ला पड़े 'हमारा सर्वनाश करनेसे तुम्हारा कोई लाभ नहीं।'

गज क्षणार्धके लिये रुका, किंतु तुरंत ही वह आगे बढ़ गया। उसके कानोंमें छोटे-छोटे हीन अङ्कुरोंका चीत्कार सुनायी दे रहा था। जैसे सभी अङ्कुर चीत्कार कर रहे थे 'हमारा सर्वनाश करनेसे तुम्हारा कोई लाभ नहीं।'

'ये अत्यन्त दुर्बल लघुकाय अङ्कुर मेरा क्या कर सकेंगे?' सोचता हुआ गज आगे बढ़ता ही जा रहा था।

'आँ!' गज जोरोंसे चिग्घाड़ उठा। उसका अगला पैर गड्ढेमें पड़ा और वह चौंककर पीछे हट गया। गड्ढेपर कुछ सड़े तृण थे और उसपर पतली मिट्टीकी तह जम गयी थी। कुछ दुर्वाङ्कुर उग आये थे उसपर। गजको इसीसे भ्रम हो गया।

समीपके अङ्कुर मन-ही-मन मुसकरा उठे, पर बोलनेका साहस वे नहीं कर सके।

'नीच!' हाथीने सरोष अङ्कुरोंको पीसते हुए कहा। उसके नेत्रोंमें रक्त उतर आया था। अङ्कुरोंका प्राणान्त हो रहा था, वे मृण्मय बन रहे थे। भयसे वे काँप रहे थे।

'समादरणीय महागज!' वटके एक अङ्कुरने अपना समस्त साहस एकत्रकर कहा। 'सचमुच तुम महान् हो और आज हम नीच हैं और हैं नितान्त क्षुद्र।'

गज एक क्षणके लिये जैसे शान्त हो गया। वटाङ्कुर कहता जा रहा था 'किंतु हमारी नीचता और क्षुद्रता सर्वथा गर्हित नहीं है। तुम अपने नेत्रद्वयसे जो कुछ देख रहे हो, हम वही नहीं हैं।'

गज हँस पड़ा। अङ्कुर बोलता गया 'हम भी विशाल

हैं, महाकाय हैं और महिमामय हैं। इतना ही नहीं, हम पशुओं, पक्षियों और मानव-जातिकी आबाल-वृद्ध-वनिताके भी आश्रयदाता हैं। उन्हें सुख-शान्ति प्रदान करनेवाले हैं। हम जगत्का कल्याण चाहते हैं, मङ्गल चाहते हैं, विश्वकी सुख-शान्तिके लिये ही हम जीवित रहते हैं। हमारा तन, मन और प्राण संसारको सुखी बनानेमें ही संलग्न रहता है।'

गज मौन सुन रहा था और अङ्कुर कहता जा रहा था 'अनिष्ट हम कभी किसीका नहीं चाहते। हानि हमें कथमपि अभीष्ट नहीं। हम विषम-विपदाओंको झेलते हैं। पशु-पक्षियोंके ही नहीं, हम मनुष्योंके भी अनीति और अन्यायको चुपचाप सहते जाते हैं। प्रकृति भी अपना रोष हमपर उतारती है, पर हम कभी किसीकी निन्दा नहीं करते। सहिष्णुता हमारा आभूषण है। पर-हित हमारा जीवन है। हम जीवधारियोंके सुहृद् हैं। हमारा विनाश कदापि उचित नहीं। हम तुम्हारी सेवाके लिये·······।'

'छोटे मुँह बड़ी बात!' कुञ्जरने एक कर्कश चीत्कार-के साथ कहा और शत-शत लघु अङ्कुरों एवं कोमल कोंपलोंको रौंदता हुआ चला गया।

× × × ×

वर्ष-पर-वर्ष बीतते गये। अब वे अङ्कुर अत्यन्त लघु और कोमल नहीं रह गये। वे विशाल वृक्ष बन गये। वट-का अङ्कुर तो इतना महान् वृक्ष बन गया कि उसके नीचे सहस्रों मनुष्य और पशु आ सकते थे।

निदाघका मध्याह्न था। अंशुमालीकी अग्निमयी प्रचण्ड किरणोंसे मेदिनी त्रस्त हो रही थी। वायुकी लपटोंमें जैसे अनल समा गया था। पशु-पक्षी और समस्त प्राणी आकुल हो गये थे।

विशाल वटकी शीतल छायामें प्राण बचानेके लिये कितने ही पशु पारस्परिक वैर भूलकर एकत्र हो गये थे। सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे विक्षिप्त होकर वह गज भी दौड़ता वहाँ आया। कई पशु भयभीत होकर इधर-उधर समीपके दूसरे वृक्षोंके नीचे चले गये। द्विरद हाँफ रहा था।

'धरतीके महाकायका अभिनन्दन है।' वटवृक्षकी शीतल छायामें खड़े होकर गज सूँड़से दो ही पत्ती तोड़कर अपने मुँहमें रख पाया था। वह चौंक पड़ा। उसने स्पष्ट सुना 'परोपकार ही हमारा धर्म है।'

गज सुन रहा था 'पर-पीड़नकी कल्पना भी हमारे मनमें उदित नहीं होती। हम असहिष्णु नहीं, निर्दय नहीं, निर्मम नहीं। हमारी शीतल छायामें प्राण बचाकर भी तुम हमारी शाखाओंको तोड़ डालो और पत्तियाँ उदरगत कर लो। अपनी क्षुधा शान्त कर लो। हम रुष्ट नहीं होंगे, असंतुष्ट नहीं होंगे। प्रभाकरकी विषदग्ध किरणोंको स्वयं सहते रहेंगे, पर तुम्हें शीतल छाया प्रदान करेंगे। हम उफ् भी नहीं करेंगे और तुम्हें उपालम्भ भी नहीं देंगे। हम तुम्हारा स्वागत करते हैं।'

द्विरद खड़ा था। वह कुछ सोच नहीं पा रहा था। वृक्षने विनम्र वाणीमें स्वयं परिचय दे दिया 'कई वर्ष पूर्व-की स्मृति कर सको तो कर लो। हम अति तुच्छ अङ्कुर थे, जिन्हें तुमने अपने विशाल पगोंसे रौंद डाला था, मसल दिया था। हमारे क्रन्दन तुम्हें द्रवित करनेमें समर्थ नहीं हो सके। निकटवर्ती समस्त लघु-विशाल तरु उस दिनके लघु अङ्कुर और कोंपलोंके अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।'

गज लज्जित था। अवनतवदन उसने उत्तर दिया, 'धूलिकणोंमें समाया अत्यन्त तुच्छ अङ्कुर इतना महान् वृक्ष हो सकता है, मुझे कल्पना भी नहीं थी। मैं अपनी भूल स्वीकार करता हूँ और क्षमा चाहता हूँ।'

वायुके झोंकेसे वटकी असंख्य पत्तियाँ एक साथ ही हिलकर जैसे गजको व्यजन डुलाने लगीं। गज शान्त होकर जैसे पश्चात्ताप कर रहा था।

॥ श्रीहरिः॥

ग्रन्थाकारमें उपलब्ध

'कल्याण' के पुराने, अति उपयोगी पुनर्मुद्रित विशेषाङ्क

शिवाङ्क (सचित्र) [वर्ष ८, सन् १९३४ ई०]—इसमें शिवतत्त्व तथा शिव-महिमापर विशद विवेचनसहित शिवार्चन, पूजन, व्रत एवं उपासनापर तात्त्विक और ज्ञानप्रद मार्ग-दर्शन करानेवाली मूल्यवान् अध्ययन-सामग्री है। द्वादश ज्योतिर्लिङ्गोंका सचित्र परिचय तथा भारतके सुप्रसिद्ध शैव-तीर्थोंका प्रामाणिक वर्णन इसके अन्यान्य महत्त्वपूर्ण (पठनीय) विषय हैं।

शक्ति-अङ्क (सचित्र) [वर्ष ९, सन् १९३५ ई०]—इसमें परब्रह्म परमात्माके आद्याशक्ति-स्वरूपका तात्त्विक विवेचन, महादेवीकी लीला-कथाएँ एवं सुप्रसिद्ध शाक्त-भक्तों और साधकोंके प्रेरणादायी जीवन-चरित्र तथा उनकी उपासना-पद्धतिपर उत्कृष्ट उपयोगी सामग्री संगृहीत है। इसके अतिरिक्त भारतके सुप्रसिद्ध शक्ति-पीठों तथा प्राचीन देवी-मन्दिरोंका सचित्र दिग्दर्शन भी इसकी उल्लेखनीय विषय-वस्तुके महत्त्वपूर्ण अङ्ग हैं।

योगाङ्क (सचित्र) [वर्ष १०, सन् १९३६ ई०]—इसमें योगकी व्याख्या तथा योगका स्वरूप-परिचय एवं प्रकार और योग-प्रणालियों एवं अङ्ग-उपाङ्गोंपर विस्तारसे प्रकाश डाला गया है। साथ ही अनेक योग-सिद्ध महात्माओं और योग-साधकोंके जीवन-चरित्र तथा साधना-पद्धतियोंपर इसमें रोचक, ज्ञानप्रद वर्णन हैं। सारांशतः यह विशेषाङ्क सर्वसाधारण जनोंको योगके कल्याणकारी (अवदानों) और योग-सिद्धियोंके चमत्कारी प्रभावोंकी ओर आकृष्ट कर 'योग'के सर्वमान्य महत्त्वसे परिचय कराता है।

संत-अङ्क (सचित्र) [वर्ष १२, सन् १९३८ ई०] संतोंकी महिमासे मण्डित, उनकी शिक्षाओं-उपदेशों और प्रेरणाओंसे पूरित यह 'संत-अङ्क' नित्य पठनीय और सर्वदा सेवनीय है। इसमें उच्चकोटिके अनेक संतों—प्राचीन, अर्वाचीन, मध्ययुगीन एवं कुछ विदेशी भगवद्विश्वासी महापुरुषों तथा त्यागी-वैरागी महात्माओंके ऐसे आदर्श जीवन-चरित्र हैं, जो पारमार्थिक गतिविधियोंके लिये प्रेरित करनेके साथ-साथ उनके सार्वभौमिक सिद्धान्तों एवं त्याग-वैराग्यपूर्ण तपस्वी जीवन-शैलीको उजागर करके उनके पारमार्थिक आदर्श, जीवन-मूल्योंको रेखाङ्कित करते हैं। और, किसीको भी उनके पद-चिन्होंपर चलनेकी सत्प्रेरणा दे सकते हैं।

साधनाङ्क (सचित्र) [वर्ष १५, सन् १९४१ ई०]—यह अङ्क उच्चकोटिके विचारकों, वीतराग महात्माओं, एकनिष्ठ साधकों एवं विद्वान् मनीषियोंके साधनोपयोगी अनुभूत विचारों और उनके साधनापरक बहुमूल्य मार्ग-दर्शनसे ओतप्रोत होनेसे महत्त्वपूर्ण है। इसमें साधना-तत्त्व, साधनाके विभिन्न स्वरूप—ईश्वरोपासना, योगसाधना, प्रेमाराधना आदि अनेक कल्याणकारी साधनों और उनके अङ्ग-उपाङ्गोंका शास्त्रीय विवेचन है। अतः सभीके लिये विशेषतः आत्मकल्याणकामी पुरुषोंके लिये यह उत्तमोत्तम दिशा-निर्देशक है।

संक्षिप्त महाभारत (सचित्र—दो खण्डोंमें) [वर्ष१७, सन् १९४३ ई०]—धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके महान् उपदेशों एवं प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओंके उल्लेखसहित इसमें ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, योग, नीति, सदाचार, अध्यात्म, राजनीति, कूटनीति आदि मानव-जीवनके उपयोगी विषयोंका विशद वर्णन और विवेचन है। महाभारतकी अत्यधिक महिमा और अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंके समावेशके कारण इसे शास्त्रोंमें 'पञ्चम वेद' और विद्वत्समाजमें भारतीय ज्ञानका 'विश्वकोश' कहा गया है।

संक्षिप्त पद्मपुराण (सचित्र) [वर्ष १९, सन् १९४५ ई०]—इसमें (पद्मपुराण-वर्णित) भगवान् विष्णुके माहात्म्यके साथ भगवान् श्रीराम तथा श्रीकृष्णके अवतार-चरित्रों एवं उनके परात्पररूपोंका विशद वर्णन है। भगवान् शिवकी महिमाके साथ इसमें श्रीअयोध्या, श्रीवृन्दावनधामका माहात्म्य भी वर्णित है। इसके अतिरिक्त इसमें शालग्रामके स्वरूप और उनकी महिमा, तुलसीवृक्षकी महिमा, भगवन्नाम-कीर्तन एवं भगवती गङ्गाकी महिमासहित, यमुना-स्नान, तीर्थ, व्रत, देवपूजन, श्राद्ध, दानादिके विषयमें भी विस्तृत चर्चा है।

संक्षिप्त मार्कण्डेय-ब्रह्मपुराणाङ्क (सचित्र) [वर्ष २१, सन् १९४७ ई०]—आत्म-कल्याणकारी महान् साधनों, उपदेशों और आदर्श चरित्रोंसहित इसमें मार्कण्डेयपुराणान्तर्गत देवी-माहात्म्य (श्रीदुर्गासप्तशती), तीर्थ-माहात्म्य, भगवद्भक्ति, ज्ञान, योग, सदाचार आदि अनेक गम्भीर, रोचक विषयोंका वर्णन (इन दो संयुक्त पुराणोंमें) है। कल्याणकामी पुरुषोंके लिये इनका अनुशीलन लाभप्रद है।

नारी-अङ्क (सचित्र) [वर्ष २२, सन् १९४८ ई०]—इसमें भारतकी महान् नारियोंके प्रेरणादायी आदर्श चरित्र तथा नारीविषयक विभिन्न समस्याओंपर विस्तृत चर्चा और उनका भारतीय आदर्शोचित समाधान है। इसके साथ ही विश्वकी अनेक सुप्रसिद्ध महान् महिला-रत्नोंके जीवन-परिचय और जीवनादर्शोंपर मूल्यवान् प्रेरक-सामग्री इसके उल्लेखनीय विषय हैं। माता-बहनों और देवियोंसहित समस्त नारीजाति और नारीमात्रके लिये आत्मबोध करानेवाला यह अत्यन्त उपयोगी और प्रेरणादायी मार्ग-दर्शक है।

हिन्दू-संस्कृति-अङ्क (सचित्र) [वर्ष २४, सन् १९५० ई०]—भारतीय संस्कृति—विशेषतः हिन्दू-धर्म, दर्शन, आचार-विचार, संस्कार, रीति-रिवाज, पर्व-उत्सव, कला-संस्कृति और आदर्शोंपर प्रकाश डालनेवाला यह तथ्यपूर्ण बृहद् (सचित्र) दिग्दर्शन है। इस प्रकार भारतीय संस्कृतिके उपासकों, अनुसंधानकर्ताओं और जिज्ञासुओंके लिये यह अवश्य पठनीय, उपयोगी और मूल्यवान् दिशा-निर्देशक है।

संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क (सचित्र) [वर्ष २५, सन् १९५१ ई०]—इसमें भगवान् शिवकी महिमा, सती-चरित्र, शिव-पार्वती-विवाह, कुमार कार्तिकेयके जन्मकी कथा तथा तारकासुर-वध आदिका वर्णन है। इसके अतिरिक्त अनेक आख्यान एवं बहुत-से रोचक, ज्ञानप्रद प्रसंग और आदर्श चरित्र भी इसमें वर्णित हैं। शिव-पूजनकी महिमाके साथ-साथ तीर्थ, व्रत, जप, दानादिका महत्त्व-वर्णन आदि इसके विशेषरूपसे पठनीय विषय हैं।

भक्तचरिताङ्क (सचित्र) [वर्ष २६, सन् १९५२ ई०]—इसमें भगवद्विश्वासको बढ़ानेवाले अनेकों भगवद्भक्तों, ईश्वरोपासकों और महात्माओंके जीवन-चरित्र एवं विभिन्न विचित्र भक्तिपूर्ण भावोंकी ऐसी पवित्र, सरस, मधुर कथाएँ हैं जो मानव-मनको प्रेम-भक्ति-सुधारससे अनायास सराबोर कर देती हैं। रोचक, ज्ञानप्रद और निरन्तर अनुशीलनयोग्य ये भक्तगाथाएँ भगवद्विश्वास और प्रेमानन्द बढ़ानेवाली तथा शान्ति प्रदान करनेवाली होनेसे अवश्य ही नित्य पठनीय हैं।

बालक-अङ्क (सचित्र) [वर्ष २७, सन् १९५३ ई०]—यह अङ्क बालकोंसे सम्बन्धित सभी उपयोगी विषयोंका बृहद् संग्रह है। यह सर्वजनोपयोगी—विशेषतः बालकोंके लिये आदर्श मार्ग-दर्शक है। प्राचीन कालसे अबतकके भारतके महान् बालकों एवं विश्वभरके सुविख्यात आदर्श बालकोंके प्रेरक, शिक्षाप्रद, रोचक, ज्ञानवर्धक तथा अनुकरणीय जीवन-वृत्त एवं इसके बालोचित आदर्श चरित्र बार-बार पठनीय और प्रेरणाप्रद हैं।

सत्कथा-अङ्क (सचित्र) [वर्ष ३०, सन् १९५६ ई]—जीवनमें भगवत्प्रेम, सेवा, त्याग, वैराग्य, सत्य, अहिंसा, विनय, प्रेम, उदारता, दानशीलता, दया, धर्म, नीति, सदाचार और शान्तिका प्रकाश भर देनेवाली सरल, सुरुचिपूर्ण सत्प्रेरणादायी छोटी-छोटी सत्कथाओंका यह बृहत् संग्रह सर्वदा अपने पास रखनेयोग्य है। और इसकी कल्याणकारी बातें हृदयङ्गम करने लायक, सर्वदा अनुकरणीय हैं।

तीर्थाङ्क (सचित्र) [वर्ष ३१, सन् १९५७ ई०]—इस अङ्कमें तीर्थोंकी महिमा, उनका स्वरूप, वर्तमान स्थिति एवं तीर्थ-सेवनके महत्त्वपर उत्कृष्ट मार्ग-दर्शन—अध्ययनका विषय है। इसमें देव-पूजन-विधिसहित, तीर्थोंमें पालन करनेयोग्य तथा त्यागनेयोग्य उपयोगी बातोंका भी उल्लेख है। अतः भारतके प्रायः समस्त तीर्थोंका अनुसंधानात्मक ज्ञान करानेवाला यह एक ऐसा संकलन है जो सभी तीर्थाटन-प्रेमियोंके लिये महत्त्वपूर्ण मार्ग-दर्शक (गाइड) हो सकता है।

संक्षिप्त श्रीमद्देवीभागवत (सचित्र) [वर्ष ३४, सन् १९६० ई०]—इसमें पराशक्ति भगवतीके स्वरूप-तत्त्व, महिमा आदिके तात्त्विक विवेचनसहित श्रीमद्देवीकी लीला-कथाओंका सरस एवं कल्याणकारी वर्णन है। श्रीमद्देवीभागवतके विविध, विचित्र कथा-प्रसंगोंके रोचक और ज्ञानप्रद उल्लेखके साथ देवी-माहात्म्य, देवी-आराधनाकी विधि एवं उपासनापर इसमें महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। अतः साधनाकी दृष्टिसे यह अत्यन्त उपादेय और अनुशीलनयोग्य है।

संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्क (सचित्र) [वर्ष ३५, सन् १९६१ ई०]—योगवासिष्ठके इस संक्षिप्त रूपान्तरमें जगत्की असत्ता और परमात्मसत्ताका प्रतिपादन है। पुरुषार्थ एवं तत्त्व-ज्ञानके निरूपणके साथ-साथ इसमें शास्त्रोक्त सदाचार, त्याग-वैराग्ययुक्त सत्कर्म और आदर्श व्यवहार आदिपर सूक्ष्म विवेचन है। कल्याणकामी साधकोंके लिये इसका अनुशीलन उपादेय है।

संक्षिप्त शिवपुराण (सचित्र) [वर्ष ३६, सन् १९६२ ई०]—सुप्रसिद्ध शिवपुराणका यह संक्षिप्त अनुवाद परात्पर परमेश्वर शिवके कल्याणमय स्वरूप-विवेचन, तत्त्व-रहस्य, महिमा, लीला-विहार, अवतार आदिके रोचक, किंतु ज्ञानमय वर्णनसे युक्त है। इसकी कथाएँ अत्यन्त सुरुचिपूर्ण, ज्ञानप्रद और कल्याणकारी हैं। इसमें भगवान् शिवकी पूजन-विधिसहित महत्त्वपूर्ण स्तोत्रोंका उपयोगी संकलन भी है।

संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्तपुराणाङ्क (सचित्र) [वर्ष ३७, सन् १९६३ ई०]—इसमें भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अभिन्नस्वरूपा प्रकृति-ईश्वरी श्रीराधाकी सर्वप्रधानताके साथ, गोलोक-लीला तथा अवतार-लीलाका विशद वर्णन है। इसके अतिरिक्त इसमें कुछ विशिष्ट ईश्वरकोटिके सर्वशक्तिमान् देवताओंकी एकरूपता, महिमा तथा उनकी साधना-उपासनाका भी सुन्दर प्रतिपादन है। इसकी कथाएँ रोचक, बड़ी मधुर, ज्ञानप्रद और कल्याणकारी हैं। यह वैष्णवपुराणका साररूप कहा जाता है। उपयोगी अनुष्ठेय सामग्रीके रूपमें इसमें अनेक स्तोत्र, मन्त्र, कवच आदि भी दिये गये हैं।

परलोक और पुनर्जन्माङ्क (सचित्र) [वर्ष ४३, सन् १९६९ ई०]—मनुष्यमात्रको मानव-चरित्रके पतनकारी आसुरी-सम्पदाके दोषोंसे सदा दूर रहने तथा परम विशुद्ध उज्ज्वल चरित्र होकर सर्वदा सत्कर्म करते रहनेकी शुभ प्रेरणाके साथ इसमें परलोक तथा पुनर्जन्मके रहस्यों और सिद्धान्तोंपर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। आत्म-कल्याणकामी पुरुषों तथा साधकमात्रके लिये इसका अध्ययन-अनुशीलन अति उपयोगी है।

श्रीहनुमान-अङ्क (सचित्र) [वर्ष ४९, सन् १९७५ ई०]—इसमें श्रीहनुमान्जीका आद्योपान्त जीवन-चरित्र और श्रीरामभक्तिके प्रतापसे सदा अमर बने रहकर उनके द्वारा किये गये क्रिया-कलापोंका तात्त्विक और प्रामाणिक एवं सुरुचिपूर्ण चित्रण है। श्रीहनुमान्जीको प्रसन्न करनेवाले विविध स्तोत्र, ध्यान एवं पूजन-विधियाँ आदि साधनोपयोगी बहुमूल्य सामग्रीका भी इसमें उपयोगी संकलन है। अतः साधकोंके लिये यह उपादेय है।

शिवोपासनाङ्क (सचित्र) [वर्ष ६७, सन् १९९३ ई०]—इसमें शिवतत्त्व एवं शिवोपासनापर तथ्यपूर्ण विवेचनके साथ, भगवान् विष्णुकी शिवोपासना, जगन्माता लक्ष्मीकी शिव-निष्ठा, भगवान् नृसिंहकी शिव-भक्ति और महर्षि वसिष्ठ, दुर्वासा, लोमश, महामुनि गर्ग तथा महर्षि वाल्मीकि आदिकी शिवशरणागति एवं भक्ति-विषयक सुन्दर आख्यान हैं तथा सुप्रसिद्ध शैव-तीर्थों एवं द्वादश ज्योतिर्लिङ्गोंके वर्णनसहित इसमें भारतके एवं विश्वके सुविख्यात शिवालयों (शिव-मन्दिरों) का सचित्र वर्णन भी उपलब्ध है। अनेकों शिवभक्तों और उपासकोंके रोचक, शिक्षाप्रद चरित्र इसके उल्लेखनीय आकर्षण हैं।